हिंदी विश्वकोश

ग्रौरकिड (Orchids)

बाईं ग्रोर : डेंड्रोबियम फ़ार्मेरी (Dendrobium Farmeri) ; बीच में : फाइग्रस मैकुलाटा (Phaius Maculata) ग्रौर दाहिनी ग्रोर : वैनिला प्लेनिफोलिया (Vanilla Planifolia) तथा उसके विविध ग्रंग ।

हिंदी विश्वकोश

खंड २

इलेक्ट्रानिकी से काहिरा तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

मूल्य
६० रुपए

प्रथम संस्करण
शकाब्द १८८२ : सं० २०१७ वि० : १९६० ई०
नवीन संशोधित परिवर्धित संस्करण
शकाब्द १८९७ : सं० २०३१ वि० : १९७५ ई०

नागरी मुद्रण, वाराणसी, में मुद्रित

मूल संपादकसमिति

डा० संपूर्णानंद (अध्यक्ष)

श्री कृष्णदयाल भार्गव (सदस्य; प्रतिनिधि, केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय)

श्री के० सच्चिदानंदम् (सदस्य; प्रतिनिधि, केंद्रीय वित्त मंत्रालय)

श्री प्रधान संपादक (नियोज्य)

डा० भगवतशरण उपाध्याय (मानवतादि संपादक)

प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा (विज्ञान संपादक)

श्री देवकीनंदन केडिया (सदस्य; अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी)

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा (मंत्री तथा संयोजक; प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी)

परामर्शमंडल के सदस्य

डा० संपूर्णानंद, राज्यपाल, राजस्थान, जयपुर (अध्यक्ष)।

श्री कमलापति त्रिपाठी, वित्तमंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ,।

श्री कृष्णदयाल भार्गव, उपसचिव, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

श्री के० सच्चिदानंदम्, उपवित्त सलाहकार, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

डा० विश्वनाथप्रसाद, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, फैजबाजार, दरियागंज, दिल्ली।

डा० दीनदयालु गुप्त, अध्यक्ष, हिंदी समिति, सूचना निदेशालय, उत्तर प्रदेश सरकार, तथा प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

डा० निहालकरण सेठी, सिविल लाइंस, आगरा।

डा० शिवपूजन सहाय, हिंदी साहित्य संमेलन भवन, कदमकुआँ, पटना।

प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश (संयुक्त मंत्री)।

श्री देवकीनंदन केडिया, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा (मंत्री तथा संयोजक), प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

नवीन संस्करण का प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का कार्य सं० २०१३ विक्रमी (सन् १९५६ ई०) से भारत सरकार की सहायता से आरंभ हुआ और संपूर्ण १२ खंडों के प्रकाशन का कार्य सं० २०२७ विक्रमी (सन् १९७० ई०) में समाप्त हो गया। तत्पश्चात् सभा अपने बल पर यह कार्य चलाती रही और अंततोगत्वा भारत सरकार ने इसमें पुनः सहायता की। विश्वकोश के सारे निर्माणकार्य पर १५,८१,३४५–४२ रुपए व्यय हुए। इस संस्करण की बिक्री की आय केंद्रीय सरकार ले लेती है। इस प्रकार कोई ऐसा धन सभा के पास नहीं था जिससे वह इसका पुनः प्रकाशन करती। सन् १९७० ई० में ही विश्वकोश के आरंभिक तीन खंड अनुपलब्ध हो गए और उनकी माँग बराबर बनी रही। विश्वकोश के रचनाकार्य की एक सनातन प्रक्रिया है और इसी के माध्यम से इसे अद्यतन तथा उपयोगी रखा जा सकता है।

भारत सरकार ने सभा की इस कठिनाई को समझा और आरंभ के तीन खण्डों के प्रकाशन के लिये १,३९,२०० रु० का अनुदान देना स्वीकार किया। कार्य आरंभ करने पर अनुभव हुआ कि मानव ज्ञान की जो राशि बढ़ गई है उसके परिप्रेक्ष्य में विश्वकोश को अद्यतन करने के लिये यह आवश्यक है कि इसका सर्वथा नवीन, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया जाय ताकि इसकी उपयोगिता बनी रहे और ज्ञान के क्षेत्र में इसका अवदान अपना प्रतिमान स्थिर रख सके। एतदर्थ इसमें व्यापक संशोधन और परिवर्धन किया गया है। प्रथम संस्करण में विश्वकोश का प्रत्येक खंड लगभग ५०० पृष्ठों का प्रकाशित हुआ था। अब इसके प्रत्येक खंड की पृष्ठसंख्या लगभग ६०० कर दी गई है और इसमे यथासंभव विज्ञान तथा मानविकी संबंधी नई सामग्री का समावेश किया गया है जिससे निबंधो की संख्या भी पहले की अपेक्षा बढ़ गई है।

नए संस्करण में निबंधों के संयोजन में जो पद्धतियाँ अपनाई गई है, वे इस प्रकार है —

हिंदी विश्वकोश के प्रथम खंड का प्रथम संस्करण लगभग १५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक विज्ञान में काफी प्रगति हुई है। अनेक नवीन तथ्यों की खोज हुई और कई पुराने सिद्धांत अपने प्रतिष्ठित स्थान से विचलित हो गए। अतएव नवीन तथ्यों के प्रकाश में विज्ञान के अधिकांश लेखों में व्यापक संशोधन तथा परिवर्तन किए गए हैं।

प्रथम संस्करण की अनेक भूलों एवं त्रुटियों का इस संस्करण में परिमार्जन किया गया है। विज्ञान के सभी लेखों की शब्दावली, भारत सरकार के विज्ञान तथा तकनीकी शब्दावली के स्थायी आयोग द्वारा प्रकाशित विज्ञान शब्दावली के अनुसार रखने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से कुछ लेखों के नाम भी बदल गए हैं; जैसे 'कर्कट' को अब 'कैंसर' के नाम से जाना जाता है। कुछ लेखों को, जो अब कम महत्व के रह गए है, संक्षिप्त कर दिया गया है, कुछ को अन्य संबद्ध लेखों में समाविष्ट कर दिया गया है।

विज्ञान के महत्वपूर्ण विषयों पर नवीन लेख प्रस्तुत संस्करण में समाविष्ट किए गए हैं। सभी लेख मानक पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के आधार पर तैयार हुए है। आवश्यकतानुसार अनेक विद्वानों से परामर्श भी लिया गया है।

मानविकी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इतिहास, पुरातत्व, राजनीतिशास्त्र, साहित्य, भाषाविज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज-कार्य-विभाजन आदि अनेक विषय मानविकी के अंतर्गत परिगणित किए जाते है। हिंदी विश्वकोश के प्रथम संस्करण में मानविकी को विज्ञान की अपेक्षा कम स्थान दिया गया था, अर्थात् विज्ञान संबंधी लेखो को लगभग ६५ प्रतिशत और मानविकी के लेखों को लगभग ३५ प्रतिशत। नवीन संस्करण में हमारा प्रयास है कि दोनो ज्ञानखंडो का उपर्युक्त विषम अनुपात यथासंभव समान रहे।

प्रस्तुत खंड में वर्णित देशों और नगरों की जनसंख्या तथा उत्पादन संबंधी नवीनतम आँकड़े जुटाने के अतिरिक्त उनका इतिहास भी प्रस्तुत किया गया है।

सभा ने आकर ग्रंथों द्वारा हिंदी के भांडार की समृद्धि का जो मंगलमय संकल्प लिया है, ज्ञान की उस दीपशिखा की चेतना के चरण निरंतर गतिमान होते रहें, हमारा यह प्रयत्न है। विश्वकोश का यह रूप उसी संकल्प का परिणाम है।

हिंदी विश्वकोश के सभी कार्यकर्ताओं, पदाधिकारियों तथा भारत सरकार ने नागरीप्रचारिणी सभा के इस स्वप्न को मूर्त करने में जो सराहनीय योगदान किया है उसके निमित्त हम उनके प्रति हृदय से आभारी है।

विश्वकोश के आगामी खंड प्रत्येक छह मास में प्रकाशित करते रहने का हमारा संकल्प है। इससे विश्वकोश के वे खंड समयानुसार उपलब्ध होते जाएँगे जो वर्षो से अप्राप्त थे और आगे होंगे। इनकी अप्राप्ति से लोगो को जो कष्ट हुआ, उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी है।

मुझे विश्वास है, अपने गुणधर्म के कारण हिंदी विश्वकोश के नए संस्करण का उपयोग करने में लोग प्रसन्नता तथा संतोष का अनुभव करेंगे।

चैत्र कृ० १,
सं० २०३२ वि०

सुधाकर पांडेय
संपादक
(प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का यह दूसरा खंड आपके हाथों में है। इसके प्रकाशन में अत्यधिक समय लग गया है। आशा थी कि यह खंड सन् १९६१ के अंत तक प्रकाशित हो जायगा, परंतु कई अनिवार्य कारणों से इसकी छपाई बीच बीच में बंद कर देनी पड़ी। विलंब का प्रधान कारण विश्वकोश में प्रयुक्त होनेवाली प्राविधिक शब्दावली तथा वैज्ञानिक चिह्नों आदि के संबंध में नागरीप्रचारिणी सभा तथा शिक्षा मंत्रालय में समान दृष्टिकोण का अभाव था। सभा सर्वथा भारतीय चिह्नों का नागरी में उपयोग करना चाहती थी और शिक्षा मंत्रालय वैज्ञानिक लेखों में अंतरराष्ट्रीय चिह्नों के रोमन लिपि में उपयोग का हिमायती था। अंत में नागरी और रोमन दोनों लिपियों में अंतरराष्ट्रीय चिह्नों का उपयोग करना निश्चित हुआ। इस संबंध के पत्रव्यवहार में प्रायः छह महीने लग गए और सारे वैज्ञानिक लेखों का इस दृष्टि से फिर से संपादन करना पड़ा। दूसरा अत्यंत दुःखद कारण विश्वकोश के विज्ञानानुभाग के संपादक डा० गोरखप्रसाद का निधन था। सन् १९६१ की ५ मई को उनका आकस्मिक निधन हुआ जिससे विश्वकोश की प्रगति में अचानक रुकावट आ गई, जो विज्ञानानुभाग के नए संपादक प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा की जुलाई, १९६१ में की गई नियुक्ति तक बनी रही। विश्वकोश के प्रधान संपादक डा० धीरेंद्र वर्मा ने नवंबर, १९६१ के आरंभ में त्यागपत्र दे दिया और डा० भगवतशरण उपाध्याय को उनके दायित्वों का भार भी वहन करना पड़ा। इसके अतिरिक्त प्रेस ने भी कुछ ढिलाई दिखाई जिससे विश्वकोश के प्रकाशन में विलंब होना स्वाभाविक था। जैसे तैसे कठिनाइयों को पार कर यह खंड प्रस्तुत हुआ।

इस बीच विश्वकोश के प्रशासन में भी कुछ परिवर्तन हुए--(१) पुराना परामर्शमंडल बहुत बड़ा था, जिससे उसकी बैठकें आवश्यकतानुसार जल्दी जल्दी नहीं हो पाती थीं। इससे सभा और शिक्षा मंत्रालय ने एक नया परामर्शमंडल संगठित करना आवश्यक समझा। नए परामर्शमंडल के सदस्यों की नामावली इस खंड के आरंभ में दी हुई है। (२) दूसरा परिवर्तन संपादकसमिति के संगठन में हुआ जिसे सभा तथा शिक्षा मंत्रालय ने संमिलित रूप से संपन्न किया। उसके सदस्यों की नामावली भी इस खंड के आरंभ में दी हुई है।

विश्वकोश के प्रथम खंड का देश में स्वागत हुआ और पत्रपत्रिकाओं में उसकी पर्याप्त प्रशंसा हुई; साथ ही, अनेक सुझाव भी आए जिनपर संपादकों ने बड़े आदर और लगन से विचार किया। कुछ सुझाव स्वीकार कर विषयसामग्री में उनके अनुकूल संशोधन भी हुए। पर पत्रपत्रिकाओं में जो एकाध मत व्यक्त किए गए उनके संदर्भ में कुछ वक्तव्य यहाँ आवश्यक है।

दिवंगत नगेंद्रनाथ वसु के हिंदी विश्वकोश के संबंध में साधारणतः एक भ्रामक धारणा बन गई है। संभवतः इस धारणा को बनाने में विश्वकोश के प्रथम खंड का प्राक्कथन भी कुछ अंश तक सहायक हुआ है। यह प्रकृत्या विश्वकोश नहीं, शब्दकोश और विश्वकोश दोनों है जिसमें उपसर्गो तक के संयोग से बननेवाले विभिन्न शब्दों का समावेश हुआ है। विश्वकोश विषयप्रवण होता है, शब्दार्थप्रवण नहीं। हमारे और वसु महोदय के लक्ष्य में ही आधारिक भिन्नता है, अतः उस संदर्भ में हमारे प्रयास को नहीं देखना चाहिए।

यही भ्रांति ऐसे आलोचकों में भी दिखाई पड़ेगी जो शब्दकोश और विश्वकोश के मौलिक अंतर को नहीं समझ सके हैं। इसी कारण उन्होंने 'आँत', 'अँगूठा', 'आँसू' जैसे शब्दों को भी विश्वकोश में देखने की आशा की है। कुछ लोगों ने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' को हमारे आदर्श मानने का अभिप्राय भी गलत समझा है। उसे आदर्श मानने का अर्थ केवल इतना है कि हमने उस विश्वकोश के विषयसंचयन की दृष्टि, उसका वर्णक्रमीय संगठन तथा साधारण व्यवस्था अपनाई है। उसकी सामग्री का हमने अनुवाद नहीं किया और इसीलिए ब्रिटैनिका के पहले खंड की सामग्री, खोजने पर भी, हमारे पहले खंड में नहीं मिलेगी। इतना ही नहीं, बल्कि ब्रिटैनिका ने प्राच्य देशों के जिन विषयों को अज्ञानवश अथवा महत्वहीन समझकर छोड़ दिया है उन्हें, यदि हमने आवश्यक समझा है तो, अपने कोश में स्थान दिया है, जो एक प्रकार से विश्वकोश के संदर्भ में सुधार भी है।

अनेक विषय, जो विश्वकोश के प्रथम खंड में नहीं मिले या आगे के खंडों में नहीं मिलेंगे, उनके प्रति हम श्रद्धावान् हैं, पर दस खंडों की परिमिति के कारण विवश हैं। उनके संबंध की सामग्री का उपयोग हम तभी कर सकते हैं जब हमारी योजना की सीमा और खंडों की संख्या बढ़ जाय। तथापि बहुत विनीत होकर हम स्वीकार करते हैं कि इस दिशा में, जैसे अन्य दिशाओं में भी, त्रुटियाँ रह गई हैं और आगे भी रह सकती हैं, यद्यपि उनके उन्मूलन के लिए हम निरंतर प्रयत्नशील हैं। हमारे प्रथम खंड का पहला संस्करण समाप्तप्राय है और हम उसके दूसरे संस्करण को अधिकाधिक परिष्कृत और उपादेय बनाने के मार्गोपाय की खोज में हैं।

विश्वकोश का निर्माण अनन्य मेधाओं के संयोग और सैकड़ों वर्षो के परिश्रम का परिणाम होता है। हम तो यहाँ उसका केवल लघु आरंभ कर रहे हैं, बीज बो रहे हैं, जो, हम आशा करते हैं, अगले वर्षो में महत्तर मेधाओं के सक्रिय संयोग से हिंदी के लिये वटवृक्ष बन सकेगा। हमें संतोष है कि अनेक संस्थाएँ, जैसा प्राप्त पत्रों से प्रकट है, हमारे विश्वकोश की पद्धति तथा प्रक्रिया

को प्रमाण और आदर्श रूप में ग्रहण कर रही हैं। पत्रपत्रिकाओं और विद्वानों के पत्रों से प्राप्त सुझावों और टिप्पणियों का हम स्वागत करते हैं और आशा करते है कि उनके सुझावों से हमारा मार्ग निःशूल तथा प्रशस्त होगा।

प्रस्तुत खंड के निर्माण में भी पूर्ववत् विषयों के अधिकारी तथा मूर्धन्य विद्वानों का सहयोग मिला है। संपादक उनकी गवेषणाओं तथा खोजों का उपयोग कर उनके चिरऋणी है। उनके नामों की सूची संलग्न है। इससे विश्वकोश के विषयो के प्रतिपादन की प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है।

विज्ञानानुभाग के संपादक डा० गोरखप्रसाद का निधन हमारे लिये अत्यंत कष्टकर हुआ। उनकी प्रतिभा और प्रयास का समुचित उल्लेख हम शब्दतः नहीं कर पाएँगे। हमारी प्रगति में तो उनकी मृत्यु बड़ी हानिप्रद सिद्ध हुई ही, हिंदी क्षेत्र में विज्ञान के विषयनिर्माण में भी उससे बड़ी क्षति हुई। इसी प्रकार हमारे परामर्शमंडल और संपादकसमिति के अध्यक्ष दिवंगत पंडित गोविंदवल्लभ पंत के वरद हस्त का हट जाना भी हमारे लिये अत्यंत दारुण हुआ। विश्वकोश की प्रगति में उनका आशीर्वाद सहायक था।

शिक्षा मंत्रालय, विशेषकर शिक्षामंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली और उसके संयुक्त सचिव, श्री रमाप्रसन्न नायक, आई० सी० एस०, ने जिस स्नेह से विश्वकोश के कार्य में सहायता की है, उसका आभारोल्लेख करते हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। नागरीप्रचारिणी सभा के अवैतनिक प्रधान मंत्री और विश्वकोश के संयोजक मंत्री, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, ने इस खंड के प्रकाशन में बड़ी तत्परता बरती और प्रत्येक प्रकार से सहायता की है। हमारे नवोदित राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने जो विश्वकोश का समर्पण स्वीकार किया और उसकी प्रगति में निरंतर जो अनुराग दिखाते रहे इससे उनके प्रति हम विशेष आभारी हैं और आशा करते हैं कि उनके आशीर्वाद से यह राष्ट्रीय प्रकाशन सदा शक्ति पाता रहेगा।

—संपादक

द्वितीय खंड के लेखक

अं० प्र० स० — अंबिकाप्रसाद सक्सेना, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गवर्नमेंट सायन्स कालेज, लश्कर, ग्वालियर।

अ० कु० न० — अब्दुल कुद्दूस नएरंग, सी–के० ४३।१२६, गोविंदपुरा कलाँ, वाराणसी।

अ० कु० वि० — अवनींद्रकुमार विद्यालंकार, पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली–१।

अ० गो० झिं० — अनंत गोपाल झिंगरन, डेप्युटी डाइरेक्टर, जिऑलाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, कलकत्ता।

अ० दे० वि० — अत्रिदेव विद्यालंकार, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

अ० मो० — अरविंद मोहन, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

अ० ला० लू० — अवंतिलाल लूंबा, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

आ० वे० — आस्कर वेरक्रूसे, एम० जे०, एल० एस० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अल्वर्ट्स सेमिनरी, राँची।

इ० अ० — इकबाल अहमद, भूतपूर्व प्राध्यापक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

उ० प्र० — उमेश प्रसाद, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, अर्थशास्त्र विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

उ० शं० प्र० — मेजर उमाशंकर प्रसाद, ए० एम० सी० (आर०), एम० बी० बी० एस०, डी० एम० आर० डी० (इंग्लैंड), डी० एम० आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

उ० शं० श्री० — उमाशंकर श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

उ० सिं० — उजागर सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ए० दा० दा० — एरचशाह दारबशाह दारूवाला, बी० एस-सी०, बी० एस-सी० (टेक०), पी-एच० डी० (टेक०, बांबे), पी०-एच० डी० (मैंचेस्टर), ए० आर० आई० सी०, ए० एम० आइ० आइ० केमि० ई०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट सेंट्रल टेक्स्टाइल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

ओं० क० — ओंप्रकाश कपूर, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

ओं० ना० उ० — ओंकारनाथ उपाध्याय, एम० ए०, असिस्टैंट मैनेजर, डेमडिमा टी इस्टेट, पश्चिमी बंगाल।

ओं० प्र० क० — देखिए ओं० क०।

क० त्रि० — कमलापति त्रिपाठी, वित्तमंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ।

क० दे० मा० — कपिलदेव मालवीय, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, नगर स्वास्थ्याधिकारी, मेरठ।

क० दे० व्या० — क० दे० व्यास, होम सायंस विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

क० प० त्रि० — करुणापति त्रिपाठी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

क० प्र० सिं० — कपिलदेवप्रसाद सिंह, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (कैंटब), प्राध्यापक, गणित विभाग, सायन्स कालेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना–५।

क० स० — कन्हैयालाल सहल, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी (राजस्थान)।

का० ना० सिं० — काशीनाथ सिंह, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० प्र० — कार्तिकप्रसाद, बी० एस-सी०, सी० ई०, सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर, पी० डब्ल्यू० डी० (उत्तर प्रदेश), मेरठ।

का० बु० — कामिल बुल्के, एस० जे०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची।

का० स० भा० — कामेश्वरसहाय भार्गव, डी० फिल०, पी-एच० डी० (लंदन), प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

कि० अ० र० — किजिचेरी चंकू अब्दुर रहीम, ऐस्ट्रोफिजिकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, मद्रास।

कृ० कु० पां० — कृष्णकुमार पांडेय, चिकित्सक, हिंदू सेवासदन, बाँस फाटक, वाराणसी।

कृ० द० वा० — कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

कृ० दे० — कृष्णदेव, एम० ए०, अधीक्षक, पुरातत्व विभाग, भूपाल।

कृ० प्र० सिं० — कृष्णदेवप्रसाद सिंह, द्वारा रा० लो० सिं०

कृ० ब० — कृष्णबहादुर, एम० एस-सी०, डी० फिल०, डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

कृ० ब० स० — कृष्णबहादुर सक्सेना, असिस्टैंट प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद।

कृ० स० मा० — कृष्णसरन माथुर, एम० डी०, एफ़० आर० सी० पी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, डिपार्टमेंट ऑव मेडिसिन, सरोजिनी नायडू मेडिकल कालेज, आगरा।

के० श० अ० — केशवशरण अग्रवाल, द्वारा डा० सो० म०।

कैं० जा० डा० — कैंडनाक जान डामनिक, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कै० चं० श० — कैलाशचंद्र शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अस्सी, वाराणसी।

कै० ना० सिं० — कैलाशनाथ सिंह, द्वारा रा० लो० सिं०

खा० चं० — खानचंद, द्वारा धी० व०।

खु० चं० गो० — खुशालचंद गोरावाला, पुस्तकाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

ग० प्र० श्री० — गणेशप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

गा० अ० श० — गायत्री अवस्थी शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अस्सी, वाराणसी।

गि० शं० मि०	गिरिजाशंकर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
गो० क०	महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, एम० ए०
गो० ना० क०	डी० लिट्०, (भूतपूर्व अध्यक्ष, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, वाराणसी), सिगरा, वाराणसी।
गो० ना० धा०	(स्व०) गोपीनाथ धावन, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
गो० प्र०	(स्व०) गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), भूतपूर्व संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
गो० व० पं०	गोविंदवल्लभ पंत, अध्यक्ष, गणित विभाग, बिड़ला इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नालॉजी, मेसरा, बिहार।
गो० वि० ध०	गोलोकविहारी धल, एम० ए० (पटना), एम० ए० (लंदन), अध्यक्ष, संस्कृत एवं उड़िया विभाग, पुरी कालेज, जगन्नाथपुरी।
गौ० कृ० गो०	गौरकृष्ण गोस्वामी, शास्त्री, आयुर्वेदशिरोमणि, श्री राधारमण जी मंदिर, वृंदावन, मथुरा।
चं० प्र०	चंद्रिकाप्रसाद, डी० फिल० (आक्सफोर्ड), रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
चं० ब० सिं०	चंद्रबली सिंह, एम० ए०, अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।
च० भा० पां०	चंद्रभान पांडेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
चं० म०	चंद्रचूड़मणि, एम० ए०, लेखक एवं पुराविद्, साहित्यसहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
ज० कृ०	जयकृशन, बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), पी-एच० डी० (लंदन), एम० आई० ई० (इंडिया), प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
ज० गो० श्री०	जगेश्वर गोपाल श्रीखंडे, पी-एच० डी० (लंदन), एम० एस-सी०, ए० आर० आइ० सी०, निदेशक, सेंट्रल रिसर्च इंस्टिट्यूट फॉर विलेज इंडस्ट्रीज, वर्धा।
ज० ना० स०	जगदीशनारायण सक्सेना, बी० एस-सी०, एल-एल० एम०, लेक्चरर, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
ज० मि०	जगदीश मित्तल, चित्रकार, गगनमहल रोड, हैदराबाद।
ज० मि० व्रे०	जगदीश मित्र व्रेहन, डेप्युटी स्टैंडर्ड्स आफिसर (रोड्स विंग), मिनिस्ट्री ऑव ट्रैंसपोर्ट ऐंड कम्युनिकेशन, नई दिल्ली।
ज०रा० सिं०	जयराम सिंह, एम० एस-सी०, (ए-जी०), पी-एच० डी०, लेक्चरर, कृषि महाविद्यालय, वाराणसी।
ज० सिं०	जगन्नाथ सिंह, एम० एस-सी०, पी०-एच० डी० (वाशिंगटन स्टेट), सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
जि० कु० पा०	जितेंद्रकुमार पाठक, शारीरिक शिक्षा विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी।
जि० कु० मि०	जितेंद्रकुमार मित्तल, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
झ० ला० श०	झम्मनलाल शर्मा, एम० ए०, डी० एस-सी०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।
ता० म०	श्रीमती तारा मदन, एम० ए०, अध्यक्षा, राजनीतिशास्त्र विभाग, सावित्री गर्ल्स कालेज, अजमेर।
ती० रा० म०	तीरथराम महेंद्रू, चेयरमैन, सेंट्रल इंडिया सेंटर ऑव दि इंस्टिटयूट ऑव इंजीनियर्स।
तु० ना० सिं०	तुलसीनारायण सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
त्रि० पं०	त्रिलोचन पंत, एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
थि० डी०	थियोडोर डीन, प्राध्यापक, ऐग्रिकल्चर इंस्टिटयूट, इलाहाबाद।
द० श०	दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
दा० दा० ख०	कैप्टेन दामोदरदास खन्ना, अध्यक्ष, सैनिक शास्त्र विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
दु० च० स०	दुर्गाचरण सक्सेना, एम० ए०, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, सी० जी० (लंदन), लेक्चरर, औद्योगिक अर्थशास्त्र, एच० बी० टेक्नालाजिकल इंस्टिटयूट, कानपुर।
दे० पां०	देवमूर्ति पांडेय, ऐडवोकेट, वाराणसी।
दे० र० भ०	देवीदास रघुनाथराव भवालकर, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
दे० रा० सिं०	देशराज सिंह, एम० ए०, भूतपूर्व लेक्चरर, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
दे० रा० से०	देवराज सेठ, स्क्वैड्रन लीडर, एयर हेड क्वार्टर्स, नई दिल्ली।
दे० शं० मि०	देवीशंकर मिश्र, एम० एस-सी०, एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रधान संपादक, प्राणिशास्त्र, २, हुसेनगंज, लखनऊ।
दे० सिं०	देवेंद्र सिंह, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, एम० डी० (मेडिसिन), रीडर, मेडिसिन, गांधी मेडिकल कालेज तथा चिकित्सक, हमीदिया हॉस्पिटल, भूपाल।
द्वा० प्र० गु०	द्वारिकाप्रसाद गुप्त, हिंदू इंटरमीडिएट कालेज, नगीना (उ० प्र०)।
द्वि० ना० मि०	द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', एम० ए०, रीडर, संस्कृत विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ध० कु०	धर्मेंद्रकुमार, एम० बी० बी० एस०, एम० एस०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, एनाटमी विभाग, मेडिकल कालेज, वारंगल (आं० प्र०)।
धी० ना० म०	(स्व०) धीरेंद्रनाथ मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
धी० व०	धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भाषाविज्ञान और हिंद-ईरानी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
न० क०	नवरत्न कपूर, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व संपादकसहायक, हिंदी विश्वकोश; लेक्चरर, हिंदी विभाग, रणवीर गवर्नमेंट कालेज, संगरूर, पंजाब।
न० कि० प्र० सिं०	नवलकिशोरप्रसाद सिंह, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
न० प्र०	नर्मदेश्वरप्रसाद, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
न० प्र० सिं०	देखिए न० कि० प्र० सिं०।

न० मे० — **नरेश मेहता,** एम० ए०, ६६ ए, लूकरगंज, इलाहाबाद।

न० ला० — **नन्हेंलाल,** एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

न० ला० गु० — **नरेंद्रलाल गुप्त,** प्राध्यापक, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

ना० गो० श० — (स्व०) **नारायण गोविंद शब्दे,** डी० एस-सी० (नागपुर), डी० एस-सी० (एडिन०), एफ० एन० ए० एस० सी०, एफ० आई० ए० एस-सी०, (भूतपूर्व गणित प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर; विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती, तथा सायंस कालेज, नागपुर)।

ना० ना० उ० — **नागेंद्रनाथ उपाध्याय,** एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

ना० सिं० — **नामवर सिंह,** एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, सागर विश्वविद्यालय, लोलार्ककुंड, वाराणसी।

ना० सु० ना० — **ना० सु० नागेंद्रनाथ,** प्रिंसिपल, सायंस कालेज, पटना।

नि० सिं० — **निरंकार सिंह,** बी० एस-सी०, सहायक संपादक, हिंदी विश्वकोश, ना० प्र० सभा, वाराणसी।

नृ० कु० सिं० — **नृपेंद्रकुमार सिंह,** एम० एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प० अ० — **पद्मा अग्रवाल,** एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापिका, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

प० उ० — **कुमारी पद्मा उपाध्याय,** एम० ए०, प्रिंसिपल, आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, खुर्जा।

प० च० — **परशुराम चतुर्वेदी,** एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया।

प० नं० — **परमानंद,** एम० ए०, अवकाश प्राप्त सचिव, माध्यमिक शिक्षा परिषद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान समिति, उत्तर प्रदेश; ३६, चैथम लाइंस, इलाहाबाद २।

प० मा० ना० — **परमेश्वरन पिल्लइ माधवन नायर,** ऐस्ट्रोफिज़िकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, मद्रास।

प० श० — **परमात्माशरण,** एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन) एफ० आर० हिस्ट० एस०, प्राध्यापक, दिल्ली, विश्वविद्यालय, दिल्ली।

पृ० ना० पु० — **पृथ्वीनाथ पुष्प,** एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज, पुंछ (कश्मीर)।

पृ० ना० भा० — **पृथ्वीनाथ भार्गव,** एम० एस-सी०, डी० फिल०, एफ० आइ० सी० एस०, रीडर, ऑर्गेनिक केमिस्ट्री, कॉलेज ऑव सायन्स, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी।

पृ० पु० — देखिए पृ० ना० पु०।

प्यो० अ० बा० — **प्यौत्र अलेक्सीविच बारान्निकोव,** ओरिएंटल इंस्टीटयूट, एकेडमी ऑव साइंसेज, फ्लैट १२४, एस—पेरोवस्काया रोड ४।२, लेनिनग्राद डी ८८, यू० एस० एस० आर०।

प्र० कु० जा० — **प्रशांतकुमार जायसवाल,** एम० ए०, रिसर्च स्कालर, का० हिं० वि० वि०; सिद्धगिरि, वाराणसी।

प्र० कु० से० — **प्रफुल्लकुमार सेठ,** एम० कॉम०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, असिस्टैंट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, सागर युनिवर्सिटी, सागर।

प्र० प्र० — **प्रह्लाद प्रधान,** एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री, वेदशास्त्री, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय, कटक।

प्र० व० — **प्रमीला वर्मा,** लेक्चरर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

प्रि० रं० रा० — **प्रियदारंजन राय,** एम० ए०, एफ० एन० आई०, ५०।१, हिंदुस्थान पार्क, बालीगंज, कलकत्ता।

प्री० दा० — **प्रीतमदास,** प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, कानपुर।

प्रे० चं० अ० — **प्रेमचंद अग्रवाल,** असिस्टैंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

प्रे० ना० श० — **प्रेमनाथ शर्मा,** भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

फू० स० व० — **फूलदेवसहाय वर्मा,** एम० एस-सी०, ए० आई० आई० एस-सी० (भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एवं प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी) संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

बं० सिं० — देखें ब० सिं०

ब० उ० — **बलदेव उपाध्याय,** एम० ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, संस्कृत-पाली-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० प्र० — **बद्रीनारायण प्रसाद,** एफ० आर० एस० ई०, पी-एच० डी० (एडिन०), एम० एस-सी०, एम० बी०, डी० टी० एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, फार्माकॉलोजी तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, पटना, निदेशक, औषध अनुसंधान प्रतिष्ठान, पटना), अबुल आस लेन, पटना।

ब० ना० सिं० — **बद्रीनारायण सिंह,** प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, दिल्ली युनिवर्सिटी, दिल्ली।

ब० नि० — **बलराज निजआहवन,** पी-एच० डी०, एफ० आइ० एम०, एफ० एन० आइ०, नैशनल मेटालर्जिकल लेबॉरेटरी, जमशेदपुर—७।

ब० प्र० रा० — **बच्चाप्रसाद राव,** लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० सिं० — **बलवंत सिंह,** एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी। (वनस्पति और आयुर्वेद संबंधी लेख)

ब० सिं० — देखें ब० सिं०। (भूगोल संबंधी लेख)

बा० कृ० कि० — **बालकृष्ण किमोठी,** एम० एस-सी०, ए० टी० आई०, आइ० जी० इन्स्ट० टेक०, डेवलपमेंट ऑफिसर (कार्पेट्स), डाइरेक्टरेट ऑव इंडस्ट्रीज़, (उ० प्र०), भदोही।

बा० कृ० गु० — **बालकृष्ण गुप्त,** एम० आर० आइ० एन० ए० (लंदन), एम० ए० आइ० आर० टेक० (भारत), एम० आइ० मेक० ई० (लंदन), मुख्य अधिकारी, मर्केंटाइल डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑव इंडिया; रजिस्ट्रार ऑव शिपिंग, कलकत्ता डिस्ट्रिक्ट; कमिश्नर फॉर द पोर्ट ऑव कैलकटा; मेंबर, एक्सपर्ट कमिटी (ट्रैन्सपोर्ट), मिनिस्ट्री ऑव एजुकेशन; मैराइन हाउस, हेस्टिंग्ज, कलकत्ता—२२।

बा० ना० — **बालेश्वर नाथ,** बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), एम० आइ० ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली।

बा० रा० स० — **बाबूराम सक्सेना,** एम० ए०, डी० लिट०, उपाध्यक्ष, पारिभाषिक शब्दावली, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली।

बी० एन० उ० — **बी० एन० उपाध्याय,** शोध छात्र, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

बैं० ना० प्र० — **बैजनाथप्रसाद,** लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बै० पु० — बैजनाथ पुरी, एम० ए०, बी० लिट०, डी० फिल०, प्रोफेसर, भारतीय इतिहास और संस्कृति, नेशनल अकैडमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।

ब्र० रा० चौ० — ब्रजराज चौहान, बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०, एल-एल० बी०, अध्यक्ष, पोस्ट ग्रैजुएट विभाग, डिपार्टमेंट ऑव सोशिऑलोजी, एम० बी० कालेज, उदयपुर।

भ० दा० व० — भगवानदास वर्मा, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डैली (चीफ्स) कालेज, इंदौर; भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रानिकल), संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० प्र० श्री० — भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, अलीगढ़।

भ० शं० या० — भवानीशंकर याज्ञिक, ८ शाहनजफ रोड, हजरतगंज, लखनऊ।

भ० श० उ० — भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०, संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भा० स० — भाऊ समर्थ, जे० डी० आर्ट (बंबई), चित्रकार, गोयनका उद्यान, सोनेगाँव, नागपुर—५।

भि० ज० का० — भिक्षु जगदीश काश्यप, एम० ए०, त्रिपिटकाचार्य, प्रोफेसर और अध्यक्ष, पालि विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भी० गो० दे० — भीमराव गोपाल देशपांडे, बी० ए०, प्रवक्ता, मराठी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बी० २१।२४, कमच्छा, वाराणसी।

भी० ला० आ० — भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भी० शं० त्रि० — भीमशंकर त्रिवेदी, लखनऊ।

भू० कु० मु० — भूदेवकुमार मुखोपाध्याय, एम० ए० (अंग्रेजी, अर्थशास्त्र), प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

भृ० ना० प्र० — भृगुनाथप्रसाद, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, प्राणिशास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भै० ना० उ० — भैरवनाथ उपाध्याय, काय चिकित्सा विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

भो० ना० श० — (स्व०) भोलानाथ शर्मा, एम० ए०, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली।

भो० शं० व्या० — भोलाशंकर व्यास, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० गु० — मन्मथनाथ गुप्त, संपादक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली।

म० द० श० — महेश्वरदयालु शर्मा, एम० ए०, डिप० टी० ई० एफ० एल० (लंदन), विशेष पदाधिकारी, शिक्षा, १९ अशोक मार्ग, लखनऊ।

म० ना० गु० — देखिए, म० गु०।

म० ना० मे० — महाराजनारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, लेक्चरर, जिऑलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० प्र० — महेशप्रसाद, विशेष सचिव, वित्त विभाग, विधान भवन, लखनऊ।

म० ला० श० — मथुरालाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मि० चं० पां० — मिथिलेशचंद्र पांड्या, एम० ए०, भूतपूर्व प्राध्यापक, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

मु० अ० अं० — मुहम्मद अजहर असगर अंसारी, एम० ए०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

मु० म० — (कुमारी) मुगल महमूद, एम० ए०, ६ ड्रमंड रोड, इलाहाबाद।

मु० मो० दे० — मुकुंद मोरेश्वर देसाई, एम० ए० (अंग्रेजी एवं फ्रेंच), रिटायर्ड रीडर (अंग्रेजी), का० हिं० वि० वि०, पुराना डी०।७ क्वार्टर्स, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

मु० रा० — मुद्राराक्षस, एम० ए० (ऑनर्स), दुगावाँ, लखनऊ।

मु० ला० श्री० — मुरलीधरलाल श्रीवास्तव, डी० एस-सी०, एफ० एन० एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

मु० स्व०, व० — मुकुंदस्वरूप वर्मा, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल ऑफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मु० ह० — मुहम्मद हबीब, बी० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, राजनीति, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ़।

मो० चं० — मोतीचंद, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), डाइरेक्टर, प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बंबई—१।

मो० या० — मोहम्मद यासीन, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मो० ला० गु० — मोहनलाल गुजराल, एम० बी० बी० एस० (पंजाब), एम० आर० सी० पी० (लंदन), डाइरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्माकोलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

मो० सिं० — मोती सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रिंसिपल, डिग्री कालेज, गाजीपुर।

मो० सै० — मोहम्मद सैयदउद्दीन, भूतपूर्व प्रोफेसर, वनस्पति विभाग, ओस्मानिया युनिवर्सिटी, हैदराबाद।

मो० सै० उ०

य० र० मे० — वाइ० आर० मेहता, इकॉनॉमिक बॉटैनिस्ट (रबी सीरियल्स), नवाबगंज, कानपुर।

यो० अ० — योगेश अटल, एम० ए०, असिस्टेंट प्रोफेसर ऑव सोशिऑलोजी, इंस्टिटयूट ऑव सोशल सायंसेज, आगरा युनिवर्सिटी, आगरा।

र० कु० — (श्रीमती) रत्नकुमारी, एम० ए०, डी० फिल०, प्रधानाचार्या, आर्य कन्या इंटर कालेज, बेली ऐवेन्यु, प्रयाग।

र० कु० मि० — रमेशकुमार मिश्र, एम० ए०, एल-एल० एम०, रीडर, ला कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

र० चं० क० — रमेशचंद्र कपूर, डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

र० जै० — रवींद्र जैन, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (अवकाश पर आस्ट्रेलिया में विश्वविद्यालय के प्राध्यापक)।

र० प्र० त्रि० — रजनीप्रसाद त्रिपाठी, हाउस सर्जन, श्री शिवप्रसाद गुप्त चिकित्सालय, कबीरचौरा, वाराणसी।

र० मो० — रमेशमोहन, एम० ए०, पी-एच० डी० (लीड्ज), कार्यकारी प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

न० मे०	**नरेश मेहता**, एम० ए०, ६६ ए, लूकरगंज, इलाहाबाद।
न० ला०	**नन्हेंलाल**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
न० ला० गु०	**नरेंद्रलाल गुप्त**, प्राध्यापक, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
ना० गो० श०	(स्व०) **नारायण गोविंद शब्दे**, डी० एस-सी० (नागपुर), डी० एस-सी० (एडिन०), एफ० एन० ए० एस० सी०, एफ० आई० ए० एस-सी०, (भूतपूर्व गणित प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर; विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती, तथा सायंस कालेज, नागपुर)।
ना० ना० उ०	**नागेंद्रनाथ उपाध्याय**, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।
ना० सिं०	**नामवर सिंह**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, सागर विश्वविद्यालय, लोलार्ककुंड, वाराणसी।
ना० सु० ना०	**ना० सु० नागेंद्रनाथ**, प्रिंसिपल, सायंस कालेज, पटना।
नि० सिं०	**निरंकार सिंह**, बी० एस-सी०, सहायक संपादक, हिंदी विश्वकोश, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
नृ० कु० सिं०	**नृपेंद्रकुमार सिंह**, एम० एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
प० अ०	**पद्मा अग्रवाल**, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापिका, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।
प० उ०	**कुमारी पद्मा उपाध्याय**, एम० ए०, प्रिंसिपल, आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, खुर्जा।
प० च०	**परशुराम चतुर्वेदी**, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया।
प० नं०	**परमानंद**, एम० ए०, अवकाश प्राप्त सचिव, माध्यमिक शिक्षा परिषद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान समिति, उत्तर प्रदेश; ३६, चैथम लाइंस, इलाहाबाद २।
प० मा० ना०	**परमेश्वरन पिल्लइ माधवन नायर**, ऐस्ट्रोफिजिकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, मद्रास।
प० श०	**परमात्माशरण**, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन) एफ० आर० हिस्ट० एस०, प्राध्यापक, दिल्ली, विश्वविद्यालय, दिल्ली।
पृ० ना० पु०	**पृथ्वीनाथ पुष्प**, एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज, पुंछ (कश्मीर)।
पृ० ना० भा०	**पृथ्वीनाथ भार्गव**, एम० एस-सी०, डी० फिल०, एफ० आइ० सी० एस०, रीडर, ऑर्गेनिक केमिस्ट्री, कॉलेज ऑव सायन्स, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी।
पृ० पु०	देखिए पृ० ना० पु०।
प्यो० अ० बा०	**प्यौत्र अलेक्सीविच बारान्निकोव**, ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, एकेडमी ऑव साइंसेज, फ्लैट १२४, एस–पेरोवस्काया रोड ४।२, लेनिनग्राद डी ८८, यू० एस० एस० आर०।
प्र० कु० जा०	**प्रशांतकुमार जायसवाल**, एम० ए०, रिसर्च स्कालर, का० हिं० वि० वि०; सिद्धगिरि, वाराणसी।
प्र० कु० से०	**प्रफुल्लकुमार सेठ**, एम० कॉम०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, असिस्टैंट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, सागर युनिवर्सिटी, सागर।
प्र० प्र०	**प्रह्लाद प्रधान**, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री, वेदशास्त्री, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय, कटक।
प्र० व०	**प्रमीला वर्मा**, लेक्चरर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
प्रि० रं० रा०	**प्रियदारंजन राय**, एम० ए०, एफ० एन० आई०, ५०।१, हिंदुस्थान पार्क, बालीगंज, कलकत्ता।
प्री० दा०	**प्रीतमदास**, प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, कानपुर।
प्रे० चं० अ०	**प्रेमचंद अग्रवाल**, असिस्टैंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
प्रे० ना० श०	**प्रेमनाथ शर्मा**, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
फू० स० व०	**फूलदेवसहाय वर्मा**, एम० एस-सी०, ए० आई० आई० एस-सी० (भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एवं प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी) संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
बं० सिं०	देखें ब० सिं०
ब० उ०	**बलदेव उपाध्याय**, एम० ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, संस्कृत-पाली-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ब० ना० प्र०	**बद्रीनारायण प्रसाद**, एफ० आर० एस० ई०, पी-एच० डी० (एडिन०), एम० एस-सी०, एम० बी०, डी० टी० एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, फार्माकॉलोजी तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, पटना, निदेशक, औषध अनुसंधान प्रतिष्ठान, पटना), अबुल आस लेन, पटना।
ब० ना० सिं०	**बद्रीनारायण सिंह**, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, दिल्ली युनिवर्सिटी, दिल्ली।
ब० नि०	**बलराज निजआहवन**, पी-एच० डी०, एफ० आइ० एम०, एफ० एन० आइ०, नैशनल मेटालर्जिकल लेबॉरेटरी, जमशेदपुर–७।
ब० प्र० रा०	**बच्चाप्रसाद राव**, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ब० सिं०	**बलवंत सिंह**, एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी। (वनस्पति और आयुर्वेद संबंधी लेख)
ब० सिं०	देखें ब० सिं०। (भूगोल संबंधी लेख)
बा० कृ० कि०	**बालकृष्ण किमोठी**, एम० एस-सी०, ए० टी० आई०, आइ० जी० इन्स्ट० टेक०, डेवलपमेंट ऑफिसर (कार्पेट्स), डाइरेक्टरेट ऑव इंडस्ट्रीज, (उ० प्र०), भदोही।
बा० कृ० गु०	**बालकृष्ण गुप्त**, एम० आर० आइ० एन० ए० (लंदन), एम० ए० आइ० आर० टेक० (भारत), एम० आइ० मेक० ई० (लंदन), मुख्य अधिकारी, मर्कैंटाइल डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑव इंडिया; रजिस्ट्रार ऑव शिपिंग, कलकत्ता डिस्ट्रिक्ट; कमिश्नर फॉर द पोर्ट ऑव कैलकटा; मेंबर, एक्सपर्ट कमिटी (ट्रैन्सपोर्ट), मिनिस्ट्री ऑव एजुकेशन; मैराइन हाउस, हेस्टिंग्ज, कलकत्ता–२२।
बा० ना०	**बालेश्वर नाथ**, बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), एम० आइ० ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली।
बा० रा० स०	**बाबूराम सक्सेना**, एम० ए०, डी० लिट०, उपाध्यक्ष, पारिभाषिक शब्दावली, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली।
बी० एन० उ०	**बी० एन० उपाध्याय**, शोध छात्र, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।
बै० ना० प्र०	**बैजनाथप्रसाद**, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बै० पु० — **बैजनाथ पुरी**, एम० ए०, बी० लिट०, डी० फिल०, प्रोफेसर, भारतीय इतिहास और संस्कृति, नेशनल अकैडमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।

ब्र० रा० चौ० — **ब्रजराज चौहान**, बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०, एल-एल० बी०, अध्यक्ष, पोस्ट ग्रेजुएट विभाग, डिपार्टमेंट ऑव सोशिऑलोजी, एम० बी० कालेज, उदयपुर।

भ० दा० व० — **भगवानदास वर्मा**, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डैली (चीफ्स) कालेज, इंदौर; भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रानिकल); संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० प्र० श्री० — **भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव**, अलीगढ़।

भ० शं० या० — **भवानीशंकर याज्ञिक**, ८ शाहनजफ रोड, हजरतगंज, लखनऊ।

भ० श० उ० — **भगवतशरण उपाध्याय**, एम० ए०, डी० फिल०, संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भा० स० — **भाऊ समर्थ**, जे० डी० आर्ट (बंबई), चित्रकार, गोयनका उद्यान, सोनेगाँव, नागपुर–५।

भि० ज० का० — **भिक्षु जगदीश काश्यप**, एम० ए०, त्रिपिटकाचार्य, प्रोफेसर और अध्यक्ष, पालि विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भी० गो० दे० — **भीमराव गोपाल देशपांडे**, बी० ए०, प्रवक्ता, मराठी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बी० २१।२४, कमच्छा, वाराणसी।

भी० ला० आ० — **भीखनलाल आत्रेय**, एम० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भी० शं० त्रि० — **भीमशंकर त्रिवेदी**, लखनऊ।

भू० कु० मु० — **भूदेवकुमार मुखोपाध्याय**, एम० ए० (अंग्रेजी, अर्थशास्त्र), प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

भृ० ना० प्र० — **भृगुनाथप्रसाद**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, प्राणिशास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भै० ना० उ० — **भैरवनाथ उपाध्याय**, काय चिकित्सा विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

भो० ना० श० — (स्व०) **भोलानाथ शर्मा**, एम० ए०, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली।

भो० शं० व्या० — **भोलाशंकर व्यास**, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० गु० — **मन्मथनाथ गुप्त**, संपादक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली।

म० द० श० — **महेश्वरदयालु शर्मा**, एम० ए०, डिप० टी० ई० एफ० एल० (लंदन), विशेष पदाधिकारी, शिक्षा, १६ अशोक मार्ग, लखनऊ।

म० ना० गु० — देखिए, **म० गु०**।

म० ना० मे० — **महाराजनारायण मेहरोत्रा**, एम० ए०, लेक्चरर, जिऑलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० प्र० — **महेशप्रसाद**, विशेष सचिव, वित्त विभाग, विधान भवन, लखनऊ।

म० ला० श० — **मथुरालाल शर्मा**, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मि० चं० पां० — **मिथिलेशचंद्र पांड्या**, एम० ए०, भूतपूर्व प्राध्यापक, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

मु० अ० अं० — **मुहम्मद अजहर असगर अंसारी**, एम० ए०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

मु० म० — (कुमारी) **मुगल महमूद**, एम० ए०, ६ ट्रमंड रोड, इलाहाबाद।

मु० मो० दे० — **मुकुंद मोरेश्वर देसाई**, एम० ए० (अंग्रेजी एवं फ्रेंच), रिटायर्ड रीडर (अंग्रेजी), का० हिं० वि० वि०, पुराना डी०।७ क्वार्टर्स, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

मु० रा० — **मुद्राराक्षस**, एम० ए० (ऑनर्स), दुगावाँ, लखनऊ।

मु० ला० श्री० — **मुरलीधरलाल श्रीवास्तव**, डी० एस-सी०, एफ० एन० एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

मु० स्व० व० — **मुकुंदस्वरूप वर्मा**, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल आफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मु० ह० — **मुहम्मद हबीब**, बी० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, राजनीति, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ़।

मो० चं० — **मोतीचंद**, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), डाइरेक्टर, प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम, बंबई–१।

मो० या० — **मोहम्मद यासीन**, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मो० ला० गु० — **मोहनलाल गुजराल**, एम० बी० बी० एस० (पंजाब), एम० आर० सी० पी० (लंदन), डाइरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्माकोलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

मो० सिं० — **मोती सिंह**, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रिंसिपल, डिग्री कालेज, गाजीपुर।

मो० सै० / मो० सै० उ० — **मोहम्मद सैयदउद्दीन**, भूतपूर्व प्रोफेसर, वनस्पति विभाग, ओस्मानिया युनिवर्सिटी, हैदराबाद।

य० र० मे० — **वाइ० आर० मेहता**, इकॉनॉमिक बॉटैनिस्ट (रबी सीरियल्स), नवाबगंज, कानपुर।

यो० अ० — **योगेश अटल**, एम० ए०, असिस्टेंट प्रोफेसर ऑव सोशिऑलोजी, इंस्टिटयूट ऑव सोशल सायंसेज, आगरा युनिवर्सिटी, आगरा।

र० कु० — (श्रीमती) **रत्नकुमारी**, एम० ए०, डी० फिल०, प्रधानाचार्या, आर्य कन्या इंटर कालेज, बेली ऐवेन्यु, प्रयाग।

र० कु० मि० — **रमेशकुमार मिश्र**, एम० ए०, एल-एल० एम०, रीडर, ला कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

र० चं० क० — **रमेशचंद्र कपूर**, डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

र० जै० — **रवींद्र जैन**, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (अवकाश पर आस्ट्रेलिया में विश्वविद्यालय के प्राध्यापक)।

र० प्र० त्रि० — **रजनूप्रसाद त्रिपाठी**, हाउस सर्जन, श्री शिवप्रसाद गुप्त चिकित्सालय, कबीरचौरा, वाराणसी।

र० मो० — **रमेशमोहन**, एम० ए०, पी-एच० डी० (लीड्ज), कार्यकारी प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

र० शं० पां० रमाशंकर पांडेय, बी०एस-सी०, एम०ए०, एल-एल० बी०,संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

र० स० ज० रजिया सज्जाद ज़हीर, एम० ए० (भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय), वजीर मंजिल, वजीर हसन रोड, लखनऊ।

रा० अ० राजेंद्र अवस्थी, एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० अ० द्वि० रामअवध द्विवेदी, एम० ए०, डी० लिट०, रिटायर्ड रीडर (अंग्रेजी), का० हिं० वि० वि०, प्रिंसिपल संत विनोबा कालेज, देवरिया।

रा० कु० रामकुमार, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

रा० कु० स० रामकुमार सक्सेना, एम० एस-सी०, डी० एस-सी० (पेरिस), एफ० एन० आई०, अवकाशप्राप्त प्रोफेसर ऑव बॉटेनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० कृ० मे० रामकृष्ण मेहरा, असिस्टैंट प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय. इलाहाबाद।

रा० गो० चं० राय गोविंदचंद, एम० ए०, पी-एच० डी० भूतपूर्व प्रिंसिपल हरिश्चंद्र डिग्री कालेज कुशस्थली, वाराणसी।

रा० चं० पा० रामचंद्र पांडेय, एम० ए०, एल-एल० बी०, आयकर अधिकारी एवं सहायक मृत्युकर नियंत्रक, लखनऊ।

रा० चं० शु० रामचंद्र शुक्ल, एम० एड०, पी० डिप०, प्राध्यापक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० चं० स० रामचंद्र सक्सेना, एम० एस-सी०, (भूतपूर्व लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, का० हिं० वि० वि०), भदैनी, वाराणसी।

रा० च० रामाचरण, बी० एस-सी० टेक० (शेफील्ड), डा० टेकनीक० (प्राहा), भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ग्लास टेकनॉलोजी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० च० मे० रामचरण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, डी० फिल०, (इलाहाबाद), पी-एच० डी० (लंदन), एफ०, आर० आई० सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

रा० दा० ति० रामदास तिवारी, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

रा० द्वि० रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', एम० ए० (आनर्स), भूतपूर्व प्रिंसिपल, मारवाड़ी कालेज, कानपुर, २१, ऐशबाग कालोनी, लखनऊ।

रा० ना० राजनाथ, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० आई० सी०, एफ० एन० आई०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० जी० एम० एस०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (कार्बनप्रद तंत्र और युग)।

रा० ना० राजेंद्र नागर, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। (ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ईस्ट इंडिया कंपनी, एजिटेटर्स, एडवर्ड, ऐन, कार्नवालिस, काला पहाड़)

रा० ना० मा० राधिकानारायण माथुर, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० नि० रा० रामनिवास राय, एम० एस-सी०, डी० फिल०, प्रिंसिपल, सनातन धर्म कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० पां० रामचंद्र पांडेय, व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—८।

रा० ब० पां० राजबली पांडेय, डी० लिट०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

रा० र० रा० रक्षपाल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लखनऊ), पी-एच० डी० (मैकमिल), एफ० ई० एस० आई०, एफ० आर० ई० एस० (लंदन), रीडर, जूलॉजी डिपार्टमेंट, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० लो० सिं० रामलोचन सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० वृ० सिं० रामवृक्ष सिंह, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० शं० मि० रामशंकर मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० श्या० दू० राधेश्याम दूबे, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, सांध्य महाविद्यालय, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

रा० सिं० राम सिंह, प्राणिकी विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

रा० सिं० तो० रामसिंह तोमर, एम० ए०, डी० फिल०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन, पश्चिमी बंगाल।

ल० कि० सिं० चौ० ललितकिशोर सिंह चौधरी, एम० ए०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।

ल० द० व्या० लक्ष्मीदत्त व्यास, असिस्टेंट क्यूरेटर, भारत कलाभवन, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

ला० शु० लालजी शुक्ल, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गवर्नमेंट धनमंजरी डिग्री कालेज, इंफाल, असम।

ला० त्रि० प्र० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी', ना० प्र० सभा, वाराणसी।

ले० रा० सिं० लेखराज सिंह, एम० ए०, डी० फिल०, असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद।

व० सिं० वसंत सिंह, द्वारा रा० लो० सिं०।

वा० श० अ० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, अध्यक्ष, ललित कला तथा वास्तु विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विं० च० मि० देखें वि० चं० मि०।

विं० प्र० पां० विंध्येश्वरीप्रसाद पांडेय, वाणिज्य विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

विं० वा० प्र० विंध्यवासिनी प्रसाद, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० कां० दा० विमलकांत दावे, सहायक प्राध्यापक, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० कु० मा० विजयेंद्रकुमार माथुर, एम० ए०, संपादक, सामा-

जिक विज्ञान, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, १५।१६, फैजबाजार, दरियागज, दिल्ली।

वि० चं० मि० विनोदचंद्र मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, असिस्टैंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

वि० द० विश्वेश्वरदयाल, डी० एस-सी०, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० ना० पां० विश्वंभरनाथ पांडेय, भूतपूर्व मेयर, इलाहाबाद कारपोरेशन, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

वि० पा० विशुद्धानंद पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० प्र० गु० विश्वंभरप्रसाद गुप्त, एक्जिक्यूटिव इंजीनियर (रेट्स), सेंट्रल जोन, सेंट्रल पी० डब्ल्यू० डी०, एल० वैरेक्स, नई दिल्ली।

वि० मि० च० देखिए वि० चं० मि०।

वि० रा० विक्रमादित्य राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० रा० सिं० विजयराम सिंह, द्वारा रा० लो० सिं०।

वि० सा० दु० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० आइ० सी०, भूतपूर्व प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० त्रि० विश्वनाथ त्रिपाठी, सहायक संपादक, वृहत् हिंदी शब्दसागर, ना० प्र० सभा, वाराणसी।

शं० ना० वा० शंभुनाथ वाजपेयी, सहायक मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

शं० स्व० शंकरस्वरूप, असिस्टैंट प्रोफेसर, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

श० च० शशधर चैटर्जी, एम० एस-सी०, रीडर, प्राणिविज्ञान, विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शां० ला० का० शांतिलाल कायस्थ, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० नं० श० शिवानंद शर्मा, एम० ए०, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सेंट ऐंड्रयूज़ कालेज, गोरखपुर।

शि० ना० ख० शिवनाथ खन्ना, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, आयुर्वेदरत्न, लेक्चरर, सोशल, ऐंड प्रिवेंटिव मेडिसिन विभाग, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० मं० सिं० शिवमंगल सिंह, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय. वाराणसी।

शि० मो० व० शिवमोहन वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० श० मि० शिवशरण मिश्र, एम० टी० (ऑनर्स), एफ० आर० सी० पी०, प्रोफेसर ऐंड हेड ऑव द डिपार्टमेंट ऑव मेडिसिन, लखनऊ युनिवर्सिटी, लखनऊ।

शी० प्र० सिं० शीतलाप्रसाद सिंह, भूगोल विभाग, का० हिं० वि० वि० वाराणसी।

शु० ते० (कुमारी) शुभदा तेलंग, प्रिंसिपल, वसंत कालेज फॉर वीमेन, राजघाट, वाराणसी।

शै० कु० त्रि० शैलेंद्रकुमार त्रिपाठी, बी० २।२२५ सी०, भदैनी, वाराणसी।

श्या० च० दु० श्यामाचरण दुबे, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

श्या० सुं० श० श्यामसुंदर शर्मा, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्री० अ० श्रीधर अग्रवाल, एम० बी० बी० एस०, एम० एस-सी० (पैथालोजी), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

श्री० कृ० श्रीकृष्ण, सी० ई० (ऑनर्स), एम० आइ० ई०, म्यूनिसिपल इंजीनियर, दिल्ली नगर निगम, टाउन हाल, दिल्ली—६।

श्री० कृ० ला० श्रीकृष्ण लाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्री० ध० अ० देखिए श्री० अ०

श्री० ना० मे० श्रीनाथ मेहरोत्रा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

श्री० स० श्रीकृष्ण सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

सं० प्र० टं० संतप्रसाद टंडन, एम० एस-सी०, डी० फिल०, असिस्टैंट प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

स० सद्गोपाल, डी० एस-सी०, एफ० आई० आई० सी०, एफ० आइ० सी०, उपनिदेशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ६, मथुरा रोड, नई दिल्ली।

स० घो० सत्येश्वर घोष, प्राध्यापक तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

स० च० (श्रीमती) सरोजिनी चतुर्वेदी, एम० ए०, द्वारा श्री सुभाषचंद्र चतुर्वेदी, एम० ए०, पी० सी० एस०, डिप्टी कलेक्टर, लखनऊ।

स० दे० वि० सत्यदेव विद्यालंकार, पत्रकार तथा लेखक, ४० ए, हनुमान लेन, नई दिल्ली।

सद्० देखिए स०।

स० पा० गु० सत्यपाल गुप्त, एम० बी० बी० एस०, ए० आर० सी० एस० (एडिन०), डी० आर० एम० एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, आप्थैल्मॉलोजी विभाग, चीफ आई सरजन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० प्र० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०, एफ० ए० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय (ऐल्यूमिनियम)।

स० प्र० सरयूप्रसाद, एम० ए०, एम-एस० सी०, डी० एस-सी०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० आइ० सी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (ईथर)

स० ला० गु० सदनलाल गुप्त, असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस, ऐशबाग, लखनऊ।

स० वि० देखिए स० दे० वि०।

सा० जा० (कुमारी) सावित्री जायसवाल, एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी।

सी० बा० जो० सीताराम बालकृष्ण जोशी, इंजीनियर, जोशी वाडी, मनमाला टैंक रोड, माहिम, बंबई।

सी० रा० जा० सीताराम जायसवाल, एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी० (मिशीगन), रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

सु० कु० अ०	**सुरेंद्रकुमार अग्रवाल,** एल-एल० एम०, सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सु० कु० सिं०	**सुरेंद्रकुमार सिंह,** एम० ए०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।
सु० चं० श०	**सुरेशचंद्र शर्मा,** अध्यक्ष, भूगोल विभाग, एम० एल० के० डिग्री कालेज, बलरामपुर, गोंडा।
सु० ना० त्रि०	**सुरेंद्रनारायण त्रिपाठी,** रीडर, काय चिकित्सा विभाग, का० हिं० विश्वविद्यालय, वाराणसी।
सु० पां०	**सुधाकर पांडेय,** एम० काम०, प्रकाशन मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
सु० प्र० सिं०	**सुरेंद्रप्रताप सिंह,** लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
सु० सिं०	**सुरेश सिंह (कुँवर),** सदस्य, विधान परिषद् (उ० प्र०), कालाकाँकर, प्रतापगढ़।
सै० अ० अ० रि०	**सैयद अतहर अब्बास रिज़वी,** एम० ए०, पी-एच० डी०, पी० ई० एस०, नजरबाग, छावनी मार्ग, लखनऊ।
सै० ए० हु०	**सैयद एहतेशाम हुसेन,** एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, फारसी और उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सै० ल० प०	**सैमुएल लखाजी परमार,** हॉलैंड हाल, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
सो० म०	**सोभाग मल,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, डी० आई० सी०, (भूतपूर्व डेप्युटी डाइरेक्टर-जेनरल इंस्ट्रूमेंट्स), द आब्जर्वेटरी, ए-२, सुजानसिंह पार्क, नई दिल्ली।
सो० वी० सिं०	**सोहनवीर सिंह,** कॉटन डेवलपमेंट ऑफिसर, ऐग्रिकल्चर डिपार्टमेंट, उ० प्र०, लखनऊ।
स्कं० गु०	**स्कंदगुप्त,** एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
ह० कृ० ला०	**हरकृष्णलाल,** बी० एस-सी०, एम० आर० सी० वी० एस०, अतिरिक्त निदेशक, पशुपालन विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।
ह० द० वे०	**हरिदत्त वेदालंकार,** एम० ए०, सुपरिंटेंडेंट, कांगड़ी संग्रहालय, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।
ह० ना० त्रि०	**हरिनाथ त्रिपाठी,** राजनीति विज्ञान विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।
ह० प्रा० भ०	**हरिहर प्राणशंकर भट्ट,** प्राध्यापक, गणित ज्योतिष शास्त्र, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद।
ह० ला० उ०	**हरमंदरलाल उप्पल,** असिस्टैंट डाइरेक्टर, (सॉयल्स), सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली–२०।
ह० शं० चौ०	**हरिशंकर चौधरी,** डी० फिल०, एफ० एन० ए० एस-सी०. पी० ई० एस०, प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
ह० ह० सिं०	**हरिहर सिंह,** एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
हि०	**हिरमण्मय,** एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।
ही० ना० मु०	**हीरेंद्रनाथ मुखोपाध्याय,** एम० ए०, बी० लिट०, सदस्य, लोकसभा, नई दिल्ली।
ही० ला० जै०	**हीरालाल बालचंद्र जैन,** एम० ए०, डी० लिट०, डाइरेक्टर, इंस्टिट्यूट ऑव पोस्ट ग्रैजुएट स्टडीज ऐंड रिसर्च इन प्राकृत जैनलोजी ऐंड अहिंसा, मुजफ्फरपुर।
हु० चं० न०	**हुक्मचंद नय्यिर,** अध्यक्ष, उर्दू विभाग, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।
हृ० के० त्रि०	**हृषीकेश त्रिवेदी,** डी० एस-सी०, डी० आर० ई०, डी० मेट०, प्रिंसिपल, हारकोर्ट बटलर टेक्नॉलोजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

तत्वों की संकेतसूची

संकेत		तत्व का नाम
	Am	अमरीशियम
	En	आइंस्टीनियम
	O	ऑक्सीजन
	I	आयोडीन
	A	आर्गन
	As	आर्सेनिक
	Os	ऑस्मियम
	In	इंडियम
	Yb	इर्टबियम
	Y	इट्रियम
	Ir	इरीडियम
	Eb	एर्बियम
	Sb	एंटिमनी
	Ac	ऐक्टिनियम
	Al	ऐलुमिनियम
	At	ऐस्टेटीन
	C	कार्बन
	Ku	कुर्चातोवियम
	Ca	कैल्सियम
	Cd	कैडमियम
	Cf	कैलिफोर्नियम
	Co	कोबाल्ट
	Cm	क्यूरियम
	Kr	क्रिप्टॉन
	Cr	क्रोमियम
	Cl	क्लोरीन
	S	सल्फर (गंधक)
	Gd	गैडोलिनियम
	Ga	गैलियम
	Zr	जर्कोनियम
	Ge	जर्मेनियम
	Xe	जीनान
	W	टंग्स्टन
	Tb	टर्बियम
	Ti	टाइटेनियम
ट$_{क}$	Tc	टेक्नीशियम
टे$_{ल}$	Te	टेल्यूरियम
टैं	Ta	टैंटेलम
डि	Dy	डिस्प्रोशियम
ता	Cu	कापर (ताम्र)
थू	Tm	थूलियम
थैं	Tl	थैलियम
थो	Th	थोरियम
ना	N	नाइट्रोजन
नि$_{व}$	Nb	नियोबियम
नि	Ni	निकल
नी	Ne	नीऑन
ने$_{प}$	Np	नेप्च्यूनियम
नो	No	नोबेलियम
न्यो	Nd	न्योडियम
पा	Hg	मरकरी (पारद)
पैं	Pd	पैलेडियम
पो	K	पोटैशियम
पो$_{ल}$	Po	पोलोनियम
प्रे	Pr	प्रेज़िओडिमियम
प्रो$_{ट}$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम
प्रो$_{म}$	Pm	प्रोमीथियम
प्लू	Pu	प्लूटोनियम
प्लैं	Pt	प्लैटिनम
फ	Fm	फर्मीयम
फा	P	फॉस्फोरस
फ्रां	Fr	फ्रांसियम
फ्लो	F	फ्लोरीन
ब	Bk	बर्केलियम
बि	Bf	बिस्मथ
बे	Ba	बेरियम
बे$_{ल}$	Be	बेरीलियम
बो	B	बोरन
ब्रो	Br	ब्रोमीन
में	Md	मेंडेलीवियम
मैं	Mn	मैंगनीज
मैं$_{ग}$	Mg	मैग्नीशियम
मो	Mo	मोलिब्डेनम
य	Zn	जिंक, यशद या जस्ता
यू	U	यूरेनियम
यू$_{रो}$	Eu	यूरोपियम
र	Ag	सिलवर (रजत)
रु$_{थ}$	Ru	रुथेनियम
रु$_{ब}$	Rb	रुबिडियम
रे$_{ड}$	Rn	रेडॉन
रे	Ra	रेडियम
रे$_{न}$	Re	रेनियम
रो	Rh	रोडियम
ला	Lw	लारेंसियम
लि	Li	लिथियम
लैं	La	लैंथेनम
लो	Fe	आयरन (लोहा)
ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम
वं	Sn	टिन (वंग)
वैं	V	वैनेडियम
स	Sm	समेरियम
सि	Si	सिलिकन
सि$_{ल}$	Se	सिलीनियम
सी$_{ज}$	Cs	सीज़ियम
सी$_{र}$	Ce	सीरियम
सी	Pb	लेड (सीस)
सें	Ct	सेंटियम
सो	Na	सोडियम
स्कैं	Sc	स्कैंडियम
स्ट्रों	Sr	स्ट्रोंशियम
स्व	Au	गोल्ड (स्वर्ण)
हा	H	हाइड्रोजन
ही	He	हीलियम
है	Hf	हैफ्नियम
है$_{ह}$	—	हैहनियम
हो	Ho	होल्मियम

——:o:——

सु० कु० अ०

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश
ई०	ईसवी
ई० प०	ईसा पश्चात्
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उप०	उपनिषद्
किलो०	किलोग्राम
कि० मी०	किलोमीटर
जि०	जिला
द०	दक्षिण
दे०	देशांतर
द्र०	द्रष्टव्य
प०	पश्चात्; पश्चिम
पू०	पूर्व
फा०	फारेनहाइट
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
मू०	मूलक
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
सं०	संस्कृत
सं० ग्रं०	संदर्भग्रंथ
सेंटी०	सेंटीग्रेड
सें० मी०	सेंटीमीटर
हिं०	हिंदी
हि०	हिजरी

फलकसूची

हिंदी विश्वकोश

खंड २

ट्रानिकी विज्ञान तथा इंजीनियरी की वह शाखा है जिसके अंतर्गत इलेक्ट्रानीय युक्तियों एवं उनके उपयोगों से संबद्ध विषयों का यन किया जाता है। इलेक्ट्रान सिद्धांत तथा प्रथम इलेक्ट्रान युक्तियाँ म में भौतिकी के वैज्ञानिकों द्वारा ही विकसित की गई थीं। बाद में धिक उन्नति हो जाने के कारण इलेक्ट्रानिकी अध्ययन का एक पूर्णत: विषय हो गई। फिर भी आजकल यह वैद्युत् इंजीनियरी की एक शाखा भी जाती है। सन् १८८७ में हर्ट्‌स ने हर्ट्‌सियन तरंगों की खोज की १८९५ में रंट्‌जन ने एक्स-रे नली का आविष्कार किया। लगभग ९२ में मारकोनी ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि बिना तार के वैद्युत् संचारण संभव है। १९०२ में फ्लेमिंग द्वारा दो विद्युदग्रवाले ब का तथा १९०६ में डी फ़ॉरेस्ट द्वारा तीन विद्युदग्रवाले वाल्व का आविर हुआ। इन सब मूल अनुसंधानों ने अन्य बहुत से वैज्ञानिकों के कार्य उत्साहित किया और इन्हीं सामूहिक आविष्कारों तथा उन्नतियों का फल कि आज इलेक्ट्रानिकी एक महत्वपूर्ण विषय हो गई है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियाँ वे युक्तियाँ हैं जिनमें निर्वात में, या किसी गैस में, या किसी अर्धचालक में इलेक्ट्रान के चालन का उपयोग किया जाता इसके उदाहरण इलेक्ट्रान नली तथा ट्रानजिस्टर हैं। इन इलेक्ट्रानीय क्तियों के अध्ययन में न केवल इलेक्ट्रान नलियों तथा अन्य संबद्ध यंत्रों का ययन होता है वरन् इन नलियों से संबद्ध परिपथों का भी अध्ययन किया ता है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: ायनिक तथा प्रकाशविद्युतीय। इस विभाजन का आधार यह है कि युक्तियों के लिये इलेक्ट्रान धारा किस विधि से प्राप्त होती है। इलेक्ट्रान क्तियों को और भी विभाजित किया जा सकता है, जैसे उच्च-निर्वात-त तथा गैसमय युक्ति। उच्च-निर्वात-युक्ति वह युक्ति है जिसमें इलेक्ट्रान चालन निर्वात में होता है। गैसमय युक्ति में इलेक्ट्रान का चालन अल्प- के गैस में होता है। अंत में इलेक्ट्रान युक्तियों को उनके उपयोग के धार पर ही विभाजित किया जा सकता है। इस लेख में इन युक्तियों क्रमानुसार वर्णन किया जायगा। गत कुछ वर्षों में इलेक्ट्रानिकी इतनी क विस्तृत हो गई है कि वर्तमान लेख में केवल मूल सिद्धांतों तथा ख उपयोगों का ही वर्णन संभव है।

उष्मायनिक उत्सर्जन——यदि किसी धातु के टुकड़े को उच्च ताप तक तप्त ा जाय तो उसमें से इलेक्ट्रान बाहर निकालते हैं। यदि धातु का टुकड़ा

चित्र १

...रा तार या ... में रखा ... जिसमें इलेक्ट्रानों की मुठभेड़ ... अणुओं ... साथ ही ... तीय अथवा चुंबकीय क्षेत्र ... न हो, ... वस्तु से टकरा न जायें

वे सीधी रेखा में चलते हैं। यदि एक दूसरा विद्युदग्र (प्लेट) उसी निर्वात में उपस्थित हो और उसे किसी धन विभव पर रखा जाय तो इलेक्ट्रान इसी विद्युदग्र पर एकत्र होंगे और यदि तार द्वारा चित्र १ की तरह दोनों विद्युदग्रों में संबंध स्थापित कर दिया जाय तो इस परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह होने लगेगा। इस प्रकार के निर्वातित काँच के लट्टू (बल्ब) को इलेक्ट्रान नली कहते हैं। उपर्युक्त नली में केवल दो विद्युदग्र रहते हैं; अतएव उसे द्विविद्युदग्र नली (या डायोड) कहते हैं। चित्र १ में बैटरी अ(A) तथा आ(B) का उपयोग क्रमानुसार तंतु को तप्त करने एवं प्लेट को धन विभव पर रखने के लिये किया गया है।

जब तंतु ठंढा होता है तो परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह नहीं होता। जैसे जैसे तंतु को तप्त किया जाता है वैसे वैसे धारा की मात्रा बढ़ती है। रिचार्डसन के नियम के अनुसार परिपथ में धारा की मात्रा प्रधानत: तंतु के ताप पर निर्भर रहती है (देखें **उष्मायन**)। विद्युद्धारा कुछ सीमा तक प्लेट विभव पर निर्भर रहती है। यदि प्लेट पर ऋणात्मक विभव लगा दिया जाय तो धारा का प्रवाह नहीं होगा, क्योंकि तब इलेक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत् क्षेत्र के कारण प्रतिकर्षित होकर तंतु की ओर चले जायँगे; और यदि प्लेट-विभव पर्याप्त धनात्मक न हो तो तंतु से निकले कुछ इलेक्ट्रान प्लेट पर न पहुँच सकने के कारण तंतु के चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। इस इलेक्ट्रानसमूह को अवकाशावेश (स्पेस चार्ज) कहते हैं। प्लेट विभव बढ़ाने पर अवकाशावेश कम हो जाता है और पर्याप्त ऊँचे विभव पर प्लेट सारे

चित्र २

इलेक्ट्रानों को आकर्षित कर लेता है। इस समय विद्युद्धारा संतृप्ति की अवस्था में रहती है। इसके बाद प्लेट-विभव और अधिक बढ़ाने से प्लेट धारा में कोई अंतर नहीं होता। चित्र २ में दो तंतु वाल्व के लिये प्लेट धारा पर प्लेट-विभव का प्रभाव दिखाया गया है।

डायोड——उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि किसी नली में विद्यु-

चित्र ३

द्धारा का प्रवाह केवल एक दिशा में ही हो सकता है। इसी से डायोड नली का मुख्य उपयोग ऋजुकारी (रेक्टिफ़ायर) की तरह प्रत्यावर्ती

हिंदी विश्वकोश

खंड २

ट्रानिकी विज्ञान तथा इंजीनियरी की वह शाखा है जिसके अंतर्गत इलेक्ट्रानीय युक्तियों एवं उनके उपयोगों से संवद्ध विषयों का यन किया जाता है। इलेक्ट्रान सिद्धांत तथा प्रथम इलेक्ट्रान युक्तियाँ म में भौतिकी के वैज्ञानिकों द्वारा ही विकसित की गई थीं। बाद में धिक उन्नति हो जाने के कारण इलेक्ट्रानिकी अध्ययन का एक पूर्णतः विषय हो गई। फिर भी आजकल यह वैद्युत् इंजीनियरी की एक शाखा भी जाती है। सन् १८८७ में हर्ट्‌स ने हर्ट्सियन तरंगों की खोज की १८९५ में रंट्जन ने एक्स-रे नली का आविष्कार किया। लगभग ९२ में मारकोनी ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि विना तार के वैद्युत् संचारण संभव है। १९०२ में फ्लेमिंग द्वारा दो विद्युदग्रवाले व का तथा १९०६ में डी फ़ॉरेस्ट द्वारा तीन विद्युदग्रवाले वाल्व का आविर हुआ। इन सब मूल अनुसंधानों ने अन्य बहुत से वैज्ञानिकों के कार्य उत्साहित किया और इन्हीं सामूहिक आविष्कारों तथा उन्नतियों का फल के आज इलेक्ट्रानिकी एक महत्वपूर्ण विषय हो गई है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियाँ वे युक्तियाँ है जिनमें निर्वात में, या किसी गैस में, या किसी अर्धचालक में इलेक्ट्रान के चालन का उपयोग किया जाता इसके उदाहरण इलेक्ट्रान नली तथा ट्रानजिस्टर हैं। इन इलेक्ट्रानीय क्तियों के अध्ययन में न केवल इलेक्ट्रान नलियों तथा अन्य संवद्ध यंत्रों का ययन होता है वरन् इन नलियों से संवद्ध परिपथों का भी अध्ययन किया ता है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: ऊष्मायनिक तथा प्रकाशविद्युतीय। इस विभाजन का आधार यह है कि युक्तियों के लिये इलेक्ट्रान धारा किस विधि से प्राप्त होती है। इलेक्ट्रान क्तियों को और भी विभाजित किया जा सकता है, जैसे उच्च-निर्वात-क्ति तथा गैसमय युक्ति। उच्च-निर्वात-युक्ति वह युक्ति है जिसमें इलेक्ट्रान चालन निर्वात में होता है। गैसमय युक्ति में इलेक्ट्रान का चालन अल्पव के गस में होता है। अंत में इलेक्ट्रान युक्तियों को उनके उपयोग के आधार पर ही विभाजित किया जा सकता है। इस लेख में इन युक्तियों का क्रमानुसार वर्णन किया जायगा। गत कुछ वर्षों में इलेक्ट्रानिकी इतनी अधिक विस्तृत हो गई है कि वर्तमान लेख में केवल मूल सिद्धांतों तथा मुख उपयोगों का ही वर्णन संभव है।

ऊष्मायनिक उत्सर्जन--यदि किसी धातु के टुकड़े को उच्च ताप तक तप्त किया जाय तो उसमें से इलेक्ट्रान बाहर निकालते हैं। यदि धातु का टुकड़ा

चित्र १

(अथवा तार या तंतु) निर्वात में रखा हो, जिसमें इलेक्ट्रानों की मुठभेड़ वायु के अणुओं से न हो सके और साथ ही कोई विद्युतीय अथवा चुंबकीय क्षेत्र उपस्थित न हो, तो जब तक इलेक्ट्रान किसी दूसरी वस्तु से टकरा न जायँ वे सीधी रेखा में चलते हैं। यदि एक दूसरा विद्युदग्र (प्लेट) उसी निर्वात में उपस्थित हो और उसे किसी धन विभव पर रखा जाय तो इलेक्ट्रान इसी विद्युदग्र पर एकत्र होंगे और यदि तार द्वारा चित्र १ की तरह दोनों विद्युदग्रों में संवंध स्थापित कर दिया जाय तो इस परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह होने लगेगा। इस प्रकार के निर्वातित काँच के लट्टू (बल्व) को इलेक्ट्रान नली कहते हैं। उपर्युक्त नली में केवल दो विद्युदग्र रहते है; अतएव उसे द्विविद्युदग्र नली (या डायोड) कहते हैं। चित्र १ में बैटरी अ(A) तथा आ(B) का उपयोग क्रमानुसार तंतु को तप्त करने एवं प्लेट को धन विभव पर रखने के लिये किया गया है।

जब तंतु ठंढा होता है तो परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह नहीं होता। जैसे जैसे तंतु को तप्त किया जाता है वैसे वैसे धारा की मात्रा बढ़ती है। रिचार्डसन के नियम के अनुसार परिपथ में धारा की मात्रा प्रधानतः तंतु के ताप पर निर्भर रहती है (देखें ऊष्मायन)। विद्युद्धारा कुछ सीमा तक प्लेट विभव पर निर्भर रहती है। यदि प्लेट पर ऋणात्मक विभव लगा दिया जाय तो धारा का प्रवाह नहीं होगा, क्योंकि तब इलेक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत् क्षेत्र के कारण प्रतिकर्षित होकर तंतु की ओर चले जायँगे; और यदि प्लेट-विभव पर्याप्त धनात्मक न हो तो तंतु से निकले कुछ इलेक्ट्रान प्लेट पर न पहुँच सकने के कारण तंतु के चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। इस इलेक्ट्रानसमूह को अवकाशावेश (स्पेस चार्ज) कहते हैं। प्लेट विभव बढ़ाने पर अवकाशावेश कम हो जाता है और पर्याप्त ऊँचे विभव पर प्लेट सारे

चित्र २

इलेक्ट्रानों को आकर्षित कर लेता है। इस समय विद्युद्धारा संतृप्ति की अवस्था में रहती है। इसके बाद प्लेट-विभव और अधिक बढ़ाने से प्लेट धारा में कोई अंतर नहीं होता। चित्र २ में दो तंतु वाल्व के लिये प्लेट धारा पर प्लेट-विभव का प्रभाव दिखाया गया है।

डायोड--उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि किसी नली में विद्युद्धारा का प्रवाह केवल एक दिशा में ही हो सकता है। इसी से डायोड नली का मुख्य उपयोग ऋजुकारी (रेक्टिफ़ायर) की तरह प्रत्यावर्ती

चित्र ३

धारा को दिष्ट धारा में परिवर्तित करने के लिये होता है। चित्र ३ में डायोड एक अर्ध-तरंग-ऋजुकारी की तरह कार्य करता है। प्रत्यावर्ती धारा के अर्धचक्र में जब प्लेट धनात्मक रहता है तभी नली मे धारा का प्रवाह होता है; दूसरे अर्धचक्र में धारा का प्रवाह नही होता। चित्र ४ की प्रथम पक्ति में धारा की मूल दशा तथा पक्ति ३ में ऋजुकृत दशा दिखाई गई है। एक अन्य डायोड का उपयोग करके प्रत्यावर्ती धारा के दूसरे अर्धचक्र का भी उपयोग किया जा सकता है (पक्ति ३)। इस प्रकार के परिपथ को पूर्ण-तरंग-ऋजुकारी कहते है। लगभग सभी इलेक्ट्रानीय उपकरणों में दिष्ट धारा की आवश्यकता को पूरा करने के लिये ऋजुकारी का प्रयोग होता है।
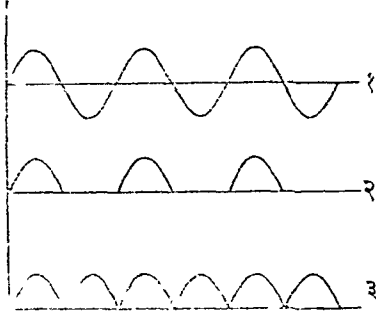
चित्र ४

ग्रिड नियंत्रित इलेक्ट्रान नली—सन १९०६ मे डी फारेस्ट ने इलेक्ट्रान नली मे, प्लेट और ततु के मध्य, जाली के आकार का एक तीसरा विद्युदग्र, जिसे ग्रिड कहते है, और रखा। ग्रिड इस आकार का होता है कि इलेक्ट्रान इसके भीतर से निकलकर प्लेट पर पहुँच सकते है। ग्रिड को कोई विभव देकर प्लेट-धारा को भली भाँति नियत्रित किया जा सकता है। कुछ लोगो का कथन है कि इस नियत्रण-ग्रिड के आविष्कार का ही यह फल है कि हम आज इलेक्ट्रानिकी को इस विकसित रूप में देखते है।

वह नली जिसमें तीन विद्युदग्र होते है—तंतु (ऋणाग्र), ग्रिड और प्लेट (धनाग्र)—ट्रायोड कहलाती है। ट्रायोड का यह लाक्षणिक गुण होता है कि ग्रिड-विभव के थोड़े से परिवर्तन से ही प्लेट-धारा में उससे कहीं अधिक परिवर्तन हो सकता है (देखें **इलेक्ट्रान नली**)। यदि ग्रिड तंतु की अपेक्षा अधिक ऋणात्मक हो और प्लेट ऊँचे धन विभव पर न हो, तो धारा का कोई प्रवाह नही होगा। ग्रिड विभव को कम ऋणात्मक करके यदि धीरे धीरे धनात्मक किया जाय तो प्लेट-धारा बढेगी और अंत में संतृप्ति की अवस्था धारण कर लेगी। ट्रायोड के व्यवहार को कई लेखाचित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। तीन चर (वेरियेबुल्स) द्वारा इसके गुण का वर्णन करते है, जैसे प्रवर्धन-गुणांक (ऐम्प्लिफिकेशन फैक्टर), पट्ट-प्रतिरोध (प्लेट रेजिस्टेंस) तथा अन्योन्य चालकत्व (म्यूचुअल कंडक्टैंस)।

टेट्रोड तथा पेंटोड—कुछ ऐसी भी उन्मायन नलियाँ बनती हैं जिनमें एक के बदले दो या तीन जालियाँ (ग्रिड) होती है। ऐसे चार तथा पाँच विद्युदग्रवाली नलियो को क्रमानुसार टेट्रोड और पेंटोड कहते है। यदि इन जालियो का विभव ठीक प्रकार से निर्धारित किया जाय तो ये नली के व्यवहार को भिन्न प्रकार से परिवर्तित कर देती है। ऐसा होते हुए भी प्रत्येक परिपथ के मूल सिद्धांत वे ही रहते है।

ट्रायोड के उपयोग : (१) प्रवर्धक—ट्रायोड नली का मुख्य उपयोग प्रवर्धक परिपथ में होता है। इस परिपथ मे आदा (इनपुट) की वोल्टता
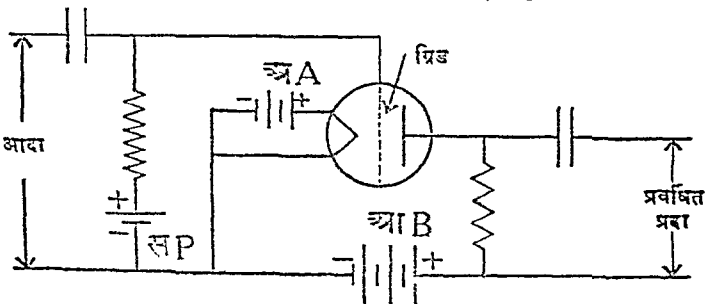
चित्र ५

के थोड़े परिवर्तन से प्रदा (आउटपुट) धारा में अत्यधिक परिवर्तन होता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ५ में दिखाया गया है। प्रायः यह आवश्यक होता है कि एक के बाद एक करके कई प्रवर्धकों का एक साथ प्रयोग किया जाए। दो प्रवर्धकों का संबंध प्रतिरोधक-संधारित्र द्वारा या ट्रांसफार्मर द्वारा किया जाता है।

ग्रिड विभव के अनुसार प्रवर्धकों का वर्गीकरण वर्ग क (A), वर्ग ख (B) तथा वर्ग ग (C) मे किया गया है। इनके उपयोगो का अलग अलग क्षेत्र होता है।

(२) **मूर्च्छक तथा परिचायक**—ट्रायोड का उपयोग आरंभ में रेडियो संकेत के परिचायक के ही रूप में था। रेडियो स्टेशन से ऊर्जा का भली भाति विकिरण करने के लिये आवश्यक है कि एरियल को श्रव्य आवृत्ति से कही अधिक आवृत्ति का विभव दिया जाय। इसी से सकेत को संचारित करने के लिये उच्च वाहक आवृत्ति की मूर्च्छना (मॉड्युलेशन) श्रव्य आवृत्ति द्वारा कर दी जाती है। मूर्च्छना आयाम-परिवर्तन अथवा आवृत्ति-परिवर्तन द्वारा की जाती है। वाहक की आयाम-मूर्च्छना चित्र ६ में दिखाई गई है।
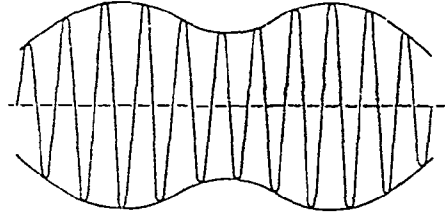
चित्र ६

संग्राही एरियल द्वारा प्राप्त रेडियो संकेत को फिर से श्रव्य बनाने के लिये श्रव्य आवृत्ति को वाहक आवृत्ति से अलग करना पड़ता है। इस क्रिया को परिचायन कहते है।

(३) **दोलक**—ट्रायोड का अन्य मुख्य उपयोग दोलक परिपथों में है। *यदि किसी प्रवर्धक परिपथ के प्रदा का कुछ अंश उसके आदा में लगा दिया* जाय, तो विना किसी प्रत्यावर्ती स्रोत के परिपथ मे विद्युद्धारा औसत मान से घटती बढ़ती रहेगी। और यदि प्रदा या आदा परिपथ किसी आवृत्ति के लिये संस्वरित हो तो यह परिपथ उसी आवृत्ति पर दोलन करता रहेगा। चित्र ७ में इसी प्रकार का एक परिपथ दिखाया गया है, जिसके दोलन की आवृत्ति प्लेट परिपथ द्वारा निर्धारित होती है। प्लेट धारा ट्रांसफार्मर के पूर्ववर्ती में होकर वहती है। यह परवर्ती में एक विद्युद्वाहक बल प्रेरित करती है, जिसके फलस्वरूप सी बैटरी के ग्रिड-अभिनति (वायस) के अतिरिक्त एक अन्य विभव ग्रिड पर लग जाता है। प्रेरकत्व तथा धारित्र के परिमाण द्वारा ही परिपथ के दोलन की मूल आवृत्ति निर्धारित होती है।
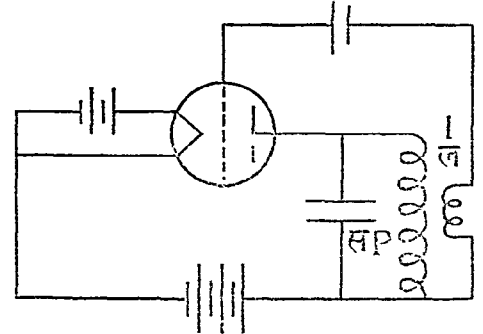
चित्र ७

इस प्रकार के इलेक्ट्रान-नली-दोलकों के नाना प्रकार के उपयोग होते हैं। ये रेडियो प्रेपित्र के मूल अंग होते हैं और वाहक आवृत्ति का उत्पादन करते है। दोलक श्रव्य-आवृत्ति के भी बनाए जा सकते हैं।

गैसयुक्त नली—यदि एक नली में कम दाब पर कोई गैस भरी हो और उसके विद्युदग्रों में उचित विभवांतर स्थापित कर दिया जाय, तो नली में उद्दीप्ति-निरावेश स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में धारा-घनत्व कम होता है, परंतु उसकी अपेक्षा विभवांतर अधिक होता है। धारा का प्रवाह नली में उपस्थित गैसीय आयनों द्वारा होता है। ऐसी उद्दीप्ति-

निरावेश - नली का उपयोग कई प्रकार से किया जा सकता है। इस प्रकार का एक उपयोग शिथिलनदोलक (रिलैक्सेशन ऑसिलेटर) में होता है। यदि दो विद्युदग्रवाली एक गैसीय नली का संबंध चित्र ८ की तरह किया जाय तो संधारित्र का विभव ऐसी आवृत्ति से दोलन करेगा जो संधारित्र
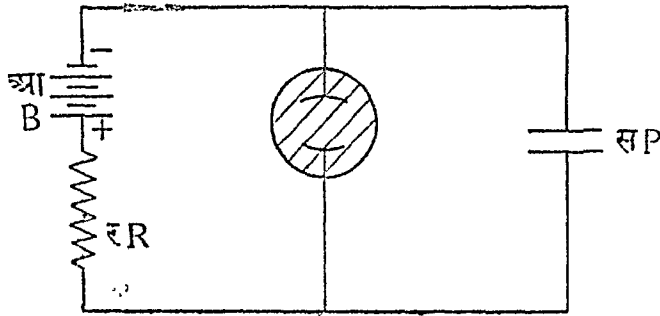
चित्र ८

के धारित्र और प्रतिरोधक के मान पर निर्भर होगा। इस प्रकार की उद्दीप्ति-निरावेश-नली विद्युदग्रों के एक क्रांतिक विभवांतर, वि$_{क्र}$ (V_a), तक पूर्णतया अचालक होती है। तदुपरांत उसमें निरावेश स्थापित हो जाता है। निरावेश फिर तभी लुप्त होता है जब विभवांतर कम होकर वि$_{क}$ (V_a) से नीचे विभव वि$_{ल}$ (V_b) पर पहुँच जाता है।

चित्र ८ में बैटरी आ (B), प्रतिरोधक र (R) द्वारा, संधारित्र स (P) को चार्ज करती है। विभव वि$_{क}$ (V_a) पहुँचने पर नली चालक हो जाती है और संधारित्र से उसमें बहुत अधिक विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। बहुत ही कम समय में संधारित्र का विभव कम होकर वि$_{ल}$ (V_b) तक पहुँच जाता है और निरावेश बंद हो जाने पर संधारित्र फिर से चार्ज होने लगता है। दो निरावेशों के बीच के समय को प्रतिरोधक र (R) द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार का एक परिपथ ऋणाग्र-किरण-दोलन-संलेखी (कैथोड रे ऑसिलॉस्कोप, देखें **ऋणाग्र-किरण-दोलन-लेखी**) में किसी तरंग के आकार का निरीक्षण करने के लिये प्रयुक्त होता है।

किसी गैसयुक्त नली के एक विद्युदग्र को उष्मायन-ऋणाग्र बना दिया जाय तो इलेक्ट्रान धारा की उपस्थिति के कारण निरावेश दूसरी ही प्रकृति का होगा। इसमें बहुत कम विभवांतर पर ही अधिक धारा का प्रवाह हो सकता है। इस प्रकार की नली डायोड अथवा ट्रायोड दोनों ही हो सकती है। डायोड का प्रयोग ऋजुकारी की भाँति होता है और लगभग सभी उच्च क्षमतावाले परिपथों में डायोड गैसयुक्त होता है और उसमें पारद वाष्प भरा रहता है। इस प्रकार की नली की कार्यनिष्पत्ति पूर्ण निर्वातनली
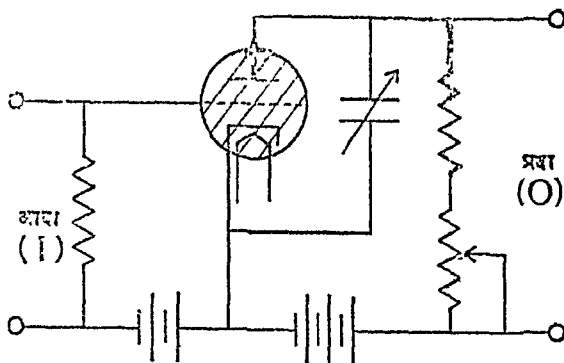
चित्र ९

से कहीं अधिक होती है, क्योंकि इसमें से अधिक धारा का प्रवाह होने पर भी विभव मे बहुत कम वोल्ट का अंतर पड़ता है।

गैसयुक्त नली में निरावेश का नियंत्रण बहुत कम सीमा तक ग्रिड द्वारा किया जा सकता है; इस प्रकार की ग्रिड-नियंत्रित, तप्त ऋणाग्रवाली निरावेश नली को "थायरेट्रान" कहते हैं। थायरेट्रान में ग्रिड धनाग्र को ऋणाग्र से इस प्रकार परिरक्षित कर लेता है कि जब तक ग्रिड का एक उचित विभव न हो जाय, निरावेश स्थापित नहीं हो सकता। निरावेश स्थापित होते ही विद्युद्धारा पर ग्रिड का कोई प्रभाव नहीं होता और ग्रिड विभव कम करने से भी निरावेश नहीं रोका जा सकता। इसके लिये प्लेट विभव कम करने की आवश्यकता होती है।

यदि थायरेट्रान किसी प्रत्यावर्ती-धारा-परिपथ से संबद्ध हो तो यह केवल अर्धचक्र में ही चालक रहेगा, उसके अंत में वह अचालक हो जायगा। यदि ग्रिड विभव क्रांतिक विभव से कम कर दिया जाय तो भी दूसरे चक्र में निरावेश नहीं स्थापित होगा। इस प्रकार की नली का उपयोग "नियंत्रण परिपथों" में अधिक विद्युद्धारा को नियंत्रित करने के लिये होता है।

थायरेट्रान गैस डायोड की तरह "रिलैक्सेशन ऑसिलेटर" में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ९ में दिया गया है।

प्रकाशसंवेदी नली एवं युक्तियाँ—यदि कुछ धातुओं पर बहुत छोटे तरंगदैर्घ्य का प्रकाश पड़े तो उनमें से इलेक्ट्रान बाहर निकल आते हैं (देखें **प्रकाशविद्युत्**)। इलेक्ट्रान की संख्या प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर रहती है। कुछ ऐसे भी धातु बनाए जा सकते हैं जो दृश्य प्रकाश के लिये भी संवेदी होते हैं। यदि एक प्रकाश-विद्युत् ऋणाग्र तथा एक अन्य विद्युदग्र (धनाग्र) किसी निर्वात नली में रख दिए जायँ तो इस संयोजन को प्रकाश विद्युन्नली कहते हैं। यदि धनाग्र को धन विभव पर रखा जाय तो ऋणाग्र पर प्रकाश
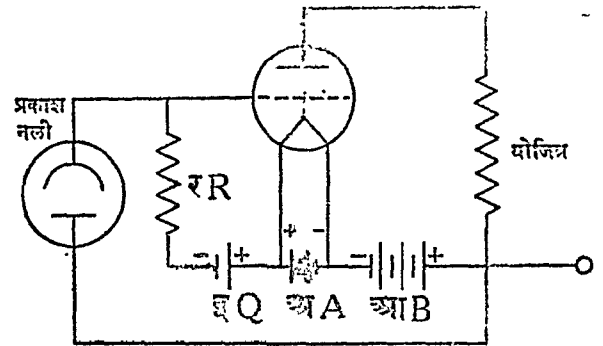
चित्र १०

पड़ने से धारा का प्रवाह होने लगेगा। इस प्रकार के प्रकाश विद्युद्धारा की मात्रा बहुत कम होती है। परंतु फोटो-नली में भर देने से धारा की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। फोटो-नली को किसी भी उपयोग में लाने के लिये प्रकाश विद्युद्धारा का किसी ट्रायोड इत्यादि द्वारा प्रवर्धन करना अत्यावश्यक होता है। इस कार्य के लिये एक साधारण परिपथ चित्र १० में दिया गया है। प्रकाश विद्युद्धारा के कारण प्रतिरोधक र (R) में विभवांतर स्थापित हो जाता है जो ट्रायोड द्वारा प्रवर्धित होता है। इस परिपथ की प्रदा वोल्टता का प्रयोग किसी गणक, योजित्र या अन्य किसी युक्ति को चलाने के लिये किया जाता है। प्रकाश नली के कुछ उपयोगों का वर्णन निम्नलिखित है :

(१) **योजित्र क्रिया**—किसी प्रकाश नली के ऋणाग्र पर पड़ते हुए प्रकाश का नियंत्रित करके योजित्रों और यांत्रिक युक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित किया जा सकता है। इसका उपयोग उद्योग में बनी हुई वस्तुओं की संख्या की गणना करने के लिये बहुत होता है। इसी प्रकार के और भी बहुत से कार्य प्रकाश नली द्वारा लिए जाते हैं।

(२) **ध्वनि पुनरुत्पादन**—चलचित्र फिल्म पर बने ध्वनिपथ को श्रव्य ध्वनि में परिवर्तित करने के लिये उस पथ पर एक नियत किरणावलि डालते हैं। पारगमित प्रकाश एक प्रकाश नली के ऋणाग्र पर पड़ता है और इसकी तीव्रता में परिवर्तन उसी प्रकार से होते हैं जिस प्रकार से ध्वनिपथ में ध्वनि के परिवर्तन अंकित रहते हैं। इसी कारण प्रकाश-नली-धारा ध्वनि-

परिवर्तनों के पूर्णतया समान होती है। इस विद्युद्धारा से किसी लाउडस्पीकर को चलाने के पहले इसको प्रवर्धित करना आवश्यक होता है।

(३) **प्रतिलिपि (फ़ैक्सिमिली) प्रणाली**—इस प्रणाली का प्रयोग किसी चित्र अथवा इसी प्रकार की अन्य किसी वस्तु को एक जगह से दूसरी जगह, तार या रेडियो द्वारा, संचारित करने के लिये करते हैं। प्रथम बार सन् १९२५ में इसका प्रयोग आरंभ हुआ था। इसमें एक किरणावलि चित्र फिल्म के प्रत्येक भाग से होकर जाती है। पारगमित प्रकाश की तीव्रता फिल्म के घनत्व पर निर्भर रहती है और एक प्रकाश नली पर पड़ने पर उसी प्रकार के विद्युत् आवेगों का प्रवाह होता है। इन आवेगों को तार या रेडियो द्वारा दूर तक के ग्राही केंद्रों को भेज दिया जाता है, जहाँ एक प्रकाश नली द्वारा फिर से चित्र तैयार हो जाता है।

प्रकाश वैद्युत् युक्तियों का उपयोग दूरवीक्षण (टेलीविज़न) में भी बहुत होता है।

अन्य इलेक्ट्रानीय युक्तियों को तीन मुख्य भागों में विभाजित करके उनका वर्णन नीचे संक्षेप में किया गया है :

(क) **इलेक्ट्रानीय उपकरणिकाएँ**—निर्वात नली, थायरेट्रान तथा प्रकाश नली में इलेक्ट्रान के उत्पादन तथा नियंत्रण की सहायता से इलेक्ट्रानिकी ने लगभग सभी विषय के वैज्ञानिकों को उनके कार्य के लिये अगणित उपकरणिकाएँ प्रस्तुत की हैं। उनमें से कुछ का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। कुछ अन्य प्रमुख उपकरणिकाओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है :

(१) **दाब प्रमापी**—०·०५ से लेकर $१०^{-४}$ सेंटीमीटर तक की दाब नापने के लिये तापीय युग्म प्रमापी का प्रयोग किया जाता है। इस प्रमापी में दो विभिन्न धातुओं के तार की संधि का संबंध एक तंतु से कर दिया जाता है। तंतु को नियत वोल्टता स्रोत से तप्त किया जाता है। इसका ताप आसपास के वातावरण की उष्मीय चालकता पर निर्भर रहता है और उष्मीय चालकता गैस की दाब पर। तापीय युग्म द्वारा उत्पन्न वोल्टता को नापकर गैस की दाब का अनुमान लगाया जा सकता है।

$१०^{-४}$ से $१०^{-७}$ सेंटीमीटर तक की दाब को नापने के लिये आयनीकरण प्रमापी का प्रयोग किया जाता है। यह एक ट्रायोड होता है, जिसमें तंतु, ग्रिड तथा प्लेट का प्रयोग किया जाता है। तंतु से निकले इलेक्ट्रान और गैस-अणुओं में मुठभेड़ होने पर, गैस के अणु आयनों में विभाजित हो जाते हैं। धन आयनों के ऋणात्मक प्लेट की ओर जाने के कारण आयन धारा का प्रवाह होता है। यह धारा गैस दाब पर निर्भर रहती है और इसको नापने से दाब का अनुमान किया जाता है।

(२) **इलेक्ट्रानीय गणक तथा संगणक**—बहुत से परिपथ विद्युत्स्पंदों की गणना करने के लिये बनाए गए हैं। ऐसे परिपथों का उपयोग नाभिकीय इंजीनियरी में बहुत होता है। इनका मूल सिद्धांत यह होता है कि परिपथ में आदा में कई स्पंदों को लगाने पर प्रदा में एक स्पंद बनता है।
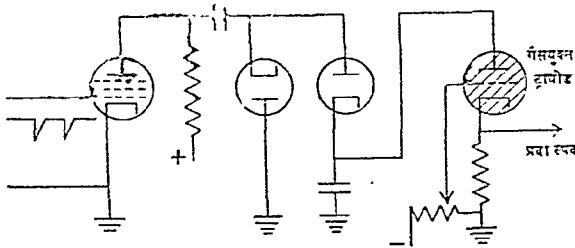
चित्र ११

इन प्रदा स्पंदों से एक यांत्रिक गणक चलाया जाता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ११ में दिया है।

गणक (काउंटर) का सिद्धांत पारिकलन यंत्र (कैल्क्युलेटर) बनाने के लिये भी प्रयुक्त होता है। ये दो प्रकार के होते हैं : आंकिक (डिजिटल) तथा अनुरूप (ऐनालॉग)। आंकिक संगणक में संख्याओं को साधारण अंकों में रखकर कार्य होता है, परंतु अनुरूप संगणक में संख्याओं को किसी भौतिक मात्रा में रूपांतरित करके कार्य होता है।

(३) **इलेक्ट्रानीय निमेषमान**—मैरीसन के सन् १९२७ के आविष्कार के पश्चात् से सूक्ष्मता से समय नापने के लिये इलेक्ट्रानीय निमेषमान का प्रयोग होता है। इस यंत्र से समय इतनी सूक्ष्मता से नापा जा सकता है कि एक दिन में १।१०,००,००,००० भाग से कम का अंतर पड़ता है। इसमें मणिभ (क्रिस्टल) नियंत्रित इलेक्ट्रान-नली-दोलक का उपयोग होता है। स्फटिक-मणिभ-पट्ट (क्वार्ट्ज़ क्रिस्टल प्लेट) की आवृत्तियों को ताप, वायुदाब तथा आर्द्रता से प्रभावित न होने देने के लिये उसको काँच की नली में बंद करके नियत ताप पर रखा जाता है। आवृत्ति-विभाजन-परिपथ द्वारा अंततोगत्वा ६० चक्र प्रति सेकंड की आवृत्ति उत्पन्न की जाती है और उससे समकालिक (सिंक्रोनस) मोटर चलाई जाती है। अंत में इस मोटर द्वारा घड़ी की सुइयाँ चलती हैं।

(४) **हाइड्रोजन-आयन-सांद्रण-मापी (पी-एच मीटर)**—(क) रसायन शास्त्र में कुछ क्रियाओं के अंतर्गत हाइड्रोजन-आयन-सांद्रण (पी-एच मान) का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण होता है। किसी घोल का पी-एच मान दो अर्धसेलों का विभवांतर नापने से ज्ञात किया जा सकता है। इस सेल में एक निर्देश विद्युदग्र होता है और दूसरा विद्युदग्र ऐसा होता है जो हाइड्रोजन आयन से प्रभावित होता है (देखें **रासायनिक उपकरण**)। इन विद्युदग्रों के बीच बहुत ही थोड़ा विभवांतर स्थापित होता है। इस कारण एक प्रवर्धक का भी प्रयोग किया जाता है।

(ख) **संचार में इलेक्ट्रानिकी**—इलेक्ट्रानिकी के अंतर्गत हुए पहले प्रयत्नों का बहुत अधिक संबंध संचार के क्षेत्र से था। रेडियो, दूरवीक्षण, राडार इत्यादि इन्हीं आविष्कारों के फल हैं। ये सब आधुनिक मानव जीवन के मूल अंग हो गए हैं।

(१) **रेडियो प्रेषी**—श्रव्य ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक संचारित करने के लिये रेडियोप्रेषी का प्रयोग किया जाता है। चित्र १२
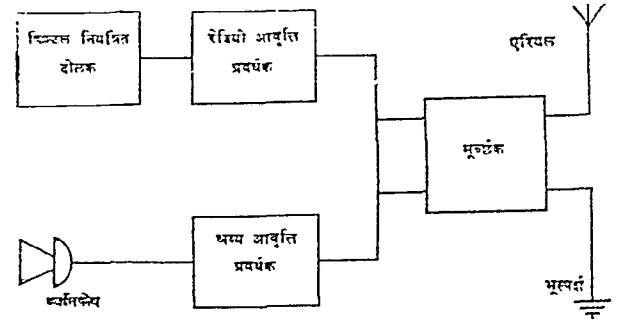
चित्र १२

में आयाम-मूर्च्छित रेडियो-प्रेषी का रेखाचित्र दिया गया है। ध्वनिक्षेप द्वारा उत्पन्न श्रव्य आवृत्ति का पहले प्रवर्धन किया जाता है और फिर इससे रेडियो-आवृत्ति-वाहक की मूर्च्छना (मॉड्युलेशन) करते हैं। मूर्च्छना के पहले रेडियो आवृत्ति का भी प्रवर्धन करना आवश्यक होता है। मूर्च्छना के प्रदा को एरियल द्वारा संचारित कर दिया जाता है। आयाममूर्च्छित रेडियो प्रेषी के अतिरिक्त आवृत्तिमूर्च्छित रेडियोप्रेषी का भी उपयोग किया जाता है।

(२) **रेडियो संग्राही**—रेडियो प्रेषी द्वारा संचारित संकेतों को फिर से श्रव्य बनाने के लिये रेडियो संग्राही की आवश्यकता होती है। एक आधुनिक संग्राही का सांकेतिक चित्र चित्र १३ में दिया गया है। एरियल द्वारा प्राप्त संकेतों को समस्वरित (ट्यूंड) प्रवर्धक से प्रवर्धित करके उसकी वाहक आवृत्ति को एक अन्य अंतःस्थ आवृत्ति में बदल देते हैं। यह कार्य आवृत्ति परिवर्तित्र द्वारा होता है। अंतःस्थ आवृत्तिप्रवर्धन के बाद विसंकालक द्वारा श्रव्य आवृत्ति को वाहक आवृत्ति से अलग कर दिया जाता है। इसे एक बार फिर प्रवर्धित किया जाता है। प्रवर्धक के उत्पाद को लाउडस्पीकर में लगा देने से रेडियो संकेत श्रव्य हो जाता है। (**देखें रेडियो, रेडियो संग्राही**)।

(३) **दूरवीक्षण**—दूरवीक्षण द्वारा किसी चित्र का संचालन एक स्थान से दूसर स्थान तक वैद्युत् संकेतों के रूप में होता है। इस उपकरण का विशेष उपयोग जनता के मनोरंजन तथा शिक्षा के लिये होता है। चित्र

पिछले कुछ वर्षों में संसार में अनेकानेक आश्चर्यजनक वस्तुओं का आविष्कार हुआ है। इस नए विज्ञान के द्वारा तारों की, उद्योग, कृषि तथा चिकित्सा विज्ञान में प्रेरणादायक तथा वृहत् क्षेत्रों के द्वार खुल गए हैं।
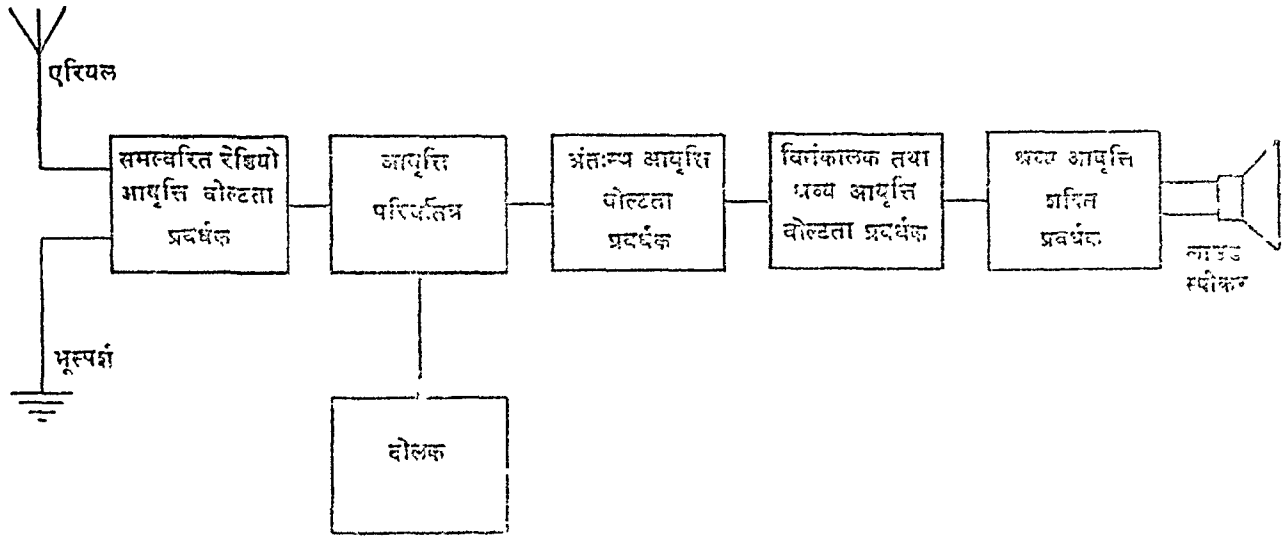
को वैद्युत संकेत में परिवर्तित करने के लिये विशेष प्रकार की प्रकाश नली (जैसे इमेज ऑर्थीकॉन तथा विडीकॉन) का प्रयोग किया जाता है। संग्राही केंद्र पर विद्युत् संकेतों को फिर से संचारित चित्र में बदलने के लिये एक अन्य प्रकार की नली "काइनॉस्कोप" का प्रयोग किया जाता है (देखें दूरवीक्षण)।

(४) **राडार**—सन् १९२२ में टेलर ने यह देखा कि यदि कोई जहाज रेडियो तरंग के पथ में आ जाता है तो ऊर्जा का कुछ अंग परावर्तित होकर रेडियो प्रेषी पर लौट आता है। आधुनिक युग में इस प्रेक्षण का उपयोग राडार के रूप में होता है। किसी वायुयान, पनडुब्बी (नबमैरीन) तथा जलयान की स्थिति का पता लगाने तथा इनके नौतरण में राडार बहुत अधिक सहायता करता है। राडार में एक प्रेषी अत्यंत शक्तिशाली तथा अल्प-कालिक स्पंदों को संचारित करता है। किसी पदार्थ से परावर्तित होकर ऊर्जा का कुछ अंश प्रेषी पर वापस आ जाता है। इस प्रतिध्वनि के वापस आने तक के समय के अंतर को नापकर परावर्तक की दूरी का ज्ञान हो सकता है। अनुदिक एरियल का प्रयोग करके परावर्तक की दिशा का भी ज्ञान हो सकता है (देखें राडार)।

(ग) **उद्योग में इलेक्ट्रानिकी**—द्र० 'उद्योग में इलेक्ट्रानिकी'।

सं०ग्रं०—एफ़० ई० टर्मन : इलेक्ट्रानिक ऐंड रेडियो इंजीनियरिंग (१९५५); जी० एम० शूट : इलेक्ट्रॉनिक्स इन इंडस्ट्री (१९५६); आर० एस० ग्लास्गो : प्रिंसिपुल्स ऑव रेडियो इंजीनियरिंग (१९३६); एम० सीली : इलेक्ट्रॉनिक्स (१९५१)। (शं० स्व०)

(५) **माइक्रोइलेक्ट्रानिकी**—इलेक्ट्रॉनिकी की एक विशिष्ट शाखा का नाम माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी है। माइक्रो का अर्थ है सूक्ष्म अर्थात् छोटा और इलेक्ट्रॉनिकी अर्थात् विज्ञान की वह शाखा जिसमें इलेक्ट्रॉनों के आचरण का और उनकी नियंत्रित गति का उपयोग करनेवाली युक्तियों का अध्ययन किया जाता है। माइक्रोइलेक्ट्रानिकी के अंतर्गत छोटी छोटी इलेक्ट्रानिक युक्तियों का तथा उनके उपयोग का अध्ययन किया जाता है।

आधुनिक विज्ञान और तकनीकी द्वारा उत्पन्न माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी ने एक नए विश्व का दर्शन कराया है। यह नया विश्व अतिसूक्ष्म इलेक्ट्रॉनिक युक्तियों का विश्व है। जिन तारों से उन्हे अन्य पुरजों के साथ जोड़ा जाता है वे अत्यंत सूक्ष्म होते है—मनुष्य के बाल से भी दो या तीन गुना महीन। यह टेलीविजन, संचार, रेडियो और कितने ही घरेलू तथा औद्योगिक उपयोग के क्षेत्रों में मनुष्य के आगे अप्रत्याशित संभावनाओं के द्वार खोल देती है।

माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी की तकनीक की उपयोगिता अतंरिक्ष यात्रा में बेमिसाल साबित हुई है क्योंकि अतंरिक्ष यानों के जटिल यंत्र माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी की ही तकनीकियों पर निर्मित है। बहरों के लिये छोटे छोटे इयर फोन की उपलब्धि इसी विज्ञान के कारण हुई है। छोटे और पोर्टेबल टेलिविजन सेट माइक्रोइलेक्ट्रानिकी की तकनीकियों के उपयोग से ही बन सके है और टेलीफोन नबर के व्यस्त होने पर स्वतः बारबार डायल करनेवाले टेलीफोन भी बन गए है।

माइक्रोइलेक्ट्रानिकी किसी भी देश के विज्ञान और तकनीकी की क्षमता को आँकने की एक कसौटी है। इस क्षेत्र में प्रगति तभी संभव है जब देश की प्राविधिक क्षमता और वैज्ञानिक स्तर काफी ऊँचे हों। सोवियत रूस ने माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी के क्षेत्र में सराहनीय उन्नति की है। माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी के एकीकृत परिपथ से वृहदाकार यंत्रों का आकार सौ गुना से भी ज्यादा कम हो गया है।

एकीकृत परिपथ भी एक प्रकार का लघु परिपथ होता है। इसका वास्तविक आकार १.६ × १.६ मिलीमीटर होता है। यह उन्हीं पुरजों के तानों बानों से जुड़ा हुआ रेडियो का परिपथ है जिन्हे आप किसी भी रेडियो या ट्रांजिस्टर को खोलकर देख सकते है। अंतर केवल इतना ही है कि ये पुरजे अत्यंत छोटे रूप में है, और इतने छोटे है कि इन सबको एक में सटा दिया जाय तो वे राई के दाने के बराबर हो जाएँगे। फिर भी इसमें पुरजों की संख्या ४७ है। अतएव ऐसे पुरजों के दो या तीन संमिश्रण एक टेलीविजन अथवा रेडियो सेट के लिये पर्याप्त होंगे।

माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी के इतने छोटे छोटे पुरजों को बनाने के लिये बड़ी जटिल युक्तियाँ और तरीकों को उपयोग में लाया जाता है। इतने छोटे परिपथ में पतले तारों का जोड़ना भी एक समस्या है पर लेसर बीम तथा इलेक्ट्रॉन बीम के द्वारा अब यह संभव हो गया है।

माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी की युक्तियों के आविष्कार से इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का वजन तथा आकार घटकर इतना छोटा हो गया है कि उन्हें देखने के लिये सूक्ष्मदर्शी की आवश्यकता भी पड़ने लगी है।

माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी के उपयोग का एक प्रमुख क्षेत्र अभिकलित्र प्रविविधियों में है। सोवियत संघ में ऐसे एकीकृत परिपथों का निर्माण किया गया है जिनके मुख्य अवयव सूक्ष्म लेसर है। लेसर सोवियत संघ एवं अमरीका द्वारा निर्मित की गई नई युक्तियाँ है, जो प्रकाश की सुई जैसी महीन किरणावली का उत्सर्जन करती है। लेसर बीम (लेसर किरणावली) द्वारा परिकलनयंत्र (कैलक्युलेटर) की गति को कई गुना बढ़ाया जा

सकता है। हमारे देश में भी, विशेषत: भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, ट्रांबे में, माइक्राइलेक्ट्रानिकी की तकनीक पर तेजी से कार्य हो रहा है एवं निकट भविष्य में ही हम इस तकनीक से लाभान्वित हो सकेंगे, ऐसा लोगों का विश्वास है। (नि० सिं०)

इलेक्ट्रानीय वाद्ययंत्र ऐसे यंत्रों को कहते हैं, जिनमें विद्युत् शक्ति से वाद्ययंत्रों की सी ध्वनि उत्पन्न की जाती है। ये यंत्र दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो दूसरे वाद्ययंत्रों के कंपन का वर्धन (ऐंप्लिफ़िकेशन) करते हैं, और दूसरे वे जो स्वयं विद्युत्तरंगों का जनन करके, वर्धन के पश्चात् उन्हें ध्वनि में परिवर्तित कर देते हैं।

पहले प्रकार के यंत्र वायलिन अथवा सरोद ऐसे वाद्ययंत्रों की ध्वनि-पेटिकाओं पर लगाए जाते हैं। इनसे वाद्ययंत्रों के यांत्रिक कंपन को (वायु कंपनों को नहीं) ट्रांसड्यूसर द्वारा विद्युत्कंपन में परिवर्तित किया जाता है। वर्धन के पश्चात् यह विद्युत्कंपन उद्घोपित्र (लाउडस्पीकर) द्वारा ध्वनि में रूपांतरित किया जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि टेप रेकार्डर को इलेक्ट्रॉनीय वाद्ययंत्र नहीं कहा जाता, क्योंकि इसमें दूसरे वाद्ययंत्रों की ध्वनि माइक्रोफोन द्वारा संग्रह कर ली जाती है और इच्छानुसार सुनी जा सकती है। टेप रेकार्डर अपनी ध्वनि नहीं उत्पन्न करता।

दूसरे प्रकार के यंत्रों का सर्वप्रथम उदाहरण डडेल ने १९०० ई० में आविष्कृत किया। इसे गायक चाप (सिंगिंग आर्क) कहते हैं। जब वैद्युत दिष्ट धारा (डी० सी०) के आर्क के पार्श्व में एक प्रेरक (इंडक्टेंस) और वैद्युत धारित्र (कैपेसिटी) जोड़ दिए जाते हैं तो आर्क में से एक ध्वनि प्रस्फुटित होती है, जिसकी आवृत्ति

आ = १/२ π √(प्रे × धा) $N = 1/2\pi\sqrt{(I \times C)}$

जहाँ प्रे (I) = प्रेरक, धा (C) = धारित्र। प्रेरक या धारित्र के बदलने से ध्वनि का तारत्व बदल जाता है।

सन् १९०० के बाद से अब तक कई प्रकार के इलेक्ट्रानीय वाद्ययंत्रों का निर्माण हो चुका है। इनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। रेडियो वाल्व के आविष्कार के कारण पूर्ण स्वरतालिका सहित वाद्ययंत्रों का निर्माण संभव हो गया है। एक तालिका के दबाने से एक निश्चित आवृत्ति के दोलक का संबंध उद्घोपित्र (लाउडस्पीकर) से हो जाता है। इस विधान में प्रत्येक सुर के लिये कम से कम एक रेडियो वाल्व अलग से चाहिए। अतएव यह वाद्ययंत्र व्यापारिक दृष्टि से सफल नहीं हो सका। इसका प्राथमिक मूल्य अधिक और परिपालन कठिन था। आजकल ट्रैंज़िस्टरों के आविष्कार से यह समस्या सरल हो गई है, क्योंकि ट्रैंज़िस्टर माप में छोटे होते हैं, उनमें बहुत कम विद्युत्शक्ति की आवश्यकता होती है और वे बहुत टिकाऊ होते हैं। वाद्यध्वनि के तीन गुण होते हैं: तारत्व (पिच), उद्घोपता (लाउडनेस) तथा लक्षण (टिंबर)। लक्षण बहुत कुछ आवर्तक (हार्मोनिक्स) और दूसरे सुरों के मिश्रण तथा विद्युत्परिपथ (सरकिट) पर निर्भर रहता है। इसका उल्लेख नीचे किया जायगा।
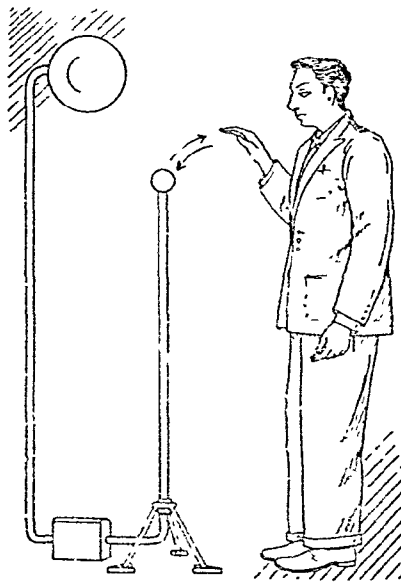
थेरेमिन

लीओ थेरेमिन नामक एक रूसी के बनाए वाद्ययंत्र का नाम उसी के नाम पर थेरेमिन प्रसिद्ध है। इसमें दो उच्चावृत्ति (हाई फ्रीक्वेंसी) दोलक प्रयुक्त होते हैं। एक दोलक की आवृत्ति स्थिर रखी जाती है और दूसरे की आवृत्ति हाथ या धातु की छड़ी खुले हुए धारित्र के समीप ले जाने से बदली जा सकती है। सामान्यत: यह धारित्र एक स्टैंड के सबसे ऊपरवाले हिस्से में लगाया जाता है (चित्र देखें)।

हाथ या छड़ी के हिलने से विद्युद्धारिता में परिवर्तन होता है और फलस्वरूप इस दोलक की आवृत्ति भी ऊपर दिए समीकरण के अनुसार बदल जाती है। इन दोनों आवृत्तियों को मिलाने से जो ध्वनि आवृत्ति उत्पन्न होती है उसका वर्धन करके लाउडस्पीकर में लगा दिया जाता है। स्पष्ट है कि ध्वनि का तारत्व लगातार संपूर्ण श्रव्य क्षेत्र तक बदला जा सकता है। हाथ या छड़ी को एक स्थान पर स्थिर रखने से एक ही सुर तथा दूसरे स्थान पर स्थिर रखने से दूसरा सुर निकलता है। इस प्रकार इस यंत्र से अत्यंत मधुर संगीत उत्पन्न किया जा सकता है। इसके पश्चात् इस यंत्र का एक नया रूप आविष्कृत हुआ है, जिसमें प्रत्येक सुर के लिये एक तालिका (की) दबानी पड़ती है। तालिका दबने पर एक नियत धारित्र का संबंध परिवर्तनशील दोलक से हो जाता है और तारत्व क्रमानुसार संगीतस्वर के सुरों में बदला जा सकता है।

सन् १९३० में जर्मनी की टेलीफुंकेन कंपनी ने ट्राटोनियम नामक यंत्र का निर्माण किया। इसमें ध्वनि का तारत्व और उद्घोपिता दोनों बदली जाती हैं। यह बाजा एक तार पर उँगली चलाकर बजाया जाता है। जिस स्थान पर तार दबाया जाता है उसके अनुसार ध्वनि का तारत्व निकलता है और जितनी अधिक दाब से तार दबाया जाता है उतनी ही अधिक उद्घोपता होती है। इस यंत्र में एक ग्रिड-उद्दीप्त-वाल्व (ग्रिड-ग्लो-ट्यूब) आवृत्ति उत्पन्न करता है। ग्रिड के विभव (पाटेंशियल) के अनुसार आवृत्ति होता है। तार विद्युत्प्रतिरोधक धातु का बना होता है और एक चालक धातुपट्टिका के थोड़ा ऊपर तना रहता है। नियंत्रित स्थानों पर तार दबाने से पट्टिका का विभव क्रमानुसार बदलता है, साथ ही पट्टिका भी अपने स्थान से उँगली की दाब के अनुसार हिल जाती है। पट्टिका के संचलन से ध्वनि की उद्घोपता बदलती है। इस यंत्र से संतापजनक संगीत सुना जा सकता है।

सन् १९३५ में लारेंस हैमांड ने अमरीका में हैमांड आरगन का आविष्कार किया। इसमें स्वरतालिका का प्रयोग होता है और गिरजाघर के आरगनों की भाँति ध्वनिकंपन उत्पन्न किया जा सकता है।

हाल ही में संश्लिष्ट वाग्ध्वनि उत्पन्न करने में बहुत प्रगति हुई है। निकट भविष्य में यह संभव है कि संश्लिष्ट वाक्संगीत (गान) के यंत्र भी बनने लगें, पर ऐसे यंत्र बहुत ही जटिल होंगे। (ब० ना० सिं०)

इलेर्दा का युद्ध इटली के इतिहास में बड़े महत्व का था। यह ४९ ई० पू० मार्च ९ और जुलाई २ के बीच लड़ा गया था। इसके नायक प्रजातांत्रिक दल के नेता जूलियस सीज़र और अभिजातवर्ग के नेता पांपेइ थे। सीज़र ने अपने दो महीनों के अभियान में समूचे इटली पर अधिकार कर लिया। फिर भी वह इटली का स्वामी न हो सका क्योंकि पांपेइ की शक्ति ग्रीस आदि पूरबी देशों में बड़ी थी और वह इटली को मिस्र, सिसिली और सार्दीनिया से जानेवाली रसद काट सकता था, फिर उसकी स्पेनी सेनाएँ इटली और गाल दोनों के लिये भीषण खतरा थीं। सो सीज़र पहले स्पेन की ओर बढ़ा। वहाँ पांपेइ स्वयं तो नहीं था पर उसके शक्तिमान सेनापति अफ्रानियस और पेत्रियस विशाल सेनाओं के साथ संनद्ध थे। इलेर्दा के सिकोरिस नदवर्ती कस्बे में उनकी सेनाएँ पड़ाव डाले जमी थीं। सीज़र ने हमला किया पर उसे मुँह की खानी पड़ी। फिर तो रक्तपात छोड़ चालों की लड़ाई शुरू हुई। दाँवपेंच चलने लगे और अंत में अफ्रानियस की सेनाओं को घेर, उसे जलविहीन कर सीज़र ने संधि करने पर मजबूर किया। चालों और वातों की लड़ाई में इलेर्दा के युद्ध के समान संसार का संभवत: कोई दूसरा युद्ध नहीं। राजनीतिक दृष्टि से भी इसने पांपेइ को यूरोप से काट दिया और उसे एशियाई देशों की शरण लेते हुए अपनी मौत की ओर प्रयाण करना पड़ा। (ओं०ना०उ०)

इल्कल नवीन कर्नाटक राज्य में बीजापुर जिले (पहले बंबई राज्य) के हुनगुंद तालुका में हुनगुंद से ८ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित एक छोटा नगर है। (१५° ५७' उ० अ० एवं ७६° ७' पू० दे०)। यह नगर जिले के बड़े व्यापारिक नगरों में से एक है और यहाँ बुनाई एवं रँगाई का उद्योग प्रमुख है। यहाँ से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में रेशमी तथा सूती कपड़े और कृपि की उपजें मुख्य है। दक्षिणी स्त्रियों के पहनावे के उद्योग के लिये भी यह प्रसिद्ध है। यहाँ आधुनिक ढंग से निर्मित वासंकरी, बसवन्ना एवं व्यांकोवा के तीन मंदिर बहुत ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ पौप पूर्णिमा को प्रति वर्प वड़ा मेला लगता है। (का०ना०सिं०)

इल्तुतमिश, सुलतान शम्सुद्दीन (शासनकाल १२११-१२३६ ई०) गुलाम वंश का तीसरा शक्तिशाली वादशाह जिसे भारत में दिल्ली की सुल्तानशाही को स्थायी बनाने का श्रेय है। इल्तुतमिश इल्वरी कवीले से संबद्ध उच्चवंशीय तुर्क था और एक दास के रूप में कुतुबुद्दीन ऐवक के साथ भारत आया था। उसका विवाह कुतुबुद्दीन की पुत्री से हुआ था। सन् १२१० में कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी आराम गद्दी पर वैठा। किंतु वह एक वर्प ही शासन कर पाया था कि गद्दी से उतार दिया गया और शम्सुद्दीन (धर्म का सूर्य) उपाधि धारण करके इल्तुतमिश दिल्ली का वादशाह वना। दिल्ली के अमीर, भारत के हिंदू राजा, कुतुबुद्दीन का दूसरा दामाद कुबैचा और श्वसुर अल्दोज सभी इल्तुतमिश के विरोधी थे क्योंकि उनकी दृष्टि में वह 'दास का दास' था। वादशाह ने वड़े ही धैर्य से काम लिया और शीघ्र ही अमीरों के समस्त विरोध को निरस्त कर दिया। इतना ही नहीं, उसने वड़े कौशल से, उत्तर में शिवालिक पर्वतश्रेणी और पूर्व में वनारस तक अपना प्रभुत्व स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की। १२१६ ई० में, तराइन के युद्ध में उसने अल्दोज को हराया और पंजाव पर अधिकार कर लिया। १२१७ ई० में उसने कुबैचा को भी लाहौर से खदेड़ दिया, हालाँकि उसके उपद्रव बहुत वाद तक जारी रहे। इसी वीच सुल्तान के लिये एक नया खतरा पैदा हो गया। यह खतरा क्रूर विजेता चंगेज खाँ के नेतृत्व में भारत की ओर वढ़ रहे वर्वर मंगोलों की ओर से था। चंगेज खाँ ख्वारिज्म के अंतिम शाह जलालुद्दीन मंगवरनी का पीछा करता हुआ सिंधु नदी तक आया लेकिन भारत की गर्मी उसके सैनिक वर्दाश्त न कर सके, अतः वह वापस चला गया (१२२१ ई०)। इससे इल्तुतमिश को बहुत लाभ हुआ। शाह ख्वारिज्म ने कुबैचा से युद्ध करके उसकी शक्ति को क्षीण कर दिया और काफी वाद में जव इल्तुतमिश ने कुबैचा को दवाया तो भागते हुए वह सिंधु नदी में डूबकर मर गया (१२२८ ई०)।

मालवा और बुंदेलखंड पर भी इल्तुतमिश ने चढ़ाई की। १२२६ ई० में रणथंभौर का सुदृढ़ दुर्ग उसके अधिकार में आ गया और १२३२-३३ में उसने ग्वालियर तथा उज्जैन के किलों पर कब्जा कर लिया। उज्जैन में उसने महाकाल के मंदिर को निर्दयता के साथ नष्ट किया। सन् १२२८ में वगदाद के खलीफा की ओर से उसे "हिंद-इस्लामी-सल्तनत" के सुल्तान के रूप में मान्यता मिल गई। इससे उसके उन सभी विरोधियों का मुँह वंद हो गया जो उसे दिल्ली के सिंहासन का जायज अधिकारी नहीं समझते थे।

दिल्ली में कुतुवमीनार और उसके आसपास के भवनों को पूरा कराने का श्रेय भी इल्तुतमिश को दिया जाता है। भारत में सबसे पहले उसी ने अरवी सिक्कों का प्रचलन किया। चाँदी का 'टंका', जिसका भार १७५ ग्रेन होता था, मानक मुद्रा के रूप में जारी किया गया। अतः टंका को आधुनिक रुपए का पूर्वज कहा जा सकता है। इन सिक्कों पर इल्तुतमिश की अन्य उपाधियों के साथ 'नजीर-अमीरुल-मोमिनीन' (वानिए इस्लाम का सहायक) भी अंकित रहता था। सन् १२३६ ई० में २६ वर्प शासन करने के वाद इल्तुतमिश का देहांत हो गया। (कै० चं० श०)

इल्मेनाइट एक खनिज है, जो प्रधानतः लौह टाइटेनेट है। अनेक उद्योगों में टाइटेनियम के उपयोग की वृद्धि होने के कारण इल्मेनाइट के खनन तथा उत्पादन की ओर विश्व के अनेक शक्तिशाली राष्ट्रों का ध्यान आकर्पित हुआ है। यद्यपि इल्मेनाइट आग्नेय एवं परिवर्तित शिलाओं का नितांत सामान्य भाग है, तथापि भारत में समुद्रतटीय वालू के निक्षेपों के अतिरिक्त कोई भी निक्षेप ऐसा नहीं है जहाँ आर्थिक एवं वाणिज्य की दृष्टि से खननकार्य लाभदप्रद हो। दक्षिण भारत में तटीय वालू के लगभग १०० मील लंबे भूखंड में, पश्चिमी तट पर क्विलन के उत्तर में नंदीकारिया से कन्याकुमारी तक तथा पूर्वी तट पर किनारे किनारे तिरुनेलवेली जिले में लिपुरम तक, इल्मेनाइट अधिक मात्रा में पाया जाता है। इल्मेनाइट वालू के साहचर्य में रूटाइल, ज़िरकन, सिलीमेनाइट तथा मोनाज़ाइट आदि खनिज के रूप में मिलता है। कुछ कम महत्व की इल्मेनाइटयुक्त तटीय वालू मालावार, रामनाथपुरम्, तंजोर, विशाखपत्तनम्, रत्नगिरि तथा गंजाम जिलों में भी मिली है।

त्रावनकोर में इलमेनाइटयुक्त तटीय वालू को खोदकर समीप के सांद्रण कारखानों को भेज दिया जाता है, जहाँ ९५ प्रतिशत शुद्धता का इल्मेनाइट प्राप्त किया जाता है।

इल्मेनाइट का उपयोग आजकल टाइटेनियम श्वेत नामक श्वेत तैल रंग के निर्माण में किया जाता है। टाइटेनियम श्वेत 'सफेदा' (लेड सल्फेट) से भी अधिक श्वेत होता है। इसका और इसके यौगिकों का उपयोग तैल रंगों के अतिरिक्त कागज, चर्म, सूती कपड़े, रवर, प्लैस्टिक आदि अनेक उद्योगों में होता है। धात्विक टाइटेनियम का उपयोग विशेप प्रकार के इस्पात के *निर्माण में किया जाता है।*

उत्पादन—विश्व में इल्मेनाइट उत्पादन की दृष्टि से भारत का स्थान दूसरा है। अनुमानित आँकड़ों के अनुसार इसका समस्त भांडार ३५ करोड़ टन के लगभग आँका गया है। भारत में उत्पादित इल्मेनाइट का अधिकांश विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। (वि० सा० दु०)

इल्वल एक दैत्य या असुर का नाम। इसका नाम आतापि भी था। अपने छोटे भाई वातापि के साथ यह मणिमती नगरी में रहता था। एक वार इल्वल ने इंद्र के समान प्रतापी पुत्र की प्राप्ति के लिये एक ब्राह्मण (ऋपि) से प्रार्थना की। ब्राह्मण ने इसकी प्रार्थना को अमान्य कर दिया। तभी से यह ब्राह्मणद्रोही हो गया। किसी भी ब्राह्मण के आने पर यह मेप वने हुए अपने भाई वातापि को काटकर मांस पकाता और वह मांस ब्राह्मण को खिला देता था। खा पीकर ब्राह्मण जाने लगता तो यह वातापि को पुकारता था। वातापि उक्त ब्राह्मण का पेट फाड़कर सशरीर वाहर निकल आता था। ब्राह्मण मर जाता था। इस प्रकार सहस्रों ब्राह्मणों को इसने मार डाला। एक वार द्रव्य की आवश्यकता पड़ने पर अगस्त्य इसके यहाँ आए। इसने पूर्ववत् मांस पकाकर उन्हें खिलाया। वे वातापि को पचा गए। पुकारने पर वातापि जव अगस्त्य के पेट को फाड़कर वाहर न निकला तो वास्तविकता जानने पर (महाभारत, वनपर्व ९४ के अनुसार) इल्वल ने अगस्त्य से प्राणदान की प्रार्थना की। ऋपि ने इसे अभय दिया और इससे अभीष्ट द्रव्य लेकर चले गए। परंतु वाल्मीकि रामायण (अरण्यकांड ११-६८) में वर्णित कथा के अनुसार अगस्त्य ने इल्वल को अपनी दृष्टि से भस्म कर दिया। (कै० चं० श०).

इवलिन, जॉन (१६२०-१७०६)—इनका जन्म सरे प्रदेश के एक ऐसे कुलीन परिवार में हुआ था जिसके वंशज दीर्घकाल से इंग्लैंड के नरेशों तथा विधान के सवल समर्थक रहे। राजभक्ति की इस वंशपरंपरा के अनुसार ही युवक इवलिन को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय छोड़ने के साथ ही सन् १६४२ में भयंकर गृहयुद्ध की भड़कती अग्निज्वाला में चार्ल्स प्रथम की विजय के लिये कूदना पड़ा। परंतु वर्प के अंतिम चरण में उन्होंने स्वदेश छोड़कर हालैंड को प्रस्थान किया। कई वर्षों तक वे यूरोप के विभिन्न देशों में भ्रमण करते रहे और इस यात्रा से उपलब्ध अनुभवों का प्रयोग उन्होंने अपनी प्रसिद्ध 'डायरी' में यथास्थान किया। डायरी का आरंभ १६४२ से हुआ और १७०६ तक की प्रसिद्ध घटनाओं का इसमें उल्लेख है। सन् १६५२ ई० में वे स्वदेश लौटे और सेज कोर्ट नामक स्थान पर स्थायी रूप से वस गए। यहीं पर 'सिल्वा' तथा 'स्कल्प्चुरा' नामक दो ग्रंथों में उन्होंने अपने वागवानी तथा गृह-निर्माण-कला संबंधी गहन ज्ञान का परिचय दिया। सन् १६६० में वे 'रायल सोसायटी' के सदस्य हुए और कुछ समय तक इसके स्थानापन्न मंत्री भी रहे। १६८५ से १६८७ तक 'कमिश्नर ऑव प्रीवी सील' के सम्मानित पद को भी उन्होंने सुशोभित किया और १६९५ से १७०३ ई० तक ग्रिनिच हास्पिटल के कोपाध्यक्ष भी रहे।

जॉन इवलिन प्रसिद्ध डायरी लेखक सैमुएल पेप्स के घनिष्ठ मित्रों में थे परंतु उनका स्वभाव तथा चरित्र पेप्स महोदय से बिलकुल भिन्न था। इनके व्यक्तित्व में उत्कट राजभक्ति, विशुद्ध धार्मिकता तथा विवेकशील दार्शनिकता का सुखद संमिश्रण था। चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में भी, जब अनैतिकता का बोलबाला था और कामिनी तथा सुरा की भोगलिप्सा प्रायः संक्रामक रोग सी हो गई थी, इवलिन महोदय ने अपने को व्याधिमुक्त ही रखा। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और वे शुद्ध मनोरंजन तथा सामाजिक जीवन की विविधता एवं बहुरसता के हार्दिक प्रेमी थे। उनकी डायरी में वह रस तथा रंग नहीं है जो सैमुएल पेप्स की सफल लेखनी ने संचारित किया है, परंतु उसमें इंग्लैंड के एक तूफानी युग के विभिन्न पहलुओं के विशद चित्र अंकित है। 'डायरी' में उनके महान् व्यक्तित्व के साथ ही प्रकांड पांडित्य का साक्षात्कार होता है। पेप्स महोदय की तरह उन्होंने अपने अनुभवों को विशृंखल नहीं छोड़ा है, अपितु कुशल कलाकार के समान एक अंश को दूसरे से गुंफित कर दिया है। परंतु उनकी गद्यशैली सरल तथा स्पष्ट होते हुए भी रसहीन तथा कई स्थलों पर शुष्क प्रतीत होती है।

सं०ग्रं०—ए० डॉब्सन : डायरी ऑव जॉन इवलिन, तीन जिल्दों में, १९०६। (वि० रा०)

इवाई आस्ट्रेलिया महाद्वीप के अंतर्गत केप यार्क प्रायद्वीप में रहनेवाले कोकोयाओ नामक कबीले का एक मकराकृति अर्धदेवता जो टॉटमिक संस्कृति का एक सशक्त प्रतीक माना जाता है। उक्त कबीले का विश्वास है कि पृथ्वी पर सर्वप्रथम संचरण करनेवाले प्राग्मानवों में इवाई सर्वप्रमुख था। अतः सृष्टि के आरंभ और विकास से संबंधित प्रत्येक मिथक को इस कबीले के लोग इवाई से ही शुरू करते हैं। (कै० चं० श०)

इशरवुड, क्रिस्टोफर विलियम ब्रैडशा अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार। डिस्ले (चेशायर) में १९०४ ई० में जन्म। रेप्टन तथा कॉरपस क्रिस्टी, कैंब्रिज में आरंभिक शिक्षा। किंग्स कालेज, लंदन में चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन किया। यहीं (१९२८–२९ में) 'आल द कांसपिरेटर्स' तथा 'द मेमोरियल' नामक उपन्यास लिखे। उनकी सर्वाधिक प्रख्यात रचनाएँ 'मि० नॉरिस चेंजेज ट्रेंस' (१९३५) तथा 'गुडबाई टु बर्लिन' (१९३९) हैं जिन्हें उन्होंने हिटलर के उदय से पूर्व बर्लिन में अंग्रेजी अध्यापक की हैसियत से काम करते समय हुए कटु अनुभवों के आधार पर लिखा। अपने सहपाठी ऑडेन के सहयोग से उन्होंने तीन गद्य-पद्य-मिश्रित नाटक भी लिखे जिनमें आदर्शवादियों के नुस्खों का पर्दाफाश ही नहीं, करारे राजनीतिक व्यंग भी हैं। ऑडेन के साथ १९३८ ई० में उन्होंने चीन की यात्रा की और 'जर्नी टु ए वार' (१९३९) नामक पुस्तक लिखी। १९४० में वे स्क्रिप्ट लेखक के रूप में कैलिफोर्निया गए और १९४६ में अमरीकी नागरिकता स्वीकार कर ली। उन्होंने स्वामी प्रभावानंद के सहयोग से भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया (१९४४)। बाद में उन्होंने 'प्रेटर वायलेट' तथा 'द वर्ल्ड इन दि ईवनिंग' नामक उपन्यासों की रचना की। 'लाएन्स ऐंड शैडोज़' नाम से प्रकाशित उनकी आत्मकथा भी काफी प्रसिद्ध है। (कै० चं० श०)

इशिई, किकुजिरो, वाइकाउंट (१८६६) जापानी राजनयज्ञ, जिसका जन्म चिबा में हुआ। तोकियो विश्वविद्यालय से अंतरराष्ट्रीय कानून का अध्ययन कर वह पेरिस स्थित जापानी दूतावास में नियुक्त हुआ। वहाँ उसने अंग्रेजी और फ्रेंच सीख जापानी फ्रांसीसी व्यावसायिक संबंध दृढ़ किया। धीरे धीरे वह देश के उच्च से उच्चतर पदों पर चढ़ता गया तथा यूरोप और अमरीका में वह जापान का राजदूत रहा। जापान का हित अनेक रूपों में इशिई ने साधा।

वाइकाउंट किकुजिरो का सबसे महान् कार्य, जिसके लिये देश उसका ऋणी है, १९१७ ई० के बीच 'सज्जनीय एकरारनामा' था। इसका दूसरा नाम 'लैंसिंग इशिई पैक्ट' है, जिसमें उसका सक्रिय सहयोग घोषित है। जापानियों के निरंतर अनिसक्रमण से जो कैलिफोर्निया के नगर एशियाई .शिंदों से भरे जा रहे थे उससे अमरीका की रक्षा करना इस संबंध का मंतव्य था। इशिई राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशंस) का जापानी प्रतिनिधि भी हुआ, फिर एक बार उसकी असेंबली का और दो दो बार उसकी परिषद् (कौंसिल) का वह अध्यक्ष हुआ। (ओं० ना० उ०)

इश्तर बाबुल, असुर और सुमेर की मातृदेवी। गैरसामी सुमेरी सभ्यता के ऊर, उरुक आदि विविध नगरों में उसकी पूजा नना, इनन्ना, नीना और अनुनित नामों से होती थी। इनके अपने अपने विविध मंदिर थे। इनका महत्व अन्य देवियों की भाँति अपने देवपतियों के छायारूप के कारण न होकर अपना निजी था और इनकी पूजा अपनी स्वतंत्र शक्ति के कारण होती थी। ये आरंभ में भिन्न भिन्न शक्तियों की अधिष्ठात्री देवियाँ थीं पर बाद में अक्कादी-बाबुली काल में, ईसा से प्रायः ढाई हजार साल पहले, इनकी संमिलित शक्ति को 'इश्तर' नाम दिया गया। इश्तर का प्राचीनतम अक्कादी रूप 'अश दर' था जो उस भाषा के अभिलेखों में मिलता है। अक्कादी में इसका अर्थ अनूदित होकर वही हुआ जो प्राचीनतर सुमेरी इनन्ना या इनीनी का था—'स्वर्ग की देवी।' सुमेरी सभ्यता में यह मातृदेवी सर्वथा कुमारी थी। फ़िनीकी में उसका नाम अस्तार्ते पड़ा। उसका संबंध वीनस ग्रह से होने के कारण वही रोमनों में प्रेम की देवी वीनस बनी। इस मातृदेवी की हजारों मिट्टी, चूने मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ प्राचीन बेबिलोनिया और असूरिया, वस्तुतः समूचे ईराक में मिली हैं, जिससे उस प्रदेश पर उस देवी की प्रभुता प्रकट है।

सं०ग्रं०—एस० लैंग्डन : तम्मुज़ ऐंड इश्तर (आक्सफ़ोर्ड, १९१४)। (भ० श० उ०)

इश्पीरिटू सेंटू सेरगाइप को छोड़कर ब्राजील का लघुतम राज्य है (क्षेत्रफल १७,३१२ वर्ग मील)। इसके उत्तर में बाहिया, पूर्व में अटलांटिक महासागर तथा दक्षिण पश्चिम में रियो तथा मिनास जेरास के राज्य हैं। इसके पश्चिमी भाग में ब्राजील के पठार का अग्र भाग है जहाँ ७,००० फुट तक ऊँची पर्वतीय श्रेणियाँ मिलती हैं। इसके पूर्वी भाग में तटीय मैदान है जिसमें दलदली तथा बलुई भूमि भी मिलती है। इसकी जलवायु उष्ण कटिबंधीय है, परंतु समुद्र के प्रभाव से पर्याप्त सम हो गई है। इस राज्य में सघन वन हैं जिनमें मूल्यवान लकड़ी तथा जड़ी बूटियाँ पाई जाती हैं। यह कृषिप्रधान राज्य है जहाँ कहवा, गन्ना, कपास, तंबाकू तथा उष्ण प्रदेशीय फल पैदा होते हैं। यहाँ कहवे के बहुत से उद्यान हैं। केरल प्रदेश की भाँति इसके तटीय मैदान में भी 'मोनाजाइट' बालू पाया जाता है जिसमें थोरियम पर्याप्त मात्रा में मिलता है। सन् १९७० ई० में इसकी जनसंख्या १५,९७,३८९ थी। इसकी राजधानी विक्टोरिया है। (ले० रा० सिं०)

इष्टि वैदिक याग विशेप। यज्ञ वैदिक आर्यों के दैनिक तथा वार्षिक जीवन में प्रधान स्थान रखता है। 'इष्टि' 'यज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। फलतः इसका अर्थ 'यज्ञ' है। ऐतरेय ब्राह्मण में इष्टि पाँच भागों में विभक्त है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम। परंतु स्मृति और कल्पसूत्रों में स्मार्त तथा श्रौत कर्मों की संमिलित संख्या २१ मानी गई है जिनमें पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ प्रत्येक सात प्रकार के माने जाते हैं। प्रत्येक अमावास्या तथा पूर्णिमा के अनंतर होनेवाली प्रतिपदा के याग सामान्य रूप से 'इष्टि' कहलाते हैं जिनमें पहला 'दर्श' तथा दूसरा 'पौर्णमास' कहलाता है। (ब० उ०)

इसवगोल एक पौधा है जिसको संस्कृत में स्निग्धजीरक तथा लैटिन में प्लैंटेगो ओवेटा कहते हैं। इसवगोल नाम एक फारसी शब्द से निकला है जिसका अर्थ है घोड़े का कान, क्योंकि इसकी पत्तियाँ कुछ उसी आकृति की होती हैं।

इसवगोल के पौधे एक से दो हाथ तक ऊँचे होते हैं, जिनमें लंबे किंतु कम चौड़े, धान के पत्तों के समान, पत्ते लगते हैं। डालियाँ पतली होती हैं और इनके सिरों पर गेहूँ के समान बालियाँ लगती हैं, जिनमें बीज होते हैं। इस पौधे की एक अन्य जाति भी होती है, जिसे लैटिन में प्लैंटेगो ऐंप्लेक्सिकैलिस कहते हैं। पहले प्रकार के पौधे में जो बीज लगते हैं उनपर श्वेत झिल्ली होती है, जिससे वे सफेद इसवगोल कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के पौधे

के बीज भूरे होते हैं। श्वेत बीज ओपधि के विचार से अधिक अच्छे समझे जाते हैं। एक अन्य जाति के बीज काले होते हैं, किंतु उनका व्यवहार औषध में नहीं होता।

इस पौधे का उत्पत्तिस्थान मिस्र तथा ईरान है। अब यह पंजाब, मालवा और सिंध में भी लगाया जाने लगा है। विदेशी होने के कारण प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। आधुनिक ग्रंथों में ये बीज मृदु, पौष्टिक, कसैले, लुआबदार, आँतों को सिकोड़नेवाले तथा कफ, पित्त और अतिसार में उपयोगी कहे गए हैं।

यूनानी पद्धति के अरबी और फारसी विद्वानों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है और जीर्ण आमरक्तातिसार (अमीबिक डिसेंट्री), पुरानी कोष्ठबद्धता इत्यादि में इसे उपयोगी कहा है। इसबगोल की भूसी बाजार में अलग से मिलती है। सोने के पहले आधा या एक तोला भूसी फाँककर पानी पीने पर सवेरे पेट स्वच्छ हो जाता है। यह रेचक (पतले दस्त लानेवाला) नहीं होता, बल्कि आँतों को स्निग्ध और लसीला बनाकर उनमें से बद्ध मल को सरलता से बाहर कर देता है। इस प्रकार कोष्ठबद्धता दूर होने से यह बवासीर में भी लाभ पहुँचाता है। रासायनिक विश्लेषण से बीजों में ऐसा कोई विशिष्ट रासायनिक पदार्थ नहीं मिला जो विशेष गुणकारी हो। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इससे उत्पन्न होनेवाला लुआब और न पचनेवाली भूसी, दोनों, पेट में एकत्रित मल को अपने साथ बाहर निकाल लाते हैं। (भ० दा० व०)

इसला, जोज़ फ्रांसिस्को डी (१७०३-१७८१) स्पेन का प्रख्यात व्यंग्यकार। उत्तर पश्चिमी स्पेन स्थित वाइडेंस नामक स्थान में सन् १७०३ में जन्म। कैथोलिक संप्रदाय में स्थापित 'जेज़्यूइट्स' नामक ईसाई दल का सदस्य होने के उपरांत कई वर्ष तक सेगोविया, सैंटियागो तथा पैंपलोना में दर्शन एवं देवशास्त्र विषयक व्याख्यान दिए और धर्मोपदेशक के रूप में विख्यात हो गया। लेकिन इस बीच अपने लेखन से वह धर्मोपदेशक से कहीं ज्यादा हास्य और व्यंग्यकार के रूप में जाना जाने लगा। इस ओर उसकी अत्यधिक प्रसिद्धि उसके 'फ़्रे जेरुंडियो' (१७५८-१७७०) नामक उपन्यास से हुई। सरवेंटीस कृत 'डान क्विग्जोट' में जिस प्रकार रूमानी शौर्य का मजाक उड़ाया गया है उसी प्रकार 'फ़्रे जेरुंडियो' में धर्मोपदेशकों की भँड़ैती प्रस्तुत की गई है। 'लेटर्स ऑव जुआन डी ला एनसिना' (१७३२) में उसकी लेखन शैली अत्यंत परिष्कृत है। परंतु इनक्विजिशन (ईसाइयों द्वारा स्थापित न्यायाधिकरण जिसमें धर्मविरोधी व्यक्तियों तथा लेखन पर मुकदमा चलाया जाता था और सजा दी जाती थी) के कारण 'फ़्रे जेरुंडियो' के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। १७६७ ई० में 'जेज़्यूइट्स' को स्पेन से बहिष्कृत कर दिया गया तो इसला बोलोना चला गया जहाँ १७८१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। (कै० चं० श०)

इसहाक़ यहूदियों के आदि पैगंबर हजरत इब्राहिम के पुत्र। इनकी माँ का नाम सारा था। सुमेर के प्राचीन नगर ऊर में इनका जन्म हुआ। इनके जन्म के समय सुमेर में नरबलि की प्रथा थी। लोग अपने पुत्र की बलि कर यज्ञ की अग्नि में उसे आहुति के रूप में चढ़ाते थे। इनके पिता इब्राहिम ने भी इनकी बलि चढ़ाने का आयोजन किया। 'तौरेत' के अनुसार जिस समय इब्राहिम ने हवन की वेदी पर लकड़ियाँ चुनने के बाद अपने पुत्र इसहाक़ का अपने हाथ से वध कर आग में डालने के लिये खड्ग उठाया उसी समय, कहते हैं, परमात्मा ने स्वयं प्रकट होकर उनका हाथ रोक लिया और उनकी निष्ठा की प्रशंसा और उन्हें पुत्रबलि से विरत करते हुए पीछे की ओर संकेत किया। इब्राहिम ने जो पीछे मुड़कर देखा तो झाड़ी में एक मेढ़े को फँसा हुआ पाया। उन्होंने ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार पुत्र की जगह यज्ञ में मेढ़े की बलि चढ़ाई।

इसहाक़ के दो बेटे थे—याक़ूब और ईसाउ। याकूब का ही दूसरा नाम इसरायल था जिसके कारण यहूदी जाति 'बनी इसरायल' अर्थात् 'इसरायल की संतति' के नाम से मशहूर हुई। बाइबिल के अनुसार इसहाक़ ने ही उस समय के खानाबदोश समाज में खेती का धंधा प्रारंभ किया।

सं०ग्रं०—बाइबिल (पुराना अहदनामा); विश्वंभरनाथ पांडे : यहूदी धर्म और सामी संस्कृति (१९५५)। (वि० ना० पां०)

इसाइया यहूदी धर्म के चार महान् नबियों में से एक। ये अमोज के बेटे और जूदा के राजा अमाजिआ के भतीजे थे। इसाइया ने ७३५ ई० पू० से ६८१ ई० पू० तक यहूदी जाति के संबंध में भविष्यवाणियाँ कीं। असूरिया के आक्रमणों के समय इसाइया ने यहूदियों को शत्रुओं के आक्रमण का सामना करने के लिये प्रोत्साहित और कटिबद्ध किया। इसाइया से प्रोत्साहन पाकर पराक्रमी शत्रुओं के विरुद्ध यहूदी कमर कसकर उठ खड़े हुए, यद्यपि अंत में वे पराजित हुए। इसाइया को इसीलिये 'दृढ़विश्वासी पैगंबर' के नाम से पुकारा जाता है। यहूदी जाति को इसाइया ने बारंबार चेतावनी दी कि आध्यात्मिक सत्ता सांसारिक सत्ता से कहीं अधिक शक्तिशाली है और उच्च विचार अंत में पाशविक शक्ति के ऊपर हावी होंगे। इसाइया में न केवल उच्च और दृढ़ विश्वास था, वरन् वह एक ऊँचे दरजे के व्यावहारिक नीतिज्ञ भी थे। इसाइया की गणना संसार के महान् से महान् पुरुषों में की जाती है। उनके जीवन का अंत उनका महान् बलिदान है। आरे से इसाइया के शरीर के दो टुकड़े कर दिए गए किंतु उन्होंने दैवी शक्ति के ऊपर भौतिक शक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया।

पैगंबर इसाइया के जीवन और कार्यों के वृत्तांत 'ओल्ड टेस्टामेंट' अर्थात् 'पुराने अहदनामे' में संकलित हैं। पुराने अहदनामे के इस भाग को 'इसाइया की पुस्तक' के नाम से पुकारा जाता है। इसाइया की पुस्तक को विद्वान् लोग यहूदी धर्म का एक महान् स्मारक मानते हैं। इस पुस्तक को मुख्यतया दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग में यहूदी जाति के निर्वासनकाल के पहले का वृत्तांत है और दूसरे में निर्वासनकालीन जीवन का। कुछ आलोचकों के अनुसार इसाइया की पुस्तक में यदाकदा ऐसे अंश भी दिखाई देते हैं जिन्हें बाद में संपादकों, भाष्यकारों या टीकाकारों ने जोड़ दिया है। अनेक विद्वान् खोजियों के अनुसार चौथी सदी ई० पू० में इसाइया की पुस्तक वर्तमान थी किंतु उस समय उसमें पहले से लेकर २५वें अध्याय तक का ही भाग था। टीकाकारों के अनुसार २६वें से लेकर ३९वें अध्याय तक का भाग बाद में किसी समय जोड़ा गया।

इसाइया अपने उपदेशों में हर प्रकार की बुराई की निंदा करते हैं, चाहे वह बुराई यहूदियों के देश जूदा में रही हो या दूसरे देशों में। इसाइया के अनुसार बुराई का दंड अवश्य मिलेगा, चाहे उसका दोषी यहूदी धर्म का प्रतिपालक हो या अन्य धर्मावलंबी। इसाइया मूर्तिपूजा को बुरा बताते हैं और यह्वे को चढ़ाए जानेवाले अटूट भोगों और बलियों की निंदा करते हैं। इसाइया की दृष्टि में यह्वे न्याय और रहम करनेवाला है। इसाइया सदाचरण को धार्मिक जीवन की बुनियाद मानते हैं। वह रिश्वत देने और लेने को गुनाह बताते हैं। वह न्याय और सत्य को जीवन का आधार मानते और रक्तपात से घृणा करते हैं। वह अभिमानी और ऐश्वर्यशाली लोगों को पसंद नहीं करते और कहते हैं कि प्रत्येक अभिमानी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का सिर एक दिन नीचा होगा। उनकी यह्वे की कल्पना सजा देनेवाले क्रोधी ईश्वर की कल्पना नहीं है, वरन् वह रहम करनेवाला और अनंत शांति देनेवाला ईश्वर है।

इसाइया का जन्म यहूदी जाति के इतिहास में एक ऐसे काल में हुआ जब यहूदी जाति बाबुल के शासकों द्वारा पराजित होकर निर्वासन में विपत्तियों से भरा हुआ अपना जीवन बिता रही थी। इसाइया ने इस दुःख भरे समय में अपनी जाति को आश्वासन दिया और यह्वे के प्रति उसकी आस्था को बनाए रखा। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि ज़रथुस्त्री सम्राट् कुरु की बढ़ती हुई शक्ति के हाथों बाबुल की अभिमानी सत्ता पराजित होगी और उसका मान भंग होगा। इसाइया की भविष्यवाणी पूरी उतरी।

सं०ग्रं०—एच० ग्रेज : हिस्ट्री ऑव द ज्यूज (१९१०); एफ० जे० फोक्स : बिब्लिकल हिस्ट्री ऑव हिब्रूज़ (१९०८); जे० रिकमर : इसाइया (१८९८)। (वि० ना० पां०)

इसिपत्तन वर्तमान सारनाथ, वाराणसी, बौद्ध पालि साहित्य में 'इसिपत्तन' के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्धत्व लाभ करने के उपरांत भगवान् बुद्ध ने यहीं आकर अपना सर्वप्रथम उपदेश दे धर्मचक्रप्रवर्तन किया। इस कारण, यह पुनीत भूमि आज भी सारे बौद्ध जगत् के लिये तीर्थस्थान वन गई है। इसका नाम 'इसिपत्तन' क्यों पड़ा, इसपर कई व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। कहते हैं, पूर्वकाल में आकाशमार्ग से जाते कुछ सिद्ध योगी निर्वाण प्राप्त कर यहीं गिर पड़े, जिससे इस स्थान का नाम 'ऋषि के गिरने का स्थान' अर्थात् 'इसिपत्तन' पड़ा। अधिक संभव है, ऋषियों का 'पत्तन' (नगर) होने के कारण यह 'इसिपत्तन' के नाम से विख्यात हुआ। इस स्थान से संवंधित एक जातक कथा में यहाँ निवास करनेवाले मृगाधिपति सुवर्ण-शरीर-धारी बोधिसत्व का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपने ज्ञान से वाराणसी के राजा को धर्मोपदेश कर जीवहिंसा का परित्याग कराया। फिर उन्हीं के नाम से यह स्थान सारंगनाथ या सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (भि० ज० का०)

इसीअस् (ई० पू० ४२० से ई० पू० ३५०), प्राचीन यूनानी वाग्मी और वकील। इसके जीवन के संवंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जन्मस्थान तक के विषय में भी अभी दुविधा वनी है। कुछ विद्वान् कहते हैं, इसका जन्म एथेंस में हुआ था एवं अन्य लोगों की संमति में यह खल्किदिके प्रदेश में उत्पन्न हुआ था, केवल शिक्षा प्राप्त करने के लिये एथेंस आया था और तत्पश्चात् वहीं वस गया था। एथेंस में इसने इसोक्रेतिज से शिक्षा पाई। किंतु परदेसी होने के कारण उसने एथेंस के राजनीतिक जीवन में भाग नहीं लिया।

अपनी जीविका के लिये इसने अन्य व्यक्तियों के सहायतार्थ कानूनी अथवा न्यायाधिकरण संवंधी वक्तृताएँ लिख देने का व्यवसाय चुना। कहते हैं, इसीअस् ने सव मिलाकर ५० भाषण लिखे थे, जिनमें से इस समय १० पूर्णरूपेण और दो आंशिक रूप में उपलब्ध हैं। अन्य लोगों के मतानुसार ११ भाषण पूरे और केवल एक अधूरा मिलता है। इन सव भाषणों का संवंध उत्तराधिकार संवंधी अभियोगों से है जिस विषय में इसीअस् विशेष योग्यता रखता था। परिणामत: ये भाषण ई० पू० चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध के एथेंस के उत्तराधिकार के कानूनों के स्वरूप को समझने में वहुत अधिक सहायक होते है।

इसके अतिरिक्त इसीअस् के भाषणों की एक विशेषता यह थी कि वह जटिल से जटिल समस्या को भी अत्यंत स्पष्ट रूप में व्यक्त कर सकता था। उसकी भाषा सरल होती थी पर कहीं कहीं वह कवित्व से अनुरंजित शब्दों का भी प्रयोग करता था, एवं यदाकदा वोलचाल के साधारण प्रयोगों को भी स्वीकार कर लेता था; इस कारण वह मनोवांछित प्रभाव उत्पन्न करने में प्राय: सफल हुआ करता था। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये इसीअस् भावनाओं को प्रेरित नहीं करता था प्रत्युत सवल युक्तियों से काम लेता था। न तो वह अपने भाषणों में अपने वादार्थियों के चरित्र का आभास प्रस्तुत करता था और न अपने राजनीतिक विचारों को ही अभिव्यक्त करता था। उसका मुख्य लक्ष्य वौद्धिक प्रभाव उत्पन्न करने की ओर था और यह प्रभाव उसकी अवशिष्ट रचनाओं में आज भी विद्यमान है। प्राचीन काल के सर्वश्रेष्ठ वक्ता दिमॉस्थिनीस् ने आरंभ में इसीअस् से ही वक्तृत्व कला की शिक्षा ग्रहण की थी।

सं०ग्रं०—आर० सी० जैव् : ऐंटिक आरेटर्स फ्रॉम अंतिफ़ॉन टू इसीअस्, १८९३। (भो० ना० श०)

इसोक्रेतिज़ (ई० पू० ४३६-३३८) एथेंस निवासी वक्ता, शिक्षक, शैलीकार और लेखक जिन्होंने प्रोदिकस, प्रोतागोरस, गोर्गियास एवं सुकरात से शिक्षा प्राप्त की थी। इनके पिता थियोदोरस संपन्न व्यक्ति थे, पर उनकी मृत्यु के पश्चात् पेलोपोनेसस के युद्ध में इनकी संपत्ति नष्ट हो गई। अतएव इन्होंने जीविका के लिये शिक्षक की वृत्ति स्वीकार कर ली। कुछ समय इन्होंने कियोस में शिक्षक का कार्य किया। उस समय की शिक्षा अधिकांश में कानूनी और राजनीतिक वक्तृता देने की शिक्षा होती थी। वाणीदोष एवं स्नायविक शैथिल्य के कारण यह स्वयं सक्रिय वक्ता नहीं वन सके पर दूसरों के लिये इन्होंने वहुत सी वक्तृताएँ लिखीं। ई० पू० ३९२ के आसपास इन्होंने एथेंस में एक विद्यालय स्थापित किया जो निरंतर विकसित होता गया। अपने शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा उनका प्रभाव देशकाल में दूर दूर तक फैला। कहते हैं, ९८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने आत्मघात द्वारा शरीर त्यागा।

एथेंस के शिक्षकों में इसोक्रेतिज का नाम अमर है। इनके शिक्षा-सिद्धांतों में आदर्शवाद, व्यावहारिकता और दार्शनिक विचारों का संतुलित संमिश्रण था। इन्होंने उन सोफिस्त शिक्षकों की निंदा की है जो अपने शिष्यों के प्रति लंबे चौड़े दावे करते हैं पर वास्तव में कर कुछ भी नहीं पाते। इसके अतिरिक्त केवल निष्क्रिय दार्शनिक, अथवा केवल स्वार्थसाधक व्यवहार-कुशल व्यक्ति का जीवन भी उनका आदर्श नहीं था। वे सर्वांगीण विकास के पोषक थे। उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार भी अपने समय की दृष्टि से अधिक प्रगतिशील थे। उनका जातिप्रेम नगरराष्ट्र तक सीमित न था, प्रत्युत वह आजीवन समस्त ग्रीक जाति की एकता के लिये प्रयत्नशील रहे। आरंभ में उनकी इच्छा यह थी कि सव नगरराष्ट्र आपस में मिलकर संगठित हो जायँ, पर अंत में उनका विचार यह वन गया कि यदि कोई सशक्त शासक समस्त ग्रीक जगत् को अपने शासन के अधीन कर ले और फारस का दमन करे तो भी ठीक है। फिलिप के ऐसे शासक के रूप में सफल होने पर उनको संतोष हुआ।

इसोक्रेतिज की वहुत सी रचनाएँ, वक्तृताएँ और पत्र उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ का विषय शिक्षणकला है, कुछ का राजनीति और कुछ का ग्रीक संस्कृति। एक दो रचनाएँ आत्मकथात्मक भी हैं। प्रमुख रचनाओं के नाम अंतिदोसिस, पानेगिरिकस, अरेओपागितिकस, ऐवागोरस, पानाथेनाइकस, और फिलिप्पस हैं। उनकी शैली की विशेषताएँ गंभीरता, सुस्वनता, स्वरांत और स्वरादि शव्दों को पास पास न आने देना, इत्यादि हैं। उनका शव्दचयन भी शुद्ध एवं निर्दोष है। सिसरो के माध्यम से वे यूरोप की आधुनिक गद्यशैली तक को प्रभावित किए हुए हैं। इसोक्रेतिज के समान सफल शिक्षक वहुत कम हुए हैं। कहते हैं, कारिया नगर की रानी आर्तेमिसिया ने जव अपने पति की स्मृति में एक व्याख्यान प्रतियोगिता का आयोजन किया तो उसमें भाग लेनेवाले सव वक्ता इसोक्रेतिज़ के शिष्य थे।

सं०ग्रं०—नौलिन ऐंड वान् हुक : इसोक्रेतिज़ की रचनाएँ, अंग्रेजी अनुवाद सहित, लोएव क्लासिकल लाइब्रेरी; आर० सी० जैव् : ऐंटिक ऑरेटर्स फ्रॉम अंतिफॉन टु इसीअस्, १८९३। (भो० ना० श०)

इस्तमरारी वंदोवस्त भूमि तथा लगान वसूली संवंधी स्थायी व्यवस्था। लार्ड कार्नवालिस ने इग्लैंड की पालियामेंट के परामर्शानुसार सन् १७८९ ई० में लगान वसूली का एक दससाला वंदोवस्त किया (इससे पूर्व पंचसाला तथा एकसाला वंदोवस्त असफल सिद्ध हो चुके थे) और यह निश्चय हुआ कि अंग्रेजों के अधिकृत तत्कालीन भारतीय भूमिक्षेत्र में यदि यह व्यवस्था संतोषप्रद सिद्ध हुई तो इसे स्थायी रूप दे दिया जायगा। फलत: १७९३ ई० में लार्ड कार्नवालिस ने वंगाल की मालगुजारी का स्थायी वंदोवस्त कर दिया। इसके अनुसार जमींदार जिस भूमि का लगान वसूल करते थे उसके मालिक मान लिए गए तथा लगान की दरें भी निश्चित कर दी गईं। अपनी देख रेख तथा प्रवंध में जमींदार अपने अधीन भूमि से जो अतिरिक्त आय करता था, उसपर भी उसी का स्वत्व मान लिया गया। कृषकों से लिया जानेवाला लगान भी पट्टे द्वारा निश्चित कर दिया गया।

इस वंदोवस्त से सरकार, जमींदार और किसान तीनों ही भिन्न भिन्न ढंग से प्रभावित हुए। भविष्य में जमीन की कीमत और पैदावार वढ़ जाने पर भी सरकार लगान नहीं वढ़ा सकती थी। अत: उसे भारी नुकसान उठाना पड़ा। सरकार को लेकिन लाभ यह हुआ कि समय समय पर मालगुजारी नियत करने और वसूल करने की झंझट से उसे छुटकारा मिला। जमींदारों को इससे अत्यधिक लाभ हुआ। वे समृद्ध हो गए। उनकी अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति वढ़ी और इससे भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें मजवूत हुई। वंगाल में वहुत सी जमीन खेती के लायक वना दी गई और भारत में वंगाल का प्रांत सवसे अधिक समृद्धिशाली और उन्नतिशील वन गया। अधिक लगान मिलने से जमींदार धनी हुए और वाणिज्य व्यापार में भी इससे सुविधा

हुई। परंतु किसानों को इस व्यवस्था से कुछ भी लाभ न हुआ। उन्हें लगान भी अधिक देना पड़ता था और जमींदारों के कारिंदों के हाथों उन्हें अत्याचार भी सहने पड़ते थे। गरीब होने के कारण किसान अत्याचारों के विरुद्ध अदालती कार्रवाई भी नहीं कर सकते थे। जमींदारों के अत्याचारों को रोकने के लिये १८५९ ई० में बंगाल टेनेन्सी ऐक्ट बनाना पड़ा।

(कै० चं० श०)

इस्पात शब्द इतने विविध प्रकार के परस्पर अत्यधिक भिन्न गुणोंवाले पदार्थों के लिये प्रयुक्त होता है कि इस शब्द की ठीक ठीक परिभाषा करना वस्तुतः असंभव है। परंतु व्यवहारतः इस्पात से लोहे तथा कारबन की मिश्रधातु ही समझी जाती है (दूसरे तत्व भी साथ में चाहे हों अथवा न हों)। इसमें कारबन की मात्रा साधारणतया २ प्रति शत से अधिक नहीं होती। अयस्क (ओर) से अधिक से अधिक धातु प्राप्त करने के लिये अवकारक वस्तु, कारबन, बहुतायत से मिलाई जाती है। कारबन बाद में इच्छित मात्रा तक आक्सीकरण की क्रिया द्वारा निकाल दिया जाता है। इससे साथ के दूसरे तत्वों का भी, जिनका अवकरण हुआ रहता है और जो आक्सीकरणीय होते हैं, आक्सीकरण हो जाता है। किसी अन्य तत्व की अपेक्षा कारबन, लोहे के गुणों को अधिक प्रभावित करता है; इससे अद्वितीय विस्तार में विभिन्न गुण प्राप्त होते हैं। वैसे तो कई अन्य साधारण तत्व भी मिलाए जाने पर लोहे तथा इस्पात के गुणों को बहुत बदल देते हैं, परंतु इनमें कारबन ही प्रधान मिश्रधातुकारी तत्व है। यह लोहे की कठोरता तथा पुष्टता समानुपातिक मात्रा में बढ़ाता है, विशेषकर उचित उष्मा उपचार के उपरांत।

धातुकार्मिक व्यवहार में 'विशुद्ध धातु' शब्द का उपयोग ऐसे व्यापारिक मेल की धातु के लिये भी होता है जिसमें प्रधानतः वे ही गुण (जैसे, रंग, विद्युच्चालकता इत्यादि) होते हैं जो शुद्ध रासायनिक धातु में होते हैं। इनमें शेष जो अशुद्धता होती है या तो उसे दूर करना कठिन होता है, अथवा धातु में कोई विशेष गुण प्राप्त करने के लिये उसे जान बूझकर मिलाया जाता है। इस प्रकार मिलाए जानेवाले तत्वों को मिश्रधातुकारी तत्व कहते हैं।

साधारण इस्पात में, चाहे वह जिस विधि द्वारा बनाया गया हो, कारबन तथा मैंगनीज ०·१० से १·५० प्रतिशत, सिलिकन ०·२० से ०·२५ प्रतिशत, गंधक तथा फासफोरस ०·०१ से ०·१० प्रतिशत तथा ताँबा, ऐल्यूमिनियम और आरसेनिक न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं। प्रायः हाइड्रोजन, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन भी अल्प मात्रा में रहते हैं। इस जाति के इस्पात कई प्रकार के काम में आते हैं। यद्यपि सभी इस्पात मिश्रधातु ही हैं, तथापि साधारण बोलचाल में इस्पात को एक सरल (अमिश्र) धातु ही माना जाता है। ऊपर दिए हुए विश्लेषण से यदि किसी तत्व की मात्रा अधिक हो, अथवा इस्पात में दूसरे तत्व, जैसे निकल, क्रोमियम, वैनेडियम, टंग्स्टन, मालिब्डीनम, टाइटेनियम आदि भी हों, जो सामान्यतः इस्पात में नहीं होते, तो विशेष या मिश्रधात्वीय इस्पात बनता है। यांत्रिक गुणों की वृद्धि के लिये ही सामान्यतः यह मिलावट की जाती है। इस्पात की कुछ विशेषताएँ, जो मिश्रधातुकारी तत्वों द्वारा प्रभावित होती हैं, इस प्रकार हैं :

(क) यांत्रिक गुणों में वृद्धि :

(१) तैयार इस्पात की पुष्टता में वृद्धि।

(२) किसी निम्नतम कठोरता या पुष्टता पर चिमड़ेपन (टफ़नेस) अथवा सुघटचता (प्लैस्टिसिटी) में वृद्धि।

(३) उस अधिकतम मोटाई में वृद्धि जिसे बुझाकर वांछित सीमा तक कड़ा किया जा सकता हो।

(४) बुझाकर कठोरीकरण की क्षमता में कमी।

(५) ठंढी रीति से कठोरीकरण की दर में वृद्धि।

(६) खरादने इत्यादि की क्रिया सुगमता से कर सकने के विचार से कड़ाई को सुरक्षित रखकर सुघटचता में कमी।

(७) घिसाव-प्रतिरोध अथवा काटने के सामर्थ्य में वृद्धि।

(८) इच्छित कठोरता प्राप्त करते समय ऐंठने या चटकने में कमी।

(९) ऊँचे या निम्न ताप पर भौतिक गुणों में उन्नति।

(ख) चुंबकीय गुणों में वृद्धि :

(१) प्रारंभिक चुंबकशीलता (पर्मिएबिलिटी) तथा अधिकतम प्रेरण (इंडक्शन) में वृद्धि।

(२) प्रसाही (कोअर्सिव) बल, मंदायन (हिस्टेरीसिस) तथा विद्युत् (वाट) हानि में कमी (चुंबकीय अर्थ में कोमल लोहा)।

(३) प्रसाही बल तथा चुंबकीय स्थायित्व (रिमेनेंस) में वृद्धि।

(४) सभी प्रकार के चुंबकीय गुणों में कमी।

(ग) रासायनिक निष्क्रियता में वृद्धि :

(१) आर्द्र वातावरण में मोरचा लगने में कमी।

(२) उच्च ताप पर भी रासायनिक क्रियाशीलता में कमी।

(३) रासायनिक वस्तुओं द्वारा आक्रमण में कमी।

लोहा दो प्रकार के अति उपयोगी सममापीय (आइसोमेट्रिक) रवों के रूप में रहता है : (१) ऐल्फ़ा लोहा, जिसके ठोस घोल को 'फ़ेराइट' कहते हैं, और (२) *गामा लोहा, जिसका ठोस घोल 'ऑस्टेनाइट' है।* शुद्ध लोहे का ऐल्फ़ा रूप लगभग ९१०° सें० से कम ताप पर रहता है; अधिक ताप पर गामा रूप रहता है। इन दोनों रूपों के लोहों में विविध मिश्रधातुकारी तत्वों की घुलनशीलता अति भिन्न है। व्यापारिक कारबन-इस्पात, धातुकार्मिक विचार से, लौह कारबाइड का फेराइट में एक विक्षेपण (डिस्पर्शन) है, जिसमें लौह कारबाइड का अनुपात कारबन की मात्रा पर निर्भर रहता है।

कारबन इस्पात के मोटे टुकड़ों को ऐसी विधियों तथा दरों से एक सीमा तक ठंढा किया जा सकता है कि फेराइट में सीमेंटाइट के संभव वितरणों में से कोई भी वितरण उपलब्ध हो जाय। संरचना तथा उष्मा उपचार के विचार से कारबन इस्पात के अपेक्षाकृत ऐसे छोटे नमूने सरलता से चुने जा सकते हैं जिनमें साधारण ताप पर प्रायः महत्तम यांत्रिक गुण हों।

अकठोरीकृत इस्पात के दो अवयवों में दूसरा कारबाइड कला (फ़ेज) है। कारबाइड की मात्रा, जो कारबन के अनुपात पर निर्भर रहती है, इस्पात के गुणों को बदलती है। विक्षेपण (डिस्पर्शन) में कारबाइड के कणों के रूप तथा उसकी सूक्ष्मता से यह और भी अधिक बदलती है। इस्पात को कठोर करने में तथा पानी चढ़ाते समय, मिश्रधातुकारी तत्व की उपस्थिति अंत में प्राप्त पदार्थ को एकदम बदल सकती है। फलतः, संरचना और इसलिये इस्पात के गुण, जो इसी पर अत्यधिक आधारित हैं, ऑस्टेनाइट की संरचना तथा दाने के परिमाण पर निर्भर हैं।

बुझाए हुए इस्पात कारबन के मात्रानुसार विभिन्न कठोरतावाले होते हैं। कठोरता के लिये केवल कारबन पर ही निर्भर होने में इस्पात को एकाएक बुझाना पड़ता है। इससे या तो दूसरी बुराइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं अथवा बहुत भीतर तक कठोरीकरण नहीं हो पाता है। कुछ उच्च मिश्रधात्वीय इस्पातों में साधारण ताप पर ही अपेक्षाकृत धीरे धीरे ठंढा कर, यह कठोरीकरण कुछ अंशों में प्राप्त किया जा सकता है।

बुझाए हुए तथा कठोरीकृत इस्पातों में आंतरिक तनाव होता है, जो फिर से गरम करके दूर किया जाता है। इस क्रिया को पानी चढ़ाना (टेंपरिंग) कहते हैं।

मिश्रधातुकारी तत्वों का प्रभाव—ऑस्टेनाइट रूपांतरण में कारबन के अतिरिक्त अन्य मिश्रधातुकारी तत्व सामान्यतः सुस्ती पैदा करते हैं। कोबल्ट छोड़ अन्य तत्वों की उपस्थिति में बुझाने पर अधिक गहराई तक कठोरीकरण होता है। साधारणतया सभी मिश्रधात्वीय इस्पातों तथा बहुत से कारबन-इस्पातों में इच्छित गुणों का अच्छा संयोग उचित उष्मा-उपचार से प्राप्त होता है।

कारबन—सादे कारबन-इस्पात में, कारबन की मात्रा को ०·१ प्रतिशत से १·० प्रतिशत तक या अधिक बढ़ाने पर तनाव पुष्टता बढ़ती है। बुझाए हुए कारबन इस्पात में तनाव पुष्टता अत्यधिक बढ़ जाती है, जैसे १ प्रतिशत

कारवन पर १५० टन वर्ग इंच तक। बुझाए हुए तथा पानी चढ़ाए (टेंपर किए) इस्पात की शक्ति पानी चढ़ाने के तापक्रम पर निर्भर रहती है।

ऐल्यूमिनियम—धातु के दानों के परिमाण (ग्रेन साइज़) को नियंत्रित करने के लिये थोड़ी मात्रा में ऐल्यूमिनियम, ३ पाउंड प्रति टन तक, पिघले हुए इस्पात में मिलाया जाता है। सतह की अत्यधिक कठोरतावाले भागों में १·३ प्रतिशत तक ऐल्यूमिनियम रहता है।

बोरन—बोरन इस्पात आधुनिक विकास है। कुछ निम्न मिश्र-धात्वीय इस्पातों में ०·००३ प्रतिशत जैसी कम मात्रा में बोरन मिलाए जाने पर कठोर हो जाने की क्षमता बढ़ती है तथा यांत्रिक गुणों की उन्नति होती है।

क्रोमियम—अकेले अथवा दूसरे मिश्रधातुकारी तत्वों से संयोजित क्रोमियम, इस्पात का घर्षण-अवरोध तथा कठोर हो सकने की क्षमता बढ़ाता है। अधिक मात्रा में, १२ से १४ प्रतिशत तक, होने पर यह अकलुष (स्टेनलेस) इस्पात का आवश्यक तत्व है। इसी अथवा इससे भी अधिक मात्रा में (२० प्रतिशत तक) क्रोमियम रहने पर, निकल और कभी कभी दूसरे तत्वों के साथ मिलाकर, तरह तरह के उष्मा-प्रतिरोधक इस्पात तथा विभिन्न प्रकार के ऑस्टेनाइट इस्पात बनते हैं जो मोर्चे तथा अम्ल की क्रिया के प्रति अत्यधिक अवरोधकता के लिये प्रसिद्ध हैं। क्रोमियम घर्षण-अवरोध की उन्नति करता है; इसलिये २ प्रतिशत कारवन के साथ १२ प्रतिशत तक क्रोमियम कुछ विशेष तरह के यंत्रों तथा ठप्पों के लिये इस्पात बनाने में उपयुक्त होता है। पृष्ठ कठोरीकरण (केस हार्डेनिंग) तथा नाइट्राइडिंग के लिये इस्पात में क्रोमियम प्रायः २ प्रतिशत से कम ही होता है। सीधे कठोरीकृत छर्रो (बाल बेयरिंग) तथा कुचलने की मशीनवाले गोलों के इस्पात में क्रोमियम की मात्रा अधिक होती है।

कोबल्ट—कोवल्ट से, कुछ उच्च वेगवाले यांत्रिक इस्पातों की काटने की क्षमता बढ़ती है। कुछ उष्मा प्रतिरोधक इस्पातों में, जैसे गैस टर्विन इंजन के ढले हुए ब्लेडों में, यह प्रयुक्त होता है। अधिक मात्रा में यह ऐसे इस्पात का आवश्यक अंग होता है जो उन अति कठिन परिस्थितियों को सहन करने के लिये बनते हैं जिनमें गैस टर्विन के ब्लेड कार्य करते हैं। इन उपयोगों में कोबल्ट मिलाने से इस्पात को उष्मा अवरोधक गुण, सतह पर चिप्पड़ (स्केल) न बनने देने तथा धीरे धीरे माप में स्वतः परिवर्तन (क्रीप) को रोकने की क्षमता मिलती है। स्थायी चुंबक की मिश्रधातुओं में भी कोबल्ट पर्याप्त मात्रा में रहता है।

ताँबा—बिना ताँबा के इस्पात की तुलना में ताँबा की थोड़ी भी मात्रा-वाले इस्पात में संक्षारण-अवरोध अधिक होता है। गृहनिर्माण के लिये प्रयुक्त अथवा ऐसे ही दूसरे प्रकार के नरम इस्पातों में लगभग ०·६ प्रतिशत तक ताँबा रहता है।

मैंगनीज—इस्पात का ठोसपन बढ़ाने के लिये तथा बची हुई गंधक से मिलकर, सल्फाइड के कारण, भुरभुरापन रोकने के लिये ०·५ से १·० प्रतिशत तक मैंगनीज मिलाया जाता है।

१·० प्रतिशत से १·८ प्रतिशत तक, मैंगनीज़ इस्पात की तनाव-पुष्टता तथा कठोरता में वृद्धि करता है। १३ प्रतिशत मैंगनीज-इस्पात का एक अलग ही वर्ग है। ऐसा इस्पात ठोंकने पीटने से कड़ा हो जाता है, अर्थात् सुघट्य तनाव (प्लैस्टिक स्ट्रेन) पड़ने पर स्वयं कड़ा हो जाता है। *किसी साधारण उष्मा उपचार द्वारा इसका कठोरीकरण नहीं होता।* यह अधिकतर ढलाई के लिये प्रयुक्त होता है। झाम (ड्रेजर) के ओष्ठ, चट्टान तोड़नेवाली मशीनों के जबड़े, रेल की पटरियों की संधि (क्रास-ओवर) तथा अन्य विशेष मार्ग संबंधी कार्यों में, जहाँ घिसाई की विशेष आशंका रहती है, इसका उपयोग होता है।

मालिब्डीनम—इस्पात में मालिब्डीनम शक्ति, कठोर हो सकने की क्षमता तथा धीरे धीरे स्वतः परिवर्तन के प्रति अवरोध बढ़ाता है। उच्च तापक्रम पर कार्य करने के लिये इस्पात की कठोरता सुरक्षित रखने में भी मालिब्डीनम सहायक है। इसलिये कुछ उच्च वेग इस्पातों में टंग्स्टन के एक अंश के बदले इसी का उपयोग होता है। उदाहरण के लिये ५·५ प्रतिशत मालिब्डीनम और ६ प्रतिशत टंग्स्टन का एक उच्चवेग इस्पात है, जो प्रामाणिक १८ प्रतिशत टंग्स्टन इस्पात की तुलना में उपयोगी और सस्ता होता है।

निकल—इस्पात में मिलाने के लिये (मैंगनीज़ को छोड़) सबसे अधिक उपयोग इसी का होता है। पिघले हुए लोहे में यह सभी अनुपातों में घुल जाता है तथा ठंढा होने पर ठोस घोल बनाता है। ५ प्रतिशत तक रहने पर यह इस्पात का चिमड़ापन तथा तनाव पुष्टता बढ़ाता है। यह कठोर हो सकने की क्षमता को भी बढ़ाता है, जिससे पानी में बुझाने की जगह तेल में बुझाकर कठोरीकरण संभव है। फटने तथा ऐंठने की प्रवृत्ति को भी कम करता है, जिससे बड़ी नाप के ऐसे इस्पात को भी अच्छी तरह कठोर किया जा सकता है।

कुछ पृष्ठ-कठोरीकरण इस्पातों में १·० से ५·० प्रतिशत तक निकल रहता है। नाइट्राइडिंग इस्पातों में साधारणतः निकल की मात्रा अधिक से अधिक ०·४ प्रतिशत तक ही सीमित है। (नाइट्राइडिंग इस्पात के बाहरी पृष्ठ को कड़ा करने की एक रीति है। साधारणतः अमोनिया गैस में इस्पात को ५००-५५५° सेंटीग्रेड तक तप्त करने से यह कार्य सिद्ध होता है।)

बहुत से संक्षारण-अवरोधक तथा 'स्टेनलेस' ऑस्टेनाइटमय इस्पातों में निकल का अंश ८ प्रतिशत तथा इससे अधिक होता है। प्रसिद्ध १८:८ क्रोमियम-निकल-इस्पात तथा उससे मिलते जुलते इस्पात भी इसी वर्ग में संमिलित हैं। कुछ अति नवीन प्रकार के इस्पातों में निकल की मात्रा अधिक होती है, जैसे २० प्रतिशत या इससे भी अधिक। ये उच्च ताप तथा अत्यधिक दबाव की स्थितियों में कार्य करने के लिये उपयुक्त होते हैं; उदाहरणतः, गैस टर्बिन के स्थिर तवे (डिस्क) तथा ब्लेड। ३६ प्रतिशत निकल का, इस्पात, जो 'इनवार' नाम से प्रसिद्ध है, अपने अति निम्न प्रसार-गुणांक के कारण यथार्थदर्शी घड़ियों, स्वरित्र (ट्यूनिंग फ़ोर्क) तथा बहुत से वैज्ञानिक उपकरण बनाने में उपयुक्त होता है।

कोलंबियम—क्रोमियम इस्पात या १८:८ क्रोमियम-निकल प्रकार के इस्पात को स्थिर करने के लिये १ प्रतिशत अथवा ऐसी ही मात्रा तक कोलंबियम का उपयोग होता है। यह टाइटेनियम के सदृश ही कार्य करता है।

सिलिकन—मैंगनीज़ की भाँति सिलिकन सभी इस्पातों में प्रारंभ से ही, अथवा इस्पात बनाते समय मिलावट के कारण, रहता है। इसकी उपस्थिति से इस्पात का अनाक्सीकरण होना प्रायः निश्चित सा हो जाता है। सिलिकन में, अधिक मात्रा में रहने पर, इस्पात की शक्ति तथा कठोर हो सकने की क्षमता बढ़ाने की तथा आंतरिक तन्यता कम करने की प्रवृत्ति होती है। सिलिकन मैंगनीज़ के कमानीवाले इस्पात में इसकी मात्रा १·५ प्रतिशत से २ प्रतिशत तक रहती है, जिसमें मैंगनीज़ की मात्रा लगभग ०·६–१·० प्रतिशत होती है। सिलिकन-क्रोमियम से बने इंजनों के वाल्वों के इस्पात में सिलिकन की मात्रा ३·७५ प्रतिशत होती है। निकल-क्रोमियम-टंग्स्टन वाल्वों के इस्पात में इसकी मात्रा १·०-२·५ प्रतिशत होती है।

गंधक—जैसा विदित है, इस्पात में गंधक का होना साधारणतया उपद्रवप्रद है। मिश्रधातुकारी तत्व के रूप में इसका उपयोग केवल स्वच्छंदता से कटनेवाले इस्पात में होता है।

सिलिनियम—यह तत्व गंधक के सदृश ही कार्य करता है।

टाइटेनियम—थोड़ी मात्रा में मिलाने से यह इस्पात की स्थिरता बढ़ाता है, और कहते हैं, इसके कारण दाने (ग्रेन) का परिमाण अधिक सूक्ष्म होता है।

टंग्स्टन—२० प्रतिशत तक की मात्रा में टंग्स्टन उच्चवेग इस्पात का आवश्यक अवयव है; इसलिये कि यह इस्पात को उष्मा उपचार के बाद अत्यधिक कठोरता प्रदान करता है, जो ऊँचे ताप पर भी स्थिर रह जाती है। गर्म-ठप्पा-इस्पात तथा दूसरे गर्म कार्य के लिये उपयुक्त इस्पात में भी इसका उपयोग होता है। इसमें इसकी मात्रा २ प्रतिशत से लगभग १० प्रतिशत तक होती है।

वैनेडियम—इस्पात में वैनेडियम, फ़ेरो-वैनेडियम के रूप में मिलाया जाता है। यह शक्तिशाली स्वच्छकारक वस्तु है। इससे इस्पात की स्थिरता तथा सफाई बढ़ती है तथा उष्मा उपचारित कारवनमय और मिश्र-धात्वीय इस्पात के यांत्रिक गुण उन्नत होते हैं। हवा में कठोरीकरण के गुण

तथा काटने की क्षमता बढ़ाने के लिये १½ प्रतिशत तक वैनेडियम उच्चवेग यांत्रिक इस्पात में प्रयुक्त होता है। एक प्रकार के प्रसिद्ध उच्चवेग इस्पात में वैनेडियम ४.५ जैसे ऊँचे अनुपात में रहता है।

ज़िरकोनियम—कुछ उच्च क्रोमियम, क्रोमियम-निकल तथा ऑस्टे-नाइटमय १८:८ प्रकार के इस्पात में, मुक्त कटने के गुण देने के लिये, थोड़ी मात्रा में यह तत्व गंधक के साथ प्रयुक्त होता है।

निम्न-मिश्र-धातवीय, उच्च-तनाव-पुष्ट, भवन-निर्माण-इस्पात—प्रामाणिक ब्योरे के अनुसार इन इस्पातों की अंतिम तनाव-पुष्टता ३७-४३ टन प्रति वर्ग इंच है, तथा स्रोटनविंदु (वह सीमा जिसपर छड़ टूटता है) १⅛" × १⅛" मोटी छड़ के लिये २३ टन प्रति वर्ग इंच है। ये इस्पात मोटे तौर पर निम्नलिखित वर्गों में रखे जा सकते हैं :

(१) सिलिकन इस्पात,
(२) मैंगनीज़ इस्पात,
(३) ताँबे की थोड़ी मात्रा के साथ मैंगनीज इस्पात।
(४) मैंगनीज, क्रोमियम तथा ताँबे की मिलावट का इस्पात,

वर्ग १ : सिलिकन इस्पात की, जिसकी मौलिकता अमरीकी है, अंतिम तनाव-पुष्टता ३७.७-४२.४ टन प्रति वर्ग इंच तथा निम्नतम स्रोटनविंदु २०.१ टन प्रति वर्ग इंच है। इसकी तनावपुष्टता कारवन की ऊँची मात्रा के कारण उत्पन्न होती है (०.४% तक)।

वर्ग २ : इस समूह के इस्पात अधिकतर मैंगनीज की मात्रा (लगभग १.२५%) पर निर्भर हैं।

वर्ग ३ : सामान्यतः ०.२५% से ०.५% तक ताँबे की मिलावट होने पर वर्ग (२) के समान ही इस वर्ग की भी साधारण प्रकृति होती है। मैंगनीज के साथ ताँबे की मात्रा संक्षारण-प्रतिरोध बढ़ाती है, जो नर्म इस्पात की अपेक्षा ३०-४०% अधिक हो जाती है।

वर्ग ४ : इस वर्ग के इस्पात में मैंगनीज, क्रोमियम तथा ताँबा मिश्रित रहता है। इसमें ऊँचा स्रोटनविंदु तथा साथ ही उन्नत संक्षारण अवरोध मिलता है।

वायुयान तथा मोटरगाड़ियों के इंजन का इस्पात—मोटरगाड़ियों की क्रैंक धुरी सदैव पीटकर ही तैयार की जाती है तथा ४५-६५ टन प्रति वर्ग इंच की साधारण सीमा तक तनाव-पुष्टता प्राप्त करने के लिये उष्मा-उपचारित होती है। आवश्यक इस्पात का चुनाव पुरजे की प्रधान मोटाई पर निर्भर है। छोटी क्रैंक धुरी के लिये ०.४०% कारवन इस्पात, विना निकल के या १.०% निकल सहित, अथवा निम्न मिश्रधातवीय मैंगनीज़-मालिब्डीनम इस्पात को प्राथमिकता दी जाती है। भारी क्रैंक धुरियाँ निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात की बनती है, जो ५५-६५ टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता के लिये उष्मा-उपचारित रहती हैं। निकल-क्रोमियम इस्पात में, जो पानी चढाई हुई अवस्था में उपयुक्त होता है, पानी चढ़ाने पर भुरभुरा-पन वचाने के लिये मालिब्डीनम की मिलावट एक मानक प्रचलन है।

हवाई इंजन की क्रैंक धुरी के लिये नाइट्राइडिंग इस्पातों का उपयोग प्रचलित है। ये क्रोमियम मालिब्डीनम इस्पात होते हैं जो ६०–७० टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता तक उष्मा-उपचारित किए जाते है।

मोटर में संवंधक दंडों (कनेक्टिंग रॉड) को मध्यम कारवन या मैंगनीज-मालिब्डीनम इस्पात से, जो ४५-६५ टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता तक उष्मा-उपचारित होते हैं, पीटकर बनाया जाता है। हवाई इंजन के संवंधक दंड के लिये ३.५% निकल इस्पात, ५५-६५ टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता देने के लिये उपचारित, तथा निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात, ६५-७० टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता तक उपचारित, अनुकूल हैं।

मोटर के वाल्वों के लिये ३.५% सिलिकन और ८.५% क्रोमियम वाले इस्पात का उपयोग होता है तथा कभी कभी ऑस्टेनाइटमय इस्पात, जिसमें १३% क्रोमियम, १३% निकल, २.५% टंग्स्टन तथा ०.४% कारवन होता है, निष्कासक (एग्ज़ॉस्ट) वाल्व के लिये प्रयुक्त होता है।

क्रैंक धुरी तथा टैपट पृष्ठकठोरीकृत इस्पात से बनाए जाते हैं, जिसमें ५% निकल इस्पात अथवा ४% निकल और १.३% क्रोमियम-वाले इस्पात का प्रयोग होता है।

दाँतीदार चक्रों का विनाश थकान (फ़ैटीग) से उतना नहीं होता जितना घिसने के कारण। ये अधिकतर पृष्ठकठोरीकृत इस्पात से बनाए जाते है; जैसे ०.२०-०.२८% कारवन सहित २ प्रतिशत निकल मोलिब्डीनम इस्पात, ३% निकल इस्पात अथवा ५% निकल इस्पात।

गैर टर्बिन इस्पात—इस कार्य में प्रयुक्त सामग्री मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में विभक्त की जा सकती है। इनमें से पहला फेरिटिक (परलिटिक) या अन्-ऑस्टेनाइटमय वर्ग कहा जा सकता है, जिसमें वे मिश्र धातुएँ है जो उदाहरणतः ६००° सें० अधिकतम ताप तक कार्य के लिये अनुकूल है।

दूसरी श्रेणी मे वे मिश्र धातुएँ है जिनका विकास प्रधानतः चिप्पड़ न वनने देने की ऊँची क्षमता के लिये हुआ है तथा जिनकी भार सँभालने की क्षमता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इस वर्ग में आनेवाले इस्पातों की रासायनिक संरचना में अधिक अंतर है। फेरिटिक तथा आस्टेनाइटमय दोनों प्रकार की मिश्र धातुएँ इसी में हैं। कम शक्ति के अंतर्दह इंजन में वाल्व-इस्पात के रूप में प्रयुक्त होनेवाले सादे ६% क्रोमियम इस्पात से लेकर ढाले अथवा पीटकर बनाए गए ६५% निकल और १८% क्रोमियमवाली मिश्र धातुओं तक, जो नमक के घोलवाले उष्मकों में तथा अन्य संक्षारक परिस्थितियों में उच्च ताप पर प्रयोग के लिये उपयुक्त होती है, इस वर्ग में संमिलित हैं।

तीसरी श्रेणी में वे आस्टेनाइटमय मिश्र धातुएँ आती है जो ६००° सें० से ऊपर के ताप पर धीरे धीरे होनेवाले स्वतः परिवर्तन के विरुद्ध ऊँची प्रतिरोधक शक्ति के लिये ही बनाई गई है। इस स्थिति में मोरचा तथा चिप्पड़ न वनने देने की अच्छी क्षमता भी आवश्यक है। इस तृतीय वर्ग का आधारभूत पदार्थ प्रसिद्ध १८% क्रोमियम और ८% निकलवाला 'स्टेनलेस' इस्पात है, परंतु कुछ नवीन तथा श्रेष्ठ मिश्र धातुएँ अति जटिल प्रकृति की हैं। इनमें लोहा केवल अल्प मात्रा में ही एक अशुद्धि के रूप में रहता है।

वाष्प टर्बिन के लिये इस्पात—आधुनिक वाष्प टर्बिन, परिशुद्ध मशीन किए हुए ऐसे अंगों से बनी रहती है जिन्हें उच्च ताप पर अत्यधिक तनाव तथा बहुधा कठिन संक्षारण की स्थिति सहन करनी पड़ती है तथा जो लंबी अवधि तक लगातार कार्य में लगे रहते है। टर्बिन की धुरी पीटकर बनाए गए, तेल में बुझाकर कठोर किए गए तथा कुछ पानी उतारे हुए कारवन इस्पात की होती है, जिसमें कारवन लगभग ०.४% तथा मैंगनीज ०.५ से १.०% तक होता है। उच्च दबाववाले टर्बिन की धुरी आंतरिक तनाव रहित किए तथा पानी चढ़े कारवन-मालिब्डीनम-वैनेडियम इस्पात से बनती है। टर्बिन के सिलिंडर के लिये प्रायः सादा कारवनवाले अथवा कारवन-मैंगनीज़-वाले (मैंगनीज १.४-१.८%) इस्पात का उपयोग होता है। केवल उन सिलिंडरों के लिये जो अति उच्च ताप पर कार्य करते है ०.५% मालिब्डीनम इस्पात की आवश्यकता पड़ती है। ब्लेड के लिये विविध स्टेनलेस इस्पात तथा ऊँची निकल मिश्रधातुएँ प्रयुक्त हुई है। आजकल सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाला पदार्थ १३% क्रोमियम-निम्न-कारवन इस्पात है।

वायलर—आजकल के वायलर ६००° सें० तक ताप तथा ३,२०० पाउंड प्रति वर्ग इंच से अधिक दाव पर कार्य करते है। ढोल (ड्रम) सरल कारवन-इस्पात, अथवा ३% निकल, ०.७% क्रोमियम और ०.६% मालिब्डीनमवाले इस्पात से लवंगित (रिवेट) करके, अथवा वेल्ड करके, अथवा तप्त पीटकर बनाए जाते है। वायलर की नलियाँ प्रायः कारवन-इस्पात, अथवा क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात की ठोस खिंची हुई होती है।

दावसह वरतन—आधुनिक रासायनिक उद्योग में रासायनिक क्रिया कराने तथा विभिन्न गैसों को रखने के लिये दावसह वरतनों की आवश्यकता पड़ती है। इन वरतनों के लिये उपयुक्त पदार्थ तीन वर्ग के होते हैं : कारवन इस्पात, मिश्रधातु इस्पात तथा स्टेनलेस इस्पात। सामान्यतः मध्यम तनाव-पुष्ट इस्पात, जिनमें मैंगनीज़ की मात्रा १.५ से १.८% तक तथा ०.२५% कारवन रहता है तथा जिनकी तनाव-पुष्टता ३७ से

४५ टन प्रति वर्ग इंच तक होती है, मध्यम तथा उच्च दाव पर कार्य के लिये दावसह बरतनों में उपयुक्त होते हैं।

रासायनिक उद्योग में इस्पात—सदैव विकसित होती हुई नई रासायनिक विधियों के कारण तथा उन विशेष, नवीन परिस्थितियों का सामना करने के लिये जो इन विधियों में उपस्थित होती हैं, विभिन्न प्रकार के इस्पात तथा अन्य धातुओं का उपयोग होता है। रासायनिक उद्योग में माल रखने के बरतनों, अनेक मशीनों और बहुत प्रकार के निर्माण बरतनों तथा नलियों आदि के लिये नरम इस्पात ही अत्यधिक प्रयुक्त होता है। क्रोमियम तथा क्रोमियम-निकल आस्टेनाइटमय संक्षारण अवरोधक इस्पात का उपयोग रासायनिक उद्योग में बहुत है। प्रचलित इस्पात की रासायनिक संरचना में १८% क्रोमियम, ८% निकल तथा लगभग ०·१८% कारबन रहता है तथा इसे टाइटेनियम या नियोबियम की सहायता से स्थायीकृत कर दिया जाता है। परंतु ऐसे इस्पात का संक्षारण-अवरोध २·५-३% मालिब्डीनम मिलाने से अत्यधिक बढ़ जाता है। रासायनिक उद्योग में उच्च ताप पर कार्य के लिये २५% क्रोमियम तथा २०% निकलवाला इस्पात व्यवहृत होता है।

औजार तथा ठप्पे के लिये इस्पात—आधुनिक उत्पादन-विधियों का विकास औजार बनाने में काम आनेवाले ऐसे इस्पात की उन्नति पर ही बहुत कुछ निर्भर रहा है जो उत्तरोत्तर कठिन परिस्थितियों में भी कार्य कर सके।

वैसे तो औजारी इस्पात अगणित प्रकार के हैं, पर इन्हें सुविधापूर्वक इन सात समूहों में बाँटा जा सकता है :

(१) सादे कारबन औजारी इस्पात,
(२) निम्न मिश्रधात्वीय औजारी इस्पात,
(३) तेल में बुझाकर कठोर किया जानेवाला औजारी मैंगनीज़ इस्पात,
(४) आघात-प्रतिरोधक औजारी इस्पात,
(५) उच्चकारबन उच्चक्रोमियम मिश्रधातु,
(६) उच्च वेग इस्पात तथा गरम ठप्पे का इस्पात,
(७) निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात।

ऊपर दिए हुए एक या अधिक मौलिक गुण, इनमें से प्रत्येक समूह में अधिक अंश तक पाए जाते हैं।

सादा कारबन औजारी इस्पात—एक बार पानी में बुझाकर इसका पृष्ठ कठोर, कोमल तथा साधारण कठोरता का बनाया जा सकता है।

निम्न मिश्रधात्वीय औजारी इस्पात—कारबनवाले औजारी इस्पात में ०·२ से ०·५% तक वैनेडियम की उपस्थिति दानेदार होना रोकती है तथा कठोरीकरण की क्षमता को लाभदायक सीमा तक बढ़ती है। १·५% क्रोमियम मिलाने से कठोरीकरण की क्षमता तथा घर्षण-अवरोध बढ़ता है और यदि मैंगनीज़ ०·५ तथा ०·७५% के बीच में स्थिर रखा जाय तो यह तेल में बुझाकर कठोरीकरण योग्य इस्पात हो जाता है। १·२% कारबन तथा १·३% टंग्स्टनवाला इस्पात, जो प्रायः धातुकट आरी के फल (हैकसॉ ब्लेड) के लिये प्रयुक्त होता है, इसका एक अच्छा उदाहरण है।

तेल में बुझाकर कठोरीकरण योग्य मैंगनीज़ औजारी इस्पात—तेल में बुझाकर कठोरीकृत प्रामाणिक इस्पात में ०·८-१·० % कारबन तथा १·०-२·०% मैंगनीज़ रहता है।

आघात प्रतिरोधक इस्पात—इस प्रकार के इस्पातों में से सरलतम इस्पात में ०·६% कारबन, ०·६% मैंगनीज़ तथा ०·४-१·४% क्रोमियम रहता है। जिसमें अधिक क्रोमियम रहता है वह मोटे यंत्रों के लिये उपयुक्त होता है।

उच्चकारबन, उच्चक्रोमियम मिश्रधातु—प्रामाणिक मिश्रधातु में २·२-२·४% कारबन तथा १२-१४% क्रोमियम रहता है। इसमें उच्च घर्षण-अवरोध तथा उच्च संक्षारण-अवरोध का गुण होता है। यह तेल में बुझाकर कठोर किया जा सकता है, परंतु १% मालिब्डीनम की मिलावट इसे वायु में कठोरीकरण योग्य मिश्रधातु बना देती है।

उच्च वेग तथा गर्म ठप्पे के लिये उपयुक्त इस्पात—ऊँचे ताप पर कार्य करते समय अच्छी कठोरता तथा काटने का धार सुरक्षित रखने की क्षमता ही उच्चवेग इस्पात का मुख्य गुण है। अधिक उपयोग में आनेवाले इस प्रकार के इस्पात में लगभग ०·७५% कारबन, १·८% टंग्स्टन, ४% क्रोमियम तथा १·५% वैनेडियम रहता है।

निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात—०·३-०·६% कारबन, ४% निकल, १·३% क्रोमियम तथा ०·३% मालिब्डीनम सहित इस्पातों में अत्यधिक चिमड़ापन (टफ़नेस) होता है।

चुंबकयुक्त यंत्रों के बहुत से ऐसे कार्यों में जहाँ पहले केवल विद्युच्चुंबक ही व्यवहृत होते थे, अब नवीन खोजों के कारण, स्थायी चुंबक सफलतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं। चुंबक इस्पात दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—वह जो मार्टेनसिटिक इस्पात होता है तथा वह जिसमें अवक्षेपण की विधि द्वारा चुंबकीय कठोरता उत्पन्न की जाती है। मार्टेनसिटिक इस्पात क्रोमियम इस्पात (कारबन ०·६%, क्रोमियम ३·५%), टंग्स्टन इस्पात (कारबन ०·७%, क्रोमियम ०·३% तथा टंग्स्टन ६%) तथा कोबल्ट इस्पात (३५% कोबल्ट, १% कारबन, ५-६% क्रोमियम, लगभग १% टंग्स्टन और १·५% मालिब्डीनम) को मिलाकर बनाया जाता है। अवक्षेपण द्वारा कठोरीकृत मिश्रधातुओं में ऐल्यूमिनियम, निकल, कोबल्ट तथा ताँबा, कुछ टाइटेनियम, नियोबियम या मालिब्डीनम के साथ ,रहते हैं।

१६०० ई० तक, साधारण उपयोग में, लोहा ही अकेले 'नरम' लौह-चुंबकीय वस्तु था। तत्पश्चात् अनेक मिश्रधातुओं का प्रवेश हुआ, जिनमें समुचित उष्मा उपचार से, ऊँची प्रारंभिक चुंबकशीलता (पर्मिएबिलिटी) तथा निम्न मंदायन (हिस्टेरोसिस) हानि उत्पन्न होती है। इन्हें पार-मिश्रधातु कहते हैं। निकल-लोहा का बहुत सी मिश्रधातुएँ, जिनमें दूसरी धातुओं की अल्प प्रतिशत में ही मिलावट रहती है, इस क्षेत्र में अति श्रेष्ठ ठहरी है। इन मिश्रधातुओं में ३५-६०% निकल रहता है तथा इनमें मिलाई जानेवाली प्रधान धातुएँ मालिब्डीनम, क्रोमियम तथा ताँबा हैं।

इंजीनियरी में ऐसे इस्पात तथा मिश्रधातुओं के अनेक उपयोग हैं, जो यांत्रिक तनाव सह सके या सहारा दे सके, परंतु आसपास में चुंबकीय क्षेत्र की वृद्धि न करे। इनकी चुंबक-प्रवृत्ति (ससप्टिबिलिटी) को लगभग शून्य तथा चुंबकशीलता का लगभग इकाई तक पहुँचना चाहिए। इस कार्य में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ निम्नलिखित हैं : (१) आस्टेनाइटमय मिश्रधातु ढलवाँ लोहा तथा इस्पात, (२) तापसमकारी मिश्रधातु जिनमें प्रधानतः निकल (३०-३६%), और लोहा (५६-७०%) रहता है तथा साथ में कभी कभी मैंगनीज़ या क्रोमियम (५%) होता है, तथा (३) निश्चुंबकीय इस्पात (कारबन ०·४५%, मैंगनीज़ ८·५-६·५%, निकल ७·५-८·५%, क्रोमियम ३·०-३·५%)।

अकलुष इस्पात (स्टेनलेस स्टील)—मिश्रधातुओं के उन समूहों का प्रतिनिधि है जो वायुमंडल तथा कार्बनिक और अकार्बनिक अम्लों से कलुषित (खराब) नहीं होते हैं। साधारण इस्पात की अपेक्षा ये अधिक ताप भी सह सकते हैं। इस्पात में ये गुण क्रोमियम मिलाने से उत्पन्न होते हैं। क्रोमियम इस्पात के बाह्य तल को निष्क्रिय बना देता है। प्रतिरोधी शक्ति की वृद्धि के लिये इसमें निकल भी मिलाया जाता है। निकल के स्थान पर अंशतः या पूर्णतः मैंगनीज़ का भी उपयोग किया जाता है। अकलुष इस्पात के निर्माण में लोहे में कभी कभी ताम्र, कोबाल्ट, टाइटेनियम, नियोबियम, टैंटालियम, कोलंबियम, गंधक और नाइट्रोजन भी मिलाया जाता है। इनकी सहायता से विभिन्न रासायनिक, यांत्रिक और भौतिक गुणों के अकलुष इस्पात बनाए जा सकते हैं।

सन् १८७२ ई० में वुड्स और क्लार्क ने लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि लौह और क्रोमियम को कुछ मिश्र धातुओं में न तो जंग (मुरचा) लगता है और न अम्ल के प्रभाव से उनपर कोई विकार होता है। पेरिस में आयोजित सन् १६०० ई० की प्रदर्शनी में इस्पात के कुछ नमूने थे जिनकी संरचना आधुनिक अकलुष इस्पात के समान थी। सन् १६०३ ई० में लौह, क्रोमियम और निकल की मिश्र धातुओं को इंग्लैंड में पेटेंट कराया गया। इन मिश्र धातुओं में क्रोमियम की मात्रा २४ से ५७

प्रतिशत और निकल की मात्रा ५ से ६० प्रतिशत तक थी। संयुक्त राज्य अमरीका में निकल और फेरोक्रोम (अर्थात् क्रोमियम-मिश्रित लोहे) को मूषा (घरिए) में पिघलाकर थर्मोकपल बनाने योग्य इस्पात की रचना की गई। सन १९०५ ई० में लौह में निकल, क्रोमियम और कोबाल्ट की मिश्र धातु से मोटरकारों के स्पार्क प्लगों में चिनगारी देनेवाले तार बनाए गए। सन् १९१० ई० में उच्चतापमापी नलिकाओं के लिये जर्मनी ने इस्पात, क्रोमियम और निकल की मिश्रधातु का और सन् १९१२ ई० के लगभग इंग्लैंड ने बंदूक की नाल बनाने के लिये क्रोमियम और इस्पात की मिश्रधातु का उपयोग किया और चाकू, छुरी आदि बनाने के लिये इसे पेटेंट कराया। बाद में केवल निकल या निकल और क्रोमियम को इस्पात में मिलाकर बनाई गई मिश्र धातुओं के विभिन्न मिश्रण संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैंड और जर्मनी में पेटेंट कराए गए। इन प्रारंभिक मिश्रणों के आधार पर ऐल्यूमीनियम, सेलीनियम, मालिब्डीनम, सिलिकन, ताम्र, गंधक, टंग्स्टन और कोलंबियम को क्रोमियम और क्रोमियम इस्पात में मिलाकर श्रेष्ठ गुणधर्मवाले अकलुष इस्पात बनाने के आविष्कार हुए। जर्मनी में निकल का अभाव होने के कारण सन् १९३५ ई० में एक ऐसे प्रकार के अकलुष इस्पात का निर्माण हुआ जिसमें निकल के स्थान पर मैंगनीज़ का प्रयोग किया गया और मिश्र धातु बनाने के लिये सहायक के रूप में नाइट्रोजन प्रयुक्त हुआ।

क्षयरोधक और तापरोधक आधुनिक अकलुप इस्पातों को पाँच वर्गो में विभाजित किया जा सकता है :

(१) जिनमें क्रोमियम का उपयोग मुख्य धातु-मिश्रणकारी के रूप में किया गया हो।

(२) जिनमें क्रोमियम और इस्पात की मिश्र धातु के गुणों में परिवर्तन के लिये पर्याप्त मात्रा में ऐल्यूमीनियम, ताम्र, मोलिब्डीनम, गंधक, सिलिकन, सेलीनियम या टंग्स्टन का उपयोग किया गया हो।

(३) जिनमें क्रोमियम, निकल और इस्पात के मिश्रणों में पूर्वोक्त अनुच्छेद में दी गई धातुओं में से दो, एक या अधिक का उपयोग अकलुप इस्पात के गुणों में थोड़ा सा परिवर्तन लाने के लिये किया गया हो।

(४) जिनमें क्रोमियम और निकल का उपयोग प्रमुख धातु-मिश्रणकारी के रूप में किया गया हो।

(५) जिनमें निकल के स्थान पर प्रमुख धातु-मिश्रणकारी के रूप में मैंगनीज़ का उपयोग किया गया हो और वैसा ही अकलुप इस्पात बनाया गया हो जैसा अनुच्छेद (३) और (४) में वर्णित है।

कार्बन की मात्रा या धात्वीय संरचना की दृष्टि से भी इस्पात का वर्गीकरण किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक रीति में इस्पात का तीन वर्गों में विभाजन किया जाता है। कार्बन के अनुसार वर्गीकरण करने पर इस्पात न्यून, मध्यम और उच्च कार्बनवाले इस्पात कहलाते हैं। संरचना की दृष्टि से भी इस्पात को तीन वर्गों में बाँटते हैं :

(१) फेरिटिक इस्पात, जो कड़े किए ही नहीं जा सकते। इनमें १५ प्रतिशत से ३० प्रतिशत तक क्रोमियम रहता है, और कार्बन की मात्रा बहुत कम (०.०८ से ०.२० प्रतिशत तक) रहती है।

(२) मार्टेंसिटिक इस्पात, जो तप्त करके पानी में बुझाने पर कड़े हो जाते हैं। इनमें १० प्रतिशत से १८ प्रतिशत तक क्रोमियम रहता है और ०.०८ प्रतिशत से १.१० प्रतिशत तक कार्बन।

(३) आस्टेनिटिक इस्पात, जो बिना बुझाए ही कड़ा किया जा सकता है। इसमें १६ प्रति शत से २६ प्रति शत तक क्रोमियम और ६ प्रतिशत से २२ प्रति शत तक निकल रहता है।

परलैटिक इस्पात कठोर किया जा सकता है और ऐसा करने पर उसकी संरचना मार्टेंसिटिक के समान हो जाती है।

क्रोमियम इस्पात में क्षय-प्रतिरोध-शक्ति बाह्य तल पर लौह-क्रोमियम आक्साइड की पतली स्थायी परत बन जाने के कारण उत्पन्न होती है। यह पतली परत अपने नीचे स्थित इस्पात के क्षय को रोकती है। यदि रासायनिक क्रिया या रगड़ से यह तह नष्ट हो जाती है तो अविलंब उसके नीचे ऐसी ही दूसरी तह का निर्माण हो जाता है। उच्च ताप पर भी यह तह दृढ़ता से चिपकी रह जाती है और आक्सीकरण को रोकती है। लौह को निष्क्रिय बनाने के लिये क्रोमियम की न्यूनतम मात्रा १२ प्रतिशत है। धातु-मिश्रणकारी के रूप में क्रोमियम और निकल अथवा क्रोमियम और मैंगनीज़ मिलाकर बने अकलुप इस्पातों के गुण 'फेरिटिक' और साधारण क्रोमियम इस्पात से भिन्न होते हैं। ये इस्पात तार खींचने योग्य, अचुंबकीय और ठंडी विधि को छोड़ अन्य विधियों से कठोर न होनेवाले वर्ग में आते हैं। संरचना में ये आस्टेनिटिक इस्पात के समान हैं। क्षयनिरोधकता की दृष्टि से क्रोमियम मैंगनीज इस्पात की मिश्र धातु क्रोमियम-निकल-इस्पात की मिश्र धातु से निर्बल, किंतु उतने ही क्रोमियमवाले इस्पात की मिश्र धातु से सबल होती है। भारत में क्रोमियम और मैंगनीज की बहुलता की दृष्टि से यह तथ्य औद्योगिक महत्व का है।

प्रयोगात्मक रूप से लगभग संपूर्ण अकलुप इस्पात बिजली की भट्ठी में बनाया जाता है। थोड़ा सा भाग प्रवर्तन भट्ठियों (इंडक्शन फर्नेसेज़) और आर्क-भट्ठियों में बनाया जाता है। कच्चे लोहे के टुकड़े भट्ठी में पिघलाए जाते हैं और आक्सिजन की सहायता से शोधित कर लिए जाते हैं। इसमें क्रोमियम डालने के लिये कार्बन की कम मात्रावाली लौह-क्रोमियम मिश्र धातु पिघले लौह में मिलाई जाती है। फिर उसमें निकल या मैंगनीज मिलाया जाता है। अन्य धातुएँ भी आवश्यकतानुसार भट्ठी में मिला दी जाती हैं। तब पिघले हुए, शोधित और विधिवत् निर्मित मिश्र धातु की सिलें ढाल ली जाती है। इन सिलों को पीटकर या बेलकर छड़ों के रूप में बना लिया जाता है। अन्य प्रकार के इस्पातों की अपेक्षा अकलुप इस्पात में निर्माण की क्रियाएँ, यथा बाह्य तल का नियंत्रण, घिसना, रेतना, बाह्य तल पर आक्सीकरण रोकने के लिये पुन: गरम करना, अर्धनिर्मित वस्तुओं पर रेत की धार मारना और अम्ल से स्वच्छ करना आदि क्रियाएँ, अधिक मात्रा में की जाती हैं। इसके अतिरिक्त अकलुप इस्पात के उपकरणों के ऊपरी पृष्ठ को लोग विभिन्न अवस्थाओं में चाहते हैं, यथा मृदु, कठोर, चमकरहित से लेकर श्रेष्ठ पालिशवाले तक और खुरदुरे से लेकर पूर्णतया सुचिक्कण तक।

जहाँ निम्नलिखित अवस्थाओं में से एक या अधिक अवस्थाओं का निर्वाह सफलतापूर्वक करना पड़ता है वहाँ अकलुप इस्पात की आवश्यकता पड़ती है : प्रतिकूल ऋतु, धूल, खट्टा या नमकीन भोजन, रासायनिक पदार्थ, धातुओं को हानि पहुँचानेवाले जीवाणु, जल, घर्षण, आघात और अग्नि। इसका उपयोग वहाँ भी किया जाता है जहाँ बाह्य तल को स्वास्थ्य की दृष्टि से स्वच्छ, सुंदर या सुचिक्कण रखना होता है। जहाँ मजबूती की आवश्यकता होती है वहाँ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

अकलुप इस्पात को चमकदार रखने के लिये साधारण पालिश या बिजली की कलई की आवश्यकता नहीं होती, केवल समय समय पर साधारण सफाई ही पर्याप्त रहती है। अकलुप इस्पात की विशेषता उसमें जंग न लगने, क्षय न होने और रंग में विकृति न होने के कारण है। साधारणत: प्रतिरोधशक्ति क्रोमियम अंश के अनुसार बदलती है। आस्टेनिटिक १८ : ८ वाले अकलुप इस्पात में (जिसमें १८ प्रतिशत क्रोमियम और ८ प्रतिशत निकल रहता है) ऋतुक्षय से बचने और भोजनालय के, कपड़ा धोने के तथा दुग्धशाला के बरतनों और अन्य साधारण उपयोगों के निमित्त उत्तम प्रतिरोधशक्ति रहती है। इसके गुण १४:१८ क्रोमियम-इस्पात के समान होते हैं जिनमें कार्बन की मात्रा ०.१२ प्रतिशत से अधिक नहीं होती। निकलवाला अकलुप इस्पात साधारण अकलुप इस्पात से कुछ ही महँगा पड़ता है। क्रोमियम निकल अकलुप इस्पात में मोलिब्डीनम मिलाने से लवणों और तेजाबों के प्रति प्रतिरोधशक्ति बढ़ जाती है। इससे इसका उपयोग समुद्रतटवर्ती अथवा लवण के संपर्क में आनेवाले उपादानों में विशेष रूप से होता है।

क्रोमियम-निकल अकलुप इस्पात को ४५०° से ९००° सेंटीग्रेड के तापों के बीच उपयोग करने अथवा पीटने से उसकी प्रतिरोध शक्ति कम हो जाती है। इस दोष को दूर करने के लिये उसे १,०००° से उच्च ताप पर गरम करके पुन: शीघ्रता से शीतल कर लिया जाता है। क्रोमियम-निकल और केवल क्रोमियमवाले अकलुप इस्पात, जिनमें कार्बन की

मात्रा ०·०३ प्रतिशत से ०·०८ प्रतिशत तक होती है और जिनको थोड़ा सा कोलंबियम, नियोबियम या टाइटेनियम मिलाकर स्थायी किया जाता है, इस प्रभाव से मुक्त रहते हैं।

अकलुप इस्पात के रासायनिक शत्रु हैं क्लोराइड, ब्रोमाइड और आयोडाइड। यदि धातु को समय समय पर जल से स्वच्छ कर लिया जाता है और हवा में सूखने दिया जाता है तो वह अच्छा काम देती है। यदि धातु पर धूल अथवा अन्य पदार्थों की तह जम जाती है जिससे धातु से वायु का संपर्क नहीं हो पाता और धूल की तह लवणमय जल से तर हो जाती है तो ऐसे स्थानों पर गड्ढे पड़ जाते हैं। इसे रोकने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिए :

(१) वर्तनों की संधियाँ गहरी और तीक्ष्ण न रहें। उन्हें गोल रखा जाय।

(२) क्षयात्मक प्रयोगों में आनेवाले उपादानों को भली भाँति चिकना करके पालिश कर ली जाय, विशेषकर वेल्ड की गई संधियों को।

(३) छनने और जालीदार टोकरियों को विशेष रूप से स्वच्छ किया जाय जिससे जालियों के बीच गर्द न जमने पाए।

(४) निर्माण के समय लगे हुए लौहकण और पपड़ियाँ घिसकर साफ कर दी जायँ।

(५) क्षयकारी वातावरण में गरम किए जानेवाले सामानों के बनाने में इस बात का ध्यान रखा जाय कि उनके विभिन्न अवयवों के प्रसार के लिये पर्याप्त स्थान रहे।

चाप सहनेवाले वाल्व, पंप और नल की फिटिंग, जिन्हें ५५०° सेंटीग्रेड से ऊँचे ताप पर काम में लाना होता है, विश्वसनीय मजबूती के लिये अकलुप इस्पात के बनाए जाते हैं। भट्ठियों के भागों में, दाहक कक्षों में, चिमनियों के अस्तर में और इसी प्रकार के अन्य कार्यों में अकलुप इस्पात का उपयोग किया जाता है। साधारण इस्पात पर जमी आक्साइड की परत सरलता से छूट पड़ती है, पर अकलुप इस्पात की आक्साइड की परत इसकी तुलना में स्थायी होती है और नीचे की धातु की रक्षा करती रहती है।

बहुत ठंढी करने पर अधिकांश धातुएँ भुरभुरी हो जाती हैं, किंतु क्रोमियम निकलवाले इस्पात द्रव आक्सिजन के ताप तक दृढ़, तार खींचने योग्य, और आघातसह बने रहते हैं। इसलिये उद्योगों में इस श्रेणी के निम्न ताप पर इसी धातु का प्रयोग किया जाता है।

अन्य धातुओं की अपेक्षा अकलुप इस्पात को बहुधा कम खर्च में ही सूक्ष्म एवं दृढ़ रूप दिया जा सकता है। इसके तार उसी सुगमता से खींचे जा सकते हैं जिस सुगमता से ताम्र या पीतल के, पर यह साधारण इस्पात से अधिक दृढ़ होते हैं। अपनी इस दृढ़ता के कारण अकलुप इस्पात के उपादानों को रूप देने में अधिक शक्ति, बड़े यंत्रों और अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। यदि अत्यधिक दृढ़ उपादान निर्मित करना हो तो इस्पात को बीच बीच में मृदु बनाने की क्रिया करनी पड़ती है। अकलुप इस्पात से विविध सामग्री बनाने में की जानेवाली प्रमुख क्रियाएँ ये हैं : मोड़ना, गोल करना, तार खींचना, पीटना, ऐंठना, तानना और नली बनाना।

यदि सावधानी से कार्य किया जाय तो अकलुप इस्पात के लिये व्यावसायिक वेल्डिंग की सभी प्रचलित रीतियाँ काम में लाई जा सकती हैं। पिघलाकर जोड़ने (वेल्ड करने) में आपसे आप बन जानेवाली गोलियों को घिसकर अत्यंत चिकना कर लिया जाता है जिससे जोड़ देखने में सुंदर लगे और स्वास्थ्य के लिये हितकर रहे। सुनिर्मित, स्वचालित, निष्क्रिय गैसों में संरक्षित, 'आर्क' भट्ठी पर वेल्ड किए हुए अकलुप इस्पात बिजली द्वारा पालिश कर देने से साधारणतः पर्याप्त चिकने हो जाते हैं। सभी प्रकार के क्रोमियम-निकल अकलुप इस्पात वेल्डिंग के ताप पर उत्पन्न होनेवाले विकृतिकारी प्रभावों के होते हुए भी तार खींचने योग्य रहते हैं। वेल्ड करते समय संधि के आसपास बनी गोलियाँ भी मृदु, पुष्ट और पिट सकने योग्य रहती हैं। यदि ऐसिटिलीन वेल्डिंग ठीक से न की जाय तो संधि में कार्बन का समावेश हो जाने से पुष्टता और क्षयनिरोधकता में कमी आ जाती है।

कठोर बनाने योग्य अकलुप इस्पातों की भी वेल्डिंग की जा सकती है, किंतु उन्हें विशेष क्रियाओं द्वारा जोड़ा जाता है, जिससे वे चिटक न जायँ। ऐसे इस्पातों को, जिनमें कार्बन की मात्रा ०·२० प्रतिशत से अधिक हो, पहले २६०° सें० तक गरम कर लिया जाता है, फिर उन्हें उसी ताप पर वेल्ड करके मृदु बना लिया जाता है। यदि वेल्डिंग के पश्चात् तुरंत ही धातु को कठोर करना और उसपर पानी चढ़ाना हो तो मृदु बनाने की क्रिया छोड़ी जा सकती है। साधारणतः ऐसे पुरजों को वेल्डिंग द्वारा नहीं जोड़ना चाहिए जिनपर बहुत ठोंक पीट या कटाई करनी हो।

अकलुप इस्पात के टुकड़े साधारणतः टक्करी जोड़ (बट वेल्डिंग) से जोड़े जाते हैं। पतली वस्तुएँ एक के ऊपर एक चढ़ाकर वेल्डिंग द्वारा जोड़ी जाती हैं। टैंक और रेफ्रिजरेटर आदि की जोड़ाई सीम वेल्डिंग से की जाती है।

अकलुप इस्पात को जोड़ने में राँगे-सीसे के टाँके का उपयोग कदापि न करना चाहिए। अकलुप इस्पात को दूसरी धातुओं से जोड़ने के लिये चाँदी का टाँका लगाया जाता है, किंतु यदि यह क्रिया शीघ्र संपन्न न की जा सके तो इसमें मालिब्डीनम आदि पड़े सुस्थिर अकलुप का ही उपयोग करना चाहिए।

अधिकांश प्रामाणिक अकलुप इस्पातों को खरादने आदि में बड़ी कठिनाई पड़ती है। धातु के निकाले गए अंश लंबे लंबे चिमड़े टुकड़ों में निकलते हैं जिनसे परेशानी होती है। गंधक अथवा सेलीनियम की कुछ अधिक मात्रा अकलुप इस्पात में मिलाकर इस दोष से मुक्त संकर धातु का निर्माण किया जा सकता है।

तप्त करके किसी भी प्रकार के अकलुप इस्पात को ठोंक पीटकर इच्छित आकार दिया जा सकता है। यद्यपि अकलुप इस्पात को ढाला जा सकता है, फिर भी पतली या मोटी चादरें जोड़कर ही विभिन्न वस्तुएँ बनाने की प्रथा अधिक प्रचलित है। यदि अकलुप इस्पात से सूक्ष्म यंत्र बनाने हों तो इसके लिये विशेष प्रकार के दाबनेवाले साँचों का उपयोग किया जाता है।

क्षयनिरोधक छनने और इसी प्रकार के अन्य नियंत्रित रंध्रोंवाले यंत्र बनाने के लिये चूर्ण अकलुप इस्पात को विशेष ढंग के साँचों में अत्यंत अधिक दाब से दबाया जाता है।

पेंच, सिटकिनी, रिविट आदि को, जिनका उपयोग अकलुप इस्पात की वस्तुओं के संयोग के लिये किया जाय, अकलुप इस्पात का बनाना चाहिए।

क्रोमियम-निकल अकलुप इस्पात को अत्यधिक कठोर बनाया जा सकता है। मृदु किए गए सब प्रकार के अकलुप इस्पात साधारण इस्पात से अधिक मजबूत होते हैं। कठोर करने पर वे और भी मजबूत हो जाते हैं। ठंढी अवस्था में ही बेलने या तार खींचने से १८:८ वाले अकलुप इस्पात की मजबूती प्रति वर्ग इंच कई सौ टन होती है। ठंढी दशा में तनाव देकर बनाए गए क्रोमियम-निकल अकलुप इस्पात की चद्दरों को स्पॉट वेल्डिंग द्वारा जोड़कर ऐसी धरनें बनाई जा सकती हैं जिनका उपयोग अन्य हलकी संकर धातुओं के स्थान पर यातायात उद्योग अथवा ऐसे निर्माण कार्यों में लाभ के साथ हो सकता है जहाँ हलकी धातु का उपयोग नितांत आवश्यक होता है।

नीचे दी हुई तालिका विभिन्न प्रकार के अकलुप इस्पात और उनके उपयोगों को व्यक्त करती है :

(१) १२ प्रतिशत क्रोमियम	साधारण कामों के लिये; कोयले के क्षेत्र में; प्रयुक्त यंत्रादि में; पंप, वाल्व आदि में।
(२) १७ प्रतिशत क्रोमियम	
(क) तप्त करके कठोर हो सकनेवाला	छुरी, काँटा आदि; शस्त्रचिकित्सा के औजार, बाल बेयरिंग आदि में।

(ख)	कठोर न हो सकनेवाला	गृहनिर्माण (आंतरिक); मोटर-कार; दाहक कक्ष में।
(३)	१८ : ८ क्रोमियम-निकल	भोजन, भोजनागार, गृहों के बाहरी दरवाजों या दीवारों में।
(४)	१८ : ८ क्रोमियम-निकल-मालिब्डीनम	लवणमय जल; वस्त्रनिर्माण के यंत्र; कागज निर्माण के यंत्र; या फोटोग्राफी में।
(५)	क्रोमियम-मैंगनीज	भोजनागार, गृह के बाहरी उपकरण, और वाह्य दीवारों में।

सुचिक्कण अकलुष इस्पात सबसे अच्छा क्षयनिरोधी है। अकलुष इस्पात के बने पात्रों के भीतरी कोने गोल रखे जाते हैं। सर्वाधिक क्षय-प्रतिरोध-शक्ति प्राप्त करने के लिये अकलुष इस्पात को २०-४० प्रतिशत शोरे के अम्ल में ५५° सें० से ७०° सें० तक ताप पर कम से कम आधे घंटे तक डुबाकर रखा जाता है।

सं०ग्रं०—जे० एच० जी० मनीपेनी: स्टेनलेस आयरन ऐंड स्टील, २ खंड (लंदन, १९५१)। (हृ० के० ख्रि०)

इस्फंदयार फारस का पुराकालीन एक बहुत बहादुर राजकुमार। अपनी योग्यता और कौशल के कारण फारस के प्रख्यात योद्धा रुस्तम की तरह उसने भी युद्धों में लगातार सात बार विजय पाई। आजासप नामक राक्षस ने अपनी दो बहनों को बंदी बना रखा था। इस्फंदयार ने यह सुना तो व्यापारी के वेश में चतुराई से उस राक्षस के राज्य में प्रविष्ट हुआ और अपने सब शत्रुओं को नशे में चूर कर दिया। पश्चात् अपने साथियों की सहायता से उसने उक्त राक्षस की बहनों को मुक्त किया। लेकिन एक दिन इस्फंदयार के पिता ने, जो उसकी बहादुरी, हिम्मत और कौशल से जलने लगा था, उसे आदेश दिया कि वह रुस्तम को बाँधकर दरबार में हाजिर करे। पहले दिन के युद्ध में इस्फंदयार ने रुस्तम को बुरी तरह घायल कर दिया। लेकिन दूसरे दिन रुस्तम के हाथों पराजित हुआ और मारा गया। मरते मरते अपने पुत्र को उसने रुस्तम को सौंप दिया। इसके बाद रुस्तम आजीवन इस्फंदयार के पुत्र की भलाई करता रहा। (कै०चं०श०)

ईस्फहान ईरान का एक प्रसिद्ध नगर तथा उसकी पूर्वकालीन राजधानी है। इसका प्राचीन नाम इस्पहान था। यह जायें देहरुद के किनारे समुद्रतट से ५,३७० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह मोटर की सड़कों द्वारा तेहरान, कर्मान तथा शीराज से मिला हुआ है। कदाचित् स्वस्थ जलवायु, उर्वरा मिट्टी तथा जल की प्रचुरता के कारण प्राचीन काल से ही यह महत्वपूर्ण स्थान है। यह नगर २० वर्गमील के क्षेत्र में फैला है, परंतु इसके अधिकांश भाग जीर्ण शीर्ण अवस्था में हैं। इसका बाजार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह तीन मील लंबे नगर के हृदयस्थल में एक रेखा में उत्तर दक्षिण फैला हुआ है। 'चहल सितून' (चालीस स्तंभ) तथा 'हश्त बिहिश्त' (आठ स्वर्ग) यहाँ के ऐतिहासिक स्मारक हैं; इनमें ईरानी संस्कृति तथा वास्तुकला का परिचय मिलता है। इसकी जनसंख्या ५,७५,००१ (१९६६) है। (लें० रा० सिं०)

इसमाइल आदिलशाह (शासनकाल १५१०–१५३४ई०) बीजापुर का शासक। यह आदिलशाही वंश के शासन की नींव डालनेवाले यूसुफ आदिलशाह का पुत्र था और १५१० ई० में अपने पिता की मृत्यु के बाद सिंहासनारूढ़ होने के समय इसकी अवस्था केवल नौ वर्ष की थी। अतः यूसुफ आदिलशाह मरते समय अपने कमाल खाँ नामक एक अनुभवी पदाधिकारी को इसमाइल का संरक्षक नियुक्त कर गया था। कमाल खाँ राजकाज चलाने लगा। लेकिन कुछ ही समय पश्चात् उसकी नीयत बिगड़ गई और अमीर बरीद से मिलकर वह राजगद्दी हड़पने का षड्यंत्र रचने लगा। यह देख, इसमाइल की माता ने एक दास के हाथों कमाल खाँ को मरवा डाला। अब इसमाइल ने शासन की बागडोर सँभाल ली। परंतु वह चारों ओर से ऐसे शक्तिशाली शत्रुओं से घिरा था जो उसका राज्य हड़पना चाहते थे। उसने विजयनगर के शासक से युद्ध किया और उससे रायचूर दोआब छीन लिया। परंतु विजयनगर के शक्तिशाली राजा कृष्णदेव राय (१५०९–१५२९ ई०) ने पुनः चढ़ाई करके रायचूर दोआब पर कब्जा कर लिया (१५२० ई०)। कृष्णदेव राय की मृत्यु (१५२९ ई०) हो जाने पर इसमाइल आदिलशाह ने दोबारा रायचूर दोआब पर आधिपत्य जमा लिया। अहमदनगर के शासकों से भी उसके कई युद्ध हुए और उसने सभी युद्धों में विजय प्राप्त की। २५ वर्ष तक शासन करने के उपरांत २७ अगस्त, १५३४ ई० को इसमाइल आदिलशाह की मृत्यु हो गई। (कै० चं० श०)

इसमाइल पाशा (१८३०–१८९५) मिस्र का ख़ेदिव (शासक की उपाधि), काहिरा में जन्म, इब्राहीम पाशा का द्वितीय पुत्र तथा प्रख्यात मेहमत अली का पौत्र। सेंट साइर (St. Cyr) में शिक्षा। सईद के पश्चात् १८६३ ई० में यह वाइसराय बना और १८६७ ई० में ख़ेदिव की वंशानुगत उपाधि धारण की। सुल्तान ने १८७२ ई० में इसे संधि करने तथा निजी सेना रखने का अधिकार दे दिया। इसमाइल पाशा ने अपने शासनक्षेत्र में अनेक आंतरिक सुधार किए। १८७४ ई० में इसने दक्षिण की ओर अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ानी शुरू कीं और दार फुर पर अधिकार कर लिया। पश्चात् सर सैमुएल बेकर तथा जनरल गॉरडन नामक सूडान के गवर्नरों के माध्यम से दास व्यापार को समाप्त करने की कोशिश की। अपनी विशाल प्रतिश्रुतियों के लिये पैसा जुटाने के वास्ते इसने १८७५ ई० में ४०,००,००० पाँड के बदले ब्रिटेन को स्वेज नहर के १७,७,००० शेयर बेच दिए। लेकिन मिस्र की मुद्रास्थिति इससे सुधरी नहीं। दिनों दिन वह बदतर ही होती गई। तब कई असफल यत्नों के बाद मिस्र की पूंजी पर ब्रिटेन तथा फ्रांस का संमिलित नियंत्रण स्थापित किया गया और इसमाइल पाशा ने वचन दिया कि वह १८७९ ई० तक देश में संवैधानिक सरकार की स्थापना कर देगा। लेकिन वचन पूरा न किया जा सका और कई यूरोपीय राष्ट्रों के हस्तक्षेप के बाद १८७९ ई० में सुल्तान ने इसमाइल पाशा को पदच्युत करके अपने बड़े पुत्र राजकुमार तौफीक को ख़ेदिव बनाया। इसमाइल पाशा कांस्टेंटिनोपल चला गया और वहीं १८९५ में उसकी मृत्यु हो गई। (कै० चं० श०)

इसमाइल, सर मिर्जा, अमीनुल्मुल्क जन्म २३ अक्टूबर, सन् १८८३ ई०। मैसूर और सेंट्रल कालेज, बँगलोर, में शिक्षा हुई। १९०८ में महाराजा मैसूर के सहायक सचिव और कुछ काल बाद मैसूर के दीवान नियुक्त हुए। बंबई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर भी रहे। लंदन में होनेवाली पहली और दूसरी राउंड टेबुल कानफ्रेंसों में संमिलित हुए थे। सर मिर्जा भारत के शिक्षा संबंधी चिंतकों में से थे। नागपुर, अलीगढ़, आगरा, बनारस, पटना, ढाका आदि विश्वविद्यालयों के उनके दीक्षांत भाषणों से उनकी शिक्षा संबंधी योग्यता का पता चलता है। मैसूर लौटने से पहले वे जयपुर राज्य के दीवान रहे। १९५६ ई० में उनका देहांत हुआ। (र० स० ज०)

इसमाइलिया स्वेज़ थलडमरूमध्य में तिम्सा झील के उत्तर पश्चिमी तट पर मिस्र का एक नगर है जो भूमध्यसागर से ५० मील तथा काहिरा से ९३ मील दूर है। इसे सन् १८६३ ई० में स्वेज नहर की खुदाई के समय ख़ेदिव इसमाइल ने बसाया था, अतः इसका नाम इसमाइलिया पड़ गया। इसकी गलियों तथा मकानों की स्वच्छता तथा क्रम में आधुनिकता की गहरी छाप है। यह तीन ओर उद्यानों तथा एक ओर झील से घिरा हुआ है। स्वेज़ नहर के किनारे पर 'के मोहमत अली' (मोहम्मद अली का घाट) है, जहाँ नहर की खुदाई के समय फरदीनाँ दे लेपेस महोदय निवास करते थे। घाट के अंत में जलकल है जो पोर्ट सईद को मीठा जल पहुँचाता है। इस नगर में बहुत से सरकारी कार्यालय, गोदाम तथा सांस्कृतिक भवन हैं। इसकी जनसंख्या १,११,००० (१९६०) है। (लें० रा० सिं०)

इस्लाम उस धर्म का नाम है जिसकी स्थापना हजरत मुहम्मद ने मक्का में अपने १० वर्ष के शांतिपूर्ण उपदेशों (६१२-६२२ ई०) तथा १० वर्ष तक मदीना के इस्लामी गणराज्य के नियंत्रण (६२२-६३२) की अवधि में की थी। इस अवधि में बहुत ही थोड़े रक्तपात के द्वारा समस्त अरब प्रदेश इस्लाम धर्म का अनुयायी बन गया। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ है परित्याग, विसर्जन या आज्ञाकारिता।

इस्लाम के प्रमुख तत्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित है। इस्लाम का आधार कुरान या पैगंबर का 'इलहाम' है जिसे उन्होंने संपादित कर

कुरान के माध्यम से प्रकाशित किया। उस इलहाम (ईश्वरीय प्रेरणा के क्षणों में पैगंबर द्वारा कहे गए वचन) के अतिरिक्त स्वयं उनके द्वारा उपदिष्ट बात भी लिपिबद्ध नहीं होनी चाहिए। इसी कारण 'हदीस' तक, जो स्वयं पैगंबर के वचन थे, और जो इस्लामी पद्धति का एक भाग है तथा जिसकी मान्यता के संबंध में काफी मतभेद है, पैगंबर की मृत्यु के लगभग एक शताब्दी बाद तक लिपिबद्ध नहीं की गई।

(१) इस्लाम धर्म की प्रमुख विशेषता उसका कट्टर एकेश्वरवाद है। यह समस्त मुसलमानों के लिये 'कलमा' में इस प्रकार संनिहित किया गया है—"अल्लाह (ईश्वर) के अतिरिक्त और कोई देवता नहीं है और मुहम्मद उसी के पैगंबर हैं।" इस एकेश्वरवादी सिद्धांत के अंतर्गत दो परंपराएँ विकसित हुईं—(१) भौतिकवादी, और (२) रहस्यवादी। पहली परंपरा, जहाँ तक संभव हो सकता है, कुरान के शाब्दिक अर्थ को मान्यता देते हुए ईश्वर के सिंहासन, चौकी, चेहरे इत्यादि की शब्दावली में कुरान को व्यक्त और स्वीकार करती है। रहस्यवादी इसके विपरीत कुरान की शब्दावली का ध्वन्यात्मक तथा असांसारिक अर्थ लगाते हैं। उनके लिये अल्लाह एक अनिवार्य सत्ता (वजीबुल वुजूद) है और वे अपने समस्त सिद्धातों को कुरान की नीचे लिखी जैसी अनेक उक्तियों पर आधारित करते हैं—"वह (अल्लाह) प्रथम भी है और अंतिम भी, वह दृश्य भी है और वास्तविक भी, और वह पूर्ण ज्ञानवान् भी है।" "हमारा आदि और अंत दोनों अल्लाह में ही है।" एक रहस्यवादी के लिये ईश्वर (अल्लाह) सृष्टि का समष्टीकरण है। "सब अच्छे नाम उसी के लिये हैं", वह कुरान का मत है, अतः मुसलमान को अल्लाह के पर्यायवाची शब्द, जैसे फारसी के 'खुदा' या तुर्की के 'तेंगिरी' शब्द के प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं है।

(२) अरब के किसी भी धार्मिक या आर्थिक आंदोलन में इस्लाम का आधार खोजना संभव नहीं है। फिर भी जीवन के सिद्धांत तथा संसार के इतिहास के अनुरूप स्वयं को ढालने में इस्लाम को कोई कठिनाई नहीं हुई। कुरान का सिद्धांत है, "ईश्वर पहले निर्माण करता और फिर निर्देश करता है"। प्रत्येक जीव को उसका निर्देश (हिदायत) अपनी चेतना या अनुभव द्वारा ज्ञानप्राप्ति की शक्ति के रूप में प्राप्त होता है।

किंतु समाज में रहनेवाले व्यक्तियों को ईश्वर अपना निर्देश अंतः-प्रेरणा (वही) द्वारा देता है और 'वही' को व्यक्ति के दिशाज्ञान के लिये व्यक्त करता है। कुरान में कुल पैगंबरों का उल्लेख नहीं है किंतु मुसलमानी विश्वास के अनुसार पैगंबरों की संख्या १,२४,००० है।

(३) पैगंबर के मतानुसार ईश्वरीय एकता का मतलब है सामाजिक समानता और भाईचारा। पैगंबर के इस सिद्धांत के संबंध में अनेक कठिनाइयाँ हुई। जनमत के पक्ष में होने के कारण वे अरब में प्रचलित अनैतिक कुरीतियों को समाप्त कर सके, किंतु मदीना के गणतंत्र की स्थापना के समय हुई लड़ाइयों में मनुष्य के भाईचारे का सिद्धांत केवल मुसलमानों के भाईचारे के सिद्धांत तक सीमित रह गया। पैगंबर ने विवाह, उत्तराधिकार, न्यायालय के समक्ष गवाही आदि के संबंध में स्त्रियों को विशेषाधिकार प्रदान किए, जो समकालीन किसी भी अन्य जाति की स्त्रियों को प्राप्त न थे किंतु पूर्ण समानता असंभव थी। पैगंबर दासप्रथा से घृणा करते थे। युद्ध में पराजितों को उन्होंने कभी दास नहीं बनाया। उनका निर्देश था कि किसी दास को मुक्त कर देना मुसलमान के लिये सर्वश्रेष्ठ कामों में से एक है। किंतु वे इस प्रथा का अंत न कर सके। मृत्यु से पूर्व अपने अनुयायियों से उन्होंने अनुरोध किया कि वे अपने दासों को अपने समान ही रहन सहन प्रदान करें।

(४) एक ईश्वर में विश्वास करने के सिद्धांत का एक पहलू यह भी है कि दलित मानव समाज की मुक्ति के लिये प्रयत्न किया जाय। कुरान की दलित व्यक्तियों की परिभाषा में ये लोग आते हैं—'फ़कीर (ऐसे व्यक्ति जो जीविकोपार्जन करने में असमर्थ हे), मसाकीन (ऐसे व्यक्ति जिन्हें अस्थायी आवश्यकता हो), यात्री, अपाहिज तथा ऐसे व्यक्ति जो आवश्यकता होते हुए भी आत्मसमान के कारण सहायता नहीं माँगते। पैगंबर ने गरीबी को दूर करने के लिये प्रयत्न किए। उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों तथा राज्य के कार्यसंचालन के लिये पैगंबर ने कर न लेकर सहायता की माँग की। इस संबंध में यमन के प्रशासक को उन्होंने यह आदेश दिया—"धनवान से लेकर गरीबों में बाँट दो।"

(५) गैरमुस्लिम जातियों से कैसा बर्ताव हो, इस संबंध में पैगंबर के सिद्धांत स्पष्ट हैं। आनेवाली सदियों में मुसलमान प्रशासकों द्वारा किए गए अत्याचारों के लिये पैगंबर कदापि उत्तरदायी नहीं ठहराए जा सकते। "तुम्हारे लिये तुम्हारी आस्था (दीन), मेरे लिये मेरी आस्था"—कुरान स्पष्टतः धार्मिक स्वतंत्रता में विश्वास करता है। ऐसे व्यक्तियों के लिये जिनपर अनुचित रूप से आक्रमण हुआ है, कुरान आत्मरक्षा के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। इसके अतिरिक्त पैगंबर ने अरब राज्य के शासक के नाते नियमित रूप से एक निश्चित धनराशि वहाँ दी और मुस्लिम संस्थाओं से केंद्रीय राज्य के व्यय के लिये प्राप्त की और उन संस्थाओं के आंतरिक मामलों में उन्होंने हस्तक्षेप नहीं किया। जजिया नामक कर, जो गैर-मुसलमानों पर उनके मुसलमान न होने के कारण लागू किया जाने लगा था, पैगंबर के समय में नहीं था। अरबेतर प्रदेशों में इस्लामी क्रांति के विकास का कारण जानने के लिये यह समझना आवश्यक है कि उस समय के प्रत्येक सभ्य देश में मनुष्य समाज दो वर्गों में विभाजित था। विभाजन का आधार या तो दासप्रथा थी या जातिप्रथा। वस्तुतः एक वर्ग तो शासकों का था, जिसके पास धन एवं संस्कृति के अधिकार सुरक्षित थे और दूसरा वर्ग था शोषितों का, जिनको धर्म एवं संस्कृति के अधिकार अप्राप्य थे। अतः इस्लाम का विकास अति शीघ्र हुआ, किंतु शीघ्र ही यह भी शासकवर्ग का सिद्धांत होकर रह गया; फलस्वरूप ७१५ ई० के लगभग इस्लाम का विस्तार अवरुद्ध हो गया। इस समय के बाद से यह केवल कुछ ही देशों में विकसित हो सका और भारतवर्ष एक ऐसा ही अपवाद है। मनुष्य जाति की भविष्य की समस्याएँ धर्म के आधार पर नहीं सुलझाई जा सकेंगी। "एक के बाद कोई पैगंबर नहीं होगा", यह मुहम्मद का कथन है।

सं०ग्रं०—मौलाना अबुल कलाम आजाद : तरजुमानुल कुरान। (मु०ह०)

इस्लामाबाद १. काश्मीर की एक प्राचीन नगरी है जो पूर्वकाल में काश्मीर घाटी की राजधानी भी रह चुकी है। यह झेलम के दाहिने तट पर श्रीनगर से ३४ मील की दूरी पर स्थित है। यों तो इसके निकट बहुत से सोते हैं, परंतु अनंतनाग नामक उष्ण जल के सोते की पवित्रता सर्वोपरि है तथा इसी के नाम पर हिंदू लोग इस्लामाबाद को अनंतनाग कहते हैं। हो सकता है, इसका प्राचीन नाम अनंतनाग ही रहा हो जिसे मुसलमानों ने इस्लामाबाद का नाम दे दिया हो। यहाँ अनंतचतुर्दशी पर बड़ा प्रसिद्ध मेला लगता है। यह नगरी पूर्वकाल में बड़ी उन्नति पर थी तथा अपने शाल, दुशालों के लिये इसकी यथेष्ट प्रसिद्धि थी, परंतु आज यह अवनतावस्था में है। यहाँ कुछ लोग शाल आदि के शिल्प में अब भी लगे हुए हैं, परंतु अधिकांश लोगों के जीविकोपार्जन का मुख्य आधार कृषि है। (लं०रा०सिं०)

इस्लामाबाद २. पाकिस्तान का नवनिर्मित सुनियोजित नगर तथा केंद्रीय (संघीय) राजधानी है। १९४७ ई० में पाकिस्तान बनने के बाद राष्ट्रीय राजधानी के रूप में लाहौर, कराची या अन्य कोई नगर राष्ट्रीय
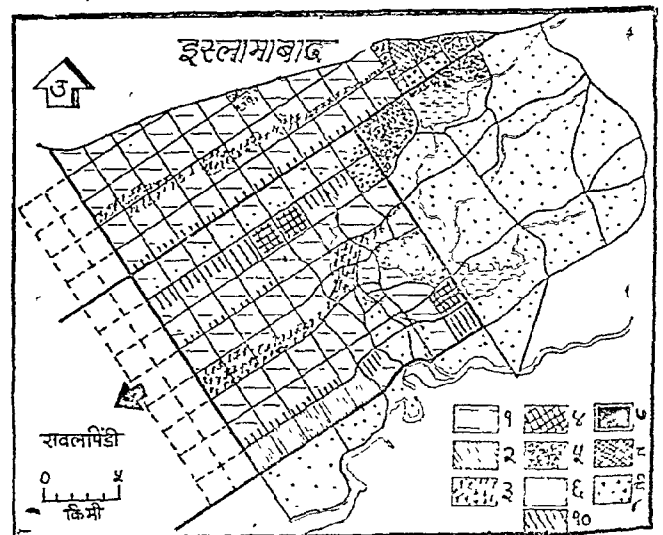
सुरक्षा, राजकार्य की सुविधा, सुगमता एवं अन्य विभिन्न कारणों से उपयुक्त

नहीं था। कराची का तत्कालीन राजधानी के रूप में उपयोग किया गया, किंतु इससे उक्त नगर के आर्थिक व्यापारिक कार्य में बाधा पड़ी और उसकी आबादी में कई गुना वृद्धि हो गई। १९५९ ई० में तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खाँ ने उत्तर पश्चिमी पंजाब में पोतवार पठार पर स्थित रावलपिंडी नगर के समीप राजधानी के रूप में आधुनिक स्थापत्यकला के आधार पर एक सर्वथा नए सुनियोजित नगर की योजना पारित की। इसका नाम इस्लामाबाद रखा गया। विश्वविश्रुत वास्तुविद् यूनान निवासी श्री कांस्टैंटिनोज़ ए० डाक्सियाडिज एवं उनके सहयोगी इस नगर के नियोजक हैं। नगर की निर्माण योजना १९७५ ई० तक पूरी हो जायगी।

पोतवार पठार पर मरी पहाड़ियों की दक्षिणी गोद में स्थित यह नगर अंतरराष्ट्रीय सीमा से दूर सुरक्षित है और रावलपिंडी से अधिक ऊँचाई पर होने के कारण अधिक स्वास्थ्यप्रद भी है। ग्रीष्म सुखद होती है और जाड़े में उत्तरी एवं पश्चिमी ठंढी हवाओं से सुरक्षा रहती है। प्राचीन भारतीय शैक्षणिक नगर तक्षशिला (खंडहर) से ४८ कि०मी० पूर्व और रावलपिंडी से ५ कि०मी० उत्तर, ग्रैंड ट्रंक तथा उत्तरी पहाड़ियों और कश्मीर की ओर जानेवाले राजमार्गों के संगम से ४ कि०मी० से अधिक दूर होने के बावजूद इस नगर को समुचित संपर्क तो प्राप्य है ही, इसके अलावा यहाँ अनावश्यक भीड़भाड़ से सुरक्षा भी है। नगर के समुचित विस्तार के लिये अत्यंत कम उपजाऊ या अनुर्वर भूमि का पर्याप्त फैलाव है और जल एवं विद्युत् आपूर्ति के लिये कुरंग नदी को बाँधकर (जून, १९६०) विस्तृत और सुरम्य रावल झील का निर्माण किया गया है, साथ ही भूदृश्य को सुंदर बनाने के लिये अन्य छोटी झीलें बनाने और समीपवर्ती पर्वतीय क्षेत्रों को राष्ट्रीय पार्क के रूप में विकसित करने की योजना है।

सन् १९६७ तक नगर की जनसंख्या (अनुमित) ७०,००० हो गई थी और अब १,००,००० से अधिक है। १ जुलाई, १९७० से महानगरीय क्षेत्र को, जिसमें इस्लामाबाद के अतिरिक्त रावलपिंडी (१९६१ में जनसंख्या ३,४०,१७५), छावनी (कैंट) तथा राष्ट्रीय पार्क संमिलित हैं, केंद्रशासित क्षेत्र घोषित किया गया है। दो पीढ़ियों के अंतर्गत पूरे क्षेत्र में २५ लाख जनसंख्या हो जाने का आकलन है। रावलपिंडी संबद्ध प्रदेश के लिये आर्थिक-व्यापारिक-औद्योगिक-प्रशासनिक-फौजी एवं सेवाकेंद्र के रूप में कार्यशील रहेगा जिससे इस्लामाबाद को विशुद्ध केंद्रीय राजधानी के रूप में विकास करने का अवसर मिलेगा। १९५९–६० में कराची से धीरे धीरे विभिन्न केंद्रीय कार्यालय एवं दूतावास रावलपिंडी में स्थानांतरित हुए और भवन-निर्माण के साथ इस्लामाबाद चले आ रहे हैं।

नगर की योजना में विभिन्न सेक्टरों को विशिष्ट प्रकार के भूमि उपयोग तथा कार्यसंपादन हेतु नियोजित किया गया है। डाक्सियाडिज के अनुसार "इस नगर में जहाँ एक ओर भारत पाकिस्तान की सनातन जन-जीवन-गति एवं क्रम के अनुसार जीवनयापन का आयोजन हुआ है, वहीं दूसरी ओर मुख्य सड़कों का जो जाल बिछा है, उसपर अत्यंत तीव्रगति से परिवहन संभव है।" नगर को रावलपिंडी की ही तरह दक्षिण पश्चिम की ओर विस्तार की सुविधा है। (का० ना० सिं०)

इस्लामी विधि या शरियत उस कानून का नाम है जो मुसलमानों के विभिन्न वर्गों तथा उपवर्गों से विकसित हुआ है। शरियत संबंधी विज्ञान को फिक़ (न्यायशास्त्र) कहते हैं। इस संबंध में सभी न्यायशास्त्री एकमत हैं कि क़ुरान तथा पैगंबर के अधिकृत वचन (हदीस) ही शरियत के मूलाधार हैं; किंतु इजमा-इ-उम्मत (जनमत), राय (धारणा या युक्ति), इस्तिहसान (जनहित), इस्तिसलाह (सुधार) तथा उर्फ (रिवाज) आदि की वैधानिक मान्यता के संबंध में उनमें मतभेद है। सुन्नी न्यायशास्त्र की चार प्रमुख पद्धतियों—हनफी, मालिकी, शाफ़ई तथा हंबली—की स्थापना महान् अब्बासी खलीफाओं के शासनकाल (७५०-८४२) में हुई थी। इसके पश्चात् यह मान लिया गया था कि इजतिहाद या नवीन अर्थ-प्रतिपादन का द्वार बंद हो गया है और पीछे आनेवाले युग के बड़े लेखकों—जैसे मरघिनान के इमाम बुरहानुद्दीन (मृत्यु सन् ११९०)—ने इस सहज भ्रम को स्वीकार किया। जिन बातों पर न्यायशास्त्रियों का मतैक्य था उनको उन्होंने ज्यों का त्यों लिपिबद्ध कर दिया, किंतु जिन विषयों पर न्यायपंडित मतद्वस्त थे वहाँ उन्होंने विभिन्न न्यायशास्त्रियों (फ़िक़) के व्यक्तिगत विचारों को अलग अलग लिपिबद्ध किया और निर्णय न्यायाधीश या काज़ी पर छोड़ दिया। सुन्नी काजी इस बात के लिये स्वतंत्र था कि किसी भी मान्य न्यायशास्त्री के विचारानुसार निर्णय दे अथवा नहीं।

इस्लामी शरियत की पुस्तकों के वर्ण्य विषय को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—इबादत (प्रार्थना या अभ्यर्थना), मुआमिलात (असैनिक विषय), तथा उकूबात (दंड)।

मुसलमानी असैनिक विधि युक्ति और सहज बुद्धि पर आधारित होने के कारण निस्संदेह मध्य युग की प्रचलित पद्धतियों में सर्वश्रेष्ठ थी। पश्चिमी अफ्रीका से चीन की सीमा तक व्याप्त इस्लाम की एकरूपता भी इसके लिये वरदान सिद्ध होती थी। एक काजी का निर्णय, देशों की सीमा की परवाह न करके सभी मुसलमान काजियों द्वारा मान्य होता था; यहाँ तक कि ये निर्णय गैरमुसलमान शासकों द्वारा मुसलमान प्रजा के लिये नियुक्त किए गए क़ाज़ियों तक को स्वीकार होता था।

शरियत के धर्म संबंधी सिद्धांतों को मुसलमानी धार्मिक चेतना ने भौतिक और अधार्मिक कहकर अस्वीकार कर दिया। अपराध संबंधी शरियत की विधि, जिनमें हुदूद अर्थात् कुरान में दी गई दंडव्यवस्था भी शामिल है, लोकप्रिय न हो सकी, और यह दंडव्यवस्था असंभव सी सिद्ध हुई क्योंकि व्यावहारिक रूप से गवाही के कानून को मानकर शरियत अपराध को सिद्ध कर पाना असंभव था।

मध्ययुग में शरियत की विधि उर्फ (रिवाज) तथा राजकीय विधि (जवाबित, आइन, तोरह) में विरोध रहा, व्यवहार में शरियत की विधि उपर्युक्त दोनों प्रकार की विधियों के अधीन रहती थी। राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक विधि पर भी शरियत मौन थी।

किसी भी मुसलमान राष्ट्र के लिये यह संभव नहीं हो सका है कि वह शरियत को आधुनिक आवश्यकताओं और संस्थाओं, जैसे बैंक, बीमा, राष्ट्रीय ऋण, श्रमिकों के मुआविजे आदि के अनुरूप ढाल सके। प्रगतिवादी मुसलमान राष्ट्रों ने यूरोप की विधि पर आधारित विधियों को स्वीकार कर लिया है। किंतु व्यक्तिगत विधि, जैसे उत्तराधिकार तथा विवाह की नियमावली अभी तक अछूती छोड़ दी गई है। (मु० ह०)

इस्लामी संस्थाएँ मुसलिम जगत् में प्रचलित संस्थाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: विशुद्ध धार्मिक संस्थाए, धर्मनिरपेक्ष संस्थाएँ तथा अंशतः धार्मिक संस्थाएँ।

इस्लाम की विशुद्ध धार्मिक संस्थाओं के ये पाँच अरकान या स्तंभ हैं: ईश्वर में विश्वास, नित्य पाँच वक्त की नमाज, जीवन में एक बार मक्का की तीर्थयात्रा, रोजा तथा ज़कात या आय का २॥ प्रतिशत दान। प्रार्थना में सामूहिकता के तत्व को इस्लाम ईसाई मत से भी अधिक मान्यता प्रदान करता है। मसजिद के अंदर अब भी पैगंबर द्वारा प्रतिपादित वर्गरहित समाज सुरक्षित रह सका है। प्रत्येक शुक्रवार और विशेष रूप से प्रत्येक ईद की नमाज पर प्रत्येक मुसलमान की उपस्थिति वांछित होती है।

मुसलमानों की सबसे प्रमुख धर्मनिरपेक्ष संस्था उनकी विशिष्ट प्रकार की राजतंत्रात्मक शासनप्रणाली है। शासक अपने पुत्र या अपने भाई को अपना उत्तराधिकारी घोषित करता था, किंतु यह नियुक्ति शासक की मृत्यु के पश्चात् राज्य के उच्च पदाधिकारियों की स्वीकृति के पश्चात् ही कार्यान्वित हो सकती थी। दूसरे, राज्य के किसी भी पदाधिकारी को शासक पदच्युत कर सकता था। तीसरे, राजकीय कर्मचारियों के विवाह और उत्तराधिकार संबंधी विषय शरियत से नियंत्रित न होकर राजकीय नियमों या ज़वाबित द्वारा नियंत्रित होते थे। यद्यपि अयोग्य मुसलमान शासकों का दुःखद अंत हुआ, तथापि मध्यकालीन योग्य मुसलमान शासकों की शक्तियाँ किसी भी जाति के अन्य शासकों से अधिक थी।

इस्लाम राजतंत्र और पुरोहित प्रथा दोनों का विरोधी है। किंतु राज्य को कुछ आंशिक धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना होता है और इसके लिये राजा अपने इच्छानुसार धार्मिक विद्वानों को नियुक्ति करता था और उनको निकाल भी सकता था। ऐसे कर्मचारियों में प्रमुख काजी हुआ करते थे। इनकी नियुक्ति मुक़दमों की संख्या के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में हुआ करती

थी। काजी केवल मुकदमों का निर्णय करता था, वह अभियोग नहीं लगा सकता था। अतः शासक अमीर-इ-अदल नामक कर्मचारी की नियुक्ति करता था जिसका कर्तव्य अपराधियों के विरुद्ध अभियोग लगाना होता था। सामाजिक नैतिकता, जैसे सही नाप तौल की इकाइयों की व्यवस्था आदि, की सुरक्षा के लिये मुहतसिब नामक कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी। सद्र नामक कर्मचारी धार्मिक विषयों, जैसे मसजिद और खैराती संस्थाओं आदि की देखभाल करते थे। इस्लाम और रोम की न्यायपद्धति का एक अन्य विशिष्ट पदाधिकारी मुफ्ती (न्यायवेत्ता या न्यायशास्त्री) होता था। सैद्धांतिक रूप से कोई भी मुसलमान किसी भी मामले में अपनी राय (फतवा) दे सकता है। किंतु इस नियम में राज्य ने हस्तक्षेप करके यह घोषित किया कि यह अधिकार केवल विद्वानों को ही प्राप्त होगा और वास्तव में इसका तात्पर्य यह था कि राज्य या तो अपने पक्ष के फतवों को स्वीकार करेगा या उन फतवों को स्वीकार करेगा जो विशुद्ध रूप से तटस्थ प्रकृति के होंगे।

उपर्युक्त सभी पदाधिकारी बाह्य विद्वान् (उल्मा-इ-ज़ाहिरी) माने जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि इन पदाधिकारियों ने अपनी आत्मा को राज्य के हाथों बेच दिया है और ये सब भ्रष्ट और बेईमान हैं। इस प्रकार भारत के मुसलमान और हिंदू दोनों ही उन महात्माओं का आदर करते रहे हैं जो राज्य के कार्यों से तटस्थ रहे। किंतु भारत में इस्लाम के प्रादुर्भाव की छह लंबी शताब्दियों में एक भी ऐसा महान् काजी अवतरित न हो सका जिसको आनेवाली पीढ़ियाँ याद रखतीं। (मु० ह०)

इस्सस का युद्ध यह युद्ध ईरान और सिकंदर के बीच हुआ था। सीरिया में फ़रात नदी से थोड़ी दूर पर मिरियांद्रस के पास अलेग्जांद्रिया था, वहीं उत्तर की ओर इस्सस के मैदान में दारा की फौजें खड़ी थीं और दक्खिन की ओर अपने रिसालों और पैदलों के साथ मकदूनिया का राजा सिकंदर डटा था। दारा की सेनाएँ देली की धारा के दोनों ओर चलकर ग्रीक सेना पर हमले के लिये बढ़ीं। इधर सिकंदर ने दारा की हरावल पर हमला किया। हरावल टूट गई। ईरानी सेना बड़ी संख्या में मारी गई। दियोदोरस और प्लूतार्क ने यह संख्या १ लाख १० हजार बताई है। मृत मकदूनियाई सैनिकों की संख्या साढ़े चार सौ ही बताई जाती है जिसे सही नहीं माना जाता। इस्सस का युद्ध ३३३ ई० पू० के अक्टूबर में हुआ था।

ईरान के विरुद्ध सिकंदर का यह पहला अभियान था, अंतिम अभियान ३३१ ई० पू० में हुआ। दारा के पूर्वजों ने कभी ग्रीस पर चढ़ाई कर एथेंस को जला डाला था और ईरान की विजय करते समय सिकंदर भूला न था कि उसे ईरान और उसके सम्राट् के प्रतिनिधि दारा तृतीय से बदला लेना है। ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस को जलाकर उसने एथेंस का बदला लिया पर वह अरबला की लड़ाई के बाद हुआ जो बाख्त्री पर उसके हमले के पहले ईरान के विरुद्ध अंतिम अभियान था। इस्सस के युद्ध में ईरान के विध्वंस का आरंभ था जिसके परिणाम में सीरिया से हिंदूकुश और आमू दरिया तक एशिया की जमीन सिकंदर के अधिकार में आ गई। इस्सस के युद्ध ने प्रमाणित कर दिया कि शत्रु की सेना की संख्या चाहे जितनी बड़ी हो, विजय संख्या से नहीं, सैन्य संचालन के कौशल से होती है। दारा के पास संख्या थी, सिकंदर के पास रणकौशल था। (ओं०ना०उ०)

ईंट मिट्टी के बने उस लघु खंड को कहते हैं जिसे गीली अवस्था में उसकी लंबाई चौड़ाई को एक मनोनुकूल स्वरूप देकर बना दिया जाता है तथा आग में पकाकर इस प्रकार कड़ा कर दिया जाता है कि उस पर बाहरी वातावरण या जलवायु का कोई असर न हो सके, तथा ऐसी ईंटों को दीवार या स्तंभनिर्माण के काम में लाए जाने के बाद वे उस भार को उचित रीति से वहन करने में सक्षम हों।

ईंटों के कुछ विशेष प्रकार नीचे चित्रित हैं:

अच्छी ईंटों को आकार में ठीक और समान होना चाहिए। इनकी कोरें सीधी और कोण ठीक हों (वाराणसी के मिस्त्री कहते हैं कि ईंट की नास कोर ठीक हो) और ये बीच में कच्ची अथवा अधपकी न रह गई हों। इनकी सतहें कठोर और चौरस हों। ऊपरी सतह अपेक्षाकृत अधिक कड़ी हो। कठोरता एवं ठोसपन की जाँच दो ईंटों को हाथों में लेकर एक से दूसरे को ठोंककर और ध्वनि सुनकर की जा सकती है। इस प्रकार ठोंकने पर यदि गिरी हुई या दबी आवाज निकले तो समझिए कि उसका भीतरी भाग अभी कड़ा नहीं हो पाया है और ईंट भली भाँति पकी नहीं।

अच्छी कड़ी ईंटों में जल सोखने की कोई विशेष क्षमता नहीं होती। जो ईंट अपने भार के सातवें हिस्से से अधिक पानी न सोखे वह ठीक होती है। यदि इससे अधिक सोखे तो समझना चाहिए कि वह कुछ कच्ची है और जलवायु के प्रभाव को ठीक से सहन कर सकने की क्षमता उसमें नहीं आ पाई है।
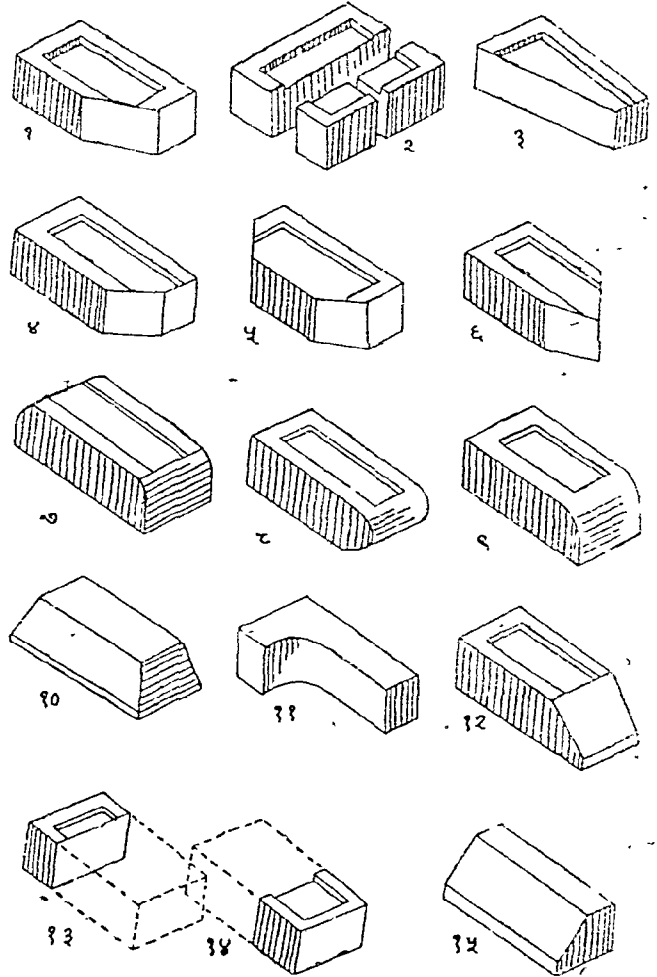
विशेष आकृति की ईंटें

१. कोना कटी ईंट; २. इस प्रकार की आधी ईंट को मिस्त्री लोग खंडा कहते हैं और चौथाई ईंट को रोड़ा; ३. मेहराब या कुएँ में चिनाई की ईंट; ४-१२. गोला, गलता, कॉर्निस, स्तंभ आदि में प्रयुक्त होनेवाली ईंटें; १३-१४. तिहाई या चौथाई ईंट; १५. कोर कटी ईंट।

अच्छी ईंट में छिद्र, गुठलियाँ या ढेले, कंकरीट अथवा चूने का असंमिलित अंश इत्यादि नहीं होना चाहिए। चूने के टुकड़े विशेष रूप से अवांछनीय एवं हानिकर होते हैं, क्योंकि पानी पड़ते ही ये भुरभुरे होने लगते हैं और फूलकर ईंटों में दरार अथवा उन्हें बिलकुल टुकड़े टुकड़े कर देते हैं।

ईंटों को पाथने के लिये लंबाई चौड़ाई का एक स्थिर मानक होना चाहिए जिससे विविध भट्ठों से आई ईंटें एक दूसरे के साथ मेल खा सकें। प्रत्येक ईंट में लंबाई एवं चौड़ाई का अनुपात एक और दो का होना चाहिए। (श्री० कृ०)

ईंट का काम ईंट के काम या उसकी चिनाई का अर्थ है ईंटों को इस प्रकार चिनना कि उनसे बनी दीवार सुदृढ़ हों।

ईंटों की जोड़ाई या चिनाई में ईंटों के बीच गारे (गीली मिट्टी), चूने और बालू, चूने और सुर्खी, छाई और चूने अथवा सीमेंट और बालू का प्रयोग किया जाता है। परंतु दीवारों की दृढ़ता केवल गारे आदि पर निर्भर नहीं है। ईंटें इस प्रकार रखी जाती है कि वे एक दूसरे के सहारे टिकी रहती हैं, परंतु आवश्यकता पड़ने पर दीवार को बिना विशृंखलित किए ही उसमे से दो चार ईंटें खींचकर बाहर निकाल भी ली जा सकती है।

ईंट के काम में कई तरह की चालें (बॉण्ड) काम में लाई जाती हैं। उनमें से मुख्य रीतियाँ नीचे बताई गई है। स्मरण रखना चाहिए कि दीवार के अनुदिश रखी ईंट को वाराणसी की ओर पट्टा कहते हैं और अनुप्रस्थ रखी ईंट को तोड़ा या तुड़िया; ईंट की लंबाई के अनुदिश चीरकर दो आधी ईंटों में से प्रत्येक को खंडा कहते हे; चौड़ाई के अनुदिश तोड़कर दो आधी ईंटों में से प्रत्येक को अद्धा कहते हैं। खंडे के आधे को रोड़ा कहते हैं।

इंग्शिल रीति—इस रीति में बाहर से देखने पर प्रत्येक रद्दे में या तो केवल पट्टे या केवल तोड़े दिखाई पड़ते है। पट्टे और तोड़ेवाले रद्दे एक के ऊपर एक आते रहते है।

द्विगुण फ़्लेमिश रीति—प्रत्येक रद्दे में पट्टे और तोड़े एक के बाद एक आते रहते हैं। दीवार के दोनों ओर ऐसा ही दिखाई पड़ता है।

एकल फ़्लेमिश रीति—मकान के बाहर से देखने पर प्रत्येक रद्दे में पट्टे और तोड़े एक के बाद एक आते रहते है, परंतु भीतर से देखने पर दीवार इंग्लिश रीति से जुड़ी जान पड़ती है।

केवल पट्टे—कुछ भीतें प्रत्येक रद्दे में केवल पट्टे रखकर बनाई जाती हैं। ऐसी भीत आधी ईंट मोटी होती है।

केवल तोड़े—प्रत्येक रद्दे में केवल तोड़े ही लगाए जा सकते हैं; मेहराबदार जुड़ाई, दीवार का पाद (नीचेवाला रद्दा), छज्जा, कार्निस आदि बनाने के काम में ऐसी जुड़ाई की जाती है।

बगीचे या हाते की भीत—ऐसी भीतों में तीन पट्टों की बगल में एक तोड़ा रहता है।

फ़्लेमिश जोड़ाई की अपेक्षा इंग्लिश जोड़ाई अधिक मजबूत होती है, परंतु फ़्लेमिश जोड़ाई से अधिक सपाट दीवार बनती है। उदाहरणतः, यदि ९ इंच लंबी हैं और ९ इंच मोटी दीवार बनानी है तो दो पट्टों के बीच में न्यूनाधिक गारा रखकर दीवार की मोटाई ठीक ९ इंच कर दी जा सकती है, परंतु ईंटों की वास्तविक लंबाई न्यूनाधिक रहती है (यद्यपि कहने के लिये उनकी लंबाई ९ इंच होती है)। अब ९ इंच की दीवार जोड़ने पर जहाँ पट्टे रहेंगे वहाँ ईंटों की छोटाई बड़ाई के अनुसार दीवार भीतर घुस जायगी या बाहर निकल पड़ेगी। फ़्लेमिश जोड़ाई में पट्टे अधिक और तोड़े कम रहते है। इसी से फ़्लेमिश जोड़ाई अधिक सपाट होती है। हाते की चहारदीवारी के लिये भी इसी कारण तीन रद्दे पट्टों के और तब केवल एक रद्दा तोड़ों का रखा जाता है। इससे दीवार अवश्य कुछ कमजोर बनती है,-परंतु ऐसी दीवार पर अधिक बोझ नहीं रहता कि विशेष मजबूती की आवश्यकता पड़े। दीवार पर पलस्तर करना हो तो भी दीवार यथासंभव सपाट ही बननी चाहिए, अन्यथा अधिक मसाला खर्च होता है।

ईंट के काम में सुव्यवस्थित एकरूपता केवल ईंट की नाप कोर ठीक होने पर ही नहीं निर्भर रहती, बल्कि जोड़ की नाप पर भी निर्भर होती हैं, क्योंकि यदि प्रत्येक रद्दे के बीच के मसाले की ऊँचाई आपस में ठीक मेल नहीं खाएगी तो ईंटें सच्ची रहकर ही क्या करेंगी? ईंट के काम में जोड़ की मोटाई नियंत्रित रखने के लिये चार रद्दे की मोटाई पहले से निर्धारित कर दी जाती है। उदाहरणतः यदि ईंट की ऊँचाई २¾इंच है और गारे के जोड़ की ऊँचाई को चौथाई इंच रखना है तो यह नियम बना
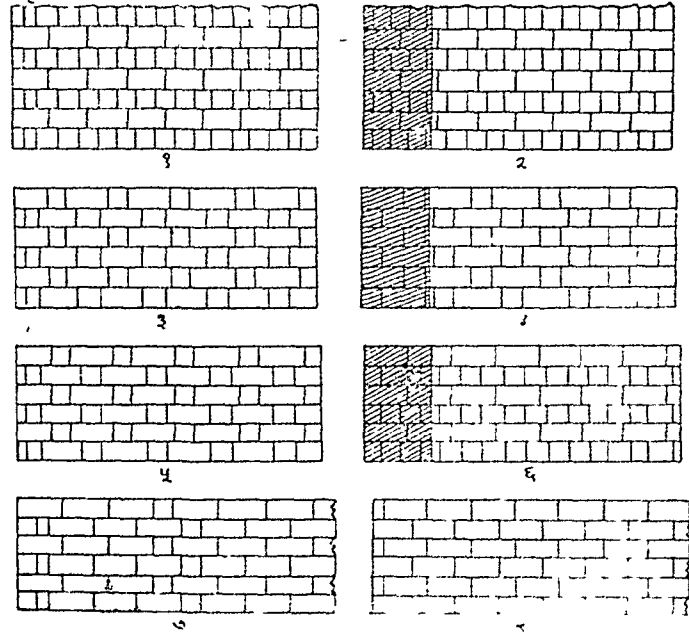
ईंट की चिनाई

१–२. इंग्लिश रीति, सामने से और पीछे से, ३–४. द्विगुण फ़्लेमिश रीति, सामने से और पीछे से; ५–६. एकल फ़्लेमिश रीति, सामने से और पीछे से; ७. हाते भीत; ८. केवल पट्टे।

दिया जा सकता है कि जोड़ाई के कार्य में प्रत्येक चार रद्दों की ऊँचाई ठीक १२ इंच रहे। (श्री० कृ०)

ईंट का भट्ठा ईंटों को भट्ठे में पकाया जाता है। भट्ठे तीन प्रकार के होते हैं :

(१) खुले भट्ठे, जैसे पजावे,
(२) अर्ध अनवरत,
(३) अनवरत (लगातार)।

इनमें से अंतिम के कई विभाग किए जा सकते हैं, जैसे घेरेदार, आयताकार, ऊपर हवा खींचनेवाला, नीचे हवा खींचनेवाला, इत्यादि।
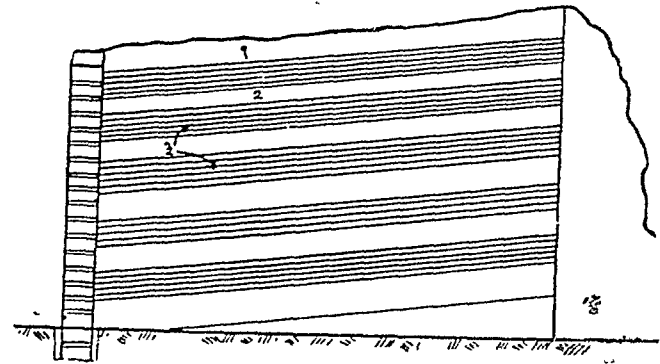
खुला भट्ठा

१–२. जलावन; ३. कच्ची ईंटें; ४. ढालू फर्श।

खुला भट्ठा—गीली मिट्टी से बनाई, सुखाई, फिर ताप का पूर्ण असर आने के लिये एक दूसरे से थोड़ी थोड़ी दूरी पर इकट्ठी की गई कच्ची ईंटों के समूह को ढेर (अंग्रेजी में क्लैंप) कहते हैं। अच्छी रीति से बने ढेर

में एक आयताकार या समलंब चतुर्भुजाकार फर्श होता है जो लंबाई के अनुदिश ढालू होता है। निचला सिरा भूमि को एक फुट गहरा खोदकर बनाया जाता है और ऊपरी सिरा जमीन को पाटकर ऊँचा कर दिया जाता है। ढाल ६ में १ को होती है। फर्श पर दो फुट, मोटी तह किसी तुरंत आग पकड़ लेनेवाले पदार्थ की, यथा सूखी घास, फूस, लीद, गोबर, महुए की सीठी आदि की, रख दी जाती है। इसके ऊपरी सिरे पर कच्ची सुखाई ईंटों की पाँच छह कतारें रख दी जाती हैं। फिर ईंटों और जलावन को एक के बाद एक करके रखा जाता है। ज्यों ज्यों ढेर ऊँचा होता जाता है, जलावन के स्तर की मोटाई धीरे धीरे कम कर दी जाती है। सब कुछ भर जाने के बाद ढेर पर गीली मिट्टी छोप दी जाती है जिससे भीतर की उष्मा यथासंभव भीतर ही रहे। ढेर को पूर्णतया जलने में छह से लेकर आठ सप्ताह तक लग जाते हैं और इसके ठंडा होने में भी इतना ही समय लगता है। इस रीति में जलावन पर्याप्त कम लगता है; परंतु ईंटें बढ़िया मेल की नहीं बन पातीं; अतः यह ढंग अंत में लाभप्रद नहीं सिद्ध होता।

अर्ध अनवरत भट्ठे—अर्ध अनवरत भट्ठे चक्राकार अथवा आयताकार बनाए जाते हैं और वे अंशतः या पूर्णतः भूमि के ऊपर रह सकते हैं।
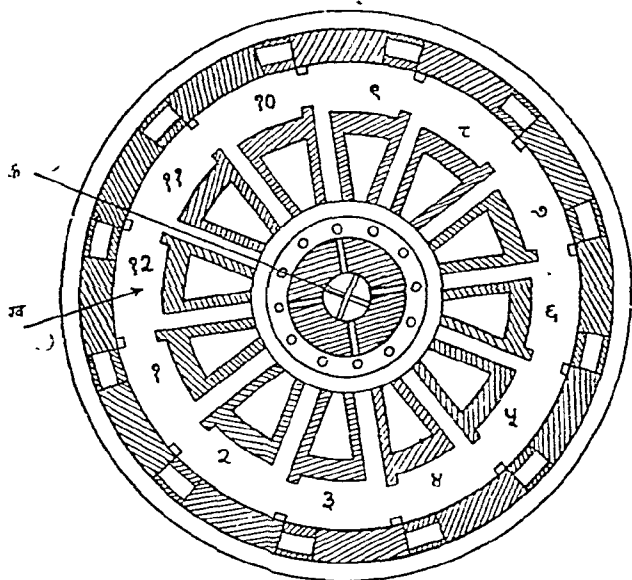
अनवरत भट्ठा—अनुविक्षेप (प्लैन)

१–१२. विविधि कक्ष; क. चिमनी; ख. ईंट

जलावन के लिये लकड़ी (चाहे सूखी चाहे गीली), बड़े इंजनों की भट्ठियों से झरा अधजला पत्थर का कोयला या लकड़ी का कोयला प्रयुक्त हो सकता है। दोनों ओर मुँह बना रहता है जो निकालने और भरने के काम आता है। आग प्रज्वलित करने के बाद इन मूँहों को पहले रोड़ों और ढोकों से और बाद में गीली मिट्टी से भली भाँति ढक दिया जाता है जिसमें भीतर की गरमी भीतर ही रहे।

अनवरत भट्ठे—अनवरत भट्ठे कई प्रकार के होते हैं। कुछ भूमि के नीचे बनाए जाते हैं और वे खाई भट्ठे (ट्रेंच किल्न) कहलाते हैं। कुछ अंशतः भूमि के ऊपर और अंशतः नीचे बनाए जाते हैं। खाई भट्ठों में अगल बगल दीवार बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'बुल' का भट्ठा इसी प्रकार का भट्ठा है।

बुल का भट्ठा बड़े परिमाण में लगातार ईंट उत्पादन के लिये उपयुक्त है। इसमें आग का घेरा बराबर बढ़ता रहता है। जैसे जैसे आग आगे बढ़ती है, वैसे वैसे भट्ठे के विभिन्न कक्ष तप्त होते हैं। प्रत्येक कक्ष में निकालने और भरने के लिये एक एक द्वार रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कक्ष में एक धुआँकस (फ़्लू) होता है जिससे हवा घुसती है। एक अन्य धुआँकस वायु की निकासी के लिये होता है जो भीतर ही भीतर चलकर एक केंद्रीय चिमनी से जा मिलता है। वायु ग्रहण करनेवाले धुआँकस में एक मंदक (डैंपर) होता है जिससे वायुप्रवाह मनोनुकूल नियंत्रित हो सकता है। निकासीवाले धुआँकस में भी मंदक लगा रहता है जिसे इच्छानुसार खोला या बंद किया जा सकता है। कक्षों का क्रम ऐसा रहता है कि ठंडे हो रहे अथवा गरम कक्षों से तप्त हवाएँ दूसरे कक्षों में
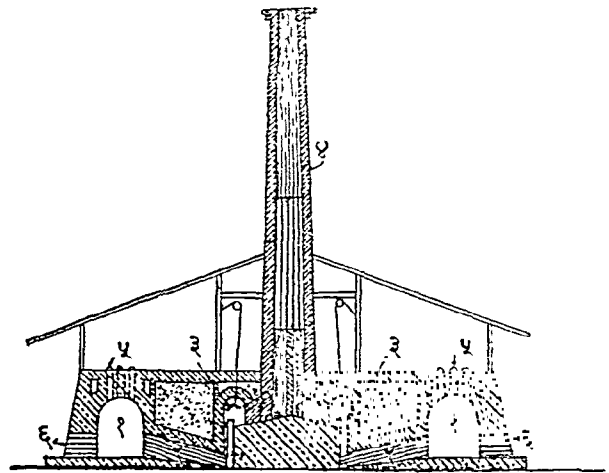
अनवरत भट्ठा—ऊर्ध्वाधर काट (सेक्शन)

१. वलयाकार कोष्ठ जिनमें ईंटें रखी और पकाई जाती हैं;
२. गैसों के लिये मार्ग जो कोष्ठों को चिमनी से मिलाते हैं;
३. लोहे का मंदक (डैंपर); ४. चिमनी; ५. कोयला झोंकने के छिद्र; ६. कोष्ठों के द्वार।

भेजी जा सकें। इस प्रकार चिमनी द्वारा निकल जाने के पहले गरम हवा की आँच का उपयोग ईंटों को सुखाने, गरम करने अथवा आंशिक रूप में पकाने के लिये किया जा सकता है। हर समय प्रत्येक कक्ष में एक न एक क्रिया होती रहती है, जिससे कच्ची ईंटों के बोझे जाने से लेकर पकी ईंटों के निकालने तक के कार्य का क्रम विधिवत् बराबर चालू रहता है।

(श्री० कृ०)

ईंधन ऐसे पदार्थ हैं, जो आक्सीजन के साथ संयोग कर काफी ऊष्मा उत्पन्न करते हैं। ठोस ईंधनों में काष्ठ (लकड़ी), पीट, लिग्नाइट एवं कोयला प्रमुख हैं। पेट्रोलियम, मिट्टी का तेल तथा गैसोलीन द्रव ईंधन हैं। कोलगैस, भाप-अंगार-गैस और प्राकृतिक गैस आदि गैसीय ईंधनों में प्रमुख हैं।

आजकल परमाणु ऊर्जा भी शक्ति के स्रोत के रूप में उपयोग की जाती है, इसलिये विखंडनीय पदार्थों को भी अब ईंधन माना जाता है।

वैज्ञानिक और सैनिक कार्यों के लिये उपयोग में लाए जानेवाले राकेटों में, एल्कोहाल, अमोनिया एवं हाइड्रोजन जैसे अनेक रासायनिक यौगिक भी ईंधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन पदार्थों से ऊर्जा की प्राप्ति तीव्र गति से होती है। विद्युत् ऊर्जा का प्रयोग भी ऊष्मा की प्राप्ति के लिये किया जाता है इसलिये इसे भी कभी कभी ईंधनों में संमिलित कर लिया जाता है।

(नि० सिं०)

ईक्विक चिली में स्थित एक नगर एवं बंदरगाह है। यह तारापका प्रदेश की राजधानी है जो वालपेरैजो से ८२० मील उत्तर, २०° १२' १५" अ० द० तथा ७०° ११' १५" देशांतर पश्चिम पर स्थित है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९६६ ई० में ६३,६०० थी। यहाँ समुद्रतट उत्तर दक्षिण दिशा में है तथा नगर एक सँकरे समतल मैदान पर, समुद्र एवं खड़ी पहाड़ी के बीच बसा हुआ है। नगर की ओर उन्मुख एक नीचा बंजर द्वीप, सेरानो या ईक्विक है, जो पत्थर के १,५०० फुट लंबे पुल द्वारा नगर से संबद्ध है। यह द्वीप दक्षिण से आनेवाले झंझावातों से बंदरगाह की रक्षा करता है। नगर आयताकार है और सड़कें नीची हैं। व्यापारिक दृष्टि से ईक्विक बहुत महत्वपूर्ण है। यहाँ से आयोडीन तथा सोडियम नाइट्रेट

निर्यात किया जाता है। व्यापारिक दृष्टि से इस बंदरगाह का चिली में दूसरा स्थान है। यह नगर सन् १८३० ई० तक पेरू के मछुओं की बस्ती था, किंतु चिली द्वारा सन् १८७७ ई० में अधिकृत कर लिया गया।

(श्या० सुं० श०)

ईख ऊख या गन्ना वस्तुतः घास की जाति का पौधा है जो साधारणतः दस बारह फुट लंबा होता है, परंतु ४२ फुट तक लंबे पौधे भी देखे गए है। ईख में बाँस की तरह गाँठें होती हैं। प्रत्येक गाँठ पर खड्ग की भाँति दो दो पत्तियाँ होती है। मोटाई में साधारण ईख लगभग एक इंच व्यास की होती है, परंतु तीन इंच व्यास तक की ईख भी उगाई गई है। तने में सफेद गूदा रहता है, जो मीठे रस से भरा रहता है। तने को पेरकर रस निकाला जाता है, जिससे गुड़ और चीनी बनती है। तना बाहर से हरा, पीला, बैंगनी या लाल होता है। ईख की जन्मभूमि दक्षिण पूर्वी एशिया कही जाती है। भारत के प्राचीन ग्रंथों में भी ईख का वर्णन 'शर्करा' नाम से पाया जाता है। यों तो ईख का उत्पादन भारत के प्रायः सभी भागों में होता है, परंतु उत्तर प्रदेश, बिहार, पूर्वी पंजाब, बंबई और मद्रास में ईख की खेती अधिक मात्रा में की जाती है। उत्तर प्रदेश में तो ईख की फसल अधिकांश किसानों की आय का मुख्य साधन है। यहाँ प्रति वर्ष लगभग ३० लाख एकड़ भूमि में ईख बोई जाती है जो संपूर्ण भारत के ईख के क्षेत्रफल का ६० प्रतिशत है। इसी कारण यहाँ लगभग १२ लाख टन गुड़ और खाँड़ के अतिरिक्त १० लाख टन चीनी बनाई जाती है, जो समस्त भारत में बनाई जानेवाली चीनी का लगभग ५० प्रतिशत है।

ईख की फसल बोआई के १०–१२ महीने पश्चात् तैयार होती है। बोने के लिये ईख के टुकड़ों या पैंड़ों का ही बीज के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रत्येक पैंड़े पर तीन तीन कलियाँ या आँखें होनी चाहिए। प्रति एकड़ खेत की बोआई के लिये १४-१५ हजार स्वस्थ एवं नीरोग तीन तीन आँखवाले पैंड़ों की आवश्यकता होती है, जो ४० से ६० मन तक ईख से प्राप्त किए जा सकते हैं।

ईख की उन्नतिशील जातियों को ही बोना चाहिए, क्योंकि देशी और अन्य पुरानी जातियों की अपेक्षा प्रायः उनकी उपज अधिक होती है। उनमें चीनी या गुड़ का पड़ता अधिक बैठता है और रोग भी कम लगते हैं। उत्तर प्रदेश में विभिन्न क्षेत्रों में बोई जानेवाली ईख की मुख्य मुख्य जातियाँ को० ३१२, को० ४२१, को० शा० २४५, को० शा० ३२१, को० ४५३, को० ३५६, को० ३१३, को० शा० १०६ और को० ५२७ हैं। इनमें से को० ३१२, को० ४२१, को० शा० ३२१ और को० ४५३ जातियों की खेती अब बंद कराई जा रही है, क्योंकि इनमें अब अनेक प्रकार के रोग एवं अवगुण पैदा होने लगे हैं। इनके स्थान पर कुछ नई नई जातियाँ, जैसे को० शा० ५१०, को० ३६५, को० ६२४०३, को० शा० ६११, को० शा० ५४१, को० ८५६, को० १३३६, बी० उ० ४७, को० शा० १०६, को० शा० ६४८, को० शा० ६५६, को० ११४८, को० ११५८, को० ६८११, बी० उ० १७, बी० ओ० ५४, बी० ओ० ७०, वि० उ० ३४, को० ५२७, को० शा० ५६८, को० ६२०३५, को० ६४२५, को० १००७, को० १३४७ तथा को० ६६११ इत्यादि, जो पुरानी जातियों की अपेक्षा उत्तम सिद्ध हो चुकी है, गत ४–५ वर्षो में संचालक, ईख अनुसंधान, शाहजहाँपुर द्वारा प्रचलित की गई हैं।

ईख के लिये यों तो दोमट या दोमट मटियार भूमि सबसे उत्तम होती है, परंतु कुछ जातियाँ हलकी दोमट में और कुछ पानी रुकनेवाली नीची भूमि में भी सफलता से उगाई जा सकती हैं। बोआई अधिकतर फरवरी-मार्च में की जाती है, परंतु पिछले ५–६ वर्षो से सितंबर अक्टूबर की बोआई की प्रथा बढ़ती जा रही है। इस ऋतु में बोई हुई ईख की उपज १०-१५ प्रतिशत अधिक होती है और उसमें चीनी या गुड़ का पड़ता लगभग ०·५ प्रतिशत अधिक बैठता है।

साधारणतः ईख को लगभग १२० पाउंड प्रति एकड़ नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है जो आधा गोबर की खाद, कंपोस्ट या हरी खाद और आधा रासायनिक खाद के रूप में देना उचित होता है। फास्फोरस-वाली खादें इस प्रदेश के कुछ ही क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। पूर्वोक्त खादों को बोआई के पूर्व ५० से ७५ पाउंड प्रति एकड़ फास्फोरिक ऐसिड के साथ देना चाहिए, परंतु ईख की फसल बोने के पूर्व हरी खाद की फसल में इसे डालने से ईख की उपज पर प्रायः सभी क्षेत्रों में अच्छा प्रभाव पड़ता है।

उत्तर प्रदेश में ईख की फसल के लिये तीन चार सिचाइयाँ अनिवार्य होती हैं। सितंबर अक्टूबर में बोई हुई ईख को जनवरी में एक बार अधिक सींचने की आवश्यकता होती है। तराई और भाट (कछार जमीनों में केवल एक दो सिंचाई से ही काम चल जाता है। फसल बोने के एक सप्ताह के भीतर एक हलकी गोड़ाई और गर्मियों में प्रत्येक सिचाई के पश्चात् कम से कम एक गोड़ाई करने से फसल का जमाव और उत्पादन अच्छा होता है। वर्षा ऋतु में आवश्यकतानुसार ईख पर मिट्टी चढ़ाना और मेड़ों को बाँधना चाहिए, जिससे अच्छी बढ़ी हुई फसल के गिरने की आशंका कम रहे।

ईख में 'काना' और 'उकठा' रोग विशेष हानिकारक होते हैं। नीरोग और स्वस्थ बीज बोने से और चार सालवाला या कम से कम तीन साल-वाला फसल चक्र अपनाने से न केवल फसलें बीमारियों से सुरक्षित रहती हैं बल्कि भूमि की उर्वरा शक्ति भी नष्ट नहीं होती और बराबर अच्छी उपज मिलती रहती है। कँमुआ (कीड़े) और दीमकों से फसलों को बचाने के लिये २० प्रतिशत 'गामा-बी० एच० सी०' के घोल को ४ पाउंड प्रति एकड़ के हिसाब से १५० गैलन पानी में मिलाकर बोआई के समय पैंड़ों पर छिड़कना चाहिए। इसी प्रकार फसल का जमाव सुधारने के लिये एरीटान (तीन प्रतिशत) के ०·५ प्रतिशत घोल (एक पाउंड एरीटान, २० गैलन पानी) में बोआई के पूर्व पैंड़ों को डुबा लेना चाहिए।

फसल की कटाई का काम प्रायः अक्टूबर नवंबर से मार्च अप्रैल तक चलता है। बोई हुई फसल काटने के बाद उसकी पेड़ी की फसल एक साल या अधिक से अधिक दो फसल तक लेने से किसानों को विशेष लाभ होता है। परंतु पेड़ी में खाद, सिंचाई, गोड़ाई और अन्य देखरेख उसी प्रकार करनी चाहिए जैसे नई बोई ईख में।

उत्तर प्रदेश में ईख की खेती में २० क्विटल बीज प्रति एकड़ लगता है और उपज २० टन प्रति एकड़ होती है। ईख का भारत सरकार द्वारा हाल में निर्धारित मूल्य पूर्वी जिलों में १२·२५ रु० प्रति क्विटल तथा पश्चिमी जिलों में १३·२५ रु० प्रति क्विटल है। अनुमान किया जाता है कि इस प्रदेश में कुल ७० करोड़ मन ईख हर साल पैदा की जाती है जिसमें से लगभग ५१ प्रतिशत उपज गुड़ बनाने के काम में, ३१ प्रतिशत चीनी बनाने में और शेष १८ प्रतिशत खँडसारी के काम में, चूसने के काम में और बोवाई में प्रयुक्त होती है। १९७२–७३ ई० में उत्तर प्रदेश की चीनी मिलों को ८१५ लाख क्विटल गन्ना दिया गया। इससे चीनी के उत्पादन में भी वृद्धि होगी।

चीनी मिलों में ईख के रस से चीनी के अतिरिक्त टाफी, लेमन ड्राप और शुगरक्यूब इत्यादि बनाए जाते हैं और शीरे से शराब, स्पिरिट और पेट्रोल में मिलाने के लिये ऐलकोहल आदि। ईख की खोई से कागज और दफ्ती बनती है। शीरे के साथ खोई को एक विशेष ढंग से मिलाकर पशुओं के लिये चारा भी तैयार किया जाने लगा है। जिन मिलों में रस की सफाई के लिये गंधक का प्रयोग होता है उनके गाढ़े रस को छानने से बची मिट्टी (प्रेस मड) बहुमूल्य खाद होती है जिसे ईख की फसल में डालने से उपज में विशेष वृद्धि होती है।

(ज० गो० श्री०)

ईजियन सागर यह भूमध्य सागर की एक भुजा है जिसके पश्चिम में यूनान और पूर्व में टर्की है। यह डार्डनेल्स और बॉसपोरस जल-संयोजकों द्वारा मारमारा और काला सागर से जुड़ा है। 'ईजियन' शब्द का संबंध ईजी नगर से अथवा ईजिया (अमेज़न की रानी) से, अथवा ईजियस (थीसियस के पिता) से बताया गया है। संरचना की दृष्टि से यह सागर एक प्राचीन ध्वस्त स्थलखंड है जो लगभग पूर्णतया निमज्जित हो गया है। इसके चारों ओर नवीन भंजित पर्वत हैं जो स्वयं थोड़ी मात्रा में निमज्जित हैं। इन दशाओं के फलस्वरूप यह सागर द्वीपों से भरा है और इसमें यथाक्रम गहरी और उथली द्रोणियाँ है। यहाँ कुछ ज्वालामुखी द्वीप भी स्थित हैं।

द्वीपों में गेहूँ, अंगूर, अंजीर, मुनक्का, गोंद, शहद, मोम, कपास और रेशम का उत्पादन होता है। (रा० ना० मा०)

ईजियाई सभ्यता जो सभ्यता १२वीं सदी ई० पू० से पहले दोरियाई ग्रीकों के ग्रीस पर आक्रमण के पूर्व क्रीत और निकटवर्ती द्वीपों, ग्रीस की सागरवर्ती भूमि, उसके मिकीनी केंद्रीय प्रांतों तथा इतिहासप्रसिद्ध त्राय में विकसित हुई और फैली, उसे पुराविदों ने 'ईजियाई सभ्यता' नाम दिया है। पुरातात्विक अनुसंधानों और खुदाइयों से क्रीत, मिकीनी और लघुएशिया के त्राय नगर में जिन खंडहरों के दर्शन हुए हैं वे मिस्री, सुमेरी और सैंधव सभ्यता के समकालीन माने जाते हैं। वहाँ की सभ्यता उन्हीं सभ्यताओं की भाँति कांस्ययुगीन थी, लौहयुग की पूर्ववर्ती। इन सभी स्थानों में प्रासादों और भवनों के खंडहर मिले हैं। क्रीतीय सभ्यता का प्राचीनतम केंद्र और उस राज्य की राजधानी ग्रीस के दक्षिण के उस द्वीप के उत्तरी तट पर बसा क्नोसस था। क्नोसस के राजमहल के भग्नावशेष से प्रगट है कि उसमें समृद्धि का निवास था और उसमें भव्य भित्तिचित्रों से अलंकृत बड़े बड़े हाल और ऊपरी मंजिलों में जाने के लिये चक्करदार सोपानमार्ग (जीने) थे। स्नानागारों और अन्य कमरों में नल लगे थे जिनमें निरंतर जल प्रवाहित होता रहता था। यह सभ्यता अपने मिनोस उपाधिधारी राजाओं के नाम से 'मिनोई' या मिकीनी नगर से संबंधित होने के कारण मिकीनी भी कहलाती है।

ईजियाई सभ्यता का आरंभ ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी के आरंभ से संभवतः कुछ पूर्व ही हो चुका था और उसका अंत ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य के लगभग हुआ। वैसे तो उस सभ्यता का आधार स्थानीय प्रस्तरयुगीन सभ्यता है, पर पुराविदों का अनुमान है कि उसके निर्माताओं का रक्त और भाषा का संबंध एक ओर तो पश्चिमी बास्कों से था, दूसरी ओर बर्बरों और प्राचीन मिस्रियों से। उनके मिस्रियों सरीखे कटिवसन तथा शेष भाग की नग्नता से पंडितों का अनुमान है कि वे संभवतः मिस्र से ही जाकर क्रीत द्वीप में बस गए थे। चित्राक्षरों में लिखे भ्रांत मिस्री नाविक के वृत्तांत से भी इस अनुमान की आंशिक पुष्टि होती है। क्रीत के उन प्राचीन निवासियों का उत्तर की यूरोपीय श्वेत जातियों से किसी प्रकार का रक्तसंबंध परिलक्षित नहीं होता। पहले ईजियाइयों ने शुद्ध धातु, ताँबे आदि का उपयोग किया, फिर मिश्रित धातु काँसे का, जो ताँबे और टिन के मिश्रण से बनता था। यह टिन भारत से जाता था जहाँ उसके संस्कृत नाम 'वंग' से बंगाल प्रसिद्ध हुआ। वहीं से यह मिश्रित काँसा बावुल और मिस्र भी गया था। ईजियाई सभ्यता में लिपि का भी प्रयोग होता था पर भारतीय सैंधव लिपि की ही भाँति वह भी अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। वह पढ़ ली जाय तो उस सभ्यता का और भी गहरा रहस्य खुले।

इस सभ्यता के प्रकाशन का श्रेय पुरातात्विक विज्ञान के जनक श्लीमान और सर आर्थर ईवांस को है। श्लीमान ने होमर के महाकाव्य 'ईलियद' में वर्णित त्राय को खोद निकाला और उसके बाद ईवांस ने क्नोसस को खोदकर मिनोस के राजमहलों का उद्धार किया। सर आर्थर ने ईजियाई सभ्यता को नौ स्तरों में विभाजित किया है—प्राचीन मिनोई युग, मध्य मिनोई युग, उत्तर मिनोई युग। फिर उनमें से प्रत्येक के अपने अपने तीन तीन—प्रथम, द्वितीय और तृतीय—युग हैं। मिस्री सभ्यता के स्तरों से मिलान करके इस सभ्यता के युगों की उनसे समसामयिकता और भी पुष्ट कर ली गई है। लगता है, १४०० ई० पू० के लगभग इस महान् और समृद्ध नागरिक सभ्यता का अंत हुआ जब एशियाई ग्रीकों के भीषण आक्रमणों और भूचाल ने मिलकर उसे मिटा दिया।

प्राचीन और मध्य मिनोई युगों में धातुओं का उपयोग प्रभूत मात्रा में हुआ। काँसे और ताँबे की ही कटारें और तलवारें बनती थीं। जीवन ऊँचे स्तर का था और बर्तन बनाने के लिये मिट्टी की जगह धातुएँ काम में लाई जाने लगी थीं। सोने और चाँदी के बर्तन भी खुदाइयों में मिले हैं। मिट्टी के बर्तन बनते अवश्य थे, परंतु उनकी काया अधिकतर धातु के बर्तनों की नकल में ही सिरजी जाती थी। मिट्टी के बर्तनों की कला स्वयं ऊँचे दर्जे की थी। ईजियाई द्वीपों में क्रीत ने सबसे पहले भांडों को चित्रित करना शुरू किया। दूसरी विशिष्ट प्रगति प्राचीन मिनोई युग के प्रथम चरण में हुई जिसमें विभिन्न प्रकार के भांड बनने लगे। सुराहियाँ टोंटीदार या चोंचनुमा बनने लगीं, फिर उनमें अत्यंत आकर्षक दमखम दिए जाने लगे। फिर तो अगले प्राचीन युग में घुमावदार भांडों की बाढ़ सी आ गई।

यही युग त्राय नगर की दूसरी बस्ती का था, द्वितीय त्राय का। श्लीमान ने छह छह त्राय एक के नीचे एक लघुएशिया में खोद निकाले हैं। प्राचीन मिनोई सभ्यता के तृतीय चरण के समानांतर प्रमाण त्राय की खुदाइयों में मिले हैं। वहाँ भी बहुमूल्य धातुओं की बनी वस्तुएँ—सोने की पिन और जंजीरें, सोने चाँदी के बर्तन मिले हैं जिससे उन्हें पुराविदों ने 'प्रियम का खजाना' नाम उचित ही दिया है। वहाँ के बर्तनों में प्रधान काले रंग के और उलूकशीर्ष हैं। इसी प्रकार क्रीत और त्राय के नीचे के द्वीपों में भी उसी सभ्यता के बिखरे हुए चिह्न, कलात्मक बर्तन आदि मिले हैं। वहाँ भी शवसमाधियों की शैली प्रधान सभ्यता के अनुरूप है। क्रीती और इन द्वीपों की शवसमाधियों में दफनाई मूर्तियों की शैली प्रायः वही है जो मिस्री कब्रों की मूर्तियों की है।

प्राचीन मिनोई युग के अंतिम चरण की विशेषता पत्थर की कोरकर बनाई वस्तुओं में है। पत्थर में कढ़े हुए फूल और समुद्री जीवों के अभिप्राय तब की कला में विशेष प्रयुक्त हुए। इनके निर्माण में प्रधानतः संगमरमर या चूना मिट्टी का उपयोग हुआ है। जहाँ तक धातु के बर्तनों का प्रश्न है, लगता है, त्राय के सुनारों ने बाबुली धातुकर्म की नकल की थी। वही डिजाइनें बाद में पत्थर और मिट्टी के बर्तनों पर बनीं। मिस्र ने भी इसी शैली का कालांतर में उपयोग किया। बर्तनों का इतना आकर्षक निर्माण उस प्राचीन काल के दो आविष्कारों का विस्मयकारक परिणाम था। भांड कला के इतिहास में निश्चय उन आविष्कारों का असाधारण महत्व है। ये थे कुम्हार के आवाँ (भट्ठी) और चक्के या पहिए के आविष्कार। संभवतः इसका आविष्कार पूरब में हुआ, एलाम में, या भारत की सिंधु घाटी में, या दोनों में, शायद ४,००० ई० पू० से भी पहले। क्रीत और त्राय के जीवन में संभवतः उनका आयात प्राचीन मिनोई युग के अंतिम चरण में हुआ। चित्रलिपि से कुछ मिलती लिखावट क्रीत के ठीकरों पर खुदी हुई है। गीली मिट्टी में लिखावट प्रायः वैसे ही संपन्न हुई है जैसे बाबुल और सुमेर में हुआ करती थी, परंतु उनके तौर तेवर मिस्री लिखावट से मिलते जुलते हैं। अभी तक यह लिखावट पढ़ी नहीं जा सकी। वास्तु का आरंभ हो गया था। क्नोसस के महलों के पूर्ववर्ती पत्थर के मकानों के खंडहर उसी युग के हैं।

मिनोस राजाओं का राज्य—मिनोई राजाओं की राजधानी क्रीत के उत्तरी तट पर बसे क्नोसस में थी। मध्य मिनोई युग में मिनोस राजाओं ने प्रायः समूचे क्रीत और निकटवर्ती द्वीपों पर अधिकार कर लिया। फाइस्तस और आगिया त्रियादा के महल भी क्नोसस के राजाओं के ही बनवाए माने जाते हैं। लोकपरंपराओं और अनुश्रुतियों में फाइस्तस का वर्णन उपनिवेश के रूप में हुआ है।

क्नोसस के राजप्रासाद का निर्माण नवप्रस्तरयुगीन भग्नावशेषों के ऊपर हुआ है। क्नोसस के प्रासादों के भग्नावशेष क्रीत के उत्तरी तट पर कांदिया के आधुनिक नगर के निकट ही हैं। वहाँ के पश्चिमी प्रवेशद्वार की विशालता और फाइस्तस के गैलरीनुमा रंगप्रांगण, जो पत्थर के बने हैं, वास्तुकला की प्रगति में उस प्राचीन काल में एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। क्नोसस के उत्तरी और फाइस्तस के दक्षिणी राजमहल प्रायः एक ही समय बने थे। क्रीत के दक्षिणी तट पर फाइस्तस के महलों के खंडहर हैं और उनके पास ही आगिया त्रियादा के राजप्रासाद के भग्नावशेष भी हैं, यद्यपि वे बने उत्तर-मिनोई-युग में थे।

लगता है, क्नोसस के महल युगों तक बनते और आवश्यकतानुसार बदलते चले आए थे। राजाओं की बढ़ती हुई समृद्धि, कला की प्रगति और सुरुचि के परिष्कार के अनुकूल समय समय पर उनमें परिवर्तन होते गए। इस प्रकार के परिवर्तन कुछ मध्ययुग में भी हुए थे, परंतु पिछले युग में तो इन महलों के रूप ही बदल डाले गए। जिस रूप में उनके खंडहर आज

पुराविदों के प्रयत्न से प्रस्तुत हुए हैं उनसे प्रगट है कि इन महलों में असाधारण बड़े बड़े हाल थे, घुमावदार सोपानमार्ग थे, ढलान पर उतरनेवाले लंबे कक्ष थे, और बाहरी प्रासाद से संलग्न भवन थे—और फिर दूर, क्रीती सभ्यता का नागरिक विस्तार पश्चिम के पर्वतों के ऊपर तक चला गया था। प्रधान राजप्रासाद अपनी उच्चस्तरीय जीवनसुविधाओं के साथ अत्यंत आधुनिक लगता है। उन सुविधाओं का एक प्रधान अंग उनकी गंदे जल की नालियाँ हैं। मिस्री फराऊनों और पेरिक्लीजकालीन एथेंस के कोई मकान उसके जोड़ के न थे। हाँ, यदि प्रासादनिर्माण की शालीनता में इसका कोई पराभव कर सकता है तो वे निनेवे के असुरबनिपाल के सचित्र प्रासाद हैं। फिर भी दोनों में काफी अंतर है। जहाँ असुरबनिपाल के महल सूने हैं और ठंढे तथा जाड़ों के लिये असुविधाजनक लगते हैं वहाँ मिनोई राजप्रासाद गरम और आरामदेह हैं और उनकी चित्रित दीवारों से लगता है कि उनमें भरापूरा जीवन लहरें मारता था। उनके भित्तिचित्रों से प्रगट है कि क्नोसस के महलों के भीतर राजा का दरबार भरा रहता था, और उसमें नर और नारी परिचारकों की संख्या बड़ी थी। राजा और उसके दरबारी सभी प्रसन्न और जीवन को निर्बंध भोगते हुए चित्रित हुए हैं। चित्रों की आकृतियाँ अनेक बार कठोर और निश्छंद रूढ़िगत सी हो गई हैं, कुछ भोंडी भी हैं, परंतु उनकी रेखाएँ बड़ी सबल हैं। उनके खाके निश्चय असाधारण कलावंतों ने खींचे होंगे। भित्तिचित्रों से प्रमाणित है कि दरबार के आमोदप्रमोदों में नारियाँ उसी स्वच्छंदता से भाग लेती थीं जैसे पुरुष। नर और नारी दोनों समान अधिकार से सामाजिक जीवन में भाग लेते थे, और प्रतीत तो ऐसा होता है कि राजमहल और समाज के जीवन में नारी का ही प्रभुत्व अधिक था। इसमें संदेह नहीं कि उस प्राचीन जगत् में क्रीत की सभ्यता ने जितने अधिकार नारी को दिए, पुरुष का समवर्ती जो स्थान उसे दिया वह तब के जीवन में कहीं और संभव न था।

भित्तिचित्रों में नारी की त्वचा श्वेत और पुरुष की रक्तिम चित्रित हुई है, प्रायः मिस्री रीति के अनुसार। दरबारी दाढ़ी मूँछ मुड़ाकर चेहरे साफ रखते थे और केश लंबे, जिन्हें वे नारियों की ही भाँति वेणियों में सजा लेते थे। अनेक बार तो साँड़ों की लड़ाई देखते लड़कों में लड़कियों का पहचानना कठिन हो जाता है और यदि उनकी त्वचा रूढ़िगत रंगों से स्पष्ट न कर दी गई होती तो दोनों का दर्शन नितांत समान होता। नारियों में परदा न था, यह तो उस काल के चित्रित दृश्यों से अनुमित हो ही जाता है, वैसे भी खिड़कियों में बिना घूँघट के बैठी नारियों की आकृतियों से उनकी इस अनवगुंठित स्थिति का प्रकाश होता है। नारियाँ गर्दन और बाहुओं को निरावृत्त रखती थीं, हारों से ढक लेती थीं, वस्त्र कटि पर कस लेती थीं, और नीचे अपने घाघरे की चुनटें आकर्षक रूप से पैरों पर गिरा लेती थीं। पिछले युग के चित्रों में नारियाँ, कम से कम राजमहल की, मस्तक पर किरीट भी पहने हुए हैं। पुरुषों का वेश उनसे भिन्न था, अत्यंत साधारण। वे कटि से नीचे जाँघिया पहनते थे, अनेक बार मिस्री चित्रों के पुरुषों की घुटनों तक पहुँचानेवाली तहमत की तरह, किंतु रंगों के प्रयोग से चमत्कृत। मिस्री पुरुषों की भाँति उनके शरीर का ऊर्ध्वार्ध नंगा रहता था, और जब तब वे कोनदार टोपी पहनते थे। पुरुषों के केश वेणीवद्ध या खुले ही कमर तक लटकते थे या जब तब वे उनमें गाँठ लगा सिर के ऊपर बाँध लेते थे। क्नोसस के पुरुष भी पिछले युग के खत्तियों की भाँति पैरों में ऊँची सैंडिल या बूट पहनते थे। मिनोई सभ्यता की नरनारियों का रंगरूप प्रायः आज के इटलीवालों का सा था। उनके नेत्र और केश काले थे, नारियों का रंग संभवतः धूमिलश्वेत और पुरुषों का चटख ताम्र।

जीवन सुखी, आमोदमय और प्रसन्न था। लोग नर-पशु-युद्ध देखते और उनमें भाग लेते थे। परंतु उनके पास संभवतः रक्षा के साधन कम थे, कम से कम कवच खुदाइयों में नहीं मिला है। तलवार का उपयोग वे निश्चय करते थे।

आमोद के जीवन में स्वाभाविक ही धर्म की कठोर रूढ़ियाँ समाज को आतंकित नहीं कर पातीं और मिनोई समाज में भी उनका अभाव था। परंतु उनके देवता थे, यद्यपि उनको स्पष्टतः पहचान पाना कठिन है। फिर भी यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि लोगों का विश्वास वृक्षों, चट्टानों, नदियों आदि से संबंधित देवताओं में था और कम से कम एक विशिष्ट सर्पदेवी की मातृपूजा वे अवश्य करते थे। इस प्रकार की मातृदेवी की आकृतियाँ जो सर्प धारण करती हैं वहाँ चित्रित मिली हैं।

महलों के भित्तिचित्रों से तो प्रगट ही है कि चित्रकला विशेष रूप से कलावंतों द्वारा विकसित हुई थी, और उनमें रंगों का प्राधान्य एक तकनीक का आभास भी देता है। पत्थर को कोरकर मूर्ति बनाने अथवा उसकी पृष्ठभूमि से उभारकर दृश्य लिखने की कला ने निःसंदेह एशियाई देशों के अनुपात में प्रश्रय नहीं पाया था, और उनकी उपलब्धि अत्यंत न्यून संख्या में हुई है। आगिया त्रियादा से मिले कुछ उत्कीर्ण दृश्य निश्चय ऐसे हैं जिनकी प्रशंसा किए बिना आज का कलापारखी भी न रह सकेगा।

अंतिम युग—पिछले युगों में ईजियाई सभ्यता के निर्माताओं ने राजनीतिक दृष्टि से अनेक सफल प्रयत्न किए। आसपास के समुद्रों और द्वीपों पर उन्होंने अपना साम्राज्य फैलाया और प्रमाणतः उनका वह साम्राज्य ग्रीस और लघुएशिया (अनातोलिया) पर भी फैला जहाँ उन्होंने मिकीनी, त्राय आदि नगरों के चतुर्दिक् अपने उपनिवेश बनाए। परंतु संभवतः साम्राज्यनिर्माण उनके बूते का न था और उन्होंने उस प्रयत्न में अपने आपको ही नष्ट कर दिया। यह सही है कि ग्रीस के स्थल भाग पर उनका अधिकार हो जाने से उनकी आय बढ़ गई पर उपनिवेशों की सँभाल स्वयं बड़े श्रम का कार्य था, जिसका निर्वाह कर सकना उनके लिये संभव न हुआ। परिणामतः जब बाहर से आक्रमणकारी आए तब आमोदप्रिय मिनोई नागरिक उनकी चोटों का सफल उत्तर न दे सके और उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा। परंतु विजेताओं को यह निष्क्रिय आत्मसमर्पण स्वीकार न था और उन्होंने उसे नष्ट करके ही दम लिया।

यह कहना कठिन है कि ये आक्रमणकारी कौन थे। इस संबंध में विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ उन्हें मूल ग्रीक मानते हैं, कुछ एकियाई, कुछ दोरियाई, कुछ खत्ती, कुछ अनातोलिया के निवासी। परंतु प्रायः सभी, कम से कम आंशिक रूप में, यह मानते हैं कि आक्रांता आर्य जाति के थे और संभवतः उत्तर से आए थे जो अपने मिनोई शत्रुओं को नष्ट कर उनकी ही बस्तियों में बस गए। नाश के कार्य में वे प्रधानतः प्रवीण थे क्योंकि उन्होंने एक ईंट दूसरी ईंट पर न रहने दी। आक्रांता धारावत् एक के बाद एक आते गए और ग्रीक नगरों को ध्वस्त करते गए। फिर उन्होंने सागर लाँघ क्रीत के समृद्ध राजमहलों को लूटा जिनके ऐश्वर्य के कुछ प्रमाण उन्होंने उनके स्थलवर्ती उपनिवेशों में ही पा लिए थे। और इन्होंने वहाँ के आकर्षक जनप्रिय मुदित जीवन का अंत कर डाला। क्नोसस और फ़ाइस्तस के महलों में सदियों से समृद्धि संचित होती आई थी, रुचि की वस्तुएँ एकत्र होती आई थीं, उन सबको, आधार और आधेय के साथ, उन बर्बर आक्रांताओं ने अग्नि की लपटों में डाल भस्मसात् कर दिया। सहस्राब्दियों क्रीत की वह ईजियाई सभ्यता समाधिस्थ पड़ी रही, जब तक १९वीं सदी में आर्थर ईवांस ने खोदकर उसे जगा न दिया।

होमरिक काव्य—होमर ने अपने ईलियद में जिस त्राय के युद्ध की कथा अमर कर दी है वह त्राय उसी मिनोई ईजियाई सभ्यता का एक उपनिवेश था, राजा प्रियम् की राजधानी, जिसके राजकुमार पेरिस ने ईजियाई सभ्यता को नष्ट करनेवाले एकियाई वीरों में प्रधान अगामेम्नन के भाई मेनेलाउ की भार्या हेलेन को हर लिया था। होमर की उस कथा का लघुएशिया के उस ईजियाई उपनिवेश त्राय की नगरी के विध्वंस से सीधा संबंध है और उसकी ओर संकेत कर देना यहाँ अनुचित न होगा। उस त्राय नगरी को श्लीमान ने खोद निकाला है, एक के ऊपर एक बसी त्राय की छह नगरियों के भग्नावशेषों को, जिनमें से कम से कम सबसे निचली दो होमर की कथा की त्राय नगरी से पूर्व के हैं।

महाकवि होमर स्वयं संभवतः ई० पू० ९वीं सदी में हुआ था। उसके समय में अनंत एकियाई वीरगाथाएँ जातियों और जनों में प्रचलित थीं जिनको एकत्र कर एकरूपीय शृंखला में अपने मधुर गेय भावस्रोत के सहारे होमर ने बाँधा। ये गाथाएँ कम से कम तीन चार सौ वर्ष पुरानी तो उसके

समय तक हो ही चुकी थी। इन्ही गाथाओं में संभवत. एकियाई जातियों का ग्रीस के ईजियाई उपनिवेशों और स्वय क्रीत के नगरा पर आक्रमण वर्णित था जिसका लाभ होमर को हुआ। कुछ आश्चर्य नही जो एकियाई जातियों ने ही ईजियाई सभ्यता का विनाश किया हो। परतु एकियाई जातियो के बाद भी लगातार उत्तर मे आनेवाली आर्य ग्रीक जातियो के आक्रमण ग्रीस पर होते रहे। उन जातियो मे विशिष्ट दोरियाई जाति थी जिसने सभवत १२वी सदी ई० पू० मे समूचे ग्रीस को लोहायुधो द्वारा जीत लिया और सभ्यता की उस प्राचीन भूमि पर, प्राचीन नगरो के भग्नावशेषो के आसपास, और उसी प्रकार क्वाँरी भूमि पर भी, उनके नगर बसे जो प्राचीन ग्रीस के नगरराज्यों के रूप मे प्रसिद्ध हुए और जिन्होंने पेरिक्लीज़ और सुकरात के समाज का निर्माण किया।

सं०ग्रं०—एच० आर० हाल : दि एशेंट हिस्ट्री ऑव् द नियर ईस्ट, मेथुएन ऐंड को०, लिमिटेड, लदन, १९५०, भ० श० उपाध्याय : दि एंशेंट वर्ल्ड, हैदराबाद, १९५८, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खड १, १९५६, श्लीमान एक्स्कैवेशस, १८९१. एच० आर० हाल : दि ओल्डेस्ट सिविलाइजेशन ऑव ग्रीस, १९०१; ईजियन आर्केयालोजी, १९१५। (भ० श० उ०)

ईति खेती को हानि पहुँचानेवाले उपद्रव। इन्हे छह प्रकार का बताया गया है :

अतिवृष्टिरनावृष्टि शलभा मूषका: शुका:।
प्रत्यासन्नाश्च राजान: षडेता ईतय: स्मृता:॥

अर्थात्, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, पक्षियो की अधिकता तथा दूसरे राजा की चढाई।

भारतीय विश्वास के अनुसार अच्छे राजा के राज्य मे ईति भय नही सताता। तुलसीदास ने इसका उल्लेख किया है :

दसरथ राज न ईति भय नहि दुख दुरित दुकाल।
प्रमुदित प्रजा प्रसन्न सब सब सुख सदा सुकाल॥
(तुलसी ग्रंथा०, पृ० ६८)

सूरदास ने कुराज में ईतिभय की संभावना दिखाई है :

अब राधे नाहिनै ब्रजनीति।
सखि बिनु मिलै तो ना बनि ऐहे कठिन कुराजराज की ईति।
(कै० च० श०)

ईतियस रोमन जनरल जो पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के साथ पाँचवी सदी ई० के मध्य मरा। ईतियस रोमनेतर परिवार से आया था और धीरे धीरे अपनी योग्यता से जनरल बन गया। पहले वह गोथराज अलारिक के यहाँ अमानत बनकर रहा फिर हूणराज रुआस के यहाँ। उन्ही का सैन्यसगठन उनसे सीख उसने उन्हे परास्त भी किया। कुछ काल बाद उसे रोम के षड्यत्रो का शिकार भी होना पडा, पर बाद मे उसका दबदबा पश्चिमी साम्राज्य मे खूब बढा। उसने अपने सैन्य संचालन का परिचय भी गाल मे अत्तिला और उसके हूणो को हराकर दिया। पश्चिमी रोमन साम्राज्य एक जमाने तक बहुत कुछ ईतियस के ही बाहुबल और बुद्धि पर टिका रहा था। (ओ० ना० उ०)

ईथर १. अथवा ईथर सल्फ्यूरिकस (जिस नाम से यह चिकित्सा के क्षेत्र मे विख्यात है) एथिल ऐलकोहल और सल्फ्यूरिक अम्ल के योग से बनाया जाता है। एथिल और ईथर दोनो ही शब्द लैटिन ईथर अथवा यूनानी एथीन शब्दो से निकले है, जिनका अर्थ ज्वलन या जलाना है। यह कहना कठिन है कि सबसे पहले ईथर किसने तैयार किया। १३वीं शती का रसायनज्ञ, रेमड लली, इसके बनाने की विधि से परिचित था। बाद को वेसिल वैलेंटाइन और वेलेरियस कॉर्डस के लेखो मे भी ईथर और उसके गुणधर्मो का उल्लेख पाया जाता है। पर ईथर नाम इस द्रव्य को बाद मे ही मिला। वस्तुत: १७३० ई० मे जर्मनी के फ्रोबेन ने इसको ईथरियस स्पिरिटस नाम दिया।

रसायनशास्त्र की वर्तमान शब्दावली में उस वर्ग के समस्त यौगिकों को ईथर कहा जाता है जो पानी के अणु के दोनों हाइड्रोजनों को ऐलकिल मूलको द्वारा प्रतिस्थापित करके बनते हैं। पानी के अणु का यदि एक ही हाइड्रोजन ऐलकिल मूलक द्वारा प्रतिस्थापित हो तो ऐलकोहल वर्ग के यौगिक बनते हैं—
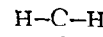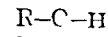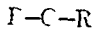
H–O–H	R–O–H	R–O–R
पानी	ऐलकोहल	ईथर

यहाँ (R) का अर्थ है कोई ऐलकिल मूलक, जैसे (CH_3), (C_2H_5), (C_3H_7) इत्यादि। इस रचना के अनुसार हम ईथरो को डाइ ऐलकिल आक्साइड भी कह सकते है। यदि किसी ईथर के अणु मे दोनो ऐलकिल मूलक एक ही हो, अर्थात् (R–R), तो इन्हे सरल ईथर कहा जाता है, पर यदि दोनो मूलक भिन्न भिन्न हो तो इन्हे मिश्रित ईथर कहते है। कुछ सरल ईथरो के क्वथनाक नीचे दिए जाते है —

ईथर	सूत्र	क्वथनाक
द्वि-मेथिल ईथर	$CH_3–O–CH_3$	–२३.६°
द्वि-एथिल ईथर	$C_2H_5–O–C_2H_5$	+ ३४.६°
द्वि-प्रोपिल ईथर	$C_3H_7–O–C_3H_7$	+ ९०.७°
द्वि-नार्मल-ब्यूटिल ईथर	$C_4H_9–O–C_4H_9$	+ १४१°
द्वि-आइसो-एमिल ईथर	$C_5H_{11}–O–C_5H_{11}$	+ ६१° + ६१° (१० मि.मी.)

हमारा साधारण प्रचलित ईथर द्विएथिल ईथर है और यह एथिल ऐलकोहल और सलफ्यूरिक अम्ल के योग से तैयार किया जाता है। प्रसिद्ध रसायनज्ञ विलियमसन ने सर्वप्रथम उन सब अभिक्रियाओ का विस्तृत अध्ययन किया जिनके द्वारा ऐलकोहल ईथर मे परिणत हो जाता है। पहले तो ऐलकोहल सल्फ्यूरिक अम्ल से संयुक्त होकर एथिल हाइड्रोजन सलफेट बनाता है—

$$C_2H_5OH + H.\ HSO_4 \rightarrow C_2H_5.\ H.\ SO_4 + H_2O$$
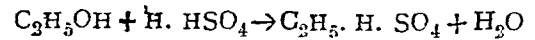
(एथिल हाइड्रोजन सलफेट)

यह एथिल हाइड्रोजन सलफेट ऐलकोहल के दूसरे अणु से संयुक्त होकर ईथर देता है और सलफ्यूरिक अम्ल फिर मुक्त हो जाता है—

$$C_2H_5.\ H.\ SO_4 + C_2H_5OH \rightarrow C_2H_5.\ O.\ C_2H_5 + H_2SO_4$$
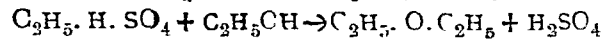
इस प्रकार अभिक्रिया दो पदो मे समाप्त होती है। ऐलकोहल मे जब सांद्र सलफ्यूरिक अम्ल मिलाया जाता है तो उष्मा उत्पन्न होती है और मिश्रण गरम हो उठता है। बाहर से गरम करके ताप और ऊँचा किया जाता है और ऐसा करने पर ईथर का आसवन आरभ होता है। साथ ही साथ भभके मे ऐलकोहल की धार सतत पड़ती जाती है। उष्मा इस प्रकार नियमित रखते है कि ताप १३०° सें० के निकट स्थायी बना रहे। जब सलफ्यूरिक अम्ल के आयतन का पाँच गुना ऐलकोहल क्रिया कर चुकता है, तो ताप १४१° सें० तक बढा देते है। इस प्रकार जो ईथर मिलता है उसमे कुछ ऐलकोहल, कुछ सलफ्यूरिक अम्ल और कुछ पानी भी मिला होता है। कैलसियम क्लोराइड मिलाकर पानी अलग कर दिया जाता है और दो तीन बार पुन: आसवन करके शुद्ध ईथर प्राप्त कर लिया जाता है।

ईथर (द्वि-एथिल ईथर) निरग, पारदर्शक, वाष्पशील द्रव है, इसका वर्तनाक भी काफी ऊँचा है। इसमे एक विशिष्ट गध होती है। इसके वाष्पो को अधिक देर तक सूँघा जाय तो निश्चेतना या मूर्छा आ जाती है। यदि शरीर के किसी अग पर ईथर डाला जाय तो यह शीघ्र उड जाता है और ठढक प्रतीत होती है। इसका स्वाद आरभ मे तो जलता सा पर बाद मे ठढा सा प्रतीत होता है। १५.५° सें० ताप पर इसका आपेक्षिक घनत्व ०.७२ है, अर्थात् यह पानी से हलका है। ३४.६° पर यह उबलता है और हवा इसकी भाप से ढाई गुनी भारी होती है। यदि द्रव को –१२९° सें० तक ठंडा किया जाय तो यह जमकर हिम बन जाता है। ईथर पानी के साथ अंशत. मिश्र्य है और इसका १२ प्रतिशत के लगभग पानी मे घुल जाता है। ईथर मे भी पानी थोड़ा विलेय है। ईथर बहुत अधिक ज्वलनशील है। इसका वाष्प तत्काल आग पकड लेता है, अत इसे आग से दूर रखना चाहिए। जब यह जलता है तो इसकी ज्वाला पीत श्वेत रग की होती है। भारतवर्ष की ग्रीष्मऋतु के ताप पर यह उड़ जाता है, अत. इसे शीत कमरो मे रखना आवश्यक है।

वसा, मज्जा और तेलों के घोलने के लिये ईथर बहुत ही अच्छा विलायक है और इस गुण के कारण ईथर का उपयोग रसायनशालाओं में विलायक के रूप में बहुत किया जाता है। तेलहनों की खली को यदि ईथर द्वारा क्षुब्ध किया जाय, तो खली का समस्त तेल ईथर में घुल जायगा, और आसवन करके ईथर और तेल अलग किए जा सकेंगे। ईथर में आयोडीन, गंधक, फासफरस एवं स्ट्रिकनिन आदि ऐलकलायड भी विलेय है।

ईथर का उपयोग हिममिश्रण तैयार करने में भी किया जाता है। ठोस कार्बन डाइआक्साइड और ईथर के मिश्रण द्वारा अति नीचा ताप उपलब्ध हो सकता है।

यदि मनुष्य अथवा पशुओं को ईथर का सेवन कराया जाय, तो आरंभ में तो मादक उत्तेजना प्रतीत होती है पर थोड़ी देर में ही तंद्रा आने लगती है और शनैः शनैः चेतना सुप्त होने लगती है। इस गुण के कारण शल्यचिकित्सा के प्रारंभिक युग में ईथर का उपयोग संवेदनाहारी या निश्चेतक के रूप में किया जाने लगा था। बाद में यह पता चला कि इस कार्य के लिये क्लोरोफार्म अधिक उपयोगी है। सन् १७९५ में डाक्टर पियरसन ने ईथर वाष्पों का प्रयोग दमा के रोगों के कष्टनिवारण में किया। ईथर द्वारा निश्चेतना उत्पन्न की जा सकती है, इस संबंध में ऐतिहासिक प्रयोग गॉडविन (१८२२), मिचेल (१८३२), जैक्सन (१८३३) एवं वुड और वेच (१८३४) के हैं। डाक्टर मॉर्टन ने १८४६ में पहली बार ईथर का प्रयोग दाँत निकालने में किया। इस प्रयोग की सफलता का समाचार लंदन में १७ दिसंबर, १८४६ को पहुँचा और २२ दिसंबर को डा० रॉबिन्सन और लिस्टन ने शल्यकर्म में ईथर के प्रयोग को दोहराया। एक वर्ष तक शल्यकर्म में ईथर के उपयोग की धूम रही। इसके बाद ही एडिनबरा के सर जे० वाइ० सिंपसन ने क्लोरोफार्म में ईथर से भी अच्छे निश्चेतक गुणों का अनुभव किया। (स० प्र०)

ईथर २. संपूर्ण ब्रह्मांड में तथा समस्त पदार्थों के अंतरंग में व्याप्त एक परिकल्पित माध्यम जिसमें विद्युच्चुंबकीय तरंगों के संचार की संभावना प्रकट की गई है, यद्यपि ईथर के अस्तित्व की पुष्टि किसी प्रयोग द्वारा नहीं की जा सका है। कई वर्षों तक वैज्ञानिक ईथर के गुणों को समझने की चेष्टा करते रहे, लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली और पता चला कि ईथर की वास्तविकता से कोई संबंध नहीं है। आइंस्टाइन के आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार ईथर की संकल्पना व्यर्थ है। अतः इसके अस्तित्व को अब अधिकांश वैज्ञानिक नहीं मानते हैं। (नि० सिं०)

ईथेलबर्ट इंग्लैंड के प्रसिद्ध प्राचीन लेखक बीड ने इयोरमेनूक के बेटे केंट के राजा ईथेलबर्ट का उल्लेख किया है। ईथेलबर्ट ५०७ ई० में गद्दी पर बैठा और संभवतः हंबर तक उसके राज्य का विस्तार था। इस अंग्रेज राजा का महत्व इंग्लैंड में इसके शासनकाल में ईसाई धर्म के प्रचार से है। पेरिस की राजकुमारी ईसाई बेर्ता से उसने विवाह किया और उसी के प्रभाव से ५९७ में जब आगस्तीन थैनेट में उतरा तब राजा ने उसके प्रति सहिष्णुता का बर्ताव किया और उसका उपदेश सुनकर स्वयं ईसाई हो गया। एक दूसरा ईथेलबर्ट ईथेलवाल्ड का बेटा, पश्चिमी सैक्सनों का भी राजा था, जो केंट की गद्दी पर ८६५ ई० में बैठा। उसे भी एक जमाने तक डेनों से युद्ध करना पड़ा था। (ओं० ना० उ०)

ईथेलरेड प्रथम (८६६-७१) वेसेक्स और केंट का राजा, जिसका सारा जीवन डेनों से लड़ते बीता। उसके गद्दी पर बैठने के साल ही डेनों ने अपनी एक बड़ी सेना ईस्ट ऐंग्लिया में उतार दी और दो साल बाद जो स्वयं ईथेलरेड के साथ उनका युद्ध शुरू हुआ वह ८७१ ई० में उसके मरने पर भी खत्म नहीं हुआ। कभी हार कभी जीत उसके हिस्से पड़ी और अंत में संभवतः लड़ाई में खाई चोट से ही ईथेलरेड की जान गई। (ओं० ना० उ०)

ईथेलरेड द्वितीय (ल० ९६८-१०१६ ई०) इंग्लैंड का राजा, दूसरा लोकप्रिय नाम ईथेलरेड 'अप्रस्तुत' (दि अनरेडी), राजा एडगर का पुत्र। भाई एडवर्ड की हत्या के बाद ९७८ ई० में गद्दी पर बैठा। एक साल बाद ही डेनों के आक्रमण शुरू हो गए। ईथेलरेड उन्हें धन दे देकर लौटाता रहा। उनके आक्रमणों का फिर तो ताँता बँध गया और उन्होंने एग्ज़िटर और नारविच के आसपास का सारा जनपद रौंद डाला।

ईथेलरेड का राज्यकाल विशेषतः इन डेनी आक्रमणों के लिये ही विख्यात है। १०१३ से इन आक्रमणों ने राजनीतिक रूप लिया और उनकी मात्र लूट खसोट बंद हो गई। धीरे धीरे उत्तरी इंग्लैंड पर डेनों का अधिकार हो गया और लंदन पर भी हमले शुरू हुए। १०१६ में ईथेलरेड की मृत्यु हुई। उसकी रानी एंमा ने इंग्लैंड के डेन विजेता कैन्यूट महान् से विवाह कर लिया। एंमा का ईथेलरेड के साथ विवाह स्वयं एक विशिष्ट घटना थी क्योंकि उससे इंग्लैंड और नारमंडी के बीच जो संबंध कायम हुआ उसने नारमनों द्वारा इंग्लैंड की विजय का द्वार खोल दिया। (ओं० ना० उ०)

इथेलस्टान (ल० ८९४-९४० ई०) इंग्लैंड का सैक्सन राजा, प्रसिद्ध अल्फ्रेड का प्रसादप्राप्त पोता और एडवर्ड दि एल्डर का बेटा। ईथेल्स्टान ने अपनी बहन का विवाह नार्थंब्रिया के राजा से किया और उस राजा के मरते ही वह नार्थंब्रिया को दबोच बैठा। अब उसे इंग्लैंड के दूसरे राजाओं ने अपना अधिराज मान लिया। फिर उसने नार्थंब्रिया के मृत राजा के विद्रोही भाई गुथफ्रिथ को देश से निकालकर डेनी फौजों को यार्क से हटाया और वेल्स तथा कार्नवाल के लोगों को अपनी अपनी हदों में रहने को मजबूर किया। ९३४ ई० में स्काटलैंड पर हमला कर उसे परास्त किया।

ईथेल्स्टान ब्रिटेन का पहला राजा था जिसने समूचे देश पर प्रभुता का दावा किया, जो दावा अधिकांश में मुनासिब था। उसी ने पहले पहल इंग्लैंड को यूरोप के अन्य देशों की राजनीति के घने संपर्क में खींचा और वहाँ के राजकुलों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर इंग्लैंड की शक्ति बढ़ाई। इस प्रकार विवाहों द्वारा फ्रांस, आस्ट्रिया, जर्मनी आदि उसके राजकुल से संबंधित हो गए। नारवे से उसने अपना दौत्य संबंध इतना घना जोड़ा कि वहाँ का अगला राजा उसी के राजकुल में पला। ईथेल्स्टान ने विवाह नहीं किया, इससे उसके कोई संतान न थी। उसके जमाने का कानून बड़ी मात्रा में मिलता है जिससे स्वयं राजा की अनुपातविरोधी दंडनीति के विपरीत प्रतिक्रिया प्रकट होती है। उदाहरणतः उसने १२ साल के बालकों को चोरी के लिये प्राणदंड देना बड़ा बेजा समझा और इस संबंध में आयु की अवधि और ऊँची कर दी। (ओं० ना० उ०)

ईद का शाब्दिक अर्थ सामयिक स्थितिपरिवर्तन है। व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग दो प्रमुख मुसलमानी प्रार्थना के त्योहारों के लिये होता है—ईदुल फ़ित्र (बक़रीद), जो दसवीं ज़िलहिज्ज को मनाई जाती है, तथा ईदुज्जुहा जो रमजान के व्रत के महीने के बाद पहले 'शावान' को मनाई जाती है। इन प्रार्थनाओं में दो 'रकत' और धर्मोपदेश होते हैं। जहाँ तक संभव हो, ईद की नमाज नगर के किसी खुले हुए स्थान पर संपन्न की जाती है; अन्यथा यह नमाज मस्जिद में भी हो सकती है।

प्रत्येक मुसलमान को, यदि संभव हो, जीवन में एक बार ईदुल फ़ित्र के अवसर पर मक्का की तीर्थयात्रा करनी चाहिए। मुसलमानों का विश्वास है कि हज के कुछ रिवाज पैगंबर इब्राहीम के समय से प्रचलित हैं जिनमें एक यह है कि प्रत्येक हाजी 'मिना' के ऊपर एक पशु की बलि दे। जो मुसलमान हज करने नहीं जाते वे अपने घरों पर ही पशुबलि देते हैं। नियमानुसार उनको बलिपशु का मांस गरीबों को बाँट देना चाहिए।

शिया मुसलमान एक तीसरी ईद भी मनाते हैं जिसका नाम ईद-इ-ग़दीर है। यह नाम मक्का और मदीना के बीच स्थित एक तालाब के नाम पर आधारित है। उनका विश्वास है कि उक्त तालाब पर आकर पैगंबर ने कहा था, "जिस किसी का भी पूज्य मैं हूँ उसका पूज्य अली भी है"। (मु० ह०)

ईदर महाराष्ट्र राज्य के माहेकांथ एजेंसी में स्थित एक राजपूत रियासत थी। (स्थिति : अ० २३° ६' से २४° २९' तक उ० और दे० ७२° ४५' से ७३° ३९' तक पू०)। इसका क्षेत्रफल १६६९ वर्गमील था। इसकी सीमा उत्तर में सिरोही तथा उदयपुर, पूर्व में डूंगरपुर, दक्षिण तथा पश्चिम में बंबई तथा बड़ौदा राज्य थी। इस राज्य के दक्षिण पश्चिम भाग में बालूकानिर्मित समतल क्षेत्र है, परंतु अन्य भाग

ऊँचे नीचे तथा पहाड़ियों एव जगलों से भरे हैं। प्रदेश की जलवायु गरम है। राज्य में साबरमती, हथमती, मेशवा, पाजन, वात्रक आदि नदियाँ बहती हैं। राज्य का इतिहास आठवीं शताब्दी से उपलब्ध है। यहाँ बसनेवालों में अधिकांश कोली हैं। पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़कर राज्य की भूमि साधारणतः उपजाऊ है। लगभग १७ प्रतिशत भूमि कृषि के काम में लगी है। सन् १८९९ तथा १९०० ई० में घोर अकाल के समय राज्य को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। यह देशी रियासत अब महाराष्ट्र राज्य में मिला दी गई है।

ईदर (अथवा भारत राष्ट्रीय ऐटलस के अनुसार इदार) नगर भारत के आधुनिक महाराष्ट्र राज्य के साबरकांथा जिले में अहमदाबाद नगर से ६४ मील उत्तर पूर्व में स्थित है। (स्थिति: अ० २३° ५०′ उ० तथा दे० ७३° ४′ पू०)। यह नगर इलदुर्ग के नाम से भी प्रख्यात है। पहले यह नगर ईदर रियासत की राजधानी था। नगर चारों ओर से ईंटों की दीवार से घिरा है जिसमें भीतर जाने के लिये पत्थर का एक द्वार बना हुआ है। आसपास चट्टानों में निर्मित गुफा मंदिर हैं जो कम से कम ४०० वर्ष पुराने आँके गए हैं। नगर में राजमहल के अतिरिक्त अन्य कई सुंदर भवन हैं। (श्या० सुं० श०)

ईदिपस ग्रंथि मनोविश्लेषण के जन्मदाता डाक्टर सिगमंड फ्रायड ने पुत्र की अपनी माता के प्रति कामवासना (सेक्स) की ग्रंथि को 'ईदिपस ग्रंथि' की संज्ञा दी। प्राचीन ग्रीक लोककथाओं तथा सोफोक्लीज द्वारा लिखित "ईदिपस रेक्स" के अनुसार ईदिपस थीबिज़ के राजा लेउस और रानी जोकास्ता का पुत्र था। ईदिपस के जन्म के पूर्व ही एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि यह अपने पिता का हत्यारा होगा। इसलिये जन्म लेते ही इसे राजा लेउस ने राज्य से निकाल दिया। ईदिपस का उद्धार पड़ोस के राजा के द्वारा हुआ जिसके यहाँ उसका राजकुमारों जैसा लालन पालन हुआ। बड़े होने पर इसने भी ज्योतिषी से परामर्श किया जिसने उसे यह चेतावनी दी कि वह अपनी मातृभूमि छोड़कर चला जाय क्योंकि उसके भाग्य में अपने पिता का हत्यारा और अपनी माता का पति होना लिखा है। ईदिपस राज्य छोड़ चल पड़ा लेकिन मार्ग में ही उसे राजा लेउस मिला जिसे उसने एक हल्की मुठभेड़ में ही मार डाला। वह थीबिज़ पहुँचा जहाँ उसने दैत्य स्फ़िक्स पर विजय प्राप्त की जिसके आतंक से थीबिज़-वासी पीड़ित थे। कृतज्ञ थीबिज़वासियों ने उसे वहाँ का राजा निर्वाचित किया तथा जोकास्ता का हाथ उसके हाथों में दे दिया। बहुत वर्षों तक शांति और संमानपूर्वक राज्य करते हुए उसे जोकास्ता से दो पुत्र और दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। कुछ समय उपरांत थीबिज़ में भीषण महामारी फैली। थीबिजवासियों ने ज्योतिषी से परामर्श किया जिसने कहा कि जब तक लेउस के हत्यारे को थीबिज़ से निष्कासित नहीं किया जायगा तब तक महामारी का प्रकोप शांत नहीं हो सकता। इधर ईदिपस को भी अपनी माता और पिता का रहस्य ज्ञात हो गया। पश्चात्तापवश उसने अपनी आँखें फोड़ लीं तथा उसके पुत्रों ने उसे थीबिज़ से निष्कासित कर दिया। जोकास्ता ने आत्मग्लानिवश फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली।

फ्रायड के अनुसार ईदिपस की यह कथा हर मनुष्य के अंतर में छिपी हुई कामवासना की एक ग्रंथि का सांकेतिक प्रतिनिधान करती है। मनुष्य की प्रथम कामवासना का लक्ष्य माता और प्रथम हिंसा और घृणा के भाव का लक्ष्य पिता होता है। इसी कामवासना की भावग्रंथि को इन्होंने "ईदिपस ग्रंथि" के नाम से संबोधित किया। मनुष्य के जीवन पर इसके प्रभावों की चर्चा करते हुए इन्होंने कहा कि यही ग्रंथि हमारे नैतिक, धार्मिक और सामाजिक नियमों तथा प्रतिबंधों की पृष्ठभूमि में कार्यरत है। पाप और अपराध की भावना का जन्म इसी से हुआ। अपने को किसी प्रकार का स्वतः आघात पहुँचाने, आत्महत्या करने या अपने को स्वतः दंडित करने के भाव इसी के कारणवश उत्पन्न होते हैं। इनके अनुसार मनुष्य के विकास की जड़ में यह ग्रंथि ही है क्योंकि विकास के प्रारंभ में मनुष्यों ने सर्वप्रथम अपने ऊपर केवल दो प्रतिबंध लगाए। पहला, अपने जन्मदाता या पिता की हत्या न करना और दूसरा, अपनी जननी या माता से विवाह न करना। यही दो प्रथम नैतिक और धार्मिक नियम हैं।

किसी भी प्रकार की मानसिक विकृतावस्था और मुख्यतया मनोदौर्बल्य (साइकोन्यूरोसिस) का भी मूल कारण इन्होंने इसी ग्रंथि को माना। इनका कथन था कि यह ग्रंथि सामान्य और असामान्य दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों में पाई जाती है, अंतर केवल इतना है कि एक ने उसपर विजय प्राप्त कर ली है और इसलिये वह सामान्य है जबकि दूसरा उसका दास है और इसलिये वह असामान्य है। विभिन्न समूहों, जातियों और समाजों के आपसी मतभेद तथा संघर्षों का मूल कारण भी उनके अपने माता पिता के प्रति स्थापित प्रत्ययों की भिन्नता ही है, ऐसा इनका विचार था।

एक ही वस्तु के प्रति प्रेम और घृणा के विपरीत भावों के विद्यमान होने का कारण भी इन्होंने 'ईदिपस ग्रंथि' को ही माना। हमारा संवेगात्मक जीवन, मौलिक रूप में, एक ही वस्तु के प्रति इस प्रकार के विपरीत भावों के समावेश से अपरिचित था। सर्वप्रथम ऐसे भावों की उत्पत्ति संभवतः माता पिता के प्रति हमारे संवेगात्मक संबंधों से ही होती है क्योंकि इनका प्रबलतम रूप माता पिता के प्रति भावों में ही पाया जाता है।

माता के प्रति प्रेम और पिता के प्रति घृणा के भावों को कभी कभी "धनात्मक (पाज़िटिव) ईदिपस ग्रंथि" तथा पिता के प्रति प्रेम और माता के प्रति घृणा को "ऋणात्मक (नेगेटिव) ईदिपस ग्रंथि" कहा जाता है। इस ग्रंथि का एक स्वरूप पुत्री का पिता के प्रति कामवासना की भावना में भी पाया जाता है जिसे "एलेक्ट्रा ग्रंथि" कहा जाता है।

फ्रायड के इस कथन के विरोध में कि "ईदिपस ग्रंथि" सार्वभौमिक है, इसका आधार जन्मजात है तथा यह एक ही स्वरूप में हर मनुष्य में पाई जाती है, नव-फ्रायडीय तथा अन्य आधुनिक सिद्धांतों ने कहा कि इसका आधार संस्कृति माना जाता है, यही इसके स्वरूप का विभिन्न व्यक्तियों में निर्धारण करती है। फेनिचल के अनुसार व्यक्ति के अपने पारिवारिक अनुभव ही उसकी इस ग्रंथि की उत्पत्ति और उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करते हैं। ऐडलर ने इस ग्रंथि को मौलिक या जन्मजात नहीं माना वरन् उसने कहा कि यह माता के अधिक लाड़ प्यार का अप्राकृतिक परिणाम है। जुंग के अनुसार यह ग्रंथि मनुष्य की पुनर्जन्म की मौलिक इच्छा का सांकेतिक प्रतिनिधान करती है अर्थात् मनुष्य की मौलिक इच्छा अपने जन्मस्थान में लौट जाने की होती है। रैंक ने जुंग की इस काल्पनिक उड़ान को स्वीकार करते हुए भी यह कहा था कि इस ग्रंथि का सार बालक के अपने माता पिता के प्रति संपूर्ण संबंधों में है। पारिवारिक संबंधों की महत्ता को स्वीकार करते हुए हार्नी ने इसे दो स्थितियों पर आधारित बताया। पहली परिस्थिति माता पिता की उत्तेजक कामवासनाएँ हैं और दूसरी, दूसरों पर आश्रित रहने की आवश्यकताओं तथा माता-पिता के प्रति हिंसात्मक भावनाओं के मानसिक द्वंद्व से उत्पन्न चिंता की स्थिति है। फ्रोम ने पितापुत्र के बीच इस संघर्ष का आधार कामवासना न मानकर पितृप्रधान समाजों की अधिकार प्राप्त करने की भावना माना है।

सलिवन, टाम्सन आदि अन्य विद्वानों ने भी परिवार के अंतर्गत पारस्परिक संबंधों को ही इस ग्रंथि का आधार माना है। (ओं० क०)

ईनिड संयुक्त राज्य अमरीका के ओकलाहोमा राज्य का चौथा बड़ा नगर है। यह समुद्रतल से १,२६९ फुट की ऊँचाई पर विचिता नगर से दक्षिण पश्चिम में ९५ मील दूर स्थित है। रेल द्वारा ओकलाहोमा नगर इससे केवल ८८ मील दूर है। इसकी केंद्रीय स्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह न केवल एक बड़ा रेलवे जंकशन है, वरन् प्रांतीय मार्ग तथा अंतर्प्रांतीय मार्ग भी इसकी बगल से जाते हैं। यहाँ नगरपालिका का एक हवाई अड्डा भी है। यहाँ कई अन्न उच्चालित्र (ग्रेन एलिवेटर) हैं, जिनमें एक दो करोड़ बुशेल का भांडार रखा जा सकता है। सर्वप्रथम सन् १९०७ ई० में इसके निकट प्राकृतिक गैस का पता चला था और सन् १९१६ ई० में मिट्टी के तेल की सफल खोज हुई, जिसने इस नगर को अत्यंत समृद्धिशाली बना दिया है। आज यह एक बड़ा औद्योगिक केंद्र है जहाँ मिट्टी के तेल को शुद्ध करने के कारखाने हैं तथा ट्रैक्टर, कृषि संबंधी अन्य मशीनें, रेलवे इंजन तथा मालगाड़ियाँ बनाई जाती हैं। यह शिक्षा का भी एक बड़ा केंद्र है; शिक्षा संस्थाओं में फिलिप्स विश्वविद्यालय (सन्

१६०७ ई० में स्थापित) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ईनिड का शिलान्यास सन् १८६३ में हुआ था तथा उसी वर्ष इसे नगर की श्रेणी भी प्राप्त हो गई थी। सन् १६७० में इसकी जनसंख्या ४३,५५७ थी। (ले० रा० सि०)

ईनियस ताक्तिकस संभवतः स्तीफालस का निवासी जो ई० पू० ३६७ में आर्कादी संघ का सेनापति था। इसने युद्ध विद्या के संबंध में अनेक ग्रंथों की रचना की थी जिनका सारसंग्रह पिर्हस ने किया था। दुर्गरक्षा संबंधी इसकी रचना नष्ट होने से बच गई है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि उन दिनों दुर्ग की रक्षा, बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा आंतरिक विरोधी गुटों से की जानी अधिक आवश्यक थी। भाषा की दृष्टि से भी इस अवशिष्ट रचना का इसलिये महत्व है कि इसमें अत्तिका की भाषा से बाहर की यूनानी भाषा का स्वरूप देखने को मिलता है जिससे पश्चात्कालीन जनसामान्य की भाषा के तत्वों का कुछ पता चलता है।

(भो० ना० श०)

ईनिस आंकिसिज़ और अफ्रोदीती का पुत्र। होमर के 'ईलियद' *में उसका त्राय के वीरों में उल्लेख है। लातीनी कवि वर्जिल ने* उसी पर अपना प्रसिद्ध काव्य 'ईनिद' लिखा। ग्रीक और लातीनी परंपरा के अनुसार, कहते हैं, त्राय के विध्वंस के पश्चात् उसने गृहदेवताओं और वृद्ध पिता को पीठ पर लिया और पुत्र का हाथ पकड़ भगदड़ में बाहर की राह ली। उसकी पत्नी उसी भगदड़ में खो गई। फिर वह सागर की राह फिरता रहा। अंत में तूफान ने उसे अफ्रीकी तीर पर डाल दिया। ईनिस के संबंध की घटनाएँ तो अधिकतर पुराण ही हैं पर उन्होंने यूरोप के प्राचीन साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और उसके चरित को लेकर मध्यकाल में अनेक यूरोपीय भाषाओं में रोमांचक कथाएँ भी प्रस्तुत हुई हैं। (भ० श० उ०)

ईरान पश्चिमी एशिया का एक राजतंत्र है जो १६३५ ई० के पूर्व पर्शिया (फारस) कहा जाता था। २,००० ई० पू० में इसका नाम आर्याना था। इसके दक्षिण में फारस एवं ओमान की खाड़ियाँ तथा अरब सागर, पश्चिम में ईराक एवं तुर्की, उत्तर में रूस एवं कैस्पियन सागर तथा पूरब में पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान हैं। यह उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व दिशा में १,४०० मील लंबा तथा उत्तर से दक्षिण ८७५ मील चौड़ा है।

स्थिति—२५° उ० अ० से ४०° उ० अ०, ४४° पू० दे० से ६३° ३०' पू० दे०। क्षेत्रफल : १६,२१,८६० वर्ग किलोमीटर (६,२८,००० वर्गमील); जनसंख्या (१६६६ ई०) : २,५७,८१,०६०। ईरान का अधिक भाग मरुस्थल है। अतः जनसंख्या प्रायः सर्वत्र विरल है, जिसका औसत घनत्व केवल १३ प्रति वर्ग कि०मी० है। प्रमुख नगरों में १० नगरों की जनसंख्या एक लाख से अधिक है। वे हैं तेहरान (१६७० में ३०,१५,०००), टेब्रीज़ (४,६८,४५६), इस्फ़हान (५,७५,००१), मेसेद (४,१७,१७१), अबादान (२,७०,७२६), शिराज (१,६६,०६६), करमनशाह (१,१८,३४४), अह्वाज़ (२,०६,२६५), रश्त (१,४१,७५६), एवं हमादान (१,६१,६४४)। तेहरान यहाँ की राजधानी है, फारसी राज्यभाषा है।

मरुस्थल में भूमि कई प्रकार की है और वहाँ के देशवासियों ने इनको विशेष नाम दिए हैं। बजरी या बालू के कड़े पृष्ठ को **दश्त** कहते हैं, बिना जल या वनस्पति के क्षेत्रों को **लुट** कहते हैं और काले कीचड़ के दलदलों को, जिनपर बहुधा नमक की पपड़ी बँध जाती है, **कवीर** कहते हैं। कवीरों से यात्रियों को बहुत डर लगता है, क्योंकि ऊपर से दृढ़ दिखाई पड़नेवाली पपड़ी के नीचे बहुधा गहरा दलदल रहता है जिसमें यात्री डूबकर मर जाते हैं।

ईरान आल्प्स्-हिमालय-भंजतंत्र (फ़ोल्ड सिस्टम) के अंतर्गत है। इसकी उत्तरी एवं दक्षिणी सीमा पर क्रमानुसार एलबुर्ज एवं जैग्रस पर्वतश्रेणियाँ हैं जो पश्चिम में आर्मीनिया की गाँठ में मिलती हैं। ईरान तीन प्राकृतिक खंडों में विभक्त है :

(१) *एलबुर्ज पर्वत—यह परतदार चट्टानों का बना है, जिसमें अनेक* ज्वालामुखी पहाड़ हैं। ईरान की डेमावेंड नामक सर्वोच्च चोटी की ऊँचाई १८,६०० फुट है।

(२) मध्य का पठार—पर्वतों से घिरा यह विस्तृत पठार प्राचीन मणिभ चट्टानों का बना है। इसकी ऊँचाई ४,००० फुट है। इसका पूर्वी भाग अधिक चौड़ा है जहाँ मरुस्थल पर दलदल मिलते हैं। यहाँ सिस्टान एवं जाज़ मुरियन द्रोणी (बेसिन) की ऊँचाई केवल १,००० फुट है।

(३) जैग्रस पर्वत—उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व को फैला यह पर्वत ईरान की दक्षिण पश्चिमी सीमा निर्धारित करता है। इस्फहान के पश्चिम लूरीस्तान एवं बख्तियारी प्रदेश में इसके सर्वोच्च भाग की ऊँचाई १४,००० फुट है।

ईरान के आधे से अधिक भाग (३,५०,००० वर्ग मील) का जलपरिवाह आंतरिक है। आंतरिक परिवाह के क्षेत्र में पूर्व में दश्त-ए-लुट, सिस्तान एवं जाज मुरियन नामक द्रोणियाँ हैं, पश्चिम में उर्मिया झील (२०,००० वर्ग मील) एवं मध्य में दश्त-ए-कवीर है। उत्तर में सफीद रूद, गारगन एवं अर्त्रक नामक नदियाँ कैस्पियन सागर में गिरती हैं। *दक्षिण पश्चिम में ईरान की एकमात्र नाव चलाने योग्य नदी कारूँ बख्ति*यारी पर्वत से निकलकर शत-अल-अरब की सहायक बनती है।

ईरान की जलवायु, कैस्पियन तटीय भाग को छोड़, अति विषम है। अत्यधिक तापांतर (४०° फा०), अल्पवृष्टि एवं अति प्रचंड वायु, पर्वतावृत पठारों एवं द्रोणी की जलवायु की विशेषताएँ हैं। वर्षा जाड़े में रूमसागर से आनेवाले चक्रवात से होती है। कैस्पियन प्रांतों में सर्वाधिक वर्षा (लगभग ५०") होती है। पठार के उत्तर पश्चिमी भाग में वर्षा लगभग १२", मध्य में ६" तथा दक्षिण पूर्व में हुसेनाबाद एवं सिस्तान में केवल २" होती है। फारस की खाड़ी के तटस्थ क्षेत्र में वर्षा १०" होती है। जाड़े में पर्वतों पर तुषारपात होता है। ग्रीष्म ऋतु में सिस्तान मरुस्थल में बालू एवं धूलयुक्त अति प्रचंड वायु लगभग ७० माल प्रति घंटे के वेग से प्रायः १२० दिन तक चलती है। यह प्रदेश आँधियों का देश कहा जाता है जो "१२० दिन की आँधी" के लिये कुख्यात है।

कैस्पियन प्रांतों में ३,००० फुट की ऊँचाई तक रूमसागरीय जलवायुतुल्य वनस्पति मिलती है। इमारती लकड़ी मज़नदेरन, गिलान, फार्स एवं कुर्दिस्तान प्रांतों में प्राप्त होती है। मध्य ईरान के पठार एवं पहाड़ियाँ वृक्षविहीन हैं। बबूल करमन, करमनशाह एवं खुरासान में मिलता है। दक्षिणी ईरान में खजूर की प्रचुरता है। जैतून के पेड़ 'रुदबर' में प्राप्त है।

ईरान फल की उपज के लिये प्रसिद्ध है। खरबूजा, तरबूज, अंगूर, खुबानी, चेरी, बेर एवं सेब साधारणतः सभी जगह उपजाए जाते हैं। टेब्रीज एवं मेशेद के सतालू (शफतालू), इस्फहान के खरबूजे एवं चेरी, डेमावेंड के सेब, नतांज़ की नाशपाती तथा करमनशाह के अंजीर विशेष प्रसिद्ध हैं।

कैस्पियन प्रांतों के अतिरिक्त, शेष ईरान में नदियों एवं कनातों या करेज़ों (अर्थात सोतों और नालों) द्वारा सिचाई करके खेती होती है। फारस की खाड़ी के तटस्थ मैदान में शुष्क कृषि प्रचलित है। गेहूँ, जौ, बाजरा, कोदो, कुटकी, जवारी एवं मक्का प्रायः सभी भागों में होत हैं। चावल के लिये कैस्पियन क्षेत्र प्रसिद्ध है। पठारी भाग की मुख्य उपज गेहूँ एवं मक्का है। रूई विशेषतः कैस्पियन तट तथा खुरासान, इस्फहान, एवं येज्द प्रांतों में होती है। तंबाकू उर्मिया, काशान एवं इस्फहान जिलों में उपजाया जाता है। अफीम के उत्पादन पर १६५६ ई० से प्रतिबंध लगाया गया है। गिलान, मज़नदेरन, येज्द एवं काशान क्षेत्र में रेशम के कीड़े पाले जाते हैं।

यहाँ की अस्थायी (खानाबदोश) जातियों एवं कृषकों का मुख्य व्यवसाय ऊन के लिये भेड़ पालना है। ऊन दरी एवं कालीन बनाने के काम आता है। अज़रबैजान एवं खुरासान के प्रांत घोड़ा, गधा, भेड़ एवं बकरे के लिये विख्यात हैं। ईरान में परिवहन की असुविधा के कारण तेल के अतिरिक्त अन्य खनिजों का विकास नहीं हुआ है। १६४८ ई० में खनिज तेल की संचित निधि ६,४०० लाख टन निर्धारित की गई थी। इसका उत्पादन १६५७ ई० में ३५०; १६५८ में ४०४; १६५६ में ५३६; १६६० में
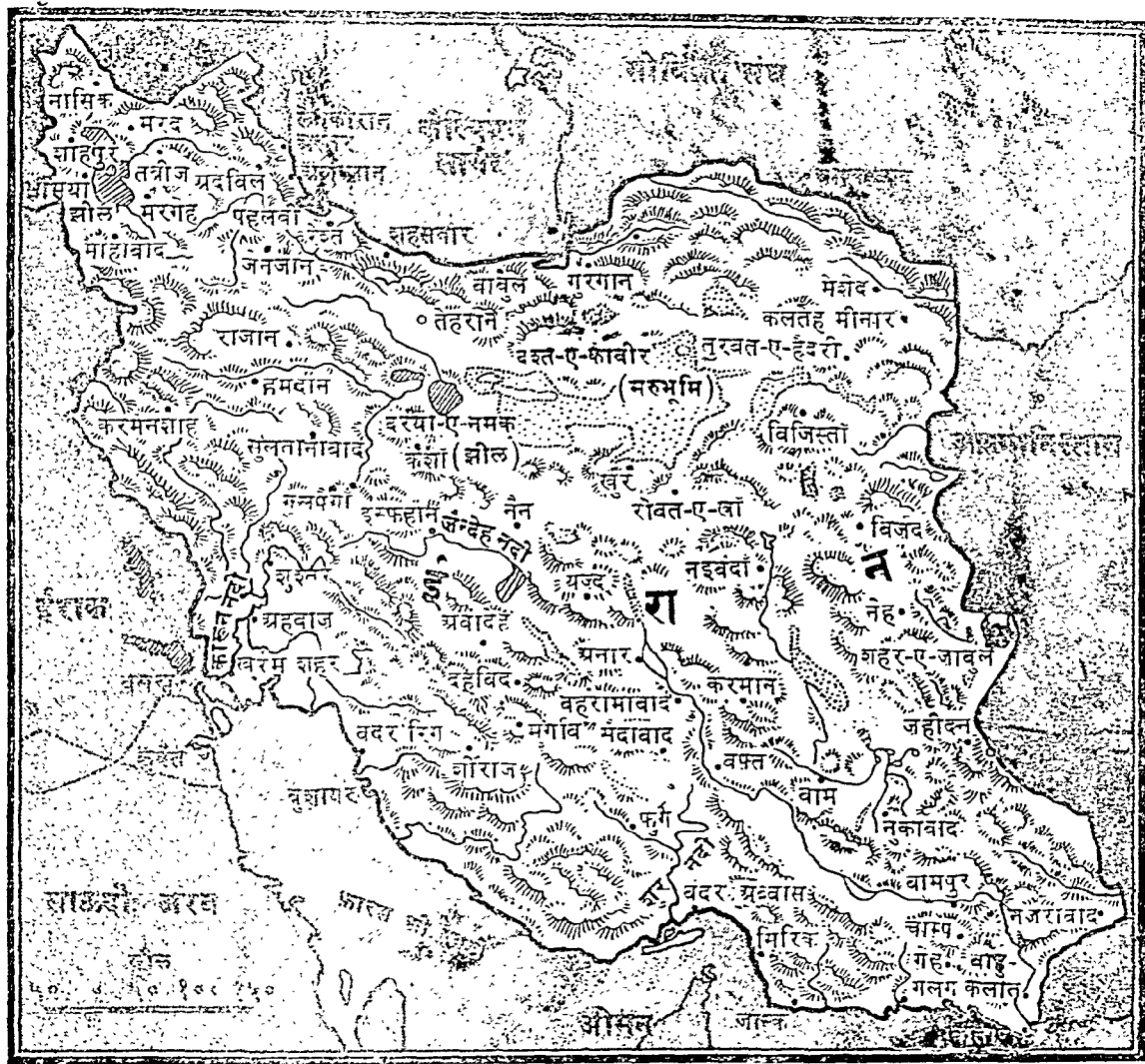
ईरान

५०१; १९६१ में ५६३; १९६२ में ६४५; १९६३ में ६६०; १९६४ में ८४०; १९६५ में ९२०; १९६६ में १०६०; १९६७ में १२१०; १९६८ में १३३०; १९६९ में १५३० तथा १९७० में १७२० लाख टन था। तेल का प्रमुख क्षेत्र दक्षिण पश्चिम ईरान में खूजिस्तान है जहाँ मस्जिद-ए-सुलेमान, हफ्त केल, आगा जरी, गच सारन, नफ्त सफीद, एवं लाली नामक छह खाने हैं। इनके निकट अबादान में संसार का सबसे बड़ा तेल शुद्ध करने का कारखाना है, जिसकी क्षमता ५,००,००० बैरल शुद्ध तेल प्रति दिन है। पश्चिम ईरान में, ईराकी सीमा के निकट, तेल का दूसरा क्षेत्र नफ्त-ए-शाह है। यहाँ का तेल करमनशाह में शुद्ध किया जाता है। अन्य खनिजों में कोयला तेहरान एवं मज़नदेरन में, लोहा करमन, समनन, इस्फहान एवं अनारक में, ताँबा अब्बासाबाद एवं जेंजन में, सीसा अनारक में तथा फीरोजा निशापुर में मिलते हैं। कुछ संखिया, सज्जी, मैंगनीज, शैल लवण, गंधक, राँगा आदि भी प्राप्त हैं।

ईरान में प्रधानत: शिल्पकला एवं कुटीर उद्योग का विकास हुआ है। बहुमूल्य दरियाँ, कालीन, रेशमी वस्त्र एवं धातुशिल्प के लिये यह प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। हाल में तैल कारखानों के अतिरिक्त चीनी, सीमेंट, और रेशमी, सूती एवं ऊनी वस्त्रों के कारखाने भी खोले गए हैं। सूती एवं ऊनी वस्त्र उद्योग का प्रमुख केंद्र इस्फहान है, जो रुई एवं कच्चे ऊन के उत्पादन क्षेत्र में स्थित है। सूती वस्त्र उद्योग के अन्य केंद्र शाही, मज़नदेरन, बहशहर, कस्विन, करमन, मेशेद, एवं येज़्द हैं। टेब्रीज़ एवं कस्विन ऊनी वस्त्र उद्योग के अन्य केंद्र हैं। रेशम उद्योग चालूस एवं रेश्त में तथा जूट उद्योग शाही एवं रेश्त में विकसित हैं। करमन दरी बुनने का प्रमुख केंद्र है। इसके अन्य केंद्र टेब्रीज़, सुलतानाबाद, तेहरान, शिराज़, हमादान, खुर्रमाबाद, बिजार, सैन्ना एवं कशान हैं। चीनी की मिलें तेहरान एवं कैस्पियन क्षेत्र में हैं। दियासलाई टेब्रीज़, ज़ंजान, तेहरान एवं इस्फ़हान में बनती है। तेहरान आधुनिक उद्योग का केंद्र है जहाँ काँच, शस्त्र एवं कारतूस, रसायन, प्लैस्टिक, साबुन, सिगरेट, कृषियंत्र एवं अर्क चुआने के कारखाने हैं। १९५५–५६ ई० में ईरान ने १,२६,००० कंबल, २० लाख मीटर ऊनी, ४०० लाख मीटर सूती एवं ६० लाख मीटर रेशमी वस्त्रों का उत्पादन किया।

ईरान के मुख्य आयात चीनी, चाय, सूती वस्त्र, इस्पात, मशीन, मोटर गाड़ियाँ, टायर एवं रसायन हैं। यहाँ के मुख्य निर्यात पेट्रोल, दरियाँ, एवं कालीन, रुई, सूखे एवं ताजे फल, ऊन, चमड़ा, तेलहन आदि हैं।

(नं० कि० प्र० सिं०)

ईरान का इतिहास ईरान (फ़ारस अथवा पर्शिया) की सबसे पहली सभ्यताओं ने जहाँ जन्म लिया उस भूभाग को इतिहास 'एलाम' के नाम से पुकारता है। दक्षिण जागरूस से बहती हुई कारूँ नदी तरह तरह की उपजाऊ मिट्टी लाकर एलाम को सरसब्ज बनाती हुई ईरान की

खाड़ी में गिरती है। एलाम में ठीक उस समय अनेक शहर आबाद हुए जिस समय सिंधु नदी के किनारे मोहनजोदड़ो की सभ्यता अपने विकासपथ पर अग्रसर हो रही थी। दौलत और तिजारत, सामाजिक संस्थाएँ, राज और शासनप्रबंध, विद्या और कलाकौशल दोनों जगह एक साथ फले फूले और दोनों जगह की सभ्यताएँ साथ साथ उन्नति करने लगीं। पश्चिम में तख्ते जमशेद (पर्सपोलिस), शूश, काशान और निहावंद, उत्तर में अस्त्राबाद और अनाव जैसे बहुत से प्राचीन ईरानी शहरों की खुदाई से ताँबा, पीतल, काँसा, सोना, जवाहिरात और मिट्टी के ऐसे बर्तन मिले हैं जिनसे उस जमाने की ईरानी संस्कृति और उसकी उन्नति की मंजिलों का पता चलता है। एलाम में शूश और अनजान के राजकाजी संबंध और वहाँ की राजकीय संस्थाएँ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के राजकाजी संबंधों और संस्थाओं से बेहद मिलती जुलती हैं।

एलाम का राज्यशासन पुरोहितों के हाथों में था। एलाम में सब देवी देवताओं के ऊपर एक सबसे बड़े देवता की सत्ता में लोग विश्वास करते थे। एलाम में सूरज और चाँद की, जल और स्थल के देवताओं की, प्रेम की देवी और संतानोत्पत्ति की देवी की पूजा होती थी। मातृदेवी भी पूजी जाती थी। वहाँ कुछ पशुओं और वृक्षों को भी पवित्र मानकर पूजा जाता था, जैसे वृषभ, नाग, सिंह आदि। हर घर और हर गाँव में एक छोटा-सा मंदिर होता था जहाँ इन देवताओं की मिट्टी या पत्थर की छोटी छोटी मूर्तियाँ होती थीं। इनके अतिरिक्त बहुत बड़े बड़े मंदिर होते थे जो 'जगूरात' या 'सिग्गुरात' कहलाते थे। ये बिल्कुल किले की तरह होते थे और इनमें बेशुमार दौलत और लाखों मन गल्ला जमा रहता था। सिंधु सभ्यता की तरह एलाम का समाज भी पुराने रीति रिवाजों के तंग साँचों में जकड़ा हुआ था। किसी को उससे बाहर निकलने या नई बात करने की अनुमति न थी।

उस समय एलाम की प्राचीन ईरानी सभ्यता पर एक भयानक आफत टूट पड़ी। उत्तर से आर्य आक्रमणकारियों ने, घोड़ों पर सवार लोहे के हथियार लिए, धावा बोल दिया। उन्होंने एलाम को रौंदकर अपने अधीन कर लिया। धीरे धीरे पुराने ईरानियों और नए आक्रमणकारियों की नस्लें एक दूसरे में घुल मिलकर एक हो गईं। ये आर्य ही आधुनिक ईरानियों और भारतवासियों, दोनों के पूर्वज थे। उनकी नस्ल एक थी, बोली एक थी, धर्म एक था और संस्कृति एक थी।

आर्यों के ईरान में बस जाने के बाद उनपर वहाँ की परिस्थितियों का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा। ईरान में तरह तरह के भूभाग हैं—कहीं पहाड़ और कहीं रेगिस्तान, कहीं नदियों की घाटियाँ और बीच के मैदान, जो मनुष्यों, पशुओं और हरियाली से भरे हुए हैं, और कहीं सैकड़ों मील लंबे रेतीले मैदान, जिनमें दूर दूर तक न कोई जानदार दिखाई देता है और न कोई घास का तिनका, जहाँ सिवाय हवा की सायँ सायँ के कोई आवाज सुनाई नहीं देती। उजाले और अँधेरे, नेकी और बदी की शक्तियाँ वहाँ साफ अलग अलग काम करती दिखाई देती हैं।

ईरान के पैगंबर जरतुश्त के सुधारों से पहले ईरानियों का जो धर्म था वही कुछ परिवर्तनों के साथ बाद के हखामनीषी और सासानी युगों में भी प्रचलित रहा। ईरानियों का यह धर्म भारत के आर्यों के वैदिक धर्म से विशेष मिलता जुलता था। इससे भी अधिक ध्यान देने की बात यह है कि जरतुश्त ने ईरानी धर्म को जो नया रूप दिया उसके हर पहलू से यह स्पष्ट है कि वह और वैदिक धर्म दोनों एक ही खानदान से हैं। आर्यों का धर्मग्रंथ 'वेद' और जरतुश्त की पुस्तक 'अवेस्ता' दोनों यही घोषणा करती हैं कि ईश्वर एक है।

आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के ईरानी अपने को आर्य कहते थे। अवेस्ता में भी उन्हें आर्य कहकर पुकारा गया है। प्रसिद्ध ईरानी सम्राट् दारा (५२१–४८५ ई० पू०) ने अपनी समाधि पर जो शिलालेख अंकित करवाया है उसमें अपने को 'आर्यों में आर्य' लिखा है। छठी शताब्दी के ईरान के सासानी सम्राट् भी अपने को आर्य कहते थे। ईरानी अपनी बोली को 'आर्यन' या 'अर्यन' और अपने देश को 'आर्याना' या 'आइर्याना' कहते थे, जिसका अर्थ है 'आर्यों का निवासस्थान'। प्रचलित ईरान शब्द इसी आर्याना का अपभ्रंश है।

अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों में वरुण को देवताओं का अधिराज माना गया है। वेदों में उसे 'असुर विश्वदेवस' या 'असुर मेधा' कहा गया है। अवेस्ता में उसे 'अहुर मज्दा' नाम से पुकारा गया है। वैदिक 'असुर' (ईश्वर) ही अवेस्ता का 'अहुर' है और ईरानी 'मज्दा' का वही अर्थ है जो संस्कृत 'मेधा' का। वैदिक 'मित्र' देवता ही अवेस्ता का 'मिथ्र' है। अवेस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ्र की स्तुति की गई है जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में मित्र का अर्थ सूर्य भी है। ईरानी भी सूर्य के रूप में मिथ्र की पूजा करते थे। इंद्र का नाम ज्यों का त्यों अवेस्ता में मौजूद है।

ईरानी धर्मग्रंथों में प्रारंभ के जिस समाज की कल्पना है वह भारतीय सतयुग की कल्पना से मिलती है। ईरानी पौराणिक कथाओं के अनुसार 'यिम' (वैदिक = यम) मानव जाति का पहला सम्राट् था। यिम आर्यों की प्राचीन पुण्य भूमि 'आर्यनम वाइजो' पर शासन करता था। आर्यों की उस पुण्य भूमि में—'न कष्ट था न क्षोभ, न मूर्खता थी न हिंसा, न गरीबी थी न छलकपट। लोग न बेडौल थे, न कुरूप। बुराई उन्हें छू न सकती थी। चारों ओर सुगंधित वृक्षों के उद्यान थे और घरों में स्वर्णस्तंभ थे। लोगों के पास अगणित सुंदर और अच्छे पशु थे।'

ईरानी यिम को ही मानव जाति का सृजनकर्ता मानते हैं। बाद में वह मृत्यु का देवता माना जाने लगा। यिम मनुष्य के कर्मों की सख्ती से जाँच करता है और पापात्माओं को दंड देता है। एक दूसरी पौराणिक कथा के अनुसार अहुर मज्दा की प्रेरणा से सबसे पहले मश्य और मश्यो नामक संसार के पहले स्त्री पुरुष पैदा हुए। इनके बेटे गय मारेतान ने अहुर मज्दा की शिक्षाओं पर ध्यान दिया। गय मारेतान का पुत्र हावश्यंघ पहला आदमी था जिसने मनुष्य जाति के ऊपर शासन किया। हावश्यंघ का एक नाम पिशदादि भी है। पिशदादि ने लोहा ईजाद किया और सिंचाई के लिये नहरें बनवाईं। उनके पूर्व यिम के समय में सोना, चाँदी, जहाज, गन्ना और चीनी बनाने का ज्ञान लोगों को हो चुका था।

पिशदादि का पुत्र तखम उरुपि भी बड़ा कीर्तिवान् राजा हुआ। उसने ईरान के आर्यपूर्व निवासियों से ३० अक्षरोंवाली लिपि सीखकर सारे देश में उसका प्रचार किया। उसने समाज को चार वर्गों में बाँटा : (१) पुरोहित, (२) योद्धा, (३) किसान और (४) कारीगर। ईरानियों का पवित्र सदरा और जनेऊ (जुन्नार) यिम के समय से ही प्रचलित हुआ।

ईरान के आर्यों ने प्राचीन मागियों से प्रभावित होकर अग्निपूजा को धर्म का सबसे महत्वपूर्ण अंग बना दिया। उनकी वेदी पर अब अग्नि सदा प्रज्वलित रहने लगी। अग्नि पवित्र थी, इसलिये फूँककर जलाना उसे अपवित्र करना और पाप था। अग्नि के बाद पानी का महत्व था। नदी में कोई गंदी वस्तु साफ करना भी अपराध समझा जाने लगा। पानी के बाद धरती पवित्र समझी जाती थी। मुर्दा सबसे अधिक अपवित्र वस्तु माना जाता था। इसलिये मुर्दों को न तो पवित्र अग्नि में जलाया जाता था, न पवित्र नदी में बहाया जाता था और न पवित्र धरती में गाड़ा जाता था। मुर्दों को गिद्ध और कुत्तों के लिये छोड़ दिया जाता था। सारांश यह कि ईसा से एक हजार वर्ष पहले की मिली जुली ईरानी जाति में तरह तरह के सैकड़ों देवी देवता पूजे जाते थे, रूढ़ियाँ और कर्मकांड बढ़ गए थे और तरह तरह के बेजा और बुरे रिवाज फैलते जा रहे थे।

ईरानी जाति के उस संकट काल में ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व स्पिताम कुल में महात्मा जरतुश्त का जन्म हुआ। जरतुश्त के पिता का नाम पौरुशास्प और माँ का दुग्धोवा था। जरतुश्त ने घरबार छोड़कर तीस वर्ष तक उपीदारण्य पर्वत पर तपस्या की तब सत्य का प्रकाश उनके अंतर में उदय हुआ। बहुत से देवी देवताओं की जगह जरतुश्त ने एक परमात्मा की पूजा का उपदेश दिया। सारे मानव समाज को उसी एक परमात्मा की संतान और आपस में भाई बताया। पृथ्वी पर सच्चे धर्म की स्थापना के लिये जरतुश्त ने अपने को अहुरमज्द का संदेशवाहक बताया। जरतुश्त ने सबसे अधिक बल सचाई और पवित्र जीवन बिताने पर दिया। जरतुश्त के उपदेशों ने राजा विस्तास्प को काफी प्रभावित किया और वह जरतुश्त का अनुयायी बन गया। शाहनामा के अनुसार बलख़ की लड़ाई में तूरानियों ने ७७ वर्ष की उम्र में अहुरमज़्द की प्रार्थना में लीन जरतुश्त की हत्या कर डाली।

आर्यों के धर्मग्रंथ वेद और जरतुश्त की पुस्तक अवेस्ता में से किसी में मंदिरों या मूर्तियों के लिये कोई जगह नहीं है। हर गृहस्थ का, चाहे वह राजा हो या साधारण व्यक्ति, यह कर्तव्य है कि वह हर समय अपने घर में अग्नि प्रज्वलित रखे और उसमें यज्ञ करता रहे। वेदों में जिसे यज्ञ कहा गया है उसी को अवेस्ता में 'यस्न' कहा गया है। वेदों और अवेस्ता के धर्म ऐसे लोगों के धर्म हैं जो जीवन को खुशी और उमंग के साथ देखते थे। दोनों उच्च जीवन और नेकी के सिद्धांतों के सच्चे खोजी थे। दोनों यह मानते थे कि ईश्वरीय प्रकाश सबको अनंत सुख के लक्ष्य तक पहुँचा देता है।

राजनीतिक दृष्टि से यह वह समय था जब ईरान असुरिया के साम्राज्य के अधीन था। पहली बार सन् ६६४ ई० पू० में एक ईरानी सरदार युवक्षत्र ने असुरिया पर आक्रमण किया। युवक्षत्र हारा। उसने ईरान लौटकर अपनी हार के कारणों पर विचार किया। हर ईरानी सरदार या कुलपति अपने साथ अपनी अलग अलग फौज ले जाते थे। युद्ध के संचालन में इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। युवक्षत्र ने कुलों और रियासतों की जगह अब समस्त देश की एक सुसंगठित सेना तैयार की। कई वर्ष की तैयारी के बाद युवक्षत्र ने बाबुल के राजा के सहयोग से असुरिया की राजधानी निनेवे पर आक्रमण किया। दो वर्ष के लगातार युद्ध के बाद युवक्षत्र ने असुरिया पर विजय प्राप्त की। इस विजय के परिणामस्वरूप आर्मीनिया, सुरिया, कप्पादोशिया, फ़लस्तीन, असुरिया, पार्थिया, बाल्हीक, सोग्दियाना, उरार्तु, आदि असुरिया साम्राज्य के देशों पर ईरानियों का आधिपत्य स्थापित हो गया। ४० वर्ष राज करने के बाद सन् ५६३ ई०पू० में युवक्षत्र की मृत्यु हुई।

युवक्षत्र की मृत्यु के बाद ईरान के आधिपत्य के लिये युवक्षत्र के बेटे इश्तवेगु और दक्षिण ईरान के प्रांत पर्सु के हख़ामनीपी वंश के राजा कुरु में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें विजय कुरु के हाथों रही। पर्सु के रहनेवाले पारसी कहलाते थे। इसी से बाद में फ़ारस, पारस और पर्शिया शब्द बने। पर्सु के रहनेवाले भी ज़रतुश्ती धर्म के माननेवाले थे और अपने को शेष ईरानियों की तरह आर्य कहते थे।

कुरु के सम्राट् बनते ही हख़ामनीपी वंश का गौरव कीर्ति के शिखर पर जा पहुँचा। कुरु वीर, नेक, दयावान, उदार, बुद्धिमान और प्रजा का सच्चा हितचिंतक था। १४ वर्ष तक कुरु अपने विजययुद्धों में व्यस्त रहा। उसने तातारियों से ईरान को पूरी तरह स्वतंत्र किया, लीदिया और बाबुल पर आधिपत्य किया और भूमध्य सागर तक अपनी विजयपताका फहराई। पराजितों के साथ उसका व्यवहार बड़ी उदारता का होता था। बाबुल में हजारों यहूदी परिवार निर्वासित अवस्था में पड़े हुए थे। कुरु ने उन्हें वापस फ़लस्तीन भेजा। जुरूसलम के टूटे हुए यहूदी मंदिर का कुरु ने फिर से निर्माण कराया। अपने समय की व्याकुल दुनिया के एक बड़े भाग पर कुरु ने शांति की स्थापना की। उसकी सारी प्रजा सुखी और समृद्ध थी। उस देश में जहाँ एक एक पुरुष की कई कई पत्नियों की प्रथा थी, कुरु ने केवल एक ही विवाह किया। कासंदिनी उसकी एकमात्र प्यारी पत्नी थी जिससे उसे दो बेटे और तीन बेटियाँ हुईं।

मृत्यु से पूर्व कुरु ने पूर्वी प्रांतों का शासन अपने छोटे बेटे बरदिय को सौंप दिया। उसका बड़ा बेटा कंबुजिय अपने पिता की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी बना। कंबुजिय अपने पिता की तरह वीर और परिश्रमी तो था किंतु वह अभिमानी, शक्की और दुष्ट स्वभाव का था। उसने गुप्त रूप से अपने भाई की हत्या करवा दी और इस भेद को छिपाए रखा। उसके बाद ५२५ ई० पू० में उसने मिस्र पर चढ़ाई करके उसे विजय कर लिया। अंत में भाई की हत्या ने उसे आत्मग्लानि से भर दिया। सन् ५२२ ई० पू० में उसने सात बड़े बड़े ईरानी सरदारों को बुलाकर उनसे भाई की हत्या का पाप स्वीकार करके आत्महत्या कर ली।

ईरानी सरदारों ने मिलकर हख़ामनीपी कुल के एक योग्य सरदार दारा को कंबुजिय का उत्तराधिकारी चुना। दारा कुरु से भी अधिक बुद्धिमान और योग्य शासक सिद्ध हुआ। शांति स्थापना के बाद दारा ने सात वर्ष ईरानी साम्राज्य का संगठन और उसका शासनप्रबंध ठीक करने में लगाए। उसने सारे साम्राज्य को बीस प्रांतों में विभाजित किया। हर प्रांत पर एक एक गवर्नर नियुक्त किया गया जिसे 'क्षत्रप' कहते थे। हर प्रांत की मालगुजारी निश्चित कर दी गई। उचित स्थानों पर फौजी छावनियाँ डाली गईं। साम्राज्य भर में पक्की सड़कों का जाल पूर दिया गया ताकि सेनाओं और डाक के आने जाने में सुगमता हो। हर प्रांत में क्षत्रप के साथ एक एक सेनापति और एक एक मंत्री नियुक्त किया गया। क्षत्रप और सेनापति दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र थे और सीधे सम्राट् से आज्ञा लेते थे। मंत्री उनके कामों की रिपोर्ट सम्राट् को देता था। अपने नाम से दारा ने सोने चाँदी के सिक्के ढलवाए जिससे व्यापार में सुविधा हो। जनता को अधिक से अधिक समृद्ध बनाने का दारा ने पूरा पूरा प्रयत्न किया। ३६ वर्ष तक राज्य करने के बाद ६३ वर्ष की अवस्था में ४८६ ई० पू० में दारा की मृत्यु हुई। दारा की गणना संसार के बड़े से बड़े उदार, दक्ष और दयावान सम्राटों में की जाती है।

दारा के बाद उसका बेटा क्षयार्पा गद्दी पर बैठा। मिस्र के विद्रोह को दबाने के लिये क्षयार्पा ने मिस्र पर हमला किया। उसके बाद क्षयार्पा की यूनानियों के साथ कई लड़ाइयाँ हुईं जिनमें थर्मापिली की लड़ाई इतिहास में प्रसिद्ध है। २० वर्ष तक राज्य करने के बाद क्षयार्पा का धोखे से वध कर डाला गया।

क्षयार्पा की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक सात सम्राट् गद्दी पर बैठे। कभी कभी ईरानियों और यूनानियों में लड़ाइयाँ हुईं लेकिन यूनान के एक बड़े भाग पर और भूमध्य सागर के एशियाई किनारे के सब इलाकों पर ईरानियों का अधिकार रहा। यह स्थिति उस समय तक कायम रही जब ३३१ ई० पू० में अरबेला के मैदान में सिकंदर महान् ने दारा तृतीय को हराकर कुरु का राजमुकुट अपने सर पर रखा। यूनानी इतिहासलेखक स्वीकार करते हैं कि वीरता और साहस में ईरानी यूनानियों से एक इंच पीछे नहीं थे। किंतु यूनानियों के नए सैनिक संगठन, अच्छे हथियारों और सिकंदर के असाधारण व्यक्तित्व के आगे ईरानियों को सर झुकाना पड़ा। यूनानी सेनाओं ने सरकारी कोषागारों और महलों की लूट के बाद ईरानी कला के बहुमूल्य नमूने भी नष्ट कर दिए। अकेले शूश नगर की लूट में सिकंदर को ७,३६० मन सोना और ३२,८४५ मन चाँदी मिली थी।

ईरान विजय के नौ वर्ष के भीतर ही सिकंदर की बाबुल में मृत्यु हो गई। सिकंदर के एशियाई क्षेत्रों पर उसके सेनापति सेल्यूकस का अधिकार हो गया। सेल्यूकस के उत्तराधिकारी ईरान पर लगभग १४० वर्षों तक शासन करते रहे। अंत में १७४ ई० पू० में ईरान के एक प्रांत पार्थिया के राजा मित्रदत्त प्रथम ने यूनानियों को सारे ईरान से निकाल बाहर कर दिया। पार्थी सम्राटों ने चार सौ वर्षों से ऊपर अर्थात् २३६ ई० तक ईरान पर राज किया। भारत के साथ उनका घनिष्ठ संबंध था। वे अपने को अहुरमज़्द के सेवक या प्रतिनिधि भी कहते थे।

राजनीतिक निर्बलता के साथ साथ ईरान फिर से संकुचित दृष्टिवाले पुरोहितों के जाल में फँस गया था। धर्म केवल ऊपरी रीति रिवाज की चीज रह गया था। सच्चाई की जगह अंधविश्वासों ने ले ली थी। नई नई रचना करने और उन्नति करने की शक्ति भुला जनता केवल कर्मकांड में फँसकर रह गई थी। उस गँदले पानी को साफ करके धर्म की प्रारंभिक पवित्रता को फिर से वापस लाने के लिये ईरान में महात्मा जरतुश्त के बाद कोई नया महापुरुष नहीं पैदा हुआ। सिकंदर ने हख़ामनीपी साम्राज्य को मिटाकर सम्राट् अशोक के बौद्ध प्रचारकों के लिये रास्ता खोल दिया। सेहून (सीर) और जेहून (आमू) नदियों के किनारे से लेकर हीरमंद तक पूर्वी ईरान बौद्ध प्रचारकों और बौद्ध भिक्षुओं से भर गया। सुग़द से लेकर सीस्तान तक बौद्ध मंदिर और बौद्ध मठ खड़े हो गए। ईरान में जो गरमागरमी और जोश बौद्ध धर्म के प्रचार से पैदा हुआ उससे एक अजीब तरह का नया संगम बना जिसमें जरतुश्ती, ईसाई और बौद्ध तीनों धर्म आकर मिल गए। ईरान के इस नए मजहब का नाम 'मानी मजहब' था।

मनुष्य जीवन के संबंध में महात्मा मानी के विचार बुनियादी तौर पर बौद्ध विचार थे। उनका कहना था कि यह दुनिया दुःख की घाटी है। मनुष्य का जीवन स्वभावतः दर्द और रंज का जीवन है। इससे मुक्ति या निजात का एक ही उपाय है और वह है त्याग और इंद्रियों को वश में करना। उसी का अंतिम परिणाम है फ़ना यानी अपने अलग अस्तित्व को मिटा डालना।

महात्मा मानी सन् २१६ ई० में पैदा हुए। सन् २४३ ई० में वे ईरान के सम्राट् शापूर से मिले और उन्हें करीब करीब अपने धर्म का समर्थक बना लिया। किंतु अंत में मागी पुरोहितों के षड्यंत्र के कारण उन्हें सन् २७७ ई० में सूली पर चढ़ा दिया गया।

तीसरी शताब्दी के प्रारंभ में ईरान में पार्थी सत्ता समाप्त होती है और उसकी जगह सासानी राजकुल की सत्ता आरंभ होती है। सासानी कुल का संस्थापक सासान पर्सुपोली में एक मंदिर का पुजारी था। सासान की पत्नी राम बहिश्त बजरंगी के राजा की बेटी थी। उनका बेटा बाबेक एक साधारण हाकिम था। बाबेक का बेटा आर्तक्षत्र (आर्देशिर) सन् २३६ ई० में सारे ईरान का अधिराज बन गया। सासानी राजकुल ने एक बार हखामनीषी कुल की तरह ईरान के यश और कीर्ति को दूर दूर तक फैलाया। आर्तक्षत्र के बाद उसका बेटा शापूर प्रथम गद्दी पर बैठा। यह वह समय था जब ईरान और रोम में बराबर युद्ध जारी थे। शापूर ने रोम के सम्राट् वेलेरियन को कैद कर लिया।

सासानी राजकुल सम्राट् अनुशीरवाँ अथवा नौशेरवाँ आदिल के समय अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा। अनुशीरवाँ ने सन् ५३१ ई० से सन् ५७६ ई० तक ईरान पर शासन किया। अनुशीरवाँ एक वीर सिपाही और चतुर सेनापति था। रोम के सम्राटों से वह लगातार युद्ध करता रहा और सिर्फ एक बार छोड़कर वह रोम से सदैव जीता। उसने इथियोपिया, तुर्की और एक दर्जन अन्य नए प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। अपनी ८० वर्ष की अवस्था में उसने स्वयं रणस्थल में उतरकर रोमी सेना को तितर बितर किया। उसका साम्राज्य सिंधु नदी से लेकर भूमध्य सागर तक, लाल सागर से लेकर कैस्पियन समुद्र तक और आमू नदी से लेकर सीर दरिया तक फैला हुआ था।

अनुशीरवाँ वीर, परिश्रमी, संयमी और उदार था। गिबन लिखता है, अनुशीरवाँ का शासन–'निष्पक्ष, दृढ़ और जीवनप्रद था।' इसलाम के पैगंबर मुहम्मद साहब अभिमान के साथ कहा करते थे—'मैं न्याय-प्रिय अनुशीरवाँ की शाहंशाहियत के जमाने में पैदा हुआ हूँ।' प्रजा की भलाई का उसे सदैव ध्यान रहता था। साहित्य की ओर उसे विशेष रुचि थी। न्याय का वह अनन्य प्रेमी था। उसने विज्ञान और दर्शन की उन्नति के लिये बहुत कुछ किया। मानव जाति के बड़े से बड़े उपकारी नरेशों में अनुशीरवाँ की गिनती की जाती है।

सासानी कुल के २८ सम्राटों ने सन् २२६ ई० से लेकर ६५१ ई० तक—४२५ वर्ष—ईरान के ऊपर राज किया। अनुशीरवाँ के पश्चात् निर्बल और निकम्मे सम्राट् गद्दी पर बैठे। सन् ६२८ ई० में सम्राट् परवेज को कत्ल करके उसका बेटा कबाद चतुर्थ गद्दी पर बैठा। कबाद और यज्दगिर्द तीसरे के बीच, केवल पाँच वर्ष की अवधि में, एक के बाद एक ११ व्यक्ति एक दूसरे की हत्या कर ईरान के तख्त पर बैठे। चारों तरफ अशांति छाई हुई थी। साम्राज्य टुकड़े टुकड़े होकर बिखर रहा था। जिसे देखो वही सम्राट् बनने का इच्छुक था। १६ जून, सन् ६३२ ई० को यज्दगिर्द तीसरा गद्दी पर बैठा। यह वह समय था जब अरब इसलाम के झंडे के नीचे आ खड़ा हुआ था। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अरबों और ईरानियों में टक्करें हुईं। कई युद्धों के बाद सन् ६४२ ई० में मेहवंद की लड़ाई में ईरानी साम्राज्य की किस्मत का फैसला हो गया। सम्राट् यज्दगिर्द जान बचाकर भागा। अंत में सन् ६५१ ई० में अपने ही एक देशवासी के हाथों यज्दगिर्द की मृत्यु हुई। समस्त ईरान पर अरबों का कब्जा हो गया। क्लीमेंट हुआर्ट के शब्दों में–'समस्त ईरान ने इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया, किंतु ईरान का हृदय नहीं बदला। उसकी वेशभूषा नहीं बदली, उसके आचार विचार, रहन सहन, संस्कृति और भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। थोड़े ही अरसे में पराजित ईरान ने विजेता अरबों को अपनी संस्कृति का प्रशंसक और अनुयायी बना लिया।'

सन् ६५० तक अरबों ने ईरानी साम्राज्य के बलख और आक्सस प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। केवल उत्तरी मीडिया (तबारिस्तान) का इलाका आगामी सौ वर्षों तक सामंत इलका बना रहा। अरबों ने राजकीय स्तर पर जरतुश्ती धर्म के प्रति सहिष्णुता बनाए रखी किंतु धीरे धीरे जरतुश्ती धर्म का ईरान से लोप हो गया। हजारों की संख्या में जरतुश्ती धर्मावलंबियों ने भारत के पश्चिमी किनारे पर आकर शरण ली। ईरान में उनकी बस्तियाँ अब भी यज्द के नखलिस्तान में पाई जाती हैं। ईरान की अधिकांश जनता ने इसलाम के अंतर्गत शिया मत को स्वीकार कर लिया।

इसके पश्चात् राजनीतिक दृष्टि से ईरान का इतिहास शताब्दियों तक कोई महत्व नहीं रखता। उमैया और उनके बाद अब्बासी खलीफाओं की हुकूमत ईरान पर कायम रही। बाद के अब्बासी खलीफाओं की निर्बलता के जमाने में, ९०० से १२२६ ई० तक, ईरान के एक बड़े भाग पर समानी कुल का आधिपत्य कायम रहा। समानियों के शासन में ईरानी साहित्य और कला की आशातीत उन्नति के लक्षण दिखाई देते हैं। १०वीं शताब्दी के प्रारंभ में बुवैहिदों की हुकूमत भी ईरान के एक छोटे से भाग पर कायम हुई किंतु गजनवियों के आगे उन्हें सर झुकाना पड़ा। महमूद गजनवी ने ईरान के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। महमूद के ही शासनकाल में महाकवि फिरदौसी ने 'शाहनामा' नामक अपना अमर महाकाव्य लिखा जिसमें प्राचीन ईरानी नरेशों की कीर्ति और यश का बखान किया गया है।

समानियों के पतन और मंगोलों के ईरान पर आधिपत्य के बीच के काल में पाँच या छह बड़े राजकुल और लगभग ४० छोटे छोटे राजकुल ईरान के राजनीतिक रंगमंच पर अवतरित हुए और थोड़ी देर चमक कर लुप्त हो गए। अब्बासी खलीफा ईरान के नाममात्र के अधिराज बने रहे। १३वीं सदी के उत्तरार्ध में ईरान पर मंगोल सरदार चंगेज खाँ का शासन कायम हुआ। चंगेज की मृत्यु के बाद उसका मंगोल साम्राज्य उसके सरदारों में बँट गया। उसके एक सरदार तूले या तुलई के हिस्से में ईरान का राज्य आया। तुलई के बाद उसका बेटा हुलाकू ईरान का वास्तविक सम्राट् बना। हुलाकू सन् १२५६ ई० में ईरान के तख्त पर बैठा। लगभग ६०० वर्ष के बाद ईरान का खंडित राज्य एक राष्ट्रीय इकाई बना। सन् १२५८ ई० में हुलाकू ने बग़दाद पर आक्रमण करके अब्बासी खलीफाओं की सल्तनत का सदा के लिये अंत कर दिया। हुलाकू के समय ईरान का साम्राज्य फिर एक बार उन्नति की चोटी पर पहुँच गया। हुलाकू ने ज्ञान विज्ञान, कला कौशल, गणित और ज्योतिष को काफी प्रोत्साहन दिया। ईरान में मंगोल सत्ता तैमूर की मृत्यु (१४०५ ई०) के साथ बिखरने लगी। तैमूर के चौथे पुत्र शाह रुख ने, जो खुरासान का गवर्नर था, सन् १४४७ ई० तक ईरान पर अपना आधिपत्य कायम रखा।

सन् १४९९ से १७३६ ई० तक सफ़वी रजकुल की सत्ता ईरान पर कायम रही। इस सारे समय में ईरान की तुर्की के साथ कई लड़ाइयाँ हुईं। सफ़वी नरेशों में शाह इस्माईल और उसका बेटा तथा उत्तराधिकारी शाह तहमास्प काफी योग्य शासक साबित हुए।

सफ़वी खानदान की समाप्ति पर ईरान के तख्त पर सन् १७३६ ई० में नादिर शाह का अवतरण हुआ। नादिर शाह ने सबसे पहले तुर्की पर आक्रमण किया। पहले युद्ध में तो वह पराजित हुआ किंतु बाद के दो युद्धों में उसने तुर्की को पूरी तरह पराजित किया और ईरान का वह सब भाग वापस ले लिया जिसपर तुर्की ने कब्जा कर लिया था। सन् १७३८ में उसने दिल्ली पर आक्रमण की तैयारी की। रास्ते में पहले उसने कंधार पर और फिर काबुल पर कब्जा किया और अंत में दिल्ली पर आक्रमण किया। दिल्ली से लौटकर नादिर शाह ने बुखारा और खीव पर आधिपत्य किया। सन् १७४७ में अपनी हत्या से पहले नादिर शाह ने ईरान के रुतबे को फिर एक बार ऊँचा कर दिया।

नादिर शाह की मृत्यु के बाद ईरान गृहयुद्धों और इंग्लिस्तान और फ्रांस की साजिशों का केंद्र बन गया। सन् १९०९ में ईरान में शाह के अंतर्गत वैधानिक सरकार की स्थापना हुई। १३ दिसंबर, सन् १९२५ को ईरान की पार्लमेंटी मजलिस ने अपने प्रधान मंत्री रजाशाह पहलवी को ईरान का बादशाह घोषित किया। ईरान के रेगिस्तानी इलाके में तेल का अंतहीन जखीरा है। उसी तेल के लोभ में यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों ने ईरान

को अपने प्रभाव में जकड़ रखा है। ईरानी देशभक्त इस जकड़ से छूटने के प्रयत्नों में लगे हुए हैं।

अरबों की ईरान विजय से लेकर अब तक ईरान की सांस्कृतिक आत्मा बार बार अपनी महानता का परिचय देती रही है। पूर्वी ईरान, विशेषकर खुरासान बौद्ध धर्म का शताब्दियों तक केंद्र रहा है। तसव्वुफ़ अथवा इसलामी वेदांत के फूल सबसे पहले इसी इलाके में खिले। प्रारंभ के प्रसिद्ध सूफ़ी इब्राहीम अज़म, अहमद ख़जविया, अबूअली शकीक, हातम आसम, यहिया बिन मग्राज़, बायज़ीद बिस्तामी और अबूबक्र शिबली सब ख़ुरासान के ही रहनेवाले थे। फाराबी, इब्न सीना, अबू रेहान, अलबेरूनी जैसे प्रसिद्ध विचारक और दार्शनिक सब उसी इलाके के थे। इसी इलाके में तूस के रहनेवाले अल ग़िज़ाली ने, जो इस्लाम का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता है, तसव्वुफ़ के ऊपर अगणित विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखीं। इसी प्रदेश में अब्दुल रहमान नूरुद्दीन जामी, फरीदुद्दीन अत्तार और अब्दुल मज्द सनाई हुए जिनकी आध्यात्मिकता की छाप सारे एशिया पर लगी। यहीं संतों के सरताज मौलाना जलालउद्दीन रूमी हुए जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मसनवी' संसार के आध्यात्मिक साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है।

यह स्वाभाविक था कि ईरान का वही हिस्सा जो भारत के धार्मिक विचारों से ओतप्रोत था इसलाम के आगमन के बाद ईरानी संस्कृति की बेदारी और इसलामी तसव्वुफ़ का सबसे बड़ा केंद्र साबित हुआ। बलख़ का ही रहनेवाला ख़ालिद, जो बलख़ के बौद्ध पुरोहितों के ख़ानदान का था, अब्बासी खलीफाओं का 'बरामिकी वजीर' बना। उसने बहुत सी संस्कृत पुस्तकों का अरबी में अनुवाद करवाया। इस तरह हम देखते हैं कि राज्य-परिवर्तन और धर्मपरिवर्तन के बावजूद ईरान ने अपनी सांस्कृतिक ऊँचाई को कायम रखा।

सं०ग्रं०—एशियाटिक रिसर्चेज की जिल्दें; जेम्स डारमेस्टर : द सीक्रेट बुक ऑव द ईस्ट, भाग १४; द ज़ेंद अवस्ता; एम० एन० धल्ला : ज़ोरोआस्ट्रियन सिविलाइज़ेशन; ज़ेनेद ए० रागोज़िन : बैबीलोन ऐंड पर्शिया; क्लीमेंट हुआर्ट : एंशेंट पर्शिया ऐंड ईरानियन सिविलाइज़ेशन; गिबन : डिक्लाइन ऐंड फ़ाल ऑव रोमन एंपायर; पी० केरशास्प : स्टडीज इन एनशेंट पर्शियन हिस्ट्री; ई० जी० ब्राउन : ए लिटररी हिस्ट्री ऑव पर्शिया; सर जे० मैलकम : द हिस्ट्री ऑव पर्शिया (१८१५); सर विलियम म्यूर : हिस्ट्री ऑव द कैलीफ़ेट, इट्स राइज़, डिक्लाइन ऐंड फ़ाल; विश्वंभरनाथ पांडे : ज़रथुस्त्री धर्म और ईरानी संस्कृति (१९५२)।
(वि० ना० पां०)

ईरान के वर्तमान (१९७३) नरेश मुहम्मद रज़ा पहलवी ने अपने पिता रज़ाशाह पहलवी द्वारा सिंहासन छोड़ने के पश्चात् १८ सितंबर, १९४१ ई० को राष्ट्राध्यक्ष के रूप में शपथ ग्रहण की। किंतु राजतिलक समारोह २६ अक्टूबर, १९६७ ई० को संपन्न हुआ। ईरान नरेश ने २१ दिसंबर, १९५९ ई० को एक वरिष्ठ सैनिक अधिकारी की पुत्री फराह दिबा से विवाह किया। इनसे ३१ अक्टूबर, १९६० ई० को उत्पन्न प्रथम पुत्र राजकुमार रज़ा पहलवी ईरान के वर्तमान युवराज हैं।

ईरान के प्रधान मंत्री डा० मस्सदक़ ने १९५१ ई० में देश के तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया। सन् १९५४ में ईरानी सरकार की नैशनल ईरानियन कंपनी और १७ अंतरराष्ट्रीय तेल कंपनियों के संघ के बीच एक समझौता हुआ जिसके अंतर्गत उक्त कंपनियों को तेल की खरीद पर विशेष छूट देने का प्रावधान था। ईरान में आर्थिक योजनाएँ सन् १९४९ से प्रारंभ की गई और इन योजनाओं के निर्बाध क्रियान्वयन के लिये ईरान नरेश ने एक वृहत् योजना के अंतर्गत सन् १९६३ ई० के आरंभ में बड़ी बड़ी जागीरों तथा भूसंपत्तियों का वितरण छोटे किसानों में करना शुरू कर दिया। इसी वर्ष ईरान में स्त्रियों को मतदान का अधिकार दिया गया, हालाँकि परंपरावादियों ने प्रशासन के इस कदम का कड़ा विरोध किया और इसी से उत्पन्न क्षोभ के कारण जनवरी, १९६५ ई० में ईरान के तत्कालीन प्रधान मंत्री श्री मंसूर की हत्या भी कर दी गई। सन् १९६६ ई० में ईरान कोलंबो योजना का सदस्य बन गया। शट्ट अल अरब संबंधी अधिकारों और टंब द्वीपसमूह पर ईरानी कब्जे को लेकर इराक से ईरान का मनमुटाव यहाँ तक बढ़ा कि इराक ने १९७१ ई० में न केवल ईरान से राजनयिक संबंध विच्छेद कर लिया बल्कि अपने देश से ६०,००० ईरानियों को भी निष्कासित कर दिया। अक्टूबर, १९७१ में ईरान ने धूमधाम से अपनी राज्यस्थापना की २,५००वीं जयंती मनाई और इस अवसर पर परसीपोलिस में आयोजित भव्य समारोहों में ४० से अधिक राष्ट्राध्यक्षों ने भाग लिया।
(कै० चं० श०)

ईरानी चित्रकला

ईरानी चित्रकला जिन विद्वानों ने ईरानी वस्त्रों, मीनाकारी चौकों और चित्रों का अध्ययन किया है उन्हें पता है कि ईरानी अपनी नक्काशी के लिये संसार में प्रसिद्ध हैं। ईरान में बने कालीन रंगों के संतुलन और अलंकरण के प्रत्यावर्तन के लिये प्रसिद्ध हैं तथा वहाँ की प्राचीन कला के मुख्य अभिप्राय ज्यामितिक और पशुरूप हैं। हख़मनी युग की ईरानी कला पर असूरिया का प्रभाव स्पष्ट है, पर ससानी युग से ईरानी कला अपना एक निजस्व रखती है। रंगयोजना तथा चित्रांकन में ईरानी कला का संतुलन अरब, मंगोल और तैमूरी अभियानों के बावजूद अपना निजस्व बनाए हुए है।

मनीखी चित्रित पुस्तकों के जो अंश नष्ट होने से बच गए हैं उनसे पता चलता है कि उस कला का मुस्लिम युग की आरंभिक कला से सीधा संबंध है। इस्लाम के आदेश से ईरान में भी मूर्ति का निर्माण रुक गया, पर अरबों की विजय से उस देश का संबंध दूसरे देशों से बढ़ा और कला के क्षेत्र में भी अनेक अंतरराष्ट्रीय प्रभाव उसकी कला पर पड़े। एशिया पर मंगोल विजय के बाद सुदूर पूर्व का रास्ता खुल गया और ईरानी कला पर चीनी कला का प्रभाव स्पष्ट रीति से पड़ने लगा। तैमूरी सुल्तानों में तो अपने दरबार में अच्छे से अच्छे चित्रकारों को एकत्र करने की होड़ सी लगने लगी। इस विदेशी सत्ता का प्रभाव ईरान के जनजीवन पर अच्छा नहीं पड़ा; फिर भी यह अजीब बात है कि इन विदेशियों के अधीन ईरानी कला की आशातीत उन्नति हुई, जो ईरान के राष्ट्रीय शाह सफावियों के समय में रुक सी गई। इसका यही कारण हो सकता है कि जब तक देश में जीवन था, कला और युद्ध साथ साथ चले, पर शक्ति के समाप्त होने पर एकता के साथ ह्रास के लक्षण भी साफ साफ दीख पड़ने लगे।

आरंभिक युग में ईरानी कला का संबंध मनीखी धर्म से था पर २९०. ई० में उस धर्म के संस्थापक मनि, जो चित्रकार भी थे, मार डाले गए और उनकी चित्रित पुस्तकें जला दी गई। पर कला इन सब घटनाओं से मरती नहीं। मुस्लिम युग के आरंभिक काल में धर्म से कला का संबंध टूट गया पर कुछ चित्रकार रईसों और सुल्तानों के आश्रय में अपनी कलासाधना करते रहे। संभव भी यही था क्योंकि इस युग में चित्रों की सामग्री, यानी चटकदार रंग, सोना और कागज इतने महँगे थे कि उनका उपयोग केवल राजाश्रित चित्रकार ही कर सकते थे। चित्रों को सुंदरतापूर्वक बनाने में भी इतनी मेहनत पड़ती थी कि साधारण जन उसका मेहनताना भरने में असमर्थ थे। ईरानी चित्रकला रेखाओं की मजबूती और मोर मुरक के लिये प्रसिद्ध है, उसमें साया देने की क्रिया का अभाव है तथा चेहरे की बनावट तीन चौथाई चश्मी में दिखलाई जाती है। शरीर का अधिक भाग ढका होने से उसकी विशेषता दिखलाने के प्रयत्न का अभाव दीख पड़ता है। इन चित्रों की पृष्ठभूमि वासंती सूर्य की प्रभा से अनुप्राणित रहती है और सैरे में सुपुष्पित वृक्षों, पहाड़ियों और बहते हुए नालों का अंकन रहता है।

ईरानी चित्रकला का असली इतिहास अब्बासी युग (७५०—१२५८) से आरंभ होता है। इस युग की चित्रित पुस्तकों का लेखन अब्बासियों की राजधानी बगदाद में हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इस चित्रकला के परिवर्धन में ईरानियों का बड़ा हाथ था, पर उसमें पूर्व के ईसाई चित्रकारों की कारीगरी भी स्पष्ट है। आरंभ में वैद्यक, ज्योतिष और भौतिक शास्त्र के ग्रंथों को चित्रित करने की आवश्यकता पड़ी। इस वर्ग की चित्रित पुस्तकें अधिकतर १२वीं सदी की हैं। इनमें राशियों तथा जलयंत्रों को चित्रित करनेवाली पुस्तकें थीं जिनमें अल ज़ज़री लिखित यंत्रशास्त्र तथा दियोसकारिदेस मुख्य हैं। एक उल्लेखनीय बात यह है कि दियोसकारिदेस (छठी सदी की प्राचीन चित्रित और अलंकृत पुस्तकें, जिनके आधार पर मध्यकाल तक अलंकृत प्रतिलिपियाँ बनती रहीं) की

मसनवी की एक पुस्तक का सुसज्जित चित्र, वीं१६ सदी का पूर्वार्ध
(स्वर्गीय किर्कर मिनैशाँ के संग्रह से)
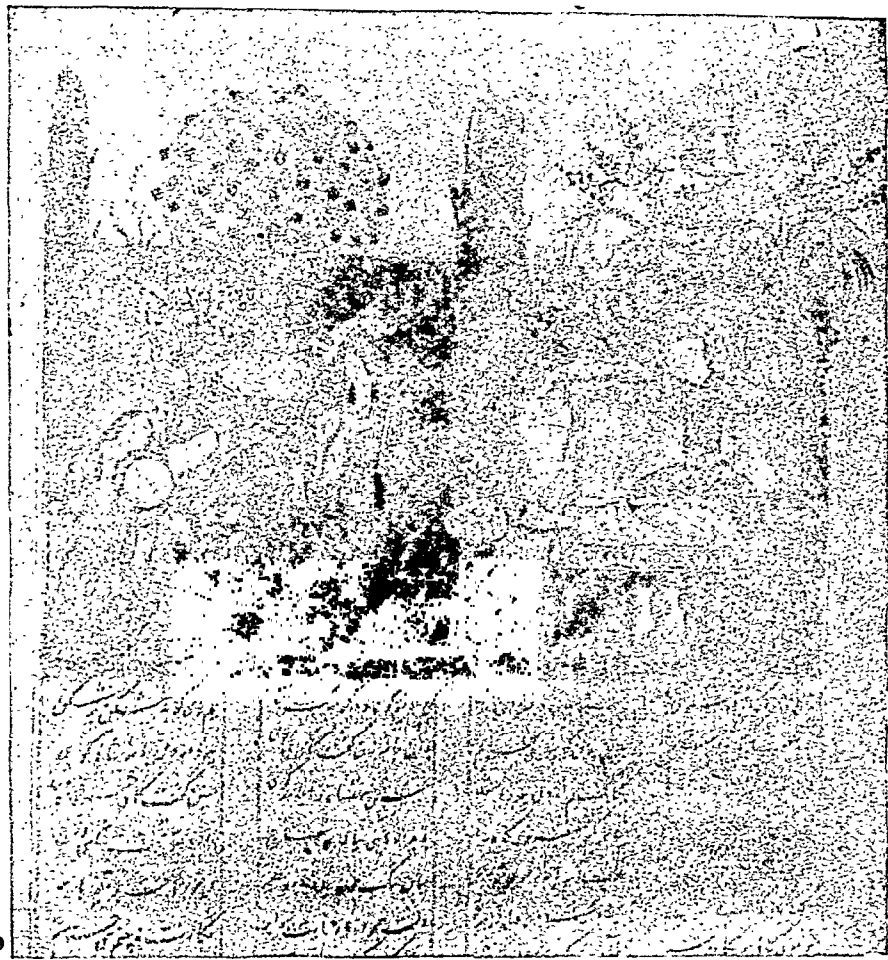
ऊपर : चित्रकला और लिपिकला का समन्वय लिए एक पृष्ठ
नीचे : नवीं-दसवीं सदी में लिखी गई कुरान का एक पृष्ठ (लंबाई १२ इंच)
(करेकिन बशीर के संग्रह से)

चित्रित पुस्तकों में वनस्पतियों के चित्र तो यूनानी ढंग के हैं पर मानव आकारों का अंकन, रंगयोजना और वेशभूषा अनोखी चित्रों और बाजान-तीनी कुट्टिमित भूमि की याद दिलाते हैं। इन वैज्ञानिक पुस्तकों के लिखवाने और चित्रण कराने का श्रेय तो ईसाइयों का है पर इब्न मुकफ्फा के कलीला व दिम्ना और हरीरी के मकामात को चित्रित कराने का श्रेय दूसरों का है। पहली पुस्तक संस्कृत के पंचतंत्र का अनुवाद है और दूसरी में अबूज़ैद के चतुराई भरे कारनामों के किस्से हैं। *इन पुस्तकों की जो भी हस्तलिखित* प्रतियां बच गई हैं उनसे पता चलता है कि सादगी होने पर भी उनकी रेखाओं में जान है। वैसे उनके रंग साधारण हैं। इनके चित्रों से १२वीं सदी के अरब जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। कुछ विद्वानों ने यह भी सुझाया है कि इनमें से कुछ पुस्तकें शायद महमूद गजनवी (९९८–१०३०) के राज्यकाल में गजनी में लिखी गईं क्योंकि वहां फिरदौसी ने शाहनामा लिखकर ईरान की प्राचीन विभूति को पुनः जागरित किया था। पर यह धारणा निर्मूल है। ठीक बात तो यह है कि १२वीं सदी की अब्बासी कला का इराक और ईरान में एक ही रूप था।

ईरान के इतिहास की यह एक अजीब घटना है कि मगोल अभियानों ने उसकी संस्कृति और अर्थव्यवस्था को नष्ट करके भी कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। १४वीं सदी जिस तरह ईरानी काव्य का स्वर्णयुग है उसी तरह चित्रकला का भी। तैमूर के वंशजों के युग में चित्रकला प्रगति को प्राप्त हुई पर सफावी युग में उसकी उन्नति रुक सी गई। १४वीं सदी की ईरानी चित्रकला को मगोल शैली कहा गया है, क्योंकि उसमें मगोलों की आकृतियों, वेशभूषा और रहन सहन का चित्रण है। पर वास्तविकता यह है कि इस नवीन शैली का उद्‌गम चीन था तथा इस शैली ने ईरानी शैली को एक नई दिशा दी। पशुपक्षियों तथा वृक्षों के अंकन में नवीनता इस शैली की विशेषता है।

प्रसिद्ध मंत्री और इतिहासकार रशीदुद्दीन (१२४६–१३१८) ने तबरीज के बाहर एक उपनगर बनवाया और वहां अपनी पुस्तकों के चित्रण के लिये बहुत से चित्रकार रखे। १३०६ और १३१२ के बीच बने जामि-उत्तवारीख के चित्रों से पता चलता है कि उनमें बाइबिल, मुहम्मद के जीवन और बौद्ध घटनाओं के अंकन भिन्न भिन्न शैलियों के द्योतक हैं। मगोल इतिहास संबंधी चित्रों में चीनी प्रभाव स्पष्ट है। रशीदुद्दीन की मृत्यु के बाद अरब साहित्य की अनेक पुस्तकों का चित्रण, जिनमें दमोत का शाहनामा भी है, शैलीगत आधारों पर शायद १३३० में हुआ। इसके चित्रों से यह विदित होता है कि इस युग में ईरानी शैली धीरे धीरे अपना निजस्व स्थापित करती जा रही थी।

१३८१ और १३९२ के बीच ईरान पर तैमूर के खूनी आक्रमण हुए। उनके साथ ही ईरानी संस्कृति पर चीन का प्रभाव बढ़ा। तैमूर ने समरकंद में बहुत से कलाकार इकट्ठे कर लिए थे जिससे कला की उन्नति में कोई अवरोध नहीं पड़ा। तैमूरी युग के चित्र प्रारंभिक चित्रों से कहीं प्रशस्त हैं। जमीन और आसमान दिखलाने की प्रथा, भिन्न भिन्न खंडों में आकृतियों और घटनाओं का प्रदर्शन तथा सैर का वास्तविक अंकन इस शैली की विशेषताएं हैं। शाहनामा, लैलामजनूं, कज़्वीनी की तारीख–ए–गुजीदा, इस्कंदरनामा इत्यादि के चित्रों से आरंभिक तैमूरी युग के चित्रों की शैली का पता चलता है।

शाहरुख़ की मृत्यु (१४४७) के बाद उस समय कला और साहित्य के प्रसिद्ध उन्नायकों में हेरात के सुल्तान हुसैन इब्न बकरा (मृत्यु १५०६) का नाम आता है। वास्तव में हेराती शैली के संस्थापक सुल्तान हुसैन के मंत्री अली शेर नवाई थे। चित्रों की मांग होने से बहुत से चित्रकार हेरात में इकट्ठा हो गए, जिनमें बिहज़ाद का स्थान मुख्य था। हेरात के चित्रकारों ने कोई नई शैली न चलाकर प्रचलित ईरानी शैली को खूब मांजा। बिहज़ाद की कला के बारे में अभाग्यवश विद्वानों में मतैक्य नहीं है। जो चित्र बिहज़ाद के माने जाते हैं वे उनकी कृतियां हैं अथवा नहीं, इसपर भी कुछ विद्वान् बहुत खोज के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रंगयोजना नक्काशी और सैरों के आलेखन में वे बेजोड़ थे तथा युद्ध का चित्रण उनकी विशेषता थी।

सफ़ावी युग ईरान की चित्रकला का राष्ट्रीय युग कहा जा सकता है। सफ़ावी शैली का रुख रूढ़ि की ओर था। इस युग के पहले ही ईरानी शैली काफी मॅज चुकी थी इसलिये चित्रकारों ने इसमें कोई नवीनता लाने की आवश्यकता नहीं समझी। अब उनका ध्यान सब ओर से हटकर आलेखन और विषयसंकलन की ओर लग गया। फिरदौसी, निजामी और सादी के काव्यों के चित्रण की मांग बढ़ गई थी। शाह सफ़ावी ईरान के ही थे, *इसलिये उनकी कलम में कुछ प्राचीन रूढ़ियों की आशा की जा सकती* है, पर वास्तव में चित्रकला में इस रूढ़ि के चिह्न कम ही मिलते हैं। तहमास्पकालीन चित्रों में पशुपक्षियों से अलंकृत हाशिए की प्रथा चल पड़ी। चित्रकारों का ध्यान राजसी दृश्यों से हटकर कभी कभी देहाती दुनिया पर भी पड़ने लगा। तत्कालीन वेशभूषा और रस्म रिवाज के अध्ययन के लिये ये चित्र अपनी विशेषता रखते हैं। प्रसिद्ध चित्रकारों में मीर सय्यद अली, मीरक और सुल्तान मुहम्मद, जो पशुओं के चित्रण में प्रसिद्ध थे, के नाम लिए जा सकते हैं। शाह तहमास्प के अंतिम दिनों में (१५७८) ईरानी चित्रकार धीरे धीरे पुस्तकचित्रण की प्राचीन प्रथा से विलग होने लगे तथा अच्छे चित्रकार शबीहें बनाने और वनभोजन इत्यादि के अंकन में लग गए। चित्रकला और लिपिकला के संबंधविच्छेद से कला ने एक नया रूप ग्रहण किया जिसके फलस्वरूप ईरानी कपड़ों में भी शबीहों की नकल होने लगी।

बाद की सफ़ावी चित्रकला पुस्तक आलेखन से बिलकुल अलग हो गई पर साथ ही साथ वह रूढ़िगत भी होती गई। चित्रकार स्याहकलम चित्र बनाने लगे और सस्ते पड़ने से जनता में उनकी माँग काफी बढ़ गई। इस शैली के आचार्य रिज़ा अब्बासी माने गए हैं जो शाह अब्बास प्रथम (१५८७-१६२९) के समकालीन थे। १७वीं सदी में ईरानी कला पर यूरोपीय प्रभाव भी पड़ा पर वह प्रभाव परिसीमित ही रहा। अलंकरण में यूरोपीय चित्रों से कुछ अंग नकल करके उनके चारों ओर ईरानी दृश्य और आकृतियाँ भर दी जाती थीं।

शाह अब्बास द्वितीय के बाद ईरानी कला का क्रमशः ह्रास होने लगा तथा चित्रकार पुरानी चित्रित पुस्तकों की नकल में अथवा स्याहकलम तसवीरें बनाने में अपना समय लगाने लगे। १९वीं सदी में तो यूरोप से प्रभावित ईरानी चित्रकला की अपनी कोई हस्ती नहीं रह जाती।

ईरानी सुलेख—करीब दो हजार वर्षों से लेखनकला ईरान की राष्ट्रीय भावनाओं और रसानुभूति की द्योतक रही है। मध्य युग में सुलेखनकला चित्रकारों तथा नक्काशों की कलाओं का मुख्य अंग बन गई। चित्रकला और सुलेखनकला का चोली दामन जैसा साथ हो गया, यहाँ तक कि ईरान के अनेक चित्रकारों ने अपनी कला सीखने के पहले सुलेखन-कला यानी खुशख़ती का अभ्यास किया। ईरान के प्राचीन इतिहास में लेखन की शैलियाँ अनेक बार बदलीं, पर सुलेखन का सिद्धांत कभी नहीं बदला।

हखमनी युग में कीलाक्षरों की सुंदरता रंगों के उपयोग से बढ़ाई गई तथा ससानी युग में जरतुश्त के वचन भोजपत्रों पर स्वर्णाक्षरों में लिखे गए। मनीखियों ने अपने धर्मग्रंथ एक विशेष लिपि में अच्छे से अच्छे कागज पर रंगीन स्याहियों से लिखे। ईरान में अरबों के आने के बाद अरबी लिपि का प्रचार हुआ और कुरान के सिद्धांतों के अनुसार रस-प्रदायक खुशख़ती पर विशेष ध्यान दिया गया। अरबों के अनेक बड़े बड़े विद्वानों ने खुशख़ती पर अपने सिद्धांत प्रकट किए। १९वीं सदी के अंत में २४ तरह की भिन्न भिन्न लिपियां थीं जिनमें स्यासी, जिसके तरह भेद थे, मुख्य थी। इस लिपि का प्रवर्तक एक ईरानी था। १०वीं सदी की ईरानी सुलिपि के उदाहरण कम मिलते हैं और जो मिलते भी हैं उनमें कूफी लिपि की बहुलता पाई जाती है, फिर भी ईरानी शैली में अपना निजस्व मिलता है। कूफी लिपि की मोड़ मुरक और उतार चढ़ाव आलंकारिक दृष्टि से महत्व के हैं और उसकी इस विलक्षणता का उपयोग ईरानियों ने अपने ढंग से किया। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सीधी सादी, पर सुंदर लिपि का उपयोग ११वीं सदी से नहीं होता था।

सासानी बादशाहों के अभिलेख मिलते हैं। यही भाषा पजंद नाम से अवेस्ती धर्म की पुस्तकों के लिये भी प्रयोग में आई है।

मध्य ईरानी के पूर्वी समुदाय में पूर्वी तुर्किस्तान में प्राप्त हुए साहित्य की भाषाएँ हैं। इनमें बुखारा और समरकंद के क्षेत्र की प्राचीन भाषा सोग्दी है जो एशिया के मध्यवर्ती विस्तृत क्षेत्र की भाषा रही होगी। यह मंगोलिया से लेकर तिब्बत के सीमाप्रांत तक फैली हुई थी। इसमें बौद्ध धर्मग्रंथ (बहुधा चीनी भाषा से अनूदित), ईसाई धर्मग्रंथ (सीरोयाई भाषा से अनूदित तथा मौलिक) और मनीची ग्रंथ मिलते हैं। सबसे पुराने ग्रंथों का समय ईसवी चौथी शती होगा।

सोग्दी के अतिरिक्त इस समुदाय की दूसरी महत्व की भाषा खोतानी है। इसे सक भी कहते हैं। इसमें बहुत से धर्मग्रंथ आठवीं से १०वीं शती के लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। इनमें बहुत से बौद्धधर्म संबंधी हैं। लिपि सबकी ब्राह्मी है और शब्दावली में प्राकृत के बहुत से शब्द मिलते हैं।

आधुनिक ईरानी की सबसे महत्वपूर्ण भाषा फारसी है। यह अरबी लिपि में लिखी जाती है। यह अफ़गानिस्तान से लेकर पश्चिम के काफी बड़े भूप्रदेश में संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा है। इसमें आठवीं शती ई० से लेकर प्रभूत साहित्य का सृजन हुआ है।

गठन की दृष्टि से पामीरी, कुर्दी, बलोची और पश्तो भी ईरानी उपशाखा के अंतर्गत हैं।

विस्तार की दृष्टि से हिंद-ईरानी शाखा की तीन भाषाओं ने महत्व प्राप्त किया—संस्कृत, पालि और फारसी, और ये तीनों सभ्यता और संस्कृति की प्रचारक रहीं। ईरानी उपशाखा में फारसी सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाषा है।

सं० ग्रं०—ए० मेइए : ले लाँग दु माँद (पेरिस, १९५२)।

(बा० रा० स०)

ईरी झील, उत्तरी अमरीका की बड़ी झीलों में सबसे दक्षिणवाली है, जो अ० ४१° ३०' उ० एवं ४२° ५२' उ० तथा दे० ७८° ५३' प० एवं ८२° २५' प० के बीच, ह्यूरन तथा ओंटेरियो झीलों के मध्य स्थित है। इसके उत्तरी किनारे पर कनाडा की सीमा, दक्षिण-पूर्व में न्यूयार्क, पेनसिलवेनिया तथा ओहायो, पश्चिम में मिचिगन तथा ओहायो राज्यों की सीमा पड़ती है। इसकी अधिकतम लंबाई उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक २४५ मील, औसत चौड़ाई ५० मील (२८ से ५८ मील तक) तथा क्षेत्रफल ६,६०० वर्ग मील है। यह झील समुद्र की सतह से ५७३ फुट की ऊँचाई पर तथा ह्यूरन झील की सतह से ८ फुट नीचे है। इसके जल की अधिकतम गहराई २१० फुट, तथा औसत गहराई १०० फुट है। इसमें डिट्रॉयट नदी मिलती है तथा ओंटेरियो झील को छोड़कर अन्य सभी बड़ी झीलों का जल इसमें आता है। इनके सिवाय उत्तर से ग्रैंड नदी, पश्चिम से मॉमी, संडस्की एवं ह्यूरन तथा दक्षिण से कुयाहोगा नदियाँ मिलती हैं। ईरी के जल का निकास नायागरा नदी के द्वारा होता है जो ओंटेरियो झील में गिरती है। ईरी झील बड़ी झीलों में से सबसे छिछली और यातायात के लिये भयावह है क्योंकि नायागरा जलप्रपात दिन प्रति दिन पीछे की ओर हटता जा रहा है।

इस झील का व्यापारिक महत्व नहरों के निकल जाने से बहुत बढ़ गया है, जो पूर्व से पश्चिम जाने का मुख्य साधन हैं। नायागरा जलप्रपात के पास अटलांटिक सागर से सीधे आने में जलप्रपात के कारण जो असुविधा थी उसको वेलंड नहर दूर कर देती है। ईरी के तट पर सुंदर बंदरगाहों में बफैलो, ईरी, क्लीवलैंड, संडस्की तथा टोलेडो प्रमुख हैं, परंतु बड़े जहाजों के लिये ये उपयुक्त नहीं हैं। (श्या० सुं० श०)

ईरुला यह शब्द तमिल भाषा के ईरुल (= श्याम) शब्द से निकला है। दक्षिण भारत में नीलगिरि की पहाड़ियों पर निवास करनेवाली एक अत्यधिक श्यामवर्ण आदिम जाति का नाम ईरुला है। इसके विपरीत 'बडगा' सबसे सुंदर वर्णवाली आदिम जाति है। ईरुला लोग अपनी बोलचाल में अपभ्रंश तमिल का प्रयोग करते हैं तथा एक प्रकार के विष्णुपूजक हैं। इस जाति में विवाह के समय एक भोज देने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष प्रथा नहीं है। इनके यहाँ मृतकों को गाड़ने की प्रथा है, गाड़ते समय शव को पद्मासनावस्था में एवं मस्तक को उत्तर की ओर करके रखा जाता है। ये लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, किंतु भविष्यवक्ता के रूप में इनका बड़ा आदर होता है। (श्या० सु० श०)

ईर्यापथ आस्रव जैनमत में वर्णित आस्रव का एक भेद। मन, वचन और काया की सहायता से आत्मप्रदेशों में गति होना जैन धर्म में 'योग' कहलाता है और इसी योग के माध्यम से आत्मा में कर्म की पुद्गलवर्गणाओं का जो संबंध होता है उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं : (१) सांपरायिक आस्रव तथा (२) ईर्यापथ आस्रव। सभी शरीरधारी आत्माओं को ज्ञानावरणादि कर्मों का (आयुकर्म के अतिरिक्त) हर समय बंध होता रहता है। मोह, माया, मद, क्रोध, लोभ आदि से ग्रस्त आत्माओं को सांपरायिक आस्रव (शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मों का होना) होता है और जो आत्माएँ क्रोधादि रहित हैं उन्हें ईर्यापथ आस्रव (फल न देनेवाले कर्मों का होना) होता है। (कै० च० श०)

ईर्या समिति निरीक्षण के साथ गमन अर्थात् देख देखकर चलना। *जैनमतानुसार सूर्योदय के पश्चात् लोगों के आवागमन से मार्ग मर्दित* होने पर जैन मुनियों के लिये साढ़े तीन हाथ आगे देखकर चलने का नियम है। यह नियम इस कारण रखा गया है कि रास्ते पर घूमने फिरनेवाले कीड़े फतिंगे दिखाई पड़ें और उन्हें कुचलने से बचाया जा सके।

(कै० चं० श०)

ईल फ्रांस की एक नदी है। इसका उद्गम जूरा की उत्तरी तलहटी में बेसल से दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह उत्तर-उत्तर-पूर्व की दिशा में राइन के समांतर बहती हुई स्ट्रासबर्ग से नौ मील नीचे बाईं ओर से राइन में प्रवेश करती है। इसकी लंबाई १२३ मील है। यह संकरी वॉसजेस घाटी में बहनेवाली छोटी छोटी नदियों का जल ग्रहण करती है। कोलमार के समीप लाडहोफ से अपने (राइनवाल) संगम पर्यंत ५६ मील की दूरी तक यातायात के योग्य है। ऊपरी ऐलसस के मुख्य नगर, जैसे मालहाउज, कोलमार, श्लेस्टाट तथा स्ट्रासबर्ग इसी नदी के तट पर बसे हैं। यह दो प्रमुख नहरों राइन-मार्न तथा राइन-रोन, को जल प्रदान करती है। ये दोनों नहरें स्ट्रासबर्ग के समीप से निकाली गई हैं। (श्या० सु० श०)

ईलियद यूरोप के आदिकवि होमर द्वारा रचित महाकाव्य। इसका नामकरण ईलियन नगर (ट्राय) के युद्ध के वर्णन के कारण हुआ है। समग्र रचना २४ पुस्तकों में विभक्त है और इसमें १५,६९३ पंक्तियाँ हैं।

संक्षेप में इस महाकाव्य की कथावस्तु इस प्रकार है : ईलियन के राजा प्रियम के पुत्र पेरिस ने स्पार्टा के राजा मनेलाउस की पत्नी परम सुंदरी हेलेन का उसके पति की अनुपस्थिति में अपहरण कर लिया था। हेलन को पुनः प्राप्त करने तथा ईलियन को दंड देने के लिये मेनेलाउस और उसके भाई अगामेम्नन ने समस्त ग्रीक राजाओं और सामंतों की सेना एकत्र करके ईलियन के विरुद्ध अभियान आरंभ किया। परंतु इस अभियान के उपर्युक्त कारण, और उसके अंतिम परिणाम, अर्थात् ईलियन के *विध्वंस का प्रत्यक्ष वर्णन इस काव्य में नहीं है। इसका आरंभ तो ग्रीक* शिविर में काव्य के नायक एकिलीज के रोष से होता है। अगामेम्नन ने सूर्यदेव अपोलो के पुजारी की पुत्री को बलात्कारपूर्वक अपने पास रख छोड़ा है। परिणामतः ग्रीक शिविर में महामारी फैली हुई है। भविष्यद्रष्टा काल्कस ने बतलाया कि जब तक पुजारी की पुत्री को नहीं लौटाया जायगा तब तक महामारी नहीं रुकेगी। अगामेम्नन बड़ी कठिनाई से इसके लिये प्रस्तुत होता है पर इसके साथ ही वह बदले में एकिलीज के पास से एक दूसरी बेटी ब्रिसेइस को छीन लेता है। एकिलीज इस अपमान से क्षुब्ध और रुष्ट होकर युद्ध में न लड़ने की प्रतिज्ञा करता है। वह अपनी मीरमिदन (पिपीलिका) सेना और अपने मित्र पार्त्रोक्लस के साथ अपने डेरों में चला जाता है और किसी की मनुहार को नहीं सुनता। परिणामतः युद्ध में अगामेम्नन के पक्ष की किरकिरी होने लगती है। ग्रीक सेना भागकर अपने शिविर में शरण लेती है। परिस्थितियों से विवश होकर अगामेम्नन एकिलीज के पास अपने दूत भेजता है और उसके रोष

सेलजुक साम्राज्य की स्थापना के युग में सुलिपिकारों के सामने लिपि लिखने के अनेक तरीके वर्तमान थे पर उन सबका यही उद्देश्य था कि लेखों की सामग्री चाहे कुछ भी हो, उनकी सुंदरता आकर्षक हो तथा अक्षरों की सजावट मिल जुलकर नक्काशी का रूप धारण कर ले। इन लिपियों में कूफी का मुख्य स्थान था पर १२वीं सदी के अंत में नस्खी लेखनविधि का आरंभ हुआ। इस लेखनविधि की खास बात यह थी कि उसने कूफी लिपि के ठोसपन को दूर करके नाजुक मोर मुरकों को स्थान दिया। सुल्स लिपि का उद्देश्य अक्षरों के बढ़ाव चढ़ाव से आलंकारिकता बढ़ाना था। इस युग में खुशक़ती की प्रतियोगिता बढ़ी। १२वीं सदी के प्रसिद्ध खुशक़तनवीस नजमुद्दीन अबूबक्र मुहम्मद का कहना है कि उसे ७० लिपियों को आलंकारिक ढंग से लिखने का अभ्यास था। उसने खुशक़ती पर एक पुस्तक भी लिखी जिसमें नस्खी, सुल्स, रिका और मुहक्क़ लिपियों की लेखनशैली का वर्णन है। सुल्तान तुग़रिल ने स्वयं खुशक़ती की शिक्षा पाकर अपने हाथों से कुरान की दो प्रतिलिपियाँ कीं।

१४वीं सदी में खुशक़ती की और उन्नति हुई तथा नस्खी और कूफी का उपयोग मस्जिदों को सजाने में किया गया। ईरानी सूफियों ने तो लिपि को परमात्मा के ज्ञान का साधन ही मान लिया और इसी उद्देश्य से अनुप्राणित होकर उस युग के कुछ सुलिपिकों ने अपने खतों की ऐसी योजना निकाली कि वे सूफी मत के प्रतिबिंब से बन गए। मंगोल युग में काशान खुशक़तनवीसी का प्रधान केंद्र बना रहा।

नस्तलीक लिपि के परिवर्धन से तैमूरी युग को हम ईरानी खुशक़तनवीसी का स्वर्णयुग कह सकते हैं। तैमूर का एक मंत्री अमीर बद्रुद्दीन स्वयं खुशक़तनवीस था तथा सुल्तान के पोते इब्राहीम मिर्जा और बायसुंग़र (१३९९-१४३३) इस फन में माहिर थे। नस्तलीक लिपि अप्रयास ही आगे बढ़ी। उसमें एक ऐसी संस्कृति के दर्शन होते हैं जो आज तक ईरानी लिपि में बनी है। तैमूरी युग में दीवानी और दश्ती नाम की दो और लिपियाँ चलीं तथा तुग्रा का प्रयोग मस्जिदों के अभिलेखों के लिये किया गया।

कहा जाता है कि नस्तलीक चलाने का श्रेय तबरीज़ के मीर अली को है जो तैमूर की नौकरी में थे। उनके पुत्र अब्दुल्ला ने उस लिपि की और उन्नति की। अब्दुल्ला के दो शागिर्द थे—मौलाना ज़फ़र अलतबरीज़ी और मौलाना अज़हर तबरीज़ी (मृ० १४७५-७६)। मौलाना अज़हर ने, जो स्वयं बड़े सैलानी भी थे, इस लिपि का खूब प्रचार किया। उनके प्रधान शिष्य सुल्तान अली इब्नमुहम्मद अल-मशहदी, जो हेरात के सुल्तान हुसेन मिर्जा (१४७०-१५०६) की सेवा में थे, अपनी शैली के लिये विख्यात थे। ट्रांस-आक्सियाना के कुछ खुशक़तनवीसों ने नस्तलीक को एक नई दिशा देनी चाही, पर सुल्तान अली के प्रयत्न से उनकी कुछ न चल पाई। १५०७ में हिरात के उजबेगों के हाथ पड़ जाने पर सुल्तान अली ने विजेताओं की सेवा स्वीकार कर ली और मीर अली अल-हुसेनी बुखारा चले गए जहाँ उन्होंने मीर अली की नस्तलीक शैली की नींव डाली।

१४२० में शीराज़ में महमूद इब्न मुर्तज़ा अल-कातिब अल-हुसैनी नस्तलीक के प्रसिद्ध लेखक हुए। एक दूसरे शीराज़ी याक़ूब इब्नहसन ने १४५४ में हिंदुस्तान आकर खुशक़तनवीसी पर तुहफ़ात-उल-मुहिब्बीन नामक एक ग्रंथ लिखा।

सफावी युग में ईरानी खुशक़तनवीसी में कोई हेर फेर नहीं हुआ पर इसमें संदेह नहीं कि खुशक़तनवीसों ने सफावी युग की चित्रकला और वास्तु पर काफी प्रभाव डाला। तबरीज़ के शाह महमूद नैशापुरी (मृ० १५४५) शाह इस्माईल के अधीन प्रसिद्ध खुशक़तनवीस थे। इनके हाथ की लिखी शाहनामा और खमसे की प्रतियाँ अब भी मौजूद हैं। बाबा शाह इस्फ़हानी (मृ० १६०३-४) इस युग के प्रसिद्ध सुलिपिक थे। वे तुर्की से हिरात में आकर बसे और वहाँ से तबरीज़ में। शाह अब्बास प्रथम के समय के उच्च कोटि के सुलेखकों में अली रिज़ा अब्बासी (जो चित्रकार रिज़ा अब्बासी से भिन्न हैं) का अपना स्थान था।

१७वीं सदी के मध्य में हाज्जी खलीफा (१६०८-५७) ने खुशक़तनवीसी पर कश्फ़अज़-जुनून लिखकर ईरानी सुलेखन के इतिहास और सिद्धांतों पर प्रकाश डाला। इसी युग में नस्तलीक लिपि के एक रूप शिकस्ता का जन्म हुआ।

१८वीं-१९वीं सदी में ईरानी चित्रकला तो रूढ़िवाद के चक्कर में पड़कर अपना अस्तित्व खो बैठी पर सुलेखन कला की माँग बनी रही। १८वीं सदी में शफीआ के प्रयत्न से शिकस्ता की भी सुलिपियों में गणना होने लगी। १९वीं सदी में भी मिर्ज़ा अली मुहम्मद-ए-बाब (१८२१-५०) ने बाबी संप्रदाय चलाया तथा खत्त-ए-बदी यानी 'नई लेखनशैली' को जन्म दिया जिसका संबंध अर्मीनी अक्षरों से है, जिसे कुछ बाबी ही समझ सकते थे। बाद में बहाइयों ने खत्तए-तंज़ीली यानी 'दर्शक लिपि' चलाई जिसका लघुलिपि होने से अधिक प्रचार नहीं हुआ। पर बहाई खुशक़तनवीसों का ध्यान शिकस्ता नस्तलीक की ओर अधिक था तथा प्रसिद्ध बहाई सुलेखक मुश्कीं कलम के खतों की आज दिन भी माँग है।

ईरान में खुशक़तनवीसी आरंभिक काल से ही धार्मिक भावनाओं का चेतन अथवा अचेतन रूप में प्रतीक थी। कालांतर में लिपि ने मंत्र-शक्ति का रूप ग्रहण कर लिया तथा उसका प्रभाव ईरानी कला के सब अंगों पर पड़ने लगा। लिपि केवल आलंकारिकता के लिये ही नहीं रह गई, वह अपनी शान शौकत, तरलता और सुंदरता में अपने निजस्व के लिये भी प्रसिद्ध हो गई, जिसके फलस्वरूप अभिलेख सब कलाओं के अंग बन गए। वास्तु के अलंकरण में अभिलेखों के उत्खनन से उनके बड़े पैमाने में होने से अधिक सजीवता और सफाई आई जो कागज के परिमित पैमाने पर संभव नहीं थी। इमारतों पर स्थान काफी होने से कूफ़ी की अलंकारिकता बढ़ाने का सुयोग लेखकों को मिला, पर इमारती लिखाई होने से उसमें इमारती उपयोग की सीमाएँ आ गई और इसी वजह से ऐसे अक्षरों की कल्पना की गई जो चतुष्कोणों में ठीक से बैठ सकें तथा अलंकरणों में घुलमिल जा सकें। (मो० चं०)

ईरानी भाषा भारत-यूरोपीय भाषापरिवार की शाखा हिंद-ईरानी की उपशाखा, ईरानी, भारतीय उपशाखा की भाँति ही महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में यह प्राचीन फारसी (पारसी) के रूप में एक राजकीय भाषा थी और अवेस्ती के रूप में धार्मिक भाषा। मध्य ईरानी के काल में दो प्रभुत जनभाषाएँ विकसित हुई, पूर्व प्रदेश में सोग्दी और पश्चिमी प्रदेश में पहलवी। इनके अतिरिक्त फारसी बहुत समय तक एशिया के बड़े भूभाग में संस्कृति की भाषा रही।

प्राचीन फारसी ईरान के दक्षिण-पश्चिमी कोने की भाषा थी। इसका परिचय हमें कीलाक्षरों में खुदे हुए हख़ामनी बादशाहों के अभिलेखों से मिलता है। इनकी लिपि संभवत: अक्कदी लिपि से संबद्ध है। सबसे पुराना अभिलेख अरिय-रम्न (६१०-५८० ई० पू०) का बताया जाता है, किंतु सबसे महत्व के लेख बादशाह दारा (५२०-४८६ ई० पू०) के हैं जो उसके साम्राज्य में सर्वत्र पाए जाते हैं। इनमें भी बिहिस्तून का अभिलेख सर्वप्रसिद्ध है। प्राचीन फारसी के अतिरिक्त ये लेख अन्य दो भाषाओं (एलमी और बेबीलोनी) में भी पाए जाते हैं।

अवेस्ती धर्मग्रंथ की भाषा है। अवेस्ता अहुरमज़्द के उपासक पारसी लोगों का धर्मग्रंथ है। इसमें भिन्न भिन्न कालों में रचित उपासना और प्रार्थना के सूक्त पाए जाते हैं। ऋग्वेद की भाँति अवेस्ता भी श्रुति-परंपरा पर ही निर्भर थी और यह पहलवी वर्णमाला में सासानी बादशाहों के समय में लेखबद्ध की गई। विद्वान् इसके प्राचीन भागों का काल ई० पू० आठवीं सदी निर्धारित करते हैं। यह ईरान के पूर्वी भाग की भाषा थी। प्राचीन ईरानी का अवेस्ती और प्राचीन फारसी को छोड़कर हमें और कोई लेख नहीं मिलता।

मध्य ईरानी के दो समुदाय हैं: एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। पश्चिमी मध्य ईरानी को पहलवी कहते हैं। इस शब्द का संबंध पहलवीक् जाति से समझा जाता है। यह सासानी साम्राज्य (२२६ ई० पू०—६५२ ई०) की राजभाषा थी और इसमें लिखित बहुत से धार्मिक तथा अन्य ग्रंथ मिलते हैं। इनकी लिपि अरमीनी से प्रभूत तथा प्रभावित मालूम होती है।

मध्य ईरानी की कई भाषाओं के अभिलेख और पुस्तकें अभी ५०-६० वर्ष पूर्व तुर्फ़ान (पूर्वी तुर्किस्तान) में प्राप्त हुई हैं। इनमें पारथी भाषा उल्लेखनीय है। मध्यकालीन फारसी भी इसी समुदाय की है। इसमें

सासानी बादशाहों के अभिलेख मिलते हैं। यही भाषा पजंद नाम से अवेस्ती धर्म की पुस्तकों के लिये भी प्रयोग में आई है।

मध्य ईरानी के पूर्वी समुदाय में पूर्वी तुर्किस्तान में प्राप्त हुए साहित्य की भाषाएँ हैं। इनमें बुखारा और समरकंद के क्षेत्र की प्राचीन भाषा सोग्दी है जो एशिया के मध्यवर्ती विस्तृत क्षेत्र की भाषा रही होगी। यह मंगोलिया से लेकर तिब्बत के सीमाप्रांत तक फैली हुई थी। इसमें बौद्ध धर्मग्रंथ (बहुधा चीनी भाषा से अनूदित), ईसाई धर्मग्रंथ (सीरोयाई भाषा से अनूदित तथा मौलिक) और मनोची ग्रंथ मिलते हैं। सबसे पुराने ग्रंथों का समय ईसवी चौथी शती होगा।

सोग्दी के अतिरिक्त इस समुदाय की दूसरी महत्व की भाषा खोतानी है। इसे सक भी कहते हैं। इसमें बहुत से धर्मग्रंथ आठवीं से १०वीं शती के लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। इनमें बहुत से बौद्धधर्म संबंधी हैं। लिपि सबकी ब्राह्मी है और शब्दावली में प्राकृत के बहुत से शब्द मिलते हैं।

आधुनिक ईरानी की सबसे महत्वपूर्ण भाषा फारसी है। यह अरबी लिपि में लिखी जाती है। यह अफगानिस्तान से लेकर पश्चिम के काफी बड़े भूप्रदेश में संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा है। इसमें आठवीं शती ई० से लेकर प्रभूत साहित्य का सृजन हुआ है।

गठन की दृष्टि से पामीरी, कुर्दी, बलोची और पश्तो भी ईरानी उपशाखा के अंतर्गत हैं।

विस्तार की दृष्टि से हिंद-ईरानी शाखा की तीन भाषाओं ने महत्व प्राप्त किया—संस्कृत, पालि और फारसी, और ये तीनों सभ्यता और संस्कृति की प्रचारक रहीं। ईरानी उपशाखा में फारसी सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाषा है।

सं० ग्रं०—ए० मेइए : ले लाँग दु माँद (पेरिस, १९५२)।

(बा० रा० स०)

ईरी झील, उत्तरी अमरीका की बड़ी झीलों में सबसे दक्षिणवाली है, जो अ० ४१° ३०' उ० एवं ४२° ५२' उ० तथा दे० ७८° ५३' प० एवं ८३° २५' प० के बीच, ह्यूरन तथा ओंटेरियो झीलों के मध्य स्थित है। इसके उत्तरी किनारे पर कनाडा की सीमा, दक्षिण-पूर्व में न्यूयार्क, पेनसिलवेनिया तथा ओहायो, पश्चिम में मिचिगन तथा ओहायो राज्यों की सीमा पड़ती है। इसकी अधिकतम लंबाई उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक २४५ मील, औसत चौड़ाई ५० मील (३८ से ५८ मील तक) तथा क्षेत्रफल ९,६०० वर्ग मील है। यह झील समुद्र की सतह से ५७३ फुट की ऊँचाई पर तथा ह्यूरन झील की सतह से ८ फुट नीचे है। इसके जल की अधिकतम गहराई २१० फुट, तथा औसत गहराई १०० फुट है। इसमें डिट्रॉयट नदी मिलती है तथा ओंटेरियो झील को छोड़कर अन्य सभी बड़ी झीलों का जल इसमें आता है। इनके सिवाय उत्तर से ग्रैंड नदी, पश्चिम से मॉमी, संडस्की एवं ह्यूरन तथा दक्षिण से कुयाहोगा नदियाँ मिलती हैं। ईरी के जल का निकास नायागरा नदी के द्वारा होता है जो ओंटेरियो झील में गिरती है। ईरी झील बड़ी झीलों में से सबसे छिछली और यातायात के लिये भयावह है क्योंकि नायागरा जलप्रपात दिन प्रति दिन पीछे की ओर हटता जा रहा है।

इस झील का व्यापारिक महत्व नहरों के निकल जाने से बहुत बढ़ गया है, जो पूर्व से पश्चिम जाने का मुख्य साधन हैं। नायागरा जलप्रपात के पास अटलांटिक सागर से सीधे आने में जलप्रपात के कारण जो असुविधा थी उसको वेलंड नहर दूर कर देती है। ईरी के तट पर सुंदर बंदरगाहों में बफेलो, ईरी, क्लीवलैंड, संडस्की तथा टोलेडो प्रमुख हैं, परंतु बड़े जहाजों के लिये ये उपयुक्त नहीं हैं। (श्या० सुं० श०)

ईरुला यह शब्द तमिल भाषा के ईरुल (=श्याम) शब्द से निकला है। दक्षिण भारत में नीलगिरि की पहाड़ियों पर निवास करनेवाली एक अत्यधिक श्यामवर्ण आदिम जाति का नाम ईरुला है। इसके विपरीत 'बडागा' सबसे सुंदर वर्णवाली आदिम जाति है। ईरुला लोग अपनी बोलचाल में अपभ्रंश तमिल का प्रयोग करते हैं तथा एक प्रकार के विष्णु-पूजक हैं। इस जाति में विवाह के समय एक भोज देने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष प्रथा नहीं है। इनके यहाँ मृतकों को गाड़ने की प्रथा है, गाड़ते समय शव को पद्मासनावस्था में एवं मस्तक को उत्तर की ओर करके रखा जाता है। ये लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, किंतु भविष्यवक्ता के रूप में इनका बड़ा आदर होता है। (श्या० सु० श०)

ईर्यापथ आस्रव जैनमत में वर्णित आस्रव का एक भेद। मन, वचन और काया की सहायता से आत्मप्रदेशों में गति होना जैन धर्म में 'योग' कहलाता है और इसी योग के माध्यम से आत्मा से कर्म की पुद्गलवर्गणाओं का जो संबंध होता है उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं : (१) सांपरायिक आस्रव तथा (२) ईर्यापथ आस्रव। सभी शरीरधारी आत्माओं को ज्ञानावरणादि कर्मों का (आयुकर्म के अतिरिक्त) हर समय बंध होता रहता है। मोह, माया, मद, क्रोध, लोभ आदि से ग्रस्त आत्माओं को सांपरायिक आस्रव (शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मों का होना) होता है और जो आत्माएँ क्रोधादि रहित हैं उन्हें ईर्यापथ आस्रव (फल न देनेवाले कर्मों का होना) होता है। (कै० चं० श०)

ईर्या समिति निरीक्षण के साथ गमन अर्थात् देख देखकर चलना। *जैनमतानुसार सूर्योदय के पश्चात् लोगों के आवागमन से मार्ग मर्दित* होने पर जैन मुनियों के लिये साढ़े तीन हाथ आगे देखकर चलने का नियम है। *यह नियम इस कारण रखा गया है* कि रास्ते पर घूमने फिरनेवाले कीड़े फतिंगे दिखाई पड़ें और उन्हें कुचलने से बचाया जा सके।

(कै० चं० श०)

ईल फ्रांस की एक नदी है। इसका उद्गम जूरा की उत्तरी तलहटी में बेसल से दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह उत्तर-उत्तर-पूर्व की दिशा में राइन के समांतर बहती हुई स्ट्रासबर्ग से नौ मील नीचे बाईं ओर से राइन में प्रवेश करती है। इसकी लंबाई १२३ मील है। यह संकरी वासजेस *घाटी में बहनेवाली छोटी छोटी नदियों का जल ग्रहण करती है। कालमार* के समीप लाडहोफ से अपने (राइनवाल) संगम पर्यंत ५९ मील की दूरी तक यातायात के योग्य है। ऊपरी ऐलसस के मुख्य नगर, जैसे मालहाउज, कोलमार, श्लेस्टाट तथा स्ट्रासबर्ग इसी नदी के तट पर बसे हैं। यह दो प्रमुख नहरों राइन-मार्न तथा राइन-रोन, को जल प्रदान करती है। ये दोनों नहरें स्ट्रासबर्ग के समीप से निकाली गई हैं। (श्या० सु० श०)

ईलियद यूरोप के आदिकवि होमर द्वारा रचित महाकाव्य। इसका नामकरण ईलियन नगर (ट्राय) के युद्ध के वर्णन के कारण हुआ है। समग्र रचना २४ पुस्तकों में विभक्त है और इसमें १५,६९३ पंक्तियाँ हैं।

संक्षेप में इस महाकाव्य की कथावस्तु इस प्रकार है : ईलियन के राजा प्रियम के पुत्र पेरिस ने स्पार्टा के राजा मेनेलाउस की पत्नी परम सुंदरी हेलेन का उसके पति की अनुपस्थिति में अपहरण कर लिया था। हेलेन को पुनः प्राप्त करने तथा ईलियन को दंड देने के लिये मेनेलाउस और उसके भाई आगामेम्नन ने समस्त ग्रीक राजाओं और सामंतों की सेना एकत्र करके ईलियन के विरुद्ध अभियान आरंभ किया। परंतु इस अभियान के उपर्युक्त कारण, और उसके अंतिम परिणाम, अर्थात् ईलियन के *विध्वंस का प्रत्यक्ष वर्णन इस काव्य में नहीं है। इसका आरंभ तो ग्रीक* शिविर में काव्य के नायक एकिलीज के रोष से होता है। अगामेम्नन ने सूर्यदेव अपोलो के पुजारी की पुत्री को बलात्कारपूर्वक अपने पास रख छोड़ा है। परिणामतः ग्रीक शिविर में महामारी फैली हुई है। भविष्यद्रष्टा काल्कस ने बतलाया कि जब तक पुजारी की पुत्री को नहीं लौटाया जायगा तब तक महामारी नहीं रुकेगी। अगामेम्नन बड़ी कठिनाई से इसके लिये प्रस्तुत होता है पर इसके साथ ही वह बदले में एकिलीज के पास से एक दूसरी बेटी ब्रिसेइस को छीन लेता है। एकिलीज इस अपमान से क्षुब्ध और रुष्ट होकर युद्ध में न लड़ने की प्रतिज्ञा करता है। वह अपनी मीरमिदन (पिपीलिका) सेना और अपने मित्र पात्रोक्लस के साथ अपने डेरों में चला जाता है और किसी की मनुहार को नहीं सुनता। परिणामतः युद्ध में अगामेम्नन के पक्ष की किरकिरी होने लगती है। ग्रीक सेना भागकर अपने शिविर में शरण लेती है। परिस्थितियों से विवश होकर अगामेम्नन एकिलीज के पास अपने दूत भेजता है और उसके रोष

के निवारण के लिये बहुत कुछ करने को तैयार हो जाता है। परंतु एकिलीज का रोष दूर नहीं होता और वह दूसरे दिन अपने घर लौट जाने की घोषणा करता है। पर वास्तव में वह अगामेम्नन की सेना की दुर्दशा देखने के लिये ठहरा रहता है। किंतु उसका मित्र पात्रोक्लस अपने पक्ष की इस दुर्दशा को देखकर खीझ उठता है और वह एकिलीज से युद्ध में लड़ने की आज्ञा प्राप्त कर लेता है। एकिलीज उसको अपना कवच भी दे देता है और अपने मोरमिदन सैनिकों को भी उसके साथ युद्ध करने के लिये भेज देता है। पात्रोक्लस ईलियन की सेना को खदेड़ देता है पर स्वयं अंत में वह ईलियन के महारथी हेक्तर द्वारा मार डाला जाता है। पात्रोक्लस के निधन का समाचार सुनकर एकिलीज शोक और क्रोध से पागल हो जाता है और अगामेम्नन से संधि करके नवीन कवच धारण कर हेक्तर से अपने मित्र का बदला लेने युद्धक्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। एकिलीज के युद्ध आरंभ करते ही पासा पलट जाता है। वह हेक्तर को मार डालता है और उसके पैर को अपने रथ के पिछले भाग में बाँधकर उसके शरीर को युद्धक्षेत्र में घसीटता है जिससे उसका सिर धूल में लुढ़कता चलता है। इसके पश्चात् पात्रोक्लस की अंत्येष्टि बड़े ठाट बाट के साथ की जाती है। एकिलीज हेक्तर के शव को अपने शिविर में ले आता है और निर्णय करता है कि उसका शरीर खंड खंड करके कुत्तों को खिला दिया जाय। हेक्तर का पिता ईलियन का राजा प्रियम उसके शिविर में अपने पुत्र का शव प्राप्त करने के लिये उपस्थित होता है। उसके विलाप से एकिलीज को अपने पिता का स्मरण हो आता है और उसका क्रोध दूर हो जाता है और वह करुणा से अभिभूत होकर हेक्तर का शव उसके पिता को दे देता है और साथ ही साथ १२ दिन के लिये युद्ध भी रोक दिया जाता है। हेक्तर की अंत्येष्टि के साथ ईलियद की समाप्ति हो जाती है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ईलियद के अंत में एक पंक्ति इस आशय की मिलती है कि हेक्तर की अंत्येष्टि के बाद अमेज़न (निस्तनी) नामक नारी योद्धाओं की रानी पैंथेसिलिया प्रियम की सहायता के लिये आई। इसी संकेत के आधार पर स्मर्ना के क्विंतुस नामक कवि ने १४ पुस्तकों में ईलियद का पूरक काव्य लिखा था। आधुनिक समय में श्री अरविंद घोष ने भी अपने जीवन की संध्या में मात्रिक वृत्त में ईलियन नामक ईलियद को पूर्ण करनेवाली रचना का अंग्रेजी भाषा में आरंभ किया था जो पूरी नहीं हो सकी। नवम पुस्तक की रचना के मध्य में ही उनको चिरसमाधि को उपलब्धि हो गई।

ईलियद में जिस युग की घटनाओं का उल्लेख है उसको वीरयुग कहते हैं। श्लीमान और डेर्फ़ेल्ट की ट्राय नगर की खुदाई के पश्चात् इस युग की सत्यता निर्विवाद सिद्ध हो चुकी थी। ई० पू० १३वीं और १२ शताब्दियाँ इस युग का काल मानी जाती हैं। पर ईलियद के रचनाकाल की सीमाएँ ई० पू० नवीं और सातवीं शताब्दियाँ हैं। होमर की रचनाओं से संबंध रखनेवाली समस्याएँ अत्यंत जटिल हैं। एक समय होमर के अस्तित्व तक पर संदेह किया जाने लगा था। पर अब स्थिति अधिक अनुकूल हो चली है, यद्यपि अब भी होमर के महाकाव्य एक विकासक्रम की चरम परिणति माने जाते हैं जिनमें एक लोकोत्तर प्रतिभा का कौशल स्पष्ट लक्षित होता है।

ईलियद में महाकाव्य की दृष्टि से सरलता और कविकर्म का अभूतपूर्व सामंजस्य है। नीति की दृष्टि से असाधारण काम और क्रोध के विध्वंसकारी परिणाम का प्रदर्शन जैसा इस काव्य में हुआ है वैसा अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। इसके पुरुष पात्रों में अगामेम्नन, एकिलीज, पात्रोक्लस, मेनेलाउस, प्रियम, पेरिस और हेक्तर उल्लेखनीय हैं। स्त्री पात्रों में हेलेन, हेकुबा, आंद्रोमाकी इत्यादि महान् हैं। युद्ध में मनुष्य और देवता सभी भाग लेते हैं, कहीं मनुष्य गुणों में देवताओं से ऊँचे उठ जाते हैं तो कहीं देवता लोग मानवीय दुर्बलताओं के शिकार होते दृष्टिगोचर होते हैं एवं परिहास के पात्र बनते हैं। भारतीय महाकाव्यों के साथ ईलियद की अनेक बातें मेल खाती हैं, जिनमें हेलेन का अपहरण और ईलियन का दहन सीताहरण और लंकादहन से स्पष्ट सादृश्य रखते हैं। संभवतः इसी कारण मेगस्थनीज को भारत में होमर के महाकाव्यों के अस्तित्व का भ्रम हुआ था।

होमर के अनुवाद बहुत हैं परंतु उसका अनुवाद, जैसा प्रत्येक उच्च कोटि की मौलिक रचना का अनुवाद हुआ करता है, एक समस्या है। यदि अनुवादक सरलता पर दृष्टि रखता है तो होमर के कवित्व को गँवा बैठता है और कवित्व को पकड़ना चाहता है तो सरलता काफूर हो जाती है।

सं०ग्रं०—मूलमात्र : मुनरो और एलेन का आक्सफोर्ड का संस्करण। सानुवाद : लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी का संस्करण। सुलभ सस्ते अनुवाद : रिव्यू पेंग्विन और राउज (मेंटर) के संस्करण।

आलोचना : गिल्बर्ट मरे, ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर; नौर्वुड : राइटर्स ऑव ग्रीस; बाउरा : ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर।) (भो० ना० श०)

ईलियन् (अथवा ईलियानुस् ताक्तिकुस्) ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी का एक यूनानी विद्वान् जो रोम में रहता था और जिसने युद्धविद्या के सिद्धांत (ताक्तिके थियोरिया) नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ हाद्रियान् अथवा त्राजान नामक रोमन सम्राट् को समर्पित किया गया था। इसमें व्यायाम और युद्ध संबंधी उन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है जो सिकंदर के ग्रीक उत्तराधिकारियों द्वारा व्यवहृत होते थे। इस ग्रंथ में पूर्वाचार्यों के मतों का विवेचनात्मक वर्णन और व्यायाम संबंधी सूक्ष्म विवरण मिलता है। इसका अनुवाद अरबी में भी हुआ और अरबों के ऊपर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। स्पेन और हालैंड की १६वीं शताब्दी की युद्धविद्या पर भी इस रचना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(भो० ना० श०)

ईवाँ तृतीय मास्कोवी का ग्रांड ड्यूक। जन्म २२ जनवरी, १४४०; मृत्यु २६ अक्टूबर, १५०५। पिता वासिली द्वितीय के जीवनकाल में ही सहशासक घोषित किया गया, जिससे अन्य राजकुमार उसका स्थान न छीन सकें। रूस के इतिहास में यह अत्यधिक प्रसिद्ध है और "ईवाँ महान्" के नाम से विख्यात है। इसने मास्को के राज्य का विस्तार कर उसे पहले से तीन गुना कर दिया।

१४७१-७८ की दो लड़ाइयों में इसने नोवगोरोद को जीता। हैप्सबर्ग पवित्र रोमन सम्राट् द्वारा दी 'राजा' की उपाधि अस्वीकृत करते हुए इसने कहा, "अपने देश में हम अपने पूर्वजों के समय से प्रभुत्वसंपन्न रहे हैं और ईश्वर से हमें प्रभुत्वशक्ति प्राप्त हुई है।" धमकी या युद्ध द्वारा उसने यारस्लावी (१४६३), रोस्तोव (१४७४) और त्वेर (१४८५) हस्तगत कर लिए। १४८० में तातार का खिराज देना बंद कर तातारों की दासता का जुआ उसने उतार फेंका।

रूसी जाति का प्रथम सरदार तो यह पहले से ही था, बीजांतीनी साम्राज्य के अंतिम शासक के भाई थामस पालो आलोगस की कन्या सोफिया (जोए) के साथ दूसरा विवाह कर मास्को की प्रतिष्ठा और उसकी अधिसत्ता में उसने वृद्धि की और बीजांतियम के द्विशीर्ष गृध्र (ईगल) को मास्को के राजचिह्न में स्थान देकर ग्रीक ईसाई धर्म का संरक्षक होने का अपना दावा स्थापित किया। इस विवाह के फलस्वरूप मास्को में पूर्वी दरबारी ढंग और शानशौकत को स्थान मिला और राजा प्रजा से दूर हो गया। वह अपने को 'ओतोक्रात्' (स्वेच्छाचारी) कहता था और विदेशी पत्रव्यवहार में अपने को 'जार' लिखता था।

रूस का प्रवेश बाल्टिक सागर में हो जाय, इस दृष्टि से उसने लिथुआनिया लेने का प्रयत्न किया, किंतु स्वीडन और पोलैंड के कारण उसका यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। दक्षिण में उसने अपना राज्य वोल्गा के मध्य तक फैलाया और तातारों को हराया। सरदारों की सत्ता घटाकर ईवाँ ने रूसी विधि (कानून) का संहिताकरण किया। (अ० कु० वि०)

ईवाँ (भीषण) चतुर्थ मास्कोवी का जार, वासिल तृतीय का पुत्र, जन्म २५ अगस्त, १५३०; मृत्यु १७ मार्च, १५८४। तीन साल की अवस्था में ही राजा घोषित। पहले माता, फिर सरदारों की अभिभावकता रही। १४ वर्ष की आयु में राज्यसत्ता ग्रहण की। बचपन में अपने प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण सरदारों से इसको घृणा हो गई थी, इसने अपने सलाहकार निम्न वर्ग के योग्य व्यक्तियों को चुना।

आंतरिक सुधार और बाहरी सफलता के साथ इसका शासन आरंभ हुआ। जार और सरदारों में शुरू से मतभेद रहा। प्रिंस कुरवस्की के पोलैंड भाग जाने से उनके प्रति इसका संदेह और अधिक बढ़ गया। राजद्रोह के प्रयत्नों को उत्पीड़न, फाँसी और कारादंड द्वारा कुचलने की इसने कोशिश की। १५५० में राष्ट्रीय परिषद् (जेमस्की सोबोर) का पहला अधिवेशन बुलाया। काजम के खानों को १५५२ में हराया, अस्त्राखान (१५५४) पर अधिकार किया, लिवोनिया और इस्तोनिया को विजय की और लिथुआनिया की विजय के लिये सेना भेजी, किंतु पोलैंड और स्वीडन के विरोध के कारण सफलता नहीं मिली। कज्जाकों की सहायता से साइबेरिया जीत लिया गया।

ईवाँ चतुर्थ का व्यक्तित्व राजनीतिक बुद्धिमत्ता, सभ्यता और बर्बरता, क्रूरता और अनैतिकता का अद्भुत मिश्रण था। संकटों और दुःखों के कारण पत्नी और पुत्र की मृत्यु के बाद विशेष रूप से यह क्रूर, शक्की और उन्मत्त हो गया। नोवगोरोद को राजद्रोह के संदेह मात्र से धूलिसात् करना, राज्य के उत्तराधिकारी एवं प्रिय पुत्र ईवाँ को अनियंत्रित गुस्से में मार डालना, इसके पागलपन के उदाहरण हैं। १५६४-१५८० के मध्य दो बार इसने सिंहासन छोड़ने की इच्छा प्रकट की, किंतु अनुरोध करने पर राजा बना रहा। (अ० कु० वि०)

ईवाल, योहान (१७४३-१७८१) डेनमार्क के सबसे महान् कवि। कोपेनहेगेन में जन्म। १५ साल की उम्र में शादी कर ली और सेना में भरती हो गए। सप्तवर्षीय युद्ध से लौटकर फिर उन्होंने पढ़ा लिखा। २३ वर्ष की उम्र में उन्होंने अपने बादशाह के मरने पर जो मरसिया लिखा वह असाधारण सुंदर माना जाता है। उनका नाटचकाव्य 'आदम ओग ईवा' डेनमार्क की सुंदरतम रचनाओं में से है। ईवाल ने ही पहला मौलिक दुःखांत नाटक लिखा है। उसके बाद अगले १० वर्षों में वे एक से एक सुंदर रचनाएँ प्रकाशित करते गए। १७७९ ई० में उन्होंने अपनी सबसे सुंदर रचना गेय नाटिका 'फिसिकेर्न' लिखी जिसमें डेनमार्क का राष्ट्रीय गान प्रस्तुत हुआ। इसने और 'बालदेर की मृत्यु' ने उनकी ख्याति डेनमार्क की सीमाओं के बाहर पहुँचा दी। उनकी शैली में बड़ी ताजगी और रवानी है और उन्होंने डेनमार्क के साहित्य को कुछ वह दिया है जो वर्ड्सवर्थ ने अंग्रेजी को और गेटे तथा शिलेर ने जर्मन साहित्य को। घोड़े से गिरकर वे पंगु हो गए और अंत में क्षय रोग के ग्रास बने। (ओं० ना० उ०)

ईशानवर्मन् यह कन्नौज का मौखरी नृपति था। उसके पहले के तीन राजा अधिकतर उत्तरयुगीन मागध गुप्तों के सामंत नृपति रहे थे। ईशानवर्मन् ने उत्तर गुप्तों का आधिपत्य कन्नौज से हटाकर अपनी स्वतंत्रता घोषित की। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि उसने आंध्रों को परास्त किया और गौड़ों को अपनी सीमा के भीतर रहने को मजबूर किया। इसमें संदेह नहीं कि यह प्रशस्ति मात्र प्रशस्ति है क्योंकि ईशानवर्मन् के आंध्रों अथवा गौड़ राजा के संपर्क में आने की संभावना अत्यंत कम थी। गौड़ों और मौखरियों के बीच तो स्वयं उत्तरकालीन गुप्त ही थे जिनके राजा कुमारगुप्त ने, जैसा उसके अभिलेख से विदित है, ईशानवर्मन् को परास्त कर उसके राज्य का कुछ भाग छीन लिया था। (ओं० ना० उ०)

ईशावास्य उपनिषदों में यही उपनिषद् सर्वप्रथम गिना जाता है। इस उपनिषद् के आरंभ में यह वाक्य आता है—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'; और इसी आद्य पद के कारण यह ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् के नाम से विख्यात है। यह शुक्लयजुर्वेद की मंत्रसंहिता का ४०वाँ अध्याय है। उपनिषद् सामान्यतः ब्राह्मणों के अंतर्गत 'आरण्यक' के भाग हैं, परंतु यही एक उपनिषद् ऐसा है जो ब्राह्मणों से भी पूर्ववर्ती माने जानेवाले संहिताभाग का अंश है। इस दृष्टि से यह आद्य उपनिषद् होने का गौरव धारण करता है। इस उपनिषद् में केवल १८ मंत्र हैं जिन्हें वेदांत का निचोड़ मानने में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

इस उपनिषद् का तात्पर्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति है अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय के द्वारा, इस विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद को दूर करने के लिये आदिम दोनों मंत्र नितांत जागरूक हैं। प्रथम मंत्र में इस जगत् को त्याग के द्वारा भोगने तथा दूसरे के धन पर लोभदृष्टि न डालने का उपदेश है (तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्) और दूसरे मंत्र में इसी प्रकार 'निष्काम भाव से कर्म करने तथा जीवन बिताने का स्पष्ट उपदेश है :

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।' इस मंत्र का स्पष्ट तात्पर्य निष्काम कर्म की उपासना है। श्रीमद्भगवद्गीता का जीवनदर्शन इसी मंत्र के विपुल भाष्य पर आश्रित माना जाता है। इसके अनंतर आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है (मंत्र ४) तथा एकत्व दृष्टि रखनेवाले तत्ववेत्ता के जीवन्मुक्त स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है (मंत्र ५)। इस उपनिषद् में संभूति तथा असंभूति, विद्या तथा अविद्या के परस्पर भेद का ही स्पष्ट निदर्शन है। अंत में आदित्यगत पुरुष के साथ आत्मा की एकता प्रतिपादित कर कर्मी और उपासक को संसार के दुःखों से कैसे मोक्ष प्राप्त होता है, इसका भी निर्देश किया गया है। फलतः लघुकाय होने पर भी यह उपनिषद् अपनी नवीन दृष्टि के कारण उपनिषदों में नितांत महनीय माना गया है। (ब० उ०)

ईश्वर शब्द भारतीय दर्शन तथा अध्यात्म शास्त्रों में जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहारकर्ता, जीवों को कर्मफलप्रदाता तथा दुःखमय जगत् से उनके उद्धारकर्ता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कभी कभी वह गुरु भी माना गया है। न्यायवैशेषिकादि शास्त्रों का प्रायः यही अभिप्राय है—एको विभुः सर्वविद् एकबुद्धिसमाश्रयः। शाश्वत ईश्वराख्यः। प्रमाणमिष्टो जगतो विधाता स्वर्गापवर्गादि।

पातंजल योगशास्त्र में भी ईश्वर परमगुरु या विश्वगुरु के रूप में माना गया है। इस मत में जीवों के लिये तारकज्ञानप्रदाता ईश्वर ही है। परंतु जगत् का सृष्टिकर्ता वह नहीं है। इस मत में सृष्टि आदि व्यापार प्रकृति-पुरुष के संयोग से स्वभावतः होते हैं। ईश्वर की उपाधि प्रकृष्ट सत्व है। यह षड्विंशतत्व रूप पुरुषविशेष के नाम से प्रसिद्ध है। अविद्या आदि पाँच क्लेश, शुभाशुभ कर्म, जाति, आयु और भोग का विपाक तथा आशय का संस्कार ईश्वर का स्पर्श नहीं कर सकते। पंचविंशतत्व रूप पुरुषतत्व से वह विलक्षण है। वह सदा मुक्त और सदा ही ऐश्वर्यसंपन्न है। निरीश्वर सांख्यों के मत में नित्यसिद्ध ईश्वर स्वीकृत नहीं है, परंतु उस मत में नित्येश्वर का स्वीकार न होने पर भी कार्येश्वर की सत्ता मानी जाती है। पुरुष विवेकख्याति का लाभ किए बिना ही वैराग्य के प्रकर्ष से जब प्रकृतिलीन हो जाता है तब उसे कैवल्यलाभ नहीं होता और उसका पुनः उद्भव अभिनव सृष्टि में होता है। प्रलयावस्था के अनंतर वह पुरुष उद्बुद्ध होकर सर्वप्रथम सृष्टि के ऊर्ध्व में बुद्धिस्थरूप में प्रकाश को प्राप्त होता है। वह सृष्टि का अधिकारी पुरुष है और अस्मिता समाधि में स्थित रहता है।

योगी अस्मिता नामक संप्रज्ञात समाधि में उसी के साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। उसका ऐश्वरिक जीवन अधिकार संपद् रूपी जीवन्मुक्ति की ही एक विशेष अवस्था है। प्रारब्ध की समाप्ति पर उसकी कैवल्यमुक्ति हो जाती है। नैयायिक या वैशेषिकसंगत ईश्वर आत्मरूपी द्रव्य है और वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसंपन्न परमात्मा के नाम से अभिहित है। उसकी इच्छादि शक्तियाँ भी अनंत हैं। वह सृष्टि का निमित्त कारण है। परमाणुपुंज सृष्टि के उपादान कारण हैं।

मीमांसक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। वे वेद को अपौरुषेय मानते हैं और जगत् की सामूहिक सृष्टि तथा प्रलय भी स्वीकार नहीं करते। उक्त मत में ईश्वर का स्थान न सृष्टिकर्ता के रूप में है और न ज्ञानदाता के रूप में।

वेदांत में ईश्वर सगुण ब्रह्म का ही नामांतर है। ब्रह्म विशुद्ध चिदानंद-स्वरूप निरुपाधि तथा निर्गुण है। मायोपहित दशा में ही चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है। चैतन्य का अविद्या से योग होने पर वह जीव हो जाता है। वेदांत में विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार ब्रह्म, ईश्वर तथा जीवतत्व के विषय में अवच्छेदवाद, प्रतिबिंबवाद, आभासवाद आदि मत स्वीकार किए गए हैं। उनके अनुसार ईश्वरकल्पना में भी भेद है।

शैव मत में शिव को नित्यसिद्ध ईश्वर या महेश्वर कहा जाता है। वह स्वरूपत चिदात्मक है और चित्-शक्ति-संपन्न है। उनमें सब शक्तियाँ निहित हैं। बिंदुरूप माया को उपादान रूप में ग्रहण कर शिव शुद्ध जगत् का निर्माण करते हैं। इसमें साक्षात्कर्तृत्व ईश्वर का ही है। तदुपरांत शिव माया के उपादान से अशुद्ध जगत् की रचना करते हैं, किंतु उसकी रचना साक्षात् उनके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत अनंतादि विद्येश्वरों द्वारा परंपरा से होती है। ये विद्येश्वर सांख्य के कार्येश्वर के सदृश हैं, परमेश्वर के तुल्य नहीं। विज्ञानाकल नामक विदग्ण माया तत्व का भेद कर उसके ऊपर विदेह तथा विकरण दशा में विद्यमान रहते हैं। ये सभी प्रकृति तथा माया से आत्मस्वरूप का भेदज्ञान प्राप्त कर कैवल्य अवस्था में विद्यमान रहते हैं। परंतु आणव मल या पशुत्व के निवृत्त न होने के कारण ये माया से मुक्त होकर भी शिवत्वलाभ नहीं कर पाते। परमेश्वर इस मल के परिपक्व होने पर उनके अनुसार श्रेष्ठ अधिकारियों पर अनुग्रह का संचार कर उन्हें वैंदव देह प्रदान कर ईश्वर पद पर स्थापित कर सृष्टि आदि पंचकृत्यों के संपादन का अधिकार भी प्रदान करता है। ऐसे ही अधिकारी ईश्वर होते हैं। इनमें जो प्रधान होते हैं वे ही व्यवहारजगत् में ईश्वर कहे जाते हैं। यह ईश्वर माया को क्षुब्ध कर मायिक उपादानों से ही अशुद्ध जगत् का निर्माण करता है और योग्य जीवों का अनुग्रहपूर्वक उद्धार करता है। ये ईश्वर अपना अपना अधिकार समाप्त कर शिवत्वलाभ करते हैं। निरीश्वर सांख्य के समस्त कार्येश्वर और यहाँ के मायाधिष्ठाता ईश्वर प्राय. एक ही प्रकार के हैं। इस अंश में द्वैत तथा अद्वैत शैव मत में विशेष भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि द्वैत मतों में परमेश्वर सृष्टि का निमित्त या कर्ता है, उसको चित्शक्ति कारण है और बिंदु उपादान है। कार्येश्वर भी प्राय. उसी प्रकार का है—ईश्वर निमित्त रूप से कर्ता है, वामादि नौ शक्तियाँ उसकी कारण हैं तथा माया उपादान है। अद्वैत मत में निमित्त और उपादान दोनों अभिन्न हैं, जैसा अद्वैत वेदांत में है।

वैष्णव संप्रदाय के रामानुज मत में ईश्वर चित् तथा अचित् दो तत्वों से विशिष्ट है। ईश्वर अंगी है और चित् तथा अचित् उसके अंग हैं। दोनों ही नित्य हैं। ईश्वर का ज्ञान, ऐश्वर्य, मंगलमय गुणावली तथा श्रीविग्रह सभी नित्य हैं। ये सभी अप्राकृत सत्वमय हैं। किसी किसी मत में वह चिदानंदमय है। गौडीय मत में ईश्वर सच्चिदानंदमय है और उसका विग्रह भी वैसा ही है। उसकी शक्तियाँ अंतरंग, बहिरंग और तटस्थ भेद से तीन प्रकार की हैं। अंतरंग शक्ति सत्, चित्, आनंद के अनुरूप संधिनी-संवित् तथा ह्लादिनीरूपा है। तटस्थ शक्ति जीवरूपा है। बहिरंगा-शक्ति मायारूपा है। उसका स्वरूप अद्वय ज्ञानतत्व है। परंतु ज्ञानी की दृष्टि से उसे अव्यक्तशक्ति ब्रह्म माना जाता है। योगी की दृष्टि में उसे परमात्मा कहा जाता है तथा भक्त की दृष्टि में भगवान् कहा जाता है, क्योंकि उसमें सब शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति रहती है। इस मत में भी कार्यमात्र के प्रति ईश्वर निमित्त तथा उपादान दोनों ही माना जाता है। ईश्वर चित्, अचित्, शरीरी और विभु है। उसका स्वरूप, धर्मभूत ज्ञान तथा विग्रह सभी विभु हैं। देश, काल तथा वस्तु का परिच्छेद उसमें नहीं है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसंपन्न है। वात्सल्य, औदार्य, कारुण्य, सौंदर्य आदि गुण उसमें सदा वर्तमान हैं।

श्री संप्रदाय के अनुसार ईश्वर के पाँच रूप हैं—पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतार। परमात्मा के द्वारा माया शक्ति में ईक्षण करने पर माया से जगत् की उत्पत्ति होती है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध वस्तुत परमात्मा के ही चार रूप हैं। ये चार व्यूह श्रीसंप्रदाय के अनुसार ही गौडीय संप्रदाय में भी माने जाते हैं। वासुदेव षाड्गुण्य विग्रह हैं परंतु संकर्षणादि में दो ही गुण हैं। इस मत के अनुसार भगवान् के पूर्ण रूप स्वयं श्रीकृष्ण हैं और उनके विलास नारायणरूपी भगवान् हैं। भगवान् के विलास परमात्मा हैं। विलास में स्वरूप एक ही रहता है, परंतु गुणों की न्यूनता रहती है। प्रकाश में स्वरूप तथा गुण दोनों ही समान रहते हैं।

गीता के अनुसार ईश्वर पुरुषोत्तम या उत्तम पुरुष कहा जाता है। वही परमात्मा है। क्षर और अक्षर पुरुषों से वह श्रेष्ठ है। उसके परमधाम में जिसकी गति होती है उसका फिर प्रत्यावर्तन नहीं होता। वह धाम स्वयंप्रकाश है। वहाँ चंद्र, सूर्य आदि का प्रकाश काम नहीं देता। सब भूतों के हृदय में वह परमेश्वर स्थित है और वही नियामक है।

प्राचीन काल से ही ईश्वरतत्व के विषय में विभिन्न ग्रंथों की रचना होती आई है। उनमें से विचारदृष्टि से श्रेष्ठ ग्रंथों में उदयनाचार्य की न्यायकुसुमांजलि है। इस ग्रंथ में पाँच स्तवक या विभाग हैं। इसमें युक्तियों के साथ ईश्वर की सत्ता प्रमाणित की गई है। चार्वाक, मीमांसक, जैन तथा बौद्ध ये सभी संप्रदाय ईश्वरतत्व को नहीं मानते। न्याय-कुसुमांजलि में नैयायिक दृष्टिकोण के अनुसार उक्त दर्शनों की विरोधी युक्तियों का खंडन किया गया है। उदयन के बाद गंगेशोपाध्याय ने भी तत्वचिंतामणि में ईश्वरानुमान के विषय में आलोचना की है। इसके अनंतर हरिदास तर्कवागीश, महादेव पुणतांबेकर आदि ने ईश्वरवाद पर छोटी छोटी पुस्तकें लिखी हैं।

रामानुज संप्रदाय में यामुन मुनि के सिद्धित्रय में ईश्वरसिद्धि एक प्रकरण है। लोकाचार्य के तत्वत्रय में तथा वेदांतदेशिक के तत्वमुक्ता-कलाप, न्यायपरिशुद्धि आदि में भी ईश्वरसिद्धि विवेचित है। यह प्रसिद्धि है कि खंडनखंडकार श्रीहर्ष ने भी 'ईश्वरसिद्धि' नामक कोई ग्रंथ लिखा था। शैव संप्रदाय में नरेश्वरपरीक्षा प्रसिद्ध ग्रंथ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी का स्थान भी अति उच्च है। इसके मूल में उत्पला-चार्य की कारिकाएँ हैं और उनपर अभिनवगुप्तादि विशिष्ट विद्वानों की टिप्पणियाँ तथा व्याख्याएँ हैं। बौद्ध तथा जैन संप्रदायों ने अपने विभिन्न ग्रंथों से ईश्वरवाद के खंडन का प्रयत्न किया है। ये लोग ईश्वर को नहीं मानते थे किंतु सर्वज्ञ को मानते थे। इसीलिये ईश्वरतत्व का खंडन कर सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये इन संप्रदायों द्वारा ग्रंथ लिखे गए। महापंडित रत्नकीर्ति का 'ईश्वर-साधन-दूषण' और उनके गुरु गौड़ीय ज्ञानश्री का 'ईश्वरवाददूषण' तथा 'वार्तिक शतश्लोकी' व्याख्यान प्रसिद्ध हैं। ज्ञानश्री विक्रमशील विहार के प्रसिद्ध द्वारपंडित थे। जैनों में अकलंक से लेकर अनेक आचार्यों ने इस विषय की आलोचना की है। सर्वज्ञसिद्धि के प्रसंग में बौद्ध विद्वान् रत्नकीर्ति का ग्रंथ महत्वपूर्ण है। मीमांसक कुमारिल ईश्वर तथा सर्वज्ञ दोनों का खंडन करते हैं। परवर्ती बौद्ध तथा जैन पंडितों ने सर्वज्ञखंडन के अंश में कुमारिल की युक्तियों का भी खंडन किया है। (गो० क०)

बाइबिल में कहीं भी ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन तो नहीं मिलता किंतु मनुष्यों के साथ ईश्वर के व्यवहार का जो इतिहास इसमें प्रस्तुत किया गया है उसपर ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके स्वरूप के विषय में ईसाइयों की धारणा आधारित है।

(१) बाइबिल के पूर्वार्ध का वर्ण्य विषय संसार की सृष्टि तथा यहूदियों का धार्मिक इतिहास है। उससे ईश्वर के विषय में निम्नलिखित शिक्षा मिलती है : एक ही ईश्वर है—अनादि और अनंत, सर्वशक्तिमान और अपरिवर्तनीय, विश्व का सृष्टिकर्ता, मनुष्य मात्र का आराध्य। वह सृष्ट संसार के परे होकर उससे अलग है तथा साथ साथ अपनी शक्ति से उसमें व्याप्त भी रहता है। कोई मूर्ति उसका स्वरूप व्यक्त करने में असमर्थ है। वह परमपावन होकर मनुष्य को पवित्र बनने का आदेश देता है, मनुष्य ईश्वरीय विधान ग्रहण कर ईश्वर की आराधना करे तथा ईश्वर के नियमा-नुसार अपना जीवन बितावे। जो ऐसा नहीं करता वह परलोक में दंडित होगा क्योंकि ईश्वर सब मनुष्यों का उनके कर्मों के अनुसार न्याय करेगा।

पाप के कारण मनुष्य की दुर्गति देखकर ईश्वर ने प्रारंभ में ही मुक्ति की प्रतिज्ञा की थी। उस मुक्ति का मार्ग तैयार करने के लिये उसने यहूदी जाति को अपनी ही प्रजा के रूप में ग्रहण किया तथा बहुत से नबियों को उत्पन्न करके उस जाति में शुद्ध एकेश्वरवाद बनाए रखा। यद्यपि बाइबिल के पूर्वार्ध में ईश्वर का परमपावन न्यायकर्ता का रूप प्रधान है, तथापि यहूदी जाति के साथ उसके व्यवहार के वर्णन में ईश्वर की दयालुता तथा सत्यप्रतिज्ञा पर भी बहुत ही बल दिया गया है।

(२) बाइबिल के उत्तरार्ध से पता चलता है कि ईसा ने ईश्वर के स्वरूप के विषय में एक नए रहस्य का उद्घाटन किया है। ईश्वर त्रियेक है, अर्थात् एक ही ईश्वर में तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा।

तीनों समान रूप से अनादि, अनंत और सर्वशक्तिमान् हैं क्योंकि वे तत्वतः एक हैं। ईश्वर के आभ्यंतर जीवन का वास्तविक स्वरूप है—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा का अनिर्वचनीय प्रेम। प्रेम से ही प्रेरित होकर ईश्वर ने मनुष्य को अपने आभ्यंतर जीवन का भागी बनाने के उद्देश्य से उसकी सृष्टि की थी किंतु प्रथम मनुष्य ने ईश्वर की इस योजना को ठुकरा दिया जिससे संसार में पाप का प्रवेश हुआ। मनुष्यों को पाप से मुक्त करने के लिये ईश्वर ईसा में अवतरित हुआ (द्र० अवतार) जिसमें ईश्वर का प्रेम और स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ईसा ने क्रूस पर मरकर मानव जाति के सब पापों का प्रायश्चित्त किया तथा मनुष्य मात्र के लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जो कोई सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करे वह ईसा के पुण्यफलों द्वारा पापक्षमा प्राप्त कर सकता है और अनंतकाल तक पिता-पुत्र-पवित्र आत्मा के आभ्यंतर जीवन का साझी बन सकता है (द्र० मुक्ति)। इस प्रकार ईश्वर का वास्तविक स्वरूप प्रेम ही है।' मनुष्य की दृष्टि से वह दयालु पिता है जिसके प्रति प्रेमपूर्ण आत्मसमर्पण होना चाहिए। बाइबिल के उत्तरार्ध में ईश्वर को लगभग ३०० बार पिता कहकर पुकारा गया है।

(३) बाइबिल के आधार पर ईसाइयों का विश्वास है कि मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर भी ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अपूर्ण होते हुए भी यह ज्ञान प्रामाणिक ही है। ईसाई धर्म का किसी एक दर्शन के साथ अनिवार्य संबंध तो नहीं है, किंतु ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप ईसाई तत्वज्ञ प्रायः अफलातून अथवा अरस्तू के दर्शन का सहारा लेकर ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। ईश्वर का अस्तित्व प्रायः कार्य-कारण-संबंध के आधार पर प्रमाणित किया …ता है।

ईश्वर निर्गुण, अमूर्त, अभौतिक है। वह अपरिवर्तनीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनंत और अनादि है। वह सृष्टि के परे होते हुए भी इसमें व्याप्त रहता है; वह अंतर्यामी है। ईसाई दार्शनिक एक ओर तो सर्वेश्वरवाद तथा अद्वैत का विरोध करते हुए सिखलाते हैं कि समस्त सृष्टि (अतः जीवात्मा भी) तत्वतः ईश्वर से भिन्न है, दूसरी ओर वे अद्वैत को भी पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी धारणा है कि समस्त सृष्टि अपने अस्तित्व के लिये निरंतर ईश्वर पर निर्भर रहती है।

सं० ग्रं०—ती० दनोलू (T. Dielon) : गॉड ऐंड द वेज ऑव नोइंग, न्यूयार्क, १९५७; ई० लीरॉय : ल प्रोब्लम द द्यू (E. Leroy : Le Probleme De Dieu), पेरिस, १९२९। (का० बु०)

ईश्वरकृष्ण एक प्रसिद्ध सांख्य दर्शनकार, जिनका काल विवादग्रस्त है : डा० तकाकुसू के अनुसार उनका समय ४५० ई० के लगभग और डा० वि० स्मिथ के अनुसार २४० ई० के आसपास होना चाहिए। यह प्रायः निश्चित है कि वे बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु के गुरु के समकालीन एवं प्रतिपक्षी थे। ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्यकारिका' सांख्य दर्शन पर उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन एवं लोकप्रिय ग्रंथ है।

'कारिका' में ईश्वरकृष्ण अपने को क्रमशः आसुरि एवं पंचशिखा के द्वारा सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल का शिष्य बताते हैं। वह मूलतः अनीश्वरवादी हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों से उनके निराकरण के उपायों की खोज आरंभ होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द यथार्थ ज्ञान के स्रोत हैं। इन ज्ञानस्रोतों से 'प्रकृति' और 'पुरुष' की नित्यता एवं मूलत्व सिद्ध होता है। मूल 'प्रकृति' की सूक्ष्मता से उसका प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव है, किंतु अपनी 'विकृति' (परिणाम) महत् आदि के रूप में वह बोधगम्य है। 'परिणाम', चूँकि उत्पन्न होता है, अनित्य, अमम तथा गतियुक्त है, ईश्वरकृष्ण के अनुसार सुख-दुःख-मोह का स्वभाव 'प्रकृति' का है, पुरुष का नहीं। अतः मोक्ष 'प्रकृति विकृति' का होता है, पुरुष का नहीं। सत्व, रज तथा तम त्रिगुण प्रकृति के हैं और क्रमशः सात्विकता, क्रिया तथा जड़ता के कारण हैं। इन गुणों का कार्य दीपक की तरह मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वरकृष्ण 'पुरुष' को अचेतन प्रकृति का 'विपर्यय' बताते हैं, अतः 'पुरुष', 'प्रकृति' की अचेतन क्रियाओं का चेतन द्रष्टा (साक्षी) है, कर्ता नहीं। 'पुरुष' का अस्तित्व शरीरसंघात के परार्थत्व, अधिष्ठान और मोक्ष प्रकृति से सिद्ध है। साथ ही, जन्म मरण एवं उपकरणों के असाम्य और एक साथ प्रकृति के अभाव से 'पुरुष' का अनेकत्व भी सिद्ध है। सारांश में, पुरुष की सांसारिक अवस्था प्रकृति की क्रियाओं के प्रति उसकी मोहदृष्टि तथा 'कैवल्य' (मोक्ष) की अवस्था प्रकृति से 'निवृत्ति' या प्रकृति के स्व-स्वरूप का पृथकत्व ज्ञान है।

सं० ग्रं०—ईश्वरकृष्ण : 'सांख्यकारिका'; 'कारिका' पर वाचस्पति मिश्र की टीका; जे० एन० मुकर्जी : सांख्य ऑर द थियरी ऑव रियलिटी; ई० एच० जान्स्टन : अर्ली सांख्य; एन० सी० बनर्जी : द सांख्य फ़िलासफ़ी; रिचर्ड ग्रेस : द सांख्य फ़िलॉसफ़ी। (श्री० स०)

ईश्वरचंद्र विद्यासागर (१८२०–१८९१), मेदिनीपुर जिले के वीरसिंह गाँव में अति निर्धन परिवार में जन्म; पिता का नाम ठाकुरदास बंद्योपाध्याय था। तीक्ष्णबुद्धि पुत्र की गरीब पिता ने विद्या के प्रति रुचि ही विरासत में प्रदान की थी। नौ वर्ष की अवस्था में बालक ने पिता के साथ पैदल कलकत्ता जाकर संस्कृत कालेज में विद्यारंभ किया। शारीरिक अस्वस्थता, घोर आर्थिक कष्ट तथा गृहकार्य के बावजूद ईश्वरचंद्र ने प्रायः प्रत्येक परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। १८४१ में विद्यासमाप्ति पर फोर्ट विलियम कालेज में पचास रुपए मासिक पर मुख्य पंडित पद पर नियुक्ति मिली। तभी 'विद्यासागर' उपाधि से विभूषित हुए। लोकमत ने 'दानवीर सागर' का संबोधन दिया। १८४६ में संस्कृत कालेज में सहकारी संपादक नियुक्त हुए; किंतु मतभेद पर त्यागपत्र दे दिया। १८५१ में उक्त कालेज में मुख्याध्यक्ष बने। १८५५ में असिस्टेंट इंस्पेक्टर, फिर पाँच सौ रुपए मासिक पर स्पेशल इंस्पेक्टर। १८५८ ई० में मतभेद होने पर फिर त्यागपत्र दे दिया। फिर साहित्य तथा समाजसेवा में लगे। १८८० ई० में सी० आई० ई० का संमान मिला।

आरंभिक आर्थिक संकटों ने उन्हें कृपण प्रकृति की अपेक्षा दयासागर ही बनाया। विद्यार्थी जीवन में भी इन्होंने अनेक विद्यार्थियों की सहायता की। समर्थ होने पर बीसों निर्धन विद्यार्थियों, सैकड़ों निस्सहाय विधवाओं, तथा अनेकानेक व्यक्तियों को अर्थकष्ट से उबारा। वस्तुतः उच्चतम स्थानों में संमान पाकर भी उन्हें वास्तविक सुख निर्धनसेवा में ही मिला। शिक्षा के क्षेत्र में वे स्त्रीशिक्षा के प्रबल समर्थक थे। श्री बेथ्यून की सहायता से गर्ल्स स्कूल की स्थापना की जिसके संचालन का भार उनपर था। उन्होंने अपने ही व्यय से मेट्रोपोलिस कालेज की स्थापना की। साथ ही अनेक सहायताप्राप्त स्कूलों की भी स्थापना कराई। संस्कृत अध्ययन की सुगम प्रणाली निर्मित की। इसके अतिरिक्त शिक्षाप्रणाली में अनेक सुधार किए। समाजसुधार उनका प्रिय क्षेत्र था, जिसमें उन्हें कट्टरपंथियों का तीव्र विरोध सहना पड़ा, प्राणभय तक आ बना। ईश्वरचंद्र विधवाविवाह के प्रबल समर्थक थे। शास्त्रीय प्रमाणों से उन्होंने विधवाविवाह को वैध प्रमाणित किया। पुनर्विवाहित विधवाओं के पुत्रों को १८६५ के ऐक्ट द्वारा वैध घोषित करवाया। अपने पुत्र का विवाह विधवा से ही किया। संस्कृत कालेज में अब तक केवल ब्राह्मण और वैद्य ही विद्योपार्जन कर सकते थे, अपने प्रयत्नों से उन्होंने समस्त हिंदुओं के लिये विद्याध्ययन के द्वार खुलवाए। साहित्य के क्षेत्र में बँगला गद्य के प्रथम प्रवर्तकों में थे। उन्होंने ५२ पुस्तकों की रचना की, जिनमें १७ संस्कृत में थीं, पाँच अंग्रेजी भाषा में, शेष बँगला में। जिन पुस्तकों से उन्होंने विशेष साहित्यकीर्ति अर्जित की वे हैं, 'वैतालपंचविंशति', 'शकुंतला' तथा 'सीतावनवास'। इस प्रकार मेधावी, स्वावलंबी, स्वाभिमानी, मानवीय, अध्यवसायी, दृढ़प्रतिज्ञ, दानवीर, विद्यासागर, त्यागमूर्ति ईश्वरचंद्र ने अपने व्यक्तित्व और कार्यक्षमता से शिक्षा, साहित्य तथा समाज के क्षेत्रों में अमिट पदचिह्न छोड़े। वे जुलाई १८९१ में दिवंगत हुए। (रा० ना०)

ईश्वरदास (कवि) सत्यवतीकथा नामक पुस्तक का रचयिता। उक्त पुस्तक दिल्ली के बादशाह सिकंदर शाह (सं० १५४६–१५७४) के समय में लिखी गई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सत्यवतीकथा को अवधी की सबसे पुरानी रचना माना है (हिंदी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, ५६वां पुनर्मुद्रण, पृ० १२०)। पुस्तक दोहे चौपाइयों में लिखी गई है। पाँच पाँच चौपाइयों (अर्धालियों) पर एक दोहा है। ५८वें दोहे पर पुस्तक समाप्त

तीनों समान रूप से अनादि, अनंत और सर्वशक्तिमान् हैं क्योंकि वे तत्वतः एक हैं। ईश्वर के आभ्यंतर जीवन का वास्तविक स्वरूप है—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा का अनिर्वचनीय प्रेम। प्रेम से ही प्रेरित होकर ईश्वर ने मनुष्य को अपने आभ्यंतर जीवन का भागी बनाने के उद्देश्य से उसकी सृष्टि की थी किंतु प्रथम मनुष्य ने ईश्वर की इस योजना को ठुकरा दिया जिससे संसार में पाप का प्रवेश हुआ। मनुष्यों को पाप से मुक्त करने के लिये ईश्वर ईसा में अवतरित हुआ (द्र० अवतार) जिससे ईश्वर का प्रेम और स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ईसा ने क्रूस पर मरकर मानव जाति के सब पापों का प्रायश्चित्त किया तथा मनुष्य मात्र के लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जो कोई सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करे वह ईसा के पुण्यफलों द्वारा पापक्षमा प्राप्त कर सकता है और अनंत काल तक पिता-पुत्र-पवित्र आत्मा के आभ्यंतर जीवन का सामी बन सकता है (द्र० मुक्ति)। इस प्रकार ईश्वर का वास्तविक स्वरूप प्रेम ही है। मनुष्य की दृष्टि से वह दयालु पिता है जिसके प्रति प्रेमपूर्ण आत्मसमर्पण होना चाहिए। बाइबिल के उत्तरार्ध में ईश्वर को लगभग ३०० बार पिता कहकर पुकारा गया है।

(३) बाइबिल के आधार पर ईसाइयों का विश्वास है कि मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर भी ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अपूर्ण होते हुए भी यह ज्ञान प्रामाणिक ही है। ईसाई धर्म का किसी एक दर्शन के साथ अनिवार्य संबंध तो नहीं है, किंतु ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप ईसाई तत्वज्ञ प्रायः अफलातून अथवा अरस्तू के दर्शन का सहारा लेकर ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। ईश्वर का अस्तित्व प्रायः कार्य-कारण-संबंध के आधार पर प्रमाणित किया जाता है।

ईश्वर निर्गुण, अमूर्त, अभौतिक है। वह अपरिवर्तनीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनंत और अनादि है। वह सृष्टि के परे होते हुए भी इसमें व्याप्त रहता है; वह अंतर्यामी है। ईसाई दार्शनिक एक ओर तो सर्वेश्वरवाद तथा अद्वैत का विरोध करते हुए सिखलाते हैं कि समस्त सृष्टि (अतः जीवात्मा भी) तत्वतः ईश्वर से भिन्न है, दूसरी ओर वे अद्वैत को भी पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी धारणा है कि समस्त सृष्टि अपने अस्तित्व के लिये निरंतर ईश्वर पर निर्भर रहती है।

सं० ग्रं०—तो० दनील (T. Dalelon) : गॉड ऐंड द वेज ऑव नोइंग, न्यूयार्क, १९५७; ई० लीरॉय : ल प्रोब्लम द द्यू (E. Leroy : Le Probleme De Dieu), पेरिस, १९२९। (का० बु०)

ईश्वरकृष्ण एक प्रसिद्ध सांख्य दर्शनकार, जिनका काल विवादग्रस्त है : डा० तकाकुसू के अनुसार उनका समय ४५० ई० के लगभग और डा० वि० स्मिथ के अनुसार २४० ई० के आसपास होना चाहिए। यह प्रायः निश्चित है कि वे बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु के गुरु के समकालीन एवं प्रतिपक्षी थे। ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्यकारिका' सांख्य दर्शन पर उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन एवं लोकप्रिय ग्रंथ है।

'कारिका' में ईश्वरकृष्ण अपने को क्रमशः आसुरि एवं पंचशिखा के द्वारा सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल का शिष्य बताते हैं। वह मूलतः अनीश्वरवादी हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों से उनके निराकरण के उपायों की खोज आरंभ होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द यथार्थ ज्ञान के स्रोत हैं। इन ज्ञानस्रोतों से 'प्रकृति' और 'पुरुष' की नित्यता एवं मूलत्व सिद्ध होता है। मूल 'प्रकृति' की सूक्ष्मता से उसका प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव है, किंतु अपनी 'विकृति' (परिणाम) महत् आदि के रूप में वह बोधगम्य है। 'परिणाम', चूँकि उत्पन्न होता है, अनित्य, असम तथा गतियुक्त है, ईश्वरकृष्ण के अनुसार सुख-दुःख-मोह का स्वभाव 'प्रकृति' का है, 'पुरुष का नहीं। अतः मोक्ष 'प्रकृति विकृति' का होता है, पुरुष का नहीं। सत्व, रज तथा तम त्रिगुण प्रकृति के हैं और क्रमशः सात्विकता, क्रिया तथा जड़ता के कारण। इन गुणों का कार्य दीपक की तरह मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वरकृष्ण 'पुरुष' को अचेतन प्रकृति का 'विपर्यय' बताते हैं, अतः 'पुरुष', 'प्रकृति' की अचेतन क्रियाओं का चेतन द्रष्टा (साक्षी) है, कर्ता नहीं। 'पुरुष' का अस्तित्व शरीरसंघात के परार्थत्व, अधिष्ठान और मोक्ष प्रकृति से सिद्ध है। साथ ही, जन्म मरण एवं उपकरणों के असाम्य और एक साथ प्रकृति के अभाव से 'पुरुष' का अनेकत्व भी सिद्ध है। सारांश में, पुरुष की सांसारिक अवस्था प्रकृति की क्रियाओं के प्रति उसकी मोहदृष्टि तथा 'कैवल्य' (मोक्ष) की अवस्था प्रकृति से 'निवृत्ति' या प्रकृति के स्व-स्वरूप का पृथकत्व ज्ञान है।

सं०ग्रं०—ईश्वरकृष्ण : 'सांख्यकारिका'; 'कारिका' पर वाचस्पति मिश्र की टीका; जे० एन० मुकर्जी : सांख्य ऑर द थियरी ऑव रियलिटी; ई० एच० जान्स्टन : अर्ली सांख्य; एन० सी० बनर्जी : द सांख्य फिलासफ़ी; रिचर्ड ग्रेस : द सांख्य फ़िलॉसफ़ी। (श्री० स०)

ईश्वरचंद्र विद्यासागर (१८२०–१८९१), मेदिनीपुर जिले के वीरसिंह गाँव में अति निर्धन परिवार में जन्म; पिता का नाम ठाकुरदास वंद्योपाध्याय था। तीक्ष्णबुद्धि पुत्र को गरीब पिता ने विद्या के प्रति रुचि ही विरासत में प्रदान की थी। नौ वर्ष की अवस्था में बालक ने पिता के साथ पैदल कलकत्ता जाकर संस्कृत कालेज में विद्यारंभ किया। शारीरिक अस्वस्थता, घोर आर्थिक कष्ट तथा गृहकार्य के बावजूद ईश्वरचंद्र ने प्रायः प्रत्येक परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। १८४१ में विद्यासमाप्ति पर फोर्ट विलियम कालेज में पचास रुपए मासिक पर मुख्य पंडित पद पर नियुक्ति मिली। तभी 'विद्यासागर' उपाधि से विभूषित हुए। लोकमत ने 'दानवीर सागर' का संबोधन दिया। १८४६ में संस्कृत कालेज में सहकारी संपादक नियुक्त हुए; किंतु मतभेद पर त्यागपत्र दे दिया। १८५१ में उक्त कालेज में मुख्याध्यक्ष बने। १८५५ में असिस्टेंट इंस्पेक्टर, फिर पाँच सौ रुपए मासिक पर स्पेशल इंस्पेक्टर। १८५८ ई० में मतभेद होने पर फिर त्यागपत्र दे दिया। फिर साहित्य तथा समाजसेवा में लगे। १८८० ई० में सी० आई० ई० का संमान मिला।

आरंभिक आर्थिक संकटों ने उन्हें कृपण प्रकृति की अपेक्षा दयासागर ही बनाया। विद्यार्थी जीवन में भी इन्होंने अनेक विद्यार्थियों की सहायता की। समर्थ होने पर बीसों निर्धन विद्यार्थियों, सैकड़ों निस्सहाय विधवाओं, तथा अनेकानेक व्यक्तियों को अर्थकष्ट से उबारा। वस्तुतः उच्चतम स्थानों में संमान पाकर भी उन्हें वास्तविक सुख निर्धनसेवा में ही मिला। शिक्षा के क्षेत्र में वे स्त्रीशिक्षा के प्रबल समर्थक थे। श्री बेथ्यून की सहायता से गर्ल्स स्कूल की स्थापना की जिसके संचालन का भार उनपर था। उन्होंने अपने ही व्यय से मेट्रोपोलिस कालेज की स्थापना की। साथ ही अनेक सहायताप्राप्त स्कूलों की भी स्थापना कराई। संस्कृत अध्ययन की सुगम प्रणाली निर्मित की। इसके अतिरिक्त शिक्षाप्रणाली में अनेक सुधार किए। समाजसुधार उनका प्रिय क्षेत्र था, जिसमें उन्हें कट्टरपंथियों का तीव्र विरोध सहना पड़ा, प्राणभय तक आ बना। ईश्वरचंद्र विधवाविवाह के प्रबल समर्थक थे। शास्त्रीय प्रमाणों से उन्होंने विधवाविवाह को वैध प्रमाणित किया। पुनर्विवाहित विधवाओं के पुत्रों को १८६५ के ऐक्ट द्वारा वैध घोषित करवाया। अपने पुत्र का विवाह विधवा से ही किया। संस्कृत कालेज में अब तक केवल ब्राह्मण और वैद्य ही विद्योपार्जन कर सकते थे, अपने प्रयत्नों से उन्होंने समस्त हिंदुओं के लिये विद्याध्ययन के द्वार खुलवाए। साहित्य के क्षेत्र में बँगला गद्य के प्रथम प्रवर्तकों में थे। उन्होंने ५२ पुस्तकों की रचना की, जिनमें १७ संस्कृत में थीं, पाँच अंग्रेजी भाषा में, शेष बँगला में। जिन पुस्तकों से उन्होंने विशेष साहित्यकीर्ति अर्जित की वे हैं, 'वैतालपंचविंशति', 'शकुंतला' तथा 'सीतावनवास'। इस प्रकार मेधावी, स्वावलंबी, स्वाभिमानी, मानवीय, अध्यवसायी, दृढ़प्रतिज्ञ, दानवीर, विद्यासागर, त्यागमूर्ति ईश्वरचंद्र ने अपने व्यक्तित्व और कार्यक्षमता से शिक्षा, साहित्य तथा समाज के क्षेत्रों में अमिट पदचिह्न छोड़े। वे जुलाई १८९१ में दिवंगत हुए। (रा० ना०)

ईश्वरदास (कवि) सत्यवतीकथा नामक पुस्तक का रचयिता। उक्त पुस्तक दिल्ली के बादशाह सिकंदर शाह (सं० १५४६–१५७४) के समय में लिखी गई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सत्यवतीकथा को अवधी की सबसे पुरानी रचना माना है (हिंदी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, १६वाँ पुनर्मुद्रण, पृ० १३०)। पुस्तक दोहे चौपाइयों में लिखी गई है। पाँच पाँच चौपाइयों (अर्धालियों) पर एक दोहा है। ५८वें दोहे पर पुस्तक समाप्त

हो जाती है। भाषा अयोध्या के आसपास की ठेठ अवधी है और कहानी का रूप रंग सूफी आख्यानों जैसा है जिसका आरंभ यद्यपि व्यास जनमेजय के संवाद से पौराणिक ढंग पर होता है, तथापि जो अधिकतर कल्पित, स्वच्छंद और मार्मिक ढंग पर रची गई है। (कैं० चं० शु०)

ईश्वरवाद संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार के कर्ता एवं अनुग्रह और निग्रह के कारणस्वरूप सच्चिदानंदमय, अनंत शक्तिसमन्वित सत्ताविशेष से संबंधित सिद्धांत। इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर की सत्ता स्वयंसिद्ध एवं अनिवार्य है। यद्यपि कारणकार्यवाद के अनुसार भी ईश्वर की सत्ता स्वतःसिद्ध हो जाती है तथापि कुछ मत ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं और कुछ उपादान कारण भी। सृष्टि की सोद्देश्यता और नियमवद्धता से यह प्रमाणित होता है कि इसके पीछे एक बुद्धिमान् समर्थ सत्ता है। वह सत्ता विश्वात्म है, ज्योतिर्मय है, अमरणधर्मा है, ज्ञाता, सर्वज्ञ तथा भुवनों का पालक एवं नियामक है। वह आत्मा में भी स्थित है और विश्वधाम भी है। जिस प्रकार मकड़ी अपने से उत्पन्न तंतुओं से अपने को ही समावृत कर लेती है, उसी प्रकार वह भी अपने से ही उत्पन्न नाना रूपनामकर्मो से अपने को आवृत कर लेता है। वह सभी प्राणियों में संवृत है। वह सर्वव्यापी, सर्वभूतांतरात्मा, सर्वभूताधिवासी, अधिष्ठाता, साक्षी, द्रष्टा एवं चेतनत्व प्रदान करनेवाला है। भारतीय साहित्य में श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार के विस्तृत विचार मिलते हैं जिनके आधार पर भारतीय ईश्वरवाद की स्थापना की जा सकती है। परवर्ती काल में इस ईश्वरवाद का विविध रूपों में प्रचार प्रसार हुआ, विशेषकर दसवीं शताब्दी के उपरांत इसका विस्तृत व्याख्यान विविध आयामों के साथ भारतीय साहित्य में दिखाई पड़ता है। भक्ति के विविध संप्रदायों के मूल में इसकी धारा प्रवाहित है। इसके अन्य भारतीय प्रमाणग्रंथों में श्रीमद्भगवद्गीता, नारद एवं शांडिल्य के भक्तिसूत्र, रामानुजादि आचार्यों के विविध ग्रंथों की गणना की जा सकती है। भारतीय दार्शनिक आचार्यों में से उदयनाचार्य, उत्पलदेव, अभिनवगुप्तपादाचार्य, यामुनाचार्य, लोकाचार्य, वेदांतदेशिकाचार्य, श्रीनिवासाचार्य आदि ने अपने अपने ग्रंथों में ईश्वरवाद का दृढ़तापूर्वक सतर्क मंडन किया है। प्राचीन ईसाई तथा अन्य अनेक धर्मो के ग्रंथों में इस सिद्धांत का विस्तार से विविधपक्षीय विवेचन मिलता है। इन सारे विवेचनों, व्याख्याओं एवं मंडनात्मक ऊहापोह के वाङ्मय के आलोड़न से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस सिद्धांत के मंडन के लिये युक्ति और अनुमान के साथ ही प्रत्यय की भी आवश्यकता है। (ना० ना० उ०)

ईश्वरीय सहयोग (कॉन्फ़रेंस) संत आगस्तिन द्वारा प्रतिपादित एक दार्शनिक मतवाद जिसे 'दैवी सहायता' की संज्ञा से भी जाना जाता है। इस मतवाद के अनुसार मानव मूलतः नैतिक प्राणी था क्योंकि ईश्वर ने इस संसार और मानव को 'असत्' से नहीं बल्कि 'सत्' से बनाया है। लेकिन बाद में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई कि मानव का 'नैतिक पतन' हो गया जिसके कारण उसे सदा सर्वदा के लिये ईश्वर के अनुग्रह और सहायता पर निर्भर होना पड़ा। ईश्वर के सहकार्य के बिना उसकी क्रियाशीलता बिल्कुल ही कमजोर हो गई और अब ईश्वरीय सहयोग के बिना मानव नैतिक जीवन नहीं बिता सकता। (कैं० चं० श०)

ईश्वरीसिंह (जयपुर का) सवाई जयसिंह का ज्येष्ठ पुत्र। जयसिंह की मृत्यु (२३ सितंबर, १७४३ ई०) के बाद, उदयपुर की राजकुमारी से उत्पन्न उसके छोटे पुत्र माधोसिंह ने, पुष्कर नामक स्थान पर हुए समझौते के अनुरूप, जयपुर की राजगद्दी पर अपने अधिकार की घोषणा की जिसका समर्थन, जैसा स्वाभाविक ही था, उदयपुर के राणा जगतसिंह ने किया। लेकिन ईश्वरीसिंह ने बड़ी फुर्ती से राजगद्दी पर अधिकार कर लिया और दिल्ली के बादशाह की ओर से भी उसे जयपुर के राजा के रूप में मान्यता मिल गई। सिंधिया तथा होल्कर ईश्वरीसिंह के समर्थक थे ही। फिर क्या था, ईश्वरीसिंह और माधोसिंह के बीच युद्ध ठन गया जो बीच बीच में रुककर लगभग सात वर्ष तक चलता रहा। मार्च, १७४७ ई० में बनास नदी के किनारे ईश्वरीसिंह ने शानदार विजय प्राप्त की और मराठों को खुलकर लूटपाट का अवसर मिला। किंतु इसी बीच रानोजी सिंधिया की मृत्यु के बाद जयप्पा सिंधिया तथा मल्हारराव होल्कर में अनबन हो गई। इससे मल्हारराव होल्कर माधोसिंह के पक्ष में चला गया। १७४८ ई० में बालाजी राव ईश्वरीसिंह और माधोसिंह का झगड़ा निपटाने के लिये जयपुर पहुँचा। उसने ईश्वरीसिंह से उसके राज्य के चार जिले जबरदस्ती माधोसिंह को दिलवा दिए। १७५० ई० के दिसंबर मास में ईश्वरीसिंह ने आत्महत्या कर ली। (कैं० चं० श०)

ईसकिलस (ई० पू० ५२५–ई० पू० ४५६) यूनानी भाषा के प्राचीनतम नाटककार जिनके नाटक इस समय उपलब्ध हैं। इनकी अपेक्षा प्राचीनतर नाटककार थेस्पिस का नाममात्र ज्ञात है पर उनका कोई नाटक नहीं मिलता। इनका जन्म एथेंस के समीप इल्युसिस नामक स्थान में एक संभ्रांत परिवार में हुआ था। ईसकिलस ने फारस के साथ होनेवाले युद्धों में भाग लिया था और आर्तेमिसियुम, सलामिस और प्लातइया नामक स्थानों पर संग्राम किया था। मराथन नामक स्थान पर ईसकिलस और उसके दो भाइयों ने ऐसा लोकोत्तर पराक्रम प्रदर्शित किया कि एथेंस ने उनके चित्र अंकित करने का आदेश दिया। सिराकूस के राजा हिएरन प्रथम के निमंत्रण पर उन्होंने दो बार सिराकूस की यात्रा की। ई० पू० ४८४ में उनको प्रथम पुरस्कार मिला; ई० पू० ४६८ में प्रथम पुरस्कार उनको न मिलकर युवा सोफॉक्लेस को मिला, पर ई० पू० ४६७ और ई० पू० ४५८ में पुनः उनके नाटकों पर विजयोपहार प्राप्त हुए। इसके पश्चात् ई० पू० ४५६ में वे पुनः सिसिली की यात्रा पर गए और वहीं उनकी मृत्यु हुई। कहते हैं, आकाश में उड़ती हुई चील के पंजों से छूटकर एक कछुआ उनके सिर पर गिरा जिसके कारण उनका प्राणांत हुआ। एक समय उनपर इल्युसिस की देवी देमेतर के रहस्य को उद्घाटित कर देने का अपराध आरोपित किया गया था, पर वे अपने को इससे मुक्त करने में सफल हो गए।

ईसकिलस ने सर्वप्रथम यूनानी दुःखांत नाटकों को उनका विशिष्ट रूप प्रदान किया। आरंभ में यह नाटक डिथीरंब नामक गीत के रूप में प्रस्तुत किए जाते थे। थेस्पिस नामक कलाकार ने गायकमंडली (कोरस) में से एक पात्र को पृथक् अभिनेता के रूप में प्रस्तुत किया। ईसकिलस ने एक दूसरे अभिनेता की सृष्टि कर गीत को नाटक के रूप में परिणत कर दिया। इस प्रकार ईसकिलस दुःखांतनाटक (त्रागेदी=ट्रैजेडी) के सुव्यवस्थित रूप के जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने ७० (अथवा एक अन्य मत अनुसार ९०). नाटकों की रचना की थी। आजकल इनमें से केवल सात मिलते हैं और कुछ अन्य नाटकों की बिखरी हुई पंक्तियाँ यत्रतत्र उधृत मिलती हैं।

हिकैतिदेस (शरणार्थिनी बालाएँ) यूरोपीय साहित्य का आजकल उपलब्ध होनेवाला प्राचीनतम नाटक माना जाता है। मिस्र देश में ईगिप्तुस और दनाउस दो भाई राज्य करते थे। प्रथम भाई के ५० पुत्र थे और दूसरे के ५० पुत्रियाँ। ईगिप्तुस के पुत्र दनाउस की पुत्रियों के साथ बलात् विवाह करना चाहते थे परंतु यह उनकी इच्छा के विरुद्ध बात थी। अतः राजकुमारियाँ भागकर अपने पितासहित समुद्र पार पैलास्गुस के आर्गस नामक राज्य में चली गई। यद्यपि पैलास्गुस उनको शरण देने में आनाकानी करने लगे तथापि आर्गस की प्रजा ने अपने मतदान द्वारा उन्हें शरण देने के लिये विवश कर दिया। इसके उपरांत ईगिप्तुस के पुत्रों ने उनका पीछा किया और पैलास्गुस की सभा में अपने दूत भेजे। यद्यपि उन्होंने युद्ध की धमकी दी, तथापि पैलास्गुस ने शरणार्थियों को लौटाना स्वीकार नहीं किया। इस कथा की पूर्ति के लिये ईसकिलस ने 'ईगिप्तिइ' और 'दनाइदेस' नामक दो नाटक और लिखे थे जो अब नहीं मिलते। इस प्रकार के तीन नाटकों के गुच्छकों को 'त्रिलोगी' कहा जाता था।

'पैर्साए' नामक नाटक में सालामिस के युद्ध में खैरखैस और उसकी पारसीक सेना के पराजय का वर्णन है। दरियुस के पुत्र सम्राट् खैरखैस मराथन नामक स्थान पर यूनानियों द्वारा अपने पिता की पराजय का प्रतीकार करने के लिये दलबल सहित यूनान और विशेषकर एथेंस को दंड देने के लिये अपने शत्रुओं पर चढ़ाई करते हैं। फारस की राजधानी सूसा में राजमाता अतोस्सा को दुःस्वप्न दिखलाई देते हैं। वे देवपूजा की तैयारी करती हैं। कुछ समय पश्चात् युद्ध में पराजित और दुर्विताड़ित सैनिक

और खैरखैस लौटकर घर आते हैं। ईसकिलस ने इस नाटक की रचना सालामिस को विजय के उपलक्ष में की थी। इस नाटक में प्लातइया के युद्ध में पारसीकों की पराजय की भविष्यवाणी भी मिलती है। ईसकिलस को इन युद्धों का प्रत्यक्ष अनुभव था। इस नाटक का अभिनय एथेंसवासियों तथा अन्य यूनानियों को बहुत प्रिय था।

'हैपता ऐपि थेवास' (थेवेस नगर पर सात योद्धाओं की चढ़ाई) में लाइयुस और ईदिपस के शापग्रस्त परिवार के विनाश का वर्णन है। थेवेस के राजा एतेओक्लेस का भाई पोलीनेइकेस सात योद्धाओं के साथ थेवेस नगर पर चढ़ाई करता है, नगर के सातों द्वारों पर युद्ध होता है और दोनों भाई परस्पर युद्ध करते हुए मारे जाते है। ईदिपस के शापग्रस्त परिवार की कथा यूनानी साहित्य में अत्यंत प्रसिद्ध है।

'ओरेस्तेइया' भी एक अन्य शापग्रस्त परिवार से संबंध रखनेवाले तीन नाटकों की लड़ी है। यद्यपि इस प्रकार के नाटकों के अनेक त्रिलय (त्रिलोगियाँ) यूनानी नाटककारों द्वारा रचे गए थे, पर भाग्य की बात, उनमें से, मानों उदाहरणस्वरूप, ईसकिलस को यही त्रिलोगी इस समय अवशिष्ट है। इसमें अगामेम्नन, खोएफोरोए और यूमेनिदेस, इन तीन नाटकों का समावेश है। प्रथम नाटक में ट्राय की विजय के पश्चात् लौटे हुए राजा अगामेम्नन की उनकी पत्नी द्वारा की गई हत्या का वर्णन है। दूसरे नाटक में निर्वासन से गुप्त रूप से लौटे हुए अगामेम्नन के पुत्र ओरेस्तेस अपने मित्र पिलादेस और अपनी बहन एलेक्त्रा की सहायता से अपनी माता के जार इगिस्थुस को अपनी माता के सहित मार डालते हैं। इसपर 'ऐरीनियेस' (स्व-कुल-घात से उत्पन्न हुई कृत्याएँ) उनका पीछा करती है और वे उनसे त्राण पाने के लिये भागने लगते हैं। तीसरे नाटक में एथेंस नगर में कृत्याओं के शमन का वर्णन है। कुछ आलोचकों के मत में यह ईसकिलस की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

प्रोमेथियुस देस्मोतेस (प्रमथ बंधन) नामक नाटक में मानवों को अग्नि प्रदान करनेवाले प्रोमेथियुस नामक देवता को ज़ेउस (द्यौस) की आज्ञा से शकस्थान में समुद्र की एक चट्टान पर कीलों से विजड़ित कर दिया जाता है। परंतु उसके प्राण नहीं निकलते। यह नाटक विचारप्रधान है। शेली ने इस नाटक का पूरक 'प्रोमेथियुस अनबाउंड' नामक नाटक अंग्रेजी भाषा में लिखा है। स्वयं ईसकिलस ने इस विषय पर तीन नाटक लिखे थे पर शेष दो नाटक अब नहीं मिलते। आलोचकों का कहना है कि इस नाटक में यूनानी त्रागेदी की कला मूर्तिमती हो उठी है। इन सात नाटकों के अतिरिक्त ईसकिलस के बहुत से नाटकों के नाम और बिखरी हुई पंक्तियाँ यूनानी साहित्य में यत्रतत्र मिलती हैं।

ईसकिलस ने दु:खांत नाटक के स्वरूप को व्यवस्थित किया। उनको प्रभावशाली दृश्यों और ऐश्वर्यशाली वेशभूषा से प्रेम था। उन्होंने जिन पात्रों की सृष्टि की है उनमें से अधिकांश चरित्र संबंधी महत्ता और शक्ति से समन्वित हैं। उनकी भाषा और शैली भी विषय के अनुरूप गौरवशालिनी है। ईसकिलस के नाटकों में समसामयिक जनस्वातंत्र्य की भावना उभरती हुई दृष्टिगोचर होती है।

सं० ग्रं०—मूल नाटक, सिजविक द्वारा संपादित, ऑक्सफ़ोर्ड का संस्करण। अंग्रेजी अनुवाद सहित लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी का संस्करण, दो जिल्दों में (वियर स्मिथ द्वारा संपादित एवं अनूदित); गिलवर्ट मरे के पद्यानुवाद भी अच्छे माने जाते हैं। समालोचना, गिलवर्ट मरे : ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर, ईसकिलस; नौर्वुड : राइटर्स ऑन ग्रीस; बाउरा : ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर इत्यादि। (भो० ना० श०)

ईसप जनप्रिय नीतिकथाकार। इनकी कथाओं के पात्र मनुष्य की अपेक्षा पशु पक्षी अधिक है। इस प्रकार की कथाओं का 'बीस्ट फ़ेबुल्स' कहा जाता है। परंतु ईसप नाम का कोई व्यक्ति कभी था, इस विषय में बहुत कुछ संदेह है। तथापि हेरोदोतस एवं कतिपय अन्य लेखकों के साक्ष्य के अनुसार ईसप के जीवन को कथा इस प्रकार को थी : ई० पू० छठी शताब्दी के मध्य में ईसप सामॉस द्वीप के निवासी इयाद्‌मन् के दास थे, परंतु वे विदेशी दास जिनके विषय मे यह निश्चित पता नहीं था कि फ्रेयाके, फ्रिगिया अथवा इथियोपिया देशों में से उनका जन्म कहाँ हुआ था। वे अत्यंत कुरूप थे। देल्फी में उनपर देवमंदिर के स्वर्णचषक की चोरी का आरोप लगाया गया और उनको पर्वतशिखर से धक्का देकर मृत्युदंड दिया गया। पर प्रो० गिल्बर्ट मरे को इस कथा पर विश्वास नहीं है।

जो कथाएँ ईसप के नाम से प्रचलित हैं उनका वर्तमान रूप उतना पुराना नहीं है जितना उपर्युक्त कथा के अनुसार होना चाहिए। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से ईसप और उनकी कथाओं की चर्चा चल पड़ी थी। अरिस्तोफ़ानिज, जेनोफ़न्, प्लेटो और अरस्तू को रचनाओं में इसके संकेत मिलते हैं। सुकरात ने अपने अंतिम समय में कुछ कथाओं को पद्यबद्ध किया था, ऐसा भी कहा जाता है। पर वास्तविकता यह है कि ईसवी सन् के पूर्व इन कथाओं के जो संकलन हुए थे वे अब उपलब्ध नहीं होते। इस समय जो प्राचीनतम संकलन उपलब्ध होते है वे फ़ेद्रुस और आवियनुस द्वारा लातीनी भाषा मे तथा वाब्रियस द्वारा ग्रीक भाषा मे प्रस्तुत किए गए थे। ये सभी लेखक ईसवी सन् के आरंभ के पश्चात् हुए है। इसके पश्चात् इन कथाओं का अनुवाद यूरोप की आधुनिक भाषाओं में होने लगा। इन अनुवादों में ज्याँ द ला फ़ौताई का पद्यबद्ध फ्रेंच अनुवाद अत्यधिक प्रसिद्ध है।

आधुनिक समय में ईसप की कहानियों के दो संग्रह फ्रांस और जर्मनी में मूल ग्रीक रूप में प्रकाशित हुए है। इनमे से ऐमील शांब्रो (पेरिस, १९२७) संस्करण में ३५८ कथाएँ है तथा टायब्नर को ग्रीक ग्रंथमाला में प्रकाशित हाल्म के संस्करण में ४२६। ग्रीक संस्करण शनै: शनै: परिवर्धित होकर इस रूप को प्राप्त हुए हैं।

ईसप की कथाएँ पंचतंत्र की कथाओं के समान मनोरंजन के साथ नीति और व्यवहारकुशलता की शिक्षा देती हैं। यत्रतत्र इनमें हास परिहास का भी पुट पाया जाता है। जातक कथाओं के साथ भी इनका पर्याप्त साम्य पाया जाता है। कुछ लेखक भारतीय कथाओं को ही ईसप की कथाओं का आधार मानते हैं, अन्य आलोचक इस मत को नहीं मानते। ईसप की कथाओं का अनुवाद हिंदी, संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं में भी हो चुका है।

सं० ग्रं०—शांब्री का मूल ग्रीक संस्करण, १९२७; हाल्म का मूल ग्रीक संस्करण १८८९; ईसप नीतिकथा (संस्कृत अनुवाद)। (भो० ना० श०)

ईसवी द्र० 'अब्द'।

ईसाई धर्म (१) अनुयायियों की संख्या तथा विस्तार की दृष्टि से ईसाई धर्म संसार का सबसे महत्वपूर्ण धर्म है। आजकल मानव जाति के लगभग ३५ प्रति शत लोग ईसाई हैं। विस्तार के विषय में ध्यान देने की बात यह है कि एशिया में उत्पन्न होते हुए भी ईसाई धर्म का ऐतिहासिक विकास प्रधानतया पश्चिम में हुआ है, फलतः वह एशिया में अपेक्षाकृत कम प्रचलित है। एशिया की आबादी के केवल तीन प्रति शत व्यक्ति ईसाई हैं। अन्य महाद्वीपों के आँकड़े इस प्रकार है : यूरोप के ७८, अमरीका के ८३, अफ्रीका के १४ तथा ओशिएनिया के ४० प्रति शत लोग ईसाई हैं। भारत में ईसाइयों की संख्या लगभग एक करोड़ है।

(२) प्रवर्तन—ईसा के जीवनकाल में ही उनके शिष्यों को उनके ईश्वरत्व का आभास यद्यपि मिल गया था तथापि क्रूस पर ईसा की मृत्यु के कारण शिष्यों का यह विश्वास विचलित होने लगा था। फिर जब पुनरुत्थान के कारण उनका विश्वास ईसा के ईश्वरत्व में जमा तब वे *पूर्णरूपेण* समझने लगे कि ईसा सब मनुष्यों के लिये मुक्ति का द्वार खोलकर एक विश्वधर्म का प्रवर्तन करने आए है। स्वर्गारोहण के पूर्व ईसा का आदेश पाकर उनके शिष्य संसार भर में मुक्ति के इस शुभ संदेश का प्रचार करने लगे। इस प्रकार ईसाई धर्म का जन्म हुआ। (इस धर्म के संगठन, इतिहास तथा विभिन्न संप्रदायों के सिंहावलोकन केलिये द्र० 'गिरजा', 'गिरजे का इतिहास')।

(३) ईसाइयों का धर्मग्रंथ बाइबिल है। ईसा ने यहूदी धर्मग्रंथ में वर्णित मसीह होने का दावा किया है, अतः ईसाई धर्म यहूदी धर्म का विकास माना जा सकता है। वास्तव में ईसाइयों ने यहूदियों का समूचा धर्मग्रंथ श्रुति मानकर अपनी बाइबिल के पूर्वार्ध के रूप में अपनाया है। बाइबिल के उत्तरार्ध मे ईसा की जीवनी, उनकी शिक्षा का निरूपण तथा ईसाई धर्म का प्रारंभिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। (विशेष विवरण के लिये द्र० 'बाइबिल')।

(४) ईसाई धर्म के सिद्धांतों में ईसा का ईश्वरत्व सबसे महत्वपूर्ण है। ईसाइयों का मूलभूत विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापों का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यों को मुक्ति के उपाय दिलाने के उद्देश्य से ईसा में अवतरित हुआ। फलस्वरूप ईसाई भक्ति, पूजनपद्धति, साधना, आदि सब के सब ईसा पर केंद्रीभूत हैं। इस प्रकार ईसा ईसाई धर्म के प्रवर्तक मात्र नहीं, वल्कि उसके प्राण भी हैं। ईसाई अवतारवाद की विशेषता यह है कि ईसा के ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों की ही वास्तविकता पर वल दिया जाता है (द्र० 'अवतार')। एक ओर ईसा ईश्वर होने के नाते आराधना तथा पूर्ण आत्मसमर्पण के अधिकारी बन जाते हैं; दूसरी ओर, वास्तविक मनुष्य होने के नाते वह भक्तों के अत्यधिक निकट होकर कोमल भक्ति के पात्र भी हैं। तीस साल तक साधारण किंतु निष्पाप मानव जीवन बिताकर उन्होंने जो सद्गुणों का जीता जागता उदाहरण उपस्थित किया है वह अंतःकरण को प्रेरित किए बिना नहीं रह सकता। क्रूस पर उनके दारुण दुःखभोग का ध्यान भक्तों के हृदय पर गहरा प्रभाव डालकर उन्हें (भक्तों को) जीवन की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ बना देता है (द्र० 'भक्ति')।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में ईसाई सिद्धांत को अन्यत्र स्पष्ट किया गया है (द्र० 'ईश्वर')। ईसाई दृष्टि से सृष्टि का किसी निश्चित समय में प्रारंभ हुआ था। दृश्य विश्वमंडल तथा मनुष्य की सृष्टि के पूर्व ईश्वर ने स्वर्गदूतों (फरिश्तों) की सृष्टि की थी। इनमें से कुछ पतित होकर नरक में डाले गए जो नरकदूत कहलाते हैं; उनका नेता शैतान है (द्र० 'स्वर्गदूत,' 'शैतान')।

मनुष्य की सृष्टि इसीलिये हुई थी कि वह कुछ समय तक संसार में रहने के बाद स्वर्ग में ईश्वर के आनंद का भागी बन जाए। प्रथम मनुष्य के विद्रोह से संसार में पाप का प्रवेश होने के कारण मुक्ति का मार्ग बंद हुआ। ईसा ने मानव जाति के पापों का प्रायश्चित्त किया तथा सबको उस ईश्वरीय कृपा का अधिकारी बनाया, जिसके द्वारा मनुष्य परमगति प्राप्त कर सकता है (द्र० 'मुक्ति', 'स्वर्ग')। जो मनुष्य अपने पापों के लिये पछतावा करने से इनकार करेगा वह नरक में जायगा (द्र० 'नरक')। ईसाइयों के अनुसार मनुष्य की अमर आत्मा एक ही बार मानव शरीर धारण कर संसार में जीवन व्यतीत करती है। उनका कहना है कि कयामत के दिन सब मनुष्य सशरीर जी उठेंगे तथा ईसा उनका न्याय करने के लिये स्वर्ग से उतरेंगे।

(५) ईसाई धर्म में कर्मकांड की उपेक्षा नहीं होती। पूजनपद्धति का केंद्र ख्रीस्तयाग (होली मास) है जिसमें रहस्यात्मक ढंग से क्रूस का बलिदान ठहराया जाता है (द्र० 'यज्ञ')। विभिन्न संस्कार भी होते हैं जिनमें से बपतिस्मा सभी ईसाई संप्रदायों में प्रचलित है (द्र० 'संस्कार')। ईसाइयों में पर्व भी होते हैं (द्र० 'पर्व')। यह सब होते हुए भी स्मरणीय है कि ईसा ने नैतिकता को ही धार्मिक जीवन का आधार माना है, अतः ईसाई धर्म में मूसा के दस नियमों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है (द्र० 'मूसा')। ईसा के अनुसार उन नियमों का सार यह है कि मनुष्य ईश्वर से सर्वाधिक प्रेम रखे और अन्य सब मनुष्यों को प्यार करे।

सं०ग्रं०—के० ऐडम : द क्राइस्ट ऑव फ़ेथ, लंडन, १९५७; एम० शीरेन : डी मिस्टेरिन डेस क्राइस्टेंटम्स : (M. Scheeren : Die mysteien des christeentums), १९२५। (का० बु०)

ईसाई धर्मयुद्ध, क्रूसेड अथवा क्रूश युद्ध पश्चिमी यूरोप निवासी ईसाइयों ने १०९५ और १२९१ के बीच अपने धर्म की पवित्र भूमि फिलिस्तीन और उसकी राजधानी जेरूसलम में स्थित ईसा की समाधि का गिरजाघर मुसलमानों से छीनने और अपने अधिकार में करने के प्रयास में जो युद्ध किए उनको क्रूश युद्ध अर्थात् क्रास के निमित्त युद्ध कहा जाता है। इतिहासकार ऐसे सात क्रूश युद्ध मानते हैं।

ईसाई मतावलंबियों की पवित्र भूमि और उसके मुख्य स्थान साथ के मानचित्र में दिखाए गए हैं। यात्रा की प्रमुख मंजिल जेरूसलम नगर में वह बड़ा गिरजाघर था जिसे रोम के प्रथम ईसाई सम्राट् कोंस्तांतीन महान् की माँ ने ईसा की समाधि के पास बनवाया था।

यह क्षेत्र रोम के साम्राज्य का अंग था जिसके शासक चौथी सदी से ईसाई मतावलंबी हो गए थे। सातवीं सदी में इस्लाम का प्रचार बड़ी तीव्र गति से हुआ और पैगंबर के उत्तराधिकारी खलीफाओं ने निकट और दूर के देशों पर अपना शासन स्थापित कर लिया। फिलिस्तीन तो पैगंबर की मृत्यु के १० वर्ष के भीतर ही उनके अधीन हो गया था।

मुसलमान ईसा को भी ईश्वर का पैगंबर मानते हैं। साथ ही, अरब जाति में सहिष्णुता भी थी, इससे यहूदियों को अपनी पवित्र भूमि के स्थलों की यात्रा में कोई बाधा या कठिनाई नहीं हुई।

११वीं सदी में यह स्थिति बदल गई। मध्य एशियाई तुर्क जाति की इतनी जनवृद्धि हुई कि वह और फैली तथा इस्लाम धर्म ग्रहण करने से उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। उसकी एक शाखा ने सुलतान महमूद के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण किया और उसका पश्चिमोत्तर भाग दबा लिया। एक दूसरी शाखा ने (जो अपने एक सरदार सेल्जुक के नाम से प्रसिद्ध है) कई देशों के अनंतर फिलिस्तीन पर भी कब्जा किया और जेरूसलम तथा वहाँ के पवित्र स्थान १०७१ ई० में उसके अधीन हो गए। इस समय से ईसाइयों की यात्रा कठिन और आशंकापूर्ण हो गई।

दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप में नार्मन जाति की शक्ति का विकास हुआ। नार्मन इंग्लैंड के शासक बन गए; फ्रांस के एक भाग पर वे पहले से ही छाए हुए थे, १०७० के लगभग उन्होंने सिसिली द्वीप मुसलमानों से जीता और उससे मिला हुआ इटली का दक्षिणी भाग भी दबा लिया। फलस्वरूप, भूमध्यसागर, जो उत्तरी अफ्रीका के मुसलमान शासकों के दबाव में था, इस समय के ईसाइयों के लिये खुल गया।

इटली के कई स्वतंत्र नगर (जिनमें से वेनिस, जेनोआ और पीसा प्रमुख थे) वाणिज्य में कुशल थे और अब और भी उन्नतिशील हो गए। उनकी नौसेना बढ़ी और ईसाइयों को अपनी पवित्र भूमि के लिये नया मार्ग भी उपलब्ध हो गया।

पर ईसाई जगत् में प्रबल फूट भी थी। ३९५ ई० में रोमन साम्राज्य दो भागों में बँट गया था। पश्चिमी भाग, जिसकी राजधानी रोम थी, ४७६ में उत्तर की बर्बर जातियों के आक्रमण से टूट गया। पर पोप का प्रभाव स्थिर रहा और इन जातियों के ईसाई हो जाने पर बहुत बढ़ गया; यहाँ तक कि पश्चिमी यूरोप पर पोप का निर्विवाद आधिपत्य था। इसके शासक पोप से आशीर्वाद प्राप्त करते थे और यदि पोप अप्रसन्न होकर किसी शासक का बहिष्कार करता, तो उसे कठिन प्रायश्चित्त करना होता था और प्रचुर धन दंड के रूप में पोप को देना पड़ता था। इस क्षेत्र के शासकों में से एक सम्राट् निर्वाचित होता था जो पोप का सहकारी माना जाता था और पवित्र रोमन सम्राट् कहलाता था।

ईसाई जगत् के पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुंतुनियाँ (कोंस्तांतीन नगर) में थी और वहाँ ग्रीक (यूनानी) जाति के सम्राट् शासन करते थे। पूर्वी यूरोप के अतिरिक्त उनका राज्य एशिया माइनर पर भी था। तुर्कों ने एशिया माइनर के अधिकांश पर कब्जा कर लिया था, केवल राजधानी के निकट का और कुछ समुद्रतट का क्षेत्र सम्राट् के पास रह गया था। सम्राट् ने इस संकट में पश्चिमी ईसाइयों की सहायता माँगी। रोम का पोप स्वयं ही पवित्र भूमि को तुर्कों से मुक्त कराने का इच्छुक था। एक प्रभावशाली प्रचारक (आमिया निवासी पीतर संन्यासी) ने फ्रांस और इटली में धर्मयुद्ध के लिये जनता को उत्साहित किया। फलस्वरूप लगभग छह लाख क्रूशधर प्रस्तुत हो गए। ईसाई जगत् के पूर्वी और पश्चिमी भागों में धार्मिक मतभेद इतना था कि १०५४ में रोम के पोप और कोस्तांतीन नगर के पात्रिआर्क (जो पूर्वी ईसाइयों का अध्यक्ष था) ने एक दूसरे को जातिच्युत कर दिया था। पश्चिम का उन्नतिशील राजनीतिक दल (अर्थात् नार्मन जाति) पूर्वी सम्राट् को, जो यूनानी था, निकम्मा समझता था। उसकी धारणा थी कि इस साम्राज्य में नार्मन शासन स्थापित होने पर ही तुर्कों से युद्ध में जीत हो सकती है। इन विरोधों तथा मतभेदों का क्रूश युद्धों के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा।

प्रथम क्रूश युद्ध १०९६–१०९९—इस युद्ध में दो प्रकार के क्रूशधरों ने भाग लिया। एक तो फ्रांस, जर्मनी और इटली के जनसाधारण, जो लाखों की संख्या में पोप और संन्यासी पीतर की प्रेरणा से (बहुतेरे) अपने बाल बच्चों के साथ गाड़ियों पर सामान लादकर पीतर और अन्य श्रद्धोन्मत्त

ईसाई धर्मयुद्ध (द्र० पृष्ठ ४४)

ईसाई मतावलंबियों की पवित्र भूमि और उसके मुख्य स्थल (द्र० पृ० ४४)

प्रथम ईसाई धर्मयुद्ध (क्रूश युद्ध) से संबंधित मानचित्र (द्र० पृ० ४४)

नेताओं के पीछे पवित्र भूमि की ओर मार्च, १०९६ में थलमार्ग से चल दिए। बहुतेरे इनमें उद्दंड थे और विधर्मियों के प्रति तो सभी द्वेपरत थे। उनके पास भोजन सामग्री और परिवहन साधन का अभाव होने के कारण वे मार्ग में लूट खसोट और यहूदियों की हत्या करते गए जिसके फलस्वरूप बहुतेरे मारे भी गए। इनकी यह प्रवृत्ति देखकर पूर्वी सम्राट् ने इनके कोंस्तांतीन नगर पहुँचने पर दूसरे दल की प्रतीक्षा किए बिना बास्फोरस के पार उतार दिया। वहाँ से बढ़कर जब वे तुर्कों द्वारा शासित क्षेत्र में घुसे तो, मारे गए।

दूसरा दल पश्चिमी यूरोप के कई सुयोग्य सामंतों की सेनाओं का था जो अलग अलग मार्गों से कोंस्तांतीन पहुँचे। इनके नाम इस प्रकार हैं :— (१) लरेन का ड्यूक गाडफ्रे और उसका भाई बाल्डविन; (२) दक्षिण फ्रांस स्थित तूलू का ड्यूक रेमों; (३) सिसिली के विजेता नार्मनों का नेता बोहेमों (जो पूर्वी सम्राट् का स्थान लेने का इच्छुक भी था)। इनकी यात्रा के मार्ग मानचित्र में दिखाए गए हैं। पूर्वी सम्राट् ने इन सेनाओं को मार्गपरिवहन इत्यादि की सुविधाएँ और स्वयं सैनिक सहायता देने के बदले इनसे यह प्रतिज्ञा कराई कि साम्राज्य के भूतपूर्व प्रदेश, जो तुर्कों ने हथिया लिए थे, फिर जीते जाने पर सम्राट् को दे दिए जायँगे। यद्यपि इस प्रतिज्ञा का पूरा पालन नहीं हुआ और सम्राट् की सहायता यथेष्ट नहीं प्राप्त हुई, फिर भी क्रूशधर सेनाओं को इस युद्ध में पर्याप्त सफलता मिली।

(कोंस्तांतीन से आगे इन सेनाओं का मार्ग मानचित्र में अंकित है।) सर्वप्रथम उनका सामना होते ही तुर्कों ने निकाया नगर और उससे संबंधित प्रदेश सम्राट् को दे दिए। फिर सेना ने दोरीलियम स्थान पर तुर्कों को पराजित किया और वहाँ से अंतिओक में पहुँचकर आठ महीने के घेरे के बाद उसे जीत लिया। इससे पहले ही बाल्डविन ने अपनी सेना अलग कर के पूर्व की ओर अर्मीनिया के अंतर्गत एदेसा प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया।

अंतिओक से नवंबर, १०९८ में चलकर क्रूशधर सेनाएँ मार्ग में स्थित त्रिपोलिस, तीर, एकर तथा सिज़रिया के शासकों से दंड लेते हुए जून, १०९९ में जेरुसलम पहुँचीं और पाँच सप्ताह के घेरे के बाद जुलाई, १०९९ में उसपर अधिकार कर लिया। उन्होंने नगर के मुसलमान और यहूदी निवासियों की (उनकी स्त्रियों और बच्चों के साथ) निर्मम हत्या कर दी।

इस विजय के बाद क्रूशधरों ने जीते हुए प्रदेशों में अपने चार राज्य स्थापित किए (जो मानचित्र में दिखाए गए हैं)। पूर्वी रोमन सम्राट् इससे अप्रसन्न हुआ पर इन राज्यों को वेनिस, जेनोआ इत्यादि समकालीन महान् शक्तियों की नौसेना की सहायता प्राप्त थी जिनका वाणिज्य इन राज्यों के सहारे एशिया में फैलता था। इसके अतिरिक्त धर्मसैनिकों के दो दल, जो मठरक्षक (नाइट्स टेंपलर्स) और स्वास्थ्यरक्षक (नाइट्स हास्पिटलर्स) के नाम से प्रसिद्ध हैं, इनके सहायक थे। पादरियों और भिक्षुओं के समान ये धर्मसैनिक पोप से दीक्षा पाते थे और आजीवन ब्रह्मचर्य रखने तथा धर्म, असहाय स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने की शपथ लेते थे।

द्वितीय क्रूश युद्ध ११४७–११४९—सन् ११४४ में मोसल के तुर्क शासक इमाद उद्दीन जंगी ने एदेसा को ईसाई शासक से छीन लिया। पोप से सहायता की प्रार्थना की गई और उसके आदेश से प्रसिद्ध संन्यासी संत बर्नार्ड ने धर्मयुद्ध का प्रचार किया।

इस युद्ध के लिये पश्चिमी यूरोप के दो प्रमुख राजा (फ्रांस के सातवें लुई और जर्मनी के तीसरे कोनराड) तीन लाख की सेना के साथ थलमार्ग से कोंस्तांतीन होते हुए एशिया माइनर पहुँचे। इनके परस्पर वैमनस्य और पूर्वी सम्राट् की उदासीनता के कारण इन्हें सफलता न मिली। जर्मन सेना इकोनियम के युद्ध में ११४७ में परास्त हुई और फ्रांस को अगले वर्ष लाउदीसिया के युद्ध में। पराजित सेनाएँ समुद्र के मार्ग से अंतिओक होती हुई जेरुसलम पहुँची और वहाँ के राजा के सहयोग से दमिश्क पर घेरा डाला, पर बिना उसे लिए हुए ही हट गई। इस प्रकार यह युद्ध नितांत असफल रहा।

तृतीय क्रूश युद्ध ११८८–११९२—इस युद्ध का कारण तुर्कों की शक्ति का उत्थान था। सुलतान सलाहउद्दीन (११३७–११९३) के नेतृत्व में उनका बड़ा साम्राज्य बन गया जिसमें उत्तरी अफ्रीका में मिस्र, पश्चिमी एशिया में फ़िलिस्तीन, सीरिया, अरब, ईरान तथा इराक संमिलित थे। उसने ११८७ में जेरुसलम के ईसाई राजा को हत्तिन के युद्ध में परास्त कर बंदी कर लिया और जेरुसलम पर अधिकार कर लिया। समुद्रतट पर स्थित तीर पर उसका आक्रमण असफल रहा और इस बंदर का बचाव ११८८ में करने के बाद ईसाई सेना ने दूसरे बंदर एकर को सलाहउद्दीन से लेने के लिये उसपर अगस्त, ११८९ में घेरा डाला जो २३ महीने तक चला। सलाहउद्दीन ने घेरा डालनेवालों को घेरे में डाल दिया। जब ११९१ के अप्रैल में फ्रांस की सेना और जून में इंग्लैंड की सेना वहाँ पहुँची तब सलाहउद्दीन ने अपनी सेना हटा ली और इस प्रकार जेरुसलम के राज्य में से (जो १०९९ में स्थापित चार फिरंगी राज्यों में प्रमुख था) केवल समुद्रतट का वह भाग, जिसमें ये बंदर (एकर तथा तीर) स्थित थे, शेष रह गया।

इस युद्ध के लिये यूरोप के तीन प्रमुख राजाओं ने बड़ी तैयारी की थी पर वह सहयोग न कर सके और पारस्परिक विरोध के कारण असफल रहे।

प्रथम जर्मन सम्राट् फ्रेडरिक लालमुँहा (बार्बरोसा), जिसकी अवस्था ८० वर्ष से अधिक थी, ११८९ के आरंभ में ही अपने देश से थलमार्ग से चल दिया और एशिया माइनर में तुर्की क्षेत्र में प्रवेश करके उसने उसका कुछ प्रदेश जीत भी लिया, पर अर्मीनिया की एक पहाड़ी नदी को तैरकर पार करने में डूबकर जून, ११९० में मर गया। उसकी सेना के बहुत सैनिक मारे गए, बहुत भाग निकले; शेष उसके पुत्र फ्रेडरिक के साथ एकर के घेरे में जा मिले।

दूसरा फ्रांस का राजा फिलिप ओगुस्तू अपनी सेना जेनोआ के बंदर से जहाजों पर लेकर चला, पर सिसिली में इंग्लैंड के राजा से (जो अब तक उसका परम मित्र था) विवादवश एक वर्ष नष्ट करके अप्रैल, ११९१ में एकर पहुँच पाया।

इस क्रूश युद्ध का प्रमुख पात्र इंग्लैंड का राजा रिचर्ड प्रथम था, जो फ्रांस के एक प्रदेश का ड्यूक भी था और अपने पिता के राज्यकाल में फ्रांस के राजा का परम मित्र रहा था। इसने अपनी सेना फ्रांस में ही एकत्र की और वह फ्रांस की सेना के साथ ही समुद्रतट तक गई। इंग्लैंड का समुद्री बेड़ा ११९० में ही वहाँ से चलकर मारसई के बंदर पर उपस्थित था। सेना का कुछ भाग उसपर और कुछ रिचर्ड के साथ इटली होता हुआ सिसिली पहुँचा, जहाँ फ्रांस नरेश से अनबन के कारण लगभग एक वर्ष नष्ट हुआ था। वहाँ से दोनों अलग हो गए और रिचर्ड ने कुछ समय साइप्रस का द्वीप जीतने और अपना विवाह करने में व्यय किया। इस कारण वह फ्रांस के राजा से दो महीने बाद एकर पहुँचा (तीनों राजाओं की सेनाओं का मार्ग मानचित्र में दिखाया गया है)। एकर के मुक्त हो जाने पर राजाओं का मतभेद भड़क उठा। फ्रांस का राजा अपने देश लौट गया। रिचर्ड ने अकेले ही तुर्कों के देश मिस्र की ओर बढ़ने का प्रयास किया जिसमें उसने नौ लड़ाइयाँ लड़ीं। वह जेरुसलम से छह मील तक बढ़ा पर उसपर घेरा न डाल सका। वहाँ से लौटकर उसने समुद्रतट पर जफ्फा में सितंबर, ११९२ में सलाहउद्दीन से संधि कर ली जिससे ईसाई यात्रियों को बिना रोक टोक के यात्रा करने की सुविधा दे दी गई और तीन वर्ष के लिये युद्ध को विराम दिया गया।

युद्धविराम की अवधि के उपरांत जर्मन सम्राट् हेनरी षष्ठ ने फिर आक्रमण किया और उसकी सहायता के लिये दो सेनाएँ समुद्री मार्ग से भी आईं। पर सफलता न मिली।

चतुर्थ क्रूश युद्ध १२०२–१२०४—इस युद्ध का प्रवर्तक पोप इन्नोसेंत तृतीय था। उसकी प्रबल इच्छा ईसाई मत के दोनों संप्रदायों (पूर्वी और पश्चिमी) को मिलाने की थी जिसके लिये वह पूर्वी सम्राट् को भी अपने अधीन करना चाहता था। पोप की शक्ति इस समय चरम सीमा पर थी। वह जिस राज्य को जिसे चाहता, दे देता था। उसकी इस नीति का उस समय नौसेना और वाणिज्य में सबसे शक्तिशाली राज्य वेनिस और नार्मन जाति की भी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त था। पोप का उद्देश्य इस प्रकार ईसाई जगत् में एकता उत्पन्न करके मुसलमानों को पवित्र भूमि से निकाल देना था। पर उसके सहायकों का लक्ष्य राजनीतिक और आर्थिक था।

तृतीय ईसाई धर्मयुद्ध
(द्र० पृ० ४५)

एदिसा
अंतिओक
त्रिपोलिस
भूमध्यसागर
जेरुसलम
मिस्र
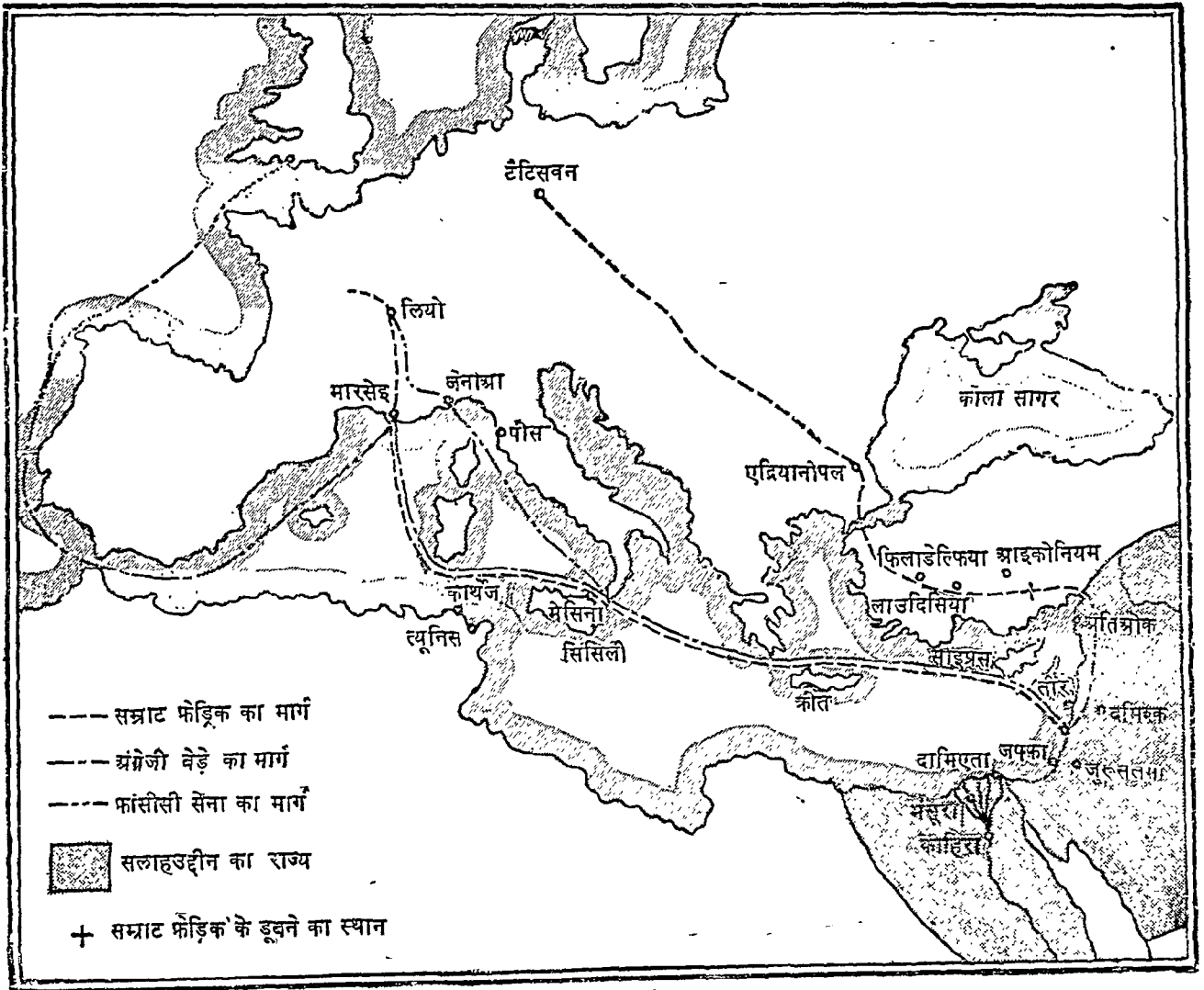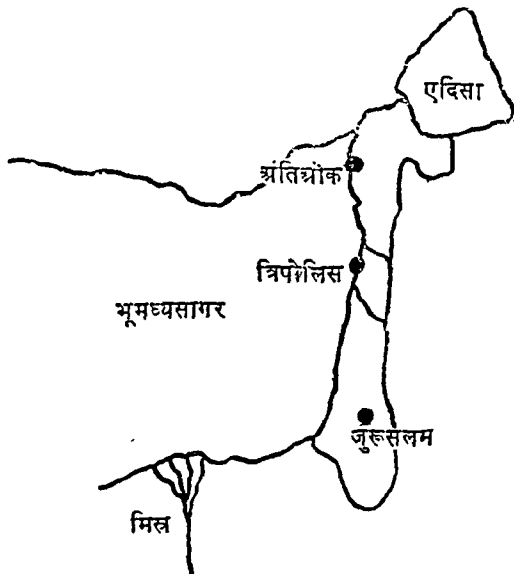
प्रथम ईसाई धर्मयुद्ध (क्रूश युद्ध) के बाद क्रूशधरों द्वारा जीते हुए प्रदेशों में स्थापित चार राज्य (द्र० पृ० ४४)

लाउदिसिया
आइकोनियम
अंतिओक
त्रिपोलिस
ईसाई राज्य
दमिश्क
जेरुसलम
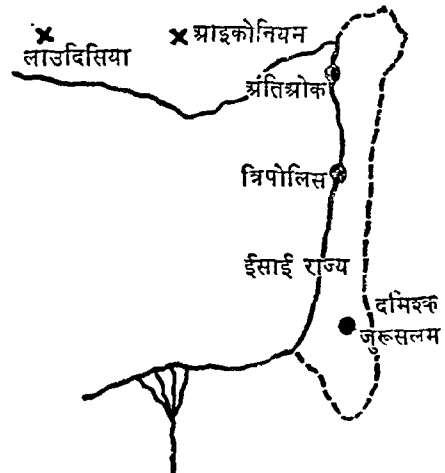
द्वितीय ईसाई धर्मयुद्ध (द्र० पृ० ४५)

नेताओं के पीछे पवित्र भूमि की ओर मार्च, १०९६ में थलमार्ग से चल दिए। बहुतेरे इनमें उद्दंड थे और विधर्मियों के प्रति तो सभी द्वेषरत थे। उनके पास भोजन सामग्री और परिवहन साधन का अभाव होने के कारण वे मार्ग में लूट खसोट और यहूदियों की हत्या करते गए जिसके फलस्वरूप बहुतेरे मारे भी गए। इनकी यह प्रवृत्ति देखकर पूर्वी सम्राट् ने इनके कोंस्तांतीन नगर पहुँचने पर दूसरे दल की प्रतीक्षा किए बिना बास्फोरस के पार उतार दिया। वहाँ से बढ़कर जब वे तुर्कों द्वारा शासित क्षेत्र में घुसे तो, मारे गए।

दूसरा दल पश्चिमी यूरोप के कई सुयोग्य सामंतों की सेनाओं का था जो अलग अलग मार्गों से कोंस्तांतीन पहुँचे। इनके नाम इस प्रकार है :— (१) लरेन का ड्यूक गाडफ्रे और उसका भाई बाल्डविन; (२) दक्षिण फ्रांस स्थित तूलू का ड्यूक रेमों; (३) सिसिली के विजेता नार्मनों का नेता बोहेमों (जो पूर्वी सम्राट् का स्थान लेने का इच्छुक भी था)। इनकी यात्रा के मार्ग मानचित्र में दिखाए गए हैं। पूर्वी सम्राट् ने इन सेनाओं को मार्गपरिवहन इत्यादि की सुविधाएँ और स्वयं सैनिक सहायता देने के बदले इनसे यह प्रतिज्ञा कराई कि साम्राज्य के भूतपूर्व प्रदेश, जो तुर्कों ने हथिया लिए थे, फिर जीते जाने पर सम्राट् को दे दिए जायँगे। यद्यपि इस प्रतिज्ञा का पूरा पालन नहीं हुआ और सम्राट् को सहायता यथेष्ट नहीं प्राप्त हुई, फिर भी क्रूशधर सेनाओं को इस युद्ध में पर्याप्त सफलता मिली।

(कोंस्तांतीन से आगे इन सेनाओं का मार्ग मानचित्र में अंकित है।) सर्वप्रथम उनका सामना होते ही तुर्कों ने निकाया नगर और उससे संबंधित प्रदेश सम्राट् को दे दिए। फिर सेना ने दोरीलियम स्थान पर तुर्कों को पराजित किया और वहां से अंतिओक में पहुँचकर आठ महीने के घेरे के बाद उसे जीत लिया। इससे पहले ही बाल्डविन ने अपनी सेना अलग कर के पूर्व की ओर अर्मीनिया के अंतर्गत एदेसा प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया।

अंतिओक से नवंबर, १०९८ में चलकर क्रूशधर सेनाएँ मार्ग में स्थित त्रिपोलिस, तीर, एकर तथा सिजरिया के शासकों से दंड लेते हुए जून, १०९९ में जेरूसलम पहुँची और पाँच सप्ताह के घेरे के बाद जुलाई, १०९९ में उसपर अधिकार कर लिया। उन्होंने नगर के मुसलमान और यहूदी निवासियों की (उनकी स्त्रियों और बच्चों के साथ) निर्मम हत्या कर दी।

इस विजय के बाद क्रूशधरों ने जीते हुए प्रदेशों में अपने चार राज्य स्थापित किए (जो मानचित्र में दिखाए गए है)। पूर्वी रोमन सम्राट् इससे अप्रसन्न हुआ पर इन राज्यों को वेनिस, जेनोआ इत्यादि समकालीन महान् शक्तियों की नौसेना की सहायता प्राप्त थी जिनका वाणिज्य इन राज्यों के सहारे एशिया में फैलता था। इसके अतिरिक्त धर्मसैनिकों के दो दल, जो मठरक्षक (नाइट्स टेंप्लर्स) और स्वास्थ्यरक्षक (नाइट्स हास्पिटलर्स) के नाम से प्रसिद्ध है, इनके सहायक थे। पादरियों और भिक्षुओं के समान ये धर्मसैनिक पोप से दीक्षा पाते थे और आजीवन ब्रह्मचर्य रखने तथा धर्म, असहाय स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने की शपथ लेते थे।

द्वितीय क्रूश युद्ध ११४७–११४९—सन् ११४४ में मोसल के तुर्क शासक इमाद उद्दीन ज़ंगी ने एदेसा को ईसाई शासक से छीन लिया। पोप से सहायता की प्रार्थना की गई और उसके आदेश से प्रसिद्ध संन्यासी संत बर्नार्ड ने धर्मयुद्ध का प्रचार किया।

इस युद्ध के लिये पश्चिमी यूरोप के दो प्रमुख राजा (फ्रांस के सातवें लुई और जर्मनी के तीसरे कोनराड) तीन लाख की सेना के साथ थलमार्ग से कोंस्तांतीन होते हुए एशिया माइनर पहुँचे। इनके परस्पर वैमनस्य और पूर्वी सम्राट् की उदासीनता के कारण इन्हें सफलता न मिली। जर्मन सेना इकोनियम के युद्ध में ११४७ में परास्त हुई और फ्रांस की अगले वर्ष लाउदीसिया के युद्ध मे। पराजित सेनाएँ समुद्र के मार्ग से अंतिओक होती हुई जेरूसलम पहुँचीं और वहाँ के राजा के सहयोग से दमिश्क पर घेरा डाला, पर बिना उसे लिए हुए ही हट गईं। इस प्रकार यह युद्ध नितांत असफल रहा।

तृतीय क्रूश युद्ध ११८८–११९२—इस युद्ध का कारण तुर्कों की शक्ति का उत्थान था। सुलतान सलाहउद्दीन (११३७–११९३) के नेतृत्व में उनका बड़ा साम्राज्य बन गया जिसमें उत्तरी अफ्रीका में मिस्र, पश्चिमी एशिया में फ़िलिस्तीन, सीरिया, अरब, ईरान तथा इराक संमिलित थे। उसने ११८७ में जेरूसलम के ईसाई राजा को हत्तिन के युद्ध में परास्त कर बंदी कर लिया और जेरूसलम पर अधिकार कर लिया। समुद्रतट पर स्थित तीर पर उसका आक्रमण असफल रहा और इस बंदर का बचाव ११८८ में करने के बाद ईसाई सेना ने दूसरे बंदर एकर को सलाहउद्दीन से लेने के लिये उसपर अगस्त, ११८९ में घेरा डाला जो २३ महीने तक चला। सलाहउद्दीन ने घेरा डालनेवालों को घेरे में डाल दिया। जब ११९१ के अप्रैल में फ्रांस की सेना और जून में इंग्लैंड की सेना वहाँ पहुँची तब सलाहउद्दीन ने अपनी सेना हटा ली और इस प्रकार जेरूसलम के राज्य में से (जो ११९९ में स्थापित चार फिरंगी राज्यों में प्रमुख था) केवल समुद्रतट का वह भाग, जिसमें ये बंदर (एकर तथा तीर) स्थित थे, शेष रह गया।

इस युद्ध के लिये यूरोप के तीन प्रमुख राजाओं ने बड़ी तैयारी की थी पर वह सहयोग न कर सके और पारस्परिक विरोध के कारण असफल रहे।

प्रथम जर्मन सम्राट् फ्रेडरिक लालमुँहा (बार्बरोसा), जिसकी अवस्था ८० वर्ष से अधिक थी, ११८९ के आरंभ में ही अपने देश से थलमार्ग से चल दिया और एशिया माइनर में तुर्की क्षेत्र में प्रवेश करके उसने उसका कुछ प्रदेश जीत भी लिया, पर अर्मीनिया की एक पहाड़ी नदी को तैरकर पार करने में डूबकर जून, ११९० में मर गया। उसकी सेना के बहुत सैनिक मारे गए, बहुत भाग निकले; शेष उसके पुत्र फ्रेडरिक के साथ एकर के घेरे में जा मिले।

दूसरा फ्रांस का राजा फिलिप ओगुस्तू अपनी सेना जेनोआ के बंदर से जहाजों पर लेकर चला, पर सिसिली में इंग्लैंड के राजा से (जो अब तक उसका परम मित्र था) विवादवश एक वर्ष नष्ट करके अप्रैल, ११९१ में एकर पहुँच पाया।

इस क्रूश युद्ध का प्रमुख पात्र इंग्लैंड का राजा रिचर्ड प्रथम था, जो फ्रांस के एक प्रदेश का ड्यूक भी था और अपने पिता के राज्यकाल में फ्रांस के राजा का परम मित्र रहा था। इसने अपनी सेना फ्रांस में ही एकत्र की और वह फ्रांस की सेना के साथ ही समुद्रतट तक गई। इंग्लैंड का समुद्री बेड़ा ११८९ में ही वहाँ से चलकर मारसई के बंदर पर उपस्थित था। सेना का कुछ भाग उसपर और कुछ रिचर्ड के साथ इटली होता हुआ सिसिली पहुँचा, जहाँ फ्रांस नरेश से अनबन के कारण लगभग एक वर्ष नष्ट हुआ था। वहाँ से दोनों अलग हो गए और रिचर्ड ने कुछ समय साइप्रस का द्वीप जीतने और अपना विवाह करने में व्यय किया। इस कारण वह फ्रांस के राजा से दो महीने बाद एकर पहुँचा (तीनों राजाओं की सेनाओं का मार्ग मानचित्र में दिखाया गया है)। एकर के मुक्त हो जाने पर राजाओं का मतभेद भड़क उठा। फ्रांस का राजा अपने देश लौट गया। रिचर्ड ने अकेले ही तुर्कों के देश मिस्र की ओर बढ़ने का प्रयास किया जिसमें उसने नौ लड़ाइयाँ लड़ीं। वह जेरूसलम से छह मील तक बढ़ा पर उसपर घेरा न डाल सका। वहाँ से लौटकर उसने समुद्रतट पर जफ्फा में सितंबर, ११९२ में सलाहउद्दीन से संधि कर ली जिससे ईसाई यात्रियों को बिना रोक टोक के यात्रा करने की सुविधा दे दी गई और तीन वर्ष के लिये युद्ध को विराम दिया गया।

युद्धविराम की अवधि के उपरांत जर्मन सम्राट् हेनरी षष्ठ ने फिर आक्रमण किया और उसकी सहायता के लिये दो सेनाएँ समुद्री मार्ग से भी आईं। पर सफलता न मिली।

चतुर्थ क्रूश युद्ध १२०२–१२०४—इस युद्ध का प्रवर्तक पोप इनोसेंत तृतीय था। उसकी प्रबल इच्छा ईसाई मत के दोनों संप्रदायों (पूर्वी और पश्चिमी) को मिलाने की थी जिसके लिये वह पूर्वी सम्राट् को भी अपने अधीन करना चाहता था। पोप की शक्ति इस समय चरम सीमा पर थी। वह जिस राज्य को जिसे चाहता, दे देता था। उसकी इस नीति को उस समय नौसेना और वाणिज्य में सबसे शक्तिशाली राज्य वेनिस और नार्मन जाति की भी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त था। पोप का उद्देश्य इस प्रकार ईसाई जगत् में एकता उत्पन्न करके मुसलमानों को पवित्र भूमि से निकाल देना था। पर उसके सहायकों का लक्ष्य राजनीतिक और आर्थिक था।

सन् १२०२ में पूर्वी सम्राट् ईजाक्स को उसके भाई अलेक्सियस ने अंधा करके हटा दिया था और स्वयं सम्राट् बन बैठा था। पश्चिमी सेनाएँ समुद्र के मार्ग से कोंस्तांतीन पहुँचीं और अलेक्सियस को हराकर ईजाक्स को गद्दी पर बैठाया। उसकी मृत्यु हो जाने पर कोंस्तांतीन पर फिर घेरा डाला गया और विजय के बाद वहाँ बाल्डविन को, जो पश्चिमी यूरोप में फ्लैंडर्स (बेल्जियम) का सामंत था, सम्राट् बनाया गया। इस प्रकार पूर्वी साम्राज्य भी पश्चिमी फिरंगियों के शासन में आ गया और ६० वर्ष तक बना रहा।

इस क्रांति के अतिरिक्त फिरंगी सेनाओं ने राजधानी को भली प्रकार लूटा। वहाँ के कोष से धन, रत्न और कलाकृतियाँ लेने के अतिरिक्त प्रसिद्ध गिरजाघर संत सोफिया को भी लूटा जिसकी छत में, कहा जाता है, एक सम्राट् ने १८ टन सोना लगाया था।

बालकों का धर्मयुद्ध (१२१२)—सन् १२१२ में फ्रांस के स्तेफ़ाँ नाम के एक किसान ने, जो कुछ चमत्कार भी दिखाता था, घोषणा की कि उसे ईश्वर ने मुसलमानों को परास्त करने के लिये भेजा है और यह पराजय बालकों द्वारा होगी। इस प्रकार बालकों के धर्मयुद्ध का प्रचार हुआ, जो एक विचित्र घटना है। ३०,००० बालक बालिकाएँ, जिनमें से अधिकांश १२ वर्ष से कम अवस्था के थे, इस काम के लिये सात जहाजों में फ्रांस के दक्षिणी बंदर मारसई से चले। उन्हें समुद्रयात्रा पैदल ही संपन्न होने का विश्वास दिलाया गया। दो जहाज तो समुद्र में समस्त यात्रियों समेत डूब गए, शेष के यात्री सिकंदरिया में दास बनाकर बेच दिए गए। इनमें से कुछ १७ वर्ष उपरांत संधि द्वारा मुक्त हुए।

इसी वर्ष एक दूसरे उत्साही ने २०,००० बालकों का दूसरा दल जर्मनी में खड़ा किया और वह उन्हें जेनोआ तक ले गया। वहाँ के बड़े पादरी ने उन्हें लौट जाने का परामर्श दिया। लौटते समय उनमें से बहुतेरे पहाड़ों की यात्रा में मर गए।

पाँचवाँ क्रूश युद्ध—१२२८–२९ में सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने मिस्र के शासक से संधि करके, पवित्र भूमि के मुख्य स्थान जेरूसलम बेथलेहम, नज़रथ, तीर और सिदोन तथा उनके आसपास के क्षेत्र प्राप्त करके अपने को जेरूसलम के राजपद पर अभिषिक्त किया।

छठा क्रूश युद्ध १२४८–५४—कुछ ही वर्ष उपरांत जेरूसलम फिर मुसलमानों ने छीन लिया। जलालुद्दीन, ख्वारिज़्मशाह, जो खीवा का शासक था, चंगेज़ खाँ से परास्त होकर, पश्चिम गया और ११४४ में उसने जेरूसलम लेकर वहाँ के पवित्र स्थानों को क्षति पहुँचाई और निवासियों की हत्या की।

इसपर फ्रांस के राजा लुई नवें ने (जिसे संत की उपाधि प्राप्त हुई) १२४८ और ५४ के बीच दो बार इन स्थानों को फिर से लेने का प्रयास किया। फ्रांस से समुद्रमार्ग से चलकर वह साइप्रस पहुँचा और वहाँ से १२४९ में मिस्र में दमिएता ले लिया, पर १२५० में मंसूरा की लड़ाई में परास्त हुआ और अपनी पूरी सेना के साथ उसने पूर्ण आत्मसमर्पण किया। चार लाख स्वर्णमुद्रा का उद्धारमूल्य चुकाकर, दमिएता वापिस कर मुक्ति पाई। इसके उपरांत चार वर्ष तक उसने एकर के बचाव का प्रयास किया, पर सफल न हुआ।

सप्तम क्रूश युद्ध १२७०–७२—जब १२६८ में तुर्कों ने ईसाइयों से अंतिओक ले लिया, तब लुई नवें ने एक और क्रूश युद्ध किया। उसको आशा थी कि उत्तरी अफ्रीका में ट्यूनिस का राजा ईसाई हो जायगा। वहाँ पहुँचकर उसने कार्थेज १२७० में लिया, परं थोड़े ही दिनों में प्लेग से मर गया। इस युद्ध को इसकी मृत्यु के बाद इंग्लैंड के राजकुमार एडवर्ड ने, जो आगे चलकर राजा एडवर्ड प्रथम हुआ, जारी रखा। परंतु उसने अफ्रीका में और कोई कार्यवाही नहीं की। वह सिसली होता हुआ फिलिस्तीन पहुँचा। उसने एकर का घेरा हटा दिया और मुसलमानों का दस वर्ष के लिये युद्धविराम करने को बाध्य किया।

एकर ही एक स्थान फिलिस्तीन में ईसाइयों के हाथ में बचा था और वह अब उनके छोटे से राज्य की राजधानी था। १२९१ में तुर्कों ने उसे भी ले लिया।

धर्मयुद्धों का प्रभाव—इन धर्मयुद्धों के इतिहास में इस बात का ज्वलंत प्रमाण मिलता है कि धार्मिक अंधविश्वास और कट्टरता को उत्तेजित करने से मनुष्य में स्वयं विचार करने की शक्ति नहीं रह जाती। कट्टरता के प्रचार से ईसाइयत जैसे शांतिपूर्ण मत के अनुयायी भी कितना अत्याचार और हत्याकांड कर सकते हैं, यह इससे प्रकट है। जो धर्मसैनिक यात्रियों की चिकित्सा के लिये अथवा मंदिर की रक्षा के लिये दीक्षित हुए, वे यहाँ के वातावरण में संसारी हो गए। वे महाजनी करने लगे।

इन युद्धों से यूरोप को बहुत लाभ भी हुआ। बहुतेरे कलहप्रिय लोग इन युद्धों में काम आए जिससे शासन का काम सुगम हो गया। युद्धों में जानेवाले यूरोपीय पूर्व के निवासियों के संपर्क में आए और उनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा, क्योंकि इनकी रहन सहन का स्तर यूरोप से बहुत ऊँचा था। वाणिज्य को भी बहुत प्रोत्साहन मिला और भूमध्यसागर के बंदरगाह, विशेषत: वेनिस, जेनोआ, पीसा की खाड़ी की उन्नति हुई।

पूर्वी साम्राज्य, जो ११वीं शताब्दी में समाप्त होने ही को था, ३०० वर्ष और जीवित रहा। पोप का प्रभुत्व और भी बढ़ गया और साथ ही राजाओं की शक्ति बढ़ने से दोनों में कभी कभी संघर्ष भी हुआ। (प० नं०)

ईसाई समाजवाद समाजवादियों का उद्देश्य है निजी संपत्ति पर नियंत्रण और आत्माभिव्यक्ति के अवसरों में वृद्धि। किंतु इसके साधन क्या हों, हिंसाप्रधान या अहिंसामूलक, समाजवादी व्यवस्था की रूपरेखा क्या हो, समाजपरिवर्तन की प्रक्रिया और उसका तर्क क्या हो—इन और अन्य संबद्ध प्रश्नों पर समाजवादी विचारधाराओं में मतवैभिन्य है। किंतु समाजवादी विचारधाराओं के सामान्य उद्देश्यों की प्रतिष्ठा ईसाई मत के कुछ आधारभूत सिद्धांतों से हो सकती है। ईसा की शिक्षा है कि ईश्वर समस्त प्राणियों का स्रष्टा और परमपिता है, मनुष्यों में भाईचारे का संबंध है, गरीबी और शोषण के साथ साथ संपत्तिसंचय नैतिक पतन है, संपत्ति की ओर उचित प्रवृत्ति यह है—उसका त्याग और समाजकल्याण के लिये उसका अमानत की भाँति प्रयोग और हिंसाप्रमुख साधनों का निराकरण।

रोमन साम्राज्य में राजधर्म की मान्यता मिलने के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक ईसाई नैतिकता सामाजिक संगठन और व्यवहार की आधारशिला थी। वह संघर्ष और प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग और सेवा पर बल देती थी। किंतु १५वीं शताब्दी के मध्य के उपरांत वैज्ञानिक और यांत्रिक विकास के फलस्वरूप आधुनिक सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। दृष्टिकोण गुणात्मक के स्थान पर परिमाणात्मक हो गया। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संगठन ने दीर्घकाय रूप लिया। सभी कार्य, धार्मिक हों या शैक्षिक, आर्थिक हों या राजनीतिक, नौकरशाही द्वारा संपन्न होने लगे। प्रत्यक्ष जगत् के स्थान पर आज का संसार व्यापक और निर्वैयक्तिक है। उसकी नैतिकता धार्मिक नहीं है, सुखवादी या उपयोगितावादी है। धन इस सुख का साधन है और वही आज जीवन का मानदंड है। इसीलिये जीवन और आज की विचारधाराएँ संघर्षप्रमुख हैं। ईसाइयत और समाजवाद के बीच एक विशाल खाई है।

प्राचीन काल से ही अनेक संन्यासप्रमुख ईसाई संप्रदायों ने बहुत कुछ समाजवादी सिद्धांतों को अपनाया। किंतु फ्रांसीसी राजक्रांति के बाद, विशेष रूप से १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, पश्चिम के अनेक देशों में ईसाई समाजवादी विचारधारा और संगठन का प्रादुर्भाव हुआ। इसका प्रमुख कारण यह था कि उद्योगीकरण के दुष्परिणाम प्रकट होने लगे थे। ईसाई नैतिकता की उपेक्षा हो रही थी और समाज सुखवाद की ओर अग्रसर हो रहा था। दूसरी ओर ईसाई धर्मावलंबी, विशेष रूप से संगठित चर्च, सामाजिक बुराइयों की ओर से उदासीन थे। ईसाई समाजवाद का उद्देश्य यह था कि ईसाई लोग समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाएँ और समाजवाद ईसाई नैतिकता से अनुप्राणित हो।

ईसाई समाजवाद के नेता थे, फ्रांस में दलामने, इंग्लैंड में मारिस और किंग्सले, जर्मनी में फॉन केटलर, आस्ट्रिया में कार्ल ल्यूगा और अमरीका में जोशिया स्ट्रांग, रिचर्ड एली, जार्ज हेरन इत्यादि। इन आंदोलनों के द्वारा यह प्रयास हुआ कि चर्च और समाजवाद में परस्पर सहयोग हो और सामाजिक जीवन का संचालन प्रतियोगिता नहीं वरन् सहयोग के आधार पर हो।

ईसा मसीह (द्र० पृष्ठ ४७)

सलीब लिए हुए ईसा मसीह

ईसा मसीह के जीवन को अपनी कल्पना और प्रतिभा से तूलिका द्वारा जीवंत करने का काम प्रधानतः चित्रकार एल ग्रेको द्वारा संपन्न हुआ है। एल ग्रेको के ईसा मसीह पूर्णत्व की प्रतिमा हैं—पुरुषोत्तम के आदर्श। इसी से लियो ब्रांस्टीन ने इस चित्र के बारे में लिखा था—"इसे साधारणतः 'सलीब लिए हुए ईसा मसीह' (क्राइस्ट बियरिंग द क्रॉस) कहा जाता है, किंतु अधिक उचित होगा कि इसे 'सलीब का आलिंगन करते हुए ईसा मसीह' (क्राइस्ट एंब्रेसिंग द क्रॉस) कहा जाय।"

यह चित्र सन् १५८७—१६०४ में तैयार हुआ था। इसका आकार $42\frac{1}{2}$" × $34\frac{5}{8}$" है। आजकल यह प्रदो, माद्रिद में सुरक्षित है।

ईसाई समाजवादी इस बात के पक्ष में थे कि आर्थिक जीवन का संगठन जनतंत्रवादी हो। इनके प्रयास से समाजवादी विचारधारा जनप्रिय बनी। आदर्श समाजवाद की रूपरेखा कैसी हो, इसमें ईसाई समाजवादियों को विशेष अभिरुचि न थी। उनको विश्वास था कि मजदूरों के अतिरिक्त यदि मध्य वर्ग के मनुष्यों को भी ठीक प्रकार से सामाजिक परिस्थिति से परिचित कराया जाय तो वे वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के सुधार में हाथ बँटाएँगे।

किंतु १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ईसाई समाजवाद की जनप्रियता घटने लगी। पश्चिमी देशों के मजदूर ट्रेड यूनियन आंदोलन से अधिक प्रभावित हुए। आधुनिक सभ्यता प्रत्यक्षवाद (ऐंपेरिसिज़्म), धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलेरिज़्म) और सुखवाद (हेडनिज़्म) पर आधारित है। ईसाई समाजवादियों में आंतरिक मतभेद भी था। कुछ की अभिरुचि प्रमुख रूप से ईसाई धर्म में थी और कुछ की समाजवाद में। रूस में साम्यवादी राज्य की स्थापना के बाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं का प्रभाव कम हो गया। पश्चिम में आज ईसाई धर्म और प्रचलित बौद्धिक मानसिकता में अंतर बढ़ रहा है।

सं० ग्रं०—काफ़मैन, एम० : क्रिश्चियन सोशलिज़्म; नीटी, एफ़० एस० : कैथलिक सोशलिज़्म; रैवने, सी० ई० : क्रिश्चियन सोशलिज्म। (गो० ना० धा०)

ईसा मसीह ईसा इब्रानी शब्द येशूआ का विकृत रूप है; इसका अर्थ है मुक्तिदाता। यहूदी धर्मग्रंथ में मशीअह ईश्वरप्रेरित मुक्तिदाता की पदवी है; इसका अर्थ है अभिषिक्त, यूनानी भाषा में इसका अनुवाद ख्रीस्तोस है। इस प्रकार ईसा मसीह पश्चिम में येसु ख्रीस्त के नाम से विख्यात हैं।

तासितस, सुएतोन तथा फ़्लावियस योसेफ़स जैसे प्राचीन रोमन तथा यहूदी इतिहासकारों ने ईसा तथा उनके अनुयायियों का तो उल्लेख किया है किंतु उनकी जीवनी अथवा शिक्षा का वर्णन नहीं किया। इस प्रकार की सामग्री हमें बाइबिल में ही मिलती है, विशेषकर चारों सुसमाचारों (गास्पेलों) में जिनकी रचना प्रथम शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में हुई थी। सुसमाचारों का प्रधान उद्देश्य है ईसा की शिक्षा प्रस्तुत करना, उनके किए हुए चमत्कारों के वर्णन द्वारा उनके ईश्वरत्व पर विश्वास उत्पन्न करना, तथा मृत्यु के बाद उनके पुनरुत्थान का साक्ष्य देना। किंतु वे इन विषयों के साथ साथ ईसा की जीवनी पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

बाइबिल के अनुसार ईसा की माता मरियम गलीलिया प्रांत के नाजरेथ गाँव की रहनेवाली थीं। उनकी सगाई दाऊद के राजवंशी यूसुफ नामक बढ़ई से हुई थी। विवाह के पहले ही वह कुँवारी रहते हुए ही ईश्वरीय प्रभाव से गर्भवती हो गईं। ईश्वर की ओर से संकेत पाकर यूसुफ ने उन्हें पत्नीस्वरूप ग्रहण किया; इस प्रकार जनता ईसा की अलौकिक उत्पत्ति से अनभिज्ञ रही। विवाह संपन्न होने के बाद यूसुफ गलीलिया छोड़कर यहूदिया प्रांत के बेथलेहेम नामक नगरी में जाकर रहने लगे, वहाँ ईसा का जन्म हुआ। शिशु को राजा हेरोद के अत्याचार से बचाने के लिये यूसुफ मिस्र भाग गए। हेरोद ४ ई० पू० में चल बसे अतः ईसा का जन्म संभवतः ६ ई० पू० में हुआ था। हेरोद के मरण के बाद यूसुफ लौटकर नाज़रेथ गाँव में बस गए। बढ़ने पर ईसा ने यूसुफ का पेशा सीख लिया और लगभग ३० साल की उम्र तक उसी गाँव में रहकर वे बढ़ई का काम करते रहे।

ईसा के अंतिम दो तीन वर्ष समझने के लिये उस समय की राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति ध्यान में रखनी चाहिए। समस्त यहूदी जाति रोमन सम्राट् तिबेरियस के अधीन थी तथा यहूदिया प्रांत में पिलातस नामक रोमन राज्यपाल शासन करता था। यह राजनीतिक परतंत्रता यहूदियों को बहुत अखरती थी। वे अपने धर्मग्रंथ में वर्णित मसीह की राह देख रहे थे क्योंकि उन्हें आशा थी कि वह मसीह उनको रोमियों की गुलामी से मुक्त करेंगे। दूसरी ओर, उनके यहाँ पिछली चार शताब्दियों में एक भी नबी प्रकट नहीं हुआ, अतः जब सन् २७ ई० में योहन बपतिस्ता यह संदेश लेकर बपतिस्मा देने लगे कि 'पछतावा करो, स्वर्ग का राज्य निकट है', तो यहूदियों में उत्साह की लहर दौड़ गई और वे आशा करने लगे कि मसीह शीघ्र ही आनेवाला है।

उस समय ईसा ने अपने औजार छोड़ दिए तथा योहन से बपतिस्मा ग्रहण करने के बाद अपने शिष्यों को वह चुनने लगे और उनके साथ समस्त देश का परिभ्रमण करते हुए उपदेश देने लगे। यह सर्वविदित था कि ईसा बचपन से अपना सारा जीवन नाज़रेथ में बिताकर बढ़ई का ही काम करते रहे। अतः उनके अचानक धर्मोपदेशक बनने पर लोगों को आश्चर्य हुआ। सब ने अनुभव किया कि ईसा अत्यंत सरल भाषा तथा प्रायः दैनिक जीवन के दृष्टांतों का सहारा लेकर अधिकारपूर्वक मौलिक धार्मिक शिक्षा दे रहे हैं।

ईसा यहूदियों का धर्मग्रंथ (ईसाई बाइबिल का पूर्वार्ध) प्रामाणिक तो मानते थे किंतु वह शास्त्रियों की भाँति उसकी निरी व्याख्या ही नहीं करते थे, प्रत्युत उसके नियमों में परिष्कार करने का भी साहस करते थे। 'पर्वत-प्रवचन' में उन्होंने कहा—'मैं मूसा का नियम तथा नबियों की शिक्षा रद्द करने नहीं, बल्कि पूरी करने आया हूँ।' वह यहूदियों के पर्व मनाने के लिये राजधानी जेरूसलम के मंदिर में आया तो करते थे, किंतु वह यहूदी धर्म को अपूर्ण समझते थे। वह शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित जटिल कर्मकांड का विरोध करते थे और नैतिकता को ही धर्म का आधार मानकर उसी को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते थे। ईसा के अनुसार धर्म का सार दो बातों में है, एक तो मनुष्य का परमात्मा को अपना दयालु पिता समझकर समूचे हृदय से प्यार करना तथा उसी पर भरोसा रखना, दूसरे, अन्य सभी मनुष्यों को भाई बहन मानकर किसी से भी वैर न रखना, अपने विरुद्ध किए हुए अपराध क्षमा करना तथा सच्चे हृदय से सबका कल्याण चाहना। जो यह भ्रातृप्रेम निबाहने में असमर्थ हो वह ईश्वरभक्त होने का दावा न करे; भगवद्भक्ति की कसौटी भ्रातृप्रेम ही है।

जनता इस शिक्षा पर मुग्ध हुई तथा रोगियों को चंगा करना, मुर्दो को जिलाना आदि उनके चमत्कार देखकर उसने ईसा को नबी के रूप में स्वीकार किया। तब ईसा ने धीरे धीरे यह प्रकट किया कि मैं ही मसीह, ईश्वर का पुत्र हूँ, स्वर्ग का राज्य स्थापित करने स्वर्ग से उतरा हूँ। यहूदी अपने को ईश्वर की चुनी हुई प्रजा समझते थे तथा बाइबिल में जो मसीह और स्वर्ग के राज्य की प्रतिज्ञा है उसका एक भौतिक एवं राष्ट्रीय अर्थ लगाते थे। ईसा ने उन्हें समझाया कि मसीह यहूदी जाति का नेता बनकर उसे रोमियों की गुलामी से मुक्त करने नहीं प्रत्युत सब मनुष्यों को पाप से मुक्त करने आए हैं। स्वर्ग के राज्य पर यहूदियों का एकाधिकार नहीं है, मानव मात्र इसका सदस्य बन सकता है। वास्तव में स्वर्ग का राज्य ईसा पर विश्वास करनेवालों का समुदाय है जो दुनिया के अंत तक उनके संदेश का प्रचार करता रहेगा। अपनी मृत्यु के बाद उस समुदाय के संगठन और शासन के लिये ईसा ने बारह शिष्यों को चुनकर उन्हें विशेष शिक्षण और अधिकार प्रदान किए।

स्वर्ग के राज्य के इस आध्यात्मिक स्वरूप के कारण ईसा के प्रति यहूदी नेताओं में विरोध उत्पन्न हुआ। वे समझने लगे कि ईसा स्वर्ग का जो राज्य स्थापित करना चाहते हैं वह एक नया धर्म है जो जेरूसलम के मंदिर से कोई संबंध नहीं रख सकता। अंततोगत्वा उन्होंने (संभवतः सन् ३० ई० में) ईसा को गिरफ्तार कर लिया तथा यहूदियों की महासभा ने उनको इसीलिये प्राणदंड दिया कि वह मसीह तथा ईश्वर का पुत्र होने का दावा करते हैं। रोमन राज्यपाल ने इस दंडाज्ञा का समर्थन किया और ईसा को क्रूस पर मरने का आदेश दिया।

ईसा की गिरफ्तारी पर उनके सभी शिष्य विचलित होकर छिप गए थे। उनकी मृत्यु के बाद उन्होंने राज्यपाल की आज्ञा से उनको क्रूस से उतारकर दफना दिया। दफन के तीसरे दिन ईसा की कब्र खाली पाई गई, उसी दिन से, आस्थावानों का विश्वास है, वह पुनर्जीवित होकर अपने शिष्यों को दिखाई देने और उनके साथ वार्तालाप भी करने लगे। उस समय ईसा ने अपने शिष्यों को समस्त जातियों में जाकर अपने संदेश का प्रचार करने का आदेश दिया। पुनरुत्थान के ४०वें दिन ईसाई विश्वास के अनुसार, ईसा का स्वर्गारोहण हुआ।

यद्यपि ईसा की आकृति का कोई भी प्रामाणिक चित्र अथवा वर्णन नहीं मिलता, तथापि बाइबिल में उनका जो थोड़ा बहुत चरित्रचित्रण हुआ है उससे उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होने के साथ ही अत्यंत आकर्षक सिद्ध हो जाता है। ईसा ३० साल की उम्र तक मजदूर का जीवन बिता चुकने के बाद धर्मोपदेशक बने थे, अतः वह अपने को जनसाधारण के अत्यंत निकट

पाते थे। जनता भी उनकी नम्रता और मिलनसारिता से आकर्षित होकर उनको घेरे रहती थी, यहाँ तक कि उनको कभी कभी भोजन करने तक की फुरसत नहीं मिलती थी। वह बच्चों को विशेष रूप से प्यार करते थे तथा उनको अपने पास बुला बुलाकर आशीर्वाद दिया करते थे। वह प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध थे तथा अपने उपदेशों में पुष्पों, पक्षियों आदि का उपमान के रूप में प्रायः उल्लेख करते थे। वह धन दौलत को साधना में बाधा समझकर धनियों को सावधान किया करते थे तथा दीन दुखियों के प्रति विशेष रूप से आकर्षित होकर प्रायः रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान कर अपनी अलौकिक शक्ति को व्यक्त करते थे, ऐसा लोगों का विश्वास है। वह पतितों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करनेवाले पतितपावन थे तथा शास्त्रियों के धार्मिक आडंबर के निंदक थे। एक बार उन्होंने उन धर्मपाखंडियों से कहा—"वेश्याएँ तुम लोगों से पहले ईश्वर के राज्य में प्रवेश करेंगी।" वह पिता परमेश्वर को अपने जीवन का केंद्र बनाकर बहुधा रात भर अकेले ही प्रार्थना में लीन रहते थे।

सहृदय और मिलनसार होते हुए भी वह नितांत अनासक्त और निर्लिप्त थे। आत्मसंयमी होते हुए भी उन्होंने कभी शरीर गलानेवाली घोर तपस्या नहीं की। वह पाप से घृणा करते थे, पापियों से नहीं। अपने को ईश्वर का पुत्र तथा संसार का मुक्तिदाता कहते हुए भी अहंकारशून्य और अत्यंत विनम्र थे। मनुष्यों में अपना स्नेह वितरित करते हुए भी वह अपना संपूर्ण प्रेम ईश्वर को निवेदित करते थे। इस प्रकार ईसा में एकांगीपन अथवा उग्रता का सर्वथा अभाव है, उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से संतुलित है।

सं०ग्रं०—सी० बुल्के : मुक्तिदाता, राँची, १९५६; एल० डि ग्रैंडमेसन : जीसस क्राइस्ट, लंडन, १९३०; जे० लेब्रेटन : द लाइफ ऐंड टीचिंग ऑव जीसस क्राइस्ट, लंडन, १९३५; वी० टेलर : द लाइफ ऐंड मिनिस्ट्री ऑव जीसस, लंडन, १९५५। (का० बु०)

ईसिस जादू, कपट, शक्ति और ज्ञान की प्रसिद्ध मिस्री देवी। केब (पृथ्वी) और नुत (आकाश) की कन्या, शक्तिमान देव ओसिरिस की भगिनीजाया, और देव होरस (सूर्य) की माता। गाय उसकी पुनीत पशु थी और अपने मस्तक पर वह गोशृंग भी धारण करती थी। फ़िली, बेहवेत आदि मिस्री नगरों के विशाल मंदिर इसी देवी ईसिस की मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिये बने थे।

नए राजवंश के अंत्यकाल से विशेषतः ईसिस की महिमा बढ़ी और देश में सर्वत्र उसकी पूजा लोकप्रिय हो गई। मिस्र के समूचे देश में तो वह पूजी ही गई, उसकी महिमा का प्रचार धीरे धीरे ग्रीस और रोम में भी हुआ। स्वयं मिस्र में उसके मंदिरों में छठी सदी ईसवी के मध्य काल तक भक्तों की भीड़ लगी रहती थी। पर तभी उस मंदिर के कपाट सदा के लिये बंद कर दिए गए और ईसिस की पूजा संसार से उठ गई। प्राचीन मिस्री अभिलेखों में, ओसिरिस की पत्नी होने के नाते, उसके साथ ही उसका भी उल्लेख तो हुआ ही है, स्वयं अपने अधिकार से भी उस देश के धार्मिक इतिहास में ईसिस का जितना प्रभुत्व रहा है उतना अन्य देवियों का दूसरे देशों में नहीं रहा।

सं०ग्रं०—ई० ए० डब्ल्यू० बज : गॉड्स ऑव दि इजिप्शंस, खंड २, अध्याय १३। (भ० श० उ०)

ईस्ट इंडिया कंपनी जब १४९८ ई० में वास्को दी गामा ने केप ऑव गुड होप द्वारा भारतयात्रा के लिये नया समुद्री मार्ग खोज निकाला, तब संसार के इतिहास में एक क्रांतिकारी परिच्छेद खुला। अब यूरोपीय देशों का भारत तथा पूर्वी द्वीपों से प्रत्यक्ष संपर्क संभव हो गया। स्वभावतः सुदृढ़ नाविक शक्ति के कारण इस मार्ग पर सर्वप्रथम पुर्तगाल का एकाधिकार स्थापित हुआ; किंतु, शीघ्र ही पहले हालैंड और बाद में इंग्लैंड ने पुर्तगाल का गतिरोध आरंभ कर दिया।

इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना, स्पेनी आर्मादा की पराजय के बाद, रानी एलिजाबेथ के आज्ञापत्र द्वारा (३१ दिसंबर, १६००) 'द गवर्नर ऐंड मर्चेंट्स ऑव लंडन ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज' के नाम से हुई। इसी आज्ञापत्र द्वारा उक्त कंपनी को व्यावसायिक एकाधिकार भी प्राप्त हुआ। कंपनी के विकास के साथ साथ इंग्लैंड में उसके व्यावसायिक एकाधिकार के विरुद्ध असंगठित और सुसंगठित प्रयास हुए। अंततः रानी ऐन तथा लार्ड गोडोल्फिन की मध्यस्थता द्वारा आंतरिक विरोधों का समाधान होकर 'द युनाइटेड कंपनी ऑव मर्चेंट्स ऑव इंग्लैंड ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज' के रूप में नए विधान के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी का पुनर्निर्माण हुआ। एक प्रकार से इसी को कंपनी का यथोचित श्रीगणेश कहना उपयुक्त होगा।

१६वीं शताब्दी से, अंतरराष्ट्रीय व्यवधान की अनुपस्थिति में, यूरोपीय देशों के पारस्परिक संपर्क व्यावसायिक और औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता के कारण संघर्ष और संधियों से ही परिचालित होते रहे। इनकी व्यापारिक संस्थाओं की समृद्धि इनके व्यापारिक एकाधिकार पर आधारित थी। यह एकाधिकार (क) शाही फर्मानों द्वारा हासिल किया जा सकता था, शाही अनुमति से, या शक्तिप्रदर्शन द्वारा। जब मुगल साम्राज्य सशक्त था तब ये आज्ञापत्र बादशाह तथा राज्याधिकारियों को प्रसन्न कर प्राप्त होते रहे; उनकी अवनति पर फिर ये शक्तिप्रदर्शन द्वारा प्राप्त किए जाने लगे। (ख) इसे प्राप्त करने का दूसरा साधन यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों पर अधिकार जमा लेना था। दोनों ही साधन अनिवार्य थे। किंतु, स्पष्टतः भारत में व्यावसायिक एकाधिकार की सार्थकता उसे ही उपलब्ध हो सकती थी जिसकी सामुद्रिक शक्ति सर्वोपरि हो। अस्तु, व्यवसाय के मूल में संघर्ष अनिवार्य था, शक्ति का भी, कूटनीति का भी।

ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन तक भारत में पुर्तगाली सूर्य अस्ताचल की ओर अग्रसर हो चुका था। पहले हालैंड, फिर हालैंड तथा इंग्लैंड की संमिलित नाविक शक्ति के समक्ष उसे नतमस्तक होना पड़ा। जब भारतीय तट के निकट कंपनी ने पुर्तगाली बेड़े को पराजित किया (१६१२) तब मुगल दरबार में पुर्तगाली प्रभाव का ह्रास प्रारंभ हो गया और कंपनी के मानवर्धन के साथ उसे सूरत में व्यावसायिक केंद्र खोलने का अधिकार भी प्राप्त हुआ। १६५४ में पुर्तगाल को कंपनी के अधिकारों को स्वीकार करना पड़ा; १६६१ में उसने डचों के विरुद्ध सहायता देना भी अंगीकार कर लिया।

कंपनी को अब डचों के विरुद्ध लोहा लेना था। सर्वप्रथम कंपनी का मुख्य ध्येय हिंदेशिया में ही अपना व्यवसाय केंद्रित करना था, जहाँ डच पहले से ही सशक्त थे। एंबोयना के हत्याकांड (१६२३) के बाद यह विचार त्याग कर उसने भारत की ओर रुख किया, जहाँ डच शक्ति क्षीण थी। यूरोप में क्रामवेल कालीन ऐंग्लो डच युद्ध, तथा लुई १४वें के हालैंड पर आक्रमण से हालैंड की सामुद्रिक शक्ति का ह्रास प्रारंभ हो गया। १७५९ में क्लाइव ने डच बेड़े को पूर्णतः पराजित कर दिया।

अब कंपनी के अंतिम प्रतिद्वंद्वी फ्रांसीसी ही शेष रहे। डूप्ले के नेतृत्व में उनके सशक्त और महत्वाकांक्षी होने के अतिरिक्त, एक मुख्य कारण यह भी था कि औरंगजेब की मृत्यु के पूर्व ही गृहयुद्धों और शिवाजी के उत्कर्ष ने मुगल साम्राज्य को लड़खड़ा दिया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य तीव्र गति से पतनोन्मुख हो चला था। तज्जनित भारतव्यापी अव्यवस्था ने दोनों प्रतिद्वंद्वियों के कार्यक्षेत्र को सुलभ और विस्तृत हो जाने दिया। आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के युद्ध के सिलसिले में भारत में प्रथम कर्नाटक युद्ध छिड़ गया। यद्यपि इससे दोनों कंपनियों की स्थिति में विशेष फर्क नहीं पड़ा, तथापि कर्नाटक पर फ्रांसीसी विजय से यह अत्यंत महत्वपूर्ण निष्कर्ष स्थापित हो गया कि यूरोपीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा की अपेक्षा भारतीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा हेय थी और दक्षिण भारतीय राजनीतिक परिस्थिति इतनी खोखली थी कि उसपर विदेशी आधिपत्य संभव था। अस्तु, द्वितीय कर्नाटक युद्ध में दोनों ओर से भारतीय राजनीति और राज्यों में स्वार्थप्रसार के लिये हस्तक्षेप प्रारंभ हो गया। इसी भित्ति पर डूप्ले ने फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने की कल्पना की थी, किंतु उसकी असफलता पर साम्राज्य स्थापना के स्वप्न को साकार किया क्लाइव के योगदान से अंग्रेजों ने। नाजुक परिस्थिति में डूप्ले के फ्रांस सरकार द्वारा प्रत्यावाहन ने फ्रांसीसी महत्वाकांक्षाओं पर तुषारपात कर दिया। अंततः लाली की असफलता, चंद्रनगर की पराजय और वांडीवाश की

हार ने फ्रांसीसी प्रतिद्वंद्वी की रीढ़ तोड़ दी। उनके शेष प्रभाव को वेलेजली ने ध्वस्त कर दिया।

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का यथोचित विकास टामस रो के आगमन से आरंभ हुआ, जब उसके व्यावसायिक केंद्र सूरत, आगरा, अहमदाबाद तथा भड़ोच में स्थापित हुए। तत्पश्चात् बड़ी योजनापूर्ण विधि से अन्य केंद्रों की स्थापना हुई। मुख्य केंद्र समुद्री तटों पर ही बसे। उनकी किलेबंदी भी की गई। इस प्रकार मुगल दस्तंदाजी से वे दूर रह सकते थे। संकट के समय उन्हें समुद्री सहयोग सुलभ था। शांति के समय वे वहीं से वांछित दिशाओं में बढ़ सकते थे। इस तरह मछलीपटणम् (१६११), बालासोर (१६३१), मद्रास (१६३६), हुगली (१६५१), बंबई (१६६६), तथा कलकत्ता (१६६८) के केंद्रों की स्थापना हुई। बंबई, कलकत्ता, मद्रास विशाल व्यावसायिक केंद्र होने के अतिरिक्त, कंपनी के बड़े महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा शक्तिकेंद्र भी बने। इनकी समृद्धि और शक्तिवर्धन से भारतीय व्यवसायियों ने भी, जिनके लिये आयात निर्यात के बड़े लाभप्रद द्वार खुल गए थे, पूर्ण सहयोग दिया। वस्तुतः अंग्रेजों और भारतीय व्यवसायियों का गठबंधन कंपनी की प्रगति में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

वैसे तो शाहजहाँ कालीन गृहयुद्ध तथा शिवाजी के उन्नयन से फैली अनिश्चितता ने कंपनी को स्पष्ट कर दिया था कि व्यापारिक सुरक्षा के लिये, शक्तिसंचय आवश्यक है, लेकिन उनकी साम्राज्यवादी धारणा का प्रथम प्रस्फुटन १६८८ में हुआ, जब कंपनी ने प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया कि "हमारी लगान वृद्धि पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है जितना कि व्यवसाय पर; वही हमारी सेना का पालन करेगी, जब बीसियों दुर्घटनाएँ हमारे व्यवसाय में बाधा डालेंगी, वही भारत में हमें राष्ट्र का रूप देगी। उसके बगैर हम केवल बहुसंख्यक अनधिकारी प्रवेशक मात्र ही रहेंगे..." किंतु, उनकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा तब असामयिक प्रमाणित हुई जब वे मुगल राज्य से दंडित और अनादृत हुए। उनका संकट तीव्र था, यदि मुगल राज्य द्वारा उनकी पुनःस्थापना न हुई होती। परिस्थिति ने उन्हें फिर शांतिप्रिय बना दिया। १७१७ में मुगल सम्राट् द्वारा कंपनी के सूरमान दूतमंडल को बड़े महत्वपूर्ण व्यावसायिक अधिकार प्राप्त हुए।

यद्यपि दक्षिण में डूप्ले की साम्राज्यवादी योजनाओं से कंपनी को दिशाज्ञान हुआ और फ्रांसीसी पराजय से उनकी सैन्यशक्ति का सिक्का जमा, तथापि उनके साम्राज्य का बीजारोपण बंगाल से ही हुआ। मराठों के आक्रमणों ने पहले ही बंगाल की सेना को क्षीण, खजाने को खोखला, और आंतरिक व्यापार को विच्छिन्न कर दिया था। अयोग्य सिराजुद्दौला अपने उद्दंड स्वभाव और दरबारियों के विश्वासघात से मजबूर हो गया। अंततः षड्यंत्रकुशल क्लाइव ने, जगत्सेठ और अमीचंद के षड्यंत्र में योगदान दे, प्लासी के युद्ध में (१७५७) सिराज को परास्त कर अंग्रेजी साम्राज्य की नींव में पहली ईंट डाल दी। इसके बाद का बंगाल का कुछ वर्षों का इतिहास कालिख से लिखा गया जिसमें अनैतिकता का तांडव हुआ। नवाब मीरकासिम ने कंपनी का गतिरोध किया, किंतु बक्सर के युद्ध में मीरकासिम, अवध के नवाब, तथा मुगल बादशाह की संमिलित शक्ति की पराजय हुई। फलस्वरूप बंगाल, बिहार, उड़ीसा, अवध और दिल्ली कंपनी के प्रभुत्व में आ गए। किंतु, कूटनीतिज्ञ क्लाइव अभी साम्राज्य का उत्तरदायित्व सँभालने को तैयार न था; अस्तु उसने मुगल बादशाह से बंगाल की दीवानी (१७६५) हस्तगत करके ही संतोष किया, जिससे बंगाल के शासन में हस्तक्षेप करने का कंपनी को वैध अधिकार प्राप्त हो गया।

किंतु अंग्रेजी साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और उद्धारक हेस्टिंग्ज़ ही था। जैसा पनिक्कर का कथन है, यदि पेशवा बाजीराव ने दक्षिण को असंगठित रख, अपने पार्श्व और पृष्ठ को अरक्षित छोड़ दिल्ली की ओर अभियान न किया होता तो मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी अंग्रेजों की अपेक्षा मराठे ही होते, किंतु, मराठों की पानीपत की पराजय (१७६१) से मराठा संगठन को मर्मांतक आघात पहुँचा। दूसरी ओर मराठा, निजाम, हैदरअली और नवाब कर्नाटक की व्यक्तिगत स्वार्थपरता और पारस्परिक वैमनस्य ने अंग्रेजों के विरुद्ध उनका संयुक्त मोर्चा नहीं बनने दिया। यही कंपनी का सबसे बड़ा सौभाग्य था। हेस्टिंग्ज ने दूरदर्शितापूर्वक पहले तो नवाब अवध को मित्र बनाकर मराठों के विरुद्ध अपनी सीमारेखा सुदृढ़ की, फिर रुहेला युद्ध में अवध को मराठों का दुश्मन बना दिया। तब विकट परिस्थिति में असीम धैर्य और साहस के साथ मराठों की शक्ति पर सफल आघात किया और हैदरअली की मृत्यु के बाद उसके पुत्र टीपू को संधि करने पर मजबूर किया। शासकीय दृष्टिकोण से भी उसने दीवानी के आडंबर को त्याग कृषिशासन, न्यायशासन, तथा चुंगी शासन की व्यवस्था की रूपरेखा दी।

मेधावी न होते हुए भी उसका उत्तराधिकारी कार्नवालिस अनुशासन, ईमानदारी और चारित्रिक दृढ़ता में अछूता था। उसने मनोयोग से शासन का संरक्षण किया। इस्तमरारी बंदोबस्त की स्थापना कर दुखी बंगाल को समृद्ध बनाया तथा भ्रष्ट ब्रिटिश नौकरशाही को परिष्कृत कर उसे वह प्रतिष्ठा दी जिसके कारण 'ब्रिटिश नौकरशाही के इस्पाती ढाँचे' की नींव पड़ी। उसने टीपू की शक्ति को बहुत कुछ तोड़ दिया। पिट्स इंडिया ऐक्ट द्वारा पार्लमेंट ने कंपनी की नीति और व्यवधान में हस्तक्षेप करने का अधिकार अपने हाथ मे ले लिया।

साम्राज्यवादी वेलेजली ने युद्ध और नीति से ब्रिटिश साम्राज्य का खूब प्रसार किया। टीपू नष्ट हो गया। पेशवा के वेलेजली के संरक्षण में आने से, ओवन के कथनानुसार, अब 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य' की अपेक्षा, ब्रिटिश साम्राज्य का भारत हो गया। फिर मराठा सरदारों को अलग अलग पराजित कर उन्हें सहायक संधि करने के लिये मजबूर किया। अवध का विस्तार घटाकर, उसे अपने प्रभुत्व के अंतर्गत कर लिया। सहायक संधि वेलेजली के साम्राज्यवादी प्रसारण का अद्भुत यंत्र था, जिसमें फ्रांसीसी प्रभाव का भी भारत से समूल उच्छेद हो गया। फिर मराठों की रही सही शक्ति भी लार्ड हेस्टिंग्ज ने तोड़ दी।

अब साम्राज्यप्रसार में कंपनी को पीछे मुड़कर देखने की आवश्यकता नहीं थी। गुरखों की पराजय से कंपनी की उत्तर सीमांतरेखा हिमालय के चरणों तक जा पहुँची। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद, सिक्खों को पराजित कर पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में संमिलित कर लिया गया। अफगानों के युद्ध से उत्तर पश्चिमी सीमा फिर पहाड़ों से जा टकराई। पूरा बर्मा कंपनी का अधिकृत हुआ और उत्तरपूर्वी सीमांतरेखा सुदृढ हुई।

इधर १८१३ के चार्टर ऐक्ट से चीनी व्यापार को छोड़ भारतीय व्यापारिक अधिकार कंपनी से ले लिए गए। १८३३ के चार्टर ऐक्ट से वह अधिकार भी अपहृत हो गया। अब कंपनी विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक संस्था थी। कंपनी के साम्राज्यवादी प्रसार के इतिहास में लार्ड बेंटिंक का काल मलयानिल के झोंके के समान है जब आधुनिक भारतीयता के जनक राजा राममोहन राय के सहयोग से भारत के सांस्कृतिक जागरण का सूत्रपात ब्रह्मसमाज से आरंभ हुआ और अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक सुधार हुए।

कंपनी का अंतिम साम्राज्यवादी स्तंभ था लार्ड डलहौजी, जिसने अपनी विजयों तथा व्यपगत सिद्धांत (डॉक्ट्रिन ऑव लैप्स) के विस्तृत प्रयोग से अनेक राज्यों, राजसी पदवियों तथा पेंशनों का लोप कर दिया। तज्जनित असंतोष १८५७ की राज्यक्रांति की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि बना। इसके अतिरिक्त उसने अनेक महत्वपूर्ण शासकीय सुधारों से भारत के आधुनिकीकरण में योगदान किया, जैसे ग्रांड ट्रंक रोड का पुनर्निर्माण, रेल, टेलिग्राफ, पोस्ट आफिस तथा केंद्रीय लेजिस्लेटिव कांउसिल की स्थापना। उसी के प्रयत्नों से विमेन्स तथा रुड़की इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना हुई।

कंपनी के शासन का १८५७ की राज्यक्रांति से अंत हुआ। कंपनी के साम्राज्यवाद के विरुद्ध पहले भी अनेक विस्तृत, असंगठित छिटपुट प्रयत्न हो चुके थे, किंतु सन् '५७ के विस्फोट ने अति तीव्र रूप धारण किया। इतिहासकारों में इस विद्रोह की प्रकृति के संबंध में तीव्र मतभेद होते हुए भी, इतना तो निश्चित है कि अंग्रेजी सत्ता को निकालने के लिये भारतीयों का यह प्रथम सामूहिक प्रयत्न था जिसको विशेषतया अवध में विस्तृत जनसहयोग प्राप्त था। यह भी एक विचित्र संयोग था कि अन्य भागों में व्याप्त संघर्ष के अग्रणी प्रायः अवधवासी ही थे। अस्तु, निस्संदेह यह ब्रिटिश साम्राज्य

के विरुद्ध भारतीय संघर्ष का श्रीगणेश था, भारतीय इतिहास का रक्तरंजित पृष्ठ। कंपनी के शासन का अंत १८५८ में हुआ जब ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारतीय साम्राज्य की बागडोर अपने हाथों में सँभाली।

१७५६ से १८५७ तक के कंपनी के साम्राज्यवादी शोषण के इतिहास में सांस्कृतिक पक्ष छोटा होते हुए भी निस्संदेह महत्वपूर्ण है। जैसा पनिक्कर का कथन है, बर्क, विलियम जोन्स तथा मेकाले सांस्कृतिक चेतना के वे ब्रिटिश प्रतीक हैं जिनसे प्रेरित होकर राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा दयानंद सरस्वती ऐसे भारतीय नररत्नों के योग से सांस्कृतिक पुनर्जागरण संभव हो सका, राष्ट्रीय आत्मसंमान जागा, और आधुनिक भारतीयता ने जन्म लिया।

सं० ग्रं०—एस. अहमद खाँ : दि ईस्ट इंडिया ट्रेड इन द ट्वेल्फ्थ सेंचुरी इन इट्स पोलिटिकल ऐंड इकोनोमिक ऐस्पेक्ट्स; डब्ल्यू. फोस्टर : दि इंगलिश फैक्टरीज़ इन इंडिया १६१८-१६६९। (रा० ना०)

ईस्टर यहूदियों, ग्रीक-रोमनों और ईसाइयों, तीनों का विशिष्ट त्यौहार, जो अधिकतर अप्रैल में पड़ता है। शब्द का मूल संभवतः नोर्स ओस्तारा अथवा इयोस्त्रे में है, जिसका अर्थ वसंत का त्योहार है। ग्रीक यह त्यौहार वसंत संपात के समय २१ मार्च को मनाया करते थे, जब शीत ऋतु के बाद प्रकृति ऋतुमती होती थी। यहूदियों की धर्मपुस्तक बाइबिल की पुरानी पोथी (एग्ज़ोडस १२) में लिखा है कि इस्रायलियों के मिस्री प्रवास में किस तरह एक रात 'मौत का फरिश्ता' उनके आवासों के ऊपर से गुजर गया और अपने इस आचरण द्वारा उनके प्रथमजात शिशुओं की मृत्यु से रक्षा की। इसी मौत से नजात पाने का त्यौहार यहूदी अपने साल के पहले महीने निसान में मनाते हैं। ये अपने इस त्यौहार को 'पेसाख' कहते हैं।

परंतु ईस्टर का सर्वाधिक महत्व ईसाई धर्म में है। ईसाइयों का विश्वास है कि ईसामसीह शूली पर चढ़ा दिए जाने के बाद मरकर भी जी उठे थे। उनका जी उठना यहूदियों के इस त्यौहार के दिन ही संभव हुआ था, तभी जब जेरूसलम में वे अपना पेसाख मना रहे थे। इसी कारण पेसाख ईस्टर का पर्याय ही बन गया। हजरत ईसा के जी उठने में कैथोलिक ईसाई संप्रदाय का विशेष विश्वास उस धर्म की आधारभूत मान्यताओं में से है। पूर्व और पश्चिम के समस्त ईसाई परिवार ईस्टर का यह त्यौहार बड़े उत्साह से मनाते हैं। यह ईसा मसीह के पुनर्जन्म के तुल्य है जिससे ईस्टर का त्यौहार भी उसी महत्व का माना जाता है जिस महत्व का बड़ा दिन।

ईस्टर की तिथि निश्चित करना ईसाई चर्चों के लिये सामान्य बात नहीं है। इस संबंध में पिछली सदियों में निरंतर विवाद होते रहे हैं। विवाद का कारण यह है कि इस तिथि के अंकन का प्रारंभ यहूदी तिथिक्रम से हुआ है जो चांद्रमासिक है। चांद्रमासिक होने से—यद्यपि पड़ता वह निसान मास की पूर्णिमा को ही है, तथापि वह पूर्णिमा हर साल स्वाभाविक ही उसी एक ही दिन नहीं पड़ती—ईस्टर की तिथि निश्चित करने में अक्सर कठिनाई पड़ जाया करती है। (भ० श० उ०)

ईहामृग रूपक का एक भेद। धनंजय के अनुसार ईहामृग का कथानक मिश्रित (कुछ ऐतिहासिक और कुछ उत्पाद्य) होता है। इसमें चार अंक, मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण नामक तीन संधियाँ एवं इतिहासप्रसिद्ध मनुष्य अथवा दिव्यपुरुष नायक होता है। इसका प्रतिनायक धीरोद्धत होता है और विपरीत ज्ञानजनित अनुचित कार्य किया करता है। अत्यंत आवेश अथवा उत्तेजना के कारण युद्ध की स्थिति समुपस्थित हो जाने पर भी किसी न किसी बहाने संघर्ष का टल जाना और किसी महात्मा के वध की पूरी तैयारी हो जाने पर भी उसे बचा लिया जाना प्रायः इस रूपक में दिखाया जाता है। बीच बीच में किसी दिव्यनारी के बलात् अपहरण की इच्छा रखनेवाले नायक या प्रतिनायक की शृंगारजन्य चेष्टाएँ भी दिखाई जाती हैं।

भरत मुनि के अनुसार इस रूपक में किसी दैवी स्त्री के लिये युद्ध का प्रसंग उपस्थित किया जाता है, पर युद्ध होता नहीं, प्रायः टल जाता है। शारदातनय ने 'कुसुमशेखर' नामक ईहामृग का उदाहरण देते हुए बताया है कि इस विधा में चार अंक होते हैं, नायकों की संख्या चार, पाँच और कभी कभी छह तक पहुँच जाती है, भयानक और बीभत्स के अतिरिक्त शेष सभी रस पाए जाते हैं। कैशिकी के अलावा शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं, पर कहीं कहीं कैशिकी वृत्ति भी मिल जाती है। नाट्यदर्पणकार रामचंद्र के मत से ईहामृग में नायकों की संख्या १२ होती है और चार अंकों के स्थान पर एक अंक भी हो सकता है। विश्वनाथ ने भी इसमें एक अंक का होना विहित माना है और विभिन्न आचार्यों के आधार पर नायक के संबंध में दो मत दिए हैं : (१) एक देवता ही नायक होता है तथा (२) छह नायक होते हैं। अभिनवगुप्त ने एक अंक और १२ नायक बताए हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र के अनुसार ईहामृग में चार अंक, नायक ईश्वर का अवतार और नायिका देवी होती है। इतिवृत्त में प्रेम इत्यादि का वर्णन रहता है तथा नायिका युद्धादि कार्य संपादित करती है। बाबू गुलाबराय की मान्यता है कि चार अंकों के इस नाटक में एक धीरोदात्त नायक तथा एक प्रतिनायक होता है। नायक किसी कुमारी अथवा सुंदरी को पाना चाहता है, पर वह मृग की भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक नायक से नायिका को छुड़ाना चाहता है। नायक नायिका का मिलन नहीं होता पर किसी की मृत्यु भी नहीं दिखलाई जाती। हिंदी में ईहामृग का उदाहरण नहीं मिलता।

ईहामृग के नामकरण के संबंध में अभिनवगुप्त और रामचंद्र का मत है कि नायक अथवा प्रतिनायक इसमें मृग के समान अलभ्य सुंदरी की कामना करता है। विश्वनाथ और धनंजय ने 'ईहामृग' नाम का औचित्य बताते हुए लिखा है कि इसमें किसी अनासक्त दिव्य ललना को अपहरण आदि के द्वारा पाने की घटना रहती है। (कै० चं० श०))

उंच्छवृत्ति एक ब्राह्मण जिसका वर्णन जैमिनि अश्वमेध तथा महाभारत में प्राप्य है। यह बहुत गरीब था। कई दिनों के बाद एक दिन इसे भिक्षा में सेर भर सत्तू मिला। अग्नि तथा ब्राह्मण का भाग निकालने के पश्चात् इसने शेष सत्तू अपने पुत्रों तथा पत्नी में बराबर बराबर बाँट दिया। यह स्वयं खाना शुरू करे, इतने में धर्मराज ब्राह्मण रूप में आए और खाने के लिये माँगने लगे। इसने अपना हिस्सा उन्हें दे दिया। भूख न मिटने पर इसने क्रमशः अपनी पत्नी तथा पुत्रों के हिस्से भी धर्मराज को दे दिए। इससे प्रसन्न धर्म सकुटुंब और सदेह इस ब्राह्मण को स्वर्ग ले गए। सत्तू के जो कण भूमि पर गिर गए थे उनपर एक नेवला आकर लोट गया। इससे उसका आधा शरीर सुवर्णमय हो गया। आगे चलकर वही नेवला धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में अपने शरीर का शेष भाग भी स्वर्णमय बनाने की इच्छा से गया, परंतु उसकी इच्छा पूरी न हो सकी।

वैसे उंच्छवृत्ति का अर्थ है अनायास मिल जानेवाले अन्नकणों को चुन चुनकर जीवनयापन करना। (कै० चं० श०)

उंडुकार्ति (अपेंडिसाइटीज़) उंडुक (अपेंडिक्स) के प्रदाह (इन्फ्लैमेशन) को कहते हैं। उंडुक आंत्र के एक छोटे से विभाग का नाम है जो क्षुद्रांत्र और बृहदांत्र के संगम स्थान के नीचे की ओर से निकला रहता है। इसकी लंबाई लगभग ८ सें०मी० और आधार स्थान पर इसका व्यास ६ मि०मी० होता है। यह उदर के निचले भाग में दाहिनी ओर स्थित रहता है। मनुष्य के शरीर में यह अंग कोई कार्य नहीं करता।

उंडुकार्ति का अर्थ है उंडुक का जीवाणुओं द्वारा संक्रमित होकर शोथयुक्त हो जाना। बहुत से रोगियों के शरीर में साधारणतया रहनेवाले जीवाणु ही उंडुक में शोथ उत्पन्न कर देते हैं। कभी कभी जीवाणु गले और टॉसिलों से रक्त के द्वारा भी वहाँ पहुँच जाते हैं। शाकाहारियों की अपेक्षा आमिषभोजियों में यह रोग अधिक होता है और इस कारण हमारे देश की अपेक्षा यूरोप और अमरीका में इसका प्रकोप अधिक है। यह रोग किसी भी आयु के व्यक्ति को हो सकता है, किंतु दो वर्ष की अवस्था से पूर्व बहुत असाधारण है। तीस वर्ष की आयु के पश्चात् भी यह कम होता है। कहा जाता है, विपुच्छ कपि (एप) जाति के वानरों में भी यह रोग होता है।

उंडुकार्ति में उदर में पीड़ा होती है। प्रायः पीड़ा प्रभातवेला में नाभि के चारों ओर प्रारंभ होती है और वहाँ से उंडक प्रांत में आती हुई

प्रतीत होती है। प्रारंभ में एक या दो वमन हो सकते हैं। किंतु वमन निरंतर नहीं होते। ज्वर शीघ्र ही आरंभ हो जाता है, किंतु बहुत अधिक नहीं होता। उदर उंडुक प्रांत में कठोर हो जाता है और वहाँ के चर्म को दबाने से रोगी को पीड़ा होती है।

उंडुकार्ति में विशेष भय उंडुक के विदार (फटने) का रहता है, अथवा वह कोथ (गैंग्रीन) युक्त हो जाता है। उसके चारों ओर पूय (पीब) भी बन सकता है।

यदि किसी व्यक्ति को यह रोग होने का संदेह हो तो उसको विरेचक ओषधियाँ नहीं देनी चाहिए और न उसको कुछ खाने को ही देना चाहिए। उदर की मालिश भी न होनी चाहिए। जब तक कोई डाक्टर न देख ले तब तक पीड़ा कम करने के लिये कोई ओषधि देना भी उचित नहीं है। रोग का पूर्ण निदान हो जाने के एक या दो दिन के भीतर उसका शल्यकर्म करवा देना चाहिए। *शल्यकर्म की सलाह इसलिये दी* जाती है कि विदार या कोथ उत्पन्न हो जाने से रोगी के लिये जीवन और मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। शल्यकर्म करके उंडुक को निकाल दिया जाता है।

उंडुक

१. बृहदांत्र; २. अंधांत्र; ३. उंडुक; ४. पेड़ू; ५. क्षुद्रांत्र; ६. नाभि।
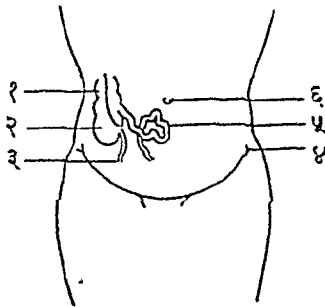
यदि किसी कारण शल्यकर्म न किया जा सके तो शोथयुक्त स्थान पर उष्णस्वेद (फ़ोमेंटेशन, भीगे गरम कपड़े से सेंक) किया जाय, पेनिसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसीन के इंजेक्शन दिए जायँ और रोगी को शय्या में पूर्णतया निश्चल करके रखा जाय। उपद्रवों की तुरंत पहचान के लिये रोगी को सावधानी से देखते रहना चाहिए। रोग के अत्यंत तीव्र न होने पर, संभव है, पूर्वोक्त चिकित्सा से वह एक सप्ताह में आरोग्यलाभ कर ले। किंतु एक मास के भीतर उसको शल्यकर्म करवा देना चाहिए जिससे रोग के पुनराक्रमण का डर न रहे। कभी कभी यह चिकित्सा करने पर भी उंडुक के चारों ओर पूय बन जाता है। ऐसी अवस्था में पूय निकाल देना आवश्यक होता है।

यदि रोगी सावधान नहीं रहता तो उसको रोग के बार बार आक्रमण हो सकते हैं। इसलिये रोगी को शल्यकर्म करवा के रोग के भय को सदा के लिये दूर कर देना उचित है। (प्री० दा०)

उक्रैनी भाषा और साहित्य उक्रैनी भाषा, उक्रैनी जनता की भाषा है जो मूलतः सोवियत संघ के उक्रैनी सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र में रहती है। इसका विकास प्राचीन रूसी भाषा से हुआ। यह स्लैवोनिक भाषाओं की पूर्वी शाखा में है जिसमें इसके अतिरिक्त रूसी एवं बेलोरूसी भाषाएँ संमिलित हैं। इस भाषा के बोलनेवालों की संख्या ३ करोड़ २८ लाख से अधिक है। इसकी बोलियों के तीन मुख्य समूह हैं—उत्तरी उपभाषा, दक्षिण-पश्चिमी उपभाषा और दक्षिण-पूर्वी उपभाषा। आधुनिक साहित्यिक उक्रैनी का विकास दक्षिण-पूर्वी उपभाषा के आधार पर हुआ। उक्रैनी भाषा रूपरचना और वाक्यविन्यास में रूसी भाषा के निकट है।

उक्रैनी भाषा का विकास १२वीं सदी से प्रारंभ हुआ। इस काल से उक्रैनी जनता ने अनेक लोककथाओं और लोकगीतों की रचना की। इसी काल से वीरगाथाएँ, पौराणिक कथाएँ एवं धार्मिक रचनाएँ विकसित होने लगीं। प्रायः इन कृतियों के रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं। १६वीं शताब्दी से नाटकों का भी विकास हुआ। १६वीं शताब्दी के मध्य से उक्रैनी साहित्य में यथार्थवादी धारा विकसित होने लगी। व्यंगात्मक रचनाएँ एक प्रसिद्ध व्यंगलेखक स्कोवोरोटा (१७२२–१७९४ ई०) लिखने लगे। सुप्रसिद्ध कवि और गद्यकार इ० प० कोटलारेव्स्की (१७६९-१८३८ ई०) ने नव उक्रैनी साहित्य की स्थापना की। इन्होंने साहित्य और जीवन का दृढ़ संबंध रखा, उक्रैनी साहित्य की सभी शैलियों पर बहुत प्रभाव डाला तथा आधुनिक साहित्यिक भाषा की नींव रखी।

तरास ग्रिगोर्येविच शेव्चेंको (१८१४-१८६१ ई०) महान् क्रांतिकारी जनकवि थे। उन्होंने उक्रैनी साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद की स्थापना की। अपनी कृतियों में वे जार के विरुद्ध क्रांतिकारी किसान आंदोलन की भावनाएँ और विचार प्रकट करते थे। उनकी अनेक कविताएँ अत्यंत लोकप्रिय हैं। उस समय के प्रसिद्ध गद्यकारों में पनास मिरनी और नाटककारों में इ० कार्पेंको-कारिय हैं। सुप्रसिद्ध कवि, नाटककार और गद्यकार के रूप में इ० य० फ्राँको (१८५६-१९१६) विख्यात हैं, जिन्होंने अपनी बहुसंख्यक रचनाओं में उक्रैनी जनता के जीवन का विस्तारपूर्ण वर्णन किया है। सुप्रसिद्ध कवयित्री लेस्या उक्राइन्का (१८७१-१९१३) और कवि कोत्स्यूबिंस्की (१८६४-१९१३) ने अपनी कविताओं में उक्रैनी जनता के क्रांतिकारी संघर्ष का चित्रण किया।

अक्टूबर, सन् १९१७ की महान् समाजवादी क्रांति के बाद उक्रैनी साहित्य का विकास और भी अधिक होने लगा। इस काल के सबसे प्रसिद्ध *कवि पावलो तिचीना और मैक्सीम रिलस्की हैं, एवं नई पीढ़ी के कवि* गोंचारेंको, पेर्वोमैस्की आदि हैं। नाटक के क्षेत्र में सबसे बड़ी देन अलेक्सांद्र कोर्नेचुक (जन्म १९०५ ई०) की है। उपन्यासकारों और कहानीकारों में नतान रिवाक (जन्म १९१३) एवं वदिम सोबको (जन्म १९१२) सबसे अधिक विख्यात हैं। इस काल से उक्रैनी साहित्य समाजवादी यथार्थवाद के आधार पर विकसित होने लगा। गद्यकार और कवि आधुनिक सोवियत उक्राइना का और उसके वीरतापूर्ण अतीत इतिहास का चित्रण करते थे।

सन् १९४१-४५ के महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध के बाद उक्रैनी साहित्य में और भी अधिक नए कवि और लेखक पैदा हुए। वर्तमान उक्रैनी कवि, जैसे पावलो तिचीना, मैक्सीम रिलस्की, मिकोला बझान, अंद्रे मलिश्को, सोस्यूरा आदि अपनी कविताओं में मजदूरों और किसानों के जीवन का चित्रण करते तथा विश्वशांति के लिये संघर्ष और विभिन्न देशों की जनता की मैत्री की भावनाएँ प्रकट करते हैं। उक्रैनी नाटककार, जैसे कोर्नेचुक, सोबको, दिमत्रेंको आदि सामाजिक, ऐतिहासिक और व्यंगात्मक नाटकों की रचना करते हैं। इन नाटकों का प्रदर्शन सोवियत संघ के बहुसंख्यक थियेटरों में किया जाता है। उक्रैनी गद्य का विकास भी तेजी से हो रहा है। ओलेस गोंचार, नतान रिवाक, पेत्रो पंच, स्तेलमह आदि अपने उपन्यासों और कहानियों में सोवियत जनता की युद्धकालीन बहादुरी का और साम्यवादी समाज के निर्माण के लिये मजदूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों के वीरतापूर्ण परिश्रम का वर्णन करते हैं। उक्रैनी लेखक सोवियत संघ के सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेते हैं।

उक्रैनी लेखकों की अनेक कृतियाँ सोवियत संघ की अन्य अनेक भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं में अनूदित हो रही हैं और समस्त सोवियत संघ तथा विदेशों में लोकप्रिय हो गई हैं। साथ ही सोवियत संघ की अन्य भाषाओं के साहित्य तथा विदेशी साहित्यों की रचनाएँ उक्रैनी भाषा में अनूदित और प्रकाशित हो रही हैं। इनमें प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय साहित्य की अनेक कृतियाँ भी संमिलित हैं।

सं०ग्रं०—उक्रैनी साहित्य का इतिहास, खंड १, कीएव, १९५४, रूसी में; सोवियत कालीन उक्रैनी साहित्य का इतिहास, मास्को, १९५४, रूसी में; उक्रैनी साहित्य का इतिहास, दो भाग, कीएव, १९५५–५६, उक्रैनी में; आधुनिक उक्रैनी साहित्यिक भाषा, संपादक : बुलाशेव्स्की, दो भाग, कीएव, १९५१; उक्रैनी–रूसी शब्दकोश, संपादक : ई० म० किरिचेंको, भाग १, कीएव, १९५३। (प्यो० अ० बा०)

उग्र १—धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। भीम ने महाभारत युद्ध में इसका वध किया था।

२—वारुणि कवि के आठ पुत्रों में सबसे कनिष्ठ पुत्र।

३—एक राक्षस, जिसके पुत्र का नाम वज्रहा था।

(कैं० चं० शा०)

उग्रचंडी दुर्गा का एक नाम। दक्ष ने अपने यज्ञ में सभी देवताओं को बलि दी, लेकिन शिव और सती को बलि नहीं दी। इससे क्रुद्ध होकर, अपमान का प्रतिकार करने के लिये इन्होंने उग्रचंडी के रूप में अपने पिता के यज्ञ का विध्वंस किया था। इनके हाथों की संख्या १८ मानी जाती है। आश्विन महीने में कृष्णपक्ष की नवमी के दिन शाक्तमतावलंबी विशेष रूप से उग्रचंडी की पूजा करते हैं। (कै० चं० श०)

उग्रतप एक प्राचीन ऋषि। इन्होंने कृष्ण के उस शृंगारमय रूप की आराधना की थी जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ विहार में रत रहते हैं। फलतः कृष्णावतार के समय गोकुलवासी सुनंद गोप की कन्या के रूप में इनका जन्म हुआ और गोपिकारूप में इन्होंने कृष्ण की अनन्यभाव से उत्कृष्ट सेवा की। (कै० चं० श०)

उग्रतारा देवी भगवती का एक नाम। इनकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है: शुंभ और निशुंभ नाम के राक्षसों ने एक बार देवताओं के यज्ञ का अंश चुरा लिया और दिक्पाल बनकर सारी सृष्टि पर अत्याचार करने लगे। इनके अत्याचारों से दुःखी देवता हिमालयस्थित मातंग ऋषि के आश्रम में एकत्र हुए। ऋषि के परामर्श से उन्होंने महामाया भगवती का स्तवन किया जिससे तुष्ट हो भगवती मातंग ऋषि की पत्नी के रूप में अवतरित हुईं। इन्हें ही 'उग्रतारा' कहा जाता है। मातंग की पत्नी के रूप में अवतार लेने से इन्हें 'मातंगी' संज्ञा भी प्राप्त है। उग्रतारा के शरीर से एक दिव्य तेज निकला जिससे शुंभ निशुंभ राक्षसों का नाश संभव हुआ। ये खड्ग, चामर, करपालिका और खर्पर लिए चतुर्भुजा, कृष्णवर्णा, सिर पर आकाशभेदी जटा, छाती पर सीप का हार और मुंडमालधारिणी थीं। इनके नेत्र रक्तवर्ण और वस्त्र काले रंग के थे। इनका बायाँ पैर शव के वक्ष पर तथा दायाँ सिंह की पीठ पर था। (कै० चं० श०)

'उग्र', पांडेय बेचन शर्मा का जन्म मिर्जापुर जनपद के अंतर्गत चुनार नामक कस्बे में पौष शुक्ल ८, सं० १९५७ वि० को हुआ था। इनके पिता का नाम वैद्यनाथ पांडेय था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। ये अत्यंत अभावग्रस्त परिवार में उत्पन्न हुए थे अतः पाठशालीय शिक्षा भी इन्हें व्यवस्थित रूप से नहीं मिल सकी। अभाव के कारण इन्हें बचपन में रामलीला मंडली में काम करना पड़ा था। ये अभिनय कला में बड़े कुशल थे। बाद में काशी के सेंट्रल हिंदू स्कूल से आठवीं कक्षा तक शिक्षा पाई, फिर पढ़ाई का क्रम टूट गया। साहित्य के प्रति इनका प्रगाढ़ प्रेम लाला भगवानदीन के सामीप्य में आने पर हुआ। इन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों का गंभीर अध्ययन किया। प्रतिभा इनमें ईश्वरप्रदत्त थी। ये बचपन से ही काव्यरचना करने लगे थे। अपनी किशोर वय में ही इन्होंने प्रियप्रवास की शैली में 'ध्रुवचरित्' नामक प्रबंधकाव्य की रचना कर डाली थी।

मौलिक साहित्य की सर्जना में ये आजीवन लगे रहे। इन्होंने काव्य, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि क्षेत्रों में समान अधिकार के साथ श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कहानी, उपन्यास आदि को इन्होंने अपनी विशिष्ट शैली प्रदान की। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उग्र जी ने सच्चे पत्रकार का आदर्श प्रस्तुत किया। वे असत्य से कभी नहीं डरे, उन्होंने सत्य का सदैव स्वागत किया, भले ही इसके लिये उन्हें कष्ट झेलने पड़े। पहले काशी के दैनिक 'आज' में 'ऊटपटाँग' शीर्षक से व्यंग्यात्मक लेख लिखा करते थे और अपना नाम रखा था 'अष्टावक्र'। फिर 'भूत' नामक हास्य-व्यंग्य-प्रधान पत्र निकाला। गोरखपुर से प्रकाशित होनेवाले 'स्वदेश' पत्र के 'दशहरा' अंक का संपादन इन्होंने ही किया था। तदनंतर कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले 'मतवाला' पत्र में काम किया। 'मतवाला' ने ही इन्हें पूर्ण रूप से साहित्यिक बना दिया। फरवरी, सन् १९३८ ई० में इन्होंने काशी से 'उग्र' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके कुल सात अंक ही प्रकाशित हुए, फिर यह बंद हो गया। इंदौर से निकलनेवाली 'वीणा' नामक मासिक पत्रिका में इन्होंने सहायक संपादक का काम भी कुछ दिनों तक किया था। वहाँ से हटने पर 'विक्रम' नामक मासिक पत्र इन्होंने पं० सूर्यनारायण व्यास के सहयोग से निकाला। पाँच अंक प्रकाशित होने के बाद ये उससे भी अलग हो गए। इसी प्रकार इन्होंने 'संग्राम', 'हिंदी पंच' आदि कई अन्य पत्रों का संपादन किया, किंतु अपने उग्र स्वभाव के कारण कहीं भी अधिक दिनों तक ये टिक न सके। इसमें संदेह नहीं, उग्र जी सफल पत्रकार थे। ये सामाजिक विषमताओं से आजीवन संघर्ष करते रहे। ये विशुद्ध साहित्यजीवी थे और साहित्य के लिये ही जीते रहे। सन् १९६७ में दिल्ली में इनका देहावसान हो गया।

इनके रचित ग्रंथ इस प्रकार हैं—

नाटक—महात्मा ईसा, चुंबन, गंगा का बेटा, आवास, अन्नदता माधव महाराज महान्।

उपन्यास—चंद हसीनों के खतूत, दिल्ली का दलाल, बुधुवा की बेटी, शराबी, घंटा, सरकार तुम्हारी आँखों में, कढ़ी में कोयला, जीजीजी, फागुन के दिन चार, जूहू।

कहानी—कुल ९७ कहानियाँ।

काव्य—ध्रुवचरित, बहुत सी स्फुट कविताएँ।

आलोचना—तुलसीदास आदि अनेक आलोचनात्मक निबंध।

संपादित—गालिब : उग्र।

उग्र जी की मित्रमंडली में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, शिवपूजन सहाय, विनोदशंकर व्यास आदि प्रसिद्ध साहित्यकार थे। दो महाकवि उग्र जी के विशेष प्रिय थे : गोस्वामी तुलसीदास तथा उर्दू के प्रसिद्ध शायर असदुल्ला खाँ गालिब। इनकी रचनाओं के उद्धरण उग्र जी ने अपने लेखों में बहुशः दिए हैं। (ला० त्रि० प्र०)

उग्रसेन १. उग्रसेन (महापद्म) नंद वंश का प्रथम सम्राट् था जिसे पुराणों में 'सर्वक्षत्रांतक' तथा 'एकराट्' कहा गया है। 'महाबोधि वंश' में उसकी संज्ञा उग्रसेन मिलती है। उसने इक्ष्वाकुओं, पांचालों, काशी जनपदवासियों, कालिंगों, अश्मकों, कुरुओं, चेदियों, शूरसेनों तथा वीतिहोत्र जनों को परास्त कर एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था। उसकी विशाल सेना के विषय में सुनकर सिकंदर को मगध पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ।

२. उग्रसेन (पालक्क) का नाम समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान के संबंध में अन्य नरेशों के साथ परिगणित है। उसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।

३. उग्रसेन (पारीक्षित) के नाम का उल्लेख वैदिक अनुक्रमणी में परीक्षित के चार पुत्रों की श्रेणी में जनमेजय, भीमसेन और श्रुतसेन के साथ मिलता है (वैदिक इंडेक्स, प्रथम भाग, पृ० ५२०)। (चं० म०)

४. उग्रसेन मथुरा का यदुवंशी राजा था। इसके पिता का नाम आहुक और माता का नाम काश्या था। इसके नौ पुत्रों तथा पाँच पुत्रियों में कुख्यात अत्याचारी शासक कंस ज्येष्ठ था। शेष पुत्रों के नाम क्रमशः सुनामा, न्यग्रोध, कंक, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि तथा तुष्टिमान थे। पुत्रियों के नाम कंस, कंसावती, कंका, शूरभू तथा राष्ट्रपालिका थे। बड़े होने पर कंस ने उग्रसेन को कारागृह में डालकर मथुरा के शासन पर अधिकार कर लिया था। बाद में कृष्ण ने कंस का वध किया और उग्रसेन को बंदीगृह से मुक्त कर पुनः राजसिंहासन पर बिठाया। (कै० चं० श०)

उग्रायुध भागवत के अनुसार नीप का पुत्र, लेकिन अन्य पुराणों में उल्लेख है कि यह कृत का पुत्र था। इसने आठ हजार वर्ष तपस्या की थी और यम ने स्वयं इसे तत्वज्ञान सिखाया था। इसके पुत्र का नाम क्षेम्य था। इसने १०१ नीपों का नाश किया था और भल्लाटपुत्र जनमेजय को भी मारा था। शांतनु की मृत्यु के बाद इसने सत्यवती की माँग की थी जिससे क्रुद्ध होकर भीष्म ने इसका वध कर दिया था। (कै० चं० श०)

उच्च न्यायालय इस देश में उच्च न्यायालयों की स्थापना का श्रेय अंग्रेजी सरकार को है। सन् १८६१ में इनकी स्थापना से पूर्व इस देश में दो प्रकार के न्यायालय कार्य कर रहे थे। प्रथम प्रकार के न्यायालयों की स्थापना विभिन्न वर्षों में प्रेसीडेंसी नगरों, अर्थात् कलकत्ता, मद्रास और बंबई में सीधे इंग्लैंड के सम्राट् द्वारा हुई थी। ये न्यायालय उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के नाम से विख्यात थे। दूसरे प्रकार के न्यायालय

स्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल, मद्रास, बंबई तथा अन्य प्रांतों में स्थापित किए गए थे। सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत कंपनी के उच्चतम न्यायालय थे। इन न्यायालयों के अंतर्गत व्यवहार विषयक (सिविल) एवं दांडिक (क्रिमिनल) अधीन न्यायालय (सबार्डिनेट कोर्ट) कार्य करते थे। उच्चतम न्यायालयों का केवल प्रारंभिक क्षेत्राधिकार (ओरिजिनल जुरिस्डिक्शन) था, जिसका विस्तार प्रेसीडेंसी नगरों तक ही सीमित था, यद्यपि इन न्यायालयों ने विभिन्न समयों पर प्रांतों में भी अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग किया था। इनकी कार्यप्रणाली अंग्रेजी न्यायालयों की कार्यप्रणाली के समान थी और ये विवादों में अधिकतर अंग्रेजी कानूनों का प्रयोग करते थे।

कंपनी की सदर अदालतों का अपीलीय क्षेत्राधिकार (अपेलेट जुरिस्डिक्शन) था। सरकार द्वारा बनाए विभिन्न विनियमों तथा हिंदू एवं मुस्लिम कानूनों के अनुसार ये न्यायालय अपने निर्णय देते थे। अधिकतर इनकी कार्यप्रणाली भी सरकारी विनियमों द्वारा निश्चित की जाती थी।

इस प्रकार भारत में दो प्रकार के समवर्ती तथा स्वतंत्र न्यायालय कार्य कर रहे थे। कभी कभी इनके निर्णय प्रतिकूल भी होते थे और प्रजा को दो अधिकारक्षेत्रों का भाजन बनना पड़ता था। इन दो प्रकार के न्यायाधीशों के संबंध भी परस्पर अच्छे नहीं थे। उच्चतम न्यायालय कंपनी के कामों में बहुधा हस्तक्षेप भी करते थे। असमान कानूनों एवं प्रणालियों के प्रयोग से न्यायव्यवस्था में एक प्रकार का उलझाव पैदा हो गया था। इसलिये न्यायव्यवस्था को सुदृढ़, संगठित एवं सुचारु रूप से चलाने के लिये इन समकक्ष न्यायालयों का विलयन करके एक ही प्रकार के उच्च न्यायालय स्थापित करने का निश्चय किया गया।

उच्च न्यायालयों की स्थापना—६ अगस्त, १८६१ को ब्रिटिश संसद् (पार्ल्यामेंट) ने भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम (इंडियन हाईकोर्ट ऐक्ट) के द्वारा उच्चतम एवं सदर न्यायालयों का विलयन करके उच्च न्यायालयों की स्थापना की। भारतीय न्यायव्यवस्था के इतिहास में यह एक महान् एवं उत्कृष्ट प्रयास था जिसकी सफलता वर्तमान उच्च न्यायालयों की असाधारण कार्यक्षमता के द्वारा प्रकट होती है। इस अधिनियम ने इंग्लैंड की महारानी को अधिकार दानपत्रों (लेटर्स पेटेंट) द्वारा कलकत्ता, मद्रास, बंबई तथा अन्य भागों में उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दिया। प्रत्येक न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति (चीफ जस्टिस) एवं अधिकतम १५ अवर न्यायाधीश (प्युनी जज) कार्य कर सकते थे। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति बैरिस्टरों, प्राधिकारियों, जिला न्यायाधीशों, सदर अमीन अथवा लघुवाद न्यायालयों (स्माल काज़ कोर्ट्स) के न्यायाधीशों एवं वकीलों में से होती थी। सभी न्यायाधीशों की सेवाएँ अंग्रेजी सम्राज्ञी की इच्छा पर निर्भर करती थीं।

अधिनियम ने उच्च न्यायालयों को व्यवहार विषयक (सिविल), दांडिक (क्रिमिनल), नौकाधिकरण (ऐडमिराल्टी) एवं उपनौकाधिकरण, वसीयत संबंधी, वसीयत रहित एवं वैवाहिक, प्रारंभिक एवं अपीली दोनों प्रकार के, क्षेत्राधिकार दिए। व्यवहार विषयक एवं दांडिक प्रारंभिक क्षेत्राधिकार साधारण प्रारंभिक क्षेत्राधिकार एवं असाधारण प्रारंभिक क्षेत्राधिकार में विभाजित था। यह उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती उच्चतम न्यायालयों की तथा अपीली क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती सदर अदालतों की देन है।

इन क्षेत्राधिकारों के अतिरिक्त उच्च न्यायालयों को प्रेसीडेंसियों में यायव्यवस्था संबंधी वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो अधिकार दानपत्रों द्वारा स्वीकृत हुए हों। पूर्व न्यायालयों के अन्य अधिकार भी उच्च यायालयों को दिए गए। ये न्यायालय अधीन न्यायालयों पर अधीक्षण (सुपरिंटेंडेंस) का अधिकार रखते थे।

उच्च न्यायालयों को पूर्ववर्ती दोनों प्रकारों के न्यायालयों के न्यायाधीशों की सेवाएँ प्राप्त थी। उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीश अंग्रेजी कानूनों से परिचित थे तथा सदर अदालतों के न्यायाधीश भारत की प्रथाओं, स्वभाव एवं कानूनों से परिचित थे। इस प्रकार असमान कानूनों एवं प्रणालियों के समावेश से पूर्व असमानता द्वारा प्रदत्त दोष लगभग समाप्त हो गए थे।

१८६१ के अधिनियम के अंतर्गत जारी किए गए १४ मई, १८६१ के अधिकार दानपत्र के द्वारा कलकत्ते में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। इस अधिकार दानपत्र के अशुद्ध होने के कारण २८ दिसंबर, १८६५ को एक नया अधिकार दानपत्र जारी किया गया। २६ जून, १८६२ को जारी किए गए अधिकार दानपत्रों के द्वारा बंबई एवं मद्रास में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई। इन अधिकार दानपत्रों के स्थान पर १८६५ में नए दानपत्र जारी किए गए। इन तीनों उच्च न्यायालयों को अधिनियम द्वारा वर्णित समस्त अधिकार प्राप्त थे।

१७ मार्च, १८६६ को जारी किए गए अधिकार दानपत्र द्वारा उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के लिये आगरा में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १८७५ में यह न्यायालय आगरे से इलाहाबाद लाया गया। प्रेसीडेंसी उच्च न्यायालयों की भाँति इस न्यायालय को साधारण प्रारंभिक व्यवहार विषयक क्षेत्राधिकार एवं नौकाधिकरण अथवा उपनौकाधिकरण क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं थे। २६ जुलाई, १९४८ को अवध मुख्य न्यायालय (अवध चीफ़ कोर्ट) को इस न्यायालय में मिला दिया गया।

९ फरवरी, १९१६ को अधिकार दानपत्र द्वारा पटना में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। यद्यपि इसका क्षेत्राधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के समान था, तथापि इस न्यायालय को नौकाधिकरण क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हुआ। २१ मार्च, १९१९ के अधिकार दानपत्र के द्वारा लाहौर में तथा २ जनवरी, १९१६ के अधिकार दानपत्र द्वारा नागपुर में उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। इनके अधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अधिकारों के समान थे। भारत के विभाजन के पश्चात् लाहौर न्यायालय के पाकिस्तान में चले जाने के कारण पूर्वी पंजाब के लिये १९४७ में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १९४८ में उड़ीसा एवं असम में उच्च न्यायालय स्थापित किए गए। इनका क्षेत्राधिकार क्रमशः कलकत्ता एवं पटना उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के समान रखा गया। आज भारत में विभिन्न प्रांतों के पुनर्गठन के पश्चात् सभी प्रांतों में उच्च न्यायालय सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

भारत सरकार अधिनियम, १९३५ (गवर्नमेंट आव इंडिया ऐक्ट, १९३५) के द्वारा परिवर्तन—इस अधिनियम द्वारा उच्च न्यायालयों के गठन एवं रचना में कुछ परिवर्तन किए गए। प्रत्येक न्यायाधीश को ६० वर्ष की आयु तक कार्य करने का अधिकार दिया गया। १८६१ के अधिनियम द्वारा निर्मित विभिन्न श्रेणियों के न्यायाधीशों के चुनाव का नियम समाप्त कर दिया गया। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त उच्च न्यायालयों के व्यय संबंधी मामलों में कार्यकारिणी अथवा विधान सभा को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं दिया गया, केवल राज्यपाल को ही यह अधिकार मिला।

भारतीय संविधान में उच्च न्यायालय—भारत की वर्तमान न्यायव्यवस्था में उच्च न्यायालयों का एक विशेष स्थान है। संविधान में प्रदत्त मूल अधिकारों (फ़ंडामेंटल राइट्स) की सुरक्षा की दृष्टि से इन न्यायालयों का मान और भी बढ़ गया है। प्रत्येक उच्च न्यायालय पहले की भाँति एक अभिलेख न्यायालय (कोर्ट ऑव रेकर्ड) है तथा उसे अपने अवमान (कंटेंप्ट) के लिये दंड देने की शक्ति दी गई है।

उच्च न्यायालयों का गठन समय समय पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधीशों पर निर्भर करता है। राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से, राज्य के राज्यपाल से तथा राज्य के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति को छोड़कर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की दशा में उस राज्य के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करता है। उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिये संबंधित व्यक्ति का भारतीय राज्यक्षेत्र में कम से कम १० वर्ष तक न्यायिक पद पर कार्य करना आवश्यक है, अथवा उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का निरंतर कम से कम १० वर्ष तक अधिवक्ता रहना आवश्यक है। प्रत्येक न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक कार्य कर सकता है।

उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा स्वयं ही पदत्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त

उग्रचंडी दुर्गा का एक नाम। दक्ष ने अपने यज्ञ में सभी देवताओं को बलि दी, लेकिन शिव और सती को बलि नहीं दी। इससे क्रुद्ध होकर, अपमान का प्रतिकार करने के लिये इन्होंने उग्रचंडी के रूप में अपने पिता के यज्ञ का विध्वंस किया था। इनके हाथों की संख्या १८ मानी जाती है। आश्विन महीने में कृष्णपक्ष की नवमी के दिन शाक्तमतावलंबी विशेष रूप से उग्रचंडी की पूजा करते हैं। (कै० चं० श०)

उग्रतप एक प्राचीन ऋषि। इन्होंने कृष्ण के उस शृंगारमय रूप की आराधना की थी जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ विहार में रत रहते हैं। फलतः कृष्णावतार के समय गोकुलवासी सुनंद गोप की कन्या के रूप में इनका जन्म हुआ और गोपिकारूप में इन्होंने कृष्ण की अनन्यभाव से उत्कृष्ट सेवा की। (कै० चं० श०)

उग्रतारा देवी भगवती का एक नाम। इनकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है: शुंभ और निशुंभ नाम के राक्षसों ने एक बार देवताओं के यज्ञ का अंश चुरा लिया और दिक्पाल बनकर सारी सृष्टि पर अत्याचार करने लगे। इनके अत्याचारों से दुःखी देवता हिमालयस्थित मातंग ऋषि के आश्रम में एकत्र हुए। ऋषि के परामर्श से उन्होंने महामाया भगवती का स्तवन किया जिससे तुष्ट हो भगवती मातंग ऋषि की पत्नी के रूप में अवतरित हुईं। इन्हें ही 'उग्रतारा' कहा जाता है। मातंग की पत्नी के रूप में अवतार लेने से इन्हें 'मातंगी' संज्ञा भी प्राप्त है। उग्रतारा के शरीर से एक दिव्य तेज निकला जिससे शुंभ निशुंभ राक्षसों का नाश संभव हुआ। ये खड्ग, चामर, करपालिका और खर्पर लिए चतुर्भुजा, कृष्णवर्णा, सिर पर आकाशभेदी जटा, छाती पर सीप का हार और मुंडमालधारिणी थीं। इनके नेत्र रक्तवर्ण और वस्त्र काले रंग के थे। इनका बायाँ पैर शव के वक्ष पर तथा दायाँ सिंह की पीठ पर था। (कै० चं० श०)

'उग्र', पांडेय बेचन शर्मा का जन्म मिर्जापुर जनपद के अंतर्गत चुनार नामक कस्बे में पौष शुक्ल ८, सं० १९५७ वि० को हुआ था। इनके पिता का नाम वैद्यनाथ पांडेय था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। ये अत्यंत अभावग्रस्त परिवार में उत्पन्न हुए थे अतः पाठशालीय शिक्षा भी इन्हें व्यवस्थित रूप से नहीं मिल सकी। अभाव के कारण इन्हें बचपन में रामलीला मंडली में काम करना पड़ा था। ये अभिनय कला में बड़े कुशल थे। बाद में काशी के सेंट्रल हिंदू स्कूल से आठवीं कक्षा तक शिक्षा पाई, फिर पढ़ाई का क्रम टूट गया। साहित्य के प्रति इनका प्रगाढ़ प्रेम लाला भगवानदीन के सामीप्य में आने पर हुआ। इन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों का गंभीर अध्ययन किया। प्रतिभा इनमें ईश्वरप्रदत्त थी। ये बचपन से ही काव्यरचना करने लगे थे। अपनी किशोर वय में ही इन्होंने प्रियप्रवास की शैली में 'ध्रुवचरित्' नामक प्रबंधकाव्य की रचना कर डाली थी।

मौलिक साहित्य की सर्जना में ये आजीवन लगे रहे। इन्होंने काव्य, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि क्षेत्रों में समान अधिकार के साथ श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कहानी, उपन्यास आदि को इन्होंने अपनी विशिष्ट शैली प्रदान की। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उग्र जी ने सच्चे पत्रकार का आदर्श प्रस्तुत किया। वे असत्य से कभी नहीं डरे, उन्होंने सत्य का सदैव स्वागत किया, भले ही इसके लिये उन्हें कष्ट झेलने पड़े। पहले काशी के दैनिक 'आज' में 'ऊटपटाँग' शीर्षक से व्यंग्यात्मक लेख लिखा करते थे और अपना नाम रखा था 'अष्टावक्र'। फिर 'भूत' नामक हास्य-व्यंग्य-प्रधान पत्र निकाला। गोरखपुर से प्रकाशित होनेवाले 'स्वदेश' पत्र के 'दशहरा' अंक का संपादन इन्होंने ही किया था। तदनंतर कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले 'मतवाला' पत्र में काम किया। 'मतवाला' ने ही इन्हें पूर्ण रूप से साहित्यिक बना दिया। फरवरी, सन् १९३८ ई० में इन्होंने काशी से 'उग्र' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके कुल सात अंक ही प्रकाशित हुए, फिर यह बंद हो गया। इंदौर से निकलनेवाली 'वीणा' नामक मासिक पत्रिका में इन्होंने सहायक संपादक का काम भी कुछ दिनों तक किया था। वहाँ से हटने पर 'विक्रम' नामक मासिक पत्र इन्होंने पं० सूर्यनारायण व्यास के सहयोग से निकाला। पाँच अंक प्रकाशित होने के बाद ये उससे भी अलग हो गए। इसी प्रकार इन्होंने 'संग्राम', 'हिंदी पंच' आदि कई अन्य पत्रों का संपादन किया, किंतु अपने उग्र स्वभाव के कारण कहीं भी अधिक दिनों तक ये टिक न सके। इसमें संदेह नहीं, उग्र जी सफल पत्रकार थे। ये सामाजिक विषमताओं से आजीवन संघर्ष करते रहे। ये विशुद्ध साहित्यजीवी थे और साहित्य के लिये ही जीते रहे। सन् १९६७ में दिल्ली में इनका देहावसान हो गया।

इनके रचित ग्रंथ इस प्रकार हैं—

नाटक—महात्मा ईसा, चुंबन, गंगा का बेटा, आवास, अन्नदता माधव महाराज महान्।

उपन्यास—चंद हसीनों के खतूत, दिल्ली का दलाल, बुधुवा की बेटी, शराबी, घंटा, सरकार तुम्हारी आँखों में, कढ़ी में कोयला, जीजीजी, फागुन के दिन चार, जूह।

कहानी—कुल ९७ कहानियाँ।

काव्य—ध्रुवचरित, बहुत सी स्फुट कविताएँ।

आलोचना—तुलसीदास आदि अनेक आलोचनात्मक निबंध।

संपादित—गालिब : उग्र।

उग्र जी की मित्रमंडली में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, शिवपूजन सहाय, विनोदशंकर व्यास आदि प्रसिद्ध साहित्यकार थे। दो महाकवि उग्र जी के विशेष प्रिय थे : गोस्वामी तुलसीदास तथा उर्दू के प्रसिद्ध शायर असदुल्ला खाँ गालिब। इनकी रचनाओं के उद्धरण उग्र जी ने अपने लेखों में बहुशः दिए हैं। (ला० त्रि० प्र०)

उग्रसेन १. उग्रसेन (महापद्म) नंद वंश का प्रथम सम्राट् था जिसे पुराणों में 'सर्वक्षत्रांतक' तथा 'एकराट्' कहा गया है। 'महाबोधि वंश' में उसकी संज्ञा उग्रसेन मिलती है। उसने इक्ष्वाकुओं, पांचालों, काशी जनपदवासियों, कालिंगों, अश्मकों, कुरुओं, चेदियों, शूरसेनों तथा वीतिहोत्रा जनों को परास्त कर एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था। उसकी विशाल सेना के विषय में सुनकर सिकंदर को मगध पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ।

२. उग्रसेन (पालक्क) का नाम समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान के संबंध में अन्य नरेशों के साथ परिगणित है। उसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।

३. उग्रसेन (पारीक्षित) के नाम का उल्लेख वैदिक अनुक्रमणी में परीक्षित के चार पुत्रों की श्रेणी में जनमेजय, भीमसेन और श्रुतसेन के साथ मिलता है (वैदिक इंडेक्स, प्रथम भाग, पृ० ५२०)। (चं० म०)

४. उग्रसेन मथुरा का यदुवंशी राजा था। इसके पिता का नाम आहुक और माता का नाम काश्या था। इसके नौ पुत्रों तथा पाँच पुत्रियों में कुख्यात अत्याचारी शासक कंस ज्येष्ठ था। शेष पुत्रों के नाम क्रमशः सुनामा, न्यग्रोध, कंक, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि तथा तुष्टिमान थे। पुत्रियों के नाम कंस, कंसावती, कंका, शूरभू तथा राष्ट्रपालिका थे। बड़े होने पर कंस ने उग्रसेन को कारागृह में डालकर मथुरा के शासन पर अधिकार कर लिया था। बाद में कृष्ण ने कंस का वध किया और उग्रसेन को बंदीगृह से मुक्त कर पुनः राजसिंहासन पर बिठाया। (कै० चं० श०)

उग्रायुध भागवत के अनुसार नीप का पुत्र, लेकिन अन्य पुराणों में उल्लेख है कि यह कृत का पुत्र था। इसने आठ हजार वर्ष तपस्या की थी और यम ने स्वयं इसे तत्वज्ञान सिखाया था। इसके पुत्र का नाम क्षेम्य था। इसने १०१ नीपों का नाश किया था और भल्लाटपुत्र जनमेजय को भी मारा था। शांतनु की मृत्यु के बाद इसने सत्यवती की माँग की थी जिससे क्रुद्ध होकर भीष्म ने इसका वध कर दिया था। (कै० चं० श०)

उच्च न्यायालय इस देश में उच्च न्यायालयों की स्थापना का श्रेय अंग्रेजी सरकार को है। सन् १८६१ में इनकी स्थापना से पूर्व इस देश में दो प्रकार के न्यायालय कार्य कर रहे थे। प्रथम प्रकार के न्यायालयों की स्थापना विभिन्न वर्षों में प्रेसीडेंसी नगरों, अर्थात् कलकत्ता, मद्रास और बंबई में सीधे इंग्लैंड के सम्राट् द्वारा हुई थी। ये न्यायालय उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के नाम से विख्यात थे। दूसरे प्रकार के न्यायालय

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल, मद्रास, बंबई तथा अन्य प्रांतों में स्थापित किए गए थे। सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत कंपनी के उच्चतम न्यायालय थे। इन न्यायालयों के अंतर्गत व्यवहार विषयक (सिविल) एवं दांडिक (क्रिमिनल) अधीन न्यायालय (सबार्डिनेट कोर्ट) कार्य करते थे। उच्चतम न्यायालयों का केवल प्रारंभिक क्षेत्राधिकार (ओरिजिनल जुरिस्डिक्शन) था, जिसका विस्तार प्रेसीडेंसी नगरों तक ही सीमित था, यद्यपि इन न्यायालयों ने विभिन्न समयों पर प्रांतों में भी अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग किया था। इनकी कार्यप्रणाली अंग्रेजी न्यायालयों की कार्यप्रणाली के समान थी और ये विवादों में अधिकतर अंग्रेजी कानूनों का प्रयोग करते थे।

कंपनी की सदर अदालतों का अपीलीय क्षेत्राधिकार (अपेलेट जुरिस्डिक्शन) था। सरकार द्वारा बनाए विभिन्न विनियमों तथा हिंदू एवं मुस्लिम कानूनों के अनुसार ये न्यायालय अपने निर्णय देते थे। अधिकतर इनकी कार्यप्रणाली भी सरकारी विनियमों द्वारा निश्चित की जाती थी।

इस प्रकार भारत में दो प्रकार के समवर्ती तथा स्वतंत्र न्यायालय कार्य कर रहे थे। कभी कभी इनके निर्णय प्रतिकूल भी होते थे और प्रजा को दो अधिकारक्षेत्रों का भाजन बनना पड़ता था। इन दो प्रकार के न्यायाधीशों के संबंध भी परस्पर अच्छे नहीं थे। उच्चतम न्यायालय कंपनी के कामों मे बहुधा हस्तक्षेप भी करते थे। असमान कानूनों एवं प्रणालियों के प्रयोग से न्यायव्यवस्था में एक प्रकार का उलझाव पैदा हो गया था। इसलिये न्यायव्यवस्था को सुदृढ़, संगठित एवं सुचारु रूप से चलाने के लिये इन समकक्ष न्यायालयों का विलयन करके एक ही प्रकार के उच्च न्यायालय स्थापित करने का निश्चय किया गया।

उच्च न्यायालयों की स्थापना—६ अगस्त, १८६१ को ब्रिटिश संसद् (पार्ल्यमिंट) ने भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम (इंडियन हाईकोर्ट ऐक्ट) के द्वारा उच्चतम एवं सदर न्यायालयों का विलयन करके उच्च न्यायालयों की स्थापना की। भारतीय न्यायव्यवस्था के इतिहास में यह एक महान् एवं उत्कृष्ट प्रयास था जिसकी सफलता वर्तमान उच्च न्यायालयों की असाधारण कार्यक्षमता के द्वारा प्रकट होती है। इस अधिनियम ने इंग्लैंड की महारानी को अधिकार दानपत्रों (लेटर्स पेटेंट) द्वारा कलकत्ता, मद्रास, बंबई तथा अन्य भागों में उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दिया। प्रत्येक न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति (चीफ जस्टिस) एवं अधिकतम १५ अवर न्यायाधीश (प्युनी जज) कार्य कर सकते थे। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति बैरिस्टरों, प्राधिकारियों, जिला न्यायाधीशों, सदर अमीन अथवा लघुवाद न्यायालयों (स्मॉल काज़ कोर्ट्स) के न्यायाधीशों एवं वकीलों में से होती थी। सभी न्यायाधीशों की सेवाएँ अंग्रेजी सम्राज्ञी की इच्छा पर निर्भर करती थीं।

अधिनियम ने उच्च न्यायालयों को व्यवहार विषयक (सिविल), दांडिक (क्रिमिनल), नौकाधिकरण (ऐडमिराल्टी) एवं उपनौकाधिकरण, वसीयत संबंधी, वसीयत रहित एवं वैवाहिक, प्रारंभिक एवं अपीली दोनों प्रकार के, क्षेत्राधिकार दिए। व्यवहार विषयक एवं दांडिक प्रारंभिक क्षेत्राधिकार साधारण प्रारंभिक क्षेत्राधिकार एवं असाधारण प्रारंभिक क्षेत्राधिकार में विभाजित था। यह उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती उच्चतम न्यायालयों की तथा अपीली क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती सदर अदालतों की देन हैं।

इन क्षेत्राधिकारों के अतिरिक्त उच्च न्यायालयों को प्रेसीडेंसियों में न्यायव्यवस्था संबंधी वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो अधिकार दानपत्रों द्वारा स्वीकृत हुए हों। पूर्व न्यायालयों के अन्य अधिकार भी उच्च न्यायालयों को दिए गए। ये न्यायालय अधीन न्यायालयों पर अधीक्षण (सुपरिंटेंडेंस) का अधिकार रखते थे।

उच्च न्यायालयों को पूर्ववर्ती दोनों प्रकारों के न्यायालयों के न्यायाधीशों की सेवाएँ प्राप्त थीं। उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीश अंग्रेजी कानूनों से परिचित थे तथा सदर अदालतों के न्यायाधीश भारत की प्रथाओं, स्वभाव एवं कानूनों से परिचित थे। इस प्रकार असमान कानूनों एवं प्रणालियों के समावेश से पूर्व असमानता द्वारा प्रदत्त दोष लगभग समाप्त हो गए थे।

१८६१ के अधिनियम के अंतर्गत जारी किए गए १४ मई, १८६१ के अधिकार दानपत्र के द्वारा कलकत्ते में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। इस अधिकार दानपत्र के अशुद्ध होने के कारण २८ दिसंबर, १८६५ को एक नया अधिकार दानपत्र जारी किया गया। २६ जून, १८६२ को जारी किए गए अधिकार दानपत्रों के द्वारा बंबई एवं मद्रास में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई। इन अधिकार दानपत्रों के स्थान पर १८६५ में नए दानपत्र जारी किए गए। इन तीनों उच्च न्यायालयों को अधिनियम द्वारा वर्णित समस्त अधिकार प्राप्त थे।

१७ मार्च, १८६६ को जारी किए गए अधिकार दानपत्र द्वारा उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के लिये आगरा में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १८७५ में यह न्यायालय आगरे से इलाहाबाद लाया गया। प्रेसीडेंसी उच्च न्यायालयों की भाँति इस न्यायालय को साधारण प्रारंभिक व्यवहार विषयक क्षेत्राधिकार एवं नौकाधिकरण अथवा उपनौकाधिकरण क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं थे। २६ जुलाई, १९४८ को अवध मुख्य न्यायालय (अवध चीफ़ कोर्ट) को इस न्यायालय में मिला दिया गया।

९ फरवरी, १९१६ को अधिकार दानपत्र द्वारा पटना में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। यद्यपि इसका क्षेत्राधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के समान था, तथापि इस न्यायालय को नौकाधिकरण क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हुआ। २१ मार्च, १९१९ के अधिकार दानपत्र के द्वारा लाहौर में तथा २ जनवरी, १९१६ के अधिकार दानपत्र द्वारा नागपुर में उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। इनके अधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अधिकारों के समान थे। भारत के विभाजन के पश्चात् लाहौर न्यायालय के पाकिस्तान में चले जाने के कारण पूर्वी पंजाब के लिये १९४७ में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १९४८ में उड़ीसा एवं असम में उच्च न्यायालय स्थापित किए गए। इनका क्षेत्राधिकार क्रमशः कलकत्ता एवं पटना उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के समान रखा गया। आज भारत में विभिन्न प्रांतों के पुनर्गठन के पश्चात् सभी प्रांतों में उच्च न्यायालय सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

भारत सरकार अधिनियम, १९३५ (गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट, १९३५) के द्वारा परिवर्तन—इस अधिनियम द्वारा उच्च न्यायालयों के गठन एवं रचना में कुछ परिवर्तन किए गए। प्रत्येक न्यायाधीश को ६० वर्ष की आयु तक कार्य करने का अधिकार दिया गया। १८६१ के अधिनियम द्वारा निर्मित विभिन्न श्रेणियों के न्यायाधीशों के चुनाव का नियम समाप्त कर दिया गया। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त उच्च न्यायालयों के व्यय संबंधी मामलों में कार्यकारिणी अथवा विधान सभा को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं दिया गया, केवल राज्यपाल को ही यह अधिकार मिला।

भारतीय संविधान में उच्च न्यायालय—भारत की वर्तमान न्यायव्यवस्था में उच्च न्यायालयों का एक विशेष स्थान है। संविधान में प्रदत्त मूल अधिकारों (फ़ंडामेंटल राइट्स) की सुरक्षा की दृष्टि से इन न्यायालयों का मान और भी बढ़ गया है। प्रत्येक उच्च न्यायालय पहले की भाँति एक अभिलेख न्यायालय (कोर्ट ऑव रेकर्ड) है तथा उसे अपने अवमान (कंटेंप्ट) के लिये दंड देने की शक्ति दी गई है।

उच्च न्यायालयों का गठन समय समय पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधीशों पर निर्भर करता है। राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से, राज्य के राज्यपाल से तथा राज्य के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति को छोड़कर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की दशा में उस राज्य के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करता है। उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिये संबंधित व्यक्ति का भारतीय राज्यक्षेत्र में कम से कम १० वर्ष तक न्यायिक पद पर कार्य करना आवश्यक है, अथवा उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का निरंतर कम से कम १० वर्ष तक अधिवक्ता रहना आवश्यक है। प्रत्येक न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक कार्य कर सकता है।

उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा स्वयं ही पदत्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त

कोई न्यायाधीश अपने पद से तब तक नहीं हटाया जा सकता जब तक सिद्ध कदाचार, अथवा असमर्थता के लिये ऐसे हटाए जाने के हेतु प्रत्येक सदन की समस्त सदस्यसंख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करनेवाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन के राष्ट्रपति के समक्ष संसद् के प्रत्येक सदन द्वारा उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश न दिया हो।

कोई व्यक्ति जो इस संविधान के प्रारंभ के पश्चात् उच्च न्यायालय के स्थायी न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, उच्चतम न्यायालय या अन्य उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त भारत के किसी न्यायालय अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत का कार्य नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से एक उच्च न्यायालय से किसी दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानांतरण कर सकता है। राष्ट्रपति को कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति तथा अपर एवं कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का अधिकार है।

वर्तमान उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार तथा उसमें प्रशासित विधि तथा उस न्यायालय में न्यायप्रशासन के संबंध में उसके न्यायाधीशों की अपनी अपनी शक्तियाँ, जिनके अंतर्गत न्यायालय के नियम बनाने तथा उस न्यायालय की बैठकों और उसके सदस्यों के अकेले अथवा खंड न्यायालयों (डिवीज़न कोर्ट्स्) में बैठने का विनियमन करने की कोई शक्ति भी है, वैसी ही रखी गई है, जैसी संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले थी। परंतु राजस्व (रेवन्यू) संबंधी, अथवा उसको संगृहीत करने में आदिष्ट अथवा किए हुए किसी कार्य संबंधी विषय में उच्च न्यायालयों में से किसी के प्रारंभिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग, जिस किसी निर्बंधन के अधीन संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले था, वह निर्बंधन ऐसे क्षेत्राधिकार के प्रयोग पर आगे लागू नहीं किया गया।

प्रत्येक उच्च न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार में संविधान के भाग ३ द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिये, तथा किसी अन्य प्रयोजन के लिये किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति, या समुचित मामलों में किसी सरकार को ऐसे निदेश (डाइरेक्शन) या आदेश (आर्डर्स) या लेख (रिट), जिनके अंतर्गत बंदीप्रत्यक्षीकरण (हाबियस कार्पस), परमादेश (मैन्डेमस्), प्रतिषेध (प्रोहिबिशन), अधिकारपृच्छा (कोवारंटो) तथा उत्प्रेषण (सरशियोरराइ) के प्रकार के लेख भी हैं, अथवा उनमें से किसी को जारी करने की शक्ति रखता है। यह शक्ति उच्चतम न्यायालय की इस संबंध में प्रदत्त शक्ति के समकक्ष है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय को अधीन न्यायालयों और न्यायाधिकरणों के अधीक्षण की शक्ति दी गई है। विशेष मामलों को उच्च न्यायालय को हस्तांतरण करने का अधिकार है।

संसद् को विधि द्वारा किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार अथवा अपवर्जन किसी संघ राज्यक्षेत्र में या राज्यक्षेत्र से कर सकने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त संसद् को विधि द्वारा दो या अधिक राज्यों के लिये अथवा दो या अधिक राज्यों और एक संघ राज्यक्षेत्र के लिये एक उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार है।

यह उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालयों के समस्त क्षेत्राधिकारों में अपीली क्षेत्राधिकार बहुत विस्तृत एवं महत्वपूर्ण है। (जि० कु० मि०)

भारतीय संसद् ने १० अक्टूबर, १९४९ को प्रिवी कौंसिल अधिकार क्षेत्र उन्मूलन अधिनियम के द्वारा प्रिवी कौंसिल के समक्ष अनिर्णीत वादों को सर्वोच्च न्यायालय को समर्पित कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने भारतीय संविधान के अंतर्गत २६ नवंबर, १९४९ से कार्य शुरू कर दिया। देश-विभाजन के पश्चात् २ मई, १९५० को कलकत्ता उच्च न्यायालय का पुनर्गठन होने के बाद इसका अधिकारक्षेत्र चंदरनगर एवं अंडमन-निकोबार-द्वीपसमूह तक बढ़ा दिया गया। १ जुलाई, १९५४ से हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगा।

राज्य पुनर्गठन आयोग अधिनियम १९५६, १ नवंबर, १९५६ से लागू हुआ तथा सभी राज्यों एवं केंद्रशासित प्रदेशों के वर्गीकरण के बाद सभी राज्यों एवं केंद्रशासित प्रदेशों के लिये अलग अलग एवं स्वतंत्र उच्च न्यायालयों की स्थापना एवं पुनर्गठन की व्यवस्था दी गई। ट्रावनकोर एवं कोचीन के स्थान पर केरल राज्य एवं केरल उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। हैदराबाद राज्य को भारतीय संघ में शामिल करने के बाद इसको आंध्रप्रदेश में मिला दिया गया। आंध्र उच्च न्यायालय १ अक्टूबर, १९५३ से आंध्र राज्य अधिनियम १९५३ के अंतर्गत कार्य कर रहा था परंतु पुनर्गठन आयोग ने मद्रास उच्च न्यायालय, जिसे अब तामिलनाडु उच्च न्यायालय कहा जाता है, तथा आंध्र उच्च न्यायालय के अधिकारक्षेत्रों की पुनर्व्यवस्था कर दी। इसके साथ ही पुरानी रियासतों के प्रदेश राजस्थान एवं राजस्थान उच्च न्यायालय का भी पुनर्गठन किया गया। जम्मू एवं कश्मीर उच्च न्यायालय नदरे रियासत महाराज कश्मीर के साथ ही साथ १ नवंबर, १९५६ से भारतीय संविधान के अंतर्गत विशेष स्थिति के साथ मान्य हो गया।

बंबई पुनर्गठन अधिनियम १९६० के द्वारा १ मई, १९६० को गुजरात एवं महाराष्ट्र दो अलग अलग राज्य बन गए। अतः गुजरात तथा महाराष्ट्र उच्च न्यायालयों की स्थापना तथा पुनर्गठन किया गया। महाराष्ट्र उच्च न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की एक स्थायी बेंच नागपुर में पुनःस्थापित हो गई। मैसूर उच्च न्यायालय, जिसे अब कर्नाटक उच्च न्यायालय कहते हैं, २५ दिसंबर, १९६१ में पुनर्गठित किया गया।

गोआ, दामण तथा दीव २० दिसंबर, १९६१ को भारतीय संघ में संमिलित हुए तथा ५ मार्च ,१९६२ को गोआ, दामण तथा दीव अधिनियम १९६२ द्वारा उनका एक केंद्रशासित प्रदेश बना और इसे महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के अधीन करके इसके लिये पृथक् एकन्यायिक आयुक्त की व्यवस्था कर दी गई। परंतु १६ दिसंबर, १९६३ से गोआ-दामण-दीव न्यायिक आयुक्त (उच्च-न्यायालय-घोषणा) अधिनियम, १९६४ द्वारा गोआ उच्च न्यायालय के नाम से स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगा।

१ दिसंबर, १९६३ से आसाम उच्च न्यायालय का अधिकारक्षेत्र नागालैंड केंद्रशासित प्रदेश तक कर दिया गया जो अब अरुणाचल, मिजोराम एवं नागालैंड प्रदेशों तक व्याप्त है।

पंजाब पुनर्गठन अधिनियम १९६६ के द्वारा पंजाब एवं हरियाणा राज्यों की पुनःस्थापना हुई एवं पंजाब उच्च न्यायालय का अधिकारक्षेत्र दोनों राज्यों तक बढ़ा दिया गया। इसी प्रकार १९६६ ई० से दिल्ली उच्च न्यायालय भी पंजाब उच्च न्यायालय की शाखा न होकर एक स्वतंत्र एवं अलग उच्च न्यायालय के रूप में कार्य करने लगा। (दे० पां०)

उच्चाटन

उच्चाटन उच्चाटन एक प्रकार का मंत्रप्रयोग है जो प्रेत, पिशाच, डाकिनी आदि के निवारण या नियंत्रण के हेतु किया जाता है। आदिम विश्वास है कि प्रेत या डाकिनी के उत्पात या कुदृष्टि से रोग उत्पन्न होते हैं और ऐसा विश्वास होता है कि इनके निवारण (उच्चाटन) से रोगों का शमन और दुःख का निवारण हो सकता है। यह विश्वास अत्यंत प्राचीन और सार्वभौम है। विज्ञान के प्रसार से यह हटता तो जाता है, परंतु कितने ही देशों में यह अब तक प्रचलित है। दूसरे के मन को अन्यत्र लगा देना, उसे अन्यमनस्क कर देना भी उच्चाटन की एक क्रिया मानी जाती है।

उच्चाटन की विविध क्रियाएँ हैं। इनका प्रयोग बिना मंत्र के किया जाता है और मंत्र के साथ भी। उच्चाटन मंत्र अनेक प्रकार के हैं। विधिपूर्वक इनका प्रयोग करना अनेक लोगों का व्यवसाय है। ये लोग दावा करते हैं कि मंत्र के द्वारा भूत, प्रेत और पिशाच भगाए जा सकते हैं और डाकिनी को नियंत्रित तथा निष्क्रिय किया जा सकता है।

सं०ग्रं०—मंत्रमहोदधि; मंत्रमहार्णव। (म० ला० श०)

उच्चारण

उच्चारण किसी भाषा के बोलने के ढंग को साधारणतया उच्चारण कहते हैं। भाषाविज्ञान में उच्चारण के शास्त्रीय अध्ययन को ध्वनिविज्ञान संज्ञा दी जाती है। भाषा के उच्चारण की ओर तभी ध्यान जाता है जब उसमें कोई असाधारणता होती है, जैसे (क) बच्चों का हकलाकर या अशुद्ध बोलना, (ख) विदेशी भाषा को ठीक न बोल सकना, (ग) अपनी मातृभाषा के प्रभाव के कारण साहित्यिक भाषा के बोलने की शैली का प्रभावित होना, आदि।

उच्चारण के अंतर्गत प्रधानतया तीन बातें आती हैं : (१) ध्वनियाँ, विशेषतया स्वरों में ह्रस्व दीर्घ का भेद, (२) बलात्मक स्वराघात, (३) गीतात्मक स्वराघात। इन्हीं के अंतर से किसी व्यक्ति या वर्ग के उच्चारण में अंतर आ जाता है। कभी कभी ध्वनियों के उच्चारणस्थान में भी कुछ भेद पाए जाते हैं।

उच्चारण के अध्ययन का व्यावहारिक उपयोग साधारणतया तीन क्षेत्रों में किया जाता है : (१) मातृभाषा अथवा विदेशी भाषा के अध्ययन अध्यापन के लिये, (२) लिपिहीन भाषाओं को लिखने के निमित्त वर्णमाला निश्चित करने के लिये, (३) भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण की विशेषताओं को समझने तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये।

यद्यपि संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण में समानता का अंश अधिक पाया जाता है, तथापि साथ ही प्रत्येक भाषा के उच्चारण में कुछ विशेषताएँ भी मिलती हैं, जैसे भारतीय भाषाओं की मूर्धन्य ध्वनियाँ ट ठ ड आदि, फारसी अरबी की अनेक संघर्षी ध्वनियाँ जैसे ख़ ग़ ज़ आदि, हिंदी की बोलियों में ठेठ व्रजभाषा के उच्चारण में अर्धविवृत स्वर ऐं औं, भोजपुरी में शब्दों के उच्चारण में अंत्य स्वराघात।

भाषाओं के बोले जानेवाले रूप अर्थात् उच्चारण को लिपिचिह्नों के द्वारा लिखित रूप दिया जाता है, तथापि इस रूप में उच्चारण की समस्त विशेषताओं का समावेश नहीं हो पाता है। वर्णमालाओं का आविष्कार प्राचीन काल में किसी एक भाषा को लिपिबद्ध करने के लिये हुआ था, किंतु आज प्रत्येक वर्णमाला अनेक संबद्ध अथवा असंबद्ध भाषाओं को लिखने में प्रयुक्त होने लगी है जिनमें अनेक प्राचीन ध्वनियाँ लुप्त और नवीन ध्वनियाँ विकसित हो गई हैं। फिर, प्रायः वर्णमालाओं में ह्रस्व, दीर्घ, बलात्मक स्वराघात, गीतात्मक स्वराघात आदि को चिह्नित नहीं किया जाता। इस प्रकार भाषाओं के लिखित रूप से उनकी उच्चारण संबंधी समस्त विशेषताओं पर प्रकाश नहीं पड़ता।

प्रचलित वर्णमालाओं के उपर्युक्त दोष के परिहार के लिये भाषाविज्ञान के ग्रंथों में रोमन लिपि के आधार पर बनी हुई अंतरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि (इंटरनैशनल फ़ोनेटिक स्क्रिप्ट) का प्रायः प्रयोग किया जाने लगा है। किंतु इस लिपि में भी उच्चारण की समस्त विशेषताओं का समावेश नहीं हो सका है। इनका अध्ययन तो भाषा के 'टेप रिकार्ड' या 'लिंग्वाफोन' की सहायता से ही संभव होता है।

भाषा के लिखित रूप का प्रभाव कभी कभी भाषा के उच्चारण पर भी पड़ता है, विशेषतया ऐसे वर्ग के उच्चारण पर जो भाषा को लिखित रूप के माध्यम से सीखता है; जैसे हिंदीभाषी 'वह' को प्रायः 'वो' बोलते हैं, यद्यपि लिखते 'वह' हैं। लिखित रूप के प्रभाव के कारण अहिंदीभाषी सदा 'वह' बोलते हैं।

प्रत्येक भाषा के संबंध में आदर्श उच्चारण की भावना सदा वर्तमान रही है। साधारणतया प्रत्येक भाषाप्रदेश के प्रधान राजनीतिक अथवा साहित्यिक केंद्र के शिष्ट नागरिक वर्ग का उच्चारण आदर्श माना जाता है। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि इसका सफल अनुकरण निरंतर हो सके। यही कारण है कि प्रत्येक भाषा के उच्चारण में कम या अधिक मात्रा में अनेकरूपता रहती ही है।

किसी भाषा के उच्चारण का वैज्ञानिक अध्ययन करने या कराने के लिये ध्वनिविज्ञान की जानकारी आवश्यक है। प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान की सहायता से उच्चारण की विशेषताओं का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण संभव हो गया है। किंतु उच्चारण के इस वैज्ञानिक विश्लेषण के कुछ ही अंशों का व्यावहारिक उपयोग संभव हो पाता है। (धी० व०)

उच्चालित्र अथवा एलिवेटर उन यंत्रों को कहते हैं जो अनाज, अन्य माल तथा यात्रियों को नीचे ऊपर पहुँचाते हैं।

धान्य के उच्चालित्र—अनाज के उठाने और रखने की यांत्रिक रीतियों में से एक, जो अब भी सर्वाधिक प्रयोग में आती है, डोलवाले उच्चालित्र की है। इसमें मोटे गाढ़े या कैनवस के पट्टे पर १० से १८ इंच की दूरी पर धातु के छोटे छोटे डोल बँधे रहते हैं। पट्टा ऊर्ध्वाधर अथवा प्रायः ऊर्ध्वाधर रहता है। ऊपरी तथा निचले सिरों पर एक एक बड़ी घिरनी या पहिया रहता है, जिसपर पूर्वोक्त पट्टा चढ़ा रहता है। पट्टा और घिरनी के बीच पर्याप्त घर्षण के लिये पट्टे पर रबर चढ़ा रहता है। उच्चालित्र के नीचेवाले भाग में बने एक गड्ढे में से चलते हुए पट्टे के डोल अनाज उठा लेते हैं और उसे ऊपरी सिरे पर ले जाकर गिरा देते हैं। जैसे ही अनाज उच्चालित्र के ऊपरी सिरे पर पहुँचता है, अपकेंद्र बल उसे एक बृहत्काय कोष में फेंक देता है। यहाँ से पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण उसे बड़े व्यास के नलों तथा ढालू नलियों द्वारा संग्रह के उपयुक्त खत्तों या भांडों में पहुँचा देता है।

अनाज को किसी भी बेंड़ी अथवा खड़ी दिशा में ले जाने की नई रीति यह है कि वायुधारा का प्रयोग किया जाय। इसमें धातु की दृढ़ पंखियोंवाला पंखा रहता है। इसी पर अनाज डाला जाता है। पंखा वायु की धारा के साथ अनाज को भी आगे ढकेल देता है। पंखों का प्रयोग मुख्यतः कृषि के फार्मों पर अथवा ऐसे छोटे कामों के लिये होता है जहाँ उठाऊ यंत्र की आवश्यकता रहती है। पंखे के प्रयोग में हानि यह है कि वह धूल उड़ाता है, उसमें भठ जाने की प्रवृत्ति रहती है तथा उसकी पंखियाँ अनाज के दानों को बहुधा तोड़ देती हैं।

छोटे या संकुचित स्थानों में अथवा थोड़ी दूरी के लिये पेंच के रूपवाले उच्चालित्र का व्यवहार किया जाता है। खोखले गोल बेलन के भीतर कुंतलाकार एक फल होता है। इस फल के घूमने के साथ साथ अनाज भी आगे बढ़ता है। अनाज की क्षैतिज गति के लिये तो यह ठीक काम देता है, किंतु खड़ी अथवा प्रायः खड़ी दिशा में अनाज को चढ़ाने के लिये इसमें बहुत बल लगाने की आवश्यकता होती है और इसलिये यह अनुपयोगी सिद्ध हुआ है।

पिछले कई वर्षों से, नौकाओं तथा जहाजों और, इनसे भी अभिनव काल में, रेलों से अनाज उतारने तथा ऊपर नीचे पहुँचाने के लिये हवा से काम लिया जाता है। लचीले नलों से काम लेकर इस विधि का प्रयोग
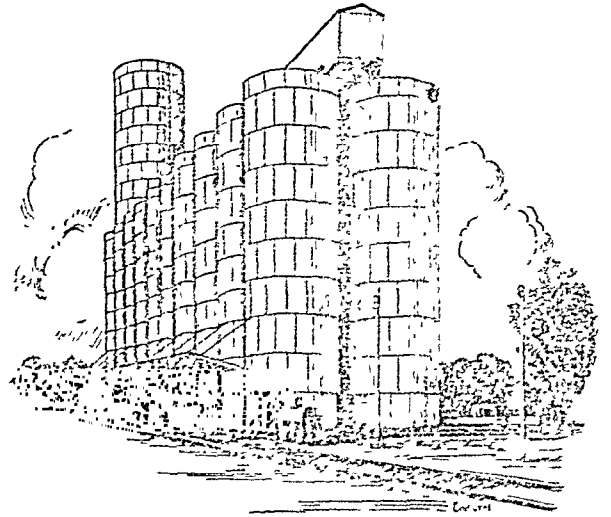
हापुड़ का अन्न उच्चालित्र तथा संग्रहभांड

विविध कार्यों में किया जा सकता है। यद्यपि इनके उपयोग में अधिक बल की आवश्यकता होती है और अनाज की गति सीमित होती है, तो भी अन्य उच्चालित्रों की अपेक्षा इसमें अनेक गुण हैं।

हवा से चलनेवाली मशीनों का हृदय एक पंप होता है जो या तो पिस्टन के आगे पीछे चलने से अथवा केवल वेगपूर्वक घूमते रहने से काम करता है। यह यंत्र उन नलों से, जिनका मुख अनाज के भीतर डूबा रहता है, वायु निकाल लेता है। तब नलों के मुख से, जिनमें अनाज के साथ

अतिरिक्त वायु के प्रवेश के लिये अलग मार्ग रहता है, हवा तथा अनाज साथ साथ ऊपर चढ़ते हैं।
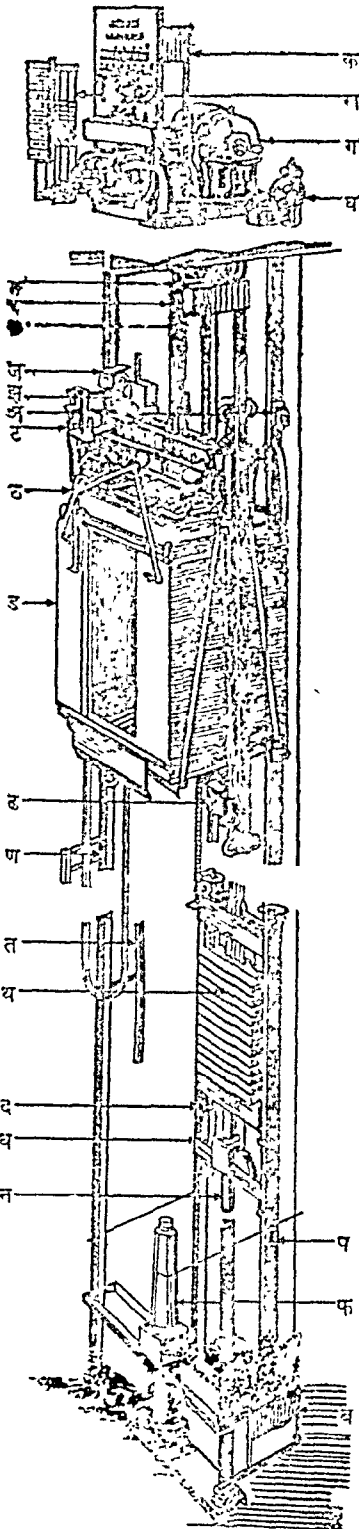
यात्रियों के लिये उच्चालित्र

क. वेग नियंत्रक; ख. तल्ला नियंत्रक; ग. मोटर; घ. संयामक; ङ. मार्ग परिवर्तन करनेवाली घिरनी; च. उत्तोलित करनेवाली रज्जु; छ. इस्पात का बना संचालक पट्टा; ज. मार्गदर्शक बेलन; झ. रोकनेवाला बिजली का बटन (स्विच); ञ. सीमा निर्धारक स्विच; ट. समतल करनेवाला स्विच; ठ. द्वार-परिचालक; ड. यान का डब्बा; ढ. यानरक्षक; ण. यान मार्गदर्शक पटरियाँ; त. रोकनेवाले स्विच का कम; थ. प्रतिभार; द. मार्गदर्शक बेलन, ध. प्रतिभार की मार्गदर्शक पटरियाँ; न. प्रतिभार संघातसह; प. अंतिम सीमा की स्विच; फ. यान के डब्बे का संघातसह; ब. तनाव घटाने बढ़ाने की घिरनी।

अनाज के उठाने रखने की मशीनों से काम लेते समय अनाज की धूलि से विस्फोट होने की आशंका पर ध्यान रखना आवश्यक है।

माल तथा यात्रियों के उच्चालित्र—इस वर्ग के यंत्रों में माल तथा यात्रियों को पहुँचाने का कार्य अविराम न होकर रुक रुककर होता रहता है। इस प्रकार का उच्चालित्र भार को समय समय पर ऊपर नीचे करता रहता है। भार रखने के लिये एक चौकी तथा उसे ऊपर नीचे चलाने के लिये रस्सी या जलसंचालित (हाइड्रॉलिक) यंत्र होता है। चौकी एक चौकोर या गोल घर में ऊपर नीचे चलती है जिसे कूपक (शैफ्ट) कहते हैं।

रस्सी से चलनेवाले माल के उच्चालित्रों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: (१) लघुकार्यक्षम तथा (२) गुरुकार्यक्षम। लघुकार्यक्षम उच्चालित्र २० से ३० मन की सामर्थ्य के, २५ फुट प्रति मिनट की गतिवाले तथा ३५ फुट ऊँचाई तक कार्य करनेवाले होते हैं। इन उच्चालित्रों के सब भागों की रचना साधारण आवश्यकता से कहीं अधिक दृढ़ होती है और इनमें बटन दबाने पर कार्य करनेवाले स्थिर-दाब-नियंत्रक, भवन के प्रत्येक तल पर तथा चलनेवाली चौकी में भी, लगे रहते हैं। यदि नीचे उतरते समय गति अत्यधिक हो जाय तो यान में स्वतःचालित गति-नियंत्रक-सुरक्षा-यंत्र काम करने लगते हैं। चौकी के प्रारंभिक और अंतिम स्थानों पर सीमा स्थिर करनेवाले खटके तथा सुरक्षा के अन्य उपाय भी रहते हैं। ऐसे यंत्रों की एक विशेषता यह है कि चौकी को चलानेवाला यंत्र उच्चालित्र के पेंदे के पास रहता है। इसलिये ऊपर किसी अवलंब या छत की आवश्यकता नहीं होती।

रस्सीवाले गुरुकार्यक्षम उच्चालित्र विशेषकर मोटर ट्रकों पर काम करने के लिये बनाए जाते हैं। ये इतने पुष्ट बनाए जाते हैं कि भार से होनेवाले सब प्रकार के झटके आदि सह सकें। इनके सब नियंत्रक (कंट्रोल) पूर्ण रूप से स्वयंचालित होते हैं और इनका प्रयोग ट्रक का ड्राइवर अथवा अन्य कोई कर्मचारी कर सकता है। यातायात मार्ग के कुछ स्थानों पर, सिर से ऊपर लगे और बटन दबाने पर कार्य करनेवाले नियंत्रकों, से यह बात संभव हो जाती है। जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ ऐसा प्रबंध भी रहता है जिसके द्वारा कोई अनुचर भी नियंत्रण कर सकता है। जहाँ भवन बहुत ऊँचा हो तथा माल शीघ्र चढ़ाने की आवश्यकता हो वहाँ के लिये रस्सी की सहायता से कार्य संपादित करनेवाले उच्चालित्र विशेष उपयोगी होते हैं।

जलचालित उच्चालित्र—जलचालित उच्चालित्रों का उपयोग नीचे भवनों में होता है जहाँ बोझ बहुत भारी रहता है और तीव्र गति की आवश्यकता नहीं रहती। इन उच्चालित्रों के कार्य में दाब में पड़े द्रव से काम लिया जाता है। ऐसे उपकरणों के निर्माता दावा करते हैं कि जलचालित उच्चालित्र की चौकी पर भारी बोझ लादने पर चौकी नीचे की ओर नहीं भागती क्योंकि उसका आधार तेल का एक असंपीडनीय स्तंभ होता है। वे इस प्रकार के यंत्रों में निम्नांकित अन्य गुण भी बताते हैं: इनके लिये किसी छत की आवश्यकता नहीं पड़ती; इनका कूपकमार्ग खुला और इसलिये सुप्रकाशित रहता है; चौकी बिना झटके के चलना आरंभ करती और रुकती है; जहाँ रोकना चाहें ठीक वहीं रुकती है; और मशीन को अच्छी दशा में बनाए रखने में व्यय कम होता है।

यात्रियों के लिये बने उच्चालित्रों की रचना भी बोझ ढोनेवाले उच्चालित्रों की ही तरह होती है। केवल इनमें सुरक्षा की कुछ अधिक युक्तियाँ रहती हैं तथा इनके रूप और यात्रियों की सुख सुविधा पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

सं० ग्रं०—डी० ओ० हेंज: मैटीरियल हैंडलिंग इक्विपमेंट, (चिल्टन कंपनी, फ़िलाडेल्फ़िया); इम्मर: मैटीरियल हैंडलिंग (मैक्ग्रा हिल बुक कंपनी इंकारपोरेटेड)। (न० ला० गु०)

उच्चैश्रवा या उच्चैःश्रवस् समुद्रमंथन से प्राप्त चौदह रत्नों में से एक। इसे इंद्राश्व भी कहा जाता है क्योंकि समुद्र से निकलने के पश्चात् यह इंद्र को प्राप्त हुआ था। इसका वर्ण श्वेत, कान खड़े और सात मुँह बताए जाते हैं। इसकी कीर्ति और श्रुति अतिशीघ्र सर्वत्र फैली, इसलिये इसका उच्चैश्रवा नाम रखा गया। (कै० चं० श०)

उच्छिष्ट गणपति या उच्छिष्ट गणेश तंत्रोक्त गणेश का एक रूप। जूठे मुँह रहनेवाले लोग इनकी पूजा करते हैं। हेरंब संप्रदाय

में उच्छिष्ट गणपति को शुद्ध गणपति के विरोध में परिगणित किया जाता है और इन्हें माननेवाले लोगों के मत में स्त्री और पुरुष उभय होते हैं। इनके संयोग वियोग में पाप नहीं लगता। (कै० चं० श०)

उच्छेदवाद आत्मा के भी नष्ट हो जाने का सिद्धांत है। प्राचीन काल में अजित केशकंबली (द्र०) के सिद्धांत को उच्छेदवाद के नाम से जाना जाता था। इस सिद्धांत के अनुसार मृत्यु के बाद कोई भी पदार्थ स्थायी नहीं रहता। शरीरस्थ सभी पदार्थों के अस्थायित्व में विश्वास करनेवाले इस मत की मान्यता थी कि मृत्यूपरांत पृथ्वी, जल, तेज और वायु नामक चार तत्व अपने मूल तत्व में लीन हो जाते हैं। देह के भस्म हो जाने के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता, आत्मा भी नहीं। आत्मा की सत्ता मिथ्या है। इस सिद्धांत का दूसरा नाम जडवाद भी है। बुद्धकाल में इसका विरोधी मत शाश्वतवाद के नाम से प्रसिद्ध था जो पाँच तत्वों के साथ ही सुख, दुःख एवं आत्मा को भी नित्य एवं अचल मानता था। यह मत प्रकुध कात्यायन के मत के रूप में विख्यात था। बुद्ध ने इन दोनों अंतों का त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश दिया था। उच्छेदवादी सिद्धांत प्राचीन भौतिकवाद में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। (ना० ना० उ०)

इंग्लैंड के विचारक एडवर्ड ह्वाइट ने भी पाश्चात्य ढंग से उच्छेदवाद सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार कुटिल और पापी लोग मृत्यु के साथ पूर्णतः विनष्ट हो जाते हैं, लेकिन सदाचारी व्यक्तियों के साथ ऐसा नहीं होता। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के अतिरिक्त इस सिद्धांत में दर्शन की पीठिका भी गृहीत है क्योंकि इसके प्रतिपादन के बीच एडवर्ड ह्वाइट ने कुछ दार्शनिक प्रश्नों को भी उठाया है। लेकिन दर्शन के क्षेत्र में इस सिद्धांत का विशेष महत्व नहीं है।

(कै० चं० श०)

उछलिया महाराष्ट्र राज्य की एक जाति। इस जाति के लोगों को भामता या गाँठचोर भी कहते हैं। ये महाराष्ट्री मिश्रित तेलुगु बोलते हैं। इसी से कुछ विद्वान् इनका मूल तेलुगु प्रांत मानते हैं। लेकिन इनके रीति रिवाज, मान्यताओं और शारीरिक बनावट से समाजशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये उत्तर भारत से आए हैं और राजपूतों की संतान हैं। बरार, गुजरात और पश्चिम भारत में भी उछलिया जाति के लोग काफी संख्या में मिलते हैं। अनेक रूप बनाए ये सैकड़ों कोस तक लोगों को ठगते घूमते हैं। सेंध लगाने या डाका डालने से ये दूर रहते हैं क्योंकि ऐसा करने पर इन्हें जातिबहिष्कृत कर दिया जाता है। संतानोत्पत्ति पर ये सटवाई की पूजा करते हैं और मुंडन संस्कार के समय इनके यहाँ जातिभोज देने का विधान है। बालविवाह का प्रचलन है और विवाह के समय वरपक्ष की ओर से कन्यापक्ष को २०० से २५० रुपए तक दिए जाते हैं। मृतकों को जलाया जाता है। (कै० चं० श०)

उजबेकिस्तान सोवियत संघ के दक्षिणी भाग में अर्थात् सोवियत मध्य एशिया के दक्षिण पूर्व में विस्तीर्ण उजबेकिस्तान या उजबेक सोवियत समाजवादी गणराज्य ४,४९,६०० वर्ग कि० मी० क्षेत्र पर फैला है और अपनी परंपरागत कला, संस्कृति आदि के लिये प्रसिद्ध है। जनवरी, १९७१ में इसकी कुल आबादी १,२३,००,००० थी। २७ अक्टूबर, १९२४ में इसे सोवियत संघीय गणराज्य का स्तर प्राप्त हुआ। उत्तर में अरल सागर तथा दक्षिण में अफगानिस्तान की सीमा तक फैले इस गणराज्य के दक्षिण एवं पश्चिम में तुर्कमेन सोवियत, दक्षिण पूर्व में ताजिक सोवियत, पूर्व में किरगीज सोवियत और उत्तर एवं पश्चिम में कजाक सोवियत फैले हैं। अंदिजान, बुखारा, समरकंद, सुरखान दरिया, ताशकंद, फरगाना, खोरेज्म, सर दरिया और काश्का दरिया नामक नौ प्रशासनिक विभागों (ओब्लास्त) के अतिरिक्त इसमें काराकल्पक स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य सम्मिलित है। यहाँ ३३ नगर और ६८ नगरीय क्षेत्र या नगर के समान बस्तियाँ हैं। कुल एक तिहाई से अधिक लोग नगरनिवासी हैं। यहाँ उजबेक लोगों की सर्वाधिक आबादी (१९५९ में ६२.२%) है जिनके अतिरिक्त रूसी (१३.५%), तातार (५.५%), कजाक (४.१%), ताजिक (३.८%), काराकल्पक (२.१%) तथा कोरियाई, यहूदी, किरगीज एवं अन्य लोग हैं। ताशकंद इसकी राजधानी है।

पूर्व में थ्यानशान के पश्चिमी ढालों से उत्तर पश्चिम की ओर फैली किजिलकुम (लाल बालू) के पार तक विस्तीर्ण उजबेकिस्तान अधिकांशतः मरुभूमि है। छोटा उस्तउर्त का पठारी क्षेत्र (लगभग २०० से ३०० मीटर ऊँचा) पश्चिम में अरल सागर (समुद्रतल से ५० मीटर) तक फैला है। अरल सागर से [illegible] है। अरल सागर और पर्वतपदों के मध्य ४८० कि० मी० तक फैला किजिलकुम क्षेत्र (२०० मीटर से नीचा) अधिकांशतः बालुकामय क्षेत्र है जिसमें वनस्पतियों के नाम पर कुछ ही क्षेत्रों में झाड़झंखाड़ मिलते हैं। इस भाग में आमू दरिया एक मात्र सततसलिला नदी है और स्वनिर्मित चौड़े मैदान में होकर बहती है। दक्षिण की ओर कई शुष्क लोएस मैदान हैं जिनमें से कई में पहाड़ों से आती नदियों द्वारा जलोढ़ शंकुओं का निर्माण हुआ है। शेष भागों में पर्वत-पठारों-घाटियों के सिलसिले पाए जाते हैं। पहाड़ों के मध्य की घाटियों या घाटी में लोएस तरह की मिट्टी और जल पाए जाते हैं। फरगाना, जेरवशान, ताशकंद, खोरेज्म आदि सर्वाधिक सिंचित घाटियाँ [illegible] आबाद हैं। इस महाद्वीपीय जलवायुवाले क्षेत्र में शीत ऋतु में तापमान शून्य से (जनवरी में) से नीचे चला जाता है किंतु ग्रीष्म में २१-३२ सें० (औसत जुलाई) हो जाता है। पर्वतीय भागों में ५०-६० सें० मी० वर्षा होती है किंतु निम्न क्षेत्रों में १०-१२ सें० मी० ही होती है। अधिकांश वर्षा बसंत ऋतु में होती है और अधिकांश मरुस्थलों में विभिन्न घासें, फूल, पौधे उग आते हैं किंतु शीघ्र ही ग्रीष्म में झुलस जाते हैं। पहाड़ों पर घास और वृक्ष १,२०० मी० ऊँचाई तक मिलते हैं।

सिंचाई के आधार पर यहाँ कई फसलें, विशेषकर घाटियों, नखलिस्तानों और पर्वतीय ढालों तथा पठारों पर उगाई जाती हैं। सोवियत संघ का कुल ६०–७०% तक कपास, लगभग आधा प्राकृतिक रेशम और एक तिहाई काराकुल चमड़ा यहीं से प्राप्त होता है। फरगाना घाटी, ताशकंद, समरकंद तथा बुखारा क्षेत्र कपास उगाने के लिये प्रसिद्ध हैं। सूखी खेती के रूप में गेहूँ, जौ और मिलेट आदि खाद्य फसलें समरकंद, सुरखान दरिया, ताशकंद आदि क्षेत्रों में तथा दक्षिण में गन्ना उगाया जाता है। यह प्रदेश अंगूर, शाक सब्जी एवं फलों और बागान के लिये भी प्रसिद्ध है। उद्योग कृषि पर आधारित उद्योगों के अतिरिक्त अन्य उद्योग धंधों का भी यहाँ तेजी से विकास हुआ जिसमें खनिजोत्पादन, मशीन तथा रसायन उद्योग प्रमुख हैं। खनिजों में कोयला (अंगरेन घाटी तथा शारगौन क्षेत्र) और पेट्रोलियम (फरगाना) प्रमुख है। यहाँ मशीन उद्योग, खनिज तथा कृषि पर आधारित उद्योग धंधों (सूती रेशमी वस्त्रोद्योग, बिनौले के तेल, [illegible], फलों और मछलियों का डिब्बाबंदी उद्योग) में सर्वाधिक मशीनें तैयार की जाती हैं। कृषि एवं उद्योगों को बिजली अधिकांशतः जलस्रोतों से प्राप्त होती है।

यातायात—उजबेकिस्तान में अभी यातायात के पर्याप्त साधन नहीं हैं। प्रमुख रेलमार्ग क्रास्नोवोद्स्क–ताशकंद, ताशकंद–ओरेनबर्ग, [illegible] और [illegible] मार्ग हैं। बिग उजबेक मार्ग तथा ताशकंद-[illegible] राजमार्ग प्रमुख सड़कें हैं। ताशकंद प्रमुख हवाई अड्डा है जहाँ से दिल्ली तथा मध्य एशियाई नगरों को हवाई यातायात की सुविधा है। यहाँ रेडियो तथा टेलिविजन केंद्र भी हैं; ताशकंद और समरकंद में विश्वविद्यालय स्थापित हैं।

इतिहास—उजबेकिस्तान तथा उजबेक लोगों का नामकरण चौदहवीं सदी के [illegible] नेता खान उजबेक (१३१२–४० ई०) के नाम पर हुआ है। १९१७ ई० में सोवियत क्रांति के समय [illegible] तुर्किस्तान में सिर दरिया, समरकंद और फरगाना [illegible] (ओब्लास्त) तथा बुखारा और खीवा [illegible] के रूप में थे। कुछ समय के बाद १९१८ ई० तक ताशकंद [illegible] हो गया। [illegible] १९२० [illegible] और १९२४ [illegible] उजबेकों के [illegible]

किस्तान को पूर्ण स्वायत्त गणराज्य की संज्ञा दी गई है, तथापि उसका किसी विदेश से किसी प्रकार का स्वतंत्र संबंध नहीं है। (का० ना० सिं०)

उजलीवरण गुजरात की एक जाति। इस जाति के लोग प्रायः नगरों में रहते हैं और इनमें ब्राह्मण, बनिए, राजपूत, कारीगर, भाट, कुनबी आदि होते हैं। कुनबी अक्सर खेती का धंधा करते हैं। काली व्रजवालों से उजलीवरण पृथक हैं, पर कोलियों के साथ इनके विवाहादि संबंध होते हैं। ये स्मार्त हैं और वर्णव्यवस्था में विश्वास रखते हैं। विधवाविवाह इनके यहाँ अवैध है और ये लगभग सभी हिंदू देवी देवताओं की पूजा करते हैं। (कृ० चं० श०)

उजियारे कवि वृंदावननिवासी नवलशाह के पुत्र। इनके लिखे दो ग्रंथ मिलते हैं: (१) जुगल-रस-प्रकाश तथा (२) रसचंद्रिका। देखा जाए तो उक्त दोनों ग्रंथ एक ही हैं। दोनों में समान लक्षण उदाहरण दिए गए हैं। कवि ने अपने आश्रयदाताओं, हाथरस के दीवान जुगलकिशोर तथा जयपुर के दौलतराम के नाम पर एक ही ग्रंथ के क्रमशः जुगल-रस-प्रकाश तथा रसचंद्रिका नाम रख दिए हैं। उक्त दोनों ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के याज्ञिक संग्रहालय में सुरक्षित हैं। जुगल-रस-प्रकाश की रचनातिथि सं० १८३७ (सन् १७८०) दी हुई है लेकिन रसचंद्रिका की प्रति में तिथिवाला अंश खंडित है। कवि के अनुसार १३ प्रकरणों में समाप्य जुगल-रस-प्रकाश भरत के नाट्यशास्त्र पर आधृत है। रसचंद्रिका प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है और इसके १६ प्रकाशों में अन्य रस संबंधी ग्रंथों की तुलना में विभाव, अनुभाव संचारी भाव और रस पर अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है एवं रस को तो इतनी प्रमुखता दी गई है कि प्रत्येक रस पर अलग अलग प्रकाश में विचार किया गया है। यद्यपि उक्त ग्रंथों में मौलिकता का लगभग अभाव है, तो भी बीच बीच में कुछ मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं, यथा, रस नौ क्यों हैं? अधिक क्यों नहीं हैं? आदि। (कै० चं० श०)

उजियारेलाल उजियारे कवि से भिन्न कवि हैं। खोज रिपोर्ट (संख्या १०, सन् १९१७-१८) से केवल इतना पता चलता है कि उजियारे लाल ने परिपाटीबद्ध पद्धति पर 'गंगालहरी' नामक काव्यग्रंथ का प्रणयन किया है जिसकी हस्तलिखित प्रति मथुरा में रमनलाल हरिचंद जौंहरी के यहाँ देखी गई है। गंगालहरी में कुल १६५ कवित्त और सवैये हैं। काव्य की दृष्टि से रचना में न तो कोई विशेषता है और न ही निखार। लेकिन अलंकारप्रदर्शन और चमत्कार के प्रति कवि का मोह अवश्य दिखाई पड़ता है। (कै० चं० श०)

उज्जयिनी उज्जयिनी (मध्यप्रदेश का आधुनिक उज्जैन) संबंधी प्रथम उल्लेख बौद्धों के पालि साहित्य से प्राप्त होते हैं। बुद्ध और उनसे कुछ पूर्वकाल के भारत के सोलह महाजनपदों में अवंति का विशिष्ट स्थान था और उज्जयिनी उसकी राजधानी थी। ईसा की छठी सदी पूर्व में उत्तर भारत की राजनीतिक अधिसत्ता और साम्राज्यशक्ति पर अधिकार करने की दौड़ में मगध और अवंति परस्पर प्रतियोगी थे। गौतम बुद्ध का समकालीन उज्जयिनीराज चंड प्रद्योत महासेन अपनी सैनिक शक्ति के लिये प्रसिद्ध था और वत्सराज उदयन से होनेवाले उसके संघर्षों के वर्णन से बौद्ध साहित्य भरा पड़ा है। उज्जयिनी के अनेक राजाओं के मगध पर भी आक्रमण करने का उल्लेख मिलता है। परंतु मगध की बढ़ती हुई शक्ति के सामने अंत में अवंतिराज को झुकना पड़ा और शिशुनाग ने उसे आत्मसात् कर मगध में मिला लिया तथापि उज्जयिनी की निजी महत्ता समाप्त नहीं हुई। उसकी स्थिति पश्चिम और दक्षिण भारत से मध्यदेश की ओर आनेवाले मार्गों पर पड़ती थी और यह उसकी व्यापारिक एवं राजनीतिक विशेषता बनाए रखने में सहायक हुआ। मौर्यकाल में उज्जयिनी एक प्रांतीय राजधानी थी और प्रायः वहाँ राजकुमारों को ही प्रांतीय शासक बनाकर भेजा जाता था। अशोक स्वयं राजगद्दी पाने के पूर्व वहाँ का प्रांतीय उत्तरदायित्व सँभाल चुका था। ईसा की पहली सदी पूर्व में उज्जयिनी मालव गणतंत्र की राजधानी थी। पंडितों का विचार है कि वहाँ के गणमुख्य विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० में शकों की विजय कर एक संवत् चलाया, जिसे आजकल विक्रम संवत् माना जाता है। कालांतर में पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लेनेवाले शक क्षत्रपों से मध्यदेशीय राजाओं के जो युद्ध हुए उनमें भी उज्जयिनी और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रों का महत्व बना रहा। चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने तो उसे अपनी दूसरी राजधानी ही बना लिया। गुप्तों की बादवाली कुछ सदियों में उज्जयिनी का राजनीतिक स्थान बहुत महत्वपूर्ण नहीं रहा। परंतु परमार वंश और विशेषतः राजा भोज ने उज्जयिनी और धारा नगरी की कीर्ति को एक बार और पुनरुज्जीवित किया। पुनः वह कला, विद्या और संस्कृति का केंद्र बन गई, परंतु उसका यह गौरव अल्पकालिक था और शीघ्र ही समाप्त हो गया। पठान सल्तनत, मुगलकाल अथवा परवर्ती अंग्रेजी युग में उसका कोई विशेष राजनीतिक महत्व नहीं रहा। (वि० पां०)

उज्वलदत्त द्र० 'उणादि सूत्र'।

उटकमंड दक्षिण भारत के तमिलनाडु राज्य में समुद्रपृष्ठ से ७,२३० फुट की ऊँचाई पर और कालीकट से ५५ मील की दूरी पर स्थित एक स्वास्थ्यवर्धक पर्वतीय नगर तथा तमिलनाडु की ग्रीष्मकालीन राजधानी है। यह नगर चारों ओर से ७,००० फुट तक ऊँची पहाड़ियों से घिरा हुआ है। यहाँ की कृत्रिम झील देखने योग्य है। दक्षिण भारत का मुख्य क्षयनिवारक केंद्र, वनस्पति उद्यान तथा राजकीय सिनकोना केंद्र यहाँ हैं। यह स्थान आखेट, मछली मारने तथा मोटर चलाने की सुविधा के लिये प्रसिद्ध है। आसपास पर्याप्त मात्रा में चाय, कहवा, सिनकोना तथा यूकलिप्टस के बगीचे हैं। यहाँ का लारेंस मेमोरियल स्कूल बहुत प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना सन् १८५८ ई० में की गई थी। (श्या० सुं० श०)

उठान जब कभी किसी सड़क में मोड़ आता है तो उस मोड़पर सड़क के फर्श को मोड़ के बाहरी ओर ऊँचा उठाकर सड़क को ढालू बनाया जाता है। इसी प्रकार रेल के मार्ग में भी मोड़ पर बाहरी पटरी भीतरी से थोड़ी ऊँची रखी जाती है। सड़क की सतह का, या रेल के मार्ग का, मोड़ पर इस प्रकार ढालू बनाया जाना उठान (सुपर एलिवेशन) कहलाता है।

मोड़ पर चलती हुई गाड़ी पर जो बल काम करते हैं वे हैं (१) अपकेंद्र बल (सेंट्रिफ़ुगल फ़ोर्स) जिसका बाहर की ओर क्षैतिज तथा तज्य प्रभाव पड़ता है, (२) गाड़ी का भार, जो ऊर्ध्वाधर नीचे की ओर कार्य करता है और (३) सड़क के फर्श की प्रतिक्रिया जो ऊपर की ओर काम करती है। अपकेंद्र बल का संतुलन सड़क की सतह का घर्षण करता है और यदि इस घर्षण का बल यथेष्ट न हो तो गाड़ी बाहर की ओर फिसल जायगी। उठान इस फिसलने की प्रवृत्ति को रोकने में सहायता करती है।

उठान का प्रयोग रेल के मार्गों पर दीर्घकाल से किया जा रहा है, किंतु जहाँ तक सड़कों का प्रश्न है, पहले गाड़ियों की मंद गति के कारण इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। आजकल मोटर गाड़ियों की तीव्र गति के कारण सड़क की उठान एक आधुनिक विकास है।

आवश्यक उठान उस महत्तम गति पर निर्भर रहती है जिसपर गाड़ियों के चलने की आशा की जाती है, अर्थात् उनके कल्पित वेग पर। उठान निम्नलिखित सूत्र के अनुसार निश्चित की जाती है:

$$\text{उ} = \text{वे}^2/१५\ \text{त्रि}$$

$$\theta = V^2/15\ r.$$

यहाँ उ (θ) = उठान, वे (V) = मील प्रति घंटों में वेग और त्रि (r) = मोड़ की त्रिज्या, फुट में।

सही उठानवाली सड़क पर कल्पित गति से यात्रा करनेवाली गाड़ी सुगमता से तथा सुरक्षित ढंग पर, फिसलने की प्रवृत्ति के बिना, चलेगी। यदि कोई मोटरकार सड़क पर कल्पित गति से तेज चलेगी तो सड़क का घर्षण उसे फिसलने से बचाएगा। यदि कोई रेलगाड़ी कल्पित गति से तेज चलती है तो बगल की दाब को पहियों के बाहर निकले पार्श्व (फ्लैंजेज़) सँभाल लेते हैं।

उठानवाला कोई भी मोड़ केवल उस गति से यात्रा करने के लिये सुखद होता है जिसके लिये सड़क बनाई जाती है। किंतु सड़क पर तो अनेक प्रकार की गाड़ियाँ, तीव्र तथा धीमी दोनों प्रकार की गतियों से चलती है। धीमी चाल से चलनेवाली गाड़ियों को, जैसे बैलगाड़ियों और अन्य जानवरों से खींची जानेवाली सवारियों को, जो कल्पित गति से कहीं कम गति पर चलती हैं, अधिक उठान से असुविधा होती है। इस कारण भारत में इंडियन रोड कांग्रेस के मानकों के अनुसार उठान की सीमा १५ में १ (अर्थात् १५ फुट चौड़ी सड़क में १ फुट) नियत कर दी गई है। दूसरे देशों में यद्यपि १० में १ तक की उठान की अनुमति होती है, तो भी साधारणतः उठान १५ में १ से अधिक नहीं होती।

सं० ग्रं०—एच० क्रिसवेल : हाईवे स्पाइरेल्स, सुपर-एलिवेशन ऐंड वर्टिकल कर्व्स, द्वितीय संस्करण (लंदन, १९४८); एच० सी० आइन्ज : हाईवे कर्व्स (चतुर्थ संस्करण, चैपमैन ऐंड हाल, लंदन); टी० एफ़ हिकरसन : हाईवे कर्व्स ऐंड अर्थवर्क (मैकग्रॉ हिल बुक कंपनी, न्यूयार्क); एल० आइ० ह्यूज : अमेरिकन हाईवे प्रैक्टिस, खंड १ (जान विली ऐंड संस, न्यूयार्क)। (ज० मि० त्रि०)

उडिपि नवीन कर्नाटक राज्य के कन्नड जिले में (पहले मद्रास प्रांत में) उडिपि तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति १३° २१' उ० अ० एवं ७४° ४५' पू० दे०)। यहाँ भारतप्रसिद्ध कृष्णमंदिर है जिसके संस्थापक १३वीं सदी के प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक श्री माधवाचार्य माने जाते हैं। यहाँ आठ प्राचीन मठ हैं। परियाय नामक प्रसिद्ध पर्व पर प्रत्येक दूसरे वर्ष जनवरी में यहाँ बड़ी धूमधाम रहती है। (का० ना० सिं०)

उड़न साँप उड़न साँप मध्य भारत, बिहार, उड़ीसा और बंगाल में अधिक पाए जाते हैं। इनका रंग ऊपर से हल्का पीलापन लिए हुए हरा होता है। नियमित दूरियों पर काले रंग की आड़ी पट्टियाँ रहती हैं जो काले सीमांतोंवाले शल्कों के कारण बनी होती हैं। अधरशल्क हरे होते हैं। सिर काला होता है जिसपर साथ साथ पीले या हल्के हरे रंग की आड़ी पट्टियाँ तथा कुछ धब्बे होते हैं।

यह साँप छिपकलियों, छोटे स्तनियों, पक्षियों, छोटे साँपों, और कीटों को खाता है। यह घरों के आस पास भी कभी कभी दिखाई देता है। यह बहुत तीव्र गति से चलने की क्षमता रखता है जो इसकी विशिष्टता है। यह इस तरह कूदता चलता है मानो उड़ रहा हो। इसीलिये इसे उड़न साँप का भ्रामक नाम दिया गया है। यह अंडप्रजक है। यह कभी कभी पेड़ की शाखाओं से लटका भी देखा गया है। (नि० सि०)

उड़िया भाषा तथा साहित्य ओड़िशा की भाषा और जाति दोनों ही अर्थों में 'उड़िया' का प्रयोग होता है, किंतु वास्तव में ठीक रूप 'ओड़िया' होना चाहिए।

इसकी व्युत्पत्ति का विकासक्रम कुछ विद्वान् इस प्रकार मानते हैं : ओड्रविषय, ओड्रविष, ओडिष, आड़िषा या ओड़िशा। सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में उड्रविभाषा का उल्लेख मिलता है—'शबराभीरचांडाल सचलद्राविडोड्रजाः। हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः।'

भाषातात्विक दृष्टि से उड़िया भाषा में आर्य, द्राविड़ और मुंडारी भाषाओं के संमिश्रित रूपों का पता चलता है, किंतु आज की उड़िया भाषा का मुख्य आधार भारतीय आर्यभाषा है। साथ ही साथ इसमें संथाली, मुंडारी, शबरी, आदि मुंडारी वर्ग की भाषाओं के और ओरांव, कुई (कंधी) तेलुगु आदि द्राविड़ वर्ग की भाषाओं के लक्षण भी पाए जाते हैं।

इसकी लिपि का विकास भी नागरी लिपि के समान ही ब्राह्मी लिपि से हुआ है। अंतर केवल इतना है कि नागरी लिपि की ऊपर की सीधी रेखा उड़िया लिपि में वर्तुल हो जाती है और लिपि के मुख्य अंश की अपेक्षा अधिक जगह घेर लेती है। विद्वानों का कहना है कि उड़िया में पहले तालपत्र पर लौह लेखनी से लिखने की रीति प्रचलित थी और सीधी रेखा खींचने में तालपत्र के कट जाने का डर था। अतः सीधी रेखा के बदले वर्तुल रेखा दी जाने लगी और उड़िया लिपि का क्रमशः आधुनिक रूप आने लगा।

उड़िया साहित्य को काल और प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता है : १. आदियुग (१०५०–१५५०), २. मध्ययुग (१५५०-१८५०), (क) पूर्व मध्ययुग—भक्तियुग या धार्मिक युग या पंचसखा युग, (ख) उत्तर मध्ययुग, रीति युग या उपेंद्रभंज युग, ३. आधुनिक युग या स्वातंत्र्य काल; (१८५० से वर्तमान समय तक)

१. आदियुग—

आदियुग में सारलापूर्व साहित्य भी अंतर्भुक्त है, जिसमें 'बौद्धगान ओ दोहा', गोरखनाथ का 'सप्तांगयोगधारणम्', 'मादलापांजि', 'रुद्रसुधानिधि' तथा 'कलाश चौतिशा' आते हैं। 'बौद्धगान ओ दोहा' भाषादृष्टि, भावधारा तथा ऐतिहासिकता के कारण उड़ीसा से घनिष्ट रूप में संबंधित है। 'सप्तांगयोगधारणम्' के गोरखनाथकृत होने में संदेह है। 'मादलापांजि' जगन्नाथ मंदिर में सुरक्षित है तथा इसमें उड़ीसा के राजवंश और जगन्नाथ मंदिर के नियोगों का इतिहास लिपिबद्ध है। किंवदंती के अनुसार गंगदेश के प्रथम राजा चोड गंगदेव ने १०४२ ई० (कन्या २४ दिन, शुक्ल दशमी दशहरा के दिन) 'मादालापांजि' का लेखन प्रारंभ किया था, किंतु दूसरा मत है कि यह मुगलकाल में १६वीं शताब्दी में रामचंद्रदेव के राजत्वकाल में लिखवाई गई थी। 'रुद्र-सुधा-निधि' का पूर्ण रूप प्राप्त नहीं है और जो प्राप्त है उसका पूरा अंश छपा नहीं है। यह शैव ग्रंथ एक अवधूत स्वामी द्वारा लिखा गया है। इसमें एक योगभ्रष्ट योगी का वृत्तांत है। इसी प्रकार वत्सादास का 'कलाश चौतिशा' भी सारलापूर्व कहलाता है। इसमें शिव जी की वरयात्रा और विवाह का हास्यरस में वर्णन है।

वस्तुतः सारलादास ही उड़िया के प्रथम जातीय कवि और उड़िया साहित्य के आदिकाल के प्रतिनिधि हैं। कटक जिले की झंकड़वासिनी देवी चंडी सारला के वरप्रसाद से कवित्व प्राप्त करने के कारण सिद्धेश्वर पारिडा ने अपने को 'शूद्रमुनि' सारलादास के नाम से प्रचारित किया। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं : १. 'विलंका रामायण', २. महाभारत और ३. चंडीपुराण। कुछ लोग इन्हें कपिलेंद्रदेव (१४३५–१४३७) का तथा कुछ लोग नरसिंहदेव (१३२८–१३५५ ई०) का समकालीन मानते हैं।

इस युग का अर्जुनदास लिखित 'रामविभा' नामक एक काव्यग्रंथ भी मिलता है तथा चैतन्यदासरचित 'विष्णुगर्भ पुराण' और 'निर्गुणमाहात्म्य' अलखपंथी या निर्गुण संप्रदाय के दो ग्रंथ भी पाए जाते हैं।

२. मध्ययुग के दो विभाग हैं—

(क) पूर्वमध्ययुग अथवा भक्तियुग तथा (ख) उत्तरमध्ययुग अथवा रीतियुग।

पूर्वमध्ययुग में पंचसखाओं के साहित्य की प्रधानता है। ये पंचसखा हैं—बलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवंतदास, अनंतदास और अच्युतानंददास। चैतन्यदास के साथ सख्य स्थापित करने के कारण ये पंचसखा कहलाए। वे पंच शाखा भी कहलाते हैं। इनके उपास्य देवता थे पुरी के जगन्नाथ, जिनकी उपासना शून्य और कृष्ण के रूप में ज्ञानमिश्रा योग-योगप्रधान भक्ति तथा कायसाधना द्वारा की गई। पंचसखाओं में से प्रत्येक ने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें से कुछ तो मुद्रित हैं, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

१६वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में दिवाकरदास ने 'जगन्नाथचरितामृत' के नाम से पंचसखाओं के जगन्नाथदास की जीवनी लिखी तथा ईश्वरदास ने चैतन्यभागवत लिखा। सालबेग नामक एक मुसलमान भक्तकवि के भी भक्तिरसात्मक अनेक पद प्राप्त हैं।

इसी युग में शिशुशंकरदास, कपिलेश्वरदास, हरिहरदास, देवदुर्लभदास, तथा प्रतापराय की क्रमशः 'उषाभिलाष', 'कपटकेलि', 'चंद्रावलिविलास', 'रहस्यमंजरी' और 'शशिसेणा' नामक कृतियाँ भी उपलब्ध हैं।

रीतियुग में पौराणिक और काल्पनिक दोनों प्रकार के काव्य हैं। नायिकाओं में सीता और राधा का नखशिख वर्णन किया गया है। इस युग का काव्य, शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दावली और शृंगाररस से पूर्ण है। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-भेद आदि को विशेष महत्व दिया गया। उपेंद्रभंज ने इसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, अतः इस युग का नाम

भंजयुग पड़ गया, किंतु यह काल इसके पहले शुरू हो गया था। उपेंद्रभंज के पूर्व के कवि निम्नांकित हैं :

धनंजयभंज—ये उपेंद्रभंज के पितामह और घुमसर के राजा थे। इनकी कृतियाँ हैं : रघुनाथविलास काव्य, त्रिपुरसुंदरा, मदनमंजरी, अनंगरेखा, इच्छावती, रत्नपरीक्षा, अश्व और गजपरीक्षा आदि। कुछ लक्षणग्रंथ और चौपदीभूषण आदि संगीतग्रंथ भी हैं।

दीनकृष्णदास (१६५१–१७०३)—व्यक्तित्व के साथ साथ इनका काव्य भी उच्च कोटि का था। 'रसकल्लोल', 'नामरत्नगीता', 'रसविनोद', 'नावकेलि', 'अलंकारकेलि', 'आर्तत्राण', 'चौतिशा' आदि इनकी अनेक कृतियाँ प्राप्य हैं।

वृंदावती दासी, भूपति पंडित तथा लोकनाथ विद्यालंकार को क्रमशः 'पूर्णतम चंद्रोदय', 'प्रेमपंचामृत' तथा 'एक चौतिशा' और 'सर्वांगसुदरी', 'पद्मावती परिणय', 'चित्रकला', 'रसकला' और 'वृंदावन-विहार-काव्य', नाम की रीतिकालीन काव्यलक्षणों से युक्त कृतियाँ मिलती हैं।

उपेंद्रभंज (१६८५–१७२५)—ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनके कारण ही गीतियुग को भंजयुग भी कहा जाता है। शब्दवैलक्षण्य, चित्रकाव्य एवं छंद, अलंकार आदि के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी अनेक प्रतिभाप्रगल्भ कृतियों ने उड़िया साहित्य में इनको सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित किया है। 'वैदेहीशविलास', 'कलाकउतुक', 'सुभद्रापरिणय', 'व्रजलीला', 'कुंजलीला' आदि पौराणिक काव्यों के अतिरिक्त लावण्यवती, कोटिब्रह्मांड-सुंदरी, रसिकहारावली आदि अनेक काल्पनिक काव्यग्रंथ भी हैं। इन काव्यों में रीतिकाल के समस्त लक्षणों का संपूर्ण विकास हुआ है। कहीं कहीं सीमा का अतिक्रमण कर देने के कारण अश्लीलता भी आ गई है। इनका 'बंधोदय' चित्रकाव्य का अच्छा उदाहरण है। 'गीताभिधान' नाम से इनका एक कोशग्रंथ भी मिलता है जिसमें कांत, खांत आदि अंत्य अक्षरों का नियम पालित है। 'छंदभूषण' तथा 'षड्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और भी पाई जाती हैं।

भंजकालीन साहित्य के बाद उड़िया साहित्य में चैतन्य प्रभावित गौड़ीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनों का समन्वय देखने में आता है। इस काल के काव्य प्रायः राधाकृष्ण-प्रेम-परक हैं और इनमें कहीं कहीं अश्लीलता भी आ गई है। इनमें प्रधान हैं : सच्चिदानंद कविसूर्य (साधुचरणदास), भक्तचरणदास, अभिमन्युसामंत सिंहार, गोपालकृष्ण पट्टनायक, यदुमणि महापात्र तथा बलदेव कविसूर्य आदि।

इस क्रम में प्रधानतया और दो व्यक्ति पाए जाते हैं : (१) व्रजनाथ बडजेना और (२) भीमभोई। व्रजनाथ बडजेना ने 'गुंडिचाविजे' नामक एक खोरता (हिंदी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं : 'समरतरंग' और 'चतुरविनोद'। भीमभोई जन्मांध थे और जाति के कंध (आदिवासी) थे। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्तुतिचिंतामणि', 'ब्रह्मनिरूपण गीता' और अनेक भजन पाए जाते हैं। उड़िया में वे अत्यंत प्रख्यात हैं।

३. **आधुनिक युग**—यद्यपि ब्रिटिश काल से प्रारंभ होता है, किंतु अंग्रेजी का मोह होने के साथ ही साथ प्राचीन प्रांतीय साहित्य और संस्कृत से साहित्य पूरी तरह अलग नहीं हुआ। फारसी और हिंदी का प्रभाव भी थोड़ा बहुत मिलता है। इस काल के प्रधान कवि राधानाथ राय हैं। ये स्कूल इंस्पेक्टर थे। इनपर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। इनके लिखे 'पार्वती', 'नंदिकेश्वरी', 'ययातिकेशरी' आदि ऐतिहासिक काव्य है। 'महामात्रा' प्रथम अमित्राक्षर छंद में लिखित महाकाव्य है, जिसपर मिल्टन का प्रभाव है। इन्होंने मेघदूत, वेणीसंहार और तुलसी पद्यावली का अनुवाद भी किया था। इनकी अनेक फुटकल रचनाएँ भी हैं। आधुनिक युग को कुछ लोग राधानाथ युग भी कहते हैं।

बंगाल से राजेंद्रलाल मित्र द्वारा चलनेवाले 'उड़िया एक स्वतंत्र भाषा नहीं है' आंदोलन का करारा जवाब देनेवालों में उड़िया के उपन्याससम्राट् फकीरमोहन प्रमुख हैं। उपन्यास में ये बेजोड़ हैं। 'लछमा', 'मामु', 'छमाण आठगुंठ' आदि उनके उपन्यास हैं। 'गल्पस्वल्प' नाम से दो भागों में उनके गल्प भी हैं। उनकी कृति 'प्रायश्चित्त' का हिंदी में अनुवाद भी हुआ है। पद्य में 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला' आदि अनेक ग्रंथ हैं। उन्होंने छांदोग्यउपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि का पद्यानुवाद भी किया है।

इस काल के एक और प्रधान कवि मधुसूदन राय हैं। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं। इनपर रवींद्रनाथ का काफी प्रभाव है।

इस काल में काव्य, उपन्यास और गल्प के समान नाटकों पर भी लोगों की दृष्टि पड़ी। नाटककारों में प्रधान रामशंकर राय हैं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, गीतिनाट्य, प्रहसन और यात्रा आदि भिन्न भिन्न विषयों पर रचनाएँ की हैं। 'कांचिकावेरी', 'वनमाला', 'कंसवध', 'युगधर्म' आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

राधानाथ युग के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं गंगाधर मेहेर, पल्लीकवि नंदकिशोर बल, (प्राबंधिक और संपादक) विश्वनाथ कर, व्यंगकार गोपालचंद्र प्रहराज आदि।

इसके उपरांत गोपबंधुदास ने सत्यवादी युग का प्रवर्तन किया। इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ 'धर्मपद', 'बंदीर आत्मकथा', 'कारा कविता' आदि हैं। नीलकंठ दास तथा गोदावरीश मिश्र आदि इस युग के प्रधान साहित्यिक हैं। पद्मचरण पट्टनायक और कवयित्री कुंतलाकुमारी सावत छायावादी साहित्यकार और लक्ष्मीकांत महापात्र हास्यरसिक हैं।

सत्यवादी युग के बाद रोमांटिक युग आता है। इसके प्रधान कवि मायाधर मानसिंह हैं। उनके 'धूप', 'हेमशस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान ग्रंथ है।

कालिंदीचरण पाणिग्राही, वैकुंठनाथ पट्टनायक, हरिहर महापात्र, शरच्चंद्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय ने 'सबुज कवित्व' से सबुज युग का श्रीगणेश किया है। 'वासंती' उपन्यास इनके संमिलित लेखन का फल है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। सच्चिदानंद राउतराय इस युग के प्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी रचनाओं में 'पल्लीचित्र', 'पांडुलिपि' आदि प्रधान हैं। आधुनिक समय में औपन्यासिक गोपीनाथ महांति, कान्हुचरण महांति, नित्यानंद महापात्र, कवि राधामोहन गडनायक, क्षुद्रगाल्पिक, गोदावरीश महापात्र, महापात्र नीलमणि साहु आदि प्रसिद्ध हैं। (प्र० प्र०)

उड़ीसा उड़ीसा भारत के इक्कीस राज्यों से एक राज्य है और देश के पूर्वी तट पर, अथवा बंगाल की खाड़ी के पश्चिमी तट पर १७° ५०' उ० अं० से २२° ३४' उ० अ० तथा ८१° २७' पू० दे० से २७° २९' पू० दे० के मध्य स्थित है। १,५५,८४२ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र अर्थात् भारत की कुल ४.७% भूमि पर विस्तीर्ण यह राज्य क्षेत्रफल में भारत का नवाँ बृहत्तम राज्य है। किंतु जनसंख्या (१९७१ : २,१९, ४४, ६१५), जो भारत की कुल जनसंख्या का ४.०१ प्रतिशत है, की दृष्टि से इसका स्थान भारतीय राज्यों में ग्यारहवाँ और जनसंख्या के प्रति कि० मी० घनत्व (१९७१ में १४१) की दृष्टि से तेरहवाँ है। कर्क रेखा (२३° ३०' उ० अ०) से पूर्णतया दक्षिण विस्तृत होने के कारण राज्य का संपूर्ण क्षेत्र उष्णकटिबंध में पड़ता है। पहले इसकी राजधानी कटक थी लेकिन अब भुवनेश्वर हो गई है। भुवनेश्वर पूर्णतया नवनिर्मित सुनियोजित नगर है और प्रमुखतया प्रशासनिक कार्यकुशलता की दृष्टि से विकसित किया गया है। राज्य की भाषा उड़िया है।

भौगोलिक दृष्टि से उड़ीसा को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं उत्तरी पठार, पूर्वी घाट, मध्य क्षेत्र तथा तटीय मैदानी प्रदेश। प्रत्येक की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं।

उत्तरी प्रदेश में मयूरभंज, क्योंझर, सुंदरगढ़ तथा ढेनकानाल (केवल उसका पाललाहरा तहसील) जिले पड़ते हैं। यह एक ऊँचा नीचा प्रदेश है, साधारणतः इसकी ढाल उत्तर से दक्षिण की ओर है। यह ऊँची नीची पहाड़ियों से कई छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त है, जहाँ छोटी छोटी सैकड़ों धाराएँ नदियों तक बहती हैं। मैदान से एकाएक खड़ी पहाड़ियों का पाया जाना साधारण बात है। इस प्रदेश की सबसे ऊँची चोटी (मनकादंचा
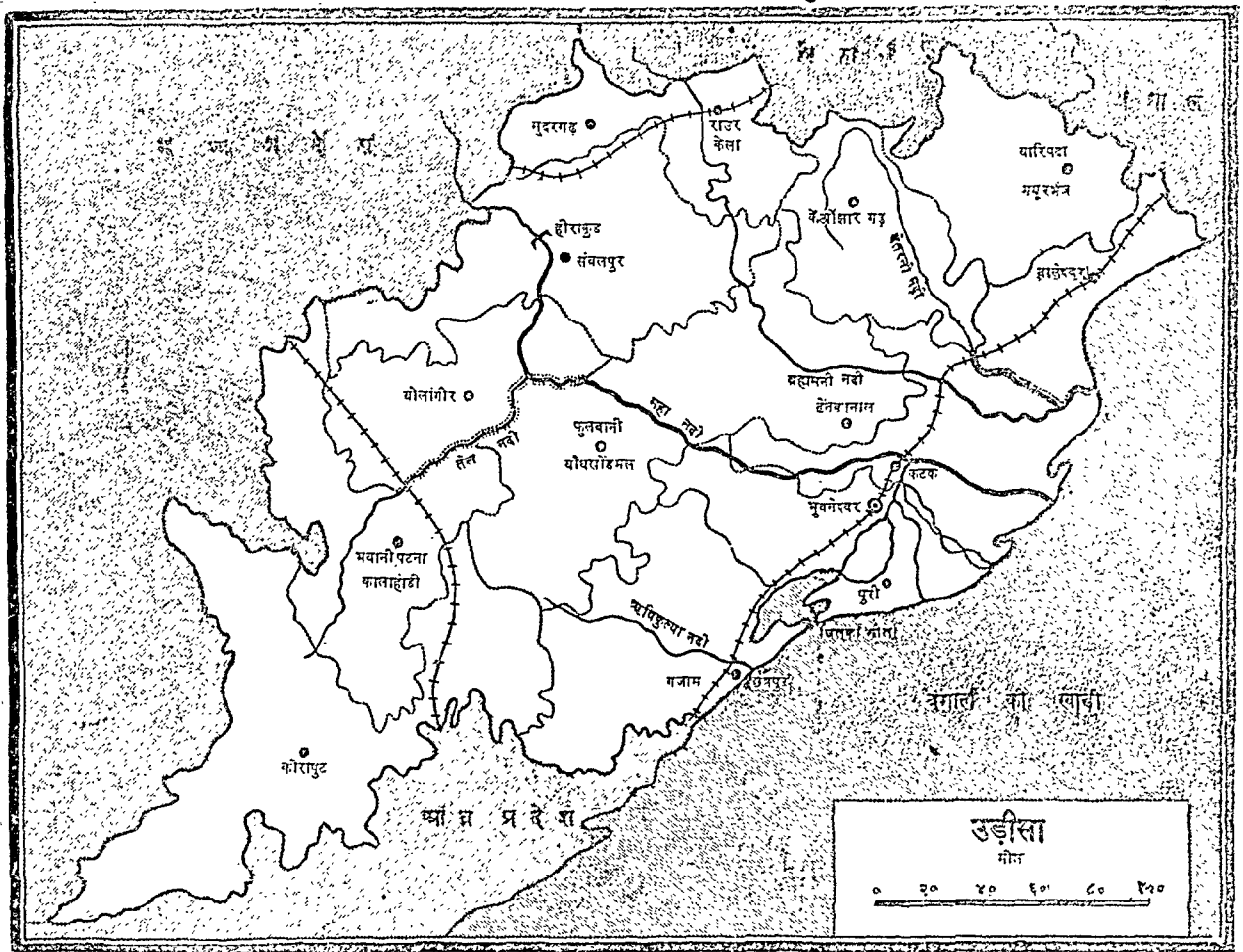
३,६३६ फुट) सुंदरगढ़ जिले के बोनाई तहसील में है। ये पहाड़ियाँ मध्य भारत की पर्वतशृंखलाओं के बढ़े हुए भाग हैं। इनकी ढालू भूमि घने, उष्णकटिबंधीय जंगलों से ढकी हुई है। इन पहाड़ियों की तलहटी में बड़े बड़े मैदान हैं जहाँ धान से लेकर मोटे अन्न तक की कृषि होती है।

पूर्वी घाट भी उच्च पठारी प्रदेश है, जहाँ उड़ीसा की सबसे ऊँची चोटियाँ स्थित हैं। यहाँ पठार पर्याप्त बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है, जो पहाड़ियों तक जंगलों से घिरा हुआ है। देवमाली पहाड़ी, जिसकी दो जुड़वाँ चोटियाँ (५,४८६ फुट) उड़ीसा की सबसे ऊँची चोटियाँ हैं, कोरापुट नगर से स्पष्ट देखी जा सकती है। पूर्वी घाट की ढाल घने जंगलों से आच्छादित है। इस प्रदेश में कोरापुट, कालाहंडी, गंजाम तथा फुलबानी जिले तथा महानदी के दाहिने तट की ओर का क्षेत्र आता है।

मध्यदेश उत्तरी पठार तथा पूर्वी घाट के बीच में पड़ता है जिसमें बोलांगीर, संबलपुर तथा ढेनकानाल जिले पड़ते हैं। इस प्रदेश में भी छोटी छोटी पहाड़ियाँ इधर उधर छिटकी हुई हैं, परंतु राज्य के कुछ सबसे उपजाऊ क्षेत्र भी इसी प्रदेश में पड़ते हैं, जैसे बरगढ़ मैदान। इस प्रदेश में बहनेवाली मुख्य नदियाँ महानदी तथा उसकी सहायक हैं। ग्रामों के आस पास ताड़ के कुंजों का पाया जाना यहाँ की विशेषता है।

तटीय मैदान सामुद्रिक जलवायु का क्षेत्र है, जो पश्चिम बंगाल तथा मद्रास राज्य के बीच स्थित है। इस प्रदेश का अधिकांश भाग उड़ीसा की नदियों द्वारा बिछाई गई दोमट मिट्टी से बना डेल्टा की तरह का मैदान है। यह क्षेत्र राज्य का सबसे उपजाऊ एवं घनी आबादी का क्षेत्र है, जिसमें ग्राम, नारियल तथा ताड़ के घने कुंज और धान के विस्तृत खेत मिलते हैं। इन खेतों में नदियों तथा नहरों द्वारा सिंचाई का पूरा प्रबंध है। तट के समीप की भूपट्टी दलदली है तथा तट के किनारे किनारे बालू के टीले अथवा ढूहे अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। डेल्टा के मध्य का भाग, प्राय: ३,००० वर्ग मील का क्षेत्र, प्रति वर्ष बाढ़ का शिकार होता रहता है।

नदियाँ—राज्य की मुख्य नदियाँ महानदी तथा ब्राह्मणी हैं, जो उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व प्राय: एक दूसरे के समांतर बहती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई छोटी छोटी नदियाँ हैं, जिनमें सालंदी, बूराबलांग तथा स्वर्णरेखा राज्य के उत्तरी भाग में बहती हैं और ऋषिकुल्या, वंशधारा, नागवल्ली, इंद्रावती, कोलाब तथा मचकुंद दक्षिण में गंजाम तथा कोरापुट जिलों में बहती हैं। महानदी सबसे बड़ी नदी है, जिसकी लंबाई ५३३ मील है। इसका आधा भाग मध्य प्रदेश में पड़ता है। इस नदी की द्रोणी का क्षेत्रफल ५१,००० वर्ग मील है तथा वर्षाकाल के मध्य में पानी का बहाव १,६०,००० घन फुट प्रति सेकंड रहता है। कुछ स्थलों पर इस नदी का पाट एक मील से भी बड़ा हो जाता है। यह बंगाल की खाड़ी में कई शाखाएँ बनाती हुई फाल्सपाइंट पर गिरती है। उड़ीसा की तीन प्रमुख नदियों के एक साथ मिल जाने के कारण डेल्टा प्रदेश में शाखाओं तथा धाराओं का एक जाल सा बिछा हुआ है।

भूविज्ञान—वैज्ञानिक दृष्टि से उड़ीसा राज्य के बारे में बहुत कम जानकारी है। प्राक् पुरातन युग में उड़ीसा का वह भाग जहाँ आज पूर्वी घाट प्रदेश है, नीचा तथा समतल मैदान था और वहाँ महानदी तथा ब्राह्मणी नदियाँ पूर्व की ओर बहती थीं। संपूर्ण प्रदेश चौरस अथवा कुछ ऊँचा नीचा था जिसमें यत्रतत्र पहाड़ियाँ खड़ी थीं। दूसरे चरण में गोंडवाना

परतों का जमाव हुआ जो छोटा नागपुर से क्योंझर, फूलवानी से दक्षिण गंजाम तथा कोरापुट से अंत में मद्रास तक, एक पेटी के उठने का कारण बनीं। इस उठे हुए प्रदेश के पूर्व में एक असमतल क्षेत्र है, जिसके बीच बीच में पहाड़ियाँ हैं। यह क्षेत्र तट से कुछ मील हटकर तट के समांतर है। इस क्षेत्र ने भी कई बार थोड़ा थोड़ा उठकर अपनी यह ऊँचाई प्राप्त की है। तटीय प्रदेश का विकास भी केवल नदियों द्वारा डेल्टा बनाने की क्रिया से ही नहीं, बल्कि स्वतः ऊपर उठने के कारण भी हुआ है। चिल्का झील के आस पास कुछ सीप, घोंघे इत्यादि के अवशेष पाए गए हैं, जिससे इसके कभी ऊँचे रहने का प्रमाण मिलता है।

मिट्टी—उड़ीसा की मिट्टी के विभिन्न प्रकारों की पूरी छानबीन नहीं की गई है। उत्तरी पठारी क्षेत्र में लाल मिट्टी पाई जाती है। इस क्षेत्र में कणाश्म (ग्रैनाइट) का बाहुल्य है, जिससे मिट्टी में बालू का अंश अधिक रहता है, तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) केवल इतनी ही है जो जल को कुछ रोक सके। पूर्वी घाट के क्षेत्र की मिट्टी अधिकतर लेटराइट है। लौह-आक्साइड का अधिक प्रति शत होना मिट्टी का मुख्य लक्षण है। लेटराइट मिट्टी का जमाव केवल कुछ इंच नीचे तक ही सीमित है, परंतु कहीं कहीं कई फुट तक भी है, विशेषकर उच्च स्थानों पर। मध्य पठार की मिट्टी कई प्रकार की है, जैसे कुछ तो चट्टानों के समीप ही उन्हीं से निर्मित तथा दूसरी जो पर्याप्त दूरी से हवा एवं पानी द्वारा लाई गई है। काली, रूईवाली मिट्टी गंजाम जिले के उत्तर-पूर्वी भाग में और महानदी के दोनों किनारों पर पाई जाती है। गर्मी में इसमें दरारें पड़ जाती हैं तथा वर्षाकाल में यह चिपचिपी हो जाती है। यह लाल मिट्टी से अधिक उर्वरा है। मध्य क्षेत्र के अन्य भागों में कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। तटीय प्रदेश की मिट्टी दोमट स्वभाव की है।

जलवायु—उड़ीसा में उष्णप्रदेशीय समुद्री जलवायु है। मोटे तौर पर उड़ीसा में तीन ऋतुएँ कही जा सकती हैं, शरद्, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु। शरद् ऋतु नवंबर मास से फरवरी मास तक रहती है, ग्रीष्म ऋतु मार्च से प्रारंभ होती है और वर्षा के प्रारंभ अर्थात् जून मास में शेष होती है। वर्षा ऋतु अक्टूबर मास तक रहती है। वर्षा उत्तरी जिलों में प्रायः ६० इंच होती है, जबकि दक्षिणी जिलों में केवल ५० इंच तक। सन् १९५६ ई० में कुछ स्थानों पर १०० इंच तक वर्षा हुई थी।

(१) **जनसंख्या तथा ग्राम एवं नगर प्रतिरूप**—१९०१–१९७१ की अवधि में उड़ीसा की जनसंख्या दुगुनी से अधिक अर्थात् १,०३,०२,९१७ से बढ़कर २,१९,४४,६१५ हो गई है। १९२१ के बाद वृद्धि तीव्रतर गति से हुई और १९६१–७१ में सर्वाधिक (४४ लाख से अधिक, २५.०५%) बढ़ी। पहाड़ी और पठारी भाग अधिक होने के कारण प्रति वर्ग कि०मी० घनत्व (१९७१ में १४१) भारत के राष्ट्रीय औसत घनत्व (जम्मू कश्मीर छोड़कर) से भी कम है। उड़ीसा की जनसंख्या संरचना में १९६१–१९७१ की दशाब्दी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन स्त्री पुरुषों की संख्या के अनुपात में हुआ है—यहाँ, १९०१ में प्रति हजार पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या १०३७, १९११ में १०५६ और १९२१ में १०८६ हो गई थी, पुनः क्रमशः घटते घटते १९३१ में १०६७, १९४१ में १०५३, १९५१ में १०२२ और १९६१ में १००१ हुई और १९७१ में घटकर केवल ९८८ हो गई, यद्यपि भारत (९३०) की अपेक्षा अभी भी यह अनुपात काफी अधिक है। भारत (२९.४६%) की अपेक्षा यहाँ अभी साक्षरता भी कम (१९७१ में २६.१८%) है। यहाँ के अधिकांश निवासी हिंदू (९६.२५%) हैं और केवल ३,७८,८८८ (१.७३%) ईसाई, ३,२६,५०७ (१.४९%) मुसलमान और लगभग सवा लाख अन्य धर्मावलंबी हैं। यद्यपि अब भी अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण है तथापि १९७१ तक कुल ७८ नगर हो गए थे। ग्रामीण आबादी ४६,४९९ (१९७१) गाँवों में वितरित हैं जिनमें अधिकांश (३६,१५१) गाँवों की आबादी ५०० से भी कम है। कटक (१९७१ में २,०५,७५९ बृहत्तर), राउरकेला (१,७२,५०२), बेरहामपुर (१,१७,६६२), भुवनेश्वर (१,०५,४९१) और संबलपुर (१,०५,०८५) एक लाख से अधिक जनसंख्यावाले नगर हैं। राज्य में कुल ६८,५१,००० लोग कार्यरत हैं। यहाँ प्रधानतः उड़िया भाषा (८४%) है और तेलुगू (२३%), बँगला (१.५%) तथा जनजातीय भाषाएँ भी बोली जाती हैं। यहाँ १५.१% अनुसूचित जातियाँ तथा २३.१% अनुसूचित जनजातियाँ हैं।

जिले	कुल क्षेत्रफल (वर्ग कि०मी० में)	कुल जनसंख्या (१९७१)	जिला केंद्र
१—बालासोर	६,३९४	१८,३०,५०४	बालासोर
२—बौध-खोंडमल	११,०७०	६,२१,६७५	फुलबानी
३—बोलाँगीर	८,९०३	१२,६३,६५७	बोलाँगीर
४—कटक	११,२११	३८,२७,६७८	कटक
५—ढेनकानाल	१०,८२६	१२,९३,९१४	ढेनकानाल
६—गंजाम	१२,५२७	२२,९३,८०८	छत्रपुर
७—कालाहाँडी	११,८३५	११,६३,८९६	भवानीपटना
८—क्योंझर	८,२४०	९,५५,५१४	क्योंझर
९—कोरापुट	२७,०२०	२०,४३,२८१	कोरापुट
१०—मयूरभंज	१०,४१२	१४,३४,२००	बारीपद
११—पुरी	१०,१५९	२३,४०,८५९	पुरी
१२—संबलपुर	१७,५७०	१८,४४,८९८	संबलपुर
१३—सुंदरगढ़	९,६७५	१०,३०,७५८	सुंदरगढ़

सिंचाई एवं ऊर्जा उत्पादन—कृषि एवं औद्योगिक विकास के लिये इधर कई छोटी बड़ी बहूद्देश्यीय योजनाएँ चालू की गई हैं। हीराकुंड, ऋषिकुल्या, सालंदी, डेल्टा सिंचाई योजना एवं अन्य लगभग एक दर्जन मध्यम स्तरीय सिंचाई योजनाओं से पर्याप्त लाभ हुआ है। पिछड़े तथा सूखाग्रस्त क्षेत्रों के लिये इनके अतिरिक्त ८७ बड़ी एवं मध्यस्तरीय योजनाओं की आयोजना है। हीराकुंड योजना भारत की वृहत्तम बहूद्देश्यीय योजनाओं में से एक है। इसके अतिरिक्त ऊर्जा उत्पादन योजनाओं में बालीमेला बाँध (आंध्रप्रदेश के साथ), मचकुंद तथा तालचेर (२५० मेगावाट) की तापीय विद्युत् योजनाएँ प्रमुख हैं। १९७१ में जल तथा तापीय विद्युत्शक्ति की उत्पादन क्षमता ५६० मेगावाट थी जो १९७४ तक ९२० मेगावाट हो जायगी।

कृषि—उड़ीसा में ८०% से अधिक निवासी कृषि पर आश्रित हैं, यद्यपि राज्य की केवल ३९.४% भूमि पर ही कृषि होती है। कुल ६७.४४ लाख हेक्टेयर फसली भूमि में से केवल १३.९० लाख हेक्टेयर भूमि सिंचित है। चावल प्रमुख उपज है और भारत का कुल लगभग दशांश चावल यहाँ पैदा होता है। अन्य प्रमुख फसलों में दालें, तेलहन, जूट, मेस्ता, गन्ना, नारियल और हल्दी आदि हैं। १९७०–७१ में कुल ५१.०४ लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ था जिसमें ८५% चावल (४३.४१लाख टन) था। कृषि में अभी भी खाद्यान्नों के उत्पादन का ही महत्व है और व्यापारिक फसलों का महत्व कम है। यहाँ बंजर भूमि तथा पड़ती क्षेत्रों को अभिसिंचित करके कृषिभूमि में ४०% तक की वृद्धि संभव है।

वनसंपदा—राज्य में ९७ लाख हेक्टेयर अर्थात् कुल ४३% से अधिक भूमि वनाच्छादित है। राज्य को वनों से प्रचुर आय होती है लेकिन अभी भी वनसंरक्षण तथा वनसंपदा के औद्योगिक उपयोग के क्षेत्र में बहुत कम कार्य हुआ है। यहाँ व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण काष्ठों में साखू, सागवान, असन, कुरुम, पिसाल, रोजवुड, गंबर तथा हल्दू मुख्य हैं और राज्य के बाहर इनका निर्यात होता है। अन्य संपदा में बाँस प्रमुख है जिसके आधार पर कागज के तीन बड़े कारखाने रायगादा, चौदवार तथा ब्रजराजनगर केंद्रों में स्थापित हुए हैं और एक अखबारी कागज का कारखाना भी स्थापित करने की योजना है। जलावन की लकड़ी के अतिरिक्त बीड़ी बनाने के लिये केंदू की पत्तियाँ, लाख, तसर, साखू के बीज तथा पागलपन की बीमारी दूर करनेवाली सर्पगंधा जैसी एवं अन्य औषधोपयोगी वस्तुएँ वनों से प्राप्त होती हैं।

खनिज पदार्थ—उड़ीसा भारत के खनिजसंपन्न राज्यों में गिना जाता है। यहाँ २० प्रकार के खनिजों के भंडार है किंतु अभी तक केवल एक दर्जन खनिजों का ही व्यापारिक स्तर पर उत्पादन हो रहा है। खनिजोत्पादन से प्राय: कुल भारतीय आय का केवल ५% उड़ीसा में उत्पन्न खनिजों से प्राप्त होता है। लौह, मैंगनीज, कोयला, चूना-पत्थर और डोलोमाइट, क्रोमाइट, फायर क्ले, चीनी मिट्टी, बाक्साइट, ग्रेफाइट, निकेल, गैलिना आदि प्रमुख खनिज हैं। उड़ीसा का लौहभंडार विस्तृत और उच्च किस्म (६०% से अधिक धातुसंपन्नता) का है। कुल भंडार (उड़ीसा १८२ क० टन) की दृष्टि से क्योंझर (१०० क० टन; संभावित राशि ८१३ क० टन), सुंदरगढ़ (बोनाई, ६६ क० टन), मयूरभंज (६ क० टन), संबलपुर (५.१ क० टन), कटक (३.१५ क० टन) और कोरापुट (१ क० टन) प्रमुख क्षेत्र हैं। राउरकेला तथा जमशेदपुर लौह इस्पात कारखानों को लौह अयस्क की अधिकांश आपूर्ति उड़ीसा की खदानों से ही होती है। उड़ीसा में मैंगनीज का कुल १ करोड़ टन से अधिक भंडार (भारत के कुल का ८%) है। अधिकांश भंडार क्योंझर, सुंदरगढ़, कोरापुट (कुटिंगी), बोलांगीर और कालाहाँडी जिलों में प्राप्य है। यहाँ भारत का पंचमांश मैंगनीज उत्पादित होता है। कोयले का ८१ क० टन भंडार है जिसमें ७१ क० टन हिंगेर-रामपुर कोयला क्षेत्र (संबलपुर) में प्राप्य है किंतु निम्न किस्म का है। शेष तालचेर (ढेनकानाल), अथगढ़ (कटक) और पुरी तथा खोंडमल घाटियों में प्राप्य है। १९७१ में ४० लाख टन उत्पादन का लक्ष्य था। तापीय विद्युत् उत्पादन में भी कोयले का उपयोग हो रहा है। सुंदरगढ़, संबलपुर और दंडकारण्य क्षेत्र में चूना पत्थर, क्योंझर (रायकोला, आनंदपुर), गंगपुर में डोलोमाइट, कटक और ढेनकानाल में क्रोमाइट (राज्य में भारत का कुल ३५% भंडार) पाए जाते हैं। राष्ट्रीय खनिज विकास निगम एवं राजकीय निगम दोनों मिलकर खनिज विकास में रत हैं। बोनाइ खदानों के समीप किरूबुरू लौह योजना द्वारा २० लाख टन वार्षिक लौह अयस्क का निर्यात होगा।

उद्योग धंधे—१९४७ तक यह राज्य खनिजसंपन्न होने पर भी उद्योग धंधों में काफी पिछड़ा था। अब तक उसके बाद ३५ बृहत् औद्योगिक कारखाने स्थापित किए गए हैं जिनमें अधिकांश खनिज पर आधारित हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पश्चिमी जर्मन सरकार की सहायता से स्थापित हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड का सरकारी कारखाना इनमें सबसे बड़ा है। उड़ीसा औद्योगिक विकास निगम द्वारा बारजिल में कच्चा लोहा (पिग आयरन) और जाजपुर रोड में एक फेरोक्रोम का कारखाना स्थापित किया गया है। जोदा तथा जयपुर में एक एक फेरोमैंगनीज, थेरूविल्ली में फेरोसिलिकन, हीराकुंड में ऐल्यूमिनियम स्मेल्टर, बेलपहाड़, राजगंगपुर और लटिकाता में एक एक रिफैक्टरी कारखाना तथा बरगढ़ एवं राजगंगपुर में एक एक सीमेंट कारखाना स्थापित है। इनके अतिरिक्त कागज बनाने के तीन, उर्वरक (राउरकेला), कास्टिक सोडा एवं नमक (गंजाम), औद्योगिक विस्फोटक पदार्थ (राउरकेला), चीनी (रायगादा, अस्का), शीशा (बारंग), ऐल्यूमीनियम केबुल, कंडक्टर तथा छड़ (हीराकुंड), प्रभारी मशीन टूल (कंसबहाल), रेफ्रिजरेटर (चौदवार), वस्त्र उद्योग (चौदवार, झरसूगुदा और बरगढ़) तथा री-रोलिंग कारखाना (हीराकुंड) आदि भी स्थापित हैं। इस प्रकार राउरकेला, हीराकुंड तथा चौदवार (कटक के पास) उड़ीसा के बड़े औद्योगिक केंद्र हो गए हैं। १९७० तक राज्य में कारखानों (१९४८ फैक्टरी ऐक्ट द्वारा परिभाषित) में ७५ हजार (१९६१ में केवल ३८ हजार) लोग कार्य करते थे जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय २,८९९ रु० (१९६१ में केवलल १,१८० रु०) थी।

यातायात—उड़ीसा के यातायात के साधन अभी समुचित रूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। यहाँ दक्षिण पूर्वी रेल मार्गों की १,८३७ किलोमीटर (६३७ कि० मी० की दुहरी लाइनें) लंबाई हैं जिससे कलकत्ता और मद्रास संबद्ध हो गए हैं। स्वतंत्रता के बाद संबलपुर से टिटलागढ़ तक तथा उत्तर में कुछ नवविकसित खनिज एवं औद्योगिक केंद्रों को खड़गपुर-बंबई मुख्य रेलमार्ग से संबद्ध किया गया है। दंडकारण्य रेलमार्ग से दक्षिणी क्षेत्र में तीव्र विकास हो रहा है। पारादीप बंदरगाह को जोड़नेवाली तथा लक्ष्मनाथ से इछापुरम् तक के ४४९ कि० मी० मार्ग को दुहरी करने की चालू योजनाओं से भी प्रचुर लाभ होगा। १९५१ में सभी प्रकार की सड़कों की लंबाई ३,२०० कि० मी० थी जो १९६१ तक ३१,२९६ कि०मी० तथा १९६९-७० तक ६६,६८२ कि०मी० (१२,९९३ कि०मी० पक्की, ५३,६८९ कि०मी० कच्ची) हो गई है। १९७० मार्च तक राज्य में ३२,००० मोटरगाड़ियाँ, स्कूटर, ट्रक, बसें, कारें आदि थीं। राज्य सरकार प्रमुख मार्गों पर अपनी बसें चलाती है। नदियों तथा समुद्रतटीय मार्गों द्वारा भी अब परिवहन में प्रचुर प्रगति हुई है। भुवनेश्वर और राउरकेला कलकत्ते से हवाई मार्गों द्वारा संबद्ध है।

दंडकारण्य योजना—इस राज्य के कुछ भाग दंडकारण्य योजना में भी लिए गए हैं।

भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् उड़ीसा की निम्नलिखित देशी रियासतें उड़ीसा राज्य में मिला दी गईं—पटना, अलीगढ़, अथमालिक, खाइपाड़ा, रेराखोल, रनपुर, बमरा, दसपाला, हिंडोल, नरसिंगपुर, नयागढ़, नीलगिरि, पालाहारा, सोनपुर, तालचेर तथा टिगिरिया।

संक्षिप्त इतिहास—उड़ीसा अथवा उत्कल का वर्णन उत्तरकालीन वैदिक साहित्य से ही चला आता है। अशोक के आक्रमण का जिस वीरता और बलिदान से कलिंगवासियों ने सामना किया था वह उनके शालीन इतिहास का गौरव है। उसी से प्रेरित होकर अशोक ने हिंसा त्याग बौद्धधर्म में दीक्षा ली थी। प्राचीन कलिंगवासी ईसा से पहले जैन राजा खारवेल के समय से ही सामुद्रिक यात्राओं तथा सुदूर देशों में उपनिवेश और विशाल साम्राज्य स्थापित करने में अग्रगण्य रहे हैं। वैभव के उन दिनों में तेजस्वी कलिंग राजाओं का विशाल साम्राज्य दक्षिण में गोदावरी से लेकर उत्तर में गंगा तक फैला हुआ था। परंतु सन् १५६८ से १७५१ ई० तक उड़ीसा मुसलमानों के अधीन मुगल साम्राज्य का एक अंग था। सन् १८०३ ई० में अंग्रेजों द्वारा विजित होने के पूर्व आधी शताब्दी तक यह भूभाग मराठा शक्तियों से प्रभावित होता रहा।

अंग्रेजों द्वारा विजित होने के बाद यह बंगाल प्रांत में मिला लिया गया। परंतु उड़ीसावासी, जिन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा पर गर्व रहा है, सदैव ही राजनीतिक कारणों के लिये उड़ीसा प्रदेश को विभाजित करने का विरोध करते रहे हैं। इसके फलस्वरूप सन् १९३६ ई० के प्रथम अप्रैल को उड़ीसा को एक पृथक् प्रांत का रूप दिया गया।

उड़ीसा अपने छह जिलों (कटक, बालासोर, पुरी, संबलपुर, गंजाम तथा कोरापुट) के साथ सन् १९३६ ई० से पृथक् प्रांत रहा है, परंतु सन् १९४८ ई० में २३ और १९४९ ई० में एक देशी रियासत को इसमें मिलाकर नए उड़ीसा राज्य का संघटन किया गया। छोटी छोटी देशी रियासतों को तो पड़ोस के जिलों में मिला दिया गया और जो बड़ी रियासतें थीं उन्हें नए जिलों का रूप दे दिया गया। इस प्रकार अब उड़ीसा राज्य तेरह जिलों में विभाजित है। (श्या० सुं० श०; का० ना० सिं०)

मंदिर—उड़ीसा के मंदिरों की ख्याति बड़ी है और इस ख्याति का कारण उसकी विशिष्ट तथा विशद निर्माण कला है। ये मंदिर अधिकतर १२वीं–१३वीं सदी के बने हुए है और भारतीय वास्तुकला में अपना विशिष्ट स्थान रखते है। उनकी मूर्तियों का उभार, तक्षण की सजीवता तथा भंग और छंदस् भारतीय कला में अपना सानी नही रखते। उड़ीसा के मंदिरों का एक महान् केंद्र भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर का विख्यात शिवमंदिर नवीं शताब्दी के मध्य में उत्कल के तेजस्वी राजा ललातेंदु केशरी के राज्यकाल में ही निर्मित किया गया तथा पुरी के विख्यात जगन्नाथ मंदिर का निर्माण १२वीं शताब्दी में अनंगभीमदेव द्वितीय ने कराया था। १३वीं शताब्दी के मध्य महाराज नरसिंहदेव द्वारा कोणार्क के विश्वविख्यात सूर्यमंदिर का निर्माण हुआ। उस समय सागर का जल इस विशाल एवं भव्य मंदिर का पादप्रक्षालन करता था, परंतु आज सागर उस स्थान को छोड़कर कुछ पूर्व हट गया है। फिर भी इस मंदिर की शिल्पकला आज भी दर्शकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। वहाँ के मंदिर अधिकतर शिव के हैं। उड़ीसा के मंदिरों के साधारणत: निम्नलिखित भाग होते हैं—विमान, जगमोहन, नाटचमंडप, गर्भगृह तथा भोगमंडप। इनके विमानों की ऊँचाई गगनचुंबी होती है। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर अपने सौंदर्य के लिये स्तुत्य है। इनके अतिरिक्त पुरी का जगन्नाथ मंदिर और कनारक का

कोणार्क-सूर्यमंदिर बड़े प्रसिद्ध हैं। जगन्नाथपुरी का मंदिर तो कला की सूक्ष्म दृष्टि से उड़ीसा शैली का अवसान प्रमाणित करता है परंतु कनारक का मंदिर वास्तु का अपूर्व रत्न है। उसके अश्व, चक्र, ग्रह आदि अद्भुत वेग और सजीवता के परिचायक है। जगन्नाथ और कनारक के मंदिरों के बहिरंग पर सैकड़ों कामचित्र उभारे हुए है। इस दृष्टि से इनको और खजुराहो के मंदिर की कलादृष्टि समान है। संभवतः इस प्रकार के अर्ध-नग्न चित्रों का कारण वज्रयान तथा तंत्रयान का प्रभाव है। वज्रयान का आरंभ उड़ीसा मे ही श्रीपर्वत (महेंद्र पर्वत) पर हुआ था। उड़ीसा के मंदिरों के काल परिमाण के बाद इस प्रकार के नग्न चित्रों की चलन भारतीय वास्तु और मंदिरो मे उठ गई। उड़ीसा के मंदिरों के विमान उत्तर भारत की शिल्पकला मे प्रमाण बन गए और उत्तराखंड में बननेवाले बाद के मंदिरो की नगरशैली उनसे ही प्रसूत हुई।

सं०ग्रं०—आर. डी. बनर्जी : हिस्ट्री ऑव ओरिसा; बी. सी. मजुमदार: ओरिसा इन द मेकिंग। (भ० श० उ०)

उड्डयन, नागरिक सेना द्वारा संचालित उड़ानों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की उड़ानो का नागरिक उड्डयन के ही अंतर्गत माना गया है। इसमे जो कार्य व्यवहार मे आते है वे ये है : यात्रियों का व्यावसायिक यातायात, माल और डाक, व्यापार या शौक के लिये निजी हैसियत से की गई उड़ाने तथा सरकारी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया गया इसका उपयोग।

दो अमरीकी बंधु आर्विल राइट तथा विल्बर राइट आज के प्रचलित नागरिक एवं सैन्य उड्डयन के जनक माने जाते हैं! १९०३ में ही इन बंधुओं ने पहले पहल ऐसी यात्रा की थी जिसमें वायुयान इंजनयुक्त और हवा से भारी था। हवाई उड्डयन मे अन्य कई देशों म भी, विशेषतः फ्रांस में, इस दिशा में प्रयोग किए जा रहे थे। १९१० तक हवाई यातायात को अधिकांश देशों मे व्यावहारिक रीति से अपना लिया गया था। शीघ्र प्रथम विश्वयुद्ध सामने आया। इसने वैज्ञानिक एवं प्राविधिक प्रयोगों को उन्नत होने को पर्याप्त प्रेरणा दी और युद्ध का अंत होते होते यातायात के हवाई साधन भली भांति दृढ़ हो चुके थे।

इसके बाद तीव्र प्रगति हुई। १९१९ के अंत तक लंदन और पेरिस के बीच वायुचर्याएँ चालू हो गई। यूरोप के कुछ अन्य बड़े नगरों के साथ भी इस प्रकार का संपर्क स्थापित हुआ। रूस में लेनिनग्राड और मास्को के बीच नियमित चर्याएँ चालू हुईं। संयुक्त राज्य, अमरीका, को व्यावसायिक प्रगति कुछ मंद थी, तथापि वायुचर्याएँ सिएटल (वाशिंगटन) और विक्टोरिया (ब्रिटिश कोलंबिया) तथा की-वेस्ट (फ्लोरिडा) और हैवैना (क्यूबा) मे संचालित की जाने लगीं।

१९१९ से १९३९ तक की प्रगति द्रुत रही। विभिन्न देशों के बीच वायुमार्गों का जाल धीरे धीरे घना हुआ तथा फ्रेंच, ब्रिटिश एवं डचों ने अफ्रीका एवं सुदूरपूर्व मे स्थित अपने उपनिवेशों तक के लिये लंबे वायुमार्ग स्थापित किए। जर्मनी ने दक्षिणी अमरीका मे हवाई यातायात का संपर्क स्थापित किया तथा ब्रेजील, अर्जेंटाइना तथा कुछ अन्य लातीनी अमरीकी देशों में अपने वायुयानों का घना जाल फैलाया। १९२९ में संयुक्त राज्य, अमरीका, ने मियामी से दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी किनारे, चिली, तक एक वायुमार्ग स्थापित किया। १९३१ में जर्मनी एवं ब्रेजील के बीच जर्मनी को एक ज़ेपलिन चर्या स्थापित हुई (गैस भरे और इंजनयुक्त विशेष रूप के हवाई जहाज को ज़ेपलिन कहते है)। १९३५ में प्रशांत महासागर के आर पार पानी में भी तैर सकनेवाले वायुयान की चर्या तथा १९३६ में अंध महासागर (ऐटलैंटिक) पार जानेवाली जेपलिन की चर्या चालू की गई। १९३९ में उत्तरी एवं दक्षिणी अंध महासागर के आर पार जानेवाली नियमित उड़ानें होने लगीं। व्यापारिक वायुमार्गों ने तब समूचे जगत् को चारों ओर से घेर लिया।

फिर द्वितीय महायुद्ध सामने आया। इसने भी प्राविधिक उन्नति को बढ़ावा दिया और उड्डयन विषयक ज्ञान की बहुत वृद्धि हुई। अखिल विश्व के पैमाने पर सैनिक हवाई यातायात के कार्यों का होना उस समय की एक बहुत बड़ी अनिवार्यता थी। उड्डयन को अब बहुत अधिक बल मिला। १९४५ में युद्ध समाप्त हुआ। उसके बाद के कुछ वर्षों में व्यावसायिक हवाई यातायातों तथा तत्संबंधी उपयोगी वस्तुओं में बहुत बड़े परिवर्तन हुए और दुनिया में वायुमार्गों का विराट् विस्तार देखने में आया। परिवहन का क्षमता बढ़ गई, गति मे तीव्रता आई और यात्राओं का विस्तार लंबा होने लगा। इंजनचालित वायुयानों के बदले टरबाइन चालित, फिर जेट चालित वायुयान बने। अक्टूबर, १९५८ में संयुक्त राज्य, अमरीका, से ब्रिटेन और फ्रांस तक, अंध महासागर को पार करके जानेवाली पहली जेट सर्विस का उद्घाटन हुआ। इस प्रकार व्यावसायिक उड्डयन ने अब जेट युग में प्रवेश कर लिया है।

भारत में नागरिक उड्डयन—भारत में वायुचर्याओं के चलाए जाने की चर्चा भारत सरकार द्वारा बहुत पहले, १९१७ मे ही, प्रारंभ की गई थी। प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होते हो, सितंबर, १९१९ में सरकार ने भारत भर में डाक पहुँचाने का पूरा उत्तरदायित्व एक यातायात कंपनी को सौंप देने का निश्चय किया, परंतु कुछ कार्य न हो सका। एक साल बाद हवाई अड्डे स्थापित करने और बंबई-कलकत्ता तथा कलकत्ता-रंगून की चर्याओं के लिये सुविधाएँ देने की ओर सरकार की प्रवृत्ति हुई। एक भारतीय वायुमंडली (एयर बोर्ड) स्थापित हुई। सब कुछ होने पर भी सरकार ने नीतिनिर्धारण करने के अतिरिक्त और कुछ न किया।

बाद के कुछ वर्षों में ब्रिटेन, फ्रांस और हालैंड ने भारत के बाहर सुदूर-पूर्वी उपनिवेशों में हवाई चर्याएँ स्थापित कीं। इन प्रगतियों ने भारत सरकार को भी सोचने को बाध्य किया और भारत में सहायक चर्याएँ चलाने की आवश्यकता का उसने अनुभव किया। परिणामतः भारतीय व्यापारियों से बातचीत आरंभ की गई। इन वार्ताओं के फलस्वरूप टाटा एयरलाइन और इंडियन नैशनल एयरवेज की चर्याओं का विकास हुआ। इन कंपनियों ने डाक ढोने के लिये एक इंजनवाले हल्के वायुयानों द्वारा कार्यसंचालन आरंभ किया। भारत सरकार द्वारा १९३८ में बनाई गई राजकीय हवाई डाक योजना से इस उद्योग में विस्तार को बढ़ावा मिला। बड़े वायुयानों का उपयोग होने लगा और नई नई चर्याएँ खुली।

तब द्वितीय विश्वयुद्ध आया। इंडियन एयरलाइन का उपयोग सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाने लगा। राजकीय वायुसेना के यातायात समादेश (कमैंड) के वायुमार्गों के अंतर्गत बहुत से मार्गो पर इन सेवाओं का उपयोग उधार मिले (लोन-लेंड) वायुयानों, विशेषतः डकोटा विमानों, द्वारा किया गया। पूर्वोक्त एयरलाइनों को वायुसेना के विमानों का संचालन, उनको ठीक रखने एवं निर्वहन का कार्य सौंपा गया। इससे उन्हें एकदम आधुनिक ढंग के वायुयानों को उपयोग में लाने का सुअवसर प्राप्त हुआ और बहुत से लोगों ने इन कार्यों में प्रशिक्षित होकर निपुणता प्राप्त कर ली।

अगस्त, १९४५ में युद्ध समाप्त होने पर एयरलाइनों पर से सरकारी नियंत्रण हट गया और वे पुनः व्यावसायिक स्तर पर आ गई। युद्धोत्तर वर्षों में भारतीय नागरिक उड्डयन के क्षेत्र में सबसे मुख्य बात दिखाई दी—भारतीय यात्रियों में हवाई यात्रा की चेतना का समुन्नत विकास। हवाई उद्योग में तीव्रता आ गई जिससे देश के प्रमुख उद्योगपति पर्याप्त संख्या में वायु यातायात के उद्योग की ओर अग्रसर हुए। १९४७ को जनवरी तक वायु यातायात की अनुज्ञप्ति-मंडली (लाइसेंसिंग बोर्ड) को विभिन्न उपयोगी वायुमार्गों के लिये १२२ आवेदनपत्र प्राप्त हुए। अंत में बोर्ड ने एयर इंडिया (जिसने टाटा एयरलाइंस का स्थान लिया), इंडियन नैशनल एयरवेज तथा एयर सर्विसेज ऑव इंडिया आदि पुरानी चालू कंपनियों के अतिरिक्त निम्नलिखित ११ नई कंपनियों को अस्थायी अनुमतिपत्र प्रदान किए : डेकन एयरवेज, डालमिया जैन एयरवेज, भारत एयरवेज, एयरवेज़ (इंडिया), ओरिएंट एयरवेज़, मिस्त्री एयरवेज, अंबिका एयर लाइंस और जुपिटर एयरवेज।

इस प्रकार बहुत से संचालकों को अनुमतिपत्र दे देने से, वह भी ऐसी दशा में जब अनेक मार्गो में व्यापार की संभावनाएँ बहुत सीमित थीं, एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिससे अवांछनीय प्रतिद्वंद्विता आरंभ हो गई जो अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा असंगत और अहितकर थी। इसने इस उद्योग के लिये बड़ी गंभीर कठिनाइयाँ उपस्थित कर दीं। कुछ कंपनियों
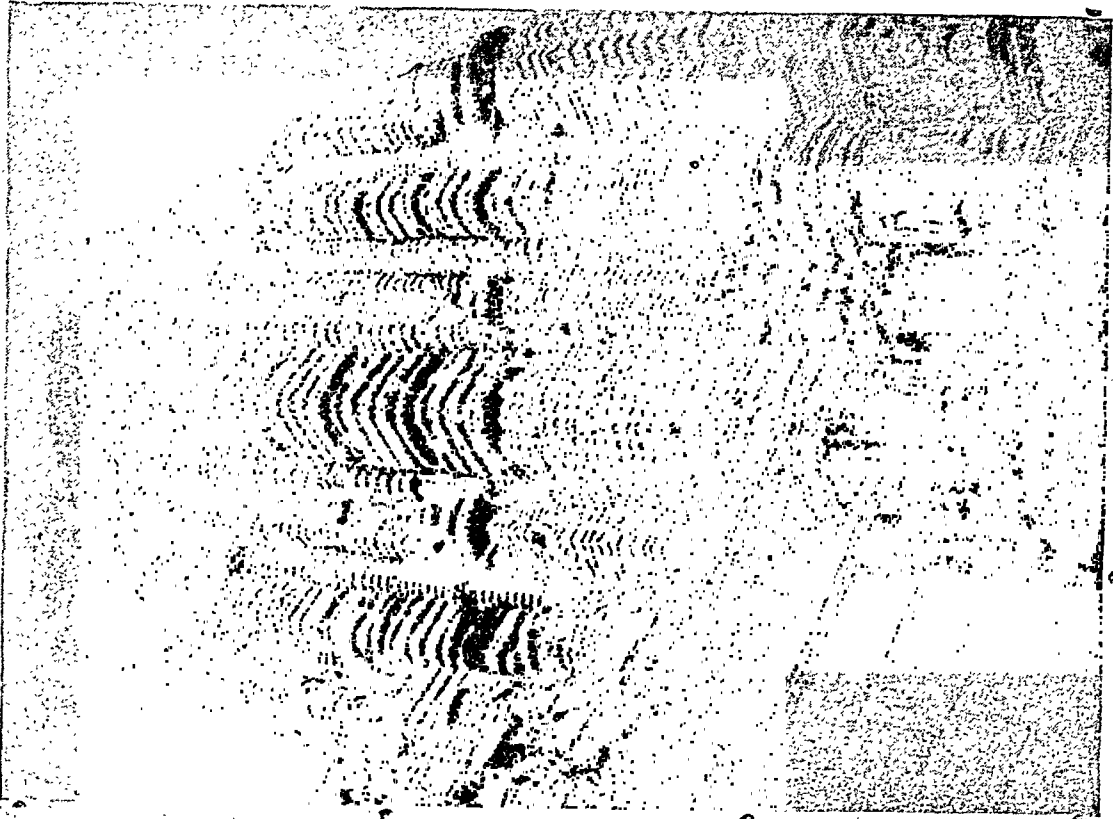
अपने सौंदर्य के लिये स्तुत्य भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)
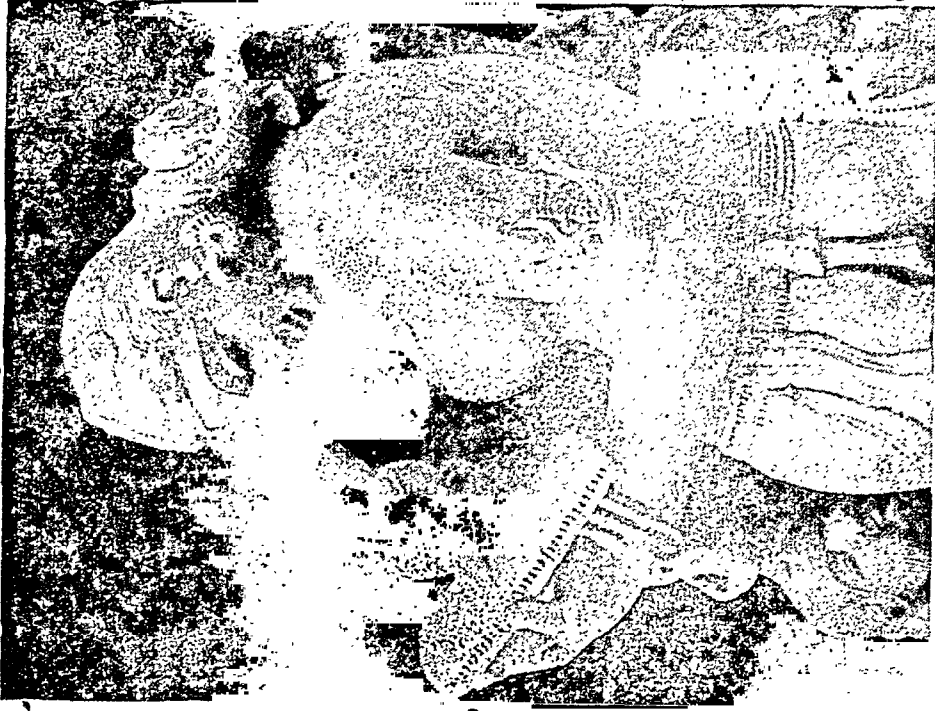
अप्रतिम शिल्प का आदर्श—'पत्रलेखन'
उत्तर मध्यकालीन मूर्तिकला
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

उड़ीसा क ।।८२ द्र०पृ० ५३–५४,

पुरी जिले के कोणार्क के सूर्य मंदिर के एक चक्र का फोटो (१२४०–८० ई०)
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

पुरी, उड़ीसा का जगन्नाथ मंदिर
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार के, सौजन्य से)

(इंडिया एयर लाइन्स के सौजन्य से प्राप्त)

(इंडिया एयर लाइन्स के सौजन्य से प्राप्त)

डी-सी₃ या डैकोटा
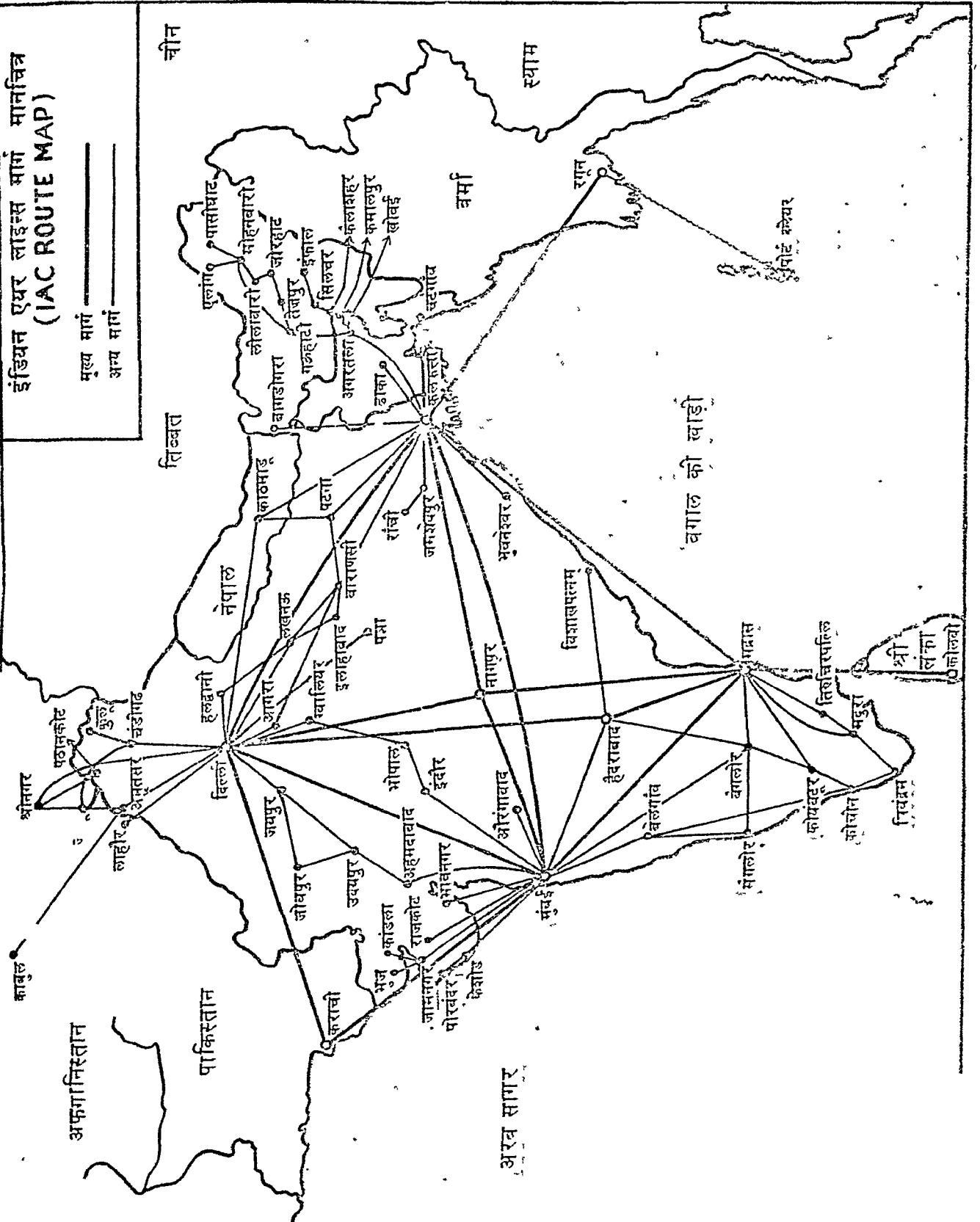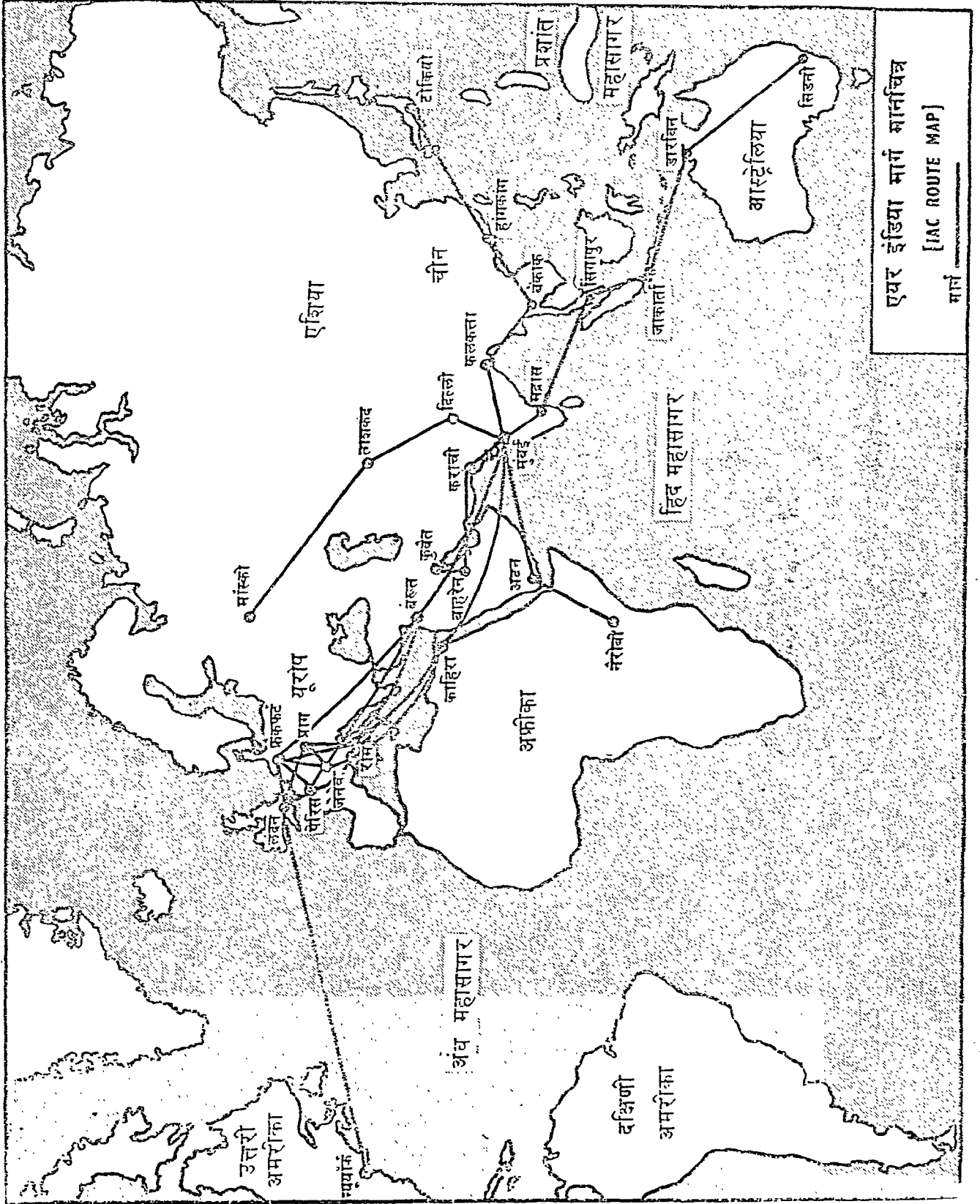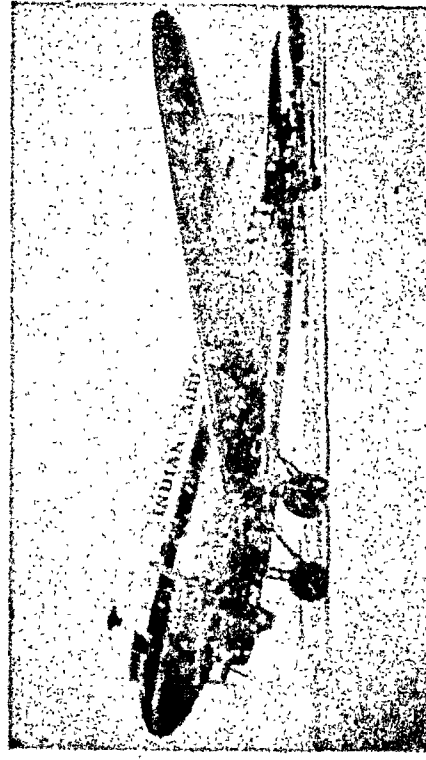
डी सी₄ या स्काइमास्टर

इंडियन एयर लाइंस के वायुयान : डैकोटा प्रदायक (feeder) मार्गों पर चलता है; वाइकाउंट मुख्य मार्गों पर चलता है।

स्काइमास्टर से रात्रि की वायु डाक सेवा का कार्य लिया जाता है; फ्रेंडशिप प्रदायक मार्गों पर डैकोटा विमानों का स्थान अब ले रहा है।

वाइकाउंट
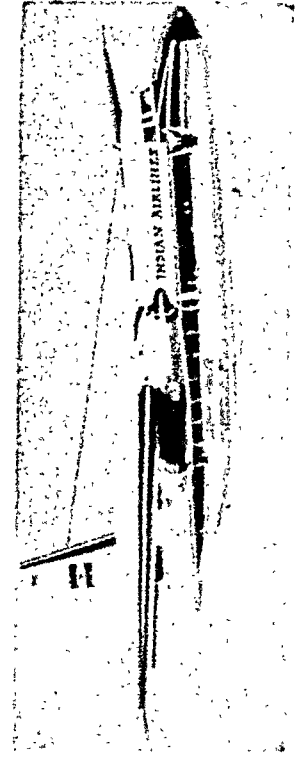
एफ–२७ या फ्रेंडशिप
(इंडियन एयर लाइन्स के सौजन्य से प्राप्त)
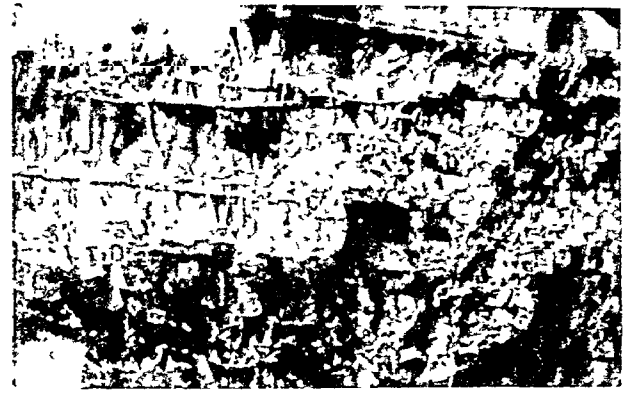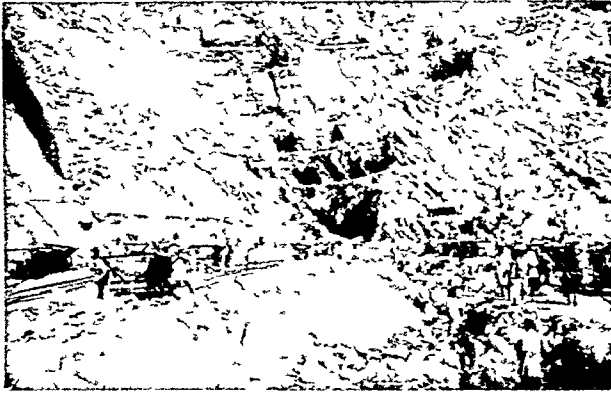
बुलंद दरवाजा, फतेहपुर सिकरी, जिला आगरा, उत्तर प्रदेश

उत्खनन

ऊपर बाईं ओर: मैंगेनीज की खान; ऊपर दाईं ओर: मार्बल राक्स, जबलपुर—चट्टान की दरारें भली प्रकार विकसित है, जिनसे उत्खनन सरल हो जाता है; नीचे बाईं ओर: कोयले का उत्खनन; नीचे दाहिनी ओर: अग्नि मृत्तिका के निक्षेप का उत्खनन। इस चित्र में एक विभंग (fault) भी दिखाई पड रहा है।
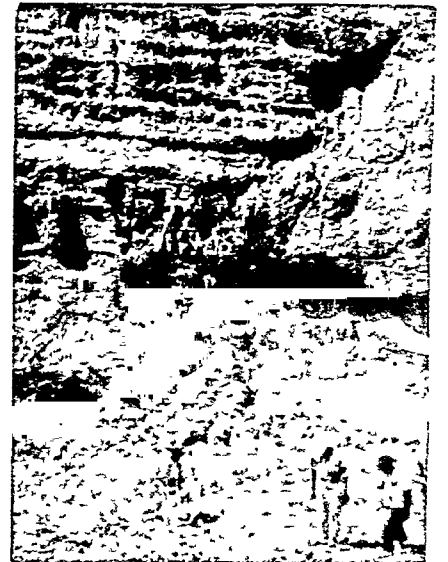
का दिवाला निकल गया। शेष ने सरकार पर इस बात के लिये जोर दिया कि वह उड्डयन को अनुप्राणित रखने के लिये वित्तीय सहायता कुछ छूट के रूप में दे। अब यह स्पष्ट हो गया कि इस उद्योग को ऐसी आर्थिक सहायता की आवश्यकता है जिससे उसका विस्तार होता रहे। यह भी स्पष्ट हो गया कि अब इस उद्योग के पास खुले बाजार में धन उगाहने की क्षमता नहीं रह गई। इन सभी बातों को दृष्टि में रखकर सरकार ने एक समिति नियुक्त की जो इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सभी हवाई कंपनियाँ राज्य द्वारा अधिकृत एक विशाल निगम (कॉरपोरेशन) में अंतर्भुक्त कर ली जायँ। मई, १९५३ में संसद् ने एयर कॉरपोरेशन संबंधी एक अधिनियम पारित किया तथा अगस्त, १९५३ में इंडियन एयरलाइंस कॉरपोरेशन स्थापित हो गया, जिसके अंतर्गत इंडियन एयरलाइंस तथा एयर इंडिया नामक दो हवाई सेवाएँ चालू हुईं। इंडियन एयरलाइंस देश के अंदर तथा समीपस्थ देश बर्मा, नेपाल एवं श्रीलंका के लिये हवाई सेवाएँ उपलब्ध कराती है और एयर इंडिया विश्व के २४ देशों के लिये जेट वायुयानों द्वारा हवाई सेवाएँ सुलभ कराती है।

पहले साल तो कॉरपोरेशन को व्यवस्था एवं संचालन संबंधी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। वायुमार्गों का पहलेवाला ढर्रा अब ठीक नहीं जान पड़ता था, अतः उसके पुनरीक्षण की आवश्यकता हुई।

यांत्रिक पक्ष में भी अनेक उलझनें उत्पन्न हुईं और इस बात की आवश्यकता हुई कि नए सक्षम कारखाने स्थापित किए जायँ। उधर व्यापारिक पक्ष में पर्याप्त संख्या में नए टिकटघर स्थापित करने तथा पुराने भवनों को नया करने की आवश्यकता थी। बुकिंग एजेंटों के पूरे ढाँचे को बहुत कुछ बदलना पड़ा तथा विदेशी कंपनियों और सरकारों से नवीन अंतर्देशीय समझौते करने पड़े।

इन सभी समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना किया गया और प्रगति के पथ पर पहला पग आगे बढ़ा। १९५३-५४ में इंडियन एयरलाइंस कॉरपोरेशन ने तीन लाख यात्रियों और ३८,००० टन माल का परिवहन किया जिससे तीन करोड़ से अधिक की आय हुई। दूसरे वर्ष इसे दृढ़ बनाने के लिये राष्ट्रीयकरण की योजनाएँ जोर पकड़ने लगीं। अलग अलग वायुमार्गों की व्यवस्था के स्थान पर समूचे ढाँचे की संघटित नियंत्रणशैली अपनाई गई। केंद्र में दृढ़ संचालन संस्था की स्थापना हुई। पूरा संचालनक्षेत्र तीन भागों में बाँटा गया और दिल्ली, बंबई तथा कलकत्ता इनके नए केंद्र हुए। कॉरपोरेशन के तृतीय वर्ष में प्रवेश करने के साथ ही संगठन एवं हिसाब किताब के संचालन को कार्यपद्धतियाँ भी एक निश्चित रूप में सुस्थिर की गई। जहाजी बेड़ों में भी आठ हेरोन नामक और तीन स्काईमास्टर नामक वायुयानों को रखकर उन्हें समृद्ध बनाया गया। वाइकाउंट वायुयानों के प्रयोग की योजना ने भी मूर्त रूप धारण किया। स्काईमास्टर की रात्रिचर्या भी स्थापित हुई। इंडियन एयर कॉ० ने आसाम के बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों के लिये सामान पहुँचाने के कार्य में महत्वपूर्ण भाग लिया। १९५६-५७ में व्यापार समृद्धतर हुआ और वायुयानों की संख्या बढ़ाने की आवश्यकता हुई। अतः पाँच वाइकाउंटों के लिये एक साथ आर्डर भेजा गया। लंबे वायुमार्गों में इनका उपयोग करने का निश्चय था। इंजीनियरों एवं संचालन के विविध अंग के लोगों को प्रशिक्षित करने की एक सर्वांगपूर्ण योजना उपस्थित की गई। पर्याप्त चालकों एवं इंजीनियरों को प्रशिक्षण के निमित्त ब्रिटेन भेजे जाने के लिये चुना गया। १० अक्टूबर को दिल्ली-कलकत्ता-मार्ग पर वाइकाउंट की पहली उड़ान हुई। इसके बाद ही सभी लंबे मार्गों पर वाइकाउंट विमान चालू किए गए।

१९५७-५८ में इं० ए० कॉ० ने और भी प्रगति की तथा राष्ट्रहित में अधिक भाग लिया। महामारी एवं दैवी विपत्तियों से ग्रस्त क्षेत्रों के लिये ओषधियाँ आदि ढोने के अतिरिक्त काश्मीर जानेवाले मालों को भी ढोने का काम इसने किया। सबसे बढ़कर इं० ए० कॉ० ने 'नेफा' (उत्तर-पूर्वी सीमाक्षेत्र) प्रदेश में सहायतार्थ सामान गिराने का काम किया। इसी वर्ष दिल्ली में वाइकाउंटों के लिये छाजन (डॉक) बनकर पूरा हो चुका था। संगठन में भी काफी सुधार हुआ।

इंडियन एयरलाइंस कॉरपोरेशन की पाँच वर्षों की क्रमिक प्रगति का विवरण निम्नांकित सारणी से स्पष्ट हो जायगा :

वर्ष	यात्री	कुल व्यय (लाखों में)	कुल आय (लाखों में)
१९५३-५४	३,८७,१२२	५१३.७९	४३४.३१
१९५४-५५	५,७७,५८३	७८२.६२	६६२.४७
१९५५-५६	५,००,३६३	९२८.००	८०८.६०
१९५६-५७	५,७१,१०६	९७०.१४	८६१.३५
१९५७-५८	५,९६,५७३	१०२६.१४	९२६.०७

इंडियन एयरलाइंस की प्रति दिन १०० से ऊपर हवाई सेवाएँ उपलब्ध है। सन् १९७१-७२ में इसके द्वारा २३,५६,३७८ यात्रियों ने यात्राएँ कीं और इसके वायुयानों ने १७.७४ करोड़ कि०मी० की उड़ानें कीं।

एयर इंडिया ने १९७१-७२ के दौरान ४,२४,२६८ यात्रियों को उनके गंतव्य पर पहुँचाया और इसके नौ बोइंग-७०७ तथा दो बोइंग-७४७ (जंबो जेट) वायुयानों ने २९.९४ करोड़ कि०मी० की यात्रा की।

अंतरराष्ट्रीय समझौते—युद्धकालीन हवाई यातायात के विराट् विस्तार एवं विस्तार की तात्कालिक संभावनाओं तथा दूरदर्शिता ने यह आवश्यक बना दिया कि आकाश के उपयोग एवं उड्डयन संबंधी नियमों को सुस्थिर करने के लिये अंतरराष्ट्रीय समझौता किया जाय। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर नवंबर, १९४४ में ५४ देशों के प्रतिनिधि शिकागो (अमरीका) में एकत्रित हुए। इसके परिणामस्वरूप चार समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए जिनका विवरण नीचे दिया जाता है :

१. अंतरराष्ट्रीय नागरिक उड्डयन की शर्तें ४ अप्रैल, १९४७ से लागू हुईं। इनके अंतर्गत निम्नलिखित बातों का समावेश था : (क) उड्डयनकला के विधिवत् संचालन में सुविधा एवं सहयोग प्रदान करना तथा इसके प्राविधिक नियमों एवं कार्यविधि में अधिक से अधिक सामंजस्य स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील होना; (ख) नागरिक उड्डयन के सभी पहलुओं में समता लाने के लिये एक स्थायी संघटन, अंतरराष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (आई० सी० ए० ओ०) की स्थापना करना; (ग) आई० सी० ए० ओ० के अन्तर्गत कुछ समितियाँ स्थापित हुईं जो नागरिक उड्डयन की विविध शाखाओं का काम देखती थीं। ये समितियाँ थीं : एयर नैविगेशन कमीशन, एयर ट्रांसपोर्ट कमिटी और लीगल कमिटी।

आई० सी० ए० ओ० का सचिवालय और स्थायी हेडक्वार्टर मॉण्ट्रियल (कैनाडा) में स्थापित हुआ।

२. अंतरराष्ट्रीय हवाई यातायात समझौते के आधार पर अनुसूचित अंतरराष्ट्रीय वायुसेनाओं के लिये 'पाँच' स्वतंत्रताओं का बहुमुखी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ : (क) देशों से होकर गुजरने की स्वतंत्रता; (ख) आकस्मिक आवश्यकतावश रुक सकने की स्वतंत्रता; (ग) अपने देश से यात्रियों या सामान को किसी सदस्य राष्ट्र में ले जाने की स्वतंत्रता; (घ) किसी सदस्य देश से यात्रियों और सामान को स्वदेश लाने की स्वतंत्रता; (ङ) किसी एक सदस्य देश से अन्य सदस्य देशों को यात्री अथवा माल ले जाने अथवा उतारने की स्वतंत्रता।

वायुयानों के अन्य व्यापारिक उपयोग—बहुत से कार्य ऐसे हैं जो वायुयानों द्वारा अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत शीघ्र एवं कम व्यय में संपन्न हो सकते हैं। कैनाडा में वायुयान का उपयोग बहुत पहले ही हुआ था और वहाँ सर्वेक्षण (सरवे) के कार्य एवं दावाग्नि से सुरक्षा के लिये इसका उपयोग बहुत दिनों से हो रहा है। अमरीका में भी कृषि के संबंध में हानिकारक कीड़ों को मारने के लिये चूर्ण छिड़कने का कार्य वायुयान द्वारा आरंभ से ही हो रहा है। रूस तथा अर्जेंटाइना में वायुयानों का उपयोग टिड्डियों के संहार कार्य में होता रहा है। अन्वेषकों ने कच्ची धातु का पता चुंबकत्वमापी यंत्रों को साथ लेकर वायुयानों से लगाया है। विदेशों में किसान और फार्मवाले वायुयान को खेती का साधारण उपकरण समझते हैं। तेल के रक्षक वायुयान पर चढ़कर पाइप लाइनों की देखरेख किया करते हैं। बिजली की कंपनियाँ भी उच्चशक्तिवाली लाइनों का निरीक्षण इसी प्रकार करती हैं।

अमरीका और रूस में लाखों एकड़ भूमि पर वायुयानों द्वारा रासायनिक चूर्ण छिड़ककर जंगली घास पात से उसकी रक्षा की जाती है। इन देशों में धान बोने और खेतों में रासायनिक खाद डालने का काम भी वायुयानों से लिया जाता है।

भारत में भी वायुयानों का उपयोग बहुत लाभप्रद कार्यों में किया गया है; उदाहरणतः बाढ़पीड़ितों की सहायता, ऐसे दुर्गम क्षेत्रों में, जहाँ वायुमार्ग से ही जाया जा सकता हो, आवश्यक माल पहुँचाना, विपत्तिग्रस्त लोगों का उद्धार आदि कार्य है। अभी हाल में तैल क्षेत्रों का पता लगाने के लिये भी वायुयान का उपयोग किया गया है। आस्ट्रेलिया में इसका उपयोग रोगी तक डाक्टरों को तुरंत पहुँचाने के लिये किया गया है, जो इस बहुमुखी कार्य-वाले यंत्र का एक नवीन पक्ष है।

सं०ग्रं०—एडवर्ड पी० वार्नर : अर्ली हिस्ट्री ऑव एयर ट्रांसपोर्टेशन, (१९३७); एम० आर० देखनी : एयर ट्रांसपोर्ट इन इंडिया (१९५३); आइ० सी० ए० ओ० तथा ब्रिटिश मंत्रालय एवं अमरीकी राजकीय विभाग द्वारा प्रकाशित नागरिक उड्डयन के बुलेटिन। (दे० रा० सें०)

उणादिसूत्र का सीधा अर्थ है : उण से प्रारंभ होनेवाले कृत्प्रत्ययों का ज्ञापन करनेवाले सूत्रों का समूह। 'कृवापाजिमिस्वसादिभ्य उण्' यह उणादि का प्रारंभिक सूत्र है। निरुक्त में यास्क ने 'नाम' को धातुज कहा है और शाकटायन का उल्लेख किया है। शाकटायन का 'नाम धातुज होते हैं' पर विशेष आग्रह था। उनके अनुसार व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी शब्द धातुज हैं और प्रकृति प्रत्ययों के आधार पर उनकी सिद्धि व्युत्पन्न है। अपने इस आग्रह और दृष्टिकोण को सुव्यक्त करने की दृष्टि से उन्होंने 'उणादि सूत्रों' का निर्माण किया और सभी शब्दों को धातुज सिद्ध किया। महाभाष्य और काशिका द्वारा इसका निर्देश प्राप्त होता है 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टे' आदि के द्वारा; और इन उणादिकों की प्रकृति, उनकी स्थिति का संक्षेपतः पूर्ण विवेचन भी हो जाता है।

ऐसे शब्दों को भी धातु प्रत्यय द्वारा सिद्ध करने की प्रक्रिया, जो व्युत्पन्न न हों, पाणिनि के समक्ष भी थी। तभी उन्होंने इस प्रकार के शब्दों के वर्ग किए हैं और उनको मान्यता दी है, जैसे संज्ञाप्रमाण अर्थात् लोकव्यवहार में प्रचलन, यथोपदिष्ट और उणादि आदि। 'उणादयो बहुलम्' सूत्रनिर्देश से यह स्पष्ट है कि इनकी स्थिति ठीक नहीं है—कहीं इनकी प्रवृत्ति है अर्थात् धात्वर्थ के साथ सुयोज्यता है, कहीं अप्रवृत्ति अर्थात् अयोग्यता, कहीं किसी प्रकार युक्त होना और कहीं नहीं, कभी कुछ और कभी कुछ। इस 'बहुलम्' शब्द की विशेषता आचार्यों के शब्दों में इस प्रकार है : 'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्ति, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यमेव। विधेर्विधानम् बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधम् बाहुलकं वदंति।' तथा उणादि का कार्यनिर्देश इस प्रकार किया है—क्वचित् सुयोज्याधात्वर्थी क्वाप्ययोज्या उणादिषु। क्वचित् कथंचित् योज्या स्यु वक्ष्यते तत्र तत्र ते। आदि। साथ ही उणादि के विश्लेषण का नियम बताते हुए कहा है—'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु'। अर्थात् जो संज्ञा सामने आए उसमें पहले कौन सी धातु हो सकती है इसे खोजे, तदनंतर प्रत्यय की खोज करे, फिर जो ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि विकार हुआ है उसके विचार से अनुबंध लगा ले—यह उणादि का शास्त्र है। कालांतर में उणादि नियमों के प्रयोग में सावधानी न रखने के कारण यह केवल वैयाकरणों को तोष देनेवाला ही हो सका जिससे इसकी उपयोगिता अपने समग्र रूप में सुव्यवत न हो सकी।

नारायण भट्ट के अनुसार उणादिसूत्रों की कुल संख्या ७६५ है। यह संख्या श्वेतस्वामी की संख्या से १२ अधिक है। उणादिसूत्रों के अनेक प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं जिनमें उज्वलदत्त (इनका समय १२५० ई० के लगभग माना जाता है), भोज और नारायण भट्ट आदि प्रमुख हैं। (वि० त्रि०)

उतथ्य जन्म आंगिरस कुल में। उनकी भार्या भद्रा बड़ी रूपवती थी जिसे वरुण ने छिपा लिया था। जब नारद की मध्यस्थता से भी वरुण ने भद्रा को लौटाना स्वीकार नहीं किया, तब उतथ्य ने सरस्वती को सूख जाने और ब्रह्मर्षि देश को अपवित्र हो जाने का अभिशाप दे दिया। इसपर वरुण ने भद्रा को लौटा दिया। (चं० म०)

महाभारत (आदिपर्व ९८.५–१६; शांतिपर्व ३२८) में उतथ्य की एक अन्य पत्नी ममता का उल्लेख भी मिलता है। इनके कनिष्ठ भ्राता बृहस्पति ने अपनी भाभी ममता से बलात् संभोग करना चाहा किंतु गर्भस्थ शिशु ने इनके इस कार्य का विरोध किया। इसमें क्रुद्ध हो बृहस्पति ने गर्भस्थ शिशु को अंधा होने का शाप दिया। जन्म लेने पर इस अंधे बालक का नाम दीर्घतमा औतथ्य हुआ। (के० चं० श०)

उत्कीर्णन लकड़ी, हाथीदाँत, पत्थर आदि को गढ़ छीलकर अलंकृत करने या मूर्ति बनाने को उत्कीर्णन या नक्काशी करना (अंग्रेजी में कार्विंग) कहते हैं। पत्थर के उत्कीर्णन का वर्णन अन्यत्र दिया है (द्र० मूर्तिकला और स्थापत्य)। यहाँ काष्ठ उत्कीर्णन पर प्राविधिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। उत्कीर्णन के लिये लकड़ी को सावधानी से सूखने देना चाहिए। एक रीति यह है कि नई लकड़ी को बहते पानी में डाल दिया जाय, जिसमें उसका सब रस बह जाय और तब उसे सूखने के लिये छोड़ दिया जाय। साधारणतः लकड़ी का हवादार जगह में छोड़ देना काफी होता है। शीशम, बांझ (ओक) और देवदार पर उत्कीर्णन अच्छा होता है; अखरोट, चंदन आदि घने रेशेवाली लकड़ियों पर सूक्ष्म उत्कीर्णन किया जा सकता है। मोटा काम प्रायः सभी लकड़ियों पर हो सकता है। उत्कीर्णन के लिये छोटी बड़ी अनेक प्रकार की चपटी और गोल रुखानियों तथा छुरियों का प्रयोग किया जाता है। काम को पकड़ने के लिये बाँक (वाइस) भी हो तो सुविधा होती है। काठ की एक मुगरी (हथौड़ा) भी चाहिए। कोने अँतरे में लकड़ी को चिकना करने के लिये टेढ़ी रेती भी चाहिए। बारीक काम में रुखानी को ठोंका नहीं जाता। केवल एक हाथ की गदोरी से दबाया जाता है और दूसरे हाथ की अँगुलियों से उसके अग्र को नियंत्रित किया जाता है। उत्कीर्णन का काम सरल है। अभ्यास से कोई भी व्यक्ति साधारण उत्कीर्णन सीख सकता है। नौसिखुए के लिये दस बारह औजार पर्याप्त होंगे। उत्कीर्णन के लिये बने यंत्रों को बढ़िया इस्पात का होना चाहिए और उन्हें छुरा तेज करने की सिल्ली पर तेज करके अंतिम धार चमड़े की चमोटी पर रगड़कर चढ़ानी चाहिए। अतीक्ष्ण यंत्रों से काम स्वच्छ नहीं बनता और लकड़ी के फटने या टूटने का डर रहता है। गोल रुखानियों को नतोदर पृष्ठ की ओर से तेज करने के लिये बेलनाकार सिल्लियाँ मिलती हैं या साधारण सिल्लियाँ भी घिसकर वैसी बनाई जा सकती हैं।
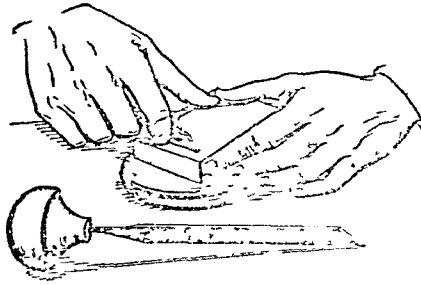
सूक्ष्म उत्कीर्णन का ढंग

यों तो थोड़ा बहुत उत्कीर्णन सभी जगह होता है, परंतु कश्मीर की बनी अखरोट की लकड़ी की उत्कीर्ण वस्तुएँ बड़ी सुंदर होती हैं। चीन और जापान के मंदिरों में काष्ठोत्कीर्णन के आश्चर्यजनक सूक्ष्म और सुंदर उदाहरण मिलते हैं।

सं०ग्रं०—पी० एन० हैसलक : वुड कार्विंग (१९०८); ऐल्फ्रेड मैस्केल : वुड स्कल्पचर (१९११); इलीनर रो : प्रैक्टिकल वुड कार्विंग (१९३०)।

उत्खनन इमारती पत्थरों को खोदकर निकालने की क्रिया को उत्खनन कहते हैं। उस स्थान को जहाँ से पत्थर निकाले जाते हैं पाषाण खान कहते हैं। पाषाण खान (क्वैरी) साधारणतया खुले स्थान में ही बनाई जाती है।

इमारती पत्थरों में ग्रैनाइट, बैसाल्ट, बालू के पत्थर, चूने के पत्थर, स्लेट और संगमरमर मुख्य हैं। ग्रैनाइट शब्द के अंतर्गत साधारणतया हलके रंग की सभी आग्नेय शिलाएँ मानी जाती हैं। इन शिलाओं की रचना क्वार्ट्ज, फेल्स्पार, अभ्रक और हार्नब्लेंड नामक खनिजों से होती है। बैसाल्ट प्रायः काले रंग की शिलाएँ होती हैं। ये ट्रैप भी कहलाती हैं। इनमें फ़ेल्स्पार और पाइरॉक्सीन खनिजों की प्रचुर मात्रा होती है। इन शिलाओं में कई प्रकार के भंग होते हैं, जिनसे इन्हें खोदने में सुविधा होती है। ये सामान्यतः कड़ी होती हैं। ग्रैनाइट शब्द के अंतर्गत ही नाइस नामक कायांतरित शिलाओं को भी गिन लिया जाता है। अभ्रकादि खनिज के समांतर तलों में व्यवस्थित होने से इनमें अनेक दुर्बल धरातल बन जाते हैं, जिनके कारण इन्हें खोदने में सुकरता हो जाती है। भंगों की उपस्थिति में इसे और भी सरलता से खोदा जा सकता है। बालुकाश्म (सैंडस्टोन) एवं चूने का पत्थर (लाइम स्टोन) जलज शिलाएँ हैं। अतः इनमें स्वाभाविक रूप से स्तर होते हैं। स्तरों की उपस्थिति के कारण इनका खोदना और इन्हें सिल्लियों का रूप देना अत्यंत सरल हो जाता है। कायांतरण के प्रभाव से चूने के पत्थर संगमरमर की शिलाओं में परिवर्तित हो जाते हैं, परंतु उनकी स्तररचना नष्ट हो जाती है। संगमरमर की शिलाओं को तोड़ने के लिये भंगों का सहारा लेना पड़ता है। स्लेट भी कायांतरित शिला है। इसमें समांतर तड़कन होती है, अतः इसकी अत्यंत पतली परतें निकाली जा सकती हैं।

किसी भी पत्थर को खोद निकालने के पूर्व उसकी कठोरता, शक्ति, खनिज रचना, रंध्रता और चिकना करने पर प्राप्त चमक और सुंदरता की परीक्षा की जाती है। खोदने के स्थान पर पत्थरों में अत्यधिक भंग, दरार अथवा ऐसे अन्य दुर्बल धरातल नहीं होने चाहिए जिनसे पुष्ट और बड़ी सिल्लियाँ न मिल सकें, परंतु यदि ऐसे धरातल हों ही नहीं तो भी कठिनाई पड़ेगी। तब खोदे हुए पत्थरों को चारों ओर से घिसने का व्यय बढ़ जायगा। पत्थरों में अत्यधिक तथा अनियमित अपक्षय (वायु और जल से कटान) भी नहीं होना चाहिए।

पत्थरों की कठोरता, दुर्बल धरातलों की उपस्थिति, सिल्लियों की माप और खदान की विस्तृति पर खोदने की क्रिया का निर्णय किया जाता है। छोटी पाषाण खान में प्रायः सभी कार्य हाथ से किया जाता है। विस्फोट क्रिया द्वारा चट्टानें तोड़ी जाती हैं। भंगों की अनुपस्थिति में निश्चित दूरी पर खड़े छिद्र बनाए जाते हैं और उनमें विस्फोट किया जाता है। जलज शिलाओं में स्तरों के समांतर क्षैतिज छिद्र बनाकर विस्फोट किया जाता है। साधारणतः खदान सीढ़ीनुमा बनाई जाती है। बहुत बड़ी पाषाण खानों में अधिकाधिक कार्य मशीनों से लिया जाता है।

भारतवर्ष में इमारती पत्थरों के उत्खनन का कार्य बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। दक्षिण भारत के ग्रैनाइट आदि पत्थरों में बने प्रागैतिहासिक काल के मंदिर अभी तक विद्यमान हैं। आंध्र तथा मैसूर राज्यों में इस प्रकार के पत्थरों की खदानें आजकल भी हैं। इनसे पत्थर निकालकर विदेशों को भेजे जाते हैं। महाराष्ट्र और आसपास के क्षेत्रों में बैसाल्ट अथवा ट्रैप नामक लावा की शिलाओं का प्रयोग इमारती पत्थरों के रूप में किया जाता है। अजंता तथा एलोरा की गुफाएँ इन्हीं पत्थरों में खोदी गई हैं। विंध्य श्रेणी के बलुआ पत्थर दीर्घ काल से हमारी मूल्यवान् निधि रहे हैं। गंगा और यमुना के किनारे खड़े विशाल घाट तथा मंदिर ही नहीं वरन् अनेक प्राचीन अशोकस्तंभ भी इन्हीं से निर्मित हुए हैं। इन पत्थरों की मुख्य खदानें कैमूर, चुनार, भरतपुर, फतेहपुर सीकरी आदि स्थानों में स्थित हैं। समस्त उत्तर भारत में अशोककाल से लेकर आज तक इमारती पत्थरों में विंध्य श्रेणी के बलुआ पत्थरों का योगदान सबसे अधिक रहा है। गोंडवाना युग के बलुआ पत्थर बिहार, उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश में तथा महासरट (जरैसिक) युग के पत्थर कच्छ में निकाले जाते हैं। कायांतरित बलुआ पत्थरों की शिलाएँ अलवर तथा अजमेर में खोदी जाती हैं। सौराष्ट्र में कई स्थानों पर पाषाण खानें हैं, इनमें 'पोरबंदर पत्थर' की खान सबसे मुख्य है। बीजापुर, वारंगल, बूँदी, उदयपुर, मध्य प्रदेश, आंध्र तथा तमिलनाडु राज्यों में भी इस प्रकार के पत्थर निकाले जाते हैं। स्लेट की खानें कुमायूँ, गढ़वाल, मंडी, चंबा काँगड़ा आदि पर्वतीय प्रदेशों में बहुलता से मिलती हैं। आंध्र के कुर्नूल जिले में भी स्लेट शिलाएँ अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं। रेवाड़ी तथा गुड़गाँव में भी स्लेट मिलती है। संगमरमर शिलाओं के लिये जोधपुर के निकट मकराना की पाषाण खानें दीर्घकाल से प्रसिद्ध हैं। आगरे का ताजमहल एवं कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल मकराना संगमरमर का ही बना है। राजस्थान में अलवर, जयपुर, नाथद्वारा, राजनगर, गमालो, आदि संगमरमर के अन्य प्रसिद्ध क्षेत्र हैं। दक्षिण भारत में चीतलदुर्ग, मैसूर, सेलम और मदुराई जिले तथा मध्य प्रदेश में जबलपुर, छिंदवाड़ा और महाराष्ट्र में नागपुर तथा सिवनी जिले सुंदर संगमरमर के लिये प्रसिद्ध हैं। असाधारण रंग के संगमरमर पत्थरों के लिये गुजरात में हरिकुवा, रेवाकाँठा और सांडारा तथा आंध्र में कुर्नूल, कृष्णा और गुंटूर जिले प्रसिद्ध हैं।

(वि० का० दा०)

उत्तंक १—मतंग ऋषि का शिष्य। यह अत्यंत ईश्वरभक्त था। मतंग ने इसे आदेश दिया था कि त्रेतायुग में यह तब तक तपस्या करे जब तक इसे राम के दर्शन न हो जाएँ। तदनुसार यह दंडकारण्य में तब तक तप करता रहा जब तक इसे वहाँ भगवान् राम के दर्शन नहीं हो गए।

२—गौतम ऋषि के एक शिष्य का नाम भी उत्तंक अथवा उत्तंग था। इसकी गुरुभक्ति असामान्य थी। गुरुपत्नी अहल्या की गुरुदक्षिणा में इसने अत्यंत भयंकर तथा मनुष्यभक्षक राजा सौदास की पत्नी के कुंडल लाकर दिए थे। इसका विवाह गौतम ऋषि की कन्या के साथ हुआ था। गुरुप्रेम में यह अपना घर द्वार भूलकर बहुत समय तक आश्रम में ही रहता रहा। एक बार जंगल से लकड़ी लाने पर जैसे ही यह उन्हें जमीन पर पटकने लगा, इसके सिर के कुछ बाल टूटकर सामने गिर पड़े। अपने सफेद बाल देखकर इसे अपनी वृद्धावस्था का पता चला और यह रोने लगा। कारण जानकर गुरु ने इसे अपने घर जाने की आज्ञा दी।

३—उत्तंक नाम के एक वेदमुनि के शिष्य का नाम भी पौराणिक साहित्य में मिलता है। यह बहुत जितेंद्रिय, धर्मपरायण तथा गुरुभक्त था। एक बार गुरु प्रवास पर गए थे तो गुरुपत्नी ने इससे कामेच्छा प्रकट की जिसे इसने अस्वीकार कर दिया। गुरु वापस आए और इसकी चारित्रिक दृढ़ता के बारे में उन्हें मालूम हुआ तो उन्होंने इसे मनःकामनापूर्ति का आशीर्वाद दिया। गुरुदक्षिणा में गुरुपत्नी ने इससे पौष्यराज की पत्नी के कुंडलों की कामना की। पौष्यराज से इसने कुंडल ले लिए लेकिन लौटते समय जब एक सरोवर के किनारे यह स्नान तर्पणादि करने लगा तो नागराज तक्षक उन कुंडलों को लेकर पाताल चला गया। बड़ी कठिनाई से इंद्र को प्रसन्न कर उत्तंक ने वज्र प्राप्त किया और उसकी सहायता से पाताल लोक पहुँचकर पुनः कुंडल प्राप्त किए। तक्षक को मरवाने की कामना से ही, बाद में, इसने जनमेजय को प्रेरणा देकर सर्पयज्ञ करवाया था। (कै० चं० श०)

उत्तम राजा उत्तानपाद के सुरुचि से उत्पन्न पुत्र। सुनीतिपुत्र ध्रुव इनके सौतेले भाई थे। एक बार शिकार में भटककर ये राह भूल गए और जंगल में ही बलाढ्य यक्ष के हाथों मारे गए। इनकी माता सुरुचि इन्हें खोजने गई और वहीं उसकी भी मृत्यु हो गई। (कै० चं० श०)

उत्तमौजा उत्तर वैदिक परंपरा में जहाँ सृंजय पांचालों के साथ संबद्ध दिखलाए गए हैं, महाभारत में उत्तमौजा को पांचाल तथा सृंजय दोनों ही कहा गया है। महाभारत के पात्रों में उत्तमौजा एक पराक्रमी राजा था जिसे 'युद्धविशारद' और 'वीर्यवान्' कहा गया है और जिसने पांडवों की ओर से युद्ध किया था। (चं० म०)

उत्तर राजा विराट का पुत्र। पांडव अज्ञातवास में जब विराट के यहाँ रह रहे थे और उनके अज्ञातवास की अवधि लगभग समाप्त हो चुकी थी तब भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि महारथियों के साथ कौरवों ने विराट की गोशाला से अनेक गायों का अपहरण किया। उत्तर उनसे युद्ध करने गया लेकिन कौरवों की विशाल सेना को देखकर घबराने लगा। तब बृहन्नला रूपधारी अर्जुन ने इसे अपना वास्तविक परिचय दिया और साहस बँधाया। इस युद्ध में इसने अर्जुन के सारथी के रूप में काम किया। महाभारत युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ते समय शल्य के हाथों इसकी मृत्यु हुई थी।

(कै० चं० श०)

उत्तरकाशी उत्तर प्रदेश राज्य के अंतर्गत उत्तर में हिमालय की गोद में विस्तीर्ण उत्तराखंड विभाग में सबसे उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में स्थित जिला तथा उस जिले का प्रमुख केंद्र और कस्बा है। उत्तरप्रदेशीय हिमालय क्षेत्र के तिब्बत से लगे रहने के कारण भूराजनीतिक दृष्टि से और समुचित आर्थिक विकास एवं प्रशासनिक सुविधा के लिये इस क्षेत्र को अपेक्षाकृत छोटे जिलों में विभाजित किया गया है। इसी नीति के अंतर्गत टिहरी-गढ़वाल-क्षेत्र में से बना यह एक नवनिर्मित जिला है।

इस जिले की उत्तरी सीमा पर भारत तिब्बत अंतरराष्ट्रीय सीमा, पूर्व में चमोली और टिहरी गढ़वाल, दक्षिण में टिहरी गढ़वाल तथा देहरादून, दक्षिण पश्चिम में हिमाचल प्रदेश के किन्नार और महासू जिले हैं। इसका क्षेत्रफल ८,०१६ वर्ग कि०मी० है और इस प्रकार यह उत्तरप्रदेशीय हिमालयी जिलों में द्वितीय बृहत्तम (प्रथम चमोली ९,१२५ वर्ग कि० मी०) है और पूरे उत्तर प्रदेश में चतुर्थ बृहत्तम किंतु जनसंख्या में सबसे कम (१९७१ में कुल १,४७,८०५) और न्यूनतम घना आबाद (प्रतिवर्ग कि० मी०, १८ व्यक्ति) जिला है। इसका कारण यह है कि इसका अधिकांश भाग वर्ष भर हिमाच्छादित उच्च पर्वतीय घासों तथा अनुर्वर एवं बीहड़ भागों से भरा है और जलवायु तथा प्राकृतिक ससाधन निवास के योग्य नहीं है। गंगोत्तरी एवं यमुनोत्तरी इसी जिले में पड़ते हैं—टोंस, यमुना और भागीरथी प्रमुख नदियाँ हैं। केवल सँकरी नदीघाटियों तथा दक्षिणी भागों में अधिकांश लोग भेड़ आदि पालकर तथा जौ, झंगोरा, कोदो, कुटकी आदि की खेती द्वारा अपना पालन करते हैं। जिले को चार तहसीलों (पुरोला, राजगढ़, डूंडा और भटवारी) में बाँटा गया है। उत्तरकाशी (१९७१ में जनसंख्या ६,०२०) जिले का केंद्र और व्यापारिक कस्बा है तथा एक ओर मोटर योग्य सड़क द्वारा टिहरी से और दूसरी ओर साधारण मार्गों द्वारा गंगोत्तरी, भटवारी, बरकोट आदि से जुटा हुआ है। जिले की कुल जनसंख्या में चौथाई लोग (३४,१८९) अनुसूचित जाति के हैं।

(का० ना० सिं०)

उत्तरपुराण महापुराण का उत्तरार्ध। यह जिनसेन के पट्टशिष्य गुणभद्राचार्य की प्रौढ़ रचना है। इसमें लगभग ९,५०० श्लोक हैं जिनमें २३ तीर्थकरों तथा अन्य शलाकापुरुषों के चरित्र काव्यरीति में वर्णित हैं। स्पष्ट है, यह आदिपुराण की अपेक्षा विस्तार में निःसंदेह बहुत ही न्यून है, परंतु कला की दृष्टि से यह पुराण आदिपुराण का एक उपयुक्त पूरक माना जा सकता है। उत्तरपुराण की समाप्तितिथि का पूरा परिचय नहीं मिलता, परंतु इसकी समाप्ति शक सं० ८२० (८९८ ई०) से पहले अवश्य हो गई होगी, क्योंकि गुणभद्र के शिष्य लोकसेन के कथनानुसार उक्त संवत् में इस ग्रंथ का पूजामहोत्सव निष्पन्न किया गया था। विद्वानों का अनुमान है कि महापुराण का यह पूजामहोत्सव लोकसेन ने अपने गुरु के स्वर्गवासी होने पर किया होगा। गुणभद्र बड़े ही विनीत तथा गुरुभक्त थे। काव्यकला में वे अपने पूज्य गुरुदेव के सुयोग्य शिष्य थे। उत्तरपुराण की कथाओं में जीवधर की कथा बड़ी प्रसिद्ध है जिसका वर्णन अनेक कवियों ने संस्कृत और तमिल में काव्यरूप में किया है। (ब० उ०)

उत्तर प्रदेश गणतंत्र भारत का एक राज्य है, जो २३° ५२' उ० से ३१° १८' उ० अ० और ७७° ३' पू० से ८४° ३९' पू० दे० रेखाओं के मध्य उत्तरी खंड में स्थित है। इसके उत्तर में नेपाल और तिब्बत दक्षिण में मध्य प्रदेश, पूर्व में बिहार और पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम में क्रमश: हिमाचल प्रदेश, पंजाब, दिल्ली और राजस्थान हैं। इसका कुल क्षेत्रफल २,९४,४१३ वर्ग कि० मी० (भारत के राज्यों में मध्य प्रदेश और राजस्थान के बाद तृतीय स्थान) और जनसंख्या ८,८३,४१,१४४ (१९७१) (भारत के राज्यों में प्रथम स्थान) है। वर्तमान उत्तर प्रदेश अपनी पूर्ववत् क्षेत्रीय सीमा के अंतर्गत स्थित आगरा और अवध के संयुक्त प्रांत, रामपुर, टिहरी गढ़वाल और बनारस की देशी रियासतों तथा अन्य राज्यों के छोटे छोटे टुकड़ों का संमिलन होने से बना है। राज्य-पुनर्गठन-अधिनियम के अंतर्गत उत्तर प्रदेश में कोई क्षेत्रीय परिवर्तन नहीं हुआ। इस राज्य का नाम २६ जनवरी, १९५० ई० (गणतंत्र दिवस) से 'संयुक्त प्रांत' से बदलकर 'उत्तर प्रदेश' कर दिया गया। राज्य की राजभाषा हिंदी है।

प्राकृतिक दशा—भौगोलिक दृष्टि से इस प्रदेश को तीन बड़े प्राकृतिक भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. **उत्तर का हिमालय पर्वतीय प्रदेश**—एक दीवार की भाँति उत्तरी सीमा पर पूर्व पश्चिम फैला हुआ है। इसमें निम्नलिखित भाग संमिलित हैं : (क) सबसे उत्तर में बृहत् हिमालय की श्रेणियाँ हैं जिनकी औसत ऊँचाई २०,००० फुट से अधिक है और जिनमें गगनचुंबी शिखर नंदादेवी, धौलागिरि आदि स्थित हैं। (ख) बृहत् हिमालय के दक्षिण में मध्य हिमालय की श्रेणियाँ हैं जो औसत में १२,००० फुट ऊँची हैं। (ग) उनके दक्षिण में बाह्य हिमालय (अथवा सिवालिक) की श्रेणियाँ हैं, जिनकी औसत ऊँचाई ५,००० फुट तक है, इनकी ऊँची श्रेणियों पर नैनीताल, मसूरी, अल्मोड़ा, रानीखेत आदि शैलावास (हिल स्टेशन) हैं। इन बाह्य हिमालय की श्रेणियों के बीच में लंबी 'दून' घाटियाँ स्थित हैं जो अपनी स्वास्थ्यप्रदता और उपजाऊपन के लिये सर्वप्रसिद्ध हैं। इन दून घाटियों को 'उत्तर प्रदेश का उद्यान' भी कहा जाता है। इन घाटियों के दक्षिण में फैली हुई पाद श्रेणियाँ सिवालिक के ही अंग हैं। इनके ठीक नीचे भावर प्रदेश है जो नदियों द्वारा लाए हुए अवसादों के एकत्र होने से बना है। इसमें नदियाँ भूपृष्ठ के नीचे नीचे बहती हैं।

२ **दक्षिण का पठारी प्रदेश**—इसको संरचना, प्राकृतिक दशा, मिट्टी, जलवायु के अनुसार दो भागों में विभाजित किया जाता है—प्रथम, मध्य भारत का पश्चिमवाला पठारी भाग, जो बुंदेलखंड के पठार का एक भाग है और नीस नामक चट्टानों से निर्मित है। झाँसी इस भाग का केंद्र है। द्वितीय, जो पूर्व में विंध्याचल की श्रेणियों से (सोन के उत्तर में) और प्राचीन चट्टानों से (सोन के दक्षिण) बना है और जिसके उत्तर स्थित गंगा के मैदानी भाग में मिर्जापुर बसा है। इसे मिर्जापुर का पठार कह सकते हैं। यह भाग ऊँची नीची, छिन्न भिन्न, एकल पहाड़ियों और अत्यंत छोटी घाटियों से बना है।

३. **गंगा का मैदान**—इस भाग में उत्तर प्रदेश का अधिकांश भाग आता है। यह मैदान गंगा और उसकी सहायक यमुना, रामगंगा, घाघरा आदि नदियों से बना है और समतल, सुप्रवाहित तथा प्रधानतया कृपीय है। इस मैदान को निम्नलिखित उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है : (क) ऊपरी गंगा का मैदान जो इलाहाबाद के समीप तक और ४०" वार्षिक वर्षारेखा के पश्चिम में स्थित कहा जा सकता है। साधारणतया इसका धरातल ४०० फुट (इलाहाबाद) से ७०० फुट (मेरठ)—८०० फुट (सहारनपुर) तक है। इस भाग का अधिकांश सर्वप्रसिद्ध गंगा-यमुना-दोआब में पड़ता है। गंगा की तलहटी में जैसे जैसे हम ऊपर चढ़ते जाते हैं, वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। अत ४०"—३०" वर्षावाले प्रदेश को मध्य का मैदानी भाग और ३०" से कम वर्षावाले पश्चिमी, अपेक्षाकृत शुष्क भाग को पश्चिम का मैदानी भाग कहते हैं। (ख) मध्य गंगा का मैदान : इसका अर्ध भाग इलाहाबाद से पूर्व उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में पड़ता है और शेष अर्ध भाग बिहार में पटना नगर तक पहुँचता है। इस भाग में गंगा की सहायक नदियाँ—घाघरा, गंडक, सोन आदि—बहुत जल लाती हैं। इन नदियों की तलहटियाँ उनके द्वारा एकत्र मिट्टी के कारण अत्यंत छिछली हो गई हैं, अत: वर्षा ऋतु में नदियों का मार्गपरिवर्तन होता रहता है और भीषण बाढ़ आ जाया करती है। अत. मध्य गंगा की तलहटी में अनेक छिछली झीलें, दलदल तथा लवणापात्र हैं। ये या तो नदियों के पुराने छोड़े हुए मार्ग के कारण झील के रूप में हैं अथवा नदियों के बीच दलदल के रूप में। गंगा नदी के दक्षिण की तंग पट्टी की भूमि अधिक सूखी है और यहाँ दलदल बहुत कम है।

तराई—गंगा के मैदान और उत्तर के हिमालय पादपर्वतीय एवं भावर प्रदेश के मध्य एक सँकरी पट्टी है, जिसका धरातल मैदानी भाग से अपेक्षाकृत ऊँचा है, परंतु जल की निकासी बहुत ही कुव्यवस्थित है। जो नदियाँ भावर प्रदेश में धरातल के नीचे चली जाती हैं वे इस भाग में धरातल पर आ जाती हैं। तराई का भाग बहुधा लंबी मोटी घास एवं जंगलों से ढका रहता है। यह भाग आर्द्र, अस्वास्थ्यकर एवं मच्छरों से भरा है, अत. यहाँ आबादी कम है। तराई और मैदान की मिलनरेखा पर नगरों की एक पंक्ति मिलती है, जिसपर सहारनपुर, पीलीभीत, खीरी, बहराइच, गोरखपुर

उत्तर प्रदेश (द्र० पृष्ठ ६८)
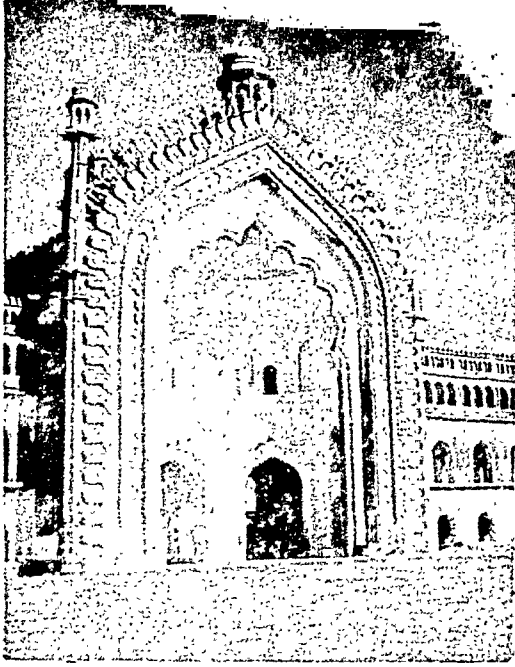
रूमी दरवाजा, लखनऊ
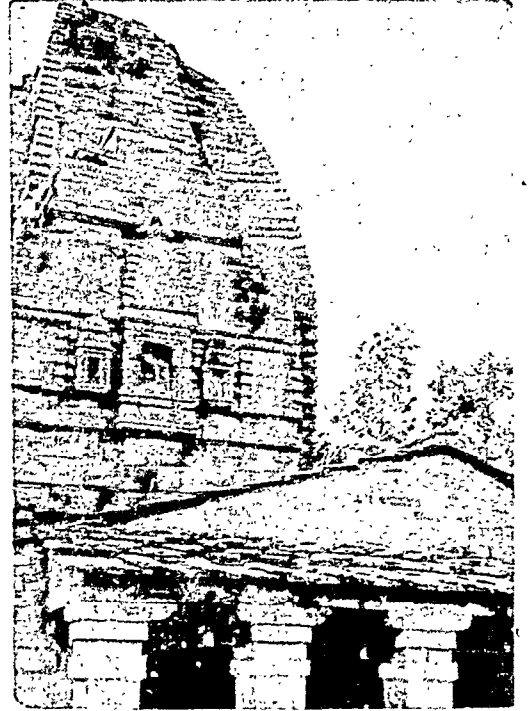
सूर्य मंदिर, जिला अलमोड़ा
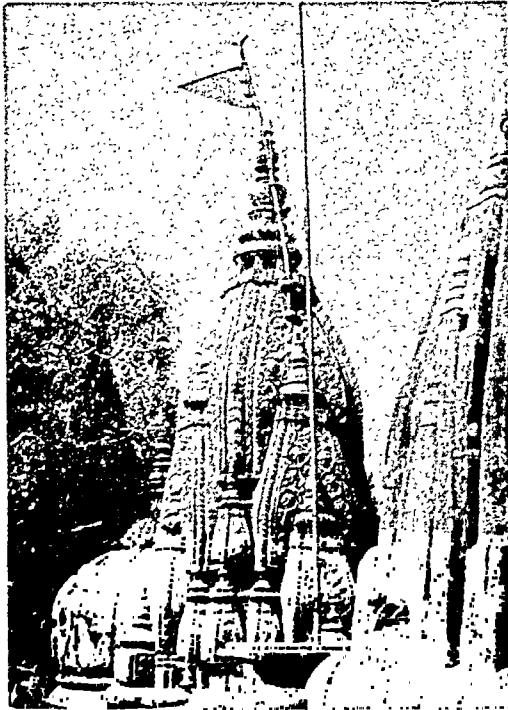
विश्वनाथ मंदिर, वाराणसी

अशोक स्तंभ, किला इलाहाबाद

उदयपुर (द्र० पृष्ठ ६१)
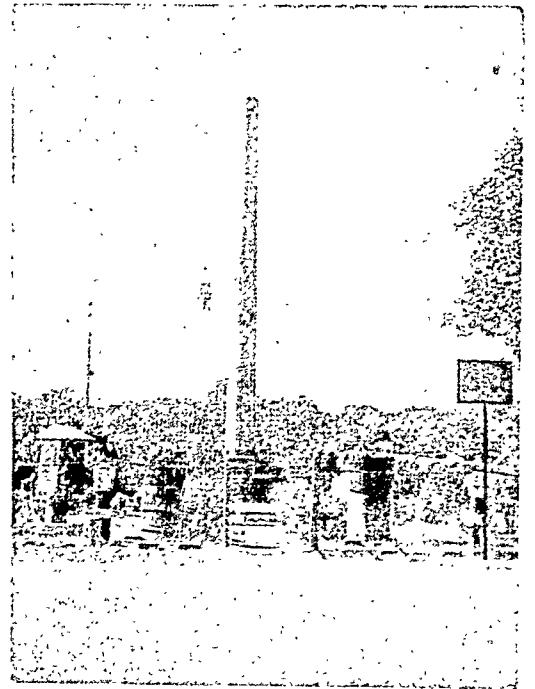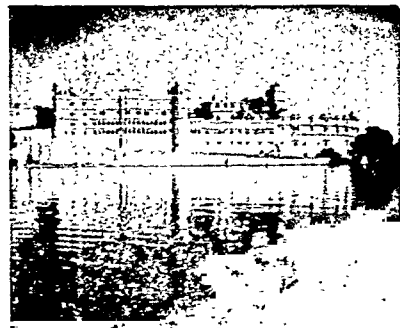
दरवार हाल, पिछोला
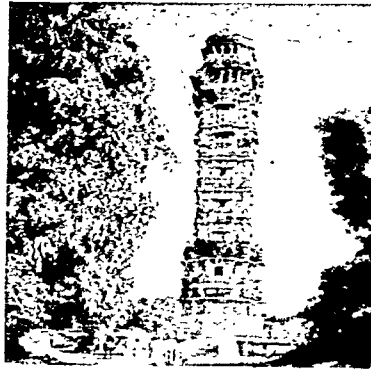
विजय स्तंभ, चित्तौड़

फतेह महल, चित्तौड़
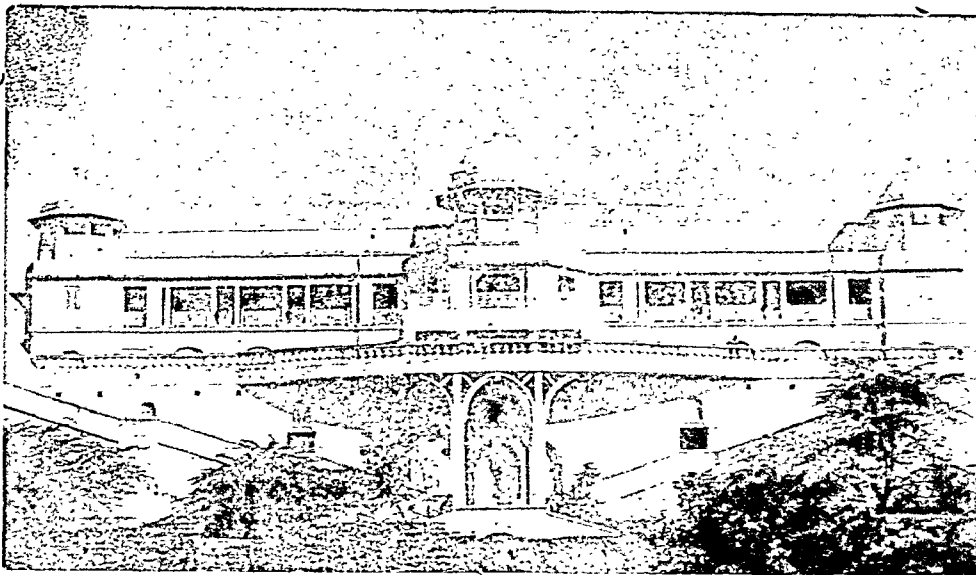
लक्ष्मीविलास महल, उदयपुर

जगनिवास, उदयपुर
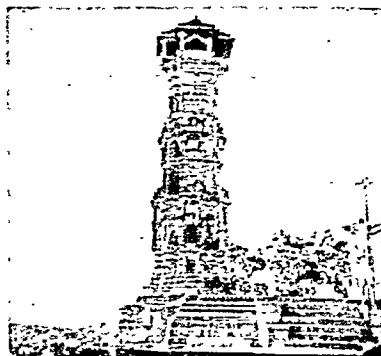
कीर्ति स्तंभ, चित्तौड़
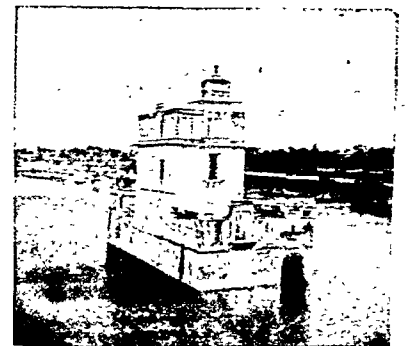
फतेहपुरी महल, चित्तौड़

आदि बस गए हैं। इन्हें आधार मानकर अब सरकार तथा जनता द्वारा तराई में फसल उगाने, लकड़ी काटने आदि के आर्थिक प्रयत्न किए जा रहे हैं।

जलप्रणाली—राज्य की मुख्य नदी गंगा है जिसमें बाईं ओर से रामगंगा, गोमती और घाघरा अथवा सरयू और दाईं ओर से यमुना आ मिलती हैं। गंगा नदी टेहरी गढ़वाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान पर अलकनंदा और भागीरथी के मिलने से बनती है और हरिद्वार के पास मैदान में उतरकर राज्य की दक्षिण पूर्वी दिशा में बहती है। यमुना नदी इसके दाएँ हिमालय से निकलकर इस प्रदेश की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमा के पास से बहती है और इलाहाबाद में गंगा से मिल जाती है। अतः ऊपरी गंगा की तलहटी का एक बड़ा भाग गंगा यमुना के दोआब से बना है। दक्षिण के पठारी भागों से चंबल, सिंध, बेतवा और केन आदि नदियाँ यमुना से मिलती हैं। रामगंगा गढ़वाल से निकलती है और रुहेलखंड में बहकर कन्नौज के पास गंगा से मिल जाती है। गंगा के उत्तरी हिस्से को घाघरा दो भागों में बाँटती है और यह अपनी सहायक नदियों—शारदा, राप्ती—के साथ बहुत जल लाती है। घाघरा इस राज्य के बाहर पटना के समीप गंगा से मिल जाती है। सरयू पार क्षेत्र को राप्ती दो भागों में विभाजित करती है। गोमती नदी अपनी सहायक सई नदी के साथ घाघरा गंगा के दोआब में बहती है और गाजीपुर जिले में सैदपुर के पास गंगा से मिल जाती है। पूर्वोक्त नदियाँ पूर्वी जिलों में बहुत छिछली हो गई हैं और बहुधा मार्गपरिवर्तन करती रहती हैं। इनमें बरसात में भीषण बाढ़ आती रहती है। यमुना और उसकी दक्षिणी सहायक नदियों, विशेषतया चंबल, ने बहुत सी भूमि को काट छाँटकर ऊबड़ खाबड़ बना दिया है और मिट्टी का कटाव बहुत अधिक हुआ है।

भूविज्ञान—उत्तर का पर्वतीय प्रदेश भूवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा जटिल है और इसमें पृथ्वी के इतिहास के कैंब्रियन युग से प्रातिनूतन युग तक के सब युगों के नमूने विद्यमान हैं। इन पर्वतों का आंतरक (हीर) ठोस, मणिभ

और रूपांतरित चट्टानों का बना हुआ है, जिनमें प्राचीन अजीवाश्मप्रद (अनफ़ॉसिलोफ़ेरस) अवसाद शिलाएँ भी संमिलित हैं। बाह्य हिमालय तृतीय युगीन अवसादीय नदीनिक्षेपों (डिपाजिट्स) से बने हैं। हिमालय की पादश्रेणियों में बालू और बजरी अधिक मिलती हैं। ये नदियों के अवसादीय निक्षेपों के कालांतर में उठ जाने के कारण पर्वत हो गए हैं। ये हिमालय प्रदेशीय पर्वत नए भंजमय (फ़ाल्डेड) पर्वत हैं। हिमालय को उठानेवाली शक्तियाँ अब भी गतिशील हैं, इसलिये पृथ्वी के इन दुर्बल भागों में पड़े स्थानों में भूकंप की आशंका बराबर बनी रहती है। मिर्जापुर का पठारी प्रदेश अपेक्षाकृत अति प्राचीन है और नदियों द्वारा कट छँट गया है। सोन के उत्तरवाला भाग विंध्य समतल अवसाद शैलों से बना है, जिसमें बलुआ पत्थर, जंबशिला (शेल) और चूने के पत्थर मुख्य हैं। सोन के उस पार का प्रदेश पूर्वी सतपुड़ा की श्रेणियों से युक्त है जिनमें आग्नेय एवं परिवर्तित शिलाएँ विद्यमान हैं। बुंदेलखंड क्षेत्र में चट्टानें प्राचीन मणिभ ग्रैनाइट और नीस की बनी हुई हैं। गंगा का मैदानी भाग तथा दून घाटी मुख्यत: जलोढ़ (एलूवियम) से बनी हुई हैं। गंगा के मैदान में लगभग ३,००० फुट तक जलोढ़ जमी हुई है, जिससे नीचे की भूरचना छिप गई है। पुराना जलोढ़वाला भाग, जो बाढ़ से रक्षित रहता है, बाँगर कहलाता है। नई जलोढ़वाला बाढ़पीड़ित क्षेत्र खादर कहलाता है।

खनिज पदार्थ--अधिकांश भाग जलोढ़ निर्मित होने के कारण खनिजों की दृष्टि से उत्तर प्रदेश विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। शेष भागों में भी अभी तक राज्य के खनिज साधनों का पूर्ण रूप से अनुसंधान नहीं हो सका है। हिमालय प्रदेश में कुछ पुराने लौहखनन के स्थानों के अवशेष मिलते हैं। नई खोजों से गढ़वाल जिले में जिप्सम, अल्मोड़ा एवं कुमायूँ पर्वतों में मैग्नेसाइट और गढ़वाल तथा अल्मोड़ा में ताँबे के निक्षेपों का पता चला है। हिमालय में अनुमानतः खनिज तैल का अमित भांडार है जिसकी खोज फलदायक सिद्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त हिमालय के विभिन्न भागों में चूना पत्थर और स्लेट अधिक मात्रा में प्राप्य हैं। दक्षिणी पठारी प्रदेश में कुछ लोहा और कोयला (मिर्जापुर जिला के सिंगरौली क्षेत्र में) मिलता है, परंतु अभी तक केवल सिंगरौली कोयले का उत्पादन संभव हुआ है जिसके निम्न कोटि के होने पर भी उसके आधार पर ओबरा में तापीय विद्युत्केंद्र स्थापित किया गया है। यहाँ भी पुराने लौहखनन के अवशेष मिलते हैं। यहाँ चूने का पत्थर बहुत मात्रा में है, जिसके कारण चुर्क और डाला में सीमेंट का एक एक कारखाना चल रहा है। इन स्थानों से चूना भी खूब मिलता है। विंध्य श्रेणियों का बलुआ पत्थर इमारतों के निर्माण के लिये बहुत उपयुक्त है और इसका उपयोग राज्य में खूब होता है। इसकी कई खदानें केवल मिर्जापुर जिले में ही चलती हैं। मैदानी भाग में आर्थिक महत्व का कंकड़ मिलता है, जो सड़क बनाने के उपयोग में आता है। इससे चूना भी बनता है। इसके तथा बालू और मिट्टी के अतिरिक्त मैदानी भाग में आर्थिक महत्व की अन्य सामग्री शोरा है, जो कहीं कहीं मिट्टी के पृष्ठ पर प्रस्फुटन (एफ़्लोरेसेंस) के रूप में मिलता है। दक्षिण के कुछ चूना पत्थर विभिन्न रंगों के होते हैं और उनसे सजावट का काम लिया जाता है। झाँसी जिले की चरखारी तहसील (पहले का चरखारी देशी राज्य) में पहले कुछ हीरे भी निकाले गए थे। पूरे उत्तर प्रदेश में भारत का एक प्रतिशत मात्र ही खनिजों के प्राप्त अवसाद हैं। १९६७ में प्रति व्यक्ति खनिजोत्पादन का मूल्य यहाँ मात्र ५ पैसे था जबकि भारतीय औसत ४ रु० ७० पैसे था। यहाँ १९६७ में ६७ हं० टन डोलोमाइट, ६६६ हं० टन चूना पत्थर तथा थोड़ा जिप्सम और बाक्साइट का उत्पादन हुआ था।

जलवायु--साधारणतया उत्तर प्रदेश की जलवायु उष्ण और शुष्क है। उत्तर का हिमालय पर्वतीय प्रदेश अपेक्षाकृत ठंढा है और वर्षा यहाँ मैदानी भाग से अधिक होती है। यहाँ ताप का औसत ५५° फा० और वर्षा का ६०" से अधिक रहता है। तराई में ४०" से ८०" तक वर्षा होती है जिसका अधिकांश जुलाई अगस्त में बरसता है। वर्षा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है। जनवरी में ताप ६०° फा० से ६५° फा० और औसत गर्मी में ८०° फा० से अधिक रहता है। मैदानी भाग गर्मी में शुष्क उष्ण, वर्षा में आर्द्र उष्ण और जाड़े में ठंढा एवं शुष्क रहता है। ग्रीष्म ऋतु में ताप बहुधा ११५° फा० तक चला जाता है और १० बजे दिन से पाँच बजे शाम तक भीषण लू के रूप में पछुवा हवा बहती रहती है।

इलाहाबाद से पश्चिम जाने पर जौ, गेहूँ, बाजरा, ज्वार के खेत अधिक मिलते हैं और पूरब बढ़ने पर आर्द्रतापीय सस्यों (धान आदि) की खेती बढ़ती जाती है। संपूर्ण प्रदेश में जाड़े की ऋतु (नवंबर से फरवरी तक) बड़ी सुहावनी होती है। कभी कभी पाला पड़ता है और शीतलहरी दौड़ जाती है। वर्षा ऋतु को वर्षा बंगाल की खाड़ी के पावस से होती है। दक्षिणी पठारी प्रदेश में वार्षिक वर्षा का औसत ३०"–४०" रहता है और जनवरी का ताप ५५° फा० से ६५° तक रहता है। यहाँ चट्टानी धरातल एवं शस्यहीन चट्टानी मिट्टी के कारण गर्मी की ऋतु बहुत गरम और सूखी रहती है।

मिट्टी, वर्षा की विषमता और सिंचाई--उत्तर प्रदेश के मैदानी भाग एवं दून घाटी की मिट्टी जलोढ़ होने के कारण उपजाऊ है। नदियों के किनारे के पास खादर मिट्टी रहती है। बाँगर में अच्छे जलनिकासवाली दोमट मिट्टी पाई जाती है जिसके नीचे अधिकतर कंकड़ की परतें होती हैं। राज्य में दोमट (लोम), मटियार (क्ले) और भूर या बलुआ तथा इनके मिश्रण से बनी कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। मटियार तथा करैल मिट्टी पूर्वी भाग के निम्न भागों में मिलती है और धान के लिये उपयुक्त है। दोमट अपेक्षाकृत ऊँचे भागों में मिलती है और सींचने पर अत्यंत उपजाऊ होती है। दून घाटी की दोमट और मटियार मिट्टियाँ चाय तथा धान के लिये अत्यंत उपजाऊ हैं। कुमायूँ क्षेत्र में चट्टानी मिट्टी मिलती है, पर कहीं कहीं ढालों पर उपजाऊ मिट्टी मिलती है। अल्मोड़ा जिले में जंगली प्रदेश की भूरी मिट्टी फलों के पौधों के लिये अत्यंत उपजाऊ है। दक्षिण के पठारी भागों में तथा मध्य मैदान के फतेहगढ़, कानपुर तथा इलाहाबाद जिलों में राकर, काबर, परवा और मार मिट्टियाँ पाई जाती हैं जो बुंदेलखंड के पठारी भागों की मिट्टी हैं। ये मिट्टियाँ अपेक्षाकृत उपजाऊ तथा शुष्क होती हैं। अपेक्षाकृत शुष्क भागों में एक प्रकार की क्षारीय मिट्टी मिलती है जिसे रेह कहते हैं। यह मिट्टी भूमि को ऊसर बनाती है। गंगा-घाघरा-दोआब में ऊसर मिट्टी की अपेक्षाकृत प्रचुरता है।

कुछ भागों में मिट्टी का अपक्षरण बड़े वेग से जारी है और कई फुट मिट्टी की तहें कट गई हैं। फलतः बड़े बड़े खड्ड बन गए हैं। चंबल, बेतवा, यमुना और गोमती की घाटी में इनके उदाहरण बड़ी संख्या में मिलते हैं।

उत्तर प्रदेश कृषिप्रधान राज्य है, अत: इसका भाग्य वर्षा की मात्रा, निश्चितता और समयानुकूलता पर निर्भर रहता है। परंतु न तो वर्षा की मात्रा और न समयानुकूलता ही निश्चितप्राय है, अतः कभी सूखा से, कभी भीषण वर्षा एवं बाढ़ तथा मिट्टी के कटाव से शस्यहानि होती है; कभी फसलों का न बोया जाना, अथवा खड़ी फसलों का नाश आदि के रूप में भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। साधारणतया प्रति पाँच वर्ष में वर्षा समयानुकूल और पर्याप्त मात्रा में होती है। इस अनिश्चितता से यहाँ के किसान बड़े दुःखी रहते हैं।

वर्षा की परिवर्तनशीलता के परिप्रेक्ष्य में राज्य में सफल कृषि और अधिक उत्पादनशीलता के लिये सिंचाई आवश्यक है। इसके लिये यहाँ प्रचुर प्रयत्न हुए हैं। १९५१ के पहले भारत के कुल २,५०० सरकारी नलकूपों में से २,३०० केवल उत्तर प्रदेश में थे। १९७२ के मार्च तक राज्य में ऐसे नलकूपों की संख्या ११,०६४ हो गई थी; इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्तर पर १९६८-६९ तक १३,६०९ नलकूप और ८१,९५८ पंपिंग सेट भी स्थापित हुए हैं। यद्यपि १९७१ तक निवल सिंचित भूमि केवल ७२ लाख हे० थी किंतु कुल सिंचित भूमि १९६८-६९ में ही ९५ लाख हेक्टेयर (३६ ला० हे० वृहत् एवं मध्यम स्तरीय, १८ ला० हे० छोटी योजनाओं द्वारा और ४१ ला० हे० व्यक्तिगत साधनों द्वारा) हो गई थी जो १९७३-७४ के अंत तक १३५ ला० हे० (क्रमश: ४१ ला० हे०, २४ ला० हे० और ७० ला० हे०) हो जायगी। १९५०-५१ में केवल ४८ ला० हे० निवल सिंचित भूमि थी। १९६८-६९ तक राज्य में २,०४,८८७ साधारण कुएँ थे। मुलायम जलोढ़ मिट्टी के निक्षेप, समतल मैदानी भूमि और अपेक्षाकृत कम

गहराई पर ही पानी मिल जाने के कारण ऐसे कुएँ कम खर्च में ही बन जाते हैं। किसान ऐसे कुओं से पानी निकालने के लिये चरस या पुरवट, ढेकली और रहट आदि का प्रयोग करते हैं। राज्य में मध्यकाल से ही नहरों से सिंचाई होती रही है किंतु पिछले सौ वर्षों में इसमें पर्याप्त वृद्धि हुई है। राज्य की बड़ी नदियों से सततसलिला नहरें निकाली गई हैं जिनमें कृषि के लिये वर्ष भर जल मिलता रहता है। राज्य की प्रमुख नहरों में गंगा की उत्तरी और दक्षिणी नहरें, यमुना की पूर्वी यमुना नहर, आगरा नहर, तथा शारदा नहर हैं। शारदा नहर की शाखाओं को बढ़ाकर इधर जौनपुर और आजमगढ़ जिले में सिंचाई के लिये प्रबंध किया गया है। बिजली का उपयोग करके कर्मनाशा जैसी छोटी नदियों से 'लिफ्ट नहरों' का भी प्रबंध किया गया है। ललितपुर (झाँसी) का बाँध, कर्मनाशा पर नौगढ़ बाँध, चंद्रप्रभा बाँध आदि अपेक्षाकृत सैकड़ों छोटी योजनाओं के नमूने हैं।

बहुधंधी योजनाएँ (सिंचाई एवं ऊर्जा)—राज्य के चतुर्दिक् आर्थिक विकास के लिये कई बहुधंधी योजनाएँ पूरी की गई है और कई में अभी कार्य चालू है। स्वातंत्र्योत्तर कालीन बड़ी सिंचाई योजनाओं में माताटिला बाँध, रामगंगा (गढ़वाल), पश्चिमी गंडक नहर, शारदा सागर आदि प्रमुख हैं जिनके अतिरिक्त सैकड़ों छोटी एवं मध्यम स्तर की सिंचाई योजनाएँ हैं। प्रमुख ऊर्जाप्रधान योजनाओं में रिहंद एवं यमुना-जलविद्युत्-योजनाएँ, हरदुआगंज तापीय विद्युत्केंद्र, कानपुर नवीन तापीय केंद्र और ओबरा तापीय केंद्र प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त दरजनों छोटे एवं मध्यम स्तरीय केंद्र है। हरदुआगंज उत्तरप्रदेश का बृहत्तम तापीय विद्युत्-केंद्र है जिसकी कुल क्षमता ४२० मेगावाट होगी। ओबरा की कुल क्षमता अंततः १,१५० मेगावाट की होगी। यहाँ एक और भी तापीय केंद्र स्थापित करने का लक्ष्य है। १९७१-७२ में ऊर्जा की कुल प्रस्थापित उत्पादन क्षमता १,५७२ मेगावाट थी जिसे १९७४ में चौथी पंचवर्षीय योजना के अंत तक १,८२७ मेगावाट कर देने का लक्ष्य है। १९५१ में राज्य में केवल ५८१ गावों में विद्युत् शक्ति प्राप्त थी किंतु मार्च, १९७१ तक २,०७१ गावों को यह लाभ मिल गया था।

वन—१९७०-७१ के भूमि उपयोगानुसार राज्य में ४६,८८,००० हे० भूमि वनाच्छादित थी जो राज्य की कुल भूमि का लगभग १९.८% (१९५५-५६ में १४.३%) है। यह अखिल भारतीय औसत (२२.९८%) से बहुत कम है। अधिकांश वन (५६%) हिमालयी क्षेत्रों में है। शेष भाग तराई, भावर और विंध्य पहाड़ियों और पठारों में फैला है। मैदानी भागों में केवल १९६८ वर्ग कि० मी० भूमि में वन हैं जब कि उनकी एक तिहाई भूमि में वनाच्छादन अपेक्षित है। वस्तुतः राज्य की पहाड़ी भूमि का ४६% वनाच्छादित है जबकि विंध्य क्षेत्र का १८% और मैदानी भाग का ५% प्रतिशत ही वनसंकुल है। अतः वनसंसाधन राष्ट्रीय औसत से कम है। वन विभिन्न प्रकार के हैं किंतु प्रबंध के अभाव में ये बहुत संपन्न नहीं हैं। राज्य के केवल ८३% वनों पर वनविभाग का अधिकार है। प्रकार की दृष्टि से वनों के आठ प्रकार हैं—उच्च पर्वतीय (अल्पाइन) झाड़ियाँ, उच्च पर्वतीय वन, हिमालयी शुष्क शीतोष्ण वन, हिमालयी नम क्षेत्रीय वन, हिमालयी उपोष्णकटिबंधीय वन, उष्णकटिबंधीय नम वन, उष्णकटिबंधीय शुष्क पतझड़ी वन और उष्णकटिबंधीय कँटीली झाड़ी युक्त वन। साखू, शीशम, महुआ जैसी फर्नीचर के योग्य लकड़ियाँ, चीड़ सदृश नरम (हिमालय पर्वतीय) लकड़ियाँ, कागज, लुग्दी, दियासलाई आदि के लिये तथा अन्य उद्योगों के लिये कच्चा माल इन वनों में प्राप्य है।

जीवजंतु—उत्तर प्रदेश में १९७१ की जनगणना के अनुसार लगभग ५१६ लाख पालतू पशु थे जिनमें २९.१% हल जोतनेवाले एवं अन्य कृषि कार्य में संलग्न जीव थे, २६.४% दूध देनेवाली गाएँ, भैंसें, १९.२% अन्य गाएँ भैंसें तथा २५.३% भेड़ बकरियाँ एवं अन्य पशु थे। यहाँ विभिन्न नस्लों के पशु—घोड़े, खच्चर, गदहे, ऊँट, सूअर, भेड़, बकरियाँ आदि पाए जाते हैं। हिंसक जीवों में बाघ, शेर, चीता, भेड़िया आदि जंगलों में मिलते हैं। नीलगाय, लंगूर, बंदर, हिरण आदि बहुतायत से मिलते हैं।

कृषि—उत्तर प्रदेश का आर्थिक तंत्र कृषिप्रधान है। यहाँ १९७०-७१ में कुल २३२ लाख हेक्टेयर से अधिक भूमि पर फसलें बोई गईं और कृषि में १९७१ के जनगणनानुसार राज्य के ७५ प्रतिशत लोग लगे थे। १९५५-५६ में कुल ५६% भूमि पर कृषि की गई थी जो १९७१ में ५९% से अधिक भूमि पर की गई। उसी प्रकार सिंचित भूमि में भी इधर प्रचुर प्रगति हुई है, यद्यपि अब भी (१९७१) निवल कृषिभूमि की केवल ४९% भूमि पर ही (१९५५-५६ में २९%) सिंचाई हो रही है। सिंचाई, उर्वरक सुगमता तथा हरितक्रांति के परिणामस्वरूप अब दुहरी कृषिभूमि में भी पर्याप्त प्रगति हुई है, जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट है—

उत्तर प्रदेश : दुहरी बोई भूमि का निवल बोई भूमि के साथ प्रतिशत

	१९५०–५१	१९७०–७१
पहाड़ी भूमि	१९.९	६५.८
पश्चिमी क्षेत्र	२२.०	३९.८
मध्य "	२२.५	३०.६
पूर्वी "	२९.६	३४.०
बुंदेलखंड "	६.३	१०.३
उत्तर प्रदेश	२३.०	३३.०

स्पष्ट है, इसमें भी सिंचाई की तरह ही प्रचुर क्षेत्रीय विषमता है। अभी भी राज्य की केवल एक तिहाई बोई भूमि में दो फसलें उगाना संभव है। सिंचाई एवं उर्वरकों की वृद्धि के फलस्वरूप चालू पड़ती भूमि १०,४६,००० (१९५०-५१) हे० से घटकर केवल ८,३८,००० (१९७१) हे० रह गई है।

यहाँ तीन तरह की फसलें उगाई जाती हैं : १–खरीफ (धान, मक्का, बाजरा, ज्वार, सावाँ, आदि जो वर्षा के प्रारंभ में बोई जाती हैं और अक्टूबर से दिसंबर तक काटी जाती हैं; २–रबी (गेहूँ, जौ, चना, मटर, मसूर, सरसों आदि जो जाड़े के प्रारंभ में, अक्टूबर नवंबर में, बोई जाती और ग्रीष्म के पहले, मार्च अप्रैल में, काटी जाती हैं तथा ३–जायद–कई तरह की शाक-सब्जी, तरबूज एवं नए किस्म के चावल आदि जो ग्रीष्म की फसलें हैं। इनके अतिरिक्त गन्ना जैसी वार्षिक फसलें तथा फलों के वृक्ष आदि हैं। कृषि में खाद्य फसलों का अब भी महत्व अधिक है। महत्वानुसार गेहूँ, (१९७१-७२ में ७५ ला० टन), धान (३७ ला० टन), दालें (२८.४ ला० टन), जौ (१३.४), मक्का (८.५), बाजरा (५.३) और ज्वार प्रमुख खाद्यान्न हैं। १९५५-५६ की अपेक्षा गेहूँ के उत्पादन में तीन गुनी से अधिक वृद्धि हुई है। इधर हरितक्रांति के अंतर्गत नई अधिक उत्पादक किस्मों के बीजों का गेहूँ, धान, मक्का, ज्वार और बाजरा में काफी उपयोग होने लगा है। इसमें सर्वाधिक प्रगति गेहूँ और धान में हुई है। १९६६-६७ (२ ला० हे०) की अपेक्षा १९७२-७३ में २५ ला० हे० में ऐसे गेहूँ की खेती हुई। १९६६-६७ में कुल खाद्यान्नों में ऐसे बीजों से केवल ४.७ ला० हे० में खेती हुई थी किंतु १९७२-७३ में लगभग ५८.५ ला० हे० में हुई। गेहूँ मध्य तथा पश्चिमी जिलों में और धान पूर्वी जिलों में अधिक होता है। राज्य में व्यापारिक फसलों का भी महत्व बढ़ रहा है। लेकिन इनकी उपज अभी भी बहुत कम है। १९७१-७२ में १७.५ ला० टन तेलहन, १७ ला० टन आलू और ४८७ लाख टन (१९७०-७१ में ५४७) गन्ने का उत्पादन हुआ। तेलहन में तीसी, सरसों, मूँगफली, रेंड़ और तिल प्रमुख है। गन्ना सरयूपार क्षेत्र तथा पश्चिमी मैदानों एवं तराई में तथा कपास पश्चिमी मैदानों में उगाया जाता है। चाय उत्तर के पहाड़ी जिलों तथा देहरादून घाटी में उगाई जाती है और जूट अधिकांशतः तराई में होता है। स्थानीय रूप से मसाले, तंबाकू तथा अफीम (अधिकांशतः गाजीपुर जिले में) उगाए जाते हैं—अफीम तो यहाँ भारत में सबसे अधिक होती है। सब्जी, फल, फूल तथा दुग्धशालाएँ एवं मुर्गीपालन आदि व्यवसाय नगरों और कस्बों के समीप अधिक विकसित हो रहे हैं। ९० प्रतिशत से अधिक कृषिभूमि में खाद्यान्न उगाने पर भी अधिक जनसंख्या तथा सिंचाई, उर्वरक, खाद, उन्नत बीज, आधुनिक ढंग और औजारों आदि के अभाव तथा छोटे अनार्थिक चक, किसानों में साधनों तथा उत्साह की कमी आदि के कारण अब भी प्रति हे० उत्पादन कम होने से खाद्यान्न की कमी है। १९७०-७१ में प्रति हे० गेहूँ का १३.२९ क्विं०, चावल का ८ क्विं० और बाजरे का ७.६ क्विं० औसत उत्पादन हो गया है किंतु इसे और भी बढ़ाना आवश्यक है।

उत्तर प्रदेश : भूमि उपयोग प्रतिरूप (१९७०-७१)
(हजार हेक्टेयर में)

१ भूमि	२ कुलभूमि	३ वन	४ बंजर, अकृष्य एवं अकृषि कार्यों में लगी भूमि	५ कृष्युपयुक्त भूमि	६ चालू पड़ी भूमि	७ निवल बोई भूमि	८ कुल बोई भूमि	९ निवल सिंचित भूमि
मैदानी	२५,५३५	२,२३४	३,०३०	२,६१३	८१६	१६,८४२	२२,३५३	७,१६०
पहाड़ी	४,३४५	२,७५४	४२३	६४५	२२	५०१	८५४	५९
कुल	२९,८८०	४,९८८	३,४५३	३,२५८	८३८	१७,३४३	२३,२०७	७,२१९

उद्योग धंधे—राज्य में प्रमुख उद्योग चीनी, धातु तथा इंजीनियरी, (सूती, ऊनी और जूट के) कपड़े, चमड़ा, काच, रासायनिक उद्योग, आटा, चावल तथा तेल की मिलों आदि के हैं। पूर्वोक्त धंधों के अतिरिक्त बड़े उद्योगों में शक्ति ऐल्कोहल (पावर ऐल्कोहल), वनस्पति घी, रजन और तारपीन (रेजिन और टरपेंटाइन), लालटेन बनाने, कागज तथा तत्संबंधी उद्योग, दरकी (बाबिन), स्टार्च, कृषि के औजार, खैर, दियासलाई, सीमेंट तथा लकड़ी के उद्योग, सिगरेट और लाख (लाह) आदि के उद्योग प्रमुख हैं। कानपुर न केवल राज्य का, प्रत्युत कलकत्ता और बंबई के बाद देश का, सर्वप्रमुख औद्योगिक केंद्र है, जहाँ सूती कपड़ों की ३४ मिलें, चमड़े की १७ तथा अन्य विभिन्न उद्योगों की कई मिलें हैं। राज्य में काँच तथा चूड़ियों के ८६, लोहा, इस्पात तथा काँसा ढालने के ५१, जूट के ३, दियासलाई के ४, खोखले बरतनों के ४०, चीनी के ८६, कागज तथा गत्ते के ६, चमड़े के २२, वनस्पति घी के ५, साबुन के २५ बड़े, तेल के १५० बड़े एवं २५० छोटे, मदिरा के १३, इंजीनियरी के ९६ तथा रासायनिक उद्योग के १५ बड़े एकक (यूनिट) थे। राज्य में कानपुर के अतिरिक्त आगरा तथा रामपुर के चमड़े के काम, वाराणसी में जरी के कपड़े और बनारसी साड़ी, वाराणसी, मिर्जापुर तथा मुरादाबाद के पीतल के धंधे, शाहजहाँपुर तथा नैनीताल के मदिरा के कारखाने, लखनऊ तथा सहारनपुर के कागज के कारखाने, भदोही के कालीन के तथा आगरा के दरी के धंधे, लखनऊ के चिकन के कार्य, अलीगढ़ का धातु एवं ताले का धंधा, बरेली एवं सहारनपुर का फर्नीचर का कार्य, मिर्जापुर का लाख एवं बर्तन का व्यापार, चुनार और खुर्जा के मिट्टी एवं चीनी मिट्टी के बर्तनों के कार्य, फिरोजाबाद और बहजोई के चूड़ियों के धंधे प्रमुख है। इनके अतिरिक्त सभी बड़े नगरों तथा अधिकांश छोटे नगरों में आटा, चावल तथा तेल की मिलें और बिस्कुट एवं अन्य खाद्य पदार्थों के कारखाने चलते है।

इन बड़े उद्योगों के अतिरिक्त यह राज्य घरेलू एवं कुटीर उद्योगों के लिये भी प्रसिद्ध है। इनमें हाथ करघे के कपड़े (मऊ), रासायनिक पदार्थ, टिन के बर्तन, लोहे के ट्रंक, प्लास्टिक के सामान, कारबन कागज, फलों का संरक्षण, साइकिल, धातु के यथार्थमापी यंत्र, कैंची तथा छुरी, बटन, हड्डी की खाद, आदि के उद्योग दिनानुदिन बढ रहे है। विभाजन के बाद मेरठ एवं बरेली में सभी प्रकार के खेलों के सामान बनने लगे हैं।

बृहत् उद्योग—उत्तर प्रदेश में १९७० में कारखानों (१९४८ के फैक्टरी ऐक्ट द्वारा परिभाषित) में ४,१९,००० व्यक्ति कार्यरत (१९६१ में केवल ३,३८,०००) थे और उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय २,२९३ रु० थी। उत्तर प्रदेश में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद कई नए प्रकार के बड़े उद्योगों का विकास हुआ है। इनमें हरद्वार में भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स लि०, रानीपुर; ऋषिकेश में इंडियन ड्रग ऐंड फार्मास्युटिकल्स लि०; वाराणसी में डीज़ल लोकोमोटिव वर्क्स; साहुपुरी (वाराणसी), कानपुर तथा गोरखपुर में उर्वरक कारखाने; नैनी (इलाहाबाद) में त्रिवेणी स्ट्रक्चरल्स; टुंडला (आगरा के पास) में मांस डिब्बाबंदी का कारखाना (डीपफ्रीज मीट प्लांट), लखनऊ स्थित चिन्हट में हिंदुस्तान एयरोनाटिक्स; मिर्जापुर जिले में स्थित चुर्क तथा डाला में सीमेंट उद्योग और पिपरी (मिर्जापुर) में ऐल्यूमिनियम कारखाना प्रमुख है। मथुरा में पेट्रोलियम शोधन का कारखाना बन रहा है। संगठित औद्योगिक क्षेत्र में कारखानों की इकाइयों, रोजगारों और उत्पादन की दृष्टि से राज्य का भारत में पाँचवाँ और छोटे उद्योगों के क्षेत्र में पंजाब और महाराष्ट्र के बाद तीसरा स्थान है। १९७९ में यहाँ १६ ला० टन चीनी, २५ ला० टन सीमेंट, १० ला० क्वि० वनस्पति, २,५३४ ला० मीटर सूती वस्त्र और ३२ ह० टन कागज और बोर्ड का उत्पादन हुआ।

यातायात के साधन—इधर राज्य में सड़कों का भी तेजी से विकास हुआ है। १९६९-७० तक यहाँ कुल १,६२,१७९ कि० मी० (भारत ११,८८,७२८) सड़कें हो गई थीं जिनमें ३६,५०७ कि० मी० पक्की तथा १,२५,६७२ कि० मी० कच्ची सड़कें थीं। सड़कों के विकास से व्यापार तथा परिवहन में और इस कारण सुदूर तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भी औद्योगिक एवं सामाजिक विकास में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सभी प्रकार की, इंजिन द्वारा खींची जानेवाली, गाड़ियों की संख्या १९६८-६९ तक १,०७,८८५ (भारत में १६,३६,३९३) हो गई थी जिनमें ३८, ६५४ मोटर साइकिलें, स्कूटर और ऑटोरिक्शा, ३४,१२६ जीप, कार एवं टैक्सी, ८,१२९ यात्री बसें, २३,९७६ मोटर ट्रक (माल परिवहन) तथा २,९९० अन्य गाड़ियाँ थीं। सभी 'कवाल' नगरों मे इंडियन एयरलाइंस के हवाई अड्डे हैं और वाराणसी तो राज्य का एकमात्र कस्टम वसूलीवाला हवाई अड्डा घोषित हुआ है। वाराणसी से नेपाल को सेवाएँ चालू हैं। आगरा और वाराणसी में भारत सरकार के पर्यटन विभाग के उपकार्यालय स्थापित हैं।

जनसंख्या—१९७१ की जनगणना के अनुसार राज्य की कुल जनसंख्या ८,८३,४१,१४४ थी, अतः जनसंख्या का प्रति वर्ग कि० मी० घनत्व ३०० व्यक्ति (प्रति वर्गमील घनत्व ७८२) हो गया था, जबकि १९६१ में केवल २५१ (भारत में १८२) था। इस प्रकार उत्तर प्रदेश का भारत के राज्यों में क्षेत्रफल की दृष्टि से तृतीय, कुल जनसंख्या की दृष्टि से प्रथम और प्रतिवर्ग कि० मी० घनत्व या जनभार की दृष्टि से केरल (५४९), पश्चिम बंगाल (५०४), और बिहार (३२४) के बाद चतुर्थ स्थान है। यह राज्य भारत की कुल ९% भूमि पर विस्तीर्ण है किंतु यहाँ देश की कुल १६% से अधिक आबादी रहती है। यहाँ १८७२ से लेकर अब तक (केवल १९११ एवं १९२१ की जनगणनाओं में ह्रास को छोड़कर) जनसंख्या और इसी कारण प्रति वर्ग कि० मी० घनत्व में बराबर वृद्धि होती रही है। १८७२ से १९७१ तक के सौ वर्षों में इस राज्य की जनसंख्या दुगनी से थोड़ी अधिक (१८७२ में ४,२७,८०,२९२) हुई है। १९०१-१९२१ की अवधि में दुर्भिक्ष, महामारियों और अन्य कई कारणों से जनसंख्या में ह्रास हुआ। १९२१ से पहले और १९२१ के बाद जनसंख्या की वृद्धिगति में बहुत अंतर है। १९२१ से पहले सर्वाधिक वृद्धि (६.०५%) १८८१-१८९१ दशक में हुई परंतु १९२१ के बाद यह वृद्धि दर ६.४४% (१९२१-३१), १२·७१% (१९३१-४१), ११·१६% (१९४१-५१) और १९·७९% (१९६१-७१) है। केवल १९५१-७१ के दो दशकों में इस राज्य पर ढाई करोड़ से अधिक जनसंख्या का भार बढ़ा है जो संपूर्ण आस्ट्रेलिया की आबादी का लगभग दुगुना है। राज्य के विभिन्न भागों में भूमि पर मानवभार का स्पष्टीकरण निम्न तालिका से हो जाता है :—

क्षेत्र/प्रदेश	प्रति वर्ग कि० मि०	जनसंख्या का घनत्व
पहाड़ी भूमि	६१	७५
पश्चिमी मैदान	३१२	३८१
मध्य मैदान	२८७	३४३
पूर्वी मैदान	३३०	३८७
बुंदेलखंड	११९	१४६
उ० प्र०	२५१	३००

राज्य के विभिन्न भौगोलिक विभागों, जिलों और तहसीलों आदि के स्तर पर जनसंख्या में न केवल वृद्धि दर प्रत्युत प्रतिवर्ग कि० मी० घनत्व की दृष्टि से भी प्रचुर विषमता पाई जाती है। इस क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक विषमता का कारण विभिन्न भागों की प्राकृतिक, भौगोलिक दशाएँ, वर्षा, मिट्टी, सिंचाई के साधनों के विकास में अंतर, कृषि की भिन्न भिन्न उपजें और प्रति इकाई उत्पादनशीलता में अंतर, औद्योगिक, परिवहन एवं अन्य प्रकार के विकास में विषमता आदि है। मैदानी भाग स्वभावतः सर्वाधिक जनसंकुल है किंतु साधारणतया पूर्व से पश्चिम की ओर और पुनः मध्यांचल से उत्तर तथा दक्षिण की ओर, दोनों ओर पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण, प्रतिवर्ग कि० मी० घनत्व घटता जाता है।

लखनऊ, मेरठ और वाराणसी जैसे बड़े नगरयुक्त जिलों में प्रतिवर्ग कि० मी० घनत्व अत्यधिक (क्रमशः ६४०; ५६६ और ५६०) है किंतु देवरिया और बलिया जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामप्रधान जनपदों में भी यह भार अधिक (क्रमशः ५२१ और ४९९) है। दूसरी ओर हिमालयी जिलों में उत्तरकाशी और चमोली में यह भार (क्रमशः १८ और ३२) उनके भूमि-संसाधनों, निवास्यता की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में कम नहीं है।

राज्य की ८५.९७ प्रतिशत जनता ग्रामीण (भारत ८१ प्रतिशत) है और केवल १४.०३% जनता नगरों में निवास करती है। राज्य की कुल नागरिक जनसंख्या विभिन्न आकारों के कुल २९३ नगरों में रहती है। १९५१ में नगरों की संख्या ४८६ थी किन्तु नगर की परिभाषा में परिवर्तन होने के कारण उनमें से बहुत से छँट गए हैं। १९७१ में २२ नगरों की जनसंख्या १ लाख या अधिक; २० नगरों की ५०,००० से ९९,९९९; ६७ नगरों की २०,०००से ४९,९९९; ९१ नगरों की १०,०००से १९,९९९; ८० नगरों की ५००० से ९९९९ और १३ की जनसंख्या ५,००० से कम थी। राज्य का सबसे बड़ा नगर कानपुर है जो १९७१ की जनसंख्या (१२,७५,२४२) के अनुसार भारत के दसलक्षीय महानगरों में से एक हो गया है। १९७१ की जनगणना के अनुसार ५ लाख से अधिक जनसंख्यावाले राज्य के अन्य बड़े नगर लखनऊ (८,१३,९८२), आगरा (६,३४,६२२), वाराणसी (६,०६, ७२१) और इलाहाबाद (५,१३,०३६) हैं। इनके अँगरेजी के पहले अक्षरों को मिलाकर 'कवाल' (KAVAL) नगरों की संज्ञा दी गई है। इनमें विकास की दृष्टि से कानपुर आधुनिक, लखनऊ और आगरा मध्ययुगीन और प्रशासनिक केंद्रों के रूप में और वाराणसी तथा इलाहाबाद प्राचीन नगर हैं और अब भी भारत के अत्यंत पवित्र धार्मिक, सांस्कृतिक नगर माने जाते हैं। ये सभी नगर गंगा या उसकी सहायक नदियों के किनारे बसे हैं। इन नगरों में सन् १९६० से नगरनिगम (कारपोरेशन) स्थापित हो गए हैं और इनकी उन्नति के लिये विभिन्न योजनाएँ चालू हैं। इनमें रोजगारों की वृद्धि के लिये विभिन्न उद्योग स्थापित किए गए हैं। इनका व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक महत्व भी बढ़ रहा है। इनके अतिरिक्त पश्चिमी मैदानी भाग में मेरठ (३,६७,७५४), बरेली (३,२६,१०६), मुरादाबाद (२,७२,६५२), अलीगढ़ (२,५२,३१४), सहारनपुर (२,२५,३९६), शाहजहाँपुर (१,४४,०६५), मथुरा (१,४०,१५०), गाजियाबाद (१,२७,७००), रामपुर (१,६१,४१७), मुजफ्फरनगर (१,१४,७८३) एवं फर्रुखाबाद (१,१०,८३५) एक लाख से अधिक जनसंख्यावाले ग्यारह नगर हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में वाराणसी के अतिरिक्त सरयूपार क्षेत्र में गोरखपुर (२,३०,९११), गंगा-घाघरा-दोआब में फैजाबाद-अयोध्या (१,०९,८०६) और गंगापार क्षेत्र में मिर्जापुर-विंध्याचल (१,०५,९०९) बड़े नगर हैं। उत्तर के पर्वतीय क्षेत्र में देहरादून (२,०३,४६४) और दक्षिणी पठारी अंचल में झाँसी (१,९८,१३५) बड़े नगर हो गए हैं। अतः राज्य की लगभग आधी नगरीय जनता पश्चिमी मैदानों में रहती है और पूर्व से पश्चिम नागरिक आबादी में वृद्धि होती जाती है जब कि जनसंख्या का घनत्व ठीक इसके विपरीत बढ़ रहा है। विद्युच्छक्ति, सिंचाई एवं परिवहन के साधनों की व्यवस्था पहले से अधिक और सुव्यवस्थित होने के कारण उद्योग धंधों, व्यापार एवं कृषिकर्म का विकास पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अधिक संभव हुआ जिससे यह क्षेत्र शीघ्र विकसित हुआ और पूर्वी उत्तर प्रदेश अब भी एक ओर अत्यधिक जनभार और दूसरी ओर अवर्षण-अतिवर्षण-बाढ़-दुर्भिक्ष आदि संकटों से ग्रस्त रहता है। पहाड़ी और बुंदेलखंड क्षेत्र भी अपेक्षाकृत काफी पिछड़े हैं, यद्यपि उनमें विकास के पर्याप्त संसाधन हैं। मिर्जापुर क्षेत्र में तो रिहंद की बहूद्देशीय योजना एवं सिमेंट उद्योग से विकास हो रहा है। सब मिलाकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी राज्य के विकास में क्षेत्रीय प्रादेशिक विषमता अधिक तेजी से बढ़ी है जिससे असंतोष भी बढ़ा है। राज्य के अधिकांश नगर और कस्बे औद्योगिक नहीं प्रत्युत व्यापारिक सेवा और विभिन्न स्तरीय प्रशासकीय केंद्र मात्र हैं। अब इन्हें अधिक औद्योगिक और विकासमूलक बनाने के प्रयत्न हो रहे हैं।

राज्य में १,१२,६२४ गाँव हैं जिनमें ८५.९७% जनता निवास करती है। इनमें केवल २३ गाँव दस हजार से अधिक, ३०८ गाँव ५,००० से ९,९९९; ३,७९५ गाँव २,००० से ४,९९९ और १२,८०१ गाँव १,००० से १,९९९ जनसंख्यावाले हैं। वस्तुतः अधिकांश गाँवों की आबादी १,००० से कम है और लगभग ६५% गाँव ५०० से कम आबादीवाले हैं। कम आबादी, अधिक बिखराव एवं प्रति व्यक्ति आमदनी कम होने के कारण अभी गाँवों में सर्वत्र आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो पा रही हैं। लेकिन विविध पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत पंचायत, ग्राम-उद्योग-विकास, विद्युतीकरण, सिंचाई, विद्यालय, डाकघर आदि की सुविधाओं में क्रमशः वृद्धि हो रही है।

इस राज्य में देश के १६.३२% हिंदू, २२.२७% मुस्लिम, ४.७९% जैन, ३.५६% सिक्ख, १.०४% बौद्ध और लगभग १% ईसाई तथा २% अन्य लोग निवास करते हैं। राज्य की कुल जनसंख्या में ८३.३६% हिंदू, (१९६१ में ८४.६६%) १५.४८% मुस्लिम (१९६१ में १४.६३%), ०.४२% सिक्ख (१९६१ में ०.३८%), ०.१५% ईसाई (१९६१ में १४%) हैं। १९६१-७१ में राज्य की जनसंख्या में १९.७९% वृद्धि (भारत की २४.८०%) हुई किंतु हिंदुओं की संख्या में केवल १८.५२% वृद्धि हुई जब कि अन्य धर्मावलंबियों की वृद्धिगति बहुत अधिक (मुस्लिम २६.७७%, सिक्ख ३०.२९%, ईसाई २९.६८% और बौद्ध २०७.४५%) रही।

शिक्षा, संस्कृति और अन्य प्रगति के कार्य—उत्तर प्रदेश प्राचीन काल से ही शिक्षा का प्रमुख केंद्र रहा है। धर्म, न्याय, विद्या आदि सभी क्षेत्रों में वाराणसी को मान्यता प्राप्त करने के लिये देश के कोने कोने से विद्वान् यहाँ आते थे। अब राज्य में सभी कवाल नगरों (वाराणसी में तीन) के अतिरिक्त रुड़की, अलीगढ़, गोरखपुर, श्रीनगर (गढ़वाल), नैनीताल, गुरुकुल कांगड़ी (हरद्वार) तथा रुद्रपुर में स्थित कृषि विश्वविद्यालय तथा प्रस्तावित विश्वविद्यालयों को लेकर कुल चौदह (भारत में लगभग १००) विश्वविद्यालय हो गए हैं। राज्य की प्रमुख भाषा हिंदी है किंतु काफी लोग उर्दू भी जानते-समझते-बोलते हैं। राज्य में कई इंजीनियरी, मेडिकल एवं कृषि तथा अन्य प्रकार के तकनीकी प्रशिक्षण केंद्र भी स्थापित हो गए हैं।

(रा० लो० सिं०; का० ना० सिं०)

उत्तरमीमांसा भारतीय दर्शनों में से एक। उत्तरमीमांसा को शारीरिक मीमांसा और वेदांतदर्शन भी कहते हैं। ये नाम बादरायण के बनाए हुए ब्रह्मसूत्र नामक ग्रंथ के हैं। मीमांसा शब्द का अर्थ है अनुसंधान, गंभीर विचार, खोज। प्राचीन भारत में वेदों को परम प्रमाण माना जाता था। वेद वाङ्मय बहुत विस्तृत है और उसमें यज्ञ, उपासना और ज्ञान संबंधी मंत्र पाए जाते हैं। वे मंत्र (संहिता), ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषद् नामक भागों में विभाजित किए गए हैं। बहुत प्राचीन (भारतीय विचार-पद्धति के अनुसार अपौरुषेय) होने के कारण वेदवाक्यों के अर्थ, प्रयोग और परस्पर संबंध समन्वय का ज्ञान लुप्त हो जाने से उनके संबंध में अनुसंधान करने की आवश्यकता पड़ी। मंत्र और ब्राह्मण भागों के अंतर्गत वाक्यों का समन्वय जैमिनि ने अपने ग्रंथ मीमांसासूत्र (पूर्वमीमांसादर्शन) में किया। मंत्र और ब्राह्मण वेद के पूर्वभाग होने के कारण उनके अर्थ और उपयोग की मीमांसा का नाम पूर्वमीमांसा पड़ा। वेद के उत्तर भाग आरण्यक और उपनिषद् के वाक्यों का समन्वय बादरायण ने ब्रह्मसूत्र नामक ग्रंथ में

किया अतएव उसका नाम उत्तरमीमांसा पड़ा। उत्तरमीमांसा शारीरिक मीमांसा भी इस कारण कहलाता है कि इसमें शरीरधारी आत्मा के लिये उन साधनों और उपासनाओं का संकेत है जिनके द्वारा वह अपने ब्रह्मत्व का अनुभव कर सकता है। इसका नाम वेदांतदर्शन इस कारण पड़ा कि इसमें वेद के अंतिम भाग के वाक्यों के विषयों का समन्वय किया गया है। इसका नाम ब्रह्ममीमांसा अथवा ब्रह्मसूत्र इस कारण पड़ा कि इसमें विशेष विषय ब्रह्म और उसके स्वरूप की मीमांसा है, जब कि पूर्वमीमांसा का विषय यज्ञ और धार्मिक कृत्य हैं।

उत्तरमीमांसा में केवल वेद (आरण्यकों और उपनिषदों के) वाक्यों के अर्थ का निरूपण और समन्वय ही नहीं है, उसमें जीव, जगत् और ब्रह्म संबंधी दार्शनिक समस्याओं पर भी विचार किया गया है। एक सर्वांगीण दर्शन का निर्माण करके उसका युक्तियों द्वारा प्रतिपादन और उससे भिन्न मतवाले दर्शनों का खंडन भी किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह भाग बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है।

समस्त ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय में प्रथम पाद के प्रथम चार सूत्र और दूसरे अध्याय के प्रथम और द्वितीय पादों में वेदांत दर्शन संबंधी प्रायः सभी बातें आ जाती हैं। इनमें ही वेदांतदर्शन के ऊपर जो आक्षेप किए जा सकते हैं वे और वेदांत को दूसरे दर्शनों में—पूर्वमीमांसा, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, पाशुपत दर्शनों में, जो उस समय प्रचलित थे—जो त्रुटियाँ दिखाई देती हैं वे आ जाती हैं।

समस्त ग्रंथ सूक्ष्म और दुरूह सूत्रों के रूप में होने के कारण इतना सरल नहीं है कि सब कोई उसका अर्थ और संगति समझ सकें। गुरु लोग इन सूत्रों के द्वारा अपने शिष्यों को उपनिषदों के विचार समझाया करते थे। कालांतर में उनका पूरा ज्ञान लुप्त हो गया और उनके ऊपर भाष्य लिखने की आवश्यकता पड़ी। सबसे प्राचीन भाष्य, जो इस समय प्रचलित और प्राप्य है, श्री शंकराचार्य का है। शंकर के पश्चात् और आचार्यों ने भी अपने अपने संप्रदाय के मतों की पुष्टि करने के लिये और अपने मतों के अनुरूप ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे। श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री निंबार्काचार्य और श्री वल्लभाचार्य के भाष्य प्रख्यात हैं। इन सब आचार्यों के मत, कुछ अंशों में समान होते हुए भी, बहुत कुछ भिन्न हैं।

स्वयं बादरायण के विचार क्या हैं, यह निश्चित करना और किस आचार्य का भाष्य बादरायण के विचारों का समर्थन करता है और उनके अनुकूल है, यह कहना बहुत कठिन है क्योंकि सूत्र बहुत दुरूह हैं। इस समस्या के साथ एक यह समस्या भी संबद्ध है कि जिन उपनिषद् वाक्यों का ब्रह्मसूत्र में समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है उनके दार्शनिक विचार क्या हैं। बादरायण ने उनको क्या समझा है और भाष्यकारों ने उनको क्या समझा है ? वही भाष्य अधिकतर ठीक समझा जाना चाहिए जो उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र दोनों के अनुरूप हो। इस दृष्टि से श्री शंकराचार्य का मत अधिक समीचीन जान पड़ता है। कुछ विद्वान् रामानुजाचार्य के मत को अधिक सूत्रानुकूल बतलाते हैं।

उत्तरमीमांसा का सबसे विशेष दार्शनिक सिद्धांत यह है कि जड़ जगत् का उपादान और निमित्त कारण चेतन ब्रह्म है। जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाल तानती है, वैसे ही ब्रह्म भी इस जगत् को अपनी ही शक्ति द्वारा उत्पन्न करता है। यही नहीं, वही इसका पालक है और वही इसका संहार भी करता है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य है और अनेक प्रकार के साधनों और उपासनाओं द्वारा वह ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करके जगत् के कर्मजंजाल से और बारंबार के जीवन और मरण से मुक्त हो जाता है। मुक्तावस्था में परम आनंद का अनुभव करता है।

(भी० ला० आ०)

उत्तररामचरित महाकवि भवभूति का प्रसिद्ध संस्कृत नाटक है, जिसके सात अंकों में राम के उत्तर जीवन की कथा है। जनापवाद के कारण राम न चाहते हुए भी गर्भवती सीता का परित्याग कर देते हैं। सीतात्याग के बाद विरही राम की दशा का तृतीय अंक में करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो काव्य की दृष्टि से इस नाटक की जान है। भवभूति ने इस दृश्यकाव्य में दांपत्य प्रणय के आदर्श रूप को अंकित किया है। कोमल एवं कठोर भावों की रुचिर व्यंजना, रमणीय और भयावह प्रकृति चित्रों का कुशल अंकन इस नाटक की विशेषताएँ हैं। उत्तररामचरित में नाटकीय व्यापार की गतिमत्ता अवश्य शिथिल है और यह कृति नाटकत्व की अपेक्षा काव्यत्व और गीति नाट्यत्व की अधिक परिचायक है। भवभूति की भावुकता और पांडित्यपूर्ण शैली का चरम परिपाक इस कृति में पूर्णतः लक्षित होता है।

उत्तररामचरित पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें घनश्याम, वीरराघव, नारायण और रामचंद्र बुधेंद्र की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इसके अनेक भारतीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें अधिक प्रचलित निर्णयसागर संस्करण है, जिसका प्रथम संस्करण सन् १८६६ में बबई से प्रकाशित हुआ था। इसके और भी अनेक संपादन निकल चुके हैं। इनमें प्रसिद्ध संस्करण ये हैं : सी० एच० टानी द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित (कलकत्ता, १८७१), फ्रेंच अनुवाद सहित फ़ेलेनिव (Fe'lix Ne've) द्वारा ब्रूसेल्स तथा पेरिस से १८८० में प्रकाशित, डॉ० बेल्वेलकर द्वारा केवल अंग्रेजी अनुवाद तथा भूमिका के रूप में हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज़ में संपादित (१९१५ ई०)। (भो० शं० व्या०)

उत्तरा मत्स्य नरेश विराट् की कन्या और अभिमन्यु की पत्नी; वह अपने सौंदर्य तथा ललित कलाओं के लिये विख्यात थी। महाभारत के अंत में उत्तरा के पुत्र परीक्षित को हस्तिनापुर का राज्य मिला। उसने युद्ध में शस्त्र ग्रहण कर अनेक वीरों को पराजित किया था। (चं० म०)

उत्तराखंड प्राचीन काल में भारतवर्ष के चार खंड दिशाओं के अनुरूप किए जाते थे। यह उत्तराखंड भारतवर्ष का उत्तरी प्रदेश था। वाराहमिहिर तथा राजशेखर ने अपने ग्रंथों में इस खंड के प्रदेशों का विस्तृत वर्णन किया है। महाभारत के सभापर्व में भी अर्जुन की दिग्विजय के प्रसंग में इन देशों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत का उत्तराखंड, राजशेखर के अनुसार, पृथूदक से उत्तर दिशा में पड़ता है। पृथूदक की वर्तमान पहचान 'पिहोवा' से है जो थानेश्वर से पंद्रह मील पश्चिम की ओर है। उत्तरापथ के जनपदों में शक, केकय, वोक्काण, हूण, वनायुज, कंबोज, वाह्लीक, पह्लव, लिंपाक, कुलूत, कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरव, हूहुक, सहुड, हंसमार्ग, रमठ, करकंठ आदि का उल्लेख मिलता है (काव्यमीमांसा, पृ० ९४)। इनमें सब जनपदों की पहचान तथा स्थिति निश्चित रूप से निर्णीत नहीं हो सकती है, तथापि अनेक जनपद अनुसंधान के द्वारा निश्चित किए जा सकते हैं। इनमें से कुलूत काँगड़ा के पास का कुलू है जिसकी प्राचीन राजधानी नगरकोट थी और आजकल जिसका मुख्य नगर सुल्तानपुर है। कीर जनपद किरथार पहाड़ के उत्तर में दक्षिणी अफगानिस्तान का एक प्रांत था जहाँ नवीं और दसवीं शताब्दी में शाहिवंशी राजा राज करते थे। तुरुष्क देश से तात्पर्य पूर्वी तुर्किस्तान से है। तुषार या तुखार वंक्षु नदी (आमू दरिया) की ऊपरी घाटी का प्रदेश है जिसमें बल्ख और बदख़शाँ संमिलित थे। हिंदूकुश पर्वत के उत्तर पश्चिम में वंक्षु की शाखा बल्ख़ नदी के दोनों ओर की भूमि वाह्लीक जनपद में मानी जाती थी। इसी प्रकार कांबोज जनपद वंक्षु नदी के उस पार स्थित था जिसे आजकल पामीर का ऊँचा पठार कहते हैं। कनिंघम के अनुसार सिंधु नदी के किनारे भंबूर नामक स्थान था जिसका निर्देश तोलेमी ने भी किया है। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष की विस्तृत उत्तरी सीमा एक ओर तो शकस्थान (ठेठ मंगोल देश का पश्चिमी जनपद) को और दूसरी ओर बाह्मुग (अरब) को स्पर्श करती थी और मध्य एशिया के समस्त प्रांत इसी सीमा के अंतर्गत माने जाते थे। फलतः शकस्थान से लेकर कन्याकुमारी तक यह प्राचीन भारतवर्ष फैला हुआ था। निःसंदेह यह व्याख्या सर्वमान्य नहीं।

(ब० उ०)

उत्तराधिकार (अधिनियम) संपत्ति के स्वामी की मृत्यु के उपरांत, उसके द्वारा किसी दानपत्र (हिब्बा) या वसीयतनामा न संपादित करने की स्थिति में, उसकी संतान या संबंधी द्वारा स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर स्थानापन्न होना ही उत्तराधिकार है। आंग्ल भाषा में इसे

'सक्सेशन' कहते हैं जिसके समकक्ष अंग्रेजी शब्द 'इन्हेरिटेन्स' (जन्म ग्रहण करने के साथ साथ पैतृक संपत्ति पर उत्तराधिकार प्राप्त करना) इसी उत्तराधिकार शब्द का पर्यायवाची शब्द है।

अतीत काल से भारत में हिंदू एवं मुसलमान आदि धर्मावलंबियों का उत्तराधिकार नियम व कानून इन धर्मों की अपनी अपनी विशेष व्यवस्था से शासित होता रहा। ब्रिटिश शासन ने भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम सन् १८६५ ई० एवं आज लागू वही अधिनियम सन् १९२५ ई० में पारित करके संपूर्ण भारत में, कुछ विशेष आवश्यक एवं प्रमुख मुद्दों पर सभी धर्मावलंबियों, जैसे हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि को एक समान एवं सरल कानून से शासित कर दिया जिसके अंतर्गत वसीयतनामा, उत्तराधिकार सर्टिफिकेट, शासनापत्र आदि अन्यान्य व्यवस्थाओं का विशद प्रावधान है। परंतु इस अधिनियम के बाहर के सभी उत्तराधिकार संबंधी प्रश्न हर धर्म की अपनी अपनी व्यवस्था से शासित होते रहे हैं।

वेद, शास्त्र पर आधारित हिंदू कानून में संयुक्त अविभक्त हिंदू परिवार की मूर्तिमान् व्यवस्था, जो संपत्ति स्वामित्व के साथ साथ भोजन एवं पूजा पाठ को भी संयुक्त एवं अविभक्त रूप में स्वीकार करती है, हिंदू कानून का अविचल सोपान है जिसको सनयातर पर जीमूतवाहन ने मात्र बंगाल के लिये दायभाग नियम एवं विज्ञानेश्वर ने शेष भारत के लिये मिताक्षरा नियमों में वर्गीकृत कर दिया। अटल रूढ़ियों से व्याप्त इस संयुक्त अविभक्त हिंदू परिवार के दुरूह नियमों को सन् १९३७ ई० के हिंदू-नारी-संपत्ति-अधिकार अधिनियम ने जड़ से हिला दिया एवं हिंदू नारी का उसके पति की मृत्यु के बाद स्वामित्व अधिकार पर स्थानापन्न कर दिया। परिणामस्वरूप जागरूकता की धारा प्रवाहित हुई एवं हिंदू समाज ने आधुनिक विचारधारा से पोषित सरल, एकरूप एवं समीचीन हिंदू कोड की माँग की। इसी से प्रेरित राव-कमेटी ने सन् १९४४ ई० में हिंदू कोड का बृहद् मसविदा भारत सरकार को समर्पित किया। इसी मसविदे से भारतीय संसद् ने कई चरणों एवं भागों में कई अधिनियम [illegible] उत्तराधिकार अधिनियम (२५, सन् १९५६ ई०) ने संपूर्ण भारत में अन्यान्य हिंदू जाति को एक समान एवं सरल प्रावधान द्वारा उत्तराधिकार का पूर्ण कानून प्रदान किया है। यह अधिनियम दिनांक १७ जून, सन् १९५६ ई० से लागू होकर कई महत्वपूर्ण एवं आधुनिकतम प्रावधान सशक्त रूप में सामने रखता है। अब समानता एवं एकरूपता की धारा उत्तराधिकार में प्रवाहित है। पैतृक या स्वगृहीत संपत्ति में लड़का, लड़की, विधवा तथा माँ का अधिकार एवं भाग समान हो गया है। स्त्री के संपत्ति संबंधी सीमित अधिकार को पूर्ण एवं असीमित रूप प्रदान कर दिया गया है।

परंतु कृषि योग्य भूमि की बाबत हर प्रदेश में अलग अलग भूमिसुधार एवं काश्तकारी अधिनियम संपूर्ण भारत में लागू हैं जिनमें कृषि योग्य भूमि आदि के उत्तराधिकार का विशेष प्रावधान प्रदत्त है। परिणामस्वरूप कृषि योग्य भूमि इन प्रदेशीय भूमि सुधार एवं काश्तकारी अधिनियमों में प्रदत्त उत्तराधिकार प्रावधानों से ही शासित होती है। इस विषय में हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, १९५६, लागू नहीं होता है। कृषि योग्य भूमि संबंधी इन अधिनियमों में धर्म, जाति या वर्ग का कोई स्थान न होकर हर भारतीय नागरिक को समान उत्तराधिकार प्रावधान प्रदत्त है। (दे० पा०)

उत्तरी अमरीका क्षेत्रफल (२,४२,२८,४४२ वर्ग कि० मी०) तथा जनसंख्या (लगभग २७ करोड़—१९७०) के आधार पर उत्तरी अमरीका संसार का तृतीय बड़ा महाद्वीप है। यह ८° उत्तर अक्षांश से ८२° उत्तर अक्षांश तक एक त्रिभुज की भाँति फैला हुआ है जिसका आधार उत्तर में तथा शीर्ष दक्षिण की ओर है। इसकी उत्तर-दक्षिण लंबाई ७,८०० कि० मी० तथा पूर्व-पश्चिम चौड़ाई लगभग ६,४०० कि० मी० है। इस महाद्वीप की समुद्रतल से औसत ऊँचाई ६०० मीटर है। यहाँ कैनाडा, संयुक्त राज्य एवं मेक्सिको का ही वर्णन किया जायगा।

इस महाद्वीप को, पूर्व से पश्चिम, चार प्रमुख प्राकृतिक विभागों में विभाजित किया जा सकता है:

१. **अटलांटिक तटीय प्रदेश**—यह तट उत्तर में आर्कटिक सागर से प्रारंभ होकर दक्षिण में फ्लोरिडा तक पूर्वी पर्वतीय प्रदेश के पूर्व, अटलांटिक महासागर के किनारे फैला हुआ है। इसका लंबा तथा सँकरा तटीय मैदान न्यूयार्क के दक्षिण में फ्लोरिडा तक अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा है पर उत्तर की ओर सकीर्ण होता गया है। संरचना तथा भूतत्व के आधार पर इसके दो विभाग हैं, पूर्वी और पश्चिमी, जो प्रपातरेखा द्वारा पृथक् होते हैं। पूर्वी भाग की ऊँचाई ६५—१०० मीटर तक है पर पश्चिमी भाग लगभग ३०० मीटर ऊँचा है। पूर्वी पर्वतीय प्रदेश से निकलकर अंध महासागर में गिरनेवाली नदियों में—सस्केहाना, पोटामक, डिलावेर, जेम्स आदि सबमें—प्रपात हैं। इन प्रपातों में से उनको, जो अपनी नदी पर समुद्र से निकटतम हैं, एक कल्पित रेखा से मिलाया जा सकता है जिसे प्रपातरेखा कहते हैं। इन नदियों में प्रपातरेखा तक सामुद्रिक जहाज आते हैं, अतः यहाँ फिलाडेल्फिया, बाल्टीमोर, वाशिंगटन, रिचमांड आदि नगर एवं बंदरगाह विकसित हो गए हैं। पूर्वी भाग नदियों द्वारा लाई गई नरम मिट्टी से बना है, अतः इसकी शिलाएँ तृतीयक (टर्शियरी) युगीन हैं। पश्चिमी भाग प्राचीन युग में पूर्वी पर्वतीय प्रदेश का ही अंग था, जो कालांतरिक आवरणक्षय (डेन्यूडेशन) होने के कारण विषम मैदान में परिणत हो गया है। इसकी चट्टानें कार्बनप्रद युगीन अथवा उनसे भी पुरानी हैं। कहीं कहीं, विशेषतया मैसाचूसेट्स के उत्तर में, तटरेखा विकट एवं अत्यंत सँकरी है जिसके पास अनेक निमज्जित घाटियाँ खाड़ियों के रूप में तथा पहाड़ियाँ भूनासिकाओं (प्रोमांटोरीज़) एवं द्वीपों के रूप में स्थित हैं।

२. **पूर्वी पर्वतीय प्रदेश**—अटलांटिक के तटीय मैदान तथा मध्यवर्ती बृहत् मैदान के मध्य में उत्तरी अमरीका का प्राचीन भूभाग स्थित है। इसे सेंट लारेंस नदी की घाटी दो भागों में विभाजित करती है—उत्तरी तथा दक्षिणी। इस घाटी से लेकर उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में हडसन की खाड़ी तथा उत्तर सागर तक फैला हुआ अत्यंत विषम संरचना का क्षेत्र है जिसे लारेंशिया का पठार कहते हैं। यह भाग उत्तरी अमरीका का प्राचीनतम भूभाग है जिसके दक्षिण तथा पश्चिम में कालांतर में कई स्थलखंड परस्पर जुड़ गए। इस प्रकार आधुनिक महाद्वीप का निर्माण हुआ। अन्य सिद्धांतों के अनुसार वर्तमान लारेंशिया पठार उस बृहत्तर स्थलखंड का एक अंग मात्र है जो पुराकल्प (पैलिओज़ोइक एरा) में दक्षिण में टेक्सास राज्य तथा पश्चिम में रॉकी पर्वतों तक फैला हुआ था और जिसके मध्यकल्पयुगीन (मेसोज़ोइक) महासागर में निमज्जित होने से महासागरीय निक्षेप हुआ। प्रातिनूतनकालिक (प्लाइस्टोसीन) हिमयुग का सूत्रपात भी इसी स्थलखंड से हुआ। ऐसा होते हुए भी, विचाराधीन भाग अमरीका के अन्य भागों की अपेक्षा कालांतरिक आवरणक्षय से बचा रहा। हिमयुगीन अपक्षरण के तथा निक्षेप के कारण यहाँ की भूमि ऊबड़ खाबड़, मिट्टीविहीन तथा अनुपजाऊ है। कुछ अच्छी मिट्टीवाले भागों एवं खनिज स्थानों पर आबादी है।

सेंट लारेंस नदी के दक्षिणवाला भाग ऐपालेचियन पर्वतीय प्रदेश कहलाता है जो प्राचीनतम ऐपालेचिया नामक स्थलखंड का भाग है। यह उत्तर पूर्व में न्यूफाउंडलैंड से लेकर दक्षिण पश्चिम में ऐलाबेमा तथा एक शाखा द्वारा आरकेंसास तक फैला हुआ है। इस भाग को अपेक्षाकृत शांत पड़े लारेंशियन क्षेत्र की अपेक्षा तोड़ फोड़, उत्थान पतन, ओरोनिक्षेप एवं अति आवरणक्षय के कई युग देखने पड़े। कार्बनप्रद युग में ऊँचे पर्वतों का निर्माण हुआ जो लगातार आवरणक्षय के कारण मध्यकल्प (मेसोज़ोइक एरा) में अवशिष्ट मात्र रह गए। तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) में पुनः इनका उत्थान हुआ और पठार के ऊँचे भाग पर्वत बन गए। इन पर्वतीय भागों की ऊँचाई कहीं भी २,१०० मीटर से अधिक नहीं है और ये अनवरत पर्वतश्रेणी के रूप में हैं। इनके बीच में नदियों ने गहरी तथा चौड़ी घाटियाँ बना ली हैं। इसका उत्तरी भाग, जो न्यू इंग्लैंड राज्य में पड़ता है, अपेक्षाकृत समुद्र से अधिक निकट, कटा छटा और ऊबड़ खाबड़ है। दक्षिण में ऐलेघनी पठार है जिसका निर्माण समतलीय शिलाओं, बलुआ पत्थरों, शेलों एवं चूना पत्थरों से हुआ है। तत्संबंधी [illegible] का पठार उसके दक्षिण में है और ऐलाबेमा तक फैला हुआ है। मिस्सौरी का ओज़ार्क

पठार तथा आरकैंजैस का आंचिटा पर्वत इन्ही के भाग है जो एक दूसरे से संबंधित है। दक्षिण पूर्व मे पर्वतपदीय पठार है जो समुद्रतट तक चला गया है।

३. **मध्यस्थित वृहत् मैदान**—पूर्वी एवं पश्चिमी पर्वतीय भागों (२ तथा ४) के मध्य, उत्तर मे उत्तरी महासागर तथा दक्षिण मे मेक्सिको की खाड़ी के तट तक ३२,३७,५०० वर्ग कि० मी० मे फैला हुआ यह समतल मैदान है, जिसमे अनेक नदियो की चौड़ी घाटियाँ स्थित है। लगभग संपूर्ण मैदान समतलीय शिलाओं से सरचित है और अपेक्षाकृत सदियो की विकृति एव विखडन आदि भूतात्विक हलचलो से बचा रहा है जिसके कारण कई प्रवाहप्रणालियो ने अपने विशाल मैदान निर्मित किए है। पूर्वी मैदानी भाग पुराकल्पयुगीन शिलाओं से निर्मित है, परतु पश्चिमी भाग मध्यकल्प तथा तृतीयक कल्प मे निर्मित हुए है। पूर्व एवं पश्चिमी पर्वतीय भागो के तृतीयक कल्पयुगीन उत्थान के साथ इनमे भी उत्थान हुआ, परतु कुछ भागो को छोडकर अधिकाश समतल मैदानी भाग है। पूर्वी मैदान गडमृदीय निक्षेप के कारण अधिक समतल हो गया है। मध्य पश्चिमी भागों मे गिरिपाद निक्षेप हुआ है। उत्तर पूर्व में हिमयुगीन अपक्षरण तथा निक्षेप का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, जिससे अधिक झीलें आदि बन गई है।

४. **पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र**—मध्यवर्ती मैदान के पश्चिम रॉकी पर्वतो से लेकर पश्चिम मे प्रशात महासागरीय तट तक उत्तर से दक्षिण अनेक पर्वतप्रणालियो तथा पठारो का अत्यत विषम क्षेत्र है, जिसे उत्तरी अमरीका का कार्डिलेरा भूभाग कहते है। यद्यपि इन विभिन्न प्रणालियो मे उत्पत्ति, संरचना एव आयु मे पारस्परिक अंतर है, तथापि पूर्वी पर्वतीय प्रदेश की अपेक्षा ये नए है और नवकल्पयुग मे भंजित हुए है। अतः ये अधिक ऊँचे और विषम है। इनके विभिन्न भागो मे ज्वालामुखी पर्वत तथा उनके उद्गार तत्व भी प्राप्य है। ओरीजोबा और पोपाकाटापेट्ल (मेक्सिको), माउट सैन फ्रैंसिस्को (एरीजोना), शास्ता (कैलिफ़ोर्निया) रेनियर (वाशिंगटन), रैंजेल (अलास्का) आदि मुख्य ज्वालामुखी पर्वत है। कोलबिया पठार भारतीय लावा पठार की भाँति ज्वालामुखी से निकली हुई लावाचट्टानो से निर्मित है। इसके अतिरिक्त इस भाग में विशाल अतर्पर्वतीय एव गिरिपाद (पीडमोट) पठार तथा नदियों की अत्यंत गहरी घाटियाँ (कैनियन) वर्तमान है।

पूर्व से पश्चिम, विचाराधीन भूभाग के पाँच भौगोलिक विभाग है— १. पूर्व मे रॉकी पर्वतप्रणाली का क्षेत्र औसत रूप मे १,६०० कि० मी० से अधिक लबा तथा ३०० कि० मी० से अधिक चौडा है। इसकी उत्तरी तथा दक्षिणी प्रणालियो के बीच ग्रेट डिवाइट या वायोमिंग बेसिन है, जिसके द्वारा आवागमन की सुविधा प्राप्त होती है। इन पर्वतों मे कई समांतर श्रेणियाँ है जिनके मध्य नदियो की घाटियाँ स्थित है। २. रॉकी क्षेत्र के पश्चिम मे विषम धरातलीय अतर्पर्वतीय तथा गिरिपाद पठारों का विशाल क्षेत्र है, जिनमे उत्तर से दक्षिण अलास्का पठार, कोलंबिया पठार, ग्रेट बेसिन, कोलोरैडो पठार तथा मेक्सिको पठार है। कोलोरैडो तथा उसकी सहायक नदियो ने लगभग २,००० मीटर तक गहरी घाटियाँ (कैनियन) बना ली है। ३. इन पठारो के पश्चिम (अलास्का पठार के दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व) पुन. पर्वतीय श्रेणियाँ है जो उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम मे स्थित अलास्का से दक्षिण मे स्थित मेक्सिको तक चली गई है। उत्तर मे तथा उत्तर पश्चिम मे इनका नाम अलास्का पर्वतश्रेणी, पश्चिमी कनाडा मे कस्केड, पश्चिमी सयुक्त राज्य में सियरा नेवादा, तथा दक्षिण और मेक्सिको में सियरा मादरी है। अलास्का पर्वतश्रेणियो मे उत्तरी अमरीका के सर्वोच्च ११ शिखर वर्तमान है जिनमे माउंट मैकिनले (६,१०० मीटर सर्वोच्च है। ४. इन पर्वतश्रेणियो के पश्चिम, तथा समुद्रतटीय पर्वतों के मध्य, कई सँकरी उपजाऊ घाटियाँ है, जिनमें पगेट साउंड तथा कैलिफ़ोर्निया की घाटियाँ क्रमश: २४० तथा ८०० कि० मी० लंबी है। इन घाटियो के पश्चिम (अलास्का के दक्षिण) प्रशांत-महासागर-तटीय श्रेणियाँ (कोस्टल रेंजेज) फैली हुई है। (५) इनके पश्चिम प्रशांत महासागर का अत्यत सँकरा तटीय क्षेत्र स्थित है जहाँ, विशेषकर ब्रिटिश कोलंबिया के पास, छोटे छोटे द्वीप तथा खाड़ियाँ और फियोर्ड्स स्थित है। जिन स्थानों पर मैदान कुछ अधिक चौड़ा है, वहाँ मल्लाहों आदि के आवास मिलते है।

मेक्सिको में मध्यवर्ती पठार के पूर्व और पश्चिम, सियरा मादरी की पूर्वी तथा पश्चिमी श्रेणियाँ फैली है जो टेहुआटेपेक मे जाकर भारत की नीलगिरि श्रेणियो की तरह एकबद्ध हो जाती है। फलतः पठार दक्षिण मे सँकरा तथा उत्तर मे चौड़ा हो गया है। पूर्वी क्षेत्र समुद्र से दूर है; अतः तटीय मैदान चौड़ा है पर पश्चिमी तट पर्वतो के समुद्र से सटे होने के कारण सँकरा है। पठार की ढाल मेक्सिको की खाड़ी की ओर है।

जलप्रणाली—भूतल की संरचना तथा विकास की अंतर्विषमता के कारण कई प्रवाहप्रणालियाँ विकसित हुई है। संसार की सबसे लंबी नदी मिसिसिपी-मिस्सौरी (६,६४० कि० मी०) का विकास कई भूभागो के विकास के साथ सबद्ध है। पूर्वी पर्वतीय भागो से निकलनेवाली इसकी सहायक नदी ओहायो (२,०८० कि० मी०) मध्यकल्पयुगीन है जब कि पश्चिमी सहायक नदियाँ मिस्सौरी (४,३२० कि० मी०), आरकैंजास तथा रेड नदी तृतीयकयुगीन है। दक्षिणी तटीय भागो के विकसित होने पर मिसिसिपी की लंबाई लगभग दूनी हो गई। उत्तर मे प्रातिनूतन हिमयुगीन निक्षेप के कारण कई नदियाँ मिसिसिपी मे आत्मसात् हो गई और अब वे शीर्ष नदियो के रूप मे ही वर्तमान है। मिसिसिपी मेक्सिको की खाड़ी मे अत्यंत विशाल डेल्टा बनाती है। उक्त खाड़ी मे गिरनेवाली दूसरी प्रसिद्ध नदी रायो ग्राडे है जो रॉकी से निकलती है और अपने निचले प्रवाह मे मेक्सिको की सीमारेखा बनाती है। कॉर्डिलेरा की विभिन्न श्रेणियो से निकलकर प्रशांत महासागर मे गिरनेवाली नदियों मे यूकन, कोलंबिया एवं कोलोरैडो प्रमुख है। यूकन पश्चिमोत्तर कैनाडा तथा अलास्का मे प्रवाहित होकर बेरिंग जलडमरूमध्य के दक्षिण नॉर्टन साउंड मे गिरती है। कोलंबिया नदी, कैनाडा के ब्रिटिश कोलंबिया के रॉकी पर्वत से निकलकर ५,६६,८०० वर्ग कि० मी० के बेसिन से बहती हुई, प्रशांत महासागर मे गिरती है। स्नेक तथा स्पोकेन इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ है। कोलोरैडो नदी रॉकी से निकलकर उत्तरी अमरीका के सबसे अधिक सूखे राज्यो ऊटा, एरीजोना, दक्षिणी कैलिफ़ोर्निया एवं मेक्सिको के कुछ भागों से बहती हुई कैलिफ़ोर्निया की खाड़ी मे गिरती है। इसका खड्ड (कैनियन) कहीं कहीं २,००० मीटर तक गहरा है। उत्तरी सागर मे गिरनेवाली सर्वप्रमुख नदी मैकेंजी (३,६८० कि० मी०) है जो अनेक झीलों से होकर आती है। इसका मुहाना कई महीनों तक बर्फ से ढका रहता है। नेल्सन, अल्बानी, फोर्ट जार्ज आदि कई छोटी नदियाँ उत्तर मे हडसन की खाड़ी मे गिरती है। सेंट लारेंस नदी बड़ी झीलों से प्रवाहित होती हुई उत्तर पूर्व मे सेंट लारेंस की खाड़ी मे गिरती है। इसके मुहाने पर भी महीनो तक बर्फ जमी रहती है। पूर्वी पर्वतीय प्रदेश से निकलकर पूर्व मे अंध महासागर में गिरनेवाली नदियाँ—सस्केहाना, पोटोमक, डिलावर, जेम्स आदि—अत्यंत छोटी है। उपर्युक्त समुद्रगामी जलप्रणालियो के अतिरिक्त उत्तरी अमरीका मे एक विशाल अंतर्मुखी जलप्रणाली है जो शुष्क ग्रेट बेसिन मे मिलती है। इसके अतिरिक्त उत्तरी अमरीका मे अनेक झीले है, जिनमें सुपीरियर (८२,४१४ वर्ग कि० मी०), ह्यूरन (५६,५७० वर्ग कि० मि०), मिशिगन (५८,००० वर्ग कि० मी०), इरी (२५,७७० वर्ग कि० मी०), और ओंटेरियो (१६,५२८ वर्ग कि० मी०) आदि पाँच वृहत् झीलो के अतिरिक्त, साल्ट लेक, विनिपेग, ग्रेट स्लेव, ग्रेट बेयर आदि झीले प्रमुख है। सेंट लारेंस नदी तथा पाँच बड़ी झीले देशाभ्यंतर जलपथो के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

जलवायु—उत्तरी अमरीका की जलवायु पर चार बातो का विशेष प्रभाव पड़ता है—(१) अक्षाशीय स्थिति, (२) पर्वतो का उत्तर दक्षिण फैलाव, (३) नियतवाही हवाएँ और समुद्र की धाराएँ तथा (४) उत्तरी प्रशांत एवं उत्तरी ऐटलांटिक की हवा के कम दबाव के केंद्र। उच्च अक्षांशों मे स्थित होने के कारण कैनाडा का दो तिहाई भाग वर्ष के अधिकांश महीनों में बर्फ से ढका रहता है। पर्वतों के उत्तर दक्षिण फैले रहने के कारण उत्तरी दक्षिणी हवाएँ मध्य भाग मे बेरोक बहती है जिससे महाद्वीप का अधिकांश जाड़े मे अधिक ठंढा हो जाता है, परंतु ग्रीष्म मे इसका प्रभाव अच्छा होता है, क्योंकि मेक्सिको की खाड़ी से चलनेवाली हवाएँ कैनाडा के उत्तरी भाग तक पहुँच जाती है। पर पूर्व पश्चिम आकर वर्षा करनेवाली

हवाओं या सामुद्रिक धाराओं का प्रभाव इन तटीय पर्वतों के कारण अंतप्रीत मे नहीं पड़ने पाता। जाड़े में संपूर्ण कैनाडा, अलास्का, न्यूफाउंडलैंड तथा मध्यवर्ती मैदान मे अर्धोत्तरी भाग का ताप ३२° फा० से कम रहता है। मेक्सिको खाड़ी के तटीय भागों तथा मेक्सिको में ४८°-६४° फा० का ताप रहता है। अतः जाड़े मे महाद्वीप का कोई भाग अधिक गरम नहीं रहता। ग्रीष्म ऋतु में केवल उत्तरसागरीय तट तथा उसके निकटवर्ती भागों को छोड़कर संपूर्ण महाद्वीप मे ३२° फा० से अधिक ताप रहता है। अतः महाद्वीप के अधिकांश मे जनवरी जुलाई के माध्यमिक तापों का अंतर ४०° फा० से अधिक तथा उत्तर में ७०° फा० से भी अधिक पड़ जाता है। ६०° उ० अ० के उत्तरवाले पश्चिमी तट के भागों मे गरम जलधाराओं का प्रभाव पड़ता है, लेकिन समकक्ष पूर्वी तट का जल लैब्राडोर की ठंढी जलधारा के कारण जम जाता है। दक्षिण में पश्चिमी तटों पर कैलिफोर्निया की ठंढी धारा चलती है और समकक्ष पूर्वी तटों पर मेक्सिको की गरम धाराएँ।

इसी प्रकार पर्वतीय स्थिति, चक्रवातीय पथ, समुद्र से निकटता, हवाओं की दिशा आदि का प्रभाव वर्षा पर पड़ता है। ४०° उ० अ० से उत्तरी भागों मे पश्चिमी तट पर वाष्पयुक्त पश्चिमी हवाओं के कारण प्रचुर वर्षा हो जाती है पर समकक्ष पूर्वी तट वर्षाविहीन रहता है। ३०°-४०° उ० अ० में पश्चिमी तट पर जाड़े में पछुवा हवाओं द्वारा वर्षा होती है, परंतु गर्मी मे यह भाग उत्तर पूर्वी व्यापारिक हवाओं मे पड़ने के कारण शुष्क रह जाता है। ३०° उ० अ० के दक्षिण का पश्चिम-तटीय भाग साल भर इन हवाओं के प्रभाव में रहने के कारण मरुस्थल है, पर ये ही हवाएँ समकक्ष पूर्वी क्षेत्रों---फ्लोरिडा और मेक्सिको---मे प्रचुर वर्षा करती हैं। मेक्सिको की खाड़ी से हवाएँ मिसिसिपी की घाटी में ग्रीष्मकाल मे प्रवेश करती है। उनके खाड़ी के निकटवर्ती स्थानों मे अधिक वर्षा होती है और भीतरी स्थानों में वर्षा की मात्रा दूरी के अनुसार कम होने लगती है। उत्तरी अमरीका मे अधिक वर्षावाले (१०० से २०० सें० वार्षिक) क्षेत्र दक्षिण-पूर्वी मेक्सिको, संयुक्त राज्य के ऐटलांटिक तटीय राज्य, मेक्सिको की खाड़ी के तटवर्ती पूर्वी राज्य, ब्रिटिश कोलंबिया, यूकन के पश्चिमतटीय भाग तथा अलास्का के दक्षिणी तट हे। ५० से १०० सें० तक वर्षा मेक्सिको के अन्य शेष भाग, टेक्सास, मिसिसिपी घाटी के राज्यों तथा विनिपेग झील से पूर्व स्थित कैनाडा के राज्यों मे होती है। ५० सें० से कम वर्षा के क्षेत्र के अंतर्गत रॉकी पर्वत की पूर्वी ढाल पर स्थित पठारी मैदान, पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के मध्यवर्ती पठार, ग्रेट बेसिन, कैलिफ़ोर्निया का रेगिस्तानी भाग, कैनाडा के सस्केचवान, अलबर्टा, मेकेंजी, पूर्वी ब्रिटिश कोलंबिया, यूकन पठार के पश्चिमी तथा उत्तरी प्रांत और अलास्का का उत्तरी भाग संमिलित हैं।

वनस्पति, जीवजंतु---महाद्वीप में टुंड्रा से लेकर उष्ण कटिबंध तक सभी प्रकार की जलवायु मिलने के कारण सभी प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती हैं। उत्तरी सागर के तटीय भागों में टुड्रा वनस्पति तथा दक्खिन में भोजपत्र, चिनार एवं नम्रा (विलो) आदि उगते है। इसके दक्षिण मे लगभग ४,८०० कि० मी० लंबा और लगभग १०० कि० मी० चौड़ा भाग कोण-धारी वनों (सरो, देवदारु, पोपलर इत्यादि के वृक्षों) से आच्छादित है। पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र के उत्तरी भागों में कोणधारी तथा दक्षिण में पतझडवाले वृक्ष (ओक, चेस्टनट, एल्म, मेपुल आदि) हैं। पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के उत्तरी भागों में सरो, देवदारु आदि तथा दक्षिणी भागों में डगलस फ़र, रेड सीडर (रक्त देवदारु) आदि मुख्य है। मेक्सिको क्षेत्र में उष्ण कटि-बंधीय (महोगनी आदि के) वन मिलते हैं। पर्वतीय भागों में पर्वतीय वनस्पतियाँ प्राप्य है। इन पर्वतीय भागों को छोड़कर अधिकांश शुष्क पठारी भागों में मरु तथा अर्धमरु वनस्पतियाँ (सेहुड़, नागफनी इत्यादि) मिलती हैं। मध्यवर्ती मैदान के पूर्वी भागों मे लंबी घासें तथा पश्चिमी भागों में छोटी घासें प्रमुख वनस्पति हैं। कृषि तथा चरागाहों की वृद्धि के साथ मनुष्य के विनाशकारी कार्यों द्वारा प्राकृतिक वनस्पति का अत्यधिक ह्रास हुआ है।

उत्तरी अमरीका के पशुपक्षी यूरेशिया के पशुपक्षियों से अधिक मिलते जुलते हैं। छछूंदर, शल्यक (आर्मोडिलो), साही, प्रेअरी कुत्ता, रॉकी पर्वतीय बकरी आदि पशु तथा बाल्टिमोर कानन (ओरियोल), काउ बर्ड, रालभाश (ग्लाइ कैचर), कैलिफ़ोर्निया बटेर (क्वेल) आदि पक्षी उत्तरी अमरीका की विशेषताएँ हैं। कुछ पक्षी दक्षिण अमरीकी पक्षियों से भी मिलते जुलते हैं।

जनसंख्या---उत्तरी अमरीका की कुल जनसंख्या १९७० की जन-गणना तथा अनुमानों के अनुसार २६,९८,९२,५८९ है जिसमे संयुक्त राज्य मे २०,०२,५५,१५१ (अर्थात दस करोड़ से अधिक), कैनाडा मे २,१३,२४,००० (दो करोड़ से अधिक) और मेक्सिको में ४,८३,१३,४३८ (लगभग पाँच करोड़) लोग रहते है। अतः प्रति वर्ग कि० मी० संयुक्त राज्य मे २१, कैनाडा मे २ (२.३) तथा मेक्सिको मे २५ है। विश्व के परिप्रेक्ष्य मे उत्तरी अमरीका आस्ट्रेलिया की तरह अल्प आबाद है। न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय स्तरों पर तो इससे भी अधिक विषमता पाई जाती है। अलास्का मे ५ वर्ग कि० मी० से भी अधिक क्षेत्र मे केवल एक मनुष्य रहता है। वस्तुतः अलास्का मे १५ लाख वर्ग कि० मी० क्षेत्र मे तीन लाख से भी कम लोग रहते है जब कि केवल १७ वर्ग कि० मी० से भी कम क्षेत्रफलवाले हवाई द्वीप मे लगभग साढे सात लाख लोग रहते है। संयुक्त राज्य के सतत महाद्वीपीय भाग को १००° प० दे० पर विभाजित करके जनसंख्या के वितरण को देखने पर स्पष्ट है कि उससे पश्चिम स्थित राज्यों मे प्रति वर्ग कि० मी० घनत्व अत्यंत कम है और यह उनके पर्वतीय, कम उपजाऊ, मरु या हिमाच्छादित अथवा कम ताप-मान होने के कारण खेतीबाड़ी मे कम प्रगति के कारण है, दूसरी ओर इसके पूर्व राष्ट्र के धुरी राज्य है जो खेतीबाड़ी तथा खनिजों और उद्योगधंधों तथा व्यापार की दृष्टि से न केवल देश मे बल्कि विश्व मे समुन्नत हैं। उत्तरपूर्वी औद्योगिक क्षेत्र जिसमे बोस्टन से लेकर वाशिंगटन राजधानी नगर तक के क्षेत्र भी संमिलित है, अत्यंत सघन आबाद और आर्थिक-औद्योगिक-व्यापारिक धुरी है। कुल जनसंख्या की दृष्टि से पश्चिम मे प्रशांत-महा-सागर-तटीय राज्य कैलिफोर्निया (१,९७,१५,४९०), पूर्व मे अटलांटिक-महासागर-तटीय न्यूयार्क (१,७९,३९,७१२) एवं पेंसिलवानिया (१,१६,६६,५७५) और दक्षिण मे मेक्सिको खाड़ीतटीय टेक्सास (१,०९,८९,१२३) तथा मध्य मे बड़े झीलतटीय इलिनाय (१,०९, ७७,९०८) और ओहायो (१,०५,४२,०३०) इत्यादि छह राज्य हैं जिनमें एक करोड़ से अधिक जनसंख्या रहती है और ये सभी खेतीबाड़ी एवं उद्योगधंधों तथा व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ५० लाख से अधिक आबादीवाले राज्यों मे मिशिगन (८७,३८,१८७), न्यूजर्सी (७०,८४, ९९२), फ्लोरिडा (६६,७१,१६२), मैसाच्युसेट्स (५६,३०,२२४) और इंडियाना (५१,४३,४२२) के पाँच राज्य हैं। अतः उपर्युक्त दस राज्यों मे संयुक्त राज्य की ५५ प्रतिशत से अधिक आबादी बसी है। कैनाडा की भी ९० प्रतिशत जनसंख्या दक्षिणी भाग (अटलांटिक तट), सेंट लारेंस की घाटी, बड़ी झीलों के भूभाग तथा प्रेअरी प्रदेशों मे स्थित है। ये ही भाग खेतीबाड़ी, उद्योगधंधों, व्यापार, यातायात के साधनों तथा अन्य प्राकृतिक सांस्कृतिक ससाधनों की दृष्टि से प्रमुख हैं। वस्तुतः ओंटेरियो (७६, ११,०००) एवं क्वेबेक (६०,०५,०००) दो ही प्रांतों मे, जहाँ कैनाडा का कुल चौथाई क्षेत्रफल है, ६० प्रतिशत से अधिक आबादी पाई जाती है जबकि दूसरी ओर यूकन क्षेत्र के ५ लाख से अधिक वर्ग कि० मी० क्षेत्र में केवल १६,००० लोग रहते है और उत्तर पश्चिम क्षेत्र मे ३३ लाख वर्ग कि० मी० में केवल ३३,००० लोग रहते हैं। वस्तुतः कैनाडा की ७५ प्रतिशत जनता नगरों मे रहती है जो अधिकांशतः संयुक्त राज्य की सीमा से १५० कि० मी० के अंदर स्थित हैं। संयुक्त राज्य एवं कैनाडा के दोनों सतत घने आबाद क्षेत्रों के मिल जाने से उत्तरी अमरीका का मध्य-उत्तर-पूर्वी भाग संसार के चार सर्वाधिक घने आबाद बड़े प्रदेशों मे से एक है। मेक्सिको पूर्णतया पठारी ऊँचा प्रदेश है और यहाँ जनसंख्या वितरण मे अपेक्षाकृत कम विषमता पाई जाती है। अधिकतर आबादी यहाँ कर्क रेखा के दक्षिण स्थित सँकरे भाग तथा आनावाक नामक पठार पर पाई जाती है। कृषि, उद्योग एवं यातायात के विकास और प्रादेशिक संतुलन एवं सुरक्षा आदि के चलते अब सर्वत्र विषमता कम होते जाने की प्रवृत्ति दीख रही है।

आव्रजन---उत्तरी अमरीका में आस्ट्रेलिया की तरह ही जनसंख्या की

वृद्धि में संसार के अन्य भागों की अपेक्षा बाहर से व्यक्तियों के आने का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। १९४१–५० के दशक में भी अकेले संयुक्त राज्य में दस लाख से अधिक (१०,३५,०००) आव्रजक, जिनमें ७,२२,००० महाद्वीपीय यूरोप से, १,३२,००० ब्रिटेन से तथा शेष विश्व के अन्य भागों से आए।

नगर—जनसंख्या तथा औद्योगिक व्यापारिक वृद्धि के साथ साथ महाद्वीप में नगरीकरण बढ़ रहा है। दस लाख या उससे अधिक जनसंख्यावाले (दसलक्षीय) महानगर अब महाद्वीप में ३१ हो गए हैं जिनमें २९ संयुक्त राज्य में, एक कैनाडा में और एक मेक्सिको में है। संयुक्त राज्य में जनसंख्यानुसार न्यूयार्क (११,५२९ ह०), लॉस ऐंजेलस (७,०३२ ह०, कैलिफोर्निया), शिकागो (६,९७९ ह० इलि०), फिलाडेल्फिया (४,८१८ ह० पेंसि०-न्यूजर्सी), डिट्रायट (४,२०० ह०, मिशिगन), सैन फ्रैंसिस्को (३,११० ह०, कैलिफोर्निया), वाशिंगटन (२,८६१ ह० डिस्ट्रिक्ट कोलंबिया), बास्टन (२,७५४ ह० मैसाचुसेट्स), पिट्सबर्ग (२,४०१ ह०, पेंसि०), क्लीवलैंड (२,०६४ ह०, क्लीवलैंड), सेंट लुई (२,३६३ ह०, मिस्सोरी), बाल्टीमोर (२,०७१ ह०, मेरीलैंड), मिनियापोलिस (१,८१४ ह०, मेनिसोटा), मिलवाउकी (१,४०४ ह०), ह्यूस्टन (१,४८५ ह०, टेक्सास), बफैलो (१,३४९ ह०, न्यूयार्क) एवं डालास (टेक्सास), सिनसिनाटी (ओहायो-केंटकी), कैंसास सिटी, सिएटल, ऐटलांटा सायासो, न्यूआर्लियन्स, सान डिएगो, डेनवर, इंडियानापोलिस, सान जोस, सन बर्नार्डिनो रिवरसाइड एवं सेंट पोटर्सबर्ग हैं। इनके अतिरिक्त तीस नगरों की जनसंख्या पाँच लाख से ९,९९,९९९ तक है। ये सभी बड़े नगर निगमित क्षेत्र हैं जिनमें प्रमुख नगर पर आश्रित नगरों की जनसंख्या भी सम्मिलित रहती है। वैयक्तिक यातायात और संदेशवाहन के साधनों में वृद्धि होने से प्रमुख नगरों और आश्रित नगरों में कार्यात्मक संबद्धता तेजी से बढ़ रही है। इनमें से अधिकांश नगर उद्योगप्रधान, व्यापारिक तथा सेवाकेंद्र हैं। संयुक्त राज्य के दसलक्षीय नगरों में से पहले अधिकांश उत्तरपूर्वी औद्योगिक क्षेत्र में स्थित थे लेकिन अब उनकी संख्या केवल ५० प्रतिशत रह गई है। अब अन्य प्रदेशों—पश्चिम तटीय क्षेत्र (कैलिफोर्निया, वाशिंगटन), दक्षिणी तटीय क्षेत्र (टेक्सास-लूइजियाना-फ्लोरिडा), तथा शेष अधिकांश मध्य एवं मध्यपश्चिमी कृषिक्षेत्र में विकसित हैं। अतः अब संयुक्त राज्य में भी क्षेत्रीय प्रादेशिक विकास के संतुलन की ओर, विशेषत सुरक्षा की दृष्टि से, ध्यान दिया जा रहा है। वाशिंगटन (डिस्ट्रिक्ट कोलंबिया) संयुक्त राज्य की राजधानी है जहाँ सभी प्रमुख संघीय (फेडरल) कार्यालय तथा विदेशी दूतावास आदि स्थित हैं। महानगरों में से पूर्वी तट पर उत्तर से दक्षिण बोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया (डेलावेयर नदी) तथा बाल्टिमोर अटलांटिक महासागरतटीय बंदरगाह हैं। पश्चिमी (प्रशांत महासागरीय तट) पर सैन फ्रैंसिस्को तथा लॉस ऐंजेल्स एवं दक्षिणी तट (मेक्सिको का खाड़ी) पर ह्यूस्टन आदि बड़े बंदरगाह एवं औद्योगिक व्यापारिक नगर हैं। आंतरिक बृहत् औद्योगिक तथा संग्राहक, वितरक नगरों में शिकागो (मिशिगन झील पर स्थित), डिट्रायट, सेंट लुई, डिट्रायट, क्लीवलैंड, बफैलो, कैंसास सिटी आदि प्रमुख केंद्र हैं। ह्यूस्टन अंतरिक्ष यान छोड़ने और अंतरिक्ष शोधकार्य (स्पेस रिसर्च) केंद्र हो गया है। कैनाडा में माँट्रियल (क्विबेक प्रांत, १२,२२,२५५) बृहत्तम नगर है और सेंट लारेंस नदी पर स्थित बंदरगाह एवं प्रमुख व्यापारिक एवं औद्योगिक केंद्र है। इसके अतिरिक्त वहाँ टॉरंटो (६,६४,५८४), वैंकूवर (४,१०,३७५), एडमांटन (३,७६,९२५) बड़े नगर हैं। मेक्सिको में मेक्सिको सिटी (७०,०५,८५५) उत्तरी अमरीका का तीसरा बृहत्तम नगर है।

निवासी तथा भाषाएँ—संयुक्त राज्य में १९७० के जनगणनानुसार कुल जनसंख्या में से १,७७,६१२ ह० (८७%) श्वेतवर्ण, २२,६७२ ह० (११%) हब्शी, ५२३ ह० (१९६० में) रेड या अमरीकी इंडियन एवं २,८८० ह० अन्य प्रजाति और वर्णों के लोग थे। १९०० ई० में कुल ७६,०१४ ह० जनसंख्या में लगभग ८८% श्वेतवर्ण, १०.२% हब्शी एवं शेष इंडियन एवं अन्य लोग थे। लगभग ५५ लाख यहूदी हैं लेकिन आर्थिक, व्यापारिक रूप में उनका महत्व अपेक्षाकृत काफी अधिक है। कैनाडा की जनसंख्या में ४०% से अधिक लोग ब्रिटिश मूल तथा ३०% के लगभग फ्रेंच मूल के हैं। इधर कैनाडा में विश्व के विभिन्न भागों से आनेवाले आव्रजकों के लिये अधिक उदार नीति अपनाई गई है। क्विबेक के ब्रिटेन द्वारा विजित होने के बावजूद वहाँ के निवासियों ने फ्रेंच भाषा, रहन सहन और संस्कृति को अक्षुण्ण रखा है। जर्मन, यूक्रेन, इटली आदि की भी संख्या अधिक है। कुल मिलाकर वहाँ ९८% लोग श्वेतवर्ण के हैं। कैनाडा के पुराने आदिवासियों (रेड इंडियन तथा एस्किमो) की संख्या वहाँ कुल आबादी का केवल १.२% (कुल २,३७,००० रेड इंडियन) है। रेड इंडियनों में से ७४% वहाँ लगभग ६० लाख एकड़ भूमि पर फैले संरक्षित क्षेत्रों (रिजर्वेशन) में रहते हैं। एस्किमो लोग उत्तरपश्चिमी क्षेत्र, उत्तरी क्विबेक तथा लैब्रेडोर में रहते हैं। मेक्सिको की प्रजातीय संरचना संयुक्त राज्य और कैनाडा से बिल्कुल भिन्न है—वहाँ कुल जनसंख्या में ७० % मेस्टिजो अर्थात् रेड इंडियन तथा श्वेत जातियों के वर्णसंकर वंशज हैं और २८% रेड इंडियन हैं। भाषा की दृष्टि से भी संयुक्त राज्य और कैनाडा ऐंग्लो-अमरीकी अर्थात् अंग्रेजी भाषाभाषी हैं और केवल कैनाडा के क्विबेक प्रांत में तथा कुछ कुछ न्यू ब्रंजविक, आंटेरियो और मैनिटोबा में फ्रेंच भाषा एवं संस्कृति (लगभग ३० % लोगों में) पाई जाती है, जब कि मेक्सिको लैटिन अमरीकी देश है और वहाँ स्पेनी भाषा का बोलबाला है, यद्यपि कुछ लोग विभिन्न इंडियन भाषाएँ बोलते हैं।

कृषि—उत्तरी अमरीका की कृषि जलवायु, मिट्टी, धरातल और बाजार, नए आविष्कारों आदि तथा यातायात के साधनों द्वारा प्रभावित हुई है। इस महाद्वीप में कृषिक्षेत्र विभिन्न प्राकृतिक एवं मानवीय सुविधाओं के कारण उसी प्रकार भू-भाग-विशेष में केंद्रित हैं जिस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र। यहाँ की खेती व्यापारिक ढंग पर बड़े पैमाने पर होती है; अतः अधिकाधिक लाभ उठाने एवं प्रतिद्वंद्वितापूर्ण बाजारों में सुविधा प्राप्त करने के लिये यहाँ विशेष प्रकार की खेती उन विशेष क्षेत्रों में होती है जहाँ सभी सुविधाएँ सर्वाधिक उपलब्ध हैं। उदाहरणतः कैनाडा के प्रेअरीज और संयुक्त राज्य के मिसिसिपी मैदान के उत्तर-पश्चिमी भाग में गेहूँ, मध्यवर्ती भाग में मक्का तथा दक्षिणी भागों में कपास आदि फसलों के लिये श्रेष्ठतम जलवायु एवं धरातल तथा मिट्टी पाई जाती है, बाजार भी समीप है, मशीनों से कार्य हो सकता है, अत: ये क्षेत्र इन फसलों के लिये संसारप्रसिद्ध हैं। यद्यपि इन क्षेत्रों में अन्य फसलों की भी खेती होती है, तथापि संबंधित क्षेत्र को मुख्य फसल के नाम पर ही उन्हें संबोधित किया जाता है।

इस महाद्वीप ने संसार को तीन मुख्य फसलें प्रदान की हैं—मक्का, तंबाकू और आलू। प्रथम उपनिवेशियों को जंगल काटने, मिट्टी को उपजाऊ बनाने, पानी की सुविधा प्राप्त करने, कीड़ों तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियों का सामना करने में बड़ी कठिनाई झेलनी पड़ी थी। मजदूरों की कमी के कारण कृषि के नए नए औजारों का आविष्कार हुआ। फलत: आज यहाँ लगभग १०% लोग ही कृषि में लगे हैं। संयुक्त राज्य में तो यह प्रतिशत ५ से भी कम हो गया है जबकि कुल निर्यात का २० % से अधिक उस देश ने कृषि-धंधों से प्राप्त होता है। महाद्वीप के मध्यवर्ती बड़े मैदान के उत्तरी भाग में ग्लेशियर द्वारा बिछाई हुई नरम एवं उपजाऊ मिट्टी, दक्षिणी भाग में नदियों द्वारा लाई हुई जलोढ मिट्टी तथा प्रेअरीज के घास के मैदान की काली मिट्टी अत्यंत उपजाऊ है। इसके अतिरिक्त यहाँ खाद का अधिकाधिक प्रयोग होता है। खेतों के चक बहुत बड़े बड़े (कैनाडा में लगभग १०० हे० से ४००-५०० हे० तक और संयुक्त राज्य में ८० हे० से २५० हे० तक) हैं, अतः मशीनें आसानी से प्रयुक्त होती हैं। देशी तथा विदेशी बाजार निश्चिततया एवं बड़े हैं, और सरकार की ओर से क्रय विक्रय के लिये ही सुविधाएँ नहीं प्राप्त हैं, प्रत्युत अधिक दाम देकर भी वह फसल खरीदती है। फलतः कृषक को हानि की आशंका नहीं रहती। उत्पादन और बाजार के तादात्म्य तथा संतुलन को दृष्टि में रखते हुए संयुक्त राज्य में सरकार कई दर्जन फसलों के बोए गए क्षेत्रफल को भी नियंत्रित करती है लेकिन नियंत्रण द्वारा प्रदत्त क्षेत्रफल पर जितनी भी फसल कृषक उगा ले, उसे पहले से ही निश्चित दर पर सरकार पूरा का पूरा खरीदने को बाध्य रहती है। कृषक प्रायः इसीलिये आधुनिकतम संसाधनों एवं तकनीकों का उपयोग करके अपने खेतों में अधिक से अधिक उत्पादन बढ़ाने को उत्सुक रहता है। उसे

मौसम की अनिश्चितता (बाढ़, सूखा, टिड्डी, रोग, व्याधि आदि) के विरुद्ध फसलों के बीमे का सुरक्षात्मक कवच भी प्राप्त है। इसलिये इस महाद्वीप में गेहूँ, मक्का, रुई, तंबाकू, मांस और दूध की बनी वस्तुओं का उत्पादन संसार में सर्वाधिक होता है। पानी की असुविधावाले पश्चिमी क्षेत्रों में सिंचाई तथा अन्य कार्यों के लिये विशाल बहुमुखी योजनाएँ कार्यान्वित की गई हैं, जिससे कैलिफ़ोर्निया जैसा मरुसदृश भूभाग संयुक्त राज्य का उद्यान हो गया है। कैलिफ़ोर्निया के इन सिंचित क्षेत्रों, मिशिगन झील के पास के क्षेत्र एवं दक्षिणी तटीय भाग में संयुक्त राज्य के मुख्य फल उगाए जाते हैं।

खनिज साधन—यह महाद्वीप खनिज संपत्ति में बहुत समृद्ध है। शक्ति के प्रमुख खनिज—कोयला एवं खनिज तेल तथा प्राकृतिक गैस—की न केवल मात्रा विशाल है, कोटि भी उच्च है; साथ ही औद्योगिक विकास के लिये इनका वितरण भी अत्यंत सुविधापूर्ण है। विश्व में १९६८ में कोयला तुल्यांकों में कुल ६१४ करोड़ मीट्रिक टन ऊर्जा का उत्पादन हुआ था जिसमें २०५ करोड़ टन अकेले उत्तरी अमरीका में हुआ था। वस्तुतः १९६८ में विश्व में कुल कोयला तथा लिग्नाइट उत्पादन (२२७ क० मीट्रिक टन) में उत्तरी अमरीका ने ५१, खनिज तेल (२५८ क० मीट्रिक टन) में ६८, प्राकृतिक गैस (११९ क० मीट्रिक टन) में ८०, जलविद्युत् एवं अणुशक्ति (१४ क० मीट्रिक टन) में से ५ क० मी० टन (सभी कोयला तुल्यांकों में) उत्पादन किया। उत्पादन की तुलना में ऊर्जा का सर्वाधिक प्रयोग उत्तरी अमरीका में ही होता है। १९६८ में विश्व का औसत प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपभोग १,७३३ किलो० था किंतु उत्तरी अमरीका में उसकी मात्रा १०,१५५ किलो० (यूरोप, एशिया में केवल १७० किलो०) थी। वस्तुतः औद्योगिक, यातायात एवं घरेलू उपयोगों में ऊर्जा की अधिक खपत है। अतः विश्व ऊर्जा का कुल ३३% से अधिक उत्पादन (१९६८) करने पर भी उत्तरी अमरीका में स्थित विश्व की कुल ८% जनता को (?) ऊर्जा के लिये अन्य देशों पर आश्रित रहना पड़ रहा है। १९६८ में विश्व के कुल विद्युत् उत्पादन (४,१९२ अरब किलोवाट प्रति घंटा) में से १,६५३ अरब किलोवाट प्रति घंटा का उत्पादन उत्तरी अमरीका में हुआ। इतने पर भी उत्पादन को और अधिक बढ़ाना आवश्यक होता जा रहा है। चीन के बाद कोयले का भांडार यहीं सर्वाधिक है। यह संसार के ८०% से भी अधिक ऐंथ्रासाइट कोयले का उत्पादन करता है। यहाँ बिटूमिनस एवं लिग्नाइट कोयले के भी विशाल भांडार पाए जाते हैं। कैनाडा के विभिन्न क्षेत्रों—नोवा स्कोशिया, न्यू ब्रंजविक एवं पश्चिमी रॉकी क्षेत्रों में, और संयुक्त राज्य के पूर्वी पर्वतीय प्रदेश में (जहाँ अधिकांश उद्योग धंधे विकसित हैं) - अधिकांश कोयला मिलता है। शेष कोयला मैदानी दक्षिणी तटीय भाग, पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश, अलास्का तथा मेक्सिको में मिलता है। संसार का ३०% तेल भांडार यहाँ है। तेल कैनाडा के ऑल्बर्टा प्रांत, मेक्सिको के पूर्वी तट तथा संयुक्त राज्य में दक्षिणी और मध्यवर्ती भाग एवं कैलिफ़ोर्निया तथा अलास्का में प्राप्य है। प्राकृतिक गैस में भी संयुक्त राज्य तथा कैनाडा धनी हैं। इन खनिज शक्तियों के अतिरिक्त उत्तरी अमरीका जलविद्युत् शक्ति में भी समृद्धिशाली है और संसार के कुल विकसित जलविद्युत् का ४० प्रतिशत इसी महाद्वीप में है। यूरेनियम का भी यहाँ समुचित भांडार है।

इसके अतिरिक्त उत्तरी अमरीका संसार के लोहा, चाँदी, निकेल, गंधक, फ़ॉस्फ़ेट, मॉलिब्डेनम, ताँबा, सीसा एवं जस्ता का सबसे बड़ा उत्पादक एवं उपभोक्ता है। कैनाडा के कई क्षेत्रों के अतिरिक्त बड़ी झीलों के प्रदेश में, जहाँ झीलों द्वारा सर्वाधिक सस्ता यातायात साधन प्राप्त है, लौह-भांडार है जहाँ से महाद्वीप का ८०% लोहा निकलता है। कैनेडियन शील्ड में संसार का ३३% सोना, ८५% निकेल एवं ५०% कोबाल्ट के अतिरिक्त पिचब्लेंड (जिसमें संसार का ४०% रेडियम मिलता है), चाँदी, प्लैटिनम, ताँबा, तथा अन्य कई धातुएँ निकलती हैं। महाद्वीप में सोना कैनाडा के ऑन्टेरियो एवं क्वेबेक प्रांत और संयुक्त राज्य के कैलिफ़ोर्निया, कोलोरैडो, नेवादा एवं अलास्का क्षेत्रों में मिलता है; ताँबा मैकेंज़ी की घाटी, क्वेबेक प्रांत, संयुक्त राज्य के पश्चिमी राज्यों एवं सुपीरियर झील के दक्षिण में मिलता है; सीसा, जस्ता एवं चाँदी संयुक्त राज्य के पश्चिमी तथा मध्य-दक्षिणी राज्यों और मेक्सिको में उपलब्ध है। संसार का ७५% गंधक केवल लूइज़ियाना एवं टेक्सास में निकाला जाता है। फ़ॉस्फ़ेट पश्चिमी क्षेत्रों एवं फ्लोरिडा तथा आसपास के क्षेत्रों में प्राप्त होता है। ऐल्युमिनियम (संयुक्त राज्य में संसार का केवल ३%), मैंगनीज़ तथा मॉलिब्डेनम को छोड़कर अन्य धातु तथा खनिज, जैसे हीरा एवं अन्य मणियाँ, प्लैटिनम, ऐंटिमनी, पारा आदि की इस महाद्वीप में केवल सीमित पूर्ति हो पाती है और कुछ को पूर्णतया आयात करना पड़ता है। प्राप्य खनिज साधनों का महाद्वीप ने सर्वाधिक विकास एवं उपयोग किया है।

उद्योग धंधे तथा औद्योगिक क्षेत्र—उत्तरी अमरीका कृषि, जंगल काटने एवं लकड़ी पैदा करने, मछली मारने, खनिज खोदने के अतिरिक्त उद्योग धंधों के लिये भी सुप्रसिद्ध है। उपनिवेशियों ने यहाँ पूर्वी तट पर आकर छोटे छोटे व्यवसाय करना प्रारंभ किया और शनैः शनैः सेंट लारेंस की घाटी, बड़ी झीलों के प्रदेश, एवं मध्यवर्ती बड़े मैदानों में व्यवसायों की उन्नति हुई। संयुक्त राज्य एवं कैनाडा के औद्योगिक क्षेत्र एक दूसरे से मिले हुए हैं। इनमें बड़ी झीलों, रेलों, सड़कों एवं समुद्रों द्वारा सस्ते यातायात का साधन, पास ही में प्राप्य लोहा एवं कोयला, घनी आबादी, कृषि संबंधी एवं वानस्पतिक कच्चे मालों की सुविधा, बड़े स्थानीय बाजार तथा बड़े बंदरगाहों द्वारा जुड़ा हुआ अंतरराष्ट्रीय बाजार, स्थायी सरकारी सुरक्षा, प्रलयंकर महायुद्धों से सुरक्षा, सुदक्ष श्रमिक एवं अधिकाधिक पूँजी की सुविधा और उद्योगों के प्रवर्तकगण के संवेग आदि के कारण संसार के बड़े से बड़े उत्पादक तथा औद्योगिक क्षेत्र विकसित हो गए हैं। कैनाडा के (१) समुद्रप्रांतीय क्षेत्र, (२) क्वेबेक-ऑन्टेरियो-मांट्रियल क्षेत्र, संयुक्त राज्य के (३) ईरी-क्लीवलैंड-बफ़ैलो क्षेत्र, (४) पिट्सबर्ग-यंग्स्टाउन क्षेत्र, (५) न्यू इंग्लैंड स्टेट्स क्षेत्र तथा न्यूयार्क-पेंसिलवेनिया के विभिन्न औद्योगिक क्षेत्र जो विशेष उद्योगों में संलग्न हैं, (६) मध्यवर्ती अटलांटिक तटीय क्षेत्र, (७) दक्षिण का वर्जीनिया-ऐलाबैमा क्षेत्र, (७) मिशिगन क्षेत्र (शिकागो-गैरी) तथा (८) सिनसिनाटी-इंडियानापोलिस क्षेत्र उत्तर अमरीका के प्रमुख औद्योगिक क्षेत्र हैं। इनमें लोहे एवं इस्पात, धातु एवं मशीन, इंजीनियरिंग, मोटर तथा साइकिल, जहाज, सूती, ऊनी तथा अन्य कपड़े, खाद्य पदार्थ, कागज, फर्नीचर आदि के तथा विभिन्न अन्य सैकड़ों उद्योग विकसित हैं। ये औद्योगिक क्षेत्र विशेष उद्योगों के लिये लब्धप्रतिष्ठ हैं; उदाहरणतः डिट्रायट मोटरकारों के लिये, पिट्सबर्ग इस्पात के लिये, न्यू इंग्लैंड राज्य विशेष प्रकार के कपड़ों के लिये, दक्षिणी ऐलाबैमा क्षेत्र लोहा, इस्पात एवं मोटे तथा मध्यम श्रेणी के कपड़ों के लिये तथा सेंट लारेंस नदी की घाटी कागज के व्यवसाय के लिये। इनके अतिरिक्त ऊँचे मैदानी क्षेत्रों में से डेनवर औद्योगिक क्षेत्र, पश्चिमी तट पर लॉस ऐंजिलस क्षेत्र, एवं सैनफ्रेंसिस्को-सिएटल-पोर्टलैंड क्षेत्र में उद्योग विकसित हो रहे हैं और ये पश्चिम की माँगों की पूर्ति कर रहे हैं। डेनवर में लोहे, इस्पात एवं अन्य धातुओं के कार्य, पश्चिमतटीय क्षेत्रों में फर्नीचर, कागज, मछली के व्यवसाय तथा लॉस ऐंजिलस में वायुयान तैयार करने, फिल्म बनाने एवं फलों संबंधी व्यवसाय पनप रहे हैं। कैनाडा के वैंकूवर क्षेत्र में भी इसी प्रकार के उद्योग विकसित हो रहे हैं। मेक्सिको में मेक्सिको एवं वेराक्रूज़ नगरों के निकट सूती कपड़ों एवं टूरेंगो, टोरेन और मांटरे में लोहे एवं इस्पात के उद्योग विकसित हैं।

यातायात के साधन—उत्तरी अमरीका में यातायात के आधुनिक साधन बहुत सुविकसित और समृद्ध हैं। महाद्वीप के यातायात एवं उनके साधन तीन प्रमुख बातों द्वारा प्रभावित हुए हैं। प्रथम, इस महाद्वीप में वर्तमान जनसंख्या अटलांटिक महासागर के तट पर धीरे धीरे बढ़ती गई और जैसे जैसे स्थानाभाव हुआ, महाद्वीप के भीतर पश्चिम की ओर विसर्जित होती गई। द्वितीय, लोगों को प्राकृतिक अड़चनों का सामना करना पड़ा, परंतु पूर्वी पर्वतीय प्रदेश में कुछ नदियों की घाटियाँ ऐसी थीं जिनसे होकर महाद्वीप के भीतरी भागों में प्रवेश करना सरल था। अतः अटलांटिक समुद्रतट से सेंट लारेंस नदी की घाटी, हडसन-मोहाक नदी की घाटी, सस्क्वेहाना एवं पोटोमैक नदियों की घाटियों—तथा मैक्सिको की खाड़ी की दिशा से मिसिसिपी-मिसौरी की घाटियों से होकर जनसंख्या का प्रवेश प्रारंभ हुआ। वर्तमान तट से प्रारंभ होनेवाली रेलें तथा पक्की सड़कें देश के भीतरी भागों में इन्हीं मार्गों से होकर जाती हैं और पुनः पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के संधि

दरों को पार करती हुई अटलांटिक तट तथा प्रशांत महासागरीय तट को एक दूसरे से मिलाती है। तृतीय, जहाँ जहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक है, वहाँ वहाँ आवागमन के साधन अधिक विकसित हैं। कैनाडा के उत्तरी क्षेत्र, अलास्का के छोटे छोटे एकाकी नगर एवं पश्चिमी संयुक्त राज्य में बसी बस्तियाँ आधुनिक वायुयान सेवाओं से लाभ उठाती हैं। कृषि, खनिज एवं औद्योगिक उन्नतिवाले क्षेत्रों में रेलों, सड़कों तथा हवाई जहाजों के मार्गों का घना जाल बिछा हुआ है। कैनाडा का दक्षिण पूर्वी घना बसा क्षेत्र तथा संयुक्त राज्य का उद्योगप्रधान उत्तर पूर्वी क्षेत्र संसार के सर्वाधिक विकसित क्षेत्र हैं जहाँ यातायात के साधन सर्वाधिक विकसित हैं।

उत्तरी अमरीका में न केवल समुद्री मार्गों द्वारा, प्रत्युत सेंट लारेंस तथा पाँच बड़ी झीलों एवं मिसिसिपी-मिसौरी द्वारा यातायात होता है। बड़ी झीलें नहरों द्वारा जोड़ दी गई हैं जिनमें हजारों जहाज चला करते हैं। संसार की २९% रेलें, ३५% समुद्री जहाज, ४८% हवाई जहाज तथा ७०% मोटरें केवल संयुक्त राज्य (अमरीका) में हैं। पैनामा नहर (१९०७) ने अमरीका के संबंध सुदूर पूर्व एवं दक्षिणी अमरीका से बढ़ा दिए हैं।

कैनाडा का ट्रैंस कांटिनेंटल रेलवे, कैनेडियन पैसिफिक रेलवे, कैनेडियन नैशनल रेलवे तथा संयुक्त राज्य की उत्तरी पैसिफिक रेलवे, यूनियन पैसिफिक रेलवे, सेंट्रल पैसिफिक रेलवे तथा दक्षिणी पैसिफिक रेलवे संसार की सर्वाधिक लंबी रेलों में से हैं जो एक छोर से दूसरे छोर को मिलाती हैं। इसी प्रकार सड़कों का भी जाल सा बिछा हुआ है। उत्तरी अमरीका का कोई भी क्षेत्र, जहाँ मनुष्य के लिये कुछ भी आर्थिक साधन प्राप्य है, हवाई मार्गों से अछूता नहीं है। अलास्का तथा कैनाडा के उत्तरी भाग में, जो बहुत ही ठंडे हैं, वायुयान की अनिवार्य सेवाएँ हैं। आज राजनीतिक परिस्थितिवश ध्रुव प्रदेशों में भी हवाई मार्ग स्थापित हो गए हैं।

व्यापार—पूर्वोक्त साधनों के विकसित होने के कारण महाद्वीप में बड़े बड़े संग्रहण तथा वितरण केंद्र स्थापित हो गए हैं जो समुद्रतट पर स्थित बंदरगाहों द्वारा सुविधापूर्वक आयात निर्यात करते हैं। पूर्वी तट पर बोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया एवं बाल्टिमोर, मेक्सिको की खाड़ी के तट पर न्यू ओरलियंस एवं गैलवेस्टन, पश्चिमी तट पर लॉस ऐंजिलिस, सैन फ्रैंसिस्को, वैंकवर आदि तथा बड़ी झीलों पर फोर्ट विलियम, पोर्ट आर्थर, शिकागो, क्लीवलैंड, ईरी, बफैलो तथा बड़ी झीलों एवं सेंट लारेंस को नहरें जुड़ जाने से क्वेबेक, आंटेरियो आदि बड़े बंदरगाह बन गए हैं।

उत्तरी अमरीका अपने अपार खनिज तथा कृषि संबंधी एवं औद्योगिक साधनों के विकसित होने के कारण व्यापार में बहुत बढ़ा चढ़ा है। यह महाद्वीप उष्ण, शीतोष्ण तथा शीत, तीनों कटिबंधों में फैला हुआ है। यहाँ विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु उपलब्ध है। अतः यहाँ अनेक प्रकार की उपजें होती हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ के लोग स्थानीय, देशी तथा विदेशी बाजारों के लिये व्यापारिक फसलें उगाते हैं। विभिन्न कृषि एवं वानस्पतिक क्षेत्रों में लोग वस्तुविशेष के उत्पादन में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं—जैसे, प्रेअरीज मैदान में गेहूँ में, मक्का क्षेत्र में मक्का में, गव्यशाला क्षेत्र (डेयरी बेल्ट) में दूध के बने सामान में, कपास क्षेत्र में कपास में तथा कैनाडा के उत्तरी कोणधारी वनों में लकड़ी तथा उससे बने सामानों में। अपनी केवल एक प्रकार की वस्तुओं की बिक्री करने के कारण उन्हें अपनी आवश्यकता की हजारों वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं। अतः व्यापार की मात्रा इस महाद्वीप में सर्वाधिक है। इस महाद्वीप के लोगों ने न केवल वानस्पतिक एवं कृषीय साधनों का, प्रत्युत सामुद्रिक (मछली आदि), खनिज तथा औद्योगिक सभी साधनों का, अधिकाधिक विकास किया है। फलतः यहाँ का निवासी संसार का सबसे बड़ा विक्रेता, सबसे बड़ा उपभोक्ता एवं सबसे धनी खरीदार है।

संयुक्त राज्य के निवासियों का जीवनस्तर संसार में उच्चतम है; यहाँ का अंतर्देशीय व्यापार इस देश के अंतरराष्ट्रीय व्यापार से दस गुना और समग्र संसार के अंतरराष्ट्रीय व्यापार से तीन गुना बड़ा है। १८९० ई० तक यह देश अधिकांशतः कच्चे माल विदेशों को भेजता था, परंतु अब दिनानुदिन पक्के माल का निर्यात बढ़ता जा रहा है। इस देश ने दो महायुद्धों में अपनी महाद्वीपीय शांति का लाभ उठाकर बहुत से बाजारों पर अपना अधिकार जमा लिया है। १९०० ई० में विदेशी व्यापार २,००,००,००,००० डालर का हुआ और १९५० में यह व्यापार बढ़कर १०,२७,५०,००,००० डालर का हुआ। निर्यात की वस्तुओं में महत्व के क्रमानुसार मशीनें, कपास, सूती कपड़े, गेहूँ, आटा, मोटरकार आदि, लोहा, इस्पात, इस्पात के सामान, पेट्रोलियम तथा उससे संबंधित अन्य सामान, तंबाकू, मांस आदि हैं। आयात में कॉफी, ऊन तथा ऊनी कपड़े, धातुएँ, कागज, रबर, चीनी, चाय, पेट्रोलियम, ऊर्णाजिन (फ़र), फल, खनिज, कच्चा लोहा, रत्न आदि प्रमुख हैं। कैनाडा इसका मुख्य स्रोत है।

कम आबादी रहते हुए भी कैनाडा संसार के देशों में प्रसिद्ध व्यापारिक देश है। निर्यात में वानस्पतिक वस्तुओं—कई प्रकार के कागज, लकड़ी की लुग्दी आदि—में प्रथम तथा कृषीय उपज—गेहूँ तथा आटे—में इसका द्वितीय स्थान है। ऐल्युमिनियम, निकेल, मछली तथा तत्संबंधी वस्तुओं, ऊर्णाजिन (फ़र), ताँबा एवं अन्य धातुओं तथा कुछ पक्के माल, मोटरकार, बिजली के सामान आदि का निर्यात होता है। आयात वस्तुओं में पक्के मालों, मशीनों आदि का प्रमुख स्थान है तथा पेट्रोलियम, कोयला, कच्चा लोहा, इस्पात, सूती कपड़े, पेय वस्तुएँ (कॉफी, चाय), चीनी, रबर आदि का भी आयात होता है। संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन देश इसके सबसे बड़े विक्रेता एवं खरीदार हैं।

मेक्सिको छोटा सा उष्ण कटिबंधीय और अपेक्षाकृत अविकसित देश है; अतः यहाँ व्यापार भी अधिक नहीं है। इसके निर्यात में कच्चे माल—चाँदी, ताँबा, मिट्टी का तेल आदि—है तथा आयात में खाद्यान्न एवं मशीनें, लोहे एवं इस्पात की वस्तुएँ, वस्त्र, पेय पदार्थ तथा चीनी आदि हैं। दक्षिण अमरीका के देशों से उत्तरी अमरीका का व्यापार बढ़ रहा है।

उत्तरी अमरीका में संयुक्त राज्य तथा कैनाडा अपेक्षाकृत नए बसे भूभाग हैं, परंतु मेक्सिको की सभ्यता मिस्र देश की तरह प्राचीन है। लगभग ३,००० वर्ष पहले मेक्सिको घाटी में उच्च सभ्यता के लोग रहते थे जो पत्थर, हड्डी, मिट्टी आदि की निर्मित वस्तुओं का प्रयोग करते थे। उसके बाद की 'मय' सभ्यता अत्यंत उच्च मानी जाती है। मय जाति के लोगों को कृषि तथा सिंचाई के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, शिल्प, स्थापत्य आदि कलाओं का भी प्रचुर ज्ञान था। तदनंतर मध्यकालीन नहुआ, टॉल्टेक, ऐज़्टेक आदि लोगों की सभ्यता वहाँ प्रचलित थी। १९२५ ई० में मेक्सिको के फ़ोल्सम नगर के पास पुरातात्विक 'फ़ोल्सम कप्लेक्स' की उपलब्धि से प्राचीनतम मानव का पता चलता है। दक्षिण पश्चिमी संयुक्त राज्य में सात स्तरोंवाली प्यूब्लो संस्कृति के अवशेष भी उपलब्ध हैं।

खोजों से पता चलता है कि अलास्का-साइबेरिया के मध्य स्थित बेरिंग जलडमरूमध्य के द्वारा साइबेरिया से मानव का अमरीका में आगमन हुआ। बर्फीला तथा बीहड़ मार्ग होने पर भी सर्वाधिक सुगम रास्ता यही था। बेरिंग जलडमरूमध्य के दोनों ओर के निवासी शरीररचना, रंग, रूप, भाषा तथा रीति रिवाजों में भी पर्याप्त मिलते जुलते हैं। अमरीका के इंडियन जाति के लोग एशिया की मंगोल जातियों से, विशेषकर उत्तर-पूर्वी साइबेरिया के निवासियों से, सर्वथा मिलते जुलते हैं। चौड़ा चेहरा, उभरी हुई गाल की हड्डियाँ तथा भूरा रंग उनकी विशेषता है। एस्किमो लोग भी इन्हीं की एक उपजाति हैं। लंबा सिर, चौड़ा चेहरा, पतली नाक, तथा मंगोल आँखें इनकी विशेषताएँ हैं। इंडियन लोग जैसे जैसे दक्षिण बढ़ते गए, उनका रंग काला तथा लंबाई कम होती गई।

यद्यपि ८वीं एवं १२वीं सदियों के बीच यूरोप के कुछ निवासी उत्तरी अमरीका में पहुँच गए थे, तथापि औपनिवेशिक काल १४९२ ई० के बाद ही प्रारंभ हुआ। मेक्सिको, दक्षिण पश्चिमी संयुक्त राज्य तथा मध्य अमरीका में स्पेनवालों ने सेंट लारेंस की घाटी तथा मिसिसिपी के मुहाने पर फ्रेंच लोगों ने और मध्यवर्ती अटलांटिक तटों पर अंग्रेजों ने अधिकार जमाया। इटालियन, जर्मन, डच आदि यूरोपियनों ने भी अपनी अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं। महाद्वीप में इनके प्रवेश के साथ साथ अधिक मारे जाने के कारण रेड इंडियनों का ह्रास होता गया। यूरोपियनों ने इसी औपनिवेशिक काल में दास के रूप में हब्शियों को लाकर बसाया। एशिया निवासी सबसे बाद में इस महाद्वीप में पहुँचे हैं। (का० ना० सिं०)

उत्तरी सागर पूरब में यूरोप महाद्वीप और पश्चिम में ग्रेट ब्रिटेन से घिरा है। इकोसिना (१९२१) के अनुसार इसकी गहराई और क्षेत्रफल क्रमानुसार ३०८ फुट और २,२२,००० वर्ग मील हैं। इस प्रकार यह एक उथला सागर है। इसका नितल उस महाद्वीपीय निधाय (कांटिनेंटल शेल्फ) का एक भाग है जिसके ऊपर ब्रिटिश द्वीपसमूह स्थित है। इस निधाय की ढाल (प्रवणता) उत्तर से दक्षिण तक प्रायः एक समान है। डॉगर बैंक्स नामक समुद्र में निमग्न बालू का मैदान उत्तरी सागर के मध्य में स्थित है। इंग्लैंड के समुद्रतट के समीप इस सागर की गहराई ६५ फुट है जो पूर्व की ओर बढ़कर १३० फुट हो जाती है। इस सागर की सामान्य लवणता ३४ से ३५ प्रति सहस्र है।

मछलियाँ—उत्तरी सागर सूक्ष्म जीवों और पौधों में विशेष रूप से धनी है। इसलिये मछलियाँ इधर प्रचुर मात्रा में, अपने भोजन की खोज में, आकर्षित होती हैं। फलतः उत्तरी सागर विश्व का एक महत्वपूर्ण मत्स्य-उत्पादक क्षेत्र है। मत्स्य के प्राप्तिस्थानों में डॉगर बैंक्स (शीतकाल में) और महाद्वीपीय समुद्रतट के समीप स्थित उथले समुद्र (ग्रीष्मकाल में) प्रमुख हैं। पकड़ी जानेवाली मछलियों में हेरिंग का अनुपात सबसे अधिक रहता है; इसके बाद क्रमानुसार हैडक, कॉड, प्लेस, ह्वाईटिंग, मैकेरल इत्यादि आती हैं। (रा० ना० मा०)

उत्तानपाद मनु और शतरूपा के पुत्र; उनकी पत्नी सुनृता के ध्रुव, कीर्तिमान् और वसु हुए। पुराणों में उत्तानपाद की एक और पत्नी सुरुचि बतलाई गई हैं जिनका पुत्र उत्तम था। ध्रुव के तप और 'अमृतत्व' प्राप्त करने से इस राजा के गौरव की अभिवृद्धि हुई। (चं० म०)

उत्तापमापी (पायरोमीटर), ऊँचे ताप की माप करनेवाला यंत्र है। ये कई प्रकार के होते हैं—प्रकाशिक उत्तापमापी, विकिरण उत्तापमापी, प्रतिरोध उत्तापमापी, ताप-विद्युत्-उत्तापमापी और अवरक्त उत्तापमापी। यहाँ प्रकाशिक उत्तापमापी का वर्णन दिया जा रहा है।

प्रकाशिक उत्तापमापी में किसी मानक लैंप की तीव्रता को कम करके उत्तप्त पृष्ठ के प्रकाश की तीव्रता के बराबर कर ली जाती है। तीव्रता का समंजन करने के लिये लैंप के परिपथ में प्रतिरोध को बढ़ाया जाता है या कोई अवशोषक पदार्थ लैंप के सामने रखकर उसकी मोटाई का समंजन किया जाता है। आँख के सामने कोई रंगीन फिल्टर भी रख दिया जाता है ताकि किसी विशेष रंग के प्रकाश का ही उपयोग किया जा सके।

तीव्रताओं की तुलना किसी प्रकाशमापी विधि से की जा सकती है। प्रायः एक उत्तल लेंस द्वारा उत्तप्त पृष्ठ का वास्तविक प्रतिबिंब प्राप्त किया जाता और ठीक वहीं लैंप का फिलामेंट रखा जाता है। जब फिलामेंट अदृष्ट हो जाए तब दोनों की तीव्रताएँ बराबर होंगी। (नि० सं०)

उत्पत्ति पुस्तक बाइबिल के प्रथम ग्रंथ का नाम इसीलिये उत्पत्ति (जेनेसिस) रखा गया है कि इसमें संसार तथा मनुष्य की उत्पत्ति (अध्याय १–११) और बाद में यहूदी जाति की उत्पत्ति तथा प्रारंभिक इतिहास (अध्याय १२–५०) का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ की बहुत सी समस्याओं का अब तक सर्वमान्य समाधान नहीं हुआ है, फिर भी ईसाई व्याख्याता प्रायः सहमत हैं कि उत्पत्ति पुस्तक में निम्नलिखित धार्मिक शिक्षा दी जाती है—"केवल एक ही ईश्वर है जिसने काल के प्रारंभ में, किसी भी उपादान का सहारा न लेकर, अपनी सर्वशक्तिमान् इच्छाशक्ति मात्र द्वारा विश्व की सृष्टि की है। बाद में ईश्वर ने प्रथम मनुष्य आदम और उसकी पत्नी हव्वा की सृष्टि की, और इन्हीं दोनों से मनुष्य जाति का प्रवर्तन हुआ (द्र० 'आदम')। शैतान की प्रेरणा से आदम और हव्वा ने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया, जिससे संसार में पाप, विषयवासना तथा मृत्यु का प्रवेश हुआ (द्र० 'आदिपाप')। ईश्वर ने उस पाप का परिणाम दूर करने की प्रतिज्ञा की और अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार संसार को एक मुक्तिदाता प्रदान करने के उद्देश्य से उसने अब्राहम को यहूदी जाति का प्रवर्तक बना दिया (द्र० 'अब्राहम')।"

यद्यपि उत्पत्ति पुस्तक की रचनाशैली पर सुमेरी-बाबुली महाकाव्य एनूमा-एलीश तथा गिलगमेश की गहरी छाप है और उसके प्रथम रचयिता ने उसमें अपने से पहले प्रचलित सामग्री का उपयोग किया है जिसका उद्गम स्थान मेसोपोटेमिया माना जाता है, तथापि उत्पत्ति पुस्तक की मुख्य धार्मिक शिक्षा मौलिक ही है। उस ग्रंथ की रचना पर मूसा (१५वीं शताब्दी ई० पू०) का प्रभाव सबसे महत्वपूर्ण प्रतीत होता है किंतु उसकी मिश्रित शैली से स्पष्ट है कि मूसा के बाद परवर्ती परिस्थितियों से प्रभावित होकर अनेक लेखकों ने उस प्राचीन सामग्री को नए ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। ग्रंथ का वर्तमान रूप संभवतः आठवीं शताब्दी ई० पू० का है। इसकी व्याख्या करने के लिये दो तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए: (१) समस्त बाइबिल की भाँति उत्पत्ति पुस्तक का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर धार्मिक ही है। रचयिताओं ने अपने समय की भौगोलिक तथा वैज्ञानिक धारणाओं का सहारा लेकर स्पष्ट करना चाहा है कि ईश्वर ही विश्व तथा उसके समस्त प्राणियों का सृष्टिकर्ता है। अतः उस ग्रंथ में विश्व के प्रारंभ का समय अथवा विज्ञान के अनुसार विश्व का विकासक्रम ढूँढ़ना व्यर्थ है। (२) उत्पत्ति पुस्तक में प्रायः प्रतीकों तथा रूपकों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, आदम की उत्पत्ति का वर्णन करने के लिये सृष्टिकर्ता को कुम्हार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उस प्रतीकात्मक रचनाशैली का ध्यान रखे बिना उसकी धार्मिक शिक्षा समझना नितांत असंभव है। अतः मध्यपूर्व की प्राचीन भाषाओं तथा उनकी साहित्यिक शैलियों के अनुशीलन के बाद ही उत्पत्ति पुस्तक के प्रतीकों तथा रूपकों का आवरण हटाकर उसमें प्रतिपादित धार्मिक शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

सं०ग्रं०—ए कैथोलिक कमेंटरी ऑन होली स्क्रिप्चर, लंदन, १९५३; एच० जे० जॉनसन : द बाइबिल ऐंड दि अर्ली हिस्ट्री ऑव मैनकाइंड, लंदन, १९४३; बी० वाटेर : ए पाथ थ्रू जेनेसिस, लंदन, १९५७।
(का० बु०)

उत्परिवर्तन जीवन की इकाई कोशिका है और कोशिकाओं का समुच्चय जीवित शरीरी या प्राणी कहा जाता है। कल्पना कीजिए, इस सृष्टि में यदि एक ही आकार प्रकार के जीव होते, एक ही ऋतु होती और रात अथवा दिन में से कोई एक ही रहा करता तो कैसा लगता। एक ही प्रकार का भोजन, एक ही प्रकार का कार्य, एक ही प्रकार के परिवेश का निवास ऊब उत्पन्न कर देता है इसीलिये हम उसमें किंचित् परिवर्तन करते रहते हैं। प्रकृति भी एकरसता से ऊबकर परिवर्तन करती रहती है। जंतुजगत् की विविधता पर हम दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि, उदाहरण के लिये, बिल्ली जाति के जंतुओं में ही कितना भेद है : बिल्ली, शेर, चीता, सिंह, सभी इसी वर्ग के जंतु हैं। इसी प्रकार, कुत्तों में देशी, शिकारी, बुलडाग, झबरा, आदि कई नस्ल दिखलाई देते हैं।

इस विविधता के मूल कारण का ज्ञान सभी को नहीं होता, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कौतूहलवश भी कोई इस भेद को जानना नहीं चाहता। हमें यह वैविध्य इतना सहज और सामान्य प्रतीत होता है कि हमारा ध्यान इस ओर कभी नहीं जाता। किंतु, यदि हम इस वैविध्य के कारण की मीमांसा करें तो सचमुच हमें चकित हो जाना पड़ेगा। इस वैविध्य का मूल कारण उत्परिवर्तन है।

परिभाषा—उत्परिवर्तन की परिभाषा अनेक प्रकार से दी गई है, किंतु सभी का निष्कर्ष यही है कि यह एक प्रकार का आनुवंशिक परिवर्तन (hereditary change) है। कोशिकाविज्ञान (cytology) के विद्यार्थी यह जानते हैं कि कोशिकाओं के केंद्रक में पित्र्यसूत्र या गुणसूत्र (chromosomes) एक नियत युग्मसंख्या (no. of pairs) में पाए जाते हैं। इन सूत्रों पर निश्चित दूरियों और स्थानों (loci) पर मटर की फलियों की भाँति जीन्स (genes) लिपटे रहते हैं। जीवरासायनिक दृष्टि से जीन्स न्यूक्लीइक अम्ल (nucleic acids) होते हैं। इनकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये, कोशिका विभाजन (cell divisions) के समय, स्वतः आत्मप्रतिकृत (self replicated) हो जाते हैं।

डीआक्सीरिबोन्यूक्लीइक एसिड (DNA) के वाट्सन-क्रिक माडेलों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि जब जब डी-एन-ए की दुहरी

कुंडलिनी (double helix) प्रतिलिपित होती है, तब तब मूल संरचना की हूबहू अनुकृति (replica) तैयार होती जाती है। इस प्रक्रिया में बिरले ही अंतर पड़ता है। किंतु भूल तो सभी से होती है—प्रकृति भी इससे अछूती नहीं है। प्रतिलिपिकरण के समय, कभी कभी, न्यूक्लिओटाइडों के संयोजन में दोष उत्पन्न हो जाता है। यह दोष दुर्घटनावश ही होता है; इसी को उत्परिवर्तन की संज्ञा प्रदान की गई है।

गोल्डस्मिट् ने उत्परिवर्तन की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि उत्परिवर्तन वह साधन (means) है, जिसके द्वारा नए आनुवंशिक टाइप (hereditary types) उत्पन्न होते हैं। डा० जान्स्की और उनके सहयोगियों के मतानुसार उत्परिवर्तन नवीन किस्मों या नस्लों की उत्पत्ति करनेवाले पथभ्रष्ट बिन्दु (point of departure) हैं।

उद्विकास के अनेक प्रमाणों में उत्परिवर्तन को भी एक प्रमाण माना जाता है। इस संबंध में हालैंड के वनस्पतिशास्त्री, ह्यगो डीव्रिज (De Vries) का नाम संमानपूर्वक लिया जाता है। इन्होंने ईनोथेरा लैमार्किएना (eenothera lamarckiana) नामक एक पौधे पर कई प्रकार के प्रयोग किए थे। इस पौधे में प्रतिवर्ष कई प्रकार के *स्पीशीज होते जाते थे, जिन्हें उन्होंने पाँच समूहों में वर्गीकृत किया और* अपने प्रयोगों के परिणामों के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले —

१—नवीन स्पीशीज की उत्पत्ति क्रमिक न होकर तात्कालिक एक-व-एक होती है;

२—आरंभ में ये स्पीशीज़ अपने माता पिता की ही भाँति स्थिर होते हैं।

३—एक ही समय में सामान्य तौर पर एक साथ एक जैसे बहुत से स्पीशीज़ उत्पन्न होते हैं।

४—उत्परिवर्तनों की कोई निश्चित दिशा नहीं होती, वे किसी भी रूप में विकसित हो सकते हैं।

५—उत्परिवर्तन बीच बीच में कई बार हो सकता है।

इसी प्रकार के प्रयोग बीडिल एवं टैटम नामक दो अमरीकन जीव वैज्ञानिकों ने न्यूरोस्पोरा (neurospora) नामक एक फफूँदी (mold) पर किए थे। उन्होंने इस रोग के बीजाणु (spores) को एक्स अथवा अल्ट्रावायलेट किरणों द्वारा अभिकर्मित (treatment) करके उनके बढ़ने को गति की जाँच की। उन्होंने पाया कि कल्चर मीडियम में इस प्रकार के अभिकर्मित बीजाणु बढ़ नहीं पा रहे हैं, अतः उन्होंने कुछ एमिनोएसिडों को मिला दिया। इसके फलस्वरूप वे ही पौधे पुनः वृद्धि को प्राप्त होने लगे। अतः उनका मत था कि विकिरण के कारण बीजाणुओं की सामान्य उत्पादन क्षमता पर आघात पहुँचता है और यह दोष अगली पीढ़ियों में भी वर्तमान रहता है। इसी प्रकार के *आकस्मिक आनुवंशिक* परिवर्तनों को उत्परिवर्तन कहा जाता है।

सजीव प्राणियों के सभी प्रकार के आकार आकृति, रासायनिक संरचना, रोग आदि गुणों (characters) का उत्परिवर्तन हो सकता है। इसी आधार पर उत्परिवर्तनों की कई कोटियाँ बना ली गई हैं, जैसे जीन उत्परिवर्तन, गुणसूत्र उत्परिवर्तन आदि। उत्परिवर्तन को तात्कालिक अथवा आकस्मिक आनुवंशिक परिवर्तन कहा गया है। यह परिवर्तन दोषयुक्त ही हो, यह कोई आवश्यक नहीं है। सभी उत्परिवर्तन दूषित या हानिकारक नहीं होते। इनसे लाभ भी होता है और इस प्राकृतिक दोष का लाभ उठाया भी जाता रहा है। इसपर हम यथास्थान पुनः विचार करेंगे।

उत्परिवर्तन की घटनाएँ विरल अथवा यदा कदा होती हैं। ड्रोसोफिला (drosophila) नामक कदली मक्खी (fruit fly) के अध्ययनों द्वारा ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार का उत्परिवर्तन कई लाख सामान्य स्पीशीज में से किसी एक में बहुत ही नगण्य रूप में परिलक्षित होता है। आल्टेनबर्ग ने रेस के घोड़ों को आधुनिक तीव्र गति का कारण क्रमिक आरोपित उत्परिवर्तन बतलाया है। यह या ऐसा परिवर्तन सदा लाभप्रद ही हो (आल्टेन बर्ग के मतानुसार), ऐसा नहीं कह सकते। बहुत से उदाहरणों में, इस उत्परिवर्तन के कारण घोड़ों को गति में न्यूनता भी आ सकती है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि उत्परिवर्तन 'मनमाना परिवर्तन' (random change) होता है। यहाँ डार्विन का 'प्राकृतिक वरण का सिद्धांत' (theory of natural selection) अथवा 'योग्यतम का जीवन' (survival of the fittest) लागू होता है, जिसके अनुसार इस आकस्मिक परिवर्तन को सह सकनेवाले जीव जीवित रह पाते हैं, अन्यथा निर्बलों की मृत्यु हो जाती है। मेंडेल ने मटर की फलियों पर जो प्रयोग किए थे, उनके परिणामों का कारण यही उत्परिवर्तन बतलाया जाता है।

उत्परिवर्तन कब होगा, यह कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। कोशिकाविभाजन के उपरांत वर्धन (development) को किसी भी अवस्था या चरण (stage) में उत्परिवर्तन की घटना घट सकती है। यदि उत्परिवर्तन किसी एक ही बीजाणु (gamete) या युग्मक में होता है तो भावी संतति में से केवल एक में यह परिलक्षित होगा। उत्परिवर्तित पीढ़ी में से आधी संतति में उत्परिवर्तन के लक्षण वर्तमान होंगे और शेष आधा इनसे अप्रभावित रहेगा। उत्परिवर्तन के लक्षणों से युक्त संततियों की भावी पीढ़ियों में भी वे ही लक्षण दिखलाई देते रहेंगे। काय कोशिकाओं (somatic or body cells) में उत्परिवर्तन हो जाने पर उसे पहचान पाना दुष्कर कार्य होता है। कई बार तो ऐसा भी होता है कि वह सर्वथा अदृश्य हो जाता है और उसपर किसी की दृष्टि भी नहीं जा पाती। किंतु जनन कोशिकाओं (germ or reproduction cells) में हुए उत्परिवर्तन जनांकिकीय (genetically) दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं।

उत्परिवर्तन के कारण—उत्परिवर्तन क्यों होते हैं, इसका संतोषजनक उत्तर जीव वैज्ञानिकों के पास उपलब्ध नहीं है। हाँ, इन लोगों ने कुछ ऐसी विधियाँ निकाली हैं, जिनके द्वारा कृत्रिम या आरोपित ढंग से उत्परिवर्तन किए जा सकते हैं। आरोपित उत्परिवर्तन सर्वदा बाहरी कारणों से ही हो सकता है, जिन्हेंहम नीचे दी गई कोटियों में वर्गीकृत कर सकते हैं :—

१—तापक्रम—जननकोशिकाओं में सहनबिंदु तक तापक्रम में वृद्धि कर दी जाए तो उत्परिवर्तन की गति बढ़ जाएगी।

२—रसायन—सरसों के तेल का धुआँ, फार्मैल्डिहाइड पेराक्साइड, नाइट्रस अम्ल आदि का प्रयोग करने पर उत्परिवर्तन दर में वृद्धि हो सकती है।

३—विकिरण—एक्सकिरण, गामा, बीटा, अल्ट्रावायलेट किरणों आदि के प्रयोग से भी उत्परिवर्तन दर में वृद्धि हो जाती है। स्वर्गीय प्रोफेसर एच० जे० मुलर ने इस कारक पर अनेक अद्भुत अनुसंधान किए हैं।

उत्परिवर्तन के प्रकार—हमने ऊपर पढ़ा है कि जीन विनिमय के समय कुछ दुर्घटनाएँ हो सकती हैं। इन दुर्घटनाओं को हम तीन समूहों में विभाजित कर सकते हैं :—(क) न्यूक्लीओटाइड का अतिरिक्त संयोग, (ख) न्यूक्लीओटाइड का वियोग (deletion) तथा (ग) न्यूक्लीओटाइड का स्थानांतरण। इनमें से प्रथम दो प्रकार के परिवर्तन गंभीर माने गए हैं, जिनसे कोशिका की मृत्यु तक हो सकती है। तीसरे प्रकार का परिवर्तन इतना गंभीर नहीं होता। आनुवंशिकी वैज्ञानिकों ने उत्परिवर्तन के निम्नलिखित भेद बतलाए हैं :—

१—जीन या बिंदु उत्परिवर्तन

२—आरोपित उत्परिवर्तन

जीन या बिंदु उत्परिवर्तन—उत्परिवर्तन की परिभाषा करते हुए बतलाया गया है कि उत्परिवर्तन किसी स्पीशीज के आनुवंशिक पदार्थ में उत्पन्न गतिशील रासायनिक परिवर्तन का नाम है। ये परिवर्तन गुणसूत्रों की संरचना तथा संख्या में उत्पन्न होते हैं। अतः इस दृष्टि से किसी जीन की आणविक संरचना (molecular structure) परिवर्तन को 'जीन उत्परिवर्तन' कहेंगे। किंतु, जब इस प्रकार के परिवर्तन गुणसूत्र के किसी बिन्दुविशेष या खंडविशेष (segment) में दिखलाई देंगे तो उन्हें 'बिंदु उत्परिवर्तन' कहेंगे। वस्तुतः इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों में कोई विशेष भेद नहीं होता, अतः इन दोनों पदों (terms) का पर्याय, रूपों में उल्लेख किया जाता है। उत्परिवर्तन तात्कालिक (spontaneous) होते हैं, अतः इन्हें 'तात्कालिक उत्परिवर्तन' भी कहते हैं। बिंदु उत्परिवर्तन

अति सूक्ष्म होते हैं और उनका प्रभाव संपूर्ण जीव परिवर्तन पर नहीं पड़ता। अतः उत्परिवर्तन शब्द का प्रयोग साधारणतया बिंदु उत्परिवर्तन के लिये ही किया जाता है।

किसी मनुष्य की जनन कोशिका में जीन उत्परिवर्तन होने पर यह उसके युग्मनज (zygote) में स्थानांतरित हो जाता है और इस प्रकार इन कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न नई पीढ़ी तक पहुँच जाता है। असंख्य बार कोशिका-विभाजनों के फलस्वरूप उत्परिवर्तित जीन भी अपनी प्रतिलिपियाँ उत्पन्न करते करते किसी लक्षण या गुण विशेष के लिये प्रभावी (dominant) बन जाता है।

प्रभावी उत्परिवर्तनों को उनकी वाहक कोशिकाओं में स्थित गुणसूत्रों या जीनों में सरलतापूर्वक ढूँढ़ा जा सकता है। किंतु ऐसे उत्परिवर्तन सुप्त (recessive) उत्परिवर्तनों की तुलना में कम ही दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु जहाँ तक मनुष्य में हुए उत्परिवर्तनों का प्रश्न है, ऐसे उत्परिवर्तन अधिकतर प्रभावी ही बतलाए गए हैं। लिंगसहलग्न उत्परिवर्तन (sex-linked mutation) विषमयुग्मकी (heterogamous) नरों में ही अधिकतर दिखलाई देते हैं क्योंकि इनमें लिंगसहलग्न प्रभावी जीन पाए जाते हैं। अतः नर जनकों के प्रसुप्त उत्परिवर्तन द्वितीय पीढ़ी की नर संतानों में ही दिखलाई देते हैं। मनुष्य के अधिकांश लिंग-सहलग्न उत्परिवर्तन प्रसुप्त माने गए हैं।

अलिंगसूत्री अप्रभावी उत्परिवर्तन—(autosomal recessive mutation)—उभयलिंगाश्रयी पादपों (monoecious plants) में बहुधा दृष्टिगोचर होते हैं। अप्रभावी उत्परिवर्तन यदि जननकोशिकाओं में उत्पन्न होते हैं तो भावी संततियाँ अवश्य ही विषमयुग्मजी (heterozygous) होंगी। अलिंगसूत्री अप्रभावी उत्परिवर्तन एक बार जब उत्पन्न हो जाते हैं, तो कई पीढ़ियों तक दिखलाई ही नहीं देते। किंतु यही उत्परिवर्तन यदि लिंगसहलग्न होते हैं, तो अगली पीढ़ी में ही प्रभावी हो जाते हैं।

प्राणघातक उत्परिवर्तनों (lethal mutations) को अधिकतर अप्रभावी या प्रसुप्त माना जाता है। प्राणघातक उत्परिवर्तन यदि जनन-कोशिका (germ cell) में ही हो जाते हैं, तो भावी संतति विषमयुग्मजी होगी। यदि ऐसे उत्परिवर्तन अंडा देनेवाले जंतुओं में हो जाएँ तो विषमयुग्मजी जनकों के लगभग १/४ अंडों से बच्चे ही नहीं उत्पन्न होंगे। लगभग इतनी ही संततियाँ भ्रौणिक परिवर्धन (embryonic development) की विविध दशाओं में, जन्म के समय अथवा जन्म लेने के तत्काल बाद मर जाएँगी। घातक उत्परिवर्तनि अलिंगसूत्रों में आम तौर पर दिखलाई देते हैं और ये किसी ये गुणसूत्र में हो सकते हैं। समयुग्मजी (homozygous) मुर्गी के भ्रूण के गुणसूत्रों में यदि घातक जीन हों तो ऐसी संतति का कंकाल कुरूप या टेढ़ा मेढ़ा होगा और वह जन्म के पूर्व ही मर गई होगी। किंतु विषमयुग्मजी भ्रूणों से बच्चे उत्पन्न होते हैं और जीवित भी रहते हैं, भले ही उनके अस्थिपंजर टेढ़े मेढ़े हों। ऐसे बच्चों को क्रीपर फाउल (creeper fowl) कहते हैं, क्योंकि मुर्गी के इन बच्चों के पैर और कमर ठिगने होते हैं।

प्रतिलोम उत्परिवर्तन—विरल उदाहरणों में प्रतिलोमित उत्परिवर्तन भी हो जाते हैं। कभी कभी उत्परिवर्तित जीन अनेक पीढ़ियों तक वर्तमान रह जाता और एक ही कुल के सहस्रों सदस्यों में फैला होता है। किंतु, जब सहसा किसी सदस्य की जननकोशिका में कोई जीन सामान्य अप्रभावी युग्मविकल्पी (allele) को उत्परिवर्तित कर देता है तो ऐसी स्थिति में एक और उत्परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार के पुनरुत्परिवर्तन को प्रतिलोम उत्परिवर्तन की संज्ञा प्रदान की गई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्परिवर्तन की रोगी दशा पुनः सामान्य की ओर परिवर्तित हो सकती है। बैक्टीरिया में कुछ उत्परिवर्तित दशाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें वे विटामिन बनाने की क्षमता खो बैठते हैं। किंतु कुछ काल बाद वे पुनः विटामिन उत्पन्न करने लगते हैं। उनके सामान्य अवस्था में पुनः लौट आने को पूर्वकारी उत्परिवर्तन कहते हैं।

कायिक उत्परिवर्तन साधारणतया शरीर के ऊतकों में ही दृष्टिगोचर होते हैं। कायिक उत्परिवर्तनों का प्रभाव दीर्घकालिक नहीं होता। भ्रौणिक अवस्था की प्राथमिक दशाओं में होनेवाले उत्परिवर्तनों के कारण शरीर में चकत्ते बन जाते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि कैंसर भी एक प्रकार का कायिक उत्परिवर्तन ही है। ड्रोसोफिला मक्खी की आँखें सामान्यतया लाल होती हैं, किंतु श्वेत धब्बे या एक आँख में पूरी तरह की सफेदी भी दिखलाई पड़ सकती है। ऐसी मक्खियाँ को मोजेक कहा जाता है। इस प्रकार के उत्परिवर्तनों के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

आरोपित उत्परिवर्तन—वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा पता लगाया है कि उत्परिवर्तनों पर परिवेश का प्रभाव तीन प्रकार से पड़ता है, तापक्रम द्वारा, कतिपय रसायनों द्वारा और किरणन द्वारा।

तापक्रम—उत्परिवर्तन पर तापक्रम का क्या प्रभाव पड़ता है, इसपर अधिकतर प्रयोग कदली मक्खी, ड्रोसोफिला, को ही लेकर किए गए हैं। एक ऐसे ही प्रयोग में जब लिंगसहलग्न अप्रभावी घातक जीनों का अध्ययन किया गया तो पता चला कि १४° सें० ग्रे० पर ०.०८७ प्रतिशत, २२° सें०ग्रे० पर ०.१८८ प्रतिशत और २८° सें० ग्रे० पर ०.३२५ प्रतिशत घातक जीन उत्पन्न हुए। इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि तापक्रम में यदि १०° की भी वृद्धि हो जाती है तो उत्परिवर्तन की दर में दूनी अथवा तिगुनी वृद्धि हो जाती है। इस प्रसंग में एक मनोरंजक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि तापक्रम में वृद्धि द्वारा ही नहीं, अपितु अतिशय न्यूनता द्वारा भी उत्परिवर्तन प्रभाव पड़ सकता है। ड्रोसोफिला मिलेनोगेस्टर के तीन दिनों के डिंभों (larvae) को −६° ताप (शीताघात) पर रखने पर देखा गया कि २५ से ४० मिनट के भीतर इनके एक्स तथा द्वितीय गुणसूत्रों में घातक उत्परिवर्तन की दर तीनगुनी हो गई। अस्तु, यह विचित्र बात है कि शीत तथा ताप में अतिशय वृद्धि का लगभग एक समान ही प्रभाव पड़ता है। ऐसा क्यों होता है, इसपर अभी अधिक प्रकाश नहीं पड़ा है।

उत्परिवर्तन पर रासायनिक प्रभाव के फलों का अध्ययन अनेक प्रकार से किया गया है। रासायनिक अभिकर्मों द्वारा उत्परिवर्तन दर में वृद्धि का प्रयास अनेक विधियों द्वारा किया गया है। इस प्रसंग में औवरबैश और राबसन (Auerbach and Robson) द्वारा अभी हाल में ही (१९४६ में) किए गए प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि सरसों का धुआँ अत्यधिक प्रभावकारी उत्परिवर्तक माध्यम है। वयस्क ड्रोसोफिला में उचित मात्रा में दिए गए धुएँ के प्रभाव को देखने पर ज्ञात हुआ कि इससे उत्परिवर्तन दर में १० प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि हो जाती है। सरसों के धुएँ के अतिरिक्त अनेक पराक्साइडें (peroxides), फार्मेलीन, परमैंगनेट, यूरीथेन, कैफ़ीन आदि भी उत्परिवर्तन दर में वृद्धि करनेवाले प्रमाणित हुए हैं। सरसों तथा पराक्साइडों के अतिरिक्त दूसरे रसायनों के प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही देखे गए। दूसरी कमी इनमें यह भी पाई गई कि इनका प्रभाव कुछ जीवों पर होता है, कुछ पर नहीं। इसी तरह रसायनों का प्रभाव सूत्रीविभाजन (mitosis) के विशेष चरणों में या परिवर्तन की विशेष दिशाओं में ही दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार कुछ रसायन केवल नर को ही प्रभावित करते हैं, मादा को नहीं। इसका कारण यह बतलाया गया है कि जब तक कोई रसायन कोशिका के केंद्रक आवरण को भेदकर भीतर तक नहीं पहुँच जाता, तब तक उसका प्रभाव संदिग्ध ही होगा; दूसरे, बाहरी रसायन को कोशिकाद्रव्य ही यदि निष्प्रभावित कर देगा, तो उसका प्रभाव तो होगा ही नहीं।

किरणन (Irradiation)—द्वारा उत्परिवर्तन की संभावना पर एच० जे० मुलर ने सन् १९२७ में कुछ प्रयोग किए थे। उन्होंने ड्रोसोफिला पर एक्स-किरणों का प्रक्षेपण करके अनेक प्रकार के उत्परिवर्तन उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की। तब से अब तक मक्का, जौ, कपास, चुहिया आदि पर भी किरणन के प्रभावों का प्रचुर अध्ययन किया जा चुका है। मुलर ने किरणन के प्रभावों का अध्ययन करने की जिस विधि को निकाला, उसे सी.एल.बी. (C. L. B.) विधि कहते हैं। इस विधि द्वारा ड्रोसोफिला के एक्स-गुणसूत्रों में नए घातक (lethal) जीनों की खोज की जाती है।

सी.एल.बी. का तात्पर्य है : सी = crossover suppressor, एल = recessive lethal तथा बी = bar eyes। मादा ड्रोसोफिला

के एक एक्स-गुणसूत्र में उपर्युक्त तीन विशेषताएँ (एक विनिमयज निरोधक जीन, एक अप्रभावी घातक जीन और बार नेत्रों का प्रभावी जीन) छाँटकर अलग कर ली जाती हैं और दूसरे एक्स-गुणसूत्र को सामान्य ही रखा जाता है। नर मक्खियों में एक्स-किरणें आरोपित कर उन्हें सी.एल.बी. मक्खियों से मैथुनरत किया जाता है। इनसे उत्पन्न बार मादा बच्चों में सी.एल.बी. गुणसूत्र रहते हैं, जो माता से प्राप्त होते हैं। पिता से उन्हें अभिकिर्मित एक्स-गुणसूत्र मिलते हैं। इन बार मादाओं का किसी भी नर से संयोग कराने पर जो संतानें उत्पन्न होती हैं, उनमें आधे पुत्रों (द्वितीय पीढ़ी) में सी.एल.बी. गुणसूत्र रहते हैं और ये सभी मर जाते हैं। शेष आधे पुत्रों में अभिकिर्मित एक्स-गुणसूत्र होते हैं; यदि ये एक्स-सूत्र घातक हुए तो ये भी सभी पुत्र मर जाते हैं। किंतु सभी मादा-संततियाँ जीवित रहती हैं, क्योंकि उनमें सामान्य एक्स-सूत्र रहता है। इस प्रकार, इस विधि द्वारा स्पष्ट और अस्पष्ट दोनों प्रकार के उत्परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है।

एक्स-किरण का प्रभाव उसकी मात्रा पर निर्भर करता है। मुलर ने मात्रा में वृद्धि करके उत्परिवर्तन दर में वृद्धि का प्रभाव देखा था। आगे चलकर उनके शिष्य ओलिवर ने और भी प्रयोग किए और अनेक प्रकार के तथ्य उपस्थित किए। एक्स-किरणों का प्रभाव इतना अधिक इसलिये पड़ता है कि वे गुणसूत्रों को भंग कर देती हैं, जिनसे भाँति भाँति के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। इनके अंतर्गत स्थानांतरण प्रतिलोमन (inversion), डिलीशन (delition) द्विगुणन आदि समाविष्ट हैं। सच पूछिए तो किरणन, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, तभी उत्परिवर्तन करता है, जब उसमें आयन उत्पन्न करने की क्षमता हो। उदाहरण के लिये, रेडियम में तीन प्रकार के विकिरण (अल्फा, बीटा, गामा) उत्पन्न होते हैं। लैन्सन ने गामा विकिरण पर कई सफल प्रयोग किए हैं।

अल्ट्रावायलेट प्रकाश—अल्टेनबर्ग ने अल्ट्रावायलेट प्रकाशकिरणों के उत्परिवर्तित प्रभावों के ड्रोसोफिला पर प्रयोग किए हैं। उन्होंने वयस्क मक्खियों के स्थान पर उनके अंडों पर किरणन किया। इन किरणों का प्रभाव उच्चतर जंतुओं और मनुष्यों पर न पड़कर केवल बहुत कोमल जंतुओं और जनन कोशिकाओं पर ही पड़ सकता है। इनकी शक्ति बहुत मंद तथा न्यून होती है। जब तक इन्हें विशेष रसायनों से संलग्न नहीं किया जाता, तब तक इनकी कार्यक्षमता हीन ही रहती है। इन किरणों का प्रभाव एक्स-किरणों की ही भाँति होता है और ये भी जीन उत्परिवर्तन तथा गुणसूत्रीय विपथन (aberrations) दोनों उत्पन्न करते हैं। आयनकारक विकिरण के फलस्वरूप गुणसूत्रों में यदि एकल भंग (single break) होता है, तो ऊतकों का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक होगा। किंतु, जब दोहरा भंग होता है, और वह भी एक ही गुणसूत्र में, तब उनसे हीनता (deficiency और प्रतिलोमन (inversion) उत्पन्न होगा। यही दोहरा भंग यदि असमजात (non-homologous) गुणसूत्रों में होता है तो स्थानांतरण उत्पन्न होगा।

उत्परिवर्तनों का महत्व—ऊपर हमने उत्परिवर्तनों के कारणों और उनके प्रभावों का अध्ययन किया है। हम इनके महत्व पर भी थोड़ा विचार करेंगे। उत्परिवर्तनों के महत्व के निम्नलिखित पक्ष हो सकते हैं—

१—**उद्विकासीय महत्व**—आरंभ में ही हमने देखा है कि सृष्टि के जीवजगत् में विविधता दृष्टिगोचर होती है। उद्विकास सिद्धांत (evolution theory) की मान्यता है कि यह सारा दृश्यजगत् अणु से ही महान् हुआ है। अर्थात् प्रत्येक महान् की इकाई कोई न कोई अणु है। यही अणु एक से दो, दो से चार, आठ, सोलह और अनंत तथा अकथ्य और अकल्पनीय गुणनों के दौर से गुजरता गुजरता दैत्याकार रूप धारण कर लेता है। जीवजगत् की विविधता के संबंध में कोई व्यवस्थित व्याख्या उपलब्ध नहीं है, तथापि इस संबंध में अब तक जो कुछ कहा सुना गया है, उसका सारांश इस प्रकार है—

जीवोत्पत्ति की आदिम अवस्थाओं में पृथ्वी का वातावरण अनिश्चित और भौगोलिक परिवेश आज जैसा नहीं था। भौतिक और रासायनिक दृष्टि से तत्कालीन धरती विशेष प्रकार के संक्रमण काल से होकर गुजर रही थी। वायुमंडलीय प्रभावों से जीव जंतुओं की आकृति, आकार, वर्ण आदि पूर्णरूपेण प्रभावित थे। प्रकृति जीवों को संरक्षण प्रदान करने की स्थिति में नहीं थी। केवल वे ही जीव जीवित रह पाते थे, जो सबल थे। वायुमंडलीय प्रभाव शक्तिशाली होने के कारण कोमल जीवों के गुणसूत्रों में परिवर्तन हो जाना सामान्य बात रही होगी। इससे नए नए प्रकार के जीव जंतुओं का विकास तेजी से हुआ होगा। यही कारण है कि जिस तेजी से वे फैले उसी गति से समाप्त होते गए। उनका चिह्न, उनकी सत्ता के प्रमाण, जीवाश्मों (fossils) में सिमटकर रह गए।

गुणसूत्रों में परिवर्तन के फलस्वरूप जंतुकुलों में ही नहीं, स्पीशीज तक में विविधता आ गई। यह विविधता आज तक वर्तमान है और अब इसमें परिवर्तन की संभावना (कम से कम, प्राकृतिक रूप से) कम ही है। कारण यह है कि आज का प्राकृतिक पर्यावरण पर्याप्त दूषित हो गया है और भाँति भाँति के तकनीकी तथा वैज्ञानिकी आविष्कारों द्वारा मनुष्य प्रकृति को अपनी चेरी बनाता जा रहा है। यही कारण है कि अब उत्परिवर्तन के लिये कृत्रिम साधनों का प्रयोग करना पड़ता है।

२—**सामाजिक महत्व**—कृत्रिम साधनों द्वारा उत्परिवर्तन कराकर जीव, चिकित्सा और कृषि वैज्ञानिक नस्लसुधार, रोगमार्जन, उत्पादनवृद्धि और मानवकल्याण की अनेक योजनाओं को क्रियान्वित कर रहे हैं। कृषि-क्षेत्र में पशुओं तथा अनाजों का नस्लसुधार और उत्पादनवृद्धि उत्परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण पक्ष प्रमाणित हुई है। आनुवंशिकी की एक नवीन शाखा सुजनन विज्ञान (eugenics) को वैज्ञानिक तेजी से विकसित करने में लगे हुए हैं।

सुजनन विज्ञान के दो पक्ष हैं : (१) सकारात्मक तथा (२) नकारात्मक। सकारात्मक सुजनन विज्ञान का लक्ष्य अच्छी और मनचाही संतति उत्पन्न करना है। इसके लिये ऐसे निर्दोष माता पिता (जनक) का चयन करना होगा, जैसा हम चाहते हैं। इनके संयोग से जो संततियाँ उत्पन्न होंगी उनकी सूक्ष्म एवं गंभीरतापूर्वक जाँच कर उन्हीं का पुनः संयोग कराया जाएगा। सामाजिक सांस्कृतिक मर्यादाओं की उस समय क्या स्थिति होगी, यह तो समय ही बतलाएगा।

नकारात्मक सुजनन विज्ञान—इसी योजना का दूसरा पक्ष है। इसके अंतर्गत ऐसे आनुवंशिक रोगों से ग्रस्त मनुष्यों का चुनाव किया जाएगा, जो सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय समझे जाएँगे। उनके दोषों को जीन उत्परिवर्तन की कृत्रिम विधियों द्वारा नष्ट करने का प्रयास किया जाएगा। अभी तक वैज्ञानिक इन योजनाओं के सैद्धांतिक पक्ष पर ही ध्यान देने में लगे हैं, इनका व्यावहारिक प्रयोग अभी भविष्य के गर्भ में है। दूसरी ओर औद्योगिक और तकनीकी आविष्कारों के प्रसार के कारण वातावरण नम एवं जल-दूषित होता चला जा रहा है। अणु बमों के परीक्षणों, अनावश्यक युद्धों में घातक बमों के प्रयोगों के कारण विकिरण प्रभाव धीरे धीरे फैलते जा रहे हैं। यदि इनपर नियंत्रण नहीं रखा गया तो वह दिन दूर नहीं जब जीव इस धरती से लुप्त हो जाएँगे और पृथ्वी भी चंद्रमा की भाँति निर्जन हो जाएगी। चिकित्सा के क्षेत्र में एक्स-किरणों तथा अन्य किरणों और प्रकाशों के प्रयोग के भी घातक एवं मंद प्रभावों की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा है। चिकित्सकों के मन में यह आशंका घर करती जा रही है कि तात्कालिक लाभ करनेवाली चिकित्साविधियाँ कहीं भयानक और घातक न हो जाएँ।

जनसंख्या आनुवंशिकी के नाम से विज्ञान की एक नई शाखा तेजी से विकसित हो रही है। इसके अंतर्गत मानवकल्याण की अनेक समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है। आज का विश्व बहुत सीमित एवं संकुचित होता जा रहा है। एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुँचने में अब कुछ घंटों का ही समय लगता है। अंतरराष्ट्रीय आवागमन, परिव्रजन, युद्ध, शरणार्थी जीवन आदि के कारण मनुष्य अत्यधिक घुलते मिलते जा रहे हैं। इस घालमेल के परिणामों का अध्ययन करना इस नई शाखा का मुख्य लक्ष्य है। उत्परिवर्तन के लिये संकरण (cross-breeding) की एक ऐसी विधि आज वैज्ञानिकों को सुलभ है, जिसका प्रयोग वे धड़ल्ले

से करते जा रहे हैं। इसका परिणाम आगे क्या होगा, यह तो अभी भविष्य के गर्भ में है।

मनुष्य के कल्याण के लिये जनसंख्या आनुवंशिकी क्या कुछ कर पाएगी, यह अभी से कुछ नहीं कहा जा सकता। विश्व की जनसंख्या जिस द्रुत गति से बढ़ती जा रही है और भोजन तथा आवास की समस्याएँ जितनी गंभीर बनती जा रही हैं, उनसे आशंका उत्पन्न होती है कि कहीं डाइनोसोरों, उड़नदैत्यों (flying demons) आदि की भाँति मनुष्य भी एक न एक दिन पृथ्वी से लुप्त (extinct) हो जाए। उत्परिवर्तन, जीन विनिमय, संकरण, और अंगों के प्रतिरोपण, कृत्रिम गर्भाधान, कृत्रिम उर्वरक द्वारा अन्नोत्पादनवृद्धि शुद्ध और असली घी, दूध, तैल आदि के स्थान पर वनस्पति, दुग्धचूर्ण और कपास, ऊन, रेशम, पाट आदि के वस्त्रों के स्थान पर नाइलन, टेरिलोन पोलिएस्टर, काँच, प्लास्टिक आदि का प्रयोग जिस द्रुत गति से हो रहा है उससे भाँति भाँति की आशंकाओं का उठना स्वाभाविक ही होगा। जो भी हो, मानव का भविष्य अंधकार में है और उसका विनाश यदि शीघ्र नहीं तो निकट भविष्य में ही आसन्न है। (रा० सिं०)

उत्पल १. द्र० 'कमल'।

उत्पल २ काश्मीर का राजकुल जिसने लगभग ८५५ ई० से ल० ९३९ ई० तक राज किया। अंतिम करकोट राजा के हाथ से अवंतिवर्मन् ने शासन की बागडोर छीन उत्पल राजवंश का आरंभ किया। इस राजकुल के राजाओं में प्रधान अवंतिवर्मन् और शंकरवर्मन् थे। इस कुल के अंतिम राजा उन्मत्तावंती के अनौरस पुत्र सूरवर्मन द्वितीय ने केवल कुछ महीने राज किया। उत्पल राजकुल का अंत मंत्री प्रभाकरदेव द्वारा हुआ जिसके बेटे यशःकर को चुनकर ब्राह्मणों ने काश्मीर का राजा बनाया। (ओं० ना० उ०)

उत्पलाचार्य प्रत्यभिज्ञादर्शन के एक आचार्य। ये काश्मीर शैवमत की प्रत्यभिज्ञा शाखा के प्रवर्तक सोमानंद के पुत्र तथा शिष्य थे। इनका समय नवम शती का अंत और दशम शती का पूर्वार्ध था। इन्होंने प्रत्यभिज्ञा मत को अपने सर्वश्रेष्ठ प्रमेयबहुल ग्रंथ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' द्वारा तथा उसकी वृत्तियों में अन्य मतों का युक्तिपूर्वक खंडन कर उच्च दार्शनिक कोटि में प्रतिष्ठित किया। इनके पुत्र तथा शिष्य लक्ष्मणगुप्त अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञा तथा क्रमदर्शन के महामहिम गुरु थे। उत्पल की अनेक कृतियाँ हैं जिनमें इन्होंने प्रयत्यभिज्ञा के दार्शनिक रूप को विद्वानों के लिये तथा जनसाधारण के लिये भी प्रस्तुत किया है। इनके मान्य ग्रंथ हैं—(क) स्तोत्रावली (भगवान् शंकर का स्तुतिपरक सरस सुबोध गीतिकाव्य); (ख) सिद्धित्रय : अजड प्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि (वृत्ति के साथ) और संबंधसिद्धि (टीका के साथ); (ग) शिवदृष्टिव्याख्या, यह इनके गुरु सोमानंद के 'शिवदृष्टि' ग्रंथ का व्याख्यान है जिसका प्रणयन, भास्करी के अनुसार, 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' से पूर्ववर्ती है; (घ) ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका, अपनी 'वृत्ति' नामक लघ्वी तथा 'विवृत्ति' नामक महती व्याख्या के साथ, उत्पलाचार्य का पांडित्यपूर्ण युक्तिसंवलित गौरवग्रंथ है जिसपर अभिनवगुप्त ने 'विमर्शिणी' और 'विवृत्तिविमर्शिणी' नामक नितांत प्रख्यात टीकाएँ लिखी हैं। इसी ग्रंथ ने इस दार्शनिक मतवाद को 'प्रत्यभिज्ञा' जैसी मार्मिक संज्ञा प्रदान की है। (ब० उ०)

उत्पाद बौद्ध दर्शन के अनुसार भौतिक तथा मानसिक अवस्थाओं में एक क्षण भी स्थिर रहनेवाला कोई तत्व नहीं है। सभी चीजें प्रदीपशिखा की तरह अनवरत अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील हैं। तो भी, चूंकि हमारा ज्ञान स्थिर कल्पनाओं से बना होता है, उस अनित्यस्वरूप की व्याख्या शब्दों से करना कठिन है। अतः बुद्ध के मौलिक अनित्यवाद ने आगे चलकर क्षणिकवाद का रूप ग्रहण कर लिया। इस 'क्षण' की कल्पना अत्यंत सूक्ष्म की गई। इसमें उत्पाद, स्थिति, भंग के क्षण माने गए। उत्पाद-स्थिति-भंग, इन तीन क्षणों का एक चित्तक्षण या रूपक्षण माना गया। आगे चलकर दार्शनिकों ने बताया कि परमतात्विक दृष्टि में उत्पाद-स्थिति-भंग के तीन क्षण हो ही नहीं सकते, सत्ता की प्रवाहशीलता तो अविच्छिन्न है। (भि० ज० का०)

उत्पीड़न भ्रांति एक प्रकार की मानसिक विकृति जिसमें रोगी के मन में लगातार इस प्रकार के भाव उठते रहते हैं कि वह चारों ओर अपने शत्रुओं से घिरा है, सब व्यक्ति उसका मखौल उड़ा रहे हैं, उसे यातना पहुँचाना चाहते हैं, उसके विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं आदि। फ्रायड ने उत्पीड़न भ्रांति का कारण कामग्रंथि को माना है जब कि एडलर इसके मूल में हीन ग्रंथि की सक्रियता मानते है। (कै० चं० श०)

उत्प्रेरण (कैटेलिसिस) रासायनिक क्रिया के उस त्वरण को कहते हैं जो किसी स्वयं न बदलनेवाले रासायनिक पदार्थ से उत्पन्न होता है। सर्वप्रथम सन् १८३५ में, बर्जीलियस ने कुछ रासायनिक क्रियाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिनमें कतिपय बाह्य पदार्थों की उपस्थिति में क्रिया की गति तो तीव्र हो जाती थी किंतु बाह्य पदार्थ उस क्रिया में कोई भाग नहीं लेता था। उदाहरणार्थ यदि इक्षु शर्करा (केन शुगर) को अम्लों की उपस्थिति में गरम करें तो वह बड़ी शीघ्रता से ग्लूकोस तथा फ्रुक्टोस में परिवर्तित हो जाती है। इस क्रिया में अम्ल कोई भाग नहीं लेता। वह पुनः काम में लाया जा सकता है। बर्जीलियस ने इस क्रिया को 'उत्प्रेरण' की संज्ञा दी तथा उन पदार्थों को 'उत्प्रेरक' (कैटालिस्ट अथवा 'कैटालिटिक एजेंट') के नाम से पुकारा जिनकी उपस्थिति में क्रिया वेग से होने लगती है। ओस्टवाल्ड ने उत्प्रेरक पदार्थों की परिभाषा इस प्रकार दी है: "उत्प्रेरक उस पदार्थ को कहते हैं जो किसी रासायनिक क्रिया के वेग को बदल दे, परंतु स्वयं क्रिया के अंत में अपरिवर्तित रूप में वर्तमान रहे।" उत्प्रेरक क्रिया के अंत में अपरिवर्तित रहता है, अतः उसे पुनः काम में लाया जा सकता है। अधिकांश क्रियाओं में उत्प्रेरक प्रतिक्रिया की गति को बढ़ा देता है। ऐसे उत्प्रेरकों को धनात्मक उत्प्रेरक कहते हैं; परंतु कुछ ऐसे भी उत्प्रेरक हैं जो रासायनिक क्रिया की गति को मंद कर देते हैं। ऐसे उत्प्रेरक ऋणात्मक उत्प्रेरक कहलाते हैं।

उत्प्रेरण की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

१. क्रिया के अंत में उत्प्रेरक अपरिवर्तित बच रहता है। उसके भौतिक संगठन में चाहे जो परिवर्तन हो जायँ, परंतु उसके रासायनिक संगठन में कोई अंतर नहीं होता।

२. उत्प्रेरक पदार्थ की केवल थोड़ी मात्रा ही पर्याप्त होती है। उत्प्रेरक की यह विशेषता इस तथ्य पर निर्भर है कि वह क्रिया के अंत में अपरिवर्तित रहता है। परंतु कुछ ऐसी क्रियाओं में, जिनमें उत्प्रेरक एक माध्यमिक अस्थायी यौगिक बनता है, उत्प्रेरक की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

३. उत्प्रेरक उत्क्रमणीय प्रतिक्रियाओं में प्रत्यक्ष और विपरीत दोनों ओर की क्रियाओं को बराबर उत्प्रेरित करता है, अतः उत्प्रेरक की उपस्थिति से प्रतिक्रिया की साम्य स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल साम्यस्थापन के समय में ही अंतर हो जाता है।

४. उत्प्रेरक नई क्रिया को प्रारंभ कर सकता है। यद्यपि ओस्टवाल्ड ने सर्वप्रथम यह मत प्रगट किया था कि उत्प्रेरक नई क्रिया प्रारंभ नहीं कर सकता, तो भी आधुनिक वैज्ञानिकों का यह मत है कि उत्प्रेरक नई क्रिया को भी प्रारंभ कर सकता है।

५. प्रत्येक रासायनिक क्रिया में कुछ विशिष्ट उत्प्रेरक ही कार्य कर सकते हैं। अभी तक वैज्ञानिकों के लिये यह संभव नहीं हो सका है कि वे सभी रासायनिक क्रियाओं के लिये किसी एक ही उत्प्रेरक को काम में लाएँ। यह आवश्यक नहीं कि किसी एक क्रिया का उत्प्रेरक किसी दूसरी क्रिया को भी उत्प्रेरित करे।

प्रायः सभी उत्प्रेरित क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) समावयवी उत्प्रेरित क्रियाएँ (समावयवी उत्प्रेरण); (२) विषमावयवी उत्प्रेरित क्रियाएँ (विषमावयवी उत्प्रेरण)।

समावयवी उत्प्रेरण—इन क्रियाओं में उत्प्रेरक, प्रतिकर्मक तथा प्रतिफल सभी एक ही अवस्था में उपस्थित होते हैं। उदाहरणार्थ, सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की वेश्म विधि में सल्फर डाइऑक्साइड, भाप तथा ऑक्सिजन के संयोग से सल्फ्यूरिक अम्ल बनता है तथा नाइट्रिक ऑक्साइड द्वारा यह क्रिया उत्प्रेरित होती है। इस क्रिया में प्रतिकर्मक, उत्प्रेरक तथा प्रतिफल इसी गैसीय अवस्था में रहते हैं।

विषमावयवी उत्प्रेरण—इन क्रियाओं में उत्प्रेरक, प्रतिकर्मक तथा प्रतिफल विभिन्न अवस्थाओं में उपस्थित रहते हैं। यथा, अमोनिया बनाने की हावर-विधि में नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन की संयोगक्रिया को फेरिक आक्साइड उत्प्रेरित करता है। सूक्ष्म निकल की उपस्थिति में वानस्पतिक तेलों का हाइड्रोजनीकरण इस प्रकार की क्रियाओं का एक अन्य उदाहरण है।

कुछ पदार्थ अपनी उपस्थिति से रासायनिक क्रिया के वेग पर प्रभाव नहीं डालते, परंतु कुछ दूसरे उत्प्रेरकों की क्रिया को प्रभावित करते हैं। इनमें से उन पदार्थों को, जो उत्प्रेरकों की क्रियाशीलता को बढ़ा देते हैं, उत्प्रेरकवर्धक तथा उन पदार्थों को, जो उत्प्रेरकों की क्रियाशीलता कम कर देते हैं, उत्प्रेरकविरोधी या उत्प्रेरक विष कहते हैं।

आत्म उत्प्रेरक—कुछ प्रतिक्रियाएँ ऐसी भी ज्ञात हैं जिनमें प्रतिक्रिया में ही उत्पन्न कोई पदार्थ प्रतिक्रिया के लिये उत्प्रेरक का कार्य करता है। उदाहरणार्थ, एथिल ऐसिटेट के जलविच्छेदन में जो ऐसीटिक अम्ल प्राप्त होता है, वही एस्टर के जलविच्छेदन की क्रिया को उत्प्रेरित करता है।

उत्प्रेरण के सिद्धांत—यद्यपि उत्प्रेरण को समझने समझाने के लिये बहुत पहले से अध्ययन होते चले आ रहे हैं, तथापि इस विषय में अभी अंतिम निष्कर्ष नहीं निकला है। वैज्ञानिक इसपर एकमत हैं कि सभी उत्प्रेरक एक ही सिद्धांत के अनुसार क्रिया नहीं करते। उत्प्रेरण की व्यवस्था के लिये दो सिद्धांत काम में लाए जाते हैं। (१) मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत; (२) अधिशोषण सिद्धांत।

१ मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत—यह उत्प्रेरण की व्याख्या के लिये एक रासायनिक सिद्धांत है। इसके अनुसार उत्प्रेरक पहले प्रतिकर्मकों में से एक के साथ क्रिया करके एक मध्यवर्ती अस्थायी यौगिक बनाता है; फिर वह मध्यवर्ती अस्थायी यौगिक दूसरे प्रतिकर्मक से क्रिया करके प्रतिफल देता है तथा उत्प्रेरक पुनः अपनी पूर्वावस्था में आ जाता है। इसके अनुसार प्रतिकर्मकों 'क' तथा 'ख' की संयोजनक्रिया उत्प्रेरक 'ग' की उपस्थिति में निम्नलिखित प्रकार से प्रकट की जाती है :

क + ग = क ग (अस्थायी मध्यवर्ती यौगिक);
क ग + ख = क ख + ग,
क + ग = क ग।

क्रिया के अंत तक यही क्रम चलता रहता है।

मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत के द्वारा कुछ क्रियाओं के उत्प्रेरण की व्याख्या सरल है। परंतु अधिकांश विषमावयवी क्रियाओं तथा उत्प्रेरक वर्धकों अथवा विषों की क्रियाओं को समझाना कठिन या असंभव सा है।

२. अधिशोषण सिद्धांत—यह उत्प्रेरण की व्याख्या के लिये भौतिक सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रतिकर्मक उत्प्रेरक के तल पर घनीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार उत्प्रेरक तल पर प्रतिकर्मकों की सांद्रता बढ़ जाने से मात्रा-अनुपाती-नियम के अनुसार क्रिया का वेग बढ़ जाता है।

अब उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों को मिलाकर एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार उत्प्रेरक पदार्थ के तल पर कुछ सक्रिय केंद्र होते हैं। इन केंद्रों में अणुओं या परमाणुओं को अधिशोषित करने की क्षमता होती है। अतः धातु के तल पर प्रतिकर्मकों के घनीभूत होने से सांद्रता तो बढ़ती ही है, जिसके कारण क्रियावेग में वृद्धि होती है, साथ ही इन सक्रिय केंद्रों पर प्रतिकर्मक इनके साथ अस्थायी यौगिक भी बना लेते हैं, जो मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत के अनुसार उत्प्रेरण का कार्य करते हैं।

एंजाइमों द्वारा उत्प्रेरण—एंजाइम जटिल कार्बनिक पदार्थ होते हैं जो पौधों या प्राणियों से प्राप्त किए जाते हैं। ये अधिकांश प्रतिक्रियाओं में अत्युत्तम उत्प्रेरक सिद्ध हुए हैं। पेड़ पौधों में होनेवाली लगभग सभी क्रियाओं में एंजाइम उत्प्रेरक का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे शरीर में होनेवाली क्रियाओं, विशेषतया भोजन के पाचन में भी एंजाइम उत्प्रेरक का काम करते हैं।

उपयोग—औद्योगिक तथा रासायनिक क्रियाक्षेत्र में उत्प्रेरक बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। नाइट्रोजन का स्थिरीकरण उत्प्रेरित क्रियाओं का एक साधारण उदाहरण है। पेड़ पौधों के लिये स्थायी नाइट्रोजन की उपलब्धि नाइट्रेट या अमोनियम के रूप में होती है। नाइट्रोजन के ये दोनों ही रूप उत्प्रेरकों की सहायता से निर्मित होते रहते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के समय लगभग समस्त विश्व में मोटर आदि वाहनों को चलाने में जो ईंधन काम में लाया जाता था वह सब उत्प्रेरकों की सहायता से ही तैयार किया जाता था। उत्प्रेरण द्वारा पेट्रोलियम में बहुत से ऐसे पदार्थ बनाए जाते थे जो ईंधन के रूप में काम में लाए जाते थे। इसके अतिरिक्त उत्प्रेरित क्रियाओं का अन्य महत्व भी है, उदाहरणतः ब्यूटाडाईन तथा स्टाइरीन से संश्लिष्ट रबर बनाने, गंधकाम्ल के निर्माण, तथा सूक्ष्म खंडित निकल की उपस्थिति में वानस्पतिक तेलों के हाइड्रोजनीकरण द्वारा वनस्पति घी के निर्माण में, इत्यादि।

सं०ग्रं०—ग्लास्टन : टेक्स्ट बुक ऑव फिजिकल केमिस्ट्री, ऐडवांटेज इन कैटेलिसिस, मेहरोत्रा, आर० सी० : भौतिक रसायन की रूपरेखा। (रा० दा० ति०)

उत्प्लव

उत्प्लव (बॉय, buoy) उन पिंडों का नाम है जो समुद्रतल से बँधे रहते हैं और समुद्रपृष्ठ पर उतराते रहकर जहाजों को मार्ग की विपत्तियों या सुविधाओं की सूचना देते रहते हैं। उदाहरणतः उत्प्लव संकीर्ण समुद्रों का नौपरिवहन योग्य सीमा सूचित करते हैं, या यह बताते हैं कि मार्ग उपयुक्त है, या यह कि उसके अवरोध कहाँ हैं, जैसे पानी के भीतर डूबी हुई विपत्तियाँ या बिखरे हुए चट्टान, सुरंग या टारपीडों के स्थल, तार भेजने के समुद्री तार, या लंगर छोड़कर चले गए जहाजों के छूटे हुए लंगर। कुछ उत्प्लवों से यह भी काम निकलता है कि लंगर डालने के बदले जहाज को उनसे बाँध दिया जा सकता है। इनको नौबंध उत्प्लव (मूरिंग बॉय) कहते हैं। उद्देश्य के अनुसार उत्प्लवों के आकार और रंग में अंतर होता है। ये काठ के कुंदे से लेकर इस्पात की बड़ी बड़ी संरचनाएँ हो सकती हैं, जिनमें जहाज बाँधे जाते हैं। उत्प्लव को अंग्रेजी में 'बॉय' कहते हैं और लश्करी हिंदी में इसे 'बोया' कहा जाता है। अंग्रेजी शब्द बॉय उस प्राचीन अंग्रेजी शब्द से व्युत्पन्न है जिससे आधुनिक अंग्रेजी शब्द बीकन (beacon, आकाशदीप) की भी उत्पत्ति हुई है। परंतु अब बॉय का अर्थ हो गया है उतराना, और उत्प्लव शब्द का भी अर्थ है वह जो उतराता रहे।

जब उत्प्लव नौपरिवहनोपयुक्त संकीर्ण समुद्री मार्ग को सूचित करते हैं तब ये दक्षिणबाहु उत्प्लव (स्टारबोर्ड हैंड बॉय) या वामबाहु उत्प्लव (पोर्ट-हैंड बॉय) या मध्यबाहु उत्प्लव (मिड-चैनल बॉय) नाम से अभिहित होते हैं। दक्षिणबाहु उत्प्लव का अभिप्राय है मुख्य प्रवाह की दिशा में चलनेवाले या बंदरगाह, नदी, अथवा मुहाने में समुद्र की ओर से प्रवेश करनेवाले नौपरिवाहक की दाहिनी ओर पड़नेवाला उत्प्लव, तथा वामबाहु उत्प्लव का अर्थ है पूर्वोक्त परिस्थितियों में बाईं ओर पड़नेवाला उत्प्लव। जिस उत्प्लव का शीर्ष पानी के ऊपर शंकु (कोन) के आकार का दिखाई पड़ता है उसे शंक्वाकार उत्प्लव कहा जाता है और वह सर्वदा दक्षिणबाहु उत्प्लव होता है। जिस उत्प्लव का शीर्ष पानी के ऊपर चिपटा दिखाई देता है उसे मंजूषाकार (कैन) उत्प्लव कहते हैं और वह सर्वदा वामबाहु उत्प्लव ही होता है। जिन उत्प्लवों का सिर पानी के ऊपर गुंबदाकार दिखाई पड़ता है उन्हें गोलाकार (स्फेरिकल) उत्प्लव कहते हैं और ये मध्यभूमि के छोर को सूचित करते हैं। वे उत्प्लव जो विस्तृत आधार पर खड़े रहते हैं और बहुत ऊँचे होते हैं स्तंभ उत्प्लव (पिलर बॉय) कहलाते हैं। अन्य विशेष उत्प्लवों, जैसे घंटोत्प्लव, प्रकाशोत्प्लव, स्वयं-ध्वनिकर-उत्प्लव, सीटी उत्प्लव आदि, की भाँति ये स्थितिविशेष के परिचायक होते हैं। ये समुद्रतट पर या बंदर पहुँचने के पहलेवाले मार्ग में रहते हैं। इसके अतिरिक्त जिन उत्प्लवों में केवल एक मस्तूल पानी के ऊपर दिखाई पड़ता है वे दंडोत्प्लव (स्पार-बॉय) कहे जाते हैं। कुछ उत्प्लवों के शीर्ष पर विशेष चिह्न भी बने रहते हैं जिनसे समुद्री मार्ग के अन्य ब्योरों या विशेषताओं का पता चलता है। इसी तरह इनपर अंकविशेष या नामविशेष भी अंकित हो सकता है। सुगम मार्ग की सूचना देनेवाले उत्प्लवों पर साधारणतः आड़ी या बेड़ी धारियाँ भी अंकित

रहती हैं। हरे रंग में रँगे उत्प्लव से पता चलता है कि यहाँ कोई जहाज नष्ट हो गया है। छोटे जहाजों के पास में प्रायः संरक्षक उत्प्लव (वाच बॉय) लंगर डाले पड़े रहते हैं। इसी प्रकार 'मत्स्योत्प्लव' (डैन बॉय) सूचित करता है कि यह मछली मारने का क्षेत्र है, जहाँ जालों का खतरा है। समुद्र में शत्रु द्वारा डाले गए विस्फोटक सुरंगों के क्षेत्र की सीमा भी वह बता सकता है।

उत्प्लव साधारणतया इस्पात से बनाए जाते हैं। सर्वप्रथम लगभग १८७८ ई० में उत्प्लवों में तैलोत्पादित गैस के प्रकाश की व्यवस्था की गई। स्वयंचालित रुक रुककर प्रकाश देनेवाले यंत्र का उपयोग १८८३ ई० में किया गया। भयावह क्षेत्र, समुद्री तार तथा अन्य विपत्तियों को
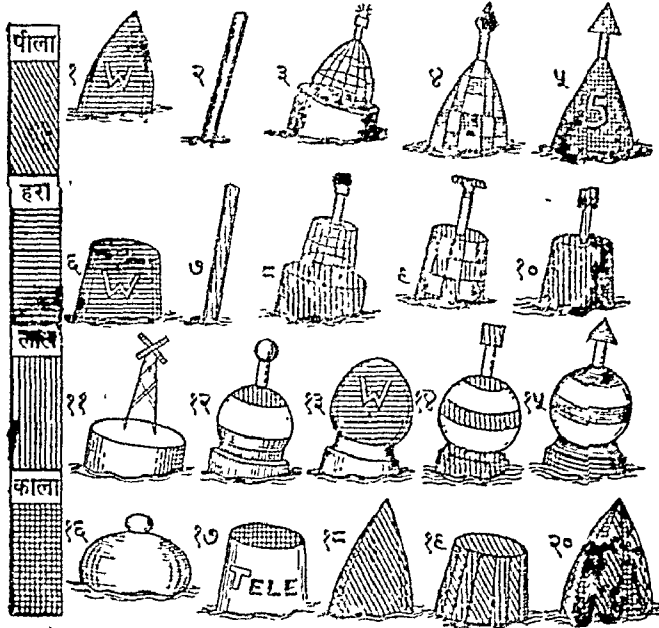
विविध प्रकार के उत्प्लव

१. (हरा) भग्नपोत सूचक उत्प्लव; २. बल्ली उत्प्लव; ३-५. दक्षिण उत्प्लव (जहाज को इस प्रकार चलाना चाहिए कि ये दाहिने हाथ की ओर पड़ें); ३. प्रकाशवाहक उत्प्लव; ४ और ५. (काला या चितकबरा) दक्षिण उत्प्लव; ६. भग्नपोत सूचक उत्प्लव; (हरा रंग, w श्वेत रंग में); ७. (लाल) भग्नपोत सूचक बल्ली उत्प्लव; ८-१०. वाम उत्प्लव; ११. स्तंभ उत्प्लव, मध्यमार्गदर्शी उत्प्लव; १२. आशंकासूचक एकल उत्प्लव; १३. उभय पार्श्व भग्नपोत उत्प्लव (हरा) (जहाज चाहे दाहिने से, चाहे बाएँ से निकल सकता है); १४-१५. मध्यक्षेत्र उत्प्लव; १६. नौबंध उत्प्लव; १७. समुद्री तार सूचक उत्प्लव (काला रँगा, अक्षर श्वेत); १८. रोगसूचक (पीला) उत्प्लव (यहाँ वह जहाज बाँधा जाता है जिसपर कोई छूतहे रोगवाला व्यक्ति रहता है); १९. विपत्तिक्षेत्र (पीला तथा लाल); २०. नदीमुख तथा पंकक्षेत्र उत्प्लव (काला और पीला)।

सूचित करने के लिये भी उत्प्लवों का उपयोग किया जाता है। संक्रामक रोगग्रस्त यात्रियोंवाले पृथक्कृत जहाजों के रुकने का स्थान निरोधायन-उत्प्लवों (क्वारेंटाइन बॉयों) से मिलता है। यहीं आदेशपत्र की प्रतीक्षा में खड़े जहाज टिकते हैं। कभी कभी अधिकारी लोग गोलंदाजी तथा बमबाजी के अभ्यास के लिये भी कुछ क्षेत्र नियत कर लेते हैं, उसके लिये वे विशेष चिह्न के उत्प्लवों (स्पेशल मार्क बॉयों) द्वारा क्षेत्र को अंकित करते हैं।

वर्तमान शताब्दी में तरलीकृत ऐसेटिलीन गैस के प्रयोग से उत्प्लवों में प्रकाश लगाने में विशेष उन्नति हुई है। जहाँ धारा अत्यधिक तीव्र रहती है, जैसे हुगली नदी में, वहाँ की सूचना देने के लिये ऐसे उत्प्लव का कभी कभी उपयोग किया जाता है, जिसमें प्रकाश और घंट दोनों रहते हैं। छोटे छोटे प्रकाशपूर्ण उत्प्लवों का उपयोग समुद्र में तार बिछानेवाले जहाज तार की अस्थायी स्थिति दिखाने के लिये करते हैं।

नौबंध उत्प्लव बहुत से बंदरों में रहते हैं जिनका उद्देश्य यह रहता है कि जहाज नियत स्थानों पर ही रुकें, अन्यत्र नहीं, और उन्हें लंगर न डालना पड़े। ऐसे उत्प्लवों का उपयोग उस समय भी होता है जब जहाज माल उतारने के लिये घाट पर नहीं बाँधे जाते तथा उस समय भी जब आवश्यकता पड़ने पर उन्हें लंगर उठाना पड़ता है। नौबंध उत्प्लवों का रूप पथप्रदर्शक उत्प्लवों से प्रायः भिन्न होता है तथा उनका रंग भी भिन्न होता है। बड़े बड़े जहाजों के लिये बने नौबंध उत्प्लवों में बहुधा पाँच तक भूमि-साँकल होते हैं, जिनमें दोनों सिरों पर लगे पेंच मुख्य साँकल को दृढ़ता से भूमि में बाँध देते हैं। बड़े बड़े उत्प्लवों में जिन जंजीरों का उपयोग किया जाता है वे ३½ इंच से ३¾ इंच तक मोटी तथा ६०० से ७२० फुट तक लंबी होती हैं। (बा० कृ० गु०)

उत्सर्जनी तंत्र

सजीव प्राणियों की अनेक मौलिक विशेषताओं में उत्सर्जन भी एक है। उत्सर्जन का सीधा सादा अर्थ होता है : मल का बाहर निकलना। इस प्रकार उत्सर्जनी तंत्र शरीर की उस आंतरिक व्यवस्था (सिस्टम ऑव अरेंजमेंट) को कहेंगे, जिसके द्वारा शरीर की कोशिकाओं के उपापचय (मेटॉबॉलिज्म) से उत्पन्न मल या वर्ज्य पदार्थ (वेस्टेज) शरीर से बाहर निकलते रहते हैं। रेलगाड़ी या ब्वायलर में से धुआँ निकलने के लिये जिस प्रकार चिमनी लगी रहती है, उसी प्रकार जीव जंतुओं के शरीर से वर्ज्य पदार्थ को बाहर निकालने के लिये कई प्रकार के अंग काम में आते हैं।

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि शरीर के भीतर कुछ और भी तंत्र होते हैं, जो इसी से मिलते जुलते कार्य करते हैं। इनके नाम हैं : स्रवण (secretion) तथा मलोत्सर्जन (defecation)।

स्रवण (secretion)—शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ होती हैं, जिनसे कुछ रासायनिक तत्व स्रवित होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, नलिकाविहीन ग्रंथियों (endocrine glands) से हार्मोनों का स्रवण या जीभ की लालाग्रंथियों (salivary glands) से लार या थूक (सेलिवा) का स्रवण इसी कोटि के हैं। सच पूछिए तो स्रवित पदार्थ या स्राव कोशिकाओं या ग्रंथियों के मल नहीं होते। मल या वर्ज्य पदार्थ हम उसे कहते हैं, जिसकी शरीर में कोई उपयोगिता नहीं होती। वस्तुतः वर्ज्य पदार्थों का शरीर से बाहर निकलना अपरिहार्य है, अन्यथा उनके विषाक्त प्रभाव से शरीर में रोग, अथवा कुछ स्थितियों में, प्राणी की मृत्यु तक हो सकती है। इसके विपरीत, स्रवित पदार्थों की शरीर में आवश्यकता होती है और उनसे शरीर की कतिपय आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है। जैसे, लार खाने को पचाता है और हार्मोन शरीर की आंतरिक क्रियाएँ तथा तज्जन्य शारीरिक स्वास्थ्य बनाए रहते हैं।

मलोत्सर्जन (**डिफेकेशन**)—मलोत्सर्जन शरीर के भीतर अनपचे भोजन और अन्य पदार्थों का विष्ठा (फिसीस) के रूप में मलनाली द्वारा गुदा (anus) से बाहर निकलने की क्रिया को कहा जाता है। अनपचा भोजन शरीर की किसी भी कोशिका अथवा ऊतक (टिशू) के काम नहीं आता अतः शरीर में इसका अधिक समय तक रुके रहना हानिकारक होता है।

उत्सर्जन (excretion)—स्रवण तथा मलविसर्जन के विपरीत उत्सर्जन शरीर के भीतर से कोशिकाओं के उपापचय द्वारा उत्पन्न वर्ज्य पदार्थों के निस्सरण की वह प्रक्रिया है, जिससे जीवों के शरीर के आंतरिक परिवेश का भौतिक रासायनिक (फिजिको केमिकल) संतुलन बना रहता है। यह वह मल होता है, जिसकी शरीर में खपत नहीं हो पाती, जैसे पसीना मूत्र, आँख का कीचड़, श्वास आदि।

उत्सर्जक अंग (excretory organs)—सृष्टि के समस्त सजीव प्राणियों की मूलभूत इकाई कोशिका होती है। इसी का समुच्चय ऊतक तथा ऊतकों से निर्मित अंगों का पुनर्जीवन होता है। कोशिकाएँ अपने आपमें संपूर्ण होती हैं अत उनसे निर्मित शरीर में वे सभी क्रियाएँ होती हैं, जो उनकी इकाई में होती है। एककोशिकीय जन्तु प्रोटोजोआ से लेकर बहुकोशिकीय मनुष्य में उत्सर्जन क्रिया अवश्य पाई जाती है। यह दूसरी बात है कि प्रोटोजोआ से लेकर आर्थ्रोपोडा तथा लोअर कार्डेट से लेकर मैमल तक के अकशेरुकीय एवं कशेरुकीय जन्तुओं की उत्सर्जन प्रक्रिया और उत्सर्जक अंगों में पर्याप्त भिन्नता होती है।

अकशेरुकीय उत्सर्जक अंग (invertebrate excretory organs)—अमीबा, पेरेमीशियम आदि एककोशिकीय (unicellular) जीवों के शरीर के भीतर कुंचनशील रिक्तिकाएँ (contractile vacuole) पाई जाती हैं। इनके भीतर आसपास के जीवद्रव्य (protoplasm) से चूषित जल इकट्ठा होता रहता है। यह जल जब मात्रा से अधिक हो जाता है तो समय समय पर अपने आप ही बाहर निकल जाया करता है। यह अतिरिक्त जल यदि कोशिका से बाहर न निकले तो कोशिका फूलते फूलते फट जा सकती है। कोशिका फटने से जीव की मृत्यु हो जायगी। प्रोटो-[illegible]के उत्सर्जित जल में मुख्य पदार्थ अमोनिया होता है।

किंचित् जटिल, और बहुकोशिकीय (multicellular) जन्तुओं का आदिम रूप (primitive form) हाइड्रा माना जाता है। इन जन्तुओं के उत्सर्जक अंग कुछ भिन्न ढंग से कार्य करते हैं। इनके शरीर की बाह्य त्वचा में अनेक छिद्र होते हैं, जिनसे होकर वर्ज्य पदार्थ बाहर निकलते रहते हैं।

उत्सर्जक अंगों की जटिलता का दर्शन हमें चिपिट क्रिमियों (flat worms) में होता है। इनके शरीर में नलिकाओं या ग्रंथियुक्त सरणियों (glandular canals) की एक व्यवस्था (सिस्टम) पाई जाती है। ये सरणियाँ शरीर भर में शाखा प्रशाखाओं के रूप में फैली और बाह्य त्वचा से जुड़ी रहती हैं। इन्हीं सरणियों से होकर मल शरीर के बाहर निकलता रहता है। इन नलिकाओं के मुख पर, भीतर की ओर, रोमकों (cilia) की एक कलँगी (tuft) पाई जाती है, जिनके लहराने से एक प्रकार का प्रवाह या लहर सी उठती है। इसी प्रवाह के कारण मल शरीर से बाहर निकल जाता है। रोमकीय सरणि के मुख के पास कुछ कोशिकाएँ पाई जाती हैं, जिन्हें ज्वाला कोशिका (flame cells) कहते हैं। इनका यह नामकरण इस कारण हुआ है कि रोमकों की लहर मोमबत्ती के प्रकाश की भाँति उठती बैठती रहती है। चिपिट क्रिमियों के शरीर से निकलनेवाले वर्ज्य पदार्थों में कार्बन डाइ-आक्साइड और अमोनिया प्रमुख हैं। उत्सर्जन की इस प्रक्रिया को आदिवृक्कक तंत्र (protonephridal system) कहा गया है।

केंचुओं जैसे बहुखंडी (metameric) शरीरवाले जन्तुओं के शरीर में विशेषीकृत अंगों का एक एक जोड़ा शरीर के प्रत्येक खंड में पाया जाता है। इन अंगों को वृक्कक (nephridia) कहते हैं। वृक्कक की संरचना लंबी वलित (coiled) नलिकाओं द्वारा हुई होती है। इसका एक छोर शरीर के भीतर और दूसरा त्वचा में जुड़ा रहता है। प्रत्येक नलिका केशिकाओं (capillaries) के कुंडल में बँधी होती है, जिसके कारण जंतु के रक्त से निकला वर्ज्य पदार्थ बाहर निकलता है। वृक्कक के भीतरी छोर की आकृति कीप जैसी होती है और इसमें रोमक पाए जाते हैं, जिनके कारण एक लहर सी उठकर वर्ज्य पदार्थों को भीतर खींच लेती है। इसी प्रकार के वृक्कक सीपों, घोंघों, शंखों आदि (molluscs) तथा रॉटीफेरीय जंतुओं में पाए जाते हैं। निम्न कशेरुकीय (lower chordate) वर्ग के जंतु ऐंफि-आक्सस में भी वृक्ककों की व्यवस्था पाई जाती है।

कीटों (insects) के शरीर में मैलपिगी नलिकाएँ (malpighian tubules) पाई जाती हैं, जो शरीरगुहा (body cavity) में स्थित होती हैं। ये नलिकाएँ पाचक क्षेत्र या मार्ग से जुड़ी रहती हैं। शरीर के रसों से मल ग्रहण करके पश्चांत्र (hind gut) में उस जंक्शन स्थान पर जमा होता रहता है, जहाँ पर आँतें आमाशय से मिली होती हैं। यह जमा हुआ मल आमाशय में होता हुआ गुदामार्ग से बाहर निकल जाता है।

कशेरुकीय उत्सर्जक अंग (vertebrate excretory organs)—कशेरुकीय जंतुओं में कई अंग मलोत्सर्जन का कार्य करते हैं। जैसे, मनुष्यों में गुर्दा या वृक्क (किडनी) मुख्य उत्सर्जक अंग हैं, जिनसे मूत्रविसर्जन होता है और इनके अतिरिक्त त्वचा से पसीना, यकृत से पित्त, फेफड़ों से कार्बन डाइ-आक्साइड आदि का निकलना भी उत्सर्जन क्रिया के ही अंतर्गत आते हैं। इस प्रसंग में मूत्रीय सर्जक अंग, वृक्क, की सामान्य संरचना का ज्ञान अपेक्षित होगा।

वृक्क (किडनी)—वृक्क पृष्ठवंशीय (कशेरुकीय) जंतुओं के मुख्य उत्सर्जक अंग हैं, जिनसे शरीर का लगभग ७५ प्रतिशत वर्ज्य पदार्थ बाहर निकल जाता है। इनको इसलिये भी अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है कि ये रक्त में घुले हुए विविध पदार्थों का नियंत्रण करते और अम्लों तथा क्षारों में संतुलन स्थापित करके रक्त की मात्रा स्थिर किए रहते हैं। चूँकि शरीर रस में आवश्यक पदार्थों की सांद्रता रक्त में पाए जानेवाले पदार्थों की सांद्रता पर निर्भर करती है, अत वृक्क परोक्ष रूप से शरीर के समस्त रसों का नियंत्रण करते हैं। यही कारण है कि अमरीकी वैज्ञानिक होमर स्मिथ ने इन्हें 'आंतरिक परिवेश का मुख्य रसायनशास्त्री' कहा है।

संरचना—वृक्कों की आकृति सेम के दानों की भाँति तथा आकार लगभग ४"–६" होता है। मनुष्य तथा अधिकांश कशेरुकीय जंतुओं में एक जोड़ा वृक्क पाए जाते हैं। ये उदरगह्वर में पीठ की ओर, आमाशय के नीचे, एक दाएँ तथा एक बाएँ भाग में स्थित होते हैं। प्रत्येक वृक्क में लगभग १० लाख सूक्ष्म वृक्कक (nephrons) पाए जाते हैं। प्रत्येक वृक्कक में दो भाग होते हैं प्रथम भाग को उत्सर्जनी नाल कहते हैं। यह लंबा और पतला होता है। दूसरा भाग केशिकागुच्छ कहलाता है क्योंकि यह केशिकाओं (capillaries) के गोले जैसा होता है। उत्सर्जनी नाल एक छोर पर बंद रहता है और बोमन संपुट (Bowman's capsule) के रूप में फैला होता है। कोशिकागुच्छ की कोशिकाएँ बोमन संपुट द्वारा ढँकी रहती हैं। बोमन संपुट से निकलनेवाला नाल बहुत लंबा तथा ऐंठा हुआ होता है और इसकी दीवाल की मोटाई लगभग एक कोशिका (cell) की मोटाई जितनी होती है। उत्सर्जनी नालें आपस में गुँथकर संग्राही नालों में जुड़ी रहती हैं। ये नालें क्रमश बड़ी नालों में जुटती जाती हैं और अंत में एक केंद्रीय वृक्कगुहा (central cavity of the kidney) में समा जाती हैं। इस गुहा को वृक्कवस्ति (kidney pelvis) कहा जाता है। वस्तिगुहा मूत्रवाहिनी नलिका (ureter) से और मूत्रवाहिनी नलिका मूत्राशय (urinary bladder) से जुड़ी रहती है। वृक्कों से चलनेवाला मूत्र इन्हीं नलिकाओं से गुजरकर मूत्राशय में जमा होता रहता है।

कार्य—वृक्कों का मुख्य कार्य मूत्रविसर्जन करना है। 'मूत्र' (urine) क्या है, पहले हमें यह जान लेना चाहिए।

मूत्र (urine)—मूत्र के निर्माण की प्रक्रिया जटिल होती है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत तीन प्रकार के कार्य होते हैं निस्यदन, पुनर्शोषण तथा संवर्धन।

निस्यंदन (filtration)—उस स्थान पर होता है जहाँ केशिकागुच्छ (glomerulus) तथा बोमन संपुट (Bowman's capsule) की दीवाल परस्पर मिलती हैं। केशिकाओं से गुजरते समय रक्त का निस्यदन होता रहता है। इस क्रिया में प्लाज्माप्रोटीनों और रक्तकोशिकाओं के साथ साथ रक्त में मिले जल, लवण, शर्करा, यूरिया आदि सभी पदार्थ निस्यंदित होकर बोमन संपुट में एकत्र हो जाते हैं। यह निस्यदन किंचित् गाढ़ा होता है, इसमें एकत्रित तरल को संपुटी निस्यंद (capsular filtrate) कहते हैं। केशिकागुच्छों से होकर गुजरनेवाले रक्त का लगभग २० प्रतिशत संपुटी निस्यंद में तथा शेष ८० प्रतिशत रुधिरवाहिकाओं (blood vessels) से होता हुआ बाहर चला जाता है।

निस्यंद वल्कुट (cortex) में स्थित बोमन संपुटों से होता हुआ एक लंबे पाश में प्रवेश करता है। यह पाश वल्कुट से निकलकर मध्यका

(medulla) में जाता तथा पुनः वल्कुट में लौट आता है। निस्यंदपाश से लौटकर एक दूरस्थ कुंडलित नलिका (distal convoluted tube) में चला जाता है। वहाँ से वापस लौटकर यह संग्राहक नलिका में होता हुआ वस्तिप्रदेश (pelvis) में चला जाता है। मूत्र जब वृक्क के वस्ति-प्रदेश (pelvis) से निकलकर मूत्रवाहिनी, मूत्राशय और मूत्रमार्ग से होकर गुजरता रहता है तो उसमें कोई परवर्ती परिवर्तन नहीं होता। इसकी सांद्रता में वास्तविक परिवर्तन तब होता है जब बोमन संपुटों से निकलकर लंबी कुंडलित नालों से गुजरनेवाले मूत्रपदार्थ संग्राहक नलिका में जमा होते हैं।

पुनर्शोषण (Reabsorption)—वृक्कनालों की दीवालें चिपटी अथवा घनाकार एपीथीलियमी कोशिकाओं (epithelial cells) की एकहरी पर्त द्वारा बनी होती हैं। इन दीवालों से होकर जब निस्यंद गुजरता है तो ये उनमें मिले जल की बहुत बड़ी मात्रा के साथ लगभग संपूर्ण ग्लूकोस एमिनो अम्लों तथा शरीर के लिये अनिवार्य दूसरे पदार्थों को या तो वापस लौटा देती हैं या उन्हें चूसकर पुनः रक्तप्रवाह में सक्रिय कर देती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि केशिकागुच्छ से निकलनेवाली रक्तवाहिनियाँ किसी शिरा से सीधे सीधे नहीं जुड़ी रहतीं। ये रक्तवाहिनियाँ निकटस्थ तथा दूरस्थ कुंडलित नालों को ढँकनेवाले एक दूसरे केशिकाजाल से जुड़ी होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृक्क में रक्त का मार्ग अन्य अंगों के मार्ग से भिन्न होता है।

रक्त में पुनर्शोषण का कार्य प्रकृति बहुत सावधानीपूर्वक करती है। किसी पदार्थ का पुनर्शोषण आवश्यक है या अनावश्यक, प्रकृति इसका स्वयं निर्णय करती है। जैसे, मधुमेह के रोगी के रक्त में शर्करा की अधिकता होती है; ऐसे व्यक्ति के वृक्कों में शर्करा का पुनर्शोषण नहीं होगा और संपूर्ण शर्करा मूत्र में मिलकर शरीर के बाहर निकल जायगी। अनुमान है कि मनुष्य के वृक्क एक लिटर मूत्र उत्पन्न करने के लिये १२० लिटर निस्यंद तैयार करते हैं। शेष ११९ लिटर जल का पुनर्शोषण हो जाता है। किंतु यह मात्रा शरीर की तात्कालिक आवश्यकता पर निर्भर करती है और इसमें न्यूनाधिकता भी हो सकती है।

संवर्धन (Augmentation)—वृक्कनाल की कोशिकाएँ निस्यंद से केवल पदार्थों का वर्जन तथा उन्हें पुनः रक्त में प्रेषित ही नहीं करतीं, अपितु रक्तप्रवाह से अतिरिक्त वर्ज्य पदार्थों (waste materials) को लेकर उन्हें निस्यंद में उत्सर्जित भी करती हैं। इससे निस्यंद में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रक्रिया को संवर्धन कहा जाता है। यह निम्न कशेरुकीय जंतुओं में, जिनके वृक्कों में केशिकागुच्छों (glomeruli) तथा बोमन संपुटों का अभाव पाया जाता है, अधिकतर देखा जाता है।

मूत्र में पाए जानेवाले पदार्थ—सामान्य मनुष्य एक दिन रात में कुल मिलाकर लगभग डेढ़ किलोग्राम (१५०० मि० ली०) मूत्र विसर्जित करता है। इस मात्रा में लगभग ९६ प्रतिशत जल, .१५ प्रतिशत लवण तथा २.५ प्रतिशत कार्बनिक वर्ज्य पदार्थ, जैसे यूरिया, पाए जाते हैं। लवणों के अंतर्गत सोडियम क्लोराइड, पोटैशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम, एमोनियम सल्फेट, एमोनियम फास्फेट तथा एमोनियम कार्बोनेट आते हैं।

मूत्र में पाए जानेवाले ठोस पदार्थों में क्रिएटिनिन और यूरिया मुख्य हैं। मूत्र का पीलापन यूरोक्रोम नामक एक वर्णक या रंजक (pigment) के कारण होता है। वैज्ञानिकों का मत है कि वृक्क जिन पदार्थों का उत्सर्जन करते हैं, उनका उत्पादन वे स्वयं नहीं करते, अपितु रक्त से ग्रहण करते हैं। किंतु आधुनिक शोधों से पता चलता है कि वास्तविक उत्सर्जन क्रिया वलित नालें (convoluted tubules) करती हैं। ये नालें रक्त से प्राप्त पदार्थों का इस प्रकार रूपांतर कर देती हैं कि एक सर्वथा भिन्न पदार्थ बन जाता है। ह्वाइट, हैंडलर स्मिथ तथा स्टेटेन प्रिंसिपुल्स आव बायोकेमिस्ट्री, मेकग्रा हिल, १९५९ ने सामान्य वयस्क मनुष्य के २४ घंटे के मूत्र में पाए जानेवाले पदार्थों की मात्रा की एक तालिका दी है, जिसे नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

पदार्थ का नाम	मात्रा	मू०	प्लाज्मा अनुपात
यूरिया	६.० से १८.० g N		६०–०
क्रिएटिनिन	०.३ से ०.८ g.N		७०–०
एमोनिया	०.४ से १.० g.N		—
यूरिक अम्ल	०.०८ से ०.२ g.N		२०–०
सोडियम	२.० से ४.०	जी(१००–२०० m.EQ	०.८–१.५
पोटैशियम	१.५ से २.०	(३५–५० m.EQ)	१०–१५
कैल्शियम	०.१ से ०.३	(२.५–७.५ m.EQ)	—
मैग्नीशियम	०.१ से ०.२	(८–१६ m.EQ)	—
क्लोराइड	४ से ८	(१००–२५० m.EQ)	०.८–२.०
बाइकार्बोनेट	—	(०–५० m. EQ)	०–२
फास्फेट	०.७–१.६	(२–५० m.EQ)	२५
अकार्बनिक सल्फेट	०.६–१.८	(४०–१२० m EQ)	५०
कार्बनिक सल्फेट	०.०६–०.२		—

अन्य उत्सर्जक अंग

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्सर्जन का कार्य केवल वृक्क ही नहीं करते अपितु यह कार्य अन्य अंगों द्वारा भी संपन्न होता है। इनमें यकृत और त्वचा मुख्य हैं।

यकृत (लिवर)—कशेरुकीय प्राणियों में यकृत का भी बहुत महत्व होता है क्योंकि इसका संबंध पाचन क्रिया से है। यह अंग शरीर की सबसे बड़ी ग्रंथि है और पाँच पालियों (lobes) में विभक्त होती है। इन पालियों के नाम हैं: (१) पुच्छिल पाली (caudate lobe), (२) दक्षिण केंद्रीय पाली (right central lobe), (३) स्पाइजेलियन पाली (spigelian lobe), (४) वाम केंद्रीय पाली (left central lobe) तथा (५) वाम पार्श्वपाली (left lateral lobe)। दक्षिण केंद्रीय पाली के अधर भाग (ventral side) के ऊपर अंडाकार आकृतिवाला पित्ताशय (gall bladder) पाया जाता है। पित्ताशय की नलिका, जिसे पित्ताशयवाहिनी (cystic duct) कहते हैं, अनेक याकृतिक नलिकाओं या वाहिनियों द्वारा जुड़ी रहती है, जिससे यकृत की समस्त पालियों से पित्त एकत्र होता रहता है।

यकृत भी यूरिया का उत्सर्जन करता है। बाइलिवर्डिन (biliverdin) और बाइलिरुबिन (bilirubin) नामक पित्त वर्णक (bile pigment) रक्त की लाल कणिकाओं (haemoglobin) से टूटते फूटते रहते हैं। पित्त इन्हें आँतों में पहुँचाता रहता है और आँतें इन्हें मल के साथ उत्सर्जित करती रहती हैं। पित्त का स्वाद कड़वा और क्षारीय (alkaline) होता है। रक्त की टूटी फूटी लाल कणिकाओं की सुगंध के कारण पित्त का रंग गहरा हरा होता है। पित्त में लवण, जल, वर्णक और कतिपय वर्ज्य पदार्थ पाए जाते हैं। सोडियम बाइकार्बोनेट, सोडियम ग्लाइकोकोलेट तथा सोडियम टाउरोकोलेट मुख्य पित्तीय लवण हैं। सोडियम बाइकार्बोनेट आमाशय रस की अम्लता को निष्प्रवाहित करके काइम (chyme) को क्षारीय करता है। ग्लाइकोकोलेट तथा टाउकोकोलेट लवण ऊतकों की वसा (fat) को छोटी छोटी गुलिकाओं (globules) में बदलते रहते हैं। ये गुलिकाएँ जल के साथ मिलकर लुगदी जैसी बन जाती हैं और अंत में भोजन के साथ पच जाती हैं। यकृत और पित्त का संयुक्त कार्य भोजन को पचाना होता है, तथापि उत्सर्जन क्रिया में भी इसकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

त्वचा—शरीर की कोशिकाओं के उपापचय (metabolism) के फलस्वरूप ताप की अनवरत उत्पत्ति होती रहती है। अतः शारीरिक ताप में संतुलन बने रहने के लिये यह आवश्यक है कि न तो वह अधिक हो जाय, न कम रहे। कुछ अतिरिक्त ताप तो श्वसन क्रिया द्वारा निकल जाता है और कुछ मल-मूत्र-विसर्जन द्वारा घट जाता है। फिर भी संपूर्ण अतिरिक्त ताप का लगभग ९० प्रतिशत बचा ही रह जाता है,

जो त्वचा मार्ग से निकलता है। बाहरी वातावरण में जब ताप की कमी हो जाती है तो त्वचा के तंत्रिकाछोर (nerve endings) उत्तेजित होकर केशिकाओं (capillories) में संकोचन उत्पन्न कर देते हैं। इसके फलस्वरूप रक्त का प्रवाह त्वचा की ओर मंद हो जाता है और शरीर से कम ताप उत्सर्जित होता है। किंतु, यदि बाहरी वातावरण में गर्मी की अधिकता हो तो उल्टी प्रक्रिया होने लगती है। असाधारण गर्मी की स्थिति में केशिकाओं के स्थान पर स्वेद ग्रंथियाँ सक्रिय हो जाती हैं और त्वचा से पसीना निकलने लगता है।

पसीना में जल के अतिरिक्त लवण और कार्बन डाइआक्साइड के कुछ अंश तथा नाइट्रोजनी वर्ज्य पदार्थ पाए जाते हैं। जब साधारण पसीना निकलता है तो इन पदार्थों की निकासी सामान्यतया कम ही होती है, किंतु जब पसीना की मात्रा अधिक होती है तो एक दिन में लगभग ३ गैलन तक जल निकल जा सकता है। स्वेद ग्रंथियों की संख्या तथा स्थिति जंतु के शरीर की आवश्यकता पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिये मनुष्य की त्वचा में लगभग २५ लाख स्वेद ग्रंथियाँ संपूर्ण शरीर में फैली होती हैं। रोएँदार और घने बालोंवाले जंतुओं के शरीर की त्वचा में इनकी संख्या कम और स्थान सीमित होते हैं; जैसे खरगोश की स्वेद ग्रंथियाँ केवल होठों के चारों ओर तथा बिल्ली और चूहों की उनके पंजों के तलवों में पाई जाती हैं।

सं०ग्रं०—वेस्ट, सी० एच० तथा टेलर एन० बी० : द लिविंग बॉडी; गेयर, एम० एफ० : ऐनिमल बॉयलोजी। (रा० सिं०)

उत्सर्पिणी जैनमतानुसार काल की एक विशिष्ट गति अथवा अवस्था जिसमें रूप, रस, गंध तथा स्पर्श इन चारों की क्रम से वृद्धि होती है। (कै० चं० श०)

उदंत मार्तंड हिंदी का प्रथम पत्र। मई, १८२६ ई० में कलकत्ता से एक साप्ताहिक के रूप में इसका प्रकाशन शुरू हुआ। इसके संपादक कानपुर निवासी श्री जुगुलकिशोर शुक्ल थे। इसके कुल ७९ अंक ही प्रकाशित हो पाए थे कि दिसंबर, १८२७ ई० में यह बंद हो गया। यह पत्र पुस्तकाकार (१२" × ८") होता था और हर मंगलवार को निकलता था।

उस समय अंग्रेजी, फारसी और बँगला में तो अनेक पत्र निकल रहे थे किंतु हिंदी में एक भी पत्र नहीं निकलता था। इसीलिये 'उदंत मार्तंड' का प्रकाशन शुरू किया गया। इस पत्र में ब्रज और खड़ीबोली दोनों के मिश्रित रूप का प्रयोग किया जाता था जिसे इस पत्र के संचालक "मध्यदेशीय भाषा" कहते थे। (कै० चं० श०)

उदयन १. चंद्रवंश का राजा और सहस्रानीक का पुत्र। वत्स का नृपति, जिसकी राजधानी कौशांबी थी। कौशांबी इलाहाबाद जिले में नगर से प्रायः ३५ मील पश्चिम बसी थी, जहाँ आज भी यमुना के तीर कोसम गाँव में उसके खंडहर हैं।

उदयन संस्कृत साहित्य की परंपरा में महान् प्रणयी हो गया है और उसकी उस साहित्य में स्पेनी साहित्य के प्रिय नायक दोन जुआन से भी अधिक प्रसिद्धि है। बार बार संस्कृत के कवियों, नाटचकारों और कथाकारों ने उसे अपनी रचनाओं का नायक बनाया है और उसकी लोकप्रियता के परिणामस्वरूप गाँवों में लोग निरंतर उसकी कथा प्राचीन काल में कहते रहे हैं। महाकवि भास ने अपने दो दो नाटकों—स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगंधरायण—में उसे अपने कथानक का नायक बनाया है। वत्सराज की कथा गुणाढ्य की बृहत्कथा और सोमदेव के कथासरित्सागर में भी वर्णित है। इन कृतियों से प्रकट है कि उदयन वीणावादन में अत्यंत कुशल था और अपने उसी व्यसन के कारण उसे उज्जयिनी में अवंतिराज चंडप्रद्योत महासेन का कारागार भी भोगना पड़ा। भास के नाटक के अनुसार वीणा बजाकर हाथी पकड़ते समय छद्मगज द्वारा अवंतिराज ने उसे पकड़ लिया था। बाद में उदयन प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता के साथ हथिनी पर चढ़कर वत्स भाग गया। उस पलायन का दृश्य द्वितीय शती ईसवी पूर्व के शुंगकालीन मिट्टी के ठीकरों पर खुदा हुआ मिला है। एक ऐसा ठीकरा काशी विश्वविद्यालय के भारत-कला-भवन में भी सुरक्षित है। कला और साहित्य के इस परस्परावलंबन से राजा की ऐतिहासिकता पुष्ट होती है।

वत्सराज उदयन निःसंदेह ऐतिहासिक व्यक्ति था और उसका उल्लेख साहित्य और कला के अतिरिक्त पुराणों और बौद्ध ग्रंथों में भी हुआ है। उदयन बुद्ध का समकालीन था और उसने तथा उसके पुत्र बोधी, दोनों ने तथागत के उपदेश सुने थे। बौद्ध ग्रंथों में वर्णित कौशांबी के बुद्ध के आवास पुनीत घोषिताराम से कौशांबी की खुदाई में उस स्थान को नामांकित पट्टिका अभी मिली है। उदयन ने मगध के राजा दर्शक की भगिनी पद्मावती और अंग के राजा दृढ़वर्मा की कन्या को भी, वासवदत्ता के अतिरिक्त, संभवतः ब्याहा था। बुद्धकालीन जिन चार राजवंशों—मगध, कोशल, वत्स, अवंति—में परस्पर दीर्घकालीन संघर्ष चला था उन्हीं में उदयन का वत्स भी था, जो कालांतर में अवंति की बढ़ती हुई सीमाओं में समा गया।

इधर हाल में जो प्राचीन के प्रति भारत का पुनर्जागरण हुआ है उसके परिणामस्वरूप उदयन को नायक बनाकर भारत की प्रायः सभी भाषाओं में नाटक और कहानियाँ लिखी गई हैं। इससे प्रकट है कि वत्सराज की साहित्यिक महिमा घटी नहीं और वह नित्यप्रति साहित्यकारों में आज भी लोकप्रिय होता जा रहा है। (भ० श० उ०)

उदयन २. न्याय-वैशेषिक दर्शन के मूर्धन्य आचार्य। ये मिथिला के निवासी थे, जहाँ 'करियौन' नामक ग्राम में, इनके वंशज आज भी निवास करते हैं। ये अक्षपाद गौतम से आरंभ होनेवाली प्राचीन न्याय की परंपरा के अंतिम प्रौढ़ नैयायिक माने जाते हैं। अपने प्रकांड पांडित्य, अलौकिक शेमुषी तथा प्रौढ़ तार्किकता के कारण ये 'उदयनाचार्य' के नाम से ही प्रख्यात हैं। इनका आविर्भावकाल दशम शतक का उत्तरार्ध है। इनकी 'लक्षणावली' का रचनाकाल ९०६ शक (९८४ ई०) ग्रंथ के अंत में निर्दिष्ट है। इन्होंने प्राचीन न्यायग्रंथों पर विवेचक भाष्य लिखने के अतिरिक्त अनेक मौलिक ग्रंथों की भी रचना की है जिनमें इनकी मौलिक सूझ तथा उदात्त प्रतिभा का पदे पदे परिचय मिलता है। इनकी प्रख्यात कृतियाँ ये हैं—'(१) किरणावली-प्रशस्तपादभाष्य की टीका; (२) तात्पर्यपरिशुद्धि—वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित 'न्यायवार्तिक' की व्याख्या तात्पर्यटीका का प्रौढ़ व्याख्यान जिसका दूसरा नाम 'न्यायनिबंध' है; (३) लक्षणावली—जिसमें वैशेषिक दर्शन का सार संकलित है; (४) बोधसिद्धि—जो न्यायसूत्र की वृत्ति है जिसका प्रसिद्ध अभिधान 'न्यायपरिशिष्ट' है; (५) आत्मतत्वविवेक—जिसमें बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के सिद्धांतों का विस्तार से खंडन कर ईश्वर की सिद्धि नैयायिक पद्धति से की गई है। यह उदयन की कृतियों में विशेष प्रौढ़ तथा तर्कबहुल माना जाता है। रघुनाथ शिरोमणि, शंकर मिश्र, भगीरथ ठक्कुर तथा नारायणाचार्य आत्रेय जैसे विद्वानों की टीकाओं की सत्ता इस ग्रंथ की गूढ़ार्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। परंतु उदयन की सर्वश्रेष्ठ कृति है (६) 'न्यायकुसुमांजलि' जिसमें ईश्वर की सिद्धि नाना उदात्त तर्कों और प्रौढ़ युक्तियों के सहारे की गई है। ईश्वरसिद्धि विषयक ग्रंथों में यह संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में अनुपम माना जाता है। ध्यान देने की बात है कि न्यायमत में जगत् के कर्तृत्व से ईश्वर की सिद्धि मानी जाती है। बौद्ध नितांत निरीश्वरवादी हैं। षड्दर्शनों में भी ईश्वरसिद्धि के अनेक प्रकार हैं। इन सब मतों का विस्तृत समीक्षण कर आचार्य उदयन ने अपने मत का प्रौढ़ प्रतिष्ठापन किया है। इनके विषय में यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि जब इनके असमय पहुँचने पर पुरी में जगन्नाथ जी के मंदिर का फाटक बंद था, तब इन्होंने ललकारकर कहा था कि निरीश्वरवादी बौद्धों के उपस्थित होने पर आपकी स्थिति मेरे अधीन है। इस समय आप मेरी अवज्ञा भले हो करें। ऐश्वर्य मद मत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे। उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥ सुनते हैं, फाटक तुरंत खुल गया और उदयन ने जगन्नाथ जी के सद्यः दर्शन किए। जगन्नाथ मंदिर के पीछे बनने के कारण किंवदंती की सत्यता असिद्ध है।

सं०ग्रं०—सतीशचंद्र विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑव इंडियन लाजिक (कलकत्ता, १९२१); दिनेशचंद्र भट्टाचार्य : हिस्ट्री ऑव नव्य न्याय इन मिथिला (मिथिला संस्कृत इंस्टिट्यूट, दरभंगा, १९५८)। (ब० उ०)

उदयपुर राजपूताना का एक देशी राज्य था; अब यह राजस्थान का एक जिला है; उदयपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर भी है।

राज्य—२३° ४९' से २५° २४' उ० अ० एवं ७३° १' से ७५° ४९' पू० दे० के मध्य स्थित उदयपुर राज्य (क्षेत्रफल १३,१७० वर्ग मील), राजस्थान की वह पुण्य भूमि है जहाँ परंपराबद्ध राजपूत गरिमा अक्षुण्ण रूप में समाविष्ट है। इसे मेवाड़ भी कहते है (मेवाड़ संस्कृत शब्द मेड़पाट का अपभ्रंश है, जो मेड़ो अथवा मेरो जातिवालो के देश के लिये प्रयुक्त होता है)।

अरावली पर्वत के दक्षिणी छोर पर यह राज्य एक पठार पर विस्तृत है, जो आद्यकल्पिक कठोर चट्टानों द्वारा निर्मित है। इसकी ढाल उत्तर पूर्व की ओर है। उत्तर एवं पूर्व मे राज्य का दो तिहाई भाग अपेक्षाकृत समतल है जहाँ स्थान स्थान पर एकाकी पथरीली श्रेणियाँ एवं बंजर भूखंड वर्तमान है। दक्षिण पश्चिमी भाग अधिक बीहड़, पठारी एवं दुर्गम है जिसे बनास नदी की शीर्ष नदियों ने अत्यंत छोटी छोटी सँकरी विषम घाटियों के रूप मे काट छाँट डाला है; इन्हें चप्पन कहते है। इस क्षेत्र में भील लोग निवास करते है और स्थानांतरणशील कृषि में लगे है। राज्य में अनेक कृत्रिम एवं प्राकृतिक तालाब तथा झीलें हैं, जिनमें जयसमंद या ढेबर (२१ वर्ग मील), राजसमंद, उदयसागर, पचोला आदि प्रमुख है। कठोर क्वार्टज़ाइट पत्थर के कारण तालाबो से पानी रसकर बाहर नही निकलता। औसत वार्षिक वर्षा (१०"–२५") की मात्रा अनिश्चित रहती है। यहाँ की मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, गेहूँ, जौ, चना, कपास, तंबाकू, तेलहन तथा दलहन है। बकरियाँ तथा ऊँट भी पाले जाते हैं। दक्षिण पश्चिम में थोड़ा चावल भी होता है।

७२८ ई० में बप्पा रावल ने मेवाड़ राज्य को स्थापित किया था। इस राज्य के गौरवशाली राजाओं ने अनवरत स्वातंत्र्य युद्ध में रत रहकर जातीय गौरव की रक्षा की है। ये गुहलौत वंशीय शिशोदिया क्षत्रिय है और अपना अवतरण सूर्यवंशी रामचंद्र से मानते है। ये रावल, राणा या महाराणा कहलाते हैं। राज्यों में संमिलन के बाद उदयपुर राज्य राजस्थान में मिल गया है और उदयपुर मात्र एक जिला रह गया है। (क्षेत्रफल : १७,२६७ वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या १८,०८,५७९)।

उदयपुर नगर—बंबई से ६६७ मील उत्तर उदयपुर-चित्तौर रेलवे के अंतिम छोर के पास स्थित उदयपुर नगर मेवाड़ के गर्वीले राज्य की राजधानी है। (जनसंख्या १९६१ में १,११,१३९)। नगर समुद्रतल से लगभग दो हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर प्रतिष्ठित है एवं जंगलों द्वारा घिरा है। प्राचीन नगर प्राचीर द्वारा आबद्ध है जिसके चतुर्दिक् रक्षा के लिये खाई खुदी है।

पहाड़ी के ऊर्ध्व शिखर पर नाना प्रकार के प्रस्तरों से निर्मित महाराणा का प्रासाद, युवराजगृह, सरदारभवन एवं जगन्नाथमंदिर दर्शनीय हैं। इनका प्रतिबिंब पचोला झील में पड़ता है। झील के मध्य मे यज्ञमंदिर एवं जलवास नामक दो जलप्रासाद है।

१५६८ ई० में अकबर द्वारा चित्तौड़ के विजित होने पर महाराणा उदयसिंह ने अरावली की गिर्वा नामक उपत्यका में उदयपुर नगर बसाया। आज यह राजस्थान में जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के बाद सबसे बड़ा नगर है। यह नगर उन्नतिशील है, इसकी जनसंख्या ४७,८६३ (१९०१ की) से घटकर ३५,११६ (१९११ की) हो गई थी, पर बाद में बढ़ने लगी; १९४१ में जनसंख्या ५९,६५८ हुई और १९५१ में ८९,६२१ हो गई। नगर के ५० प्रतिशत से अधिक व्यक्ति पेशेवर एवं प्रशासनिक कार्यो तथा लगभग ३८ प्रतिशत व्यक्ति उद्योग एवं व्यापार में लगे हैं। उदयपुर में सोना, चाँदी, हाथीदाँत, जरी, बेलबूटे एवं तलवार, खंजर आदि बनाने के उद्योग है। यह क्षेत्र का प्रमुख शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक केंद्र है।

उदयपुर से दो मील दक्षिण एकलिंगगढ़ की चोटी पर एक प्रसिद्ध किला है। पास ही में सज्जननिवास बाग, सज्जनगढ़, राजप्रासाद आदि दर्शनीय है। (का० ना० सिं०)

उदयसिंह ये मेवाड़ के राणा साँगा के पुत्र और राणा प्रताप के पिता थे। मेवाड़ की ख्यातों में इनकी रक्षा की अनेक अलौकिक कहानियाँ कही गई है। पिता के मरने के बाद इनका जन्म हुआ था। और तभी गुजरात के बहादुरशाह ने चित्तौड़ नष्ट कर दिया था। इनकी माता कर्णावती द्वारा हुमायू का राखीबंद भाई बनाने की बात इतिहास-प्रसिद्ध है। शैशव मे ही उदयसिंह का कर्तव्यपरायण धाय पन्ना के साथ बलवार से रक्षा के लिये जगह जगह शरण लेनी पड़ी थी। १५४१ ई० में वे मेवाड़ के राणा हुए और कुछ ही दिनों के बाद अकबर ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर चढ़ाई की। हजारों मेवाड़ियों की मृत्यु के बाद जब लगा कि गढ़ अब न बचेगा तब जयमल और पत्ता आदि वीरों के हाथ मे उसे छोड़ उदयसिंह अरावली के घने जंगलो मे चले गए। वहाँ उन्होंने नदी की बाढ़ रोक उदयसागर नामक सरोवर का निर्माण किया था। वहीं उन्होंने अपनी नई राजधानी उदयपुर बसाई। चित्तौड़ के विध्वंस के चार वर्ष बाद उदयसिंह का देहांत हो गया। (ओ० ना० उ०)

उदयसुंदरी कथा सोढ्ढल कृत एक कथात्मक गद्यकाव्य। कुछ विद्वानों ने इसे चंपूकाव्य कहा है लेकिन लेखक ने स्वयं अपनी कृति को गद्यकाव्य माना है तथा बाणभट्ट के गद्य को अपने लिये आदर्श बताया है। यह ठीक है कि उदयसुंदरी कथा में इतस्ततः कुछ काव्यछंदों का प्रयोग हुआ है, लेकिन एक तो उनकी संख्या उतनी नहीं जितनी चंपूकाव्य मे अपेक्षित होती है, दूसरे बाद के साहित्याचार्यों द्वारा निर्धारित कथा के समस्त लक्षण भी उक्त कृति पर पूरी तरह घट जाते हैं।

संपूर्ण रचना आठ उच्छ्वासों मे रची गई है और इसमें नागराज शिखंडतिलक की आत्मजा उदयसुंदरी के साथ प्रतिष्ठान नरेश मलयवाहन के प्रेम और विवाह की काल्पनिक कथा का आलंकारिक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण समायोजन किया गया है।

उदयसुंदरी कथा के प्रथम उच्छ्वास में लेखक ने अपना और अपने परिवार का परिचय दिया है जिसके अनुसार वह गुजरात के वालभ कायस्थ-कुलोत्पन्न सूर का पुत्र था और उसकी माता का नाम पद्मावती था। उसे कोंकण के चित्तराज, नागार्जुन तथा मुंमणिराज इत्यादि नरेशों का संरक्षण मिला था जिनकी राजधानी स्थानक (बंबई के समीप आधुनिक थाना नामक स्थान) थी। उदयसुंदरी कथा का रचनाकाल विद्वानों ने सन् १००० ई० निश्चित किया है, परंतु लेखक ने कृति के प्रथम उच्छ्वास में चूँकि गुजरात के लाट नरेश वत्सराज के संरक्षण मे रहने का उल्लेख भी किया है, इसलिये हो सकता है कि उक्त कृति की रचना सन् १०२६–१०५० ई० के बीच हुई हो। इस रचना का विशेष महत्व इसलिये भी है कि कवि ने अपने और अपने वंश के परिचय के साथ साथ बाण, कुमारदास, भास आदि अपने पूर्व-कवियों तथा लेखकों के संबंध में भी २५ छंद दिए हैं। (कै० चं० श०)

उदयादित्य मालवा का राजा था जिसने जयसिंह के बाद राजधानी धारा से मालवा पर राज किया। चालुक्यों से संघर्ष पहले से ही चल रहा था और उसके आधिपत्य से मालवा अभी हाल ही अलग हुआ था जब उदयादित्य ल० १०५९ ई० में गद्दी पर बैठा। मालवा की शक्ति को पुनः स्थापित करने का संकल्प कर उसने चालुक्यराज कर्ण पर सफल चढ़ाई की। कुछ लोग इस कर्ण को चालुक्य न मानकर कलचुरि लक्ष्मीकर्ण मानते हैं। इस संबंध मे कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसमें संदेह है कि उदयादित्य ने कर्ण को परास्त कर दिया। उदयादित्य का यह प्रयास परमारों का अंतिम प्रयास था और ल० १०८८ ई० में उनकी मृत्यु के बाद परमार वंश की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई। उदयादित्य का अभिलेखों में भोज का 'बंधु' कहा गया है। कुछ आश्चर्य नहीं जो वह परमारों की दूसरी शाखा का रहा हो। उदेपुर और नागपुर के अभिलेखों में इसका उल्लेख राजा भोज के उत्तराधिकारी के रूप में हुआ है।

(ओं० ना० उ०)

उदरपाद (गैस्ट्रोपोडा) मोलस्का समुदाय में सबसे अधिक विकसित जंतु हैं। इनके शरीर सममित नहीं होते। प्रावार (मैंटल) दो टुकड़ों मे विभाजित नहीं रहता, इसलिये खोल भी दो पार्श्वीय कपाटिकाओं का नहीं वरन् एक ही असममित कपाटिका का बना हुआ रहता है। यह कपाटिका साधारणतः सर्पिल आकृति में कुंडलीकृत होती है। इसके भीतर स्थित जंतु के शरीर का पृष्ठीय भाग भी, जिसमें आंतरंग (विसरा) का

अधिकांश भाग रहता है और जिसे आंतरंग कुव्ज कहते हैं, सर्पिल आकृति में कुंडलीकृत रहता है। शरीर ऊपर से नीची दिशा में चपटा रहता है। प्रावारीय गुहा में दो गलफड़ स्थित रहते हैं। बहुतों में केवल एक ही गलफड़ होता है। अधिकांश में एक शिर भी होता है जिसमें आकर्पणांग स्थित रहते हैं। शिर के पीछे अच्छी प्रकार से उन्नत एक औदरिक पैर रहता है। पैर का औदरिक तल चपटा, चौड़ा और बहुत फैला रहता है। वक्त्र गुहा में एक विशेष अवयव रहता है जिसको दंतवाही (ओडोंटोफ़ोर) कहते हैं। यह नन्हें नन्हें दाँतों के सदृश अवयव का आधार होता है। वृक्क केवल एक होता है। चेतासंहति में छह जोड़ी चेतागुच्छ पाए जाते हैं। उदरपाद एकलिंगी या उभयलिंगी हो सकते हैं। क्रमिवर्धन में रूपांतरण का दृश्य भी देखने में आता है।

उदरपाद अधिकतर पानी में रहते हैं। इनकी आदिम जातियाँ समुद्रों में रहती हैं। ये समुद्र के पृष्ठ पर रेंगती हैं, कुछ कीचड़ या बालू में घर बनाती हैं या चट्टानों में छेद करती हैं। कुछ ऐसे भी उदरपाद हैं जो समुद्र के पृष्ठ पर उलटे रहकर तैरते हैं; विशेषकर टेरोपॉड और हेटेरोपॉड, जिनके पैर मछली के पक्षों (फ़िन्स) के समान होते हैं, खुले समुद्र के पृष्ठ पर तैरते देखे जाते हैं।

उदरपाद समुद्र में १८,०० फुट की गहराई तक पाए जाते हैं। बहुतेरे उदरपाद मीठे जल में भी रहते है। पलमोनेट नामक उदरपाद स्थल और ऊँचे ऊँचे पहाड़ों पर भी पाए जाते हैं। निम्न कैंब्रियन युग के बहुतेरे जीवाश्मभूत उदरपादों का भी पता चला है।

घोंघा (स्नेल), मंथर (स्लग), पैरैला, एपलीशिया तथा ट्राइटन उदरपादों के मुख्य उदाहरण हैं। घोंघा और मंथर मनुष्य के भोजन के लिये उपयुक्त होते हैं। कुछ जंतु उद्यानों में पौधों को हानि पहुँचाते हैं। अनेक उदरपादों के खोलों से अलंकार, यंत्र तथा बरतन बनते हैं। कौड़ियों का पहले मुद्रा या सिक्के के रूप में प्रयोग होता था। शंख, जो मंदिरों में बजाया जाता है, एक विशेष उदरपाद की खोल है।

संरचना—मोलस्का समुदाय के जंतुओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि उदरपादों के पूर्वज के सारे शरीर की गठन सममित थी। अन्नस्रोतस सीधा, गुदद्वार पीछे की ओर, दो गलफड़ जिनमें सूत्र अक्ष के दोनों ओर रहते थे, प्रावार गुहा पीछे की ओर और दो वृक्क होते थे परंतु वर्तमान उदरपादों में, विशेषकर स्ट्रेप्टोन्यूरा गोत्र के उदरपादों में, केवल एक खोल रहती है जो सर्पिल आकृति में कुंडलीकृत होती है। आंतरंग कुव्ज के अतिरिक्त केवल एक वृक्क और एक गलफड़ होता है। प्रावारगुहा एवं गुदद्वार अग्रभाग में रहते हैं। यह साथ के चित्रों से विदित होगा।
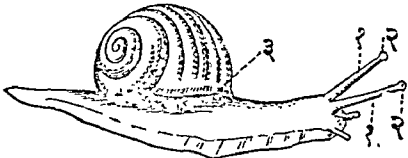
घोंघा, एक उदरपाद

१. स्पर्शशृंग; २. आँख; ३. श्वासछिद्र (पल्मोनरी ऑरिफ़िस)
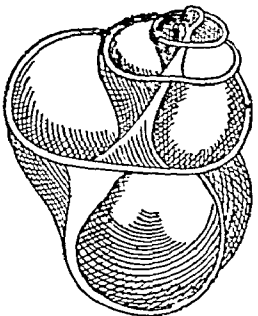
विशेषज्ञों का मत है कि उदरपादों की इस असममित रचना का कारण केवल ऐसे खोल का विकास है जो एक टुकड़े में हो और शरीर के सारे अवयवों और औदरिक मांसल पैरों को भी अच्छी तरह ढककर उनकी रक्षा कर सके। ऐसा खोल कुंतलवलयित ही हो सकता है। इसके बनने के लिये यह आवश्यक था कि प्रावार गुहा, गलफड़ और मलोत्सर्ग छिद्र, ये सभी जंतु के शिर के पास खोल के द्वार पर आ जायँ। यह तभी हो सकता है जब प्रावारगुहा और उसके भीतर के सब अवयव अपना पुराना पीछेवाला स्थान छोड़कर आगे आ जायँ, और उदरपादों के विकास में ऐसा हुआ भी है। इससे जंतु के एक ओर की वृद्धि होती है, दूसरी ओर की रुक जाती है। बहुधा दाहिनी ओर की वृद्धि रुक जाती है और बाईं ओर की बढ़ती है। परिणाम यह होता है कि प्रावार गुहा तथा अन्य सब अवयव, जो इसमें स्थित रहते हैं, दाहिनी ओर घूमते हुए आगे बढ़ते हैं। अंत में गुदद्वार मुख के बाईं ओर आ जाता है। इस सारी घटना को ऐंठन (टॉर्शन) कहते हैं। इसमें शरीर अपने ही स्थान पर रहता है, परंतु अन्य कोमल अवयव अपने स्थान से पृष्ठ-उदर-रेखा पर लंब अक्ष के परितः घूमकर १८०° तक हट जाते हैं। इसी तरह की ऐंठन दिगंत अक्ष के परितः भी होती है जिससे आंतरंग कुव्ज पीठ पर आ जाता है। ये बातें साथ के चित्र से भली भाँति समझ में आ जायँगी।

घोंघे का कवच
काट (सेक्शन)
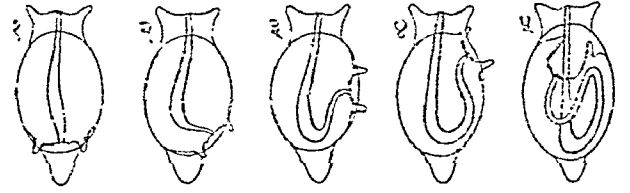
उदरपादों में प्रावारगुहा और आंत्रनाल का घूम जाना

चित्र १ में शरीर के सब अवयव प्रायः सममित हैं; २, ३ और ४ में इनके दाहिने तथा सामने की ओर स्थानांतरण की क्रमिक अवस्थाएँ दिखाई गई हैं; ५ में गुदा घूमते घूमते फिर बाईं ओर पहुँच गई है। यही अंतिम अवस्था है।

विस्थापन का फल—(१) अवयवों के विस्थापन के कारण अन्य स्रोतस फंदेदार हो जाते हैं और आंतरंग कुव्ज पीठ पर आ जाता है; (२) फुफ्फुस-आंतरंग विकृत होकर द्विपाद की आकृति का हो जाता है; (३) दाहिनी ओर का फुफ्फुस-आंतरंग-योजी आँतों के ऊपर और बाईं तरफ का योजी आँत के नीचे हो जाता है; (४) युग्म अवयवों में कमी हो जाती है—स्ट्रेप्टोन्यूरा गोत्र के उदरपादों में केवल एक वृक्क और एक गलफड़ पाया जाता है।

यूथिन्यूरा गोत्र के उदरपादों में ऐंठन की विपरीत क्रिया 'अनैठन' होती है। इससे प्रावारगुहा, गुदद्वार, वृक्क तथा गलफड़ दाहिनी ओर से पीछे की ओर खिसकने लगते हैं और फुफ्फुस-आंतरंग-योजी अपने विकृत रूप को छोड़कर सीधी हो जाती है। परंतु प्रत्यक अवयव एकल ही रहता है। खोल छोटा हो जाता या पूर्णतया लुप्त हो जाता है। पल्मोनेटा (भू-घोंघों) में इस क्रिया में थोड़ा अंतर आ जाता है—खोल बना रहता है और फुफ्फुस-आंतरंग-पाश (लूप) छोटा हो जाता है।

खोल—उदरपादों के खोल बहुधा कुंतलवलयित होते हैं, परंतु पैटेला जैसे उदरपादों के खोल शंकु (कोन) की आकृति के होते हैं। यदि कुंतलवलयित खोलों में शीर्ष से लेकर खोल के मुख तक कुंतल (छल्ले) घड़ी की सुइयों के चलने की भाँति रहते हैं तो खोल को दक्षिणावर्त (डेक्स्ट्रल) कहते हैं; इसके विपरीत यदि कुंतल (छल्लों) का घुमाव घड़ी की सुइयों के चलने की दिशा से उलटी ओर होता है तो उसको वामावर्त (सिनिस्ट्रल) कहते हैं। वामावर्त खोल बहुत कम पाए जाते हैं।

यदि कुंतल (छल्ले) केंद्रीय अक्ष के लंब समतल में रहने के बदले तिरछे बने रहते हैं तो खोल लंबा, नुकीला और गावदुम होता है, परंतु यदि उनमें तिरछापन नहीं होता तो खोल चपटे कहलाते हैं। खोल के मुख का किनारा परितुंड (पेरिस्टोम) कहलाता है। यह या तो संपूर्ण होता है या एक तरफ कटा हुआ, जहाँ से निनाल (साइफ़न) निकलता है। खोल का मुख साधारणतः एक ढक्कन से बंद रहता है जो पैर से चिपटा रहता है। भूमि पर रहनेवाले उदरपादों में ढक्कन नहीं होता। उनका मुख जाड़े में एक चिपचिपे लसदार पदार्थ से बंद रहता है।

बहुधा कौड़ियों (साइप्रिया मोनाटा) में प्रावार का किनारा, जिसपर बहुत सा स्पर्शिकाएँ (टेंटेकल) भी होती हैं, खोल के मुख के बाहर निकलकर उसको ढक लेता है।

एफीजिया नामक उदरपाद में प्रावार खोल को पूर्णतया ढक लेता है। इसका खोल पूर्ण रूप से विकसित न होने के कारण जंतु के शरीर को नहीं ढक सकता।

ऊर्मिल अरुणवलिक (बक्सिनम अंडेटम), एक उदरपाद

(कवच हटाने के पश्चात् गंधांग (ऑस्फ्रेडियम) को ढकनेवाले प्रावार को हटाकर उसके नीचे के भाग दिखाए गए हैं) १. निनाल (साइफन); २. गंधांग (ऑस्फ्रेडियम); ३. गलफड़ (ब्रैंकिआ); ४. श्लेष्मिक ग्रंथियाँ।

डोरिस तथा ईओलिस नामक उदरपादों में खोल नहीं रहता। उन उदरपादों में भी खोल नहीं रहता जो खुले समुद्र में बहते और तैरते रहते हैं।

मासुरक्लोम (ईओलिस) नामक समुद्रीय मृदुमंथर

इसका पृष्ठ अनेक पतले दंड सदृश प्रवर्धों से ढका हुआ होता है।

लीमैक्स नामक उदरपादों मे भी खोल नाममात्र ही रहता है। अधिकतर प्रावार ही इसको ढके रहता है।

पाद—इस वर्ग के जंतुओं के भिन्न भिन्न वंशों में पैर का विकास भिन्न भिन्न है। साधारणतः पैर मांसल और थोड़ा बहुत लंबा तथा अपेक्षाकृत चौड़ा होता है। नीचे का तल चिकना तथा चौरस होता है। इन्हीं से पेशी तंतुओं की सिकुड़न द्वारा जंतु रेंगता है। अंधांत्र (सीकम) मे पैर के ऊपर तथा तल पर पक्ष्म होते है। बहुधा पैर में ग्रंथि होती है जिससे एक लिबलिबा पदार्थ निकलता है। इससे मार्ग चिकना हो जाता है और रेंगने में सुगमता होती है।

उदरपाद का लाक्षणिक पैर तीन भागों का होता है। अग्रपाद, जो कुछ उदरपादों मे छेद करने के काम आता है, मध्यपाद और पश्चपाद। चलने में मध्यपाद महत्वपूर्ण होते है। मिटिलस नामक उदरपादो में पैर बहुत छोटे होते है।

एफीजिया नामक उदरपादों के पैर के पार्श्ववर्ती भाग मछली के पक्ष के समान तैरने के काम मे आते है। टेरोपॉड और हेटेरोपॉट नामक उदरपाद अपने पैर से खुले समुद्र के पानी में तैरते तथा बहते है।

शिर—उदरपादों में शिर खूब विकसित होता है। यह शरीर से ग्रीवा के समान एक अंग द्वारा जुड़ा रहता है। मुख शिर के अग्रभाग पर कुछ नीचे की ओर स्थित रहता है। बहुतों मे मुख के बाहर निकलनेवाला एक अंग लंबी सूंड़ सा होता है। शिर के पृष्ठ पर एक या दो जोड़ी पतली स्पर्शिकाएँ (टेंटेकल) होती हैं। स्पर्शिकाओं की जड़ के पास आँखें होती है। स्पर्शिकाओं की पहली जोड़ी छोटी होती है और सूँघने का काम करती है। पल्मोनेटा (भू-घोंघों) मे आँखे स्पर्शिकाओं की दूसरी जोड़ी के सिरे पर स्थित रहती हैं।
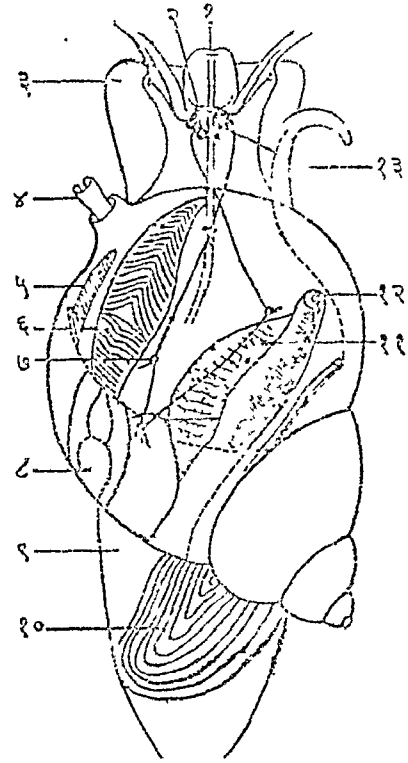
छत्तेदार गलफड़वाला (कोम गिल्ड) घोंघा

(प्रावार गुहा (मैंटल कैविटी) और ऊपर का प्रकवच दोनों को पारदर्शी मानकर, छत्तेदार गलफड़वाले घोंघे के अंग; ऊपर से देखने पर)

१. मुँह; २. मस्तिष्क गुच्छिका (ब्रेन गैंग्लिग्रन); ३ और ६ पैर; ४. निनाल (साइफन), ५. गंधाग (ऑस्फ्रेडियम); ६. एक क्लोम (गलफड़); ७. तीन गुच्छिकाओं मे से एक; ८. हृदयावरण मे हृदय, १०. ढापन (ओपरक्यूलम)।

प्रावार—शरीर की दीवार की उस परत को प्रावार (मैंटल) कहते है जिसमे बाहरी कड़ी खोल (कवच) का निर्माण करनेवाली ग्रंथियाँ
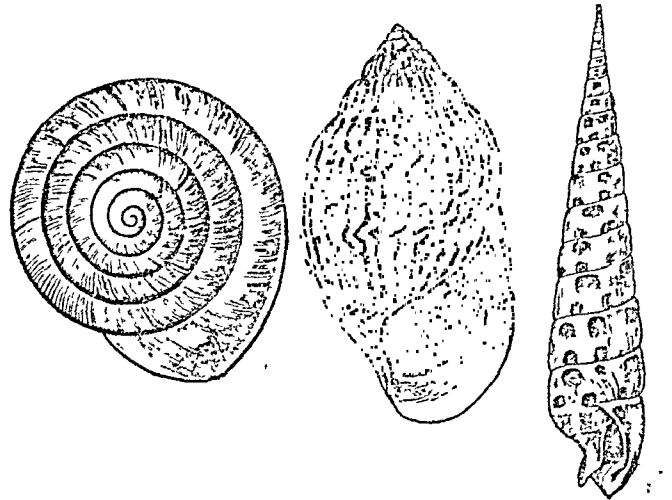
उदरपादों के कवच
तीन विभिन्न रूप।

रहती हैं। यह जंतु की दाहिनी ओर रहता है। प्रावार और वास्तविक शरीर के बीच एक गुहा रहती है जिसको प्रावारीय गुहा कहते हैं। जिन उदरपादों में खोल कुंतलवलयित होता है उनमें प्रावारीय गुहा शरीर के अग्र भाग में होती है। इस गुहा में गुदद्वार, वृक्क और गलफड़ रहते हैं। प्रावारीय गुहा का बाहरी मुख चौड़ा होता है। प्रावार के एक किनारे नल की आकृति का वह अंग रहता है जिसे साइफन कहते हैं; इसमें ताजा पानी साँस लेने के लिये आता है और निकल भी जाता है। बहुधा कौड़ियों में प्रावार का किनारा, जिसपर बहुत से स्पर्शशृंग भी रहते हैं, खोल के मुख के बाहर निकलकर खोल को ढक लेता है।
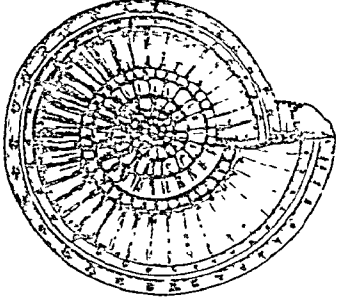
रम्य सर्पक (सोलेरिम पर्सपेक्टिवम) नामक उदरपाद (नीचे से)

एफ़ीजिया नामक उदरपाद में प्रावार कवच को पूर्णतया ढक लेता है। इसमें कवच पूर्णतया विकसित नहीं होता; इसलिये जंतु के शरीर को नहीं ढक सकता।

श्वास संस्थान—साधारणतया गलफड़ दो होते हैं, परंतु अधिकतर बाईं ओरवाला गलफड़ ही पूर्ण विकसित जंतु में कार्यशील रहता है। जिन उदरपादों में दो गलफड़ रहते हैं उनमें प्रत्येक गलफड़ के अक्ष में दोनों ओर गलफड़-सूत्र लगे रहते हैं और उनका एक सिरा शरीर से जुड़ा रहता है। एक गलफड़वाले उदरपादों में, जैसे ट्राइटन में, गलफड़ के अक्ष के एक ही ओर सूत्र होते हैं और गलफड़ का पूरा अक्ष शरीर से जुड़ा रहता है।
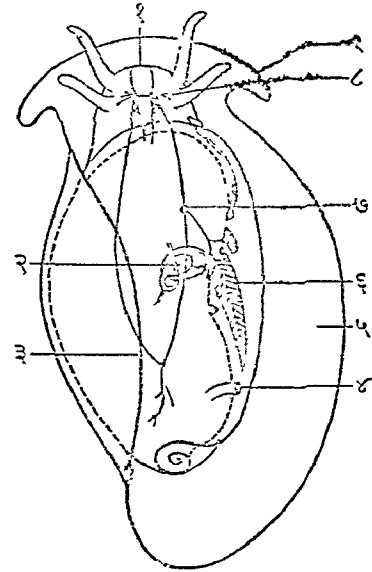
ऊपर से देखते हुए : १. मुँह; २. हृदयावरण में हृदय; ३. पृष्ठ पर द्विरावृत्त, बायाँ परिपाद. (एपिपोडियम); ४. आँतों का द्वार; ५. और ६. दाहिना परिपाद; ६. गलफड़, जिसके संमुख गंधांग (ऑस्फ्रेडियम) दिखाई पड़ता है; ७. अनुद्वेष्टित (अनट्विस्टेड) तंत्रिका पाश पर की दो गुच्छिकाओं (गैंग्लिआ) में से एक; ८. गुच्छिकाओं सहित तंत्रिकावलय।

न्यूडीब्राउखों में गलफड़ नहीं होते, श्वसनकार्य द्वितीयक गलफड़ द्वारा संपन्न होता है। यह इयोलिस नामक उदरपादों में समूचे पृष्ठतल पर विस्तृत रहता है और डोरिस नामक उदरपादों के गुदद्वार के चारों ओर वलय के रूप में रहता है। पैटेला में भी असली गलफड़ नहीं होते, जो रहते हैं वे केवल अवशेष स्वरूप हैं। इसमें भी श्वसन द्वितीयक गलफड़ से होता है। पलमोनेटा में श्वसन फुफ्फुसीय कोप द्वारा होता है। पानी में रहनेवाले पलमोनेटों में फुफ्फुसीय कोप श्वसनेंद्रिय का काम देता है।

पाचन संस्थान—बहुत से उदरपादों में सूँड़ के समान एक अंग होता है जो आवश्यकतानुसार बाहर निकल आता है। वक्त्रगुहा में फीते जैसा एक विशेष अवयव होता है जिसपर बहुत से छोटे छोटे दाँत आड़ी पंक्तियों में क्रम से लगे रहते हैं। इस विशेष अवयव को घर्पक (रैड्युला) कहते हैं। यह घर्पक वक्त्रगुहा के धरातल पर स्थित एक गद्दी पर लगा रहता है। मांसपेशियों की क्रिया द्वारा यह आगे पीछे या ऊपर नीचे चल सकता है। गद्दी, मांसपेशियों तथा घर्पक इन सबको संमिलित रूप से दंतवाही (ओडोंटोफ़ोर) कहते हैं। यह रेती की तरह भोजन को रेतकर उसका सूक्ष्म कणों में परिणत कर देता है। लाला ग्रंथियां और यकृत सब उदरपादों में पाए जाते हैं। उदर में मणिभ लेंस (क्रिस्टेलाइन लेंज़) होता है। शाकाहारियों में आँतें लंबी एवं भंजित (फ़ोल्डेड) होती हैं, क्योंकि खाने का सब पौष्टिक पदार्थ चूसकर ग्रहण करने में अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ती है। मांसाहारियों में आँत छोटी और सीधी होती है।

हृदय—हृदय अन्य मोलस्कों की भाँति परिहार्द गुहा में हृदयावरण से ढका रहता है। परिहार्द गुहा शरीरगह्वर का ही भाग है जो वृक्कगुहा से भी संबंधित रहती है। साधारणतया उदरपादों में, जैसे ट्राइटन में, हृदय में एक अलिंद (ऑरिकिल) और एक निलय (वेंट्रिकिल) होता है लेकिन
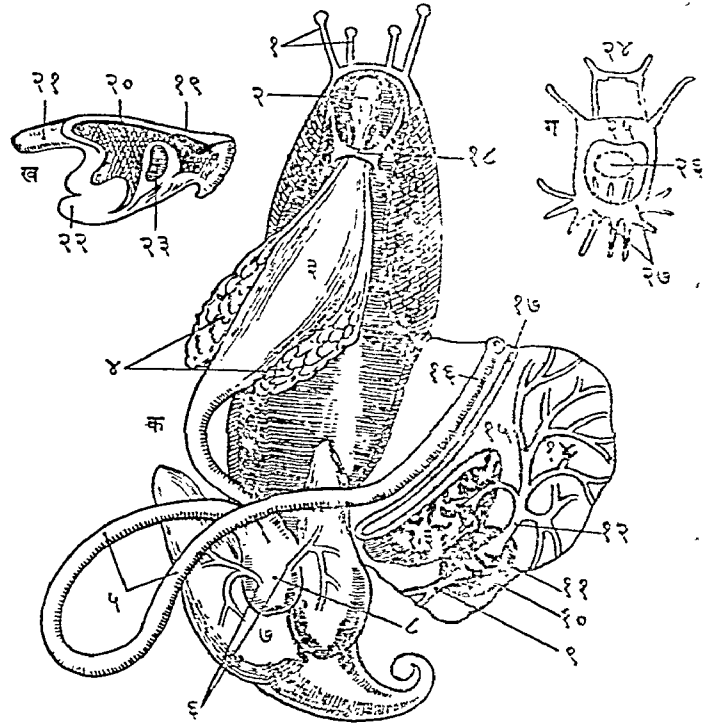
बागों में पाए जानेवाले घोंघे (स्नेल) की रचना

क—ऊपर की ओर से काट; फेफड़े की छत दाहिनी ओर फैलाई हुई है। १. स्पर्शिकाएँ (टेंटेकिल्स); २. मुखपुंज (बकल मास); ३. अन्नग्रह (क्रॉप); ४. लार ग्रंथियाँ; ५. आँतें; ६. पित्तवाहक नलियाँ; ७. यकृत; ८. आमाशय; ९. महाधमनी (एओर्टा); १०. निलय (वेंट्रिकल); ११. अलिंद (ऑरिकिल); १२. फुफ्फुस शिरा; १३. वृक्क; १४. तथा १५. फुफ्फुस; १६. गुदा; १७. मूत्रवाहिनी; १८. मस्तिष्क। ख—मुखपुंज (दाहिने भाग का आधा निकाल दिया गया है)। १९. जबड़ा; २०. घर्पक (रैडुला); २१. ग्रासनली (गलेट); २. घर्पक स्यून; २३. उपास्थि (कार्टिलेज)। ग—तंत्रिका वलय (पीठ की ओर से)। २४. मुख गुच्छिकाएँ (बकल गैंग्लिआ); २५. मस्तिष्क; २६. ग्रास नली; २७. प्रतिपृष्ठ गुच्छिकाएँ (वेंट्रल गैंग्लिआ)।

हैलिटोसिस नामक उदरपादों में दो अलिंद और एक निलय होता है। ओपिस्थोब्रैंकिया में हृदय गलफड़ के आगे रहता है और प्रोसोब्रैंकिया में बगल में या पीछे।

वृक्क—वृक्क साधारणतया दो ग्रंथिल नलियों या कोष्ठकों के रूप में पृष्ठतल पर होता है। यह परिहृदि गुहा से भी संबद्ध रहता है और सीधे या गवीनी द्वारा बाहर खुलता है। दोनों वृक्क या तो बराबर होते हैं या गुदद्वार के दाहिनो ओरवाला वृक्क बाई ओरवाले से बड़ा होता है। बहुतों में एक ही वृक्क होता है। कुछ उदरपादों में जनद (गोनैड) वृक्क में खुलते हैं। वृक्क के द्वारा शरीर के रक्त के सारे विपाक्त पदार्थ बाहर निकलते हैं।

तंत्रिकातंत्र—परजीवी उदरपादों को छोड़कर अन्य उदरपादों में तंत्रिकातंत्र भली भाँति विकसित होता है। इसमें तंत्रिकारज्जु (नर्व-कॉर्ड स), योजिकाओं द्वारा जुड़ी गुच्छिकाएँ (गैंग्लिग्रा) और ज्ञानेंद्रियाँ संमिलित हैं। ज्ञानेंद्रियों में आँखें, स्थितंग (स्टैटोसिस्ट्स, जिनसे जीव को अपने शरीरसंतुलन का पता चलता है) और घ्राणेंद्रियाँ (ग्रासफ़ेडिया) संमिलित हैं। इनके अतिरिक्त शरीर के विभिन्न भागों में अन्य संवेदक क्षेत्र रहते हैं परंतु उनका कार्य कम स्पष्ट है।

आँखें शिर से निकले स्पर्शशृंगों पर अथवा उनकी जड़ पर रहती हैं। वे प्याली के आकार की होती हैं। रंगयुक्त रूपाधार (रेटिना) वाली परत बाहर रहती है और इसलिये सदा समुद्रतल के स्पर्श में रहती है। ऐसी आँखें डोकोग्लोसा में होती हैं। कुछ उदरपादों में ताल (लेंज़) भी होता है, कुछ में कार्निया भी। घ्राणेंद्रियाँ प्रावार गुहा में रहती है और इनका कार्य वस्तुतः यह पता लगाना है कि जल साँस लेने योग्य है अथवा नहीं।

जनन संस्थान—स्ट्रेप्टोन्यूरा नामक उदरपाद प्रायः एकलिंगी होता है और एथिन्यूरा उभयलिंगी। एकलिंगी जंतुओं में जननसंस्थान उभयलिंगियों से अधिक सरल होता है। इसमें जनद (गोनैड) पृष्ठतल पर आमाशय कुव्व में स्थित होता है और प्रजनन प्रणाली शरीर के दाहिनी ओर बाहर खुलती है। नर में शिश्न नालीदार तथा अकुंचनशील (नॉन-कॉन्ट्रैक्टाइल) होता है। हेलिक्स जैसे उभयलिंगी उदरपाद में जनन संस्थान बड़ा जटिल होता है—इसमें प्रजनन ग्रंथि (ओवोटेस्टिस) श्वेत रंग की होती और आमाशय कुव्व के शिखर पर स्थित होती है। पुंबीज और स्त्रीबीज ओवोटेस्टिस के एक ही पुटक में बनते हैं। परिपक्व पुंबीज प्रायः बारहों मास मिलते हैं परंतु स्त्रीबीज समय समय पर बनते हैं। पुंबीज एवं स्त्रीबीज दोनों ही एक साथ उभयलिंगी प्रजननप्रणाली से होकर ऐलब्यूमिन ग्रंथि में चले जाते हैं। उभयलिंगी वाहिनी (डक्ट) के अंतिम सिरे पर शुक्रपात्र (रिसेप्टि-क्युलम सेमिनिस) होता है जिसमें पुंबीज भरे रहते हैं। इसी में संसेचन (फ़र्टिलाइ-जेशन) होता है। संसेचन के बाद पुंस्त्रीबीज चौड़ी वाहिनी में जाते हैं जो सीधे बाहर जाकर खुलती है।

कृष्ण मृदुमंथर (ब्लैक स्लग्स) का एक जोड़ा

ये अभी वृक्ष की शाखा पर हैं और चिपचिपा पदार्थ तैयार कर रहे हैं, जिसकी सहायता से वे शीघ्र ही वायु में मैथुन के लिये लटकनेवाले हैं (आगामी चित्र देखें)।

इसके भीतर पुंस्त्रीबीज कैल्सियम कार्बोनेट के एक खोल से ढक जाते हैं। पूर्वोक्त चौड़ी वाहिनी का अंतिम सिरा योनि कहलाता है। योनि मोटी और मांसल होती है। योनि में श्लैष्मिक ग्रंथि, शुनघानी छिद्र और शर-स्यून (डार्ट सैक) खुलता है। पुंबीज पुंबीजवाहिनी से होकर शिश्न में जाते हैं जहाँ से एक पतली लंबी नलीनुमा काशाभ (फ़्लैजेलम) निकलता है। इसमें बहुत से पुंबीजों पर एक तरह का खोल चढ़ जाता है। इस तरह से शुक्र भर (स्पर्मैटोफ़ोर) बनते हैं। योनि और शिश्न दोनों एक जननद्वार (जेनिटल ऐट्रियम) में खुलते हैं। यह शरीर के दाहिनी ओर खुलता है। उभयलिंगियों में (जैसे कुंतलावर अर्थात् हेलिक्स में) संसेचन प्रायः परसंसेचन ही होता है, यद्यपि स्वयंसंसेचन के उदाहरण भी मिलते हैं।

जब दो घोंघे एक दूसरे के सामने आकर मिलते हैं तो दोनों के जननद्वार खुल जाते हैं। नर तथा नारी जननछिद्र भी खुल जाते हैं। तब नारी घोंघे के जननछिद्र से शर (डार्ट) निकलकर दूसरे घोंघे को छेदते हैं, जिससे वे उत्तेजित हो जाते हैं। दोनों घोंघों का आपस में संसेचन होता है। इस क्रिया में एक घोंघे का शिश्न दूसरे घोंघे की योनि में चला जाता है। एक घोंघे के शुक्रभर दूसरे घोंघे के पुंबीजकोष में पहुँचकर फट जाते हैं, जिससे पुंबीज बाहर निकल आते हैं और शुक्रपात्र में पहुँचकर स्त्रीबीज से मिलकर संसेचन क्रिया समाप्त करते हैं।

संसेचन मई तथा जून के महीने में होता है। संसेचित समूह जुलाई में बाहर निकलते हैं। जुलाई तथा अगस्त में संसेचन क्रिया के बाद घोंघे अपने संसेचित समूह को, जिसमें भ्रूण के लिये खाद्य पदार्थ भी होता है, मिट्टी में किसी बड़े छेद या गड्ढे में बाहर निकाल देते हैं। लगभग २५ दिनों में बच्चे अंडे के बाहर निकल आते हैं।

पैटेला में संसेचन बाहर पानी में होता है, परंतु अन्य सब उदर-पादों में शरीर के भीतर होता है। संसेचित अंडसमूह लसदार पदार्थ में लिपटे रहते हैं। इनके छोटे छोटे पिंड या मालाएँ पानी में तैरती हुई या समुद्री पौधों से उलझी हुई पाई जाती हैं।

कृष्ण मृदुमंथर का संभोग

चिपचिपे पदार्थ के तार की सहायता से वायु में लटककर और डाल तथा टहनियों की बाधा से मुक्त होकर वे स्वच्छंदता से संभोग करते हैं। प्रत्येक में नारी और पुरुष दोनों अंग होते हैं और प्रत्येक मंथर दूसरे को संसेचित करता है।

स्ट्रेप्टोन्यूरा के संसेचित समूह खाद्य पदार्थ के साथ चमड़े जैसे खोल में बंद रहते हैं। एक खोल में केवल एक ही भ्रूण पूर्ण विकसित होता है। शेष इसके खाने में काम आते हैं।

पलमोनेटा के अंडसमूह कैल्सियम कार्बोनेट के खोल में बंद रहते हैं जो भूमि के किसी बड़े छेद में छोड़ दिए जाते हैं। कुछ समुद्री तथा मीठे जल के उदरपादों का विस्तार घोंघे के शरीर के भीतर उनकी स्त्रीबीज-प्रणाली में होता है। विकसन नामक उदरपादों में डिंभ दो तरह के पाए जाते हैं: मंडलाकार तथा पट्टिका रूप। तरुण उदरपादों में द्विपार्श्वीय सममिति होती है, परंतु पूर्ण विकसित अवस्था में वे असममित हो जाते हैं।

वर्गीकरण—उदरपादों को निम्नलिखित गोत्रों में विभाजित किया गया है:

गोत्र १. स्ट्रेप्टोन्यूरा (प्रोसोब्रैंकिया) इस गोत्र के जंतुओं में विमोटन होता है। नाड़ी संस्थान के फुफ्फुसावरण-आंतरंग-रज्जु अंग्रेजी अंक 8 की आकृति के होते हैं। कवच और उसका ढक्कन होता है। प्रावार गुहा आगे होती है।

अनुगोत्र १. एसपीडो ब्रैंकिएटा (डायोटोकार्डिया) इस अनुगोत्र के उदरपादों में दो अलिंद और दो गलफड़ होते हैं जिनमें अक्ष के दोनों ओर सूत्र होते हैं। पुंबीज एवं स्त्रीबीज वृक्क द्वारा बाहर निकलते हैं।

ट्राइब १. रीपीडोग्लोसा—इन ट्राइब के जंतुओं में घर्पक की एक पंक्ति में बहुत से दाँत होते हैं। उदाहरण—ट्रोकस, टर्बो, हालिहोटिस।

ट्राइब २ डोकोग्लोसा—इस ट्राइब के जंतुओं में घर्पक की एक पंक्ति में केवल दो चार लंबे दाँत होते हैं जिनके द्वारा यह पत्थर से चिपटे हुए शैवाल (ऐल्गी) को काटता है। आँखों में दृष्टिमंडल नहीं होता। आमाशय गुहा कोनदार होती है। उदाहरण—पेटैला।

अनुगोत्र २. पेक्टीनो ब्रैंकिया (मोनोटोकार्डिया) इन जंतुओं में एक अलिंद और एक गलफड़ होता है जिसके अक्ष के एक तरफ सूत्र होते है। एक गधाग होता है।
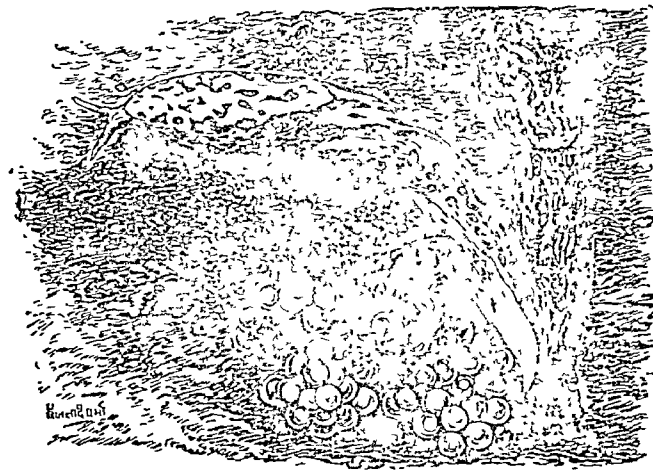
तत्काल दिए हुए अंडों सहित कृष्ण मृदुमंथर

ट्राइब १. रेची ग्लोसा—ये हिंस्र जंतु हैं। इनमें साइफन होता है। घर्पक में केवल तीन दाँत एक पंक्ति में होते हैं। उदाहरण—बक्सिनम। यह ६०० फुट तक समुद्र की गहराई में पाया जाता है। यह मांसाहारी है और बहुत तेजी से शिकार को पैर से पकड़ता है। सूँड बहुत बड़ी होती है। यह अपने अंडे सैकड़ों की संख्या में देता है। प्रत्येक अंडे में एक कड़ी वस्तु का खोल होता है। गधाग के अक्ष के दोनों तरफ सूत्र होते है।

ट्राइब २. टीनोग्लोसा—घर्पक में सात दाँत प्रत्येक पंक्ति में होते हैं। उदाहरण—कौड़ा (साइप्रिया मोनाटा), वरमेट्स, ट्राइटन, ऐंपलेरिया (अलवण उदरपाद)।

ट्राइब ३ टॉक्सोग्लोसा—घर्पक में केवल दो लंबे दाँत एक पंक्ति में होते हैं। उदाहरण—कोनस।

गोत्र २. युथीन्यूरा (आपिस्थोब्रैंकिया) इन उदरपादों में आमाशय योजक 8 की आकृति में ऐंठे नहीं होते। ये उभयलिंगी हैं। गलफड़ हृदय के पीछे होता है। कवच छोटा होता है, भीतर रहता है या एकदम होता ही नहीं।

अनुगोत्र १ टैक्टीब्रैंकिया—इनमें सदा कवच रहता है। गलफड़ और प्रावार गुहा भी होती है। उदाहरण—अप्लीसिया। यह समुद्री पौधों को खाती है। बच्चे लाल रंग के होते हैं और गहरे पानी में रहते हैं। प्रौढ़ हरे रंग के होते हैं और ज्वारभाटा के बीच में रहते हैं।

अनुगोत्र २. न्यूडीब्रैंकिया—इनमें कवच, गलफड़ और प्रावार गुहा कुछ भी नहीं होती। श्वसन द्वितीयक गलफड़ से होता है। उदाहरण—डोरिस, ईओलिस।

डोरिस को समुद्री नीबू (सी लेमन) भी कहते हैं। यह जंतु छोटा, चपटा और आलसी स्वभाव का होता है। यह पत्थर से चिपटे हुए स्पंज को खाता है। प्रावार रंगीन और कड़ा होता है। रंग उन जगहों से बहुत मिलता जुलता है जहाँ यह अपना आहार ग्रहण करता है। शिर में एक जोड़ी स्पर्शशृंग होते हैं। श्वसन द्वितीयक गलफड़ से होता है जो गुदद्वार के चारों तरफ रहता है।

ईओलिस की पीठ पर छोटे छोटे खोखले उभार (सिरेटिया) होते है जो बाहर खुलते भी हैं। इनका संबंध पाचक ग्रंथियों से भी होता है। यह हाइड्रा तथा कुसुमाभ (सी ऐनीमोनि) खाते हैं। अधिकांश आहार पच जाता है और मल गुदद्वार से बाहर निकल जाता है। नेमाटोसिस्ट (विषैले डंक) नहीं पचते; वे उभारों में भर जाते हैं। समुद्र में इयोलिस जब कभी किसी मछली या अन्य किसी शत्रु से तंग आकर उत्तेजित हो जाता है तो इन नेमाटोसिस्टों को तुरंत बाहर फेंककर दुश्मन को डंकों से व्यग्र कर देता है। इओलिस इस तरह से अपनी रक्षा कर लेता है। इसके शरीर का रंग भी बहुत भड़कीला होता है जिसे देखकर अनुभवी शत्रु भाग जाते है।

गोत्र ३. पलमोनेटा—ये भी उभयलिंगी उदरपाद होते हैं। इनमें खोल होता है परंतु ढक्कन नहीं होता। गलफड़ भी नहीं होता। श्वसन प्रावार गुहा से होता है जो फुप्फुस (लंग) का काम देती है। नाड़ी संस्थान असममित होता है। वृक्क एक ही होता है। उदाहरण—घोंघा (लैंड स्नेल), मंथर (स्लग)।

अनुगोत्र १. बैसोमैटोफ़ोरा—आँखें छोटी और स्पर्शशृंग के पास होती हैं। उदाहरण—लुमनीअ, प्लेनॉर्बिस।

अनुगोत्र २. स्टाइलॉमैटॉफोरा—आँखें स्पर्शशृंगों के सिरे पर होती है। उदाहरण—हेलिक्स। (रा० चं० स०)

उदात्त काव्याभिव्यंजना के वैशिष्ट्य एवं उत्कर्ष का कारणतत्व जिसका प्रतिपादन लोंगिनुस (लांजाइनस) ने अपनी कृति 'पेरि इप्सुस' (काव्य में उदात्त तत्व) में किया है। इसके अनुसार उदात्त तत्व शैली की वह महत्वपूर्ण एवं महत्तम विशेषता है जो विभिन्न व्यंजनाओं के माध्यम से किसी घटना अथवा व्यक्तित्व के रोमांटिक, आवेशपूर्ण तथा भयंकर पक्ष की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होती है। सच्चे औदात्य के स्पर्श मात्र से मानवात्मा सहज ही उत्कर्ष को प्राप्त हो जाती है, सामान्य धरातल से ऊपर उठकर आनंद और उल्लास से आप्लावित होने लगती है और श्रोता अथवा पाठक को महसूस होने लगता है कि जो कुछ उसने श्रवण किया या पढ़ा है, वह स्वयं उसका अपना भोगा हुआ है। इसके विपरीत किसी कृति को बार बार पढ़ने या सुनने के बाद भी यदि व्यक्ति की आत्मा उन्नत विचारों की ओर प्रवृत्त नहीं होती तो स्पष्ट ही उक्त कृति में प्रतीयमान अर्थ से अधिक विचारोत्तेजक सामग्री का अभाव रहता है और उसे उदात्त-तत्व-समन्वित नहीं माना जा सकता। उदात्त-गुण-युक्त कृति न केवल सभी को सर्वदा आनंदित करती है, अपितु विसंवादी तत्वों के संयोग से एक ऐसे वातावरण का निर्माण भी करती है कि उसके प्रति पाठक अथवा श्रोता की आस्था और भी गहरी एवं अमिट हो जाती है।

लोंगिनुस के अनुसार उदात्त आलंबन के गुण हैं: जीवंत आवेग, प्रचुरता, तत्परता, जहाँ उपयुक्त हो वहाँ गति तथा ऐसी शक्ति एवं वेग जिसकी समता संभव न हो। उदात्त की अनुभूति के अंतस्तत्व मन की ऊर्जा, उल्लास, अभिभूति (संपूर्ण चेतना के अभिभूत हो जाने की अनुभूति), आदर तथा विस्मयमिश्रित संभ्रम बताए गए हैं।

लोंगिनुस ने उदात्त भाषा के पाँच मुख्य स्रोतों का भी उल्लेख किया है: (१) महान् विचारोद्भावना की क्षमता, (२) उद्दाम और प्रेरणा-प्रसूत आवेग, (३) समुचित अलंकारयोजना, (४) साधु भाषा तथा (५) गरिमामय रचनाविधान। इनमें प्रथम दो अधिकांश में नैसर्गिक अथवा अंतरंग हैं और शेष तीन को अंशतः कला से संबधित माना गया है। वक्तृत्वशक्ति को उक्त पाँच भेदों के तल में नींव के समान बताया गया है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में उदात्त (हिंदी में अंग्रेजी शब्द 'सब्लाइम' का रूपांतर) पर एक लंबे समय से विचार होता चला आ रहा है। लोंगिनुस से पूर्व अरस्तू ने अपने 'विरेचन सिद्धांत' की व्याख्या में उदात्त का विरेचन प्रक्रिया के सर्वाधिक सहायक तत्व के रूप में उल्लेख किया है। पश्चात् रोगेरतेलो, ब्वायलो, हीगेल, कांट, ब्रैडले, कैरेट, ब्रुक, वाल्टर पेटर, सांतायना, बर्क, बोसांके, जुग आदि पाश्चात्य कलासमीक्षकों ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है।

कांट के अनुसार भार, संकोच, स्फूर्ति, एवं अंतर्बोध उदात्त के मूल तत्व हैं और इनमें भी आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त स्फूर्ति ही इसका संपूर्ण सार है, जो कलाबोध को मुखर बनाकर न केवल तृप्ति प्रदान करती है अपितु उदात्तानुभूति के स्तर तक भी ले जाती है। परंतु कांट का मत कला के उतना निकट नहीं है जितना अध्यात्म के। कारण, कलानुभूतिजन्य उदात्त वृत्तियों को मात्र आध्यात्मिक नहीं माना जा सकता। ब्रैडले ने उदात्त के अंतर्गत भय, रोमांच, अंतश्चमत्कार तथा आतरिक आह्लादपूर्ण वृत्तियों को मुख माना है। उनके अनुसार उदात्त कलाबोध के समस्त विस्तार का द्योतक होता है। अपने कथन को सुस्पष्ट करने के लिये उन्होंने कलाबोध के पांच स्तर माने हैं—उदात्त (सब्लाइम), भव्य (ग्रैंड), सुंदर (ब्यूटीफुल), ललित (ग्रेसफुल) तथा चारु (प्रेटी)। इनमें सुदर को मध्यमान मानकर उन्होंने उससे उत्कृष्ट भावोद्रेकों को क्रमशः भव्य तथा उदात्त की संज्ञा दी है और निम्नतर भावबोधों को क्रमशः ललित तथा चारु कहा है। अर्थात् ब्रैडले के अनुसार कलाबोध का उच्चतम गुण उदात्त है और चारु निम्नतम। उदात्त के संबंध में जुंग का कथन भी काफी महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा है, 'ससीम-बंधन-ग्रस्त मानव व्यक्तित्व में असीम और अनंत तत्व के उदय में अनंत वेदना तथा आनंद का सामयिक अनुभव होता है। यही अनुभव उदात्त का अनुभव है।' (कैं० चं० श०)

उदायिभद्र मगध महाजनपद के शक्तिशाली राजा अजातशत्रु का पुत्र और उत्तराधिकारी। उसका उल्लेख उदायिन्, उदायी अथवा उदयिन और उदयभद्र जैसे कई नामों से मिलता है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उदायिभद्र अपने पिता अजातशत्रु को ही तरह स्वयं भी पितृघाती था और पिता को मारकर गद्दी पर बैठा था। उस अनुश्रुति का तो यहाँ तक कथन है कि अजातशत्रु से लेकर चार पीढ़ियों तक मगध साम्राज्य में उत्तराधिकारियों द्वारा अपने पूर्ववर्तियों के मारे जाने की परंपरा ही चल गई थी। परंतु जैन अनुश्रुति उदयभद्र को पितृघाती नहीं मानती। कथाकोश में उसे कुणिक (अजातशत्रु) और पद्मावती का पुत्र बताया गया है। परिशिष्टपर्वन् और त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित् जैसे कुछ अन्य जैन ग्रंथों में यह कहा गया है कि अपने पिता के समय में उदायिभद्र चंपा का राज्यपाल (गवर्नर) रह चुका था और अपने पिता की मृत्यु पर उसे सहज शोक हुआ था। तदुपरांत सामंतों और मंत्रियों ने उससे मगध की राजगद्दी पर बैठने का आग्रह किया और उसे स्वीकार कर वह चंपा छोड़कर मगध की राजधानी गया।

राजा की हैसियत से उदायिभद्र का सबसे मुख्य कार्य था मगध की नई राजधानी पाटलिपुत्र का विकास करना। परिशिष्टपर्वन् की सूचना है कि उसी ने सबसे पहले मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर गंगा और सोन नदियों के संगम पर पाटलिपुत्र बसाकर वहाँ स्थापित की। इस बात का समर्थन वायुपुराण में भी होता है। उसका कथन है कि उदयभद्र ने अपने शासन के चौथे वर्ष में कुसुमपुर नामक नगर बसाया। कुसुमपुर अथवा पुष्पपुर पाटलिपुत्र के ही अन्य नाम थे। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ के दुर्ग का विकासकार्य अजातशत्रु के समय में ही प्रारंभ हो चुका था। (वि० पा०)

उदारतावाद शब्द का प्रयोग, साधारणतया, व्यापक रूप से मान्य, कुछ राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धांतों, साथ ही, राजनीतिक कार्यों एवं कार्यक्रमों के लिये किया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में यह उन बौद्धिक आंदोलनों का भी परिणाम है जो १६वीं शताब्दी से ही सामाजिक जीवन के संगठन में व्यक्ति के अधिकारों के पक्ष में, उसके स्वतंत्र आचरण पर प्रतिबंधों के विरुद्ध, कार्यशील रहे हैं। १६८९ में लाक ने लिखा, 'किसी को भी अन्य के स्वास्थ्य, स्वतंत्रता या संपत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।' अमरीकी स्वतंत्रता के घोषणापत्र (१७७६) ने और भी प्रेरक शब्दों में 'जीवन, स्वतंत्रता तथा सुखप्राप्ति के प्रयत्न' के प्रति मानव के अधिकारों का एलान किया है। इन सिद्धांत को फ्रांस के 'मानव अधिकारों के घोषणापत्र' (१७९१) ने यह घोषित कर और भी संपुष्ट किया कि अपने अधिकारों के संबंध में मनुष्य स्वतंत्र तथा समान पैदा होता है, समान अधिकार रखता है। उदारतावाद ने इन विचारों को ग्रहण किया, परंतु व्यवहार में बहुधा यह अस्पष्ट तथा आत्मविरोधी हो गया, क्योंकि उदारतावाद स्वयं अस्पष्ट पद होने से अस्पष्ट विचारों का द्योतक है। १९वीं शताब्दी में उदारतावाद का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। जो भी हो, राष्ट्रीयतावाद के सहयोग से इसने इतिहास का पुनर्निर्माण किया। यद्यपि यह अस्पष्ट था तथा इसका व्यावहारिक रूप स्थान स्थान पर बदलता रहा, इसका अर्थ, साधारणतया, प्रगतिशील ही रहा। नवें पोप पियस ने जब १८४६ ई० में अपने को 'उदार' घोषित किया तो उसका वैसा ही असर हुआ जैसा आज किसी पोप द्वारा अपने को कम्युनिस्ट घोषित करने का हो सकता है।

१९वीं शताब्दी के तीन प्रमुख आंदोलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा वर्गस्वतंत्रता के लिये हुए। राष्ट्रीयतावादी, जो मंच पर पहले आए, विदेशी शासन से मुक्ति चाहते थे। उदारतावादी अपनी ही राष्ट्रीय सरकारों के हस्तक्षेप स मुक्ति चाहते थे। समाजवादी कुछ देर बाद सक्रिय हुए। वे इस बात का आश्वासन चाहते थे कि शासन का संचालन संपत्तिशाली वर्ग के हितसाधन के लिये न हो। उदारतावादी आंदोलन के यही तीन प्रमुख सूत्र थे जिन्हें बहुधा भावनाओं एवं नीतियों की आकर्षक उलझनों में तोड़ मरोड़कर बट लिया जाता था। ये सभी सूत्र, प्रमुखतः महान् फ्रांसीसी राज्यक्रांति (१७८९–९४) की भावनाओं और रूसो जैसे महापुरुषों के विचारों की गलत सही व्याख्याओं से अनुप्राणित थे।

इस प्रकार, उदारतावाद, भिन्न प्रसंगों में भिन्न भिन्न अर्थ रखता था। किंतु सर्वत्र एक धारणा समान थी, कि सामंतवादी व्यवस्था के अनिवार्य रूप समाज के अभिजात नेतृत्व संबंधी विचार उखाड़ फेंके जायँ। नव अभिजात वर्ग—मध्य वर्ग—विकासशील औद्योगिक केंद्रों के मजदूर वर्ग के सहयोग से इस क्रांति को संपन्न करे। (मध्य वर्ग धनोपार्जन के निमित्त राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता चाहता था। इसी बीच औद्योगिक क्रांति की प्रगति ने ऐसे धनोपार्जन के लिये अभूतपूर्व अवसर प्रस्तुत कर दिए।) बाद में इसके सहयोगी मजदूर वर्ग, जो सामाजिक स्वतंत्रता तथा उत्पादित धन पर समाज का सामूहिक स्वत्व चाहते थे, अलग हो जायँ। किंतु अभी उन्हें एक साथ रहना था। निःसंदेह उनके मूल विचार, कुछ अंश तक, एक दूसरे से प्रभावित थे, परस्पर निबद्ध।

१९वीं शताब्दी के समूचे पूर्वार्ध में यूरोप के उन्नत देशों के व्यापारी आर्थिक उदारतावाद में विश्वास रखते थे जिसके अनुसार व्यापार में अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा ही सर्वोत्तम एवं सबसे अधिक न्याययुक्त पद्धति मानी जाती थी। इसके सिद्धांतों का प्रतिपादन पहले ऐडम स्मिथ (१७२३–९०) ने अपनी 'राष्ट्रों का धन' (द वेल्थ ऑव नेशंस) नामक पुस्तक में, फिर फ्रांस में फिजियोक्रैटों एवं उनके अनुयायियों ने किया। व्यक्तिगत व्यापारियों तथा व्यक्तिगत राज्यों की इस अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा का परिणाम, कुछ समय के लिये, अत्यधिक लाभकर ही हुआ, यद्यपि यह लाभ अविकसित विदेशों के स्वार्थ तथा स्वदेशी कृषि को हानि पहुँचाकर हुआ।

१९वीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैंड के उदारतावादी, पुराने 'ह्विग' दल के उत्तराधिकारी होते हुए भी, नागरिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के परंपरागत उपासक आभिजात्यों से पूर्णतया भिन्न थे। इंग्लैंड में तो पहले 'उदार' शब्द से कुछ विदेशी आभास भी पाया जाता था, क्योंकि इसका स्पष्ट संबंध फ्रांस तथा स्पेन के क्रांतिकारी आंदोलनों से था। किंतु १८३० के पश्चात् लार्ड जान रसेल के समय में, इस शताब्दी के उत्तरार्ध में ग्लैड्स्टन के समय तक, यह शब्द इंग्लैंड में भी चालू हो गया तथा संमानित माना जाने लगा। जान स्टुअर्ट मिल की प्रसिद्ध पुस्तिका 'स्वतंत्रता' द्वारा इसे सैद्धांतिक मर्यादा भी मिली। इससे इस विचार ने प्रश्रय पाया कि मानव व्यक्तित्व मूल्यवान् है और कि, अच्छी अथवा बुरी, सभी प्रकार के राज्य नियंत्रण से मुक्त व्यक्तिगत शक्ति का स्वतंत्र आचरण ही प्रगति का मूल कारण है।

राजनीतिक क्षेत्र में इसकी उपलब्धि वैधानिकता तथा संसदीय लोकसत्ता की दिशा में हुई और आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्र व्यापार (लैसे फेयर) के नकारात्मक कार्यक्रम में, जिसकी मान्यता यह थी कि कार्य प्रारंभ करने का अधिकार राज्यनियंत्रण से निर्बंध व्यक्ति को ही प्राप्त है। किंतु सामाजिक

आवश्यकताओं ने परिवर्तन अनिवार्य कर दिया। जे० एस० मिल ने उदारतावादी विचारधारा को और भी व्यापक बनाया, जिसके अंतर्गत अब राज्य लोकहित मे नियंत्रण लगाने के अधिकार से वंचित नही रहा। प्राचीन कट्टर व्यक्तिवादी विचारधारा को अधिकाश तिरस्कृत कर दिया गया। एल० टी० हावहाउस तथा जे० ए० हावसन की रचनाओ मे समाजवादी प्रभाव, विशेषकर फेवियनो का, स्पष्ट लक्षित होने लगा, जो स्वय उदार विचारधारा के ऊपर टी० एच० ग्रीन जैसे पूर्ववर्ती लेखको के प्रभाव का परिचायक था। और अब व्यक्तिवाद एवं समाजवाद के बीच एक असंतुलन स्थापित हो गया है।

उदारतावाद की दो विचारधाराओं के बीच फँस जाने के कारण इधर भविष्य का उसका मार्ग कुछ स्पष्ट नही है। समय समय पर इसने अपनी सजीवता का परिचय दिया है। जैसे, ब्रिटेन मे १९०६–११ के बीच, जब रूढ उदारतावाद के विरोध के बावजूद सामाजिक बीमा से संबधित कानून बना डाला गया, अथवा, द्वितीय महायुद्ध के बाद भी, जब विलियम वेवरिज ने एक लोकहितकारी राज्य की रूपरेखा तैयार कर डाली। किंतु जनशक्ति को प्रभावित करने मे उदारतावाद निःशक्त है, इस दिशा मे इसकी असफलता अनेक बार प्रमाणित हो चुकी है। जर्मनी मे नात्सीवाद के सामने इसकी भयंकर असफलता सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः पुनःसगठन के लिये जनता मे उत्साह उत्पन्न कर उसे संगठित कर सकने मे इसकी भयंकर अयोग्यता प्रमाणित हुई है। सामाजिक प्रगति के साथ उदारतावाद डग नही भर सका है। फिर भी इसके मूल सिद्धात अनुसंधान तथा विचार की स्वतंत्रता, भाषण एव विचारविनिमय की स्वतंत्रता अभी भी अपेक्षित है, क्योंकि इनके विना तर्कसंमत विचार तथा कार्य सभव नही हो सकते। (ही०ना०मु०)

उदासी (१) विरक्त, उदासीन, प्रपंचों से ऊपर (उत्) बैठा हुआ (आसीन), त्यागी पुरुष; (२) संन्यासी; (३) नानकशाही साधुओं का एक भेद। उदासी संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि उसका मूल प्रवर्तन ओंकार से हुआ था और उससे ७३वी पीढ़ी में उदासी श्रीचंद जी हुए जिन्होने इसको विशेष रूप से संगठित और सुव्यवस्थित किया। ये गुरु नानकदेव के पुत्र थे और इन्होने अपने सुदीर्घ काल के विरक्त जीवन मे अधिकतर कदाचित् नग्न वेश में ही भ्रमण करते हुए इसका प्रचार किया। उदासी लोग इनकी १६वी पीढ़ी में वनखंडी जी (सन् १७६३–१८६३) का होना वतलाते है जिन्होंने सन् १८२३ ई० में सिंध के अंतर्गत साधुवेला तीर्थ की स्थापना की। तव से वह इनका प्रधान केंद्र बन गया और पीछे सिंध के पाकिस्तान मे पड जाने के कारण वनखडी जी को चौथी पीढ़ी मे वर्तमान साधु गणेशदास जी ने सन् १९४९ मे उसे काशी के भदैनी मुहल्ले मे स्थानातरित कर दिया। संप्रदाय के अनुयायी विशेष कर सिंध और पंजाव मे ही पाए जाते रहे है। उत्तर प्रदेश में इनके प्रमुख स्थान हरद्वार, काशी एवं वृंदावन मे है। इसकी एक उपशाखा का पश्चिमी विहार के अंतर्गत 'भक्तगिरि' नाम से पाया जाना भी कहा जाता है जिसका पूरा विवरण उपलब्ध नही है। उज्जैन मे भी इसके अनुयायियो का एक अखाडा है और एक दूसरे का त्र्यंवक नासिक मे भी होना कहा जाता है किंतु ऐसे केंद्रो मे प्रायः कुंभ के ही समय विशेष जागृति रहा करती है।

उदासी संप्रदाय के साधु सांसारिक बातों की ओर से विशेष रूप मे तटस्थ रहते आए हैं और इनकी भोली भाली एवं सादी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण इन्हे सिख गुरु अमरदास तथा गोविंदसिंह ने जैन धर्म द्वारा प्रभावित और अकर्मण्य तक मान लिया था। परंतु गुरु हरगोविंद के पुत्र वावा गुरांदित्ता ने संप्रदाय के संगठन एवं विकास मे सहयोग दिया और तव से इसका अधिक प्रचार भी हुआ। इसकी चार प्रधान शाखाओ मे (१) फूल साहिववाली वहादुरपुर की शाखा, (२) वावा हसन की आनंदपुर के निकटवर्ती चरनकौल की शाखा, (३) अलमस्त साहब की पुरी नामक नैनीताल की शाखा, तथा (४) गोविंदसाहव की शिकारपुरवाली शाखा प्रसिद्ध हैं और ये एक दूसरी से स्वतंत्र भी जान पड़ती है। विलियम कुक ने इस सप्रदाय को नानकशाही पंथ का नाम देकर उसके मुख्य गुरुद्वारे का देहरा मे होना वतलाया है; फिर उन्होने यह भी कहा है कि पूर्वी भारत के अंतर्गत इसको ३७० गद्दियो का पाया जाना कहा जाता है। संप्रदाय के लोग अधिकतर मालवा, जालंधर, फीरोजपुर, काशी एवं रोहतक में ही पाए जाते हैं और उनमे से बहुत से भ्रमणशील रूप मे ही दीख पड़ते है।

उदासियो के अखाड़ो अथवा संप्रदाय की विविध शाखाओ को भी प्रायः 'धुनी' वा 'धुआँ' का नाम दिया जाता है। इसके अनुयायियो मे यह भी प्रसिद्ध है कि इसके काबुल स्थित किसी केंद्र मे अब भी एक ऐसी धुनी जल रही है जिसे स्वय श्रीचंद्र जी ने प्रज्वलित किया था। उदासी लोग या तो 'नागा' हुआ करते है जिनके नामो के आगे 'दास' वा 'शरण' की उपाधि लगी रहती है या वे 'परमहंस' होते है और उनके नामो के साथ 'आनंद' शब्द जुड़ा रहता है, किंतु इस नियम का पालन कदाचित् सर्वत्र नही दीख पड़ता। नागा लोगों के पहनावे का वस्त्र बहुत कम रहा करता है, वे अपने शरीर पर भस्म का प्रयोग भी अधिक करते हैं तथा बड़े बड़े वाल और 'सेली' रखा करते हैं। जहाँ उनकी श्वेत, लाल वा काली लँगोटी की जगह परमहंसो का पहनावा गैरिक वस्त्रों का रहा करता है और वे अधिक सादे और मुंडितमुड भी रहते है, वहाँ भस्म धारण करना और कभी कभी रुद्राक्ष की माला पहनना भी इन दोनो वर्गों के साधुओ मे पाया जाता है। भस्म वा विभूति के प्रति इस सप्रदाय के अनुयायियो की बड़ी श्रद्धा रहती है और वे इसे प्रायः बड़े यत्न के साथ सुरक्षित भी रखा करते है। दीक्षा के समय गुरु इन्हे नहलाकर भस्म लगा दिया करता है और इन्हे अपना चरणोदक देता है जिसका ये पान कर लेते है। तत्पश्चात् इन्हे कोई नया नाम दिया जाता है और दीक्षामंत्र द्वारा दीक्षित कर दिया जाता है। उदासियों का प्रिय मंत्र "चरण साधु का धो धो पीयो। अरप साधु को अपना जीयो" है। ये, एक दूसरे से भेट होने पर, साधारणतः "ॐ नमो ब्रह्मणे" कहकर अभिवादन करते है। ये लोग सिखो के पूज्य 'आदिग्रंथ' को विशेष महत्व देते है और घटा घड़ियाल वजाकर उसकी आरती किया करते है। इनके यहाँ हिंदुओं के अनेक व्रतो एवं त्योहारो का भी प्रचलन हो गया है, किंतु इनका एक विशिष्ट उत्सव श्रीचंद्र जी की जयंती के रूप मे भी मनाया जाता है।

उदासियों की दार्शनिक विचारधारा दशनामियों से बहुत मिलती जुलती है और वह, इसी कारण, ज्ञानप्रधान भी कही जा सकती है। परंतु दशनामी लोग जहाँ अपने को प्रायः "स्मार्त" मानते है वहाँ उदासी अपने को "श्रौत" कहा करते है। इनकी काशी, वृंदावन एवं हरिद्वार जैसे कुछ स्थानों में पृथक् पाठशालाएँ चलती हैं जहाँ अधिकतर संस्कृत भाषा मे रचित धार्मिक ग्रंथो का अध्यापन होता है। इनकी वृंदावनवाली पाठशाला का एक नाम 'वृंदावन श्रौत मुनि आश्रम' प्रसिद्ध है। यद्यपि दशनामी साधुओ की भाँति ये लोग शिव को अधिक महत्व नही देते, फिर भी ये प्रायः 'त्रिपुंड' धारण करते है और वैसे ही कमंडलु भी रखते है। इनके यहाँ स्त्री उदासी अथवा उदासिनियो की संख्या अत्यंत कम दीख पड़ती है। इस संप्रदाय के अनुयायियो पर समय पाकर अन्य अनेक संप्रदायो का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ चुका है और ये कतिपय सुधारो की ओर भी आकृष्ट होते जान पड़ते है।

'उदासी' नाम के साथ कुछ अन्य संप्रदाय भी मिलते है, जैसे 'उदासी कवीर' आदि, किंतु उनसे इनका कोई प्रत्यक्ष संवंध नही है।

सं०ग्रं०—जी० एस० घुरये : इंडियन साधूज, द पापुलर वुक डिपो, वंवई, १९५३; विलियम कुक : ए ग्लॉसरी ई० भा० भा० ४; परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संतपरंपरा (लीडर प्रेस, प्रयाग, सं० २००८); सीताराम चतुर्वेदी : जयसाधुवेला (साधुवेला आश्रम, २५९, भदैनी, वनारस, वि० २००९)। (प० च०)

उदासीनता मानसिक अस्वस्थताजन्य एक लक्षण। इसमें रोगी अपने अंतर मे अत्यधिक तनाव एव संघर्ष का अनुभव करता है। फलतः उसके मन मे हर विषय, हर वस्तु के प्रति विराग पैदा हो जाता है। किसी भी वस्तु मे न तो उसकी रुचि रह जाती है और न ही किसी कार्य के प्रति उसका उत्साह जगता है। सामान्यतः भावसंवेगो को उद्दीप्त कर सकने की क्षमता रखनेवाली परिस्थितियाँ भी इस रोग के रोगी मे संवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करने मे असमर्थ रहती है। सभी उत्तेजक रोगी के लिये निर्वल सिद्ध हो जाते है। यह असामयिक मनोभ्रंश अथवा मनो-

विदलन (स्किजोफ्रीनिया) का एक प्रमुख लक्षण है जिसमें रोगी आत्मकेंद्रित ही नहीं हो जाता बल्कि बाह्य जगत् से पूर्णतः उदासीन भी रहने लगता है। (कैं० चं० श०)

उदुमालपेट तमिलनाडु राज्य के कोयंबटूर जिले में स्थित, उदुमालपेट नामक ताल्लुके का मुख्य केंद्र है (स्थिति : १०° ३६' उ० अ० और ७७° १५' पू० दे०)। इस ताल्लुके में उदुमालपेट ही एक नगर है; इसके अतिरिक्त ८६ गावँ हैं। यह नगर मैदानों तथा पहाड़ी दोनों क्षेत्रों की सेवा करता है, अतः यहाँ अनाज तथा लकड़ी की प्रसिद्ध मंडियाँ हैं। नगर में कपास का भी व्यापार होता है। यहाँ के निवासी अधिकतर व्यापारी वर्ग के हैं, जिनमें कमाटी, नाटुकोट्टाई, चेट्टी तथा मुसलमान मुख्य हैं। (हृ० हृ० सिं०)

उद्गाता का अर्थ है, उच्च स्वर से गानेवाला। सोमयज्ञों के अवसर पर साम या स्तुति मंत्रों के गाने का कार्य 'उद्गाता' का अपना क्षेत्र है। उसके लिये उपयुक्त मंत्रों का संग्रह 'साम संहिता' में किया गया है। ये ऋचाएँ ऋग्वेद से ही यहाँ संगृहीत की गई है और इन्हीं ऋचाओं के ऊपर साम का गायन किया जाता है। साम गायन की पद्धति बड़ी शास्त्रीय तथा प्राचीन होने से कठिन भी है। साम पाँच अंगों में विभक्त होता है जिनके नाम हैं—(१) प्रस्ताव, (२) उद्गीथ, (३) प्रतिहार, (४) उपद्रव तथा (५) निधन। इनमें उद्गीथ तथा निधन के गायन का कार्य उद्गाता के अधीन होता है और प्रस्ताव तथा प्रतिहार के गाने का काम क्रमशः 'प्रस्तोता' तथा 'प्रतिहर्ता' नामक ऋत्विजों के अधीन रहता है जो उद्गाता के सहायक माने जाते हैं। गान मुख्यतया चार प्रकार के होते हैं—(१) (ग्रामे) गेय गान (=प्रकृति गान या वेय गाय); (२) अरण्य गान; (३) ऊह गान तथा (४) ऊह्य गान। इन समग्र गानों से पूर्ण परिचय रखना उद्गाता के लिये नितांत आवश्यक होता है। (ब० उ०)

उद्दंडपुर विहार प्रांत में वर्तमान विहार नाम का कस्बा जो बख्तियारपुर से राजगिरि जानेवाली रेलवे की छोटी लाइन पर पड़ता है। यह नालंदा से छह–सात मील की दूरी पर है। नालंदा की ही भाँति यहाँ भी बौद्धों का विशाल मठ था जहाँ के विहार में अनेक भिक्षु रहते और बौद्ध दर्शन का मनन करते थे। कुछ लोगों ने इसे भी छोटा मोटा बौद्ध-विद्यालय ही माना है। यहाँ भी प्राचीन टीलों की खोदाई से अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। इस विहार का व्यय बंगाल के पाल राजाओं की दी हुई देवोत्तर संपत्ति से चलता था। कन्नौज के प्रतिहारों ने इसे एक बार पालों से छीन लिया था पर कन्नौज की गद्दी के लिये परस्पर जूझते भोज द्वितीय और महिपाल की अनवधानता से लाभ उठाकर पालनरेश नारायणपाल ने इसे फिर जीत लिया। बख्तियार खिलजी ने नालंदा के बौद्ध विहार का नाश करते समय उद्दंडपुर का भी अंत कर दिया। (ओं० ना० उ०)

उद्दक रामपुत्त गृहत्याग करने के बाद सत्य की खोज में घूमते हुए बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम विख्यात योगी उद्दक रामपुत्त के आश्रम में पहुँचे। उद्दक रामपुत्त रूपावचर भूमि से ऊपर उठ, अपने समकालीन योगी आलार-कालाम की भाँति, अरूपावचर भूमि की समापत्ति प्राप्त कर विहार करते थे। सिद्धार्थ गौतम ने उस योगप्रक्रिया में शीघ्र ही सिद्धि का लाभ कर लिया और उसके ऊपर की बातें जाननी चाहीं। जब उद्दक और कुछ न बता सके तब सिद्धार्थ ने उनका साथ छोड़ दिया। बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम उद्दक रामपुत्त और आलार-कालाम को उपदेश देने का संकल्प किया; किंतु तब वे जीवित न थे। (भि० ज० का०)

उद्दालक उपनिषद् युग के श्रेष्ठ तत्ववेत्ताओं में मूर्धन्य चिंतक। ये गौतम गोत्रीय अरुणि ऋषि के पुत्र थे और इसीलिये 'आरुणि' के नाम से विशेष प्रख्यात हैं। ये महाभारत में धौम्य ऋषि के शिष्य तथा अपनी एकनिष्ठ गुरुसेवा के निमित्त आदर्श शिष्य बतलाए गए हैं (महाभारत, आदिपर्व)। आरुणि के अध्यात्म विचारों का विस्तृत विवेचन छांदोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में रोचक ढंग से किया गया है। तत्ववेत्ताओं के इतिहास में आरुणि का पद याज्ञवल्क्य के ही समकक्ष माना जाता है जो इनके शिष्य होने के अतिरिक्त उपनिषत्कालीन दार्शनिकों में निःसंशय सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विषय में आरुणि की मान्यता है कि निद्रा का मुख्य हेतु 'श्रम' है और निद्रा की दशा में जीव आत्मा के साथ ऐक्य धारण कर लेता है (छांदोग्य ६।८।१)। मृत्युकालीन चेतना के विषय में आरुणि का कथन है कि जब मनुष्य मरता है, तब उसकी वाक् मन में अंतर्लीन हो जाती है; अनंतर मन प्राण में, प्राण तेज में तथा अंत में तेज देवता में अंतर्लीन हो जाता है (छा० ६।१५)। इस सिद्धांत को याज्ञवल्क्य ने यहीं से ग्रहण कर विस्तार से प्रतिपादित किया है। तत्वज्ञान के विषय में आरुणि के सिद्धांत को हम 'प्रत्ययवादी' अद्वैत का नाम दे सकते हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि में अद्वैत ही एकमात्र सत् तथा तथ्य है। आरुणि के सिद्धांत का शंखनाद है तत्वमसि वाक्य जिसे इन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक मनोरंजक दृष्टांतों के द्वारा समझाया तथा प्रमाणित किया। "इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"—आरुणि के अद्वैतवाद का यह महनीय मंत्र है (छा० ६।११, १२)। मूल तत्व 'सत्' रूप है, असद्रूप नहीं, क्योंकि असत् से किसी भी प्रकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह सत् अपने में से पहले अग्नि को, पीछे जल को तथा अंत में पृथ्वी को इसी क्रम से उत्पन्न करता है। सृष्टि का यह 'त्रिवृत्करण' तत्व आरुणि का स्वोपज्ञ सिद्धांत है। विश्व के प्रत्यक द्रव्य में ये तीनों तत्व विद्यमान रहते हैं। सब पदार्थ असत् है। पदार्थों की अपेक्षा तत्वों (पृथ्वी जल, तेज) की सत्यता सर्वथा मान्य है और इन तत्वों की अपेक्षा सत्यतर है वह सत् जो इनका मूल कारण है (छा० ६।३–४)। यह सत् विश्व के समस्त प्रपंचों में अनुस्यूत तथा आधारस्थानीय सूक्ष्म तत्व है (छा० ६।१२)। इसका पूर्ण ज्ञान आचार्य के द्वारा दी गई शिक्षा के द्वारा और श्रद्धा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' = गुरु के द्वारा उपदिष्ट पुरुष ही परम तत्व को जानता है; आरुणि का यह उपदेश गुरुतत्व की आधारशिला है। आत्मा विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उसी प्रकार व्याप्त रहता है, जिस प्रकार उस जल के प्रत्येक कण में लवण व्याप्त रहता है जिसमें वह डाला जाता है (छा० ६।१३)। उद्दालक आरुणि का यह अध्यात्मदर्शन आत्मा की अद्वैतता तथा व्यापकता का पूर्ण परिचायक है।

सं० ग्रं०—आर० डी० रानाडे : कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलॉसफ़ी, पूना, १९२६; राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलॉसफ़ी, भाग १, लंदन। (ब० उ०)

उद्धव पौराणिक परंपरा के अनुसार द्वापरकालीन यदुवंशी उद्धव सत्यक के पुत्र और श्रीकृष्ण के अत्यंत प्रिय सखाओं में थे। बालक उद्धव श्रीकृष्ण की मूर्ति भी बनाकर उसके साथ खेलने में तन्मय हो जाते तथा कलेवा करना तक भूल जाया करते। ये परम सुंदर थे और आकृति एवं वेशभूषादि तक में श्रीकृष्ण से बहुत मिलते जुलते थे। ये प्रायः उनके साथ रहा करते, उनकी धारण की हुई माला पहन लेते तथा उनके छोड़े हुए वस्त्रादि तक ग्रहण कर लेते। इनका एक अन्य नाम देवश्रवा था और इन्होंने बृहस्पति से नीतिशास्त्र की शिक्षा पाई थी। बड़े होने पर इन्हें वृष्णिवंशियों में माननीय परामर्शदाता का स्थान मिला था और ये श्रीकृष्ण के अंतरंग परिकरों में भी गिने जाते थे।

गोकुल से मथुरा चले जाने पर श्रीकृष्ण ने इन्हें नंद, यशोदा एवं ब्रजगोपियों का समाधान करने के लिये भेजा था और ब्रज में आकर इन्होंने इसमें अपना महीनों का समय दिया था। गोपियों के साथ इनकी जो बातचीत हुई उसका प्रसंग लेकर एक विपुल भ्रमर-गीत-साहित्य की रचना हो गई है। जब श्रीकृष्ण द्वारका गए तो वहाँ पर भी उद्धव उनके साथ बराबर रहे और वहाँ पर जब श्रीकृष्ण ने इनसे यदुवंशियों के भावी नाश तथा स्वयं अपने अंत की ओर भी संकेत किया और प्रभास क्षेत्र के लिये चल पड़े तब ये विरहकातर हो उठे और उनके पीछे हो लिए। श्रीकृष्ण ने सरस्वती के तट पर अश्वत्थ के नीचे बैठ इन्हें एकांत में बहुत समझाया और विषम स्थिति के कारण, अधीर न होने का उपदेश दिया। उन्होंने इनसे कहा कि तुम पूर्वजन्म में वसु थे और यज्ञ के समय मेरे लिये तुमने बड़ी आराधना की थी। तुम्हारा वह कार्य पूरा हो चुका और मैं तुम्हें आज विवेकपूर्ण 'भागवत ज्ञान' का मर्म बतला रहा हूँ। श्रीकृष्ण ने इन्हें फिर

ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी, अवधूतोपाख्यान जैसे कई अध्यात्म संबंधी इतिहास सुनाए, योगसाधना के रहस्य बतलाए और कहा कि अब तुम जाकर बदरिकाश्रम में रहो। उद्धव वहाँ से चलकर जब उदासमना हो यमुना के तट पर घूम रहे थे तब इन्हें विदुर मिले। यहाँ पर इन दोनों में फिर एक बार श्रीकृष्ण के संबंध में बातें चलीं और विदुर के चले जाने पर ये प्रेमविह्वल होकर रोने लगे। अंत में उद्धव बदरिकाश्रम चले गए और वहाँ पर तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए उन्होंने वृद्धावस्था में शरीर छोड़ा। उद्धव सरलहृदय, किंतु महात्मा थे। स्वयं श्रीकृष्ण ने इनके विषय में एक बार कहा था— "मेरे इस लोक से चले जाने पर उद्धव ही मेरे ज्ञान की रक्षा कर सकेंगे क्योंकि वे मुझसे गुणों में तनिक भी कम नहीं हैं।" (भाग० ३।४।३०-१)।

सं० ग्रं०—'भाग०' (३।१-४), (१०।४६-७), (११।६-२६); महाभारत, आदिपर्व (२०१-१८) और 'ब्रह्मवैवर्त' (अ० ६१ एवं ६२)। (प० च०)

उद्धार समुद्र पर दुर्घटना के समय लोगों की जान बचाने या माल बचाने को कहते हैं। भूमि पर अग्नि से जान अथवा माल बचाने को भी उद्धार (सैलवेज) कह सकते हैं, परंतु इस संबंध में यह शब्द बहुत प्रचलित नहीं है। समुद्र पर उद्धार के दो विभाग हैं: (१) नागरिक, (२) सैनिक।

नागरिक उद्धार—जान और माल के उद्धार के लिये ब्रिटिश सरकार ब्रिटिश जहाजों से पारितोषिक दिलाती है और इसलिये मामला बहुधा कचहरियों तक पहुँचता है। इंग्लैंड में नाविक कचहरियों (ऐडमिरैल्टी कोर्ट) में ये मामले तय किए जाते हैं। वहाँ की परिभाषा है कि समुद्र की जोखिम से जान या माल बचाना उद्धार है। भूमि पर अग्नि से जान या माल बचाने पर सरकार पारितोषिक नहीं दिलाती, हाँ, मालिक से संविदा (एकरार) हो गया हो तो बात दूसरी है। नियम है कि बचाए गए माल से पहले उद्धार का पारितोषिक देकर ही शेष धन अन्य विषयों पर व्यय किया जा सकता है। जब बचाया गया माल पारितोषिक के लिये पर्याप्त नहीं होता तो ब्रिटिश सरकार मरकैंटाइल मैरीन फंड में अंशत. या पूर्णतया पारितोषिक दिला सकती है। साथ ही यह भी नियम है कि जहाज का जो अधिकारी जान बचाने में सहायता नहीं करता वह दंडनीय है। जो सेवा कर्तव्य (ड्यूटी) के रूप में की जाती है उसके लिये पारितोषिक नहीं मिलता। जहाजों के सभी कर्मचारियों का कर्तव्य है कि यात्रियों और माल को बचाएँ।

पारितोषिक की मात्रा इसपर निर्भर रहती है कि बचाया गया माल कितनी जोखिम में था, उसका मूल्य क्या था, बचानेवाले ने कितनी जोखिम उठाई, कितना परिश्रम किया, कितनी चातुरी अथवा योग्यता की आवश्यकता थी, कितने मूल्य के यंत्रों का उपयोग किया गया, इत्यादि। असावधानी से काम करने पर पारितोषिक अंशत. या पूर्णतया रोक लिया जा सकता है। यदि एक जहाज दूसरे को बचाता है तो बचानेवाले जहाज के मालिकों को पारितोषिक का लगभग तीन चौथाई मिलता है। शेष का लगभग एक तिहाई कप्तान को मिलता है। इसके बाद बचा भाग अधिकारियों और कर्मचारियों में उनकी स्थिति के अनुसार बाँट दिया जाता है। परंतु जहाँ बचानेवाले जहाज को कोई क्षति पहुँचती है वहाँ मालिकों को अधिक मिलता है।

सैनिक उद्धार—युद्धकाल में वैरी से अपने देश के जीते गए जहाज को छीन लाने तथा इसी प्रकार से अन्य जोखिम के कामों के लिये पारितोषिक मिल सकता है, जिसके लिये ब्योरेवार नियम बने हैं। पारितोषिक जहाज के मूल्य के आठवें या छठे भाग तक मिल सकता है।

सं० ग्रं०—टी० जी० कारवर . ट्रीटीज ऑन द लॉ रिलेटिंग टु कैरेज ऑव गुड्स बाइ सी (सातवाँ संस्करण, १९२५)।

उद्भट अलंकार संप्रदाय (संस्कृत) में भामह और दंडी के परवर्ती प्रधान प्रतिनिधि आचार्य। कल्हणकृत राजतरंगिणी के अनुसार ये कश्मीर के शासक जयापीड की विद्वत्परिषद् के सभापति थे और इनका वेतन प्रति दिन एक लक्ष दीनार (स्वर्णमुद्रा) था। इतिहासकारों ने जयापीड का शासनकाल सन् ७७९-८१३ ई० माना है। उद्भट जयापीड के शासनकाल के प्रथम चरण में रखे जा सकते हैं क्योंकि मान्यता है कि जयापीड ने अपने शासन के अंतिम चरण में प्रजा को पर्याप्त उत्पीडित किया था। इससे क्षुब्ध हो ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार कर दिया था। अतएव उद्भट का समय ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी में ही संभव हो सकता है।

उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ अप्राप्य था किंतु डा० बूलर ने इसकी लघुवृत्तियुक्त एक प्रति जैसलमेर में खोज निकाली थी। उक्त ग्रंथ छह वर्गों में विभक्त है, इसकी ७५ कारिकाओं में ४१ अलंकारों का निरूपण है और ९५ पद्यों में उदाहरण हैं जो उद्भट ने स्वरचित 'कुमारसंभव' काव्य से प्रस्तुत किए हैं। उक्त संख्या बावे संस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित संस्करण के अनुसार है जब कि निर्णय सागर प्रेस के संस्करण में ७९ कारिकाओं में लक्षण तथा १०० में उदाहरण हैं। इनके एक अन्य ग्रंथ 'भामह विवरण' के भी उल्लेख प्रतिहारेंदुराजकृत 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की लघुवृत्ति तथा अभिनवगुप्ताचार्य के 'ध्वन्यालोकलोचन' में मिलते हैं।

उद्भट ने अलंकारों का क्रम और उनके वर्ग भामह के काव्यालंकार के अनुरूप रखे हैं और प्राय. संख्या भी तद्वत् दी है। भामह द्वारा निरूपित ३९ अलंकारों में से इन्होंने आशी, उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक और यमक इत्यादि चार अलंकारों को छोड़ दिया है तथा पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, काव्यहेतु, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत और संकर, इन छह नवीन अलंकारों को लिया है। इतना ही नहीं, उक्त छह अलंकारों में पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु तथा दृष्टांत तो सर्वप्रथम उद्भट द्वारा ही आविष्कृत हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती भामह, दंडी आदि आचार्यों में से किसी ने भी इनका उल्लेख नहीं किया है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् और भाविक के अतिरिक्त और भी १२ अलंकारों के लक्षण इन्होंने भामह के अनुसार ही दिए हैं। (कै० च० श०)

उद्यान विज्ञान (हॉर्टिकल्चर) में फल, सब्जी तथा फूल, सभी का उगाना सम्मिलित है। इन पादपों के उगाने की कला के अंतर्गत बहुत सी क्रियाएँ आ जाती हैं, जिनके संबंध में निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत प्रकाश डाला जायगा :

प्रजनन—उद्यानविज्ञान में सबसे महत्व का कार्य है अधिक से अधिक संख्या में मनचाही जातियों के पादप उगाना। उगाने की दो विधियाँ हैं— लैंगिक (सेक्सुअल) और अलैंगिक (असेक्सुअल)।

लैंगिक—बीज द्वारा फूल तथा तरकारी का उत्पादन सबसे साधारण विधि है। यह लैंगिक उत्पादन का उदाहरण है। फलों के पेड़ों में इस विधि से उगाए पौधों में अपने पिता की तुलना में बहुधा कुछ न कुछ परिवर्तन देखने में आता है। इसलिये पादपों की नवीन समुन्नत जातियों का उत्पादन (कुछ गौण विधियों को छोड़कर) लैंगिक विधि द्वारा ही संभव है।

पादपों के अंकुरित होने पर निम्नलिखित का प्रभाव पड़ता है : बीज, पानी, उपलब्ध ऑक्सिजन, ताप और बीज की आयु तथा परिपक्वता।

अंकुरण के सहायक—अधिकांश बीज उचित रीति से बोने पर बड़ी सरलता से अंकुरित होते हैं, किंतु कुछ ऐसी जाति के बीज होते हैं जो बहुत समय में उगते हैं। प्रयोगों में देखा गया है कि एनज़ाइमों के घोलों में बीजों को कई घंटे भिगो रखने पर अधिक प्रतिशत बीज अंकुरित होते हैं। कभी कभी बीज के ऊपर के कठोर अस्थिवत् छिलकों को नरम करने तथा उनके त्वक्छेदन के लिये रासायनिक पदार्थों (क्षीण अम्ल या क्षार) का भी प्रयोग किया जाता है। भड़बेरी (ब्लैकबेरी) या रैस्पबेरी आदि के बीजों के लिये सिरका बहुत लाभ पहुँचाता है। सल्फ्यूरिक अम्ल, ५० प्रतिशत अथवा सांद्र, कभी कभी अमरूद के लिये प्रयोग किया जाता है। दो तीन से लेकर बीस मिनट तक बीज अम्ल में भिगो दिया जाता है। स्वीट पी के बीज को, जो शीघ्र नहीं जमता, अर्धसांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल में ३० मिनट तक रख सकते हैं। यह उपचार बीज के ऊपर के कठोर छिलके को नरम करने के लिये या फटने में सहायता पहुँचाने के लिये किया जाता है। परंतु प्रत्येक दशा में उपचार के बाद बीज को पानी से भली भाँति धो डालना

आवश्यक है। जिन बीजों के छिलके इतने कठोर होते हैं कि साधारण रीतियों का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उनके लिये यांत्रिक सहायता लेनी चाहिए। बहुधा रेतने, कुतरने या छेद करने का भी प्रयोग (जैसे कैंजंती = कैना में) किया जाता है। बोए जाने पर बीज संतोषप्रद रीति से उगे, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह जानना आवश्यक है कि किस बीज को किस समय बोना चाहिए। कुछ बीजों के उगने में बहुत समय की आवश्यकता होती है या वे विशेष ऋतु में उगते हैं और इससे पहले कि वे उगना प्रारंभ करें, लोग बहुधा उन्हें निकम्मा समझ बैठते हैं। इससे बचने के लिये एक ही बार नहीं, अपितु थोड़ा थोड़ा करके किस्तों में बीज बोना चाहिए।

अलैंगिक या वानस्पतिक प्रजनन—पौधा बेचनेवालों (नर्सरीवालों) तथा फलों की खेती करनेवालों के लिये वानस्पतिक विधियों से प्रजनन बहुत उपयोगी सिद्ध होता है, मुख्य रूप से इसलिये कि इन विधियों से वृक्ष सदा वांछित कोटि के ही उपलब्ध होते हैं। इन विधियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

कर्तन—पादप के ही किसी भाग से, जैसे जड़, गाँठ (रिजोम), कंद, पत्तियों या तने से, अँखुए के साथ या बिना अँखुए के ही, नए पादप उगाना कर्तन (कटिंग) लगाना कहलाता है। रोपने पर इन खंडों में से ही जड़ें निकल आती हैं और नए पादप उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक से अधिक पादपों को उगाने की प्रायः यही सबसे सस्ती, शीघ्र और सरल विधि है। टहनी के कर्तन लगाने को माली लोग 'खूँटी गाड़ना' कहते हैं। कुछ लोग इसे 'कलम लगाना' भी कहते हैं, परंतु कलम शब्द का प्रयोग उसी संबंध में उचित है जिसमें एक पादप का अंग दूसरे की जड़ पर चढ़ाया जाता है।

दाबा (लेयरेज) में नए पादप तभी जड़ फेंकते हैं जब वे अपने मूल वृक्ष से संबद्ध रहते हैं। इस विधि द्वारा पादप प्रजनन के तीन प्रकार हैं : (१) शीर्ष दाब (टिप लेयरिंग)—इस प्रकार में किसी टहनी का शीर्ष स्वयं नीचे की ओर झुक जाता है और भूमि तक पहुँचने पर उसमें से जड़ें निकल आती हैं। इसके सबसे सुंदर उदाहरण रैस्पबेरी और लोगनबेरी हैं। (२) सरल दाब—इसके लिये टहनी को झुकाकर उसपर आवश्यकतानुसार मिट्टी डाल देते हैं। इस प्रकार से अनेक जाति के पादप बड़ी सरलता से उगाए जा सकते हैं। कभी कभी डालों को बिना भूमि तक झुकाए ही उनपर किसी जगह एक आध सेर मिट्टी छोप दी जाती है और उसे टाट आदि से लपेटकर रस्सी से बाँध दिया जाता है। इसको 'गुट्टी बाँधना' कहते हैं। मिट्टी को प्रति दिन सींचा जाता है। (३) मिश्र दाब (कंपाउंड लेयरिंग) में पादप की प्रधान डाली को झुकाकर कई स्थानों पर मिट्टी डाल देते हैं, बीच बीच में थोड़ा थोड़ा भाग खुला छोड़ देते हैं। अंगूर की तरह की लताओं के प्रजनन के लिये लोग इसी ढंग को प्रायः अपनाते हैं।

उपरोपण (ग्रैफ्टेज)—इसमें चढ़ कलम (ग्रैफ्टिंग), भेट कलम (इनार्चिंग) और चश्मा (बडिंग) तीनों संमिलित हैं। माली लोग चढ़ कलम और भेट कलम दोनों को साटा कहते हैं। इन लोगों में चश्मा के लिये चश्मा शब्द ही प्रचलित है। चश्मा शब्द फारसी चश्म से निकला है, जिसका अर्थ आँख है। इन तीनों रीतियों में एक पौधे का कोई अंग दूसरे पौधे की जड़ पर उगता है। पहले को उपरोपिका (सायन) कहते हैं; दूसरे को मूल वृंत (रूट स्टाक)। उपरोपण में प्रयुक्त दोनों पौधों को स्वस्थ होना चाहिए। कलम की विधि केवल ऐसे पादपों के लिये उपयुक्त होती है जिनमें ऊपरी छिलकेवाली पर्त और भीतरी काठ के बीच एक स्पष्ट एधास्तर (कैंबियम लेयर) होता है, क्योंकि यह विधि उपरोपिका और मूल वृंत के एधास्तरों के अभिन्न संयोग पर निर्भर है। कलम लगाने का कार्य वैसे तो किसी महीने में किया जा सकता है, फिर भी यदि ऋतु अनुकूल हो और साथ ही अन्य आवश्यक परिस्थितियाँ भी अनुकूल हों, तो अधिक सफलता मिलने की संभावना रहती है। यह आवश्यक है कि जुड़नेवाले अंग चिपककर बैठें। उपरोपिका का एधास्तर मूल वृंत के एधास्तर को पूर्ण रूप से स्पर्श करे। वसंत ऋतु के प्रारंभ में यह स्तर अधिकतम सक्रिय हो जाता है, इस ऋतु में उसके अँखुए बढ़ने लगते हैं और किशलय (नए पत्ते) प्रस्फुटित होते हैं। जिन देशों में गर्मी के बाद पावस (मानसून) से पानी बरसता है वहाँ प्रायः गर्मी की शुष्क ऋतु के बाद बरसात आते ही क्रियाशीलता का द्वितीय काल आता है। इन दोनों ऋतुओं में क्षत सर्वाधिक शीघ्र पूरता है तथा मूल वृंत एवं उपरोपिका का संयोग सर्वाधिक निश्चित होता है। पतझड़वाले पादपों में कलम उस समय लगाई जाती है जब वे सुप्तावस्था में होते हैं।

कलम लगाने की विधियाँ

१. शिरोबंधन (स्प्लाइस या ह्विप ग्रैफ्टिंग)—यह कलम लगाने की सबसे सरल विधि है। इस विधि में उपरोपिका तथा मूलवृंत के लिये एक ही व्यास के तने चुने जाते हैं (प्रायः $\frac{1}{4}$ इंच से $\frac{1}{2}$ इंच तक के)। फिर दोनों को एक ही प्रकार से तिरछा काट दिया जाता है (चित्र देखें)। कटान की
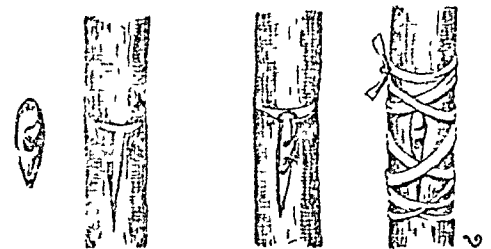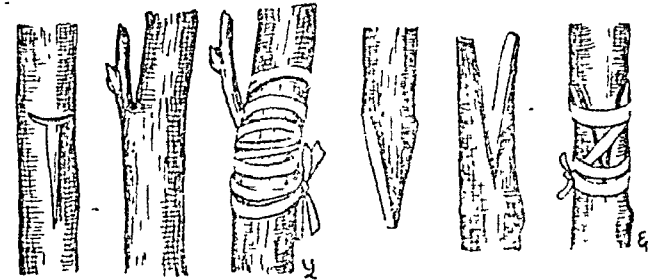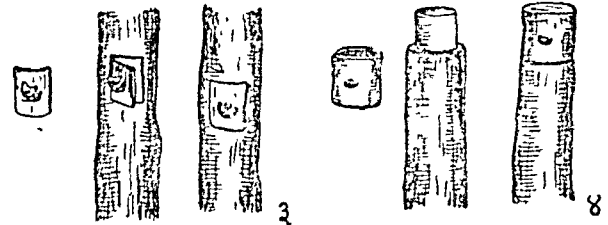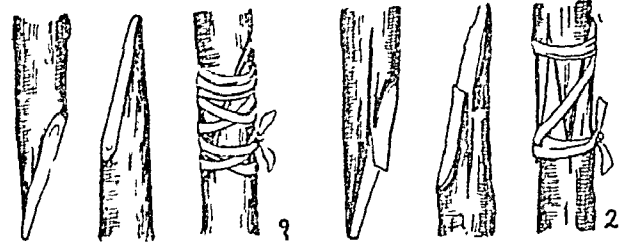
उपरोपण और अक्षिबंधन

१. शिरोबंधन, २. शिर तथा जिह्वाबंधन; ३. पैवंद; ४. अँगूठीनुमा चश्मा; ५. उपरोपिका बंधन; ६. काठी कलम; ७. साधारण चश्मा।

लंबाई लगभग $1\frac{1}{2}$ इंच रहती है। फिर दोनों को दृढ़ता से बाँधकर ऊपर से मोम चढ़ा दिया जाता है। बाँधने के लिये माली लोग केले के पेड़ के तने के छिलके से $\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी पट्टी चीरकर काम में लाते हैं, परंतु कच्चे (बिना बटे) सूत से भी काम चल सकता है।

२. शिर तथा जिह्वाबंधन (ह्विप और टंग ग्रैफ्टिंग)—ऊपर की विधि से ही प्रारंभ होता है किंतु तिरछा काटने के बाद उपरोपिका और मूल वृंत दोनों को किनारे से आध इंच हटाकर डेढ़ इंच तक चीर दिया जाता है। तब दोनों को एक दूसरे में इस प्रकार घुमेड़ दिया जाता है कि एक की जिह्वा दूसरे की चीर में घुस जाय (चित्र देखें)। ये दोनों विधियाँ जड़ों की कलम बाँधने में प्रयुक्त होती है, इस रीति में बीज से उगाए पौधे की जड़ को या जड़ के एक भाग को मूल वृंत की तरह प्रयुक्त किया जाता है।

३. काठी कलम (सैडल ग्रैफ्टिंग)—कलम लगाने की एक विधि काठी कलम है जिसका प्रयोग कभी कभी किया जाता है, विशेषकर ऐसे वृक्षों के लिये जिनके तंतु (टिशू) स्थूल और मृदुल होते हैं, उदाहरणार्थ पपीते का वृक्ष। इसमें मूल वृंत का सिरा दोनों ओर से छील दिया जाता है, जिससे वह पच्चड़ (वेज) के सदृश हो जाता है, और उसी के अनुसार उपरोपिका में गड्ढा काट देते हैं जिसमें वह भाग मूल वृंत के सिर पर कसकर बैठ सके।

४. बगली कलम (साइड ग्रैफ्टिंग)—ऐसी कलम मूल वृंत के सिरे को बिना काटे ही बाँधी जाती है। मूल वृंत उपरोपिका की अपेक्षा बहुत बड़ा हो सकता है। इसमें उपरोपिका के निचले भाग को पच्चड़ के आकार में छीलते हैं, एक ओर को छिलाई दूसरी ओर की अपेक्षा कुछ अधिक दूर तक की जाती है। फिर मूल वृंत की बगल में २० अंश का कोण बनाते हुए एक चीरा लगाया जाता है जो इतना गहरा होता है कि उपरोपिका का पच्चड़ उसमें घुस सके।

चश्मा—चश्मा बाँधने का साधारण रूप ढाल या टी बडिंग है। टी बडिंग नाम इसलिये पड़ा है कि छिलका अंग्रेजी अक्षर टी के आकार में चीरा जाता है। यह रीति चकोतरा या उसी तरह के अन्य फलों के चश्मे बाँधने के प्रयोग में आती है। फूलों में गुलाब के साथ ऐसी ही क्रिया की जाती है। उपरोपिका की लकड़ी परिपक्व तथा वर्तुलाकार होनी चाहिए, पर पुरानी नहीं। मूल वृंत की छाल में एक ऊर्ध्वाधर चीर लगा दी जाती है, जो १ इंच से १॥ इंच तक लंबी होती है। केवल छाल ही कटे, लकड़ी नहीं। फिर इस चीर के सिरे पर आधे इंच की एक क्षैतिज (बेड़ी) चीर लगाई जाती है। तदनंतर चाकू के फल द्वारा उपरोपिका की छाल में से १ इंच या १॥ इंच लंबा ढाल के आकार का टुकड़ा निकाल लेते हैं जिसके बीच में कलिका (बड) रहती है। यह टुकड़ा कलिका से थोड़ा ही अधिक चौड़ा रखा जाता है। अब मूल वृंत के छिलके के नीचे, टी आकार की चीर में, कलिका को बैठाकर दृढ़ता से बाँध दिया जाता है जिससे संधि में हवा या पानी न घुस सके। यदि दो सप्ताह तक अखुआ हरा रह जाता है तो यह मान लिया जा सकता है कि अब कलिका और मूल वृंत के जुड़ जाने की संभावना है।

अँगूठीनुमा चश्मा (रिंग बडिंग)—बेर (जूजूब) के साथ इस विधि का प्रयोग विशेष रूप से होता है। उपरोपिका की लकड़ी पर से पुष्ट कलिका सहित $\frac{1}{2}$ इंच या $\frac{3}{4}$ इंच चौड़ा छल्ला लकड़ी से कुछ ढीला करके एक ओर सरकाकर उतार लिया जाता है। फिर मुख्य पादप का सिरा काटकर थोड़ी दूर का छिलका उखाड़ देते हैं। अब कलिकावाले छल्ले को धीरे से मूल वृंत की लकड़ी पर इस प्रकार सरका देते हैं कि उसका सिरा मूल वृंत के छिलके से चारों ओर सटकर बैठ जाय।

पैवंद (पैच बडिंग)—पैवंद ढालनुमा चश्मे की ही भाँति लगाई जाती है, अंतर केवल इतना होता है कि इसमें छिलके का वह भाग, जिसमें कलिका रहती है, चौकोर काटा जाता है और मूल वृंत के छिलके से ठीक इसी के आकार का एक टुकड़ा निकाल दिया जाता है। फिर रिक्त स्थान पर कलिकावाला टुकड़ा बड़ी सावधानी से बाँध दिया जाता है।

फोर्कर्ट की विधि—यह विधि पैवंद लगाने की ही तरह है। केवल इस विधि में पैवंद लगभग एक इंच लंबी और उसकी तिहाई चौड़ी होती है, और मूल वृंत का छिलका कुछ दूर तक इसपर चढ़ा दिया जाता है।

विभाजन—इस विधि के अंतर्गत वे रीतियाँ है जिनमें पैतृक पादप के एक अंग को काटकर अलग लगाया जाता है, जो आगे चलकर एक पूर्ण पादप के रूप में पनप जाता है। इसका प्रयोग कंदवाले पादपों के लिये होता है, जैसे केंजनी (कैना) की जड़वाली गाँठें (रिजोम), केले की जड़ से निकले पौधे, लिली के कंद (बल्ब), इत्यादि।

भेंट कलम (इनआर्चिंग)—इस विधि को माली लोग गाँटा कहते हैं। प्रायः सभी कलमी आम इसी प्रकार लगाए जाते हैं। अमरूद, नारंगी तथा इसी तरह के अन्य फलों की कलमें भी ऐसे ही लगाई जाती हैं। इसमें एक अच्छे वृक्ष से उपरोपिका ली जाती है और उसे बीजू (बीज से उत्पन्न) पौधे पर लगा दिया जाता है। किंतु इस विधि में डालों के संयुक्त होने की अवस्था तक उपरोपिका को पितृवृक्ष के सहारे रहना पड़ता है। इस विधि में बीजू पादप को चुने हुए अच्छे वृक्ष के पास इस प्रकार रख देते हैं कि बीजू पादप की टहनी अच्छे वृक्ष में से किसी उतनी ही मोटी टहनी से सरलता से बाँधी जा सके। इसके लिये पहले मूल वृक्ष की टहनी में से एक तरफ से १॥ या २ इंच लंबा परत छीलकर निकाल दिया जाता है। साथ में लकड़ी भी कट जाय, परंतु व्यास की एक तिहाई से अधिक गहराई तक न काटी जाय। यह काम खूब तेज छुरी से करना चाहिए। उपरोपिका की टहनी को भी उसी प्रकार छीलना चाहिए। उद्देश्य यह है कि दोनों टहनियों को सटाने पर दोनों छीले भाग पूरी लंबाई तक ठीक एक के ऊपर एक पड़ें, छिलका छिलके पर, काठ काठ पर। तब दोनों को बड़ी सावधानी से कसकर बाँध दिया जाता है और उनको बिना हिलाए डुलाए दो तीन महीने तक छोड़ दिया जाता है। इतने समय तक बीजू पेड़ की (जो बहुधा गमले में रहता है) वैसी ही सेवा की जाती है जैसी इसके स्वतंत्र रहने पर की जाती। यह खर्चीली विधि है और इसका उपयोग तभी करना चाहिए जब अन्य विधियों से काम न चले।

उपयुक्त भूमि का चुनाव—घरेलू उद्यान के लिये तो मकान के पास की भूमि ही उद्यानभूमि हो सकती है। साधारणतः फूलों के उद्यान और हरियाली (लॉन) को सामने रखा जाता है, जहाँ वे सबको दिखाई पड़ें, और फल तथा तरकारी के उद्यानों को बगल में या पीछे की ओर रखा जाता है।

व्यापारिक उत्पादन के लिये भूमि का चुनाव कई बातों पर निर्भर है। १. मिट्टी—अधिकांश फसलों के लिये दोरसी मिट्टी ही उपयुक्त मानी जाती है। जिस मिट्टी में चिकनी मिट्टी (क्ले) और बालू तथा सड़ा घास पात रहे उसे दोरसी मिट्टी (लोम) कहते हैं। फलों के लिये पानी की निकासी और दोरसी मिट्टी की पर्याप्त गहराई, दोनों बहुत आवश्यक हैं। ऐसी मिट्टी कम से कम छह फुट की गहराई तक रहे। २. सिंचाई—फल, तरकारी आदि की अधिकांश फसलों को खूब पानी चाहिए। यदि वर्षा प्रायः हर महीने में होती हो तो बात दूसरी है, अन्यथा सिंचाई की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिये उपयुक्त भूमि का सस्ते तथा प्रचुर पानी के पास होना नितांत आवश्यक है। ३. बाजार—उपज को खपाने के लिये उपयुक्त बाजार का पास होना भी अत्यावश्यक है, अन्यथा फसल का चुनाव बड़ी सावधानी से करना पड़ेगा, जिसमें दूर तक भेजने पर भी वे खराब न हों और घाटा न पड़े। ४. परिवहन के लिये कम से कम दो विभिन्न साधनों की सुविधा होनी चाहिए।

रोपण योजना—खेत में तरकारियाँ साधारणतः सीधी पंक्तियों में रोपी जाती हैं। फूल अनियमित या नियमित (अर्थात् ज्यामितीय आकार की) क्यारियों में, या दीवारों की जड़ के पास रोपे जाते हैं। प्रत्येक प्रकार के पादप के लिये अन्य पादपों से समुचित दूरी आवश्यक है, क्योंकि बहुत पास पास लगाने पर वे स्वस्थ नहीं रह पाते। फलों के पादपरोपण में वस्तुतः प्रति एकड़ वृक्षों की एक निश्चित संख्या होती है जिसमें महत्तम लाभ प्राप्त होता है। इसके लिये **फलों की खेती** शीर्षक लेख देखें।

पौधों के बीच दूरी—वार्षिक फूलों के लिये उनकी परस्पर दूरी ६ से १२ इंच तक होती है, झाड़ों के लिये दूरी उनकी बाढ़ पर निर्भर है। तरकारियों में मूली, गाजर जैसी फसल के लिये एक पादप से दूसरे पादप की दूरी ६ इंच तथा पंक्तियों की परस्पर दूरी ६ से १२ इंच तक की होनी चाहिए। मिर्चा जैसे छोटे पादप के लिये १ से २ फुट की दूरी दोनों दिशाओं में चाहिए। कुछ बड़े पौधों के लिये, जैसे टमाटर, बैंगन आदि, ३ फुट की दूरी चाहिए और लौकी, कद्दू तथा ककड़ी जैसी लताओं के लिये दोनों दिशाओं में ५ से १० फुट का अंतर होना चाहिए।

छँटाई (प्रूनिंग)—इसके अंतर्गत लता तथा टहनियों को आश्रय देने की रीति और उनकी काट छाँट दोनों ही बातें आती हैं। पहली बात के सहारे पादपों को इच्छानुसार रूप दिया जा सकता है। आलंकारिक पादपों के लिये छँटाई करनेवाले की इच्छा के अनुसार शंक्वाकार (गावदुम), छत्राकार (छतरीनुमा) आदि रूप दिया जा सकता है और कभी कभी तो उन्हें हाथी, घोड़े आदि का रूप भी दे दिया जाता है, परंतु फलों के वृक्षों को साधारणतः कलश या पुष्पपात्र का रूप दिया जाता है और केंद्रीय भाग को घना नहीं होने दिया जाता। छँटाई का उद्देश्य यह होता है कि पादप के प्रायः अनावश्यक भाग निकाल दिए जायँ जिससे बचा हुआ भाग अधिक उत्पादन कर सके या अधिक सुंदर, पुष्ट और स्वस्थ हो जाय। कुछ फूलों में, जैसे गुलाब में, जड़ और टहनियों की छँटाई इसलिये की जाती है कि अधिक फूल लगें। कुछ में पुरानी लकड़ी इसलिये छाँट दी जाती है कि ऐसी नई टहनियाँ निकलें जिनपर फूल लगते हैं। छँटाई में दुर्बल, रोगग्रस्त और घनी टहनियों को छाँटकर निकाल दिया जाता है।

कर्षण—कर्षण (कल्टिवेशन) शब्द का प्रयोग यहाँ पर दो भिन्न कर्मों के लिये किया गया है: एक तो उस छिछली और बार बार की जानेवाली गोड़ाई या खुरपियाने के लिये जो घास पात मारने के उद्देश्य से की जाती है, और दूसरे उस गहरी जोताई के लिये जो प्रति वर्ष इसलिये की जाती है कि भूमि के नीचे घास पात तथा जड़ें आदि दब जायँ। तरकारी और फूल की खेती में साधारणतः जोताई की बड़ी आवश्यकता रहती है। भारत की अधिकांश जगहों में फलों के उद्यान में भूमि पर घास उगना वांछनीय नहीं है और इसलिये थोड़ी बहुत गोड़ाई आवश्यक हो जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गोड़ाई या खुरपियाने का प्रधान उद्देश्य अवांछित घास पात का निर्मूलन ही होता है। अब चूँकि कर्षण का प्रथम उद्देश्य अनावश्यक घास पात का निर्मूलन है, इसलिये यह तभी करना चाहिए जब वे छोटे हों और उन्होंने अपनी जड़ें गहरी न जमा ली हों। यह कर्षण छिछला होना चाहिए ताकि तरकारी, फूल या फलों की जड़ों को हानि न पहुँचे। शुष्क ऋतु में प्रत्येक सिंचाई के बाद एक बार हलका कर्षण और निराना (वीडिंग) अच्छा है। इसके साथ ही फलों की उद्यानभूमि को, कम से कम गर्मी में और फिर एक बार बरसात में, पलटनेवाले हल से अवश्य जोत देना चाहिए। जोताई किस समय की जाय, यह भी कुछ महत्वपूर्ण है। यदि अधिक गीली भूमि पर जोताई की जाय तो अवश्य ही इससे भूमि को हानि पहुँच सकती है। हलकी (बालुकामय) मिट्टी की अपेक्षा भारी (चिकनी) मिट्टी में ऐसी हानि अधिक होती है। साधारणतः जोताई वही अच्छी होती है जो पर्याप्त सूखी भूमि पर की जाय, परंतु भूमि इतनी सूखी भी न रहे कि बड़े बड़े चिप्पड़ उखड़ने लगें। फलों के उद्यान और तरकारी के खेतों में बिना जोते ही विशेष रासायनिक पदार्थों के छिड़काव से घास पात मार डालना भी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

अंतर्कृषि—यदि पादपों की परस्पर दूरी ठीक है तो फलों के नए उद्यान में बहुत सी भूमि ऐसी पड़ी रहेगी जो वर्षों तक फलवाले वृक्षों के काम में न आएगी। इस भूमि में शीघ्र उत्पन्न होनेवाले फल, जैसे पपीता, या कोई तरकारी पैदा की जा सकती है।

सिंचाई—भिन्न भिन्न प्रकार के पादपों को इतनी विभिन्न मात्राओं में पानी की आवश्यकता होती है कि उनके लिये कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता। कितना पानी दिया जाय और कब दिया जाय, यह इसपर निर्भर है कि कौन सा पौधा है और ऋतु क्या है। गमले में लगे पौधों को सूखी ऋतु में प्रति दिन पानी देना आवश्यक है। सभी पादपों के लिये भूमि को निरंतर नम रहना चाहिए जिससे उनकी बाढ़ न रुके। फलों के भी समुचित विकास के लिये निरंतर पानी की आवश्यकता रहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भूमि में नमी की मात्रा इतनी कम कभी न हो कि पौधे मुरझा जायँ और फिर पनप न सकें। अच्छी सिंचाई वही है जिसमें पानी कम से कम मात्रा में खराब जाय। यह खराबी कई कारणों से हो सकती है: ऊपरी सतह पर से पानी के बह जाने से, अनावश्यक गहराई तक घुस जाने से, ऊपरी सतह से भाप बनकर उड़ जाने से तथा घासपात द्वारा आवश्यक पानी खिंच जाने से। पंक्तियों में लगी हुई तरकारियों को बगल की नालियों द्वारा सींचना सरल है। छोटे वृक्ष थाला बनाकर सींचे जा सकते हैं। थाले इस प्रकार आयोजित हों कि पादपों के मूल तक की भूमि सिंच जाय। जैसे जैसे वृक्ष बढ़ते जायँ थालों के वृत्त को बढ़ाते जाना चाहिए। बड़े से बड़े वृक्षों की सिंचाई के लिये नालियों की पद्धति ही कुछ परिवर्तित रूप में उपयोगी होती है।

बुद्धिमत्तापूर्ण सिंचाई के लिये वृक्षों तथा भूमि की स्थिति पर ध्यान रखना परम आवश्यक है। विशेष यंत्रों से, जैसे प्रसारमापी (टेंसिओमीटर) तथा जिप्सम परिचालक इष्टिकाओं (जिप्सम कंडक्टैंस ब्लॉक) को भूमि के भीतर रखकर, भूमि की आर्द्रता नापी जा सकती है। भूमि की नमी जानने के लिये पेंचदार बर्मा (ऑगर) का भी उपयोग हो सकता है। यदि खेत में घास पात उग रहे हों तो उनकी दशा से भी भूमि की नमी का अनुमान किया जा सकता है।

खाद—पादपों को उचित आहार मिलना सबसे महत्व की बात है। फल और तरकारी अन्य फसलों की अपेक्षा भूमि से अधिक मात्रा में आहार ग्रहण करते हैं। फलवाले वृक्ष तथा तरकारी के पादपों को अन्य पादपों के सदृश ही अपनी वृद्धि के लिये कई प्रकार के आहार अवयवों की आवश्यकता होती है जो साधारणतः पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहते हैं। परंतु कोई अवयव पादप को कितना मिल सकेगा यह कई बातों पर निर्भर है, जैसे वह अवयव मिट्टी में किस खनिज के रूप में विद्यमान है, मिट्टी का कितना अंश कलिल (कलायड) के रूप में है, मिट्टी में आर्द्रता कितनी है और उसकी अम्लता (पी एच) कितनी है। अधिकांश फसलों के लिये भूमि में नाइट्रोजन, फ़ास्फ़ोरस तथा पोटैसियम डालना उपयोगी पाया गया है, क्योंकि ये तत्व विभिन्न फसलों द्वारा न्यूनाधिक मात्रा में निकल जाते हैं। इसलिये यह देखना आवश्यक है कि भूमि के इन तत्वों का संतुलन पौधों की आवश्यकता के अनुसार ही रहे। किसी एक तत्व के बहुत अधिक मात्रा में डालने से दूसरे तत्वों में कमी या असंतुलन उत्पन्न हो सकता है, जिससे उपज में कमी आ सकती है।

नाइट्रोजन—भारतीय भूमि के लिये खाद के सबसे महत्वपूर्ण अंग नाइट्रोजन तथा वानस्पतिक पदार्थ हैं। यह स्मरण रहे कि भूमि भूमि में अंतर होता है; इसलिये इस संबंध में कोई एक व्यापक नुसखा नहीं बताया जा सकता जिसका प्रयोग सर्वत्र किया जा सके। नाइट्रोजन देनेवाली कुछ वस्तुएँ ये हैं:—(क) जीवजनित (ऑर्गैनिक) स्रोत: गोबर, लीद, मूत्र, कूड़ा कर्कट आदि की खाद; खली तथा हरी फसलें जो खाद के रूप में काम में आ सकती हैं, जैसे सनई, तिनपतिया (क्लोवर) मूँग, ढेंचा आदि। (ख) अजीवजनित स्रोत: यूरिआ, जिसमें ४० प्रतिशत नाइट्रोजन होता है, अमोनियम सल्फेट (२० प्रतिशत नाइट्रोजन), अमोनियम नाइट्रेट (३५ प्रतिशत नाइट्रोजन), कैल्सिअम नाइट्रेट (१५ प्रतिशत नाइट्रोजन) तथा सोडियम नाइट्रेट (१६ प्रतिशत नाइट्रोजन)। साधारणतः भूमि में प्रति एकड़ ५० से १२ पाउंड तक नाइट्रोजन संतोषजनक होने की आशा की जा सकती है।

फ़ास्फ़ोरस—यह संभव है कि फ़ास्फ़ोरस भूमि में पर्याप्त मात्रा में रहे, परंतु पादपों को केवल धीरे धीरे प्राप्त हो। देखा गया है कि कभी कभी जहाँ अन्य फसलें बहुत ही निकम्मी होती थीं, वहाँ फलों का उद्यान भूमि में बिना ऊपर से फास्फ़ोरस पदार्थ डाले, बहुत अच्छी तरह फूलता फलता है, संभवतः इसलिये कि फल के वृक्षों को फ़ास्फ़ोरस की आवश्यकता धीरे धीरे ही पड़ती है। खादों में तथा सभी प्रकार के जीवजनित पदार्थों में कुछ न कुछ फ़ास्फ़ोरस रहता है। परंतु फ़ास्फ़ोरसप्रद विशेष वस्तुएँ ये हैं—अस्थियों का चूर्ण (जिसमें २० से २५ प्रतिशत फ़ास्फ़ोरस पेंटाक्साइड रहता है), बेसिक स्लैग (१५ से २० प्रतिशत फ़ास्फ़ोरस पेंटाक्साइड) और सुपर फ़ास्फेट जिसका प्रयोग बहुतायत से होता है। इसमें १६ से ४० प्रतिशत फ़ास्फ़ोरस पेंटाक्साइड रहता है। उन मिट्टियों में, जो फ़ास्फ़ोरस को स्थिर (फ़िक्स) कर लेती हैं, पहली बार इतना फ़ास्फ़ोरसमय पदार्थ डालना चाहिए कि स्थिर करने पर भी पौधों के लिये कुछ फ़ास्फ़ोरस बच रहे, परंतु जो मिट्टियाँ फ़ास्फ़ोरस को स्थिर नहीं करतीं उनमें अधिक मात्रा में फ़ास्फ़ोरसमय पदार्थ नहीं डालना चाहिए, अन्यथा संतुलन बिगड़ जायगा और अन्य अवयव कम पड़ जायँगे।

पोटैसिअम—जिस भूमि में सुलभ पोटैसिअम की मात्रा बहुत ही कम होती है उसमें पोटैसिअम देने पर दर्शनीय अंतर पड़ता है, जो उपज की वृद्धि से स्पष्ट हो जाता है। पोटैसिअम सल्फेट तथा पोटैसिअम क्लाराइड ही साधारणतः खाद के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनमें से प्रत्येक में लगभग ५० प्रतिशत पोटैसिअम आक्साइड होता है। पोटैसिअम नाइट्रेट में ४४ प्रतिशत पोटैसिअम आक्साइड होता है, साथ में १३ प्रतिशत नाइट्रोजन भी रहता है। जीवजनित खादों में भी ५० प्रतिशत या अधिक पोटैसिअम ऑक्साइड हो सकता है। (वि० डी०)

उद्योग में आकस्मिक दुर्घटनाएँ

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप आधुनिक काल में विशालकाय मशीनों और यंत्रों का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है। मशीनों की गति का मनुष्य सामना नहीं कर सकता। तेज दौड़ते हुए पहिए, भीमकाय भट्टियाँ और उनमें पिघलाए जानेवाले गर्म द्रव, भारी क्रेनें, और ऐसी ही अन्य कई चीजों से सुविकसित औद्योगिक केंद्र संचालित होते है। कहीं भी थोड़ी सी भूल चूक से, अथवा मशीनों के एकाएक खराब हो जाने से, पुर्जो के टूट जाने, अथवा विस्फोटक पदार्थो में आग लग जाने आदि से कई ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाएँ घट जाती है जिनका पहले से अनुमान भी नहीं किया जा सकता। ऐसी उद्योग संबंधी अप्रत्याशित और आकस्मिक घटनाएँ, जिनसे कार्यकर्ताओं को शारीरिक हानि पहुँचे और वे स्थायी या अस्थायी काल के लिये अयोग्य हो जायँ, अथवा मर जायँ, औद्योगिक दुर्घटनाएँ कहलाती हैं। घरेलू नौकरों को दुर्घटनाएँ और खेत पर काम करते समय लगनेवाली चोटों या होनेवाली शारीरिक हानियों को औद्योगिक दुर्घटना में संमिलित नहीं किया जाता। जब कोई घटना लाभ के लिये किया जानेवाला काम करते समय घटती है तभी वह औद्योगिक दुर्घटना की श्रेणी में आती है।

शारीरिक हानि को उसकी गंभीरता के आधार पर पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है: (१) मृत्यु, (२) स्थायी पूर्ण अयोग्यताएँ, यथा दोनों आँखों से अंधा हो जाना, दोनों हाथों अथवा पैरों का टूट जाना, आदि; (३) स्थायी आंशिक अयोग्यताएँ, यथा एक आँख या एक हाथ या एक पैर का खराब हो जाना; (४) अस्थायी पूर्ण अयोग्यताएँ; (५) अस्थायी अयोग्यताएँ, जो प्राथमिक उपचार अथवा कुछ दिनों के डाक्टरी इलाज से ठीक होने योग्य हों।

बड़े बड़े उद्योगों में सांख्यिकी (स्टैटिस्टिक्स) द्वारा यह अनुमान लगाया जाता है कि किसी भी दुर्घटना द्वारा उस उद्योग को समय की दृष्टि से कितनी हानि हुई है। इस प्रकार समय और मूल्य का संबंध जोड़कर उद्योग को होनेवाली संपूर्ण आर्थिक हानि आँक ली जाती है। मृत्यु के कारण भी उद्योग को समय की दृष्टि से पर्याप्त हानि होती है, क्योंकि उस व्यक्ति की सेवाएँ बाद में कभी भी प्राप्त नहीं हो सकतीं। उसके स्थान पर किसी नए व्यक्ति को रखना पड़ता है जिसे उस स्थान पर ठीक से कार्य करने में कुछ समय लग ही जाता है। इसी प्रकार स्थायी रूप से अयोग्य हुए व्यक्तियों के कारण भी समय नष्ट होता है। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी अपना काम छोड़कर उनकी सेवा शुश्रूषा के लिये अथवा मशीनों के सुधार के लिये समय देते है, जो किसी भी प्रकार उत्पादनवृद्धि में सहायक नहीं होता। कभी कभी उनकी मानसिक स्थिति भी स्थिर नहीं रह पाती और इसलिये भी उनकी कार्यक्षमता का ह्रास होने लगता है। इन सबका परिणाम उत्पाद्य वस्तुओं की मात्रा में कमी ही होता है और इसलिये समय की हानि को मूल्य के साथ जोड़ना उचित हो जाता है।

दुर्घटना से होनेवाली आर्थिक हानि में इलाज के लिये होनेवाला व्यय और बीमे का व्यय भी जोड़ लिया जाता है। १९५३ में अमरीका में लगभग ३ अरब डालर का व्यय इन औद्योगिक दुर्घटनाओं के कारण हुआ, जो प्रत्येक श्रमिक पर समान रूप से वितरित करने पर औसतन ४५ डालर होता है।

दुर्घटनाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ आधारभूत कसौटियाँ स्थिर की जायँ। "अमरीकन स्टैंडर्ड्स ऐसोसिएशन" ने अपने प्रतिमान ज़ेड १६ं१ द्वारा दो प्रकार की शारीरिक-हानि-दर-मापन का माध्यम सुझाया है। ये हैं: (१) किसी निश्चित अवधि में दुर्घटनाओं की आवृत्ति, और (२) दुर्घटना की गंभीरता। प्रथम प्रकार की गणना के लिये १०,००,००० काम करने के घंटों की अवधि में घटनेवाली दुर्घटनाओं को लिया जाता है। दूसरी प्रकार की गणना द्वारा इतने ही घंटों में हुई कुल हानि का अनुमान लगाया जाता है। यह हानि समयहानि के माध्यम से आँकी जाती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आए है।

उद्योगों में दुर्घटनाओं को कम करने के लिये प्रत्येक दुर्घटना का विश्लेषण किया जाता है। दुर्घटना के कारणों की जानकारी होने पर भविष्य में उन कारणों को न पनपने देने की चेष्टाएँ की जाती हैं। इस दिशा में सतर्कता और सावधानी बरती जाती है। इन कारणों और कारकों में निम्नलिखित मुख्य हैं:

१. दुर्घटना किस चीज से हुई, अर्थात् दुर्घटना का माध्यम (एजेंसी); २. मशीन या औजार का भागविशेष, जो दुर्घटना के लिये उत्तरदायी हो; ३. दुर्घटनास्थल, वातावरण एवं मशीन की स्थिति; ४. कार्यकर्ता ने सावधानी एवं सतर्कता के नियमों का पालन किया या नहीं; ५. दुर्घटना के लिये स्वयं दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति का दायित्व; ६. दुर्घटना का प्रकार (किस प्रकार हानि पहुँची)।

इनके अतिरिक्त दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति पुरुष है अथवा स्त्री, उसके कार्य की स्थिति, उसका मानसिक संतुलन आदि कारण भी विश्लेषित किए जाते हैं।

दुर्घटनाओं से होनेवाली मानवहानि, मृत्यु अथवा स्थायी अस्थायी अयोग्यताओं पर जितनी सहानुभूति के साथ २०वीं शती के प्रारंभ से विचार किया जाने लगा है, उतना पहले कभी नहीं किया गया। सुरक्षा के लिये यत्न, उचित प्रशिक्षण और श्रमिकों की सुखसुविधा के लिये सहकार, ये सब नए किंतु आवश्यक चरण हैं। इनके मूल में कतिपय कारण हैं। औद्योगिक प्रगति की बढ़ती हुई परंपरा से प्रभावित होकर सामान्य जन अपने परंपरागत उद्योगों को छोड़कर इन बड़े उद्योगों की ओर आकृष्ट हुए। जनसंख्या का अधिकांश यहीं केंद्रित होने लगा। इधर उद्योगों पर समाज का अवलंबन बढ़ता ही चला गया और इससे उनका विकास और विस्तार करना आवश्यक हो गया। श्रमिकों की माँग भी बढ़ने लगी। किंतु जिन उद्योगों में मानवहानि का भय हो, उनमें कोई श्रमिक तब तक जाना पसंद नहीं करेगा जब तक उसे सामाजिक सुरक्षा का समुचित आश्वासन न मिले। मशीनों के साथ वह दिन और रात जूझता है, केवल इसलिये कि उसके बाल बच्चों का पोषण हो सके। यदि कार्य करने से ही उसकी मृत्यु हो जाय अथवा वह अयोग्य हो जाय, तो उसके परिवार के पोषण का कौन उत्तरदायी होगा? यही प्रश्न उसे अपने जीवन को संकट में डालने से रोकता है। जब तक उद्योगपति उसे यह आश्वासन न दे दे कि उसको ऐसी किसी भी दुर्घटना की स्थिति में सामाजिक सुरक्षा के कतिपय अधिकार प्राप्त होंगे, तब तक वह ऐसे कार्यों में हाथ लगाकर जोखिम मोल नहीं लेगा। इस प्रकार उद्योगों का यंत्रीकरण, उनकी विषमता और जटिलता, उद्योगों में जनसंख्या के अधिकांश का केंद्रीकरण, समाज का उद्योगों पर पराश्रय, श्रमिकों की माँग तथा जीवन पर संकट लानेवाले उद्योगों में काम न करने की इच्छा आदि ही ऐसे मुख्य कारण हैं, जिन्होंने उद्योगपतियों और राज्य सरकारों को यह बात सोचने के लिये बाध्य किया कि सामाजिक सुरक्षा (सोशल सिक्योरिटी) के लिये कतिपय नियम बनाए जायँ और साथ ही दुर्घटनाओं की स्थितियों और उनकी आवृत्तियों को कम करने की भरसक चेष्टाएँ की जायँ, ताकि श्रमिक उद्योगों में निःसंकोच आना पसंद करें। कार्यस्थल के परिसर और कार्य करने की कुशल व सतर्क रीतियों से दुर्घटनाओं की संभावनाएँ कम हो सकती हैं और इसीलिये यह चेष्टा की जाती है कि अच्छे वातावरण में श्रमिक कार्य कर सकें। उन्हें कार्यक्षम बनाने तथा सावधानी से काम करने के लिये उचित प्रशिक्षण की योजना भी उद्योगों का एक विशेष कार्य हो गई है।

पहले उद्योगपतियों को यह विश्वास सा था कि सावधानी से और स्वयं को संकट से बचाते हुए कार्य करने से उत्पादन की मात्रा पर कुप्रभाव पड़ता है, किंतु अब यह विचार बदल गया है। अनुभव के आधार पर यह

सिद्ध हो चुका है कि ठीक प्रकार से कार्य करना कुशलता और जीवनरक्षा दोनों ही दृष्टियों से लाभप्रद है।

सरकारी और निजी, दोनों ही क्षेत्रों में इस ओर जागरूकता बढ़ती जा रही है और कई समितियाँ एवं राजकीय विभाग इसी ओर अपना कार्यक्षेत्र विस्तारित भी कर रहे हैं। कतिपय मजदूर संघ (ट्रेड यूनियनें) भी इस दिशा में अपने प्रयासों द्वारा दुर्घटनाओं को कम करने तथा दुर्घटनाग्रस्त लोगों की सेवा शुश्रूषा अथवा मृतक के परिवार के भरण पोषण आदि के प्रबंध का कार्य करते रहते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन की "रायल सोसायटी फ़ॉर द प्रिवेंशन ऑव ऐक्सिडेंट्स" का निर्माण इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया गया। सुरक्षा के छह सिद्धांतों का उल्लेख यह सोसायटी इस प्रकार करती है :

१. व्यवस्थापकों की ओर से सुरक्षा के लिये सबल प्रयास होना चाहिए; २. प्रत्येक व्यक्ति को इस ओर सचेत करने का यत्न आंदोलन द्वारा किया जाना चाहिए; ३. दुर्घटनाओं के आँकड़े और विवरण पंजीकृत करने चाहिए; ४. निरीक्षण, जाँच और कार्यसुरक्षा के विश्लेषण का अध्ययन करना आंदोलन का आवश्यक अंग होना चाहिए; ५. संगठन का अधिकांश कार्य कार्य-सुरक्षा-समिति को सौंप देना चाहिए; ६. इस संगठन का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य प्रचार द्वारा कार्यकर्ताओं और व्यवस्थापकों को इस दृष्टि से शिक्षित करना होना चाहिए।

इस सोसायटी ने अपने अनुसंधान द्वारा विभिन्न प्रकार की दुर्घटनाओं को वर्गीकृत किया। उन वर्गों में होनेवाली दुर्घटनाओं की आवृत्ति का प्रतिशत निम्नलिखित है :

कारण	प्रति शत दुर्घटना
१. माल ढोने से	२७.८
२. शक्तिचालित मशीनों से	१६.४
३. लोगों के गिर जाने से	१३.३
४. हाथ के औजारों के उपयोग से	८.८
५. किसी वस्तु के गिर जाने से	८.७
६. किसी वस्तु से टकरा जाने से	७.३
७. गर्म धात्विक द्रव या गर्म वस्तु के स्पर्श से	४.२
८. यातायात (रेलवे के अतिरिक्त)	३.३
९. रेल यातायात	१.६
१०. विविध	८.६

भारत में औद्योगीकरण के प्रारंभ के वर्षों में दुर्घटनाएँ अधिक हुआ करती थीं, क्योंकि उस समय श्रमिक अधिक कुशल नहीं था। सन् १८८४ में दुर्घटना के कारण अयोग्य हुए व्यक्तियों को हानिमूल्य देने का प्रश्न उठाया गया, पर कार्यकर्ताओं के हानिमूल्य का अधिनियम (वर्कमेंस कंपेंसेशन ऐक्ट) १९३३ में जाकर ही पारित हो सका। १९३४ के फैक्टरी ऐक्ट द्वारा इस दिशा में और अधिक व्यवस्थाएँ हुई। फिर भी औद्योगिक दुर्घटनाओं के आँकड़े अधिक विश्वसनीय नहीं है। स्वयं श्रमिकों के अबोध और नाशिक्षित होने के कारण तथा मजदूर संघों के सुसंगठित न होने के कारण, हानिमूल्य की प्राप्ति के लिये अधिक चेष्टाएँ भी नहीं की जातीं और की जाने पर भी सफलता सभी में समान रूप से नहीं मिल पाती। उद्योगपति भी इस स्थिति का लाभ उठाते हैं। अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को टाल देने की प्रवृत्ति व्यवस्थापकों में प्रायः पाई जाती है। इसीलिये श्रमिकों का शोषण करने में भी वे अधिक संकोच नहीं करते।

दुर्घटनाजन्य मृत्यु की दर १९३९ की तुलना में १९५७ में कुछ कम हुई। १९५७ में प्रति एक हजार व्यक्तियों में से ०.०९ श्रमिक मरे, जब कि १९३९ में ०.१३ व्यक्ति मरे थे। किंतु अन्य दुर्घटनाओं में, जो स्थायी और अस्थायी अयोग्यता के कारण होती हैं, प्रति वर्ष वृद्धि ही हुई है। नीचे की तालिका इसे स्पष्ट करती है :

वर्ष	मृत्यु के अतिरिक्त दुर्घटनाओं की कुल संख्या	प्रति एक हजार व्यक्ति पर औसत
१९३९	३५,७८५	२०.४३
१९४५	६९,७८१	२६.४०
१९५४	९३,७६५	३६.२१
१९५६	१,२८,१७७	४४.४७

विभिन्न कारण जिनके कारण दुर्घटनाएँ हुई, उनके प्रतिशत निम्नलिखित हैं :

दुर्घटना के कारण	१९५० में प्रति शत	१९५६ में प्रति शत
१. मशीनों द्वारा	२३.७०	२४.४०
२. वस्तुओं के गिर जाने से	१९.४९	१३.२४
३. माल ढोने से	१०.३५	११.३७
४. यातायात	१.१८	१.४४
५. गर्म धात्विक द्रव या गर्म पदार्थ से	५.६५	४.७०
६. हाथ के औजारों के उपयोग से	९.८२	७.५७
७. लोगों के गिर जाने से	६.२१	५.७३
८. किसी चीज से टकरा जाने से	७.६५	१२.४७
९. विविध	१२.९५	१९.०८

द्वितीय पंचवर्षीय योजना और आगामी पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण पर जो बल दिया जा रहा है (या दिया जानेवाला है), उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उद्योग संबंधी समस्याएँ और दुर्घटनाओं की संभावनाएँ बहुत बढ़ जायँगी। इन्हें रोकने के लिये उचित प्रशिक्षण तथा उद्योगपतियों के हार्दिक सहकार की परम आवश्यकता है। सामाजिक सुरक्षा के प्रति जागरूकता और सहानुभूतिपूर्ण विचार तथा उत्तरदायित्व का भाव होना औद्योगिक विकास के लिये अपरिहार्य है। कार्यकर्ताओं के लिये राज्य बीमा अधिनियम (एंप्लायीज स्टेट इंश्योरेंस ऐक्ट, १९४८) द्वारा कतिपय सुविधाएँ राज्य ने प्रदान की हैं। परंतु इस दिशा में अधिक गंभीरता से विचार करने और ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। (यो० अ०)

उद्योग में इलेक्ट्रानिकी इलेक्ट्रानिकी (इलेक्ट्रानिक्स) विज्ञान का वह विभाग है जिसमें इलेक्ट्रान नलियों का अथवा उसी प्रकार के उपकरणों का उपयोग होता है। (देखें इलेक्ट्रान नली)। इलेक्ट्रान नलियोंवाले यंत्रों का उपयोग बढ़िया मेल का माल उत्पन्न करने के लिये या साधारण मशीनों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से काम करने के लिये होता है। कुछ अन्य उपयोग ऐसे हैं जिनके लिये कोई संतोषजनक वैकल्पिक रीति नहीं है, जैसे इस्पात की चलती हुई तप्त छड़ों का ताप नापना, लगातार शीघ्रता से चलती हुई वस्तुओं का गिनना अथवा उनकी उत्तमता की परीक्षा करना। इलेक्ट्रानीय युक्तियों में से महत्वपूर्ण उपयोग ये हैं—प्रत्यावर्ती विद्युद्धारा (ऑल्टर्नेटिंग करेंट) को दिष्ट (डाइरेक्ट) धारा में बदलना; शीघ्र और नियंत्रित सीमा तक धातुओं और अधातुओं को तप्त करना; वेग, ताप, दाब, स्राव, तनाव, रंग आदि का विविध औद्योगिक क्रियाओं में नियंत्रण और मोटाई, रंग, समय, आर्द्रता, ताप, वेग, विकिरण आदि का नापना।

आजकल के कई अतिप्रचलित यंत्र भी बिना इलेक्ट्रानिकी के बन नहीं पाते, जैसे रेडियो, दूरवीक्षण (टेलिविज़न), चलचित्र (सिनेमा), प्रतिदीप्ति प्रकाश (फ्लुओरेसेंट लाइट), जन-व्याख्यान-प्रबंध (पब्लिक ऐड्रेस सिस्टम), टेलीफोन आदि। ये सब युक्तियाँ इलेक्ट्रानिकी की ही देन हैं। क्रमशः पिछले २५ वर्षों में औद्योगिक उपकरणों में इलेक्ट्रान-नली-युक्त यंत्रों का उपयोग मोटरों के उत्तम कार्यकरण में, धातुओं

को जोडने मे, बहुमूल्य धातुओ के पिघलाने मे तथा "विद्युतीय चक्षु" (इलेक्ट्रिक ग्राई) द्वारा नियत्रण करने मे किया जा रहा है। दस वर्षो के यात्रिक युद्ध (मिकेनिकल वारफेयर) ने इलेक्ट्रानिकी की युक्तियो का जलयानो, वायुयानो तथा टैको मे अधिकाधिक प्रयोग कराया है। इनके अतिरिक्त युद्ध मे प्रयुक्त प्रचुर सामग्री उन कलो के द्वारा तैयार की गई जिनमे इलेक्ट्रानिकी का प्रयोग किया गया था। युद्ध के पश्चात् युद्ध मे प्रयुक्त सामग्री की आवश्यकता कम हो गई, परतु ये औद्योगिक उपकरण रह गए।

इलेक्ट्रानिकी के कुछ औद्योगिक उपयोगो के विषय मे सक्षेप मे नीचे लिखा जा रहा है :

उद्योग में उपयुक्त कुछ ऋजुकारी—ऋजुकारक, उद्योग मे जिनसे प्रत्यावर्ती विद्युद्धारा दिष्ट धारा मे बदली जाती है, बहुधा उपयोग मे लाए जाते है। वे प्राय निम्नलिखित मे से एक प्रकार के होते है उच्चविभव केनाट्रान युक्त ऋजुकारी, उष्मित ऋणाग्र गैस नली ऋजुकारी, आर्गन युक्त द्विध्रुवी ऋजुकारी, टुगर ऋजुकारी, पारद-वाष्प-युक्त ऋजुकारी, फैनोट्रान, थाइरेट्रान ऋजुकारी, पारा ताल ऋजुकारी (मरक्यूरी पूल रेक्टिफायर्स), काच नली पारद चाप ऋजुकारी, स्थिर टैक पारद चाप ऋजुकारी, इगनिट्रान ऋजुकारी, इत्यादि।

अधिक शक्ति के ऋजुकारी मे बहुकला ऋजुकारी परिपथो (पॉलीफेज सर्किट्स) का उपयोग एककला ऋजुकारी परिपथो के उपयोग की अपेक्षा अनेक कारणो से अधिक लाभदायक होता है। प्रथम कारण यह है कि आजकल अधिकतर विद्युतीय शक्ति का उत्पादन तथा वितरण त्रि-कला-शक्ति के रूप मे होता है। द्वितीय कारण यह है कि बहुकला ऋजुकारी द्वारा उत्पन्न वोल्टता एककला ऋजुकारी द्वारा उत्पन्न वोल्टता की अपेक्षा अधिक सम (असमतारहित) होती है।

उपर्युक्त उच्चशक्ति ऋजुकारी मे या तो अनेक धनाग्रो (ऐनोड) के लिये एक ही ऋणाग्र रहता है या अनेक धनाग्र ऋजुकारी, जिनके ऋणाग्र जुडे रहते है, प्रयोग मे लाए जाते है। दोनो ही प्रकार के (उष्म तथा शीतल) ऋणाग्र प्रयोग मे लाए जाते है।

मोटर तथा जनित्र की चाल का इलेक्ट्रानिक नियंत्रण—मोटर की चाल का नियत्रण कागज के मिलो मे विशेष रूप से किया जाता है, क्योकि चाल पर ही कागज की मोटाई निर्भर रहती है। इन यत्रो मे एक्साइटर के क्षेत्र की प्रवाहित धारा मे परिवर्तन किया जाता है, जो जनित्र के लिये नियत्रक क्षेत्र का उत्पादन करता है। यह जनित्र एक प्राइम मूवर द्वारा चालित होता है। जनित्र का आर्मेचर अपना उत्पादन उस मोटर को देता है जिसकी चाल का नियत्रण करना होता है। एक दिष्ट-धारा-जनित्र इस मोटर द्वारा चलाया जाता है, वह अपनी चाल के समानुपात मे वोल्टता उत्पन्न करता है। यदि यह वोल्टता पूर्वनिश्चित वोल्टता से भिन्न होती है तो एक नियामक (रेगुलेटर) को सक्रिय कर देती है। यह नियामक इक्साइटर के क्षेत्र मे ऐसा परिवर्तन ला देता है कि मोटर की चाल पूर्वनिश्चित मान पर आ जाय। इस नियामक मे अनेक नलियो का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इलेक्ट्रानिकी की सहायता से मोटर की चाल का नियत्रण अति सूक्ष्म मान तक किया जा सकता है।

उच्च आवृत्ति से गरम करने के औद्योगिक उपयोग—अत्यधिक शक्तिशाली उच्च आवृत्ति उत्पादक का उपयोग पारविद्युत् (डाइइलेक्ट्रिक) तथा प्रेरण (इडक्शन) द्वारा गरम करने मे बहुत किया जा रहा है। जब किसी पारविद्युत् को सधारित्र के दो पट्टो के बीच मे रखा जाता है और सधारित्र को एक शक्तिशाली उच्च आवृत्ति उत्पादक से सबद्ध कर दिया जाता है, तो एक हानिधारा (लॉस करेट) के कारण पारविद्युत् का ताप बढ जाता है और वह पिघलने लगता है। इस प्रकार का नियम प्रेरण द्वारा गरम करने के लिये भी है। ये युक्तियाँ साधारण गरम करने की अपेक्षा अधिक लाभदायक है।

प्रेरण-तापन (इंडक्शन हीटिंग)—उद्योग मे वस्तुओ को तप्त करने के लिये विद्युत् का बहुत प्रयोग होता है। इस विधि से कार्य बहुत स्वच्छ होता है तथा खुली हुई ज्वाला उपस्थित नही रहती। धातुओ को तप्त करने की विधि को प्रेरण-तापन तथा अचालक वस्तुओ को तप्त करने की विधि को पारविद्युत्-तापन कहते है। इन दोनो विधियो के लिये उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा की आवश्यकता होती है। तप्त की जानेवाली धातु के टुकडे के चारो ओर (चित्र १) एक कुडली लपेटकर उसमे प्रत्यावर्ती धारा का प्रवाह करते हैं। विद्युत्-प्रवाह से उत्पन्न चुबकीय स्यद (फ्लक्स) वायु मे से तथा कुडली एवं कुंडली के समीप उपस्थित धातु मे से भी होकर जाता है। धारा के उत्क्रमण से स्यद मे भी परिवर्तन होता है, जिसके कारण धातु मे वोल्टता प्रेरित हो जाती है। इस वोल्टता के कारण धातु मे अधिक मात्रा मे भँवर धारा का प्रवाह होने लगता है (चित्र २)। तब धातु के प्रतिरोध के कारण ताप उत्पन्न हो जाता है।
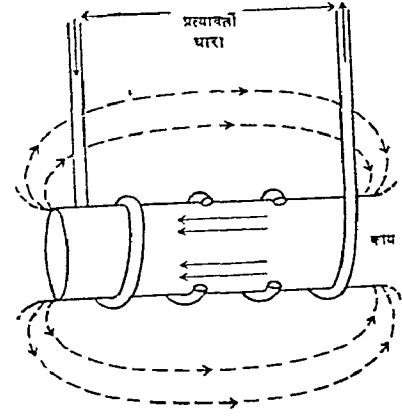
चित्र १

पारवैद्युत तापन—विद्युत् से अचालक पदार्थो को तप्त करने के लिये १,००० किलोसाइकिल या १ मेगासाइकिल से अधिक आवृत्ति की शक्ति की आवश्यकता होती है। क्योकि वस्तु मे होकर धारा प्रवाहित नही हो सकती, इसलिये वस्तु को उच्च वोल्टतावाले धातु के प्लेटो के बीच मे रखा जाता है (चित्र ३)। विद्युत् क्षेत्र के तीव्र परिवर्तन के कारण अचालक वस्तु की अणु-सरचना मे भी वैसे ही परिवर्तन होने लगते है। अणुओ के बीच मे घर्षण होने के कारण वस्तु मे सब ओर समान ताप उत्पन्न हो जाता है। इस विधि मे अचालक वस्तुओ की मोटी चादरो को बहुत थोडे समय मे तप्त किया जा सकता है।
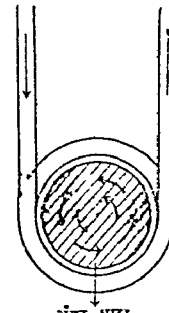
चित्र २

प्रतिरोध संधान—धातु के दो टुकडो मे उच्च विद्युद्धारा (१,००० से १,००,००० ऐंपियर) प्रवाहित करने से उनको सधानित (वेल्ड) किया जा सकता है, अर्थात् जोडा जा सकता है। सधान मशीन मे एक सधान परिवर्तक (ट्रैंसफार्मर) रहता है, जो २२० या ४४० वोल्ट की विद्युत् को दो विद्युदग्रो के बीच मे १ से १० वोल्टवाली मे परिवर्तित कर देता है और साथ ही साथ उच्च विद्युद्धारा देता है। सधान करने के लिये यह आवश्यक है कि धारा का प्रवाह अल्प समय के लिये ही हो। इसी से एक सस्पर्श-कर्ता-परिपथ का प्रयोग किया जाता है। यह युक्ति परिपथ को शीघ्र शीघ्र जोडती और तोडती रहती है। सस्पर्श-कर्ता-परिपथ मे "इग्नीट्रॉन" नामक इलेक्ट्रान नली का प्रयोग करते हैं। इग्नीट्रान एक विशेष प्रकार की गैस-युक्त नली होती है, जो उच्च विद्युद्धारा को सँभाल सकती है। इसका उपयोग थायरेट्रान नली के समान होता है।
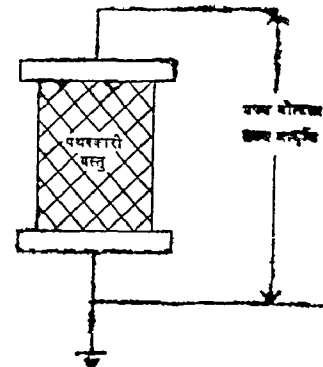
चित्र ३

ट्रैंज़िस्टर—इलेक्ट्रान-नली की ही भाँति एक अन्य युक्ति ट्रैंज़िस्टर का आविष्कार ब्रेटन, बार्डीन एवं शॉकले ने हाल में किया है। इसमें दो विभिन्न प्रकार के मणिभ (अधिकतर जर्मेनियम तथा सिलीकन के) रहते हैं। एक में एक इलेक्ट्रान का बाहुल्य तथा दूसरे में एक इलेक्ट्रान की न्यूनता रहती है। जब कोई धन विभव कम इलक्ट्रानवाले मणिभ को ओर लगाया जाता है, तो इलेक्ट्रान का प्रवाह अधिक इलेक्ट्रानवाले मणिभ से कम इलेक्ट्रानवाले मणिभ को ओर होने लगता है। इस प्रकार हमे एक बहुत छोटे आकार में दो विद्युदग्रोंवाली इलेक्ट्रान नली (डायोड) की क्रिया प्राप्त होती है। बधिरों का श्रवण-सहायक (हियरिंग एड), पाकेट रेडियो इत्यादि इसी की देन है। आजकल इसको प्रयोग मे लाने-वाले नवीन परिपथों पर गवेषणा कार्य पर्याप्त तत्परता से हो रहा है।

सं०ग्रं०—जी० एम० शूट : इलेक्ट्रानिक्स इन इंडस्ट्री (१९५६); आर० एस० ग्लास्गो : प्रिंसिपुल्स ऑव रेडियो इंजीनियरिंग (१९३६); (ग० प्र० श्री०; शं० स्व०)

उद्योग में ऐल्कोहल उद्योग में मेथिल तथा एथिल ऐल्कोहल का प्रमुख स्थान है। कुछ समय पहले तक व्यापारिक मात्रा मे मेथिल ऐल्कोहल केवल लकड़ी के शुष्क आसवन द्वारा ही प्राप्त किया जाता था। इस विधि में लकड़ी को लोहे के बड़े बड़े बकयंत्रों (रिटॉर्टों) में, जिनमें शीतक लगे रहते हैं, हवा की अनुपस्थिति मे ५००° सेंटीग्रेड पर गर्म करने से निम्नलिखित पदार्थ बनते हैं :

(क) काष्ठ गैस—यह गैसों का मिश्रण तथा एक उपयोगी ईंधन है। इसमें मिथेन, कारबन मोनोक्साइड और हाइड्रोजन की मात्रा अधिक तथा एथेन, एथिलीन और ऐसिटिलीन की मात्रा कम होती है।

(ख) एक द्रव-स्रव (डिस्टिलेट) जो स्थिर होने पर दो परतों में अलग हो जाता है। ऊपरवाले द्रव परत को पाइरोलिगनस अम्ल कहते हैं; इसमें ऐसिटिक अम्ल १०% तक, मेथिल ऐल्कोहल २ से ४% तक तथा अन्य पदार्थ, जैसे ऐसिटोन आदि अति न्यून मात्रा में होते हैं। नीचे की काली परत को काष्ठ तारकोल कहते हैं; इसमें फिनोल श्रेणी के तथा कुछ दूसरे यौगिक रहते है।

(ग) लकड़ी का कोयला जो बकयंत्रों में बच रहता है।

पाइरोलिगनस अम्ल में से ऐसिटिक अम्ल कैल्सियम ऐसिटेट के रूप में अलग कर लिया जाता है; अब जो द्रव बच रहता है उसमे से चूने की बरी द्वारा सारा जल सुखाकर उसका प्रभाजित आसवन कर ऐल्कोहल और ऐसीटोन अलग कर लेते है। इस काष्ठ स्पिरिट में शुद्ध मेथिल ऐल्कोहल ७० से ८०% तक होता है। इस विधि में व्यय अधिक तथा ऐल्कोहल की प्राप्ति बहुत कम होती है। अतः उद्योग के लिये ऐल्कोहल संश्लेषण विधि द्वारा तैयार करते है। पचास या इससे अधिक वायुमंडल दाब पर जल-गैस को किसी उपयुक्त उत्प्रेरक (जिंक आक्साइड + क्रोमि-यम आक्साइड; या ज़िंक आक्साइड + ताम्र आक्साइड) के साथ ४००° सें० पर गर्म करने से मेथिल ऐल्कोहल बनता है।

मेथिल ऐल्कोहल तीव्र विषैला पदार्थ है। अतः इसका मुख्यतम उपयोग एथिल ऐल्कोहल को अपेय बनाने के लिये होता है। लाह और रेजिन के लिये, जिनका उपयोग वार्निश तथा पॉलिश के उद्योग में होता है, यह एक उपयुक्त विलेयक है। इसका आक्सीकरण करने से फार्मेल्डि-हाइड बनता है जिसका उपयोग बेकलाइट बनाने में होता है। डाइमेथिल ऐमाइन, कृत्रिम रंग, ओषधि तथा सुगंधित पदार्थों के निर्माण में भी इसका अधिक उपयोग होता है।

एथिल ऐल्कोहल—इसको तैयार करने की दो विभिन्न विधियाँ हैं :

(१) संश्लेषण विधि—एथिलीन गैस को सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल में शोषित कराने से एथिल हाइड्रोजन सल्फेट बनता है जो जल के साथ उबालने पर उद्विघटित (हाइड्रोलाइज) होकर एथिल ऐल्कोहल देता है। इस विधि का प्रचलन अभी अधिक नही है।

(२) किण्वीकरण विधि—इसके द्वारा किसी भी शक्करमय पदार्थ (गन्ने की शक्कर, ग्लूकोस, शीरा, महुए का फूल आदि) या स्टार्चमय पदार्थ (आलू, चावल, जौ, मकई आदि) से ऐल्कोहल व्यापारिक मात्रा मे बनाते हैं। साधारणतः ऐल्कोहल शीरे से, जो शक्कर और चुकंदर के मिलों मे व्यर्थ बचा पदार्थ है, बनाया जाता है। शीरे में लगभग ३० से ३५ प्रति शत तक गन्ने की शक्कर तथा लगभग इतना ही ग्लूकोस और फ्रक्टोस घुला रहता है। शीरे में उतना ही जल मिलाया जाता है जितने से उसका आपेक्षिक घनत्व १.०३ से लेकर १.०४ तक हो जाता है। जीवाणुओं तथा अन्य अनावश्यक किण्वों की वृद्धि रोकने के लिये इस घोल मे सल्फ्यूरिक अम्ल की कुछ बूँदें डाल देते है। अब इसमें थोड़ा सा यीस्ट डालकर इसे ३०°-४०° सेंटीग्रेड ताप पर रख देते है। लगभग ४०-५० घंटों में किण्वीकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार से शीरे की लगभग ९५% शक्कर विच्छिन्न होकर ऐल्कोहल और कारबन-डाइ-आक्साइड मे परिवर्तित हो जाती है।

स्टार्चमय पदार्थों को पहले छोटे छोटे टुकड़े कर या पानी के साथ पीसकर तप्त भाप मे उबालते हैं। स्टार्चमय पदार्थ लेई की तरह हो जाता है; इसे हलवा (अंग्रेजी मे मैश) कहते हैं। मैश मे थोड़ा माल्ट निष्कर्ष मिलाकर ५५°-६०° सेंटीग्रेड ताप पर रख देते हैं। माल्ट निष्कर्ष मे विद्य-मान डायस्टेस-एंज़ाइम द्वारा स्टार्च का उद्विघटन होकर माल्टोस बनता है। इस क्रिया में लगभग आध घंटा लगता है और जो द्रव इस प्रकार मिलता है उसे क्वाथ (अंग्रेजी में वर्ट) कहते है। क्वाथ को उबालकर इसमें विद्यमान डायस्टेस को नष्ट कर देते हैं; इसे २०° सें० ताप तक ठंडा कर इसमें यीस्ट डालते हैं और फिर इसे २०°-३७° सें० के बीच रख छोड़ते है। यीस्ट मे विद्यमान माल्टेस-एंजाइम माल्टोस को उद्विघटित कर ग्लूकोस में परिवर्तित करता है। इस ग्लूकोस को फिर ज़ाइमेस-एंजाइम द्वारा विघटित कर एल्कोहल प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से एल्कोहल बनाने मे ३-४ दिन लगते हैं।

किण्वीकरण के बाद जो द्रव मिलता है उसे धोवन (वाश) कहते हैं; इसमे एल्कोहल लगभग १०-१५% तक होता है; इसका प्रभाजित आसवन करने पर जो द्रव मिलता है उसमें लगभग ९५.६% एल्कोहल होता है; इसको रेक्टिफ़ायड स्पिरिट कहते हैं। प्रभाजित आसवन के लिये कई प्रकार के भभके उपयोग में आते हैं। भारत तथा इंग्लैंड में कॉफे भभके का अधिक प्रचलन है; इसके द्वारा एक ही बार के आसवन से रेक्टिफ़ायड स्पिरिट प्राप्त हो जाता है। एक गैलन शीरे से लगभग ०.४ गैलन रेक्टि-फ़ायड स्पिरिट प्राप्त होता है। इस रेक्टिफ़ायड स्पिरिट में एल्कोहल के अतिरिक्त थोड़ी मात्रा मे ऐसिटैल्डिहाइड, ग्लिसरीन, सकसिनिक अम्ल और फ़्यूज़ेल तेल अशुद्धि के रूप मे रहते हैं। इन अशुद्धियों को अलग करने के लिये इसको पहले लकड़ी के कोयले के छन्ने द्वारा छानते है और फिर प्रभाजित आसवन द्वारा प्रथम, द्वितीय और अंतिम स्रव-अंश प्राप्त करते हैं जिनमें क्रमशः ऐसिटैल्डिहाइड, रेक्टिफ़ायड स्पिरिट तथा फ़्यूज़ेल तेल रहता है।

रेक्टिफ़ायड स्पिरिट से जलरहित विशुद्ध ऐल्कोहल बनाने की साधारण विधि यह है कि इसमें थोड़ा बरी का चूना डाल देते है; एक दो दिन के बाद ऐल्कोहल को निथारकर आसवन पात्र में रखकर सोडियम या कैल्सियम के ताजे कटे छोटे छोटे थोड़े से टुकड़े डालकर इसे तुरंत आसवित करते है। ग्राहक पात्र में हवा से जलवाष्प न जा सके इसके लिये उसमें कैल्सियम क्लोराइड से भरी हुई एक नली लगा दी जाती है। व्यापारिक विधि में रेक्टिफ़ायड स्पिरिट में बेंजीन मिलाकर बेंजीन, ऐल्कोहल और जल तीनों के समक्वाथी त्रय-मिश्रण को गर्म करते है। ऐल्कोहल में जितना जल रहता है वह सब इस त्रय-मिश्रण के रूप में ६४.९° सें० पर बाहर निकल जाता है। मिश्रण में अब केवल बेंजीन और ऐल्कोहल रह जाता है। इस द्वय-मिश्रण के ६८.३° सें० पर आसवित होकर निकल जाने पर विशुद्ध ऐल्कोहल ७८.३ सें० पर आसवित होता है।

साधारणतः पेय ऐल्कोहल पर भारी कर लगाया जाता है। उद्योग-विस्तार के लिये औद्योगिक ऐल्कोहल का सस्ता मिलना आवश्यक है। इसलिये उसपर कर या तो नही लगता है या बहुत कम। लोग उसे पी न सकें, इस उद्देश्य से प्रत्येक देश में करमुक्त ऐल्कोहल में कुछ ऐसे विषैले और अस्वास्थ्यकर पदार्थों को मिलाते है जिससे वह अपेय हो जाय किंतु अन्य कार्यो के लिये अनुपयुक्त न होने पाए। अधिकांश देशों में रेक्टिफ़ायड

स्पिरिट में ५ से १० प्रतिशत तक मेथिल ऐल्कोहल और ०.५% पिरीडीन मिला देते हैं और उसे मेथिलेटेड स्पिरिट कहते हैं। मेथिल ऐल्कोहल के कारण ही मेथिलेटेड स्पिरिट नाम पड़ा है। किंतु आजकल बहुत से विकृत ऐल्कोहलों में मेथिल ऐल्कोहल बिलकुल नहीं रहता। भारत में विकृत स्पिरिट में साधारणतः ०.५% पिरीडीन और ०.५% पतला रबर स्राव रहता है।

सभी प्रकार की मदिरा में एथिल ऐल्कोहल होता है। कुछ प्रचलित आसुत (डिस्टिल्ड) मदिराओं के नाम ह्विस्की, ब्रांडी, रम, जिन और वॉडका हैं। इनको क्रमानुसार जौ, अंगूर, शीरा, मकई और नीवारिका से बनाते हैं और इनमें ऐल्कोहल क्रमानुसार ४०,४०,४०, ३५-४० और ४५ प्रति शत होता है। बियर, वाइन, शैंपेन, पोर्ट, शेरी और साइडर कुछ मुख्य निरासुत मदिराएँ हैं; बियर जौ से तथा और दूसरी सब अंगूर से बनाई जाती हैं; इनमें ऐल्कोहल की मात्रा ३ से २० प्रतिशत तक होती है।

मदिरा तथा अन्य ऐल्कोहलीय द्रवों में ऐल्कोहल की मात्रा ज्ञात करने की विधि को ऐल्कोहलमिति कहते हैं। इसके लिये एक तालिका तैयार कर ली जाती है जिसमें विभिन्न आपेक्षिक घनत्वों के ऐल्कोहलीय द्रवों में विभिन्न तापों पर ऐल्कोहल की प्रतिशत मात्रा दी रहती है। अज्ञात ऐल्कोहलीय द्रव का आपेक्षिक घनत्व हाइड्रोमीटर से तथा ताप तापमापी से ज्ञात कर तालिका की सहायता से उस द्रव में उपस्थित ऐल्कोहल की प्रतिशत मात्रा ज्ञात कर ली जाती है। कर लगाने की सुविधा के लिये एक निश्चित प्रतिशत के ऐल्कोहलीय द्रव को प्रामाणिक मान लिया गया है; इसको प्रूफ़ स्पिरिट कहते हैं: इसमें मात्रा के अनुसार ४९.३% तथा आयतन के अनुसार ५७.१% ऐल्कोहल रहता है। अन्य ऐल्कोहलीय द्रवों की सांद्रता प्रूफ़ स्पिरिट के आधार पर व्यक्त की जाती है।

ऐल्कोहलीय किण्वीकरण में ऐल्कोहल के अतिरिक्त निम्नलिखित मूल्यवान् पदार्थ भी उपजात (बाइ प्रॉडक्ट) के रूप में प्राप्त होते हैं :

१. कारबन डाइ-आक्साइड—किण्वीकरण के समय यह गैस अधिक मात्रा में निकलती है। साधारणतः इसे ठंढा कर ठोस में परिवर्तित करके शुष्क हिम के नाम से बाजार में बेचते हैं। इसका उपयोग बहुत ठंढक पैदा करने के लिये होता है।

२. एर्गाल या टार्टार—शक्करयुक्त पदार्थों का किण्वीकरण जिस पात्र में होता है उसकी भीतरी दीवारों पर एक मटमैले रंग की कड़ी पपड़ी जम जाती है। इसको एर्गाल या टार्टार कहते हैं। इसमें मुख्य रूप से पोटैसियम हाइड्रोजन टारटरेट रहता है जिससे टारटरिक अम्ल अधिक मात्रा में बनाई जाती है।

३. वाश के आसवन के प्रथम अंश ऐसिटैल्डिहाइड तथा दूसरे उड़नशील एस्टर होते हैं।

४. फ्यूज़ेल तेल—यह अधिक अणुभारवाले ऐल्कोहलों का मिश्रण होता है। इसमें से आइसो अमाइल ऐल्कोहल को प्रभाजित आसवन द्वारा पृथक् कर लेते हैं, क्योंकि यह एक उत्तम विलेयक है।

५. निर्जीव धोवन—आसवन द्वारा ऐल्कोहल को धोवन (वाश) में से अलग करने के बाद जो शेष द्रव तलछट के रूप में बच रहता है उसे निर्जीव धोवन कहते हैं। स्टार्चमय पदार्थों की चर्बी तथा प्रोटीन का अधिकांश भाग अविघटित रूप में निर्जीव धोवन में रहता है, इसलिये यह जानवरों के पौष्टिक चारे के लिये उपयोग में आता है।

उद्योग में एथिल ऐल्कोहल की उपयोगिता इसकी अत्युत्तम विलेयक शक्ति के कारण है। इसका उपयोग वार्निश, पालिश, दवाओं के घोल तथा निष्कर्ष, ईथर, क्लोरोफ़ार्म, आयडोफ़ार्म, कृत्रिम रंग, पारदर्शक साबुन, इत्र तथा फल की सुगंधों का निष्कर्ष और अन्य रासायनिक यौगिक बनाने में होता है। पीने के लिये विभिन्न मदिराओं के रूप में, घावों को धोने में जीवाणुनाशक के रूप में तथा प्रयोगशाला में घोलक के रूप में इसका उपयोग होता है। पीने की ओषधियों में यह डाला जाता है और मरे हुए जीवों को संरक्षित रखने में भी इसका उपयोग होता है। रेआन ऐसिटेट उद्योग के लिये ऐसीटिक अम्ल की पूर्ति मैंगनीज़ पराक्साइड तथा सल्फ़्यूरिक अम्ल की उपस्थिति में ऐल्कोहल का आक्सीकरण करके होती है, क्योंकि यह क्रिया शीघ्र होती है और इससे ऐसीटिक अम्ल तथा ऐसिटैल्डिहाइड प्राप्त होते हैं। स्पिरिट लैंप तथा स्टोव में और मोटर इंजनों में पेट्रोल के साथ इसको ईंधन के रूप में जलाते हैं। इसके अधिक उड़नशील न होने के कारण मोटर को चलाने में कठिनाई न हो इस उद्देश्य से इसमें २५% ईथर या पेट्रोल मिलाते हैं। (वैं० ना० प्र०)

उद्योग में प्रतियोगिता आर्थिक जीवन स्वतंत्रता में ही पनप सकता है। शासन का हस्तक्षेप, चाहे वह कितना ही सद्भावनात्मक क्यों न हो, आर्थिक विकास के लिये वांछनीय नहीं है। आर्थिक स्वतंत्रता के अंतर्गत आपसी प्रतियोगिता द्वारा उद्योगों का नियंत्रण स्वचालित रूप से हो जाता है तथा योग्यतम उत्पादक ही औद्योगिक क्षेत्र में रह पाते हैं।

प्रतियोगिता का नियम—त्रिकोणीय प्रतियोगिता—क्रेताओं के बीच आपसी प्रतियोगिता, विक्रेताओं के बीच आपसी प्रतियोगिता तथा क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता—औद्योगिक नियंत्रण में सहायक होती है। क्रेताओं के बीच आपसी प्रतियोगिता में वृद्धि होने पर मूल्य में वृद्धि होती है। मूल्य में वृद्धि होने पर लाभ में वृद्धि होती है। बढ़े हुए लाभ वर्तमान उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने तथा नए उत्पादकों को उत्पादन प्रारंभ करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। परिणामतः उद्योगपतियों में आपसी प्रतियोगिता बढ़ जाती है और मूल्य घट जाता है। मूल्य घटने पर अयोग्य उत्पादक औद्योगिक क्षेत्र छोड़ देते हैं और उत्पादन कम होने लगता है। उत्पादन कम होने पर मूल्य फिर बढ़ने लगता है। इस प्रकार प्रतियोगिता का चक्र चलता रहता है तथा योग्यतम उत्पादकों को ही औद्योगिक क्षेत्र में टिकने देता है। प्रतियोगिता न केवल अयोग्य उत्पादकों को बाहर कर देती है वरन् अन्य कुशल उत्पादकों को भी अपनी कार्यक्षमता एक आदर्श स्तर पर बनाए रखने को बाध्य करती है।

प्रतियोगिता का औचित्य—प्रतियोगिता का शाब्दिक अर्थ दो या अधिक व्यक्तियों वा समूहों द्वारा एक ही वस्तु या ध्येय को प्राप्त करने का प्रयत्न है। औद्योगिक क्षेत्र में यह वांछित वस्तु क्रेताओं द्वारा किया जानेवाला क्रय है, जिसे प्राप्त करने का प्रत्येक उद्योगपति प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह अपने प्रतियोगी की अपेक्षा उत्पादन व्यय कम करने का तथा अधिक उत्तम वस्तुओं के निर्माण का प्रयत्न करता है। वह अपने प्रतियोगी की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ तथा सेवाएँ प्रदान करने का भी यत्न करता है। संक्षेप में कहें तो वह अपनी कार्यक्षमता बढ़ाता है। यही औद्योगिक प्रतियोगिता का औचित्य है।

अनुचित प्रतियोगिता—कभी कभी उद्योगपति अपनी कार्यक्षमता को नहीं बढ़ाता, बल्कि विज्ञापन द्वारा अन्य उद्योगपतियों के ग्राहकों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अन्य उत्पादकों को औद्योगिक क्षेत्र से बाहर निकालने के उद्देश्य से वह अपनी वस्तुओं को उत्पादनव्यय से भी नीची कीमत पर बेचता है। ऐसा करने में उसका उद्देश्य यह होता है कि वह अन्य उत्पादकों का उत्पादन बंद हो जाने पर अपनी वस्तुओं को मनमानी कीमत पर बेच सके। इस प्रकार की प्रतियोगिता का औचित्य बहुत ही संदेहास्पद है।

प्रतियोगिता में बाधाएँ—सामाजिक परंपराएँ तथा शासन का नियंत्रण स्वतंत्र औद्योगिक प्रतियोगिता में बाधा उत्पन्न करते हैं। भारतवर्ष में कुछ धंधों का जातिविशेष द्वारा ही अपनाया जा सकना औद्योगिक प्रतियोगिता को सीमित कर देता है। कभी कभी राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए शासन भी उद्योगों का प्रारंभ करने या वस्तुओं का उपभोग करने पर नियंत्रण लगा देता है। उद्योगों का प्रमाणीकरण तथा उपभोग की वस्तुओं के मूल्य तथा परिमाण का नियंत्रण ऐसे कुछ उपाय हैं जो त्रिकोणीय औद्योगिक प्रतियोगिता के किसी न किसी पक्ष को नियंत्रित करते हैं।

प्रतियोगिता तथा आर्थिक नियोजन—आर्थिक नियोजन का उद्देश्य देश की शीघ्र आर्थिक प्रगति करना तथा साधनों के अपव्यय को रोकना है। प्रतियोगिता के अंतर्गत विकास की गति बहुत मंद होती है तथा साधनों का अपव्यय और श्रमजीवियों का शोषण होता है। अतः आर्थिक नियोजन के साथ औद्योगिक प्रतियोगिता को बहुत कुछ सीमित करना आवश्यक हो जाता है।

प्रतियोगिता में अनेक दोष होते हुए भी अनुभव यही प्रदर्शित करता है कि स्वतंत्र औद्योगिक प्रतियोगिता के अंतर्गत ही औद्योगिक कार्यक्षमता को उच्चतम स्तर पर बनाए रखा जा सकता है। (प्र० कु० से०)

उद्योतकर न्यायशास्त्र के आचार्य (६३५ ई०)। गौतम के न्यायशास्त्र पर वात्स्यायन का भाष्य था। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय में इस भाष्य की बड़ी आलोचना की। उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखकर न्यायशास्त्र की दृष्टि से बौद्धों का खंडन किया। इनके वार्तिक पर वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका लिखकर बौद्धों के तर्कपंक से उद्योतकर की वाणी का उद्धार किया। (रा० पां०)

उद्रोध का अर्थ है 'रोक'। नदी के आर पार ऐसा बाँध या रोक जिसके कारण नदी में एक ओर जल का तल ऊँचा हो जाय और जिसके ऊपर से अतिरिक्त जल बह सके, उद्रोध (अंग्रेजी में वीयर, तमिल में अनई कट्टू) कहलाता है (द्र० अनई कट्टू)। मछुए लोग नदी में मछली पकड़ने के लिये लकड़ियों की जो दीवार खड़ी कर लेते हैं वह भी कहीं कहीं वीयर ही कहलाती है। परंतु सामान्यतः इस शब्द का इंजीनियरी में ही प्रयोग होता है। जहाँ उद्देश्य यह रहता है कि जल को पूर्णतया या प्रायः पूर्णतया रोककर जलाशय बना लिया जाय वहाँ डैम या बराज शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसे हिंदी में बाँध या बँधारा कहते हैं; उदाहरणत. रेंड (रेणु) बाँध (रेहँड डैम) जिसमें बरसाती पानी रोक रखा जाता है। उद्रोधों की बनावट कई प्रकार की होती है और उनका निर्माण इंजीनियरी के सिद्धांतों पर निर्भर है। पृथुशीर्ष (ब्रांड क्रेस्टेड), अर्थात् सपाट मुंडेर के उद्रोध बहुधा ऐसे होते हैं कि उनके ऊपर से गिरता हुआ पानी कुछ दूरी तक एक सी ऊँचाई में बहकर नीचे गिरता है। इनके विभिन्न रूप और आकार होते हैं। एक और प्रकार का उद्रोध 'मापीय' (सपोलिटी) नाम से विख्यात है। इसके द्वारा पानी के बहाव की मात्रा नापी जाती है। जहाँ इसकी चौड़ाई संकुचित होती है वहाँ इसकी तलहटी अधिक ढालू (एक भाग पड़ी और चार भाग खड़ी के अनुपात में) कर दी जाती है। इस प्रकार चौड़ाई की कमी की पूर्ति अधिक गहराई से हो जाती है, और कहीं भी पानी आवश्यकता से अधिक ऊपर उठने नहीं पाता।

एक और प्रकार का उद्रोध आप्लावित उद्रोध (ड्राउंड वीयर), अर्थात् डूबा हुआ उद्रोध कहलाता है। इसके द्वारा पानी में एक उछाल (हाइड्रॉलिक जंप) पैदा हो जाती है और जिस ओर पानी बहकर जाता है उस ओर पानी की सतह पहले वाली सतह से कुछ ऊँची हो जाती है, जिसके कारण पानी के बहाव में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। निमग्न उद्रोध (सबमर्ज्ड वीयर) भी इसी प्रकार के होते हैं। इनके द्वारा उस ओर जिधर पानी बहकर जाता है, जल दूसरी ओरवाली सतह से काफी ऊँचा उठ जाता है। पानी की मात्रा की माप के लिये तीक्ष्णशीर्ष उद्रोध (शार्पक्रेस्टेड वीयर) अर्थात् धारदार उद्रोध काम में आते हैं। इनकी ऊपरी सतह की काट (सेक्शन) समतल या गोलार्ध या अन्य वक्र के आकार की होने की जगह पैनी धार के तुल्य होती है। यह धार बहुधा किसी धातु की होती है। जलाशयों में से, अथवा अन्य जलसंबंधी व्यवस्थाओं में से, अतिरिक्त जल के निकास के लिये परिवाह उद्रोध (वेस्ट वीयर) भी बनाए जाते हैं।

साधारण चौड़ी सपाट मुंडेर का उद्रोध गंगा नदी पर नरौरा में बना हुआ है जहाँ से 'लोअर गंगा नहर' निकली है। यह उद्रोध ३,८०० फुट लंबा है और १८७८ ई० में बना था। उद्रोध उत्तर रेलवे के राजघाट नरौरा रेलवे स्टेशन से गंगा के बहाव की दिशा में ४ मील पर है। नदी की तलहटी के औसत स्तर से पानी को दस फुट की ऊँचाई पर रोकने के लिये यह उद्रोध बनाया गया है और इससे निम्न (लोअर) गंगा नहर में ५,६७० घन फुट जल प्रति सेकंड जाता है। अनुमान किया जाता है कि बाढ़ के समय जलस्तर तीन फुट और ऊँचा हो जायगा, जिससे २ लाख घन फुट प्रति सेकंड की निकासी होगी। परंतु १६२४ की बाढ़ में स्तर साधारण से सवा छह फुट ऊँचा हो गया और उद्रोध पर से ३,६०,००० घन फुट प्रति सेकंड जल पार हुआ। केवल उद्रोध के बनाने में १६,०३,८६५ रु० खर्च हुआ था, परंतु उद्रोध में बने जलद्वार के बनाने में ८,१५,५३१ रु० तथा बगली भीत बनाने में ६४,७३७ रु० अतिरिक्त व्यय हुआ। एक और उद्रोध का उदाहरण दिल्ली के समीप यमुना नदी पर ओखला में है, जहाँ से आगरा नहर का उद्गम हुआ है। ऐसे ही बहुत से उद्रोध भिन्न भिन्न नदियों पर बने हुए हैं और उनसे सिंचाई के लिये पानी का निकास हुआ है।

जहाँ नदी में उद्रोध बनाए जाते हैं वहाँ साथ ही ऐसा आयोजन भी किया जाता है कि यदि पानी को नदी में ही निकालने की आवश्यकता हो तो उद्रोध के निचले भाग में बने अधोद्वार (अंडर-स्लूसेज) द्वारा निकाला जा सके। कभी कभी बाढ़ के समय उद्रोध के ऊपर से होकर पानी निकलता है और साथ ही नीचे के मार्गों द्वारा भी उसकी निकासी की व्यवस्था की जाती है। कहीं कहीं उद्रोध की पक्की दीवार के ऊपर पानी की कमी के समय तख्ते के पाट खड़े किए जाते हैं जिनके कारण पानी की सतह और भी ऊँची हो जाती है और इस प्रकार नहरों में पानी साधारण से अधिक मात्रा में पहुँचाया जा सकता है।

पानी के बहाव को उद्रोध द्वारा रोकना पानी के मार्ग में बाधा डालना है। पानी बाधाओं से बच निकलने का मार्ग ढूँढ़ता है और ऐसे मार्गों की रोक थाम करना भी उद्रोध की अभिकल्पना (डिजाइन) के साथ विचार में रखा जाता है। फिर, यदि बाढ़ के समय पानी बहुत अधिक आ जाय तो उद्रोध तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश की स्थिरता पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसपर भी ध्यान रखना आवश्यक है। (बा० ना०)

उनसरी, अबुल कासिम बलख के निवासी और सुल्तान महमूद गजनवी के दरबारी पंडित। ये अबुल्फरह सनजरी के शिष्य थे और इनकी गणना अपने समय के श्रेष्ठ विद्वानों में की जाती थी। कवि होने के साथ साथ ये कई भाषाओं के जानकार थे और विज्ञान में भी इनकी अच्छी गति थी। इन्हें असजदा तथा फरूखी कवि का गुरु होने का गौरव प्राप्त है। इन्होंने सुल्तान महमूद की वीरता पर एक काव्यग्रंथ की रचना की थी। एक बार अपने गुलाम अय्याज के केश कटवाकर सुल्तान अत्यंत दुःखी हुए तो इन्होंने तत्काल ऐसी कविता बनाकर सुनाई कि सुल्तान ने प्रसन्न होकर इनका मुख तीन बार बहुमूल्य रत्नों से भरने की आज्ञा दी। इनकी मृत्यु सन् १०४० अथवा १०४६ ई० में हुई। (कै० चं० श०)

उन्नाव का मराठी तथा उर्दू में भी यही नाम है। हिंदी में इसे बनबेर भी कहते हैं। संस्कृत में इसे सौवीर तथा लैटिन में जिजिफ़स सैटिवा कहते हैं।

यह पौधा बेर की जाति का है और पश्चिम हिमालय प्रदेश, पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, ईरान इत्यादि में पाया जाता है। इसकी भाड़ी काँटेदार, पत्ते बेर के पत्तों से कुछ बड़े तथा नुकीले, फल छोटी बेर के बराबर और पकने पर लाल रंग के होते हैं। उत्तरी अफगानिस्तान का उन्नाव सर्वोत्कृष्ट होता है।

इस ओषधि का उपयोग विशेषकर हकीम करते हैं। इनके मतानुसार इसके पत्ते विरेचक होते हैं तथा खाज, गले के भीतर के रोग और पुराने घावों में उपयोगी हैं। परंतु ओषधि के काम में इसका फल ही मुख्यतः प्रयुक्त होता है जो स्वाद में खटमीठा होता है। यह कफ तथा मूत्रनिस्सारक, रक्तशोधक तथा रक्तवर्धक कहा गया है। खाँसी, कफ और वायु से उत्पन्न ज्वर, गले के रोग, यकृत और तिल्ली की वृद्धि में विशेष लाभदायक माना गया है। (भ० दा० व०)

उन्नाव भारतवर्ष में उत्तर प्रदेश राज्य की लखनऊ कमिश्नरी में स्थित एक जिला तथा एक नगर है। नगर कानपुर से १० मील उत्तर पूर्व है।

उन्नाव जिला क्षेत्रफल में १,७६२ वर्ग मील है। यह गंगा के उत्तर दोमट मिट्टी का मैदान है। यह कई उपजाऊ खंडों में विभाजित है तथा इसके बीच बीच में उद्यान हैं। संपूर्ण क्षेत्र में छोटी छोटी नहरों का जाल बिछा हुआ है। ये नहरें सिंचाई के काम आती हैं। उपजाऊ खंडों के बीच बीच में बंजर तथा ऊसर भूमि भी है। जिले में गंगा ही ऐसी नदी है जिसमें यातायात संभव है। सई नदी इसकी उत्तर पूर्वी सीमा पर है। जिले की जनसंख्या सन् १६७१ में १४,८३,५६७ थी। (श्या० सुं० श०)

उन्मत्तावंती (९३७–३९ ई०) यह कश्मीर के प्रसिद्ध उत्पल राजवंश का अंतिम औरस राजा था, अपने समूचे राजकुल में क्रूरतम। उसकी क्रूरता की कहानी इतिहासप्रसिद्ध है और उसका वर्णन कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में विशद रूप से किया है। क्रूरता के कार्य उसे असाधारण आह्लाद प्रदान करते थे। गर्भवती स्त्रियों के बच्चों को मार डालने में उसे असाधारण आनंद मिलता था। उसके पहले कश्मीर की दशा आंतरिक युद्धों और पदाधिकारियों की बेईमानियों से क्षतविक्षत हो रही थी। उन्मत्तावंती के पिता पार्थ ने विरक्त होकर जयंद्रविहार में रहना आरंभ किया था। अस्वाभाविक पुत्र उन्मत्तावंती ने विरक्त पिता की भी हत्या कर डाली और अपने सारे भाइयों को मरवा डाला। परंतु बहुत काल तक वह भी राज न कर सका और केवल दो वर्ष के क्रूर शासन के बाद राज्य का अधिकार उसके अनौरस पुत्र सूरवर्मन् के हाथ में चला गया। (ओं० ना० उ०)

उन्माद एक प्रकार का मानसिक रोग है जिसको मनस्ताप के अंतर्गत वर्गीकृत किया जाता है। यह रोग ऐसे व्यक्तियों को होता है जिनमें मानसिक दुर्बलता होती है और जिसके कारण वे बाह्य तथा संवेगात्मक परिस्थितियों से सहज ही उद्वेलित हो जाते हैं। वर्तमान अनुसंधानों द्वारा प्रमाणित हो गया है कि यह मानसिक रोग स्त्री और पुरुष दोनों में होता है। प्राचीन तथा मध्यकालीन युग में इस रोग का कारण भूत प्रेत माना जाता था। इसके उपचार के लिये झाड़ फूंक, गंडे तावीज आदि का उपयोग होता था। आधुनिक काल में शारको, जैने, मॉर्टन प्रिंस और फ्रॉयड इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने इसका कारण मानसिक बतलाया है। उन्माद में प्रायः मानसिक विकार का परिवर्तन शारीरिक विकार में हो जाता है। रिवट का कथन है कि उन्माद में मानसिक क्षोभ की अवस्था शारीरिक क्रियाओं में प्रकट होती है। फेरेंक्ज़ी का कथन है कि परिवर्तित शारीरिक क्रियाएँ मानसिक विकार की प्रतीक होती हैं। फ्रायड ने रूपांतर उन्माद, जिसमें मानसिक विप्लव शारीरिक लक्षणों में परिवर्तित हो जाता है, और चिंता उन्माद, जिसमे केवल मानसिक लक्षण होते हैं, का उल्लेख किया है।

उन्माद के बारे में फ्रॉयड का अन्वेषण प्रामाणिक है। फ्रॉयड के दृष्टिकोण से उन्माद के रोग में दो बातें प्रमुखतः मिलती हैं: (१) इसमें काम प्रवृत्ति का प्राधान्य रहता है, (२) इसमें बचपन की अनुभूतियों का विशेष महत्व होता है। उन्माद प्रायः कामवृत्ति संबंधी अनुभूतियों का पुनःस्फुरण होता है। अक्सर वे ही व्यक्ति उन्माद रोग के शिकार होते हैं जिनकी कामशक्ति का उचित विकास नहीं हो पाता। वस्तुतः उन्माद के रोगी की क्रियाओं और समोहनावस्था तथा कामविपरीतीकरण की क्रियाओं में पर्याप्त समानता मिलती है। विकृत कामभाव होने के कारण जब उन्माद के रोगी से कुछ पूछा जाता है तो वह यही कहता है : "मैं नहीं जानता, मुझे ऐसी कुछ बातें स्मरण नहीं हैं"—इसका अर्थ यह है कि वह कुछ कहना नहीं चाहता क्योंकि इससे उसके अज्ञात अचेतन मन में पड़ी भावना-ग्रंथि को ठेस पहुँचती है।

उन्माद के लक्षण—शरीर के किसी भाग में लकवा मारना, बेहोशी, अकड़न, हँसना रोना, अंगों का शून्य, संवेदनहीन होना, आकुंचन, तालबद्ध गति, कामविकृति, कामशून्यता, निद्राविचरण, आत्मविस्मरण, द्विव्यक्तित्व, भोजन मे रुचि न रखना इत्यादि। उन्माद में मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के लक्षण मिलते हैं।

उपचार विधि—इस रोग के उपचार की सबसे उपयुक्त विधि मुक्त साहचर्य है। प्रारंभ में संमोहन का प्रयोग होता था। किंतु यह सफल नहीं रहा। मुक्त साहचर्य से रोगी का रुख जीवन के प्रति परिवर्तित हो जाता है और वह स्थायी रूप से, अल्प अथवा दीर्घकाल में रोग से मुक्त हो जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मानसिक स्वास्थ्य के नियमों से अवगत कराने से लाभ होता है। इसमें ओषधि, प्रघात चिकित्सा तथा शल्य उपचार का प्रयोग नहीं किया जाता। (प० अ०)

उपकला (एपिथीलियम) एक अत्यंत महीन और चिकनी झिल्ली है जो शरीर के भीतरी समस्त अंगों के बाह्य पृष्ठों को आच्छादित किए हुए है। इसी का दूसरा रूप शरीर के कुछ खोखले विवरों के भीतरी पृष्ठ को ढके रहता है, जिसे अंतर्कला कहा जाता है।

उपकला शरीर का एक विशिष्ट ऊतक है जो अंगों का आच्छादन करके उनकी रक्षा करता है। इसके अक्षुण्ण रहने से जीवाणु भीतर प्रवेश नहीं कर पाते। यह कला समस्त पाचनप्रणाली, मुख से लेकर मलद्वार तक को, आच्छादित किए हुए है। यही कला इसके भीतरी पृष्ठ को आच्छादित करती हुई ग्रंथिक उपकला का रूप ले लेती है और प्रणाली की भित्तियों में घुसकर पाचक रसोत्पादक ग्रंथियाँ बन जाती है। शरीर में जितनी भी प्रणालियाँ या नलिकाएँ हैं, जैसे श्वासनाल तथा प्रणालिकाएँ, रक्तवाहिनियाँ, रसवाहिनियाँ आदि, सब उपकला से आच्छादित हैं। इसकी कोशिकाएँ एक दूसरे के अत्यंत निकट रहती हैं। इसके विशेष प्रकार ये हैं: (१) शल्की उपकला, जिसकी कोशिका षट्कोणी या अष्टकोणी होती है। सारा चर्म इस प्रकार की उपकला से ढका हुआ है। (२) स्तंभाकार उपकला, जिसके कोषाणु स्तंभ के समान होते हैं। आमाशय तथा आंत्र का भीतरी पृष्ठ इसी उपकला से ढका हुआ है। (३) ग्रंथिक उपकला, जो आंत्र की भित्तियों में रक्तग्रंथियों में रूपांतरित हो जाती है। यह स्तंभाकार कला का ही एक रूप है। (४) रोमिकामय उपकला, जिसकी कोशिकाएँ स्तंभाकार उपकला के ही समान होती हैं, किंतु उनके चपटे सिरे से, जो प्रणाली की ओर रहता है, सूक्ष्म बाल सरीखे तंतु निकले रहते हैं। ये क्रिया करते समय उसी प्रकार लहराते हैं, जैसे खेत में लगे गेहूँ या जौ की बालें वायुप्रवाह से लहराती हैं। इस क्रिया का प्रयोजन प्रणाली में प्रविष्ट पदार्थों को बाहर निकालना होता है। यह उपकला समस्त वसा प्रणाली को भीतर से आच्छादित किए हुए है। (५) संवेदनिक उपकला का काम संवेदना को ले जाना है। यह भी स्तंभाकार उपकला का एक रूप है। भीतरी कर्ण, जिह्वा के स्वादकोष, तथा कहीं कहीं चर्म में, इस उपकला के कोशिकासमूह मिलते हैं। (मु० स्व० व०)

उपगुप्त एक बौद्ध भिक्षु। इन्हें 'अलक्षणक बुद्ध' भी कहा जाता है। ये वाराणसी के गुप्त नामक इत्र विक्रेता के पुत्र थे। १७ वर्ष की अवस्था में संन्यास लेकर इन्होंने योगसाधना की और काम पर विजय प्राप्त करने के उपरांत समाधिकाल में भगवान् बुद्ध के दर्शन किए। मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य में उरुमुंड या रुरुमुंड पर्वत पर इन्हें उपसंपदा हुई और वहीं उपगुप्त विहार नामक बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध प्रचारकेंद्र बना। बोधिसत्वावदानकल्पलता में उल्लेख है कि इन्होंने १८ लाख व्यक्तियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। उत्तरी बौद्ध परंपरा के अनुसार ये सम्राट् अशोक के धार्मिक गुरु थे और इन्होंने ही अशोक को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। दिव्यावदान के अनुसार चंपारन, लुंबिनीवन, कपिलवस्तु, सारनाथ, कुशीनगर, श्रावस्ती, जेतवन आदि बौद्ध तीर्थस्थलों की यात्रा के समय उपगुप्त अशोक के साथ थे। उल्लेख मिलते हैं कि पाटलिपुत्र में आयोजित तृतीय बौद्ध संगीति में उपगुप्त भी विद्यमान थे। इन्होंने ही उक्त संगीति का संचालन किया और कथावथ्थु की रचना अथवा संपादन किया। संभवतः इसीलिये कुछ विद्वानों ने मोग्गलिपुत्त तिस्स तथा उपगुप्त को एक ही मान लिया है, क्योंकि अनेक बौद्ध ग्रंथों में तृतीय संगीति के संचालक एवं कथावथ्थु के रचनाकार के रूप में तिस्स का ही नाम मिलता है। (कै० चं० श०)

उपग्रह ग्रह की परिक्रमा करनेवाले आकाशीय पिंडों को उपग्रह कहते हैं। चंद्रमा भी पृथ्वी का उपग्रह है। अपने ग्रहों की परिक्रमा करने में उपग्रह एक निश्चित कक्षा में, निश्चित वेग से, घूमते हैं जिससे प्रत्येक स्थान पर अपकेंद्र बल, गुरुत्वीय बल के बराबर और उसके विपरीत हो जाता है।

यदि किसी उपग्रह का द्रव्यमान m है जो M द्रव्यमान के एक ग्रह के चारों ओर v वेग से घूम रहा है और उसकी वृत्ताकार त्रिज्या r है तो

अपकेंद्र बल = आकर्षण

या $\frac{m v^2}{R} = \frac{G.Mm}{R^2}$ जिसमें G गुरुत्वांक है,

या $v^2 = \frac{GM}{R}$

या $v^2 R = GM$. जो एक नियतांक के बराबर होगा।

पृथ्वी से चंद्रमा ३,८०,००० कि०मी० दूर है और उसका वेग एक कि०मी० प्रति सेकंड के लगभग है जो पृथ्वी के पास के उपग्रह के वेग का केवल ⅛ है। अतः चंद्रमा एक महीने में पृथ्वी की परिक्रमा पूरी करता है जब कि पृथ्वी के पास का उपग्रह एक दिन में १५ परिक्रमा कर लेता है।

कृत्रिम उपग्रह--यदि किसी मानवनिर्मित उपग्रह को पृथ्वी की परिक्रमा करने के लिये अंतरिक्ष में भेजना है तो उसके लिये कमसे कम ८ कि०मी० या ५ मील प्रति से० का वेग आवश्यक है। इस वेग को प्रथम अंतरिक्ष वेग (first cosmic velocity) कहते हैं। यदि वेग ११.२ कि०मी० प्रति सेकंड हो जाय तो वह द्वितीय अंतरिक्ष वेग या पलायन वेग (escape velocity) कहलाता है। उपग्रह इस वेग द्वारा पृथ्वी के आकर्षणक्षेत्र से बाहर हो जायगा तथा सौर मंडल में अन्यत्र चला जायगा।

पलायन वेग वह कम से कम वेग है जिससे किसी वस्तु को पृथ्वी के ऊपर की ओर फेंकने पर वह वस्तु पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण सीमा से बाहर निकल जाय और फिर लौटकर पृथ्वी पर वापस न आ सके।

इसे निम्न सूत्र से ज्ञात करते हैं--

$$v = \sqrt{\frac{2GM}{R}}$$

जहाँ v = वस्तु का पलायन वेग

G = गुरुत्वाकर्षणीय नियतांक = ६·६६ × १०⁻⁸ स० ग० स० मात्रक

M = पृथ्वी का द्रव्यमान = ६ × १०²⁷ ग्राम

R = पृथ्वी की त्रिज्या = ६·४ × १०⁸ सेमी

इन मानों को समीकरण में प्रतिष्ठापित करने पर--

v = १·१ × १०⁶ सेमी/से०

= ११ किमी प्रति से० या ७ मील प्रति से०

= ३६००० फुट/से० या २५००० मील प्रति घंटा लगभग।

तीव्रगामी जेट विमानों और राकेटों का आविष्कार होने से कृत्रिम उपग्रहों को अंतरिक्ष में भेजने तथा अन्य ग्रहों पर अंतरिक्ष यानों में जाने में सुविधा हो गई। ४ अक्टूबर, १९५७ को रूस द्वारा छोड़ा गया कृत्रिम उपग्रह एक स्वचालित राकेट था जो बहुस्टेजी राकेट से पूर्वनिर्धारित कक्षा में छोड़ा गया था। स्पुतनिक के साथ ही उसको ले जानेवाला राकेट भी पृथ्वी की परिक्रमा उसके लगभग १००० कि०मी० की दूरी पर तथा लगभग उसी ऊँचाई पर करता रहा और अंत में घने वायुमंडल में प्रविष्ट होने से जलकर राख हो गया।

उपग्रह को पृथ्वी से कितनी ऊँचाई पर परिभ्रमण करना चाहिए इसपर कोई एक मत नहीं। केवल जानने योग्य बात यह है कि जितना ही वह पृथ्वी के संनिकट रहेगा उतनी ही उसकी गति तेज होगी और उतने ही शीघ्र वह अपनी परिक्रमा पूरी करेगा। २,३९,००० मील की दूरी पर भ्रमण करनेवाला चंद्रमा केवल २,४०० मील प्रति घंटे के हिसाब से परिभ्रमण करता है और इस परिक्रमा में उसे २७ दिन से अधिक लगते हैं, किंतु ५६० मील की दूरी पर छोड़ा हुआ रूसी कृत्रिम चंद्रमा अपनी परिक्रमा १८,००० मील प्रति घंटा की गति से ९६ मिनट में ही पूरी करता था। यदि यही उपग्रह १,०७५ मील पर परिभ्रमण करता तो इसकी गति १५,००० मील प्रति घंटा होती और वह अपना चक्कर दो घंटे में समाप्त कर लेता। वैज्ञानिकों की योजनाओं से यही मालूम पड़ता है कि उपग्रह ३०० मील से लेकर १०,००० मील तक की दूरी पर ही छोड़े जायँ ताकि पृथ्वी के वायुमंडल से बाहर होने के कारण वायुमंडल द्वारा गति अवरुद्ध न हो और किसी प्रकार शक्ति व्यय न हो, साथ ही निकट होने के कारण उदय और अस्त होनेवाले सूर्य की किरणों में इनका पर्यवेक्षण भी हो सके।

कक्षा में भ्रमण करनेवाले किसी प्रक्षेपास्त्र को पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से बाहर रहना पड़ेगा, यह मिथ्या धारणा है, क्योंकि सिद्धांततः आकर्षण का प्रभाव अनंत तक जाता है। परिधि में भ्रमण करनेवाला उपग्रह इसलिये प्रदक्षिणा करता है कि इस परिधि पर पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण (gravitation) और परिभ्रमण के कारण उत्पन्न अपकेंद्रक बल (centrifugal force) बराबर हो जाते हैं। पृथ्वी की वक्रता के कारण वह उपग्रह बन जाता है।

यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि उपग्रह को किस कक्षा में भ्रमण करना चाहिए। विज्ञान के अनुसार कक्षा को हमेशा ही दीर्घवृत्ती होना पड़ेगा। उपग्रह विषुवत् रेखा के समांतर परिधि में, अथवा उससे समकोण बनाता हुआ, या किसी निर्धारित कोण में चक्कर काट सकता है। यह निश्चय है कि २४ घंटे में अपने अक्ष पर घूमती हुई पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर जाती है और उसी दिशा में छोड़े हुए प्रक्षेपास्त्र को इस गति से लाभ मिल सकता है। ध्रुवों का चक्कर काटने पर उसे यह लाभ नहीं मिल सकता।

कक्षा या परिधि का चयन उसकी उपादेयता और छोड़नेवाले देश के परीक्षणक्षेत्र के विस्तार (proving range) पर निर्भर करेगा। अमरीकी उपग्रह को अगर ३४° के कोण पर छोड़ा गया तो इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि केप कानैवराल से कैरीबियन समुद्र की ओर जो परीक्षण क्षेत्र अटलांटिक समुद्र में है वह उसी दिशा में है। यदि प्रथम प्रयोगों में किसी प्रकार की त्रुटि भी हो जाती तो प्रथम या द्वितीय स्तर किसी घनी आबादी के क्षेत्रों में न गिरकर समुद्र ही में गिरते। इसके विपरीत वांडनवर्ग से छोड़े हुए उपग्रह ध्रुवों का चक्कर काटने के लिये भेजे गए।

रूसी परीक्षण क्षेत्र भी ऐसा ही था, इसीलिये रूसी उपग्रहों ने भी लगभग ६५° का कोण बनाया। स्तरों के गिरने के लिये साइबीरिया का रेगिस्तान उपयुक्त स्थान था। एक बात यह भी जानने योग्य है कि विषुवत् रेखा के समांतर परिधि पृथ्वी के उन अंशों से जाती है जहाँ आबादी बहुत कम है और उपग्रह को बहुत कम लोग देख सकते हैं। आदर्श कक्षा तो वह है जो ध्रुवों का चक्कर काटती है, क्योंकि जब तक उपग्रह एक चक्कर काटता है, पृथ्वी अपने अक्ष में कुछ आगे बढ़ जाती है। अतएव उपग्रह का दूसरा चक्कर पृथ्वी के अन्य भागों से होता है और दिन में १२ चक्कर लगानेवाला उपग्रह इन १२ चक्करों में पृथ्वी के सभी भागों के ऊपर चक्कर काट लेता है और सारी पृथ्वी उसका निरीक्षण क्षेत्र बन जाती है। अब तक जितने भी उपग्रह छोड़े गए हैं, वे सब विषुवत् रेखा के साथ एक कोण बनाकर छोड़े गए हैं और जितना ही अधिक यह कोण होता है उतना ही अधिक पृथ्वी के विभिन्न अंगों से उसका निरीक्षण किया जा सकता है। ३४° का कोण बनाता हुआ अमरीकी उपग्रह विषुवत् रेखा के दोनों ओर ४०° तक ही दृष्टिगोचर हुआ। इसके विपरीत रूसी उपग्रह काफी अधिक क्षेत्र से देखे जा सके।

पृथ्वी के अक्ष के नत होने के कारण इन उपग्रहों की कक्षा पृथ्वी के ऊपर ऐसी रेखा बनाती है जो टोकरी की बुनावट की तरह दिखाई पड़ती है। अपने प्रत्येक दूसरे चक्कर में उपग्रह पृथ्वी के अधिक पश्चिमी भागों के ऊपर होकर जाता है, क्योंकि उपग्रह के एक चक्कर काटने तक पृथ्वी अपने अक्ष पर कुछ अंश पूर्व की ओर घूम जाती है।

बहुस्तरीय राकेटों की उड़ान का क्रम यह होता है कि सर्वप्रथम पहले स्तर पर ईंधन जलने लगता है और सारा रॉकेट ऊर्ध्व दिशा की ओर पहले तो धीरे धीरे, फिर त्वरित गति के साथ कुछ ही क्षणों में दृष्टि से ओझल हो जाता है। दो या तीन मिनट में ही सारा ईंधन समाप्त हो जाता है। इतने थोड़े समय में ही प्रक्षेपास्त्र ३०-४० मील ऊपर चढ़ जाता है और वहीं प्रथम स्तर विच्छिन्न हो जाता है। तब तक रॉकेट की गति ३,०००-४,००० मील प्रति घंटा तक हो जाती है। विच्छिन्न रॉकेट पृथ्वी पर अवतारण क्षेत्र (launching site) से लगभग १००-१५० मील दूर गिर जाता है। पहले स्तर में कौन सा ईंधन जलाया जाय, यह निश्चित नहीं है। यह द्रव आक्सिजन एवं गैसोलीन भी हो सकता है।

रॉकेट का दूसरा स्तर, जिसमें किसी प्रकार का अन्य रासायनिक ईंधन प्रयुक्त हो सकता है, उपग्रह को धीरे धीरे अधिक झुकी हुई दिशा की ओर ले जाता है। इस प्रकार रॉकेट १४० मील की दूरी तक पहुँच जाता है और तब तक उसकी गति भी १०,००० मील प्रति घंटा हो जाती है। दूसरा स्तर तब विच्छिन्न हो सकता है या तीसरे स्तर के साथ ही उस

यात्रा में लगा भी रह सकता है और ३०० मील पहुँच चुकने पर विच्छिन्न हो जाता है। तभी चलता है तीसरा स्तर, जो उपग्रह को अपनी परिधि पर पहुँचाकर उसकी गति को १८,००० मील प्रति घंटे या उसके करीब बना देता है।

पहले उपग्रह विविध यंत्रों से सुसज्जित रहे हैं। इन्हीं के द्वारा वे वायुमंडल एवं अंतरिक्ष संबंधी बातों की सूचना रेडियो की भाषा में बराबर पृथ्वी को भेजते रहे हैं, जिससे अंतरिक्ष के ताप, वायु की दाव, चुंबकीय शक्ति और उसका क्षेत्र, ब्रह्मांड में सूर्य की किरणों के विकिरण, उल्काओं की संख्या आदि पर प्रकाश पड़ता रहा है।

यदि अंतिम स्तर पहुँचने तक हम रॉकेट की गति को २५,००० मील प्रति घंटे से अधिक करने में समर्थ हो सके तो हमारा प्रक्षेपास्त्र उपग्रह न बनकर ग्रह बनने की क्षमता रखता है। पृथ्वी के आकर्षण से दूर होने पर भी यह सौर मंडल से दूर नहीं जा सकता और वह स्वतः सूर्य के आकर्षण के भीतर का एक ग्रह बन जाता है। २ जनवरी, सन् १९५९ को भेजे गए रूसी प्रक्षेपास्त्र ल्यूनिक-१ का वजन १९६ पाउंड था। वह सूर्य की परिक्रमा करता हुआ उससे ९ करोड़ १५ लाख मील से लेकर १२ करोड़ २५ लाख मील की दूरी तक अंडाकार कक्षा में भ्रमण करने लगा और सूर्य की पूरी परिक्रमा में उसे १५ महीने लगे। इसी प्रकार अमरीकावालों ने भी ३ मार्च, सन् १९५९ को १३३ पाउंड वजन का एक प्रक्षेपास्त्र, पाइनियर-४ छोड़ा। वह सूर्य से ९.१७ करोड़ मील से १०.६१ करोड़ मील की दूरी तक गया।

इसके बाद ल्यूनिक-२ छोड़ा गया, जो चंद्रमा के धरातल से जा टकराया। ल्यूनिक-३ ने तो ऐसी परिधि बनाई कि उसने चंद्रमा के छिपे हुए भाग का चित्र खींचकर विश्व के वैज्ञानिकों को चमत्कृत कर दिया।
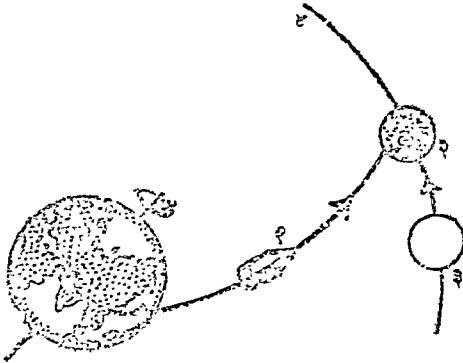
चित्र १. ल्यूनिक २ का मार्ग

१. ल्यूनिक-२; २. चंद्रमा—अवतरणभूमि; ३. चंद्रमा का स्थान, जब रॉकेट छोड़ा गया तथा ४. चंद्रमा की कक्षा।

विगत वर्षों में रॉकेट की उड़ानों में पर्याप्त उन्नति हुई है और इन ग्रहों और उपग्रहों द्वारा प्राप्त ज्ञान ने पृथ्वी या ब्रह्मांड संबंधी विशद जानकारी कराई है।

यदि स्पुतनिक-१ ने विज्ञान का चमत्कार दिखाया तो स्पुतनिक-२ ने वायुमंडल की ऊपरी परतों पर सूर्य का प्रभाव और जीवधारियों पर इन उड़ानों का क्या प्रभाव होगा, यह भी दिखलाया। अमरीकी एक्स्प्लोरर-१ ने पृथ्वी के ऊपर सर्वप्रथम विकिरणमेखला (radiation belt) से परिचित कराया और यह भी दिखा दिया कि उल्काणुओं (micrometeorites) का उपग्रह को अधिक खतरा नहीं है। साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया है कि उपग्रह का ताप नियंत्रण में रखा जा सकता है।

वैंगार्ड-१ ने, जो तौल में केवल ३$\frac{1}{4}$ पाउंड का था, सबसे पहले सौर कोशिकाओं (solar cells) की महत्ता दिखाई, जिनके बल पर वैंगार्ड की आयु २०० वर्ष की हो सकी है। एक्स्प्लोरर-३ के चुंबकीय फीतों में आइज़नहॉवर की अवाज ले ली गई थी और फिर सारे विश्व को उनका नए वर्ष का संदेश भेजा गया था।

स्पुतनिक-३ १$\frac{1}{2}$ टन का था। इसमें अनेक प्रकार के यंत्र भेजे गए। वैंगार्ड-२ द्वारा २० दिन तक लगातार बादलों के आवरण संबंधी
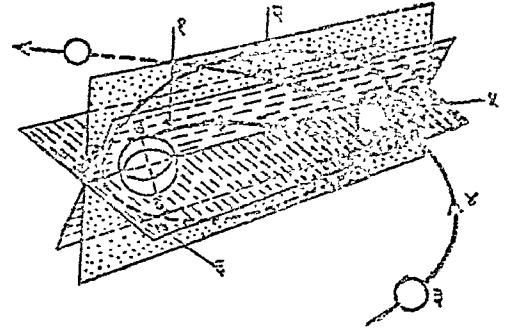
चित्र २. ल्यूनिक-२ का मार्ग

१. ल्यूनिक का कक्षासमतल, चंद्रमा की परिक्रमा के पहले; २. ल्यूनिक का कक्षासमतल, चंद्रमा की परिक्रमा के बाद; ३. चंद्रमा की स्थिति, जब उपग्रह छोड़ा गया; ४. चंद्रमा की कक्षा; ५. चंद्रमा का स्थान, जब चित्र लिया गया, तथा ६. चंद्रमा का कक्षासमतल।

हाल भेजे गए। ल्यूनिक-१ और पायोनियर-४ पृथ्वी के आकर्षण से बाहर भी निकल गए। इनसे यह भी मालूम हुआ कि हमारे वायुमंडल के कण चंद्रमा तक बिखरे मालूम पड़ते हैं। साथ ही चंद्रमा के चारों ओर, पृथ्वी की अवस्था के विपरीत, किसी भी प्रकार की विकिरणमेखला (radiation belt) की संभावना नहीं है और न ही वहाँ कोई चुंबकीय क्षेत्र मालूम पड़ता है। ल्यूनिक-२ ने निर्देशन का वह चमत्कार दिखाया जिसके बल पर २,३६,००० मील की दूरी पर १ मिनट १३ सेकंड की देरी भी पहले से बता दी गई। ल्यूनिक-३ ने केवल चंद्रमा के पिछले भाग का चित्र ही नहीं खींचा वरन् अपने यंत्रों द्वारा उस चित्र को उचित समय पर सभी जगह भेज भी दिया। ४$\frac{1}{2}$ टन का एक रूसी अंतरिक्षयान अपने १८वें चक्कर के बाद फिर पृथ्वी पर निर्दिष्ट स्थान के बहुत ही संनिकट उतार लिया गया और इससे जीवधारियों के उड़ान की भूमिका तैयार की गई। इस प्रकार के प्रयत्न बराबर किए जा रहे हैं और धीरे धीरे हम प्रकृति पर विजय पा रहे हैं (द्र० अंतरिक्ष यात्रा)।

उपग्रह भी अब विभिन्न प्रकार के हो गए हैं। उनकी उपादेयता के आधार पर ही उनका नाम निर्धारित किया जाता है।

ऋतुविज्ञान संबंधी उपग्रह (Meteorological satellite) की योजना बन चुकी है। ये उपग्रह पृथ्वी की सतह से ५००-६०० मील की दूरी पर घूमते हैं और पृथ्वी के ऊपर बादलों की बनावट का निरीक्षण कर उसकी सारी सूचना पृथ्वी पर स्थित ऋतु-विज्ञान-केंद्रों पर भेजी जाती है। इसके बल पर दीर्घक्षेत्री जलवायु का पूर्वानुमान लगाया जाता है। टिरोस-१ (Tiros-1) नामक एक ऐसा ही उपग्रह अप्रैल १, सन् १९६०, को ऊपर छोड़ा गया। इसके द्वारा बादलों के आवरण का चित्र खींचना संभव हो सका। इसी प्रकार के अन्य उपग्रह भी छोड़े गए (द्र० **अंतरिक्ष यात्रा**)।

परस्पर वार्तालाप संभव करनेवाले संचार-उपग्रह (communication satellites) भी भेजे जा चुके हैं। मुख्यतः ये दो प्रकार के हैं। एक तो फुलाए हुए गुब्बारे हैं। ये १०० फुट व्यास तक के हो सकते हैं और प्रतिध्वनि प्रायोजन (project echo) के अंतर्गत उपग्रहों की उपादेयता की परीक्षा करेंगे कि कहाँ तक ये रेडियो प्रक्षेपण का कार्य करने में सफल हो सकेंगे और कहाँ तक रेडियो द्वारा दूरपर्यवेक्षण और टेलिफोन वार्ता उनके द्वारा संभव है। उन तक भेजे हुए रेडियो संकेतों को परावर्तित

उपचर्या (द्र० पृष्ठ ११३)

उपचारिकाएँ उपकरणों से परिचित हो रही हैं
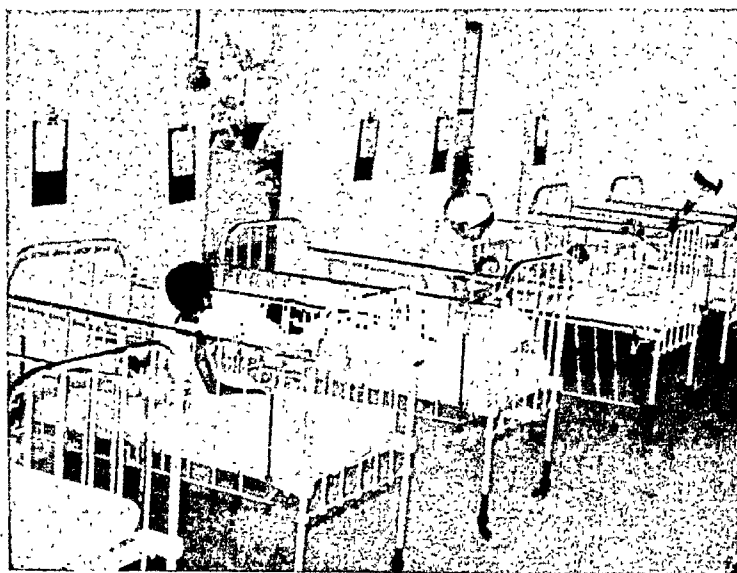
अस्पताल में रोगी बालकों की सेवा
(नर्सिंग जर्नल ऑव इंडिया के सौजन्य से प्राप्त)

पहुँच जाने के बाद लोगों में फैला। सन् १८६० में उनके प्रयास से लंदन में नर्सों के लिये एक पाठशाला खुली, जो इस प्रकार की पहली पाठशाला थी।

भारत में उपचर्या के प्रथम शिक्षणालय मद्रास में सन् १८५४ में और बंबई में १८६० में खुले। १८८५ में लेडी डफरिन फंड की स्थापना हुई थी, जिसकी सहायता से कई अस्पतालों के साथ उपचर्या के शिक्षणालय खोले गए और उनमें भारत की स्त्री नर्सों के प्रशिक्षण का श्रीगणेश हुआ। अब तो देश के प्राय सभी बड़े अस्पतालों में नर्सों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है, जिनके द्वारा सामान्य उपचर्या के डिप्लोमा दिए जाते हैं। कुछ केंद्रों में धात्री कर्म (मिडवाइफरी) के प्रशिक्षण और डिप्लोमा की भी व्यवस्था है। उपचर्या महाविद्यालयों में स्नातकों को बी० एस-सी० की उपाधि दी जाती है तथा सद्नों (= माता) और सिस्टर (= बहन) अनुशिक्षकों को बाहता के संबंध में संक्षिप्त शिक्षा (रिफ्रेशर कोर्स) की व्यवस्था की जाती है।

नर्सों के दायित्व—फ्लोरेंस नाइटिंगेल के समय से लेकर अब तक चिकित्सा विज्ञान में बहुत उन्नति हुई है, जिससे उपचर्या विज्ञान में भी आमूल परिवर्तन हो गए हैं। अब यह धार्मिक व्यवस्थापकों के प्रोत्साहन से संचालित एवं अनभिज्ञ व्यक्तियों द्वारा दया-दाक्षिण्य-प्रेरित सेवा मात्र नहीं रह गया है, अब तो यह आजीविका का एक साधन है, जिसके लिये विस्तृत वैज्ञानिक पाठ्यक्रम का अध्ययन और शिक्षण आवश्यक होता है। ऐसे अधिकांश पेशों में, जिनमें निजी कौशल तथा वैज्ञानिक प्रशिक्षण से सफलता मिल जाती है, इसमें विशेषता यह है कि सफल उपचारिका के लिये कौशल तथा नवीनतम ज्ञान के अतिरिक्त प्रेम तथा करुणा का भाव, दु ख दर्द को शांत तथा दूर करने का उत्साह और माँ का सा हृदय भी चाहिए।

अपने रोगी के प्रति उपचारिका के दायित्व की आधुनिक भावना से केवल शारीरिक सुख देने, चिकित्सा करने तथा औषधोपचार के अतिरिक्त इसकी भी अपेक्षा रहती है कि उसे रोग का तथा वह रोग किसी रोगी को किस प्रकार प्रभावित करता है, इसका भी स्पष्ट ज्ञान हो। समय समय पर जो नवीन लक्षण उभरें उनके प्रति उसे अत्यंत सजग रहना चाहिए। किस प्रकार के उपचार से रोगी को लाभ होगा, इसका उसे ज्ञान होना चाहिए तथा प्रत्येक रोगी के लिये अलग अलग किस प्रकार की देख-भाल अपेक्षित है तथा उसकी उपचर्या किस प्रकार की जाय, इन सबका उसे स्पष्ट पता होना चाहिए। नर्स को अपना दायित्व पूरी तरह निभाने के लिये अपने रोगियों की मन स्थिति से भी परिचित होना आवश्यक है। रोगी की देखभाल करने में केवल रोग पर दृष्टि रखना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् रोगी को ऐसा व्यक्ति समझना चाहिए जो उपचारिका से यह अपेक्षा करता है कि वह उसे सुरक्षा दे, उसे समझे तथा उसपर ममता रखे।

अन्य रोगों की रोकथाम में और उनसे पीड़ित लोगों की देखभाल में नर्स का योग बहुत ही महत्वपूर्ण है। वह चिकित्सा के लिये सहायिका तथा सहयोगिनी है। उसके बिना चिकित्सक को रोगी की सहायता करने में भारी अड़चनें पड़ सकती हैं। कभी कभी तो वह डाक्टर से भी अधिक महत्व की हो जाती है।

आज व्यक्तिविशेष अथवा राष्ट्र के स्वास्थ्य को यथार्थत उन्नत बनानेवाले चिकित्सा संबंधी सामाजिक तथा निरोधक कार्यक्रम में चिकित्सक के साथ समुचित योग देकर नर्सें निस्संदेह क्रियात्मक योगदान करती हैं।

उपचर्या व्यवसाय में मुख्यत स्त्रियाँ ही काम करती हैं। वे आज संतोषपूर्वक यह कह सकती हैं कि उनका काम सम्मानित काम है, क्योंकि उनका जीवन दूसरों का जीवन उपयोगी तथा सुखी बनाने में लगा रहता है। उनको इस व्यवसाय में स्वाभाविक रूप से आनंद और आत्मतोष मिलता है क्योंकि वे एक परदु खापहारी तथा संमानपूर्ण काम में संलग्न रहती हैं।

नर्स की वर्दी—नर्सों को विशेष वस्त्र (वर्दी, समवेश) दिया जाता है। ऐसा स्वच्छता के लिये, उन्हें सुविधापूर्वक पहचानने के लिये तथा उनके वेशसौष्ठव के लिये किया जाता है। उनकी वर्दी औपचारिक पहनावा है; इसमें सफेद फ्राक, सफेद टोपी, एप्रन तथा पेटी और सफेद जूते तथा मोजे होते हैं। आभूषण के रूप में केवल घड़ी उनके पास रहती है।

उपचर्या के बदलते रूप के अनुसार नई नर्सें सफेद फ्राक के स्थान पर सफेद साड़ी पहनना पसंद करती हैं। यह वेश सादा तो है ही, पहननेवालियों के लिये और जिनकी शुश्रूषा में वे लगी रहती हैं उनके लिये भी प्रभावोत्पादक होता है।

विशेष दक्षता—सार्वजनिक उपचर्या कार्य कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। साधारणत प्रत्येक नर्स एक वर्ग की विशेषज्ञ होती है। नर्सों के काम के बड़े बड़े वर्ग ये हैं : सामाजिक तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य उपचर्या, अस्पताल में उपचर्या, उद्योगक्षेत्रीय उपचर्या, धात्री उपचर्या तथा निजी चिकित्सा-क्षेत्र में उपचर्या। उपचर्या के कितने ही उपविभाग भी हैं, उदाहरणार्थ अस्पताल में चिकित्साप्रकार के अनुसार उपचर्या के ये विभाग और हो जाते हैं—बालक की उपचर्या, हृद्रोग उपचर्या, अस्थिकर्म उपचर्या, क्षय उपचर्या, गर्भ विषयक उपचर्या, सामान्य आयुर्वोपचारिक तथा शल्य चिकित्सकी उपचर्या, मस्तिष्क रोगों की उपचर्या, छूत के रोगों की उपचर्या इत्यादि।

स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण में नर्स को बहुत महत्वपूर्ण कार्य करना पड़ता है। रोग की अनुपस्थिति को ही स्वास्थ्य नहीं कहते, स्वास्थ्य तो निश्चित रूप से रहने का अर्थात् उस स्थिति का नाम है जिसमें पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक स्वस्थता हो। रोगी को अस्पताल में स्वास्थ्यलाभ करने के उपरांत पुन पहले जैसे अस्वच्छ वातावरण में ही लौटा देना स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण की दिशा में कोई प्रगति नहीं मानी जा सकती। चतुर्दिक् स्वास्थ्य की भावना नर्सों को लोगों तक पहुँचानी पड़ेगी और उन्हें यह समझना पड़ेगा कि यदि स्वच्छता रखी जाय तो दु ख का अधिकांश भाग अपने आप दूर हो जायगा। नर्सें ही लोगों को स्वस्थ जीवन व्यतीत करने का मार्ग अच्छी तरह बता सकती हैं। उन्हें रोगी और उनके परिवार को इन बातों की शिक्षा और बुद्धि देनी चाहिए जिससे वे नर्स के विदा हो जाने के बाद भी अपना घर द्वार अच्छा रख सकें।

बालक उपचर्या की नर्स को नए आगंतुक का प्राय संपूर्ण दायित्व उठाना पड़ता है और इसीलिये उसे बालक के जन्म लेने पर अपना काम नहीं आरंभ करना होता, वरन् उसका काम उसके जन्म से नौ महीने पहले से ही आरंभ हो जाता है। जन्म से पूर्व, जन्म के समय, शैशव, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में, वह जैसे भी और जहाँ भी हो, घर में, स्कूल में, अस्पताल में, गली में, मैदान में, सभी जगह उसे बालक की सँभाल करनी पड़ती है। उसे माता पिता की सहायता करनी होती है और यह देखना होता है कि बालक सभी कठिनाइयों को पार कर जाय। उसे शिक्षक, परामर्शदाता तथा मित्र की हैसियत बरतनी होती है। बालक उपचर्या की प्रत्येक नर्स को बच्चों की देखभाल के विशेष ज्ञान और अधिक कौशल की आवश्यकता होती है ताकि वह उनकी वैज्ञानिक उपचर्या कर सके।

बच्चे के लिये वह समय सबसे अधिक संकट का होता है जब उसे अस्पताल में लाया जाता है। वह अपनी माँ को छोड़कर एक नए संसार में पहुँचता है, जहाँ वह यह नहीं जानता कि उसके साथ क्या किया जानेवाला है। उसका क्षुब्ध मानसिक संतुलन तथा विकल मनोवेग उसे बीमारी से कहीं अधिक संत्रस्त करते हैं। ऐसी दशा में औषधोपचार से भी बढ़कर अस्पताल में उसकी निजी देखभाल का महत्व है। बालक उपचर्या की नर्स का ही यह मुख्य कार्य होता है कि वह बच्चे का विश्वास प्राप्त कर ले और उसे सब बातें पहले से ही साफ साफ बता दे जिससे वह चिकित्सक द्वारा चिकित्सा तथा होनेवाले कार्यों के लिये तैयार हो जाय। बच्चे को पहले से बताए बिना ही यदि आकस्मिक रूप से कुछ किया जाता है तो वह निश्चय ही उसका विरोध करता है।

हृद्रोग उपचर्या की नर्स के विशेष उत्तरदायित्व होते हैं और वैसा ही उसका प्रशिक्षण होता है। हृदय के बहुत से रोगी आरंभिक पीड़ा शांत हो जाने के उपरांत अपने रोग के संबंध में आवश्यक सावधानी नहीं बरतते। जो नर्स रोगी का उल्लेखनीय विश्वास तथा अपने ऊपर पूर्ण निर्भरता प्राप्त कर ले, जो रोगी की शारीरिक मुद्राओं का अभिप्राय समझे, जो अपनी रहन सहन को इस प्रकार ढाल सके कि रोगी को परेशानी न हो, वही नर्स हृदुपचर्या के लिये योग्य और सफल सिद्ध हो सकती है।

मानसिक रोगियों की सँभाल के लिये नर्स में बहुत अधिक कौशल की अपेक्षा होती है। रोगियों के बीच नर्स को बहुत सावधानी से अपना काम करना पड़ता है। उसका व्यवहार और उसकी आत्मीयतापूर्ण देखभाल निश्चय ही रोगो के लिये किसी भी ओषधि से अधिक उपयोगी होती है। नर्स को रोगी के संबंध मे प्रत्येक प्रकार का ज्ञान होना चाहिए और उन बातों का तो उसे अवश्य ही भली प्रकार पता होना चाहिए, जिससे रोगी का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। रोगियों के साथ उसे धैर्य, सहानुभूति और कौशल से इस प्रकार व्यवहार करना पड़ता है, मानों वे उसके मित्र और प्रियजन हों, क्योंकि मानसिक रोगी साधारण सी बात से ही उद्विग्न हो उठते है और थोड़ी सी भी उद्विग्नता चिकित्सा और उपचार से हुए समस्त लाभ को एक क्षण में नष्ट कर सकती है।

ये नर्सों की विशेष दक्षता के कुछ उदाहरण है। प्रत्येक विशेष क्षेत्र में नर्स के कुछ विशेष कर्तव्य रहते है। उसको उपचर्या का लाभ तभी हो सकता है जब उसे स्थिति का संपूर्ण ज्ञान हो। किंतु स्थिति चाहे जैसी हो, जब नर्स को उसका दायित्व सौंप दिया जाता है तो उसे माता और मित्र के समान तथा डाक्टर के निर्देशों के अनुसार रोगी की शुश्रूषा करनेवाले सच्चे सेवक की भाँति काम करना पड़ता है। (कृ० स० मा०)

उपचारार्थी केंद्रित मनश्चिकित्सा मानसिक रोग के निवारण की एक मनोवैज्ञानिक विधि जो कार्ल रोजर्स द्वारा प्रतिपादित की गई है। रोजर्स का स्व-वाद प्रसिद्ध है जो अधिकांशतः उपचार प्रक्रिया या परिस्थितियों से उद्भूत प्रदत्तों पर अवलंबित है। रोजर्स की मूल कल्पनाएँ स्वविकास, स्वज्ञान, स्वसंचालन, वाह्य तथा आंतरिक अनुभूतियों के साथ परिचय, सूझ का विकास करना, भावों की वास्तविक रूप में स्वीकृति इत्यादि संबंधी है। वस्तुतः व्यक्ति में वृद्धिविकास, अभियोजन एवं स्वास्थ्य-लाभ तथा स्वस्फुटन की स्वाभाविक वृत्ति होती है। मानसिक संघर्ष तथा संवेगात्मक क्षोभ इस प्रकार की अनुभूति में बाधक होते है। इन अवरोधों का निवारण भावो के प्रकाशन और उनको अंगीकार करने से तथा सूझ के उदय होने से हो जाता है।

इस विधि में ऐसा वातावरण उपस्थित किया जाता है कि रोगी अधिक से अधिक सक्रिय रहे। वह स्वतंत्र होकर उपचारक के संमुख अपने भावों, इच्छाओं तथा तनाव संबंधी अनुभूतियों का अभिव्यक्तीकरण करे, उद्देश्य, प्रयोजन को समझे और संरक्षण के लिये दूसरे पर आश्रित न रह जाए। इसमें स्वसंरक्षण अथवा अपनी स्वयं देख रेख आवश्यक होती है। उपचारक परोक्ष रूप से, बिना हस्तक्षेप के रोगी को वस्तुस्थिति की चेतना में केवल सहायता देता है जिससे उसके भावात्मक, ज्ञानात्मक क्षेत्र में प्रौढ़ता आए। वह निर्देश नहीं देता, न तो स्थिति की व्याख्या ही करता है।

इस विधि के पाँच स्तर है: (१) **उपचारार्थी का सहायतार्थ आगमन :** यह रोगी के सक्रिय सहयोग की भूमिका है। उपचारक अपने हाव भाव, रंग ढंग और बातचीत से प्रारंभ मे ही यह स्पष्ट कर देता है कि उसके पास रोगी की समस्याओं का प्रत्युत्तर नहीं है। हाँ, संपर्क में आने पर रोगी को ऐसी स्थिति का आभास अवश्य होगा जिसमें वह अपनी समस्याओं का समाधान अवश्य कर सके। (२) **भावों की अभिव्यक्ति :** सहानुभूति का वातावरण पाने से रोगी के निषेधात्मक एवं विरोधी संवेगों का, जो अभी तक निचले स्तर पर दबे थे, प्रदर्शन हो जाता है। इसी प्रकार इसके पश्चात् धनात्मक भावों का भी उन्मुक्त प्रदर्शन होता है। भावनाओं की अभिव्यक्ति उपचार का एक आवश्यक अंग है। इसके बिना रोग का निवारण संभव नहीं होता। (३) **अंतर्दृष्टि का अभ्युदय :** एक नई दृष्टि के उदय होने से रोगी अपने वास्तविक स्व को उसी रूप मे अंगीकार करता है तथा वास्तविक स्व और आदर्श स्व में सामंजस्य लाता है। (४) **धनात्मक प्रयास :** इस अवस्था में वह स्थूल योजनाएँ बनाता है और अग्रशील होता है। (५) **संपर्क का समापन :** इस अवस्था में रोगी को किसी प्रकार की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह मुक्त विचारधारी और अग्रगणी बनता है। आत्मविश्वास के उदय होने से उसकी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है और वह दायित्व का अनुभव करता है। उपचारक की सहायता उसे नहीं चाहिए और 'वह पर्याप्त है'—यह भाव उसमें उदित और दृढ़ हो जाता है।

यद्यपि उपचारार्थी केंद्रित मनश्चिकित्सा उपचार की उत्कृष्ट विधि है तथापि कुछ ऐसे मानसिक रोग है जिनपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अधिकांशतः मनस्ताप तथा साधारण मानसिक दुर्बलता होने पर यह उपचार विधि अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होती है। इस युक्ति के द्वारा तात्कालिक समस्या सहज ही सुलझ जाती है। जिनका बौद्धिक स्तर ऊँचा है उनपर यह विधि अधिकतर सफल होती है। (१० अ०)

उपदंश उपदंश एक प्रकार का गुह्य रोग है। आयुर्वेद में उपदंश के पाँच भेद बताए गए हैं जिन्हें क्रमशः, वात, पित्त, कफ, त्रिदोष एवं रक्त की विकृति के कारण होना बताया गया है। इसकी उत्पत्ति के कारणों में मुख्य रूप से आघात, अशौच तथा प्रदुष्ट योनिवाली स्त्री के साथ संसर्ग बताया गया है। इस प्रकार यह एक औपसर्गिक व्याधि है जिसमें शिश्न पर व्रण पाए जाते हैं। दोषभेद से इनके लक्षणों मे भेद मिलता है। उचित चिकित्सा न करने पर संपूर्ण लिंग सड़ गलकर गिर सकता है और बिना शिश्न के अंडकोष रह जाते है।

वातज उपदंश में सूई चुभने या शस्त्रभेदन सरीखी पीड़ा होती है। पैत्तिक उपदंश में शीघ्र ही पीला पूय पड़ जाता है और उसमें क्लेद, दाह एवं लालिमा रहती है। कफज उपदंश में खुजली होती है पर पीड़ा और पाक का सर्वथा अभाव रहता है। यह सफेद, घन तथा जलीय स्रावयुक्त होता है। त्रिदोषज मे नाना प्रकार की व्यथा होती है और मिश्रित लक्षण मिलते है। रक्तज उपदंश में व्रण से रक्तस्राव बहुत अधिक होता रहता है और रोगी बहुत दुर्बल हो जाता है। इसमे पैत्तिक लक्षण भी मिलते है।

इस प्रकार आयुर्वेद मे उपदंश शिश्न की अनेक व्याधियों का समूह मालूम पड़ता है जिसमें सिफ़िलिस, सॉफ्ट शैंकर एवं शिश्न के कैंसर सभी संमिलित है।

एक विशेष प्रकार का उपदंश जो फिरंग देश में बहुत अधिक प्रचलित था और जब भारतवर्ष मे वे लोग आए तो उनके संपर्क से यहाँ भी गंध के समान वह फैलने लगा तो उस समय के वैद्यों ने, जिनमें भाव मिश्र प्रधान हैं, उसका नाम फिरंग रोग रख दिया। इसे आगंतुज व्याधि बताया गया अर्थात् इसका कारण हेतु जीवाणु बाहर से प्रवेश करता है। निदान मे कहा गया कि फिरंग देश के मनुष्यों के संसर्ग मे तथा विशेषकर फिरंग देश की स्त्रियों के साथ प्रसंग करने से यह रोग उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का होता है एक बाह्य एवं दूसरा आभ्यंतर। बाह्य मे शिश्न पर और कालांतर में त्वचा पर विस्फोट होता है। आभ्यंतर मे संधियों, अस्थियों तथा अन्य अवयवों में विकृति हो जाती है। जब यह बीमारी बढ़ जाती है तो दौर्बल्य, नासाभंग, अग्निमांद्य, अस्थिशोष एवं अस्थिवक्रता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

वस्तुतः फिरंग रोग उपदंश मे भिन्न व्याधि नहीं है बल्कि उसी का एक भेद मात्र है। बहुत लोग इसे पर्याय भी मानने लगे है।

आधुनिक दृष्टि से शिश्न के व्रणों के दो मुख्य भेद है—हार्ड शैंकर (hard chanchre) एवं साफ्ट शैंकर (soft chanchre)। इसमें प्रथम तो ट्रिपोनिमा पैलिडम (treponema pallidum) नामक जीवाणु से तथा द्वितीय हिमोफ़िलसडक्रेकी (haemophilus ducreyi) के कारण होता है। इसमें पहले को फिरंग और दूसरे को उपदंश मान सकते हैं। सिफ़िलिस (syphlilis) की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रदुष्ट स्त्री के साथ संभोग करने पर दस दिन मे दस सप्ताह के अंदर शिश्न पर एक छोटे बटन के आकार का कठिन, स्रावयुक्त, वेदनारहित शोथ हो जाता है जो बिना किसी चिकित्सा के भी शांत हो जाता है। तत्संबंधी लसिका ग्रंथियों में भी शोथ हो जाता है; परंतु उसमें भी पाक नहीं होता है। यह रोग की प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था उपसर्ग के तीन से छह माह बाद उत्पन्न होती है जिसमें दौर्बल्य, शिरःशूल तथा सामान्य खाँसी के साथ साथ निम्नांकित चार प्रकार की विकृतियाँ होती हैं :

१. त्वचा विस्फोट—ताम्र वर्ण के विस्फोट पूरे शरीर में पाए जाते हैं जिनमें न वेदना होती है न कंडू।

२. ग्रंथि—नम स्थान में, विशेषकर गुदा के किनारे, एक ग्रंथि बन जाती है। यह भी लगभग वेदनारहित होती है।

३. श्लेष्मिक-कला-विस्फोट—यह विशेषकर मुख में पाया जाता है। इसमें लाल रंग के अनेक व्रण मुख की श्लेष्मिक कला में हो जाते हैं जो सफेद झिल्ली से ढके रहते हैं।

४. लसिका-ग्रंथि-शोथ—शरीर की सभी लसिका ग्रंथियों में शोथ हो जाता है।

इसमें चारों प्रकार की विकृतियों का होना आवश्यक नहीं है। कोई एक या एक से अधिक एक साथ पाई जा सकती हैं। कुछ मास पश्चात् इन विकृतियों का शमन हो जाता है और दो वर्ष से ३० वर्ष के पश्चात् तृतीय अवस्था का प्रारंभ होता है। इसमें शरीर के किसी भाग में रोग उत्पन्न हो सकता है, जैसे त्वचा, अस्थि, संधि, जिह्वा, स्नायु इत्यादि। प्रभावित अवयव में ग्रैन्यूलेशन टिशू का एकत्रीकरण हो जाता है और गाँठें बन जाती हैं जिससे अवयव के कार्य में बाधा उत्पन्न हो जाती है। ये गाँठें भी वेदनारहित होती हैं।

यह रोग आनुवंशिक भी होता है। माता पिता में होने से इसके जीवाणु गर्भावस्था में ही गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं और जन्मजात शिशु में तथा कालांतर में इस रोग के लक्षण उसके अंदर पाए जाए हैं। बच्चा उत्पन्न होते ही बहुत दुर्बल, शुष्क हो सकता है जो शीघ्र ही मर जाता है। जीवित रहने पर त्वचा पर तथा आभ्यंतर अवयव में, दाँत, आँख तथा स्नायुओं में विकृति उत्पन्न होती है।

इस रोग का निदान लक्षणों से तथा विभिन्न स्रावों से जीवाणु के प्रत्यक्षीकरण से, वासरमैन तथा कान विधि से रक्त की परीक्षा करके की जाती है।

इसकी चिकित्सा में पारद का सर्वप्रथम प्रयोग भारतवर्ष में हुआ, तदनंतर संखिया का प्रयोग सफल पाया गया। आजकल इसकी चिकित्सा पेनिसिलीन से की जाती है। इस ओषधि के आविष्कार से इसके हृद्रोग पक्षवध तथा आनुवंशिक होना आदि भयंकर परिणाम आजकल कम मिलते हैं।

इसमें प्रदुष्ट स्त्री से संसर्ग करने से, दो तीन दिन के अंदर लाल रक्तवर्ण का शोथ शिश्न पर हो जाता है। इसमें वेदना, पाक, पूयनिर्माण बहुतायत से होता है। व्रणों की संख्या बहुधा अनेक हो जाती है और वंक्षण प्रदश की लसिका ग्रंथियों में भी शोथ हो जाता है जिसमें पूय पड़ जाता है। इस प्रकार इसके लक्षण सिफ़िलिस से बिलकुल विपरीत होते हैं। इसकी चिकित्सा टेट्रासाइक्लीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन एवं क्लोरोफेनिकाल के द्वारा सफलतापूर्वक की जा सकती है।

इस प्रकार हार्ड शैंकर या साफ्ट शैंकर दोनों को उपदंश में संमिलित किया जा सकता है और सिफ़िलिस को फिरंग संज्ञा दी जा सकती है। अब इनकी चिकित्सा सुगम एवं सफल हो गई है।

(सु० ना० त्रि०; वी० एन० उ०)

उपदेशवाद अंग्रेजी के 'डाइडैक्टिसिज्म' का हिंदी रूपांतरण। साहित्य के माध्यम से उपदेश देने की प्रवृत्ति को उपदेशवाद की संज्ञा दी गई है। अंग्रेजी में इससे संबद्ध पर्याप्त साहित्य मिलता है, लेकिन हिंदी के नीतिकाव्य को इस वर्ग में अंतर्भुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें उपदेश की प्रवृत्ति अधिक गहरी तथा अधिकांशतः सांप्रदायिक हो गई है। देखा जाय तो उपदेशवाद एक व्यापक साहित्यिक प्रवृत्ति है और संसार की प्रत्येक भाषा के साहित्य में किसी न किसी अंश में इसे खोजा जा सकता है। लेकिन शुद्ध कलात्मक स्तर पर इसे उचित नहीं माना जाता।

(कै० चं० श०)

उपनयन हिंदुओं के स्मार्त संस्कारों में से एक संस्कार उपनयन है। 'उपनयन' का अर्थ है विद्याभ्यास और नैतिक विनय के लिये पिता अथवा उसके अभाव में किसी अभिभावक द्वारा बालक को 'आचार्य के समीप ले जाना'। यह मुख्यतः शैक्षणिक संस्कार है। इसके माध्यम से बालक जातीय ज्ञान और आचार विचार में दीक्षित होकर सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने के योग्य बनता है। यह एक प्रकार से बालक का दूसरा जन्म है। माता पिता से बालक का भौतिक जन्म होता है। आचार्य से उसका बौद्धिक तथा नैतिक। उपनयन से संस्कृत बालक की संज्ञा 'द्विज' (दो जन्मवाला) होती है। उपनयन के लिये बालक की अवस्था वर्णक्रम से ब्राह्मण के लिये पाँच वर्ष, क्षत्रिय के लिये छह, वैश्य के लिये आठ वर्ष श्रेष्ठ मानी जाती है। इसी प्रकार अंतिम अवस्था क्रमशः १६, २२ और २४ वर्ष है। अंतिम अवस्था तक उपनयन न होने से बालक 'व्रात्य' (समाज से पतित और बहिष्कृत) हो जाता है और व्रात्यष्टोम द्वारा शुद्ध होकर ही पुनः समाज में प्रवेश के लिये अधिकारी हो सकता है। उपनयन में आचार्य का चुनाव बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है; वह उच्च कोटि का विद्वान् और चरित्रवान् होना चाहिए। जिसका उपनयन अविद्वान् करता है वह अंधकार से और अधिक अंधकार में प्रवेश करता है (तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते।—श्रुति)। शौनक के अनुसार बालक का उपनयन बहुश्रुत, कुलीन, शीलवान् और तपस्वी द्विजश्रेष्ठ ही कर सकता है। आचार्य पद के लिये वृत्तिहीन का वरण नहीं करना चाहिए; मज्जा से अपवित्र हाथ रक्त से शुद्ध नहीं होता (न याजयेत् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम्। नहि मज्जाकरौ दिग्धौ रुधिरेण विशुध्यतः।—हारीत)।

उपनयन संस्कार के लिये उपयुक्त ऋतु और समय का चुनाव आवश्यक है। ब्राह्मण बालक के लिये वसंत ऋतु, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म, वैश्य के लिये शरत् और रथकार (=शिल्पी) के लिये वर्षा उपयुक्त मानी गई है, (बौधायन गृह्यसूत्र, २-५-६)। ये ऋतुएँ वर्णगत स्वभाव की प्रतीक हैं। संस्कार के बहुत से आनुषंगिक और आवश्यक अंग हैं। उपनयन के एक दिन पहले से बालक संस्कार के लिये तैयार किया जाता है। घर में श्री, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा और सरस्वती की पूजा होती है। दूसरे दिन प्रातःकाल माता के साथ और साथियों के सहित बालक अंतिम भोजन करता है। इसके पश्चात् स्नान से पवित्र होकर वह उपनयन के लिये प्रस्तुत होता है। तब उसको कठोर ब्रह्मचारी जीवन के उपकरण दिए जाते हैं। सबसे पहले शरीर के गुप्त अंग ढकने के लिये कौपीन, फिर कौपीन बाँधने के लिये नैतिक प्रतीक मेखला, यज्ञ का प्रतीक ब्रह्मसूत्र (जनेऊ), बिस्तर के लिये अजिन (मृगचर्म), भयनिवारण और संयम का प्रतीक दंड प्रदान किया जाता है। इसके पश्चात् कतिपय-प्रतीकात्मक कृत्य होते हैं। इनमें सर्वप्रथम हृदयस्पर्श है। ब्रह्मचारी का हृदयस्पर्श करते हुए आचार्य कहता है, "मैं अपनी इच्छाशक्ति में तुम्हारा हृदय धारण करता हूँ" (पारस्कर गृह्यसूत्र, २-२-१८)। इसके पश्चात् अश्मारोहण होता है जो आचार में दृढ़ता का द्योतक है। दृढ़ता का आश्वासन पाकर आचार्य ब्रह्मचारी को अपने संरक्षण में लेता और उससे पूछता है, "तुम्हारा नाम क्या है ?" ब्रह्मचारी उत्तर देता है, "मैं अमुक हूँ।" आचार्य पूछता है, "तुम किसके छात्र हो ?" ब्रह्मचारी कहता है, "आपका"। आचार्य समाधान करता है, "तुम इंद्र के ब्रह्मचारी हो; अग्नि तुम्हारा गुरु है; मैं तुम्हारा आचार्य हूँ।" इसके अनंतर आचार्य ब्रह्मचारी को आचार संबंधी आदेश देता है। तदुपरांत सर्वप्रसिद्ध सावित्री (गायत्री) मंत्र का उपदेश करता है: "सविता (सबको उत्पन्न करनेवाले) के सर्वश्रेष्ठ प्रकाश का हम ध्यान करें; वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे।" गायत्री मंत्र के उपदेश के पश्चात् ज्ञान और तपस्या के प्रतीक पवित्र अग्नि को नित्य हवन के लिये प्रदीप्त करता है। उपनीत ब्रह्मचारी को अपना पोषण समाज में भिक्षाचरण के द्वारा करना चाहिए। आजकल उपनयन के दिन केवल औपचारिक रूप से ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता है। संस्कार में जो परवर्ती परिवर्तन हुआ है उसके अनुसार एक और अभिनय होता है। ब्रह्मचारी विद्याध्ययन के लिये काशी अथवा काश्मीर जाने का स्वाँग करता है। उसके मामा या बहनोई उसको विवाह का प्रलोभन देकर वापस लाते हैं।

इस संस्कार के अंत में त्रिरात व्रत का अनुष्ठान होता है। यह व्रत तीन रात्रि के बदले कभी १२ दिन अथवा १२ मास तक चलता है। आधुनिक युग में तो यह विधान मात्र है; इसका पालन नहीं होता। किंतु नियमतः ब्रह्मचारी का कठोर जीवन यहीं से प्रारंभ होता है। इस व्रत का अवसान मेधाजनन नामक कृत्य में होता है। मेधाजनन का उद्देश्य है, ब्रह्मचारी में मेधा अथवा प्रतिभा उत्पन्न करना। इस संबंध में शौनक

का कथन है, "जगत् को धारण करनेवाली सावित्री (सूर्य की पुत्री) स्वयं मेधारूपिणी है; विद्या में सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले द्वारा मेधा पूजनीया है (या सावित्री जगद्धात्री सैव मेधास्वरूपिणी। मेधा प्रसिद्धये पूज्या विद्या सिद्धिर्मभिप्सिता।—शौनक)।

शैक्षणिक परिस्थितियों के बदलने के कारण उपनयन के प्रयोजनों और आदर्शों में भी परिवर्तन होता आया है। आजकल यह संस्कार औपचारिक रूप में ही सुरक्षित है। परंतु प्राचीन काल में यह वास्तविक था और ब्रह्मचर्याश्रम के प्रारंभ में एक बहुत ही अनुकूल वातावरण उत्पन्न करता था। संसार के सभी धर्मों और जातियों में यह संस्कार किसी न किसी रूप में पाया जाता है। परंतु जहाँ अन्यत्र किसी न किसी शारीरिक कार्य—अंगच्छेदन, बलपरीक्षा आदि—के बिना जाति के अधिकारों में प्रवेश पाना असंभव है, हिंदुओं में जातीय जीवन में प्रवेश के लिये प्रवेशपत्र शैक्षणिक है। (विस्तृत विवरण के लिये द्र० 'संस्कार')।

सं० ग्रं०—म० म० पी० वी० काणे : हिस्ट्री ग्राव हिंदू धर्मशास्त्र; राजबली पांडेय : हिंदू संस्कार : सामाजिक धार्मिक अध्ययन; श्रीमती स्टेवेंसन : राइट्स ग्राव द ट्वाइस बॉर्न। (रा० ब० पां०)

उपनिवेश (कालोनी) किसी राज्य के बाहर की उस दूरस्थ बस्ती को कहते हैं जहाँ उस राज्य की जनता निवास करती है। किसी पूर्ण प्रभुसत्ता संपन्न राज्य (सावरेन स्टेट) के लोगों के अन्य देश की सीमा में जाकर बसने के स्थान के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता है। इस अर्थ में अधिकतर यूरोपीय देशों के 'उपनिवेश' लंदन में स्थित हैं। परंतु साधारणतः अधिक संकुचित अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग होता है, विशेषकर निम्नलिखित दशाओं में : (क) एक राज्य के निवासियों को अपने राज्य की भौगोलिक सीमाओं के बाहर अन्य स्थान पर बसी बस्ती को तब तक उपनिवेश कहते हैं, जब तक वह स्थान उस राज्य के ही प्रशासकीय क्षेत्र में आता हो, अथवा (ख) कोई स्वतंत्र राष्ट्र, जो किसी अन्य (प्रधान) राष्ट्र की राष्ट्रीयता, प्रशासन, तथा आर्थिक एकता से घनिष्ट संबंध रखता हो। उदाहरणार्थ, प्रथम श्रेणी के अंतर्गत त्यूतनिक उपनिवेश हैं जो बाल्टिक प्रांतों में स्थित हैं तथा इसी प्रकार के उपनिवेश बालकन प्रायद्वीप में भी हैं। दूसरी श्रेणी के उपनिवेश—और यही अधिक प्रचलित प्रयोग है—अफ्रीका अथवा आस्ट्रेलिया में अंग्रेजों के हैं।

उपनिवेश बनाने अथवा बसाने की प्रवृत्ति तथा ढंग अनेक प्रकार के हैं, जैसे, राज्य की सीमा बढ़ाने का लोभ, व्यापार बढ़ाने की इच्छाएँ, धनवृद्धि का लोभ, दुष्कर कार्य करने की प्रवृत्ति, बढ़ती हुई जनसंख्या के भार को कम करने की इच्छा, राजनीतिक पदलोलुपता, विवशता, विद्रोहियों को देश से दूर रखने तथा प्रधानतः सांघातिक एवं भीषण अपराधियों को देश से निष्कासित करने की आवश्यकता आदि मुख्य कारण ही उपनिवेशवाद को प्रोत्साहन देते रहे हैं। साधारण रूप में यह एक प्रवासी प्रवृत्ति का ही विकसित रूप है तथा उपनिवेश को एक प्रकार से प्रवासियों का स्थायी तथा व्यवस्थित रूप कहा जा सकता है। (श्या० सुं० श०)

इतिहास—उपनिवेशों की स्थापना ने विभिन्न समयों एवं क्षेत्रों में विभिन्न रूप धारण किए हैं। फिनीशियाइयों द्वारा भूमध्यसागर के तटवर्ती भागों में स्थापित उपनिवेश अपनी मातृभूमि के व्यापारकेंद्रों के रूप में कार्य करते थे। विभिन्न ग्रीक समुदायों को उपनिवेश की स्थापना करने के लिये आर्थिक समस्याओं ने बाध्य किया जो सब, एथेंस के उपनिवेशों को छोड़कर, मातृभूमि से स्वतंत्र थे। रोम ने साम्राज्यरक्षा के लिये अपने नागरिकों के छोटे छोटे उपनिवेशों की स्थापना विजित विदेशियों के बीच की थी। दक्षिण पूर्वी एशिया के भूभाग भारतीय बस्तियों से भरे पड़े थे, किंतु हिंदेशिया ऐसे क्षेत्र, जो किसी समय बृहद् भारत के अंग थे, मातृभूमि से सर्वथा स्वतंत्र थे।

१४वीं शताब्दी तथा उसके अनंतर यूरोप एशिया से आगे बढ़ गया तथा वाणिज्य एवं अन्वेषण द्वारा अटलांटिक, हिंद और प्रशांत महासागरों के आर पार उसने अपना अधिकार बढ़ा लिया। १६वीं शताब्दी में मध्य तथा दक्षिण अमरीका में स्पेन के साम्राज्य की स्थापना हुई। पुर्तगाल ने ब्राजील, भारत के पश्चिमी समुद्रतट तथा मसालोंवाले पूर्वी द्वीपसमूहों में अपना अड्डा जमाया। इन्हीं का अनुकरण कर, फ्रांस, इंग्लैंड एवं हालैंड ने उत्तरी अमरीका तथा पश्चिमी द्वीपसमूह में उपनिवेशों की तथा अफ्रीका के समुद्रतट पर, भारत तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में व्यापारिक केंद्रों की स्थापना की। डेनमार्क तथा स्वीडन निवासी भी, इन लोगों से पीछे नहीं रहे। किंतु मुख्य औपनिवेशिक शक्तियाँ इंग्लैंड, फ्रांस तथा हालैंड की ही सिद्ध हुई। इन तीनों के साम्राज्य में 'सूर्य कभी नहीं अस्त होता था' तथा एशिया और अफ्रीका, मानव सभ्यता के आदि देश, के अधिकांश भागों पर, इनका अधिकार हो गया।

औद्योगिक क्रांति तथा आर्थिक रीतियों के नवीनतम रूपों के ढूँढ़ निकालने के साथ ही पश्चिम के राष्ट्रों में साम्राज्य के लिये छीना झपटी चलती रही। यह एक लंबी कहानी है, जिसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। किंतु इसका ज्ञान आवश्यक है कि जहाँ कहीं भी विस्तार की संभावना थी, पूँजीवाद अपने नए साम्राज्यवादी रूप में सामने आया। इसीलिये जर्मनी, १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, संसार में अपने अस्तित्व के लिये भूमि चाहता था, अर्थात् दूसरे शब्दों में, उपनिवेश की लूट खसोट में हिस्सा बँटाना चाहता था। इटली ने भी इस दौड़ में भाग लिया। रूस, सारे उत्तरी तथा मध्य एशिया में फैलकर, ब्रिटेन को भयभीत करने लगा। संयुक्त राज्य अमरीका तक प्रत्यक्ष रूप से, जैसे फिलीपाइन्स में तथा अन्य बहुत से क्षेत्रों पर, अप्रत्यक्ष रूप से शासन करने लगा। जापान ने पश्चिमी साम्राज्यवादियों से शिक्षा प्राप्त की तथा पहले कोरिया फिर संपूर्ण पूर्वी एशिया पर, अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। महान् देश भारत, जो अंग्रेजों के प्रत्यक्ष अधिकार में था, तथा चीन, जो नाममात्र के लिये स्वतंत्र किंतु वस्तुतः कई शक्तियों की गुलामी में जकड़ा हुआ था, उपनिवेश प्रथा के मूर्त उदाहरण हैं। इतिहास के इस रूप की अन्य विशेषताएँ अफ्रीका के भीतरी भागों में प्रवेश, लाभदायक दासव्यापार की विभीषिका, उसकी भूमि का बँटवारा और प्रतिस्पर्धा, साम्राज्यवादियों द्वारा उसके साधनों का निर्दय शोषण आदि हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भौगोलिक अनुसंधान तथा उपनिवेशों की स्थापना के लिये बहुत से लोगों में दुस्साहसिक कार्य के प्रति अनुराग तथा इसकी क्षमता आवश्यक थी, किंतु उपनिवेशस्थापन के पीछे दुस्साहस ही प्रमुख शक्तिस्रोत के रूप में नहीं था। व्यापारिक लाभ सबसे बड़ा कारण था तथा राज्यविस्तार के साथ व्यापार का विस्तार होने के कारण क्षेत्रीय विजय आवश्यक थी। बहुधा दूरस्थ उपनिवेशों के लिये यूरोप में युद्ध होते थे। इस तरह हालैंड ने पुर्तगाल को दक्षिण पूर्वी एशिया के पूर्वी द्वीपसमूह से निकाल बाहर किया। इंग्लैंड ने कैनाडा, भारत तथा अन्य स्थानों से फ्रांस को निकाल बाहर किया। जर्मन युद्धविशेषज्ञ फान मोल्तके ने एक बार कहा था, "पूर्वी बाजार ने इतनी शक्ति संचित कर ली है कि वह युद्ध में सैन्य संचालन करने में भी समर्थ है।" जब गैविसम द्वारा बंदूक का प्रसिद्ध आविष्कार हुआ, अन्वेषक स्टैन्ली (जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती डा० लिविंग्स्टन का पता अफ्रीका में लगाया) ने कहा था, "यह एक आग्नेयास्त्र है जो मूर्तिपूजकों को दबाने में अमूल्य सिद्ध होगा।" साम्राज्य के समर्थकों, (यथा रुडयार्ड किपलिंग) द्वारा "श्वेतों की जिम्मेदारी" के रूप में एक पुराणरूढ़ दर्शन (मिथ्) ही प्रस्तुत कर लिया गया। 'नेटिव' शब्द का प्रयोग "नियम रहित निम्नस्तर जाति" जिनका भाग्य ही श्वेतों द्वारा शासित होता था, के अपमानजनक अर्थ में होने लगा।

विकासशील पूँजीवादी शक्तियों को विस्तार एवं संचय के लिये निकास की आवश्यकता थी। अविकसित देशों के कच्चे मालों की उन्हें आवश्यकता थी। उन्हें ऐसे देशों की आवश्यकता अपने उत्पादित मालों के बाजार के रूप में थी, और ऐसे क्षेत्रों के रूप में थी जहाँ अतिरिक्त पूँजी लगाई जा सके तथा उससे अकल्पित लाभ, अधीन देशों के मजदूरों का सरलता से शोषण हो सकने के कारण, निश्चित किया जा सके। प्रत्येक शक्तिस्रोत ऐसे क्षेत्रों के एकमेव संनियंत्रक और एकाधिकारी होना चाहते थे। कभी कभी उपनिवेश खरीदे भी गए, कभी तलवार के बल तथा धोखे से, जैसे भारत में, जीते गए, कभी ऋण वसूलनेवाले अभियान का अंत, अधिकार

के रूप में हुआ, कभी धर्मप्रचारकों के ऊपर आक्रमण अथवा हत्या ही, जैसे चीन में, विदेशी बस्ती की स्थापना का कारण बतलाई गई। कारण शक्तियों के बीच उपनिवेश के लिये आपसी स्पर्धा एवं ईर्ष्या के विभिन्न असंख्य युद्ध विश्वयुद्ध से भी दुगुने व्यापक रूप में हुए हैं।

१९वीं शताब्दी में, उपनिवेशों की स्वतंत्रता का आंदोलन प्रारंभ हुआ तथा कनाडा ऐसे 'श्वेत' उपनिवेशों ने, स्वशासन का अधिकार प्राप्त कर लिया। पश्चात् २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत, वर्मा आदि देशों ने उपनिवेश का जुआ उतार फेंका और स्वतंत्र हो गए। किंतु तो भी संसार में अनेक देश उपनिवेश बने रहे। सन् १९६० में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उपनिवेशवाद के खिलाफ अपना ऐतिहासिक घोषणापत्र जारी किया जिसके बाद साइप्रस, केनिया, अलजीरिया, गोआ तथा अनेक अफ्रीकी देशों की मुक्ति संभव हुई। (ही० ना० मु०)

प्रभाव—दीर्घकालीन परंपरा के कारण उपनिवेशवाद का व्यवस्थित रूप प्रस्तुत हुआ है और उसके विभिन्न परिणाम स्पष्ट रूप से सामने आए हैं। शासित देश में लोकसेवकों के माध्यम से शासन हुआ है। शासकों के प्रति 'पितृत्व का भाव' विकसित होना अवश्यंभावी है। इसी आधार पर 'श्वेत पुरुषों के दायित्व' का सिद्धांत विकसित हुआ। शासितों में आत्मविश्वास का लोप सामान्य बात है। फलतः सर्वमान्य विश्वास की बात ही नहीं उठ सकती। सारा शासन अप्रत्यक्ष रूप से होता रहा है। शासन की भाषा बाहर से आने पर राष्ट्रीय भाषा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। सरकारी पदों पर अल्पसंख्यकों की नियुक्ति का अनुपात असंतुलित किया गया है। शासन की क्रमबद्धता नष्ट होने से जनस्वीकृति, जनमत, हितरक्षा आदि असंभव हैं। विकासहीनता में शासन यथास्थिति बनाए रखना चाहता है और रूढ़िवादिता एवं अनुदार परंपराओं का वह अभिभावक बन गया। आर्थिक विकास उतना ही हो सका जितना शासकों ने चाहा। आर्थिक शोषण में सारे लाभ शासक प्राप्त करते रहे हैं। आर्थिक नीति मूलतः कच्चे माल के निर्यात की और पक्के माल के आयात की रही है। इसी में मुक्त व्यापार आदि का सैद्धांतिक विश्लेषण हुआ है। शासकों के द्वारा उद्योगीकरण होने से उपनिवेश सदा शासक राष्ट्र के पूरक बने रहते हैं, उनका स्वयं आर्थिक व्यक्तित्व ही नहीं रहता। शासक शासित में भावी शत्रुता एवं हिंसा की राजनीति का बीजारोपण इसी व्यवस्था का फल है। फलतः उग्रता, ध्वंस, संघर्ष का मनोभाव बना है। उपनिवेश दरिद्रता, अशिक्षा, रोग, मानसिक हीनता आदि के प्रतीक बन जाते हैं।

दृष्टिकोण—इसकी व्याख्या प्रजातीय उच्चता के रूप में भी की गई है। फ्रांसीसी विचारकों ने उपनिवेशवाद को सभ्यता के विकास का साधन माना है। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार इस व्यवस्था ने पिछड़े देशों को उच्च देशों के संपर्क में आने का अवसर दिया है। लुगार्ड (१९२२) इसे दो दृष्टियों से प्रस्तुत करता है। उपनिवेशों के विकास का दायित्व श्रेष्ठ देश पर हो जाता है और उनकी संकुचित स्थिति विश्व के संदर्भ में प्रमुख होती है। लेकिन भारतीय स्वतंत्रता और अफ्रेशियायी जागरण से इन मान्यताओं को चुनौतियाँ मिली है। पंचशील की नीति उपनिवेशवाद का अंतरराष्ट्रीय प्रतिवाद है और १९५५ में बांदुंग प्रस्ताव इसका परिणाम। संयुक्त राष्ट्र का घोषणापत्र (१९६०) इसी की स्वीकृति है। इसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि सभी प्रकार के उपनिवेशवाद की निंदा की गई है। इसके साथ ही उपनिवेशवाद ने नया रूप धारण किया है। विश्व को विकसित अविकसित जैसे भागों में बाँट दिया गया है। इसमें प्राविधिक, शैक्षणिक, सैनिक, सहायता आदि का कार्य उपनिवेश कर रहा है। इसे अभिनव उपनिवेशवाद कहा जाता है। इसका प्रतीक है अमरीका।

आर्थिक पक्ष—राजनीति से अधिक महत्वपूर्ण है आर्थिक पक्ष। इसकी व्यवस्था ऐडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑव नेशन्स' (१७७६) से प्रारंभ होती है। आर्थिक सिद्धांत के विभिन्न काल रहे हैं—१६६० से पूर्ववर्ती, १६६० से १७७६ तक, १७७६ से १८७० तक, १८७० से आगे। बीसवीं शताब्दी में सभी प्रकार के उपनिवेशवाद की आलोचनाएँ हुई हैं। इनमें मुख्य है मार्क्सवादी आलोचना। लेनिन ने उपनिवेशों का संस्थागत एवं अंतरराष्ट्रीय रूप प्रस्तुत करते हुए कहा कि साम्राज्यवाद का अंतिम चरण है 'महाजनी पूँजीवाद।' प्रतिवादी विचारधारा जे० ए० हाब्सन (इंपीरियलिज़्म : ए स्टडी, १९०२) ने प्रस्तुत की। उसके अनुसार यूरोप के विदेशों को स्वयं अपने देश में खर्च करना चाहिए। उपनिवेशवाद के प्रयोग के तीन स्तर हैं—प्रारंभ से १८३० तक, १८३० से १९वीं शती के अंत तक, १८९० से १९४५ तक।

उपनिवेशवाद में यूरोपीय देशों ने पूँजी के द्वारा 'सर्वोच्च लाभ' प्राप्त किया है। उन्होंने एकाधिकारवादी पूँजीवाद को जन्म दिया है। अभिनव उपनिवेशवाद का तात्पर्य है आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों के द्वारा अविकसित देशों का शोषण। पिछड़े देशों की सारी आर्थिक व्यवस्था उनपर निर्भर रहती है। उनमें विशेष व्यापारिक संबंध होते हैं। विदेशी पूँजी पर उन्हें निर्भर रहना पड़ता है। बाजार, विदेशी वस्तु, पूँजी, प्राविधिक कुशलता, अपने देश के लोगों को प्रशिक्षण देना सभी विकसित देशों के नियंत्रण में रहते हैं। इसी में 'सहायता की राजनीति', 'विदेशी पूँजी', 'अंतरराष्ट्रीय एकीकरण', 'आर्थिक संघटन', 'अंतरराष्ट्रीय व्यापार नियंत्रण' जैसी व्यवस्थाएँ विकसित हुई हैं। वस्तुतः विकसित और अविकसित देशों में अंतर्निहित असंतुलन का परिणाम है 'अभिनव उपनिवेशवाद'। (ह० ना० त्रि०)

उपनिषद् उपनिषद् भारतीय तत्वज्ञान तथा धर्म का वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना ज्ञानधाराएँ प्रवाहित होती हैं। उपनिषद् वेद का अंतिम भाग है और साथ ही वेद के मौलिक रहस्यों का प्रतिपादक भी और इसीलिये वह 'वेदांत' के नाम से भी प्रख्यात है। वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धांतों के प्रतिपादक तीन प्रमुख ग्रंथ माने जाते हैं जो 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से सुविख्यात हैं। इसमें उपनिषद् ही मुख्य हैं, क्योंकि इसके अन्य दोनों ग्रंथ, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषदों के ऊपर आश्रित होने के कारण ही इतने मान्य समझे जाते हैं। उपनिषदों को प्रातिभ-चक्षु-संपन्न भारतीय मनीषियों की विमल प्रतिभा तथा अपरोक्ष दृष्टि से साक्षात्कृत आध्यात्मिक तथ्यों की विशाल राशि कहा जा सकता है।

१७वीं सदी में दाराशिकोह ने अनेक उपनिषदों का मूल संस्कृत से फारसी में अनुवाद कराया था तथा १९वीं सदी के मान्य जर्मन तत्ववेत्ता शोपेनहावर ने अपनी गुरुत्रयी में अफ़लातून तथा कांट के साथ ही उपनिषदों को स्थान दिया और अपने दार्शनिक तत्वों का प्रासाद इन्हीं के आधार पर खड़ा किया। आजकल समस्त सभ्य भाषाओं में उपनिषदों के अनुवाद, व्याख्यान तथा अनुशीलन सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध हैं।

नाम तथा संख्या—उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से निष्पन्न होता है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं : विवरण = नाश होना, गति = पाना या जानना तथा अवसादन = शिथिल होना। उपनिषद् मुख्यतः 'ब्रह्मविद्या' का द्योतक है, क्योंकि इस विद्या के अभ्यास से मुमुक्षुजनों की संसार उत्पन्न करनेवाली अविद्या नष्ट हो जाती है (विवरण), वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति), जिससे मनुष्यों के गर्भवास आदि सांसारिक दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं (अवसादन)। गौण रूप में उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रंथों का वाचक माना जाता है। फलतः उपनिषद् वे तत्वप्रतिपादक ग्रंथ हैं जिनके अभ्यास से मनुष्य को 'ब्रह्म' तथा परमात्मा का साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है।

उपनिषदों की पूर्ण संख्या के निश्चय में मतभेद है। 'मुक्तिकोपनिषद्' (प्रथम अध्याय) में उपलब्ध उपनिषदों की संख्या १०८ बतलाई गई है जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से संबद्ध हैं, १९ शुक्लयजुर्वेद से, ३२ कृष्णयजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। नारायण, नृसिंह, रामतापनी तथा गोपाल—इन चार उपनिषदों में पूर्व तथा उत्तर भेद से दो-दो खंड हैं। इस प्रकार उपनिषदों की संख्या ११२ हैं। अडयार लाइब्रेरी (मद्रास) ने लगभग ६० नवीन उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें छागलेय, वाष्कल, आर्षेय तथा शौनक नामक चार उपनिषदों का भी समावेश है जो दाराशिकोह के अध्यवसाय से फारसी में अनूदित हुए थे। विषय की गंभीरता तथा विवेचन की विशदता के कारण १३ उपनिषद् विशेष मान्य तथा प्राचीन माने जाते हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, (५) मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, (१०) बृहदारण्यक, इन दस

के ऊपर आदि शंकराचार्य ने अपने भाष्य का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्रायणी उपनिषद् भी शंकर के द्वारा प्रमाण कोटि में रखे जाने तथा शारीरिक भाष्य में उद्धृत किए जाने के कारण प्रामाणिक माने जाते हैं। अन्य उपनिषद् तत्तद् देवता विषयक होने के हेतु तांत्रिक माने जा सकते हैं। ऐसे उपनिषदों में शैव, शाक्त, वैष्णव तथा योग विषयक उपनिषदों की प्रधान गणना है। रचना की दृष्टि से कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक।

रचनाकाल—उपनिषदों के कालक्रम, विकास तथा पारस्परिक संबंध को दिखलाने के लिये अनेक विद्वानों ने गहरी छानबीन की है जिनमें जर्मन विद्वान् डा० डॉसन तथा भारतीय विद्वान् डा० बेल्वेलकर और रानडे के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० डॉसन ने उपनिषदों के विकासक्रम में चार स्तरों का पता लगाया है—१. गद्यात्मक उपनिषद् जिनका गद्य ब्राह्मणों के गद्य के समान सरल, लघुकाय तथा प्राचीन है—बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि तथा केन, २. पद्यात्मक उपनिषद् जिनका पद्य वैदिक मंत्रों के अनुरूप सरल, प्राचीन तथा सुबोध है—कठ, ईश, श्वेताश्वतर तथा महानारायण, ३. अवांतर गद्योपनिषद्—प्रश्न, मैत्री (=मैत्रायणी) तथा मांडूक्य, ४. आथर्वण उपनिषद्—ब्रह्मविद्या, योगतत्व, आत्मबोध आदि अनेक अवांतरकालीन उपनिषदों की गणना इस श्रेणी में है।

डा० बेल्वेलकर तथा रानडे ने उपनिषदों के विभाजन के लिये एक नई पद्धति निकाली है। भाषा तथा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उपनिषदों को तीन श्रेणी में विभक्त करना उपयुक्त प्रतीत होता है—१. प्राचीनतम श्रेणी जिसके भीतर छांदोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुंडक एवं मांडूक्य रखे जा सकते हैं जो तत्तत् वेदों के आरण्यकों के अंश होने से निःसंदेह प्राचीन हैं, २. अवांतरकालीन—श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्री, और इन दोनों के बीच की श्रेणी में, ३. कठ उपनिषद् को रखना उचित है। उपनिषदों की भौगोलिक स्थिति मध्यदेश के कुरु पांचाल से लेकर विदेह (मिथिला) तक फैली हुई है। उपनिषत्काल का आरंभ बुद्ध से पर्याप्त पूर्व है।

तत्वज्ञान—उपनिषदों के ऋषियों ने जीव, जगत् तथा ईश्वर के विषय में बड़ी ही मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। ब्रह्म या परमात्मा का साक्षात्कार ही साधक के जीवन का मुख्य लक्ष्य है। अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से किया। यह मौलिक तत्व 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा संकेतित किया जाता है। ब्रह्म के दो रूप हैं—१. सविशेष अथवा सगुण रूप तथा २. निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप जिनमें प्रथम रूप को 'अपर ब्रह्म' (या ईश्वर) तथा द्वितीय को 'परब्रह्म' नाम से अभिहित करते हैं। सगुण ब्रह्म के लिये पुंलिंग विशेषणों का प्रयोग किया गया है जैसे सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगंधः, सर्वरसः आदि निर्गुण ब्रह्म के लिये नपुंसक लिंगी निषेधात्मक विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जैसे बृहदारण्यक (३।८।८) में गार्गी को उपदेश देते समय वह अक्षर ब्रह्म अस्थूलं, अनणु, अह्रस्वं, अदीर्घं, अस्नेहं, अच्छायं आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित है। 'नेति नेति' का भी यही तात्पर्य है कि वह परब्रह्म निषेधमुखेन ही वर्णित किया जा सकता है। उपनिषद् के मत में इस विश्व में अद्वैत सत्ता का पूर्ण साम्राज्य है तथा उस तत्व को छोड़कर नानात्मक जगत् का नितांत अभाव है (**नेह नानास्ति किञ्चन**)। आत्मा तथा परब्रह्म में पूर्ण ऐक्य है और इस ऐक्य का प्रतिपादक महनीय मंत्र है—**तत्वमसि** जिसे आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को नाना दृष्टांतों की सहायता से व्यावहारिक रूप में समझाया था (छांदोग्य)। केनोपनिषद् (१।५) ने निष्प्रपंच ब्रह्म का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है : जिसे वाणी कह नहीं सकती, परंतु जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसे ही ब्रह्म जानो। यह नहीं, जिसकी तुम उपासना करते हो—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

इस परब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति उपनिषदों का लक्ष्य है। ब्रह्म का ज्ञान योग के साधनों के द्वारा भली भाँति हो सकता है और तब साधक अनंत आनंद का अनुभव कर अपने जीवन को धन्य बनाता है। यही 'रहस्यवाद' उपनिषदों का हृदय है और अन्य सिद्धांत साधन मात्र हैं।

सं० ग्रं०—डॉसन : फ़िलॉसफ़ी ऑव उपनिषद्स्, अंग्रेजी अनुवाद, १९०६; गफ़ : फ़िलॉसफी ऑव उपनिषद्स, लंदन, १८८२; बेल्वेलकर तथा रानडे : हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलॉसफ़ी, भाग २, पूना; रानडे : कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलॉसफी, पूना, १९२६; राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलॉसफ़ी, भाग १, लंदन, १९३०; दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलॉसफ़ी, खंड १, कैंब्रिज, १९२५। (ब० उ०)

उपन्यास अर्नेस्ट ए० बेकर ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या का सर्वोत्तम साधन बताया है। यों तो विश्वसाहित्य का प्रारंभ ही संभवतः कहानियों से हुआ और वे महाकाव्यों के युग से आज तक के साहित्य का मेरुदंड रही हैं, फिर भी उपन्यास को आधुनिक युग की देन कहना अधिक समीचीन होगा। साहित्य में गद्य का प्रयोग जीवन के यथार्थ चित्रण का द्योतक है। साधारण बोलचाल की भाषा द्वारा लेखक के लिये अपने पात्रों, उनकी समस्याओं तथा उनके जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना आसान हो गया है। जहाँ महाकाव्यों में कृत्रिमता तथा आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है, आधुनिक उपन्यासकार जीवन की विशृंखलताओं का नग्न चित्रण प्रस्तुत करने में ही अपनी कला की सार्थकता देखता है।

यथार्थ के प्रति आग्रह का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि कथा साहित्य से अपौरुषेय तथा अलौकिक तत्व, जो प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट अंग थे, पूर्णतया लुप्त हो गए। कथाकार की कल्पना अब सीमाबद्ध हो गई। यथार्थ की परिधि के बाहर जाकर मनचाही उड़ान लेना उसके लिये प्रायः असंभव हो गया। उपन्यास का आविर्भाव और विकास वैज्ञानिक प्रगति के साथ हुआ। एक ओर जहाँ विज्ञान ने व्यक्ति तथा समाज को सामान्य धरातल से देखने तथा चित्रित करने की प्रेरणा दी वहीं दूसरी ओर उसने जीवन की समस्याओं के प्रति एक नए दृष्टिकोण का भी संकेत किया। यह दृष्टिकोण मुख्यतः बौद्धिक था। उपन्यासकार के ऊपर कुछ नए उत्तरदायित्व आ गए थे। अब उसको साधना कला की समस्याओं तक ही सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक जागरूकता की अपेक्षा रखती थी। वस्तुतः आधुनिक उपन्यास सामाजिक चेतना के क्रमिक विकास की कलात्मक अभिव्यक्ति है। जीवन का जितना व्यापक एवं सर्वांगीण चित्र उपन्यास में मिलता है उतना साहित्य के अन्य किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं।

सामाजिक जीवन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही साथ आधुनिक उपन्यास वैयक्तिक चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन की भी सुविधा प्रदान करता है। वास्तव में उपन्यास की उत्पत्ति की कहानी यूरोपीय पुनरुत्थान (रिनैसाँ) के फलस्वरूप अर्जित व्यक्तिस्वातंत्र्य के साथ लगी हुई है। इतिहास के इस महत्वपूर्ण दौर के उपरांत मानव को, जो अब तक समाज की इकाई के रूप में ही देखा जाता था, वैयक्तिक प्रतिष्ठा मिली। सामंतवादी युग के सामाजिक बंधन ढीले पड़े और मानव व्यक्तित्व के विकास के लिये उन्मुक्त वातावरण मिला। यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों ने मानव चरित्र के अध्ययन के लिये भी एक नया दृष्टिकोण दिया। अब तक के साहित्य में मानव चरित्र के सरल वर्गीकरण की परंपरा चली आ रही है। पात्र या तो पूर्णतया भले होते थे या एकदम गए गुजरे। अच्छाइयों और त्रुटियों का संमिश्रण, जैसा वास्तविक जीवन में सर्वत्र देखने को मिलता है, उस समय के कथाकारों की कल्पना के परे की बात थी। उपन्यास में पहली बार मानव चरित्र के यथार्थ, विशद एवं गहन अध्ययन की संभावना देखने को मिली।

अंग्रेजी के महान् उपन्यासकार हेनरी फ़ील्डिंग ने अपनी रचनाओं को गद्य में लिखे गए व्यंग्यात्मक महाकाव्य की संज्ञा दी। उन्होंने उपन्यास की इतिहास से तुलना करते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण कहा। जहाँ इतिहास कुछ विशिष्ट व्यक्तियों एवं महत्वपूर्ण घटनाओं तक ही

सीमित रहता है, उपन्यास प्रदर्शित जीवन के सत्य, शाश्वत और सर्वदेशीय महत्व रखते हैं। साहित्य में आज उपन्यास का वस्तुतः वही स्थान है जो प्राचीन युग में महाकाव्यों का था। व्यापक सामाजिक चित्रण की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है। लेकिन जहाँ महाकाव्यों में जीवन तथा व्यक्तियों का आदर्शवादी चित्र मिलता है, उपन्यास, जैसा फील्डिंग की परिभाषा से स्पष्ट है, समाज की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार के लिये कहानी साधन मात्र है, साध्य नहीं। उसका ध्येय पाठकों का मनोरंजन मात्र भी नहीं। वह सच्चे अर्थ में अपने युग का इतिहासकार है जो सत्य और कल्पना दोनों का सहारा लेकर व्यापक सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है।

सं० ग्रं०—ई० एम० फोर्स्टर : ऐस्पेक्ट्स ऑव द नावेल; राल्फ फ़ॉक्स : दी नावेल ऐंड द पीपुल, पर्सी लुबक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन; एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नावेल। (तु० ना० सि०)

उपन्यास के समानांतर इधर उपन्यासिका नामक नवीन गद्य विधा का सूत्रपात हुआ है जिसे लघु उपन्यास भी कहा जाता है। उपन्यासिका अपनी संघटना की दृष्टि से उपन्यास के निकट होने पर भी कलेवर तथा आकार के चलते कहानी के अधिक निकट होती है। इसमें न तो कहानी जैसी एकसूत्रता, सघन बुनावट और प्रभावान्विति होती है और न ही उपन्यास जैसा फैलाव तथा निरूपण वैविध्य। देखा जाय तो उपन्यासिका उपन्यास और कहानी के बीच की विधा है। (कै० चं० श०)

उपपत्ति प्रकरण में प्रतिपादित अर्थ के साधन में जो युक्ति प्रस्तुत की जाती है उसे 'उपपत्ति' कहते हैं—'प्रकरण प्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्ति उपपत्तिः'। ज्ञान के साधन में उपपत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मज्ञान की प्राप्ति में जो तीन क्रमिक श्रेणियाँ उपनिषदों में बतलाई गई हैं उनमें मनन की सिद्धि उपपत्ति के ही द्वारा होती है। वेद के उपदेश को श्रुतिवाक्यों से प्रथमतः सुनना चाहिए (श्रवण) और तदनंतर उनका मनन करना चाहिए (मनन)। युक्तियों के सहारे ही कोई तत्व दृढ़ और हृदयंगम बताया जा सकता है। बिना युक्ति के मनन निराधार रहता है और वह आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न कर सकता। मनन की सिद्धि के अनंतर निदिध्यासन करने पर ही आत्मा की पूर्ण साधना निष्पन्न होती है। 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' की व्याख्या में माथुरी उपपत्ति को हेतु का पर्याय मानती है। (ब० उ०)

उपपुराण जो ग्रंथ पंचलक्षणात्मक महापुराणों से विषयों के विन्यास तथा देवीदेवताओं के वर्णन में न्यून हैं, परंतु उनसे बहुशः साम्य रखते हैं वे 'उपपुराण' नाम से अभिहित किए जाते हैं। इनका यथार्थ संख्या तथा नाम के विषय में बहुत मतभेद है। उपपुराणों की सूची कूर्मपुराण (१।१३-२३), गरुड पुराण (१।२२३, १७-२०), देवीभागवत (१।३), पद्मपुराण (१।११५), ब्रह्मवैवर्त (४।१३३), स्कंद (५।३।१; ७।१।२) तथा सूतसंहिता (१।१३।१८) में दी गई है। इन सूचियों की तुलना करने पर अत्यंत अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। बहुत से मान्य महापुराण (जैसे कूर्म, स्कंद, ब्रह्म, ब्रह्मांड तथा श्रीमद्भागवत) एवं रामायण भी उपपुराणों में गिने गए हैं। ऐसी स्थिति में उपपुराणों की निश्चित संख्या तथा अभिधान गंभीर गवेषणा की अपेक्षा रखते हैं। पूर्वोक्त सूचियों को मिलाने से उपपुराणों की संख्या ३२ तक पहुँच जाती है, परन्तु बहुमत उपपुराणों की संख्या को १८ तक सीमित रखने के पक्ष में है। लोकप्रिय उपपुराणों के नाम ये हैं—(१) आदित्य (या सौर), (२) उशनस् (या औशनस), (३) कपिल, (४) कालिका, (५) कुमार, (६) गणेश, (७) गौतम, (८) दुर्वासा, (९) देवीभागवत, (१०) नंदी, (११) नृसिंह, (१२) महेश्वर, (१३) मारीच, (१४) शिवधर्म, (१५) साव, (१६) सनत्कुमार, (१७) विष्णुधर्मोत्तर तथा (१८) कल्कि।

महापुराण तथा उपपुराण की विभेदक रेखा इतनी क्षीण है कि कभी कभी किसी पुराण के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करना नितांत कठिन होता है। साम्प्रदायिक आग्रह भी किसी निश्चय पर पहुँचने में प्रधान बाधक सिद्ध होते हैं। शक्ति के उपासक 'देवीभागवत' को और विष्णु के भक्त 'श्रीमद्भागवत' को महापुराण के अंतर्गत मानते हैं, परंतु मत्स्य आदि पुराणों में निर्दिष्ट विषयसूची का अनुशीलन श्रीमद्भागवत को ही महापुराण में अंतर्निविष्ट सिद्ध करता है। शिवपुराण तथा वायुपुराण के स्वरूप के विकास में भी इसी प्रकार मतभेद है। कतिपय आलोचक एक ही पुराण को प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा से शिवपुराण और वक्ता की अपेक्षा से 'वायुपुराण' मानते हैं, परन्तु अन्यत्र वायुपुराण को महापुराणों के अंतर्गत मानकर 'शिवपुराण' को निश्चित रुप से उपपुराण माना गया है। शिवपुराण भी दो प्रकार का उपलब्ध है। एक लक्षश्लोकात्मक तथा द्वादश संहिताओं में विभक्त बतलाया जाता है। परंतु श्री वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'शिवपुराण' में केवल ७ संहिताएँ और २४ सहस्र श्लोक उपलब्ध होते हैं। गणपति की उपासना के प्रतिपादक 'गणेशपुराण' के अतिरिक्त 'मुद्गलपुराण' को भी 'गणेशाथर्वशीर्ष' के भाष्यानुसार उपपुराण मानते हैं। सांबपुराण सूर्य की उपासना का प्रतिपादक है तथा कालिकापुराण भगवती काली के नाना अवतारों तथा पूजा अर्चना का विवरण प्रस्तुत करता है। 'विष्णुधर्मोत्तर' में पुराण के सामान्य विषयों के अतिरिक्त नृत्य, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, मूर्तिविधान तथा मंदिर-निर्माण का भी विवरण मिलता है जो कला की दृष्टि से नितांत रोचक, उपयोगी तथा उपादेय है।

सं०ग्रं०—ज्वालाप्रसाद मिश्र : अष्टादश पुराणदर्पण (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई); विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग १, कलकत्ता १९२७; हजारा : दि उपपुराणाज़, प्रथम भाग, कलकत्ता। (ब० उ०)

उपमन्यु उपनिषद् काल के जिन ऋषियों के नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं उनमें आरुणि, उद्दालक, याज्ञवल्क्य के समान ही उपमन्यु का नाम भी विख्यात है। वे गोत्र के प्रवर्तक थे और कुछ वैदिक मंत्रों के ऋषि भी थे जिससे उनके बृहत् ज्ञान का पता चलता है। (चं० म०)

उपमान किसी अज्ञात वस्तु को किसी ज्ञात वस्तु की समानता के आधार पर किसी नाम से जानना। जैसे किसी को मालूम है कि नीलगाय गाय कैसी होती है; कभी उसने जंगल में गाय जैसा पशु देखा और समझ गया कि यही नीलगाय है। यह ज्ञान गाय के ज्ञान से हुआ। किंतु शब्दज्ञान से इसमें भेद है। शब्दज्ञान में शब्द सुनकर बोध होता है, उपमान में समानता से बोध होता है। न्यायशास्त्र में इसे अलग प्रमाण माना गया है किंतु बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शन इसे अनुमान के अंतर्गत मानते हैं। (रा० च० पा०)

उपयोगितावाद एक आचार सिद्धांत, जिसकी एकांतिक मान्यता है कि आचरण एकमात्र तभी नैतिक है जब वह अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करता है। राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में इसका संबंध मुख्यतः बेंथम (१७४८–१८३२) तथा जान स्टुअर्ट मिल (१८०६–७३) से रहा है। परंतु इसका इतिहास और प्राचीन है, ह्यूम जैसे दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित, जो उदारता को ही सबसे महान् गुण मानते थे तथा व्यक्तिविशेष के व्यवहार से दूसरों के सुख में वृद्धि ही उदारता का मापदंड समझते थे।

उपयोगितावाद के संबंध में प्रायः कुछ अस्पष्ट ओछी धारणाएँ हैं। इसके आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धांत सुंदरता, शालीनता एवं विशिष्टता की उपेक्षा कर केवल उपयोगिता को महत्व देता है। पूर्वपक्ष का इसपर यह आरोप है कि यह केवल लौकिक स्वार्थ को महत्व देता है। किंतु ऐसी आलोचना सर्वथा समुचित नहीं कही जा सकती।

उपयोगितावाद अनेक सापेक्ष विचारों को महत्व देता है। जैसे, आनंद ही सबसे वांछनीय वस्तु है, और यह जितना अधिक हो उतना ही श्रेयस्कर है। इसका एक भ्रामक निष्कर्ष यह है कि दुख ही सबसे अवांछनीय वस्तु है और यह जितना कम भोगना पड़े उतना ही अच्छा है। इससे यह निर्दिष्ट है कि नैतिक अभिकर्ता का किसी भी परिस्थिति में ऐसा ही आचरण सदाचार माना जायगा जो स्वेच्छया किया गया हो, जो संबंधित लोगों के लिये महत्तम सुख की सृष्टि करता हो अथवा कर सकने की

संभावना रखता हो और जहाँ पर दुःख अवश्यंभावी है वहाँ उसे यथासंभव कम से कम करने का प्रयत्न करता हो।

ऐसे विचारों में निहित भावों की विवेचना एकपक्षीय नहीं हो सकती, फिर भी आनंद भी तुच्छ तथा दुःख भी महान् हो सकता है और कोई यह सिद्ध नहीं कर सकता कि आनंद नित्य श्रेय तथा दुःख नित्य हेय है। यह भी स्पष्ट है कि 'सुख' की ठीक ठीक परिभाषा करना, यदि असंभव नहीं तो, कठिन अवश्य है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने एक बार प्रसिद्ध घोषणा की कि 'सुख कौन चाहता है? केवल अंग्रेज।' अधिकांश भारतीय विचारों में जोर निरासक्ति पर ही दिया गया है, जिससे आनंद की माप क्षणस्थायी एवं सुख कुछ निःसार प्रतीत होता है। वास्तव में उपयोगितावाद का पूर्णतः तर्कसंमत एवं स्थायी अनुयायी होना कुछ सरल नहीं, फिर भी सिद्धांत तथा व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न के कारण और जीवतत्व के लिये स्वस्थ तथा नैतिक अच्छाई का मार्ग निर्दिष्ट करनेवाले आनंद को मनुष्य के स्वाभाविक मार्गदर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने के कारण उपयोगितावाद कुछ आकर्षण रखता है और एतदर्थ संमान्य भी है।

बेंथम ने लिखा है, "प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रभुओं सुख एवं दुःख, के शासन में रखा है। केवल इन्हीं को यह सूचित करने की शक्ति प्राप्त है कि हमें क्या करना चाहिए तथा हम क्या करेंगे। इनके सिंहासन के एक ओर उचितानुचित निर्धारण का मान बँधा है, दूसरी ओर कार्य कारण का चक्र।" कोई भी इस कथन में त्रुटि निकाल सकता है। वस्तुतः उपयोगितावादियों की सबसे बड़ी त्रुटि उनकी दार्शनिक पकड़ की कमजोरी में ही रही है। परंतु उनके द्वारा वास्तविक सुधारों को जो महत्व दिया गया, तत्कालीन परिस्थितियों में वह सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में निःसंदेह नया कदम था। दूरदर्शी तथा कुशल, व्यवस्थापकों द्वारा ही समाजकल्याण संपन्न हो सकता है, ऐसी कल्पना की गई। बेंथम के शब्दों में, व्यवस्थापक ही बुद्धि तथा विधि (कानून) द्वारा सुख रूपी पट बुन सकता है।

बेंथम ने न केवल इंग्लैंड वरन् यूरोप के अन्य देशों के विचारों को भी अत्यंत प्रभावित किया। जेलों के सुधार में, न्यायव्यवहार को सरल करने में, अमानुषिक परिणामहीन दंड व्यवस्था हटाने में, बेंथम से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। जब उसे निश्चय हो गया कि संसदीय सुधार के बिना वैधानिक सुधार असंभव है तब वह उस ओर आकर्षित हुआ। उपयोगितावाद के आर्थिक उद्देश्यों का निरूपण, जो मुख्यतः निर्बंध व्यापार पर वैधानिक नियंत्रणों की समाप्ति से संबंधित है, रिकार्डो के साहित्य में अत्यंत सुंदर ढंग से हुआ है। सिद्धांत निरूपण की अपेक्षा, जो उपयोगितावादियों का विशेष इष्ट कभी न रहा, आजकल राजनीतिक कार्यक्रमों को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। किंतु इस दर्शन की स्थायी देन नैतिकता तथा सामाजिक अंगों के कार्य में प्रत्यक्ष संबंध का सिद्धांत है। (ही० ना० मु०)

उपरिगामी पुल जब रेल या सड़क के दो रास्ते एक दूसरे को काटकर पार करते हैं तब सुविधा और सुरक्षा के लिये एक रास्ते के ऊपर पुल बनाकर दूसरे रास्ते को उसके ऊपर से ले जाया जाता है। ऐसे पुल को उपरिगामी पुल या ऊपर का पुल कहते हैं। रेलवे लाइन पार करने के लिये तो बहुत स्थानों में उपरिगामी पुल बने रहते हैं, क्योंकि इस प्रबंध से लाइन पार करनेवालों के कारण रेलगाड़ियों को रुकना नहीं पड़ता।

आधुनिक परिवहन में यह आवश्यक हो गया है कि गाड़ियाँ बिना चाल धीमी किए अपनी यात्रा जारी रखें। इसलिये विदेशों में साधारण सड़कों के चौराहों पर भी अब उपरिगामी पुल अधिकाधिक संख्या में बनाए जाते हैं। ऐसे पुलों की अभिकल्पना (डिजाइन) में कई कठिन और विशेष प्रकार की समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं; उदाहरणतः सड़कों की ढाल कितनी रखी जाय, नीचेवाली सड़क से पुल कितना ऊँचा रहे, भविष्य में सड़क चौड़ी करनी पड़े तो उसके लिये अभी से कैसी व्यवस्था रखी जाय, कितनी दूर तक सड़क स्पष्ट दिखाई पड़ती रहे, एक सड़क से आड़ी सड़क पर पहुँचने का क्या उपाय किया जाय, मुड़ने के लिये सड़क में वक्रता कितनी रखी जाय, इत्यादि। फिर इसपर भी ध्यान रखना पड़ता है कि वास्तुकला की दृष्टि से संरचना सुंदर दिखाई पड़े।

वाशिंगटन (अमरीका) में माउंट वर्नन मेमोरियल हाइवे और यूनाइटेड स्टेट्स रूट नंबर १ (१४वीं सड़क) का चौराहा अच्छी अभिकल्पना का सुंदर उदाहरण है। प्रत्येक ओर से गाड़ी बिना रोक टोक के सीधे जा सकती है, या चौराहे से पहले ही बाईं ओर जानेवाली शाखा पकड़कर बाएँवाली सड़क पर पहुँच सकती है, या चौराहे के आगे बढ़कर बाईं ओर जानेवाली शाखा पकड़कर और प्रायः गोल चक्कर लगाकर दाहिनी ओर की सड़क
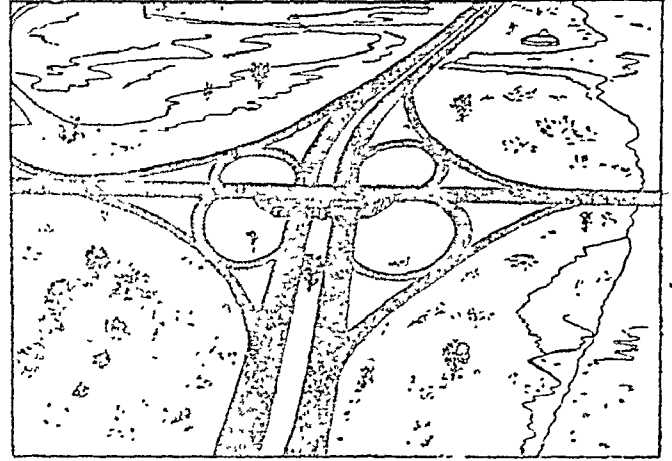
जलेब चौराहा

पर पहुँच सकती है (चित्र देखें)। इस प्रबंध से बगल से आनेवाली गाड़ियों के भिड़ जाने का डर बिलकुल नहीं रहता। चारों कोनों पर चार गोल चक्कर पड़ने के कारण चौराहा जलेब (क्लवर) की तरह जान पड़ता है और इसीलिये इसे जलेब चौराहा (क्लवर लीफग्रेड सेपरेशन) कहते हैं। (सी० बा० जो०)

उपरिचर कुरुवंश के एक प्रतापी राजा। इनका वास्तविक नाम वसु था और उपरिचर इनकी उपाधि थी। ये चंद्रवंशी सुधन्वा की शाखा में उत्पन्न कृती (मतांतर से कृतयज्ञ, कृतक) के पुत्र थे। इन्हें मृगया का व्यसन था, लेकिन बाद में यह व्यसन छूट गया और ये तपश्चर्या के प्रति विशेष अनुरक्त हो गए। इंद्र की आज्ञा से इन्होंने चेदि देश पर विजय प्राप्त की जिसमें प्रसन्न हो इंद्र ने इन्हें स्फटिक से बना विमान और वैजयंती माला उपहार में दी। ये सदा उक्त विमान में बैठकर आकाश में विचरण करते रहते थे इसीलिये इन्हें उपरिचर कहा जाने लगा। इंद्रमाला धारण करने के कारण इन्हें इंद्रमाली नाम भी प्राप्त है। शुक्तिमती नदी को कोलाहल नमक पर्वत रोक रहा है, यह देखकर इन्होंने पादप्रहार से पर्वत में विवर बना दिया। शुक्तिमती उस विवर से बहने लगी और पर्वत के संयोग से उसे एक पुत्र तथा एक पुत्री प्राप्त हुई जिन्हें उसने उपरिचर को दे दिया। पुत्र को राजा ने अपना सेनापति बनाया और गिरिका नाम की उस कन्या के साथ विवाह कर लिया। गिरिका ऋतुमती हुई तो पितरों की आज्ञा से राजा मृगया हेतु वन में चले गए। परंतु पत्नी की याद आते ही वहाँ उनका रेत स्खलित हो गया जिसे उन्होंने एक श्येन के द्वारा अपनी पत्नी के पास भेजा। लेकिन मार्ग में एक अन्य श्येन के झपटने से उक्त रेत यमुना में गिरा और उससे मत्स्यरूपा अद्रिका आपन्नसत्वा हुई। अद्रिका धीवर द्वारा पकड़ी गई और चीरने पर उसके पेट से एक पुत्र तथा एक पुत्री मिली जिन्हें राजा को दे दिया गया। मत्स्य नामक पुत्र को राजा ने अपने पास रखा और कन्या धीवर को लौटा दी। यही कन्या मत्स्यगंधा (सत्यवती) के नाम से प्रसिद्ध हुई और इसी से वेदव्यास का जन्म हुआ। (कैं० चं० श०)

उपलेता गुजरात राज्य के मध्य सौराष्ट्र जिले में उपलेता सब डिवीजन का प्रमुख नगर है (पहले गोंडल राज्य के गोंडल इलाके का नगर था)। (स्थिति: २१° ४४' उ० अ० एवं ७०° २०' पू० दे०) यह जूनागढ़ से १९ मील उत्तर पश्चिम एवं धोराजी नगर से १० मील दूर, भादर नदी की

सहायक मोज नदी के पश्चिमी तट पर, अत्यंत सुरम्य स्थान पर स्थित है। यहाँ के निवासियों में मेहमान जाति एवं वनिए मुख्य हैं जिनका धंधा साधारणतः व्यापार है। अतः यह नगर गुजरात के संपत्तिशाली नगरों में गिना जाता है। भावनगर-गोंडल-पोरबंदर रेलवे का एक स्टेशन भी यहाँ है, अतः व्यापारिक सुविधाएँ यहाँ प्राप्त हैं। इस नगर की जनसंख्या १९०१ ई० में ६,४२६ थी जो १९५१ ई० में बढ़कर २२,७३६ हो गई। यहाँ के निवासियों में लगभग ४० प्रतिशत लोग व्यापार में लगे हैं। (का० ना० सिं०)

उपवास भोजन किए बिना रह जाने को उपवास कहते हैं। यह कई प्रकार का होता है। एक प्रकार का उपवास धार्मिक होता है, जो एकादशी, संक्रांति तथा ऐसे ही पर्वों के दिनों पर किया जाता है। ऐसे उपवासों में दोपहर को दूध की बनी हुई मिठाई तथा शुष्क और हरे दोनों प्रकार के फल खाए जा सकते हैं। कुछ निर्जल उपवास होते हैं। इनमें दिन भर न तो कुछ खाया जाता है और न जल पिया जाता है। रोगों में भी उपवास कराया जाता है, जिसको लंघन कहते हैं। आजकल राजनीतिक उपवास भी किए जाते हैं जिन्हें 'अनशन' कहते हैं। इनका उद्देश्य सरकार की दृष्टि को आकर्षित करना और उससे वह कार्य करवाना होता है जिसके लिये उपवास किया जाता है। कभी कभी भोजन न मिलने पर विवश होकर भी उपवास करना पड़ता है।

इन सब प्रकार के उपवासों का शरीर पर समान प्रभाव पड़ता है। एक बार भोजन ग्रहण करने पर कुछ घंटों तक तो शरीर को खाए हुए आहार से शक्ति मिलती रहती है, किंतु उसके पश्चात् शरीर में संचित आहार के अवयवों—प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और स्नेह या वसा—का शरीर उपयोग करने लगता है। वसा और कार्बोहाइड्रेट परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न करते हैं। प्रोटीन का काम शरीर के टूटे फूटे भागों का पुनर्निर्माण करना है। किंतु जब उपवास लंबा या अधिक काल तक होता है तो शक्ति उत्पादन के लिये शरीर प्रोटीन का भी उपयोग करता है। इस प्रकार प्रोटीन ऊतकनिर्माण (टिशू फॉर्मेशन) और शक्त्युत्पादन दोनों काम करता है।

शरीर में कार्बोहाइड्रेट दो रूपों में वर्तमान रहता है: ग्लूकोस, जो रक्त में प्रवाहित होता रहता है, और ग्लाइकोजेन, जो पेशियों और यकृत में संचित रहता है। साधारणतया कार्बोहाइड्रेट शरीर को प्रति दिन के भोजन से मिलता है। उपवास की अवस्था में जब रक्त का ग्लूकोस खर्च हो जाता है तब संचित ग्लाइकोजेन ग्लूकोस में परिणत होकर रक्त में जाता रहता है। उपवास की अवस्था में यह संचित कार्बोहाइड्रेट दो चार दिनों में ही समाप्त हो जाता है; तब कार्बोहाइड्रेट का काम वसा को करना पड़ता है और साथ ही प्रोटीन को भी इस कार्य में सहायता करनी पड़ती है।

शरीर में वसा विशेष मात्रा में त्वचा के नीचे तथा कलाओं में संचित रहती है। स्थूल शरीर में वसा की अधिक मात्रा रहती है। इसी कारण दुबले व्यक्ति की अपेक्षा स्थूल व्यक्ति अधिक दिनों तक भूखा रह सकता है। शरीर को दैनिक कर्मों और उष्मा के लिये कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन, तीनों पदार्थों की आवश्यकता होती है, जो उसको अपने आहार से प्राप्त होते हैं। आहार से उपलब्ध वसा यकृत में जाती है और वहाँ पर रासायनिक प्रतिक्रियाओं से वसाम्ल और ऐसिटो-ऐसीटिक-अम्ल में परिवर्तित होकर रक्त में प्रवाहित होती है तथा शरीर को शक्ति और उष्मा प्रदान करती है। उपवास की अवस्था में शरीर की संचित वसा का यकृत द्वारा इसी प्रकार उपयोग किया जाता है। यह संचित वसा कुछ सप्ताहों तक कार्बोहाइड्रेट का भी स्थान ग्रहण कर सकती है। अंतर केवल यह है कि जब शरीर को आहार से कार्बोहाइड्रेट मिलता रहता है तब ऐसिटो-ऐसीटिक-अम्ल यकृत द्वारा उतनी ही मात्रा में संचालित होता है जितनी की आवश्यकता शरीर को होती है। कार्बोहाइड्रेट की अनुपस्थिति में इस अम्ल का उत्पादन विशेष तथा अधिक होता है और उसका कुछ अंश मूत्र में आने लगता है। इस अंश को कीटोन कहते हैं कीटोन का मूत्र में पाया जाना शरीर में कार्बोहाइड्रेट की कमी का चिह्न है और उसका अर्थ यह होता है कि कार्बोहाइड्रेट का कार्य अब संचित वसा को करना पड़ रहा है। यह उपवास की प्रारंभावस्था में होता है। रुग्णावस्था में जब रोगी भोजन नहीं करता तब शरीर के कार्बोहाइड्रेट के चयापचय को जानने के लिये मूत्र में कीटोन की जाँच करते रहना आवश्यक है।

उपवास की लंबी अवधि में संचित वसा के समाप्त हो जाने पर उष्मा और शक्ति के उत्पादन का भार प्रोटीन पर आ पड़ता है। शरीर के कोमल भाग का प्रायः ७५ प्रतिशत अंश प्रोटीन से बना हुआ रहता है। उपवास की अवस्था में यही प्रोटीन ऐमिनो-अम्लों में परिवर्तित होकर रक्त में प्रवाहित होता है। सभी अंगों के प्रोटीनों का संचालन समान मात्रा में नहीं होता है। लंबे उपवास में जब तक मस्तिष्क और हृदय का भार प्रायः ३ प्रतिशत कम होता है, तब तक पेशियों का ३० प्रतिशत, यकृत का ५५ प्रतिशत और प्लीहा का ७० प्रतिशत भार कम हो जाता है। शारीरिक ऊतकों (टिशूज) से प्राप्त एमिनो-अम्लों के मुख्य दो कार्य हैं: (१) अत्यावश्यक अंगों को सुरक्षित रखना और (२) रक्त में ग्लूकोस की अपेक्षित मात्रा को स्थिर रखना।

प्रोटीन नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ होते हैं। अतएव जब शरीर के प्रोटीन को उपर्युक्त काम करने पड़ते हैं तब मूत्र का नाइट्रोजनीय अंश बढ़ जाता है। उपवास के पहले सप्ताह में यह अंश प्रति दिन मूत्र के साथ लगभग १० ग्राम निकलता है। दूसरे और तीसरे सप्ताह में इसकी मात्रा कुछ कम हो जाती है। यदि इस नाइट्रोजनीय अंश को बाहर निकालने में वृक्क असमर्थ होते हैं तो वह अंश रक्त में जाने लगता है और व्यक्ति में मूत्ररक्तता (यूरीमिया) की दशा उत्पन्न हो जाती है। इसको व्यक्ति की अंतिम अवस्था समझना चाहिए।

शरीर में कार्बोहाइड्रेट और वसा के समान प्रोटीन का संचय नहीं रहता। शरीर एक जीवित यंत्र है। इसकी रचना का आधार प्रोटीन है। इस यंत्र की यह विशेषता है कि इसके सामान्य भागों के प्रोटीन उपवास-काल में भी आवश्यक अंगों की रक्षा करते रहते हैं। शारीरिक यंत्र का सुचारु रूप से कार्य करते रहना शरीर में बननेवाले रसायनों, किण्वों (एनजाइम्स) और हार्मोनों पर निर्भर रहता है। ये उपवास की अवस्था में भी बनते रहते हैं। इनके निर्माण के लिये शरीर के सामान्य भाग अपना प्रोटीन ऐमिनो-अम्ल के रूप में प्रदान करते रहते हैं, जिससे ये रासायनिक पदार्थ बनते रहें और शरीर की क्रिया में बाधा न पड़े।

स्वस्थ शरीर के लिये प्रोटीन की दैनिक मात्रा प्रायः निश्चित है। एक युवक के लिये प्रति दिन प्रत्येक किलोग्राम शारीरिक भार के अनुपात में लगभग एक ग्राम प्रोटीन आवश्यक है और यह आहार से मिलता है। गर्भवती स्त्री तथा बढ़ते हुए शिशु, बालक अथवा तरुण को ५० प्रतिशत अधिक मात्रा में प्रोटीन की आवश्यकता होती है। इससे अधिक प्रोटीन आहार में रहने से शरीर को उसका विश्लेषण करके बहिष्कार करना पड़ता है, जिससे यकृत और वृक्क का कार्य व्यर्थ ही बढ़ जाता है। प्रोटीन शारीरिक यंत्र की मरम्मत के काम में आता है। अतएव रोगोत्तर तथा उपवासोत्तर काल में आहार में प्रोटीन बढ़ा देना चाहिए। इन सब बातों का पता नाइट्रोजन संतुलन के लेखे जोखे से लगाया जा सकता है। यह काम जीव-रसायन-प्रयोगशाला में किया जाता है। यदि मूत्र के नाइट्रोजन की मात्रा भोजन के नाइट्रोजन के बराबर हो तब इसे नाइट्रोजन-संतुलन-अवस्था कहते हैं। यदि मूत्र का नाइट्रोजन भोजन के नाइट्रोजन से कम हो तब इसको 'धनात्मक नाइट्रोजन संतुलन' कहते हैं। इससे यह समझा जाता है कि आहार के नाइट्रोजन (अर्थात् प्रोटीन) में से शरीर केवल एक विशिष्ट मात्रा को ग्रहण कर रहा है। यदि, इसके विपरीत, मूत्र का नाइट्रोजन अधिक हो, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर अपने प्रोटीन से बने नाइट्रोजन का भी बहिष्कार कर रहा है। इस अवस्था को 'ऋणात्मक नाइट्रोजन संतुलन' कहते हैं। उपवास की अवस्था में 'ऋणात्मक प्रोटीन संतुलन' और उपवासोत्तर काल में, आहार में प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में रहने पर, 'धनात्मक प्रोटीन संतुलन' रहता है।

रोग के दिनों में हमारे देश में भोजन प्रायः बंद करके बार्ली, साबूदाना आदि ही दिया जाता है। इससे रोगी को तनिक भी प्रोटीन नहीं मिलता, जिससे अंगों के ह्रास की पूर्ति नहीं हो पाती। अतएव शीघ्र पचनेवाली प्रोटीन भी किसी न किसी रूप में रोगी को देना आवश्यक है। बढ़ते हुए बालकों और बच्चों में प्रोटीन और भी आवश्यक है।

उपवास में कुछ दिनों तक शारीरिक क्रियाएँ संचित कार्बोहाइड्रेट पर, फिर विशेष संचित वसा पर और अंत में शरीर के प्रोटीन पर निर्भर रहती हैं। मूत्र और रक्त की परीक्षा से उन पदार्थों का पता चल सकता है जिनका शरीर उस समय उपयोग कर रहा है। उपवास का प्रत्यक्ष लक्षण है व्यक्ति की शक्ति का निरंतर ह्रास। शरीर की वसा घुल जाती है, पेशियाँ क्षीण होने लगती हैं। उठना, बैठना, करवट लेना आदि व्यक्ति के लिये दुष्कर हो जाता है और अंत में मूत्ररक्तता (यूरीमिया) की अवस्था में चेतना भी जाती रहती है। रक्त में ग्लूकोस की कमी से शरीर क्लांत तथा क्षीण होता जाता है और अंत में शारीरिक यंत्र अपना काम बंद कर देता है।

१९४३ की अकालपीड़ित बंगाल की जनता का विवरण बड़ा ही भयावह है। इस अकाल के सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण बड़े ही रोमांचकारी हैं। किंतु उसका वैज्ञानिक अध्ययन बड़ा शिक्षाप्रद था। बुभुक्षितों के संबंध में जो अन्वेषण हुए उनसे उपवास विज्ञान को बड़ा लाभ हुआ। एक दृष्टांत यह है कि इन अकालपीड़ित भुखमरों के मुहँ में दूध डालने से वह गुदा द्वारा जैसे का तैसा तुरंत बाहर हो जाता था। जान पड़ता था कि उनकी अँतड़ियों में न पाचन रस बनता था और न उनमें कुछ गति (स्पंदन) रह गई थी। ऐसी अवस्था में शिराओं (वेन) द्वारा उन्हें भोजन दिया जाता था। तब कुछ काल के बाद उनके आमाशय काम करने लगते थे और तब भी वे पूर्वपाचित पदार्थों को ही पचा सकते थे। धीरे धीरे उनमें दूध तथा अन्य आहारों को पचाने की शक्ति आती थी।

इसी प्रकार गत विश्वयुद्ध में जिन देशों में खाद्य वस्तुओं पर बहुत नियंत्रण था और जनता को बहुत दिनों तक पूरा आहार नहीं मिल पाता था उनमें भी उपवासजनित लक्षण पाए गए और उनका अध्ययन किया गया। इन अध्ययनों से आहार विज्ञान और उपवास संबंधी ज्ञान में विशेष वृद्धि हुई। ऐसी अल्पाहारी जनता का स्वास्थ्य बहुत क्षीण हो जाता है। उसमें रोग प्रतिरोधक शक्ति नहीं रह जाती। गत विश्वयुद्ध में उचित आहार की कमी से कितने ही बालक अंधे हो गए, कितने ही अन्य रोगों के ग्रास बने।

उपवास पूर्ण हो या अधूरा, थोड़ी अवधि के लिये हो या लंबी अवधि के लिये, चाहे धर्म या राजनीति पर आधारित हो, शरीर पर उसका प्रभाव अवधि के अनुसार समान होता है। दीर्घकालीन अल्पाहार से भी शरीर में वे ही परिवर्तन होते हैं जो पूर्ण उपवास में कुछ ही समय में हो जाते हैं। उपवास तोड़ने के भी विशेष नियम है। अनशन प्रायः फलों के रस से तोड़ा जाता है। रस भी धीरे धीरे देना चाहिए, जिससे पाचकप्रणाली पर विशेष भार न पड़े। दो तीन दिन थोड़ा थोड़ा रस लेने के पश्चात् आहार के ठोस पदार्थों को भी ऐसे रूप में प्रारंभ करना चाहिए कि आमाशय आदि पर, जो कुछ समय से पाचन के अनभ्यस्त हो गए हैं, अकस्मात् विशेष भार न पड़ जाय। आहार की मात्रा धीरे धीरे बढ़ानी चाहिए। इस अवधि में शरीर विशेष अधिक मात्रा में प्रोटीन ग्रहण करता है, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

सं०ग्रं०—सैमसन राइट : अप्लायड फ़िज़िऑलॉजी (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस); सी० एच० बेस्ट और एन० बी० टेलर : द फ़िज़िऑलॉजिकल बेसिस ऑव मेडिकल प्रैक्टिस (बेलियर, टिंडल और कॉक्स, लंदन)।

(व० ना० प्र०)

उपवेद प्रत्येक वेद के साथ एक उपवेद का संबंध प्राचीन ग्रंथों में स्थापित किया गया है, परंतु इस तथ्य के विषय में कि कौन उपवेद किस वेद के साथ यथार्थतः संबद्ध है, विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' के अनुसार वेदों के समान ही उपवेद भी क्रमशः चार हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतवेद तथा अर्थशास्त्र। इनमें आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है, परंतु सुश्रुत इसे अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। आयुर्वेद के आठ स्थान माने जाते हैं—सूत्र, शारीर, ऐंद्रिय, चिकित्सा, निदान, विमान, विकल्प तथा सिद्धि एवं इसके प्रवक्ता आचार्यों में मुख्य हैं—ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विन्, धन्वंतरि, भरद्वाज, आत्रेय, अग्निवेश। आत्रेय द्वारा प्रतिपादित तथा उपदिष्ट, अग्निवेश द्वारा निर्मित संहिता को चरक ने प्रतिसंस्कृत किया। इसलिये 'चरकसंहिता' को दृढ़बल ने 'अग्निवेशकृत' तथा 'चरक प्रतिसंस्कृत तंत्र' अंगीकार किया है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट आयुर्वेद के त्रिमुनि हैं। कामशास्त्र का अंतर्भाव आयुर्वेद के भीतर माना जाता है।

यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है जिसका सर्वप्राचीन ग्रंथ विश्वामित्र की रचना माना जाता है। इसमें चार पाद हैं—दीक्षापाद, संग्रहपाद, सिद्धिपाद तथा प्रयोगपाद ('प्रस्थानभेद' के अनुसार)। इस उपवेद में अस्त्रशस्त्रों के ग्रहण, शिक्षण, अभ्यास तथा प्रयोग का सांगोपांग वर्णन किया गया है। 'कोदंडमंडन' धनुर्विद्या का बड़ा ही प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

संगीतवेद सामवेद का उपवेद है जिसमें नृत्य, गीत तथा वाद्य के सिद्धांत एवं प्रयोग, ग्रहण तथा प्रदर्शन का रोचक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस वेद के प्रधान आचार्य भरतमुनि हैं जिन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के साथ संगीत का भी प्रामाणिक वर्णन किया है। कोहल ने संगीत के ऊपर एक मान्य ग्रंथ लिखा था जिसका एक अंश 'तालाध्याय' आज उपलब्ध है। मातंग के 'बृहद्देशी', नारद के 'संगीतमकरंद', शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' आदि ग्रंथों की रचना के कारण यह उपवेद अत्यंत समृद्ध है।

अर्थशास्त्र अथर्ववेद का उपवेद है। राजनीति तथा दंडनीति इसी के नामांतर हैं। बृहस्पति, उशना, विशालाक्ष, भरद्वाज, पराशर आदि इसके प्रधान आचार्य हैं। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' नितांत प्रसिद्ध है। 'शिल्पशास्त्र' की गणना भी इसी उपवेद के अंतर्गत की जाती है।

सं०ग्रं०—मधुसूदन सरस्वती : प्रस्थानभेद, आनंदाश्रम, पूना, १९०६।

(ब० उ०)

उपसंहार (पुश्तलेख, अंत्यलेख) सामान्यतः किसी रचना (विशेष रूप से गद्य अथवा नाटकीय) के अंत में प्रस्तुत किया जानेवाला वह हिस्सा जिसमें संपूर्ण कृति का सार, उसका अभिप्राय और स्पष्टीकरण (कभी कभी निबंध के लिये प्रसंगेतर लेकिन तत्संबंधी आवश्यक, अतिरिक्त सूचनाएँ) समाविष्ट हों। मूलतः इसका उपयोग नाटकों में होता था जिनमें प्रायः नाटक के अंत में नाटक का सूत्रधार अथवा कोई पात्र नाटक के बारे में श्रोताओं की धारणा को अनुकूल बनाने के लिये एक संक्षिप्त वक्तव्य प्रस्तुत करता था। शेक्सपियर के एकाध नाटकों में इसका उपयोग क्षमायाचना के रूप में भी हुआ है। बेन जानसन के नाटकों में इस प्रकार के उपसंहारों का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके नाटकों में इस पद्धति के नियमित व्यवहार का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि वह प्रायः श्रोताओं के सामने नाटक के दोषों को छिपाने के लिये ही इनकी योजना करता था। १६६० तक आते आते जब नाटकों की परंपरा का ह्रास होने लगा तो इनका महत्व बहुत ज्यादा हो गया—यहाँ तक कि प्रायः नाटककार अथवा नाट्यनिर्देशक प्रसिद्ध कवियों से यह भाग लिखवाने लगे। इस स्थिति की अच्छी समीक्षा ड्राइडन ने अपने विख्यात निबंध 'डिफ़ेंस ऑव एपीलोग' में की है। वर्तमान समय के नाटककारों ने इसे इतना महत्व नहीं दिया। वर्तमान साहित्य में इसने नाटकों की अपेक्षा विचारात्मक और विवेचनात्मक गद्य साहित्य में अपनी उपयोगिता अधिक सिद्ध की है। अध्ययनात्मक और गवेषणात्मक निबंधों में वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और अन्य विचारकों ने इसका पर्याप्त उपयोग किया है। कोश साहित्य और वैधानिक अथवा गणनाप्रधान आलेखों में नए तथ्यों को बिना समूची पुस्तक को बदले अतिरिक्त पृष्ठों में सामग्री का आकलन कर सकना सहज हो गया है। सामान्यतः उपसंहार का उपयोग विवेचनात्मक साहित्य में अधिक होता है और अंत्यलेख अथवा पुश्तलेख का उपयोग कोश अथवा अन्य तकनीकी साहित्य में। (मु० रा०)

उपसुंद सुंद का छोटा भाई तथा हिरण्यकशिपु के वंशज निकुंभ अथवा निसुंद नामक राक्षस का छोटा पुत्र। सुंद तथा उपसुंद ने विंध्याचल पर कठोर तपस्या की जिससे प्रसन्न हो ब्रह्मा ने उन्हें वरदान दिया कि विश्व का कोई भी व्यक्ति उनका वध न कर सकेगा। वे मरेंगे तो परस्पर एक दूसरे के हाथ से। वरदान मिलने पर दोनों भाइयों ने इतना अधिक अत्याचार किया कि उससे त्रस्त होकर देवताओं ने ब्रह्मा से कष्टहरण की प्रार्थना

की। ब्रह्मा ने देवताओं का दुःख मिटाने के लिये विश्वकर्मा को एक अनुपम सुदरी के निर्माण की आज्ञा दी। विश्वकर्मा ने सृष्टि के समस्त सुदर उपकरणो से तिल तिल भर सौदर्य लेकर तिलोत्तमा नाम की अप्सरा बनाई। तिलोत्तमा सुद उपसुद के पास पहुँची तो दोनो भाई उसपर आसक्त हो गए और परस्पर लड़कर एक दूसरे के हाथो मारे गए। (कै० च० श०)

उपसर्ग योगियों की योगसाधना के बीच होनेवाले विघ्न। ये पाँच प्रकार के बताए गए हैं: (१) प्रतिभ, (२) श्रावण, (३) दैव, (४) भ्रम तथा (५) आवर्तक। बौद्ध एव जैन साहित्य मे साधानारत भिक्षुओं तथा मुनियो पर होनेवाले उक्त उपसर्गों के विस्तृत विवरण मिलते ह। जैन साहित्य मे विशेष रूप से इनका उल्लेख रहता है क्योकि जैन धर्म के अनुसार साधना करते समय उपसर्गों का होना अनिवार्य ह और केवल वे ही व्यक्ति अपनी साधना मे सफल हो सकते ह जो उक्त सभी उपसर्गों को अविचलित रहकर झेल ले। हिंदू धर्मकथाओं मे भी साधना करनेवाले व्यक्तियो को अनेक विघ्नबाधाओं का सामना करना पड़ता ह किंतु वहाँ उन्हे उपसर्ग की सज्ञा यदाकदा ही दी गई ह।

उन शब्दों या अव्ययो को भी उपसर्ग कहा जाता है जो किसी शब्द के पहले लगकर उसमे विशेष अर्थापन कर देते हैं, जैसे अनु, अव, उप, उद् आदि। (कै०च०श०)

उपसाला स्वीडेन का एक प्रदेश है तथा उस प्रदेश की राजधानी का भी यही नाम है। उपसाला नगर मालर झील की जल-यातायात-योग्य एक शाखा के तट पर, जिसका नाम फैरिस नदी है, स्टॉकहोम नगर से ४१ मील उत्तर की ओर स्थित है। इस नगर का फैरिस नदी तथा मालर झील की जलप्रणाली द्वारा स्टॉकहोम से सीधा संबंध है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९६६ ई० में १,०१,६९६ थी। आधुनिक नगर उस प्राचीन उपसाला से संबद्ध है जो आधुनिक नगर से प्रायः दो मील उत्तर की ओर बसा हुआ था। नगर का यह प्राचीन भाग नदी के पश्चिमी किनारे की ढाल पर स्थित है। इस उपसाला नगर का वर्णन नवी शताब्दी के लेखों में मिलता है; उस समय के लोगों के स्वर्णजटित मंदिर के लिये यह विख्यात था। यहाँ स्वीडेन के गिरजाघरों के एकमात्र प्रधान धर्माचार्य का निवास स्थान है। सन् १७०२ ई० मे विनाशकारी अग्नि द्वारा नगर के अधिकांश भाग नष्ट हो गए थे।

उपसाला प्रदेश का क्षेत्रफल ५,२५२ वर्ग कि० मी० है। इसकी जनसंख्या सन् १९६६ ई० में २,०१,८८२ थी। यह स्वीडेन के मध्य-पूर्व में स्टॉकहोम से दक्षिण में सटा हुआ है। इसकी तटीय सीमा बाल्टिक सागर तथा बोथीनिया की खाडी द्वारा प्रक्षालित होती रहती है। यह प्रदेश खनिज पदार्थो की दृष्टि से धनी है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या कृषि करने, जंगल काटने, मत्स्य उद्योग तथा लौह उद्योग में संलग्न है।

(श्या० सुं० श०)

उपादान किसी वस्तु की तृष्णा से उसे ग्रहण करने की जो प्रवृत्ति होती है, उसे उपादान कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पादन की दूसरी कडी तण्हापच्चया उपादानं—इसी का प्रतिपादन करती है। उपादान से ही प्राणी के जीवन की सारी भाग दौड़ होती है, जिसे भव कहते हैं।

तृष्णा के न होने से उपादान भी नहीं होता, और उपादान के निरोध से भव का निरोध हो जाता है। यही निर्वाण के लाभ की दिशा है।

(भि० ज० का०)

उपाधि न्यायशास्त्र के पारिभाषिक शब्द अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर साथ रहनेवाली वस्तुओं मे एक को हेतु और दूसरे को साध्य माना जाता है। कभी कभी अन्वय-व्यतिरेक मे दोष हो जाने के कारण हम वास्तविक हेतु की जगह दूसरे को हेतु मान लेते है। ऐसा हेतु उपाधि कहलाता है। पारिभाषिक शब्दो मे जो हेतु साध्य का व्यापक हो और साधन का व्यापक न हो उसे उपाधि कहते हैं। पर्वत मे धुआँ है क्योकि वहाँ आग है, यहाँ आग से धुएँ का अनुमान नही हो सकता क्योंकि धुएँ के बिना भी आग संभव है। यदि यहाँ आग से गीली लकड़ी से युक्त आग का तात्पर्य हो तो धुएँ के अनुमान मे आग की जगह वास्तविक हेतु "गीली लकड़ी से युक्त आग" होगी। गीली लकड़ी से युक्त होना साध्यभूत धूम का व्यापक ह और साधनभूत वह्नि का व्यापक नहीं है, अतः यही उपाधि है। क्योकि उपाधिभून हेतु के कारण ही आग और धुएँ का संबध हो सकता है, आग के कारण नहीं, इसलिये सोपाधिक हेतु से साध्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। हेतु का सोपाधिक होना व्याप्यत्वासिद्ध दोष कहलाता है।

वेदातशास्त्र मे शुद्ध और अनंत चैतन्य को दूषित और सीमित करनेवाले माया, अविद्या, प्रकृति आदि तत्व को उपाधि कहते है। (रा० चं० पां०)

उपाध्याय (संस्कृत—उप + अधि + इण घञ्) इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—"उपेत्य अधीयते अस्मात्" जिसके पास जाकर अध्ययन किया जाय, वह उपाध्याय होता है। उपाध्याय ब्राह्मणो के एक वर्ग की सज्ञा भी ह। मनुस्मृति के अनुसार वेद के एक भाग एवं वेदांग को वृत्ति लेकर पढ़ानेवाले शिक्षक को उपाध्याय कहते थे। "एकदेशं तु वेदस्य वेदागान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थं उपाध्यायः स उच्यते (मनु २:१४१)। यह आचार्य की अधीनता में शिक्षण कार्य किया करता था। सभवत: एक आचार्य के अधीन दस उपाध्याय शिक्षण कार्य करते थे ('उपाध्यायान् दशाचार्य: मनु २,१४६)। याज्ञवल्क्य (१,३५), वशिष्ठ (३,२१) और विष्णु (२८,२) के अनुसार भी वृत्ति लेकर अध्यापन करनेवाले शिक्षक की 'उपाध्याय' संज्ञा थी। वृत्ति लेकर पढ़ाना ब्राह्मणो के आदर्श के अनुरूप नहीं समझा जाता था, इसलिये संभवतः उपाध्याय के सबंध में नीतिकार ने कहा है—'उपाध्यायश्च वैद्यश्च ऋतुकाले वरस्त्रियः। सूतिका दूतिका नौका कार्यान्ते ते च शष्पवत्।'

बौद्ध साहित्य में भी उपाध्याय (उपज्झाय) के संबंध में अनेक निर्देश उपलब्ध हैं। महावग्ग (१–३१) के अनुसार उपसंपन्न भिक्षु को बौद्ध ग्रंथो की शिक्षा उपाध्याय द्वारा दी जाती थी। पढ़ने का प्रार्थनापत्र भी उसी की सेवा मे प्रस्तुत किया जाता था (महावग्ग १–२५-७)। इत्सिंग के विवरण से ज्ञात होता है कि जब उपासक प्रव्रज्या लेता था, तब उपाध्याय के संमुख ही उसे श्रम की दीक्षा दी जाती थी। दीक्षाग्रहण के पश्चात् ही उसे 'त्रिचीवर' भिक्षापात्र और निशीदान (जलपात्र) प्रदान करता था। उपसंपन्न भिक्षु को 'विनय' की शिक्षा उपाध्याय द्वारा ही दी जाती थी। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी उपाध्याय होती थी। पतंजलि ने उपाध्याया की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'उपेत्याधीयते अस्याः सा उपाध्याया।'

उपाध्याय संस्था का विकास संभवतः इस प्रकार हुआ। धार्मिक संस्कार करने तथा धर्मतत्व का उपदेश देने का कार्य पहले कुल का मुख्य पुरुष वा कुलवृद्ध करता था। यही उपाध्याय होता था। प्रायः सब जातियों मे यही पाया जाता है। भारतीय आर्यो में कुलपति ही उपाध्याय होता था। यहूदियों मे 'अब्राहम आइजे' आदि कुलपति उपाध्याय का काम करते थे। अरब लोगों में शेख यह काम करता था। आज भी वह उस समाज का नेता तथा धार्मिक कृत्यों और मामलो में प्रमुख होता है। रोमन कैथोलिक और ग्रीक संप्रदाय मे उपाध्याय का अधिकार मानने की प्रथा है।

(अ० कु० वि०)

उपाध्याय, दीनदयाल का जन्म सन् १९१७ ई० में मथुरा के एक संभ्रांत ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उन्होने पिलानी, आगरा तथा प्रयाग में शिक्षा प्राप्त की। बी०एस-सी०, बी० टी० करने के बाद उन्होंने कोई नौकरी नहीं की। छात्र जीवन से ही वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सक्रिय कार्यकर्ता हो गए थे। अतः कालेज छोड़ने के तुरंत बाद वे उक्त संस्था के प्रचारक बना दिए गए और एकनिष्ठ भाव से अपने दल का संगठन कार्य करने लगे।

सन् १९५१ ई० मे अखिल भारतीय जनसंघ का निर्माण होने पर वे उसके मंत्री बनाए गए। दो वर्ष बाद सन् १९५३ ई० में उपाध्याय जी अखिल भारतीय जनसंघ के महामंत्री निर्वाचित हुए और लगभग १५ वर्ष तक इस पद पर रहकर उन्होंने अपने दल की अमूल्य सेवा की। कालीकट अधिवेशन (दिसंबर, १९६७ ई०) मे वे अखिल भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। ११ फरवरी, १९६८ की रात में रेलयात्रा के दौरान उनकी हत्या कर दी गई।

उपाध्याय जी नितांत सरल और सौम्य स्वभाव के व्यक्ति थे। राजनीति के अतिरिक्त साहित्य में भी उनको गहरी अभिरुचि थी। उनके अंग्रेजी और हिंदी के लेख विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे। केवल एक बैठक में ही उन्होंने 'चंद्रगुप्त नाटक' लिख डाला था।

(कै० चं० श०)

उपाध्याय, हरिभाऊ राजस्थान राज्य के प्रसिद्ध साहित्यसेवी और राष्ट्रकर्मी। जन्म सन् १८९२ ई० में उज्जैन के भौंरासा गावँ में हुआ। विश्वविद्यालयीन शिक्षा अन्यतम न होते हुए भी साहित्यसर्जना की प्रतिभा जन्मजात थी और इनके सार्वजनिक जीवन का आरंभ 'औदुंबर' मासिक पत्र के प्रकाशन के माध्यम से साहित्यसेवा द्वारा ही हुआ। सन् १९११ में पढ़ाई के साथ इन्होंने इस पत्र का संपादन भी किया। सन् १९१५ में वह पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपर्क में आए और 'सरस्वती' में काम किया। इसके बाद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप', 'हिंदी नवजीवन', 'प्रभा' आदि के संपादन में योगदान किया। सन् १९२२ में स्वयं 'मालव मयूर' नामक पत्र प्रकाशित करने की योजना बनाई किंतु पत्र अधिक समय तक नहीं चला।

हरिभाऊ जी की मौलिक साहित्यसर्जना 'बापू के आश्रम में', 'सर्वोदय की बुनियाद', 'साधना के पथ पर', 'भागवत धर्म', 'मनन', 'पुण्य स्मरण', 'दूर्वादल' (कवितासंग्रह) तथा अन्य अनेक पुस्तकों के रूप में हिंदी संसार के सामने है। विविध पत्र पत्रिकाओं में लेख तो बराबर ही लिखते रहे। इसके अतिरिक्त इन्होंने जवाहरलाल जी की आत्मकथा 'मेरी कहानी' तथा पट्टाभि सीतारामैया कृत 'कांग्रेस का इतिहास' इत्यादि के अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद भी प्रस्तुत किए।

गांधी जी से प्रभावित होकर ये राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े। पुरानी अजमेर रियासत में इन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद ये अजमेर के मुख्य मंत्री निर्वाचित हुए। हृदय से ये अत्यंत कोमल, परदुःखकातर व्यक्ति थे, किंतु सिद्धांतों पर कोई समझौता नहीं करते थे। राजस्थान की सब रियासतों को मिलाकर राजस्थान राज्य बना और इसके कई वर्षो बाद श्री मोहनलाल सुखाड़िया (संप्रति कर्नाटक के राज्यपाल) मुख्य मंत्री बने। उन्होंने अत्यंत आग्रहपूर्वक उपाध्याय जी को पहले वित्त फिर शिक्षामंत्री बनाया। बहुत दिनों तक ये इस पद पर रहे किंतु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण अंततः त्यागपत्र दे दिया।

उपाध्याय जी कई वर्षो तक राजस्थान की शासकीय साहित्य अकादमी के अध्यक्ष भी रहे। इन्होंने महिला शिक्षा सदन, हटूंडी (अजमेर) तथा सस्ता साहित्य मंडल की स्थापना की।

२५ अगस्त, १९७२ को इनका देहांत हुआ। (स०)

उपालंभ काव्य प्राचीन संस्कृत हिंदी काव्याचार्यो के मतानुसार मुख्यतः शृंगारकाव्य का एक भेद, जिसमें नायिका की विश्वस्त सखी उपालंभ (उलाहना) देकर नायक को नायिका के अनुकूल करती हैं। लेकिन सर्वत्र सखी द्वारा ही नायिका नायक को उपालंभपूर्ण संदेश नहीं देती, बल्कि संयोग शृंगार में नायिका स्वयं ही नायक को उपालंभ देती है। कहीं कहीं नायिका पक्षी, मेघ अथवा पवन द्वारा भी नायक को उपालंभ भेजती है। ऐसा प्रायः वियोग शृंगार में देख पड़ता है।

लोककाव्य में विरहिणी नायिका कागा आदि पक्षियों के माध्यम से अथवा प्रवासी पति के नगरादि से आए पथिक के माध्यम से उपालंभ देती है। नवपरिणीता युवती मायके के आत्मीय जनों की अभावजन्य वेदना तथा बहन भाई की कल्पित उपेक्षा का उपालंभ देती देख पड़ती है। इष्टदेव के प्रति दास्यभाव रखनेवाले भक्त कवियों ने (यथा सूरदास) भी उपालंभ का आश्रय लिया है।

किंतु यह परिभाषा अपने में पूर्ण नहीं है। उपालंभ में मात्र उलाहना नहीं होता या प्रियपात्र की निंदा ही नहीं होती; इसका मुख्य भाव है, किसी प्रकार प्रिय से साहचर्य की अनुभूति या चेष्टा, सहयोगाकांक्षाजन्य विकलता और मिलन की अभिलाषा। परिभाषा के इसी वैशिष्ट्य के कारण उपालंभ काव्य केवल शृंगार तक ही सीमित नहीं माना जा सकता।

हिंदी भक्तिकाव्य में उपालंभ पर्याप्त मात्रा में मिलता है। राधा तथा गोपियों के उपालंभ के साथ माता यशोदा का कृष्ण के प्रति मधुर उपालंभ, कृष्ण का यशोदा तथा बलराम के प्रति उपालंभ तथा विनयभावना के अंतर्गत भक्तों का अपने आराध्य के प्रति उपालंभ भी भक्तिकाव्य के सुंदर प्रसंग हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद जब नंद, यशोदा, राधा, गोप, गोपियाँ सब अत्यंत दुःखी हैं, उसी समय उद्धव कृष्ण की ओर से गोपियों को समझाने बुझाने आते हैं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में गोपियों द्वारा उद्धव को उपलक्ष्य बनाकर कृष्ण को उपालंभ देने का अत्यंत सुंदर वर्णन है। इसी प्रसंग को काव्य में 'भ्रमरगीत' के नाम से अभिहित किया गया है।

मैथिल कवि विद्यापति, चंडीदास, सूरदास, नंददास आदि प्राचीन कवियों ने तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र और जगन्नाथदास रत्नाकर आदि इधर के कवियों ने उपालंभ काव्य का पर्याप्त प्रयोग किया है। कुछ हास्यरस के कवियों ने भी यत्र तत्र उपालंभ का सहारा लिया है।

अपनी विशिष्टता के कारण उपालंभ काव्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। (स०)

उपासना परमात्मा की प्राप्ति का साधनविशेष। 'उपासना' का शब्दार्थ है अपने इष्टदेवता के समीप (उप) स्थिति या बैठना (आसन)। आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार 'उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर, उसके समीप पहुँचकर, तैलधारा के सदृश समानवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घ काल तक उसमें स्थिर रहने को उपासना कहते हैं' (गीता १२।३ पर शांकर भाष्य)। उपासना के लिये व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों आधार मान्य हैं, परंतु अव्यक्त की उपासना में अधिकतर क्लेश होता है और इसीलिये गीता (१२।५) व्यक्तोपासना को सुलभ, सद्यः फलदायक तथा सुबोध मानती है। जीव वस्तुतः शिव ही है, परंतु अज्ञान के कारण वह इस प्रपंच के पचड़े में पड़कर भटकता फिरता है। अतः ज्ञान के द्वारा अज्ञान की ग्रंथि का उन्मीलन कर स्वशक्ति की अभिव्यक्ति करना ही उपासना का लक्ष्य है जिससे जीव की दुःख प्रपंच से सद्यः मुक्ति संपन्न होती है (अज्ञान ग्रंथिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः—परमार्थसार, कारिका ६०)। उपासना के साधारणतया दो मार्ग उपदिष्ट हैं—ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश कर जब परमतत्व का साक्षात्कार संपन्न होता है, तब उस उपासना को ज्ञानमार्गीय संज्ञा दी जाती है। भक्तिमार्ग में भक्ति ही भगवान् के साक्षात्कार का मुख्य साधन स्वीकृत की जाती है। भक्ति ईश्वर में सर्वश्रेष्ठ अनुरक्ति (सा परानुरक्तिरीश्वरे—शांडिल्यसूत्र) है। सर्वसाधारण के लिये ज्ञानमार्ग कठिन, दुर्गम तथा दुर्बोध होता है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति—कठ० १।३।१४)। भागवत (१०।१४।४) ने ज्ञानमार्गीय उपासना को भूसा कूटने के समान विशेष क्लेशदायक बतलाया है। अधिकारी भेद से दोनों ही मार्ग उपादेय तथा स्वतंत्र रूप से फल देनेवाले हैं।

उपासना में गुरु की बड़ी आवश्यकता है। गुरु के उपदेश के अभाव में साधक अकर्णधार नौका के समान अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचने में कथमपि समर्थ नहीं होता। गुरु 'दीक्षा' के द्वारा शिष्य में अपनी शक्ति का संचार करता है। दीक्षा का वास्तविक अर्थ है उस ज्ञान का दान जिससे जीव का पशुत्वबंधन कट जाता है और वह पाशों से मुक्त होकर शिवत्व प्राप्त कर लेता है। अभिनवगुप्त के अनुसार दीक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है:

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दान-क्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।

(तंत्रालोक, प्रथम खंड, पृ० ८३)।

श्रीवैष्णवों की उपासना पाँच प्रकार की मानी गई है—अभिगमन (भगवान् के प्रति अभिमुख होना), उपादान (पूजार्थ सामग्री), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (आगम ग्रंथों का मनन) तथा योग (अष्टांग योग का अनुष्ठान)। (ब० उ०)

उपेंद्र कृष्णराज परमार, द्र० 'परमार'।

उपेंद्र भंज उड़िया साहित्य के ये महान् कवि सन् १६८५ ई० से १७२५ ई० तक जीवित रहे। उनके पिता का नाम नीलकंठ एवं

दादा का नाम धनंजय भंज था। दो साल राज्य करने के बाद नीलकंठ अपने भाई घनभंज के द्वारा राज्य से निकाल दिए गए। नीलकंठ के जीवन का अंतिम भाग नयागढ मे व्यतीत हुआ था। उपेंद्र भंज के बारे मे यह कहा जाता है कि उन्होने नयागढ के निवासकाल मे 'ओड़गांव' के मंदिर मे विराजित देवता श्रीरघुनाथ जी को 'रामतारक' मंत्रो से प्रसन्न किया था और उनके ही प्रसाद से उन्होने कवित्वशक्ति प्राप्त की थी। संस्कृत भाषा मे न्याय, वेदांत, दर्शन, साहित्य तथा राजनीति आदि सीखने के साथ ही उन्होने व्याकरण और अलंकारशास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। नयागढ के राजा लडुकेश्वर माधाता ने उन्हे 'वीरवर' उपाधि से भूषित किया था। पहले उन्होने बाणपुर के राजा की कन्या के साथ विवाह किया था, किंतु थोड़े ही दिनो बाद उनके मर जाने के कारण नयागढ के राजा की बहन को उन्होने पत्नी रूप मे ग्रहण किया। उनका दांपत्य जीवन पूर्ण रूप से अशांत रहा। उनके जीवनकाल मे ही द्वितीय पत्नी की भी मृत्यु हो गई। कवि स्वयं ४० वर्ष की आयु मे नि:संतान अवस्था मे मरे।

उपेंद्र भंज रीतियुग के कवि हैं। वे लगभग पचास काव्यग्रंथो के निर्माता है। इनमे से २० ग्रंथ प्रकाशित हुए है। उनके लिखित काव्यो मे लावण्यवती, कोटिब्रह्मांडसुंदरी और वैदेहीशविलास सुप्रसिद्ध है। उड़िया साहित्य मे रामचंद्र छोटराय से लेकर यदुर्मणि तक २०० वर्ष पर्यंत जिस रीतियुग का प्राधान्य रहा उपेंद्र भंज उसी के सर्वाग्रगण्य कवि माने जाते हैं। उनकी रचनाओ मे महाकाव्य, पौराणिक तथा काल्पनिक काव्य, संगीत, अलंकार और चित्रकाव्य अंतर्भुक्त है। उनके काव्यो मे वर्णित विवाहोत्सव, रणसज्जा, मंत्रणा तथा विभिन्न त्योहारो की विधियाँ आदि उत्कल की बहुत सी विशेषताएँ मालूम पड़ती है। उनकी रचनाशैली नैषध की सी है जिसमे उपमा, रूपकादि अलंकारो का प्राधान्य है। अक्षर-नियम और शब्दपांडित्य से उनकी रचना दुर्बोध लगती है। उनके काव्यो मे नारी-रूप-वर्णन मे बहुत सी जगहो पर अश्लीलता दिखाई पड़ती है। परंतु वह उस समय प्रचलित विधि के अनुसार है। उस समय के काव्यो मे शृंगार का ही प्राचुर्य रहता था।

दीनकृष्ण, भूपति पंडित और लोकनाथ विद्याधर आदि विशिष्ट कविगण उपेंद्र के समकालीन थे। उन सब कवियो ने राजा दिव्यसिंह के काल मे ख्याति प्राप्त की थी। उपेंद्र के परवर्ती जिन कवियो ने उनकी रचनाशैली का अनुसरण किया उनमे अभिमन्यु, कविसूर्य बलदेव और यदुमणि प्रभृति माने जाते है। आधुनिक कवि राधानाथ और गंगाधर ने भी बहुत हद तक उनकी वर्णनशैली अपनाई।

उड़िया साहित्य मे उपेंद्र एक प्रमुख संस्कारक थे। संस्कृतज्ञ पंडितों के साथ प्रतियोगिता मे उतरकर उन्होने बहुत से आलंकारिक काव्यो की भी रचना की। धर्म और साहित्य के बीच एक सीमा निर्धारित करके उन्होने धर्म से सदैव साहित्य को अलग रखा। उनकी रचनाओ मे ऐसे बहुत से देवताओ का वर्णन मिलता है पर प्रभु जगन्नाथ का सबसे विशेष स्थान है। वैदेहीशविलास उनका सबसे बड़ा काव्य है जिसमे प्रत्येक पंक्ति का प्रथम अक्षर 'ब' ही है। इसी प्रकार 'सुभद्रा परिणय' और 'कला कउतुक' काव्यो की प्रत्येक पंक्ति यथाक्रम 'स' और 'क' से प्रारंभ हुई है। उनके रस-पंचक काव्य मे साहित्यिक रस, दोष और गुणों का विवेचन किया गया है। अवनारसतरंग एक ऐसा काव्य है जिसमे किसी भी स्थान पर मात्रा का प्रयोग नही हुआ है। शब्दप्रयोग के इस चमत्कार के अतिरिक्त उनकी इस रचना मे और कोई मौलिकता नही है। उनके काव्यो मे वर्णन की एकरूपता का प्राधान्य है। पात्र पात्रियों का जन्म, शास्त्राध्ययन, यौवनागम, प्रेम, मिलन और विरह सभी काव्यो मे प्राय: एक से है। उनके कल्पनाप्रधान काव्यो मे वैदेहीशविलास सर्वश्रेष्ठ है :

उन्होंने 'चौपदीभूषण', 'चौपदीचंद्र' प्रभृति कई संगीतग्रंथ भी लिखे है, जो उड़ीसा प्रांत मे बड़े जनप्रिय है। उनकी संगीत पुस्तको मे आदिरस और अलंकारो का प्राचुर्य है। कवि की कई पुस्तके मद्रास, आंध्र, उत्कल और कलकत्ता विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे गृहीत है। वैदेहीशविलास, कोटिब्रह्मांडसुंदरी, लावण्यवती, प्रेमसुधानिधि, अवनारसतरंग, कला कउतुक, गीताभिधान, छंदमंजरी, बजारबोली, चउपदी हारावली, छांद भूषण, रसपंचक, रामलीलामृत, चौपदीचंद्र, सुभद्रापरिणय, चित्रकाव्य-बंधोदय, दशपोइ, यमकराज चउतिशा और पंचशायक प्रभृति उनकी कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी है। (गो० वि० ध०)

उपोसथ बौद्ध भिक्षुओ तथा भिक्षुणियो की पाक्षिक दोष-स्वीकार-सभा को 'उपोसथ' कहते है (संस्कृत उपवसथ = सोमयाग का दिन)। प्रारंभ मे बौद्ध संघ मे उपोसथ के चार दिन हुआ करते थे—प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा और अमावस्या। पीछे चार से घटाकर दो दिन नियत कर दिए गए—पूर्णिमा और अमावास्या। उस दिन विहार की सीमा के भीतर रहनेवाले भिक्षुओं को उपोसथ सभा मे उपस्थित होना पड़ता था। सभा का सभापति 'पातिमोक्खसुत्त' का पाठ करता था और प्रत्येक भिक्षु को अपने विहित दोषों को प्राख्यापित करने की आज्ञा देता था। यदि प्रख्यापनो के द्वारा दोष साधारण कोटि के सिद्ध होते, तो दोष के स्वीकार मात्र से वह भिक्षु दोषमुक्त माना जाता था। अन्यथा उसे सभा छोड़ना तथा भिक्षुसमिति के द्वारा विहित दंड भोगना पड़ता था। उपासको (बौद्ध गृहस्थो) को इन दिनो अष्टशीलो का पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती और भिक्षुओ को भोजन कराना पड़ता था। पातिमोक्खसुत्त विनयपिटक के अंतर्गत है और इसमे भिक्षुओ के पालन के निमित्त २२७ नियमों का वर्णन है। 'भिक्षुणीपातिमोक्ख' मे भिक्खुणियो के पालनार्थ ऐसे ही नियमो का निर्देश है तथा कतिपय नियम और भी जोड़े गए है। (ब० उ०)

उवांगी अथवा सोवांगी विषुवत् रेखीय अफ्रीका मे बहनेवाली कांगो की सहायक नदी है। इसकी अधिकतम लंबाई १,४०० मील है। यह कई धाराओ मे ०°२२' एवं ०°३०' द० अ० और १७° ४०' एवं १७° ५०' पू० दे० के भीतर कांगो मे मिलती है। बोमू तथा यूले नामक नदियों के मिलने से उवांगी बनती है। आगे चलकर कूमा नदी उवांगी मे आकर मिलती है। संगम मे नीचे दक्षिण की ओर उवांगी मे एक बड़ा घुमावदार मोड़ है, उसके बाद जहाँ नदी पर्वतो के मध्य से होकर निकलती है वहाँ जोंगो या ग्रेनफेल नामक लघु जलप्रपात (रैपिड्स) है। इस कारण यातायात के लिये उवांगी अयोग्य है, केवल बाढ के दिनो मे छोटी छोटी नौकाएँ चल सकती है। जोंगो से ऊपर की ओर यूले, बोमू संगम तक नदी यातायात के योग्य है। (श्या० सु० श०)

उभयचर (ऐंफ़िबिया) यह पृष्ठवंशीय प्राणियों का एक बहुत महत्वपूर्ण वर्ग है जो वर्गीकरण के अनुसार मत्स्य और सरीसृप वर्गो के बीच की श्रेणी मे आता है। इस वर्ग के कुछ जंतु सदा जल पर, कुछ थल पर तथा कुछ जल और थल दोनो पर रहते है। यह पृष्ठवंशियो का प्रथम वर्ग है, जिसने जल के बाहर रहने का प्रयास किया था। फलस्वरूप नई परिस्थितियो के अनुकूल इनकी रचना मे प्रधानतया तीन प्रकार के अंतर हुए—(१) इनका शारीरिक ढाँचा जल मे तैरने के अतिरिक्त थल पर भी रहने के योग्य हुआ। (२) क्लोम दरारो के स्थान पर फेफड़ो का उत्पादन हुआ तथा रक्तपरिवहन मे भी संबधित परिवर्तन हुए। (३) ज्ञानेंद्रियो मे यथायोग्य परिवर्तन हुए, जिससे ये प्राणी जल तथा थल दोनो परिस्थितियों का ज्ञान कर सके। उभयचर के कुछ विशेष लक्षण निम्नलिखित है : इनकी त्वचा पर किसी प्रकार का बाह्य कंकाल, जैसे शल्क, बाल इत्यादि नही होते और त्वचा आर्द्र होती है। मीनपक्षो के स्थान पर दो जोड़ी पाद होते है। इनमे दो नासाद्वार होते है, जो मुखगुहा द्वारा फेफड़ो से संबद्ध रहते है। हृदय मे तीन वेश्म होते है। ये असमतापी जीव होते है। इनमे एक विशेष प्रकार का मध्यकर्ण पाया जाता है जिससे इन्हे वायुध्वनियो का ज्ञान होता है।

उभयचर वर्ग मे लगभग २,५०० प्रकार के विभिन्न प्राणी संमिलित है, जिनको चार गणो मे विभाजित किया जाता है : सपुच्छा (कॉडेटा); विपुच्छा (सेलियशिया); अपादा (ऐपोडा) और आवृतशीर्ष (स्टीगोसिफेलिया)।

सपुच्छा—इसके अंतर्गत न्यूट तथा सैलामैंडर आते है। इनका शरीर लंबा और सिर तथा धड़ के अतिरिक्त पूँछ भी होती है। बहुधा अग्र तथा पश्चपाद लगभग बराबर होते है। अधिकतर जलक्लोम तथा क्लोम

उभयचर (द्र० पृष्ठ १२६)

ऊद

वृष मेंढ़क (bull frog) की बेंगची (tadpole)

चित्तीदार सैलैमेंडर (Salamander)

उरग (द्र० पृष्ठ १३०)

मादा कछुआ और उसका अंडा

साधारण जल सर्प—मादा और बच्चे

(अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से प्राप्त)

उरग (द्र० पृष्ठ १३०)

ऊपर बाईं ओर : मगर का सिर; दाहिनी ओर : हीला नामक लगभग दो फुट लंबी छिपकली, जो निउ मेक्सिको के अरिज़ोना प्रदेश में पाई जाती है; नीचे बाईं ओर : मगर पानी में उतर रहा है; दाहिनी ओर : गिरगिट। (अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से प्राप्त)

दरारें आजीवन रहती हैं, परंतु कुछ में ये वयस्क अवस्था में लुप्त हो जाती हैं और श्वसन केवल फेफड़ों द्वारा ही होता है। ये प्राचीन काल में खटी युग (क्रिटेशस) तक पाए गए हैं। यद्यपि इनका साधारण आकार इनके पूर्वजों से मिलता जुलता है, फिर भी इनकी उत्पत्ति पर अधिक प्रकाश अभी तक संभव नहीं हो सका है।

नेकट्यूरस—यह एक प्रकार का सपुच्छा है जिसको पानी का कुत्ता भी कहते हैं। यह लगभग १२ इंच तक लंबा होता है और अमरीका की नदियों में पाया जाता है। इनमें फेफड़े तथा तीन जोड़ी जलश्वसनिकाएँ

प्लव पुच्छ (नेकट्यूरस)

पाई जाती हैं तथा दोनों ही स्थायी रूप से आजीवन रहती हैं। छोटी छोटी मछलियाँ, शंख तथा पानी के अन्य कीड़े मकोड़े इसका मुख्य आहार हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि मादा पत्थरों के नीचे अंडे देती है और उनकी देखभाल स्वयं करती है। **प्रोटियस** भी नेकट्यूरस से मिलता जुलता जीव है जो यूरोप में पानी की गहरी खाइयों इत्यादि में रहता है। इसी कारण इसकी त्वचा में रंगों का अभाव रहता है। इसकी आँखें त्वचा से ढकी रहती हैं।
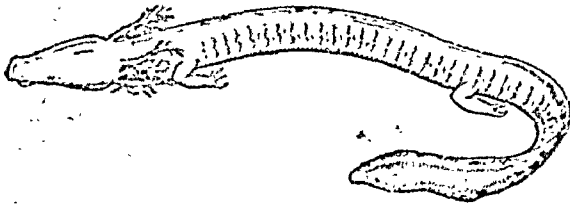
गुहासर्पिका (प्रोटियस)

सैलामैंडरों में ऐंफ़िथ्मा को छोड़कर क्रिप्टोब्रैंकस, एंबीस्टोमा, ट्राइटन और प्लीथोडान इत्यादि में प्रौढ़ अवस्था में किसी में जलश्वसनिकाएँ नहीं होती हैं। क्रिप्टोब्रैंकस लगभग २ फुट लंबा साँड़े के आकार का उत्तरी अमरीका की नदियों में पाया जानेवाला जीव है। अन्य सैला-

उभयतःश्वासी (ऐंफ़िथ्मा)

मैंडरों की अपेक्षा इनके शरीर की त्वचा में अनेक झुर्रियाँ भी होती हैं। पूर्वी चीन तथा जापान में पाई जानेवाली इसकी जाति, मेगालोबैट्रैकस ५ फुट से भी अधिक लंबी होती है। ऐंबीस्टोमा उत्तरी अमरीका का एक

नर सरटिका (ट्राइटयूरस)

सैलामैंडर है जो प्रौढ़ अवस्था में थल पर ही रहता है। इसमें यह विशेषता है कि इसके डिंभ, जिनको ऐक्सलॉटल कहते हैं और जिनमें बाह्य जलश्वसनिकाएँ रहती हैं, वयस्क अवस्था के पहुँचने के पहले ही लैंगिक रूप से

मत्स्यपिका (साइरिन)

पूर्णतया परिपक्व हो जाते हैं। प्राणियों के इस प्रकार वयस्क अवस्था में लैंगिक रूप से परिपक्व होने की क्रिया को नियोटनी कहते हैं। ट्राइटयूरस, जिसको साधारणतया न्यूट भी कहते हैं, उत्तरी अमरीका, यूरोप और पूर्वी एशिया में मिलता है। यह अधिकतर सदा स्थल पर ही रहता है और थलीय जीवन का इतना आदी हो जाता है कि किसी समय भी जल में नहीं जाता। इसी कारण इसमें जलश्वसनिकाएँ तथा क्लोम दरारें नहीं होतीं और इसका श्वसन केवल फेफड़ों द्वारा ही होता है। कुछ मादा न्यूट्स का रंग जननकाल में बहुत चटकीला हो जाता है और पीठ पर एक लंबी शिखर-रूपी त्वचा की पट्टी बढ़ जाती है। ऐंफ़िथ्मा कांगो के दलदलों तथा धान के खेतों में पाया जाता है। यह लगभग ३ फुट तक लंबा, ईल मछली से मिलता जुलता प्रतीत होता है। इसी कारण वहाँ के निवासी इसको कांगो की ईल भी कहते हैं। परंतु इनमें गलफड़ों के अतिरिक्त फेफड़े, जलश्वसनिका तथा पाद वर्तमान रहते हैं। केवल प्लीथोडोन, जो आकार में छिपकली के समान ६ इंच लंबा होता है, स्थलीय होने पर भी फेफड़ा रहित होता है। प्लीथोडोन में बहुधा मादा अपने अंडों की रक्षा करती है। सपुच्छा समूह के कुछ जीव पतले, लंबे तथा पश्चपाद अथवा पादकरहित होते हैं। इनको साइरेन कहते हैं। ये मध्य अमरीका के गंदे तालाबों तथा गड्ढों में पाए जाते हैं और तीन जोड़ी जलश्वसनिकाओं द्वारा साँस लेते हैं।

पाइपा मेढक की मादा

विपुच्छ पुच्छरहित उभयचर हैं। इनके अंतर्गत मेढकों तथा भेकों (बड़े मेढकों) की १,००० से भी अधिक जातियाँ सम्मिलित हैं। इनमें ग्रीवा नहीं होती। अग्रपाद छोटे तथा पश्चपाद लंबे होते हैं, जो इनके तैरने तथा छलाँग मारने में सहायक होते हैं। इस समूह के कुछ प्राणी केवल जल या थल और कुछ दोनों में रहते हैं। कुछ, जैसे हायला, पेड़ों पर भी चढ़ जाते हैं। भेक तो सदा थल पर रहते हैं, केवल अंडे देने के समय पानी में प्रवेश करते हैं। डिंभ अवस्था में पूँछ होती है जो वयस्क होने पर लुप्त हो जाती है। पुच्छ-कशेरुकों के जुड़ने से एक पुच्छकंटक बनता है, जो धड़ के पीछे के भाग में स्थापित रहता है। विपुच्छों में [illegible] (बुल-फ्रॉग) को छोड़कर शरीर के अंदर ही होती है और इनके पुच्छ-निकाय में एक महत्वपूर्ण स्थान होता है।

पुच्छरहित उभयचर दुनिया के लगभग प्रत्येक भाग में पाए जाते हैं, परंतु वह बहुत गर्मी तथा सर्दी होने पर मिट्टी के भीतर घुस जाते हैं और तब इनके शरीर की सारी क्रियाएँ शिथिल हो जाती है। जीवन के इस
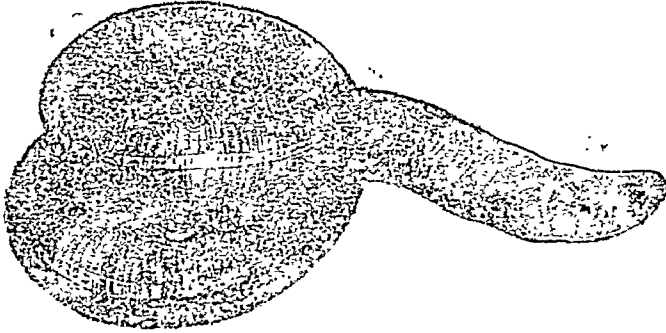
इकथियोपिस

विभेदन को ग्रीष्म या शीतनिष्क्रियता कहते हैं। ये जीव बहुधा २ से लेकर ५ इंच तक लंबे होते हैं, परंतु पश्चिमी अफ्रीका का **राना गोलिग्रथ** नामक भेक लगभग १२ इंच तथा दक्षिणी अमरीका का साँड़ भेक ८ इंच लंबा होता है। इसके विपरीत क्यूबा देश का पेड़ पर रहनेवाला भेक (फ़ाइलोबेटिस) केवल ½ इंच का ही होता है। कुछ विपुच्छों के अंडों की रक्षा करने के अनेक साधन पाए जाते हैं। यूरोप का नर **ऐलिटीज़ मेढक** अंडों को अपने पश्चपाद में चिपकाकर इधर उधर लिए फिरता है तथा अफ्रीका के **पाइपा** की मादा अंडों को अपनी पीठ की त्वचा पर छोटे छोटे गड्ढों में रखकर उनकी रक्षा करती है।

अपादा—इनको सिसिलिअंस अथवा जिमनोफाइओना भी कहते हैं। ये अधिकतर उष्ण कटिबंध में पाए जाते हैं। ये पादरहित, लगभग एक फुट लंबे, कृमि रूपी उभयचर हैं, जो भूमि के अंदर विलों में रहते हैं। कदाचित् इन परिस्थितियों के कारण इनमें पादों के साथ पादमेखला का भी लोप हो जाता है और नेत्र अत्यंत छोटे तथा कार्यहीन हो जाते हैं। अन्य उभयचरों से ये इस बात में भिन्न होते हैं कि इनमें त्वचा के नीचे छोटे छोटे शल्क होते है। पूँछ बहुत छोटी तथा श्वसन केवल फेफड़ों द्वारा और संसेचन आंतरिक होता है। इकथियोफ़िस भारतवर्ष में तथा साइफ़ोनॉप्स अमरीका में पाए जाते हैं और अंडे देने के उपरांत उनके चारों ओर लिपटकर उनकी रक्षा करते हैं।

स्टीगोसिफ़ेलिया—उभयचरों की कुछ जातियाँ, जो आज से लाखों वर्ष पूर्व पाई जाती थीं परंतु अब नहीं मिलतीं, इस समुदाय में संमिलित हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनके कपाल और हनु भी अस्थियों से ढके रहते थे। कुछ प्राणी, जैसे डिपलोकॉलस, छोटे सैलामैंडरों के समान तथा इओग्राइनस १५ फुट तक लंबे होते थे। ये सदा जल में ही रहा करते थे। स्टीगोसिफ़ेलिया के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उभयचर वर्ग की उत्पत्ति संभवतः किसी प्राचीन मत्स्यरूपी प्राणी से हुई होगी, जो पहले जल में रहते रहे होंगे। परंतु बाद के युग में जल के जगह जगह पर सूख जाने के कारण इन प्राणियों को थल पर चलने तथा वायु में श्वास लेने का प्रयास करना पड़ा। फलस्वरूप इनमें अनेकानेक शारीरिक परिवर्तन हुए और एक नए वर्ग का आरंभ हुआ। (ह० शं० चौ०)

उभयभारती मंडन मिश्र की पत्नी। इनके शारदा तथा सरसवाणी नाम भी मिलते है। अपनी दिग्विजय यात्रा के बीच शंकराचार्य मिथिला पहुँचे और वहाँ उन्होंने शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र को पराजित कर दिया। इसपर मंडन मिश्र की भार्या उभयभारती ने शंकराचार्य को कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारा। शंकराचार्य उस समय तक कामशास्त्र के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। अतः तत्काल वे उभयभारती की चुनौती स्वीकार न कर सके। पश्चात् कामशास्त्र का सम्यक् अध्ययन करने के उपरांत उन्होंने उभयभारती से शास्त्रार्थ किया और उन्हें पराजित भी किया। परिणामस्वरूप मंडन मिश्र और उनकी पत्नी दोनों को ही शंकराचार्य का अनुयायी बनना पड़ा। (कै० चं० श०)

उभयलिंगी जीव या पादप उसे कहते हैं जो एक ही समय अथवा विभिन्न समयों पर स्त्री तथा पुरुष दोनों प्रकार की प्रजनन-कोशिकाएँ उत्पन्न करता है। इसके स्पष्ट उदाहरण जंतुओं तथा पादपों, दोनों में मिलते हैं, जैसे केंचुओं में तथा कई प्रकार की काइयों में। यहाँ नर और मादा प्रजनन अंग एक ही व्यक्ति में काम करते हैं। यद्यपि जंतुओं और पौधों के जीवनचक्रों में महान् अंतर है, तब भी उन पौधों को उभयलिंगी कहते है, जिनमें नर और मादा दोनों प्रकार के फूल लगते हैं, जैसे कुम्हड़ा, खीरा इत्यादि में। जंतु संसार में नर और मादा अंग अधिकतर विभिन्न व्यक्तियों में रहते हैं।

जंतुओं में उभयलिंगी दो प्रकार के होते हैं—(१) कार्यकारी तथा (२) अकार्यकारी। अकार्यकारी उभयलिंगत्व कई रूपों का होता है। नर भेक (टोड) में अंडकोष के अतिरिक्त एक अविकसित अंडाशय भी होता है। कुछ कठिनियों (क्रस्टेशिया) या तिलचट्टों के अंडकोषों में अकार्यकारी अंडे भी रहते हैं। मीनवेधियों (हैगफ़िश) में ऐसे व्यक्तियों से लेकर जिनके कपूरा में एक अंड होता है, ऐसे व्यक्ति तक होते हैं जिनके अंडाशय के भीतर कपूरा का एक भाग होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व के उदाहरण ऐसे व्यक्ति हैं जो प्रजनन के विचार से (जेनेटिकली) एक लिंग (सेक्स) के हैं, परंतु उनके जननपिंड (गोनैड्स) से निकली हुई उपज बदलती रहती है, उदाहरणतः कुछ घोंघों (स्नेल्स) और शुक्तियों (आयस्टर्स) में ऐसे मादा जीव होते हैं जो पहले शुक्राणु उत्पन्न करते हैं और पीछे अंडे।

लाइमैक्स मैक्सिमस नामक मृदु मंथर प्रथम मादा, फिर क्रमानुसार उभयलिंगी, नर उभयलिंगी और फिर मादा का कार्य करता है। अभी तक पता नहीं चल सका है कि किस कारण इस प्रकार लिंगपरिवर्तन होता है। कुछ समूहों में पूरा जीव ही बदल जाता है; उदाहरणतः कुछ समपाद (आइसोपाड) क्रस्टेशिया के डिंभ (लार्वा), जब तक वे स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हैं, नर रहते हैं, परंतु अन्य क्रस्टेशिया पर परोपजीवी होने के पश्चात् वे मादा हो जाते हैं। दूसरी ओर, परिस्थिति में बिना कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई पड़े ही, ट्राइसोफ़िस ऑरेटिस नामक सामुद्रिक मछली पारी पारी से शुक्राणु और डिंबाणु उत्पन्न करती है।

उभयलिंगियों में स्वयंसेचन अत्यंत असाधारण है, जिसका कारण यह होता है कि नर तथा मादा युग्मक (गैमीट) विभिन्न समयों पर परिपक्व होते है, या उनके शरीर की आंतरिक संरचना ऐसी होती है कि स्वयंसेचन असंभव होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व प्रजीवों (प्रोटोज़ोआ) से लेकर आद्य रज्जुमंतों (कारडेट्स) तक, अर्थात् केवल निम्न कोटि के जंतुओं में, होता है, परंतु उच्च कोटि के कशेरुक-दंडियों में यह गुणधर्म प्रायः अज्ञात है। ऐसा संभव जान पड़ता है कि विशेष परिस्थितियों से उभयलिंगत्व उत्पन्न होता है। यह भी अनुमान किया जाता है कि उभयलिंगत्व वंशनाश से सुरक्षा करता है।

मनुष्यों में वास्तविक उभयलिंगी नहीं देखे गए हैं, यद्यपि अंगों का कुविकास यदाकदा दोनों लिंगों की विद्यमानता का आभास उत्पन्न करता है। कभी कभी तो परिस्थिति ऐसी रहती है कि नवजात शिशु के लिंग (सेक्स) का पता ही नहीं चलता।

सं० ग्रं०—आर० गोल्डश्मिट : मिकैनिज़्म ऐंड फ़िज़िऑलोजी ऑव सेक्स डिटर्मिनेशन (१९२३); एम० जे० डी० ह्वाइट : ऐनिमल साइटॉलोजी ऐंड एवोल्यूशन (१९४५)।

उभाड़दार छपाई ऐसी छपाई जिसमें अक्षर उभड़े हुए रहते हैं उभाड़दार छपाई या समुद्भरण (एमबॉसिंग) कहलाती है। यह छपाई पीतल के ठप्पे से होती है जिनमें अक्षर धँसे रहते है। छपाई साधारणतः हाथ से चालित, पेंच के प्रयोग से दाब उत्पन्न करनेवाले, छोटे प्रेसों से की जाती है। ठप्पे को अपने नियत स्थान पर नीचे कस दिया जाता है। ठप्पे पर आकर पड़नेवाली पीठिका पर गत्ता चिपका दिया जाता है। फिर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। इससे ठप्पे और पीठिका के बीच गत्ता इतने बल से दबता है कि उसका कुछ भाग ठप्पे के गड्ढों में घुस जाता है और गत्ता ठप्पे के अनुसार रूप ले लेता है। अंतर इतना ही

छपाई हो सकती है। इसके लिये ठप्पे पर विशेष (बहुत गाढ़ी) स्याही लगा दी जाती है और फिर उस कागज से रगड़कर पोंछ दिया जाता है। इस प्रकार ठप्पे का सपाट भाग पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है, केवल गड्ढे में स्याही लगी रह जाती है। फिर उस कागज को, जिसपर छपाई करनी रहती है, ठप्पे पर उचित स्थान पर रखकर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। जब गत्ता ऊपर से कागज को दबाता है तो गत्ते के उभड़े भाग कागज को ठप्पे के गड्ढों में धँसा देते हैं। हैंडल को उलटा घुमाकर कागज को सँभालकर उठा लेने पर उसपर उभाड़दार छपाई दिखाई देती है। इसी प्रकार एक एक करके सब कागज छाप लिए जाते हैं। जहाँ इस प्रकार की छपाई बहुत करनी होती है वहाँ ऐसी मशीन का उपयोग किया जाता है जिसमें स्याही लगाने, पोंछने और गत्तोंवाली पीठिका को चलाने का काम अपने आप होता रहता है।

जलचालित शक्तिशाली प्रेसों में पुस्तक के मोटे आवरणों पर इसी सिद्धांत पर उभड़ी या धँसी और स्याहीदार या बिना स्याही की छपाई की जाती है। समुद्भरण के अंतर्गत केवल छपाई ही नहीं है; धातु की चादर, प्लैस्टिक, कपड़े आदि पर भी उभड़ी हुई आकृतियाँ इसी सिद्धांत पर बनी विशेष मशीनों द्वारा छापी जाती हैं। एक बेलन पर छिछला उत्कीर्णन खुदा रहता है। दूसरे बेलन पर गत्ता या नमदा रहता है, या उसपर पहले के अनुरूप ही उभड़ा उत्कीर्णन रहता है। मशीनों में ये दोनों बेलन एक दूसरे को छूते हुए घूमते रहते हैं। इन दोनों के बीच डाली गई चादर आदि पर उभाड़दार आकृतियाँ बन जाती हैं।

सोने के आभूषणों पर उभाड़दार उत्कीर्णन करने के लिये सोने के पत्र को लाख (चपड़ा) और तारपीन आदि के रूपद (अर्ध-लचीले) मिश्रण पर रखकर पीठ की ओर से विविध यंत्रों द्वारा ठोंकते हैं। फिर पत्र को उलटकर आवश्यक स्थानों पर सामने से उत्कीर्णन करते हैं।

(स० ला० गु०)

उमर अल् मकसूस द्वितीय खलीफ़ा मुआविया के गुरु। मुआविया ने अपने पिता की मृत्यु के बाद इनसे परामर्श लिया, "मैं खिलाफत लूँ या नहीं।" इन्होंने कहा, "न्यायपूर्वक शासन कर सकें तो लें, अन्यथा न लें।" छह सप्ताह तक राज्य चलाने के उपरांत मुआविया ने अपने को शासन करने में सर्वथा अयोग्य पाया और राज्यभार छोड़ दिया। इससे उमय्या वंश के लोग उमर अल् मकसूस से बेहद नाराज हो गए और अवसर मिलते ही ६४३ ई० में उन्होंने इन्हें जिंदा ही जमीन में गाड़ दिया।

(कै० चं० श०)

उमर खय्याम संगीतमय फारसी रुबाइयों के प्रसिद्ध रचयिता अबुल फ़तह उमर बिन इब्राहीम अल ख़य्यामी अथवा खय्याम (खेमा सीनेवाले) के विषय में यद्यपि यूरोप एवं एशिया के अनेक उच्च कोटि के विद्वान् लगभग १०० वर्ष से शोधकार्य में संलग्न हैं किंतु अभी तक निश्चित रूप से उसकी जन्म एवं मृत्युतिथि भी निर्धारित नहीं हो सकी है। समकालीन ग्रंथों से केवल यह पता चल सका है कि ४६७ हि० (१०७४-७५ ई०) में वह सल्जूक़ सुल्तान जलालुद्दीन मलिकशाह की वेधशाला का उच्च अधिकारी नियुक्त हो गया था। ५०६ हि० (१११२-१३ ई०) में उसके शिष्य तथा फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् निजामी उरूजी समरकंदी ने उससे बल्ख़ में भेंट की। ५०५ हि० (११११-१२ ई०) अथवा ५०७ हि० (१११३-१४ ई०) में "तारीख़ुल हुकमा" का लेखक अबुलहसन बेहक़ी, बाल्यावस्था में उससे मिला। ५०८ हि० (१११४-१५ ई०) में उसने सुल्तान मुहम्मद बिन मलिकशाह के शिकार के लिये लग्नकुंडली तैयार की। ५३० हि० (११३५-३६ ई०) के पूर्व उसका शिष्य निजामी कानन के पुष्पों से ढकी हुई उसकी क़ब्र के दर्शनार्थ पहुँचा था। उसके प्राय: चार वर्ष पहले उसकी मृत्यु हो चुकी थी। इन मुख्य तिथियों के प्रसंग में उल्लिखित विभिन्न घटनाओं के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया गया है कि उसका जन्म ४४० हि० (१०४८-४९ ई०) एवं मृत्यु ५२६ हि० (११३१-३२ ई०) में हुई। उत्तर पूर्व फारस के ख़ुरासान प्रांत का नीशापुर नगर, जो मध्ययुग में रमणीयता एवं समृद्धि के साथ साथ विद्वानों एवं उच्च कोटि के विद्यालयों के लिये विख्यात था, उसकी जन्मभूमि था।

उमर ख़य्याम अपने जीवनकाल में ही ज्योतिषी, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हो गया था। १०७४-७५ ई० में सुल्तान जलालुद्दीन मलिकशाह की वेधशाला में उसने 'अल तारीख़ अल जलाली' अथवा जलाली पंचांग तैयार कराया। उसकी वैज्ञानिक रचनाओं में उसके बीजगणित 'रिसालह फ़ी बराहीन अल जब्र वल मुकाबला' का अनुवाद फ़िट्ज़ेराल्ड के रुबाइयों के अंग्रेजी भाषांतर के आठ वर्ष पूर्व १८५१ ई० में फ्रांसीसी अनुवाद सहित पेरिस से प्रकाशित हो चुका था, यद्यपि यूरोप के विद्वानों में इस ग्रंथ की चर्चा १७४२ ई० से ही प्रारंभ हो गई थी। उसकी अन्य वैज्ञानिक रचनाओं में युक्लिड के 'मुसादरात' सिद्धांतों से संबंधित उसकी शोधपूर्ण प्रस्तावना, गणित संबंधी ग्रंथ 'मुश्किलात-अल-हिसाब:' एवं चाँदी सोने के आपेक्षिक भार संबंधी ग्रंथ 'मीज़ानुल हिकम व रिसालह मारेफ़ मेक़दारिज्हव' अधिक प्रसिद्ध है। बहुत से विद्वानों का मत है कि अबू सीना के ग्रंथों के समान उसकी दर्शनशास्त्र संबंधी रचनाएँ भी कम महत्व की नहीं हैं। उसने 'रिसालए कौन व तकलीफ़', 'रिसालए फ़ी कुल्लियातिल वुजूद', 'रिसालए मौज़ू इल्मे कुल्ली व वुजूद' एवं 'रिसालए औसाफ़' या 'रिसालतुल वुजूद' नामक अपनी रचनाओं में अद्वैतवाद तथा 'एक एवं अनेक' के सिद्धांतों की बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से मीमांसा की है। राजदरबारों में वह चिकित्सक के रूप में भी विख्यात था। उसके कुछ अरबी शेर भी मिलते है किंतु उसे अधिक प्रसिद्धि फ़ारसी रुबाइयों के कारण ही मिली।

उसकी रुबाइयों की प्राचीनतम प्रामाणिक हस्तलिखित पोथी, जिसका अभी तक पता चल सका है, इस्तंबोल की १४५६-५७ ई० की पोथी है जिसमें १३१ रुबाइयाँ हैं। इस्तंबोल में ही १४६०-६१ ई० की नकल की हुई एक पोथी में ३१५ रुबाइयाँ, आक्सफ़ोर्ड के बॉडलियन पुस्तकालय की १४६०-६१ ई० की एक पोथी में १५८ रुबाइयाँ, वियेना की १५५० ई० की पोथी में ४८२ रुबाइयाँ, बांकीपुर (पटना) के खुदाबख्श पुस्तकालय की पोथी में ६०४ और १८९४ ई० में लखनऊ से प्रकाशित संस्करण में ७७० रुबाइयाँ हैं। ८९७ ई० में रूसी विद्वान् जोकोवोस्की ने उमर ख़य्याम की वास्तविक रुबाइयों की छानबीन प्रारंभ की और निकोला के १८६७ ई० के फ्रांसीसी संस्करण की ४६४ रुबाइयों में ८२ को अन्य फारसी कवियों की बताया है। जिस प्रकार उसकी रुबाइयों के आधार पर उसके जीवन से संबंधित अनेक घटनाएँ गढ़ ली गई है, उसी प्रकार अन्य फारसी कवियों की रुबाइयाँ भी उसके नाम पर थोप दी गई है और उसकी दर्शनशास्त्र एवं अन्य गंभीर विषयों से संबंधित रुबाइयाँ 'भूलती भटकती' अन्य कवियों की रचनाओं में संमिलित हो गई हैं। अंग्रेज विद्वान् ई० डी० रोस, फ्रांसीसी पंडित क्रिस्तेन ज़ेन तथा प्रोफ़ेसर ब्राउन ने विद्वत्तापूर्ण शोध द्वारा शुद्ध रुबाइयों का पता लगाने का प्रयत्न किया है। एशिया एवं यूरोप के अन्य विद्वानों की भी इस संबंध में रचनाएँ अभी तक प्रकाशित होती जा रही हैं किंतु उसकी प्रामाणिक रुबाइयों की वास्तविक संख्या अभी तक निर्धारित नहीं हो सकी है।

संसार की लगभग सभी भाषाओं में उसकी रुबाइयों के पद्य अथवा गद्य अनुवाद प्रकाशित हो चुके है। प्राचीनतम अंग्रेजी पद्यानुवाद फ़िट्ज़ेराल्ड ने १८५९ ई० में प्रकाशित कराया था। १८६७ ई० में निकोला ने फ्रांसीसी संस्करण निकाला। १८६८ ई० मे फ़िट्ज़ेराल्ड के अंग्रेजी अनुवाद का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके बाद के अनुवादों के संस्करणों का, जिनमें सचित्र संस्करण भी संमिलित हैं, अनुमान लगाना ही असंभव है। १८९८ ई० में ई० हेरोन एलेन ने फ़िट्ज़ेराल्ड के भाषांतर को मूल रुबाइयों से मिलाकर यह सिद्ध कर दिया है कि फ़िट्ज़ेराल्ड ने मूल की चिंता न करके कहीं कहीं दो दो, तीन तीन रुबाइयों का भाव एक में ही और कहीं मूल की आत्मा में प्रविष्ट होकर केवल काव्यमय व्याख्या कर दी है।

उमर ख़य्याम की रुबाइयों में वसंत, सुरा-सुंदरी-उपभोग, विहार, प्रेम, रति एवं विषयवासना के जो भाव स्फुटित हैं तथा जो व्यंग्य प्राय

हैं उनके आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे नास्तिक, जड़वादी अथवा केवल रसिक, कामुक या मौजी जीव बताया है किंतु उसके अन्य गंभीर ग्रंथों एवं समकालीन राजनीतिक तथा सामाजिक उथल पुथल की पृष्ठभूमि में यदि उसकी रुबाइयों का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि वह बड़े उच्च कोटि एवं स्वतंत्र विचारों का सूफी था और परंपराओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं धर्मांधता का विरोध करने में उसे ईश्वर का भी कोई भय न था।

सं०ग्रं०—(फारसी तथा अरबी)—उरुज़ी समरक़ंदी : 'चहार मक़ाला', 'शहरज़ोरी', 'नुज़हतुल अरवाह'; शेख नज्मुद्दीन दायह : 'मिर-सादुल एबाद'; इब्ने असीर : 'तारीख़े कामिल'; जमालुद्दीन क़िफ़्ती : 'अख़बारुल उल्मा'; ज़करिया क़ज़वीनी : 'आसारुल बेलाद; रशीदुद्दीन फ़ज़लुल्लाह : 'जामे उत्तवारीख़'; मौलाना खुसरो अब्र क़ोही : 'फ़िरदौ-सुत्तवारीख़'; हाजी खलीफ़ा : 'कश्फ़ुज्जुनून'; अहमद बिन नस्रुल्लाह ठट्ठवी : 'तारीख़े अलफ़ी'। (उर्दू) सैयद सुलेमान नदवी : 'ख़य्याम और उसके सवानेह व तसानीफ़ पर नाक़ेदाना नज़र'। (अंग्रेजी) ब्राउन : 'लिट्ररी हिस्टरी ऑव परशिया; अरबेरे, ए० जे० : 'क्लैसिकल पर्शियन लिटरेचर'; 'इनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' तथा अनुवादों की प्रस्तावनाएँ। (हिंदी) मैथिलीशरण गुप्त : 'रुबाइयाते उमर ख़य्याम' (सचित्र); केशवप्रसाद पाठक : 'रुबाइयाते उमर ख़य्याम' (सचित्र)। (सै० अ० अ० रि०)

उमर बिन् अब्दुल अज़ीज़ उमय्या वंश के नवें खलीफ़ा। ये मरवान् प्रथम के पौत्र थे। सन् ७१७ ई० के सितंबर या अक्टूबर महीने में सुलेमान के बाद ये दमिश्क में सिंहासनारूढ़ हुए और फरवरी, ७२० ई० में इनका देहांत हो गया। इनकी निःस्वार्थ वृत्ति, सरलता, न्याय-प्रियता तथा मिताहार की सर्वत्र प्रशंसा होती थी। (कै० चं० श०)

उमर बिन् खत्ताब इस्लाम के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहब के प्रिय सोहाबी (मित्र) और श्वसुर। अबू बकर सादिक के उत्तरा-धिकारी के रूप में मुहम्मद साहब के बाद अगस्त, ६३४ ई० में इन्हें ख़िलाफत (नमाज पढ़ाने) का कार्य सौंपा गया था। खलीफा होने के बाद इन्होंने सीरिया, फारस, फिनिशिया तथा उत्तरी अफ्रीका पर विजय प्राप्त की और ६३७ ई० में जेरूसलम पर अधिकार कर लिया। इनके सेनापतियों ने ईरान और मिस्र पर भी धावे किए थे। अलेक्जैंड्रिया की विजय में वहाँ का सुप्रसिद्ध पुस्तकालय ध्वस्त कर दिया गया था। इनके समय में मुसल-मानों ने ३६,००० नगर जीते, ४,००० गिरजे तोड़े और १,४०० मसजिदें बनवाई थीं। सबसे पहले इन्हीं को 'अमीरुल मोमिनीन्' की उपाधि से विभूषित किया गया था। इनके सात विवाह हुए थे। हज़रत अली की पुत्री उम्मः कुलसूम भी इनकी पत्नी थीं। ३ नवंबर, ६४४ ई०, बुधवार को मसजिद में नमाज पढ़ते समय एक ईरानी गुलाम ने इन्हें तलवार से घायल कर दिया। तीन दिन बाद इनकी मृत्यु हो गई। (कै० चं० श०)

उमापति शिवाचार्य (१२६०–१३२० ई० के लगभग विद्यमान) शैव शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य। ये अपने समय के संस्कृत तथा तमिल लेखकों में सर्वप्रख्यात थे। शैव सिद्धांत पर इनके आठ ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें से एक का रचनाकाल १३१३ ई० दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त इन्होंने "पौष्कर संहिता" पर एक अत्यंत पांडित्यपूर्ण भाष्य की रचना भी की है जिसके माध्यम से इन्होंने अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन किया है कि शिव ही एकमात्र ऐसे देवता हैं जिनकी पूजा सबको करनी चाहिए। उमा-पति शिवाचार्य कृत "कोइर पुराणम्" नामक एक और भी ग्रंथ मिलता है जिसमें प्रसिद्ध शैव तीर्थ चिदंबरम् से संबंधित निजंधरी आख्यानों का संग्रह है। (कै० चं० श०)

उम्मेदसिंह १. कोटा (राजस्थान) के राजा। इनके पिता का नाम गुमानसिंह था। १८२७ ई० में गुमानसिंह की मृत्यु हुई तो उम्मेदसिंह मात्र १० वर्ष के थे। अतः कोटा राज्य के प्रधान मंत्री जालिम-सिंह की संरक्षता में इन्होंने राजगद्दी सँभाली। जालिमसिंह ने मराठों के उत्पात से कोटा राज्य को बचाए रखने के लिये अंग्रेजों से मित्रता की। १८६० ई० में कर्नल मानसन, युद्ध में होल्कर से हारकर, कोटा चले आए तो जालिमसिंह ने उनकी पूरी सहायता की, लेकिन होल्कर के नाराज हो जाने के डर से उन्हें नगर से दूर ही रखा। १८७४ ई० में अंग्रेजी सरकार ने होल्कर के राज्य के चार परगने जालिमसिंह को पुरस्कारस्वरूप देने चाहे, परंतु उन्होंने उक्त परगने स्वयं न लेकर अपने स्वामी उम्मेदसिंह को दिलवा दिए। (कै० चं० श०)

उम्मेदसिंह २. बूंदी (राजस्थान) के राजा। १८०० ई० में अपने पिता बुधसिंह की मृत्यु हो जाने पर इन्होंने बूंदी पर कब्जा कर लिया लेकिन अंबर के तत्कालीन महाराजा ईश्वरीसिंह ने इनपर चढ़ाई की और इन्हें मार भगाया। उम्मेदसिंह ने १८०६ ई० में होल्कर की सहायता से ईश्वरीसिंह को हराकर बूंदी पर पुनः अधिकार कर लिया। १८१३ ई० में ये अपने पुत्र अजीतसिंह को शासनभार सौंपकर तीर्थाटन के लिये चले गए। (कै० चं० श०)

उम्मेदसिंह ३. शाहपुरा (राजस्थान) के राजा। ये राजाधिराज नाहरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका विवाह खेतड़ी नरेश अजीत-सिंह की पुत्री सूर्यकुमारी से हुआ था। सूर्यकुमारी से उत्पन्न इनका कोई भी संतान जीवित न रही, परंतु इन्होंने अपनी पत्नी के रहते दूसरा विवाह न किया। उनकी मृत्यु के बाद कृष्णगढ़ की राजकुमारी से इनका दूसरा विवाह हुआ जिससे इन्हें सुदर्शनदेव नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। उम्मेदसिंह ने अपनी पहली पत्नी की स्मृति में उनके नाम पर नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को २० हजार रुपए देकर 'सूर्यकुमारी पुस्तक-माला' के प्रकाशन की व्यवस्था की जिसके अंतर्गत सभा अनेक आकर ग्रंथ छाप चुकी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ३० हजार रुपए के दान से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी (हरिद्वार) में सूर्यकुमारी आर्यभाषा गद्दी (चेयर) तथा पाँच हजार रुपए देकर वहीं से 'सूर्यकुमारी ग्रंथावली' के प्रकाशन की व्यवस्था भी की। सन् १९५४ ई० में राजा उम्मेदसिंह का देहावसान हो गया। (कै० चं० श०)

उरःशूल (ऐन्जाइना पेक्टोरिस) एक रोग है जिसमें हृदोपरि या अग्रोवक्षास्थि (प्रिकॉर्डियल, सबस्टर्नल) प्रदेश में ठहर ठहरकर हलकी या तीव्र पीड़ा के आक्रमण होते हैं। पीड़ा वहाँ से स्कंध तथा बाईं बाँह में फैल जाती है। आक्रमण थोड़े ही समय रहता है। ये आक्रमण परिश्रम, भय, क्रोध तथा अन्य ऐसी ही मानसिक अवस्थाओं में कारण होते हैं जिनमें हृदय को तो अधिक कार्य करना पड़ता है, किंतु हृत्पेशी में रक्त का संचार कम होता है। आक्रमण का वेग विश्राम तथा नाइ-ट्रोग्लिसरिन नामक ओषधि से कम हो जाता है।

इस रोग का विशेष कारण हृद्धमनी का काठिन्य होता है; जिससे हृदय को रक्त पहुँचानेवाली इन धमनियों का मार्ग संकुचित हो जाता है। अति रक्तदाब (हाइपरटेंशन), मधुमेह (डायाबिटीज), आमवात (रूमैटिज्म) या उपदंश (सिफ़िलिस) के कारण उत्पन्न हुआ महाधमनी का प्रत्यावहन (रिगर्जिटेशन), पेप्टिक व्रण, अत्यवटुता अथवा अवटु-न्यूनता, पित्ताशय के रोग, पौलीसायथीमिया, अभिलोपनी-घनास्रयुक्त धमन्यार्ति (थ्रांबो-ऐंजाइटिस ऑबलिटरैंस) तथा परिधमन्यार्ति रोगों से ग्रस्त रोगियों में उरःशूल अधिक होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह रोग पाँच गुना अधिक पाया जाता है। (मु० स्व० व०)

उरग पृष्ठवंशी जंतुओं का एक वर्ग है। सर्प, छिपकली, कछुआ, घड़ियाल, ये सभी उरग वर्ग के जंतु हैं। वर्तमान काल में तो इस वर्ग के जंतु बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह गए हैं और इनकी संख्या भी अधिक नहीं है, किंतु मध्यकल्प नामक भूतकाल में ये निःसंदेह पृथ्वी पर के सबसे अधिक महत्वपूर्ण जंतु थे। इनमें से बहुतों की नाप वर्तमान काल के हाथी की नाप से बड़ी थी।

उरगवंश की उत्पत्ति कार्बनप्रद युग में उभयचर वर्ग के आवृतशीर्ष अनुवर्ग (स्टेगोसिफ़ेलिया ऐंफ़िबिया) से हुई और गिरियुग (पर्मियन),

रक्ताश्म (ट्राइऐसिक) तथा महासरट (जुरैसिक) युगों में इनका बहुत विकास हुआ। आद्य उरगों का विकास दो दिशाओं में पृथक् पृथक् हुआ। कुछ आद्य उरग स्तनधारी जंतुओं के सदृश होते गए और खटीयुग (क्रिटेशस युग) में आद्य स्तनधारी जंतुओं में परिणत हो गए और कुछ से उरगवर्ग और पक्षिवर्ग के जंतु उत्पन्न हुए। रक्ताश्म (ट्राइऐसिक) और महासरट (जुरैसिक) युगों में उरगवंश के जंतु बड़ी अधिकता से पृथ्वी पर फैल हुए थे। इनमें से अधिकांश सूखी भूमि पर रहनेवाले थे, परंतु कुछ जल में रहनेवाले और कुछ उड़नेवाले भी थे। उरगों के अधिकांश समूह लुप्त हो चुके हैं, केवल पाँच गण वर्तमान काल में पाए जाते हैं। ये हैं: १—गोधिकानुगण (लैसरटिलिया); २—अह्यनुगण (ओफ़िडिया); ३—परिवर्मिगण (किलोनिया); ४—मकरगण (क्राकोडिलिया); ५—पल्याभगण (रिंगकोसिफ़ैलिया) जिसमें केवल स्फानदंत प्रजाति (स्फ़ीनोडॉन) अब जीवित हैं।

उरगवर्ग की परिभाषा कठिन है, क्योंकि आद्य उरग आवृतशीर्ष अनुवर्ग (स्टेगोसिफ़ेलिया) के सदृश थे; इनसे वे विकसित हुए और पीछे के उरगों में से कुछ स्तनधारियों के सदृश हो गए और कुछ पक्षियों के। शेष वर्तमानकाल के और कुछ भूतकाल के उरग (जो लुप्त हो चुके हैं) विकसित हुए। इस कारण कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि उरग वर्ग तोड़कर तीन स्वतंत्र वर्गों का निर्माण करना चाहिए। ये हैं:

१—आद्यसरट वर्ग (प्रोटोसॉरिया), जिनमें उभयचर (ऐंफिबिया) सदृश उरग रखे जायँ; २—थेरोप्सिडा, जिनमें स्तनधारी सदृश उरग और स्तनधारी जंतु रखे जायँ; और ३—पक्षिसरीसृप, जिनमें विशिष्ट उरग तथा पक्षिवर्ग रखे जायँ। परंतु इसमें संदेह नहीं कि यह वर्गीकरण पुराने वर्गीकरण से भी कम संतोषजनक है।

लक्षण—उरगों का एक बड़ा लक्षण यह है कि उनके चर्म के ऊपर बाह्यत्वकीय शल्क (एपिडर्मल स्केल्स) होते हैं। कुछ भूतकालीन उरग (जो लुप्त हो चुके हैं) ऐसे भी थे जिनके शरीर पर बाह्यत्वकीय शल्क नहीं थे और कछुओं की पीठ और उदर पर की खाल पर बाह्यत्वकीय शल्क नहीं होते। परंतु अधिकांश उरगों में यह चिह्न अवश्य मिलता है। उरगों

राजदैत्य सरट (टिरैनोसॉरस रेक्स)

का चर्म सूखा होता है, क्योंकि इनमें ग्रंथियाँ बहुत कम होती हैं और ये विशेष स्थानों पर ही पाई जाती हैं। आंतरत्वक् में और कभी कभी बाह्यत्वक् के निचले स्तरों में रंगकोष्ठ पाए जाते हैं जिनके कारण चर्म रँगा हुआ दिखाई पड़ता है। कुछ सर्पों और छिपकलियों में चर्मरंग बदलने की शक्ति पाई जाती है। यह शक्ति गिरगिट में अधिक मात्रा में विकसित है। उरग का हृदय उभयचरों के हृदय के सदृश होता है, परंतु कई लक्षणों में उससे भिन्न होता है। उभयचरों के हृदय के सदृश उरगों का हृदय दो कोष्ठों में विभाजित होता है: दाहिना और बायाँ।

अलिंद (ऑरिकिल) और निलय (वेंट्रिकिल)—मकरों और परिवर्मिगण (किलोनिया) में निलय भी दो कोष्ठों में विभाजित होता है, किंतु दूसरे उरगों में नहीं। रोहिणी मूल (कोनस आर्टीरिओसस), जो उभयचरों में पाया जाता है, उरगों में नहीं होता और इनमें अभ्युदरीय महाधमनी (वेंट्रल एऑर्टा) तीन स्वतंत्र स्कंधों में विभाजित हो जाती है जो उभयचर में नहीं होता। ये हैं (१) दाहिनी और बाईं दैहिक महाधमनी (सिस्टेमिक एऑर्टा), (२) फुप्फुस धमनी (पल्मोनरी आर्टरी)। उभयचर के सदृश उरगों में दोनों दैहिक महाधमनियाँ विद्यमान रहती हैं और उनके संयोग से अभ्युदरीय महाधमनी की उत्पत्ति होती है, किंतु उरगों में सिर, ग्रीवा और हाथ में रक्त पहुँचानेवाली सब महाधमनियाँ दाहिनी देह से ही निकलती हैं।

वर्गीकरण—उरगों के वर्गीकरण में खोपड़ी के शंख (टेंपोरल) प्रदेश की संरचना को बड़ा महत्व दिया जाता है। आवृतशीर्ष अनुवर्ग नामक आद्य उभयचरों में, जिनसे उरगों का विकास हुआ, शंख प्रदेश की सब हड्डियाँ एक दूसरी से मिली हुई थीं और उनके बीच कोई भी विच्छेद नहीं था। आद्य उरगों में भी यही अवस्था बनी रही। सबसे आद्य उरग मूलसरटगण (कॉटिलोसॉरिया) और वर्तमान युग के उरगों, परिवर्मिगण, में यह अवस्था मिलती है। इस प्रकार के उरगों को, जिनके शंख प्रदेश की छदि की संरचना संपूर्ण हो, अछिद्रकरोटी (ऐनैप्सिडा) उपजाति या महागण में रखा जाता है। इसी प्रकार उरगों का संपूर्ण वर्ग चार बड़े समूहों में विभाजित किया जाता है। ये हैं: अछिद्रकरोटी (ऐनैप्सिडा), युक्तछिद्रकरोटी (सिनैप्सिडा), चतुश्छिद्रकरोटी (डायप्सिडा), द्विछिद्रकरोटी (पैरैप्सिडा)।

अछिद्रकरोटी—ये उरग आद्य उभयचर से बहुत विभिन्न नहीं थे और कभी कभी इनको संपूर्ण रूप से पृथक् करना कठिन हो जाता है। इस वर्ग के उरग पृथ्वी पर कार्बनप्रद, गिरि और रक्ताश्म युगों में रहते थे और ये अब लुप्त हो चुके हैं। इन उरगों में अणुसरट (माइक्रोसॉरिया), चित्रपाद (सोमूरियामोर्फ़ा), और मूलसरट (कॉटिलोसॉरिया) संमिलित हैं। इन में इनके पूर्वज आवृतशीर्ष अनुवर्गों के शंख प्रदेश की सब हड्डियाँ विद्यमान थीं। विद्वानों की यह धारणा है कि यह समूह वास्तव में बहूद्भव (प लिफ़ाइलेटिक) है और इसका विकास पृथक् पृथक् उनके पूर्वजों से हुआ। कुछ विद्वान् अनुसरटगण को अब भी आद्य उभयचर (आवृतशीर्ष अनुवर्ग) या गहनदंत गण (लैबिरियोडाटा) में ही संमिलित करते हैं। ये उरग १ फुट से ६ या ७ फुट तक लंबे थे और पेट के बल रेंगते थे, क्योंकि इनके हाथ पैर चलने में अधिक सहायता देने के योग्य नहीं थे। चित्रपाद प्रजाति (सिमौरिया) गिरियुग का बहुत पुराना उरग है। इसकी खोपड़ी में अंतराशंखक (इंटरटेंपोरल) हड्डी पाई जाती है जो आवृतशीर्ष अनुवर्ग में विद्यमान थी, किंतु चित्रपाद प्रजाति के अतिरिक्त अन्य सब उरगों में लुप्त हो गई है। इसी प्रकार चित्रपाद प्रजाति की त्रिवेणी (टेरिगाइड) हड्डी चतुष्कोण (क्वाड्रेट) के नीचे से होकर जाती है और उसके पीछे अग्रगटास्थि (क्वामोसैल) से मिलती है। इन हड्डियों का ऐसा पारस्परिक संबंध भी शेष उरगों में नहीं पाया जाता। चित्रपाद प्रजाति की अपेक्षा मूलसरटगण (कॉटिलोसॉरिया) की खोपड़ी की संरचना अधिक उरगों के सदृश है।

परिवर्मिगण (किलोनिया)—इस समूह के कुछ प्रतिनिधि आज भी विद्यमान हैं, जैसे कछुआ। कछुआ की गणना भी विद्वान् अछिद्रकरोटी में ही करते हैं, क्योंकि इसकी खोपड़ी में शंख प्रदेश की हड्डियाँ आवृतशीर्ष अनुवर्ग की हड्डियों के समान हैं, अर्थात् शंख छदि पूर्ण है और कोई शंख विवरक (टेंपोरल फ़ॉसा) विद्यमान नहीं है। परंतु इस धारणा के विरुद्ध यह बात पाई जाती है कि कछुओं की खोपड़ी की हड्डियाँ अछिद्रकरोटियों की खोपड़ी की हड्डियों की अपेक्षा संख्या में कम हैं। कई हड्डियाँ लुप्त हो गई हैं। कछुओं की खोपड़ी में उपरिशंखक (सुप्राटेंपोरल), उत्तरपार्श्विका (पोस्टपाराइएटैल) और चिपिट (टैबुलर) हड्डियाँ नहीं होतीं, जो अन्य अछिद्रकरोटियों में पाई जाती हैं। पृथक् पृथक् उत्तरललाट (पोस्टफ्रॉण्टल) की और उत्तरनेत्रगुहा (पोस्टऑर्बिटल) की हड्डियों के स्थान पर केवल एक हड्डी होती है और नास्य (नैसल), अग्रललाट (प्रिफ़्रॉण्टल) और अश्रु अस्थि नामक तीन हड्डियों की जगह पर भी

केवल एक हड्डी होती है। इन कारणों से कुछ विद्वान् परिवर्मिगण को अच्छिद्रकरोटिवर्ग में स्थान देने के विरुद्ध हैं। उनकी धारणा यह है कि कछुओं की खोपड़ी की हड्डियों का विन्यास आद्य नहीं, उत्तरजात है। बहुत सी खोपड़ियों की हड्डियाँ, जिनका आद्य परिवर्मिगणों में लोप हो गया, फिर से उत्पन्न हो गईं, जैसे परिवर्मिगण और पोडोक्नेमिस में।

मीनसरट (इक्थियोसार, एक सामुद्रिक उरग) का जीवाश्म

इस जाति के जीव ८ से १० फुट लंबे होते थे। यह जीवाश्म महासरट संस्थान (जूरैसिक) शिलाओं में पाया गया था। इसका संपूर्ण कंकाल खनिज में तथा मास कोयले में परिवर्तित हो गया था।

कछुए—कछुओं में कई एक अन्य विशेषताएँ मिलती हैं। इनका शरीर एक हड्डी के प्रावर के भीतर होता है। यह प्रावर ऊपर की ओर चर्म से ढका रहता है जो मृदुकश्यपवंश (ट्राइओनिकिडी) और अप्रावरानुगण (आर्थीसी) के अतिरिक्त अन्य कछुओं में शृंगवत् कठोर होता है। इनके जवड़ों में दाँत नही होते और नाक का छिद्र एक ही होता है। प्रावर (या कठोर कोप) के दो भाग होते हैं, एक पृष्ठीय और दूसरा प्रतिपृष्ठीय। पृष्ठीय भाग को पृष्ठवर्म (कैरेपेस) कहते हैं और प्रतिपृष्ठ भाग को उदरवर्म (प्लैस्ट्रान)। पृष्ठवर्म के ऊपर के चर्म पर कठोर पट्ट होते हैं जिनका विन्यास पृष्ठवर्म की हड्डियों के विन्यास पर आधारित होता है। पृष्ठवर्म कई एक हड्डियों के योग से बना रहता है। बीच में एक पंक्ति आठ छोटी छोटी हड्डिया की होती है जिसे तंत्रिकापट्ट (न्यूरल प्लेट्स) कहते हैं। प्रथम तंत्रिकापट्ट के आगे एक घाटापट्ट (न्यूकैल प्लेट) होता है और आठवें तंत्रिकापट्ट के पीछे एक कटीपट्ट (पाइगैल प्लेट) होता है। तंत्रिकापट्ट के दोनों ओर आठ पर्शुपट्ट(कॉस्टैल प्लेट्स)होते हैं जो वक्ष कशेरुकाओं की पसलियों से जुड़े होते हैं। ये पसलियाँ पर्शुपट्टों से परे पृष्ठवर्म के किनारे के प्रांत पट्टों से मिलती हैं। साधारणतः ये प्रांतपट्ट संख्या में ११ जोड़ी होते हैं। पृष्ठवर्म के तंत्रिकापट्ट नीचे स्थित वक्षकशेरुकाओं के चेताशल्य (न्यूरल स्पाइन्स) से सायुज्यित (फ्यूज्ड) होते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रावर का दूसरा भाग उदरवर्म है। यह प्रांतपट्ट से स्वयं जुड़ा होता है अथवा स्नायुओं के द्वारा जुड़ा रहता है। पृष्ठवर्म की भाँति यह भी कई एक आंतरत्वक् (डर्मल) हड्डियों के जोड़ से बना होता है। ये है एक मध्य अंतरुदरवर्म (एंटोप्लैस्ट्रन) और चार जोड़ी अन्य हड्डियाँ—उपर्युदरवर्म (एपिप्लैस्ट्रा), अधोदरवर्म (हाइपोप्लैस्ट्रा), द्वितोदरवर्म (हाइपोप्लैस्ट्रन) और पश्चोदरवर्म (जिफ़िप्लस्ट्रन)। यह माना जाता है कि अंतरुदरवर्म अन्य कशेरुकदंडियों के अंतराक्षक (इंटर्क्लैविकल) के अनुरूप है और उपर्युदरवर्म उनके अक्षक के। कुछ कछुओं में संपूर्ण उदरवर्म एक संततपट्ट के रूप में होता है, जैसा भूमि पर रहनेवाले टेस्टयूडिनिडी जाति के कछुओं में पाया जाता है। पृष्ठवर्म तथा उदरवर्म दोनों ही के ऊपर के सींग के समान कठोर अधिचर्मीय वर्म नीचे स्थित हड्डियों के ठीक ठीक अनुरूप नही होते। साधारणतः पृष्ठतल पर एक मध्य पंक्ति पाँच कशेरुका वर्मो की होती है, दाएँ और बाएँ एक एक पंक्ति चार पर्शुवर्मो की होती है, और किनारे किनारे २४ अथवा २५ प्रांतवर्म होते है, जिनका अगला घाटा (न्यूकैल) और पिछला कटी (पाइगैल) या पुच्छोपरि (सुप्राकॉडैल) कहलाता है। प्रतिपृष्ठतल पर ६ जोड़े वर्म होते हैं, जिनके नाम हैं (आगे से पीछे की ओर) गल (ग्यूलर), अंस्यक (ह्यू मरल), अंस (पेक्टोरल), उदरीय (ऐब्डॉमिनल), ऊरु (फ़ेमोरल) और गुद (ऐनल)। गल के आगे साधारणतः एक अंतरागल होता है और प्रांत के नीचे कुछ अधःप्रांत होते है जिनकी संख्या निश्चित नहीं होती है।

कछुओं के पृष्ठ में अन्य उरगों की अपेक्षा कम कशेरुकाएँ होती हैं। साधारणतः ८ ग्रैव (सर्विकल), १० वक्षीय (थोरैसिक), २ त्रिक (सैक्रैल) और कुछ थोड़ी सी पुच्छीय (कॉडैल्स) होती हैं, जिनकी संख्या बदला करती है।

कछुए अंडे कम देते हैं, परंतु समुद्री कछुए स्थलचर कछुओं की अपेक्षा अधिक अडे देते है। जलचर कछुए अपने अडों को किनारों के समीप मिट्टी अथवा बालू में गाड़ देते है। कछुए धीरे धीरे बढ़ते है और इनकी आयु भी अधिक होती है। कुछ कछुए बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर अंडे देना आरंभ करते हैं।

अधिकांश कछुए वनस्पति खाते हैं, किंतु कुछ चर्णप्रावार (मोलस्क्स), मछली इत्यादि भी खाते है। कछुए स्थलचर होते है, नदी और पोखरों में पाए जाते हैं और समुद्र में भी तट के निकट रहते हैं। ये अधिकतर गरम देशों में ही मिलते हैं। कछुओं और अन्य उरगों के शरीर की संरचना में बहुत अंतर पाया जाता है और ऐसे अंतर सबसे प्राचीन उत्तररक्ताश्मयुग के कछुओं में भी पाए गए हैं।

कछुओं का वर्गीकरण—कछुए दो उपगणों में विभाजित किए जाते हैं—(१) आर्थीसी और (२) थिकौफ़ोरा।

आर्थीसी—इन कछुओं की कशेरुकाएँ और पसलियाँ स्वतंत्र होती हैं, पृष्ठवर्म से जुड़ी नहीं होतीं। चर्म पर सींग के समान कठोर पट्ट नहीं होते और बाहु तथा पाद क्षेपणी सदृश तथा बिना नखों के होते हैं। ये समुद्री प्राणी हैं और हिंद, प्रशांत तथा अंध महासागर के उष्ण कटिबंध प्रदेश में पाए जाते हैं।

थिकौफ़ोरा—इन कछुओं की कशेरुकाएँ तथा पसलियाँ पृष्ठवर्म से जुड़ी होती हैं। यह समूह कई एक कुलों में विभाजित है। केलिडिडी कुल के कछुओं की पूँछें लंबी होती हैं और इनकी अँगुलियाँ जालयुक्त (वेब्ड) होती हैं। ये बड़े प्रचंड होते हैं। केलिड्रा उत्तरी अमरीका में पाया जाता है और खाया भी जाता है। टेस्टयूडिनिडी कुल के कछुए आस्ट्रेलिया और पूर्वी एशिया को छोड़ अन्य सब प्रदेशों में पाए जाते हैं। इनमें स्थलचर और जलचर दोनों प्रकार के कछुए शामिल हैं। कछुआ, बटागर, हरदेला और चायबसिया भारत में पाई जानेवाली जातियों के नाम हैं। टेस्टयूडो पालिफ़ीमस उत्तरी अमरीका में पाया जाता है। इनमें कुछ बड़े डील के होते हैं, जिनके कवच ५५ इंच व्यास तक के होते है। गालापागस, ऐलडैब्रा इत्यादि स्थानों के कछुए १५० वर्ष या इससे भी अधिक समय तक जीवित रहते हैं। केलोनाइडी कुल के सब कछुए समुद्री होते हैं। हरा कछुआ (केलोन मिडास) अंध, हिंद तथा प्रशांत महासागरों में पाया जाता है। यह वनस्पति खाकर रहता है। इसके मांस, वसा तथा कवच के भीतर के संयोजी ऊतक का झोल (सूप) बनाया जाता है। श्येनचंचु कश्यप (केलोन इंब्रिकेटा) के सींग सदृश अधिचर्मीय वर्म से चश्मों के कूर्म कवचवाले फ्रेम बनते हैं, यद्यपि अब प्लैस्टिकों के कारण इसका प्रचलन कम हो
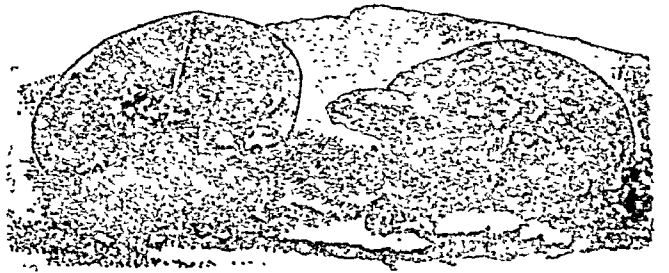
सिस्टडो कैरोलिना नामक पेटीरूपी कच्छप (बॉक्स टर्टल)

गया है। ये सब कछुए और इनके अतिरिक्त अन्य कई कुल क्रिप्टोडिरा वर्ग में रखे जाते हैं।

प्लिउरोडिरा वर्ग के सब कछुए मीठे जल में रहनेवाले हैं। पोडोक्नेमिस एक्सपैंसा खाने के काम में आता है और इसके अंडों से तेल निकाला जाता है। यह दक्षिण अमरीका में पाया जाता है। ट्रायोनिकीडी वर्ग के कछुए एशिया, अफ्रीका और उत्तरी अमरीका की नदियों में पाए जाते हैं। ये छिछले पानी में मिट्टी में रहते हैं। ट्रायोनिक्स फ़ेरॉक्स संयुक्त राज्य (अमरीका) में पाया जाता है। कहा जाता है, इसका मांस हरे कछुए के मांस से अधिक स्वादिष्ट होता है।

मकरगण (क्रोकोडीलिआ)—ये चतुश्छिद्र करोटि अनुवर्ग (डायप्सिडा) में रखे जाते हैं। ये नदी में रहते हैं और इनमें कुछ बहुत विशालकाय होते हैं। इनके शरीर के ऊपर शल्क होते हैं जो अधिचर्म के सींग के समान कठोर होने से बनते हैं। इनके पृष्ठ पर और कुछ कुछ के उर के ऊपर भी शल्कों के नीचे हड्डी के पट्ट होते हैं। इनके कशेरुकदंड में साधारणतः ९ ग्रैव (सर्विकल), ११ (या १२) पृष्ठीय (डार्सल), ३ (या ४) कटिदेशीय (लंबर), २ त्रैक (क्रैसेल), और ३५ (या अधिक) पुच्छीय (कॉडैल) कशेरुकाएँ होती हैं। खोपड़ी की पृष्ठीय और पार्श्वीय हड्डियों में छोटे छोटे गढ़े होते हैं। प्रौढ़ जंतुओं में पार्श्विका और ललाटकीय अस्थियाँ एक एक होती हैं, युग्मित नहीं। उपजंभ (मैक्सिले), अग्रहनु (प्रिमैक्सिले) और तालव्य अस्थि (पैलाटाइंस) में, और बहुतों में त्रिवेणी (टेरिगायड्स) में भी पट्ट होते हैं जिनके बीच में मिलने से हड्डियों का एक कठोर पट्ट बन जाता है और इस कारण नाक का आंत्रिक छिद्र बहुत दूर पीछे, खोपड़ी के आधार पर, होता है।

कर्णपटह गुहा (टिंपैनिक कैविटी) से ग्रसनी (फैरिंग्स) में पटहपूर नाल (यूस्टेकियन कैनेल्स) जाते हैं और आसपास की हड्डियों में वायु के मार्ग (एयर पैसेजेज) जाते हैं।

घड़ियाल—घड़ियाल (क्रोकोडाइल्स) हिंस्र और प्रचंड जंतु हैं और बड़ी बड़ी नदियों में रहते हैं। इनमें कुछ मनुष्य के लिये भी भयंकर और घातक हैं। ये बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं और जीवन भर बढ़ते रहते हैं। ये ध्वनि भी पैदा करते हैं। अंडे ये बालू में देते हैं या किनारे के छोटे छोटे गढ़ों में।

आद्य घड़ियाल समुद्री थे और महासरट युग के पश्चात् ही मीठे पानी में रहनेवाले घड़ियाल मिलते हैं। परामकर (पैरासुकिया) गण और मेसोसुकिया उपगण के उरग वर्तमान काल के घड़ियालों के सदृश थे, परंतु ये लुप्त हो चुके हैं। वर्तमान युग के घड़ियाल, जो सब युसूकिया उपगण में स्थान पाते हैं, नक्र (ऐलिगेटर), कुंभीर (केमैन), मकर प्रजाति (क्रोकोडाइलस), गंगामकर प्रजाति (गैवियेलिस), ऑस्टिओलीमस और टॉमिस्टोमा हैं। वर्तमान काल के घड़ियाल कई कुलों में विभाजित किए जाते हैं। गैवियेलिडीकुल का गंगामकर उत्तरी भारत की बड़ी नदियों में पाया जाता है। यह मछली खाता है और मनुष्य के लिये हानिकर नहीं है।

गंगामकर के जीवाश्म (फ़ॉसिल्स) शिवालिक पहाड़ की अतिनूतन युग की चट्टानों में मिलते हैं। मकर कुल के घड़ियालों के जीवाश्म उत्तर खटीयुग और उसके पश्चात् की शिलाओं में मिलते हैं। यूरोप में ये प्रातिनूतन युग तक रहते थे, पर अब ये यूरोप से लुप्त हो चुके हैं। मकर प्रजाति अफ्रीका, दक्षिणी एशिया, उत्तरी आस्ट्रेलिया और उष्ण अमरीका में पाई जाती है। नक्र का सिर छोटा और चौड़ा होता है। यह चीन और उत्तरी अमरीका में पाया जाता है। कुंभीर मध्य और दक्षिणी अमरीका में मिलता है।

घड़ियालों की गणना चतुश्छिद्रकरोटि अनुवर्ग में होती है। इनकी खोपड़ी में दो पार्श्वशंखक खात (लैटरल टेंपोरल फ़ॉसी) और दो पार्श्वशंखक वीथिकाएँ (आरकेड्स) होती हैं। नील नदी (उत्तरी अफ्रीका) का घड़ियाल मनुष्य पर आक्रमण करता है और अवसर प्राप्त होने पर मनुष्य को खाता है। इसी कारण नील के आसपास रहनेवाले लोग इससे बहुत भयभीत रहते हैं। प्राचीन काल के मिस्रनिवासी इस भयंकर जीव की पूजा करते थे और इसको सूर्योदय का प्रतीक मानते थे। कुछ शहरों में तो ये पाले भी जाते थे और सोने के गहनों से विभूषित किए जाते थे। मृत्यु के पश्चात् शव सुगंधमय ओषधियों में रखकर भूगर्भ स्थित समाधिस्थान में गाड़ दिया जाता था, जिस प्रकार वहाँ के राजा लोग गाड़े जाते थे। यह घड़ियाल लगभग १८ फुट लंबा होता है।

भारत से आस्ट्रेलिया तक बड़ी नदियों के ज्वार-नद-संगमों में एक घड़ियाल पाया जाता है जो नील के घड़ियाल से भी अधिक भयंकर और हिंसक है। यह कभी कभी स्थल से दूर समुद्र में तैरता मिलता है। यह २० फुट लंबा होता है।

भारत, मलाया और लंका की नदियों में एक और घड़ियाल (मगर) पाया जाता है जो साधारणतः १२ फुट से बड़ा नहीं होता और डरपोक होता है।

गोधिकानुगण (लैसरटिलिया)—छिपकलियों (लिज़ार्ड्स) की खोपड़ियों में केवल एक पार्श्वशंखक खात होता है और यह अब भी भलीभाँति निश्चित नहीं है कि यह खात युक्तछिद्रकरोटी (सिनैप्सिडा) के खात का समजात (होमोलोगस) है, अथवा यह चतुश्छिद्र करोटियों के ऊपरी पार्श्वशंखक खात के समान है। यदि यह चतुश्छिद्र करोटियों के ऊपरी पार्श्वशंखक खात का समजात माना जाता है, तो इसके नीचे की दो हड्डियाँ, जिनसे शंखकवीथिका बनती है, पश्चनेत्रकोटरीय (पोस्ट ऑर्बिटल) और अग्रगंडास्थि (स्क्वैमोसैल) मानी जायँगी। परंतु यदि यह स्वीकार किया जाय कि यह खात युक्तछिद्रकरोटियों के शंखक खात के समान है, तो पार्श्वशंखक वीथिका की हड्डियाँ गंडिकीय (जूगल) और चतुष्क गंडिकीय (क्वाड्रेटोजूगल) मानी जायँगी। कई विद्वानों की यह धारणा है कि छिपकलियों का विकास न्यूज़ीलैंड के स्फानदंत (स्फ़ेनोडॉन) नामक उरग के सदृश किसी चतुश्छिद्रकरोटि उरग से हुआ। छिपकलियों के आद्य पूर्वजों की खोपड़ी में चतुश्छिद्र करोटियों के समान दो पार्श्वशंखक खात और दो पार्श्वशंखक वीथिकाएँ प्रस्तुत थीं, किंतु चतुष्कगंडिकीय हड्डी, जो गंडिका और चतुष्कोणास्थि (क्वाड्रेट) के बीच में थी, क्रमशः छोटी होती गई और अंत में लुप्त हो गई। इसी कारण वर्तमान काल की छिपकलियों की खोपड़ी में गंडिकास्थि और चतुष्कोणास्थि एक दूसरे से पृथक् हैं और निचला शंखकखात, नीचे की ओर वीथिका न होने के कारण, खुला हुआ है।

कुछ प्राणिविद् इस विचार को स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा यह है कि छिपकलियों का विकास किसी ऐसे उरग से हुआ जिसकी खोपड़ी
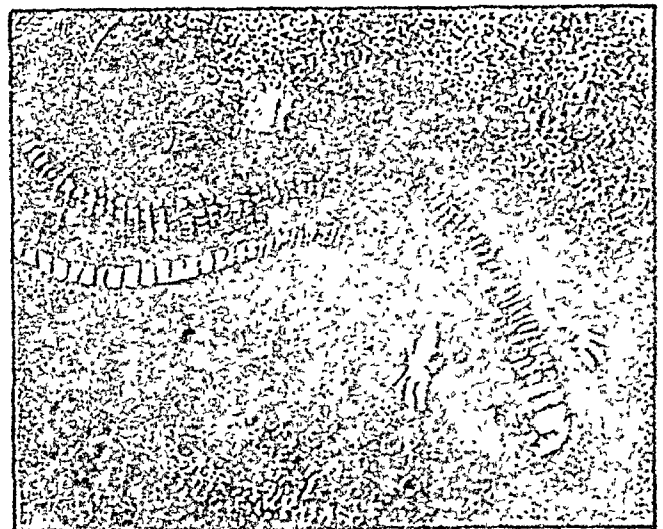
बाइपेस कैनिकुलेटस नामक केवल दो पैरों की कृमि-छिपकली यह मेक्सिको में पाई जाती है। कुल लंबाई १० इंच होती है।

में एक ही पार्श्वशंखक खात था और जो गिरि-कार्बनप्रद-युगीय तनुसरट प्रजाति (आरेओसेलिस) अथवा महासरट युगीय पार्श्वसरट (प्लिउरोसॉरस) के समान था। उस आद्य पूर्वज की खोपड़ी में एक ही चौड़ी पार्श्वशंखक वीथिका थी जो नीचे की ओर क्रमशः संकीर्ण होती गई। छिपकली की खोपड़ी के शंखक खात के पीछे की दो अस्थियों के विषय में भी मतभेद है। उनमें से बाह्य हड्डी, जो गंडिका (जूगल) की ओर है, अग्रगंडास्थि (स्क्वैमोसैल) समझी जाती है। कुछ इसको परिचतुष्कोणास्थि (पैराक्वाड्रेट) कहते हैं, कुछ इसको पूर्वाग्रगंडास्थि (प्रोस्क्वैमोसैल) समझते हैं और कुछ चतुष्कयुगीय (क्वाड्रेटो जूगल)। दूसरी हड्डी को, जो भीतर की ओर है, अधिकांश प्राणिविज्ञ उपरिशंखक (सुप्राटेंपोरल) कहते हैं, परंतु कुछ अग्रगंडास्थि (स्क्वैमोसैल) और कुछ चिपिटास्थि (टैबुलर) भी समझते हैं। इस विवाद का निर्णय भी अभी पूर्ण रूप से नहीं हुआ है।

छिपकली का शरीर पतला और लंबा होता है। यद्यपि इनके बाहु और पाद होते हैं, तथापि ये इतने छोटे और दुर्बल होते हैं कि शरीर को धरातल से उठी हुई स्थिति में रखकर नहीं चल पाते। चलते समय यह शरीर को केवल आगे ढकेल सकते हैं और चढ़ने, खोदने, और चिपकने के भी काम में आते हैं। साधारणतः हाथ और पैर में पाँच पाँच अँगुलियाँ होती हैं जिनमें नखर होते हैं। किसी किसी में तो हाथ और पैर इतने छोटे होते हैं कि छिपकली ऐसा साँप प्रतीत होती है जिसके शरीर में दो जोड़ी ठूँठ जड़े हों। कैमिसारा ऐसी ही एक छिपकली है। कूटगोधा (सिउडोपस) और सर्पगोधा (पाइगोपस) में पैरों के अवशेष तो होते हैं किंतु बाहु सर्वथा लुप्त हो गए हैं। इसके विरुद्ध काइरोटीज में केवल बाहु होते हैं, पाद नहीं। अपादा प्रजाति (एंग्विस), गुप्ताक्षिकर्ण प्रजाति (एंफ़िसबीना) और ऐनेलिट्रॉपिडी कुल की छिपकलियां में बाहु तथा पाद दोनों ही नहीं होते और वे देखने में साँप मालूम होती हैं। सब छिपकलियों में अंस (पेक्टोरल) और श्रोणि (पेल्विक) मेखलाएँ होती हैं। इनमें साधारणतः कर्णपटह गुहा और कर्णपटह झिल्ली भी होती हैं, केवल गुप्ताक्षिकर्ण कुल में नहीं। अपादा प्रजाति (ऐनेलिट्रॉपिडी), कृकलास प्रजाति (कैमीलिऑण्टिडी) इत्यादि में कर्णपटह झिल्ली या तो नहीं होती या चर्म से ढकी होती है।

चर्म पर सींग के समान कड़े अधिचर्मीय शल्क होते हैं जो चर्मपिंडिका (डर्मल पैपिली) के ऊपर होते हैं और एक दूसरे पर अतिच्छादित होते हैं। मरुगोधिका वंश (सिंसिडी) और अपादा कुल (एंग्विडी) में चर्मपिंडिका में अस्थिपट्ट (ऑस्टिओडर्म्स) उत्पन्न हो जाते हैं जो नीचे की अस्थियों से
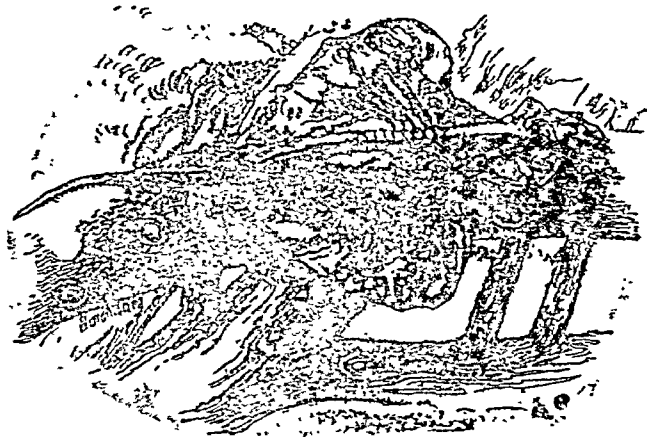
ड्रैको वोलेंज नामक उड़नेवाली छिपकली
इसे फ्लाइंग ड्रैगन भी कहते हैं। यह मैलेयेशिया में पाई जाती है। वयस्क की लंबाई ८ से १० इंच होती है।

जुड़ जाते हैं। गुप्ताक्षिकर्ण कुल की छिपकलियों का चर्म चिकना और शल्करहित होता है। सिर पर के शल्क साँपों के शल्क के समान होते हैं। अधिचर्म (एपिडर्मिस) का बाह्यस्तर शल्कों के साथ साथ नियतकालिक रूप से छिलकर गिर जाता है, साधारणतः टुकड़े टुकड़े के रूप में, परंतु अपादा प्रजाति इत्यादि में संपूर्ण एक खंड में।

पहली उरोस्थिक पसलीवाली कशेरुका के आगेवाले सब कशेरुक, ग्रैव कशेरुक माने जाते हैं। कटि कशेरुक एक या दो होते हैं, त्रिक कशेरुक दो होते हैं और पुच्छ कशेरुक बहुत से होते हैं। तृणांजन वंश (इग्वैनिडी) के कशेरुक में प्रि और पोस्ट-ज़ाइगापॉफ़िसेस के अतिरिक्त साँपों के समान चापखात (ज़ाइग्रैट्रा) और चापस्फान (ज़ाइगोस्फ़ीन्स) भी होते हैं। छिपकलियों को खोपड़ी में जतुकपक्षास्थि (ऐलिस्फ़ीनाएड), अक्षिजतुक (ऑर्बिटोस्फ़ीनॉएड) और जतुकाग्रास्थि (प्रिस्फ़ीनॉएड) नहीं होते। हर एक में ऐनिईला, गुप्ताक्षिकर्ण कुल और कृकलास प्रजाति को छोड़कर एक जोड़ी उपरित्रिवेणी (एपिप्टेरिगॉएड) हड्डी होती है जो पार्श्विका (पैराइटल) से त्रि-अंगिका (टेरिगोइड) तक विस्तृत होती है। साधारणतः एक ही अनुकपाल मुंडिका (ऑक्सिपिटल कौंडाइल) होती है जो मुख्यतः आधार अनुकपाल (बेसी-आक्सिपिटल) से उत्पन्न होती है, परंतु जिसकी उत्पत्ति में पार्श्व-अनुकपाल (एक्सआक्सिपिटल) भी भाग लेते हैं। किंतु गुप्ताक्षिकर्ण कुल में दो अनुकपाल मुंडिकाएँ होती हैं। साधारणतः प्रौढ़ अवस्था में पार्श्विकाएँ जुड़कर एक हो जाती हैं परंतु छिपकली में ये अलग अलग ही रहती है। ललाट भी किसी किसी में जुड़कर एक हो जाते हैं।

छिपकलियों में लार ग्रंथियाँ नहीं होतीं, किंतु ओष्ठग्रंथियाँ विद्यमान रहती हैं। आगार-गोधिका और कृकलास (गिरगिट) के अतिरिक्त किसी

बैसिलिस्कस विट्टैटस नामक पट्टित छिपकली
इसका निवासस्थान मेक्सिको से एक्वाडोर तक है। पूरी लंबाई लगभग २ फुट होती है।

छिपकली में स्वरतार (वोकल कॉर्ड्स) नहीं होते। गिरगिट और कुछ आगार-गोधिकाओं में फेफड़ों के पिछले भाग से अंधनाल (डाइवर्टिकुलर)

निकलते हैं जो ग्रांतरंग (विसरा) के बीच में पड़े रहते हैं। साँपों के सदृश छिपकलियों में दोनों फेफड़े बराबर न होकर छोटे बड़े होते हैं।

छिपकलियों में एक पार्श्विका ग्रंग होता है जिसकी संरचना नेत्र सदृश होती है। इस कारण इसको मध्य नेत्र (पिनियल ग्राइ) कहते हैं। यह खोपड़ी के ऊपर चर्म के नीचे होता है ग्रौर इसके ऊपर चर्म रंगरहित होता है। ऐसी दशा में इसके ऊपर का ग्रधिचर्मीय शल्क स्वच्छा (कॉर्निया) के सदृश होता है।

ग्रधिकांश छिपकलियाँ ग्रंडे देती हैं, किंतु कुछ ऐसी भी हैं जो बाल-जंतु को जन्म देती हैं जैसे जरायुज गोधिका (लासर्टा वाइविपारा), सूक्ष्म-नेत्र ग्रपादा (एंग्विस फ्रैजिलिस), जरायुगोधा प्रजाति (सेप्स), गिरगिट (कामीलियन)। ग्रंडों का शल्क चर्म सदृश होता है किंतु किसी किसी का कड़ा भी होता है। ग्रधिकांश छिपकलियाँ हानिकर नहीं होतीं। वे कीड़े-मकोड़े खाती हैं।

उत्तर प्रदेश के देहातों में बेदार प्रजाति (वैरेनस) के बच्चों को विप-खोपड़ा कहते हैं ग्रौर यह कहा जाता है कि ये विषैले होते हैं ग्रौर इनके काटने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यह ग्रसत्य है। विषगोधिका (हीलोडर्मा) के ग्रतिरिक्त, जो मेक्सिको ग्रौर ऐरिज़ोना में पाई जाती है, किसी भी छिपकली में ग्राज तक विषग्रंथियाँ नहीं पाई गई हैं।

भारत ग्रौर मलाया में ऐसी कुछ छिपकलियाँ पाई जाती हैं जो थोड़ी दूर तक उड़ सकती हैं, जैसे ड्रैको वोलंज। इनके शरीर के दोनों ग्रोर चर्म झिल्लीमय पल्लव (फ्लैप्स) के रूप में विस्तृत रहता है, जिसकी सहायता से ये ६० फुट या कुछ ग्रधिक दूर तक विसर्पी (ग्लाइडिंग) उड्डयन कर सकती हैं। ग्रमरीका के उष्ण प्रदेशों में तृणांजन (इग्वैनिडी) कुल की कुछ छिपकलियाँ होती हैं जिनको बैसिलिस्क कहते हैं। प्राचीन काल में लोगों का विचार था कि ये छिपकलियाँ बड़ी विषैली होती हैं। यह धारणा भी ग्रसत्य है।

सर्प—सर्पों की विशिष्ट ग्राकृति, जिसके कारण ये तुरंत पहचान लिए जाते हैं, यह है कि इनके बाहु तथा पाद नहीं होते। ये पतले ग्रौर लंबे होते हैं। इनकी ग्राँखों में पृथक् पृथक् पलक तथा इनके शरीर में कर्णपटह गुहा ग्रौर लिंक नहीं होते। कशेरुक दो ही श्रेणी में विभाजित किए जाते हैं, पुच्छीय तथा ग्रग्रपुच्छीय। ज़ाइगोपॉफ़िसीज़ के ग्रतिरिक्त इनमें संधियोजन (ग्रार्टिकुलेशन) के लिये चापस्फान ग्रौर चापखात होते हैं। द्विवेण्यस्थियाँ (शेवरन बोन्स) नहीं होतीं, परंतु पुच्छकशेरुक के ग्रनु-प्रस्थ प्रवर्धों की ग्रवरोही शाखाएँ पुच्छीय वाहिकाग्रों से वही संबंध रखती हैं जो द्विवेण्यस्थियाँ।

सर्पों की खोपड़ी में कई विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसमें ग्रंतर्नेत्र-कोटरीय पट (इंटरग्रॉप्टिकल सेप्टम) ग्रौर उपरित्रिवेणी (एपिप्टेरिगॉएड) ग्रस्थि नहीं होती। खोपड़ी की ग्रगली ग्रौर मध्य की पार्श्वभित्तियाँ पार्श्विका ग्रौर ललाट के प्रवर्ध (प्रोसेस) से बनती हैं। इसमें कलांतराल (फ़ांटानेल्स) ग्रौर खात (फ़ॉसी) नहीं हैं। गंडिका (जूगल) ग्रौर चतुष्कयुगीय (क्वाड्रेटो जूगल) नहीं होते ग्रौर पश्च ललाट तथा ग्रग्र गंडास्थि (स्क्वैमोसैल) नहीं मिलते। ग्रधर हनु (जॉ) की हनूच्छाखाएँ (रेमाइ) एक दूसरे के संगम (सिंफ़िसिस) पर सायुज्यित नहीं होतीं, केवल लचीली स्नायुग्रों (लिगैमेंट्स) से बँधी होती हैं। पार्श्विका एक होती है, जिसके दाहिने ग्रौर बाएँ प्रवर्ध खोपड़ी के तल पर एक दूसरे से जुड़े होते हैं।

ग्रधर हनु में केवल छह हड्डियाँ होती हैं, किंतु कॉरोनॉएड कभी कभी नहीं होती। ग्रधिकांश विषहीन सर्पों में उपजंभ (मैक्सिली), ताल-व्यास्थि (पैलाटाइन्स), त्रिवेणी (टेरिगाएड्स) ग्रौर दंतास्थि (डेंटरीज) पर दाँत होते हैं। चतुष्कोणास्थि ग्रग्रगंडास्थि से संधिबद्ध (ग्रार्टिकुलेटेड) होती है, स्वयं खोपड़ी से नहीं जुड़ी होती। ज़ेनोपेल्टिस ग्रौर ग्रजगर (पाइथन) में ग्रग्रगंडास्थि खोपड़ी की पार्श्वभित्ति में लगी होती है ग्रौर चतुष्कोणास्थि स्वयं खोपड़ी से लगी प्रतीत होती है, परंतु ग्रन्य साँपों में नहीं। पृदाकुवंश (वाइपेरिडो) में उपजंभ छोटे होते हैं ग्रौर ग्रग्रललाट से गतिशील विधि से संधिबद्ध होते हैं। दोनों उपजंभों में एक एक विष के दाँत होते हैं। जब मुँह बंद रहता है तो विषदंत पीछे की ग्रोर मुड़े रहते हैं ग्रौर मुँह की छत के साथ साथ रहते हैं।

सर्पों में बाहु ग्रौर ग्रंसमेखला नहीं होती ग्रौर ग्रधिकांश मे पाद ग्रौर श्रोणिप्रदेश भी नहीं होते। परंतु ग्रजगर कुल (बोइडी), ग्रंधसर्पवंश (टिफ़्लापिडी) ग्रौर ज़ेनोपेल्टिडी में श्रोणिप्रदेश ग्रौर पाद के ग्रवशेषक मिलते हैं।

सर्पों का ग्राहार—साँप ग्रपने ग्राहार को समूचा निगल जाता है। यह मेढक ग्रौर छोटे छोटे कृंतक (रोडेंट्स) इत्यादि को खाता है। इसके दाँत केवल शिकार को पकड़े रहने के काम ग्राते हैं। विषधर सर्पों में उपजंभ-दंतों पर ग्रागे की ग्रोर एक खाँच (ग्रूव) होता है। पृदाकुवंश (वाइपेरिडी) में उपजंभ दंतों पर खाँच नहीं होता, परंतु पूरा दाँत खोखला ग्रौर ऊपर ग्रौर नीचे की ग्रोर खुला होता है, एक ग्रधश्चर्म पिचकारी (हाइपोडर्मिक सिरिंज) की सुई के समान। ऊपरी ग्रौर निचले जबड़े में ग्रोष्ठग्रंथियाँ होती हैं। ऊपरी ग्रोष्ठग्रंथियों में से दोनों ग्रोर की ग्रंतिम ग्रंथियाँ विषधर साँपों में विषग्रंथियाँ बन जाती हैं। पृदाकुवंश में विष-ग्रंथि की नाली विषदंत की जड़ पर खुलती है, ग्रौर ग्रन्य विषधरों में मुहँ में। जिह्वा लंबी ग्रौर पतली होती है ग्रौर ग्रग्र दो भागों में विभाजित रहता है। इसमें ज्ञानेंद्रियाँ बहुत होती हैं ग्रौर यह स्पर्शांग का काम देती है। ग्रवस्कर (क्लोएका) में मूत्राशय नहीं होता। यह धड़ ग्रौर पूँछ की संधि पर होता है। बायाँ फेफड़ा दाहिने की ग्रपेक्षा छोटा होता है ग्रौर ग्रधिकांश विषधर साँपों मे केवल एक ही फेफड़ा होता है। ग्रजगर ग्रपने शिकार को शरीर की लपेट मे दबाकर लंबा ग्रौर पतला कर मार डालता है ग्रौर तब उसे निगलता है। कुछ विषैले साँप शिकार को विष से मारने के बाद निगलते हैं, परंतु ग्रधिकांश साँप शिकार को जीवित ही निगल जाते हैं। ग्राँख की पलकें एक दूसरे से सायुज्यित होती हैं, इसी कारण साँप पलकहीन दिखाई पड़ते हैं।

सर्पों की श्रेणियाँ—साँप तीन श्रेणियों में विभाजित किए जाते हैं। एक श्रेणी में ग्रंधसर्पवंश (टिफ़्लॉपिडी), ग्रजगर (बोइडी), लेप्टोफ़िलो-पिडी, ग्रम्लिडी, यूरोपेल्टिडी ग्रौर जेनोपेल्टिडी कुल रखे जाते हैं। बोइडी कुल दो उपकुलों में विभाजित होता है—उपकुल बोइनी ग्रौर पाइथोनिनी। दूसरी श्रेणी में ग्रविपाहि (कोल्यूब्रिडी), कृष्णसर्प (इलैपिडी), जलसर्प (हाइड्रोफ़िडी) कुल रखे जाते हैं। ग्रविपाहि कुल (कोलुब्रिडी) कई उपकुलों में विभाजित होता है। ये हैं ऐक्रोकॉर्डिनी, कॉलुब्राइनी, डैसि-पेलिटनी, ऐंब्लिसेफ़ालिनी, होमालोप्सिनी, डिप्साडोमॉर्फिनो ग्रौर एलाकि-स्टोडांटिनी। तीसरी श्रेणी में वाइपेरिडी ग्रौर क्रोटेलिडी कुल ग्राते हैं।

ग्रंधसर्प कुल (टिफ़्लापिटी) के सर्प बिल में रहते है ग्रौर नई ग्रौर पुरानी दुनिया के उष्ण प्रदेशों में पाए जाते हैं। ये कदाचित् ही १४ इंच से ग्रधिक लंबे होते हैं। इनके जबड़ों में दाँत नही के बराबर होते। ये कीटों के डिंभ ग्रौर दीमक खाते हैं ग्रौर बहुधा दीमकों के घोंसलो में रहते हैं। श्रोणिप्रदेश ग्रौर पाद के ग्रवशेषक चर्म के नीचे छिपे पाए जाते हैं। ग्रंधसर्प जाति (टिफ्लोपस) सबसे बड़ी जाति है। ये सब विषहीन होते हैं।

लेप्टोफ़िलोपिडी कुल के साँप टिफ्लोपिडी की भाँति बिल में रहनेवाले हैं ग्रौर छोटे तथा चमकीले होते हैं। दाँत केवल नीचे के जबड़े मे होते हैं। श्रोणिप्रदेश के ग्रवशेष टिफ्लोपिडी के श्रोणिप्रदेश के ग्रवशेष की ग्रपेक्षा बड़े होते हैं। लेप्टोफ़िलॉपस जाति एशिया, ग्रफ्रीका, ग्रमरीका ग्रौर पश्चिमी हिंद-द्वीप-समूह में पाई जाती है।

ग्रजगरवंश (पाइथानिनी) के साँप विशालकाय ग्रौर विषहीन होते हैं। ग्रजगर (पाइथन) एशिया, मलाया, ग्रफ्रीका ग्रौर ग्रास्ट्रेलिया में मिलता है। बोइनीवंश के साँप भी बड़े बड़े ग्रौर विषहीन होते हैं। बोग्रा कंस्ट्रिक्टर ८–१० फुट ग्रौर कभी कभी १५ फुट लंबा होता है। यह दक्षिणी एशिया, उष्ण ग्रमरीका, उत्तरी ग्रफ्रीका ग्रौर न्यूगिनी में पाया जाता है।

ऐनिलिडी जाति के साँप संख्या में बहुत कम हैं, केवल लगभग छह जातियाँ। श्रोणिप्रदेश और पाद के अवशेष बहुत छोटे होते हैं। ये लगभग एक गज लंबे होते है और बिल में रहते हैं। ये दक्षिणी अमरीका, लंका, मलय द्वीपसमूह और इंडोचाइना मे पाए जाते है। ये विषहीन होते हैं। इलिसिया चमकदार, मूगे के रंग का लाल होता है और उष्ण अमरीका
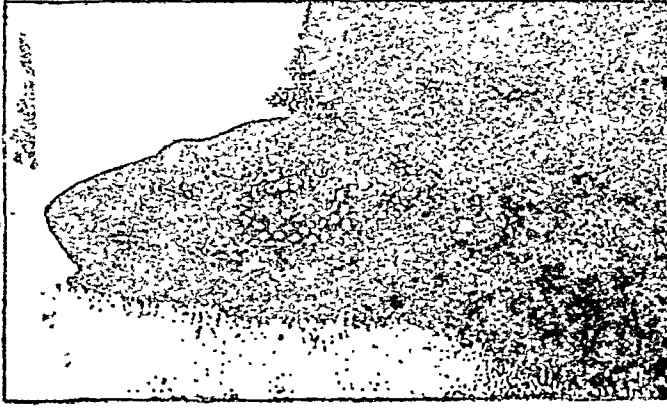
कोरेलस कूकियाइ नामक वृक्षवासी अजगर का सिर

यह अजगर पतला तथा अत्यंत क्रोधी होता है। इसका निवास दक्षिण अमरीका का उष्ण कटिबंध है। इसकी लंबाई लगभग ७ फुट होती है।

में पाया जाता है। यूरोपेल्टिडी जाति के साँप ऐनिलिडी के समान होते है, परंतु इनके शरीर में श्रोणि और पाद के अवशेष नहीं होते। ये भी विषहीन होते हैं। ज़ेनोपेल्टिडी में केवल एक जाति है जो दक्षिणी पूर्वी एशिया में पाई जाती है। ये साँप विषहीन हैं।

कोलब्रिडी कुल के साँप संख्या में बहुत हैं—२५० प्रजाति और १,००० जाति से अधिक। ऐक्रोकॉर्डिनी, कोलुब्रिनी, डेसिपेल्टिनी, और ऐंब्लिसेफ़ेलिडी जातियों के साँप विषहीन हैं। हॉमालॉप्सिनी के साँपों में विषग्रंथि और विषदंत होते हैं। परंतु इनका विष बहुत शक्तिशाली नहीं होता। यह दक्षिणी एशिया, मलय द्वीपसमूह, न्यूगिनी और उत्तरी आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं। डिप्साडोमॉर्फ़िनी के साँप विषैले होते हैं, परंतु इनके विष के दाँत जबड़ों (जंभों) में पीछे की ओर होते हैं। ये नई और पुरानी दुनिया के गरम देशों में पाए जाते हैं। एलाकिस्टोडांटि में एक ही जाति है। इसके विष का दाँत भी पीछे की ओर होता है। एलापाइडी के सर्प सब सर्पो से अधिक विषैले हैं। कालानाग (कोब्रा), करैत, मांबा, कृष्णसर्प (ब्लैक स्नेक), चित्र सर्प (टाइगर स्नेक) और डेथ ऐडर सब इसी कुल में आते है। ३० प्रजातियों और १५० जातियों से अधिक के सर्प पुरानी दुनिया में मिलते है। माइक्रूरस (ईलैप्स) अमरीका के संयुक्त राष्ट्र और उष्ण अमरीका में मिलता है। एलापाइडी जाति के सर्पो के मुँह में विष के दो दाँत होते हैं, जो छोटे होते है और ऊपरी जबड़े (उपरिक जंभ) में आगे की ओर होते है। विषग्रंथि बहुत बड़ी होती है और विष बहुत शक्तिशाली होता है। हाइड्रोफ़िनिटी जाति के साँप समुद्री हैं और सब विषधर हैं। ये बहुधा समुद्र के किनारे से लगभग १,००० मील तक की दूरी पर झुंड के झुंड मिलते है। इनकी पूँछ चप्पू (पैडल) की भाँति होती है।

वाइपेरिडी कुल के सर्प पुरानी दुनिया में मिलते हैं। इनके विषदंत बहुत बड़े होते हैं। ऐडर (यूरोप), रसेल का वाइपर (भारत), सींगदार वाइपर (अफ्रीका का मरुस्थल), पफ़ ऐडर (अफ्रीका), गैबून वाइपर और गैंडा वाइपर (राइनोसरस वाइपर) सब इसी कुल के सर्प है। इनका धड़ बहुत मोटा होता है और सिर चपटा और त्रिकोणाकार।

क्रोटेलिडी में पिट वाइपर्स संमिलित हैं। इनके सिर के दोनों ओर आँख और नाक के छिद्रों के बीच एक छिद्र होता है। ये नई और पुरानी दोनों दुनिया में पाए जाते हैं। नई दुनिया में लगभग ५० जातियाँ और
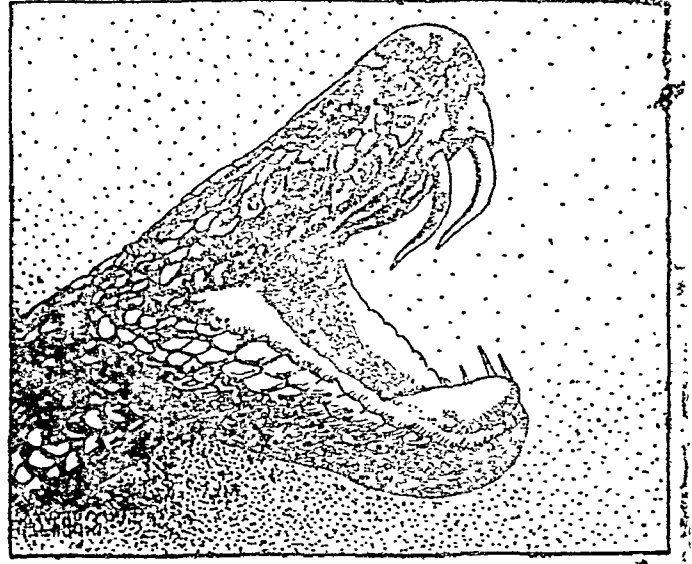
पिट वाइपर नामक सर्प का सिर

यह रैटल स्नेक जाति का सर्प उत्तरी और दक्षिणी अमरीका में पाया जाता है।

पुरानी दुनिया में लगभग ३० जातियाँ पाई जाती हैं। ये साँप अफ्रीका में नहीं मिलते। कुछ पिट वाइपर्स, जो छोटे और पतले होते हैं, वृक्षों पर रहते हैं। अमरीका के रैटल स्नेक, उष्ण अमरीका का बुश मास्टर और फ़ेयर ड लांस इसी कुल में आते हैं। इन सब सर्पो के विषदंत बड़े बड़े होते हैं।

पाइथन रेटिकुलेटस दुनिया का सबसे बड़ा साँप है, जो पूर्वी भारत, मलाया, बर्मा, हिंदचीन और फिलिपाइन्स में मिलता है। यह ३४ फुट तक लंबा होता है। पाइथन मालरस २५ फुट तक लंबा होता है और यह भारत, मलाया और जावा में मिलता है। उष्ण दक्षिणी अमरीका का ऐनाकॉण्डा (यूनेक्टेस म्युरिनस) २५ फुट और कुछ इंच लंबा होता है। अफ्रीका का रॉक पाइथन (पाइथन सिबी) २० फुट लंबा होता है और आस्ट्रेलिया का पाइथन ऐमिथिस्टिनस भी लगभग इतना ही लंबा होता है। बोआ कांस्ट्रिक्टर (कांस्ट्रिक्टर) नई दुनिया में पाया जाता है। यह ऐनाकॉण्डा से छोटा और देखने में बहुत सुंदर होता है। यह १५ फुट तक लंबा होता है।

कोलुब्रिडी कुल में ऐसे भी साँप हैं जो विषैले होते हैं, परंतु ये हानिकारक नहीं होते, क्योंकि इनका विष शक्तिशाली नहीं होता और इनके विष के दाँत (एक या अनेक) जबड़े में पीछे की ओर होते हैं जिससे ये भली भाँति काट नहीं सकते। इनके काटने से इनका शिकार स्तंभित हो जाता है, जिससे उसे निगलने में सुभीता होता है। क्रिसोपिलिया ऑर्नाटा इसी प्रकार का एक साँप है जो भारतवर्ष, बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और दक्षिणी चीन में मिलता है। यह साँप एक गज से छोटा होता है। इसका धड़ मोटा होता है और पसलियों के फैलने से चौड़ा और चपटा हो जाता है। यह छिपकलियाँ खाता है और डरने पर उड़कर बहुत दूर पहुँच सकता है। उष्ण अमरीका का एक साँप सिउडो-बोआ क्लीलिया है। यह विषैले साँपों पर आक्रमण करता है, उनको दबाकर मार डालता है और अपने से कुछ ही छोटे वाइपरों तक को निगल जाता है। विषधर साँपों के काटने का इसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। डिसफ़ॉलिडस टाइपस दक्षिणी अफ्रीका का इसी कुल का एक साँप है, परंतु इसका विष शक्तिशाली है और इसके काटने से मनुष्य मर जाता है।

यूरोप में सब विषधर साँप वाइपेरिडी कुल के हैं और ये संख्या में बहुत कम हैं। वाइपेरा ऑर्सिनाइ आस्ट्रिया में बहुत पाया जाता है।

इसका विष अन्य वाइपर्स के विष के समान शक्तिशाली होता है, परंतु यह काटता नहीं है और इसको बच्चे बहुधा पकड़ लेते हैं।

भारतवर्ष और मलाया में वाइपर बहुत कम पाए जाते हैं। वाइपर की उत्पत्ति अफ्रीका में हुई होगी। वहाँ सबसे अधिक संख्या में नाना प्रकार के वाइपर पाए जाते हैं। यूरोप के वाइपरों को इन्हीं का उत्तरी फैलाव समझा जाता है। स्यूडोसिरैस्टीज पर्सिकस वालू का वाइपर है जो फारस में पाया जाता है। एकिस वाइपर अरब और भारत में मिलता है। भारतवर्ष और मलाया में रसेल का वाइपर (रसेल्स वाइपर) पाया जाता है। यह साँप भयानक विषधर है। एलापाइटी कुल के साँप, जिनमें कालानाग (कोब्रा) और करैत आते हैं, एशिया भर में पाए जाते हैं और आस्ट्रेलिया और अफ्रीका में भी। भारत और मलाया का सबसे भयंकर सर्प फणिराज (किंग कोब्रा—नेजा हैना) है। यह दुनिया का सबसे बड़ा विषधर साँप है। यह केवल विषहीन सर्पो का ही आहार करता है। यह १२-१३ फुट तक लंबा होता है और बलवान तथा फुर्तीला। इसका विष बहुत शक्तिशाली होता है और यह शत्रु को देखते ही आक्रमण करता है। इसमें संदेह नहीं कि यह दुनिया का सबसे भयंकर जंगली जंतु है।

फणिराज (किंग कोब्रा) के अतिरिक्त पूरे एशिया में केवल एक अन्य कोब्रा पाया जाता है। यह साधारण नाग (कोब्रा) भारत, मलाया, चीन और फिलिपाइन्स में मिलता है। इस साँप की केवल एक जाति (नेजा नेजा) है, परंतु इसकी बहुत सी उपजातियाँ हैं। नाग (कोब्रा) पाँच छह फुट लंबा होता है और इसके सर पर फन (हुड) होता है। इसका तीसरा अध्योष्ठीय वर्म (सुप्रालेबियल शील्ड) आँखों से और नास्या वर्म (नेज़ल शील्ड) से मिला रहता है, जिससे यह सुगमता से पहचाना जा सकता है। करैत भारत, बर्मा, मलय द्वीपसमूह, तथा दक्षिणी चीन में पाया जाता है। यह अधिकतर साँप खाता है, परंतु मेढक, छिपकली और छोटे छोटे स्तनधारी भी इसके आहार हैं। इसकी छह सात जातियाँ मिलती हैं जो सब बंगारस प्रजाति के अंतर्गत हैं। करैत का कशेरुक (वर्टेब्रल) शल्क पार्श्व शल्क की अपेक्षा बहुत कड़ा होता है, जिससे यह सुगमता से पहचाना जा सकता है। हेमिबंगारस, कैलोफ़िस और डॉलिओोलोफ़िस भी विषधर साँप हैं जो एशिया में पाए जाते हैं, परंतु काटते बहुत कम हैं। एशिया में रैटल स्नेक नहीं होते, परंतु ऐंगकिस्ट्रोडॉन और ट्रिमरिस्यूरस, जो क्रोटैलिडी कुल के सदस्य हैं, यहाँ मिलते है।

गार्टर सर्प और कोरल सर्प अफ्रीका में मिलते हैं। ये छोटे और चमकीले होते हैं तथा विषधर होते हुए भी कम काटते हैं। पूरे अफ्रीका में नाग (कोब्रा) मिलते हैं। इनकी आठ या अधिक जातियाँ मिलती हैं। नेजा नाइग्रिकॉलिस अपना विष आठ फुट तक फेंक सकता है और बहुधा अपने शिकार की आँखों में विष पहुँचा देता है। नेजा हाइई मिस्र देश में पाया जाता है और नेजा निविया दक्षिणी अफ्रीका में। सेपेडॉन हेमाकेड्स सबसे छोटा नाग (कोब्रा) है। यह भी विष फेंक सकता है, किंतु छह फुट से अधिक दूर नहीं। मांबा (डेंड्रैस्पिस) अफ्रीका का सबसे अधिक प्रसिद्ध साँप है। इसका विष विशेष रूप से घातक है और यह बड़ी फुर्ती से आक्रमण करता है। यह बहुत पतला होता है। हरे मांबा छह से आठ फुट तक लंबे होते हैं और काले मांबे १२ फुट तक। ये पेड़ों पर रहते हैं। अफ्रीका के वाइपर्स में सबसे अधिक भयानक बाइटिस गैबोनिका है। यह बड़े डरावने आकार का होता है। यह चार फुट लंबा होता है और इसका व्यास सात इंच होता है। इसका सिर मनुष्य की चार अँगुलियों की चौड़ाई के बराबर होता है। इसके विष के दाँत लंबे होते हैं और विष अत्यंत घातक, जिससे इसके काटने से प्राणी उसी समय मर जाता है। इसके विष में हीमोटाक्सिन और न्यूरो टाक्सिन दोनों होते हैं, जिससे रक्त का नाश होता है और तंत्रिकाकेंद्र भी शिथिल हो जाते हैं, विशेषकर साँस में सहायक मांसपेशियों का वाहिकाप्रेरक तंत्र। साधारण वाइपरों में केवल हीमोटॉक्सिन ही होता है, न्यूरोटॉक्सिन नहीं होता या कम होता है। कहते हैं, बाइटिस नैसिकॉर्निस का विष बाइटिस गैबॉनिका के विष से भी अधिक घातक होता है। यह नदी के किनारे पाया जाता है और इस कारण इसको रिवर जैक कहते हैं। अफ्रीका में इनके अतिरिक्त भी बहुत से विषैले साँप मिलते हैं।

संयुक्त राज्य (अमरीका) के विषधर साँप कई प्रकार के हैं। वहाँ रैटल स्नेक, कॉपरहेड, वाटर मोकासिन और कोरल स्नेक पाए जाते हैं। रैटल स्नेक, कॉपरहेड और मोकासिन ये तीनों प्रकार के सर्प पिट वाइपर हैं और क्रॉटैलिडी कुल में रखे जाते हैं। रैटल स्नेक तुरंत पहिचाने जा सकते हैं। इनकी पूँछ का अंतिम भाग कुछ जुड़ी हुई अँगूठियों के आकार का होता है। यहाँ कायभित्ति के अंदर कुछ छोटे छोटे असंबद्ध पुच्छकशेरुक होते हैं जो पूँछ हिलाने पर एक विशेष ध्वनि उत्पन्न करते हैं। कोरल स्नेक नाग (कोब्रा) और करैत के समान विषैले माने जाते हैं। इनके विष का प्रभाव तंत्रिका केंद्र पर पड़ता है। माइक्रूरस फ़ल्वियस एक प्रकार का कोरल स्नेक है; यह अधिकतर छोटे साँपों और छिपकलियों को खाता है। रैटल स्नेक बहुत प्रकार के मिलते है, किंतु अधिकांश प्रजातियाँ क्रॉटैलस की जातियाँ हैं। क्रॉटैलस ऐडामैंटिअस नौ फुट तक लंबा होता है। इसका सिर तीन इंच चौड़ा होता है और विष के दाँत तीन चार इंच लंबे। छह फुट जंतु का भार छह से आठ सेर तक होता है। इसकी गणना दुनिया के अत्यंत घातक सर्पों में है। क्रॉटैलस हॉरिडस भी इसी प्रकार का एक घातक साँप है किंतु उत्तरी क्रॉटैलस हारिडस बहुत कम आक्रमण करता है। दक्षिण के ये साँप बड़े होते हैं और भयानक भी। मध्य और दक्षिणी अमरीका में केवल एक जाति का रैटल स्नेक मिलता है, परंतु पिट वाइपर बहुतायत से मिलते हैं। ये सब बोथ्रॉप्स प्रजाति में आते हैं। बुशमास्टर की एक जाति पाई जाती है जिसको लैकिसिस कहते हैं। यह जंतु १२ फुट लंबा होता है। बोथ्रॉप्स ऐट्रॉक्स का विष बड़ी शीघ्रता से प्रभाव डालता है। यह रक्तकोशाओं तथा रक्त की नालियों को नष्ट करता है और घाव के चारों ओर के अंगों को गला डालता है।

आस्ट्रेलिया के सर्प अधिकांश विषैले हैं। दुनिया के अन्य भागों में विषहीन सर्प विषधरों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं, परंतु आस्ट्रेलिया में दशा इसके विपरीत है। यहाँ के कई एक एलापाइन्स नामक सर्प इतने छोटे है और इनके विषदंत इतने छोटे हैं कि ये बहुत कम हानि पहुँचाते है। परंतु यहाँ के बड़े सर्प अत्यंत विषैले हैं। स्यूडेकिस पारफ़ीरिऐकस एक घातक सर्प है, परंतु इसका विष औरों की अपेक्षा कम शक्तिशाली है। नोटेकिस स्क्यूटेटस आस्ट्रेलिया का सबसे भयंकर और घातक सर्प है। इसका विष दुनिया के अन्य सब सर्पो के विष से अधिक शक्तिशाली और घातक है, परंतु यह कम मात्रा में बनता है, क्योंकि इस साँप की विषग्रंथियाँ बहुत छोटी होतीं हैं। आकैंथोफ़िस ऐंटार्क्टिकस, जिसको आस्ट्रेलिया में डेथ ऐडर कहते है, वाइपर की भाँति का साँप है। यह दो फुट लंबा होता है, परंतु इसका सिर बड़ा होता है और इसके विष के दाँत नोटेकिस स्क्यूटेट्स के विषदंत से बड़े होते हैं। यह भी बहुत घातक साँप है।

सर्पो की उत्पत्ति—ऐसा माना जाता है कि सर्पो की उत्पत्ति बिल में रहनेवाली छिपकलियों से हुई है। यदि यह धारणा सत्य है, तो यह मानना पड़ेगा कि सर्पो में शंखकच्छदि (कनपटी की छत) एकदम लुप्त हो गई और सब शंखक खात खुल गए हैं। जो हड्डी चतुष्कोणास्थि को कपाल से मिलाती है वह अग्रगंडास्थि (स्क्वैमोसैल) है, या उपरिशंखक (सुप्राटेंपोरैल) या चिपिटास्थि (टैबुलर)।

युक्तछिद्रकरोटी (सिनैप्सिडा) और चतुश्छिद्रकरोटी (डाइऐप्सिडा)—अछिद्रकरोटी महागण (ऐनैप्सिडा) से युक्तछिद्रकरोटी और चतुश्छिद्रकरोटी उत्पन्न हुए। युक्तछिद्रकरोटी का एक मुख्य प्रतिनिधि है थीरोमॉर्फ़ा जिसकी खोपड़ी में एक शंखक खात नेत्रकोटरपश्च (पोस्ट ऑर्बिटल) और गंडिका (जूगल) के बीच था। शीतसरट (पेलिकोसॉरिया) और डाइनोसेफ़ालिया में यही दशा वर्तमान है। परंतु पश्चात् के युक्तछिद्रकरोटियों में यह खात ऊपर की ओर फैलता गया, यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा पार्श्विका हो गई। यह दशा द्विरूपदंतगण (डाइसिनोडॉन्शिया) और स्तनिदंतगण (थीरियोडॉन्शिया) में मिलती है

और उन स्तनधारियों में भी जो स्तनिदंतगण से विकसित हुए। स्तनिदंतगण का स्तनधारियों में विकास होने में शंखक खात बहुत बड़ा हो गया और अग्रललाट, पश्चललाट, नेत्रकोटरपश्च और चतुष्कयुगीय क्रमशः लुप्त हो गए। चिपिटास्थि लुप्त हो गई या पार्श्विका से सायुज्यित हो गई। पश्चपार्श्विकाएँ, अंतरापार्श्विका के रूप में शेष रह गई जो बहुधा अध्यनुकपाल से सायुज्यित हो जाती है। पश्च शंख-खात का अभिलोपन हो गया और पार्श्विक तथा अंग्रगंडास्थि अधिक फैल गई। मीनसरट गण (इक्थियोसॉरिया) मे भी एक ही शंखक खात था। ये मछली के सदृश उरग थे जो समुद्र में रहते थे और लुप्त हो चुके हैं। ये रक्ताश्म युग से खटीयुत युग तक जीवित रहे। इनके जीवाश्म भारत, ग्रास्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, यूराप, अमरीका और अफ्रीका में मिलते हैं। इनमें से बड़े ३० या ४० फुट तक लंबे थे। इनके बाहु पाद फ़िनपरों (तैरने में सहायक अंगों) के सदृश थे और इनकी हड्डियाँ विचित्र थीं। लंबी हड्डियाँ (प्रगंडिका, ह्यूमरस, ऊर्विका (फ़ीमर), बहिप्रकोष्ठिका (रेडियस) इत्यादि छोटी और चौड़ी थी। किसी किसी में आठ या नौ अँगुलियाँ थीं और अंगुलास्थि (फ़ैलेंजेज) बहुत सी। ललाट वीथिका (टेंपोरैल आरकेड), अग्रगंडास्थि (स्क्वैमोसैल), उपरिशंखक (सुप्राटेंपोरैल) और चतुष्कयुगीय (क्वाड्रेटोजूगल) की बनी थी। उपरिशंखक खात (सुप्राटेंपोरैल फ़ासा) की सीमा पार्श्विका (पैराईटल), अग्रगंडास्थि (स्क्वैमोसैल), पश्चललाट (पोस्टफ्रांटल) से बनी थी। तुंड (स्नाउट) लंबा था और नेत्रकोटर (ऑर्बिट) बड़े बड़े।

चतुश्छिद्रकरोटियों में दो शंखक खात और दो पार्श्वशंखक वीथिकाएँ (लटरैल टेंपोरैल आर्केड्स) होती हैं। इनमें पल्याभगण (रिंकोसिफ़ेलिया), मकरगण (क्रोकोडिलिया), भीमसरटगण (डाइनोसॉरिया), सॉरिस्किया और आर्निथिस्किया इत्यादि आते हैं। सबसे आद्य चतुश्छिद्रकरोटि जो अभी तक मिला है वह उलूखलदंत (यंगिना) प्रजाति है, जो दक्षिणी अफ्रीका के गिरियुगीन स्तरों में पाया गया है। यह न्यूज़ीलैंड के स्फानदंत (स्फ़ीनोडॉन) से मिलता जुलता है। पल्याभगण का प्रतिनिधित्व करनेवाला यह स्फानदंत आज भी जीवित है, शेष सब लुप्त हो चुके हैं।

भीमसरट—भीमसरटगण रक्ताश्म युग से खटीयुत युग तक जीवित रहे और अब सब लुप्त हो चुके हैं। इनके जीवाश्म यूरोप, एशिया, अफ्रीका, अमरीका, ग्रास्ट्रेलिया और मैडेगैस्कर में मिलते हैं। कौंप्सॉग्नाथस बिल्ली के बराबर था, और मेगालोसॉरस हाथी के बराबर। मेगालोसॉरस यूरोप और अमरीका में रहता था। ऐटलैंटोसॉरस ११५ फुट लंबा था और ब्रॉण्टोसॉरस ६० फुट। इग्वैनोडॉन लगभग ३० फुट लंबा था। स्टेगोसॉरस का सिर बहुत छोटा था और बाहु बहुत छोटी परंतु शक्तिशाली। पृष्ठनितंबास्थि (इलियम) आगे दूर तक फैली थी। इसके शरीर पर बेड़ी हड्डियों का कवच था। यह २८ फुट लंबा था।

उड़नेवाले उरग—टेरोसॉरिया उड़नेवाले उरग थे। इनके जीवाश्म (फ़ौसिल) अवरमहासरट युग (लोअर लायस) से खटीयुत (क्रिटेशस) युग तक मिलते हैं। अपने बाह्य लक्षणों में ये पक्षियों के समान थे, परंतु इनके पर नहीं थे। इनकी बाहु बड़ी थी और अंतःप्रकोष्ठिकी अँगुली (अल्नर डिजिट) बहुत लंबी थी जिसपर चर्म की झालर (पार्टेजियल एक्स्पैंशन) आधारित थी। (मु० ला० श्री०)

उरगपुर चोड साम्राज्य की तीन राजधानियों में से पहली उरगपुर थी। एक समय उरगपुर पल्लवों के अधिकार में था और जब उनकी चालुक्यों से शत्रुता चल रही थी तब, जैसा चालुक्य अभिलेख (एपिग्रैफ़िया इंडिका, खंड १०, पृ० १००–१०६) से प्रकट है, चालुक्यराज विक्रमादित्य प्रथम ने कांची पर तो अधिकार कर ही लिया, महामल्ल के कुल का नाश करता हुआ वह उरगपुर तक जा पहुँचा था। कालिदास ने उरगपुर को पांड्यों की राजधानी कहा है (रघु० ६.५९)। करिकालचोड ने पांड्यों का आधिपत्य हटाकर उरगपुर को वीरान कर दिया। उसी नगर के निकट से चोलों की शक्ति का उत्कर्ष ८५० ई० से पहले विजयालय ने किया था। उरगपुर का वर्तमान प्रतिनिधि त्रिचनापल्ली के पास उरय्यूर है। (ओं० ना० उ०)

उरद को संस्कृत में माप या बलाढ्य, बँगला में माप कलाई, गुजराती में अड़द, मराठी में उड़ीद, पंजाबी में माँह तथा लैटिन में फ़ेसिओलस रेडिएटस कहते हैं।

इसका द्विदल पौधा लगभग एक हाथ ऊँचा होता है और भारतवर्ष में सर्वत्र ज्वार, बाजरा और रुई के खेतों में तथा अकेला भी बोया जाता है। इससे मिलनेवाली दाल भोजन और ओषधि, दोनों रूपों में उपयोगी है। बीज की दो जातियाँ होती हैं: (१) काली और बड़ी, जो वर्षा के आरंभ में बोई जाती है और (२) हरी और छोटी, जिसकी बोआई दो महीने पश्चात् होती है।

इसकी हरी फलियों की भाजी तथा बीजों से दाल, पापड़, बड़े इत्यादि भोज्य पदार्थ बनाए जाते हैं। आयुर्वेद के मतानुसार इसकी दाल स्निग्ध, पौष्टिक, बलकारक, शुक्र, दुग्ध, मांस और मेदवर्धक; वात, श्वास और बवासीर के रोगों में हितकर तथा शौच को साफ करनेवाली है।

रासायनिक विश्लेषणों से इसमें स्टार्च ५६ प्रतिशत, अल्बुमिनाएड्स २३ प्रतिशत, तेल सवा दो प्रतिशत और फास्फोरस ऐसिड सहित राख साढ़े चार प्रतिशत पाई गई है। (भ० दा० व०)

उरबाना संयुक्त राज्य अमरीका के ओहायो राज्य का एक नगर तथा सैंपेन काउंटी की राजधानी है। उरबाना सर्वप्रथम १७९७ ई० में ग्रीन ब्रीयर के कर्नल विलियम वर्ड द्वारा बसाया गया; बाद में उन्होंने अपनी भूमि को इस प्रतिबंध पर नगर के लिये बेचना आरंभ किया कि उससे प्राप्त धन का उपयोग जनोपयोग के लिये किया जाय। यह गाँव १८०५ ई० में बसा तथा १८६७ ई० में नगर बना। यहीं उरबाना विश्वविद्यालय भी स्थित है। (सु० कु० सि०)

उरार्तू वर्तमान आर्मीनिया का प्राचीन असूरी नाम। उस देश का यह नाम आज भी उसके पर्वत अरारात के नाम में ध्वनित है। यह महत्व की बात है कि स्वयं उरार्तू के निवासी अपने कीलाक्षरोंवाले अभिलेखों में अपने को 'खल्दिनी' कहते हैं। विद्वानों का मत है कि अधिकतर वहाँ के रहनेवाले पश्चिम से आकर आराक्सिज नदी की घाटी में बस गए थे जो न तो जाति के सामी ही थे, न आर्य ही। उरार्तू के राजाओं से बढ़ती हुई असूरी शक्ति का बार बार संघर्ष हुआ और बार बार उरार्तू को पराभूत होना पड़ा। उरार्तू के राज्य का ऐतिहासिक आरंभ १००० ई० पू० के आसपास माना जा सकता है।

उरार्तू के राजाओं में सबसे शक्तिमान् इस्पुइनिस का बेटा मेनुआस हुआ। उसके जीवन का सबसे प्रधान कार्य 'शमीरामसू' नामक नहर का निर्माण था जिससे उस देश में मीठे पेय जल का प्रादुर्भाव हो सका। उसके पुत्र अर्गिस्तिस प्रथम ने अपने १४ वर्षों के शासन और युद्धों का वृत्तांत वान की शिला पर खुदवाया। उरार्तू का दूसरा शक्तिमान् राजा ८वीं सदी ई० पू० में रूसस प्रथम हुआ जो असूरिया के राजा सारगोन द्वितीय का प्रबल शत्रु था।

७१४ ई० पू० में कोहकाफ़ के दर्रों से निकलकर किमेरियों ने उरार्तू पर प्रबल आक्रमण किया और रूसस को मजबूर होकर आत्महत्या कर लेनी पड़ी। रूसस के पोते रूसस द्वितीय ने किमेरियों को अपनी सेवा में भर्ती कर असूरिया से युद्ध किया, फिर उन्हें लघु एशिया के पश्चिमी भागों की ओर भगा दिया। छठी सदी ई० पू० में मीदी आर्यों ने उरार्तू को रौंद डाला।

खल्दी संभवतः पश्चिमी लघु एशिया की ओर से आए थे और स्वयं प्राचीन ईजियाई सभ्यता से प्रभावित थे। आर्य ग्रीकों को उन्होंने पहले स्वयं प्रभावित किया और जब उनके देश उरार्तू पर उस अरमीनी जाति ने विजय पाई, जिसने उसे उसका पिछला नाम अर्मीनिया दिया, तब खल्दी अपना वह देश छोड़ पहाड़ों में जा बसे। उरार्तू का उल्लेख बाइबिल में भी हुआ है। उसी के अरारात पर्वत के शिखर से, बाइबिल के अनुसार, जलप्रलय के अवसर पर हजरत नूह की जीवों के जोड़ों से भरी नौका जा लगी थी। (भ० श० उ०)

उरुवेला पालि में उरु का अर्थ बालू है, और वेला का नदीतट। गया और बुद्ध गया के बीच नेरंजरा (वर्तमान फल्गु) नदी का जो विस्तृत बालुकामय तट है वही पालि साहित्य में उरुवेला के नाम से प्रसिद्ध है। बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम ने बुद्धत्व लाभ करने के पूर्व दीर्घ काल तक यहाँ रहकर कठिन तपस्या की थी। इसी उरुवेला के पास सेनानी कस्बा था जहाँ रहनेवाली कन्या सुजाता ने बोधिसत्व को खीर--पायस--अर्पण किया था। जब बुद्ध कपिलवस्तु से लौट राजगृह की ओर जा रहे थे तब उरुवेला में निवास करनेवाले सैकड़ों जटाधारी साधुओं को अपने योगबल से परास्त कर उन्होंने अपने धर्म में दीक्षित किया था। (भि० ज० का०)

उरुग्वे दक्षिण अमरीका का सबसे छोटा सार्वभौम सत्तावान् स्वतंत्र देश है। इसका वास्तविक (सरकारी) नाम 'उरुग्वे का पूर्वी गणराज्य' (रिपब्लिका ओरिएंटल देल उरुग्वे) है और स्थानीय रूप से इसे 'बांडा ओरिएंटल' या उरुग्वे नदी का पूर्वी तटक्षेत्र कहते हैं। १,७७,५०८ वर्ग कि०मी० भूक्षेत्र पर फैला यह देश अल्प आबाद (१९७१ में कुल जनसंख्या लगभग २८,८६,१००) है और प्रति वर्ग कि०मी० घनत्व केवल १५ व्यक्ति है। इसके उत्तर एवं उत्तर पूर्व में विशाल ब्राजील और दक्षिण में उरुग्वे नदी से लेकर अटलांटिक महासागर तक ३७८ कि० मी० लंबी रिओ द ला प्लाटा की इस्चुअरी है। पश्चिम में आर्जेंटाइना की सीमा उरुग्वे नदी द्वारा अलग होती है और पूर्व में १९३ कि०मी० लंबा समुद्रतट है।

लगभग संपूर्ण उरुग्वे का धरातल ६०० मीटर से नीचा है। पूर्वी और दक्षिणी अर्धभाग अपेक्षाकृत नीचा पहाड़ी है जिसके नीचे प्राचीन सिस्ट तथा ग्रेनाइट जैसी कठोर चट्टानें हैं। इनमें पठारों, घाटियों और पहाड़ियों के क्रमिक सिलसिले मिलते हैं। मध्य एवं मध्योत्तरी भाग पठारी और नीचा है जिसके नीचे प्राचीन सिस्ट चट्टानें हैं और ऊपर परमीकालीन चट्टानें बिछी हैं। ये भाग ब्राजील पठार के अंश हैं। प्रातिनूतन (प्लीस्टोसीन) कालीन बालू और चीका आदि शेष भाग मैदानी हैं जो जलोढ़ पदार्थो से बने हैं और वस्तुतः पंपाज़ घास के मैदान के ही अंश हैं। समुद्रतटीय क्षेत्र ज्वारीय झीलों तथा बालू के ढूहों या स्तूपों से भरे पड़े हैं। रियो नेग्रो सबसे लंबी नदी है जिसका निचला भाग नौगम्य है। सांता लुसिया, क्वेग्वे आदि अन्य प्रमुख नदियाँ हैं।

उरुग्वे दक्षिणी गोलार्ध में शीतोष्णकटिबंध में स्थित है और इसकी जलवायु पूर्णतया शीतोष्णकटिबंधीय और सुखद है। जनवरी, फरवरी गर्मी के महीने हैं और औसत तापमान ७१° फा० रहता है। जुलाई सर्दी का महीना है जिसमें तापमान ५०° फा० होता है। दक्षिण पश्चिम से आनेवाली ठंढी हवाओं को पैंपेरो कहते हैं जिनके बहने पर तापमान एकाएक बहुत कम हो जाता है। वस्तुतः हवाओं की दिशा में यहाँ एकाएक परिवर्तन होता रहता है। उत्तर से बहनेवाली गर्म हवाओं में एकाएक परिवर्तन हो जाता है और ठंढी पैंपेरो बहने लगती है। समुद्रतटीय क्षेत्रों के समीप सामुद्रिक प्रभाव होने से परिवर्तन का कम प्रभाव पड़ता है। मई से अक्टूबर तक के मौसम में सुबह शाम तथा रात में कुहासा छाया रहता है। देश में औसत वार्षिक वर्षा लगभग ८९ सें० होती है और इसकी मात्रा समुद्र से दूरी के साथ कम होती जाती है।

अपेक्षाकृत कम वर्षा होने के कारण अधिकांश क्षेत्रों की प्राकृतिक वनस्पति लंबी प्रेयरी घासें हैं। सान जोस की घाटी जैसे क्षेत्रों में देसी ताड़ उगते है।

आर्थिक तंत्र--पशुपालन प्रमुख आर्थिक धंधा है यद्यपि कृषिकार्य में भी इधर प्रचुर प्रगति हुई है। ऊन तथा मांस प्रमुख उत्पादन हैं किंतु इधर इनके उत्पादन में बड़ी धीमी वृद्धि हुई है और राष्ट्रीय माँग उत्पादन की अपेक्षा बराबर अधिक रही है। इसीलिये कृषि एवं पशुओं से प्राप्त उत्पादनों के कुल निर्यात के इनके प्रतिशत अनुपात में ह्रास हुआ है। १९३० के दशक में इन पदार्थो का भाग ४६ % के लगभग था जो अब मात्र ३० % रह गया है। इधर कृषि में भी प्रसार हुआ है और सरकार ने गेहूँ में आत्मनिर्भर होने के लिये विभिन्न कदम उठाए हैं। गेहूँ, मक्का, अलसी, सूर्यमुखी के बीज, जई, जौ, चावल तथा अंगूर प्रमुख उत्पादन हैं। अल्फाल्फा घासें भी पशुओं के चारे के लिये बोई जाती हैं।

१८२८ में जब उरुग्वे को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, उस समय यहाँ अधिकांश भूमि खुले रूप में पशुओं के चराने के लिये उपयोग की जाती थी और खेती का खास विकास नहीं हुआ था। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद प्रमुखतया इटली और स्पेन से कुछ आव्रजक यहाँ आकर बसे और दक्षिणी भागों के कई क्षेत्रों में खेती प्रारंभ हुई। १८५२ के बाद ला प्लाटा प्रदेश में आनेवाले अधिकांश यूरोपीय आव्रजकों को आर्जेंटाइना का अधिक आकर्षण था। अतः उरुग्वे में बसनेवालों की संख्या बहुत कम हो गई। फलतः दक्षिणी भाग की खेती में अधिक प्रसार न हो सका जबकि उसपर आर्जेंटाइना में तीव्र प्रगति हुई। इधर १९४० के बाद सरकारी प्रेरणा तथा सहायता से खेती का प्रचुर प्रसार हुआ है। अब चरागाही प्रदेशों में भी खुली चरागाही भूमि नहीं है। पशुओं को विस्तृत बाड़ों में रखा और चराया तथा पाला जाता है। रियो निग्रो के दक्षिणी क्षेत्रों में पशुपालन अधिक महत्वपूर्ण है जबकि खेतीवाले क्षेत्रों में बहुत कम भूमि चरागाही के लिये उपलब्ध है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य--उत्तरी एवं मध्य अमरीकी क्षेत्रों की तरह ही दक्षिण अमरीका में भी अमरीकी इंडियन जातियाँ फैली थीं लेकिन उनकी जनसंख्या बहुत कम थी और मेक्सिको या पेरू आदि क्षेत्रों को छोड़कर उनका आर्थिक सामाजिक ढाँचा भी बहुत पिछड़ा तथा कबायली स्तर का था। ला प्लाटा क्षेत्र की खोज सर्वप्रथम यूरोपीय जुआन डियाज़ द सोलीस ने १५१६ ई० में की। परंतु क्षेत्र में कोई विशेष घटना नहीं घटी। १६८० में ब्राज़ील क्षेत्र से पुर्तगाली लोगों ने यहाँ आकर उपनिवेश स्थापित किया और रियो द ला प्लाटा पर ब्यूनस आयर्स (आर्जेंटाइना) के उत्तरी पार नोवों कोलोनिया द सैक्रामेंटो की स्थापना की। ब्यूनस आयर्स में १८१० ई० में स्वतंत्रता की घोषणा के बाद इस क्षेत्र में कई राजनीतिक एवं सैनिक उथल पुथल हुई। उरुग्वेई (बांडा ओरिएंटल), पुर्तगाली, ब्राज़ीली तथा आर्जेंटाइनी सेनाओं ने भी स्वतंत्रता के लिये विद्रोह और प्रयत्न किए। १८२५ ई० में जुआन ऐंटोनिओ लावालिजा ने क्रांति सेना गठित करके मुक्तिसंग्राम का विस्तार किया। फलतः २७ अगस्त, १८२८ ई० को रियो द जनेरो में ब्राज़ील एवं आर्जेंटाइना के मध्य एक संधि हुई और तदनुसार उरुग्वे को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित किया गया। लेकिन क्रांति सेना ने राष्ट्रीय विकास की ओर ध्यान न देकर और लाखों पशुओं को बिना उनकी वृद्धि का ध्यान किए उदरस्थ करके, आर्थिक धुरी को १८६० ई० तक काफी नष्ट कर दिया। राष्ट्रीय कर्ज भी बढ़ता गया। यद्यपि कोलोरैडो तथा ब्लैंको राजनीतिक दलों का समुचित विकास हो रहा था तथापि आर्थिक एवं राजनीतिक अराजकता में वृद्धि होती गई। १८६५ में कोलोरैडो राजनीतिक दल की सरकार बनी। किंतु विशेष आर्थिक सुधार संभव न हो सका। १९१६ ई० से लेकर लगातार राजनीतिक और आर्थिक हालत बिगड़ती गई। १९३० के दशक को विश्व आर्थिक मंदी का प्रचुर कुप्रभाव यहाँ भी पड़ा। उसके बाद बैलिस्ता नामक राजनीतिक दल का प्रभाव काफी बढ़ा और १९४६-५८ ई० के मध्य जितने भी चुनाव हुए, सबमें इसी दल को विजयश्री मिलती गई। नवंबर, १९५८ में कोलोरैडो दल के ९३ वर्षीय शासन का अंत हुआ और राष्ट्रवादियों को प्रचुर बहुमत प्राप्त हुआ। देखा जाए तो मार्च, १९५९ से राजनीतिक दलीय प्रशासनिक परिवर्तनचक्र का ऐतिहासिक शुभारंभ हुआ।

वस्तुतः आर्जेंटाइना और ब्राज़ील जैसे विशाल और सशक्त पड़ोसी राष्ट्रों के मध्य छोटे राष्ट्र उरुग्वे की भूराजनीतिक स्थिति ने इसे संयुक्त सुरक्षा की ओर प्रेरित किया है और यहाँ जनतंत्र की जड़ें भी अपेक्षाकृत अधिक गहरी हो गई हैं। जनमानस का झुकाव भी जनतांत्रिक है। अतः उरुग्वे ने लीग ऑव नेशन्स, राष्ट्रसंघ या अन्य विश्वस्तरीय अथवा अमरीकी महाद्वीपीय स्तरीय राजनीतिक, सुरक्षात्मक या आर्थिक संघटनों में सदैव संघीय या संयुक्त सुरक्षा की आवाज बुलंद की है। पुंता देल ईस्ट नामक समुद्रतटीय मनोरंजन केंद्र में 'प्रगति के लिये सहयोग' का गठन हुआ। वस्तुतः मांटवीडियो लेफ़्टा (लैटिन अमरीकी फ़्री ट्रेड ऐसोसियेशन) अर्थात्

लैटिन अमरीकी स्वतंत्र व्यापार संघ का, जो यूरोपीय साझा बाजार के ढाँचे पर गठित हुआ है, मुख्य केंद्र है।

उद्योग धंधे एवं यातायात—उरुग्वे में उद्योग धंधों का अधिक विकास नहीं हो पाया है। वस्तुतः औद्योगिक धुरी के विकास के लिये आवश्यक खनिज तथा ऊर्जा के समाधनों का यहाँ नितांत अभाव है; केवल कुछ सोना, चाँदी, सीसा, ताँबा और कुछ लिग्नाइट कोयला मिलता है। पर्याप्त ऊबड़ खाबड़ भूमि के अभाव में जलविद्युत् का अधिक विकास नहीं हो पाया है। अधिकांश विद्युत् उत्पादन केंद्र आयातित कोयले तथा पेट्रोलियम पर निर्भर थे। इधर रियो निग्रो पर दो बड़े जलविद्युत् केंद्र स्थापित किए गए है। अधिकांश उद्योग धंधे खेती और पशुपालन से प्राप्त कच्चे माल, भोज्य पदार्थों एवं अन्य उपभोक्ता पदार्थों के निर्माण से संबद्ध हैं। वस्त्रोद्योग, रबर के टायर तथा अन्य सामान, जूते एवं घरेलू उपयोग के पदार्थ तैयार करनेवाले धंधे इनमें प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त डिब्बों में मांस एव सत्व बंद करने के कारखाने स्थापित हैं जहाँ से यूरोप, ब्राज़ील एवं अन्य लैटिन अमरीकी देशों को उक्त वस्तुएँ भेजी जाती हैं।

१९७० ई० तक उरुग्वे में ४,०७१ कि० मी० लंबे रेलमार्ग और ८,००० कि० मी० से अधिक पक्के राजमार्ग थे। अटलांटिक महासागरतट पर स्थित मांटीवीडियो (१९७० में जनसंख्या १३,५०,०००) केवल राजधानी और वृहत्तम नगर ही नहीं, उरुग्वे का वृहत्तम आर्थिक, औद्योगिक, व्यापारिक एवं यातायात केंद्र है। इधर ट्रकों द्वारा राजमार्गीय यातायात में तीव्र प्रगति हुई है। फलतः अंतरराष्ट्रीय सहायता से राजमार्गों को बढ़ाने तथा अधिक समुपयुक्त बनाने के लिये प्रयत्न हो रहे हैं। ब्राज़ील से राजमार्गों द्वारा अधिक व्यापार और यातायात होता है, अतः ब्राजील की ओर जानेवाले मार्ग अधिक सुधरे हैं। कुल विदेशी व्यापारकार्य में उरुग्वे के अपने जहाजी बेड़े का महत्व बहुत कम है और इसे विदेशी कंपनियों पर आश्रित रहना पड़ता है। प्लूना नामक देशी वायु-यातायात-संगठन द्वारा देश तथा पड़ोसी देशों का संबंध है। मांटीवीडियो से २१ कि० मी० दूर कैरास्को में प्रमुख वायुयान अड्डा है।

देश में रेडियो, टेलिफोन (१,९०,००० संबंध इकाइयाँ), दूरवीक्षण (टेलिविज़न) आदि संचार संसाधन हैं और १९६४ ई० से अंतरराष्ट्रीय टेलेक्स सेवाएँ भी प्राप्त हो गई हैं। १८७७ ई० में कई सुधार हुए जिनके फलस्वरूप शिक्षण तथा प्रशिक्षण के क्षेत्र में उरुग्वे का स्थान अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ऊँचा हुआ है। लगभग ९० प्रतिशत लोग साक्षर हैं। १८४९ ई० में मांटीवीडियो में विश्वविद्यालय स्थापित किया गया था। आजकल वहाँ १५,००० से अधिक विद्यार्थी विद्योपार्जन करते हैं। (का० ना० सिं०)

उर्दू भाषा और साहित्य

उर्दू भारतवर्ष की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है। इसका विकास मध्ययुग में उत्तरी भारत के उस क्षेत्र में हुआ जिसमें आज पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली और पूर्वी पंजाब समिलित है। इसका आधार उस प्राकृत और अपभ्रंश पर था जिसे शौरसेनी कहते थे और जिससे खड़ीबोली, ब्रजभाषा, हरियानी और पंजाबी आदि ने जन्म लिया था। मुसलमानों के भारत में आने और पंजाब तथा दिल्ली मे बस जाने के कारण इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा में फारसी और अरबी शब्द भी संमिलित होने लगे और धीरे धीरे उसने एक पृथक् रूप धारण कर लिया। मुसलमानों का राज्य और शासन स्थापित हो जाने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था कि उनके धर्म, नीति, रहन सहन, आचार विचार का रंग उस भाषा में झलकने लगे। इस प्रकार उसके विकास में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ संमिलित हो गई जिनकी आवश्यकता उस समय की दूसरी भारतीय भाषाओं को नहीं थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में बोलचाल मे खड़ीबोली का प्रयोग होता था। उसी के आधार पर बाद में उर्दू का साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ। इसमें काफी समय लगा, अतः देश के कई भागों में थोड़े थोड़े अंतर के साथ इस भाषा का विकास अपने अपने ढंग से हुआ।

उर्दू का मूल आधार तो खड़ीबोली ही है किंतु दूसरे क्षेत्रों की बोलियों का प्रभाव भी उसपर पड़ता रहा। ऐसा होना ही चाहिए था, क्योंकि आरंभ में इसको बोलनेवाली या तो बाजार की जनता थी अथवा वे सूफी-फकीर थे जो देश के विभिन्न भागों में घूम घूमकर अपने विचारों का प्रचार करते थे। इसी कारण इस भाषा के लिये कई नामों का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने उसको 'हिंदी', 'हिंदवी' अथवा 'ज़बाने देहलवी' कहा था; दक्षिण में पहुँची तो 'दकिनी' या 'दक्खिनी' कहलाई, गुजरात में 'गुजरी' (गुजराती उर्दू) कही गई; दक्षिण के कुछ लेखकों ने उसे 'ज़बाने-अहले-हिंदुस्तान' (उत्तरी भारत के लोगों की भाषा) भी कहा। जब कविता और विशेषतया गजल के लिये इस भाषा का प्रयोग होने लगा तो इसे 'रेख़ता' (मिली जुली बोली) कहा गया। बाद में इसी को 'ज़बाने उर्दू', 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या केवल 'उर्दू' कहा जाने लगा। यूरोपीय लेखकों ने इसे साधारणतः 'हिंदुस्तानी' कहा है और कुछ अंग्रेज लेखकों ने इसको 'मूर्स' के नाम से भी संबोधित किया है। इन कई नामों से इस भाषा के ऐतिहासिक विकास पर भी प्रकाश पड़ता है।

उद्गम की दृष्टि से उर्दू वही है जो हिंदी; देखने में केवल इतना ही अंतर मालूम देता है कि उर्दू में अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक होता है। इसकी लिपि देवनागरी से भिन्न है और कुछ मुहावरों के प्रयोग ने इसकी शैली और ढाँचे को बदल दिया है। परंतु साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो इसके विकास की पृष्ठभूमि, साहित्यिक परंपराएँ और रूप सब एक अन्य साँचे में ढले हुए हैं। यह सब कुछ ऐतिहासिक कारणों से हुआ है जिसका ठीक ठीक अनुमान उसके साहित्य के अध्ययन से किया जा सकता है। परंतु इससे पहले एक बात की ओर और ध्यान देना चाहिए। उर्दू तुर्की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है वह बाजार जो शाही सेना के साथ साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहता था। वहाँ जो मिली जुली भाषा बोली जाती थी उसको उर्दूवालों की भाषा कहते थे, क्रमशः वही भाषा स्वयं उर्दू कही जाने लगी। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग १७वीं शताब्दी के अंत से मिलता है।

उर्दू का प्रारंभिक रूप या तो सूफी फकीरों की बानी में मिलता है या जनता की बोलचाल में। भाषा की दृष्टि से उर्दू के विकास में पंजाबी का प्रभाव सबसे पहले दिखाई पड़ता है, क्योंकि जब १५वीं और १६वीं सदी में इसका प्रयोग दक्षिण के कवि और लेखक साहित्यिक रचनाओं के लिये करने लगे तो उसमें पंजाबीपन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता था। १७वीं और १८वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव उर्दू पर पड़ा और बड़े बड़े विद्वान् कविता में 'ग्वालियरी भाषा' को अधिक शुद्ध मानने लगे, किंतु उसी युग में कुछ विद्वानों और कवियों ने उर्दू को एक नया रूप देने के लिये ब्रज के शब्दों का बहिष्कार किया और फारसी अरबी के शब्द बढ़ाने लगे। दक्षिण में जिस उर्दू का प्रयोग किया जाता था, उत्तरी भारत में उसे नीची श्रेणी की भाषा समझा गया क्योंकि वह दिल्ली की बोलचाल की उस भाषा से भिन्न थी जिसमें फारसी साहित्य और संस्कृति की झलक थी। बोलचाल में यह भेदभाव चाहे कुछ अधिक दिखाई न दे किंतु साहित्य में शैली और शब्दों के विशेष प्रयोग से यह विभिन्नता बहुत व्यापक हो जाती है और बढते बढ़ते अनेक साहित्यिक स्कूलों का रूप धारण कर लेती हैं, जैसे 'दकन स्कूल', 'दिल्ली स्कूल', 'लखनऊ स्कूल', 'बिहार स्कूल' इत्यादि। सच यह है कि उर्दू भाषा के बनने में जो संघर्ष जारी रहा उसमें ईरानी और हिंदुस्तानी तत्व एक दूसरे से टकराते रहे और धीरे धीरे हिंदुस्तानी तत्व ईरानी तत्व पर विजय पाता गया। अनुमान लगाया गया है कि जिस भाषा को उर्दू कहा जाता है उसमें लगभग ८५ प्रतिशत शब्द वे ही हैं जिनका आधार हिंदी का कोई न कोई रूप है। शेष १५ प्रतिशत में फारसी, अरबी, तुर्की और अन्य भाषाओं के शब्द संमिलित हैं जो सांस्कृतिक कारणों से मुसलमान शासकों के जमाने में स्वाभाविक रूप में उर्दू में घुल मिल गए थे। इस समय उर्दू पाकिस्तान के अनेक क्षेत्रों में, उत्तरी भारतवर्ष के कई भागों में, कश्मीर और आंध्र प्रदेश में बहुत से लोगों की मातृ-भाषा है।

इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि मुसलमान भारतवर्ष में आए तो यहाँ के जीवन पर उनका प्रभाव पड़ा और वे स्वयं यहाँ की स्थिति से प्रभावित हुए। उन्होंने यहाँ की भाषाएँ सीखीं और उनमें अपने विचार

प्रकट किए। सबसे पहले लाहौर के ख्वाजा मसऊद साद सलमान (११६६ ई०) का नाम मिलता है जिन्होंने हिंदी में अपना काव्यसंग्रह एकत्र किया जो दुर्भाग्य से आज प्राप्त नहीं होता। उसी समय में कई सूफ़ी फ़कीरों के नाम मिलते हैं जो देश के कोने कोने मे घूम फिरकर जनता मे अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। इस बात का अनुमान करना कठिन नहीं है कि उस समय कोई बनी बनाई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी इसलिये वे बोलचाल की भाषा मे फारसी अरबी के शब्द मिलाकर काम चलाते होंगे। इसके बहुत से उदाहरण सूफ़ियों के संबंध मे लिखी हुई पुस्तकों मे मिल जाते हैं। जिन लोगों की कविताएँ अथवा वाक्य मिले हैं उनमे से कुछ के नाम ये हैं: बाबा फ़रीद शकरगंज (मृ० १२६२ ई०), शेख़ हमीदउद्दीन नागौरी (मृ० १२७४ ई०), शेख़ शरफ़ुद्दीन अबू अली क़लंदर (मृ० १३२३ ई०), अमीर खुसरो (मृ० १३२४ ई०), शेख़ सिराजउद्दीन (मृ० १३५६ ई०), शेख़ शरफ़ुद्दीन यहिया मनेरी (मृ० १३७० ई०), मख़दूम अशरफ़ जहाँगीर (मृ० १३५५ ई०), शेख़ अब्दुलहक़ (मृ० १४३३ ई०), सैयद गेसू दराज़ (मृ० १४२१ ई०), सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृ० १५०४ ई०), शेख़ बहाउद्दीन बाजन (मृ० १५०६ ई०) इत्यादि। इनके वचन और दोहरे इस बात का पता देते हैं कि एक ऐसी भाषा बन रही थी जो जनसाधारण समझ सकता था और जिसका रूप दूसरी बोलियों से भिन्न था।

ऊपर के कवियों में अमीर खुसरो और गेसू दराज़ उर्दू साहित्य के प्रारंभिक इतिहास मे बहुत महत्व रखते हैं। खुसरो की हिंदी रचनाएँ, जिनका कुछ अंग दिल्ली की खड़ीबोली में होने के कारण उर्दू कहा जाता है, देवनागरी में भी प्रकाशित हो चुकी हैं, परंतु गेसू दराज़ के लेखों और कविताओं की खोज अभी जारी है। इस समय तक 'चक्कीनामा', 'तिलावतुल वजूद', 'मेराजनामा' प्राप्त हो चुकी हैं, इन सब मे सूफ़ी विचार प्रकट किए गए हैं। गेसू दराज़ दिल्ली निवासी थे परंतु उनका ज्यादा समय दक्षिण में बीता, वहीं उनकी मृत्यु हुई और इसी कारण उनकी भाषा को दक्किनी उर्दू कहा जाता है। सच यह है कि उर्दू, जिसने दिल्ली के आसपास एक भाषा का रूप ग्रहण किया था, सेनाओं, सूफ़ी फ़कीरों, सरकारी कर्मचारियों और व्यापारियों के साथ देश के अन्य भागों मे पहुँची और उचित वातावरण पाकर बढ़ी और फैली।

उर्दू के साहित्यिक रूप के प्रारंभिक विकास के चिह्न सबसे पहले दक्षिण और गुजरात मे दिखाई पड़ते हैं। गेसू दराज़ के अतिरिक्त मीरानजी शमसुल उश्शाक़, बुरहानुद्दीन जानम, निज़ामी, फ़िरोज़, महमूद, अमीनुद्दीन आला ने ऐसी रचनाएँ छोड़ी हैं जो प्रत्येक उर्दू साहित्य के इतिहास मे स्थान प्राप्त कर सकती हैं। बहमनी राज्य के पतन के पश्चात् जब दक्षिण मे पाँच राज्य बने तो उर्दू को उन्नति करने का और अवसर मिला। जनता से संपर्क रखने के लिये बादशाहों ने भी उर्दू को ही मुख्य स्थान दिया। गोलकुंडा और बीजापुर मे साहित्य और कला कौशल की उन्नति हुई। दिल्ली से नाता तोड़ने और अपनी स्वाधीनता प्रकट करने के लिये उन्होंने फ़ारसी के विरुद्ध इस देशी भाषा को अपनाया और साहित्यकारों का साहस बढ़ाया। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी सुविख्यात रचना 'नौरस' १६वीं शताब्दी के अंत मे प्रस्तुत की। इसमें ब्रज और खड़ीबोली का मेल है, फारसी अरबी के शब्द भी बीच बीच मे आ जाते हैं। परंतु इसका पूरा ढाँचा एकमात्र हिंदुस्तानी है। इसके समस्त गीत भारतीय संगीत के आधार पर लिखे गए हैं। इसकी भूमिका फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'जहूरी' ने फारसी में लिखी जो 'सेहनस्र' (तीन गद्य) के नाम से आज भी महत्व रखती है। बीजापुर के अन्य दूसरे बादशाह भी स्वयं कवि और कवियों के संरक्षक थे। इनमे 'आतशी', 'मुक़ीमी', 'अमीन', 'रुस्तमी', 'ख़ुशनूद', 'दौलतशाह' के नाम स्मरणीय हैं। बीजापुर के अंतिम दिनों मे उर्दू का महान् कवि 'नुसरती' पैदा हुआ जिसने शृंगार और वीर रस में श्रेष्ठ कविताएँ लिखीं।

बीजापुर की ही भाँति गोलकुंडा में भी बादशाह और जनता सब अधिकतर उर्दू ही मे लिख रहे थे। मुहम्मद क़ुली कुतुबशाह (मृ० १६११ ई०) स्वयं उर्दू, फारसी और तेलुगु मे कविताएँ लिखता और कवियों को प्रोत्साहन देता था। उसके काव्यसंग्रह में भारत के मौसमों, फलों, फूलों, चिड़ियों और त्यौहारों का विचित्र वर्णन मिलता है। उसके बाद जो और बादशाह हुए वे भी अच्छे कवि हुए और उनके संग्रह भी विद्यमान हैं। प्रसिद्ध कवियों और लेखकों में 'वजही', 'गौव्वासी', 'इब्ने निशाती' 'गुलामअली' इत्यादि महत्व रखते हैं। इस प्रकार दक्षिण में उर्दू के इस पहले साहित्यिक रूप ने कुछ ऐसी रचनाओं को जन्म दिया जो साहित्य और चिंतन दोनों की दृष्टि से सराहनीय है। इन रचनाओं में कुलियाते क़ुली-कुतुबशाह, क़ुतुब मुशतरी (वजही), सबरस (वजही), फूलबन (इब्ने-निशाती), सैफ़ुल-मुलूक व बदीउल जमाल (ग़ौव्वासी), मनोहर मधुमालती (नुसरती), चंद्रबदन व महयार (मुक़ीमी) इत्यादि उर्दू की श्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जाती हैं।

१७वीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व उर्दू गुजरात, अरकाट, मैसूर और मद्रास में पहुँच चुकी थी। गुजरात में इसकी उन्नति अधिकतर सूफ़ी कवियों के हाथों हुई जिनमें शेख़ बाजन, शाहअलीज्यू और ख़ूब मुहम्मद चिश्ती की रचनाएँ बहुत महत्व रखती हैं।

क्योंकि उर्दू की परंपराएँ बन चुकी थीं और लगभग ३०० वर्षों में उनका संगठन भी हो चुका था इसलिये जब सन् १६८७ ई० में मुग़लों ने दक्षिण को अपने राज्य मे मिला लिया तब भी उर्दू साहित्य के सोते नहीं सूखे बल्कि काव्यरचना ने और तीव्र गति से उन्नति की। १७वीं शताब्दी के अंत और १८वीं शताब्दी के आरंभ मे 'वली' दक्किनी (१७०७ ई०), 'बहरी', 'वजही', 'वली' वेलोरी, 'सिराज' (१७६३ ई०), 'दाऊद', और 'उजलत' जैसे कवियों ने जन्म लिया। इनमे भी 'वली' दक्किनी, 'बहरी' और 'सेराज' की गणना उर्दू के बहुत बड़े कवियों में होती है। 'वली' को तो उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि दिल्ली की बोलचाल की भाषा उर्दू थी परंतु फारसी के प्रभाव से वहाँ के पढ़े लिखे लोग अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ फारसी से ही पूरी करते थे। वे समझते थे कि उर्दू से इनकी पूर्ति नहीं हो सकती। 'वली' और उनकी कविता के उत्तरी भारत में पहुँचने से यह भ्रम दूर हो गया और सहसा उत्तरी भारत की साहित्यिक स्थिति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। थोड़े ही समय में दिल्ली सैकड़ों उर्दू कवियों की वाणी से गूँज उठी।

अब उर्दू के दिल्ली स्कूल का इतिहास आरंभ होता है। यह बात स्मरणीय है कि यह सामंत काल के पतन का युग था। मुग़ल राज केवल अंदर से ही दुर्बल नहीं था वरन् बाहर से भी उसपर आक्रमण होते रहते थे। इस स्थिति से जनता की बोलचाल की भाषा ने लाभ उठाया। अगर राज्य प्रबल होता तो न नादिरशाह दिल्ली को लूटता और न फ़ारसी की जगह जनता की भाषा मुख्य भाषा का स्वरूप धारण करती। इस समय के कवियों में 'ख़ान आरज़ू', 'आबरू', 'हातिम' (१७८३ ई०), 'यकरंग', 'नाजी', 'मज़मून', 'ताबाँ' (१७४८ ई०) 'फ़ुग़ाँ' (१७७२ ई०), 'मजहर जानजानाँ', 'फ़ायेज' इत्यादि उर्दू साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। दक्षिण में प्रबंध काव्यों और मरसियों (शोक कविताओं) की उन्नति हुई थी, दिल्ली में ग़ज़ल का बोलबाला हुआ। यहाँ की प्रगतिशील भाषा हृदय के सूक्ष्म भावों को प्रकट करने के लिये दक्षिणी भाषा की अपेक्षा अधिक समर्थ थी इसलिये ग़ज़ल की उन्नति स्वाभाविक जान पड़ती है। यह बात भी याद रखने योग्य है कि इस समय की कविताओं में शृंगार रस और भक्ति के विचारों को प्रमुख स्थान मिला। सैकड़ों वर्ष के पुराने समाज की बाढ़ रुक गई थी और जीवन के सामने कोई नया लक्ष्य नहीं था इसलिये इस समय की कविता में कोई शक्ति और उदारता नहीं दिखलाई पड़ती। १८वीं शताब्दी के समाप्त होने से पहले एक ओर नई नई राजनीतिक शक्तियाँ सिर उठा रही थीं जिससे मुग़ल राज्य निर्बल होता जा रहा था, दूसरी ओर वह सभ्यता अपनी परंपराओं की रोगी सुंदरता की अंतिम बहार दिखा रही थी। दिल्ली में उर्दू कविता और साहित्य के लिये ऐसी स्थिति पैदा हो रही थी कि उसकी पहुँच राजदरबार तक हो गई। मुग़ल बादशाह शाहआलम (१७५६–१८०६ ई०) स्वयं कविता लिखते थे और कवियों को आश्रय देते थे। इस युग मे जिन कवियों ने उर्दू साहित्य का सिर ऊँचा किया, वे हैं 'मीर दर्द' (१७८४ ई०), 'मिर्ज़ा सौदा' (१७८५ ई०), मीर तक़ी 'मीर' (१८१० ई०) और 'मीर सोज़'। इनके विचारों की

गहराई और ऊँचाई, भाषा की सुंदरता तथा कलात्मक निपुणता प्रत्येक दृष्टि से सराहनीय है। 'दर्द' ने सूफ़ी विचार के काव्य में, 'मीर' ने गजल में और 'सौदा' ने लगभग समस्त क्षेत्रों में उर्दू कविता की सीमाएँ विस्तृत कर दी।

परंतु दिन बहुत बुरे आ गए थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का दबाव बढ़ता जा रहा था और दिल्ली का राजसिंहासन डावाँडोल था। विवश होकर शाह आलम ने अपने को कंपनी की रक्षा मे दे दिया और पेंशन लेकर दिल्ली छोड़ प्रयाग में बंदियो की भाँति जीवन बिताने लगे। इसका फल यह हुआ कि बहुत से कवि और कलाकार अन्य स्थानो को चले गए। इस समय कुछ नए नए राजदरबार स्थापित हो गए थे, जैसे हैदराबाद, अवध, अजीमाबाद (पटना), टाँडा, फर्रुखाबाद इत्यादि। इनकी नई ज्योति और जगमगाहट ने बहुत से कवियों को अपनी ओर खीचा। सबसे अधिक आकर्षक अवध का राजदरबार सिद्ध हुआ, जहाँ के नवाब अपने दरबार की चमक दमक मुगल दरबार की चमक दमक से मिला देना चाहते थे। दिल्ली की स्थिति खराब होते ही 'फ़ुगाँ', 'सौदा', 'मीर', 'मीर हसन' (१७८७ ई०) और कुछ समय बाद 'मुसहफ़ी' (१८२५ ई०), 'इंशा' (१८१७ ई०), 'जुरअत' और अन्य कवि अवध पहुँच गए और वहाँ काव्यरचना का एक नया केंद्र बन गया जिसको 'लखनऊ स्कूल' कहा जाता है।

सन् १७७५ ई० मे लखनऊ अवध की राजधानी बना। उसी समय से यहाँ फारसी अरबी की शिक्षा बड़े पैमाने पर आरंभ हुई और अवधी के प्रभाव से उर्दू में एक नई मिठास उत्पन्न हुई। क्योकि यहाँ के नवाब शिया मुसलमान थे और वह शिया धर्म की उन्नति और शोभा चाहते थे, इसलिये यहाँ की काव्य-रचना मे कुछ नई प्रवृत्तियाँ पैदा हो गईं जो लखनऊ की कविता को दिल्ली की कविता से अलग करती है। उर्दू साहित्य के इतिहास में दिल्ली और लखनऊ स्कूल की तुलना बड़ा रोचक विषय बनी रही है; परंतु सच यह है कि सामंती युग की पतनशील सीमाओं के अंदर दिल्ली और लखनऊ में कुछ बहुत अंतर नही था। यह अवश्य है कि लखनऊ में भाषा और जीवन के बाह्य रूप पर अधिक जोर दिया जाता था और दिल्ली मे भावों पर। परंतु वस्तुतः दिल्ली की ही साहित्यिक परंपराएँ थी जिन्होंने लखनऊ की बदली हुई स्थिति में यह रूप धारण कया। यहाँ के कवियों में 'मीर', 'मीर हसन', 'सौदा', 'इशा', 'मुसहफ़ी' 'जुरअत', के पश्चात् 'आतिश' (१८४७ ई०), 'नासिख़' (१८३८ ई०), 'अनीस' (१८७४ ई०), 'दबीर' (१८७५ ई०), 'वजीर', 'नसीम', 'रश्क', 'रिंद' और 'सबा' ऊँचा स्थान रखते है। लखनऊ मे मरसिया और मसनवी को विशेष रूप से उन्नति करने का अवसर मिला।

लखनऊ और दिल्ली स्कूलों के बाहर भी साहित्यरचना हो रही थी और ये रचनाएँ राजदरबारो क प्रभाव से दूर होने के कारण जनसाधारण के भावों के निकट थी। इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण नाम 'नजीर' अकबराबादी का है। उन्होंने रुढ़िवादी विचारों से नाता तोड़कर हिंदुस्तानी जनता के दिलों की धड़कने अपनी कविताओ में बंद कीं। उनकी शैली और विचारधारा दोनो में भारतीय जीवन की सरलता और उदारता मिलती है।

पश्चिमी संपर्क के फलस्वरूप १९वीं शताब्दी के मध्य में भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की तरह उर्दू में भी नई चेतना का आरंभ हो गया और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनो के कारण नई विचारधारा का उद्भव हुआ। किंतु इससे पहले दिल्ली की मिटती हुई सामंती सभ्यता ने 'ज़ौक़' (१८५२ ई०), 'मोमिन' (१८५५ ई०), 'ग़ालिब', (१८६९ ई०), 'शेफ़ता' (१८६९) और 'जफ़र' जैसे कवियों को जन्म दिया। इनमें विशेष रूप से ग़ालिब की साहित्यिक रचनाएँ उस जीवन की शक्तियों और त्रुटियों दोनों को प्रतीक है। उनकी महत्ता इसमे है कि उन्होंने अपनी कविताओं मे हार्दिक भावों और मानसिक स्थितियों, दोनों का समन्वय एक विचित्र शैली मे किया है।

उर्दू गद्य का विकास नए युग से पहले ही हो चुका था परंतु उसकी उन्नति १९वीं शताब्दी में हुई। दक्षिण मे 'मेराजुल आशिक़ीन' और 'सबरस' (१६३४ ई०) के अतिरिक्त कुछ धार्मिक रचनाएँ मिलती है। उत्तरी भारत में 'तहसीन' की 'नौ तरज़े मुरस्सा' (१७७५ ई०) का नाम लिया जा सकता है। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिये फोर्ट विलियम कालेज (१८०० ई०) स्थापित किया और गद्य में कुछ पुस्तकें लिखवाईं जिसके फलस्वरूप उर्दू गद्य की उस नई शैली का विकास हुआ जो ५० वर्ष बाद पूर्णतया प्रचलित हुई। यहाँ की रचनाओं में मीर अम्मन की 'बाग़ोबहार', हैदरी की 'आराइशे महफ़िल', अफ़सोस की 'बाग़े उर्दू' विला की 'बेताल पचीसी', जवान की 'सिंहासन बत्तीसी', निहालचंद की 'मजहबे इश्क़' उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। १९वी सदी के आरंभ में ही 'इंशा' ने 'रानी केतकी की कहानी' और 'दरियाए लताफ़त' लिखी थीं। लखनऊ में सबसे महत्वपूर्ण और कथासाहित्य में सुविख्यात पुस्तक 'फ़िसानए अजायब' १८२४ ई० में लिखी गई; इसके लेखक रजब अली बेग 'सुरूर' है। अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के कारण नए पाठ्यक्रम बन रहे थे। इसके लिये १८४२ ई० में देहली कालेज में 'वर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई जहाँ रामायण, महाभारत, लीलावती, धर्म-शास्त्र इत्यादि के अतिरिक्त विभिन्न विषयों की लगभग १५० पुस्तकों के उर्दू अनुवाद हुए। इस प्रकार उर्दू गद्य भी उन्नति करता रहा और इस योग्य हुआ कि नई चेतना का साथ दे सके।

उर्दू साहित्य में नवजागृति के वास्तविक चिह्न १८५७ के विद्रोह के बाद ही से मिलते हैं। इसके ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण स्पष्ट हैं। इन कारणों से जो नई चेतना उत्पन्न हुई उसी ने नए कवियों और साहित्यकारों को नई स्थिति के अनुकूल लिखने का अवसर दिया। इसमें सबसे पहला नाम सर सैयद (१८१७–१८९७ ई०) का लिया जा सकता है। उन्ही के नेतृत्व में हाली, (१८३७–१९१४ ई०), आजाद (१८३३–१९१० ई०), नज़ीर अहमद (१८३४–१९१२ ई०) और शिब्ली (१८५७–१९१४ ई०) ने उर्दू गद्य और पद्य में महान् रचनाएँ कीं और अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने साहित्य को समय के अनुकूल बनाया। मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद नई उर्दू कविता के निर्माता थे। वे दिल्ली कालेज में अपने विद्यार्थी जीवन में यूरोपीय विद्वानों और साहित्य से प्रभावित हो चुके थे। लाहौर में उन्होंने शिक्षा विभाग के अधिकारियो के सहयोग से 'अंजुमने पंजाब' की स्थापना की और १८६७ ई० में उसकी एक सभा में व्याख्यान देते हुए उन्होंने उर्दू कविता की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि कविता को मानव जीवन और प्रकृति के सभी अंगों पर प्रकाश डालना चाहिए जो दुर्भाग्यवश अभी तक उर्दू कविता में नहीं हो सका। हमें अब पुरानी लकीर पीटने के बजाय नए वातावरण की समस्याओं को चिंतन और काव्य का विषय बनाना चाहिए। इन्ही विचारों के फलस्वरूप उर्दू कविता में नई शायरी का निर्माण हुआ और बाद के अधिकतर महान् कवि इसी से प्रभावित हुए। बहुत से छापेखाने खुल गए थे, पत्र पत्रिकाएँ निकल रही थीं, नए पुराने का संघर्ष चल रहा था, इसलिये इन लोगों को अपने नए विचार प्रकट करने और उन्हें फैलाने में बड़ी सुविधा हुई। इसी युग में 'सरशार', 'शरर' और मिर्जा रुसवा का नाम भी लिया जा सकता है, जिन्होंने उपन्यास साहित्य में बहुमूल्य वृद्धि की। इस युग को हर प्रकार से आलोचना का युग कहा जा सकता है; जो कुछ लिखा जा रहा था उसको इतिहास अपनी कसौटी पर परख रहा था। इन महान् लेखकों ने आलोचना, निबंध, उपन्यास, जीवनी, कविता के रूप में जो कुछ लिखा है वही आज के नए साहित्य का आधार है। इस युग की महानता यह है कि साहित्यकार ही नवचेतना के अग्रदूत और नेता बन गए थे। राजनीतिक दृष्टि से ये लोग क्रांतिकारी नहीं थे, किंतु इन्हीं की विचारधारा ने बाद के लेखकों को प्रेरणा दी।

२०वी सदी का आरंभ होने से बहुत पहले राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो चुकी थी और उसकी झलक इन साहित्यकारों की कृतियों में भी मिल जाती है; परंतु इसका पूरा विकास 'इक़बाल' (१८७३–१९३८ ई०), 'चकबस्त' (१८८२–१९२६), 'प्रेमचंद' (१८८०–१९३६ ई०), इत्यादि की कविताओं और लेखों में हुआ। यह भी याद रखना चाहिए कि इसी के साथ साहित्य की पुरानी परंपराएँ भी चल रही थीं और 'अमीर' (१८९९), 'दाग़' (१९०५), 'जलाल' (१९१०) और दूसरे कवि भी अपनी गजलों से पढनेवालों को मोहित कर रहे थे। किसी न किसी रूप में यह धारा अब तक चली जा रही है। इस शताब्दी के उल्लेखनीय कवियों में 'सफ़ी', दुर्गासहाय 'सुरूर', 'साक़िब', 'महशर', 'अज़ीज़', 'रवाँ',

'हसरत', 'फ़ानी', 'जिगर', 'असर' और लेखकों में हसन निज़ामी, राशिदुल ख़ैरी, सुलैमान नदवी, अब्दुलहक़, रशीद अहमद, मसूद हसन, मौलाना आज़ाद और आबिदहुसेन हैं।

वर्तमान काल में साहित्य की सीमाएँ और विस्तृत हुई हैं और हर विचार के लेखक अपने अपने ढंग से उर्दू साहित्य को दूसरे साहित्यों के बराबर लाने में लगे हुए हैं। कवियों में 'जोश', 'फ़िराक़', 'फ़ैज', 'मजाज', 'हफ़ीज', 'सागर', 'मुल्ला', 'रविश', 'सरदार', 'जमील' और 'आज़ाद' के नाम उल्लेखनीय हैं, तो गद्य में कृष्णचंद्र, 'अश्क', हुसेनी, 'मिंटो', हायतुल्लाह, इसमत, अहमद नदीम, ख्वाजा अहमद अब्बास अपना महत्व रखते हैं। २०वीं शताब्दी में आलोचना साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। इसमें नियाज़, फिराक़, जोर, कलीम, मजनूँ, सुरूर, एहतेशाम हुसैन, एजाज हुसैन, मुमताज़ हुसैन, इबादत इत्यादि ने बहुत सी बहुमूल्य पुस्तकें लिखीं।

२०वीं शताब्दी में साहित्यिक स्कूलों के झगड़े समाप्त होकर विचारधाराओं के आधार पर साहित्यरचना होने लगी थी। अंग्रेजी साहित्य और शिक्षा के प्रभाव से छायावादी कविता को बढ़ावा मिला। फिर प्रजातंत्र और राष्ट्रीयता की भावना ने प्रगतिशील आंदोलन को जन्म दिया जो १९३६ ई० से आरंभ होकर किसी न किसी रूप में अब तक चल रहा है। इस बीच में 'मार्क्स' और 'फ़ायड' ने भी लेखकों को भिन्न भिन्न समूहों में बाँटा। कुछ लेखक मुक्त छंद में भी कविताएँ लिखने लगे, किंतु इस प्रकार के समस्त प्रयोग अभी तक अपनी जड़ें बहुत गहरी नहीं कर सके हैं।

समकालीन उर्दू साहित्य में नई काव्यरचना प्रयोगवाद, स्पष्टवाद, प्रतीकवाद और निरुद्देश्यवाद से बहुत प्रभावित हो रही है। नई कविता जीवन के सभी मूल्यों का बहिष्कार करती है क्योंकि नए कवि सामाजिक चेतना को काव्यरचना में बाधक मानते हैं। इसके अतिरिक्त नए कवि अपने व्यक्तित्व को सिद्ध करने के लिये भाषा, विचार, कला और साहित्य के सभी नियमों को तोड़ना आवश्यक समझते हैं। कुछ लोग इसी को विचार-स्वतंत्रता का नाम भी देते हैं, किंतु यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हो सकी कि नई कविता लिखनेवाले एक ओर तो साहित्य और कला की सभी परंपराओं से अपना नाता तोड़ रहे हैं और दूसरी ओर वे अपनी विचारधारा को यूरोप और अमरीका के कुछ दार्शनिकों, लेखकों और कवियों की विचारधारा से मिलाने की अनथक चेष्टा कर रहे हैं। यह आधुनिकता उर्दू कहानी और उपन्यास को भी प्रभावित कर रही है। नई कविता, कहानी और उपन्यास को साहित्य के इतिहास में क्या स्थान मिलेगा, इस समय इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

सं०ग्रं०—(अंग्रेजी) ग्रैहम बेली : उर्दू लिटरेचर; एस० एम० अब्दुल्ला : स्पिरिट ऐंड सब्सटैंस ऑव उर्दू प्रोज ऐंड दि इन्फ़्लुएंस ऑव सर सय्यद; ए० लतीफ़ : इन्फ़्लुएंस ऑव इंग्लिश ऑन उर्दू लिटरेचर; अब्दुलक़ादिर : फेमस उर्दू पोएट्स ऐंड राइटर्स; रामबाबू सक्सेना : हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर; (उर्दू) मुहम्मद हुसेन आजाद : आबे-हयात; शमशुल्लाह क़ादिरी : उर्दू-ए-क़दीम; सैय्यद जामिन अली : उर्दू ज़बान व अदब; गार्सां द तासी : खुतबाते गार्सां द तासी; अब्दुल-क़ादिर सरवरी : जदीद उर्दू शायरी; रामबाबू सक्सेना : तारीख़े अदब उर्दू (अनुवादक, मिर्जा मुहम्मद असकरी); अली सरदार जाफ़री : तरक्की पसंद अदब; हामिद हसन क़ादिरी : दास्ताने तारीख़े उर्दू; नसीरउद्दीन हाशमी : दकन में उर्दू; नूरुलहसन हाशमी : दिल्ली का दबिस्ताने शायरी; नसीरुद्दीन हाशमी : मदरास में उर्दू; अब्दुलहक : मुक़दमाते अब्दुलहक़ (दो भाग); अब्दुल लैस सिद्दीक़ी : लखनऊ का दबिस्ताने शायरी; एहतेशाम हुसेन : हिंदुस्तानी लसानियात का खाक़ा।
(सै० ए० हु०; हु० चं० न०)

उर्फ़ी शीराज़ी शीराज निवासी, उर्फ़ी का नाम मुहम्मद, उपाधि जमालुद्दीन तथा तखल्लुस 'उर्फ़ी' था। उसका जन्म ९६४ हि० (१५५७ ई०) अथवा ९६३ हि० (१५५६ ई०) में हुआ। उसका पिता जैनुद्दीन बलवी शीराज में एक उच्च पद पर नियुक्त था। उसने तत्कालीन प्रचलित ज्ञानों के साथ साथ चित्रकला की भी शिक्षा प्राप्त की और अपने पिता के उच्च पद के अनुरूप अपना तख़ल्लुस उर्फ़ी रखा। २० वर्ष की अवस्था में ही चेचक के कारण कुरूप हो जाने पर भी उसके पिता के उच्च पद एवं उसकी प्रतिभा ने उसे स्वाभिमानी बना दिया था। परिणामस्वरूप युवावस्था में ही अपने समकालीन प्रसिद्ध ईरानी कवियों से टक्कर लेने के कारण उसे ईरान त्यागकर भारतवर्ष आना पड़ा। उस समय केवल अकबर का ही दरबार विदेशी कलाकारों को आकर्षित नहीं करता था अपितु अकबर के उच्च पदाधिकारी भी कलाकारों को आश्रय देने में ईरान के शाह तहमास्प सफ़वी (शासनकाल १५२४ ई०—१५७६ ई०) एवं शाह अब्बास सफ़वी (शासनकाल १५८८ ई०—१६२९ ई०) से कम न थे। उन लोगों की सहृदयता ने उसे भारतगमन के लिये प्रेरित किया और समुद्र के मार्ग से १५८५ ई० में अहमदनगर और वहाँ से १० मार्च, १५८५ ई० को फ़तहपुर सीकरी पहुँचा जहाँ अकबर के दरबार के प्रसिद्ध कवि शेख अबुल फ़ैज़ 'फ़ैज़ी' के सेवकों में संमिलित हो गया और उन्हीं के साथ नवंबर, १५८५ ई० में अकबर के शिविर में अटक पहुँचा। कुछ समय उपरांत वह अकबर के एक अन्य अमीर मसीहुद्दीन हकीम अबुल फ़तह का आश्रित हो गया। १५८९ ई० में हकीम की मृत्यु हो गई और वह अब्दुर्रहीम खानखाना के आश्रितों में संमिलित हो गया। फारसी के सभी प्रसिद्ध कवि खानखाना के दरबार की शोभा थे, फलतः उर्फ़ी की कला को क्रमशः और अधिक परिमार्जित तथा उन्नत होने का अवसर मिलता रहा। खानखाना उसके प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित करता था। बाद में वह अकबर के दरबारी कवियों में संमिलित हो गया। शाहज़ादा सलीम से, जो जहाँगीर के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ, उसे बड़ा प्रेम था। किंतु उर्फ़ी अधिक दिनों जीवित न रहा। शव्वाल, ९९९ हि० (१ अगस्त, १५९१ ई०) में ३५ अथवा ३६ वर्ष की अल्पावस्था में आमातिसार के कारण लाहौर में उसकी जीवनलीला का अंत हो गया।

भारतवर्ष में भी उसके स्वाभिमान में कोई कमी न हुई। उसकी कुशाग्र बुद्धि, वाक्पटुता एवं व्यंगप्रियता ने लोगों को उससे रुष्ट कर दिया था। यद्यपि उसकी असामयिक मृत्यु के कारण उसकी प्रतिभा का पूर्ण विकास न हो सका, तथापि कवि के रूप में उसने अपने जीवनकाल में ही ईरान तथा भारतवर्ष दोनों में लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उसकी अधिक प्रसिद्धि का कारण उसके कसीदे थे जिनकी जोरदार भाषा, नवीन तथा मौलिक वाक्यांशों की रचना, प्रकरणों की क्रमबद्धता तथा नए अलंकारों एवं नवीन उपमाओं ने उसे एक नई रचनाशैली का आविष्कारक बना दिया। उर्फ़ी की गजलों को अधिक प्रसिद्धि न प्राप्त हो सकी किंतु उसको अपनी गजलों पर ही गर्व था। गजलों में दार्शनिक विचारों तथा उच्च आदर्शों की काव्यमय अभिव्यक्ति उसकी रचना की मुख्य विशेषता है। उसके स्वतंत्र भावप्रकाशन एवं उसकी धार्मिक उदारता ने उसकी गजलों को बड़ा रोचक बना दिया है।

उसकी रचनाएँ सर्वप्रथम १५८७-८८ ई० में संकलित हुईं। इस संकलन में २६ कसीदे, २७० गजलें एवं ३२० शेरों के क़ितआत तथा ३८० शेरों की रुबाइयाँ थीं। उसने कुछ मसनवियों तथा सूफ़ी मत के आत्मा-संबंधी सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए 'नफ़सिया' नामक गद्य की एक पुस्तक की भी रचना की थी।

सं० ग्रं०—(फारसी) अबुल फ़ज़ल : आईने अकबरी, भाग १ (कलकत्ता, १८७३ ई०); अकबरनामा, भाग ३ (कलकत्ता, १८८६ ई०); अब्दुल बाक़ी निहावंदी : मआसिरे रहीमी, भाग ३ (कलकत्ता, १९२७ ई०); अलाउद्दौला क़ज़वीनी : नफ़ायसुल मआसिर, रज़ा पुस्तकालय, (रामपुर, हस्तलिपि); बदायूनी, अब्दुल क़ादिर : मुनतख़बुत्तवारीख़ भाग २, ३ (कलकत्ता, १८६९ ई०); फ़ैज़ी, शेख़ अबुल,—लताइफ़े फ़ैज़ी (लखनऊ विश्वविद्यालय, हस्तलिपि); औहदी, तक़ी : अरफ़ात (खुदाबख़्श लाइब्रेरी, पटना); (उर्दू) शिबली नोमानी : शेरुल अजम (आज़मगढ़, १९४५ ई०); (अंग्रेजी) मुहम्मद अब्दुल गनी : ए हिस्ट्री ऑव पर्शियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐट द मुग़ल कोर्ट (भाग ३, इलाहाबाद, १९३० ई०)।
(सै० अ० अ० रि०)

उर्मिला सीरध्वज जनक की कन्या और सीता की छोटी बहन। वे लक्ष्मण की पत्नी थीं जिनका प्रेम और आत्मत्याग सराहनीय था। लक्ष्मण के राम का अनुगमन करने पर उर्मिला को कुछ कम नहीं सहना पड़ा। अंगद और धर्मकेतु उनके पुत्र थे जिन्होंने आंगदि एवं लक्ष्मणावती नगर बसाए। साहित्य में उनकी उपेक्षा की ओर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'काव्येर उपेक्षिता' में संकेत किया था। पिछले काल के हिंदीकाव्य में उर्मिला का बारंबार उल्लेख हुआ है। (चं० म०)

उर्वरक द्र० 'खाद और उर्वरक'।

उर्वशी एक नितांत रूपसी अप्सरा। उर्वशी का कथानक ऋग्वेद (१०।७५) तथा शतपथ ब्राह्मण में विस्तार के साथ निबद्ध है। श्रीमद्भागवत (११।४), विष्णुपुराण तथा पद्मपुराण (अवंति खंड, अ० ८) आदि पुराणों में यही कथा कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है। पुराणों का कहना है कि बदरिकाश्रम में तपस्या करनेवाले नरनारायण ऋषि की उग्र तपस्या को भंग करना उर्वशी के अलौकिक सौंदर्य तथा पराक्रम का एक बहुशः स्तुत्य कार्य था। परंतु वेदों में उर्वशी का संबंध राजा पुरुरवा के साथ अमिट रूप से निश्चित किया गया है।

उर्वशी और पुरुरवा का आख्यान वेदयुग की एक रोमांचक प्रणयगाथा है। दिव्य होने पर भी उर्वशी ने राजा पुरुरवा के साथ प्रणयपाश में बद्ध पृथ्वीतल पर रहना अंगीकार किया था, परंतु इसके लिये राजा को तीन शर्तें माननी पड़ी थीं कि वह सदा घृत का ही आहार किया करेगी, उसके प्यारे दोनों मेष सदा उसकी चारपाई के पास बँधे रहेंगे, जिससे कोई उन्हें चुरा न सके। तीसरी बात तो सबसे विकट थी कि यदि वह किसी भी अवस्था में राजा को नग्न देख लेगी, तो वह एक क्षण में वहाँ से गायब हो जायगी। पुरुरवा ने इन्हें स्वीकार कर लिया और दिव्य प्रेयसी के संग आनंदविभोर होकर अपना जीवन बिताने लगा, परंतु गंधर्वों को उर्वशी की अनुपस्थिति में स्वर्ग नीरस तथा निर्जीव प्रतीत होने लगा। फलतः उन लोगों ने उन शर्तों को तोड़ डालने के लिये एक छल की रचना की। रात के समय उन्होंने उर्वशी के पास से एक मेष को चुरा लिया। मेष की करुणाजनक बोली सुनते ही उर्वशी ने चोर को पकड़ने के लिये राजा को ललकारा, जो तुरंत ही आकाश में मेष की रक्षा के लिये दौड़ पड़ा। उसी समय गंधर्वों ने बिजली चमका दी। राजा का नग्न शरीर उर्वशी के सामने स्पष्ट ही प्रकट हो गया। वह राजा को छोड़कर बाहर निकल पड़ी। राजा उसके विरह में विषण्ण होकर पागल की तरह भूमंडल में घूमने लगा। अंततोगत्वा कुरुक्षेत्र के एक जलाशय में उसने हंसियों को पानी पर तैरते हुए देखा और उनमें हंसी का रूप धारण करनेवाली अपनी प्रेयसी को पहचाना। उससे लौट आने की विनम्र प्रार्थना की, परंतु उर्वशी किसी प्रकार भी राजा के पास लौट आने के लिये तैयार नहीं हुई। राजा की दयनीय दशा देखकर गंधर्वों के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न हुई और उन्होंने उसे अग्नि विद्या का उपदेश दिया जिसके अनुष्ठान से उसे उर्वशी का अविच्छिन्न समागम प्राप्त हुआ। इसी कथा को कुछ भेद के साथ कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशी' का आधार बनाया। (ब० उ०)

उर्स मुसलमानों के मतानुसार किसी फकीर, महात्मा, पीर आदि के मरने के दिन का कृत्य या उत्सव। इस दिन संबंधित फकीर या पीर की दरगाह की सफाई करके उसे सजाया जाता है और मुसलमान लोग नमाज पढ़ने के बाद उसपर चिराग जलाते या चादरें चढ़ाते हैं। पश्चात् वहाँ संगीत का कार्यक्रम रखा जाता है। भारत में अजमेर और पिरानकलियर के उर्स बहुत प्रसिद्ध हैं जहाँ देश भर के कव्वाल तथा गायक गायिकाएँ आती हैं और अपने संगीत से उपस्थित जनसमुदाय का मनोरंजन करती हैं। (कै० चं० श०)

उलटवाँसी सीधे सीधे न कहकर, घुमा फिराकर या उलटकर कविता माध्यम से कही हुई बात अथवा व्यंजना। संतों और विशेष रूप से कबीर ने अनेक उलटवाँसियों की रचना की है जिन्हें लेकर ऐतिहासिक दृष्टि एवं संतमानस की ठीक ठीक समझ के अभाव के कारण न केवल भारी भ्रम फैला है, अपितु काफी विवाद भी हुआ है।

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल (हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, प्रथम संस्करण, पृ० ३७०-७१) के मत से आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी कभी परस्पर विरोधी उक्तियों द्वारा (अपना मनोगत) व्यक्त करने का ढंग अपनाना पड़ता है, जैसे चंद्रविहीन चाँदनी, सूर्यविहीन सूर्यप्रकाश आदि और इसके आधार पर ऐसे गूढ़ प्रतीकों की सृष्टि हो जाती है जिन्हें 'उलटवाँसी' या 'विपर्यय' कहते हैं। जब सत्य की अभिव्यक्ति बिना इन परस्पर विरोधी कथनों के सहारे नहीं हो पाती तो उसे आवश्यक सत्याभास कह सकते हैं। किंतु कभी कभी इन उलटवाँसियों का प्रयोग अर्थ को जान बूझकर छिपाने के लिये भी हुआ करता है जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यों का पता अयोग्य व्यक्तियों को न लगने पाए। ऐसी उलटवाँसियों को जान बूझकर रची गई उलटवाँसियाँ कह सकते हैं। साधारण प्रकार से आध्यात्मिक साधनाओं को ही ऐसी उलटवाँसियों में स्पष्ट किया जाता है। उक्त पहले प्रकार की उलटवाँसियाँ सांकेतिक होती हैं जहाँ दूसरी का स्वरूप रहस्यमय हुआ करता है। इसमें संदेह नहीं कि सांकेतिक उलटवाँसियों में उच्च श्रेणी का काव्य रहा करता है। किंतु गुह्य उलटवाँसियाँ स्वभावतः काव्यगत सौंदर्य से हीन हुआ करती हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (कबीर, तृतीय संस्करण, पृ० ८०-८१) के मतानुसार संतों पर योगियों का व्यापक प्रभाव था और योगियों की अद्भुत क्रियाएँ साधारण जनता के लिये आश्चर्य तथा श्रद्धा का विषय थीं। योगियों का अपने विषय में कहना था कि वे तीन लोक से न्यारे हैं। सारी दुनिया भ्रम में उलटी बही जा रही है। हठयोग के सिद्धांतों और व्यवहारों को माननेवाले लोग ही सही रास्ते पर हैं। गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह (सं० महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, काशी, १९२५, पृ० ५८-५९) के अनुसार एक योग संप्रदाय को छोड़कर शेष सभी मतों की बात उलटी है। नाथ का अंश नाद है और नाद का अंश है प्राण। दूसरी ओर शक्ति का अंश बिंदु है और बिंदु का अंश है शरीर। अतः स्पष्ट ही नाद और प्राण बिंदु तथा शरीर से अधिक महत्वपूर्ण हैं, अर्थात् पुत्रक्रम की अपेक्षा शिष्यक्रम अधिक मान्य है। परंतु दुनिया की रीत इससे उलटी है। वह पुत्रक्रम को प्रमुख मानती है और शिष्यक्रम को गौण। दुनिया के अनुसार क्रम है: धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश, ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि; यानी सब उलटा, इसलिये कि जो श्रेष्ठ है उसे पहले रखना चाहिए और जो अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठ है उसे बाद में। सही क्रम इससे बिलकुल उलटा होता है। यथा, मोक्ष-धर्म-अर्थ-काम, आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वी, शिव-विष्णु-ब्रह्मा आदि। फलस्वरूप योगी, तांत्रिक और संत (योगियों के प्रभाव के कारण) दुनिया से उलटी बात कहने लगे। काव्यबद्ध इन्हीं उलटी बातों को 'उलटवाँसी' की संज्ञा दी गई है।

लोक में गो-मांस-भक्षण महापाप है जबकि उलटवाँसी में 'गो' जिह्वा है और उसे तालु में उलटकर ब्रह्मरंध्र की ओर ले जाना 'गो-मांस-भक्षण' है। गंगा, यमुना और सरस्वती से सामान्यतः भारत की तीन नदियों का ज्ञान होता है जबकि उलटवाँसियों में गंगा इड़ा है, यमुना पिंगला और सरस्वती इड़ा पिंगला की मध्यवर्तिनी सुषुम्ना है जिसके अंदर स्थित कुंडलिनी नामक बालरंडा को जबर्दस्ती ऊपर उठा ले जाना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। एक उदाहरण के माध्यम से उलटवाँसियों को समझने में सहायता मिल सकती है:

> अवधू ऐसा ग्यान विचारै।
> भेरै बढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं ॥टेक॥
> ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।
> एक जेवड़ी सब लपटाँने, के बाँधे के छूटे ॥
> (कबीर ग्रंथावली, ना०प्र० सभा, ११वाँ संस्करण, पृ० ११०)

कबीर कहते हैं, 'हे अवधू! जो लोग नाव पर चढ़े (भिन्न भिन्न इष्टदेवों का आधार लेकर चले) वे समुद्र में डूब गए (संसार में ही लिप्त रहे), किंतु जिन्हें ऐसा कोई भी साधन न था वे पार लग गए (मुक्त हो गए)। जो बिना किसी मार्ग के चले वे नगर (परम पद) तक पहुँच गए,

किंतु जिन व्यक्तियों ने मार्ग (अंधविश्वासपूर्ण परंपराओं) का सहारा लिया, वे लूट लिए गए (उनके आध्यात्मिक गुणों का ह्रास हो गया)। सभी बंधन (माया) में बँधे हुए हैं, किसे मुक्त और किसे बद्ध कहा जाए। (कैं०चं०श०)

उलूपी ऐरावत नागवंश के कौरव्य नामक नाग की कन्या। इसका विवाह ऐरावत नाग के पुत्र से हुआ था जिसे विवाह के कुछ ही समय बाद गरुड़ ने मारकर खा लिया था और वह बालविधवा हो गई थी। प्रतिज्ञाभंग करने के कारण बारह वर्षीय प्रवास के बीच अर्जुन एक दिन तीर्थाटन करते हुए गंगाद्वार के निकट पहुँचा और गंगा में स्नान करने उतरा। उलूपी ने उसी समय अर्जुन को देखा और उसपर आसक्त हो गई। वह उसे पानी में खीचकर पाताललोक ले गई जहाँ अर्जुन ने, उसकी प्रार्थना स्वीकार कर, उससे गांधर्व विवाह कर लिया। उलूपी को अर्जुन से इरावान् नामक पुत्र हुआ। महाभारत युद्ध के पश्चात् पांडवों ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञाश्व के साथ अर्जुन मणिपुर के निकट पहुँचा तो चित्रांगदा से उत्पन्न उसका बभ्रुवाहन नामक पुत्र, जो अपने नाना, मणिपुर नरेश का उत्तराधिकारी था, स्वागत के लिये आया। अर्जुन ने इसपर उसकी भर्त्सना की, क्योंकि उसे अपने पुत्र से युद्ध की अपेक्षा थी न कि स्वागत की। उलूपी की प्रेरणा से बभ्रुवाहन ने अर्जुन से युद्ध किया और उसे मार डाला। वस्तुतः अर्जुन मरा नहीं था, भीष्म को शिखंडी की आड़ से मारने के कारण लगे शाप को निरस्त करने के लिये उलूपी ने मनोमुग्धकारिणी माया के योग से उसे मूर्छित कर दिया था। किंतु अपने इस अकार्य के लिये बभ्रुवाहन को इतना दुःख हुआ कि उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया। यह देख उलूपी ने संजीवनी मंत्र का चिंतन किया और नागों ने तत्काल उसे प्रस्तुत भी कर दिया। संजीवनी मंत्र के द्वारा उलूपी ने अर्जुन की मूर्छा दूर कर दी। पांडवों के महाप्रस्थान के समय उलूपी उनके साथ थी और इसने गंगा में देह त्यागी थी। (कैं० चं० श०)

उल्का वह पिंड है जो रात में आकाश में गिरते तारे के समान जान पड़ता है। इसका अधिकांश हमारे वायुमंडल में ही भस्म हो जाता है। जो अंश बचकर भूमि तक पहुँचता है उसे उल्कापिंड कहते हैं (द्र० उल्कापिंड)। प्राचीन चीनी साहित्य में उल्काओं की चर्चा कई स्थानों पर है। ऋग्वेद (४।४।२७; १०,६८,४), अथर्ववेद (१६, ६, ६), महाभारत आदि में भी उल्काओं की चर्चा है। यूरोप के प्राचीन साहित्य में भी कहीं कहीं इनका उल्लेख मिलता है। पहले यूरोप के वैज्ञानिक समझते थे कि उल्काएँ वायुमंडल में से ही गिरती है, परंतु सन् १८३३ से माना जाने लगा कि वे पृथ्वी के बाहर से आती हैं। सन् १८३३ के १३ नवंबर को उल्काओं की एक झड़ी लग गई। यह झड़ी पूर्वी उत्तर अमरीका से रात भर देखी गई। अनुमान किया गया कि दो लाख से ऊपर उल्काएँ गिरी। उनमें से अधिकांश बड़ी चमकीली थीं, परंतु भूमि तक संभवतः कोई भी उल्का नहीं गिर पाई; सब वायुमंडल में ही भस्म हो गई। कई लोगों ने देखा कि सब उल्काएँ आकाश के एक बिंदु से चलती हुई जान पड़ रही थीं। सभी उल्का झड़ियों और उल्का बौछारों में यह विशेषता देखी जाती है। आकाश के जिस बिंदु से उल्काएँ चलती जान पड़ती हैं उसको उल्कामूल (रेडियंट) कहते हैं। जिस तारामंडल में किसी उल्का झड़ी या बौछार का मूल रहता है उसी के अनुसार उस उल्का झड़ी का नाम पड़ जाता है। उदाहरणतः सिंहवाली (लिओनिड्स), वीणावाली (लायरिड्स), इत्यादि।

समझा जाता है, किसी एक बौछार की उल्काएँ समांतर रेखाओं पर चलती हैं, परंतु पर्स्पेक्टिव के नियमों के अनुसार वे एक बिंदु से—उल्का मूल से—फैलती हुई जान पड़ती हैं।

सिंहवाली उल्का बौछारें कई बार देखी जा चुकी हैं, साधारणतः ३३-३३ वर्षों के अंतर पर और सदा अक्टूबर या नवंबर मास में। देवयानीवाली उल्काएँ (ऐंड्रोमीड्स) भी कई बार देखी गई। उनके बारे में पता चला कि उनका प्रकाशमूल ठीक उसी मार्ग पर चलता था जिसपर बीला नामक धूमकेतु।

इनके अतिरिक्त उल्का बौछारों में वीणा, ययाति (पर्सियस) मृग (ओरायन) तथा मिथुन (जेमिनी) वाली उल्काएँ उल्लेखनीय हैं। वीणा की प्रमुख उल्काएँ २० अप्रैल, १८०३ और २१ अप्रैल, १६२२ को दिखाई पड़ी थीं, परंतु उल्काओं की बहुलता रहने पर भी उनमें चमक की कमी थी। ययातिवाली उल्काओं का समय प्रायः जुलाई के अंत से अगस्त के आरंभ तक है और इन्हीं को लेकर सर्वप्रथम यह सिद्ध किया गया है कि उल्कामूल में भी अन्य आकाशीय पिंडों के समान दैनिक गति होती है। मृग और मिथुन की उल्काओं के समय क्रमानुसार अक्टूबर के अंतिम पक्ष और दिसंबर के प्रथम पक्ष है। १६२६ ईसवी में जिआकोबिनी जीनर धूमकेतु से एक साधारण उल्का बौछार निकली और १६३३ ईसवी में इस बौछार का अवलोकन शताब्दी का सबसे प्रमुख दृश्य था जो साढ़े पाँच घंटे तक दिखाई पड़ता रहा।

उल्कामूल की कक्षाएँ—अनेक उल्काएँ एकाकी जान पड़ती हैं—वे किसी उल्का बौछार से संबद्ध नहीं जान पड़तीं। इसके अतिरिक्त बौछार या झड़ी के रूप में बार बार लौटनेवाली उल्काएँ कुछ समय में मिट जाती है। देवयानीवाली उल्काएँ कई बार अच्छा प्रदर्शन करने के बाद मिट गई। जान पड़ता है, *अंतरिक्ष में रोड़ों और कणों के समूह हैं जो निश्चित* कक्षा में चलते रहते है और जब कभी पृथ्वी अपनी कक्षा में चलते चलते उनके पास पहुँच जाती है तो उल्का झड़ी लग जाती है। परंतु रोड़ों का समूह बृहस्पति आदि बड़े ग्रहों के आकर्षण से विचलित हो जाता है; उनकी कक्षा बदल जाती है। तब उनसे और पृथ्वी से मुठभेड़ नहीं होती और उस उद्गम से उल्का झड़ी नहीं लगती। फिर, समूह के रोड़ों में परस्पर आकर्षण इतना कम रहता है कि प्रत्येक बार जब वे पृथ्वी या अन्य ग्रह के पास पड़ जाते हैं तो निकटवाले रोड़ों के अधिक खिंचने के कारण समूह कुछ फैल जाते हैं और अंत में वे बहुत तितर बितर हो जाते हैं। अनुमान किया जाता है कि रोड़ों का समूह धूमकेतुओं के सिरों के भाग हैं। धूमकेतु के सिर भी रोड़ों के समूह हो—परंतु घने समूह—होते हैं (द्र० केतु)। एक ही उल्कामूल से निकलनेवाली उल्का बौछारों को हम उल्काश्रेणी कह सकते हैं।

उल्काओं की संख्या—अवलोकन से पता चला है कि रात के पहले भाग की अपेक्षा पिछले भाग में अधिक उल्काएँ दिखाई देती हैं। इसका कारण यह है कि सायंकाल से अर्ध रात्रि तक पृथ्वी के घूर्णन और वार्षिक गति के संयोजन से उत्पन्न द्रष्टा का वेग कम रहता है और अर्ध रात्रि के बाद अधिक। वर्ष के जनवरी-जुलाई के महीनों की अपेक्षा जुलाई-जनवरी में अधिक उल्काएँ दिखाई पड़ती हैं, क्योंकि उधर उल्काएँ हैं ही अधिक। औसतन प्रति दिन लगभग दो करोड़ उल्काएँ इस वायुमंडल में गिरती हैं। और उनमें से कम से कम एक दस पृथ्वी पर पहुँचती है। साधारणतः उल्का की ऊँचाई लगभग ५०-६० मील होती है। उल्का की चमक के विषय में विशेष प्रचलित मत यह है कि इसके गैस पदार्थ वायुमंडल में स्थित बिजली से, या गति के कारण उत्पन्न घर्षणताप से अथवा अन्य कारणवश अयनित (आयोनाइज) होकर भासित (फ़ॉस्फ़ोरेंट) होते हैं। साधारण उल्का के द्रव्यमान और आयतन की मापें इतनी कम निकलती हैं कि उनपर विश्वास नहीं होता। चमक में प्रथम और द्वितीय श्रेणी की उल्काओं के व्यास दशमलव एक इंच से कम और द्रव्यमान कुछ मिलिग्राम मात्र पाए गए हैं; किंतु इनका आकार चारों ओर की तप्त गैस और उद्भासन (इरेडियेशन) के कारण बड़ा दिखाई पड़ता है। इनके ठोस पदार्थों में लोहे, निकल और पत्थर की मात्रा अधिक रहती है। इनके वर्णक्रम (स्पेक्ट्रा) के फोटोग्राफों के अध्ययन से पता चला है कि इनमें हाइड्रोजन, कैलसियम, मैगनीसियम, कार्बन, हीलियम और सोडियम भी पाए जाते है। उल्का के गिरते समय कुछ क्षणों तक एक पतली धीमी ध्वनि सुनाई पड़ने का भी प्रमाण मिला है। उल्का की मध्यमान गति लगभग १४ मील प्रति सेकंड होती है। आजकल रेडियो तरंगों की प्रतिध्वनि को आकाशवाणी यंत्र पर सुनकर दिन में भी उल्काओं का अध्ययन किया जाने लगा है।

अग्निगोले—अग्निगोले (फायरबाल) भी उल्का ही हैं, परंतु वे साधारण उल्का से बहुत बड़े होते है। फिर, बड़े होने के कारण ही वे

अधिक समय तक भस्म होने से बचे रहते हैं और पृथ्वी तक पहुँच जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, जब वे द्रष्टा के वेग की दिशा में चलते हुए पीछे से आते हैं और आगे निकल जाते है तो उनका सापेक्ष वेग हमारे वायुमंडल में कम रहता है और इस प्रकार वे सैकड़ों मील तक दिखाई पड़ते रहते हैं। जब वे पृथ्वीपृष्ठ से थोड़ी ही ऊँचाई पर से जाते हैं तब उनकी हरहराहट अथवा गर्जन बहुधा बड़ा प्रचंड होता है। थोड़ी ऊँचाई से जाने के कारण ऐसा भी संभव है कि वे क्षितिज के एक ओर से आएँ और दूसरी ओर निकल जायँ। अग्निगोले चंद्रमा के समान बड़े दिखाई पड़ सकते हैं। कुछ अग्निगोले देखते देखते फूट पड़ते हैं। अग्निगोलों का एक असाधारण समूह ९ फरवरी, १९१३ को कैनाडा में दिखाई पड़ा था। वहाँ से लगभग ६,००० मील चलने के बाद भी अन्यत्र दिखाई पड़ा और फिर आगे निकल गया। गोले चार पाँच समूहों में बँटे थे और प्रत्येक समूह में ५०-६० अग्निगोले थे। कैनाडा में उनकी ऊँचाई लगभग ३५ मील थी। लोगों को बादल के गड़-गड़ाने के समान शब्द सुनाई पड़ा; कुछ मकान भी थर्रा गए।

उल्काओं का प्रेक्षण—उल्काओं के प्रेक्षण में अव्यवसायी ज्योतिषी बड़ी सहायता कर सकते हैं—और करते भी हैं; कारण यह है कि इन प्रेक्षणों में बहुत समय लगता है और लाखों प्रेक्षणों के बाद कोई उपयोगी बात ज्ञात होती है। ऐसे ज्योतिषियों की कई परिषदें यूरोप आदि देशों में बनी हैं। उल्का दिखाई पड़ने पर सावधानी से तारों के सापेक्ष उसका आदि और अंत लिख लिया जाता है या नकशे में अंकित किया जाता है; चमक, रंग, समय आदि भी लिख लिया जाता है। अब फोटोग्राफी से भी काम लिया जा रहा है। तेज प्लेट या फिल्म पर लगभग एफ़/४ के लेंज़ से प्रकाशदर्शन (एक्सपोजर) देने से काम चल जाता है। एक ही प्लेट पर कई घंटों का प्रकाशदर्शन दिया जाता है। दो दूरस्थ स्थानों से एक ही समय पर प्रेक्षण करने से उल्काओं की दूरी भी जानी जा सकती है।

उल्काओं की उत्पत्ति—उल्काओं की उत्पत्ति का प्रश्न सबसे जटिल है। पूर्वोक्त वार्ता से यह निश्चित है कि कुछ उल्काओं की उत्पत्ति धूम-केतुओं से हुई है। किंतु यह भी पता चला है कि अग्निगोलों की उत्पत्ति इस सौर मंडल से बाहर की है। इन सभी उल्काओं के पदार्थ भी सौरमंडल के अन्य सदस्यों के पदार्थ के समान ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार यह सौरमंडल बना है उसी प्रकार ये उल्काएँ भी इस या अन्य किसी सौरमंडल में बनी या बनती रहती है तथा एक मंडल से दूसरे मंडल में भी वे संभवतः जा सकती हैं। (अधिक जानकारी के लिये द्र० **उल्कापिंड**)। (क० प्र० सिं० तथा ना० सु० ना०)

उल्कापिंड

आकाश में कभी कभी एक ओर से दूसरी ओर अत्यंत वेग से जाते हुए अथवा पृथ्वी पर गिरते हुए जो पिंड दिखाई देते हैं उन्हें उल्का और साधारण बोलचाल में टूटते हुए तारे अथवा लूका कहते हैं (द्र० **उल्का**)। उल्काओं का जो अंश वायुमंडल में जलने से बचकर पृथ्वी तक पहुँचता है उसे उल्कापिंड कहते है। प्रायः प्रत्येक रात्रि को उल्काएँ अनगिनत संख्या में देखी जा सकती हैं, किंतु इनमें से पृथ्वी पर गिरनेवाले पिंडों की संख्या अत्यंत्त अल्प होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से इनका महत्व बहुत अधिक है क्योंकि एक तो ये अति दुर्लभ होते हैं, दूसरे आकाश में विच-रते हुए विभिन्न ग्रहों इत्यादि के संगठन और संरचना (स्ट्रक्चर) के ज्ञान के प्रत्यक्ष स्रोत केवल ये ही पिंड हैं। इनके अध्ययन से हमें यह भी बोध होता है कि भूमंडलीय वातावरण में आकाश से आए हुए पदार्थ पर क्या क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इस प्रकार ये पिंड खगोल विद्या और भूविज्ञान के बीच संपर्क स्थापित करते हैं।

संक्षिप्त इतिहास—यद्यपि मनुष्य इन टूटते हुए तारों से अत्यंत प्राचीन समय से परिचित था, तथापि आधुनिक विज्ञान के विकासयुग में मनुष्य को यह विश्वास करने में बहुत समय लगा कि भूतल पर पाए गए ये पिंड पृथ्वी पर आकाश से आए हैं। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में डी० ट्रौयली नामक दार्शनिक ने इटली में अल्वारेतो स्थान पर गिरे हुए उल्कापिंड का वर्णन करते हुए यह विचार प्रकट किया कि वह खमंडल से टूटते हुए तारे के रूप में आया होगा, किंतु किसी ने भी इसपर ध्यान नहीं दिया। सन् १७६८ ई० में फादर बासिले ने फ्रांस में लूस नामक स्थान पर एक उल्कापिंड को पृथ्वी पर आते हुए स्वतः देखा। अगले वर्ष उसने पेरिस की विज्ञान की रायल अकैडमी के अधिवेशन में इस वृत्तांत पर एक लेख पढ़ा। अकैडमी ने वृत्तांत पर विश्वास न करते हुए घटना की जाँच करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया जिसके प्रतिवेदन में फादर बासिले के वृत्तांत को भ्रमात्मक बताते हुए यह मंतव्य प्रकट किया गया कि बिजली गिर जाने से पिंड का पृष्ठ कुछ इस प्रकार काँच सदृश हो गया था जिससे बासिले को यह भ्रम हुआ कि यह पिंड पृथ्वी का अंश नहीं है। तदनंतर जर्मन दार्शनिक क्लाडनी ने सन् १७९४ ई० में साइबीरिया से प्राप्त एक उल्कापिंड का अध्ययन करते हुए यह सिद्धांत प्रस्तावित किया कि ये पिंड खमंडल के प्रतिनिधि होते हैं। यद्यपि इस बार भी यह विचार तुरंत स्वीकार नहीं किया गया, फिर भी क्लाडनी को इस प्रसंग पर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय मिला और तब से वैज्ञानिक इस विषय पर अधिक मनोयोग देने लगे। सन् १८०३ ई० में फ्रांस में ला ऐगिल स्थान पर उल्कापिंडों की एक बहुत बड़ी वृष्टि हुई जिसमें अनगिनत छोटे बड़े पत्थर गिरे और उनमें से प्रायः दो तीन हजार इकट्ठे भी किए जा सके। विज्ञान की फ्रांसीसी अकैडमी ने उस वृष्टि की पूरी छानबीन की और अंत में किसी को भी यह संदेह नहीं रहा कि उल्कापिंड वस्तुतः खमंडल से ही पृथ्वी पर आते हैं।

वर्गीकरण—उल्कापिंडों का मुख्य वर्गीकरण उनके संगठन के आधार पर किया जाता है। कुछ पिंड अधिकांशतः लोहे, निकल या मिश्रधातुओं से बने होते हैं और कुछ सिलिकेट खनिजों से बने पत्थर सदृश होते हैं। पहले वर्गवालों को धात्विक और दूसरे वर्गवालों को आश्मिक उल्कापिंड कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पिंडों में धात्विक और आश्मिक पदार्थ प्रायः समान मात्रा में पाए जाते हैं, उन्हें धात्वाश्मिक उल्कापिंड कहते हैं। वस्तुतः पूर्णतया धात्विक और पूर्णतया आश्मिक उल्कापिंडों के बीच सभी प्रकार की अंतःस्थ जातियों के उल्कापिंड पाए जाते हैं जिससे पिंडों के वर्ग का निर्णय करना बहुधा कठिन हो जाता है।

संरचना के आधार पर तीनों वर्गों में उपभेद किए जाते हैं। आश्मिक पिंडों में दो मुख्य उपभेद हैं जिनमें से एक को कौंड्राइट और दूसरे को अकौंड्राइट कहते हैं। पहले उपवर्ग के पिंडों का मुख्य लक्षण यह है कि उनमें कुछ विशिष्ट वृत्ताकार दाने, जिन्हें कौंड्रयूल कहते हैं, उपस्थित रहते हैं। जिन पिंडों में कौंड्रयूल उपस्थित नहीं रहते उन्हें अकौंड्राइट कहते हैं।

धात्विक उल्कापिंडों में भी दो मुख्य उपभेद हैं जिन्हें क्रमशः अष्टानीक (आक्टाहीड्राइट) और षष्ठानीक (हेक्साहीड्राइट) कहते हैं। ये नाम पिंडों की अंतररचना व्यक्त करते हैं, और जैसा इन नामों से व्यक्त होता है, पहले विभेद के पिंडों में धात्विक पदार्थ के बंध (प्लेट) अष्टानीक आकार में और दूसरे में षष्ठानीक आकार में विन्यस्त होते हैं। इस प्रकार की रचना को विडमानस्टेटर कहते हैं एवं यह पिंडों के मार्जित पृष्ठ पर बड़ी सुगमता से पहचानी जा सकती है (द्र० चित्रफलक)।

धात्वाश्मिक उल्कापिंडों में भी दो मुख्य उपवर्ग हैं जिन्हें क्रमानुसार पैलेसाइट और अर्धधात्विक (मीज़ोसिडराइट) कहते हैं। इनमें से पहले उपवर्ग के पिंडों का आश्मिक अंग मुख्यतः ओलीवीन खनिज से बना होता है जिसके स्फट प्रायः वृत्ताकार होते हैं और जो लौह-निकल धातुओं के एक तंत्र में समावृत रहते हैं। अर्धधात्विक उल्कापिंडों में मुख्यतः पाइरौक्सीन और अल्प मात्रा में एनौर्थाइट फ़ेल्सपार विद्यमान होते हैं।

संगठन—पूर्व प्रकरण में यह उल्लेख किया जा चुका है कि धात्विक और आश्मिक अंगों की प्रधानता के आधार पर उल्कापिंड वर्गीकृत किए जाते हैं। किंतु इन पिंडों में रासायनिक तत्वों और खनिजों के वितरण के संबंध में कोई सुनिश्चित आधार प्रतीत नहीं होता। उल्कापिंडों के तीन मुख्य वर्गों के अतिरिक्त अनेकानेक उपवर्ग हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना पृथक् विशेष खनिज समुदाय है। अभी तक प्रायः २५ नए वर्गों का पता लगा है और प्रायः प्रति दो वर्ष एक नए उपवर्ग का पता लगता रहा है। कठिनाई इस बात की है कि अध्ययन के लिये उपलब्ध पदार्थ अत्यंत अल्प मात्रा में होते हैं।

अभी तक उल्कापिंडों में केवल ५२ रासायनिक तत्वों की उपस्थिति प्रमाणित हुई है जिनके नाम निम्नलिखित हैं :
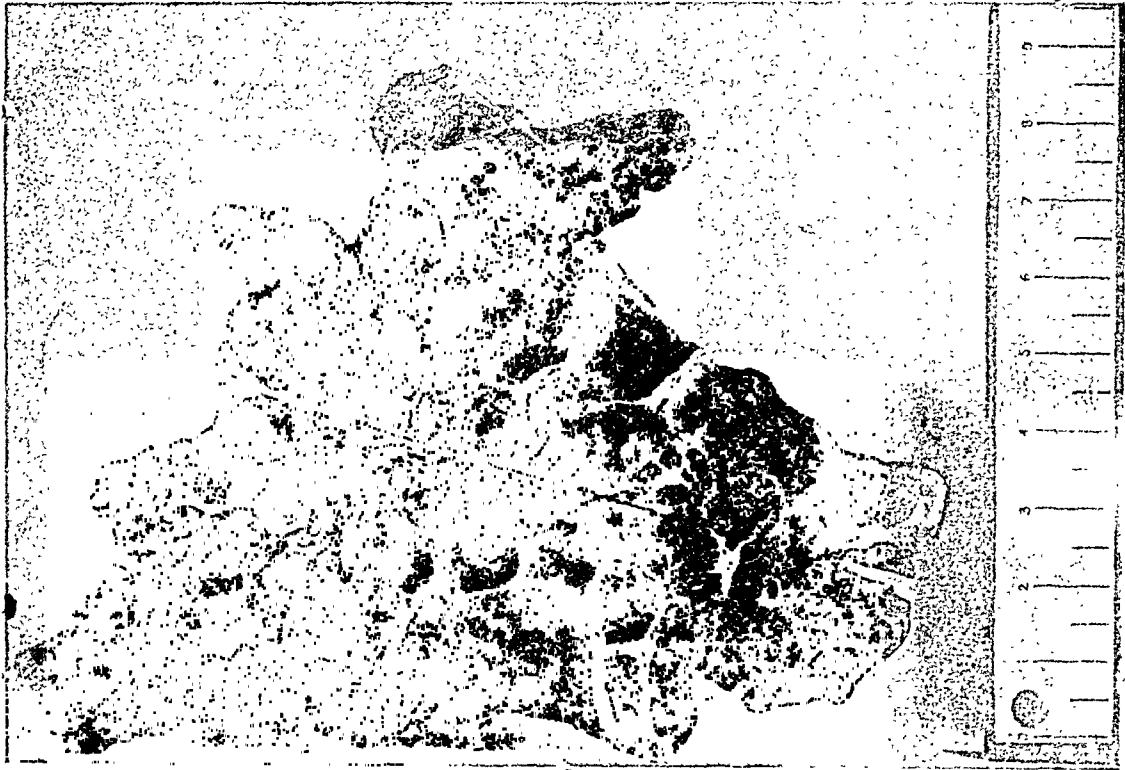
लोह उल्का
बहजोई (जिला मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश) से प्राप्त।
(प्राकृतिक से प्रायः आधा आकार)

अम्लादित (etched) उल्का खंड
[बहजोई में प्राप्त उल्का के काटे और अम्लों से साफ़ किए एक खंड की आवर्धित विटमानश्टेटन् (Widmanstaetten) रचना।

मेड़ुआ उल्का
मेड़ुआ (जिला इलाहाबाद) में प्राप्त आश्मिक उल्कापिंड।
यह १२½ इंच ऊँचा है।

(भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के सौजन्य से प्राप्त)
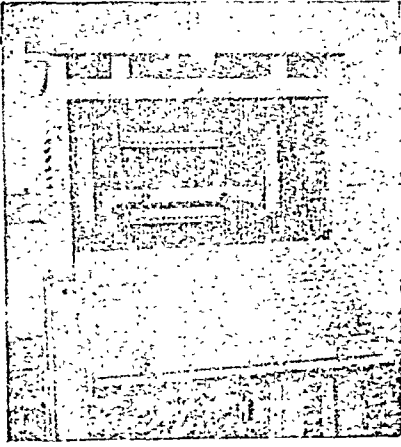
विशिष्ट पेटी में तापमापी
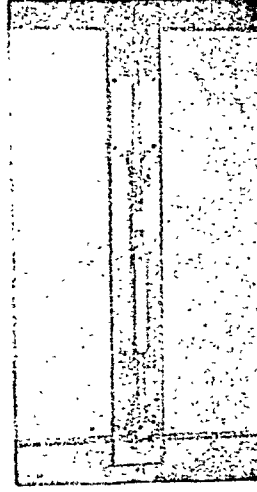
वायु-दाब-मापी
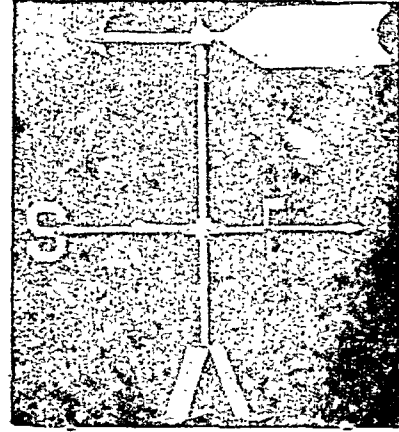
पवनफलक (windvane)
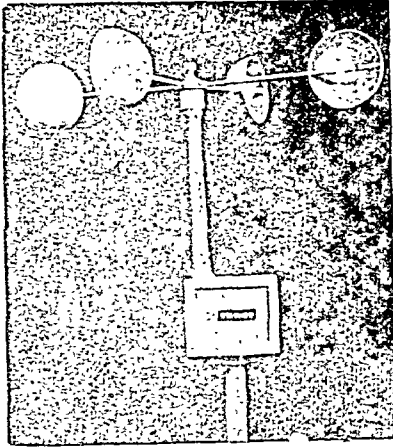
पवनमापी

वृष्टिमापी तथा मापन काच

गुब्बारे का प्रयाण
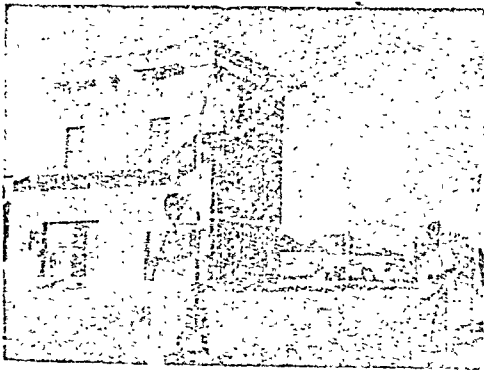
यंत्रों सहित गुब्बारा छोड़ना

राडार से प्राप्त चित्र
१३ सितंबर १९५८ को बंगाल
की खाड़ी के एक चक्रवात का।

*ऑक्सीजन	*गंधक	*प्लैटिनम	*लोहा
*आर्गन	गैलियम	*फ़ास्फ़ोरस	वंग (राँगा)
आर्सेनिक	जरमेनियम	बेरियम	*वैनेडियम
इंडियम	जिरकोनियम	बेरीलियम	*सिलिकन
*इरीडियम	*टाइटेनियम	*मैंगनीज़	सीजियम
*ऐंटिमनी	टेलूरियम	मैगनीशियम	सीरियम
*ऐल्युमिनियम	*ताम्र	मौलिबडेनम	सीस (सीसा)
*कार्बन	थूलियम	यशद (जस्ता)	*सोडियम
कैडमियम	*नाइट्रोजन	रजत (चाँदी)	स्कैंडियम
*कैल्सियम	*निकल	*रुथेनियम	स्वर्ण (सोना)
*कोबल्ट	पारद	रुबीडियम	स्ट्रौंशियम
*क्रोमियम	*पैलेडियम	*रेडियम	*हाइड्रोजन
*क्लोरीन	*पोटैसियम	लीथियम	*हीलियम

इन ५२ तत्वों में से केवल आठ प्रचुर मात्रा में पाए जाते है, जिनमें हालो सबसे प्रमुख है। अन्य सात में क्रमानुसार ऑक्सिजन, सिलिकन, मैगनीशियम, गंधक, ऐल्युमिनियम, निकल और कैल्सियम हैं। इनके अतिरिक्त २० अन्य तत्व पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं एवं उनकी उपस्थिति का पता साधारण रासायनिक विश्लेषण द्वारा १९२६ से पूर्व ही लग चुका था। ऊपर दी हुई सारणी में इन २८ (८+२०) तत्वों के पूर्व तारे का चिह्न अंकित है। अवशिष्ट २४ तत्व अत्यंत अल्प मात्रा में विद्यमान हैं एवं उनकी उपस्थिति वर्णक्रमदर्शकी (स्पेक्ट्रोग्रैफिक) विश्लेषण से सिद्ध की गई है।

खनिज संरचना की दृष्टि से उल्कापिंडों और पृथ्वी में पाई गई शैल राशियों के लक्षणों में कई अंतर होते हैं। साधारणतया भूमंडलीय शैल राशियों में स्वतंत्र धातु रूप में लोहा तथा निकल अत्यंत दुर्लभ होते हैं, किंतु उल्कापिंडों में ये धातुएँ शुद्ध रूप में बहुत प्रचुरता से एवं प्रायः अनिवार्यतः पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कई ऐसे खनिज है जो भूमंडलीय शैलों में नहीं पाए जाते, पर उल्कापिंडों में मिलते है। इनमें से प्रमुख ओल्डेमाइट (कैल्सियम का सल्फाइड) और श्राइबेरसाइट (लोहे और निकल का फ़ॉस्फ़ाइड) हैं। ये दोनों खनिज नमी और ऑक्सीजन की बहुलता में स्थायी नहीं होते और इसी कारण भूमंडलीय शैलों में नहीं मिलते। इनकी उपस्थिति से यह बोध होता है कि उल्कापिंडों की उत्पत्ति ऐसे वातावरण में हुई जहाँ भूमंडल की अपेक्षा आक्साइडीकरण की परिस्थितियाँ न्यून रही होंगी।

आश्मिक उल्कापिंडों में साधारणतया पाइरोक्सीन और ओलीविन की प्रचुरता एवं फ़ेलसपार का अभाव होता है, जिससे उनका संगठन भूमंडल की अतिभास्मिक (अल्ट्राबेसिक) शैलों के सदृश होता है।

उत्पत्ति—उल्कापिंडों की उत्पत्ति का विषय बहुत ही विवादास्पद है। इस विषय पर अनेक मत समय समय पर प्रस्तावित हुए हैं, जिनमें से कुछ में इन्हें पृथ्वी, चंद्रमा, सूर्य और धूमकेतु आदि का अंश माना गया है। एक अति मान्य मत के अनुसार इनकी उत्पत्ति एक ऐसे ग्रह से हुई जो अब पूर्णतया विनष्ट हो गया है। इस विचार में यह कल्पना की जाती है कि आदि में प्रायः मंगल के आकार का एक ग्रह रहा होगा जो किसी दूसरे बड़े ग्रह के अत्यंत समीप आ जाने पर, अथवा किसी दूसरे ग्रह से टकराकर, विनष्ट हो गया, जिससे अरबों की संख्या में छोटे बड़े खंड बने जो उल्का रूप में खमंडल मे विचर रहे हैं। इस मत के अनुसार धात्विक उल्का उस कल्पित ग्रह का केंद्रीय भाग तथा आश्मिक उल्का ऊपरी पृष्ठ निरूपित करते हैं। यद्यपि इस उपकल्पना मे उल्कापिंडो के अनेक लक्षणों की व्याख्या हो जाती है, फिर भी अनेक बातें अनबूझी पहेली रह जाती हैं। उदाहरणार्थ, कुछ धात्विक उल्कापिंडों में अष्टानीक रचना होती है जो साधारणतया ८००° सेंटीग्रेट ताप पर नष्ट हो जाती है। ऐसा विश्वास है कि उस कल्पित ग्रह के विखंडन के समय अवश्य ही उसमें अधिक ताप उत्पन्न हुआ होगा। फिर भी यह समझ में नहीं आता कि यह अष्टानीक रचना विनष्ट होने से कैसे बची। इसी प्रकार यह शंका भी बनी रहती है कि अकौंड्राइट आश्मिक उल्का में लोहा कहाँ से आया और कौंड्राइट आश्मिक उल्का में कौंड्रयूल कैसे बने।

एक अन्य मत में यह प्रस्तावित किया गया है कि उल्कापिंडों की उत्पत्ति ग्रहों के साथ साथ ही हुई, अथवा या कहना चाहिए कि सौरमंडल एवं समस्त खमंडलीय पदार्थों की उत्पत्ति उल्कापिंडों से ही हुई। इस कल्पना के अनुसार आदि विश्व उल्कापिंडों से परिपूर्ण था एवं कालांतर में वे पिंड विभिन्न पुंजों में एकत्रित होते गए तथा उनके अधिकाधिक घनीकरण के क्रमानुसार गैसमय नीहारिका, नक्षत्र एवं ग्रह उत्पन्न हुए। इस कल्पना की एक बड़ी त्रुटि यह प्रतीत होती है कि खमंडल में उपस्थित उल्कापिंड इतना दूर दूर छितराए हुए हैं तथा उनका पारस्परिक आकर्षण इतना क्षीण है कि उनके एकत्र होकर बड़ी राशि बनने में अत्यधिक समय लगेगा। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि एक बार पर्याप्त बड़े आकार की राशि बन जाने के बाद वह अपनी सत्ता बनाए रख सकेगी और कालांतर में और अधिक पिंडों को अपने में मिलाकर अपने आकार की वृद्धि भी कर सकेगी। संभव है, उपर्युक्त विधियों में अंशतः संशोधन करने से इनकी उत्पत्ति की वास्तविक विधि निर्धारित हो सके।

भारतीय संग्रह—उल्कापिंडों का एक बृहत् संग्रह कलकत्ते के भारतीय संग्रहालय (अजायबघर) के भूवैज्ञानिक विभाग में प्रदर्शित है। इसकी देखरेख भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण संस्था के निरीक्षण में होती है। प्रचलित नियमों के अनुसार देश में कहीं भी गिरा हुआ उल्कापिंड सरकारी संपत्ति होता है। जिस किसी को ऐसा पिंड मिले उसका कर्तव्य है कि वह उसे स्थानीय जिलाधीश के पास पहुँचा दे जहाँ से वह भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग को भेज दिया जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे यह संग्रह अपने ढंग का अनोखा हो गया है। इसके अतिरिक्त इस संग्रह में विदेशों से भी प्राप्त नमूने रखे गए हैं। एशिया भर में यह संग्रह सबसे बड़ा है और विश्व के अन्य संग्रहों में भी इसका स्थान अत्यंत ऊँचा है, क्योंकि एक तो इसमें अनेक भाँति के नमूने है और दूसरे अनेक नमूने अति दुर्लभ जातियों के है। सब मिलाकर इसमें ४६८ विभिन्न उल्कापात निरूपित है, जिनमें से १४९ धात्विक और ३१९ आश्मिक वर्ग के है।

इस संग्रह की सबसे बड़ी भारतीय आश्मिक उल्का इलाहाबाद जिले के मेडुआ स्थान से प्राप्त हुई थी (द्र० चित्रफलक)। वह ३० अगस्त, १९२० को प्रातः ११ बजकर १५ मिनट पर गिरी थी। उसका भार प्रायः ५६,६५७ ग्राम (४,८१८ तोले) है और दीर्घतम लंबाई १२ इंच है। दूसरा स्थान उस पिंड का है जो मलाबार में कुट्टीपुरम ग्राम में ६ अप्रैल, १९१४ को प्रातःकाल ७ बजे गिरा था। इसका भार ३८,४३७ ग्राम (३,२९५ तोले) है। इस संग्रह में रखे हुए उल्कापिंडों का विवरण भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के मेमॉयर संख्या ७५ में विस्तारपूर्वक दिया हुआ है।

सं०ग्रं०—एच० एच० निनिंगर : आउट ऑव द स्काई (डेनवर, १९५२); ई० एफ़० एफ़० क्लाडनी : यूबेर फ़ायर-मोटिआरे, उड यूबेर डी मिट डेनसेल्बेन हेराउबगेफ़ालेनेन मासेन (विएना, १८१९); ए० एल० कूलसन : मेमॉयर ऑव द जिऑलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, ग्रंथ ७५ (कलकत्ता, १९४०)। (अ० गा० मि०)

उल्लू यह रात्रिचारी पक्षी है जो अपनी आँख और गोल चेहरे के कारण बहुत प्रसिद्ध है। इसके पर बहुत मुलायम होते हैं जिससे रात में उड़ते समय आवाज नहीं होती है। ये बहुत कम रोशनी में भी देख लेते हैं। इन्हें रात में उड़कर शिकार करने में परेशानी नहीं होती है।

उल्लू छोटे और बड़े दोनों तरह के होते हैं और इनकी कई जातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती है। बड़े उल्लुओं की दो मुख्य जातियाँ मुआ और घुग्घू है। मुआ पानी के करीब और घुग्घू पुराने खंडहरों और पेड़ों पर रहते हैं। मुआ का कद लगभग २२ इंच होता है। इसके नर और मादा एक ही शकल के होते है। इसके ऊपर का पर कत्थई, डैने भूरे जिनपर सफ़ेद और काले सेहर जैसे निशान, दुम गहरी भूरी जिसके सिर पर सफ़ेदीपन लिए भूरे रंग की धारी और गला सफ़ेद होता है। इनकी चोंच टेढ़ी और गहरी गंदी हरी तथा पैर धूमिल पीले रंग के होते है। यह भारत का बारहमासी पक्षी है जो नदी के किनारों के ऊँचे कगार, पानी पर झुकी हुई पेड़ की किसी डाल या किसी वीरान खंडहर में अक्सर दिखाई पड़ता है।

इसका मुख्य भोजन चिड़िया, चूहे, मेढक और मछलियाँ हैं। इसका प्रजनन काल दिसंबर से मार्च तक है।

घुग्घू भी लगभग २२ इंच का पक्षी है जिसके नर मादा एक ही रंग रूप के होते हैं। इनको मरचिरैया भी कहते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि आदमी को मृत्यु के समय का इन उल्लुओं को पहले से ही पता चल जाता है और तब ये आसपास के पेड़ पर अक्सर बोलने लगते हैं। घुग्घू के सारे शरीर का रंग भूरा रहता है। इसकी आँख की पुतली पीली, चोंच सींग के रंग की, और पैर रोएँदार तथा काले होते हैं। यह चूहे, मेढक और ज्यादातर कौओं के अंडों पर हमला कर खाता है। यह घने जंगल, बस्ती या वीरान के किसी बड़े पेड़ पर छिपा सोता है लेकिन रात में 'घुग्घूऊ ऊऊ' की मनहूस आवाज से इसकी मौजूदगी का पता चल जाता है। (नि० सिं०)

उल्हासनगर महाराष्ट्र राज्य के थाना (ठाणें) जिले में स्थित उल्हासनगर राज्य का नवीनतम बड़ा नगर है। यह नगर सरकार के पुनर्स्थापन विभाग द्वारा शरणार्थियों को बसाने के लिये स्थापित किया गया है। यह थाना जिले के सबसे बड़े औद्योगिक नगर कल्याण से दो मील की दूरी पर उल्हास नदी के किनारे बसाया गया है। इस नगर में ६०,००० शरणार्थियों को बसाने की योजना बनी थी और १९६१ ई० की जनगणना के समय इस नगर की जनसंख्या १,०७,७६० थी। यहाँ की जनसंख्या के ५० प्रतिशत से अधिक लोग विविध सेवाओं एवं साधनों द्वारा तथा लगभग २९ प्रतिशत लोग व्यापार द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं। १९५१ ई० में यह बंबई राज्य का १२वाँ सबसे बड़ा नगर था। (का० ना० सिं०)

उवट विख्यात वेदभाष्यकार। यजुर्वेद-मंत्र-भाष्य द्वारा विदित होता है कि इनके पिता का नाम वज्रट था। साथ ही वहीं इनका जन्मस्थान आनंदपुर कहा गया है :

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं कृत्स्नं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

कतिपय विद्वानों के कथनानुसार ये महाराज भोज के समय ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी में अवंतिनगरी में विद्यमान थे। 'भविष्य-भक्ति-माहात्म्य' नामक संस्कृत ग्रंथ इन्हें कश्मीर देश का निवासी और मम्मट तथा कैयट का समसामयिक बताता है :

उवटो मम्मटश्चैव कैयटश्चेति ते त्रयः।
कैयटो भाष्यटीकाकृदुवटो वेदभाष्यकृत्॥
—भ० भ० मा०, पृ० ३१८।

इन्होंने शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा का भाष्य और ऋग्वेदीय शौनक प्रातिशाख्य नामक ग्रंथ की रचना की। कुछ लोगों का कहना है कि ऋग्वेदीय शौनक प्रातिशाख्य भाष्य करने के बाद इन्होंने ऋग्वेद का भाष्य भी रचा था। (ला० त्रि० प्र०)

उशना प्रख्यात वैदिक ऋषि तथा राजनीति के आचार्य। वेद तथा पुराणों में इनका चरित्र चित्रित है। ऋग्वेद में उशना कवि (४।२६।१) एवं काव्य (१।५१।१०; ४।१६।२) विशेषण के साथ अभिहित किए गए हैं तथा कुत्स और इंद्र के साथ इनका उल्लेख बहुशः उपलब्ध होता है। ब्राह्मणों (पंचविंश ७।५।२०; शांखायन श्रौत सूत्र (१४।२७।१) के अनुसार देव-दानव-युद्ध के अवसर पर इन्होंने असुरों का पौरोहित्य किया था। पुराणों के अनुसार स्वायंभू मन्वंतर में ये भृगुपुत्र कवि के पुत्र (उपनाम 'काव्य') बतलाए गए हैं। प्रियव्रत राजा की कन्या ऊर्जस्वती इनकी स्त्री थी। भागवत (स्कंध ७, अ० ५) के अनुसार ये दैत्यों के पुरोहित थे और इनकी अनुपस्थिति में जब वे जंगल में तपस्या करने गए थे तब इनके दोनों पुत्रों—शंड और मर्क—ने हिरण्यकशिपु का पौरोहित्य किया था। भृगुवंश में उत्पन्न होने से ये 'भार्गव' भी कहे जाते हैं। कौटिल्य ने उशना का उल्लेख प्राचीन अर्थशास्त्रवेत्ता आचार्यों में किया है। (ब० उ०)

उशाक तुर्की के कुटैहवा विलायत का एक नगर है जो स्मरना तथा कोनिया से रेल द्वारा संबद्ध है। यह अपने भारी कालीनों के लिये, जिसे तुर्की कालीन कहते हैं, विख्यात है। यहीं पर तुर्की सेना ने ग्रीक सेनापति ट्रीकोदपियस को कैद किया था। १९६५ में जनसंख्या ३८,८१५ थी। (सु० कु० सिं०)

उशिज ऋग्वेद के ऋषि कक्षीवान् की शूद्रा माता। इसकी पुत्रप्राप्ति की कथा कुछ पुराणों और महाभारत में कही गई है जिसके अनुसार यह कलिंग की रानी की क्वाँरी दासी थी। पुत्रप्राप्ति के लिये राजा द्वारा रानी को दीर्घतमा ऋषि को आत्मसमर्पण करने के निर्देश पर रानी ने उशिज को अपने स्थान पर कर दिया था। इस प्रकार जो पुत्र हुआ वह कक्षीवान् कहलाया। कक्षीवान् का इसी से वेदों में मातृनाम कक्षीवान् औशिज चला। (ओं० ना० उ०)

उशीनर उशीनरों का प्रदेश मध्यदेश था। कौपीतकि उपनिषद् में उशीनर मत्स्यों, कुरु पांचालों एवं वंशों की श्रेणी में परिगणित हुए हैं। महाभारत के अनुसार उशीनरों ने यमुना की पार्श्ववर्ती नदियों के किनारे यज्ञ किया था (महा०, ३,१३०,२१)। पाणिनि ने अपने कई सूत्रों में उशीनर देश का उल्लेख किया है (अष्टाध्यायी, २, ४, २०; ४, २, ११८)। उसकी राजधानी भोजनगर थी (महा० ४, ११८, २)। महाभारत तथा जातक कथाओं में उशीनर और उनके पुत्र शिवि का उल्लेख मिलता है। (चं० म०)

उषवदात ऋषभदत्त, शक क्षहरात राजवंश के द्वितीय नरेश नहपान का जामाता और सामंत। नहपान की पुत्री और उसके जामाता—दोनों के नाम हिंदू थे, क्रमशः दक्षमित्रा और उषवदात (ऋषभदत्त)। शकों ने इस प्रकार भारत में बसकर हिंदू धर्म को अंगीकार कर लिया था, ये नाम इसके उदाहरण हैं। उषवदात का राज्यकाल तो स्पष्ट विदित नहीं है क्योंकि उसके स्वामी और संबंधी स्वयं नहपान की शासनतिथियों के संबंध में विद्वानों के अनेक मत हैं। साधारणतः नहपान का राज्यकाल पहली और दूसरी सदी ईसवी में रखा जाता है। इससे प्रायः इसी काल उषवदात का भी समय होना चाहिए। उषवदात के अनेक लेख मिले हैं जिनमें से एक में उसे स्पष्टतः शक कहा गया है। उसके अभिलेख नासिक के पांडुलेण, पूना जिले के जुन्नार तथा कार्ले में मिले हैं। उसके समय में मालवों के आक्रमण महाराष्ट्र पर हो रहे थे जिन्हें रोकने का प्रयत्न उत्तमभद्र कर रहे थे। उत्तमभद्रों की सहायता के लिये स्वामी नहपान ने उषवदात को भेजा था जिसमें उषवदात ने विजय प्राप्त कर सम्राट् नहपान का आधिपत्य आधुनिक अजमेर के निकट तक फैला दिया था। अजमेर के पास पुष्कर क्षेत्र में उषवदात ने अनेक दान किए थे। इससे अधिक उस हिंदूधर्मा शक के विषय में इतिहास को कुछ ज्ञात नहीं। (भ० श० उ०)

उषस्, उषा १. यह आर्यों की प्रधान देवी पूर्वाकाश की परम ज्योति है। ऋग्वेद में संख्या, मार्मिकता और मधुरता में जितने सूक्त इस देवी की स्तुति में कहे गए हैं उतने किसी की स्तुति में नहीं कहे गए। प्रायः बीस समूचे सूक्तों में उसकी स्तुति हुई है और ऋग्वेद की समूची संहिता में तीन सौ बार से भी अधिक उसका नामोल्लेख हुआ है। आर्य ऋषियों के प्रणय को वह आलोड़ित करती है, मधुर से मधुर गायन की उन्हें प्रेरणा देती है। वह आकाश की कन्या है (दुहितर्दिवः), प्रकाश की रानी है, ज्योतिर्मयी देवी (विभावरी राया)। गृहपत्नी की भाँति वह प्रातःकाल सारे जीवों को निद्रा और प्रमाद से मुक्त कर अपने नित्य पथों पर भेजती है। सहसा सुपुप्त जीवन स्पंदित हो उठता है और जाग्रत मानव क्रियावान् हो उठते हैं, पशु गतिमान् और पक्षी उषा के स्पर्श से आकाश में पंख मारने लगते हैं। उषा सारे प्राणियों की साँस और जीवन है। प्रातःकाल वह यज्ञोन्मुख आर्यों को हविपा लेने के लिये देवताओं का आवाहन करती है क्योंकि उसके आने से ही प्रातःकालीन यज्ञ का समारंभ होता है।

आर्य ऋषियों ने उषा को अत्यंत आकर्षक पार्थिव तरुणी के रूप में भी अभिव्यक्त किया है। उनका कहना है कि पूर्वाकाश में वह नर्तकी की भाँति अपना वक्ष खोले, पेशवाज पहने नाचती आती है। ज्योतिर्मय वसनों से मंडित वह रजतपथ पर चढ़ी नित्यप्रति प्राची दिशा में प्रकट होती है। अपने उसी समान वर्ण से शोभायमान वह मर्त्यों के जीवन से नित्य एक

दिन चुरा लेती है, काट लेती है, जैसे वधिक पक्षी को अंश अंश कर काटता है (ऋ० १, ६२, १०—पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना। श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः ॥)
(भ० श० उ०)

उषा २. दैत्यराज वलि के पुत्र वाणासुर की कन्या। युवती हो जाने पर एक रात सोते समय स्वप्न में उषा ने एक अति सुंदर तरुण से रमण किया। जागने पर वह विरहातुर हो गई और अपनी सखी चित्रलेखा से उसने सब वृत्तांत कह सुनाया। चित्रलेखा ने तीनों लोकों में प्रसिद्ध सभी युवकों के चित्र वनाए। इनमें कृष्ण के पौत्र तथा प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध के चित्र को देख उषा लज्जा से लाल हो गई, क्योंकि उसका स्वप्नपुरुष वही था। चित्रलेखा योगसामर्थ्य से अनिरुद्ध को पर्यंक सहित शोणितपुर (वाणासुर की राजधानी) ले आई। उषा ने अनिरुद्ध से गांधर्व विवाह किया और गुप्त रूप से चार महीने तक उसके साथ रही। वाणासुर को इस बात का पता लगा तो वह उषा के महल में आया और अनिरुद्ध से युद्ध करके उसे नागपाश में बाँध लिया। नारद ने यह सूचना कृष्ण को दी। कृष्ण ने सेना सहित शोणितपुर पर आक्रमण किया और युद्ध में सहस्रबाहु वाणासुर के, चार को छोड़कर, सभी हाथ काट डाले। तब वाणासुर की माता कोटरा तथा रुद्र की अनुनय विनय पर कृष्ण ने वाणासुर को जीवनदान दिया तथा उषा और अनिरुद्ध को लेकर द्वारका लौट आए।
(कै० चं० श०)

उष्ट्रगण (टाइलोपोडा) पागुर करनेवाले खुरवाले पशु हैं। इनके पैरों में उँगलियाँ केवल दो होती हैं और पैर के नीचे गद्दी होती है। इनके सींग नहीं होते, गर्दन लंबी और पूँछ छोटी होती है।

उष्ट्र मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार में मेरुदंड के ऊपर एक अथवा दो कूवड़ होते हैं। ये एशिया तथा अफ्रीका में वास करते हैं। दूसरे प्रकार में कूवड़ नहीं होता। ये दक्षिण अमरीका में पाए जाते हैं।

कूवड़वाले उष्ट्र मरुस्थल के निवासी होते हैं। इनमें एक कूवड़वाले उष्ट्र प्रधानतः अरब देश में और पूरब की ओर इराक, ईरान तथा बलूचिस्तान होते हुए भारत में राजस्थान तक मिलते हैं एवं अफ्रीका में सहारा मरुस्थल और उसके उत्तर के प्रांतों में फैले हुए हैं। ये कहीं भी जंगली नहीं होते। इनके शरीर पर छोटे और भूरे रंग के वाल होते हैं। पूँछ के किनारे बाल अधिक लंबे होते हैं। इनके कान छोटे होते हैं और ग्रीवा तीन फुट लंबी होती है। कंधा भूमि से सात फुट ऊँचा होता है। अंग्रेजी भाषा में इनको 'ड्रॉमिडरी' कहते हैं।

दो कूवड़वाले उष्ट्र विशेषतः मध्य एशिया के मरुस्थल में वास करते हैं। ये पश्चिम में कालासागर से पूरब की ओर सारे चीन में और हिमालय पर्वतश्रेणी के उत्तर से साइवीरिया की सीमा तक विस्तृत है। कुछ यूरोप में स्पेन देश के पहाड़ी अंचलों में पाए जाते हैं। ये शीतप्रधान देश के निवासी हैं और पहाड़ियों तथा चट्टानों पर रहते हैं। इस कारण इनके पैर की गद्दी अधिक कठोर होती है। इनका शरीर 'ड्रॉमिडरी' की अपेक्षा वलिष्ठ पर छोटा होता है। इनके वाल भूरे रंग के तथा बड़े बड़े होते हैं। अंग्रेजी भाषा में इनको 'बैक्ट्रियन कैमेल' कहते हैं। ये भी जंगली नहीं होते, पर चीन के पश्चिमी प्रांतों में कुछ ऐसे जंगली उष्ट्र पाए जाते हैं। भूतत्वविदों का सिद्धांत है कि इन जंगली उष्ट्रों के शरीर की गठन यूरोप की एक प्राचीन तथा लुप्त उष्ट्र जाति से बहुत मिलती जुलती है।

एशियाई उष्ट्रों के कर्णछिद्र लंबे बालों से ढके रहते हैं और पलकों के बाल भी लंबे होते हैं। मुहँ लंबा होता है और दोनों ओष्ठ कुछ लटके रहते हैं। वक्षस्थल के नीचे उभड़ा हुआ कठोर चर्म होता है जिसपर शरीर का भार रखकर उष्ट्र भूतल पर बैठता है। ऐसा ही कठोर चर्म चारों पैरों के घुटनों पर भी होता है। इनके प्रत्येक पैर के नीचे केवल एक गद्दी होती है।

मरुनिवासी होने के कारण एशियाई उष्ट्रों में कुछ विशेषताएँ होती हैं, जिनके कारण वे ऐसे स्थान में वास करने योग्य होते हैं। इनके आमाशय के दो विशेष कोष्ठों में छोटी छोटी थैलियाँ बनी होती हैं जिनका मुहँ मांसपेशियों द्वारा इच्छानुसार प्रसारित या संकुचित किया जा सकता है। उष्ट्र इन थैलियों में प्रायः दो गैलन अतिरिक्त जल भर लेता है और चार-पांच दिनों तक उसी जल पर जीवन धारण करने में समर्थ होता है। पलकों के बड़े बाल उड़ती हुई बालू को आँखों में जाने से रोकते हैं। कान के बड़े बाल भी इसी प्रकार उपयोगी होते हैं। नासिका का छिद्र बहुत पतला और अर्धचंद्राकार होता है। आँधी के समय उष्ट्र भूमि पर बैठ जाता है, मस्तक नीचा करके भूमि पर फैला देता है तथा नासिका के छिद्रों को बंद कर लेता है। इनकी घ्राणशक्ति प्रवल होती है। बहुत दूर से ही इनको जलाशय का पता लग जाता है। मस्तक की ऊँचाई के कारण इनकी दृष्टि बहुत दूर तक पहुँचती है, और भूमि के ताप का प्रभाव मस्तक पर कम पड़ता है। सहस्रों वर्ष से मरुस्थल में रहने के कारण इनके शरीर का विधान इतना भिन्न हो गया है कि बंगाल जैसे अधिक जलसिक्त स्थान की जलवायु को ये सहन नहीं कर सकते। वहाँ शीघ्र ही इनकी मृत्यु हो जाती है।

मरुनिवासी मनुष्य उष्ट्रों की इन विशेषताओं से पूरा लाभ उठाते हैं। वहाँ कोई भी परिवहनसाधन सुलभ नहीं होता, केवल उष्ट्र ही मनुष्य की सहायता कर पाता है। उष्ट्रों की शक्ति और सहनशीलता सराहनीय है। ये १५-२० मन का भार सरलतापूर्वक वहन करते है। दृष्टांत से ज्ञात है कि एक उष्ट्र एक यात्री तथा छह मन से अधिक भार लेकर ट्युनिसिया से ६०० मील दूर ट्रिपोली तक केवल चार दिन में पहुँचा। सात आठ दिनों तक ये १३५-१५० मील प्रति दिन की गति से चलते है। इसी कारण अंग्रेजों ने इन्हें 'मरुस्थल के जहाज' का नाम दिया है। ऐतिहासिक युग से आधुनिक युग तक मरुप्रदेशों में वाणिज्य तथा व्यवसाय उष्ट्रों के ही द्वारा होता है। इन प्रदेशों में बैल की भाँति उष्ट्र हल में जोते जाते और कुएँ से जल खींचते हैं। इनके मल को सुखाकर ईंधन के रूप में व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त उष्ट्र मनुष्य के भोजन के भी साधन हैं। इनका दूध मनुष्य सेवन करते हैं और इनके मांस का भी रुचिपूर्वक आहार करते हैं। इनके वाल से चित्रकारों की तूलिका, कंबल तथा ऊनी कपड़े बनते हैं। अस्थियों से अनेक प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ बनती हैं।

बैक्ट्रिया का दो कूबड़वाला ऊँट
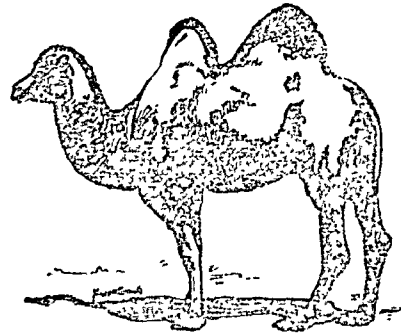
उष्ट्र पूर्णतः शाकाहारी पशु है। मरुस्थल में उपजे पेड़ पौधों का ही ये भोजन करते हैं। शरीर बड़ा होते हुए भी उष्ट्र बहुत अल्पभोजी होते है। इनके मेरुदंड के ऊपर का कूबड़ केवल एक प्रकार की संचित चर्वी है। भोजन न मिलने पर यह चर्बी रक्त द्वारा शोषित होती रहती है और उस काल में कूवढ़ ढीला और संकुचित हो जाता है।

यद्यपि आदिम काल से उष्ट्र मनुष्य के अधीन है, तथापि इनकी मानसिक वृत्तियों का कोई विकास नहीं हुआ। ये न तो अपने मालिक या रखवाले से कोई प्रेमभाव रखते हैं और न बुद्धि का ही कोई परिचय देते हैं। चलते समय एक ही दिशा में चलते रहेंगे। यदि खाद्य पदार्थ से आकृष्ट होकर दिशा वदल दी तो उसी दिशा में चलते रहेंगे। निवासस्थान से कोई संबंध नहीं होता। इनकी प्रकृति उग्र होती है।

एशियाई उष्ट्र दो प्रकार के होने पर भी आपस में संतानोत्पादन करते हैं। ऐसी संतान में कूवड़ एक ही होता है, पर बाल लंबे होते हैं। माता पिता की अपेक्षा ऐसी संतान अधिक परिश्रमी होती है।

उष्ट्रों की आयु ४०-५० वर्ष होती है। साधारणतः दो वर्ष में इनको एक बच्चा पैदा होता है और सारे जीवन में एक उष्ट्र को प्रायः १२ बच्चे होते है। गर्भ ११ महीने का होता है। एक दिन का बच्चा घूमने फिरने लगता है। एक सप्ताह मात्र मे बच्चा तीन फुट ऊँचा हो जाता है। तीन वर्ष की अवस्था होने पर मनुष्य उन्हें शिक्षा देने लगते हैं। १६-१७ वर्ष में ये पूर्ण वृद्धि प्राप्त करते हैं।

कूबड़विहीन उष्ट्र आकार में छोटे होते हैं। ये ऊँचाई में तीन फुट और लंबाई में चार फुट के होते हैं। इनकी गर्दन प्रायः दो फुट लंबी होती है। इनके प्रत्येक पैर के नीचे दो पृथक् पृथक् गद्दियाँ होती हैं। इनके कान कुछ लंबे और नोकीले होते हैं। इनके आमाशय में जलकोश नहीं होता। पूँछ अधिक से अधिक छह इंच लंबी होती है।

अमरीकी उष्ट्र भी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के उष्ट्र दक्षिणी *अमरीका के पैटागोनिया और टियेरा-डिल-फिउगो प्रांतों के पहाड़ी अंचलों* में वास करते हैं। इनके बाल हल्के लाल रंग के होते हैं। ये जंगली पशु हैं, पर मनुष्य ने इन्हें पकड़कर पालतू बना लिया है। इनको अंग्रेजी भाषा में 'गुआनाको' कहते हैं। पालतू गुआनाको के भी दो भेद हैं। एक प्रकार के गुआनाको बड़े होते हैं, जिनको वहाँ के देशवासी लामा कहते हैं। ये मनुष्य की सवारी के लिये तथा भारवाहक रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनके बाल श्वेत रंग के होते हैं और इनकी प्रकृति नम्र होती है। शत्रु द्वारा आक्रांत होने पर लामा खाद्य पदार्थ उगलकर शत्रु के मुहँ पर फेंकता है।

दूसरे प्रकार के गुआनाको कुछ छोटे होते हैं। इनके बाल घने, लंबे और श्वेत रंग के होते हैं। वहाँ के देशवासी इनको 'अलपाका' कहते हैं। ये केवल ऊन के लिये पाले जाते हैं।

लामा और अलपाका आपस में संतानोत्पादन करते हैं, पर ऐसी संतानों में उत्पादन शक्ति नहीं होती।

दूसरे प्रकार के अमरीकी उष्ट्र के लिये 'विकुनिया' नाम प्रचलित है। ये गुआनाको की अपेक्षा छोटे होते हैं। ये दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तट पर ईक्वेडर, चिली, पेरू तथा बोलिविया प्रांतों की आंडीज पर्वतश्रेणी के उच्च शिखर पर वास करते हैं। शिकारी लोग इनका शिकार करते हैं। ये पूर्णतः जंगली पशु हैं। इनके बाल हल्के बादामी रंग के होते हैं।

एशियाई उष्ट्रों की भाँति अमरीकी उष्ट्र भी शाकाहारी होते हैं। इनका भी दूध और मांस मनुष्य खाते हैं। चमड़े से जूता इत्यादि बनता है और बालों से ऊनी कपड़े।

भूवैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि प्रायः दो करोड़ वर्ष पूर्व उष्ट्र वंश का जन्म उत्तरी अमरीका में हुआ। उस समय इनका आकार पाँच उँगलियों से युक्त खरगोश के बराबर था। क्रमानुसार विकास द्वारा लगभग एक लाख वर्ष पूर्व ये आधुनिक आकार के दो उँगलीवाले पशु बने। इस बीच इनके आकार में बहुत परिवर्तन हुआ। इन विभिन्न वंशजों के कंकाल अमरीका की चट्टानों में मिले हैं। आधुनिक आकार के उष्ट्रों के कंकाल यूरोप तथा एशिया में पाए गए हैं।

एक लाख वर्ष पूर्व उष्ट्रों की जन्मभूमि अमरीका के भूखंड में भारी परिवर्तन हुआ। वहाँ की जलवायु में बहुत अंतर हो गया। इस कारण उष्ट्रगण अपनी जन्मभूमि को त्यागकर उत्तर और दक्षिण दिशा में फैल गए। इनकी एक शाखा उत्तर पश्चिम प्रांतों से होती हुई एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका पहुँची और दूसरी शाखा पनामा के स्थल-डमरू-मध्य होती हुई दक्षिण अमरीका पहुँची।

आधुनिक युग में लामा को यूरोप तथा आस्ट्रेलिया में पालने का प्रयत्न किया गया, पर सफलता नहीं मिली। इसी प्रकार एशियाई उष्ट्रों को अमरीका में पालने का प्रयास किया गया, पर अमरीका निवासियों ने इस योजना को प्रोत्साहन नहीं दिया। वस्तुतः अमरीका जैसे प्रदेश में उष्ट्रों की कोई आवश्यकता नहीं है। (श० च०)

उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान

उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान उष्ण देशों के उन विशेष रोगों की चिकित्सा का विज्ञान है, जो अन्य देशों में नहीं होते। ये व्याधियाँ इन देशों में विशेष रूप से ऐसे कारणों पर निर्भर हैं जो इनके प्रसरण में सहायक हैं अथवा वे रोग हैं जो स्वच्छता के अभाव, शिक्षा के निम्न स्तर तथा लोगों की निम्न आर्थिक अवस्था से संबद्ध हैं। इस प्रकार के रोगों में पोषक तत्वों की कमी के कारण उत्पन्न रोग तथा कुछ संक्रामक रोग हैं। यद्यपि कुछ द्वैपिता (मैलिग्नैन्सी) तथा चिरकालिक विह्रसन (क्रॉनिक डिजेनरेशन) वाले रोग इसके अंतर्गत आते हैं, तथापि जनस्वास्थ्य की दृष्टि से उनका स्थान गौण है।

उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान उन व्याधियों पर विशेष ध्यान देता है जो समशीतोष्ण किंतु अधिक उन्नत देशों में आभ्यंतरिक (दबी हुई) रहती हैं; परंतु यक्ष्मा (तपेदिक), उपदंश आदि व्याधियों पर, जो विश्व में समान रूप से फैली हुई हैं, विशेष ध्यान नहीं देता, यद्यपि ये ही रोग इन देशों में होनेवाली अधिकांश मृत्युओं का कारण होते हैं।

पूर्वोक्त उष्णदेशीय व्याधियों की कसौटी कामचलाऊ ही है। क्योंकि *कुछ व्याधियाँ, जो अब उष्ण देशों के लिये आभ्यंतरिक हैं, पहले यहीं* उग्र रूप में पाई जाती थीं। उदाहरण के लिये जूड़ी (मलेरिया) को लीजिए। यह १९वीं शताब्दी में उत्तरी संयुक्त राज्य, अमरीका, में पाया जाता था और अब वहाँ के लिये आभ्यंतरिक व्याधि है। उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

प्रगति—उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान का विकास अधिकतर इन देशों में विदेशियों के आ बसने तथा वाणिज्य के साथ हुआ है। प्रारंभ में इन देशों में जानेवाले यात्रियों तथा यहाँ पर नियुक्त अधिकारियों की स्वास्थ्य-सुरक्षा के निमित्त नियुक्त किए गए प्रबंधकों को ही यहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य की देखभाल भी सौंप दी गई। १८७५ से १९२५ ई० तक का काल उष्ण जलवायुवाले देशों के कई रोगों के कारणों तथा प्रसार के विशद अध्ययन के लिये अपूर्व है।

१८९७ ई० में रोनाल्ड रॉस नामक वैज्ञानिक ने जूड़ी के अंडकोशा (ऊसाइट) का ऐनाफलाइन जाति की स्त्री मच्छर में उपस्थिति का पता लगाया। उसके १७ वर्ष बाद अलफांसी-लायरन नामक वैज्ञानिक ने इसी रोग के परोपजीवियों की उपस्थिति मानव रुधिर में पाई। शताब्दी के अंत में इन तथ्यों के साथ साथ इसी प्रकार की अन्य खोजें भी हुईं, जिनसे कालज्वर (काला आज़ार), अफ्रीकी निद्रारोग, तनुसूत्र आदि रोगों के कारणों का पता लगाया गया।

वैक्सीन तथा रोगाणुनाशी (ऐंटीबायटिक) ओषधियों के आविष्कार ने इस प्रकार के रोगों के प्रसरण को अवरुद्ध कर दिया है।

विशालतर पैमाने पर इन देशों की व्याधियों के प्रभावों को क्षीण करने तथा इनके प्रसार की रोकथाम करने के लिये सभी देशों के संयुक्त प्रयासों के साथ साथ उन वैज्ञानिकों के प्रयत्नों की भी आवश्यकता है जो विज्ञान की नवीनतम खोजों के अनुसार महत्तम सफलतादायक हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संगठित विश्व स्वास्थ्य संस्था (वर्ल्ड हाइजीन ऑरगैनाइज़ेशन) इस ओर कार्यरत है। अपनी सर्वप्रथम बैठक में ही इस संस्था ने मलेरिया के उन्मूलन के लिये एक अंतरराष्ट्रीय कार्यक्रम स्वीकृत किया था।

उष्णदेशीय निवासियों की स्वास्थ्यसुरक्षा की देखभाल के साथ साथ उनके शिक्षा तथा आर्थिक स्तर को ऊपर उठानेवाले कार्यक्रमों की भी आवश्यकता है।

सं०ग्रं०—जी० सी० शैटक : डिज़ीज़ेज़ ऑव ट्रॉपिक्स (१९५१); पी० एच० मैनसन : मैनसन्स ट्रॉपिकल डिज़ीज़ेज (१९५०); मैकी, हंटर और वर्थ : ए मैनुअल ऑव ट्रॉपिकल मेडिसिन (१९५५)। (दे० सिं०)

उष्णीष कमल

उष्णीष कमल द्र० 'कमल'।

उष्मा

उष्मा (अंग्रेजी में हीट) की प्रकृति का अध्ययन तथा पदार्थों पर उसका प्रभाव जितना मानव हित से संबंधित है उतना कदाचित् और कोई वैज्ञानिक विषय नहीं। उष्मा से प्राणिमात्र का भोजन बनता है। वसंत ऋतु के आगमन पर उष्मा के प्रभाव से ही कली खिलकर फूल हो जाती है तथा वनस्पति क्षेत्र में एक नए जीवन का संचार होता है। इसी के प्रभाव से अंडे से बच्चा बनता है। इन कारणों से यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पुरातन काल में इस बलवान्, प्रभावशील तथा उपयोगी अभिकर्ता से मानव प्रभावित हुआ तथा उसकी पूजा और अर्चना करने लगा। कदाचित् इसी कारण मानव ने सूर्य की पूजा की। पृथ्वी पर उष्मा के लगभग संपूर्ण महत्वपूर्ण प्रभावों का स्रोत सूर्य है। कोयला, तेल, पेट्रोल, जिनसे हमें उष्मा प्राप्त होती है, प्राचीन युगों से संचित धूप का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इतिहास—उष्मा के सामान्य प्रभावों का स्पष्टीकरण करने के हेतु अग्नि-परमाणुओं का आविष्कार किया गया, जो पदार्थ के रंध्रों के बीच प्रचंड गति से दौड़ते हुए तथा उसके अणुओं को तितर बितर करते हुए माने गए थे। विचार था कि इसके फलस्वरूप ठोस पदार्थ द्रव में तथा द्रव वाष्प में परिवर्तित होते है।

विज्ञान के आरंभिक युग से लेकर वर्तमान शताब्दी के प्रारभ तक उष्मा की प्रकृति के संबंध में दो प्रतिद्वंद्वी परिकल्पनाएँ साधारणतया चली आई हैं। एक तो है उपिक सिद्धांत (कैलोरिक थ्योरी) जिसके अनुसार उष्मा को एक अति सूक्ष्म लचीला द्रव माना गया था जो पदार्थो के रंध्रों में प्रवेश करके उनके अणुओं के बीच के स्थान को भर लेता है। दूसरा है प्राचीन यूनानियों द्वारा चलाया गया सिद्धांत जिसमे उष्मा के आधुनिक सिद्धांत का अंकुर पाया जाता है। इसके अनुसार उष्मा पदार्थ के कणों के द्रुत कंपन के कारण होती है; अतः इस मत के अनुसार उष्मा का कारण गति है। इस सिद्धांत के पोपक बहुत दिनों तक अल्प मत में रहे।

प्रेक्षण पर आधारित सिद्धांत की रचना में प्रथम प्रयत्न लार्ड बेकन ने किया तथा वे इस परिणाम पर पहुँचे कि उष्मा गति है। इंग्लैंड में उनके अनुयायियों के मत से यह 'गति' पदार्थ के अणुओं की थी। परंतु यूरोप के अधिकतर वैज्ञानिकों के मतानुसार यह एक अतिसूक्ष्म तथा लचीले द्रव के कणों की मानी गई जो पदार्थ के रंध्रों में अंतःप्रविष्ट होकर उसके कणों के बीच स्थित माना गया था।

उपिक सिद्धांत—उपिक सिद्धांत के अनुसार उष्मा का कारण एक अति लचीले स्वप्रतिकर्षक तथा सर्वव्यापी द्रव की क्रिया था। इस द्रव के गुण ये माने गए: यह अति लचीला था तथा इसके कण परस्पर प्रतिकर्षण करते थे। इस द्रव को 'कैलरिक' नाम दिया गया। प्रतिकर्षण गुण के कारण जलने पर यह द्रव उष्मा तथा प्रकाश उत्पन्न करता हुआ माना गया। 'कैलरिक' के कण परस्पर तो प्रतिकर्षक थे परंतु साधारण पदार्थ के कणों से आकर्षित होते माने गए। विभिन्न पदार्थो के कण उसे विभिन्न बल से आकर्षित करते थे। यह द्रव अनाश्य तथा अजन्मा माना गया।

उपिक सिद्धांत के अनुसार पदार्थ 'कैलरिक' की वृद्धि से उष्ण होता था तथा उसके ह्रास से शीतल। पदार्थ पर उष्मा के भिन्न भिन्न प्रभावों को कैलरिक सिद्धांत के अनुसार स्पष्टीकरण के प्रयत्न होते रहे। कुछ का तो स्पष्टीकरण सरलता से हो गया परंतु कुछ के लिये अन्य अनेक कल्पनाएँ करनी पड़ी।

घर्षण द्वारा उष्माजनन की घटना मानव को आदिकाल से ज्ञात है। कैलरिक सिद्धांत के अनुसार इसके स्पष्टीकरण के प्रयत्न किए गए, परंतु वे संतोपप्रद न हो सके।

उष्मागतिकी—घर्षण द्वारा उष्मा के उद्भव में एक विशेषता यह है कि पदार्थो का जितना अधिक घर्षण किया जाता है उतनी अधिक मात्रा में उष्मा निकलती है, अतः इस रीति से अनंत मात्रा में उष्मा मिल सकती है। इसका स्पष्टीकरण कैलरिक मत से नहीं हो सकता जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ में सीमित मात्रा में उष्मा-द्रव रहता है। वस्तुतः यह कार्य तथा उससे उत्पन्न उष्मा के विषय में जूल ने महत्वपूर्ण प्रयोग किए तथा वह यह सिद्ध करने में सफल हुआ कि कार्य तथा उष्मा में तुल्यता है। जब कार्य किया जाता है तब उष्मा की उत्पत्ति होती है। यदि कार्य तथा उष्मा का मान क्रमानुसार का (W) तथा उ (H) है तो का = जू उ (W = J H) यहाँ जू (J) स्थिर है तथा इसे उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक कहते है। अतः जू (J) कार्य की वह मात्रा है जिससे एक कैलरी उष्मा उत्पन्न हो। इसका मान ४.१८ × १०⁷ अर्ग प्रति कैलरी है।

काउंट रूमफोर्ड ने इस विषय में यह सुझाव दिया था कि कार्य से उष्मा-जनन का कारण गति है। अब प्रश्न उठता है, 'किसकी गति ?'

गतिज सिद्धांत—पदार्थ की रचना अणुओं तथा परमाणुओं से हुई है। पदार्थ के तीन रूप होते है: ठोस, द्रव तथा गैस। यदि कोई ठोस पदार्थ उष्ण किया जाय तो उसके ताप में वृद्धि होती है। एक निश्चित ताप पर पहुँचकर यह गलने लगता है तथा द्रव रूप में परिवर्तित हो जाता है। और अधिक उष्ण करने से द्रव की तापवृद्धि होती है तथा एक दूसरे निश्चित ताप पर इसका वाष्पीकरण आरंभ हो जाता है। जब संपूर्ण द्रव वाष्प में परिवर्तित हो जाता है तब इसे गैस कहते हैं।

गतिज सिद्धांत के अनुसार पदार्थ के अणु शाश्वत गति की अवस्था में रहते हैं। अणु की गति पदार्थ के ताप पर निर्भर रहती है। पदार्थ जितना अधिक उष्ण होता है उतनी ही अधिक प्रचंड गति उसके अणुओं में होती है। ठोस पदार्थ में अणु एक मध्यक स्थिति के चारों ओर प्रदोलन करता है। तापवृद्धि से अणुप्रदोलन में वृद्धि होती है तथा अंत में प्रदोलन इतना प्रचंड हो जाता है कि अणु अपने स्थान से पृथक् होकर इधर उधर अन्य अणुओं के स्थानों पर चला जाता है तथा अपनी नवीन स्थिति में प्रचंडता से प्रदोलन करने लगता है। इस अवस्था में अणुओं की परस्पर आकर्पण शक्ति, जो उनको अपने स्थानों पर रखती है, इतनी मंद हो जाती है कि तनिक सी ठेस लगने से पदार्थ का रूप परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था को पदार्थ की तरल अवस्था कहते हैं। अतएव तरल अवस्था में अणुओं में दोलन के साथ साथ रैखिक गति भी होती है। ठोस अवस्था के अणुओं में दोलन क्रिया को प्रचंड करने में तथा उनमें रैखिक गति उत्पन्न करने में उष्मा की आवश्यकता होगी। यह उष्मा गलन की गुप्त उष्मा के तुल्य होती है।

अब यदि हम द्रव पदार्थ का क्रमशः तापन करें तो आणविक ऊर्जा में वृद्धि होगी तथा द्रवपृष्ठ के निकट आते हुए किसी अणु की गति इतनी तीव्र हो सकती है कि वह आसपास के अन्य अणुओं के आकर्पण का निराकरण करके द्रव को छोड़कर उसके ऊपर के स्थान में चला जाय। इस प्रकार प्रक्षिप्त अणुओं का एक सतत स्रोत द्रव से निकलता रहेगा। इसे हम वाष्पीकरण कहते हैं तथा अंततः जब संपूर्ण अणु द्रव को छोड़ देते है तो वह गैस में परिवर्तित हो जाता है।

गैस अवस्था में अणु सरल रेखाओं में चलते हैं तथा परस्पर टकराते पर उनकी गति तथा दिशा में परिवर्तन होता है। दो अनुगामी टक्करों के बीच का मुक्त पथ सरल रेखीय तथा अति न्यून होता है। इस पथ पर चलने हुए द्रव अवस्था से गैस अवस्था में परिवर्तन होने के लिये अणुओं को अपने पारस्परिक आकर्पण के विरुद्ध पृथक् होना पड़ता है। इसके लिये कार्य की आवश्यकता होती है तथा यह कार्य वाष्पीकरण की गुप्त उष्मा के तुल्य होता है।

विकिरण-उष्मा का तरंगवाद—घर्षण तथा संघट्टन (टकराने) से वस्तुओं की इंद्रियग्राह्य शक्ति का लोप हो जाता है तथा उष्मा का जनन होता है। यह कल्पना है कि इन घटनाओं में गति का क्षय नहीं होता वरन् वह केवल संपूर्ण वस्तु से उसके प्रत्येक कण में स्थानांतरित होती हैं। अतः जब एक गतिशील वस्तु घर्षण अथवा संघट्टन द्वारा रोकी जाती है तो वस्तु की मौलिक दृश्य गति का अंत नहीं होता; परंतु वह उस वस्तु के अदृश्य अणुओं तथा परमाणुओं में चली जाती है।

किसी तप्त वस्तु से कुछ दूरी पर हमें उष्णता का आभास होता है। यह उष्मा वस्तु से हम तक कैसे आई? सूर्य पृथ्वी के समस्त उष्मिक प्रभावों का स्रोत है। सूर्य से प्रकाश तथा उष्मा दोनों ही आते है। प्रकाश व्योम (ईथर) में तरंगगति के कारण होता है, ऐसी कल्पना है। इस कल्पना की पुष्टि मे प्रमाण हैं। इसी प्रकार उष्मा भी व्योम में तरंगगति के कारण होती है। विकिरण उष्मा, उदाहरणतया धातु के एक तप्त खंड से उत्सर्जित उष्मा तथा प्रकाश के आचरण यथार्थतः एक समान होते है। इन दोनों में वास्तविक अंतर, जिसका उपलंभन हो सकता है, यह है, कि प्रकाश में विकीर्ण उष्मा के समस्त लक्षणों के अतिरिक्त दृष्टि की अनुभूति को प्रभावित करने का लक्षण भी होता है।

अतः प्रकाश के समान विकीर्ण उष्मा भी व्योम में तरंगगति के कारण मानी जाती है। एक तप्त पदार्थ के अणु तीव्र गति की अवस्था में होते हैं अथवा किसी द्रुत-आवर्ती विक्षोभ के केंद्र होते हैं तथा वे व्योम मे तरंगें प्रदीप्त करते हैं जो हमारे तथा तप्त वस्तु के मध्य प्रकाशगति से चलती हैं। जब वे हमारे ऊपर गिरती हैं तो शरीर द्वारा शोपित हो जाती हैं तथा हमारे शरीर के अणुओं में तदनुरूप गति का कारण होती हैं। इस प्रकार हमें उष्णता का बोध होता है। अतः उष्णता का बोध तप्त पदार्थ से अपसारित व्योमतरंगों के कारण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार दीप्त पदार्थ से चक्षु तथा एक ध्वनित वस्तु से वायुतरंगों द्वारा कान प्रभावित होता है।

किसी स्थान पर स्थित पदार्थ व्योम के सतत क्षोभ का स्रोत माना जाता है। पदार्थ का प्रत्येक कण कंपन करते हुए व्योम में तरंगों का जनन

करता है। अतः हम सदैव चारों ओर से आती हुई विकिरणतरंगों में डूबे रहते है। इन तरगो द्वारा हमे दृष्टि तथा उष्मा का बोध होता है। यदि यह तरग निश्चित आवृत्तिसीमाओं के बीच की है तो उससे चक्षु प्रभावित होता है तथा इसे हम प्रकाशतरंग कहते है। यह तरंग हमारे शरीर के अणुओं मे विक्षोभ भी उत्पन्न कर सकती है और इस कारण हमे उष्णता का बोध कराती है। मद कपन की तरंगे चक्षुओ को प्रभावित नही करती, वे केवल शरीर को उष्ण करती है। इन्हे अवरक्त किरणे (इनफ्रा-रेड रेज) कहते है। द्रुत कपन की तरगे चक्षु को प्रभावित कर प्रकाश का बोध देती है, उनसे उष्णता का बोध नही के समान होता है। इन्हे हम दृश्य प्रकाशतरग कहते है।

इस संवध मे अग्रलिखित लेख भी देखे : उष्मागतिकी, उष्मामिति, उष्मायन, ऊर्जा, क्वांटम यांत्रिकी, क्वांटम सांख्यिकी, तापमापन, ताप-विद्युत्, वाष्पायन, विकिरण। (प्रे० ना० श०)

१. मापनी—शीतोष्णता का अनुभव प्राणियो की स्पर्शेद्रिय का स्वाभाविक गुण है। इस अनुभव को मात्रात्मक रूप मे व्यक्त करने के लिये एक पैमाने की आवश्यकता पडती है जिनको तापक्रम (स्केल ऑव टेंपरेचर) कहते है। अपेक्षाकृत अधिक गरम प्रतीत होनेवाली वस्तु के विषय मे कहा जाता है कि उसका ताप (टेंपरेचर) अधिक है। पदार्थो मे तापवृद्धि का कारण यह होता है कि उनमे ऊर्जा (एनर्जी) के एक विशेष रूप, उष्मा की वृद्धि हो जाती है। उष्मा सदैव ऊँचे तापवाले पदार्थो से निम्न तापवाले पदार्थो की ओर प्रवाहित होती है और उसकी मात्रा पदार्थ के द्रव्यमान (मास) तथा ताप पर निर्भर रहती है।

२. तापक्रम—छूने से ताप का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मात्रात्मक और विश्वसनीय नही होता। इसी कारण इस कार्य के लिये यांत्रिक उपकरण प्रयुक्त होते है जिनको तापमापी अथवा थर्मामीटर कहते है। सर्वसाधारण मे जिन थर्मामीटरो का प्रचार है उनमे शीशे की एक छोटी खोखली घुडी (वल्व) होती है जिसमे पारा या अन्य द्रव भरा रहता है। वल्व के साथ एक पतली नली जुडी रहती है। तापीय प्रसरण (थर्मल एक्स्पैंशन) के कारण द्रव नली मे चढ जाता है और उसके यथार्थ स्थान से ताप की डिग्री का वोध होता है। इस प्रकार के थर्मामीटर १६५४ ई० के लगभग फ्लोरेन्स में टस्कनी के ग्रैंड ड्यूक फर्डिनैंड ने प्रचलित किए थे। तापक्रम निश्चित करने के लिये इन थर्मामीटरो को सर्वप्रथम पिघलते हुए शुद्ध हिम (बरफ) मे रखकर नली में द्रव की स्थिति पर चिह्न लगा देते हैं। इस चिह्न को हिमांक कहते हैं। फिर थर्मामीटर को प्रामाणिक दाव पर उवलते शुद्ध पानी में रखते है और इसी प्रकार क्वथनांक का चिह्न बना देते है। सेंटीग्रेड पैमाने में हिमाक को शून्य मानते हैं तथा इसके और क्वथनाक के बीच की दूरी को १०० बराबर भागो मे बाँट देते है जिनमे से प्रत्येक को डिग्री कहते है। आजकल इस पैमाने को सेलसियस पैमाना कहते है। फारेनहाइट मापक्रम मे हिमाक को ३२° और रोमर मे शून्य डिग्री मानते है किंतु फारेनहाइट मे पूर्वोक्त हिमाक और जल के क्वथनाक की दूरी १८० भागों में और रोमर मे ८० भागो मे विभक्त की जाती है।

यदि दो भिन्न द्रवो मे थर्मामीटर बनाकर उपर्युक्त विधि से अंकित किए जायें तो हिमाक और क्वथनांक को छोडकर अन्य तापो पर सामान्यतः उनके पाठ्यांको में भेद पाया जायगा। अतः केवल उष्मागतिकी (द्र०) पर आधारित पैमाने को प्रामाणिक मानते हैं और थर्मामीटरों के अंको को उसी के अनुसार शुद्ध कर लेते है। इस पैमाने को परम ताप (ऐब्सोल्यूट टेंपरेचर) अथवा केल्विन मापक्रम भी कहा जाता है और इसके पाठ्यांक अंग्रेजी मे T से व्यक्त किए जाते है। यहाँ तथा उष्मागतिकी शीर्षक लेख मे परम ताप को **पा** या T से सूचित किया गया है। यह कार्नो चक्र पर आधारित है और इसका शून्य परम शून्य होता है जिसका मान –२७३.२° सें० है और जिससे न्यूनतर ताप संभव नही हो सकता।

पूर्वोक्त शीशे-के-भीतर-द्रववाले तापमापियो की उपयोगिता सीमित ही होती है। ३००° सें० से ऊपर प्राय: विद्युतीय प्रतिरोध और ताप-वैद्युतीय (थर्मोइलेक्ट्रिक) थर्मामीटर प्रयुक्त होते है। अति उच्च ताप के मापनार्थ केवल विकिरण सिद्धांतों पर आधारित उत्तापमापियों (पायरोमीटरो) का प्रयोग होता है। शून्य डिग्री सेंटीग्रेड से नीचे गैस थर्मामीटर, विद्युतीय प्रतिरोध थर्मामीटर, हीलियम-वाष्प-दाव थर्मामीटर, और परम शून्य के निकट चुंबकीय प्रवृत्ति (मैगनेटिक ससेप्टिबिलिटी) पर आधारित थर्मामीटर प्रयुक्त होते हैं। इन सब तापमापियो के अंक या तो आदर्श गैस थर्मामीटरो से मिलाकर शुद्ध किए जाते हैं अथवा इनके शोधन के लिये उष्मागतिकी के सिद्धातो का आश्रय लिया जाता है। (विशेष विवरण के लिये **तापमापन** शीर्षक लेख द्र०।)

३. अवस्थापरिवर्तन—उष्मा के प्रभाव से पदार्थो की अवस्था मे परिवर्तन किया जा सकता है और कुछ अस्थायी यौगिको को छोड़कर सब का अस्तित्व गैस, द्रव और ठोस, इन तीनो रूपो में संभव है। सामान्य वायुमंडलीय दाव पर द्रव का ठोस अथवा वाष्प मे परिवर्तन निश्चित तापों पर होता है जिनको हिमाक और क्वथनांक कहते है। उपर्युक्त दाव पर यदि एक ग्राम पदार्थ का अवस्थापरिवर्तन किया जाय तो उष्मा की एक निश्चित मात्रा या तो उत्पन्न अथवा शोषित होती है। इसको गुप्त उष्मा (लेटेंट हीट) कहते है। ताप की उचित वृद्धि होने पर सब ठोस द्रव मे बदल जाते हैं और इसी प्रकार गैसो को निम्नलिखित विधियो से द्रवो मे और उसके उपरांत ठंडा करने पर ठोसों मे बदला जा सकता है। ठोस के रूप मे बदली जानेवाली अंतिम गैस हीलियम है जिसको ठोस बनाने के लिये द्रव को ठंडा करने के साथ ही उसपर अत्यधिक दाव भी लगाना पड़ता है।

प्रत्येक गैस का अपना एक क्रांतिक ताप (क्रिटिकल टेंपरेचर) होता है। यदि गैस का ताप इससे कम हो तो केवल दाव बढ़ाने से ही उसे द्रव बनाना संभव होता है, अन्यथा सर्वप्रथम ठंडा करके उसका ताप क्रांतिक ताप से नीचे ले आते है। द्रव के रूप मे बदली जानेवाली अंतिम गैसे वायु, हाइड्रोजन और हीलियम है। वायु को क्रांतिक ताप से नीचे ठंडा करने के लिये जूल-टामसन-प्रभाव का उपयोग करते हैं। यदि कोई उच्च दाव की गैस महीन छेदों मे से होकर कम दाव वाले भाग में निकाली जाय तो वह प्रायः ठंडी हो जाती है। इसी को जूल-टामसन-प्रभाव कहते है। इसकी मात्रा बहुत कम होती है। उदाहरणार्थ यदि छेद के दोनो ओर दाव की मात्रा क्रमानुसार ५० वायुमंडल और १ वायुमंडल हो तो साधारण ताप की हवा केवल ११.७° सें० ठंडी होती है। किंतु एक बार ठंडी होनेवाली गैस ऊपर उठकर आनेवाली गैस को ठंडी कर देती है। जब गैस के इस ठंडे अंश पर जूल-टामसन-प्रभाव पड़ता है तो यह और अधिक ठंढी हो जाती है। यह क्रिया बारंबार करने से अंततः गैस इतनी ठंढी हो जाती है कि उसका ताप क्रांतिक ताप से नीचे चला जाता है और वह केवल दाब के प्रभाव से ही द्रव मे बदल जाती है। वायु के द्रवण (लीक्विफ़ैक्शन) की दो मशीने लिंडे और क्लॉड-हाईलैंड के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम उपकरण में केवल उपर्युक्त विधि का ही प्रयोग होता है, किंतु दूसरे मे इस विधि के अतिरिक्त गैस का कुछ अंश एक इंजिन के पिस्टन को चलाता है। अतः काम करने के कारण यह अंश स्वतः ठंढा हो जाता है।

साधारण ताप पर हाइड्रोजन और हीलियम ये दोनो गैसे जूल-टामसन-प्रभाव के कारण गरम हो जाती है, परंतु ताप उचित मात्रा मे कम होने पर सामान्य गैसो की तरह ही ठंढी होती है। अतः इन गैसों को पहले ही इतना ठंढा कर लेना आवश्यक है कि इस प्रभाव का लाभ उठाया जा सके। डेवर ने १८९८ मे हाइड्रोजन को द्रवित वायु से ठंडा करने के पश्चात् लिंडे की उपर्युत विधि से द्रव मे परिणत किया। ओन्स ने इसी विधि से १९०८ मे अंतिम गैस हीलियम का द्रवण किया, किंतु जूल-टामसन-प्रभाव का उपयोग करने से पूर्व इसको द्रव हाइड्रोजन से ठंढा कर लिया गया था।

वायुमंडलीय दाव पर हीलियम का क्वथनांक ४° पा (T) है। दाब घटाकर वाष्पन करने से ०.७° पा (T) तक पहुँचा जा सकता है। इससे भी कम ताप की उत्पत्ति स्थिरोष्म विचुंबकन (ऐडियाबैटिक डिमैगनेटिजेशन) द्वारा की जा सकती है। इस विधि में विशेष समचुंबकीय (पैरामैगनेटिक) लवण प्रयुक्त होते है। ऐसे एक लवण को चुंबकीय ध्रुवों के बीच हीलियम गैस से भरी नली मे लटकाया जाता है। यह नली स्थिर ताप के हीलियम द्रव से घिरी रहती है। चुंबकीय क्षेत्र स्थापित करने पर चुंबकन-उष्मा (हीट

ऑव मैगनेटिज़ेशन) को हीलियम द्रव खींच लेता है, अतः ताप स्थिर रहता है। अब नली को हीलियम गैस निकाल ली जाती है जिससे लवण का हीलियम द्रव से उष्मिक पृथक्करण (इनसुलेशन) हो जाता है। इसके उपरांत चुंबकीय क्षेत्र हटा लेते हैं। लवण का विचुंबकन हो जाता है और इस कार्य में उष्मा व्यय होने से वह स्वतः ठंढा हो जाता है। इस प्रकार ताप को लगभग ०.००१° पा तक घटाया जा सकता है। नाभिकीय विचुंबकन (न्यूक्लियर डिमैग्नेटिज़ेशन) द्वारा इससे भी निम्न ताप की प्राप्ति हो सकती है।

४. तापीय प्रसरण--तापवृद्धि होने पर प्रायः सब वस्तुओं के आकार में वृद्धि होती है जिसको तापीय प्रसरण कहते हैं। यदि शून्य ताप पर आयतन आ$_0$ (V_0) हो तो प° (t°) पर संनिकटतः आयतन निकालने के लिये निम्नलिखित सूत्र लागू होता है :

आ$_प$ = आ$_0$ (१ + प्राप) ।

$$V_t = V^\circ (1 + \beta t) \text{।}$$

प्रा(β) को प्रसरण गुणांक कहते हैं। ताप में अधिक वृद्धि होने पर इस सूत्र में प (t) के उच्च घात (पावर) भी आते हैं। ठोसों में पूर्वोक्त प्रकार का सूत्र लंबाई के प्रसरण के लिये भी होता है जिसके गुणांक को प्र(α) से व्यक्त करते हैं और रेखीय प्रसरण गुणांक कहते हैं। यह प्रा(β) का १/३ होता है।

गैसों और द्रवों का प्रसरण गुणांक बहुत बड़ा होता है, अतः उसका मापन अपेक्षाकृत सरल है। गैसों में दाब और आयतन दोनों का प्रसरण होता है। यदि दाब स्थिर हो तो पूर्वोक्त सूत्र आयतन पर पूर्ण रूप से लागू होता है। आयतन स्थिर होने पर इसी सूत्र में आ(V) के स्थान पर दा(P) लिखकर दाब का सूत्र बन जाता है। प्रा (β) दोनों सूत्रों में एक ही है और इसका मान सब आदर्श गैसों में १।२७३ के लगभग होता है। सब गैसें क्रांतिक ताप से बहुत ऊँचे ताप पर आदर्श गैसें होती हैं, किंतु यदि इनका क्वथनांक निकट न हो और दाब अधिक न हो तो सामान्यतः आक्सिजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन और हीलियम को आदर्श गैसें कहते हैं। सब आदर्श गैसों पर निम्नलिखित सूत्र लागू होता है :

दा आ = क पा,

$$P V = R T,$$

जिसमें दा (P) दाब और आ (V) आयतन है। पा (T) परम ताप है जिसकी मात्रा सेंटीग्रेड ताप में २७३ जोड़ने पर प्राप्त होती है। क (R) को गैस नियतांक कहते हैं। एक ग्राम-अणु (ग्राम-मॉलिक्यूल) गैस के लिये इसकी मात्रा लगभग दो कलरी अथवा ८.३ जूल होती है।

ठोसों का प्रसरण गुणांक बहुत कम होता है, अतः इसके मापन में विशेष विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। मणिभ (क्रिस्टल) बहुत छोटे होते हैं, अतः उनके प्रसरण का मापन और भी दुष्कर होता है। एक उपकरण में क्रिस्टल पट्टिका और सिलिका की पट्टिका के बीच में प्रकाशीय व्यतिकरण धारियाँ (ऑप्टिकल इंटरफियरेन्स फ्रिंजेज़) उत्पन्न की जाती हैं। तापवृद्धि से धारियाँ स्थानांतरित हो जाती हैं जिसके मापन से गुणांक निकाला जा सकता है। उच्च संमिति (सिमेट्री) के क्रिस्टलों को छोड़कर अन्य क्रिस्टलों के प्रसरणगुणांक दिशा के अनुसार भिन्न होते है। ठोसों के संबंध में ग्रोनाइज़न का यह नियम है कि "प्रत्येक धातु का प्रसरण गुणांक उसकी स्थिर दाबवाली विशिष्ट उष्मा का समानुपाती होता है।"

५. कलरीमिति--एक ग्राम पानी का ताप १४.५° सें० से १५.५° सें० तक बढ़ाने में जितनी उष्मा की आवश्यकता होती है उसे एक कलरी कहते हैं। अन्य ताप पर पानी की १° तापवृद्धि के लिये इससे कुछ भिन्न मात्रा की आवश्यकता होती है, पर दोनों का अंतर कभी भी १/२ प्रतिशत से अधिक नहीं होता। किसी १ ग्राम वस्तु में १° सें० तापपरिवर्तन करनेवाली उष्मा को उसकी विशिष्ट उष्मा (स्पेसिफ़िक हीट) कहते हैं। विशिष्ट उष्मा वि(S) को किसी वस्तु के द्रव्यमान द्र (m) ग्राम का ताप प(t) डिग्री सें० बढ़ाने में द्र वि प (mSt) कलरियाँ व्यय होती हैं। किसी वस्तु की विशिष्ट उष्मा ज्ञात करने के लिये सर्वप्रथम उसको ऊँचे ताप तक गरम करते हैं और फिर उसको एक आंशिक रूप से पानी भरे बरतन (कलरीमापी) में डाल देते हैं। वस्तु के ठंढी होने में जितनी कलरियाँ मिली उनको कलरीमापी और पानी द्वारा प्राप्त कलरियों के बराबर रखकर विशिष्ट उष्मा की गणना कर लेते हैं।

विशिष्ट उष्मा निकालने की एक अन्य विधि यह भी है कि पदार्थ के ऊपर इतनी भाप को प्रवाहित करें कि उसका ताप बढ़कर भाप के ताप के बराबर हो जाय। यदि इस विधि में द्र (m) ग्राम भाप संघनित (कनडेन्स) होती है तो उसके पानी बनने में द्र × गु ($m \times L$) कलरी प्राप्त होती है (गु(L) = गुप्त ताप)। इसको पदार्थ द्वारा शोषित उष्मा के बराबर रखकर विशिष्ट उष्मा की गणना कर लेते हैं।

विशिष्ट उष्मामापन की उत्तम विधि विद्युतीय होती है। इसमें पदार्थ को विद्युतीय उपायों से उष्मा दी जाती है और ताप का मान भी विद्युतीय तापमापियों द्वारा ही जाना जाता है। ठोस पदार्थों के लिये यह विधि सर्वप्रथम गेडे ने १९०२ में प्रचलित की थी। नर्न्स्ट और उसके सहयोगियों ने इसको निम्न ताप पर विशिष्ट उष्मामापन के लिये प्रयुक्त किया और सैद्धांतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण फल प्राप्त किए।

तापवृद्धि के समय बाह्य स्थिति के अनुसार पदार्थों की विशिष्ट उष्मा के अनेक मान होते हैं। एक तो स्थिर आयतनवाली विशिष्ट उष्मा होती है जो उसकी आंतरिक ऊर्जा से संबंधित रहती है। मापन क्रिया के समय आयतन में परिवर्तन होने के कारण आयतनवृद्धि के लिये काम (कर्म) करना पड़ता है और तापवृद्धि के साथ साथ कुछ उष्मा की इस काम के लिये भी आवश्यकता होती है। काम की मात्रा दाब के आश्रित है और यदि यह दाब स्थिर न हो तो यह मात्रा भी परिवर्तित होगी। इसीलिये स्थितियों में भेद होने के कारण विशिष्ट उष्मा के अनेक मान होते है, किंतु सुविधा के लिये केवल दो पर ही विचार किया जाता है। एक का संबंध स्थिर आयतन और दूसरे का स्थिर दाब से है और इनको क्रमानुसार वि$_{आ}$ (C_v) और वि$_{दा}$ (C_p) लिखा जाता है। ठोसों और द्रवों में तापीय प्रसरण अपेक्षाकृत कम होता है, अतः विशिष्ट उष्मा के अनेक मान लगभग बराबर होते हैं किंतु गैसों में इनमें बहुत अंतर होता है। बहुपरमाण्वीय अणुओं में विशिष्ट उष्मा को अणुभार से गुणा करने पर उनकी आणव उष्मा (मॉलिक्युलर हीट) और एक परमाणुक अणुओं में विशिष्ट उष्मा को परमाणुभार से गुणा करने पर उनकी पारमाण्वीय उष्मा (ऐटॉमिक हीट) प्राप्त होती है। इन दोनों को अंग्रेजी में C और हिंदी में बी से व्यक्त करते हैं। वैज्ञानिक साहित्य मे इनको केवल विशिष्ट उष्मा भी लिखा गया है। इस संबंध में आदर्श गैसों में यह सूत्र लागू होता है :

बी$_{दा}$ − बी$_{आ}$ = क

$$C_p - C_v = R$$

यहाँ पर क (R) पूर्ववर्णित गैस नियतांक है।

६. विशिष्ट उष्मा के सिद्धांत--१८१९ में ड्यूलांग और पेटिट ने यह नियम प्रतिपादित किया कि सब ठोस तत्वों की स्थिर आयतनवाली पारमाण्वीय उष्मा एक ही होती है और उसका मान ५.९४ कलरी/ग्राम-परमाणु × डिग्री सें० होता है। शीघ्र ही प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हुआ कि हल्के तत्व--कार्बन, बोरन और सिलिकन--इस नियम के अपवाद हैं। पूर्ववर्णित नर्न्स्ट के प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ कि ताप कम होने पर यह नियम किसी भी ठोस पर लागू नहीं होता और ताप घटने पर सब तत्वों की पारमाण्वीय उष्मा घटती जाती है, यहाँ तक कि परम शून्य के निकट लगभग शून्य हो जाती है।

किसी समुदाय की ऊर्जा के व्यंजक में जितने वर्ग (स्क्वेयर) पद आते हैं उनकी संख्या उस समुदाय की स्वतंत्रता संख्या (डिग्रीज़ ऑव फ्रीडम) कहलाती है। एकपरमाणुक आदर्श गैसों में यह संख्या ३ प्रति घन और ठोस तत्वों मे यह ६ प्रति परमाणु होती है। मैक्सवेल-बोल्ट्समान की सांख्यिकी के अनुसार ठोस पदार्थों की औसत उष्मिक ऊर्जा

$$\frac{1}{2}\ (\text{क}/\text{ऐ})\text{पा} = \frac{1}{2}\ \text{बो पा।}\quad \frac{1}{2}\frac{R}{N}T = \frac{1}{2}kT$$

प्रति स्वतंत्रता संख्या होती है। यहाँ ऐ (N) ऐवेगैड्रो संख्या है और यह ग्राम-परमाणु में परमाणुओं की संख्या के बराबर होती है। बो (K) वोल्ज़मान नियतांक है। अतः ऐ (N) परमाणुओं की ऊर्जा

ऊ = ६ × ½ भ पा = ३ भ पा $[E = 6 \times \frac{1}{2} RT = 3 RT]$

और वी$_{\text{व}}$ = ताऊ/तापा = ३भ = ३ × १·९८ = ५·९४ कलरी।

$C_V = dF/dT = 3R = 3 \times 1{\cdot}98 = 5{\cdot}94$ Calories।

इस प्रकार ड्यूलॉङ्ग और पेटिट का सिद्धांत सिद्ध हो जाता है।

निम्न ताप पर पूर्वोक्त नियम की विफलता को आइंस्टाइन ने १९०७ में प्लांक के क्वांटम सिद्धांत के आधार पर समझाने का प्रयास किया। इस सिद्धांत के अनुसार कोई भी स (ν) आवृत्तिवाला दोलक ऊर्जा का शोषण अथवा उत्सर्जन केवल प्ल स ($h\nu$) बंडलों अर्थात् क्वांटमों में ही करता है। प्ल (h) को प्लांक नियतांक कहते हैं और इसका मान ६·६ × १०$^{-२७}$ अर्ग सेकंड होता है। इस सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि पारमाण्वीय दोलकों की उष्मिक ऊर्जा

½ प्ल स/ (ई$^{\text{प्ल स/बो पा}}$ — १) $\left[\frac{1}{2}h\nu / \left(e^{h\nu/kT} - 1\right)\right]$

प्रति स्वतंत्रता संख्या अथवा

प्ल स/ (ई$^{\text{प्ल स/बो पा}}$ — १) $\left[h\nu / \left(e^{h\nu/kT} - 1\right)\right]$

प्रति दोलक होती है। आइंस्टाइन ने सब परमाणुओं की आवृत्तियाँ एक ही मानकर पारमाण्वीय उष्मा की गणना की और प्रायोगिक परिणामों को मोटे रूप से समझाया।

आइंस्टाइन ने स्वयं ही स्वीकार किया था कि उसका सब परमाणु की एक ही आवृत्ति मानना उचित नहीं था। डिबाई ने संपूर्ण ठोस को अविरत (कंटिनुअस) मानकर गणना की कि यह ठोस कुल कितने प्रकार से दोलन कर सकता है। अविरत ठोस में यह संख्या अनंत होती है और इस कारण पारमाण्वीय उष्मा भी अनंत ही होनी चाहिए। इससे बचने के लिये डिबाई ने यह निराधार कल्पना की कि एक विशिष्ट आवृत्ति से ऊपर किसी दोलन की संभावना नहीं। यह आवृत्ति ऐसी होती है कि उससे नीचेवाली समस्त आवृत्तियों की कुल संख्या ३ ऐ (3N) होती है। प्रति आवृत्ति की औसत ऊर्जा

प्ल स/ई$^{\text{प्ल स/बो पा}}$ — १ $\qquad [h\nu/e^{h\nu/kT} - 1]$

लेने और सब आवृत्तियों की ऊर्जा को जोड़ने पर तत्व की पारमाण्वीय ऊर्जा निकल आती है। इससे अवकलन (डिफ़रेन्सिएशन) द्वारा पारमाण्वीय उष्मा की गणना कर लेते हैं।

बहुत समय तक डिबाई का सिद्धांत प्रायोगिक परिणामों को समझाने में सफल रहा, किंतु कुछ समय पश्चात् उसकी यथार्थता कम हो गई। बॉर्न ने ठोस के मणिभ स्वरूप को ध्यान में रखा और दोलन वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) को ऐसी आवृत्ति पर समाप्त किया जिसके तरंगदैर्घ्य का संबंध मणिभ की बनावट से है। यह समाप्ति मणिभ की बनावट पर आधारित होने के कारण डिबाई की आवृत्ति समाप्ति से श्रेष्ठ है। बॉर्न के सिद्धांत का ब्लैकमैन, कैलरमैन इत्यादि ने विकास किया और इसके द्वारा प्रायोगिक परिणामों की सफलतापूर्वक व्याख्या की।

भारतीय वैज्ञानिक चंद्रशेखर रमण ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि किसी भी उष्मिक दोलन को संपूर्ण ठोस का दोलन मानना त्रुटिपूर्ण है। उनके अनुसार कोई भी उष्मिक दोलन केवल कुछ परमाणु समुदाय का दोलन होता है और प्रत्येक दोलन का यह रूप होता है कि उनमें निकटस्थ मणिभ कोशिकाओं (क्रिस्टल सेलों) में ऊर्जा की मात्रा बराबर होती है। विश्वेश्वरदयाल ने रमण के सिद्धांत द्वारा अनेक ठोसों की पारमाण्वीय उष्मा की गणना की और उनका प्रायोगिक फलों से मेल सिद्ध किया। सिद्धांततः भिन्न होने पर भी रमण और बॉर्न के सिद्धांतों द्वारा गणना की हुई पारमाण्वीय उष्मा के मान में विशेष अंतर नहीं पाया जाता।

गैसों की आणव उष्मा की गणना करने के लिये उसको तीन भागों में विभक्त किया जाता है जिनका संबंध क्रमानुसार सरल गति, घूर्णन और दोलन से होता है। यदि किसी गैस अणु में स (n) परमाणु हों तो उसकी कुल स्वतंत्रता संख्या ३ स (3n) होती है जिसमें तीन सरल गति से, दो या तीन घूर्णन से और शेष दोलन से संबंधित हैं। सरल गति से उत्पन्न आणव उष्मा प्रति स्वतंत्रता संख्या ½ बो (½ k) होती है। यदि अणुभार और ताप बहुत कम न हों तो यही प्रभाव घूर्णन का भी होता है, परंतु इनके कम होने पर घूर्णन के प्रभाव की क्वांटम सांख्यिकी द्वारा गणना की जाती है। दोलनका प्रभाव ठोसों के संबंध में वर्णित आइंस्टाइन के सिद्धांत के अनुसार किया जाता है। इस संबंध में प्रयुक्त दोलन आवृत्तियों की गणना रमण प्रभाव और अवरक्त (इनफ़ा-रेड) आवृत्तियों के अध्ययन द्वारा की जाती है।

७. उष्मा का स्थानांतरण—पदार्थों में तीन विधियों से उष्मा का स्थानांतरण होता है जिनको (१) चालन (कंडक्शन), (२) संवहन (कन्वेक्शन) और (३) विकिरण (रेडियेशन) कहते हैं। विकिरण में विद्युच्चुंबकीय तरंगों के रूप में उष्मा एक पदार्थ से दूसरे की ओर यात्रा करती है। ये तरंगें प्रकाश की तरंगों के ही समान होती हैं, किंतु इनका तरंगदैर्घ्य बड़ा होता है। इनका विवरण विकिरण शीर्षक लेख में अन्यत्र दिया गया है। संवहन में द्रव अथवा गैस के गरम अंश गतिशील होकर उष्मा का अन्यत्र वहन करते हैं। इस विधि का उपयोग पानी अथवा भाप द्वारा मकानों के गरम रखने में किया जाता है। चालन में पदार्थों के भिन्न खंडों में आपेक्षिक गति (रिलेटिव मोशन) नहीं होती; केवल उष्मा एक कण से दूसरे में स्थानांतरित होती रहती है।

चालन के संबंध में यह नियम है कि उष्मासंचारण की दर तापप्रवणता (टेंपरेचर ग्रेडिएंट) की समानुपाती होती है। यदि किसी पट्टिका की मोटाई सर्वत्र य (x) सेंटीमीटर हो और उसके आमने सामनेवाली सतहों का क्षेत्रफल क्ष (A) वर्ग सेंटीमीटर और उनके ताप क्रमानुसार प$_१$ और प$_२$ (t_1 and t_2) डिग्री सें० हों तो उनके बीच एक सेकंड में संचारित होनेवाली उष्मा की मात्रा मा (Q) निम्नलिखित सूत्र से मिलेगी :

मा = चा क्ष $\frac{\text{प}_१ - \text{प}_२}{\text{य}}$ । $\quad Q = KA\frac{t_1 - t_2}{x}$

इस सूत्र के नियतांक चा (K) को पदार्थ की उष्मा चालकता कहते हैं। यह सूत्र उसी समय लागू होता है जब उष्मासंचारण धीर (स्टेडी) और सतहों के अभिलंबवत् हो। ऐसी अवस्था में सतहों के समांतर बीच की तहों में उष्मा के प्रवाह की दर एक ही होती है। ऐसा न होने पर कुछ उष्मा तापवृद्धि में भी व्यय होती है जिसकी दर एक अन्य विसरणता (डिफ़िज़िविटी) नामक गुणांक पर निर्भर रहती है जो चा/घ वि (K/pS) के बराबर होती है। घ (p) घनत्व और वि (S) विशिष्ट उष्मा है)।

धातुओं की उष्मिक चालकता बहुत अधिक होती है। इनके संबंध में वीडमैन-फ़्रेंज का नियम बहुत महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार एक ही ताप पर सब धातुओं की उष्मिक और विद्युतीय चालकता का अनुपात एक ही होता है।

८. उष्मागतिकी—जूल के प्रयोगों ने यह सिद्ध किया कि उष्मा ऊर्जा का ही एक रूप है और वह अपनी मात्रा के अनुपात में ही काम कर सकती है। इसी को उष्मागति का प्रथम नियम कहते हैं। इसके अनुसार बिना लगातार ईंधन जलाए किसी उष्मिक इंजन से निरंतर काम नहीं लिया जा सकता। किंतु उष्मा की मात्रा तो चारों ओर अनंत है और इसलिये यह संभावना हो सकती है कि हम चारों ओर के पदार्थों की उष्मा निकालकर उसको काम में परिवर्तित करते रहें और इस प्रकार बिना व्यय के इंजन चला सकें। अनुभव यह बतलाता है कि ऐसा होना संभव नहीं और यही दूसरे नियम का विषय है।

यह नियम उन परिवर्तनों पर लागू होता है जिनमें एक चक्र (साइकिल) के उपरांत समुदाय पुनः अपने मूल रूप में आ जाता है। इसका यह अर्थ है कि हम केवल ऐसे परिवर्तनों पर विचार करेंगे जिनमें उष्मा कर्म में परि-

वर्तित होती है और इनके अतिरिक्त कोई अन्य परिवर्तन नहीं होता। इस नियम के अनुसार यदि कोई पदार्थ और उसके परिपार्श्व सब एक ही ताप पर हों तो उनकी उष्मा को काम में नहीं बदला जा सकता। ऐसा करने के लिये कम से कम दो भिन्न तापवाले पदार्थों की आवश्यकता होती है और उनसे ताप के अंतर के कारण ही काम करने के लिये उष्मा प्राप्त हो सकती है। इस नियम के मूल में यह तथ्य है कि अणुओं की उष्मिक गति अनियमित होती है और इंजन के पिस्टन की सुनियमित। जैसे ताश के पत्तों को बारंबार फेंटकर उनका नियमित विन्यास करना असंभव सा ही है, ऐसी ही अणुओं की अनियमित उष्मिक गति का भी स्वतः पिस्टन की नियमित गति में परिवर्तित होना अतिदुष्कर है। इंजन जो भी उष्मा काम में परिवर्तित करते हैं उसका कारण यह है कि इसके साथ ही साथ उनमें कर्म करनेवाले पदार्थ कुछ उष्मा भट्ठी से संघनित्र (कंडेन्सर) में स्थानांतरित कर देते हैं। इस कारण इसकी आणविक गति की अनियमितता बढ़ जाती है और कुल समुदाय की अनियमितता का ह्रास नहीं होता।

आचार्यों ने उष्मागतिकी के दूसरे नियम के अनेक रूप दिए हैं जो मूलतः एक ही हैं, जैसे :

"ऐसे उष्मिक इंजन का निर्माण करना संभव नहीं जो पूरे चक्र में काम करते हुए केवल एक ही पिंड से उष्मा ग्रहण करे और काम करनेवाले समुदाय में बिना परिवर्तन लाए उस संपूर्ण उष्मा को काम में बदल दे" (प्लांक-केल्विन)।

"बिना बाहरी सहायता के कोई भी स्वतः काम करनेवाली मशीन उष्मा को निम्नतापीय पिंड से उच्चतापीय में नहीं ले जा सकती, अर्थात् उष्मा ठंढे पिंड से गरम में स्वतः नहीं जा सकती" (क्लाजिउस)।

कार्नो ने, जो उष्मा के असली स्वरूप से अनभिज्ञ था, एक आदर्श इंजन की कल्पना करके उसकी दक्षता (एफ़िशेन्सी) की गणना की। इसका इंजन पूर्णरूपेण उत्क्रमणीय (रिवर्सिबिल) है। इसका यह अभिप्राय है कि किसी समुदाय की कार्यप्रणाली उलट देने पर उसके समस्त कार्यों की दिशा भी उलट जाती है, अर्थात् यदि सीधी विधि में उष्मा शोषित होती है तो विपरीत विधि में उतनी ही मात्रा उत्सर्जित होगी और यदि सीधी विधि में उत्सर्जित हुई तो विपरीत विधि में उतनी ही शोषित होती है। उत्क्रमणीय परिवर्तन वे ही होते हैं जिनमें निरंतर साम्यावस्था (ईक्विलिब्रियम) रहती है।

कार्नो के इंजन का विवरण देने से पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि जिन परिवर्तनों में बाहरी उष्मा का आवागमन नहीं होता उनको स्थिरोष्म (ऐडियाबैटिक) कहते हैं। इनके कारण यदि आयतन में वृद्धि होती है तो दाब के विपरीत काम करने के कारण समुदाय ठंढा हो जाता है और इसके विपरीत आयतन में कमी होने से समुदाय गरम हो जाता है। यदि बाहरी उष्मा के संपर्क से समुदाय का ताप स्थिर रहे तो परिवर्तन को समतापीय (आइसोथर्मल) कहते हैं।

कार्नो के इंजन में ऐसे सिलिंडर की कल्पना की गई है जिसमें कोई आदर्श गैस भरी होती है और जिसकी दीवारों और पिस्टन में से उष्मा
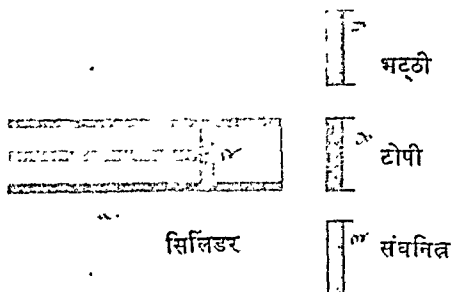
चित्र १. कार्नो इंजन के भाग

का चालन नहीं हो सकता। किंतु उसकी पेंदी पूर्णतया चालक होती है। इसके साथ एक टोपी भी होती है जो पेंदी पर ठीक बैठ सकती है और दीवारों की तरह पूर्णतया पृथक्कारी (इनसुलेटर) होती है। एक ताप ता, (T_1) की भट्ठी और ताप ता२ (T_2) के संघनित्र की भी व्यवस्था रहती है। ये अवयव चित्र १ में प्रदर्शित हैं।

कार्नो का चक्र निम्नलिखित क्रियाओं द्वारा पूरा किया जाता है :

(क) सिलिंडर को भट्ठी ५ पर बैठा दिया जाता है और पिस्टन को धीरे धीरे बाहर खींचते जाते हैं जिससे गैस और भट्ठी का ताप निरंतर बराबर ता१ (T_1) रहता है। यह क्रिया समतापीय है। गैस की प्रारंभिक स्थिति चित्र (२) के बिंदु क (A) से प्रकट है और वह समतापरेखा क ख (AB) से होती हुई अंत में स्थिति ख (B) में पहुँच जाती है। इस क्रिया में ताप स्थिर रखने के लिये गैस भट्ठी से उष्मा मा१ (Q_1) लेती है और चित्र के क्षेत्रफल क ख ख' क' (A B B' A') के बराबर पिस्टन पर काम करती है।
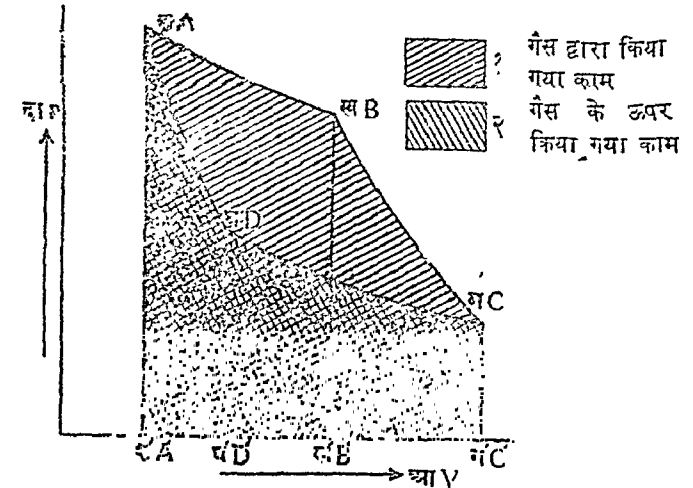
चित्र २. कार्नो इंजन का सूचक चित्र

(ख) अब सिलिंडर का भट्ठी से संपर्क तोड़कर उसकी पेंदी पर टोपी बैठा दी जाती है। पिस्टन अब भी धीरे धीरे बाहर खिंचता जाता है। उष्मापृथक्करण (हीट इन्सुलेशन) होने के कारण यह क्रिया स्थिरोष्म है और गैस ख (B) से स्थिरोष्म रेखा ख ग (B C) पर होती हुई स्थिति ग (C) पर पहुँच जाती है। अब ताप ता१ (T_1) से गिरकर ता२ (T_2) हो जाता है और गैस पिस्टन पर ख ग ग' ख' (B C C' B') काम करती है।

(ग) अब टोपी हटाकर सिलिंडर को संघनित्र [ताप ता२ (T_2)] पर बैठा दिया जाता है। पिस्टन धीरे धीरे भीतर की ओर जाता है। और गैस समतापीय-रेखा ग घ (C D) से होकर बिंदु घ (D) पर पहुँच जाती है। इस विधि में गैस मा२ (Q_2) उष्मा संघनित्र को देती है और पिस्टन उसपर ग ग' घ' घ (C C' D' D) काम करता है।

(घ) संघनित्र से सिलिंडर को हटाकर उसपर पुनः टोपी बैठा दी जाती है। पिस्टन धीरे धीरे अंदर की ओर जाता है और गैस स्थिरोष्म मार्ग घ क (DA) से होकर आदि स्थान क (A) पर पहुँचती है। पिस्टन गैस पर कार्य घ घ' क' क (D D' A' A) करता है और गैस का ताप बढ़कर पुनः ता१ (T_1) हो जाता है। इस प्रकार कार्नो का चक्र पूर्ण होता है। इसके परिणाम ये होते हैं :

(१) गैस द्वारा किए हुए काम में से उसपर हुए काम को घटाकर कुल चक्र में क ख ग घ (A B C D) के बराबर काम होता है।

(२) भट्ठी गैस को उष्मा मा१ (Q_1) देती है जिसमें से वह संघनित्र को उष्मा मा२ (Q_2) देकर शेष को क ख ग घ (A B C D) कार्य करने में व्यय करती है।

इस चक्र की समस्त क्रियाएँ साम्यावस्था में होने के कारण उत्क्रमणीय (रिवर्सिविल) हैं। इसकी

$$\text{दक्षता} = \frac{\text{प्राप्त काम}}{\text{भट्ठी मे प्राप्त उष्मा}} = \frac{\text{मा}_1 - \text{मा}_2}{\text{मा}_1} \left(\frac{Q_1 - Q_2}{Q_1}\right)$$

कार्नो ने सिद्ध किया कि किसी भी इंजन की दक्षता उत्क्रमणीय इंजन से अधिक नहीं हो सकती और सिलिंडर के भीतर कोई भी पदार्थ क्यो न काम करे, समस्त उत्क्रमणीय इंजनो की दक्षता एक ही होती है। इसी को कार्नो प्रमेय कहते हैं। कार्नो के प्रमाण का आधार यह है कि यदि कोई अन्य इंजन उत्क्रमणीय इंजन से अधिक दक्ष हो तो इन दोनो को उचित रूप से जोड़कर कम तापवाले सघनित्र से बिना अन्य परिवर्तन किए उष्मा निकालकर काम कराना सभव हो सकता है। यह उष्मागतिकी के द्वितीय नियम के अनुसार सभव नही।

९. परम तापक्रम—(ऐब्सोल्यूट स्केल ऑव टेंपरेचर)—कार्नो इंजन की दक्षता उसके सिलिंडर मे भरे हुए पदार्थ और उसकी अवस्था पर आश्रित नही होती और केवल भट्ठी तथा सघनित्र के तापो पर निर्भर रहती है। इस कारण लार्ड केल्विन ने सुझाव दिया कि इसी को तापमापन का आधार बनाना उचित होगा। इस नवीन मापक्रम मे भट्ठी से कार्नो इंजन द्वारा शोषित उष्मा **मा**$_1$ (Q_1) और सघनित्र को दी हुई उष्मा **मा**$_2$ (Q_2) इन दोनो का अनुपात उनके ताप थ$_1$ (θ_1) और थ$_2$ (θ_2) के अनुताप के बराबर होता है। अर्थात्

$$\text{मा}_1/\text{मा}_2 = \text{थ}_1/\text{थ}_2$$
$$Q_1/Q_2 = \theta_1/\theta_2$$

यदि भट्ठी शुद्ध पानी के क्वथनांक पर और संघनित्र हिमाक पर हो तो उन दोनों के तापो का अंतर १००° परम माना जाता है, अर्थात्

$$\frac{\text{मा}_1\ (\text{क्वथनाक})}{\text{मा}_2\ (\text{हिमाक})} = \frac{\text{थ}_\circ + १००}{\text{थ}_\circ},\quad \frac{Q_1\ (\text{क्वथनांक})}{Q_2\ (\text{हिमाक})} = \frac{\theta_\circ + 100}{\theta_\circ}$$

यहाँ पर थ$_\circ$ ($\theta_\circ$) परम मापक्रम मे हिमाक का मान है। यदि मा$_2$ (Q_2) शून्य हो तो थ$_\circ$ ($\theta_\circ$) भी शून्य होता है। इसी को परम शून्य (ऐब्सोल्यूट जीरो) कहते हैं। इस ताप पर सघनित्र को रखने से भट्ठी की संपूर्ण उष्मा काम करने मे व्यय होगी अतः यह स्पष्ट है कि इससे निम्न ताप सभव नही हो सकता। अंतरराष्ट्रीय निश्चय के अनुसार अब केवल हिमाक को २७३·१६०° मानकर ही परम डिग्री का मान निर्धारित किया जाता है।

कार्नो का इंजन आदर्श मात्र है, व्यावहारिक नही। अत: यह मापक्रम भी व्यावहारिक नहीं हो सकता। परंतु सिद्धातानुसार आदर्श गैसो के मापक्रम का ताप पूर्वोक्त उष्मागतिकी अथवा परम पैमाने के ताप के बराबर होता है, अतः आदर्श गैस मापक्रम को काम मे लाया जाता है। किंतु इसकी प्रामाणिकता उष्मागतिकी मापक्रम पर ही आधारित है।

अधिक जानकारी के लिये **उष्मागतिकी** शीर्षक लेख देखें।

सं० ग्रं०—जे० सी० मैक्सवेल : थ्योरी ऑव हीट, ११वाँ संस्करण, १८९४; पी० एस० एप्स्टाइन : थर्मोडायनामिक्स (१९३७); आर० एच० फ़ाउलर और ई० ए० गुगेनहाइम : स्टैटिस्टिकल थर्मोडायनामिक्स (१९३९); जे० जीन्स : द डायनैमिकल थ्योरी ऑव गैसेज़ (१९२१); साहा और श्रीवास्तव : हीट। इस संबंध में अग्रलिखित लेख भी इस विश्वकोश में द्र० : **उष्मागतिकी, उष्मामिति, उष्मायन, ऊर्जा, क्वांटम यांत्रिकी, क्वांटम सांख्यिकी, तापमान, तापविद्युत्, वाष्पायन, विकिरण।** (वि०द०)

उष्मागतिकी प्रारंभ मे उष्मागतिकी विज्ञान की वह शाखा थी जिसमे केवल उष्मा के कार्य मे परिणत होने अथवा कार्य के उष्मा में परिणत होने का विवेचन किया जाता था। परंतु अब इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। अब इसमे ताप संबंधी लगभग सभी बातो का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणतः यदि हम निकल जैसे किसी चुबकीय पदार्थ की एक छड़ को एक कुंडली के भीतर रखें और इस कुंडली मे बिजली की धारा प्रवाहित कराकर एक चुबकीय क्षेत्र स्थापित करें तो छड़ की लबाई में थोड़ा अतर आ जायगा, वह थोड़ा गर्म हो जायगा, और उसकी विशिष्ट उष्मा मे भी अंतर हो जायगा। ऐसे ही यदि नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन का मिश्रण लेकर हम उसमे एक उत्प्रेरक छोड़ दें तो इस मिश्रण मे नाइट्रोजन, हाइड्रोजन तथा अमोनिया एक विशेष अनुपात मे रहेंगे। ताप मे परिवर्तन होने से इस अनुपात मे भी परिवर्तन होता है, और यह परिवर्तन उस उष्मा से संबंधित है जो अमोनिया के सश्लेषण की क्रिया मे ताप को अपरिवर्तित रखने के लिये उस मिश्रण मे निकालनी आवश्यक होती है। ऐसी ही अन्य बातो का अध्ययन भी अब उष्मागतिकी के अंतर्गत होता है जिससे इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है।

१९वी शताब्दी के मध्य मे उष्मागतिकी के दो सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया था, जिन्हे उष्मागतिकी के प्रथम एव द्वितीय सिद्धात कहते है। २०वी शताब्दी के प्रारंभ मे दो अन्य सिद्धातों का प्रतिपादन किया गया है जिन्हे उष्मागतिकी का शून्यवाँ तथा तृतीय सिद्धात कहते है।

उष्मागतिकी का शून्यवाँ सिद्धांत—ताप—उष्मागतिकी के अध्ययन मे एक नई भावना का समावेश होता है। वह ताप की भावना है। यदि किसी पिंड (बॉडी) के गुणधर्म इस बात पर निर्भर न रहे कि वह कितना गरम अथवा ठंडा है तो उसका पूरा परिचय पाने के लिये उसके आयतन अथवा उसके घनत्व के ज्ञान की ही आवश्यकता होती है। जैसे यदि हम कोई द्रव ले तो यांत्रिकी मे यह माना जाता है कि उसके ऊपर दाब बढाने पर उसका आयतन कम होगा। दाब का मान निश्चित करते ही आयतन का मान भी निश्चित हो जाता है। इस तरह इन दो चर राशियो मे से एक स्वतंत्र होती है और दूसरी आश्रित अथवा परतंत्र।

परंतु प्रत्यक्ष अनुभव से हम जानते है कि आयतन यदि स्थिर हो तो भी गरम या ठंडा करके दाब को बदला जा सकता है। इस प्रकार दाब तथा आयतन दोनों ही स्वतंत्र चर राशियाँ हैं। आगे चलकर आवश्यकतानुसार हम अन्य चर राशियो का भी समावेश करेंगे।

और आगे बढने के पहले हम ऐसी दीवारो की कल्पना करेंगे जो विभिन्न द्रवो को एक दूसरे से अलग करती है। ये दीवारे इतनी सूक्ष्म होगी कि इन द्रवो की पारस्परिक अंतर्क्रिया को निश्चित करने के अतिरिक्त उन द्रवो के गुणधर्म के ऊपर उनका अन्य कोई प्रभाव नही होगा। द्रव इन दीवारो के एक ओर से दूसरी ओर न जा सकेगा। हम यह भी कल्पना करेंगे कि ये दीवारे दो तरह की है। एक ऐसी दीवारे जिनसे आवृत द्रव मे बिना उन दीवारो अथवा उनके किसी भाग को हटाए हम कोई परिवर्तन नही कर सकते, और उन द्रवो मे हम विद्युतीय या चुबकीय बलों द्वारा परिवर्तन कर सकते हैं क्योकि ये बल दूर से भी अपना प्रभाव डाल सकते हैं। ऐसी दीवारो को हम 'स्थिरोष्म' दीवारे कहेंगे।

दूसरे प्रकार की दीवारो को हम 'उष्मागम्य' (डायाथर्मानिस) दीवारे कहेंगे। ये दीवारें ऐसी होगी कि साम्यावस्था मे इनके द्वारा अलग किए गए द्रवों की दाब तथा आयतन के मान स्वेच्छ नही होंगे, अर्थात् यदि एक द्रव की दाब एवं आयतन और दूसरे द्रव की दाब निश्चित कर दी जाय तो दूसरे द्रव का आयतन भी निश्चित हो जायगा। ऐसी अवस्था मे पहले द्रव की दाब एवं आयतन **दा**$_1$ (p_1) और **आ**$_1$ (V_1) तथा दूसरे द्रव की दाब एवं आयतन **दा**$_2$ (p_2) और **आ**$_2$ (V_2) मे एक सबध होगा जिसे हम निम्नाकित समीकरण द्वारा प्रकट कर सकते हैं :

$$\text{फ}\ (\text{दा}_1, \text{आ}_1, \text{दा}_2, \text{आ}_2) = ० \qquad (१)$$
$$f\ (p_1, V_1, p_2, V_2) = 0 \qquad (1)$$

यह समीकरण उन द्रवो के तापीय संबंध का द्योतक है। दीवार का उपयोग केवल इतना है कि पदार्थ एक ओर से दूसरी ओर नही जा सकता। अनुभव द्वारा हम यह भी जानते हैं कि यदि एक द्रव के साथ अन्य द्रवो की तापीय साम्यावस्था हो तो स्वय इन द्रवो मे आपस मे तापीय साम्यावस्था होगी। इसी को उष्मागतिकी का शून्यवाँ सिद्धांत कहते है।

यदि तापीय साम्यावस्थावाले तीन द्रवो के दबाव तथा आयतन क्रमशः

$$(\text{दा}_1, \text{आ}_1), \quad (\text{दा}_2, \text{आ}_2) \quad \text{तथा} \quad (\text{दा}_3, \text{आ}_3)$$
$$(p_1, V_1), \quad (p_2, V_2) \quad \text{तथा} \quad (p_3, V_3)$$

हों तो इनमे समीकरण (१) की भाँति निम्नलिखित समीकरण होगे :

फ$_1$ (दा$_1$, श्रा$_1$, दा$_2$, श्रा$_2$) = ० ; फ (दा$_2$, श्रा$_2$, दा$_3$, श्रा$_3$) = ० ; फ$_3$ (दा$_3$, श्रा$_3$, दा$_1$, श्रा$_1$) = ०, (२)

$$f_1(p_1, V_1, p_2, V_2) = 0;\ f_2(p_2, V_2, p_3, V_3) = 0;\ f_3(p_3, V_3, p_1, V_1) = 0, \quad (2)$$

परंतु उष्मागतिकी के शून्यवें सिद्धांत के अनुसार इन समीकरणों में केवल दो ही स्वतंत्र हैं, अर्थात् पहले दोनों समीकरणों की तुष्टि के फलस्वरूप तीसरे की तुष्टि भी अवश्यंभावी है। यह तभी संभव है जब इन समीकरणों का रूप इस प्रकार हो :

फ$_1$ (दा$_1$, श्रा$_1$) = फ$_2$ (दा$_2$, श्रा$_2$) = फ$_3$ (दा$_3$, श्रा$_3$) । (३)

$$f(p_1, V_1) = f_2(p_2, V_2) = f_3(p_3, V_3)\,। \quad (3)$$

इनमें से किसी एक द्रव का उपयोग तापमापी के रूप में किया जा सकता है और उस द्रव के फलन के मान को हम प्रायोगिक ताप की भाँति प्रयुक्त कर सकते हैं। यदि पहले द्रव को तापमापी माना जाय तथा उसके फलन का मान ज (t) हो तो दूसरे द्रव के लिये हमें जो समीकरण मिलेगा अर्थात् फ (दा$_2$, श्रा$_2$) = ज, $[f_2(p_2, V_2) = t]$ वह दूसरे द्रव का दशा-समीकरण (इक्वेशन श्राव स्टेट) कहा जायगा।

यों तो द्रव के किसी भी गुण का उपयोग तापमापी के लिये किया जा सकता है परंतु दा (p) तथा श्रा (V) के जिस संबंध का उपयोग किया जाय वह जितना ही सरल होगा उतना ही ताप नापने में सुगमता होगी। हम जानते हैं कि समतापीय अवस्था में अल्प दाबवाली गैस की दाब एवं आयतन का गुणनफल अचर होता है। अतएव दाश्रा = टमा ($pV = R\theta$) को ताप नापने के लिये उपयोग में लाया जा सकता है और इस संबंध का उपयोग किया भी जाता है। परंतु यदि (दाब × आयतन) अचर हो तो (दाब × आयतन)$^{\frac{1}{2}}$ अथवा (दाब^2 × आयतन^2) भी अचर होगा। किंतु इनका उपयोग नहीं किया जाता। दाश्रा = टमा ($pV = R\theta$) का उपयोग करने में क्या लाभ है यह आगे चलकर प्रकट होगा।

२. **उष्मागतिकी का प्रथम सिद्धांत, ऊर्जा एवं उष्मा**—उष्मागतिकी के शून्यवें सिद्धांत में ताप की भावना का समावेश किया जाता है। यांत्रिकी में, विद्युत् या चुंबक विज्ञान में अथवा पारमाण्वीय विज्ञान में, ताप की भावना की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धात द्वारा उष्मा की भावना का समावेश होता है। जूल के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध होता है कि किसी भी पिंड को (चाहे वह ठोस हो या द्रव या गैस) यदि स्थिरोष्म दीवारों से घेरकर रखें तो उस पिंड को एक निश्चित प्रारंभिक अवस्था से एक निश्चित अंतिम अवस्था तक पहुँचाने के लिये हमें सर्वदा एक निश्चित मात्रा में कार्य करना पड़ता है (ऊर्जा शीर्षक लेख देखें)। कार्य की मात्रा पिंड की प्रारंभिक तथा अंतिम अवस्थाओं पर ही निर्भर रहती है, इस बात पर नहीं कि यह कार्य कैसे किया जाता है। यदि प्रारंभिक अवस्था में दाब तथा आयतन के मान दा$_0$ (p_0) तथा श्रा$_0$ (V_0) हैं तो कार्य की मात्रा अंतिम अवस्था की दाब तथा आयतन दा (p) तथा श्रा (V) पर निर्भर रहती है, अर्थात् कार्य की मात्रा दा (p) तथा श्रा (V) का एक फलन है। यदि कार्य की मात्रा का (W) है तो हम लिख सकते हैं कि

का = ऊ − ऊ$_0$ (४)

$$W = U - U_0 \quad (4)$$

यह समीकरण एक राशि ऊ की परिभाषा है जो केवल उस पिंड की अवस्था पर ही निर्भर रहती है न कि इस बात पर कि वह पिंड उस अवस्था में किस प्रकार पहुँचा है। इन राशि को हम उस पिंड की आंतरिक ऊर्जा कहते हैं। यदि कोई पिंड एक निश्चित अवस्था से प्रारंभ करके विभिन्न अवस्थाओं में होते हुए फिर उसी प्रारंभिक अवस्था में आ जाय तो उसकी आंतरिक ऊर्जा में कोई अंतर नहीं होगा, अर्थात्

∮ ताऊ = ० (५)

$$\oint dU = 0 \quad (5)$$

और ताऊ (dU) एक यथार्थ अवकल (परफ़ेक्ट डिफ़रेन्शियल) है।

यदि कोई पिंड एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाय तो ऊ−ऊ$_0$−का, ($U-U_0-W$) का मान सर्वदा शून्य के बराबर नहीं होगा। यदि प्रत्येक अवस्था के लिये ऊ (U) का मान ज्ञात कर लिया गया है तो यह अंतर ज्ञात किया जा सकता है। यदि पिंड की दीवारों का कोई भाग उष्मागम्य है तो सर्वदा इस अंतर के बराबर उष्मा उस पिंड को देनी पड़ेगी। यदि उष्मा की मात्रा मा (Q) है तो

मा = ऊ − ऊ$_0$ − का। (६)

$$Q = U - U_0 - W \quad (6)$$

इस समीकरण में मा (Q) उन्हीं एककों में नापा जायगा जिसमें का (W), परंतु यदि हमने मा (Q) का एकक पहले ही निश्चित कर लिया है तो हम इस समीकरण द्वारा इन दोनों एककों का अनुपात ज्ञात कर सकते हैं। इस प्रकार जूल के प्रयोग द्वारा हम उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक निकाल सकते हैं। इस प्रयोग में मा (Q) शून्य के बराबर होता है और ऊ−ऊ$_0$ ($U-U_0$) का मान उष्मा के एककों में ज्ञात किया जाता है।

समीकरण (६) उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धांत का गणितीय रूप है। इसमें का (Q) वह कार्य है जो बाहर से उस पिंड पर किया जाता है। यदि यह पिंड स्वयं कार्य करे, जिसका परिणाम तोका ($đW$) हो, और किसी प्रक्रम (प्रोसेस) में निकाय की आंतरिक ऊर्जा जिस परिमाण में बढ़े वह ताऊ (dU) हो तो जितनी उष्मा उस निकाय को दी जायगी वह तोमा ($đQ$) होगी और

तोमा = ताऊ + तोका। (७)

$$đQ = dU + đW \quad (7)$$

इसमें तोमा ($đQ$) और तोका ($đW$) में ता (d) को तो ($đ$) इस कारण कर दिया गया है कि ये यथार्थ अवकल नहीं हैं।

और आगे बढ़ने के पहले हम एक ऐसे प्रक्रम का वर्णन करेंगे जिसका उपयोग उष्मागतिकी में बहुत किया जाता है। इसे प्रायःस्थैतिक (क्वैसी-स्टैटिक) प्रक्रम कहते हैं। यदि किसी निकाय अथवा समुदाय (सिस्टम) के आयतन को एक अल्पतम परिमाण ताश्रा (dV) से परिवर्तित करें तो इसका ताप भी थोड़ा परिवर्तित हो जायगा। साम्यावस्था प्राप्त होने पर इसके
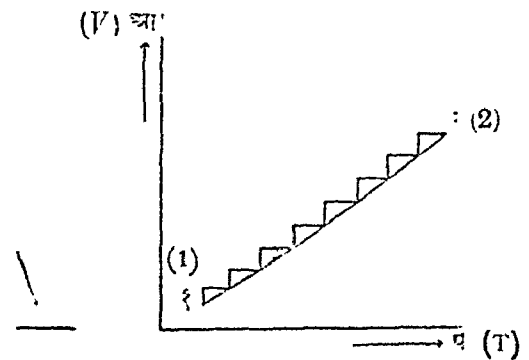
चित्र १. श्रा–पा ($V-T$) चित्र

आयतन में मान लें हम थोड़ा और अल्पतम परिवर्तन करें। इस तरह हम धीरे धीरे अवस्था १ से अवस्था २ में पहुँच जायेंगे। यदि हमारे परिवर्तनों का परिमाण धीरे धीरे शून्य की ओर बढ़े तो अंत में १ से २ तक परिवर्तन का वक्र सतत (कंटिनुअस) हो जायगा और उस वक्र का प्रत्येक बिंदु साम्यावस्थाओं का द्योतक होगा। ऐसे परिवर्तन को प्रायःस्थैतिक परिवर्तन कहते हैं। ऐसे प्रक्रम का यह भी लक्षण है कि क्रियाशनों, किए गए कार्य एवं अवशोषित उष्मा के चिह्नों को उलटकर इस निकाय को अवस्था २ से उसी वक्र के पथ पर लौटाकर अवस्था १ में लाया जा सकता है। इसी कारण इन प्रक्रमों को उत्क्रमणीय प्रक्रम कहते हैं। जो प्रक्रम उत्क्रमणीय नहीं होते उन्हें अनुत्क्रमणीय प्रक्रम कहते हैं।

यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि यदि किसी निकाय की दाब दा (p) हो तो एक उत्क्रमणीय प्रक्रम में यह जो कार्य करेगा वह दाताश्रा

(pdV) के बराबर होगा। अतएव उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धांत को हम इस तरह भी लिख सकते हैं :

$$\text{तो मा} = \text{ता ऊ} + \text{दा ता आ}। \quad (८)$$
$$đQ = dU + pdV \quad (8)$$

३. **उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धांत के उपयोग**—यदि हम आयतन एवं ताप को स्वतंत्र चर राशियाँ मानें तो :

$$\text{तोमा} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} \text{तापा} + \left[\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} + \text{दा}\right] \text{ताआ} \quad (९)$$

$$đQ = \left(\frac{\partial U}{\partial t}\right)_v dt + \left[\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_t + p\right] dV \quad (9)$$

जहाँ द=θ।

अतएव अचर आयतन पर विशिष्ट उष्मा वि$_{\text{आ}}$ (C_v) का मान होगा :

$$\text{वि}_{\text{आ}} = \left(\frac{\text{तोमा}}{\text{तापा}}\right)_{\text{आ}} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} \quad (१०)$$

$$C_v = \left(\frac{đQ}{dt}\right)_v = \left(\frac{\partial U}{\partial T}\right)_v \quad (10)$$

इसी प्रकार अचर दाव पर विशिष्ट उष्मा का मान होगा :

$$\text{वि}_{\text{दा}} = \left(\frac{\text{तोमा}}{\text{तापा}}\right)_{\text{दा}} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} + \left[\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} + \text{दा}\right]\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \quad (११)$$

$$C_p = \left(\frac{dQ}{dt}\right)_v = \left(\frac{\partial U}{\partial T}\right)_v + \left[\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_t + p\right]\left(\frac{\partial V}{\partial t}\right)_p \quad (\ 1)$$

अतएव

$$\text{वि}_{\text{दा}} - \text{वि}_{\text{आ}} = \left[\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} + \text{दा}\right]\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \quad (१२)$$

$$C_p - C_v = \left[\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_t + p\right]\left(\frac{\partial V}{\partial t}\right)_p \quad (12)$$

जूल-टामसन के प्रयोग में गैस एक पाइप में लगे डाट के एक ओर से दूसरी ओर जाती है। इसमें बाहर से गैस को उष्मा नहीं मिलती। एक ओर से एक पिस्टन दाव दा$_1$$(p_1)$ पर गैस को दबाता है। दूसरी ओर गैस दाव दा$_2$$(p_2)$ वाले एक पिस्टन को पीछे ढकेलती है। यदि गैस का आयतन प्रारंभ में आ$_1$ (V_1) हो तथा अंत में आ$_2$ (V_2) तो पहलेपिस्टन द्वारा गैस पर कार्य दा$_1$ आ$_1$$(P_1V_1)$होता है तथा दूसरे पिस्टन को ढकेलने के लिये स्वयं गैस को दा$_2$ आ$_2$$(p_2V_2)$कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार गैस को कुल दा$_2$आ$_2$—दा$_1$आ$_1$ $(p_2V_2 - p_1V_1)$ कार्य करना पड़ता है। समीकरण (८) के अनुसार

$$० = (\text{ऊ}_2 - \text{ऊ}_1) + (\text{दा}_2\text{आ}_2 - \text{दा}_1\text{आ}_1)$$
$$0 = (U_2 - U_1) + (p_2V_2 - p_1V_1)$$

अथवा

$$\text{ऊ}_2 + \text{दा}_2\text{आ}_2 = \text{ऊ}_1 + \text{दा}_1\text{आ}_1 \quad (१३)$$
$$U_2 + p_2V_2 = U_1 + p_1V_1 \quad (13)$$

यदि हम ऊ + दा आ = पू$(U + pV = H)$ रखें तो राशि पू (H) जूल-टामसन प्रयोग में अचर रहती है। राशि पू (H) को पूर्णोष्मा (टोटल हीट) कहते हैं।

यदि हम किसी निकाय का आयतन न बढ़ने दें तो इसके द्वारा किया गया कार्य शून्य के बराबर होगा। ऐसी अवस्था में जो भी उष्मा उसको मिलेगी उससे उसकी आंतरिक ऊर्जा बढ़ेगी। अर्थात् समीकरण (९) या (८) के अनुसार

$$\int_1^2 \text{तोमा} = \text{ऊ}_2 - \text{ऊ}_1, \text{ क्योंकि ताआ} = ० \quad (१४)$$

$$\int_1^2 đQ = U_2 - U_1, \text{ क्योंकि } dV = 0 \quad (14)$$

परंतु यदि दाव एक समान रहे और आयतन आ$_1$$(V_1)$से बढ़कर आ$_2$$(V_2)$ हो जाय तो निकाय दा (आ$_2$ − आ$_1$) $[P(V_2 - V_1)]$ के बराबर कार्य करेगा और

$$\int_1^2 \text{तोमा} = \text{ऊ}_2 - \text{ऊ}_1 + \text{दा (आ}_2 - \text{आ}_1) = \text{पू}_2 - \text{पू}_1 \quad (१५)$$

$$\int_1^2 đQ = U_2 - U_1 + P(V_2 - V_1) = H_2 - H_1 \quad (15)$$

अर्थात् किसी समदाव प्रक्रम में किसी निकाय को जो उष्मा मिलती है वह उसकी पूर्णोष्मा की वृद्धि के बराबर होती है।

रासायनिक क्रियाओं द्वारा प्राप्त होनेवाली उष्मा के विषय में हेस का नियम भी प्रथम सिद्धांत का ही एक दूसरा रूप है, यद्यपि इसका प्रतिपादन हेस ने उष्मागतिकी के सिद्धांत के पहले ही सन् १८४० में किया था।

४. **उष्मागतिकी का द्वितीय सिद्धांत : एंट्रापी**—उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धांत द्वारा भी एक नई भावना का समावेश होता है। यह एंट्रापी की भावना है। अन्य भावनाओं की अपेक्षा अधिक अमूर्त होने के कारण इसका बोध भी अधिक कठिन है। उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धांत का वर्णन कई प्रकार से किया जाता है।

क्लाज़िउस तथा लार्ड केलविन के शब्दों में इस सिद्धांत का विवरण उष्मा शीर्षक लेख में दिया जा चुका है।

इस सिद्धांत के अध्ययन में हम अभी सिद्ध करेंगे कि—

"प्रत्येक उष्मागतिकी निकाय की प्रत्येक अवस्था के लिये दो लाक्षणिक गुणधर्म (कैरेक्टेरिस्टिक प्रॉपर्टी) होते हैं, एक परम ताप पा (T) जो केवल प्रायोगिक ताप प (t) पर निर्भर करता है, दूसरा एंट्रापी एं (S) जिसको इस प्रकार निश्चित किया जाता है कि यदि किसी प्रायःस्थैतिक प्रक्रम में इस निकाय को परिमाण तोमा (dQ) में उसेष्मा मिलें तो

$$\text{तोमा} = \text{पाताएं} \ (đQ = TdS)$$

होता है। संसार में होनेवाले वास्तविक प्रक्रमों में, जो स्वभावतः अनुत्क्रमणीय होते हैं, एंट्रापी की वृद्धि होती है।" अतएव दूसरे सिद्धांत का वर्णन उपर्युक्त कथन से भी किया जा सकता है।

पहले हम केलविन तथा क्लाजिउस के कथनों की समतुल्यता सिद्ध करेंगे। इसके लिये हम यह सिद्ध करेंगे कि यदि केलविन का कथन असत्य हो तो क्लाज़िउस का कथन भी असत्य होगा। इसी तरह यदि क्लाज़िउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा।

यदि केलविन का कथन असत्य हो अर्थात् यदि उष्मा को किसी चक्रीय प्रक्रम में संपूर्णतः कार्य में परिवर्तित करना संभव हो तो घर्षण द्वारा इस कार्य को पुनः उष्मा में परिवर्तित करके किसी अन्य निकाय में पहुँचाया जा सकता है, चाहे यह दूसरा निकाय किसी भी ताप पर हो। इस प्रकार उष्मा को निम्न तापवाले निकाय से उच्च तापवाले निकाय में ले जाना संभव होगा। इस तरह क्लाजिउस का कथन भी असत्य सिद्ध हो जायगा।

यह सिद्ध करने के पहले कि यदि क्लाजिउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा, हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि उष्मा को कार्य में कैसे परिवर्तित करते हैं। इसके लिये हम उस चक्रीय परिवर्तन का अध्ययन करेंगे जिसे कार्नो चक्र (कार्नो साइकिल) कहते हैं।

कार्नो चक्र—कार्नो चक्र का वर्णन उष्मा शीर्षक लेख में संक्षेप में किया गया है। कल्पना करें कि एक निकाय है जिसकी अवस्था दो चर राशियों दा (p) तथा आ (V) द्वारा निश्चित की जा सकती है। यह भी मान लें कि तापों प$_1$ (t_1) तथा प$_2$ (t_2) पर उष्मा के दो बहुत बड़े स्रोत अथवा कुंड है जिनकी उष्माधारिता अनंत है। प$_1$$(t_1)$ तथा प$_2$$(t_2)$ किसी भी प्रायोगिक तापक्रम पर नापे गए हैं और हम मान लेंगे कि प$_2$ (t_2) से प$_1$ (t_1) अधिक है। हम यह भी कल्पना करेंगे कि निकाय, जो तरल है, एक बेलनाकार पात्र के भीतर है और उसपर किसी पिस्टन द्वारा दबाव पड़ रहा है। पिस्टन तथा बेलन के पार्श्व उष्मा के चालक नहीं हैं, किंतु बेलन की पेंदी उष्मा की चालक है। एक ऐसी टोपी भी है जो बेलन की पेंदी में लगाई जा

सकती है और जो उष्मा की चालक नहीं है। पहले हम बेलन को ताप प$_1$ (t_1) वाले स्रोत पर रखते हैं। इस तरह तरल निकाय का ताप भी प$_1$ (t) हो जायगा। मान लीजिए इसकी अवस्था दा – आ (p–V) रेखाचित्र में बिंदु क द्वारा निश्चित हो रही है। अब मान लीजिए कि तरल निकाय प्रायः-स्थैतिक प्रक्रम से फैल रहा है। ऐसी दशा में पिस्टन की दाब के विरुद्ध तरल निकाय कुछ कार्य करेगा और स्रोत से कुछ उष्मा ग्रहण करेगा जिसका परिमाण मान लेते हैं कि मा$_1$ (Q_1) है। इस प्रक्रम में तरल निकाय का ताप एक समान रहेगा और इस परिवर्तन को दा – आ (p–V) रेखाचित्र
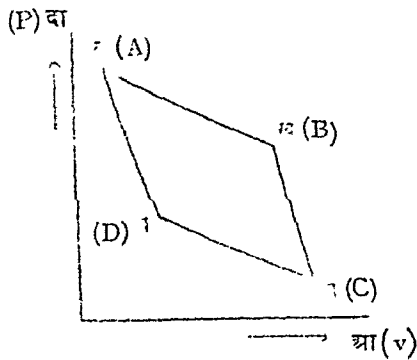
चित्र २. दा–आ (p–V) रेखाचित्र में कार्नो चक्र

में समतापीय वक्र क ख द्वारा दिखलाया जा सकता है। अब बेलन की पेंदी पर हम टोपी लगा देते है जिससे तरल निकाय में उष्मा का प्रवेश न हो सके। तब हम तरल निकाय को प्रायःस्थैतिक प्रक्रम से और फैलने देते हैं जिससे इसका ताप प$_2$ (t_2) हो जाता है। दा–आ (p–V) रेखाचित्र में इस परिवर्तन को स्थिरोष्म वक्र ख ग द्वारा दिखलाया जा सकता है। अब कुचालक टोपी उतारकर हम बेलन को ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत पर रखते हैं और प्रायःस्थैतिक प्रक्रम मे इसका संपीडन करते हैं। इससे तरल निकाय पर पिस्टन द्वारा कुछ कार्य होगा और कुछ उष्मा तरल निकाय से स्रोत में जायगी जिसका परिमाण, मान लेते हैं, मा$_2$ (Q_2) है। दा–आ (p–V) रेखाचित्र में यह परिवर्तन समतापीय वक्र ग घ द्वारा दिखलाया जा सकता है। विंदु घ इस तरह चुना जाता है कि वह उसी स्थिरोष्म वक्र पर हो जिस पर क है। अब टोपी लगाकर फिर प्रायःस्थैतिक प्रक्रम से तरल निकाय का संपीडन किया जाता है जिससे इसका ताप फिर प$_1$ (t_1) हो जाय और तरल निकाय अपनी प्रारंभिक अवस्था में आ जाय।

इस चक्रीय परिवर्तन का फल केवल यह हुआ है कि प$_1$ (t) ताप-वाले स्रोत में से परिमाण मा$_1$ (Q_1) में उष्मा ली गई है। इसमें कुछ भाग कार्य में परिणत हुआ है और परिमाण मा$_2$ (Q_2) में उष्मा ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत में चली गई है। क्योंकि इस चक्र के सभी परिवर्तन प्रायःस्थैतिक हैं, अतएव इस चक्रीय परिवर्तन में जो कार्य होता है वह ∫दातआ [$\int pdV$] के बराबर होता है जो क्षेत्र कखगघ के क्षेत्रफल के बराबर होता है। यदि यह कार्य का (W) के बराबर है तो प्रथम सिद्धांत के अनुसार

$$\text{का} = \text{मा}_1 - \text{मा}_2 \qquad (१६)$$
$$W = Q_1 - Q_2 \qquad (16)$$

कार्नो चक्र की बड़ी विशेषता यह है कि इसके सारे परिवर्तन प्रायः-स्थैतिक हैं। अतएव इसे उलटी दिशा, अर्थात् क घ ग ख दिशा में भी पूरा किया जा सकता है। इस प्रक्रम में तरल निकाय के ऊपर परिमाण का (W) में कार्य किया जायगा, ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत से तरल निकाय परिमाण मा$_2$ (Q_2) में उष्मा लेगा और ताप प$_1$ (t_1) वाले स्रोत में परिमाण मा$_1$ (Q_1) में उष्मा देगा।

पहले हम यह सिद्ध करेंगे यदि का (W) धन राशि हो तो मा$_1$ (Q_1) तथा का$_2$ (Q_2) भी धन राशियाँ होंगी। पहले मान लेते हैं कि का$_2$ (Q_2) धन राशि नहीं है। अर्थात् ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत से परिमाण मा$_2$ (Q_2) में उष्मा ली गई है, उसमें उष्मा पहुँचाई नहीं गई है। अब दोनों स्रोतों को उस समय तक एक दूसरे को स्पर्श करने दिया जा सकता है जब तक परि-माण मा$_2$ (Q_2) में उष्मा स्रोत प$_1$ (t_1) से स्रोत प$_2$ (t_2) में पहुँच जाय। इन सब परिवर्तनों का फल यह होगा कि स्रोत प$_1$ (t_1) से कुछ उष्मा लेकर उसे संपूर्णतया कार्य मे परिणत कर दिया गया है। परंतु यह केलविन के कथन के विरुद्ध है। अतएव मा$_2$ (Q_2) धन राशि है। क्योंकि मा$_1$ = मा$_2$ + का ($Q_1 = Q_2 + W$), अतः मा$_1$ (Q_1) भी धन राशि है।

अब बड़ी सुगमता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि यदि क्लाज़िउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा। क्योंकि यदि किसी चक्रीय परिवर्तन से ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत से ताप प$_1$ (t_1) वाले स्रोत में परिमाण मा$_1$ (Q_1) में उष्मा पहुँचना संभव हो तो कार्नो चक्र की सहायता से ताप प$_1$ (t) वाले स्रोत से उष्मा मा$_1$ (Q_1) लेकर इसमें से कार्य का (W) किया जा सकता है तथा शेष मा$_2$ = मा$_1$ – का ($Q_2 = Q_1 - W$) ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत में पहुँचाई जा सकती है। इस पूरे परिवर्तन का फल यह होगा कि किसी अन्य परिवर्तन के बिना ही परि-माण मा$_1$ – मा$_2$ = का ($Q_1 - Q_2 = W$) में ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत की उष्मा को कार्य में परिणत कर दिया गया है। यह केलविन के कथन के विरुद्ध है, अर्थात् यदि क्लाज़िउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा।

किसी चक्रीय परिवर्तन में जितना कार्य किया जाय उसका ऊँचे तापवाले स्रोत से ली गई उष्मा के साथ जो अनुपात है उसे उस चक्र की कार्यक्षमता (एफ़िशेंसी) कहते हैं। अर्थात् कार्यक्षमता = का/मा$_1$ (W/Q_1)।

अब हम सिद्ध करेंगे कि कार्नो चक्र की कार्यक्षमता सबसे अधिक होती है और केवल तापों प$_1$ तथा प$_2$ (t तथा t_2) पर ही निर्भर रहती है। मान लेते हैं कि कोई अनुत्क्रमणीय चक्र ऐसा है जिसकी कार्यक्षमता कार्नो चक्र से अधिक है। हम दो तरल निकाय लेते हैं जिनमें एक तापों प$_1$ (t) तथा प$_2$ (t_2) के बीच कार्नो चक्र पूरा करता है तथा दूसरा अनुत्क्रमणीय चक्र कार्नो चक्र में तरल निकाय ताप प$_1$ (t_1) वाले स्रोत से उष्मा मा$_1$ (Q) लेकर कार्य का (W) करता है और शेष मा$_2$ = मा$_1$ – का' ($Q_2 = Q_1 - W'$ को ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत को दे देता है। अनुत्क्रमणीय चक्र ताप प$_1$ (t_1) वाले स्रोत से उष्मा मा$_1$' (Q_1') लेकर कार्य का' (W') करता है और शेष मा'$_2$ = मा$_1$' – का' ($Q_2' = Q_1' - W'$) को ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत को दे देता है। हम इन चक्रों का ऐसा नियंत्रण करेंगे कि मा$_1$ = मा$_1$' ($Q_1 = Q_1'$); अतएव का' > का ($W' > W$) क्योंकि हमने मान लिया है कि अनुत्क्रमणीय चक्र अधिक कार्यक्षम है। अब हम इन दोनों को एक साथ चलाते हैं और अनुत्क्रमणीय चक्र का उपयोग उत्क्रमणीय चक्र को विपरीत दिशा में चलाने में करते हैं। इस प्रकार ताप प$_2$ (t_2) वाले स्रोत से मा$_2$ – मा$_2$' ($Q_2 - Q_2$) परिमाण मे उष्मा कार्य का' – का ($W' - W$) में परिणत हो जायगी और यह केलविन के नियम के विरुद्ध है। अतएव कोई अनुत्क्रमणीय चक्र कार्नो चक्र की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम नहीं हो सकता।

यदि दोनों ही चक्र उत्क्रमणीय हों तो इसी प्रकार हम सिद्ध कर सकते हैं कि न तो पहला दूसरे से अधिक कार्यक्षम है, न दूसरा पहले से। अर्थात् दोनों की कार्यक्षमता बराबर है और यह कार्यक्षमता किसी तरल निकाय पर निर्भर नहीं रहती, केवल स्रोतों के तापों पर निर्भर रहती है। अतएव

$$\text{मा}_1/\text{मा}_2 = \text{फ}(\text{प}, \text{प}_2)\text{।} \qquad (१७)$$
$$Q/Q_2 = f(t, t_2) \qquad (17)$$

अब हम तापों प$_1$, प$_2$ (t_1, t_2) तथा प$_3$ (t_3) पर तीन स्रोत लेते हैं। एक कार्नो चक्र स्रोत प$_1$ (t_1) से उष्मा मा$_1$ (Q_1) लेता है और स्रोत प$_2$ (t_2) को उष्मा मा$_2$ (Q_2) देता है। दूसरा कार्नो चक्र स्रोत प$_2$ (t_2) से उष्मा मा$_2$ (Q_2) लेता है और उष्मा मा$_3$ (Q_3) स्रोत प$_3$ (t_3) को देता है। अतएव

$$\text{मा}_1/\text{मा}_2 = \text{फ}(\text{प}_1, \text{प}_2)\text{;}\ \text{मा}_2/\text{मा}_3 = \text{फ}(\text{प}_2, \text{प}_3)\text{।} \qquad (१८)$$
$$Q_1/Q_2 = f(t_1, t_2);\ Q_2/Q_3 = f(t_2, t_3) \qquad (18)$$

एक तीसरा कार्नो चक्र ऐसा है जो स्रोत प$_1$ (t) से उष्मा मा$_1$ (Q) लेता है और स्रोत प$_3$ (t_3) को उष्मा मा$_3$ (Q_3) देता है; अतएव

मा$_1$ मा$_3$ = फ (प$_1$, प$_3$) । (१९)

$$Q/Q_3 = f(t_1, t_3) \quad (19)$$

समीकरणों (१८) तथा (१९) के कारण

फ(प$_1$, प$_2$) = फ(प$_1$, प$_3$)/फ(प$_2$, प) । (२०)

$$f(t_1, t_2) = f(t_1, t_3)/f(t_2, t_3) \quad (20)$$

जो प$_1$, प$_2$, प$_3$ (t_1 t_2 t_3) के सभी मानों के लिये ठीक है। इस समीकरण के बाईं ओर प$_3$ (t_3) नहीं है। अतएव दाहिनो ओर भी प$_3$ (t_3) को नहीं होना चाहिए। यह तभी होगा जब फ (प$_1$ प$_2$) [$f(t_1, t_3)$] फलन का स्वरूप निम्नलिखित हो

फ(प$_1$, प$_2$) = फी(प$_1$)/फी(प$_2$) । (२१)

$$f(t_1, t_2) = g(t_1)/g(t_2) \quad (21)$$

इसमें फी (प) [$g(t)$] प्रायोगिक ताप का फलन है, जिसका मान हम धनात्मक ले सकते है, क्योंकि मा$_1$ (Q_1) तथा मा$_2$ (Q_2) धन राशियाँ हैं। ताप के इस फलन को अथवा इसके किसी गुणज (मल्टिपुल) को हम परम ताप के बराबर मान सकते है। अर्थात् पा = अ फी (प), [$T = ag(t)$] जिसमें पा (T) परम ताप है। इस प्रकार

मा/मा$_2$ = पा$_1$/पा$_2$ (२२)

$$Q/Q_2 = T_1/T_2 \quad (22)$$

इस परम ताप की विशेषता यह है कि इसका मान किसी पदार्थ के गुणों पर निर्भर नहीं रहता। इसी कारण उष्मागतिकी में इसी पैमाने का उपयोग किया जाता है। इसका आकार निश्चित करने के लिये इस तापक्रम में भी हम पानी के हिमाक तथा क्वथनाक के बीच का अंतर १०० के बराबर मानेंगे। यदि इन बिंदुओं का मान पा$_0$ (T_0) तथा पा$_{100}$ (T_{100}) है तो

$$\frac{\text{मा}_{100}}{\text{मा}_0} = \frac{\text{पा}_{100}}{\text{पा}_0} = \frac{\text{पा}_0 + 100}{\text{पा}_0} \text{।} \quad (२३)$$

$$\frac{Q_{100}}{Q_0} = \frac{T_{100}}{T_0} = \frac{T_0 + 100}{T_0}. \quad (23)$$

यदि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मा$_{100}$ (Q_{100}) तथा मा$_0$ (Q_0) का मान ज्ञात कर लिया जाय तो पा$_0$ ($\mathbf{T_0}$) का मान निकाला जा सकता है। इस तरह यह ज्ञात किया गया है कि पा$_0$ (T_0) = २७३·१६.

कार्नो चक्र में मा$_1$ (Q) तथा मा$_2$ (Q_2) का अनुपात पा$_1$ (T_1) तथा पा$_2$ (T_2) के अनुपात के बराबर है,

अर्थात् मा$_1$/मा$_2$ = पा$_1$/पा$_2$ । ($Q_1/Q_2 = T_1/T_2$)

अतएव मा/पा$_1$ − मा$_2$/पा$_2$ = ० ($Q_1/T_1 - Q_2/T_2 = 0$)

अर्थात् $\sum$(मा/पा) ०, [$\sum(Q/T) = 0$], (२४)

जिसमें मा (Q) निकाय द्वारा ली गई उष्मा का परिमाण है और यदि निकाय उष्मा लेता है तो यह धन होगा, यदि निकाय उष्मा देता है तो यह ऋण होगा।

अब यह दिखलाना सरल है कि आदर्श गैस-तापमापी पर नापा ताप वही है जो परम-ताप-क्रम का ताप (आदर्श गैस-तापमापी के लिये **तापमान** शीर्षक लेख देखें)। आदर्श गैस का समीकरण है

दा आ = क्ष थ, (२५)

$$pV = R\theta, \quad (25)$$

जिसमें थ (θ) आदर्श गैस तापक्रम पर ताप है और क्ष (R) एक अचर है। यदि कार्नो चक्र में जो तरल प्रयुक्त हो रहा है वह एक आदर्श गैस है तो मा$_1$ (Q_1) उस कार्य के बराबर होगा जो आदर्श गैस बिंदु क से ख तक फैलने में करती है। यदि गैस का आयतन बिंदुओं क, ख, ग तथा घ पर क्रमानुसार आ$_1$, आ$_2$, आ$_3$ (V_1, V_2, V_3) तथा आ$_4$ (V_4) है तो

$$\text{मा} = \int_{\text{आ}_1}^{\text{आ}_2} \text{दा ता आ} = \text{क्ष थ}_1 \int_{\text{आ}_1}^{\text{मा}_2} \frac{\text{ता आ}}{\text{आ}} = \text{क्ष थ}_1 \text{लघु} \frac{\text{आ}_2}{\text{आ}_1} (२६)$$

$$Q_1 = \int_{V_1}^{V_2} p\,dV = R\theta_1 \int_{V_1}^{V_2} \frac{dV}{V} = R\theta_1 \log_e \frac{V_2}{V_1} (26)$$

इसी प्रकार

मा क्ष थ$_2$ लघु {आ$_3$/आ} । (२७)

$$Q_2 = R\theta_2 \log_e \{V/V_4\} \quad (27)$$

क्योंकि बिंदु ख तथा ग एक ही स्थिरोष्म पर हैं, अतएव

थ$_1$ आ$_2$$^{\gamma-1}$ = थ$_2$ आ$_3$$^{\gamma-1}$, ($\theta_1 V_2^{\gamma-1} = \theta_2 V_3^{\gamma-1}$,)

अर्थात्

थ$_1$/थ$_2$ = (आ$_3$/आ$_2$)$^{\gamma-1}$ । ($\theta/\theta_2 = (V_3/V_2)^{\gamma-1}$) (२८)

इसी प्रकार क तथा घ भी एक ही स्थिरोष्म पर हैं, अतएव

थ$_1$ आ$_1$$^{\gamma-1}$ = थ$_2$ आ$_4$$^{\gamma-1}$ ($\theta_1 V_1^{\gamma-1} = \theta_2 V_4^{\gamma-1}$)

अर्थात् थ$_1$/थ$_2$ = (आ$_4$/आ$_1$)$^{\gamma-1}$ = (आ$_3$/आ$_2$)$^{\gamma-1}$

$\theta_1/\theta_2 = (V_4/V_1)^{\gamma-1} = (V_3/V_2)^{\gamma-1}$

अर्थात् आ/आ$_1$ = आ$_3$/आ$_2$ । ($V_4/V_1 = V_3/V_2$)

अतएव आ$_3$/आ = आ$_2$ आ$_1$ । ($V_3/V_4 = V_2/V_1$) (२९)

समीकरणों (२६), (२७) एवं (२९) की सहायता से

मा$_1$/मा$_2$ = थ$_1$/थ$_2$ । ($Q_1/Q_2 = \theta_1/\theta_2$) (३०)

अब समीकरणों (२२) तथा (३०) की सहायता से

थ$_1$/थ$_2$ = पा$_1$/पा$_2$ । ($\theta_1/\theta_2 = T_1/T_2$) (३१)

आदर्श गैस-तापमापी में भी पानी के हिमाक तथा क्वथनांक में १००° का अंतर है। अतएव आदर्श गैसतापमापी के ताप एव परम तापक्रम के ताप एक ही है। दाआ = क्षथ ($pV = R\theta$) का उपयोग करने का यही लाभ है।

अब हम कल्पना करेंगे कि कोई निकाय एक चक्रीय परिवर्तन पूरा करता है। इस परिवर्तन में यह निकाय कई स्रोतों से उष्मा ग्रहण करता है या उनको ऊष्मा देता है। इन स्रोतों के ताप पा$_1$, पा$_2$,..., पा$_m$ (T_1 T_2... T_m) है। विनिमय की गई उष्मा का परिमाण क्रमशः मा$_1$, मा$_2$,..., मा$_m$ (Q_1, Q_2...Q_m) है। जो निकाय उष्मा लेता है उसे हम धन मानेंगे तथा जो देता है उसे ऋण। अब हम सिद्ध करेंगे कि

$$\sum_{\text{य} = 1}^{\text{य} = \text{म}} \frac{\text{मा}}{\text{पा}_\text{य}} \leqslant ० \text{।} \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \leqslant 0. \quad (३२)$$

बराबरी का चिह्न उस दशा में लागू होता है जब निकाय द्वारा पूरा किया गया चक्रीय परिवर्तन उत्क्रमणीय हो।

इसको सिद्ध करने के लिये हम यह कल्पना करेंगे कि इन म (m) स्रोतों के अतिरिक्त एक और स्रोत है जिसका ताप पा$_0$ (T_0) है और इस स्रोत और उपर्युक्त स्रोतों के बीच कार्नो चक्र क$_1$, क$_2$, .., क$_m$ (W_1, W_2... W_m) क्रमानुसार कार्य करते हैं जिनके फलस्वरूप उपर्युक्त स्रोतों में उष्मा क्रमानुसार परिमाण मा$_1$, मा$_2$,..., मा$_m$ (Q_1 Q_2 .. Q_m) में पहुँच जाती है। समीकरण (२०) के अनुसार य वें (x_{th}) कार्नो चक्र द्वारा य वें (x_{th}) स्रोत में मा (Q_x) परिमाण में उष्मा पहुँचाने के लिये ताप पा$_0$ (T_0) वाले स्रोत में से य वाँ चक्र जितनी उष्मा लेगा उसका परिमाण होगा

$$\text{मा}_{\text{य},0} = \frac{\text{पा}_0}{\text{पा}_\text{य}} \text{मा}_\text{य} \text{।} \quad Q_{x,0} = \frac{T_0}{T_x} Q_x \quad (३३)$$

इस प्रकार ताप पा$_0$ वाले स्रोत से जो कुल उष्मा ली जायगी उसका परिमाण

$$\text{मा}_0 = \sum_{\text{य}=1}^{\text{य}=\text{म}} \text{मा}_{\text{य},0} = \text{पा}_0 \sum_{\text{य}=1}^{\text{य}=\text{म}} \frac{\text{मा}_\text{य}}{\text{पा}_\text{य}} \quad (३४)$$

$$Q_0 = \sum_{x=1}^{x=m} Q_{x,0} = T_0 \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \quad (34)$$

होगा। निकाय न (n) के तथा म (m) कार्नो चक्रों के चक्रीय परिवर्तन पूरा

करने के फलस्वरूप म (m) स्रोतों में उतनी ही उष्मा पहुँच जायगी जितनी प्रत्येक में से निकाय न (n) ने ग्रहण की थी। क्योंकि न (n) तथा क१, क२, ... (W_1, W_2 ...) आदि इन चक्रीय परिवर्तनों को पूरा करके अपनी प्रारंभिक अवस्था में पहुँच जायँगे, इसलिये इन चक्रीय परिवर्तनों का फल केवल यह होगा कि ताप पा० (T_0) वाले स्रोत का परिमाण मा० (Q_0) की उष्मा कार्य में परिवर्तित हो गई। यदि मा० (Q_0) धन राशि हो तो यह फल केलविन के नियम के विरुद्ध होगा। अतएव मा० ⩽ ०, ($Q_0 \leqslant 0$) अर्थात्

$$\sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} \leqslant ०। \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \leqslant 0 \qquad (३५)$$

यदि निकाय न (n) द्वारा पूरा किया गया चक्र उत्क्रमणीय हो तो यह उस चक्रीय परिवर्तन को उलटी दिशा में पूरा कर सकता है। ऐसी दशा में प्रत्येक मा$_य$ (Q_x) का चिह्न बदल जायगा। अर्थात् तब हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि

$$\sum_{य=१}^{य=म} -\frac{मा_य}{पा_य} \leqslant ०। \quad \sum_{x=1}^{x=m} -\frac{Q_x}{T_x} \leqslant 0.$$

अर्थात् $$\sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} \geqslant ०। \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \geqslant 0. \qquad (३६)$$

(३५) तथा (३६) की असमताएँ एक साथ तभी ठीक हो सकती हैं जब

$$\sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} = ०। \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} = 0 \qquad (३७)$$

अतएव चक्र यदि उत्क्रमणीय हो तो समीकरण (३७) ठीक होगा और यदि अनुत्क्रमणीय हो तो असमता (३२) लागू होगी।

यदि स्रोतों की संख्या परिमित होने के स्थान पर अपरिमित हो तथा इनमें प्रत्येक से निकाय अत्यणु परिमाण में उष्मा ग्रहण करे तो हमें संकलन के स्थान पर समाकलन का प्रयोग करना पड़ेगा और हमें यह फल मिलेगा कि

$$\oint \frac{तोमा}{पा} \leqslant ०, \qquad (३८)$$

$$\oint \frac{đQ}{T} \leqslant 0, \qquad (38)$$

जिसमें समानता का चिह्न उत्क्रमणीय चक्र के लिये है और असमानता का चिह्न अनुत्क्रमणीय चक्र के लिये है।

यदि दा आ (p-V) रेखाचित्र ३ में क एवं ख दो बिंदु निकाय की साम्यावस्थाओं के सूचक हैं तो निकाय क से ख बिंदु तक साधारणतया कई उत्क्रमणीय पथों द्वारा ले जाया जा सकता है। मान लेते हैं कि क१ख एवं क२ख ऐसे दो पथ हैं। अतएव क१ख२क एक उत्क्रमणीय चक्र है और इस चक्र के लिये समीकरण (३८) के कारण

$$\oint \frac{तोमा}{पा} = ०। \quad \oint \frac{đQ}{T} = 0$$

इस समाकलन को दो खंडों में विभाजित किया जा सकता है। एक क१ख पथ से दूसरा ख२क पथ से। अर्थात्

$$\left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_१ + \left(\int_{ख}^{क} \frac{तोमा}{पा}\right)_२ = ०$$

$$\left(\int_{A}^{B} \frac{đQ}{T}\right)_1 + \left(\int_{B}^{A} \frac{đQ}{T}\right)_2 = 0$$

चित्र ३

अतएव $$\left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_१ = \left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_२ । \qquad (३९)$$
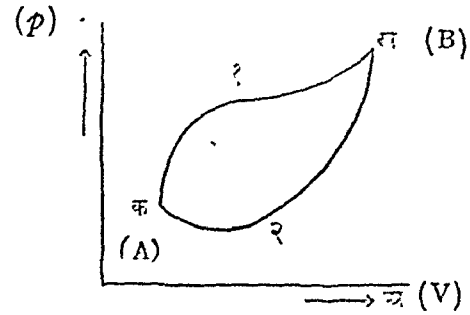
$$\left(\int_{A}^{B} \frac{đQ}{T}\right)_1 = \left(\int_{A}^{B} \frac{đQ}{T}\right)_2 \qquad (39)$$

अर्थात् समाकलन ∫तोमा/पा ($\int đQ/T$) का मान पथ पर नहीं निर्भर रहता, केवल क एवं ख दोनों अवस्थाओं पर ही निर्भर रहता है। अतएव इस समीकरण की सहायता से हम निकाय के नए लाक्षणिक गुणधर्म को निश्चित कर रहे हैं जिसे एंट्रापी कहते हैं।
अतएव

$$एं_ख - एं_क = \int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा} । \quad S_B - S_A = \int_{A}^{B} \frac{đQ}{T} \qquad (४०)$$

एक अत्यणु उत्क्रमणीय परिवर्तन के लिये, जिसमें निकाय उष्मा तोमा ($đQ$) ताप पा (T) पर ग्रहण करता है, इस एंट्रापी की वृद्धि ताएं (dS) होगी जहाँ

$$\left.\begin{array}{l} पा\ ताएं = तोमा। \\ TdS = đQ \end{array}\right\} \qquad (४१)$$

उष्मागतिकी के पहले सिद्धांत के कारण

$$तोमा = ताऊ + दा\ ताआ\ (đQ = dU + pdV);$$

अतएव $$\left.\begin{array}{l} पा\ ताएं = ताऊ + दाताआ \\ T\,dS = dU + pdV \end{array}\right\} \qquad (४२)$$

यदि कोई चक्र अंशत. उत्क्रमणीय एवं अनुत्क्रमणीय हो तो असमता (३८)
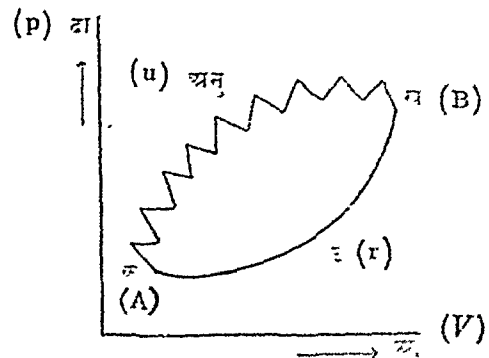
चित्र ४

लागू होगी और

$$\left(\int_{\text{ख}}^{\text{क}} \frac{\text{तोमा}}{\text{पा}}\right)_{\text{उ}} + \left(\int_{\text{क}}^{\text{ख}} \frac{\text{तोमा}}{\text{पा}}\right)_{\text{अनु}} < ० \qquad (४३)$$

$$\left(\int_{B}^{A} \frac{\text{đ}Q}{T}\right)_{r} + \left(\int_{A}^{B} \frac{\text{đ}Q}{T}\right)_{u} < 0 \qquad (43)$$

जिनमें क उ ख (ArB) उत्क्रमणीय पथ है तथा ख अनु क (BuA) अनुत्क्रमणीय पथ है। असमता (४३) की सहायता से

$$० > \left(\int_{\text{क}}^{\text{ख}} \frac{\text{तोमा}}{\text{पा}}\right)_{\text{अनु}} - \left(\int_{\text{क}}^{\text{ख}} \frac{\text{तोमा}}{\text{पा}}\right)_{\text{उ}}$$

$$0 > \left(\int_{A}^{B} \frac{\text{đ}Q}{T}\right)_{u} - \left(\int_{A}^{B} \frac{\text{đ}Q}{T}\right)_{r}$$

अर्थात्

$$० > \left(\int_{\text{क}}^{\text{ख}} \frac{\text{तोमा}}{\text{पा}}\right)_{\text{अनु}} - [\text{एं}_{\text{ख}} - \text{एं}_{\text{क}}] \qquad (४४)$$

$$0 > \left(\int_{A}^{B} \frac{\text{đ}Q}{T}\right)_{u} - (S_B - S_A) \qquad (44)$$

(४०) तथा (४४) की सहायता से हम देखते हैं कि

$$\text{एं}_{\text{ख}} - \text{एं}_{\text{क}} \geqslant \int_{\text{क}}^{\text{ख}} \frac{\text{तोमा}}{\text{पा}} \qquad (४५)$$

$$S_B - S_A \geqslant \int_{A}^{B} \frac{\text{đ}Q}{T} \qquad (45)$$

$$\left.\begin{array}{l} \text{तथा पा ताएं} \geqslant (\text{ताऊ} + \text{दा ताआ}) \geqslant (\text{तापू आ तादा}) \\ T\, ds \geqslant (dU + p\, dV) \geqslant (dH - V\, dp) \end{array}\right\} \qquad (४६)$$

जिसमें समता का चिह्न उत्क्रमणीय परिवर्तन के लिये लागू है एवं असमता का चिह्न अनुत्क्रमणीय परिवर्तन के लिये।

५. उष्मागतिकीय विभव तथा मैक्सवेल के संबंध—यदि निकाय पूर्णतः पृथक् हो तो उसके लिये तोमा = ० ($\text{đ}Q = ०$)। अतएव ऐसे निकाय के लिये

$$\left.\begin{array}{l} \text{ताएं} \geqslant ०, \\ dS \geqslant ०, \end{array}\right\} \qquad (४७)$$

अर्थात् किसी भी पृथक् निकाय में स्वभावतः जो भी परिवर्तन होते हैं उनके फलस्वरूप एंट्रापी बढ़ती ही है, घटती नहीं, और इस निकाय को वह अवस्था सबसे अधिक स्थायी होती है जिसमें एंट्रापी का मान सबसे अधिक रहता है।

परंतु सभी निकाय ऐसे नहीं होते जिनका वाह्य संपर्क कुछ भी न हो। अतएव हम ऐसे निकायों का भी विवेचन करेंगे जो पूर्णतया पृथक् न हों। असमता (४६) को हम एक और प्रकार से लिख सकते हैं। वह है

$$\left.\begin{array}{l} \text{दा ताआ} \leqslant \text{पा ताएं} - \text{ताऊ}, \\ p\, dV \leqslant T\, dS - dU \end{array}\right\} \qquad (४८)$$

समतापीय प्रक्रमों के लिये (४८) इस प्रकार भी लिखा जा सकता है।

$$\left.\begin{array}{l} \text{दा ताआ} \leqslant -\text{ता}(\text{ऊ}-\text{पा एं}) = -\text{ताफा} \\ p\, dV \leqslant -d(U - TS) = -dF \end{array}\right\} \qquad (४९)$$

जिसमें फा = ऊ−पाएं ($F = U - TS$)। फा (F) को स्वतंत्र ऊर्जा कहते हैं। असमता (४९) का यह अर्थ है कि कोई निकाय नियत ताप पर उत्क्रमणीय परिवर्तनों में उतना ही कार्य कर सकता है जितनी कमी उसकी स्वतंत्र ऊर्जा में होती है। अनुत्क्रमणीय परिवर्तनों में कार्य की मात्रा स्वतंत्र ऊर्जा में कमी की मात्रा से कम होती है। असमता (४९) को यों भी लिखा जा सकता है :

$$\text{ताफा} \leqslant -(\text{दा ताआ})\text{। } dF \leqslant -(p\, dV) \qquad (५०)$$

अर्थात् नियत ताप तथा नियत आयतन पर वास्तविक (अतएव अनुत्क्रमणीय परिवर्तनों में स्वतंत्र ऊर्जा कम होती है तथा निकाय की वह अवस्था सबसे अधिक स्थायी होती है जिसमें स्वतंत्र ऊर्जा सबसे कम होती है।

यदि किसी निकाय का न केवल ताप ही नियत रहे अपितु इसका दबाव भी नियत रहे, तो असमता (४९) से हम एक अन्य असमता प्राप्त कर सकते हैं। वह है

$$\left.\begin{array}{l} ० \leqslant -\text{ता}(\text{ऊ}-\text{पा एं} + \text{दा आ}) = -\text{ताफू} \\ ० \leqslant -d(U - TS + pV) = -dG \end{array}\right\} \qquad (५१)$$

जिसमें फू = ऊ−पाएं + दाआ ($G = U - TS + pV$)। फू (G) को स्वतंत्र पूर्णोष्मा अथवा गिब्ज़ की स्वतंत्र ऊर्जा कहते हैं; फा (F) को हेल्महोल्ट्ज़ की स्वतंत्र ऊर्जा कहते हैं। असमता (५१) का अर्थ यह है कि समतापीय एवं समदाबीय वास्तविक परिवर्तनों में गिब्ज़ की स्वतंत्र ऊर्जा कम होती है और वह अवस्था सबसे अधिक स्थायी होती है जिसमें गिब्ज़ की स्वतंत्र ऊर्जा सबसे कम रहती है।

अब तक हम उष्मागतिकीय निकायों से संबंधित आठ राशियों की चर्चा कर चुके हैं। ये हैं दा, आ, पा, एं (p, V, T, S) एवं ऊ, पू, फा (U, H, F) और फू (G)। इनमें पिछली चार राशियों की विमितियाँ (डाइमेन्शन्स) वे ही हैं जो ऊर्जा की। इन चारों राशियों को उष्मागतिकीय विभव कहते हैं। किसी भी उष्मागतिकीय निकाय की प्रत्येक अवस्था के लिये प्रथम चार राशियों का एक निश्चित मान होता है जो उस पथ पर निर्भर नहीं करता जिससे निकाय उस अवस्था को प्राप्त हुआ है। इसी तरह पिछली चार राशियों के भी निकाय की प्रत्येक अवस्था के लिये निश्चित मान होते हैं। अर्थात् ताऊ (dU), तापू (dH), ताफा (dF) तथा ताफू (dG) चारों यथार्थ अवकल हैं तथा उत्क्रमणीय परिवर्तनों के लिये इनका मान निम्नांकित समीकरणों द्वारा प्रकट होता है :

$$\text{ताऊ} = \text{पा ताएं} - \text{दा ताआ}\text{। } dU = T\, dS - p\, dV, \qquad (५२)$$

$$\text{ता पू} = \text{ताऊ} + \text{दा ताआ} + \text{आ तादा} = \text{पा ताएं} + \text{आ तादा}, \qquad (५३)$$

$$dH = dU + p\, dV + V\, dp = T\, dS + V dp \qquad (53)$$

$$\text{ताफा} = \text{ताऊ} - \text{पा ताएं} - \text{एं तापा} = -\text{दा ताआ} - \text{एं तापा}, \qquad (५४)$$

$$dF = dU - T\, dS - S\, dT = -p\, dV - S\, dT \qquad (54)$$

$$\begin{array}{l} \text{ताफू} = \text{ताऊ} - \text{पा ताएं} - \text{एं तापा} + \text{दा ताआ} + \text{आ तादा} \\ \qquad = \text{आ तादा} - \text{एं तापा} \end{array} \qquad (५५)$$

$$\begin{array}{l} dG = dU - T\, dS - S\, dT + p\, dV + V\, dp \\ \qquad = V\, dp - S\, dT \end{array} \qquad (55)$$

समीकरण (५२) में एंट्रापी एं (S) तथा आयतन आ (V) स्वतंत्र चर राशियाँ हैं तथा इनमें हमें निम्नलिखित फल मिलते हैं :

$$\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{ताएं}}\right)_{\text{आ}} = \text{पा}, \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{ताआ}}\right)_{\text{एं}} = -\text{दा},$$

$$\left(\frac{\partial U}{\partial S}\right)_V = T, \left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_S = -p$$

$$\text{परंतु} \quad \frac{\text{त}}{\text{तआ}}\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तएं}}\right) = \frac{\text{त}}{\text{ताएं}}\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{ताआ}}\right),$$

$$\frac{\partial}{\partial V}\left(\frac{\partial U}{\partial S}\right) = \frac{\partial}{\partial S}\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right),$$

$$\text{अतएव} \quad \left(\frac{\text{तपा}}{\text{तआ}}\right)_{\text{एं}} = -\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तएं}}\right)_{\text{आ}}\text{।} \qquad (५६)$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial V}\right)_S = -\left(\frac{\partial p}{\partial S}\right)_V \qquad (56)$$

इसी प्रकार समीकरणों (५३), (५४) तथा (५५) से हमें तीन अन्य फल मिलते हैं :

$$\left(\frac{\text{तपा}}{\text{तदा}}\right)_{\text{ए}} = \left(\frac{\text{तआ}}{\text{तएं}}\right)_{\text{दा}}, \qquad (\text{५७})$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial p}\right)_S = \left(\frac{\partial V}{\partial S}\right)_p, \qquad (57)$$

$$\left(\frac{\text{तएं}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} = \left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}}, \qquad (\text{५८})$$

$$\left(\frac{\partial S}{\partial V}\right)_T = \left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_v, \qquad (58)$$

एवं

$$\left(\frac{\text{तएं}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} = -\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \text{।} \qquad (\text{५९})$$

$$\left(\frac{\partial S}{\partial p}\right)_T = -\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_p \qquad (59)$$

समीकरणों (५६), (५७), (५८) तथा (५९) में जो संबंध दिखाए गए है उन्हें मैक्सवेल के संबंध कहते हैं।

समीकरण (५४) से

$$\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} = -\text{एं।} \qquad (\text{६०})$$

$$\left(\frac{\partial F}{\partial T}\right)_V = -S \qquad (60)$$

अतएव

$$\text{फा} = \text{ऊ} - \text{पाएं} = \text{ऊ} + \text{पा}\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}},$$

$$F = U - TS = U + T\left(\frac{\partial F}{\partial T}\right)_V,$$

अर्थात्

$$\left.\begin{aligned} \text{ऊ} &= \text{फा} - \text{पा}\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} \\ &= -\text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\,\frac{\text{फा}}{\text{पा}}\right)_{\text{आ}} \end{aligned}\right\} \qquad (\text{६१})$$

$$\left.\begin{aligned} U &= F - T\left(\frac{\partial F}{\partial T}\right)_V \\ &= -T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\,\frac{F}{T}\right)_V \end{aligned}\right\} \qquad (61)$$

समीकरण (६१) को गिब्ज-हेल्महोल्ट्स-संबंध कहते हैं।

इसी प्रकार पू तथा फू के बीच भी गिब्ज-हेल्महोल्ट्स-संबंध प्राप्त किया जा सकता है। समीकरण (५५) से

$$\left(\frac{\text{तफू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} = -\text{एं।} \quad \left(\frac{\partial G}{\partial T}\right)_p = -S. \qquad (\text{६२})$$

अतएव

$$\text{फू} = \text{ऊ} + \text{दाआ} - \text{पाएं} = \text{पू} - \text{पाएं}$$

$$= \text{पू} + \text{पा}\left(\frac{\text{तफू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}},$$

$$G = U + pV - TS = H - TS$$

$$= H + T\left(\frac{\partial G}{\partial T}\right)_p \qquad (62)$$

अथवा

$$\left.\begin{aligned} \text{पू} &= \text{फू} - \text{पा}\left(\frac{\text{तफू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \\ &= -\text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\,\frac{\text{फू}}{\text{पा}}\right)_{\text{दा}} \end{aligned}\right\} \qquad (\text{६३})$$

$$\left.\begin{aligned} H &= G - T\left(\frac{\partial G}{\partial T}\right)_p \\ &= -T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\,\frac{G}{T}\right)_p \end{aligned}\right\} \qquad (63)$$

समीकरणों (६१) एवं (६३) की सहायता से समीकरणों (५४) तथा (५५) को निम्नलिखित प्रकार से लिखा जा सकता है:

$$\text{ता}\left(\frac{\text{फा}}{\text{पा}}\right) = -\frac{\text{ऊ}}{\text{पा}^2}\,\text{तापा} - \frac{\text{दा}}{\text{पा}}\,\text{ताआ}, \qquad (\text{६४})$$

$$d\left(\frac{F}{T}\right) = -\frac{U}{T^2}\,dT - \frac{p}{T}\,dV \qquad (64)$$

तथा

$$\text{ता}\left(\frac{\text{फू}}{\text{पा}}\right) = -\frac{\text{पू}}{\text{पा}^2}\,\text{तापा} + \frac{\text{आ}}{\text{पा}}\,\text{तादा।} \qquad (\text{६५})$$

$$d\left(\frac{G}{T}\right) = -\frac{H}{T^2}\,dT + \frac{V}{T}\,dp \qquad (65)$$

अतएव

$$\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} = \text{पा}^2\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा पा}}\right)_{\text{आ}}, \text{ तथा} \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} = -\text{पा}^2\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा पा}}\right)_{\text{दा}} \qquad (\text{६६})$$

$$\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_T = T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\,\frac{p}{T}\right)_V \text{ तथा } \left(\frac{\partial H}{\partial p}\right)_T = -T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\,\frac{V}{T}\right)_p \qquad (66)$$

६. **जूल-टामसन-प्रभाव**—हम पहले देख चुके हैं कि जूल-टामसन-प्रयोग में पूर्णोष्मा पू का मान नियत रहता है। यदि हम ताप तथा दाब को स्वतंत्र चर राशियाँ मानें तो

$$\text{तापू} = \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}\text{तापा} + \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}}\text{तादा}$$

$$dH = \left(\frac{\partial H}{\partial T}\right)_p dT + \left(\frac{\partial H}{\partial p}\right)_T dp.$$

अतएव जूल-टामसन-प्रयोग के लिये

$$0 = \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}\text{तापा} + \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}}\text{तादा।}$$

$$0 = \left(\frac{\partial H}{\partial T}\right)_p dT + \left(\frac{\partial H}{\partial p}\right)_T dp.$$

अतएव

$$\left(\frac{\text{तपा}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पू}} = -\frac{(\text{तपू}/\text{तदा})_{\text{पा}}}{(\text{तपू}/\text{तपा})_{\text{दा}}}\text{।}$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial p}\right)_H = -\frac{(\partial H/\partial p)_T}{(\partial H/\partial T)_p}$$

समीकरण (५३) के अनुसार

$$\left(\frac{\text{तपू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} = \text{पा}\left(\frac{\text{तएं}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} = \left(\frac{\text{तोमा}}{\text{तापा}}\right)_{\text{दा}} = \text{वि}_{\text{दा}}\text{।} \qquad (\text{६७})$$

$$\left(\frac{\partial H}{\partial T}\right)_p = T\left(\frac{\partial S}{\partial T}\right)_p = \left(\frac{dQ}{dT}\right)_p = C_p \qquad (67)$$

तथा समीकरण (६६) के अनुसार

$$\left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} = -\text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\,\frac{\text{आ}}{\text{पा}}\right)_{\text{दा}}$$

$$= \text{आ} - \text{पा}\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \qquad (\text{६८})$$

$$\left(\frac{\partial H}{\partial p}\right)_T = -T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\,\frac{V}{T}\right)_p$$

$$= V - T\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_p \qquad (68)$$

अतएव $$\left(\frac{\text{त पा}}{\text{त दा}}\right)_{\text{पू}} = \frac{\text{पा (तआ/तपा)}_{\text{दा}} - \text{आ}}{\text{वि}_{\text{दा}}} \quad (६९)$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial P}\right)_p = \frac{T\,(\partial V/\partial T)_p - V}{C_p} \quad (69)$$

आदर्श गैस के लिये पा (तआ/तपा)$_{\text{दा}}$ − आ = ०; $[T(dV/dT)_P - v = 0]$ अतएव आदर्श गैस पर जूल-टामसन-प्रयोग का कोई असर नहीं पड़ेगा। जिस गैस के लिये समीकरण (६९) की दाईं ओर की राशि धन होगी वह इस प्रयोग में ऊँची दाब से नीची दाब की ओर जाने पर ठंडी हो जायगी। जिस गैस के लिये दाईं ओर की राशि ऋण होगी वह ऊँची दाब से नीची दाब की ओर जाने पर गरम हो जायगी। हाइड्रोजन तथा हीलियम साधारण ताप पर इस प्रयोग में गरम हो जाती हैं, परंतु ताप पर्याप्त कम कर देने से ये भी ठंडी होती हैं।

७. दोनों विशिष्ट उष्माओं का अंतर—समीकरण (१२) में हमने दोनों विशिष्ट उष्माओं का अंतर निकाला है। परंतु इस अंतर के व्यंजक में (तऊ/तआ)$_{\text{दा}}$ $(\partial U/\partial V)_T$ एक ऐसी राशि है जिसका मान साधारणतया प्रयोग द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता है। अब हम इस अंतर को ऐसी राशियों के रूप में रखेंगे जिनका मान प्रयोग द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। समीकरण (६६) के अनुसार

$$\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} = \text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\,\frac{\text{दा}}{\text{पा}}\right)_{\text{आ}}$$

$$= \text{पा}\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} - \text{दा}\,।$$

$$\left(\frac{dU}{dV}\right)_T = T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\,\frac{p}{T}\right)_V$$

$$= T\left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_V - p$$

अतएव $$\text{वि}_{\text{दा}} - \text{वि}_{\text{आ}} = \text{पा}\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}}\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}$$

$$= \text{डढआदापा}, \quad (७०)$$

$$C_P - C_V = T\left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_V\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_P$$

$$= \alpha\beta V p T \quad (70)$$

जिसमें ड(α) प्रसार गुणांक है तथा ढ (β) दबाव बढ़ने का गुणांक है। गैसों के लिये सूत्र (७०) इस रूप में है कि वि$_{\text{दा}}$ (C_P) एवं वि$_{\text{आ}}$ (C_V) का अंतर ज्ञात किया जा सके। परंतु द्रवों के लिये अथवा ठोस पदार्थों के लिये यह उपयुक्त रूप में नहीं है। इनके लिये हम इसको निम्नलिखित रूप में रखते हैं :

$$\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} = -\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \Big/ \left(\frac{\text{तआ}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} = \text{ड/ण} \quad (७१)$$

$$\left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_V = -\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_P \Big/ \left(\frac{\partial V}{\partial p}\right)_T = \alpha/\gamma \quad (71)$$

जिसमें $\text{ण} = -\dfrac{1}{\text{आ}}\left(\dfrac{\text{तआ}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}}$ संपीड्यता।

$$\left(\gamma = -\frac{1}{V}\left(\frac{\partial V}{\partial p}\right)_T = \text{संपीड्यता}\right)$$

अतएव $$\text{वि}_{\text{दा}} - \text{वि}_{\text{आ}} = \text{पा आ ड}^2/\text{ण}\,। \quad (७२)$$

$$C_P - C_V = TV^2\alpha/\gamma \quad (72)$$

८. आदर्श गैस की एंट्रापी—समीकरणों (४०) एवं (४२) की सहायता से किसी अवस्था में आदर्श गैस की एंट्रापी का क्या मान होगा, यह निकाला जा सकता है। समीकरण (४२) में

$$\text{ताऊ} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}}\text{तापा} + \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}}\text{ताआ}$$

$$= \text{वि}_{\text{आ}}\,\text{तापा} + \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}}\text{ताआ}$$

$$dU = \left(\frac{\partial U}{\partial T}\right)_V dT + \left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_T dV$$

$$C_V\,dT + \left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_T dV$$

समीकरण (६६) की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि आदर्श गैस के लिये उपर्युक्त व्यंजक में दाईं ओर का दूसरा पद शून्य के बराबर है।

अतएव $$\text{ताएं} = \text{वि}_{\text{आ}}\frac{\text{तापा}}{\text{पा}} + \frac{\text{दा}}{\text{पा}}\,\text{ताआ}$$

$$= \text{वि}_{\text{दा}}\frac{\text{तापा}}{\text{पा}} - \text{क्ष}\,\frac{\text{तादा}}{\text{दा}}\,।$$

$$dS = C_V\frac{dT}{T} + \frac{p}{T}\,dV$$

$$= C_P\frac{dT}{T} - R\frac{dp}{p}$$

अतः $$\left.\begin{aligned}&\text{एं} = \text{वि}_{\text{दा}}\,\text{लघु पा} - \text{क्ष लघु दा} + \text{एं}_0,\\ &S = C_P \log T - R\log p + S_0\end{aligned}\right\} \quad (७३)$$

जिसमें एं (S) परमशून्य ताप पर एंट्रापी का मान है।

९. रासायनिक विभव—अभी तक अपने विवेचन में हमने यह मान लिया है कि दाब, आयतन, ताप आदि राशियों में ही परिवर्तन होता है, पदार्थ की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि पदार्थ की मात्रा में परिवर्तन करने से हमारे सूत्रों में क्या परिवर्तन होते हैं। हम किलोग्राम–अणु को पदार्थ की मात्रा का एकक चुनेंगे और निकाय में पदार्थ की मात्रा को इस एकक में द्र (n) द्वारा निर्देशित करेंगे। हमारी चर राशियाँ दो प्रकार की हैं। एक वे जिनका मान पदार्थ की मात्रा पर निर्भर नहीं रहता, जैसे ताप अथवा दाब। ये तीव्रात्मक कही जाती हैं। दूसरी प्रकार की राशियों का मान पदार्थ की मात्रा पर निर्भर रहता है, जैसे आयतन तथा एंट्रापी। ये विस्तारात्मक चर राशियाँ कही जाती हैं। इसी प्रकार यदि किसी चुंबकीय पदार्थ को एक चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाय तो चुंबकीय क्षेत्र तीव्रात्मक चर राशि होगा और चुंबकीय घूर्ण विस्तारात्मक चर राशि। यदि हम पिछले सूत्रों का निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि प्रत्येक तीव्रात्मक चर राशि एक विस्तारात्मक चर राशि से संबद्ध है। इनको संयुग्मी चर राशियाँ कहते हैं। दाब एवं आयतन संयुग्मी चर राशियाँ हैं। इसी प्रकार ताप और एंट्रापी तथा चुंबकीय क्षेत्र और चुंबकीय घूर्ण संयुग्मी चर राशियाँ हैं।

किसी निकाय की ऊर्जा उसके पदार्थ की मात्रा पर निर्भर रहती है। अतएव निकाय की ऊर्जा में परिवर्तन न केवल उसको गर्म करने अथवा उसपर कार्य करने से होगा, अपितु उसके आयतन तथा एंट्रापी को नियत रखकर उसमें पदार्थ की मात्रा में परिवर्तन करने से भी होगा। यदि आ$_1$ (v), एं$_1$ (s), ऊ$_1$ (u), पू$_1$ (h), फ$_1$ (f), तथा फू$_1$ (g), किसी निकाय के एक किलोग्राम-अणु के क्रमानुसार आयतन, एंट्रापी, ऊर्जा, पूर्णोष्मा, हेल्महोल्ट्स की स्वतंत्र ऊर्जा तथा गिब्ज़ की स्वतंत्र ऊर्जा हैं तो

$$\text{आ} = \text{द्र आ}_1,\ \text{एं} = \text{द्र एं}_1,\ \text{ऊ} = \text{द्रऊ}_1,\ \text{पू} = \text{द्रपू}_1,\ \text{तथा फू} = \text{द्रफू}_1 \quad (७४)$$

$$V = nv,\ S = n\,s,\ U = nu,\ H = nh,\ \text{तथा}\ G = ng \quad (74)$$

एवं $$\left.\begin{aligned}&\text{ता ऊ} = \text{पा ताएं} - \text{दा ताआ} + \text{रा ताद्र},\\ &dU = T\,dS - p\,dV + \mu\,dn\end{aligned}\right\} \quad (७५)$$

ताप = पा ताएं + श्रा तापा + रा ताद्र ,
$$dH = T\,dS + V\,dp + \mu\,dn \qquad (७६)$$

ताफा = —एं तापा — दा ताश्रा + रा ताद्र ,
$$dF = -S\,dT - p\,dV + \mu\,dn \qquad (७७)$$

ता फू = —एं तापा + श्रा तादा + रा ताद्र ।
$$dG = -S\,dT + V\,dp + \mu\,dn \qquad (७८)$$

रा(μ) को रासायनिक विभव कहते हैं और उपर्युक्त समीकरणों से प्रगट है कि रा(μ) तथा द्र(n) संयुग्मी चर राशियाँ हैं। रासायनिक विभव का मान निम्नांकित समीकरण से प्रगट है :

$$\text{रा} = \left(\frac{\text{त ऊ}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{एं, श्रा}} = \left(\frac{\text{त पू}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{एं, दा}} = \left(\frac{\text{त फा}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{पा, श्रा}} = \left(\frac{\text{त फू}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{पा, दा}} \quad ।(७९)$$

$$\mu = \left(\frac{\partial U}{\partial n}\right)_{S,V} = \left(\frac{\partial H}{\partial n}\right)_{S,P} = \left(\frac{\partial F}{\partial n}\right)_{T,V} = \left(\frac{\partial G}{\partial n}\right)_{T,P} \qquad (79)$$

उपर्युक्त समीकरण के अंतिम पद से रा (μ) का मान तुरंत निकाला जा सकता है।

फू = ऊ — पा एं + दा श्रा = द्र ऊ₁ — द्र पा एं₁ + द्र दा श्रा₁
$$G = U - TS + pV = nu - nTs + npV$$

अतएव ताफू = ताद्र (ऊ₁ — पा एं₁ + दा श्रा₁) + द्र (ताऊ — एं₁ तापा — पा ताएं₁ + दा ताश्रा₁ + श्रा₁ तादा)
= ताद्र (ऊ₁ — पाएं₁ + दा श्रा₁) + द्र (श्रा₁ तादा — एं₁ तापा)

$$dG = dn\,(u - TS + pV) + n\,(du - s\,dT - T\,ds + p\,dV + V\,dp) = dn(u - Ts + pV) + n(V\,dp - s\,dT)$$

तथा रा = (त फू / त द्र)$_{\text{दा पा}}$ = ऊ पा एं₁ + दा श्रा₁ = फू₁ (८०)

$$\mu = \left(\frac{\partial G}{\partial n}\right)_{P,T} = u - TS + pV = g \qquad (80)$$

अर्थात् रासायनिक विभव एक किलोग्राम-अणु की गिब्ज़-ऊर्जा के बराबर होता है। समीकरण (८०) तभी ठीक होता है जब निकाय में एक ही तरह का पदार्थ हो। यदि निकाय में कई तरह के पदार्थ हों तो समीकरणों (७५), (७६), (७७) एवं (७८) की जगह निम्नलिखित समीकरण होंगे :

ताऊ = पा ताएं — दा ता श्रा + $\sum_{च}$ राच ताद्रच
$$dU = T\,dS - p\,dV + \sum_i \mu_i\,dn_i \qquad (८१)$$

ताप = पा ताएं + श्रा तादा + $\sum_{च}$ राच ताद्रच
$$dH = T\,dS + V\,dp + \sum_i \mu_i\,dn_i \qquad (८२)$$

ताफा = —एं तापा — दा ताश्रा + $\sum_{च}$ राच ताद्रच
$$dF = -S\,dT - p\,dV + \sum_i \mu_i\,dn_i \qquad (८३)$$

ताफू = —एं तापा + श्रा तादा + $\sum_{च}$ राच ताद्रच
$$dG = -S\,dT + V\,dp + \sum_i \mu_i\,dn_i \qquad (८४)$$

$$\text{अतएव रा}_{\text{च}} = \left(\frac{\text{त ऊ}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{एं, आ, द्रछ}} = \left(\frac{\text{त पू}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{एं, दा, द्रछ}} = \left(\frac{\text{त फा}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{पा, आ, द्रछ}} = \left(\frac{\text{त फू}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{पा, दा, द्रछ}} \qquad (८५)$$

$$\mu_i = \left(\frac{\partial U}{\partial n_i}\right)_{S,V,n_i} = \left(\frac{\partial H}{\partial n_i}\right)_{S,p,n_i} = \left(\frac{\partial F}{\partial n_i}\right)_{T,V,n_i} = \left(\frac{\partial G}{\partial n_i}\right)_{T,P,n_i} \qquad (85)$$

इन समीकरणों से भी मैक्सवेल के संबंधों की तरह संबंध प्राप्त किए जा सकते हैं। उदाहरणतः

$$\frac{\text{तश्रा}}{\text{तद्र}_{\text{च}}} = \frac{\text{तरा}_{\text{च}}}{\text{तदा}}$$
$$\frac{\partial V}{\partial n_i} = \frac{\partial \mu_i}{\partial p} \qquad (८६)$$

समीकरण (८५) में अंतिम समीकरण बहुत महत्वपूर्ण है। यदि किसी निकाय में प्रत्येक प्रकार के पदार्थ की मात्रा दूनी कर दी जाय तो फू का मान भी दूना हो जायगा। वस्तुतः

फू (ठ द्र₁, ठ द्र₂, ...) = ठ फू (द्र₁, द्र₂, ...) ।
$$G\,(qn_1, qn_2, \ldots) = qG\,(n_1, n_2 \ldots) \qquad (८७)$$

परंतु इसका अर्थ यह है कि फू (G) पदार्थ मात्राओं का एक घात का समघात फलन है। अतएव आयलर के प्रमेय की सहायता से

$$\text{फू} = \sum_{\text{च}} \text{द्र}_{\text{च}} \left(\frac{\text{त फू}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{पा, दा, द्र, छ}} = \sum_{\text{च}} \text{रा}_{\text{च}}\,\text{द्र}_{\text{च}} ।$$
$$G = \sum_i n_i \left(\frac{\partial G}{\partial n_i}\right)_{T,p,n_i} = \sum_i \mu_i n_i \qquad (८८)$$

समीकरण (८८) के अवकलन से

ताफू = $\sum_{च}$ राच ताद्रच + $\sum_{च}$ द्रच ताराच ।
$$dG = \sum_i \mu_i\,dn_i + \sum_i n_i\,d\mu_i$$

इसमें से समीकरण (८४) को घटाने से

एं तापा — श्रा तादा + $\sum_{च}$ द्रच ताराच = ० ।
$$S\,dT - V\,dp + \sum_i n_i\,d\mu_i = 0 \qquad (८९)$$

समीकरण (८९) गिब्ज़-ड्यूहेम-संबंध कहलाता है।

१०. साम्यावस्था के प्रतिबंध—जितने वास्तविक परिवर्तन होते हैं वे कम स्थायी स्थितियों से अधिक स्थायी स्थितियों की ओर होते हैं। असमताओं (४६), (५०), तथा (५१) को ध्यान में रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि साम्यावस्था में

निश्चित ऊ(U) तथा श्रा(V) के लिये एं(S) अधिकतम होता है। (९०)
निश्चित पू(H) तथा दा(p) के लिये एं(S) अधिकतम होता है। (९१)
निश्चित पा(T) तथा श्रा(V) के लिये फा(F) न्यूनतम होता है। (९२)
निश्चित पा(T) तथा दा(p) के लिये फू(G) न्यूनतम होता है। (९३)

असमता (४६) को ध्यान में रखते हुए (९०) तथा (९१) को दूसरी तरह भी लिखा जा सकता है।

निश्चित एं(S) तथा श्रा(V) के लिये ऊ(U) न्यूनतम होता है। (९४)
निश्चित एं(S) तथा दा(p) के लिये पू(H) न्यूनतम होता है। (९५)

क्योंकि एं (S) की अपेक्षा पा (T) की जानकारी अधिक सुगमता से हो सकती है, अतएव (९४) एवं (९५) की अपेक्षा (९२) तथा (९३) अधिक उपयोगी है। यदि पा (T) तथा श्रा (V) स्वतंत्र चर राशियाँ हैं तो साम्यावस्था में

ताफा = ० । $dF = 0$ (९६)

यदि पा (T) तथा दा (p) स्वतंत्र चर राशियाँ हों तो साम्यावस्था में

ताफू = ० । $dG = 0$ (९७)

११. आदर्श गैसों के मिश्रण में रासायनिक साम्यावस्था—द्रव्यमात्रा क्रिया नियम—यदि हम दो गैसों को मिलाएँ तो मिश्रण की एंट्रापी वही नहीं होती जो उनकी अलग अलग एंट्रापियों के जोड़ने से प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि मिलाने पर उन गैसों का पारस्परिक विसार होता है जो एक अनुत्क्रमणीय परिवर्तन होता है। समीकरण (७३) में थोड़ा परिवर्तन करके हम मिश्रण की एंट्रापी निकाल सकते हैं। मिश्रण का दबाव डाल्टन के नियम के अनुसार

दा = Σ_i दा$_व$ । $p = \Sigma_i p_i$ (९८)

और दा$_व$ = द्र$_व$ क्ष पा/आ । $p_i = n_i RT/V$

अतएव दा = द्र क्षपा/आ, द्र = Σद्र$_व$

$$p = n\frac{RT}{V},\ n - \Sigma_{ni} \quad (99)$$

और दा$_व$ = (द्र$_व$/द्र) दा । $p_i = (n_i/n)p$ (१००)

अतएव द्र$_व$एं$_व$ = द्र$_व$ वि$_{दा१व}$ लघु पा − द्र$_व$क्ष लघु दा$_व$ + द्र$_व$एं$_{व०}$

= द्र$_व${एं$_व$(पा, दा) + क्ष लघु(द्र/द्र$_व$)} (१०१)

$$n_i S_i = C_{p_i} \log T - n_i R \log p_i + n_i S_{io}$$

$$= n_i \left\{ S_i\,(T, p) + R \log \frac{n}{n_i} \right\}$$

अतएव

फू = पू − पाएं

= $\Sigma_व$द्र$_व${(पू$_१$)$_व$(पा) − पाएं$_व$(पा,दा) − क्षपा लघु (द्र/द्र$_व$)

= $\Sigma_व$द्र$_व${(फू$_१$)$_व$(पा,दा) − क्षपा लघु(द्र/द्र$_व$)} (१०२)

$$G = H - T\,S$$

$$= \Sigma_i n_i \left\{ (h_i(T) - TS_i(T, p) - RT \log \frac{n}{n_i} \right\}$$

$$= \Sigma_i n_i \left\{ g_i(T, p) - RT \log \frac{n}{n_i} \right\} \quad (102)$$

समीकरणों (८८) तथा (१००) की तुलना से हम देख सकते है कि

रा$_व$ = (फू$_१$)$_व$ (पा, दा) − क्षपा लघु(द्र/द्र$_व$)।

$$\left.\mu_i = g_i\,(T, p) - RT \log \frac{n}{n_i}\right\} \quad (१०३)$$

समीकरण (८०) के स्थान पर मिश्रण में रा$_व$ (μ_i) तथा (फू$_१$)$_व$ (g_i) में उपर्युक्त संबंध होता है। अब हम मान लेंगे कि रासायनिक क्रिया किसी विशेष ताप तथा दाव पर होगी। इसलिये साम्यावस्था में ताफू = ० ($dG = 0$)। समीकरण (१०२) की सहायता से

ताफू = $\Sigma_व$ताद्र$_व${(फू$_१$)$_व$(पा,दा) − क्षपा लघु(द्र/द्र$_व$)
−क्षपा$\Sigma_व$द्र$_व$ता(लघु द्र/द्र$_व$)

$$dG - \Sigma_i dn_i \{g_i(T, p) - RT \log n/n_i\}$$
$$-RT \Sigma_i n_i d(\log n/n_i)$$

उपर्युक्त पदसंहति मे अंतिम पद शून्य के बराबर होगा। ताद्र$_व$(dn_i) उन अणुओं की संख्या के अनुपात में होंगे जो उस रासायनिक क्रिया में भाग ले रहे है। यदि इन अणुओं की संख्या सं$_१$, सं$_२$, सं$_३$,... (v_1, v_2, v_3)... है तो

$\Sigma_व$सं$_व${(फू$_१$)$_व$(पा,दा) − क्षपा लघु(द्र/द्र$_व$) = ० (१०४)

$$\Sigma_i v_i \{g_i(T, p) - RT \log(n/n_i)\} = 0 \quad (104)$$

अथवा

$$\Pi_i \left(\frac{द्र_व}{द्र}\right)^{सं_व} = ट, \quad (१०५)$$

जहाँ लघु ट = − $\frac{१}{क्षपा}$ $\Sigma_व$सं$_व$(फू$_१$)$_व$(दा पा)।

$$\Pi_i \left(\frac{u_i}{n}\right)^{v_i} = K, \quad (105)$$

$$\text{जहाँ } \log K = -\frac{I}{RT} \Sigma_i v_i g_i(p\,T)$$

इस नियम का प्रतिपादन नार्वे के गुल्डवर्ग तथा वाग नामक दो वैज्ञानिकों ने सन् १८६७ ई० किया था। इस समीकरण को आण्विक भिन्नों के **रूप में हम यों लिख सकते है :**

$\Pi_व$ग$_व$$^{सं_व}$ = ट, जिसमें ग$_व$ = $\frac{द्र_व}{द्र}$ । (१०६)

$$\Pi_i\ C_i^{v_i} = K, \text{ जिसमें } C_i = \frac{n_i}{n} \quad (106)$$

इन समीकरणों में वे सं$_व$ (v_i) धन होते है जो अणु रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते है और जो लुप्त होते है वे ऋण होते है। समीकरणों (१०५) तथा (५५) की सहायता से

$$\frac{त\ लघु\ ट}{तदा} = -\frac{१}{क्षपा}\Sigma_व सं_व \frac{त(फू_१)_व(दा,\ पा)}{तदा}$$

$$= -\frac{१}{क्षपा}\ \Sigma_व सं_व(आ_१)_व = -\frac{\triangle(आ_१)}{क्षपा} \quad (१०७)$$

$$\frac{\partial \log K}{\partial p} = -\frac{1}{TR}\Sigma_i v_i \frac{\partial g_i(p, T)}{\partial p}$$

$$= -\frac{1}{RT}\Sigma_i v_i V_i = -\frac{\triangle(V)}{RT} \quad (107)$$

इसमें (आ$_१$)$_व$ (V_1)$_i$ एक किलोग्राम-अणु का दाव दा (p) पर आयतन है। अतएव दा (आ$_१$)$_व$ = क्ष पा, ($pV_i = RT$) तथा

$$\frac{त\ लघु\ ट}{तदा} = -\left(\Sigma_व(सं_१)_व\right)/\ दा = \frac{त}{तदा}\left(लघु\ दा^{-\Sigma_व सं_व}\right)$$

$$\frac{\partial \log K}{\partial p} = -\left(\Sigma_i (V_1)_i\right) p = \frac{\partial}{\partial p}\left(\log p^{-\Sigma_i v_i}\right)$$

$$\text{अथवा}\quad \frac{त}{त\ दा}\left(लघु\ टदा^{\Sigma_व सं_व}\right) = ० \quad (१०८)$$

$$\frac{\partial}{\partial p}\left(\log K p^{\Sigma_i v_i}\right) = 0 \quad (108)$$

समीकरण (१०८) के समाकलन से

टदा$\Sigma_व$सं$_{१व}$ = ग, (१०९)

$$K p^{\Sigma_i v_i} = C \quad (109)$$

जिसमें ग (C) दाब के ऊपर निर्भर नहीं रहता। समीकरण (१०६) में

ग$_व$ = द्र$_व$/द्र = दा$_व$/दा । ($C_i = n_i/n = p_i/p$)

अतएव $\Pi_व$ (दा$_व$/दा)$^{सं_व}$ = ट। [$\Pi_व(p_i/p)^{v_i} = K$]

अर्थात् ट$_{दा}$ = $\Pi_व$ दा$_व$$^{सं_व}$ = ट दा$^{\Sigma_व सं_व}$ = ग। (११०)

$$K = \Pi_i\, p_i^{v_i} = K\, p^{\Sigma_i v_i} = C \quad (110)$$

इससे प्रकट है कि ट$_{दा}$ (K_p) दवाव पर निर्भर नही है।
इसी प्रकार समीकरणों (१०५) तथा (५५) की सहायता से

$$\frac{त\ लघु\ ट}{तपा} = \frac{१}{क्षपा^२}\ \Sigma_व सं_व(फू_१)_व - \frac{१}{क्षपा}\Sigma_व सं_व \frac{त(फू_१)_व}{त\ पा}$$

$$= \frac{१}{क्ष\ पा^२}\Sigma_व सं_व\{(फू_१)_व + पा(एं_१)_व\}$$

$$= \frac{१}{क्षपा^२}\Sigma सं_व(पू_१)_व = \frac{\triangle पू_१}{क्ष\ पा^२} \quad (१११)$$

$$\frac{\partial \log K}{\partial T} = \frac{1}{RT^2}\ \Sigma_i v_i\, g_i - \frac{1}{RT}\Sigma_i v_i \frac{\partial g_i}{\partial t}$$

$$= \frac{1}{RT^2}\ \Sigma_i v_i(g_i + Ts_i)$$

$$= \frac{1}{RT^2}\Sigma v_i h_i = \frac{\triangle h}{RT^2} \quad (111)$$

समीकरण (१०५), (१०७) तथा (१११) बहुत महत्वपूर्ण हैं। समीकरण (१०५) से यह स्पष्ट है कि द (K) के मान में वृद्धि होने से उन संघटनों के सांद्रण में वृद्धि होती है जिनके सं. (v_i) धन होते हैं। समीकरण (१०७) से यह स्पष्ट है कि ताप को निश्चित रखते हुए दाव में वृद्धि की जाय तो रासायनिक क्रिया उस ओर चलेगी जिधर आयतन मे कमी होगी। इसी प्रकार समीकरण (१११) से यह स्पष्ट है कि दाव को निश्चित रखते हुए ताप मे वृद्धि हो तो रासायनिक क्रिया उस ओर चलेगी जिधर संघटकों में अधिक उष्मा होगी। इस प्रकार समीकरण (१०७) तथा (१११) एक बहुत व्यापक नियम को स्पष्ट करते हैं जिसे लशाटल्ये-नियम कहते है और जो यह है :

"यदि किसी उष्मागतिकी निकाय की वाह्य अवस्थाओं में परिवर्तन किया जाय तो निकाय की साम्यावस्था उस दिशा में परिवर्तित होगी जिससे वाह्य परिवर्तनों के मानों में कमी होगी।"

१२. क्लाजिउस-क्लेपिराँ-समीकरण तथा पानी का विंदु—अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि यदि कोई संघटन गैस, द्रव आदि कई कलाओं (फेज़ेज) में किसी निकाय मे हो तो इन कलाओं में पारस्परिक संबंध क्या होता है। यदि संघटक गैस तथा द्रव दो अवस्थाओं में हो और निकाय में इसकी कुल द्रव्यमात्रा नियत हो तो

$$\text{द्र} = \text{द्र}_{\text{गैस}} + \text{द्र}_{\text{द्रव}} \;।\; (n = n_{\text{गैस}} + n_{\text{द्रव}}) \quad (११२)$$

जिसमें $\text{द्र}_{\text{गैस}}$ ($n_{\text{गैस}}$) तथा $\text{द्र}_{\text{द्रव}}$ ($n_{\text{द्रव}}$) किलोग्राम-अणु एककों में गैस तथा द्रव अवस्थाओं में निकाय में विद्यमान संघटक की मात्रा है। अतएव

$$\delta\text{द्र}_{\text{गैस}} + \delta\text{द्र}_{\text{द्रव}} = ० \;।\; (\delta n_{\text{गैस}} + \delta n_{\text{द्रव}} = 0) \quad (११३)$$

इसी प्रकार

$$\text{फू} = \text{द्र}_{\text{गैस}} (\text{फू}_१)_{\text{गैस}} + \text{द्र}_{\text{द्रव}} (\text{फू}_१)_{\text{द्रव}} \quad (११४)$$

$$G = n_{\text{गैस}} (g)_{\text{गैस}} + n_{\text{द्रव}} (g)_{\text{द्रव}} \quad (114)$$

ताप तथा दाव को नियत रखकर साम्यावस्था में

$$\delta\text{फू} = \delta\text{द्र}_{\text{गैस}} (\text{फू}_१)_{\text{गैस}} + \delta\text{द्र}_{\text{द्रव}} (\text{फू}_१)_{\text{द्रव}} \;। \quad (११५)$$

$$\delta G = \delta n_{\text{गैस}}\, g_{\text{गैस}} + \delta n_{\text{द्रव}}\, g_{\text{द्रव}} \quad (115)$$

समीकरणों (११३) तथा (११४) के कारण

$$(\text{फू}_१)_{\text{गैस}} (\text{पा, दा}) = (\text{फू}_१)_{\text{द्रव}} (\text{पा दा}) \;। \quad (११६)$$

$$g_{\text{गैस}} (T, p) = g_{\text{द्रव}} (T, p) \quad (116)$$

यदि हम पानी तथा उसके वाष्प की साम्यावस्था का अध्ययन कर रहे हैं तो हम गैस के स्थान पर भाप एवं द्रव के स्थान पर जल लिखेंगे। यदि हम ताप को पा (T) से पा + तापा ($T + dT$) करें जिससे संतृप्त भाप की दाव दा + तादा ($p + dp$) हो जाय तो

$$(\text{फू}_१)_{\text{भाप}} (\text{पा} + \text{तापा, दा} + \text{तादा}) = (\text{फू}_१)_{\text{जल}} (\text{पा} + \text{तापा, दा} + \text{तादा}) \quad (११७)$$

$$g_{\text{भाप}}(T + dT, p + dp) = g_{\text{जल}}(T + dT, p + dp) \quad (117)$$

परंतु फू(पा + तापा, दा + ता दा)

$$= (\text{फू}_१)(\text{पा, दा}) + \left(\frac{\text{तफू}_१}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \text{ता दा} + \left(\frac{\text{तफू}_१}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} \text{तापा}$$

$$= \text{फू}_१(\text{पा, दा}) - \text{एं तादा} + \text{आ तापा} \;। \quad (११८)$$

$$g(T + dT, p + dp) = g(T, p) = \left(\frac{\partial g}{\partial T}\right) dp + \left(\frac{\partial g}{\partial p}\right)_T dT$$

$$= g(T, p) - S\,dp + V\,dT$$

अतएव समीकरणों (११६), (११७) तथा (११८) की सहायता से

$$-\text{एं}_{\text{भाप}}\,\text{तापा} + \text{आ}_{\text{भाप}}\,\text{ता दा} = -\text{एं}_{\text{जल}}\,\text{तापा} + \text{आ}_{\text{जल}}\,\text{तादा},$$

$$-S_{\text{भाप}}\, dT + V_{\text{भाप}} dp = -S_{\text{जल}} dT + V_{\text{जल}} dp$$

अर्थात्

$$\left(\frac{\text{तादा}}{\text{तापा}}\right)_{\text{संतृप्ति}} = \frac{\text{एं}_{\text{भाप}} - \text{एं}_{\text{जल}}}{\text{आ}_{\text{भाप}} - \text{आ}_{\text{जल}}}$$

$$= \frac{\text{गु}}{\text{पा}(\text{आ}_{\text{भाप}} - \text{आ}_{\text{जल}})} \quad (११९)$$

$$\left(\frac{dp}{dT}\right)_{\text{संतृप्ति}} = \frac{S_{\text{भाप}} - S_{\text{जल}}}{V_{\text{भाप}} - V_{\text{जल}}}$$

$$= \frac{L}{T\,(V_{\text{भाप}} - V_{\text{जल}})} \quad (119)$$

जिसमें गु = पा (एं$_{\text{भाप}}$ − एं$_{\text{जल}}$)

$[L = T(S_{\text{भाप}} - S_{\text{जल}})]$ = पानी की गुप्त उष्मा

समीकरण (११९) क्लाजिउस-क्लेपिराँ-समीकरण कहलाता है। इसे समीकरण (५८) मे दिए मैक्सवेल के संबंध से भी स्थापित किया जा सकता है, परंतु उपर्युक्त प्रतिपादन अधिक संतोषजनक है।

यदि किसी निकाय मे पानी ठोस, तरल एवं गैस इन तीनों ही अवस्थाओं में वर्तमान हो तो समीकरण (११६) की भाँति हम यह सिद्ध कर सकते है कि

$$(\text{फू}_१)_{\text{हिम}} = (\text{फू}_१)_{\text{जल}} \;।\; g_{\text{हिम}} = g_{\text{जल}} \quad (१२०)$$

एवं

$$(\text{फू}_१)_{\text{हिम}} = (\text{फू}_१)_{\text{भाप}} \;।\; (g_{\text{हिम}} = g_{\text{भाप}}) \quad (१२१)$$

परंतु (१२०) तथा (१२१) समीकरणों का अर्थ है—

$$(\text{फू}_१)_{\text{जल}} = (\text{फू}_१)_{\text{भाप}} \;।\; (g_{\text{जल}} = g_{\text{भाप}}) \quad (१२२)$$

और निर्देशांक ज्यामिति के एक प्रमेय के अनुसार समीकरण (१२२) का वक्र समीकरणों (१२०) एवं (१२१) के वक्रों के उभयनिष्ठ विंदु से होकर गुजरेगा। इस विंदु को पानी का त्रिगुण विंदु कहते हैं।

समीकरण (११९) द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि ताप बढ़ने से संतृप्त भाप की दाव कितनी बढ़ती है। हिम तथा पानी की साम्यावस्था से भी इसी तरह का समीकरण निकाला जा सकता है, जिसके द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि दाव से गलनांक मे क्या परिवर्तन होता है।

१३. गिब्ज का कला नियम—ऊपर हमने यह मान लिया है कि निकाय में एक ही प्रकार का संघटक है। अब हम कल्पना करेंगे कि संघटकों की संख्या १, २. . ., स के बराबर है तथा कलाओं की संख्या १, २. . . क के बराबर है। अतएव पूरे निकाय के लिये

$$\text{फू} = \sum_{\text{च}=१}^{\text{च}=\text{स}} \sum_{\text{छ}=१}^{\text{छ}=\text{क}} (\text{फू}_१)_{\text{चछ}} (\text{द्र})_{\text{चछ}} \quad (१२३)$$

$$G = \sum_{i=1}^{i=s} \sum_{j=1}^{j=k} g_{ij}\, n_{ij} \quad (123)$$

इसमें (फू$_१$)$_{\text{चछ}}$ [g_{ij}] संघटक च (i) का कला छ (j) में गिब्ज की स्वतंत्र ऊर्जा प्रति किलोग्राम-अणु है तथा द्र$_{\text{चछ}}$ (n_{ij}) निकाय में इसके किलोग्राम-अणुओं की संख्या है। साम्यावस्था में δफू = ० ($\delta G = 0$) होता है। अतएव

$$\sum_{\text{च}=१}^{\text{च}=\text{स}} \sum_{\text{छ}=१}^{\text{छ}=\text{क}} (\text{फू}_१)_{\text{चछ}}\, \delta\, \text{द्र}_{\text{चछ}} = ० \;। \quad (१२४)$$

$$\sum_{i=1}^{i=s} \sum_{j=1}^{j=k} g_{ij}\, \delta n_{ij} = 0 \quad (124)$$

परंतु प्रत्येक संघटक की मात्रा नियत है। अतएव

$$\sum_{\text{छ}=१}^{\text{छ}=\text{क}} \delta\, \text{द्र}_{\text{चछ}} = ०, \text{ च} = १, २, \ldots \text{स} \;। \quad (१२५)$$

$$\sum_{j=1}^{j=k} \delta n_{ij} = 0,\; i = 1, 2, \ldots \text{स} \;। \quad (125)$$

समीकरणों (१२४) तथा (१२५) से लाग्रांज के अनिर्धारित गुणांक विधि की सहायता से

$$\left.\begin{array}{ll} (\text{फू}_1)_{\text{च}1} = (\text{फू})_{\text{च}2} \ldots = (\text{फू}_1)_{\text{चक}}, & \text{च} = १, २, ३, \ldots \text{स} । \\ g_{i1} = g_{i2} \;\ldots = g_{i\text{क}}, & i = 1, 2, \ldots \;\; \text{स} \end{array}\right\} (१२६)$$

समीकरण (१२६) में समीकरणों की कुल संख्या स (क–१) है। अब हम चर राशियों की संख्या पर विचार करेंगे। साम्यावस्था में प्रत्यक कला में संघटकों के अनुपातों का ही महत्व है। अतएव इन चर राशियों की संख्या क (स–१) है। इनमें ताप तथा दाव को मिलाने से चर राशियों की कुल संख्या क (स–१) + २ है। इन राशियों पर समीकरण (१२६) द्वारा निर्देशित स (क–१) प्रतिवंध हैं। यदि स्वतंत्र चर राशियों की संख्या म है तो

$$\begin{aligned} \text{म} &= \text{क}\ (\text{स} - १) + २ - \text{स}\ (\text{क} - १) \\ &= \text{स} - \text{क} + २; \qquad (१२७) \end{aligned}$$

अर्थात् म + क = स + २ । (१२८)

समीकरण (१२७) अथवा (१२८) गिब्ज के कलानियम को प्रकट करते हैं। निकाय की मुक्तता की कोटि म, कलाओं की संख्या क तथा संघटकों की संख्या स में उपर्युक्त समीकरण होते हैं।

१४—उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धांत के अन्य उपयोग—उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धांत के जो उपयोग ऊपर दिए गए हैं उनके अतिरिक्त इसके और भी उपयोग है जिनका विवेचन स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः, तनु विलयनों के रसाकर्षणीय दाव, विलयनों में रासायनिक साम्यावस्था, विलायक एवं विलयन की वाष्पदावों के अंतर, द्रवों द्वारा गैसों के अवशोषण, चुंबकीय क्षेत्र में चुंबकीय पदार्थों की विशिष्ट उष्मा आदि के अध्ययन के लिये भी इसका उपयाग किया जाता है। सबसे निम्न ताप प्राप्त करने के लिये स्थिरोष्म अचुंवकनविधि (ऐडियावैटिक डीमैग्नेटिज़ेशन) का उपयोग किया जाता है। इसका भी अध्ययन उष्मागतिकी द्वारा किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समीकरण (६१) की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि गैल्वनीय कोशिकाओं का विद्युद्वाहक वल निम्नलिखित समीकरण से प्रकट किया जा सकता है :

$$\text{द्यु} - \text{पा}\left(\frac{\text{तद्यु}}{\text{तपा}}\right)_{\text{द्व}} = \frac{\triangle\ \text{ऊ}}{\text{यो फं}} \qquad (१२९)$$

$$E - T\left(\frac{\partial E}{\partial T}\right)_{\text{v}} = \frac{\triangle U}{Z F} \qquad (129)$$

जिसमें द्यु (E) कोशिका का विद्युद्वाहक वल है, $\triangle$ऊ $(\triangle U)$ रासायनिक क्रिया में प्राप्त उष्मा है, यो (Z) संयोजकता है, तथा फं (F) फैराडे संख्या है।

१५—उष्मागतिकी का तृतीय सिद्धांत—यांत्रिकी के अध्ययन से दाव तथा आयतन के साथ हमारा परिचय होता है। उष्मागतिकी के शून्यवें सिद्धांत से ताप, प्रथम सिद्धांत से उष्मा एव द्वितीय सिद्धांत से एंट्रापी, स्वतंत्र ऊर्जा आदि निकाय को विशिष्टताओं का समावेश होता है। तृतीय सिद्धांत द्वारा किसी नई विशिष्टता का समावेश नहीं होता। इसके द्वारा केवल एं (S), फा(F), फू (G)आदि का मान निश्चित हो जाता है।

यदि किसी रासायनिक क्रिया में ऊ (U) तथा फा (E) में परिवर्तन क्रमशः $\triangle$ ऊ $(\triangle U)$ तथा $\triangle$फा $(\triangle F)$ हो तो समीकरण (६१) के अनुसार

$$\triangle\text{ऊ} = \triangle = \text{फा} - \text{पा}\frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\triangle\text{फा}) । \qquad (१३०)$$

$$\triangle U = \triangle F - T\ \frac{\partial}{\partial T}(\triangle F) \qquad (130)$$

नेर्न्स्ट ने यह देखा कि प्रायः रासायनिक क्रियाओं में $\triangle$ ऊ तथा $\triangle$फा ($\triangle U$ तथा $\triangle F$)में वहुत कम अंतर होता है। इसका कारण यह है कि त ($\triangle$फा)/त पा $\left[\frac{\partial}{\partial T}(\triangle F)\right]$ का मान वहुत कम होता है।

अतएव नेर्न्स्ट ने यह सिद्धांत रखा कि ज्यों ज्यों हम परमशून्य ताप की ओर वढ़ते हैं त्यों त्यों त ($\triangle$फा) तपा $\left[\frac{\partial}{\partial T}(\triangle F)\right]$ का मान कम होता जाता है और परमशून्य ताप पर इसका मान शून्य के वरावर होगा। समीकरण (१३०) के अनुसार परमशून्य ताप पर यदि त($\triangle$फा)/तपा $[\partial(\triangle F)/\partial T]$ का मान कोई परिमित संख्या हो तो $\triangle$ ऊ$(\triangle U)$ तथा $\triangle$ फा $(\triangle F)$ एक दूसरे के वरावर होंगे। परंतु नेर्न्स्ट के सिद्धांत के अनुसार

$$\text{सीमा}_{\text{पा}\to 0}\frac{\text{त}}{\text{त पा}}(\triangle\text{ऊ}) = \text{सीमा}_{\text{पा}\to 0}\frac{\text{त}}{\text{त पा}}(\triangle\text{ फा}) = ०, \quad (१३१)$$

$$\underset{T\to 0}{Lim}\frac{\partial}{\partial T}(\triangle U) = \underset{T\to 0}{Lim}\frac{\partial}{\partial T}(\triangle F) = 0, \qquad (131)$$

क्योंकि समीकरण (१३०) के अवकलन से

$$\frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\triangle\text{ऊ}) = \frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\triangle\text{फा}) - \frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\triangle\text{फा}) - \text{पा}\frac{\text{त}^2}{\text{तपा}^2}(\triangle\text{फा})$$

$$= -\text{पा}\ \frac{\text{त}^2}{\text{तपा}^2}(\triangle\text{फा}) = ०, \text{ यदि पा} = ० ।$$

$$\frac{\partial}{\partial T}(\triangle U) = \frac{\partial}{\partial T}(\triangle F) - \frac{\partial}{\partial T}(\triangle F) - T\frac{\partial^2}{\partial T^2}(\triangle F)$$

$$= T\ \frac{\partial^2}{\partial T^2}(\triangle F) = 0, \text{ यदि } T = 0$$

क्योंकि $\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} = -\text{एं},$

$$\left(\frac{dF}{dT}\right)_{\text{v}} = -S,$$

अतएव समीकरण (१३१) का अर्थ यह है कि परमशून्य ताप पर $\triangle$एं = ० ($\triangle S = 0$)। यह सिद्धांत नेर्न्स्ट ने सन् १९०६ ई० में प्रतिपादित किया था। इसके पश्चात् प्लांक ने सन् १९१२ ई० में यह कहा कि परमशून्य ताप पर न केवल $\triangle$एं = ० ($\triangle S = 0$), अपितु एं = ० ($S = 0$)। तृतीय सिद्धांत को कभी कभी नेर्न्स्ट का उष्मा प्रमेय भी कहते हैं।

१६—तृतीय सिद्धांत के उपयोग—तृतीय सिद्धांत द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि परमशून्य ताप पर प्रसरण गुणांक शून्य के वरावर होता है तथा ताप के साथ दाव के वढ़ने का गुणांक भी शून्य के वरावर होता है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि परमशून्य ताप पर, नियत दाव पर तथा नियत आयतन पर विशिष्ट उष्माएँ वि$_{\text{दा}}$ (C_p) तथा वि$_{\text{आ}}$ (C_v) दोनों ही शून्य के वरावर होती हैं। परंतु सवसे महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि किसी भौतिक क्रिया द्वारा परमशून्य ताप पर पहुँचना असंभव है। हम जानते हैं कि निम्न ताप पर ताप कम करने की सवसे अच्छी विधि स्थिरोष्म विचुंवकन (ऐडियावैटिक डीमैग्नेटिजेशन) है। परंतु हम सिद्ध कर सकते हैं कि इस विधि से भी परमशून्य ताप पर पहुँचना असंभव है। इसके लिये हम पा—एं $(T—S)$ रेखाचित्र में निकाय की अवस्था का निर्देशन करेंगे। यह चित्र ५ में किया गया है।
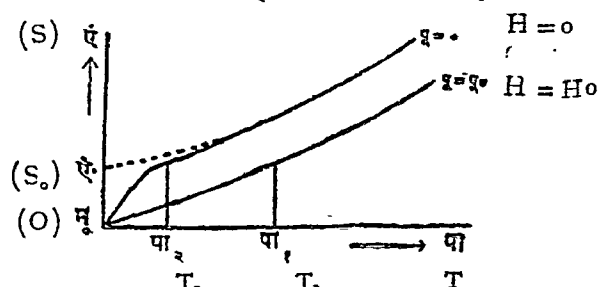
चित्र ५ पा-एं लेखाचित्र

नियत ताप पर चुंबकीय पिंड को चुंबकीय क्षेत्र में रखने से एंट्रापी कम हो जाती है जैसा इस रेखाचित्र में पू = ० $(H=0)$ एवं पू = पू$_{o}$ $(H=H_o)$ के वक्रों द्वारा दिखाया गया है। इस रेखाचित्र द्वारा हम देख सकते है कि यदि ताप पा$_1$ (T_1) तथा पू = पू$_o$ $(H=H_o)$ से चुंबकीय क्षेत्र शून्य कर दें तो हम ताप पा$_2$ (T_2) पर पहुँचेंगे।

ताप पा$_2$ (T_2) ऐसा है कि पू = ० $(H=0)$ की अवस्था में एंट्रापी का वही मान है जो ताप पा$_1$ (T_1) पर अवस्था पू=पू$_o$ $(H=H_o)$ में। यदि शून्य ताप पर एंट्रापी शून्य न होकर ए$_o$ (S_o) के बराबर होती तो हम शून्य ताप पर पहुँच सकते, परंतु तृतीय सिद्धांत के अनुसार यह असंभव है।

१७—द्वितीय सिद्धांत का स्वयंताथ्यिक प्रतिपादन—ऊपर हमने द्वितीय सिद्धांत का वह प्रतिपादन किया है जो क्लाजिउस आदि के अनुसार है। इसके अतिरिक्त कैराथियोडोरी ने स्वयंताथ्यिक प्रतिपादन दिया है। कैराथियोडोरी का प्रमेय यह है कि दा-आ $(p\text{-}V)$ लेखाचित्र में निकाय की अवस्था के निर्देश विंदु के आसपास ऐसे अनेक विंदु हैं जिन तक उत्क्रमणीय-स्थिरोष्म-प्रक्रम द्वारा पहुँचना असंभव है। इस प्रमेय से आरंभ करके परमताप एवं एंट्रापी की भावना तक पहुँचा जा सकता है।

सं०ग्रं०—गुगेनहाइम : थर्मोडाइनैमिक्स; विलसन : थर्मोडाइनैमिक्स ऐंड स्टैटिस्टिकल मिकैनिक्स; सोमरफ़ेल्ड : थर्मोडाइनैमिक्स ऐंड स्टैटिस्टिकल मिकैनिक्स; फ़र्मी : थर्मोडाइनैमिक्स। (रा० नि० रा०)

उष्मामिति

उष्मामिति किसी रीति से उष्मा की मात्रा के मापन को उष्मामिति कहते हैं। उष्मामिति उष्मा के किसी प्रभाव पर आधारित होती है। उष्मामापन की साधारणतया निम्नलिखित पद्धतियाँ हैं :

(क) तापपरिवर्तन अथवा तापमानीय उष्मामिति,
(ख) अवस्थापरिवर्तन अथवा गुप्त ताप उष्मामिति।

प्रथम पद्धति में वे रीतियाँ हैं जिनमें ताप परिवर्तित होता है तथा मापन तापपरिवर्तन पर निर्भर होता है। अंततः यह पद्धति केवल ताप के अवलोकन में परिणत हो जाती है। अतः इन विधियों में तापमान एक मुख्य उपकरण है। इस पद्धति में रेनो की मिश्रण विधि तथा ड्यूलांग और पेती की शीतलीभवन विधि है।

दूसरी पद्धति में वे विधियाँ संमिलित है जो ठोसों के द्रवण अथवा वाष्पों के संघनन पर निर्भर हैं। इनमें हिम तथा वाष्प उष्मा मान संमिलित हैं। द्रवण तथा वाष्पीकरण पर निर्भर होने के कारण इन प्रयोगों में ताप स्थिर रहता है, अतएव इनमें तापमापन की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(क) ताप-परिवर्तन-उष्मामिति में जल का तापन एक नियत ताप तक किया जाता है तथा इस जल की मात्रा से उष्मा की मात्रा ज्ञात की जाती है।

उष्मा का एकक—उष्मा का एकक उष्मा की वह मात्रा है जो एक एकक मात्रा जल के ताप में १° की वृद्धि करती है। यदि द्रव्यमान का एकक १ ग्राम हो तथा तापांतर १° सें० हो तो उष्मा के एकक को एक कलरी कहते हैं। १ ग्राम द्रव्यमान के जल के ताप में १° सें० वृद्धि करने के लिये प्रत्येक ताप पर उष्मा की आवश्यक मात्रा समान नहीं होती। अतः वैज्ञानिकों ने १° सें० का पूर्वोक्त तापांतर १४.५° सें० से १५.५° सें० तक माना है। अतः एक कलरी उष्मा की वह मात्रा है जो १४.५° सें० के एक ग्राम जल के ताप को बढ़ाकर १५.५° सें० कर दे। विभिन्न तापों पर एक डिगरी ताप बढ़ाने के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा में अंतर बहुत कम होता है; अतः साधारण प्रयोगों में किसी भी ताप पर १ ग्राम शुद्ध जल के ताप में १° सें० की वृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा को १ कलरी मान सकते है।

अंग्रेजी पद्धति में १ पाउंड शुद्ध जल के ताप में १° फारेनहाइट वृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा को उष्मा का एकक माना गया है। इसे उष्मा का अंग्रेजी एकक (ब्रिटिश थर्मल यूनिट : बी० टी-एच० यू०) कहते हैं।

१ पाउंड = ४५३.६ ग्राम तथा १° फा० = $\frac{5}{9}$° सें०।
अतः १ ब्रिटिश थर्मल यूनिट = ४५३.६ × $\frac{5}{9}$
= २५२ कलरी

उष्माधारिता—किसी वस्तु की उष्माधारिता उष्मा की वह मात्रा है जो १° सें० तापवृद्धि के लिये उस वस्तु को देनी पड़ती है, अथवा १° सें० तापपतन द्वारा उससे प्राप्त होती है।

विशिष्ट उष्मा—जल की उष्माधारिता की तुलना में किसी पदार्थ की उष्माधारिता को उस पदार्थ की विशिष्ट उष्मा कहते हैं। अर्थात्, पदार्थ के किसी द्रव्यमान की किसी तापवृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा तथा समान द्रव्यमान के जल की उसी तापवृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा की निष्पत्ति को उस पदार्थ की विशिष्ट उष्मा कहते हैं। १ ग्राम जल की १° सें० तापवृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा १ एकक उष्मा होती है अतः १ ग्राम पदार्थ की उष्माधारिता उस पदार्थ की विशिष्ट उष्मा होती है, यदि द्रव्यमान द्र (m) की किसी वस्तु का ताप थ° (θ°) से था° (θ'°) तक बढ़ाने के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा मा (Q) हो तो पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार विशिष्ट उष्मा वि (S) निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होगी

$$\text{वि} = \frac{1}{\text{द्र}}\frac{\text{मा}}{(\text{था}-\text{थ})} \qquad (1)$$

$$S = \frac{I}{m}\frac{Q}{(\theta'-\theta)} \qquad (I)$$

इसमें वि (S) ताप थ (θ) तथा था (θ') के बीच मध्यक उष्मा है। किसी ताप थ (θ) पर विशिष्ट उष्मा ज्ञात करने के लिये था (θ') को थ (θ) के अति निकट लिया जाता है, अतः था—थ $(\theta'-\theta)$ के स्थान पर ताथ $(d\theta)$ तथा तत्संबद्ध उष्मा की मात्रा तामा (dQ) मानकर

$$\text{वि} = \frac{1}{\text{द्र}}\frac{\text{तामा}}{\text{ताथ}} \qquad (1)$$

$$S = \frac{I}{m}\frac{dQ}{d\theta} \qquad (2)$$

इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु की उष्माधारिता उस वस्तु के द्रव्यमान तथा विशिष्ट उष्मा का गुणनफल है। इसे उस वस्तु का जलतुल्यांक भी कहते है।

गैसों की विशिष्ट उष्मा—साधारणतया विशिष्ट उष्मा की परिभाषा करते समय उन परिस्थितियों का निर्देशन आवश्यक है जिनमें तापपरिवर्तन हुआ हो। उदाहरणतया, यदि संपीडन से किसी गैस के ताप में वृद्धि हो तो ताथ≠० $(d\theta\neq 0)$, परंतु तामा = ० $(dQ=0)$। अतएव विशिष्ट उष्मा वि (S) शून्य होगी। पुनः यदि एक गैस में परिमित मात्रा में उष्मा दी जाय और उसका प्रसरण इस प्रकार हो कि उसका ताप स्थिर रहे तो इस परिस्थिति में ताथ = ० $(d\theta=0)$ तथा तामा = ० $(dQ=0)$। अतएव विशिष्ट उष्मा अत्युच्च होगी। गैस का प्रसरण इस प्रकार भी कराया जा सकता है कि कुछ मात्रा में उष्मा तो उसे दी जाय परंतु फिर भी उसके ताप का पतन हो; तब ताथ $(d\theta)$ के ऋण होने के कारण उसकी विशिष्ट उष्मा का मान भी ऋण होगा। इससे यह प्रतीत होता है कि गैस की विशिष्ट उष्मा का मान $+\infty$ से $-\infty$ के अंतर्गत कुछ भी हो सकता है तथा यह मान परिस्थितियों से संबंधित है। इस कारण गैस की विशिष्ट उष्मा के विषय में तापपरिवर्तन की परिस्थितियों का निर्देशन अत्यंत आवश्यक है। अतः गैस के विषय में दो विशिष्ट उष्माएँ होती है : (१) स्थिर दाब विशिष्ट उष्मा, वि$_{\text{दा}}$ (C_p) तथा (२) स्थिर आयतन विशिष्ट उष्मा, वि$_{\text{आ}}$ (C_v)।

द्रव तथा ठोस पदार्थों में संपीडन न्यून होने के कारण साधारण प्रयोगों में आयतन परिवर्तन न्यून तथा नगण्य होते हैं। अतः एक ही विशिष्ट उष्मा रह जाती है। प्रत्येक ताप पर ठोस तथा द्रव की एक निश्चित विशिष्ट उष्मा होती है तथा ताप के साथ उसकी वृद्धि होती है।

तापपरिवर्तन उष्मामिति—इस पद्धति में निम्नलिखित रीतियाँ हैं :

(क) मिश्रण विधि,

(ख) शीतलीभवन विधि ।

(क) **मिश्रण विधि** द्वारा रेनो ने परम परिशुद्ध फल ज्ञात किए ।

यदि दो पदार्थ क तथा ख के द्रव्यमान द्र१ (m_1) तथा द्र२ (m_2), ताप थ१ (θ_1) तथा थ२ (θ_2) तथा विशिष्ट उष्माएँ वि१ (S_1) तथा वि२ (S_2) हों और यदि वे एक दूसरे के साथ रखे जायँ तो उष्मा एक से दूसरे में जायगी तथा फलस्वरूप थ१ तथा थ२ के अंतःस्थ एक सामान्य ताप थ (θ) होगा । परिणामतः यदि उष्मा का नियमन क तथा ख ही में हो तो क द्वारा दी गई उष्मा ख द्वारा ली गई उष्मा के तुल्य होगी—

अतः द्र१ वि१ (थ१ – थ) = द्र२ वि२ (थ – थ२) ....(३)

$$m_1 S_1 (\theta_1 - \theta) = m_2 S_2 (\theta - \theta_2) \quad ....(3)$$

अब यदि क जल की कोई मात्रा है तो पारिभाषानुसार वि२ (S_2) का मान १ होगा तथा ख की विशिष्ट उष्मा निम्नलिखित समीकरण से ज्ञात होगी :

$$\text{वि}_1 = \frac{\text{द्र}_2(\text{थ} - \text{थ}_2)}{\text{द्र}_1(\text{थ}_1 - \text{थ})} \text{।} \quad ......(४)$$

$$S_1 = \frac{m_2 (\theta - \theta_2)}{m_1 (\theta_1 - \theta)} \quad ......(4)$$

यहाँ वि१ (S_1) ताप थ (θ) तथा थ१ (θ_1) के अंतर्गत मध्यक उष्मा है। यहाँ हमने यह माना है कि ताप के समीकरण की अवधि में क तथा ख न तो अन्य वस्तुओं से उष्मा लेते हैं, न उन्हें देते हैं। व्यवहार में यह अवस्था असंभव है। सामान्यतया अन्य वस्तुओं से उष्मा का नियमन होता है। ऐसी त्रुटियों को दूर करने अथवा कम करने की विशेष रीतियाँ हैं।

उष्मामापी—उष्मामापन के प्रयोगों का मुख्य उपकरण ताँबे, पीतल अथवा चाँदी की पतली चद्दर का बना उष्मामापी होता है। यह एक बड़े बरतन के भीतर कुचालक आधारों पर रखा जाता है। उष्मामापी में मापे हुए द्रव्यमान का जल भरा होता है, जिसमें निश्चित ताप की तप्त वस्तु डाली जाती है तथा एक सूक्ष्म तापमापी से तापपरिवर्तन पढ़ा जाता है। जल को (दूर अथवा कम) चलाने के लिये उसमें ताँबे का मुड़ा हुआ विचालक रहता है। विकिरण द्वारा उष्मा का क्षय दूर अथवा कम करने के लिये उष्मामापी के बाहरी तल तथा बड़े वर्तन के भीतरी तल पर पालिश की जाती है।

किसी तप्त पदार्थ को उष्मामापी के जल में डालने पर जल के अतिरिक्त उष्मामापी, विचालक तथा तापमापी का पारा भी तप्त पदार्थ की उष्मा लेते हैं तथा उनके ताप में भी वृद्धि होती है। अतः इनकी उष्माधारिताओं का लेखा लेना भी आवश्यक है। यदि उष्मामापी का द्रव्यमान द्र१ (m_1) ग्राम हो तथा विशिष्ट उष्मा वि१ (S_1) हो तो उसकी १° सें० तापवृद्धि के हेतु द्र१ वि१ ($m_1 S_1$) कैलरी की आवश्यकता होगी। द्र१वि१ ($m_1 S_1$) को उष्मामापी का जलतुल्यांक कहते हैं; क्योंकि द्र१ वि१ ($m_1 S_1$) ग्राम जल के ताप में भी १° सें० की वृद्धि होगी। अब यदि द्र१, द्र२, द्र३ (m_1, m_2, m_3) ग्राम उष्मामापी, तापमापी का पारा तथा विचालक के द्रव्यमान हों तथा वि१, वि२, वि३ (S_1, S_2, S_3) इनकी विशिष्ट उष्माएँ, तो उष्मामापी तथा उपसाधनों का जलतुल्यांक ज (w) निम्नलिखित समीकरण से मिलेगा :

ज = द्र१वि१ + द्र२वि२ + द्र३वि३ ....(५)

$$W = m_1 S_1 + m_2 S_2 + m_3 S_3 \quad ....(5)$$

पारे की संहति द्र२ अति न्यून होती है तथा यदि विचालक और उष्मामापी एक ही धातु के बने हों तो

ज = (द्र१ + द्र३) वि१

$$W = (m_1 + m_3) S_1$$

अतएव समीकरण (३) निम्नलिखित होगा :

द्र१ वि१ (थ१ – थ) = (द्र२ + ज) (थ – थ२) + क्ष .....(६)

$$m_1 S_1 (\theta_1 - \theta) = (m_2 + W)(\theta - \theta_2) + R \quad .....(6)$$

इसमें क्ष (R) विकिरण तथा उष्माचालन के कारण होनेवाले उष्माक्षय का शोधन है।

क्ष (R) का मान निकालने के लिये संदर्भ ग्रंथों में से किसी एक को देखिए।

यदि उष्माक्षय के शोधन के कारण तापवृद्धि △ थ हो तो

द्र१वि१{थ१ – (थ + △थ)} = (द्र२ + ज) (थ + △थ – थ२)...(७)

$$m_1 S_1 \{\theta_1 - (\theta + \triangle\theta)\} = (m_2 + W)(\theta + \triangle\theta - \theta_2) \quad (7)$$

तापांतर की वृद्धि से विकिरण शोधन में भी वृद्धि होती है; इस कारण उचित यह है कि उष्मामापी में जल की मात्रा इतनी अधिक ली जाय कि ताप में अधिक वृद्धि न हो; परंतु ऐसा करने से प्रयोग की सूक्ष्मता घट जाती है। इसके प्रतिकार के लिये सूक्ष्म तापमापी का व्यवहार आवश्यक हो जाता है।

(ख) **शीतलीभवन विधि**—इस कल्पना पर निर्धारित है कि जब कोई वस्तु किसी समावृत्त में शीतल होती है तो समय की अवधि ता स में उसके द्वारा उत्सारित उष्मा ता मा (dQ) (१) वस्तु के समावृत्त पर, (२) ताप के आधिक्य पर, (३) उसके तल की प्रकृति पर, तथा (४) तल के क्षेत्रफल पर निर्भर करती है। अतः

ता मा = क. फ (थ). ता स ......(८)

$$dQ = A f(\theta) dt \quad (8)$$

इस समीकरण में क (A) वस्तु के तल पर, अर्थात् उसके क्षेत्रफल तथा विकिरण शक्ति पर निर्भर है, तथा फ (थ) [$f(\theta)$] ताप के आधिक्य का अज्ञात फलन है जो प्रत्येक वस्तु के लिये सम होगा। अतः यदि न्यूटन का शीतलीभवन नियम यथार्थ है तो यह फलन केवल तापांतर थ (θ) है। यदि ता स (dt) अवधि में वस्तु तापांतराल ता थ ($d\theta$) से शीतल होती है तो

ता मा = द्र वि ता थ । ......(९)

$$dQ = m\, S\, d\theta \quad (9)$$

द्र (m) वस्तु की संहति तथा वि (S) विशिष्ट उष्मा है। अतः

द्र वि ता थ = क फ (थ) ता स ......(१०)

$$m\, s\, d\theta = A f(\theta) dt \quad (10)$$

अतएव तापांतर थ१ (θ_1) से थ२ (θ_2) तक शीतल होने का समय स (t) निम्नलिखित होगा :

$$\text{स} = \frac{\text{द्र वि}}{\text{क}} \int_{\text{थ}_2}^{\text{थ}_1} \frac{\text{ता थ}}{\text{फ(थ)}} = \frac{\text{द्र वि}}{\text{क}} \left[\text{फा (थ}_1) - \text{फा (थ}_2) \right]$$

$$t = \frac{m\, S}{A} \int_{\theta_2}^{\theta_1} \frac{d\theta}{f(\theta)} = \frac{m\, S}{A} \left[F(\theta_1) - F(\theta_2) \right]$$

यदि एक अन्य वस्तु जिसका द्रव्यमान द्र′ (m') हो तथा विशिष्ट उष्मा वि′ (S') हो तो एक ही समावृत्त में तथा समताप प्रसार के लिये उसके शीतल होने का समय

$$\text{स}' = \frac{\text{द्र}'\ \text{वि}'}{\text{क}'} \left[\text{फा(थ}_1) - \text{फा(थ}_2) \right]$$

$$t' = \frac{m'\, S'}{A'} \left[F(\theta_1) - F(\theta_2) \right]$$

अतएव
$$\frac{\text{स}}{\text{स}'} = \frac{\text{द्र वि}}{\text{द्र}'\ \text{वि}'} \times \frac{\text{क}}{\text{क}'} \text{।}$$

$$\frac{t}{t'} = \frac{m\, S}{m'\, S'} \times \frac{A}{A'}$$

यदि दोनों वस्तुओं के तल के क्षेत्रफल समान हों तो क = क' $(A = A')$ तथा

$$\frac{\text{द्र वि}}{\text{द्र' वि'}} = \frac{\text{स}}{\text{स'}} \qquad (११)$$

$$\frac{m\,S}{m'S'} = \frac{r}{t'} \qquad (11)$$

अर्थात् दोनों वस्तुओं की उष्माधारिताएँ उन अवधियों की निष्पत्ति हैं जो उन वस्तुओं को ताप के समान परास (रेंज) द्वारा शीतल होने में लगती हैं।

यदि द्र₁ (m_1) तथा द्र₂ (m_2) द्रव्यमान के दो द्रव पदार्थ क्रमशः उष्माधारिता ज (W) के उष्मामापी में रखे जायँ तथा यह उष्मामापी ०° सें० ताप के एक बरतन के मध्य लटकाया जाय और तब शीतलीभवन की दर का अवलोकन किया जाय तो

$$\frac{\text{ज} + \text{द्र वि}}{\text{स}} = \frac{\text{ज} + \text{द्र' वि'}}{\text{स'}} \qquad (१२)$$

$$\frac{W\,m\,S}{t} = \frac{W\,m'\,S'}{t'} \qquad (12)$$

यदि इनमें एक द्रव जल हो तो दूसरे द्रव की विशिष्ट उष्मा का मान ज्ञात किया जा सकता है।

इस रीति से परिशुद्ध फल नहीं मिलते। इसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है।

अवस्थापरिवर्तन अथवा गुप्त ताप उष्मामिति : (क) हिम-द्रवण विधि—ब्लैक ने प्रथम बार इस विधि का प्रयोग किया। हिम के एक बड़े टुकड़े में छोटा सा छेद बनाकर उसके मुख को हिम के छोटे टुकड़े से बंद किया जाता है। इस प्रकार एक हिम से घिरा हुआ मंडल बन जाता है। ज्ञात द्रव्यमान की वस्तु को एक निश्चित ताप तक तप्त कर तथा हिम-मंडल के जल को सावधानी से सोखकर तप्त वस्तु को उसके भीतर तुरंत डाल दिया जाता है और उसके मुख को लघु हिम खंड से ढक दिया जाता है। यह वस्तु उष्मा देकर तुरंत हिम के द्रवांक पर आ जाती है तथा इससे निश्चित मात्रा में हिम का द्रवण होता है। पूर्व तौले हुए एक स्पंज से इस जल को सोखकर स्पंज को पुनः तौल लेते हैं तथा द्रवित हिम का द्रव्यमान ज्ञात कर लेते हैं। यदि वस्तु का आरंभिक ताप थ (θ), उसका द्रव्यमान द (m) तथा विशिष्ट उष्मा वि (S) हो तो उसके द्वारा दी हुई उष्मा की मात्रा द्र वि थ $(m\,S\,\theta)$ होगी। परिणामतः

द्र वि थ = गु द्रा

$$m\,S\,\theta = L\,W$$

यहाँ गु (L) हिमद्रवण की गुप्त उष्मा तथा द्रा (W) द्रवित हिम का द्रव्यमान है।

बुन्सेन का हिम-उष्मामापी—हिमद्रवण से आयतन का ह्रास होता है। इस सिद्धांत पर आधारित बुन्सेन का हिम उष्मामापी द्रवों तथा ठोस पदार्थों की विशिष्ट उष्मा ज्ञात करने का एक अत्यंत सुग्राही उपकरण है। यदि पदार्थ कम मात्रा में उपलब्ध हो तब भी उसकी विशिष्ट उष्मा ज्ञात की जा सकती है (द्र० चित्र २)।

चित्र २. बुन्सेन का हिम-उष्मामापी

संपूर्ण उपकरण के चारों ओर शुद्ध हिम भर देते हैं। नली क में कुछ शुद्ध जल रखते हैं। जब संपूर्ण उपकरण ०° सें० ताप पर हो जाता है तो दिए हुए ठोस पदार्थ को एक स्थिर ताप ता° $(T°)$ सें० तक तप्त करके तुरंत नली क के जल में डाल देते हैं। यदि ठोस का द्रव्यमान तथा विशिष्ट उष्मा क्रमानुसार द्रा (M) तथा वी (s) हों तो $0°$ सें० तक शीतल होने में वह द्रा वी ता $(M\,s\,T)$ कलरी उष्मा देगा जिससे उस नली के चारों ओर के कुछ हिम का द्रवण होगा। अतः केशनली का पारा भीतर की ओर चलेगा। इसके पाठ से आयतनह्रास ज्ञात हो जायगा। माना कि यह ह्रास आ (v) घन सें०मी० है। यदि हिम का विशिष्ट घनत्व घ (d) हो तो १ ग्राम हिम के द्रवण से आयतन में १/घ—१ $[1/d—1]$ घ० सें० मी० की कमी होगी। माना कि यह य (x) है। अतः द्रवित हिम का द्रव्यमान = आ/य (v/x) ग्राम। यदि हिम द्रवण की गुप्त उष्मा गु (L) हो तो
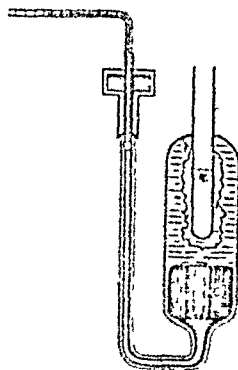
द्रा वी ता = (आ/य) गु। .... (१३)

$$M\,s\,T = (v/x)\,L. \qquad (13)$$

इस उपकरण को उपयोग में लाने के लिये बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। इसमें जो पारा तथा जल रहता है उनका शुद्ध तथा वायुरहित होना अति आवश्यक है। बाहर के हिम का भी शुद्ध होना आवश्यक है।

(ख) वाष्पीकरण विधि—इस विधि में पदार्थ को एक मंडल में तुला के पलड़े पर रखकर उसमें १००° ताप का जलवाष्प तब तक भरते रहते हैं जब तक उस पलड़े की तौल स्थिर न हो जाय। दोनों तौलों के अंतर से संघनित वाष्प की मात्रा ज्ञात हो जाती है। यदि पदार्थ का द्रव्यमान, ताप तथा विशिष्ट उष्मा द (m), थ (θ) तथा वि (S) हों, संघनित वाष्प का द्रव्यमान द्रा (M) और जलवाष्प की गुप्त उष्मा गु हो तो

द्र वि (१०० — थ) = द्रा गु।

$$m\,s\,(100—\theta) = ML$$

इसके लिये जॉली के जलवाष्प उष्मामापी का उपयोग होता है।
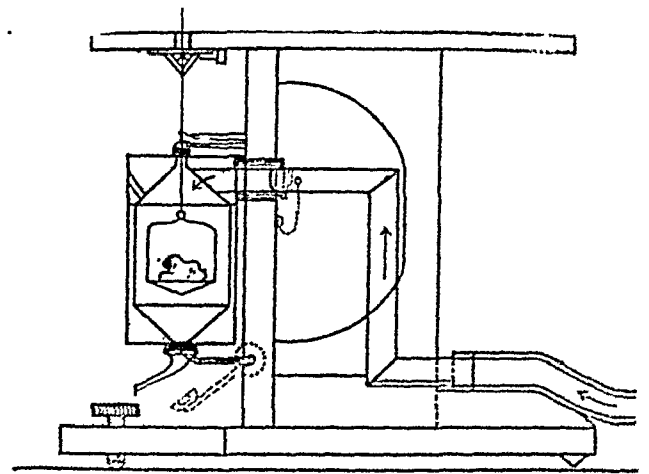
चित्र २. जॉली का जलवाष्प-उष्मामापी।

गैसों की विशिष्ट उष्मा—गैस की स्थिर आयतन विशिष्ट उष्मा का मान जॉली के विभिन्नक जलवाष्प उष्मामापी से ज्ञात किया जाता है। यह जलवाष्प उष्मामापी से कुछ भिन्न होता है। तुला की भुजा में धातु के एक सूक्ष्म तार द्वारा शुद्ध तथा शुष्क गैस से भरा हुआ एक गोला (बल्ब) लटकाया जाता है तथा दूसरी भुजा में इसके समरूप दूसरा गोला, जिसे निर्वात कर दिया जाता है। ये दोनों गोले एक ही मंडल में रहते हैं। अब पहले बताई गई रीति से गैस की विशिष्ट उष्मा ज्ञात की जाती है। (ब्योरे के लिये द्र० प्रेस्टन की पुस्तक)।

स्थिर चाप विशिष्ट उष्मा का मान ज्ञात करने के लिये रेनो के उपकरण का प्रयोग किया जाता है। नुमाना ने इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रयोग किए हैं।

सं०ग्रं०—प्रेस्टन : थ्योरी ऑव हीट; साहा : ट्रीटिज़ ऑव हीट। (प्रे० ना० श०)

उष्मायन प्रायः सभी लोग इस बात से परिचित हैं कि धातुओं में विद्युच्चालकता (इलेक्ट्रिकल कंडक्टिविटी) स्वतंत्र इलेक्ट्रानों की गति के कारण होती है। स्वतंत्र इलेक्ट्रानों से हमारा अभिप्राय उन इलेक्ट्रानों से है जिनका अन्य किसी अणु (ऐटम) अथवा परमाणु (मॉलिक्यूल) से संबंध नहीं होता। किंतु ये इलेक्ट्रान धातु के धरातल का व्यतिक्रमण नहीं कर सकते, क्योंकि धातु के धरातल पर गुरुत्वाकर्पण के समान बल होता है। धरातल को पार करने के लिये इलेक्ट्रान को उतना कार्य करना पड़ता है जितना उन्हें गुरुत्वाकर्पण के समान इस बल को पार करने में लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन इलेक्ट्रानों की गतिज ऊर्जा (काइनेटिक इनर्जी) इतनी अधिक होनी चाहिए कि वे चालक के इस धरातल-बल को पार कर सकें। साधारण ताप पर इलेक्ट्रान की गतिज ऊर्जा इतनी अधिक नहीं होती कि वे बिना किसी बाह्य ऊर्जा की सहायता के धातु के धरातल के बाहर आ सकें। यह बाह्य ऊर्जा या तो आपाती विकिरण (इनसिडेंट रेडिएशन) के रूप में मिल सकती है या अत्यंत वेगगामी कणों द्वारा प्राप्त हो सकती है जो इन धातुओं के धरातल पर प्रहार करें। परंतु यदि किसी प्रकार चालक का ताप बढ़ा दिया जाय, जिससे स्वतंत्र इलेक्ट्रानों को उतनी ऊर्जा मिल सके जितनी उनको धातु के धरातल से बाहर लाने के लिये आवश्यक है तो वह क्रिया हो जाती है जिसे उष्मायनिक उत्सर्जन (थर्माइओनिक एमिशन) कहते हैं।

धरातल के क्षेत्रफल के प्रत्येक एकक से निकले हुए इलेक्ट्रानों की संख्या निम्नलिखित समीकरण से प्रदर्शित की जा सकती है :

धा = अ ट^{२} ई$^{-व/ट}$

$$\left[E = aT^2 e^{-\omega/T}\right]$$

जिसमें धा (E) = इलेक्ट्रान धारा ऐंपीयर में;
ट (T) = उस पदार्थ का निरपेक्ष (ऐब्सोल्यूट) ताप जो इलेक्ट्रान उत्सर्जित करता है;
व (ω) = कार्यमात्रा जो एक इलेक्ट्रान के उस कार्य (वर्क) के बराबर होती है जो उसको धातु के धरातल से बाहर आने के लिये करना पड़ता है ;
अ (a) नियतांक जो उत्सर्जक (एमिटर) के गुणों पर निर्भर रहता है;
ई (e) नेपरीय लघुगणकों का आधार।

साधारण पदार्थों में १०००° क (K) के ताप के आसपास विशेष मात्रा में इलेक्ट्रानों का उत्सर्जन होता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है जिसका ध्यान उन पदार्थों के चुनाव में रखना पड़ता है जो उत्सर्जक के रूप में प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि इस ताप पर नष्ट होनेवाले पदार्थों का उपयोग नहीं किया जा सकता। दूसरी बात जो ध्यान में रखी जाती है वह उत्सर्जक का जीवन है। केवल वे ही पदार्थ उत्सर्जक के रूप में प्रयोग में लाए जा सकते हैं जिनका जीवन लगभग १,००० घंटों का हो। इन विचारों को ध्यान में रखते हुए यदि उन पदार्थों की खोज की जाय जो उत्सर्जक के रूप में प्रयोग में लाए जा सकते हैं तो बहुत ही कम संख्या में पदार्थ मिलेंगे। व्यापारिक रूप में इलेक्ट्रान नलियों (ट्यूब) में प्रयोग में लाए जानेवाले उत्सर्जक या तो आक्साइड लेपित उत्सर्जक होते हैं अथवा टंग्स्टन या थोरियम युक्त टंग्स्टन के होते हैं।

अब हम उन बातों पर विचार करेंगे जिनपर उष्मायनिक उत्सर्जन निर्भर रहता है।

उष्मायनिक उत्सर्जन की ताप पर निर्भरता—एक निश्चित ताप पर उष्मायनिक धारा का पट्टिक वोल्टता (प्लेट वोल्टेज) के साथ का परिवर्तन चित्र १ से प्रदर्शित किया जा सकता है। इस चित्र से यह देखा जा सकता है कि उष्मायनिक धारा ओम के सिद्धांत के अनुसार नहीं बदलती। पहले तो यह पट्टिक वोल्टता के बढ़ने पर धीरे धीरे बढ़ती है, फिर कुछ तेजी से और अंत में स्थिर हो जाती है। इसको संतृप्त धारा (सैचुरेटेड करेंट) कहते हैं। इस प्रकार की वक्र रेखाएँ विभिन्न निश्चित तापों पर प्राप्त हो सकती हैं।
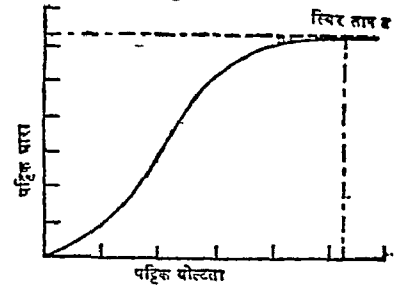
चित्र १. पट्टिक धारा—पट्टिक वोल्टता की वक्र रेखा

ताप के प्रभाव का अध्ययन करने के लिये पट्टिक वोल्टता को इतना बढ़ा दिया जाता है कि संतृप्त धारा बहने लगे। फिर उत्सर्जक का ताप परिवर्तित किया जाता है और संतृप्त धारा विभिन्न तापों पर लायी जाती है। जब संतृप्त धारा के इस मान को तापों के विभिन्न मानों के साथ रेखाचित्र के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो चित्र २ में दी हुई वक्र रेखा प्राप्त होती है। निम्न तापों पर उष्मायनिक उत्सर्जन प्रायः नगण्य ही होता है। उष्मायनिक उत्सर्जन लगभग १०००° क के आसपास आरंभ होता है और फिर ताप बढ़ने के साथ शीघ्रता से बढ़ता है।
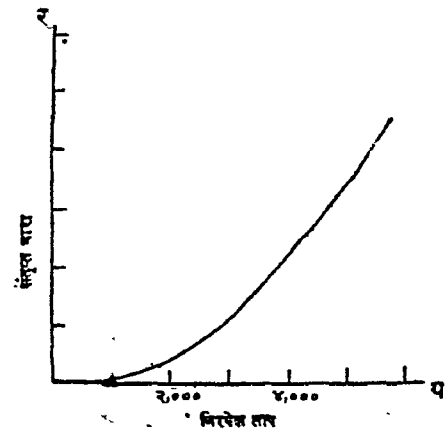
चित्र २. पट्टिक धारा—निरपेक्ष ताप की वक्र रेखा

उत्सर्जक के क्षेत्रफल, स्वभाव और धरातल पर उत्सर्जन की निर्भरता—उत्सर्जक के क्षेत्रफल की वृद्धि के साथ उत्सर्जन की मात्रा भी बढ़ती जाती है। यदि क्षेत्रफल अधिक हो तो उष्मायनिक धारा भी अधिक होती है।

शुद्ध पदार्थों में उष्मायनिक उत्सर्जन केवल उच्च तापों पर ही होता है। ऐसा देखा गया है कि अशुद्धियों की उपस्थिति उत्सर्जन पर प्रभाव डालती है। क्षारीय धातु उत्सर्जक के रूप में अधिक क्रियाशील होती है।

सन् १९०८ में वेनल्ट ने एक महत्वपूर्ण खोज की। उसने यह देखा कि जब इलेक्ट्रान नली में प्रयुक्त उत्सर्जक को क्षारीय आक्साइड से लेपित किया जाता है तो उष्मायनिक उत्सर्जन बहुत अधिक बढ़ जाता है। निम्न तापों और निम्न वोल्टता पर इस प्रकार के उत्सर्जक बहुत ही उपयोगी होते हैं। आजकल अधिकतर इलेक्ट्रान नलियों, ऋणाग्र किरण (कैथोड रे) नलियों तथा गैस नलियों में आक्साइड लेपित उत्सर्जक ही प्रयोग में लाए जाते हैं।

गैस का उष्मायनिक उत्सर्जन पर प्रभाव—यदि गैस की थोड़ी सी मात्रा निर्वात नली में पहुँचा दी जाय तो उष्मायनिक उत्सर्जन काफी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन की न्यूनतम मात्रा भी एक निर्वात

नली में पहुँचने पर उष्मायनिक धारा को $१०^४$ गुना बढ़ा सकती है। इसके दो कारण है। एक तो आयनीकरण (आयोनाइज़ेशन) है जो इलेक्ट्रानों की मुठभेड़ के कारण होता है। दूसरा कारण अधिशोषण (ऐडसॉर्पशन) है। उच्च ताप पर उत्सर्जक से निकले इलेक्ट्रानो को इतनी गतिज ऊर्जा प्राप्त हो जाती है कि वे गैस के परमाणुओं की मुठभेड़ों द्वारा आयनों में परिवर्तित कर देते हैं। ये आयन गैस के दूसरे परमाणुओं को मुठभेड़ों द्वारा आयनों में परिवर्तित कर देते है। इस प्रकार इलेक्ट्रानों को संख्या मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अधिशोषित अणु अथवा परमाणु विद्युत् की एक द्विगुण सतह धातु के धरातल पर बना लेते हैं, जो या तो उत्सर्जन में सहायक होती है या उसको कम कर देती है। सहायक होना अथवा न होना उन परमाणुओं के स्वभाव पर निर्भर रहता है।

उष्मायनिक धारा पर पट्टिक वोल्टता का प्रभाव—उष्मायनिक धारा तभी वह सकती है जब उत्सर्जक और उसको चारों ओर घेरे हुए बेलन के बीच धन विभव (पोटेंशियल) जारी रखा जाता है। इलेक्ट्रान ऋण आवेशित कण है। इस कारण वे बेलन की ओर खिच जाते हैं जो धन विभव पर रहता है। इस कारण ऐसा लग सकता है कि थोड़े ही धन विभव पर काफी उष्मायनिक धारा वह सकती है। परंतु यह देखा गया है कि अधिक धारा प्रवाहित करने के लिये अधिक धन विभव की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि भ्रमण करते हुए इलेक्ट्रानों के कारण उत्सर्जक के पास अंतरण आवेश (स्पेस चार्ज) उत्पन्न हो जाता है। यह अंतरण आवेश उत्सर्जित इलेक्ट्रानों को पीछे फेंक देता है। इस अंतरण आवेश के प्रभाव को उचित उच्च विभव द्वारा हटाया जा सकता है।

शीत उत्सर्जन (कोल्ड एमिशन)—यदि धन विभव को पर्याप्त अधिक बढ़ा दिया जाय तो निम्न ताप पर भी उत्सर्जन हो सकता है। इस प्रकार के उत्सर्जन को शीत उत्सर्जन कहते है। इस ठंढे उत्सर्जन के लिये १०,००० वोल्ट प्रति सेंटीमीटर के अभिक्षेत्र (फ़ील्ड) की आवश्यकता होती है।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है, टंग्स्टन, थोरियम युक्त टंग्स्टन तथा आक्साइड लेपित उत्सर्जक ही प्राय: इस कार्य में प्रयुक्त होते हैं। इन उत्सर्जकों के निम्नांकित गुण है :

टंग्स्टन—टंग्स्टन अत्यधिक उच्च ताप पर ही काम में लाया जा सकता है। इस कारण यह शुद्ध अवस्था में यदाकदा ही प्रयोग में लाया जाता है। उत्सर्जक के रूप में इसका उपयोग तभी किया जाता है जब उच्च ताप पर कोई अन्य उत्सर्जक कार्य में नहीं लाया जा सकता। इसका प्रयोग अधिकतर उन नलियों में होता है जिनमें पट्टिक वोल्टता ३,५०० वोल्ट से अधिक होती है।

थोरियम युक्त टंग्स्टन—इस प्रकार के उत्सर्जक से, उसी ताप पर, शुद्ध टंग्स्टन की अपेक्षा कहीं अधिक उत्सर्जन होता है। इसका कारण यह है कि थोरियम की उपस्थिति के कारण सतह का व्यतिक्रमण करने के लिये इलेक्ट्रान को जो कार्य करना पड़ता है वह पर्याप्त कम हो जाता है। नली में कुछ गैस के रह जाने के कारण रासायनिक विपाक्तता (पॉयज़निंग) उत्पन्न हो जाती है। यदि धन आयन के टक्कर और रासायनिक विपाक्तता के प्रभावों को ध्यान में रखा जाय तो देखा जाता है कि थोरियम युक्त टंग्स्टन के उत्सर्जक आक्साइड लेपित उत्सर्जक की अपेक्षा अधिक टिकाऊ होते हैं।

आक्साइड लेपित उत्सर्जक—इस प्रकार के उत्सर्जक बेरियम और स्ट्रौंशियम के आक्साइडों के मिश्रण को उपयुक्त धातु के धरातल पर पोतकर बनाए जाते हैं। साधारणतया निकल धातु ही इस कार्य में लगाई जाती है। कभी कभी निकल की कोई मिश्रधातु भी प्रयुक्त होती है। यदि इस प्रकार की सतह उचित रूप से बनाई और सक्रिय की जाय तो ११५०° क पर पर्याप्त मात्रा में इलेक्ट्रान उत्सर्जन होता है। इस प्रकार के उत्सर्जन का कारण अभी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्सर्जन धातु के उन स्वतंत्र कणों से होता है जो आक्साइड लेप की सतह पर रहते हैं।

आक्साइड लेपित उत्सर्जक निर्वात नलियों में अधिक प्रयुक्त होते हैं। इसका कारण यह है कि आक्साइड लेपित उत्सर्जक अन्य प्रकार के उत्सर्जकों की तुलना में प्रत्येक वाट उष्मा शक्ति के लिये अधिक उत्सर्जन देता है तथा अन्य उत्सर्जकों की तुलना में प्रति वर्ग सेंटीमीटर अधिक ऐंपीयर देता है। आक्साइड लेपित उत्सर्जकों का एक विशेष लाभदायक गुण यह भी है कि इससे अत्यधिक इलेक्ट्रानों का उत्सर्जन एक ही समय में हो सकता है, चाहे यह समय कुछ माइक्रो सेकंड ही क्यों न हो (१ माइक्रो सेकंड = एक सेकंड का लाखवाँ भाग)।

प्रायोगिक उत्सर्जक की आकृति—प्रयोग में लाए जानेवाले उत्सर्जक प्राय: दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के उत्सर्जक तंतु (फिलामेंट) के रूप में बने रहते है, जिनमें विद्युद्धारा प्रवाहित करके अधिक ताप तक गरम किए जाते है। दूसरे प्रकार के उत्सर्जक वे होते है जो परोक्ष रूप से गरम किए जाते हैं। ये धातु की पतली चादर के बेलन के रूप मे होते हे। (बेलन प्राय: आक्साइड लेपित निकल का होता है।) यह बेलन वाह्य पृथक्कृत (एक्सटर्नली इनसुलेटेड) टंग्स्टन धातु के तंतुओं से गरम किया जाता है, जिसे तापक (हीटर) कहते है।

गौण (सेकंडरी) उत्सर्जन—बहुत पहले से यह ज्ञात है कि यदि किसी धातु को इलेक्ट्रान की धारा से प्रताड़ित किया जाय तो एक गौण प्रकाश उत्पन्न होता है। इसी को गौण उत्सर्जन कहते हैं। इसका उष्मायनिक नलियों मे बहुत ही महत्व है क्योंकि यह अनिच्छित प्रभाव के रूप मे नली में प्रकट हो जाता है। प्राथमिक (प्राइमरी) इलेक्ट्रान से प्रताड़ित होने पर गौण इलेक्ट्रानो की संख्या प्राथमिक इलेक्ट्रानो की गति पर और उस वस्तु के स्वभाव तथा दशा पर निर्भर रहती है जो प्रताड़ित की जाती है। यह विशेष प्रकार का प्रभाव चित्र ३ मे प्रदर्शित किया गया हे। यदि
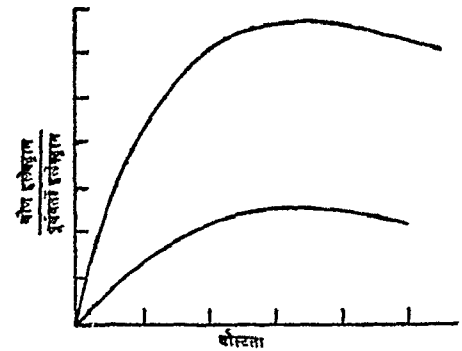
चित्र ३. वोल्टता के परिवर्तन के साथ गौण रूप में उत्सर्जित इलेक्ट्रानों की संख्या का परिवर्तन

पूर्ववर्ती इलेक्ट्रानों की गति अत्यधिक न्यून हो तो गौण उत्सर्जन नहीं होता। गौण इलेक्ट्रानों में प्राय: ९० प्रतिशत ऐसे होते हैं जिनका वेग प्राथमिक इलेक्ट्रानों से बहुत कम होता है। तथापि कुछ गौण इलेक्ट्रान ऐसे भी उत्सर्जित होते हैं जिनका वेग प्राथमिक इलेक्ट्रानों से अधिक होता है और कई प्रतिशत ऐसे होते हैं जिनका वेग प्राथमिक इलेक्ट्रानों के वेग के बराबर होता है।

पृथक्कारी (इनसुलेटर) से गौण उत्सर्जन—पृथक्कारी मे होनेवाला गौण उत्सर्जन कभी कभी धातुओं के उत्सर्जन से अधिक लाभदायक होता है। इसका एक उल्लेखनीय और सर्वविदित उदाहरण नली के काच की दीवारों का इलेक्ट्रान के प्रताड़न द्वारा विद्युद्युक्त होना है। दूसरा उदाहरण है ऋणाग्रकिरण नलियों के प्रतिभास पट्टों का विद्युन्मय होना।

वर्तमान काल में प्रयोग में लाई जानेवाली विभिन्न प्रकार की संग्रह नलियों (स्टोरेज ट्यूब्स) में पृथक्कारी से गौण उत्सर्जन का उपयोग किया जाता है। (ग॰ प्र॰ श्री॰)

उष्मारसायन के अंतर्गत रासायनिक क्रियाओं में क्षेपित या शोषित ऊर्जा का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक पदार्थ में एक विशिष्ट अंतर्निहित (इंट्रिंजिक) ऊर्जा होती है। उदाहरण के लिये यदि क्रिया
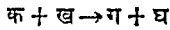
क + ख → ग + घ

मे भाग लेनेवाले पदार्थो क, ख, ग तथा घ की अंतर्निहित ऊर्जा क्रमानुसार **का, खा, गा** तथा **घा** द्वारा व्यक्त की जाय, तो इन ऊर्जाओं के निम्नलिखित संबंध संभव हैं :

(का + खा) = (गा + घा) ;
(का + खा) > (गा + घा) ;
(का + खा) < (गा + घा) ।

प्रथम अवस्था मे प्रतिकारकों की ऊर्जा का योगफल क्रियाफलों की ऊर्जा के योगफल के बराबर है, अतएव प्रतिक्रिया में न तो उष्मा का क्षेपण होगा, न शोषण। परंतु वस्तुतः बहुत कम क्रियाओं में ऐसा होता है। द्वितीय अवस्था में प्रतिकारकों की कुल ऊर्जा, **(का + खा)**, क्रियाफलों की कुल ऊर्जा, **(गा + घा)**, से अधिक है, अतएव ऊर्जानित्यत्व (कॉनजर्वेशन ऑव एनर्जी) सबंधी नियम के अनुसार इस प्रतिक्रिया में **(का + खा) – (गा + घा)** के बराबर उष्मा क्षेपित होगी। इसी प्रकार तृतीय अवस्था में **(गा + घा) – (का + खा)** के बराबर ऊर्जा शोषित होगी। जिन क्रियाओं में उष्मा का क्षेपण होता है, वे उष्माक्षेपक (एक्सोथर्मिक) कहलाती हैं और जिनमें उष्मा का शोषण होता है, उन प्रतिक्रियाओं को उष्माशोषक (एंडोथर्मिक) कहते हैं।

उष्मारासायनिक समीकरण—साधारणतया किसी प्रतिक्रिया में क्षेपित या शोषित उष्मा को उसके समीकरण द्वारा व्यक्त कर देते हैं। उदाहरण के लिये :

$$H_2(\text{गैस}) + Cl_2(\text{गैस}) = 2HCl(\text{गैस}) + 44{,}000 \text{ क॰}$$
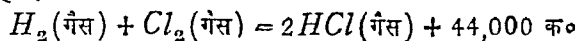
द्वारा प्रकट होता है कि १ ग्राम-अणु (२ ग्राम) हाइड्रोजन गैस तथा १ ग्राम-अणु (७१ ग्राम) क्लोरीन गैस से संयोजन से जब २ ग्राम-अणु (७३ ग्राम) हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस बनती है, तो ४४,००० कलरी उष्मा क्षेपित होती है। इसी प्रकार निम्नांकित समीकरण देखिए :

$$H_2(\text{गैस}) + I_2(\text{गैस}) = 2HI(\text{गैस}) - 11{,}860 \text{ क॰}$$
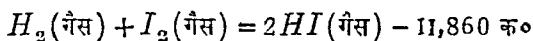
द्वारा यह प्रकट होता है कि यदि २ ग्राम हाइड्रोजन तथा २५४ ग्राम आयोडीन गैस के संयोजन से २५६ ग्राम हाइड्रोजन आयोडाइड गैस बनाई जाय तो इस प्रतिक्रिया में ११,८६० कलरी उष्मा शोषित होगी।

यह तो स्पष्ट है कि किसी भी क्रिया में क्षेपित या शोषित उष्मा की मात्रा उसमें भाग लेनेवाले पदार्थो की भौतिक अवस्था पर निर्भर रहेगी; इसीलिये साधारण उष्मारासायनिक समीकरणों में पदार्थो की भौतिक अवस्था भी लिख दी जाती है। भौतिक अवस्था का जो प्रभाव प्रतिक्रिया-उष्मा पर पड़ता है वह निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा :

$$H_2(\text{गैस}) + \tfrac{1}{2} O_2(\text{गैस}) = H_2O(\text{भाप}) + 58{,}000 \text{ क॰}$$

$$\text{तथा } H_2(\text{गैस}) + \tfrac{1}{2} O_2(\text{गैस}) = H_2O(\text{द्रव}) + 68{,}500 \text{ क॰}$$
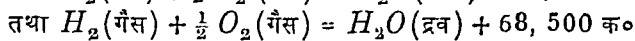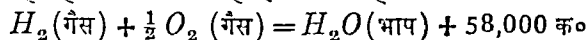
द्वितीय समीकरण में उष्मा की क्षेपित मात्रा प्रथम समीकरणों की अपेक्षा अधिक है क्योंकि इसमें १८ ग्राम भाप के द्रवित होने में क्षेपित उष्मा की मात्रा भी संमिलित है।

जिन प्रतिक्रियाओं में प्रतिकारकों के आयतन में भी परिवर्तन होता है, उनके लिये प्रतिक्रिया-उष्मा इस बात पर भी निर्भर होगी कि प्रतिक्रिया स्थिर आयतन पर की गई है अथवा स्थिर दाब पर। यदि प्रतिक्रिया करते समय आयतन स्थिर रखा जाय, तो मंडल (सिस्टम) को बाह्य दाब के विरुद्ध कुछ कार्य नहीं करना पड़ता। अतएव स्थिर आयतन पर प्रतिक्रिया की यथार्थ ऊर्जा क्षेपित या शोषित होती है। परंतु यदि क्रिया करते समय दाब को स्थिर रखते हुए आयतन को बढ़ने या घटने दिया जाय, तो प्रतिक्रिया-उष्मा का यथार्थ मान ज्ञात नहीं होगा। उदाहरण के लिये आयतन बढ़ने में मंडल बाह्य दाब के विरुद्ध कार्य करता है, जिसमें ऊर्जा व्यय होगी; अतएव यदि प्रतिक्रिया उष्माक्षेपक है तो इस अवस्था में क्षेपित उष्मा की मात्रा कम हो जायगी। साधारणतः प्रतिक्रियाओं की उष्मा स्थिर आयतन पर ही नापी जाती है।

उष्मारसायन के दृष्टिकोण से प्रतिक्रियाओं को प्रायः कई वर्गो में बाँट लेते हैं और प्रतिक्रिया के स्वभाव के अनुकूल प्रतिक्रिया-उष्मा को नाम दे दिया जाता है—जैसे **विलयन-उष्मा** (हीट ऑव सोल्युशन), **तनुकरण-उष्मा** (हीट ऑव डाइल्यूशन), **उत्पादन-उष्मा** (हीट ऑव फ़ॉर्मेशन), **दहन-उष्मा** (हीट ऑव कंबश्चन) तथा **शिथिलीकरण-उष्मा** (हीट ऑव न्यूट्रैलाइजेशन)।

विलयन-उष्मा—किसी विलेय को विलायक में घोलने पर प्रायः उष्मा का क्षेपण या शोषण होता है। जो लवण जल से क्रिया करके जलयोजित (हाइड्रेटेड) लवण बनाते है उनके घुलने पर अधिकतर उष्मा का क्षेपण होता है। अन्य लवणों के घुलने में क्षेपित उष्मा की मात्रा बहुत कम होती है और प्रायः इन लवणों के घुलने की क्रिया में उष्मा शोषित भी होती है। किसी पदार्थ के एक ग्राम-अणु को विलायक में घोलने पर क्षेपित या शोषित ऊर्जा को मात्रा को विलयन-उष्मा कहते है।

इसके अतिरिक्त सांद्र विलयन को तनु करने में भी उष्मा में परिवर्तन होता है और इसे विलयन की तनुकरण-उष्मा कहते हैं। तनुकरण-उष्मा की मात्रा विलयनों की तनुता के साथ कम होती जाती है और अधिक तनु विलयनों के लिये इसे शून्य माना जा सकता है। ऐसे तनु विलयनों को उष्मारसायन में 'जलीय' कहते हैं। उदाहरण के लिये पोटैसियम नाइट्रेट जल में विलीन होकर अति तनु विलयन बनाता है, तो उसकी विलयन-उष्मा ८,५०० कलरी होती है। इस तथ्य को निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते है :

$$KNO_3 + \text{जल} = KNO_3(\text{जलीय}) - 8{,}500 \text{ क॰}$$
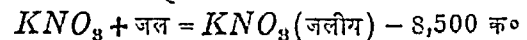
उत्पादन-उष्मा—अवयव तत्वों के संयोग से किसी यौगिक के एक ग्राम-अणु बनने में जितनी उष्मा शोषित या क्षेपित होती है, उसे उस यौगिक की उत्पादन-उष्मा कहा जाता हैं। उदाहरण के लिये निम्नांकित समीकरणों द्वारा स्पष्ट है कि कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), मेथेन, (CH_4) तथा नाइट्रिक अम्ल (HNO_3) की उत्पादन-उष्मा क्रमानुसार ९४.४, १८.८ तथा ४२.४ कलरी है :

$$C + O_2 = CO_2 + 94{\cdot}4 \text{ क॰}$$
$$C + 2H_2 = CH_4 + 18.8 \text{ क॰}$$
$$\tfrac{1}{2}H_2 + \tfrac{1}{2}N_2 + \tfrac{3}{2}O_2 = HNO_3 + 42{\cdot}4 \text{ क॰}$$
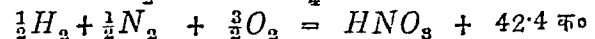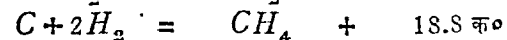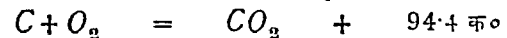
उत्पादन उष्मा ऋणात्मक भी हो सकती है, जैसे :

$$C + 2S = CS_2 - 22{,}000 \text{ क॰}$$
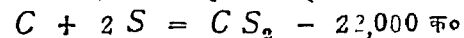
अवयव तत्वों से जिन यौगिकों के बनने में उष्मा क्षेपित होती है उन्हें **उष्माक्षेपक यौगिक** कहते हैं और जिन यौगिकों के बनने में उष्मा शोषित होती है उन्हें **उष्माशोषक यौगिक** कहते हैं। अधिकतर यौगिक उष्माक्षेपक होते है, जैसे हाइड्रोजन क्लोराइड, जल, हाइड्रोजन सलफ़ाइड, सलफर डाइऑक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड, लेड क्लोराइड आदि सब उष्माक्षेपक यौगिक हैं। उष्माशोषक यौगिकों के उदाहरण हाइड्रोजन आयोडाइड, कार्बन डाइसलफाइड, ऐसेटिलीन, ओजोन आदि दिए जा सकते हैं।

उष्माशोषक यौगिक उष्माक्षेपक यौगिकों की अपेक्षा बहुत कम स्थायी होते हैं और सुगमता से अपने अवयवीय तत्वों में विच्छेदित हो जाते हैं। उष्माक्षेपक और उष्माशोषक यौगिकों के स्थायित्व का उपर्युक्त भेद उनमें अंतर्निहित ऊर्जा के अंतर के कारण होता है। उदाहरण के लिये १ ग्राम-अणु कार्बन तथा १ ग्राम-अणु आक्सिजन के संयोग से जब १ ग्राम-अणु कार्बन डाइऑक्साइडड बनता है, तो ९४,३०० कलरी उष्मा क्षेपित होती है। स्पष्ट है कि अपने अवयव तत्वों की अपेक्षा १ ग्राम-अणु कार्बन डाइऑक्साइड में ९४,३०० कलरी ऊर्जा कम होगी। इसी प्रकार कार्बन डाइसलफाइड जैसे उष्माशोषक यौगिक में अपने अवयव तत्वों की अपेक्षा

२२,००० कलरी ऊर्जा अधिक होगी। यदि समस्त तत्वों की अंतर्निहित ऊर्जा को शून्य मान लिया जाय, तो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यौगिकों की अंतर्निहित ऊर्जा उनकी उत्पादन उष्मा के बराबर होगी; परंतु यदि उत्पादन ऊर्जा ऋणात्मक है तो अंतर्निहित ऊर्जा धनात्मक होगी और इसके विपरीत यदि उत्पादन उष्मा धनात्मक हो, तो अंतर्निहित ऊर्जा ऋणात्मक होगी। उदाहरणतः कार्बन डाइऑक्साइड तथा कार्बन डाइसलफाइड की अंतर्निहित ऊर्जाएँ क्रमानुसार –९४,३०० तथा + २२,००० कलरी के बराबर होंगी।

दहन-उष्मा—किसी तत्व या यौगिक की १ ग्राम-अणु मात्रा को ऑक्सिजन में स्थिर आयतन पर पूर्णतया जलाने से उष्मा की जो मात्रा क्षेपित होती है, उसे उस तत्व या यौगिक की दहन-उष्मा कहते हैं।

उदाहरण के लिये निम्नलिखित समीकरण से स्पष्ट है कि मेथेन की दहन-उष्मा २,१२,८०० कलरी हैं :

$$CH_2 + 2\,O_2 = CO_2 + 2\,H_2O + 2{,}12{,}800 \text{ क०}$$
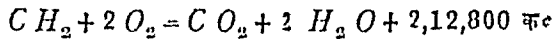
कार्बन को ऑक्सिजन में जलाने पर दो यौगिकों का बनना संभव है—

$$C + O_2 \;=\; CO_2 \;+\; 49{,}900 \text{ क०}$$
$$C + \tfrac{1}{2}O_2 \;=\; CO \;+\; 26{,}000 \text{ क०}$$
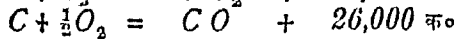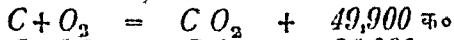
यह बात ध्यान देने योग्य है कि कार्बन की दहन-उष्मा ९४,३०० कलरी है, २६,००० कलरी नहीं, क्योंकि प्रथम क्रिया में ही कार्बन पूर्णतया जलता या आक्सीकृत होता है। दूसरी क्रिया में कार्बन, कार्बन मोनोक्साइड में परिवर्तित हो गया है, परंतु अभी उसका दहन पूर्ण नहीं हुआ क्योंकि कार्बन मोनोक्साइड का और दहन करके उसे कार्बन डाइऑक्साइड में आक्सीकृत किया जा सकता है।

दहन-उष्मा ज्ञात करने के लिये एक विशेष प्रकार के कलरीमापक का उपयोग किया जाता है जिसे बम-कलरीमापक (बॉम्ब कैलोरिमीटर) कहते हैं। वैज्ञानिक बरथेलो ने इसे सर्वप्रथम १८८१ में बनाया था। यह गनमेटल इस्पात का बना रहता है और बेलन के आकार का होता है। इसके आंतरिक तल पर एक विशेष प्रकार का इनामल चढ़ा रहता है, जिससे उसपर ऑक्सिजन की कोई क्रिया नहीं होती। ढक्कन ढ को दृढ़ता से बंद करने के लिये इसमें मजबूत पेंच लगे रहते हैं। जिस पदार्थ की दहन-उष्मा निकालना हो उसकी एक निश्चित मात्रा प्लैटिनम की प्याली 'प' में ले ली जाती है और बम में लगभग २०–२५ वायुमंडलीय दाब पर ऑक्सिजन भर लेते हैं। इसके बाद बम को दृढ़ता से बंद करके उसे साधारण कलरीमापक में रखते हैं। साधारण कलरीमापक में जल की एक निश्चित मात्रा ले ली जाती है और प्रयोग द्वारा पहले ही यह निर्धारित कर लिया जाता है कि इस कलरीमापक में जल के ताप को १° सेंटीग्रेड बढ़ाने के लिये कितनी उष्मा की आवश्यकता होती है। बाह्य कलरीमापक में जल का ताप नाप लिया जाता है। अब प्लैटिनम के तारों अ तथा अ द्वारा लोहे के एक महीन तार त में विद्युत् प्रवाहित करते हैं। विद्युत्प्रवाह से तार त गरम होकर लाल हो जाता है और इससे प्याली प में रखा पदार्थ आक्सीकृत होने लगता है। लोहे के तार के जलने में तथा आक्सीकरण की इस क्रिया में उष्मा क्षेपित होती है, जिसकी मात्रा बाह्य कलरीमापक में उपस्थित जल के ताप में वृद्धि से ज्ञात कर ली जाती है। इस प्रयोग से प्राप्त उष्मा-मात्रा में से लोहे के ज्वलन में क्षेपित उष्मा को घटाकर पदार्थ के दहन द्वारा क्षेपित उष्मा की मात्रा ज्ञात की जा सकती है। स्पष्ट है कि इस प्रयोग में मंडल का आयतन स्थिर रहता है; अतएव इस विधि से किसी पदार्थ की दहन-उष्मा निर्धारित की जा सकती है।
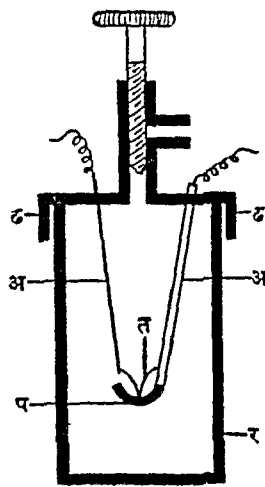
चित्र १. बरथेली का बम-कलरीमापक

शिथिलीकरण-उष्मा—एक ग्राम-तुल्य मात्रा क्षार को एक ग्राम-तुल्य मात्रा अम्ल द्वारा शिथिल (न्यूट्रैलाइज) करने पर उष्मा की जो मात्रा क्षेपित होती है उसे शिथिलीकरण-उष्मा कहते हैं। यदि अम्ल तथा क्षार इतने तनु विलयनों में लिए जायं कि वे पूर्णतया आयनों में विघटित हों तो शिथिलीकरण की क्रिया केवल हाइड्रोजन तथा हाइड्रॉक्सिल आयनों के संयोग से अविघटित जल अणु बनने की क्रिया होगी। अतएव तनु विलयनों में सब प्रबल (स्ट्रॉङ्ग) अम्लों द्वारा प्रबल क्षारों के शिथिलीकरण की उष्मा समान होगी। प्रयोग द्वारा इस उष्मा का मान १३,७०० कलरी आता है। अतः प्रबल अम्लों द्वारा प्रबल क्षार के शिथिलीकरण को निम्नलिखित समीकरणों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :

$$HX + MOH = MX + H_2O$$
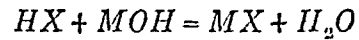
अम्ल क्षार लवण

जहाँ X कोई मूलक है और M कोई धातु है,

अर्थात् $H^+ + X^- + M^+ + OH^- = MX + H_2O$

अर्थात् $H^+ + OH^- = H_2O$
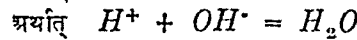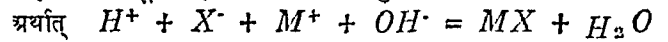
परंतु यदि अम्ल या क्षार दुर्बल हो, तो वह तनु विलयन में भी पूर्णतया विघटित न होगा। अतएव ऐसे अम्लों या क्षारों की शिथिलीकरण उष्मा १३,७०० कलरी न आएगी। उदाहरण के लिये अमोनियम हाइड्रॉक्साइड की आयनीकरण-उष्मा (१ ग्राम-अणु के आयनीकरण की उष्मा) –१,५०० कलरी है, अतएव अमोनियम हाइड्रॉक्साइड तथा किसी प्रबल अम्ल (जैसे हाक्लो) की शिथिलीकरण उष्मा (१३,७००–१,५००) = १२,२०० कलरी होगा।

प्रयोग द्वारा शिथिलीकरण उष्मा को निर्धारित करने के लिये साधारणतः एक थरमस फ्लास्क या ड्यूअर फ्लास्क का उपयोग किया जाता है। ड्यूअर फ्लास्क में क्षार के तनु विलयन की एक निश्चित मात्रा लेकर फ्लास्क को स्थिर तापवाले जल में डुबाकर रखते हैं, जिससे विकिरण (रेडिएशन) द्वारा फ्लास्क के भीतर विलयन के ताप में अंतर न हो। अब तनु विलयन में अम्ल की समतुल्य मात्रा लेकर उसका ताप क्षार के ताप के बराबर स्थिर कर लेते हैं। अम्ल का ताप स्थिर हो जाने पर उसे शीघ्रता से क्षार में मिला देते हैं। कांच के एक विलोडक (स्टरर) द्वारा विलयन को चलाकर उसका उच्चतम ताप नाप लिया जाता है। अब यदि मिश्र विलयन की मात्रा, उसकी विशिष्ट-उष्मा (स्पेसिफिक हीट), ताप, प्रयुक्त फ्लास्क की उष्माधारिता (हीट-कैपैसिटी) ज्ञात हो, तो शिथिलीकरण क्रिया में क्षेपित उष्मा की मात्रा सुगमता से ज्ञात की जा सकती है। इसी विधि द्वारा लवणों की विलयन-उष्मा भी सुगमता से निकाल सकते हैं।

हेस का नियम—उष्मा-रसायन का सबसे प्रमुख नियम स्विस वैज्ञानिक जरमेन हेनरी हेस ने सन् १८४० में प्रतिपादित किया था। इस नियम के अनुसार किसी रासायनिक क्रिया में क्षेपित या शोषित उष्मा की मात्रा मध्यवर्ती क्रियाओं पर निर्भर नहीं रहती, अर्थात् एक ही क्रिया को यदि एक से अधिक विधियों द्वारा पूरा किया जा सके, प्रतिकारक तथा क्रियाफल प्रत्येक क्रिया में पूर्णतया एक हों और उन सबकी अवस्थाएँ भी समान हों, तो विभिन्न विधियों में जो कुल उष्मा-परिवर्तन होगा, वह हर एक विधि के लिये समान होगा।
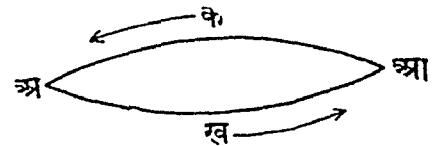
चित्र २.

इस नियम की सत्यता संलग्न चित्र २. से स्पष्ट है। मान लें, पदार्थ 'अ' को आ में परिवर्तित करने के लिये मार्ग आ क अ तथा आ ख अ द्वारा जाने पर क्रमानुसार $क_1$ तथा $क_2$ कलरी उष्मा क्षेपित होती है। यदि $का_1$ क

मान $क_2$ से अधिक है, तो मार्ग आ क अ द्वारा आ को अ में परिवर्तित कर और पुनः अ को आ में मार्ग अ ख आ द्वारा बदलकर ($क_1$–$क_2$) कलरी उष्मा उत्पादित की जा सकती है। परंतु यहऊर्जा–अविनाशता नियम के विरुद्ध होगा, क्योंकि बिना किसी कार्य के मंडल (सिस्टम) में उष्मा उत्पादित करना असंभव है; अर्थात् ($क_1$–$क_2$) का मान सदैव शून्य होगा; अतः $क_1$ सदैव $क_2$ के बराबर होगा।

इस नियम को सत्यता देखने के लिये निम्नांकित उदाहरण को ले सकते है। अमोनिया तथा हाइड्रोजन क्लोराइड गैसों की प्रतिक्रिया से अमोनियम क्लोराइड विलयन दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है :

प्रथम विधि

NH_3(गैस) + HCl(गैस) = NH_4Cl(गैस) + 42,100 क०

NH_4Cl(गैस) + जल = NH_4Cl(जलीय) − 3,900 क०

NH_3(गैस) + HCl(गैस) + जल = NH_4Cl(जलीय) + 3 ,200 क०

द्वितीय विधि

NH_3(गैस) + जल = NH_3 (जलीय) + 8,400 क०

HCl(गैस) + जल = HCl(जलीय) + 17,500 क०

NH_3(जलीय) + HCl(जलीय) = NH_4Cl(जलीय) + 12,300 क०

NH_3(गैस) + HCl(गैस) + जल = NH_4Cl(जलीय) 38,200 क०
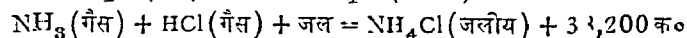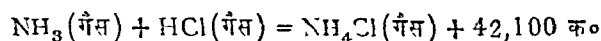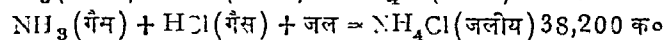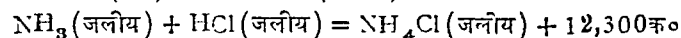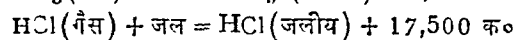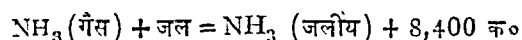
उपर्युक्त उदाहरण मे हेस के नियम की सत्यता स्पष्ट हो जाती है।

हेस का नियम उष्मा-रसायन में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसकी सहायता से प्रत्यक्ष रूप से न की जा सकनेवाली प्रतिक्रियाओं में होनेवाले उष्मा-परिवर्तनों को भी परोक्ष रूप से निकाला जा सकता है। उदाहरण के लिये साधारणतः कार्बनिक यौगिकों को उत्पादन-उष्मा प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा नहीं निकाली जा सकती, परंतु कार्बनिक यौगिक तथा इसके अवयव तत्वों की दहन-उष्मा को निर्धारित करके यौगिक की उत्पादन-उष्मा हेस के नियम से निकाल सकते हैं।

उदाहरण के लिये मेथेन, कार्बन तथा हाइड्रोजन की दहन-उष्मा क्रमानुसार २,१२,८००; ९४,४०० तथा ६८,४०० कलरी आती है, अर्थात्

$CH_4 + 2O_2 = CO_2 + 2H_2O + 2,1 ,800$ क०

$C + O_2 = CO_2 +$ 94,300 क०

$H_2 + \frac{1}{2}O_2 = H_2O +$ 68,400 क०
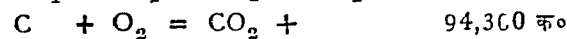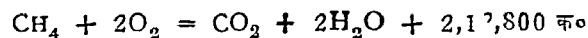
द्वितीय समीकरण में तृतीय समीकरण का दुगुना जोड़कर प्रथम समीकरण को घटाने पर निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होगा :

$$C + O_2 + 2H_2 + O_2 - CH_4 - 2O_2 = CO_2 + 2H_2O - CO_2 - 2H_2O + (94{,}300 + 2 \times 68{,}400 - 2{,}1\ ,8000)$$

अर्थात् $C + 2H_2 = CH_4 + 18,300$ क०
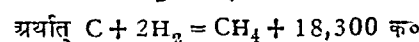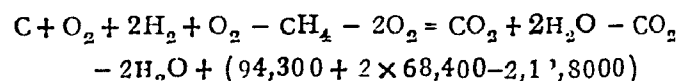
उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मेथेन की उत्पादन-उष्मा १८,४०० कलरी है। इस प्रकार हेस के नियम के अंतर्गत उष्मारासायनिक समीकरणों को गणित के समीकरणों की भाँति गुणा कर, विभाजित कर, जोड़कर या घटाकर अभीष्ट प्रतिक्रिया का समीकरण तथा उस क्रिया में होनेवाले उष्मा-परिवर्तन के मान का पता लगा लेते हैं।

तालिका १

प्रत्यक्ष संश्लेषण विधि से कुछ पदार्थों की उत्पादन-उष्मा

यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु	यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु
H_2O (द्रव)	−६८.३१७ ± ०.०१०	HFl (गैस)	−६४·२
CO_2 (गैस)	−९४.०५२ ± ०.०११	HCl (गैस)	−२२·०६३ ± ०·०१२
SiO_2 (क्वार्ट्ज)	−२१०.३ ± ०.३	BCl_3 (गैस)	−९७·५ ± ०·३
Al_2O_3	−४००.३ ± ०.३	HBr (गैस)	−८·७०७ ± ०·१३०
SiO_2	−१३८.८ ± ०.१	Ti_3Br_4(द्रव)	−१४८·१ ± ०·३
ThO_2	−२९३.२ ± ०.२	AlN	−५७·४ ± १·३

तालिका २

परोक्ष विधियों से प्राप्त कुछ पदार्थों की उत्पादन-उष्मा

यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु	यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु
EtCl (गैस)	−२६·२ ± ०·५	Si(OEt)	−३३०·२
EtBr (गैस)	−१५·३ ± ०·५	CH_3COCl	−६५·१
CH_4 (गैस)	−१७·८८९	CH_3CONH_2	−७८·७
C_2H_6 (गैस)	−२०·३२६	CH_3COOEt	−११४·६
C_6H_6 (गैस)	१९·८२	$CdMe_2$	१६·७ ± ०·५
BCl_3 (द्रव)	−१०·२६	$HgPh_2$	६५·४ ± २

उष्मारसायन के औद्योगिक उपयोग—रासायनिक क्रियाओं से प्राप्त ऊर्जा ही हमारे उद्योगों को चलाने का साधन रही है। आज कृत्रिम उपग्रह के युग में जब मानव चंद्रमा तथा अन्य ग्रहों की यात्रा में प्रयत्नशील है तो ऐसे ईंधनों की खोज आवश्यक हो गई है जिनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म मात्रा अधिकतम ऊर्जा दे सके। बोरन यौगिक इस ओर बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं, क्योंकि समान मात्रा में कार्बन यौगिकों से उनकी दहन-उष्मा अधिक होती है और वे हमें अधिक ऊर्जा देने में सफल होते हैं।

उष्मारसायन के अन्य उपयोग बहुत काल से होते आए हैं। उदाहरण के लिये प्रथम तालिका में ऐल्यूमिनियम ऑक्साइड की उत्पादन-उष्मा सबसे अधिक दिखाई गई है। इसी गुण का उपयोग गोल्डश्मिट की उष्मन विधि (थर्मिट प्रोसेस) में किया गया है। ऐल्यूमिनियम ऑक्साइड की उत्पादन-उष्मा इतनी अधिक होने के कारण प्रतिक्रिया,

$$8\,Al + 3\,Fe_3O_4 \rightarrow 9\,Fe + 4\,Al_2O_3$$
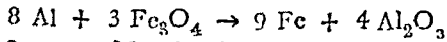
में इतनी अधिक उष्मा क्षेपित होती है कि मंडल का ताप लगभग ३,०००° सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता है और लोहा तक पिघल जाता है। इस प्रकार टूटी हुई रेल की पटरियों या भारी मशीनों के टूटे हुए भागों को उपर्युक्त क्रिया की सहायता से पिघलाकर जोड़ा जा सकता है। (रा० च० मे०)

उसमान अथवा मान (कवि) हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य 'चित्रावली' (सूफी विचारधारा पर आधृत) के रचयिता। इसके अतिरिक्त इनकी किसी अन्य रचना का उल्लेख नहीं मिलता। इनके जन्म और मृत्यु का भी ठीक ठीक पता नहीं है किंतु कवि ने स्वयं चित्रावली का रचनाकाल १०२२ हिजरी (१६१३ ई०) दिया है।

सन सहस्र बाइस जब अहे। तब हम बचन चारि एक कहे ॥
(चित्रावली, छंद ३३)

साथ ही उक्त रचना में शाहेवक्त की प्रशंसा में जहाँगीर का भी नाम मिलता है और जहाँगीर का शासनकाल सन् १६०५ ई० से १६२७ ई० है। अतः उसमान निश्चित रूप से १७वीं शताब्दी (ईसवी) में विद्यमान थे। चित्रावली में प्राप्त अन्य विवरणों के अनुसार उसमान गाजीपुर के रहनेवाले थे और इनके पिता का नाम शेख हुसेन था। इनके चार भाई थे, एक का नाम शेख अजीज था जो बहुत बड़े विद्वान् तथा दानी थे। दूसरे भाई इमानुल्लाह (मानुल्लाह) योगसाधना में लीन रहते थे। तीसरे शेख फैजुल्लाह (फंजुल्लह) बहुत बड़े योद्धा और चौथे भाई शेख हसन जाने माने संगीतज्ञ थे।

उसमान ने अपनी कृति में अपने दो गुरुओं का भी उल्लेख किया है—नारनौल के शाह निजाम चिश्ती और बाबा हाजी। चिश्तिया संप्रदाय के इतिहास में शेख निजाम की मृत्यु सन् १५६१ ई० में उल्लिखित है और उनका मजार भी नारनौल में वर्तमान है। अतः बहुत संभव है कि उसमान ने गुरु के रूप में उन्हीं का नाम लिया हो। दूसरे गुरु बाबा हाजी कौन हैं, इसका पता नहीं चलता। हो सकता है, चिश्तिया संप्रदाय से संबद्ध ये गाजीपुर के कोई स्थानीय संत रहे हों।

हिंदी के सूफी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी के बाद उसमान का ही नाम आता है। हालाँकि जायसी की नाईं ये सूफी साधक नहीं थे, तो भी सूफी मत से प्रभावित अवश्य थे। चित्रावली में नेपाल नरेश धरनीधर के पुत्र कुँवर और रूपनगर के राजा चित्रसेन की कन्या चित्रावली के प्रेम तथा विवाह का हृदयग्राही वर्णन है जिसे प्रस्तुत करने में कवि ने अनेक भारतीय कथानक रूढ़ियों का ही जमकर उपयोग नहीं किया है बल्कि अपनी बहुज्ञता के आधार पर तत्कालीन समाज, रस्मरिवाज, उत्सव, अनुष्ठान आदि का भी उसने सुंदर चित्रण किया है। कृति में पद पद पर कवि की काव्यप्रतिभा, वाग्वैदग्ध्य तथा रचनाकौशल का परिचय मिलता है। (कैं० चं० श०)

उसमान (खलीफा) मुसलमानों में 'हजरत उसमान गनी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि 'गनी' उपाधि इन्हें खुद खुदा ने अता की थी। हजरत मुहम्मद साहब के पश्चात् ये तीसरे व्यक्ति थे जिन्हें 'खिलाफत' (काबे में नमाज पढ़ने का कार्य) का अधिकार मिला था। इन्हें 'जामे उल कुरान' (कुरान का संग्रहकर्ता) की उपाधि भी प्राप्त थी क्योंकि मुसलमानों के विश्वास के अनुसार मुहम्मद साहब जब इल्हाम की हालत में होते थे तो खुदा का संदेश उन्हें मिलता था, जिसे उनके मित्र तुरंत तख्तियों या पत्तों पर लिख लेते थे। इन्हीं संदेशों को बाद में उसमान ने व्यवस्थित किया और कुरान के रूप में दुनिया के सामने रखा। उसमान की शालीनता, उदारता तथा सहिष्णुता से संबंधित अनेक कहानियाँ मुसलमानों में आज भी प्रचलित हैं। (कैं० चं० श०)

ऊजमाल मेक्सिको का एक नगर है जो यूकटान प्रांत में मेरिडा से ६० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह प्राचीन नगर पूर्व-ऐतिहासिक काल में माया राज की राजधानी था। यहाँ नगर के प्राचीन गौरव के सूचक मंदिर, मीनार तथा अन्य बहुत से भग्नावशेष अब भी पाए जाते हैं। पुरातत्व के अन्वेषण एवं अध्ययन के लिये यहाँ पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। नगर तुतुलएक्सस्यू जाति के काल (१००० ई०) में बहुत उन्नति पर था। माया राज्य के पतन के साथ इस नगर का भी पतन हो गया। (हृ० हृ० सिं०)

ऊटाह ३७° और ४२° उ० अ० तथा १०१°–३' और ११४°–३' प० दे० के बीच संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भागों में स्थित एक पर्वतीय राज्य है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल ८४,९१६ वर्ग मील है, जिसमें से २,५७० वर्ग मील जलाशय है। १९६९ ई० की जनगणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या १०,६८,००० थी। इसकी आधे से अधिक जनसंख्या नगरों में रहनेवाली है।

भौतिक दृष्टि से इसको पश्चिम की वृहत् उपत्यका तथा पूर्व के पठारी भागों में बाँटा जा सकता है। कई शताब्दी पूर्व यह वृहत् उपत्यका १९,००० वर्ग मील क्षेत्र में जलमग्न थी। इसे भूतत्ववेत्ता बोनेविले झील कहते हैं। पर्वतों के किनारे पर अब भी सागरतट से अलग अलग १७ स्तर स्पष्ट-दृष्टिगोचर होते हैं। इसके पूर्वी भागों में, जहाँ वौसैच पर्वतों में प्रवाहित सरिताओं से सिंचाई संभव है, सबसे घनी आबादी पाई जाती है। इस क्षेत्र की सरिताएँ सागरतट तक नहीं पहुँच पातीं। ये खारे पानी की झीलों में परिणत हो जाती हैं या वाष्पीकरण के कारण शुष्क हो जाती हैं। ग्रेट साल्ट लेक इस क्षेत्र की सबसे बड़ी खारे पानी की झील है।

वौसैच पर्वतों के पूर्व में सरिताओं द्वारा कटा फटा पठारी भाग है, जिसके उत्तर में युइंटा पर्वत है। यह ऊटाह का सर्वोच्च पर्वत तथा संयुक्त राज्य में पूर्व-पश्चिम दिशा में विस्तृत अकेला पर्वत है। किंग्स पीक (१३,४९८) इस राज्य की सर्वोच्च चोटी है। युइंटा के दक्षिण में पठार की अधिकतम ऊँचाई ९,००० से ११,००० फुट तक है। यद्यपि ये क्षेत्र वनस्पति से आच्छादित हैं फिर भी आबादी के लिये काफी ऊँचे हैं। यहाँ पठारों के बीच, नदी घाटियों में ही आबादी पाई जाती है।

१९७१ ई० में ३९.३ प्रतिशत भूमि पर कृषि होती थी। यह पूर्ण रूप से सिंचाई पर ही आश्रित थी। इस प्रदेश की मुख्य फसलें गेहूँ, जौ, जई, आलू, चुकंदर तथा अल्फाल्फा घास हैं। ऊटाह का पाँच खनिज पदार्थों—ताँबा, सीसा, चाँदी, सोना और जस्ता—के उत्पादन में उच्च स्थान है। संयुक्त राज्य में ताँबा और चाँदी के उत्पादन में इसका द्वितीय, सोना और सीसा में तृतीय तथा जस्ते के उत्पादन में सातवाँ स्थान है। १९५० ई० के बाद मिसिसिपि से पश्चिम सभी राज्यों में ऊटाह का स्थान कोयले के उत्पादन में भी उच्च रहा है। इनके अतिरिक्त यहाँ नमक, जिप्सम और यूरेनियम भी निकाला जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद यहाँ औद्योगिक प्रगति बड़ी तेजी से हुई। १९४७ में यहाँ ७७२ औद्योगिक संस्थान थे, जिसमें १३,८४३ मनुष्य कार्य करते थे। खाद्य पदार्थों से संबंधित उद्योगों के बाद यहाँ धातु उद्योग का द्वितीय स्थान है। धातु उद्योग में सबसे महत्वपूर्ण लोहा-इस्पात-उद्योग है, जिसका उत्पादन १९५० ई० में १८,००,००० टन था। इसके अलावा और दूसरे उद्योग, जैसे पेट्रोलियम, रासायनिक पदार्थ, शीशे के सामान

और मशीनों के उद्योग यहाँ स्थापित हैं। १९७० में यहाँ १०,६०,००० भेड़ें, १,३५,००० दुधारू गाएँ, ८,४०,००० ढोर तथा ५६,००० सुअर थे।

यूनियन पैसिफिक रेलवे इस क्षेत्र की प्रथम रेलवे है तथा अब भी महत्वपूर्ण है। इसकी शाखाएँ प्राय: सभी खनिज और व्यावसायिक केंद्रों को मिलाती है। १९७१ ई० में यहाँ ३,००० मील लंबी रेलवे लाइनें, ३८,००० मील लंबी सड़कें तथा ८९ हवाई अड्डे थे। (सु० कु० सिं०)

ऊतक सृष्टि के समस्त सजीव प्राणियों, जंतुओं एवं वनस्पतियों की संरचनात्मक ईकाई (structural unit) कोशिका (cell) होती है। सत्रहवीं शताब्दी में राबर्ट हुक ने कोशिका की संरचना का वर्णन किया था। तब से लेकर लगभग १५० वर्षों तक इस विषय पर अनुसंधान होते रहे। इसी प्रसंग में सन् १८२४ में आर० जे० एच० ड्यूट्रोशे (R. J. H. Dutrochet) ने ऊतकों से संबद्ध कुछ अध्ययन किए थे। अपना मत व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है : "जंतुओं के सभी सावयवी ऊतक (organic tissues) अत्यधिक छोटी छोटी गुलिकाकार (globular) एवं संसंजन (cohesion) द्वारा परस्पर जुड़ी कोशिकाओं द्वारा बने होते हैं। इस प्रकार, जंतुओं और वनस्पतियों के सभी अंग वास्तव में विविध प्रकार से रूपांतरित कोशिकीय ऊतक (cellular tissue) मात्र ही होते हैं।"

उद्विकास के क्रम में एककोशिकीय जीवों से बहुकोशिकीय जीवों की उत्पत्ति हुई। कोशिकाविभाजन (cell division) के फलस्वरूप कोशिकाओं के संरचनात्मक एवं शरीरक्रियात्मक (structural and physiological) रूपों में विशेषता आती गई और उनके समुच्चय (aggregate) से ऊतक, ऊतकों से अंगप्रत्यंग और अंगप्रत्यंगों से युक्त विविध प्रकार के जटिल जीवों की उत्पत्ति होती गई। ऊतकों की सभी कोशिकाएँ प्राय: आकृति, आकार तथा कार्य में एक जैसी होती और परस्पर सहयोग से कार्य करती हैं। इनके संघटित रहने के कारण इनका जीवन टिकाऊ और कार्य में दक्षता (efficiency) आती है। इन कोशिकाओं में ऐसी व्यवस्था होती है कि ये विशेषीकृत कार्यों का अत्यंत कौशल से संपादन करती है।

ऊतक की परिभाषा करते हुए यह बतलाया गया है कि "यह एक जैसी अनेक विशेषीकृत कोशिकाओं का समुच्चय होता है, जो कतिपय जटिल कार्य संपादित करती हैं। ये कोशिकाएँ समूहों (groups) अथवा स्तरों (layers) के रूप में पाई जाती हैं और विशिष्ट कार्यों का संपादन करती हैं। आपस में ये एक प्रकार के स्त्रवित अंतर्कोशिकीय पदार्थ द्वारा जुड़ी रहती हैं। ऊतकों की संरचना कुछ इस प्रकार की होती है कि इनके द्वारा निर्मित अंग परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं।

इन ऊतकों से विशेष प्रकार के कार्य संपादित होते हैं, जैसे सुरक्षा, भोजन का पाचन, पेशियों का संकोचन इत्यादि। रक्त, अस्थि, मांसपेशी, कार्टिलेज, वसा, तंत्रिकाओं आदि की गणना मुख्य ऊतकों में होती है। कार्य की दृष्टि से ऊतकों के निम्नलिखित चार मुख्य प्रकार बतलाए गए हैं।

१–इपीथीलियमी ऊतक (epithelial tissues)
२–योजक ,, (connective tissues)
३–पेशीय ,, (muscular tissues)
४–तंत्रिकीय ,, (nervous tissues)

इपीथीलियमी ऊतक––इपीथीलियमी ऊतकों को कभी कभी आवरक या रेखीय (covering or lining) ऊतक भी कहते हैं। इनका न्यास (arrangement) इस प्रकार का होता है कि इससे किसी गुहा (cavity) को रेखा (lining) या मुक्त सतहों (free surfaces) का आवरण (covering) बन जाता है। इपीथीलियमी ऊतक एक या अनेक कोशिकास्तरों (cell layers) द्वारा बने होते हैं। जैसे, त्वचा एवं पाचक नलिका (digestive tract) के ऊतक इपीथीलियमी ऊतक होते हैं। ये कोशिकाएं दृढ़तापूर्वक संघटित (rigidly compact) और एक अंतर्कोशिकीय आसंजन (adhesion) द्वारा परस्पर जुड़ी तथा अक्सर एक आधारीय झिल्ली (basement membrane) पर स्थित होती हैं।
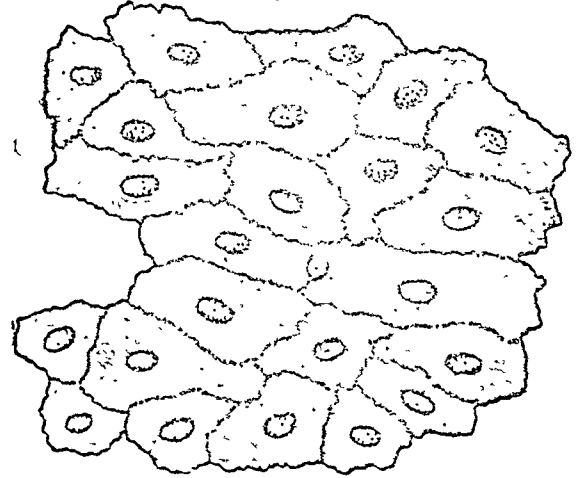
चित्र १. इपीथीलियमी ऊतक

इपीथीलियम ऊतक शरीर की अन्य कोशिकाओं द्वारा स्रवित रस द्रव्यों का चूषण (absorption) तथा अनेक प्रकार के तरलों का स्रावण (secretion) अथवा उत्सर्जन करते हैं। गर्भस्थ भ्रूण की प्राणप्रतिष्ठा के साथ जब अंगप्रत्यंगों की उत्पत्ति होने लगती है तो प्रथम ऊतक इपीथीलियमी ऊतक ही होते हैं। ये ऊतक बाह्यत्वचा तथा अंतस्त्वचा के रूप में प्रकट होते हैं। कोशिकाओं के एक स्तरवाले ऊतक को सरल तथा एकाधिक स्तरोंवाले ऊतक को स्तरित (stratified) ऊतक कहते हैं। बाह्यत्वचा की कोशिकाओं के तल पर सूक्ष्म खाँच (grooves) या कटक (ridges) पाए जाते है, जिनके कारण अंतर्कोशिकीय सेतु (intercellular bridges) अथवा अंतर्शाखाएँ (interdigitations) बन जाती है जिनकी आकृति अंगुलियों की भाँति होती है। प्रत्येक सेतु में परस्पर सटी हुई दो भुजाएं होती हैं, जो एक कोशिका से दूसरी तक फैली रहती है। संरचना, आकृति तथा विन्यास के आधार पर इन ऊतकों को कई प्रकारों में विभक्त किया गया है।

योजक ऊतक––इन्हें आधारक (supportive) ऊतक भी कहते हैं। इस प्रकार के ऊतक अंगों के बीच के रिक्त स्थानों को भरते, शरीर के विभिन्न भागों को एक दूसरे से मिलाते, और उन्हें परस्पर जोड़ते हैं।
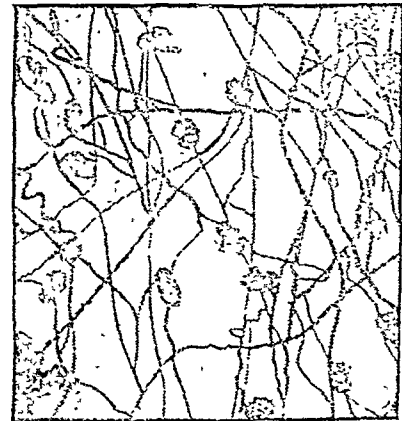
चित्र २. अवकाशी ऊतक

इन ऊतकों में एक विशेष प्रकार का अंतर्कोशिकीय पदार्थ अथवा मैट्रिक्स (matrix) पाया जाता है। यह पदार्थ इन कोशिकाओं द्वारा ही उत्पन्न

किया जाता है और बहुत दृढ़ होता है। योजक ऊतक की कोशिकाएँ संगठित न होकर बिखरी रहती है। इस ऊतक की विशेषता यह है कि इसकी कोशिकाएँ तो सजीव, किंतु मैट्रिक्स निर्जीव होता है। यहां निर्जीव पदार्थ अन्य ऊतकों को परस्पर बाँधे रहता है। इन कोशिकाओं की उत्पत्ति भ्रूण की मेसेन्काइमी (mesenchyme) कोशिकाओं से होती है, जिनमें आरोहक जीवद्रव्यीय प्रवर्ध (protoplasmic processes) उगे रहते है। संयोजी ऊतक भी कई प्रकार के होते हैं। चित्र २, ३ और ४ में विभिन्न प्रकार के संयोजी ऊतक दिखाए गए हैं।
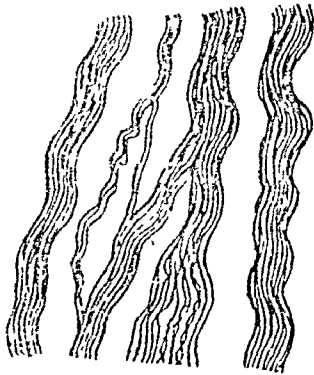
चित्र ३. तांतव ऊतक

पेशीय ऊतक—पेशियों का निर्माण ऐसी कोशिकाओं द्वारा हुआ होता है, जो आवश्यकता पड़ते ही तत्काल सिकुड़ जाती हैं। ये कोशिकाएँ लंबी लंबी, रेशों की आकृति की, होती है। उत्तेजना प्राप्त होने पर ये किसी भी दिशा में मुड़ सकती हैं। पेशी की कोशिकाएँ स्रवण कार्य नही करती और वे संयोजी ऊतक द्वारा परस्पर जुड़ी रहती है। पेशीय ऊतक तीन प्रकार के होते हैं: स्तरित, अनस्तरित तथा हार्दिक। स्तरित ऊतक (striated tissue) को स्वैच्छिक (voluntary), पट्टीदार (striped) या कंकालीय (skeletal) पेशी ऊतक भी कहते हैं। स्तरित पेशीय रेशे बहुत लंबे, बेलनाकार होते और सार्कोलिमा (sarcolemma)

चित्र ४. जालक ऊतक

नामक एक अति पतली भिल्ली द्वारा ढँके रहते हैं। स्तरित पेशी के संकुचनशील रेशों में दो प्रकार के पदार्थ पाए जाते हैं, जिनके कारण ये रेशे गहरी और हल्की पट्टियों से युक्त दिखलाई देते है। अनस्तरित पेशी ऊतक को चिकना पेशी रेशा भी कहते है। इन रेशों की कोशिकाएँ तकुवे (spindle) की आकृति की होती है। अनस्तरित पेशी अधिक आदिम (primitive) प्रकार की मानी जाती है। कशेरुकीय जंतुओं में यह मुख्यतया मूत्राशय, पाचन नाल, श्वासनली की दीवालों आदि में पाई जाती है। इन्हें अनैच्छिक (involuntary) पेशी भी कहते हैं। स्तरित पेशी उन स्थानों पर पाई जाती है जहां तीव्र गति की आवश्यकता होती है। जैसे तेजी से उड़नेवाले कीड़ों के पंखों में ऐसी पेशियाँ अत्यधिक विकसित होती है। हार्दिक पेशी (cardiac muscle) केवल हृदय (heart) की दीवालों में पाई जाती है। यह विशेष प्रकार की पट्टीदार पेशी होती है, जिसके रेशे शाखायुक्त होते तथा इनकी प्रशाखाएँ समीपवर्ती रेशों की शाखाओं से जुड़ी रहती हैं।

तंत्रिकीय ऊतक—तंत्रिकीय ऊतक की कोशिकाएँ अति उत्तेजनशील (irritable) होती हैं। उच्चतर जंतुओं में तंत्रिकातंत्र अतिविकसित अवस्था में होता है। तंत्रिकातंत्र (nervous system) तंत्रिका ऊतक द्वारा बना होता है। इस ऊतक की कोशिकाएँ तंत्रिका कोशिकाएँ (cells) कहलाती हैं। इन कोशिकाओं में रेशे होते हैं। तंत्रिकाएँ समस्त शरीर में फैली रहती है और इनमें न्यूरानों (neurons) की शृंखलाएँ (chains) पाई जाती हैं। तंत्रिका रेशे कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) द्वारा बने तथा एक कोशिका झिल्ली (cell membrane) द्वारा ढके रहते है। कुछ रेशों की लंबाई तीन फुट तक होती है, जैसे स्पाइनल कार्ड से निकलकर हाथ या पैर तक फैला रेशा तीन फुट से भी अधिक लंबा होता है। तंत्रिका रेशे दो प्रकार के होते हैं: ऐक्सन और डेंड्राइट। ऐक्सन कोशिका संवेदनाओं को दूर ले जाती और डेंड्राइट बाहरी संवेदनाओं को कोशिका तक ले आती है। (रा० सि०)

ऊतक परीक्षा निदान के लिये जीवित प्राणियों के शरीर से ऊतक (टिशू) को अलग कर जो परीक्षण किया जाता है उसे ऊतक परीक्षा (बाइऑप्सी) कहते हैं। अर्बुद के निदान की अन्य विधियां उपलब्ध न होने पर, संभावित ऊतक के अपेक्षाकृत एक बड़े टुकड़े का सूक्ष्म अध्ययन ही निदान की सर्वोत्तम रीति है। शल्य चिकित्सा में इसकी महत्ता अधिक है, क्योंकि इसके द्वारा ही निदान निश्चित होता है तथा शल्य चिकित्सक को आंख बंदकर इलाज करने के बदले उचित इलाज करने का मार्ग मिल जाता है।

ऊतक-परीक्षा-विधि रोग के प्रकार और शरीर में उसकी स्थिति पर निर्भर रहती है। जब अर्बुद सतह पर स्थित रहता है तब यह परीक्षा अर्बुद को काटकर की जाती है। किंतु जब वह गहराई में स्थित रहता है तब ऊतक का एक छोटा टुकड़ा पोली सुई द्वारा चूसकर अलग किया जा सकता है। यह 'सुई-उतक-परीक्षण' (नीडिल-बाइऑप्सी) कहलाता है। ऊतक के इस तरह अलग करने के बाद विकृति-विज्ञान-परीक्षक (पैथालॉजिस्ट) उसे हिम के समान जमाकर और उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुप्रस्थ काट लेकर, कुछ मिनटों में ही निदान कर लेता है। स्तनग्रंथि अर्बुद जैसे रोगों में, निदान की तुरंत आवश्यकता होने के कारण, यही विधि उपयोग में लाई जाती है, अन्यथा साधारणतः ऊतक का स्थिरीकरण करके और उसे मुलायम मोम में जमा दिया जाता है। इसके बाद उससे एक इष्टिका (ब्लाक) काट ली जाती है। इस इष्टिका के सूक्ष्म अनुप्रस्थ काट (सेक्शन) लेकर, उन्हें उपयुक्त रंगों से रंजित किया जाता है। इस विधि में साधारणतः एक से लेकर तीन दिन तक लगते हैं।

कुछ चिकित्सक ऊतक परीक्षण के विपक्ष में हैं, क्योंकि उनको यह आशंका है कि ग्रंथियों के काटने से रोग शिराओं तथा लसीका तंत्रों द्वारा फैल जाता है, किंतु यह सिद्ध हो चुका है कि ऊतक परीक्षा द्वारा रोग बढ़ने की संभावना प्रायः नही रहती। (श्री० अ०)

ऊतक विज्ञान या ऊतिकी (Histology) की परिभाषा देते हुए स्टोरर ने लिखा है: "ऊतक विज्ञान या सूक्ष्म शारीर (microscopic anatomy) अंगों के भीतर ऊतकों की संरचना तथा उनके विन्यास (arrangement) के अध्ययन को कहते है।" अंगरेजी का हिस्टोलॉजी शब्द यूनानी भाषा के शब्द हिस्टोस् (histos) तथा लॉजिया (logia) से मिलकर बना है, जिसका अर्थ होता है "ऊतकों (tissues) का अध्ययन।" अतः ऊतक विज्ञान वह विज्ञान है, जिसके अंतर्गत ऊतकों की सूक्ष्म संरचना तथा उनकी व्यवस्था अथवा विन्यास का अध्ययन किया जाता है। 'ऊतक' शब्द फ्रांसीसी भाषा के शब्द टिशू (tissu) से निकला है, जिसका अर्थ होता है संरचना या बनावट (texture)। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रांसीसी शारीर वैज्ञानिक (anatomist) बिशैट (Bichat) ने १८वीं शताब्दी के अंत

में शारीर या शरीर-रचना विज्ञान के प्रसंग में किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक में लगभग बीस प्रकार के ऊतकों का उल्लेख किया है। किंतु, आजकल केवल चार प्रकार के मुख्य ऊतकों (द्र० ऊतक) को मान्यता प्राप्त है, जिनके नाम हैं : इपीथिलियमी (epithelial), संयोजक (connective), पेशीय (muscular) और तंत्रिकीय ऊतक (nervous tissues)।

आदिकाल से ही मनुष्य पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों को उनकी आकृति तथा आकार के द्वारा पहचानता रहा है। विज्ञान के विकास के साथ वनस्पतियों तथा जंतुओं के शरीर के भीतर की संरचना जानने की भी जिज्ञासा उत्पन्न होती गई। इसी जिज्ञासा के फलस्वरूप शल्यक्रिया (surgery) का विकास हुआ। चिकित्सा तथा जीववैज्ञानिकों ने पशु और वनस्पतियों की चीरफाड़ करके उनके अंग की संरचनाओं—अंग प्रत्यंगों—का अध्ययन आरंभ किया। इसी अध्ययन के फलस्वरूप संपूर्ण शारीर (gross anatomy) की उत्पत्ति हुई। इसी के साथ जब सूक्ष्मदर्शी यंत्रों (microscopes) का विकास हुआ तो जटिल आंतरिक संरचनाएँ भी स्पष्ट होती गई। इस सूक्ष्मदर्शीय यांत्रिक अध्ययन को भौतिकी की संज्ञा प्रदान की गई। अतः ब्लूम तथा फॉसेट के शब्दों में "ऊतिकी या सूक्ष्मदर्शी शारीर के अंतर्गत शरीर की वह आंतरिक संरचना आती है जो नंगी आँखों से नहीं दिखलाई देती"।

समस्त सजीव प्राणियों की संरचनात्मक तथा क्रियात्मक (functional) इकाई कोशिका (cell) होती है। इसी कोशिका के अध्ययन को कोशिका विज्ञान (cytology) कहा जाता है। कोशिकाओं के पुंजों (groups) से ऊतकों और ऊतकों से अंगों की रचना होती है। ऊतकों की संरचना का अध्ययन करनेवाले विज्ञान को औतिकी तथा अंगों की संरचना का अध्ययन करनेवाले विज्ञान को शारीर कहते हैं। ऊतिकी तथा कोशिका विज्ञान के अध्ययनों के कारण शरीर के दुर्भेद्य रहस्यों का भेदन होता गया। इन दोनों के संमिलित अध्ययन से ऊतिकी-रोग-विज्ञान (histopathology) का विकास हुआ।

सन् १९३२ में नॉल एवं रस्का ने इलेक्ट्रान माइक्रॉस्कोप का आविष्कार किया, जिससे कोशिकाओं तथा ऊतकों की जटिलतम संरचनाओं का स्पष्टीकरण हुआ। इसी के साथ साथ शरीरक्रियाविज्ञान (physiology) का भी विकास होता गया और नए नए रहस्यों का निरावरण संभव हुआ। इस प्रकार इन तीनों विज्ञानों के संमिलित प्रयास से जीववैज्ञानिक क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति आई है। ऊतिकी और कोशिका-विज्ञान मुख्य रूप से सूक्ष्म संरचनाओं के आकारकीय स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। किंतु जब से एनिलीन रंजकों (aniline dyes) का अन्वेषण हुआ तब से कोशिकाओं की जटिल संरचनाओं का भी ज्ञान प्राप्त होने लगा है। आज सैकड़ों प्रकार के रंजकों का प्रयोग करके सूक्ष्म से सूक्ष्म संरचनाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है। इस प्रकार, ऊतिकी के क्षेत्र में अब रसायनविज्ञान का भी प्रवेश हो गया है। भाँति भाँति के स्थायीकरों (fixatives) के प्रयोग से रंजकों की रासायनिक प्रतिक्रियाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त हो रहा है। जीवद्रव्य (protoplasm), कोशिका द्रव्य (cytoplasm) तथा उनमें और कोशिकाओं के अनेक अंगकों (organelles) की रासायनिक संरचनाओं का ज्ञान अब सर्वसाधारण के लिये सुलभ है। ये अंगक किस प्रकार विशेषीकृत कार्य संपादित करते हैं, यह अब अज्ञात नहीं रह गया है। सूक्ष्म संरचनाओं (microscopic structure) की रासायनिक प्रकृति के अध्ययन को ऊतिकी-रसायन (*histochemistry*) या कोशिकारसायन (cytochemistry) कहा जाता है और अब ऊतिकी तथा ऊतिकीरसायन का एक साथ अध्ययन किया जाता है।

हेलेन डीन के मतानुसार इस प्रकार की अध्ययनविधियों की तीन प्रमुख कोटियाँ हैं : (१) ऊतकों के आंतरिक रासायनिक पदार्थों की, उनके वर्ण की परीक्षा (colour test) की प्रतिक्रियाओं और उनकी प्रकाशिक विशेषताओं (optic characters) की पृष्ठभूमि में पहचान (identification)। ये विधियाँ सामान्यतया गुणात्मक (qualitative) ही होती हैं, संख्यात्मक (quantitative) नहीं। इसका कारण यह है कि इन विधियों से रासायनिक पदार्थों के विस्तार (distribution) का ही पता चलता है, उनकी सांद्रता (concentration) कितनी है, इसका ज्ञान नहीं हो पाता। (२) लिंगरस्ट्रोम तथा लैंग द्वारा विकसित अनस्थायीकृत (unfixed) तथा आलग्न विच्छेदों (frozen sections) की जैवरासायनिक क्रियाओं (biological activities) की माप इस विधि की दूसरी विशेषता है। (३) अंत में, इस विधि द्वारा यह पता लगाया जाता है कि कोशिकाओं के एकल घटकों (isolated constituents) की क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इस विधि को बेन्स्ले ने विकसित किया था। इसके अंतर्गत कोशिकाओं के केंद्रकों (nuclei), माइटोकॉन्ड्रिया (mitochondria) स्रावी कणिकाओं (secretory granules) आदि को पृथक् करके उनकी रासायनिक तथा एंजाइमी (enzymatically) परीक्षाएँ की जाती हैं।

बेली की ऊतिकी विषय पर लिखी पुस्तक में ऊतक विज्ञान के साथ ही कोशिका वैज्ञानिक अध्ययन पर भी बल दिया गया है। बेली के मतानुसार, "चूँकि ऊतक-विज्ञान संरचना संबंधी अध्ययन (structural science) है और विच्छेदन (dissection) द्वारा प्राप्त शरीररचना संबंधी ज्ञान की पूर्ति करता है, अतः इसके शरीर-क्रिया-विज्ञान (physiology) तथा रोगविज्ञान (pathology) से घनिष्ठ संबंध पर भी बल देना आवश्यक है।" (बेलीज टेक्स्ट बुक ऑव हिस्टोलॉजी, संशोधक विल्फ्रेड एम० कोपेनहावर एवं डोरोथी डी० जॉनसन, विलिअम्स ऐंड विल्किन्स कं०, बाल्टीमोर, १४वीं आवृत्ति, १९५८)। इनके मतानुसार भी ऊतक विज्ञान का आधार कोशिकाशारीर (cell anatomy) अथवा कोशिकाविज्ञान (cytology) ही है।

उपर्युक्त विवरण से यह प्रकट होता है कि कोशिकाविज्ञान तथा ऊतकविज्ञान का एक साथ अध्ययन किया जाना चाहिए। चूँकि कोशिकाएँ अतिसूक्ष्म संरचनाएँ होती हैं, अतः हम ऊतक विज्ञान को सूक्ष्मशारीर (microscopic anatomy) का ही पर्याय मानकर ऊतिकी का अध्ययन करेंगे। चूँकि ऊतक कोशिकाओं द्वारा ही बने होते हैं, अतः ऊतिकी का अध्ययन हम कोशिकाओं के ही माध्यम से करेंगे।

ऊतिकीय विधियाँ—ऊतकों के सम्यक् अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि सूक्ष्मदर्शक यंत्र तक उन्हें लाने के पूर्व उनको विशेष पद्धतियों द्वारा अभिकर्मित (treatemnt) किया जाय। ऊतक का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिये यह अनिवार्य है कि वह अति पतला हो। जीवित ऊतक के विभिन्न भागों में बहुत समानताएँ पाई जाती है अतः उसका ठीक ठीक अध्ययन संभव नहीं होता। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये सर्वप्रथम ऊतक को ४ से ८ माइक्रॉन तक विच्छेदित कर लिया जाता है। इस कार्य के लिये 'माइक्रोटोम' यंत्र का प्रयोग किया जाता है। जीवित ऊतक का इतना सूक्ष्म विच्छेद तब तक संभव नहीं होता, जब तक वह कड़ा न हो। अतः ऊतक को कड़ा करने के लिये उसे विशेष प्रकार के रसायनों के घोल में स्थायीकृत (fix) किया जाता है। स्थायीकरण के उपरांत इस ऊतक को अलकोहलों के विभिन्न घोलों, अभिरंजकों (stains) तथा अन्य रसायनों में अभिकर्मित (treat) करके निर्जल कर लिया जाता है। अंत में इसे विशेष गलनांक (melting point) के पैराफीन मोम में, जो एक विशेष ताप पर पहले से ही गलाकर तैयार रखा जाता है, डाल दिया जाता है। कुछ समय बाद मोम के साथ ही ऊतक के टुकड़ों को चतुर्भुजाकार (rectangular) साँचे में डाल दिया जाता है। जब मोम जमकर कड़ा हो जाता है, तो उसके छोटे छोटे टुकड़े काट लिए जाते हैं। अंत में इन टुकड़ों को माइक्रोटोम के विशेष भाग में जमाकर उसमें एक अति धारदार चाकू (razor) से विशेष मोटाई के अनेक सेक्शन काट लिए जाते हैं। इन सेक्शनों को काँच की पट्टियों पर रखकर अध्ययन के लिये रख लिया जाता है। काँच की पट्टियों को होटिंग प्लेट पर रखकर उनका मोम गला लिया जाता है और ऊतक का सेक्शन काँच की पट्टी पर जम जाता है। इन सेक्शनों से लदी काँच की पट्टियों को विशेष रसायनों तथा अलकोहल के घोलों में निर्जल

कर लिया जाता है। फिर इसे जाइलीन या सेडार उड आयल में भिगो दिया जाता है। अब यह सेक्शन सूक्ष्म अध्ययन के लिये तैयार हो गया।

इन सेक्शनों के सूक्ष्म अध्ययन के लिये भाँति भाँति के माइक्रॉस्कोपों (जैसे, फ़ेज़ कन्ट्रास्ट, इलेक्ट्रॉन आदि) का प्रयोग किया जाता है। आजकल ऊतकों का अध्ययन करने के लिये इस प्रकार के माइक्रॉस्कोपों का अत्यधिक प्रयोग होने लगा है। इस सूक्ष्म अध्ययन के लिये ऊतिकीरसायन (histochemistry) और विकिरण स्वचित्रण (radioautography) विधियों का प्रयोग किया जाने लगा है।

ऊतिकीरसायन के अंतर्गत ऊतकों के विभिन्न भागों की रासायनिक संरचना का अध्ययन होता है। **विकिरण स्वचित्रण** विधि में जीवित जंतु के विशेष ऊतक में विशेष प्रकार के रेडियोआइसोटोपों का प्रवेश कराया जाता है। इस प्रकार से अभिकर्मित ऊतकों को जंतुशरीर से बाहर निकालकर सेक्शन बना लिए जाते हैं। इन सेक्शनों को डार्क रूम में ले जाकर फोटोग्राफी के विशेष रसायनों द्वारा अनुलेपित कर लेते हैं, या फिल्म के नीचे रखकर मजबूती से बाँध देते हैं। कुछ समय बाद इन्हें अँधेरे कमरे (dark room) से बाहर निकालकर स्थायीकृत कर लिया जाता है। तत्पश्चात् इन्हें प्रकाश में लाकर इनका अध्ययन किया जाता है।

ऊतकों का अध्ययन उनकी सूक्ष्म संरचना का ज्ञान प्राप्त करने के लिये किया जाता है। अतः ऊतकों की संरचना का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

ऊतकों की संरचना (structure of tissues)—ऊतकों की संरचना में तीन प्रकार के मुख्य घटक दिखलाई देते हैं: कोशिकाएँ, मैट्रिक्स तथा तरल द्रव्य।

(१) **कोशिकाएँ** (cells)—ऊतकों की इकाई कोशिका होती है। कोशिकाएँ सजीव होती तथा वे सभी कार्य करती हैं, जिन्हें सजीव प्राणी करते हैं। इनका आकार अतिसूक्ष्म तथा आकृति गोलाकार, अंडाकार, स्तंभाकार, रोमकयुक्त, कशाभिकायुक्त, बहुभुजीय आदि प्रकार की होती है। ये जेली जैसी एक वस्तु द्वारा आवृत होती हैं। इस आवरण को कोशिकावरण (cell membrane) या कोशिका-झिल्ली कहते हैं। इसे कभी कभी जीव-द्रव्य-कला (plasma membrane) भी कहा जाता है। इसके भीतर निम्नलिखित संरचनाएँ पाई जाती हैं:—

(१) केंद्रक एवं केंद्रिका
(२) जीवद्रव्य
(३) गोल्गी संमिश्र या यंत्र
(४) कणाभ सूत्र
(५) अंतर्प्रद्रव्य जालिका
(६) पित्र्यसूत्र एवं जीन
(७) रिबोसोम तथा सेन्ट्रोसोम
(८) लवक

(१) **केंद्रक** (nucleus)—एक कोशिका में सामान्यतया एक ही केंद्रक होता है, किंतु कभी कभी एक से अधिक केंद्रक भी पाए जाते हैं। कोशिका के समस्त कार्यों का यह संचालन केंद्र होता है। जब कोशिका विभाजित होती है तो इसका भी विभाजन हो जाता है। केंद्रक कोशिका के भीतर एक तरल पदार्थ **कोशिकाद्रव्य** (cytoplasm) में प्रायः तैरता रहता है। इसका यद्यपि कोई निश्चित स्थान नहीं होता, तथापि यह अधिकतर लगभग मध्यभाग में ही स्थित होता है। कुछ कोशिकाओं में इसकी स्थिति आधारीय (basal) और कुछ में सीमांतीय (peripheral) भी होती है। केंद्रक की आकृति गोलाकार, वर्तुलाकार या अंडाकार होती है। तथापि, कभी कभी यह बेलनाकार, दीर्घवृत्ताकार, सपात, शाखान्वित, नाशपाती जैसा, भालाकार आदि स्वरूपों का भी हो सकता है। इसके भीतर केंद्रकरस (nuclear sap) केंद्रिका (nucleolus) तथा पित्र्यसूत्र (chromosomes) पाए जाते हैं। केंद्रक के आवरण को केंद्रककला (nuclear membrane या nucleolemma) कहते हैं।

केंद्रिका (Nucleolus)—प्रत्येक केंद्रक में एक या अधिक केंद्रिकाएँ पाई जाती हैं। कोशिकाविभाजन की कुछ विशेष अवस्था में केंद्रिका लुप्त हो जाती, किंतु बाद में पुनः प्रकट हो जाती है। केंद्रिका के भीतर रिबोन्यूक्लीइक अम्ल (ribonucleic acid or RNA) तथा कुछ विशेष प्रकार के एंज़ाइम अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। केंद्रिका सूत्रण (mitosis) या सूत्रीविभाजन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

(२) **जीवद्रव्य** (protoplasm)—यह एक गाढ़ा तरल पदार्थ होता है जो स्थानविशेष पर विशेष नामों द्वारा जाना जाता है; जैसे, द्रव्यकला (plasma membrane) तथा केंद्रक के मध्यवर्ती स्थान में पाए जानेवाले जीवद्रव्य को कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) और केंद्रक झिल्ली (nuclear membrane) के भीतर पाए जानेवाले जीवद्रव्य को केंद्रक द्रव्य (nucleoplasm) कहते हैं। कोशिका का यह भाग अत्यंत चैतन्य और कोशिका की समस्त जैवीय प्रक्रियाओं का केंद्र होता है। इसे इसीलिये 'सजीव' (living) कहा जाता है। जीववैज्ञानिक इसे 'जीवन का भौतिक आधार' (physical basis of life) नाम से संबोधित करते हैं। आधुनिक जीववैज्ञानिकों ने जीवद्रव्य का रासायनिक विश्लेषण करके यह तो पता लगा लिया है कि उसका निर्माण किन किन घटकों द्वारा हुआ है, किंतु आज तक किसी भी वैज्ञानिक को उसमें (जीवद्रव्य में) प्राण का संचार करने में सफलता हाथ नहीं लगी है। ऐसा है यह प्रकृति का रहस्यमय पदार्थ।

जीवद्रव्य का निर्माण कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा अनेक कार्बनिक (organic) तथा अकार्बनिक (inorganic) पदार्थों द्वारा हुआ होता है। इसमें जल की मात्रा लगभग ८०% प्रोटीन १५%, वसाएँ ३% तथा कार्बोहाइड्रेट १% और अकार्बनिक लवण भी १% होती है। जीवद्रव्यों के कई प्रकार होते हैं, जैसे कोलाइड (colloid), कणाभ (granular), तंतुमय (fibrillar), जालीदार (reticular), कूपिकाकार (alveolar), आदि।

(३) **गोल्गी संमिश्र या यंत्र** (Golgi complex or apparatus)—इस अंग का यह नाम इसके आविष्कारक, कैमिलो गोल्गी, के नाम पर पड़ा है, जिन्होंने १८९८ में सर्वप्रथम इसकी खोज की। यह अंग साधारणतया केंद्रक के समीप, अकेले या समूहों में पाया जाता है। इसकी रचना तीन तत्वों (elements) या घटकों (components) द्वारा हुई होती है: सपाट कोश (flattened sacs), बड़ी बड़ी रिक्तिकाएँ (large vacuoles) तथा आशय (vesicles)। यह एक प्रकार के जाल (network) जैसा दिखलाई देता है। इनका मुख्य कार्य कोशिकीय स्रवण (cellular secretion) और प्रोटीनों, वसाओं तथा कतिपय किण्वों (enzymes) का भंडारण करना (storage) है।

(४) **कणाभसूत्र** (Mitochondria)—ये कणिकाओं (granules) या शलाकाओं (rods) की आकृतिवाले होते हैं। ये अंगक (organelles), कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) में स्थित होते हैं। इनकी संख्या विभिन्न जंतुओं में पाँच लाख तक हो सकती है। इनका आकार १/२ माइक्रॉन से लेकर २ माइक्रॉन के बीच होता है। विरल उदाहरणों (rare cases) में इनकी लंबाई ४० माइक्रॉन तक हो सकती है। इनके अनेक कार्य बतलाए गए हैं, जो इनकी आकृति पर निर्भर करते हैं। तथापि इनका मुख्य कार्य कोशिकीय श्वसन (cellular respiration) बतलाया जाता है। इन्हें कोशिका का 'पावर प्लांट' (power plant) कहा जाता है, क्योंकि इनसे आवश्यक ऊर्जा (energy) की आपूर्ति होती रहती है।

(५) **अंतर्प्रद्रव्य जालिका** (Endoplasmic reticulum)—यह जालिका कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) में आशयों (vesicles) और नलिकाओं (tubules) के रूप में फैली रहती है। इनकी स्थिति सामान्यतया केंद्रकीय झिल्ली (nuclear membrane) तथा द्रव्यकला (plasma membrane) के बीच होती है, किंतु यह अक्सर संपूर्ण

कोशिका मे फैली रहती है। यह जालिका दो प्रकार की होती है: चिकनी सतहवाली (smooth surfaced) और खुरदुरी सतहवाली (rough surfaced)। इसकी सतह खुरदुरी इसलिये होती है कि इसपर रिबोसोम (ribosomes) के कण बिखरे रहते है। इसके अनेक कार्य बतलाए गए है, जैसे यांत्रिक आधारण (mechanical support), द्रव्यों का प्रत्यावर्तन (exchange of materials), अंत:कोशिकीय अभिगमन (intracellular transport), प्रोटीन संश्लेषण (protein synthesis) इत्यादि।

(६) पितृसूत्र (chromosomes)—यह शब्द क्रोम (chrom) तथा सोमा (soma) शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ होता है रंगीन पिंड (colour bodies)। पितृसूत्र केंद्रक के भीतर जोड़ों (pairs) मे पाए जाते है और कोशिकाविभाजन के साथ केंद्रक सहित बँट जाया करते है। इनमे स्थित जीनो को पूर्वजो के पैत्रिक गुणो का वाहक कहा जाता है। इनकी संख्या जीवो मे निश्चित होती है, जो एक दो जोड़ो से लेकर कई सौ जोड़ो तक हो सकती है। इनका आकार १ माइक्रॉन से ३० माइक्रॉन तक (लंबा) होता है। इनकी आकृति साधारणतया अंग्रेजी भाषा के अक्षर S जैसी होती है। किंतु, अनेक स्थितियों मे ये J या V अक्षरों जैसे भी दीख पड़ते है। इनमे न्यूक्लिओ-प्रोटीन (nucleoprotein) मुख्य रूप से पाए जाते हैं। पितृसूत्रों के कुछ विशेष प्रकार भी पाए जाते है, जिन्हे लैंपब्रश पितृसूत्र (lampbrush chromosomes) और पॉलीटीन क्रोमोसोम (polytene chromosomes) का नाम दिया गया है। इन्हें W, X, Y, Z, आदि नामों से संबोधित किया जाता है।

जीन (gene)—जीनो को पैत्रिक गुणो का वाहक (carriers of hereditary characters) माना जाता है। क्रोमोसोम या पितृसूत्रों का निर्माण हिस्टोन प्रोटीन तथा डिऑक्सीरिबोन्यूक्लीइक ऐसिड (DNA) तथा रिबोन्यूक्लीइक ऐसिड (RNA) से मिलकर हुआ होता है। जीन का निर्माण इन्हीं मे से एक, डी एन ए, द्वारा होता है। कोशिका विभाजनो के फलस्वरूप जब नए जीव के जीवन का सूत्रपात होता है, तो यही जीन पैत्रिक एवं शारीरिक गुणों के साथ माता पिता से निकलकर संततियों मे चले जाते है। यह आदान प्रदान माता के डिंब (ovum) तथा पिता के शुक्राणु (sperms) मे स्थित जीनो के द्वारा संपन्न होता है। सन् १९७० के जून मास मे अमरीका स्थित भारतीय वैज्ञानिक श्री हरगोविंद खुराना को कृत्रिम जीन उत्पन्न करने मे अभूतपूर्व सफलता मिली थी। इन्हे सन् १९६८ मे नोबेल पुरस्कार मिला था।

(७) **रिबोसोम** (ribosomes)—सूक्ष्म गुलिकाओं के रूप मे प्राप्त इन संरचनाओं को केवल इलेक्ट्रॉन माइक्रॉस्कोप के द्वारा ही देखा जा सकता है। इनकी रचना ५०% प्रोटीन तथा ५०% आर एन ए द्वारा हुई होती है। ये विशेषकर अंतर्प्रद्रव्य जालिका के ऊपर पाए जाते हैं। इनमे प्रोटीनो का संश्लेषण होता है।

सेंट्रोसोम (centrosomes)—ये केंद्रक के समीप पाए जाते है। इनके एक विशेष भाग को सेंट्रोस्फीयर (centrosphere) कहते है, जिसके भीतर सेंट्रिओलो (centrioles) का एक जोडा पाया जाता है। कोशिकाविभाजन के समय ये विभाजक कोशिका के ध्रुव (pole) का निर्धारण और कुछ कोशिकाओं मे कशाभिका (flagella) जैसी संरचनाओं को उत्पन्न करते है।

(८) **लवक** (plastids)—लवक अधिकतर पौधों मे ही पाये जाते हैं। ये एक प्रकार के रंजक कण (pigment granules) जो जीवद्रव्य (protoplasm) मे यत्रतत्र बिखरे रहते हैं। ...फिल (chlorophyll) धारक वर्ण के लवक को हरित् लवक ...las) कहा जाता है। इसी के कारण वृक्षो मे हरापन ... है। क्लोरोफिल के ही कारण पेड पौधे प्रकाश संश्लेषण ...is) करते है। कुछ वैज्ञानिको के मतानुसार लवक ...नुगति (cytoplasmic inheritance) के रूप ...समय संततिकोशिकाओं मे सीधे सीधे स्थानांतरित

(२) **मैट्रिक्स** (matrix)—मैट्रिक्स या आधात्री को इंटरसेल्यूलर (intercellular) या **ग्राउंड सब्स्टैंस** (ground substance) भी कहा जाता है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, यह कोशिकाओं के मध्य भाग मे स्थित होकर उन्हे परस्पर जोडने का कार्य करती है। ये सजीव तथा निर्जीव दोनो प्रकार की होती है। साधारणतया आधात्री संयोजक ऊतकों (connective tissues) मे पाई जाती है। यह तंतु या रेशों द्वारा बनी होती है, जो तीन प्रकार के होते है कॉलाजनी (collagenous), जालीदार (reticular) तथा एलास्टिक (elastic)। यह सजातीय या समांगी (homogenous) पदार्थ होता है जो तरल अथवा जिलेटिन जैसी स्थिति मे रहता है। यह उपकला (epithelium), कोशिकाओं (capillaries) तथा छोटी छोटी शिराओं (veins) के नीचे जमी रहती है। इसमें म्यूकोपोलीसैक्केराइड अम्ल (mucopolysaccharide acids) पाए जाते है। आधात्री कोमल (soft) तथा दृढ़ (firm) दोनो प्रकार की होती है।

(३) **तरल पदार्थ**—ऊतको मे तरल पदार्थ भी होते है, जिनमे रक्त और लसीका (lymph) मुख्य है। ये दोनो आशयो (vesicles) अथवा नलिकाओं (tubules) से होकर प्रवाहित होते हैं। ऊतक तरल (tissue fluid) कोशिकाओं को तर रखता है। आधात्री के ही कारण शरीर का स्वरूप (form) बना रहता है। जंतु का शरीर वस्तुत: और कुछ नहीं, अपितु अंत:कोशिकीय पदार्थ अथवा आधात्री का महल मात्र है, जिसमे अनेक रंग रूप और आकार प्रकार की असंख्य कोशिकाओं की ईंटे चुनी होती है। ये कोशिकाएँ अपने उत्पादों का आदान प्रदान करती हुई अपना जीवन व्यतीत करती रहती हैं।

ऊतक विज्ञान शरीर के अंगतंत्रों की भी सम्यक् जानकारी देता है। अंगतंत्रों की संरचना, रासायनिक प्रकृति एवं कार्यविधियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ऊतक विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है।

सं०ग्रं०—वेलीज टेक्स्ट बुक ऑव हिस्टोलॉजी; रिवाइज्ड बाइ विल्फ्रेड एम० कोपेनहेवर (संपादक) एवं डोरोथी टी० जॉनसन, १४वीं आवृत्ति, विलियम्स ऐंड विल्किन्स कं०, बाल्टीमोर, १९५८; बोर्न, जी० एच० (संपादक), साइटोलॉजी ऐंड सेल फिजिओलॉजी, तृतीय आवृत्ति, एकेडेमिक प्रेस, न्यूयार्क, १९६४, ब्लूम, विलियम एवं डॉन डब्ल्यू० फॉसेट, ए टेक्स्ट बुक ऑफ हिस्टोलॉजी, ९वीं एशियन आवृत्ति, डब्ल्यू० बी० सॉण्डर्स कं०, फिलाडेल्फिया (इगाकू शोइन लि०, टोकियो), १९७०, डी० रॉबर्टीज, ई० पी० डी०, डब्ल्यू०, डब्ल्यू०, नोविन्स्की ऐंड एफ० ए० सेज . जेनरल साइटोलॉजी, तृतीय आवृत्ति, डब्ल्यू० बी० सॉण्डर्स कं० फिला०, १९६० ; ग्रीप, आर० ओ० (संपादक) : हिस्टोलॉजी, मैक्ग्रा हिल बुक कं०, न्यूयॉर्क, १९५४। (रा० सिं०)

ऊतक संवर्धन

ऊतक संवर्धन (टिशू कल्चर) वह क्रिया है जिससे विविध शारीरिक ऊतक अथवा कोशिकाएँ किसी बाह्य माध्यम मे उपयुक्त परिस्थितियो के विद्यमान रहने पर पोषित की जा सकती हैं। यह भली भाँति ज्ञात है कि शरीर की विविध प्रकार की कोशिकाओं मे विविध उत्तेजनाओं के अनुसार उगने और अपने समान अन्य कोशिकाओं को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। यह भी ज्ञात है कि जीवो मे एक आतरिक परिस्थिति भी होती है (जिसे क्लाउड बर्नार्ड का मील्यू अभ्यंतर कहते है) जो सजीव ऊतक की क्रियाशीलता को नियंत्रित रखने मे बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक महत्व की है। ऊतक-संवर्धन-प्रविधि का विकास इस मौलिक उद्देश्य से हुआ कि कोशिकाओं के कार्यकारी गुणों के अध्ययन की चेष्टा की जाय और यह पता लगाया जाय कि ये कोशिकाएँ अपनी बाह्य परिस्थितियों से किस प्रकार प्रभावित होती है और उनपर स्वयं क्या प्रभाव डालती हैं। इसके लिये यह आवश्यक था कि कोशिकाओं को अलग करके किसी कृत्रिम माध्यम मे जीवित रखा जाय जिससे उनपर समूचे जीव का प्रभाव न पड़े।

यद्यपि ऊतक संवर्धन मे सफलता पाने की चेष्टा १८८५ ई० मे की गई थी, तथापि सफलता १९०६ ई० मे मिली, जब हैरिसन ने एक सरल प्रविधि निकाली जिससे कृत्रिम माध्यम मे आरोपित ऊतक उगता और

विकसित होता रहता था। इसके बाद से प्रविधि अधिकाधिक यथार्थ तथा समुन्नत होती गई। पोषक माध्यम की संरचना भी अधिक उपयुक्त होती गई है। अब तो शरीर के प्रायः प्रत्येक भाग से कोशिकाओं और ऊतकों का संवर्धन संभव है और उनको आश्चर्यजनक काल तक जीवित रखा जा सकता है।

काच में (अर्थात् शरीर से पृथक्) पोषित की जा सकनेवाली कोशिकाएँ अनेक हैं, जैसे धारिच्छद कोशिकाएँ (एपिथिलियल सेल्स), तंतुघट (फाइब्रोब्लास्ट्स), अस्थि तथा उपास्थि (कार्टिलेज), तंत्रिका (नर्व), पेशी (मसल्) और लसीकापर्व (लिंफनोड्स) की कोशिकाएँ, प्लीहा (स्प्लीन), प्रजन ग्रंथियाँ (गोनद), गर्भकला (एंडोमेट्रियम), गर्भकमल (प्लैसेंटा), रक्त, अस्थिमज्जा (बोन मैरो) इत्यादि।

कोशिकाओं के कार्यकरण तथा संरचनात्मक गुणों के अध्ययन के अतिरिक्त, ऊतक-संवर्धन-प्रविधि प्रयोगात्मक जीवविज्ञान और आयुर्विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हुई है, विशेष कर कोशिका तत्व (साइटॉलोजी), औतिकी (हिस्टॉलोजी), भ्रूण तत्व (एंब्रिऑलोजी), कोशिकाकायिकी (सेल फ़िजियॉलोजी), कोशिका-व्याधि-विज्ञान (सेल पैथॉलोजी), प्रातीकारिकी (इम्यूनॉलोजी) और अर्बुदों तथा वाइरसों के अध्ययन में। इस प्रविधि से निम्नलिखित विषयों के अध्ययन में सहायता मिली है: रुधिर का बनना, कार्यकरण तथा रोगों की उत्पत्ति; कोशिका के भीतर होनेवाली प्रकिण्वीय (एनजाइमैटिक) तथा उपापचयी (मेटाबोलिक) रासायनिक प्रतिक्रियाएँ; अंग-संचालन-क्रिया, कोशिका विभाजन तथा भेदकरण (डिफ़रेनशिएशन); कोशिका की अतिसूक्ष्म रचनाएँ, जैसे विमेदाभ जाल (गोलगी ऐपारेटस) तथा कणाभसूत्र (मिटोकॉण्ड्रिया); कोशिका पर विकिरण, ताप, भौतिक अथवा रासायनिक आघात अथवा जीवाणुओं के आक्रमण; उनसे उत्पन्न पदार्थों की क्रिया के कारण होनेवाली क्षति; अर्बुदवाली तथा साधारण कोशिकाओं का अंतर और साधारण कोशिकाओं से अर्बुदवाली कोशिकाओं का बनना।

ऊतक संवर्धन के लिये प्रयुक्त प्रविधियाँ अनेक प्रकार की है; जैसे वे जिनमें लटकते हुए बिंदु बोतल, नलिका, काच की छिछली तश्तरी अथवा अन्य विशेष बरतन का उपयोग होता है। संवर्धन के लिये प्रयुक्त माध्यम विविध प्रकार के हैं, जैसे रक्तप्लाविका (प्लैज्मा), लसी (सीरम), लसीका, शरीरक्रिया के लिये उपयुक्त लवण घोल (जैसे टाइरोड, रिंगर-लॉक, आदि के घोल)। ऊतक-संवर्धन के लिये माध्यम चुनते समय जीव की कोशिका के असामान्य पर्यावरण का सूक्ष्म ज्ञान अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त इसका भी निर्णय कर लेना आवश्यक है कि प्रत्येक जाति की कोशिका के लिये पर्यावरण में क्या क्या बातें आवश्यक है। उपयुक्त पर्यावरण स्थापित करने के लिये यह भी नितांत आवश्यक है कि माध्यम तक अन्य किसी प्रकार के जीवाणु न पहुँचे क्योंकि जिस माध्यम में कोशिकाएँ पाली जाती है वह अन्य जीवाणुओं के पनपने के लिये भी अति उत्तम होता है, चाहे वे जीवाणु रोगोत्पादक हों या न हों। इन जीवाणुओं की वृद्धि अवश्य ही संवर्धनीय कोशिकाओं को मार डालेगी। हाल में सल्फ़ोनामाइडों और पेनिसिलिन के समान जीवाणुद्वेषियों से इस प्रकार के संक्रमण को दबाए रखने में बड़ी सहायता मिली है।

माध्यम में उगते हुए ऊतकों में उपापचयी परिवर्तन होते रहते हैं और यदि उपापचय से उत्पन्न पदार्थ माध्यम में एकत्र होते रहेंगे तो कोशिकाओं के लिये वे घातक हो सकते हैं। इसलिये उच्छिष्ट पदार्थों की मात्रा के हानिकारक सीमा तक पहुँचने के पहले ही माध्यम को बदल देना आवश्यक है।

ऊतक-संवर्धन के विषय में ऊपर केवल थोड़ी सी बातें दी जा सकी हैं। इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि ऊतक संवर्धन केवल कुछ जीववैज्ञानिक क्रियाओं को समझने में एक सहायक विधि है। न तो इसे मूल्यरहित मानकर इसकी उपेक्षा की जा सकती है और न इसे जीवप्रक्रियाओं को समझने के लिये जादू की छड़ी माना जा सकता है। (श्री० ध० अ०)

ऊद मांसभक्षी वर्ग का ढाई तीन फुट लंबा स्तनधारी जीव है जो अपना अधिक समय पानी में ही बिताता है। यह जल और स्थल दोनों पर बड़ी खूबी से तैर और चल लेता है। इसकी कई जातियाँ यूरोप तथा एशिया में फैली हुई है जहाँ ये नदियों, झीलों और बड़े तालाबों के किनारे कई मुँहवाले बिल बनाकर रहती हैं।

ऊद का शरीर लंबा, टाँगें छोटी, सर चपटा और थूथन चौड़ा होता है। इसकी आँखें छोटी, मूँछें घनी और कान छोटे तथा गोलाकार होते हैं। पैरों की उँगलियाँ बत्तखों की तरह जालपाद होती है और पंजों मे तेज नाखून रहते हैं। इसके शरीर का ऊपरी भाग कत्थई लिए भूरा और नीचे का सफेद रहता है। शरीर के बड़े बालों के नीचे छोटे और घने बालों की एक तह रहती है जिसका रंग सफेदी लिए रहता है। नर का भार १०-१२ सेर और मादा का लगभग ८ सेर रहता है। नर मादा से कुछ बड़ा होता है।

ऊद

ऊद की लुट्रा लुट्रा नाम की जाति संसार में सबसे अधिक संख्या में पाई जाती है। उत्तरी अमरीका मे इसका स्थान लुट्रा कैनाडेन्सिस तथा दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका और एशिया के दक्षिणी भागों में अन्य जातियाँ ले लेती हैं, परंतु इनकी आकृति तथा स्वभाव में अधिक भेद नहीं होता।

ऊद बहुत खिलाड़ी जीव हैं, जो पानी के भीतर मछलियों की तरह तैर लेते हैं। ये प्रायः ५-७ के समूह में रहते हैं और पानी में घेरा डालकर मछलियों का शिकार करते हैं। इनका मुख्य भोजन तो मछली ही है, परंतु ये पानी की चिड़ियाँ, छोटे जानवर, घोंघे, कछुए तथा कीड़े मकोड़ों से भी अपना पेट भरते हैं। मादा अपने बिल में मार्च अप्रैल में दो तीन बच्चे जनती है जिनकी आँखें कुछ दिनों बाद खुलती हैं। ये बच्चे बहुत आसानी से पालतू हो जाते हैं और अपने मालिक के पीछे पीछे कुत्तों की तरह फिरा करते हैं।

ऊद की एक जाति इनहाइड्रा लुट्रिस प्रशांत महासागर के उत्तरी भागों में कैलिफ़ोर्निया से अलास्का तक पाई जाती है। ये समुद्री ऊद लगभग ५ फुट लंबे होते हैं और इनका ऊर्णाजिन (फ़र) संसार में सबसे सुंदर माना जाता है। इसी कारण इनका इतना शिकार हुआ कि यदि समय से इनके शिकार पर प्रतिबंध न लग गया होता तो अब तक इनका लोप हो गया होता।

समुद्री ऊद भूमि पर बहुत कम जाते है और बहुधा अपनी अगली टाँगों को सीने पर रखकर पानी में चित होकर तैरते रहते हैं। इनका भी मुख्य भोजन मछली है। (सु० सिं०)

ऊदल कालिंजर और महोबा के चंदेल राजकुल में राजा परमर्दिदेव की संरक्षा में बड़े भाई आल्हा के साथ बड़ा हुआ था। बाद में दरबारी षड्यंत्र के शिकार बन, राजा से रुष्ट होकर, दोनों भाई गहड़वाल राजा जयचंद के दरबार में कन्नौज चले गए। कुछ दिनों बाद जब दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज ने चंदेलों पर चढ़ाई की तब ऊदल स्वदेशप्रेम से आकृष्ट होकर महोबा पहुँचा और युद्ध में विकट मार करता स्वयं मारा गया। उसकी और उसके भाई आल्हा की वीरता की बड़ी विशद और वीरत्वपूर्ण कहानी जगनिक ने अपने 'आल्हा' महाकाव्य में लिखी है। यह सही है कि यह महाकाव्य अपने उपलब्ध रूप में प्रामाणिक नहीं है और उसमें प्रक्षिप्त अंश लगातार जुड़ते आए हैं, फिर भी ऊदल की मूल शौर्यव्यंजित कथा में कोई संदेह नहीं (द्र० 'आल्हा')। (ना० सिं०)

ऊधमसिंह भारत के सपूत और महान् शहीद। सन् १९०३ ई० में पटियाला के निकट सुनाम नामक स्थान पर ऊधमसिंह का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम तेहलसिंह था और वे रेलवे गुमटी के चौकीदार

थे। बाल्यकाल में ही माता पिता का देहांत हो जाने पर ऊधमसिंह को ज्ञानी चंचलसिंह ने, जो तेहलसिंह के मित्र थे, आश्रय दिया। लेकिन कुछ समय बाद वे भी बाहर चले गए और ऊधमसिंह को अमृतसर के एक अनाथालय में रहना पड़ा।

पंजाब के तत्कालीन गवर्नर सर माइकेल ओ'डायर के आदेश से १९१९ ई० में जब 'जलियाँवाला कांड' हुआ तब ऊधमसिंह अनाथालय में रहते थे और उन्होंने अपनी आँखों उक्त नृशंस हत्याकांड देखा था। इससे वे इतने मर्माहत हुए कि उन्होंने उसका प्रतिशोध लेने की तत्काल शपथ ले ली। अनाथालय छोड़कर वे लकड़ी के एक व्यापारी के यहाँ काम करने लगे जो पहले उन्हें कश्मीर और बाद में केन्या (अफ्रीका) ले गया। कुछ समय बाद ऊधमसिंह पुनः अमृतसर लौट आए और स्वतंत्रता सेनानी के रूप में काम करने लगे। शीघ्र ही वे कैलीफ़ोर्निया चले गए और वहां भारत के स्वतंत्रता संग्राम हेतु गठित गदर पार्टी में संमिलित हो गए। वहाँ से उन्होंने कुछ शस्त्रास्त्र भी जहाज द्वारा भारत भेजे थे। कहा यह भी जाता है कि एक अमरीकी लड़की से विवाह करके कुछ समय तक वे सानफ्रांसिस्को में रहे थे। सन् १९३५ ई० में वे पुनः भारत आए और अमृतसर में एक दूकान खोल ली जो क्रांतिकारियों का अड्डा थी। दूकान पर **राम मोहम्मद सिंह आज़ाद** की नामपट्टिका लगी थी। हथियार रखने के आरोप में यहीं वे गिरफ्तार हुए और इसी नाम से जेल से लिखे उनके पत्रों से पता चलता है कि भगतसिंह के साथियों में वे भी थे। जेल से छूटने के तुरंत बाद १९३७–३८ में वे जाली पासपोर्ट लेकर इंग्लैंड चले गए और वहाँ से जर्मनी तथा रूस की यात्रा की।

लंदन स्थित कैक्स्टन हाल के ट्यूडर कक्ष में १३ मार्च, १९४० ई० को ईस्ट इंडिया ऐसोसिएशन तथा रायल सेंट्रल एशियन सोसाइटी की एक बैठक हुई जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन भारत सचिव लार्ड जेटलैंड कर रहे थे। ऊधमसिंह ने हाल में घुसकर ओ'डायर को गोली मार दी जिससे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। ऊधमसिंह को पकड़ लिया गया और ब्रिक्स्टन की जेल में रखा गया। ३१ जुलाई, १९४० ई० के दिन ऊधमसिंह को फाँसी दे दी गई। वी० के० कृष्णमेनन (अब भारत के भूतपूर्व रक्षामंत्री) ने उस समय ऊधमसिंह की पैरवी की थी। १९ जुलाई, १९७४ ई० को शहीद ऊधमसिंह की अस्थियाँ भारत ले आई गईं और ३ अगस्त, १९७४ ई० को हरिद्वार में राजकीय संमान के साथ गंगा की धारा में प्रवाहित कर दी गईं। (कें० चं० श०)

ऊन पालतू भेड़ों से प्राप्त किया जाता है। कपास के बाद इसी का सर्वाधिक महत्व है। इसके रेशे गर्मी के कुचालक होते हैं। सूक्ष्मदर्शक यंत्र से रेशे की सतह असमान आकार की, एक दूसरे पर चढ़ी हुई कोशिकाओं (सेल्स) से निर्मित दिखाई देती है। विभिन्न नस्लों की भेड़ों में इन कोशिकाओं का आकार और स्वरूप भी भिन्न भिन्न होता है। महीन ऊन में कोशिकाओं के किनारे, मोटे ऊन के रेशों की अपेक्षा, अधिक निकट होते हैं। गर्मी और नमी के प्रभाव से ये रेशे आपस में गुँथ जाते हैं। इनकी चमक कोशिकायुक्त स्केलों के आकार और स्वरूप पर निर्भर रहती है। मोटे रेशे में चमक अधिक होती है। रेशे की भीतरी परत (मेडुल्ला) को महीन किस्मों में तो नहीं, किंतु मोटी किस्मों में देखा जा सकता है। मेडुल्ला में ही ऊन का रंगवाला अंग (पिगमेंट) होता है। मेडुल्ला की अधिक मोटाई रेशे की संकुचन शक्ति को कम करती है। कपास के रेशे से इसकी यह शक्ति एक चौथाई अधिक है।

संभवतः बुनने के लिये ऊन का ही सर्वप्रथम उपयोग प्रारंभ हुआ। ऊनी वस्त्रों के टुकड़े मिस्र, बैबिलोन और निनेवेह की कब्रों, प्राथमिक ब्रिटेन निवासियों के झोंपड़ों और पेरू वासियों के अंशावशेषों के साथ मिले हैं। रोमन आक्रमण से पूर्व भी ब्रिटेन वासी इनका उपयोग करते थे। विंचेस्टर फ़ैक्ट्री की स्थापना ने इसकी उपयोगविधि का विकास किया। विजेता विलियम इसे इंग्लैंड तक लाया। हेनरी द्वितीय ने कानून, वस्त्रहाट और बुनकारी संघ बनाकर इस उद्योग को प्रोत्साहित किया। किंतु १८वीं शती के सूती वस्त्रोद्योग ने इसकी महत्ता को कम कर दिया। सन् १७८८ में हार्टफोर्ड (अमरीका) में जल-शक्ति-चालित ऊन फैक्ट्री प्रारंभ हुई। इनके अतिरिक्त रूस, न्यूजीलैंड, अर्जेंटाइना, आस्ट्रेलिया, चीन, भारत, दक्षिण अफ्रीका और ग्रेट ब्रिटेन उल्लेखनीय ऊन उत्पादक देश हैं। सन् १९५७ में विश्व में २,९०,००,००,००० पाउंड ऊन उत्पन्न हुआ था।

ऊनी रेशों की किस्में—भेड़ों की नस्ल का ऊन के स्वरूप, लंबाई, रेशे के व्यास, चमक, मजबूती, बुनाई और सिकुड़न आदि पर बहुत असर पड़ता है। ऊन के रेशे पाँच वर्गों में बाँटे जा सकते हैं :
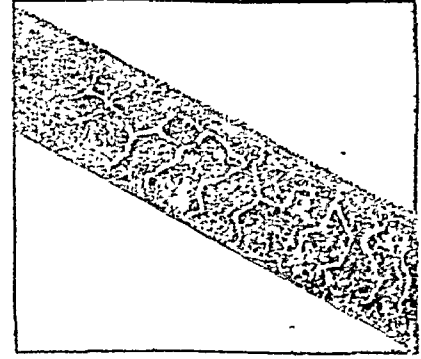
ऊन का रेशा

(सूक्ष्मदर्शी से देखने पर)

१. महीन ऊन, २. मध्यम ऊन, ३. लंबा ऊन, ४. वर्णसंकर ऊन, और ५. कालीनी ऊन।

ऊन के स्वरूप को जलवायु, भूमि और भोजन काफी प्रभावित करते हैं।

महीन ऊन—मेरिनो भेड़ों से ही यह ऊन प्राप्त होता है। मेरिनो भेड़ों की प्रमुख जातियाँ अमरीकी, आस्ट्रेलियाई, फ्रांसीसी, सैक्सनी, स्पेनी, दक्षिण अफ्रीकी और दक्षिण अमरीकी हैं। मेरिनो ऊन अपनी कोमलता, बारीकी, मजबूती, लचीलेपन, उत्कृष्ट कताई और नमदा बना सकने के गुणों के कारण विशेष प्रसिद्ध है। मेरिनो ऊन के रेशों की लंबाई डेढ़ से ढाई इंच तक और बारीकी औसतन १७ से २१ माइक्रान (१ माइक्रोन = १/१००० मिलीमीटर) होती है। फलालेन, उच्च कोटि के हाथ के बुने वस्त्र, सूट, तथा महीन बनावट की पोशाकें मेरिनो ऊन से ही बनती हैं।

मध्यम ऊन—यह ऊन ब्रिटेन की नस्ल की भेड़ों से प्राप्त होता है। लंबे ऊन की लंबाई और मोटाई तथा महीन ऊन की बारीकी और घनत्व के बीच का यह ऊन है। यह बहुत घना और शुष्क होता है। इसके रेशे की लंबाई २ से ५ इंच तक होती है और इन्हें आसानी से काता जा सकता है। इनकी बारीकी २४ से ३२ माइक्रोन तक होती है। इसके रेशे मेरिनो ऊन के रेशों से बहुत हल्के होते हैं, क्योंकि बिलकुल खुले रहने के कारण इनमें बालू और चरबी बहुत कम रहती है। रेशों की व्यासवृद्धि के साथ उनका नमदा बनाने का गुण कम होता जाता है। इसका उपयोग स्त्रियों की पोशाकें, ट्वीड, सर्ज, फलालेन, कोट तथा ओवरकोट के कपड़े और कंबल बनाने में अधिक होता है।

लंबा ऊन—सभी नस्लों में सबसे बड़े कद की भेड़ें, जिनका मांस खाने के काम में आता है, लंबा ऊन पैदा करती हैं। इनके रेशे महीन और मध्यम ऊन के रेशों की अपेक्षा खुले और एक दूसरे से अलग होते हैं। इनकी लंबाई १० से १४ इंच तक और मोटाई ४० माइक्रोन तक होती हैं। इस नस्ल की भेड़ें अधिक वर्षावाले क्षेत्रों में तेजी से बढ़ती हैं। इस किस्म का ऊन लिंकन, कौट्सवोल्ड, लीसेस्टर और रोमनी मार्श नाम से विख्यात है। लिंकन ऊन की लटें चौड़ी और उनका बाहरी हिस्सा घुँघराला होता है। इसमें चरबी कम होने के कारण सिकुड़न भी कम होती है और यह कुछ मोटा होता है। इस नस्ल की एक भेड़ १० से १४ पाउंड तक ऊन देती है। इस ऊन में चमक भी अच्छी होती है। इसका अधिकतर सादे ऊनी कपड़े, ट्वीड, सर्ज तथा कोट के कपड़े बनाने में उपयोग होता है।

वर्णसंकर ऊन—मध्यम महीन कोटि का यह ऊन मेरिनो या रैमबूले नस्ल और लंबे ऊनवाली भेड़ों की वर्णसंकर नस्ल से प्राप्त होता है।

इस ऊन में मेरिनो ऊन की बारीकी और कोमलता तथा लंबे ऊन की लंबाई दोनों होती हैं। इस किस्म के कुछ ऊनों के रंग काफी अच्छे होते हैं और लोच भी पूरी होती है। इस ऊन का उपयोग मोजा, बनियाइन आदि, स्त्रियों तथा पुरुषों के पहनने के सभी प्रकार के ऊनी कपड़ों तथा मध्यम श्रेणी के नमदे बनाने में किया जाता है।

कालोनी ऊन या मिश्रित ऊन—इस प्रकार का ऊन दुनिया के सभी भागों में उन भेड़ों से प्राप्त होता है जो अब भी पुरातन परिस्थितियों में रहती है। ये अधिकतर एशियाई देशों में पाई जाती हैं। ये रेगिस्तानी हिस्सों में भी मिलती हैं, जहाँ उन्हें दीर्घ काल तक बिना खाए या अल्पाहार पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसे समय में ये भेड़ें अपनी पूँछ में संचित चरबी से अपनी प्राणरक्षा करती हैं। जिन भेड़ों के पिछले हिस्सों में चरबी जमा रहती है उनकी पूंछ ३ इंच तक लंबी होती है और उनके दोनों चूतड़ों पर चरबी की मोटी तह जमा रहती है। इनकी तौल २०० पाउंड तक तथा इनमें चरबी की मात्रा ३० से ४० पाउंड तक होती है। इन भेड़ों के शरीर पर लंबे बालों की एक परत होती है और इसके नीचे वास्तविक ऊन होता है, जो निम्न ताप, तेज हवा, अत्यधिक शुष्कता, अति वर्षा और कुहरे से भेड़ों की रक्षा करता है। पूर्वोक्त दोनों प्रकार के रेशे प्रमुखतः कालीन बुनने के काम में आते हैं। इस प्रकार की भेड़ों के ऊन में एक तीसरी तरह का छोटा, मोटा, एवं लहरदार रेशा पाया जाता है, जिसे केंप कहते हैं। यह ऊन सामान्यतया कालीन और रग (मोटा कंबल) इत्यादि बनाने के काम में आता है। कभी कभी इसमें अन्य प्रकार का ऊन मिलाकर मोटा और सस्ते किस्म का ओवरकोट का कपड़ा और ट्वीड तैयार किया जाता है।

ऊन का सूक्ष्म स्वरूप—यदि ऊन को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखा जाय तो उसकी सतह विविध प्रकार की कोशिकाओं (सेलों) से बनी हुई दिखाई पड़ती है, जो सीढ़ी की तरह एक दूसरे पर चढ़ी हुई जान पड़ती है। विभिन्न नस्लों की भेड़ों में इनका आकार और स्वरूप भिन्न भिन्न होता है। महीन किस्म के ऊनों में इन कोशिकाओं के किनारे मोटे किस्म के ऊनों की अपेक्षा अधिक निकट होते हैं। इन्हें सूक्ष्मदर्शक यंत्र से ही देखा जा सकता है। खाली आँखों से ये नहीं दिखलाई पड़ते। गर्मी और नमी के प्रभाव से ये रेशे आपस में सिमटकर नमदे की तरह हो जाते है। इन रेशों की चमक उपर्युक्त सेलों के आकार और स्वरूप पर निर्भर रहती है। मोटे किस्म के रेशे में चमक अधिक होती है। सेलों के पूर्वोक्त सीढ़ीनुमा स्वरूप के कारण रेशों की मजबूती बढ़ जाती है। रेशे की चिपकने की शक्ति मेडुल्ला की मोटाई पर निर्भर रहती है। जैसे जैसे यह बढ़ती जाती है, वह अधिक टूटने योग्य होता जाता है।

ऊन के भौतिक गुण

ऊर्मिलता (क्रिप)—ऊन के रेशे छड़ की तरह बिलकुल सीधे न होकर लहरदार होते हैं। उसके इसी घुंघरालेपन को ऊर्मिलता कहते हैं। रेशों की लंबाई (महीन किस्मों में) डेढ़ इंच से (मोटी किस्मों में) १५ इंच तक होती है। ऊन के रेशों के व्यास और उनकी ऊर्मिलता में घनिष्ठ संबंध होता है। ऊन का रेशा जितना ही बारीक होता है उसमें ऊर्मियों (क्रिपों) की संख्या उतनी ही अधिक होती है। १ सेंटीमीटर में १२ से २३ तक ऊर्मियाँ होती हैं। ऊन के रेशों की विशिष्टता आँकने में उसकी ऊर्मियों का महत्वपूर्ण स्थान है।

लचक (रेज़िलिएंसी)—ऊन के रेशों में खींचने के बाद पुनः पूर्वस्वरूप में लौट आने का गुण होता है; इसी को लचक कहते हैं। यदि ऊन के ढेर को दबाकर पुनः छोड़ दिया जाय तो वह अपना पूर्व आयतन प्राप्त कर लेता है। ऊन का यह गुण उसकी ऊर्मियों और उसकी कोशिकाओं के कारण होता है। ऊन के रेशों की लंबाई उन्हें खींचकर बिना तोड़े लगभग ३० प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है। नचीलेपन से ऊनी रेशे अपना स्वरूप बनाए रखते हैं और झुर्रियों तथा घिसावट से अपनी रक्षा करते हैं।

नमदा बनाना—ऊन पर यदि गर्मी, नमी और दबाव डाला जाय तो उसके रेशे सिमटकर आपस में मिल जाते हैं। सामान्यतया ऊनी रेशों में आपस में विकर्षण होता है किंतु पूर्वोक्त परिस्थिति में विपरीत क्रिया होती है। उनका यह गुण विभिन्न प्रकार के ऊनों में भिन्न भिन्न होता है। इस गुण के कारण ऊन का उपयोग हैटों, जूतों के ऊपरी हिस्सों और फर्श पर बिछाने के नमदों तथा कंपन और ध्वनिरोधक नमदों के बनाने में किया जाता है।

चमक (लस्टर)—चमक की दृष्टि से ऊनों में यथेष्ट भिन्नताएँ पाई जाती हैं। चमक चाँदी, काच और रेशम सी, तीन प्रकार की होती है। चाँदी की या हल्की चमक महीन या अधिक ऊर्मियोंवाले मेरिनो ऊन में होती है। काच जैसी चमक सबसे अधिक सीधे और चिकने बालों में होती है। रेशम सी चमक लंबे रेशे और लंबी लहरोंवाली ऊन में होती है।

रंग—ऊन के स्वाभाविक रंग सफेद, काले और भूरे हैं। बहुधा पालतू भेड़ों का ऊन सफेद रंग का ही होता है। रंगीन ऊन सबसे अधिक पुरातन नस्ल की उन भेड़ों से प्राप्त होता है जो कालीन बुनने लायक किस्म का ऊन पैदा करती हैं।

घनत्व—ऊन प्राकृतिक रेशों में सबसे अधिक हल्का होता है। इसका घनत्व १.३ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर है।

वैद्युत गुण—ऊन बिजली का हीन चालक है और इसे रगड़ने से इसमें सुगमता से स्थिर विद्युत् पैदा हो जाती है, जो ऊन को साफ करने, एक दूसरे से अलग करने और शुष्क कार्यकरण में बाधा उपस्थित करती है।

उष्मा का संरक्षण—ऊन का उष्मा को संरक्षित रखने का गुण उनके रेशे की बनावट—ऊर्मियों—के कारण है, जिनकी वजह से उसमें हवा के छोटे छोटे कोष्ठ बन जाते हैं। स्थिर वायु उष्मा-अवरोधक होती है और क्योंकि ऊनी कपड़े अनगिनत रेशों से बनते हैं जिनके भीतर स्थिर वायु एकत्र रहती है, वे भी ऊष्मा के बहुत अच्छे अवरोधक होते हैं। ऊन में जलवाष्प सोखने का भी आश्चर्यजनक गुण है। ऊन में जलवाष्प की मात्रा उस समय के वायुमंडल में जलवाष्प की दाब पर निर्भर रहती है। ऊन जब जलवाष्प सोखता है तब गर्मी निकलती है। यह गर्मी उसमें घुसनेवाली हवा को गर्म रखने के लिये पर्याप्त होती है। इसके अतिरिक्त ऊनी रेशों में ऊर्मियों के कारण जो लचक होती है उसके फलस्वरूप भीतर का कपड़ा शरीर से चिपकने नहीं पाता और शरीर तथा उस कपड़े के बीच हवा की एक पतली परत उत्पन्न हो जाती है जो उष्मा के अच्छे संरक्षक का कार्य करती है।

कठोरता—ऊन का यह गुण ऐंठन को रोकता है। इसीलिये यह कताई के लिये बहुत महत्व का है। शुष्क ऊन की कठोरता पानी से संतृप्त ऊन की अपेक्षा १५ गुनी अधिक होती है। इसीलिये ऊन की मिलों के कताई विभाग में ठीक से कताई करने के लिये और ऊन में १५ से १८ प्रतिशत तक नमी बनाए रखने के लिये, अपने यहाँ के वातावरण में ७० से ८० प्रतिशत तक नमी रखनी पड़ती है।

ऊन की रासायनिक रचना और उसके रासायनिक गुण—रासायनिक दृष्टि से ऊन में कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन और गंधक आपस में मिले हुए प्रोटीन या केराटीन के रूप में पाए जाते हैं। इसकी रासायनिक रचना बहुत जटिल होती है। इस प्रोटीन में अम्लीय और क्षारीय दोनों प्रकार के गुण होने के कारण इसका स्वरूप द्विगुणीय है। इसका जलीय विश्लेषण करने से कई प्रकार के एमिनो ऐसिड निकलते हैं। किसी रीएजेंट द्वारा ऊन की रासायनिक संरचना में किसी भी प्रकार का परिवर्तन किए जाने से ऊनी रेशे के भौतिक गुण नष्ट हो जाते हैं। सामान्यतया आक्सिडाइजिंग और रिड्यूसिंग एजेंट, प्रकाश और क्षार, ऊन के सिस्टीन लिंकेज पर आक्रमण करते हैं अतः ऊनी रेशों के धवलीकरण (ब्लीचिंग) और उनके क्लोरिनेशन के समय सावधानी बरतनी चाहिए।

निम्न ताप का प्रभाव—४० से ६० डिग्री फारेनहाइट तक के ताप पर सभी वसामय (चरबीवाले) पदार्थ जम जाते हैं; अतः वे ऊन को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाए यांत्रिक विधि से आसानी से अलग किए जा सकते हैं।

पानी और वाष्प की प्रक्रिया—ठंडा या गरम पानी और वाष्प की क्रिया ऊनी सामग्री के स्वरूप और उसके द्वारा रंग की ग्राह्यता में परि-

वर्तन ला देती है। पानी में ऊनी रेशा फूलता है अर्थात् उसका व्यास बढ़ जाता है, किंतु सूखने पर वह पुनः पूर्ववत् हो जाता है। १२० डिग्री सेंटीग्रेड पर दवाव के साथ पानी में उवाले जाने पर वह घुल जाता है। शुष्क या नम वाष्प के संसर्ग में ऊन क्षीण होता जाता है। यह क्षीणता समय तथा दवाव के साथ वढ़ती जाती है। ताप की वृद्धि के साथ साथ ऊन कोमल होता जाता है और तव शीतल जल भी उसे पूर्वस्थिति में नहीं ला सकता। इसी तथ्य पर ऊनी उपकरणों की अंतिम प्रक्रियाएँ आधृत हैं।

अम्लों की प्रक्रिया—हल्के अम्लों का ऊन पर कोई घातक प्रभाव नहीं होता, किंतु तीव्र अम्ल उसे कमजोर वना देते हैं, या कभी कभी रेशों को घुला भी देते हैं।

क्षारों की क्रिया—क्षार ऊन को पीत, कठोर और नमदा जैसा वना देते हैं। सोडियम कार्वोनेट के तीव्र या गरम तथा हल्के घोल से ऊन नष्ट हो जाता है। हल्का कास्टिक सोडा भी ऊन को नष्ट कर देता है। कास्टिक क्षार के गरम घोल में तो ऊन पूर्णतया घुल जाता है।

क्लोरीन और हाइपोक्लोराइट की क्रिया—यद्यपि शुष्क स्थिति में क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन का ऊन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता तो भी नमी में वे ऊन के साथ मिलकर हेलोमिन्स वनाते हैं। तभी ऊन के प्रोटीन का आक्सीकरण शुरू हो जाता है। क्लोरीन के समस्त यौगिक ऊन के डाइसल्फ़ाइड लिंकेज को आक्रांत कर उसकी सतह को विघटित करने लगते है।

रंगग्राह्यता—ऊन क्षार और अम्ल दोनों प्रकार से काम करनेवाला (ऐंफ़ोटेरिक) रेशा है, इसलिये वह सभी प्रकार के रंगों में रँगा जा सकता है। ऊन को रँगने के लिये सवसे महत्वपूर्ण रंग अम्ल और क्रोम हैं। कुछ वैट रंग भी उपयोगी हैं।

फ़ॉरमैल्डिहाइड की क्रिया—फ़ॉरमैल्डिहाइड के उपयोग के दो लाभ हैं :

१—क्षार और अम्ल की क्रिया के विरुद्ध संरक्षण और

२—कीटाणुओं से मुक्ति।

फ़ॉरमैल्डिहाइड के २.५ प्रतिशत घोल में एक घंटे तक रखने पर ऊन कीटाणुरहित हो जाता है। फ़ॉरमैल्डिहाइड से कंवल तथा वस्त्र कीटाणुविहीन किए जाते हैं। (ए० दा० दा०)

भारत में ऊन

वेदों में धार्मिक कृत्यों के समय ऊनी वस्त्रों का वर्णन मिलता है, जो इस वात का दृढ़ प्रमाण है कि प्रागैतिहासिक काल में भी लोग ऊन को जानते थे तथा उसका व्यवहार करते थे। मनु ने वैश्यों के यज्ञोपवीत के लिये ऊन को श्रेयस्कर माना है। ऋग्वेद में गड़ेरियों के देवता पश्म की स्तुति है, जिसमें ऊन श्वेतन करने तथा कातने का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतवासी ऊन के प्रयोग, कताई तथा विनाई से आदिम काल से ही परिचित थे। भेड़ को 'अवि' कहा जाता है जिसका अर्थ है रक्षा करनेवाली। महाभारत में इस वात का उल्लेख मिलता है कि कांवोज (वदख्शाँ और पामीर) के लोगों ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर को मुनहली कढ़ाई के ऊनी वस्त्र (ऊर्ण) भेंट में दिए थे। ब्रिटिश शासनकाल के आरंभिक दिनों में पंजाव, कश्मीर और तिव्वत के पश्मीने की वड़ी ख्याति थी।

भारत में भी मेरिनो जाति के मेढ़े मँगाए गए हैं और उनका मिलाप देशी भेड़ों से कराया जा रहा है। कश्मीर में इस प्रकार उत्पन्न संतति को "काश्मीरी मेरिनो" कहते हैं और पूना में इसी ढंग से उत्पन्न की जानेवाली जाति को "दक्षिणी मेरिनो" कहा जाता है। उत्तर प्रदेश में, जहाँ पहाड़ों पर मेरिनो (रैमबुले) का मेल रामपुर वुशायर जाति की भेड़ों से कराया जा रहा है, अभी तक कोई जाति निर्धारित नहीं की गई है।

पश्मीना, जो संसार में पशुओं से प्राप्त रेशों में से सवसे अच्छा रेशा माना गया है, कश्मीर और तिव्वत में पाई जानेवाली वकरियों से प्राप्त होता है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि संसार में लगभग ५ करोड़ मन ऊन पैदा होता है। इसमें से ४२.८ प्रतिशत ऊन मेरिनो, ४६ प्रतिशत वर्णसंकर (क्रॉसब्रेड) और ११.२ प्रतिशत कालीनी ऊन होता है। आधुनिकतम अनुमान के अनुसार भारत अपनी ४ करोड़ भेड़ों से लगभग पौने नौ लाख मन ऊन प्रति वर्ष पैदा करता है। कुल ऊन का ५ प्रतिशत से अधिक ऊन, जिसका मूल्य १२० करोड़ रुपए होता है, विदेशों को भेजा जाता है। देश की ऊनी कपड़ा मिलों को, जो अच्छे किस्म का कपड़ा वनाती हैं, वाहर से मँगाए गए १६ लाख मन कच्चे या अर्धविकसित ऊन पर निर्भर रहना पड़ता है। इसका मूल्य विदेशी मुद्रा में लगभग ११० करोड़ रुपए पड़ता है। कृषि पदार्थों के निर्यात व्यापार में ऊन का स्थान आठवाँ है, जवकि पशु तथा पशुजन्य पदार्थों के व्यापार में खाल के साथ इसका भी प्रथम स्थान है। उत्तर प्रदेश में २४ करोड़ भेड़ों से ५ लाख मन ऊन पैदा होता है। ऊन उत्पादन में राजस्थान और पंजाव सर्वप्रथम हैं, इसके वाद उत्तर प्रदेश का स्थान है। समुद्री वंदरगाहों द्वारा देश में आयात होनेवाला अधिकांश ऊन आस्ट्रेलिया और इंग्लैंड से आता है। ये दोनों देश अपने कुल निर्यात का क्रमानुसार १६.५ और १२.१ प्रतिशत ऊन भारत भेजते हैं। *भूभागों द्वारा ऊन तिव्वत, नेपाल, सिक्किम, भूटान,* ईरान, पश्चिमी तथा पूर्वी अफगानिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान, मध्य एशिया और तुर्किस्तान से आता है। तिव्वत तथा आसपास के देशों से सवसे अधिक प्रतिशत (३१.१० प्रतिशत) ऊन आता है। इसके वाद अफगानिस्तान और ईरान का स्थान है जहाँ से २५.१ प्रतिशत ऊन आता है। व्यापारिक नियमों तथा देश की भीतरी माँग के अनुसार प्रति वर्ष ऊन की मात्रा तथा प्रतिशत अनुपात में परिवर्तन हुआ करता है।

हमारे ऊन का सवसे वड़ा ग्राहक इंग्लैंड है। अधिकांश ऊन काठियावाड़ और ट्रावंकोर के वंदरगाहों से वाहर भेजा जाता है। द्वितीय महायुद्ध में अमरीका भारतीय ऊन वहुत अधिक खरीदने लगा था। पर्याप्त मात्रा में भारतीय ऊन खरीदनेवाले अन्य देशों में आस्ट्रेलिया और फ्रांस भी हैं। स्थलीय मार्गों से आयात किए गए ऊन का कुछ भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है।

प्रति पशु ऊन की उपज जाति, स्थान की प्राकृतिक वनावट, वर्षा और चरागाहों की उपलब्धता के अनुसार वदला करती है। क्योंकि भारत के विभिन्न भागों में पूर्वोक्त वातों में वड़ा अंतर पाया जाता है, इसलिये विभिन्न स्थानों के ऊन में भी वहुत अंतर पाया जाता है। एक वार की ऊन की कटाई में प्रति भेड़ कितना ऊन प्राप्त होता है, इसके वारे में अभी तक यद्यपि पर्याप्त प्रेक्षण नहीं किए गए हैं, फिर भी यह अनुमान किया जाता है कि भारत के विभिन्न भागों में एक भेड़ से प्रति वर्ष ६ छटाँक से लेकर २ सेर तक ऊन प्राप्त होता है। सवसे अधिक ऊन राजस्थान और काठियावाड़ की भेड़ों से प्राप्त होता है। उत्तर प्रदेश के कुछ पहाड़ी भागों पर किए गए आरंभिक प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि पहाड़ी क्षेत्रों में प्रति भेड़ प्रति कटाई १२ छटाँक ऊन प्राप्त होता है। इस देश में भेड़ का ऊन साधारणतया वर्ष में दो वार उतारा जाता है, परंतु कुछ स्थानों में वर्ष में तीन वार भी उतारा जाता है। वसंत ऋतु में उतारा गया ऊन अन्य ऋतुओं में उतारे गए ऊन की अपेक्षा अधिक होता है। विभिन्न ऋतुओं में उतारे गए ऊन के रंग में भी वड़ा अंतर पाया जाता है। वसंत का ऊन अधिक सफेद होता है और पतझड़ ऋतु का ऊन हल्का पीला होता है। रंगीन ऊन, जैसे काले और कत्थई, में ऋतु के अनुसार रंग में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता।

गुणों के आधार पर विशेषज्ञ ऊन को विभिन्न श्रेणियों में वाँटते हैं। रेशे की लंवाई, ऊर्मिलता, कोमलता और ऊन की चमक कुछ ऐसे महत्वपूर्ण गुण हैं जिनका छाँटनेवाले विशेष ध्यान रखते हैं। इनमें से अधिकांश गुण एक दूसरे से संवंधित हैं। अन्य देशों में ऊन छाँटना एक कला हो गई है। ऊन को सैकड़ों वर्गों में वाँटा जाता है। परंतु यह वात हमारे भारतीय ऊन पर लागू नहीं होती। अधिकांश भारतीय ऊन अपने व्यापारिक नामों से छाँटे जाते हैं, जो भौगोलिक उत्पादन क्षेत्र के अनुसार उन्हें दिए जाते हैं। निर्यात व्यापार में प्रयुक्त होनेवाले ऊन है—जोरियो, वीकानेरी, राजपूताना, पेशावर, व्यावर, मारवाड़, वीकानेर और सामान्य काला तथा कत्थई।

कुटीर स्तर पर ऊन कातने, देशी कंबल बनाने, हाथ या मशीन द्वारा कालीन या फर्शी कंबल बनाने, आधुनिक मिलों में ऊनी कपड़ों की बुनाई तथा अन्य उद्योगों, जैसे घरेलू ढंग से शाल, लोई या ट्वीड बनाने के लिये भारत में ऊन की माँग है। कुल ऊन का ५० प्रतिशत से अधिक तो देशी कंबल बनाने के काम आता है, लगभग २८ प्रतिशत ऊन मिलों के काम आता है और १२ प्रतिशत कालीन उद्योग में प्रयुक्त होता है। अन्य उद्योग, जैसे शाल बनाने में, ४ प्रतिशत ऊन की खपत होती है। ऊनी कुटीर उद्योग विविध क्षेत्रों की आवश्यकता के अनुसार देश के विभिन्न भागों में फैले हैं। कालीन उद्योग कुटीर स्तर पर तथा मशीन स्तर पर दोनों भाँति चलता है। यह उद्योग उत्तर प्रदेश में बहुत अधिक विकसित है। इसके बनाने के मुख्य स्थान हैं भदोही (वाराणसी), मिर्जापुर, गोपीगंज (इलाहाबाद), माधोसिंह (मिर्जापुर), आगरा, जौनपुर तथा कमरिहा। युद्धकाल में इस उद्योग की विशेष वृद्धि हुई। अमरीका तथा इंग्लैंड भारतीय कालीन के सबसे बड़े खरीदार हैं। बहुत ही अच्छे किस्म के कालीन कश्मीर में बनते हैं। बढ़िया किस्म का ऊनी माल विदेशों से मँगाए गए ऊनी धागे से बनाया जाता है। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद से भारत में बननेवाले माल में बहुत सुधार हुआ है, जो इस बात से स्पष्ट है कि भारत के बाहर से तथा कुछ यूरोपीय देशों से ऊनी माल की अब बड़ी माँग है। भारत की प्रमुख ऊनी मिलें ये हैं : कानपुर (उत्तर प्रदेश) में लाल इमली, पंजाब में धारीवाल, बंबई में रेमंड वूलन मिल्स तथा इंडियन वूलन मिल्स, बंगलोर में बंगलोर वूलन, काटन ऐंड सिल्क मिल्स और सौराष्ट्र में जामनगर वूलन मिल्स। अहमदाबाद की कैलिको मिल भी अब ऊनी माल बनाने लगी है।

दूसरे माल जैसे लोई, ट्वीड, शाल आदि बनाने के मुख्य क्षेत्र उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों, पंजाब और कश्मीर में हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था में ऊन के महत्व को देखते हुए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, भारत सरकार तथा प्रदेशीय सरकारों ने कई अनुसंधान योजनाओं को आरंभ किया तथा बढ़ावा दिया है। विभिन्न राज्यों में ऊन संबंधी प्रयोगशालाएँ स्थापित करने का काम भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने आरंभ किया, जिसने प्रदेशीय सरकारों के साथ मिलकर इन प्रयोगशालाओं में धन लगाया। ये प्रयोगशालाएँ वर्तमान ऊन के गुण तथा प्रयोगस्वरूप उत्पन्न सुधरे ऊन के गुण आँकने के लिये आवश्यक हैं। पूना, मद्रास, बनिहाल (कश्मीर) और ऋषिकेश (उत्तर प्रदेश) में चार क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशालाएँ हैं। इनके अतिरिक्त गया (बिहार), बीकानेर (राजस्थान) और हिसार (पंजाब) में भी ऊन प्रयोगशालाएँ हैं। ऊन के सुधार के बारे में नीति यह रही है कि मैदान की स्थानीय भेड़ों का बीकानेरी—या इससे थोड़ी भिन्न चोकला, नाली, मागरा आदि—जाति के मेढ़ों से मेल कराया जाय, जिसमें अधिकांश राज्यों में भेड़ों की उत्पत्ति बढ़े तथा मैदानी भेड़ों में सुधार हो। वर्तमान जातियों में, जैसे बीकानेरी में, चुनाव के बाद प्रजनन कराके तथा स्थानीय भेड़ों का विदेशी जातियों से मेल कराकर अच्छा ऊन पैदा करने के कुछ प्रयोग सफलतापूर्वक किए गए हैं। पंजाब में हिसार की 'हिसारडेल' जाति बीकानेरी तथा मेरिनो का मेल कराकर पैदा की गई है। विदेशी मेढ़ों से मेल कराकर ऊन सुधारने का प्रयत्न अधिकतर पहाड़ों में ही किए जा रहे हैं। कश्मीर, पूना, हिसार और पीपलकोठी में स्थानीय भेड़ों का मेल कराने के लिये मेरिनो मेढ़े उपयोग में लाए जा रहे हैं। हाल ही में उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में संकर जाति के उत्पादन (क्रॉस ब्रीडिंग) पर प्रयोग करने के लिये आस्ट्रेलिया से पोलवर्थ, बोर्डर लीस्टर और कोरीडेल जातियाँ मँगाई गई हैं। छोटा नागपुर के क्षेत्र में स्थानीय भेड़ों का सुधार करने के लिये रोमनीमार्श जाति के मेढ़े बाहर से मँगाए गए हैं। विभिन्न राज्यों में विकास कार्य को भेड़ तथा ऊन विकास केंद्र, ऊन प्रतियोगिता केंद्र आदि स्थापित करके बढ़ाया जा रहा है। राजस्थान में सामूहिक ढंग से ऊन उतारने का स्थान बनाने की भी योजना है, जिसमें राज्य सरकार ऊन की छँटाई (ग्रेडिंग) तथा बिक्री की सुविधा देकर उत्पादक को अपने माल का अच्छा मूल्य प्राप्त करने में सहायक हो। सन् १९७४ के दौरान हिसार स्थित केंद्रीय भेड़ प्रजनन फार्म के लिये आस्ट्रेलिया से कोरीडेल नस्ल की १,०३३ भेड़ें प्राप्त हुई हैं। आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और जम्मू तथा कश्मीर में तीन और भेड़ प्रजनन फार्मों में कार्य व्यापक स्तर पर तेजी से प्रगति कर रहा है। उत्तर प्रदेश और राजस्थान में ऐसे दो फार्मों की स्थापना का अनुमोदन कर दिया गया है। ३१ मार्च, १९७० ई० तक ऊन के व्यापार से भारत को एक वर्ष में १७,२४,३४,००० रुपए की आय हुई।

जब से आदिम मनुष्य ने अपने शरीर को ढकने के लिये भेड़ की खाल का प्रयोग किया तब से अब तक इस पशु के ऊन पर मानव जाति की निर्भरता बढ़ती ही गई है, यहाँ तक कि अब हमारे जीवन का कदाचित् ही कोई ऐसा पहलू रह गया है, जिसमें यह प्राकृतिक रेशा काम न आता हो। (ह० कृ० ला०)

ऊनीवस्त्र ऊन काटने की कई रीतियाँ हैं। विभिन्न देशों की स्थिति और चलन के अनुकूल भेड़ों का ऊन काटा जाता है। सामान्यतया कसाईखानों में, या बलुही भूमिवाले प्रदेश में चरने के लिये भेजने के पूर्व, ऊन काटा जाता है। अधिकतर वर्ष में दो बार कटाई की जाती है। न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया में ऊन की कटाई यंत्र द्वारा होती है। इन दोनों देशों में भ्रमणकारी दल रहते हैं जो यंत्र से ऊन काटते हैं। परंतु ग्रेट ब्रिटेन और भारत में कटाई हाथ से होती है।

कट जाने पर काम के अनुसार ऊन को छाँटा जाता है। ऊन का चयन उत्तर से आए प्रकाश में किया जाता है; पूर्व, पश्चिम या दक्षिण से आए प्रकाश में नहीं, क्योंकि इधर के प्रकाश में अधिक वैविध्य और पीतता की संभावना रहती है। ऊन को छाँटते समय कार्यकर्ता को बहुत सावधानी रखनी पड़ती है, क्योंकि पहाड़ी भेड़ों के ऊन में कभी कभी ऐसे कीटाणु रहते हैं जिनसे मनुष्य को ऐंथ्रैक्स नामक चर्मरोग होने की आशंका होती है। अलपाका, कश्मीरी, ईरानी तथा अन्य प्रकार के ऊन को जालीदार मेज पर खोलकर रख दिया जाता है और उसके नीचे पंखा चालू कर दिया जाता है, जिससे हवा नीचे जाती रहती है और कार्यकर्ता सुविधा से अपना काम कर सकता है। चयन के पूर्व ईरानी ऊन को भी कीटाणुरहित करना आवश्यक होता है।

ऊन का चयन (छँटाई) उसकी बारीकी, लंबाई तथा भेड़ के शरीर पर उसके स्थान के अनुसार किया जाता है। तब 'डस्टर' नामक मशीन से ऊन में मिली हुई धूलि को अलग किया जाता है। धूलि निकाले जाने के बाद उसकी प्राकृतिक एवं मिश्रित मलिनता साफ की जाती है। प्राकृतिक मलिनता में एक प्रकार की भारी चिकनाई अथवा मोम रहता है जिसे अंग्रेजी में योक कहते हैं। योक के कारण ऊनी रेशा कुछ गुरुतर और अच्छी हालत में रहता है। प्राकृतिक मलीनता में सूखा हुआ पसीना भी रहता है जो भेड़ के शरीर से बहकर सूख जाता है और ऊन में मिल जाता है। इसे अंग्रेजी में स्विंट कहते है।

सफाई की रीति यह है कि ऊन को गुनगुने पानी में भिगोकर तर कर दिया जाता है जिससे भेड़ का सूखा पसीना गलकर निकल जाता है। साथ ही बालू तथा धूलि भी अलग हो जाती है। दो या तीन बार ऊन को धोने के बाद उसे एक या दो बार साबुन के घोल में धोया जाता है। अंतिम बार उसे बिल्कुल शुद्ध एवं निर्मल जल में धोया जाता है।

ऊन के धोवन से बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है जिसे अंग्रेजी में 'लैनोलिन' कहते हैं। लैनोलिन का उपयोग कांतिवर्धक प्रसाधन के निर्माण में होता है। इससे मनुष्य की त्वचा चिकनी और मुलायम होती है। इसका उपयोग कई औद्योगिक वस्तुओं के निर्माण में भी होता है। मुखलेप, मलिनता हटानेवाले द्रव्य, मलहम, पालिश, स्याही, मुर्चा छुड़ानेवाले पदार्थ, सफेद साबुन आदि में भी इसका उपयोग होता है।

ऊन को पूर्वोक्त रीति से साफ करने पर प्राकृतिक मल हट जाता है, किंतु कुछ मिश्रित धातुएँ, जैसे वानस्पतिक पदार्थ, फिर भी ऊन में मिली ही रहती है। अतएव इसकी भी सफाई आवश्यक होती है। यह कार्य ऊन को गंधक के अम्ल के ३ डिगरी से ४ डिगरी बोमे तक के हलके घोल में भिगोकर निकाल लिया जाता है और फिर उसे गरम हवा से २५० डिगरी फारेनहाइट तक गरम कर दिया जाता है, क्योंकि अम्ल का ऊन पर कोई

हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता। अम्ल से बीज आदि के कँटीले रोएँ जल जाते हैं इसलिये वे अलग हो जाते हैं।

कार्डिग—धुल जाने के बाद ऊन के रेशे को सूत के रूप में परिणत करने के लिये पहले धुनाई (कार्डिग) की जरूरत होती है। कार्डिग के लिये ऊन को खोलकर मशीन द्वारा इस प्रकार मिलाया जाता है कि जाली के समान पतली और मुलायम पट्टी बन जाय। जिस मशीन के द्वारा यह काम होता है उसका नाम है 'कार्डिग इंजन'। कभी कभी कार्डिग इंजन के साथ भारी रोलर फिट कर दिए जाते हैं जिसमें ऊन में बची खुची त्रुटियाँ भी दूर हो जायँ। तदनंतर ऊन दो बेलनों के बीच से गुजरता है। इन बेलनों पर ऐसा 'कार्डिग क्लाथ' रहता है जिसमें बारीक और छोटे छोटे लोहे के हजारों तार गुथे रहते हैं। ये तार रोलरों में एक दूसरे के सामने लगे रहते हैं और लचीले होते हैं। इनसे ऊन के रेशे बहुत कुछ समांतर हो जाते हैं। अन्य कई बेलनों के बीच होता हुआ ऊन अंत में बिना बुनावट और बिना उलझन की फुलफुली चौड़ी पट्टी का रूप धारण कर लेता है। तब मशीन में लगे अंतिम भाग से यह अनेक सँकरी पट्टियों में बाँट दिया जाता है और चमड़े के बड़े पट्टे पर जाता है। बत्ती बनाने में हथेलियों का अनुकरण करते हुए ये पट्टे रेशों को संकीर्ण घेरे में दबाकर मलते हैं। इस प्रकार कताई के लिये पूनी तैयार हो जाती है। इस प्रक्रिया में टूटे हुए रेशे अलग निकल आते हैं। इस प्रकार का सूत ऊनी सूत कहा जाता है और इससे जो कपड़ा तैयार किया जाता है उसे ऊनी वस्त्र कहा जाता है। 'वर्स्टेड क्लाथ' में ऊन के रेशे एक दूसरे के समांतर रहते हैं और इसलिये काफी लंबे रेशों ही से ऐसा वस्त्र बनता है।

समांतर ढंग से रेशे को निकालने के लिये ऊन के मुट्ठे को दोहरा कर दिया जाता है और दो रोलरों के बीच से उसे निकाला जाता है। उसके आगे दो अन्य रोलर कुछ अधिक गति से चलाए जाते हैं; इससे ऊन खिंच जाता है। दो रोलरों की जोड़ी के बीच तेजी के साथ चलनेवाले दाँत रेशों को समांतर करते चलते हैं। थैली में छोटे छोटे रेशे रह जाते हैं। उन्हें एक दूसरी विधि से हटाया जाता है, जिसे कंघी करना (अंग्रेजी में कौंबिंग) कहते हैं। तदनंतर ऊन का मुट्ठा फिर दोहरा कर दिया जाता है और उनको दो रोलरों के बीच से एक बार और निकाला जाता है।

इसके बाद ऊन के मुट्ठे को खींचकर लंबा किया जाता है। इसे ड्राइंग कहते हैं। यहाँ पर एक से छह मुट्ठे एक साथ चलाए जाते हैं। ये मुट्ठे भारी रोलरों की जोड़ियों के बीच से चलाए जाते हैं। दूसरी जोड़ीवाले रोलरों की गति पहलेवाले से अधिक रहती है। परिणामस्वरूप मोटा सूत्र पतला होता जाता है। इच्छानुसार पतला हो जाने पर कच्चे सूत को बाबिन पर लपेटा जाता है।

ऊपर बताए गए कच्चे सूत को फिर ऐंठा जाता है जिससे सूत मजबूत हो जाता है। तब उस सूत को लच्छियों में लपेटा जाता है। जिस प्रकार का सूत होता है वैसी ही उसमें ऐंठन डाली जाती है। इस कार्यविधि को कताई (अंग्रेजी में 'स्पिनिंग') कहते हैं। सूत की कताई के लिये विभिन्न प्रकार की मशीनों का प्रयोग होता है।

करघे पर कपड़ा बुनना—जिस मशीन या यंत्र पर कपड़ा बुना जाता है उसका नाम करघा है। करघे का संचालन या तो हाथ द्वारा होता है या विद्युच्छक्ति द्वारा। करघे पर बुनाई का काम बहुत कुछ उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूती और रेशमी कपड़े बुने जाते हैं। बुनाई के बाद कपड़े की जाँच की जाती है जिसमें उसमें आई हुई त्रुटियों का निवारण किया जा सके। कभी कभी बुनाई के समय कपड़े में गाँठ पड़ जाती है या तागे रह जाते हैं। उनका सुधार हाथ द्वारा किया जाता है।

बुनाई के समय कपड़े गंदे हो जाते हैं, इसलिये बुनाई के बाद कपड़े को धोया जाता है। कपड़े को साबुन के घोल में भिगाया जाता है। फिर कपड़े को भारी रोलरों के बीच से चलाया जाता है जिससे साबुन का पानी निकल जाय। अंत में कपड़े को शुद्ध पानी से धोकर सुखाया जाता है। सुखाने पर कपड़ा कुछ कठोर हो जाता है।

कपड़े की जमीन एक समान कोमल बनी रहे इसके लिये मशीन द्वारा कपड़े में निकले हुए धागे को काटा जाता है। जिस मशीन द्वारा काटने का काम होता है उसमें दो वृत्ताकार चाकू होते हैं। इस मशीन का काम केवल जमीन को समतल बनाना होता है।

अंततः तैयार हुए कपड़े की तह लगाई जाती है। तह लगाने का काम मशीन द्वारा किया जाता है। फिर एक दूसरी मशीन में कपड़े को दबाया जाता है और तब कपड़ा बाजार में भेज दिया जाता है।

(ए० दा० दा०)

ऊफा ५४° ४४' उ० अ० तथा ५६° पू० दे० पर ऊफा और बयेलाया नदियों के संगम पर तथा यूराल के जंगलों के पश्चिमी किनारे पर स्थित बशकीर का प्रमुख नगर है (जनसंख्या १९७० ई० में ७३,०००)। इसके उद्योग धंधों में ताँबा गलाना, लकड़ी चीरना, आटा पीसना, रस्सी बनाना, शराब तथा फलों का रस निकालना उल्लेखनीय हैं।

(सु० कु० सिं०)

ऊर सुमेर (सुमेरिया) का प्राचीन नगर। वर्तमान ईराक में फरात नदी से प्रायः छह मील दक्षिण 'खल्दियों के ऊर' के खंडहर खोद निकाले गए हैं। बाइबिल में इसे इब्राहिम का मूल स्थान कहा गया है। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर अरबी मरुभूमि की सीमा आरंभ होती है। प्राचीन सुमेरियों का जिग्गुरत आज भी दूसरे खंडहरों के साथ वहाँ खड़ा है। डॉ० लियोनार्ड वूली ने अथक परिश्रम से सुमेरी सभ्यता के उस अत्यंत प्राचीन ऊर नगर के भग्नावशेष खोद निकाले हैं। उनका समय प्रायः ३५०० ई० पू० है और उनमें सबसे महत्व के अवशेष उस नगर की शवसमाधियाँ हैं। वहाँ की इमारतों में संभवतः वे सबसे प्राचीन हैं और उनमें पाई गई अनेक विभूतियों से उस काल की सभ्यता और उस सभ्यता के ऐश्वर्य का पता चलता है।

ऊर की कब्रों में मिली वस्तुओं के अध्ययन से जीवन और मृत्यु दोनों से संबंधित अद्‌भुत्‌ रहस्यों का ज्ञान होता है। राजाओं के उन मकबरों में कल्पनातीत स्वर्ण और बहुमूल्य वस्तुओं का संचय हुआ था। साथ ही वहाँ अनेक मानवों की बलि होने का प्रमाण प्रस्तुत है। मिस्रियों की ही भाँति, लगता है, प्राचीन सुमेरी लोग भी अपने मृतकों को उनकी अनंत यात्रा के लिये प्रत्येक आवश्यक पार्थिव उपकरणों से संयुक्त कर देते थे। अनेक प्रकार के भोज्य और पेय, रथ, सिंहासन और संगीत के विविध उपकरण मृतकों के साथ गाड़ दिए जाते थे। ऊर की प्रायः दो हजार कब्रों से जो चीजें निकली हैं उनमें धातुकर्म की आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्रधान हैं। राजाओं और रानियों के साथ जीवित दफनाए गए दासों और दासियों के पंजर सुमेरी सभ्यता के भीषण विश्वासों को प्रकट करते हैं। इन दास दासियों ने जीवन में अपने स्वामियों की सेवा की थी, अब वही मरणांतर उनकी सेवा करने के लिये उनके साथ कर दिए गए थे। स्वामियों के जो दास जीवन में जितने ही प्रियपात्र रहे थे, मृत्यु में वे उतने ही निकटतर माने गए और स्वामियों के साथ ही उनका अकाल अंत हुआ। ऊर की कब्रों से सोने के किरीट, कंगन, कानों के अलंकार, अनेक प्रकार के हार आदि उपलब्ध हुए हैं। ताँबे और चाँदी के फरसे और उनसे बने भाँति भाँति के अचरज के काम के बरछे भाले मिले हैं जिनसे धातु की ढलाई का प्रमाण मिलता है। छोटी छोटी शृंगारमंजूषाओं में रखी दाँत और कान कुरेदनेवाली छोटी छोटी धातु की पिनें मिली हैं जिनका प्रभाव देखनेवालों पर नितांत आधुनिक पड़ता है।

एक कब्र में स्वर्ण का एक सुंदर किरीट पहने एक नारी का शव पड़ा था जिसके हाथों में सोने का एक सुंदर गिलास था। प्रगट ही वह स्वामिनी थी जिसके चार दासों को मारकर उनके शव उनके चरणों में डाल दिए गए थे और उसकी कब्र के बाहर बंद द्वार पर तीन भेड़ों की बलि दे दी गई थी। कब्र की तीनमंजिली इमारत की हर मंजिल में एक मानव बलि दी गई थी। सबसे ऊपर वाली कब्र में दो सोने के फलकवाले खंजर मिले जिनकी नीलमजड़ी मूठों पर स्वर्णाक्षरों में "राजा मेस्कालाम्दुग" का नाम उत्कीर्ण था। दूसरी कब्रों में तो और भी अधिक दौलत भरी थी और उनमें बलि दिए हुए आदमियों की संख्या प्रचुर थी। एक में तो ७४ लाशें मिलीं। रानी शुबाद की कब्र में तो सोने और बहुमूल्य पत्थरों की बनी अनेक चीजें मिली हैं। शृंगार की अनेक चीजों और मणियों से निर्मित वीणाओं,

किरीटों और वर्तनों की छटा देखते ही योग्य है। ऊर की इन कब्रों में जहाँ मरणांतर परलोक के भयानक जनविश्वासों पर प्रकाश पड़ता है वहाँ ३५०० ई० पू० और २५०० ई० पू० के बीच के काल की सभ्यता का भी प्रभूत रूप से उद्घाटन होता है।

इन शवसमाधियों के बाद ही ऊर के पहले राजवंश का उदय हुआ। इन कब्रों का समय इतना प्राचीन होने पर भी प्रसिद्ध जलप्रलय के पश्चात् है, जो संभवतः ३२०० ई० पू० से भी पहले हुआ था। इनसे पहले केवल 'कीश और एरेख़ के राजकुलों ने सुमेर में राज किया था। ऊर के महान् मंदिर का घेरा सम्राट् नबूख़दनेज्जार का बनवाया हुआ है। उसके उत्तर-पूर्वी भाग में बूर-सिन का एक अभिलेख है। सुमेरियों का यही मंदिर जिग्गुरत नाम से प्रसिद्ध था। इसमें बाद के राजाओं ने धीरे धीरे अनेक परिवर्तन कर दिए थे। इसके अतिरिक्त वहाँ अनेक पुराने मंदिर हैं जिनका समय समय पर विध्वंस और जीर्णोद्धार होता आया था।

सं०ग्रं०—सी० लियोनार्ड वूली : ऊर ऑव द कैल्डीज (१९३०); भगवतशरण उपाध्याय : दि एन्शेंट वर्ल्ड (१९५५)।

(भ० श० उ०)

ऊर्जा ऊर्जा की सरल परिभाषा देना कठिन है। ऊर्जा वस्तु नहीं है। इसको हम देख नहीं सकते, यह कोई जगह नहीं घेरती, न इसकी कोई छाया ही पड़ती है। संक्षेप में, अन्य वस्तुओं की भाँति यह द्रव्य नहीं है, यद्यपि बहुधा द्रव्य से इसका घनिष्ठ संबंध रहता है। फिर भी इसका अस्तित्व उतना ही वास्तविक है जितना किसी अन्य वस्तु का और इस कारण कि किसी पिंड समुदाय में, जिसके ऊपर किसी बाहरी बल का प्रभाव नहीं रहता, इसकी मात्रा में कमी वेशी नहीं होती। विज्ञान इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

साधारणतः, कार्य कर सकने की क्षमता को ऊर्जा कहते हैं। जब धनुप से शिकार करनेवाला कोई शिकारी धनुष को भुकाता है तो धनुष में ऊर्जा आ जाती है जिसका उपयोग बाण को शिकार तक चलाने में किया जाता है। बहते पानी में ऊर्जा होती है जिसका उपयोग पनचक्की चलाने में अथवा किसी दूसरे काम के लिये किया जा सकता है। इसी तरह बारूद में ऊर्जा होती है जिसका उपयोग पत्थर की शिलाएँ तोड़ने अथवा तोप से गोला दागने में हो सकता है। बिजली की धारा में ऊर्जा होती है जिससे बिजली की मोटर चलाई जा सकती है और इस मोटर से कार्य किया जा सकता है। सूर्य के प्रकाश में ऊर्जा होती है जिसका उपयोग प्रकाशसेलों द्वारा बिजली की धारा उत्पन्न करने में किया जा सकता है। ऐसे ही अणु-बम में नाभिकीय ऊर्जा रहती है जिसका उपयोग शत्रु का विध्वंस करने अथवा अन्य कार्यों में किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊर्जा कई रूपों में पाई जाती है। भुके हुए धनुप में जो ऊर्जा है उसे स्थितिज ऊर्जा कहते हैं, बहते पानी की ऊर्जा गतिज ऊर्जा है, बारूद की ऊर्जा रासायनिक ऊर्जा है, बिजली की धारा की ऊर्जा वैद्युत ऊर्जा है, सूर्य के प्रकाश की ऊर्जा को प्रकाश ऊर्जा कहते हैं। सूर्य में जो ऊर्जा है वह उसके ऊँचे ताप के कारण है। इसको उष्मा ऊर्जा कहते हैं। विभिन्न उपायों द्वारा ऊर्जा को एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। इन परिवर्तनों में ऊर्जा की मात्रा सर्वदा एक ही रहती है। उसमें कमी वेशी नहीं होती। इसे ऊर्जा-अविनाशिता-सिद्धांत कहते हैं।

ऊपर कहा गया है कि कार्य कर सकने की क्षमता को ऊर्जा कहते हैं। परंतु सारी ऊर्जा को कार्य में परिणत करना सर्वदा संभव नहीं होता। इसलिये यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ऊर्जा वह वस्तु है जो उतनी ही घटती है जितना कार्य होता है। इस कारण ऊर्जा को नापने के वे ही एकक होते हैं जो कार्य को नापने के। यदि हम एक किलोग्राम भार को एक मीटर ऊँचा उठाते हैं तो पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध एक विशेष मात्रा में कार्य करना पड़ता है। यदि हम इसी भार को दो मीटर ऊँचा उठाएँ अथवा दो किलोग्राम भार को एक मीटर ऊँचा उठाएँ तो दोनों दशाओं में पहले की अपेक्षा दूना कार्य करना पड़ेगा। इससे प्रकट है कि कार्य का परिमाण उस बल के परिमाण पर, जिसके विरुद्ध कार्य किया जाय, और उस दूरी के परिमाण पर, जिस दूरी द्वारा उस बल के विरुद्ध कार्य किया जाय, निर्भर रहता है और इन दोनों परिमाणों के गुणनफल के बराबर होता है।

कार्य की किसी भी मात्रा को हम कार्य का एकक मान सकते हैं। उदाहरणतः एक किलोग्राम भार को पृथ्वी के आकर्षण के विरुद्ध एक मीटर ऊँचा उठाने में जितना कार्य करना पड़ता है उसे एकक माना जा सकता है। परंतु पृथ्वी का आकर्षण सब जगह एक समान नहीं होता। इसका जो मान मद्रास में है वह दिल्ली में नहीं है। इसलिये यह एकक असुविधापूर्ण है। फिर भी बहुत से देशों में इंजीनियर ऐसे ही एकक का उपयोग करते हैं जिसे फुट-पाउंड कहते हैं। यह उस कार्य की मात्रा है जो लंदन के अक्षांश में समुद्रतट पर एक पाउंड को एक फुट ऊँचा उठाने में किया जाता है। परंतु वैज्ञानिक कार्यों के लिये एक दूसरे ही एकक का प्रयोग किया जाता है जो सेंटीमीटर-ग्राम-सेकंड के ऊपर निर्भर है। इसमें बल के एकक को 'डाइन' (Dyne) कहते हैं। डाइन बल का वह एकक है जो एक ग्राम के पिंड में एक सेकंड में एक सेंटीमीटर प्रति सेकंड का वेग उत्पन्न कर सकता है। इस बल के क्रियाबिंदु को इसके विरुद्ध एक सें० मी० हटाने में जितना कार्य करना पड़ता है उसे अर्ग कहते हैं। परंतु व्यावहारिक दृष्टि से कार्य का यह एकक बहुत छोटा है। अतएव दैनिक व्यवहार में एक दूसरा एकक उपयोग में लाया जाता है। इसमें लंबाई का एकक सेंटीमीटर के स्थान पर मीटर है तथा द्रव्यमान का एकक ग्राम के स्थान पर किलोग्राम है। इसमें बल का एकक 'न्यूटन' है। न्यूटन बल का वह एकक है जो एक किलोग्राम के पिंड में एक सेकंड में एक मीटर प्रति सेकंड का वेग उत्पन्न कर सकता है। इस तरह न्यूटन $१०^५$ डाइन के बराबर होता है। इस बल के क्रियाबिंदु को उसके विरुद्ध एक मीटर तक हटाने में जितना कार्य करना पड़ता है उसे जूल कहते हैं। एक जूल $१०^७$ अर्गों के बराबर होता है। पेरिस के अक्षांश में न्यूटन लगभग $\frac{१}{९.८१}$ किलोग्राम भार के बराबर होता है और एक जूल $\frac{१}{९.८१}$ किलोग्राम को एक मीटर ऊँचा उठाने में किए गए कार्य के बराबर।

ऊर्जा को भी इन्हीं एककों में नापा जाता है। परंतु कभी कभी विशेष स्थलों पर कुछ अन्य एककों का उपयोग होता है। इनमें एक इलेक्ट्रान-वोल्ट है। यह ऊर्जा का वह एकक है जिसे इलेक्ट्रान एक वोल्ट के विभवांतर (पोटेंशियल डिफ़रेंस) से गुजरने पर प्राप्त करता है। यह बहुत छोटा एकक है और केवल १.६०×१०^{-१२} अर्ग के बराबर होता है। इसके अतिरिक्त घरों में उपयोग में आनेवाली वैद्युत ऊर्जा को नापने के लिये एक दूसरे एकक का उपयोग होता है, जिसे किलोवाट-घंटा कहते हैं और जो ३.६×१०^६ जूलों के बराबर होता है।

यांत्रिक ऊर्जा—उन वस्तुओं की अपेक्षा, जिनके अस्तित्व का अनुमान हम केवल तर्क के आधार पर कर सकते हैं, हमें उन वस्तुओं का ज्ञान अधिक सुगमता से हो जाता है जिन्हें हम स्थूल रूप से देख सकते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में ऊर्जा के उस रूप की भावना सबसे प्रथम उदय हुई जिसका संबंध बड़े बड़े पिंडों से है और जिसे यंत्रों की सहायता से कार्यरूप में परिणत होते हम स्पष्टतः देख सकते हैं। इस यांत्रिक ऊर्जा के दो रूप हैं : एक स्थितिज ऊर्जा एवं दूसरा गतिज ऊर्जा। इसके विपरीत उस ऊर्जा का ज्ञान जिसका संबंध अणुओं तथा परमाणुओं की गति से है, मनुष्य को बाद में हुआ। इस कारण यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि न्यूटन से भी पहले फ्रांसिस बेकन की यह धारणा थी कि उष्मा द्रव्य के कणों की गति के कारण है।

ऊर्जा-अविनाशिता-सिद्धांत की ओर पहला पद प्रसिद्ध डच वैज्ञानिक क्रिश्चियन हाइगेंज़ ने उठाया जो न्यूटन का समकालीन था। अपनी एक पुस्तक में, जो हाइगेंज की मृत्यु के आठ साल बाद सन् १७०३ ई० में प्रकाशित हुई, हाइगेंज ने कहा कि जब दो पूर्णतः प्रत्यास्थ (इलैस्टिक) पिंडों में संघात (टक्कर) होता है तो उनके द्रव्यमानों और उनके वेगों के गुणनफलों का योग संघात के बाद भी उतना ही रहता है जितना टक्कर के पहले।

कुछ लोगों का अनुमान है कि यांत्रिक ऊर्जा की अविनाशिता के सिद्धांत का पता न्यूटन को था। परंतु स्पष्ट शब्दों से सबसे पहले लाग्रांज ने इसे सन् १७८८ ई० में व्यक्त किया। लाग्रांज के अनुसार ऐसे पिंडसमुदाय में जिसपर किसी बाहरी बल का प्रभाव न पड़ रहा हो, यांत्रिक ऊर्जा, अर्थात् स्थितिज ऊर्जा एवं गतिज ऊर्जा का योग, सर्वदा एक ही रहता है।

स्थितिज ऊर्जा—एक किलोग्राम भार के एक पिंड को पृथ्वी के आकर्षण के विरुद्ध एक मीटर ऊँचा उठाने में जो कार्य करना पड़ता है उसे हम किलोग्राम-मीटर कह सकते हैं और यह लगभग ९.८१ जूलों के बराबर होता है। यदि हम एक डोर लेकर और उसे एक घिरनी के ऊपर डालकर उसके दोनों सिरों से लगभग एक किलोग्राम के पिंड बाँधें और उन्हें ऐसी अवस्था में छोड़ें कि वे दोनों एक ही ऊँचाई पर न हों और ऊँचे पिंड को बहुत धीरे-से नीचे आने दें तो हम देखेंगे कि एक किलोग्राम का पिंड एक मीटर नीचे आने में लगभग एक किलोग्राम के पिंड को एक मीटर ऊँचा उठा देगा। घिरनी में घर्षण जितना ही कम होगा दूसरा पिंड भार में उतना ही पहले पिंड के भार के बराबर रखा जा सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम किसी पिंड को पृथ्वी से ऊँचा उठाएँ तो उसमें कार्य करने की क्षमता आ जाती है अर्थात् उसकी ऊर्जा बढ़ जाती है। एक किलोग्राम भार के पिंड को यदि ५ मीटर ऊँचा उठाया जाय तो उसमें ५ किलोग्राम-मीटर कार्य करने की क्षमता आ जाती है, एवं उसकी ऊर्जा पहले की अपेक्षा उसी परिमाण में बढ़ जाती है। यह ऊर्जा पृथ्वी तथा पिंड की आपेक्षिक स्थिति के कारण होती है और वस्तुतः पृथ्वी एवं पिंड द्वारा बने समुदाय (सिस्टम) की ऊर्जा होती है। इसीलिये इसे स्थितिज ऊर्जा कहते हैं। जब कभी भी पिंडों के किसी समुदाय की पारस्परिक दूरी अथवा एक ही पिंड के विभिन्न भागों की स्वाभाविक स्थिति में अंतर उत्पन्न होता है तो स्थितिज ऊर्जा में भी अंतर आ जाता है। कमानी को दबाने में अथवा धनुष को झुकाने से उनमें स्थितिज ऊर्जा आ जाती है। नदियों में बाँध बाँधकर पानी को अधिक ऊँचाई पर इकट्ठा किया जाय तो इस पानी में स्थितिज ऊर्जा आ जाती है।

गतिज ऊर्जा—न्यूटन ने बल की यह परिभाषा दी कि बल संवेग (मोमेंटम) के परिवर्तन की दर के बराबर होता है। यदि द्र (m) किलोग्राम का कोई पिंड प्रारंभ में स्थिर हो और उसपर एक नियत बल स (t) सेकंड तक कार्य करके जो वेग उत्पन्न करे उसका मान वे (v) मीटर प्रति सेकंड हो तो बल का मान ब = द्र वे/स ($F = mv/t$) न्यूटन होगा। इसी समय में पिंड जो दूरी तै करे वह यदि दू (d) मीटर हो तो बल द्वारा किया गया कार्य ब दू (Fd) जूल के बराबर होगा। परंतु दू = वेस/२ ($d = vt/2$)। अतएव बल द्वारा किया कार्य :

$$\frac{\text{द्र वे}}{\text{स}} \times \frac{\text{वे स}}{\text{२}} = \frac{1}{2}\ \text{द्र वे}^2 \left[\frac{mv}{t} \times \frac{vt}{2} = \frac{1}{2}mv^2\right]$$

अर्थात् द्र (m) द्रव्यमानवाले पिंड का वेग यदि वे (v) हो तो उसकी ऊर्जा ½ द्र वे² ($\frac{1}{2}mv^2$) होगी। यह ऊर्जा उस पिंड में उसकी गति के कारण होती है और गतिज ऊर्जा कहलाती है। जब हम धनुष को झुकाकर तीर छोड़ते हैं तो धनुष की स्थितिज ऊर्जा तीर की गतिज ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। स्थितिज ऊर्जा एवं गतिज ऊर्जा के पारस्परिक परिवर्तन का सबसे सुंदर उदाहरण सरल लोलक है। जब हम लोलक के गोलक को एक ओर खींचते हैं तो गोलक अपनी साधारण स्थिति से थोड़ा ऊँचा उठ जाता है और इसमें स्थितिज ऊर्जा आ जाती है। जब हम गोलक को छोड़ते हैं तो गोलक इधर उधर झूलने लगता है। पहले इसकी स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में परिवर्तित होती है। जब गोलक लटकने की साधारण स्थिति में आता है तो इसमें केवल गतिज ऊर्जा रहती है। संवेग के कारण गोलक दूसरी ओर चला जाता है और गतिज ऊर्जा पुनः स्थितिज ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। साधारणतः वायु के घर्षण के विरुद्ध कार्य करने से गोलक की ऊर्जा कम होती जाती है और इसकी गति कुछ देर में बंद हो जाती है। यदि घर्षण का बल न हो तो लोलक अनंत काल तक चलता रहेगा।

उष्मा ऊर्जा—गति विज्ञान में ऊर्जा-अविनाशिता-सिद्धांत के प्रमाणित हो जाने के बाद भी इसके दूसरे स्वरूपों का ज्ञान न होने के कारण यह समझा जाता था कि कई स्थितियों में ऊर्जा नष्ट भी हो सकती है, जैसे, जब किसी पिंडसमुदाय के विभिन्न भागों में आपेक्षिक गति हो तो घर्षण के कारण स्थितिज और गतिज ऊर्जा कम हो जाती है। वस्तुतः ऐसी स्थितियों में ऊर्जा नष्ट नहीं होती वरन् उष्मा ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। परंतु १८वीं शताब्दी तक उष्मा को ऊर्जा का ही एक स्वतंत्र स्वरूप नहीं समझा जाता था। उस समय तक यह धारणा थी कि उष्मा एक द्रव्य है। १९वीं शताब्दी में प्रयोगों द्वारा यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया गया कि उष्मा भी ऊर्जा का ही एक दूसरा रूप है।

यों तो प्रागैतिहासिक काल में भी मनुष्य लकड़ियों को रगड़कर अग्नि उत्पन्न करता था, परंतु ऊर्जा एवं उष्मा के घनिष्ठ संबंध की ओर सबसे पहले बेंजामिन टामसन (काउंट रमफर्ड) का ध्यान गया। यह संयुक्त राज्य (अमरीका) के मैसाचूसेट्स प्रदेश का रहनेवाला था। परंतु उस समय यह बवेरिया के राजा का युद्धमंत्री था। ढली हुई पीतल की तोप की नलियों को छेदते समय इसने देखा कि नली बहुत गर्म हो जाती है तथा उससे निकले बुरादे और भी गरम हो जाते हैं। एक प्रयोग में तोप की नाल के चारों ओर काठ की नाँद में पानी भरकर इसने देखा कि खरादने से जो उष्मा उत्पन्न होती है उससे ढाई घंटे में सारा पानी उबलने के ताप तक पहुँच गया। इस प्रयोग में उसका वास्तविक ध्येय यह सिद्ध करना था कि उष्मा कोई द्रव नहीं है जो पिंडों में होती है और दाब के कारण वैसे ही बाहर निकल आती है जैसे निचोड़ने से कपड़े में से पानी, क्योंकि यदि ऐसा होता तो किसी पिंड में यह द्रव एक सीमित मात्रा में ही होता, परंतु छेदनेवाले प्रयोग से ज्ञात होता है कि जितना ही अधिक कार्य किया जाय उतनी ही अधिक उष्मा उत्पन्न होगी। रमफर्ड ने यह प्रयोग सन् १७९८ ई० में किया। इसके २० वर्ष पहले ही लाव्वाज़िए तथा लाग्रांज ने यह देखा था कि जानवरों में भोजन से उतनी ही उष्मा उत्पन्न होती है जितनी रासायनिक क्रिया द्वारा उस भोजन से प्राप्त हो सकती है।

सन् १८१९ में फ्रांसीसी वैज्ञानिक ड्यूलों ने देखा कि किसी गैस के संपीडन से उसमें उष्मा उसी अनुपात में उत्पन्न होती है जितना संपीडन में कार्य किया जाता है। सन् १८४२ ई० में इसी भावना का उपयोग जूलियस राबर्ट मायर ने, जो उस समय केवल २८ वर्ष का था और जर्मनी के हाइलब्रॉन नगर में डॉक्टर था, इस बात की गणना के लिये किया कि एक कलरी उष्मा उत्पन्न करने के लिये कितना कार्य आवश्यक है। हम जानते हैं कि प्रत्येक गैस की दो विशिष्ट उष्माएँ होती हैं : एक नियत आयतन पर तथा दूसरी नियत दाब पर। पहली अवस्था में गैस कोई कार्य नहीं करती। दूसरी अवस्था में गैस को बाह्य दबाव के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है और दोनों विशिष्ट उष्माओं में जो अंतर होता है वह इसी कार्य के समतुल्य होता है। इस तरह मायर को उष्मा के यांत्रिक तुल्यांक का जो मान प्राप्त हुआ वह लगभग उतना ही था जितना काउंट रमफ़ोर्ड को प्राप्त हुआ था।

इसी समय इंग्लैंड में जेम्स प्रेसकाट जूल भी उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक निकालने में लगा हुआ था। इसके प्रयोग सन् १८४२ ई० से सन् १८५० ई० तक चलते रहे। अपने प्रयोग में इसने एक ताँबे के उष्मामापी में पानी लिया और उसे एक मथनी से मथा। मथनी को दो घिरनियों पर से लटके हुए दो भारों पर चलाया जाता था। जिस डोर से ये भार लटके हुए थे वह इस मथनी के सिरे में लपेटी हुई थी और जब ये भार नीचे की ओर गिरते थे तो मथनी घूमती थी। जब ये भार नीचे गिरते थे तो इनकी स्थितिज ऊर्जा कम हो जाती थी। इस कमी का कुछ भाग भारों की गतिज ऊर्जा में परिणत होता था और कुछ भाग मथनी को घुमाने में व्यय होता था। इस तरह यह ज्ञात किया जा सकता था कि मथनी को घुमाने में कितना कार्य किया जा रहा था। उष्मामापी के पानी के ताप में जितनी वृद्धि हुई उससे यह ज्ञात हो सकता था कि कितनी उष्मा उत्पन्न हुई; और तब उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक ज्ञात किया जा सकता था। जूल ने ये प्रयोग पानी तथा पारा दोनों के साथ किए।

सन् १८४७ ई० में हरमान फान हेलमहोल्ट्स ने एक पुस्तक लिखी जिसमें उष्मा, चुंबक, बिजली, भौतिक रसायन आदि विभिन्न क्षेत्रों के उदाहरणों द्वारा उष्मा-अविनाशिता-सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया था। जूल ने प्रयोग द्वारा वैद्युत ऊर्जा तथा उष्मा-ऊर्जा को समानता सिद्ध की।
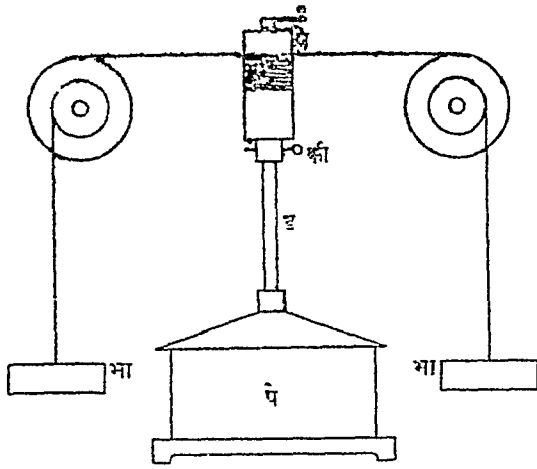
जूल का यंत्र।

वे = मथनी का वेलन; की = मथनी को धुरी से जोड़नेवाली कील;
इ = धुरी; भा = भार; पे = पेटी जिसमें उष्मामापी रखा है।

वैद्युत घटों (सेलों) द्वारा रासायनिक ऊर्जा वैद्युत ऊर्जा में परिणत होती है। इस बिजली से हम प्रकाश पैदा कर सकते है। सूर्य के प्रकाश से प्रकाश-संश्लेषण क्रिया द्वारा प्रकाश-ऊर्जा पेड़ों की रासायनिक ऊर्जा में परिणत होती है। ऐसी क्रियाओं द्वारा यह स्पष्ट है कि विभिन्न परिवर्तनों में ऊर्जा का केवल रूप बदलता है। ऊर्जा के मान में कोई अंतर नहीं आता।

द्रव्यमान तथा ऊर्जा की समतुल्यता—सन् १६०५ ई० में आइन्स्टाइन ने अपना आपेक्षिक सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसके अनुसार कणों का द्रव्यमान उनकी गतिज ऊर्जा पर निर्भर रहता है। स्थिर अवस्था में जिस कण का द्रव्यमान $द्र_0$ (m_0) है, गतिशील अवस्था में उसका द्रव्यमान $द्र_0/(१-वे^2/प्र^2)^{\frac{१}{२}}$ $[m_0/(1-v^2/c^2)]^{\frac{1}{2}}$ हो जाता है, जिसमें वे (v) उस कण की गति है तथा प्र (c) प्रकाश की गति है। इस सिद्धांत के अनुसार उस कण की गतिज ऊर्जा

$$ऊ = द्र_0 प्र^2\left(\frac{१}{\sqrt{(१-वे^2/प्र^2)}}-१\right),$$

$$\left[T = m_0c^2\left(\frac{1}{\sqrt{(1-v^2/c^2)}}-1\right)\right]$$

अर्थात् $ऊ = (द्र - द्र_0)प्र^2$, $[T = (m - m_0)c^2]$

और $द्र = द्र_0 + ऊ/प्र^2$, $[m = m_0 + T/c^2]$

जिसमें $द्र = द्र_0\ (१ - वे^2/प्र^2)^{\frac{१}{२}}$, $[m = m_0/(1-v^2/c^2)^{\frac{1}{2}}]$ = उस कण का बढ़ा हुआ द्रव्यमान।

इसका यह अर्थ है कि ऊर्जा का मान द्रव्यमानवृद्धि को प्रकाश के वेग के वर्ग से गुणा करने पर प्राप्त होता है। इस सिद्धांत की पुष्टि नाभिकीय विज्ञान के बहुत से प्रयोगों द्वारा होती है। सूर्य में भी ऊर्जा इसी तरह बनती है। सूर्य में एक शृंखल क्रिया होती है जिसका फल यह होता है कि हाइड्रोजन के चार नाभिकों के संयोग से हीलियम का नाभिक बन जाता है। हाइड्रोजन के चारों नाभिकों के द्रव्यमान का योगफल हीलियम के नाभिक से कुछ अधिक होता है। यह अंतर ऊर्जा मे परिवर्तित हो जाता है। परमाणु बम एवं हाइड्रोजन बम में भी इसी द्रव्यमान-ऊर्जा-समतुल्यता का उपयोग होता है।

ऊर्जा का क्वांटमीकरण—वर्णक्रम के विभिन्न वर्णों के अनुसार कृष्ण पिंड के विकिरण के वितरण का ठीक सूत्र क्या है, इसका अध्ययन करते हुए प्लांक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विकिरण का आदान प्रदान अनियमित मात्रा में नहीं होता प्रत्युत ऊर्जा के छोटे कणों द्वारा होता है। इन कणों को क्वांटम कहते है। क्वांटम का मान प्रकाश की आवृत्ति के ऊपर निर्भर रहता है। आवृत्तिसंख्या को जिस नियतांक से गुणा करने पर ऊर्जा-क्वांटम का मान प्राप्त होता है उसे प्लांक नियतांक कहते है।

नील्स बोर ने सन् १६१३ ई० में यह दिखलाया कि यह क्वांटम सिद्धांत अत्यंत व्यापक है और परमाणुओं मे इलेक्ट्रान जिन कक्षाओं में घूमते हैं वे कक्षाएँ भी क्वांटम सिद्धांत के अनुसार ही निश्चित होती है। जब इलेक्ट्रान अधिक ऊर्जावाली कक्षा से कम ऊर्जावाली कक्षा में जाता है तो इन दो ऊर्जाओं का अंतर प्रकाश के रूप मे बाहर आता है। हाइजेनबर्ग, श्रोडिंगर तथा डिराक ने इस क्वांटम सिद्धांत को और भी विस्तृत किया है।

सं०ग्रं०—लेनार्ड : ग्रेट मेन ऑव साइंग; वाइटमैन : द ग्रोथ ऑव सायंटिफ़िक आइडियाज; टिंडल : हीट ऐज ए मोड ऑव मोशन; माख : हिस्ट्री ऐंड द रुट ऑव द प्रिंसिपुल ऑव द कंजर्वेशन ऑव एनर्जी। (रा० नि० रा०)

ऊर्णाजिन (फ़र) जंतुओं के उन चर्मो को कहते हैं जिनमें उनका प्राकृतिक लोम (बाल) लगा ही रहता है। ठंढे देशों में, विशेषकर वहाँ के धनिकों मे, ऊर्णाजिन पहनने का प्रचलन अधिक है, आवश्यकता के लिये उतना नही जितना दिखावे के लिये। ऊर्णाजिन के एक एक जनाना ओवरकोट के लिये लोग कई कई हजार रुपए तक दे देते है, विशेषकर तब जब ऊर्णाजिन किसी दुर्लभ जंतु के चर्म से बना रहता है या उसका कोई विशेष रंग रहता है। विदेशों में फ़र मे उन्ही चर्मो की गिनती की जाती है जो पहने जाते हैं। बिछाने के लिये उपयुक्त मृगचर्म, व्याघ्रचर्म या ऋक्षचर्म आदि की गिनती इसमें नही होती।

जंगली जंतुओं से तो ऊर्णाजिन मिलता ही है, अब पालतू जंतुओं से भी बहुत सा ऊर्णाजिन प्राप्त होता है। जंगली जंतुओं में साधारणतः दो तरह के लोम होते है, एक बड़े, जो वर्षा से जंतु की रक्षा करते है और संरक्षक लोम कहलाते है; दूसरे छोटे और घने, जो शीत मे जंतु को बचाते हैं। ये अधोलोम कहलाते है। कुछ ऊर्णाजिन सरक्षक लोम को चुनकर (निकालकर) और अधोलोम को कतरनी से बराबर कतरकर तैयार किए जाते है।

संसार का अधिकांश ऊर्णाजिन उत्तरी अमरीका और साइबीरिया से आता है, परंतु थोड़ा बहुत ऊर्णाजिन यूरोप, चीन, जापान, ईरान, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका से भी प्राप्त होता है। भारत में ऊर्णाजिन कश्मीर में प्राप्त होता है। ठंढे देशो से प्राप्त ऊर्णाजिन में लोम घने और लंबे होते हैं। ऊर्णाजिन की उत्तमता पर ऋतु का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। बीच जाड़े मे मारे गए जंतुओं से सबसे अच्छा ऊर्णाजिन प्राप्त होता है। जाड़े के अंत में चमड़ा मोटा हो जाता है और लोम झड़ने लगते है। खुरवाले पशुओं की खाल (जैसे भेंड़, बकरी आदि की खाल) भी पहनने के काम में आती है। साधारणतः इनके बच्चों के जन्म लेने के एक सप्ताह के भीतर ही उनकी खाल ले ली जाती है। टट्टुओं की खालें भी इसी प्रकार काम में आती है। अस्सी से ऊपर तरह के जानवरों की खालें ऊर्णाजिन बनाने के लिये प्रयुक्त होती है, जिनमे अपोसम, अर्मिन, ऊदबिलाव, गिलहरी, चिंचिला, चीता, बंदर, बकरी, बिल्ली, बीवर, भेंड़, भेड़िया, मस्करैट, मिंक, रैकून, लिंक्स, लोमड़ी, शशक, सियार, सील, सेबुल, एकंक आदि जंतु हैं।

जंतुपालन—अब ऊर्णाजिन देनेवाले जंतु पाले भी जाते हैं, विशेषकर मिंक, लोमड़ी, रैबिट आदि। मिंक ऊदबिलाव की तरह का जानवर है, जो लगभग २ फुट लंबा होता है। इसका ऊर्णाजिन बहुमूल्य होता है। वर्णसंकर करके कई रंग के मिंक उत्पन्न किए गए है, यद्यपि पहले केवल कत्थई और काली धारी वाले सफेद मिंक ही उपलब्ध थे। जंतुओं को बड़े बड़े जालीदार पिंजड़ों में रखा जाता है, जिनमें वे स्वच्छंदता से कूद फाँद सकते हैं और इसलिये स्वस्थ रहते हैं। नर और मादा के पिंजड़े अगल बगल

रखे जाते है जिससे वे एक दूसरे से परिचित हो जायें, अन्यथा उनको एक साथ करने पर उनके लडने और एक के मरने का भय रहता है। जानवरो को स्वच्छ रखना चाहिए। आहार और औषध का उचित प्रबंध रहना चाहिए। पहले इन विषयो का ज्ञान अच्छा नही था परंतु अब अमरीका की सरकार ने बहुत पैसा खर्च करके इन बातो पर अनुसंधान कराया है और पुस्तको तथा परामर्श देनेवाले डाक्टरो द्वारा परीक्षित रीतियों का ज्ञान सुलभ कर दिया गया है। खाल खीचने के बाद भीतर लगे मास और चरबी को खुरचकर निकाल दिया जाता है और तब लकडी के पटरो पर या धातु के चौखटो पर तानकर खालो को सूखने दिया जाता है।

सिझाना—सूखी खाले जब सिझानेवाले कारखानो मे पहुँचती हैं तो उनको नमक के घोल मे डाल दिया जाता है, जिसमे वे नरम हो जायँ परंतु सडे नहो। तब छुरे की धार पर उनको इधर से उधर खीचा जाता है, जिसमे भीतरी झिल्लो खुरच उठे। तब उन्हे फिटकिरी तथा थोडे से अम्ल के मिश्रण मे डाला जाता है। इसमे से निकालने और सुखाने के बाद चमडी की ओर मक्खन, चर्बी या तेल मला जाता है, तब उनपर मशीन से कुंदी की जाती है। फिर उन्हे बहुत बडे ढोल मे डाल दिया जाता है जिसमे किसी कडी लकडी की कुनाई रहती है। ये ढोल मशीन से घूमते रहते हैं और इस प्रकार कुनाई खालो को अच्छी तरह साफ कर देती है।

यदि रँगाई करनी होती है तो खालो को क्षारमय (सोडा आदि के) घोल मे डाल दिया जाता है, जिसमे ऊपर लगा तैल आदि कट जाता है। तब उन्हे कसीस (लौह सल्फेट) या सोडियम बाइक्रोमेट के घोल म डालते है। इससे लोम मे रग पकडने की शक्ति आ जाती है। तब उन्हे रग के घोल मे डाला जाता है। खालो के रँग जाने के बाद उनको धोया जाता है। पक्का रहने के कारण धोने से रग नहीं छूटते, केवल अनावश्यक रासायनिक पदार्थ वह जाते है। खाला मे अनावश्यक जल अब मशीन द्वारा निकाल लिया जाता है। अर्धशुष्क खालो को पारी पारी से शुष्क कुनाईवाले कई ढोलो मे नचाकर पूर्णतया सुखा लिया जाता है। फिर उन्हे जालीदार पिंजडे मे डालकर नचाया जाता है, जिसमे कुनाई प्राय सब अलग छिटक जाती है। तब खाला को बेत से पीटा जाता है और अत मे संपीडित वायु से उनको पूर्णतया स्वच्छ कर लिया जाता है। आवश्यकता होती है तो सरक्षक लोम को मशीन मे उखाड लेते हैं और अधोलोम को काटकर एक ऊँचाई का कर देते है। ऐसा जतुओ को केवल कुछ ही जातियो (जैसे सील या बीवर) के लिये करना पडता है।

व्यापार—अधिकाश ऊर्णाजिन जगली पशुओ को मारने या फँसाने से प्राप्त होता है, परतु कैनाडा मे लगभग ४० प्रतिशत ऊर्णाजिन पाले गए जानवरो से प्राप्त होता है। अब न्यूयॉर्क ऊर्णाजिन व्यापार का केंद्र हो गया है, पहले लदन और लाइप्त्सिग थे। ५० करोड रुपए से अधिक का माल प्रति वर्ष बिकता है। सस्ते ऊर्णाजिनो की ही अधिक खपत है जो रैबिट आदि से प्राप्त होते है।

ऊर्णाजिनो से कोट, वडी, गुलूबद और दुपट्टे बनते है। इसके अतिरिक्त वे ऊनी कपडो मे कालर, कफ और किनारो के लिये भी प्रयुक्त होते है। सस्ते ऊर्णाजिन अस्तर के लिये भी काम आते है। जूतो मे भी इनका अस्तर दिया जाता है, जिसमे पैर गरम रहे। एक एक ओवरकोट मे कई जानवरो की खाल लग जाती है और मूल्य कई हजार से लेकर दो चार सौ रुपए तक होता है। अमरीका मे ही ऊर्णाजिनो की अधिक खपत है और विधान बने है, जिनका कडाई से पालन होता है। इनके अनुसार विक्रेता को स्पष्ट शब्दो मे बताना पडता है कि रग असली है या नकली और खाल किस जानवर की है। ऊर्णाजिनो पर वहा की सरकार गहरा कर लगाती है, जिससे वर्ष मे करोडो रुपए वसूल हो जाते है।

ऊर्णाजिन गरमी और बरसात से खराब हो जाते है। गरमी मे लोम कडे हो जाते है, जिसमे वे टूट या झड जाते है और बरसात से कई जानवरो के लोम एक दूसरे से चिपक जाते है। इसलिये बहुत से थोक विक्रेता अपने माल को बिजली से ठंढी की हुई कोठरियो मे रखते है।

ऊर्मिया उत्तरी-पश्चिमी ईरान मे ३७°-१०' और ३८°-२०' उ० अ० और ४५°-१०' तथा ४६°-०' पू० दे० के बीच स्थित एक झील है। इसका नाम इसके पश्चिमी किनारे पर स्थित ऊर्मिया नगर पर पडा है परतु इसको 'दे-राचेह्-ई-शाही' और 'शाही-कोल' भी कहते है। झील की औसत गहराई १५ से १६ फुट है तथा इसकी अधिकतम गहराई ५० फुट से अधिक नही है।

आधुनिक समयो मे इसके जलपृष्ठ मे बहुत परिवर्तन हुआ है। यह या तो धरातल की अस्थिरता के कारण अथवा इन क्षेत्रो मे वाष्पीकरण की तुलना मे वर्षा की मात्रा बढ जाने के कारण हुआ है। डी० मॉर्गन के अनुसार इस झील का क्षेत्रफल निम्न जलस्तर तथा उच्च जलस्तर पर क्रमानुसार ४,००० और ६,००० वर्ग किलोमीटर रहा है।

दक्षिण मे लगभग ५० चट्टानी द्वीपो का समूह है, जिनमे कोयूनडग्घी सबसे बडा है। इसमे एक मीठे पानी का झरना है, जिसके पास कुछ लोग भेड बकरी पालने का व्यवसाय करते है। बाकी सभी द्वीप बसे नही है। इसके पूर्वी किनारे पर स्थित शरफ-खानेह बदरगाह से इसके दूसरे भागो के लिये साप्ताहिक मोटर बोट के द्वारा यातायात की व्यवस्था है। यह खारे पानी की झील है।

ऊर्मिया ३७°-३४' उ० अ० और ४५°-४' पू० दे० पर स्थित ईरान के अजरबैजान प्रात के एक नगर का भी नाम था, जिसका वर्तमान नाम रेजाह है। १९६६ ई० मे जनसख्या १,१०,४१६ थी जिसमे प्रमुख रूप से तुर्क ही थे तथा आरमीनियन और असीरियन अल्पसख्यक थे। ऊर्मिया का मैदान उपजाऊ है तथा सिंचाई की मदद से फल और तबाकू की कृषि उच्च स्तर पर पहुँच चुकी है। अधिक मात्रा मे किशमिश, खजूर और तबाकू का निर्यात रूस को किया जाता है। (सु० कु० सि०)

ऊल्म डैन्यूब नदी के बाएँ किनारे पर स्वाबियन आल्प्स की तराई मे स्थित जर्मनी का एक नगर है। डैन्यूब, जिसमे इस नगर के कुछ ऊपर ईलर तथा कुछ नीचे ब्लाऊ नामक नदियाँ आकर मिलती हैं, यहाँ जल यातायात के योग्य है। फलस्वरूप यह एक नदी-बदरगाह के रूप मे प्रधान व्यावसायिक केंद्र हो गया है। यहाँ तक नेकर तथा राईन नदियो से भी यातायात होता है। यह चमडे और ऊन का प्रधान बाजार है तथा यहाँ पर तार की रस्सियाँ, सोहागा, रग, मक्खन, जूट, लाख, इत्र और सिमेंट तैयार किया जाता है, शराब बनाने, कपडा बुनने, लोहा तथा पीतल गलाने का भी कार्य होता है। ऊल्म अपनी मिलो और फौजी छावनी के कारण भी विख्यात है। (सु० कु० सि०)

ऋग्वेद आर्य धर्म तथा दर्शन का मूल ग्रथ ऋग्वेद विश्वसाहित्य का एक प्राचीनतम ग्रथ है। छदोबद्ध मत्रो को ऋक् या ऋचा कहते हैं और उन्ही का विशाल सग्रह होने से वह वेद ऋग्वेद (ऋचाओ का वेद) या ऋक्संहिता के अभिधान से प्रख्यात है। पाश्चात्य दृष्टि से भाषा तथा अर्थ के विचार से यह अन्य वेदो से प्राचीन माना जाता है। भारतीय दृष्टि से भी यह समस्त वेदो मे पूज्यतम स्वीकार किया गया है।

ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाजन उपलब्ध है—(१) अष्टक क्रम तथा (२) मडल क्रम। पहले क्रम के अनुसार ऋग्वेद मे आठ अष्टक है और प्रत्येक अष्टक मे आठ अध्याय है। इस प्रकार यह वेद ६४ अध्यायो का ग्रथ है जिसके प्रत्येक अध्याय मे 'वर्ग' और वर्ग के भीतर ऋचाएँ सगृहीत है। दूसरा विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। इस क्रम के अनुसार समग्र ऋग्वेद दस मडलो मे विभक्त है। प्रत्येक मडल मे अनेक **अनुवाक** है, अनुवाक के अवातर विभाग **सूक्त** है और सूक्तो के अतर्गत मत्र या ऋचाएँ (ऋक्) है। सूक्तो की सख्या एक हजार सत्रह (१०१७) है जिनमे खिलरूप ११ **बालखिल्य** सूक्तो को मिला देने पर सूक्तसख्या १०२८ हो जाती है। ऋचाओ की पूरी सख्या दस हजार पाँच सौ अस्सी (१०,५८० मत्र) है।

पाश्चात्य विद्वानो का कथन है कि ऋग्वेद के मडलो मे प्राचीन तथा अर्वाचीन मत्रो का सग्रह सकलित है। द्वितीय मडल से लेकर सप्तम मडल तक का भाग ऋग्वेद का प्राचीन अश है। इनम से प्रत्येक मडल किसी

विशिष्ट ऋषिवंश को अपना स्रष्टा मानता है और इसलिये ये 'वंशमंडल' कहे जाते हैं। द्वितीय मंडल के ऋषि हैं गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पंचम के अत्रि, षष्ठ के भरद्वाज और सप्तम के वसिष्ठ। अष्टम के ऋषि कण्व वंश तथा अंगिरा वंश के हैं। नवम मंडल में सोम विषयक समस्त ऋचाओं का संग्रह है जो इसी कारण 'पवमान मंडल' के नाम से प्रख्यात है (पवमान=सोम)। इस प्रकार द्वितीय से नवम मंडल तक के प्राचीन भाग में आदि तथा अंत में एक एक मंडल जोड़कर दस मंडल प्रस्तुत किए गए हैं। पाश्चात्य समीक्षक दशम मंडल को भाषा तथा भाव की दृष्टि से ऋग्वेद का अर्वाचीनतम अंग मानते हैं। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ प्रख्यात थीं जिनमें शाकल शाखा की ही आजकल संहिता उपलब्ध है। वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन तथा मांडूकायन शाखाओं के कतिपय ग्रंथ मिलते हैं, संहिता नहीं मिलती।

ऋग्वेद आर्य धर्म का प्राचीनतम मौलिक रूप प्रस्तुत करता है। नाना देवताओं के स्तोत्रों का इसे विशाल भांडार मानना सर्वथा उचित है। ऋग्वेद के मंत्रों में हम अग्नि, इंद्र, वरुण, सविता, सूर्य, पूषन्, मित्र, रुद्र, नासत्यौ आदि प्रख्यात देवताओं का विशुद्ध परिचय उनकी विमल कीर्ति और विविध कार्यावली के साथ पाते हैं। हम जान सकते हैं कि आदिम मानव किस प्रक्रिया से प्राकृतिक दृश्यों को देवता के रूप में गढ़ने में व्यस्त रहा होगा और किस प्रकार वैदिक आर्यगण इस नानात्मक जगत् के भीतर एक तत्व को ढूँढ़ निकालने में समर्थ हुए। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति' का घोष वैदिक धर्म का विजयघोष है। अनेक दार्शनिक सूक्तों की उपलब्धि ऋग्वेद में होती है जिनके अनुशीलन से हम आर्य धर्म के बहुदेववतावाद से लेकर एकदेवतावाद तथा अद्वैतवाद तक के रूप में विकासक्रम को भली-भाँति समझ सकते हैं। ऐसे सूक्तों में नासदीय सूक्त (१०।१२६), पुरुष-सूक्त (१०।६०), हिरण्यगर्भसूक्त (१०।१२१) तथा वाक् सूक्त (१०। १४५) अपनी दार्शनिक गंभीरता, प्रातिभ अनुभूति और मौलिक कल्पना के कारण अत्यंत प्रसिद्ध हैं। लौकिक विषयों में 'द्यूतकरविषाद' विषयक सूक्त (१०।३४) जुआड़ी की मनोदशा का रोचक परिचायक है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' ऋग्वेदीय उदात्त दार्शनिकता का एक सरस प्रतिपादक वाक्य है।

सं०ग्रं०—विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग १, कलकत्ता, १६३०; बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, काशी, १६५८। (ब० उ०)

ऋचा छंदोबद्ध वैदिक मंत्र। ऋक् या ऋचा एक ही शब्द के दो रूप हैं। जिसके द्वारा किसी देवविशेष की, क्रियाविशेष की अथवा क्रिया के साधनविशेष की अर्चना या प्रशंसा की जाय, उसे ऋक् कहते हैं। 'ऋक्' या 'ऋचा' का यही व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है (अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषः तत्साधनविशेषा वा इत्यृक् शब्द व्युत्पत्तेः—सायण की ऋक्भाष्य की उपक्रमणिका)। ऋचा का एक दूसरा नाम 'शक्वरी' भी है। यह शब्द शक् धातु से निष्पन्न होता है और अर्थ है वह मंत्र जिसके द्वारा इंद्र अपने शत्रु वृत्र को मारने में समर्थ हुआ (यदाभि-र्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते—कौषीतकि ब्रा० २३।२)। जैमिनि ने अपने मीमांसादर्शन में ऋक् के लक्षण प्रसंग में लिखा है—तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था; मीमांसा सूत्र २।१।३५ अर्थात् जिन मंत्रों में अर्थ के वश से पादों की व्यवस्था रहती है वे ऋक् कहलाते हैं। ऋचाओं के पादों की व्यवस्था अर्थ के अनुसार होती है; यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण नियम वैदिक छंदों के विषय में है। इसे समझने के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। वेद की एक प्रख्यात ऋचा है :

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति। (ऋग्वेद १।१।२)

यह त्रिपदा गायत्री ऋचा है। इसमें तीन पाद है और प्रत्येक पाद में आठ अक्षर। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर प्रथम पाद का अंत 'ऋषिभिः' पद पर होगा, परंतु क्रियापद के अभाव में वह पाद अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण है। फलतः 'ईड्यो' तक प्रथम पाद १० अक्षरों का होगा और द्वितीय पाद केवल पाँच अक्षरों का होगा। ऐसी व्यवस्था निदानसूत्र में पतंजलि के मतानुसार है कि गायत्री का अष्टाक्षर पाद पाँच या चार अक्षरों तक न्यून होकर हो सकता है तथा बढ़कर दस अक्षरों तक वह जा सकता है। इन ऋचाओं का संग्रह ऋग्वेद के नाम से प्रख्यात है। ऋग्वेद को छोड़कर कुछ ऋचाएँ यजुर्वेद में और अधिक ऋचाएँ अथर्ववेद में उपलब्ध होती हैं।

'त्रयी' के उत्पादक तीन अंश हैं—ऋक्, यजुः तथा साम। इन तीनों में ऋक् विशेष अभ्यर्हित या पूजनीय मानी जाती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति दोनों की अपेक्षा पहले हुई थी। इसका स्पष्ट उल्लेख वेद के अनेक स्थलों पर मिलता है। पुरुषसूक्त के मंत्र में ऋचाओं की उत्पत्ति प्रथमतः मानी गई है :

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋग्वेद १०।६०।६)

इनकी पूजनीयता का एक दूसरा भी कारण है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ऋचाओं के द्वारा संपादित यज्ञांग दृढ़ होता है—यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्। यद् ऋचा तद् दृढमिति—तैत्ति० सं० ६।५।१०।३। इसका अर्थ है कि साम तथा यजुष् के द्वारा संपन्न यज्ञ का अंग शिथिल ही रहता है। परंतु ऋक् के द्वारा निष्पन्न अंग दृढ़ होता है। इन प्रकार यज्ञांग की दृढ़ता के कारण भी ऋचाएँ पूजनीय मानी जाती हैं। साम तो ऋचाओं के ऊपर ही आश्रित रहते हैं। ऋचाओं के अभाव में साम की अवस्थिति ही निराधार रहेगी। फलतः सामों की प्रतिष्ठा के लिये भी ऋचाएँ आवश्यक होती हैं।

सब वेदों के ब्राह्मण अपने कथनों में विश्वास की दृढ़ता उत्पन्न करने के लिये 'ऋचा अभ्युक्तम्' ऐसा निर्देश कर ऋचाओं को उद्धृत करते हैं। अध्ययन के क्रम में भी ऋग्वेद प्रथम माना जाता है। छांदोग्य उपनिषद् (७।१।२) में नारद ने अपनी अधीत विद्याओं में ऋग्वेद का ही प्रथम निर्देश किया है—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि। इसी प्रकार मुंडक (१।१।५) में तथा नृसिंहतापनीय उपनिषद् (१।१।२) में ऋचाओं का वेद के प्रथम पाठ्य के रूप में उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ऋचाएँ विशेष आदर तथा श्रद्धा से संपन्न मानी जाती हैं। ऋचाओं की विशिष्ट संज्ञाएँ भी होती हैं जो कभी आदि पद के कारण और कभी विनियोग की दृष्टि से दी जाती हैं। 'महानाम्नी' पद के कारण कई ऋचाएँ महानाम्ना कहलाती हैं, तो अग्नि-समिंधन के लिये प्रयुक्त होने से अन्य ऋचाएँ 'सामधनी' तथा कूष्मांड के साथ अनुष्ठान में प्रयुक्त होने से 'कूश्मांडी' कहलाती है (शुक्ल यजुर्वेद २०।१४–१६)।

सं०ग्रं०—युधिष्ठिर मीमांसक : वैदिक छंदोमीमांसा, अमृतसर, १६५६; पिंगल : छंदःशास्त्रम्, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १६३८। (ब० उ०)

ऋजुपक्ष कीटवर्ग अपेक्षाकृत एक कम विकसित कोटि है जिसके अंतर्गत टिड्डियों, टिड्डों, झींगुरों, झिल्लियों, रीवों आदि की गणना की जाती है। पहले इस कोटि में तेलचट्टे, पर्णकीट, मैंटिस आदि भी रखे गए थे, किंतु अब वे दूसरी कोटि के अंतर्गत कर दिए गए हैं। तो भी ऋजु-पक्ष कोटि में १०,००० से अधिक कीटपतंगों का वर्णन किया जाता है।

ये कीट सामान्य से बहुधा काफी बड़ी नाप के होते हैं तथा इनकी भिन्न भिन्न जातियों में कुछ पंखदार, कुछ पंखहीन और कुछ छोटे पंखवाली जातियाँ होती हैं। ये सभी जंतु स्थल पर रहनेवाले होते हैं। कई जातियों में ध्वनि उत्पन्न करने के अंग होते हैं और कुछ तो बड़ी तेज ध्वनि करते हैं। अगले पंख पिछले पंखों की अपेक्षा मोटे होते हैं। शिशुओं के पंखों की गद्दियाँ विकासकाल में उलट जाती हैं। मादा में सामान्यतः अंडरोपक अंग होते हैं। नर के जननांग नवें अधरपट्ट के नीचे छिपे रहते हैं। रूपां-तरण साधारणतः थोड़ा ही या अपूर्ण होता है।

ऋजुपक्ष के वर्गीकरण के संबंध में विशेषज्ञों के मतों में कुछ विभिन्नता है, किंतु लगभग सभी वर्तमान विद्वान् इसके अंतर्गत १२ वंश रखते हैं—ग्रीजोईब्लाटाइलिडी, ग्रिल्लैक्रिडाइडी, फ़ैज़्मोडाइडी, टेट्रिगोनिडी, स्टेनो-

पेल्मैटिडी, प्रोफ़ैलैंगोप्सिडी, ग्रिल्लोटैल्पिडी, ग्रिल्लिडी, टेट्रिगिडी, प्रास्कोपाइडी, न्युमोरिडी, यूमैस्टैसिडी, एक्रिडाइडी, सिलिड्रैकेटिडी तथा ट्राइडैक्टाइलिडी।

स्टीनोपेल्मैटिडी तथा ग्रिल्लैक्रिडाइडी बहुत पिछड़े हुए वंश हैं। शीजोडैक्टाइलिडी वंश में केवल तीन जातियाँ ही रखी जाती है जो संसार के पूर्वी गोलार्ध में जहाँ तहाँ फैली हुई है। इनकी एक जाति शीजोडैक्टाइलस ही पंखदार है। विश्रामावस्था में इसके लंबे पंखों के सिरे कमानी की भाँति
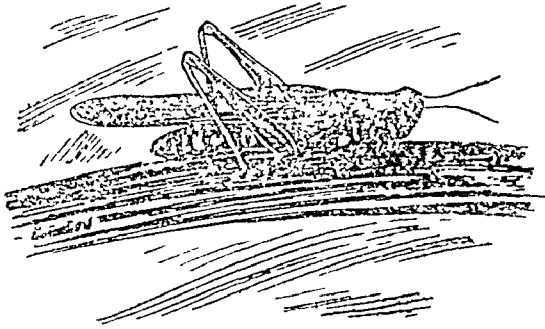
लघु शृंगोंवाला टिड्डा (स्टेनोबॉथ्रस बाइकलर)

लिपटे होते है। यह मिट्टी में बिल बना सकता है और दिन में उसी में रहता है। प्रोफ़ैलैंगोप्सिडी में केवल तीन ही जातियाँ रखी जाती है जिनमें से एक प्रोफ़ैलैंगाप्सिस आल्पकूरा भारत में पाई जाती है। टेटिगोनिडी वंश में लंबी सींगोंवाले पतले टिड्डे रखे जाते हैं। इनके पंख हरे रंग के होते है और ये साधारणतः झाड़ियों, घास फूस आदि में छिपे रहते है। इस क्रिया में इनके हरे रंग से विशेष सहायता मिलती है। इनकी मादाओं के अंडरोपक भी बहुत लंबे होते हैं। कभी कभी तो इनकी लंबाई शरीर की लंबाई से भी अधिक होती है। ग्रिल्लिडी वंश के अंतर्गत झिल्लि तथा झींगुर रखे जाते हैं। ये अपने पंखों के किनारों को रगड़कर तीव्र ध्वनि उत्पन्न करते हैं। रगड़ के समय पंख लगभग ४५° के कोण पर उठ जाते है और फिर बाएँ पंख का सिरा दाहिने पंख के रेती जैसे सिरे को रगड़ता है। कहा जाता है, घरेलू झींगुर द्वारा उत्पन्न ध्वनि एक मील तक सुनाई पड़ती है। ग्रिल्लोटैल्पिडी के अंतर्गत रेवाँ या जंगली झींगुर आते है। इस पूरी कोटि का सबसे बड़ा वंश है ऐक्रिडाइडी; इसके अंतर्गत लगभग ५,००० जातियाँ है जो अधिकांशतः उष्ण प्रदेशों में ही पाई जाती हैं। इस वंश में छोटी सींगवाले टिड्डे तथा विनाशकारी टिड्डियाँ हैं। इनमें कई प्रकार के ध्वन्युत्पादक अंग पाए जाते हैं। कुछ उड़ते समय भी ध्वनि उत्पन्न कर सकते हैं। इनके अंडरोपक बहुत विकसित नहीं होते किंतु उनकी सहायता से बहुधा ये कीट खेतों, मेड़ों आदि में एक छेद करते है और फिर उदर का अंतिम भाग उस बिल में डालकर ३० से १०० तक की संख्या में अंडे देते है। साथ ही एक चिपचिपा पदार्थ भी निकालते है जिससे अंडे चिपक जाते हैं और एक प्रकार का अंडपुंज बन जाता है। सूखने पर इसके द्वारा अंडों पर पानी का प्रभाव नहीं पड़ता। अंडों से 'शिशु' निकलते है जो छोटे और पंखहीन होते है किंतु अन्य लक्षणों में बहुत कुछ प्रौढ़ के ही समान होते है। कई बार त्वक्पतन के साथ वे बढ़ते जाते हैं और अंत में पंखदार प्रौढ़ हो जाते हैं। इस

रेवाँ
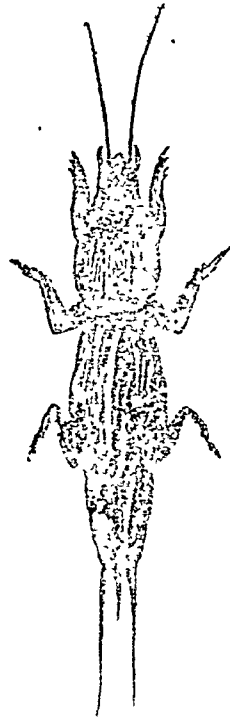
यह कीट बरसात के दिनों में अति तीव्र ध्वनि उत्पन्न करता है।
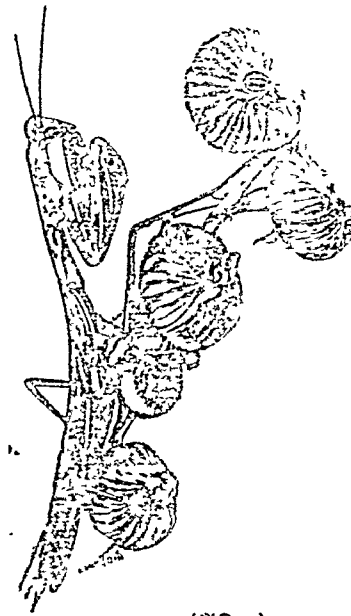
बद्धहस्त (मैंटिस)

शिकार को पकड़ने के लिये अग्रिम टाँगों को मोड़कर आक्रमण के लिये, या साधारणतः, इसी प्रकार तैयार रहता है। शेष टाँगें इस प्रकार रखी हुई है कि शरीर को वे सम्हाले रहें।

वंश की अधिकांश जातियाँ बड़ी विनाशकारी होती हैं, किंतु टिड्डी इनमें से सबसे अधिक विनाश करती है। एक्रिडाइडी को लगभग १० उपवंशों में विभाजित किया जाता है।

शेष तीन वंश पर्याप्त छोटे हैं। टेट्रिगिडी वंश की लगभग ७०० जातियों की विशेषता उनके वक्षाग्र के प्रोनोटम भाग का बहुत बड़ा और पीछे की ओर बढ़ा होना है। ये बहुधा ठंढे प्रदेशों में पाई जाती है। ट्राईडैक्टाइलिडी की लगभग ५० जातियाँ मेडिटरेनियन प्रदेश में पाई जाती हैं। ये झींगुरों के समान किंतु छोटी होती है और इनकी टाँगों के फ़िमोरा खंड बहुत लंबे होते है तथा शृंग छोटे। सिलिड्रैकेटिडी वंश की थोड़ी सी जातियाँ आस्ट्रेलिया, न्यू गाइना और पटागोनिया में मिलती हैं। ये पंखहीन होती है तथा मिट्टी में बिल बनाती हैं। अतः इनके शृंग, आँखें आदि भी छोटी होती है और शरीर कुछ कुछ बेलनाकार होता है।

सं० ग्रं०—एल० चोपार : बिओलोगी देजोर्थोप्तेपीर। (उ० शं० श्री०)

ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी, द्र० 'कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ़'।

ऋणाग्र किरणें, द्र० 'कैथोड किरणें'।

ऋत वैदिक साहित्य में ऋत शब्द का प्रयोग सृष्टि के सर्वमान्य नियम के लिये हुआ है। संसार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं किंतु परिवर्तन का नियम अपरिवर्तनीय है। इसी अपरिवर्तनीय नियम के कारण सूर्य चंद्र गतिशील है। संसार में जो कुछ भी है वह सब ऋत के नियम से बँधा हुआ है। ऋत को सबका मूल कारण माना गया है। अतएव ऋग्वेद में मरुत् को ऋत से उद्भूत माना है (४.२१.३)। विष्णु को 'ऋत का गर्भ' माना गया है। द्यौ और पृथ्वी ऋत पर स्थित है (१०.१२१.१)। संभव है, ऋत शब्द का प्रयोग पहले भौतिक नियमों के लिये किया गया हो लेकिन बाद में ऋत के अर्थ में आचरण संबंधी नियमों का भी समावेश हो गया। उषा और सूर्य को ऋत का पालन करनेवाला कहा गया है। इस ऋत के नियम का उल्लंघन करना असंभव है। वरुण, जो पहले भौतिक नियमों के रक्षक कहे जाते थे, बाद में 'ऋत के रक्षक' (ऋतस्य गोपा) के रूप में ऋग्वेद में प्रशंसित हैं। देवताओं से प्रार्थना की जाती थी कि वे हम लोगों को ऋत के मार्ग पर ले चलें तथा अनृत के मार्ग से दूर रखें (१०.१३३.६)। ऋत को वेद में सत्य से पृथक् माना गया है। ऋत वस्तुतः 'सत्य का नियम' है। अतः ऋत के माध्यम से सत्य की प्राप्ति स्वीकृत की गई है। यह ऋत तत्व वेदों की दार्शनिक भावना का मूल रूप है। परवर्ती साहित्य में ऋत का स्थान संभवतः धर्म ने ले लिया।

(रा० पां०)

ऋतुएँ प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुसार वर्ष के विभाग हैं। भारत में मोटे हिसाब से तीन ऋतुएँ मानी जाती हैं—जाड़ा, गरमी, बरसात। परंतु प्राचीन काल में यहाँ छह ऋतुएँ मानी जाती थीं—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत और शिशिर। जिन महीनों में सबसे अधिक पानी बरसता है वे वर्षा ऋतु के महीने है; नाम के अनुसार सावन भादों के महीने वर्षा ऋतु के है, परंतु यदि वर्ष का मान—वर्ष में दिनों की संख्या—ठीक न हो तो कालांतर में ऋतुओं और महीनों में अंतर पड़ जायगा और यह अंतर बढ़ता जायगा। भारत के जो पंचांग प्राचीन ग्रंथों के आधार पर बनते हैं

ऋतु पूर्वानमान (द्र० पृ० १६५)
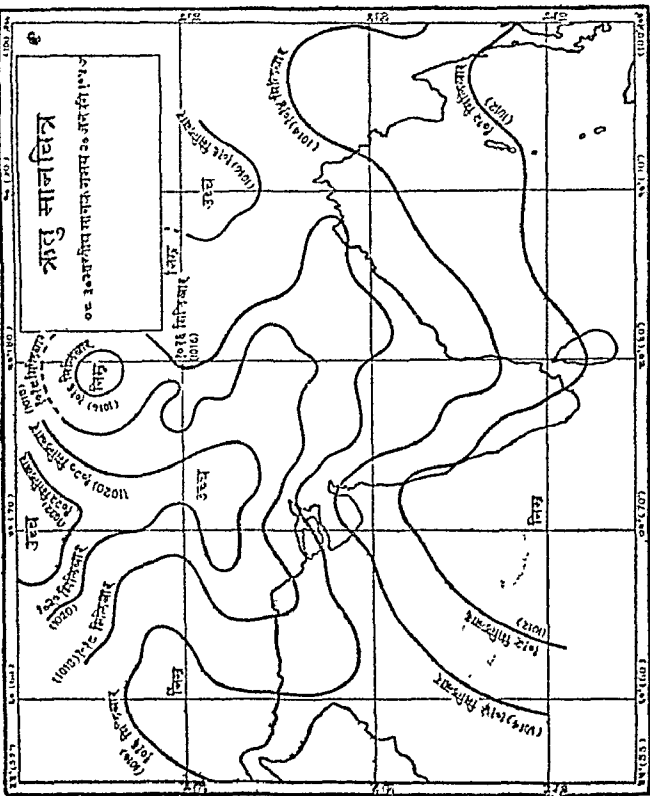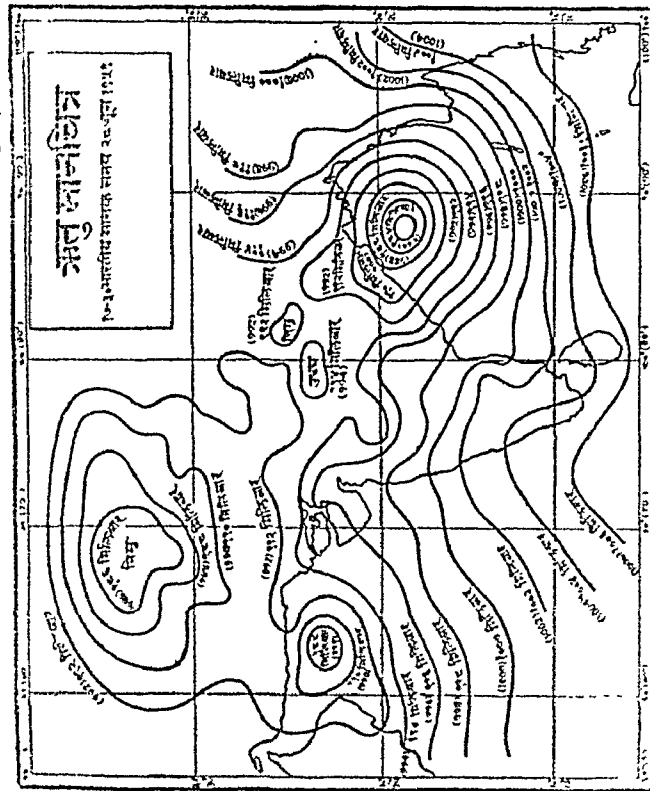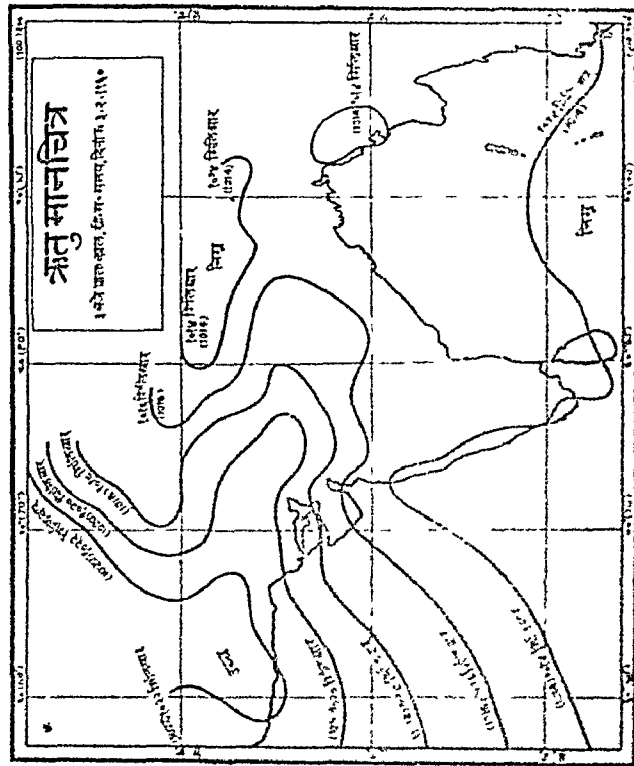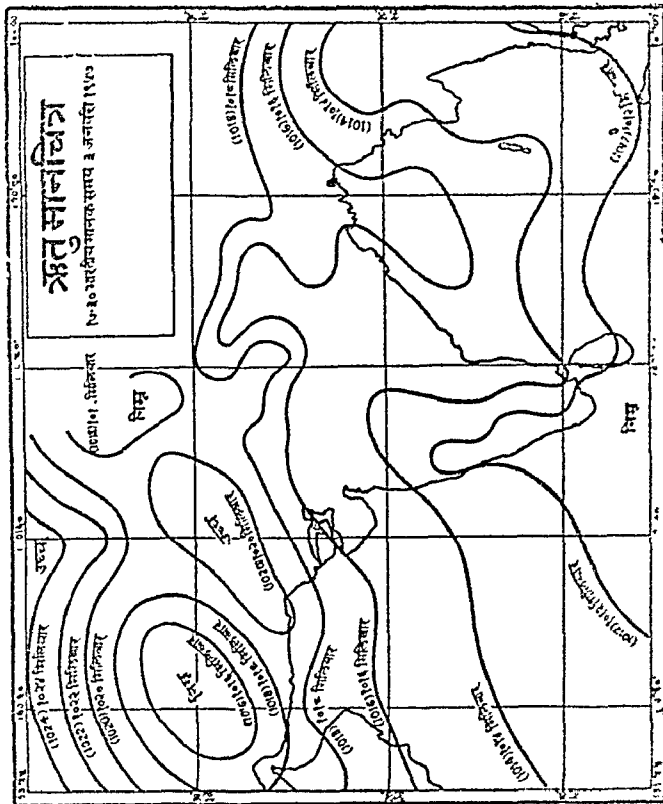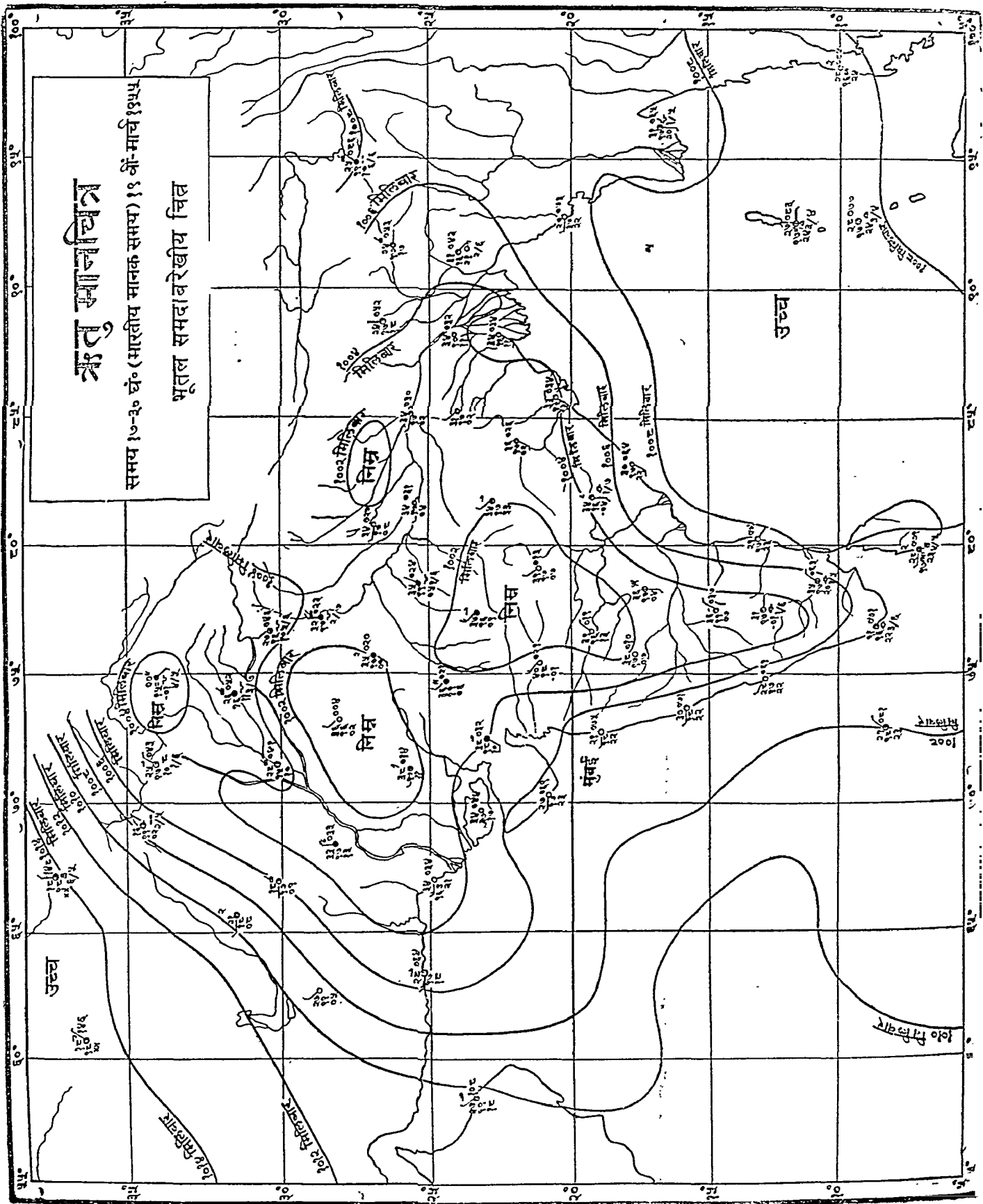
उनमें वर्षमान ठीक नहीं रहता और इस कारण वर्तमान समय के सावन-भादों तथा कालिदास के समय के सावन भादों में लगभग २२ दिन का अंतर पड़ गया है (देखें 'अयन')। मोटे हिसाब से नवंबर से फरवरी तक जाड़ा, मार्च से मध्य जून तक गरमी और मध्य जून से अक्टूबर तक बरसात गिनी जा सकती है।

ऋतुओं का मूल कारण यह है कि पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है—उसके चारों ओर चक्कर लगाती रहती है—और साथ ही अपने अक्ष पर घूमती रहती है। यह अक्ष पूर्वोक्त प्रदक्षिणा के समतल पर लंब नहीं है; लंब से अक्ष लगभग २३½ अंश का कोण बनाता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक वर्ष में आधे समय तक प्रत्येक द्रष्टा को सूर्य उत्तर की ओर धीरे धीरे बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है और आधे समय तक दक्षिण की ओर। वर्ष के ये ही दो आधे उत्तरायण और दक्षिणायन कहलाते हैं।

पृथ्वी के अक्ष के घूमने के कारण दिन और रात होती है। पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध में स्थित देशों में, जैसे भारत में, उत्तरायण में दिन बढ़ता जाता है और दक्षिणायन में घटता रहता है। जैसा सभी जानते हैं, भारत में सबसे छोटा दिन लगभग २४ दिसंबर को होता है और सबसे बड़ा दिन लगभग २३ जून को। यदि सूर्य का महत्तम उन्नतांश—दोपहर के समय की कोणीय ऊँचाई—वर्ष भर एक समान रहता तो प्रत्यक्ष है कि लंबे दिनों में कुल मिलाकर अधिक धूप और इसलिये अधिक ऊष्मा मिलती, और इसीलिये गरमी तब पड़ती जब दिन लगभग महत्तम बड़े होते, परंतु साथ ही यह भी होता है कि जब दिन बड़े होते हैं तब सूर्य का मध्याह्नकालिक उन्नतांश अधिक रहता है। इसलिये २३ जून के लगभग पूर्वोक्त दोनों कारणों से—दिनों के लंबे होने तथा सूर्योन्नतांश अधिक रहने से—हमें सूर्य से गरमी सबसे अधिक मिलती है। इन्हीं की विपरीत अवस्थाओं के कारण २४ दिसंबर के लगभग हमें सूर्य से गरमी न्यूनतम मात्रा में मिलती है।

परंतु पृथ्वी के तल पर जितनी गरमी पड़ती है सब वहीं नहीं रह जाती। चालन (कंडक्शन) से कुछ पृथ्वी के भीतर घुस जाती है; संवहन (कनवेक्शन) से कुछ हवा द्वारा इधर उधर चली जाती है और विकिरण (रेडिएशन) से कुछ आकाश में निकल जाती है। जब सूर्य से मिली गरमी और पूर्वोक्त कारणों से निकल गई गरमी बराबर हो जाती है तो साम्यावस्था स्थापित होती है और ताप नहीं बढ़ता। यह साम्यावस्था उसी दिन नहीं स्थापित होती जिस दिन दिन सर्वाधिक बड़ा होता है और इसलिये पृथ्वी को सूर्य से महत्तम गरमी मिलती है। साम्यावस्था लगभग एक महीने बाद स्थापित होती है और इसलिये ताप अधिकांश देशों में—जहाँ जून में पानी नहीं बरसता—लगभग एक महीने बाद महत्तम होता है। पृथ्वीतल के ताप से उसके ऊपर की वायु के ताप का घनिष्ठ संबंध है। दोनों लगभग एक साथ ही महत्तम या लघुतम होते हैं।

समुद्र पर पानी में धाराओं के कारण और वाष्पन (पानी के वाष्प में परिणत होने) के कारण भी ताप अधिक नहीं होने पाता। वहाँ सबसे बड़े दिन के लगभग दो महीने बाद पानी सबसे अधिक गरम होता है।

ऊपर की बातें वहीं लागू होंगी जहाँ बादल न हों और पानी न बरसे। पानी और बादल से सूर्य से गरमी का मिलना बंद हो जाता है।

यह देखना कि सूर्य के उत्तर चले जाने पर दिन क्यों लंबे हो जाते हैं और सूर्य का उन्नतांश क्यों बढ़ जाता है, सरल है। जब सूर्य पृथ्वी की भूमध्यरेखा के धरातल में रहता है तब पृथ्वी के अपने अक्ष के परितः घूमने के कारण—अपनी दैनिक गति के कारण—वाराणसी के समान स्थान एक अहोरात्रि (=२४ घंटे) के आधे समय तक धूप में रहता है और आधे समय तक अँधेरे में (चित्र १)। परंतु जून में, जब सूर्य भूमध्यरेखा के समतल से उत्तर रहता है और उससे लगभग २३½ अंश का कोण बनाता है, उत्तरीय गोले पर का प्रत्येक स्थान आधी अहोरात्रि से कहीं अधिक समय तक धूप में रहता है और वहाँ सूर्य का उन्नतांश भी अधिक रहता है (चित्र २)। दिसंबर में परिस्थिति उलटी रहती है (चित्र ३)।

भारतवर्ष में वर्षा ऋतु बड़ी स्पष्ट होती है, परंतु संसार के अन्य सभी भागों में ऐसा नहीं होता। केवल अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के उष्णकटिबंधीय भागों में कुछ कुछ ऐसा होता है। यूरोप आदि समशीतोष्ण देशों में चार ऋतुएँ मानी जाती हैं—जाड़ा, वसंत, गरमी और पतझड़ (ऑटम)। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि ऋतुओं का यह बँटवारा केवल सुविधा के लिये है। वास्तविक ऋतु में बादल, पानी, पवन, पहाड़, समुद्र की निकटता, समुद्रधाराओं आदि का बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूमध्यरेखा के पास—लगभग ५° उत्तर से ५° दक्षिण तक—सूर्य की गरमी प्रायः बारहों मास एक समान रहती है और रात दिन भी बराबर नाप के होते हैं। वहाँ ऋतुएँ अधिकतर बादल आदि पूर्वोक्त कारणों पर निर्भर रहती हैं। मोटे हिसाब से वहाँ दो ग्रीष्म और दो शरद् ऋतुएँ मानी जा सकती हैं।
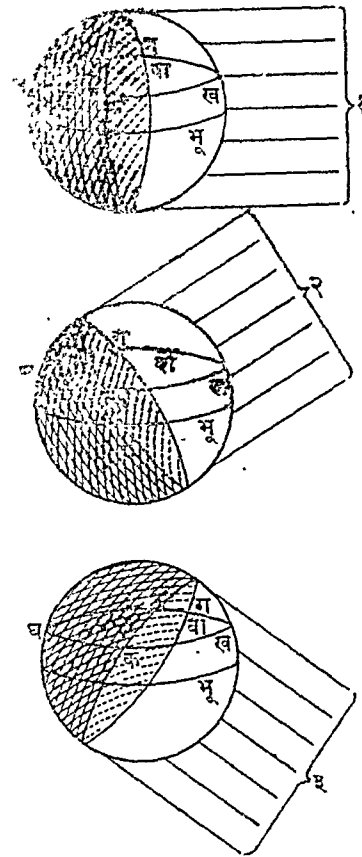
चित्र १—३ ऋतुओं का कारण
क ख ग घ. वाराणसी का अक्षांश;
भू. भूमध्यरेखा का समतल।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० केपर और आर० गाइगर : हांडबुख डर क्लाइमेटोलोजी। (गो० प्र०)

ऋतुपर्ण अयोध्या का एक पुराकालीन राजा। इसके पिता का नाम सर्वकाम था। यह अक्षविद्या में अत्यंत निपुण था। जुए में राज्य हार जाने के उपरांत अपने अज्ञातवासकाल में नल वाहुक नाम से इसी के पास सारथि के रूप में रहा था। इसने नल को अपनी अक्षविद्या दी तथा नल ने भी अपनी अश्वविद्या इसे दी। नलवियुक्ता दमयंती को जब अपने चर पर्णाद द्वारा पता चला कि नल ऋतुपर्ण के सारथि के रूप में रह रहा है तो उसने ऋतुपर्ण को संदेशा भेजा, "नल का कुछ भी पता न लगने के कारण मैं अपना दूसरा स्वयंवर कल सूर्योदय के समय कर रही हूँ, अतः आप समय रहते कुंडनिपुर पधारें।" नल ने अपनी अश्वविद्या के बल से ऋतुपर्ण को ठीक समय पर कुंडनिपुर पहुँचा दिया तथा वहाँ नल और दमयंती का मिलन हुआ।

बौधायन श्रौतसूत्र (२०, १२) के अनुसार ऋतुपर्ण भंगाश्विन का पुत्र तथा शफाल का राजा था। वायु, ब्रह्म तथा हरिवंश इत्यादि पुराणों में ऋतुपर्ण को अयुतायुपुत्र बताया गया है। (के० चं० श०)

ऋतु पूर्वानुमान ऋतु का पूर्वानुमान करना ऋतुविज्ञान का महत्वपूर्ण उपयोग है। प्राचीन काल से ही मनुष्य ऋतु और जलवायु की अनेक घटनाओं से प्रभावित होता रहा है और फलतः ऋतु का पूर्वानुमान करने का प्रयत्न करता रहा है। उदाहरणतः किसान आकाश की ओर देखकर ही अपने उपयोग के लिये आगामी ऋतु के बारे में अनुमान कर

लेता है। केवल स्थानीय ऋतु के प्रेक्षण पर अवलंबित इस प्रकार की भविष्यवाणी का उपयोग बहुत सीमित होता है। तो भी इस प्रकार की भविष्यवाणियों के आधार पर ऋतु संबंधी अनेक कहावतें प्रचलित हो गई हैं, यद्यपि वे अधिकतर ठीक नहीं उतरतीं।

वर्तमान वैज्ञानिक उपायों में ऋतु का पूर्वानुमान करने के नियम इस बात पर निर्भर हैं कि ऋतु एक प्रदेश से चलकर दूसरे प्रदेश में पहुँचती है और अधिकतर एक ही स्थान पर सीमित नहीं रहती। इस मुख्य बात की खोज प्रथमतः बेंजामिन फ्रैंकलिन ने सन् १७४३ में की थी जब उन्होंने यह देखा था कि एक तूफान, जिसका अनुभव उन्होंने फ़िलाडेल्फ़िया में किया था, दूसरे दिन बोस्टन पहुँच गया था। इसी प्रकार की घटना संसार के दूसरे भागों की ऋतुओं में भी देखी गई है।

ऋतु विषयक पूर्वानुमान ऋतु के मानचित्रों के आधार पर किया जाता है। इन मानचित्रों पर भिन्न भिन्न स्थानों से तार, बेतार अथवा टेलिप्रिंटर द्वारा प्राप्त सूचनाएँ—प्रेक्षण द्वारा प्राप्त विभिन्न स्थानों की वायु का ताप, दाब, वेग, दिशा आदि—अंकित की जाती हैं। इस प्रकार के ऋतु संबंधी चित्रण को संक्षिप्त चित्र (सिनॉप्टिक चार्ट) कहते हैं। ये चित्र ही ऋतुवैज्ञानिक के पूर्वानुमान के मुख्य आधार हैं। ऋतुचित्रों के आधार पर पूर्वानुमान करने के लिये कुछ आनुभविक नियम बना लिए गए थे जो अनेक वर्षों तक काम में लाए जाते रहे, किंतु प्रथम विश्वयुद्ध के समय से वायुमंडल संबंधी मूल समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ और ऐसी परिकल्पनाएँ बनाने का प्रयत्न आरंभ हुआ जिनसे सैद्धांतिक ऋतुविज्ञान में और ऋतु विषयक पूर्वानुमान की आनुभविक रीतियों में सीधा संबंध स्थापित हो सके। यह उन्नति अधिकतर नॉर्वे के ऋतुवैज्ञानिकों के प्रयत्नों द्वारा हुई। मुख्यतः श्री विलहेल्म और श्री योकब ब्यर्कनेज़ को इसका श्रेय प्राप्त है। इन विशेषज्ञों ने ध्रुवीय सीमाग्र सिद्धांत (पोलर फ्रंट थ्योरी) का विकास किया जिसपर ऋतु विषयक पूर्वानुमान करने के आधुनिक नियम मुख्यतः निर्भर हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ऋतु-पूर्वानुमान-विज्ञान को फिर प्रोत्साहन मिला, क्योंकि युद्ध की योजनाओं के निर्माण और उनके संचालन में वायुमंडल विज्ञान के उपयोग की बहुत आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल में ऋतु विषयक पूर्वानुमान की कला में भी अधिक उन्नति हुई और पृथ्वी से बहुत ऊपर की वायु के वेग, दिशा, दाब, ताप और आर्द्रता आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिय नवीन साधनों का भी विकास हुआ। दूर दूर के देशों में बहुत सी वेधशालाएँ खोली गई जहाँ वायुमंडल में नियत ऊँचाइयों पर ताप, दाब तथा आर्द्रता आदि जानने के लिये रेडियो के यंत्र रेडियो सॉण्ड उपयोग में लाए जाने लगे। ये रेडियो यंत्र हाइड्रोजन गैस से भरे हुए गुब्बारों द्वारा ऊपर हवा में उड़ाए जाते हैं और जैसे जैसे यंत्र हवा में ऊपर जाता है, ऊपरी हवा के ताप, दाब और आर्द्रता के परिवर्तनों के अनुसार अपने आप रेडियो संकेत भेजता जाता है और ये संकेत पृथ्वी पर स्थित यंत्रों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। इस प्रकार २० किलोमीटर की ऊँचाई तक विभिन्न स्तरों की वायु के ताप, दाब तथा आर्द्रता के और उनमें होनेवाले परिवर्तनों के लेखाचित्र बना लिए जाते हैं। रेडियो यंत्र के अतिरिक्त एक नवीन आधुनिक साधन राडार यंत्र है जिसके प्रयोग से ऋतु विषयक पूर्वानुमान में पूरी सहायता मिलती है। इन सब साधनों से ऋतुवैज्ञानिक को समस्त वायुमंडल की अवस्था का और विभिन्न स्थानों में पवनवेगों का एक पूर्ण चित्र मिल जाता है जो ऋतु का पूर्वानुमान करने में अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

१. **ऋतुचित्र**—नियत समयों पर प्रति दिन ऋतु वेधशालाओं में और समुद्री जहाजों पर वायु के ताप, दाब, वेग, दिशा आदि के प्रेक्षण अंकित किए जाते हैं। इनमें से कुछ का प्रेक्षण तो केवल आँखों से ही किया जाता है, जैसे बादलों का रूप, दृश्यता (विज़िबिलिटी) और कुछ प्रेक्षण यंत्रों द्वारा किए जाते हैं, जैसे वायु की दाब, वेग और दिशा, ताप, वर्षा की मात्रा, आदि। इन प्रेक्षणों को सांकेतिक संख्याओं में संक्षिप्त करके शीघ्र ही ऋतुविज्ञान के कार्यालयों में भेजा जाता है। वहाँ पहुँचने पर एक समयविशेष के इन समस्त प्रेक्षणों को ऋतुचित्रों पर नियमित रूप से अंकित किया जाता है। इसी भाँति के प्रेक्षण समुद्री जहाजों पर भी किए जाते हैं। भारतवर्ष में जो ऋतु संबंधी मानचित्र साधारणतः तैयार किए जाते हैं वे निम्नलिखित हैं:

(१) **भूतल समदाबरेखीय चित्र (सर्फ़ेस आइसोबारिक चार्ट)**—इसको टॉप चार्ट भी कहते हैं। इस नक्शे में प्रायः समस्त भूतलीय प्रेक्षण अंकित कर दिए जाते हैं।

(२) **वायुदाब और ताप के अंतर के चित्र**—इन चित्रों में यह दिखाया जाता है कि चुने हुए समयविशेष पर वायुदाब और ताप में इनके सामान्य मानों से कितना अंतर है। इन चित्रों से ऋतु की असामान्यताओं की अच्छी सूचना प्राप्त हो जाती है। इन सबमें से वायुदाब में सामान्य से जो अंतर होता है उसका अधिकतम महत्व पाया गया है। आर्द्रता के चित्र भी ऋतु की घटनाओं के अनुमान के लिये लाभदायक होते हैं। उदाहरणतः, कोहरा तथा धुंध के निर्माण की संभाव्यता के लिये आर्द्रता का प्रेक्षण अत्यंत आवश्यक है। तापविचरण के चित्रों से, विशेषकर न्यूनतम-ताप-विचरण-चित्रों से, शीत ऋतु में पश्चिमी अवदाब क्षेत्र के आने का अनुमान होता है। इन नक्शों से सूखी ऋतु में केंद्रीय तथा दक्षिणी भारतवर्ष के भागों की उच्चस्तरीय वायु में आर्द्र वायु की धाराओं की चाल का भी ज्ञान होता है।

(३) **परिवर्तनचित्र**—इन चित्रों में पिछले २४ घंटों में वायु की दाब, ताप, वेग आदि में हुए परिवर्तन दिखाए जाते हैं। इनसे ऋतु के विकास के ढंग का पता चलता है।

(४) **ऊपरी वायुओं के चित्र**—भारतवर्ष में ये चित्र समुद्रतल से ०.३, ०.५, १, १.५, २, ३, ४ और ६ किलोमीटर की ऊँचाइयों के लिये बनाए जाते हैं। बादलों की मापित तथा अनुमानित ऊँचाइयाँ ज्ञात रहती हैं। १, २ और ३ किलोमीटर के चित्रों पर नीचे बादलों के बहाव की दिशा अंकित की जाती है। मध्यम बादलों की दिशा ४ किलोमीटरवाले चित्र पर और इसी प्रकार ६ किलोमीटरवाले चित्र पर उच्च बादलों की दिशाएँ अंकित की जाती हैं। ऋतु विषयक पूर्वानुमान करने के लिये १ से ६ किलोमीटर तक की ऊपरी वायुएँ बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

(५) **सुप्रवाही रेखाएँ तथा विक्षेपमार्ग (स्ट्रीमलाइन तथा ट्रैजेक्टरी)**—वायुमंडल के उष्मीय ढाँचे संबंधी दैनिक आँकड़ों के अभाव या कमी के कारण, ऊपरी वायु की अवस्थाओं का पता, हाइड्रोजन गैस से भरे वातसूचक गुब्बारों द्वारा (जिनको पाइलट बैलून कहते हैं) पवन के वेग एवं दिशा आदि को नापकर, लगाया जाता है। नक्शों पर वायु की सुप्रवाही रेखाएँ खींच ली जाती हैं और यदि संदेह हुआ तो विक्षेपमार्ग भी खींच लिए जाते हैं। जो सुप्रवाही रेखाएँ चित्रों पर समुद्र की ओर से आती हैं, वे आर्द्र समझी जा सकती हैं और जो रेखाएँ स्थल की ओर से आती हैं, वे सूखी।

समुद्रतल के ऋतुचित्रों का विश्लेषण विस्तृत वायुधाराओं और उनकी विकृतियों को अंकित करके किया जाता है। इस प्रकार वायुमंडल की घटनाओं का स्थूल चित्र मिल जाता है और इससे एक ही दृष्टि में वायुमंडल में होनेवाली ऋतुसंबंधी प्रक्रियाओं का पता चल जाता है। ऐसा विश्लेषण वायु-संहति-विश्लेषण (एयर मास अनैलिसिस) कहलाता है। इस रीति से विश्लेषण करने पर ऋतुचित्रों पर विस्तीर्ण क्षेत्र पाए जाते हैं जो ज्ञात वायुसंहतियों से विशेषतः प्रभावित होते हैं। दो भिन्न वायुसंहतियों के बीच की सीमा को सीमाग्र (फ्रंट) कहते हैं और इन्हीं सीमाग्रों पर मुख्यतः आँधी पानी के क्षेत्र पाए जाते हैं। विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण चरण यह है कि ऋतुचित्रों पर समदाब रेखाएँ खींची जाती हैं। समदाब रेखाएँ उन स्थानों में से जाती हैं जहाँ पर वायु की दाब बराबर रहती है। समदाब रेखाओं के अतिरिक्त इन नक्शों पर वायुसंहतियाँ और भिन्न प्रकार की वायुओं के मिलने के सीमाग्र भी दिए जाते हैं।

ऊपर बताए हुए ऋतुचित्रसे ऋतुविशेषज्ञ को वायुमंडल के ढाँचे का त्रिविस्तारी (थ्री-डाइमेंशनल) चित्र मिल जाता है। भारतीय ऋतु-

चित्र का एक उदाहरण चित्र १ में दिया हुआ है। विश्लेषण समाप्त होने पर विशेषज्ञ ऋतु विषयक पूर्वानुमान तैयार करता है।

२. वायुदाव संहतियों के भेद—वायुदाव संहतियों के मुख्य भेद निम्नलिखित हैं :

(क) अवदाव (डिप्रेशन) तथा चक्रवात (साइक्लोन);
(ख) प्रतिचक्रवात (ऐंटिसाइक्लोन) तथा इसके सहकारी क्षेत्र;
(ग) दावस्फान तथा दावकटक (वेज और रिज) जो अधिक वायुदाव के लंबे क्षेत्र होते हैं और प्रतिचक्रवातों के केंद्रों से प्रारंभ होते हैं;
(घ) घाटी (कोल) जो दो चक्रवातों तथा दो प्रतिचक्रवातों के बीच के क्षेत्र होते हैं।

ऊपर बताए हुए वायुदाव क्षेत्रों के मानचित्र चित्र २, ३, ४ तथा ५ में दिखाए गए हैं।

३. पश्चिमी वायुविक्षोभ—सरदी की ऋतु में निम्न दाब की लहरें उत्तर भारत में पश्चिम से पूर्व की ओर चलती हैं। इन निम्न दाब की लहरों का संबंध भूमध्यसागर (मेडिटरेनियन सी) में और कभी कभी अटलांटिक महासागर में स्थित अवदावों से भी पाया गया है। ये पश्चिमी वायुविक्षोभ भारत में भूमध्यसागर से ईरान और पाकिस्तान होते हुए आते हैं। नवंबर महीने में यह विक्षोभ भारत के उत्तरीय सीमांत पर कभी कभी वर्षा करते हैं और दिसंबर के मध्य से पंजाब में जोर पकड़ना आरंभ करते हैं। सामान्यतः जनवरी से मार्च तक के महीनों में एक से तीन तक सक्रिय विक्षोभ प्रति मास पंजाब और उत्तर प्रदेश में आते हैं। जैसे जैसे शीतकाल बढ़ता जाता है, ये विक्षोभ प्रायः उत्तर-पश्चिम भारत की पहाड़ियों और मैदानों में, असम के उत्तर-पूर्व कोनों में तथा उत्तरी बर्मा और कभी कभी उत्तर भारत के विस्तृत भाग में, वर्षा करते हैं। फरवरी तथा मार्च महीनों में कभी कभी मेकरान किनारे से गौण अवदाब की लहरें भी पूर्व की ओर चलती हैं और मूल अवदाब की उत्तरी लहरों के साथ साथ केंद्रीय भारत में वर्षा करती हैं और उड़ीसा तथा बंगाल प्रदेश में आँधी पानी उत्पन्न करती हैं। पश्चिमी विक्षोभ के निकट आने के निम्नलिखित लक्षण हैं : वायुदाव का कम हो जाना (कभी कभी दाब बहुत ही कम हो जाती है), ताप का बढ़ना, तथा बादलों का घिर आना।

बादलों की जाति स्थानीय स्थलरचना पर निर्भर रहती है, परंतु वह प्रायः संक्रमण-पक्षाभ (ट्रैनजिशनसिरंस), पक्षाभस्तरी (सिरों-स्ट्रेटस), मध्यस्तरी (ऐल्टोस्ट्रेटस), मध्यकपासी (ऐल्टो-क्युमुलस) और बाद में संभवतः बूँदाबाँदी के साथ स्तरित कपासी (स्ट्रेटो-क्युमुलस), कपासी (क्युमुलस) और कई स्थानों पर कपासीवर्षुक (क्युमुलो-निंबस) होती है। बरसनेवाले बादल वर्षुक (निंबस) कहलाते हैं।

पवन की दिशा का परिवर्तन इस प्रकार होता है : जब इराक, मेकरान और तटवर्ती सिंध प्रदेशों में पवन की सामान्य दिशा पश्चिम और उत्तर-पश्चिम होती है, तो यह दिशा १.५ किलोमीटर की ऊँचाई तक उत्तर-उत्तर-पूर्व से पूर्व-उत्तर-पूर्व और २ से ३ किलोमीटर की ऊँचाई पर पूर्व-दक्षिण-पूर्व से दक्षिण-दक्षिण-पूर्व और इससे अधिक ऊँचाई पर दक्षिण से दक्षिण-पश्चिम हो जाती है। ज्योंही विक्षोभ आगे बढ़ जाता है, पवन की दिशा नीचे के वायुमंडल में शीघ्र ही उत्तर-पश्चिम या पश्चिम हो जाती है।

४. बंगाल प्रदेश को कालबैसाखी—बंगाल प्रदेश में (मुख्यतः दक्षिण और दक्षिण-पूर्व भागों में) प्रति वर्ष मार्च से मई तक के महीनों में आँधी-पानी प्रायः आता है जो कभी कभी तो बहुत ही भयानक होता है और जान माल को बहुत हानि पहुँचाता है ऐसे आँधीपानी को कालबैसाखी कहते हैं। कालबैसाखी प्रायः सदा उत्तर-पश्चिम दिशा से आते हैं, इसलिये इनको अंग्रेजी भाषा में नार्वेस्टर अर्थात् उत्तर-पश्चिमी पवन कहते हैं। गर्मी के महीनों में गंगा नदी के मैदान के ऊपर वायु का निम्नदाव क्षेत्र होता है जिसके फलस्वरूप दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्व दिशाओं से आर्द्र पवन दक्षिण बंगाल के निम्नदाव क्षेत्र की ओर चलने लगता है। इस आर्द्र पवन के ऊपर पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी सूखा पवन रहता है। जैसे जैसे ग्रीष्म ऋतु निकट आती जाती है, आर्द्र पवनधारा की गहराई पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती जाती है। ऋतु के पूर्णतः उष्ण हो जाने पर इस आर्द्र पवनधारा की गहराई दक्षिण बंगाल के पूर्वी जिलों में २ से २.५ किलोमीटर तक रहती है। आर्द्र और सूखी वायुसंहतियों के बीच एक समतापीय (आइसोथर्मल) क्षेत्र या उत्क्रमण (इनवर्शन) होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि कालबैसाखी किस प्रकार बनती है। यह देखा गया है कि उत्क्रमण के नीचे कालबैसाखी में पर्याप्त गुप्त अस्थिरता (लेटेंट इन्स्टेबिलिटी) होती है और उत्क्रमण के ऊपर गुप्त अस्थिरता के अनुकूल परिस्थिति होती है। इसलिये जब कभी किसी उपयुक्त विक्षोभी (ट्रिगर) घटना के कारण उत्क्रमण नष्ट हो जाता है तो निचली आर्द्र वायु के ऊपर उठने से अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा मुक्त हो जाती है। यह विक्षोभी घटना निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होती है :

(१) आतपन (इनसोलेशन) से।
(२) बंगाल की खाड़ी से विक्षोभ अथवा चक्रवाती तूफान के कारण आर्द्र पवनों के आगमन से।
(३) पश्चिमी विक्षोभ के शीतल सीमाग्र के पूर्व की ओर जाने से।
(४) ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी में पवनधारा के कारण वायु के जमाव से।
(५) आँधीपानी में से शीतल वायु के भिन्न भिन्न दिशाओं में बहने से।

५. भारतीय समुद्रों में निम्नदाब क्षेत्र तथा चक्रवाती तूफान—अवदाब वायुमंडल का वह भाग होती है जिसमें वायु की दाब चारों ओर के भागों से कम होती है। इस प्रकार अवदाब के क्षेत्र को परिवेष्टित करनेवाली समदाब रेखाएँ लगभग गोल या अंडाकार होती हैं। अवदाबों का विस्तार बहुत अधिक होता है। इनकी गहराई १०० मील से २,००० मील तक की हो सकती है। जिस अवदाब में वायुदाब बाहरी भाग की अपेक्षा केंद्र के समीप बहुत कम होती है, वह गहरी अवदाब कहलाती है। जिस अवदाब में वायुदाब केंद्र के समीप कम तो होती है परंतु आसपास के भागों की अपेक्षा अधिक कम नहीं होती, वह उथली अवदाब कहलाती है। अवदाब में ऋतु अस्थिर रहती है और विभिन्न दाबों के गतिवेग भिन्न भिन्न होते हैं। यह वेग कदापि नियत नहीं रहता। कोई कोई अवदाब ६०० से ७०० मील प्रति दिन के वेग से चलती है और कोई कोई स्थिर भी रहती है। अवदाब अपनी गति के साथ साथ अपनी ऋतु को अपने साथ लेती चलती है और इस ऋतु में जो परिवर्तन होते हैं वे केवल अवदाब में होनेवाले परिवर्तनों के कारण ही होते हैं। भारतीय ऋतुविज्ञान विभाग में प्रचलित विधि के अनुसार अवदाब शब्द का प्रयोग केवल उन चक्रवाती परिवहनों (साइक्लानिक सर्क्युलेशंस) के लिये किया जाता है जिसमें ब्यूफ़ोर्ट संकेतन प्रणाली के अनुसार पवनवेग ७ या कम बल का होता है। जब पवनवेग का बल ८ हो जाता है तब अवदाब चक्रवाती तूफान बन जाती है। यदि पवनवेग का बल १० हो जाय और साथ ही कभी कभी प्रभंजन के झोंके (हरीकेन स्क्वाल) भी हों तो चक्रवाती तूफान को प्रचंड कहा जाता है। साधारणतः अवदाब भारतीय समुद्रों के उन भागों में बनता है जहाँ उत्तर-पूर्वी एवं उत्तर-पश्चिमी सूखा स्थलीय पवन दक्षिण से आनेवाले आर्द्र पवन से मिलता है। जनवरी और फरवरी महीनों में वर्षण के क्षेत्र भूमध्यरेखा के दक्षिण में होते हैं और ये क्षेत्र धीरे धीरे उत्तर की ओर चलते जाते हैं तथा मई महीने के दूसरे या तीसरे सप्ताह तक बंगाल की खाड़ी के मध्य में पहुँच जाते हैं। इनकी गति तब तक उत्तर की ओर ही बनी रहती है जब तक दक्षिण-पश्चिम पावस गंगाघाटी पर छा नहीं जाता और अवदाब बंगाल की खाड़ी में बनने नहीं लगती। जैसे जैसे पावस पीछे हटने लगता है, पार्थक्यरेखा फिर से दक्षिण-पूर्व की ओर चलने लगती है और अक्टूबर महीने में बंगाल की खाड़ी के केंद्रीय भाग में और दिसंबर महीने में भूमध्यरेखा के पास उत्तर में आ जाती है। अरब सागर में पार्थक्यरेखा इतनी स्पष्ट नहीं होती और दक्षिण-पश्चिम पावसकाल में प्रायः कोई भी अवदाब या चक्रवाती तूफान नहीं बनते, परंतु कभी कभी बंगाल की खाड़ी की अवशिष्ट अवदाब उत्तरी-पूरब सागर पर प्रभाव डालती है। अरब सागर में चक्रवादी तूफान मई और जून के आरंभ में और अक्टूबर-नवंबर में बनते हैं।

६. ऋतु पूर्वानुमान—इस छोटे से लेख में ऋतुचित्रों द्वारा पूर्वानुमान करने की रीति का पूरा ब्योरा देना संभव नहीं है। अतः यहाँ केवल उन साधनों की रूपरेखा बताई जायगी जिसे भविष्यवक्ता प्रयुक्त करता है।

ऋतु चित्रों से पूर्वानुमान करने में तीन समस्याएँ उपस्थित होती हैं :

(१) भविष्यवक्ता के लिये यह जानना आवश्यक है कि ऋतुचित्र पर अंकित वायु-दाब-क्षेत्र किस दिशा की ओर चलेंगे।

(२) पूर्वानुमान के परासकाल में वायु-दाब-क्षेत्रों की परिस्थिति में क्या क्या परिवर्तन होंगे।

(३) स्थल संबंधी रूपरेखा का ऋतु पर क्या प्रभाव हो सकता है।

वायु-दाब-क्षेत्रों की गति की दिशा जानने का एक नियम यह है कि मान लिया जाता है कि दिशा तथा वेग वे ही जारी रहेंगे जो थोड़ी देर पहले प्रेक्षण द्वारा ज्ञात किए गए थे। परंतु इस नियम का उपयोग समुद्र के तटवर्ती स्थलों पर विशेष सावधानी से करना चाहिए। भविष्यवक्ता को वायु-दाब-क्षेत्रों और उनमें होते हुए परिवर्तनों को जानने के लिये सबसे महत्वपूर्ण सहायता वायुदाबी प्रवृत्ति की सूचना से मिलती है जो भविष्यवक्ता को विभिन्न वेधशालाओं से प्राप्त होती है। वायुदाबी प्रवृत्ति यह बताती है कि वायुदाब में पिछले तीन घंटों में क्या परिवर्तन हुआ है और उसके लक्षणों से यह भी ज्ञात होता है कि परिवर्तन इस काल में एक समान ही होता रहा है या नहीं। उदाहरणतः, क्या वायुदाब पहले घटकर फिर बढ़ा है ? इस बात का सुझाव सर्वप्रथम स्वीडन देश के ऋतुवैज्ञानिक डाक्टर निल्स एकहोल्म ने दिया था कि एक ऐसा चित्र भी खींचा जाय जिसमें पूर्ववर्ती प्रेक्षण के पश्चात् नियत समय तक के वायुदाब-परिवर्तन अथवा समदाब-परिवर्तन (आइसैलोबारिक) रेखाएँ (जो घटते और बढ़ते वायु-दाब-क्षेत्रों को परिवेष्टित करती हैं) अंकित रहें। ये क्षेत्र सम-दाब-परिवर्तनीय चित्र पर बहुत ही स्पष्ट पाए गए हैं। यह भी देखा गया है कि समदाब परिवर्तन संबंधी वायुसंहतियाँ साधारण वायु-दाब-संहतियों की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से चलती हैं और दीर्घ काल तक एक ही पथ पर चलती रहती हैं। परंतु यह कह देना आवश्यक है कि भारतवर्ष में ऋतु संबंधी वायु-दाब-परिवर्तनों का मान प्रायः स्वल्प होता है और इस कारण दैनिक परिवर्तनों की अनियमितताओं से उनके दब जाने की संभावना रहती है। इसलिये वायुदाबी प्रवृत्ति की दैनिक सूचना से ऋतुचित्र के विश्लेषण में भारत में कोई मुख्य सहायता नहीं मिल पाती। परंतु अत्यंत विक्षुब्ध ऋतु में कभी कभी वायुदाबी प्रवृत्ति से अच्छी सहायता मिलती है। उदाहरणतः, वायुदाबी प्रवृत्ति से तूफान या अवदाबों की गति की दिशा का अनुमान हो जाता है, क्योंकि अत्यंत विक्षुब्ध ऋतु में वायुदाब-परिवर्तनों का परिणाम इतना अधिक होता है कि उसपर दैनिक परिवर्तनों की अनियमितताओं का प्रभाव नहीं पड़ता।

मौसम का पूर्वानुमान करने की समस्या को सफल रूप से हल करने की एक उत्तम विधि नारवेजियन विधि के नाम से प्रख्यात है। इसके अनुसार ऋतु ध्रुवीय तथा भूमध्यरेखीय वायुओं के बीच में सांतरता (डिसकंटिनुइटी) के पृष्ठ की उपस्थिति पर अधिकतर आधारित मानी जाती है। इस प्रकार की सांतरता की रेखा प्रेक्षण द्वारा वायुमंडल में सचमुच पाई जाती है।

वायुयानों के लिये ऋतु विषयक पूर्वानुमान—विमानचालन के विस्तार के साथ साथ पृथ्वीतल से अधिक ऊँचाई तक के लिये ऋतु संबंधी पूर्वानुमान की माँग बढ़ गई है। वायुयान संबंधी ऋतु पूर्वानुमान में बादलों की ऊँचाई, दृश्यता, वायुक्षोभ (टर्ब्युलेंस), वायुयान पर बर्फ जमने की संभावना, पवन के वेग तथा दिशा, बादलों की महत्तम ऊँचाई और पृथ्वीतल पर वायु के झोंकों के विषय में सूचना होती है। वायुयान संबंधी पूर्वानुमान और साधारण दैनिक पूर्वानुमान का आधार प्रायः एक समान होता है पर वायुयान संबंधी पूर्वानुमान में कुछ अधिक सूचनाएँ दी जाती हैं जैसे मौसमी वेधशालाओं से प्राप्त अंतिम क्षण तक की ऋतु की सूचना।

मध्यपरास तथा दीर्घपरास पूर्वानुमान—पूर्वानुमान के काल का परास प्रायः २४ से लेकर ३६ घंटों तक से अधिक नहीं होता। उसके बाद ३६ या ४८ घंटों की ऋतु के बारे में केवल रूपरेखा ही दी जा सकती है। इससे अधिक समय तक के लिये पूर्वानुमान देने के संबंध में बहुत कुछ कार्य हो रहा है, परंतु अभी तक इस कार्य में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इस कार्य पर परिश्रम जारी है और ध्येय यह है कि ऐसी रीतियों का विकास हो सके जिनकी सहायता से अगले पाँच से १० दिन तक की ऋतु का ठीक ठीक पूर्वानुमान करना संभव हो सके।

सांख्यिकीय ऋतु पूर्वानुमान—सांख्यिकीय (स्टैटिस्टिकल) विधियों द्वारा ऋतु विषयक पूर्वानुमान करने का कार्य भारत में पिछले अनेक वर्षों से प्रचलित है और इस क्षेत्र में इस देश में पर्याप्त सफलता मिली है। इस विधि का आधार यह है कि भारत की पावसवर्षा पर संसार के कुछ अन्य देशों की ऋतु संबंधी घटनाओं का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणतः, दक्षिण-अमरीका में अप्रैल और मई महीनों के पवन के वेग तथा दिशा का, दक्षिण रोडेशिया में अक्टूबर से अप्रैल में हुई वर्षा की मात्रा का, पश्चिमी हिमालय पर्वत पर मार्च और अप्रैल में हिमपात की मात्रा का पावसवर्षा पर बहुत प्रभाव पाया गया है। संसार के इन सब भागों से ऋतु संबंधी न्यास एकत्रित करके सह-संबंध-गुणांक (कोरिलेशन कोइफ़िशेंट) निकाले गए हैं, जिनके आधार पर ऋतु संबंधी पूर्वानुमान किया जाता है। ध्येय यह है कि इस प्रकार का पूर्वानुमान ८० प्रतिशत ठीक हो।

सं०ग्रं०—स्वेर पेटरसन : वेदर अनैलिसिस ऐंड फ़ोरकास्टिंग (१९४०); बी० पी० स्टार : बेसिक प्रिंसिपल्स ऑव वेदर फ़ोरकास्टिंग। (सो० म० तथा के० श० अ०)

ऋतुविज्ञान ऋतुविज्ञान वायुमंडल का विज्ञान है। आधुनिक ऋतुविज्ञान में वायुमंडल में होनेवाली भौतिक घटनाओं का तथा उनसे संबद्ध उपलगोले (लिथोस्फ़ियर) और जलगोले (हाइड्रोस्फ़ियर) की घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। ऋतुविज्ञान के विषय का वर्णन, जहाँ तक उसका संबंध निचले वायुमंडल की मौसमी घटनाओं से है, अधिकतम सुविधापूर्वक निम्नलिखित चार भागों में किया जा सकता है :

(१) यांत्रिक ऋतुविज्ञान (इंस्ट्रूमेंटल मीटिअरॉलोजी) जिसका संबंध उन प्रेक्षणयंत्रों तथा प्रेक्षणविधियों से है जिनके द्वारा वायुमंडल की ऋतुप्रभावक अवस्थाओं की सूचना प्राप्त की जाती है।

(२) भौतिक तथा गतिक ऋतुविज्ञान (फ़िजिकल और डाइनैमिकल मीटिअरॉलोजी) जिसमें प्रेक्षित ऋतु संबंधी घटनाओं का गुणात्मक तथा पारिमाणिक (क्वांटिटेटिव) विवेचन किया जाता है।

(३) संक्षिप्त ऋतुविज्ञान (सिनॉप्टिक मीटिअरॉलोजी) जो मुख्यतः ऋतु के पूर्वानुमान के लिये संक्षिप्त आर्तव (ऋतु संबंधी) मानचित्रों द्वारा संक्षिप्त आर्तव प्रेक्षणों के अध्ययन से संबंध रखता है।

(४) जलवायु-तत्व (क्लाइमैटॉलोजी) जिसमें संसार के सब भागों के आर्तव प्रेक्षणों का सांख्यिकीय (स्टैटिस्टिकल) अध्ययन होता है और उसके द्वारा उन प्रसामान्य तथा मध्यमान (औसत) परिस्थितियों का ठीक ठीक पता लगाया जाता है जिसके द्वारा जलवायु का वर्णन किया जा सकता है।

ऋतुवैज्ञानिक तत्व (एलिमेंट्स)—ऋतु संबंधी प्रेक्षणों में, जिनसे वायुमंडल की दशा का ज्ञान मिलता है, निम्नलिखित बातें देखी जाती हैं :

ताप—वायु का ताप तापमापी (थरमामीटर) द्वारा नापा जाता है। इस थरमामीटर को सौर विकिरणों से अप्रभावित रखा जाता है। वायु की आर्द्रता ज्ञात करने के लिये गीले तापमापी (वेट बल्ब थरमामीटर) का उपयोग किया जाता है। इस थरमामीटर के बल्ब पर गीले मलमल के कपड़े की इकहरी तह लिपटी रहती है। आर्द्रता की मात्रा सूखे थरमामीटर तथा गीले थरमामीटर के पाठ्यांकों से निकाली जाती है।

वायुदाब—यह वायुदाबमापी (बैरोमीटर) द्वारा मापा जाता है और इससे पृथ्वी पर वायु का भार (प्रति इकाई क्षेत्रफल) विदित होता है।

पवन—पवन की दिशा तथा वेग का प्रेक्षण किया जाता है। दिशा वह ली जाती है जिस ओर से पवन आता है और दिक्सूचक के १६ अथवा ३२ बिंदुओं में अंकित की जाती है। वेग पवन-वेगमापी (ऐनिमोमीटर) द्वारा मापा जाता है और मील प्रति घंटा या किलोमीटर प्रति घंटा या मीटर प्रति सेकंड में व्यक्त किया जाता है।

आर्द्रता—आर्द्रता से वायुमंडल में जलवाष्प की मात्रा का ज्ञान होता है और, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह सूखे तथा गीले थरमामीटरों द्वारा नापी जाती हैं।

संघनन के रूप (कंडेंसेशन फॉर्म्स)—इसमें वायुमंडलीय संघनन के सब प्रकार के द्रव एवं ठोस उत्पादन संमिलित है। बादलों की मात्रा तथा उनके प्रकार, कुहरा तथा वर्षा, हिम (बर्फ), ओला आदि, का प्रेक्षण किया जाता है। प्रत्येक प्रकार का बादल आकाश के जितने भाग में व्याप्त हो उतने को पूरे आकाश के दशांशों में व्यक्त किया जाता है। जो संघनन कण काफी बड़े होते हैं वे वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिरते हैं।

दृश्यता—दृश्यता (विज़िबिलिटी) उस क्षैतिज दूरी को कहते है जहाँ तक की बड़ी और स्पष्ट वस्तुएँ दिखाई दे सकती हों।

छादन—छादन (सीलिंग) ऊर्ध्वाधर दृश्यता (वर्टिकल विज़िबिलिटी) से संबंध रखती है और मेघतल की ऊँचाई से मापी जाती है।

ऐतिहासिक—प्राचीन काल से ही मनुष्य ऋतु तथा जलवायु की अनेक घटनाओं से प्रभावित होता रहा है। वायुविज्ञान के प्राचीनतम ग्रंथ ऐरिस्टॉटल (३८४-३२२ ई० पू०) रचित "मीटिअरोलॉजिका" तथा उनके शिष्यों की पवन तथा ऋतु संबंधी रचनाएँ हैं। ऐरिस्टॉटल के पश्चात् अगले दो हजार वर्षों में ऋतुविज्ञान की अधिक प्रगति नही हुई। १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में मुख्यतः यंत्रप्रयोग तथा गैस आदि के नियम स्थापित हुए। इसी काल में तापमापी का आविष्कार सन् १६०७ में गैलीलियो गैलीली ने किया और एवेंजीलिस्टा टॉरीसेली ने सन् १६४३ में वायु दाबमापी यंत्र का आविष्कार किया। इन आविष्कारों के पश्चात् सन् १६५९ मे बायल के नियम का आविष्कार हुआ। सन् १७३५ में जार्ज हैडले ने व्यापारिक वायु (ट्रेड विंड) की व्याख्या प्रस्तुत की तथा उसमें सबसे पहले वायुमंडलीय पवनों पर पृथ्वी के चक्कर के प्रभाव को संमिलित किया। जब सन् १७८३ में ऐंटोनो लेबोसिये ने वायुमंडल की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर लिया और सन् १८०० में जॉन डॉल्टन ने वायुमंडल में जलवाष्प के परिवर्तनों पर और वायु के प्रसार तथा वायुमंडलीय संघनन के संबंध पर प्रकाश डाला तभी आधुनिक ऋतुविज्ञान का आधार स्थापित हो गया। १९वीं शताब्दी में विकास अधिकतर संक्षिप्त ऋतुविज्ञान के क्षेत्र में हुआ। अनेक देशों ने ऋतुवैज्ञानिक संस्थाएँ स्थापित कीं और ऋतु वेधशालाएँ खोलीं। इस काल में ऋतु पूर्वानुमान की दिशा में भी पर्याप्त विकास हुआ। २० वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में २० किलोमीटर की ऊँचाई तक वायु के वेग तथा दिशा आदि के प्रेक्षणों के बढ़ जाने के कारण जो सूचनाएँ ऋतुविशेषज्ञों को प्राप्त होने लगीं उनसे ऋतुविज्ञान की अधिक उन्नति हुई। ऊपरी वायु के ऐसे प्रेक्षणों से ऋतुविज्ञान की अनेक समस्याओं को समझने में बहुत अधिक सहायता मिली।

प्रथम विश्वयुद्ध काल में वायुमंडलीय स्थितियों के अधिक और शीघ्रतम प्रेक्षणों की आवश्यकता हुई जिसकी पूर्ति के लिये वायुयान द्वारा ऋतुलेखी यंत्र (मीटिअरोग्राफ़) ऊपर ले जाने की व्यवस्था की गई। अन्य महत्वपूर्ण प्रगतियाँ जो प्रथम विश्वयुद्ध काल में हुई वे नॉर्वे देश के ऋतुविशेषज्ञ वी० बरकनीज़, एच० सोलबर्ग तथा जे० बरकनीज द्वारा ध्रुवीय अग्रसिद्धांत (पोलर फ्रंट थ्योरी) के तथा चक्रवातों की उत्पत्ति के तरंग सिद्धांत के परिणाम हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल में मुख्यतः अधिक ऊँचाई पर उड़नेवाले वायुयानों के उपयोग के लिये ऋतु संबंधी सूचनाओं की माँग और बढ़ गई और इस माँग की पूर्ति के निमित्त विभिन्न ऊँचाइयों पर वायु के वेग तथा दिशा आदि के ज्ञान के लिये राडार प्रविधि (राडार टेक्नीक) का विकास हुआ।

वायुमंडल की रचना तथा ऊर्ध्वाधर विभाजन—निचले वायुमंडल की सूखी वायु में अनेक गैसों का मिश्रण होता है जिनमें मुख्यतः नाइट्रोजन ७८ प्रतिशत, आक्सिजन २१ प्रतिशत, आरगन ०.९३ प्रतिशत और कार्बन डाइआक्साइड ०.०३ प्रतिशत होती हैं। इन गैसों के अतिरिक्त कुछ अन्य गैसें भी होती हैं, जैसे हाइड्रोजन तथा ओज़ोन। पवनों द्वारा निचले वायुमंडल के लगातार मिश्रण से तथा ऊर्ध्वाधर संवहन (कनवेक्शन) से सूखी हवा का मिश्रण इतना अपरिवर्ती रहता है कि कम से कम २० किलोमीटर की ऊँचाई तक तो सूखी हवा का अणुभार २८.९६ पर स्थिर रहता है; अर्थात् वायु का घनत्व १.२७६ (१०)$^{-३}$ ग्राम प्रति घन सें० होता है, जब वायुदाब १,००० मिलीबार हो और ताप ०° सेंटीग्रेड हो।

वायुमंडल में ओजोन की उपस्थिति फ़ाउलर तथा स्ट्रट ने वर्णक्रमदर्शी यंत्र (स्पेक्ट्रॉस्कोप) द्वारा प्रमाणित की थी। डॉबसन के प्रेक्षणों से भी यह बात सिद्ध हो गई है तथा यह ज्ञान भी प्राप्त हुआ है कि ओजोन भूतल से लगभग ३० से ४० किलोमीटर की ऊँचाई पर एक सीमित स्तर में पाई जाती है। इन ऊँचाइयों पर ओज़ोन की उपस्थिति मौसमी परिस्थितियों के लिये कुछ महत्वपूर्ण है। डॉबसन की खोज से पता लगा है कि १० किलोमीटर ऊँचाई पर की वायुदाब में और ओज़ोन की मात्रा में घनिष्ठ संबंध है।

वायुमंडल में जलवाष्प—वायुमंडल में केवल जलवाष्प ही ऐसा अवयव है जिसकी भौतिक अवस्था का परिवर्तन सामान्य वायुमंडलीय परिस्थितियों में होता रहता है। अतः वायुमंडल में जलवाष्प की प्रतिशत आयतन मात्रा बहुत घटती बढ़ती रहती है। वायुमंडल में जलवाष्प का घटना बढ़ना ऋतुविज्ञान के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जल का वाष्पीकरण तथा संघनन इसलिये महत्वपूर्ण है कि न केवल इनसे एक स्थान से दूसरे स्थान को जल का परिवहन होता है, वरन् इसलिये भी कि जल के वाष्पीकरण के लिये गुप्त उष्मा के अवशोषण की आवश्यकता होती है। यह अंत में पुनः प्रकट होकर वायु को तब उष्ण करने के काम मे आती है जब जलवाष्प का फिर से जलबिंदु तथा हिम में संघनन होता है।

यद्यपि नाइट्रोजन गैस अमोनिया, नाइट्रिक अम्ल तथा नाइट्रेटों का मुख्य अवयव है और ये पदार्थ बारूद आदि में बहुत महत्व रखते हैं, तथापि वायुमंडल में यह गैस बिलकुल निष्क्रिय रहती है। यह तो वायुमंडल के अधिक महत्वपूर्ण अवयव आक्सिजन गैस को, जो वायुमंडल का लगभग पाँचवाँ भाग होती है, केवल तनु कर देती है।

वायुमंडलीय दाब का ऊँचाई के साथ घटना बढ़ना—किसी भी स्थान की वायुदाब वहाँ के ऊपर की वायु के भार से उत्पन्न होती है, इसलिये दो विभिन्न ऊँचाइयों की वायुदाबों का अंतर इन दोनों ऊँचाइयों के बीच की हवा के एकांक अनुप्रस्थ काट (क्रॉस सेक्शन) के भार के बराबर होता है। यदि यह दाब का अंतर बीच की हवा के भार से यथार्थ रूप में संतुलित न हो तो उस वायुस्तर को ऊपर की ओर या नीचे की ओर त्वरण (ऐक्सेलरेशन) प्राप्त होता है। जिस परिस्थिति में दाब का अंतर और वायु का भार संतुलित हो, अथवा यों कहिए कि गुरुत्वजनित त्वरण के अतिरिक्त कोई अन्य ऊर्ध्वाधर त्वरण विद्यमान न हो, वह द्रवस्थैतिक संतुलन (हाइड्रोस्टैटिक ईक्विलिब्रियम) की परिस्थिति कहलाती है। यह परिस्थिति किसी भी स्तर पर ऊँचाई के साथ दावपरिवर्तन की दर का परिचय देती है। यदि दो दाबस्तरों के बीच का दाब अंतर तादा (dp) हो और दोनों स्तरों के बीच ऊर्ध्वाधर दूरी ताल (dz) हो, घनत्व घ (ρ) हो और गुरुत्वजनित त्वरण गु (g) हो, तो

$$\text{तादा} = \text{घगु}\frac{\text{तादा}}{\text{ताल}} \text{ अर्थात् } \frac{\text{तादा}}{\text{ताल}} = -\text{घगु}।\ \left[dp = \rho g \frac{dp}{dz} \text{ या } \frac{dp}{dz} = -\rho g\right]$$

इस समीकरण को द्रवस्थैतिक समीकरण कहते हैं।

दाब ऊँचाई सूत्र—गुरुत्वजनित त्वरण विभिन्न अक्षांश (लैटिट्यूड) तथा ऊँचाई के कारण थोड़ा सा ही घटता बढ़ता है, किंतु दाब, ताप तथा नमी के कारण वायु का घनत्व अधिक मात्रा में घटता बढ़ता है। इसलिये वायुमंडल में ऊर्ध्वाधर दाबप्रवणता (वर्टिकल प्रेशर ग्रेडियंट) अत्यंत परिवर्तनशील होती है। दो दाबस्तरों के बीच की ऊँचाई का अंतर ऊ (h) मीटर निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है:

$$\text{ऊ} = १८४००\left(\text{लघु}_{१०}\frac{\text{दा}_{०}\text{वा}}{\text{दा}}\right)\frac{\text{गू}}{\text{गु औ}}\left[\frac{१ + \text{प औ}/२७३}{१ - ०\cdot३७८\ \text{मि०मी०}}\right]$$

$$h = 18400\left(\log_{10}\frac{p_0 w}{p}\right)\frac{G}{gm}\left[\frac{1 + tm/273}{1 - 0\cdot378\ \text{m.m.}}\right]$$

जहाँ ऊ (h) = ऊँचाई का अंतर (मीटरों में), दा$_{o}$ (p_o) नीचे के स्तर की वायुदाब, दा (p) = ऊपर के स्तर की वायुदाब, गू (G) = प्रसामान्य गुरुत्व, गु (g) = गुरुत्वत्वरण, प (t) = ताप, वा (w) = वाष्पदाब अनुपात है और अवलग्न अक्षर औ (m) के द्वारा दोनों स्तरों के बीच का औसत मान व्यक्त होता है।

$$\text{वाष्पदाब अनुपात} = \frac{\text{वाष्पदाब}}{\text{सर्व वायुमंडलीय दाब}}\text{।}$$

ऊँचाई मापने की विधि—ऊँचाई मापने की प्रामाणिक विधि यह है कि ऊपर दिए हुए सूत्र द्वारा दाब तथा ताप मापकर ऊँचाई का अंतर प्राप्त किया जाय और यदि यथार्थता की आवश्यकता हो तो आर्द्रता की मात्रा को भी काम में लाया जाय। प्रामाणिक तुंगतामापी (आल्टिमीटर) इसी सूत्र पर आधारित है।

ताप का दैनिक परिवर्तन—दिन के समय सूर्य से गरमी मिलने और रात में विकिरण द्वारा पृथ्वी के ठंढी होने से वायु के ताप में दैनिक परिवर्तन उत्पन्न होता है। न्यूनतम ताप सूर्योदय से कुछ पहले होता है और अधिकतम ताप तीसरे पहर में होता है। वायु के ताप का यह दैनिक परिवर्तन भूतल के ऊपर से मुक्त वायुमंडल में शीघ्रता से घटता है। पृथ्वी के अधिकतर भागों में ५,००० फुट से अधिक की ऊँचाइयों पर तथा रेगिस्तानी प्रदेशों में १०,००० फुट की ऊँचाई पर ताप का दैनिक परास (रेंज) २° या ३° सेंटीग्रेड से अधिक नहीं पाया गया है।

वायुमंडल का उष्मासंतुलन—भूतल तथा वायुमंडल को गरमी लगभग पूर्णतया सूर्यविकिरण से ही मिलती है। अन्य आकाशीय पिंडों से गरमी बहुत ही कम मात्रा में मिलती है। सौर ऊर्जा की मापें स्मिथसोनियन संस्था की तारा-भौतिकी-वेधशाला में तथा अन्य कई पर्वतशिखरों पर स्थित वेधशालाओं में नियमित रूप से की जाती हैं और इन मापों की यथार्थता एक प्रतिशत से उत्कृष्ट होती है। पृथ्वी और सूर्य की मध्यमान-सौर दूरी पर यह सौर आतपन ऊर्जा वायुमंडल में प्रविष्ट होकर अंशतः अवशोषित होने के पहले लगभग १.९४ ग्राम कलरी प्रति मिनट प्रति वर्ग सेंटीमिटर होती है; यहाँ प्रतिबंध यह है कि सूर्य की किरणें उस वर्ग सेंटीमीटर पर अभिलंबतः पड़ें। इस मात्रा को सौर नियतांक (सोलर कॉन्स्टैंट) कहते हैं। सौर नियतांक के मान में पाई गई अनियमित घट-बढ़ एक प्रतिशत से भी कम रहती है; ये प्रेक्षणत्रुटियों के कारण हो सकती हैं। इन अनियमित उच्चावचनों के अतिरिक्त एक वास्तविक और बड़ा उच्चावचन भी पाया गया है जो ग्यारह वर्षीय सूर्य-कलंक-चक्र में लगभग १ प्रतिशत होता है। इसमें परा-बैंगनी विकिरण के कारण एक से दो प्रतिशत तक का दीर्घकालिक उच्चावचन और भी हो सकता है। परंतु ये सब उच्चावचन इतने लघु हैं कि वायुमंडलीय उष्म संतुलन के संबंध में यह मान लिया जा सकता है कि पृथ्वी पर सौर ऊर्जा १.९४ ग्राम कलरी प्रति वर्ग सेंटीमीटर प्रति मिनट पड़ती है। अनुमान किया गया है कि सौर ऊर्जा का ४३ प्रतिशत भाग परावर्तित तथा प्रकीर्णित प्रकाश के रूप में आकाश में वापस चला जाता है। पृथ्वी की परावर्तन तथा प्रकीर्णन करने की संमिलित शक्ति को ऐलबेडो कहते हैं। यह ४३ प्रतिशत है। शेष ५७ प्रतिशत ऊर्जा, जो प्रभावकारी आतपन है, भूतल तथा वायुमंडल को औसतन ५७ उष्मा इकाइयाँ प्रदान करता है। इन ५७ उष्मा इकाइयों में से केवल एक लघु भाग का (अधिक से अधिक १४ इकाइयों का) वायुमंडल, मुख्यतः निचले स्तरों में जलवाष्प द्वारा और कुछ कम परिमाण में ऊपरी समताप मंडल (स्ट्रैटोस्फ़ियर) में ओज़ोन द्वारा, अवशोषण कर लेता है।

वायुमंडल में वाष्पन तथा संघनन—वायुमंडल में वाष्पन तथा संघनन का कारण है वायु की जलवाष्प ग्रहण करने की शक्ति में कमी बेशी, अर्थात् आर्द्र वायु का गरम या शीतल होना। साधारणतः वायुमंडल में जलवाष्प-मात्रा संतृप्त मात्रा से कम होती है, विशेषकर भूतल के समीप जहाँ वायुमंडल का प्रभावकारी आतपन अधिकतम होता है।

वाष्पन—वायु में नमी का अधिक भाग, जो वायुमंडल में जलवाष्प-चक्र को चलाता रहता है, वाष्पन से प्राप्त होता है। जैसे जैसे जल वाष्पित होता है, तैसे तैसे वह वायुमंडल में विसरित होता रहता है। वायुमंडल में वाष्पन द्वारा होनेवाली मौसमी क्रियाएँ अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण नहीं होतीं। दृश्य भाप की उत्पत्ति भी वाष्पन द्वारा होनेवाली मौसमी क्रिया है। गरम जल की सतह से शीघ्रतापूर्वक वाष्पन होने के कारण बहुत ठंढी अथवा अपेक्षाकृत ठंढी आर्द्र वायु एकदम अति संतृप्त हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि दृश्य भाप के रूप में नमी का तुरंत संघनन हो जाता है जिसके कारण स्थिर हवा में घना कोहरा बन जाता है।

वायुमंडलीय संघनन—संघनन किसी खुली सतह पर उस समय होता है जब उस सतर का ताप आसपास की वायु क ओसांक (ड्यू पॉइंट) के ताप से कम होता है। इस प्रकार के संघनन के उदाहरण गरम मौसम में पाए जाते है। जैसे, यद्यपि वायु की आपेक्षिक आर्द्रता सौ प्रतिशत से पर्याप्त कम रहने पर भी वर्फ के पानी से भरे गिलास के बाहर वायु का वाष्प संघनित हो जाता है उसी प्रकार स्वच्छ प्रशांत रात्रि में ओस का संघनन उन भूतल-स्थित वस्तुओं पर हो जाता है जो अपनी ऊष्मा के विकिरण के कारण आसपास की वायु के ओसांक से निम्न ताप तक ठंडी हो जाती हैं। पाला उन सतहों पर जमता है जो हिमांक से भी अधिक ठंढी हो जाती हैं, चाहे मुक्त वायु का ताप हिमांक से काफी ऊँचा ही क्यों न हो।

जब वायुमंडल के भीतर छोटे छोटे जलबिंदुओं के रूप में संघनन होता है तो प्रश्न यह उठता है कि यह प्रक्रम किस प्रकार प्रारंभ होता है। प्रयोग से सिद्ध हुआ है कि पूर्णतः अशुद्धिहीन वायु में संघनन जलबिंदु के रूप में नहीं होता, चाहे उसमें वाष्पदाब संतृप्ति दाब से दस गुनी ही क्यों न हो। प्रतीत होता है कि जलवाष्प का संघनन प्रारंभ करने के लिये किसी प्रकार के कणों की आवश्यकता होती है जो शुद्ध वायु में उपस्थित नहीं होते। इस प्रकार के कण को संघनन नाभिक कहते है। परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि वायु में जलाकर्षी पदार्थो के नन्हें कण, जैसे समुद्री नमक के कण, संघनन नाभिकों का कार्य करते हैं। जिन स्थानों में कारखानों का धुआँ वायुमंडल को दूषित कर देता है, वहाँ धुएँ के गंधक, फासफोरस आदि पदार्थो के आक्साइड के नन्हें कण संघनन नाभिक बन जाते हैं।

साधारणतः निचले क्षोभमंडल (ट्रॉपोस्फ़ियर) के कुहरे और बादलों में प्रति घन सेंटीमीटर सौ से दस हजार तक नन्हें जलबिंदु होते हैं। बादलों में वर्षाबिंदु अथवा दूसरे वर्षणकण किस प्रकार निर्मित होते हैं, यह विषय अभी संशययुक्त है। कदाचित् ये बहुत से छोटे छोटे मेघकणों के संयोजन द्वारा बनते हैं। संयोजन वायु की धाराओं के मिलने और वायु के मथ उठने से होता होगा। बड़े बड़े बिंदुओंवाली तीव्र वर्षा के बारे में स्वीकृत सिद्धांत यह है कि ये बिंदु तब बनते है जब हिममणिभ बादलों के ऊपरी भागों में पहुँच जाते हैं जहाँ अति शीत (सुपरकूल्ड) जलकण विद्यमान रहते हैं। इस सिद्धांत का प्रतिपादन टो बर्गेरान ने किया था।

वायुमंडल का सामान्य संचार—मूलतः वायुमंडल का सामान्य संचार भूमध्यीय तथा ध्रुवीय देशों के बीच क्षैतिज तापप्रवणता (ग्रेडियंट) के कारण उत्पन्न होता है। एक प्रकार के वायुमंडल का सामान्य संचार वायुमंडल की हलचल का तथा उसकी क्रियाओं का एक व्यापक विहंगम चित्र है। यदि दीर्घकाल के दैनिक मौसमी नक्शों का परीक्षण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि उनमें प्रवाह के रूप दो प्रकार के होते हैं :

(१) अल्पजीवी शीघ्रगामी प्रतिचक्रवात (ऐंटिसाइक्लोन) तथा अवदाब (डिप्रेशन)। इस प्रकार के भँवर प्रारंभ होने के बाद एक दिन से लेकर एक मास तक के काल में समाप्त होते हैं और फिर नक्शों मे बिल्कुल अदृश्य हो जाते हैं। ये गौण संचार नाम से प्रसिद्ध है।

(२) दीर्घजीवी तथा धीरे चलनेवाले भँवर। ये भी प्रतिचक्रवाती अथवा चक्रवाती प्रकार के होते हैं, परंतु दीर्घ काल तक लगभग निश्चल रहते हैं। ये प्राथमिक संचार कहलाते हैं। चित्र १ और २ में जनवरी और जुलाई के महीनों में पृथ्वी पर औसत समुद्रस्तरीय दाबरेखाएँ दी गई हैं। यह स्पष्ट है कि दोनों चित्रों में दक्षिणी गोलार्ध की कुछ बातें एक जैसी हैं।

(क) दोनों महीनों में पृथ्वी के समस्त भूमध्यरेखीय प्रदेश में एक अपेक्षाकृत अल्प, किंतु अत्यंत एकसमान, दाब का अखंड कटिबंध है। जनवरी
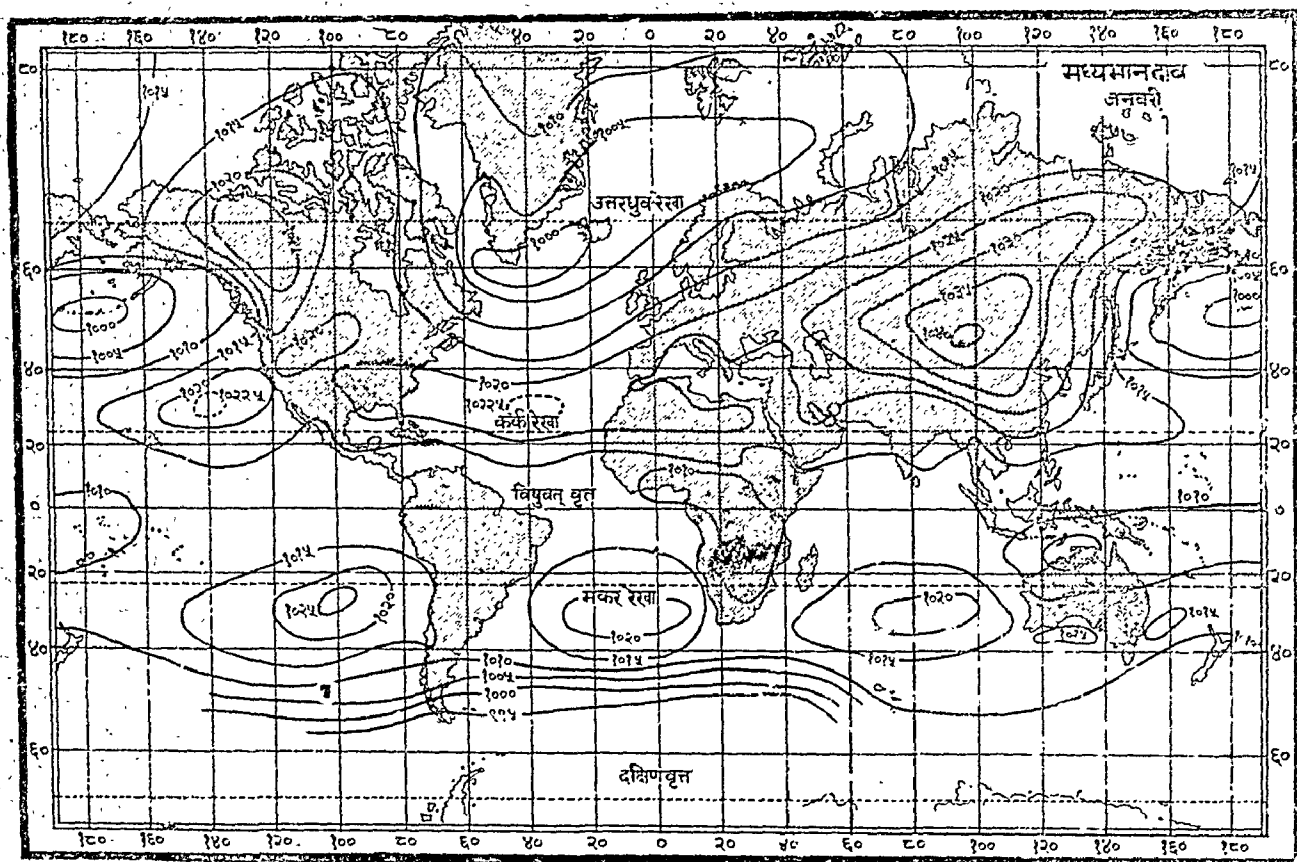
चित्र १—जनवरी मास में औसत समुद्रस्तरीय दावरेखाएँ

चित्र २—जुलाई मास में औसत समुद्रस्तरीय दावरेखाएँ
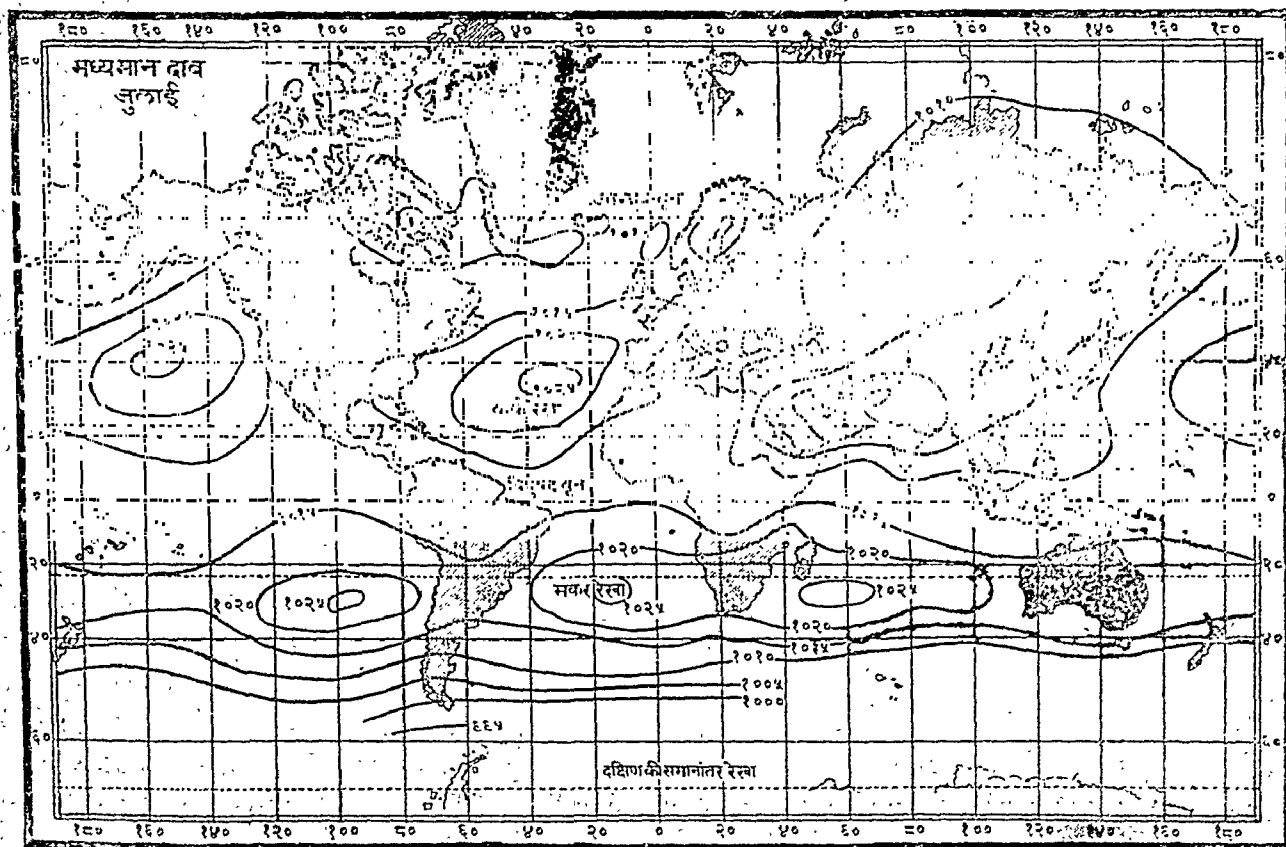
मास में यह कटिबंध भूमध्यरेखा के कुछ उत्तर की ओर है, परंतु जुलाई मास में या तो ठीक उस रेखा पर है या थोड़ा दक्षिण की ओर। यह अल्प-दाव-कटिबंध प्रशांत तथा उष्ण मौसम का कटिबंध है जो समुद्र पर डोल्ड्रम के नाम से प्रसिद्ध है। इस पूरे कटिबंध को हम भूमध्यरेखीय अल्प-दाव-कटिबंध कह सकते हैं।

(ख) उपोष्ण (सब-ट्रॉपिकल) देशों में (लगभग ३०° दक्षिण अक्षांश के निकट) एच चौड़ा अखंड अधिक दाव का कटिबंध जनवरी और जुलाई दोनों ही मासों में होता है, परंतु जनवरी मास में आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका के ऊपर यह छोटे छोटे अल्पदाव क्षेत्रों द्वारा थोड़ा विच्छिन्न हो जाता है। यह चौड़ा कटिबंध उपोष्णवलयिक अधिदाव कटिबंध कहलाता है जो दोनों गोलार्धों में सामान्य संचार का एक स्थायी स्वरूप है।

(ग) उपोष्णवलयिक अधिदाव कटिबंध के दक्षिण में वायुदाव दक्षिण की ओर बराबर गिरती जाती है और अंटार्कटिका महाद्वीप के ऊपर न्यूनतम हो जाती है।

उत्तरी गोलार्ध में निम्नलिखित तीन प्राथमिक दावक्षेत्रों का परिचय मिलता है :

(१) भूमध्यरेखीय अल्पदाव कटिबंध, जो दोनों गोलार्धो में समान रूप से विद्यमान रहता है।

(२) उपोष्णवलयिक अधि-दाव-कटिबंध इस गोलार्ध में पूर्णतया भिन्न प्रकार का है। जनवरी मास में यह समुद्रों पर लगभग २५°-३५° उत्तर में रहता है। परंतु महाद्वीपों के ऊपर ऊँचे अक्षांशों में इसका संबंध बहुत अधिक दाव की प्रणालियों से रहता है। ये दाव-प्रणालियाँ लक्षण में एकदम भिन्न होती हैं और इसलिये उपोष्णवलयिक अधि-दाव-कटिबंध को समुद्रों तक ही सीमित समझना उचित है।

(३) जनवरी मास के नक्शे पर उपोत्तरध्रुवीय (सब-आर्कटिक) अल्प-दाव-कटिबंध स्पष्टतया दिखाई देता है। इस कटिबंध में दो बड़े अल्पदाव क्षेत्र आइसलैंड तथा अलूशियन द्वीपों पर हैं, जो क्रमानुसार उत्तरतम अटलांटिक महासागर पर तथा उत्तरतम पैसिफिक महासागर पर विस्तृत हैं। इन दोनों क्षेत्रों के बीच में ध्रुव पर अपेक्षतया अधिक दाव का एक क्षेत्र है। ग्रीष्म ऋतु में ये अल्पदाव बहुत क्षीण होते हैं। अलूशियन क्षेत्र तो गायब हो जाता है और आइसलैंड के निकटवाला क्षेत्र बहुत क्षीण हो जाता है। ध्रुवों पर वायुदाव अपेक्षाकृत अधिक रहती है। उपोष्णवलयिक अधि-दाव कटिबंध तथा उपध्रुवीय अल्पदाव कटिबंध की अखंडता में विच्छिन्नता नवीन तथा अज्ञात तत्वों के कारण होती है जिनका दक्षिणी गोलार्ध में अभाव है।

गौण संचार—गौण संचार चाहे प्रतिचक्रवाती हों या चक्रवाती, उनका लक्षण यह है कि एक या अधिक समदाब रेखाएँ अधिदाव केंद्रों या अल्पदाव केंद्रों को चारों ओर से घेरकर बंद कर देती हैं। इस प्रकार अधि-दाव क्षेत्र तथा अल्पदाव क्षेत्र क्रमानुसार वायुमंडल के भार की अधिकता अथवा न्यूनता के स्थानीय क्षेत्र होते हैं। गौण संचार दो प्रकार के होते हैं : (१) प्रत्यक्षतः उष्मीय (थर्मली डाइरेक्ट) और (२) गतिक (डाइनैमिक) अथवा प्रणोदित (फ़ोर्स्ड)। प्रत्यक्षतः उष्मीय अधिदाव तथा अल्पदाब निचले वायुमंडल के किसी स्थानविशेष के ठंढा या गरम होने से निर्मित होते हैं। गतिक अधिदाव तथा अल्पदाव दोनों ही सामान्य संचार की वायुधाराओं की पारस्परिक यांत्रिक (मिकैनिकल) क्रियाओं के कारण निर्मित होते हैं। प्रत्यक्षतः उष्मीय गौण संचारों में पावस (मानसून) तथा उष्णवलयिक प्रभंजन (हरीकेन) संमिलित हैं।

पावससंचार—मानसून शब्द ऋतुसूचक अरबी शब्द से निकला है और आरंभ में अरब समुद्र के उन पवनों के लिये इसका व्यवहार किया जाता था जो लगभग छह महीने उत्तर-पूर्व से और छह महीने दक्षिण-पश्चिम से चलती हैं। अब यह शब्द कुछ अन्य पवनों के लिये भी लागू हो गया है जो वर्ष की विभिन्न दिशाओं में प्रतिकूल दिशाओं से दीर्घकालिक तथा नियमित रूप से चलती हैं। इन पवनों के चलने का प्राथमिक कारण थल तथा समुद्री क्षेत्रों के तापों का ऋतुजनित अंतर है। ये पवन थलसमीर तथा जलसमीर के सदृश ही होते हैं परंतु इनकी अवधि एक दिन के बजाय एक वर्ष की होती है और ये सीमित क्षेत्रों के बजाय बहुत विस्तृत क्षेत्रों पर चलते हैं। मानसून को हिंदी में पावस कहते हैं।

भूमध्यरेखा के समीप ताप के ऋतुजनित परिवर्तन सामान्यतः पावस के विकास के लिये बहुत छोटे होते हैं। ऊँचे अक्षांशों में, जहाँ पछुवा पवन चलता है, और ध्रुवीय प्रदेशों में, थल और समुद्र के ताप की विभिन्नता से बने वातघट (कंविड कॉम्पोनेंट) पृथ्वीव्यापी पवनसंचारों को केवल थोड़ा सा ही बदलने में समर्थ होते हैं। ऐसी परिस्थिति में पावस के विकास के लिये सबसे अधिक अनुकूल प्रदेश उष्णवलय के समीप मध्य अक्षांशों में होते हैं। स्थल की ओर चलनेवाले पवनों में विद्यमान आर्द्रता की मात्रा का तथा स्थल की रूपरेखा का पावसवर्षा पर अत्यंत प्रभाव पड़ता है। विभिन्न घटनाओं की उपयुक्त संगति के कारण पावस का अधिकतम विकास पूर्व तथा दक्षिण एशिया पर होता है और इन प्रदेशों के बहुत से भागों में दक्षिण-पश्चिम से चलनेवाले ग्रीष्म ऋतु के वृष्टिमान पावसपवन जलवायु के महत्वपूर्ण अंग हैं। पावसपरिस्थिति उत्तर आस्ट्रेलिया में, पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका के भागों में और उत्तरी अफ्रीका तथा चिली के भागों में भी उत्पन्न होती है, परंतु बहुत कम मात्रा में।

भारत में पावस अचानक तथा नाटकीय रूप से आता है। इसकी उत्पत्ति दक्षिण भारतीय व्यापारिक पवनों से होती है। ये जून मास के आरंभ में भूमध्यरेखा के आरपार चलना आरंभ कर देते हैं, और मुख्यतः रेखांश ८०° पूर्व के तथा लगभग रेखांश ५° उत्तर पर भारत देश की ओर मुड़ जाते हैं। जून मास के मध्य में भारत के पश्चिमी किनारे पर पहुँचकर पावस दक्षिण प्रदेश को पार कर लेता है और फिर भारतवर्ष, बर्मा तथा बंगाल की खाड़ी के सब भागों में पहुँच जाता है। दक्षिण प्रदेश के दक्षिणी भागों के अतिरिक्त, जहाँ पश्चिमी घाटों की पहाड़ियों की आड़ के कारण ये पवन पहुँच नहीं पाते, मानसून काल में भारत के सब भागों में भारी वर्षा होती है। यह वर्षा लगभग पूर्णतया संवहनीय (कनवेक्टिव) होती है। इसकी प्रगति के लिये मुख्यतः भूतल की तपन तथा उसकी ऊँचाई से वाष्प का जल में रूपांतरित होना नियंत्रित होता है। भूमितल की उठान का प्रभाव पश्चिमी घाटों में, खासी की पहाड़ियों में, अराकान की चोटियों में तथा हिमालय पर्वत पर भली भाँति दिखाई पड़ता है। इन भागों में अत्यधिक वर्षा होती है। कभी कभी गंगाघाटी की द्रोणी में बहुत देर तक विस्तृत वर्षा होती रहती है। यह लगातार वर्षा प्रायः उन उथले अवदाबों के कारण होती है जो मुख्य पावसी अल्पदाव की ओर पश्चिम दिशा में मंद गति से चलती हैं। भारतीय पावस की शक्ति बहुत घटती बढ़ती रहती है। जब पावस तीव्र होता है तो भारत के अधिकतम भागों में वर्षा औसत से बहुत अधिक हो जाती है और जब पावस हलका होता है तो वर्षा न्यून होती है। पावस का उत्तर की ओर बढ़ना हिमालय पहाड़ के कारण सीमित हो जाता है, परंतु पावस का प्रवाह बर्मा, थाइलैंड, इंडोचीन तथा दक्षिण चीन में बहुत प्रविच्छिन्न रहता है। इस प्रायद्वीप के अक्ष के निकट स्थित ऊँची पहाड़ियाँ (जो भारत-यूनन-वायुमार्ग पर "कूबड़" के नाम से कुख्यात है) घने संवहन बादलों से ढकी रहती हैं और यहाँ बहुधा वर्षा होती रहती है।

पावस के आरंभकाल में वर्षा की मात्रा और बारंबारता में भारी उतार-चढ़ाव होते रहते हैं जो भारतीय कृषक जीवन के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इसलिये इस देश में सांख्यिकीय दीर्घपरास ऋतु पूर्वानुमान (स्टैटिस्टिकल लॉङ्गरेंज फ़ोरकास्टिंग) के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और सांख्यिकीय रीतियों का भारतीय पावस के अल्पकालिक परिवर्तनों के संबंध में उपयोग किया जा रहा है। भारत में इस प्रकार से किए हुए ऋतु विषयक पूर्वानुमान हाल के वर्षों में पर्याप्त रूप से ठीक सिद्ध हुए हैं।

सं०ग्रं०—आर० डब्ल्यू० लॉङ्ली : मीटिओरॉलोजी, थ्योरेटिकल ऐंड अप्लायड (१९४४); एच० सी० विलेट : डेस्क्रिप्टिव मीटिओरॉलोजी (१९४४)।

(सी० म० तथा के० ग० अ०)

ऋतुसंहार महाकवि कालिदास की प्रथम काव्यरचना मानी जाती है, जिसके छह सर्गों में ग्रीष्म से आरंभ कर वसंत तक की छह ऋतुओं का सुंदर प्रकृतिचित्रण प्रस्तुत किया गया है। ऋतुसंहार का कलाशिल्प महाकवि की अन्य कृतियों की तरह उदात्त न होने के कारण इसके कालिदास की कृति होने के विषय में संदेह किया जाता रहा है। मल्लिनाथ ने इस काव्य की टीका नहीं की है तथा अन्य किसी प्रसिद्ध टीकाकार की भी इसकी टीका नहीं मिलती है। जे० नोबुल तथा प्रो० ए० बी० कीथ ने अपने लेखों में ऋतुसंहार को कालिदास की ही प्रामाणिक एवं प्रथम रचना सिद्ध किया है। इस खंडकाव्य में कवि ने अपनी प्रिया को संबोधित कर छहों ऋतुओं का वर्णन किया है। प्रकृति के आलंबनपरक तथा उद्दीपनपरक दोनों तरह के रमणीय चित्र काव्य की वास्तविक आत्मा हैं। ऋतुसंहार का सर्वप्रथम संपादन कलकत्ता से सन् १७९२ में सर विलियम जोन्स ने किया था। सन् १८४० में इसका एक अन्य संस्करण पी० फॉन बोलेन द्वारा लातीनी तथा जर्मन पद्यानुवाद सहित प्रकाशित किया गया था। १९०६ में निर्णयसागर प्रेस से यह रचना मणिराम की संस्कृत टीका के साथ छपी थी, जिसके अब तक अनेक संस्करण हो चुके हैं। (मो० शं० व्या०)

ऋत्विज् यज्ञयाग में यजमान को श्रौतकर्म करानेवाला व्यक्तिविशेष। ऋत्विजों की संख्या में कर्मों के अनुसार पर्याप्त भिन्नता है। अग्निहोत्री के घर पर प्रातः और सायंकाल होम करनेवाला ऋत्विज् एक ही होता है, परंतु दर्श (अमावस्या के दूसरे दिन प्रतिपद को होनेवाली) इष्टि में तथा पौर्णमास (पूर्णिमा के दूसरे दिन प्रतिपदवाली) इष्टि में चार ऋत्विज् होते हैं जिनके नाम हैं—अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा और आग्नीध्र। चातुर्मास्य याग में इन चारों के अतिरिक्त "प्रतिप्रस्थाता" अधिक होता है और पशुयाग में "मैत्रावरुण" नामक छठा ऋत्विज् भी होता है। अग्न्याधान (अग्निहोत्र ग्रहण के समय) में पूर्वोक्त चार ऋत्विजों के साथ "उद्गाता" नामक पाँचवाँ ऋत्विज् भी होता है। अग्निष्टोम आदि सोमयाग में १६ ऋत्विज् होते हैं जिनमें पूर्वोक्त सातों के अतिरिक्त नौ (होता, प्रस्तोता आदि) और अधिक होते हैं। "सदस्य" नामक १७वाँ ऋत्विज् सोमयाग में प्रत्यक्ष भाग न लेकर 'सद' नामक मंडप में बैठा रहता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।२३) में ऋत्विज् के चुनने की विधि (ऋत्विक्वरण) दी गई है जिनमें ऋत्विज के सर्वांगपूर्ण, सशक्त और तरुण होने का स्पष्ट आग्रह है। यह तो हुई श्रौतकर्म की बात। स्मार्त यज्ञों में भी हवन करने तथा शांतिविधान के लिये ऋत्विज् चुना जाता है। इस प्रकार वैदिक यज्ञों का निष्पादन ऋत्विजों की विद्या, बुद्धि तथा कर्मनिष्ठा का संमिलित फल होता है। (ब० उ०)

ऋद्धि सिद्धि द्र० 'सिद्धि'।

ऋषभ एक क्रोधी ऋषि जो ऋषभकूट नामक पर्वत की चोटी पर रहता था। इसके तप से प्रभावित हो अनेक लोग इसके पास आने लगे। इससे इसे बहुत कष्ट होता था तथा तपस्या में विघ्न भी पड़ता था। फलस्वरूप इसने पर्वत तथा वायु को आदेश दिया कि जो कोई भी मेरे पास आने की कोशिश करे, पाषाणवृष्टि करके उसे वापस जाने के लिये मजबूर कर दो। इस ऋषि की एक रचना ऋषभगीता नाम से प्रसिद्ध है जिसमें सने कृशतनु-वीरद्युम्न-संवाद रूपी दृष्टांत के माध्यम से किसी सुमित्र नाम के राजा को आशा की सूक्ष्मता तथा विशालता का परिचय दिया है। (कै० चं० श०)

ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर। इनका उल्लेख 'आदिदेव' नाम से भी मिलता है। इक्ष्वाकुवंशीय राजा नाभि इनके पिता तथा मरुदेवी इनकी माता थीं। भागवत (२.७.१०) में इनकी माता का नाम सुदेवी भी दिया गया है और इन्हें विष्णु के २२ अवतारों में अष्टम माना गया है। ऋषभदेव का विवाह यज नामक इंद्र की पुत्री जयंती से हुआ था जिससे इनके १०० पुत्र पैदा हुए। ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था और कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलयकेतु, भद्रसेन, इंद्रस्पृश, विदर्भ तथा कीकट नामक नौ पुत्र क्रमशः भरत के अनुगत थे। कवि, हरि अथवा हवि, अंतरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस एवं करभाजन नाम के नौ पुत्र ब्रह्मनिष्ठ तथा शेष ८१ पुत्र कर्ममार्गावलंबी ऋषि थे। ऋषभदेव ने अपने राज्य अजनाभवर्ष के नौ खंडों का आधिपत्य भरत से छोटे कुशावर्त, इलावर्त आदि नौ पुत्रों को सौंपा तथा शेष राज्य का स्वामित्व भरत को प्रदान किया। जैनमतानुसार इन्हीं चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर भारतवर्ष का नामकरण हुआ है। वज्रसेन सूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' तथा शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' (द्र० 'रास और रासान्वयी काव्य', नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित) इत्यादि जैन काव्यों में ऋषभदेव के १०० पुत्रों में भरत से छोटे एक भाई का नाम बाहुबलि बताया गया है जिससे चक्रवर्तित्व के प्रश्न पर भरत का युद्ध भी वर्णित है।

ऋषभदेव के हस्तपादादि अवयवों पर बाल्यावस्था से ही वज्र, अंकुश, ध्वज आदि चिह्न दीखने लगे थे। इससे चिंतित हो इंद्र ने उनके राज्य में वर्षा करना बंद कर दिया। ऋषभदेव ने इंद्र के इस कपट को पहचान लिया और अपनी शक्ति से अजनाभवर्ष में वर्षा कर दी। पश्चात् ये गुरुगृह में रहने लगे। विद्याध्ययन पूर्ण करने के बाद इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। राजसिंहासन पर बैठने के उपरांत इन्होंने शास्त्रोक्त विधि, आत्मविवेक तथा ब्राह्मणों की अनुज्ञा से राज्य किया। कालांतर में पुत्रों को राज्य सौंपकर इन्होंने संन्यास लिया और देहत्याग की इच्छा से मुँह में पत्थर पकड़कर कटक पर्वत के अरण्य में घूमने लगे जहाँ दावानल से इनका शरीर भस्म हो गया। (कै० चं० श०)

ऋषि योग तथा तपस्या के बल से जिन व्यक्तियों का अंतस्तल इतना परिपूत तथा विशद हो जाता है कि परम तत्व उनके हृदय में स्वयं आविर्भूत होता है अथवा जो अपने प्रातिभ (आर्ष) चक्षु द्वारा वैदिक सत्य की अपरोक्ष अनुभूति करने में समर्थ होते हैं उन्हें भारतीय ग्रंथों में 'ऋषि' की महनीय पदवी प्रदान की जाती है। 'ऋषिर्दर्शनात्', यास्क की इस निरुक्ति से 'ऋषि' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—दर्शन करनेवाला, तत्वों की साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति रखनेवाला विशिष्ट पुरुष। यास्क ने निरुक्त में अन्य स्थान पर (१।२०) स्वयं ही ऋषि शब्द की व्याख्या की है—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः अर्थात् विशिष्ट तपस्या के बल से ऋषियों ने धर्म को साक्षात् देखा था। दुर्गाचार्य का कथन है कि किसी मंत्रविशेष की सहायता से किए जाने पर किसी कर्म से किस प्रकार का फल परिणत होता है; ऋषि को इस तथ्य का पूर्ण ज्ञान होता है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'ऋषि' शब्द की मार्मिक व्याख्या बतलाती है कि सृष्टि के आरंभ में अयोनिसंभव तपस्या करनेवाले व्यक्तियों के पास स्वयंभू ब्रह्म अर्थात् वेदब्रह्म स्वयं प्राप्त हो गया (आनर्ष)। और वेद की इस स्वतःप्राप्ति के कारण ही ऋषि का 'ऋषित्व' है (अजान् ह वै पृश्नींस्तप्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभ्यानर्षत् ऋषयोऽभवन् तद् ऋषीणामृषित्वम्—तै० आ०)। इस व्याख्या में 'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति तुदादिगणीय ऋष् गतौ धातु से मानी गई है।

एक संप्रदाय की दृष्टि से वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी भी पुरुष की वह रचना नहीं है, प्रत्युत वह परमब्रह्म का निःश्वासमात्र है (यस्य निःश्वसितं वेदाः)। यह अपौरुषेय वेद ऋषियों के माध्यम से ही विश्व में आविर्भूत हुआ और ऋषियों ने वेद के वर्णमय विग्रह को अपने दिव्य श्रोत्र से श्रवण किया और इसलिये वेद को 'श्रुति' कहते हैं। आद्य ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ता फिरता है। वे अर्थ के पीछे नहीं दौड़ते (ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति)। निष्कर्ष यह है कि तपस्या से पूत अंतर्ज्योति के साक्षात्कर्ता और मंत्रद्रष्टा व्यक्तियों की ही महनीय संज्ञा 'ऋषि' है।

देव, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, जिन्हें ऋषित्व की प्राप्ति हो गई है, वे क्रमशः देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि कहलाते हैं। ऋग्वेद में मंडलद्रष्टा गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ को कश्यप के साथ महर्षि कहा गया है (गीता १०।१६)। सत्याषाढ तथा बौधायन गृह्यसूत्रों में उपाकर्म के प्रसंग में काण्डर्षि का भी उल्लेख मिलता है जो तैत्तिरीय संहिता के पाँचों कांडों के द्रष्टा हैं और जिनका नाम प्रजापति, सोम, अग्नि, विश्वेदेव तथा स्वयंभू है। यास्क ने उन व्यक्तियों को 'श्रुतर्षि' बतलाया

है जो ऋषियों के उपदेश को श्रवण कर धर्म का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं (१।२०)। वेदों के समय से मान्य ऋषियों की संख्या सात नियत की गई है। शतपथ में सप्तर्षियों के नाम हैं—गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि। शांतिपर्व तथा मनुस्मृति में इन नामों में कहीं कुछ पार्थक्य भी है, परंतु ऋषियों की सात संख्या पर पूर्ववत् श्रद्धा है। आजकल की मान्यता के अनुसार मरीचि, अत्रि, अंगिरस् पुलस्त्य, पुलह, ऋतु और वसिष्ठ सप्तर्षियों में गिने जाते हैं। ऋषियों की संख्या सात ही क्यों नियत की गई, इसका यथार्थ उत्तर देना कठिन है। 'सात' ही संख्या के साथ पवित्रता का भाव संवलित है, फलतः ऋषियों की पवित्रता प्रदर्शित करने के लिये ही उनकी संख्या का यह नियमन किया गया है। (ब० उ०)

ऋषिकेश देहरादून जिले में देहरादून तहसील का एक मुख्य धार्मिक नगर है। देहरादून से ४२ कि० मी० की दूरी पर दक्षिण पूर्व की ओर स्थित यह नगर अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिये महत्वपूर्ण है। इस नगर का कुल क्षेत्रफल १ वर्ग मील या २.५९ वर्ग कि०मी० है। सन् १९६१ ई० में इस नगर में कुल १०,६२५ व्यक्ति निवास कर रहे थे जिनमें ७,१०९ पुरुष एवं ३,५१६ महिलाएँ थीं। हिंदू धर्मावलंबी संन्यासियों से यह नगर भरा हुआ है। पूरे नगर में कुल लगभग ३,००० मकान हैं जिनमें धर्मशालाओं एवं मंदिरों की संख्या अधिक है। शांत एवं मनोरम स्थान होने के कारण हिंदू धर्मावलंबी इसे स्वर्ग के समान मानते हैं। यहाँ का लक्ष्मण झूला, स्वर्गाश्रम, गीता भवन, डिवाइन लाइफ़ सोसाइटी, शिवानंद आश्रम, भारत मंदिर, त्रिवेणी घाट, ऋषिकुंड और चित्रकुंड मंदिर दर्शनीय स्थान हैं। बाह्य पर्यटकों के लिये भी यहाँ पर्याप्त सुविधाएँ हैं और देश विदेश के बहुत से लोग प्रति वर्ष यहाँ आया करते हैं। यह नगर अपनी पवित्रता के लिये उत्तर प्रदेश में गौरव के रूप में है। (शी० प्र० सि०)

ऋष्यशृंग एक ऋषि जो काश्यप विभांडक के पुत्र थे। एक बार गंगास्नान के समय उर्वशी अप्सरा को देखकर विभांडक कामातुर हो गए और उनका रेत पानी में गिर पड़ा। शाप से हिरनी बनी एक देवकन्या वहाँ आई और पानी पीते समय वह रेत उसके पेट में चला गया। हिरनी को गर्भ रह गया और इसी गर्भ से ऋष्यशृंग का जन्म हुआ। सिर पर ऋष्य नामक मृग के समान सींग होने से इनका ऋष्यशृंग नाम पड़ा। विभांडक ने इन्हें पाला पोसा और वेदवेदांगों की शिक्षा दी। मृग योनि से उत्पन्न होने के कारण ये डरपोक थे और आश्रम के बाहर कभी भी न जाते थे। अतः इन्हें दुनियाँ का ज्ञान अत्यल्प था। इसी बीच अंग देश में अवर्षण हुआ। तपस्वियों ने अंगेश्वर लोमपाद अथवा रोमपाद को बताया कि ऋष्यशृंग के राज्य में पधारने पर वर्षा होगी। राजा ने कुछ वारांगनाओं को ऋष्यशृंग को ले आने की आज्ञा दी। वारांगनाएँ इन्हें बहकाकर जलमार्ग से अंग राज्य में ले आईं तो जोर से वर्षा हुई। राजा ने अपनी दत्तक पुत्री शांता से इनका विवाह कर दिया। शांता अयोध्यानरेश दशरथ की औरस पुत्री थी। पश्चात् दशरथ ने अपने पुत्रकामेष्टि यज्ञ में रोमपाद की मध्यस्थता से ऋष्यशृंग को यज्ञ का अध्वर्यु बनाया और उन्हें रामादि चार पुत्रों की प्राप्ति हुई। विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि, हलायुध आदि ने इनके द्वारा रचित ऋष्यशृंग स्मृति का उल्लेख किया है। ऋष्यशृंग संहिता नामक ग्रंथ के रचयिता भी ये ही बताए जाते हैं। आचार, अशौच, श्राद्ध तथा प्रायश्चित्त आदि के बारे में इनके विचार मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचंद्रिका आदि ग्रंथों में मिल जाते हैं। (कै० चं० श०)

एंगलर, हाइनरिख़ गुस्ताव अडोल्फ जर्मन वनस्पति शास्त्रज्ञ थे। इनका जन्म सन् १८४४ ईसवी में हुआ था। ब्रेसलॉ विश्वविद्यालय में इन्होंने शिक्षा पाई और यहीं से १८६६ ई० में इन्हें डाक्टर ऑव फ़िलसफ़ी की उपाधि मिली। चार वर्ष अध्यापन करने के पश्चात् ये म्यूनिख बोटैनिकल इंस्टिट्यूट के संरक्षक नियुक्त हुए। इसके पश्चात् छह वर्ष कील विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर, पाँच वर्ष ब्रेसलॉ विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर तथा औद्भिद उद्यान के संचालक और १८८९ से १९२१ ई० तक बर्लिन औद्भिद उद्यान के संचालक रहे।

अनुसंधान के लिये इन्होंने तीन बार अफ्रीका का तथा एक बार भारत तथा जावा का पर्यटन किया। इसी उद्देश्य से इन्होंने रूस, जापान तथा संयुक्त राज्य (अमरीका) होते हुए विश्वभ्रमण भी किया। इनकी विशेष देन वर्गीकरण (टैक्सोनॉमी) तथा उद्भिद भूवृत्त (फ़ाइटोजिऑग्रैफ़ी) के क्षेत्र में है, किंतु वनस्पति विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी इनका कार्य महत्वपूर्ण रहा है। इनकी मृत्यु १९३० ई० में हुई।

स्वयं तथा अन्य लोगों के सहयोग से इन्होंने कई बहुमूल्य ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें डी नाटीरलिख़ेन प्लांट्सेन फ़ामिलीन (प्राकृतिक पादपपरिवार), डास प्लांट्सेनराइख़ (पादपराज्य) तथा सिलाबस डर प्लांट्सेन फ़ामिलीन (पादप-परिवार-सूची) प्रमुख हैं। इन्होंने बोटानिशे यारबूख़र (वनस्पतिवैज्ञानिक अब्दकोश) नामक एक पत्रिका भी चलाई, जिसका संपादन वे सन् १८८० से लेकर मृत्यु पर्यंत करते रहे। (भ० दा० व०)

एंगारी यह शब्द प्राचीन फारस की राजकीय संदेशहर सेवा (रायल कौरियर सर्विस) के नामकरण से प्राप्त हुआ है। वहाँ से ग्रीक और लातिनी में 'दूत' के अर्थ में यह शब्द प्रचलित हुआ।

प्राचीन रोम साम्राज्य तथा मध्यकालीन विधिग्रंथों में, एंगारी सैनिक परिवहन के लिये घोड़े, गाड़ियों इत्यादि स्थल यातायात के साधनों की अर्थना तक ही सीमित था। परंतु कुछ काल बाद, एंगारी के अधिकार की ओट में, युद्धसंलग्न देश, जिनके पास प्रचुर मात्रा में जहाज नहीं होते थे, तटस्थ देशों के व्यापारी जहाजों को, जो उनके बंदरगाहों में उपस्थित होते थे, पकड़ लेते थे तथा अग्रिम भाड़ा देकर उन्हें तथा उनके नाविकों को बाध्य करते थे कि उनकी सेना, गोला बारूद तथा अन्य सामान दूसरी जगह पहुँचा दें।

फ्रांस के लुई १४वें ने इस अधिकार का बहुत आश्रय लिया। परंतु १७वीं शताब्दी में, अपने जहाजों तथा नाविकों को इस अधिकार से पकड़े जाने से बचाने के लिये, देशों ने संधियाँ कर लीं। इस कारण १८वीं और १९वीं शताब्दियों में यह अधिकार लगभग अव्यावहारिक सा हो गया।

वर्तमान अंतरराष्ट्रीय विधि में एंगारी किसी देश को युद्धकाल में या राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये यह अधिकार प्रदान करता है कि जहाज, हवाईजहाज, रेल का सामान या यातायात के अन्य साधन जो दूसरे देशों के हैं, परंतु उनके अधिक्षेत्र में उपस्थित हैं, अपने काम में ले आए। परंतु उस देश को यातायात के साधनों के उन मालिकों की पूरी क्षतिपूर्ति करनी होगी। किंतु वर्तमान काल में नाविकों या अन्य चालकों की सेवाएँ नहीं प्राप्त की जा सकती हैं।

पहले महायुद्ध में एंगारी के कई दृष्टांत उपस्थित हुए। जमोरा वाद (१९१६) में, इंगलिस्तान के पुनर्वाद न्यायालय (अपेलेट कोर्ट) ने यह विचार प्रकट किया कि एंगारी का अधिकार उपयोग में लाने के लिये आवश्यक है, कि तटस्थ देश के जहाज या माल की, युद्धरतदेश के बचाव, या युद्धसंपादन अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये अत्यंत आवश्यकता हो। इसी प्रकार उपर्युक्त न्यायालय ने, कमरशल इस्टेट्स कंपनी ऑव ईजिप्ट बनाम बोर्ड ऑव ट्रेड (१९२५) में निश्चय किया कि एंगारी का अधिकार अंतरराष्ट्रीय विधि में इतनी भली प्रकार स्थापित हो गया है कि वह इंग्लैंड की जनपदीय विधि का भाग बन गया है। मार्च, सन् १९१८ में अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने एंगारी के आधार पर उन डच जहाजों की माँग कर ली थी जो उस समय उनके बंदरगाहों में थे।

सं०ग्रं०—हाल, डब्ल्यू० ई० : ए ट्रीटाइज़ ऑन इंटरनैशनल ला, १९२४। (ज० न० स०)

एंजिल्स, फ्रीडरिख (१८२०–९५) जर्मन समाजवादी। २८ नवंबर, १८२० को बरमेन (प्रशा) में जन्म। इनके पिता जर्मनी के एक कारीगर थे। सन् १८४२ से १८४४ तक ये मैंचेस्टर (इंग्लैंड) में रहे। १८४८ ई० के दौरान इन्होंने बडेन के क्रांतिकारी आंदोलन में हिस्सा लिया और १८५० ई० में पुनः मैंचेस्टर लौट आए। यहाँ ये एक शिल्प व्यवसाय में हिस्सेदार होकर १८६० से १८६९ तक रहे। पश्चात् इनका अधिकांश समय लंदन में व्यतीत हुआ। कार्ल मार्क्स के ये अभिन्न

मित्र थे और अंतरराष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन के संगठन तथा संचालन में उनके प्रमुख एवं अत्यधिक दक्ष सहयोगी की हैसियत से कार्य करते रहे। बाद में ये 'वैज्ञानिक समाजवाद' के प्रस्तोता के रूप में प्रसिद्ध हुए। १८७० ई० में एंजिल्स बेल्जियम, इटली तथा स्पेन की 'इंटरनैशनल वर्किंगमेंस सोसाइटी' के पत्राचारसचिव रहे। मार्क्स के सहयोग से १८४७ ई० में इन्होंने कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखा। इनकी अन्य पुस्तकें 'द वर्किंग क्लास इन इंग्लैंड' (१८४४ ई०); 'दि ओरिजिन ऑव द फ़ैमिली' तथा 'द डेवलपमेंट ऑव सोशलिज्म फ़ाम यूटोपिया टु साइंस' (१८६४; अधूरी) है। इन्होंने मार्क्स रचित "कैपिटल" का संपादन भी किया है। ५ अगस्त, १८६५ ई० को लंदन में इनका देहांत हो गया।

(कं० चं० श०)

एकचक्रा कीचकों के देश का एक नगर जहाँ, महाभारत के अनुसार, कृष्ण व्यास के निर्देश से पांडवों ने अपने निष्कासन काल में कुछ समय निवास किया था। जेनरल कनिंघम और उनके समर्थक विहार के शाहाबाद जिले में स्थित आधुनिक आरा नामक स्थान को एकचक्रा मानते हैं। महाभारत के अनुसार (वैदिक इंडेक्स, १,४९४) उसका दूसरा नाम पंचालनगर (शतपथ ब्राह्मण, १३।५।४।७) भी है। इसे परिचक्रा या परिवक्रा भी कहा गया है।

(ओं० ना० उ०)

एकजीववाद सिद्धांत के अनुसार वेदांत में एक ही जीव की स्थिति मानी जाती है। अविद्या एक है, अतः अविद्या से आवृत जीव भी एक होगा। इस वाद के कई रूप शंकर के परवर्ती अद्वैत वेदांत में मिलते हैं। कुछ लोगों के अनुसार एक ही जीव एक ही शरीर में रहता है। अन्य शरीर स्वप्नदृष्ट शरीरों की तरह चेतनाशून्य हैं। दूसरे लोग ब्रह्म के प्रतिबिंब रूप में हिरण्यगर्भ की कल्पना करते हैं। अन्य जीव हिरण्यगर्भ के प्रतिबिंब मात्र है। भौतिक शरीरों में असत्य जीव की स्थिति होती है। वास्तविक शरीर हिरण्यगर्भ है। अन्य व्याख्या के अनुसार नाना शरीरों में रहनेवाला एक ही जीव है। जीव में वैयक्तिकता का बोध शरीर की भिन्नता के कारण होता है।

इस सिद्धांत पर यह आक्षेप किया जाता है कि यदि जीव एक है तो एक जीव का मोक्ष होने पर सभी जीवों का मोक्ष होना चाहिए। एक के सुख दुःख का ज्ञान सभी को होना चाहिए। किंतु जैसे जलपात्र के मलिन होने या नष्ट होने से उसमें पड़नेवाला सूर्य का प्रतिबिंब अप्रभावित रहता है उसी प्रकार जीव पर दूसरे शरीरों का प्रभाव नहीं होता।

सं०ग्रं०—अप्पय्य दीक्षित : सिद्धांतलेश। (रा० पां०)

एकनाथ प्रसिद्ध मराठी संत जिनका जन्म पैठण में संत भानुदास के कुल में हुआ था (१५३३–१५९९ ई०)। ये संत भानुदास के पौत्र थे। गोस्वामी तुलसीदास के समान मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण ऐसा विश्वास है कि कुछ महीनों के बाद ही इनके माता पिता की मृत्यु हो गई थी। बालक एकनाथ स्वभावतः श्रद्धावान् तथा बुद्धिमान थे। देवगढ़ के हाकिम जनार्दन स्वामी की ब्रह्मनिष्ठा, विद्वत्ता, सदाचार और भक्ति देखकर भावुक एकनाथ उनकी ओर आकृष्ट हुए और उनके शिष्य हो गए। एकनाथ ने अपने गुरु से ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथों का अध्ययन किया और उनका आत्मबोध जाग्रत हुआ। गुरु की आज्ञा से ये गृहस्थ बने।

एकनाथ अपूर्व संत थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति का ऐसा अनूठा समन्वय कदाचित् ही किसी अन्य संत में दिखाई देता है। आज से ४०० वर्ष पूर्व इन्होंने मानवता की उदार भावना से प्रेरित होकर अछूतोद्धार का प्रयत्न किया। ये जितने ऊँचे संत थे उतने ही ऊँचे कवि भी थे। इनकी टक्कर का बहुमुखी सर्जनशील प्रतिभा का कवि महाराष्ट्र में इनसे पहले पैदा नहीं हुआ था। महाराष्ट्र की अत्यंत विषम अवस्था में इनको साहित्यसृष्टि करनी पड़ी। मराठी भाषा उर्दू फारसी से दब गई थी। दूसरी ओर संस्कृत के पंडित देवभाषा मराठी का विरोध करते थे। इन्होंने मराठी के माध्यम से ही जनता को जाग्रत करने का बीड़ा उठाया।

एकनाथ की रचनाएँ निम्नलिखित मानी जाती हैं—१. चतुःश्लोकी भागवत, २. पौराणिक आख्यान और संतचरित्र, ३. भागवत, ४. रुक्मिणी स्वयंवर, ५. भावार्थ रामायण, ६. मराठी एवं हिंदी में कई सौ 'अभंग', ७. हस्तामलक शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनंदलहरी, चिरंजीव पद इत्यादि आध्यात्मिक विवेचन पर कृतियाँ, ८. लोकगीतों (भारुड) की रचनाएँ इत्यादि। भागवत इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिनका संमान वाराणसी के पंडितों ने भी किया था। ये प्रथम मराठी कवि थे जिन्होंने लोकभाषा में रामायण पर बृहत् ग्रंथ रचा। लोकरंजन करते हुए लोकजागरण करना इनका ध्येय था और इनमें ये शत-प्रति-शत सफल रहे, इसीलिये इनको युगप्रवर्तक कवि कहते हैं। इन्होंने ज्ञानेश्वरी की अनेक पाडुलिपियों का सूक्ष्म अध्ययन तथा शोध करके ज्ञानेश्वरी की शुद्ध एवं प्रामाणिक प्रति तैयार की और अन्य विद्वानों के संमुख साहित्य के शोधकार्य का आदर्श उपस्थित किया। नशेर में इन्होंने संत ज्ञानेश्वर द्वारा प्रवृत्त साहित्यिक तथा धार्मिक कार्य का सब प्रकार से उत्कर्ष किया।

(भी० गो० दे०)

एकलव्य महाभारत में उल्लिखित निषादों का राजा जिसे धनुर्विद्या से इतना मोह था कि धनुर्विद्या सिखाने के लिये जब द्रोणाचार्य उसके गुरु बनने को तैयार न हुए तो जंगल में उनकी प्रतिमा स्थापित कर उसने बाण चलाने के अनेक प्रयोग कर उनमें निपुणता प्राप्त की। द्रोण के मन में भय हुआ कि वह कहीं अर्जुन से बढ़ न जाय इसलिये उन्होंने उससे गुरुदक्षिणा में उसके दाहिने हाथ का अँगूठा माँग लिया। (चं० म०)

एकलिंग जी राजस्थान के प्रमुख ऐतिहासिक स्थलों में एकलिंग जी का अपना विशेष महत्व है। यह स्थान उदयपुर से लगभग १२ मील उत्तर में दो पहाड़ियों के बीच स्थित है। वैसे उक्त स्थान का नाम कैलाशपुरी है परंतु यहाँ एकलिंग का भव्य मंदिर होने के कारण इसको एकलिंग जी के नाम से पुकारा जाने लगा। एकलिंग महादेव मेवाड़ राज्य के महाराणाओं के इष्टदेव एवं राज्य के स्वामी माने जाते हैं। महाराणा केवल उनके दीवान के रूप में समझे जाते हैं। इसी कारण उदयपुर के महाराणा को 'दीवाण जी' कहा जाता है। एकलिंग का यह भव्य मंदिर चारों ओर ऊँचे परकोटे से घिरा हुआ है। इस मंदिर के निर्माणकाल या कर्ता के संबंध में कोई लिखित प्रमाण नहीं मिला है, परंतु जनश्रुति के अनुसार इसका निर्माण बप्पा रावल ने आठवीं शताब्दी के लगभग करवाया था। बाद में उदयपुर के ही महाराणा मोकल ने इसका जीर्णोद्धार करवाया तथा वर्तमान मंदिर के नए स्वरूप का संपूर्ण श्रेय महाराणा रायमल को है। उक्त मंदिर की काले संगमरमर से निर्मित महादेव की चतुर्मुखी प्रतिमा की स्थापना महाराणा रायमल द्वारा की गई थी। मंदिर के दक्षिणी द्वार के समक्ष एक ताँबे में महाराणा रायमल संबंधी १०० श्लोकों का एक प्रशस्तिपद लगा हुआ है।

इस मंदिर की चहारदीवारी के अंदर और भी कई मंदिर निर्मित हैं, जिनमें से एक महाराणा कुंभा का बनवाया हुआ विष्णुमंदिर है। इस मंदिर को लोग "मीराबाई का मंदिर" कहते हैं। एकलिंग जी के मंदिर से थोड़ी दूर दक्षिण में कुछ ऊँचाई पर वि० सं० १०२८ (ई० सन् ९७१) में वहाँ के मठाधीश ने 'लकुलीश' का एक मंदिर बनवाया तथा इस मंदिर के कुछ नीचे विंध्यवासिनी देवी का एक अन्य मंदिर भी स्थित है। जनश्रुति से यह भी ज्ञात होता है कि बप्पा रावल का गुरु नाथ हारीतराशि एकलिंग जी के मंदिर का महंत था और उसी की शिष्य परंपरा ने मंदिर की पूजा आदि का कार्य संभाला। एकलिंग जी के मंदिर के महंत, उक्त नाथों का एक प्राचीन मठ आज भी मंदिर के पश्चिम में बना हुआ है। बाद में नाथ साधुओं का आचरण भ्रष्ट हो जाने से मंदिर की पूजा आदि का कार्य गुसाइयों को सौंपा गया और वे उक्त मंदिर के मठाधीश हो गए। यह परंपरा आज भी चली आ रही है।

सं०ग्रं०—टाड : ऐनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज ऑव राजस्थान; डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्री जगदीश सिंह गहलोत : राजपूताना का इतिहास, भाग १; टाड : ट्रैवेल्स इन वेस्टर्न इंडिया। (रा० दे० स्वा०)

एकवंशक (मोनोरेल) यह स्थानांतरण का उपकरण है और इसमें सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने का सामर्थ्य है। यह सामान को हवा में लटकाते हुए ले जाता है और भूमि से ऊपर ही ऊपर चलता रहता है। इसकी क्रिया आवश्यकतानुसार रुक रुककर हो सकती है। साधारणतः यह एक सीमित क्षेत्र में ही काम करता है। एकवंशक पुल पर चलनेवाला क्रेन और शक्ति से चलनेवाला क्रेन, ये दोनों, एक दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ने पर भी, एक ही श्रेणी में आते हैं।

एकवंशक यन्त्र के तीन आवश्यक अंग होते हैं : पथ, डब्बे या ठेला (ट्रॉली) और वाहक। इसके डब्बे जंजीर अथवा तार द्वारा चलनेवाले डब्बों की भाँति एक दूसरे से संयुक्त नहीं रहते और न जंजीर अथवा तार द्वारा चलते है। इसके डब्बों को साधारणतः हाथ से ढकेला जाता है (चित्र देखें)। यद्यपि ये एक निश्चित पथ पर चलते है, तथापि उस पथ के ओर और छोर का जुड़ा रहना आवश्यक नहीं है। एकवंशक यंत्र का उपयोग अपेक्षाकृत हल्के भार को स्थानांतरित करने में होता है। यातायात के साधारण साधन भूमि पर बिछी दो पटरियों पर चलते हैं, किंतु एकवंशक के डब्बे भूमि से ऊपर आकाश में लगी एकल पटरी की सहायता से लटकते हुए चलते हैं। भूमि पर यातायात की अपेक्षा भूमि से ऊपर यातायात में एक सुविधा यह रहती है कि इसमें भूमि छेंकने की असुविधा नहीं होती, यह कम महत्व की बात नहीं है।

एकवंशक

यह विविध प्रकार के माल को कारखाने के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

संरचना की दृष्टि से और पथ के लिये प्रयुक्त सामग्री (नल, पटरी आदि) के आधार पर एकवंशक यंत्रों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

नल प्रणाली—एकवंशक यंत्रों में सर्वाधिक सरल संरचनावाली प्रणाली वह है जिसमें पटरियों के स्थान पर नल (पाइप), डब्बों और डब्बों को उतारने या उलटने के काम में आनेवाली कतिपय वस्तुओं का प्रयोग होता है। पटरी के रूप में इसमें सामान्यतः ३/४", १", ११/६" या १३/८" व्यास का नल (पाइप) प्रयुक्त होता है। नलवाली प्रणालियों का उपयोग प्रायः निर्जल धुलाई के कारखानों, धुलाई घरों, विभागीय गोदामों और सिले वस्त्रों की थोक दूकानों तक सीमित है।

पट्टीदार एकवंशक—यह एक दूसरे प्रकार की विशिष्ट एकवंशक प्रणाली है। यह मुख्यतः मांस तथा मांसनिर्मित वस्तुओं (कीमा आदि) को कारखाने के भीतर ही इधर उधर पहुँचाने में प्रयुक्त होती है। पटरी २०-२० फुट लंबी और २१/२"×३/८" या २१/२"×१/२" नाप की सादी, या जस्ते की कलईवाली, लोहे की साधारण पट्टियों से बनी रहती है। ठंढे गोदामों, मांस को डिब्बों में भरनेवाले कारखानों, प्रशीतित भांडारों तथा मांस के थोक विक्रेताओं और मांस का कीमा आदि बनानेवालों द्वारा यह प्रणाली व्यापक रूप से प्रयुक्त होती है।

विशेष आकृति की पटरीवाले एकवंशक—यह प्रणाली विभिन्न उद्योगों में सबसे अधिक प्रयुक्त होती है। इसकी पटरियों का अनुप्रस्थ काट (क्रॉस-सेक्शन) अंग्रेजी अक्षर I के रूपवाले गर्डरों का थोड़ा परिवर्तित रूप होता है। ये पटरियाँ इसी काम के लिये विशेष रूप से बनाई जाती है। इनका ऊपरी भाग मोटा रखा जाता है, जिसमें वे घिसकर शीघ्र खराब न हो जायँ। जब भार अपेक्षाकृत अधिक होता है तब इसी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है।

एकवंशक प्रणाली का उपयोग वस्तुतः किसी भी वस्तु को हटाने-बढ़ाने में किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली विविध प्रविधियों से युक्त होने पर उद्योग में अनेक प्रकार के काम कर सकती है, जैसे भारी माल उठाना, फेंकना, माल को पानी में डुबाकर धोना आदि। इसका अनेक प्रकार के उद्योगों में उपयोग होता है, जैसे मदिरा तथा खाद्य संबंधी उद्योग, ढलाई घर, धुलाई घर, कागज, रबर तथा कपड़े के कारखाने, वस्तुभांडार और कोयला तथा राख को लाना ले जाना आदि।

सं०ग्रं०—डी० ओ० हेन्स : मेटीरियल हैंडलिंग इक्विपमेंट (चिल्टन कंपनी, फ़िलाडेल्फ़िआ)। (न० ला० गु०)

एकवर्ण सूर्यचित्रक (स्पेक्ट्रोहीलियोग्राफ़) वह यंत्र है जिसके द्वारा सूर्य के समूचे भाग या किसी एक भाग की विशेषताओं का चित्रांकन किसी भी तरंगदैर्घ्य के प्रकाश द्वारा किया जा सकता है। यह वास्तव में एक रश्मिचित्रांकक (स्पेक्ट्रोग्राफ) है जो एक विशेष तरंगदैर्घ्य के विकिरण को, उदाहरणतः एक फ़ाउनहोफ़र रेखा को, अलग कर लेता है और इस प्रकार सूर्य के समूचे भाग की जाँच इस रेखा के प्रकाश में करने की क्षमता प्रदान करता है। एक साधारण स्पेक्ट्रोग्राफ़ की कल्पना कीजिए जिसके अंतिम भाग में, जहाँ वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) का फोटोग्राफ अंकित किया जाता है, एक दूसरा सँकरा छिद्र लगा हो। इस छिद्र के द्वारा कोई विशिष्ट वर्णक्रम रेखा (या उसका एक भाग) अलग हो सकता है। यह छिद्र इस प्रकार सारे विकिरण का वही भाग बाहर आने देता है जो एक विशेष तरंगदैर्घ्य का है और उस छिद्र पर पड़ रहा है। यदि फोटो खींचनेवाली पट्टिका इस दूसरे छिद्र के साथ सटाकर रख दी जाय तो इस छिद्र से होकर बाहर आनेवाले विकिरण का फोटो लिया जा सकता है। अब यदि सारा यंत्र धीरे धीरे बराबर, किंतु नियंत्रित गति से, इस प्रकार चलाया जाय कि यंत्र का अक्ष सूर्य के समूचे प्रतिबिंब को पार कर सके और छिद्र की सभी अनुगामी स्थितियाँ एक दूसरे के समांतर रह सकें, तो पट्टिका पर एक पूरा प्रतिबिंब बनेगा जो एकवर्णीय कहा जा सकता है। यदि प्रथम छिद्र सूर्यप्रतिबिंब के व्यास से बड़ा हो तो फोटो की पट्टिका पर बना प्रतिबिंब वास्तव में सूर्य के समूचे भाग का चित्र होगा। यह प्रथम छिद्र द्वारा लिए गए, रेखा के समान सँकरे, अनेक चित्रों का एकीकरण होगा।

जैन्सेन ने १८६९ ई० में एकवर्ण सूर्यचित्रक के बारे में मौलिक विचार प्रकट किए, किंतु हेल ने हारवर्ड में काम करते हुए १८९१ ई० में इसे पहली बार बनाया। म्यूडान में डेलैंड्र भी इस समय इसी प्रश्न को लेकर व्यस्त था। उसका यंत्र वास्तव में एकवर्ण सूर्यचित्रकों में अग्रणी है।

एकवर्ण सूर्यचित्रक कई प्रकार के होते हैं। इनमें जो साधारणतया प्रचलित हैं उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है। ये सभी सौर प्रतिबिंब के विविध भागों को बारी बारी से देखने अर्थात् अण्ववलोकन की विधियों में एक दूसरे से भिन्न हैं।

१. रश्मि चित्रांकक एक आवर्तक दूरदर्शी (रिफ़्रैक्टर) से संलग्न किया जाता है। यह दूरदर्शी विषुवतीय रूप से आरोपित रहता है, परंतु ऐसी गति से घुमाया जाता है जो नाक्षत्र दैनिक गति से भिन्न है; या क्रांति (डेक्लिनेशन) में घुमाया जाता है, जब कि फोटो की पट्टिका को द्वितीय छिद्र के आर पार चलाया जाता है।

२. स्थिर रश्मिचित्रांकक का प्रयोग चलदर्पण (सीलोस्टैट या साइडरोस्टैट) के साथ किया जाता है और दूरदर्शी के वस्तुताल (ऑब्जेक्टिव) को अपने धरातल में चलाया जाता है, जब कि फोटो की पट्टिका अलग से रश्मिचित्रांकक के आर पार चलाई जाती हैं।

३. वस्तुताल, फोटो प्लेट और रश्मिचित्रांकक के मुख्य भाग स्थिर रहते है, किंतु छिद्रों को प्रकाशकिरण के आर पार अपने समांतर एक बगल चलाया जाता है।

४. समूचा रश्मिचित्रांकक चलता है, जब कि दूरदर्शी का वस्तुताल और फोटो प्लेट स्थिर रहते हैं। इस प्रकार का एक यंत्र ज्योतिर्भौतिकी वेधशाला, कोदईकनाल में है।

अच्छे एकवर्ण सूर्यचित्रको के लिये स्निग्ध और समानवेग अण-अवलोपी गति की नितांत आवश्यकता है। इसके लिये कुछ यंत्रों में बिजली के मोटर का प्रयोग किया जाता है। कुछ अन्य में इसी काम के लिये गिरते भार का प्रयोग किया जाता है। यंत्र के गुरुत्वजन्य त्वरण को मिटाने के लिये उसे एक तेलभरी पिचकारी के पिस्टन से संयुक्त कर दिया जाता है और बहुत ही गाढ़े तेल का प्रयोग किया जाता है।

त्रिपार्श्व (प्रिज्म) से बना एकवर्ण सूर्यचित्रक

१. सूर्यकिरण; २. नाक्षत्रस्थापक (साइडरोस्टैट) का दर्पण; ३. प्रथम दीर्घ छिद्र पर सूर्य का प्रतिबिंब बनानेवाला लेंस (लेंज); ४. प्रथम दीर्घ छिद्र; ५. संधानक (कॉलिमेटिंग लेंज); ६. तथा ७. विक्षेपक त्रिपार्श्व (डिस्परसिंग प्रिज्म); ८. वर्णक्रम को आनेवाली किरणावलि के समांतर परावर्तित करनेवाला दर्पण; ९. द्वितीय दीर्घ छिद्र पर वर्णक्रम को संगमित (फ़ोकस) करने के लिये लेंस (लेंज), जिसका संगमांतर (फ़ोकल लेंग्थ) संधानक (५) के संगमांतर के बराबर है; १०. द्वितीय दीर्घ छिद्र, जो वर्णक्रम की एक रेखा या सँकरे प्रदेश को पृथक् करती है; ११. फोटो की पट्टिका या फिल्म।

एकवर्ण सूर्यचित्रक के लिये त्रिपार्श्व एवं चौकोर ग्रेटिंग दोनों का ही प्रयोग वर्णविभंजन के लिये किया जाता है। एकवर्ण सूर्यचित्र सूर्यवर्णक्रम की कई फ्राउनहोफ़र रेखाओं से सफलता के साथ लिए जा सकते है, किंतु साधारणतया आयनीकृत कैल्सियम की के(k) रेखा और हाइड्रोजन की एच-ऐल्फ़ा (H-α) रेखा ही प्रयुक्त होती हैं। ये रेखाएँ फोटो निरीक्षण के लिये आदर्श है, क्योंकि ये बहुत तीव्र हैं और इनके अगल बगल चौड़े अँधेरे पट्ट (बैंड) होते हैं जो बिखर कर आए प्रकाश को बहुत कम कर देते हैं।

जो सूर्यचित्र आयनीकृत कैल्सियम के प्रकाश में लिए जाते हैं, वे हाइड्रोजन के लाल प्रकाश में लिए गए चित्रों से सर्वथा भिन्न होते हैं। उनमें कैल्सियम वाष्प की चमकीली धज्जियाँ दिखाई पड़ती हैं, यही इनकी बड़ी विशेषता है। इसके विपरीत, हाइड्रोजन में लिए गए चित्र सौर वायुमंडल का सूक्ष्म ब्योरा उपस्थित करते हैं। इनमें बहुत सी सँकरी लंबी धज्जियाँ दिखाई पड़ती है जो मिलकर भ्रमिमय रचना करती हुई जान पड़ती हैं। फलतः एकवर्ण सूर्यचित्रक में चित्र १ और २ के सूर्यचित्र क्रमानुसार कैल्सियम और हाइड्रोजन के प्रकाश में लिए गए हैं। चित्र ३ कैल्सियम के प्रकाश में लिया गया है तथा प्रोद्धर्षो को दिखाता है। यह चित्र उचित नाप की एक गोल तश्ती द्वारा सूर्य के प्रतिबिंब को इस प्रकार ढककर लिया गया है कि उसके बाह्य किनारे का ही फोटो आए।

एकवर्ण सूर्यदर्शक—एकवर्ण सूर्यचित्रक में जिस सिद्धांत का उपयोग हुआ है उसी के आधार पर हेल ने १९२४ में दृष्टि द्वारा निरीक्षण के लिये एकवर्ण सूर्यदर्शक यंत्र बनाया। इस यंत्र में सूर्य का प्रकाश एक स्थिरदर्शी (सीलोस्टैट) के द्वारा क्षैतिज दिशा में परावर्तित होकर एक ताल पर गिरता है जो सूर्य का प्रतिबिंब एक छिद्र पर बनाता है। इस छिद्र से होकर बाहर जानेवाला प्रकाश एक अवतल दर्पण पर गिरता है जो उसे एक समांतर प्रकाश-किरण-समूह के रूप में लगभग क्षैतिज दिशा में एक समतल व्याभंग झरझरी (डिफ़्रैक्शन ग्रेटिंग) की ओर परावर्तित करता है। यह झरझरी परावर्तनवाली होती है और छिद्र के ठीक नीचे लगी रहती है। व्याभंजित (डिफ़्रैक्टेड) किरण दूसरे अवतल दर्पण पर पड़ती है, जो पहले दर्पण के नीचे लगा रहता है, और इसके कारण किरणें दूसरे छिद्र के धरातल में, जो पहले छिद्र के नीचे होता है, संगमित (फ़ोकस) हो जाती हैं। दोनों छिद्र एक ही पटरी पर आरोपित रहते है और एक मोटर द्वारा क्षैतिज समतल में वेग से दोलन करते है। घुमाए जानेवाले छिद्रों के स्थान में दो आयताकार त्रिपार्श्वों का भी प्रयोग किया जा सकता है, जो स्थिर छिद्रों के सामने लगे रहते हैं और एक ही अक्ष पर आरोपित रहते हैं, जिसे मोटर द्वारा घुमाया जाता है। पहले त्रिपार्श्व के घूमने से पहले छिद्र पर सौर प्रतिबिंब के विविध भाग पड़ते हैं और फिर परिणामस्वरूप वर्णविभंजन के पश्चात् दूसरे छिद्र पर पडते हैं। इस दूसरे त्रिपार्श्व के घूमने के कारण एकवर्णीय प्रकाश में बड़ा सौर प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है जो अक्षुताल द्वारा देखा और जाँचा जा सकता है। टिमटिमाहट को दूर करने के लिये त्रिपार्श्वों को बड़े वेग से घुमाते हैं। दृष्टिस्थिरता के कारण निरीक्षक को सूर्य का एक समूचा भाग एकवर्णीय प्रकाश में दिखलाई पड़ता है। इस यंत्र से सौर वायुमंडल की कोमल रचना दृश्य हो जाती है, और इस प्रकार यह यंत्र नित्य परिवर्तित होती रहनेवाली सौर घटनाओं के अध्ययन में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

ऊपर जो कुछ वर्णन किया गया है उससे पता चलता है कि एकवर्ण-सूर्यचित्रक और एकवर्ण सूर्यदर्शक वास्तव में एकवर्णी हैं, क्योंकि वे वर्णक्रम से एक विकिरण को अलग कर लेते हैं। वर्तमान समय में भिन्न भिन्न प्रकार के ऐसे वर्णविरोधक बनाकर भी यह प्रश्न सुलझाया गया है जो वर्णक्रम से बहुत ही सूक्ष्म पट्ट (बैंड) बाहर आने देते हैं। पट्ट की सूक्ष्मता ०.५ ऐंगस्ट्रम तक हो सकती है। इस प्रकार के वर्णविरोधक बनाने का श्रेय फ्रांसीसी ज्योतिर्विद् लियो को है। अन्य लोगों ने भी इस प्रकार के वर्णविरोधक बनाए है। इस प्रकार के वर्णविरोधकों का निर्माण व्यतिकरण (इंटरफ़ियरेंस) और ध्रुवण (पोलॅराइजेशन) के भौतिक सिद्धांतों पर आधृत है। जब सूर्य के लिये इन वर्णविरोधकों का प्रयोग किया जाता है तो ज्योतिर्विद् सूर्य के समूचे भाग या अंश का फोटो एकवर्णीय प्रकाश में ले सकते हैं। समूचा फोटोग्राफ़ एक सेकेंड के अल्प खंड में ही उतारा जा सकता है।

सं०ग्रं०—मंथली नोटिसेज ऑव द रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी, ऐस्ट्रोफ़िजिकल जर्नल, पब्लिकेशन्स ऑव द यर्किज ऑब्ज़रवेटरीज इत्यादि में छपे लेख। (प० मा० ना०, कि० अ० र०)

एकविद्र जंतुओं का एक गण (ऑर्डर) है, जिसमें अब दो ही प्रकार के जंतु जीवित हैं जिनके चित्र इस लेख में दिखाए गए हैं। अंग्रेजी में इस गण का नाम मॉनोट्रीमैटा है, जिसका अर्थ है एकविद्र, अर्थात् एक छिद्रवाले जंतु (मॉनो=एक+ट्रीमा=छिद्र, विद्र)। संभवतः इन्हें

अंडजस्तनी कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि बच्चे अंडे से निकलते हैं और निकलने पर माता के स्तन से दूध पीते हैं।

एकविद्र अंडजस्तनी प्राणी अन्य सभी स्तनधारियों से कुछ इतने भिन्न हैं कि इनके लिये प्रोटोथीरिया नामक एक अलग उपवर्ग की कल्पना करनी पड़ी है जिसमें केवल वरटचंचु (डक बिल, ऑरनिथोरिंकस) तथा सकंटी (स्पाइनी ऐंट-ईटर, टैकीग्लॉसस तथा जेग्लॉसस) नामक प्राणी रखे जाते हैं। ये स्तनधारी प्राणी (मैमाल) हैं, क्योंकि इनके सारे शरीर पर बाल, पूर्ण विकसित उरःप्राचीर (डायाफ्राम), चार वेश्मोंवाला हृदय, केवल बायाँ ही महाधमनी चाप (एऑर्टिक आर्च), केवल दंतास्थि की ही बनी अधोहन्वस्थि (मैंडिबिल), शिशुओं के पोषण के लिये नारी के उदर पर उपस्थित स्तनग्रंथियाँ, शरीर का एकसम ताप, त्वचा में स्वेद ग्रंथियाँ तथा तैल ग्रंथियाँ, तीन कर्णास्थिकाएँ तथा (सकंटियों में) परिवलित
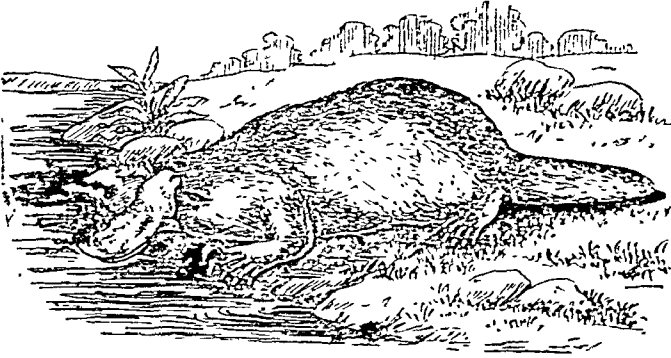
वरट चंचु (ऑरनिथोरिंकस)

(कनवोल्यूटेड) मस्तिष्क, और बाहरी कान तथा कर्णपल्लव (पिना) होते हैं। विकास की दृष्टि से वर्तमान स्तनधारियों में इनकी स्थिति सबसे निम्न-कोटि की है, क्योंकि इनमें अनेक लक्षण सरीसृपों के से पाए जाते हैं, जैसे अंसमेखला (पेक्टोरल गर्डिल) में उरोस्यास्थि (कोराकॉयड), पुरःउरोंस्यास्थि (प्रिकोराकॉयड) तथा अंतराक्षकास्थि (इंटरक्लैविकिल) का अलग अलग होना, ग्रैव पर्शुकाओं (सर्विकल रिब्स) की उपस्थिति, कपाल की अनेक अस्थियों का सरीसृपों की ही भाँति का होना, डिंबवाहिनियों का आरंभ से अंत तक अलग अलग होना और अवस्कर वेश्म (क्लोएकल चेंबर) में अलग अलग जनन रंध्रों द्वारा खुलना, आदि। सबसे प्रमुख तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण सरीसृपी लक्षण है, चर्मसदृश तथा आनम्य (लचीला) आवरण तथा पर्याप्त अंडपीत से युक्त अंडे देना, जैसा अन्य किसी भी उन्नत स्तनधारी में नहीं पाया जाता। इनके इस लक्षण के कारण ही हम इन्हें अंडजस्तनी कहते हैं।

इन प्राणियों के सिर का अगला भाग तुंड के रूप का होता है और प्रौढ़ावस्था में दाँत अनुपस्थित रहते हैं। स्तनग्रंथियों में चूचुक नहीं होते। नारी में न तो गर्भाशय ही होता है और न योनि ही। नर में वृषण उदर में ही स्थित रहते हैं तथा शिश्न से केवल शुक्राणु बाहर आते हैं, मूत्र नहीं। पाचन तथा जननतंत्र अलग अलग छिद्रों द्वारा बाहर न खुलकर केवल एक अवस्कर (गुदा) द्वार द्वारा ही बाहर खुलते हैं। स्तनियों में एक यही ऐसे हैं जिनमें कव्यांगक (कैरंकल) तथा अंडदंत (एग टूथ) पाए जाते हैं। जीवाश्मों (फ़ॉसिल्स) की अनुपस्थिति में इनके प्राचीन इतिहास के विषय में ऐसा अनुमान है कि इनका उद्भव संभवतः रक्ताश्म (ट्रायसिक) युग में (या इससे भी पूर्व) हुआ था। ये प्राणी आज आस्ट्रेलिया, तस्मानिया, न्यू गिनी तथा पापुआ में ही शेष रह गए हैं, और वहाँ भी संभवतः इसलिये कि एक तो भौगोलिक दृष्टि से इनका निवासस्थल अन्य भूभागों से अलग था और दूसरे इनके जीवनयापन के ढंग में इनका प्रतिस्पर्धी दूसरा स्तनधारी उस भूभाग में नहीं था।

अंडजस्तनि गण के उदाहरण सकंटी (टैकीग्लॉसस) तथा प्रसकंटी (जैकीग्लॉसस) हैं, जिनकी पीठ पर आत्मरक्षा के साधनस्वरूप बालों के साथ ही अनेक पृष्ठकंट होते हैं। उनके छोटे तथा मजबूत पैरों की अँगुलियों में, अपने रहने का विवर खोदने और अपने आहार के लिये चींटियों और दीमकों के बिल खोदने के लिये लंबे, तेज तथा सुदृढ़ नख होते हैं। एक अन्य उदाहरण अर्धजलचारी वरटचंचु है जो जल में डुबकी लगा-

सकंटी (टैकीग्लॉसस)
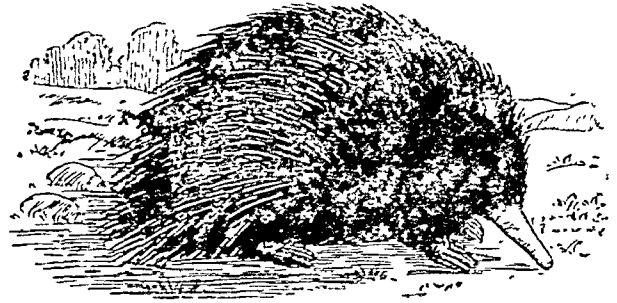
कर अपनी बतख की सी चोंच से घोंघे, सीप, कृमि तथा कठिनवल्कियों को कीचड़ से निकालकर अपने गालों में भर लाता है और तट पर बनाए हुए अपने विवर में जाकर उनके कवच आदि तोड़कर आराम से उन्हें खाता है। वरटचंचु गोता लगाने तथा तैरने में बड़ा ही कुशल होता है, जिसके लिये इसके पैरों की अँगुलियाँ त्वग्बद्ध होती हैं। इसका मुलायम लोमश चर्म (ऊर्णाजिन) तथा मांस दोनों ही मनुष्य अपने उपयोग में लाता है।

सं०ग्रं०—एच० बरेल : द प्लैटिपस; वेडार्ड : मैमेलिया।

(दे० शं० मि०)

एकहार्ट, जोहानेस

जर्मन दार्शनिक। पाश्चात्य रहस्यवादियों में प्रथम। गोथा के पास हौचहीम नगर में एकहार्ट का जन्म हुआ था। पेरिस में उसने धर्म का अध्ययन किया और वहीं से १३०२ ई० में मास्टर आव थियोलाजी की उपाधि प्राप्त की। १३०७ ई० में उसकी नियुक्ति बोहेमिया के विकार जेनरल के पद पर हुई। उपदेश की प्रवीणता तथा अपने व्यावहारिक सुधारों के लिये एकहार्ट की विशेष ख्याति थी। १३११ ई० से उसने पेरिस में अध्यापन कार्य आरंभ किया परंतु १३१४ में उसे स्ट्रैसबर्ग भेज दिया गया। वहाँ से उसे कोलोन भेजा गया जहाँ १३२६ में वहाँ के आर्चबिशप ने उसके सिद्धांतों के कारण उनके विरुद्ध कार्रवाई की।

एकहार्ट को रहस्यवादी कहा गया है क्योंकि उसने अरस्तू तथा ऐक्विनस के सिद्धांतों को उसी रूप में प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। उसकी शैली कहीं कहीं पर बहुत ही अव्यवस्थित है और भाषा प्रतीकों में उलझी हुई है। उसकी विचारधारा में दो महत्वपूर्ण सिद्धांतों का वर्णन मिलता है। एक तो ईश्वरीय सत्ता के विषय में और दूसरा जीव और ईश्वर के संबंध के विषय में। ईश्वर की सत्ता सर्वव्याप्त है। ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। संसार के प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व ईश्वर की सत्ता पर ही आश्रित है। ईश्वर में किसी गुण या विशेषता की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसा करना उसे ससीम बनाना होगा।

एकहार्ट का विचार है कि यद्यपि ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है, तथापि उसकी सबसे बड़ी अभिव्यक्ति मनुष्य में हुई है, जो सृष्टि का उच्चतम प्राणी है। मानव शरीर में स्थित जीवात्मा का अंतिम लक्ष्य परब्रह्म ईश्वर से एकता प्राप्त करना है। यह तादात्म्य आत्मज्ञान द्वारा ही संभव है जब जीव अपने शुद्ध स्वरूप को समझे और उसमें ईश्वर के अस्तित्व को पहचान ले।

(श्री० स०)

एकांकी

एक अंक का नाटक। अंग्रेजी के 'वन ऐक्ट प्ले' शब्द के लिये हिंदी में 'एकांकी नाटक' और 'एकांकी' दोनों ही शब्दों का समान रूप से व्यवहार होता है।

पश्चिम में एकांकी २०वीं शताब्दी में, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद, अत्यंत प्रचलित और लोकप्रिय हुआ। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में उसका व्यापक प्रचलन इस शताब्दी के चौथे दशक में हुआ।

इसका यह अर्थ नहीं कि एकांकी साहित्य की सर्वथा आभिजात्यहीन विधा है। पूर्व और पश्चिम दोनों के नाटच साहित्य में उसके निकटवर्ती रूप मिलते हैं। संस्कृत नाटचशास्त्र में नायक के चरित, इतिवृत्त, रस आदि के आधार पर रूपकों और उपरूपकों के जो भेद किए गए उनमें से अनेक को डा० कीथ ने एकांकी नाटक कहा है। इस प्रकार 'दशरूपक' और 'साहित्यदर्पण' में वर्णित व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाटचरासक, प्रकाशिका, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, श्रीगदित, विलासिका, प्रकरणिका, हल्लीश आदि रूपकों और उपरूपकों को आधुनिक एकांकी के निकट संबंधी कहना अनुचित न होगा। 'साहित्यदर्पण' में 'एकांक' शब्द का प्रयोग भी हुआ है :

भाणः स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थांतरात्मकः।
एकांक एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः॥

और

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः॥
एकांकश्च भवेत्....

पश्चिम के नाटचसाहित्य में आधुनिक एकांकी का सबसे प्रारंभिक और अविकसित किंतु निकटवर्ती रूप 'इंटरल्यूड' है। १५वीं और १६वीं शताब्दियों में प्रचलित सदाचार और नैतिक शिक्षापूर्ण अंग्रेजी मोरैलिटी नाटकों के कोरे उपदेश से पैदा हुई ऊब को दूर करने के लिये प्रहसनपूर्ण अंश भी जोड़ दिए जाते थे। ऐसे ही खंड इंटरल्यूड कहे जाते थे। क्रमशः ये मोरैलिटी नाटकों से स्वतंत्र हो गए और अंत में उनकी परिणति व्यंग्य-विनोद-प्रधान तीन पात्रों के छोटे नाटकों में हुई।

'कर्टेन रेजर' या पटोन्नायक कहा जानेवाला एकांकी, जिसकी तुलना संस्कृत नाटकों के अर्थोपक्षेपक या प्रेक्षणक से की जा सकती है, पश्चिम में आधुनिक एकांकियों का निकटतम पूर्ववर्ती था। रात्रि में देर से खाना खाने के बाद रंगशालाओं में आनेवाले संभ्रांत सामाजिकों के कारण समय से आनेवाले साधारण सामाजिकों को बड़ी असुविधा होती थी। रंगशालाओं के मालिकों ने इस बीच साधारण सामाजिकों को मनोरंजन में व्यस्त रखने के लिये द्विपात्रीय प्रहसनपूर्ण संवाद प्रस्तुत करना शुरू किया। इस प्रकार के स्वतंत्र संवाद को ही 'कर्टेन रेजर' कहा जाता था। इसमें कथानक एवं जीवन के यथार्थ और नाटकीय द्वंद्व का अभाव रहता था। बाद में 'कर्टेन रेजर' के स्थान पर यथार्थ जीवन को लेकर सुगठित कथानक और नाटकीय द्वंद्ववाले छोटे नाटक प्रस्तुत किए जाने लगे। इनके विकास का अगला कदम आधुनिक एकांकी था।

एकांकी इतना लोकप्रिय हो उठा कि बड़े नाटकों की रक्षा करने के लिये व्यावसायिक रंगशालाओं ने उसे अपने यहाँ से निकालना शुरू किया। लेकिन उसमें प्रयोग और विकास की संभावनाओं को देखकर पश्चिम के कई देशों में अव्यावसायिक और प्रयोगात्मक रंगमंचीय आंदोलनों ने उसे अपना लिया। लंदन, पेरिस, बर्लिन, डब्लिन, शिकागो, न्यूयार्क आदि ने इस नए ढंग के नाटक और उसके रंगमंच को आगे बढ़ाया। इसके अतिरिक्त एकांकी नाटक को पश्चिम के अनेक महान् या संमानित लेखकों का बल मिला। ऐसे लेखकों में रूस के चेखव, गोर्की और एकरीनोव, फ्रांस के जिराउदो, सार्त्र और एनाडल, जर्मनी के टालर और ब्रेख्ट, इटली के पिरैंदेलो तथा इंग्लैंड, आयरलैंड और अमरीका के आस्कर वाइल्ड, गाल्सवर्दी, जे० एम० बैरी, लार्ड डनसैनी, सिंज, शिआँ ओ' केसी, यूजीन ओ'नील, नोएल कावर्ड, टी० एस० इलियट, क्रिस्टोफर फ्राई, ग्रैहम ग्रीन, मिलर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रंगमंचीय आंदोलनों और इन लेखकों के संमिलित एवं अदम्य प्रयोगात्मक साहस और उत्साह के फलस्वरूप आधुनिक एकांकी सर्वथा नई, स्वतंत्र और सुस्पष्ट विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। उनकी कृतियों के आधार पर एकांकी नाटकों की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है।

रचनाविधान—सतह पर ही बड़े नाटकों और एकांकियों का आकारगत अंतर स्पष्ट हो जाता है। एकांकी नाटक साधारणतः २० से लेकर ३० मिनट में प्रदर्शित किए जा सकते हैं, जबकि तीन, चार या पाँच अंकोंवाले नाटकों के प्रदर्शन में कई घंटे लगते हैं। लेकिन बड़े नाटकों और एकांकियों का आधारभूत अंतर आकारात्मक न होकर रचनात्मक है। पश्चिम के तीन से लेकर पाँच अंकोंवाले नाटकों में दो या दो से अधिक कथानकों को गूँथ दिया जता था। इस प्रकार उनमें एक प्रधान कथानक और एक या कई उपकथानक होते थे। संस्कृत नाटकों में भी ऐसे उपकथानक होते थे। ऐसे नाटकों में स्थान या दृश्य, काल और घटनाक्रम में अनवरत परिवर्तन स्वाभाविक था। लेकिन एकांकी में यह संभव नहीं। एकांकी किसी एक नाटकीय घटना या मानसिक स्थिति पर आधारित होता है और प्रभाव की एकाग्रता उसका मुख्य लक्ष्य है। इसलिये एकांकी में स्थान, समय और घटना का संकलनत्रय अनिवार्य सा माना गया है। कहानी और गीत की तरह एकांकी की कला घनत्व या एकाग्रता और मितव्ययता की कला है, जिसमें कम से कम उपकरणों के सहारे ज्यादा से ज्यादा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। एकांकी के कथानक का परिप्रेक्ष्य अत्यंत संकुचित होता है, उसमें जीवन के किसी एक ही उद्दीप्त क्षण का उद्घाटन होता है, एक ही मुख्य घटना होती है, एक ही मुख्य चरित्र होता है, एक चरमोत्कर्ष होता है। लंबे भाषणों और विस्तृत व्याख्याओं की जगह उसमें संवादलाघव होता है। बड़े नाटक और एकांकी का गुणात्मक भेद इसी से स्पष्ट हो जाता है कि बड़े नाटक के कलेवर को काट छाँटकर एकांकी की रचना नहीं की जा सकती, जिस तरह एकांकी के कलेवर को खींच तानकर बड़े नाटक की रचना नहीं की जा सकती।

संस्कृत नाटचशास्त्र के अनुसार बड़े नाटक के कथानक के विकास की पाँच स्थितियाँ मानी गई हैं: आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। पश्चिम के नाटचशास्त्र में भी इन्हीं से बहुत कुछ मिलती जुलती स्थितियों का उल्लेख है: आरंभ या भूमिका, चरित्रों और घटनाओं के घात प्रतिघात या द्वंद्व से कथानक का चरमोत्कर्ष की ओर आरोह, चरमोत्कर्ष, अवरोह और अंत। पश्चिम के नाटचशास्त्र में द्वंद्व पर बहुत जोर दिया गया है। वस्तुतः नाटक द्वंद्व की कला है; कथा में चरित्रों और घटनाओं के क्रमिक विकास की जगह बड़े नाटक में कुछ चरित्रों के जीवन के द्वंद्वों को उद्घाटित कर कथानक को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया जाता है। एकांकी में इस चरमोत्कर्ष की धुरी केवल एक द्वंद्व होता है। बड़े नाटक के कथानक में द्वंद्वों का विकास काफी धीमा हो सकता है, जिसमें सारी घटनाएँ रंगमंच पर प्रस्तुत होती हैं। किंतु एकांकी में कथानक के प्रारंभ और अंत का व्यवधान बहुत थोड़ा होता है, या उस घटना से कुछ ही पूर्व होता है जो बड़े वेग से द्वंद्व को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देती है। अक्सर यही चरमोत्कर्ष एकांकी का अंत होता है। जीवन की समस्याओं के यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक चित्रण के अतिरिक्त रचनाविधान की यह विशेषता आधुनिक एकांकी को संस्कृत और पश्चिमी नाटच साहित्य में उसके निकटवर्ती रूपों से पृथक् करती है।

अक्सर अभिनय के लिये कहानियों के रूपांतर से यह भ्रम पैदा होता है कि एकांकी कहानी का अभिनेय रूप है। लेकिन रचनाविधान में घनत्व और मितव्ययता की आधारभूत समानता के बावजूद कहानी और एकांकी में शिल्पगत भेद है। रंगमंच की वस्तु होने के कारण एकांकी में अभिनय और कथोपकथन का महत्व सबसे ज्यादा है। इन्हीं के माध्यम से एकांकी चरित्रचित्रण, कथानक और उसके द्वंद्व, वातावरण और घटनाओं के अनुबंध का निर्माण करता है। कहानी की तरह एकांकी वर्णन का आश्रय नहीं ले सकता। लेकिन अभिनय की एक मुद्रा कहानी के लंबे वर्णन से अधिक प्रभावशाली हो सकती है। इसलिये रंगमंच एकांकी की सीमा और शक्ति दोनों है। इसकी पहचान न होने के कारण अनेक सफल कहानीकार असफल एकांकीकार रह जाते हैं।

इसी प्रकार किसी विषय पर रोचक संभाषण या कथोपकथन को एकांकी समझना भ्रममात्र है। जीवन के यथार्थ, घटना या कथानक, चरित्रों के द्वंद्व, संकलनत्रय इत्यादि के अभाव में संभाषण केवल संभाषण रह जाता है, उसे एकांकी की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

एकांकी की अद्‌भुत संभावनाओं के कारण आधुनिक काल में उसका विकास अनेक दिशाओं में हुआ है। रेडियो रूपक, संगीत तथा काव्य-रूपक और मोनोलोग या स्वगत नाट्य इन नई दिशाओं की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ है। रेडियो के माध्यम से इन सबके क्षेत्र में निरंतर प्रयोग हो रहे हैं। रंगमंच, सदेह अभिनेताओं और अभिनेत्रियों, उनके अभिनय और मुद्राओं के अभाव में रेडियो रूपक को शब्द और उनकी ध्वनि तथा चित्रात्मक शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग करना पड़ता है। मूर्त उपकरणों का अभाव रेडियो रूपक के लिये सर्वथा बाधा ही नहीं, क्योंकि शब्द और ध्वनि को उनके मूर्त आधारों से पृथक् कर नाटककार श्रोताओं के ध्यान को चरित्रों के आंतरिक द्वंद्वों पर केंद्रित कर सकता है। रेडियो रूपक मुश्किल से ५० वर्ष पुराना रूप है। प्रारंभिक अवस्था में इसमें किसी कहानी को अनेक व्यक्तियों के स्वरों में प्रस्तुत किया जाता था और रंगमंच का भ्रम उत्पन्न करने के लिये पात्रों की आकृतियों, वेशभूषा, साज सज्जा, रुचियों इत्यादि के विस्तृत वर्णन से यथार्थ वातावरण के निर्माण का प्रयत्न किया जाता था। अमरीका, जर्मनी, इंग्लैंड आदि पश्चिमी देशों में रेडियो एकांकी के प्रयोगों ने उसके रूप को विकसित किया और निखारा। रेडियो के लिये कई प्रसिद्ध अमरीकी और अंग्रेज कवियों ने काव्यरूपक लिखे। उनमें मैक्लीश, स्टीफ़ेन विसेंट बेने, कार्ल सैंडबर्ग, टाइरोम गुथ्री, लूई मैकनीस, सैकविल वेस्ट, पैट्रिक डिकिंसन, डीलन टामस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन प्रयोगों से प्रेरणा ग्रहण कर हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के एकांकीकारों ने भी रेडियो रूपक, गीतिनाट्य और काव्यरूपक प्रस्तुत किए हैं। पर इनमें अभी अनेक त्रुटियाँ हैं।

सं० ग्रं०—सिडनी बाक्स : द टेकनीक ऑव् द एक्सपेरिमेंटल वन ऐक्ट प्लेज़; जान बोर्न : द वन ऐक्ट प्ले इन् इंग्लैंड; ऐग्नेन ह्यूजेज़ : द वन ऐक्ट प्ले इन् द युनाइटेड स्टेट्स; व्हाल गाइगल्ड : द वन-ऐक्ट प्ले ऐंड द रेडियो। (चं० व० सिं०)

हिंदी एकांकी का इतिहास : हिंदी साहित्य के इतिहासकार एकांकी का प्रारंभ भारतेंदुयुग से मानते हैं। प्रसाद के 'एक घूँट' (१९२९ ई०) से दूसरा चरण, भुवनेश्वरप्रसाद के 'कारवाँ' (१९३५ ई०) से तीसरा तथा डा० रामकुमार वर्मा के 'रेशमी टाई' (१९४१ ई०) संकलन से चौथे चरण की शुरुआत कही गई है। किंतु उक्त कालविभाजन में उन एकांकीकारों को संमिलित नहीं किया गया है, जिन्होंने १९५५ ई० के आसपास लिखना प्रारंभ किया है और आज भी लिख रहे हैं। अतः हिंदी एकांकी का अद्यतन इतिहास संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) **भारतेंदुकाल** में दो प्रकार के एकांकी लिखे गए। प्रथम, अनूदित या छायांकित एकांकी तथा द्वितीय, मौलिक एकांकी। पहली कोटि में भारतेंदु का बँगला के 'भारतमाता' का अनुवाद 'भारत जननी'; राधाचरण गोस्वामी द्वारा बँगला के 'भारतेर यवन' का अनुवाद 'भारतवर्ष में यवन लोग', कांचनाचार्य कृत 'धनंजय विजय' का छायाविष्ट रूपक, अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रद्युम्नविजय व्यायोग' आदि हैं। दूसरी कोटि में भारतेंदुकृत 'विषस्यविषमौषधम्', 'प्रेमजोगिनी' (अपूर्ण), गीतिरूपक 'नीलदेवी' तथा 'सतीप्रताप' (अपूर्ण); राधाचरण गोस्वामी कृत 'तनमनधन गोसाईं जी के अरपन','सती चंद्रावली', 'अमरसिंह राठौर', एवं 'श्रीदामा'; किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट'; राधाकृष्णदास का 'दुःखिनीबाला'; अंबिकादत्त व्यास रचित 'कलियुग और घी' तथा 'मन की उमंग'; श्रीशरण का 'बालविवाह'; बालकृष्ण भट्ट के 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल' तथा 'बाल विवाह'; प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक'; देवकीनंदन त्रिपाठी कृत 'जय नरसिंह की'; काशीनाथ खत्री के 'सिंधु देश की राजकुमारियाँ', 'गुन्नौर की रानी' एवं 'लजवो का स्वप्न'; लाला श्रीनिवासदास का 'प्रह्लाद चरित'; बदरीनारायण प्रेमघन का 'प्रयाग रामागमन'; कृष्णशरण सिंह गोप कृत 'माधुरी' आदि एकांकी आते हैं।

ऐतिहासिक आख्यान तथा समाजसुधार के प्रसंग ही उपर्युक्त एकांकियों के विषय हैं। इन्हें आधुनिक एकांकी का प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है। कला का विकसित रूप इनमें नहीं मिलता; शैलियाँ परस्पर कुछ भिन्न हैं पर परंपरा एक ही है। उक्त एकांकी अभिनेय की अपेक्षा पाठ्य अधिक हैं। लेखकों का झुकाव जीवन की स्थूलता का वर्णन करने की ओर है; वृत्तियों की सूक्ष्म विवृति इनमें नहीं मिलती। प्ररोचना, प्रस्तावना, सूत्रधार, नांदी, मंगलाचरण, एकाधिक दृश्ययोजना, भरतवाक्य आदि के प्रयोग कहीं हैं, कहीं नहीं भी हैं। आकार सर्वत्र लंबे हैं, अंक भी दृश्य और दृश्य भी गर्भांक जैसे हो गए हैं। संकलनत्रय के निर्वाह का अभाव है, शिथिल संवादों का बाहुल्य एवं विकास तथा विन्यासहीन कथायोजना का आधिक्य है। इनमें से कुछ प्रहसन के रूप में लिखे गए हैं, पर उनमें निर्मल हास्य न होकर व्यंग्य की मात्रा ही अधिक है। एकांकी के लिये अपेक्षित प्रमुख गुण कार्य (ऐक्शन) का इनमें अभाव है।

(२) एकांकी के **दूसरे युग** में जयशंकर प्रसाद का 'एक घूँट' लिखा गया जिसपर संस्कृत का भी प्रभाव है और बँगला के माध्यम से आए पाश्चात्य एकांकी शिल्प का भी। प्रसाद जी ने इसी बीच 'कल्याणी परिणय' भी लिखा, पर वह अभी तक अप्रकाशित है। साथ ही, इसे उनके 'चंद्रगुप्त' नाटक का एक भाग भी कहा जा सकता है। फ्रांसीसी नाटककार मोलियर के कुछ प्रहसनों का भी इस दौरान हिंदी में अनुवाद हुआ। 'एक घूँट' में एकांकी के कमोवेश लगभग सभी आधुनिक लक्षण मिल जाते हैं। विवाह समस्या का विवेचन एवं समाधान भावुकतापूर्ण शैली में किया गया है। परंतु 'एक घूँट' एक ही रह गया; अन्य लेखकों को यह एकांकी लेखन की ओर प्रवृत्त न कर सका।

(३) एकांकी का **तीसरा चरण** भुवनेश्वरप्रसाद के 'कारवाँ' संग्रह से शुरू होता है जिसमें छह एकांकी हैं। १९३८ ई० में 'हंस' का एकांकी अंक प्रकाशित हुआ। इसमें तत्कालीन प्रतिनिधि एकांकी प्रस्तुत किए गए। इसी बीच सत्येंद्र का 'कुनाल', पृथ्वीनाथ शर्मा का 'दुविधा', रामकुमार वर्मा का 'पृथ्वीराज की आँखें'; सूर्यशरण पारीक का 'वैलावण या प्रतिज्ञापूर्ति' आदि प्रकाशित हुए। उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविंददास प्रभृति एकांकीकार भी इसी काल में एकांकी लेखन की ओर प्रवृत्त हुए और उनके कई सशक्त एकांकी प्रकाश में आए।

इस युग में प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों प्रकार के कथानकों को लेकर एकांकी लिखे गए। इनमें विवाहादि सामाजिक तथा साम्यवादादि राजनीतिक समस्याएँ प्रमुख रूप से उभरी हैं। प्राचीन विचारधारा की वकालत जोरदार शब्दों में की गई है, परंतु इसके साथ नवीन को अपनाने का आग्रह भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पश्चिमी विचार और शैली के प्रभाव को लेकर एकांकी ने अपने रूप रंग में पर्याप्त परिवर्तन किया और इसकी तकनीक में यत्किंचित् स्थिरता आई। देखा जाय, तो यह काल एकांकी विधा का परिमार्जन काल था। लेखकों ने इस समय का सदुपयोग कर अपने हाथ साधे। सन् १९३५ ई० से रेडियो प्रसारणों के अंतर्गत एकांकियों को भी स्थान दिया जाने लगा था, अतः रेडियो एकांकी अथवा ध्वनिनाटक भी काफी संख्या में लिखे जाने लगे।

(४) **चतुर्थ चरण** तक पहुँचते पहुँचते एकांकी का स्वरूप, शिल्प आदि पूरी तरह स्थिर हो जाते हैं, उनका प्रामाणिक रूप सामने आता है। इससे पहले तो वह अपना सही रूप तलाशने में लगा था। डा० रामकुमार वर्मा के 'रेशमी टाई' एकांकीसंग्रह से इस युग का सूत्रपात हुआ, यह पहले ही बताया जा चुका है। इसके अतिरिक्त वर्मा जी के 'ऐक्ट्रेस', 'रजनी की रात', 'एक तोले अफीम की कीमत', 'परीक्षा', 'नहीं का रहस्य', 'कहाँ से कहाँ', 'चारुमित्रा', 'दस मिनट' आदि एकांकी प्रसिद्ध हैं। पहाड़ी का 'युग युग द्वारा शक्तिपूजा'; भुवनेश्वर के 'शैतान', 'स्ट्राइक', 'असर', 'ताँबे के कीड़े'; भगवतीचरण वर्मा के 'संदेह का अंत', 'दो कलाकार', 'सबसे बड़ा आदमी'; उपेंद्रनाथ अश्क कृत 'जोंक', 'समझौता', 'घड़ी', 'छठा बेटा', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'विभा', 'तौलिये', 'आदिमार्ग'; उदयशंकर भट्ट के 'दो अतिथि', 'वर निर्वाचन', 'मुंशी अनोखेलाल', 'असली नकली', 'नेता', 'सेठ भालचंद', 'मनुमानव', 'आदिम युग'; सेठ गोविंददास रचित 'विटेमन', 'अधिकार लिप्सा' 'वह मरा क्यों', 'हंगर स्ट्राइक', 'कंगाल नहीं', 'ईद और होली'; पांडेय बेचन शर्मा उग्र के 'राम करे सो होय',

'मियाँ भाई', 'अफजल वध'; वृंदावनलाल वर्मा कृत 'पीले हाथ', 'सगुन' 'जहाँदार शाह', 'कश्मीर का काँटा', 'मानव'; एस० पी० खत्री के 'चौराहा', 'माँ', 'मछुए की माँ', 'ठाकुर का घर', 'बंदर की खोपड़ी'; विष्णु प्रभाकर के 'माँ का हृदय', 'संस्कार और भावना', 'रक्तचंदन', 'माँ बाप'; जगदीशचंद्र माथुर के 'भोर का तारा', 'रीढ़ की हड्डी', मकड़ी का जाला', 'कलिंगविजय', 'खंडहर'; लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'एक दिन'; सद्गुरुशरण अवस्थी के 'मुद्रिका', 'कालीवध'; गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'सोहाग की बिंदी', 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'शर्मा जी', 'सर्वस्व समर्पण' आदि प्रमुख एकांकी इसी काल की देन हैं।

इस युग के एकांकी स्वतंत्र एवं सचेष्ट भाव से लिखे गए हैं। अतः विषय की अपेक्षा शिल्प उनमें विशेष है। बौद्धिक उत्सुकता, मानसिक विश्लेषण, अंतर्द्वद्व की अभिव्यक्ति, हास्य तथा चुटीले व्यंग्य, संवादों की कसावट, मार्मिक स्थलों का चयन, यथार्थ प्रस्तुतीकरण के प्रति आग्रह, मनोवैज्ञानिक कार्यव्यवहार, पद्य का लगभग अभाव, सामान्य नायक की स्वीकृति, रंगसंकेत आदि उत्तरोत्तर बढ़ते गए हैं। युग की विभिन्न एवं विविध अभिरुचियों के अनुसार इस समय के एकांकियों के विषय भी अनेक रहे हैं, जिनमें प्रेम, विवाह, घृणा, क्रूरता, हत्या, पौराणिक आख्यान, लोकगाथात्मक एवं लोकविश्रुत वीरों तथा राजाओं के कृत्य, सामाजिक कुरीतियाँ, वर्गसंघर्ष, देशभक्ति, हिंदू-मुसलमान-भ्रातृत्व, सत्याग्रह, यौनाकर्षण आदि प्रमुख है। ध्वनि नाटक भी इस बीच अधिक संख्या में लिखे गए हैं।

(५) हिंदी एकांकी का **पाँचवाँ अथवा अंतिम चरण** एकांकी की विविध विधाओं को लेकर प्रारंभ होता है जिनमें मंच एवं ध्वनि एकांकी के अलावा 'ओपेन एयर एकांकी', 'चित्र एकांकी' (टेलिविजन पर दिखाए जानेवाले) 'गली एकांकी' आदि संमिलित किए जा सकते है। डा० लक्ष्मीनारायण कृत 'बसंत ऋतु का नाटक', 'मम्मी ठकुराइन', 'राजरानी'; देवराज दिनेश के 'समस्या सुलझ गई', 'तुलसीदास', 'रिश्वत के अनेक ढंग'; जयनाथ नलिन रचित 'भक्तों की दीनता'; सत्येंद्र शरत् कृत 'नवजोती की नई हिरोइन'; विनोद रस्तोगी का 'बहू की विदा'; चिरंजीत के 'चक्रव्यूह' 'ढोल की पोल', (ध्वनि नाटक), 'पाँच प्रहसन' (संकलन); रेवतीशरण शर्मा कृत 'तलाक'; विमला लूथरा का 'अपना घर'; ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'रोटीवाली गली'; कृष्णकिशोर श्रीवास्तव के 'सत्यकिरण', 'मछली के आँसू', 'आस्तीन के साँप'; इंदुशेखर का 'महल्ले की आबरू'; स्वामीनाथ कृत 'आई० ए० एस०'; राजेंद्रकुमार शर्मा के 'पर्दा उठने से पहले', 'रेत की दीवार', 'अटैची केस', अरुण रचित 'रेलगाड़ी के डिब्बे', 'भोर की किरणें'; श्रीकृष्ण कृत 'माँ जी', 'तरकश के तीर'; मुक्ता शुक्ल के 'पर्दे और परछाइयाँ'; 'भीतरी छाया', कुमार राजेंद्र कृत 'आदमखोर' (ओपेन एयर एकांकी); कंचनकुमार लिखित 'सूअर बाड़े का जमादार' (गली एकांकी) आदि इस खेवे की प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस काल में कुछ बेमानी (ऐब्सर्ड) एकांकी भी लिखे गए हैं जिनमें सत्यदेव दुबे कृत 'थोड़ी देर पहले और थोड़ी देर बाद'; धर्मचंद्र जैन का 'चेहरों के चेहरे'; मोहन राकेश का बीज नाटक 'शायद' आदि उल्लेख्य है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, विष्णु प्रभाकर, गंगाधर शुक्ल, विनोद रस्तोगी, उपेंद्रनाथ अश्क, कमलेश्वर तथा मनहर चौहान ने इधर बहुत से चित्रएकांकी भी प्रस्तुत किए हैं।

पाँचवें चरण के एकांकियों में या तो पाश्चात्य रचनाप्रक्रिया को कठोरता के साथ ग्रहण किया गया है अथवा उसमें प्रतिभा और बुद्धि से नए वस्तुविधान, नई अभिव्यंजना द्वारा मौलिक रूप का निर्माण कर लिया गया है। गीतों का इनमें एकांत अभाव है, प्रकाश का जमकर उपयोग किया गया है, जिसमें पर्दों की जरूरत बहुत कुछ समाप्त हो गई है। संवाद अत्यंत कसे हुए तथा चुटीले हैं। जीवन के नए ढंग, उसकी आशाओं, निराशाओं, छोटी छोटी समस्याओं तथा प्रति दिन की सामान्य घटनाओं को लेकर ये एकांकी रचे गए है। चित्र एकांकियों ने 'आउट-डोर-हीनता' को तोड़ा है। इसमें अब पहाड़ी नदी की चंचलता, सड़कों पर भागती कारें, समुद्र में चलते यान, आकाश में शत्रुविमानों से जूझते 'नैट' आदि दिखाए जाते हैं। गली एकांकी ने मंच को तोड़ा है तो बेमानी एकांकियों ने दर्शकों को ही मंचपर लाकर खड़ा कर दिया है। (कं० चं० श०)

एकांतिक वैष्णव संप्रदाय का प्राचीन नाम। वैष्णव संप्रदाय को प्राचीन काल में अनेक नामों से पुकारते थे जिनमे भागवत, सात्वत तथा पांचरात्र नाम विशेष विख्यात हैं। 'एकांतिक' भी इसी का अपर पर्याय है। 'पद्मतंत्र' नामक पांचरात्र संहिता का यह वचन प्रमाण के लिये उपस्थित किया जा सकता है :

सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पंचकालवित् ।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पांचरात्रिक इत्यपि ॥
(पद्मतंत्र, ४।२।८८)

इस नामकरण के लिये पर्याप्त कारण विद्यमान है। 'एकांतिक' शब्द का अर्थ है—वह धर्म जिसमें एक ही (भगवान्) अंत या सिद्धांत माना जाय। भागवत धर्म का प्रधान तत्व है प्रपत्ति या शरणागति। भगवान् की शरण में जाने पर ही जीव का कल्याण होता है। भगवान् की जब तक कृपा जीव पर नहीं होती, तब तक उसका उद्धार नहीं होता। इस कृपा को क्रियाशील बनाने के लिये 'शरणागति' ही परम साधन है। इसलिये भागवतों का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ भगवद्गीता 'मामेकं शरणं व्रज' की गौरवपूर्ण शिक्षा देती है। एकांती भक्त की भगवत्प्राप्ति का वर्णन अनुस्मृति में किया गया है।

एकान्तिनो हि निर्द्वन्द्वा निराशाः कर्मकारिणः ।
ज्ञानाग्निदग्ध—कर्माणस्त्वां विशन्ति मनस्विनः ॥
(अनुस्मृति, श्लोक ४८)

उपनिषद् युग में भागवत धर्म 'एकायन' नाम से प्रख्यात था जो 'एकांतिक' का ही एक नूतन अभिधान है। छांदोग्य उपनिषद् (७।१।२) में भूमाविद्या के वर्णनप्रसंग में नारद के द्वारा अधीत विद्याओं में 'एकायनविद्या' के नाम का प्रथम उल्लेख उपलब्ध होता है—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं वाकोवाक्यमेकायनं च। इस शब्द के अर्थ के विषय में प्राचीन टीकाकारों में मतभेद है। रंग रामानुज नामक श्रीवैष्णव टीकाकार की संमति में 'एकायन' शब्द वेद की 'एकायन शाखा' का द्योतक है जिसका साक्षात् संबंध भागवत या वैष्णव संप्रदाय से है। नारद पांचरात्रीय भक्ति के महनीय आचार्य हैं। वे ही छांदोग्य के पूर्वोक्त प्रसंग में एकायन विद्या के ज्ञाता रूप से उल्लिखित किए गए है। इस कारण भी 'एकायन' विद्या को भागवत शास्त्र के अर्थ में ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा का ही नाम 'एकायन शाखा' है, ऐसा 'काण्व शाखा-महिमा संग्रह' नामक ग्रंथ में नागेश का कथन है। इस मत की पुष्टि 'जयाख्य संहिता' से भी होती है। इस संहिता के अनुसार पांचरात्र (वैष्णव मत) के प्रवर्तक पाँचों ऋषि, जिनके नाम औपगायन, कौशिक, शांडिल्य, भारद्वाज तथा मौंजायन हैं, काण्व शाखा के अध्येता बतलाए गए हैं (जयाख्य संहिता १।११६)। फलतः 'एकांतिक' तथा 'एकायन' दोनों शब्द प्राचीन भागवत संप्रदाय के लिये प्रयुक्त होते थे; यह तथ्य मानना नितांत उचित है।

एकांतिक धर्म की प्राचीन संहिताओं की संख्या १०८ के ऊपर बतलाई जाती है जिनमे अहिर्बुध्न्य, जयाख्य तथा बृहद् ब्रह्मसंहिता मुख्य हैं। इनमें चार विषयों का प्रतिपादन विशेष रूप से किया गया है—ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या। ज्ञान के अंतर्गत ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रूप का और सृष्टितत्व का विशेष निरूपण किया गया है। योग प्रकरण में मुक्ति के साधनभूत योग तथा उसकी प्रक्रियाओं का विवरण है। क्रिया-प्रकरण में वैष्णव मंदिरों का निर्माण, मूर्ति की स्थापना आदि विषयों का वर्णन है। चर्या के अंतर्गत आह्निक क्रिया, मूर्तियों के पूजन का विस्तृत विवरण, पर्व तथा उत्सव के अवसरों पर विशिष्ट पूजा का विधान वर्णित है। इन्हीं संहिताओं के आधार पर वैष्णव संप्रदायों की विशेष उन्नति मध्य युग में होती रही।

सं०ग्रं०—डा० श्रादेर : ऐन इंट्रोडक्शन टु पांचरात्र सिस्टम, अड्यार, १९१६; बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय, काशी, सं० २०१०।
(ब० उ०)

एकादशी प्रत्येक पक्ष की ११वीं तिथि। यह तिथि भगवान् विष्णु की अर्चा पूजा के लिये बहुत ही पवित्र मानी जाती है। इस तिथि को उपवास, जप तथा रात्रिजागरण की विधि विशेष रूप से उपयुक्त मानी गई है। एकादशी दो प्रकार की होती है : स्मार्तों की और वैष्णवों की। दो दिन एकादशी पड़ने पर पहली एकादशी स्मार्तों के और दूसरी एकादशी वैष्णवों के लिये मान्य होती है, क्योंकि वैष्णव जन दशमीविद्धा एकादशी को एकादशी नहीं मानते। एकादशी प्रत्येक पक्ष की ११वीं तिथि को पड़ती है और इस प्रकार एक वर्ष में २८ एकादशियाँ होती हैं। चैत्र शुक्ल से आरंभ कर प्रत्येक शुक्ला एकादशी के नाम क्रमानुसार ये है : कामदा, मोहिनी, निर्जला (या भीमसेनी), शयनी, पुत्रदा, परिवर्तिनी, पापांकुशा, बोधिनी, मोक्षदा, प्रजावर्धिनी, जयदा तथा आमलकी। इसी प्रकार चैत्र कृष्णपक्ष से आरंभ कर कृष्णा एकादशियों के नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं—पापमोचिनी, वरुथिनी, अपरा, योगिनी, कामिका, अजा, इंदिरा, रमा, फलदा, सफला, षट्तिला तथा विजया। एकादशी के निर्णय का पूरा विचार, 'धर्मसिंधु' तथा 'निर्णयसिंधु', में बड़े विस्तार के साथ किया गया है।

एकादशी की उत्पत्ति की कथा पद्मपुराण के उत्तरकांड (अध्याय ३८) में दी गई है। इस कथा का सारांश यह है कि मुर नामक दैत्य को मारने के लिये विष्णु भगवान् ने देवों की सेना के साथ उसकी मुख्य नगरी चंद्रावती पर आक्रमण किया। देवतागण थोड़े ही युद्ध में ध्वस्त होकर भाग निकले तथा विष्णु ने अकेले ही बहुत दिनों तक युद्ध जारी रखा। पर अंततोगत्वा इन्होंने भी बदरिकाश्रम की एक गुफा में आश्रय लिया। मुर उन्हें परास्त करने के लिये जब उस गुफा के पास पहुँचा, तब उसने उसके दरवाजे पर एक अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित सुंदरी देखी जिसके हुंकार मात्र से वह नष्ट हो गया। विष्णु ने उस सुंदरी को मनोभिलषित वरदान दिया। उसका नाम 'एकादशी' रखा और उस दिन व्रत करनेवाले को भक्ति तथा मुक्ति देने की विष्णु ने प्रतिज्ञा की। प्रत्येक एकादशी के लिये पुराणों में कोई न कोई उत्साहवर्धक कथानक प्रसिद्ध है। (व० उ०)

एकाधिनायकत्व डिक्टेटरशिप, अधिनायकवाद उस एक व्यक्ति की सरकार है जिसने शासन उत्तराधिकार के फलस्वरूप नहीं वरन् बलपूर्वक प्राप्त किया हो तथा जिसे पूर्ण संप्रभुता प्राप्त हो—अर्थात् संपूर्ण राजनीतिक शक्ति न केवल उसी के संकल्प से उद्भूत हो वरन् कार्यक्षेत्र और समय की दृष्टि से असीमित तथा किसी अन्य सत्ता के प्रति उत्तरदायी न हो—और वह उसका प्रयोग बहुधा अनियंत्रित ढंग से विधान के बदले आज्ञप्तियों द्वारा करता हो।

दिक्तेतर (डिक्टेटर, एकाधिनायक) शब्द को सर्वप्रथम प्रयुक्त करनेवाले रोमन लोग थे जो कुछ विशिष्ट प्रशासकों को अनुमानतः इसलिये दिक्तेतर कहते थे कि उनके कोई सलाहकार नहीं होते थे। रोमन गणतंत्र के संविधान में एकाधिनायकत्व या अधिनायकवाद से तात्पर्य संकटकालीन स्थिति में किसी एक व्यक्ति के अस्थायी रूप से असीमित अधिकार प्राप्त कर लेने से था। संकट टल जाने पर एकाधिनायक के असीमित अधिकार भी समाप्त हो जाते थे और उन्हें छोड़ते समय उसे उनके प्रयोगों का पूरा ब्योरा देना पड़ता था। अतः विधान तथा शासितों के प्रति उत्तरदायित्व अधिनायक की प्रमुख विशेषता थी।

आधुनिक युग में प्रथम महायुद्ध के बाद किसी एक व्यक्ति या वर्ग के स्वार्थ के लिये विधान का उल्लंघन एकाधिनायकत्व का प्रमुख लक्षण हो गया। युद्ध ने जनसाधारण के मस्तिष्क को थकाने के अतिरिक्त उसपर संयम के स्थान पर सैन्य अनुशासन आरोपित कर सभी सामाजिक क्षेत्रों में आज्ञापालन की प्रवृत्ति उत्पन्न की। सैन्य उद्देश्यों के लिये आवश्यक सत्ता के केंद्रीकरण ने लोगों को इस बात के लिये अभ्यस्त बना दिया कि वे सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये ऐसी निरंकुश सत्ता के निर्णय मान लें जो किसी के प्रति उत्तरदायी न हो। ऐसी परिस्थिति में जनतांत्रिक पद्धति विघटित होती जान पड़ी। फलतः युद्ध से सर्वाधिक प्रभावित देशों में सामान्यतः लोग ऐसे 'लौहपुरुष' के स्वागत के लिये तत्पर थे जो अपने शौर्य, आत्मविश्वास और कटिबद्धता के बल पर उनका मत लिए बिना राष्ट्र के नाम पर अपनी इच्छा तथा आदेश से समस्याओं का समाधान कर दे। अतः जनता के लिये सामान्यतः एकाधिनायक वह कर्मठ व्यक्ति हुआ जो स्वयं राष्ट्रीय प्रतीक बन किसी रहस्यात्मक आकर्षण द्वारा अपने प्रति आदर का भाव जगा सके तथा इस आधार पर लोगों को महान् होने का अनुभव करा सके कि वे उससे संबंधित हैं।

एकाधिनायकत्व की प्रथम विशेषता उसके उद्गम में है। किसी देश तथा युग में इसकी स्थापना कभी उन साधनों से नहीं होती जो उस देश और युग में वैध माने जाते हैं। उसके लिये यह आवश्यक है कि उसकी नींव विधान के उल्लंघन पर हो, यद्यपि उसका अस्तित्व किसी विधान के न मानने पर आश्रित नहीं है। प्रत्येक एकाधिनायकत्व का प्रारंभ विप्लव से होता है और फिर संभवतः किन्हीं कारणों से वह अपना क्रांतिकारी स्वरूप बनाए रख सकता है। परंतु उसका उद्देश्य पुराने विधान के स्थान पर नए विधान की स्थापना भी हो सकता है क्योंकि एकाधिनायकत्व पुरातन, जीर्ण व्यवस्था की असफलता तथा नवीन व्यवस्था के लिये उसके ध्वंस की पूर्वकल्पना करता है। उसकी दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि जनतंत्र (जो सिद्धांततः प्रत्येक नागरिक को सरकार में भाग लेने का अधिकार देता है) के विपरीत इसका संचालन एक व्यक्ति या वर्ग के हाथ में दूसरों पर शासन करने के लिये होता है। तीसरे, सत्ताधारी खुले ढंग से यह घोषित करता है कि राष्ट्र में उसका एक विशिष्ट स्थान है।

अतएव व्यापक अर्थ में एकाधिनायकीय सरकार वह व्यवस्था है जिसमें राज्य के एक या कई सदस्य खुले तथा व्यवस्थित ढंग से पूरे राष्ट्र पर शक्ति का—जिसे उन्होंने पूर्व के सभी वैध अधिकारों और स्थापनाओं के उल्लंघन के फलस्वरूप होनेवाली हिंसा से अर्जित किया है—प्रयोग सरकार में भाग न लेनेवाली जनता की संमति से स्वतंत्र रहकर करते हैं।

सरकार के स्वरूप के आधार पर एकाधिनायकत्व दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : एक व्यक्ति के अधिनायक होने पर वैयक्तिक तथा एक वर्ग के अधिनायक होने पर सामूहिक एकाधिनायकत्व की स्थापना होती है। वैयक्तिक एकाधिनायकत्व (विशेषतः फ़ासिस्ती) में एकाधिनायक अपने निजी कर्मचारियों की सहायता से 'फ़्यूरर' के सिद्धांत के आधार पर स्वतंत्र ढंग से शासन करता है। फ़्यूरर की विशेषता यह है कि वह अपने सहायकों के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, वरन् अपने से ऊपर—राष्ट्र, इतिहास, या ईश्वर—के प्रति अपना दायित्व घोषित करता है। फ़्यूरर अपने सहायकों को नियुक्त करता है जो अपने अधीन कर्मचारियों को, और ये कर्मचारी फिर अपने अधीनों को नियुक्त करते हैं। इस प्रकार पूरी व्यवस्था में निर्वाचनपद्धति का कोई स्थान नहीं होता और संपूर्ण ढाँचा सर्वोपरि चरम बिंदु पर अवलंबित होता है। सामूहिक एकाधिनायकत्व में फ़्यूरर के स्थान पर उत्तरदायी नेता होते हैं; नेताओं की एक श्रेणी उच्चतर श्रेणी के नेताओं को चुनती है, प्रत्येक नेता अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार संपूर्ण ढाँचा निम्नतम आधार पर अवलंबित होता है।

सामाजिक शक्तियों के आधार पर भी एकाधिनायकत्व के दो वर्ग हो सकते हैं। प्रथम, जब वैयक्तिक एकाधिनायकत्व में सहायक वर्ग किसी दल, निजी या राजकीय सेना, चर्च या प्रशासकीय विभाग का हो, द्वितीय, जब सामूहिक एकाधिनायकत्व में यही वर्ग स्वयं अधिनायक हो। अतएव यह विभाजन शासक तथा सहायक वर्ग के आधार पर होता है। वर्ग एकाधिनायकत्व के आधुनिक तीन प्रमुख प्रकार हैं : सैन्य, दल और प्रशासकीय।

तीसरा वर्गीकरण परिमाणात्मक स्वरूप के आधार पर हो सकता है; यथा, एकात्मक अधिनायकवाद जिसमें केवल एक वर्ग या केवल एक व्यक्ति तथा जिसका सहायक केवल एक वर्ग (यथा, निजी सेना) हो; बहुलवादी अधिनायकवाद जिसमें कई शक्तिशाली व्यक्ति या वर्ग हों जो पूर्ण रूप से, अपने को अधिनायक के अधीन न करें और सत्ता के लिये परस्पर होड़ करें परंतु ऐसी स्थिति में भी अन्य से अधिक शक्तिशाली एक व्यक्ति या वर्ग का अस्तित्व तो होता ही है। अधिनायकवाद के तीनों वर्गीकरण एक दूसरे से

संबद्ध भी हो सकते हैं। यथा, सैन्य एकाधिनायकत्व निजी तथा सामूहिक दोनों ही हो सकता है।

सभी महत्वपूर्ण एकाधिनायकताओं में धार्मिक सांप्रदायिकता की विशेषता होती है, यथा उत्साह के साथ प्रवर्तक की पूजा तथा एक विशिष्ट विधि के प्रति श्रद्धा। महान् व्यक्तियों से संचालित, सदैव आकर्षक विचारधारा से प्रेरित, अपने अनुयायियों से कर्तव्य के रूप में बलिदान की माँग करता हुआ, एकाधिनायकत्व सक्रिय व्यक्ति द्वारा स्थापित सरकार का एक स्वरूप है। वह उन पराक्रमी और गतिशील वर्गों को लेकर चलता है जो स्वभावतः विप्लव के लिये प्रवृत्त होते हैं: यथा, सेना, शूर वर्ग या सर्वहारा वर्ग। एकाधिनायक अपने संकल्प और भाव शासितों पर आरोपित करता रहता है। इस आरोपण के दो साधन हैं: नकारात्मक, सकारात्मक। नकारात्मक साधन है, आलोचना को रोकना, विरोधी बहुमत या अल्पमत को नष्ट करना, राज्य संबंधी आवश्यक और महत्वपूर्ण तथ्यों को गुप्त रखना। इन साधनों के सहायक साधन हैं: संसद् की समाप्ति, संघों तथा दलों का विघटन, प्रेस पर प्रतिबंध, शिक्षा पर नियंत्रण, प्रमुख विरोधियों का निष्कासन आदि। इस संबंध में हिंसा तथा आतंक की भी चर्चा की जाती हैं, परंतु वस्तुतः ये एकाधिनायकत्व की केवल प्रारंभिक अवस्था के लक्षण हैं जो सामान्यतः क्रांतिकारी और इसलिये अवैध होते हैं। यदि एकाधिनायकत्व इस अवस्था से गुजरने में सफल हुआ तो वह साधारणतः हिंसा और आतंक के स्थान पर प्रशासकीय विधान स्थापित करता है।

सैन्य एकाधिनायकत्व सामान्यतः इन्हीं नकारात्मक साधनों से संतुष्ट रहता है; परंतु वर्ग एकाधिनायकत्व इनके अतिरिक्त सकारात्मक साधनों का भी प्रयोग करता है; यथा, प्रचार द्वारा अधिनायक के भावों, विचारों और मतों का जनता पर आरोपण, इच्छानुकूल जनमत का सृजन आदि। इन साधनों के सहायक साधन हैं: राष्ट्रीय या वर्गप्रतीकों की पूजा, उत्तेजक संगीत का प्रसार, दंभ या घृणा की भावनाएँ उभारनेवाले भाषण, आज्ञापालन की आदत डालने के लिये समस्त राष्ट्र को सैन्य शिक्षा देना, विद्यालयों के लिये पुस्तकें तैयार करना, अबौद्धिक विचारधारा का प्रचार, राजनीतिज्ञों, पत्रकारों तथा विद्वानों को घूस देकर उनका मुँह बंद करना।

परंतु किसी भी सभ्य देश में, जिसका निकट अतीत औदार्यवादी या जनतांत्रिक रहा हो, ये साधन एकाधिनायकवाद की स्थापना के लिये तब तक पर्याप्त नहीं हैं जब तक उनके साथ जनता से लुभावने आदर्शों, यथा आज्ञाकारिता, अनुशासन, सत्ता, एकता, शक्ति, देशप्रेम आदि के लिये सतत अपील न की जाय और व्यक्ति में अपने निजी अधिकारों को एकाधिनायक के हाथों सौंपने का उत्साहपूर्ण भाव न उभारा जाय। इसके लिये धर्म से संबंधित भावों को विकृत कर अपने राज्य, राष्ट्र, जाति या वर्ग की स्तुति या पूजा के भावों में परिणत किया जाता है।

जिस अवैध ढंग से एकाधिनायकत्व की स्थापना होती है उसी ढंग के अतिरिक्त उसका उन्मूलन प्रायः असंभव है। एकाधिनायकवाद राष्ट्र को स्वायत्त शासन की विधियाँ सीखने से रोकता है और इसलिये एक एकाधिनायक के देहांत के बाद व्यक्तियों और वर्गों में सत्ता के लिये प्रतिद्वंद्विता राष्ट्र के लिये विपत्ति का कारण बन सकती है।

सं०ग्रं०—इलियट, डब्ल्यू० वाई० : द प्रैग्मेटिक रिवोल्ट इन पॉलिटिक्स, न्यूयार्क, १९२८; कावन, ए० : डिक्टेटरशिप, इट्स हिस्ट्री ऐंड थियरी, लंदन, १९३५; केंटोरोविज़, एच० : डिक्टेटरशिप, ए सोशियालाजिकल स्टडी, कैंब्रिज, १९३५; गूच, जी० पी० : डिक्टेटरशिप इन थियरी ऐंड प्रैक्टिस, लंदन, १९३५; फ़ार्स्ट, ग्रो० (सं०): डिक्टेटरशिप आन इट्स ट्रायल, लंदन, १९३०; फ़्रीडरिक, सी० जे० और ब्रेज़ेजिस्की, जेड० के० : टोटैलिटेरियन डिक्टेटरशिप ऐंड ऑटोक्रसी, कैंब्रिज, १९५६।
(रा० अ०)

एकियन् एकियाई आर्य जाति की एक शाखा, जो अत्यंत प्राचीन काल में ग्रीस देश में बसी हुई थी। इस जाति का सर्वप्रथम उल्लेख प्राचीन खत्तियों और मिस्रियों के ग्रंथों में ई० पू० १४००–१२०० शताब्दियों में मिलता है। इन लेखों में उनको अखियावा कहा गया है। इस समय ये लोग लघु एशिया के पश्चिमी भागों में और लेस्बम् द्वीप में बसे हुए थे। इनकी सामुद्रिक शक्ति बहुत महत्वपूर्ण थी तथा इनके नेता का नाम अत्तांसियस् था। उनके कीप्रस् (साइप्रस) और पांफ़िलिया में होने का भी आभास मिलता है।

इसके पश्चात् होमर की रचना ईलियद् में (ई० पू० ९०० के आसपास) इन लोगों का उल्लेख मिलता है और अखिलीस् तथा अगामेम्नान् के सैनिकों के लिये इस शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। इस समय यह जाति पेलोपोनेसस् में तथा वहाँ से उत्तर दिशा में थेसाली तक के प्रदेश पर अपना आधिपत्य रखती है। अतएव कुछ आलोचकों के अनुसार होमर इस शब्द का प्रयोग (आगे चलकर हेलेनिस् शब्द के प्रयोग के समान) समस्त ग्रीक जाति के लिये करता था।

ग्रीक साहित्य के स्वर्णयुग (क्लासिकल युग, ई० पू० ५०० से ई० पू० ३२२ तक) में ये लोग पेलोपोनेस् के उत्तर समुद्री तट की उस पट्टी पर बसे हुए थे जो कोरिंथ की खाड़ी और अर्कादिया के उत्तरी पर्वतों के मध्य स्थित है। इन लोगों ने इटली के दक्षिण में कई उपनिवेश भी बसाए थे।

यह जाति अखाइया प्रदेश में कहाँ से आकर बसी, मूलतः इसकी भाषा क्या थी और इस जाति के लोगों का रूपरंग और शारीरिक गठन किस प्रकार का था, ये सभी प्रश्न विवादास्पद हैं। पर अधिकांश विद्वानों का मत है कि इनकी भाषा आर्य परिवार की भाषा थी और ये गौर वर्ण के रूपवान् लोग थे। ऐतिहासिक काल में इन्होंने अपनी एक लीग संगठित की थी जो शक्तिशाली संगठन था।

सं०ग्रं०—ई० कुर्तियस् : पेलोपोनेसस्, १८५१। (भो० ना० श०)

एकियन लीग हैलिनिक युग में ग्रीस के १२ नगरों द्वारा बनाया मुख्य राजनीतिक राज्यसंघ। २२८ ई० पू० आर्तस ने पूर्णतः प्रजातंत्रीय संघीय संविधान बनाया।

संविधान के अनुसार सब राज्यों को समान अधिकार थे, तथा आंतरिक विषयों में वे पूर्ण स्वतंत्र थे। विदेशी और युद्ध संबंधी बातों में ही उनके अधिकार सीमित थे।

विधायिनी शक्ति संपूर्ण वयस्क (३० वर्ष) जनता की लोकसभा के पास थी तथा १२० प्रतिनिधियों की समिति कार्यक्रम निश्चित करती और सत्र के बीच कार्य करती थी। मुख्य पुरशासक (मैजिस्ट्रेट) की शक्ति स्त्रातेजिया के पास थी। इसके पास नागरीय शक्ति तथा लोकसभा के संमुख प्रस्ताव रखने का अधिकार था। दस देमीओर्जोई, जो इसकी अध्यक्षता करते थे, मंत्रिपरिषद् बनाते थे।

योग्य सेना तथा धन के अभाव के कारण १४६ ई० पू० तक ग्रीस की स्वतंत्रता की रक्षा करती हुई लीग रोम द्वारा पराजित हुई। (ता० म०)

एकेश्वरवाद अथवा एकदेववाद वह सिद्धांत है जो 'ईश्वर एक है' अथवा 'एक ईश्वर है' विचार को सर्वप्रमुख रूप में मान्यता देता है। एकेश्वरवादी एक ही ईश्वर में विश्वास करता है और केवल उसी की पूजा उपासना करता है। इसके साथ ही वह किसी भी ऐसी अन्य अलौकिक शक्ति या देवता को नहीं मानता जो उस ईश्वर का समकक्ष हो सके अथवा उसका स्थान ले सके। इसी दृष्टि से बहुदेववाद एकदेववाद अथवा एकेश्वरवाद का विलोम सिद्धांत कहा जाता है। एकेश्वरवाद के विरोधी दार्शनिक मतवादों में दार्शनिक सर्वेश्वरवाद, दार्शनिक निरीश्वरवाद तथा दार्शनिक संदेहवाद की गणना की जाती है। सर्वेश्वरवाद (द्र०) ईश्वर और जगत् में अभिन्नता मानता है। उसके सिद्धांतवाक्य हैं—'सब ईश्वर हैं' तथा 'ईश्वर सब है'। एकेश्वरवाद केवल एक ईश्वर की सत्ता मानता है। सर्वेश्वरवाद ईश्वर और जगत् दोनों की सत्ता मानता है। यद्यपि जगत् की सत्ता के स्वरूप में वैमत्य है तथापि ईश्वर और जगत् की एकता अवश्य स्वीकार करता है। 'ईश्वर एक है' वाक्य की सूक्ष्म दार्शनिक मीमांसा करने पर यह कहा जा सकता है कि सर्वसत्ता ईश्वर है। यह निष्कर्ष सर्वेश्वरवाद के निकट है। इसीलिये ये वाक्य एक ही तथ्य को दो ढंग से प्रकट करते हैं। इनका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह प्रकट

होता है कि 'ईश्वर एक है' वाक्य जहाँ ईश्वर के सर्वातीतत्व की ओर संकेत करता है वहीं 'सब ईश्वर है' वाक्य ईश्वर के सर्वव्यापकत्व की ओर।

देशकालगत प्रभाव की दृष्टि से विचार करने पर ईश्वर के तीन विषम रूपों के अनुसार तीन प्रकार के एकेश्वरवाद का भी उल्लेख मिलता है— १. इजरायली एकेश्वरवाद, २. यूनानी दर्शन का हेलेनिक एकेश्वरवाद तथा ३. हिंदू एकेश्वरवाद। इनमें से तीसरा एकेश्वरवाद सर्वाधिक व्यापक है और इसका सर्वेश्वरवाद से बहुत नैकटय है। यह सिद्धांत केवल ईश्वर की ही पूर्ण सत्ता पर जोर नहीं देता, अपितु जगत् की असत्ता पर भी जोर देता है; किंतु विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों से वह जगत् की सत्ता और असत्ता दोनों का दो प्रकार के सत्यों के रूप में प्रतिपादन भी करता है। जगत् की असत्ता पर भी समान रूप से जोर देने के कारण कुछ लोग हिंदू सर्वेश्वरवाद को एकेश्वरवाद के निकट देखते हुए उसके लिये 'एकास्मिज़्म' शब्द का प्रयोग अधिक संगत मानते हैं। इस दृष्टि से जगत् की सत्ता केवल प्रतीति मात्र है।

हिंदू एकेश्वरवाद में ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक विशेषताएँ देखने में आती हैं। कालानुसार उनके अनेक रूप मिलते हैं। सर्वेश्वरवाद और बहुदेववाद परस्पर घनिष्ठभावेन संबद्ध हैं। कुछ लोग विकासक्रम की दृष्टि से क्रमशः बहुदेववाद को सर्वप्रथम स्थान देते हैं। भारतीय धर्म और चिंतन के विकास में प्रारंभिक वैदिक युग में बहुदेववाद की तथा उत्तर वैदिक युग में सभी देवताओं के पीछे एक परम शक्ति की कल्पना मिलती है। दूसरे मत से यद्यपि वैदिक देवताओं के बहुत्व को देखकर सामान्य पाठक वेदों को बहुदेववादी कह सकता है तथापि प्रबुद्ध अध्येता को उनमें न तो बहुदेववाद का दर्शन होगा और न ही एकेश्वरवाद का। वह तो भारतीय धर्मचिंतना की एक ऐसी स्थिति है जिसे उन दोनों का उत्स मान सकते हैं। वस्तुतः यह धार्मिक स्थिति इतनी विकसित नहीं थी कि उक्त दोनों में से किसी एक की ओर वह उन्मुख हो सके। किंतु जैसे जैसे धर्म चिंतन की गंभीरता की प्रवृत्ति बढ़ती गई, वैसे ही वैसे भारतीय चिंतना की प्रवृत्ति भी एकेश्वरवाद की ओर बढ़ती गई। कर्मकांडीय कर्म स्वतः अपना फल प्रदान करते हैं, इस धारणा ने भी बहुदेववाद के देवताओं की महत्ता को कम किया। उपनिषद् काल में ब्रह्मविद्या का प्रचार होने पर एक ईश्वर अथवा शक्ति की विचारणा प्रधान हो गई। पुराणकाल में अनेक देवताओं की मान्यता होते हुए भी, उनमें से किसी एक को प्रधान मानकर उसकी उपासना पर जोर दिया गया। वेदांत दर्शन का प्राबल्य होने पर बहुदेववादी मान्यताएँ और भी दुर्बल हो गई एवं एक ही ईश्वर अथवा शक्ति का सिद्धांत प्रमुख हो गया। इन्हीं आधारों पर कुछ लोग एकेश्वरवाद को गंभीर चिंतना का फल मानते हैं। वस्तुतः संपूर्ण भारतीय धर्मसाधना, चिंतना और साहित्य के ऊपर विचार करने पर सर्वेश्वरवाद (जो एकेश्वरवाद के अधिक निकट है) की ही व्यापकता सर्वत्र परिलक्षित होती है। यह भारतीय मतवाद यद्यपि जनप्रचलित बहुदेववाद से बहुत दूर है तथापि अन्य देशों की तरह यहाँ भी सर्वेश्वरवाद बहुदेववाद से नैकटय स्थापित कर रहा है।

महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में श्वेतद्वीपीय निवासियों को एकेश्वरवादी भक्ति से संपन्न कहा गया है। विष्वक्सेन संहिता ने वैदिकों की, एकदेववादी न होने तथा वैदिक कर्मकांडीय विधानों में विश्वास करने के कारण, कटु आलोचना की है। इसी प्रकार भारतीय धर्मचिंतना में एकेश्वरवाद का एक और रूप मिलता है। पहले ब्रह्मा, विष्णु और महेश की विभिन्नता प्रतिपादित थी किंतु कालक्रम से विष्णु और शिव की अभिन्नता तो स्थापित की हो गई, साथ ही कहीं कहीं विष्णु और ब्रह्मा को शिव में समाविष्ट भी माना गया। कालांतर में एकता की भावना भी विकसित हो गई। केवल शिव में ही शेष दोनों देवताओं के गुणों का आरोप हो गया। विष्णु के संबंध में भी इसी प्रकार का आरोप मिलता है। विष्णुपुराण तो तीनों को एक परमात्मा की अभिव्यक्ति मानता है। यह परमात्मा कहीं शिव रूप में है और कहीं विष्णु रूप में।

दूसरा अतिप्रसिद्ध एकेश्वरवाद इस्लामी है। केवल परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए यह मत मानता है कि बहुदेववाद बहुत बड़ा पाप है। ईश्वर एक है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है। वह सर्वशक्तिमान् है, अतुलनीय है, स्वोपम है, सर्वातीत है। वह इस जगत् का कारण है और निर्माता है। वह अवतार नहीं लेता। वह देश काल से परे अनादि और असीम है, तथैव निर्गुण और एकरस है। इस्लाम के ही अंतर्गत विकसित सूफी मत में इन विचारों के अतिरिक्त उसे सर्वव्यापी सत्ता भी माना गया। सर्वत्र उसी की विभूतियों का दर्शन होता है। परिणामतः उन लोगों ने परमात्मा का निवास सबमें और सबका निवास परमात्मा में माना। यह एकेश्वरवाद से सर्वेश्वरवाद की ओर होनेवाले विकास का संकेत है, यद्यपि मूल इस्लामी एकेश्वरवाद से यहाँ इसकी भिन्नता भी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। (ना० ना० उ०)

एक्लेसिएस्तिस् यहूदियों के धर्मग्रंथ 'ओल्ड टेस्टामेंट' अथवा 'पुराना अहदनामा' के अंतर्गत 'एक्लेसिएस्तिस्' एक उपयोगी ज्ञानग्रंथ है। इब्रानी भाषा में अब तक यह निश्चित नहीं हो पाया कि एक्लेसिएस्तिस् का शाब्दिक अर्थ क्या है। कुछ लोग उसका अर्थ 'प्रचारक' बताते हैं और कुछ 'कोहेलेथ' अर्थात् 'तार्किक'। एक्लेसिएस्तिस् के रचनाकाल के संबंध में भी तीव्र मतभेद है। विशेषज्ञों के अनुसार उसका रचनाकाल ९९० ई० पू० से १० ई० पू० तक हो सकता है। टाईलर और डीन प्लंपत्रे के अनुसार इसका रचनाकाल २०० ई० पू० से १८० ई० पू० के बीच का है। एक्लेसिएस्तिस् के रचयिता के संबंध में भी तीव्र मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसके रचयिता स्वयं सालोमन अथवा सुलेमान थे किंतु कुछ के अनुसार यह पुस्तक सिराक ने मकावीस के समय में लिखी।

विषय के अनुसार पुस्तक को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहला भाग किसी निराशावादी दार्शनिक का लिखा हुआ है तो दूसरा भाग किसी भौतिकवादी का; तीसरा भाग नैतिकता के पूरे महत्व को समझनेवाले संत का लिखा है, तो चौथा भाग किसी रूढ़िवादी संपादक का।

पुस्तक के मूल सिद्धांत के अनुसार यह जगत् अगोचर शक्तियों से संचालित और अक्षय नियमों द्वारा अनुप्राणित होता है। सृजन की महान् चक्राकार परिधि में यह संसार अपने अटूट नियमों द्वारा स्वयं चालित होता है। सूर्योदय और सूर्यास्त अपने आप होते रहते हैं। इनके अनुक्रम को नहीं रोका जा सकता। सृजन का यह महान् चक्र क्यों घूमता है, आज तक यह किसी को ज्ञात नहीं हो सका। किस उद्देश्य से इस संसार की रचना की गई, इसे भी कोई नहीं बता सकता। सार रूप में यही एक्लेसिएस्तिस् का जीवनदर्शन है।

एक्लेसिएस्तिस् के अनुसार मनुष्य सर्वथा भाग्य के हाथों में रहता है। यहाँ बलवान पराजित हो जाते हैं और निर्बल जीत जाते हैं। सांसारिक धन संपदा का भी कोई स्थायी मूल्य नहीं है। मनुष्य इस संसार में नंगा ही जन्म लेता है और जब यहाँ से जाता है तो नंगा ही जाता है। ज्ञानी और मूर्ख दोनों को मृत्यु एक समान गले लगाती है। एक्लेसिएस्तिस् के अनुसार स्त्री एक जाल और अभिशाप है। ग्रंथकार उस समय चरम निराशा से भर जाता है जब वह देखता है कि पुण्यात्मा मनुष्यों को जीवन भर दुःखों का भार वहन करना पड़ता है जब कि पापी मनुष्य सुखभोग करते हैं। एक्लेसिएस्तिस् के अनुसार आत्मा का भविष्य अनिश्चित है। परमात्मा सृष्टि का निर्माता और शासक है। वह सृजन के महान् यंत्र का संचालक है, जो यंत्र निर्दयता के साथ मानव के भाग्यों को पीसता रहता है। आत्मा का परमात्मा के साथ न संपर्क हो सकता है और न संमेलन। वह नैतिक आचरण का आधार ईश्वरीय नियमों को नहीं, वरन् मानवीय अनुभवों को मानता है।

एक्लेसिएस्तिस् में नीतिवचनों का बड़ा सुंदर संग्रह है, उदाहरणार्थ, 'कोई मनुष्य गुनाहों से मुक्त नहीं', 'एक जीवित कुत्ता मृतक सिंह की अपेक्षा उत्तम है', 'व्यापार में वृद्धि और निर्णय से काम लो', 'कार्य करो और उत्तम परिणाम की आशा रखो', आदि।

सं०ग्रं०—एच० रैस्टन : एक्लेसिएस्टिस् ऐंड दि अर्ली ग्रीक विज़डम लिटरेचर (१६२५); जी० टी० वेटानी : हिस्ट्री ग्रॉव जूडाइज्म ऐंड क्रिश्चियानिटी (१८६२)। (वि० ना० पां०)

एक्लेसिया प्राचीन काल में एथेन्स में जनतंत्रात्मक सरकार के दो प्रमुख अंग थे—एक्लेसिया (Ecclesia) ग्रौर बाउल (Toule)। एक्लेसिया जनता की सभा का नाम था। सिद्धांततः संप्रभुता जनसाधारण के पास थी जिसे वे एक्लेसिया द्वारा प्रयुक्त करते थे। यद्यपि एक्लेसिया की सदस्यता १८ वर्ष से अधिक सभी नागरिकों के लिये थी, फिर भी कुछ ही उसमें भाग लेते थे।

प्रारंभ में एक्लेसिया की बैठक प्रत्येक प्रीत्रानी (Prytranny) में एक बार, अर्थात् वर्ष में १० बार, होती थी, परंतु जनतंत्रात्मक सरकार के विकास के साथ साथ जब एक्लेसिया के विचारार्थ विषयों की संख्या भी बढ़ने लगी तब प्रत्येक प्रीत्रानी में तीन अन्य अधिवेशनों की व्यवस्था की गई। प्रथम मौलिक अधिवेशन को 'प्रमुख' तथा अन्य तीनों को 'वैध' अधिवेशन की संज्ञा दी गई। बहुत समय तक प्रीत्रानी में केवल एक ही अधिवेशन होते रहने के कारण 'प्रमुख' अधिवेशन का कार्यक्षेत्र विस्तृत था। प्रशासकों के प्रबंध पर विश्वास का मत प्रकट करना, खाद्य तथा सुरक्षा के विषयों पर विचार करना, देशद्रोह के अपराधों को तथा कुर्क की गई संपत्ति का विवरण सुनना आदि इसके मुख्य कार्य थे। सभा के तीन अन्य सामान्य अधिवेशनों का कार्यक्रम इतना विस्तृत नहीं होता था। इनमें से एक अधिवेशन नागरिकों द्वारा किसी विधान या किसी न्यायालय के विरुद्ध अपील के लिये निर्धारित था। शेष दो अधिवेशन अवशिष्ट कार्यो के लिये थे। इनमें से प्रत्येक में सामान्यतः तीन धर्म संबंधी विषय, तीन अंतरराष्ट्रीय समस्याओं से संबंधित विषय जिन्हें राजदूत प्रस्तावित करते थे, तथा तीन सामान्य प्रशासकीय समस्याओं से संबंधित होते थे।

एक्लेसिया या सभा की कार्यसूची (प्रोबूल्यूमा) बाउल या परिषद् तैयार करती थी। अतः सभा केवल उन्हीं विषयों पर विचार करती थी जिन्हें परिषद् उसके पास भेजती थी। परंतु परिषद् द्वारा प्रस्तावित विषयों को स्वीकार, रद्द या संशोधित करने का अधिकार सभा को था। सभी आज्ञप्तियाँ परिषद् तथा जनता के नाम से घोषित की जाती थीं।

एथेन्सवासी जिन दस वर्गो में विभक्त थे उनमें से प्रत्येक वर्ग अपने पचास सदस्य चुनता था, और एक वर्ग के ये पचास सदस्य वर्ष के दसवें भाग भर कार्य करते थे और इसीलिये उन्हें प्रीत्रानीज कहते थे। वस्तुतः प्रीत्रानीज ही शेष नौ वर्गों में से प्रत्येक के एक सदस्य के साथ बैठकर परिषद् के कार्य करते थे। प्रीत्रानीज का अध्यक्ष, जो प्रीत्रानीज के पचास सदस्यों में से लाटरी द्वारा केवल एक दिन के लिये चुना जाता था, सभा का भी अध्यक्ष होता था। अध्यक्ष की सहायता के लिये एक सचिव तथा एक राजदूत होते थे। सचिव राजकीय पत्रों को सभा के लिये पढ़कर सुनाता था तथा राजदूत अध्यक्ष के नाम से सभा के सदस्यों से संसर्ग करता था।

सभा का अधिवेशन प्रातःकाल पौ फटने के समय सार्वजनिक चौराहे (अगोरा) या बाजार में प्रारंभ होता था। कार्यक्रम प्रारंभ होने से पूर्व एक वेदी पर शूकरों की बलि देकर तथा उनके रक्त से मंडप की परिधि खींच विघ्नबाधाओं को दूर करने की प्रार्थना की जाती थी। तदुपरांत राजदूत जनता को धोखा देनेवालों के लिये अभिशाप घोषित करता था। आँधी, भूकंप, ग्रहण, वज्रपात, वर्षा आदि को अपशकुन मानकर इनके होने पर अधिवेशन स्थगित कर दिया जाता था।

इन औपचारिकताओं के बाद सभा का अध्यक्ष राजदूत को सभा की कार्यसूची के संबंध में परिषद् की रिपोर्ट पढ़ने का आदेश देता था। अध्यक्ष को ऐसे किसी प्रस्ताव पर, जिसे परिषद् ने नहीं भेजा, बहस प्रारंभ करने से विधान द्वारा वंचित किया गया था। कार्यसूची पढ़ी जाने के बाद अध्यक्ष इस बात पर मत संग्रह करता था कि उसे पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया जाय या उसपर वादविवाद हो। मतदान हाथ उठाकर होता था। इस मतसंग्रह को 'प्रोकीरोतोनिया' कहते थे। साधारणतः बहुमत के बिना कार्यसूची स्वीकार करने की प्रथा नहीं थी। राजदूत के इन शब्दों से कि "कौन बोलना चाहता है ?" बहस प्रारंभ होती थी। प्रत्येक सदस्य को अपने विचार प्रकट करने, बहस प्रारंभ करने तथा संशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार था। परंतु इन अधिकारों के दुरुपयोग के लिये कठोर दंड निर्धारित था, और सभी अवैध प्रस्ताव प्रीत्रानीज द्वारा रद्द कर दिए जाते थे। बहस के अंत में प्रीत्रानीज प्रस्ताव को मतदान के लिये पेश करते थे जिसका ढंग हाथ उठाकर था। निर्णय अध्यक्ष करता था। जिन अधिवेशनों में व्यक्तियों के विरुद्ध गंभीर विषयों पर विचार करना होता था वहाँ गुप्त मतदान की व्यवस्था थी।

सामान्य बैठकों में एक्लेसिया के वैदेशिक नीति संबंधी अधिकार थे जिनमें युद्ध और शांति के प्रश्नों पर निर्णय तथा राजदूतों की नियुक्ति मुख्य थे। इनके अतिरिक्त इसके अपने विधायी और न्यायिक अधिकार भी थे। कार्यकारिणी संबंधी अधिकारों में राज्य के सभी कर्मचारियों की नियुक्ति तथा पदच्युति, और जल एवं थल सेना के सभी विषय इसके हाथ में थे।

सामान्यतः अधिवेशन की आज्ञप्तियों के वैध होने के लिये किसी निश्चित कोरम की आवश्यकता नहीं थी। परंतु कुछ विषयों के लिये सर्वसंमति आवश्यक थी जिसके लिये पूर्ण सभा या बैठक की व्यवस्था की जाती थी और जो नगर की सर्वसंमति की प्रतिनिधि सभा मानी जाती थी। सर्वसंमति के लिये कम से कम छह हजार मतों का होना अनिवार्य था; दूसरे शब्दों में, कम से कम छह हजार मतों की संख्या को सर्वसंमति की संख्या मान लिया जाता था। ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में पूर्ण बैठक दो विषयों पर विचार करने के लिये बुलाई जाती थी : प्रथम, यह निर्णय करने के लिये कि किन नागरिकों को बहिष्कार के विधान के अंतर्गत नगर से निकाल दिया जाय, दूसरे, किसी को क्षमादान या दंड से मुक्ति देने के लिये।

सं०ग्रं०—ऐरिस्टॉट्ल : (अनु० के० पी० फ्रिज ग्रौर ई० कप) द कांस्टिट्यूशन ग्रॉव एथेंस, न्यूयार्क, १६५७; गिल्बर्ट, जी० : (अनु० ई० जे० ब्रुक्स ग्रौर टी० निकिलन) द कांस्टिट्यूशनल ऐंटिक्विटी ग्रॉव स्पार्टा ऐंड एथेंस, लंदन १८६५; ग्लाज, जी० : द ग्रीक सिटी ऐंड इट्स इंस्टिट्यूशन्स, लंदन १६५०। (रा० अ०)

एक्वाइनस, संत तोमस का जन्म रोकासेका में सन् १२२५ में हुआ था। इनके पिता नेपल्स राज्य में एक्वाइनों के काउंट थे और माँ थियादोरा सिसली के पुराने नारमन शासकों के वंश की थीं। सन् १२४३ में तोमस ने अपने परिवार की इच्छा के विरुद्ध संत दोमिनिक मठ में प्रवेश किया। सन् १२४८ में वे दोमिनिकी व्यवस्था के अध्यक्ष जोहानस त्यूतोनिकस के साथ अल्बर्तस माग्नस के निरीक्षण में शिक्षा प्राप्त करने कोलोन गए। सन् १२५२ में उन्होंने पेरिस से डिग्री प्राप्त की, फिर वह वर्षो अध्यापन कार्य करते रहे। सन् १२७३ में लियों की कौंसिल में संमिलित होने के लिये जाते समय मार्ग में उन्हें अस्वस्थता के कारण फ़ोसानोवा के एक मठ में रुकना पड़ा जहाँ ७ मार्च, सन् १२७४ को उनका देहांत हो गया। देहांत के लगभग एक शताब्दी बाद तक दोमिनिकी और सिस्तर्की मठों में तोमस के अवशेष प्राप्त करने के लिये द्वंद्व चलता रहा। अंततः निर्णय दोमिनिकी मठ के पक्ष में हुआ। सन् १५६७ में पंचम पीयस ने तोमस को पंचम चर्च का 'डाक्टर' घोषित किया।

तोमस द्वारा लिखित ग्रंथों में मुख्य हैं, सम्मा थियोलाजिका, सम्मा कोंत्रा जेंतीलेस तथा अरस्तू के 'पालितिक्स' पर टिप्पणी।

तोमस के दर्शन की मुख्य विशेषता सामंजस्य है। ईश्वर और प्रकृति के क्षेत्र इतने व्यापक हैं कि वे अपने में असीम अस्तित्व की अनगिनत विभिन्नताएँ समेट लेते हैं। समस्त ज्ञान एक इकाई है जिसके निम्नतम स्तर पर विशिष्ट विषयों से संबंधित विभिन्न विज्ञान हैं, उनके ऊपर बौद्धिक दर्शन है जो सार्वभौम सिद्धांत प्रतिपादित करता है। बुद्धि से ऊपर ईसाई धर्मशास्त्र है जो ज्ञान की परिपूर्णता होते हुए भी श्रुत (इलहाम) पर आश्रित है। श्रुत यद्यपि बुद्धि से परे है, तथापि वह बुद्धिविरोधी नहीं; श्रद्धा बुद्धि की परिपूर्णता है।

सृष्टि की व्यवस्था में समस्त ब्रह्मांड एक इकाई है जिसके उच्चतम स्तर पर ईश्वर तथा निम्नतम पर जीव हैं। प्रत्येक जीव अपने स्वभाव की

प्रेरणा से अपना हित खोजता है। उच्चतर स्तरवाला निम्न स्तरवालों पर शासन करता है। प्रकृति की भाँति मानव समाज भी उद्देश्यों और प्रयोजनों की व्यवस्था है जिसमें उच्चस्तर निम्नतर को निर्देशित करता है। समाज सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिये सेवाओं का आदान प्रदान है जिसमें प्रत्येक अपना उपयुक्त कार्य करता है। सामान्य हित की माँग है कि समाज में उसी प्रकार एक शासक वर्ग हो जिस प्रकार प्रकृति में। परंतु मनुष्य शरीर और आत्मा दोनों होने के कारण दुहरी व्यवस्था से संबद्ध है, प्राकृतिक तथा दैवी। प्राकृतिक व्यवस्था का सदस्य होने के नाते वह लौकिक संप्रभु के अधीन है जो उसे जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक साधन प्रदान करता है, दैवी व्यवस्था का सदस्य होने के कारण वह पोप के अधीन है क्योंकि पारमार्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक साधन पोप के नियंत्रण में हैं। समाज में मनुष्य का लक्ष्य है सद्गुणी जीवन, परंतु सद्गुणी जीवन पारमार्थिक लक्ष्य से निर्धारित होता है, इसलिये समाज का उद्देश्य मनुष्य को केवल सद्गुणी जीवन प्रदान करना ही नहीं वरन् उसे भगवत्कृपा से भी लाभान्वित कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति दैवी शासनव्यवस्था करती है जिसका अध्यक्ष पोप है। दूसरा उद्देश्य पहले से अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण शासक पोप की सत्ता स्वीकार करे। परंतु यह तर्क शासक के कर्तव्यों का निषेध नहीं करता। शासक का कर्तव्य है कि वह शांति और सुव्यवस्था द्वारा मानवीय सुख की नींव डाले और सद्गुणी जीवन की प्राप्ति में उपस्थित होनेवाली संभावित बाधाओं को दूर करे। चर्च राज्यविरोधी नहीं, उसकी परिपूर्णता है।

शासन के इस नैतिक उद्देश्य के कारण शासन सत्ता नियंत्रित है। इसका प्रयोग विधानानुसार हो। ज्ञान और सृष्टि के स्तरों के अनुकूल विधान के चार स्तर हैं : शाश्वत, प्राकृतिक, दैवी, मानवीय। शाश्वत नियम ईश्वर की बुद्धि है जिससे सृष्टि संचालित होती है। मानवीय बुद्धि इसे पूर्णरूपेण नहीं जान सकती। फिर भी, अपनी प्राकृतिक क्षमता के अनुकूल मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान में भाग लेता है। प्राकृतिक विधान जीवों में दैवी बुद्धि का प्रतिबिंब है तथा अच्छाई की खोज और बुराई से बचाव की स्वाभाविक प्रेरणा में परिलक्षित होता है। दैवी विधान श्रुत (इलहामी) है जिसे मनुष्य ईश्वर की कृपा से जानता है। मानवीय विधान मनुष्य के जीवन को व्यवस्थित करनेवाली प्राकृतिक विधान की वह व्युत्पत्ति है जो प्राकृतिक विधान को मानवीय जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों में लागू करती है।

सरकार का आदर्श रूप ऐसा राजतंत्र है जिसमें कुलीनतंत्र तथा जनतंत्र के विशिष्ट लक्षणों का संमिश्रण हो। साधारणतः लोग शासन के प्रति आज्ञाकारी हों, परंतु अत्याचारी शासन का विरोध करने का अधिकार भी उन्हें है। दासप्रथा यद्यपि प्राकृतिक नहीं वरन् मानवीय बुद्धि द्वारा जीवन की सुविधाओं के लिये संस्थापित की गई है, फिर भी वह प्राकृतिक विधान के विरुद्ध नहीं है। परंतु सभी प्रकृति से समान हैं, इसलिये स्वामी दास के प्राकृतिक अधिकार नहीं छीन सकता। संपत्ति का स्वामित्व निजी और उपभोग सामूहिक हो। दरिद्रता अवांछनीय है क्योंकि वह अपराधों के लिये अवसर प्रदान करती है। वैयक्तिक और सामाजिक हित के लिये ऐसी शिक्षा अनिवार्य है जिसके द्वारा मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों का संतुलित विकास हो सके। संततिनिग्रह प्रकृतिविरुद्ध है, इसलिये अनैतिक है। विवाहविच्छेद अनुचित है, क्योंकि ईसा ने इसका निषेध किया है।

सं०ग्रं०—कार्लाइल, आर० डब्ल्यू० और कार्लाइल, ए० जे० : ए हिस्ट्री ऑव द मेडीवल पोलिटिकल थियरी इन द वेस्ट, लंदन, १९२४; ग्रेबमन, मार्टिन (अनु० वी० माइकेल) : टामस एक्वाइनस—हिज पर्सनैलिटी ऐंड थॉट, न्यूयार्क, १९२८; जिल्सॉ, ई० (अनु० एल० के० शूक) : द क्रिश्चियन फिलासफी ऑव सेंट टामस एक्वाइनस, लंदन, १९५७; जिल्सॉ, ई० : रीज़न ऐंड रेविलीशन इन द मिडिल एजेज, लंदन, १९५४; मैक्इलवेन, सी० एच० : द ग्रोथ ऑव पोलिटिकल थाट इन द वेस्ट, लंदन, १९५१; मर्फी, ई० एफ० : सेंट टामसज़ पोलिटिकल डाक्ट्रिन ऐंड डिमाक्रेसी, वाशिंगटन, १९२१; सेवाइन, जी० एच० : ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थियरी, लंदन, १९५१; हर्नशॉ, एफ० जे० सी० (सं०) : द सोशल ऐंड पोलिटिकल आइडियाज़ ऑव सम ग्रेट मेडीवल थिंकर्स, लंदन, १९२३। (रा० अ०)

एक्सरे और मणिभ संरचना द्रव्य की संरचना के अध्ययन में एक्सरे का विशेष स्थान है। द्रव्य के चरम रचक परमाणु हैं। परमाणुओं का आकार अत्यंत सूक्ष्म होता है, अतः उनके अध्ययन के लिये अत्यंत सूक्ष्म प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है। प्रकाश का तरंगदैर्घ्य परमाणुओं के आकार से बहुत अधिक होने के कारण संरचनात्मक अध्ययन में प्रकाश का विशेष उपयोग नहीं हो सकता। एक्सरे का तरंगदैर्घ्य १ ऐंगस्ट्रम के लगभग एवं परमाणुओं के आकार से तुलनीय है, अतः द्रव्य की संरचना के अध्ययन के लिये एक्सरे उचित साधन है। द्रव्य की गैस, द्रव तथा ठोस इन तीनों अवस्थाओं के विषय में एक्सरे द्वारा अत्यंत लाभदायक ज्ञान प्राप्त हुआ है। ठोस पदार्थों की (विशेषतः मणिभों की) संरचना का यथार्थ ज्ञान सर्वप्रथम एक्सरे द्वारा ही हुआ। वर्तमान काल में एक्सरे-विश्लेषण का प्रधान उद्देश्य यह है कि ठोस अवस्था में परमाणु किस प्रकार स्थित तथा वितरित रहते हैं, यह ज्ञात किया जाय। एक अथ वा अधिक तत्वों के परमाणु जब अत्यंत निकट आते हैं तब परमाणुओं के वाह्य इलेक्ट्रानों में पारस्परिक क्रिया होती है। संतुलन होने के पश्चात् इन परमाणुओं की अंतिम रचना में स्थितिज ऊर्जा न्यूनतम होती है। अतः स्वतंत्र परमाणु और ठोस पदार्थ के बद्ध परमाणु, इन दोनों की ऊर्जाओं में भेद होता है। स्वतंत्र परमाणुओं से प्रारंभ करके उनका ठोस पदार्थों में परिवर्तन होने पर ऊर्जा का जो विनिमय होता है और अंत में ठोस पदार्थों की जो संरचनाएँ प्राप्त होती हैं, उनसे ठोस पदार्थों के गुणों की व्याख्या करना सैद्धांतिक भौतिकी का एक उद्देश्य है। वर्तमान काल में अनेक गुणों (उदाहरणार्थ विद्युच्चालकता, प्रकाशकीय स्थिरांक, स्फुरदीप्ति इत्यादि) का स्पष्टीकरण करने में अधिकांश सफलता मिल चुकी है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के अध्ययन का केवल भौतिकी में ही नहीं, अपितु रसायन, टेकनॉलोजी इत्यादि विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी अत्यंत महत्व है। ठोस पदार्थों के अनेक गुण, उनकी रासायनिक क्रियाएँ तथा स्वतंत्र परमाणुओं के गुणों के पारस्परिक संबंध का यथार्थ अध्ययन करने के लिये ठोस पदार्थों की संरचना का ज्ञान होना आवश्यक है।

सामान्यतः सब ठोस पदार्थ मणिभमय होते हैं; इनमें अपवाद बहुत थोड़े हैं (उदाहरणार्थ काच, जिसे अमणिभ कहा जा सकता है)। अनेक ठोस पदार्थ (उदाहरणार्थ धातु) बाहरी रूप में मणिभ जैसे नहीं दिखाई देते हैं, तथापि एक्सरे-विश्लेषण से यह सरलता से प्रमाणित होता है कि ये सब पदार्थ भी मणिभ हैं। धातु जैसे पदार्थों के मणिभ अत्यंत सूक्ष्म होते हैं और सामान्यतः उनके क्रमबद्ध स्थापित न रहने से वाह्य रूप में धातु मणिभ जैसी नहीं दिखाई देती। उचित प्रक्रमों से धातुओं के भी इष्ट आकार के मणिभ प्राप्त हो सकते हैं। परंतु इन धात्वीय मणिभों के और उनकी सामान्य धातुओं के गुण समान नहीं रहते। अतः ठोस पदार्थों के गुण जिन मणिभ संरचनाओं पर निर्भर होते हैं, उनके अध्ययन का महत्व स्पष्ट ही है। एक्सरे द्वारा मणिभों की संरचना का अध्ययन होने के पूर्व मणिभों के वाह्य गुणों का बहुत कुछ अध्ययन हो चुका था और उनके रूपों के विषय में स्वतंत्र मणिभ ज्यामिति स्थापित हो चुकी थी। एक्सरे की सहायता से मणिभ संरचना का जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका उचित बोध होने के लिये इस मणिभ ज्यामिति का परिचय आवश्यक है।

मणिभ ज्यामिति तथा सममिति;—अ. मणिभों की विशेषता उनके वाह्य ज्यामितीय स्वरूप में है। मणिभ पृष्ठों से सीमित होते हैं और ये पृष्ठ जहाँ मिलते हैं वहाँ कोरें तथा कोने बनते हैं। इन पृष्ठों का एक दूसरे से सममित संबंध होता है। वाह्य स्वरूप के परीक्षण से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि मणिभों में कुछ निश्चित दिशाएँ होती हैं और उनसे वाह्य स्वरूप का संबंध रहता है। इस अनुमान की सिद्धि मणिभों के अन्य गुणों से भी होती है, जैसे मणिभों की वैद्युत तथा उष्मीय चालकता, कठोरता, वर्तनांक इत्यादि गुण मणिभ के अक्ष की दिशा पर निर्भर रहते हैं। मणिभ संरचना के अध्ययन में एक्सरे का उपयोग होने के पूर्व ही यह अनुमान किया गया था कि मणिभों के उपर्युक्त गुणों का कारण उनके

एकवर्ण सूर्यचित्रक (Spectroheliograph) (द्र० पृ० २०६)

कैलसियम तथा हा-ऐल्फ़ा (H-alpha) एकवर्ण सूर्यचित्रक
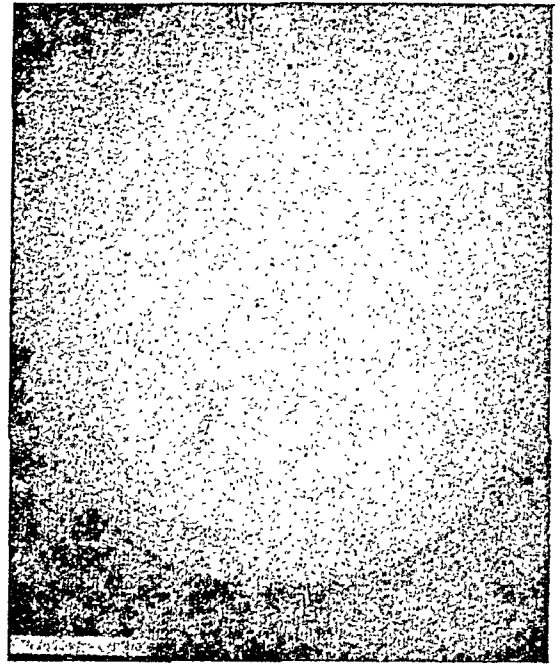
हा–ऐल्फ़ा एकवर्ण सूर्यचित्र
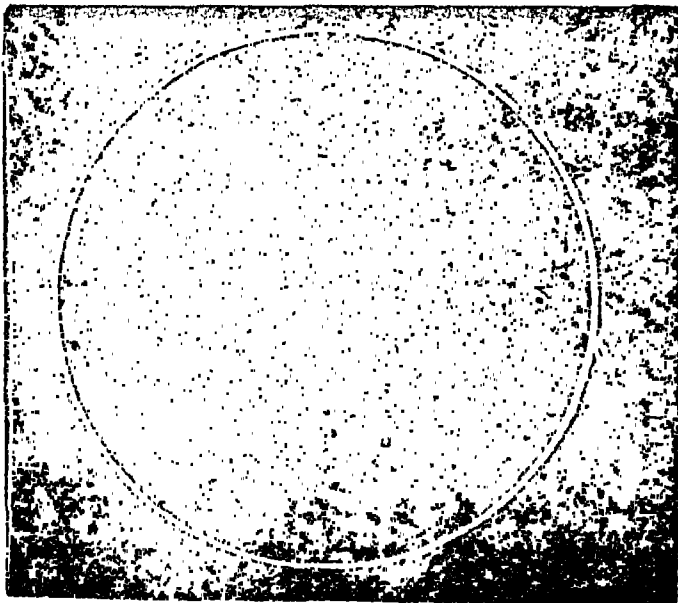
कैलसियम और ज्वाला का एकवर्ण सूर्यचित्र

कैलसियम निपालिका का एकवर्ण सूर्यचित्र

(ऐस्ट्रो–फ़िज़िकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, के सौजन्य से प्राप्त)

एक्सरे और मणिभ संरचना (द्र० पृ० २१६)
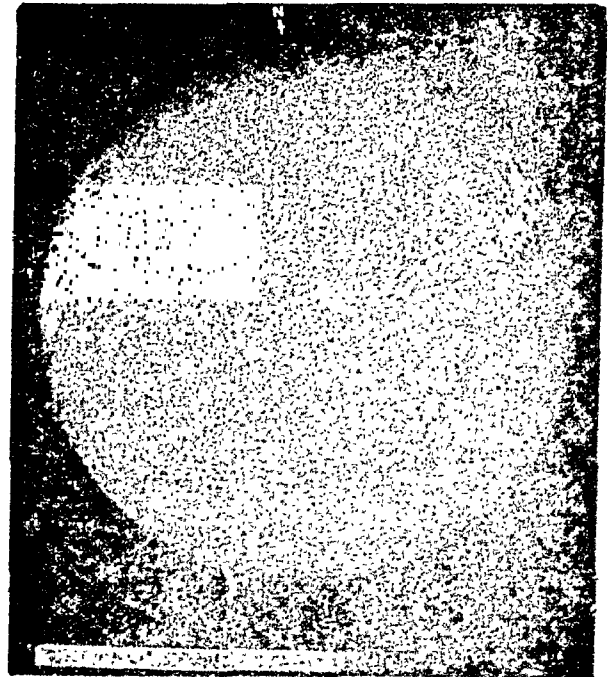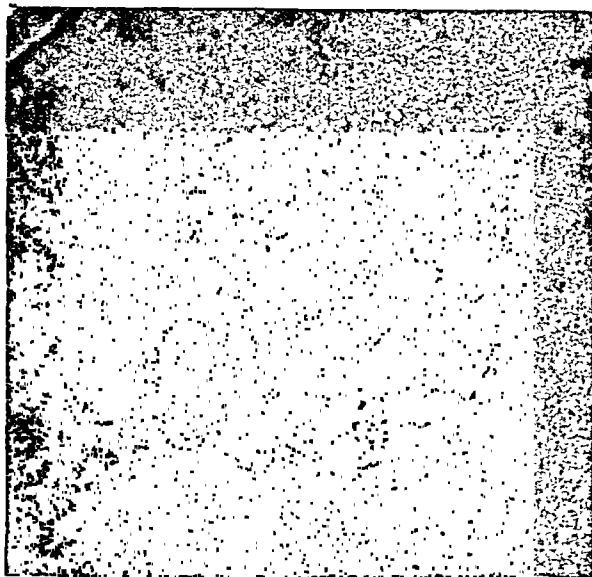
कल्साइट की लावे प्रतिमा
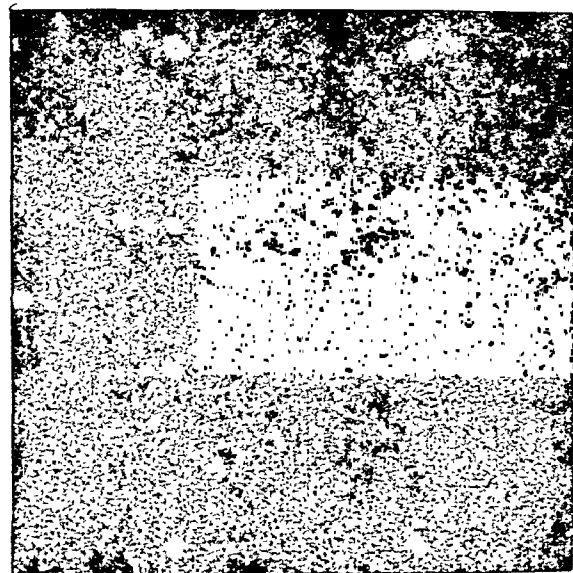
अभ्रक की घूर्णक-मणिभ प्रतिमा

एक्सरे की प्रकृति (द्र० पृ० २२६)

नमक का चूर्णवर्णक्रम

कैल्साइट का चूर्णवर्णक्रम

नमक के मणिभ की लावें-व्याभंग प्रतिमा
(भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय)
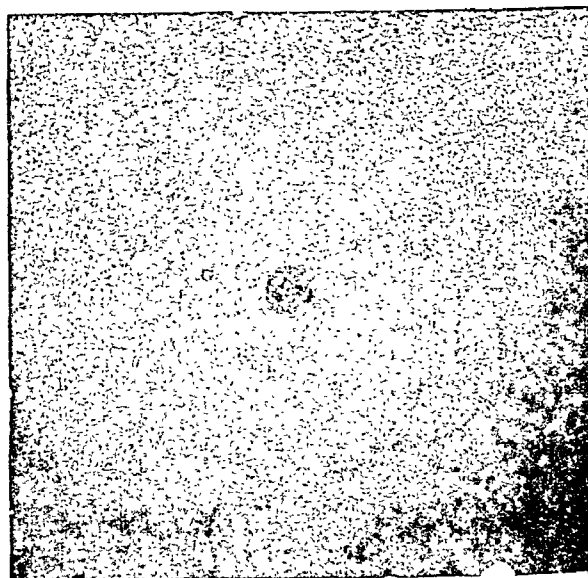
अभ्रक का एक्सरे व्याभंग (लावें की रीति से)
(भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय)

रचकों की क्रमबद्ध स्थापना पर आधृत हो सकता है। यदि उचित स्वरूप के रचक लिए जायें तो तीन आयामों में उनकी पुनरावृत्ति करके किसी भी मणिभ का स्वरूप प्राप्त हो सकता है। अतः मणिभों का स्वरूप ज्ञात करने के लिये (१) प्रधान आकार (मोटिफ़) और (२) उचित विधि से पुनरावृत्ति करने का साधन, केवल इन दो की ही आवश्यकता होती है। प्रधान आकार के स्पष्टीकरण के लिये प्रायः विंदु लिए जाते है और तीन आयामों में उनकी पुनरावृत्ति के दिग्जाल (स्पेस लैटिस) बनाया जाता है। इस दिग्जाल से मणिभ की प्रतिमा (पटर्न) प्राप्त होती है।

दिग्जाल की कल्पना से मणिभों की संरचना का अध्ययन कुछ सुगम हो जाता है। चित्र १ में एक दिग्जाल दिया है। इसमें विंदु क्रमानुसार तीन आयामों (डाइमेन्शंस) में स्थित हैं और उनको क्रमानुसार जोड़नेवाली रेखाओं से दिग्जाल बनता है। निकट विंदुओं को जोड़ने से एकक-कोशिका (यूनिट सेल) बनती है, जो आकृति में मोटी रेखाओं से दिखाई गई है। आकृति में यद्यपि एक ही प्रकार की एकक कोशिका दिखाई गई है, तथापि विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि ऐसी अनेक प्रकार की किंतु समान आयतन की एकक कोशिकाएँ इस दिग्जाल में बनाई जा सकती हैं। एकक कोशिका में आठ शीर्षविंदु है, और प्रत्येक शीर्षविंदु ऐसी आठ
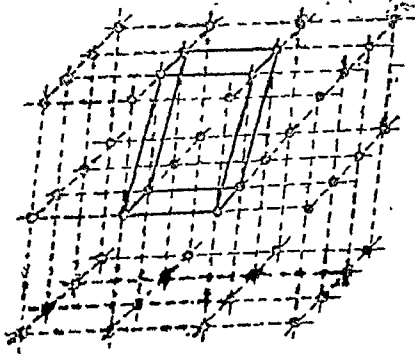
चित्र १—दिग्जाल तथा एकक कोशिका

कोशिकाओं से संबंधित है। अतः माना जा सकता है कि प्रत्येक कोशिका के लिये एक ही विंदु है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक कोशिका मणिभ-प्रतिमा की संपूर्ण मात्रक है। इसी प्रकार से प्रत्येक मणिभ की सममिति के अनुरूप उचित कोशिकाएँ निकाली जा सकती है। इन एकक कोशिकाओं की कोरें (एजेज) लघुतम लंबाइयों की होती हैं।

एकक कोशिका की तीन कोरों से तथा उनके बीच के तीन कोणों से प्रत्येक कोशिका निश्चित होती है। कोशिकाओं के इन छह अवयवों को
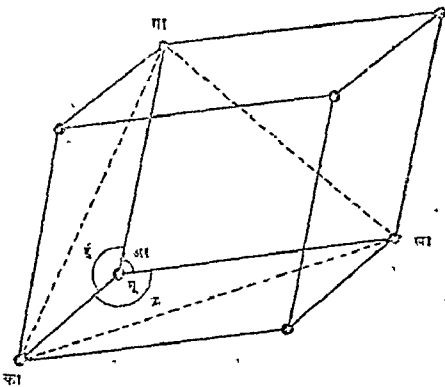
चित्र २—एकक कोशिका और उसके अवयव

सूचित करने की अंतरराष्ट्रीय पद्धति है, जिसमें इनके लिये $ABCO\ \alpha\beta\gamma$ का प्रयोग होता है। चित्र २ में एक एकक कोशिका दिखाई गई है। इस चित्र में $ABCO\ \alpha\beta\gamma$ के बदले क्रमानुसार का खा गा मू आ ई ऊ का प्रयोग किया गया है। कोशिका के अवयव निम्नलिखित हैं :

लंबाई मूका = क;	कोण खामूगा = आ
लंबाई मूखा = ख;	कोण गामूका = ई
लंबाई मूगा = ग;	कोण कामूखा = ऊ

लंबाइयों क, ख तथा ग को अक्षीय लंबाइयाँ कहते हैं और मूका, मूखा तथा मूगा इन तीन दिष्टों (वेक्टर्स) से मणिभ के अक्षों की परिभाषा होती है। 'मू' को मूल विंदु समझकर मणिभ के किसी भी विंदु का स्थान इकाइयों क, ख, ग में निश्चित हो सकता है। उदाहरणतः यदि मणिभ के किसी एक विंदु के निर्देशांक य, र, ल हैं, तो हम लिख सकते हैं कि

य = प × क
र = फ × ख
ल = वग ×
} जहाँ प, फ, व धन अथवा ऋण संख्याएँ अथवा शून्य हैं।

दिग्जाल तथा एकक कोशिका की कल्पना से मणिभ की अनेक विशिष्टताओं का स्पष्टीकरण करना और मणिभ ज्यामिति का विकास करना सरल होता है। दिग्जाल के विंदुओं की रचना समांतर तथा समदूरस्थ असंख्य स्तरों द्वारा स्वेच्छापूर्वक की जा सकती है। ये स्तर मणिभों के प्रमुख फलकों के समांतर होते हैं।

मणिभों के फलक निर्धारित करने के लिये पहले पूर्वोक्त स्तरों में से तीन असमांतर स्तर लिए जाते है। इनको हम प्रधान फलक कहेंगे। इनके प्रतिच्छेदों से मूका, मूखा, मूगा, तीन मणिभ अक्षों की दिशाएँ मिलती हैं। अब एक अन्य समतल ऐसा लिया जाता है जो तीनों प्रधान फलकों को काटता है; इस समतल को मानक समतल (स्टैंडर्ड प्लेन) कहते हैं। यह यदि का खा गा हो (चित्र २), तो मूका, मूखा और मूगा इन अंतःखंडों की आपेक्षिक लंबाइयों से मणिभ की अक्षीय लंबाइयाँ क, ख, ग, निश्चित की जाती हैं। मणिभ का बाह्य स्वरूप निश्चित करने के लिये क, ख, ग की केवल आपेक्षिक लंबाइयों की आवश्यकता होती है; अतः सामान्यतः ख की मात्रा एक मान ली जाती है। क, ख, ग के निश्चित हो जाने पर मणिभ का कोई भी अन्य तल मणिभ अक्षों पर उसके अंतःखंडों से निश्चित होता है। मान लें ये अंतःखंड क/च, ख/छ, ग/ज है तो च, छ, ज इन संख्याओं को मिलर अंक कहते हैं। कोई भी फलक अथवा तल उसके मिलर अंकों द्वारा, अर्थात् च, छ, ज द्वारा सूचित किया जाता है। चित्र २ में तल का खा गा (१११) से सूचित होगा। तल मूखागा के समांतर किंतु विंदु का में से जानेवाला तल (१००) से सूचित होगा, कारण यह है कि इस तल के लिये छ = ज = ∞।

जाल के किन्हीं भी दो विंदुओं को जोड़ने पर जो सरल रेखा बनती है उसे बढ़ाने से विंदुओं की एक पंक्ति मिलती है, जिसमें दिग्जाल के समदूरस्थ विंदु रहते हैं। इस पंक्ति को मंडलाक्ष (जोन ऐक्सिस) कहते हैं। यदि जाल के किसी एक विंदु को, जिसके निर्देशांक (टक, टख, ढग) हैं, मूल विंदु से जोड़ दिया जाय तो प्राप्त पंक्ति की दिशा (ट ठ ढ) एक मंडलाक्ष की दिशा होती है। यदि इस मंडलाक्ष में घनेपन से जालविंदु हों तो यह मंडलाक्ष महत्व के अनेक तलों के समांतर होता है।

अनेक मणिभों के फलकों के कोण नापने से यह ज्ञात हुआ कि मणिभों के बाह्य स्वरूपों में जितनी विभिन्नता दिखाई देती है उतनी वास्तव में नहीं होती और समस्त दिग्जाल केवल सात समुदायों में विभाजित किए जा सकते हैं। अन्य शब्दों में, सब मणिभों के मापित कोणों का तथा फलकों के मिलर अंकों का सात निर्देशांक पद्धतियों से स्पष्टीकरण हो सकता है। अतः मणिभों के दिग्जालों के केवल सात प्रकार हैं। चित्र २ में एकक कोशिका की अक्षीय लंबाइयाँ तथा उनके बीच के कोण पूर्वोक्त सात पद्धतियों में भिन्न भिन्न हैं। उनकी नापें निम्नलिखित सारणी १ में दी हुई हैं:

सारणी १

सात मणिभ पद्धतियाँ और उनके लक्षण

पद्धति	अक्षीय लंबाइयाँ	अक्षीय कोण
१. त्रिप्रवणिक (ट्राइक्लिनिक)	क≠ख≠ग	आ≠ई≠ऊ≠९०°
२. एकप्रवणिक (मोनोक्लिनिक)	क≠ख≠ग	आ = ऊ = ९०°≠ई
३. ऋजुतिर्यग्वर्ग (ऑर्थोरॉम्बिक)	क≠ख≠ग	आ = ई = ऊ = ९०°
४. चतुष्कोण (टेट्रागोनल)	क = ख≠ग	आ = ई = ऊ = ९०°
५. घन (क्यूबिक)	क = ख = ग	आ = ई = ऊ = ९०°
६. षड्भुजीय (हेक्सागोनल)	क = ख≠ग	आ = ई = ९०°; ऊ = १२०°
७. तिर्यगनीक (रॉम्बोहेड्रल)	क = ख = ग	आ≠ई≠ऊ≠९०°

दिग्जाल (चित्र २) के विंदुओं के आठ स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थान भी दिग्जाल विंदु के लिये संभव हैं। ये स्थान घन मणिभों के लिये चित्र ३ मे दिए गए हैं। सरल घन [चित्र ३ (१)] में आठ कोनों पर
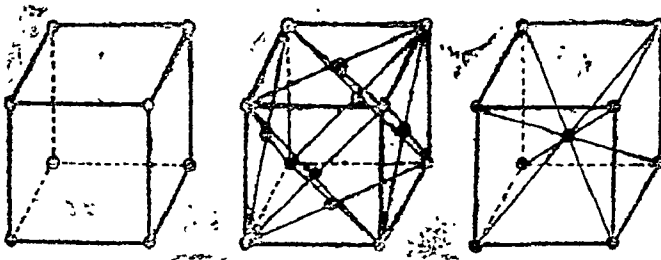
चित्र ३. घन मणिभ

१. सरल घन; २. फलककेंद्रित (फ़ेस सेंटर्ड) घन; ३. पिंडकेंद्रित (बॉडी सेंटर्ड) घन।

आठ विंदु हैं। इनके अतिरिक्त घन के जो छह फलक होते हैं, उनमें प्रत्येक के ठीक मध्य पर एक एक विंदु स्थापित करने से फलककेंद्रित घन [चित्र ३ (२)] बनता है। सरल घन के ठीक मध्य पर एक विंदु स्थापित करने से पिंडकेंद्रित घन [चित्र ३ (३)] बनता है। इन विधियों के समावेश से तथा सारणी १ में दी हुई सात पद्धतियों से सर्वज्ञात मणिभों के दिग्जाल केवल १४ प्रकारों में विभाजित हो सकते हैं (चित्र ४ देखिए)।

आ. यदि मणिभ ठीक विकसित हुआ हो तो उसकी वाह्य सममिति स्पष्टता से दिखाई देती है। अध्ययन से इस सममिति के जो प्रकार स्पष्ट हुए उनको विंदुसमुदाय (प्वाइंट ग्रूप) कहते हैं। विंदुसमुदाय को ठीक से समझने के लिये कुछ ज्यामितीय क्रियाओं का ज्ञान आवश्यक है। मणिभों की सममिति में निम्नलिखित ज्यामितीय क्रियाओं के उदाहरण मिलते हैं:

(१) किसी एक मणिभ अक्ष के चारों ओर एक बार परिभ्रमण करने में (अर्थात् ३६०° घूमने में) यदि म स्थितियाँ ऐसी हों जो प्रथम स्थिति से अभिन्न हों तो मणिभ के उस अक्ष को म-वार परिभ्रमण-सममिति-अक्ष कहा जाता है। अन्य शब्दों में, 'म-वार परिभ्रमण-सममिति-अक्ष' के परितः २π/म अंश तक घूमने से मणिभ पूर्ववत् स्थिति में आ जाता है। उदाहरणार्थ, घन मणिभ में प्रत्येक प्रमुख अक्ष 'चतुर्वार परिभ्रमण सममिति-अक्ष' होता है। प्रकृति में इस प्रकार के केवल द्वि-वार, त्रि-वार, चतुर्वार तथा षड्वार अक्ष ही होते हैं, पंच-वार तथा अन्य अक्ष नहीं होते।

(२) यदि मणिभ में एक ऐसा विंदु अ हो कि प्रत्येक विंदु व तथा उसके संगत विंदु व' को जोड़नेवाली सरल रेखा व अ व' विंदु अ पर समद्विभाजित होती है, तो विंदु अ को मणिभ का सममिति केंद्र कहा जाता है। उदाहरणार्थ, घन का मध्यविंदु सममिति केंद्र होता है। सममिति केंद्र को प्रतिलोमीकरण केंद्र भी कहते हैं।

(३) यदि मणिभ केंद्र में से होकर जाता हुआ ऐसा तल मिल सके कि मणिभ का एक अर्धभाग दूसरे अर्धभाग का (इस तल में) प्रतिबिंब हो, तो ऐसे तल को सममिति तल कहते हैं।

उपर्युक्त वर्णित क्रियाओं की मिश्र क्रियाएँ भी हो सकती हैं। यदि किसी केंद्रीय अक्ष के परितः २π/म अंश तक परिभ्रमण के पश्चात् प्रतिलोमीकरण से पुनः पूर्ववत् मूल परिस्थिति प्राप्त होती हो, तो इस क्रिया को परिभ्रमण-प्रतिलोमीकरण कहते हैं। वैसे ही २π/म अंश तक परिभ्रमण के पश्चात् परावर्तन से पुनः पूर्ववत् रचना प्राप्त होती हो, तो उसे परिभ्रमण-परावर्तन कहा जाता है।

परावर्तन, परिभ्रमण, प्रतिलोमीकरण, परिभ्रमण-प्रतिलोमीकरण, परिभ्रमण-परावर्तन इत्यादि प्रत्येक क्रिया को सममिति क्रिया कहते हैं। इनमें से एक अथवा अधिक क्रियाओं से मणिभों के वाह्य स्वरूपों का स्पष्टीकरण हो सकता है। क्रियाओं के इन सब प्रकारों को विंदुसमुदाय कहते है। सब मणिभों के लिये (अर्थात् सारणी १ में दी हुई सात पद्धतियों के लिये) केवल ३२ विंदुसमुदाय संभव हैं। इनको मणिभवर्ग कहते हैं।

क. मणिभों के वाह्य स्वरूप तथा भौतिक गुणों से उनके विंदुसमुदायों का निगमन हो सकता है किंतु मणिभ के चरम रचक परमाणु किस प्रकार स्थित हे तथा उनकी संरचना में किस प्रकार की सममिति है इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। परमाणुओं की स्थिति का ज्ञान सर्वप्रथम एक्सरे से हुआ। एकक कोशिकाओं में उपर्युक्त प्रकारों की सममितियाँ होती हैं और पूर्वोक्त क्रियाओं से कोशिकाएँ पुनः पूर्ववत् होती हैं। मणिभों में इन एकक कोशिकाओं का विस्तार तीन आयामों में होता है। जिन क्रियाओं से प्रत्यक्ष मणिभ प्राप्त होते हैं, उन्हें दिक्समुदाय कहते हैं। दिक् समुदायों के २३० प्रकार हैं।

दिक्समुदायों में नवीन सममितियों का अस्तित्व संभव होता है, जो विंदुसमुदायों में नहीं हो सकता। विसर्पण तलों (ग्लाइड प्लेन्स) का स्पष्टीकरण चित्र ५ से हो सकता है। इस आकृति में विंदु क तथा ख क्रमानुसार वृत्त तथा वर्ग से सूचित किए गए हैं। द्वितीय पंक्ति के विंदु ' से तथा तृतीय पंक्ति के विंदु " से सूचित किए गए हैं। द्वितीय तथा तृतीय पंक्तियों के ठीक मध्य पर **ण ण'** एक तल है जो कागज के तल पर अभिलंब है। इस तल **ण ण'** में परावर्तन होने से द्वितीय पंक्ति के विंदु क तृतीय पंक्ति के विंदुओं ख के स्थानों पर चले जायँगे। किंतु, यदि उनको परावर्तन तल के समांतर विंदुओं (क अथवा ख) की परस्पर दूरी के अर्धभाग तक हटाया जाय, तो परिस्थिति पुनः पूर्ववत् हो जायगी। अन्य शब्दों में, **ण ण'** तल में परावर्तन के पश्चात् अर्ध-जाल-दूरी का स्थानांतरण करने से पंक्तियाँ पुनः प्रथम स्थिति से संपाती (कोइंसिडेंट) हो जाती, है। इस प्रकार के तल को (तल **ण ण'** को) विसर्पण तल (ग्लाइड प्लेन) कहते हैं। तीन आयामों में जाल को संपाती करने के लिये विसर्पण तल में परावर्तन के पश्चात् प्रथम अर्ध-जाल-दूरी का स्थानांतरण विसर्पण तल के समांतर और तत्पश्चात् विसर्पण तल से लंब दिशा में अर्ध-जाल-दूरी का स्थानांतरण करना आवश्यक होगा।

यदि **ण ण'** को हम अक्ष समझें, तो उसके परितः १८०° के घूर्णन से विंदु क' विंदु ख" के स्थान पर चला जायगा। अब अर्ध-जाल-दूरी का स्थानांतरण करने से प्राप्त आकृति प्रथम आकृति से संपाती होगी। इन गुणों के अक्ष को (अक्ष **ण ण'** को) पेंच अक्ष (स्क्रू ऐक्सिस) कहते हैं। यदि विंदुओं क (अथवा ख) का एक दूसरे से अंतर 'य' समझा जाय तो चित्र ५ में का पेंच अक्ष **ण ण'** द्विवार पेंच अक्ष होगा, क्योंकि यहाँ संचालन य/२ की आवश्यकता होती है। त्रिवार पेंच अक्ष के लिये स्थानांतरण य/३ की तथा घूर्णन २ π/३ की आवश्यकता होगी अथवा म-वार

चित्र ४. दिग्जाल के १४ प्रकार

१. ट्राइक्लिनिक; २. सरल मोनोक्लिनिक; ३. अंत्य फलककेंद्रित मोनोक्लिनिक; ४. सरल ऑर्थोरॉम्बिक; ५. अंत्य फलककेंद्रित ऑर्थोरॉम्बिक; ६. पिंडकेंद्रित ऑर्थोरॉम्बिक; ७. फलककेंद्रित ऑर्थोरॉम्बिक; ८. हेक्सागोनल (षड्भुजीय); ९. रॉम्बोहेड्रल; १०. सरल टेट्रागोनल; ११. पिंडकेंद्रित टेट्रागोनल; १२. सरल घन; १३. पिंडकेंद्रित घन; १४. फलककेंद्रित घन (अक्षीय लंबाइयों तथा अक्षीय कोणों के लिये सारणी १ द्र०)।

पेंच अक्ष के लिये स्थानांतरण प/म तथा घूर्णन २π/म की आवश्यकता होगी।

तीन आयामों में जाल सिद्धांत, जालबिंदुओं के स्थानों पर परमाणुओं की स्थापना और उपर्युक्त विसर्पण तल तथा पेंच अक्ष, इनका उपयोग करके शोनफ्लीज ने १९वीं शताब्दी के अंत में मणिभों के वर्गीकरण में सुधार किया। जालों के १४ प्रकारों का (चित्र ४) तथा ३२ बिंदुसमुदायों का उपयोग करके २३० समुदाय प्रमाणित किए गए हैं। प्रत्येक ज्ञात मणिभ इनमें के एक दिक्समुदाय के अनुसार होता है। एक्सरे-विवर्तन (व्याभंग) से मणिभों के इन ज्यामितीय सिद्धांतों का तथा दिक्समुदायों का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। अतः एक्सरे-विश्लेषण में दिक्समुदाय ज्ञात होना अत्यावश्यक होता है।

मणिभों का एक्सरे-व्याभंग—लावे, फ्रीड्रिश और निपिंग ने प्रयोग द्वारा प्रथम मणिभों का एक्सरे- व्याभंग प्रस्थापित किया (द्र० एक्सरेज़ों की प्रकृति)। इस व्याभंग का सैद्धांतिक स्पष्टीकरण लावे ने किया। मणिभों में परमाणु क्रमबद्ध रूप में स्थित होते हैं। जब किसी परमाणु पर एक्सरे गिरते हैं तब उस परमाणु द्वारा (वस्तुतः उस परमाणु के इलेक्ट्रानों द्वारा) एक्सरे का प्रकीर्णन होता है। यदि परमाणुओं की पंक्ति ली जाय तो उनसे प्रकीर्णन होने पर तथा तरंगिकाओं का संयोग होने पर अंत में जो तरंगाग्र प्राप्त होगा, उसकी दिशा में व्याभंग के पश्चात् एक्सरे जायँगे। किंतु संयोग होते समय पथ का अंतर शून्य अथवा संपूर्ण तरंगदैर्घ्य (एक अथवा अधिक) हो सकता है; अतः, प्रकाश के व्याभंग के समान, शून्य, प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि क्रमों की एक्सरे-व्याभंजित किरणें भिन्न भिन्न दिशाओं में मिलेंगी। एक्सरे का तरंगदैर्घ्य यदि दै समझा जाय तो जिस दिशा में क्रमिक तरंगिकाओं द्वारा प्रकीरित किरणों का म × दै पथांतर होगा, उस दिशा में प्रकीर्ण किरण मिलेगी। अर्थात् यह दिशा एक शंकुतल पर होगी, क्योंकि इस शंकुतल के शीर्ष से परिधि तक गई हुई प्रत्येक रेखा के लिये उपर्युक्त प्रतिबंध संतुष्ट होगा। यह फल उचित परिवर्तन करके दो आयामों में परमाणु-पंक्तियों के लिये भी अनुप्रयोज्य है। और आगे बढ़कर यह फल उचित परिवर्तनों के पश्चात् तीन आयामों की परमाणु-पंक्तियों के लिये (अर्थात् प्रत्यक्ष मणिभों के लिये) भी अनुप्रयोज्य होता है। गणना से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि जाल के परमाणुओं से व्याभंजित होकर अक्ष मू का (चित्र २ द्र०) की परमाणु-पंक्ति से क्रम प का व्याभंग होता हो, मू खा की परमाणु-पंक्ति से क्रम ब का व्याभंग होता हो, और मू गा की परमाणु-पंक्ति से क्रम म का व्याभंग होता हो तो ज्यामिति की दृष्टि से तल प ब म से परावर्तन के तुल्य है।

यही फल ब्रैग की रीति से सरलतापूर्वक प्राप्त होता है। चित्र ६ में (१, १) मणिभ के परमाणुओं की एक पंक्ति, तथा (२, २) उसके समीप की दूसरी पंक्ति है, अर्थात् (१, १) तथा (२, २) समांतर हैं। तरंगदैर्घ्य दै का एकवर्णी एक्सरे प्रथम पंक्ति में क पर तथा द्वितीय पंक्ति में ख पर गिरता है। परावर्तनों के पश्चात् किरण १ तथा किरण २ में पथांतर प ख फ होगा। यदि यह पथांतर न × त हो, तो एक्सरे का परावर्तन होगा। यह प्रतिबंध निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त हो सकता है—

$$२ ट ज्या थ = न × त \ldots\ldots\ldots\ldots (१)$$

यहाँ त = दै = तरंगदैर्घ्य

समीकरण (१) को ब्रैग का नियम कहते हैं। समीकरण (१) के सरल होने के कारण इसका अधिक उपयोग किया जाता है। यद्यपि लावे की रीति प्रकाशिकी के ज्ञात सिद्धांतों के अनुसार है तथापि ब्रैग की रीति की तुलना में वह अधिक कठिन है। यदि एक्सरे का तरंगदैर्घ्य दै ज्ञात हो तो समीकरण (१) से विशिष्ट तलपद्धति का अंतरण (स्पेसिंग) ट प्राप्त करने के लिये केवल कोण थ का मापन करना पड़ता है। आपतित एक्सरे का तरंगदैर्घ्य दै तथा जिन मणिभ तलों से परावर्तन होता रहता है उनके मिलर-

अंक (च, छ, ज) से जाल का अचर निकाला जा सकता है। घन, टेट्रा-

चित्र ५. विसर्पण तल (ग्लाइड प्लेन।)

गोनल तथा ऑर्थोरॉम्बिक (जिनके निर्देशाक्ष लंबकोण होते हैं) कोशिकाओं के लिये $ड_{चछज}$ की मात्रा निम्नलिखित होती है :

$$ड^{२}_{चछज} = \frac{१}{(च^{२}/क_{०}^{२}) \times (छ^{२}/ख_{०}^{२}) \times (ज^{२}/ग_{०}^{२})} \cdots\cdots (२)$$

घनकोशिका में क० = ख० = ग०। अतः घनकोशिका के लिये

$$ड^{२}_{चछज} = \frac{क_{०}^{२}}{च^{२} + छ^{२} + ज^{२}}$$

अर्थात् समीकरण (१) के अनुसार घनकोशिका के लिये

$$न \times त = \frac{२ क_{०}}{\sqrt{(च^{२} + छ^{२} + ज^{२})}} ज्या (थ_{न}) ।\ldots\ldots (३)$$

यहाँ $थ_{न}$ नवें क्रम का परावर्तन कोण है। इसी प्रकार, गणना से प्रत्येक प्रकार की कोशिका के एकक अक्ष दूरी का मापन किया जा सकता है।

चित्र ६. ब्रैग का नियम; २ ड ज्या थ = न त

यहाँ ड = मणिभ की दो समीप की परमाणु पंक्तियों का अंतर; त = आपाती एकवर्ण एक्सरे का तरंगदैर्घ्य; थ = परमाणु-पंक्ति तथा आपाती किरण के बीच का कोण (इसे ग्लैंसिंग कोण कहते हैं); न = परावर्तन का क्रमांक।

व्युत्क्रम जाल (रेसिप्रोकल लैटिस)—विवर्तन-प्रतिमा के बिंदुओं का विश्लेषण करते समय, जिन मणिभ तलों से विवर्तन होता है उनकी प्रवणताओं (स्लोप्स) का महत्व स्पष्ट होता है। प्रतिमा का प्रत्येक बिंदु विशिष्ट समांतर तलों से ब्रैग के नियमानुसार परावर्तित होकर प्राप्त होता है। इन तलों की प्रवणता तल के अभिलंब (नॉर्मल) से निश्चित होती है। अतः तल के स्थान पर अभिलंब का उपयोग करने से एक लाभ यह होता है कि तल के तीन आयामों के बदले अभिलंब के दो आयामों की ही आवश्यकता होती है, अर्थात् एक आयाम कम हो जाता है। एक्सरे-विवर्तन प्रतिमा दो आयामों के फोटो-फिल्म पर ली जाती है और यह प्रतिमा एक दृष्टि से विभिन्न प्रवणताओं के तथा विभिन्न प्रकीर्णन-क्षमताओं के मणिभ-तलों का सरल किया हुआ प्रदर्शन है। यदि हम उपर्युक्त प्रत्येक तल के अभिलंब को इस प्रकार निश्चित करें कि इस अभिलंब की दिशा प्रवणता निश्चित करे तथा उसकी लंबाई अंतर-तल अंतरण (स्पेसिंग) $ड_{चछज}$ से व्युत्क्रम हो, तो इन सब अभिलंबों के सिरे के बिंदुओं से एक नया बिंदुजाल प्राप्त होगा, जिसका एक्सरे-विवर्तन-प्रतिमा से साम्य होगा। इस नवीन बिंदुजाल को व्युत्क्रम जाल कहते हैं। इस प्रकार व्युत्पादित व्युत्क्रम-जाल अत्यंत महत्व का होता है, क्योंकि प्रयोगों में प्राप्त एक्सरे-विवर्तन-प्रतिमा इस व्युत्क्रम-जाल का ही एक विकृत प्रतिबिंब होती है। सरल सममिति के (उदाहरणार्थ घन पद्धति के) मणिभों से जो एक्सरे-विवर्तन-प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं, उनका विश्लेषण करके संरचना निश्चित करना विशेष कठिन नहीं होता, किंतु अन्य मणिभों के लिये संरचना का निर्णय करना अत्यंत कठिन होता है और यहाँ व्युत्क्रम जाल का उपयोग अत्यावश्यक होता है। व्युत्क्रम-जाल का उपयोग तथा विस्तार विशेषतः एवाल्ड और बर्नाल ने किया। व्युत्क्रम जाल के उपयोग से मणिभ संरचना का निश्चय करने में विशेष सुविधा हुई और समय तथा श्रम में बहुत बचत हुई। व्युत्क्रम-जाल के कुछ लक्षण और गुण नीचे दिए हुए हैं। मणिभों में दिशाओं का महत्व प्रारंभ में ही बताया गया है, अतः मणिभ संरचना की गणना में दिष्ट बीजगणित (वेक्टर ऐलजेब्रा) का उपयोग किया जाता है। व्युत्क्रम जाल की गणना में दिष्ट बीजगणित का ही उपयोग होता है। सामान्यतः दिष्ट मोटे (थिक) अक्षरों में तथा अदिष्ट साधारण अक्षरों में छापे जाते हैं।

दिष्ट जाल की एकक कोशिका **क, ख, ग**, (**A B C**) इन तीन दिष्टों से निश्चित होती है, क्योंकि यहाँ प्रत्येक दिष्ट से उसकी लंबाई तथा दिशा भी निश्चित होती है। जाल बिंदु को मूल बिंदु से जोड़नेवाला दिष्ट **त्र** (य, र, ल), [**R** (x, y, z)] निम्नलिखित दिष्टसमीकरण के अनुसार होता है :

$$\mathbf{त्र} = य\mathbf{क} + र\mathbf{ख} + ल\mathbf{ग} । \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad (४)$$
$$\mathbf{R} = x\mathbf{A} + y\mathbf{B} + z\mathbf{C} \quad (४)$$

यहाँ य, र, ल की मात्राएँ धन अथवा ऋण पूर्ण संख्या तथा शून्य हो सकती हैं। इन दिष्टों से व्युत्क्रम जाल की परिभाषा की जाती है। व्युत्क्रम जाल तीन मूल दिष्ट $क^{*}$, $ख^{*}$, $ग^{*}$ (A^{*} B^{*} C^{*}) इस प्रकार लिए जाते हैं कि दिष्ट $क^{*}$ (A^{*}) दिष्ट ख (B) तथा ग (C) के अक्षों पर, दिष्ट $ख^{*}$ (B^{*}) दिष्ट क (A) तथा ग (C) के अक्षों पर और दिष्ट $ग^{*}$ (C^{*}) दिष्ट क (A) तथा ख (B) अक्षों पर लंब होते हैं। दिष्ट बीजगणित की भाषा में यह फल निम्नलिखित समीकरण द्वारा बताया जा सकता है :

$$\left.\begin{array}{l} क^{*}\cdot ख = क^{*}\cdot ग = ख^{*}\cdot ग = ख^{*}\cdot क = ग^{*}\cdot क = ग^{*}\cdot ख = 0 \\ A^{*}\cdot B = A^{*}\cdot C = B^{*}\cdot C = B^{*}\cdot A = C^{*}\cdot A = C^{*}\cdot B = 0 \end{array}\right\} (५)$$

यहाँ दो दिष्टों के बीच का बिंदु अदिष्ट गुणनफल का चिह्न है। व्युत्क्रम-दिष्टों के परिमाण निम्नलिखित समीकरण से प्राप्त होते हैं :

$$\left.\begin{array}{l} क^{*}\cdot क = ख^{*}\cdot ख = ग^{*}\cdot ग = घ^{2} \\ A^{*}\cdot A = B^{*}\cdot B = C^{*}\cdot C = C^{2} \end{array}\right\} \quad (६)$$

जहाँ घ (C) एक अचर है। सामान्यतः घ का मान एक लिया जाता है। व्युत्क्रम जाल की इस परिभाषा से उसकी एकक कोशिका तथा अन्य गुण और लक्षण (उदाहरणार्थ व्युत्क्रम अक्षों की लंबाइयाँ, कोण, आयतन

इत्यादि) व्युत्पन्न किए जा सकते हैं। व्युत्क्रम जाल का कोई भी दिष्ट त्र (च छ ज) हो, तो वह मिलर अंकों (च छ ज) के तल पर लंब होता है। दिष्ट त्र* (च छ ज) का परिमाण तल (च छ ज) के अंतरण (स्पेसिंग) $ड_{चछज}$ का व्युत्क्रम होता है। इस संक्षिप्त वर्णन से भी यह स्पष्ट होगा कि विवर्तन प्रतिमा से मणिभ संरचना का अध्ययन करने के लिये व्युत्क्रम जाल उपयुक्त साधन है। किसी भी तल के लिये ब्रैग के नियमानुसार परावर्तन होने के प्रतिबंध प्राप्त करने के लिये व्युत्क्रम जाल से परावर्तन-गोला तथा सीमा-गोला निकाले जाते हैं। इनकी सहायता से विवर्तन प्रतिमा का स्पष्टीकरण सरलता से होता है।

(१) **प्रायोगिक रीतियाँ**—एक्सरे द्वारा मणिभ संरचना का अध्ययन करने की प्रमुख रीतियाँ नीचे दी हुई हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन **एक्सरे की प्रकृति** में मिलेगा।

(१) **लावे की रीति** : इस रीति में श्वेत एक्सरे का (जिसमें अनेक तरंगदैर्घ्य होते हैं) उपयोग किया जाता है। दो सूची छिद्रों में से जाने के पश्चात् एक्सरे किरणें समांतर हो जाती हैं। तब उनको मणिभ के एक छोटे से टुकड़े पर पड़ने दिया जाता है (चित्र ७)। मणिभ को इस प्रकार स्थापना की जाती है कि उसका प्रमुख अक्ष आपाती एक्सरे की
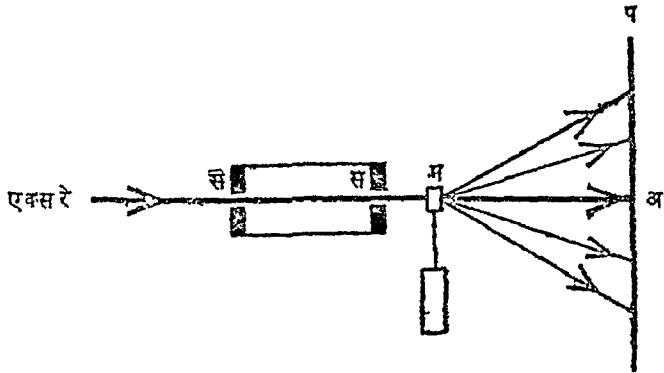
चित्र ७. लावे की रीति।

स. सूची छिद्र; म. मणिभ; प. फोटो पट्टिका।

दिशा से विशिष्ट कोण बनाता रहे—सामान्यतः यह कोण ०° होता है। आपाती एक्सरे के अनेक तरंगदैर्घ्यों में से उचित तरंगदैर्घ्य का ब्रैग के नियम २ड ज्या थ = न×त के अनुसार परावर्तन होता है। परावर्तित किरणें फोटो पट्टिका पर अथवा फिल्म पर अभिलिखित होकर सामान्यतः सममित बिंदुप्रतिमा बनाती हैं। प्रतिमा के बिंदु दीर्घ वृत्ताकार वक्रों पर स्थित रहते हैं और ये बिंदु अ (अर्थात् मणिभ में से सीधे जानेवाले एक्सरे से प्राप्त बिंदु) में से जाते हैं। केवल सरल सममिति के मणिभों से सममित प्रतिमाएँ मिलती हैं, अन्यथा जटिल प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। कैलसाइट मणिभ की लावे प्रतिमा नमक के मणिभ की प्रतिमा जैसी सरल और सममित नहीं है (**एक्सरे की प्रकृति** शीर्षक लेख से संलग्न फलक द्र०, जिसमें नमक तथा कैलसाइट मणिभ की लावे प्रतिमाएँ दी हुई हैं)।

परावर्तन करनेवाले तलों में से जिनका मंडलाक्ष सामान्य होता है उनसे परावर्तित किरणें एक दीर्घ वृत्त पर अभिलिखित होती हैं। प्रत्येक मंडलाक्ष उसके दीर्घवृत्त से ज्ञात किया जा सकता है। प्रत्येक बिंदु के अंक (अर्थात् जिस तल से परावर्तन होकर यह बिंदु प्राप्त हुआ है, उसके मिलर अंक) ज्ञात करने के लिये त्रिविमालेखी (स्टीरीओग्रैफ़िक) अथवा शांकव (ग्नॉमॉनिक) प्रक्षेपण का उपयोग किया जाता है।

लावे की रीति का महत्व अधिकतर ऐतिहासिक ही है। केवल लावे की रीति से मणिभ की संरचना का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, परंतु इस रीति से मणिभ की संरचना का अनुमान किया जा सकता है। लावे-बिंदुओं की सममिति से मणिभ की सममिति की कल्पना की जा सकती है। संरचना का संपूर्ण ज्ञान होने के लिये अन्य रीतियाँ अधिक उपयुक्त होती हैं।

लावे की रीति के अन्य उपयोग भी हो सकते हैं। मणिभ को यदि बल से नत किया जाय अथवा यदि मणिभ बनते समय उसमें आंतरिक विकृति हो जाय, तो लावे बिंदुओं में भी विकृतियाँ हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, सामान्यतः मणिभ के जो लावे बिंदु आते हैं उनका दीर्घीकरण हो जाता है। यदि धातु के पतले टुकड़े को एक्सरे पार करें, तो सामान्यतः लावे बिंदुओं के स्थानों पर समान तीव्रता से संकेंद्र वृत्त प्राप्त होते हैं और इन वृत्तों का केंद्र सीधे जानेवाले एक्सरे का बिंदु होता है। धातु में यदि विकृति हो तो केंद्रीय बिंदु से अरीय (त्रिजीय) रेखाएँ मिलती हैं। एक्सरे प्रतिमाओं की इन विकृतियों से धातु तथा मणिभ की आंतरिक विकृतियों का अध्ययन हो सकता है। अनेक मणिभों में (उदाहरणार्थ पेंटाएरिथ्रिटोल, सोडियम क्लोरेट, हिम इत्यादि में) लावे बिंदुओं के अतिरिक्त निस्तेज, अतीक्ष्ण बिंदु भी आते हैं। मणिभ का ताप बढ़ाने से ये बिंदु कुछ अधिक तीक्ष्ण हो जाते हैं। सर सी० वी० रमन के अनुमान के अनुसार ये अतीक्ष्ण बिंदु (डिफ्यूज़ स्पॉट) मणिभ के विशिष्ट कंपनों से आते हैं और ये कंपन एक्सरे की क्रिया से उत्पन्न होते हैं। किंतु लॉन्सडेल के अनुमान के अनुसार अतीक्ष्ण बिंदुओं का अस्तित्व डीबॉय-वालर के समीकरण का उपयोग करके प्रमाणित हो सकता है।

(२) **चूर्ण रीति** (पाउडर मेथड) —इस रीति का उपयोग यूरोप में डीबॉय तथा शिअरर ने और अमरीका में हल ने किया। यदि लावे की रीति से मणिभ के टुकड़े के स्थान पर मणिभ का महीन चूर्ण रखा जाय और एकवर्ण एक्सरे आपाती हो, तो फोटो फिल्म पर संकेंद्र वृत्त अभिलिखित होते हैं। इसका कारण सरलता से समझा जा सकता है; चूर्ण में मणिभ के तल समस्त दिशाओं में फैले रहते हैं और उनसे परावर्तित किरणों का एक शंक्वाकार किरणपुंज निकलता है, जिसे फोटो फिल्म द्वारा काटने पर वृत्त प्राप्त होता है। यदि वृत्ताकार फिल्म का उपयोग किया जाय और वृत्त का केंद्र चूर्ण के स्थान पर हो, तो परावर्तित किरणों से वर्णक्रम के समान रेखाएँ मिलेंगी। इस रीति का उपयोग करने के लिये भिन्न भिन्न त्रिज्याओं के चूर्ण-कैमरे मिलते हैं। त्रिज्या जितनी अधिक होती है उतनी ही विभेदन क्षमता अधिक होती है, किंतु प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) का समय भी बढ़ता जाता है। नमक तथा कैलसाइट का चूर्ण-वर्णक्रम (पाउडर स्पेक्ट्रा) **एक्सरे की प्रकृति** शीर्षक लेख से संलग्न फलक में दिया हुआ है।

चूर्ण में मणिभ के तल सब दिशाओं में बिखरे हुए रहते हैं, अतः चूर्ण प्रतिमा में इन सब तलों से परावर्तन होकर वर्णक्रम मिलता है। इस रीति में वर्णक्रम की रेखाओं के मिलर अंक ज्ञात करना इतना कठिन नहीं होता। ब्रैग के समीकरण का उपयोग करके प्रत्येक रेखा से $ड_{चछज}$ (d_{hkl}) (जाल-अंतरण) की मात्रा प्राप्त हो सकती है। इन मात्राओं से तथा वर्णक्रम-रेखाओं के वितरण से चूर्ण के मणिभ की संरचना का अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि घनाकार मणिभ लिए जायँ तो उनके तीन प्रकार हो सकते हैं (चित्र ४ द्र०)। किंतु (च छ ज) की मात्राएँ प्रत्येक प्रकार के लिये निम्नलिखित भाँति की होती हैं :

$$ड_{चछज} = \frac{क_0}{\sqrt{(च^2 + छ^2 + ज^2)}}$$

$$d_{hkl} = \frac{a_0}{\sqrt{(h^2 + k^2 + l^2)}}$$

इस समीकरण का तथा संरचना गुणक (स्ट्रक्चर-फ़ैक्टर) का उपयोग करके यह फल मिलता है कि (१) सरल घन में च, छ, ज (h, k, l) की सब मात्राएँ संभव हैं; (१) पिंडकेंद्रित घन में च, छ, ज, (h, k, l) का योगफल सम होता है; (३) फलककेंद्रित घन में च, छ, ज (h, k, l) या तो सब सम होते हैं अथवा सब विषम होते हैं। यह फल चित्र ८ में दिखाया गया है। इसका उपयोग करके वर्णक्रम रेखाओं के वितरण से मणिभ की संरचना का अनुमान सरलता से किया जा सकता है।

इसी प्रकार गणना करके टेट्रागोनल, हेक्सागोनल इत्यादि अन्य मणिभो के लिये भी सारणियाँ बनाई गई है। इनका उपयोग करके प्रतिमाओं से मणिभो की संरचनाओं का अनुमान किया जा सकता है, किंतु अन्य मणिभो के लिये कार्य इतना सरल नही है।

चित्र ८. घन मणिभ के विभिन्न प्रकारों के चूर्ण-वर्णक्रम रेखाओं का परस्पर संबंध

(क) सरल घन, (ख) पिंडकेंद्रित घन, (ग) फलककेंद्रित घन। सरल घन मे सबसे अधिक, पिंडकेंद्रित घन मे उससे कम तथा फलककेंद्रित घन मे सबसे कम रेखाएँ होती है।

इस पद्धति के अन्य अनेक उपयोग होते हैं। प्रत्येक शुद्ध मणिभ की विशिष्ट चूर्ण-वर्णक्रम-रेखाएँ होती है और उनसे वह मणिभ पहचाना जा सकता है (जैसे पारमाण्वीय वर्णक्रमो से तत्व पहचाने जाते है)। अत. अज्ञात मिश्रण तथा पदार्थ का रासायनिक विश्लेषण करना चूर्ण रीति से अत्यत सरल होता है। इसके लिये हेनावाल्ट, रिन तथा फ्रेवेल ने अनेक शुद्ध पदार्थों के लिये सारणियाँ बनाई है। चूर्ण वर्णक्रम की रेखाओं की स्थिति का तथा उनकी तीव्रता का मापन करके इन सारणियो से पदार्थ अथवा मिश्रणो का रासायनिक विश्लेषण शीघ्रतापूर्वक किया जाता है। यदि पदार्थ अत्यत स्वल्प मात्रा मे हो तो भी चूर्ण-रीति से उसका सूक्ष्म विश्लेषण (माइक्रो-ऐनालिसिस) हो सकता है। वर्तमान काल मे गाइगर-व्याभगमापी (गाइगर-डिफ्रैक्टोमीटर) के उपयोग से चूर्ण रीति सुलभ हो गई है। इसके पहले चूर्ण रीति मे जो वर्णक्रम फोटो फिल्म पर मिलता था उसके लिये ६ से लेकर १२ घंटे तक लगते थे। इसके पश्चात् फोटो फिल्म को डेवेलप करने, सुखाने इत्यादि मे भी २-३ घंटो की आवश्यकता होती थी। तत्पश्चात् वर्णक्रम रेखाओ का मापन और अत मे प्रत्येक रेखा की तीव्रता का सूक्ष्म दीप्ति-मापी (माइक्रोफोटोमीटर) मे मापन इत्यादि कार्यो मे बहुत समय लगता है। किंतु गाइगर व्याभगमापी से ये सब क्रियाएँ एक साथ तथा शीघ्रतापूर्वक होती है।

(३) **घूर्णित-मणिभ रीति**--इस रीति का उपयोग पहले पहल सीवोल्ड और पोलान्यी ने किया। यह सबसे अधिक उपयुक्त रीति है, अतः आजकल इसी रीति पर आश्रित कई सुधारी हुई रीतियाँ प्रचलित है। इनमे से उचित रीति चुनकर सामान्यतः किसी भी मणिभ की संरचना का विश्लेषण किया जा सकता है।

चित्र ९ मे सामान्य घूर्णित-मणिभ दिखाई गई है। एकवर्ण एक्स किरणें समातरित्र क मे से पार होकर समातर होती है और मणिभ ख पर पड़ती है। मणिभ ख एक धुरी (शैफ्ट) पर स्थित रहता है और एक विद्युत् मोटर तथा लघुकारक यंत्र (रिडक्शन गिअर) की सहायता से इस धुरी को मंद वेग से घुमाया जाता है। मणिभ का एक मुख्य अक्ष घूर्णन के अक्ष के समातर रखा जाता है। फोटो फिल्म या तो चपटी रहती है अथवा बेलनाकार (जिसका अक्ष घूर्णन का अक्ष होता है)। साधारणतः बेलनाकार फिल्म प्रयुक्त होता है, इसमे परावर्तन कोण का परास बहुत बढ़ जाता है तथा विश्लेषण के लिये प्रतिमा अधिक सरल हो जाती है। मणिभ कोणमापी के शिखर पर मणिभ रखा जाता है और उसका एक प्रमुख अक्ष घूर्णन अक्ष पर रखा जाता है।

इस परिस्थिति मे एक प्रतिमा लेने के पश्चात् मणिभ को ९०° कोण द्वारा घुमा दिया जाता है और दूसरी प्रतिमा ली जाती है। मणिभ को पुन. ९०° कोण द्वारा घुमा दिया जाता है. किंतु इस समय घुमाने का अक्ष घूर्णन अक्ष के लबवत् होता है, अब पुन. प्रतिमा ली जाती है। इस प्रकार तीन परस्पर लंबकोण अक्षो की दिशाओ मे तीन प्रतिमाएँ ली जाती है और उनसे मणिभ के संबंध मे आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। **एक्सरे की प्रकृति** शीर्षक लेख से संलग्न फलक मे अभ्रक की एक घूर्णित प्रतिमा दी गई है।

कभी कभी संपूर्ण परिभ्रमण के बदले मणिभ की संरचना के अनुसार उसे विशिष्ट कोणो द्वारा घुमाकर प्रतिमा ली जाती है। यह प्रतिमा संपूर्ण परिभ्रमण से ली हुई प्रतिमा से सरल होती है। आवश्यक होने पर दोलन का कोण क्रमश. बढाकर अनेक प्रतिमाएँ ली जाती हैं। ऐसी प्रतिमाओं से विश्लेषण करना सरल होता है।
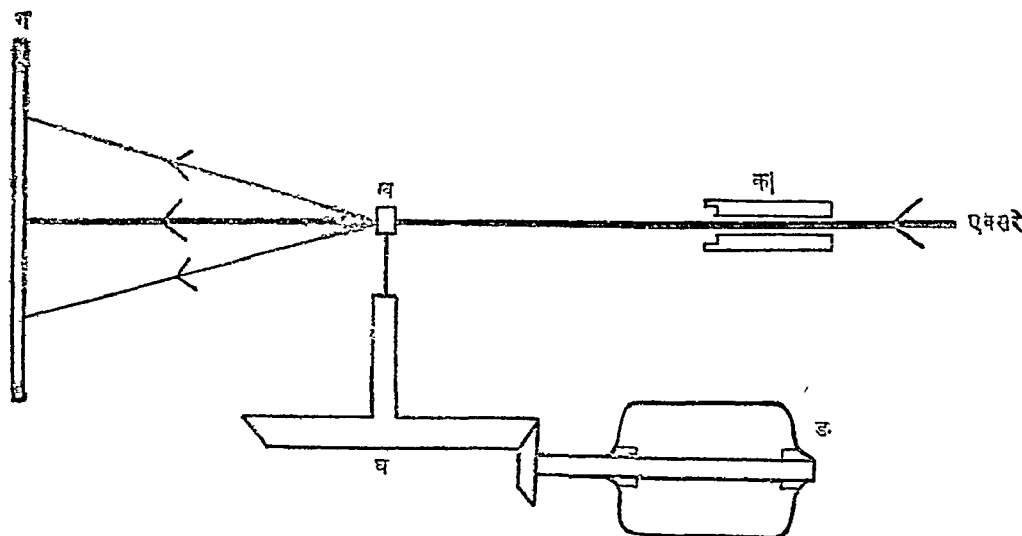
चित्र ९-- घूर्णित-मणिभ रीति

क. एक्सरे समातरित्र (कॉलीमेटर); ख. मणिभ; ग. फोटो फिल्म; घ. लघुकारक योक्त्र (रिडक्शन गिअर); ङ. मोटर।

यद्यपि घूर्णित मणिभ रीति अत्यत उपयुक्त होती है तथापि प्रतिमाओं के विश्लेषण मे अनेक संशय रह जाते है। उनको दूर करने के लिये अनेक प्रकार के नए कैमरो का निर्माण किया गया है। इनमे वैंजनवर्ग कैमरा विशेष प्रसिद्ध है। वैंजनवर्ग कैमरा के प्रमुख अंग, उनका संबध तथा कार्य चित्र १० मे दिखाए गए है।

वेंजनवर्ग कैमरा मे एकवर्ण एक्सरे मणिभ पर पूर्ववत् आपाती होते हैं और मणिभ का घूर्णनाक्ष उसके एक मुख्य अक्ष के समातर होता है।

फिल्म बेलनाकार होता है और इस बेलन का अक्ष घूर्णनाक्ष से संपाती (कोइंसिडेंट) होता है। इस कैमरे में फिल्म स्थिर नहीं रहता। उसका
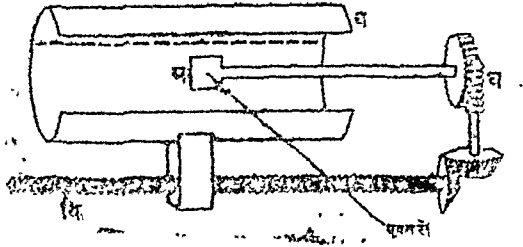
चित्र १०— वैजनबर्ग कैमरे की संरचना

म. मणिभ; ब. बेलनाकार फिल्म; घ. मणिभ के घूर्णन की योजना; वि = फिल्म के ('घ' से समक्रमिक) विस्थापन की योजना।

मंद गति से स्थानांतरण होता रहता है और यह स्थानांतरण मणिभ के घूर्णन से समक्रमिक होता है। फिल्म के स्थानांतरण की योजना से वैजनबर्ग कैमरे की विशिष्टता स्पष्ट होगी। सामान्य घूर्णित-मणिभ रीति में फिल्म स्थिर (स्टेशनरी) रहता है, इसलिये मणिभ के जिन तलों के जाल-अंतरण समान रहते हैं उनके लिये परावर्तन कोण समान रहता है। अतः प्रतिमा का एक बिंदु समान जाल अंतरणों के अनेक तलों से परावर्तन होकर प्राप्त होता है। परंतु वैजनबर्ग कैमरे में एक तल से परावर्तन होकर पहले एक बिंदु प्राप्त होता है और जब तक दूसरा समान जाल-अंतरण का तल परावर्तन के लिये उचित परिस्थिति पर पहुँचता है तब तक फिल्म का स्थानांतरण हो जाता है और समान जाल-अंतरणों के भिन्न भिन्न तलों से पृथक् बिंदु मिलते हैं।

वैजनबर्ग कैमरे की सफलता के पश्चात् उसमें सुधार करके अनेक कैमरे विशेष उद्देश्यों के लिये बनाए गए। इनमें सीबोल्ट-सौटर, बर्गर इत्यादि वैज्ञानिकों के कैमरे उल्लेखनीय हैं।

घूर्णित-मणिभ प्रतिमा से मणिभ संरचना ज्ञात करना अधिक सरल होता है। विशेषतः जिन मणिभों की संरचनाएँ सरल सममित नहीं हैं उनके लिये घूर्णित-मणिभ रीति अथवा इस रीति पर आधारित अन्य कैमरों का उपयोग अत्यावश्यक है। चित्र ९ में दी हुई प्रायोगिक रचना के अनुसार जो प्रतिमाएँ आती हैं उनका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है:
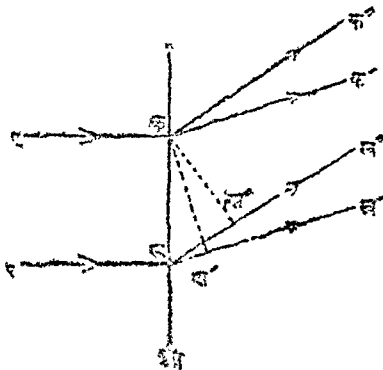
(१) रश्मियों की दिशाएँ [चित्र ११ (१)]

किसी महत्त्वपूर्ण मंडलाक्ष के घूर्णनाक्ष के समांतर रहने पर एक्सरे प्रतिमा में जो स्तररेखाएँ (लेयर लाइंस) आती हैं उनका अस्तित्व चित्र ११ से स्पष्ट हो सकता है। जब आपाती समांतर तथा एकवर्ण रेखाओं का आघात परमाणुओं क तथा ख से होता है, [चित्र ११ (१)] तब वे किरणें जिनका पथांतर एक संपूर्ण तरंगदैर्घ्य होता है दिशा ख ख' में आती हैं। जिनका पथांतर (ग ग') दो तरंगदैर्घ्यों का होता है, वे दिशा ख ख'' में जाती हैं। घूर्णन होते समय ऐसे अनेक तल क्रमशः इस स्थिति में आएँगे और ब्रैग के नियमानुसार उनका परावर्तन होगा। अतः जिन किरणों का पथांतर ख ग' है वे सब किरणें एक शंकु पर होंगी (चित्र ११-२) और जिनका पथांतर ख ग'' है, वे दूसरे शंकु पर होंगी। यदि फिल्म बेलनाकार हो (चित्र ११-२) तो फिल्म फैलाने पर ये सब बिंदु एक रेखा पर रहेंगे और यदि फिल्म चपटी हो (चित्र ११-३) तो प्रत्येक शंकु से प्राप्त बिंदु एक अतिपरवलय (हाइपरबोला) पर रहेंगे। यदि घूर्णन अक्ष से मणिभ का ग-अक्ष समांतर हो तो उस अक्ष से समांतर सभी
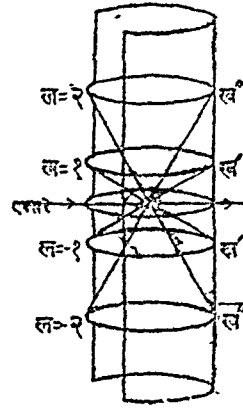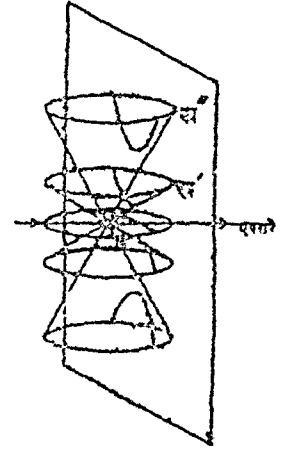
(२) बेलनाकार फिल्म (३) चपटी फिल्म

[चित्र ११(२, ३)]—घूर्णित-मणिभ एक्सरे प्रतिमा की स्तररेखाओं का स्पष्टीकरण

तलों से क्षैतिज परावर्तन होगा और बिंदु मध्यवर्ती सरल रेखा पर प्राप्त होंगे। अर्थात् इस मध्यवर्ती रेखा पर स्थित बिंदुओं के मिलर अंक (च, छ, ०), $(h, k, 0)$ होंगे। इस मध्यवर्ती सरल रेखा को 'शून्य स्तर' रेखा कहते हैं। इसी प्रकार प्रथम स्तर रेखा के ऊपर जो बिंदु होंगे हैं उनके मिलर अंक (च, छ, १), $(h\ k\ l)$ होंगे। यदि एक्सरे की दिशा तथा प्रथम स्तर रेखा के बीच का कोण फ (θ) हो तो उसके मापन से ग (C) की मात्रा निकाली जा सकती है, कारण

ग ज्या फ=दै $(C\ Sin\ \theta = \gamma)$

जहाँ दै (λ) आपाती एकवर्ण एक्सरेओं का तरंगदैर्घ्य है। व्युत्क्रम-जाल का उपयोग करने पर इन प्रतिमाओं का विश्लेषण अधिक सरल हो जाता है। वैजनबर्ग कैमरे से जो प्रतिमाएँ आती हैं उनका रूप भिन्न होता है, किंतु उनसे निर्णय करना अधिक सुगम होता है।

(४) उपर्युक्त रीतियों से मणिभ की सममिति निश्चित होती है, किंतु उसकी संरचना निश्चित करने के लिये अधिक कार्य की आवश्यकता होती है। यदि केवल प्रतिमा के बिंदुओं की सममिति से मणिभ संरचना का अनुमान किया जाय, तो एक से अधिक प्रकार की संरचना संभव है, और इनमें से उचित संरचना का निर्णय करना कठिन होता है। यह समस्या हल करने के लिये प्रतिमा के बिंदुओं की (अथवा रेखाओं की) तीव्रता का मापन आवश्यक है और इस मापन के पश्चात् ही संरचना निश्चित की जा सकती है। यद्यपि दो भिन्न प्रकार के दिक्‌समूह एक ही प्रकार की सममित प्रतिमा दे सकते हैं, तथापि उनकी तीव्रताएँ भिन्न होंगी। अतः किस प्रकार की संरचना से प्रतिमा में किस प्रकार तीव्रताओं का वितरण होगा, यह ज्ञात होना आवश्यक है।

प्रतिष्ठित (क्लैसिकल) भौतिकी के अनुसार एक्सरे तरंगों का प्रकीर्णन इलेक्ट्रानों से होता है। प्रत्येक परमाणु में इलेक्ट्रान होते हैं और प्रत्येक इलेक्ट्रान से प्रकीर्णन होने पर एक्सरे का अंत में संपूर्ण परमाणु से प्रकीर्णन होगा। अतः विशिष्ट दिशाओं में एक्सरेओं की तीव्रता इन इलेक्ट्रानों के

वितरण पर अवलंबित होगी। संपूर्ण परमाणु से प्रकीर्णन होने पर तरंग का विशिष्ट दिशा में आयाम और उसी तरंग के एक मुक्त इलेक्ट्रान से उन्हीं प्रतिबंधों के अंतर्गत प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार प्राप्त आयाम, इन दोनों के अनुपात को पारमाण्वीय संरचना-गुणनखंड कहते हैं। प्रत्येक तत्व के परमाणु के लिये पारमाण्वीय संरचना-गुणनखंड गणना द्वारा प्राप्त किया गया है। प्रत्येक एकक-कोशिका में सामान्यतः एक से अधिक संख्या के तथा प्रकार के परमाणु होते हैं। इन सब परमाणुओं को समाविष्ट करके विशिष्ट दिशा में तरंग का जो आयाम होता है उसको मणिभ का संरचना आयाम कहते हैं। इस संरचना-आयाम से परमाणुओं के निर्देशांकों का संबंध रहता है। भिन्न भिन्न तलों के लिये गणना करके मणिभ-संरचना-गुणनखंड प्राप्त किए गए है।

एक्सरे द्वारा मणिभ संरचना के निर्णय का मार्ग अब स्पष्ट हो गया होगा। एक्सरे व्याभंग प्रतिमा के बिंदुओं की (अथवा रेखाओं की) तीव्रताओं का मापन करके भिन्न भिन्न तलों के मणिभ-संरचना-गुणनखंड प्रयोग द्वारा पहले प्राप्त कर लिए जाते हैं। इनसे मणिभ के परमाणुओं के स्थानों का संनिकटता से अनुमान किया जा सकता है और उनके निर्देशांकों का उपयोग करके प्रमाणित समीकरणों से मणिभ-संरचना-गुणनखंड की गणना की जाती है। यदि अनुमान ठीक हो, तो इस गणना के फल में और प्रायोगिक मात्रा में विशेष भेद नहीं होता। इसके पश्चात् फूरिए-विश्लेषण से एकक कोशिका में इलेक्ट्रानों की घनता निकाली जाती है। इस विश्लेषण फल से यदि ऐसा प्रमाणित हो कि अनुमानित संरचना पर्याप्त उचित नहीं थी, तो इस विश्लेषण फल द्वारा प्राप्त संरचना से पुनः विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार अनेक बार क्रमिक संनिकटता से विश्लेषण करके अंत में यथार्थ मणिभ संरचना प्राप्त होती है। इस व्युत्पादित मणिभ संरचना से मणिभ के अन्य गुणों का (उदाहरणार्थ प्रकाशीय, चुंबकीय, विद्युतीय इत्यादि गुणों का) भी स्पष्टीकरण होना आवश्यक होता है, अन्यथा अनुमानित तथा व्युत्पादित मणिभ संरचना ठीक नहीं मानी जा सकती।

(६) उपसंहार--उपर्युक्त रीतियों से एक्सरे व्याभंग के विश्लेषण के पश्चात् अनेक ठोस पदार्थों की संरचनाओं का निर्णय हुआ है। अनेक ग्रंथ हैं जिनमें इस प्रकार प्राप्त ठोस पदार्थों की संरचनाएँ दी हुई हैं। प्रत्येक तत्व, उनके यौगिक पदार्थ तथा कार्बधात्विक यौगिक पदार्थ इत्यादि ठोस पदार्थों की संरचनाएँ भी इन ग्रंथों में मिलेंगी।

मणिभ संरचना के ज्यामितीय संबंध सरल यौगिकों में स्पष्टता से दिखाई पड़ते है। ऐसे पदार्थों में परमाणुओं के आयन होते हैं, अतः इनको आयनीय मणिभ कहा जाता है। उदाहरणार्थ, नमक में सोडियम परमाणु का बाह्य इलेक्ट्रान दूर रहता है और इसलिये सोडियम परमाणु धन आवेशित आयन होता है। सोडियम परमाणु का इलेक्ट्रान क्लोरीन परमाणु से संयुक्त हो जाने पर ऋण आवेशित आयन हो जाता है। धन और ऋण आयन आकर्षित होकर पास आएँगे किंतु परमाणु के अन्य इलेक्ट्रानों के तीव्र प्रतिकर्षण के कारण एक विशेष सीमा तक ही ये परमाणु आ पाएँगे और वहाँ वे संतुलित हो जायेंगे। प्रत्येक आयन विरुद्ध आवेश के आयन से परिवेष्टित रहता है। नमक में प्रत्येक सोडियम आयन ६ क्लोरीन आयनों से परिवेष्टित रहता है। किंतु क्षारीय खनिज के क्लोराइड, ब्रोमाइड तथा आयोडाइड में प्रत्येक आयन विरुद्ध आवेश के ८ आयनों से परिवेष्टित रहता है। यदि धन और ऋण आयनों की त्रिज्याओं का अनुपात कम हो ($<$०.४१), तो बड़ा आयन ४ छोटे आयनों से परिवेष्टित होता है, उदाहरणार्थ ज़िंक ब्लेंड अथवा वूर्टसाइट।

धातुओं की संरचना अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सामान्यतः धातुओं की संरचना तीन प्रकार की होती है: (१) फलककेंद्रित घन, (२) पिंडकेंद्रित घन और (३) षड्भुजीय सघन समूह (हेक्सागोनल क्लोज़-पैक्ड)। एक्सरे से धातु की केवल संरचना ही नहीं अपितु अन्य गुणों का भी स्पष्टीकरण होता है; उदाहरणार्थ, उनके कणों का आकार तथा वितरण, आंतरिक विकृति, इत्यादि। धातुओं के तार खींचते समय उनके मणिभ विशेष दिशाओं में स्थापित हो जाते हैं और ऐसी परिस्थिति में एक्सरे व्याभंग से जो प्रतिमाएँ आती हैं उनको तंतुप्रतिमा (फ़ाइबर पैटर्न) कहा जाता है। इन प्रतिमाओं में वृत्तों की परिधि समान तीव्रता की नहीं होती है।

सं०ग्रं०--सर लॉरेंस ब्रैग : द क्रिस्टलाइन स्टेट, जी० बेल ऐंड कंपनी, लंडन, १९४९; एम० जे० वर्गर : एक्सरे क्रिस्टलोग्राफ़ी, जॉन वाइले ऐंड संस, न्यूयॉर्क, १९५३; जॉर्ज एल० क्लार्क : ऐप्लायड एक्सरेज़, मैक्ग्रॉ हिल बुक कंपनी, न्यूयॉर्क, १९५५; आर० डब्ल्यू० जेम्स : ऑप्टिकल प्रिंसिपल्स ऑव द डिफ्रैक्शन ऑव एक्सरेज़, जी० बेल ऐंड सन्स, लंडन, १९५०। (दे० र० भ०)

एक्सरे, रेडियम तथा समस्थानिक विकिरण चिकित्सा

एक्सरे का आविष्कार १८९५ ई० में विलियम कोनार्ड रंटजन ने किया तथा १८९६ में बेकरेल ने पेरिस की वैज्ञानिक अकादमी में यूरेनियम मिश्रणों पर अपने अनुसंधानों का यह महत्वपूर्ण फल घोषित किया कि इन वस्तुओं से ऐसी रश्मियाँ निकलती हैं जिनमें विशेष गुण रहते हैं। इन्हीं अनुसंधानों के संबंध में अधिक छानबीन करते हुए मैडम क्यूरी तथा उनके पति श्री पियरी क्यूरी ने जुलाई, १८९८ में पोलोनियम के आविष्कार की घोषणा की। दिसंबर, १८९८ में क्यूरी दंपति ने रेडियम का आविष्कार घोषित किया। विकिरणकारी समस्थानिक पदार्थों का ज्ञान इनके बहुत समय बाद हुआ। इन सभी साधनों द्वारा विशेष रश्मियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें ठोस पदार्थों को पार करने तथा शरीर के कोशों का विभाजन रोकने की क्षमता होती है।

एक्सरे नली
(फिलिप्स का टाइप डी वाला मेटलिक्स ट्यूब)

रश्मियों के इन गुणों का प्रयोग एक्सरे चित्रण तथा विकिरण चिकित्सा में होता है। एक्सरे फोटोग्राफों से रोगनिदान में बड़ी सहायता मिलती है। एक्सरे के आविष्कार के बहुत थोड़े समय बाद से ही उसका उपयोग प्रचलित हो गया था। यदि काले कागज में लपेटे, या दफ्ती के बक्स के भीतर रखे, फोटो के प्लेट के ऊपर हाथ रख दिया जाय और ऊपर से हाथ पर एक्सरे उचित समय तक पड़ने दिया जाय तो इस प्लेट या फिल्म को डेवेलप करने पर हाथ की हड्डियों का फोटो मिल जायगा (चित्र द्र०)। प्रकाशदर्शन (एक्सपोजर) घटाने के लिये कुछ ऐसे परदों के बीच फिल्म रख दिए जाते हैं जिनसे फिल्म पर एक्सरे का प्रभाव बढ़ जाता है। इन परदों पर कैल्सियम टंग्स्टेट लेपित रहता है जो एक्सरे पड़ने पर साधारण प्रकाश देने लगता है (द्र० प्रतिदीप्ति)।

एक्सरे नली के (द्र० पार्श्व का चित्र) मध्य में क्रोमियम इस्पात का बना एक बेलन, १, होता है, जिसमें काच के दो पृथक्कारी (इनसुलेटिंग) बेलन, ४ और ५, जुड़े रहते हैं। ये काच के बेलन धातु-कक्ष के भीतर विद्युदग्रों, २ और ३ को सँभाले रहते हैं। धातु कक्ष में एक छोटी खिड़की कटी होती है, जिससे किरणें बाहर निकल सकें। इस प्रकार विकिरण मध्यवाले बेलन के भीतर सीमाबद्ध रहता है और केवल पूर्वोक्त

निकासवाले छिद्र से बाहर निकल सकता है। सीसे से बने वाह्यावरण, ७, से संरक्षण की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। ऋणाग्र के भीतरवाला धातु का पर्दा तथा धनाग्र विकिरण को नली के दीर्घ अक्ष की दिशा में जाने से रोकते है। निकेल की कलईवाले बेलन का कार्य छिद्र की टोपी (ढकना), ८, तथा बैकेलाइट के बेलन, ९, को वहन करना है। वायु द्वारा शीतल किए जानेवाले धनाग्र के सिरे पर ऐल्यूमिनियम का बना तापविकिरक, १०, रहता है। ताप का अधिकतम संचालन हो इसलिये धनाग्र को ताँबे का बनाते हैं और इसपर उचित नाप का टंग्स्टन निर्मित लक्ष्य (टार्गेट), ६, रहता है। ऋणाग्र की टोपी मे तंतु, ११, से संबंध स्थापित करनेवाला प्लग रहता है।

एक्सरे तथा रेडियम के आविष्कार के बाद कुछ समय तक इनसे निकली रश्मियों के विनाशकारी प्रभावो का पर्याप्त ज्ञान नही था। इसलिये कुछ कार्यकर्ताओ के शरीर पर इन रश्मियों की हानिकर क्रियाएँ इतनी हुई कि उनको विशेष रोग हुए और कष्टमय मृत्यु हुई। धीरे धीरे हानि बचाने की आवश्यकता तथा साधनों का उचित ज्ञान हुआ।

विकिरणो की मात्रा और उपयोग की सुगमता तथा सुविधा की दृष्टि से विकिरण उत्पन्न करने तथा उनका उपयोग करने की पृथक् पृथक् रीतियों का विकास हुआ है। एक्सरे यंत्र द्वारा उत्पन्न एक्सरे, रेडियम से उत्पन्न विकिरण तथा रेडियो कोबल्ट, रेडियो आयोडीन, रेडियो फास्फोरस इत्यादि समस्थानिकों से उत्पन्न विकिरण, इन सभी का उपयोग होता है। इन सब विकिरणों के गुण प्रायः समान होते है।

एक्सरे यंत्र मे जितने ही अधिक वोल्टों से रश्मियाँ उत्पन्न होंगी, एक्सरे उतने ही अधिक छोटे तरंगदैर्घ्य का होगा और द्रव्यो मे अधिक गहराई तक प्रवेश करने की शक्ति भी उसमे उतनी ही अधिक होगी। इस गुण के कारण ऐसी रश्मियों को साधारणतः कठोर रश्मियाँ या गहन-प्रवेश-रश्मियाँ कहते है। इसके विपरीत कम वोल्ट द्वारा उत्पन्न एक्स रश्मियो मे

रोगनिदान के लिये एक्सरे यंत्र

बहुत कम प्रवेश करने की शक्ति होती है जिससे वे पृष्ठ के पास या थोड़ी गहराई तक ही प्रवेश कर पाती हैं। इन्हें कोमल रश्मियाँ या पृष्ठतलीय रश्मियाँ कहते है। इस प्रकार एक्सरे का तरंगदैर्घ्य अर्थात् द्रव्य के भीतर प्रविष्ट होने की क्षमता (कठोरता) यंत्र मे प्रयुक्त वोल्टो की उच्चता पर निर्भर है। किसी विशेष प्रवेशशक्ति की रश्मियों की मात्रा यंत्र में प्रयुक्त ऐंपियरों पर निर्भर रहती है। परंतु यंत्र के निर्माण के अनुसार ऐंपियरो की मात्रा एक नियत सीमा तक ही बढाई जा सकती है।

एक्सरे यंत्र से एक ही तरंगदैर्घ्य की एकवर्ण तथा समांग रश्मियाँ नही निकलतीं, वरन् सबसे ऊँचे वोल्ट द्वारा उत्पन्न तरंगदैर्घ्य की कठोर रश्मियों के साथ उनकी अपेक्षा कोमल रश्मियाँ भी निकलती हैं, जिससे कठोर तथा कोमल रश्मियों का असमांग मिश्रण प्राप्त होता है। एक्सरे नलिका मे एक खिड़की रहती है जिससे से किरणें बाहर निकलती हैं। इसी खिड़की के मुँह पर अनावश्यक कोमल रश्मियो को रोकने के लिये आवश्यक मोटाई का तथा वांछित (ताँबा या ऐल्यूमिनियम) धातु का छनना लगा दिया जाता है, जिससे कोमल रश्मियाँ इस छनने को पार नही कर पाती। अतः छनकर बाहर आनेवाली किरणो मे बहुत कुछ एकरूपता आ जाती है और अवांछित कोमल किरणें रुक जाती हैं।

खिड़की का आकार तथा नाप भी इच्छानुसार बदली जा सकती है। इस प्रकार खिड़की से निकलनेवाले रश्मिसमूह के आकार तथा विस्तार पर रोग के विस्तार के अनुसार अपेक्षित नियंत्रण रखा जाता है। शरीर से ट्यूब की दूरी भी घटाई बढाई जा सकती है। रोगग्रस्त भाग को छोड़कर आसपास के शेष भागो को सीसे की पतली चादर के टुकड़ों से ढक दिया जाता है जिससे इन भागों तक किरणें न पहुँचें। किरणो को रोगग्रस्त भाग पर निर्धारित समय तक प्रविष्ट करने के लिये यंत्र मे समयमापक घड़ी लगी रहती है जो निर्धारित समय पूरा हो जाने पर यंत्र की विद्युच्छक्ति काट देती है। इस प्रकार विकीरित रश्मि का प्रभाव वोल्ट, ऐंपियर, समय, दूरी, तथा छनना द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

प्रायः ६० से लेकर १२० किलोवोल्ट तक के यंत्र का उपयोग कोमल किरणे उत्पन्न करने के निमित्त होता है। उनका प्रयोग चर्मरोगो पर किया जाता है। २००—८०० या इससे ऊँचे किलोवोल्ट वाले कठोर किरणोत्पादक यंत्रों का प्रयोग शरीर के भीतर गहराई मे स्थित रोगो के लिये होता है। यंत्र मे प्रयुक्त विद्युद्धारा ८ से लेकर १,००० मिली-ऐंपियर तक की हो सकती है (१ मिली-ऐंपियर=०·००१ ऐंपियर)। रश्मिक्रिया के समय अंगविशेष के हिलने की आशंका रहने पर धारा अधिक रखकर प्रकाशदर्शन १/१०० सेकेंड या कुछ कम कर दिया जा सकता है।

प्राकृतिक रेडियमधर्मिता के उपयोग मे चिकित्सा के लिये साधारणतः रेडियम धातु का प्रयोग होता है। रेडियम से ऐल्फा, बीटा तथा गामा किरणें निकलती रहती हैं (द्र० रेडियम)। इन किरणों का प्रयोग रोग-चिकित्सा मे होता है और इनके प्रयोग की मुख्य रीतियाँ इस प्रकार हैं :

(१) रेडियम धातु के उपयुक्त लवण को प्लैटिनम, स्टील, मोनल मेटल या सोने की बनी खोखली छोटी नली या सूई में, जो छनने का भी काम देती है, बंद कर दिया जाता है। प्रयोग के लिये इन सुइयो को एक, दो या अधिक संख्या मे उनकी आपस की दूरी तथा आकार, प्रत्येक सूई मे रेडियम की मात्रा आदि को आवश्यकतानुसार चुनकर रोगग्रस्त भाग की सतह पर, मांस के भीतर या शरीर की गुहा मे निर्धारित समय तक छोड़ दिया जाता है। विकीरित रश्मियाँ निरंतर ट्यूब से बाहर निकलती और रोगग्रस्त भागो पर अपनी क्रिया करती रहती हैं।

(२) अधिक मात्रा मे रेडियम को डिबिया मे बंद करने के बाद उससे निकलती किरणों का उसी प्रकार प्रयोग किया जाता है जैसे एक्सरे यंत्र से निकले एक्सरे का। इस प्रकार की चिकित्सा को रेडियम किरण या रेडियम बम चिकित्सा कहते हैं।

प्रत्येक सूई मे रेडियम की मात्रा, सूई की लंबाई, सूई की धातु, सूइयों की संख्या, उनको वितरित करने की रीति तथा किस समय तक सूइयाँ रोगी के शरीर मे रखी जायँ, आदि बातों पर चिकित्सा की मात्रा निर्भर करती है। रेडियम को कभी अँगुलियों से नहीं पकड़ा जाता, क्योंकि विकिरण के हानिकर प्रभाव से कुछ समय मे अँगुलियाँ गल जा सकती हैं।

इसी प्रकार विकिरणकारी समस्थानिकों को विविध विलयन या गोली के रूप में, इंजेक्शन द्वारा अथवा लेप द्वारा शरीर के रोगग्रस्त भाग में पहुँचाया जाता है जहाँ विकिरण अपनी क्रिया करता है। किरणों की क्रियाएँ बहुत जटिल होती हैं तथा प्रयोग की सफलता कई बातों पर निर्भर रहती है। विशेषज्ञ चिकित्सक, भौतिकी तथा गणित का विशेष ज्ञान और क्रियात्मक अनुभव इन सभी की आवश्यकता चिकित्सा की मात्रा निर्धारित करने में पड़ती है। समय समय पर यंत्र के अंशशोधन

(कैलिब्रेशन) की भी आवश्यकता रहती है। ये सब सुविधाएँ केवल विशेष संस्थाओं या चिकित्सालयों मे ही संभव हैं।

इन विकिरणों का प्रयोग बहुत से रोगों की चिकित्सा में हो रहा है, जिनमें त्वचारोग, कैंसर तथा कई प्रकार के अघातक रोग प्रमुख हैं।

त्वचारोगों में पामा (एकजेमा), खुजली, केशलुंचन (ऐपिलेशन), दाद, कीलाएड, शोणवाहिन्यर्बुद (हेमांजिओमा, तथा चर्मकर्कट मुख्य हैं।

प्रायः सभी कर्कट रोगों की चिकित्सा विकिरण तथा शल्य कर्म द्वारा की जाती है। इसी प्रकार की चिकित्सा लसीका-कणार्बुद (हौजकिन्स डिज़ीज़), अतिश्वेतरक्तता (ल्यूकीमिया), विल्म्ज़ का अर्बुद तथा अघातक अर्बुद, कंठमाला, अस्थि-संधि-कोप (आस्टियो आर्थ्राइटिज), कृत्रिम मासिक-धर्म-निग्रह (आर्टिफिशियल मेनोपॉज़) इत्यादि रोगों में होती है।

विकिरण अपनी क्रिया तभी कर पाता है जब किरणें रोगग्रस्त भाग पर उचित मात्रा में पहुचती है। जब रोग त्वचा पर या शरीर के किसी ऊपरी भाग पर ही रहता है तब चिकित्सा अधिक सरलता से हो सकती है। परंतु जब रोगग्रस्त अवयव शरीर की गहराई में स्थित रहता है तब रश्मियों को वहाँ पहुचाने के दो ही मार्ग संभव होते हैं : या तो कठोर रश्मियों को शरीर के बाहर से इस दिशा मे भेजा जाय कि भीतर के रोगग्रस्त भाग तक वे पहुँच जायँ, अथवा रोगग्रस्त भाग पर शल्य क्रिया या किसी अन्य क्रिया द्वारा रेडियम की सूइयाँ उचित मात्रा में लगा दी जायँ, अथवा उस भाग में किसी विकिरणकारी समस्थानिक को घोल के रूप में पहुँचा दिया जाय जहाँ वह निर्धारित समय तक अपनी किरणों द्वारा रोग पर क्रिया करता रहे।

त्वचा के रोगों में कोमल किरणोवाले एक्सरे यंत्र का उपयोग किया जा सकता है। रेडियम नलिकाओं को उपयुक्त पट्टी, मोम के ढाँचे आदि में रखकर अंग पर बाँध दिया जा सकता है, या विकिरणकारी समस्थानिक द्रव्यों का मलहम लगाया जा सकता है।

गहराई में स्थित अर्बुद (ट्यूमर) पर विकिरण क्रिया करने के लिये कठोर-रश्मि-यंत्र द्वारा एक या अनेक स्थानों से बारी बारी से किरणें ऐसी दिशाओं में भेजी जाती हैं कि वे अर्बुद को वेधित करें और उसी पर केंद्रित रहें, अथवा उचित मात्रा में रेडियम नलिकाएँ (ट्यूब) वहीं पर निर्धारित समय तक रखी जाती हैं। गर्भाशय के कर्कट में गर्भाशय में रेडियम की सूइयाँ रखकर चिकित्सा की जाती है। बाहर से भी एक्सरे चिकित्सा करने के लिये सामने पेडू से, तथा पीछे कमर के निचले भाग से, किरणों को ऐसी दिशा में भेजा जाता है कि वे गर्भाशय को वेधित करें। इसी प्रकार भोजन नलिका के कर्कट में चार छह स्थानों से किरणों को भीतर भेजा जाता है। इस रीति की आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि एक्सरे को गहराई में स्थित रोगग्रस्त भाग पर बाहर से उचित मात्रा मे पहुँचाने के लिये किरणों को स्वस्थ शरीर के ऊपरी भागों से जाना पड़ता है और गहराई तक पहुँचते पहुँचते इनकी मात्रा भी क्षीण हो जाती है। इससे दो विघ्न पड़ते हैं। किरणों के मार्ग में आनेवाले सब स्वस्थ भागों पर किरणों की प्रतिक्रिया होती है, जो न केवल अनावश्यक वरन् हानिकर भी होती है। दूसरे, रोगग्रस्त भाग की अपेक्षा किरणें अधिक मात्रा में स्वस्थ भाग पर पड़ेंगी। इसलिये यदि रोगनाशक मात्रा रोगग्रस्त भाग पर पहुँचानी है तो सतह के, या मार्ग के, अंगों पर बहुत अधिक मात्रा में किरणें डालनी पड़ेंगी जो अवश्य हानिकर होंगी। यदि रोगग्रस्त भाग पर कम मात्रा में किरणें पहुचेंगी तो रोग का नाश नहीं होगा। इसीलिये ऐसी दशा में एक के बदले कई मार्गो द्वारा रोगग्रस्त भाग पर किरणें केंद्रित करके पहुँचाई जाती हैं, जिससे प्रत्येक भाग से पहुँचकर किरण की संयुक्त मात्रा रोग पर तो पूरी हो जाती है परंतु, बाहरी भागों के स्वस्थ स्थानों पर कुल मात्रा कम ही रहती है और इसलिये विशेष हानि नहीं कर पाती।

प्रत्येक दशा में स्वस्थ त्वचा या मार्ग के अंगों को कुछ सीमा तक विकिरण की क्रिया का फल भोगना ही पड़ता है; पर प्रयत्न किया जाता है कि यह न्यूनतम रहे। साथ ही जो प्रतिक्रिया अनिवार्यतः चिकित्सा के समय, या बाद में, होती है उसकी भी उचित चिकित्सा का ध्यान रखा जाता है जिससे रोगी को कम से कम कष्ट पहुँचे।

शरीर के जीवित कोशों पर विकिरण के प्रभावों में मुख्य यह है कि कोशिकाभाजन बहुत कुछ रुक जाता है तथा कोशिकाओं के पितसूत्र खंडित हो जाते है, जिससे पुनः कोशिकाभाजन या उनकी संख्यावृद्धि रुक जाती है। यह क्रिया अभी तक भली भाँति नहीं समझी जा सकी है, परंतु कोशिकाओं पर तथा पड़ोसी स्वस्थ भागों पर पड़नेवाले विकिरण प्रभाव के कारण ही यह संभव हो सकती है। विकिरणों की बहुत अधिक मात्रा से कोशिकाओं की मृत्यु हो जाती है।

शरीर के पृथक् पृथक् अंगों पर इन किरणों का प्रभाव भिन्न भिन्न पड़ता है। कुछ स्थानों की मांसपेशियों, तंतुओं इत्यादि पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना अन्य भागों पर। अंडग्रंथि, डिंभाशय, या श्वेत रक्तकोशिकाओं आदि पर इनका विशेष प्रभाव पड़ता है। कर्कट में कोशिकाभाजन बहुत मात्रा में होता रहता है और प्रत्येक समय कर्कटपिंड में कोशिकाभाजन अवस्था की साधारण से बहुत अधिक कोशिकाएँ रहती हैं। इसलिये विकिरण की प्रतिक्रिया कर्कट रोग में विशेष उपयोगी होती है।

सं०ग्रं०—यू० बी० पोर्टमान (संपादक) : क्लिनिकल थेराप्यूटिक रेडिऑलोजी (१९५०); सी० एफ० बेहरेन्स : ऐटॉमिक मेडिसिन (१९४९)। (उ० शं० प्र०)

एक्सरे की प्रकृति जर्मनी में वुर्ट्‌सबर्ग विश्वविद्यालय के भौतिकी के प्राध्यापक विल्हेल्म कोनराड रंटजन ने १८९५ में एक्सरे का आविष्कार किया। यदि काच की नलिका में से वायु को पंप से क्रमशः निकाला जाय और उसमें उच्च विभव का विद्युद्विसर्जन किया जाय, तो दाब के पर्याप्त अल्प होने पर वायु स्वयं प्रकाशित होने लगती है। इस घटना का प्रायोगिक अध्ययन करते समय रंटजन ने यह देखा कि वायु का दाब अत्यंत अल्प होने पर काच की नलिका में से जो किरणें आती हैं, उनसे बेरियम प्लैटिनोसाइनाइड के मणिभ प्रकाश देने लगते हैं और, नलिका को काले कागज से पूर्ण रूप से ढकने पर भी, पास में रखे मणिभ द्युतिमान होते रहते हैं। अतः यह स्पष्ट था कि विसर्जननलिका के बाहर जो किरणें आती हैं वे काले कागज में से सुगमता से पार हो सकती हैं और बेरियम प्लेटिनोसाइनाइड के परदे को द्युतिमान करने का विशेष गुण इन किरणों में है। विज्ञान में इस प्रकार की किरणें तब तक ज्ञात नहीं थीं। अतः इन नई आविष्कृत किरणों का नाम 'एक्सरेज़' (अर्थात् 'अज्ञात किरणें') रखा गया, किंतु रंटजन के संमान में, विशेषतः जर्मनी में, इन किरणों को 'रंटजन किरणें' ही कहा जाता है। रंटजन के आविष्कार के प्रकाशित होते ही संपूर्ण वैज्ञानिक विश्व का ध्यान एक्सरे की ओर आकृष्ट हुआ। अपारदर्शी ठोस पदार्थों में से पार होने का एक्सरे का गुणधर्म अत्यंत महत्वपूर्ण था और इस गुणधर्म का उपयोग विज्ञान के अनेक विभागों में हो सकता था। अतः अनेक भौतिकी प्रयोगशालाओं में एक्सरे के उत्पादन तथा उनके गुणधर्मों के अध्ययन के प्रयत्न होने लगे।

अल्प दाब पर वायु में जो विद्युद्विसर्जन होता है, उसके अध्ययन का आधुनिक भौतिकी के विकास में एक विशेष स्थान है। यदि काच की एक लंबी नलिका को निर्वात पंप से जोड़कर भीतर की वायु में उच्च विभव की विद्युद्धारा प्रवाहित की जाय तो प्रारंभ में, जब दाब अधिक रहती है तब, कोई क्रिया दिखाई नहीं देती, किंतु वायु की दाब जब अल्प हो जाती है तब पहले दोनों विद्युदग्र द्युतिमान होते हैं। दाब को और कम करने पर संपूर्ण नलिका द्युतिमान हो जाती है। आधुनिक भौतिकी के अनुसार इसका कारण यह है कि ऋणाग्र से जो इलेक्ट्रान निकलते है, उनको विद्युद्विभव के कारण ऊर्जा प्राप्त होती है और वे धनाग्र की ओर अति वेग से जाते समय शेष वायु के अणुओं से संघात करते हैं। संघातों के कारण अणुओं के आयन बनते हैं और जब ये आयन पूर्व अवस्था को प्राप्त होते हैं तब प्रकाश का उत्सर्जन होता है। आयनों के अस्तित्व के कारण वायु में विद्युद्विसर्जन जारी रहता है। दाब के अत्यंत अल्प हो जाने पर इलेक्ट्रानों से संघात होने के लिये पर्याप्त अणु नहीं रहते; अतः इलेक्ट्रान ऋणाग्र से निकलकर अपनी संपूर्ण ऊर्जा से धनाग्र से सीधे टकराते हैं। इन संघातों के कारण इलेक्ट्रानों की तीव्र ऊर्जा धनाग्र के परमाणुओं को मिल जाती है और इसका एक परिणाम एक्सरे का उत्पादन होता है। इस पद्धति से एक्सरे का

एक्सरे की प्रकृति (द्र० पृ० २२६)
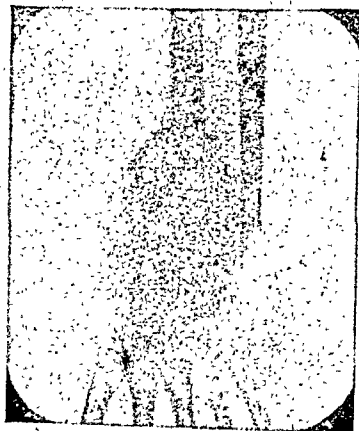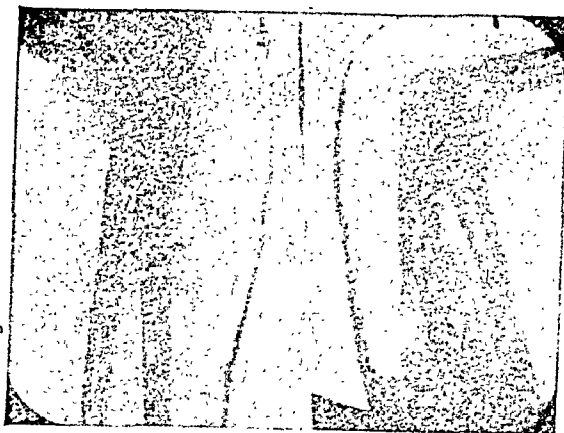
(१) (२)

ऊपर—
बाईं ओर : अंतः प्रकोष्ठास्थि (radius) के निचले सिरे पर माइएलोमा (myeloma) अर्बुद दिखाई पड़ रहा है; दाहिनी ओर : (१) अग्रबाहु की अंतर्जंघिका के काम (body) के मध्य भाग में अस्थिभग्न (fracture) है; (२) : अस्थि के निचले भाग में टूटी हुई हड्डी को प्लेट और पेचों से जोड़ा गया है।
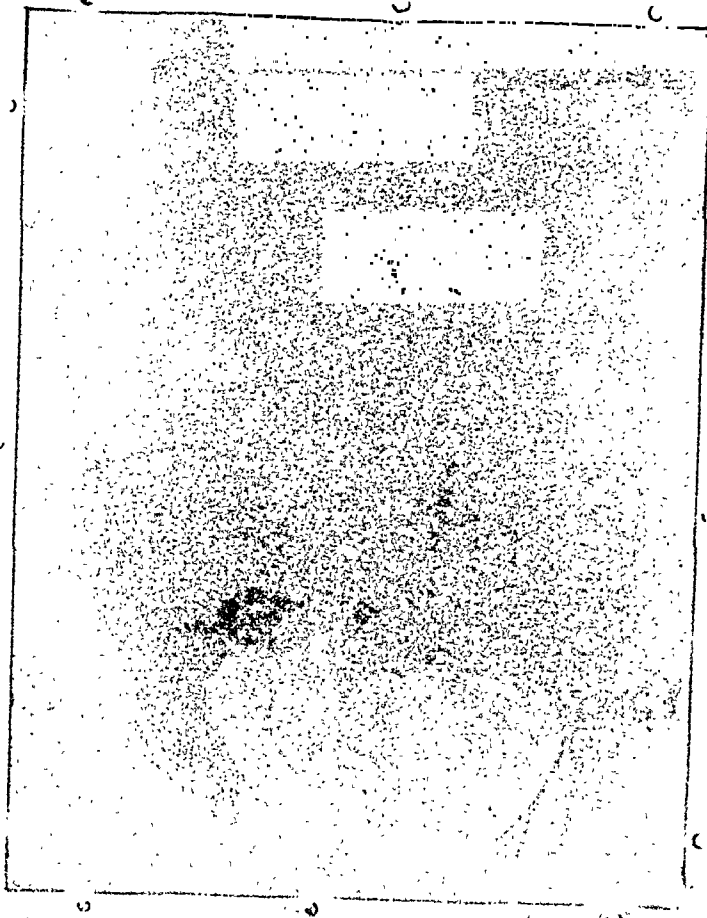
नीचे—
पूर्णकाल के गर्भ में माता की श्रोणि (Pelvis) में भ्रूण के सिर की अस्थियों की सीमा-रेखाएँ दिखाई दे रही हैं। चित्र के बाएँ भाग में भ्रूण की कशेरुकाओं की छाया भी दिखाई पड़ती है।

एक्सरे की प्रकृति (द्र० पृ० २२६)
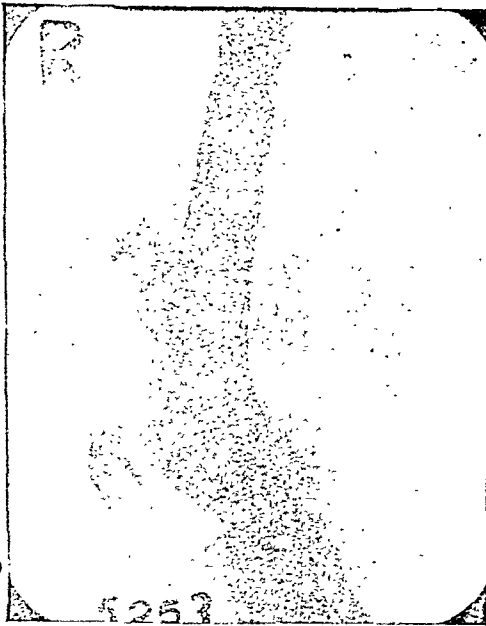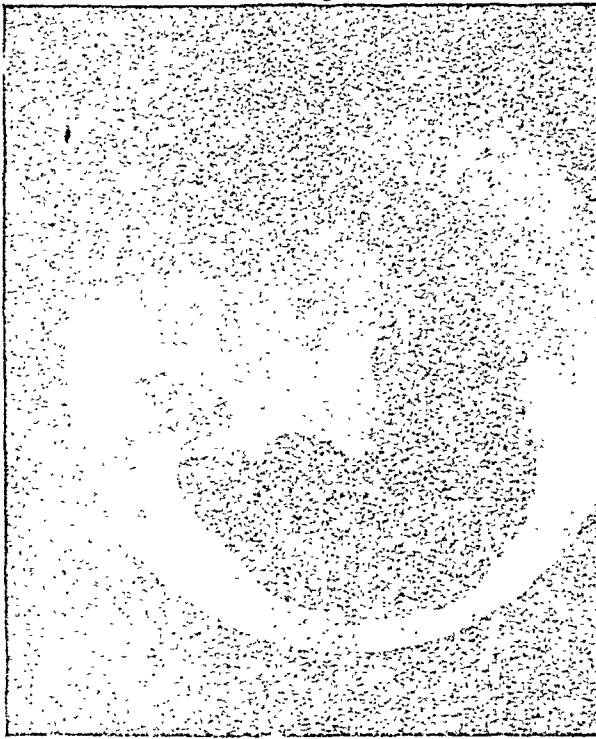
विविध एक्सरे चित्र

ऊपर बाईं ओर : बेरियम खिलाकर पेट का एक्सरे चित्र लिया गया है। इसमें × चिह्न के ऊपर एक आमाशयिक व्रण (gastric ulcer) का शिखर दिखाई पड़ रहा है; ऊपर दाहिनी ओर : टांग के भीतर की ओर की प्रजंघिकास्थि (Tibia) ऊपरी भाग में घातक अर्बुद (malignant tumour) से आक्रांत होकर गल गई है। दूसरी अनुजंघिका का ऊपरी सिरा भी आक्रांत हो गया है; नीचे बाईं ओर : इस चित्र में ऊर्वस्थि (Femur) के निचले सिरे के पास से अस्थ्यर्बुद (osteoma, एक प्रकार का अर्बुद) निकला हुआ दिखाई पड़ रहा है; नीचे दाहिनी ओर : चित्र में दाँतों की रचना दिखाई पड़ रही है। एक दाँत टेढ़ा निकला है।

उत्पादन करने के लिये नलिका में एक क्रांतिक दाब की आवश्यकता होती है। वायु की दाब यदि इस क्रांतिक दाब से अधिक हो तो एक्सरे के उत्पादन के लिये पर्याप्त ऊर्जा इलेक्ट्रानों में नहीं रहती (क्योंकि इलेक्ट्रानों की ऊर्जा का अधिकांश परमाणुओं से लगातार संघात होने के कारण क्रमशः घटता जाता है और धनाग्र से संघात होने समय केवल स्वल्प ऊर्जा शेष रहती है)। दूसरी ओर, यदि दाब इस क्रांतिक दाब से कम हो तो इलेक्ट्रान उत्पन्न ही नहीं होते, अतः विद्युद्विसर्जन ही बंद हो जाता है। प्रारंभ में एक्सरे का उत्पादन इसी प्रकार की वायुनली का उपयोग करके किया जाता था और वायु की दाब को महत्प्रयास से इस क्रांतिक दाब के मान पर रखा जाता था।

एक्सरे के दो विशेष गुणधर्म अधिक महत्वपूर्ण हैं : (१) तीव्रता और (२) ठोस पदार्थों में प्रवेशक्षमता (जिसे एक्सरे की 'कठोरता' भी कहा जाता है)। तीव्रतामापन की तीन मुख्य विधियाँ हैं। प्रतिदीप्त परदे पर एक्सरे से जो दीप्ति आती है उसकी तीव्रता—मर्यादित दीप्ति तक—एक्सरे की तीव्रता की समानुपाती होती है। प्रतिदीप्ति की तीव्रता का अनुमान करके एक्सरे की तीव्रता की तुलना स्थूल रूप से हो सकती है। दूसरी विधि में फोटो पट्टिका के ऊपर एक्सरे की (प्रकाश के ही समान) जो क्रिया होती है, उसका उपयोग किया जाता है। एक्सरे के आपतन से फोटो पट्टिका पर जो कालापन आता है, वह एक्सरे की तीव्रता तथा आपतन काल पर निर्भर रहता है। इस पद्धति से दो एक्सरे पुंजों की तीव्रताओं की तुलना करने के लिये अधिक तीव्रता के एक्सरे पुंज से फोटो पट्टिका पर मर्यादित स्थान पर किसी उपयुक्त काल तक क्रिया होने दी जाती है और तत्पश्चात् उसी पट्टिका पर कुछ नीचे दूसरे एक्सरे पुंज की क्रिया काल ट, २ट, ३ट आदि (t, $2t$, $3t$) तक होने दी जाती है। पट्टिका को विकसित (डेवेलप) करने के पश्चात् दोनों चित्रों के कालेपन की तुलना करने से दोनों पुंजों की सापेक्ष तीव्रता का ज्ञान हो जाता है। तीव्रतामापन की तीसरी रीति अधिक प्रचलित है, क्योंकि इस रीति से तीव्रता ठीक ठीक मापी जा सकती है। जब एक्सरे वायु में से जाती है तब वायु विद्युच्चालक हो जाती है और उसकी चालकता एक्सरे की तीव्रता पर निर्भर रहती है। एक्सरे की क्रिया से वायु के अणुओं के इलेक्ट्रान विस्थापित होते हैं और आयन उत्पन्न होते हैं। उचित विद्युद्विभव की उपस्थिति में आयनों से जो विद्युद्धारा प्राप्त होती है, वह संवेदी विद्युन्मापी से, अथवा अन्य उचित संवेदी उपकरणों से, मापी जा सकती है। एक्सरे की तीव्रता विद्युद्धारा की समानुपाती होती है। हाल में गुणक-प्रकाश-नलिका (मल्टिप्लायर फोटो ट्यूब) और एक्सरे-संवेदी स्फुर के उपयोग से तीव्रता का मापन अत्यंत सुलभ हो गया है। उसी प्रकार, गाइगर-गुणक की सहायता से आयनीकरण की धारा का मापन शीघ्र सुगमता से हो सकता है। अतः, वर्तमानकाल में इन दोनों प्रकार के उपकरणों द्वारा एक्सरे की तीव्रता का मापन अधिक प्रचलित है।

तीव्रतामापन की इन तीनों प्रचलित रीतियों से दो एक्सरे पुंजों की तीव्रताओं की केवल तुलना ही हो सकती है, निरपेक्ष तीव्रता प्राप्त नहीं हो सकती। आपाती एक्सरे के लंबवत् एक वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्रफल पर प्रति सेकंड जो ऊर्जा पड़ती है, उसको वस्तुतः हम उस एक्सरे की तीव्रता (निरपेक्ष तीव्रता) कह सकते हैं। इस तीव्रता को अर्ग प्रति वर्ग सेंटीमीटर प्रति सेकंड में व्यक्त करते हैं। तीव्रता का मापन ऊर्जा के रूप में करने के लिये एक्सरे की ऊर्जा को उष्मा में परिवर्तित करने की आवश्यकता होती है। एक्सरे से प्राप्त हुई उष्मा अत्यंत अल्प होने के कारण इस रीति से तीव्रतामापन के लिये अत्यंत सूक्ष्मग्राही विशिष्ट उपकरणों की आवश्यकता होती है। इस रीति से तीव्रतामापन का प्रथम प्रयास टेरिल ने किया था। इसके पश्चात् १९५३ ई० में अमरीका में इलिनाय विश्वविद्यालय के हेंडरसन, वीटी एवं लाफ़न ने भी प्रयत्न किए। अति प्रचंड विद्युद्विभव से उत्पन्न एक्सरे की तीव्रता केवल इसी रीति से नापी जा सकती है।

भौतिकी के प्रायोगिक कार्यों में सदा एककों की आवश्यकता होती है और मापी गई राशि के अनुसार इसका स्वरूप होता है। एक्सरे की मात्रा के एकक को रंटजन कहते है और वर्तमान काल में एक रंटजन की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की जाती है : एक रंटजन एक्सरे की वह मात्रा है जिससे ०.००१२९३ ग्राम वायु से प्राप्त आवेशित कणिकाओं का उत्सर्जन १ स्थिर वैद्युत (धन अथवा ऋण) होगा। इस परिभाषा के अनुसार एक्सरे की तीव्रता रंटजन एककों में मापने के लिये रंटजनमापी उपकरण उपयोग में लाए जाते हैं।

एक्सरे का दूसरा विशेष गुणधर्म उनकी ठोस पदार्थों में प्रवेशक्षमता है। भिन्न भिन्न ठोस पिंडों की समान मोटाइयों में से पार होने पर एक्सरे की तीव्रता में जो कमी होती है वह समान नहीं होती। कुछ ठोस पदार्थों में एक्सरे का अवशोषण अधिक होता है और कुछ पदार्थों में कम। प्रयोग द्वारा यह फल प्राप्त हुआ कि किसी ठोस विशेष की भिन्न भिन्न मोटाइयों में से यदि एक्सरे पार जाय, तो निर्गत एक्सरे की तीव्रता, प्रारंभिक तीव्रता और ठोस पदार्थ की मोटाई, इन तीनों में निम्नलिखित समीकरण के अनुसार संबंध रहता है :

$$\text{लघु}\ (\text{ती}/\text{ती}_0) = -\text{म} \times \text{मोटाई} \qquad (१)$$
$$\log\ (i/i_0) = -m \times \text{मोटाई} \qquad (1)$$

यहाँ ती० (i_0) = एक्सरे की प्रारंभिक तीव्रता; ती (i) = ठोस पदार्थ में से पार होने के पश्चात् एक्सरे की तीव्रता; म (m) = एक स्थिरांक, जिसको अवशोषण गुणक कहते हैं। समीकरण (१) के स्थिरांक को उस ठोस विशेष का एक्सरे-अवशोषण-गुणक कहते हैं। वस्तुतः यह रेखीय गुणक है। इसको व्यापक रूप में व्यक्त करने के लिये म (m) में उस ठोस पदार्थ के घनत्व का भाग दिया जाता है और इस प्रकार प्राप्त अवशोषण गुणक को संहति-अवशोषण-गुणक कहते हैं। अतः

$$\text{म}_{\text{सं}} = \frac{\text{म}}{\text{घनत्व}} \left[m_{mass} = m/\text{घनत्व} \right]$$

संहति-अवशोषण-गुणक का विशेष महत्व यह है कि वह अवशोषक पदार्थ का लाक्षणिक गुणधर्म है। उदाहरणार्थ, जल और भाप का रेखीय अवशोषण-गुणक भिन्न होता है, क्योंकि जल द्रव है और भाप गैस है। परंतु जल तथा भाप का एक्सरे संहति-अवशोषण-गुणक समान ही होता है, क्योंकि जल तथा भाप के रासायनिक संरचक अभिन्न हैं—अर्थात् हाइड्रोजन तथा आक्सिजन। प्रकाश और एक्सरे के गुणधर्मों की भिन्नता संहति-अवशोषण-गुणक से अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। साधारणतः द्रव तथा ठोस पदार्थों के वाष्प प्रकाश के लिये पारदर्शी होते हैं, किंतु वे ही द्रव और ठोस पदार्थ प्रकाश के लिये स्वयं अपारदर्शी अथवा पारभासक (ट्रैंसल्यूसेंट) होते हैं। प्रकाश के लिये हीरा पारदर्शी और ग्रैफ़ाइट अपारदर्शी है, परंतु एक्सरे का संहति-अवशोषण-गुणक हीरा तथा ग्रैफ़ाइट के लिये समान ही रहता है, क्योंकि ये दोनों पदार्थ वस्तुतः कार्बन के ही विभिन्न स्वरूप हैं।

एक्सरे नलिका से जो संपूर्ण एक्सरे प्राप्त होते हैं, उन सबका अवशोषण-गुणक मुख्यतः (१) विद्युद्विभव और (२) अवशोषक परदे की धातु का परमाणु-क्रमांक, इन दोनों पर निर्भर रहता है। जैसे जैसे विभव बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे उत्पादित एक्सरे की प्रवेशक्षमता अथवा कठोरता बढ़ती जाती है। समीकरण (१) से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी एक ठोस पदार्थ के लिये अवशोषण गुणक सब मोटाइयों के लिये स्थिर रहेगा। किंतु प्रत्यक्ष प्रयोग में एक्सरे नलिका से प्राप्त विकिरण का न्यून प्रवेशक्षमतावाला भाग अवशोषक परदे के प्रथम स्तरों में ही पूर्णतया अवशोषित हो जाता है (कम प्रवेशक्षमता के इन एक्सरे को मृदु एक्सरे कहते हैं)। केवल अधिक प्रवेशक्षमता के एक्सरे (जिनको कठोर एक्सरे कहते हैं) अवशोषण परदे के अंतिम स्तरों तक पहुँच पाते हैं। स्पष्ट है कि अवशोषण परदे में प्रवेश करनेवाले एक्सरे का अवशोषण गुणक परदे से पार निकले हुए एक्सरे के अवशोषण गुणक से अधिक होना है। जब समस्त एक्सरे का अवशोषण गुणक समान होता है (अथवा भौतिकी की भाषा में, जब समस्त एक्सरे का तरंगदैर्घ्य समान होता है) तब उनको समांग एक्सरे कहते हैं। अतः एक्सरे की मात्रा उनकी तीव्रता से, और उनकी विशेषता उनके अवशोषण-गुणक से (अथवा, कहना चाहिए, उनके तरंगदैर्घ्य से) मापित होती है।

वर्तमान काल में प्रायः संपूर्ण विद्युच्चुंबकीय वर्णक्रम का आविष्कार हो चुका है। इसमें एक्सरे का स्थान चित्र १ में दिया हुआ है।
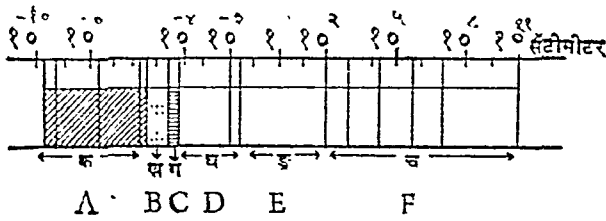
चित्र १. संपूर्ण विद्युच्चुंबकीय वर्णक्रम

क = एक्सरे और गामा किरणें;
ख = परावैंगनी (अल्ट्रावॉयलेट);
ग = दृश्य प्रकाश;
घ = अवरक्त (इन्फ्रा-रेड);
ङ = सूक्ष्म तरंग (माइक्रो-वेव्ज़);
च = रेडियो तरंग।

चित्र १ में संपूर्ण विद्युच्चुंबकीय वर्णक्रम दिखाया गया है। उनमें सभी तरंगदैर्घ्य सेंटीमीटर में दिए गए हैं। स्थूल रूप से पूर्वोक्त वर्णक्रम के विभिन्न विभाग क, ख, ग,...अक्षरों से सूचित किए गए हैं। यद्यपि यहाँ सब तरंगदैर्घ्य सेंटीमीटर में दिए हैं, तथापि विभिन्न विभागों में सुविधा के लिये साधारणतः भिन्न भिन्न एकक प्रयुक्त होते हैं। रेडियो प्रसारण में १ मीटर को एकक माना जाता है, तथा रेडियो के सूक्ष्म तरंग विभाग में एक मिलीमीटर को एकक माना जाता है। अवरक्त वर्णक्रम के लिये $१०^{-४}$ सें० मी० का एकक प्रचलित है तथा दृश्य प्रकाश के लिये इससे भी छोटे $१०^{-८}$ सें० मी० के एकक की आवश्यकता होती है। $१०^{-४}$ सें० मी० के एकक को म्यू और दृश्य प्रकाश के एकक ($१०^{-८}$ सें० मी०) को ऑगस्ट्रम कहते हैं। प्रारंभ में एक्सरे के लिये भी ऑगस्ट्रम उपयोग में लाया जाता था, किंतु एक्सरे वर्णक्रम में अधिक आविष्कार होने पर इस एकक से भी सूक्ष्म एकक की आवश्यकता होने लगी। अतः एक्सरे के लिये तथा गामा किरणों के लिये सीगबाह्न ने एक नए एकक का उपयोग किया, जिसे एक्सरे एकक कहते हैं। यह $१०^{-११}$ सें० मी० के बराबर होता है। विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत की दृष्टि से एक्सरे और गामा किरणों में कोई भेद नहीं है; एक्सरे प्रयोगशालाओं में उत्पन्न किए जा सकते हैं और गामा किरणें रेडियोधर्मी पदार्थों से प्राप्त होती हैं (हाल में अति प्रचंड विद्युद्विभव से गामा किरणों के तरंगदैर्घ्यों के समान सूक्ष्म तरंगदैर्घ्यों के एक्सरे का उत्पादन प्रयोगशाला में हो चुका है)। विद्युच्चुंबकीय वर्णक्रम में अत्यंत स्वल्प तरंगदैर्घ्यों का विभाग एक्सरे तथा गामा किरणों का है। तरंगदैर्घ्य आवृत्तियों का प्रतिलोमानुपाती होने के कारण एक्सरे और गामा किरणों की आवृत्तियाँ अन्य विद्युच्चुंबकीय विकिरणों से बहुत अधिक होती है।

जिस पदार्थ से प्रकाश आता है (चाहे वह पदार्थ स्वयं प्रकाशित हो अथवा किसी द्युतिमान पदार्थ से प्राप्त प्रकाश का प्रकीर्णन करता हो) उस पदार्थ को हम देख सकते हैं; क्योंकि प्रकाश किरणों की एक क्रिया हमारी आँख के रूपाधार (रेटिना) पर होती है। इस प्रकार की क्रिया एक्सरे द्वारा नहीं होती, अतः एक्सरे दृश्य नहीं हैं। इतना ही नहीं, आँखों पर तथा शरीर के अन्य अंगों पर एक्सरे की क्रिया अत्यंत हानिकारक होती है। जीवित कोशाओं पर एक्सरे की पर्याप्त काल तक क्रिया होने से वे मृत हो जाती हैं। एक्सरे शरीर के चर्म में से सरलता से पार हो जाते हैं और भीतर के जीवित कोशाओं पर इनकी पर्याप्त काल तक क्रिया होने से उनके मृत हो जाने की संभावना रहती है। फिर, एक्सरे के प्रभाव टिकाऊ होते हैं; अतः शरीर के एक ही स्थान पर भिन्न भिन्न समयों पर भी एक्सरे की क्रिया होती रहने पर कुछ काल में कैन्सर सदृश दुःसाध्य रोग हो जाते हैं। अतः एक्सरे का उपयोग करते समय अत्यंत सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता रहती है। शरीर की रक्षा के लिये विशेष साधन उपयोग में लाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक्सरे का नित्य उपयोग करनेवाले वर्तमान काल में एक एक्सरे-मात्रा-मापी अपनी जेब में रखते हैं, जिससे पता चलता है कि विकिरण की कितनी मात्रा कर्मचारी के ऊपर कार्य कर चुकी है। एक्सरे के इस घातक गुणधर्म का अन्य रोगों में उपयोग भी किया जाता है: जैसे, शरीर के किसी भाग में अनिष्ट रोगाणुओं की वृद्धि होती हो तो उनपर एक्सरे का प्रयोग करके उन्हें नष्ट किया जा सकता है।

एक्सरे का आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) में, विशेषतः शल्य विज्ञान (सर्जरी) में, अधिक उपयोग होता है। इस प्रकार के उपयोग की संभावना एक्सरे के आविष्कार के समय से ही स्पष्ट थी। शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के अवशोषण-गुणक विभिन्न होते हैं; अतः शरीर के किसी भी भाग में से एक्सरे पार करके फोटो लेने से अस्थियाँ तथा अन्य घटक पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं (एक्सरे विज्ञान ७०)। अतः शल्य क्रिया के पूर्व, अथवा यह ज्ञात करने के लिये कि रोग किस अवस्था में है एक्सरे फोटो अत्यंत उपयोगी होते हैं। एक्सरे के उत्पादन में प्रगति होने पर उनका उपयोग उद्योगों में भी होने लगा और वर्तमान काल में धातुविज्ञान में एक्सरे का उपयोग आवश्यक हो गया है।

एक्सरे उत्पादन के उपकरण—विभव के कारण इलेक्ट्रान को ऊर्जा इ × वि (e × v) प्राप्त होती, जहाँ इ (e) = इलेक्ट्रान का आवेश, तथा वि = (v) विभव। यदि इतनी कुल ऊर्जा धनाग्र के अणुओं में स्थानांतरित हो जाय तथा इस ऊर्जा का एक्सरे में परिवर्तन हो, तो उत्सर्जित एक्सरे की आवृत्ति निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्राप्त होगी :

इ × वि (e × v) = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति......(२)

समीकरण (२) अनेक प्रयोगों में प्रमाणित हुआ है। प्लांक के स्थिरांक का मान ६.६२×१०^{-२७} अर्ग-सेकंड है। विद्युच्चुंबकीय तरंगों के लिये आवृत्ति तथा तरंगदैर्घ्य में निम्नलिखित संबंध होता है :

तरंगदैर्घ्य × आवृत्ति = विद्युत्तरंगदैर्घ्य का वेग
$= २.९९८ \times १०^{१०}$ सें० मी० प्रति सेकंड

यदि विभव वोल्ट में ज्ञात हो, तो उत्पादित एक्सरे का तरंगदैर्घ्य ऑगस्ट्रम एककों में निम्नलिखित समीकरण द्वारा सरलता से निकाला जा सकता है :

$$\text{तरंगदैर्घ्य (ऑगस्ट्रमों) में} = \frac{१२४०३}{\text{वोल्ट}} \ldots\ldots\ldots\ldots(३)$$

समीकरण (३) के अनुसार एक्सरे का जो तरंगदैर्घ्य प्राप्त होता है वह केवल इस अनुमान पर आधारित है कि ऋणाग्र से धनाग्र तक पहुँचने में
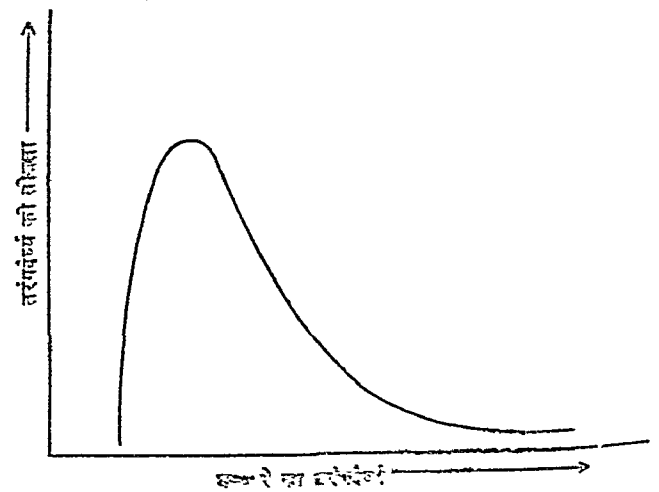
चित्र २. एक्सरे की वर्णक्रमीय तीव्रता का वितरण

इलेक्ट्रान को प्राप्त ऊर्जा इ × वि (e × v) का संपूर्ण भाग विद्युच्चुंबकीय तरंगों में परिवर्तित होकर समीकरण (२) के अनुसार विकिरण का एक ही क्वांटम देता है। किंतु सब इलेक्ट्रानों के लिये यह ठीक नहीं है। विद्युच्चुंबकीय विकिरण उत्पन्न होने के पूर्व इलेक्ट्रान की ऊर्जा के अंशतः अथवा संपूर्णतः नष्ट होने की बहुत अधिक संभावना रहती है। इसके

अनेक कारण होते हैं। जिस धातु का धनाग्र हो उस धातु के परमाणुओं से प्रथम आघात होने पर इलेक्ट्रान उस धनाग्र के तल के भीतर जाते हैं। इन परमाणुओं से इलेक्ट्रानों की गति में प्रतिरोध होता है, क्योंकि वे परमाणु भी अन्य इलेक्ट्रानों से परिवेष्टित होते हैं। प्रत्येक धातु में धात्वीय इलेक्ट्रान होते हैं जिनके कारण धातुएँ विद्युच्चालक होती हैं। धनाग्र में प्रवेश करते समय ऋणाग्र से आनेवाले इलेक्ट्रानों तथा धनाग्र के आंतर इलेक्ट्रानों में अनेक संघात होते हैं और प्रत्येक संघात में बाह्य इलेक्ट्रानों की ऊर्जा कम होती जाती है। अतः अंत में जब बाह्य इलेक्ट्रानों से विद्युच्चुंबकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं तब इन इलेक्ट्रानों की ऊर्जा एक समान नहीं होती। विभवांतर वि (v) से महत्तम ऊर्जा इ × वि (e × v) होगी, किंतु इस महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रान—अर्थात् वे जिनसे एक भी संघात नहीं हुआ है—अत्यंत अल्प होते हैं; अधिकतर इलेक्ट्रानों की ऊर्जा इससे कम होती है। इसलिये उत्पादित एक्सरे एकवर्ण नहीं होता; हमें एक्सरे का अविच्छिन्न वर्णक्रम मिलता है। श्वेत प्रकाश का वर्णक्रम जिस प्रकार का होता है, उसी प्रकार का अविच्छिन्न वर्णक्रम एक्सरे का भी होता है; अतः एक्सरे के अविच्छिन्न वर्णक्रम को श्वेत विकिरण भी कहते हैं। चित्र २ में अविच्छिन्न एक्सरे वर्णक्रम के भिन्न भिन्न तरंगदैर्घ्यों की तीव्रता का वक्र दिया गया है। इस वक्र में न्यूनतम तरंगदैर्घ्य समीकरण (३) के अनुसार विद्युद्विभव से संबंधित है। यदि विभव बढ़ाया जाय तो न्यूनतम तरंगदैर्घ्य और भी कम हो जायँगे, किंतु वक्र चित्र २ के समान ही रहेगा। चित्र २ के अनुसार प्राप्त अधिकतम तीव्रता का तरंगदैर्घ्य भी विभव पर ही निर्भर रहता है और विभव बढ़ाने से अधिकतम तीव्रता का संगत तरंगदैर्घ्य भी कम हो जाता है। संपूर्ण एक्सरे की तीव्रता भी विभव पर निर्भर रहती है; जैसे जैसे विभव बढ़ता जाता है, वैसे वैसे संपूर्ण तीव्रता भी बढ़ती जाती है।

रंटजन ने जिस प्रकार के उपकरणों की सहायता से एक्सरे का आविष्कार किया था प्रारंभ के कतिपय वर्षों तक उसी प्रकार के उपकरण उपयोग में लाए जाते थे। इनमें थोड़ा बहुत सुधार हुआ और शिअरर, हेडिंग, जीगबाह्न इत्यादि वैज्ञानिकों ने ऐसी एक्सरे नलिकाओं की उपज्ञा की, जिनके धनाग्र सरलता से बदले जा सकते हैं। किंतु इन सब वायु-विसर्जन-नलिकाओं में एक विशेष दोष यह था कि इनमें विद्युद्धारा का तथा विभव का स्वतंत्रतापूर्वक परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। यह दोष कूलिज की एक्सरे नलिका में दूर कर दिया गया। १९१३ में कूलिज ने विभिन्न तत्वों पर इलेक्ट्रानों का उत्पादन करके कूलिज नलिका की उपज्ञा की (चित्र ३)। कूलिज ने इलेक्ट्रान प्राप्त करने के लिये वायु में विद्युद्विसर्जन के बदले उष्मीय आयनों का उपयोग किया। धातु के तंतु में विद्युद्धारा प्रवाहित करने से तंतु गरम हो जाता है और (निर्वात में) धारा अधिक बढ़ाने से उससे प्रकाश का उत्सर्जन होने लगता है (जैसा तप्ततंतु विद्युद्दीप में होता है)। इस तप्ततंतु से प्रकाश के साथ साथ इलेक्ट्रान भी निकलते हैं और यदि निर्वात में तप्त तंतु के समीप धातु की एक पट्टी रखकर उसको धन

चित्र ३. कूलिज एक्सरे नलिका

विद्युद्विभव दिया जाय तो धारामापी में विद्युद्धारा दिखाई देगी। किंतु इस रीति से इलेक्ट्रान प्राप्त करने के लिये अत्युच्च निर्वात की आवश्यकता होती है। कूलिज ने काच का एक विशाल बल्ब लेकर उसके केंद्र में उच्च गलनांकवाली धातु का एक टुकड़ा रखा (चित्र ३) और उसके अभिमुख टंग्स्टन तंतु के सर्पिल के पर्याप्त चक्र स्थापित करके संपूर्ण बल्ब को पूर्णतः निर्वात किया। यदि तंतु के इस सर्पिल में पर्याप्त विद्युद्धारा प्रवाहित की जाय तो तंतु तप्त हो जाता है तथा उससे इलेक्ट्रान प्राप्त होते हैं। इन इलेक्ट्रानों को विभव बढ़ाकर उचित ऊर्जा दी जा सकती है। अत्युच्च निर्वात होने के कारण वायु के परमाणुओं से इलेक्ट्रानों के संघात नहीं होते, अतः इलेक्ट्रान संपूर्ण ऊर्जा के साथ धातु से संघात करते हैं और एक्सरे का उत्पादन होता है। कूलिज की एक्सरे नलिका की मुख्य सुविधा यह है कि उत्पादित एक्सरे की तीव्रता तथा कठोरता में इच्छानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। विभव को स्थिर रखकर तंतु में यदि अधिक विद्युद्धारा प्रवाहित की जाय तो तंतु का ताप बढ़ने के कारण रिचर्डसन के समीकरण के अनुसार इलेक्ट्रानों की संख्या भी बढ़ती है, अतः (इन इलेक्ट्रानों से) उत्पन्न एक्सरे की तीव्रता बढ़ जाती है। इलेक्ट्रानों की संख्या (अथवा उष्मीय आयन धारा) स्थिर रखकर (अर्थात् टंग्स्टन तंतु में विद्युद्धारा स्थिर रखकर) यदि विभव बढ़ाया जाय, तो समीकरण (३) के अनुसार न्यूनतम तरंगदैर्घ्य कम हो जायगा और उत्पन्न एक्सरे की कठोरता अधिक हो जायगी। इस कूलिज नलिका पर आधारित, किंतु आवश्यक परिवर्तनों से युक्त अनेक प्रकार की एक्सरे नलिकाएँ वर्तमान काल में उपयोग में लाई जाती हैं। आधुनिक एक्सरे नलिकाओं में एक अपचायी परिणामित्र (स्टेप डाउन ट्रैंसफॉर्मर) से आवश्यक प्रत्यावर्ती धारा पहुँचाई जाती है और एक उच्चायी परिणामित्र (स्टेप अप् ट्रैंसफ़ार्मर) से आवश्यक प्रत्यावर्ती उच्च विभव उत्पन्न किया जाता है। कूलिज नलिका स्वयं ऋजुकारी है।

एक्सरे नलिका में इलेक्ट्रानों में जो ऊर्जा होती है उसके दो प्रतिशत से कुछ कम भाग का ही एक्सरे में परिवर्तन होता है और शेष ९८ प्रतिशत से कुछ अधिक भाग उष्मा उत्पन्न करने में व्यय होता है। लक्ष्य का, अर्थात् उस धातु के टुकड़े का जिसपर अल्पावधि में इलेक्ट्रानों के असंख्य संघात होते हैं, ताप इतना अधिक हो जाता है कि उसके गल जाने की संभावना रहती है। लक्ष्य को ठंढा रखने के लिये पानी के निरंतर प्रवाह का आयोजन किया जाता है। लक्ष्य में उत्पन्न हुई उष्मा को इस प्रकार बराबर हटाते रहने से एक्सरे नलिका से अधिक समय तक कार्य लेने में कोई कठिनाई नहीं होती।

एक्सरे का अध्ययन भौतिकी की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण तो था ही, धीरे धीरे एक्सरे का उपयोग, जैसा ऊपर बताया गया है, आयुर्विज्ञान और उद्योग में भी होने लगा। इन सब कार्यों के लिये अधिक तीव्र तथा कठोर एक्सरे के उत्पादन की आवश्यकता बढ़ती गई। इस समस्या को हल करने के लिये एक्सरे के क्षेत्र में कार्य करनेवाले अनेक वैज्ञानिकों ने भिन्न भिन्न प्रकार की नलिकाएँ तथा उपकरणों की उपज्ञा की (संदर्भ ग्रंथ द्र०)। तीव्रता बढ़ाने के लिये इलेक्ट्रानों की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक है। तंतु में विद्युद्धारा बढ़ाने से इलेक्ट्रानों की संख्या अवश्य बढ़ती है, किंतु तंतु का ताप अधिक बढ़ने से उसकी धातु का वाष्पन होता है और उसके क्षीण होकर टूटने की संभावना रहती है। साथ ही, इलेक्ट्रानों के संघातों से लक्ष्य में जो उष्मा उत्पन्न होती है वह बढ़ती जाती है, इससे लक्ष्य के गलने की संभावना बढ़ जाती है। इन दोनों कठिनाइयों को दूर करने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयत्न हुए और उनमें से कतिपय सफल भी रहे। आक्साइड विलेपित तंतुओं से निम्न ताप पर अधिक इलेक्ट्रान धारा प्राप्त हो सकती है; फिर, पर्याप्त लंबाई का तंतुसर्पिल लेकर इष्ट धारा प्राप्त हो सकती है। साधारणतः एक्सरे नलिकाओं में १० से १५० मिलिऐंपिअर विद्युद्धारा का उपयोग होता है; वर्तमान काल में उचित तंतुओं से तथा उपसाधनों से १ ऐंपिअर अथवा उससे अधिक इलेक्ट्रान धारा सरलता से प्राप्त हो सकती है। इस तीव्र इलेक्ट्रान धारा से लक्ष्य में जो प्रचंड उष्मा उत्पन्न होती है उसको कम करने के लिये फ़िलिप्स, जनरल इलेक्ट्रिक, मैचलेट इत्यादि एक्सरे उपकरणों के निर्माताओं ने स्थिर लक्ष्य के स्थान पर घूर्णन करनेवाले मंडलक का आयोजन किया है। घूर्णन से इलेक्ट्रानों के संघात एक ही स्थान पर नहीं होते और जिस स्थान पर उष्मा उत्पन्न हुई है उसके पुनः संघातस्थान पर आने के पूर्व विकिरण द्वारा उष्मा का व्यय हो जाता है। घूर्णित लक्ष्य की एक्सरे नलिकाओं में से जो एक्सरे प्राप्त होता है उसकी तीव्रता स्थिर लक्ष्य (कूलिज नलिका) से उत्पन्न एक्सरे की तीव्रता की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक होती है, अर्थात् फोटो खींचने में प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) के समय में बहुत बचत होती है।

एक्सरे की तीव्रता तथा कठोरता बढ़ाने का दूसरा भी एक उपाय है। नलिका का विद्युद्विभव बढ़ाने से भी तीव्रता तथा कठोरता दोनों ही बढ़ती

है। समीकरण (३) के अनुसार विभव बढाने से न्यूनतम तरगदैर्घ्य घटता जाता है और विभव पर्याप्त बढाने से गामा किरणों के सदृश तरगदैर्घ्य-वाले एक्सरे का उत्पादन प्रयोगशालाओ मे हो सकता है। विभव बढाने से एक्सरे की तीव्रता भी बढती है, तीव्रता विद्युद्विभव के घन (तृतीय घात) की समानुपाती होती है। यद्यपि साधारण उच्च विभव के परिणामित्र उपलब्ध थे तथापि एक्सरे उत्पादन के लिये पर्याप्त उच्च विभव प्राप्त करने मे अनेक कठिनाइया थी। जनरल इलेक्ट्रिक, मैचलेट इत्यादि निर्माताओ ने अनेक अनुसधानो के पश्चात् एक करोड वोल्ट तक के विभव द्वारा एक्सरे उत्पन्न करनेवाले उपकरणो का निर्माण किया है। इसमे भी अधिक प्रगति इलिनॉय के प्राध्यापक कर्स्ट ने बीटाट्रॉन का उपयोग करके की है। बीटाट्रॉन से ४० करोड वोल्ट तक के विभव द्वारा एक्सरे का उत्पादन हो सकता है। प्रचड विभव से उत्पन्न ये एक्सरे अत्यत तीव्र तथा प्रवेशशील होते है। अत्यत तीव्रतावाले एक्सरे उत्पन्न करने के लिये अन्य साधनो का भी उपयोग किया जाता है, जिनमे उल्लोल-जनित्र (सर्ज जेनरेटर) विशेष उल्लेखनीय है। प्रकाश से जैसे चलचित्र लिए जाते है, वैसे ही एक्सरे से भी लिए जा सकते है और वैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त होने के निमित्त इन चित्रो को अत्यत अल्प समय मे ($१०^{-९}$ सेकड मे) लेने की आवश्यकता होती है। उल्लोल-जनित्र के विसर्जन से अत्यत उच्च उत्सर्जन धाराओ के नियत्रित विस्फोट उत्पन्न किए जाते है। यहा इलेक्ट्रानो का उत्पादन उष्ण विद्युदग्र से नही होता, अपितु शीत विद्युदग्र से तीव्र विद्युत् क्षेत्र के कारण इलेक्ट्रानो का उत्सर्जन होता है।

एक्सरे के गुण—ऊर्जा या तो कणो के साथ अथवा तरगो के साथ सयुक्त रहती है। किसी उद्गम से ऊर्जा का विसर्जन होता हो तो इस ऊर्जा का अस्तित्व साधारणत विद्युच्चुबकीय तरगो की (ध्वनि के लिये वायु के तरगो की) तीव्रता मे, अथवा इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, आयन इत्यादि कणो की गतिज ऊर्जा के रूप मे, व्यक्त होता है। तरग और कण के स्वरूप भिन्न होते है, इसलिये इनका साधारणत. भिन्न वर्गो मे रखा जाता है। किंतु अनेक प्रयोगो के फलो से यह स्पष्ट हो गया है कि इन वर्गो का बधन जितना दृढ समझा जाता था उतना दृढ नही है। विद्युच्चुबकीय तरगो मे कणो के गुण है और, विलोमत, कणो मे भी तरगो के गुण हैं। इस द्वैत रूप का प्रारभ प्लाक के उष्माविकिरण के सिद्धात से प्रारभ हुआ। एक्सरे के गुण भी इस द्वैत रूप के अपवाद नही है। एक्सरे के कतिपय गुण तरगो के है तथा कतिपय गुण कणो के भी हैं। पहले हम तरगीय गुणो पर विचार करेंगे।

प्रारभिक प्रयोगो के फलो से यह स्पष्ट था कि एक्सरे और प्रकाश के गुणो मे साम्य है। एक्सरे तथा प्रकाश की किरणो का दिक् (स्पेस) मे सरल रेखाओ मे प्रचारण होता है। प्रकाश के समान एक्सरे की तीव्रता भी दूरी के वर्ग की प्रतिलोमानुपाती होती है। फोटो पट्टिका पर होनेवाली क्रिया तथा गैस मे किए गए आयनीकरण के गुणो मे भी दोनो मे साम्य है। १९०५ ई० मे मार्क्स ने प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित किया कि एक्सरे का वेग प्रकाश के वेग के समान—अर्थात् ३×१०^{१०} से० मी० प्रति सेकड—है। वैद्युत तथा चुबकीय क्षेत्रो मे एक्सरे (प्रकाश के समान) अप्रभावित रहते है। इन सब गुणो से यह स्पष्ट था कि एक्सरे आवेशित कण नही, प्रकाश के समान विद्युच्चुबकीय प्रकृति के है। भेद केवल तरगदैर्घ्यो मे हो सकता है। हागा, विड्ट, वाल्टेर, पोल, सोमरफेल्ड इत्यादि वैज्ञानिको के प्रयोगो से यह अनुमान किया जा सकता था कि एक्सरे का तरगदैर्घ्य १×१०^{-८} से० मी० के निकट है। किंतु प्रथम निर्णयात्मक फल लावे, फ्रीडरिश तथा क्निपिंग के प्रयोगो से प्राप्त हुआ और एक्सरे की तरगप्रकृति प्रमाणित हुई। इस प्रयोग के पश्चात् एक्सरे की तरगप्रकृति सुस्पष्ट करने के तथा उसके सबध मे अन्य परिणामो के प्रायोगिक फल प्राप्त करने के अनेक प्रयत्न हुए। एक्सरे का तरगदैर्घ्य प्रकाश के तरगदैर्घ्य से बहुत कम (प्राय एक सहस्राश) होने के कारण जिन प्रयोगो द्वारा प्रकाश का तरगदैर्घ्य सरलता से मापा जा सकता है, वैसे प्रयोग एक्सरे के लिये करने मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। किंतु वर्तमान काल मे प्रकाशकी के प्रयोगो के समान एक्सरे का व्यतिकरण (इटरफियरेंस), विवर्तन (डिफ्रैक्शन), ध्रुवण (पोलैराइज़ेशन) इत्यादि गुण सुस्पष्ट करने के प्रयोग सफल हुए है और एक्सरे के तरगदैर्घ्य उतनी ही यथार्थता से ज्ञात हुए है जितनी से प्रकाशीय तरगो के ज्ञात हुए थे। जिन प्रयोगो से एक्सरे की तरगप्रकृति प्रमाणित होती है उनमे से कुछ नीचे दिए जा रहे हैं।

एक्सरे का व्यतिकरण—प्रकाशकी मे फ्रेनेल के व्यतिकरण के प्रयोग विशेष रूप से प्रसिद्ध है। फ्रेनेल के द्विप्रिपार्श्व (बाई-प्रिज़्म) तथा द्विदर्पण का उपयोग करके व्यतिकरण सरलता से प्राप्त किया जा सकता है और यदि प्रकाश एक वर्ण का हो तो धारियो का मापन करके प्रकाश का तरगदैर्घ्य निकाला जा सकता है। १९३२ ई० मे केलस्ट्राम ने द्विदर्पण की रीति का उपयोग किया और ऐलुमिनियम की के-ऐल्फा रेखा (तरगदैर्घ्य ८.३ आगस्ट्रम) से एक्सरे की व्यतिकरण धारियाँ प्राप्त की। प्रकाश के तरगदैर्घ्य की तुलना मे एक्सरे का तरगदैर्घ्य सूक्ष्म होने के कारण केलस्ट्राम के दोनो दर्पणो के बीच का कोण भी अत्यत सूक्ष्म था। प्रकाशकी मे व्यतिकरण का दूसरा प्रचलित प्रयोग लॉईड के दर्पण का है। इसमे एक ही दर्पण का उपयोग किया जाता है, और व्यतिकरण धारियाँ मिलती हैं। एक्सरे के सबध मे केलस्ट्राम का लॉईड दर्पणप्रयोग भी सफल रहा। इन दोनो प्रयोगो मे धारियो के अत्यत सूक्ष्म रहने के कारण मापन के पूर्व फोटो के आवर्धन की आवश्यकता प्रतीत हुई। तरगदैर्घ्य के मापन के अतिरिक्त एक्सरे के लॉईड दर्पणप्रयोग मे यह भी प्रमाणित हुआ कि परावर्तन के समय एक्सरे मे १८०° का कलापरिवर्तन होता है। विद्युच्चुबकीय सिद्धात के अनुसार यह अपेक्षित था।

एक्सरे का ध्रुवण—ध्रुवण अनुप्रस्थ तरगो का विशेष गुण है। तरग दो प्रकार की होती है (१) अनुदैर्घ्य, और (२) अनुप्रस्थ। इनमे केवल अनुप्रस्थ तरगो का ध्रुवण हो सकता है। एक्सरे के ध्रुवण की परीक्षा पहले पहल बार्क्ला ने १९०६ मे की। बार्क्ला ने कार्बन के एक टुकडे से एक्सरे का प्रकीर्णन किया। उससे प्रकीरित एक्सरे का पुन दूसरे कार्बन के टुकडे से प्रकीर्णन किया। दूसरी बार प्रकीरित एक्सरे की तीव्रता को दो परस्पर लब दिशाओ मे मापित करने से यह निष्कर्ष निकला कि इस रीति से ७०% ध्रुवण होता है। बार्क्ला के प्रयोग के समान पुन १९२८ मे कॉम्पटन एव हागेनाऊ ने प्रयोग किए किंतु अब सूक्ष्म विकीरक का उपयोग किया गया। इस प्रयोग मे गुणज प्रकीर्णन का अभाव था, अत लगभग शत-प्रति-शत ध्रुवण प्राप्त हुआ। ध्रुवण की यह मात्रा जे० जे० टॉमसन के सिद्धात के अनुसार अपेक्षित थी। प्रयोग के इस फल से एक्सरे की केवल तरगप्रकृति ही नही अपितु प्रकीर्णन का विद्युच्चुबकीय सिद्धात भी प्रमाणित होता है।

एक्सरे का वर्तन—एक माध्यम मे से दूसरे माध्यम मे जाते समय जैसे प्रकाश का उसी प्रकार इस क्रिया मे एक्सरे का भी वर्तन होता है, किंतु उनके तरगदैर्घ्य अत्यत सूक्ष्म होने के कारण वर्तन भी अत्यत सूक्ष्म होता है। समीकरण **तरंगदैर्घ्य × आवृत्ति = वेग** के अनुसार एक्सरे की आवृत्ति विशाल होने के कारण, एक्सरे का वर्तनाक १ से कम होता है। लारसन, सीगबाह्न और वालेर ने १९२४ मे एक्सरे के वर्तन का यथार्थ मापन किया। चित्र ४ मे एक दीर्घ छिद्र (झिरी) मे से पार होने के पश्चात् एक्सरे त्रिपार्श्व मे अत्यत सूक्ष्म कोण पर प्रवेश करते है। निर्गत किरण के तीन विभाग होते हैं: (१) दिष्ट किरण, (२) परावर्तित किरण, और (३) वर्तित किरण। एक्सरे का वर्तनाक १ से कम होता है, अत वर्तित किरण की मुडने की दिशा प्रकाशकिरण की मुडने की दिशा के विपरीत होती है। एक्सरे का वर्तनाक सामान्यत १–ड (1-n) इस रूप मे व्यक्त किया जाता है, और ड (n) का मान $१०^{-५}$ से $१०^{-६}$ तक होता है।

एक्सरे का वर्तनाक ज्ञात करने की अनेक रीतियाँ है जिनमे से निम्नलिखित रीति विशेष प्रसिद्ध है। इसमे पूर्ण-परावर्तन-कोण का मापन किया जाता है। इस कार्य के लिये आपतित एकवर्णीय एक्सरे प्रमार्जित (पालिश किए) तल से लगभग समानातर ली जाती हैं और परावर्तित किरणो की तीव्रता मापित की जाती है। इसके बाद प्रमार्जित तल को क्रमश. घुमाकर प्रत्येक कोण के लिये परावर्तित किरणो की तीव्रता का मापन करने से क्रातिक कोण (अर्थात् पूर्ण परावर्तन का कोण) ज्ञात हो जाता है। यदि वह कोण थ (r) हो तो ड (n) = $\frac{१}{२}$थ^{२} ($\frac{1}{2}r^2$) अर्थात् एक्सरे का वर्तनाक = १–ड (1–n) = १–$\frac{१}{२}$थ^{२} (1–$\frac{1}{2}r^2$)। इस प्रकार पूर्ण परावर्तन का कोण ज्ञात

करके भिन्न भिन्न पदार्थों के लिये एक्सरे का वर्तनांक निकाला जा सकता है। यद्यपि इस क्रांतिक कोण का मान बहुत कम होता है तथापि इस गुण पर आधारित एक्सरे-सूक्ष्मदर्शी बनाने के कर्क पैट्रिक के प्रयत्न अंशतः सफल हुए हैं।
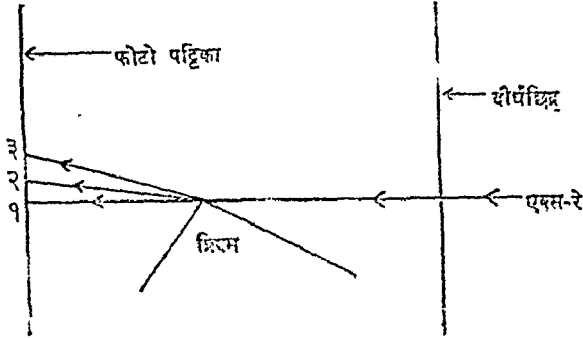
चित्र ४. एक्सरे का परावर्तन और वर्तन

फोटो पट्टिका के ऊपर तीन प्रतिबिंब प्राप्त होते हैं : (१) दिष्ट-किरण, (२) वर्तित किरण और (३) परावर्तित किरण।

एक्सरे का विवर्तन—तरंगों के प्रचारण में यदि कोई अवरोध हो तो तरंगों का पथ ऋजु नहीं रहता प्रत्युत जिस स्थान पर अवरोध रहता है वहाँ से पथ की दिशा में परिवर्तन हो जाता है। एक्सरे के तरंगदैर्घ्य अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण उनके पथ की दिशा में जो परिवर्तन होता है (जिसको विवर्तन कहते हैं) वह अत्यंत सूक्ष्म होता है। प्रकाशकी में ऋजु-धार, दीर्घ छिद्र तथा तार से प्रकाशकिरणों का जो व्याभंग होता है वह विशेष रूप से प्रसिद्ध है। १९२९ मे लारसन ने ऐल्युमिनियम की के-ऐल्फ़ा रेखा (तरंगदैर्घ्य ८.३ आंगस्त्रम) से ०.००५५ मिलीमीटर चौड़ाई के दीर्घ छिद्र का उपयोग करके निर्वात में विवर्तन प्राप्त किया। १९३२ में केलस्ट्राम ने टंग्स्टन का ०.००३८ मिलीमीटर व्यास का तार लेकर उसी तरंगदैर्घ्य (८.३ आंगस्त्रम) के एक्सरे से निर्वात में विवर्तन प्राप्त किया। ये दोनों विवर्तन प्रकाशकी के विवर्तन के सदृश थे। यद्यपि इन प्रयोगों से एक्सरे की तरंगप्रकृति स्पष्ट होती है तथापि तरंगदैर्घ्यो के मापन के लिये इनका विशेष उपयोग नहीं हो सकता। तरंगदैर्घ्य के मापन के लिये विवर्तन झर्झरी (डिफ्रैक्शन ग्रेटिंग) का उपयोग किया जाता है। प्रकाशकी में जिस प्रकार व्याभंग-झर्झरी का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार उपयोग करके ए० एच० कॉम्प्टन, विडैन, थीबो, ओस्गुड, बेकलीन इत्यादि वैज्ञानिकों ने एक्सरे के तरंगदैर्घ्यों का मापन किया। इस रीति का उपयोग विशेषतः मृदु एक्सरे के तरंगदैर्घ्यों के मापन के लिये होता है। मृदु एक्सरे के तरंगदैर्घ्य प्रकाशकी के परार्वेगनी किरणों के तरंगदैर्घ्यों के निकट होते हैं; अतः एक्सरे और प्रकाश में तरंगदैर्घ्यों की भिन्नता के अतिरिक्त सैद्धांतिक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। मृदु एक्सरे के प्रयोगों के लिये निर्वात की आवश्यकता होती है, क्योंकि हवा में इनका शीघ्रता से अवशोषण होता है।

उपर्युक्त एक्सरे-विवर्तन के प्रयोग प्रकाशीय प्रयोगों के समान हैं, किंतु एक्सरे के विवर्तन का विशेष महत्वपूर्ण आविष्कार इन प्रयोगों के पूर्व १९१२ में लावे, फ़्रीडरिश और निपिंग ने किया था। इनके आविष्कार को विशेष महत्वपूर्ण मानने के दो कारण हैं। एक्सरे की तरंगप्रकृति पूर्णतया सिद्ध करने के अतिरिक्त इस आविष्कार से (१) मणिभों की अंतस्थ संरचना ज्ञात करने की अत्यंत उपादेय रीति प्राप्त हुई तथा (२) एक्सरे का वर्णक्रम मापने का साधन उपलब्ध हुआ। लावे की रीति अत्यंत सरल है। इस रीति में एक्सरे नलिका से प्राप्त श्वेत किरणें (जिनमें सभी तरंगदैर्घ्यों के एक्सरे होते हैं) एक पतले मणिभ के टुकड़े में से जाती हैं और दूसरी ओर रखी हुई फोटो पट्टिका पर (मणिभतलों से व्याभंजित होने के पश्चात्) एक्सरे के बिंदुओं की सममित आकृतियाँ बनाती हैं। इस रीति से थोड़ी भिन्न रीति डब्ल्यू० एच० ब्रैग और डब्ल्यू० एल० ब्रैग की है। उनकी रीति में एक विशेष दीर्घ छिद्र द्वारा समांतर एक्सरे प्राप्त किए जाते हैं और मणिभ के तलपर उनका आपतन होता है। मणिभ को घुमाने पर विशेष आपतन कोण पर परावर्तित किरणों की तीव्रता में विशेष वृद्धि होती है। यदि तीव्रतापरिचायक के स्थान पर फोटो पट्टिका रखी जाय तो प्रकाशकी के समान एक्सरे का भी वर्णक्रम प्राप्त होता है।

एक्सरे का वर्णक्रम और परमाणुओं की संरचना—एक्सरे नलिका से प्राप्त हुई किरणों की वर्णक्रमीय तीव्रता सामान्यतः चित्र २ के वक्र के समान होती है, किंतु विभव को एक क्रांतिक मान से अधिक बढ़ाने पर विशेष तरंगदैर्घ्य की किरणों की तीव्रता शीघ्रता से बढ़ने लगती है। इस क्रांतिक विभव का तथा विशेष तरंगदैर्घ्य का मान लक्ष्य की धातु पर (तत्व पर) निर्भर रहता है। इन विशेष किरणों को लाक्षणिक एक्सरे कहा जाता है, क्योंकि इनके तरंगदैर्घ्यों से उद्गम (लक्ष्य) का लक्षण निश्चित होता है। यद्यपि इनका अस्तित्व बार्क्ला ने १९०८ में स्थापित किया था, तथापि इसका सुव्यवस्थित अध्ययन मोस्ले ने १९१३-१४ में किया। मोस्ले ने पोटैशियम फ़ेरोसाइनाइड के मणिभ का उपयोग ब्रैग की विधि के अनुसार किया और लक्ष्य के स्थान पर ऐल्यूमिनियम से लेकर सुवर्ण तक क्रमशः ३८ तत्व रखे। प्रत्येक तत्व से जो लाक्षणिक एक्सरे उत्सर्जित होते थे उनका वर्णक्रम फोटो पट्टिका पर अभिलिखित किया जाता था। मोस्ले के प्रयोगों से विभिन्न तत्वों के एक्सरे वर्णक्रमों के विषय में जो ज्ञान प्राप्त हुआ उससे अत्यंत महत्व के निष्कर्ष निकले। मोस्ले के कार्य से तथा उसके पश्चात् एक्सरे के वर्णक्रम में जो अन्य आविष्कार हुए उनके फलों से परमाणुओं की संरचना के संबंध में निश्चित ज्ञान उपलब्ध हुआ और बोर सिद्धांत की पुष्टि हुई।

एक्सरे का वर्णक्रम प्रकाशकीय वर्णक्रम से अधिक सरल एवं कम रेखाओं का होता है। वर्तमान काल में समस्त ज्ञात तत्वों के एक्सरे-वर्णक्रमों का मापन हुआ है। प्रत्येक तत्व के एक्सरे वर्णक्रम में रेखासमुदाय होते हैं और साधारणतया प्रत्येक समुदाय में निश्चित रेखाएँ होती हैं। प्रत्येक एक्सरे वर्णक्रम में भिन्न भिन्न रेखाओं के तरंगदैर्घ्य भिन्न भिन्न होते हैं। जिस प्रकार प्रकाशीय वर्णक्रम प्रत्येक तत्व के लिये (अथवा सपट्ट वर्णक्रम प्रत्येक अणु के लिये) लाक्षणिक होता है वैसे ही एक्सरे वर्णक्रम तत्व के लिये लाक्षणिक होता है, अतः किसी अज्ञात लक्ष्य के घटक उससे प्राप्त हुए एक्सरे के वर्णक्रम का विश्लेषण करके सरलता से ज्ञात हो सकते हैं।

एक्सरे वर्णक्रम में प्रत्येक रेखासमुदाय तथा प्रत्येक रेखाप्रणाली के लिये अंतरराष्ट्रीय संज्ञा दी गई है। निम्नतम तरंगदैर्घ्य के समुदाय को के (K) प्रणाली कहा जाता है और इससे अधिक तरंगदैर्घ्यों के समुदायों को क्रमशः एल, एम, एन, ओ इत्यादि ($L, M, N, O, \ldots$) संज्ञाएँ दी गई हैं। प्रत्येक तत्व में ये सब समुदाय नहीं होते। जैसे जैसे तत्व का परमाणुक्रमांक बढ़ता जाता है वैसे वैसे क्रमानुसार ये समुदाय प्राप्त होते हैं। प्रत्येक तत्व के परमाणु में एक नाभिक होता है और उसके बाहर जो इलेक्ट्रान होते हैं वे निश्चित संख्या में पृथक् कवचों में रहते हैं (द्र० परमाणु)। एक्सरे वर्णक्रम के समुदायों के अध्ययन से इन इलेक्ट्रानीय कवचों की ऊर्जा ज्ञात की जा सकती है। इस ऊर्जा को निश्चित करने के तीन प्रमुख साधन हैं : (१) एक्सरे वर्णक्रमीय रेखाओं की आवृत्तियाँ, (२) अवशोषण-एक्सरे-वर्णक्रम, तथा (३) एक्सरे का किसी पदार्थ पर आपतन होने के पश्चात् उत्सर्जित द्वितीयक इलेक्ट्रानों का चुंबकीय वर्णक्रम। एक्सरे वर्णक्रम के अध्ययन से नाभिक के बाह्य इलेक्ट्रानों के विषय में इस प्रकार से अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

मोस्ले के प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ कि यदि के, एल इत्यादि ($K, L \ldots$) समुदायों की कोई भी एक वर्णक्रमरेखा लेकर भिन्न भिन्न तत्वों के एक्सरे-वर्णक्रमों में उसी रेखा की संगत रेखाएँ ली जायँ तो उनकी आवृत्तियों में एक सरल संबंध रहता है। इन रेखाओं की आवृत्तियों तथा तत्व के परमाणुक्रमांक में निम्नलिखित समीकरण के अनुसार पारस्परिक संबंध रहता है :

$\sqrt{\text{(आवृत्ति)}} = (\text{ज}—\text{ख})\sqrt{\text{क}}$, [$\sqrt{\text{(आवृत्ति)}} = (j-b)\sqrt{a}$]

$$\left.\begin{aligned} \text{अर्थात् आवृत्ति} &= \text{क}\,(\text{ज}—\text{ख})^2 \\ \text{आवृत्ति} &= a(j—b)^2 \end{aligned}\right\} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (४)$$

जहाँ क (a) = एक स्थिरांक, ख (b) = दूसरा स्थिरांक, क्र (j) = परमाणु क्रमांक।

समीकरण (४) को मोस्ले का नियम कहते हैं। इस समीकरण में स्थिरांक क(a)ख और (b) समस्त तत्वों की विशिष्ट वर्णक्रमरेखा के लिये समान होते हैं। समीकरण (४) के अनुसार आवृत्ति तथा परमाणु-

चित्र ५.

क्रमांक का संबंध चित्र ५ में दिया गया है। इस प्रकार की सरल रेखाएँ प्रत्येक समुदाय की प्रत्येक वर्णक्रम रेखा के लिये होती है। मोस्ले का यह नियम एक्सरे-वर्णक्रम-सिद्धांत में मौलिक है और फिर इस नियम के यथार्थ आकलन के लिये जो प्रयत्न हुए उनसे पारमाण्वीय भौतिकी में परमाणुओं की संरचना के सिद्धांत स्थिर करने में भी विशेष लाभ हुआ। समीकरण (४) से यह स्पष्ट है कि आवर्तसारणी में किसी तत्व का स्थान परमाणु-क्रमांक से ही निश्चित होगा, परमाणुभार से नहीं। यदि तत्वों का स्थान आवर्तसारणी में परमाणुभारों के अनुसार दिया जाय तो आरगन और पोटैसियम, कोवल्ट और निकल इत्यादि तत्वों के स्थान विपरीत पड़ते हैं; किंतु यदि मोस्ले के नियम के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम से प्राप्त तत्व-परमाणु-क्रमांक दिए जायँ तो आवर्तसारणी में प्रत्येक तत्व को यथोचित स्थान मिलता है। इस नियम से और भी एक लाभ हुआ। मोस्ले का नियम जिस समय प्रकाशित हुआ, उस समय तक जो तत्व अज्ञात थे उनके अस्तित्व की भी भविष्यवाणी हुई और तदनंतर उनका आविष्कार हुआ; उदाहरणार्थ हैफ़नियम, रेनियम इत्यादि।

बोर के परमाणु सिद्धांत के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम के समस्त प्रायोगिक फलों की व्याख्या सरलता से की जा सकती है। प्रयोग द्वारा यह ज्ञात था कि निम्न परमाणुक्रमांक के तत्वों के लिये केवल **के** (K) प्रणाली का अस्तित्व होता है [किंतु इन तत्वों की **के** (K) प्रणालियों के तरंगदैर्घ्य अधिक होने से उनका समावेश एक्सरे विभाग में नहीं होता था] और जैसे जैसे परमाणुक्रमांक बढ़ता जाता है वैसे वैसे क्रमशः **एल, एम, एन, ओ, पी** इत्यादि $(L,M,N,O,P,\ldots)$ प्रणालियाँ प्राप्त होती हैं। साथ ही यह भी ज्ञात था कि **के** (K) प्रणाली को उत्तेजित करने के लिये सबसे अधिक विभव की आवश्यकता है, और **एल, एम, एन** इत्यादि $(L,M,N,\ldots)$ प्रणालियों के लिये क्रमशः उनसे कम विभव आवश्यक होता है। अतः यह स्पष्ट है कि परमाणु में प्रत्येक इलेक्ट्रान कवच के साथ विशिष्ट ऊर्जा होती है। फलतः **के** (K) कवच नाभिक के निकट होता है और उसके पश्चात् क्रमशः **एल, एम, एन** इत्यादि $(L,M,N,\ldots.)$ कवच होते हैं, अतः इन प्रणालियों को उत्तेजित करने के लिये क्रमशः कम ऊर्जा की आवश्यकता होगी। प्रकाशीय वर्णक्रम के सिद्धांत में जैसे समान ऊर्जा के रेखाचित्र दिए जाते हैं, उसी प्रकार का (किंतु अधिक सरल किया हुआ) रेखाचित्र चित्र ६ में एक्सरे वर्णक्रम के लिये दिया जा रहा है।

के, एल इत्यादि $(K,L,\ldots)$ प्रणालियाँ कैसे उत्तेजित होती हैं और उनकी रेखाओं के तरंगदैर्घ्य (अथवा आवृत्तियाँ) क्या होंगे, यह चित्र ६ से स्पष्ट है। आकृति में **के** (K) प्रणाली में **एल** (L) कवच के तीनों उपविभागों से इलेक्ट्रानों का संक्रमण नहीं होता, केवल दो उपविभागों से होता है। संक्रमण के विशेष नियम हैं, जिनके अनुसार संक्रमण होकर ऊर्जा का एक क्वांटम मिलता है। इन नियमों के अनुसार प्रत्येक उपविभाग (अथवा ऊर्जास्तर) को जो विशेष क्वांटम अंक दिए गए हैं उनमें केवल नियत परिवर्तन संभाव्य है। अतः इलेक्ट्रान किसी ऊर्जास्तर से अन्य किसी भी स्तर पर स्वेच्छानुसार संक्रमण नहीं कर सकता, केवल अनुमोदित स्तरों पर ही उसका संक्रमण हो सकता है।

चित्र ६. एक्सरे-ऊर्जा-तल रेखाचित्र

एक्सरे का प्रकीर्णन तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव—व्यतिकरण, ध्रुवण, वर्तन, व्याभंग इत्यादि गुणों से एक्सरे की तरंगप्रकृति प्रमाणित होती है, किंतु एक्सरे के अन्यान्य ऐसे गुण भी हैं जिनका स्पष्टीकरण तरंगप्रकृति के आधार पर नहीं हो सकता। इन गुणों में हम पहले प्रकीर्णन पर विचार करेंगे। एक्सरे का किसी पदार्थ पर आपतन होने पर प्रकीर्णन होता है और प्रकीर्ण एक्सरे में तीन प्रकार की किरणें होती हैं: (१) अपरिवर्तित एक्सरे, (२) प्रतिदीप्त एक्सरे और (३) परिवर्तित एक्सरे। इन तीनों प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे का उद्भव कैसे होता है, इसके आकलन के पूर्व इसका विचार करना आवश्यक होगा कि प्रकीर्ण एक्सरे का उद्गम कैसे होता है।

एकवर्ण (समान तरंगदैर्घ्य के) एक्सरे का जब किसी पदार्थ पर आपतन होता है, तब पदार्थ के परमाणुओं के इलेक्ट्रानों पर एक्सरे के विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र की क्रिया होती है। इससे इलेक्ट्रानों में कंपन होने लगता है, अतः समस्त दिशाओं में एक्सरे का (अथवा विद्युच्चुंबकीय तरंगों का) प्रकीर्णन होता है। प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार इस प्रकार के जो प्रकीर्ण एक्सरे होते हैं उनकी आवृत्ति प्रारंभिक एक्सरे की आवृत्ति के समान ही होती है। अतः प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार प्रकीर्ण एक्सरे की आवृत्ति में (अथवा तरंगदैर्घ्य में) कोई भी परावर्तन नहीं होता। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को अपरिवर्तित प्रकीर्ण एक्सरे कहते हैं और इनका अस्तित्व सरलता से प्रमाणित किया जा सकता है। यदि आपाती एक्सरे की ऊर्जा के, एल इत्यादि $(K, L,\ldots)$ कवचों के इलेक्ट्रानों को विस्थापित करने के लिये पर्याप्त हो, तो कुछ किरणों की बद्ध इलेक्ट्रानों पर क्रिया होगी और वे विस्थापित होंगे। अतः इन रिक्त स्थानों पर परमाणुओं के अन्य इलेक्ट्रानों का आक्रमण (चित्र ६ के अनुसार) होगा और एक्सरे वर्णक्रम प्राप्त होगा। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को प्रतिदीप्त एक्सरे कहा जाता है। अतः ये प्रतिदीप्त एक्सरे प्रकीर्ण पदार्थ के लाक्षणिक एक्सरे होंगे और इनका विश्लेषण करने से प्रकीर्णन करनेवाले पदार्थ के घटकों का ज्ञान हो सकता है। आजकल यह रीति अधिकतर औद्योगिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होती है। इस रीति की विशेषता यह है कि गाइगर-मुलर गणक की सहायता से विश्लेषण अल्प काल में होता है (रासायनिक मात्रात्मक विश्लेषण के लिये बहुत अधिक समय लगता है) और पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट नहीं होता।

सैद्धांतिक दृष्टि से प्रकीर्ण एक्सरे का तीसरा प्रकार, परिवर्तित एक्सरे, विशेष महत्वपूर्ण है। के, एल इत्यादि $(K, L,\ldots)$ आंतरिक

कवचों के इलेक्ट्रानों का नाभिक से दृढ़ बंधन रहता है, किंतु बाह्य कवचों के इलेक्ट्रानों का बंधन शिथिल रहता है। ठोस पदार्थों में, विशेषतः धातुओं में, बाह्य कवच के इलेक्ट्रानों का बंधन इतना शिथिल होता है कि कतिपय इलेक्ट्रान प्रायः स्वतंत्र रहते हैं—अर्थात् ये इलेक्ट्रान धातु के भीतर तो रहते हैं किंतु किसी एक ही परमाणु से उनका सतत बंधन नहीं रहता। ऐसे इलेक्ट्रानों को स्वतंत्र इलेक्ट्रान कहा जाता है। ऐसे इलेक्ट्रान से एक्सरे का संघात होने पर थोड़ी ऊर्जा इलेक्ट्रान को भी मिलेगी और ऊर्जा-अविनाशिता सिद्धांत के अनुसार प्रकीरित किरण की ऊर्जा प्रारंभिक ऊर्जा से उतनी ही मात्रा में कम होगी, अर्थात् प्रकीरित किरण की आवृत्ति कम होगी (क्योंकि क्वांटम सिद्धांत के अनुसार एक्सरे-किरण-ऊर्जा=प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति)। प्रकीरित एक्सरे में आपाती एक्सरे के तरंगदैर्घ्य से कम तरंगदैर्घ्य के एक्सरे का अस्तित्व पहले ए० एच० कॉम्पटन ने स्थापित किया। इस प्रकार की घटना से समस्त संगत परिणामों का (जैसे परिवर्तित एक्सरे का तरंगदैर्घ्य, प्रकीर्णन गुणक, प्रकीरित एक्सरे की तीव्रता का दिक् (स्पेस) में विभाजन, प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रान की ऊर्जा तथा दिशा इत्यादि का) प्रायोगिक अध्ययन कॉम्पटन ने किया। सी० टी० आर० विल्सन ने भी अन्य रीति से प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रानों का अध्ययन किया। इन सब प्रायोगिक फलों का समर्थन प्रतिष्ठित विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत द्वारा नहीं होता था। गणना करके कॉम्पटन ने यह प्रमाणित किया कि आपाती एक्सरे को (विद्युच्चुंबकीय) तरंगमालिका न समझकर यदि हम उन्हें एक्सरे फोटान (कण) समूह समझें, तो इलेक्ट्रानों से संघात संबंधी ऊर्जा तथा आवेग के अविनाशिता-सिद्धांत से प्राप्त फल प्रायोगिक फलों के अनुकूल होते हैं। अतः कॉम्पटन प्रकीर्णन में एक्सरे को तरंग समझना अनुचित है और इस प्रकार के संघात में एक्सरे के फोटान का अस्तित्व मानना पड़ता है। फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति। कॉम्पटन-प्रभाव विशेष महत्व का है, क्योंकि इससे प्रमाणित होता है कि प्रकीर्णन में एक्सरे का व्यवहार तरंगों जैसा नहीं, कणों के समान है।

प्रकीर्णन के साथ साथ प्रकाशवैद्युत प्रभाव में भी एक्सरे का व्यवहार तरंगों के सदृश नहीं अपितु कणों के—फोटानों के—सदृश होता है। जब किसी पदार्थ पर एक्सरे का आपतन होता है तब उस पदार्थ के परमाणुओं के इलेक्ट्रानों से उसका संघात होता है। इन संघातों में एक्सरे की ऊर्जा इन इलेक्ट्रानों को मिलती है और ये इलेक्ट्रान परमाणुओं से दूर प्रक्षिप्त हो जाते हैं। ऊर्जा पर्याप्त होने के कारण ये इलेक्ट्रान पदार्थ के बाहर निकलते हैं और चुंबकीय क्षेत्र से इनको केंद्रित किया जा सकता है। चुंबकीय क्षेत्र यदि एक समान तथा पर्याप्त तीव्रता का हो तो निश्चित वेग के इलेक्ट्रानों का निश्चित स्थान पर ही पतन होता है। इस प्रकार प्राप्त हुए प्रकाश-इलेक्ट्रानों के (फोटो-इलेक्ट्रानों के) वर्णक्रमों का अध्ययन करके अनेक महत्वपूर्ण अनुमान किए गए हैं। यदि एक्सरे समान तरंगदैर्घ्य के (अथवा एक वर्ण के) हों, तो प्रकाश-इलेक्ट्रानों के वर्णक्रम में सुस्पष्ट रेखाएँ आती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इलेक्ट्रानों को मुक्त करने के लिये निश्चित ऊर्जा ली गई है। यदि पदार्थ में इलेक्ट्रान मुक्त हों तो एक्सरे की संपूर्ण ऊर्जा उनको मिलेगी (यहाँ धातु से बाहर निकलने के लिये इलेक्ट्रान को जितनी ऊर्जा की आवश्यकता होती है वह एक्सरे की ऊर्जा की तुलना में उपेक्षणीय होती है, किंतु प्रकाशकी में प्रकाशकिरण की ऊर्जा की तुलना में वह उपेक्षणीय नहीं होती) और इस चुंबकीय वर्णक्रम में महत्तम की ऊर्जा के इलेक्ट्रान रहेंगे। इन महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रानों के साथ साथ, जिनमें निश्चित ऊर्जा की हानि हुई है, ऐसे इलेक्ट्रानों के अस्तित्व का स्पष्टीकरण केवल इसी अनुमान से हो सकता है कि ये इलेक्ट्रान विशिष्ट ऊर्जा द्वारा परमाणु के नाभिक से बद्ध थे। अतः उनको मुक्त करने के लिये एक्सरे के फोटानों की ऊर्जा से उतनी ही ऊर्जा का व्यय हुआ और शेष ऊर्जा इलेक्ट्रानों को मिली। अर्थात् इस प्रयोग से के, एल इत्यादि कवचों की ऊर्जा की सरलता से गणना की जा सकती है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि एक्सरे और बद्ध इलेक्ट्रानों के संघात कणों के संघातों के समान होते हैं, अर्थात् इन संघातों में एक्सरे की तरंगप्रकृति नहीं दिखाई देती है। प्रायोगिक अध्ययनों से एक्सरे की ऊर्जा तथा उनसे प्राप्त फोटो इलेक्ट्रानों की ऊर्जा में निम्नलिखित संबंध प्राप्त हुआ है :

फोटो इलेक्ट्रान की ऊर्जा = फोटान की ऊर्जा = ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) (५)

यहाँ फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति, तथा ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) = के, एल इत्यादि कवचों की बंधन ऊर्जा।

अनेक प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि कॉम्पटन प्रभाव में तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव में एक्सरे का व्यवहार कणों के समान होता है, अतः एक्सरे को हम कण समझें अथवा तरंग, यह प्रयोगविशेष की प्रकृति पर निर्भर होगा। एक्सरे की इस द्वैध प्रकृति के समान इलेक्ट्रानों की भी द्वैध प्रकृति है। कतिपय प्रयोगों में इलेक्ट्रानों का व्यवहार कणों के समान होता है, तो अन्य प्रयोगों में (उदाहरणार्थ इलेक्ट्रान-व्याभंग में) तरंगों के समान।

एक्सरे और मणिभ—एक्सरे से मणिभ संरचना जानने में विशेष सहायता मिलती है (द्र० **एक्सरे और मणिभ संरचना**)।

एक्सरे के अन्य उपयोग—एक्सरे के विशिष्ट गुणों के कारण उनका उपयोग विस्तृत रूप से विज्ञान की अनेक शाखाओं तथा विभिन्न उद्योगों में होता आ रहा है। उद्योगों में, विशेषतः निर्माण तथा निर्मित पदार्थों के गुणों के नियंत्रण में, एक्सरे का बहुत उपयोग होता है। निर्मित पदार्थों की अंतस्थ त्रुटियाँ एक्सरे फोटोग्राफों द्वारा सरलता से ज्ञात की जा सकती हैं। विमान तथा उसी प्रकार के साधनों के यंत्रों में अति तीव्र वेग तथा चरम भौतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है; ऐसे यंत्रों के निर्माण में प्रत्येक अवयव अंतर्बाह्य निर्दोष तथा यथार्थ होना चाहिए। ऐसे प्रत्येक अवयव की परीक्षा एक्सरे से की जाती है और सदोष अवयवों का त्याग किया जाता है। धातु एक्सरे का अवशोषण करते हैं, अतः धातुओं के अंतर्भागों की परीक्षा के लिये मृदु एक्सरे अनुपयुक्त होते हैं। विशाल आकार के धात्वीय पदार्थों के लिये अत्युच्च विभव के एक्सरे की आवश्यकता होती है।

शरीरचिकित्सा के संबंध में द्र० **एक्सरे, रेडियम तथा विकिरण चिकित्सा**।

धातुविज्ञान तथा धातुगवेषणा में एक्सरे अत्यंत उपयोगी हैं। धातु भी मणिभीय होते हैं, किंतु इनके मणिभ सूक्ष्म होते हैं और वे यथेच्छ प्रकार से स्थापित रहते हैं, अतः धातुओं की लावे-प्रतिमा में सामान्यतः संकेंद्र वर्तुल रहते हैं। प्रत्येक वर्तुल एक समान तीव्रता का होता है, किंतु किसी भौतिक क्रिया से कणों के आकारों में वृद्धि हो जाने पर इन वर्तुलों में बिंदु भी आते हैं। अतः एक्सरे व्याभंग द्वारा इसका ठीक ठीक पता चल जाता है कि धात्वीय मणिभों के कण किस प्रकार के हैं और उनका आकार आदि कैसा है। इस ज्ञान का धातुविज्ञान में अत्यंत महत्व है। धातु के पदार्थ बनाने के समय उष्मा के कारण उनमें अंतर्विकृति आ जाती है। धातु को मोड़ने से भी उसमें अंतर्विकृति हो जाती है। ऐसी विकृतियों का विश्लेषण एक्सरे से हो सकता है। इस प्रकार विशिष्ट गुणों से युक्त निर्दोष धातु प्राप्त करने में एक्सरे का विशेष उपयोग होता है।

एक्सरे के अन्य उपयोगों में एक्सरे सूक्ष्मदर्शी उल्लेखनीय है। एक्सरे के तरंगदैर्घ्य प्रकाश के तरंगदैर्घ्यों से सूक्ष्म होते हैं, अतः एक्सरे-सूक्ष्मदर्शी को प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से अधिक प्रभावशाली होना चाहिए। १९४८ में एक्सरे को केंद्रित करने के कर्कपैट्रिक के प्रयत्न अंशतः सफल हुए। इस रीति से तथा अन्य रीतियों से प्रतिबिंब का आवर्धन करने के प्रयत्न अब प्रायोगिक अवस्था पार कर चुके हैं और अनेक निर्माताओं द्वारा निर्मित कई प्रकार के एक्सरे सूक्ष्मदर्शी सुलभ हैं।

प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से जिन बातों का पता नहीं चल पाता उनका ज्ञान सरलतापूर्वक एक्सरे सूक्ष्मदर्शी से हो जाता है।

सं०ग्रं०—ए० एच० कॉम्पटन तथा एलीसन : एक्सरे इन् थ्योरी ऐंड एक्सपेरिमेंट (डी० ह्वान नोस्ट्रांग कंपनी, न्यूयार्क, १९३५); स्प्राऊल : एक्सरेज इन प्रैक्टिस (मैक-ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयॉर्क, १९४६); जॉर्ज एल० क्लार्क : ऐप्लाइड एक्सरेज (मैक-ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयार्क, १९५५); ए० लिखती तथा डब्ल्यू० मिडर : रंटजन फिज़ीक (स्प्रिंगर-फरलाग,

कवचों के इलेक्ट्रानों का नाभिक से दृढ़ बंधन रहता है, किंतु वाह्य कवचों के इलेक्ट्रानों का बंधन शिथिल रहता है। ठोस पदार्थों में, विशेषतः धातुओं में, वाह्य कवच के इलेक्ट्रानों का बंधन इतना शिथिल होता है कि कतिपय इलेक्ट्रान प्रायः स्वतंत्र रहते हैं—अर्थात् ये इलेक्ट्रान धातु के भीतर तो रहते हैं किंतु किसी एक ही परमाणु से उनका सतत बंधन नहीं रहता। ऐसे इलेक्ट्रानों को स्वतंत्र इलेक्ट्रान कहा जाता है। ऐसे इलेक्ट्रान से एक्सरे का संघात होने पर थोड़ी ऊर्जा इलेक्ट्रान को भी मिलेगी और ऊर्जा-अविनाशिता सिद्धांत के अनुसार प्रकीरित किरण की ऊर्जा प्रारंभिक ऊर्जा से उतनी ही मात्रा में कम होगी, अर्थात् प्रकीरित किरण की आवृत्ति कम होगी (क्योंकि क्वांटम सिद्धांत के अनुसार एक्सरे-किरण-ऊर्जा=प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति)। प्रकीरित एक्सरे में आपाती एक्सरे के तरंगदैर्घ्य से कम तरंगदैर्घ्य के एक्सरे का अस्तित्व पहले ए० एच० कॉम्पटन ने स्थापित किया। इस प्रकार की घटना से समस्त संगत परिणामों का (जैसे परिवर्तित एक्सरे का तरंगदैर्घ्य, प्रकीर्णन गुणक, प्रकीरित एक्सरे की तीव्रता का दिक् (स्पेस) में विभाजन, प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रान की ऊर्जा तथा दिशा इत्यादि का) प्रायोगिक अध्ययन कॉम्पटन ने किया। सी० टी० आर० विल्सन ने भी अन्य रीति से प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रानों का अध्ययन किया। इन सब प्रायोगिक फलों का समर्थन प्रतिष्ठित विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत द्वारा नहीं होता था। गणना करके कॉम्पटन ने यह प्रमाणित किया कि आपाती एक्सरे को (विद्युच्चुंबकीय) तरंगमालिका न समझकर यदि हम उन्हें एक्सरे फोटान (कण) समूह समझें, तो इलेक्ट्रानों से संघात संबंधी ऊर्जा तथा आवेग के अविनाशिता-सिद्धांत से प्राप्त फल प्रायोगिक फलों के अनुकूल होते हैं। अतः कॉम्पटन प्रकीर्णन में एक्सरे को तरंग समझना अनुचित है और इस प्रकार के संघात में एक्सरे के फोटान का अस्तित्व मानना पड़ता है। फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति। कॉम्पटन-प्रभाव विशेष महत्व का है, क्योंकि इससे प्रमाणित होता है कि प्रकीर्णन में एक्सरे का व्यवहार तरंगों जैसा नहीं, कणों के समान है।

प्रकीर्णन के साथ साथ प्रकाशवैद्युत प्रभाव में भी एक्सरे का व्यवहार तरंगों के सदृश नहीं अपितु कणों के—फोटानों के—सदृश होता है। जब किसी पदार्थ पर एक्सरे का आपतन होता है तब उस पदार्थ के परमाणुओं के इलेक्ट्रानों से उसका संघात होता है। इन संघातों में एक्सरे की ऊर्जा इन इलेक्ट्रानों को मिलती है और ये इलेक्ट्रान परमाणुओं से दूर प्रक्षिप्त हो जाते हैं। ऊर्जा पर्याप्त होने के कारण ये इलेक्ट्रान पदार्थ के बाहर निकलते हैं और चुंबकीय क्षेत्र से इनको केंद्रित किया जा सकता है। चुंबकीय क्षेत्र यदि एक समान तथा पर्याप्त तीव्रता का हो तो निश्चित वेग के इलेक्ट्रानों का निश्चित स्थान पर ही पतन होता है। इस प्रकार प्राप्त हुए प्रकाश-इलेक्ट्रानों के (फोटो-इलेक्ट्रानों के) वर्णक्रमों का अध्ययन करके अनेक महत्वपूर्ण अनुमान किए गए हैं। यदि एक्सरे समान तरंगदैर्घ्य के (अथवा एक वर्ण के) हों, तो प्रकाश-इलेक्ट्रानों के वर्णक्रम में सुस्पष्ट रेखाएँ आती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इलेक्ट्रानों को मुक्त करने के लिये निश्चित ऊर्जा ली गई है। यदि पदार्थ में इलेक्ट्रान मुक्त हों तो एक्सरे की संपूर्ण ऊर्जा उनको मिलेगी (यहाँ धातु से बाहर निकलने के लिये इलेक्ट्रान को जितनी ऊर्जा की आवश्यकता होती है वह एक्सरे की ऊर्जा की तुलना में उपेक्षणीय होती है, किंतु प्रकाशकी में प्रकाशकिरण की ऊर्जा की तुलना में वह उपेक्षणीय नहीं होती) और इस चुंबकीय वर्णक्रम में महत्तम की ऊर्जा के इलेक्ट्रान रहेंगे। इन महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रानों के साथ साथ, जिनमें निश्चित ऊर्जा की हानि हुई है, ऐसे इलेक्ट्रानों के अस्तित्व का स्पष्टीकरण केवल इसी अनुमान से हो सकता है कि ये इलेक्ट्रान विशिष्ट ऊर्जा द्वारा परमाणु के नाभिक से बद्ध थे। अतः उनको मुक्त करने के लिये एक्सरे के फोटानों की ऊर्जा से उतनी ही ऊर्जा का व्यय हुआ और शेष ऊर्जा इलेक्ट्रानों को मिली। अर्थात् इस प्रयोग से के, एल इत्यादि कवचों की ऊर्जा की सरलता से गणना की जा सकती है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि एक्सरे और बद्ध इलेक्ट्रानों के संघात कणों के संघातों के समान होते हैं, अर्थात् इन संघातों में एक्सरे की तरंगप्रकृति नहीं दिखाई देती है।

प्रायोगिक अध्ययनों से एक्सरे की ऊर्जा तथा उनसे प्राप्त फोटो इलेक्ट्रानों की ऊर्जा में निम्नलिखित संबंध प्राप्त हुआ है :

फोटो इलेक्ट्रान की ऊर्जा = फोटान की ऊर्जा = ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) (५)

यहाँ फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति, तथा ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) = के, एल इत्यादि कवचों की बंधन ऊर्जा।

अनेक प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि कॉम्पटन प्रभाव में तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव में एक्सरे का व्यवहार कणों के समान होता है, अतः एक्सरे को हम कण समझें अथवा तरंग, यह प्रयोगविशेष की प्रकृति पर निर्भर होगा। एक्सरे की इस द्वैध प्रकृति के समान इलेक्ट्रानों की भी द्वैध प्रकृति है। कतिपय प्रयोगों में इलेक्ट्रानों का व्यवहार कणों के समान होता है, तो अन्य प्रयोगों में (उदाहरणार्थ इलेक्ट्रान-व्याभंग में) तरंगों के समान।

एक्सरे और मणिभ—एक्सरे से मणिभ संरचना जानने में विशेष सहायता मिलती है (द्र० **एक्सरे और मणिभ संरचना**)।

एक्सरे के अन्य उपयोग—एक्सरे के विशिष्ट गुणों के कारण उनका उपयोग विस्तृत रूप से विज्ञान की अनेक शाखाओं तथा विभिन्न उद्योगों में होता आ रहा है। उद्योगों में, विशेषतः निर्माण तथा निर्मित पदार्थों के गुणों के नियंत्रण में, एक्सरे का बहुत उपयोग होता है। निर्मित पदार्थों की अंतस्थ त्रुटियाँ एक्सरे फोटोग्राफों द्वारा सरलता से ज्ञात की जा सकती हैं। विमान तथा उसी प्रकार के साधनों के यंत्रों में अति तीव्र वेग तथा चरम भौतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है; ऐसे यंत्रों के निर्माण में प्रत्येक अवयव अंतर्वाह्य निर्दोष तथा यथार्थ होना चाहिए। ऐसे प्रत्येक अवयव की परीक्षा एक्सरे से की जाती है और सदोष अवयवों का त्याग किया जाता है। धातु एक्सरे का अवशोषण करते हैं, अतः धातुओं के अंतर्भागों की परीक्षा के लिये मृदु एक्सरे अनुपयुक्त होते हैं। विशाल आकार के धात्वीय पदार्थों के लिये अत्युच्च विभव के एक्सरे की आवश्यकता होती है।

शरीरचिकित्सा के संबंध में द्र० **एक्सरे, रेडियम तथा विकिरण चिकित्सा**।

धातुविज्ञान तथा धातुगवेषणा में एक्सरे अत्यंत उपयोगी हैं। धातु भी मणिभीय होते हैं, किंतु इनके मणिभ सूक्ष्म होते हैं और वे यथेच्छ प्रकार से स्थापित रहते हैं, अतः धातुओं की लावे-प्रतिमा में सामान्यतः संकेंद्र वर्तुल रहते हैं। प्रत्येक वर्तुल एक समान तीव्रता का होता है, किंतु किसी भौतिक क्रिया से कणों के आकारों में वृद्धि हो जाने पर इन वर्तुलों में विंदु भी आते हैं। अतः एक्सरे व्याभंग द्वारा इसका ठीक ठीक पता चल जाता है कि धात्वीय मणिभों के कण किस प्रकार के हैं और उनका आकार आदि कैसा है। इस ज्ञान का धातुविज्ञान में अत्यंत महत्व है। धातु के पदार्थ बनाने के समय उष्मा के कारण उनमें अंतर्विकृति आ जाती है। धातु को मोड़ने से भी उसमें अंतर्विकृति हो जाती है। ऐसी विकृतियों का विश्लेषण एक्सरे से हो सकता है। इस प्रकार विशिष्ट गुणों से युक्त निर्दोष धातु प्राप्त करने में एक्सरे का विशेष उपयोग होता है।

एक्सरे के अन्य उपयोगों में एक्सरे सूक्ष्मदर्शी उल्लेखनीय है। एक्सरे के तरंगदैर्घ्य प्रकाश के तरंगदैर्घ्यो से सूक्ष्म होते हैं, अतः एक्सरे-सूक्ष्मदर्शी को प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से अधिक प्रभावशाली होना चाहिए। १९४८ में एक्सरे को केंद्रित करने के कर्कपैट्रिक के प्रयत्न अंशतः सफल हुए। इस रीति से तथा अन्य रीतियों से प्रतिबिंब का आवर्धन करने के प्रयत्न अब प्रायोगिक अवस्था पार कर चुके हैं और अनेक निर्माताओं द्वारा निर्मित कई प्रकार के एक्सरे सूक्ष्मदर्शी सुलभ हैं।

प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से जिन बातों का पता नहीं चल पाता उनका ज्ञान सरलतापूर्वक एक्सरे सूक्ष्मदर्शी से हो जाता है।

सं०ग्रं०—ए० एच० कॉम्पटन तथा एलीसन : एक्सरे इन् थ्योरी ऐंड एक्सपेरिमेंट (डी० ह्वान नोस्ट्रांग कंपनी, न्यूयार्क, १९३५); स्प्राऊल : एक्सरेज इन प्रैक्टिस (मैक-ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयॉर्क, १९४६); जॉर्ज एल० क्लार्क : ऐप्लाइड एक्सरेज (मैक-ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयार्क, १९५५); ए० लिखती तथा डब्ल्यू० मिंडर : रंटजन फ़िज़ीक (स्प्रिंगर-फरलाग,

जहाँ क (a) = एक स्थिरांक, ख (b) = दूसरा स्थिरांक, क्र (j) = परमाणु क्रमांक।

समीकरण (४) को मोस्ले का नियम कहते हैं। इस समीकरण में स्थिरांक क(a) ख और (b) समस्त तत्वों की विशिष्ट वर्णक्रमरेखा के लिये समान होते हैं। समीकरण (४) के अनुसार आवृत्ति तथा परमाणु-

चित्र ५.

क्रमांक का संबंध चित्र ५ में दिया गया है। इस प्रकार की सरल रेखाएँ प्रत्येक समुदाय की प्रत्येक वर्णक्रम रेखा के लिये होती हैं। मोस्ले का यह नियम एक्सरे-वर्णक्रम-सिद्धांत में मौलिक है और फिर इस नियम के यथार्थ आकलन के लिये जो प्रयत्न हुए उनसे पारमाणवीय भौतिकी में परमाणुओं की संरचना के सिद्धांत स्थिर करने में भी विशेष लाभ हुआ। समीकरण (४) से यह स्पष्ट है कि आवर्तसारणी में किसी तत्व का स्थान परमाणु-क्रमांक से ही निश्चित होगा, परमाणुभार से नहीं। यदि तत्वों का स्थान आवर्तसारणी में परमाणुभारों के अनुसार दिया जाय तो आरगन और पोटैसियम, कोबल्ट और निकल इत्यादि तत्वों के स्थान विपरीत पड़ते हैं; किंतु यदि मोस्ले के नियम के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम से प्राप्त तत्व-परमाणु-क्रमांक दिए जायँ तो आवर्तसारणी में प्रत्येक तत्व को यथोचित स्थान मिलता है। इस नियम से और भी एक लाभ हुआ। मोस्ले का नियम जिस समय प्रकाशित हुआ, उस समय तक जो तत्व अज्ञात थे उनके अस्तित्व की भी भविष्यवाणी हुई और तदनंतर उनका आविष्कार हुआ; उदाहरणार्थ हैफ़नियम, रेनियम इत्यादि।

बोर के परमाणु सिद्धांत के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम के समस्त प्रायोगिक फलों की व्याख्या सरलता से की जा सकती है। प्रयोग द्वारा यह ज्ञात था कि निम्न परमाणुक्रमांक के तत्वों के लिये केवल के (K) प्रणाली का अस्तित्व होता है [किंतु इन तत्वों की के (K) प्रणालियों के तरंगदैर्घ्य अधिक होने से उनका समावेश एक्सरे विभाग में नहीं होता था] और जैसे जैसे परमाणुक्रमांक बढ़ता जाता है वैसे वैसे क्रमशः एल, एम, एन, ओ, पी इत्यादि $(L, M, N, O, P, \ldots)$ प्रणालियाँ प्राप्त होती हैं। साथ ही यह भी ज्ञात था कि के (K) प्रणाली को उत्तेजित करने के लिये सबसे अधिक विभव की आवश्यकता है, और एल, एम, एन इत्यादि $(L, M, N, \ldots)$ प्रणालियों के लिये क्रमशः उनसे कम विभव आवश्यक होता है। अतः यह स्पष्ट है कि परमाणु में प्रत्येक इलेक्ट्रान कवच के साथ विशिष्ट ऊर्जा होती है। फलतः के (K) कवच नाभिक के निकट होता है और उसके पश्चात् क्रमशः एल, एम, एन इत्यादि $(L, M, N, \ldots)$ कवच होते हैं, अतः इन प्रणालियों को उत्तेजित करने के लिये क्रमशः कम ऊर्जा की आवश्यकता होगी। प्रकाशीय वर्णक्रम के सिद्धांत में जैसे समान ऊर्जा के रेखाचित्र दिए जाते हैं, उसी प्रकार का (किंतु अधिक सरल किया हुआ) रेखाचित्र चित्र ६ में एक्सरे वर्णक्रम के लिये दिया जा रहा है।

के, एल इत्यादि $(K, L, \ldots)$ प्रणालियाँ कैसे उत्तेजित होती हैं और उनकी रेखाओं के तरंगदैर्घ्य (अथवा आवृत्तियाँ) क्या होंगे, यह चित्र ६ से स्पष्ट है। आकृति में के (K) प्रणाली में एल (L) कवच के तीनों उपविभागों में इलेक्ट्रानों का संक्रमण नहीं होता, केवल दो उपविभागों से होता है। संक्रमण के विशेष नियम हैं, जिनके अनुसार संक्रमण होकर ऊर्जा का एक क्वांटम मिलता है। इन नियमों के अनुसार प्रत्येक उपविभाग (अथवा ऊर्जास्तर) को जो विशेष क्वांटम अंक दिए गए हैं उनमें केवल नियत परिवर्तन संभाव्य है। अतः इलेक्ट्रान किसी ऊर्जास्तर से अन्य किसी भी स्तर पर स्वेच्छानुसार संक्रमण नहीं कर सकता, केवल अनुमोदित स्तरों पर ही उसका संक्रमण हो सकता है।

चित्र ६. एक्सरे-ऊर्जा-तल रेखाचित्र

एक्सरे का प्रकीर्णन तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव—व्यतिकरण, ध्रुवण, वर्तन, व्याभंग इत्यादि गुणों से एक्सरे की तरंगप्रकृति प्रमाणित होती है, किंतु एक्सरे के अन्यान्य ऐसे गुण भी हैं जिनका स्पष्टीकरण तरंगप्रकृति के आधार पर नहीं हो सकता। इन गुणों में हम पहले प्रकीर्णन पर विचार करेंगे। एक्सरे का किसी पदार्थ पर आपतन होने पर प्रकीर्णन होता है और प्रकीर्ण एक्सरे में तीन प्रकार की किरणें होती हैं: (१) अपरिवर्तित एक्सरे, (२) प्रतिदीप्त एक्सरे और (३) परिवर्तित एक्सरे। इन तीनों प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे का उद्भव कैसे होता है, इनके आकलन के पूर्व इसका विचार करना आवश्यक होगा कि प्रकीर्ण एक्सरे का उद्गम कैसे होता है।

एकवर्ण (समान तरंगदैर्घ्य के) एक्सरे का जब किसी पदार्थ पर आपतन होता है, तब पदार्थ के परमाणुओं के इलेक्ट्रानों पर एक्सरे के विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र की क्रिया होती है। इससे इलेक्ट्रानों में कंपन होने लगता है, अतः समस्त दिशाओं में एक्सरे का (अथवा विद्युच्चुंबकीय तरंगों का) प्रकीर्णन होता है। प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार इस प्रकार से जो प्रकीर्ण एक्सरे होते हैं उनकी आवृत्ति प्रारंभिक एक्सरे की आवृत्ति के समान ही होती है। अतः प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार प्रकीर्ण एक्सरे की आवृत्ति में (अथवा तरंगदैर्घ्य में) कोई भी परावर्तन नहीं होता। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को अपरिवर्तित प्रकीर्ण एक्सरे कहते हैं और इनका अस्तित्व सरलता से प्रमाणित किया जा सकता है। यदि आपाती एक्सरे की ऊर्जा के, एल इत्यादि $(K, L, \ldots)$ कवचों के इलेक्ट्रानों को विस्थापित करने के लिये पर्याप्त हो, तो कुछ किरणों की बद्ध इलेक्ट्रानों पर क्रिया होगी और वे विस्थापित होंगे। अतः इन रिक्त स्थानों पर परमाणुओं के अन्य इलेक्ट्रानों का आक्रमण (चित्र ६ के अनुसार) होगा और एक्सरे वर्णक्रम प्राप्त होगा। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को प्रतिदीप्त एक्सरे कहा जाता है। अतः ये प्रतिदीप्त एक्सरे प्रकीर्णक पदार्थ के लाक्षणिक एक्सरे होंगे और इनका विश्लेषण करने से प्रकीर्णन करनेवाले पदार्थ के घटकों का ज्ञान हो सकता है। आजकल यह रीति अधिकतर औद्योगिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होती है। इस रीति की विशेषता यह है कि गाइगर-मुलर गणक की सहायता से विश्लेषण अल्प काल में होता है (रासायनिक मात्रात्मक विश्लेषण के लिये बहुत अधिक समय लगता है) और पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट नहीं होता।

सैद्धांतिक दृष्टि से प्रकीर्ण एक्सरे का तीसरा प्रकार, परिवर्तित एक्सरे, विशेष महत्वपूर्ण है। के, एल इत्यादि $(K, L, \ldots)$ आंतरिक

कवचों के इलेक्ट्रानों का नाभिक से दृढ़ बंधन रहता है, किंतु बाह्य कवचों के इलेक्ट्रानों का बंधन शिथिल रहता है। ठोस पदार्थों में, विशेषतः धातुओं में, बाह्य कवच के इलेक्ट्रानों का बंधन इतना शिथिल होता है कि कतिपय इलेक्ट्रान प्रायः स्वतंत्र रहते हैं—अर्थात् ये इलेक्ट्रान धातु के भीतर तो रहते हैं किंतु किसी एक ही परमाणु से उनका सतत बंधन नहीं रहता। ऐसे इलेक्ट्रानों को स्वतंत्र इलेक्ट्रान कहा जाता है। ऐसे इलेक्ट्रान से एक्सरे का संघात होने पर थोड़ी ऊर्जा इलेक्ट्रान को भी मिलेगी और ऊर्जा-अविनाशिता सिद्धांत के अनुसार प्रकीरित किरण की ऊर्जा प्रारंभिक ऊर्जा से उतनी ही मात्रा में कम होगी, अर्थात् प्रकीरित किरण की आवृत्ति कम होगी (क्योंकि क्वांटम सिद्धांत के अनुसार एक्सरे-किरण-ऊर्जा=प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति)। प्रकीरित एक्सरे में आपाती एक्सरे के तरंगदैर्घ्य से कम तरंगदैर्घ्य के एक्सरे का अस्तित्व पहले ए० एच० कॉम्पटन ने स्थापित किया। इस प्रकार की घटना से समस्त संगत परिणामों का (जैसे परिवर्तित एक्सरे का तरंगदैर्घ्य, प्रकीर्णन गुणक, प्रकीरित एक्सरे की तीव्रता का दिक् (स्पेस) में विभाजन, प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रान की ऊर्जा तथा दिशा इत्यादि का) प्रायोगिक अध्ययन कॉम्पटन ने किया। सी० टी० आर० विल्सन ने भी अन्य रीति से प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रानों का अध्ययन किया। इन सब प्रायोगिक फलों का समर्थन प्रतिष्ठित विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत द्वारा नहीं होता था। गणना करके कॉम्पटन ने यह प्रमाणित किया कि आपाती एक्सरे को (विद्युच्चुंबकीय) तरंगमालिका न समझकर यदि हम उन्हें एक्सरे फोटान (कण) समूह समझें, तो इलेक्ट्रानों से संघात संबंधी ऊर्जा तथा आवेग के अविनाशिता-सिद्धांत से प्राप्त फल प्रायोगिक फलों के अनुकूल होते हैं। अतः कॉम्पटन प्रकीर्णन में एक्सरे को तरंग समझना अनुचित है और इस प्रकार के संघात में एक्सरे के फोटान का अस्तित्व मानना पड़ता है। फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति। कॉम्पटन-प्रभाव विशेष महत्व का है, क्योंकि इससे प्रमाणित होता है कि प्रकीर्णन में एक्सरे का व्यवहार तरंगों जैसा नहीं, कणों के समान है।

प्रकीर्णन के साथ साथ प्रकाशवैद्युत प्रभाव में भी एक्सरे का व्यवहार तरंगों के सदृश नहीं अपितु कणों के—फोटानों के—सदृश होता है। जब किसी पदार्थ पर एक्सरे का आपतन होता है तब उस पदार्थ के परमाणुओं के इलेक्ट्रानों से उसका संघात होता है। इन संघातों में एक्सरे की ऊर्जा इन इलेक्ट्रानों को मिलती है और ये इलेक्ट्रान परमाणुओं से दूर प्रक्षिप्त हो जाते हैं। ऊर्जा पर्याप्त होने के कारण ये इलेक्ट्रान पदार्थ के बाहर निकलते हैं और चुंबकीय क्षेत्र से इनको केंद्रित किया जा सकता है। चुंबकीय क्षेत्र यदि एक समान तथा पर्याप्त तीव्रता का हो तो निश्चित वेग के इलेक्ट्रानों का निश्चित स्थान पर ही पतन होता है। इस प्रकार प्राप्त हुए प्रकाश-इलेक्ट्रानों के (फोटो-इलेक्ट्रानों के) वर्णक्रमों का अध्ययन करके अनेक महत्वपूर्ण अनुमान किए गए है। यदि एक्सरे समान तरंगदैर्घ्य के (अथवा एक वर्ण के) हों, तो प्रकाश-इलेक्ट्रानों के वर्णक्रम में सुस्पष्ट रेखाएँ आती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इलेक्ट्रानों को मुक्त करने के लिये निश्चित ऊर्जा ली गई है। यदि पदार्थ में इलेक्ट्रान मुक्त हों तो एक्सरे की संपूर्ण ऊर्जा उनको मिलेगी (यहाँ धातु से बाहर निकलने के लिये इलेक्ट्रान को जितनी ऊर्जा की आवश्यकता होती है वह एक्सरे की ऊर्जा की तुलना में उपेक्षणीय होती है, किंतु प्रकाशकों में प्रकाशकिरण की ऊर्जा की तुलना में वह उपेक्षणीय नहीं होती) और इस चुंबकीय वर्णक्रम में महत्तम की ऊर्जा के इलेक्ट्रान रहेंगे। इन महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रानों के साथ साथ, जिनमें निश्चित ऊर्जा की हानि हुई है, ऐसे इलेक्ट्रानों के अस्तित्व का स्पष्टीकरण केवल इसी अनुमान से हो सकता है कि ये इलेक्ट्रान विशिष्ट ऊर्जा द्वारा परमाणु के नाभिक से बद्ध थे। अतः उनको मुक्त करने के लिये एक्सरे के फोटानों की ऊर्जा से उतनी ही ऊर्जा का व्यय हुआ और शेष ऊर्जा इलेक्ट्रानों को मिली। अर्थात् इस प्रयोग से के, एल इत्यादि कवचों की ऊर्जा की सरलता से गणना की जा सकती है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि एक्सरे और बद्ध इलेक्ट्रानों के संघात कणों के संघातों के समान होते हैं, अर्थात् इन संघातों में एक्सरे की तरंगप्रकृति नहीं दिखाई देती है।

प्रायोगिक अध्ययनों से एक्सरे की ऊर्जा तथा उनसे प्राप्त फोटो इलेक्ट्रानों की ऊर्जा में निम्नलिखित संबंध प्राप्त हुआ है :

फोटो इलेक्ट्रान की ऊर्जा = फोटान की ऊर्जा − ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) (५)

यहाँ फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति, तथा ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) = के, एल इत्यादि कवचों की बंधन ऊर्जा।

अनेक प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि कॉम्पटन प्रभाव में तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव में एक्सरे का व्यवहार कणों के समान होता है, अतः एक्सरे को हम कण समझें अथवा तरंग, यह प्रयोगविशेष की प्रकृति पर निर्भर होगा। एक्सरे की इस द्वैध प्रकृति के समान इलेक्ट्रानों की भी द्वैध प्रकृति है। कतिपय प्रयोगों में इलेक्ट्रानों का व्यवहार कणों के समान होता है, तो अन्य प्रयोगों में (उदाहरणार्थ इलेक्ट्रान-व्याभंग में) तरंगों के समान।

एक्सरे और मणिभ—एक्सरे से मणिभ संरचना जानने में विशेष सहायता मिलती है (द्र० **एक्सरे और मणिभ संरचना**)।

एक्सरे के अन्य उपयोग—एक्सरे के विशिष्ट गुणों के कारण उनका उपयोग विस्तृत रूप से विज्ञान की अनेक शाखाओं तथा विभिन्न उद्योगों में होता आ रहा है। उद्योगों में, विशेषतः निर्माण तथा निर्मित पदार्थों के गुणों के नियंत्रण में, एक्सरे का बहुत उपयोग होता है। निर्मित पदार्थों की अंतस्थ त्रुटियाँ एक्सरे फोटोग्राफों द्वारा सरलता से ज्ञात की जा सकती हैं। विमान तथा उसी प्रकार के साधनों के यंत्रों में अति तीव्र वेग तथा चरम भौतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है; ऐसे यंत्रों के निर्माण में प्रत्येक अवयव अंतर्बाह्य निर्दोष तथा यथार्थ होना चाहिए। ऐसे प्रत्येक अवयव की परीक्षा एक्सरे से की जाती है और सदोष अवयवों का त्याग किया जाता है। धातु एक्सरे का अवशोषण करते हैं, अतः धातुओं के अंतर्भागों की परीक्षा के लिये मृदु एक्सरे अनुपयुक्त होते हैं। विशाल आकार के धात्वीय पदार्थों के लिये अत्युच्च विभव के एक्सरे की आवश्यकता होती है।

शरीरचिकित्सा के संबंध में द्र० **एक्सरे, रेडियम तथा विकिरण चिकित्सा**।

धातुविज्ञान तथा धातुगवेषणा में एक्सरे अत्यंत उपयोगी हैं। धातु भी मणिभीय होते हैं, किंतु इनके मणिभ सूक्ष्म होते हैं और वे यथेच्छ प्रकार से स्थापित रहते हैं, अतः धातुओं की लावे-प्रतिमा में सामान्यतः संकेंद्र वर्तुल रहते हैं। प्रत्येक वर्तुल एक समान तीव्रता का होता है, किंतु किसी भौतिक क्रिया से कणों के आकारों में वृद्धि हो जाने पर इन वर्तुलों में बिंदु भी आते हैं। अतः एक्सरे व्याभंग द्वारा इसका ठीक ठीक पता चल जाता है कि धात्वीय मणिभों के कण किस प्रकार के हैं और उनका आकार आदि कैसा है। इस ज्ञान का धातुविज्ञान में अत्यंत महत्व है। धातु के पदार्थ बनाने के समय उष्मा के कारण उनमें अंतर्विकृति आ जाती है। धातु को मोड़ने से भी उसमें अंतर्विकृति हो जाती है। ऐसी विकृतियों का विश्लेषण एक्सरे से हो सकता है। इस प्रकार विशिष्ट गुणों से युक्त निर्दोष धातु प्राप्त करने में एक्सरे का विशेष उपयोग होता है।

एक्सरे के अन्य उपयोगों में एक्सरे सूक्ष्मदर्शी उल्लेखनीय है। एक्सरे के तरंगदैर्घ्य प्रकाश के तरंगदैर्घ्यों से सूक्ष्म होते हैं, अतः एक्सरे-सूक्ष्मदर्शी को प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से अधिक प्रभावशाली होना चाहिए। १९४८ में एक्सरे को केंद्रित करने के कर्कपैट्रिक के प्रयत्न अंशतः सफल हुए। इस रीति से तथा अन्य रीतियों से प्रतिबिंब का आवर्धन करने के प्रयत्न अब प्रायोगिक अवस्था पार कर चुके हैं और अनेक निर्माताओं द्वारा निर्मित कई प्रकार के एक्सरे सूक्ष्मदर्शी सुलभ हैं।

प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से जिन बातों का पता नहीं चल पाता उनका ज्ञान सरलतापूर्वक एक्सरे सूक्ष्मदर्शी से हो जाता है।

सं०ग्रं०—ए० एच० कॉम्पटन तथा एलीसन : एक्सरे इन् थ्योरी ऐंड एक्सपेरिमेंट (डी० ह्वान नोस्ट्रांग कंपनी, न्यूयार्क, १९३५); स्प्राऊल : एक्सरेज इन प्रैक्टिस (मैक्-ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयॉर्क, १९४६); जॉर्ज एल० क्लार्क : ऐप्लाएड एक्सरेज (मैक-ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयार्क, १९५५); ए० लिखती तथा डब्ल्यू० मिटर : रंटजन फिज़ीक (स्प्रिंगर-फरलाग,

जहाँ क (a) = एक स्थिरांक, ख (b) = दूसरा स्थिरांक, क्र (j) = परमाणु क्रमांक ।

समीकरण (४) को मोस्ले का नियम कहते हैं। इस समीकरण में स्थिरांक क (a) ख और (b) समस्त तत्वों की विशिष्ट वर्णक्रमरेखा के लिये समान होते हैं। समीकरण (४) के अनुसार आवृत्ति तथा परमाणु-

चित्र ५.

क्रमांक का संबंध चित्र ५ में दिया गया है। इस प्रकार की सरल रेखाएँ प्रत्येक समुदाय की प्रत्येक वर्णक्रम रेखा के लिये होती हैं। मोस्ले का यह नियम एक्सरे-वर्णक्रम-सिद्धांत में मौलिक है और फिर इस नियम के यथार्थ आकलन के लिये जो प्रयत्न हुए उनसे पारमाण्वीय भौतिकी में परमाणुओं की संरचना के सिद्धांत स्थिर करने में भी विशेष लाभ हुआ। समीकरण (४) से यह स्पष्ट है कि आवर्तसारणी में किसी तत्व का स्थान परमाणु-क्रमांक से ही निश्चित होगा, परमाणुभार से नहीं। यदि तत्वों का स्थान आवर्तसारणी में परमाणुभारों के अनुसार दिया जाय तो आरगन और पोटैसियम, कोबल्ट और निकल इत्यादि तत्वों के स्थान विपरीत पड़ते हैं; किंतु यदि मोस्ले के नियम के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम से प्राप्त तत्व-परमाणु-क्रमांक दिए जायँ तो आवर्तसारणी में प्रत्येक तत्व को यथोचित स्थान मिलता है। इस नियम से और भी एक लाभ हुआ। मोस्ले का नियम जिस समय प्रकाशित हुआ, उस समय तक जो तत्व अज्ञात थे उनके अस्तित्व की भी भविष्यवाणी हुई और तदनंतर उनका आविष्कार हुआ; उदाहरणार्थ हैफ़नियम, रेनियम इत्यादि।

बोर के परमाणु सिद्धांत के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम के समस्त प्रायोगिक फलों की व्याख्या सरलता से की जा सकती है। प्रयोग द्वारा यह ज्ञात था कि निम्न परमाणुक्रमांक के तत्वों के लिये केवल के (K) प्रणाली का अस्तित्व होता है [किंतु इन तत्वों की के (K) प्रणालियों के तरंगदैर्ध्य अधिक होने से उनका समावेश एक्सरे विभाग में नहीं होता था] और जैसे जैसे परमाणुक्रमांक बढ़ता जाता है वैसे वैसे क्रमशः एल, एम, एन, ओ, पी इत्यादि $(L, M, N, O, P, \ldots)$ प्रणालियाँ प्राप्त होती हैं। साथ ही यह भी ज्ञात था कि के (K) प्रणाली को उत्तेजित करने के लिये सबसे अधिक विभव की आवश्यकता है, और एल, एम, एन इत्यादि $(L, M, N, \ldots)$ प्रणालियों के लिये क्रमशः उनसे कम विभव आवश्यक होता है। अतः यह स्पष्ट है कि परमाणु में प्रत्येक इलेक्ट्रान कवच के साथ विशिष्ट ऊर्जा होती है। फलतः के (K) कवच नाभिक के निकट होता है और उसके पश्चात् क्रमशः एल, एम, एन इत्यादि $(L, M, N, \ldots)$ कवच होते हैं, अतः इन प्रणालियों को उत्तेजित करने के लिये क्रमशः कम ऊर्जा की आवश्यकता होगी। प्रकाशीय वर्णक्रम के सिद्धांत में जैसे समान ऊर्जा के रेखाचित्र दिए जाते हैं, उसी प्रकार का (किंतु अधिक सरल किया हुआ) रेखाचित्र चित्र ६ में एक्सरे वर्णक्रम के लिये दिया जा रहा है।

के, एल इत्यादि $(K, L, \ldots)$ प्रणालियाँ कैसे उत्तेजित होती हैं और उनकी रेखाओं के तरंगदैर्ध्य (अथवा आवृत्तियाँ) क्या होंगे, यह चित्र ६ से स्पष्ट है। आकृति में के (K) प्रणाली में एल (L) कवच के तीनों उपविभागों से इलेक्ट्रानों का संक्रमण नहीं होता, केवल दो उपविभागों से होता है। संक्रमण के विशेष नियम हैं, जिनके अनुसार संक्रमण होकर ऊर्जा का एक क्वांटम मिलता है। इन नियमों के अनुसार प्रत्येक उपविभाग (अथवा ऊर्जास्तर) में जो विशेष क्वांटम अंक दिए गए हैं उनमें केवल नियत परिवर्तन संभाव्य है। अतः इलेक्ट्रान किसी ऊर्जास्तर से अन्य किसी भी स्तर पर स्वेच्छानुसार संक्रमण नहीं कर सकता, केवल अनुमोदित स्तरों पर ही उसका संक्रमण हो सकता है।

चित्र ६. एक्सरे-ऊर्जा-तल रेखाचित्र

एक्सरे का प्रकीर्णन तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव—व्यतिकरण, ध्रुवण, वर्तन, व्याभंग इत्यादि गुणों से एक्सरे की तरंगप्रकृति प्रमाणित होती है, किंतु एक्सरे के अन्यान्य ऐसे गुण भी हैं जिनका स्पष्टीकरण तरंगप्रकृति के आधार पर नहीं हो सकता। इन गुणों में हम पहले प्रकीर्णन पर विचार करेंगे। एक्सरे का किसी पदार्थ पर आपतन होने पर प्रकीर्णन होता है और प्रकीर्ण एक्सरे में तीन प्रकार की किरणें होती हैं: (१) अपरिवर्तित एक्सरे, (२) प्रतिदीप्त एक्सरे और (३) परिवर्तित एक्सरे। इन तीनों प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे का उद्भव कैसे होता है, इसके आकलन के पूर्व इसका विचार करना आवश्यक होगा कि प्रकीर्ण एक्सरे का उद्गम कैसे होता है।

एकवर्ण (समान तरंगदैर्ध्य के) एक्सरे का जब किसी पदार्थ पर आपतन होता है, तब पदार्थ के परमाणुओं के इलेक्ट्रानों पर एक्सरे के विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र की क्रिया होती है। इनसे इलेक्ट्रानों में कंपन होने लगता है, अतः समस्त दिशाओं में एक्सरे का (अथवा विद्युच्चुंबकीय तरंगों का) प्रकीर्णन होता है। प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार इस प्रकार के जो प्रकीर्ण एक्सरे होते हैं उनकी आवृत्ति प्रारंभिक एक्सरे की आवृत्ति के समान ही होनी है। अतः प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार प्रकीर्ण एक्सरे की आवृत्ति में (अथवा तरंगदैर्ध्य में) कोई भी परावर्तन नहीं होता। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को अपरिवर्तित प्रकीर्ण एक्सरे कहते हैं और इनका अस्तित्व सरलता से प्रमाणित किया जा सकता है। यदि आपाती एक्सरे की ऊर्जा के, एल इत्यादि $(K, L, \ldots)$ कवचों के इलेक्ट्रानों को विस्थापित करने के लिये पर्याप्त हो, तो कुछ किरणों की बद्ध इलेक्ट्रानों पर क्रिया होगी और वे विस्थापित होंगे। अतः इन रिक्त स्थानों पर परमाणुओं के अन्य इलेक्ट्रानों का आक्रमण (चित्र ६ के अनुसार) होगा और एक्सरे वर्णक्रम प्राप्त होगा। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को प्रतिदीप्त एक्सरे कहा जाता है। अतः ये प्रतिदीप्त एक्सरे प्रकीर्ण पदार्थ के लाक्षणिक एक्सरे होंगे और इनका विश्लेषण करने से प्रकीर्णन करनेवाले पदार्थ के घटकों का ज्ञान हो सकता है। आजकल यह रीति अधिकतर औद्योगिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होती है। इस रीति की विशेषता यह है कि गाइगर-मुलर गणक की सहायता से विश्लेषण अल्प काल में होता है (रासायनिक मात्रात्मक विश्लेषण के लिये बहुत अधिक समय लगता है) और पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट नहीं होता।

सैद्धांतिक दृष्टि से प्रकीर्ण एक्सरे का तीसरा प्रकार, परिवर्तित एक्सरे, विशेष महत्वपूर्ण है। के, एल इत्यादि $(K, L, \ldots)$ आंतरिक

कवचों के इलेक्ट्रानों का नाभिक से दृढ़ बंधन रहता है, किंतु बाह्य कवचों के इलेक्ट्रानों का बंधन शिथिल रहता है। ठोस पदार्थों में, विशेषतः धातुओं में, बाह्य कवच के इलेक्ट्रानों का बंधन इतना शिथिल होता है कि कतिपय इलेक्ट्रान प्रायः स्वतंत्र रहते हैं—अर्थात् ये इलेक्ट्रान धातु के भीतर तो रहते हैं किंतु किसी एक ही परमाणु से उनका सतत बंधन नहीं रहता। ऐसे इलेक्ट्रानों को स्वतंत्र इलेक्ट्रान कहा जाता है। ऐसे इलेक्ट्रान से एक्सरे का संघात होने पर थोड़ी ऊर्जा इलेक्ट्रान को भी मिलेगी और ऊर्जा-अविनाशिता सिद्धांत के अनुसार प्रकीरित किरण की ऊर्जा प्रारंभिक ऊर्जा से उतनी ही मात्रा में कम होगी, अर्थात् प्रकीरित किरण की आवृत्ति कम होगी (क्योंकि क्वांटम सिद्धांत के अनुसार एक्सरे-किरण-ऊर्जा=प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति)। प्रकीरित एक्सरे में आपाती एक्सरे के तरंग-दैर्घ्य से कम तरंगदैर्घ्य के एक्सरे का अस्तित्व पहले ए० एच० कॉम्पटन ने स्थापित किया। इस प्रकार की घटना से समस्त संगत परिणामों का (जैसे परिवर्तित एक्सरे का तरंगदैर्घ्य, प्रकीर्णन गुणक, प्रकीरित एक्सरे की तीव्रता का दिक् (स्पेस) में विभाजन, प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रान की ऊर्जा तथा दिशा इत्यादि का) प्रायोगिक अध्ययन कॉम्पटन ने किया। सी० टी० आर० विल्सन ने भी अन्य रीति से प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रानों का अध्ययन किया। इन सब प्रायोगिक फलों का समर्थन प्रतिष्ठित विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत द्वारा नहीं होता था। गणना करके कॉम्पटन ने यह प्रमाणित किया कि आपाती एक्सरे को (विद्युच्चुंबकीय) तरंगमालिका न समझकर यदि हम उन्हें एक्सरे फोटान (कण) समूह समझें, तो इलेक्ट्रानों से संघात संबंधी ऊर्जा तथा आवेग के अविनाशिता-सिद्धांत से प्राप्त फल प्रायोगिक फलों के अनुकूल होते हैं। अतः कॉम्पटन प्रकीर्णन में एक्सरे को तरंग समझना अनुचित है और इस प्रकार के संघात में एक्सरे के फोटान का अस्तित्व मानना पड़ता है। फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति। कॉम्पटन-प्रभाव विशेष महत्व का है, क्योंकि इससे प्रमाणित होता है कि प्रकीर्णन में एक्सरे का व्यवहार तरंगों जैसा नहीं, कणों के समान है।

प्रकीर्णन के साथ साथ प्रकाशवैद्युत प्रभाव में भी एक्सरे का व्यवहार तरंगों के सदृश नहीं अपितु कणों के—फोटानों के—सदृश होता है। जब किसी पदार्थ पर एक्सरे का आपतन होता है तब उस पदार्थ के परमाणुओं के इलेक्ट्रानों से उसका संघात होता है। इन संघातों में एक्सरे की ऊर्जा इन इलेक्ट्रानों को मिलती है और ये इलेक्ट्रान परमाणुओं से दूर प्रक्षिप्त हो जाते हैं। ऊर्जा पर्याप्त होने के कारण ये इलेक्ट्रान पदार्थ के बाहर निकलते हैं और चुंबकीय क्षेत्र में इनको केंद्रित किया जा सकता है। चुंबकीय क्षेत्र यदि एक समान तथा पर्याप्त तीव्रता का हो तो निश्चित वेग के इलेक्ट्रानों का निश्चित स्थान पर ही पतन होता है। इस प्रकार प्राप्त हुए प्रकाश-इलेक्ट्रानों के (फोटो-इलेक्ट्रानों के) वर्णक्रमों का अध्ययन करके अनेक महत्वपूर्ण अनुमान किए गए हैं। यदि एक्सरे समान तरंग-दैर्घ्य के (अथवा एक वर्ण के) हों, तो प्रकाश-इलेक्ट्रानों के वर्णक्रम में सुस्पष्ट रेखाएँ आती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इलेक्ट्रानों को मुक्त करने के लिये निश्चित ऊर्जा ली गई है। यदि पदार्थ में इलेक्ट्रान मुक्त हों तो एक्सरे की संपूर्ण ऊर्जा उनको मिलेगी (यहाँ धातु से बाहर निकलने के लिये इलेक्ट्रान को जितनी ऊर्जा की आवश्यकता होती है वह एक्सरे की ऊर्जा की तुलना में उपेक्षणीय होती है, किंतु प्रकाशकों में प्रकाशकिरण की ऊर्जा की तुलना में वह उपेक्षणीय नहीं होती) और इस चुंबकीय वर्णक्रम में महत्तम की ऊर्जा के इलेक्ट्रान रहेंगे। इन महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रानों के साथ साथ, जिनमें निश्चित ऊर्जा की हानि हुई है, ऐसे इलेक्ट्रानों के अस्तित्व का स्पष्टीकरण केवल इसी अनुमान से हो सकता है कि ये इलेक्ट्रान विशिष्ट ऊर्जा द्वारा परमाणु के नाभिक से बद्ध थे। अतः उनको मुक्त करने के लिये एक्सरे के फोटानों की ऊर्जा से उतनी ही ऊर्जा का व्यय हुआ और शेष ऊर्जा इलेक्ट्रानों को मिली। अर्थात् इस प्रयोग से के, एल इत्यादि कवचों की ऊर्जा की सरलता से गणना की जा सकती है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि एक्सरे और बद्ध इलेक्ट्रानों के संघात कणों के संघातों के समान होते हैं, अर्थात् इन संघातों में एक्सरे की तरंगप्रकृति नहीं दिखाई देती है। प्रायोगिक अध्ययनों से एक्सरे की ऊर्जा तथा उनसे प्राप्त फोटो इलेक्ट्रानों की ऊर्जा में निम्नलिखित संबंध प्राप्त हुआ है :

फोटो इलेक्ट्रान की ऊर्जा = फोटान की ऊर्जा = ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) (५)

यहाँ फोटान की ऊर्जा = प्लांक का स्थिरांक × आवृत्ति, तथा ऊ$_{\text{प}}$ (E_P) = के, एल इत्यादि कवचों की बंधन ऊर्जा।

अनेक प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि कॉम्पटन प्रभाव में तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव में एक्सरे का व्यवहार कणों के समान होना है, अतः एक्सरे को हम कण समझें अथवा तरंग, यह प्रयोगविशेष की प्रकृति पर निर्भर होगा। एक्सरे की इस द्वैध प्रकृति के समान इलेक्ट्रानों की भी द्वैध प्रकृति है। कतिपय प्रयोगों में इलेक्ट्रानों का व्यवहार कणों के समान होता है, तो अन्य प्रयोगों में (उदाहरणार्थ इलेक्ट्रान-व्याभंग में) तरंगों के समान।

एक्सरे और मणिभ—एक्सरे से मणिभ संरचना जानने में विशेष सहायता मिलती है (द्र० **एक्सरे और मणिभ संरचना**)।

एक्सरे के अन्य उपयोग—एक्सरे के विशिष्ट गुणों के कारण उनका उपयोग विस्तृत रूप से विज्ञान की अनेक शाखाओं तथा विभिन्न उद्योगों में होता आ रहा है। उद्योगों में, विशेषतः निर्माण तथा निर्मित पदार्थों के गुणों के नियंत्रण में, एक्सरे का बहुत उपयोग होता है। निर्मित पदार्थों की अंतस्थ त्रुटियाँ एक्सरे फोटोग्राफों द्वारा सरलता से ज्ञात की जा सकती है। विमान तथा उसी प्रकार के साधनों के यंत्रों में अति तीव्र वेग तथा चरम भौतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है; ऐसे यंत्रों के निर्माण में प्रत्येक अवयव अंतर्बाह्य निर्दोष तथा यथार्थ होना चाहिए। ऐसे प्रत्येक अवयव की परीक्षा एक्सरे से की जाती है और सदोष अवयवों का त्याग किया जाता है। धातु एक्सरे का अवशोषण करते हैं, अतः धातुओं के अंत-र्भागों की परीक्षा के लिये मृदु एक्सरे अनुपयुक्त होते हैं। विशाल आकार के धात्वीय पदार्थों के लिये अत्युच्च विभव के एक्सरे की आवश्यकता होती है।

शरीरचिकित्सा के संबंध में द्र० **एक्सरे, रेडियम तथा विकिरण चिकित्सा**।

धातुविज्ञान तथा धातुगवेषणा में एक्सरे अत्यंत उपयोगी हैं। धातु भी मणिभीय होते हैं, किंतु इनके मणिभ सूक्ष्म होते हैं और ये यथेच्छ प्रकार से स्थापित रहते हैं, अतः धातुओं की लावे-प्रतिमा में सामान्यतः संकेंद्र वर्तुल रहते हैं। प्रत्येक वर्तुल एक समान तीव्रता का होता है, किंतु किसी भौतिक क्रिया से कणों के आकारों में वृद्धि हो जाने पर इन वर्तुलों में बिंदु भी आते हैं। अतः एक्सरे व्याभंग द्वारा इसका ठीक ठीक पता चल जाता है कि धात्वीय मणिभों के कण किस प्रकार के हैं और उनका आकार आदि कैसा है। इस ज्ञान का धातुविज्ञान में अत्यंत महत्व है। धातु के पदार्थ बनाने के समय उष्मा के कारण उनमें अंतर्विकृति आ जाती है। धातु को मोड़ने से भी उनमें अंतर्विकृति हो जाती है। ऐसी विकृतियों का विश्लेषण एक्सरे से हो सकता है। इस प्रकार विशिष्ट गुणों से युक्त निर्दोष धातु प्राप्त करने में एक्सरे का विशेष उपयोग होता है।

एक्सरे के अन्य उपयोगों में एक्सरे सूक्ष्मदर्शी उल्लेखनीय है। एक्सरे के तरंगदैर्घ्य प्रकाश के तरंगदैर्घ्यों से सूक्ष्म होते हैं, अतः एक्सरे-सूक्ष्मदर्शी को प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से अधिक प्रभावशाली होना चाहिए। १९४८ में एक्सरे को केंद्रित करने के कर्कपैट्रिक के प्रयत्न अंशतः सफल हुए। इस रीति से तथा अन्य रीतियों से प्रतिबिंब का आवर्धन करने के प्रयत्न अब प्रायोगिक अवस्था पार कर चुके हैं और अनेक निर्माताओं द्वारा निर्मित कई प्रकार के एक्सरे सूक्ष्मदर्शी सुलभ हैं।

प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से जिन बातों का पता नहीं लग पाता उनका ज्ञान सरलतापूर्वक एक्सरे सूक्ष्मदर्शी से हो जाता है।

सं०ग्रं०—ए० एच० कॉम्पटन तथा एलीसन : एक्सरे इन् थ्योरी ऐंड एक्सपेरिमेंट (डी० वान नॉस्ट्रांड कंपनी, न्यूयार्क, १९३५); स्प्राउल : एक्सरेज इन प्रैक्टिस (मैक्ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयॉर्क, १९४६); जॉर्ज एल० क्लार्क : ऐप्लाइड एक्सरेज (मैक्ग्रॉ हिल कंपनी, न्यूयार्क, १९५५); ए० निग्रली तथा डब्ल्यू० मिंडर : रेडियम डोज़ीमेट्री (स्प्रिंगर-वरलाग,

विएना, १९५५); रंटजन स्ट्राहलेन; (हैंडबुक डेर फिज़ीक, ३० भाग, स्प्रिंगर फ़र्लाग, बर्लिन, १९५७)। (वि० र० भ०)

एक्सेटर (१) संयुक्त राज्य अमरीका के न्यू हैंपशायर राज्य का नगर तथा राकिंघम काउंटी की राजधानी है। यह एक्सेटर नदी के तट पर समुद्रतल से ३० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह रेलमार्गों द्वारा बोस्टन तथा मेन से जुड़ा हुआ है तथा बोस्टन से ५१ मील पूर्वोत्तर में स्थित है। सूती उद्योग, जूते, पीतल तथा संगमरमर की वस्तुएँ और इमारती सामान आदि बनाना एक्सेटर के मुख्य धंधे हैं। यहाँ सुप्रसिद्ध फिलिप्स एक्सेटर अकैडमी है जो सन् १७८३ ई० से शिक्षा का प्रशंसनीय कार्य कर रही है। इस नगर का शिलान्यास जान व्हीलराइट नामक पादरी ने सन् १६३८ ई० में किया था, सन् १७७५ ई० में यह न्यू हैंपशायर की राजधानी बना था तथा गृह युद्धकाल में एक बड़ा सैनिक केंद्र भी था।

(२) इसी नाम का एक नगर डेवनशायर (इंग्लैंड) में भी है। १६वीं तथा १७वीं शताब्दी में यह केंट तथा ससेक्स से ऊन का आयात करता था तथा यहाँ का सर्ज (ऊनी वस्त्र) उद्योग बहुत प्रसिद्ध था। १८वीं शताब्दी में यह नगर लीड्स का प्रमुख प्रतिद्वंद्वी था। यहाँ सन् १९५६ में एक्सेटर विश्वविद्यालय का उद्घाटन हुआ था जिसमें आज अनेक विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। १९७० ई० में इसकी जनसंख्या ९३,३४० थी।

(ले० रा० सि०)

एगर मध्य यूरोप में स्थित दो नगरों का नाम है। (१) इनमें से एक तो उत्तर-मध्य हंगरी में है। यह एरलौ के नाम से भी प्रसिद्ध है। बुडापेस्ट से ६० मील उत्तर-पूर्व, तिसौ की सहायक एगर नदी के किनारे, अ० ४७° ५८′ उ० तथा दे० २०° २३′ पू० पर यह नगर स्थित है। अंगूरों से प्रसिद्ध लाल मदिरा यहाँ बनाई जाती है। आसपास के प्रदेश में यहाँ अंगूर बोए जाते हैं। नगर की उत्पादित वस्तुओं में ऊनी वस्त्र, लिनेन, पाट और सूत मिश्रित कपड़ा, तंबाकू, चमड़े की वस्तुएँ, साबुन तथा मोमबत्तियाँ हैं। नगर की आबादी सन् १९७० ई० में ४५,००० थी। सन् १५९६ ई० से लेकर १६८७ ई० तक एगर तुर्कों के अधीन रहा।

(२) एगर नाम का दूसरा नगर चेकोस्लोवाकिया के बोहीमिया राज्य में है (स्थिति अ० ५०° २३′ उ० तथा दे० १३° १५′ पू०)। यह चेक भाषा में चेब भी कहलाता है। (श्या० सु० श०)

एजवर्थ, मारिया (१७६७–१८४९) आयरलैंड के एक विशिष्ट भूमिपति की पुत्री थी। इनके पिता शिक्षा संबंधी समस्याओं में विशेष रुचि रखते थे। 'प्रैक्टिकल एजुकेशन' नामक ग्रंथ में उनकी अभिरुचि का पूर्ण परिचय मिलता है। कुमारी मारिया की लेखनशक्ति उनकी बाल्यावस्था में ही प्रस्फुटित हुई और अपने पिता की प्रेरणा से उन्होंने 'द पेरेंट्स असिस्टेंट' नामक ग्रंथ की रचना आरंभ की जिसका प्रकाशन छह जिल्दों में सन् १८०० ई० में हुआ। परंतु उनका स्वाभाविक झुकाव उपन्यास की ओर था और ३३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने प्रसिद्ध उपन्यास 'कासिल रैकरेंट' का प्रकाशन किया और उसके एक वर्ष पश्चात् ही 'बेलिंडा' का भी सृजन किया। उनकी प्रतिभा का प्रमाण आयरलैंड के सामान्य जीवन तथा पात्रों के सजीव चित्रण में मिलता है, जिसका प्रभाव उपन्यास सम्राट् सर वाल्टर स्कॉट ने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है।

सं०ग्रं०—ई० लालेस : मारिया एजवर्थ, इंग्लिशमेन ऑव लेटर्स सीरीज़, १९०४। (वि० रा०)

एजिटेटर्स १६४७ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेंट के दीर्घ सत्र ने सेना के एक हिस्से को बरखास्त करने और एक हिस्से को आयरलैंड भेजने का प्रस्ताव किया। सैनिकों ने, जो पूरा वेतन न मिलने के कारण असंतुष्ट थे, क्षुब्ध होकर, प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। अपने दृष्टिकोण और शिकायतों को प्रस्तुत करने के लिये उन्होंने अपने जो प्रतिनिधि चुने वे एजिटेटर्स (आदोलक) कहलाए। अस्थायी समझौते के बाद पार्लियामेंट ने सेनाभंग का निश्चय कर लिया। सैनिकों ने तीव्र विरोध किया, तथा एक दस्ते ने विद्रोह भी कर दिया, जिससे निर्णय का परित्याग करना पड़ा। इसी नीति के कारण क्रामवेल की तानाशाही संभव हो सकी। चार्ल्स प्रथम के बंदी होने पर सेना, पार्लियामेंट तथा बंदी राजा की तीनतरफा वार्ता चलती रही। सेना एक ओर चार्ल्स प्रथम से पराङ्मुख होती गई, दूसरी ओर पार्लियामेंट से भी मनमुटाव बढ़ता गया। अंतत. चार्ल्स प्रथम के प्राणदंड के बाद सैनिकों ने लंदन जाकर पार्लियामेंट सदन पर घेरा डाल कुछ सदस्यों को बंदी बनाया, कुछ को निकाल दिया। क्रामवेल के काल में यह आंदोलन शिथिल हो गया; यद्यपि लेवेलरों (Levellers) ने उसके मंतव्यों का अनुगमन किया। (रा० ना०)

एजेंसी इंग्लैंड का राजा भारत का सम्राट् था और देशी राज्यों पर उसका अनियंत्रित शासन था। भारत में उसका प्रतिनिधि गवर्नर जनरल तथा वायसराय था। वायसराय देशी राज्यों पर राजनीतिक मंडल (Political Department) द्वारा शासन करता था। राजनीतिक मंडल देशी राज्यों पर अपना शासकीय संपर्क रेजिडेंस तथा एजेंसी के द्वारा रखा करता था। हैदराबाद, ग्वालियर, बड़ौदा, मैसूर, कश्मीर, सिक्किम, भूटान आदि बड़े देशी राज्यों में रेजिडेंट होते थे। रेजिडेंट का प्रत्यक्ष संबंध वायसराय से हुआ करता था। दूसरे छोटे-छोटे राज्य इस एजेंसियों में बँटे हुए थे। भारत में छोटे बड़े कुल मिलाकर ५६२ देशी राज्य थे। प्रत्येक एजेंसी का प्रधान प्रशासक गवर्नर जनरल का एजेंट अर्थात् प्रतिनिधि था। एजेंसियाँ तथा उनके प्रधान कार्यालय इस प्रकार थे—मध्य भारत एजेंसी, प्रधान कार्यालय इंदौर में, दक्षिणी राज्यों की एजेंसी, प्रधान कार्यालय मद्रास में; पूर्वीय राज्यों की एजेंसी, गुजरात के राज्यों की एजेंसी, बलूचिस्तान एजेंसी, पश्चिमी राज्यों की एजेंसी, राजपूताना एजेंसी, पंजाब के राज्यों की एजेंसी, उत्तर-पश्चिमी राज्यों की एजेंसी, तथा कोल्हापुर एजेंसी। प्रत्येक गवर्नर जनरल का एजेंट एजेंसी के प्रधान कार्यालय में रहता था। अपने कर्तव्यों के निर्वहन में इसे राजनीतिक एजेंटों तथा रेजिडेंटों की पूरी पूरी सहायता मिलती थी। कहीं कहीं प्रांत के गवर्नर ही एजेंट का भी कार्य सँभालते थे, और कहीं कहीं कोई वयोवृद्ध सरकारी कर्मचारी इस पद पर नियुक्त किया जाता था। छोटे छोटे राज्यों के लिये जिलाधीश, सहायक जिलाधीश या तहसीलदार भी राजनीतिक एजेंटों के रूप में काम करते थे।

राजनीतिक अधिकारियों की शक्ति और अधिकार व्यापक थे। उन्हें राज्यों के प्रशासन में अनियंत्रित अधिकार थे। वे राजा के व्यक्तिगत आचरण और जीवन पर दृष्टि रखते थे तथा आंतरिक शासनव्यवस्था भी उनके निरीक्षण में रहती थी। समय समय पर राजनीतिक अधिकारी एजेंट को गुप्त रूप से राज्यों के सभी समाचार पहुँचाया करते थे। इनके वृत्तांत पर वायसराय देशी राज्यों के आभ्यंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करता था। वे युवराजों के विवाहसंबंध, उत्तराधिकार, दत्तक आदि का निश्चय करते थे। युवराजों की शिक्षा, भ्रमण, भाषण आदि सभी बातों पर एजेंटों का पूरा नियंत्रण रहा करता था। यदि देशी नरेश निर्बल होता, तो एजेंट अपना पूरा अधिकार उसपर जमा लेता था। किंतु यदि राजा का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता और वायसराय से उसके संबंध अच्छे होते तो एजेंट का उसपर प्रभाव नगण्य होता था। साधारणतया एजेंट के दो ही अधिकार उल्लिखित थे—(१) कार्यपालिका संबंधी या प्रशासकीय, तथा (२) न्यायिक। प्रशासकीय अधिकारी के नाते वे राज्यों में अनुदान एकत्रित करते, आभ्यंतरिक मामलों का निरीक्षण करते, राजाओं के व्यक्तिगत जीवन एवं राज्यों की आर्थिक व्यवस्था का निरीक्षण करते थे। उनके न्याय संबंधी कार्य ये थे—सीमा संबंधी मतभेदों को मिटाना, खूनियों को सजा देना, राज्य में रहनेवाले अंग्रेजों पर मामला चलाना, इत्यादि। एजेंटों की शक्ति असीमित थी। वे भारत सरकार एवं देशी राज्यों के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी थे। (शु० ते०)

एज्रा (एस्द्रास)। बाबुल के निर्वासन के बाद एज्रा और नहेम्याह ने यहूदियों को बाबुल (बाबीलोन) से निकालकर फिर फिलिस्तीन में बसाया तथा राजधानी जेरूसलम के पुनर्निर्माण और उसके मंदिर के जीर्णोद्धार के कार्य में प्रमुख भाग लिया था। बाइबिल में दो ग्रंथ एज्रा-

नहेम्याह के नाम से विख्यात हैं; उनमें बाबुली निर्वासन के अंत अर्थात् ५३६ ई० पू० से लेकर लगभग ४३० ई० पू० तक का यहूदियों का इतिहास मिलता है। (का० बु०)

एटली, क्लेमेंट रिचर्ड (१८८३-१९६७) ब्रिटिश राजनीतिज्ञ। १९०५ में उन्होंने बैरिस्ट्री पास की पर वकालत की जगह वह सामाजिक कार्य करने लगे। दो साल बाद वह समाजवादी हो गए और 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' के सदस्य बन गए। पहले महायुद्ध में उन्होंने फ्रांस और निकट पूर्व के देशों में मेजर की हैसियत से लड़ाइयां लड़ीं। १९२२ में एटली पालियामेंट के सदस्य चुने गए और जब १९३१ में मजदूर दल की सरकार बनी तब वह युद्ध के लिये उपसचिव नियुक्त हुए। १९३१ के चुनाव के बाद वह मजदूर दल के पहले उपनेता, फिर नेता, चुने गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय चर्चिल के मंत्रिमंडल में भी वह मंत्री थे और चर्चिल के बाद वह स्वयं इंग्लैंड के प्रधान मंत्री हुए। १९४५ में भारत को पहले औपनिवेशिक फिर १९४७ में पूर्ण स्वराज्य उन्हीं के तत्वावधान में मिला। १९५० में वह फिर नए चुनाव के बाद प्रधान मंत्री हुए। उस चुनाव में उदार और अनुदार दलों के ऊपर मजदूर दल का बस थोड़ा ही बहुमत था। कुछ काल बाद जब मजदूर दल का मंत्रिमंडल हटा तब मेजर एटली भी सरकार से अलग हो गए। सन् १९६७ ई० में इनकी मृत्यु हो गई। (ओ० ना० उ०)

एटा भारत में उत्तर प्रदेश के आगरा खंड में स्थित एक नगर तथा जिला है। नगर ग्रैंड ट्रंक रोड पर स्थित है। जिले का क्षेत्रफल १,७१३ वर्गमील है, जिसका अधिकांश भाग दोमट से बना है। इसकी ढाल पूर्व में गंगा की घाटी की ओर है। ऊँचे भाग गंगा नहर द्वारा सींचे जाते हैं। गंगा के आधुनिक पात्र तथा इसके प्राचीन पात्र के मध्य साद (सिल्ट) द्वारा आच्छादित एक उपजाऊ पट्टी है। नीची भूमि तथा गड्ढों की एक कतार अब भी गंगा के पुराने मार्ग का निर्देश करती है। इनके ऊपर पुरानी, ऊँची तथा ढालू भूमि है जो अब ऊँचा मैदानी उत्तल (टीरेस) बनाती है। एटा के समीपवर्ती क्षेत्र को युवानच्वांग ने ७वीं शताब्दी में मंदिरों तथा मठों से पूर्ण लिखा है। जिले की जनसंख्या सन् १९७१ ई० में १५,१७,९२५ थी। जिले के मुख्य व्यापारिक केंद्र कासगंज तथा सोरो हैं जहाँ रुई के बीज निकालने तथा रुई दबाने का कार्य मशीनों द्वारा किया जाता है। (श्या० सुं० श०)

एडगर स्नो (१९०५-७२), प्रसिद्ध पत्रकार, लेखक और चीनी मामलों के विशेषज्ञ। इनका जन्म १९०५ ई० में हुआ था। ये चीनी नेता माओत्से तुंग के अनन्य मित्रों में थे। माओत्से तुंग का प्रथम जीवनचरित्र इन्होंने ही प्रकाशित किया था। अप्रैल, १९७१ ई० में एडगर स्नो ने दुनिया को पहली बार सूचना दी थी कि किसी तीसरे राष्ट्र के माध्यम से अति शीघ्र चीन और अमरीका में संबंध स्थापित होने जा रहे हैं। एडगर स्नो द्वारा दी गई उक्त सूचना के दो महीने बाद दुनिया को पता चला कि राष्ट्रपति निक्सन के विशेष सलाहकार डा० किसिंगर पीकिंग गए हैं और अन्य चीनी नेताओं के अतिरिक्त उन्होंने माओत्से तुंग से भी मुलाकात की है। बाद में स्वयं राष्ट्रपति निक्सन चीन गए और अमरीका तथा चीन के बीच संबंध स्थापित हुए। १६ फरवरी, १९७२ को स्विट्ज़रलैंड में, ६६ वर्ष की अवस्था में, एडगर स्नो का देहांत हो गया। (कै० चं० श०)

एडवर्ड इस नाम के अनेक राजा हो गए हैं। इनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है। इनमें से पहला, इंग्लैंड का शासक, जिसे 'एल्डर' की संज्ञा भी मिली, राजा अल्फ्रेड का पुत्र था। उसने डेन सेनाओं को पराजित किया, हंबर के दक्षिण में समूचे इंग्लैंड पर आधिपत्य स्थापित किया तथा वेल्स और सुदूर उत्तर में अपना प्रभुत्व जमाया। उसने नया न्यायविधान स्थापित किया तथा मौलिक और सुंदर शैली के सिक्के प्रसारित किए। इस प्रकार उसने देश को राजनीतिक एकता देने का प्रयत्न किया। ८९९ ई० में वह सिंहासनारूढ़ हुआ तथा ९२४ में उसकी मृत्यु हुई।

दूसरा (मृत्यु १०६६) इंग्लैंड का संत-बादशाह, कन्फ़ेसर नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसका अधिकांश बचपन नार्मंडी में व्यतीत हुआ। अतः सिंहासनासीन होने पर (१०४२) इंग्लैंड उसे अपरिचित देश सा लगा। इसस तथा स्वयं शिथिलचित्त होने के कारण, वह उद्दंड सामंतों पर नियंत्रण न रख सका। राजनीतिक समस्याओं के समाधान को असमर्थता ने उसकी प्रवृत्ति चर्च तथा धर्म की ओर अधिकाधिक मोड़ दी। वेस्ट मिंस्टर के गिरजे की संस्थापना में उसने विशेष सहयोग दिया।

तीसरा, एडवर्ड प्रथम (१२३९-१३०७), हेनरी तृतीय का पुत्र था। युवावस्था से ही उसने विस्तृत शासकीय और सामरिक अनुभव प्राप्त कर लिया था। पिता की मृत्यु पर यद्यपि वह १२७२ में राजा घोषित कर दिया गया था, तथापि उस समय सिसिली में होने के कारण दो वर्ष बाद वह सिंहासन पर बैठ सका। सिंहासनासीन होने पर अनुभवी तथा परिपक्व राजनीतिज्ञ की तरह उसने समस्याओं का सामना किया। निस्संदेह, वह इंग्लैंड के मध्यकालीन राजाओं में सर्वश्रेष्ठ था। शासकीय दक्षता के कारण ही उसे 'महान् न्यायविधानदाता' की पदवी मिली। उसके विधान का मुख्य ध्येय सामंती शक्ति के विरुद्ध सिंहासन की सत्ता को दृढ़तर करना था। उसने शासकीय प्रणाली को समता में भी अभिवृद्धि की। सामंती संस्था 'महान् कौंसिल' में उसने जो परिवर्तन किए उनमें भावी पालियामेंट प्रणाली के तत्व निहित थे। उसके समय में फ्रांस नरेश फ़िलिप चतुर्थ के गास्कनी अधिकृत करने का प्रयत्न विफल रहा। एडवर्ड ब्रिटेन को राजनीतिक एकता प्रदान कराने में भी क्रियाशील रहा, यद्यपि स्काटलैंड में उसे विशेष संघर्ष का सामना करना पड़ा, विशेष रूप से विलियम वालेस तथा रावर्ट ब्रूस के विरुद्ध। ब्रूस के विरुद्ध युद्धयात्रा में, १७०२ में, रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई।

एडवर्ड द्वितीय (१२८४-१३२७) एडवर्ड प्रथम से कास्टील की एलीनर से चौथा पुत्र था। उसे इंग्लैंड के राजवंश के इतिहास में प्रथम बार 'प्रिंस ऑव वेल्स' की पदवी मिली। वह अयोग्य शासक था। उसकी अभिरुचि केवल खेलकूद, नाटक तथा हस्तशिल्प में थी। शासन की अवहेलना तथा कृपापात्रों के प्रति पक्षपात की उसकी नीति ने सामंतों को उसके प्रति विद्रोह करने को बाध्य किया। अनेक वर्षों तक देश सामंती नेताओं के ही हाथ में रहा। अंततः एडवर्ड १३२७ में सिंहासन से च्युत कर दिया गया, तथा कुछ महीनों बाद उसकी हत्या कर दी गई।

एडवर्ड तृतीय (१३१२-१३७७) एडवर्ड द्वितीय का पुत्र था। २५ जनवरी, १३२७ को वह सिंहासन पर बैठा। राज्याधिकार पाते ही १३३० में उसने स्काटलैंड को अधिकृत करने का कार्यारंभ कर दिया। हॉलिडन हिल में स्काटलैंड की पूरी पराजय हुई। किंतु, तब उसका ध्यान फ्रांस की ओर बँट गया जिसे वह अपनी माता फ्रांस की इजबेल, के राज्याधिकार की बिना पर हस्तगत करना चाहता था। तज्जनित युद्ध में कैले की संधि के अनुसार उसे फ्रांस के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश प्राप्त हुए, यद्यपि फ्रांसीसियों ने १३६९ में कैले को छोड़कर बाकी प्रदेशों पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया। गृहक्षेत्र में भी उसने यथेष्ट शासन संबंधी योग्यता का परिचय दिया। शासन पर उसने पूर्ण व्यक्तिगत अधिकार जमा लिया। राजसी महत्वाकांक्षाओं से मुक्त होने के कारण सामंत तथा मध्य वर्ग दोनों ही को उसने शासन में समुचित श्रेय दिया। तभी उसके शासन के ५१ वर्षों के दीर्घकाल में विशेष आंतरिक उपद्रव नहीं हुए। किंतु, तब भी प्रथम श्रेणी के शासकों या सेनानियों में उसकी गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसकी युद्ध या शासकीय नीति के स्थायी प्रभाव पनप नहीं सके, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि उसके समय में साधारण वर्ग का उत्थान भी संभव हो सका। उसके शासन के अंतिम वर्षों में, उसकी प्रेयसी एलिस के कुप्रभाव के कारण, शासन इतना भ्रष्ट और अव्यवस्थित हो गया कि उसके उत्तराधिकारी रिचर्ड द्वितीय को कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा।

एडवर्ड चतुर्थ (१४४२-१४८३) यार्क के ड्यूक रिचर्ड का पुत्र था। ४ मार्च, १४६१ को वह सिंहासनारूढ़ हुआ। अपने शक्तिशाली संबंधी वरविक के अर्ल की सहायता से उसे राजगद्दी प्राप्त हुई। किंतु, एडवर्ड के लैंकेस्टर वंश की एलिज़ावेथ वुडविल से गुप्त विवाह कर लेने के कारण

दोनों में विच्छेद हो गया। तज्जनित संघर्ष के फलस्वरूप १४७० में एडवर्ड को हालैंड भाग जाना पड़ा। १४७१ में वापस लौटकर उसने वार्नेट के युद्ध में वारविक का वध कर दिया। लंदन के टावर (गढ़) में हेनरी छठे की हत्या के बाद एडवर्ड का मार्ग निष्कंटक हो गया। १४७५ में फ्रांस से संधि हुई, जिसमें ११वें लुई ने एडवर्ड को वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया। उसकी वार्षिक आय की वृद्धि तथा सैनिक और शासकीय योग्यता ने उसके शासन को हेनरी छठे के शासन से अधिक प्रभावशाली बना दिया, किंतु वह पूरी व्यवस्था स्थापित न कर सका। उसने व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया और सेंट जार्ज के गिरजाघर तथा विंडसर का निर्माण किया और उसने ज्ञान और साहित्य को भी अपना अभिभावकत्व प्रदान किया। उसके आकर्षक व्यक्तित्व ने उसे और भी लोकप्रिय बना दिया; यद्यपि उसके विलासी जीवन ने मृत्यु को उसके निकटतर बुला लिया।

एडवर्ड पंचम (१४७०-८३) ने ९ अप्रैल, १४८३ को अपने पिता एडवर्ड चतुर्थ का उत्तराधिकार ग्रहण किया। २६ जून को उसके चाचा तथा अभिभावक ने सिंहासन छीन रिचर्ड तृतीय के नाम से शासन प्रारंभ किया। लंदन के टावर में एडवर्ड और उसके भाई रिचर्ड की हत्या कर दी गई।

एडवर्ड छठा (१५३७-५३) जेन सिमूर से हेनरी अष्टम का पुत्र था। वह प्रारंभ में ही अकालप्रौढ़, अध्ययनशील, शुष्कप्रकृति, चतुर तथा कठोर प्रमाणित हुआ। उसकी अस्वस्थता ने भी संभवतः उसे अंतर्मुखी बना दिया था। उसकी धार्मिक अभिरुचि सुधारकों के ही पक्ष में प्रस्फुटित हुई। अपने अत्यधिक संक्षिप्त शासनकाल के कारण वह इतिहास पर अधिक स्थायी प्रभाव न डाल सका। उसकी कुमारावस्था के कारण, उसके पिता के वसीयतनामे के अनुसार 'कौंसिल ऑव रीजेंसी' की स्थापना की गई, एडवर्ड का चाचा एडवर्ड सिमूर (सामरसेट का ड्यूक), और डडले (नार्थंबरलैंड का ड्यूक) जिसके सदस्य थे। एडवर्ड के सिंहासन पर बैठने पर सामरसेट ने शक्ति हस्तगत कर अपने को एडवर्ड का अभिभावक नियुक्त कर लिया। एडवर्ड का राज्यकाल मुख्यतः सामरसेट और नार्थंबरलैंड के संघर्ष का ही वृत्तांत है। सामरसेट के अभिभावकत्व काल में एडवर्ड का मेरी स्टुअर्ट से विवाह हुआ, अंगरेजी चर्च के अनुकूल कुछ धार्मिक सुधार किए गए, तथा आर्थिक अव्यवस्था फैली। अंत में, १५४९ में उसे अभिभावक के पद से विलग कर १५५२ में सामरसेट के विरुद्ध षड्यंत्र-रचना के अभियोग में प्राणदंड दे दिया गया। नार्थंबरलैंड ने अपने पुत्र का विवाह लेडी जेन ग्रे से, जो हेनरी की वसीयत के अनुसार एडवर्ड, मेरी ट्यूडर और एलिज़ाबेथ के निस्संतान होने पर राज्य की उत्तराधिकारिणी होती, कर दिया। १५५३ में एडवर्ड की विषम बीमारी में, नार्थंबरलैंड ने जेन ग्रे को सिंहासन की उत्तराधिकारिणी घोषित कराने का विफल प्रयास किया। किंतु, उसी वर्ष एडवर्ड की मृत्य हो गई, और मेरी इंग्लैंड के सिंहासन पर बैठी।

एडवर्ड सप्तम (१८४१-१९१०) महारानी विक्टोरिया तथा राजकुमार अलबर्ट का ज्येष्ठ पुत्र था। मातापिता की युवराज को पूर्ण शिक्षित, सुसंस्कृत तथा योग्य बनाने की तीव्र आकांक्षा तथा आग्रह ने उसके व्यक्तित्व को स्वाभाविक रूप से मुखरित होने का यथेष्ट अवसर ही नहीं दिया। अस्तु, वह प्रसन्नचित्त, मौजी, आरामपसंद, स्नेही प्रकृति का तथा लोकप्रिय राजकुमार होकर ही रह गया। इसी कारण रोम, अमरीका, जहाँ जहाँ उसने यात्राएँ कीं—और उसे यात्राओं के अनेक अवसर भी मिले—उसका खूब स्वागत हुआ। डेन राजकुमारी सुंदरी अलेग्जैंड्रा के साथ उसका विवाह राष्ट्रीय समारोह के रूप में संपन्न हुआ। १८७१ की खतरनाक बीमारी ने उसे और भी लोकप्रिय बना दिया। इंग्लैंड के बाहर वह 'यूरोप का चाचा' की संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ। फ्रांस के प्रति उसकी सहानुभूति तथा जर्मन नरेश विलहेम द्वितीय के प्रति उसकी अरुचि सामयिक अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति के साथ खूब मेल खा गई। किंतु, उसका साधारण व्यक्तित्व सामयिक इतिहास पर कोई विशेष प्रभावचिह्न न छोड़ सका। उसने अपनी वैधानिक तथा बौद्धिक सीमाओं के उल्लंघन का कभी प्रयास नहीं किया। पार्लियामेंट के दोनों सदनों के संघर्ष में भी उसने किसी पक्षपात का प्रदर्शन नहीं किया। जनसाधारण ने उसे सदैव अमित स्नेह दिया तथा उसकी मृत्यु पर आंतरिक शोक प्रगट किया। (रा० ना०)

एडवर्ड अष्टम (१८९४-१९७२) इंग्लैंड के सम्राट् जो केवल ३२५ दिन सिंहासनारूढ़ रहे। इनका जन्म २३ जून, १८९४ ई० को ह्वाइट लॉज, रिचमंड, सरे में हुआ। ये जार्ज पंचम के ज्येष्ठ पुत्र थे और इनकी शिक्षा दीक्षा आसबर्न (डार्टमथ) तथा मैगडैलेन कालेज (ऑक्सफोर्ड) में संपन्न हुई। 'प्रिंस ऑव वेल्स' की हैसियत से इन्होंने ब्रिटिश नौसेना तथा प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश स्थलसेना में कार्य किया। २० जनवरी, १९३६ ई० को ये राजगद्दी पर बैठे और इसी वर्ष ११ दिसंबर को इसलिये राजसत्ता का परित्याग कर दिया कि ये श्रीमती सिंपसन नामक महिला से अत्यधिक प्रेम करते थे और उससे विवाह करना चाहते थे। लेकिन इंग्लैड की संसद्, राजघराने के सदस्य तथा सर्वसाधारण उक्त विवाह के विरुद्ध थे।

श्रीमती सिंपसन १८९६ ई० में पैदा हुई और १९१६ ई० में उन्होंने अमरीकी नौसेना के लेफ़्टिनेंट श्री ई० डब्ल्यू० स्पेंसर से विवाह किया लेकिन १९२७ ई० में स्पेंसर से उनका संबंध विच्छेद हो गया और अगले ही वर्ष उन्होंने लंदन में श्री अर्नेस्ट सिंपसन नामक अंग्रेज से, जिनका जन्म अमरीका में हुआ था, विवाह कर लिया।

एडवर्ड अष्टम से श्रीमती सिंपसन का परिचय १९३० ई० में एक प्रीतिभोज के अवसर पर हुआ। पश्चात् दोनों के बीच घनिष्ठता बढ़ती चली गई और अंत में यह घनिष्ठता प्रगाढ़ प्रेम में परिणत हो गई। १९३६ ई० में श्रीमती सिंपसन ने अपने पति को तलाक दे दिया। ३ जून, १९३७ ई० को एडवर्ड अष्टम का, जो अब ब्रिटेन के सम्राट् न होकर मात्र 'ड्यूक ऑव विंडसर' थे, विवाह श्रीमती सिंपसन से हो गया और वे 'डचेज़ ऑव विंडसर' कहलाने लगीं। १९४०-४५ ई० के दौरान ड्यूक बहामाज़ के गवर्नर रहे और बाद में पेरिस (फ्रांस) में प्रवासी जीवन व्यतीत करने लगे जहाँ २८ मई, १९७२ ई० को उनका देहांत हो गया। मृत्यु से १० दिन पूर्व उनकी भतीजी, ब्रिटेन की महारानी एलिज़ाबेथ ने उनसे उनके पेरिस स्थित आवास पर मुलाकात की थी और मृत्यु के समय उनकी प्रेमिका पत्नी उनके पास थीं।

ड्यूक ऑव विंडसर सच्चे प्रेम के प्रतीक थे। प्रेम के लिये उन्होंने गहरा मूल्य चुकाया था। खुशी खुशी राजसिंहासन का परित्याग कर उन्होंने प्रेमगाथा का नया और अनुपम इतिहास बनाया है। (कै० चं० श०)

एडवर्ड (झील) यह मध्य अफ्रीका की एक प्रमुख झील है। पहले यह अल्बर्ट-एडवर्ड-न्यांजा के नाम से विख्यात थी। यह अल्बर्टाइन धसान घाटी (Rilt valley) में ०° ८' से ०° ४०' द० अ० और २९° २८' से २९° ५२' पू० दे० तक फैली तथा प्रायः अंडाकार है। इसका किनारा बहुत कम कटा छँटा है। यह उत्तर-पूर्व में २५ मील लंबी तथा २ फर्लांग से लेकर १ मील तक चौड़ी जलधारा द्वारा द्वेरु (Dweru) झील से मिली हुई है, जो विषुवत् रेखा के उत्तर तक फैली है। एडवर्ड झील ४४ मील लंबी और ३२ मील चौड़ी है। द्वेरु झील २० मील लंबी और अधिक से अधिक १० मील चौड़ी है। दोनों झीलों का क्षेत्रफल लगभग ८२० वर्ग मील है। इस झील का एकमात्र निकास, सेमलीकी, इसके उत्तर-पश्चिमी छोर पर है। इसके उत्तर-पूर्वी तट के चारों ओर अनेक ज्वालामुखी झीलें हैं। इस झील की सुषमा बड़ी मनोहर है। सूखे मौसिम में जल के ऊपर कुहरा सा छाया रहता है, जिससे आसपास की पहाड़ियाँ बिलकुल दिखलाई नहीं पड़ती हैं। वर्षा ऋतु में जब आकाश स्वच्छ रहता है तो पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की ओर झील को घेरे हुए पर्वतों की छटा देखते ही बनती है। झील का जल निर्मल, हल्के हरे रंग का है। इसमें मछलियों और जलकुक्कुटों की भरमार है। घड़ियाल और दरियाई घोड़े दक्षिणी दलदली भागों में मिलते हैं। इस झील के पूरे क्षेत्र का पता सन् १९०२-०४ ई० के आंग्ल-जर्मन सीमा आयोग के कार्यों से चला था। इसे खोजने का श्रेय मुख्यतः एच० एम० स्टेनली को है। (श्या० सुं० श०)

एडिसन महान् आविष्कारक टामस ऐल्वा एडिसन का जन्म ओहायो राज्य के मिलैन नगर में ११ फरवरी, १८४७ ई० को हुआ। बचपन से ही एडिसन ने कुशाग्रता, जिज्ञासु वृत्ति और अध्यवसाय का परिचय दिया। छह वर्ष तक माता ने घर पर ही पढ़ाया, सार्वजनिक विद्यालय में इनकी शिक्षा केवल तीन मास हुई। तो भी एडिसन ने ह्यूम, सीअर, बर्टन, तथा गिबन के महान् ग्रंथों एवं डिक्शनरी ऑव साइंसेज का अध्ययन १०वें जन्मदिन तक पूर्ण कर लिया था।

एडिसन १२ वर्ष की आयु में फलों और समाचारपत्रों के विक्रय का धंधा करके परिवार को प्रति दिन एक डालर की सहायता देने लगे। वे रेल में पत्र छापते और वैज्ञानिक प्रयोग करते। तार प्रेषण में निपुणता प्राप्त कर २० वर्ष की आयु तक, एडिसन ने तार कर्मचारी के रूप में नौकरी की। जीविकोपार्जन से बचे समय को एडिसन प्रयोग और परीक्षण में लगाते थे।

१८६९ ई० में एडिसन ने अपने सर्वप्रथम आविष्कार 'विद्युत् मतदानगणक' को पेटेंट कराया। नौकरी छोड़कर प्रयोगशाला में आविष्कार करने का निश्चय कर निर्धन एडिसन ने अदम्य आत्मविश्वास का परिचय दिया। १८७०-७६ ई० के बीच एडिसन ने अनेक आविष्कार किए। एक ही तार पर चार, छह, संदेश अलग अलग भेजने की विधि खोजी, स्टाक एक्सचेंज के लिये तार छापने की स्वचालित मशीन को सुधारा, तथा बेल टेलीफोन यंत्र का विकास किया। उन्होंने १८७५ ई० में 'सायंटिफ़िक अमेरिकन' में 'ईथरीय बल' पर खोजपूर्ण लेख प्रकाशित किया; १८७८ ई० में फोनोग्राफ मशीन पेटेंट कराई जिसको १९१० ई० में अनेक सुधारों के बाद वर्तमान रूप मिला।

२१ अक्टूबर, १८७९ ई० को एडिसन ने ४० घंटे से अधिक समय तक बिजली से जलनेवाला निर्वात बल्ब विश्व को भेंट किया। १८८३ ई० में 'एडिसन प्रभाव' की खोज की, जो कालांतर में वर्तमान रेडियो वाल्व का जन्मदाता सिद्ध हुआ। अगले दस वर्षों में एडिसन ने प्रकाश, उष्मा और शक्ति के लिये विद्युत् के उत्पादन और त्रितारी वितरण प्रणाली के साधनों और विधियों पर प्रयोग किए; भूमि के नीचे केबुल के लिये विद्युत् के तार को रबड़ और कपड़े में लपेटने की पद्धति ढूँढ़ी; डायनामो और मोटर में सुधार किए; यात्रियों और माल ढोने के लिये विद्युत् रेलगाड़ी तथा चलते जहाज से संदेश भेजने और प्राप्त करने की विधि का आविष्कार किया। एडिसन ने क्षार संचायक बैटरी भी तैयार की; लौह अयस्क को चुंबकीय विधि से गहन करने पर प्रयोग किए, १८९१ ई० में चलचित्र कैमरा पेटेंट कराया एवं इन चित्रों को प्रदर्शित करने के लिये किनैटोस्कोप का आविष्कार किया।

प्रथम विश्वयुद्ध में एडिसन ने जलसेना सलाहकार बोर्ड का अध्यक्ष बनकर ४० युद्धोपयोगी आविष्कार किए। पनामा पैसिफ़िक प्रदर्शनी ने २१ अक्टूबर, १९१५ ई० को एडिसन दिवस का आयोजन करके विश्वकल्याण के लिये सबसे अधिक आविष्कारों के इस उपजाता को संमानित किया। १९२७ ई० में एडिसन नैशनल ऐकैडमी ऑव साइंसेज़ के सदस्य निर्वाचित हुए। २१ अक्टूबर, १९२९ को राष्ट्रपति हूवर ने अपने विशिष्ट अतिथि के रूप में एडिसन का अभिवादन किया।

मेनलोपार्क और वेस्ट ऑरेंज के कारखानों में एडिसन ने ५० वर्ष के अथक परिश्रम से १,०३३ आविष्कारों को पेटेंट कराया। अनवरत कर्णशूल से पीड़ित रहने पर भी अल्प मनोरंजन, निरंतर परिश्रम, असीम धैर्य, आश्चर्यजनक स्मरण शक्ति और अनुपम कल्पना शक्ति द्वारा एडिसन ने इतनी सफलता पाई। मृत्यु को भी उन्होंने गुरुतर प्रयोगों के लिये दूसरी प्रयोगशाला में पदार्पण समझा। "मैंने अपना जीवनकार्य पूर्ण किया। अब मैं दूसरे प्रयोग के लिये तैयार हूँ", इस भावना के साथ विश्व की इस महान् उपकारक विभूति ने १८ अक्टूबर, १९३१ को संसार से विदा ली। (द्वा० प्र० गु०)

एडिसन, जोज़ेफ़ (१६७२-१७१९) अंग्रेजी के यह प्रसिद्ध निबंधकार तथा समीक्षक १ मई, १६७२ ई० को पैदा हुए थे और चार्स्टर हाउस नामक स्कूल में उनकी शिक्षा आरंभ हुई थी। १६८७ में स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् उन्हें ऊँची शिक्षा के लिये क्वींस कालेज, आक्सफोर्ड, भेजा गया और इस विद्यालय तथा मैगडैलेन कालेज में अपने आवासकाल में उन्होंने साहित्य तथा कवित्व प्रेम का काफी परिचय दिया और तत्कालीन चांस्लर ऑव एक्स्चेकर, मांटेग्यू महोदय की कृपा भी प्राप्त की। उनकी लैटिन कविता से प्रसन्न तथा प्रभावित होकर मांटेग्यू ने तीन सौ पौंड की पेंशन दिलवाई, जिसका उपयोग एडिसन ने कतिपय यूरोपीय देशों के पर्यटन में किया। इंग्लैंड लौटने के पश्चात् बहुत दिनों तक वे बेकार ही रहे परंतु ह्विग पार्टी के सत्तारुढ़ होने के साथ ही उनका भी भाग्योदय हुआ।

अप्रैल, सन् १७०९ में रिचर्ड स्टील ने 'टैटलर' नामक पत्रिका का संचालन आरंभ किया और इसी पत्रिका मे एडिसन की उस निबंधकला का परिचय मिला जो 'स्पेक्टेटर' के लेखों मे पूर्णतया परिमार्जित तथा प्रस्फुटित हुई। इस दूसरी प्रसिद्ध पत्रिका का प्रकाशन १ मार्च, सन् १७११, से प्रारंभ हुआ था और यह ६ दिसंबर, सन् १७१२ तक चलती रही। इसी पत्रिका ने एडिसन को लोकप्रिय बनाया और इसी के माध्यम से उन्होंने धन तथा यश का प्रचुर अर्जन किया। पत्रकारिता के पश्चात् उनका ध्यान रंगमंच की ओर आकृष्ट हुआ और इसके फलस्वरूप उनके दुःखांत नाटक 'कैटो' का सफल अभिनय ड्रूरी लेन थियेटर मे हुआ। अगस्त, सन् १७१६ में उनका विवाह वार्विक का काउंटेस से हुआ, परंतु इस भद्र महिला के सहवास में एडिसन को मानसिक सुख तथा शांति से हाथ धोना पड़ा। सन् १७१८ से ही उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा; दमा तथा जलंधर रोगों के आक्रमण से उनका शरीर जर्जर हो गया और १७ जून, १७१९ को ४७ वर्ष की अवस्था में हालैंट हाउस मे उनका देहावसान हो गया।

एडिसन शिष्ट, शांतिप्रिय तथा मितभाषी व्यक्ति थे, परंतु काफ़ीहाउस की मित्रगोष्ठी में बातचीत तथा शराब के दौर के साथ ही उनकी जिह्वा में शक्ति तथा स्फूर्ति का संचार होता था और उनकी वाचालता तथा व्यंगात्मक प्रतिभा का बाँध टूट जाता था। साहित्य के इतिहास में उनका स्थान सफल निबंधकारों तथा समीक्षकों में आज तक अक्षुण्ण है। उनकी लेखनी ने आधुनिक गद्य को स्वस्थ तथा सबल बनाया और तत्कालीन पाठकों के हृदय में उपन्यास पढ़ने की रुचि का बीजारोपण किया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'स्पेक्टेटर' को समाजसुधार का माध्यम बनाया और अपने लेखों में हास्य तथा नैतिकता का संमिश्रण करके मध्यमवर्ग के बहुसंख्यक पाठकों के मानसिक, नैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्तर को उन्नत किया।

एडिसन समाज की प्रचलित कुरीतियों तथा फ़ैशनपरस्त स्त्री पुरुषों के आडंबरों तथा विवेकहीन व्यवहारों पर तो निरंतर व्यंगप्रहार करते ही रहे परंतु साथ ही साथ उन्होंने मनुष्य के उन उदात्त गुणों का भी प्रशंसात्मक निरूपण किया जिनपर व्यक्ति तथा समाज की भित्ति स्थिर रहती है। इन्ही लेखों में कतिपय साहित्य समीक्षा से भी संबंधित हैं, जिनमें मिल्टन के पैराडाइज़ लास्ट के अध्ययन तथा 'प्लेजर ऑव इमैजिनेशन', 'ट्रू विट ऐंड फ़ाल्स विट' विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी गद्य शैली के संबंध में डा० जॉन्सन की प्रसिद्ध उक्ति स्मरणीय है—'जो व्यक्ति ऐसी गद्य शैली अपनाना चाहता है जो सरल होते हुए ग्रामीणता से अछूती हो और परिष्कृत होने पर भी आडंबर से दूर हो, उसे रात दिन एडिसन के लेखों का अध्ययन तथा अनुशीलन करना चाहिए।'

सं०ग्रं०—जॉन्सन : द लाइव्ज ऑव् दि इंग्लिश पोयट्स; एडमंड गॉस : द हिस्ट्री ऑव दि एट्टीथ सेंचुरी लिट्रेचर; मिंटो : द मैन्युअल ऑव इंग्लिश प्रोज; ह्यू वाकर : इंग्लिश एसेज ऐंड एसेइस्ट्स।

(वि० रा०)

एड्रियाटिक सागर यह रूम सागर की एक भुजा है, जो इटली को बालकन प्रायद्वीप से अलग करती है। यह एपेनाइन पर्वत और दिनारिक आल्प्स के मध्य स्थित एक अवनत भूमि है। इसकी लंबाई (उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व) ५०० मील और औसत चौड़ाई ११० मील है। इस सागर का इटलीवाला किनारा सामान्यतः निचला है और उत्तर-पश्चिम की ओर पो नदी के डेल्टा के दलदल और उथले

(Zagoon) प्रदेश मे विलीन हो जाता है। पो नदी का मैदान, मरचना की दृष्टि से, एड्रियाटिक का ही प्रसारित भाग है। इस सागर का पूर्वी किनारा, या डलमशियन तट, साधारणत ऊँचा नीचा है और इसके समातर छोटी छोटी कटाने (inlets) और कुछ दूर पर लवे सँकरे पहाडी द्वीप तट के समातर स्थित है। उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व दिशा मे फैली हुई पर्वतश्रेणियो के निमज्जन से लवी घाटियो ने कटान का रूप धारण कर लिया है और जलमग्न पर्वतशिखर चट्टानी द्वीप बन गए है। इटली के समुद्रतट पर सुरक्षित वंदरगाह का अभाव है जब कि डलमेशियन समुद्रतट पर सुरक्षित कटानो की उपस्थिति के कारण वदरगाहो की अधिकता है। (रा० ना० मा०)

एड्रियानोपुल्स यह तुर्की का एक अति प्राचीन नगर है। इसका पहला नाम उस्कादम अथवा उस्कोदम था। रोमन सम्राट् एड्रियन ने दूसरी शताब्दी मे इसको वढाया और इसका पुनर्नामकरण एड्रियानोपुल्स किया। इसका तुर्की नाम एदीर्न और बुल्गारी नाम ओदीर्न है। प्रथम मुराद द्वारा सन् १३६१ ई० मे अधिकृत होने के वाद से लेकर सन् १४५३ ई० तक यह तुर्को के सुल्तानो का आवासस्थान रहा। यह इस्तवूल से १४० मील पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा मे तुजा और मारीत्सा नदियो के सगम पर बसा है। सन् १६१३ ई० मे इस सर्व और बुलगर लोगो ने १५५ दिनो के घरे के वाद कब्जे मे कर लिया था। वाद मे तुर्को ने इसे लौटा लिया। सन् १९२३ ई० की लोजैन की सधि के अनुसार अत मे यह तुर्को को मिल गया। तब से यह बराबर तुर्को के अधीन रहा।

प्राचीन नगर की अब कुछ रोमन दीवारे ही बच गई है। यहाँ पहले ३१४ मस्जिदे थी, परतु आधुनिक युद्धो के परिणामस्वरूप अब उनमे से केवल आधी ही शेप बची है। अर्धनष्ट एस्की सराय सुल्तानो का प्राचीन महल था। सन् १४८८ ई० मे निर्मित वयजीत वेली पूर्व की अद्वितीय मस्जिद मानी जाती है।

यहाँ के मुख्य उद्योग सूती और रेशमी वस्त्र, दरी, चमडे के सामान शराव, गुलावजल, गुलाब के इत्र आदि है। सन् १६४५ ई० मे इसकी जनसख्या ६८,१५५ थी। (श्या० सुं० श०)

एथेंस (अथेनाइ, अथीना, असीना) प्राचीन काल मे ग्रीस देश के अत्तिका नामक भाग की और आजकल समस्त ग्रीस की राजधानी। इसका इतिहास तीन हजार वर्ष से अधिक पुराना है एव सस्कृति की दृष्टि से समस्त यूरोप और अमरीका की सस्कृति का मूल स्रोत यही है। यही कारण है कि इस नगरी के पुरातत्व का अध्ययन करने के लिये स्वय ग्रीक लोगो के अतिरिक्त फ्रास, जर्मनी, सयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैड, आस्ट्रिया एव इटली इत्यादि देशो ने अपनी अपनी सस्थाएँ आधुनिक एथेस मे ही स्थापित कर रखी है। इसके अतिरिक्त अन्य देशो मे भी इसकी सस्कृति का अध्ययन बड़े मनोयोगपूर्वक चल रहा है।

अत्तिका प्रदेश यूरोप के दक्षिण-पूर्व मे एक त्रिभुज के आकार में अवस्थित है। इसकी अधिकाश भूमि पहाडी है और जहाँ समतल मैदान है वहाँ भी मिट्टी की तह अधिक मोटी नही है। एथेस अत्तिका के दक्षिण-पश्चिम मे (२३° ४४′ पू० तथा ३७° ५८′ उ०) स्थित है। समुद्र से इसकी कम से कम दूरी तीन मील है। इसका तापमान अधिकतम ९९.०१°, न्यूनतम ३१.५५° और मध्यम ६३.१° फार्नहाइट है और जलवायु स्वच्छ, निर्मल, स्वास्थ्यकर तथा वृद्धिवर्धक है। नगरी के समीप ही पेंतेलीकस और हीमेत्तस नामक सगमर्मर के पहाड़ हैं जिनसे नगर के सुदर भवनो और मदिरो के लिये पर्याप्त मात्रा मे सगमर्मर मिलता रहा है। पश्चिम मे कैफीसस नाम की नदी बहती है तथा दक्षिण-पूर्व और दक्षिण की ओर इलीसस, पर यह नदी प्रायः सूखी पड़ी रहती है। एथेंस मे पर्याप्त मात्रा मे नैसर्गिक जल नही मिलता। जल की कमी को जलभाडारो और कुओ के द्वारा पूरा किया जाता है।

यह कहना कठिन है कि एथेस नगरी का आद्यारंभ कब हुआ और किस जाति के लोगो ने सर्वप्रथम इसे अपना निवासस्थान बनाया। अथीना देवी के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। अथीना देवी का संबंध मीकीनी सभ्यता से माना जाता है। परतु जैसा अथीना की कथा मे विदित होता है, उसको इस नगर मे मान्यता प्राप्त करने के लिये पोसेईदान मे स्पर्धा करनी पड़ी थी। इसमे इस नगरी का इतिहास अत्यत प्राचीन प्रागैतिहासिक काल के धुँधले युग मे छिपा हुआ प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि एथेस के मैदान मे बहुत सी छोटी छोटी वस्तियाँ वसी हुई थी। ई० पू० आठवी शताब्दी मे, सभवतया थीसियस के समय, ये बस्तियाँ मिलकर एक नगरी के रूप मे परिणत हो गई और नगर के केंद्र मे स्थित अक्रोपोलिस् इस नगरी की राजधानी या शासन का केंद्रस्थल बना। तब से लेकर आज तक इस नगरी ने जितने उत्थान पतन देखे, सभवतः अन्य किसी नगरी ने नही देखे होगे। आरंभ मे यहाँ राजाओ का शासन था। तत्पश्चात् श्रेष्ठ कुलीन लोगो का शासन स्थापित हुआ। पर सोलन् के सविधान के पश्चात् सत्ता साधारण जनता के हाथ मे आनी आरभ हो गई। फिर कुछ समय पश्चात् पिसिस्त्रातस ने अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। इस समय इस नगरी के वैभव मे पर्याप्त वृद्धि हुई।

क्लेइस्थेनीस ने पुन. यथार्थ जनतत्र की स्थापना की। इसके पश्चात् एथेस को ई० पू० ४९० और ४७९ के मध्य फारस साम्राज्य की महान् शक्ति से दो वार युद्ध करना पड़ा। यद्यपि इन युद्धो मे नगरी को महान् क्षति उठानी पड़ी तथापि इससे इसकी शक्ति और प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ गई एव एथेस के इतिहास का स्वर्णयुग आरभ हुआ। देलियन नगर-राज्यसघ की स्थापना के पश्चात् एथेस का एक साम्राज्य के केंद्र का स्वरूप प्राप्त हो गया। पर इससे स्पार्ता के साथ एथेस की प्रतिस्पर्धा का सूत्रपात हुआ जिसके परिणामस्वरूप ग्रीक जाति का दीर्घकालीन महाभारत छिड़ा जो पोलोपोनेशीय युद्ध कहलाता है। ३० वर्ष के इस युद्ध ने एथेस की शक्ति को क्षीण कर दिया। इस युद्ध का आरभ होने के पूर्व परोक्लीस के शासन-काल मे एथेस की समृद्धि उच्चता के शिखर पर थी। वास्तुकला, मूर्ति-कला, काव्य, नाटक, व्यापार सवमे एथेस सर्वोपरि था। पर युद्ध के पश्चात् अधिकाश मे इसका गौरव अतीत की गाथा मात्र रह गया। हा, दर्शन और इतिहास के क्षेत्र मे इसकी ख्याति अवश्य आगे बढी। इस युद्ध के आघात से ज्यो ही एथेस ने कुछ सँभलना आरभ किया त्यो ही इसको मकदुनिया के फ़िलिप और सिकदर की शक्ति का सामना करना पड़ा। यद्यपि इस समय अनुचित नीतियो को वरतने के कारण एथेस को हानि उठानी पड़ी, फिर भी मकदुनिया की शक्ति उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण रही। इस युग मे अरस्तू का दर्शन और देमोस्थनीस की वक्तृत्वकला एथेस की ख्याति का आधार बनी। इसके पश्चात् रोम की शक्ति का उदय हुआ और एथेस की स्वतत्र सत्ता का अस्त। पर एथेस की सस्कृति ने विजेता रोम पर विजय प्राप्त की। अनेक रोमन शासको और सम्राटो ने एथेस मे नवीन भवनो का निर्माण किया और अनेक सुविख्यात रोमन विद्वानो ने एथेस का शिष्यत्व स्वीकार कर अपने को धन्य माना। ईसाई धर्म के उदय के पश्चात् अनेक प्राचीन भवन गिरजाघरो मे परिणत कर दिए गए और कुछ कलाकृतियो को वीजान्तिना सम्राट् अपनी राजधानी मे उठा ले गए। सन् ५२९ मे युस्तिनियन नामक सम्राट् की आज्ञा से एथेस के विद्यालय वद कर दिए गए।

पर एथेस को सबसे बुरे समय का सामना तब करना पड़ा जब तुर्को ने कुस्तुंतुनिया को जीतकर ग्रीस पर भी विजय प्राप्त कर ली। ये दुर्दिन १४५८ से १८३३ ई० तक रहे। इस काल के आरभ मे अनेक ग्रीक मनी-षियो ने इटली आदि यूरोपीय देशो मे शरण ली और यूरोप के पुनरुज्जीवन का युग आरभ हुआ। पर एथेस उजड़ने लगा। सुदर भवन और मूर्तियाँ तोड़ डाली गई। कुछ को मसजिद और हरम के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया। जगत्प्रसिद्ध मूर्तिकार वास्तुकार फीदियस द्वारा प्रस्तुत एथेस की मदिरमणि पार्थेनन बारूद का गोदाम बनी और एक दिन स्वामियो की असावधानी से बारूद भड़क जाने से उसकी छत उड़ गई। पर जो कुछ आज भी बच रहा है, उसे देख ब्रिटिश म्यूजियम, लदन और अक्रोपोलिस के पर्यटक प्राचीन ग्रीको की कला को सराह उठते हैं। जनसख्या लाखों से घटकर अत मे ५,००० रह गई। तुर्को की पराजय के पश्चात् एथेंस के आधुनिक युग का आरभ हुआ। नगरी पुनः बड़ी शीघ्रता से बढ़ने लगी।

१९६७ में ग्रेटर एथेंस की जनसंख्या २५,३०,२०७ हो गई थी। पिछले द्वितीय महायुद्ध में एथेंस पर कुछ समय के लिये (१९४१ में) जर्मनों का अधिकार हो गया, पर उन्होंने नगर को कोई क्षति नहीं पहुँचाई। युद्ध के उपरांत कुछ समय तक राजनीतिक दलों के पारस्परिक कलह के कारण कुछ अशांति रही। पर गत अनेक वर्षों से पुनः शांति है।

ई० पू० चौथी शताब्दी के आसपास जब एथेंस अपनी समृद्धि के चरम शिखर पर आरूढ था तब उसमें २१,००० स्वतंत्र नागरिक, १०,००० विदेशी और ४,००,००० दास निवास करते थे। अत्तिका में प्राप्त साधनों से इतनी विशाल जनसंख्या का भरण पोषण संभव नहीं था, अतएव एथेंस को भोजन सामग्री एवं अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से मँगानी पड़ती थी और इनका मूल्य वह अपने कलाकौशल तथा अन्य सेवाओं से चुकाता था। पर इन सबके लिये उसको अपने पिराएयस नामक बंदरगाह का विकास करना पड़ा। इसका इतिहास भी एथेंस के इतिहास के साथ अभिन्न रूप से आबद्ध है। यहाँ के जहाज विशालकाय होते थे जो दिन रात महासमुद्रों में यात्रा कर सकते थे। यह बंदरगाह एथेंस के साथ तीन ऊँची ऊँची दीवालों द्वारा संबद्ध था और नगर से दक्षिण-पश्चिम पाँच मील की दूरी पर था।

आज इस बात की कल्पना करना कठिन है कि अपनी समृद्धि के काल में एथेंस कितना भव्य दिखलाई देता होगा। यद्यपि आधुनिक काल में एथेंस के पुराने मंदिरों और भवनों का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया गया है तथापि बहुत कुछ तो सर्वदा के लिये नष्ट हो गया। इस समय एथेंस में प्राचीन यूनानी काल के, रोमन काल के और आधुनिक काल के स्थापत्य के उदाहरण मिलते हैं। अत्यंत प्राचीन काल की वास्तुकला के निदर्शन नगरी के तीन ऊँचे स्थानों पर पाए जाते हैं जिनके नाम हैं अक्रोपोलिस, अरेयोपागस, और प्नीक्स। अक्रोपोलिस एथेंस का प्राचीनतम दुर्ग है। इस पहाड़ी पर एरेक्थियम, पार्थेनान, प्रोपिलैया इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण भवन थे। यह नगरी के केंद्र में स्थित है। अरेयोपागस अक्रोपोलिस के पश्चिम में है। यहाँ समिति की बैठकें हुआ करती थीं और न्यायालय भी यहीं था। प्नीक्स अक्रोपोलिस के उत्तर-पश्चिम में था। यहाँ नगरसभा की बैठक हुआ करती थी। नगर की मंडी का नाम अगोरा था। अक्रोपोलिस की दक्षिणी ढाल पर दियानीसस का रंगस्थल था। नगरी के उत्तर-पश्चिम में विख्यात दिपीलान नामक द्वार था। यहाँ से कालोनस और प्लेटो (अफ़लातून) के अकादेमी नामक महाविद्यालय की ओर सड़कें जाती थीं। अन्य द्वारों से पिराएयस फालेरम और सूनियम नामक स्थानों को सड़कें जाती थीं। संभवतः ई० पू० छठी शताब्दी में पिसिस त्रातस के शासनकाल में एक विशाल जलागार बनाया गया था। साधारण नगरनिवासियों के मकान और सड़कें अच्छी नहीं थीं।

रोमन काल में समय के आकलन के लिये वायुमंदिर बनाया गया था जिसमें जलघटिका इत्यादि यंत्र थे। अक्रोपोलिस के उत्तर में रोमन हाट 'अगोरा' का संविधान था जो मुख्यतया तेल की मंडी था। रोमन सम्राट् हाद्रियन ने नव एथेंस का निर्माण किया था और एक पुस्तकालय भी बनवाया था। इस सम्राट् ने और भी अनेक भव्य स्थानों से इस पुरातन नगरी की शोभा बढ़ाई थी। अत्तिकुस हेरोदेस नामक एक संपन्न रोमन ने पुराने स्तादियुम और ओदियम् का निर्माण कराया था।

आधुनिक एथेंस में अकादेमी, विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय पुस्तकालय, संग्रहालय, इत्यादि अनेक नए भवन निर्मित हुए हैं। विदेशियों द्वारा भी बहुत से संग्रहालयों और पुस्तकालयों का निर्माण हुआ है। ग्रीक जाति की युग युग की संस्कृति का यह केंद्र आज पुनः नवजीवन से परिस्पंदित हो रहा है।

सं०ग्रं०—फ़र्ग्युसन : हैलेनिस्टिक् एथेंस्, १९११; वर्डस्वर्थ : एथेंस ऐंड ऐटिका, १८५५; भोलानाथ शर्मा : अरिस्तू की राजनीति और अथेंस का संविधान (अरिस्तू के ग्रंथों के हिंदी अनुवाद), १९५६। (भो०ना०श०)

एथेंस का संविधान एथेंस में सरकार का प्राचीनतम रूप एकतंत्रात्मक था। राजा यूपात्रिद नामक एक स्थायी परिषद् की सहायता से शासन करता था। एकतंत्र के क्षीण होने पर द्राकोने द्वारा स्थापित सांविधानिक व्यवस्था के अनुसार राजनीतिक अधिकार उन लोगों को प्राप्त हुए जो सैन्य-साधन-संपन्न थे। ये लोग संपत्ति के आधार पर आर्कनों तथा कोपाध्यक्षों का निर्वाचन करते थे। इनके अतिरिक्त ४०१ सदस्यों की ऐरेओपागस नामक एक परिषद् थी जिसका चुनाव ३० वर्ष से अधिक वय के नागरिक लाटरी द्वारा करते थे। परिषद् प्रशासकों पर अंकुश रखती थी।

समाज के उच्च वर्ग में सत्ता सीमित रहने के कारण जनसाधारण ने इस व्यवस्था का विरोध किया। फलतः सोलन ने नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की। आबादी को संपत्ति के आधार पर चार वर्गों में विभाजित किया गया जिनमें राजनीतिक पद वितरित हुए। दो जनतांत्रिक संस्थाओं 'एकलेजिया' (सभा) तथा 'बौले' (परिषद्) की स्थापना की गई। एकलेजिया में सभी वर्गों के नागरिक होते थे। यह आर्कनों का चुनाव, प्रशासकों के व्यवहार का निरीक्षण तथा सामान्य राजनीतिक और न्यायिक अधिकारों का प्रयोग करती थी। प्रत्येक वर्ग से १०० सदस्यों के हिसाब से चुने गए ४०० सदस्यों की 'बौले' एकलेजिया की क्रियाओं पर नियंत्रण रखती थी तथा सभा के अधिवेशनों की तिथि और उसका कार्यक्रम निश्चित करने के अतिरिक्त सभा की आज्ञप्तियाँ लागू करने का उत्तरदायित्व लेती थी।

ई० पू० ५६० से ५१० तक निरंकुश शासन के बाद क्लेइस्थेनीस ने पुनः जनतांत्रिक संविधान लागू किया जिसे पेरिक्लीज के सुधारों ने पूर्णता प्रदान की। क्लेइस्थेनीस ने आबादी को १० वर्गों में बाँटा तथा प्रत्येक से ५० सदस्य लेकर ५०० सदस्यों की परिषद् (बौले) की स्थापना की। सदस्यों का निर्वाचन ३० वर्ष से अधिक के नागरिकों में से लाटरी द्वारा होता था। परिषद् के अधिकार निम्नलिखित थे : सैन्य प्रबंध का निरीक्षण करना, वैदेशिक नीति संबंधी कर्तव्य पूरे करना, राजदूतों का स्वागत करना, विदेशी राज्यों से संधि करना, वित्तीय क्षेत्र में व्यय पर नियंत्रण रखना, महाभियोग—यथा षड्यंत्र, देशद्रोह, घूसखोरी—का अधिकार प्रयुक्त करना। सभा (एकलेजिया) के सदस्य १८ वर्ष से ऊपर के सभी नागरिक होते थे। ऐसे विधायी कार्यों के लिये, जिनके वैध होने के लिये सर्वसंमति की आवश्यकता होती थी, ६,००० सदस्यों की संख्या राज्य की प्रतिनिधि संख्या मान ली जाती थी। सभा की बैठकें दो प्रकार की होती थीं—सामान्य और विशिष्ट। दोनों बैठकों का कार्यक्रम सभा के लिये परिषद् तैयार करती थी। सभा राज्य में संप्रभु प्रशासकीय सत्ता थी, परंतु वह सही अर्थ में विधायिनी नहीं थी। संप्रभुता संविधान में निहित थी और संविधान का संरक्षण न्यायालयों के सुपुर्द था। सभा केवल प्रशासकीय आज्ञप्तियाँ जारी कर सकती थी, विधान नहीं। विधायी कार्य सभा और न्यायपालिका के सहयोग से होते थे।

सभा के मुख्य अधिकार निम्नलिखित थे : युद्धघोषणा और शांति-स्थापना तथा राजदूतों की नियुक्ति, विदेशों से व्यावसायिक संबंध स्थापित करने की स्वीकृति देना, सभी वित्तीय विषयों पर अंतिम स्वीकृति देना, राज्यधर्म का नियंत्रण करना, नागरिकता, पारितोषिक और उपाधि प्रदान करना।

न्यायपालिका (हेलीया) में ३० वर्ष से अधिक के सभी नागरिक होते थे। ई० पू० चौथी शताब्दी में न्यायाधीश १० पैनेलों में विभाजित थे जिन्हें दिकास्तरी कहते थे। निजी मुकदमों में मुआवजा वादी को प्राप्त होता था। न्यायालय की फीस जमानत के रूप में जमा होती थी और निर्णय से पूर्व मुकदमा उठा लेने पर वादी को कोई दंड नहीं मिलता था। परंतु सार्वजनिक मुकदमों में, जिसमें फौजदारी के मुकदमें भी संमिलित थे, मुआवजा धन के रूप में होने पर राज्य को मिलता था, और दंड के रूप में होने पर राज्य द्वारा दिया जाता था। न्यायालय की कोई फीस नहीं जमा होती थी; निर्णय से पूर्व मुकदमा वापस लेने पर या निर्णय में न्यायालय का पंचमांश मत भी वादी के पक्ष में न होने पर उसे १०० द्राखम जुर्माना देना होता था और वह भविष्य में ऐसे मुकदमे लाने का अधिकार खो बैठता था।

प्रशासकीय पदों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सेनानायक (स्त्रातेगी) का पद था जिसके लिये दसों क्लेइस्थेनियन वर्गों के आधार पर १० सदस्यों के एक मंडल (बोर्ड) की स्थापना की गई थी। सेनानायकों का विशिष्ट

अधिकार था सभा के विशेष अधिवेशन बुला सकना। सैन्य आयव्ययक (बजट) संबंधी, वित्त के, सैन्य संचालन के, तथा सैन्य नियमों के उल्लंघन पर दंड देने के अधिकारों के अतिरिक्त संधियों को लागू करने की जिम्मेदारी भी उनकी थी। इस प्रकार सेनानायक एक साथ युद्धनेता, विदेशमंत्री तथा वित्तमंत्री होते थे। ई० पू० चौथी शताब्दी में मंडल के सदस्यों में कार्य-विभाजन कर दिया गया जिससे प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य सौंपा जाने लगा। सेनानायकों के अतिरिक्त एथीना की मूर्ति तथा अन्य बहुमूल्य धार्मिक उपादानों के कोपाध्यक्ष, सार्वजनिक ठेकों के आयुक्त, राजकीय वित्त के संग्राहक के पद थे। प्रत्येक पद के लिये लाटरी द्वारा १० सदस्य चुने जाते थे।

सं०ग्रं०—अरिस्टाटल (अनु० के० वी० फ़िज़) : द कांस्टिटयूशन ऑव एथेंस, न्यूयार्क, १९५०; कूलांजेज़, एफ० डी० (अनु० डब्ल्यू० स्माल) : दि एंश्येंट सिटी, वोस्टन, १९०१; गिल्वर्ट, जी० : ग्रीक कांस्टिटयूशनल ऐंटीक्विटीज ऑव स्पार्टा ऐंड एथेन्स, लंदन, १८९५; ग्लाज, जी० : द ग्रीक सिटी ऐंड इट्स इंस्टिटयूशंस; लंदन, १९५०; ग्रीनिज, ए० एच० जे० : ए हैंडबुक ऑव कांस्टिटयूशनल हिस्ट्री, मैकमिलन, १९२०; जोन्स, ए० एच० एम० : एथीनियस डिमाक्रेसी, ग्राक्सफ़र्ड, १९५७; हीडलम, जे० डब्ल्यू० : एलेक्शन्स वाई लाट ऐट एथेन्स, कैंब्रिज, १८९१। (रा० अ०)

एदापप्दी तमिलनाडु राज्य के सेलम जिले में तिरुचेनगोड़ ताल्लुके में स्थित एक नगर है। यह दक्षिण रेलवे का एक स्टेशन है। यहाँ पर सूती वस्त्र उद्योग होता है। नगर की व्यवस्था पंचायत द्वारा की जाती है। अनाज, कपास तथा घी की यहाँ मंडी है। (ह० ह० सिं०)

एदेस्सा १. मकदूनिया की प्राचीन राजधानी जो राज्य के बीच थेसालोनिका से २६ मील पश्चिम बसी थी। फ़िलिप द्वितीय ने राजधानी वहाँ से हटाकर पेल्ला कर दी परंतु एदेस्सा फिर भी मकदूनिया के राजाओं की कब्रगाह बना रहा। स्वयं फ़िलिप की पुत्री के विवाह के अवसर पर उसकी हत्या एदेस्सा में हुई जहाँ वह दफनाया गया।

२. एदेस्सा उत्तर-पश्चिमी मेसोपोतामिया के एक प्राचीन नगर का ग्रीक नाम था। आज उसे उर्हाई या उर्फा कहते हैं। प्लिनी के अनुसार एदेस्सा का दूसरा नाम अंतिओक भी था जहाँ अंतिओकस चतुर्थ के सिक्के मिले हैं। यह नगर सीरिआई भाषा वोलनेवाले ईसाइयों का आदि स्थान है। सेल्यूकस के राजवंश के पतन के बाद १३२ ई० पू० के लगभग एदेस्सा रोम और पार्थव साम्राज्यों की सीमा बना जहाँ स्थानीय राजा प्रायः कई सौ वर्षों तक राज्य करते रहे। ईसाई अनुश्रुतियों के अनुसार एदेस्सा में उस धर्म का प्रचार संत तोमस के भेजे अद्दाई नाम के मिशनरी ने किया। उसी ने वहाँ के अवगर राजा और अनेक निवासियों को वप्तिस्मा दिया। उसी नगर के पास रोमन सम्राट् काराकल्ला मारा गया।

२२६ ई० में पार्थव साम्राज्य पर सस्सानियों का अधिकार हुआ। सस्सानी राजाओं का रोमन सम्राटों से फलस्वरूप जो संघर्ष छिड़ा उससे एदेस्सा की बड़ी हानि हुई। इसी नगर के द्वार पर सस्सानी सम्राट् ने वालेरियन को परास्त कर बंदी कर लिया। समूचा मेसोपोतामिया अनेक बार सस्सानियों और रोमनों के बीच अपने स्वामी बदलता रहा। ईरानी पंडित इब्राहिम ने चौथी सदी में एदेस्सा में अपना आश्रम बनाया जहाँ दूर दूर के विद्यार्थी उसके ज्ञानामृत का पान करने आने लगे। उस विद्याकेंद्र का अंत ४८९ ई० में ज़ेनो की घोषणा से हुआ और फारस की नैतिक तथा बौद्धिक सत्ता एदेस्सा से मिट गई। सातवीं सदी ई० में खुसरो द्वितीय ने एदेस्सा पर अधिकार कर लिया और वहाँ की जनता की बड़ी संख्या को पूर्वी फारस में बसा दिया। मुहम्मद उन्हीं दिनों अरब में अपने नए धर्म का प्रचार कर रहे थे। विज़ंतियम के रोमन सम्राट् और अरवों में संघर्ष अनिवार्य था और ६३८ ई० में एदेस्सा मुसलमानों के अधिकार में आ गया। ईसाई क्रुसेडों के धर्मयुद्ध में इस नगर पर अरवों का अधिकार हो गया और उसके बाद लगातार एदेस्सा तुर्कों और मंगोलों के आधिपत्य में इस्लाम की संरक्षा में बना रहा। बीच बीच में निश्चय ही मिस्र ने भी इसपर अनेक बार अधिकार किया। एदेस्सा की मिट्टी के नीचे उसके जीवन के अनेक रूप दबे पड़े हैं। ग्रीकों के काल से आज के इस्लामी आधिपत्य तक इस नगर ने अनेक कलेवर बदले। (भ० श० उ०)

एद्दा (एडा) शब्द साधारणतः आइसलैंड के साहित्य के दो संग्रहों के नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। संभवतः इसका पहला प्रयोग मध्यकाल में हुआ। १४वीं से १७वीं शताब्दी तक इस शब्द का प्रयोग काव्यकला के अर्थ में होता रहा। इसका उपयोग स्कैंदिनेवियाई साहित्य के सबसे महान् साहित्यकार स्नोरी स्तुर्लूसन (११७९–१२४१) की कृतियों के संबंध में हुआ। स्नोरी ने जिस एद्दा की रचना की उसे गद्यात्मक एद्दा कहते हैं और उसके पाँच भाग हैं। उसकी भूमिका में जलप्रलय की कहानी दी हुई है। इस एद्दा में स्कैंदिनेविया के विविध युगों की भी एक सूची दी हुई है। पद्यात्मक भाषाशास्त्रीय तथा व्याकरण संबंधी कुछ विचार संगृहीत हैं, साथ ही कवियों की भी एक सूची दी हुई है। पद्यात्मक एद्दा का संग्रह १६४३ ई० में प्राप्त हुआ। इसमें संभवतः ११वीं सदी की कविताओं का संग्रह है। इसकी अधिकतर कविताएँ नष्ट हो जाने से प्रायः अपूर्ण रूप में ही उपलब्ध हुई। इसमें प्राचीन नारवई वीरों और पौराणिक नायकों की कथाएँ पद्य में प्रस्तुत हुई हैं और वे विशेषतः नारवे की राष्ट्र-गाथा बन गई हैं। वस्तुतः इसमें न केवल नारवे और आइसलैंड अथवा डेनमार्क की प्राचीन कथाओं का समावेश है बल्कि विद्वानों का तो कहना है कि वे कथाएँ जर्मन और ब्रिटिश जनता की प्राचीन कथाओं से भी अप्रभावित रही हैं। एद्दा शब्द का साधारण और अलाक्षणिक प्रयोग वीरगाथाओं अथवा रासो या प्राचीन लोकसाहित्य के अर्थ में भी होने लगा है। परंतु यह प्रयोग वस्तुतः अनुचित है, यद्यपि अनेक प्राचीन देशों का पौराणिक साहित्य बहुत कुछ छंदोबद्ध एद्दा कृतियों के अनुरूप रहा। भारत के रासो काव्य और अपभ्रंश की अनेक वीरगाथाएँ इस प्रकार एद्दा साहित्य से मिलती जुलती हैं। परंतु सार्थक उपयोग इस शब्द का नारवेई, स्वीडी, डेनी और आइसलैंडी प्राचीन लोकसाहित्य को ही व्यक्त करता है। (भ० श० उ०)

एनक्रूमा, क्वामे (१९०९–७२) घाना गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति तथा अफ्रीकी स्वतंत्रता आंदोलन के नेता। २१ सितंबर, १९०९ को एंकरोफुल में इनका जन्म हुआ। रोमन कैथोलिक एलिमेंटरी स्कूल, एक्सिम; गवर्नमेंट टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, अक्रा तथा एचिमोटा; लिंकन विश्वविद्यालय, पेंसिलवानिया (बी० ए० एस० टी० बी०); पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय (बी० डी० एम० ए०, दर्शनशास्त्र, एम०एस-सी० शिक्षाशास्त्र) तथा लंदन विश्वविद्यालय इत्यादि में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। १९३१ से १९३४ ई० तक स्कूल मास्टर और १९४४ ई० के दौरान पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय में इतिहास तथा दर्शनशास्त्र के शिक्षक रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् 'लंदन स्कूल ऑव इकॉनॉमिक्स' में अध्ययन करते समय इन्होंने पान-अफ्रीकन-कांग्रेस के संगठन में सहायता की और उसकी लंदन तथा मैनचेस्टर शाखाओं के संयुक्त सचिव के रूप में कार्य किया। १९४५–४७ ई० में लंदन से प्रकाशित 'न्यू अफ्रीकन' पत्र के संपादक रहे। राष्ट्रीय आंदोलन चलाने के लिये गठित 'युनाइटेड गोल्ड-कोस्ट कॉनवेंशन' के प्रथम महामंत्री निर्वाचित होने के बाद ये अफ्रीका लौटे परंतु १९४९ ई० में इन्होंने उक्त संगठन से संबंध विच्छेद करके 'कॉनवेंशन पीपुल्स पार्टी' का गठन किया और देश में देशी सरकार स्थापित करने का आंदोलन चलाया। फलस्वरूप १९५० ई० में गैरकानूनी हड़तालें करवाने के आरोप में इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इसी वर्ष जबकि अभी ये जेल में ही थे, नए संविधान के मातहत कराए गए चुनाव में, इन्हें विधान-सभा का सदस्य चुन लिया गया। परंतु जेल से इन्हें एक साल बाद तब मुक्ति मिली जब ये अक्रा की नगरपालिका के सदस्य निर्वाचित हुए। १९५२ से १९५७ ई० तक ये गोल्डकोस्ट के प्रधान मंत्री रहे। १९५७ ई० में गोल्डकोस्ट तथा टोगालैंड को मिलाकर स्वायत्तशासी घाना राष्ट्र बनाया गया और एनक्रूमा ने उक्त नवोदित राष्ट्र के प्रधानमंत्री का पद सँभाला। १ जुलाई, १९६० को घाना में गणतंत्र की स्थापना हुई और

एनक्रूमा उसके प्रथम राष्ट्रपति बने। इसी वर्ष घाना को राष्ट्रमंडल का सदस्य चुन लिया गया।

राष्ट्रपति होने के बाद डा० क्वामे एनक्रूमा ने राष्ट्रसंघ के १९६० तथा १९६१ में हुए अधिवेशनों में भाषण दिए और १९६२ ई० में इन्हें 'लेनिन शांति पुरस्कार' प्रदान कर संमानित किया गया। हालाँकि पश्चिम अफ्रीका के लोग इन्हें 'अफ्रीका का गांधी' कहते थे और तद्वत इनका संमान भी करते थे तो भी शासन सँभालने के बाद, शुरू शुरू में, इनकी कटु आलोचना हुई तथा इनपर अधिनायक जैसा आचरण करने का आरोप लगाया गया।

एनक्रूमा ने ब्रिटिश उपनिवेश गोल्डकोस्ट को आजादी दिलाकर घाना राज्य की स्थापना की थी, किंतु उनके विद्रोही सेनानायक ने सत्ता के लोभ में उनकी देशभक्ति का समादर नहीं किया और २४ फरवरी, १९६६ ई० को जब एनक्रूमा चीन की राजकीय यात्रा पर पीकिंग गए हुए थे, सेना एवं पुलिस ने विद्रोह कर सत्ता हथिया ली। अपदस्थ होने के बाद एनक्रूमा गिनी चले गए और वहाँ की सरकार ने उन्हें बड़े संमान के साथ रखा। २७ अप्रैल, १९७२ ई० को ६२ वर्षीय डा० एनक्रूमा का निर्वासित अवस्था में कोनाक्री (गिनी) में देहांत हो गया।

घाना (आत्मकथा—१९५७), आई स्पीक ऑव फ्रीडम (१९६६), टुवर्ड्स कॉलोनियल कॉन्गिएन्सिज्म (१९६४) तथा भाषण पुस्तिकाएँ (सूचना मंत्रालय, घाना सरकार द्वारा प्रकाशित) इत्यादि इनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं। (कैं० चं० श०)

एनक्विज़िशन (इनक्विज़िशन) न्यायाधिकरण

कार्थलिक गिरजे के इतिहास में इस संस्था का पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान है। है। 'एनक्विज़िशन' का अर्थ है जाँच पड़ताल; इस न्यायाधिकरण (ट्राइब्यूनल) की स्थापना इस उद्देश्य से हुई थी कि काथलिक धर्म के सिद्धांतों से भटकनेवालों का पता लग जाय और उनको दंड दिलाने के लिये सरकार के सुपुर्द किया जाय। इस संस्था के तीन रूप हैं :

मध्यकालीन एनक्विजिशन—इसकी उत्पत्ति समझने के लिये यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है। काथलिक धर्म (गिरजे) के अधिकारी अपने धार्मिक विश्वासों के समुचित सूत्रीकरण के प्रति प्रारंभ से ही सतर्क रहे तथा भ्रामक सिद्धांतों के प्रचारकों को समझाकर और आवश्यकतानुसार उनको धर्म (गिरजे) से बहिष्कृत कर काथलिक धर्म का सनातन रूप शताब्दियों तक सुरक्षित रखने में समर्थ हुए। चौथी शताब्दी ई० में काथलिक धर्म को रोमन साम्राज्य की ओर से मान्यता मिली; बाद में वह यूरोप के अधिकांश देशों में भी राजधर्म के रूप में स्वीकृत होने लगा। अतः काथलिक धर्म (गिरजे) के प्रति विद्रोह करना राजविद्रोह माना जाने लगा। फलस्वरूप सरकार काथलिक धर्मविरोधी सिद्धांतों का प्रचार करनेवालों को निर्वासन, संपत्ति की जब्ती आदि दंड दिया करती थी। १२वीं शताब्दी में एकाध संप्रदायों के प्रचार के कारण सामाजिक तथा राजनीतिक अशांति फैलने लगी जिनमें फ्रांस के दक्षिणी भागों में प्रचार करनेवाला अल्बीजंसस नामक संप्रदाय प्रधान था। उन लोगों की धारणा थी कि समस्त भौतिक जगत् (प्रकृति) किसी दुष्ट पुरुष की सृष्टि है; मानव शरीर भी दूषित है इसलिये आत्महत्या उचित किंतु विवाह बुरा है क्योंकि वह शारीरिक जीवन को बनाए रखने का साधन है। अतः इस संप्रदाय के 'सिद्ध' लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते थे किंतु अपने साधारण अनुयायियों को यह शिक्षा देते थे कि यदि कोई पूर्ण संयम न रख सके तो उसके लिये विवाह की अपेक्षा व्यभिचार ही अच्छा है। इस संप्रदाय के विरुद्ध जनता की ओर से उग्र प्रतिक्रिया हुई तथा सरकार ने उसके अनुयायियों को प्राणदंड देने का निर्णय किया; गिरजे ने उनका पता लगाने का भार स्वीकार किया। इस उद्देश्य से १२वीं श० ई० के अंत में एनक्विजिशन संस्था की स्थापना हुई और बाद में वह प्रायः समस्त ईसाई देशों में फैल गई। इसके पदाधिकारी रोम की ओर से नियुक्त होकर देश का दौरा किया करते थे। अभियुक्तों से अनुरोध किया जाता था कि वे अपने भ्रामक सिद्धांत त्यागकर पश्चात्ताप करें। जो लोग इसके लिये तैयार नहीं होते थे, उनको प्राणदंड दिलाने के लिये सरकार के हाथ सौंपा जाता था। उस समय की बर्बर प्रथा के अनुसार स्वीकारोक्ति के निमित्त अभियुक्त को यंत्रणा भी दी जाती थी। अभियोक्ताओं के नाम गुप्त रखे जाते थे तथा अपश्चात्तापी दोषियों को जीते जी जला दिया जाता था। इन कारणों से इतिहासकारों ने एनक्विज़िशन की घोर निंदा की है।

स्पेन का एनक्विज़िशन—इसकी स्थापना सन् १४७८ ई० में राजा के अनुरोध पर इस उद्देश्य से हुई थी कि गुप्त मुसलमानों तथा यहूदियों का पता लगाया जाय। बात यह है कि सात शताब्दियों तक स्पेन के कुछ प्रदेशों पर मुसलमानों का आधिपत्य बना रहा और बहुत से ईसाइयों के पुरखे मुसलमान ही थे। दूसरी ओर, राजा ने स्पेन के यहूदियों को यह आदेश दिया कि ईसाई बनो अथवा देश छोड़ दो। इस परिस्थिति में स्पेन के नए ईसाइयों के विषय में संदेह बना रहता था कि वे भीतर ही भीतर मुसलमान अथवा यहूदी तो नहीं हैं। स्पेन के एनक्विज़िशन का उन्मूलन १९वीं श० के पूर्वार्ध में हुआ।

रोमन एनक्विज़िशन—मध्यकालीन एनक्विजिशन १३वीं तथा १४वीं शताब्दी में सक्रिय रहा। सन् १५४२ ई० में इसका पुनस्संगठन तथा परिष्कार हुआ और उस समय इसका नाम 'रोमन एनक्विज़िशन' तथा बाद में 'होली आफ़िस' रखा गया। इसी नाम से यह आज तक विद्यमान है। काथलिक धर्म की पवित्रता की रक्षा तथा धार्मिक सिद्धांतों का ठीक ठीक सूत्रीकरण इस संस्था का मुख्य उत्तरदायित्व है।

मध्यकालीन तथा स्पेन के एनक्विज़िशन के कारण काथलिक धर्म (गिरजे) को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई। यद्यपि एनक्विज़िशन के अत्याचार के वर्णन में प्रायः अतिरंजना का आश्रय लिया गया है तथा दंडितों की संख्या को अत्यधिक बढ़ा दिया गया है, फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस संस्था द्वारा मनुष्य के मूल अधिकारों की उपेक्षा की जाती थी। आजकल प्रचलित काथलिक धर्म (गिरजे) के विधान में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध काथलिक नहीं बनाया जा सकता।

सं०ग्रं०—पी० ह्यूज : ए हिस्ट्री ऑव द चर्च, लंदन, भाग १ (१९३९), भाग २ (१९४७); जे० गिराड : द मिडीवल एनक्विज़िशन, लंदन (१९२९)। (का० बु०)

एन्फ़ील्ड

इंग्लैंड के मिडिलसेक्स प्रदेश में न्यू नदी के तट पर लंदन से नौ मी० उत्तर-पूर्व स्थित एक व्यापारिक नगर है। यहाँ राइफल तथा बंदूकें बनाने का प्रसिद्ध राजकीय कारखाना है जहाँ संपूर्ण ब्रिटिश सेनाओं के लिये राइफलें बनाई जाती हैं। एन्फ़ील्ड इंग्लैंड के कुछ प्रसिद्ध लोगों, जैसे चार्ल्स लैंब, कवि कीट्स इत्यादि, की जन्मभूमि रहा है। इसका क्षेत्रफल १२.३८ वर्ग मील है तथा यहाँ की अनुमानित जनसंख्या सन् १९७० ई० में २,६२,६६० रही।

एन्फ़ील्ड, कनेक्टीकट नदी के पूर्वी तट पर संयुक्त राज्य अमरीका के हार्टफ़ोर्ड प्रदेश में स्थित एक अन्य नगर भी है। यह ३३.२ वर्ग मील में फैला हुआ है, जिसमें कई गाँव भी संमिलित हैं। यहाँ के मुख्य उद्यम तंबाकू की खेती तथा गलीचे, पीपे और लोहे की अनेक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करना है। यह नगर सन् १६७९ ई० में बसाया गया था। (श्या० सुं० श०)

एपर्ने

फ्रांस के मार्ने जिले में एक ऐतिहासिक नगर है जो शालों नगर के उत्तर-पश्चिम में १९ मील की दूरी पर स्थित है। प्राचीन नगर मार्न नदी के बाएँ किनारे पर बसा हुआ था। आधुनिक नगर मार्न के दोनों ओर फैला हुआ है। यह नगर खड़िया मिट्टी द्वारा निर्मित चट्टानों पर बसा हुआ है। इन्हीं चट्टानों की कंदराओं में 'शैंपेन' नामक शराब बनाई जाती है। अतः एपर्ने शैंपेन का बहुत बड़ा गोदाम तथा थोक बाजार है। ऐतिहासिक काल में पाँचवीं से दसवीं शताब्दी तक यह रीम्स के मुख्य पादरी के आधिपत्य में रहा। तत्पश्चात् शैंपेन के काउंट ने इसे अपने कब्जे में कर लिया।

शतवर्षीय युद्ध ने इस नगर को बहुत क्षति पहुँचाई। सन् १६४४ ई० में फ़्रांसिस प्रथम ने इसे जलवा दिया। सन् १६४२ ई० में बोलोन के ड्यूक ने यहाँ एक डची की स्थापना की। प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४–१९१८ ई०) में एपर्ने की गलियाँ पुनः खून से लाल हुई। (ले० रा० सिं०)

एपिनाल फ्रांस की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित 'वोसजेस विभाग' की राजधानी है। इसकी स्थिति एक सँकरी घाटी में 'मोज़ेल' नदी के किनारे समुद्र से १,०७० फुट की ऊँचाई पर पेरिस से १६० मील (रेल द्वारा २६० मील) दक्षिण-पूर्व में है। एपिनाल का विकास दसवीं शताब्दी में निर्मित एवं थियोडोरिक प्रथम द्वारा स्थापित एक मठ के आस पास हुआ है। यह नगर सूत कताई तथा कपड़े बुनने के लिये प्रसिद्ध है, साथ ही यहाँ वस्त्रों पर छपाई, कसीदाकारी तथा हैट बनाने का कार्य भी होता है। सस्ती मूर्तियाँ, खुदाई, पच्चीकारी तथा पत्थर पर छपाई करना यहाँ के विशेष उद्योग हैं। व्यापार की मुख्य वस्तुओं में मदिरा, अन्न, पशु तथा मैदा बनाना है। बेलफ़ोर्ट (Belfort), डीजों दिजों, तथा बज़ाँसों (नगरों) के साथ यह नगर मोज़ेल के किनारे किनारे किलों की एक कतार बनाता है। (श्या० सुं० श०)

एपिरस उत्तर ग्रीस का प्राचीन जिला अथवा राज्य जो यवन सागर (आयोनिया सागर) के बराबर बराबर चला गया था—इलीरिया, मकदूनिया और थेसाली से लगा लगा। आज यह आल्बेनिया का दक्खिनी भाग है। इसका भूभाग पहाड़ी है और यह सदा से अन्न की अपेक्षा अपने घोड़ों और मवेशियों के लिये प्रसिद्ध रहा है। इसका प्राचीन इतिहास अंधकार के आवरण में छिपा है, यद्यपि अनुश्रुतियों में ई० पू० पाँचवीं सदी से ही इसके राजकुल का बखान होने लगा था। वहीं की राजकुमारी ओलिंपिया मकदूनिया के राजा फ़िलिप द्वितीय को ब्याही थी जो सिकंदर महान् की माँ बनी। एपिरस के राजा अलेग्ज़ांदर ने मकदूनिया के आंतगोनस गोनातस को परास्त किया पर स्वयं उसे देमेत्रियस से हारकर अपना राज्य छोड़ भागना पड़ा। उसने लौटकर एपिरस फिर जीत लिया और शांतिःपूर्वक मरा। ग्रीस के पतन के साथ एपिरस का भी पतन हो गया और वह भी रोमन साम्राज्य का प्रांत बन गया। महत्व की बात है कि एपिरस का अलेग्ज़ांदर (अलिकसुंदर) और उसका पराजित शत्रु मकदूनिया का आंतिगोनस गोनातस (अंतेकिन) दोनों भारत के अशोक महान् के समकालीन थे जिनका उल्लेख उसके द्वितीय शिलालेख में हुआ है। उनके देशों में उसने वानस्पतिक ओषधियाँ लगवाईं थीं। (ओं० ना० उ०)

एपीक्यूरस (ई० पू० ३४२–१ से ई० पू० २७१–७०)—प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक। इसके माता पिता एथेंस के निवासी थे पर इसके जन्म के समय वे सामोस् नामक द्वीप में रहते थे। एपीक्यूरस के पिता का नाम नेओक्लेस और माता का नाम खाराएस्त्राता था। दर्शनशास्त्र के प्रेम का अंकुर तो उसके हृदय में १२–१४ वर्ष की अवस्था में ही उत्पन्न हो गया था, अतएव वह अपनी शिक्षा पूरी करने के लिये १८वें वर्ष में एथेंस आया और एक वर्ष तक अफलातून की अकादमी में रहा। यहाँ से लौटकर कोलोफ़न नगर को गया जहाँ उसके परिवार के लोग जा बसे थे। इस नगर के समीप तेओस नगर में उसने नाउसीफ़ानेस से संभवतया देमाक्रीतुस के सिद्धांतों की शिक्षा ग्रहण की। लगभग ३२ वर्ष की अवस्था में उसने पहले मीतिलेने नगर में और कुछ समय उपरांत लांप्साकुस नामक नगर में अपना विद्यालय स्थापित किया। इसके पाँच वर्ष उपरांत वह अपने विद्यालय को एथेंस नगरी में ले गया। यहाँ पर उसने एक उद्यान में अपना विद्यालय स्थापित किया। यों तो उस समय एथेंस में अनेक प्रसिद्ध विद्यालय थे तथापि एपीक्यूरस ने ही सबसे प्रथम स्त्रियों तथा दासों को भी अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया। उसके शिष्यों में अनेक वारांगनाएँ भी थीं और उनमें से, संभवतया, लियोंतियन नामक वारांगना के साथ उसकी घनिष्ठता गुरु शिष्य के संबंध की अपेक्षा अधिक गहरी थी। वह लगभग ३६ वर्ष से अधिक एथेंस नगरी में रहा। विद्यालय और शिष्यमंडली में एपीक्यूरस देवतुल्य पूजा जाता था और उसके जन्मदिन पर विशेष उत्सव मनाया जाता था। यद्यपि उसके आलोचकों ने उसको विलासिता में फँसा हुआ कहा है, तथापि वास्तविकता यह है कि उसका तथा उसके शिष्यों का जीवन सीधासादा, शांत और सरल था। मृत्यु के समय उसको पथरी रोग हो गया था जिसके कारण उसकी शारीरिक पीड़ा की कोई सीमा नहीं थी; तथापि अंतिम दिन जो पत्र उसने अपने मित्र को लिखा उसमें उसने शांति और सुख की ही भावना को अभिव्यक्त किया।

दिओगेनेस लार्एतियुस ने "दार्शनिकों के जीवन" नामक पुस्तक में एपीक्यूरस की जीवनी ग्रंथांत में सबसे अधिक विस्तार के साथ लिखी है और उसने बतलाया है कि एपीक्यूरस ने ३०० ग्रंथों की रचना की थी। परंतु दुर्भाग्यवश निम्नलिखित थोड़ी सी रचनाओं के अतिरिक्त अन्य सब कुछ आज अनुपलब्ध है। जो कृतियाँ बच रही हैं वे हैं—(१) हेरोदोतुस को लिखा हुआ एक लंबा पत्र जो आजकल उसके मत को जानने का मुख्य साधन है; (२) ऋतुविज्ञान के संबंध में पीथौक्लेस को लिखा हुआ पत्र; (३) आचार दर्शन के संबंध में मेनोकेउस को लिखा हुआ पत्र; (४) लार्एतियुस की जीवनी के अंत में दिए हुए आचार संबंधी ४० सूत्र, और (५) १८८८ में वोट्के द्वारा वातिकन (पोप की नगरी) में पाए गए ८० सूत्र। अनुपलब्ध ग्रंथों में एपीक्यूरस की सर्वश्रेष्ठ रचना "प्रकृति" (पैरीफ़ीसिओस) भी है जो ३७ पुस्तकों अथवा अध्यायों में थी।

एपीक्यूरस का दार्शनिक सिद्धांत स्वादुवाद या प्रेयवाद कहलाता है। वह केवल इंद्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। जो विवेचन, संमति अथवा विभावना प्रत्यक्षविरोधिनी हो वह भ्रांत होती है तथा जो प्रत्यक्ष से मेल खाती हो वही निर्भ्रांत है। भौतिक जगत् के संबंध में एपीक्यूरस को देमीक्रीतुस का परमाणुवाद मान्य है। वस्तुएँ अपने बाह्य धरातल से अपने सूक्ष्म बिंबों को निरंतर शीघ्र गति से निक्षिप्त करती रहती हैं। इन्हीं बिंबों द्वारा हमारी इंद्रियों का विषयों से संपर्क हुआ करता है। यह बिंबनिक्षेप वस्तुओं के घटक अणुओं की गति के कारण हुआ करता है। परमाणु और उनकी गति के लिये शून्य स्थान, ये दो परम तत्व हैं। एपीक्यूरस के मत में परमाणुओं की गति में स्वच्छंदता रहती है। समग्र विश्व, चराचर सृष्टि, यहाँ तक कि आत्मा भी, अणुओं के संघात मात्र हैं। देवता मनुष्यों की अपेक्षा सूक्ष्मतर परमाणुओं से निर्मित हैं। वे जगतों के मध्यवर्ती अंतराल में निश्चिततामय परिपूर्ण जीवन बिताते हैं।

मानव जीवन के लिये एपिक्यूरस का लक्ष्य प्रेम की प्राप्ति था। परंतु उसकी प्रेम की परिभाषा थी दुःख और पीड़ा का अभाव और स्थिरबुद्धिता एवं शरीर और मन की शांत तथा स्वस्थ स्थिति। अतः वह संसार से विरक्ति का उपदेश करता था; सामाजिक और राजनीतिक जीवन में उलझना भी उसकी दृष्टि में उचित नहीं था। वैवाहिक जीवन भी उसको अभीष्ट नहीं था। वह मनुष्य को सब प्रकार की भीतियों से—यहाँ तक कि मृत्यु के भय से भी—मुक्त करना चाहता है। देवताओं और प्राचीन परंपराओं के बंधनों को भी त्यागने का उपदेश एपीक्यूरस दिया करता था। अतएव परंपराप्रिय अनेक भक्तों ने उसकी निंदा की है। पर वास्तविकता यह है कि उसकी शिक्षा का सार शुद्ध, सरल, निश्चित और सुखपूर्ण जीवन की उपलब्धि है।

सं०ग्रं०—दियोगेनेस लार्एतियुस : दार्शनिकों के जीवन की अंतिम (दशम) पुस्तक; त्सैलर, स्टोइक्स : एपीक्यूरियन्स ऐंड स्केप्टिक्स; स्टेस : क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव ग्रीक फ़िलासफ़ी; लियाँ रोबिन : ग्रीक थाट्। (भो० ना० श०)

एफ़िंधम संयुक्त राज्य अमरीका के इलिनॉय राज्य में एक नगर है। यह छोटी वाबश नदी के पास टेरे होट और सेंट लुई के करीब करीब बीच में राजपथ पर स्थित है। यह पेन्सिलवानिया और मध्य इलिनॉय रेलवे का एक बड़ा जंकशन तथा संपन्न कृषि और दुग्ध उत्पादक क्षेत्र का व्यापारिक केंद्र है। यहाँ जमे दूध, केचअप और सब्जी तथा मांस टीन के डब्बों में बंद करने के उद्योग हैं। यह नगर सन् १८५३ ई० में बसा था। (श्या० सुं० श०)

एफ़ेबी का सामान्य आशय तरुणसमूह है, पर यूनान में इसका कानूनी अर्थ युवकों का सैन्य संगठन होता था। एथेंस में संभवतया (खाइरोनिया की पराजय के पश्चात्) ई० पू० ३३८ के आसपास यह नियम

बना दिया गया था कि प्रत्येक नवयुवक (एफ़ेवस) को १८ वर्ष की अवस्था हो जाने पर नगरराष्ट्र के सैन्य संगठन में भर्ती होना पड़ेगा। एक वर्ष तक इन लोगों को सैनिक प्रशिक्षण दिया जाता था और इन दिनों उनको अत्यंत कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। एक कबीले के नवयुवक एक साथ ही रहते और भोजन करते थे। प्रशिक्षण की समाप्ति के पश्चात् इनको एक वर्ष तक दुर्गरक्षण और रक्षीचर्या का कार्य करना पड़ता था। इनके शारीरिक, सैनिक और नाविक (अर्थात् नौसैनिक) व्यायाम की शिक्षा के लिये छह शिक्षक नियुक्त किए जाते थे तथा इनके आचरण की देखभाल जनता द्वारा नियुक्त एक समिति किया करती थी। प्रशिक्षण की समाप्ति पर प्रत्येक नवयुवक को एक भाला और एक ढाल प्रदान की जाती थी और वह शपथ लेता था कि वह अपने आयुधों को लजाएगा नहीं। उसका कर्तव्य था सार्वजनिक कार्यों तथा जनसंमिलनों में उपस्थित होना, यात्राओं में भाग लेना और अध्ययन करना। प्रशिक्षण काल में उसको छोटे केश धारण करने पड़ते थे और एक विशेष प्रकार की टोपी और छोटा अँगरखा पहनना पड़ता था तथा इस समय वह करों से मुक्त रहता था।

एथेंस में ई० पू० तीसरी सदी में युवकों की संख्या में ह्रास होने के कारण सैनिक शिक्षण और सेवा का काल घटाकर आधा, अर्थात् एक वर्ष कर दिया गया। एथेंस का अनुकरण कर अन्य नगरराष्ट्रों ने भी इस पद्धति को अपनाया। रोमन साम्राज्य काल में यह संस्था सांस्कृतिक संस्था भर रह गई थी और इसपर सरकारी नियंत्रण नहीं रहा।

सं० ग्रं०—अरिस्तू की राजनीति और एथेंस का संविधान, भोलानाथ शर्मा द्वारा हिंदी अनुवाद, १९५६ ई०। (भो० ना० श०)

एफ़ेल जर्मनी में राइन, मोजेल एवं लक्सेमबर्ग की सीमाओं के मध्य स्थित एक जनपद (जिला) है। यह बंजर तथा रूक्ष पठारी प्रदेश है। इसका पूर्वी भाग हाई एफ़ेल (उच्च एफ़ेल) अधिकांशतः ऊँचा है। यहाँ बहुत से स्थान २,००० फुट से अधिक ऊँचे है। पश्चिम में श्नाइफ़ेल है; दक्षिण में वॉरडर एफ़ेल है जो अत्यंत रमणीक तथा वैज्ञानिक विशेषताओं का क्षेत्र है। यह जनपद २० मील चौड़ा एवं ४० मील लंबा है और इसकी औसत ऊँचाई १,५०० फुट से २,००० फुट तक है।

एफ़ेल परतदार मत्स्ययुगीन तथा अत्यंत प्राचीन चट्टानों का एक ठोस खंड है। इन घिसी हुई ठोस चट्टानों पर तृतीयक काल के बहुत से ज्वालामुखी शंकु स्थित है। उनमे से अधिकांश अब शांत किंतु आकार में पूर्ण हैं। विस्तृत एवं लगातार ज्वालामुखी क्षेत्र 'लाखर से' (लाखर झील) के चतुर्दिक् सुदूर पूर्व में न्यवीड एवं 'काव्लेंज' तक, फिर राईन के आगे तक विस्तृत है। बहुत से ज्वालामुखी पर्वतों के मुख अब झील हो गए है। इनको 'मार' कहते है। ये यहाँ के आकर्षणकेंद्र है। इनमें दो सबसे बड़ी तथा प्रसिद्ध झीलें, लाखर से एवं पुलवरमा, विशेष उल्लेखनीय हैं। (श्या० सुं० श०)

एवरक्रांबी, लैसेलीज़ (१८८१-१९३८ ई०) अंग्रेजी के प्रख्यात कवि, नाटककार तथा समालोचक। एश्टन-ऑन-मर्सी में इंग्लैड के एक प्रसिद्ध व्यापारी के घर ९ जनवरी, १८८१ को जन्म। प्रारंभिक शिक्षा मैलबर्न में तथा उच्च शिक्षा मैनचेस्टर विश्वविद्यालय में प्राप्त की। शिक्षा समाप्त करने के उपरांत एवरक्रांबी ने स्वतंत्र पत्रकार का पेशा अपनाया और अनेक पत्र पत्रिकाओं के लिये लेख तथा पुस्तक परिचय (रिव्यू) लिखने लगे। लेकिन पत्रकारिता में उनका मन बहुत दिनों तक न रम सका और १९१९ ई० में वे लिवरपूल के एक स्कूल में अंग्रेजी के अध्यापक हो गए, हालांकि इनकी शिक्षा विज्ञान में हुई थी। १९२२ ई० में लीड्स विश्वविद्यालय में तथा १९२९ ई० में लंदन विश्वविद्यालय में अंग्रेजी प्राध्यापक पद पर उनकी नियुक्ति हुई। १९३५ ई० में वे आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में रीडर हुए। उनकी निम्नलिखित कृतियाँ प्रकाशित है :—

कविता—१. इंटरल्यूड्स ऐंड पोएम्स (१९०८), २. एंब्लेम्स ऑव लव (१९११) तथा ३. द पोएम्स ऑव लैसेलीज एवरक्रांबी (१९३०)।

इनकी कविताओं में सांग, हाइम टु लव, सेरेमोनियल ओड, मैरेज सांग, द डेथ ऑव ए फ़ायर आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

नाटक—१. डेबोरा (१९१२), २. फ़िनिक्स (१९१३) तथा ३. द सेल ऑव सेंट टामस (काव्य नाटिका जो १९०३ में रची गई किंतु प्रकाशित बाद में हुई)। देहाती जीवन से संबंधित इनके डेबोरा आदि नाटक अधिक सफल है।

समालोचना—१. टामस हार्डी (१९१२), २. दि एपिक (१९१४), ३. ऐन एसे टुवर्ड्स ए थियरी ऑव आर्ट (१९२२), ४. द थियरी ऑव पोएट्री (१९२४), ५. दि आइडिया ऑव ग्रेट पोएट्री (१९२५) तथा ६. रोमैंटिसिज्म (१९२६)।

एवरक्रांबी की अधिकांश रचनाएँ बौद्धिकता से आक्रांत हैं, अतः सामान्य पाठक के लिये ये बोझिल, नीरस तथा क्लिष्ट है। २७ अक्टूबर, १९३८ को ५७ वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हो गया। (कै० चं० श०)

एवरक्रांबी, सर राल्फ़ (१७३४-१८०१) प्रसिद्ध ब्रिटिश सैनिक जिसने सप्तवर्षीय युद्ध में बड़ा नाम कमाया। १७९५ में एवरक्रांबी को 'सर' का खिताब मिला और उसी साल वेस्ट इंडीज़ में ब्रिटिश सेना के प्रधान सेनापति के रूप में उसकी नियुक्ति हुई। फिर वह आयरलैंड की सेना का अध्यक्ष हुआ जहाँ उसने सेना के नियमो में कई प्रकार के सुधार किए। १८०१ मे उसे मिस्र में फ्रांसीसियो से लड़ने के लिये भेजा गया। उसने फ्रांसीसियों को परास्त तो कर दिया, पर ठीक जीत के समय ही उसे गोला लगा और वह मर गया। लंदन के सेंट पाल के गिरजाघर में उसका स्मारक बनाया गया और उसकी विधवा को खिताब तथा पेंशन दी गई। (भ० श० उ०)

एवेयर, फ्रीड्रिख जर्मन गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति एवं कुशल राजनीतिज्ञ एवेयर का जन्म ४ नवंबर, १८७० को हाईडेलबर्ग नगर में हुआ। ये दर्जी के पुत्र थे परंतु इन्होंने अपने पिता का धंधा छोड़कर मोची का काम अपनाया। समाजवादी आंदोलन में प्रारंभ से ही संमिलित होकर ये जर्मनी के समाजवादी जनतांत्रिक दल के सदस्य और शीघ्र ही प्रभावशाली वक्ता तथा श्रमिक संघ के उत्तम संगठनकर्ता बन गए। इस आंदोलन में भाग लेने के कारण इन्हें अत्यधिक कष्ट भोगने पड़े और कई बार जेल भी जाना पड़ा।

अपने दल के बाहर एवेयर का प्रभाव प्रथम महायुद्ध के समय अनुभव किया जाने लगा। दल के अध्यक्ष एवं रीखस्टाग की आयव्ययक समिति के सभापति के नाते इनकी नीति राष्ट्रीय सुरक्षा तथा समझौते द्वारा शांति बनाए रखने के पक्ष में थी। परंतु एवेयर अपने देश में तथा बाहर, विशेषतया स्काटहोम में, जून १९१७ के शांति संमेलन में न्यायपूर्ण शांति के लिये प्रयत्न करते रहे। यद्यपि ये ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि से संतुष्ट नहीं थे। फिर भी इन्होंने उसके विरोध में की गई हड़तालों से असहमति प्रकट की। आरंभ में एवेयर गणतंत्र के पक्ष में नहीं थे और ब्रिटिश प्रणाली के आधार पर जर्मनी में संसदीय सरकार स्थापित करना चाहते थे। अतएव सितंबर, १९१८ में जब राजकुमार मैक्स ने अपने प्रथम संसदीय मंत्रिमंडल का निर्माण किया, एवेयर ने अपने दल को इस मंत्रिमंडल में मंत्री पद ग्रहण करने पर सहमत कर लिया परंतु क्रांतिकारी आंदोलन उग्र रूप धारण कर रहा था। ९ नवंबर को शीडमान ने रीखस्टाग के सदनभवन से जर्मन गणराज्य की घोषणा की। राजकुमार मैक्स के स्थान पर एवेयर चांसलर नियुक्त हुए और इन्होंने समाजवादी अस्थायी सरकार बनाई।

स्पार्टासिस्ट्स ने एवेयर और उनके सहयोगियों को बंदी बनाने का कई बार प्रयत्न किया। परंतु एवेयर ने दिसंबर और जनवरी के उपद्रव को शीघ्र ही कुचल दिया। राष्ट्रीय सभा ने एवेयर को जर्मन गणराज्य का प्रथम अस्थायी राष्ट्रपति चुना। राष्ट्रीय एकता तथा लोकतंत्र एवेयर की नीति के प्रधान लक्ष्य थे। अस्थायी अवधि की समाप्ति पर संसद् ने ३० जून, १९२५ को दूसरी बार एवेयर को राष्ट्रपति चुना।

परंतु जर्मन समाज के कुछ प्रतिक्रियावादियों को यह अच्छा नहीं लगता था कि एक साधारण मोची, जिसे कभी उच्च वर्ग की शिक्षा तक का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, राष्ट्र का अध्यक्ष हो, परिणामतः एवेयर के विरुद्ध

घोर निंदा का षड्यंत्र रचा जाने लगा। इनपर जर्मन सेना की शक्ति नष्ट करने का आरोप लगाया गया और जब रोथार्ड नामक एक व्यक्ति ने एक पत्र में एबेयर के प्रति जनवरी, १९१८ की युद्धसामग्री तथा कारखानों के कर्मचारियों की हड़ताल को लेकर विश्वासघात का आरोप किया तब एबेयर ने इन मिथ्यारोपों के लिये रोथार्ड पर मानहानि का अभियोग चलाया। यद्यपि रोथार्ड रीति से दोषी पाया गया तथापि न्यायाधीशों का निर्णय एबेयर के हित में प्रशंसनीय नहीं था। केंद्रीय सरकार तथा कई राज्य सरकारों ने इनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की, परंतु इन सब घटनाओं की ठेस ये सहन न कर सके। ये पहले से ही आँत के फोड़े से पीड़ित थे। इस मुकदमे के निर्णय तक ये अपनी शल्यक्रिया टालते रहे परंतु अब बहुत विलंब हो चुका था। २८ फरवरी, १९२५ को शार्लटनबर्ग में एबेयर का शरीरांत हो गया। उनकी मृत्यु के साथ ही निंदा और विरोध के स्वर भी शांत हो गए। इनके देशवासियों ने इनकी महत्ता तथा राजनीतिक योग्यता को संमान दिया। इंग्लैंड के प्रधान मंत्री रैमज़े मैकडानल्ड ने इनकी प्रशंसा करते हुए इन्हें यूरोप का एक बुद्धिमान और सहनशील लोकसेवक कहा है।

सं० ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; एनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज़; *द मेमायर्स ऑव प्रिंस मैक्स ऑव बाडेन* (अनु० व० म० कैवडर तथा सी० व० ह० संदत)। (अ० ला० लूं०)

एमडन पश्चिमी जर्मनी में एम्स नदी के मुहाने पर एक नगर तथा पत्तन है। जहाजों के लंगर डालकर ठहरने का यहाँ अत्यंत सुंदर अड्डा है तथा यहाँ का पत्तन, जिसमें बड़े बड़े जलयान आ जा सकते हैं, इससे एक नहर द्वारा संबंधित है। प्राचीन स्थापत्य कला तथा बाँधों के कारण, जो नगर को जलमग्न होने से बचाते हैं, यह एक डच नगर प्रतीत होता है। १६वीं शताब्दी का बना हुआ नगरभवन (टाउनहाल) जर्मनी के सबसे सुंदर सार्वजनिक भवनों में से एक है, जिसमें प्राचीन हथियारों का दर्शनीय संग्रह है। अविभाजित जर्मनी के पत्तनों में इसका पाँचवाँ स्थान था। अब पश्चिमी जर्मनी में तीसरा स्थान है। यहाँ की मुख्य व्यापारिक वस्तुओं में कृषि के उत्पादन, घोड़े, लकड़ी, कोयला, चाय तथा मदिरा हैं। गहरे समुद्र में मछली पकड़ना नगर का मुख्य धंधा है। मशीनें, सीमेंट, तार के रस्से, तंबाकू, चमड़ा, रासायनिक द्रव्य इत्यादि यहाँ के मुख्य औद्योगिक उत्पादन हैं। द्वितीय महायुद्ध में यहाँ का पत्तन, तेलशोधक कारखाने इत्यादि अत्यधिक क्षतिग्रस्त कर दिए गए थे। (श्या० सुं० श०)

एमहर्स्ट, विलियम पिट (१७७३–१८५७) बैरन जेफ्रे एमहर्स्ट का भतीजा था जो स्वयं २५ वर्ष की अवस्था में अर्ल हुआ। सन् १८२३ से १८२८ ई० तक वह भारत का गवर्नर जनरल भी रहा। पहला वर्मी युद्ध १८२४ में उसी के शासनकाल में हुआ जिसके फलस्वरूप अराकान और तेनासिरिम ग्रेट ब्रिटेन को मिले। एमहर्स्ट इंग्लैंड लौटता हुआ सेंट हेलेना में भी उतरा था जहाँ उसने बंदी सम्राट् नैपोलियन से कई बार मुलाकात की थी। (ओं० ना० उ०)

एमादुद्दीन रैहान दिल्ली के उस तुर्की राजवंश के सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद का कुछ समय के लिये वजीर एवं पथप्रदर्शक था जिसे प्रायः दास वंश का नाम दिया जाता है। उसके जीवन के संबंध में और *कुछ भी अब तक विदित नहीं है। इसका कारण यह है कि रैहान की* संक्षिप्त चर्चा केवल उसके शत्रु तथा विरोधी दल के एक विशेष सदस्य, मिनहाजुस्सिराज, ने अपने इतिहास 'तबक़ाते-नासिरी' में की है। बाद के इतिहासकारों के वर्णन इसी पर आश्रित हैं। अतएव एमाद के जन्म आदि, आरंभिक जीवन अथवा उसके परिवार आदि के संबंध में जानकारी करने का कोई साधन अभी तक हमारे पास नहीं है। परंतु मिन्हाज के निर्देशों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि एमाद हिंदुस्तानी मुसलमान था और सुलतान नासिरुद्दीन के उच्च पदाधिकारियों में से था तथा संभवतः बदायूँ का मुक़्ता (प्रांताधीश) था। निस्संदेह उसने यह पद तुर्की अमीरों का विरोध होते हुए भी अपनी योग्यता के बल पर प्राप्त किया था।

सबसे पहले एमादुद्दीन का निर्देश मिन्हाज इस प्रसंग में करता है कि १२४९ के मार्च मास में काजी एमादुद्दीन शकूर क़ानी पर राजविद्रोह की शंका हुई और उसे काजी के पद से हटाकर बदायूँ भेज दिया गया जहाँ एमादुद्दीन रैहान द्वारा उसकी हत्या करा दी गई।

मिन्हाज तथा अन्य लेखकों के वृत्तांत से स्पष्ट होनेवाली एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ताजीक तुर्क, जिन्होंने हिंदुओं से दिल्ली का राज छीनकर अपनी सत्ता स्थापित की थी, राज्य के सभी ऊँचे ऊँचे पद अपने हाथों में रखना चाहते थे। हिंदुस्तानियों के प्रति, हिंदुओं की तो कौन कहे, मुसलमानों के प्रति भी, वे बड़े तिरस्कारपूर्ण भाव रखते थे और उनको कोई ऊँचा पद नहीं देना चाहते थे। स्वाभाविक ही था कि योग्य हिंदुस्तानी मुसलमान, जो उनसे समानता के व्यवहार की आशा रखते थे, उनके इस अन्याय और अपमानजनक बर्ताव से बड़े असंतुष्ट थे। इन योग्य हिंदुस्तानी मुसलमानों का नेता रैहान था। वह इस ताक में था कि कोई उपयुक्त अवसर पावे तो तुर्की अमीरों को राजकीय पदों से निकलवाकर उनके स्थानों पर हिंदुस्तानियों को बैठा दे और इस प्रकार इन विदेशियों के आतंक से राज्य को मुक्त करे।

भाग्य से अपनी आकांक्षा पूरी करने का अवसर रैहान को इस कारण मिल गया कि जब गियासुद्दीन बलबन ने अपने कपटजाल तथा तुर्की अमीरों के सहयोग से नायबे मुल्क के उच्चतम पद को प्राप्त कर लिया, तब उसने अपने तुर्की भाइयों के साथ ही असह्य और अपमानजनक बर्ताव करना शुरू कर दिया और ऐसी नीति चालू की जिससे बड़े बड़े तुर्की अमीरों तथा सेनापतियों को उसके प्रति घृणा हो गई और उनको अपने जीवन का भी भय हो गया। इतना ही नहीं, बलबन ने युवक सुलतान को भी इतना दबाया कि, मिन्हाज के शब्दों में वह एक नमूना (प्रतीक) मात्र रह गया। स्वभावतः महत्वाकांक्षी सुल्तान भी इस कठोर और दुर्धर्ष वजीर के हाथों से छुटकारा पाना चाहता था। सुलताल और तुर्कों का यह असंतोष इतना बढ़ा कि १२५२ के नवंबर में रैहान ने उपयुक्त अवसर देखकर सुलतान से समझौता कर लिया और बलबन को नायब के पद से हटवाकर हाँसी का जागीरदार बनवा दिया। फिर यह देखकर कि वह पास रहकर भयानक कार्रवाई करेगा, उसे नागोर भेज दिया। अब सुलतान ने एमादुद्दीन को वकीलेदार नियुक्त कर दिया और मुख्य मंत्री का पूरा अधिकार उसे प्राप्त हो गया। उसने परिस्थिति को दृष्टि में रखकर कुछ तुर्की अमीरों को पदच्युत किया और कुछ को बदली करके केंद्र से दूर स्थानों पर भेज दिया। इनमें बलबन का विशेष कृपापात्र, तबकाते नासिरी का लेखक काजी मिन्हाज भी अपने पद से हटाया गया। यही कारण है कि उसने अपने इतिहास में रैहान को नीच हिंदू और द्वेषी बतलाया। इस प्रकार हिंदुस्तानी मुसलमानों ने रैहान के नेतृत्व में तुर्की दल को पछाड़कर दरबार तथा शासन पर अपना अधिकार जमाया। इस घटना से रैहान की अनुपम नैतिक बुद्धि तथा कार्यकुशलता का परिचय मिलता है। कहना न होगा कि हिंदुस्तानी दल की सफलता उनके साथ सुलतान महमूद के मिले रहने पर निर्भर थी। और वह बलबन के अनुचित आतंक से छुटकारा पाने के लिये हिंदुस्तानी दल से मिल गया था।

तुर्कों की परस्पर फूट के कारण ही ऐसी दुर्गति हुई थी। इसका पूरा लाभ बलबन ने उठाया। उसने उनसे एक होकर अपने खोए हुए अधिकारों और पदों को फिर से प्राप्त करने के लिये अपील की। उनमें से बहुतों को *फिर भी बलबन के सद्भाव पर विश्वास न हुआ और वे अंत तक उसके* विरोधी बन गए। परंतु बहुत से मिल गए और सुल्तान से अनुरोध करके अपनी सच्ची सेवाभावना की एक ही शर्त रखी कि रैहान अपने पद से हटा दिया जाय। यद्यपि रैहान काफी सशक्त था और तुर्की दल का मुकाबला करने को उद्यत था, तथापि स्वार्थी सुलतान ने अपने को खतरे से बचाने के लिये अपने परम हितैषी एवं उपकारक रैहान को पदच्युत करके वापस बदायूँ भेज दिया और बलबन को फिर से नायबे मुल्क बना दिया। अधिकार प्राप्त करते ही बलबन ने सबसे पहले अपने शत्रु रैहान को बदायूँ से बहराइच भिजवाया और अवध के इक्तादार ताजुद्दीन संजर द्वारा उसका वध करवा दिया।

सं०ग्रं०—मिनहाजुस्सिराज : तबकाते नासिरी (मूल, फारसी, ए० सो०बं० द्वारा प्रकाशित), अंग्रेजी अनुवाद, मेजर एच० जी० रेवर्टी; निजामुद्दीन अहमद बख्शी : तबकाते अकबरी, (अं० अनु० बी० दे और बेनी-

प्रसाद); परमात्माशरण : स्टडीज़ इन मेडीवल इंडियन हिस्ट्री; सैयद अतहर अब्बास रिजवी द्वारा "तबकाते नासिरी" का हिंदी अनुवाद, प्र० अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी। (प० श०)

एमानुएल द्वितीय, विक्तर (१८२०-१८७८) वर्तमान इटली के निर्माता और उसकी स्वतंत्रता के संरक्षक विक्तर एमानुएल द्वितीय का नाम जर्मनी के प्रिंस बिस्मार्क और भारत के सरदार पटेल की तरह अमर हो गया है। उसने अनेक राज्यों में विभक्त देश को 'संयुक्त इटली' का रूप दिया, सीमावर्ती प्रबल राष्ट्रों से उसे निर्भय बनाया और उसके लिये अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की। १४ मार्च, १८२० को उसका जन्म हुआ। चार्ल्स अलबर्त के पुत्र के नाते पिता के गद्दी त्याग करने पर वह सार्दीनिया का राजा बना और अपनी वीरता, राजनीतिमत्ता तथा दूरदर्शिता से सार्दीनिया के राज्य को संयुक्त इटली के महान् राज्य में परिवर्तित कर दिया।

सुप्रसिद्ध देशभक्त मात्सीनी और गारीबाल्दी तथा अन्य क्रांतिकारियों और प्रजातंत्रवादियों का सहयोग प्राप्त कर एमानुएल ने सबको एक किया। १० नवंबर, १८५९ को ज्यूरिक की संधि में लांबार्दी प्रदेश आस्ट्रिया से और सितंबर, १८७० में प्रशा-फ्रांस की लड़ाई में रोमन प्रदेश फ्रांस से प्राप्त किए। सिसली, नेपुल्स, वेनिस, तस्कनी, जिचोज और रोमान्या के अलग-अलग राज्यों को इटली में मिलाने में उसने अपूर्व सफलता प्राप्त की। रोमन प्रदेश को इटली में मिलाने का घोर विरोध वातिकन के पोप ने किया, जिस कारण दोनों के संबंध वर्षों तक बिगड़े रहे। आंतरिक सुधारों में एक बड़ा कदम चर्च की अदालतों के अधिकारों को सीमित करना था। उसके कारण भी उसको पोप का कोपभाजन बनना पड़ा। स्वयं कैथोलिक होते हुए भी उसने उसकी परवाह नहीं की। अपनी जनता और संसद् का विश्वास उसे सदा प्राप्त रहा। आस्ट्रिया के आर्चडयूक की लड़की से विवाह कर उसने फ्रांस के सम्राट् तृतीय नैपोलियन के साथ भी पारिवारिक संबंध कायम किए। दोनों की पुरानी शत्रुता से उसने पूरा लाभ उठाया; परंतु तृतीय नैपोलियन उसकी बढ़ती हुई शक्ति के प्रति सदा सशंक रहा। क्रीमिया के युद्ध में उसने रूस के विरुद्ध फ्रांस और इंग्लैंड का साथ देकर अपनी और इटली दोनों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए। पेरिस में तृतीय नैपोलियन और लंदन में महारानी विक्टोरिया ने तथा दोनों देशों की जनता ने भी उसका हार्दिक स्वागत किया। प्रशा और फ्रांस के युद्ध से भी उसने पूरा लाभ उठाया। फ्रांस ने पहली पराजय के बाद जब १,००,००० इटालियन सैनिकों की सहायता की माँग की तब उसने रोमन प्रदेश को फ्रांसीसी सेनाओं से खाली करवा कर ७ जुलाई, १८७१ को रोम को संयुक्त इटली में मिलाकर उसको राजधानी बनाया और उसका पुनर्निर्माण किया।

विक्तर एमानुएल द्वितीय सुदृढ़ प्रकृति, सहृदय स्वभाव, स्वाभिमानी, राजनीतिज्ञ और दूरदर्शी शासक था। सेनापति के रूप में जीवन का आरंभ कर वह सैनिक शक्ति की अपेक्षा अपनी बुद्धिमत्ता से संयुक्त इटली का सम्राट् बना। अपनी स्थिति को सांवैधानिक बनाकर उसने संसद् के सहयोग से शासनसूत्र का संचालन किया। शासन में कोई विशेष सुधार वह नहीं कर सका; देश की आर्थिक स्थिति को उसने काफी उन्नत बनाया और सेना का पुनर्गठन कर उसको शक्तिशाली बनाया। ९ जनवरी, १८७८ को रोम में ज्वर से उसकी मृत्यु हो गई। (स० दे० वि०)

एम्मेट, राबर्ट (१७७८-१८०३) आयरलैंड का विद्रोही। डब्लिन विश्वविद्यालय का बहुत मेधावी छात्र जिसे राजनीतिक विचारों के कारण विश्वविद्यालय से अलग होना पड़ा। फिर वह देश की स्वतंत्रता के लिये कार्य करनेवाली गुप्त संस्थाओं का सदस्य हो गया। जब उसके नाम वारंट निकला तब वह फ्रांस चला गया जहाँ वह नैपोलियन बोनापार्ट से मिला। यूनाइटेड आयरिश मेन नामक गुप्त संस्था छिपे रूप से आयरलैंड की स्वतंत्रता के लिये षड्यंत्र कर रही थी। एम्मेट उसके प्रधान संचालकों में हो गया। आयरलैंड के जिलों में जब विद्रोह की तैयारी हो चुकी तब वह चुपके से डब्लिन पहुँचा। विचार यह था कि जब फ्रांस इंग्लैंड पर चढ़ाई करे तभी आयरलैंड भी विद्रोह का झंडा खड़ा करे। परंतु हमला हुआ नहीं, उधर आयरलैंड में विद्रोह की जो गुप्त तैयारियाँ हो रही थीं वे दृढ़ता से सफल न की जा सकीं। अंग्रेजी सेना को घेरकर निरस्त्र कर देने का स्वप्न देखनेवाले आयरिश विद्रोहियों के पास न तो काफी शस्त्र थे और न उनमें एकता कायम रह सकी। विद्रोह का भंडाफोड़ हो गया और उसका अंत सड़कों पर कुछ खूनखराबी के साथ हुआ। निश्चय ही कुछ अंग्रेज पदाधिकारी उसमें मारे गए, परंतु आयरलैंड की राजनीतिक प्रगति वहीं की वहीं रह गई। एम्मेट ने जब देखा कि अब सब कुछ नष्ट हो गया तब वह अमेरिका भाग जाने की तैयारी में लगा; पर भागने से पहले ही वह पकड़ लिया गया। न्याय के समय उसने बड़ी उत्तम वक्तृता दी, पर उसको फाँसी हो गई। टामस मोर ट्रिनिटी कालेज में उसका मित्र था और उसने उसकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। (ओं० ना० उ०)

एम्स १. पश्चिमी जर्मनी में लाहन नदी के तट पर कान्लेंज से ११ मील पूर्व, कासेल तथा बर्लिन रेलवे लाइन पर स्थित एक नगर है। यहाँ चाँदी तथा सीसे की खदानें हैं। एम्स अपने गरम तथा खारे जलस्रोत के लिये प्रसिद्ध है। इस नगर का इतिहास नवीं शताब्दी से प्रारंभ होता है।

२. पश्चिमी जर्मनी की एक नदी है जो टयूटोबर्जेन वाल्ड की दक्षिणी ढाल से ३५८ फुट की ऊँचाई से निकलकर वेस्टफ़ेलिया तथा हैनोवर से होकर डोलार्ट के पूर्वी भाग, एमडन, के ठीक दक्षिण से होकर बहती है। इसमें ४,६०० वर्ग मील क्षेत्र का जल आता है। इसकी मुख्य शाखाएँ आहास, हेसेल तथा लेडा हैं। यह पापेनबर्ग तक छोटे छोटे जहाजों के यातायात योग्य है। इससे अनेक नहरों को जल मिलता है। सन् १८१८ ई० में इसे नहर द्वारा राईन नदी से संयुक्त कर दिया गया तथा डॉर्टमंड एम्स और अन्य नहरों के बन जाने से इसका महत्व और भी बढ़ गया है। (श्या० सुं० श०)

एयर ब्रश एयर ब्रश (Air Brush) अथवा वायुकूचिका एक यंत्र है जो संपीडित वायु से चलता है और चित्र आदि रँगने के काम में आता है। इसे हम वायुतूलिका भी कह सकते हैं। बड़े एयर ब्रश को साधारणतः स्प्रे गन कहते हैं। इसे हम झीसीमार या सीकरयंत्र कह सकते हैं। इससे कपड़ा, फर्नीचर, मोटरकार, भवन, रेल, पुल आदि रँगे जाते हैं। बड़े यंत्रों से सीमेंट मिश्रण भी दीवारों पर लगाया जा सकता है। इन सब यंत्रों का सिद्धांत यही है कि जब संपीडित वायु सँकरी नली से निकलती है तो वह अपने मार्ग में पड़नेवाले द्रव को झीसी या फुहार में बदल देती है और यह झीसी रँगी जानेवाली वस्तु पर जा चिपकती है। द्रव रंग, वार्निश, आदि दो प्रकार से वायुमार्ग में डाले जाते हैं। एक रीति में रंग की कटोरी को वायुनलिका के ऊपर रखकर रंग को वायुमार्ग में टपकने दिया जाता है। दूसरी रीति में कटोरी को नीचे रखा जाता है। इस दशा में दोनों ओर खुली एक नलिका का नीचेवाला सिरा रंग में डूबा
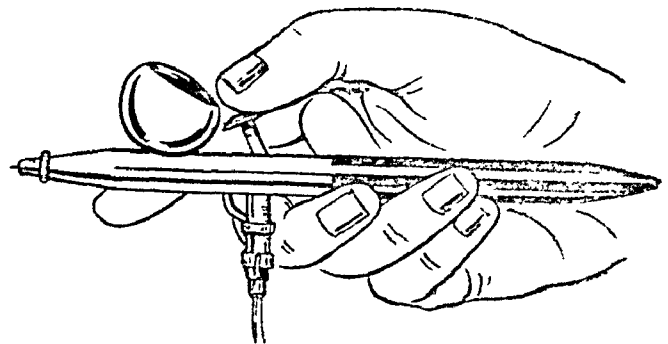
एयर ब्रश

रहता है और दूसरा सिरा वायुमार्ग में पहुँचा रहता है। वायु अपने वेग के कारण इस नलिका द्वारा रंग चूस लेती है। रंग आदि के पतला या गाढ़ा होने के अनुसार वायुकूचिका या झीसीमार पर छोटे बड़े छेद का मुख लगाया जा सकता है।

आरंभ में फोटोग्राफ को सुधारने के लिये छोटी वायुकूचिकाओं का असफल प्रयोग हुआ। इससे बारीक से बारीक रेखाएँ खींची जा सकती हैं और बढ़िया छाया और प्रकाश का काम भी हो सकता है। फुहार की मोटाई एक घुंडी या घोड़े (ट्रिगर) को दबाने से नियंत्रित की जाती है। अब अधिकांश रँगाई का काम फ़ीसी से ही किया जाता है। इससे बहुत समय बचता है और रंग सर्वत्र एक समान चढ़ता है। कई झीसीमार लगे स्वयंचालित यंत्र में एक ओर से बिना रँगा मोटर घुसता है और दूसरी ओर से वही चमचमाता रँगा हुआ निकलता है, और इस क्रिया में एक मिनट से भी कम समय लगता है।
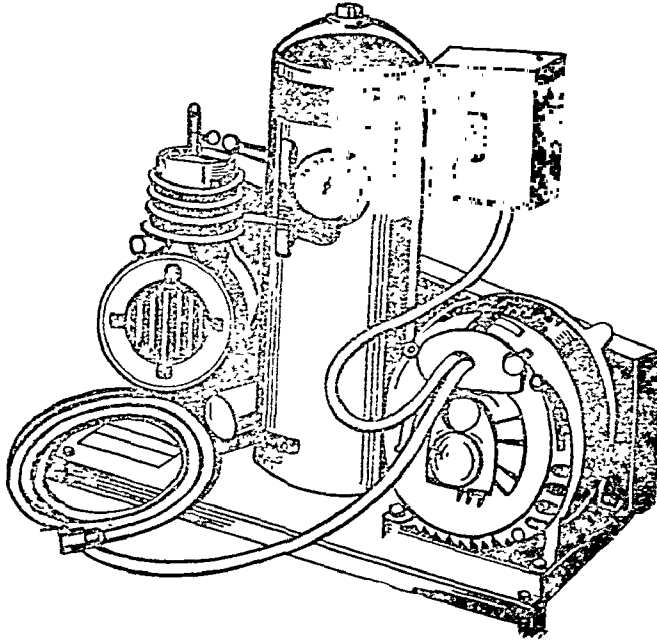
एयर ब्रश के लिये वायुसंपीडक

वायुसंपीडन के लिये साधारण विद्युत् मोटर या इंजन से चलनेवाले संपीडकों का प्रयोग होता है, परंतु छोटे यंत्रों के लिये पदचालित पंपों से काम अच्छी तरह चल जाता है।

एरंड कुल (यूफ़ोर्बिएसी) द्विबीजपत्रक पौधों का एक बड़ा कुल है। इसम प्राय: २२० प्रजाति (जेनेरा) और लगभग ४,००० जातियाँ (स्पीशीज़) है, जो अधिकांश उष्ण प्रदेशों मे होती है, किंतु सामान्यत: उत्तरी ध्रुव प्रदेश को छोड़ संसार के सभी स्थानों मे पाई जाती हैं। इस कुल में जड़ी, बूटी तथा झाड़ियों से लेकर बड़े वृक्ष तक सभी पाए जाते हैं। एरंड कुल के कुछ पौधे, विशेषत: दुग्धी (यूफ़ारबिया) की कुछ उपजातियाँ, शुष्कोद्भिद होती हैं। इनमें पत्तियाँ नहीं होतीं और जब पुष्परहित होती हैं तो देखने मे *नागफणी* (कैक्टस) की तरह प्रतीत होती हैं, परंतु दोनों में यह अंतर होता है कि दुग्धी में सफेद दूध (लैटेक्स) होता है, कैक्टस में नहीं।

इस कुल के फूल एकलिंगी होते हैं तथा दोनों लिंगों के फूल, या तो *एक ही पेड़ पर अथवा अलग अलग पेड़ों पर, नाना प्रकार के पुष्पक्रमों में* लगते हैं। पहली शाखाएँ अधिकतर एकवर्ध्यक्षीय तथा बादवाली बहुवर्ध्यक्षीय होती हैं। पुष्पक्रम भी अधिकतर एकलिंगी फूलों के होते हैं। नर पुष्पक्रम में बहुत से फूल होते हैं, परंतु नारी पुष्पक्रम में एक ही फूल होता है। यूफारबिया के पुष्पक्रम को कटोरिया (साएथियम्) कहते हैं। यह देखने म द्विलिंगी पुष्प मालूम होता है, परंतु वास्तव में यह एक बहुवर्ध्यक्षीय पुष्पक्रम है जिसका अवसान पुष्प नग्न मादा फूल होता है। इनके नीचे चार पांच निपत्र (ब्रैक्ट) होते हैं, जो देखने में बाह्य दल की भाँति प्रतीत होते हैं। प्रत्येक निपत्र के कक्ष में नर फूलों की वाछिक बहुवर्ध्यक्ष शाखा होती है और प्रत्येक नर फूल में केवल एक ही पुंकेसर होता है। नालपरिपुष्प (ऐंथेस्टिमा ए० जुम०) के नर फूल में एक ही पुंकेसर होता है और यह परिदलपुंज (कैलिक्स) युक्त होता है। यूफ़ारबिया के नर पुष्प में एक नग्न पुंकेसर होता है तथा इसके वृंत पर जोड़ होता है।

(भी० शं० वि०)

एरंड

एरंड वृक्ष की पत्तियों सहित एक डाल। इसके फल के बीजों से तेल निकाला जाता है।

एरंड कुल में आर्थिक महत्व के पौधों के वर्ग निम्नलिखित हैं: चुकदारु (बिस्कोफ़िया), पुत्रंजीव, समुद्गदारु (बक्सस), कांपिल्य (मेलोटस), तोयपिप्पली (सेपियम), जयपाल (क्रोटोन), वनैरंड (जैटरोफ़ा), रबर का वृक्ष (हेविया), मलयाक्षोट (एल्युराइटिस) और एरंड (रिसिनस) इत्यादि। पारा रबर (हेविया ब्राज़िलियेंसिस) और सियारा रबर (मनीहोट ग्लेज़ियोवाई) रबर के उत्पादन के लिये, सामान्य एरंड (रिसिनस कम्युनिस) एरंड तेल (रेंड़ी के तेल) के लिये, गिरि मलयाक्षोट (एल्युराइटिस मोनटाना), ए० फ़ोरडाइ तथा सामान्य तोयपिप्पली (सेपियम सेबीफ़रम) क्रमानुसार चीनी टुंगतेल तथा लालामूल तेल (स्टिलिंगिया ऑयल) के उत्पादन के लिये महत्वपूर्ण स्रोत माने जाते हैं।

भारत में पाए जानेवाले इस कुल के आर्थिक महत्व के पौधे निम्नलिखित हैं: लघु दुग्धी अथवा दूधी (यूफ़ोर्बिया थाइमीफ़ोलिया) मैदानों और छोटी पहाड़ियों में सर्वत्र; थोर (पीतनिवेष्ट दुग्धी, यू० रोयलियाना) उत्तरी भारत में १,८०० मीटर की ऊँचाई तक; छतरीवाल (सूर्यदुग्धी, यू० हिलीयोस्कोपिया) पंजाब में; शमशाद-पापड़ी (सामान्य समुद्गदारु, बक्सस सैमपरवाइरैंस) समशीतोष्ण उत्तर-पश्चिमी भारत में; खाजा (सामान्य सुवीरक, ब्राइडेलिया रेटूसा) सर्वत्र; असाना (गिरि सुवीरक, ब्रा० मोनटाना) उत्तर, पूर्वी और मध्य भारत में; गरारी (सामान्य नंदी, क्लाइसटैंथस कॉलिनस) पश्चिमी और मध्य भारत में; पंजोली (कांवोजिनी आमलक, फाइलेंथस रेटिक्यूलेटस) उत्तरी भागों के अतिरिक्त सर्वत्र; आमलकी (सामान्य आमलक, फा० एम्ब्लिका) सर्वत्र; पाटला (पाटली, पांडुफल, फ़्लुएग्गिया विरोसा) सर्वत्र; पुत्रंजीव (पुत्रंजीव रौक्सबरगाई) सर्वत्र; जंगली एरंड (जेट्रोफ़ा ग्लैंड्यूलिफ़ेरा) दक्षिण में जमालगोटा (जे० करकस) सर्वत्र; कैन (सामान्य चुकदारु, बिस्कोफ़िया

जावानिका) उत्तरी और मध्य भारत में; भूटान-कुशा (भूतांकुश, जयपाल, क्रोटोन औब्लोंगीफ़ोलियस) उत्तरी भारत और मध्य भारत में; जायफल (सामान्य जयपाल, ऋं० टिगलियम) बंगाल और आसाम में; टुमरी (सामान्य पिंडार, ट्रेविया न्यूडीफ्लोरा) ऊष्ण प्रदेशों में; कमला (सामान्य कांपिल्य, मेलोटस फ़िलीपिनेनिसिस) सर्वत्र; एरंड (रिसीनस कम्युनिस) सर्वत्र; दंती (बेलियोस्परमम मोनटानम) बिहार, आसाम और मध्यभारत में; तार-चर्बी (सामान्य तोयपिप्पली, सेपियम सेबी-फ़रग) उत्तरी भारत में; तथा टेपिओका (मंडशिफ, मैनिहौट एस्क्युलैंटा) केरल में।

स्निग्ध दुद्धी (यूफ़ोर्बिआ स्प्लेंडेंस) की डाल, पत्ते, काँटे तथा फूल।

इसमें सुंदर लाल फूल लगते हैं। सजावट के लिये यह पौधा गमलों में लगाया जाता है।

देहरादून स्थित वन अनुसंधानशाला और राष्ट्रीय रसायनशाला, पूना, के अनु-संधानकर्ताओं ने कमला पेड़ के बीजों में से विशिष्ट रीति से तेल निकालकर तथा रंगलेप उद्योग में उसकी आर्थिक उपयोगिता सिद्ध करके उसका भविष्य उज्वल कर दिया है (सद्गोपाल, "इज टुंग ऑयल सो नेसेसरी ?", पेंट इंडिया, बंबई, वर्ष २, सं० ५ अगस्त, १९५२, पृ० ६-१४, ४४-४५)। इसी प्रकार सद्गोपाल और नारंग ने तार-चर्बी और शमशाद-पापड़ी के बीजतेलों का भी आर्थिक महत्व रंगलेप उद्योग में दर्शाया है (इंडियन स्टिलिंगिया ऑयल ऐंड टैलो, जर्नल ऑव दि अमरीकन ऑयल केमिस्ट्स सोसायटी, वर्ष ३५, फरवरी, १९५८, पृ० ६८-७१; (ए न्यू ड्राइंग ऑयल फ़्रॉम द सीड्स ऑव बक्सस सैमपरवाइरैंस, लिन्न०, सोप पर्फ़्यूम्स ऐंड कॉस्मेटिक्स, भाग ३१, अंक ९, सितंबर १९५८, ८५६-५९)। लकड़ी और पत्थर के कोयलों के चूरे और

छोटे टुकड़ों को पुन: जमाकर जलाने लायक ईंधन की टिकिया बनाने में भी कमला के बीजों की उपादेयता महत्वपूर्ण है (सद्गोपाल और डोभाल, "कमला सीड्स फ़ॉर ब्रिकेटिंग ऑव चारकोल, कोलडस्ट्स ऐंड वेस्टस्," पेंट इंडिया, वर्ष ७, अं० ३, पृ० २९-३१)। अतएव स्पष्ट है कि एरंड कुल के पौधे भारत की आर्थिक उन्नति में सहायक हो सकेंगे।

सं०ग्रं०—आर० एस० ट्रूप : सिल्विकल्चर ऑव इंडियन ट्रीज, भाग ३, ऑक्सफ़ोर्ड, १९२१, पृ० ८१९; के० आर० कीर्तिकर और बी० डी० बसु : इंडियन मेडिसिनल प्लांट्स, प्रयाग, भाग ३, पृ० २१९०; रॉबर्ट व० शेरी : प्लांट्स फ़ॉर मैन, लंदन, १९५४, १८५-९५। (स०)

एरफ़ूर्ट पूर्वी जर्मनी के सैक्सनी राज्य का एक प्राचीन नगर है। यह गेरा नदी के किनारे वाइमार से पश्चिम में लगभग १३ मील दूर थ्यूरिंजिया बेसिन के हृदयस्थल में स्थित है। जनश्रुति के अनुसार एर्पस नामक व्यक्ति ने छठी शताब्दी में इसका शिलान्यास किया था। इसी कारण यह मध्यकाल में एर्पसफ़ूर्ट तथा एरफ़ोर्द के नाम से प्रख्यात था। जो भी हो, १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में यह उन्नतिशील व्यापारिक तथा औद्योगिक केंद्र था। सन् १३७८ ई० में यहाँ एक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी जिसके फलस्वरूप एरफ़ूर्ट जर्मनी का सबसे प्रसिद्ध नगर बन गया, परंतु सन् १८१६ ई० में इस विश्वविद्यालय का विघटन कर दिया गया जिससे नगर की प्रतिष्ठा को बड़ी ठेस लगी। हाल में यहाँ व्यापार तथा उद्योग की उन्नति हुई है। आजकल एरफ़ूर्ट अपने फूलों के पौधों तथा बीजों के लिये विश्वविख्यात है। यहाँ पॉटर्सबर्ग तथा सरिया-ससबर्ग नामक दो ऐतिहासिक दुर्ग हैं। यहाँ का बड़ा गिरजाघर (कैथीड्रल) मध्यकालीन इतिहास की चिरस्मृति के रूप में आज भी वर्तमान है। इसकी जनसंख्या सन् १९६९ में १२,५५,८२२ थी। (ले० रा० सिं०)

एरासिस्ट्राटस ग्रीक शारीरविज्ञ तथा चिकित्सक थे। इनका काल ३०० वर्ष ई० पू० तथा जन्मस्थान कीऑस नामक द्वीप कहा जाता है। कुछ दिन राज्यसेवा करने के पश्चात् ये सिकंदरिया (अलेक्ज़ैंड्रिया) में बस गए और यहाँ इन्होंने शारीर विज्ञान संबंधी अपना शिष्यसमुदाय स्थापित किया।

इन्होंने इस बात का पता लगाया कि प्रमुख तंत्रिकाओं का उद्गम मस्तिष्क से होता है। संवेदक और प्रेरक तंत्रिकाओं के विभेद का भी इन्हें ज्ञान था। त्रिदोष पर अवलंबित रोग-निदान-शास्त्र इनको स्वीकार नहीं था। इनका मत था कि धमनियों में एक प्रकार की जीवनी शक्ति रहती है, जिसके कार्य में व्याघात पड़ने पर रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

एरासिस्ट्राटस को मस्तिष्क की वल्लिकाओं का विस्तृत ज्ञान था। पित्त, प्लीहा तथा यकृत संबंधी खोज, हृदय की रचना का ज्ञान, श्वास-प्रणाली का नामकरण तथा मूत्र-निष्कासन-सलाई के आविष्कार का श्रेय इन्हें दिया जाता है। (भ० दा० व०)

एरिजेना, जोनेस स्काट्स (८१५-८७१) एक मध्यकालीन दार्श-निक एवं ईश्वरवादी जो 'जान द स्काट' के नाम से भी प्रसिद्ध है। उसकी जीवन संबंधी घटनाएँ अधिकांशत: अंधकार में हैं।

पूर्वकालीन अफलातूनी दर्शन से नवीन विवेकवाद की ओर विचारों के संक्रमण में एरिजेना का स्थान महत्वपूर्ण है। वह आरिजेन, बेसिल, ओगस्तीन, मेक्सिमस आदि के विचारों का उपयोग कर पूर्व मध्यकालीन चिंतन का समन्वय उपस्थित करता है। वह विश्वदेववादी (पैंथेइस्ट) था। उसके लिये धर्म की मान्यताएँ पूर्ण नहीं, विवेक ही मानदंड के रूप में अभीष्ट है : ईश्वर एवं प्रकृति स्व-स्व-रूप को विश्व के बौद्धिक क्रम में उपस्थित करती हैं, मानव सहित समस्त वस्तुएँ इसी बौद्धिक क्रम के अंग हैं, धर्म या दैवी अनुभूति इस सर्वोत्तम बौद्धिक जीवन के ही पहलू हैं।

एरिजेना कठोर नियतिवाद का विरोधी था; स्वयं ईश्वर कालावधि से स्वतंत्र है, अत: उसके अनुसार भाग्यवाद को उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है जहाँ तक ईश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छा से प्राणियों के क्रियाकलापों को स्वीकार करता है। एक अन्य स्थान पर एरिजेना लिखता है कि सृष्टि समस्त वस्तुओं के संग्रह का नाम है जिसके अंतर्गत 'अस्तित्व' एवं 'अनस्तित्व' दोनों समाहित हैं : (१) निर्माता किंतु अनिर्मित, (२) निर्मित, किंतु निर्माता नहीं, (३) निर्माता व निर्मित दोनों ही (४) न निर्माता, न निर्मित। इसमें प्रथम ईश्वर व द्वितीय-तृतीय समस्त सृष्टि है। चतुर्थ कोटि 'अनस्तित्व' की है। ईश्वर सृष्टिकर्ता एवं विचारों का अनंत स्रोत है, किंतु स्वयं निर्मित नहीं। अफलातून के "आइडियाज" की तरह परस्पर क्रमबद्ध विचार ईश्वर द्वारा निर्मित और स्वयं निर्माता है। 'अच्छाई' सर्वोत्तम विचार है, वस्तुओं का अस्तित्व इसी से है। स्वयं ईश्वर 'शुभ' है। ईश्वर मूलत: त्रि-स्वरूप है : मूल द्रव्य के रूप में पिता, विवेक के रूप में पुत्र और जीवन के रूप में आत्मा। बुराइयों का स्रोत मानव की इच्छाएँ हैं जो उन्हें भ्रमवश 'शुभ' समझ लेता है।

सं०ग्रं०—जे० एन० हूवर : स्कोतस एरिजेना; ए० गार्डनर : स्टडीज़ इन जान द स्काट; एच० बेट : जान स्काट एरिगे। (श्री० स०)

एरिथ्र तुर्की के प्राचीन आयोनियन (Ionian) नगरों में से एक है। यह नगर एरिथ्र की खाड़ी में एक छोटे से प्रायद्वीप पर स्थित है। यह मीमास तथा कोरिकस पर्वतों से समान दूरी पर, किआस द्वीप के ठीक सामने बसा हुआ है। इस प्रायद्वीप में अति उत्तम स्तर की मदिरा बनाई जाती है। कहा जाता है कि इस नगर की स्थापना कोडरस के पुत्र नोपोस (Knopos) की अधीनता में आयोनियनों द्वारा की गई थी। काफी समय तक एरिथ्र वासियों ने ग्रीस के एथेंस नगरराज्य को अपने अधीन रखा, किंतु पेलोपोनेशियन युद्ध में उनसे हार गए। नगर के खँड-हरों में अभी तक ग्रीक ढंग की बुर्जोंवाली दीवारें देखने योग्य हैं। इनमें से पाँच बुर्ज अभी तक बने हुए हैं। अक्रोपोलिस, २८० फुट की ऊँचाई

पर बने दुर्ग की पहाड़ी की उत्तरी ढाल पर एक मंच बना हुआ है, तथा पूर्व की ओर बहुत से बीजांतीनी (रोमन) भवनों के खँडहर पड़े हैं। (श्या० सुं० श०)

एरेख, उरूक (सुमेरी), ओर्खोई (ग्रीक)—प्राचीन सुमेर का नगर, आधुनिक वर्का। फरात के पच्छिमी तीर कभी बसा था जिसके निकट से नदी की धारा कई मील पूरब हट गई है। संभवतः इसी उरूक अथवा एरेख से मेसोपोतामिया का नया नाम दजला फरात के द्वाब में इराक या अल्-इराक पड़ा। यह प्राचीन नगर ऊर, कीश, निप्पुर आदि उन प्राचीन नगरों का समकालीन था जो दक्षिणी बाबिलोनिया अथवा प्राचीन सुमेर की भूमि पर सागर के चढ़ आने से जलप्रलय के शिकार हुए थे। डा० लोफ़्टर ने १८५० और १८५४ में एरेख के पुराने टीलों को खोदकर उसकी प्राचीनता के प्रमाण प्रस्तुत कर दिए। नगर का परकोटा प्रायः छह मील का था जिसके भीतर लगभग १,१०० एकड़ भूमि पर नगर बसा था। आज भी वहाँ अनेकानेक 'तेल' अथवा टीले प्राचीन सभ्यता की समाधि अपने अंतर में दबाए पड़े हैं। संभवतः ई-अन्ना इस नगर का प्राचीनतर नाम था जो इसी के मंदिर से संबंध रखता था। नगर का ज़िग्गुरत अपने आधार में दो सौ फुट वर्गाकार है जो प्राचीन काल में ही टूट चुका था। नगर प्राक्-शर्रुकिन (सार्गोन) राजाओं की राजधानी था और उनसे भी पहले वहाँ पुरोहित राजा (पतेसी) राज करते थे। ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी में दक्षिणी ईरान के इलामी आक्रमणों का उत्तर एरेख के निवासियों ने इतनी घनी देशभक्ति से दिया था कि आक्रामकों को निराश लौटना पड़ा था। समीप के ही नगर लारसा में, उसकी राष्ट्रीयता की शक्ति तोड़, इलामियों ने वहीं डेरा डाला। एरेख की सत्ता को सीमित रखने का वहीं से उन्होंने चिरकालीन प्रयत्न किया।

एरेख का उल्लेख ईरानी अभिलेखों में भी मिलता है जिससे प्रकट है कि बाबुल की ही भाँति यह नगर भी सर्वथा विनष्ट नहीं हुआ और खल्दी राजकुलों के विनष्ट हो जाने के बाद तक बना रहा। अभी हाल की खुदाइयों में वहाँ से ७० ई० पू० के अनेक अभिलेख मिले हैं। (भ० श० उ०)

एर्ट्सगेबिर्ग, एर्जगेबिर्ग यह जर्मनी में सैक्सनी तथा चेकोस्लावाकिया में बोहीमिया के बीच में प्रायः १०० मील लंबी तथा २५ मील चौड़ी पर्वतश्रेणी है। इसकी औसत ऊँचाई २,५०० फु० तथा अधिकतम ऊँचाई ४,०६० फु० (कीलबर्ग शिखर) है। यहाँ शीतकाल में खूब बर्फ गिरती है; परंतु ग्रीष्मकाल अत्यंत सुरम्य होता है। अतः किप्सडॉर्फ़, बेरेनफ़ेल्स तथा ओबरवी सेंथाल जैसे सुंदर भ्रमणकेंद्रों ने इसे चार चाँद लगा दिए हैं। बोहीमिया का सर्वोच्च नगर गोटेसगाब इसी श्रेणी पर कीलबर्ग तथा फ़िचेलबर्ग के बीच ३,३०० फु० की ऊँचाई पर अवस्थित है। इसकी भूगर्भिक संरचना में नाइस, अभ्रक तथा फ़ाइलाइट की विशेषता है। एर्ट्सगेबिर्ग ('धातुओं का पर्वत') के नाम के अनुसार ही इसमें चाँदी सीसा, ताँबा, टीन, कोबल्ट निकल तथा कच्चे लोहे के भांडार मिलते हैं। आजकल यहाँ रूसी लोग यूरेनियम के लिये खुदाई कर रहे हैं। (ले० रा० सिं०)

ऐर्नाकुलम नवीन केरल राज्य में एर्नाकुलम जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति ९° ५९′ उ० अ० एवं ७६° १७′ पू० दे०)। पहले यहाँ कोचीन राज्य की राजधानी थी और यह त्रिचूर जिले का भाग था। यह कोचीन से दो मील पूर्व पृष्ठानुवर्ती पश्चजल (बैक वाटर) पर स्थित है। यह कोचीन रेलवे का, जो पालघाट होकर आती है, अंतिम स्टेशन (टर्मिनस) भी है। यहाँ की जनसंख्या १९०१ ई० में केवल २१,९०१ थी, किंतु १९५१ ई० में बढ़कर ६२,२८३ हो गई। १९६१ ई० में यहाँ की जनसंख्या १,१७,२५३ थी। यहाँ के लगभग ४० प्रतिशत निवासी उद्योग एवं व्यापार से, ४० प्रतिशत अन्य सेवाओं एवं विविध साधनों से और शेष खेती आदि से जीविकोपार्जन करते हैं। इस नगर का व्यापार मुख्यतया कोंकण जाति एवं यहूदियों के हाथ में है। यह नगर तीव्र गति से प्रगति कर रहा है। यहाँ सरकारी प्रेस एवं महाराजा कालेज, ला कालेज आदि शिक्षा के केंद्र हैं। (का० ना० सिं०)

एर्मीट चार्ल्ज (Hermite Charles) (१८२२–१९०१ ई०), फ्रांसीसी गणितज्ञ, का जन्म २४ दिसंबर, १८२२ ई० को लौरेन में हुआ था। इन्होंने प्रचलित पाठ्यक्रम की उपेक्षा करके आयलर, लाग्रांज, गाउस और याकोबी आदि गणितज्ञों की रचनाओं का अध्ययन किया। ये एकोला-पॉलिटेकनिक में (१८६८–१८७६ ई०) और फिर सौरबोन में (१८७६–१८९७ ई०) गणित के प्रोफेसर रहे। संख्याओं के सिद्धांत, अपरिणम्य एवं अनुपरिणम्य, सीमित अनुकूल, समीकरणों के सिद्धांत, दीर्घवृत्तीय फलनों और फलनों के सिद्धांत पर इन्होंने शोधें कीं। एर्मीट ने द्वितीय प्रकार के भ्रामिक आवर्त फलनों का भी आविष्कार किया और याकोबी की q-चलराशि के स्थान पर समीकरण $q = e^{i\pi\omega}$ से संबंधित एक नवीन चलराशि ω की स्थानापत्ति करके $\phi(\omega)$, $\psi(\omega)$ और $\chi(\omega)$ फलनों का अध्ययन किया। १४ जनवरी, १९०१ ई० को इनका देहांत हो गया। (रा० कु०)

एर्लिक, पॉल (Ehrlich, Paul; १८५४-१९१५) जर्मन जीवाणु-वैज्ञानिक का जन्म जर्मनी राज्य के साइलेशिया प्रांत में सन् १८५४ ई० के मार्च में हुआ। ये जाति के यहूदी थे। इन्होंने आरंभिक शिक्षा ब्रेसलॉ नामक नगर के जिमनेशियम में पाई। पुस्तकों के पठन पाठन में इनकी विशेष रुचि न थी। तदनंतर कई मेडिकल स्कूलों में चिकित्साशास्त्र के अध्ययन के हेतु गए। इनके विषय में ब्रेसलॉ, स्ट्रासबुर्ग फ़्रीइबुर्ग तथा लाइप्ज़िक के मेडिकल स्कूलों के अध्यापक कहा करते थे कि यह साधारण छात्र नहीं हैं। इनकी विशेष रुचि विभिन्न प्रकार के रंग बनाने तथा उनसे वस्तुओं को रँगने में थी। इन्होंने रॉबर्ट कॉख को, जो आयु तथा अनुभव में इनसे दस वर्ष बड़े थे, क्षयरोग के दंडाणुओं (बी० टुबरकुलोसिस) को रँगने की विशेष विधि बताई तथा सूक्ष्म जीवाणुओं का अध्ययन करने के लिये स्वयं अपने शरीर में क्षय दंडाणुओं को प्रविष्ट कर लिया और १८८६ ई० में क्षयरोग से आक्रांत हो गए। उस समय इनकी अवस्था केवल ३२ वर्ष की थी।

सन् १८८८ ई० में ये मिस्र देश (ईजिप्ट) से विशूचिका विषयक अनुसंधान करके लौटे तथा बर्लिन में "रॉबर्ट कॉख इंस्टीट्यूट" में रहकर कार्य करने लगे।

सन् १८९६ ई० में बर्लिन के निकट स्टेगलित्स नामक नगर में अपनी प्रयोगशाला स्थापित की, जिसका नाम "लसी-परीक्षण राजकीय प्रशियन संस्था" था, और उसके अध्यक्ष तथा निर्देशक हो गए। १८९९ ई० में फ़्रांकफ़ुर्ट आन माइन में निवास करने के लिये आ बसे। यहाँ रहकर ये प्रतिरक्षा (इम्यूनिटी) पर अनुसंधान करते रहे।

१९०२ ई० में जापानी अन्वेपक डॉक्टर शिगा द्वारा आविष्कृत फिरंग चक्राणु (टी० पैलिडा) पर अपनी प्रतिरक्षक औषधों का प्रभाव देखने के लिये प्रयोग करने लगे। १९०६ ई० में इन्होंने एटोक्सिल नामक औषध में कुछ रासायनिक परिवर्तन कर उसका प्रयोग फिरंग चक्राणुओं पर किया तथा उनके विनाश में सफलता प्राप्त की। इस नई आविष्कृत औषध का नाम इन्होंने "६०६" रखा। १९०८ ई० में इन्हें इल्या मैक्मिकोव के साथ संयुक्त रूप से नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

३१ अगस्त, सन् १९०९ ई० को इन्होंने ६०६ नामक औषध का प्रयोग फिरंग रोग (सिफ़लिस, उपदंश) से ग्रस्त खरहों पर किया और अपूर्व सफलता प्राप्त की। सन् १९१० ई० में इन्होंने अपनी ६०६ का प्रयोग फिरंग ग्रस्त मनुष्य पर किया तथा सफलता पाई। इस औषध का नाम पीछे साल्वार्सन पड़ा, जो आगे चलकर "बेयर २०५" के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस औषध ने सहस्रों फिरंग ग्रस्त रोगियों को रोगमुक्त कर नवजीवन प्रदान किया। इनकी मृत्यु सन् १९१५ ई० में हुई।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० बुलॉख : द हिस्ट्री ऑव बैक्टीरिऑलोजी (ऑक्सफ़र्ड, १९३८)। (शि० ना० ख०)

एर्स्कीन, टामस (१७५०–१८२३), लार्ड बुकन के पुत्र, एडिनबरा में जन्म। पहले बैरिस्टरी फिर राजनीति। १७८३ में कोलिशन

(मिश्रित) मंत्रिमंडल बनने पर वे पार्लमेंट के सदस्य निर्वाचित हुए। उनके वकालती भाषण अनुपम माने जाते हैं। उन्होंने 'मनुष्य के अधिकार' (द राइट ऑव मैन) के लेखक पेन की वकालत कर पार्लमेंट में अनेक शत्रु बनाए और उनका एटर्नी जेनरल का पद उनसे छीन लिया गया। उन्होंने अनेक प्रसिद्ध जनवर्गीय नेताओं के मुकदमों में उनकी ओर से बहस कर बड़ा नाम कमाया। उनमें साहस और निर्भीकता बड़ी थी और सरकार को रुष्ट करके भी उन्होंने जनता का कार्य साधने का कठिन प्रयत्न किया। कुछ काल के लिये लार्ड चांस्लर भी नियुक्त हुए थे। (भ० श० उ०)

एल ओबेद (अल ओबेद) सूडान के कोर्दोफान प्रांत का मुख्य नगर है। यह खार्तूम से २३० मी० दक्षिण-पश्चिम, १३° १६' उ० अ० तथा २९° ४८' पू० दे० पर समुद्र की सतह से १,८६५ फु० की ऊँचाई पर तथा प्रांत के मध्य में सूडान रेलवे के अंतिम छोर पर स्थित है। यहाँ की अनुमानित जनसंख्या सन् १९६४ ई० में ६०,००० थी। यह नगर व्यापारिक केंद्र भी है तथा यहाँ के व्यापार की मुख्य वस्तुएँ गोंद, पशु और भेड़ें हैं। यहाँ का अधिकांश व्यापार दारफुर से होता है।

सन् १८२१ ई० में कोर्दोफान की विजय के बाद यह नगर मिस्रवालों का सैनिक केंद्र हो गया था, परंतु सन् १८८२ ई० में विद्रोही मोहम्मद अहमद द्वारा अधिकृत कर लिया गया। महदिया के समय में यह नगर नष्ट भ्रष्ट तथा वीरान कर दिया गया था, परंतु सन् १८९९ ई० में पुन: नया नगर बसाया गया। (श्या० सुं० श०)

एलगिन, लार्ड विक्टर अलेक्जेंडर ब्रूस (१८४९-१९१७) एलगिन के नौवें तथा किनकारडाइन के १३वें अर्ल। मौंट्रियल नामक नगर में सन् १८४९ ई० में इनका जन्म हुआ। इनके पिता लार्ड एलगिन जेम्स ब्रूस एलगिन के आठवें तथा किनकारडाइन के १२वें अर्ल थे और १८६१ ई० में भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए थे। लेकिन एक वर्ष बाद ही पंजाब में धर्मशाला नामक स्थान पर उनका देहांत हो गया था।

लार्ड विक्टर अलेक्जैंडर ब्रूस एलगिन ने ईटन तथा बैलियल कालेज, आक्सफर्ड में शिक्षा प्राप्त की और इंग्लैंड की लिबरल पार्टी के सदस्य होकर राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने लगे। १८९३ ई० में ये भारत के वायसराय बनाए गए और १८९८ ई० तक इस पद पर रहे। इनमें कोई महान् व्यक्तिगत गुण अथवा प्रतिभा न थी। अतः अपने शासनकाल के दौरान भारत में ये कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर पाए। १९०५ से १९०८ ई० तक ये इंग्लैंड में औपनिवेशिक मामलों के सचिव रहे। १९१७ ई० में इनका निधन हो गया। (कै० चं० श०)

एलडन, जान स्काट अर्ल एलडन १७५१ में न्यूकासल में पैदा हुए। उनके पिता वहाँ कोयले का व्यापार किया करते थे। इसमें उन्होंने अधिक धन पैदा किया। जान स्काट की आरंभिक शिक्षा न्यूकासल ग्रामर स्कूल में हुई। तत्पश्चात् यूनिवर्सिटी कालेज, आक्सफर्ड में दाखिल हो गए, जहाँ उन्हें एक अंग्रेजी लेख पर पुरस्कार भी मिला। १७७६ में उन्होंने बैरिस्ट्री पास की और लंदन में वकालत करने लगे। १७८२ तक वह सफल बैरिस्टर हो गए थे और उनके पास अधिक संख्या में मुकदमे आने लगे थे। इसी वर्ष पार्लमेंट के ये मेंबर भी बने और पिट के सहायक हो गए। पार्लमेंट में उन्होंने पहली बार फाक्स के इंडिया बिल का विरोध किया, जिसका शेरीडन ने बहुत मजाक उड़ाया। १७८८ में उनको सालिसिटर जेनरल का पद दिया गया और साथ ही 'सर' की उपाधि भी मिली। १७८९ में उन्होंने रीजेंसी बिल तैयार करने में सहायता दी। १७९३ में एटर्नी जेनरल बना दिए गए और उनकी सारी शक्ति फ्रांसीसी राज्यक्रांति के सहायकों पर मुकदमा चलाने में लगने लगी। १७९९ में वह चीफ जस्टिस नियुक्त हुए और उनको बैरन एलटन की उपाधि मिली। इसी वर्ष वह आर्लिंग्टन के मंत्रिमंडल में लार्ड चांस्लर हुए और पिट के काल में भी इसी पद पर रहे। ये २० वर्षों तक कैबिनेट के मेंबर रहे। १८२१ में उनको अर्ल की उपाधि मिली। १८३७ में जब कैनिंग ने मंत्रिमंडल बनाया तब उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। उनका विचार था कि वे वेलिंग्टन के मंत्रिमंडल में फिर से ले लिए जायँगे, जो नहीं हो सका। इसका उन्हें बड़ा शोक रहा।

उनको अपनी पत्नी से बड़ा प्रेम था। एलडन का देहांत १३ जून, १८३८ को लंदन में हुआ। वे अपने विचारों में नरम दल के थे और प्रगतिशील विचारों का विरोध करते थे। उनकी चांस्लरी के काल में कागजात अधिक समय तक दबे रहते और ये उनपर अपनी कोई अनुमति न देते। (मु० अ० अं०)

एलडोरेडो अमरीका के स्पेनिश विजेताओं की कल्पना में इस नगर की स्थिति थी। वे सोने के बड़े ही लालची थे। उनसे पिंड छुड़ाने के विचार से मध्य अमरीका के आदिवासी लोग उन्हें इस काल्पनिक नगर का खूब बढ़ा चढ़ाकर वृत्तांत देते थे और बराबर कहते थे कि वह स्वर्णपुरी है। स्पेन के लोग भी मेक्सिको और पेरू की संपत्ति से और भी अधिक की कामना करते थे। सन् १५४०-४१ ई० में ओरेलाना नामक मनुष्य की इसे खोज निकालने की विकट यात्रा के उपरांत इसकी स्थिति ओरिनिको नदी के उद्गम के पास बताई जाने लगी। इसकी खोज मे कितने ही बहादुर व्यक्ति स्वयं खो गए और कितनी ही सेना की टुकड़ियाँ छिन्न भिन्न और पस्त होकर लौटी। बाद में मानाओ नगर को एलडोरेडो मानकर कई प्रकार की कविकल्पनाएँ होने लगी। यह कथा भी चल गई कि वहाँ का राजा नित्य शरीर पर स्वर्णधूलि का लेप करता था और प्रतिवर्ष पवित्र सरोवर में निमज्जन कर शरीर पोंछता था। सर वाल्टर रैले ने भी इसे खोज निकालने की व्यर्थ चेष्टा की थी। आजकल संयुक्त राज्य अमरीका में इस नाम के निम्नलिखित तीन शहर हैं : (१) दक्षिणी आरकैंसास, (२) इलिनॉय, (३) दक्षिणी पूर्वी कनजैस राज्य में। (श्या० सुं० श०)

एलपासो संयुक्त राज्य अमरीका में टेक्सास राज्य के पश्चिमोत्तर किनारे पर रीओ ग्रांड नदी के कूल पर स्थित एक नगर है। यह नगर मेक्सिको की सीमा पर स्थित सबसे बड़ा नगर तथा एलपासो प्रदेश का केंद्र है। यहाँ से होकर ८०, ५४, ६२, ६० तथा २९० संख्यक संघीय राजमार्ग जाते है। यह नगर समुद्र की सतह से ३,७६२ फु० की ऊँचाई पर फ्रैंकलिन पर्वत की तलहटी मे स्थित है एवं १३ वर्गमील में फैला हुआ है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९६० ई० में २,७६,६८७ थी, जिसमें बहुसंख्यक मेक्सिकी थे।

अनुकूल जलवायु, पशु, ताँबा, तथा रूई नगर के जीवनाधार हैं। यहाँ का मुख्य उद्योगधधा ताँबा तथा राँगा पिघलाना है, जो मेक्सिको तथा ऐरिजोना राज्य से उपलब्ध होते हैं।

काबेजा डी बाका प्रथम यूरोपीय था जिसने इस नगर में सन् १५३६ ई० मे प्रवेश किया। (श्या० सुं० श०)

एलबफ़ उत्तरी फ्रांस का एक नगर है। यह रूआँ नगर से १४ मील दक्षिण-पश्चिम मे सेन नदी के बाएँ किनारे पर बसा एक साफ सुथरा नगर तथा व्यापारिक केंद्र है। यहाँ चौड़ी सड़कें, हवादार सुंदर मकान और कारखाने हैं। इसके आसपास छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं जिनके ऊपर एलबफ़ का जंगल फैला है। इस नगर में ऊनी वस्त्र बनता है तथा एक वस्त्र-निर्माण-प्रशिक्षणालय भी है। सन् १९४४ ई० में युद्ध के कारण १५वीं और १७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध सेंट एटीने और सेंट जॉन के गिरजाघर बुरी तरह ध्वस्त हो गए। (श्या० सुं० श०)

एलवुड संयुक्त राज्य अमरीका के इंडियाना राज्य में मेडिसन प्रदेश मे स्थित एक नगर है। यह समुद्र की सतह से ८६२ फु० की ऊँचाई पर तथा इंडियानापोलिस से ४२ मी० उत्तर-पूर्व स्थित है। जनसंख्या सन् १९५० ई० में ११,३६२ थी। इस क्षेत्र में तरकारी की खेती होती है और यह अपने टमाटरों के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ से होकर निकेल प्लेट तथा पेनसिलवानिया रेलें जाती हैं। यहाँ एक जहाजी केंद्र भी है जहाँ से पशु तथा अनाज बाहर भेजे जाते हैं। यहाँ सामान रखने के डिब्बे

बनाने का एक बहुत बड़ा कारखाना तथा घरेलू उपयोग की वस्तुएँ बनाने के भी कई कारखाने हैं। यह नगर सन् १८५२ ई० में बसाया गया था तथा सन् १८६६ ई० तक यह 'क्विसी' नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ प्राकृतिक गैस मिल जाने के कारण इस नगर की जनसंख्या काफी बढ़ गई है।
(श्या० सुं० श०)

एलाम ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी में जब भारत में सिंधु सभ्यता, मिस्र में नील नदी की सभ्यता और इराक में सुमेर तथा बाबुल की सभ्यता अपना विकास कर रही थी तभी एलाम की सभ्यता भी ईरान के पश्चिमी दक्षिणी भाग में अपने सांस्कृतिक ऐश्वर्य के डग भर रही थी। उस प्राचीन समृद्ध राज्य का विनाश दजला नदी की उपरली घाटी में बसनेवाले असुरों के सम्राट् असुरबनिपाल ने सातवीं सदी ई० पू० में किया। एलाम फारस की खाड़ी के किनारे बाबुल के पूर्व में अवस्थित था, ईरान के प्रायः उस भाग में जिसे आज खुर्दिस्तान कहते हैं। प्राचीन ग्रीक भूगोलवेत्ता उसे सूसिआना कहते हैं जो नाम उसकी राजधानी सूसा अथवा शूषा पर आधृत था। बाइबिल की पुरानी पोथी में राजधानी और राज्य दोनों का उल्लेख हुआ है।

एलाम में प्राचीन काल में विभिन्न जातियाँ बसी थीं जो मिश्रित बोलियाँ बोलती थीं। उसके पश्चिमी भाग में निश्चय शेमी जातियों का निवास था, जैसे पूर्व में अमारदिआई जातियों का था जो ईरानियों के बाजू पर बसी थीं। कीलाक्षरोंवाली सुमेरी लिपि के अभिलेखों में जिन कस्सियों का वृत्तांत मिलता है, वे भी कभी वहाँ बसे थे और तब वह प्रदेश उनके संपर्क से इतना प्रभावित था कि ई० पू० पाँचवीं सदी के ग्रीक इतिहासकार हेरोदोतस ने उस प्रदेश का किस्सिया नाम से ही उल्लेख किया। सुमेरी पाठों में उस स्थान का नाम 'नुम्मा' मिलता है जिसका शेमी रूपांतर 'एलाम्तू' अथवा 'एलामू' है। एलाम का अर्थ है ऊँची भूमि। राजधानी शूषा कुरान और केरखा नदियों के संगम के निकट बसी थी जहाँ आज भी उसके खँडहर हैं और जहाँ पुराविदों ने उसके प्राचीन टीलों को खोदकर इतिहास की प्रभूत सामग्री प्राप्त की है। मोरगाँ की खुदाइयों से पता चलता है कि एलाम में एलाम की सभ्यता की नींव नव-प्रस्तर-युग में ही पड़ गई थी और ३८०० ई० पू० के लगभग जब अक्काद के राजा सारगोन ने एलाम को जीता तब से पहले ही शूपा नगर अपनी प्राचीरों के पीछे खड़ा हो चुका था। उसके बाद उस नगर पर बाबुल का आधिपत्य हुआ और वहाँ बाबुली शासक रहने लगा। ई० पू० २३वीं सदी के आरंभ में एलाम फिर स्वतंत्र हो गया और २२८८ ई० पू० के लगभग एलामी राजा कुतुर-नखुंते ने बाबुल पर चढ़ाई कर उसके नगर एरेख से उसकी देवी 'नाना' की मूर्ति छीन ली। १३३० ई० पू० में बाबुल के कस्सी राजा ने एलाम पर फिर अधिकार कर लिया पर प्रायः सौ साल बाद ही सुत्रुक-नखुंते ने समूचे बाबुली जनपद को रौंद डाला और नराम-सिन का स्तंभ तथा हम्मुराबी के प्रसिद्ध विधान की शिला सिप्पर से उठा लाया। ८वीं सदी ई० पू० में असूरिया के असुर सम्राटों और एलाम के राजाओं के बीच भयानक संघर्ष छिड़ गया जिसमें असुर विजयी हुए। ७०४ ई० पू० में एलाम और बाबुल के राजाओं ने मिलकर असुरों का सामना किया परंतु उन्हें मुँह की खानी पड़ी और एलाम के राजा को अपनी गद्दी छोड़ देनी पड़ी; किंतु १० ही वर्ष बाद एलाम के राजा खालुसू ने बाबुल का पराभव कर उसके सिंहासन पर अपने प्रियपात्र को बिठाया। उसके उत्तराधिकारी को परास्त कर बाबुल के सेनाख़ेरिब ने एलाम के ३४ नगर नष्ट कर दिए और उसके राजा को नगर छोड़ भागना पड़ा।

७वीं सदी ई० पू० में सम्राट् असुरबनिपाल ने एलामी सेना को परास्त कर उसके राजा को मार डाला और अपने प्रियपात्र को वहाँ की गद्दी दे दी। बाद की लड़ाइयों में एलाम की शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई और उसपर असुरों का जुआ जम गया। असुरों की शक्ति नष्ट हो जाने पर एलाम का राज्य ईरानी आर्यों के अधिकार में आया। जिन मीदियों ने अपनी सेनाओं द्वारा असुर और बाबुल की विजय की उन्होंने ही एलाम को भी अपने साम्राज्य की बढ़ती हुई सीमाओं में घेर लिया। सम्राट् कुरुप का आधिपत्य उसपर हुआ और शूषा उसकी दक्षिणी राजधानी बनी जो किसी न किसी रूप में चौथी सदी ई० पू० में सिकंदर के हमले तक बनी रही।
(भ० श० उ०)

एलिच नगर इसको पहले एलिचपुर कहते थे। यह बरार राज्य की राजधानी था। आजकल यह महाराष्ट्र राज्य के अमरावती जिले में है। बंबई जानेवाले प्रधान रेलमार्ग पर मुर्तिजापुर से एक छोटी रेलवे लाइन यहाँ तक गई है। मेलघाट और बेतूल जिलों की इमारती लकड़ी का यह एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। यह अमरावती और चिकल्दा से अच्छी सड़कों द्वारा मिला हुआ है। यहाँ रुई से बिनौला निकालने के कई कारखाने हैं। पास में परतवाड़ा है जहाँ पहले फौजी छावनी थी। एलिच नगर की समृद्धि इमारती लकड़ी और कपास पर निर्भर करती है।
(श्या० सुं० श०)

एलिज़बेथविले द्र० 'लुबुंबासी'।

एलिजा तिस्बेह (गिलीद) निवासी और यहूदियों के प्रमुख पैगंबरों में से एक। समय ८७६-८५३ ई० पू०। एलिजा इसराइल के राजा अहाब का समकालीन था। सेमुअल और दाऊद के बाद यहूदियों के महान् पैगंबरों में एलिजा की गणना की जाती है। यहूदियों में दो मुख्य फिरके थे: (१) यहूदी, और (२) बनी इसराइल। दोनों में आरंभ से प्रतिस्पर्धा चली आती थी। इन दोनों जातियों के अनेक छोटे छोटे राजा आए दिन एक दूसरे के साथ लड़ा करते थे। सबसे पहले दाऊद और उसके बाद दाऊद के बेटे सुलेमान ने फिलिस्तीन में यहूदियों का एकछत्र राज्य स्थापित किया, किंतु सुलेमान की मृत्यु के पूर्व से ही यहूदी और इसराइल के पारस्परिक युद्ध शुरू हो गए। नवीं सदी ई० पू० में इसराइल का शासन अहाब के हाथों में आया। अहाब की पत्नी ने बाल देवता की पूजा प्रचलित की। बाल की पूजा के विरुद्ध पैगंबर एलिजा ने विद्रोह की आवाज उठाई। एलिजा ने यहूदी जनता का आह्वान करते हुए कहा कि यह्वे के अतिरिक्त किसी अन्य देवी देवता की पूजा करना गुनाह है। इस विद्रोह के परिणामस्वरूप अहाब, उसकी विदेशी रानी और उनके सब बच्चों को मार डाला गया। बाल के मंदिर गिराकर नष्ट कर दिए गए।

समय समय पर एलिजा ने अहाब की और विदेशी देवी देवताओं की पूजा करनेवाले यहूदियों की जो भर्त्सना की है और उन्हें जो अभिशाप दिए हैं वे बाइबिल की पुरानी पोथी में दर्ज हैं। एलिजा एकमात्र यह्वे की पूजा का समर्थक था और राजनीतिक उदारता के नाम पर भी किसी प्रकार के विदेशी देवी देवताओं की पूजा करना यहूदियों के लिये सबसे बड़ा गुनाह मानता था।

सं०ग्रं०—विश्वंभरनाथ पांडे: यहूदी धर्म और सामी संस्कृति (१९५४)।
(वि० ना० पां०)

एलिज़ाबेथ संयुक्त राज्य अमरीका के न्यूजर्सी राज्य का मुख्य नगर है। यह न्यूयार्क की खाड़ी पर स्टैटन द्वीप के सामने बसा हुआ है। द्वीप से यह गोथल नामक पुल से जुड़ा हुआ है, जो २० जून, सन् १९२९ ई० को चालू हुआ था। यह न्यूयार्क महानगर का पर्याप्त अधिवास क्षेत्र है। यह औद्योगिक केंद्र भी है। यहाँ 'सिंगर' नामक सिलाई कढ़ाई आदि की मशीनों का कारखाना है जिसमें कई हजार व्यक्ति काम करते हैं। यहाँ तेल साफ करने का कारखाना और मोटर के कई कारखाने भी हैं। यहाँ जहाज भी बनाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के छोटे मोटे उद्योग धंधे चलते हैं। इसके बंदरगाह से पेनसिलवानिया का अच्छा कोयला निर्यात किया जाता है।

यह नगर सन् १६६५ ई० में बसा था। सर जार्ज की पत्नी के नाम पर इसका नाम एलिज़ाबेथ टाउन पड़ा था। सन् १८५५ ई० में यह नगर घोषित हुआ। सन् १९४० ई० में इसकी जनसंख्या १,०९,९१२ थी। यहाँ अभी भी कई ऐतिहासिक भवन हैं जिनमें लिबर्टी हॉल और बॉक्सउड हॉल प्रसिद्ध हैं। यहाँ कई मनोरम पार्क हैं। (श्या० सुं० श०)

एलिज़ावेथ पेत्रोव्ना (१८०९–६२) रूस की साम्राज्ञी। महान् पीतर और कैथरीन की कन्या। १७४१ में राजसिंहासन पर बैठी। इसके पहले चार बार इसके राजगद्दी पर दावे की उपेक्षा की गई। आन और वीरन के आतंकपूर्ण शासनकाल में इसपर कड़ी और सतर्क नजर रखी गई। शरीररक्षक सेना से इसकी दोस्ती फल गई। ६ दिसंबर, १७४१ को दरबारी विप्लव हुआ और इवान छठे को निकाल दिया गया। इसके साथ रूस से जर्मन प्रभाव और प्रभुत्व का भी अंत माना गया।

एलिज़ावेथ अपने पिता की प्रशंसक थी, किंतु इसकी शिक्षा दीक्षा साधारण थी। नृत्य, संगीत और नाटक की यह शौकीन थी। सौंदर्यप्रेमी थी और सेंत पीतर्सबर्ग (लेनिनग्राद) की सजावट का खर्च बढ़ाया। इतालवी शिल्पी रास्तेरेली की सहायता से १०० लाख रुबल खर्च कर 'शीतप्रासाद' बनवाया।

इसके मंत्री देशभक्त रूसी और विद्वान् थे। वेस्तूजेव रीयूमिन विदेश मंत्री था और पीतर शूवालेव वित्तमंत्री। इस कारण राज्य को आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और यूरोप की राजनीति में रूस की बात ध्यान से सुनी जाने लगी। शिक्षाप्रसार को इस समय प्रोत्साहन और साहित्य को संरक्षण मिला। विद्वानों का आदर बढ़ा। कला विकसित हुई। मास्को में विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। रूसी रंगमंच का विकास हुआ। दरबार में फ्रेंच भाषा और साहित्य का आदर बढ़ा। रूसी सरदार मातृभाषा की जगह फ्रेंच बोलने में गौरव मानने लगे। फ्रेंच का प्रभाव १९वीं सदी तक बना रहा।

एलिज़ावेथ ने विवाह नहीं किया। एलेक्सिस राजूमोव्स्की इसका सदा कृपापात्र बना रहा। यह यूक्रेनी कज्जाक था। इसको कपड़े का बहुत शौक था। मृत्यु के समय इसकी मृत्युपेटिका में पंद्रह हजार पोशाकें मिलीं। दासता बढ़ी और इसका धर्म (चर्च) में भी प्रवेश हुआ।

१५ वर्ष शांति रही। सप्तवर्षीय युद्ध में रूसी-आस्ट्रियाई सेना ने प्रशा की सेना को १७५७ में बुरी तरह पराजित किया और १७६० में कुछ समय के लिये बर्लिन पर रूसी सेना का अधिकार भी हो गया। प्रशा और फ्रेडरिक यदि बच सके, तो बस इसी कारण कि ५ जनवरी, १७६२ को एलिज़ावेथ की मृत्यु हो गई। (अ० कु० वि०)

एलिज़ावेथ प्रथम (१५५८–१६०३) ट्यूडर शासकों में अंतिम, हेनरी अष्टम तथा एनी बोलिन की पुत्री एलिज़ावेथ १५५८ ई० में २६ वर्ष की अवस्था में इंग्लैंड में शासनारूढ़ हुई। १५३४ ई० में उत्तराधिकार नियम के अनुसार उसका गद्दी पर अधिकार सुरक्षित था। उसे माता पिता की चारित्रिक प्रवृत्तियाँ दाय संस्कारों से प्राप्त हुई थीं। उसमें पिता की धृष्टता, साहस, स्वार्थपरता, अशिष्टता और ओछापन तथा माता की चारित्रिक क्षुद्रता, आडंबर, हल्कापन और कामुक चापल्य इत्यादि सभी प्रवृत्तियों एवं गुणों का अनुपम संमिश्रण था। ट्यूडर वंश का वह वैचित्र्य जो राजा के वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय स्वार्थों में निकटता लाता था, उसमें पूर्णतया विद्यमान था। विवादग्रस्त उत्तराधिकार, सुधार-आंदोलनजन्य धार्मिक विभीषिका, इंग्लैंड पर फ्रांस और स्पेन जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों की लोलुप दृष्टि एवं महत्वाकांक्षा इत्यादि कठिनाइयों के बीच एलिज़ावेथ का राज्यारोहण हुआ था। सभी समस्याएँ इतनी जटिल थीं कि किसी भी अभिनव शासक को किंकर्तव्यविमूढ़ कर देतीं। किंतु प्रोटेस्टेंट मत के उदय से उसे एक अनुकूल प्रजाभक्ति मिल गई थी। अपने योग्य सलाहकारों—मुख्यत: सर विलियम सेसिल, सर निकोलस बेकन तथा सर फ्रांसिस वालसिंघम—की सहायता से स्वयं शासनसंचालन एलिज़ावेथ को सर्वथा वांछनीय लगा।

एलिज़ावेथ ने शीघ्र ही अनुभव किया कि साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने में, धार्मिक शांति तथा स्काटलैंड की ओर से आक्रमणों की संभावना का उन्मूलन, प्रधानतम आवश्यकताएँ हैं। अत: उसने सर्वप्रथम अपना ध्यान चर्च व्यवस्था को अनुशासित करने में लगाया। एलिज़ावेथ इस तथ्य को हृदयगम कर चुकी थी कि एडवर्ड छठा तथा मेरी ट्यूडर अपनी धार्मिक नीति को अतिवाद की ओर ले जाने के कारण असफल रहीं और उसकी पुनरावृत्ति सर्वथा अहितकर होगी; धार्मिक समस्या का निदान मध्यम मार्ग से ही श्रेयस्कर होगा। अतएव एलिज़ावेथ की धार्मिक नीति तत्कालीन प्रचलित मतों का समन्वय थी जो इतनी उदार थी कि विभिन्न मतावलंबियों को विभिन्न प्रतिच्छाया का आभास कराती थी। सभी मतों के प्रमुख तत्वों को एक अद्भुत कौशल से संपादित करने की चेष्टा की गई थी। एलिज़ावेथ ने राष्ट्रीय ऐक्य की शिला पर ही धर्म का प्रासाद उठाना चाहा था और इसी दृष्टि से १५५९ का सर्वोच्चता एवं एकरूपता का विधान प्रयुक्त किया गया जिसमें एलिज़ावेथ को शुद्ध चर्च की, जिसे आगे चलकर ऐंग्लिकन की संज्ञा मिली, अधिष्ठात्री घोषित किया गया था, यद्यपि उसने इस पदवी के प्रति अपनी बाह्य अनिच्छा प्रकट की। एलिज़ावेथ जैसी क्षमताशालिनी कुशल राष्ट्रनेत्री की दूरदर्शिता की यह धार्मिक अभिव्यक्ति अतिवाद के पोषकों को संतुष्ट न कर सकी और शनै: शनै: प्यूरिटनों द्वारा इस व्यवस्था को ग्राह्य सिद्ध करने के लिये दमनचक्र का आश्रय लेना पड़ा। एक स्थायी धार्मिक न्यायालय (कोर्ट ऑव हाई कमीशन) की स्थापना की गई जो मृत्युदंड की कारा का संकेत देकर रानी को सर्वोच्च मान्य बना सके।

प्रारंभ से ही स्काटलैंड इंग्लैंड की सारी आपत्तियों का आगार बना हुआ था। स्काटलैंड और फ्रांस की रानी मेरी स्टुअर्ट इंग्लैंड के शासन पर अपना वंशपरंपरागत अधिकार स्थापित कर रही थी। इंग्लैंड में फ्रांस का आतंक भी पूर्णत: फैला था क्योंकि फ्रांस से कैथोलिक मत की दीक्षा लेकर रानी स्काटलैंड को रोम का भक्त बनाना चाहती थी। उपर्युक्त प्रश्नों का क्रियात्मक उत्तर एलिज़ावेथ को स्काटलैंड के कवेनैंटर की सहायता में निहित था। मेरी का वैधव्य तथा असंतुष्ट उमंगों से उत्पन्न सत्वर विवाहों का तारतम्य रानी एलिज़ावेथ के लिये मुँहमाँगा वरदान सिद्ध हुआ। प्रोटेस्टेंट जनता, रानी की धार्मिक एवं वैयक्तिक जीवन संबंधी दोनों नीतियों के विरुद्ध विद्रोह के लिये अग्रसर हुई। रानी को अपदस्थ किया गया। १५६८ ई० में मेरी ने एक गुप्त संदेशवाहक द्वारा एलिज़ावेथ से शरणप्रार्थना की। एलिज़ावेथ ने विलंब और हिचकिचाहट की नीति ग्रहण की तथा भावी परिस्थितियों के अनुकूल व्यवहार करने की उपादेयता को वांछनीय समझकर उसे नजरबंद करवा दिया। इस प्रकार स्पेन और पोप द्वारा उकसाए गए विद्रोहों और षड्यंत्रों का वह १८ वर्षीय युग आया जिसमें एलिज़ावेथ का वध करके मेरी का राज्यारोहण कराने की योजना निहित थी। अंतत: दरबारियों द्वारा लगाए गए षड्यंत्र के अभियोग में, एलिज़ावेथ को स्वेच्छा का अतिक्रमण करते हुए १५८७ ई० में मेरी को मृत्युदंड देना पड़ा और इंग्लैंड की भीषणतम आंतरिक कठिनाइयाँ समाप्त हुईं।

धार्मिक नीति की ही भाँति एलिज़ावेथ की वैदेशिक नीति उसकी उच्चतम राष्ट्रीय भावना की सराहनीय अभिव्यक्ति थी। स्पेन और फ्रांस को शिष्टाचार एवं शालीनता से आकृष्ट करना तथा इंग्लैंड के विरुद्ध उनको एक गुट में आने से रोकना उसका प्रधान लक्ष्य था। अपने यौवन की गरिमा और वैवाहिक-संबंध-स्थापन की मोहिनी ने, दोनों राष्ट्रों के शासकों में एक घोर प्रतिद्वंद्विता का कारण खड़ा कर दिया था। स्काटलैंड से पार्थक्यप्राप्त, आंतरिक धार्मिक युद्धों से विच्छिन्न तथा अपने शासक के भाई अंजाहु के एलिज़ावेथ से विवाह की संभावना के प्रलोभन से दबा फ्रांस इंग्लैंड का मित्र ही बना रहा। स्पेन भी अपने धनी प्रदेश नीदरलैंड के विद्रोह तथा प्रतिरोध आंदोलन में पूर्णत: खो जाने के कारण शक्तिह्रास का घोर अनुभव कर रहा था। इस भय से कि कहीं फ्रांस और इंग्लैंड एक न हो जायँ, स्पेन एलिज़ावेथ की धार्मिक नीति और व्यापारिक क्षेत्र के नित्य के अपमानों को सहन करता गया। इसी बीच पोप पीयस पंचम ने धार्मिक आदेश प्रचारित कर एलिज़ावेथ को ईसाई समाज से बहिष्कृत घोषित कर दिया जिसका प्रतिकार एलिज़ावेथ ने पोप के विरुद्ध कई कदम उठाकर किया।

मेरी के षड्यंत्रों को विफल करने में एलिज़ावेथ ने यह सावधानी बरती थी कि ऐसा कदम न उठाया जाय, जो स्पेन को क्रुद्ध करने में सहायक बने। फिर भी मेरी के कारावास के अंतिम दिनों में दोनों देशों में पारस्परिक संबंध कटु हो चले थे। प्रतिरोध आंदोलन के सेनानी के रूप में फ़िलिप द्वितीय

इंग्लैंड से एलिजाबेथ और प्रोटेस्टेंट मत दोनों का उन्मूलन चाहता था। अतः वह अनेक षड्यंत्रों एवं गुप्त मंत्रणाओं का प्रमुख शिल्पी था। स्काटलैंड और आयरलैंड दोनों ही उसके कार्यक्षेत्र थे। इस परिस्थिति में पूर्णतः अवगत एलिजाबेथ ने भी पहले नीदरलैंड के विद्रोहियों को गुप्त सहायता और फिर स्पष्ट रूप में अर्ल ऑव लीस्टर की अध्यक्षता में एक सैनिक टुकड़ी भेजी। व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता तथा साहसिक जलसेनानी रैले, ड्रेक और हाकिन्स की स्पेन के जहाजों पर छापेमारी, जो वेस्ट इंडीज तक हो रही थी, उस सुलगती शत्रुता को और भी प्रज्वलित कर चली। जान हाकिन्स के संकेत पर राजकीय जलसेना का पुनस्संगठन पूर्ण हो ही गया था। दोनों देशों के अमर्ष का पात्र भर चुका था। मेरी के प्राणदंड के उपरांत इंग्लैंड पर एक कैथोलिक शासक के न आने की संभावना भी मिट चुकी थी। अतः आर्मेडा का प्रकोप अवश्यंभावी हो गया। ऐसी परिस्थिति में प्रकृति ने भी इंग्लैंड का साथ दिया। सामयिक भयंकर तूफान के सामने आर्मेडा ठहर न सका तथा जिस संघर्ष को पोप और फिलिप ने पावन धर्मयुद्ध घोषित किया था उसे एलिजाबेथ ने अपूर्व सफलता के साथ राष्ट्रीय कहकर इंग्लेंड और प्रोटेस्टेंट मत दोनों की रक्षा की।

एलिजाबेथ अंत तक आंतरिक कठिनाइयों से संघर्ष करती रही। बाह्य वातावरण अनुकूल होने पर भी उसकी आंतरिक कठिनाइयों में कोई न्यूनता परिलक्षित न हुई। वह कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों को नूतन धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन खड़ा करने के कारण दबाती रही। रानी और पार्लियामेंट के संबंध भी, प्रारंभ में तो स्निग्ध और सहयोगपूर्ण रहे, किंतु शासन के उत्तरकाल में वह पार्लियामेंट के सामान्य समर्थन से वंचित रही और कभी कभी उसे कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ी। उसके विवाह एवं वैदेशिक नीति के प्रश्न विवादग्रस्त और व्यग्रतापूर्ण बन गए थे। अप्रत्याशित और अवाञ्छनीय संघर्ष से बचने के लिये रानी ने अपने संपूर्ण शासन में संसद् के केवल तेरह अधिवेशन बुलाए। कौशल, हास्य, धमकी और भर्त्सना इत्यादि द्वारा वह १५९७ तक पार्लियामेंट से गंभीर संघर्ष बचाने में सफल रही। जब कामन्स ने रानी द्वारा स्वीकृत एकाधिकार अनुदान (मोनोपोली ग्रांट) के विरुद्ध विरोध प्रकट किया, तब रानी को झुकना पड़ा। पार्लियामेंट के अधिकार शांतिपूर्वक बढ़ते गए।

शताब्दी के अंत तक वे व्यक्ति जो रानी के राज्यारोहण काल से ही इंग्लैंड का शासन करते आए थे, और जिनमें लीस्टर, वालसिंघम तथा सेसिल प्रसिद्ध हैं, एक एक करके चल बसे, और आर्मेडा के विनाश के उपरांत १५ वर्ष तक नए व्यक्ति राजनीतिक मंच पर रहे। रैले, ड्रेक और एसेक्स ऐसे साहसी नवयुवक रोमांचकारी कार्यों की होड़ में आए। यह उग्र नाविक तथा औपनिवेशिक क्षमता का युग था। ड्रेक की विश्वयात्रा, अमरीका में नीग्रो व्यापार की नींव, उत्तरी अमरीका की प्रमुख भूमि पर अँगरेजों के प्रथम उपनिवेश वर्जीनिया की स्थापना तथा ईस्ट इंडिया कंपनी की भाँति अनेक व्यापारिक कंपनियों का आविर्भाव एलिजाबेथ युग की विशेषताओं में से हे। इस अवधि में ब्रिटेन की एकता को वास्तविकता की ओर ले जाने के महत्वपूर्ण कदम उठाए जा रहे थे। प्रथम बार वेल्स और इंग्लैंड एक सामान्य धर्म के अंतर्गत एकता की ओर अग्रसर हुए। आयरलैंड, जो प्रतिरोध आंदोलन का गढ़ बन गया था और जहाँ चार प्रमुख विद्रोह हुए थे, अंततः १६०३ ई० में विजित कर लिया गया।

एलिजाबेथ ने युग के अंतिम वर्षों में अनुपम भौतिक समृद्धि देखी। विदेशों से व्यापार के फलस्वरूप व्यापारिक वर्ग का प्राचुर्य हुआ। ऊन के व्यापार में महान् वृद्धि हुई। आलू की कृषि के साथ महाद्वीप से हरी फसलें, फल और तरकारियाँ लाई गईं। चरागाह खेतिहर प्रदेश में परिवर्तित किए गए। निर्धनों को विधिवत् सहायता देने के लिये निर्धन कानून बनाए गए। राष्ट्र की साधारण समृद्धि, स्तरीय उच्च जीवन तथा सभ्यता में अभिव्यक्त हुई। नई जागृति का जनसाधारण में संचार एवं शिक्षाप्रसार द्रुत गति से हुआ। स्थापत्य कला ने गोथिक आवरण को त्यागकर नूतन एलिजाबेथी परिधान ग्रहण किया। युग का महान् साहित्यिक अभियान इतिहास में अद्वितीय था। एलिजाबेथ कालीन साहित्य निश्चित राष्ट्रीय चरित्र रखता था। युगात्मा मारलो तथा शेक्सपियर के राष्ट्रीय नाट्य साहित्य, स्पेंसर के काव्य तथा हूकर और बेकन के अभिनव गद्य में अवतरित हुई। यह महान् शौर्य और यश का शासन था। मार्च, १६०३ ई० में अपने शासन के ४६वें वर्ष ७० वर्ष की अवस्था में एलिजाबेथ की मृत्यु ने एक महान् युग का पटाक्षेप किया।

सं०ग्रं०—एस० आर० गार्डिनर : इंग्लैंड का इतिहास, ए० डी० ईन्स . इंग्लैंड—ट्यूडर शासकों के अंतर्गत, रौमजे म्योर : ब्रिटिश कामनवेल्थ का संक्षिप्त इतिहास, टी० एफ० टाउट : ग्रेट ब्रिटेन का बृहत् इतिहास, जी० एम० ट्रैवेलियन : इंग्लैंड का इतिहास, क्रीटन : रानी एलिजाबेथ, लिटेन स्ट्रैची : एलिजाबेथ ऐंड एसेक्स। (गि० श० मि०)

एलिफैंटा बंबई बंदरगाह से पूर्व की ओर ६ मील पर एक टापू है। इसकी परिधि ५ मील हे। यहाँ अवकाश पाकर बंबई नगर की हलचल से ऊबकर सैर के लिये मोटरबोट से लोग आया करते हे।

इसकी प्रसिद्धि लावा चट्टान में काटे गए गुफा मंदिर के कारण है। यहाँ इमारती पत्थरों की कटाई की कई खदानें हैं। इसकी सबसे ऊँची चोटी ५६८ फुट हे।

गुफा मंदिर तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी हैं। प्रधान गुफा की देहली ६० फुट चौड़ी और १८ फुट ऊँची हे। छत चट्टान काटकर बनाए गए स्तंभों पर टिकी हे। स्तंभों पर देवी देवताओं की विशालकाय मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। प्रधान मंदिर में भव्य त्रिमूर्ति विराजित है। मूर्तियों के मस्तक चार पाँच फुट लंबे और बड़े ही कलात्मक ढंग से निर्मित हे। चूड़ा का शृंगार विचित्र ही है। एक मूर्ति के हाथ में नाग, मस्तक पर एक मानव खोपड़ी और एक शिशु हे। इस त्रिमूर्ति के पास ही अर्धनारीश्वर की १६ फुट ऊँची मूर्ति है। दाईं ओर कमलासीन चतुर्मुख ब्रह्मा की मूर्ति है और बाईं ओर विष्णु भगवान् है। दूसरी ओर भी एक गुहागृह है जिसमें शंकर-पार्वती की कई मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सबसे विशाल और लोमहर्षक, अष्टभुज शंकर की तांडवनृत्यरत मूर्ति है।

एलिफैंटा की मूर्तिसंपदा गति और शालीनता की दृष्टि से एलोरा की मूर्तियों से कुछ कम नहीं। यद्यपि १६वीं सदी में पुर्तगालियों के नृशंस आचरण से गुफा की मूर्तियाँ अनेकतः टूट गई हैं, फिर भी जो बच रही हैं उनसे मध्य-पूर्वकाल की मूर्तन कला के गौरव का पर्याप्त परिचय मिलता हे। प्रायः ९० फुट एक दिशा में कटी इस सागरवर्ती गुफा की छह छह स्तंभोंवाली छह कतारें मानो उसकी छत सिर से उठाए हुए हैं। वैसे तो शिवपरिवार की अनेक मूर्तियाँ वहाँ दर्शनीय हैं पर लगभग आठवीं सदी ई० में कोरी शिव की सर्वतोभद्रिका त्रिमूर्ति अपने प्रकार की मूर्तियों में बल और रूप में असाधारण हे। भारी, गंभीर, चिंतनशील मस्तक बोझिल पलकोंवाले नेत्रों से जैसे नीचे देख रहा हे। होंठ गुप्तोत्तरकालीन सौंदर्य में भरे भरे कोरे गए हैं। इस त्रिमूर्ति को अक्सर गलती से ब्रह्मा, विष्णु और शिव माना गया है, पर वस्तुतः हे यह मात्र शिवपरिवार। एक ओर अघोर भैरव संसार के संहारकर्ता के रूप में प्रस्तुत हे, दूसरी ओर पार्वती का आकर्षक तरुण मस्तक है और दोनों के बीच दोनों के संतुलन से मंडित कल्याणकारी शंकर है। यह त्रिमूर्ति भारत के सभी काल की सुंदर मूर्तियों में अपना स्थान रखती हे। (श्या० मुं० श०)

एलिय्याह (९० ई० पू०)। बाइबिल के मुख्य नबियों में से एक। अहावराजा ने व्यभिचारिणी तथा मूर्तिपूजा करनेवाली इजेबेल के साथ विवाह किया था; एलिय्याह ने यहूदी एकेश्वरवादी धर्म की रक्षा के लिये निर्भीकतापूर्वक अहाब का विरोध किया। वह प्रायः मरुभूमि में रहकर घोर तपस्या करते हुए अपने समय की पतनोन्मुख सभ्यता को चुनौती देते थे। उनका रहस्यात्मक ढंग से स्वर्गवास हुआ था और यहूदियों का विश्वास था कि एलिय्याह मसीह का मार्ग तैयार करने के लिये फिर प्रकट होनेवाले थे। बाइबिल में योहन बपतिस्ता ही एलिय्याह के स्थान पर मसीह के अग्रदूत हैं किंतु ईसा के दिव्य रूपांतरण के अवसर पर एलिय्याह और मूसा दोनों की उपस्थिति का उल्लेख हुआ हे। एलिय्याह यहूदियों में शताब्दियों तक अत्यंत लोकप्रिय रहे तथा बाइबिल की रचना के बाद भी उनके यहाँ एलिय्याह के विषय में अद्भुत दंतकथाओं का प्रचलन रहा। (का० बु०)

एलिफेंटा (द्र० पृ० २५२) तथा एलोरा (द्र० पृ० २५३)

एलिफेंटा की त्रिमूर्ति ८ वीं सदी
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

एलोरा के कैलास मंदिर का एक स्तंभ
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

एलिस प्राचीन काल में ग्रीस के एलिस जिले का प्रधान नगर था। यह पेन्यूस नदी के दक्षिण में कलसकोपी की पहाड़ी पर बसा हुआ है। इस आक्जीलस ने बसाया था जो ऐतोलियन प्रवासियों का नता था। उसकी एक बहुत बड़ी मूर्ति नगर के बीच बाजार में थी। इस नगर में ओलिंपिक देवता ज्यूस के उपवन और मंदिर थे। पास ही विस्तृत मैदान में ओलिंपिक खेलकूद प्रतियोगिताएँ होती थीं। यहाँ प्रतियोगियों का एक मास तक प्रशिक्षण होता था। सबसे बड़े राष्ट्रीय उत्सवों की पवित्रता के कारण यह नगर चिरकाल तक आक्रमणों से सुरक्षित रहा। यहाँ कई भव्य मंदिर थे। इनमें प्रसिद्ध अक्रापोलिस अथीना के मंदिर में सोने और हाथीदाँत की फेडियिा की विशाल मूर्ति थी। इस नगर के उत्तर की उर्वर भूमि अपने घोड़ों के लिये विख्यात थी। सन् ३०६ ई० पू० में स्पार्टा के राजा अगीस ने इसे अधिकृत कर लिया था। (श्या० सुं० श०)

एलिस, हेनरी हैवलाक (१८५६–१९३९) विख्यात यूरोपीय मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री। इनका जन्म २ फरवरी को क्रायडन में हुआ था। इनका अधिकांश बचपन प्रशांत वातावरण में बीता इसलिये प्रारंभ से ही ये विचारशील प्रवृत्ति के थे। न्यू साउथ वेल्स में चार साल शिक्षा के पूरे करने के बाद लंदन के सेंट टामस हास्पिटल से उन्होंने चिकित्सा संबंधी उपाधि प्राप्त की। अनुसंधान और लेखन में अधिक रुचि होने के कारण उन्होंने थोड़े समय बाद ही चिकित्सा का पेशा छोड़कर अपने को अध्ययन, अनुसंधान और लेखन कार्य में लगाया। चिकित्सा और शरीरविज्ञान का विशेषज्ञ होने के कारण सहज ही उनकी प्रवृत्ति मानवजीवन और उसकी प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन की ओर थी। इस ओर उनकी सबसे महत्वपूर्ण प्रथम कृति सामने आई 'मैन ऐंड वुमन' जिसमें उन्होंने स्त्री और पुरुष के भेदों को वैज्ञानिक दृष्टि से अधीत किया था। इसका प्रकाशन १८९४ में हुआ और इस समय तक उन्होंने अपनी विख्यात पुस्तक 'स्टडीज़ इन साइकोलाजी ऑव सेक्स' की योजना पूरी कर ली थी। एतद्विषयक उनकी पहली कृति के प्रकाशित होते ही उनकी क्रांतिकारी खोजों और स्थापनाओं के विरुद्ध समाज में आंदोलन उठ खड़ा हुआ। अंततः एलिस को देश और विदेश के विद्वानों का समर्थन प्राप्त हुआ और उनकी विस्तृत खोजें सामने आई। अपने पचास वर्षों के लंबे लेखनकाल में उन्होंने शरीरशास्त्र, यौन विज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शन संबंधी समस्याओं पर स्थायी महत्व की सामग्री दी है। कहते है, उनमें डार्विन का धैर्य और हक्सले की प्रतिभा थी। उनकी देन का मूल्यांकन काफी समय बाद ही हो सका। (मु० रा०)

एलुरू (स्थिति १६° ४३′ उ० अ०, ८१° ७′ पू० दे०) आंध्र प्रदेश के पश्चिमी गोदावरी जिले में स्थित एक बड़ा नगर है। जिले के सभी मुख्य कार्यालय यहीं पर हैं। नगर ऐतिहासिक महत्व का है। १४७० ई० में मुसलमानों ने यहाँ अपना अधिकार जमाया; किंतु १५१५ ई० में विजयनगर के राजा कृष्णदेव ने इसपर पुनः अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने कुछ समय के लिये यहाँ छावनी भी बनाई थी।

एलुरू मैदानी क्षेत्र में स्थित है तथा अपने क्षेत्र का एकमात्र बाजार है। नगर में चावल की मिलें बहुत सी हैं। यहाँ चमड़े का कारबार भी होता है। दरी तथा कालीन बनाने का यहाँ का व्यवसाय प्रसिद्ध है। १९०१ ई० में यहाँ की जनसंख्या ३३,५२१ थी जो १९५१ में बढ़कर ८७,२१३ हो गई थी। १९६१ ई० में यहाँ की जनसंख्या १,०८,३२१ थी। (ह० ह० सिं०)

एलेक्ट्रा मनोग्रंथि पिता पुत्री के बीच यौनाकर्षण संबंधी मनोविश्लेषणवादियों की एक धारणा। इसके अनुसार जैसे पुत्र स्वभावतः माँ की ओर आकर्षित होता है (द्र० 'ईदिपस मनोग्रंथि') वैसे ही पुत्री का पिता की ओर संवेगात्मक तथा कामुक प्रकार का आकर्षण रहता है। फ्रायड ने सर्वप्रथम ग्रीक मिथक 'ईदिपस' के आधार पर ईदिपस मनोग्रंथि तथा एलेक्ट्रा मनोग्रंथि की परिकल्पना प्रस्तुत की थी और बताया था कि जिस लड़की का पिता की ओर कामात्मक रुख अथवा रुझान होता है, वह निश्चित ही एलेक्ट्रा मनोग्रंथि से पीड़ित रहती है। ऐसी लड़की का वैवाहिक जीवन या तो पूरी तरह असफल हो जाता है अथवा दुःखपूर्ण रहता है क्योंकि अवचेतन मन से वह अपने पति में पिता के गुण, लक्षण आदि खोजती है और उनके न मिलने पर हताश हो जाती है। परंतु जैविकी तथा कायिकी संबंधी आधुनिक अनुसंधानों से फ्रायड की उक्त परिकल्पना को सिद्ध नहीं किया जा सका है। (कै० चं० श०)

एलेनबरा, लार्ड एडवर्ड ला (१७९०–१८७१) अंग्रेज राजनीतिज्ञ और एलेनबरा के प्रथम अर्ल। ये बैरन एलेनबरा के ज्येष्ठ पुत्र थे जो १८०२ ई० में ब्रिटेन के लार्ड चीफ़ जस्टिस नियुक्त किए गए थे। लार्ड एलेनबरा १८१३ ई० में टोरी दल के टिकट पर ब्रिटिश संसद् के सदस्य निर्वाचित हुए और अपने ससदीय कार्यकाल के दौरान इंग्लैंड के विभिन्न प्रशासनिक विभागों के अधिकारी रहे। १८४१ ई० में उन्हें भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया और १८४२ ई० में भारत आकर उन्होंने उक्त पद सँभाला लिया। भारत में उनके पूर्ववर्ती अंग्रेज गवर्नर जनरल लार्ड आकलैंड ने अफगानिस्तान के निर्वासित अमीर शाहशुजा का पक्ष लेकर तत्कालीन अफगान अमीर दोस्त मुहम्मद से युद्ध छेड़ दिया था। उक्त युद्ध में भयंकर अपमान के साथ साथ अंग्रेजी सेनाओं को अत्यधिक हानि भी उठानी पड़ी थी। लार्ड एलेनबरा ने अफगानिस्तान से ब्रिटिश सेनाएँ वापस बुला ली और अफगानों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार की नीति शुरू की। १८४३ ई० में ब्रिटिश संसद् ने लार्ड एलेनबरा की अफगान नीति की संपुष्टि कर दी लेकिन १८४४ ई० में उन्हें इसलिये इंग्लैंड वापस बुला लिया गया कि सिविल अफसरों के प्रति उनका व्यवहार अच्छा न था और भारतीयों को उन्होंने मूर्तिपूजा की प्रत्यक्ष अनुमति देकर तुष्टीकरण की नीति अपना ली थी। १८५८ ई० में उन्होंने भारतमंत्री का पद सँभाला परंतु विसकाउंट कैनिंग के खिलाफ प्रकाशित अपने लेख के कारण उन्हें इस्तीफा दे देना पड़ा। १८७१ ई० में उनका देहांत हो गया। (कै० चं० श०)

एलोरा भारत में महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले में दौलताबाद नगर के समीप एक ग्राम है। इसकी स्थिति २०° २१′ उ० अ० तथा ७५° १०′ पू० दे० पर औरंगाबाद नगर से लगभग १५ मी० उत्तर-पश्चिम है। एलोरा ठोस शिलाखंडों में निर्मित मंदिरों के लिये विश्वविख्यात है। दक्षिण और पश्चिमी भारत में पर्वत की खड़ी दीवार को काटकर जो दरीमंदिर बनाने का अत्यंत कठिन प्रयास हुआ है उसमें एलोरा की गुहा-परंपरा का विशिष्ट स्थान है। गुप्तकाल के उत्तरवर्ती युगों में निस्सदेह इतना सफल और प्राणवान् मूर्तिनिर्माण का प्रयास दूसरा नहीं हुआ। अजंता की गुफाएँ मौर्य काल के शीघ्र बाद ही काटी जाने लगी थीं और उनके निर्माण का प्रयास, कम से कम चित्रण के क्षेत्र में, चालुक्य राजाओं के शासन तक बना रहा। सही, कि एलोरा के दरीगृहों के निर्माण में सदियाँ लगी हैं, तथापि उनके संबंध में यह प्रयास काल की दृष्टि से प्रायः एकस्थ हुआ है—पूर्वमध्यकाल से राष्ट्रकूटों के शासनकाल तक। और इन चार पाँच सदियों के भीतर बौद्ध, जैन तथा हिंदू मंदिर बनते चले गए हैं। संभवतः विश्वकर्मा का बौद्ध मंदिर छठी सदी ईस्वी का है, प्रसिद्ध कैलास मंदिर आठवीं सदी का और शेष जैन और हिंदू मंदिर, प्रायः ६०० ई० और ७५० ई० के बीच के बने हैं। पृष्ठभूमि में सह्याद्रि पश्चिमी घाट की गिरिदीवार उठती दूर तक दौड़ती चली गई है, अग्रभूमि क्षितिज तक फैली हरियाली से ढकी है। प्राचीन इंजिनियरों ने पतली सरिता की धारा मोड़कर कैलास के निकट से कुछ ऐसा घुमाया है कि उसका जल बूंद बूंद कर शिवलिंग पर निरंतर टपकता रहता है जो पिछली १२ सदियों से वैसे ही टपकता रहा है। मंदिरों के प्रसार के अंत में शीतल जल का एक विशाल झरना द्रुत वेग से उनके दक्षिण पार्श्व में गिरता और नीचे के खेतों को सींचता है।

जैसे अजंता की गुफाएँ अपने चित्रों के लिये प्रसिद्ध हैं, वैसे ही एलोरा की गुफाएँ अपनी मूर्तियों के लिये विख्यात हुई। ऐसा नहीं कि अजंता में मूर्तियाँ न हों अथवा एलोरा के चैत्य मंदिरों में चित्र न हों, पर विशेषतः अजंता चित्रप्रधान है और एलोरा मूर्तिप्रधान। मूर्तियों की कला में, उनके वैविध्य और गतिशीलता में एलोरा की मूर्तियों का वही महत्व है जो अजंता में उसके चित्रों का है। गुप्तोत्तर काल में भारतीय कला में मूर्ति-

एलिस प्राचीन काल में ग्रीस के एलिस जिले का प्रधान नगर था। यह पेन्यूस नदी के दक्षिण में कलसकोपी की पहाड़ी पर बसा हुआ है। इसे आक्ज़ीलस ने बसाया था जो ऐतोलियन प्रवासियों का नेता था। उसकी एक बहुत बड़ी मूर्ति नगर के बीच बाजार में थी। इस नगर में ओलिंपिक देवता ज्यूस के उपवन और मंदिर थे। पास ही विस्तृत मैदान में ओलिंपिक खेलकूद प्रतियोगिताएँ होती थीं। यहाँ प्रतियोगियों का एक मास तक प्रशिक्षण होता था। सबसे बड़े राष्ट्रीय उत्सवों की पवित्रता के कारण यह नगर चिरकाल तक आक्रमणों से सुरक्षित रहा। यहाँ कई भव्य मंदिर थे। इनमें प्रसिद्ध अक्रापोलिस अथीना के मंदिर में सोने और हाथीदाँत की फेइडिया की विशाल मूर्ति थी। इस नगर के उत्तर की उर्वर भूमि अपने घोड़ों के लिये विख्यात थी। सन् ३०६ ई० पू० में स्पार्टा के राजा अगीस ने इसे अधिकृत कर लिया था। (श्या० सुं० श०)

एलिस, हेनरी हैवलाक (१८५६-१९३९) विख्यात यूरोपीय मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री। इनका जन्म २ फरवरी को क्रायडन में हुआ था। इनका अधिकांश बचपन प्रशांत वातावरण में बीता इसलिये प्रारंभ से ही ये विचारशील प्रवृत्ति के थे। न्यू साउथ वेल्स में चार साल शिक्षा के पूरे करने के बाद लंदन के सेंट टामस हास्पिटल से उन्होंने चिकित्सा संबंधी उपाधि प्राप्त की। अनुसंधान और लेखन में अधिक रुचि होने के कारण उन्होंने थोड़े समय बाद ही चिकित्सा का पेशा छोड़कर अपने को अध्ययन, अनुसंधान और लेखन कार्य में लगाया। चिकित्सा और शरीरविज्ञान का विशेषज्ञ होने के कारण सहज ही उनकी प्रवृत्ति मानवजीवन और उसकी प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन की ओर थी। इस ओर उनकी सबसे महत्वपूर्ण प्रथम कृति सामने आई 'मैन ऐंड वुमन' जिसमें उन्होंने स्त्री और पुरुष के भेदों को वैज्ञानिक दृष्टि से अधीत किया था। इसका प्रकाशन १८६४ में हुआ और इस समय तक उन्होंने अपनी विख्यात पुस्तक 'स्टडीज़ इन साइकोलाजी ऑव सेक्स' की योजना पूरी कर ली थी। एतद्विषयक उनकी पहली कृति के प्रकाशित होते ही उनकी क्रांतिकारी खोजों और स्थापनाओं के विरुद्ध समाज में आंदोलन उठ खड़ा हुआ। अंततः एलिस को देश और विदेश के विद्वानों का समर्थन प्राप्त हुआ और उनकी विस्तृत खोजें सामने आईं। अपने पचास वर्षों के लंबे लेखनकाल में उन्होंने शरीरशास्त्र, यौन विज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शन संबंधी समस्याओं पर स्थायी महत्व की सामग्री दी है। कहते हैं, उनमें डार्विन का धैर्य और हक्सले की प्रतिभा थी। उनकी देन का मूल्यांकन काफी समय बाद ही हो सका। (मु० रा०)

एलुरू (स्थिति १६° ४३' उ० अ०, ८१° ७' पू० दे०) आंध्र प्रदेश के पश्चिमी गोदावरी जिले में स्थित एक बड़ा नगर है। जिले के सभी मुख्य कार्यालय यहीं पर हैं। नगर ऐतिहासिक महत्व का है। १४७० ई० में मुसलमानों ने यहाँ अपना अधिकार जमाया; किंतु १५१५ ई० में विजयनगर के राजा कृष्णदेव ने इसपर पुनः अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने कुछ समय के लिये यहाँ छावनी भी बनाई थी।

एलुरू मैदानी क्षेत्र में स्थित है तथा अपने क्षेत्र का एकमात्र बाजार है। नगर में चावल की मिलें बहुत सी हैं। यहाँ चमड़े का कारबार भी होता है। दरी तथा कालीन बनाने का यहाँ का व्यवसाय प्रसिद्ध है। १९०१ ई० में यहाँ की जनसंख्या ३३,५२१ थी जो १९५१ में बढ़कर ८७,२१३ हो गई थी। १९६१ ई० में यहाँ की जनसंख्या १,०८,३२१ थी। (ह० ह० सिं०)

एलेक्ट्रा मनोग्रंथि पिता पुत्री के बीच यौनाकर्षण संबंधी मनोविश्लेषणवादियों की एक धारणा। इसके अनुसार जैसे पुत्र स्वभावतः माँ की ओर आकर्षित होता है (द्र० 'ईडिपस मनोग्रंथि') वैसे ही पुत्री का पिता की ओर संवेगात्मक तथा कामुक प्रकार का आकर्षण रहता है। फ्रायड ने सर्वप्रथम ग्रीक मिथक 'ईडिपस' के आधार पर ईडिपस मनोग्रंथि तथा एलेक्ट्रा मनोग्रंथि की परिकल्पना प्रस्तुत की थी और बताया था कि जिस लड़की का पिता की ओर कामात्मक रुख अथवा रुझान होता है, वह निश्चित ही एलेक्ट्रा मनोग्रंथि से पीड़ित रहती है। ऐसी लड़की का वैवाहिक जीवन या तो पूरी तरह असफल हो जाता है अथवा दुःखपूर्ण रहता है क्योंकि अवचेतन मन से वह अपने पति में पिता के गुण, लक्षण आदि खोजती है और उनके न मिलने पर हताश हो जाती है। परंतु जैविकी तथा कायिकी संबंधी आधुनिक अनुसंधानों से फ्रायड की उक्त परिकल्पना को सिद्ध नहीं किया जा सका है। (कै० चं० श०)

एलेनबरा, लार्ड एडवर्ड ला (१७९०-१८७१) अंग्रेज राजनीतिज्ञ और एलेनबरा के प्रथम अर्ल। ये बैरन एलेनबरा के ज्येष्ठ पुत्र थे जो १८०२ ई० में ब्रिटेन के लार्ड चीफ जस्टिस नियुक्त किए गए थे। लार्ड एलेनबरा १८१३ ई० में टोरी दल के टिकट पर ब्रिटिश संसद् के सदस्य निर्वाचित हुए और अपने संसदीय कार्यकाल के दौरान इंग्लैंड के विभिन्न प्रशासनिक विभागों के अधिकारी रहे। १८४१ ई० में उन्हें भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया और १८४२ ई० में भारत आकर उन्होंने उक्त पद सँभाला लिया। भारत में उनके पूर्ववर्ती अंग्रेज गवर्नर जनरल लार्ड आकलैंड ने अफगानिस्तान के निर्वासित अमीर शाहशुजा का पक्ष लेकर तत्कालीन अफगान अमीर दोस्त मुहम्मद से युद्ध छेड़ दिया था। उक्त युद्ध में भयंकर अपमान के साथ साथ अंग्रेजी सेनाओं को अत्यधिक हानि भी उठानी पड़ी थी। लार्ड एलेनबरा ने अफगानिस्तान से ब्रिटिश सेनाएँ वापस बुला लीं और अफगानों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार की नीति शुरू की। १८४३ ई० में ब्रिटिश संसद् ने लार्ड एलेनबरा की अफगान नीति की संपुष्टि कर दी लेकिन १८४४ ई० में उन्हें इसलिये इंग्लैंड वापस बुला लिया गया कि सिविल अफसरों के प्रति उनका व्यवहार अच्छा न था और भारतीयों को उन्होंने मूर्तिपूजा की प्रत्यक्ष अनुमति देकर तुष्टीकरण की नीति अपना ली थी। १८५८ ई० में उन्होंने भारतमंत्री का पद सँभाला परंतु विसकाउंट कैनिंग के खिलाफ प्रकाशित अपने लेख के कारण उन्हें इस्तीफा दे देना पड़ा। १८७१ ई० में उनका देहांत हो गया। (कै० चं० श०)

एलोरा भारत में महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले में दौलताबाद नगर के समीप एक ग्राम है। इसकी स्थिति २०° २१' उ० अ० तथा ७५° १०' पू० दे० पर औरंगाबाद नगर से लगभग १५ मी० उत्तर-पश्चिम है। एलोरा ठोस शिलाखंडों में निर्मित मंदिरों के लिये विश्वविख्यात है। दक्षिण और पश्चिमी भारत में पर्वत की खड़ी दीवार को काटकर जो दरीमंदिर बनाने का अत्यंत कठिन प्रयास हुआ है उसमें एलोरा की गुहापरंपरा का विशिष्ट स्थान है। गुप्तकाल के उत्तरवर्ती युगों में निस्संदेह इतना सफल और प्राणवान् मूर्तिनिर्माण का प्रयास दूसरा नहीं हुआ। अजंता की गुफाएँ मौर्य काल के शीघ्र बाद ही काटी जाने लगी थीं और उनके निर्माण का प्रयास, कम से कम चित्रण के क्षेत्र में, चालुक्य राजाओं के शासन तक बना रहा। सही, कि एलोरा के दरीगृहों के निर्माण में सदियाँ लगीं हैं, तथापि उनके संबंध में यह प्रयास काल की दृष्टि से प्रायः एकस्थ हुआ है—पूर्वमध्यकाल से राष्ट्रकूटों के शासनकाल तक। और इन चार पाँच सदियों के भीतर बौद्ध, जैन तथा हिंदू मंदिर बनते चले गए है। संभवतः विश्वकर्मा का बौद्ध मंदिर छठी सदी ईस्वी का है, प्रसिद्ध कैलास मंदिर आठवीं सदी का और शेष जैन और हिंदू मंदिर, प्रायः ६०० ई० और ७५० ई० के बीच के बने हैं। पृष्ठभूमि में सह्याद्रि पश्चिमी घाट की गिरिदीवार उठती दूर तक दौड़ती चली गई है, अग्रभूमि क्षितिज तक फैली हरियाली से ढकी है। प्राचीन इंजिनियरों ने पतली सरिता की धारा मोड़कर कैलास के निकट से कुछ ऐसा घुमाया है कि उसका जल बूँद बूँद कर शिवलिंग पर निरंतर टपकता रहता है जो पिछली १२ सदियों से वैसे ही टपकता रहा है। मंदिरों के प्रसार के अंत में शीतल जल का एक विशाल झरना द्रुत वेग से उनके दक्षिण पार्श्व में गिरता और नीचे के खेतों को सींचता है।

जैसे अजंता की गुफाएँ अपने चित्रों के लिये प्रसिद्ध हैं, वैसे ही एलोरा की गुफाएँ अपनी मूर्तियों के लिये विख्यात हुई। ऐसा नहीं कि अजंता में मूर्तियाँ न हों अथवा एलोरा के चैत्य मंदिरों में चित्र न हों, पर विशेषतः अजंता चित्रप्रधान है और एलोरा मूर्तिप्रधान। मूर्तियों की कला में, उनके वैविध्य और गतिशीलता में एलोरा की मूर्तियों का वही महत्व है जो अजंता में उसके चित्रों का है। गुप्तोत्तर काल में भारतीय कला में मूर्ति-

एवांसविले संयुक्त राज्य, अमरीका के इंडियाना राज्य में ओहायो नदी के तट पर स्थित एक नगर तथा बंदरगाह है। यह वेंडरबर्ग प्रदेश का केंद्र है। संघीय राजमार्ग ४१ तथा प्रादेशिक राजमार्ग ६२, ६५ तथा ६६ यहाँ से होकर जाते हैं। जनसंख्या सन् १९६० ई० में १,४१,५४३ थी। समीपवर्ती प्रदेश कृषि तथा कोयले के उत्पादन में उन्नतिशील है। केवल ५० मील के व्यास में डेढ़ सौ से अधिक कोयले की खदानें हैं। सुविधाजनक स्थिति, रेल एवं जल यातायात की सुविधा होने के कारण यह दक्षिणी इंडियाना का मुख्य वितरण तथा औद्योगिक केंद्र है। व्यापार की मुख्य वस्तुओं में कृषि तथा वातावस्थापन यंत्र, मोटरें, मदिरा, सिगार, वस्त्र, कहवा तथा अन्न है।

यह नगर सन् १८१२ ई० में रॉवर्ट मॉर्गन एवांस के नाम पर स्थापित किया गया था। सन् १८५० ई० में यहाँ की जनसख्या केवल ३,२३५ थी। (श्या० सुं० श०)

एशिया संसार का बृहत्तम महाद्वीप, प्राचीन दुनिया के उत्तर-पूर्व भूभाग पर विस्तृत है; इसके उत्तर-पश्चिम में यूरोप और दक्षिण-पश्चिम में अफ्रीका महाद्वीप स्थित है।

एशिया के नामकरण के संबंध में विभिन्न मत हैं। यूरोप और एशिया दोनों शब्दो की उद्गमभूमि संभवतः ईजियन सागरीय प्रदेश है जहाँ 'आसु' (सूर्योदयकाल) और 'एर्च' (सूर्यास्तकाल) शब्दों का प्रयोग कालक्रम से क्रमशः टर्की और एशिया तथा ग्रीस और यूरोप के भूभागों के लिये प्रारंभ हुआ। संभवतः एशिया के लिये प्रयुक्त होनेवाला 'आसु' शब्द संस्कृत तत्सम 'ऊपा' (सूर्योदयकाल) का स्थानीय तद्भव प्रयोग मात्र है। प्रस्तुत प्रयोग प्रथम स्थानीय भूखंड मात्र के लिये ही प्रारंभ हुआ किंतु कालांतर में समग्र आधुनिक एशिया के भूभाग के लिये प्रयुक्त होने लगा।

एशिया महाद्वीप उत्तर मे लगभग मध्य ध्रुवप्रदेश से लेकर दक्षिण में १३° (दक्षिणी अरब), ६° (श्रीलंका) और १०° (हिंदेशिया) द० अ० रेखाओं तक कुल १,७२,५६,००० वर्ग मील क्षेत्र पर फैला है। महाद्वीप की पूर्वी और पश्चिमी सीमाएँ क्रमशः २६° पू० दे० (बावा अंतरीप) और १७०° प० दे० रेखा (ईस्ट अंतरीप) तक फैली हुई हैं। अतः एशिया ही एकमात्र ऐसा महाद्वीप है जिसकी पूर्वी और पश्चिमी सीमाएँ क्रमशः पश्चिमी और पूर्वी देशांतर रेखाओं को स्पर्श करती हैं। एशिया और यूरोप महाद्वीपों की सीमारेखा भौगोलिक दृष्टि से स्पष्ट निर्धारित नहीं है। रूस पूर्वी यूरोप से लेकर साइवेरिया होते हुए एशिया के सुदूर उत्तर-पूर्व तक विस्तृत है और राजनीतिक मानचित्र पर एशिया-यूरोप के मध्य कोई स्पष्ट सीमारेखा अंकित नहीं है। सामान्यतः यह सीमा यूराल पर्वत के पश्चिमी अंचल से होती हुई दक्षिण में यूराल नदी से कैस्पियन सागर और कैस्पियन से काकेशस पर्वत की शिखरपंक्ति द्वारा कालासागर (ब्लैक सी) से संबद्ध मानी जाती है। कुछ लोग इस सीमा को काकेशस पर्वत के दक्षिणी अंचल से गुजरती हुई मानते हैं।

अतः इस अस्पष्ट सीमारेखा के कारण एशिया महाद्वीप के क्षेत्रफल का सर्वथा शुद्ध मापन नहीं हो सका है। फिर भी एशिया महाद्वीप अपने बृहत् आकार एवं क्षेत्रफल के कारण संसार में बहुत महत्वपूर्ण है। यह कुल १६४° देशांतर रेखाओं और ८५° अक्षांश रेखाओं पर फैला हुआ है और संसार का ⅓ भूखंड इसके अंदर आ जाता है। संसार का कोई भी अन्य महाद्वीप ध्रुव प्रदेश से लेकर भूमध्यरेखीय प्रदेश तक विस्तृत सभी कटिबंधों को समाहित नहीं करता। महाद्वीप के मध्य में स्थित बालकश झील और जुंगेरिया प्रदेश समुद्र से लगभग २,००० मील दूर हैं।

एशिया विषमताओं का महाद्वीप है। यहाँ संसार का सर्वोच्च पर्वतशिखर एवरेस्ट है जिसकी समुद्रतल से ऊँचाई २९,१४१ फुट है और यहीं संसार का सबसे नीचा क्षेत्र मृतसागर (डेड सी) भी है, जो समुद्रतल से १,२९० फुट नीचा है। फिलीपाइन द्वीपसमूह के पास स्थित मिंडनाव गर्त संसार का सबसे गहरा सागरगर्त है। संसार का सबसे गरम तथा सबसे ठंढा स्थान भी यहीं है। जैकोबाबाद (सिंध) का अधिकतम तापक्रम १२६° फा० तथा वरखोयांस्क (साइबेरिया) का न्यूनतम तापक्रम –९०° फा० है। इतना ठंढा होने के कारण वरखोयांस्क को संसार का शीतध्रुव भी कहते हैं। सबसे अधिक और सबसे कम वार्षिक तापांतर भी यहीं पर पाए जाते हैं। सिंगापुर का वार्षिक तापांतर १° फा० तथा वरखोयांस्क का ११९° फा० है। सबसे अधिक वर्षा के स्थान चेरापूँजी की (खासी की पहाड़ियों में) औसत वार्षिक वर्षा ४५८" है। १८७६ ई० में यहाँ केवल २४ घंटे में ४१" वर्षा हुई थी। सबसे कम वर्षावाला स्थान अदन है, जहाँ केवल १.८" वार्षिक वर्षा होती है। अतः संसार में सबसे आर्द्र तथा सबसे शुष्क जलवायु के क्षेत्र भी एशिया ही में मिलते हैं। अन्य महाद्वीपों की अपेक्षा एशिया की औसत ऊँचाई ज्यादा है, परंतु साथ ही यहाँ के मैदान भी अन्य महाद्वीपों के मैदानों की अपेक्षा अधिक समतल हैं। गंगा के मैदान में वाराणसी से समुद्रतट (डेल्टा प्रदेश) तक की ढाल ५" प्रति मील है।

एशिया की जनसंख्या लगभग २,१०,९०,००,००० है, जो संपूर्ण विश्व की जनसंख्या (३,७०,००,००,०००) की ५७ प्रतिशत है। यहाँ जनसंख्या के अधिक घनत्ववाले भागों के साथ साथ कम घनत्ववाले विस्तृत प्रदेश तथा निर्जन मरुस्थल भी है। एशिया को आदिमानव का जन्मस्थान होने का भी सौभाग्य प्राप्त है। यहीं विश्व के सभी बड़े धर्मो का प्रादुर्भाव हुआ है। हिंदू, बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्म यहीं जन्म लेकर फूले फले। एशिया में ६८ मानवजातीय वर्ग मिलते है। इतने किसी भी दूसरे महाद्वीप में नहीं है। यहाँ पर सब तरह के लोग है। एक ओर तो मनुष्य जंगलों में विचरते है, नंगे रहते तथा शिकार कर और जंगली कंद-मूल-फल खाकर निर्वाह करते हैं, दूसरी ओर आधुनिक सभ्य मानव हैं, जो आधुनिकतम साधनों का प्रयोग करते है। यहाँ पर पूँजीवाद तथा साम्यवाद एवं राजतंत्र तथा गणतंत्र सभी फूल फल रहे है।

एशिया की खोज—एशिया विशाल महाद्वीप है। इसके विभिन्न भाग पर्वतों, मरुस्थलों तथा वनों आदि के कारण एक दूसरे से अलग हैं। इसी कारण प्रारंभ में बहुत से प्रदेशों के बारे में लोगों का ज्ञान कम था। मध्ययुग के पश्चात् धीरे धीरे मार्गो का विकास होने पर यूरोप के लोगों ने एशियाई देशों से संपर्क स्थापित किया। इससे पूर्व एशिया निवासियों ने यूरोप की खोज की थी। फिनीशिया (पश्चिमी एशिया) के नाविक भूमध्यसागरीय मार्गो से उत्तरी अफ्रीका तथा ब्रिटेन पहुँचे। दक्षिण-पश्चिम एशियाई प्रदेश एशिया तथा यूरोप के बीच सेतु के समान हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में चीन के हान वंशीय राजाओं ने चीनी साम्राज्य का विस्तार कैस्पियन सागर के समीपस्थ स्थानों तक किया। उधर रोम का साम्राज्य तुर्की तक बढ़ा। तत्पश्चात् यूनानी सेनाएँ सिकंदर महान् के नेतृत्व में सीरिया, ईरान और अफगानिस्तान होती हुई ३२७ ई० पू० में भारत आ पहुँचीं। सिकंदर को विपासा (व्यास) नदी के तट से लौटना पड़ा। उच्च सभ्यता तथा एशिया के निकट बसने के कारण यूनानियों ने एशिया की खोज सर्वप्रथम की। यद्यपि उनका साम्राज्य चिरस्थायी न रहा, फिर भी उन्होंने एशिया पर काफी प्रभाव डाला और स्वयं भी यथेष्ट प्रभावित हुए। मध्ययुग में पूर्व-पश्चिम के संपर्क कम थे। तत्पश्चात् वेनिस प्रजातंत्र ने कुस्तुंतुनिया पर अभियान किया। यूरोप तथा एशियाई देश चीन के बीच संभवतः सर्वप्रथम रेशम का व्यापार आरंभ हुआ। वेनिस के दो व्यापारी निकोलो तथा मेफ़ियोपोलो १२५१ ई० में कुस्तुंतुनिया होते हुए चीन गए। १२५४ ई० में रूब्रुक निवासी विलियम कुवला खाँ के दरवार में पहुँचा। १२७१ ई० में फिर दोनों मेफ़ियो के पुत्र मार्कोपोलो को साथ लेकर, रूमसागर के एशियाई तट पर पहुँचकर स्थलमार्ग से उर्मुज, काशगर, क्युनलुन होते हुए मई, १२७५ ई० में पीकिंग पहुँचे। मार्कोपोलो ने चीन दरबार में नौकरी कर ली। १२९५ ई० में वह वेनिस लौटा। इन यात्राओं से यूरोप तथा एशियाई देशों के बीच संपर्क बढ़ा और रेशम, मसाला, चाय इत्यादि का व्यापार होने लगा। फिर शक्तिशाली तुर्को की बर्बरता के कारण यूरोप तथा एशिया के स्थलमार्गों द्वारा होनेवाला व्यापार २०० वर्षो तक बंद रहा। यूरोप के लोगों ने दूसरे मार्ग ढूँढ़ने प्रारंभ किए। वास्को डि गामा नामक एक पुर्तगाली नाविक समुद्री मार्ग से १४९८ ई० में कालीकट पहुँचा। इसके बाद व्यापारी तथा ईसाई धर्मप्रचारक एशियाई देशों में अधिक संख्या में आने लगे। धीरे-

धीरे व्यापार के उद्देश्य से आए हुए यूरोपीय लोगों ने एशिया के अनेक भागों पर न केवल व्यापारिक केंद्र स्थापित किए, अपितु धीरे धीरे अपना आधिपत्य भी जमा लिया। अंग्रेजों ने भारत, लंका, ब्रह्मा, मलय, हांगकांग आदि स्थानों में, फ्रांस ने हिंदचीन तथा स्याम में और हालैंट ने जावा, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपसमूहों पर अधिकार जमा लिया। उत्तर में रूस ने अपना अधिकार सुदृढ़ किया तथा प्रभावक्षेत्र बढ़ाया। सन् १८६९ ई० में स्वेज नहर खुलने पर यूरोप तथा एशिया के संबंधों में एक नई कड़ी जुड़ी और लोगों ने वास्को डि गामा के उत्तमाशांतरीपवाले मार्ग को त्याग दिया। ट्रांस साइबेरियन रेलवे ने भी यूरोप तथा एशिया के संबंध दृढ़ किए। स्थानाभाव के कारण यहाँ पर एशिया के सभी समन्वेषकों की यात्राओं का वर्णन करना संभव नहीं है। १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों के प्रमुख समन्वेषक रैल्फ़ फ़िच, टामस रो, लावाल तथा टैवर्नियर थे। स्वीडनवासी नूरडेनशल्ड ने १८७८ ई० से १८८० तक उत्तरपूर्वी मार्ग द्वारा यूरोप से बेरिंग जलडमरूमध्य तक यात्रा की। तत्पश्चात् स्वेनहेडिन, सर फ्रांसिस यंगहसबैंड, आरेल स्टाइन, प्रिंस क्रोपाटकिन, एल्सवर्थ हंटिंगटन तथा स्वामी प्रणवानंद ने मध्य एशिया में गहन शोध कार्य किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोपीय साम्राज्यवाद के पैर एशिया से उखड़ गए तथा अब उसका अंत हो गया है।
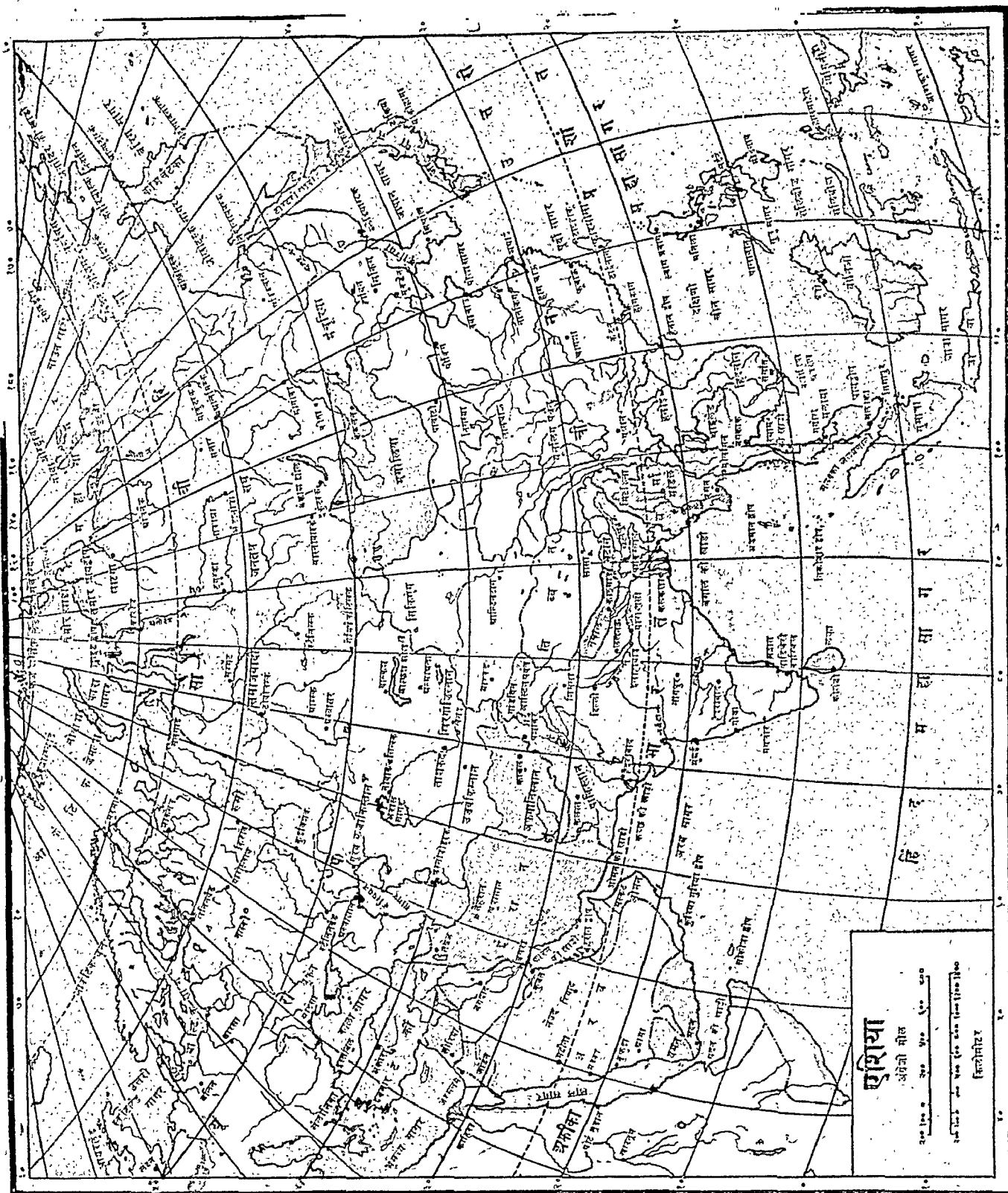
धरातल—एशिया की प्राकृतिक बनावट अपने ढंग की अनोखी है। इसके अंतराल में पर्वतों का विषम जाल बिछा हुआ है। इन हिममंडित पर्वत पंक्तियों की संकुलता के कारण महाद्वीप की भव्यता अतुलनीय हो जाती है। २४,००० फुट से अधिक ऊँचे संसार में कुल ९४ पर्वतशिखरों में से ९२ केवल हिमालय और काराकोरम श्रेणियों में तथा शेष दो अल्ताईपार श्रेणियों में स्थित हैं। संसार की सर्वाधिक विस्तृत नीची भूमि महाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग में फैली है, जहाँ कैस्पियन की नीची भूमि संसार का सबसे बड़ा, समुद्रतल से भी नीचा, शुष्क प्रदेश है। अतः न केवल बृहत् आकार के कारण प्रत्युत विषम प्राकृतिक संरचना के विचार से भी यह महाद्वीप सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

महाद्वीप की विशाल पर्वतपंक्तियाँ दक्षिण-पश्चिम में लालसागर से प्रारंभ होकर सुदूर उत्तर-पूर्व में बेरिंग जलडमरूमध्य तक फैली हुई हैं। एक ओर जहाँ अरब के दक्षिणी समुद्रतट पर १०,००० फुट ऊँचे पर्वत हैं वहाँ दूसरी ओर एशिया माइनर और सीरिया के मध्य स्थित टारस श्रेणियाँ १३,००० फुट से भी अधिक ऊँची हैं जिनमें अकेली अरारात की चोटी (१६,८७३ फुट) स्थित है। पास ही काकेशस श्रेणियों से आबद्ध एलबुर्ज पर्वत १८,००० फुट से भी ऊँचे हैं। कैस्पियन के दक्षिण-पूर्व ईरान की एलबुर्ज श्रेणियों में स्थित देमावेंड शिखर इससे भी अधिक ऊँचा है। दक्षिणी प्राचीन भूभाग में एक ओर जहाँ भारत के दक्षिणी पठार में पर्वतों, घाटियों और छोटे छोटे लगभग समतलीय क्षेत्रों की विषम संकुलता है, वहाँ मलय प्रायद्वीप में उत्तर से दक्षिण सिंगापुर तक पर्वतपंक्तियाँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार एशिया के दक्षिण, मध्य एवं पूर्व से होते हुए सुदूर साइबेरिया तक पर्वतों का अत्यंत विषम जाल बिछा हुआ है। न केवल महाद्वीप भाग ही, *प्रत्युत अधिकांश द्वीपसमूह*—जापान, फारमोसा, हिंदेशिया, श्रीलंका आदि—भी पर्वतसंकुल हैं। अतः महाद्वीप के प्रत्येक भाग में पर्वतश्रेणियाँ बिखरी पड़ी हैं।

महाद्वीप की मुख्य पर्वतश्रेणियाँ १२,००० फुट से भी अधिक ऊँचे विशाल पामीर के पठार (दुनिया की छत) से अष्टबाहु की भुजाओं के समान चतुर्दिक् फैली हुई हैं। ये श्रेणियाँ प्रायः समांतर रूप से पूर्व-पश्चिम दिशा में प्रशांत महासागर से लेकर भूमध्यसागर और कालासागर तक बिछी हुई हैं। एक ओर तो है पामीर से पश्चिम में निकलनेवाली उत्तरी श्रेणियाँ, क्रमशः हिंदुकुश, एलबुर्ज, काकेशस और पौंटिक, तथा दक्षिणी श्रेणियाँ, सुलेमान, किरथर, खुर्दिस्तान, स्कार्प, टारस आदि और दूसरी ओर हैं पूरब में निकलनेवाली अलटाई, थियांशान आदि अपेक्षाकृत प्राचीनतर उत्तरी पर्वतश्रेणियाँ, जो चीन में जाकर लगभग ७०० मील चौड़ी हो गई है। क्युनलुन पर्वत की अगणित श्रेणियों में ही प्रसिद्ध ऊँचा आम्ने माचीन शिखर स्थित है जिसकी रहस्यमयता भूगोलवेत्ताओं के लिये सर्वाधिक आकर्षण का विषय है। लेकिन इनके दक्षिण में भारत की उत्तरी सीमा पर हिमकिरीट की भाँति फैला हुआ संसार का सर्वोच्च विशाल पर्वत हिमालय (हिम-आलय) है, जिसकी महत्ता अतुलनीय है। इसमें स्थित कंचनजंघा, मकालु, धौलागिरि नंगापर्वत आदि २६,००० फुट से अधिक ऊँची चोटियों को भी मात करनेवाला संसार का सर्वोच्च पर्वतशिखर एवरेस्ट (ऊँचाई २९,१४१ फुट) या चामो लुंगमा (संसार की देवी माँ) पृथ्वी के भव्य मस्तक के सदृश शोभायमान है। हिमालय के उत्तर-पश्चिम में हिमालय की लगभग समकक्ष ऊँचाईवाले काराकोरम पर्वत हैं जिनमें संसार का द्वितीय सर्वाधिक उच्च पर्वतशिखर के-२ स्थित है। पास ही इसके समकक्ष ऊँचाईवाले शिखर, चौड़ी चोटी (ब्रॉड पीक) और गशरब्रुम, भी अपना सिर आकाश में उठाए हैं। उत्तर में क्युनलुन तथा दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम में हिमालय-काराकोरम की श्रेणियों से घिरा तिब्बत (औसत ऊँचाई १२,००० फुट) का विशाल, संसार का सर्वोच्च पठार लगभग १,५०० मील लंबे और ८०० मील चौड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त एशिया में अन्य कई विशाल भूभाग भी बहुत ऊँचे हैं। अरब एवं ईरान के ऊँचे विशाल पठार तथा पूर्व में मंगोलिया का ३,००० से ५,००० फुट ऊँचा पठार ऐसे ही क्षेत्र हैं। अफगानिस्तान में पहाड़ों, उच्च भूमियों एवं उनके बीच बीच में स्थित घाटियों का अद्भुत संमिलन है।

न केवल अति ऊँचे, प्रत्युत समुद्रतल से भी निम्न स्थलखंडों का भी एशिया में अधिक विस्तार है। मंगोलिया में समुद्र से सैकड़ों फुट निचाईवाले स्थलखंड मिलते हैं। कैस्पियन तट की धँसी निम्न भूमि भी विख्यात है। किंतु सर्वाधिक धँसा भूखंड बृहत् अफ्रीकीय भूमिभंग (ग्रेट अफ्रिकन रिफ्ट) है जो इजरायल तथा जार्डन के मध्य से गुजरता है और जहाँ मृतसागर का नमक से भरा हुआ तल पास के भूमध्यसागर से १,२९२ फुट नीचे स्थित है।

इन उच्च एवं निम्न भूमि के खंडों के बीच बीच एशिया में विशाल समतल मैदान अवस्थित है। इनमें तुर्किस्तान का मैदानी भाग, उत्तरी ध्रुवसागर के तट का बृहत् मैदान तथा चीन के सुविख्यात पूर्वी मैदान एवं भारत की नदियों के विशाल मैदान प्रसिद्ध है।

एशिया में जहाँ एक ओर सर्वसंपन्न मैदानी भाग हैं वहाँ दूसरी ओर विशाल मरुभूमियाँ भी हैं। अधिकांश ईरान, अरब तथा तुर्किस्तान प्रकृत्या मरुभूमि है। गोबी अथवा शामो का १,००० मील लंबा एवं ६०० मील चौड़ा मरुखंड मंगोलिया के अधिकांश भाग में फैला हुआ है। पाकिस्तान में भी असिंचित क्षेत्रों में अनुर्वर मरुस्थल पाए जाते है।

यही नहीं, महाद्वीप के मध्य भाग में, जो चारों ओर से पर्वतश्रेणियों से घिरा हुआ है, लाखों वर्गमील तक विस्तृत ऐसा क्षेत्र है जहाँ का एक बूँद भी जल अंतर्प्रवाह प्रणाली (इन्लैंड ड्रेनेज सिस्टम) के कारण समुद्र तक नहीं पहुँच पाता।

जलप्रवाह प्रणाली—संसार की बारह सर्वाधिक बड़ी नदियों में से सात नदियाँ एशिया महाद्वीप में प्रवाहित होती है। महाद्वीप के अधिकांश भाग में साधारण जलप्रवाह प्रणाली विकसित है पर मध्य के लगभग ५० लाख वर्ग मील क्षेत्र में अंतर्प्रवाह प्रणाली है। अधिकतर नदियाँ एशिया के पर्वतीय एवं पठारी भाग से निकलकर मुख्यतः हिंद महासागर, प्रशांत महासागर और उत्तरी ध्रुवसागर में जल छोड़ती हैं। हिंद महासागर में गिरनेवाली नदियों में मुख्य हैं दजला, फरात, सिंध, सतलज, रावी, व्यास, चिनाब, झेलम, नर्मदा, ताप्ती, गंगा, ब्रह्मपुत्र, महानदी, इरावदी, सालविन, सितांग, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी। मीनाम, मीकांग, लालनदी, सीक्यांग, यांगसीक्यांग, ह्वांगहो और आमूर नदियाँ प्रशांत महासागर में जल छोड़ती हैं। उत्तरी ध्रुवमहासागर में ओब, यनिसी, लीना, इंडिगिरिका और कोलिया गिरती हैं, सर दरिया और आमू दरिया अरल सागर में। इली नदी बालकश में और तारिम लौपनार झील

में जलप्रवाह करती हैं। इनके अतिरिक्त मानसरोवरादि कुछ छोटी बड़ी झीलें भी हैं।

संचरना और खनिज संपत्ति—एशिया का धरातल यहाँ की भौमिक संरचना एवं इतिहास द्वारा निर्दिष्ट होता है। महाद्वीप में कई विभिन्न विशाल सांरचनिक भूखंड हैं: जैसे दक्षिण में अरब एवं भारत में प्रायद्वीपीय पठारी भाग हैं जिनके नीचे अति प्राचीन कैंब्रियन-पूर्व युगीन मोड़दार पर्वत पड़े हैं। ये क्षेत्र स्थान स्थान पर नए निक्षेपों द्वारा सर्वथा ढक से गए हैं। उत्तरी यूरेशिया में भी ऐसे ही दो भूखंड मिलते हैं: प्रथम तो फ़ेनोस्कैंडियन पठार (शील्ड) है जो वाल्टिक सागर को घेरे हुए है और द्वितीय अंगारा लैंड जो वैकाल झील के उत्तर और पूर्व में अवस्थित है। कुछ ऐसे ही प्राचीन भूखंड चीन में भी मिलते हैं। इन सभी प्राचीन भूखंडों का निर्माण प्राचीन परिवर्तित चट्टानों द्वारा हुआ है।

इन प्राचीन भूखंडों के बीच बीच में मोड़दार पर्वतों की श्रेणियाँ पूर्व-पश्चिम दिशा में विखरी हैं। पुराकल्पीय (पैलियोज़ोइक) और मध्यकल्पीय (मेसोज़ोइक) युगों के अधिकांश काल में इन पर्वतों के स्थान पर टेथिस नामक वड़ा सागर फैला था जो आज के रूमसागर से अधिक लंवा एवं चौड़ा था। इस समुद्र में मिट्टी, वालू आदि की परतों का जमाव हुआ और मध्यकल्प युग के अंतिम काल में, विशेषकर नूतनकल्प (केनोज़ोइक) युग में, परतों का निर्माण हुआ। हिमालय पर्वत इन्हीं पर्वतों में से एक है तथा पृथ्वी का नवीनतम मोड़दार पर्वत है। ऐसी ही पर्वतश्रेणियाँ तुर्की से जापान तक विखरी पड़ी हैं।

एशिया की संरचना का पूरा अध्ययन अभी ठीक से नहीं हो पाया है तथापि वहुमत के अनुसार एशिया को चार सांरचनिक विभागों में वाँटा गया है: प्रथम, अति प्राचीन उत्तरी खंड; द्वितीय, अति प्राचीन दक्षिणी भूखंड; तृतीय अल्पाइन पर्वतश्रेणियाँ और चतुर्थ अवशिष्ट भाग।

इस महाद्वीप में टिन, अभ्रक, ऐंटिमनी तथा टंग्स्टन दूसरे महाद्वीपों से अधिक मिलते हैं। मैंगनीज़, ताँवा, चाँदी और सोना भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। मिट्टी के तेल का भांडार यहाँ सर्वाधिक है। अन्य खनिजों में लोहा एवं कोयला उल्लेखनीय हैं।

जलवायु—एशिया के भूपुंज की विशालता का मुख्य प्रभाव उसकी जलवायु पर सर्वाधिक पड़ता है। इसके सागरप्रभावित तटीय प्रदेश और स्थलप्रभावित देशाभ्यंतर प्रदेश जलवायु में एक दूसरे से वहुत भिन्न हैं। वर्षा तथा तापक्रम की विषमता चरम सीमा तक पहुँच जाती है। उत्तरी अमरीका के समान अक्षांशोंवाले प्रदेशों की अपेक्षा यहाँ अधिक शीत पड़ती है। मलय के विपुवत्‌रेखीय जलवायु से लेकर, ध्रुवप्रदेशीय हिमानी जलवायु तक के सव प्रकार की जलवायुवाले प्रदेश एशिया में मिलते हैं। इतने वृहत् आकार तथा महान् धरातलीय अंतरों के कारण जलवायु में इस प्रकार का वैभिन्य स्वाभाविक ही है। वर्षा की विषमता भी उल्लेखनीय है। यहाँ वर्ष में एक इंच या उससे कम से लेकर ४५० इंच तक वर्षा होती है। अत्यधिक वर्षा वहाँ होती है जहाँ प्रवहमान हवाओं के रास्ते में पहाड़ और पर्वत आ जाते हैं, जैसे भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में। शुष्कतम प्रदेश पर्वतों के पृष्ठदेश में मिलते हैं, जैसे पश्चिमी चीन में ईरान से मंगोलिया तक का पठारी प्रदेश जो एशिया के दो विशाल भिन्न जलवायु प्रदेशों को पृथक् करता है। उत्तर तथा पश्चिम में स्थलीयता द्वारा कुछ प्रभावित शीतोष्ण पछुवाँ वायु अपना प्रभाव डालती है। दक्षिणी तथा पूर्वी भाग में मानसूनी जलवायु मिलती है। यहाँ शीत ऋतु में शुष्क वायु स्थल से सागर की ओर वहती है तथा ग्रीष्म में सागर से स्थल की ओर आती है और वृष्टि होती है। मानसूनी प्रदेश सिंध घाटी से मध्य आमूर नदी तथा दक्षिणी कमचटका तक और अंदर की ओर तिव्वत तथा मंगोलिया के किनारे तक फैला हुआ है। इसके दक्षिण में एक छोटे भाग पर विपुवत्‌रेखीय जलवायु मिलती है। मध्य तथा पश्चिमी एशिया शुष्क है। एशिया के शीतोष्ण मरुस्थल ५०° उ० अ० पर ध्रुवप्रदेशीय नदियों के उद्‌गम के निकट से लेकर पश्चिम की ओर कैस्पियन सागर के उत्तरी भाग तक फैले हैं। शीतप्रदेश के अंतर्गत एशिया के टुंड्रा, टैगा तथा घास के उत्तरी मैदान आते हैं। भारतवर्ष का थार तथा अरव आदि उष्ण मरुस्थल प्रदेश के अंतर्गत हैं। साइवेरिया की शीतकाल की कड़ी ठंढ प्रसिद्ध है। लीना डेल्टा का औसत तापमान वर्ष भर १° फा० रहता है। वर्खोयांस्क विश्व का शीतलतम स्थान है। जनवरी भर यहाँ का औसत तापमान –५९° फा० रहता है, यह –९४° फा० तक भी पहुँच चुका है। कहते हैं, यहाँ जिस भी दिशा से वायु आएगी वह यहाँ की वायु से गरम होगी। इसके विपरीत दक्षिण-पश्चिम एशिया अत्यंत उष्ण प्रदेश हैं। मध्य अरव में वार्षिक वाष्पीकरण १६० इंच है। दिन में वालू अत्यंत गरम हो जाने के कारण यात्रियों के कारवाँ रात्रि में तारों के सहारे चलते हैं। इसी कारण यहाँ के लोगों में ज्योतिष से यथेष्ट प्रेम है। भारत की भीषण गर्मी के सामने चंगेज़ ख़ाँ के योद्धा यहाँ रुक न सके। यही एकमात्र शत्रु था जिसका सामना वे नहीं कर सके।

यहाँ की मानसूनी जलवायु मुख्य रूप से उल्लेखनीय है जिसमें छह महीने उत्तर-पूर्वी तथा छह महीने दक्षिण-पश्चिमी एवं दक्षिण-पूर्वी वायु चलती है। मानसून जलवायु भारत में पूर्णतया विकसित है, कुछ कम चीन में, और अन्यत्र नाममात्र है। जिस वर्ष मानसून से पर्याप्त पानी नहीं वरसता उस वर्ष भारतीय कृषि की हानि होती है। दक्षिणी चीन तथा जापान के तटीय मानसूनी प्रदेशों में टाइफ़ून (भयंकर आँधी) चलते हैं।

संपूर्ण साइवेरिया की वार्षिक वर्षा २०" से अधिक नहीं है। उत्तर में यह १०" से भी कम है तथा तुर्किस्तान के अधिकतर भाग में ४" से भी कम है। दक्षिण तथा पूरव में अधिक वर्षा की पट्टी दक्षिणी चीन, ब्रह्मदेश, हिंदचीन, भारत के कुछ भाग एवं मलय में फैली है। मलय में केवल एक घंटे की वर्षा शुष्क नदी नालों को वेगवान रूप दे देती है। वर्खोयांस्क का वार्षिक तापांतर १००° से भी अधिक है परंतु मलय के कुछ भागों में यह अंतर विगत एक शताव्दी में कभी भी १०° से अधिक नहीं हुआ। मौसमी तापांतर विपुवत्‌रेखीय प्रदेश से उत्तर-पूर्वी आंतरिक प्रदेश की ओर उत्तरोत्तर वढ़ता जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पति प्राकृतिक वातावरण का प्रत्यक्ष रूप है। एशिया महाद्वीप का उत्तरी ठंढा भाग साधारणतया टुंड्रा तथा कोणधारी वृक्षों के जंगलों या टैगा से आच्छादित है तथा भूमध्यरेखीय एवं उष्ण कटिवंधीय मानसूनी जंगल भूमध्यरेखा के पास के स्थानों में फैले हैं। महाद्वीप के आंतरिक भागों में मरुदेशीय एवं पर्वतीय वनस्पतियाँ मिलती हैं। विभिन्न भूभागों की वनस्पतियों में वड़ी गहन विषमता है। स्थान स्थान पर मनुष्य के कार्यों ने प्राकृतिक वनस्पति को परिवर्तित सा कर दिया है, और कुछ स्थानों पर उसके तथा उससे संवद्ध जानवरों, जैसे वकरियों इत्यादि के विनाशकारी कार्यों ने प्राकृतिक वनस्पति का सर्वथा विनाश कर डाला है। भिन्न जलवायुवाले दो वृहत् एवं प्राकृतिक वनस्पतियों से परिपूर्ण भूखंडों में पहला उत्तरी वनखंड टैगा है जो संपूर्ण साइवेरिया के मध्योत्तरी भाग में फैला हुआ है और संसार का सवसे वड़ा एक ही प्रकार की प्राकृतिक वनस्पतिवाला भूखंड है। दूसरा प्राकृतिक वनस्पतिवाला भूभाग उष्ण एवं उपोष्णकटिवंधीय मानसूनी क्षेत्रों में फैला है। किंतु यहाँ अपेक्षाकृत अधिक विषमता एवं खुलापन है। इनका विस्तार चौड़ी पत्तियोंवाले सदावहार वृक्षों तथा वायुशिफ (मैंग्रोव) के समुद्रतटीय जंगलों से लेकर भारत के पश्चिमी भाग में स्थित काँटेदार झाड़ियों एवं मरुभूमीय जंगलों तक है। इन दो वृहत् वनस्पतिखंडों के अनंतर उल्लेख्य मध्यवर्ती स्टेप्स के मैदान हैं, तदनंतर मध्य एशिया तथा आसपास फैली पर्वतश्रेणियाँ एवं उनमें स्थित घाटियाँ हैं, शेष वंजर पठार आदि हैं। गंगा, सिंधु तथा ह्वांगहो आदि नदियों के मैदानी भाग में स्वार्थी मनुष्य के विनाशकारी कार्यों के कारण वनस्पति के छोटे छोटे विखरे खंड रह गए हैं। जंगलों की पंक्तियाँ नदियों के किनारे फैली मिलती हैं। एशिया के इन विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक वनस्पतिखंडों से कुछ आर्थिक महत्व के पौधे संसार को प्राप्त हुए हैं जिनमें चाय, धान और गन्ना भारत से, सेव एवं नाशपाती कैस्पियन क्षेत्र से तथा आड़ू, खुवानी एवं नारंगी चीन से प्राप्त हुए हैं।

जीवजंतु—वृहत् विस्तार, जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति की अत्यधिक विविधता तथा विषमता के कारण महाद्वीप में अनेक तरह के जीवजंतु पाए जाते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण जंतु सदा के लिये विनष्ट

हो गए हैं। महाद्वीप के जीवजंतुओं में हिमयुग के अनंतर प्रचुर परिवर्तन हुए हैं, जैसा अस्थि अवशेषों के अध्ययन से सुस्पष्ट है। विभिन्न प्रकार की विनष्ट पशुजातियों में कंदरावासी रीछ (केव बेयर), भेड़िया, लकड़बग्घा तथा विशालकाय गैंडे प्रमुख हैं। हाल में प्राप्त अवशेषों में बलूचीथीरियम की अस्थियाँ उल्लेखनीय हैं। गैंडे की आकृति का यह जंतु पृथ्वी का सर्वाधिक बड़ा जंतु था और इसके कंधे तक की ही ऊँचाई अठारह फुट तक होती थी। कुछ अन्य प्रकार के जंतु भी तेजी से विनष्ट हो रहे हैं जिनमें जंगली भैंसा एवं सिंह मुख्य हैं। एशिया महाद्वीप बहुत से वर्तमान पशुओं के विभिन्न वंशों की जन्मभूमि भी रहा है। उनमें से सर्वाधिक उपयोगी घोड़ा है, जिसे घुमक्कड़ जातियों ने लगभग ५,००० वर्ष पहले पालतू बनाया। एशिया ही जंगली गदहे की भी जन्मभूमि है। एशिया माइनर बकरी का प्रथम निवासभूमि माना जाता है। दो कूबड़वाले ऊँट एवं याक आदि की भी उत्पत्ति इसी महाद्वीप में हुई थी। याक तिब्बत का पशु है जिससे न केवल मक्खन, मांस एवं चमड़ा मिलता है, प्रत्युत यह बोझ ढोने के लिये भी अत्यंत उपयोगी है। इस देश में पालतू बनाए गए जंगली जानवरों में सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक उपयोगी भारतीय बैल है। उत्तरी साइबेरिया एवं टुंड्रा प्रदेश के लिए रेनडियर अनिवार्य जानवर है। पामीर क्षेत्र में पाई जानेवाली पहाड़ी भेड़, ओविसपोलो, अपने विशाल एवं अनेक शाखायुक्त सींगों के लिए प्रसिद्ध है। महाद्वीप में अनेक प्रकार के लंगूर पाए जाते हैं। भारत, ब्रह्मदेश एवं मलाया के विभिन्न वन्य प्रदेशों में हाथी बहुतायत से मिलते हैं। यहाँ के हाथी बड़ी सुगमता से पालतू और शिक्षित हो जाते हैं। वैभव एवं राजसी ठाट के ये प्रमुख चिह्न तो हैं ही, प्रशिक्षण के उपरांत श्रम और सेवा संबंधी विभिन्न कार्यों में ये विशेष उपयोगी भी सिद्ध हुए हैं। महाद्वीप में तीन प्रकार के गैंडे मिलते हैं। दक्षिण-पश्चिमी एशिया एवं पड़ोसी अफ्रीका में संबद्ध वंश के बहुत से जानवर मिलते हैं। लकड़बग्घा न केवल अफ्रीकी मैदानों में प्रत्युत भारत में भी बहुत मिलता है। भालू, चीते, तेंदुए तथा भेड़िए बहुतायत से पाए जाते हैं। भालुओं में सबसे बड़ा ध्रुवप्रदेशीय भालू होता है जो उत्तरी प्रदेशों में पाया जाता है। मांसाहारी जीवों में सर्वप्रथम बाघ है जो एशिया के अतिरिक्त किसी भी अन्य महाद्वीप में वन्य अवस्था में नहीं पाया जाता। लेकिन एशिया के जंतुओं में संभवतः सर्वाधिक विचित्र जानवर विशालकाय पंडा है जो आंतरिक चीन के पर्वतीय क्षेत्रों में मिलता है। इसका मुख्य भोजन बाँस की पत्तियाँ आदि हैं लेकिन इस साधारण भोज्य सामग्री पर भी उसका वजन ३५० पौंड तक होता है। दक्षिणी एशिया में बंदरों की अनेक जातियाँ बिखरी हैं। मलय का वनमानुष (गिबन) ही केवल एक ऐसा मनुष्येतर जंतु है जो मनुष्य की तरह सीधा खड़ा रह सकता है।

महाद्वीप में विविध प्रकार के पक्षी भी प्रचुरता से पाए जाते हैं जिनमें वन्यकुक्कुट (मुर्ग), बगुला तथा गिद्ध अधिक प्रसिद्ध हैं। मोर नामक सुंदर पक्षी प्राच्य बागों का सौंदर्यपक्षी है। बाज राजा महाराजाओं का प्रिय आखेटपक्षी रहा है। दक्षिण एशिया में विषैले तथा साधारण साँपों की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। जलचर जंतुओं में घड़ियाल प्रसिद्ध है जो भारत की नदियों में बहुत पाया जाता है। महाद्वीप के निकटवर्ती समुद्रों एवं आंतरिक जलखातों, नदियों, झीलों और तालाबों में अनेक तरह की मछलियाँ मिलती हैं। चीन में सुनहरी मछली मिलती है।

जनसंख्या तथा आर्थिक विकास संबंधी समस्याएँ—एशिया न केवल क्षेत्रफल प्रत्युत जनसंख्या की दृष्टि से भी महत्तम महाद्वीप है। कई क्षेत्रों में जनगणना न होने से महाद्वीप की जनसंख्या का ठीक आकलन नहीं हो सका है, परंतु १९७४ में यहाँ अनुमानतः २,१०,६०,००,००० जनसंख्या हो गई है। इस प्रकार संसार के स्थलभाग के एक तिहाई क्षेत्रवाले एशिया महाद्वीप में संसार के ५७ प्रतिशत व्यक्ति रहते हैं। लेकिन इस विशाल जनसंख्या का महाद्वीप के विभिन्न भागों में अत्यंत असमान वितरण है। यदि कुछ क्षेत्रों में आबादी अत्यंत घनी है तो कुछ क्षेत्र अति विरल और कुछ लगभग जनशून्य भी हैं। महाद्वीप की आधी से भी अधिक आबादी केवल दो वृहत् भूखंडों में निवास करती है : प्रथम, चीन (१९७१ में जनसंख्या अनुमानतः ७५,००,००,०००) तथा द्वितीय, भारतीय उपमहाद्वीप जिसमें भारत (१९७१ में जनसंख्या ५४,७३,६७,९२६), पाकिस्तान (१९७१ में जनसंख्या ६,८०,००,०००) तथा बांगलादेश (१९७१ में जनसंख्या ७,१०,००,०००) हैं। तीन अन्य क्षेत्रों में भी घनी आबादी पाई जाती है—प्रथम जापान (१९७० में १०,३७,२०,०००), द्वितीय जावा (१९७१ में ७,९८,४६,०००) एवं तृतीय श्रीलंका (१९७१ में अनुमानतः १,३०,००,०००)। इनमें औसत घनत्व क्रमशः २७५, ५०० एवं १७९ व्यक्ति प्रति वर्ग कि० मी० है।

एशिया में ऐसे कई विशाल भूखंड हैं जहाँ बस्ती अत्यंत विरल है। दो तिहाई क्षेत्रफल में महाद्वीप की कुल जनसंख्या का केवल दशमांश निवास करता है। ऐसे विरल भूखंडों में दक्षिण-पश्चिम एशिया, सोवियत एशिया एवं उच्चधरातलीय भाग हैं। इस प्रकार की कम आबादी के मुख्य कारण इन भूभागों में जलवायु की शुष्कता, शीताधिक्य अथवा उनके अत्युच्च विषम धरातल हैं। अरब प्रायद्वीप के वृहत् भूखंड (लगभग १० लाख वर्ग मील) में केवल एक करोड़ मनुष्य रहते हैं। इस प्रदेश का जनघनत्व मात्र १० है। वैसे ही साइबेरिया के विशाल भाग का प्रति वर्गमील घनत्व पाँच से भी कम है और मध्य एशिया के अधिकांश में तो यह घनत्व एक से भी कम हो जाता है। जावा को छोड़कर पूर्वी द्वीपसमूहों का भी प्रति वर्गमील घनत्व का औसत २५ ही है। जनसंख्या के इस असमान वितरण से यह ज्ञात होता है कि कृषियोग्य भूमि के अनुसार ही इस महाद्वीप में जनसंख्या का घनत्व कम या अधिक पाया जाता है। दक्षिण एवं पूर्वी भागों में स्थित घनी आबादीवाले अधिकांश भूखंड जलोढ द्वारा निर्मित मैदानी भाग है। एशिया महाद्वीप के लगभग सभी देश कृषिप्रधान हैं और सर्वाधिक जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में बसी है। नगरों एवं उद्योग धंधों का विकास एशिया महाद्वीप में थोड़े समय से ही प्रारंभ हुआ है परंतु इनके विकास की गति बड़ी तीव्र हो गई है। १९४१ तक भारत में केवल दो ही वृहत् नगर (दस लाख जनसंख्यावाले) थे, लेकिन १९७१ में इनकी संख्या नौ (कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, मद्रास, बँगलोर, अहमदाबाद, हैदराबाद, कानपुर तथा पूना) हो गई। दक्षिण-पूर्वी एशिया में १९४५ के बाद छह वृहत् नगर विकसित हुए जिनके नाम जाकार्ता, मनिला, साइगान, बैंकाक एवं सिंगापुर हैं।

महाद्वीप के विभिन्न भागों में पाई जानेवाली जातियों के विस्तार में पर्वतों के पृथक्कारी कार्य का महत्वपूर्ण हाथ रहा है जो महाद्वीप की दो वृहत् मानव जातियों—मंगोलों एवं इंडो-यूरोपियनों—को स्पष्टतया पृथक् करते हैं। मध्य एशिया के पठार संभवतः मध्यकल्पिक काल से ही स्थलीय भाग रहे हैं और हिमालय का निर्माणकार्य प्रारंभ होने के पहले ही इनका स्थलीय विकास हो चुका था। अतः यह सिद्धांत सर्वथा सत्य एवं तथ्यपूर्ण लगता है, जैसा पुरातत्वीय खोजों से भी सिद्ध हो चुका है, कि मध्य एशिया ही संसार के स्तनधारी जीवों का विकासक्षेत्र है एवं यहीं से उनका चतुर्दिक् विकेंद्रीकरण हुआ। इन स्तनधारी जीवों में से ही मानव भी एक जीव है जिसका विकास संभवतः मध्य एशिया के किसी क्षेत्रविशेष में तृतीय युग में हुआ। संभवतः हिमयुग के प्रादुर्भाव के कारण मध्य एशिया में भी जलवायु मनुष्यों के निवास के प्रतिकूल हो गई जिससे उन्हें देशांतर जाना पड़ा। हिमयुगों के अंतिम काल में मध्य एशिया की जलवायु आज की अपेक्षा संभवतः अत्यधिक आर्द्र थी। लेकिन धीरे-धीरे कालक्रम से जलस्रोत सूखते गए। जलवायु की शुष्कता बढ़ती गई। फलतः वहाँ के निवासियों को बाध्य होकर धीरे धीरे नए देशों की खोज में बाहर जाना पड़ा। जैसा हैडन ने लिखा है, प्रागैतिहासिक काल के प्रव्रजनों में नॉडिक (उत्तरी यूरोप के निवासी) जाति के लोगों ने मध्य एशिया से पश्चिम की ओर, मंगोल जातिवालों ने दक्षिण-पूर्व की ओर तथा अल्पाइन जातिवालों ने तुर्किस्तान से एशिया माइनर होते हुए मध्य दक्षिणी यूरोप की ओर प्रस्थान किया।

आजकल महाद्वीपों में अनेक जातियाँ, उपजातियाँ पाई जाती हैं और हजारों वर्षों के अंतर्मिश्रण के कारण जातियों, उपजातियों के इतने छोटे छोटे विभाग एवं समूह हो गए हैं जिनको मुख्य भागों में विभाजित करना दुष्कर हो गया है। हैडन ने मानव जाति के तीन मुख्य विभाग किए हैं : यूलोत्रिकी, साइमोत्रिकी और लाइओत्रिकी। महाद्वीप में स्थित यूलोत्रिकी

जातिविभाग में कुछ अत्यंत पिछड़ी हुई नाटे कदवाली जातियाँ आती हैं जिनमें अंडमान निवासी, मलय एवं सुमात्रा के सेमांग, फिलीपाइन द्वीपसमूह के ऐटा तथा न्यूगिनी के पैपुआ जातिवाले प्रमुख हैं।

कपालरचना के आधार पर साइमोलिकी जाति के तीन प्रमुख विभाग एवं शरीर के रंग के विचार से पुनः उपविभाग किए गए हैं : प्रथम लंबे सिरवाले लोगों में डालिकोसिफ़ालिक हैं जिनका रंग गहरा भूरा एवं काला होता है। इनमें श्रीलंका के वेद्दा, मलय, सुमात्रा तथा सेलिबीज़ द्वीपों की प्राग्द्रविड़ जातियाँ एवं भारत के द्रविड़ जातिवाले प्रमुख हैं, तथा कुछ हल्के रंगवाली जातियों में उत्तरी भारत एवं दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के अधिकांश भागों में निवसित इंडो-अफ़गानी, अरब, यहूदी एवं पूर्वी द्वीपसमूह के निवासी इंडोनेशियन जातिवाले हैं। मेसाटीसिफ़ालिक अर्थात् साधारण सिरवाली जातियों में जापान के निवासी ऐनू तथा चौड़े सिरोंवाली जातियों में ब्रैकीसिफ़ालिक आर्मीनियन सर्वप्रमुख हैं। द्वितीय वृहत् विभाग लाइओत्रिकी का मुख्य चिह्न सीधा सिर है जो समग्र उत्तरी एवं पूर्वी एशिया के निवासियों में पाया जाता है और जिनके सीधे बाल पीले या पीले-भूरे मिश्रित रंगों के होते हैं। आँखों की बनावट आदि में अंतर होते हुए भी साधारणतया ये मंगोल जाति के कहलाते हैं। इन विभेदों के अनुसार प्रमुख उपजातियों में निम्नलिखित जातियाँ मुख्य हैं—प्रथम, उत्तरी साइबेरिया निवासी; द्वितीय, तुंग एवं मांचु; तृतीय, चीनी (मुख्य चीन के निवासी); चतुर्थ, तुर्क; पंचम, पश्चिमी साइबेरिया के निवासी, उग्रियन; तथा षष्ठ, तिब्बतचीन के मिश्रित लोग जिनमें मलय जातिवाले भी संमिलित हैं।

जनसंख्या की अधिकता का भार खाद्य के साधनों अथवा अप्रत्यक्ष रूप में कृपियोग्य भूमि पर पड़ता है। प्राचीन सभ्यता एवं निम्न स्तर के जीवन के कारण निरंतर बढ़ते बढ़ते महाद्वीप की वर्तमान जनसंख्या संतृप्ति की सीमा को भी पार कर रही है।

पहले प्राकृतिक दुर्योग, जैसे दुर्भिक्ष, महामारी अथवा युद्ध आदि जनसंख्या की निरंतर वृद्धि को नियंत्रित करते थे, परंतु आजकल इन दुर्योगों पर मनुष्यों ने स्वयं नियंत्रण कर लिया है, फलतः जनसंख्या अबाध गति से बढ़ती जा रही है। एशिया का दो तिहाई भाग अपने साधनों के संभावित विकास के अनुमान में विरल बसा है। महाद्वीपों के घने बसे हुए क्षेत्रों में, जहाँ से कुछ देशांतरगमन हुआ है, भूमि की जनसंख्या का भार बहुत कम हल्का हुआ है। लेकिन इधर एशिया निवासियों के अंतर्महाद्वीपीय स्थानांतरण पर संबंधित राष्ट्रों द्वारा कुछ रोक लगा दी गई है।

वातावरण की भिन्नताओं एवं विषमताओं के अनुरूप ही महाद्वीप में अनेक प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक सभ्यता तथा संस्कृति के स्तर भी पाए जाते हैं—एक ओर सर्वथा पिछड़ी हुई जातियाँ हैं जो अब तक सभ्यता के प्राथमिक चरण पर भी नहीं पहुँच पाई हैं तो दूसरी ओर समाजवाद एवं एकाधिकारात्मक पूँजीवाद के अत्यंत विषम संगठन विकसित हैं। वर्तमान आवागमन एवं संवादसंवहन के साधनों के विकास के फलस्वरूप अस्थिरवासी तथा स्थायी संस्कृतियों की विषमता दिन प्रति दिन घट रही है। चरचित्र, रेडियो तथा सर्वोपरि मोटर बसों के विकास के कारण विभिन्न भागों की निर्जनता एवं एकाकीपन समाप्तप्राय होता जा रहा है।

प्राकृतिक वातावरण एवं सामाजिक विकास के आधार पर एशिया के छह वृहत् विभाग किए जा सकते हैं : दक्षिण-पश्चिम एशिया, दक्षिण-एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, पूर्वी एशिया, सोवियत एशिया एवं उच्च एशिया। इन सभी भूभागों में प्रचुर सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं। इन क्षेत्रों में कालांतर से चल रही कृपिप्रधान एवं आत्माश्रित आर्थिकता को खींचकर अंतरराष्ट्रीय बाजारों से संबद्ध कर देने के विविध दुष्परिणाम भी हुए। अनेक क्षेत्रों में सामूहिक कृपि ने वैयक्तिक परिवारों को बड़े पैमाने के आर्थिक धंधों के स्तर पर ला दिया। संपूर्ण समाज का समाज प्राचीन एवं नवीन संसार के सर्वथा विभिन्न आर्थिक प्रयत्नों के पथ में अरसे से भटकता रहा है और किसी किनारे पर अब तक पूर्णतया स्थिर नहीं हो सका है। बर्मा एवं पाकिस्तान जैसे देशों में गौण कृपि उद्योग-धंधों पर जोर देकर कल्याण के मार्ग ढूँढ़ने के प्रयत्न हो रहे हैं। एशिया महाद्वीप के कृषकों की अत्यल्प क्रयशक्ति उद्योगीकरण के मार्ग में संभवतः सबसे बड़ी कठिनाई है। अतः क्रयशक्ति को बढ़ाने की समस्या संप्रति महाद्वीप की सबसे बड़ी समस्या है। महाद्वीप के विभिन्न देशों, जैसे चीन, भारत आदि, ने आर्थिक विकास के लिये योजनाएँ बनाई हैं और इस दिशा में विशेष प्रगति की है।

यद्यपि महाद्वीप के सामाजिक जीवन की परंपराओं एवं रीतिरिवाजों में अधिक परिवर्तन नहीं हो सके हैं, और जो परिवर्तन हो भी रहे हैं वे बहुत धीमी गति से, तथापि शताब्दियों से विदेशी प्रभावों के कारण अंतरराष्ट्रीय बाजारों के चक्र में पड़कर उसके आर्थिक संगठन में प्रचुर परिवर्तन हुए हैं। द्वितीय महायुद्ध एवं परवर्ती क्रांतिकाल में महाद्वीप के राजनीतिक क्षेत्रों में भी कई एक परिवर्तन हुए। राष्ट्रीयता की भावनाओं एवं क्रांतियों के कारण लगभग ५० करोड़ मनुष्यों को स्वतंत्रता मिली है। रूस ने अंतर्युद्धकाल में आर्थिक जीवन की कायापलट कर दी है और इस शताब्दी के अंत तक अपनी आर्थिक समस्याओं को सुलझा लेने के पथ पर वह निरंतर आगे बढ़ रहा है। जापान के भविष्य में कुछ अनिश्चितता है पर पिछले साठ वर्षों की व्यापक समुन्नति ने जापान को अत्यंत महत्वपूर्ण शक्ति बना दिया है। भारत ने योजनात्मक ढंग से प्रगति का मार्ग अपनाया है तथा पड़ोसी पाकिस्तान भी अपने सीमित साधनों के अनुसार अपनी विषम समस्याओं को सुलझाना चाहता है। इस प्रकार एशिया महाद्वीप के सभी देश अपने आर्थिक संगठन तथा कृषि एवं उद्योग धंधों को योजनात्मक ढंग से विकसित करके प्रगति के मार्ग पर बढ़ते दृष्टिगत होते हैं। (शां० ला० का०)

एसेनी लगभग दूसरी सदी ई० पू० में एसेनी नामक यहूदी साधु संप्रदाय की स्थापना हुई। एसेनी का शाब्दिक अर्थ है 'मौन रहनेवाला', 'धर्मनिष्ठ' या 'संन्यासी'। सीरिया, फिलिस्तीन, मिस्र एवं उत्तर अफ्रीका के अन्य देशों में वनों और पर्वतों के निकट झरनों और नदियों के किनारे इनकी बस्तियाँ होती थीं। इतिहास लेखक फ़ीलो इनकी तुलना भारतीय संतों के साथ करता है। स्त्राबो उनको 'दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का संघ' कहता है।

एसेनी साधुओं की जमात में या तो छोटे बालकों को लिया जाता था या युवावस्था पार किए हुए उन लोगों को जिन्हें सांसारिक भोगविलास की ओर अधिक आकर्षण न रह गया हो। दीक्षित होने से पूर्व उन्हें अपनी समस्त धन संपत्ति साधुकुल को दे देनी पड़ती थी। तीन वर्ष तक उन्हें उपवास और व्रत रखकर मन और इंद्रियों की साधना करनी पड़ती थी। दीक्षा से पहले उन्हें प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि :

"मैं सदा ईश्वरनिष्ठ रहूँगा। मनुष्य मात्र के प्रति न्याय का व्यवहार करूँगा। किसी प्रकार की हिंसा न करूँगा। किसी को हानि न पहुँचाऊँगा। सब प्रकार की बुराइयों से दूर रहूँगा। बड़प्पन और अभिमान की भावना से बचूँगा। सचाई का सदा पालन करूँगा। पाप की कमाई से बचूँगा। जमात के कुलपति से अपनी कोई बात न छिपाऊँगा, न जमात के रहस्य को किसी बाहरी व्यक्ति पर प्रकट करूँगा।"

एसेनी साधु आजीवन अविवाहित रहते थे। वे संयम तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। एसेनियों की साधु बस्तियों का प्रबंध कुलपति करता था। व्यक्तिगत संपत्ति रखने का किसी को अधिकार न था। समस्त संपत्ति जमात की होती है। सबका एक ही जगह भोजन बनता था और सब एक साथ बैठकर भोजन करते थे। प्रत्येक एसेनी को अनिवार्य रूप से प्रतिदिन कुछ घंटे शारीरिक श्रम करना पड़ता था। इस श्रम के अंतर्गत खेती करना, कपड़ा बुनना और भोजन बनाना आदि कार्य संमिलित थे। निजी काम के लिये नौकर या दास रखना पाप समझा जाता था। पवित्र जीवन, दीन दुखियों की सेवा, शरीरश्रम और योगसाधन को एसेनी आत्मोन्नति के चार मुख्य आधार मानते थे। मांस और मदिरा को वे छूते तक न थे। पानी के सिवाय वे अन्य कोई पेय नहीं पीते थे। भोजन के आरंभ तथा समाप्ति पर वे ईश्वर को धन्यवाद देते थे। एसेनी सूर्य को ईश्वर की दिव्य ज्योति का भौतिक चिह्न मानते थे। उपासना के समय सदा सूर्य की ओर

मुँह कर लेते थे। बालार्णव का उदय होते ही वे उसकी ओर मुँह करके यहूदियों के प्रसिद्ध मंत्र 'शेमा' का उच्चारण करते थे। अपने चरित्र और तत्वज्ञान के लिये आसपास के संसार में वे बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

ईसा के जन्म के समय एसेनी साधुओं की संख्या इतिहास लेखक यूसुफ के अनुसार ४,००० से अधिक थी किंतु ईसा से लगभग सौ वर्ष बाद यह साधुसंप्रदाय लुप्तप्राय हो चुका था।

सं०ग्रं०—जी०टी० वेट्टानी : हिस्ट्री ऑव जूडाइज्म ऐंड क्रिश्चियानिटी (१८८२); वि० ना० पांडे : यहूदी धर्म और सामी संस्कृति (१९५४); एच० ग्रैज : हिस्ट्री ऑव द ज्यूज (१९०४)। (वि० ना० पां०)

एस्कानावा यह संयुक्त राज्य अमरीका के मिशिगन राज्य में एक प्रसिद्ध बंदरगाह है जो समुद्रतल से ६१२ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसका जलीय अग्रभाग नोकेट की खाड़ी पर लंबाई में आठ मील प्रशस्त है। यह रेलों द्वारा शिकागो, मिलवाकी, सेंटपाल तथा सुपीरियर झील के बंदरगाहों से मिला हुआ है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। यहाँ से कच्चे लोहे, लकड़ी तथा मछलियों का निर्यात होता है और अनेक प्रकार के कागज, रासायनिक द्रव्य तथा नल आदि बनाए जाते हैं। ग्रीष्मकाल में इसकी जलवायु बड़ी सुरम्य रहती है। निकटवर्ती क्षेत्रों के प्राकृतिक सौंदर्य भी आकर्षक हैं तथा यहाँ नौकाविहार और मछली मारने की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं; अतः एस्कानावा एक बड़ा क्रीड़ाकेंद्र बन गया है। यहाँ प्रत्येक वर्ष राज्य सरकार की ओर से एक मेले का आयोजन किया जाता है। इस नगर का प्रादुर्भाव सन् १८४६ ई० में हुआ था, सन् १८६६ ई० में इसे ग्राम तथा सन् १८८३ ई० में नगर की श्रेणी प्राप्त हुई। सन् १९६० ई० में इसकी जनसंख्या १५,३९१ थी। (ले० रा० सिं०)

एस्किशहर यह तुर्की का एक प्रसिद्ध नगर तथा इसी नाम के प्रांत की राजधानी है। यह पुरसक सू नदी के दाहिने तट पर मारमोरा सागर से दक्षिण-पूर्व ९० मील की दूरी पर स्थित है। हैदरपाशा-अंगोरा रेलवे भी एस्किशहर से गुजरती है। प्राचीन काल से यह नगर अपने गरम जल के स्रोतों के लिये प्रसिद्ध रहा है। इसके गंधक मिश्रित जल में मार्जन करके सहस्रों मनुष्यों ने अपनी शारीरिक व्याधियों से मुक्ति प्राप्त की है। इसके निकटवर्ती क्षेत्र में 'मीयरशम' नामक उच्च कोटि की मिट्टी प्रचुर मात्रा में मिलती है। इसी कारण इस नगर में मीयरशम के हुक्के बहुत बनते हैं। इसकी जलवायु अच्छी है। पुरसक नदी में मछलियों का बाहुल्य है तथा इसकी घाटी बड़ी ही उपजाऊ है; अतः एस्किशहर प्रांत काफी संपन्न है। सन् १९६५ ई० में इसकी जनसंख्या ४,१५,१०१ थी। नगर की जनसंख्या लगभग १,७३,६०० (१९६५) थी। सन् १९२३ की तुर्की-यूनानी संधि के पूर्व इस नगर में बहुत से यूनानी तथा ईसाई लोग रहते थे। आजकल यह नगर पूर्णतया तुर्की संस्कृति का परिचायक है। (ले० रा० सिं०)

एस्कीमो भाषा प्रमुख नृवंश-विद्या-विशारदों के अनुसार एस्कीमो जाति रक्त और भाषा की दृष्टि से उत्तरी अमरीकी इंडियन जाति की ही एक शाखा है। ग्रीनलैंड से लेकर सुदूर अलास्का तक एस्कीमो जाति के लोग एक ही भाषा बोलते हैं। अपनी समन्वयात्मक वृत्ति के कारण एस्कीमो भाषा रूपबहुल बन गई है। पूरी तरह अपना काम चलाने के लिये एक एस्कीमो को सामान्यतया १०,००० से अधिक शब्दों का ज्ञान होना चाहिए। अँगरेजी एवं अन्य यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा एस्कीमो भाषा की यह सामान्य शब्दसंख्या कहीं अधिक है। एक एक एस्कीमो शब्द के अनेक रूप होते हैं। संज्ञावाचक एक शब्द के एस्कीमो भाषा में बहुत भिन्नार्थी रूप मिलेंगे। क्रियावाचक शब्दों के रूप तो सबसे अधिक हैं। इसीलिये एस्कीमो भाषा दुनिया की कठिन से कठिन भाषाओं में से एक मानी जाती है। एस्कीमो और दूसरी अन्य भाषाओं के संबंध से एक खिचड़ी भाषा बन गई है जिसकी शब्दसंख्या तीन सौ से छह सौ तक है। इसमें अधिकतर तो एस्कीमो शब्द ही हैं किंतु कुछ शब्द अँगरेजी, डच, स्पेनी आदि के भी हैं। बहुधा सैलानी लोग इसी संक्षिप्त खिचड़ी भाषा को एस्कीमो भाषा कहकर पुकारते हैं।

एस्कीमो भाषा में व्यंजनों को ध्वन्यात्मक दृष्टि से कंठ्य, तालव्य, दंत्य और ओष्ठ्य इन चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कंठ्य व्यंजनाक्षर के आगे आनेवाला स्वर भी कंठ्य स्वर बन जाता है। इस विशेषता के कारण कभी कभी सुननेवाले को ऐसा प्रतीत होता है कि एस्कीमो भाषा गले पर बल देकर बोली जा रही है, अन्यथा एस्कीमो भाषा का रूप स्पष्ट और सुरीला है। शब्दों का उच्चारण स्वर और व्यंजनों की दीर्घता या ह्रस्वता पर निर्भर करता है। स्वर और व्यंजन कभी दीर्घ हो जाते हैं और कभी ह्रस्व। इस दीर्घता और ह्रस्वता पर ही शब्द का अर्थ निर्भर होता है।

एस्कीमो भाषा का व्याकरण भी शब्दों के लचीले रूप के कारण अत्यंत समृद्ध है। सामान्य क्रिया के लगभग ३५० रूप प्रयुक्त होते हैं। यदि द्विवचन, बहुवचन आदि सभी रूपों को लें तो सामान्य संज्ञा के लगभग १५० रूप मिलेंगे। वाक्यरचना आदि के लगभग २५० रूप मिलेंगे। किंतु ऐसा बृहत् रचनाविन्यास होने पर भी एस्कीमो व्याकरण संक्षिप्त और तर्कपूर्ण आधारों पर अवलंबित है। एस्कीमो भाषा में स्त्रीलिंग या पुल्लिंग का भेद नहीं है। संबंधवाचक रूप संज्ञा के रूपपरिवर्तन में ही व्यक्त हो जाता है।

आखेट और पशुओं में संबंधित शब्दावली की संख्या काफी प्रचुर है। हथियारों और बर्तनों के विविध उपयोगों से संबंधित शब्द भी बहुत अधिक हैं।

मास्को विश्वविद्यालय में एस्कीमो-भाषा-विभाग एस्कीमो साहित्य के प्रकाशन में स्तुत्य कार्य कर रहा है।

सं०ग्रं०—शाल्त विजर : फ़ोनेटिक स्टडी ऑव दि एस्कीमो लैंग्वेज (१९०४)। (वि० ना० पां०)

एस्टन इंग्लैंड के यॉर्कशायर प्रदेश के नॉर्थ राइडिंग उपविभाग का एक औद्योगिक नगर है। यह मिडिलबरो के पूर्व चार मील की दूरी पर स्थित है। क्लीवलैंड की पहाड़ियों में कच्चे लोहे की खुदाई के उद्योग का यह प्रमुख केंद्र है। यहाँ बड़ी बड़ी लोहे की भट्ठियाँ तथा लोहे की ढलाई के कारखाने हैं जहाँ रेलवे की पटरियाँ आदि बनाई जाती हैं। यहाँ बहुत सी वाष्पचालित आरों की मिलें भी हैं। सन् १९६१ ई० में इसकी जनसंख्या ३७,१९० थी। (ले० रा० सिं०)

एस्टर कार्बोक्सिलिक अम्ल के अम्लीय हाइड्रोजन को एक एल्किल मूलक से विस्थापित करने पर बनता है :

$$R-C(=O)-OH + OH\,R \xrightarrow{-H_2O} R-C(=O)-OR$$
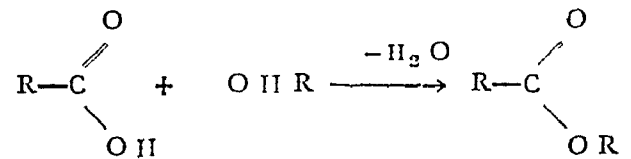
एस्टर के जलविश्लेषण से पुनः ऐलकोहल और अम्ल बन जाते हैं। अधिकांश एस्टर आयनीकृत नहीं होते और पानी में बहुत कम विलेय होते हैं। इनके अवयवों में एस्टर बनाने की क्रिया को एस्टरीकरण कहते हैं। इसके लिये अम्ल और ऐलकोहल के मिश्रण को थोड़ी मात्रा में खनिज अम्ल के साथ गरम किया जाता है। इस अभिक्रिया में खनिज अम्ल उत्प्रेरक का काम करते हैं। एस्टरीकरण की इस विधि को फिशर विधि कहते हैं।

ऐलकोहल और खनिज अम्लों के संयोग से भी एस्टर बनते हैं। यह अभिक्रिया खनिज अम्लों के शक्तिशाली अम्लीय और निर्जलीकारक गुणों के कारण होती है। सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल तथा ऐलकोहल के संयोग से ऐल्किल सल्फ्यूरिक अम्ल बनता है। एथिल ऐलकोहल और नाइट्रिक अम्ल तथा नाइट्रस अम्ल के संयोग से क्रमशः एथिल नाइट्रेट और एथिल नाइट्राइट बनता है। (कृ० ब० स०)

एस्टरविल संयुक्त राज्य अमरीका के आइओवा राज्य का नगर तथा एमेट्सबर्ग प्रदेश की राजधानी है। यह डेमॉएन नदी के किनारे समुद्रतल से १,२६८ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इससे मिनीसोटा की

सीमा केवल पाँच मील दूर है। यह फ़ोर्ट डाज के उत्तर-पश्चिम में ७० मील की दूरी पर स्थित है तथा रेल द्वारा शिकागो, रॉक आइलैंड, प्रशांत महासागरीय तट, मिनियापोलिस और सेंट लुई से मिला हुआ है। यहाँ कई राजमार्ग भी मिलते हैं। यह पशुपालन का बड़ा केंद्र है, अतः यहाँ बहुत सी दुग्धशालाएँ, कुक्कुटादि पालन के प्रक्षेत्र तथा कसाईघर है। यहाँ विश्व महायुद्ध का स्मारक तथा एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी है। छोटा नगर होते हुए भी यहाँ एक अच्छा जलकल है। (ले० रा० सिं०)

एस्टेला स्पेन के नावारे प्रदेश का एक ऐतिहासिक नगर है। यह अर्गा नदी के किनारे पर पापलाना से २० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। ऊन तथा सन के वस्त्र और ब्रांडी बनाना आदि यहाँ के प्रमुख उद्योग है। यह प्रसिद्ध सैनिक केंद्र भी है तथा यहाँ एक मध्यकालीन दुर्ग है। यहाँ बहुत से मठ, गिरजे और एक कालेज भी है जो पहले विश्वविद्यालय था। इस नगर की बनावट प्रशंसनीय है, गलियाँ सुंदर एवं सुसंबद्ध हैं। सन् १८३५ ई० में इसपर स्पेन के सिंहासन का व्यपदेश करनेवाले डॉन कार्लोस के सहायकों ने अधिकार कर लिया था। सन् १८३९ ई० में उनका नेता अपने पाँच साथियों के साथ सूली पर चढ़ा दिया गया। सन् १८७६ ई० में भी यहाँ भीषण संघर्ष हुआ, जिसने डॉन कार्लोस का तख्ता ही उलट दिया। (ले० रा० सिं०)

एस्टोनिया क्षेत्रफल ४५,००० वर्ग कि०मी०, जनसंख्या १४,००,००० (१९७० में) सोवियत संघ का एक राज्य है, जो उत्तर-पूर्वी यूरोप में बाल्टिक सागर के तट पर है। सन् १९१८ में इसे स्वतंत्रता मिली, १९४० में सोवियत संघ में मिलाया गया, १९४१ में जर्मनी के अधीन हो गया तथा १९४४ में पुनः सोवियत संघ में मिला।

इस प्रदेश के भूतल पर प्रातिनूतन (प्लाइस्टोसीन) युग की हिमसरिताओं ने यथेष्ट प्रभाव डाला है। उत्तर में होने के कारण यहाँ की जलवायु शीतल है। इस राज्य के बहुत बड़े क्षेत्र में वन हैं। यहाँ का मुख्य पेशा कृषि एवं पशुपालन है। आलू, जौ, राई, पटसन (फ़्लैक्स), दूध, मांस आदि यहाँ के मुख्य उत्पादन हैं। वन उद्योगों में लट्ठे तथा कागज के उद्योग मुख्य हैं। इस देश के खनिज तेल का कोष (आयल शेल) महत्वपूर्ण है। इसके पास दलदल का कोयला (पीट), चूना पत्थर (लाइमस्टोन), फ़ासफ़ोरस, संगमरमर, जिप्सम आदि के भी अच्छे कोष है। यहाँ के मुख्य उद्योग कताई बुनाई, बनावटी रेशम, दियासलाई, कागज, सीमेंट, तथा चमड़ा कमाने के कारखाने और पोतनिर्माण है। राज्य के आधे उद्योग तालिन नगर में ही स्थित हैं। यहाँ के मनुष्यों का एक बड़ा भाग नार्डिक जाति का है और भाषा फ़िनो-उग्रियन परिवार की है। यहाँ पर शिक्षा का स्तर काफी ऊँचा है। (शि० मं० सिं०)

एस्ट्रेमोज़ पुर्तगाल के ऐलेंतेजू प्रांत का एक नगर है जो एयवूरा के पूर्वोत्तर में ३० मील की दूरी पर, समुद्रतल से १,५०० फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह रेलवे द्वारा लिसबन से जुड़ा हुआ है, जो यहाँ से १०४ मील पश्चिम में स्थित है। इसके निकटवर्ती क्षेत्र में बर्तन बनाने की उत्तम मिट्टी मिलती है जिससे एस्ट्रेमोज़ में 'बिल्हाज़' नामक लाल मिट्टी के मर्तबान बनाए जाते हैं जो समस्त आइबेरियन प्रायद्वीप में प्रचलित है। निकट ही रंगबिरंगे संगमरमर की खुदाई होती है। यहाँ से ऊन भी प्रचुर मात्रा में निर्यात किया जाता है। पूर्वकाल में एस्ट्रेमोज़ प्रसिद्ध सैनिक केंद्र था। यहाँ १७वीं शताब्दी में एक बड़ा दुर्ग था जिसके भग्नावशेष अभी तक निकटवर्ती पहाड़ी पर बिखरे पड़े हैं। (ले० रा० सिं०)

एस्ते इटली के प्राचीनतम राजवंश का नाम। कदाचित् ये लोग लोंबार्दी के थे। इस वंश ने इटली के पुनर्जागरण युग में बड़े काम किए। ओबित्सोई पहला राजा था जिसने 'एस्ते का मार्कुइस' की उपाधि धारण की। इसने सम्राट् फ़ेडरिक के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। उसका देहांत ११९४ ई० में हुआ। उसके उत्तराधिकारी के काल में एस्ते नगर में विद्रोह ही विद्रोह होते रहे। इसके बाद राजगद्दी पर तृतीय निकोलस बैठा। १३८४ से लेकर १४४१ तक उसके हाथ में बागडोर रही। इसने फ़ेरारा, मोदेना, पारमा और रेग्गियो पर भी शासन किया और कई लड़ाइयाँ लड़ीं। तदनंतर बोर्सो (१४१३–१४७१) गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में कई युद्धों के बाद भी फ़ेरारा में शांति रही और देश में धन आता रहा। उसने साहित्य की भी सेवा की। उस नगर में उसने छापाखाना खोला, विद्वानों को एकत्रित किया और कल कारखानों को प्रोत्साहित किया।

एरकोले प्रथम (१४३१–१५०५) उसका उत्तराधिकारी हुआ। प्रसिद्ध कवि बोइआर्दो उसका मंत्री था। अरिओस्तो की भी उसने सहायता की। उसकी लड़की बीत्रिस का नाम इटली के पुनर्जागरण युद्ध में प्रसिद्ध है। उसने निकोलो दा कोरिज्जो, बेर्नार कास्तिग्लिओने, ब्रामांते और लियोनार्दो दा विंशी जैसे कलाकारों और साहित्यकारों को आश्रय दिया। मलाँ नगर का कातेल्लो और पाविया का चरटूसा उसकी अमर सेवाओं में से हैं।

अलफ़ांसो प्रथम (१४८६–१५३४) अपने यंत्रज्ञान के लिये प्रसिद्ध हुआ। उसके तोपखाने बड़े प्रभावशाली थे। एरकोले द्वितीय (१५०८–५९) और उसके भाई ने साहित्य और कला की बड़ी सेवा की। उनके शासनकाल में त्रियोस्ते में विलादेस्ते का निर्माण हुआ। अलफ़ांसो प्रथम का उत्तराधिकारी अलफ़ांसो द्वितीय (१५३३–१५९७) हुआ। उसका नाम तास्सो की सेवा के संबंध में बहुत लिया जाता है। उस परिवार का यही अंतिम राजा था। इसके बाद इसका प्रभाव इटली की राजनीति से उठ गया। लगभग २०० साल तक इस परिवार ने इटली की राजनीति में बड़ा भाग लिया और विश्वख्याति प्राप्त की। (मु० अ० अं०)

एस्तेर यह हदासाह नामक एक यहूदी नायिका का बाबुली नाम है; उन्हीं पर बाइबिल के एक ग्रंथ का नामकरण हुआ है।

अहाश्वेरोश नामक ईरानी राजा ने, जिन्हें यूनानी लोग ज़रजेस (४८५–४६५ ई० पू०) और ईरानी क्षयार्षा कहते थे, अपनी पत्नी वास्ती को तलाक देकर एस्तेर से विवाह किया था। हामान वज़ीर का एस्तेर के रिश्तेदार मार्दकाय से वैर था; अतः उन्होंने एक राजाज्ञा निकाली जिसके अनुसार फारस में बसनेवाले सभी यहूदियों का एक ही दिन में वध होनेवाला था। इसपर एस्तेर ने राजा पर प्रकट किया कि मैं भी यहूदी हूँ। इसका परिणाम यह हुआ कि हामान को प्राणदंड दिया गया और मार्दकाय की वजीर के पद पर नियुक्ति हुई। इस घटना के स्मरणार्थ यहूदी लोग पुरीम नामक पर्व उसी दिन मनाते हैं जिस दिन उनका वध निश्चित किया गया था। एस्तेर नामक ग्रंथ ऐतिहासिक उपन्यास की शैली में लिखा गया है; इसकी रचना तीसरी शताब्दी ई० पू० में हुई थी। (का० बु०)

एस्पेरांटो अनेक वर्षों से अंतरराष्ट्रीय भाषा का प्रश्न राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों और भाषाशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित कर रहा है। वैज्ञानिक नाप तौल के लिये दुनिया भर में एक से अंतरराष्ट्रीय शब्द व्यवहार में लाए जा रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यवहार के पारिभाषिक शब्द बहुत बड़ी संख्या में गढ़े जा रहे है और मान्यता प्राप्त कर रहे हैं। भाषाशास्त्री इस विषय पर गंभीरता से विचार कर रहे हैं कि थोड़े से व्याकरण के सर्वस्वीकृत नियम बना लेने से एक अंतरराष्ट्रीय भाषा तैयार हो जायगी।

सन् १८८७ ई० में डाक्टर एल० आई० ज़ामेनहॉफ़ ने इसी उद्देश्य से एस्पेरांटो का आविष्कार किया। आविष्कर्ता के अनुसार एस्पेरांटो में अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने की सब विशेषताएँ मौजूद हैं। उसकी वाक्यावली तर्क और वैज्ञानिक नियमों पर आधारित है। उसके व्याकरण को आधे घंटे में समझा जा सकता है। प्रत्येक नियम अपवादरहित है। शब्दों के हिज्जे का आधार ध्वन्यात्मक है। उसका शब्दकोश बहुत छोटा है। फिर भी उसमें साहित्यिक शक्ति है, शैलीसौंदर्य है और विचारों को व्यक्त करने में वह काँटे की तौल उतरती है। लचीलापन भी उसमें यथेष्ट मात्रा में है। २० वर्ष पूर्व के आँकड़ों के अनुसार एस्पेरांटो भाषा में उस समय तक ४,००० से अधिक मौलिक और अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं और १०० से अधिक मासिक पत्र नियमित रूप से प्रकाशित होते थे। दूसरे महायुद्ध

के पूर्व संसार के अनेक देशों में भाषा के रूप में एसपरांटो विद्यालयों में विद्यार्थियों को पढ़ाई जाती थी। पेरिस के चेंबर ऑव कामर्स और लंदन की काउंटी कौंसिल कमर्शल विद्यालयों में एसपरांटो की शिक्षा दी जाती थी। सन् १९२५ ई० में अंतरराष्ट्रीय टेलीग्रैफिक यूनियन ने एसपरांटो को तार की अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार किया। मई, सन् १९२७ में अंतरराष्ट्रीय रेडियोफ़ोनिक यूनियन से उसे प्रसार के योग्य भाषा के रूप में स्वीकार किया। उसी वर्ष दिसंबर मास तक विविध देशों के ४४ आकाशवाणी केंद्र एस्परांटो में प्रसार करते थे। २० वार्षिक अंतरराष्ट्रीय एस्परांटो संमेलन में अखिल विश्व से १,००० से लेकर ४,००० प्रतिनिधि तक संमिलित हुए थे।

सन् १८८७ में एसपरांटो का जो रूप था उसमें सन् १९०७ ई० में अनेक परिवर्तन करके उसे और अधिक सरल तथा वैज्ञानिक बनाया गया। एसपरांटो के इस नए रूप का नाम 'इडो' रखा गया। अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में एस्परांटो से प्रतिस्पर्धा करनेवाली आज और भी अनेक भाषाएँ क्षेत्र में हैं।

सं०ग्रं०—ए० एल० ग्यूराड : शार्ट हिस्ट्री ऑव दि इंटरनैशनल लैंग्वेज मूवमेंट (१९२२); ओटो जेस्पर्सन : ऐन इंटरनैशनल लैंग्वेज (१९२०)। (वि० ना० पां०)

एस्बर्ग (Esbjerg) डेनमार्क के जटलैंड प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर एक प्रमुख पत्तन है। यह फ्रीदेरिसिया के पश्चिम में लगभग ५६ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ से गायों तथा दुग्धशालाओं की उपजों का भारी निर्यात होता है जिसका अधिकांश इंग्लैंड को जाता है। इस नगर की स्थापना सन् १८६८ ई० में हुई जब यहाँ १३ मनुष्यों ने एक छोटा सा ग्राम बसाया था। सन् १८६८-७४ ई० में यहाँ सुंदर पोताश्रय का निर्माण हो गया, जिसके कारण इसकी जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि प्रारंभ हो गई तथा सन् १९०१ में ही इसकी जनसंख्या १३,३५५ हो गई। सन् १९०० में यहाँ नगरपालिका भी बन गई। कालांतर में एस्बर्ग जटलैंड के पश्चिमी तट का ही पत्तन न रहा, पूर्वी तथा उत्तरी जटलैंड के तट तथा जर्मनी से भी रेलमार्गों द्वारा इसका संबंध स्थापित हो गया। सन् १९६५ ई० में इसकी जनसंख्या ५५,८८२ थी। (ले० रा० सिं०)

ऍग्र ज़ाँ ओगुस्त दोमिनिक (१७८०-१८६७), प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार। वह मोतोबाँ में जन्मा और १६ साल की उम्र में चित्रकारों के स्वप्न के देश पेरिस पहुँचा। वहाँ उसने चार वर्ष के अथक परिश्रम से अपनी कलाप्रतिभा का विकास किया और २१ वर्ष की उम्र में उसने अपनी प्रसिद्ध कृति 'एकिलिज़ के दरबार में अगामेम्नन के राजदूत' द्वारा बड़ा यश कमाया। फ्रांस का तत्कालीन सर्वमान्य पुरस्कार 'ग्राँ प्रीस" उसके इसी चित्र पर मिला। उसके बाद उसने फ्रांस और इटली में चित्र तो अनेक बनाए पर उसकी ख्याति कुछ विशेष बढ़ी नहीं। वह असाधारण मेधा का मौलिक कलाकार था पर क्लासिकल शैली के अतीतसेवी विशेषज्ञों ने उसे विद्रोही कहकर उसकी उपेक्षा की। बल्कि देलाक्वा आदि नई रोमैंटिक शैली के कलाकारों ने, जिनकी शैली का वह परम विरोधी था, उसकी प्रतिभा पहचानी और सिद्धांतों में अंतर होते हुए भी उन्होंने उसे उचित मान दिया। उसकी निर्धनता और भी उसके आड़े आई और उसका जीवन अत्यंत कठिन और कटु हो गया।

पर उसकी कलाकारिता की विजय हुई और १८२५ से उसकी ख्याति के साथ साथ उसकी आय भी बढ़ी। उसे प्रतिष्ठा के अनेक पद मिले। फ्रेंच 'इंस्टिटयूट' का तो वह सदस्य चुना ही जा चुका था, अब वह रोम के 'इकोल द फ्रांस' का निदेशक भी हो गया। ऍग्र ८८ वर्ष की परिपक्व आयु में मरा जब उस वृद्धावस्था में भी उसकी सारी शक्तियाँ और इंद्रियाँ सक्रिय और उसके वश में थीं। उसकी कला की विशेषता रंग में नहीं, रूप और रेखा में है। उसी दृष्टि से वह रोमैंटिकों का विरोधी और गोगँ, पुवी, देगा तथा घनवादियों का आराध्य बन गया। वैसे तो उसकी कृतियाँ अनेक देशों के सार्वजनिक और निजी संग्रहालयों में हैं पर उसकी सर्वोत्तम कृतियों का एक विशिष्ट संग्रह उसके जन्म के कस्बे मोतोबाँ में है। उसने भित्ति, कैन्वस और प्रतिकृति चित्रण सभी किए हैं और सभी दिशाओं में उसने सबल अंकन का परिचय दिया है। उसका रेखाचित्र 'ग्राँद ओदालिस्क' अपूर्व शक्तिमय है। वैसे ही उसके चित्र 'आर्क की जोन', 'उद्गम', 'ईसा और डाक्टर', 'वर्तिनेनी' आदि अपने क्षेत्र में अनुपम हैं।

सं०ग्रं०—एच० लापोज़ : आंग्र सावी एत्सों ध्रव, १९११; इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका। (भ० श० उ०)

ऐंग्लिकन समुदाय ईसाई संप्रदायों में ऐंग्लिकन समुदाय का विशेष स्थान है। इसका इतिहास एक प्रकार से इंग्लैंड में ईसाई धर्म के प्रवेश के साथ साथ प्रारंभ होता है (द्र० अगस्तिन, कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप), किंतु १६वीं शताब्दी में ही वह रोमन काथलिक गिरजे से अलग होकर **चर्च ऑव इंग्लैंड** का नाम अपनाने लगा। यहाँ पर संक्षेप में इसका इतिहास उसी समय से प्रस्तुत किया जायगा। १७वीं शताब्दी में इसके लिये '**ऐंग्लिकन चर्च**' का प्रयोग चल पड़ा। आजकल संसार भर के ऐंग्लिकन ईसाइयों का संगठन 'ऐंग्लिकन समुदाय' कहलाता है।

इतिहास—हेनरी अष्टम के राज्यकाल (सन् १५०९-१५४७ ई०) में लूथर ने जर्मनी में प्रोटेस्टैंट धर्म चलाया। इसके विरोध में हेनरी अष्टम ने १५२१ ई० में एक ग्रंथ लिखा जिसमें उन्होंने रोम के बिशप (पोप) के ईश्वरदत्त अधिकार का प्रतिपादन किया; इसपर हेनरी को रोम की ओर से धर्मरक्षक की उपाधि मिली (यह आज तक इंग्लैंड के राजाओं की उपाधि है)। बाद में पोप ने हेनरी का प्रथम विवाह अमान्य ठहराने तथा इसको दूसरा विवाह कर लेने की अनुमति देने से इन्कार किया। इसके परिणामस्वरूप पार्लमेंट ने हेनरी के अनुरोध से एक अधिनियम स्वीकार किया जिसमें राजा को चर्च ऑव इंग्लैंड का परमाधिकारी घोषित किया जाता था। (ऐक्ट ऑव सुप्रिमेसी—१५३१ ई०)। इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के बाद हेनरी अष्टम ने जीवन भर प्रोटेस्टैंट विचारों का विरोध कर काथलिक धर्मसिद्धांतों को अक्षुण्ण बनाए रखने का सफल प्रयास किया। इंग्लैंड के गिरजे का परमाधिकारी होने के नाते उसने मठों की संपत्ति अपनाकर उनका उन्मूलन किया।

एडवर्ड षष्ठ के राज्यकाल (सन् १५४७-१५५३ ई०) में क्रैनमर के नेतृत्व में ऐंग्लिकन चर्च का काथलिक स्वरूप बहुत कुछ बदल गया तथा '**बुक ऑव कामन प्रेयर**' में बहुत से प्रोटेस्टैंट विचारों का संनिवेश किया गया (इसका प्रथम संस्करण सन् १५४९ ई० में स्वीकृत हुआ, दूसरा परिवर्तित संस्करण सन् १५५२ ई० में प्रकाशित हुआ)।

अपने भाई एडवर्ड के निधन पर मेरी ट्यूडर ने कुछ समय तक (सन् १५५३-५८ ई०) रोमन काथलिक चर्च के साथ चर्च ऑव इंग्लैंड का संपर्क पुनः स्थापित किया किंतु उसकी बहन एलिज़ाबेथ (सन् १५५८-१६०३ ई०) ने चर्च ऑव इंग्लैंड को पूर्ण रूप से स्वतंत्र तथा राष्ट्रीय चर्च बना दिया। सर्वप्रथम उसने एक नए अधिनियम द्वारा अपने पिता हेनरी अष्टम की भाँति अपने को चर्च ऑव इंग्लैंड पर परमाधिकार दिलाया (ऐक्ट ऑव सुप्रिमेसी—सन् १५५९ ई०) तथा एक दूसरे अधिनियम द्वारा एडवर्ड का द्वितीय **बुक ऑव कामन प्रेयर** अनिवार्य ठहरा दिया (ऐक्ट ऑव यूनिफ़ार्मिटी—सन् १५५९ ई०)। इतने में चर्च ऑव इंग्लैंड के सिद्धांतों के सूत्रीकरण का कार्य भी आगे बढ़ा और १५६२ ई० में पार्लमेंट तथा १५६३ ई० में महारानी एलिज़ाबेथ द्वारा ३९ सूत्र (थर्टीनाइन आर्टिकिल्स) अनुमोदित हुए। इन सूत्रों पर लूथर के विचारों का प्रभाव स्पष्ट है।

एलिज़ाबेथ के समय में प्यूरिटन दल का उदय हुआ किंतु वह विशेष रूप से जेम्स प्रथम (सन् १६०३-२५ ई०) तथा चार्ल्स प्रथम (सन् १६२५-१६४९ ई०) के राज्यकाल में सक्रिय था। प्यूरिटन दल ऐंग्लिकन चर्च को प्रोटेस्टैंट धर्म के अधिक निकट ले जाना चाहता था। वह कुछ समय तक सर्वोपरि रहा तथा सन् १६४३ ई० में पार्लमेंट द्वारा बिशप की पदवी का उन्मूलन कराने में समर्थ हुआ। यह परिस्थिति सन् १६६० ई० तक बनी रही।

ऐंग्लिकन चर्च का इतिहास आगे चलकर प्रधानतया इसकी विभिन्न विचारधाराओं का उतार-चढ़ाव है। यहाँ पर **ऐक्ट ऑव सक्सेशन** का

उल्लेख करना जरूरी है जिसके अनुसार इंग्लैंड के भावी राजाओं का ऐंग्लिकन होना अनिवार्य ठहराया गया है (सन् १७०१ ई०)।

सिद्धांत—रोम से अलग होते हुए भी ऐंग्लिकन चर्च अपने को काथलिक चर्च का अंग मानता है। सैद्धांतिक दृष्टि से उसका स्थान रोमन काथलिक चर्च तथा प्रोटेस्टैंट धर्म के बीच में है। इसी में ऐंग्लिकन चर्च का विशेष महत्व है और इसी कारण उसे 'ब्रिज चर्च' की उपाधि दी गई है क्योंकि वह पुल की भाँति दोनों के बीच में स्थित है। वह प्रोटेस्टैंट धर्म के समान रोम के विशप का अधिकार अस्वीकार करता है किंतु वह रोमन काथलिक चर्च की भाँति सिखलाता है कि बाइबिल ईसाई धर्म का एकमात्र आधार नहीं है। बाइबिल के अतिरिक्त वह काथलिक गिरजे की प्रथम चार महासभाओं के निर्णय भी स्वीकार करता है तथा बाइबिल की व्याख्या में गिरजे की प्राचीन परंपरा को बहुत महत्व देता है। फिर भी वह धार्मिक शिक्षा के संबंध में सैद्धांतिक एकरूपता के प्रति एक प्रकार से उदासीन है। फलस्वरूप ऐंग्लिकन चर्च में प्राय: प्रारंभ से ही कई विचारधाराओं अथवा दलों का अस्तित्व रहा है। यद्यपि बहुत से ऐंग्लिकन किसी भी दल का अनुयायी होना स्वीकार नहीं करते तथापि पहले की भाँति आजकल भी ऐंग्लिकन धर्म में *मुख्यतया तीन भिन्न विचारधाराएँ* वर्तमान हैं—(१) एवेंजेलिकल, (२) काथलिक, (३) लिबरल।

(१) प्रवर्तन के समय से ही ऐंग्लिकन चर्च पर प्रोस्टेटैंट धर्म का प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव विशेष रूप से निम्नलिखित बातों में लक्षित होता है—यज्ञ का निराकरण, पुरोहिताई तथा संस्कारों को कम महत्व देने की प्रवृत्ति, विशपों के अधिकार को घटाने का प्रयत्न। इस विचारधारा के अनुयायी पहले तो चर्च के नाम से विख्यात थे किंतु आजकल वे अपने को एवेंजेलिकल कहकर पुकारते हैं।

(२) जब ऐंग्लिकन चर्च पहले पहल रोमन काथलिक गिरजे से अलग होने लगा था तब किसी के मन में नया धर्म चलाने का विचार नहीं था। बाद में भी ऐंग्लिकन धर्मपंडितों का एक दल निरंतर इस प्रयत्न में रहा कि ऐंग्लिकन धर्म जहाँ तक बन पड़े सिद्धांत तथा पूजापद्धति की दृष्टि से रोमन काथलिक धर्म से दूर न होने पाए। इस दल का नाम 'हाई चर्च' रखा गया और वह १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विशप लार्ड के नेतृत्व में कुछ समय तक सर्वोपरि रहा। पिछली शताब्दी में आक्सफ़र्ड मूवमेंट द्वारा इस विचारधारा का महत्व फिर बढ़ने लगा। इसके अनुयायी अपने को ऐंग्लो-काथलिक कहते हैं तथा ऐंग्लिकन चर्च को काथलिक चर्च की एक शाखा मात्र मानते हैं। इधर (सन् १९२८ ई०) आधुनिक ऐंग्लो-काथलिक दल का एक नया संगठन, जिसके सदस्य प्राय: पादरी ही होते हैं, सामूहिक रूप से रोमन काथलिक गिरजे में संमिलित हो जाने का आंदोलन करता है; विरोधियों ने उसका नाम पेपलिस्त रखा है।

(३) यह नितांत स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जिस धर्म में उपर्युक्त परस्पर विरोधी काथलिक और एवेंजेलिकल विचारधाराओं की गुंजाइश थी, वहाँ कुछ लोग समन्वय की ओर झुक जाते तथा सिद्धांत को कम महत्व देते। उनके अनुसार धर्मसिद्धांत ईश्वर द्वारा प्रकट किए हुए धार्मिक सत्य का अंतिम सूत्रीकरण नहीं है, ये युगविशेष की धार्मिक भावनाओं की दार्शनिक अभिव्यक्ति मात्र है। १७वीं शताब्दी में इस दल का नाम 'लैटिट्यूडिनेरियन' रखा गया था, १९वीं शताब्दी में उसे 'लिबरल' तथा बाद में 'ब्राड चर्च' कहा गया। आजकल इसके लिये 'मार्डर्निज्म' शब्द का भी प्रयोग होने लगा है।

विस्तार—ऐंग्लिकन धर्म का क्षेत्र इंग्लैंड तक सीमित नहीं रहा। राजनीतिक प्रभाव के फलस्वरूप वह स्काटलैंड तथा आयरलैंड में फैल गया था किंतु संसार भर में इसके व्यापक प्रसार का श्रेय अंग्रेज प्रवासियों तथा मिशनरियों को है। तीन मिशनरी संस्थाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—सोसाइटी फ़ार प्रोमोटिंग क्रिश्चियन नालेज (जो एस० पी० सी० के० अक्षरों से विख्यात है, सन् १६९८ ई० में संस्थापित)। सोसाइटी फ़ार द प्रोपेगेशन ऑव द गास्पेल (एस० पी० जी०—संस्थापित सन् १७०१ ई०), चर्च मिशनरी सोसाइटी (सी० एम० एस०—संस्थापित सन् १७९९ ई०)। आजकल ऐंग्लिकन समुदाय के निम्नलिखित प्रांत पूर्ण रूप से संगठित हैं—द चर्च ऑव इंग्लैंड (दो प्रांत, कैंटरबरी और यार्क), द चर्च ऑव आयरलैंड, दि एपिस्कोपल चर्च इन स्काटलैंड, द चर्च इन वेल्स (वह सन् १९१४ ई० में कैंटरबरी से अलग हो गया था); द प्रोटेस्टैंट एपिस्कोपल चर्च इन द यूनाइटेड स्टेट्स ऑव अमेरिका; द चर्च ऑव इंडिया, पाकिस्तान, बर्मा ऐंड सिलोन (सन् १९४७ ई० के बाद लगभग २,५०,००० सदस्य; सन् १९४७ ई० में दक्षिण भारत के प्राय: सभी प्रोटेस्टैंट तथा लगभग ५,००,००० ऐंग्लिकन एक ही संस्था में संमिलित हुए, जो चर्च ऑव साउथ इंडिया कहलाती है और ऐंग्लिकन समुदाय से संबद्ध नहीं है); द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव साउथ अफ्रीका; द ऐंग्लिकन चर्च ऑव कनाडा; द चर्च ऑव इंग्लैंड इन आस्ट्रेलिया ऐंड तास्मेनिया; द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव न्यूजीलैंड; द चर्च ऑव प्राविंस ऑव वेस्ट इंडीज, द होली काथलिक चर्च इन चाइना; जापान होली काथलिक चर्च; द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव वेस्ट अफ्रीका; द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव सेंट्रल अफ्रीका; आर्चबिशप्रिक ऑव द मिडल ईस्ट। इसके अतिरिक्त कुछ प्रांत पूर्ण रूप से संगठित नहीं हैं, वे प्राय: कैंटरबरी से संबद्ध हैं। आजकल संसार भर में लगभग पाँच करोड़ ईसाई *ऐंग्लिकन समुदाय के अनुयायी* हैं।

सं०ग्रं०—स्टीफ़ेन नील : ऐंग्लिकनिज्म; फिलिप ह्यूज : ए पापुलर हिस्ट्री ऑव द रिफ़ार्मेशन्स इन इंग्लैंड। (का० बु०)

ऐंग्लो इंडियन विशेष शब्द जो जाति और भाषा के संबंध में प्रयुक्त होता है। जाति के संबंध में यह उन अंग्रेजों की ओर संकेत करता है जो भारत में बस गए हैं या व्यवसाय अथवा पदाधिकार से यहाँ प्रवास करते हैं। इनकी संख्या तो आज भारत में विशेष नहीं है और मात्र प्रवासी होने के कारण उनको देश के राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त नहीं, परंतु एक दूसरा वर्ग उनसे संबंधित इस देश का है और उसे देश के नागरिकों के सारे हक भी हासिल हैं। यह वर्ग भारत के अंग्रेज प्रवासियों और भारतीय स्त्रियों के संपर्क से उत्पन्न हुआ है जो ऐंग्लो इंडियन कहलाता है। इनकी संख्या काफी है और लोकसभा में इनके विशेष प्रतिनिधि के लिये सांवैधानिक अधिकार भी सुरक्षित हैं। इस समुदाय के समझदार व्यक्ति अपने को सर्वथा भारतीय और भारत के सुख-दुःख में शरीक मानते हैं, परंतु अधिकतर ये स्थानीय जनता से बना संपर्क नहीं बना पाते और इंग्लैंड की सहायता की अपेक्षा करते हैं। इनका अंग्रेजों से रक्तसंबंध होना, अंग्रेजी का इनकी जन्मजात और साधारण बोलचाल की भाषा होना और उनका धर्म से ईसाई होना भी उन्हें अपना विदेशी रूप बनाए रखने में सहायक होते हैं। उनकी समूची संस्कृति अंग्रेजी विचारधारा और रहन सहन से प्रभावित तथा अनुप्राणित है। तथापि अब वे धीरे धीरे देश की नित्य बदलती परिस्थितियों के अनुकूल होते जा रहे हैं।

ऐंग्लो इंडियन शब्द का व्यवहार प्रवासी अंग्रेजों की भारतीय माताओं से प्रसूत संततियों अथवा उनसे प्रजनित संतानों से भिन्न भाषा के अर्थ में भी होता है। ऐंग्लो इंडियन भाषा के अनेक रूप हैं। कभी तो इसका प्रयोग भारतीयों द्वारा लिखी शुद्ध अंग्रेजी के अर्थ में हुआ है और कभी उन अंग्रेजों की भाषा के संबंध में भी जिन्होंने भारत में रहकर लिखा है, यद्यपि भाषाशास्त्र की दृष्टि से दोनों में स्थानीय प्रभावों के अतिरिक्त कोई विशेष भेद नहीं है। फिर ऐंग्लो इंडियन से तात्पर्य उस संकर हिंदी भाषा से भी है जो भारत के ऐंग्लो इंडियन अपने से भिन्न भारतीयों में बोलते हैं। इस शब्द का व्यवहार अनेक बार उस हिंदी भाषा के संबंध में भी हुआ है जिसे हिंदुस्तानी कहते हैं। परंतु इस अर्थ में इनका उपयोग अकारण और अनुचित दोनों है। (ओ० ना० उ०)

ऐंग्लो सैक्सन इंग्लैंड के इतिहास में इस शब्द का उस काल के लिये प्रयोग किया जाता है जो नार्मन आक्रमण के पहले का है। दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय अलफ्रेड के राज्यकाल से है। यह शब्द कहाँ से लिया गया है और कैसे लिया गया, यह बताना वैसे कठिन है। अटकल लगाई जाती है कि यह शब्द उस समय से प्रचलित हुआ जब सन् ८८६ में अलफ़्रेड के नेतृत्व में कई राज्य मिलकर एक राज्य बने, वास्तव

में ऐंग्ली और सैक्सन दो अलग अलग सेनाएँ थीं जो नार्मन आक्रमण से पहले ही संयुक्त रूप से बन गई थीं।

ऐंग्लो सैक्सन क्रानीकल चार प्रकार के हैं। इनके हाथ के लिखे कई नुस्खे भी हैं और इनमें मतभेद भी है। फिर भी इनको रूप देनेवाला प्रथम मनुष्य अलफ़ेड ही है।

ऐंग्लो सैक्सन कानून और स्कैंडीनेविया के कानून को पुराने ट्यूटनिक कानून का नमूना कहा जा सकता है। इन दोनों कानूनों में जो भेद हैं वे केवल भाषा के हैं। यूरोप के कानून की भाषा लातानी और इंग्लैंड के कानून की अंग्रेजी है।

ऐंग्लो सैक्सन कानून को तीन बड़े भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वे कानून जिन्हें जनता ने लागू किए, द्वितीय वे जो परंपरा और रीति-रिवाज द्वारा आए और तृतीय वे जिन्हें लोगों ने स्वयं बनाया।

ऐंग्लो सैक्सन कानून में जनाधिकार को विशेष रूप से स्थान प्राप्त था। जायदाद, विरासत, इकरारनामा और स्थायी जुर्माना, प्रत्येक वस्तु जनाधिकार द्वारा निश्चित होती थी। शाही अफसरों को स्थानीय लोक अधिकार का ध्यान रखना पड़ता था। कानून पंचायत में बनाया जाता था और उसी की ओर से लागू होता था। इस अधिकार का अधिवेशन भी होता था और इसे तोड़ा भी जाता था। यह उसी समय होता था जब बादशाह अपने विशेष मत का प्रयोग करता था। इस कानून मे परिवर्तन या रियायत उसी समय संभव थी जब दोनों पक्ष उसे स्वीकार करें या गिर्जे की वैसी इच्छा हो।

दूसरी विशेषता इस कानून की थी विश्वशांति। घरेलू अथवा जन-कानून तोड़नेवालों को दंड दिया जाता था। एक व्यक्ति के लिये केवल उसका व्यक्तित्व ही कसौटी नहीं था, बल्कि आपसी मेलजोल भी था।

(मु० अ० अं०)

ऐंजर्ज़ पश्चिमी फ्रांस के मेन-एत-ल्वार विभाग की राजधानी तथा नगर है। रेल द्वारा पेरिस से १४१ मील दक्षिण-पश्चिम मेन नदी के दोनों उच्च कूलों पर स्थित है, तथा दोनों भाग एक पुल द्वारा संबद्ध हैं। प्राचीन नगर नदी के बाएँ किनारे पर स्थित और परकोटे द्वारा घिरा हुआ है जिसमें गिर्जाघरों तथा किलों का बाहुल्य है। दाहिनी ओर का भाग कुछ नीचा है। जनसंख्या सन् १९६८ ई० में १,२८,५३३ थी। ऐंजर्ज़ फ्रांस के सबसे सुंदर नगरों में गिना जाता है। रोमवासी इसे जूलियोमगस के नाम से पुकारते थे। फ्रांस की प्रसिद्ध छह राष्ट्रीय तथा व्यापारिक शिक्षा संस्थाओं में से एक यहां पर है। नगर की उन्नति का मुख्य कारण समीपस्थ स्लेट की खदानें, मदिरा तथा तार के रस्से बनाने के कारखाने, पुस्तकों का प्रकाशन इत्यादि हैं। व्यापार की मुख्य वस्तुएँ स्लेटों के अतिरिक्त सन, फ़ल फूल, तार, तेल, चमड़ा इत्यादि हैं। ऐंजर्ज ऐंजू प्रांत की प्राचीन राजधानी है। इसके निवासी आज भी ऐंजिवाइन्स कहलाते हैं।

(श्या० सुं० श०)

ऐंटवर्प बेल्जियम के ऐंटवर्प प्रांत की राजधानी है। यह खुले समुद्र से ५० मी० तथा ब्रूसेल्स से २५ मी० की दूरी पर स्केल्ट नदी के दाहिने किनारे की समतल भूमि पर बसा है। यहाँ ज्वारभाटे के उतार के समय नदी में जल ३० से ४० फुट तक गहरा, तथा ज्वार आने पर १२ से १४ फुट से अधिक गहरा हो जाता है। बेल्जियम का यह नगर दुर्गों से अच्छी तरह सुरक्षित है। सन् १९०५ ई० के पश्चात् यहाँ बड़े बड़े जहाजों के ठहरने के स्थान और पक्के घाट बनाए गए हैं, तथा एक पत्तन के लिये आवश्यक आधुनिकतम सुविधाएँ अब यहाँ सुलभ हैं। इन सब आवश्यक सुविधाओं के सुलभ होने के कारण ऐंटवर्प संसार का सबसे सुंदर एवं व्यापारिक दृष्टि से अत्यधिक कार्यशील पत्तन है। यहाँ का वार्षिक औसत निर्यात ६५,००,००० से लेकर ८०,००,००० टन तक है जिसका अनुमित मूल्य ३६,००,००,००० डालर से लेकर ४५,००,००,००० डालर तक है। औसत वार्षिक आयात का मूल्य इससे अधिक है। आयात की सबसे मुख्य वस्तु अन्न है। यहाँ के मुख्य उद्योगों में वस्त्र तथा मदिरा बनाना, हीरों की कटाई, चीनी साफ करना, सिगार तथा तंबाकू तैयार करना इत्यादि है। आधुनिक ऐंटवर्प यूरोप के अत्यंत सुंदर तथा विकसित नगरों में से एक है। आज भी यहाँ बहुत से प्राचीन ऐतिहासिक भवन सुरक्षित हैं।

१४वीं शताब्दी का बना हुआ 'नोत्र दाम' का गिरजाघर यहाँ का सर्वाधिक दर्शनीय स्थान है। यह तीक्ष्णाग्र तोरणोंवाली गॉथिक (Gothic) स्थापत्य कला का सुंदर उदाहरण है। इसमें एक अट्टालक है जिसकी ऊँचाई ४०० फुट है। इस विशाल भवन का क्षेत्रफल ७०,०६० वर्ग फुट है तथा इस भवन में सुप्रसिद्ध कलाकार रूबेंज की चित्रकला देखने योग्य है।

इस नगर की स्थापना संभवतः आठवीं शताब्दी के पूर्व हुई थी। यहाँ के निवासी उस समय ऐंटवर्पियन अथवा गैनर्वियन कहलाते थे और उसी समय ये ईसाई धर्म में दीक्षित किए गए। महायुद्धों के समय इस सुंदर नगर को काफी क्षति उठानी पड़ी है। नगर की अनुमित जनसंख्या सन् १९६९ ई० में १५,२६,८२६ थी।

(श्या० सुं० श०)

ऐंटिपोलो फ़िलीपाइन्स द्वीपसमूह में लूजों द्वीप के रिजाल प्रांत में स्थित एक नगर है। यह मनीला से २० मी० की दूरी पर पहाड़ी प्रदेश मे है। यह उपजाऊ भूभाग मे स्थित है तथा यहाँ से कई प्रकार का ओषधियुक्त जल बाहर भेजा जाता है। रोमन कैथोलिक गिरजाघर में 'ऐंटिपोलो की कुमारी' की प्रतिमा स्थापित है, जिसके वार्षिक उत्सव पर काफी बड़ा जनसमूह एकत्र होता है। एक छोटा सा ऋतु-विज्ञान-केंद्र भी यहाँ है। आसपास का प्रदेश जंगल से पूर्ण है।

(श्या० सुं० श०)

ऐंटिमनी एक रासायनिक तत्व है और आवर्त सारणी में पंचम मुख्य समूह में रखा गया है। इसकी स्थिति आर्सेनिक के नीचे तथा बिसमथ के ऊपर है। यह धातु तथा अधातु दोनों के गुणों से युक्त है। इसमें धातुओं जैसी चमक रहती है, परंतु धातु की सी उच्च विद्युच्चालकता नहीं होती। यह भंगुर है। ऐंटिमनी की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

संकेत	Sb
परमाणु अंक	५१
परमाणुभार	१२१·८
ऐं$^{+5}$ (Sb^{+5}) आयन का अर्द्धव्यास	०·६२×१०$^{-8}$ सेंटीमीटर
स्थायी समस्थानिक	१२१, १२३
रंग	श्वेत, धातु की सी चमक
मणिभीय रूप	षट्कोणीय
गलनांक	६३०·५° सेंटीग्रेड
क्वथनांक	१६३५° सेंटीग्रेड
विद्युत्प्रतिरोधकता	८·२८×१०$^{-4}$ (ओह्म-सेंटीमीटर) १५° सेंटीग्रेड पर

ऐंटिमनी तथा ऐंटिमनी सल्फ़ाइड प्राचीन काल से प्रयोग में आते रहे हैं। इस तत्व के उपयोग ८,००० ई० पू० से लोगों को ज्ञात थे। ऐंटिमनी सल्फ़ाइड का प्रयोग (अंजन या सुरमा के रूप में) नेत्रों की सुंदरता बढ़ाने के लिये होता रहा है। मध्यकाल में इसके यौगिक ओषधि के रूप में काम आते थे।

उपस्थिति—ऐंटिमनी तत्व तथा यौगिकों के रूप में पाया जाता है यौगिकों में वेलेंटिनाइट (Sb_2O_3), कार्वेटाइट (Sb_3O_4), स्टिबनाइट (Sb_2S_3) और अन्य ऐंटिमोनाइट तथा ऐंटिमोनेट पाए जाते हैं। खनिजों में सल्फ़ाइड सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। ऐंटिमनी के अयस्क विस्तृत मात्रा में चीन, मेक्सिको और बोलीविया (दक्षिणी अमरीका) में पाए जाते हैं।

गुणधर्म—ऐंटिमनी के विभिन्न अपर रूप हैं, जैसे धूसर ऐंटिमनी, विस्फोटक ऐंटिमनी, पीला ऐंटिमनी, काला ऐंटिमनी इत्यादि। धूसर ऐंटिमनी सबसे साधारण अपर रूप है। विस्फोटक ऐंटिमनी और काला ऐंटिमनी दोनों विस्फोटशील रूप हैं।

उल्लेख करना जरूरी है जिसके अनुसार इंग्लैंड के भावी राजाओं का ऐंग्लिकन होना अनिवार्य ठहराया गया है (सन् १७०१ ई०)।

सिद्धांत—रोम से अलग होते हुए भी ऐंग्लिकन चर्च अपने को काथलिक चर्च का अंग मानता है। सैद्धांतिक दृष्टि से उसका स्थान रोमन काथलिक चर्च तथा प्रोटेस्टैंट धर्म के बीच में है। इसी में ऐंग्लिकन चर्च का विशेष महत्व है और इसी कारण उसे 'ब्रिज चर्च' की उपाधि दी गई है क्योंकि वह पुल की भाँति दोनों के बीच में स्थित है। वह प्रोटेस्टैंट धर्म के समान रोम के बिशप का अधिकार अस्वीकार करता है किंतु वह रोमन काथलिक चर्च की भाँति सिखलाता है कि बाइबिल ईसाई धर्म का एकमात्र आधार नहीं है। बाइबिल के अतिरिक्त वह काथलिक गिरजे की प्रथम चार महासभाओं के निर्णय भी स्वीकार करता है तथा बाइबिल की व्याख्या में गिरजे की प्राचीन परंपरा को बहुत महत्व देता है। फिर भी वह धार्मिक शिक्षा के संबंध में सैद्धांतिक एकरूपता के प्रति एक प्रकार से उदासीन है। फलस्वरूप ऐंग्लिकन चर्च में प्राय: प्रारंभ से ही कई विचारधाराओं अथवा दलों का अस्तित्व रहा है। यद्यपि बहुत से ऐंग्लिकन किसी भी दल का अनुयायी होना स्वीकार नहीं करते तथापि पहले की भाँति आजकल भी ऐंग्लिकन धर्म में *मुख्यतया तीन भिन्न विचारधाराएँ वर्तमान हैं*—(१) एवेंजेलिकल, (२) काथलिक, (३) लिबरल।

(१) प्रवर्तन के समय से ही ऐंग्लिकन चर्च पर प्रोटेस्टैंट धर्म का प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव विशेष रूप से निम्नलिखित बातों में लक्षित होता है—*यज्ञ का निराकरण, पुरोहिताई तथा संस्कारों को कम महत्व देने की प्रवृत्ति*, बिशपों के अधिकार को घटाने का प्रयत्न। इस विचारधारा के अनुयायी पहले लो चर्च के नाम से विख्यात थे किंतु आजकल वे अपने को एवेंजेलिकल कहकर पुकारते हैं।

(२) जब ऐंग्लिकन चर्च पहले पहल रोमन काथलिक गिरजे से अलग होने लगा था तब किसी के मन में नया धर्म चलाने का विचार नहीं था। बाद में भी ऐंग्लिकन धर्मपंडितों का एक दल निरंतर इस प्रयत्न में रहा कि ऐंग्लिकन धर्म जहाँ तक बन पड़े सिद्धांत तथा पूजापद्धति की दृष्टि से रोमन काथलिक धर्म से दूर न होने पाए। इस दल का नाम 'हाई चर्च' रखा गया और वह १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बिशप लाड के नेतृत्व में कुछ समय तक सर्वोपरि रहा। पिछली शताब्दी में आक्सफ़र्ड मूवमेंट द्वारा इस विचारधारा का महत्व फिर बढ़ने लगा। इसके अनुयायी अपने को ऐंग्लो-काथलिक कहते हैं तथा ऐंग्लिकन चर्च को काथलिक चर्च की एक शाखा मात्र मानते हैं। इधर (सन् १९२८ ई०) आधुनिक ऐंग्लो-काथलिक दल का एक नया संगठन, जिसके सदस्य प्राय: पादरी ही होते हैं, सामूहिक रूप से रोमन काथलिक गिरजे में संमिलित हो जाने का आंदोलन करता है; विरोधियों ने उसका नाम पेपलिस्त रखा है।

(३) यह नितांत स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जिस धर्म में उपर्युक्त परस्पर विरोधी काथलिक और एवेंजेलिकल विचारधाराओं की गुंजाइश थी, वहाँ कुछ लोग समन्वय की ओर झुक जाते तथा सिद्धांत को कम महत्व देते। उनके अनुसार धर्मसिद्धांत ईश्वर द्वारा प्रकट किए हुए धार्मिक सत्य का अंतिम सूत्रीकरण नहीं है, ये युगविशेष की धार्मिक भावनाओं की दार्शनिक अभिव्यक्ति मात्र हैं। १७वीं शताब्दी में इस दल का नाम 'लैटिट्यूडिनेरियन' रखा गया था, १८वीं शताब्दी में उसे 'लिबरल' तथा बाद में 'ब्राड चर्च' कहा गया। आजकल इसके लिये 'मार्डनिज्म' शब्द का भी प्रयोग होने लगा है।

विस्तार—ऐंग्लिकन धर्म का क्षेत्र इंग्लैंड तक सीमित नहीं रहा। राजनीतिक प्रभाव के फलस्वरूप वह स्काटलैंड तथा आयरलैंड में फैल गया था किंतु संसार भर में इसके व्यापक प्रसार का श्रेय अंग्रेज प्रवासियों तथा मिशनरियों को है। तीन मिशनरी संस्थाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—सोसाइटी फ़ार प्रोमोटिंग क्रिश्चियन नालेज (जो एस० पी० सी० के० अक्षरों से विख्यात है, सन् १६९८ ई० में संस्थापित)। सोसाइटी फ़ार द प्रोपेगेशन ऑव द गास्पेल (एस० पी० जी०—संस्थापित सन् १७०१ ई०), चर्च मिशनरी सोसाइटी (सी० एम० एस०—संस्थापित सन् १७९९ ई०)। आजकल ऐंग्लिकन समुदाय के निम्नलिखित प्रांत पूर्ण रूप से संगठित हैं—द चर्च ऑव इंग्लैंड (दो प्रांत, कैंटरबरी और यार्क), द चर्च ऑव आयरलैंड, दि एपिस्कोपल चर्च इन स्काटलैंड, द चर्च इन वेल्स (वह सन् १९१४ ई० में कैंटरबरी से अलग हो गया था); द प्रोटेस्टैंट एपिस्कोपल चर्च इन द यूनाइटेड स्टेट्स ऑव अमेरिका; द चर्च ऑव इंडिया, पाकिस्तान, बर्मा ऐंड सिलोन (सन् १९४७ ई० के बाद लगभग २,५०,००० सदस्य; सन् १९४७ ई० में दक्षिण भारत के प्राय: सभी प्रोटेस्टैंट तथा लगभग ५,००,००० ऐंग्लिकन एक ही संस्था में संमिलित हुए, जो चर्च ऑव साउथ इंडिया कहलाती है और ऐंग्लिकन समुदाय से संबद्ध नहीं है); द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव साउथ अफ्रीका; द ऐंग्लिकन चर्च ऑव कनाडा; द चर्च ऑव इंग्लैंड इन आस्ट्रेलिया ऐंड तास्मेनिया; द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव न्यूज़ीलैंड; द चर्च ऑव प्राविंस ऑव वेस्ट इंडीज़; द होली काथलिक चर्च इन चाइना; जापान होली काथलिक चर्च; द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव वेस्ट अफ्रीका; द चर्च ऑव द प्राविंस ऑव सेंट्रल अफ्रीका; आर्चबिशप्रिक ऑव द मिडल ईस्ट। इसके अतिरिक्त कुछ प्रांत पूर्ण रूप से संगठित नहीं हैं, वे प्राय: कैंटरबरी से संबद्ध हैं। आजकल संसार भर में लगभग पाँच करोड़ ईसाई *ऐंग्लिकन समुदाय के अनुयायी हैं*।

सं०ग्रं०—स्टीफ़ेन नील : ऐंग्लिकनिज्म; फ़िलिप ह्यूज़ : ए पापुलर हिस्ट्री ऑव द रिफ़ार्मेशन्स इन इंग्लैंड। (का० बु०)

ऐंग्लो इंडियन विशेष शब्द जो जाति और भाषा के संबंध में प्रयुक्त होता है। जाति के संबंध में यह उन अंग्रेजों की ओर संकेत करता है जो भारत में बस गए हैं या व्यवसाय अथवा पदाधिकार से यहाँ प्रवास करते हैं। इनकी संख्या तो आज भारत में विशेष नहीं है और मात्र प्रवासी होने के कारण उनको देश के राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त नहीं, परंतु एक दूसरा वर्ग उनसे संबंधित इस देश का है और उसे देश के नागरिकों के सारे हक भी हासिल हैं। यह वर्ग भारत के अंग्रेज प्रवासियों और भारतीय स्त्रियों के संपर्क से उत्पन्न हुआ है जो ऐंग्लो इंडियन कहलाता है। इनकी संख्या काफी है और लोकसभा में इनके विशेष प्रतिनिधि के लिये सांवैधानिक अधिकार भी सुरक्षित हैं। इस समुदाय के समझदार व्यक्ति अपने को सर्वथा भारतीय और भारत के सुख-दु:ख में शरीक मानते हैं, परंतु अधिकतर ये स्थानीय जनता से घना संपर्क नहीं बना पाते और इंग्लैंड की सहायता की अपेक्षा करते हैं। इनका अंग्रेजों से रक्तसंबंध होना, अंग्रेजी का इनकी जन्मजात और साधारण बोलचाल की भाषा होना और उनका धर्म से ईसाई होना भी उन्हें अपना विदेशी रूप बनाए रखने में सहायक होते हैं। उनकी समूची संस्कृति अंग्रेजी विचारधारा और रहन सहन से प्रभावित तथा अनुप्राणित है। तथापि अब वे धीरे धीरे देश की नित्य बदलती परिस्थितियों के अनुकूल होते जा रहे हैं।

ऐंग्लो इंडियन शब्द का व्यवहार प्रवासी अंग्रेजों की भारतीय माताओं से प्रसूत संततियों अथवा उनसे प्रजनित संतानों से भिन्न भाषा के अर्थ में भी होता है। ऐंग्लो इंडियन भाषा के अनेक रूप हैं। कभी तो इसका प्रयोग भारतीयों द्वारा लिखी शुद्ध अंग्रेजी के अर्थ में हुआ है और कभी उन अंग्रेजों की भाषा के संबंध में भी जिन्होंने भारत में रहकर लिखा है, यद्यपि भाषाशास्त्र की दृष्टि से दोनों में स्थानीय प्रभावों के अतिरिक्त कोई विशेष भेद नहीं है। फिर ऐंग्लो इंडियन से तात्पर्य उस संकर हिंदी भाषा से भी है जो भारत के ऐंग्लो इंडियन अपने से भिन्न भारतीयों से बोलते हैं। इस शब्द का व्यवहार अनेक बार उस हिंदी भाषा के संबंध में भी हुआ है जिसे हिंदुस्तानी कहते हैं। परंतु इस अर्थ में इसका उपयोग अकारण और अनुचित दोनों है। (ओं० ना० उ०)

ऐंग्लो सैक्सन इंग्लैंड के इतिहास में इस शब्द का उस काल के लिये प्रयोग किया जाता है जो नार्मन आक्रमण के पहले का है। दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय अलफ्रेड के राज्यकाल से है। यह शब्द कहाँ से लिया गया है और कैसे लिया गया, यह बताना वैसे कठिन है। अटकल लगाई जाती है कि यह शब्द उस समय से प्रचलित हुआ जब सन् ८८६ में अलफ्रेड के नेतृत्व में कई राज्य मिलकर एक राज्य बने, वास्तव

में ऐंग्ली और सैक्सन दो अलग अलग सेनाएँ थीं जो नार्मन आक्रमण से पहले ही संयुक्त रूप से बन गई थीं।

ऐंग्लो सैक्सन क्रानीकल चार प्रकार के हैं। इनके हाथ के लिखे कई नुस्खे भी हैं और इनमें मतभेद भी है। फिर भी इनको रूप देनेवाला प्रथम मनुष्य अलफ्रेड ही है।

ऐंग्लो सैक्सन कानून और स्कैंडीनेविया के कानून को पुराने ट्यूतनिक कानून का नमूना कहा जा सकता है। इन दोनों कानूनों में जो भेद है वे केवल भाषा के हैं। यूरोप के कानून की भाषा लातानी और इंग्लैंड के कानून की अंग्रेजी है।

ऐंग्लो सैक्सन कानून को तीन बड़े भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वे कानून जिन्हें जनता ने लागू किए, द्वितीय वे जो परंपरा और रीति-रिवाज द्वारा आए और तृतीय वे जिन्हें लोगों ने स्वयं बनाया।

ऐंग्लो सैक्सन कानून में जनाधिकार को विशेष रूप से स्थान प्राप्त था। जायदाद, विरासत, इकरारनामा और स्थायी जुर्माना, प्रत्येक वस्तु जनाधिकार द्वारा निश्चित होती थी। शाही अफसरों को स्थानीय लोक अधिकार का ध्यान रखना पड़ता था। कानून पंचायत में बनाया जाता था और उसी की ओर से लागू होता था। इस अधिकार का अधिवेशन भी होता था और इसे तोड़ा भी जाता था। यह उसी समय होता था जब बादशाह अपने विशेष मत का प्रयोग करता था। इस कानून में परिवर्तन या रियायत उसी समय संभव थी जब दोनों पक्ष उसे स्वीकार करें या गिर्जे की वैसी इच्छा हो।

दूसरी विशेषता इस कानून की थी विश्वशांति। घरेलू अथवा जन-कानून तोड़नेवालों को दंड दिया जाता था। एक व्यक्ति के लिये केवल उसका व्यक्तित्व ही कसौटी नहीं था, बल्कि आपसी मेलजोल भी था।

(मु० अ० अं०)

ऐंजर्ज पश्चिमी फ्रांस के मेन-एत-ल्वार विभाग की राजधानी तथा नगर है। रेल द्वारा पेरिस से १४१ मील दक्षिण-पश्चिम मेन नदी के दोनों उच्च कूलों पर स्थित है, तथा दोनों भाग एक पुल द्वारा संबद्ध हैं। प्राचीन नगर नदी के बाएँ किनारे पर स्थित और परकोटे द्वारा घिरा हुआ है जिसमें गिर्जाघरों तथा किलों का बाहुल्य है। दाहिनी ओर का भाग कुछ नीचा है। जनसंख्या सन् १९६८ ई० में १,२८,५३३ थी। ऐंजर्ज फ्रांस के सबसे सुंदर नगरों में गिना जाता है। रोमवासी इसे जूलियोमगस के नाम से पुकारते थे। फ्रांस की प्रसिद्ध छह राष्ट्रीय तथा व्यापारिक शिक्षा संस्थाओं में से एक यहां पर है। नगर की उन्नति का मुख्य कारण समीपस्थ स्लेट की खदानें, मदिरा तथा तार के रस्से बनाने के कारखाने, पुस्तकों का प्रकाशन इत्यादि है। व्यापार की मुख्य वस्तुएँ स्लेटों के अतिरिक्त सन, फल फूल, तार, तेल, चमड़ा इत्यादि हैं। ऐंजर्ज ऐंजू प्रांत की प्राचीन राजधानी है। इसके निवासी आज भी ऐंजिवाइन्स कहलाते हैं।

(श्या० सुं० श०)

ऐंटवर्प बेल्जियम के ऐंटवर्प प्रांत की राजधानी है। यह खुले समुद्र से ५० मी० तथा ब्रूसेल्स से २५ मी० की दूरी पर स्केल्ट नदी के दाहिने किनारे की समतल भूमि पर बसा है। यहाँ ज्वारभाटे के उतार के समय नदी में जल ३० से ४० फुट तक गहरा, तथा ज्वार आने पर १२ से १४ फुट से अधिक गहरा हो जाता है। बेल्जियम का यह नगर दुर्गों से अच्छी तरह सुरक्षित है। सन् १९०५ ई० के पश्चात् यहाँ बड़े बड़े जहाजों के ठहरने के स्थान और पक्के घाट बनाए गए हैं, तथा एक पत्तन के लिये आवश्यक आधुनिकतम सुविधाएँ अब यहाँ सुलभ हैं। इन सब आवश्यक सुविधाओं के सुलभ होने के कारण ऐंटवर्प संसार का सबसे सुंदर एवं व्यापारिक दृष्टि से अत्यधिक कार्यशील पत्तन है। यहाँ का वार्षिक औसत निर्यात ६५,००,००० से लेकर ८०,००,००० टन तक है जिसका अनुमित मूल्य ३६,००,००,००० डालर से लेकर ४५,००,००,००० डालर तक है। औसत वार्षिक आयात का मूल्य इससे अधिक है। आयात की सबसे मुख्य वस्तु अन्न है। यहाँ के मुख्य उद्योगों में वस्त्र तथा मदिरा बनाना, हीरों की कटाई, चीनी साफ करना, सिगार तथा तंबाकू तैयार करना इत्यादि हैं। आधुनिक ऐंटवर्प यूरोप के अत्यंत सुंदर तथा विकसित नगरों में से एक है। आज भी यहाँ बहुत से प्राचीन ऐतिहासिक भवन सुरक्षित हैं।

१४वीं शताब्दी का बना हुआ 'नोत्र दाम' का गिरजाघर यहाँ का सर्वाधिक दर्शनीय स्थान है। यह तीक्ष्णाग्र तोरणोंवाली गॉथिक (Gothic) स्थापत्य कला का सुंदर उदाहरण है। इसमें एक अट्टालक है जिसकी ऊँचाई ४०० फुट है। इस विशाल भवन का क्षेत्रफल ७०,०६० वर्ग फुट है तथा इस भवन में सुप्रसिद्ध कलाकार रूबेंज की चित्रकला देखने योग्य है।

इस नगर की स्थापना संभवतः आठवीं शताब्दी के पूर्व हुई थी। यहाँ के निवासी उस समय ऐंटवर्पियन अथवा गैनर्वियन कहलाते थे और उसी समय ये ईसाई धर्म में दीक्षित किए गए। महायुद्धों के समय इस सुंदर नगर को काफी क्षति उठानी पड़ी है। नगर की अनुमित जनसंख्या सन् १९६९ ई० में १५,२९,८२६ थी।

(श्या० सुं० श०)

ऐंटिपोलो फ़िलीपाइन्स द्वीपसमूह में लूजों द्वीप के रिजाल प्रांत में स्थित एक नगर है। यह मनीला से २० मी० की दूरी पर पहाड़ी प्रदेश में है। यह उपजाऊ भूभाग में स्थित है तथा यहाँ से कई प्रकार का ओषधियुक्त जल बाहर भेजा जाता है। रोमन कैथोलिक गिरजाघर में 'ऐंटिपोलो की कुमारी' की प्रतिमा स्थापित है, जिसके वार्षिक उत्सव पर काफी बड़ा जनसमूह एकत्र होता है। एक छोटा सा ऋतु-विज्ञान-केंद्र भी यहाँ है। आसपास का प्रदेश जंगल से पूर्ण है।

(श्या० सुं० श०)

ऐंटिमनी एक रासायनिक तत्व है और आवर्त सारणी में पंचम मुख्य समूह में रखा गया है। इसकी स्थिति आर्सेनिक के नीचे तथा बिसमथ के ऊपर है। यह धातु तथा अधातु दोनों के गुणों से युक्त है। इसमें धातुओं जैसी चमक रहती है, परंतु धातु की सी उच्च विद्युच्चालकता नहीं होती। यह भंगुर है। ऐंटिमनी की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

संकेत	Sb
परमाणु अंक	५१
परमाणुभार	१२१·८
ऐं$_{टि}^{+५}$ (Sb^{+5}) आयन का अर्द्धव्यास	०·६२×१०$^{-८}$ सेंटीमीटर
स्थायी समस्थानिक	१२१, १२३
रंग	श्वेत, धातु की सी चमक
मणिभीय रूप	पट्कोणीय
गलनांक	६३०·५° सेंटीग्रेड
क्वथनांक	१६३५° सेंटीग्रेड
विद्युत्प्रतिरोधकता	८·२८×१०$^{-४}$ (ओह्म-सेंटीमीटर) १५° सेंटीग्रेड पर

ऐंटिमनी तथा ऐंटिमनी सल्फ़ाइड प्राचीन काल से प्रयोग में आते रहे हैं। इस तत्व के उपयोग ४,००० ई० पू० से लोगों को ज्ञात थे। ऐंटिमनी सल्फ़ाइड का प्रयोग (अंजन या सुरमा के रूप में) नेत्रों की सुंदरता बढ़ाने के लिये होता रहा है। मध्यकाल में इसके यौगिक ओषधि के रूप में काम आते थे।

उपस्थिति—ऐंटिमनी तत्व तथा यौगिकों के रूप में पाया जाता है यौगिकों में वेलेंटिनाइट (Sb_2O_3), कार्वेटाइट (Sb_2O_4), स्टिबनाइट (Sb_2S_3) और अन्य ऐंटिमोनाइट तथा ऐंटिमोनेट पाए जाते हैं। खनिजों में सल्फ़ाइड सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। ऐंटिमनी के अयस्क विस्तृत मात्रा में चीन, मेक्सिको और बोलीविया (दक्षिणी अमरीका) में पाए जाते हैं।

गुणधर्म—ऐंटिमनी के विभिन्न अपर रूप हैं, जैसे धूसर ऐंटिमनी, विस्फोटक ऐंटिमनी, पीला ऐंटिमनी, काला ऐंटिमनी इत्यादि। धूसर ऐंटिमनी सबसे साधारण अपर रूप है। विस्फोटक ऐंटिमनी और काला ऐंटिमनी दोनों विस्फोटशील रूप हैं।

ऐंटिमनी त्रिसंयोजक तथा पंचसंयोजक अवस्थाओं में यौगिक बनाता है। ऐंटिमनी का परमाणु आर्सेनिक से अधिक विद्युद्धनीय होता है। वह आर्सेनिक की भाँति हाइड्रोजन से यौगिक बनाता है जिसका सूत्र ऐं_ट हा$_3$ (SbH_3) है। यह आहा$_3$ (AsH_3) से कम स्थायी है। ऐंटिमनी का परमाणु आर्सेनिक के परमाणु से बड़ा है। इस कारण इसमें कुछ भिन्नताएँ भी हैं। ऐंटिमनी के हेलाइड में लवण के गुण अधिक हैं। इसका विघटन भी सुगमता से होता है।

जलीय माध्यम में ऐंटिमनी किसी भी हैलोजन द्वारा उपचयित (आक्सीकृत) हो सकता है। नाइट्रिक, सल्फ्यूरिक तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (आक्सिजन की उपस्थिति में) ऐंटिमनी को आक्सीकृत कर देते हैं। इस प्रकार ऐंटिमनी अच्छा उपचायक है। वायु में दहन करने पर यह जलने लगता है। हैलोजन तथा गंधक के साथ गर्म करने पर भी यह आक्सीकृत हो जाता है। ऊँचे ताप पर कार्बन द्वि-आक्साइड भी इसे आक्सीकृत करता है। इसी प्रकार जलवाष्प तथा कुछ धातुओं के आक्साइड भी ऊँचे ताप पर ऐंटिमनी को आक्सीकृत करते हैं। कुछ धातुएँ जैसे सोडियम, लोह, ऐल्युमिनियम तथा मैगनीशियम भी ऐंटिमनी के साथ अंतर्धात्वीय यौगिक बनाती हैं।

यौगिक—ऐंटिमनी के यौगिकों में ऐंटिमनी ट्राइआक्साइड (Sb_2O_3) बहुत प्रसिद्ध है। इसके दो अपर रूप घन तथा समचतुर्भुज हैं। समचतुर्भुज अपर रूप ३६०° सेंटीग्रेड से ऊँचे ताप पर स्थायी है। ऐंटिमनी ट्राइआक्साइड ऐंटिमनी या उसके सल्फ़ाइड को वायु में गर्म करने से प्राप्त होता है।

ऐंटिमनी ट्राइसल्फ़ाइड (Sb_2S_3) प्राकृतिक अवस्था में मणिभ रूप में पाया जाता है। इसका नाम स्टिबनाइट है। अमणिभीय रूप प्रयोगशाला में बनाया जा सकता है। यह पानी में अविलेय है। यदि विलयन में सल्फ़ाइड आयन उपस्थित हो तो यह विलेय हो जाता है। ऐंटिमनी ट्राइसल्फ़ाइड शक्तिशाली उपचयक के द्वारा पेंटा-सल्फ़ाइड में परिवर्तित किया जाता है।

ऐंटिमनी के बहुत से पंचसंयोजक यौगिक हैं, जैसे आक्साइड (Sb_2O_5), फ़्लोराइड (SbF_5), क्लोराइड ($SbCl_5$) आदि। ऐंटिमनी के कार्बनिक व्युत्पन्न भी बनाए गए हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

$$(C_2H_5)_3Sb,\ (C_2H_5)_2\ SbCl,\ C_2H_5SbCl_2$$
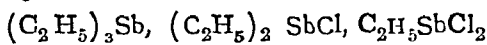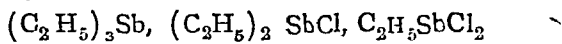
उपयोग—ऐंटिमनी का विशेष उपयोग अन्य धातुओं के साथ मिश्रधातु बनाने में होता है। सीसे के साथ इसका बहुधा उपयोग होता है। थोड़ी मात्रा में सीसे के साथ ऐंटिमनी मिलाने से सीसा कठोर हो जाता है और जल्द श्रांत नहीं होता (काम करते करते अपने आप टूटने को श्रांत होना कहते हैं)।

ऐंटिमनी ट्राइसल्फ़ाइड का उपयोग वर्णक (रंग) बनाने में, दियासलाई उद्योग में, कारतूस बनाने में और धूम्र उत्पन्न करने में होता है। ऐंटिमनी आक्साइड इनैमल उद्योग में काम आता है। ऐंटिमनी के कुछ यौगिक रंगस्थापक (मार्डेंट), ज्वालावरोधक और अग्निसह वस्त्र बनाने में प्रयुक्त होते हैं।

ऐंटिमनी के यौगिक खाने पर मनुष्य तथा पशु के शरीर पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। इसके यौगिक शरीर में जलन पैदा करते हैं और श्वासक्रिया तथा हृदयगति पर बुरा प्रभाव डालते हैं। ऐंटिमनी के लवण थोड़ी मात्रा में भी मनुष्यों के लिये घातक सिद्ध होते हैं। इसका प्रभाव आर्सेनिक की भाँति ही विषाक्त होता है।

ऐंटिमनी के कुछ यौगिक ओषधि के रूप में हाथीपाँव (फ़ाइलेरिया), कालाजार, घाव आदि के उपचार में प्रयुक्त होते हैं एवं परोपजीवियों द्वारा फैलाए रोगों के उपचार में भी काम आते हैं।

उत्पादन—साधारणतया ऐंटिमनी तत्व स्टिबनाइट (सल्फ़ाइड अयस्क) से निकाला जाता है। ऐंटिमनी सल्फ़ाइड दूसरे सल्फ़ाइडों से कम ताप पर द्रवित होता है। इस प्रकार इसे दूसरे सल्फ़ाइडों से अलग किया जाता है। यदि अयस्क में सल्फ़ाइड की मात्रा कम हो तो उसे उपचयित करके आक्साइड में परिवर्तित करते हैं। यह आक्साइड वाष्पशील है तथा सुगमता से अलग किया जा सकता है। ऐंटिमनी सल्फ़ाइड को पहले उपचयित कर फिर ऐंटिमनी आक्साइड को कार्बन द्वारा अपचयित करते हैं।

अपचयन द्वारा बनाया हुआ ऐंटिमनी शुद्ध नहीं होता है। शुद्ध करने के लिये अशुद्ध ऐंटिमनी को कुछ द्रावक के साथ गर्म करते हैं। इस प्रकार लोहा, आर्सेनिक, ताँबा, सीसा, गंधक आदि अशुद्धियाँ अलग हो जाती हैं और शुद्ध ऐंटिमनी मिल जाता है।

ऐंटिमनी का उत्पादन अमरीका, बोलीविया, मेक्सिको तथा चीन में विशेष अधिक होता है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलोर : काम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज़ ऑन इनॉर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१६२८–३२); ए० एफ़० वेल्स : स्ट्रक्चरल इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री (१६४६)। (र० चं० क०)

ऐंटियम जिसका आधुनिक नाम ऐंजिओ है, इटली के लेशियम प्रदेश के तट पर एक प्राचीन तथा वोलसियन नगर है। यह रोम से प्राय: ३३ मी० दक्षिण में है। प्राचीन काल में इसकी स्थिति भूमि के उच्च तथा अग्रभाग पर थी और यह उन्नतिशील सागरपत्तन था। ४६८ ई० पू० में रोमनों द्वारा अधिकृत किया गया, पर यहाँ विद्रोह हुआ तथा ३३८ ई० पू० तक यह स्वतंत्र बना रहा। अंत में फिर रोमनों के अधीन होकर उनका सामुद्रिक उपनिवेश हो गया। उन दिनों यह विलासी रोमनों का निवासस्थान था; नगर तथा आसपास के स्थान सुंदर तथा भव्य मंदिरों और भवनों से सुसज्जित थे। रोमन सम्राट् नीरो तथा कालिगुला का यह जन्मस्थान है। अरब के मुसलमानों द्वारा यह नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया था; परंतु भव्य अतीत की याद दिलानेवाले अवशेष आज भी वर्तमान नगर के समीप विद्यमान हैं। (श्या० सुं० श०)

ऐंटिलीस एक विवादग्रस्त शब्द है, जो बहुत से विद्वानों तथा लेखकों द्वारा 'पश्चिमी द्वीपसमूह' के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसका संबंध यूरोपीय सामुद्रिकों द्वारा नए देशों की खोज के समय से चला आ रहा है। उस समय यह नाम एक प्रकार से कल्पित भूखंडों से संबंधित था और मध्ययुगीन मानचित्रों में इसका प्रयोग प्रायद्वीपों तथा कभी कभी उन भूखंडों के लिये भी होता था, जिनकी कल्पना कानेयरीज़ द्वीप तथा भारतवर्ष के मध्य समुद्र में की जाती थी। कोलंबस द्वारा पश्चिमी द्वीपसमूह का पता लगा लिए जाने पर इन द्वीपों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया गया। उस समय उन लोगों का विचार था कि यह द्वीपपुंज असंख्य द्वीपों से भरा है। ऐंटिलिया ऐंटिलीस का बहुवचन है जो इन द्वीपों के लिये प्रयुक्त किया गया। ऐंटिलीस दो प्रकार के हैं : प्रथम, बड़ा ऐंटिलीस जिसमें क्यूबा, जमेका, हेती-सान, डोमिंगो तथा पोर्टो रिको आते हैं; और द्वितीय, लघु ऐंटिलीस, जिसमें अन्य सब बचे हुए द्वीप आते हैं। (श्या० सुं० श०)

ऐंटिवारी यह सागरपत्तन वारी के विपरीत होने के कारण वेनिसवासियों द्वारा इसी नाम से पुकारा जाता है। यह यूगोस्लाविया के मांटेनीग्रो प्रदेश में है और सन् १८७८ ई० तक तुर्कों के अधीन था। प्राचीन नगर समुद्र से हटकर रामीजा (५,२२६ फ़ुट) की छाया में जैतून के घने झुरमुटों से ढके हुए स्थल पर बसा हुआ है। यह एक भग्न प्राचीरवाला ग्राम है, जिसमें एक छोटा सा किला है। यह मसजिदों एवं बाजारों से घिरा हुआ है। पहाड़ों से घिरी हुई ऐंटिवारी की सुंदर खाड़ी यहाँ से तीन मील की दूरी पर है जहाँ प्रस्तन नामक पत्तन स्थित है। इस पत्तन (१६०६ ई० में बनाया गया) में २०० जहाज ठहर सकते हैं। एकमात्र रेलमार्ग वीरपजार से ऐंटिवारी तक ही है, किंतु तट के किनारे सुंदर सड़क है। वारी आने जाने के लिये स्टीमरों द्वारा फेरी पार उतारने का प्रबंध है। मुख्य उद्योगों में मछली पकड़ना, जैतून का तेल साफ करना तथा तंबाकू पैदा करना है। (श्या० सुं० श०)

ऐंट्रिम आयरलैंड के अल्स्टर प्रदेश में स्थित एक जिला है। इसकी उत्तरी सीमा पर अध महासागर, पूर्व में उत्तरी जलप्रणाली, दक्षिण में लेगान नदी तथा लोखने झील हैं और पश्चिमी सीमा का निर्माण बान नदी करती है। इसका क्षेत्रफल १,२३७ वर्ग मील है, जिसके प्रायः संपूर्ण भाग में कृषि होती है। ग्लेनरावल में अच्छे लोहे की परतें हैं, तथा डयूनेरल और कैरिकफ़रगुस में नमक की बड़ी बड़ी खदानें हैं जहाँ से काफी नमक निकाला जाता है। यहाँ के निवासियों के मुख्य धंधे सन का उत्पादन, मछली पकड़ना, लिनन तैयार करना, तथा ऊनी एवं सूती वस्त्र का उत्पादन हैं। बेलफ़ास्ट राजधानी है एवं अन्य मुख्य नगर लार्न तथा कैरिकफ़रगुस हैं।

ऐंट्रिम नगर लाखाने झील से आधे मील की दूरी पर स्थित है। इसकी स्थिति इतनी अच्छी नहीं है, फिर भी यहाँ लोहा ढालने, वस्त्र श्वेत करने और लिनन तथा कागज बनाने के उद्योग हैं। इसके समीप ही आयरलैंड का, ९३ फुट ऊँचा तथा ५० फुट व्यास का आयरलैंड में प्रचलित रचना का एक गोल अट्टालक है जो स्थापत्य कला की दृष्टि से अनिंद्य है। ऐंट्रिम का किला भी युद्ध की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण स्थान पर है। यह नगर आवागमन के मुख्य मार्गों को व्यवस्थित रखता है। इस नगर का बेलफ़ास्ट, लार्न, कालरेन इत्यादि मुख्य नगरों तथा अन्य केंद्रों से रेल द्वारा सीधा संबंध है। ऐंट्रिम वह स्थान है जहाँ ईसाइयों की एक सांप्रदायिक संस्था 'सोसायटी आव फ्रेंड्स' के सिद्धांतों का आयरलैंड में सर्वप्रथम प्रसारित किया गया था। आल्डरग्रेव के समीप ही शाही वायुसेना का हवाई अड्डा है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९६६ ई० में ५,४६८ थी। (श्या० सुं० श०)

ऐंडर्सन, कार्ल डेविड अमरीका के प्रमुख भौतिक वैज्ञानिक हैं। इनका जन्म ३ सितंबर, सन् १९०५ ई० को न्यूयार्क में हुआ। उच्च शिक्षा इन्होंने कैलिफ़ोर्निया इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलाजी, पैसाडेना में प्राप्त की। १९३० में इन्हें पी-एच० डी० की उपाधि मिली। १९३३ में ये कैलिफ़ोर्निया इंस्टिट्यूट में सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए, फिर १९३९ में प्रोफेसर बना दिए गए।

अनुसंधान कार्य—सन् १९२७ में जिन दिनों आपने अंतरिक्ष किरणों के बारे में अपना शोधकार्य आरंभ किया, उन दिनों इन किरणों के बारे में इस महत्वपूर्ण प्रश्न का हल ढूँढ़ा जा रहा था कि ये किरणें अत्यधिक ऊर्जावाले कणों से बनी हैं अथवा ये शक्तिशाली गामा किरणों की जाति की हैं। प्रोफेसर मिलिकन की प्रेरणा से ऐंडर्सन ने सुसंगठित योजना के अनुसार अपने प्रयोग आरंभ किए। इन प्रयोगों में मेघकक्ष (क्लाउड चेंबर) को चुंबकीय क्षेत्र में रखा गया था और इस बात का प्रबंध किया गया था कि एक लंबी अवधि तक प्रत्येक १५ सेकंड के अंतर पर कक्ष में प्रकट होनेवाले विद्युत्कणों की मार्गरेखा का फोटो अपने आप खिंचता रहे। इन मार्गरेखाओं की वक्रता नापकर ऐंडर्सन ने निर्विवाद रूप से १९३२ में यह सिद्ध किया कि अंतरिक्ष किरणों की ऊर्जा जब पदार्थ में परिणत होती है तो एक इलेक्ट्रान के साथ साथ उतनी ही धनविद्युत् मात्रावाला दूसरा कण भी उत्पन्न होता है, जिसे 'पाज़िट्रान' का नाम दिया गया। पाजिट्रान का भार ठीक इलेक्ट्रान के भार के बराबर होता है। १९३६ में पाज़िट्रान की खोज के उपलक्ष में आपको नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

इन्हीं प्रयोगों के सिलसिले में ऐंडर्सन ने इस बात की भी संभावना बतलाई की अंतरिक्ष किरणों में एक नई जाति के विद्युत्कण भी विद्यमान रह सकते हैं जिनका भार इलेक्ट्रान और प्रोटान के भार के बीच होना चाहिए तथा जिनकी विद्युन्मात्रा इलेक्ट्रान की विद्युन्मात्रा के बराबर ही ऋणात्मक या धनात्मक जाति की होनी चाहिए। ऐंडर्सन ने इन्हें मेसोट्रान नाम दिया। बाद में ये ही कण मेसन कहलाए। (भ० प्र० श्री०)

ऐंडर्सन, हान्स क्रिश्चियन (१८०५-७५)। इनका जन्म २ अप्रैल, १८०५ को ओडेन्स (डेन्मार्क) में हुआ। अपने बचपन में ही इन्होंने कठपुतलियों के लिये एक नाटक की रचना कर अपनी भावी कल्पनाशक्ति का परिचय दिया। यह छोटे ही थे जब इनके निर्धन पिता की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् ये ऑपेरा में गायक बनने की इच्छा से कोपेनहागेन आए। इन्होंने इस समय बुरे दिन भी देखे, परंतु कुछ गायक मित्रों की सहायता से काम चलता रहा। गायक बनने की अभिलाषा छोड़कर इन्होंने रॉयल थियेटर में नृत्य सीखना आरंभ किया। रॉयल थियेटर के निर्देशक श्री कॉलिन ने डेन्मार्क नरेश से इनकी प्रशंसा की और कुछ वर्षों के लिये उन्होंने इनकी शिक्षा का भार सँभाला। १८२९ में इन्हें 'फ़ॉडराइज़' नामक पुस्तक के प्रकाशन के फलस्वरूप प्रथम सफलता प्राप्त हुई। १८३३ में डेन्मार्क नरेश ने इनको कुछ धन भ्रमणार्थ दिया, जिससे इनका अनुभव बढ़ा। १८३५ में इनकी कथा 'इंप्रोवाइज़ेटर' को बहुत सफलता मिली। इस समय इन्होंने 'फ़ेयरी टेल्स' लिखना आरंभ किया, जिनके द्वारा ये विश्वविख्यात हुए। इन्होंने कई नाटक भी लिखे। १८७२ में एक दुर्घटना ने इन्हें किसी योग्य न रहने दिया और ४ अगस्त, १८७५ को इनका मृत्यु हो गई। विश्व के बाल साहित्य और स्कैंडिनेविया के साहित्य में इनका सर्वप्रथम स्थान है। विश्व की लगभग सभी भाषाओं में इनका विख्यात कृतियों का अनुवाद हो चुका है। इनकी मुख्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं: 'फ़ॉडराइज़' (१८२९), 'ट्रैवल्स' (१८३१); 'दि इंप्रोवाइज़ेटर' (१८३५); 'फ़ेयरी टेल्स' (१८३५-३७, १८४५, १८४७-४८, १८५२-६२, १८७१-७२); 'ए पिक्चर बुक विदाउट पिक्चर्स' (१८४०); 'ए पोएट्स बज़ार' (१८४७); 'द टू बैरोनेसेज़' (१८४७); 'इन स्वीडेन' (१८४९); 'आत्मकथा', 'टु बी ओर नॉट टु बी' (१८५७) और 'इन स्पेन' (१८६३)। (स्कं० गु०)

ऐंडीज़ पर्वत उस विशाल पर्वतीय प्रणाली का नाम है जो दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी भाग की पूरी लंबाई में फैली हुई है। ऐंडीज़ शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है।

भूतत्व—ऐंडीज़ की भंजन क्रिया का आरंभ उत्तर खटीयुत युग में हुआ और यह क्रम तृतीयक कल्प तक जारी रहा। ऐंडीज़ के अधिकांश भौमिक पार्श्व चित्रों द्वारा पता चलता है कि भंजन साधारण जूरा (Jura) प्रकार का है। इसके विपरीत आल्प्स की भंजन क्रिया कहीं अधिक पेचीदा है। संपूर्ण ऐंडीज़ क्षेत्र में अनेक विस्तृत तुरीय हिमयुगों के प्रमाण मिलते हैं। पूर्वकाल में दक्षिणी अमरीका के संपूर्ण पश्चिमी समुद्रतटीय प्रदेश में महान् परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान समय में भी इस प्रदेश के विभिन्न भागों में बहुधा भूकंप आया करते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि इन परिवर्तनों का क्रम जारी है। इसके सिवाय ऐंडीज़ उच्च प्रदेश के समीपस्थ समुद्र की अथाह गहराई भी इसकी अस्थिरता का सूचक है। ऐंडीज़ के ज्वालामुखी तीन महत्वपूर्ण समूहों में विभक्त हैं: (१) दक्षिणी कोलंबिया और उत्तरी इक्वेडोर, (२) दक्षिणी पीरू और उत्तरी चिली और (३) मध्य चिली, नेऊकेन तथा पैटागोनिया। इनमें गाढ़ा अम्लिक लावा पाया जाता है।

खान खोदने का उद्योग ऐंडीज़ के सभी अंतर्गत देशों में महत्वपूर्ण है। चिली और बोलिविया में यह अन्य समस्त उद्योगों से अधिक महत्वपूर्ण है। अधिकांश खनिज पदार्थ नवीन आग्नेय शिलाओं में मिलते हैं। इनमें कोलंबिया में सोना, पीरू और चिली में चाँदी तथा ताँबा और बोलिविया में टिन, चाँदी, बिसमथ तथा ताँबा अधिक महत्वपूर्ण है। चिली, पीरू और कोलंबिया में घटिया जाति के कोयले का विस्तृत भंडार है। वेनिज़ुएला कोलंबिया और पीरू में खनिज तेल के महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। मानवीय व्यवसायों की दृष्टि से ऐंडीज़ के तीन विभाग हैं—दक्षिण का बस्ती रहित क्षेत्र, जिसका विस्तार उत्तर में प्यूना डी अटाकामा तक है, मध्यवर्ती शुष्क क्षेत्र, जिसका विस्तार प्यूना डी अटाकामा से उत्तरी पीरू तक है तथा जहाँ खान खोदना मुख्य उद्यम है, और उत्तर का नम क्षेत्र जहाँ खेती मुख्य उद्यम है।

ऐंडीज़ के संपूर्ण बसे हुए प्रदेशों में यातायात का मुख्य साधन खच्चर है। यहाँ रेलमार्गों का अभाव है और केवल दो ही रेलमार्ग इस पर्वत को पार करते हैं। (रा० ना० मा०)

ऐंड्रूज़, चार्ल्स फ्रीयर (१८७१–१९४० ई०) भारत में दीनबंधु ऐंड्रूज़ नाम से विख्यात। सर्वप्रथम महात्मा गांधी ने ही उन्हें दीनबंधु के नाम से संमानित किया था। इंग्लैंड में टाइन नदी के किनारे बसे न्यू कैसल नगर में ११ फरवरी, १८७१ ई० को ऐंड्रूज़ का जन्म हुआ।

ऐंटिमनी त्रिसंयोजक तथा पंचसंयोजक अवस्थाओं में यौगिक वनाता है। ऐंटिमनी का परमाणु आर्सेनिक से अधिक विद्युद्धनीय होता है। वह आर्सेनिक की भाँति हाइड्रोजन से यौगिक वनाता है जिसका सूत्र ऐं$_{टि}$ हा$_3$ (SbH_3) है। यह आहा$_3$ (AsH_3) से कम स्थायी है। ऐंटिमनी का परमाणु आर्सेनिक के परमाणु से बड़ा है। इस कारण इसमें कुछ भिन्नताएँ भी हैं। ऐंटिमनी के हेलाइड में लवण के गुण अधिक हैं। इसका विघटन भी सुगमता से होता है।

जलीय माध्यम में ऐंटिमनी किसी भी हैलोजन द्वारा उपचयित (आक्सीकृत) हो सकता है। नाइट्रिक, सल्फ़्यूरिक तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (आविसजन की उपस्थिति में) ऐंटिमनी को आक्सीकृत कर देते हैं। इस प्रकार ऐंटिमनी अच्छा उपचायक है। वायु में दहन करने पर यह जलने लगता है। हैलोजन तथा गंधक के साथ गर्म करने पर भी यह आक्सीकृत हो जाता है। ऊँचे ताप पर कार्वन द्वि-आक्साइड भी इसे आक्सीकृत करता है। इसी प्रकार जलवाष्प तथा कुछ धातुओं के आक्साइड भी ऊँचे ताप पर ऐंटिमनी को आक्सीकृत करते हैं। कुछ धातुएँ जैसे सोडियम, लोह, ऐल्युमिनियम तथा मैगनीशियम भी ऐंटिमनी के साथ अंतर्धात्वीय यौगिक वनाती हैं।

यौगिक—ऐंटिमनी के यौगिकों में ऐंटिमनी ट्राइआक्साइड (Sb_2O_3) वहुत प्रसिद्ध है। इसके दो अपर रूप घन तथा समचतुर्भुज हैं। समचतुर्भुज अपर रूप ३६०° सेंटीग्रेड से ऊँचे ताप पर स्थायी है। ऐंटिमनी ट्राइआक्साइड ऐंटिमनी या उसके सल्फ़ाइड को वायु में गर्म करने से प्राप्त होता है।

ऐंटिमनी ट्राइसल्फ़ाइड (Sb_2S_3) प्राकृतिक अवस्था में मणिभ रूप में पाया जाता है। इसका नाम स्टिवनाइट है। अमणिभीय रूप प्रयोगशाला में वनाया जा सकता है। यह पानी में अविलेय है। यदि विलयन में सल्फ़ाइड आयन उपस्थित हो तो यह विलेय हो जाता है। ऐंटिमनी ट्राइसल्फ़ाइड शक्तिशाली उपचयक के द्वारा पेंटा-सल्फ़ाइड में परिवर्तित किया जाता है।

ऐंटिमनी के वहुत से पंचसंयोजक यौगिक हैं, जैसे आक्साइड (Sb_2O_5), फ़्लोराइड (SbF_5), क्लोराइड ($SbCl_5$) आदि। ऐंटिमनी के कार्वनिक व्युत्पन्न भी वनाए गए हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

$$(C_2H_5)_3Sb,\ (C_2H_5)_2\ SbCl,\ C_2H_5SbCl_2$$

उपयोग—ऐंटिमनी का विशेप उपयोग अन्य धातुओं के साथ मिश्रधातु वनाने में होता है। सीसे के साथ इसका वहुधा उपयोग होता है। थोड़ी मात्रा में सीसे के साथ ऐंटिमनी मिलाने से सीसा कठोर हो जाता है और जल्द श्रांत नहीं होता (काम करते करते अपने आप टूटने को श्रांत होना कहते हैं)।

ऐंटिमनी ट्राइसल्फ़ाइड का उपयोग वर्णक (रंग) वनाने में, दियासलाई उद्योग में, कारतूस वनाने में और धूम्र उत्पन्न करने में होता है। ऐंटिमनी आक्साइड इनैमल उद्योग में काम आता है। ऐंटिमनी के कुछ यौगिक रगस्थापक (मार्डेंट), ज्वालावरोधक और अग्निसह वस्त्र वनाने में प्रयुक्त होते हैं।

ऐंटिमनी के यौगिक खाने पर मनुष्य तथा पशु के शरीर पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। इसके यौगिक शरीर में जलन पैदा करते हैं और श्वासक्रिया तथा हृदयगति पर वुरा प्रभाव डालते हैं। ऐंटिमनी के लवण थोड़ी मात्रा में भी मनुष्यों के लिये घातक सिद्ध होते हैं। इसका प्रभाव आर्सेनिक की भाँति ही विषाक्त होता है।

ऐंटिमनी के कुछ यौगिक ओषधि के रूप में हाथीपाँव (फ़ाइलेरिया), कालाजार, घाव आदि के उपचार में प्रयुक्त होते हैं एवं परोपजीवियों द्वारा फैलाए रोगों के उपचार में भी काम आते हैं।

उत्पादन—साधारणतया ऐंटिमनी तत्व स्टिवनाइट (सल्फ़ाइड अयस्क) से निकाला जाता है। ऐंटिमनी सल्फ़ाइड दूसरे सल्फ़ाइडों से कम ताप पर द्रवित होता है। इस प्रकार इसे दूसरे सल्फ़ाइडों से अलग किया जाता है। यदि अयस्क में सल्फ़ाइड की मात्रा कम हो तो उसे उपचयित करके आक्साइड में परिवर्तित करते हैं। यह आक्साइड वाष्पशील है तथा सुगमता से अलग किया जा सकता है। ऐंटिमनी सल्फ़ाइड को पहले उपचयित कर फिर ऐंटिमनी आक्साइड को कार्वन द्वारा अपचयित करते हैं।

अपचयन द्वारा वनाया हुआ ऐंटिमनी शुद्ध नहीं होता है। शुद्ध करने के लिये अशुद्ध ऐंटिमनी को कुछ द्रावक के साथ गर्म करते हैं। इस प्रकार लोहा, आर्सेनिक, ताँवा, सीसा, गंधक आदि अशुद्धियाँ अलग हो जाती हैं और शुद्ध ऐंटिमनी मिल जाता है।

ऐंटिमनी का उत्पादन अमरीका, वोलीविया, मेक्सिको तथा चीन में विशेप अधिक होता है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलोर : काम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज़ ऑन इनॉर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१६२८–३२); ए० एफ़० वेल्स : स्ट्रक्चरल इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री (१६४६)। (र० चं० क०)

ऐंटियम जिसका आधुनिक नाम ऐंजिओ है, इटली के लेशियम प्रदेश के तट पर एक प्राचीन तथा वोलसियन नगर है। यह रोम से प्रायः ३३ मी० दक्षिण में है। प्राचीन काल में इसकी स्थिति भूमि के उच्च तथा अग्रभाग पर थी और यह उन्नतिशील सागरपत्तन था। ४६८ ई० पू० में रोमनों द्वारा अधिकृत किया गया, पर यहाँ विद्रोह हुआ तथा ३३८ ई० पू० तक यह स्वतंत्र वना रहा। अंत में फिर रोमनों के अधीन होकर उनका सामुद्रिक उपनिवेश हो गया। उन दिनों यह विलासी रोमनों का निवासस्थान था; नगर तथा आसपास के स्थान सुंदर तथा भव्य मंदिरों और भवनों से सुसज्जित थे। रोमन सम्राट् नीरो तथा कालिगुला का यह जन्मस्थान है। अरव के मुसलमानों द्वारा यह नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया था; परंतु भव्य अतीत की याद दिलानेवाले अवशेष आज भी वर्तमान नगर के समीप विद्यमान हैं। (श्या० सुं० श०)

ऐंटिलीस एक विवादग्रस्त शब्द है, जो वहुत से विद्वानों तथा लेखकों द्वारा 'पश्चिमी द्वीपसमूह' के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसका संवंध यूरोपीय सामुद्रिकों द्वारा नए देशों की खोज के समय से चला आ रहा है। उस समय यह नाम एक प्रकार से कल्पित भूखंडों से संवंधित था और मध्ययुगीन मानचित्रों में इसका प्रयोग प्रायद्वीपों तथा कभी कभी उन भूखंडों के लिये भी होता था, जिनकी कल्पना कानेयरीज़ द्वीप तथा भारतवर्ष के मध्य समुद्र में की जाती थी। कोलंवस द्वारा पश्चिमी द्वीपसमूह का पता लगा लिए जाने पर इन द्वीपों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया गया। उस समय उन लोगों का विचार था कि यह द्वीपपुंज असंख्य द्वीपों से भरा है। ऐंटिलिया ऐंटिलीस का वहुवचन है जो इन द्वीपों के लिये प्रयुक्त किया गया। ऐंटिलीस दो प्रकार के हैं : प्रथम, वड़ा ऐंटिलीस जिसमें क्यूवा, जमेका, हेती-सान, डोमिंगो तथा पोर्टो रिको आते हैं; और द्वितीय, लघु ऐंटिलीस, जिसमें अन्य सव वचे हुए द्वीप आते हैं। (श्या० सुं० श०)

ऐंटिवारी यह सागरपत्तन वारी के विपरीत होने के कारण वेनिसवासियों द्वारा इसी नाम से पुकारा जाता है। यह यूगोस्लाविया के मांटेनीग्रो प्रदेश में है और सन् १८७८ ई० तक तुर्कों के अधीन था। प्राचीन नगर समुद्र से हटकर रामीजा (५,२२६ फुट) की छाया में जैतून के घने झुरमुटों से ढके हुए स्थल पर वसा हुआ है। यह एक भग्न प्राचीरवाला ग्राम है, जिसमें एक छोटा सा किला है। यह मसजिदों एवं वाजारों से घिरा हुआ है। पहाड़ों से घिरी हुई ऐंटिवारी की सुंदर खाड़ी यहाँ से तीन मील की दूरी पर है जहाँ प्रस्तन नामक पत्तन स्थित है। इस पत्तन (१६०६ ई० में वनाया गया) में २०० जहाज ठहर सकते हैं। एकमात्र रेलमार्ग वीरपजार से ऐंटिवारी तक ही है, किंतु तट के किनारे सुंदर सड़क है। वारी आने जाने के लिये स्टीमरों द्वारा फेरी पार उतारने का प्रवंध है। मुख्य उद्योगों में मछली पकड़ना, जैतून का तेल साफ करना तथा तंवाकू पैदा करना है। (श्या० सुं० श०)

ऐंट्रिम आयरलैंड के अलस्टर प्रदेश में स्थित एक जिला है। इसकी उत्तरी सीमा पर अंध महासागर, पूर्व में उत्तरा जलप्रणाली, दक्षिण में लेगान नदी तथा लॉखनं झील हैं और पश्चिमी सीमा का निर्माण बान नदी करती है। इसका क्षेत्रफल १,२३७ वर्ग मील है, जिसके प्रायः संपूर्ण भाग में कृषि होती है। ग्लेनरावेल में अच्छे लोहे की परतें हैं, तथा डचूनेरल और कैरिकफ़रगुस में नमक की बड़ी बड़ी खदानें हैं जहाँ से काफी नमक निकाला जाता है। यहाँ के निवासियों के मुख्य धंधे सन का उत्पादन, मछली पकड़ना, लिनन तैयार करना, तथा ऊनी एवं सूती वस्त्र का उत्पादन हैं। बेलफ़ास्ट राजधानी है एवं अन्य मुख्य नगर लान तथा कैरिकफ़रगुस है।

ऐंट्रिम नगर लाखाने झील से आधे मील की दूरी पर स्थित है। इसकी स्थिति इतनी अच्छी नहीं है, फिर भी यहाँ लोहा ढालने, वस्त्र श्वेत करने और लिनन तथा कागज बनाने के उद्योग हैं। इसके समीप ही आयरलैंड का, ९३ फुट ऊँचा तथा ५० फुट व्यास का आयरलैंड में प्रचलित रचना का एक गोल अट्टालक है जो स्थापत्य कला की दृष्टि से अनिंद्य है। ऐंट्रिम का किला भी युद्ध की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण स्थान पर है। यह नगर आवागमन के मुख्य मार्गों का व्यवस्थित रखता है। इस नगर का बेलफ़ास्ट, लार्न, कोलरन इत्यादि मुख्य नगरों तथा अन्य केंद्रों से रेल द्वारा सीधा संबंध है। ऐंट्रिम वह स्थान है जहाँ ईसाइयों की एक सांप्रदायिक संस्था 'सोसायटी ऑव फ्रेंड्स' के सिद्धांतों को आयरलैंड में सर्वप्रथम प्रसारित किया गया था। आल्डरग्रव के समीप ही शाही वायुसेना का हवाई अड्डा है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९६६ ई० में ५,४६८ थी। (श्या० सुं० श०)

ऐंडर्सन, कार्ल डेविड अमरीका के प्रमुख भौतिक वैज्ञानिक हैं। इनका जन्म ३ सितंबर, सन् १९०५ ई० को न्यूयार्क में हुआ। उच्च शिक्षा इन्होंने कैलिफ़ोर्निया इंस्टिटचूट ऑव टेक्नॉलॉजी, पैसाडना में प्राप्त की। १९३० में इन्हें पी-एच० डी० की उपाधि मिली। १९३३ में ये कैलिफ़ोर्निया इंस्टिटचूट में सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए, फिर १९३९ में प्रोफेसर बना दिए गए।

अनुसंधान कार्य---सन् १९२७ में जिन दिनों आपने अंतरिक्ष किरणों के बारे में अपना शोधकार्य आरंभ किया, उन दिनों इन किरणों के बारे में इस महत्वपूर्ण प्रश्न का हल ढूँढ़ा जा रहा था कि ये किरणें अत्यधिक ऊर्जावाले कणों से बनी है अथवा ये शक्तिशाली गामा किरणों की जाति की है। प्रोफेसर मिलिकन की प्रेरणा से ऐंडर्सन ने सुसंगठित योजना के अनुसार अपने प्रयोग आरंभ किए। इन प्रयोगों में मेघकक्ष (क्लाउड चेंबर) को चुंबकीय क्षेत्र में रखा गया था और इस बात का प्रबंध किया गया था कि एक लंबी अवधि तक प्रत्येक १५ सेकंड के अंतर पर कक्ष में प्रकट होनेवाले विद्युत्कणों की मार्गरेखा का फोटो अपने आप खिंचता रहे। इन मार्गरेखाओं की वक्रता नापकर ऐंडर्सन ने निर्विवाद रूप से १९३२ में यह सिद्ध किया कि अंतरिक्ष किरणों की ऊर्जा जब पदार्थ में परिणत होती है तो एक इलेक्ट्रान के साथ साथ उतनी ही धनविद्युत् मात्रावाला दूसरा कण भी उत्पन्न होता है, जिसे 'पाज़िट्रान' का नाम दिया गया। पाज़िट्रान का भार ठीक इलेक्ट्रान के भार के बराबर होता है। १९३६ में पाज़िट्रान की खोज के उपलक्ष में आपको नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

इन्हीं प्रयोगों के सिलसिले में ऐंडर्सन ने इस बात की भी संभावना बतलाई की अंतरिक्ष किरणों में एक नई जाति के विद्युत्कण भी विद्यमान रह सकते हैं जिनका भार इलेक्ट्रान और प्रोटान के भार के बीच होना चाहिए तथा जिनकी विद्युन्मात्रा इलेक्ट्रान की विद्युन्मात्रा के बराबर ही ऋणात्मक या धनात्मक जाति की होनी चाहिए। ऐंडर्सन ने इन्हें मेसोट्रान नाम दिया। बाद में ये ही कण मेसन कहलाए। (भ० प्र० श्री०)

ऐंडर्सन, हान्स क्रिश्चियन (१८०५-७५)। इनका जन्म २ अप्रैल, १८०५ को ओडेन्स (डेन्मार्क) में हुआ। अपने बचपन में ही इन्होंने कठपुतलियों के लिये एक नाटक की रचना कर अपनी भावी कल्पनाशक्ति का परिचय दिया। यह छोटे ही थे जब इनके निर्धन पिता की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् ये ऑपेरा में गायक बनने की इच्छा से कोपेनहागेन आए। इन्होंने इस समय बुरे दिन भी देखे, परंतु कुछ गायक मित्रों की सहायता से काम चलता रहा। गायक बनने की अभिलाषा छोड़कर इन्होंने रॉयल थियेटर में नृत्य सीखना आरंभ किया। रॉयल थियेटर के निर्देशक श्री कॉलिन ने डेन्मार्क नरेश से इनकी प्रशंसा की और कुछ वर्षों के लिये उन्होंने इनकी शिक्षा का भार सँभाला। १८२९ में इन्हें 'फ़ॉडराइज़' नामक पुस्तक के प्रकाशन के फलस्वरूप प्रथम सफलता प्राप्त हुई। १८३३ में डेन्मार्क नरेश ने इनको कुछ धन भ्रमणार्थ दिया, जिससे इनका अनुभव बढ़ा। १८३५ में इनकी कथा 'इंप्रोवाइज़ेटर' को बहुत सफलता मिली। इस समय इन्होंने 'फ़ेयरी टेल्स' लिखना आरंभ किया, जिनके द्वारा ये विश्वविख्यात हुए। इन्होंने कई नाटक भी लिखे। १८७२ में एक दुर्घटना ने इन्हें किसी योग्य न रहने दिया और ४ अगस्त, १८७५ को इनकी मृत्यु हो गई। विश्व के बाल साहित्य और स्कैंडिनेविया के साहित्य में इनका सर्वप्रथम स्थान है। विश्व की लगभग सभी भाषाओं में इनकी विख्यात कृतियों का अनुवाद हो चुका है। इनकी मुख्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं: 'फ़ॉडराइज़' (१८२९), 'ट्रैवल्स' (१८३१); 'दि इंप्रोवाइज़ेटर' (१८३५); 'फ़ेयरी टेल्स' (१८३५-३७, १८४५, १८४७-४८, १८५२-६२, १८७१-७२); 'ए पिक्चर बुक विदाउट पिक्चर्स' (१८४०); 'ए पोएट्स बज़ार' (१८४७); 'द टू बैरोनेसेज़' (१८४७); 'इन स्वीडेन' (१८४९); 'आत्मकथा', 'टु बी और नॉट टु बी' (१८५७) और 'इन स्पेन' (१८६३)। (स्कं० गु०)

ऐंडीज़ पर्वत उस विशाल पर्वतीय प्रणाली का नाम है जो दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी भाग की पूरी लंबाई में फैली हुई है। ऐंडीज़ शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है।

भूतत्व---ऐंडीज़ की भंजन क्रिया का आरंभ उत्तर खटीयुत युग में हुआ और यह क्रम तृतीयक कल्प तक जारी रहा। ऐंडीज़ के अधिकांश भौमिक पार्श्व चित्रों द्वारा पता चलता है कि भंजन साधारण जूरा (Jura) प्रकार का है। इसके विपरीत आल्प्स की भंजन क्रिया कहीं अधिक पेचीदा है। संपूर्ण ऐंडीज़ क्षेत्र में अनेक विस्तृत तुरीय हिमयुगों के प्रमाण मिलते हैं। पूर्वकाल में दक्षिणी अमरीका के संपूर्ण पश्चिमी समुद्रतटीय प्रदेश में महान् परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान समय में भी इस प्रदेश के विभिन्न भागों में बहुधा भूकंप आया करते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि इन परिवर्तनों का क्रम जारी है। इसके सिवाय ऐंडीज़ उच्च प्रदेश के समीपस्थ समुद्र की अथाह गहराई भी इसकी अस्थिरता का सूचक है। ऐंडीज़ के ज्वालामुखी तीन महत्वपूर्ण समूहों में विभक्त हैं: (१) दक्षिणी कोलंबिया और उत्तरी इक्वेडोर, (२) दक्षिणी पीरू और उत्तरी चिली और (३) मध्य चिली, नेऊकेन तथा पैटागोनिया। इनमें गाढ़ा अम्लिक लावा पाया जाता है।

खान खोदने का उद्योग ऐंडीज़ के सभी अंतर्गत देशों में महत्वपूर्ण है। चिली और बोलिविया में यह अन्य समस्त उद्योगों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। अधिकांश खनिज पदार्थ नवीन आग्नेय शिलाओं में मिलते हैं। इनमें कोलंबिया में सोना, पीरू और चिली में चाँदी तथा ताँबा और बोलिविया में टिन, चाँदी, बिसमथ तथा ताँबा अधिक महत्वपूर्ण है। चिली, पीरू और कोलंबिया में घटिया जाति के कोयले का विस्तृत भंडार है। वेनिज़ुएला कोलंबिया और पीरू में खनिज तेल के महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। मानवीय व्यवसायों की दृष्टि से ऐंडीज़ के तीन विभाग हैं---दक्षिण का बस्ती रहित क्षेत्र, जिसका विस्तार उत्तर में प्यूना डी अटाकामा तक है, मध्यवर्ती शुष्क क्षेत्र, जिसका विस्तार प्यूना डी अटाकामा से उत्तरी पीरू तक है तथा जहाँ खान खोदना मुख्य उद्यम है, और उत्तर का नम क्षेत्र जहाँ खेती मुख्य उद्यम है।

ऐंडीज़ के संपूर्ण बसे हुए प्रदेशों में यातायात का मुख्य साधन खच्चर है। यहाँ रेलमार्गों का अभाव है और केवल दो ही रेलमार्ग इस पर्वत को पार करते है। (रा० ना० मा०)

ऐंड्रूज़, चार्ल्स फ्रीयर (१८७१-१९४० ई०) भारत में दीनबंधु ऐंड्रूज़ नाम से विख्यात। सर्वप्रथम महात्मा गांधी ने ही उन्हें दीनबंधु के नाम से संमानित किया था। इंग्लैंड में टाइन नदी के किनारे बसे न्यू कैसल नगर में ११ फरवरी, १८७१ ई० को ऐंड्रूज़ का जन्म हुआ।

इनके पिता जान एडविन ऐंड्रूज और माता शारलाट बड़ी सात्विक, धार्मिक तथा दयालु प्रवृत्ति की थीं। मानवप्रेम ऐंड्रूज ने अपनी माँ से रिक्थ में पाया था। पवित्र अंतःकरणवाले पिता से उन्होंने आध्यात्मिकता, भगवद्विश्वास तथा सत्यनिष्ठा प्राप्त की। उनका परिवार आरंभ से ही गरीब था। बैंक में उनकी माँ के नाम से अवश्य कुछ धन जमा था, लेकिन उसके धूर्त प्रमुख ट्रस्टी ने जालसाजी करके उक्त सारा धन उड़ा लिया और ऐंड्रूज परिवार इतना अकिंचन हो गया कि उसे सिर्फ सूखी रोटी खाकर गुजर करने तथा गरीबों की वस्ती में एक छोटे से मकान में रहने को विवश होना पड़ा। पर यही अकिंचनता ऐंड्रूज़ के लिये वरदान सिद्ध हुई और वे संसार भर के गरीबों को हृदय से प्रेम करने लगे जिससे आगे चलकर उन्हें दीनबंधु नाम मिला।

दीनबंधु ऐंड्रूज के मन में भारत के प्रति सहज ममता एवं आकर्षण था और अपने का भारतीय कहलाने की बचपन से ही उनकी उत्कट इच्छा थी। ३३ वर्ष की आयु में उनका यह स्वप्न तब साकार हुआ जब १९०४ ई० में वे सेंट स्टीफ़ेंस कालेज, दिल्ली में अध्यापक होकर भारत आए। दिल्ली निवास की अवधि में उनका कई नेताओं से परिचय हुआ और उन्हें भारतीय समस्याओं की जानकारी भी हुई। इससे भारत के प्रति उनकी भक्ति और भी बढ़ गई तथा भारतीय तरुणों के मन में वे स्वराज्य की भावना भरने लगे। भारत को लेकर उन्होंने कहा था, "मुझे भारत में अपना ध्येय प्राप्त हो गया है और मैं एक क्षण के लिये भी इस देश के विषय में यह नहीं सोच सकता कि यह मेरी मातृभूमि से भिन्न है।"

कुछ समय बाद ऐंड्रूज दिल्ली से इंग्लैंड लौट गए। वहाँ ३० जून, १९१२ ई० को प्रसिद्ध चित्रकार रोटेंस्टाइन द्वारा अपने निवासस्थान पर आयोजित साहित्यकारों और कलाकारों की एक गोष्ठी में दीनबंधु ऐंड्रूज की मुलाकात विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर से हुई। दोनों ही एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हुए और रवि बाबू ने ऐंड्रूज़ को शांतिनिकेतन के कार्य में सहयोग देने के लिये आमंत्रित किया जिसे उन्होंने अपनी मंतव्यसिद्धि की दृष्टि से तुरंत स्वीकार कर लिया।

शांतिनिकेतन में स्थायी निवास के पहले ऐंड्रूज रवींद्रनाथ के कहने से कुछ समय के लिये महात्मा गांधी के कार्य में हाथ बटाने के लिये दक्षिणी अफ्रीका चले गए। नैटाल में उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा संचालित सत्याग्रह आंदोलन में भाग लिया। वे फ़िजी में भी रहे। फिजी से लौटकर वे शांतिनिकेतन चले आए और शेष जीवन उन्होंने वहीं बिताया। अंग्रेजी शासन द्वारा भारतीयों के उत्पीड़न को लेकर ऐंड्रूज सदा अत्यधिक व्यथित रहते थे। उन्होंने दीन दुखियों की सेवा का व्रत लिया। दरिद्रों का कष्ट उनके जीवन की सबसे बड़ी समस्या थी और वे आजीवन उसके समाधान के लिये प्रयत्नशील रहे। गरीब का दुःख देखकर वे अपनी कीमती से कीमती वस्तु भी दान कर देते थे।

भारत की स्वतंत्रता के लिये भी ऐंड्रूज सतत कार्य करते रहे। महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए स्वतंत्रता संग्राम को कुचलने के लिये पंजाब में मार्शल ला लगाया गया था; कोई भी उक्त प्रदेश में जाने का साहस न कर सकता था। दीनबंधु ऐंड्रूज़ ने पंजाब में सबसे पहले प्रवेश किया, लेकिन जनरल डायर के सैनिकों ने उन्हें बाहर निकाल दिया। कुछ समय बाद वे पुनः पंजाब गए और अंग्रेजों द्वारा वहाँ किए गए अत्याचारों से विश्व को अवगत कराया।

दीनबंधु ऐंड्रूज का निधन ६९ वर्ष की अवस्था में ५ अप्रैल, १९४० को शांतिनिकेतन में हुआ। जीवन की अवसान वेला में वे महती शांति से परिपूर्ण थे। गांधी जी उनके अंतिम दर्शन के लिये गए, तो ऐंड्रूज ने कहा था, "मोहन ! स्वराज्य आ रहा है।" (कै० चं० श०)

ऐंड्रूज़, राय चैपमैन अमरीकी प्राणिविज्ञ तथा अन्वेषक, का जन्म संयुक्त राज्य (अमरीका) के विस्कान्सिन राज्य के बेलाइट नगर में सन् १८८४ में हुआ था। बेलाइट कालेज से उपाधि ग्रहण करने के पश्चात् इन्होंने न्यूयार्क के अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री में सेवा आरंभ की और सन् १९०८ में अन्वेषण के लिये सर्वप्रथम अलास्का गए। सन् १९०९-१० में यू० एस० एस० ऐल्बैट्रास नामक पोत पर प्राणिविज्ञ के पद पर नियुक्त होकर इन्होंने हिंदेशिया, बोर्नियो तथा सिलीबीज़ द्वीपों की यात्रा की। सन् १९११-१२ में उत्तरी कोरिया में खोज कार्य किया तथा एक वर्ष पश्चात् इन्होंने बार्डेन की अलास्का यात्रा में भाग लिया।

प्रारंभ में ह्वेल तथा जलनिवासी अन्य स्तनधारी जीव इनके विशेष अध्ययन के विषय थे, किंतु सन् १९१४ से अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के एशियाई खोज विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त होकर ये मध्य एशिया, चीन, बोर्नियो इत्यादि देशों में १५ वर्षों तक अन्वेषण कार्य करते रहे। इनके नेतृत्व में तिब्बत, दक्षिण-पश्चिमी चीन, ब्रह्मदेश, उत्तरी चीन, मंगोलिया तथा मध्य एशिया में महत्व की खोजें हुई। मंगोलिया में जीवाश्मों से भरे क्षेत्र तथा मध्य एशिया की यात्राओं में नई भौमिक रचनाएँ, विस्तृत जीवाश्म क्षेत्र, डिनोसार के अंडे और ज्ञात स्थलीय स्तनधारियों में सबसे बड़े जीव बालूचीथीरियम के अवशेष मिले। इन अवशेषों तथा आदिकाल के मनुष्यों के जीवन के विस्तृत प्रमाण मिलने से यह सिद्ध हो गया कि संसार के उरगवंशी (रेंगनेवाले) तथा स्तनधारी जीवों के वितरण का केंद्र मध्य एशिया रहा है।

इन्होंने अनेक वैज्ञानिक निबंध तथा विवरणिकाओं के अतिरिक्त अपनी यात्रा और खोज संबंधी कई पुस्तकें लिखी हैं, जैसे ऐक्रास मंगोलियन प्लेन्स (१९२१), आन द ट्रेल ऑव एनशेंट मैन (१९२६-२७), दिस अमेज़िंग प्लैनेट (१९४०), इत्यादि। (भ० दा० व०)

ऐंथोसायानिन रंग और फलों में पाया जानेवाला वर्णक है। यह प्रकृति में पाया जानेवाला आक्सिजनयुक्त पोलिसाइक्लिक वर्णक है। जलविश्लेषण पर यह एग्लूकोन देता है, जिससे इसका नाम ऐंथोसायानिन पड़ा। यह एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ नीला फूल है। फलों और फूलों का नीला, लाल और बैंगनी रंग प्रायः इसी वर्णक के कारण होता है।

ऐंथोसायानिन का सूत्र स्थापित करने में विलस्टेटर, कैरार, राबिनसन इत्यादि ने विशेष काम किया। ऐंथोसायानिन हाइड्राक्सिबेंजोपीरीलियम

(क) (ख) (ग) (घ)
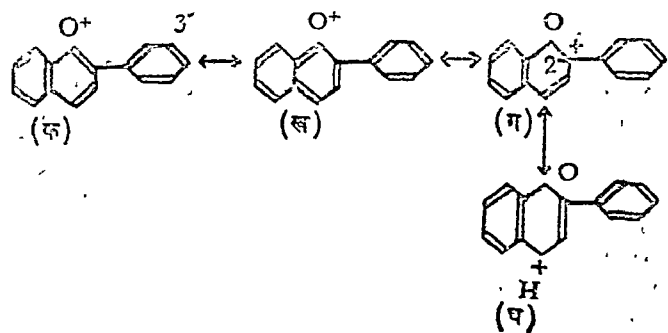
लवण के ग्लूकोसाइड हैं। धनायन का आधार सूत्र मंडल आक्सीनियम और कार्बोनियम रूप में अनुनादित होता रहता है और इसमें चार हाइब्रिड होते हैं (द्र० उपरिलिखित सूत्र)।

इनमें (क) और (ख) आक्सीनियम धनायन के तथा (ग) और (घ) कार्बोनियम धनायन के अनुनाद हाइब्रिड है। कार्बन में धन चार्ज ग्रहण करने की शक्ति अधिक है। अतः सूत्र क और ख अधिक स्थायी है। क और ख सूत्र में क, जिसमें नेफ्थलिनायड आकार है, क्यूनोनायड वाले आकार ख से अधिक स्थायी है। इसलिये ऐंथोसायानिन को प्रायः सूत्र क से ही सूचित किया जाता है। सूत्र ग भी विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि नाइट्रेशन अभिक्रिया में नाइट्रो समूह फेनिल समूह में स्थान ३' ग्रहण करता है; अर्थात् कार्बन २ के यह मेटा स्थान में लगता है। यह तभी संभव है जब कार्बन २ पर आंशिक धन चार्ज हो।

ऐंथोसायानिन प्राप्त करने के लिये प्रकृति में पाए जानेवाले इसके ग्लूकोसाइड को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से जलविश्लेपित किया जाता है,

जिससे ऐंथोसायानिन क्लोराइड के रूप में प्राप्त हो जाता है। पौधों में ऐंथोसायानिन का रंग पौधे के तंतुओं के हाइड्रोजन आयन सांद्रण पर निर्भर है। विभिन्न पीएच (pH) पर एक ही ऐंथोसायानिन अलग अलग रंग देता है। इस तरह कार्न फ्लावर के नीले फूल और गुलाब के लाल फूल दोनों सायानिडीन क्लोराइड देते हैं। सायानिडीन क्लोराइड अम्लीय विलयन में लाल, उदासीन विलयन में बैंगनी और क्षारीय विलयन में नीला रंग देता है।

H^+ ← → OH^-

सायानिडीन धनायन (लाल, पी एच<३) — रंगीन क्षार (बैंगनी, पी एच ७–८) — सायानिडीन ऋणायन (नीला, पी एच>११)

ऐंथोसायानिन तीन प्रकार के ग्लाइकोनों के संजात हैं। इनके नाम पेलॉर्गोनिडीन, सायानिडीन, डेल्फ़िनिडीन हैं जिनमें ३–, ५–, और ७– स्थानों पर हाइड्राक्सी समूह होते हैं। इनके दो फ़ेनिल नाभिक में विभिन्न संख्या के हाइड्राक्सी समूह होते हैं। इनके ३– या ५– स्थान से ग्लूकोसाइड का ग्लूकोस अणु लगा रहता है। अधिकांश ऐंथोसायानिन ३–, ५– डाइग्लूकोसाइड है।

पेलोगोनिडीन धनायन — सायानिडीन धनायन — डेल्फ़िनिडीन धनायन

ऐंथोसायानिन को क्षार के साथ गलाने पर एक फ़ीनोलकार्बोक्सिलिक अम्ल और एक फ़ीनोलिक अवयव प्राप्त होता है।

उक्त वर्णित तीनों प्रकार के ग्लाइकोन क्षार-गलन-क्रिया द्वारा फ़्लोरोग्लूनिसाल और क्रमश: एक–, दो– और तीन– फेनिल कार्बोक्सिलिक अम्ल देते हैं। इससे इनका सूत्र स्पष्ट हो जाता है।

ऐंथोसायानिन कई विधियों से संश्लेषित किए जा सकते हैं। इनमें राबिन्सन विधि प्रमुख है। इस विधि द्वारा संश्लेषण करने के लिये उचित प्रतिस्थापित आर्थो–हाइड्राक्सीबेंजैल्डिहाइड को ओमेगा–हाइड्राक्सी एसिटोफ़ीनोन के संजात से संघनित किया जाता है।

KOH

फ़ीनोल — फ़ीनोल कार्बोक्सिलिक अम्ल — ऐंथोसायानिन

HCl, 25° — 1. NaOH 2. HCl

सायानिडीन क्लोराइड

(Ac= ऐसिटील समूह।)

(कृ० व०)

ऐंथ्रासाइट कोयले की सबसे अच्छी किस्म है। इसका रंग काला होता है, पर हाथ में लेने पर उसे काला नहीं करता। इसकी चमक अधात्विक होती है। टूटने पर इसके नवीन पृष्ठों में से एक अवतल और दूसरा उत्तल दिखाई पड़ता है; इसे ही शंखाभ (कनकॉयडल) टूट कहते हैं। इसमें बहुधा विभंग समतल विद्यमान रहते हैं। इसकी कठोरता ०.५ से २.५ तक तथा आपेक्षिक घनत्व १.३६ से १.८४ तक होता है।

रासायनिक गुण—कोयले की अन्य किस्मों की अपेक्षा ऐंथ्रासाइट में कार्बन की मात्रा अधिक तथा वाष्पशील पदार्थो की मात्रा नगण्य होती है। पेंसिलवेनिया-ऐंथ्रासाइट में ८५ से ९३ प्रतिशत, साउथ वेल्स ऐंथ्रासाइट में ८८ से ९५ प्रतिशत, सैक्सनी ऐंथ्रासाइट में ८१ प्रतिशत तथा दक्षिणी रूस से प्राप्त ऐंथ्रासाइट में ९४ प्रतिशत तक कार्बन प्राप्त होता है। इसमें कार्बन के अतिरिक्त हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन आदि भी विद्यमान रहते हैं। ऐंथ्रासाइट की औसत रासायनिक संरचना निम्नलिखित है:

कार्बन	९३.५०	प्रतिशत
हाइड्रोजन	२.८१	,,
आक्सिजन	२.७२	,,
नाइट्रोजन	०.९७	,,

ऐंथ्रासाइट कठिनता से जलता है, किंतु एक बार सुलगने पर समाप्ति तक जलता रहता है। लपट छोटी और नीली होने पर भी इसकी उष्माशक्ति अत्यधिक होती है। कार्बन की मात्रा के साथ उष्माशक्ति भी बढ़ती जाती है। उष्माशक्ति को कलरी प्रति ग्राम या ब्रिटिश उष्मामात्रक प्रति पाउंड में लिखा जाता है। ऐंथ्रासाइट की उष्माशक्ति १४,००० से १५,००० ब्रिटिश उष्मामात्रक प्रति पाउंड होती है। (ब्रिटिश उष्मामात्रक का तात्पर्य ताप की उस मात्रा से है जो १ पाउंड पानी का ताप १° फ़ारनहाइट बढ़ा दे।) ऐंथ्रासाइट की ईंधन निष्पत्ति १२ से अधिक होती है।

उपयोग—पूर्वोक्त गुणों के कारण ऐंथ्रासाइट धात्विकी उद्योगों में विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। ऐंथ्रासाइट स्टोव कमरा गरम करने के लिये व्यवहृत होते हैं। निर्धूम होने के कारण बहुत से घरों में इसका उपयोग ईंधन के रूप में भी होता है; पर बिटुमिनयुक्त कोयले की अपेक्षा अधिक महँगा होने के कारण इसका घरेलू प्रयोग कम होता जा रहा है।

उत्पत्ति—वनस्पतियों के रूपांतरण की प्रक्रिया में क्रमानुसार पीट, लिग्नाइट, बिटुमिनयुक्त कोयला और ऐंथ्रासाइट बनता है। बिटुमिनयुक्त कोयला ताप और दाब के प्रभाव से ऐंथ्रासाइट बन जाता है। बहुधा बाहर से घुस आनेवाली आग्नेय शिलाओं के ताप के प्रभाव से ही बिटुमिनयुक्त कोयला ऐंथ्रासाइट में परिवर्तित हो जाता है। कुछ ऐंथ्रासाइट निक्षेप मूल वनस्पतियों में दबने से पूर्व जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न परिवर्तन के फलस्वरूप ही बने हैं।

ऐंथ्रासाइट उत्पादन में एशिया संसार का अग्रणी है। एशिया का लगभग दो तिहाई ऐंथ्रासाइट चीन के शांसी प्रदेश में है। हुनान (चीन) में ऐंथ्रासाइट स्तर साधारणतः १५ फुट मोटे हैं, इनमें से एक स्तर तो ५० फुट मोटा है। रूस का डोनेट्ज़ प्रदेश ऐंथ्रासाइट के लिये विख्यात है। संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) का संपूर्ण ऐंथ्रासाइट अपैलेचियन क्षेत्र से प्राप्त होता है। पेंसिलवेनिया और अलास्का के ऐंथ्रासाइट निक्षेप इसी क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। पेंसिलवेनिया के उत्तरी-पूर्वी भाग में लगभग ४८० वर्ग मील क्षेत्रफल में ऐंथ्रासाइट निकाला जाता है।

ग्रेट ब्रिटेन विश्व के चार बड़े कोयला उत्पादकों में से एक है। वहाँ का समस्त कोयला उच्च श्रेणी का है। वेल्स का ऐंथ्रासाइट अपने गुणों के कारण विश्वविख्यात है तथा विदेशों में इसकी माँग अधिक है। यहाँ के कोयला स्तरों की मोटाई १२० फुट तक है। भारतवर्ष में उपलब्ध अधिकतर कोयला उच्चतम श्रेणी का नहीं है, परंतु कश्मीर और दार्जिलिंग का कोयला ऐंथ्रासाइट के समान ही है। (म० ना० मे०)

ऐंथ्रासीन त्रिचक्रीय हाइड्रोकार्बन है। इसका गलनांक २१६° सेंटीग्रेड और क्वथनांक ३५४° सें० है। यह अलकतरा (कोलटार) से अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। ऐंथ्रासीन रंजक बनाने में उपयुक्त होता है। इसके चौदहों कार्बन परमाणु एक ही तल में रहते हैं। इन कार्बन परमाणुओं को निम्नांकित प्रकार से गिना जाता है:
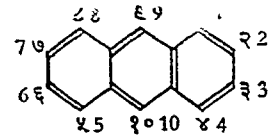
इनमें से ९ और १० अंक के कार्बन परमाणुओं को मेसो स्थिति के कार्बन परमाणु कहा जाता है। ऐंथ्रासीन के तीन एक-प्रतिस्थापन-उत्पाद और १५ द्वि-प्रतिस्थापन-उत्पाद पदार्थ होते हैं। ऐंथ्रासीन के दो सूत्र संभव हैं। एक में केवल एक आर्थोक्विनायड चक्र है और दूसरे में दो।
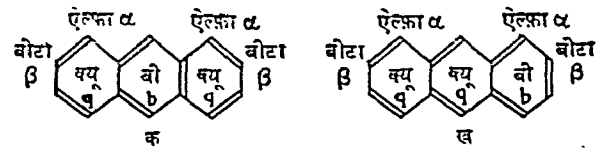
फ़ाइज नियम के अनुसार प्रथम सूत्र अधिक स्थायी है। शुद्ध ऐंथ्रासीन मणिभ या विलेय अवस्था में सुंदर नीला प्रतिदीप्त पदार्थ होता है। गलाने पर इसकी प्रतिदीप्ति नष्ट हो जाती है, परंतु जैसे ही यह पुनः ठोस होता है, प्रतिदीप्ति पुनः प्रकट हो जाती है। (कृ० ब०)

ऐंथ्रैक्स विशेषकर वनस्पतिभोजी जंतुओं का रोग है और उनके पश्चात् उन मनुष्यों को हो जाता है जो इस रोग से ग्रस्त पशुओं के संपर्क में रहते हैं या चमड़े अथवा खाल का काम करते हैं। पैस्टर (Pasteur) ने सबसे पहले पशुओं में इसी रोग के प्रति रोगक्षमता उत्पन्न की थी। जीवाणु प्रायः भोजन के साथ शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् रक्त या अन्य ऊतकों में बढ़ते हैं। प्लीहा की वृद्धि हो जाती है और प्रायः १२ से ४८ घंटे में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

मनुष्य में रोग के निम्नलिखित रूप पाए जाते हैं:

(१) **त्वगीय रूप**—यह रूप कसाई, चमड़े को कमानेवाले और ब्रश बनाने का काम करनेवालों में पाया जाता है। संक्रमण के पश्चात् ऊतकों का एक पिंड बन जाता है, जिसके बीच में रक्तस्राव होता है और गलन भी होती है। इस रूप में मृत्यु कम होती है।

(२) **फुफ्फुसीय रूप**—इसको ऊन का काम करनेवालों का रोग (ऊल सार्टर्स डिज़ीज़) भी कहा जाता है। इस रोग में स्थान स्थान पर फुफ्फुस गलने लगता है। रोग के इस रूप में मृत्यु अधिक होती है।

(३) **आंत्रीय रूप**—रोग के जीवाणु भोजन के साथ आंत्र में पहुँचते हैं। यदि संक्रमण के रक्त में पहुँचने के कारण रक्तपूतिता (सेप्टिसीमिया) उत्पन्न हो जाती है तो मृत्यु निश्चित है। रोग का निदान आक्रांत ऊतकों, में, या रक्त में, जीवाणुओं के दिखाई पड़ने से ही किया जा सकता है। ऐंथ्रैक्स दंडाणुओं को साधारणतया ऐंथ्रैक्स ही कहा जाता है। ये दंडाणु ग्रामधन वातापेक्षी समूह के हैं, जिसके सदस्य स्पोर बनाते हैं। ये जीवाणु अण्वीक्षक द्वारा देखने से सीधे दंड के समान दिखाई देते हैं। इनके सिरे कटे से होते हैं। जीवाणुओं का संवर्धन करने पर स्पोर उत्पन्न होते हैं, किंतु पशु के शरीर में ये नहीं उत्पन्न होते। इनपर एक आवरण बन जाता है। इस जीवाणु को इसी प्रकार के अन्य कई समानरूप जीवाणुओं से भिन्न करना पड़ता है। ऐंथ्रैक्स जीवाणु सभी जंतुओं के लिये रोगोत्पादक हैं। गिनीपिग और चूहे के चर्म को तनिक सा खुरच देने पर वे संक्रमित हो जाते हैं। रोगरोध के लिये इन जीवाणुओं से एक वैक्सीन

तैयार की जाती है। चिकित्सा के लिये इनसे तैयार किया हुआ ऐंटीसीरम और सल्फ़ोनैमाइड ओषधियाँ उपयोगी हैं। मरे हुए जंतु को या तो जला देना चाहिए या गड्ढे में चूना बिछाकर और मृत पशु के ऊपर भी अच्छी तरह चूना छिड़ककर गाड़ देना चाहिए। (स० पा० गु०)

ऐंफ़िबोल वर्ग के खनिज पाइरॉक्सीन खनिजों के समानीय हैं। इनका रासायनिक संगठन तथा भौतिक गुण पाइरॉक्सीन खनिजों के समान हैं। फलस्वरूप पाइरॉक्सीन और ऐंफ़िबोल खनिजों में भेद करना कठिन हो जाता है। दोनों वर्गों के प्रकाशीय गुण भिन्न भिन्न होते हैं। इसी आधार पर अण्वीक्ष यंत्र की सहायता से उनमें भेद किया जाता है।

साधारणतः ऐंफ़िबोल खनिज लोहा, मैगनीशियम तथा कैलसियम के सिलीकेट हैं। पर कुछ खनिजों में थोड़ा बहुत सोडा और ऐल्युमिना भी विद्यमान रहता है। इस वर्ग का सबसे महत्वपूर्ण खनिज हार्नब्लेंड है। यह एकनत (मोनोक्लिनिक) समुदाय में स्फुटित होता है। यह बहुधा स्तंभीय (कॉलमनर) रूप में, किंतु कभी कभी दानेदार अथवा रेशेदार रूप में भी, मिलता है। सतह काच की तरह चमकती है। रेशेदार आकृति में उपलब्ध होने पर रेशे रेशम के समान दिखाई पड़ते हैं। इस खनिज में दो तड़कन तल होते हैं, जो समपार्श्व (प्रिज़्म) के कलकों के समांतर ५६° और १२४° के कोण पर रहते हैं। इनकी कठोरता ५ से ६ तक और आपेक्षिक घनत्व २.९ से ३.४ तक होता है।

ऐंफ़िबोल के खनिज आग्नेय और रूपांतरित (मेटामार्फ़िक) शिलाओं में पाए जाते हैं, जैसे डायोराइट, ऐंफ़ीबोलाइट, आदि शिलाओं में।

सं०ग्रं०—एच० एच० रीड: रुजलेज एलिमेंट्स ऑव मिनरॉलोजी। (म० ना० मे०)

ऐंबर एक फ़ौसिल रेज़िन है। यह एक ऐसे वृक्ष का फ़ौसिल रेज़िन है जो आज कहीं नहीं पाया जाता। रगड़ने से इससे बिजली पैदा होती है। यह इसकी विशेषता है और इसी गुण के कारण इसकी ओर लोगों का ध्यान पहले पहल आकर्षित हुआ। आजकल ऐंबर के अनेक उपयोग हैं। इसके मनके और मालाएँ, तंबाकू की नलियाँ (पाइप), सिगार और सिगरेट की धानियाँ (होल्डर) बनती हैं।

ऐंबर बाल्टिक सागर के तटों पर, समुद्रतल के नीचे के स्तर में, पाया जाता है। समुद्र की तरंगों से बहकर यह तटों पर आता है और वहाँ चुन लिया जाता है, अथवा जालों में पकड़ा जाता है। ऐसा ऐंबर डेनमार्क, स्वीडन और बाल्टिक प्रदेशों के अन्य समुद्रतटों पर पाया जाता है। सिसली में भी ऐंबर प्राप्त होता है। यहाँ का ऐंबर कुछ भिन्न प्रकार का और प्रतिदीप्त (फ़्लुओरेसेंट) होता है। ऐंबर के समान ही कई किस्म के अन्य फ़ौसिल रेज़िन अन्य देशों में पाए जाते हैं।

ऐंबर के भीतर लिगनाइट अथवा काठ-फ़ौसिल और कभी कभी मरे हुए कीड़े सुरक्षित पाए जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इसकी उत्पत्ति कार्बनिक स्रोतों से हुई है।

ऐंबर अमणिभीय और भंगुर होता है। इसका भंग शंखाभीय (कनकॉयडल) होता है। इसपर नक्काशी सरलता से हो सकती है। इसका तल चिकना और आकर्षक बनाया जा सकता है। यह साधारणतया अनियमित आकार में पाया जाता है। यह चमकदार होता है। इसकी कठोरता २.२५ से २.५०, विशिष्ट घनता १.०५ से १.१०, रंग हल्का पीला से लेकर कुछ कुछ लाल और भूरा तक होता है। वायु के सूक्ष्म बुलबुलों के कारण यह मेघाभ हो सकता है। कुछ ऐंबर प्रतिदीप्त होते हैं। यह पारदर्शक, पारभासक और पारांध हो सकता है तथा ३००°–३७५° सें० के बीच पिघलता है। इसका वर्तनांक १.५३९ से १.५४४५ तक होता है। ऐंबर में कार्बन ७८ प्रति शत, ऑक्सिजन १०.५ प्रति शत और हाइड्रोजन १०.५ प्रति शत, का$_{१०}$ हा$_{१६}$ औ ($C_{10}H_{16}O$) सूत्र के अनुरूप होता है। गंधक ०.२६ से ०.४२ प्रतिशत और राख लगभग ०.२ प्रतिशत रहती है। एथिल ऐल्कोहल और एथिल ईथर सदृश विलायकों में गरम करने से यह घुलता है। डाइक्लोरहाइड्रिन इसके लिये सर्वश्रेष्ठ विलायक है।

ऐंबर में ३ से ४ प्रति शत तक (मेघाभ नमूने में ८ प्रति शत तक) सकसिनिक अम्ल रहता है। ऐंबर का संगठन जानने के प्रयास में इससे दो अम्ल, का$_{२०}$ हा$_{३०}$ औ$_{४}$ ($C_{20}H_{30}O_4$) और का$_{१९}$ हा$_{२८}$ औ$_{४}$ ($C_{19}H_{28}O_4$) सूत्र के, पृथक् किए गए हैं, परंतु इन अम्लों के संगठन का अभी ठीक ठीक पता नहीं लगा है।

गरम करने से ऐंबर का लगभग १५०° सें० ताप पर कोमल होना आरंभ होता है और तब इससे एक विशेष गंध निकलती है। फिर ३००°–३७५° सें० के ताप पर पिघलता और इससे घना सफेद धुआँ निकलता है जिसमें सौरभ होता है। इससे फिर तेल निकलता है जिसे 'ऐंबर का तेल' कहते हैं।

ऐंबर के बड़े बड़े टुकड़ों से मनका आदि बनता है। छोटे छोटे और अशुद्ध टुकड़ों को पिघलाकर ऐंबर वार्निश बनाते हैं। छोटे छोटे टुकड़ों को तो अब उष्मा और दबाव से 'ऐंब्रायड' में परिणत करते हैं। आजकल प्रति वर्ष लगभग ३०,००० किलोग्राम ऐंब्रायड बनता है। यह ऐंबर से सस्ता बिकता है और ऐंबर के स्थान में बहुधा इसी का उपयोग होता है। ऐंबर के सामान जर्मनी और आस्ट्रिया में अधिक बनते हैं।

अब नकली ऐंबर भी काच और प्लास्टिक (बैकेलाइट, गैलेलिथ और सेल्यूलायड) से बनने लगे हैं। नकली ऐंबर की विशिष्ट घनता ऊँची होती है और परा-बैंगनी किरणों से उसमें प्रतिदीप्ति नहीं आती। ऐंबर के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के फ़ौसिल रेज़िन भी अनेक देशों में पाए जाते और विभिन्न कामों में प्रयुक्त होते हैं। (फू० स० व०)

ऐंसेल्म (१०३३–११०९) अंग्रेज संत और धर्मशास्त्री। धार्मिक विश्वास और बुद्धि के समन्वय विषयक अपने प्रयत्नों के कारण इन्हें मध्ययुगीन दर्शन का संस्थापक भी कहा जाता है। जन्म पीदमोंत के संपन्न अभिजात कुल में १०३३ के लगभग। पिता गुंदल्फ उग्र और क्रोधी स्वभाव के थे पर माता एरमेनबर्गा शांत और धार्मिक महिला थीं। उन्हीं की शिक्षा से ऐंसेल्म में धार्मिक विश्वासों की नींव पड़ी। १५ वर्ष की अवस्था में ही उसकी संन्यास लेने की इच्छा थी पर पिता ने अनुमति नहीं दी। इस निराशा का ऐसा दुष्प्रभाव हुआ कि उसे लंबी बीमारी झेलनी पड़ी। रोगमुक्त होने पर अध्ययन को तिलांजलि दे वह सांसारिक भोग-विलास और व्यसनों की ओर झुका। इसी समय माँ की मृत्यु हो गई; पिता का स्वभाव अधिकाधिक कठोर तथा घर का वातावरण असहनीय होने पर वह घर त्यागकर घूमते घामते नारमंडी पहुँचा और वहाँ के बेस मठ का फ़ायर हो गया। उसकी अध्यक्षता में बेस सारे यूरोप का ज्ञानकेंद्र बन गया। यहीं पर अपनी विख्यात पुस्तक कूर दिउस होमे (Cur Deus Home) लिखी जिसमें प्रायश्चित्त के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। १०९३ में विलयम रूफ़स ने उसे कैंटरबरी का आर्चबिशप नियुक्त कर दिया। शीघ्र ही गिरजे की आय को लेकर दोनों में मतभेद हो गया। राजा ने आय जब्त कर ली; ऐंसेल्म ने क्रुद्ध हो इंग्लैंड छोड़ दिया। बाद में हेनरी प्रथम ने समझौता कर लिया और ११०७ में ऐंसेल्म देश लौट आया।

मध्य युग में उसके दार्शनिक सिद्धांतों का उचित संमान नहीं हो पाया क्योंकि वे बिखरे हुए प्रश्नोत्तरों और संभाषणों के रूप में संकलित हैं। पर उनमें श्रेष्ठता, दृष्टिकोण की नवीनता, विचारों की सुगमता और दार्शनिक स्फूर्ति है जो साधारणतः ऐसे ग्रंथों में नहीं मिलती। (स० च०)

ऐकनकागुआ ऐंडीज पर्वतमाला में एक निष्क्रिय ज्वालामुखी है। इसकी ऊँचाई समुद्रतल से २३,०८० फुट है। यह ३२° ३९' द० अ० और ७०° १' प० दे० पर स्थित है। यह आर्जेंटीना राज्य में चिली और आर्जेंटीना की सीमा से ठीक सटा हुआ तथा ब्वेनस एयरिज से वैलपारैज़ो जानेवाले रेलमार्ग के उत्तर में दृष्टिगोचर होता है। इसकी चोटी बराबर हिमाच्छादित रहती है। इसके ऊपर कई हिमनदियाँ मिलती हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध मेंडोज़ा हिमधारा है। इनसे ऐसी कई सदानीरा (पिरीनियल) नदियाँ निकली हैं जिनका उपयोग निचले इलाकों में सिंचाई के लिये होता है। इसकी दक्षिणी ढाल पर ऐकनकागुआ नदी का उद्गम है जो पश्चिम में २०० मील तक बहने के बाद प्रशांत महासागर

में गिरती है। सबसे पहले इसके शिखर पर सन् १८९७ ई० में फिट्जेराल्ड पर्वतारोहण दल के श्री वाइंस और श्री ज़ुरब्रिगेन चढ़े थे। नई दुनिया, अमरीका, के इस सर्वोच्च पर्वत की प्राकृतिक सुषमा सचमुच बड़ी आकर्षक है। (श्या० सुं० श०)

ऐक्टन, जान एमरिक एडवर्ड डालवर्ग (१८३४–१९०२) अंग्रेज इतिहासकार; रिचर्ड ऐक्टन का एकमात्र पुत्र। परिवार रोमन कैथोलिक। शिक्षा आस्कट, ऐडिवनरा, डोलेंगर की अध्यक्षता में म्यूनिख में। डोलिंगर ने ही ऐक्टन में गहरे इतिहासप्रेम और शोध की नींव डाली। ऐक्टन का उद्देश्य एक वृहत् पुस्तक 'स्वतंत्रता का इतिहास' लिखने का था और इसी से प्रेरित होकर उसने छोटी अवस्था में ही एक भव्य ऐतिहासिक पुस्तकालय बनाना आरंभ कर दिया था।

ऐक्टन ग्लैड्स्टन का अभिन्न मित्र, सलाहकार और प्रशंसक था। १८६९ में ग्लैड्स्टन ने उसे बैरन की उपाधि से विभूषित किया। १८९५ में ऐक्टन कैंब्रिज में आधुनिक इतिहास का रीजस प्रोफेसर हो गया। तभी 'कैंब्रिज के आधुनिक इतिहास' पुस्तक की उसने योजना बनाई जो उसके जीवनकाल में पूरी नहीं हो पाई। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के संबंध में उसका एक प्रसिद्ध कथन था—"शक्ति भ्रष्ट करती है; पूर्ण (अनियंत्रित) शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट करती है।" ऐक्टन की मृत्यु पर उसका ५९,००० पुस्तकों का विशाल पुस्तकालय उसके इच्छानुसार कैंब्रिज विश्वविद्यालय को मिला। (स० च०)

ऐक्विटेन फ्रांस के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित एक नीची भूमिवाला प्रदेश है, जिसमें शारांत, गारों तथा आदूर घाटियाँ सम्मिलित हैं। यह ऊबड़ खाबड़ त्रिकोणिक मैदान है, जो पूर्व की ओर ऊँचा होता हुआ मध्य पठार हो गया है। यह प्रदेश भूमध्यसागर तटीय प्रदेश के कारकासों के सँकरे द्वार द्वारा मिला हुआ है, जो मध्य पठार तथा पिरेनीज के मध्य में स्थित है; उत्तर-पूर्व में पेरिस द्रोणी से प्वातू के द्वार द्वारा संबंधित है। ऐक्विटेन का अधिकतर भाग दोमट का मैदान है, लेकिन शारांत द्रोणी चूने के पत्थरवाला क्षेत्र है। ऐक्विटेन का तट काफी सीधा है, जो बालुकानिर्मित ऐसे टीलों से भरा है जिनके पृष्ठभाग में खारी झीलें बन गई हैं। केवल भेड़ों के चरागाहों के अतिरिक्त यह तटीय क्षेत्र बेकार है, परंतु कुछ वर्षों से इस क्षेत्र को उपजाऊ बनाने के बहुतेरे प्रयोग किए गए हैं, और थोड़ी बहुत सफलता भी मिली है। दलदली भूमि का पानी सुखा दिया गया है और चीड़ इत्यादि के कोणधारी वृक्ष लगाए गए हैं जिससे बालू का बढ़ाव रुका रहे। ये वृक्ष अब सरकार के लिये आमदनी के अच्छे साधन हो गए हैं; इनसे पर्याप्त मात्रा में तारपीन का तेल, लकड़ी इत्यादि प्राप्त की जाती है।

एताँ दि पारेंती के समीप मिट्टी का तेल प्राप्त हुआ है। सन् १९५५ ई० में दस लाख टन कच्चा तेल निकाला गया। इसके और दक्षिण में प्राकृतिक गैस एवं गंधक भी पाया जाता है।

अच्छे तापक्रम एवं अच्छी वर्षा के कारण ऐक्विटेन उन्नतिशील कृषिप्रदेश है। शारांत की घाटी अपने गेहूँ तथा अंगूरों के लिये प्रसिद्ध है; यहाँ ब्रांडी (कोन्यैक) तथा हलकी मदिराएँ बनाई जाती हैं। गारों की घाटी में मक्का, तंबाकू और गेहूँ का उत्पादन होता है। यह प्रदेश फ्रांस में मदिरा निर्मित करनेवाला प्रमुख क्षेत्र है। यहाँ की क्लैरेट शराब प्रसिद्ध है।

ऐक्विटेन के मुख्य नगर बोर्डो (१९६८ ई० में जनसंख्या २,६६,६६२) तूलूज (१९६८ में जनसंख्या ३,७०,७९६) तथा कारकासों हैं। (श्या० सुं० श०)

ऐच्छिक भ्रम सिद्धांत द्र० 'भ्रम'।

ऐज़मारा उत्तर-पूर्वी अफ्रीका के इरीट्रिया राज्य की राजधानी है। यह हैमासें उपत्यका के पूर्वी छोर पर समुद्र तल से ७,७६५ फुट की ऊँचाई पर बसा है। सन् १९६७ ई० में इसकी कुल आबादी १,७८,५३७ थी। यहाँ के आदिवासियों को इथियोपियन कहते हैं। यह मासावा बंदरगाह से सीधे पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा में ४० मील की दूरी पर स्थित है, किंतु रेल द्वारा ७५ मील पर पड़ता है। रेलपथ का निर्माण सन् १९१२ ई० में हुआ था। यह अत्यंत प्राचीन नगर इथियोपिया वासियों को हैमासें उपत्यका—१,००० गाँवों के मैदान—के रूप में मालूम थी। इन गाँवों में ऐज़मारा सबसे समृद्धिशाली था। इसका विकास मासावा और अक्सूम के मार्ग में स्थित रहने के कारण हुआ। सन् १९०० ई० में मासावा से राजधानी बदलकर ऐज़मारा आई। इसके आसपास उपजाऊ विस्तृत मैदान हैं। यहाँ का बल्दीस्सेरा दुर्ग पहाड़ पर बसा है और अजेय माना जाता है। द्वितीय महासमर में सन् १९४१ ई० की १ली अप्रैल के दिन यह अंग्रेजों द्वारा अधिकृत हो गया था। महासमर के बाद यहाँ अनेक भव्य इमारतें बनी हैं। (श्या० सुं० श०)

ऐज़ो यौगिक ऐसे कार्बनिक यौगिक को कहते हैं जिसमें $-N=N-$ समूह हो और यह कार्बनिक मूलकों से संयुक्त हो। ऐज़ो-बेनज़ीन सबसे सरल ऐज़ो यौगिक है। यह नाइट्रोबेनजीन को जस्ता और क्षार, सोडियम पारद मिश्रधातु और तनु ऐलकोहल या क्षारीय स्टैनस हाइड्रॉक्साइड विलयन से अवकृत करने पर बनता है :

$$2\,RNO_2 + 4\,H_2 \rightarrow RN=NR + 4H_2O$$
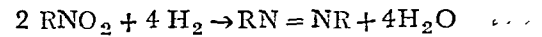
तुल्य मात्रा के ऐरोमैटिक प्राइमरी ऐमिन और नाइट्रोसो यौगिक को सांद्र ऐसीटिक अम्ल के साथ गरम करने पर ऐज़ो यौगिक बनते हैं और पानी मुक्त होता है :

$$RNO + H_2NR \rightarrow RN=NR + H_2O$$
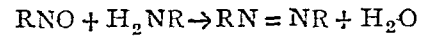
ऐज़ो यौगिक अधिकांश डाइ ऐज़ोनियम लवण को प्राइमरी, सेकेंडरी और टर्शियरी ऐमिन, फ़ीनोल या फ़ीनोलिक एस्टर से जोड़कर बनाए जाते हैं। इस क्रिया में पहले डाइ-ऐज़ोनियम लवण प्राइमरी और सेकेंडरी ऐरोमैटिक ऐमिन से प्रतिक्रिया कर डाइ-ऐज़ोऐमिनो यौगिक बनाते हैं :

$$C_6H_5N_2Cl + NH_2C_6H_5 \rightarrow C_6H_5N=N-NHC_6H_5 + HCl$$
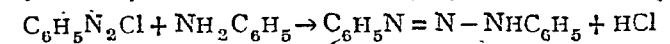
डाइ-ऐज़ोऐमिनो यौगिक बनाने के लिये कम खनिज अम्ल की उपस्थिति में ऐनिलीन क्षार पर नाइट्रस अम्ल की अभिक्रिया कराई जाती है। डाइ-ऐज़ोऐमिनो यौगिक पीले रंग के मंद क्षारीय गुणवाले मणिभ यौगिक हैं जो अम्लों से संयोग करते हैं, परंतु ताँबा, चाँदी और पोटैसियम के लवण भी बनाते हैं जिनमें नाइट्रोजन से संबद्ध हाइड्रोजन इन धातुओं के परमाणु से विस्थापित हो जाता है। नाइट्रोजन से संबद्ध यह हाइड्रोजन चल प्रकृति का होता है और यह एक नाइट्रोजन परमाणु से दूसरे नाइट्रोजन परमाणु पर जा सकता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि फ़ीनोल ऐज़ोनियम लवण को टोल्यूडीन से जोड़ा जाय या टोलील डाइ-ऐज़ोनियम लवण को एनिलीन से जोड़ा जाय तो दोनों दशा में एक ही यौगिक बनता है, अन्यथा पहले संयोग में सूत्र (१) का यौगिक बनता और दूसरे संयोग में सूत्र (२) का यौगिक प्राप्त होता :

$$\underset{(१)}{C_6H_5N=N-NHC_6H_4CH_3}\;;\;\underset{(२)}{CH_3C_6H_4N=N-NHC_6H_5}$$
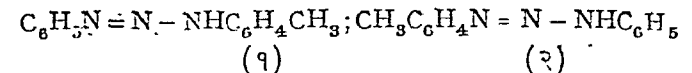
वास्तविक बने यौगिक का सूत्र (१) होता है जिसमें अधिक धनीय कार्बनिक टोलील मूलक ऐमिनो समूह से संबद्ध होता है।

कार्बनिक क्षार को हाइड्रोक्लोराइड के साथ गरम करने पर या अधिक खनिज अम्ल की उपस्थिति में डाइ-ऐज़ोऐमिनो यौगिक ऐमिनो-ऐज़ो यौगिक में परिवर्तित हो जाते हैं।
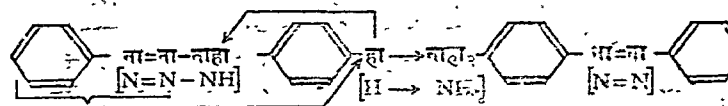
डाइ-ऐज़ोऐमिनो बेनज़ीन ऐमिनो ऐज़ो-बेनज़ीन

यह परिवर्तन पारा स्थिति से होता है, परंतु यदि यहाँ कोई मूलक उपस्थित हुआ तो यह आदान प्रदान ऑर्थो स्थिति से होता है। इस क्रिया द्वारा बहुत से ऐमिनो ऐज़ो रंजक बनाए जाते हैं।

टर्शियरी ऐरोमैटिक ऐमिन डाइ-ऐंजोनियम लवण से संयोग करते हैं और ऐमिनो-ऐजो-यौगिक प्रत्यक्ष बनते हैं, जिनमें ऐजो समूह टर्शियरी ऐमिनो समूह के पारा स्थान में जुड़ा रहता है।

डाइ-ऐंजोनियम लवण फ़ीनोल के क्षारीय विलयन से संयोग करने पर हाइड्राक्सी ऐज़ो यौगिक बनते है। इस क्रिया में प्राय: डाइ-ऐजो-ग्राक्साइड बनता है।

ऐजो रंजक दो प्रकार के होते हैं। एक को क्षारीय रंजक और दूसरे को अम्लीय रंजक कहते हैं। क्षारीय रंजकों में ऐनिलीन यलो, बिस्मार्क ब्राउन, जेनस रेड इत्यादि प्रमुख हैं। ऐनिलीन यलो का रासायनिक नाम पारा-ऐमिनो ऐजोबेनजीन है। यह पीले रंग का रंजक है, जो अम्ल में बैंगनी रंग का हो जाता है। बिस्मार्क ब्राउन मेटा-फ़ेनिलीन-डाइऐमिन पर नाइट्रस अम्ल की क्रिया द्वारा बनाया जाता है। इस रंजक का

(का हा$_3$)$_2$ना–C$_6$H$_5$ + क्लो ना$_2$का$_6$हा$_5$ ⟶ (का हा$_3$)$_2$ना–C$_6$H$_4$–ना=ना–C$_6$H$_5$

$[(CH_3)_2N] \quad [+ Cl\ N_2 \cdot C_6H_5 \longrightarrow (CH_3)_2N] \quad [N{=}N]$
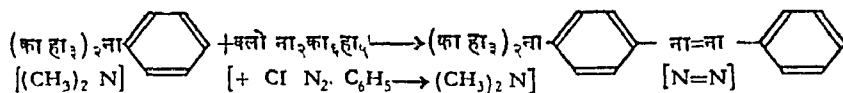
डाइमेथिल ऐनिलीन डाइमेथिल ऐमिनो ऐज़ोबेनज़ीन

C$_6$H$_5$–ना$_2$क्लो + ओहा–C$_6$H$_5$ ⟶ [C$_6$H$_5$–ना=ना–ओ–C$_6$H$_5$] ⟶ ओहा–C$_6$H$_4$–ना=ना–C$_6$H$_5$

$[N_2\ Cl + OH] \quad [N{=}N{-}O] \quad [\rightarrow OH] \quad [N{=}N]$
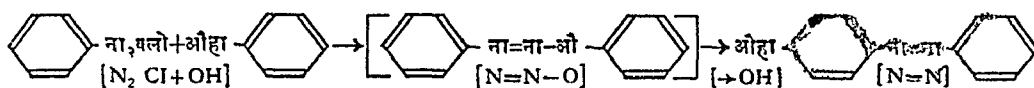
डाइ-ऐजोग्राक्साइड हाइड्राक्सीऐज़ो यौगिक

फ़ीनोलिक एस्टर की डाइ-ऐंजोनियम लवण से जुड़ने की शक्ति ऐमिन और फ़ीनोल से कम है। इस क्रिया के लिये यह आवश्यक है कि क्रिया निर्जल स्थिति में की जाय। इसलिये प्राय: यह क्रिया सांद्र ऐसीटिक अम्ल में की जाती है।

ब्यूटाडाइ-ईन जैसे असंतृप्त हाइड्रोकार्बन और मिसीटिलीन से नाइट्रोऐनिलीन के डाइ-ऐजोनियम यौगिक संयोग करते हैं। मिसीटिलीन, पिक्रामाइड के डाइ-ऐंजोनियम लवण से संयोग करता है और एक ऐजो रंजक बनाता है।

का हा$_3$[CH$_3$] . ना ओ$_2$[NO$_2$]

ना=ना [N=N] ना ओ$_2$ [NO$_2$]

का हा$_3$ [CH$_3$] काहा$_3$ [CH$_3$] ना ओ$_2$ [NO$_2$]
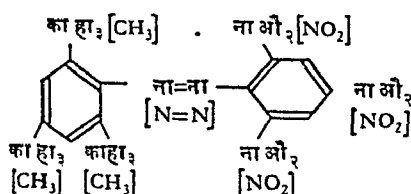
मिसीटिलीन और पिक्रामाइड के डाइ-ऐज़ोनियम लवण के संयोग से बना ऐज़ोरंजक।

डाइ-ऐंजोनियम लवण का नैप्थोल और नैप्थील ऐमिन से संयोग विशेष महत्वपूर्ण है। ऐल्फ़ा-नैप्थोल हाइड्राक्सी समूह के पारा स्थान से जुड़ता है, परंतु यदि इस स्थान पर कोई समूह उपस्थित हुआ तो यह संयोग आँर्थो स्थान से होता है। बीटा-नैप्थोल में ऐंजो मूलक १ (ऐल्फ़ा) स्थान ग्रहण करता है। बीटा-नैप्थील ऐमिन में भी इसी प्रकार का संयोग होता है। डाइ-ऐजो-अमोनियम लवण ऐमिनो-हाइड्राक्सी-ऐमिन से क्षारीय विलयन में हाइड्राक्सी समूह से जुड़ता है, परंतु अम्लीय विलयन में यह संयोग ऐमिनो समूह से होता है। इस तरह एक ही ऐमिनो-नैप्थोल से विलयन को क्षारीय या अम्लीय करके विभिन्न प्रकार के रंजक बनाए जा सकते हैं :

सिद्धांतानुसार ऐजो यौगिकों के सिस, ट्रांस, दो समावयवी रूप होने चाहिए :

$$\begin{array}{cc} R-N & R-N \\ \| & \| \\ R-N & N-R \end{array}$$
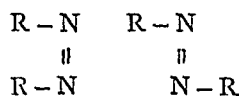
इस प्रकार के समावयवों पर अभी अधिक खोज नही हुई है। ट्रांस-ऐज़ो बेनजीन पर प्रकाश डालने पर यह सिस-रूप में परिवर्तित हो जाता है। सिस समावयवी का वर्तमांक और अवशोषण गुणांक ट्रांस समावयवी से भिन्न है। प्रकाश के प्रभाव से संतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें लगभग २७ प्रतिशत सिस-और ७३ प्रतिशत ट्रांस-समावयवी रहते हैं।

उपयोग चमड़ा रँगने के काम में होता है। जेनस रेड रंजक रुई और ऊन को अम्लीय उष्मक में रँगता है। इसका प्रयोग रुई और ऊन के मिश्रित सूत तथा रेशम के तागे रँगने में होता है। अम्लीय रंजकों में मेथिल ऑरेंज, ऐल्फ़ा-नैप्थोल ऑरेंज, फ़ास्ट रेड ए और बी, नैप्थील-ऐमिन ब्लैक डी, विक्टोरिया वॉयलेट इत्यादि प्रमुख रंजक है।

(R = मूलक; अन्य रासायनिक चिह्नों के लिये देखें हिंदी विश्वकोश, प्रथम खंड, नवीन संशोधित संस्करण, सं० २०३०, पृष्ठ ४५४।)

(कृ० ब०)

ऐटा या आएटा फ़िलीपीन द्वीपसमूह के बड़े द्वीप लूजॉन तथा कुछ अन्य छोटे छोटे द्वीपों के पहाड़ी अंचलों में निवास करनेवाली एक प्रकार की हब्शी आदिम जाति है। ये कद में नाटे (पुरुषों की ऊँचाई प्राय: ४ फ़ु० ६ इं०), काले वर्ण के तथा ऊन की तरह घुँघराले बालोंवाले होते हैं। इनके पैर आकार में लंबे तथा अग्र भाग कुछ मुड़ा हुआ एवं देखने में बेडौल प्रतीत होता है। इनमें परिवार को सामाजिक इकाई माना जाता है। बहुविवाह समाज द्वारा स्वीकृत है, परंतु एक विवाह ही अधिक प्रचलित है। इनके यहाँ मृतकों को गाड़ने की प्रथा है; किंतु किसी मृतक को यदि संमानित करना होता है तो उसका शव नगर या ग्राम से दूर एक लकड़ी के मचान या वृक्ष पर रख दिया जाता है। इनमें धनुष तथा विषाक्त तीरों का, लंबे भाले तथा बर्छियों या आयुधों के रूप में प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग में ये बड़े निपुण है, परंतु अग्नि प्रज्वलित करने की पुरानी विधि (लकड़ियों को आपस में रगड़कर) अभी तक प्रचलित है। धार्मिक कृत्यों के समय ये लोग प्राय: विशाल सर्पों (अजगरों) की पूजा करते है जिसके अंतर्गत उन पूज्य सर्पराजों को जमीकंद एवं मधु अर्पित किया जाता है।

लूजॉन द्वीप में मलयवासियों के बसने के पहले इस भूखंड पर इसी ऐटा जाति का स्वामित्व रहा। ये 'टागालोग' इत्यादि जातियों से तब तक कर वसूलते रहे जब तक जनशक्ति अधिक हो जाने पर उन्होंने इन्हें पहाड़ी अंचलों में खदेड़ नहीं भगाया।

कर न देनेवाले का सिर उतार लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। बहुत काल तक, संभवत: अभी तक, ये ऐटा लोग 'इगोरोट्स' तथा अन्य पड़ोसियों से हुए युद्धों में मारे गए शत्रुओं की खोपड़ियों को एकत्रित कर उनका हिसाब किताब रखते आए हैं। (श्या० सुं० श०)

ऐडम्स, जॉन (१७३५–१८२६) प्रसिद्ध विद्वान्, सफल विधिज्ञ तथा संयुक्त राज्य अमरीका के द्वितीय राष्ट्रपति का जन्म ३० अक्टूबर, १७३५ को मेसाचूसेट्स के ब्रेनट्री नामक स्थान में हुआ। इनके पिता कृषक थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र जॉन क्विन्सी ऐडम्स भी संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति हुए (द्र० 'ऐडम्स, जॉन क्विंसी')।

जॉन ने संविधान विशेषज्ञ के रूप में अपनी समसामयिक घटनाओं को प्रभावित किया। सर्वप्रथम ह्विग दल के नेता के रूप में १७६५ के स्टैंप ऐक्ट का विरोध करने में अपनी कर्मठता तथा सक्रियता का परिचय दिया। दिसंबर, १७६५ में राज्यपाल तथा परिषद् के समक्ष भाषण देते हुए उन्होंने ब्रिटिश संसद् में मेसाचूसेट्स का प्रतिनिधान न होने के आधार पर स्टैंप ऐक्ट को अवैध घोषित किया। तथापि १७६८ में उन्होंने बोस्टन हत्याकांड के अभियुक्त ब्रिटिश सैनिकों का पक्ष लेकर उन्हें बचाने का सफल प्रयास किया। अपनी सत्यनिष्ठा तथा न्यायप्रियता के कारण वह मेसाचूसेट्स लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए।

जॉन ऐडम्स फ़िलाडेलफ़िया की प्रथम महाद्वीपीय महासभा के निर्वाचित प्रतिनिधि थे। वे स्वतंत्रता की घोषणा करनेवाली समिति के भी सदस्य थे। ऐडम्स नवंबर, १७७८ तक कांग्रेस में रहे और इस अवधि में वे वैदेशिक संबंध समिति के सदस्य तथा युद्धसामग्री बोर्ड के अध्यक्ष रहे और अनेक बार यूरोप के विदेशों में उन्होंने स्वदेश का प्रतिनिधान किया।

१७८५ में ऐडम्स इंग्लैंड के प्रथम राजदूत नियुक्त हुए। क्रांति के उपरांत शांतिकाल की गंभीर स्थिति से उत्पन्न दुर्व्यवस्थाओं ने उनको रूढ़िवादी बना दिया तथापि अपनी रचना संयुक्त राज्य के संविधान के एक प्रतिवाद में वह कुलीन तंत्र के संरक्षक के रूप में प्रकट होते हैं। इस परिवर्तन का उनकी लोकप्रियता पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। ऐडम्स पहले संयुक्त राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति, फिर १७९६ में राष्ट्रपति चुने गए। वे संघवादी दल के निर्माताओं में से थे। ऐडम्स के राष्ट्रपतित्व काल के चार वर्ष (१७९७-१८०१) कुछ ऐसी जटिल और विलक्षण घटनाओं से संबद्ध रहे कि उनके भार से उनका भावी जीवन अत्यधिक विषादमय हो गया। विदेशी तथा राजद्रोह संबंधी कानूनों के पास होने से संघवादी दल को अत्यधिक विरोध और क्षति सहनी पड़ी। स्वयं दल के अंतरंग संगठन में भी पारस्परिक मतभेद तथा दलबंदी प्रारंभ हो गई। ऐडम्स और हैमिल्टन एक दूसरे के विरोधी हो गए। ऐडम्स सुयोग्य, सच्चे तथा निर्भीक व्यक्ति थे परंतु अपनी उग्र व्यावहारिकता तथा विवेकहीनता के कारण अपनी अध्यक्षता में संघवादी दल को संगठित रखने में असमर्थ रहे; यहाँ तक कि इनके अपने मंत्रिमंडल के सदस्य भी ऐडम्स के बजाय हैमिल्टन को अपना नेता मानने लगे।

यद्यपि १८०० में राष्ट्रपति पद के लिये उनको दोबारा मनोनीत किया गया परंतु अपने शक्तिशाली विपक्षी टामस जेफ़र्सन से उन्हें हार खानी पड़ी। अपनी पराजय से उनको गहरी पीड़ा पहुँची। तदुपरांत उन्होंने राजनीति से अपना हाथ खींच लिया और विषादपूर्ण जीवन व्यतीत करते रहे। ४ जुलाई, १८२६ को स्वतंत्रता की घोषणा की ५०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर क्विन्सी नामक स्थान में ऐडम्स का देहावसान हुआ।

(अ० ला० लूं०)

ऐडम्स, जॉन काउच (१८१९-१८९२), ब्रिटिश ज्योतिषी, का जन्म कॉर्नवाल, इंग्लैंड में, ५ जून, १८१९ को हुआ था। ऐडम्स पढ़ाई में बहुत कुशाग्रबुद्धि था और उसे स्मिथ पारितोषिक भी मिला था। पढ़ाई समाप्त करते ही वह इस खोज में लग गया कि यूरेनस नामक ग्रह अपने मार्ग से विचलित क्यों होता है: क्या कोई नवीन ग्रह है जो यूरेनस से भी दूर है और वही अपने आकर्षण के कारण यूरेनस को कभी तीव्रगामी और कभी मंद किया करता है? उसने सिद्ध किया कि ज्ञात विचलन किसी अज्ञात दूरस्थ ग्रह के कारण हो सकता है और उसने इस 'नवीन ग्रह' की स्थिति भी बताई। उसने अपनी खोजों के परिणाम सितंबर, १८४५ में राजज्योतिषी के पास भेजे और उन्होंने उसे कैंब्रिज के प्रोफ़ेसर चैलिस के पास भेजा। चैलिस ने खोज आरंभ कर दी, परंतु विशेष तत्परता से काम आगे नहीं बढ़ाया।

उधर फ्रांस में लेवेरियर ने भी नवीन ग्रह की स्थिति की गणना की और प्राप्त स्थिति जर्मन ज्योतिषी गैले के पास भेजकर प्रार्थना की कि इसकी खोज तुरंत की जाय। फलस्वरूप नवीन ग्रह दूसरे ही दिन देखा गया। इससे वैज्ञानिक संसार में बड़ी सनसनी फैली। ऐरैगो ने नवीन ग्रह का नाम लेवेरियर रखा। पीछे, इंग्लैंड के राजज्योतिषी के प्रयत्न से नवीन ग्रह का नाम नेप्चून (=वरुण) रखा गया। अब सभी मानते हैं कि नवीन ग्रह के आविष्कार का श्रेय ऐडम्स और लेवेरियर दोनों को मिलना चाहिए।

१८५१ में ऐडम्स रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी का सभापति चुना गया। १८५८ में ऐडम्स की नियुक्ति सेंट ऐंड्रयूज (स्कॉटलैंड) में गणित के प्रोफ़ेसर के पद पर हुई। परंतु एक साल बाद वह कैंब्रिज में ज्योतिष और ज्यामिति का प्रोफ़ेसर हो गया। दो वर्ष बाद वह कैंब्रिज वेधशाला का डाइरेक्टर नियुक्त हुआ और अंत तक इसी पद पर रहा। १८५२ में ऐडम्स ने चंद्रमा के लंबन की नई सारणी तैयार की जो पूर्वगामी सारणियों से कहीं अधिक शुद्ध थी। एक वर्ष बाद उसका एक शोधविवरण चंद्रमा की मध्य गति के कालांतर त्वरण पर छपा जो बहुत महत्वपूर्ण था। लियोनिड उल्कासमूह के मार्ग की सूक्ष्म गणना भी ऐडम्स ने की, जिसमें उसने दिखाया कि यह समूह एक चक्कर ३३ वर्ष, ३ महीने में लगाता है। पृथ्वी के चुंबकत्व पर भी उसने वर्षों काम किया था और एतत्संबंधी उसकी उपलब्धियाँ उसके मरने पर छपीं।

सं०ग्रं०—द सायंटिफ़िक पेपर्स ऑव जॉन काउच ऐडम्स (जिल्द १, १८९६; जिल्द २, १९००; प्रकाशक, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस)।

ऐडम्स, जॉन क्विंसी (१७६७-१८४८) ११ जुलाई, १७६७ को पैदा हुए। उनके पिता जॉन ऐडम्स अमरीका के दूसरे राष्ट्रपति थे। (द्र० 'ऐडम्स, जॉन') जॉन क्विंसी ने अपने पिता के साथ संपूर्ण यूरोप का भ्रमण किया। १७७८ में पेरिस में शिक्षा ली और दो साल तक लाइडन में पढ़े। १७८७ में हार्वर्ड कालेज से डिग्री लेकर तीन साल बाद वकालत की परीक्षा देकर बोस्टन में वकालत शुरू कर दी। वाशिंगटन ने उनको नीदरलैंड में अमरीकी राजदूत बनाकर भेजा। १७९६ में वे पुर्तगाल में राजदूत बनाए गए। १७९७ में बर्लिन में राजदूत बने। १८०१ में अपने देश लौट आए।

पहले फ़ेडरलिस्ट (संघीय) दल के सदस्य रहे फिर रिपब्लिकन दल में आ गए। १८०६ से १८०९ तक तीन साल हार्वर्ड विश्वविद्यालय में वाक् शास्त्र के प्रोफ़ेसर रहे। १८१७ में मनरो के काल में राज्यमंत्री हुए।

मनरो के सिद्धांत को स्थापित करनेवाले ऐडम्स ही थे। यह उनका ही बनाया हुआ सिद्धांत था जो मनरो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फ़्लोरिडा पर अमरीकी अधिकार उनके ही कारण हुआ। जब राष्ट्रपति पद से मनरो अलग होने लगे तब इनका नाम उस पद के लिये मनोनीत किया गया। ये राष्ट्रपति चुन लिए गए। उस पद पर ये १८२५ से १८२९ तक रहे। परंतु इस बीच उन्होंने कोई विशेष काम नहीं किया। १८२८ में जैक्सन राष्ट्रपति चुने गए। १८२८ से १८२९ के बीच उनके साथियों और ऐडम्स के साथियों में लड़ाई हो गई, जो एक राजनीतिक मोड़ पर आ गई। १८२९ में ऐडम्स इस पद से अलग हुए और १८३० में अपने नगर से सिनेट के लिये सदस्य चुने गए। जब उनसे कहा गया कि राष्ट्रपति पद पर रह चुकने पर साधारण सदस्य होना हेठी की बात होगी तब उन्होंने उत्तर दिया कि जब मैं सभा के लिये सदस्य चुन लिया गया हूँ तब मुझे तो वहाँ बैठना ही चाहिए। जनता की सेवा मेरा कर्तव्य है और मैं इस प्रकार की सेवा करना अपना अपमान नहीं समझता।

१८३१ के बाद का काल उनकी सेवाओं का है। इस बीच सदस्य के रूप में उन्होंने बहुत से काम किए। वह गुलामों के उस अधिकार के लिये लड़ते रहे जिसके अनुसार वे सभा के किसी भी सदस्य द्वारा अपना प्रार्थनापत्र दे सकें। इस अधिकार को छीननेवाला एक कानून बनाया गया था जो बाद को 'गला घोटनेवाला' कानून कहलाने लगा। ऐडम्स इस कानून का विरोध करते रहे। १८४४ में यह कानून उन्हीं के अध्यवसाय से रद्द हुआ और गुलामों को प्रार्थनापत्र देने का अधिकार मिल गया।

उनकी सबसे बड़ी देन वह डायरी है जिसे उन्होंने अपने प्रारंभिक जीवन से ही लिखना शुरू किया था और आखिरी समय तक लिखते रहे।

इस डायरी मे उन्होंने अपने जमाने के प्रसिद्ध लोगों और मुख्य घटनाओं के संबध में काफी लिखा है।

२१ फरवरी, १८४८ में सिनेट के अधिवेशन के बीच ही वह बेहोश होकर गिर पड़े और २३ फरवरी, १८४८ को उनका देहांत हो गया। (मु० अ० अं०)

ऐडिरौनडैक पर्वतसमूह (ऊँचाई १,००० फुट से ५,००० फुट तक), उत्तरी-पूर्वी न्यूयार्क (संयुक्त राज्य, अमरीका) के क्लिटन, एसेक्स, फ्रैंकलिन तथा हैमिल्टन प्रादेशिक भागों मे फैला हुआ है। इसका सबसे ऊँचा शिखर माउंट मार्की है (५,३४४ फुट)। यह पर्वतसमूह हडसन तथा सेंट लॉरेंस नदियों के बीच जलविभाजक का काम करता है। इन पर्वतों पर अनेक क्षय चिकित्सालय है तथा यहाँ मछली फँसाने और शिकार खेलने के भी अति सुंदर स्थान है। इस प्रदेश का अतिरंदक पार्क ३०,००,००० एकड़ से भी अधिक क्षेत्रफल का है। यहाँ के पर्वत, वन, सरिता तथा झीलें सभी, नगर के वातावरण के थके जनसमूह के लिये आकर्षण के केंद्र हैं। (न० ला०)

ऐडेम, ब्रेमेन का (मृत्यु, लगभग १०७६) इतिहासकार और भूगोलवेत्ता। जन्म जनविश्वास के अनुसार १०४५ के लगभग। १०६६ मे वह ब्रेमेन का अध्यक्ष नियुक्त हुआ और कैथेड्रल स्कूल का अध्यापक भी। १०७२ में ब्रेमेन का आर्चबिशप हुआ। वहीं उसने अपनी 'हिस्तोरिया हम्माबुर्गेन्सिस एक्लेसिया' लिखी। यह ग्रंथ जर्मन, बाल्टिक और स्कैंडीनेविया के उपनिवेशों के संबंध में सर्वाधिक प्रामाणिक है। (स० च०)

ऐडोबे अमरीका के दक्षिण-पश्चिमी संयुक्त राज्य और उत्तरी मेक्सिको में ऐडोबे कच्ची ईट और कच्ची ईंटों से बने मकान को कहते है। उस मिट्टी को भी बहुधा ऐडोबे कहते है जिससे अच्छी ईंटें बनती है। यह शब्द स्पेन के 'ऐडोबार' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है मिट्टी का लेप या पलस्तर। ऐडोबे ईट बनाने के लिये मिट्टी, थोड़ा सा भूसा, पुआल, या सूखी घास मिलाकर सान ली जाती है और फिर पैर से कुचलकर अच्छी तरह गूंध ली जाती है। तदनंतर लकड़ी के साँचों की सहायता से ईंटें बना ली जाती हैं। नाप में ये ईंटें साधारण ईंटों से लेकर दो गज तक लंबी, एक फुट तक चौड़ी और आठ इंच तक मोटी होती है। ईंटों की जोड़ाई मिट्टी के ही गारों से की जाती है और मिट्टी से ही बाहर और भीतर पलस्तर भी कर दिया जाता है। सूख जाने पर चूना कर दिया जाता है। चौड़ा छज्जा और अच्छी छत रहने पर, जो वर्षा में टपके नहीं, अमरीका और मेक्सिको में ये मकान बरसों, कभी कभी सैकड़ों वर्ष, चलते हैं। कॉलोरेडो (अमरीका) में पृथक् ईट बनाने की प्रथा नहीं है। वहाँ दीवार बनाने के लिये अगल बगल अस्थायी रूप से पटरे खड़े कर दिए जाते है और उनके बीच कड़ी सनी हुई मिट्टी कूट दी जाती है। कुछ दिन तक सूखने देकर पटरों को अधिक ऊँचाई पर बाँधते है और इस प्रकार तह पर तह मिट्टी डालकर दीवार बना लेते है। दीवारें चाहे इस प्रकार बनें, चाहे ईंटों से, पर जब उनपर बाहर से सीमेंट का पलस्तर कर दिया जाता है तो ये (ऐडोबे के) मकान बहुत टिकाऊ होते हैं। ऐडोबे की ईंट बनाने के लिये वही मिट्टी अच्छी होती है जो सूखने पर बहुत कड़ी और मजबूत हो जाती है।

सं० ग्रं०—आर० एम० रिंगर : ऐडोबे हाउस कंस्ट्रक्शन (नैशनल बिल्डर, खंड ६७, पृ० ७४–७६, १६२४)।

ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का अंतिम खंड। 'ब्राह्मण' के तीन खंड होते हैं जिनमें प्रथम खंड तो ब्राह्मण ही होता है जो मुख्य अंश के रूप में गृहीत किया जाता है। 'आरण्यक' ग्रंथ का दूसरा अंश होता है तथा 'उपनिषद्' तीसरा। कभी कभी उपनिषद् आरण्यक का ही अंश होता है और कभी कभी वह आरण्यक से एकदम पृथक् ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित होता है। ऐतरेय आरण्यक अपने भीतर ऐतरेय उपनिषद् को भी अंतर्भुक्त किए हुए है

इसके पाँच अवांतर खंड है जो स्वयं आरण्यक के नाम से ही अभिहित किए जाते है। ये पाचो आरण्यक वस्तुतः पृथक् ग्रंथ माने जाते है। आज भी श्रावणी के अवसर पर ऋग्वेदी लोग इन अवांतर आरण्यकों के आद्य पदों का पाठ स्वतंत्र रूप से करते हैं जो इनके स्वतंत्र ग्रंथ मानने का प्रमाण माना जा सकता है।

ग्रंथ के प्रथम आरण्यक मे 'महाव्रत' का वर्णन है जो ऐतरेय ब्राह्मण के 'गवामयन' का ही एक अंश है। द्वितीय आरण्यक के अंतिम तीन अध्यायों मे (चतुर्थ से लेकर षष्ठ अध्याय तक) ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक को 'संहितोपनिषद्' भी कहते है, क्योंकि इसमे संहिता, पद और क्रम पाठों का वर्णन तथा स्वर, व्यंजन आदि के स्वरूप का विवेचन है। चतुर्थ आरण्यक में महाव्रत के पंचम दिन मे प्रयुक्त होनेवाली महानाम्नी ऋचाएँ दी गई है और अंतिम आरण्यक मे निष्कैवल्य शास्त्र का वर्णन पूरे ग्रथ की समाप्ति करता है।

इन आरण्यकों मे प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक माने जाते है। ऐतरेय आरण्यक के रचनाकाल के विषय मे विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। डाक्टर कीथ इसे यास्करचित निरुक्त से अर्वाचीन मानकर इसका समय षष्ठ शती विक्रमपूर्व मानते है, परंतु वास्तव मे यह निरुक्त से प्राचीनतर है। ऐतरेय ब्राह्मण की रचना करनेवाले महिदास ऐतरेय ही इस आरण्यक के प्रथम तीन अंशों के भी रचयिता है। फलतः ऐतरेय आरण्यक को ऐतरेय ब्राह्मण का समकालीन मानना युक्तियुक्त है। इस आरण्यक को निरुक्त से प्राचीन मानने का कारण यह है कि इसके तृतीय खंड का प्रतिपाद्य विषय, जो वैदिक व्याकरण है, प्रातिशाख्य तथा निरुक्त दोनों के तद्विषयक विवरण से निःसंदेह प्राचीन है। (ब० उ०)

ऐतरेय, ऋषि ऋग्वेद की ऐतरेय नामक शाखा के प्रवर्तक। इस शाखा के ऐतरेय ब्राह्मण (द्र०), ऐतरेय आरण्यक (द्र०) तथा ऐतरेय उपनिषद् इत्यादि ग्रंथ उपलब्ध है। सायण के अनुसार इतरा नामक स्त्री से उत्पन्न होने के कारण इनका ऐतरेय नाम पड़ा। महिदास इनका मूल नाम था और ये हारीत वंश मे उत्पन्न मांडूकि ऋषि के पुत्र थे। बचपन से ही ये चुपचाप रहते थे और 'नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र का जाप किया करते थे। इनके पिता मांडूकि ने पिंगा नाम की एक अन्य स्त्री से विवाह कर लिया जिससे उन्हें चार पुत्र हुए। बड़े होने पर उक्त चारो ही पुत्र विद्वान् बने और सब उनका अत्यधिक संमान करने लगे। इससे इतरा को दुःख हुआ और उसने ऐतरेय से कहा, "तेरे विद्वान् न होने से तेरे पिता मेरा अपमान करते है, अतः मैं अब देहत्याग करूँगी।" इसपर ऐतरेय ने अपनी माता को धर्मज्ञान देकर देहत्याग के विचार से विरत किया।

कालांतर में विष्णु ने ऐतरेय और उनकी माता को साक्षात् दर्शन दिए और ऐतरेय को अप्रतिम विद्वान् होने का वर दिया। हरिमेध्य द्वारा कोटितीर्थ नामक स्थान पर आयोजित यज्ञ में भगवान् विष्णु के निर्देशानुसार ऐतरेय ने वेदार्थ पर प्रभावशाली व्याख्यान दिया। इससे प्रसन्न हो हरिमेध्य ने न केवल उनकी पूजा की अपितु अपनी कन्या से उनका विवाह भी कर दिया। (कै० च० श०)

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद की एक शाखा जिसका 'ब्राह्मण' ही उपलब्ध है, संहिता नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में अपनी महत्ता के कारण प्रथम स्थान रखता है। इसमें ४० अध्याय है जिनमें प्रत्येक पाँच अध्यायों को मिलाकर एक 'पंचिका' कहते है और प्रत्येक अध्याय के विभाग को 'कंडिका'। इस प्रकार पूरे ग्रंथ में आठ पंचिका, ४० अध्याय, अथवा २८५ कंडिकाएँ है। समस्त सोमयागों की प्रकृति होने के कारण 'अग्निष्टोम' का प्रथमतः विस्तृत वर्णन किया गया है और अनंतर सवनों में प्रयुक्त शास्त्रों का तथा अग्निष्टोम की विकृतियों—उक्थ्य, अतिरात्र तथा षोडशी याग—का उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'राजसूय' का वर्णन, तदंतर्गत शुनःशेप का आख्यान तथा 'ऐंद्र महाभिषेक' का विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। अष्टम पंचिका में प्राचीन भारत के मूर्धाभिषिक्त सम्राटों का विशेष वर्णन किया गया है

जिसमें इस विषय की प्राचीन गाथाएँ उधृत की गई हैं (द्र० 'अभिषेक')। गाथाएँ भाषा तथा इतिहास दोनों दृष्टियों से महत्व रखती हैं। 'ऐतरेय' शब्द की व्याख्या एक प्राचीन टीकाकार ने की है—इतरा (शूद्रा) का पुत्र, जिसके कारण इस ब्राह्मण के मूल प्रवर्तन पर हीन जाति का होने का दोष लगाया जाता है, परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अवेस्ता का एक प्रख्यात शब्द है—'एथ्रेय' जिसका अर्थ है ऋत्विज्, यज्ञ करानेवाला पुरोहित। विद्वानों की दृष्टि में वैदिक 'ऐतरेय' को इस 'ऐतरेय' से संबद्ध मानना भाषाशास्त्रीय शैली से नितांत उचित है। फलतः 'ऐतरेय' का भी अर्थ है 'ऋत्विज्'। इस ब्राह्मण में प्रतिपाद्य विषय की आलोचना करने पर इस अर्थ की यथार्थता में संदेह नहीं रहता। यह 'ब्राह्मण' हौत्रकर्म से संबद्ध विषयों का बड़ा ही पूर्ण परिचायक है और यही इसका महत्व है। इस 'ब्राह्मण' के अन्य अंश भी उपलब्ध होते हैं जो 'ऐतरेय आरण्यक' तथा 'ऐतरेय उपनिषद्' कहलाते हैं। (ब० उ०)

ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज और उसके इतिहास के अध्ययन में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांतों का प्रसारण है। आधुनिक काल में चूँकि इतिहास को मात्र विवरणात्मक न मानकर व्याख्यात्मक अधिक माना जाता है और वह अब केवल आकस्मिक घटनाओं का पुंज मात्र नहीं रह गया है, ऐतिहासिक भौतिकवाद ने ऐतिहासिक विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया है।

१७ मार्च, १८८३ को कार्ल मार्क्स की समाधि के पास उनके मित्र और सहयोगी एंजिल ने कहा था, "ठीक जिस तरह जीव जगत् में डार्विन ने विकास के नियम का अनुसंधान किया, उसी तरह मानव इतिहास में मार्क्स ने विकास के नियम का अनुसंधान किया। उन्होंने इस सामान्य तथ्य को खोज निकाला (जो अभी तक आदर्शवादिता के मलवे के नीचे दबा था) कि इसके पहले कि वह राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म और इस प्रकार की बातों में रुचि ले सकें, मानव को सबसे पहले खाना पीना, वस्त्र और आवास मिलना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन धारण के लिये आसन्न आवश्यक भौतिक साधनों केसाथ साथ राष्ट्र अथवा युगविशेष के तत्कालीन आर्थिक विकास की प्रावस्था उस आधार का निर्माण करती है जिसपर राज्य संस्थाएँ, विधिमूलक दृष्टिकोण और संबंधित व्यक्तियों के कलात्मक और धार्मिक विचार तक निर्मित हुए हैं। तात्पर्य यह है कि इन उत्तरवर्ती परिस्थितियों को जिन्हें पूर्वगामी परिस्थितियों की जननी समझा जाता है, वस्तुतः स्वयं उनसे प्रसूत समझा जाना चाहिए।

यह ऐसी धारणा है जिसका मौलिक महत्व है और जो तत्वतः सरल है। इतिहास में (वैसे ही मानव विचार में भी) परिवर्तनों के लिये आदि प्रेरक शक्ति युगविशेष की आर्थिक उत्पादन की व्यवस्था और तज्जनित संबंधों में निहित होती है। यह धारणा उन सारी व्याख्याओं का विरोध करती है जो इतिहास के प्रारंभिक तत्वों को दैव, जगदात्मा, प्राकृतिक विवेक स्वातंत्र्य आदि जैसी भावात्मक वस्तुओं में ढूँढ़ती हैं। इसकी उत्पत्ति वास्तविक सक्रिय मानव से होती है और उसके सही सही और महत्वपूर्ण अंतःसंबंध सैद्धांतिक प्रत्यावर्तन के विकास और उनकी सजीव प्रक्रिया की प्रतिध्वनियों को प्रदर्शित करती है। संक्षेप में, चेतनता जीवन को नहीं निर्धारित करती किंतु जीवन चेतनता को निर्धारित करता है।

मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' (पावर्टी ऑव फ़िलासफ़ी) में लिखा, "हम कल्पना करें कि अपने भौतिक उत्तराधिकार में वास्तविक इतिहास, अपने पार्थिव उत्तराधिकार में, ऐसा ऐतिहासिक उत्तराधिकार है जिसमें मत, प्रवर्ग, सिद्धांतों ने अपने को अभिव्यक्त किया है। प्रत्येक सिद्धांत की अपनी निजी शताब्दी रही है जिसमें उसने अपने को उद्‌घाटित किया है। उदाहरण के लिये सत्ता के सिद्धांत की अपनी शताब्दी ११वीं रही है, उसी तरह जिस तरह १८वीं शताब्दी व्यक्तिवाद के सिद्धांत की प्रधानता की रही है। अतः, तर्कतः शताब्दी सिद्धांत की अनुवर्तिनी होती है, सिद्धांत शताब्दी का अनुवर्ती नहीं होता। दूसरे शब्दों में, सिद्धांत इतिहास को बनाता है, इतिहास सिद्धांत को नहीं बनाता। अब यदि हम इतिहास और सिद्धांत दोनों की रक्षा की आशा के लिये पूछें कि आखिर सत्ता का सिद्धांत ११वीं शताब्दी में ही क्यों प्रादुर्भूत हुआ और व्यक्तिवाद १८वीं में क्यों, और सत्ता सिद्धांत १८वीं में या व्यक्तिवाद ११वीं में, अथवा दोनों एक ही शताब्दी में क्यों नहीं हुए, तो हमें अनिवार्य रूप से तत्कालीन परिस्थितियों के विस्तार में जाने पर बाध्य होना पड़ेगा। हमें जानना पड़ेगा कि ११वीं और १८वीं शताब्दी के लोग कैसे थे, उनकी क्रमागत आवश्यकताएँ क्या थीं। उनके उत्पादन की शक्तियाँ, उनके उत्पादन के तरीके, वे कच्चे माल जिनसे वे उत्पादन करते थे, और अंत में मानव मानव के बीच क्या संबंध थे, संबंध जो अस्तित्व की इन समस्त परिस्थितियों से उत्पन्न होते थे। किंतु ज्योंही हम मानवों को अपने इतिहास के पात्र और उनके निर्माता मान लेते हैं त्योंही थोड़े चक्कर के बाद, हमें उस वास्तविक आदि स्थान का पता लग जाता है जहाँ से यात्रा आरंभ हुई थी, क्योंकि हमने उन शाश्वत सिद्धांतों को छोड़ दिया है, जहाँ से हमने आरंभ किया था।"

भोंड़े पत्थर के औजारों से धनुषबाण तक और शिकारी जीवन से आदिम पशुपालन पशुचारण तक, पत्थर के औजारों से धातु के औजारों तक (लोहे की कुल्हाड़ी, लोहे के फालवाले लकड़ी के हल आदि) कृषि के संक्रमण के साथ, सामग्री के उपयोग के लिये धातु के औजारों का आगे को विकास (लोहार की धौंकनी और बर्तनों का आरंभ), दस्तकारी के विकास और उसका कृषि से प्रारंभिक औद्योगिक निर्माण के रूप में पृथक्करण, मशीनों की ओर संक्रमण, और तब आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों का औद्योगिक क्रांति के आधार पर उदय—प्राचीन काल से हमारे युग तक की उत्पादक शक्तियों के क्रमिक विकास की यह एक मोटी रूपरेखा है। परिवर्तनों के इस क्रम के साथ साथ मनुष्य के आर्थिक संबंध भी बदलते गए हैं और उनका विकास होता गया है। इतिहास को उत्पादन संबंधों के पाँच मुख्य प्रकार ज्ञात हैं—आदिम जातिवादी, दासप्रधान, सामंती, पूँजीवादी और समाजवादी। इन व्यवस्थाओं के विचार और प्रकार, यथा पूँजीवाद में मुनाफा, मजदूरी और लगान, शाश्वत नहीं बल्कि उत्पादन के सामाजिक संबंधों की सैद्धांतिक अभिव्यक्ति मात्र हैं। भौतिक परिवेश में विकसित होनेवाली ठोस आवश्यकताएँ एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था के परिवर्तन के ऐतिहासिक क्रम को जन्म देती हैं। जब भीतरी अंतर्विरोधों के कारण आर्थिक आच्छादन फट जाता है, जैसा कि समाजवादी विश्लेषण का दावा है कि पूँजीवाद में घटित हो रहा है, तब इतिहास का एक नया अध्याय आरंभ हो जाता है।

इस धारणा के अनुसार मनुष्य की भूमिका किसी भी प्रकार निष्क्रियता की नहीं, सक्रियता की है। एंजिल्स के कथनानुसार स्वतंत्रता आवश्यकता की स्वीकृति है। व्यक्ति प्राकृतिक नियमों से कहाँ तक बँधा है, यह जान लेना अपनी स्वतंत्रता की सीमाओं को जान लेना है। इच्छा मात्र से आदमी अपनी ऊँचाई हाथ भर भी नहीं बढ़ा सकता। किंतु मनुष्य ने उन भौतिक नियमों का राज समझकर उड़ना सीख लिया है जिनके बिना उसका उड़ना असंभव होता है। निःसंदेह मानव इतिहास का निर्माण करता है किंतु अपनी मनचाही रीति से नहीं। यह कहना कि यह विचारधारा मनुष्य पर स्वार्थ के उद्देश्यों को आरोपित करती है, इस विचार को फूहड़ बनाना है। यह हास्यास्पद होता, यदि सिद्धांत यह कहता कि आदमी सदा भौतिक स्वार्थ के लिये काम करता है। किंतु उसका मात्र इतना आग्रह है कि आदर्श स्वर्ग से बने बनाए नहीं टपक पड़ते किंतु प्रस्तुत परिस्थितियों द्वारा विकसित होते हैं। इसलिये इसका कारण खोजना होगा कि युगविशेष में आदर्शविशेष ही क्यों प्रचलित थे, दूसरे नहीं।

१८९० में एंजिल्स ने लिखा, "अंततोगत्वा इतिहास के रूप को निश्चित करनेवाले तत्व वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक का न तो मार्क्स ने और न मैंने ही कभी दावा किया है। इसलिये अगर कोई इसको इस वक्तव्य में तोड़ मरोड़कर रखता है कि आर्थिक तत्व ही एकमात्र निर्णायक है, तो वह उसे अर्थहीन, विमूर्त और तर्करहित वक्तव्य बना देता है। आर्थिक परिस्थिति आधार निश्चय है, किंतु ऊपरी ढाँचे के विभिन्न तत्व—वर्गसंघर्ष के राजनीतिक प्रचार और उसके परिणाम. सफल संग्राम के बाद विजयी वर्ग द्वारा स्थापित संविधान आदि—कानून के रूप—फिर संघर्ष करनेवालों के दिमाग में इन वास्तविक

संघर्षों के परावर्तन, राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक विचार और हठधर्मी सिद्धांत के रूप में उनका विकास—यह भी ऐतिहासिक संघर्षों की गति पर अपना प्रभाव डालते हैं और अधिकतर अवस्थाओं में उनका रूप स्थित करने में प्रधानतः सफल होते हैं। इन तत्वों की एक दूसरे के प्रति एक क्रिया भी होती है—अन्यथा इस सिद्धांत को इतिहास के किसी युग पर आरोपित करना अनन्य-साधारण-समीकरण को हल करने से भी सरल होता।" वास्तव में यह विचार इस बात को स्वीकार करता है कि "सिद्धांत ज्योंही जनता पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं, वे भौतिक शक्ति बन जाते हैं।" बुनियादी तौर पर तो निःसंदेह इसका आग्रह है कि सामाजिक परिवर्तनों के अंतिम कारणों को "दर्शन में नहीं, प्रत्येक विशिष्ट युग के अर्थशास्त्र" में ढूँढ़ना होगा। सत्य तो यह है कि आरंभ में 'कार्य' थे, शब्द नहीं।

इस विचारधारा का एक गत्यात्मक पक्ष भी है जो इस बात पर जोर देता है कि प्रत्येक सजीव समाज में उत्पादन की विकासशील शक्तियों और प्रतिगत्यात्मक संस्थाओं में, उन लोगों में जो स्थितियों को जैसी की तैसी रहने देना चाहते हैं और जो उन्हें बदलना चाहते हैं, विरोध उत्पन्न होता है। यह विरोध जब इस मात्रा तक पहुँच जाता है कि उत्पादन संबंध समाज की "बेड़ियाँ बन जाते हैं" तब क्रांति हो जाती है। इस विश्लेषण के अनुसार पूँजी का एकाधिपत्य उत्पादन पर बेड़ी बनकर बैठ गया है और यही कारण है कि समाजवादी क्रांतियाँ हुईं, और जहाँ अभी तक नहीं हुई हैं वहाँ पूँजीवाद स्थायी रूप से संकट में पड़ गया है। यह समय समय में युद्धों और उसकी निरंतर तैयारियों से प्रामाणिक रूप में प्रदर्शित होता है। यह तनाव समाजवाद की स्थापना से ही दूर हो सकता है। समाजवादी समाज में जो अंतर्विरोध पैदा होंगे, वे, वास्तव में, अभी तो निश्चय से अधिक कल्पना की वस्तु हैं। (ही० ना० मु०)

ऐन (१६६५–१७१४) इंग्लैंड के राजा जेम्स द्वितीय की दूसरी पुत्री। उसका लालन पालन प्रोटेस्टेंट वातावरण में हुआ था। बचपन में ही उसकी मैत्री सारा चर्चिल (मार्लबरो की भावी डचेज) से हो गई थी। इस मैत्री का प्रभाव ऐन के व्यक्तिगत जीवन पर ही नहीं, वरन् इंग्लैंड के इतिहास पर भी बड़ा गहरा पड़ा। १६८३ में उसका विवाह डेन्मार्क के राजकुमार जार्ज के साथ हुआ। राजनीतिक रूप से लोकप्रिय न होते हुए भी दांपत्य रूप से यह संबंध सुखी प्रमाणित हुआ। जेम्स के पश्चात् विलियम इंग्लैंड का राजा बना; और विलियम की मृत्यु के बाद ८ मार्च, १७०२ को ऐन ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड की रानी घोषित हुई। व्यक्तित्व से प्रतिभाशाली न होते हुए भी उसका शासनकाल गौरवपूर्ण प्रमाणित हुआ।

प्रारंभिक जीवन में माता पिता के स्नेह से वंचित रहने, अपनी १७ संतानों की मृत्यु देखने तथा निरंतर अस्वस्थ रहने से उसे यथेष्ट कष्ट सहन करना पड़ा। कौटुंबिक बंधनों, धार्मिक संघर्षों, कर्तव्यपालन की समस्याओं तथा देशभक्ति की भावनाओं ने उसे विरोधी दिशाओं में घसीटा। दरबार के पारस्परिक द्वेष तथा गुटबंदियाँ उसे जीवनपर्यंत घालती रहीं। उसमें अधिक योग्यता भी नहीं थी और न वह तीक्ष्णबुद्धि थी। किंतु, अपनी सीमाओं में रहकर वह ईमानदारी से कर्तव्यपालन में सतत प्रयत्नशील रही।

आरंभ से ही चर्च (धर्म) की समस्याओं के प्रति उसकी पूरी अभिरुचि बनी रही। राज्य के दोनों प्रमुख दलों से उसका संपर्क चर्च संबंधी भावनाओं से ही परिचालित रहा। व्यक्तिगत रूप से टोरी (अनुदार) दल से उसकी सहानुभूति रहने पर भी ह्विग (उदार) दल के साथ, उसके कृपापात्र चर्चिल दंपति जिसके सर्वप्रमुख सदस्य थे, उसका बंधन दृढ़तर होता गया। मार्लबरो की ब्लेनहाइम की अभूतपूर्व विजय के कारण ह्विग दल का प्रभाव बहुत बढ़ गया। वस्तुतः मार्लबरो का ड्यूक ही ह्विग दल का सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य था। किंतु १७१० में ऐन और सारा में संबंधविच्छेद होने के कारण मार्लबरो के भाग्य का पतन हो गया। सारा के स्थान पर मिरोज मैशम, जो उसकी ही संबंधी थी, ऐन की विशेष कृपापात्री बन गई। वास्तव में इंग्लैंड की जनता भी मार्लबरो के युद्धों से ऊब उठी थी। अतः ह्विग शासन की समाप्ति पर हार्ली के नेतृत्व में, जो गुप्त रूप से ऐन का विश्वासपात्र सलाहकार था, टोरी सरकार की स्थापना हुई। ऐन के शासन के अंतिम काल में उत्तराधिकार की समस्या तीव्र हो गई। ऐन अपने भाई प्रेटेंडर को उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी, किंतु मंत्रिमंडल तथा जनता के तीव्र विरोध के कारण असफल रही। अगस्त, १७१४ में उसकी मृत्यु हो गई। संसार के सर्वश्रेष्ठ सेनानियों में से एक मार्लबरो के ड्यूक की अभूतपूर्व विजयों, दल संबंधी राजनीति के उत्थान, इंग्लैंड और स्काटलैंड के एकीकरण, ईस्ट इंडिया कंपनी की समस्याओं के सफल समाधान तथा ऐडिसन, डिफ़ो, स्विफ़्ट, और पोप जैसे मेधावी साहित्यकारों के प्रादुर्भाव—इन सब कारणों ने ऐन के शासन को गौरवपूर्ण बना दिया था। (रा० ना०)

ऐनू जापान के उत्तरी द्वीप होकैडो के एक सीमित क्षेत्र में तथा सैकालीन द्वीप के कुछ भागों में रहनेवाली आदिवासियों की एक अवशिष्ट जाति है। इस ऐनू आदिवासी जाति का संबंध कुछ सीमा तक रिऊक्यू द्वीपसमूहवाले लोगों से है। ऐनू जाति के लोगों की संख्या अब बहुत कम रह गई है तथा उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है। बढ़ती हुई जापानी सभ्यता के साथ साथ आगे बढ़ने में ये लोग पूर्णतया असमर्थ हैं। शारीरिक दृष्टि से भी ये संभवतः उत्तरी एशिया में निवास करनेवाले प्रोटोनॉर्डिक समूह के हैं, जो किसी समय उत्तरी एशिया में काफी दूर तक फैले हुए थे। ऐनू लोग निस्संदेह मनुष्य की प्राचीनतम जाति के अवशेष हैं। इनकी सभ्यता कई बातों में पत्थर युग की याद दिलाती है। कृषि के प्राचीन ढंग को इस जाति ने अभी तक सुरक्षित रखा है। इनके पुरुष अभी तक आखेट युग में ही बने हुए हैं तथा स्त्रियाँ जंगलों से जीवनोपयोगी सामग्री एकत्रित करने से कुछ ही आगे बढ़ी हुई हैं; अर्थात् उनकी जीवनचर्या कृषि के आरंभिक युग जैसी ही है।

इनके धार्मिक आचार विचार उत्तरी एशिया में बसनेवाली अन्य आदिम जातियों से मिलते जुलते हैं। इनका धर्म अध्यात्ममूलक है तथा इनमें एक विशेष प्रकार का धार्मिक परमानंद लक्षित होता है जिसे उत्तरध्रुवीय वातोन्माद कहते हैं। भालू का इनकी पूजापद्धति में विशेष स्थान है। इस पशु को शैशवावस्था में ही पकड़ लिया जाता है तथा स्त्रियों द्वारा उसका लालन पालन बड़ी सावधानी और प्रेम से किया जाता है, यहाँ तक कि स्त्रियाँ उन्हें अपने स्तनपान भी कराती हैं। जब भालू तीन वर्ष का हो जाता है तब बड़े समारोह के साथ उसका बलिदान किया जाता है। अधिकांश ऐनू ग्रामों में काठ के पिंजरे देखे जा सकते हैं, जिनमें भालू के बच्चे पाले जाते हैं। गाँवों में एक और विशेष वस्तु भी देखी जा सकती है। यह एक प्रकार की लकड़ी है जिसे काटकर और पैनी बनाकर भूमि में गाड़ दिया जाता है। इस लकड़ी का धार्मिक महत्व होता है।

इनकी भाषा और लिपि पर जापानी का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ता है, परंतु उच्चारण में भिन्नता है। इस समय इनकी संख्या घटकर केवल १८,००० रह गई है। इनकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। (श्या० मुं० ग०)

ऐंनिअस क्विंतुस (ई० पू० २३९–१६९) को 'रोमन कविता का जनक' कहा जाता है। इनका जन्म इटली के दक्षिणपूर्व में कालाब्रिया प्रदेश के रूदियाए नामक स्थान में हुआ था। ग्रीक, ऑस्कन और लातीनी, तीनों भाषाओं का अच्छा ज्ञाता होने के कारण ऐंनिअस कहा करता था कि मुझे तीन हृदय प्राप्त हैं। युवावस्था में वह सेना में सैंचरियन (शताध्यक्ष) पद पर पहुँच गया था। कातो नामक जननायक इसको रोम ले गया। रोम में निवास आरंभ करने के थोड़े समय पश्चात् ऐंनिअस ने काव्यरचना आरंभ की। यहाँ उनका रोम के प्रभावशाली नेताओं से परिचय हुआ। यह मार्कुस के साथ ईतोलिया के अभियान में भी गया था जिसका वर्णन उसने अपने नाटकों में किया है। इनकी मृत्यु गठिया रोग से ई० पू० १६९ में हुई।

इनकी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक थी। किंतु इस समय तो उसकी विभिन्न रचनाओं में से कुछ पंक्तियाँ ही अवशिष्ट रह गई हैं जिनको

संख्या १,००० से कुछ ही अधिक होगी। इन रचनाओं में से एक महाकाव्य में, जिसका नाम 'अनालेस' है, उसने रोम का इतिहास लिखा है। ऐन्नियुस के नाटकों में से २२ दुःखात नाटकों, दो सुखात नाटकों तथा एक ऐतिहासिक नाटक के उद्धरण मिलते हैं। इसकी अन्य रचनाओं की भी कुछ पंक्तियाँ अवशिष्ट हैं। पश्चात्कालीन कवियों पर उसकी रचनाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। वह लातीनी का आदिकवि था तथा उसने ग्रीक काव्य और नाटक के प्रभाव को लातीनी भाषा में अवतीर्ण किया। इस्कीलस, सोफोक्लीस तथा यूरीपिदेस की नाट्यशैली की प्रतिध्वनि उसके नाटकों में स्पष्टतया सुनी जा सकती है। पर उसने अपने तीनों हृदयों की भावुकता की संपत्ति को एकमात्र हृदय (लातीनी) में उँडेलकर भावी साहित्यिकों का मार्ग प्रशस्त किया। इसी कारण सिसरो और क्विंतीलियन जैसे महान् लेखकों ने उसकी प्रशंसा की एवं लुक्रितियुस, वर्जिल एवं ओविद उसके ऋणी हैं। कहते हैं, वह अत्यंत मिलनसार और प्रसन्नचित्त व्यक्ति था।

सं० ग्रं०—मैकेल : लैटिन लिटरेचर, १९०६; डफ : द राइटर्स ऑव रोम, १९४१। (भो० ना० श०)

ऐन्येसी, मरिया गीताना (Agnesi Maria Gaetana) (१७१८–१७९९), इटली की गणितज्ञ, भाषाविद् और दार्शनिक, गणित के प्रोफेसर की लड़की थी। इसका जन्म १६ मई, १७१८, को मिलान (इटली) में हुआ। वह १४ वर्ष की आयु में ही दार्शनिक विषयों पर नवीन विचार विद्वानों के संमुख उपस्थित किया करती थी। वह आरंभ से भिक्षुणी (नन) हो जाना चाहती थी, परंतु अन्य संबंधियों ने उसे रोक रखा। २० वर्ष की आयु होने पर वह दुनिया से अलग होकर अपने घर में एकांतवास करके, अपना सारा समय गणित के अध्ययन में लगाने लगी।

चलन कलन में एक वक्र ऐन्येसी की लुब्धिका (विच ऑव ऐन्येसी) कहलाता है। कहा जाता है, ऐन्येसी (फ्रेंच उच्चारण आन्येसी) एक समीकरण पर विचार करते करते सो गई। रात्रि में, निद्रावस्था में ही, उसने कागज पर, स्वच्छतापूर्वक इस समीकरण के निरूपित वक्र को अंकित कर लिया। प्रातःकाल उठने पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि कागज पर ठीक हल पहले से ही लिखा रखा है। १७५२ ई० में, १४वें पोप बेनेडिक्ट ने मिलान के विश्वविद्यालय में अपने स्थान पर ऐन्येसी की नियुक्ति कर दी। पिता के देहांत के बाद वह मिलान के ही एक संघ में संमिलित होकर भिक्षुणी हो गई। उसका निधन १७९९ में हुआ।

उसका लिखा प्रधान ग्रंथ इंस्तितुत्सी अनालितिके अद उजो देला गिओवेंतू इतालियाना (Institu ioni analitiche uso d lla gioventu italiana) है, जो मिलान में १७४८ में दो जिल्दों में छपा। इसका अंग्रेजी अनुवाद १८०१ में छपा (अनुवादक जॉन कॉलसन)।

सं०ग्रं०—एंटोनियो फ्रान्सेस्को फ्रिसी (Antonio Fransesco Frisi), ईलोग इस्तोरीक द मादम्वाजेल आन्येसी (Eloge historiqu de Mademoiselle Agnesi) (१८०७)।

ऐपुल्टन संयुक्त राज्य, अमरीका के विस्कानसिन राज्य में लोअर फॉक्स नदी के तट पर मिलवाकी से उत्तर-पश्चिम ९० मी० पर स्थित है। यह ऊटागैमी प्रदेश की राजधानी है। यहाँ से होकर संघीय राजमार्ग ४१ जाता है तथा यह नगर रेलों द्वारा अन्य बड़े बड़े नगरों से संबंधित है। ग्रीन बे (खाड़ी) तक छोटे छोटे वाष्पपोत चलते हैं। सन् १९७० ई० में नगर की जनसंख्या ५६,६७३ थी। नगर नदी के तट पर की उच्च भूमि पर बड़े सुंदर ढंग से बसा हुआ है। यह गोपालन तथा दुग्ध का केंद्र है। यहाँ कागज की बड़ी बड़ी मिलें और अन्य कारखाने भी हैं, जिनका संचालन फॉक्स नदी से उत्पन्न की गई जलविद्युत द्वारा होता है।

ऐपुल्टन सन् १८३३ ई० में एक गाँव के रूप में बनाया गया था। बाद में ग्रैंड शूट तथा लोसबर्ग को संयुक्त कर नगर का रूप दिया गया। नगर का नामकरण बोस्टन के एक व्यापारी सैमुएल ऐपुल्टन के नाम पर रखा गया। (श्या० सुं० श०)

ऐपुलबाई इंग्लैंड के पश्चिमी मूरलैंड प्रदेश में लंदन मिडलैंड रीजन रेलवे पर स्थित एक नगर है। नगर का क्षेत्रफल २.९ वर्ग मील है तथा जनसंख्या सन् १९६७ ई० में १,८६० थी। जंगलों से पूर्ण ईडेन घाटी के उत्तर-पूर्व में स्थित यह नगर मिलबर्न जंगल से सटा हुआ है। नगर के पास पहाड़ी पर एक प्राचीन किला है, जिसका जीर्णोद्धार १७वीं शताब्दी में किया गया था। यह नगर अपनी प्राचीनता को सुरक्षित रखे हुए है। नगर सब ओर से दोहरी खाई द्वारा आवृत है। ये खाइयाँ इस बात का स्मरण दिलाती हैं कि यह नगर इंग्लैंड की प्राचीन सीमा पर स्थित है। १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के लेखकों ने इस नगर का एक दरिद्र तथा साधारण ग्राम के रूप में उल्लेख किया है। यहाँ का मुख्य धंधा कृषि है, पर आजकल यहाँ एक दुग्धकेंद्र का भी विकास हुआ है। (श्या० सु० श०)

ऐपोमारफ़ीन हाइड्रोक्लोराइड मारफीन पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के प्रयोग से प्राप्त, केंद्रीय वमनकारक है तथा विषपान की चिकित्सा में ५ मिलीग्राम की मात्रा में अधस्त्वक मार्ग से वमन कराने के लिये प्रयुक्त होता है। इसकी मात्राएँ आधे आधे घंटे पर दो बार तक दी जा सकती हैं। (मो० ला० गु०)

ऐबक, कुतुबुद्दीन द्र० 'कुतुबुद्दीन ऐबक'।

ऐबर्डीन, जार्ज गार्डन (१७८४–१८६०) ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, एडिनबरा में जन्म, ११ साल की उम्र में ही अनाथ हो गया, १८०१ में दादा के मरने के बाद लार्ड हुआ और एथरी हैमिल्टन से शादी कर ली।

ऐबर्डीन १८१२ में राजदूत बनाकर आस्ट्रिया भेजा गया और उसी ने तोपलित्स के संधिपत्र पर अगले साल दस्तखत किए। पेरिस की संधि भी अधिकतर उसी के प्रभाव से संपन्न हुई। सन् १८२८ में वह वेलिंग्टन के ड्यूक के मंत्रिमंडल में परराष्ट्र सचिव हुआ और उसके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण युग शुरू हुआ। उसने पहले फ्रांस से मैत्री की, फिर संयुक्त राज्य अमरीका से सद्भाव उत्पन्न किया। उसी के कार्यकाल में अमरीका के साथ आरेगन की संधि हुई जिससे कनाडा में ब्रिटेन को राजनीतिक लाभ और सुविधा मिली। १८४६ ई० में ऐबर्डीन ने विदेशी अन्न संबंधी कर के प्रश्न पर इस्तीफा दे दिया।

उदार और अनुदार दल के संयुक्त मंत्रिमंडल में वह सन् १८५२ में ट्रेजरी का पहला लार्ड हुआ। उस मंत्रिमंडल में लार्ड पामर्स्टन और लार्ड जान रसेल के अतिरिक्त कई दूसरे प्रभावशाली राजनीतिज्ञ भी थे जिससे कालांतर में उसका टूट जाना अनिवार्य था। फिर भी ऐबर्डीन ने मंत्रिमंडल के कार्यों में पर्याप्त सहयोग दिया और उसी के सहयोग का परिणाम था कि १८५३ में ग्लैड्स्टन का प्रसिद्ध आयव्ययक मंत्रिमंडल ने मंजूर किया। क्रीमिया के युद्ध में उसके स्वभाव की कमजोरी स्पष्ट हो गई क्योंकि वह वस्तुतः शांति का मंत्री और देश के दूसरों के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति का समर्थक था। क्रीमिया के युद्ध के अवसर पर पूर्वी प्रश्न के संबंध में रूस और तुर्की के समक्ष ऐबर्डीन की नीति विफल हो गई और लार्ड जान रसेल के साथ साथ उसने भी पदत्याग कर दिया। ऐबर्डीन कला का अच्छा समीक्षक था और उसने ग्रीक वास्तु के सौंदर्य पर एक पुस्तक भी लिखी। मैथ्यू नोबुल की बनाई उसकी मूर्ति वेस्टमिंस्टर अबे में रखी है। ऐबर्डीन का एक प्रतिकृति चित्र सर टी० लारेंस ने भी बनाया था। (ओ० ना० उ०)

ऐबि, एर्न्स्ट (Abbe, Ernst—१८३५–१९०५), का जन्म सन् १८३५ ई० में जर्मनी में हुआ। आपका बाल्यकाल बड़ा सुखद था। इससे आपकी शिक्षा दीक्षा भी निर्बाध तथा पूर्ण हुई। इसकी प्रसिद्धि विशेष रूप से सूक्ष्मदर्शक यंत्र के मंच के नीचे लगनेवाले संघनक (कंडेंसर) के कारण हुई जिसको आजकल 'ऐबीज सबस्टेज कंडेंसर' कहा जाता है। इनकी अत्यधिक प्रसिद्धि का कारण इनका 'जाइस आप्टिकल वर्क्स' नामक संस्था से निकटतम संबंध था। इस संस्था की प्रगति के ये ही मुख्य कारण थे। इस संस्था से संबद्ध रहकर इन्होंने अपने कारखाने में बने सूक्ष्मदर्शक यंत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति की जिससे

'ज़ाइस ऑप्टिकल वर्क्स' का संसार में एक विशेष स्थान बन गया और आज उसके बने अणुदर्शक प्रथम श्रेणी के यंत्र माने जाते हैं।

इनके तत्वावधान में तथा इनके द्वारा सूक्ष्मदर्शी यंत्रों में किए गए विकासों तथा सुधारों के फलस्वरूप आज के ऊतिकी (हिस्टॉलॉजी) तथा जीवाणुविज्ञान (बैक्टीरियालॉजी) के क्षेत्रों से संबंधित अनुसंधानों में अभूतपूर्व प्रगति हुई तथा इस प्रगति के साथ साथ चिकित्सा विज्ञान की भी महत्वपूर्ण उन्नति संभव हुई। इस महान् वैज्ञानिक की मृत्यु जर्मनी में अपने निवासस्थान पर ७० वर्ष की आयु में सन् १९०५ ई० में हुई।

सं०ग्रं०—एफ़० प्राउर्सबाख़ : एर्न्स्ट ऐबि (१९१८)।

(शि० ना० ख०)

ऐमरी, लियोपोल्ड चार्ल्स मारिस स्टेनेट

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जिसका जन्म १८७३ ई० में भारत के उत्तर प्रदेश के गोरखपुर में हुआ था। युवावस्था में उसने लंदन टाइम्स नामक प्रसिद्ध समाचारपत्र में काम किया और दक्षिण अफ्रीका के युद्धकाल में उस पत्र का वह प्रधान संपादक था। १९११ ई० में वह बर्मिंघम से पार्लियामेंट का मेंबर चुना गया। १९१९ में वह उपनिवेशों का उपसचिव हो गया और दो साल बाद नौसेना का संसदीय और अर्थसचिव। १९४० और ४५ के बीच ऐमरी भारत और बर्मा का राज्यसचिव भी था। (ओं० ना० उ०)

ऐमाइड

अमोनिया के हाइड्रोजन को वसीय या सौरभिक अम्ल मूलक द्वारा प्रतिस्थापित यौगिक है। इसमें अम्ल से कार्बोक्सिल मूलक का हाइड्रॉक्सिल मूलक ऐमिडोमूलक–NH_2 से प्रतिस्थापित होता है, जैसे ($R.CO.NH_2$)। ये तीन वर्ग के हैं : प्राथमिक $R.CO.NH_2$, द्वितीयक $(R.CO)_2NH$ तथा तृतीयक $(RCO)_3N$। इनमें से केवल प्राथमिक ऐमाइड ही प्रमुख हैं। इन्हें ऐसिड ऐमाइड भी कहते हैं।

इनके नाम अम्ल के अंग्रेजी नाम से "–इक ऐसिड" निकालकर उसके बदले 'ऐमाइड' लगा देने से प्राप्त होते है, जैसे फ़ॉर्मिक ऐसिड से फॉर्मऐमाइड ($H.CO.NH_2$), ऐसीटिक एसिड से ऐसीटेमाइड $CH_3.CO.NH_2$ इत्यादि। ऐमिनोमूलक के हाइड्रोजन के प्रतिस्थापित यौगिक को नाम के पहले **एन** (N) लिखकर व्यक्त करते है, जैसे **एन-मेथिल ऐसीटैमाइड**।

$$CH_3—\overset{\overset{O}{\|}}{C}—NH\,CH_3$$
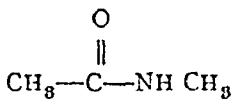
प्रकृति में ये प्रोटीन में पेप्टाइड बंधन के रूप में पाए जाते हैं।

बनाने की सामान्य विधियाँ—

(१) अम्ल के ऐमोनियम लवण को गरम करने से :

$$R.COONH_4 \rightarrow R.CO.NH_2 + H_2O,$$

(२) अम्ल को यूरिया के साथ गरम करसे ने :

$$R.COOH + CO(NH_2)_2 \rightarrow R.CONH_2 + CO_2 + NH_3$$
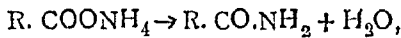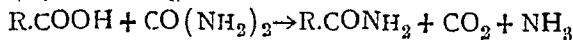
(३) ऐसिड क्लोराइड, ऐसिड ऐनहाइड्राइड तथा एस्टर पर अमोनिया के सांद्र विलयन की क्रिया से :

(क) $R.COCl + 2NH_3 \rightarrow R.CONH_2 + NH_4Cl;$

(ख) $(R.CO)_2O + 2NH_3 \rightarrow R.CO.NH_2 + R.CO_2NH_4;$

(ग) $R.COOR' + NH_3 \rightarrow R.CONH_2 + R'OH$
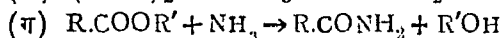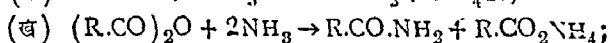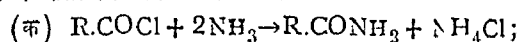
तथा (४) ऐल्किल सायनाइड के सांद्र HCl या H_2O_2 तथा NaOH द्वारा जलविश्लेषण से :

$$R.CN + H_2O \rightarrow R.CO.NH_2$$
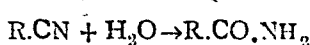
सामान्य गुण—फ़ार्मऐमाइड द्रव है तथा अन्य ऐमाइड रंगहीन, मणिभ ठोस है। ऐमाइड श्रेणी के निम्नतर सदस्य जल में विलेय हैं तथा अणुभार के विचार से उनके गलनांक तथा क्वथनांक निम्नता के प्रतिकूल ऊँचे हैं। यह हाइड्रोजन बंधन के कारण है। ऐमाइड जल, अम्ल तथा क्षार से जलविश्लेषित होते हैं :

$$R.CO.NH_2 + H_2O \rightarrow R.COOH + NH_3$$
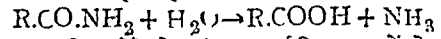
ये क्षीण क्षारीय होने से सांद्र अकार्बनिक अम्लों के साथ अस्थायी लवण बनाते हैं। ये क्षीण अम्लीय होने पर भी मर्क्यूरिक आक्साइड का विलयन करते है तथा सहसंयोजक मर्करी यौगिक बनता है। सोडियम तथा ऐथेनोल या लीथियम ऐल्यूमिनियम हाइड्राइड द्वारा अवकरण से प्राथमिक ऐमिन बनाते हैं :

$$R.CO.NH_2 + 4H \rightarrow R.CH_2.NH_2 + H_2O$$
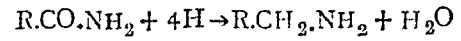
फ़ास्फ़ोरस पेंटाक्साइड के साथ गरम करने पर ऐमाइड से सायनाइड बनता है :

$$R.CONH_2 \rightarrow R.C{\equiv}N + H_2O$$
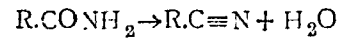
ऐमाइड पर नाइट्रस अम्ल की क्रिया से अम्ल बनता है तथा नाइट्रोजन गैस निकलती है :

$$R.CO.NH_2 + HNO_2 \rightarrow R.COOH + N_2 + H_2O$$
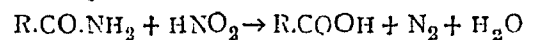
हॉफ़मैन क्रिया में ऐमाइड पर ब्रोमीन तथा क्षार की क्रिया से एक कम कार्बन परमाणुवाला ऐमिन प्राप्त होता है :

$$R.CO.NH_2 + Br_2 + 4KOH \rightarrow R.NH_2 + 2KBr + K_2CO_3 + 2H_2O$$

(पृ० ना० भा०)

ऐमिएंस (आम्याँ)
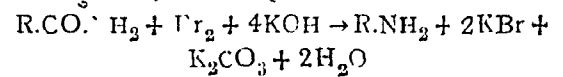
नगर पेरिस से ७२ मील उत्तर सॉम, नदी पर स्थित है एव फ्रास के सॉम प्रांत की राजधानी है। जनसंख्या १,१७,८८८ (सन् १९६८)। यह व्यापार एवं कलाकौशल का तथा नाविक केंद्र है। यहाँ पर ऊनी, सूती एवं रेशमी वस्त्र, मशीनें, रासायनिक वस्तुएँ, इत्र तथा साजसज्जा के सामान बनते हैं। यहाँ के 'नात्रदेम' गिरजाघर की गणना विश्वप्रसिद्ध गॉथिक वास्तुकला की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में की जाती है। दूसरा भव्य स्मारक 'सेंट जरमेन' का गिरजाघर है, जिकास कुछ भाग द्वितीय विश्वयुद्ध में ध्वस्त हो गया। 'होटेल डि विला' १५५० ई० में बनना प्रारंभ हुआ। इसी में ऐतिहासिक ऐमिएंस संधि पर हस्ताक्षर हुए थे। यहाँ का पिकार्डी कौतुकालय पुनरुत्थानकालीन वास्तुकला की एक अजर अमर कृति है।

प्रकृति द्वारा सुरक्षित स्थान में बसा हुआ ऐमिएंस नगर अपने आरंभकाल से ही गैलिक अंबियानी जाति का प्रमुख नगर रहा है। १५९७ ई० में नगर तथा दुर्ग स्पेन के अधिकार में आ गए, परंतु हेनरी चतुर्थ ने उनपर फिर अधिकार कर लिया।

प्रथम विश्वयुद्ध में ऐमिएंस मित्र राष्ट्रों का प्रमुख पूर्तिस्थल था तथा कनेडियन और आस्ट्रेलियन सेनाओं ने यहीं से विश्वप्रसिद्ध ऐमिएंस अभियान प्रारंभ किया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध में यह नात्सियों द्वारा पदाक्रांत हुआ और अगस्त, १९४४ ई० तक उनके अधिकार में रहा। अंत में ब्रिटिश सेनाओं ने इसे स्वतंत्र किया। (श्या० सुं० श०)

ऐमिन

अमोनिया के यौगिक हैं। अमोनिया के १, २ या ३ हाइड्रोजन परमाणुओं के ऐल्किल या ऐरिल मूलक द्वारा प्रतिस्थापन से क्रमश: प्राथमिक RNH_2, द्वितीयक $RR'NH$ या तृतीयक $RR'R''N$ वर्ग के ऐमिन बनते हैं। इनका नामकरण इनमें उपस्थित मूलकों पर आधारित है, जैसे :

$$CH_3 \diagdown$$
$$C_6H_5 — N$$
$$CH_3 \diagup$$

डाइमेथिल फ़ेनिल
ऐमिन

$$\left[(CH_3)_4N^+\right]Cl^-$$
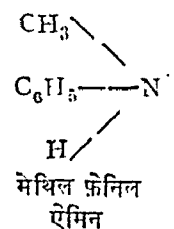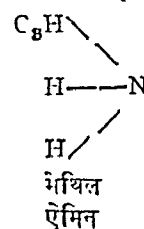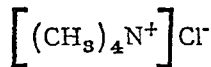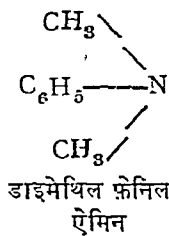
टेट्रामेथिल
ऐमोनियम क्लोराइड

चतुः ऐरिल मूलकवाला यौगिक अज्ञात है। चतुः ऐमिन में R_4N^- धनायन है, किंतु ऋणायन Cl^-–HSO_4, या OH^- हो सकते हैं। मूलकों के आधार पर इनके रासायनिक तथा भौतिक गुण भी भिन्न होते हैं। चतुर्थक के गुण ऐमोनियम यौगिक के समान होते हैं। सौरभिक द्वि-ऐमिन (ऑर्थो, मेटा तथा पैरा फ़ेनिलीन डाइ ऐमिन) के गुण प्राथमिक की भाँति हैं। कुछ ऐमिन, जैसे ब्यूटिल तथा आइसो ब्यूटिल ऐमिन, समावयवता प्रदर्शित करते हैं।

ऐमिन प्रकृति में अधिक नहीं पाए जाते, किंतु कुछ, जैसे मेथिल ऐमिन पौधों, जंतुओं के रक्त, सांद्र नमक के विलयन में रखी हेरिंग मछली, हड्डी के तेल तथा डामर में प्राप्य हैं।

बनाने की सामान्य विधियाँ—(१) हॉफ़मैन विधि के अनुसार ऐल्किल हैलाइड को ऐल्कोहलिक अमोनिया के साथ गरम करने से चारों प्रकार के ऐमिन बनते हैं, जो (क) प्रभाजक आसवन तथा एथिल आक्सैलेट (हॉफ़मैन विधि) या (ख) बेंज़ीन सल्फ़ोनिल क्लोराइड (हिंसबर्ग विधि) से पृथक् किए जाते हैं। ऐनिलीन से द्वितीयक तथा त्रितीयक ऐमिन बनते हैं। (२) नाइट्रो यौगिक के अवकरण से, (३) ऐल्कोहल या फ़ीनोल को जस्ता क्लोराइड तथा अमोनिया के साथ लगभग ३००° सें० तक गरम करने से, (४) सायनाइड के अवकरण से, (५) आइसो-सायनाइड के जलविश्लेषण से, (६) नाइट्रोसो यौगिक या आक्सीम के अवकरण से, (७) ऐमाइड के अवकरण से, (८) श्मिट (Schmidt) विधि में कार्बोक्सिलिक अम्ल पर हाइड्रैज़ोइक अम्ल की क्रिया से, (९) ऐमाइड पर ब्रोमीन तथा क्षार की क्रिया से (हॉफ़मैन अभिक्रिया), (१०) सौरभिक ऐज़ो या हाइड्रैज़ो यौगिक के अवकरण से, (११) एस्टर पर कर्टियस अभिक्रिया से, (१२) आइसो सायनेट पर क्षार की क्रिया से तथा (१३) ऐमिनो अम्ल का बेरियम हाइड्राक्साइड के साथ आसवन करने से **प्राथमिक ऐमिन** बनते हैं। **द्वितीयक ऐमिन** आइसो सायनाइड के अवकरण से तथा **त्रितीयक** मिश्रित ऐल्किल ऐरिल ऐमिन के नाइट्रोसो यौगिक पर क्षार की क्रिया से भी बनते हैं। फ़ार्मैल्डीहाइड तथा ऐमोनियम क्लोराइड को १०४° सें० पर गरम करने से मेथिल ऐमिन तथा १६०° सें० तक गरम करने से ट्राइमेथिल ऐमिन प्राप्त होते हैं।

सामान्य गुण—निम्नवसीय ऐमिन वाष्पशील, ज्वलनशील, मत्स्यगंध सी महँकनेवाली गैस अथवा निम्न क्वथनांकवाले तरल, जल में विलेय तथा तीव्र क्षारीय हैं। ठोस उच्च ऐमिन जल में अविलेय तथा गंधहीन हैं। सौरभिक ऐमिनों में बेंज़िल ऐमिन के गुण उच्च वसीय ऐमिन जैसे हैं, किंतु अन्य अल्प क्षारीय हैं तथा ट्राइफ़ेनिल ऐमिन उदासीन है।

ये HCl के साथ हाइड्रोक्लोराइड, पिक्रिक अम्ल से पिक्रेट, प्लैटिनम तथा गोल्ड क्लोराइड के साथ क्रमशः द्विलवण क्लोरोप्लैटिनेट तथा ऑरिक्लोराइड, ऐल्किल हैलाइड के साथ चतुर्थक लवण (विशेषकर त्रितीयक) बनाते हैं। चतुर्थक ऐमोनियम लवण सजल Ag_2O के साथ चतुर्थक ऐमोनियम हाइड्रोक्साइड देते हैं जो गरम करने पर त्रितीयक ऐमिन में विघटित हो जाते हैं। टेट्राएथिल ऐमोनियम आयोडाइड के —७०° सें० पर विद्युद्विश्लेषण से स्वतंत्रमूलक $(C_2H_5)_4N$ द्रव अमोनिया में नीले विलयन के रूप में प्राप्त हुआ है। नाइट्रस अम्ल से प्राथमिक ऐमिन ऐल्कोहल बनाते हैं, किंतु मेथिल ऐमिन अधिकांश में मेथिल नाइट्राइट बनाता है तथा क्रिया जटिल है। द्वितीयक ऐमिन नाइट्रोसो यौगिक तथा त्रितीयक केवल नाइट्राइट बनाते हैं। द्वितीयक ऐमिन को HCl के साथ गरम करने पर द्वितीयक ऐमिन हाइड्रोक्लोराइड बनता है तथा H_2SO_4 और फ़ीनोल के साथ लीबरमैन अभिक्रिया होती है।

सौरभिक प्राकृतिक ऐमिन नाइट्रस अम्ल से डायज़ोनियम लवण बनाते हैं, जो जल, ऐल्कोहल, क्यूप्रस क्लोराइड, क्यूप्रस ब्रोमाइड, क्यूप्रस सायनाइड, पोटैसियम आयोडाइड तथा स्टैनस क्लोराइड की क्रिया से क्रमशः फ़ीनोल, बेनज़ीन, क्लोरोबेनज़ीन, ब्रोमोबेनज़ीन. बेंज़ोनाइट्राइल, आयडो बेनज़ीन तथा फेनिल हाइड्रेज़ीन देते हैं। ये फ़ीनोल तथा नैफ्थोल के साथ क्षारीय विलयन में तथा ऐमिन के साथ अम्लीय विलयन में रंग (डाई) बनाते हैं। ट्राइफ़ेनिल ऐमीन पर नाइट्रस अम्ल की क्रिया नहीं होती, किंतु डाइमेथिल ऐनिलीन पैरानाइट्रोसो यौगिक बनाता है जो कास्टिक सोडा के जलीय विलयन से डाइमेथिल ऐमिन तथा फ़ीनोल देता है।

क्लोरोफ़ार्म तथा कास्टिक पोटाश की क्रिया से केवल प्राथमिक ऐमिन आइसो-सायनाइड (कार्बील ऐमिन) देते हैं। वसीय प्राथमिक तथा द्वितीयक ऐमिन ऐल्कोहल में कार्बन डाइ सल्फ़ाइड के साथ ऐल्किल डाइ थायोकार्बामिक अम्ल बनाते हैं, जिनमें प्राथमिक यौगिक मर्क्यूरिक क्लोराइड के साथ विघटन से तीव्र गंधमय ऐल्किल आइसोथायोसायनेट (मस्टर्ड तेल) बनाता है। त्रितीयक ऐमिन क्रिया नहीं करता है। सौरभिक प्राथमिक ऐमिन सममित डाइएरिल थायोयूरिआ बनाते हैं।

सं० ग्रं०—एन० वी० सिज़विक, टी० डब्ल्यू० जे० टेलर ऐंड डब्ल्यू० बेकर : दि ऑर्गेनिक केमिस्ट्री ऑव नाइट्रोजन (१९३७)।

(पृ० ना० भा०)

ऐम्स्टरडैम का पूर्व नाम ऐम्सटेलरेडैम (ऐम्सटेल नदी का बाँध) था। यह हॉलैंड (नीदरलैंड्स) का प्रमुख नगर है तथा हॉलैंड के उत्तरी प्रदेश में ज़ुइडर ज़ी नामक समुद्री खाड़ी की एक बढ़ी हुई शाखा के दक्षिण भाग पर अ० ५२° २२' उ० तथा दे० ४° ५३' पू० पर स्थित है। जनसंख्या सन् १९७० ई० में ८,३१,४६३ थी। नगर अर्धवृत्ताकार है। इस अर्धवृत्त के भीतर चार नहरें—प्रिसेन, काइज़र, हेरेन तथा ज़िगल हैं। ये आपस में समांतर तथा बहुकोणिक चंद्राकार रूप में फैली हुई हैं; छोटी छोटी अन्य सीधी नहरें नगर को प्रत्येक दिशा में काटती हैं। इस प्रकार नगर ९० द्वीपों में विभाजित हो गया है, जिनपर ३०० पुल बने हुए हैं। नगर का भाग पहले दलदली भूमि के रूप में था, इसलिये सभी भवन स्तंभों पर टिके हुए हैं जो १४ से ६० फुट तक दलदली भूमि के नीचे पृथ्वी की दृढ़ परत तक धँसाए गए हैं। १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह नगर मछुओं की बस्ती था। इसमें एक छोटा सा दुर्ग था जिसमें ऐम्सटेल अधिपति निवास करते थे।

सन् १९४० ई० में, द्वितीय महायुद्ध के समय, इस नगर को यथेष्ट क्षति उठानी पड़ी थी। नगर का केंद्रबिंदु सबसे भीतरी चंद्राकार नहर तथा विशाल वर्गाकार बाँध के बीच है। यहीं १४वीं शताब्दी में ऐम्स्टरडैम नगर बसा था। नगर के जीवन का केंद्र बाँध ही है। यहाँ एक विशाल महल है जो १३,६५९ स्तंभों पर खड़ा किया गया है तथा उसपर १८२ फुट ऊँचा बुर्ज है।

बंदरगाह तथा ऐम्सटेल के पुल पर से देखने पर नगर का दृश्य बड़ा ही रमणीय दिखाई पड़ता है। गिरजाघरों की मीनारें एवं छत्र तथा नावों के मस्तूलों का जमघट देखते ही बनता है। पुराने बाँध को ऊँचा तथा चौरस कर दिया गया है, जिसपर सुंदर बगीचों तथा वृक्षों की छटा देखने योग्य है। बहुत समय से नगर समुद्र से संबंधित रहने के कारण बहुत प्रसिद्ध हो गया है और साथ ही इसको बड़े बड़े सामुद्रिकों, व्यापारियों तथा अन्वेषकों का जन्मस्थान होने का भी सौभाग्य प्राप्त है। यहाँ बड़े बड़े जहाजों के

ठहरने, माल उतारने चढ़ाने तथा रखने की उत्तम व्यवस्था है। संसार की बड़ी बड़ी जहाजी कंपनियों के मुख्य केंद्र यहीं स्थित हैं।
(श्या० सुं० श०)

ऐरागॉन आइबीरियन प्रायद्वीप का एक प्राचीन राज्य है, जिसमें आधुनिक स्पेन के वेस्का तेरवेल तथा जारगोज़ा प्रदेश आते हैं। इस प्रदेश में एव्रो तथा उसकी सहायक नदियाँ बहती हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी भाग पर्वतीय हैं और जलवायु स्थान की ऊँचाई के हिसाब से स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न प्रकार की है। मैदान एवं घाटी की जलवायु प्रायः नम रहती है तथा साधारणतः ऊँचाई पर स्थित पर्वतों की ढालों पर जलवायु समशीतोष्ण है। गेहूँ, मकई इत्यादि ऊँचे भागों पर तथा जैतून एवं अंगूर को कृषि गर्म घाटी में होती है। तेरवेल में कुछ मात्रा में ताँवा, सीसा, नमक तथा गंधक खदानों से निकाले जाते हैं। उद्योगधंधों में यह प्रदेश पिछड़ा हुआ है तथा यहाँ कृषि भी पुराने ढंग से ही की जाती है। प्रदेश की जनसंख्या सन् १९७० ई० में ११,७३,७८० थी। जारगोज़ा मुख्य नगर (जनसंख्या सन् १९६८ ई० में ४,३९,४५१) है। ऐरागॉन पाँचवीं शताब्दी में रोमन राज्य का एक भाग था तथा आठवीं शताब्दी में मूरों के अधीन था।
(श्या० सुं० श०)

ऐरागुआ प्रजातंत्र वेनिज़्वेला के छोटे राज्यों में से एक है। इसमें नौ जिले—गुजुआल, गिसरडोट, मारिनो, रिकोर्त, रोसियो, सान कैसियोनिरो, सान सेवास्तिएँ, उर्दनिता तथा जामोरा संमिलित हैं। यह प्रदेश वेनिज़्वेला की कार्डिलेरा श्रेणियों के मध्य में स्थित एक उपजाऊ तथा स्वास्थ्यवर्धक घाटी है। इसकी उत्तरी सीमा पर कैरीबियन सागर, पूर्वी सीमा पर मिरांडा राज्य, दक्षिण में ग्वारिको तथा पश्चिम में काराबोबो स्थित है। घाटी के ऊँचे भागों की जलवायु शीतोष्ण है। औसत वार्षिक तापक्रम ७४° से ८०° फा० तक रहता है। यहाँ की राजधानी माराकाइ है, जिसकी जनसंख्या सन् १९७१ ई० में २,०९,१७७ थी। समुद्र से १,५०० फुट की ऊँचाई पर, ऐरागुआ की उपजाऊ घाटी में इसकी स्थापना फ्रांसिस्को लोरेटो द्वारा सन् १५९३ ई० में की गई थी। यह काराकास से दक्षिण-पश्चिम ७७ मील पर है तथा एक सुंदर राजमार्ग द्वारा संबंधित है। ला विक्टोरिया, बीला द कुरा तथा कागुआ नामक अन्य नगरों से भी यह राजमार्गों द्वारा संबंधित है। मध्य में बहनेवाली अन्य नदियों में ग्वारिको, ऐरागुआ, टिज्नाडोस तथा चिरका मुख्य हैं। प्रथमोक्त तीन नदियाँ ओरीनिको की सहायक हैं, तथा अंतिम चिरका वालेनशिया नामक विशाल झील में गिरती है। राज्य की उपज में कहवा, चीनी, कोको, मटर, अनाज तथा मक्खन प्रमुख हैं। संपूर्ण प्रदेश को पार करनेवाले एक नए राजमार्ग का निर्माण सन् १९४० ई० में किया गया, जिसके द्वारा प्रदेश की उपज बाहर भेजी जाती है। जनसंख्या सन् १९७१ ई० में ४,४४,३३० थी।
(श्या० सुं० श०)

ऐरागुए अथवा ऐरागुइया, ब्राज़ील में बहनेवाली एक नदी है जो टोकांटिस की प्रमुख शाखा है। इसका उद्गम स्थल सेयरा दो कयापो है, जहाँ यह रीयो ग्रैंड के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर से पूर्व की ओर बहती हुई साओ जोआओ दो ऐरागुया, अथवा साओ जोआओ दुआस बारास नामक स्थान पर यह टोकांटिस से मिल जाती है। इसका ऊपरी भाग गोयाज तथा माटो ग्रोसो की सीमा बनाता है। नदी लगभग १३° २०′ द० अ० पर दो भागों में विभाजित होकर एक बड़ा द्वीप, सांटो एना अथवा बनानाल बनाती है; फिर कुछ आगे बढ़कर १०° ३०′ द० अ० पर ये दोनों भाग मिल जाते हैं।

यह नदी १,०८० मी० तक बहती है। इसके कुछ भाग छोटे जहाजों, स्टीमरों के यातायात योग्य हैं, किंतु सांटो एना द्वीप के नीचे झरनों एवं नदी में उभरी हुई चट्टानों के कारण यह यातायात के अयोग्य है। इस नदी को खोज निकालने का श्रेय हेनरी कोनड्रो (१८९७) को है।
(श्या० सुं० श०)

ऐरावत इंद्र का हाथी। समुद्रमंथन से प्राप्त १४ रत्नों में ऐरावत भी था। इसे शुक्लवर्ण और चार दाँतोंवाला बताया गया है। रत्नों के बँटवारे के समय इंद्र ने उक्त दिव्यगुणयुक्त हाथी को अपनी सवारी के लिये ले लिया था। इसलिये इसका इंद्रहस्ति अथवा इंद्रकुंजर नाम पड़ा। इसके अन्य नाम अभ्रमातंग, ऐरावण, अभ्रभूवल्लभ, श्वेतहस्ति, मल्लनाग, हस्तिमल्ल, सदादान, सुदामा, श्वेतकुंजर, गजाग्रणी तथा नागमल्ल हैं।

धृतराष्ट्र नामक नाग का पैतृक नाम भी ऐरावत था। कद्रुपुत्र नागों को भी ऐरावत नाम से पुकारा गया है। 'इरा' का अर्थ जल है, अतः इरावत (समुद्र) से उत्पन्न हाथी को ऐरावत नाम दिया गया है और परवर्ती भारतीय वाङ्मय में ऐरावत नाग (नाग के सर्प और हाथी दोनों अर्थ होते हैं) का संबंध इंद्र के हाथी ऐरावत से जोड़ लिया गया होगा।
(कै० चं० श०)

ऐरिज़ोना संयुक्त राज्य, अमरीका का एक प्रमुख राज्य है। इसका क्षेत्रफल १,१३,९०९ वर्गमील है। इसके उत्तर में ऊटा, दक्षिण में मेक्सिको, पूर्व में न्यू मेक्सिको और पश्चिम में कॉलोरैडो नदी है। इसके दो प्राकृतिक विभाग हैं : (१) कॉलोरैडो की उपत्यका, (२) दक्षिण का पर्वत और घाटी का भाग। विलसन पर्वत और सैन फ़्रांसिस्को नदी को एक रेखा से मिलावें तो उसके उत्तर में कॉलोरैडो उपत्यका और दक्षिण के पर्वत तथा घाटी के भाग पड़ेंगे। कॉलोरैडो उपत्यका प्रायः चट्टानों के संक्षितिज स्तरों का क्षेत्र है। इनमें गहरे प्रपाती खड्ड (कैन्यन) मिलते है जिनमें सबसे भव्य कॉलोरैडो नदी का प्रपाती खड्ड है। इसकी गहराई कहीं कहीं एक मील से भी अधिक है। सैन फ़्रांसिस्को उपत्यका का एक भाग लावा और ज्वालामुखी के शंकुओं से बना हुआ है। सैन फ़्रांसिस्को पर्वत की ऊँचाई १२,७०० फुट है। होलब्रुक के दक्षिण पूर्व के भूभाग में कई ज्वालामुखीय आकृतियाँ मिलती हैं। अन्य क्षेत्रों में कार्बनप्रद, रक्ताश्म, महासरट और खटीयुत युगों की चट्टानें उभरी हुई हैं। सुदीर्घ कगार (एस्कार्पमेंट) तो यहाँ देखते ही बनता है। दूसरे प्राकृतिक विभाग में दक्षिण पश्चिम में पर्वत बहुत ही कम हैं और जमीन भी कुछ नीची है जिसे सोनोरा की मरुभूमि कहते हैं।

जलवायु और वनस्पति—कॉलोरैडो नदी के दक्षिण-पूर्व में ऊँची उपत्यका पर २०″ से भी अधिक वर्षा होती है। पश्चिम में राज्य के बृहत् खंड में १०″ से कम और सुदूर दक्षिण-पश्चिम में ५″ से भी कम वर्षा होती है। ऊँची उपत्यका के पर्वतों पर वर्ष में २३० दिनों से भी अधिक हिमवृष्टि होती है। अन्य क्षेत्रों में इसका कुछ भी अनुभव नहीं होता है। दक्षिण में वर्षा का कोई क्रम नहीं है, परंतु कुछ भागों में गर्मी में अधिक वर्षा होती है। दक्षिण-पश्चिम के बृहत् भाग में ८०° फा० से भी अधिक तापमान रहता है। ऊँचे भाग में औसत ग्रीष्मकालीन तापमान ६५° फा० होता है। जाड़े में दक्षिण-पश्चिम में तापमान ५०° फा० से भी अधिक, परंतु उत्तरी पर्वतीय इलाके में ३०° फा० से भी कम रहता है। शुष्क दक्षिण-पश्चिमी भाग में कँटीली झाड़ियाँ और मरुस्थलीय घास के मैदान मिलते हैं। इस भाग में कैक्टस, चोल्ला और झड़बेर, उपत्यका में पाइनोन तथा जुनीपर और पश्चिमी भाग में पीत पाइन के वृक्ष मिलते हैं, जिनसे प्रसिद्ध; व्यावसायिक तथा इमारती लकड़ियाँ उपलब्ध होती हैं।

कृषि—राज्य के बहुत थोड़े भाग में खेती होती है। चरागाह के बृहत् क्षेत्र मिलते हैं। गिरिपीठ भाग में और ३,००० से ६,००० फुट की ऊँचाई पर मूल्यवान् चरागाह मिलते हैं। ऊँचे भूभाग में ग्रीष्मकालीन चरागाह हैं। पशुओं में गाय, बैल, भैंस आदि की अपेक्षा भेड़ें कम पाली जाती हैं। भेड़ों की संख्या मध्यभाग में अधिक है।

खेतीवाली भूमि कुएँ या नदियों से सींची जाती है। ऐसे बृहत् क्षेत्र सॉल्ट और गीला नदियों की घाटी में हैं। ऐसी भूमि पर अल्फ़ा अल्फ़ा पैदा घास कर दुग्धशालाएँ चलाई जाती हैं। कपास, यवनाल (सोरघम), मकई, और गेहूँ आदि अन्न उपजाए जाते हैं। संतरे और अंगूर के उद्यान भी मिलते हैं।

खानों से ताँबा, सीसा, जस्ता, चाँदी और सोना निकाले जाते हैं। ये खनिज द्रव्य विस्बी, ग्लोब, मियामी, जेरोम, मोरेंकी, मेटकाफ़ जिलों में मिलते हैं। मैमोथ में मालिब्डेनम पाया जाता है। नेवादा की सीमा पर कॉलोरैडो नदी पर बोल्डर बाँध बनाकर जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। इससे युद्ध के सामान बनाने के कारखानों का विकास हुआ है।

सन् १९७० ई० में जनसंख्या १७,७२,१६१ थी। आबादी में गोरे अमरीकन और मेक्सिकन हैं। इस राज्य की राजधानी फ़ीनिक्स है। सन् १९७० ई० में इस नगर की पूरी आबादी ५,८१,५६२ थी। टेक्सैन दूसरा प्रसिद्ध नगर है। (जनसंख्या २,६२,९३३—सन् १९७० में)।

ताँबा गलाना और साफ करना प्रधान औद्योगिक धंधा है। इमारती लकड़ियों का भी कारबार होता है। कपास के बिनौले से कई प्रकार की चीजें तैयार की जाती हैं। मांस डब्बों में बंद कर बाहर भेजा जाता है। नवाहो और मौकी इंडियन लोग ऊनी कंबल बुनते हैं और पिमा जाति के लोग टोकरियाँ बनाते हैं।

संक्षिप्त इतिहास—सन् १८४६–४८ ई० की लड़ाई में यह मेक्सिको से छीन लिया गया और न्यू मेक्सिको राज्य में मिला दिया गया था। सन् १८६२ ई० में सोने की खान का पता चलने पर इसे अलग राज्य बनाने के आंदोलन ने जोर पकड़ा। सन् १९१२ ई० में यह संयुक्त राज्य, अमरीका का ४८वाँ राज्य बना। (श्या० सुं० श०)

ऐरेख्थियम् एक प्राचीन मंदिर जो एथेंस नगर के श्रेष्ठ भाग अक्रोपोलिस् में स्थित है। इसका निर्माण ऐरेख्थियस् नामक राजा द्वारा आरंभ किया गया था, जिसके निमित्त इसका एक भाग समर्पित भी था। निर्माण कार्य का आरंभ ई० पू० ४३१ अथवा ४२१ में हुआ था तथा ई० पू० ४०७ तक यह पूर्णतया निर्मित हो चुका था। पर इसके थोड़े ही समय पश्चात् यह जलकर नष्ट हो गया। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के प्रथम दशक में इसका सविस्तार पुनरुद्धार किया गया। ईसाई धर्मप्रचार हो जाने पर मध्यकाल में इसका उपयोग गिरजाघर के रूप में होने लगा। तत्पश्चात् जब एथेंस पर तुर्कों का अधिकार हुआ, यह सैनिक शासक का हरम बन गया। सन् १८२७ में अक्रोपोलिस् के घेरे के समय इसे बहुत क्षति पहुँची। १८५२ ई० में आँधी से इसकी पश्चिमी दीवार गिर पड़ी। २०वीं शताब्दी में इस मंदिर का पुनः पूर्णतया अत्यंत सावधानी से जीर्णोद्धार किया गया है। इतना ही नहीं, इसके एक एक प्रस्तरखंड का अध्ययन किया जा चुका है। यह ग्रीक-यवन-जगत् का सबसे महत्वपूर्ण और सुंदर मंदिर है। इसमें देवी अथेना और पोसेइदन् (जलदेवता) के पूजास्थल भी थे।

सं०ग्रं०—स्टीवैन्स ऐंड पैटन : दि ऐरेख्थियम्, १९२७।

(भो० ना० श०)

ऐरैन स्काटलैंड का सबसे बड़ा द्वीपसमूह है जो 'फ़र्थ ऑव क्लाइड' के उत्तर में है। इसकी कुल लंबाई 'कुक ऑव ऐरैन' से बेन्नन तक २० मील है तथा अधिकतम चौड़ाई 'दुमादून प्वाइंट' से 'किंग्स क्रॉस' तक ११ मील है। इसका क्षेत्रफल १६५ वर्ग मील तथा आबादी १९७० में ७,९०१ थी। ऐरैन ऊबड़ खाबड़ किंतु देखने में सुंदर द्वीपसमूह है। यहाँ की भूगर्भिक बनावट बहुत जटिल है। सबसे अधिक ऊँचाई उत्तर में है। यहाँ तृतीयक कल्पयुगीन नितुन्न (इंट्रूसिव) ग्रैनाइट मिलते हैं। द्वीपसमूह में चारों तरफ एक तटीय सड़क है जो ५५ मील लंबी है। यह द्वीपसमूह १२६३ ई० के पहले नारवे के अधीन था। दक्षिण-पूर्वी तट के दियम बंदरगाह से एक मील दूर पर प्लाडा द्वीप है। यहाँ पर 'लाइट हाउस' तथा तार का केंद्र है जहाँ से क्लाइड में जहाजों के आने के पहले ग्लासगो तथा ग्रीन ओक को सूचना दे दी जाती है। (नृ० कु० सिं०)

ऐल द्र० 'पुरूरवा'।

ऐलकालॉयड शब्द का प्रयोग प्रारंभ से ही नाइट्रोजनवाले कार्बनिक क्षारीय यौगिकों के लिये किया गया था, क्योंकि उनके गुण क्षारों से मिलते जुलते हैं। आजकल ऐलकालायड शब्द का प्रयोग वनस्पतियों तथा प्राणिजगत् में पाए जानेवाले जटिल-कार्बनिक-क्षारीय-पदार्थों के लिये होता है जो पोषकीय दृष्टि से सक्रिय होते हैं। साधारण ऐमिन, ऐमिनो अम्ल तथा प्यूरीन यौगिक इस समुदाय में नहीं आते। ऐलकालायडों का चिकित्साशास्त्र में बड़ा महत्व है। अनेक वनस्पतियों के निचोड़, जो ऐलकालायड हैं, ओषधियों के रूप में आदिकाल से प्रयुक्त होते रहे हैं और इनमें से कुछ का प्रयोग विष के रूप में भी होता रहा है।

चार्ल्स डेरोस्ने ने सन् १८०३ ई० में अफीम के निचोड़ को पानी से तनु करके एक मणिभीय पदार्थ प्राप्त किया, जिसको पृथक् करने तथा शुद्ध करने पर एक यौगिक मिला जो संभवतः पहला ऐलकालॉयड नारकोटीन था। क्षारीय विलयन के प्रयोग से उसने इस प्राप्त पदार्थ की मात्रा बढ़ाने का प्रयत्न किया, किंतु इस प्रयास में उसे एक दूसरा ऐलकालॉयड प्राप्त हुआ, जो मारफ़ीन था। लगभग उसी समय ए० सेगियम ने भी इसी विधि से मारफ़ीन बनाया। परंतु किसी विशेष ऐलकालायड को शुद्ध अवस्था में प्राप्त करके उसके धर्मगुणों को ठीक से प्रस्तुत करने का श्रेय एफ़० डब्ल्यू० ए० सर्टुर्नर को है। उसने सन् १८१६ ई० में एक नवीन कार्बनिक लवण बनानेवाले क्षारीय पदार्थ मारफीन की प्राप्ति की जिससे उसने अनेक लवण बनाए और उसकी पोषकीय अभिक्रिया भी प्रदर्शित की। इसी बीच सन् १८१० ई० में बी० ए० गोम्स ने सिनकोना के ऐलकोहलीय निचोड़ पर क्षारीय विलयन से अभिक्रिया करके एक अवक्षेप प्राप्त किया, जिसे उसने ऐलकोहल द्वारा मणिभीकृत करके सिनकोनीन प्राप्त किया। सन् १८१७ ई० तथा १८४० ई० के मध्य प्रायः समस्त महत्वपूर्ण ऐलकालॉयड, जैसे वेरट्रीन, स्ट्रिकनीन, पाइपरीन, क्वीनीन, ऐट्रोपीन, कोडीन आदि प्राप्त कर लिए गए।

अधिकांश ऐलकालायडों के नाम उन वनस्पतियों के आधार पर रखे गए हैं जिनसे वे प्राप्त किए जाते हैं। कुछ के नाम उनके द्वारा होनेवाले पोषकीय प्रभावों के अनुसार रखे गए हैं, जैसे मारफ़ीन का नाम स्वप्नों के ग्रीक देवता मारफ़िअस के आधार पर रखा गया है। कुछ के नाम प्रसिद्ध रसायनज्ञों के नाम पर रखे गए, जैसे पेलीटरीन का नाम फ्रांसीसी रसायनज्ञ पेलीटियर के नाम पर रखा गया है। ऐलकालॉयड वनस्पतियों के विभिन्न भागों में, जैसे पत्ती, छाल, जड़, आदि में, पाए जाते हैं। ये क्षारीय होते हैं, अतः इनमें से अधिकांश कुछ कार्बनिक अम्लों, जैसे ऑक्सैलिक, सक्सीनिक, साइट्रिक, मैलिक तथा टैनिक आदि के साथ लवण रूप में पाए जाते हैं।

साधारणतया ऐलकालॉयड मणिभीय रूप में होते हैं और इनमें कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन तत्व पाए जाते हैं। परंतु निकोटीन तथा कोनीन जैसे कुछ ऐलकालॉयडों में आक्सिजन नहीं होता और वे अधिकतर द्रव रूप में रहते हैं। ऐलकालॉयडों में नाइट्रोजनवाले विषमचक्रीय कुछ यौगिक, जैसे पिरीडीन, पायरोल, क्वीनोलीन, आइसो-क्वीनोलीन, प्रमुख रूप से विद्यमान रहते हैं और अन्य मूलक तत्व या कार्बन शृंखलाएँ इनके साथ संयुक्त रहती हैं। ये जल में अधिकतर अविलेय होते हैं, परंतु ऐलकोहेल, ईथर या क्लोरोफ़ॉर्म में विलेय होते हैं। अधिकांश ऐलकालॉयड प्रकाशसक्रिय होते हैं। ये कार्बनिक तथा अकार्बनिक अम्लों के साथ लवण बनाते हैं। प्रायः अधिक मात्रा में ऐलकालॉयडों का प्रभाव हानिकारक होता है, परंतु कम मात्रा में वे ओषधियों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनका स्वाद कड़वा होता है।

वनस्पतियों से ऐलकालॉयड निकालने के लिये उनको हाइड्रोक्लोरिक या सल्फ़्यूरिक अम्ल से, या अम्लीय ऐथिल ऐलकोहल के साथ पाचित किया जाता है। इस कार्य के लिये एक विशेष मिश्रण का भी प्रयोग होता है, जिसमें ईथर, एथिल ऐलकोहल तथा अमोनिया निश्चित मात्रा में मिले रहते हैं। इस मिश्रण को प्रोलियस द्रव (प्रोलियस फ़्लुइड) कहते हैं।

कुछ अभिकर्मकों के साथ ऐलकालॉयड एक विशेष प्रकार का रंग या अवक्षेप बनाते हैं, जिनके द्वारा ये पहचाने जा सकते हैं। इनमें से प्रमुख ये हैं :

एर्डमान का अभिकर्मक—सांद्र सल्फ़्यूरिक अम्ल जिसमें कुछ नाइट्रिक अम्ल मिला होता है;

फ़ोयड् अभिकर्मक—सांद्र सल्फ़्यूरिक अम्ल में अमोनियम मालिब्डेट का १% विलयन; सांद्र सल्फ़्यूरिक अम्ल में सोडियम मेटावेनेडेट का विलयन;

मेयर अभिकर्मक—मरक्यूरिक क्लोराइड का पोटैसियम आयोडाइड में विलयन;

वैगनर अभिकर्मक—आयोडीन का पोटैसियम आयोडाइड में विलयन;

डेगड्राफ़ अभिकर्मक—पोटैसियम-विसमथ-आयोडाइड का विलयन; तथा

साइबलर अभिकर्मक—क्लोरोप्लैटिनिक, क्लोरो ऑरिक, फ़ासफ़ोटंग्स्टिक या सिलिको-टंग्स्टिक अम्ल का विलयन ।

सं०ग्रं०—टी० ए० टेनरी : प्लांट ऐलकालॉयड ।

(रा० दा० ति०)

ऐलक्विन यूरोपीय मध्ययुगीन शिक्षाशास्त्री। इसके समय में चार्ल्स महान् (७४२–८१४ ई०) का शासन था। चार्ल्स महान् ने समकालीन विद्वानों की सहायता से शिक्षा के विकास की ओर ध्यान दिया। ऐलक्विन चार्ल्स महान् का प्रधान शिक्षा सलाहकार था। चार्ल्स महान् ने ऐलक्विन को इसलिये अपना शिक्षा सलाहकार नियुक्त किया कि उसकी शिक्षा रोमी परंपरा के अनुसार हुई थी। इसके अतिरिक्त ऐलक्विन कवित्व और दरबारी कला में अत्यंत निपुण था। यद्यपि ऐलक्विन में विशेष वुद्धि न थी और न वह प्रतिभाशाली ही था, फिर भी उसने अपनी व्यवहारकुशलता से चार्ल्स महान् को प्रभावित किया। इन्हीं सब कारणों से चार्ल्स महान् ने ऐलक्विन को सन् ७८२ ई० में 'पैलेस स्कूल' का प्रधान नियुक्त किया। इस स्कूल में राजघराने के बालक और बालिकाओं की शिक्षा का अच्छा प्रबंध था। इसमें अभिजात वर्ग के बालकों को भी शिक्षा दी जाती थी। ऐलक्विन ने चार्ल्स महान् के पैलेस स्कूल में कार्य करते हुए शिक्षा द्वारा समकालीन सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहायता पहुँचाई। इस प्रकार ऐलक्विन मध्ययुगीन यूरोपीय शिक्षा के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। (सी० रा० जा०)

ऐलाबामा यह संयुक्त राज्य, अमरीका का दक्षिणी राज्य है जो ३०° १३' उ० अ० तथा ३५° ०' उ० अ० तथा ८४° ५१' प० दे० और ८८ ३१' प० दे० रेखाओं के बीच स्थित 'कपास राज्य' कहलाता है। यह उत्तर में टेनिसी, पूर्व में जार्जिया, दक्षिण में फ़्लोरिडा तथा मेक्सिको की खाड़ी और पश्चिम में मिसिसिपि से घिरा हुआ है। इसका क्षेत्रफल ५१,६०९ वर्ग मील है, जिसमें ५४९ वर्ग मील जल है।

इसके उत्तरी भाग में कंबरलैंड पठार ४०० से १,८०० फुट की ऊँचाई तक फैला हुआ है, जिसके बीच से टेनेसी की सहायक नदियाँ बहती हैं। उत्तर-पूर्व में ऊँचे ढालू पर्वत तथा पश्चिम में नदियों के किनारे की भूमि नीची है। दक्षिणी भाग में लिटिल पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा में ८० मील तक फैला हुआ है। देश के शेष भाग में तटीय मैदान हैं। इसकी नदियाँ पश्चिम में टांबिगी, मध्य-पश्चिमी में ऐलाबामा तथा पूर्व में चेताहुची है। यहाँ की जलवायु शीतोष्ण है। वार्षिक औसत तापक्रम जाड़े में ४६° फा० तथा गर्मी में ७९° फा० रहता है। वर्षा सब स्थानों पर बराबर तथा वर्ष भर में लगभग ५० इंच होती है। यहाँ पर चार प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। समुद्री तट की मिट्टी रेतीली तथा कम उपजाऊ है। इसके उत्तर में प्रेयरीज की मिट्टी काली है, जिसमें केवल कपास बोया जाता है। ब्लैक प्रेयरीज़ तथा टेनेसी बेसिन के बीच विभिन्न उर्वरा शक्तिवाली मिट्टी मिलती है। इसके उत्तर में लाल तथा गहरी चिकनी मिट्टी पाई जाती है।

ऐलाबामा कृषिप्रधान देश है। यहाँ की मुख्य उपज कपास, ज्वार, गेहूँ, आलू, मटर, गन्ना तथा जई है। खनिज पदार्थों में लोहा, कोयला, सोना, चाँदी, सीसा, ताँबा, टिन तथा बाक्साइट मिलते हैं। लोहा तथा इस्पात एवं सूती वस्त्र के उद्योग काफी प्रगति पर हैं। यहाँ पर लकड़ी के सामान तथा जहाज भी बनते हैं। आवागमन के साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। ऐलाबामा नदी में ४०० मील तक जहाज चलाए जा सकते हैं। १९६८ में रेलमार्ग की पूरी लंबाई ४,५७७ मील तथा सड़कों की पूरी लंबाई १९७० में १,०५,९८० मील थी। १९७० में राज्य में कुल ११६ हवाई अड्डे थे। यहाँ की जनसंख्या (१९७०) ३४,४४,१६५ है। यहाँ के मुख्य नगर (जनसंख्या १९७० के जनगणनानुसार) बरमिंघम ३,०६,९१०, मोबिले २,५७,८१६, मांटगोमरी (राजधानी) १,३८,९८५ तथा गैड्सडेन, ६७,६९८ है। (न० ला०)

ऐलेनटाउन संयुक्त राज्य अमरीका में फ़िलाडेल्फ़िया नगर से ५० मील उत्तरोत्तर-पश्चिम में लेहाई नदी के तट पर स्थित लेहाई काउंटी का प्रशासनिक तथा पेंसिलवेनिया राज्य का एक प्रमुख औद्योगिक, व्यापारिक तथा वितरण केंद्र है। यहाँ प्रमुख वायुयान संस्थान तथा क्षेत्रीय रेलों एवं राजमार्गों का संगम है। निकटवर्ती क्षेत्र में लोहा, स्लेट और चूना-पत्थर उपलब्ध हैं, अतः यहाँ लोहा, सीमेंट, जूता, मोजा, बनियाइन, सिगार तथा अन्य उद्योगों के बहुत से कारखाने स्थापित हो गए हैं। १७६२ ई० में पेंसिलवेनिया के न्यायाधीश विलियम ऐलेन ने इसे बसाया था। यह १८६८ ई० में नगर हो गया। जनसंख्या १९७० में १,०९,५२७ थी। (का० ना० सिं०)

ऐल्कोहल वे कार्बनिक पदार्थ हैं जिनमें एक या एक से अधिक हाइड्रॉक्सिल समूह (–OH) रहते हैं। हाइड्रॉक्सिल समूह बेंज़ीन कार्बन से संयुक्त नहीं रहना चाहिए। यदि बेंज़ीन कार्बन के साथ हाइड्रॉक्सिल समूह संयुक्त रहता है तो ऐसे कार्बनिक पदार्थों को 'फ़ीनोल' कहते हैं।

ऐल्कोहल की रासायनिक अभिक्रियाएँ विशेष प्रकार की होती हैं और उनके लाक्षणिक गुण किसी विशेष ऐल्कोहल, जैसे मेथिल ऐल्कोहल, एथिल ऐल्कोहल, ग्लाइकोल, ग्लीसिरोल आदि के लक्षणों से प्रकट होते हैं।

संगठन की दृष्टि से ऐल्कोहल तीन प्रकार के होते है, प्रायमिक, द्वितीयक और तृतीयक। मेथिल ऐल्कोहल CH_3OH और एथिल ऐल्कोहल $CH_3—CH_2OH$, प्रायमिक ऐल्कोहल के उदाहरण हैं। इनमें प्राथमिक समूह–CH_2 OH, रहता है। आइसोप्रोपिल ऐल्कोहल (CH_3CH OH CH_3) द्वितीयक ऐल्कोहल के उदाहरण हैं। इनमें द्वितीयक समूह=CHOH रहता है। ट्राइमेथिल ऐल्कोहल $(CH_3)_3COH$ तृतीयक ऐल्कोहल के उदाहरण हैं। इनमें तृतीयक समूह ≡COH रहता है।

प्राथमिक ऐल्कोहल के उपचयन से ऐल्डीहाइड और कार्बोक्सीलीय अम्ल बनते है जिनमें कार्बन परमाणुओं की संख्या वही रहती है जो ऐल्कोहल में रहती है। द्वितीयक ऐल्कोहल के उपचयन से कीटोन और कार्बोक्सीलीय अम्ल बनते हैं। कीटोन में कार्बन परमाणु की संख्या वही रहती है जो ऐल्कोहल में है परंतु अम्लों में कार्बन परमाणुओं की संख्या घट जाती है। तृतीयक ऐल्कोहल के उपचयन से भी ऐल्डीहाइड, कीटोन और कार्बोक्सीलीय अम्ल प्राप्त होते है, परंतु इन सबमें कार्बन परमाणुओं की संख्या ऐल्कोहल के कार्बन परमाणुओं की संख्या से कम होती है।

तीनों प्रकार के ऐल्कोहलों के अवकरण से तदनुकूल हाइड्रोकार्बन बनते हैं। ऐल्कोहल से जल निकाल लेने पर ईथर, एथिलीन आक्साइड और असंतृप्त हाइड्रोकार्बन बनते है। अम्लों के साथ अभिक्रिया से ऐल्कोहल एस्टर बनते है।

यदि ऐल्कोहल में एक ही हाइड्रॉक्सिल समूह रहे तो ऐसे ऐल्कोहल को मोनो-हाइड्रॉक्सिल अथवा मोनो-हाइड्रिक ऐल्कोहल, दो हाइड्रॉक्सिल समूह हों तो उसे डाइ-हाइड्रॉक्सिल अथवा डाइहाइड्रिक ऐल्कोहल और तीन हाइड्रॉक्सिल समूह हों तो उसे ट्राइ-हाइड्रॉक्सिल अथवा ट्राइहाइड्रिक ऐल्कोहल आदि कहते हैं।

ऐल्कोहल या तो द्रव होते हैं अथवा ठोस। द्रव ऐल्कोहल में विशेष प्रकार की गंध होती है। अणुभार की वृद्धि से गंध कम होती जाती है और कुछ ठोस ऐल्कोहलों में गंध बिलकुल होती ही नहीं।

ऐल्कोहल बड़े उपयोगी पदार्थ हैं। प्रतिदिन व्यवहृत होनेवाली वस्तुओं से लेकर अनेक उद्योग धंधों तक में इनका व्यवहार होता है। मेथिल और एथिल ऐल्कोहल उत्कृष्ट कोटि के विलायक हैं। अनेक प्रकार

के प्लास्टिकों के निर्माण में मेथिल ऐलकोहल का उपयोग होता है। सब सुराओं में एथिल ऐलकोहल रहता है। अनेक ओषधियों का एथिल ऐलकोहल एक अत्यावश्यक अंग है। ऐलकोहल से कृत्रिम रबर भी तैयार होता है।

सं०ग्रं०—आइ० मेलन : इंडस्ट्रियल सॉल्वेंट्स (१९३९)।

(फू० स० व०)

ऐल्बैटरास समुद्री पक्षी है। इसकी लगभग एक दर्जन जातियाँ हैं। सभी प्रासिलेरीफ़ार्मिस गण में गिनी जाती हैं। ये पक्षी बड़े होते हैं। शरीर स्थूल, गरदन लंबी, पूँछ छोटी और टाँगें भी छोटी होती हैं। पैर की अँगुलियाँ बतखों की तरह झिल्ली द्वारा जुड़ी होती हैं। चोंच मोटी होती है। अन्य पक्षियों की चोंच की तुलना में इसमें यह विशेषता होती है कि इसपर कई एक पट्टिकाएँ चढ़ी रहती हैं जो संरचना मे सींग के समान होती हैं। नथुने चोंच के ऊपरी भाग में अगल बगल रहते हैं। ऐलबैटरासों के पंख बहुत लंबे और अपेक्षाकृत सँकरे होते हैं। एक पंख के छोर से दूसरे पंख के छोर तक की नाप १० से १२ फुट तक होती है। ये पक्षी अंडा देने तथा सेने और बच्चा पालने के समयों का छोड़ विरले अवसरों पर ही भूमि पर आते हैं। ये मसिक्षेपी (कटल) मत्स्य तथा अन्य समुद्री जीव खाया करते हैं।

दक्षिणी समुद्रों तथा उत्तर प्रशांत महासागर में कुल मिलाकर ऐलबैटरासों की १३ जातियाँ हैं। ये पक्षी बहुधा जहाजों के साथ साथ मीलों तक उड़ते चले जाते हैं। नाविक उन्हें सुगमता से पकड़ सकते हैं। ये विरले ही अवसर पर कोई ध्वनि करते हैं। समुद्री टापुओं पर ये झुंडों में रहकर बच्चा पालते हैं। एक वर्ष में मादा पक्षी एक ही अंडा देती है। ये अंडे श्वेत होते हैं और इनके चौड़े सिर पर कुछ ललछौंह धब्बे होते हैं। साधारणत: सितंबर से दिसंबर तक अंडा सेने और बच्चा पालने की ऋतु रहती है। कुछ मादा पक्षी केवल प्रत्येक दूसरे वर्ष अंडा देती हैं। छोटे बच्चे माता पिता के मुख द्वारा निकाले गए अधपचे आहार पर पोषित होते हैं।

(कैं० जा० डॉ०)

ऐल्ब्युमिनमेह एक रोग है, जिसमें मूत्र में ऐलब्युमिन उपस्थित मिलता है। मूत्र को गरम करके उसमें नाइट्रिक या सल्फ़ोसैलिसिलिक अम्ल मिलाकर ऐलब्युमिन की जाँच की जाती है। बेस जोंस नामक प्रोटीनों की उपस्थिति में ५५° सें० तक गरम करने पर गँदलापन आने लगता है। किंतु ८०° सें० तक उसे गरम करने पर गँदलापन जाता रहता है। इस गँदलेपन को मापा जा सकता है और कैलोरीमापक विधि से उसकी मात्रा भी ज्ञात की जा सकती है। निम्नलिखित रोगों में ऐलब्युमिन मूत्र में पाया जाता है :

१—वृक्कार्ति, जिसमें वृक्क में शोथ हो जाता है।
२—गोणिकार्ति, जिसमे शोथ वृक्क-गोणिका में परिमित रहता है।
३—मूत्राशयार्ति, जिसमें मूत्राशय में शोथ होता है।
४—मूत्रमार्गार्ति, जिसमें मूत्रमार्ग की भित्तियाँ शोथयुक्त हो जाती हैं।
५—वृक्क का अमिलाइड रोग।
६—हृद्रोग, ज्वर, गर्भावस्था की रक्तविपाक्तता, मधुमेह और उच्च-रक्त-दाब।

प्राय: वृक्कार्ति तथा अमिलाइड रोगों में ऐलब्युमिन की मात्रा अधिक होती है, जिससे रक्त में प्रोटीन की कमी हो जाती है। इसके कारण शरीर पर शोथ हो जाता है तथा रक्त की रसाकर्षण-दाब भी कम हो जाती है। ऐलब्युमिनमेह स्वयं कोई रोग नहीं है; वह उपर्युक्त रोगों का केवल एक लक्षण है।

(स० पा० ग०)

ऐल्यूमिना ऐल्यूमिनियम का आक्साइड है; प्राकृतिक अवस्था में यह कोरंडम, माणिक्य, नीलम, बिल्लौर, पन्ना तथा दूसरे रत्नों के रूप में पाया जाता है। ये रत्न मणिभीय और पारदर्शक होते हैं। अन्य धातुओं के आक्साइडों की उपस्थति के कारण ही ये रत्न रंगीन हो जाते हैं। रत्नों में ये आक्साइड कलिलीय अवस्था में आलंबित रहते हैं। माणिक्य में थोड़ी मात्रा में क्रोमियम का आक्साइड, नीलम में क्रोमियम या लौह का आक्साइड और बिल्लौर में मैंगनीज़ रहता है। वृहत् मात्रा में यह खनिज बौक्साइट के रूप में पाया जाता है, जो ऐल्यूमिनियम का जलीय आक्साइड $Al_2O_3.H_2O$ है।

प्रयोगशाला में या औद्योगिक रूप में निर्माण करने पर ऐल्यूमिना एक श्वेत अघुलनीय चूर्ण के रूप में मिलता है। यह कृत्रिम रत्न, ऐलंडम घरिया (क्रूसिब्ल्) और घर्षक पदार्थ बनाने के काम आता है।

(प्रि० रं० रा०)

ऐल्यूमिनियम श्वेत रंग की एक धातु है। लैटिन भाषा के शब्द ऐल्यूमेन और अंग्रेजी के शब्द ऐलम का अर्थ फिटकरी है। इस फिटकरी में से जो धातु पृथक् की जा सकी, उसका नाम ऐल्यूमिनियम पड़ा। फिटकिरी से तो हमारा परिचय बहुत पुराना है। कांक्षी, तुवरी और सौराष्ट्रज इसके पुराने नाम हैं। फिटकरी वस्तुत: पोटैसियम सलफ़ेट और ऐल्यूमिनियम सलफ़ेट इन दोनों का द्विगुण यौगिक है। सन् १७५४ में मारग्राफ़ (Marggraf) ने यह प्रदर्शित किया कि जिस मिट्टी को ऐल्यूमिना कहा जाता है, वह चूने से भिन्न है। सर हंफ़्री डेवी ने सन् १८०७ ही में ऐल्यूमिना मिट्टी से धातु पृथक् करने का प्रयत्न किया, परंतु सफलता न मिली। सन् १८२५ में अर्स्टेड (Oersted) ने ऐल्यूमिनियम क्लोराइड को पोटैसियम संरस के साथ गरम किया और फिर आसवन करके पारे को उड़ा दिया। ऐसा करने पर जो चूर्ण सा बच रहा उसमें धात्वाभा थी। यही धातु ऐल्यूमिनियम कहलाई। सन् १८४५ में फ़्रेडरिक वोहलर (Frederik Wohler) ने इस धातु के तैयार करने में पोटैसियम धातु का प्रयोग अपचायक के रूप में किया। उसे इस धातु के कुछ छोटे छोटे कण मिले, जिनकी परीक्षा करके उसने बताया कि यह नई धातु बहुत हल्की है (आपेक्षिक घनत्व २.५–२.७) और इसके तार खींचे जा सकते हैं। तदनंतर सोडियम और सोडियम ऐल्यूमिनियम क्लोराइड का प्रयोग करके सन् १८५४ में डेविल (Deville) ने इस धातु की अच्छी मात्रा तैयार की। उस समय नई धातु होने के कारण ऐल्यूमिनियम की गिनती बहुमूल्य धातुओं में की जाती थी और इसका उपयोग आभरणों और अलंकारों में होता था। सन् १८८६ में ओहायो (अमरीका) नगर में चार्ल्स मार्टिन हॉल ने गले हुए क्रायोलाइट में ऐल्यूमिना घोला और उसमें से विद्युद्विश्लेषण विधि द्वारा ऐल्यूमिनियम धातु पृथक् की। यूरोप में भी लगभग इसी वर्ष हेरो (Heroult) ने स्वतंत्र रूप से इसी प्रकार यह धातु तैयार की। यही हॉल-हेरो विधि आजकल इस धातु के उत्पादन में व्यवहृत हो रही है। हलकी और सस्ती होने के कारण ऐल्यूमिनियम और उससे बनी मिश्र धातुओं का प्रचलन तब से बराबर बढ़ता चला जा रहा है।

ऐल्यूमिनियम धातु तैयार करने के लिये दो खनिजों का विशेष उपयोग होता है। एक तो बौक्सॉइट ($Al_2O_3.2H_2O$) और दूसरा क्रायो-

ऐल्यूमिनियम तैयार करने की हॉल द्वारा आविष्कृत विधि
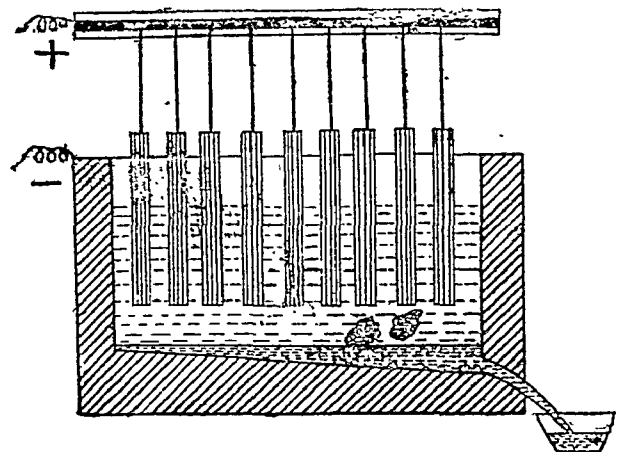
लाइट ($3 NaF. AlF_3$)। बौक्साइट के विस्तृत निक्षेप हमारे देश में राँची, पलामू, जबलपुर, बालाघाट, सेलम, बेलगाम, कोल्हापुर, थाना आदि जिलों में पाए गए हैं। इस देश में इस खनिज की अनुमित मात्रा २.८ करोड़ टन है। सन १९५७ में ६६,०७१ टन (मूल्य ६,०६,००० रुपए) बौक्साइट का व्यापार इस देश में किया गया। सन् १९३८ में समस्त संसार में २,५७,००० मेट्रिक टन ऐल्यूमिनियम धातु तैयार की गई। इस समय भारत में प्रति वर्ष लगभग १,८१,५०० टन ऐल्यूमिनियम का उत्पादन होता है। विद्युद्विश्लेषण विधि से व्यापारिक मात्रा में धातु तैयार करने का सबसे पहला कारखाना पिट्सबर्ग कंपनी ने अमरीका में सन् १८८८ में न्यू केन्सिंग्टन में खोला था। नियाग्रा प्रपातों के निकट यही कंपनी अब 'ऐल्यूमिनियम कंपनी ऑव अमेरिका' नाम से बहुत बड़ा व्यवसाय कर रही हैं।

ऐल्यूमिनियम धातु तैयार करने के निमित्त पहला प्रयत्न यह किया जाता है कि बौक्साइट से शुद्ध ऐल्यूमिना मिले। बौक्साइट के शोधन की एक विधि बायर (Bayer) के नाम पर प्रचलित है। इसमें बौक्साइट को गरम कास्टिक सोडा के विलयन के साथ अभिकृत करके सोडियम ऐल्यूमिनेट बना लेते हैं। इस ऐल्यूमिनेट के विलयन को छान लेते हैं और इसमें से फिर ऐल्यूमिना का अवक्षेपण कर लिया जाता है। (अवक्षेपण के निमित्त विलयन में ऐल्यूमिना ट्राइहाइड्रेट के बीजों का वपन कर दिया जाता है, जिससे सब ऐल्यूमिना अवक्षेपित हो जाता है)।

ऐल्यूमिना से ऐल्यूमिनियम धातु हॉल-हेरो-विधि द्वारा तैयार की जाती है। विद्युद्विश्लेषण के लिये जिस सेल का प्रयोग किया जाता है वह इस्पात का बना एक बड़ा बकस होता है, जिसके भीतर कार्बन का अस्तर लगा रहता है। कार्बन का यह अस्तर कोक, पिच और तारकोल के मिश्रण को तपाकर तैयार किया जाता है। इसी प्रकार कार्बन के धनाग्र भी तैयार किए जाते हैं। ये बहुधा १२-२० इंच लंबे आयताकार होते हैं। ये धनाग्र एक सवाहक दंड (बस बार) से लटकते रहते हैं और इच्छानुसार ऊपर नीचे किए जा सकते है। विद्युत् सेल के भीतर गला हुआ क्रायोलाइट लेते है और विद्युद्वारा इस प्रकार नियंत्रित करते रहते हैं कि उसके प्रवाह की गरमी से ही क्रायोलाइट बराबर गलित अवस्था में बना रहे। विद्युद्विश्लेषण होने पर जो ऐल्यूमिनियम धातु बनती है वह क्रायोलाइट से भारी होती है, अतः सेल में नीचे बैठ जाती हैं। यह धातु ही ऋणाग्र का काम करती है। गली हुई धातु समय समय पर सेल में से बाहर बहा ली जाती है। सेल में बीच बीच में आवश्यकतानुसार और ऐल्यूमिना मिलाते जाते है। क्रायोलाइट के गलनांक को कम करने के लिये इसमें बहुधा थोड़ा सा कैल्सियम फ्लोराइड भी मिला देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि ऐल्यूमिनियम धातु के कारखाने की सफलता सस्ती बिजली के ऊपर निर्भर है। २०,००० से ५०,००० ऐंपीयर तक की धारा का उपयोग व्यापारिक विधियों में किया जाता रहा है।

धातु के गुण—व्यवहार में काम आनेवाली धातु में ९९%—९९.३% ऐल्यूमिनियम होता है। शुद्ध धातु का रंग श्वेत होता है, पर बाजार में बिकनेवाली ऐल्यूमिनियम में कुछ लोह और सिलिकन मिला होने के कारण हलकी सी नीली आभा होती है। धातु के कुछ भौतिक गुण निम्नलिखित सारणी में दिए जाते हैं :

परमाणुभार	२६.९७
आपेक्षिक उष्मा (२०° सें० पर)	०.२१४
आपेक्षिक उष्मा चालकता (कलरी प्रति सें० मी० घन,प्रति डिगरी सें०, प्रति सैकंड, १८° सें० पर)	०.५०४
गलनांक (९९.९७ % शुद्धता)	६५९.८°
क्वथनांक	१८००°
गलन की गुप्त उष्मा	९५.३°
आपेक्षिक घनत्व	२.७०३
गलनांक पर द्रव का घनत्व	२.३८२
विद्युत् प्रतिरोध, २०° सें० पर (माइक्रोम प्रति सें० मी० घन)	२.८४५
विद्युत् रासायनिक तुल्यांक	०.००००९३१६ ग्राम प्रति कूलंब
चुंबकीय प्रवृत्ति, १८° सें० पर	0.65×10^{-6}
परावर्तनता (श्वेत प्रकाश के लिये)	८५%
ठोस होने पर संकोच	६.६%
विद्युदग्र विभव (विलयन में २५° पर)	+ १.६९ वोल्ट

ऐल्यूमिनियम पर साधारण ताप पर ऑक्सिजन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, परंतु यदि धातु के चूर्ण को ४००° ताप पर ऑक्सिजन के संपर्क में लाया जाय, तो पर्याप्त उपचयन होता है। अति शुद्ध धातु पर पानी का भी प्रभाव नहीं पड़ता, पर ताँबा, पीतल अथवा अन्य धातुओं की समुपस्थिति में पानी का प्रभाव भी पर्याप्त होता है। कार्बन अथवा कार्बन के ऑक्साइड ऊँचे ताप पर धातु को कार्बाइड (Al_4C_3) में परिणत कर देने हैं। पारा और नमी की विद्यमानता में धातु हाइड्राक्साइड बन जाती है। यदि ऐल्यूमिनियम चूर्ण और सोडियम पराक्साइड के मिश्रण पर पानी की कुछ ही बूँदें पड़ें, तो जोर का विस्फोट होगा। ऐल्यूमिनियम चूर्ण और पोटैसियम परमैंगनेट का मिश्रण जलते समय प्रचंड दीप्ति देता है। धातु का चूर्ण गरम करने पर हैलोजन और नाइट्रोजन के साथ भी जलने लगता है और ऐल्यूमिनियम हैलाइड और नाइट्राइड बनते हैं। शुष्क ईथर में बने ब्रोमीन और आयोडीन के विलयन के साथ भी यह धातु उग्रता से अभिक्रिया करके ब्रोमाइड और आयोडाइड बनाती है। गंधक, सेलीनियम और टेल्यूरियम गरम किए जाने पर ही इस धातु के साथ संयुक्त होते हैं। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गरम होने पर धातु के साथ अभिक्रिया करके क्लोराइड बनाता है। यह क्रिया धातु की शुद्धता और अम्ल की सांद्रता पर निर्भर है। तनु सल्फ्यूरिक अम्ल का धातु पर धीरे धीरे ही प्रभाव पड़ता है, पर अम्ल की सांद्रता बढाने पर यह प्रभाव पहले तो बढ़ता है, पर फिर कम होने लगता है। ९८% सल्फ्यूरिक अम्ल का धातु पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। नाइट्रिक अम्ल का प्रभाव इस धातु पर इतना कम होता है कि सांद्र नाइट्रिक अम्ल ऐल्यूमिनियम के बने पात्रों में बंद करके दूर दूर तक भेजा जा सकता है। अमोनिया का विलयन कम ताप पर तो धातु पर प्रभाव नहीं डालता, परंतु गरम करने पर अभिक्रिया तीव्रता से होती है। कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश और बेराइटा का ऐल्यूमिनियम धातु पर प्रभाव तीव्रता से होता है, परंतु कैल्सियम हाइड्राक्साइड का अधिक नहीं होता।

ऐल्यूमिनियम ऑक्सिजन के प्रति अधिक क्रियाशील है। इस गुण के कारण अनेक आक्साइडों के अपचयन में इस धातु का प्रयोग किया जाता है। गोल्डश्मिट की थर्माइट या तापन विधि में ऐल्यूमिनियम चूर्ण का प्रयोग करके लोह, मैंगनीज, क्रोमियम, मालिबडीनम, टंग्सटन आदि धातुएँ अपने आक्साइडों में से पृथक् की जाती है।

ऐल्यूमिनियम को संक्षारण से बचाना—बेंगफ (Bengough) और सटन ने १९२६ ई० में एक विधि निकाली जिसके द्वारा ऐल्यूमिनियम धातु पर उसके आक्साइड का एक पटल इस दृढ़ता से बन जाता है कि उसके नीचे की धातु संक्षारण से बची रहे। यह कार्य विद्युद्वारा की सहायता से किया जाता है। ऐल्यूमिनियम पात्र को धनाग्र बनाकर ३ प्रतिशत क्रोमिक अम्ल के विलयन में (जो यथासंभव सल्फ्यूरिक अम्ल से मुक्त हो) रखते हैं। वोल्टता धीरे धीरे ४० वोल्ट तक १५ मिनट के भीतर बढ़ा दी जाती है। ३५ मिनट तक इसी वोल्टता पर क्रिया होने देते हैं, फिर वोल्टता ५ मिनट के भीतर ५० वोल्ट कर देते है, और ५ मिनट तक इसे स्थिर रखते है। ऐसा करने पर पात्र पर आक्साइड का एक सूक्ष्म पटल जम जाता है। पात्र पर रंग या वार्निश भी चढ़ाई जा सकती है और यथेष्ट अनेक रंग भी दिए जा सकते हैं। इस विधि को एनोडाइजिंग या धनाग्रीकरण कहते हैं और इस विधि द्वारा बनाए गए सुंदर रंगों से अलंकृत ऐल्यूमिनियम पात्र बाजार में बहुत बिकने को आते हैं।

ऐल्यूमिनियम मिश्रधातुएँ—ऐल्यूमिनियम लगभग सभी धातुओं के साथ संयुक्त होकर मिश्र धातुएँ बनाता है, जिनमें से ताँबा, लोहा, जस्ता, मैंगनीज, मैगनीशियम, निकेल, क्रोमियम, सीसा, बिसमथ और वैनेडियम मुख्य हैं। ये मिश्रधातुएँ दो प्रकार के काम की हैं—पिटवाँ और ढलवाँ। पिटवाँ मिश्रधातुओं से प्लेट, छड़ें आदि तैयार की जाती हैं। इनकी भी

दो जातियाँ है, एक तो वे जो बिना गरम किए ही पीटकर यथेच्छ अवस्था मे लाई जा सकती है, दूसरी वे जिन्हे गरम करना पड़ता है। पिटवाँ और ढलवाँ मिश्रधातुओं के दो नमूने यहाँ दिए जाते हे—ढलवाँ : ताँबा ८%, लोहा १%, सिलिकन १.२%, ऐल्यूमिनियम ८९.८%; पिटवाँ : ताँबा ०.९%, सिलिकन १२.५%, मैंगनीशियम १.०%, निकेल ०.९%, ऐल्यूमिनियम ८४.७%।

ऐल्यूमिनियम के यौगिक—ऐल्यूमिनियम ऑक्साइड (Al_2O_3) प्रकृति में भी पाया जाता है तथा फिटकरी और अमोनिया क्षार की अभिक्रिया से तैयार भी किया जा सकता है। इसमे जल की मात्रा सयुक्त रहती है। जलरहित ऐल्यूमिनियम क्लोराइड ($AlCl_3$) का उपयोग कार्बनिक रसायन की फ़्रीडेल-क्राफ़्ट अभिक्रिया मे अनेक सश्लेषणो मे किया जाता है। ऐल्यूमिनियम सलफ़ेट के साथ अनेक फिटकरियाँ बनती हैं। धातु को नाइट्रोजन या अमोनिया के साथ ८००° ताप पर गरम करके ऐल्यूमिनियम नाइट्राइड, (AlN), तैयार किया जा सकता है। सरपेक (Serpek) विधि मे ऐल्यूमिना और कार्बन को नाइट्रोजन के प्रवाह मे गरम करके यह नाइट्राइड तैयार करते थे। इस प्रकार वायु के नाइट्रोजन का स्थिरीकरण सभव था। बौक्साइट और कार्बन को बिजली की भट्ठियो मे गलाकर ऐल्यूमिनियम कार्बाइड (Al_4C_3) तैयार करते है, जो सक्षारण से बचाने मे बहुत काम आता है और ऊँचा ताप सहन कर सकता है।

स०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलोर : कॉम्प्रिहेन्सिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री, खड ५ (१९२४); ए० जे० फील्ड (अनुवादक) : द टेकनॉलोजी ऑव ऐल्यूमिनियम ऐड इट्स लाइट ऐलॉयज (१९३९)। (स० प्र०)

ऐल्यूमिनियम की खनिजी—क्लार्क तथा वाशिंगटन के अनुमान के अनुसार पृथ्वी की सरचना मे ऐल्यूमिनियम का अश पृथ्वी के भार का ८.१३% है। इस प्रकार ऐल्यूमिनियम हमे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है तथा उसका भाडार प्रायः असमाप्य है।

ऐल्यूमिनियम उद्योग भारत मे ६ मार्च, १९४३ ई० को प्रारंभ हुआ जब प्रथम बार वाणिज्य स्तर पर धातु का उत्पादन इडियन ऐल्यूमिनियम कपनी के अलूपूरम् वर्क्स की भट्ठियो से हुआ।

ऐल्यूमिनियम उद्योग की आधारभूत आवश्यकताएँ निम्नलिखित है :

बौक्साइट—आजकल ऐल्यूमिनियम का सर्वाधिक सामान्य अयस्क बौक्साइट है। बौक्साइट वाणिज्य स्तर पर मुख्यत. इस कारण प्रयुक्त होता है कि इसमे ऐल्यूमिनियम के जलयुक्त (हाइड्रेटेड) आक्साइड होते है, जिससे अल्प व्यय एव सुगमता से ऐल्यूमिना प्राप्त किया जा सकता है। बौक्साइट मे तीन जलयुक्त आक्साइड पहचाने गए है :

(१) बोकमाइट : ऐल्फा मोनोहाइड्रेट, जिसमे ऐल्यूमिना ८५.०१% है
(२) डायसपोर : बीटा मोनोहाइड्रेट, जिसमे ऐल्यूमिना ८५.०१% है
(३) गिबसाइट : ऐल्फा ट्राइहाइड्रेट, जिसमे ऐल्यूमिना ६५.४१% है

बौक्साइट एक यथार्थशिला है जो उपरिष्ठ विघटन (सुपरफिशल डिकंपोज़िशन) की विधि द्वारा उत्पन्न हुई है। फलतः ऐल्यूमिनियम के अतिरिक्त इसमे लौह तथा टाइटेनियम के आक्साइड भी रहते हैं, जो जलयुक्त मिश्रण के अवशिष्ट सचयन (ऐक्युमुलेशन) का रूप धारण करते है। इसमे सिलिका तथा प्रागारिक पदार्थो की भी कुछ मात्रा रहती है।

भारत के सभी बौक्साइट निक्षेप लैटराइट प्रकार के है और उनमे से अधिकाश बेसाल्ट लावा के ऋतुक्षरण द्वारा उत्पन्न हुए हे। प्राथमिक बौक्साइट साधारणतः ऊँचे मैदानो (प्लेटो) अथवा छोटे सपाट शृंगशैलो के टोप के रूप मे प्राप्त होता है।

अत्याधुनिक अनुमानो के अनुसार सारे विश्व मे बौक्साइट का भाडार दो अरब टन आँका गया हे। किंतु इस अनुमान को यदि वास्तविकता मे कम कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति न होगी, क्योकि यह भाडार इतना प्रचुर है कि भविष्य मे किसी भी आवश्यकता की पूर्ति कर सकने में समर्थ होगा।

भारतीय भूतात्विक समीक्षा द्वारा किए गए आँकडों के अनुसार भारत मे बौक्साइट का भाडार २०–२५ करोड़ टन का है, जिसमे सभी श्रेष्ठताओ का बौक्साइट समिलित है। यह अनुमान भी अब अविश्वसनीय प्रतीत होने लगा है, क्योकि सभवतः वास्तविक भाडार इस मात्रा से कही अधिक है। कुछ नवीन आँकड़े यह प्रदर्शित करते है कि भारत मे उच्च श्रेणी के बॉक्साइट की मात्रा लगभग २.८ करोड़ टन है। इलेक्ट्रो केमिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा की अक्टूबर, १९५५ ई० की पत्रिका मे देश मे अच्छे वर्ग के बौक्साइट की अनुमित मात्रा ३.५५ करोड़ टन के लगभग बताई गई है। १९५७ ई० मे फ्रासीसी प्रतिनिधिमडल ने, जिसमे फ्रास की एक सुप्रसिद्ध कपनी के श्री जे० सेवोट भी थे, निम्नाकित मात्राओ को उपलभ्य बताया है :

क्र० संख्या	क्षेत्र	भाडार	आलोचना
१.	कटनी क्षेत्र (म० प्र०)	१० लाख टन	महत्वपूर्ण नही
२.	सौराष्ट्र (बबई)	,,	,,
३.	शिवारोय पहाड़ियाँ जि० सेलम	३०-४० लाख टन	लगभग दस वर्षो तक एक लघु ऐल्यूमिनियम कारखाने के लिये पर्याप्त
४.	कोल्हापुर क्षेत्र (महाराष्ट्र)	५०० लाख टन	उत्तम
५.	विलासपुर क्षेत्र (अमर-कटक) म. प्र. तथा मैनपट निक्षेप (अमरकटक क्षेत्र मे, से १५० किलोमीटर की दूरी पर) म० प्र०	कई करोड़ टन अपेक्षाकृत विस्तृत पर्याप्त लाभप्रद बौक्साइट	विशाल कारखाने के लिये अत्यंत उपयोगी

भारत में बौक्साइट का वितरण—बौक्साइट बिहार, उड़ीसा, महाराष्ट्र तमिलनाडु, जम्मू तथा कश्मीर और मध्य प्रदेश आदि प्रातो मे प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। बौक्साइट निक्षेपों का विशेष विवरण इस प्रकार है :

बिहार राज्य—बौक्साइट निक्षेप राँची तथा पलामू जिलो मे विद्यमान है। इन निक्षेपो पर खनन कार्य भी कुछ दिनो से हो रहा है।

ऐल्यूमिनियम कॉर्पोरेशन ऑव इडिया तथा इडियन ऐल्यूमिनियम क० प्रति वर्ष लाखो टन बौक्साइट का खनन इस क्षेत्र से करती है।

उड़ीसा राज्य—कालाहाँडी तथा सबलपुर जिलो मे बौक्साइट पाया जाता है। ऐल्यूमिनियम के लिये उपयुक्त बौक्साइट की मात्रा केवल ४,००,००० टन तक ही सीमित है।

महाराष्ट्र राज्य—कोल्लापुर तथा बेलगाँव जिलो मे बौक्साइट के मुख्य निक्षेप मिलते है। इन दोनो मे भी कोल्हापुर के निक्षेप विशाल हैं तथा सिलिका कम होने के कारण अधिक उपयोगी है। फ्रासीसी मिशन (१९५७) के अनुसार कोल्हापुर क्षेत्र के निक्षेपो मे पाँच करोड़ टन बौक्साइट है। यद्यपि ये निक्षेप ऐल्यूमिनियम उद्योग के लिये उपयुक्त एवं पर्याप्त हे, तथापि निक्षेपो के समीप कोयला अथवा अन्य ईधन उपलब्ध न होने के कारण, देश के अन्य स्थानो की तुलना मे, इन निक्षेपो का खनन लाभप्रद नही है।

तमिलनाडु राज्य—तमिलनाडु मे सेलम जिले की शिवारोय पहाड़ियो मे बौक्साइट के मुख्य भाडार स्थित हे। ऐल्यूमिनियम के लिये उपयुक्त बौक्साइट की मात्रा ३०–४० लाख टन है। निक्षेप पूर्णतः गिबसाइट के हें जिसमे टाइटेनियम आक्साइड तथा सक्रिय (रिऐक्टिव) सिलिका अल्प मात्रा मे हें। अतः यह बौक्साइट ऐल्यूमिनियम उद्योग के लिये अत्यत लाभप्रद हे। परतु इस क्षेत्र मे कोयले तथा अन्य ईंधन का अभाव हे। शिवारोय बौक्साइट प्रौडक्ट कपनी यहाँ खनन कार्य करती है।

जम्मू तथा कश्मीर—इस प्रदेश के पूंच तथा रियासी जिलो में लगभग २० लाख टन बौक्साइट प्राप्त होने का अनुमान हे। यहाँ का बौक्साइट पूर्णतः डायसपोर (ऐल्यूमिनियम हाइड्रॉक्साइड) के रूप मे हे।

मध्य प्रदेश—यह निर्विवाद है कि भारत मे ऐल्यूमिनियम उद्योग के लिये सर्वाधिक उपयुक्त तथा विशालतम भाडार मध्य प्रदेश मे हैं। मुख्य निक्षेप निम्नलिखित क्षेत्रो मे विद्यमान है :

(१) जबलपुर जिले का कटनी क्षेत्र,
(२) बालाघाट जिला,
(३) उत्तर पूर्वी मध्य प्रदेश क्षेत्र जिसमें बिलासपुर, सरगुजा, शहडोल, तथा रायगढ़ जिले संमिलित है।

कटनी क्षेत्र में बौक्साइट के भांडारों का अनुमान लगभग ४६ लाख टन है। कुछ लघु निक्षेप सिहोरा में भी है। इस समय यह बौक्साइट घर्षक (अब्रेसिव) तथा रासायनिक उद्योगों के लिये प्रयुक्त होता है।

बालाघाट क्षेत्र में अभी कोई विशेष अन्वेषण कार्य नही किया गया है, किंतु यहाँ विशाल निक्षेपों के मिलने की पूर्ण संभावना है।

मध्य प्रदेश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के निक्षेप अत्यंत महत्वपूर्ण तथा विस्तृत हैं। इस क्षेत्र में अन्वेषण कार्य भी पर्याप्त हो चुका है तथा यहाँ कई करोड़ टन बौक्साइट प्राप्त होने का अनुमान है। फ्रांसीसी कैमरून खनन सेवा की रिपोर्ट के अनुसार यदि अमरकंटक के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम स्थित उच्च स्थलियों का दो तिहाई भी संमिलित कर लिया जाय तो पड़ोस में स्थित बड़े से बड़े ऐल्यूमिनियम कारखाने की आवश्यकता पूरी हो सकेगी। इस क्षेत्र के उपयोगी अयस्क की अनुमानित मात्रा २० से ३० करोड़ टन तक होगी। मैनपट के निक्षेप अमरकंटक क्षेत्रीय निक्षेपों से अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है।; अप्रैल १९७४ में कोरवा (मध्य प्रदेश) में भारत ऐल्यूमिनियम कंपनी के २,००,००० टन क्षमतावाले संयंत्र ने ऐल्यूमिनियम उत्पादन का कार्य प्रारंभ कर दिया है जिसमें इस बौक्साइट का उपयोग होता है।

ऐल्यूमिनियम उद्योग में प्रयुक्त अन्य कच्चे पदार्थ——

(१) बेयर विधि द्वारा बौक्साइट से ऐल्यूमिना की प्राप्ति के लिये चूने तथा सोडा भस्म (सोडा ऐश) अथवा कास्टिक सोडा की आवश्यकता होती है। इन पदार्थो के लिये भारतीय उद्योग को अंशतः आंतरिक एवं अंशतः बाह्य साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है।

(२) ऐल्यूमिना के विद्युद्विश्लेषण के लिये तापन पदार्थ :

(क) क्रायोलाइट। यह ऐल्यूमिना का विलेय है जिसका आयात ग्रीनलैंड से होता है।

(ख) फ़्लोरस्पार तथा ऐल्यूमिनियम फ़्लोराइड : इनकी आवश्यकता तापन समायोजन (बाथ ऐडजस्टमेंट) में होती है। ये विदेशों से आयात किए जाते हैं।

(३) विद्युदग्रों (एलेक्ट्रोड) तथा टंकी के अस्तर के लिये कार्बनिक पदार्थ : पेट्रोलियम कोक डिग्बोई (आसाम) से प्राप्त किया जाता है, जिससे आंशिक पूर्ति होती है। शेष माँग पूरी करने के लिये विदेशों से आयात करना पड़ता है। मृदु पिच, कोक ओवन, अलकतरा और कारखाने की राख बंगाल के कोयला-क्षेत्र से प्राप्त किए जाते हैं।

ऐल्यूमिनियम के कारखाने——इस समय भारत में ऐल्यूमिनियम के कई कारखाने हैं। **आसनसोल** में स्थित एक कारखाने में ऐल्यूमिना से ऐल्यूमिनिय बनाने की व्यवस्था है। **मूरी** (टाटानगर से ५० मील दूर) में पहले से ऐल्यूमिना को परिष्कृत करके ऐल्यूमिनियम उत्पन्न करने की व्यवस्था है। ऐसी ही व्यवस्था केरल राज्य में **अलवे** नामक स्थान पर भी है। **सेलम** तथा **हीराकुंड** में १०-१० हजार टन प्रति वर्ष उत्पादन के कारखाने है। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में **रेणुकूट** नामक स्थान पर **हिंदालको** (हिंदुस्तान ऐल्यूमिनियम कार्पोरेशन) का कारखाना है जो इस समय भारत में ऐल्यूमिनियम का सबसे बड़ा कारखाना है। मार्च, १९६० ई० में इस कारखाने ने उत्पादन प्रारंभ कर दिया था। प्रारंभ में इसका वार्षिक उत्पादन केवल २०,००० टन था परंतु १९६९ ई० में बढ़कर यह ८०,००० टन प्रति वर्ष और १९७२ ई० में १,२०,००० टन प्रति वर्ष हो गया था।

अप्रैल, १९७४ ई० में कोरवा (मध्य प्रदेश) में भारत ऐल्यूमिनियम कंपनी के २,००,००० टन क्षमतावाले कोरवा ऐल्यूमिना संयंत्र ने उत्पादन कार्य आरंभ कर दिया है। १,००,००० टन की अधिकतम क्षमतावाला इसका प्रदावक (smelter) १९७४ ई० के अंत से प्रारंभ होकर १९७५ ई० के अंत तक विभिन्न चरणों में काम करने लगेगा।

भारत ऐल्यूमिनियम कंपनी का रत्नगिरि (महाराष्ट्र) में भी एक ऐल्यूमिनियम संयंत्र १९७५-७६ ई० तक कार्य करने लगेगा जिसकी उत्पादन क्षमता प्रतिवर्ष ५०,००० टन होगी। पाँचवीं योजना के अंतिम चरण तक इन दोनों संयंत्रों की क्षमता ३,८०,००० टन तक होने की संभावना हे। इस धातु मे १९७६ ई० तक देश आत्मनिर्भर हो जाएगा। (वि० सा० दु०; नि० सिं०)

ऐल्यूमिनियम कांस ऐल्यूमिनियम और ताम्र की मिश्र धातुएँ, जिनमें ताम्र की मात्रा अधिक हो, ऐल्यूमिनियम कांस (ऐल्यूमिनियम ब्रांज) कहलाती है। इनकी विशेषताएँ है उच्च दृढता, विधि आकारों में निर्मित किए जाने की क्षमता, क्षय (वेयर) तथा क्लांति-(फ़ैटीग) के प्रति उच्च प्रतिरोधशक्ति, सुंदर स्वर्णिम रंग और उष्मा उपचार से धातु का कड़ा और नरम हो सकना। ढलाई करते समय सीमावर्ती दानों के चारो ओर ऐल्यमिना की एक कठोर और चिमड़ी परत जम जाती है, जिससे धातु बाहर से भीतर तक एक समान नही रह जाती। इस कठिनाई से बचने के लिये घरिया के पेंदे से पिघली हुई धातु ऊपर चढाई जाती है। इस क्रिया मे तलछट को रोकने के लिये विशेष प्रकार की चलनी का उपयोग किया जाता है और पिघली धातु में हलचल रोकने के लिये उसे मंद गति से भीतर डालते है। वेल्डिंग संबंधी कठिनाइयाँ अब दूर कर दी गई है। ऐल्यूमिनियम कांस में भट्ठी की गंधकमय गैस, समुद्र-जल और तनु अम्ल के प्रति प्रतिरोधशक्ति होती है। इसलिये इसका उपयोग बर्तन बनाने में किया जाता है।

साधारणतः तीन प्रकार की मिश्रधातुओं का प्रयोग होता है :

(१) पीटकर बनाई गई मिश्रधातु, जिसमे ५ से ७ प्रतिशत ऐल्यूमिनियम रहता है।

(२) १० प्रतिशत ऐल्यूमिनियम वाली मिश्रधातु जिसका प्रयोग ढलाई में और तपाकर इच्छित रूप देने में किया जाता है।

(३) मिश्रित ऐल्यूमिनियम कांस। साधारण मिलावट में लौह, निकेल और मैंगनीज का उपयोग किया जाता है। ५ प्रतिशत तक मैंगनीज और ३ प्रतिशत तक लोहा मिलाया जा सकता है। अधिक मैंगनीज अथवा लोहावाला कांस ऐल्यूमिनियम कांस नहीं कहलाता। इन मिश्रधातुओं से वस्तुएँ ठंढी अवस्था में एक सीमा तक ही पीटकर बनाई जा सकती हैं। अधिकतर तप्त करके ही इनको पीटा जाता है।

सं०ग्रं०——प्रोसीडिंग्स ऑव दि इंस्टिट्यूट ऑव मिकैनिकल इंजीनियर्स (१९०७, पृष्ठ ५७; १९१०, पृष्ठ ११९)। (व० नि०)

ऐल्स्टन, वाशिंगटन (१७७९-१८४३) अमरीकी लेखक तथा चित्रकार। शिक्षा हार्वर्ड विश्वविद्यालय में पाई। युवावस्था में लंदन, पेरिस, रोम, वेनिस आदि का भ्रमण कर पुनः अमरीका लौट आए और वही अपना कार्य आरंभ कर दिया। इनकी कलाकृतियों में प्रकाश और छाया के प्रयोग तथा रंगों के चुनाव आदि में वेनिस की शैली का प्रभाव परिलक्षित है, इसीलिये इन्हें 'अमरीकी तिशियन' भी कहा जाता है। इनके चित्र मिलान के राजभवन और सांता मेरिया के गिरजे में हैं जो इनके गुरु कोरेज्जो की कृतियों से भी अधिक श्रेष्ठ हैं।

ये स्वयं धार्मिक स्वभाव के थे और इनके अधिकांश चित्रों की कथा-वस्तु भी बाइबिल की कहानियाँ है। सर्वोत्तम कृतियाँ——'मृत व्यक्ति का पुनर्जीवन', 'देवदूत द्वारा संत पीतर की मुक्ति' और 'जेकोब का स्वप्न' हैं।

लेखक के रूप में अभिव्यक्ति की सुगमता और काल्पनिक शक्ति के लिये ये विख्यात है। कोलरिज (ऐल्स्टन द्वारा बनाया जिसका चित्र आज भी नैशनल गैलरी में है) का कहना था कि "उस युग में कला और काव्य के क्षेत्र में कोई और ऐल्स्टन की समता नहीं कर सकता था।" (स० च०)

ऐल्सैस लोरेन जर्मनी भाषा का एलजास लोथ्रिंजेन ५,६०० वर्ग मील का क्षेत्र है जिसे सन् १८७१ ई० मे फ्रांस ने जर्मनी को अभ्यर्पित कर दिया था। सन् १९१९ ई० में यह फिर फ्रांस को दे दिया गया, परंतु सन् १९४० ई० में जर्मनी ने वापस ले लिया। १८७१ ई० के पश्चात्

जर्मनी ने इसे तीन प्रशासनिक विभागों में विभाजित किया—'ऊपरी ऐल्सैस', 'निचला ऐल्सैस' तथा लोरेन। फ्रांसीसियों ने भी इसे तीन विभागों में बाँटा—हो-राइन (जनसंख्या सन् १९६८ में ५;८५,०१८), वा-राइन (जनसंख्या सन् १९६८ में ८,२७,३६७), तथा मोज़ेल (जनसंख्या सन् १९६८ में ९,७१,३१४)। प्राकृतिक रूप से भी ऐल्सैस की अपनी सीमाएँ हैं। पश्चिम में फ्रांस की सीमा, पूर्व में वाडेन तथा दक्षिण में यह स्विट्ज़रलैंड से घिरा है। इस क्षेत्र की जनसंख्या सन् १९३६ ई० में १९,१५,६२७ थी, जिनमें से केवल दस प्रतिशत ही फ्रांसीसी वोलनेवाले थे, अन्य सब जर्मन (जैसे स्विटज़रलैंड के वेसल अंचल में वोली जानेवाली जर्मन भाषा) वोलनेवाले थे। यद्यपि ऐल्सैस में पोटाश तथा मिट्टी के तेल का उत्पादन होता है, तथापि यह प्रदेश कृषि उत्पादन, वस्त्र, मशीनों इत्यादि के लिये अधिक प्रसिद्ध है। लोरेन का अत्यधिक महत्व यहाँ के लोहे तथा कोयले के कारण है, जो औद्योगिक तथा सामरिक दोनों दृष्टियों से यूरोप में शक्ति के पासंग हैं। इसके अतिरिक्त यह वड़े वड़े व्यापारिक तथा आवागमन के अन्य मुख्य मार्गो—राइन, सैवर्न दर्रा तथा वर्गेडी के द्वार—पर होने से फ्रांस तथा जर्मनी दोनों के लिये सोने की चिड़िया है। इसका २,००० वर्षों का इतिहास वताता है कि यह यूरोपीय राजनीति में सदैव झगड़े की जड़ रहा है और सन् १८७० ई० से तो विश्व राजनीति में भी काफी प्रसिद्ध रहा है। इसकी पूर्वी सीमा पर उत्तर से पूर्व दिशा में ११५ मील तक राइन नदी वहती है, स्ट्रैसवर्ग के नीचे ईल (लंवाई १२७ मील) इसमें योग देती है। संपूर्ण प्रदेश का प्रायः ५०% भाग कृषि योग्य है, ११.६ चरागाह के योग्य तथा ३०.८% जंगल है। इस प्रदेश के मुख्य नगर स्ट्रैसवर्ग (जनसंख्या सन् १९६८ में २,४९,३९६), मेट्ज़ (जनसंख्या सन् १९६८ में १,०७,५३७) तथा क्लोमार है। अव यह प्रदेश पश्चिमी शक्तियों के अधीन है। (श्या० सुं० श०)

ऐशवोर्न इंग्लैंड के डर्वीशायर का एक नगर है, जो डर्वी से १३ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। इसका क्षेत्रफल १.७६ वर्ग मील है तथा आवादी १९६१ में ५,६५६ थी। यह दो छोटी घाटियों के बीच में वसा है और कृषि-व्यापार का अच्छा केंद्र है। संकर्षा (कॉर्सेट) वनाना यहाँ की विशेषता है। धातुओं से यहाँ वर्तन भी वनाए जाते हैं। (नृ० कु० सिं०)

ऐशलैंड कैंटकी राज्य में वायड प्रांत का एक नगर है, जो ओहायो नदी के किनारे ५५५' की ऊँचाई पर, सिनसिनाटी से १२५ मील दक्षिण-पूर्व तथा विग सैंडी नदी के मुहाने से चार मील नीचे की ओर, जहाँ ओहायो, केंटकी तथा पश्चिमी वर्जीनिया राज्य मिलते हैं, स्थित है। यहाँ पर चेसविक एवं ओहायो रेलवे मार्ग तथा राजकीय सड़कें हैं। नगर की सीमा के समीप एक हवाई अड्डा है। यह प्रमुख औद्योगिक नगर है जिसमें मुख्य उद्योग इस्पात, पेट्रोल, लकड़ी की वस्तुएँ, ईंट तथा चमड़े के सामान तैयार करना है। यहाँ पर सर्वसाधारण के लिये छोटे तथा वड़े माध्यमिक विद्यालय, एक पुस्तकालय तथा ५२ एकड़ का एक उपवन (पार्क) है। जनसंख्या १९७० में २८,२७८ थी। (नृ० कु० सिं०)

ऐशविल संयुक्त राज्य, अमरीका के उत्तरी कैरोलिना राज्य का एक नगर है। यह १९८१–३०२० फुट की ऊँचाई पर ब्लूरीज़ और स्मोकी पर्वतश्रेणियों के मध्य फ्रेंच वोर्ड और स्वानोनोआ नदियों पर स्थित है। यहाँ दक्षिणी रेलवे, पक्की सड़कों तथा वायुयान से यातायात की सुविधाएँ हैं। जलवायु शुष्क है तथा वार्षिक वर्षा ३८.४७" है। नगर का क्षेत्रफल १४.७ वर्ग मील है। यह राज्य के पश्चिमी भागों के २० प्रदेशों का वित्तीय तथा व्यापारिक केंद्र है। यह औद्योगिक तथा पर्यटक आकर्षी नगर है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय रेयन अथवा नकली रेशम के सूत, सूती कपड़े, कागज और कागज के वने सामान, कंवल और लकड़ी के वने सामान तैयार करना है। इस नगर में आधुनिक भोजनालय, विश्रामालय, अतिथिगृह तथा उचित रीति से सुसज्जित स्वास्थ्यरक्षालय हैं। यह १७९४ में जॉन वर्टन द्वारा वसाया गया था। १९६० में जनसंख्या ६०,१९२ थी। (नृ० कु० सिं०)

ऐसीटिक अम्ल CH_3COOH फलों के रस, जंतुओं के मलमूत्र, क्रोटन तेल, सुगंधित तेलों तथा पौधों के रस में एस्टर तथा लवण के रूप में पाया जाता है।

वनाने की विधियाँ—(१) एथिल ऐलकोहल के आक्सीकरण से, (२) मेथिल सायनाइड के जलविश्लेपण से, (३) सोडियम मेथोक्साइड पर ८ वायुमंडल दाव तथा २२०° सें० ताप पर कार्वन मोनोक्साइड की क्रिया से, (४) टंग्स्टन की उपस्थिति में ३००–४००° सें० ताप पर मेथिल ऐलकोहल के वाष्प और कार्वन मॉनोक्साइड के संयोजन से, (५) मेथिल मैग्नीशियम व्रोमाइड के ईथरीय विलयन में कार्वन डाइ आक्साइड प्रवाहित करने पर प्राप्त पदार्थ के अम्ल द्वारा जलविश्लेपण से, (६) मैलोनिक अम्ल को गरम करने से, (७) एथिल ऐसीटेट के जलविश्लेपण से, तथा (८) सोडियम मेथाइड (CH_3N_A) पर कार्वन डाइ आक्साइड की क्रिया से ऐसीटिक अम्ल प्राप्त होते हैं।

वड़ी मात्रा में इसे (१) ४०% गरम सल्फ्यूरिक अम्ल में, १% मर्क्यूरिक सल्फेट की उपस्थिति में, ऐसीटिलीन प्रवाहित कर प्राप्त ऐसीटैलडीहाइड के ७०° पर मैंगैनस ऐसीटेट द्वारा आक्सीकरण से तथा (२) पाइरोलिग्नियस अम्ल के वाष्प को गरम चूने के जल में से प्रवाहित करने पर प्राप्त कैल्सियम ऐसीटेट को २५०° तक गरम करने के पश्चात् सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा विघटन से वनाते हैं। अजल अम्ल वनाने के लिये अम्ल को सोडियम कार्वोनेट से उदासीन कर तथा सोडियम ऐसीटेट को पिघलाकर सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ आसवन करते हैं।

सिरके (६–१०% ऐसीटिक अम्ल) के रूप में, इसे भारत में गन्ने के रस के वायु में किण्वन से, या, अन्य देशों में वर्ट के माइकोडर्मा ऐसीटी नामक जीवाणु द्वारा आक्सीकरण से, या ६–१०% जलीय ऐलकोहल के ऐसीटोवैक्टर ऐसीटी या ए० पास्टूरिआनम नामक जीवाणु [कॉम्पटू० रेंड० लैव० कार्ल्सवर्ग, १८९४ (३); १९०० (५)] द्वारा किण्वन से वनाते हैं। किण्वीकृत द्रव में दाव से वायु प्रवाहित करने पर फाउलर तथा सुब्रह्मण्यन (ज० इंडि० केमि० सो०, १९२३,१६,१४९) के अनुसार अम्ल की प्राप्ति वढ़ती है।

भौतिक गुण—ऐसीटिक अम्ल एक तीव्र गंधवाला, रंगहीन, क्षयकारक (गलनांक १६.६° सें०, क्वथनांक ११८.५° सें०, आपेक्षिक घनत्व २०° पर १.०४९२२) जल, ऐलकोहल या ईथर में मिश्र्य द्रव है। यह वाष्प रूप में द्विलक (Dimer) रूप में रहता है। इसमें गंधक, फ़ास्फ़ोरस तथा आयोडीन विलेय हैं। इसके सामान्य लवण जल में विलेय हैं, किंतु भास्मिक लवण विशेषकर अविलेय हैं। यह धातुओं तथा कार्वोनेट पर क्रिया करता है। आक्सीकारक पदार्थों के प्रति यह स्थिर है।

रासायनिक गुण—यह भास्मिक अम्ल है और कास्टिक सोडा के साथ सोडियम ऐसीटेट ($CH_3\ COON_A\ 3H_2O$), लेड आक्साइड के साथ लेड ऐसीटेट तथा ज़िंक के साथ ज़िंक ऐसीटेट वनाता है। यह एथिल ऐलकोहल की क्रिया से एथिल ऐसीटेट ($CH_3\ COOC_2\ H_5$ फ़ासफ़ोरस पेंटाक्लोराइड की क्रिया से ऐसीटिल क्लोराइड ($CH_3\ COO^-{}_2H_5$), फ़ासफ़रस पेंटॉक्साइड की क्रिया से ऐसीटिक ऐनहाइड्राइड $(CH_3\ CO)_2O$ अमोनिया की क्रिया से अमोनियम ऐसीटेट तथा ऐसीटैमाइड ($CH_3\ CONH_2$) और क्लोरीन की क्रिया से मोनोक्लोरो ऐसीटिक अम्ल ($CH_3\ ClCOOH$), डाइक्लोरोऐसीटिक अम्ल ($CHCl_2\ COOH$) तथा ट्राइक्लोरो ऐसीटिक अम्ल ($CCl_3\ COOH$) वनाता है। सोडियम या पोटैसियम ऐसीटेट के विद्युद्विश्लेपण से एथेन तथा सोडालाइम के साथ गरम करने से मेथेन, कैल्सियम ऐसीटेट के शुष्क आसवन से ऐसीटोन (CH_3OCH_3) तथा कैल्सियम ऐसीटेट और कैल्सियम फार्मेट के मिश्रण के शुष्क आसवन से ऐसीटैलडीहाइड ($CH_3\ CHO$) वनते हैं।

उपयोग—ऐसीटिक अम्ल कार्वनिक तथा अकार्वनिक पदार्थों का विलयन करने के लिये, आक्सीकरण विधि में, अभिकर्मक के रूप में, अचार तथा मुरव्वे के लिये सिरके के रूप में, रवर के स्कंदन के लिये तथा ऐसीटोन वनाने में प्रयुक्त किया जाता है। इसके लवण, आयरन, ऐल्यूमिनियम

तथा क्रोमियम ऐसीटेटों को रँगाई में रंगों के स्थापक के रूप में, ऐल्यूमिनियम तथा सामान्य लेड ऐसीटेटों को औषध के लिये, भास्मिक लेड ऐसीटेट को हड्डी टूटने में उपचार के लिये और लेड टेट्राऐसीटेट को हाइड्रोजन आयन से हाइड्राक्सिलमूलक में परिवर्तन करने के लिये, काम में लाए जाते है। इसके मीठी सुगंधवाले एस्टर, जैसे ऐमिल ऐसीटेट, शर्बत तथा रस को सुगंधित बनाने तथा लैकर वार्निश तैयार करने में और सेल्यूलोस ऐसीटेट कृत्रिम रेशम (रेयन) तथा अज्वलनशील सिनेमा फिल्म बनाने में प्रयुक्त होते है।

परीक्षण--ऐसीटिक अम्ल, (१) ऐसीटेट पर तनु या सांद्र सल्फ़्यूरिक अम्ल की क्रिया से प्राप्त ऐसीटिक अम्ल में सिरके की गंध से, (२) ऐसीटेट को एथिल ऐलकोहल तथा सल्फ़्यूरिक अम्ल के साथ गरम करने पर फलों को मीठी सुगंधवाले एथिल ऐसीटेट के बनने से तथा (३) ऐसीटेट के उदासीन विलयन में फ़ेरिक क्लोराइड का ताजा विलयन डालकर गरम करने पर भास्मिक फ़ेरिक ऐसीटेट का भूरा अवक्षेप बनने से, पहचाना जाता है। (पृ० ना० भा०)

ऐसीटोन एक रंगहीन, अभिलाक्षणिक गंधवाला, ज्वलनशील द्रव है जो पानी, ईथर और ऐलकोहल में मिश्र्य है। यह काष्ठ के भंजक आसवन (destructive distillation) से प्राप्त पाइरोलिग्नियस अम्ल का घटक है। इसका मुख्य उपयोग विलायक के रूप में होता है। यह फिल्मों, शक्तिशाली विस्फोटकों, आसंजकों, कांच के समान एक प्लास्टिक (पर्सपेक्स) और ओषधियों के निर्माण में काम आता है। अति शुद्ध ऐसीटोन का उपयोग इलेक्ट्रानिकी उद्योग में विभिन्न पुर्जो को सुखाने और उन्हें साफ करने के लिये होता है। (नि० सि०)

ऐस्क्लीपाइओडीज़ यूनानी चिकित्सक। जन्म विथिनिया में १२४ ई० पू०। युवावस्था में बहुत भ्रमण किया। रोम में इसने प्रथम अलंकारशास्त्री का कार्य प्रारंभ किया, पर इस व्यवसाय में उसे सफलता नहीं मिली। फिर चिकित्सा का व्यवसाय आरंभ किया जिसमें उसकी बड़ी ख्याति हुई। इसकी चिकित्सा पारमाण्विक अथवा कणिका सिद्धांत पर आधारित थी। इस सिद्धांत के अनुसार शरीर में कणिकाओं की अनियमित अथवा असंगत गति के कारण रोग उत्पन्न होते है। इसकी चिकित्सा का उद्देश्य ऐसी अनियमितता को दूर कर कणिकाओं की पूर्ण संगत गति प्राप्त करना था। आहार परिवर्तन, घर्षण, स्नान तथा व्यायाम पर इसका अधिक विश्वास था, यद्यपि वह वमनकारी अथवा रक्तस्रावक ओषधियों का भी प्रयोग करता था। मद्य सेवन का भी यह निर्देश करता था। इसके अनेक शिष्य हुए और इसकी चिकित्सा का सिद्धांत मेथाडिकल सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (पू० सा० मा०)

ऐस्क्विथ, हर्बर्ट हेनरी (अर्ल ऑव आक्सफ़र्ड--१८५२-१९२८) जन्म यार्कशायर, मार्ले के मध्यवर्गीय व्यापारी परिवार में। पहले बैरिस्टर हुए, फिर देश में नाम कमाकर पार्लमेंट के १८८६ में सदस्य और बाद में ग्लैड्स्टन के मंत्रिमंडल में गृहसचिव नियुक्त हुए। अपने इस पद से उन्होंने कारखाने और श्रम संबंधी अनेक सुधार किए। निर्बाध व्यापार के वे महान् समर्थक थे। इसी के परिणामस्वरूप वे कैंबेल वैनरमैन के मंत्रिमंडल में चांस्लर ऑव दि एक्स्चेकर हुए। इस संबंध में उन्होंने वृद्धों के पेंशन आदि के जो सुधार किए उनसे उनका इतिहास में नाम सुरक्षित हो गया। ऐस्क्विथ का सबसे महान् कार्य १९११ के 'पार्लमेंट ऐक्ट' का निर्माण था जिसने लार्ड सभा के अधिकार अत्यंत सीमित कर नगण्य कर दिए। इस कार्य ने उन्हें प्राइम मिनिस्टर (प्रधान मंत्री) के अधिकार से संपन्न किया। वे कैंबेल बैनरमैन की बीमारी में ही इंग्लैंड के प्रधान मंत्री हो गए थे। आयरलैंड के संबंध में होमरूल बिल उनके मंत्रिमंडल का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास था।

१९१४ में जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा तब प्रधान मंत्री ऐस्क्विथ थे। उन्होंने तब विरोधी दल के साथ मिलकर नया मंत्रिमंडल बनाया। साल भर बाद १९१६ में युद्ध-संचालन नीति के प्रश्न पर मतभेद के कारण उन्हें प्रधान मंत्रित्व लायड जार्ज को सौंपकर मंत्रिमंडल से अलग हो जाना पड़ा। अगले चुनावों में हारकर उन्हें पार्लमेंट से भी अलग हो जाना पड़ा। उन्हें 'अर्ल' बना दिया गया और वे लार्ड सभा के सदस्य हो गए। १८ साल के उदार दल के नेतृत्व के बाद उन्होंने वहाँ की बागडोर भी लायड जार्ज को सौंप दी और अपने दल से इस्तीफा दे दिया। लार्ड आक्सफ़र्ड (हर्बर्ट हेनरी ऐस्क्विथ) इंग्लैंड के महान् प्रधान मंत्रियों में से थे। अपना स्थान उन्होंने अधिकतर अपनी वाक्शक्ति से बनाया था। वे १९२८ में मरे। (ओं० ना० उ०)

ऐस्पिरिन का रासायनिक नाम ऐसिटाइल सैलिसिलिक ऐसिड है। यह प्रथम बार १८६० में बनाया गया। यह ज्वरनाशक तथा पीड़ानाशक है और चिकित्सा में मुख्यत: पीड़ोपचार में प्रयुक्त होता है। सिर दर्द, पेशिक तथा वातजन्य पीड़ा और जुकाम में यह उपयोगी है। कदाचित् यह सबसे अधिक प्रयुक्त तथा निर्दोष पीड़ानाशक द्रव्य है। ०.६ ग्राम की एक मात्रा के बाद पीड़ा से आराम शीघ्र होता है तथा दो, तीन घंटे तक इसका प्रभाव रहता है। (मो० ला० गु०)

ऐस्फ़ाल्ट शब्द एक यूनानी शब्द से निकला है जिसका अर्थ है दृढ़, अचल तथा सुरक्षित। पुरातन काल मे ऐस्फ़ाल्ट का प्रथम उपयोग विभिन्न प्रकार के दो पदार्थो को आपस में जोड़ने मे, जैसे हाथीदाँत, सीप या रत्नों से बनी आँखों को मूर्तियो के चक्षुगह्वरों में बैठाने के लिये, किया जाता था। ज्ञात हुआ है कि संभवतः हमारे देश में ऐस्फ़ाल्ट का सर्वप्रथम उपयोग लगभग ३,००० वर्ष ई० पू० सिंधु नदी की घाटी मे, सिंध प्रदेश के मोहन-जो-दड़ो नामक स्थान पर, जलभांडार की टंकियों को छिद्ररहित बनाने मे किया गया था।

ऐस्फ़ाल्ट काले से लेकर गहरे भूरे रंग तक के ठोस, अथवा अर्धठोस, और सीमेंट के समान जोड़ने का कार्य करनेवाले पदार्थ है, जो गरम करने पर धीरे धीरे द्रव हो जाते है। उनके मुख्य संघटक बिटुमेन (तारकोल की जाति के पदार्थ) होते है। ये ठोस अथवा अर्धठोस अवस्था मे प्रकृति में पाए जाते है, या पेट्रोलियम को साफ करने मे उत्पन्न होते है, या पूर्वकथित बिटुमेन पदार्थो के आपस में, या पेट्रोलियम, या उससे निकले हुए पदार्थो के साथ संयोग होने पर, बनते है। प्राय: यह शब्द प्राकृतिक, या प्रकृति में पाए जानेवाले, बिटुमेन के लिये ही प्रयोग में आता है।

ऐस्फ़ाल्ट झीलों, अथवा चट्टानों के रूप मे पाया जाता है। ट्रिनिडैट की ऐस्फ़ाल्ट झील इस प्रकार की झीलों मे सबसे अधिक प्रख्यात है। ऐसी झीलें कच्चे पेट्रोलियम के लाखों वर्षो तक सूखने से बनती है। झीलों से निकले हुए ऐस्फ़ाल्ट मे बहुतेरे अपद्रव्य, जैसे पेड़ों के अंग, जंतुओं के अवशेष, पत्थर, बालू इत्यादि, मिले रहते है। चट्टानों के रूप में ऐस्फ़ाल्ट फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, अरब, दक्षिणी अमरीका इत्यादि देशो मे पाया जाता है।

नकली ऐस्फ़ाल्ट, जिसको बिटुमेन कहते है, कच्चे पेट्रोलियम का आसवन करने पर बचा हुआ पदार्थ है। पेट्रोल, मिट्टी का तेल, स्नेहक तैल और पैराफ़िन मोम निकाल लेने के पश्चात् यही पदार्थ बच जाता है। तैयार करने की रीति में भेद उत्पन्न कर बिटुमेन का गाढ़ापन नियंत्रित किया जाता है और भिन्न भिन्न कार्यो के लिये कई प्रकार के बिटुमेन तैयार किए जाते है। जब शुद्ध ऐस्फ़ाल्ट का उपयोग नही किया जा सकता तो उसमें कोई उड़नशील पदार्थ मिलाकर पतला तथा मुलायम बना लिया जाता है। उपलब्ध पदार्थो को तब 'कट बैक' कहते है। कुछ अवस्थाओं मे, जैसे नम या भीगी सड़कों की सतहों पर लगाने के लिये, ऐस्फ़ाल्ट को पानी के साथ मिलाकर पायस (इमल्शन) बना दिया जाता है।

ऐस्फ़ाल्ट के अनेक उपयोग है। सबमे अधिक प्रचलित उपयोग तो सड़कों और पटरियों (फ़ुटपाथों) के फर्शो तथा हवाई अड्डों के धावन मार्गो (रनवेज) को तैयार करने में होता है। इसको नहरों तथा टंकियों में अस्तर देने के तथा अपक्षरण-नियंत्रण और नदी तथा समुद्र के किनारों की रक्षा के कार्यो में भी प्रयुक्त किया जाता है। उद्योग मे ऐस्फ़ाल्ट का प्रयोग बिटुमेनरक्षित (जलावरोधक) कपड़ा बनाने में किया जाता है जो

छत, फर्श, जलरोधक तथा भित्तिपट्ट (वालबोर्ड) की रचना में काम आता है। इसके सिवाय ऐस्फ़ाल्ट का उपयोग विद्युद्रोधन के लिये होता है। बिटुमेनवलित कागज तथा विद्युदवरोधक फीते (इन्सुलेटिंग टेप) बनाने में भी इसका उपयोग होता है। जोड़ने में तथा संधि भरने में यह उपयोगी है। नकली रबर, तैल रंग वारनिश, इनैमल, मोटर की बैटरी और संचायक (अक्युमुलेटर) इत्यादि बनाने तथा शीतल भांडार (कोल्ड स्टोरेज) और प्रशीतन (रेफ़्रिजरेशन) के कार्य में भी इसका उपयोग होता है।

कुछ वर्ष पूर्व तक भारत में ऐस्फ़ाल्ट का बाहर से आयात किया जाता था। किंतु हाल में बंबई में शोधक कारखाने स्थापित किए गए हैं, जहाँ पर विदेश से आए कच्चे पेट्रोलियम का शोधन किया जाता है और बृहद् मात्रा में ऐस्फ़ाल्ट इस उद्योग के अवशिष्ट पदार्थ के रूप में मिलता है। जहाँ तक ऐस्फ़ाल्ट का संबंध है, भारत अब आत्मनिर्भर हो गया है।

सं०ग्रं०—हर्बर्ट ऐब्राहम : ऐस्फ़ाल्ट ऐंड ऐलाएड सब्स्टैंसेज, द्वितीय संस्करण (न्यूयार्क, १६२०); ऐस्फ़ाल्ट इंस्टिट्यूट : ऐस्फ़ाल्ट हैंडबुक (यू० एस० ए०); पर्सी एडविन स्पीलमैन : ऐस्फ़ाल्ट रोड्स (एडवर्ड आरनल्ड ऐंड कं०, लंदन)। (ज० मि० त्रि०)

ओंकार, ओम् ओंकार का नामांतर प्रणव है। यह ईश्वर का वाचक है। ईश्वर के साथ ओंकार का वाच्य-वाचक-भाव संबंध नित्य है, सांकेतिक नहीं। संकेत नित्य या स्वाभाविक संबंध को प्रकट करता है। सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम ओंकाररूपी प्रणव का ही स्फुरण होता है। तदनंतर सात करोड़ मंत्रों का आविर्भाव होता है। इन मंत्रों के वाच्य आत्मा की देवता रूप से प्रसिद्धि है। ये देवता माया के ऊपर विद्यमान रहकर मायिक सृष्टि का नियंत्रण करते हैं। इनमें से आधे शुद्ध मायाजगत् में कार्य करते हैं और शेष आधे अशुद्ध या मलिन मायिक जगत् में।

ब्रह्मप्राप्ति के लिये निर्दिष्ट विभिन्न साधनों में प्रणवोपासना मुख्य है। मुंडकोपनिषत् में लिखा है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

कठोपनिषत् में यह भी लिखा है कि आत्मा को अधर अरणि और ओंकार को उत्तर अरणि बनाकर मंथनरूप अभ्यास करने से दिव्य ज्ञानरूप ज्योति का आविर्भाव होता है। उसके आलोक से निगूढ़ आत्मतत्व का साक्षात्कार होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ओंकार को एकाक्षर ब्रह्म कहा है। मांडूक्योपनिषत् में भूत, भवत् या वर्तमान और भविष्य—त्रिकाल—ओंकारात्मक ही कहा गया है। यहाँ त्रिकाल से अतीत तत्व भी ओंकार ही कहा गया है। आत्मा अक्षर की दृष्टि से ओंकार है और मात्रा की दृष्टि से अ, उ और म रूप है। चतुर्थ पाद में मात्रा नहीं है एवं वह व्यवहार से अतीत तथा प्रपंच शून्य अद्वैत है। इसका अभिप्राय यह है कि ओंकारात्मक शब्द ब्रह्म और उससे अतीत परब्रह्म दोनों अभिन्न तत्व हैं।

वैदिक वाङ्मय के सदृश धर्मशास्त्र, पुराण तथा आगम साहित्य में भी ओंकार की महिमा सर्वत्र पाई जाती है। इसी प्रकार बौद्ध तथा जैन संप्रदाय में भी सर्वत्र ओंकार के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति देखी जाती है। प्रणव शब्द का अर्थ है—प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति, नौति स्तौति इति वा प्रणवः।

प्रणव का बोध कराने के लिये उसका विश्लेषण आवश्यक है। यहाँ प्रसिद्ध आगमों की प्रक्रिया के अनुसार विश्लेषण क्रिया का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। ओंकार के अवयवों का नाम है—अ, उ, म, बिंदु, अर्धचंद्र रोधिनी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी या महाशून्य, समना तथा उन्मना। इनमें से अकार, उकार और मकार ये तीन सृष्टि, स्थिति और संहार के संपादक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के वाचक हैं। प्रकारांतर से ये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं के भी वाचक हैं। बिंदु तुरीय दशा का द्योतक है। प्लुत तथा दीर्घ मात्राओं का स्थितिकाल क्रमशः संक्षिप्त होकर अंत में एक मात्रा में पर्यवसित हो जाता है। यह ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल माना जाता है। इसी एक मात्रा पर समग्र विश्व प्रतिष्ठित है। विक्षिप्त भूमि से एकाग्र भूमि में पहुँचने पर प्रणव की इसी एक मात्रा में स्थिति होती है। एकाग्र से निरोध अवस्था में जाने के लिये इस एक मात्रा का भी भेद कर अर्धमात्रा में प्रविष्ट हुआ जाता है। तदुपरांत क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर मात्राओं का भेद करना पड़ता है। बिंदु अर्धमात्रा है। उसके अनंतर प्रत्येक स्तर में मात्राओं का विभाग है। समना भूमि में जाने के बाद मात्राएँ इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि किसी योगी अथवा योगीश्वरों के लिये उसके आगे बढ़ना संभव नहीं होता, अर्थात् वहाँ की मात्रा वास्तव में अविभाज्य हो जाती है। आचार्यों का उपदेश है कि इसी स्थान में मात्राओं को समर्पित कर अमात्र भूमि में प्रवेश करना चाहिए। इसका थोड़ा सा आभास मांडूक्य उपनिषद् में मिलता है।

बिंदु मन का ही रूप है। मात्राविभाग के साथ साथ मन अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। अमात्र भूमि में मन, काल, कलना, देवता और प्रपंच, ये कुछ भी नहीं रहते। इसी को उन्मनी स्थिति कहते हैं। वहाँ स्वयंप्रकाश ब्रह्म निरंतर प्रकाशमान रहता है।

योगी संप्रदाय में स्वच्छंद तंत्र के अनुसार ओंकारसाधना का एक क्रम प्रचलित है। उसके अनुसार 'अ' समग्र स्थूल जगत् का द्योतक है और उसके ऊपर स्थित कारणजगत् का वाचक है मकार। कारण सलिल में विधृत, स्थूल आदि तीन जगतों के प्रतीक अ, उ और म हैं। ऊर्ध्व गति के प्रभाव से शब्दमात्राओं का मकार में लय हो जाता है। तदनंतर मात्रातीत की ओर गति होती है। म पर्यंत गति को अनुस्वार गति कहते हैं। अनुस्वार की प्रतिष्ठा अर्धमात्रा में विसर्गरूप में होती है। इतना होने पर मात्रातीत में जाने के लिये द्वार खुल जाता है। वस्तुतः अमात्र की गति बिंदु से ही प्रारंभ हो जाती है। तंत्र शास्त्र में इस प्रकार का मात्राविभाग नौ नादों की सूक्ष्म योगभूमियों के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि बिंदु अशेष वेद्यों के अभेद ज्ञान का ही नाम है और नाद अशेष वाचकों के विमर्शन का नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि अ, उ और म प्रणव के इन तीन अवयवों का अतिक्रमण करने पर अर्थतत्व का अवश्य ही भेद हो जाता है। उसका कारण यह है कि यहाँ योगी को सब पदार्थों के ज्ञान के लिये सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है एवं उसके बाद बिंदुभेद करने पर वह उस ज्ञान का भी अतिक्रमण कर लेता है। अर्थ और ज्ञान इन दोनों के ऊपर केवल नाद ही अवशिष्ट रहता है एवं नाद की नादांत तक की गति में नाद का भी भेद हो जाता है। उस समय केवल कला या शक्ति ही विद्यमान रहती है। जहाँ शक्ति या चित् शक्ति प्राप्त हो गई वहाँ ब्रह्म का प्रकाशमान होना स्वतः ही सिद्ध है। इस प्रकार प्रणव के सूक्ष्म उच्चारण द्वारा विश्व का भेद होने पर विश्वातीत तक सत्ता की प्राप्ति हो जाती है। स्वच्छंद तंत्र में यह दिखाया गया है कि ऊर्ध्व गति में किस प्रकार कारणों का परित्याग होते होते अखंड पूर्णतत्व में स्थिति हो जाती है। 'अ' ब्रह्मा का वाचक है; उच्चारण द्वारा हृदय में उसका त्याग होता है। 'उ' विष्णु का वाचक है, उसका त्याग कंठ में होता है तथा 'म' रुद्र का वाचक है और उसका त्याग तालुमध्य में होता है। इसी प्रणाली से ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि तथा रुद्रग्रंथि का छेदन हो जाता है। तदनंतर बिंदु है, जो स्वयं ईश्वर रूप है अर्थात् बिंदु से क्रमशः ऊपर की ओर वाच्यवाचक का भेद नहीं रहता। भ्रूमध्य में बिंदु का त्याग होता है। नाद सदाशिवरूपी है। ललाट से मूर्धा तक के स्थान में उसका त्याग करना पड़ता है। यहाँ तक का अनुभव स्थूल है। इसके आगे शक्ति का व्यापिनी तथा समना भूमियों में सूक्ष्म अनुभव होने लगता है। इस भूमि के वाच्य शिव हैं, जो सदाशिव से ऊपर तथा परमशिव से नीचे रहते हैं। मूर्धा के ऊपर स्पर्शानुभूति के अनंतर शक्ति का भी त्याग हो जाता है एवं उसके ऊपर व्यापिनी का भी त्याग हो जाता है। उस समय केवल मनन मात्र रूप का अनुभव होता है। यह समना भूमि का परिचय है। इसके बाद ही मनन का त्याग हो जाता है। इसके उपरांत कुछ समय तक मन के अतीत विशुद्ध आत्मस्वरूप की झलक दीख पड़ती है। इसके अनंतर ही परमानुग्रहप्राप्त योगी का उन्मना शक्ति में प्रवेश होता है। इसी को परमपद या परमशिव की प्राप्ति समझना चाहिए और इसी को एक प्रकार से उन्मना का त्याग भी माना जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा से शिव पर्यंत छह कारणों का उल्लंघन हो जाने पर अखंड परिपूर्ण सत्ता में स्थिति हो जाती है। (गो० क०)

ओंगोल नगर तमिलनाडु राज्य के गुंटूर जिले में ओंगोल तहसील का मुख्य केंद्र तथा दक्षिणी रेलवे का एक स्टेशन है। (स्थिति १५° ३१' उ० अ० तथा ८०° ३' पू० दे०)। १८७६ ई० से यहाँ नगरपालिका का प्रबंध चल रहा है। नगर में बहुत सी शिक्षा संस्थाएँ हैं। यहाँ पर ईसाइयों द्वारा संचालित एक औद्योगिक विद्यालय है जिसमें ऐल्यूमिनियम के काम तथा जूते और चमड़े के सामान बनाने की शिक्षा दी जाती है। यहाँ अनाज की एक बड़ी मंडी है। यहाँ से दाल, घी तथा चमड़ा और चमड़े के सामान मद्रास तथा अन्य जगहों को भेजे जाते है। (ह० ह० सिं०)

ओआजाका मेक्सिको देश का एक राज्य है, जो उत्तर में पुएब्ला तथा वेराक्रूज राज्य से, पूर्व में च्यापास राज्य से, दक्षिण में प्रशांत महासागर से तथा पश्चिम में गेरेरो राज्य से घिरा हुआ है। यह प्रशांत महासागर के तट के समांतर २७० मील लंबा है तथा इसकी अधिकतम चौड़ाई १७० मील और क्षेत्रफल ३३,६७८ वर्ग मील है। १९७० ई० में जनसंख्या २०,११,९४६ थी। यद्यपि यह कुछ कुछ पहाड़ी तथा ऊँचा नीचा प्रदेश है, फिर भी देश के अति सुंदर एवं सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्रों में से एक है। इसकी मुख्य नदियाँ ऐलवैराडो, रीओ ग्रैंड तथा वर्डि हैं। खनिज पदार्थो में यहाँ सोने चाँदी का उतना महत्व नहीं है जितना ताँबा, लोहा, गंधक, इत्यादि का। प्रायः भूकंप आते रहते हैं तथा सागरीय तट पर भयंकर तूफान, जिन्हें पैरागेलोस कहते है, अचानक आते रहते हैं। यहाँ की जलवायु स्फूर्तिदायक तथा मिट्टी उपजाऊ है। गेहूँ, मक्का, जौ, कपास, गन्ना, केला और अननास की खेती की जाती है। यहाँ का मुख्य एवं एकमात्र बंदरगाह हुआटुलियो है। यहाँ के निवासी 'इंडियंस' कहलाते हैं जिनकी १६ जातियाँ पाई जाती है।

ओआजाका नाम का नगर अपने ही नाम के राज्य की राजधानी है तथा वर्डि नदी के बाएँ तट के निकट, मेक्सिको नगर से २१८ मील दूर दक्षिण पूर्व की ओर ४,८०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। नगर पक्का और अच्छा बना हुआ है (२ मील लंबा, १३/४ मील चौड़ा) तथा बाग बगीचों से सुसज्जित है। यहाँ के लोग मेहनती है तथा रेशम, कपास, चीनी और चॉकलेट इत्यादि के धंधों में लगे हुए है। (श्री० ना० मे०)

ओएंज़बरो संयुक्त राज्य, अमरीका के केंटुकी राज्य में है और उसके उत्तर-पश्चिम की ओर के डेविस प्रदेश का मुख्य स्थान है। यह ओहायो नदी के बाएँ किनारे पर लूइविली से दक्षिण-पश्चिम, रेल से ११२ मील दूर बसा है। केंटुकी राज्य का यह चौथा बड़ा शहर है। १९७० ई० के अंत में यहाँ की जनसंख्या ४६,७५१ थी। पहले इस शहर का नाम येलो बैंक था; १८१८ ई० से इसका नाम ओएंजबरो पड़ा। इसकी स्थिति ३७° ४५' उ० अ० तथा ८७° ७' प० दे० पर है।

यहाँ इलिनॉय सेंट्रल, लूइविली और नैशविली आदि रेलमार्ग मिलते हैं। यह ओहायो नदी के जलमार्ग पर एक प्रसिद्ध बंदरगाह है। यहाँ यथेष्ट व्यापार होता है तथा स्टीमर और बड़ी नावें कैरो से, जो मिसिसिपि जलमार्ग पर है, आती रहती हैं।

यह नगर उपजाऊ कृषिक्षेत्र में स्थित है, जहाँ मक्का, गेहूँ और तंबाकू बहुतायत से उत्पन्न होते है। तंबाकू मुख्य फसल है। यह नगर तंबाकू के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। शहर के निकटवर्ती क्षेत्रो में कोयला, लोहा, सीसा, जस्ता, इमारती पत्थर की खानें है। यहाँ कई प्रकार के उद्योग भी स्थापित हैं। (ल० कि० सिं० चौ०)

ओएन, रॉबर्ट (१७७१-१८५८) ब्रिटेन का प्रसिद्ध समाजसुधारक तथा समाजवादी विचारक। जन्म १४ मई, १७७१ ई० को मांटगोमरीशायर, न्यूटन में हुआ। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में उसे उच्च शिक्षा से वंचित रहना पड़ा। १९ वर्ष की अवस्था में वह मैंचेस्टर में एक सूती मिल का प्रबंधक नियुक्त हुआ और उसके प्रयत्नों से यह सूती मिल ब्रिटेन की सर्वोत्तम सूती मिल मानी जाने लगी।

न्यूलेनार्क मिल्स नामक एक नई मिल से साझीदारी हो जाने पर ओएन ने अपनी योजनाओं को कार्यान्वित किया। मिल मजदूरों के जीवन में उसने महान् परिवर्तन किया। जीवन की भौतिक सुविधाओं तथा व्यावसायिक दृष्टि से भी नई मिल सफल रही। समाजसुधारक के लिये यह मिल एक तीर्थस्थान बन गई। औद्योगिक क्रांति से पीड़ित ब्रिटेन के समाज के संमुख ओएन ने सामाजिक न्याय तथा मानवीय मान्यताओं का आदर्श रखा जिसकी मशीन युग को परम आवश्यकता थी।

अपने साझीदारों से मतभेद हो जाने पर उसने बेंथम तथा विलियम ऐलेन नामक विद्वानों के सहयोग से एक नई फर्म चलाई जिसने केवल पाँच प्रतिशत लाभ उठाने का निर्णय किया।

अपने विचारों को ओएन ने अपनी पुस्तक 'ए न्यू व्यू ऑव सोसाइटी' और 'ऐन एसे आन द प्रिंसिपल्स ऑव द फारमेशन ऑव द ह्यूमन कैरेक्टर' में प्रकाशित किया। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण की उपज होता है। अतएव मानव चरित्र के सुधार के लिये योग्य वातावरण आवश्यक है। १८१५ में फैक्टरी सुधार आंदोलन मे ओएन ने भाग लिया। यद्यपि ब्रिटेन की पार्लमेंट ने उसके प्रस्तावों को स्वीकार किया तथापि उनका संशोधन इस प्रकार किया गया कि ओएन के ध्येय की पूर्ति नहीं हो सकी।

ओएन के विचारानुसार सामाजिक दुःख का प्रमुख कारण मशीनों तथा मानवीय श्रम की प्रतियोगिता थी। अतएव उसने ऐसे समाज की कल्पना की जहाँ मशीनों का प्रयोग मानवीय हित के अधीन हो। ओएन प्रचलित धर्मप्रणाली का भी विरोधी था। अतएव शासकवर्ग ने उसकी योजनाओं को घातक समझना प्रारंभ कर दिया। परंतु अपने विचारों को प्रयोगात्मक रूप देने के लिये ओएन ने अमरीका के इंडियाना नामक स्थान पर अपने व्यय से एक छोटा सा समाज स्थापित किया और उसे न्यू हारमनी नाम दिया गया। यद्यपि यह प्रयोग शांतिपूर्ण तथा नैतिक वातावरण में सरलता से चला तथापि अंत में धर्म तथा राजनीति की समस्या पर मतभेद बढ़ने लगा। ओएन का स्वप्न इस प्रकार अधूरा रह गया। उसके विचार में सारे विश्व को इस प्रकार के छोटे समाजों के आधार पर परिवर्तित किया जा सकता था।

१८२८ में ओएन लंदन में रहने लगा। अपने जीवन के अंत तक मजदूर आंदोलन में भाग लेकर तथा समय समय पर लेखों तथा प्रस्तावों द्वारा वह अपने समाजवादी विचारों का प्रचार करता रहा। समाजवादी विचारधारा की उन्नति में ओएन को प्रमुख स्थान दिया जाता है। यद्यपि उसके विचारों को परवर्ती समाजवादी विचारकों ने नहीं अपनाया तथापि उसकी लगन तथा क्रियाशीलता के महत्व को सबने स्वीकार किया। १८५८ में उसकी मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं०—रॉबर्ट ओएन: ए न्यू व्यू ऑव सोसाइटी; थ्रेडिंग माइ वे ट्वेंटी सेविन ईअर्स आटोबायोग्राफी; रिवोल्यूशन ऑव द माइंड ऐंड प्रैक्टिस ऑव ह्यूमन रेस। (दे० रा० सिं०)

ओकडेल संयुक्त राज्य अमरीका के लुइसीयाना राज्य मे कालकेसीन नदी के किनारे स्थित एक नगर है। यहाँ पर सांटा फ़े और मिसूपैसिफ़िक रेलमार्गो की सुविधा उपलब्ध है। यहाँ पर चीड़ (पाइन) तथा कठोर लकड़ियों से संबधित उद्योग, फ़र्नीचर तथा नौसैनिक सामग्री के उद्योग धंधे विकसित है। (श्री० ना० मे०)

ओकलैंड संयुक्त राज्य अमरीका के कैलिफ़ोर्निया राज्य में सैन फ़ांसिस्को खाड़ी पर स्थित एक नगर है। ८१/४ मील लंबा एक पुल इसे सैन फ़ांसिस्को नगर से जोड़े हुए है। आकार के क्रम में यह कैलिफ़ोर्निया राज्य का तीसरा नगर है और जलयानों, वायुयानों तथा रेलमार्गो का केंद्र है। १९६० ई० में यहाँ की जनसंख्या ३,६७,५४८ थी। खाड़ी के निकट चंद्राकार समतल भूमि पर नगर का व्यापारिक विभाग है जो तीन मील चौड़ा है। इसके पीछे १,५०० फुट तक की ऊँचाईवाली पहाड़ियाँ हैं जिनपर आवासगृह बने हुए हैं। नगर का स्थलीय क्षेत्रफल ६०.२५ वर्ग मील है और इसके बीचोबीच खारे पानी की मेरिट झील स्थित है जो १६० एकड़ भूमि घेरे हुए है। अमरीका के अन्य किसी भी नगर में ऐसी झील नहीं पाई जाती। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इस नगर ने बहुत उन्नति की। मेरिट झील के दक्षिणी सिरे पर एक सामाजिक केंद्र का निर्माण

हुआ है। नगर के मुख्य हॉल से चार मील दूर बर्कले में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय स्थित है। पहाड़ियों के नीचे ६० एकड़ भूमि पर महिलाओं का मिल्स कालेज है। ओकलैंड के बंदरगाह में १९ मील तक जलसीमा है और वहाँ जलयानों के ठहरने, मरम्मत करने, माल लादने और उतारने का प्रबंध है। इसके पीछे ही औद्योगिक क्षेत्र है जो उत्तर में रिचमांड से लेकर दक्षिण में हेवर्ड तक फैला हुआ है। मुख्य उद्योग मोटर, रासायनिक द्रव्य, डब्बों में बंद खाद्य सामग्री, विद्युत् मशीनें, मिठाइयाँ, फ़र्नीचर इत्यादि बनाने के है।

यह नगर १८५० ई० में पट्टे की भूमि पर स्थापित किया गया तथा १८५४ ई० मे नगर घोषित कर दिया गया। आरंभिक बस्ती 'ओक' वृक्षों के बीच बसाई जाने के कारण इनका नाम 'ओकलैंड' पड़ा। (श्री० ना० मे०)

ओकाना मध्य स्पेन के टोलेडो प्रांत में मेसा डि ओकाना पठार के धुर उत्तर में आरनजुएज़ से सुएंका जानेवाले रेलमार्ग पर स्थित एक नगर है। ओकाना रोमनों का वाइकस क्युमिनेरियस है तथा इसे सेविल के एल मोटामिड ने अपनी पुत्री ज़ैदा को विवाहोपलक्ष में भेंट स्वरूप दान दिया था। ज़ैदा का विवाह कैस्टील के छठे अलफ़ांज़ो से हुआ था। (श्री० ना० मे०)

ओकाला नगर संयुक्त राज्य, अमरीका के फ़्लोरिडा राज्य में स्थित मेरिअन काउंटी का मुख्य स्थान है और जैक्सनविले से १०० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह १८४५ ई० में बसाया गया और १८६८ में नगर घोषित कर दिया गया। यह राजमार्गो, रेलमार्गो तथा वायुयानों के मार्गो का केंद्र है। यहाँ का मुख्य खनिज चूना है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर मांस तथा फलों को डब्बों में बंद करने के, क्रीम, इमारती सामान तथा कंक्रीट के नल इत्यादि बनाने के धंधे किए जाते है। यहाँ से पाँच मील पूर्व सिलवर स्प्रिंग्स नामक जलस्रोत स्थित है जो पानी की स्वच्छता एवं चमक के लिये विख्यात है। यहाँ ३०० फुट व्यास का गोलाकार पात्र है जो ६५ फुट गहरा है और जिससे तीन लाख गैलन प्रति मिनट के हिसाब से पानी निकलता है। यह धारा नौतार्य सरिता का रूप लेकर नौ मील बहने के बाद ओकलावाहा नदी में मिल जाती है। (श्री० ना० मे०)

ओकी द्वीप शिमाने द्वीपसमूह के अंग हैं जो जापान के अधिकार में हैं। इनकी स्थिति ३६° उ० अ० तथा १३३° पू० दे० पर है। इनमें एक बड़ा द्वीप है जिसे 'डोगो' कहते हैं तथा तीन छोटे छोटे द्वीप, चिबूरीशिमा, निशीनोशिमा और नाकानोशिमा हैं जिन्हें सामूहिक रूप से 'डोज़िन' कहा जाता है। कुल तटीय लंबाई १३० मील है। डोगो द्वीप का प्रमुख नगर सैगो है जो शिमाने द्वीप के सकाई बंदरगाह से ४० मील दूर है। 'ओकी-नो-शिमा' का अर्थ है 'दूर के द्वीप'। इनका जापानी इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। (श्री० ना० मे०)

ओक्रिडा यूगोस्लाविया के दक्षिणी सर्बिया में ओक्रिडा झील के तट पर बसा हुआ एक नगर है। यह नगर जर्मनी-इटली की सेना द्वारा सन् १९४१ ई० में अधिकृत कर लिया गया था। यहाँ रहनेवालों में बहुसंख्यक अल्वानियावासी, कुछ सर्बियावाले तथा कुछ बल्गर लोग थे। ओक्रिडा झील समुद्र की सतह से २,२६० फुट की ऊँचाई पर है। इसका क्षेत्रफल १०७ वर्ग मील तथा इसकी अधिकतम गहराई ९३८ फुट है। यहाँ की प्राकृतिक छटा रमणीक है। साथ ही यह लाल मांसवाली सामन मछलियों के लिये प्रसिद्ध है। यह क्षेत्र मलेरिया ग्रस्त है। ओक्रिडा प्राचीन लिकनिडास के स्थल पर बसा हुआ है, जो फ़िलिप द्वितीय (३८२-३३६ ई० पू०) द्वारा मैसिडोनिया राज्य में संमिलित कर लिया गया था, परंतु बाद में बल्गरों द्वारा सन् ८६१ ई० में नष्ट कर दिया गया। (श्या० सुं० श०)

ओक्लाहोमा संयुक्त राज्य, अमरीका, का एक राज्य है जो ३३° ३८' उ० अ० से ३७° उ० अ० तक तथा ९४° २६' प० दे० से १०३° प० दे० तक फैला हुआ है। इसके उत्तर में कॉलोरैडो तथा कैंज़ास, पूर्व में मिज़ुरि तथा आरकैंज़ास, दक्षिण में टेक्सैस तथा पश्चिम में टेक्सैस और न्यू मेक्सिको राज्य हैं। कुल क्षेत्रफल ६९,९१९ वर्ग मील है, जिसमें से १,१०० वर्ग मील जलमग्न क्षेत्र है। इसे 'सूनर स्टेट' कहते हैं क्योंकि कुछ लोग शासकीय आज्ञा के पूर्व ही यहाँ आकर बस गए थे। यहाँ की भूरचना विभिन्न प्रकार की है, पश्चिम में घास के मैदान से लेकर पूर्व में घने वनों से ढके ऊँचे नीचे पर्वत हैं। औसत ऊँचाई १,३०० फुट है पर ब्लैक मेसा ४,८०० फुट ऊँचा है। पूर्वी सीमा के मध्य से ओज़ार्क पर्वत आरंभ होते हैं तथा प० द० प० दिशा की ओर पहाड़ियों की शृंखला के रूप में चले जाते हैं। आरबकिल पर्वत, जो दक्षिण में स्थानीय सतह से ४०० फुट ऊँचा है, एक पठार ही है। पश्चिम में विचिटॉ तथा वॉटोंकुआ पर्वत हैं। उत्तर-पश्चिमी भाग ऊँचा पठार है जो रॉकी पर्वत के पूर्व में स्थित विशाल मैदानों का ही भाग है।

प्रेयरीज़ में घास तथा पहाड़ी भागों पर जंगल पाए जाते हैं। उ० प० के खारी मिट्टी के चार मैदान एक विशेषता है। सामान्य जलप्रवाह उ० प० से दक्षिण-पूर्व की ओर है। आरकैंज़ास तथा रेड प्रमुख नदियाँ हैं। जलवायु महाद्वीपीय है तथा औसत ताप उ० प० में ५७° फा० से लेकर द० पू० में ६२° फा० तक पाया जाता है। अधिकांश मिट्टी गहरी चटक लाल, दुमट किस्म की है। नदियों की घाटियों में काली कछारी, पठारी भागों पर रेतीली तथा जलविभाजकों पर लोयस मिट्टियाँ मिलती हैं जो सभी उपजाऊ हैं। कुल जनसंख्या १९७० में २५,५९,२५३ थी तथा औसत घनत्व ३७.२ मनुष्य प्रति वर्ग मील था। यहाँ के ६२.९% मनुष्य नगरनिवासी है। राज्य की मुख्य फसलें गेहूँ, मक्का, सोरघम, जौ, राई तथा विविध प्रकार की घासें हैं। पशु तथा मुर्गीपालन भी महत्वपूर्ण व्यवसाय है। खनिजों में तेल, गैस, कोयला, जस्ता, सीसा आदि मिलते हैं। कच्चा माल अधिक प्राप्य है। ओक्लाहोमा सिटी, टल्सा, मस्कोगी, ईनिड और शौनी प्रमुख नगर हैं। रेलमार्गो की लंबाई ५,५५१ मील तथा सड़कों की लगभग १,०७,९०३ मील है।

ओक्लाहोमा नगर संयुक्त राज्य, अमरीका के इसी नाम के राज्य का सबसे बड़ा नगर तथा राजधानी है और उत्तरी कनैडियन नदी पर बसा हुआ है। रेल, वायुयान तथा सड़कों का बड़ा केंद्र है। १९७० ई० में जनसंख्या ३,६६,४८१ थी। हेफ़नर तथा ओवरहोल्सर नामक दो झीलों से नगर को पानी मिलता है। यहाँ तेल, खाद्यान्नों, कपड़ों, मोटरों, मशीनों, दवाइयों और बर्तनों का थोक बाजार है। राष्ट्र के सबसे बड़े पशु बाजारों में इसकी गणना है। यह नगर १९१० ई० में बन गया था। नगर की औसत ऊँचाई १,२०० फुट है। (श्री० ना० मे०)

ओगुस्तस (६३ ई० पू०–१४ ई०) रोम का पहला सम्राट्, ईसा का समकालीन, जिसका पूरा नाम गाइयस जूलियस सीज़र ओक्ताविआनस् (मूल रूप में गाइयस ओक्ताविआनस) था। रोम के सम्राटों में सबसे महान्, जिसने समकालीन रक्तरंजित रोमन राजनीति को शांति और स्थायित्व प्रदान किया और उस इतिहासप्रसिद्ध युग की प्रतिष्ठा की जो उसके नाम से विख्यात है। जिस प्रकार ग्रीक इतिहास में पेरिक्लीज़ का युग, भारत के इतिहास में गुप्त सम्राटों का युग और इंग्लैंड के इतिहास में ऐलिज़ाबेथ का युग अपनी राजनीति, साहित्य, ललित कलाओं आदि के उत्कर्ष के लिये विख्यात है, उसी प्रकार रोमन इतिहास में इस सम्राट् का राज्यकाल राजनीति, साहित्य, ललित कलाओं आदि के क्षेत्र में उत्कर्ष की चोटी छूकर विख्यात हुआ।

ओगुस्तस २३ सितंबर, ६३ ई० पू० के दिन रोम में पैदा हुआ। उसका पिता गाइयस ओक्तावियस और माता प्रसिद्ध जूलियस सीज़र की भगिनी जूलिया की कन्या अतिया थी। उसे चार वर्ष का छोड़ पिता परलोक सिधारा और माता ने अपने दूसरे पति की सहायता से उसका पालन पोषण किया। जूलियस सीज़र ने उसे अपना वारिस घोषित किया और उपकृत ओक्तावियस् ने अपने नाम के साथ जूलियस सीज़र का नाम भी जोड़ लिया। ४४ ई० पू० के मार्च में जब सीज़र की रोम में हत्या हुई तब ओक्तावियस् ग्रीस में अध्ययन कर रहा था और केवल १९ वर्ष का था। हत्या की सूचना पा वह इटली लौटा और ब्रिंदिसी में सीज़र के मित्रों ने उसका स्वागत किया। ओक्तावियस् ने तभी सीज़र का नाम अपने नाम के

साथ जोड़ लिया और मित्रों के साथ रोम जा पहुँचा। रोम में तब दो दल थे, एक उन प्रजातंत्रीय नेताओं का जिन्होंने सीजर की हत्या की थी और दूसरा उनके विरोधी सीजरवादियों का, जिनके नेता मार्कस अंतोनियस् और मार्कस लेपिदस् थे। रोम पहुँच उसने अंतोनियस् से सीजर की दी हुई विरासत ले ली जिससे पहले तो दोनों में कुछ मनमुटाव हुआ फिर कृत्रिम मित्रता का बीजवपन हुआ। वस्तुतः दोनों एक दूसरे के आंतरिक शत्रु थे। अगले वर्ष अंतोनी, लेपिदस् और ओक्तावियस् की संमिलित अमारत कायम हुई।

इस अमारत ने सबसे पहले तो प्रजातांत्रिक दल के नेताओं की संपत्ति जब्त कर ली। फिर मार्कस ब्रूतस् और लोंगिनस् द्वारा संचालित उस हलकी सेना को मकदुनियाँ में फ़िलिपी नामक स्थान पर ४२ ई० पू० में परास्त किया। दो वर्ष बाद ओक्तावियस् ने अंतोनी से अपनी बहन ओक्ताविया का विवाह कर परस्पर की मैत्री संपुष्ट की जो दोनों के एक दूसरे के प्रति भीतरी विरोध से टूटी जा रही थी। कुछ दिनों बाद लेपिदस् के अमारत से हट जाने से रोम की राजनीतिक शक्ति केवल ओक्तावियस् और अंतोनी में ही केंद्रित हो गई। अब दोनों ने रोमन साम्राज्य को बाँट लिया, अंतोनी को उसके पूर्वी भाग, एशिया आदि, मिले और ओक्तावियस् को इटली के साथ पश्चिम के यूरोपीय देश। पर भीतर ही भीतर दोनों में संघर्ष चलता रहा। दोनों की नीति और रुचि में भी वैषम्य था। जहाँ अंतोनी वीर होता हुआ भी व्यसनी और विलासप्रिय था वहाँ ओक्तावियस् कर्मठ और महत्वाकांक्षी था। ईरानी पार्थवों से एशिया में युद्ध करते अंतोनी के प्रवास के समय अक्तावियस् ने धन और नीति से रोमनों के हृदय जीत लिए और अपने अनेक कार्यो से वह लोकप्रिय हो चला।

साथ ही ओक्तावियस् ने अंतोनी के रोमविरोधी और अनैतिक कारनामे रोम में प्रकट कर दिए जिसका परिणाम भी उसके पक्ष में हुआ। उसने मिस्र की रानी से जन्मे बेटों को दी हुई उसकी विरासत का भंडाफोड़ कर रोम की जनता में अंतोनी के प्रति असंतोष उत्पन्न कर दिया। पहले से ही ओक्ताविया को तलाक दे मिस्री रानी क्लियोपात्रा से अंतोनी के विवाह कर लेने से कुछ कम असंतोष रोमनों में न था। जनता के इस असंतोष का लाभ उठा ओक्तावियस् ने क्लियोपात्रा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया और एक बड़ी सेना लेकर स्थल और जल दोनों भागों से मिस्र पर आक्रमण किया। अक्तियम के युद्ध में उसके सेनापति और मित्र अग्रिप्पा ने अंतोनी को परास्त कर भगा दिया। अंतोनी ने मिस्र की राह ली और ओक्तावियस् ने उसका पीछा किया। अंतोनी और क्लियोपात्रा ने उसके सिकंदरिया पहुँचते ही आत्महत्या कर ली। अब ओक्तावियस् समूचे रोमन साम्राज्य का अकेला स्वामी था।

ओक्तावियस् ने रोम लौटकर पहले विधान की व्यवस्था की। उसने ३१ ई० पू० में कांसुल पद स्वीकार किया जो अगले आठ वर्षो तक प्रति वर्ष उसके पक्ष में घोषित होता रहा। अगले दो वर्ष उसने मिस्र, ग्रीस, सीरिया, लघु एशिया और द्वीपों की राजनीति व्यवस्थित करने के लिये पूर्व में बिताए और रोम लौटकर उसने लगातार तीन दिनों तक विजयोत्सव किया। रोम का भी वैधानिक पुनरुद्धार आवश्यक था, सो उसने पहले तो पिछले गृहयुद्ध के अन्यायों का निराकरण किया फिर सिनेटरों की संख्या ९०० से ६०० कर दी, धार्मिक क्रियाओं को फिर से प्रतिष्ठा दी, ललित कलाओं और साहित्य को अपनी संरक्षा से प्रोत्साहित किया, अनावश्यक सेनाएँ तोड़ दीं, कृषि का विकास किया, देशी उद्योगों को सँभालने में सहायता की, उपनिवेश स्थापित किए, और सबसे महत्व का कार्य, उसने देश में, विशेषतः रोम में, वर्षो से होते आते रक्तपात को बंद कर वहाँ पूर्ण शांति की स्थापना करके, किया।

२७ ई० पू० की जनवरी में ओक्तावियस् ने राज्य की व्यवस्था सिनेट और रोमन जनता को सौंप दी। उसके बदले उसे स्पेन, गाल, सीरिया और मिस्र का निजी प्रांतों के रूप में लाभ हुआ और उसका कांसुल पद सुरक्षित बना रहा। अब उसने अपनी शालीनता और महिमा बढ़ाने के लिये 'ओगुस्तस' उपाधि धारण की, जिससे वह संसार के इतिहास में विख्यात हुआ। धीरे धीरे उसने बड़े राजनीतिक चातुर्य से शासन और अधिकार अपने हाथ में लेने शुरू किए। एक के बाद दूसरा अधिकार उसके हाथों में केंद्रित होने लगा और उसने अपना स्थान रोम की राजनीति में कुछ ऐसा बना लिया जैसा उससे पहले किसी शासक को उपलब्ध न था।

उन्हीं दिनों ओगुस्तस ने अफ्रीका और एशिया, गाल और स्पेन में लड़ाइयाँ लड़ीं और अनेक देश जीते। पार्थवों के साथ युद्ध एक अनुकूल संधि द्वारा उसने बंद कर दिया जिससे आर्मेनिया का राज्य उसके हिस्से पड़ा। ९ ई० पू० में निश्चय गाल में उसे कुछ संकट का सामना करना पड़ा, जब जर्मनों ने उसके सेनापति वारस को मारकर उसकी उत्तरवर्ती सेना नष्ट कर दी। पर अंत में उसके उत्तराधिकारी तिबेरियस् ने जर्मनों का पराभव कर उस ओर से भी उसे निश्चित कर दिया।

रोमन साम्राज्य की सीमाएँ इस प्रकार दूर दूर तक फैला ओगुस्तस ने अपनी सम्राट्पदीय व्यवस्था प्रसारित की। बड़े परिश्रम से उसने नए कानून की घोषणा की और शांति के सभी कार्यो को अपनी संरक्षा दी। रोम से साम्राज्य के प्रांतों को जानेवाली सड़कें नए सिरे से बनी और उनपर रक्षा के प्रहरी बैठे, व्यापार के सारे मार्गो का लक्ष्य राजधानी बनी, रोमन नागरिक को नई शक्ति मिली और देश को नई मुद्राप्रणाली का लाभ हुआ। वर्जिल और होरेस जैसे महान् कवियों ने उसी शांति और सुरक्षा के युग में अपने अमर काव्य लिखे। रोम नगर के सौंदर्य में तो इतनी अभिवृद्धि हुई कि लोगों में यह कहावत ही चल पड़ी कि "नगर को उसने ईंटों का पाया था पर छोड़ा उसे संगमरमर का बनाकर"। उपकृत सिनेट ने तब वर्ष के एक मास का नाम बदलकर उसके नाम का अनुवर्ती ओगस्तस रखा जो अब अगस्त कहलाता है।

ओगुस्तस ने विवाह तो तीन तीन किए पर उसके जूलिया नाम की कन्या के सिवा कोई और संतान न हुई। उसने पहले अपनी बहिन के पुत्र मार्सेलस को, फिर अपनी कन्या के पुत्रों को बारी बारी से अपना उत्तराधिकारी बनाया परंतु वे उससे भी पहले मर गए। तब उसने अपनी पत्नी के अन्य पति से जनित विपुत्र द्रूसस् को उत्तराधिकारी घोषित किया परंतु वह भी कुछ काल बाद परलोक सिधारा। तत्पश्चात् उसके छोटे भाई तिबेरियस् को उसने मनोनीत किया जो ओगुस्तस के बाद रोमन साम्राज्य का सम्राट् हुआ, यद्यपि उससे ओगुस्तस घृणा करता था।

ओगुस्तस शरीर से कुछ विशेष शक्तिमान न था और प्रायः रोगों का शिकार बना रहता था। न उसमें अंतोनी की सैनिक तीव्रता थी और न सीज़र की सामरिक विचक्षणता, परंतु धीरज और नैतिक सूझ उसमें उन दोनों से अधिक थी। जिस महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप सीजर की हत्या हुई उसी ने ओगुस्तस को रोम का पहला सम्राट् बनाया और प्रायः ४१ वर्ष राज कर ७७ वर्ष की आयु में वह शांतिपूर्वक अपने मित्रों के बीच मरा। कहते हैं, उसने मृत्युशय्या के निकट खड़े रोमनों से पूछा— "क्या मैंने अपनी भूमिका उचित रूप से खेली है?" और स्वीकारात्मक उत्तर पाने पर उसने कहा—"तब विदा, संतुष्ट होओ, प्रसन्न रहो!" निश्चय इस घटना से अपने जीवन की सफलता पर उसका शांत परितोष प्रकट होता है।

सं०ग्रं०—फ़र्थ जानबी : आगस्टस् सीजर, न्यूयार्क, १९०३; बेयरिंग-गूल्ड सेबाइन : द ट्रैजेडी ऑव द सीज़र्स, न्यूयार्क, १९०७; मार्च, फ्रैंक नी० : द फ़ाउंडिंग ऑव द रोमन एंपायर, द्वितीय संस्करण, आक्सफ़र्ड; द कैंब्रिज ऐंशेंट हिस्ट्री, खंड १०, न्यूयार्क १९३४।

(भ० श० उ०)

ओग्डेन संयुक्त राज्य, अमरीका, के यूटा राज्य में ओग्डेन और वीबर नदियों के संगम पर तथा साल्ट लेक सिटी से ३५ मील उत्तर स्थित एक नगर है। इसके पीछे वॉसैच पर्वत है। जलमार्गो तथा वायुयान मार्गो का यह एक बड़ा केंद्र है। १९७० ई० में यहाँ की जनसंख्या १,९६,४७८ थी। यह समुद्रतल से ४,३१० फुट की ऊँचाई पर एक जलोढ़ व्यजन (ऐल्यूविएल फ़ैन) पर है। यहाँ एक प्राचीन झील है जिसे बॉनेविल झील कहते हैं। पूर्व में ओग्डेन पर्वत की चोटी, जो ९,६८५ फुट ऊँची है तथा उत्तर में बेन लोमंड की चोटी, जो ९,३८५ फुट ऊँची है एकदम से ऊपर उठ जाती है तथा इनके बीच से ओग्डेन नदी एक सुंदर

प्रपाती बनाती हुई बहती है। यहाँ के मुख्य उद्योग आटा पीसना, मांस तथा सब्जी डब्बों में बंद करना, सीमेंट बनाना, दूध से बनी वस्तुएँ और बुने हुए एवं तैयार कपड़े बनाना है। प्रति वर्ष पशुओं का एक मेला लगता है। यह नगर सन् १८४७ ई० में बसाया गया था और इसका पुराना नाम ब्राउंसविल (Brow..sville) था। (श्री० ना० मे०)

ओग्डेनवर्ग यह संयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयार्क राज्य की सेंट लॉरेंस काउंटी में ऑसविगाची नदी के मुहाने पर स्थित एक नगर है। यहाँ न्यूयार्क सेंट्रल तथा रटलैंड रेलमार्ग आते हैं। यह ऑटेरियो झील से लगभग ५० मील दूर है। नगर सेंट लॉरेंस नदी के किनारे की उच्च भूमि पर स्थित हैं और यहाँ जलयानों के लिये अच्छा आश्रय स्थान उपलब्ध है। यह पत्तन बारहों मास खुला रहता है और यहाँ से अनाज, इमारती लकड़ी तथा कोयला बाहर भेजा जाता है। दियासलाई, कागज तथा लुगदी के कारखाने है। इसके ३० मील दक्षिण-पश्चिम में सेंट लॉरेंस नदी में सहस्र द्वीप (थाउज़ैंड आइलैंड्स) हैं। इसका नामकरण अब्राहम ओग्डेन के नाम पर १८६८ में किया गया था। (श्री० ना० मे०)

ओग्लेसबाइ संयुक्त राज्य, अमरीका, के इलिनॉय राज्य में शिकागो से १०० मील दक्षिण-पश्चिम में, इलिनॉय नदी पर स्थित एक नगर है। यहाँ वरमीलियन नदी अपना मुहाना बनाती है। इस नगर के ठीक सामने ला सैल नगर है। ओग्लेसबाइ रेलमार्गो का केंद्र है तथा यहाँ ५१ नंबर के राजमार्ग से पहुँचा जा सकता है। यहाँ का प्रमुख उद्योग सीमेंट बनाना तथा कोयला निकालना है। चूने के पत्थर भी यहाँ बहुत पाए जाते हैं। यह नगर सन् १८५६ ई० में बसा था। १९१३ ई० से पूर्व इसका नाम 'पोर्टलैंड' था। (श्री० ना० मे०)

ओज़ोन विशेष प्रकार की गंधयुक्त गैस है। अल्प मात्रा में ओज़ोन हवा में पाया जाता है। समुद्र की सतह पर की हवा में धरती की अपेक्षा यह कुछ अधिक रहता है, यद्यपि सदैव नहीं। साधारणत: धरातल से ऊँचाई पर इसकी मात्रा अधिक होती है। कहीं कहीं झरनों के पानी में भी ओज़ोन का पता लगा है।

एम० फ़ान मारम ने १७८५ में ज्ञात किया कि क्रियाशील विद्युत् मशीनों के आसपास एक विशेष गंध पाई जाती है। अम्लीय पानी के विद्युद्विश्लेषण के समय धनाग्र (ऐनोड) के समीप भी कुछ ऐसी ही गंध का डब्ल्यू० क्रुकशैंक ने पता लगाया। १८३९ में सी० एफ़० शेनबाइन ने बताया कि यह गंध एक निश्चित वस्तु के बनने के कारण ही होती है जिसका नाम उन्होंने ओज़ोन रखा। बिजली गिरने पर तथा तर हवा में फ़ास्फ़रस के समीप भी ऐसी गंध आती है, जो ओज़ोन के कारण ही रहती है।

इन क्रियाओं में आक्सिजन के संमिलन से ओज़ोन प्राप्त होता है, $3O_2 = 2O_3 - 18.2$ कलरी। अत: ओज़ोन के निर्माण में शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जिन विधियों से ओज़ोन प्राप्त होता है उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: पहली भौतिक तथा दूसरी रासायनिक।

गर्मी का प्रभाव—ओज़ोन साधारण ताप पर बहुत कुछ स्थायी है, परंतु गरम करने या देर तक रखने पर आक्सिजन में विघटित हो जाता है। वैसे तो अधिक ताप ओज़ोन के निर्माण के लिये अनुकूल होता है, परंतु विघटन से बचाने के लिये तुरंत ही इसे ठंडा करना पड़ता है। गरम प्लैटिनम के तार को द्रव हवा में डुबाने से भी थोड़ा ओज़ोन प्राप्त होता है।

रेडियम, पोलोनियम आदि के ऐल्फ़ा किरण के प्रभाव से भी आक्सिजन से ओज़ोन बनता है। आक्सिजन से भरे बर्तन में, जिसमें कुछ रेडियम भी रखा हो, थोड़ा भाग ओज़ोन का प्राप्त होता है। इसी प्रकार पराबैंगनी किरणें भी ओज़ोन बनाने में उपयोगी होती हैं।

पानी के विद्युद्विश्लेषण में धनाग्र (ऐनोड) पर आक्सिजन प्राप्त होता है, जिसमें कुछ भाग ओज़ोन का रहता है। इस गैसीय मिश्रण में ओज़ोन का अनुपात कई बातों पर निर्भर रहता है, जैसे विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) की प्रकृति तथा उसका विस्तार, विद्युद्विश्लेष्य (इलेक्ट्रोलाइट) की प्रकृति और विद्युद्धारा की मात्रा। पतला प्लैटिनम विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) का प्रयोग करके, जो भीतर से बर्फ जमानेवाले हिम-लवण-मिश्रण के प्रवाह द्वारा ठंढा भी होता रहे, और पर्याप्त विद्युत् घनत्व लगाकर गंधक का अम्ल मिले पानी का विद्युद्विश्लेषण करने पर, अधिक ओज़ोन मिलता है। यह विधि वैसे तो खर्चीली है, परंतु ऐसा प्राप्त ओज़ोन नाइट्रोजन से अपेक्षाकृत दूषित नहीं होता तथा हाइड्रोजन भी उपजात के रूप में प्राप्त होता है।

आक्सिजन गैस में विद्युद्विसर्जन (डिस्चार्ज) करने से ओज़ोन बनता है। ओज़ोन बनाने के उपयुक्त इस प्रकार के उपकरण को ओज़ोनाइज़र कहते हैं, जैसे सीमेंस या ब्राडो का ओज़ोनाइज़र। यह एक शीशे की नली होती है जिसमें दो विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) लगे रहते हैं। इन विद्युदग्रों के बीच इंडक्शन क्वायल या ट्रान्सफ़ार्मर (ट्रैंसफ़ॉर्मर) की सहायता से उच्च बारंबारता की प्रत्यावर्ती (ए० सी०) विद्युद्धारा प्रवाहित की जाती है। साथ ही शुद्ध आक्सिजन गैस ओज़ोनाइजर की नली में धीरे धीरे प्रवाहित की जाती है। ओज़ोनाइज़र या तो हवा में ही ठंढा होता रहता है या इसे ठंढे पानी में डुबाकर रखते हैं। बाहर निकलती हुई गैस में ओज़ोन की पर्याप्त मात्रा रहती है। साधारणतया ओज़ोन प्राप्त करने के लिये इसी विधि का उपयोग होता है।

बहुत सी ऐसी उष्माक्षेपक (एक्सोथर्मिक) रासायनिक क्रियाओं में, जो कम ताप पर होती हैं, अथवा आक्सीकरण की ऐसी क्रियाओं में, जो धीरे धीरे होती हैं, कुछ ओज़ोन, आक्सिजन के साथ, प्राप्त होता है। अम्ल की उपस्थिति में हाइड्रोजन पराक्साइड के विघटन से तथा इसी प्रकार कई आक्साइड (जैसे BaO_2, Na_2O_2 इत्यादि) पर अम्ल की क्रिया से कुछ ओज़ोन मिलता है। परसल्फ़्यूरिक अम्ल, परकारबोनिक अम्ल अथवा परसल्फ़ेट तथा परबोरेट भी इस संबंध में उपयोगी हैं। फ़्लोरीन गैस पर पानी की क्रिया से, अथवा हाइड्रोफ़्लोरिक अम्ल के विलयन के विशेषत: कम ताप पर विद्युद्विश्लेषण (इलेक्ट्रोलिसिस) द्वारा आक्सिजन के साथ ओज़ोन प्राप्त होता है। फ़ास्फ़रस के आक्सीकरण में ओज़ोन भी बनता है।

साधारण ताप पर ओज़ोन हल्के नीले रंग की गैस है, जो हवा में बहुत अल्प मात्रा में रहने पर भी अपनी विशेष गंध से पहचानी जा सकती है। अधिक मात्रावाली ओज़ोन की हवा को सूँघने से सिर दर्द होता है; यदि मात्रा अधिक हो, या देर तक गैस में रहें तो मृत्यु भी हो सकती है। ओज़ोन गैस का घनत्व ($0°$ सें०, ७६० मिलीमीटर दाब पर), २.१४४ ग्राम / लिटर है। गाढ़े नीले रंग के द्रव ओज़ोन का घनत्व (१८३° सें० पर) १.७१ ग्राम/सेंटीमीटर^3 है।

ओज़ोन द्रव आक्सिजन तथा द्रव नाइट्रोजन में विलेय है। पानी में इसकी बहुत कम मात्रा घुलती है; गंधक के अम्ल के विलयन में इसकी घुलनेवाली मात्रा अम्ल की शक्ति पर निर्भर है। उदासीन लवण के विलयन में ओज़ोन का विलयन अधिक स्थायी होता है, परंतु क्षारीय विलयन में इसकी विलेयता कम होती है। कई प्रकार के तेल, जैसे तारपीन, दालचीनी या कुछ वसाएँ ओज़ोन की पर्याप्त मात्रा सोख लेती हैं। ऐसीटिक अम्ल, एथिल ऐसीटेट, क्लोरोफ़ार्म तथा कार्बन टेट्रा-क्लोराइड में ओज़ोन का विलयन नीले रंग का होता है।

साधारण ताप पर ओज़ोन धीरे धीरे विघटित होता है। गरम करने पर या बहुत सी वस्तुओं (जैसे लोहा, चाँदी, मैंगनीज़, सीसा, निकल तथा पारा के आक्साइड अथवा चाँदी, प्लैटिनम आदि धातु) की उपस्थिति में ओज़ोन का विघटन शीघ्र होता है। इस क्रिया में आक्सिजन प्राप्त होता है। अधिक ताप पर विघटन में कुछ प्रकाश भी निकलता है। यह अवदीप्ति (ल्यूमिनिसेंस) टोंटी के पानी में या ऐल्कोहल, बेंजीन इत्यादि कार्बनिक यौगिकों में ओज़ोन तथा आक्सिजन का गैसीय मिश्रण प्रवाहित करने पर भी प्राप्त होता है।

ओज़ोन अति शक्तिशाली आक्सीकारक है। यह पोटैसियम आयोडाइड से आयोडीन को स्वतंत्र कर देता है। इसीलिये गीले पोटैसियम आयोडाइड तथा स्टार्च के कागज का रंग ओज़ोन में नीला हो जाता है। इस प्रकार का आक्सीकरण कई दूसरी वस्तुएँ भी करती हैं। ओज़ोन में

बहुत सी धातुओं, जैसे चाँदी, ताँबा, निकेल, राँगा, सीसा आदि, का आक्सीकरण होता है। कुछ में तो अधिक उष्मा की आवश्यकता पड़ती है, परंतु अन्य में यह क्रिया सरलता से होती है। इन क्रियाओं में पानी की उपस्थिति, चाहे थोड़ी मात्रा में हो, आवश्यक है।

ओजोन के संपर्क में पारा के गुणों में बहुत अंतर आ जाता है और वह काच की सतह पर चिपकने लगता है। इसमें पानी डालने से पुनः पारा का मूल रूप प्राप्त हो जाता है। ओजोन द्वारा बहुत से लवणों का आक्सीकरण होता है, जैसे मरक्यूरस, फ़ेरस तथा स्टैनस क्लोराइड के विलयन में ओजोन की क्रिया से मरक्यूरिक, फ़ेरिक तथा स्टैनिक क्लोराइड प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार लेड तथा मैंगनस लवण से तत्संबंधी आक्साइड प्राप्त होते हैं। काले लेड सल्फ़ाइड से सफेद लेड सल्फ़ेट मिलता है। सल्फ़र डाइआक्साइड तथा कार्बन मॉनोक्साइड से क्रमानुसार गंधक ट्राइआक्साइड तथा कार्बन डाइआक्साइड प्राप्त होते हैं।

अधातुओं से भी ओज़ोन संयोग करता है। आयोडीन से आयोडीन के ऊँचे आक्साइड तथा फ़ास्फ़रस से फ़ास्फ़रिक पेंटॉक्साइड बनते हैं। ओजोन से हाइड्रोजन क्लोराइड तथा हाइड्रोजन आयोडाइड का विघटन होता है। बेरियम पराक्साइड तथा हाइड्रोजन पराक्साइड से क्रमशः बेरियम आक्साइड तथा पानी प्राप्त होते हैं; इन क्रियाओं में ओजोन अवकारक रहता है।

रबर तथा बहुत से कार्बनिक यौगिकों से ओजोन क्रिया करता है। यदि ओजोन की मात्रा अधिक हो तो रबर की नली या डाट को यह खा जाता है। ओजोन की क्रिया द्वारा मिथेन से फ़ारमैल्डिहाइड और फ़ारमिक अम्ल तथा एथिल ऐल्कोहल से ऐल्डिहाइड और ऐसीटिक अम्ल बनते हैं। नाइट्रोग्लिसरोल, नाइट्रोजन क्लोराइड तथा आयोडाइड ओजोन में विस्फोटक है। बहुत से वानस्पतिक रंग ओजोन के संयोग से नष्ट हो जाते हैं, जैसे नील तथा रुधिर का रंग।

ओजोन से कीटाणुओं का तथा अन्य गंदी कार्बनिक वस्तुओं का आक्सीकरण होता है। इसलिये पीने का पानी शुद्ध करने तथा उससे दुर्गंध दूर करने के लिये ओजोन का उपयोग होता है। कागज, तेल अथवा ऐसी ही अन्य औद्योगिक वस्तुओं को रंगहीन बनाने में ओजोन उपयोगी है।

सं०ग्रं०--जे० डब्ल्यू० मेलोर : ए कॉम्प्रिहेसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२); जे० आर० पारटिंगटन : ऐ टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री (१९५०); चार्ल्स डी० हॉजमैन : हैंडबुक ऑव केमिस्ट्री ऐंड फ़िजिक्स। (वि० वा० प्र०)

ओटावा इस नाम के चार नगर और एक नदी है। नगर कैनाडा में ओंटेरियो प्रांत के कार्लटन प्रदेश में ओटावा नदी के दाहिने किनारे पर शोडयेर जलप्रपात के पास स्थित है और कैनाडा की राजधानी है। यह नगर मॉट्रील से १०१ मील पश्चिम और टोरेंटो से २१७ मील उत्तर-पूर्व की ओर है। इसकी स्थिति ४५° २५' उ० अ० तथा ७५° ४४' प० दे० पर है। यह चपटी पहाड़ियों पर बसा है, जो नदी से ६० से लेकर १५५ फुट तक ऊँची है। यहाँ कई बड़ी बड़ी सरकारी इमारतें, संसद्भवन, गिरजे तथा विश्वविद्यालय हैं। सन् १८५८ ई० में यह छोटा नगर, जो पहले बाइटाउन कहलाता था, कैनाडा की राजधानी चुना गया, और इसका नाम बदलकर ओटावा पड़ा। तब से यहाँ की आबादी बढ़ती गई और १९७० ई० के अंत में ५,३६,००० हो गई। यह कैनाडा का पाँचवाँ बड़ा नगर है। यहाँ के एक तिहाई निवासी फ्रेंच भाषी, बाकी अंग्रेजी भाषी है।

यह नगर रेलों का बड़ा केंद्र है। मुख्य बड़े रेलमार्ग, कैनेडियन पैसिफ़िक रेलवे, कैनेडियन नैशनल रेलवे तथा न्यूयार्क सेंट्रल रेलवे, यहीं से होकर गुजरते हैं। विद्युच्चालित रेलें इस नगर को, क्विवेक, मॉण्ट्रील, टोरेंटो, विनिपेग इत्यादि नगरों से जोड़ती है। ग्रीष्म ऋतु में यहाँ से स्टीमर ओटावा नदी द्वारा मॉण्ट्रील को जाते हैं। इस जलमार्ग को तीन नहरों द्वारा नदी के छोटे जलप्रपातों को दूर कर, १८३४ ई० में पूरा किया गया। उसी प्रकार इसे सेंट लारेंस नदी पर स्थित किंग्स्टन नगर से रिडो नहर तथा झीलों द्वारा १८२४ ई० में मिलाया गया।

ओटावा के पास के क्षेत्रों से कई जलप्रपातों द्वारा अधिक मात्रा में जलविद्युत् पैदा की जाती है जो नगर में प्रकाश तथा शक्ति देने और रेलों तथा कारखानों के काम आती है। मुख्य जलविद्युत् उत्पादक केंद्र शोडयेर, रिडो तथा गैटनो के जलप्रपातों पर अवस्थित हैं।

यह नगर लकड़ी के लट्ठों, लकड़ी चीरने, तथा लुगदी और कागज बनाने का बहुत बड़ा केंद्र है। कैनाडा की कई बड़ी कागज की मिलें यहाँ है। लकड़ी से संबंधित और भी कारखाने है, जैसे दियासलाई आदि के। शहर का औद्योगिक जीवन लकड़ी से संबंधित कारखानों पर निर्भर है। आटा पीसने, लोहा गलाने, रासायनिक द्रव्य तैयार करने तथा अन्य उत्पादनों के कारखाने भी यहाँ है।

२. **ओटावा** नाम का दूसरा नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, के इलिनॉय राज्य के ला सैल प्रदेश के प्रधान अधिकारी के रहने का स्थान है। यह इलिनॉय और फ़ोक्स नदियों के संगम पर, इलिनॉय नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। यह शिकागो से ८४ मील दक्षिण-पश्चिम, ४१° २२' उ० अ० तथा ८८° ५१' प० दे० पर है। सन् १९६० ई० में यहाँ की जनसंख्या १९,४०८ थी।

यहाँ से होकर कई रेलमार्ग शिकागो, बर्लिंगटन तथा क्विंसी को जाते है। यह नगर इलिनॉय और मिशिगन नहर जलमार्ग द्वारा शिकागो नगर तथा मिशिगन झील से मिला है। शहर के पास ही कोयले की बड़ी खान है। शीशे तैयार करने की बालू और क्ले मिट्टी भी मिलती है। यहाँ कई उद्योग स्थापित है, जिनमें शीशा, सिगार, रेल के डब्बे, कृषि की मशीनें और पियानो बनाना मुख्य है।

३. **ओटावा** नामक तीसरा नगर संयुक्त राज्य अमरीका, के कैंजास राज्य में फ़्रैंकलिन प्रदेश के मुख्य अधिकारी के रहने का स्थान है। यह कैंजास नगर से ५८ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर बसा है। इसकी स्थिति ३८° ३७' उ० अ० तथा ९५° १८' प० दे० पर हैं। १९६० ई० में यहाँ की जनसंख्या १०,६७३ थी। यहाँ से होकर मिजुरि पैसिफ़िक रेलवे, सैंटा फ़े रेलमार्ग जाते है। यहाँ जानवरों और अनाज का व्यापार होता है तथा यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है। कोयला तथा प्राकृतिक गैस पास में मिलती है। यहाँ का मुख्य उद्योग आटा पीसना तथा तार, ईंटें, फर्नीचर और लोहे का सामान बनाना है।

४. **ओटावा** नाम का चौथा नगर संयुक्त राज्य, अमरीका के ओहायो स्टेट के उत्तर-पश्चिम की ओर पुटनैम प्रदेश का मुख्य नगर है। यह ब्लैंचर्ड नदी के दाहिने किनारे पर टोलेडो से ५० मील दक्षिण-पश्चिम ४१° २' उ० अ० एवं ८४° २' प० दे० पर स्थित है। यह नगर बाल्टिमोर, डिट्रॉएट, टोलेडो एवं आयरनटन से रेलमार्ग द्वारा जुड़ा है।

५. **ओटावा** सेंट लारेंस नदी की सबसे बड़ी सहायक नदी है। इसकी लंबाई ६८५ मील है। यह कैनाडा की नवीं बड़ी नदी है। यह नदी विक्टोरिया झील से निकलकर पहले पश्चिम की ओर, फिर दक्षिण-पूर्व तथा पूर्व की ओर बहती है और मॉण्ट्रील के पास सेंट लारेंस नदी में मिल जाती है। इसकी मुख्य सहायक नदियाँ गैटनो, ल्येव्र रोग, माडावास्का एवं रिज्यू हैं। ओटावा नगर से मॉण्ट्रील तक पाँच फुट गहरे जल में चलनेवाले स्टीमर ग्रीष्म ऋतु में इस नदी पर चलते हैं। इस नदी में कई जलप्रपात है, जहाँ जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है और लुगदी तथा कागज बनाने के कारखानों में काम आती है। लट्ठे नदी द्वारा बहाकर जलविद्युत उत्पादक केंद्रों तक लाए जाते है। लकड़ी से संबंधित कारखाने नदी के किनारे किनारे कई स्थानों पर है। (ल० कि० सि० चौ०)

ओड मिश्र छंद के ढाँचे में, सामान्यतः ओजपूर्ण स्वर और उच्च शैली की, एक सार्वभौम अभिरुचिवाली विषयवस्तु से युक्त संबोधनपरक कविता। नृत्य एवं संगीत वाद्यों के साथ गाए जानेवाले यूनानी समवेत गीतों में इसका मूल उद्गम निहित है।

यूनान में, ओडों का मुख्य आदर्श यूनानी दुःखांतों के सहगानों में प्राप्य था। छंद की दृष्टि से ये ओड अपनी रचना में अत्यंत मिश्र थे, जो तीन भागों में विभक्त है--स्ट्रोफ़ी (ग्रीक अर्थ = मोड़) जो नर्तकों की दाएँ से बाएँ

जाने की गति का प्रतिनिधान करते हुए **ऐंटीस्ट्रोफ़ी** द्वारा संतुलित होता था। यह उस समय गाया जाता था जब यह सहगान दाएँ से बाएँ की ओर मुड़ता था और इपोड, जिसे नर्तक स्थिर खड़े होकर (समवेत गीतों में, गिरजाघर की वेदी के संमुख) गाते थे और जो विशेष अवसरों पर ही होता था। एलकमैन (६३० ई० पू०) ने सर्वप्रथम स्ट्रोफ़ी को अपनी कविता पायोनियम में सुनियोजित करके प्रस्तुत किया। किंतु ऐसी योजनावाले ओड पिंडरी ओड के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि पिंडर (५२२-४४२ ई० पू०) ने इस ढाँचे का प्रयोग अपने विजय संबंधी ओडों में किया था। ये विजय ओड ओलिंपिक खेलों में विजयी होने के अवसर पर लिखे गए थे।

ओड का आधुनिक रूप एक संबोधन काव्य जैसा है जिसका आरंभ रोमन कवि होरेस (६५-८ ई० पू०) के ओड से होता है। होरेस की 'कार्मिना' (जो सदा ओडों के रूप में अनूदित हुई है) उन छंदों से युक्त है जिनको यूनानी मांडिक गीतों में माँजा गया था; विशेष रूप से साफ़ो (६२० ई० पू०), एल्सीयस (६११–५८० ई० पू०) तथा एनैक्रियन (५६३–४७८ ई० पू०) के गीतों में। होरेस के प्रायः सभी ओड किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को संबोधित करके लिखे गए हैं और उनमें से कुछ बड़ी गंभीरता से रोम एवं रोमन नैतिक जीवन की महत्ता का गान करते हैं।

पुनर्जागरणकालीन शास्त्रीय स्वरूप के उत्थान के साथ ही साथ अनेक देशों के कवियों ने ओड को अपनाया। फ्रांसीसी कवि पियर रोंसार्द ने पिंडरी शैली को अपने कुछ ओडों (१५५२-५५ ई०) में अनुकृत करने की चेष्टा की। इतालवी कवि पेत्रार्क ने अपनी देशभक्तिपरक कविताओं—'इतालिआमिआ' तथा 'स्पिरितोजेंतील' (रिएज़ी को संबोधित) में होरेसीय पद्धति का अनुगमन किया।

अंग्रेजी कविता में, तीन विभिन्न प्रकार के ओड निकले—(१) समान चरणोंवाली होरेसीय शैली जिसमें एक ही स्ट्रोफ़ीवाले गीत हों और प्रत्येक में विभिन्न लंबाइयोंवाली पंक्तियाँ हों। उदा०—जॉनसन, रेंडाल्फ़ हेरिक। किंतु बाद को इनमें नियमितता की ओर झुकाव मिलता है। उदा०—मेलविल कृत "अपॉन क्रॉम्वेल्स रिटर्न फ़्राम आयरलैंड", ग्रे के लघु ओड, कॉलिंस, कीट्स, स्विनबर्न। (२) अनियमित ओड, जिनके चरण अपने ढाँचे एवं लंबाई में असमान होते हैं और उनमें प्रयुक्त लय और स्वराघात वैविध्यपूर्ण होते हैं। उदा०—काउली ('पिंडरिक ओड'), ड्राइडेन (**'अलेग्जेंडर्स फ़ीस्ट', 'ओड ऑन सेंट सिसीलियाज़ डे'**); वर्ड्स्वर्थ (**'इंटीमेशंस ऑव इम्मारटैलिटी'**); कोलरिज (**'फ़्रांस', 'डिजेक्शन'**); शेली (**'ओड टु नेपुल्स'**); टेनिसन, कोवेंट्री पेटमोर (**ओड्स, १८६८**); जी० एम० हापकिंस (**'द रेक ऑव द डूशलैंड'**)। डब्ल्यू० वाटसन और लारेंस बनियन इस रचनाप्रकार के अति उल्लेखनीय रचयिताओं में से थे। (३) नियमित पिंडरी ओड, यथा ग्रे का प्राग्रेस ऑव पोएज़ी (१७५४) और द बार्ड (१७५७), वाल्टर सैवेज लैंडर का ओड टु शेली और ओड टु मिलेटस। स्विनबर्न ने इस पिंडरी शैली का प्रयोग अपने राजनीतिक ओडों में किया। आजकल ओड प्रगीत रूप में स्वीकार किए जाते हैं तथा अपेक्षाकृत लंबे भी होते हैं जिनमें कवि अपने हृदय के गंभीरतम उद्गारों को अभिव्यक्त करता है। (र० मो०)

ओडिन अथवा ओथिन ट्यूटन जातीय मिथकशास्त्र में एकाक्ष आदिम कुलपिता तथा देवेश जिसे प्रज्ञा एवं युद्ध का अधिपति माना जाता है। उत्तरी यूरोपवासियों के अनुसार ओडिन बोर देवता का वेस्टला दानवी से उत्पन्न पुत्र है। फ्रिग ओडिन की प्रमुख पत्नी तथा पटरानी है जिससे उसके थोर तथा बाल्डर नामक पुत्र पैदा हुए। इसके अतिरिक्त, विभिन्न स्त्रियों से उत्पन्न उसके और भी अनेक पुत्रों के नाम मिलते हैं जिन्हें 'गर्दभमुखी देवताओं' के समूह में रखा जाता है। इतना ही नहीं, वह अनेक निजंधरी राजाओं का पिता भी माना जाता है।

विली तथा वी नामक अपने भाइयों की सहायता से ओडिन ने ईमिर नाम के दैत्य का वध किया और उसके रक्त से महासागरों, मांस से पृथ्वी, अस्थियों से पर्वतों एवं चट्टानों, खोपड़ी से आकाश तथा मस्तिष्क से बादलों का निर्माण किया। मानवजाति को ओडिन ने एक विशेष प्रकार के भस्म तथा देवदारु के वृक्ष से बनाया। उसका वर्णन प्रायः लंबे केशधारी अथवा धूसर दाढ़ीवाले ५० वर्षीय खल्वाट किंतु चुस्त देवता के रूप में मिलता है। वह एक ढीला सा चोगा तथा नीली टोपी पहनता है। अंगुली में ड्रापनिर नाम की जादुई अंगूठी पहने और गंगनिर नामक भाले को हाथ में लेकर अपने अष्टपाद अश्व स्लीपनिर पर सवार होकर वह इधर उधर घूमता है।

देवेश की हैसियत से ओडिन स्वर्गस्थित ग्लैडशीम नाम के विशाल कक्ष में देवताओं की गोष्ठी की अध्यक्षता करता है। उसके एक कंधे पर हुगिन (विचार) तथा दूसरे पर ममिन (स्मृति) नामक द्रोणकाक बैठते हैं और उसे विश्व के बारे में वे सभी सूचनाएँ देते हैं जो उन्होंने पृथ्वी के ऊपर अपनी उड़ान के दौरान एकत्र की होती हैं। उसके पैरों के पास गेरी तथा फ़्रेकी नामक भेड़िए लेटे रहते हैं।

ओडिन अत्यधिक ज्ञानपिपासु है। उसने ज्ञान-जल-परिपूरित मिमिर के कुएँ से एक बाल्टी जल प्राप्त करने के बदले अपनी एक आँख दे डाली थी। लगातार नौ दिन तक वह ईगड्रेसिल से लटककर निवलहेम की बर्फभरी गहराइयों को टकटकी लगाए देखता रहा था और इससे ही उसने टोने तथा मंत्र सीखने की कला का ज्ञान प्राप्त किया था जिसके कारण वह जादूगर के रूप में माना जाता था। बौनों द्वारा क्वासिर के रक्त से निर्मित काव्य-मधु को उपलब्ध करने के लिये ओडिन ने अपनी जान की बाजी लगा दी थी और वनिर ने जब मिमिर (बुद्धि का प्रतीक) का कटा हुआ सिर असगार्ड (स्वर्ग) भेजा तो ओडिन ने उसे मंत्रों एवं जड़ीबूटियों के प्रयोग से जीवित रखा तथा उससे भविष्य का रहस्य ज्ञात करता रहा। एक बार एक जटिल प्रश्न का उत्तर पाने के लिये जान पर खेलकर वह स्वयं नरक गया। फाँसी पर लटके प्राणियों के नीचे बैठकर वह उनके ज्ञान को पी जाने का आदी है।

युद्ध के देवता के रूप में ओडिन सुनहरे लाल रंग का अँगरखा पहनकर वालहाल में बैठता है और प्रायः अपने गिने चुने योद्धाओं के साथ युद्धस्थल में जाकर जीतनेवालों तथा मरनेवालों के भाग्य का निपटारा करता है।

पश्चिम यूरोप तथा स्कैंडिनेविया के जनसामान्य ओडिन के नाम से परिचित हैं परंतु उसकी पूजा संभवतः पहले पहल जर्मनी के निचले भागों में प्रारंभ हुई होगी और सैनिक क्षेत्रों में उसे विशेष महत्व दिया गया होगा क्योंकि उसके आरंभिक वर्णन एक ऐसे देवता के रूप में मिलते हैं जो युद्ध में हत व्यक्तियों की आत्माओं का हार्दिक स्वागत करता है और वालहाल में उनके रहने का समुचित प्रबंध भी करता है जहाँ उक्त आत्माएँ परस्पर युद्ध करते हुए तथा दावतें उड़ाते हुए समय व्यतीत करती हैं। ईसाई मतावलंबी ओडिन तथा शैतान को परस्पर अभिन्न मानते हैं। आँग्ल सैक्सन जाति के लोग उसे वोडन या वाउटन नाम से जानते हैं और उनका विश्वास है कि रोगों की उत्पत्ति उन विषाक्त कीटाणुओं से होती है जो नरक के उस नवम भाग से उड़कर संसार में पहुँचते हैं जहाँ ओडिन ने एक अति विषाक्त अजदहे की बोटी बोटी काटकर सुरक्षित रख दी थी। बहरहाल, यूरोप के विभिन्न भागों में ओडिन लगभग २०० विभिन्न नामों से प्रख्यात है और जनमानस में उसकी प्रतिष्ठा एक सशक्त देवाधिपति के रूप में वर्तमान है। (कै० चं० श०)

ओडेसा १. रूस के उक्रेन राज्य में ४६° २५' उ० अ० तथा ३०° ४४' पू० दे० पर स्थित बंदरगाह है। यह काला सागर के उत्तरी-पश्चिमी तट पर अर्धचंद्राकार खाड़ी के दक्षिणी किनारे पर स्थित है। १९७० में इसकी जनसंख्या ८,९२,००० थी। इस बंदरगाह में जलयानों के पाँच आश्रयस्थान हैं और वहाँ लंगर डालने की सब सुविधाएँ हैं। वर्ष में कुछ दिनों के लिये आश्रयस्थान तथा खाड़ी बर्फ से ढक जाती है तथा प्रति वर्ष औसतन १६ दिन के लिये नौतरण में बाधा आ जाती है। जलवायु कुछ कुछ महाद्वीपीय है। शरद् का तापमान २३.२° फा०, ग्रीष्म का ७२.८° फा० तथा वार्षिक वर्षा १४" है। अनाज, ऊन, चौपाए, चीनी और इमारती लकड़ी का निर्यात तथा कोयला, लोहा, मशीनें, कृषियंत्र, कपास, तंबाकू तथा शिल्पनिर्मित वस्तुओं का आयात होता है। नगर १५० फुट ऊँचे पठार पर बसा हुआ है और उसकी जलवायु सुहावनी है। चारों ओर अनेक ऐसे स्थल हैं जो स्वास्थ्य के लिये लाभकारी हैं। सड़कें चौड़ी और वृक्षों से सुसज्जित हैं। यहाँ के निवासियों में कई देशों से

आए हुए लोग हैं, जैसे जर्मन, यहूदी, ग्रीक, तातार, तुर्क, रूसी इत्यादि। यहाँ अनेक उद्योग हैं तथा कई शिक्षासंस्थाएँ हैं। यहाँ का चिड़ियाघर प्रसिद्ध है।

२. इस नाम का दूसरा नगर संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी मध्य टेक्सास राज्य का एक नगर है और सैन ऐंजेलो से ११० मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। समुद्र से इसकी ऊँचाई २,८९० फुट है। १९६० ई० में यहाँ की जनसंख्या ८०,३३८ थी। पेट्रोलियम और पशुओं के लिये यह महत्वशाली केंद्र है। इस नगर से १० मील दक्षिण-पश्चिम में एक उल्काविवर (ओडेसा मीटियर क्रेटर) है। यह संयुक्त राज्य, अमरीका, का दूसरा बड़ा उल्काविवर है। इसका व्यास ६०० फुट है। (श्री० ना० मे०)

ओत्तपालम् केरल राज्य के पालघाट जिले का एक छोटा नगर है (स्थिति १०° ४६' उ० अ० और ७६° २३' पू० दे०)। वेनियाकुलम से चार मील पूर्व पुरानी सड़क पर स्थित इसका रेलवे स्टेशन है। यहाँ पर कुछ सरकारी कार्यालय, जैसे तहसीलदार तथा मुंसिफ की कचहरियाँ, डाकखाना, तथा पुलिस स्टेशन आदि हैं। कुछ शिक्षा संस्थाएँ भी हैं। यहाँ पर एक बहुत ही प्रसिद्ध प्राचीन मंदिर है, जिसपर किसी अज्ञात भाषा में लिखा हुआ भित्तिलेख है। पहले यहाँ लोहा गलाने का काम होता था। इस समय वनस्पति का तेल बनाने का उद्योग होता है। पामिश की पत्ती से सन निकालने का व्यवसाय खूब उन्नति कर गया है। कॉफी (कहवा) का भी व्यवसाय होता है। (ह० ह० सिं०)

ओथेलो, द मूर ऑव वेनिस शेक्सपियर का एक प्रसिद्ध दुःखांत नाटक जिसका अभिनय पहली बार सन् १६०४ ई० और प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १६२२ ई० में हुआ। इसकी गणना हैमलेट, मैकबेथ तथा किंग लियर के साथ शेक्सपियर के प्रमुख चार दुःखांत नाटकों में होती है।

ओथेलो एक साहसी मूर योद्धा है जो वेनिस राज्य के सेनापति के पद पर कार्य करता है। वेनिस के राजकीय सिनेट के सदस्य ब्रैबेंसियो की पुत्री डेसडिमोना ओथेलो के साहसपूर्ण कार्यों की कथा से प्रभावित होकर गुप्त रूप से उससे विवाह कर लेती है। पता चलने पर ब्रैबेंसियो तथा उसके परिवार के लोग इस बात से बहुत रुष्ट होते हैं और ड्यूक के संमुख इस मामले को पेश करते हैं। इसी समय तुर्कों द्वारा साइप्रस पर संभावत आक्रमण की सूचना मिलती है और रक्षार्थ ओथेलो का वहाँ भेजा जाना परम आवश्यक हो जाता है। अंततोगत्वा ब्रैबेंसियो ओथेलो और डेसडिमोना के विवाह को स्वीकार करता है तथा पति पत्नी साइप्रस के लिये प्रस्थान करते हैं।

साइप्रस में ओथेलो अपने कार्य का निर्वाह सफलतापूर्वक करता है किंतु शीघ्र ही कुछ अप्रत्याशित घटनाएँ उसका जीवन दुःखपूर्ण बना देती हैं। वह कैसियो नामक फ्लोरेंटाइन पदाधिकारी के कार्य से प्रसन्न होकर उसकी पदवृद्धि करता है। इस बात से इयागो नामक कुटिल अफसर अप्रसन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार उसकी दीर्घकालीन सेवाओं की अवहेलना होती है। इयागो, जो अत्यंत कुचक्री है, ओथेलो के विरुद्ध षड्यंत्र में लग जाता है। उसकी चालबाजी से प्रभावित होकर ओथेलो कैसियो से अप्रसन्न होता है और उसे पदच्युत कर देता है। इयागो कैसियो से मिलकर उसे यह सलाह देता है कि वह डेसडिमोना से यह प्रार्थना करे कि वह उसकी सिफारिश ओथेलो से कर दे। जब सरल स्वभाववाली डेसडिमोना कैसियो की सिफारिश ओथेलो से करती है तब इयागो ओथेलो के मन में उसके और कैसियो के अनुचित प्रणयसंबंध का संदेह उत्पन्न कर देता है। इस संदेह को पुष्ट करने के लिये वह षड्यंत्र द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है कि ओथेलो द्वारा डेसडिमोना को दिया हुआ रूमाल कैसियो के पास मिलता है। गहरे संदेह से उत्तेजित होकर ओथेलो सोती हुई डेसडिमोना का वध करता है। साथ ही साथ इयागो राडरिगो नामक हत्यारे द्वारा कैसियो के वध की व्यवस्था करता है। कैसियो मरता नहीं, केवल आहत होता है और इयागो रहस्योद्घाटन के भय से राडरिगो का वध कर डालता है। मृत राडरिगो के पास इयागो का एक पत्र मिलता है जिससे सिद्ध हो जाता है कि डेसडिमोना नितांत निर्दोष थी। पश्चात्ताप से मर्माहत होकर ओथेलो आत्महत्या करता है।

यह दुःखांत नाटक रोचक कथानक के अतिरिक्त डेसडिमोना, ओथेलो, विशेषतः इयागो के चरित्रचित्रण के लिये प्रसिद्ध हैं।

सं०ग्रं०—बैडले : ए० सी०, शेक्सपियरिअन ट्रैजेडी, १९५२; अल्लरडाइक, निकोल : स्टडीज़ इन शेक्सपियर, १९२७; जी० बी० हैरिसन : शेक्सपियर्स ट्रैजेडीज़, १९५१; ग्रैनविल्ले बार्कर : प्रीफ़ेस टु शेक्सपियर। (रा० अ० द्वि०)

ओदंतपुर प्राचीन काल का प्रमुख ऐतिहासिक स्थान। इसके पर्याय उदंतपुर अथवा उदंडपुर भी हैं। पालनरेश धर्मपाल ने यहीं एक अत्यंत भव्य विहार का निर्माण कराया था। तिब्बती परंपरा के अनुसार इस ओदंतीपुरी विहार की रचना या तो गोपाल ने अथवा देवपाल ने करवाई। धर्मपाल के ओदंतपुरी विहार की रचना की कथा देवपाल द्वारा बनवाए विहार की कथा से मिलती जुलती है। विहार के राजशाही जिले में पहाड़पुर की खुदाई में जिस विहार का संकेत मिलता है (मेम्वायर्स ऑव दि आर्को० सर्वे ऑव इंडिया, न० ५५) वह संभवतः यही ओदंतपुर विहार है। इस स्थान तथा समीपवर्ती गाँव का नाम ओमपुर है। बल्लालसेन ने अपने युग के सर्वाधिक धनी श्रेष्ठी बल्लभानंद से ओदंतपुर (उदंतपुर) नरेश को पराजित कर सकने के लिये एक करोड़ रुपए लिए थे (बल्लालचरित, अध्याय २)। (चं० भा० पां०)

ओदिसी होमर कृत दो प्रख्यात यूनानी महाकाव्यों में से एक महाकाव्य। ईलियद (द्र०) में होमर ने ट्राजन युद्ध तथा उसके बाद की घटनाओं का वर्णन किया है जबकि ओदिसी में ट्राय के पतन के बाद ईथाका के राजा ओदिसियस की, जिसे यूलिसीज़ नाम से भी जाना जाता है, उस रोमांचक यात्रा का वर्णन है जिसमें वह अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए, १० वर्ष बाद अपने घर पहुँचता है।

ओदिसी २४ अनुवाकों में विभक्त है और इसका घटनाकाल ४२ दिन का है। आरंभिक अनुवाक् में देवताओं की सभा में ओदिसियस की संरक्षिका एथीना जीयस से शिकायत करती है कि ओदिसियस १० वर्ष पूर्व ट्राय से रवाना हुआ था किंतु अभी तक घर नहीं पहुँच सका है; कारण, कैलिप्सो नामक राक्षसी ने उसे ऑजीजिया नामक द्वीप में रोक रखा है जबकि ईथाका में पिनलोपी (ओदिसियस की पत्नी) के पाणिग्रहणार्थी ऊधम ही नहीं मचा रहे हैं बल्कि ओदिसियस की संपत्ति भी चट कर रहे हैं। जीयस एथीना को यथाविवेक कार्य करने की अनुमति दे देता है और वह ओदिसियस के पुत्र टेलेमैकस के संमुख मेंटर (टेलेमैकस का शिक्षक) के रूप में उपस्थित होकर उसे परामर्श देती है कि वह अपने घर में पिनलोपी के पाणिग्रहणार्थियों का प्रवेश रोक दे तथा स्वयं अपने पिता का पता लगाने के लिये यात्रा करे। द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अनुवाकों में टेलेमैकस संबंधी कथा चलती है। टेलेमैकस एक सभा का आयोजन कर उसमें पिनलोपी के पाणिग्रहणार्थियों की भर्त्सना करता है और मेंटर रूपी एथीना की सहायता से एक जहाज प्राप्त करके अपनी माँ को बताए बिना ही यात्रा पर चल पड़ता है। मेंटर के साथ वह पाइलॉस पहुँचकर वृद्ध नेस्टर से मिलता है जहाँ उसे ट्राजन युद्ध के असल विवरण ज्ञात होते हैं। पाइलॉस से वह स्पार्टा जाता है। वहाँ मेनेलाउस की पत्नी हेलेन (द्र० 'ईलियद') से मिलता है और घर लौटने की तैयारी करने लगता है। उसके तुरंत बाद कवि ईथाका स्थित ओदिसियस के प्रासाद की घटनाएँ प्रस्तुत करता है। एक ओर पिनलोपी अपने पुत्र के एकाएक लुप्त हो जाने से संत्रस्त है और दूसरी ओर उसके पाणिग्रहणार्थी बंदरगाह पर एनटॉनस की देखरेख में एक जहाज भेजकर व्यवस्था करते हैं कि टेलेमैकस जैसे ही लौटे, उसकी हत्या कर दी जाय ताकि ओदिसियस की संपत्ति और पिनलोपी पर उनका कब्जा हो सके।।

पाँचवें अनुवाक में पुनः देवताओं की सभा का दृश्य है जिसमें एथीना एक बार फिर ओदिसियस की मुक्ति का प्रयत्न करती है। जीयस हर्मीज़

को कैलिप्सो के पास भेजता है और उसके कहने से वह वृक्षों के लट्ठों का बेड़ा बनाकर ओदिसियस को ईथाका की ओर रवाना कर देती है। १७ दिन तक तारों की सहायता से यात्रा करने के बाद जैसे ही ओदिसियस फ़्रियैशिया द्वीप के निकट पहुँचता है, समुद्र के देवता पोसीदोन के क्रोध के कारण उसका बेड़ा टूट जाता है और वह लहरों में डूबने उतराते लगता है। तभी समुद्र की अप्सरा लिउकोथिया उसे एक प्राणरक्षक रूमाल देती है जिसके सहारे वह अंततः फ़्रियैशिया पहुँचता है।

छठे अनुवाक् में फ़्रियैशिया के राजा एलसिनस की बेटी नउसिकाआ स्वप्न में एथीना से आदेश पाकर अगली सुबह समुद्रतट पर अपने कपड़े धोने जाती है जहाँ उसकी भेंट नंगे ओदिसियस से होती है। सातवें अनुवाक् में वह उसे कपड़ा पहनाकर घर ले आती है। आठवें अनुवाक् में राजा एलसिनस दरबार में ओदिसियस का स्वागत करता है। इस अवसर पर भाट ट्राजन-युद्ध-संबंधी गीत गाता है तो ओदिसियस विचलित होकर रोने लगता है। राजा उससे रोने का कारण पूछता है तो ओदिसियस को अपना वास्तविक परिचय देना पड़ता है। अगले तीन अनुवाकों में ओदिसियस ट्राय के पतन के बाद की अपनी १० वर्ष की रोमांचक यात्रा का विवरण सबको सुनाता है। १२वें अनुवाक् में ओदिसियस फ़्रियैशिया के जादुई जहाज पर ईथाका पहुँचता है जहाँ एथीना एक गड़ेरिए के रूप में उससे मिलती है और उसे भिखारी के रूप में परिवर्तित कर देती है ताकि उसकी पत्नी के पाणिग्रहणार्थी उसे पहचानकर कोई हानि न पहुँचा सकें। १३वें अनुवाक् में एथीना ओदिसियस को उसके शूकरपाल के यहाँ भेजकर स्वयं स्पार्टा जाती है और टेलेमैकस को शीघ्रता से ईथाका लौटने का आदेश देती है। १४वें अनुवाक् में ओदिसियस तथा शूकरपाल की बातचीत है। १५वें अनुवाक् में टेलेमैकस अपनी माँ के पाणिग्रहणार्थियों के षड्यंत्र से बचकर सुरक्षित घर लौट आता है। १६वें अनुवाक् में टेलेमैकस शूकरपाल के घर में अपने पिता को पहचान लेता है। पश्चात् पितापुत्र पिनलोपी के पाणिग्रहणार्थियों से छुटकारा पाने की योजना बनाते हैं। १७वें तथा १८वें अनुवाक् में भिक्षुकवेशी ओदिसियस अपने प्रासाद में पहुँचता है जहाँ उसका पुराना कुत्ता एरगस उसे पहचानकर खुशी के मारे दम तोड़ देता है। इसी समय ओदिसियस प्रासाद में उपस्थित पिनलोपी के पाणिग्रहणार्थियों का औद्धत्य देखता है जिससे आगे चलकर उन्हें मारने के उसके भयंकर कृत्य की उचित भूमिका भी बन जाती है। १९वें अनुवाक् में ओदिसिय तथा पिनलोपी की आमने सामने बातचीत होती है परंतु पिनलोपी अपने पति को पहचान नहीं पाती, जबकि उसकी पुरानी धाय यूरीक्लिया उसके पैर में बचपन में बने क्षतचिह्न को देखकर उसे पहचान जाती है। २०वें अनुवाक् में ओदिसियस गुस्से के कारण रात भर जागकर अनेक बातें सोचता रहता है। २१वें अनुवाक् में पिनलोपी अपने पाणिग्रहणार्थियों को चुनौती देती है कि वे सब पारी पारी ओदिसियस के धनुष का चिल्ला चढ़ाकर इस तरह तीर चलाएँ कि वह विशाल वृक्ष में टँगे १२ छल्लों के बीच से निकल जाय। सब असफल होते हैं किंतु भिक्षुकवेशी ओदिसियस छल्लों के बीच से तीर निकाल देता है। २२वें अनुवाक् में महाकाव्य का चरमोत्कर्ष है। ओदिसियस पिनलोपी के सारे पाणिग्रहणार्थियों को तीरों से बेधकर मार देता है। कोई भी एक, बचकर निकल नहीं पाता, क्योंकि विशाल कक्ष के सभी दरवाजे पहले ही बंद कर दिए गए थे। २३वें अनुवाक् में पिनलोपी अपने पति को पहचानती है और दोनों के मिलन का हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी दृश्य सामने आता है। महाकाव्य के अंतिम अथवा २४वें अध्याय में, जिसे कुछ आलोचक प्रक्षिप्त मानते हैं, देवदूत मरकरी पिनलोपी के सभी पाणिग्रहणार्थियों की आत्माओं को नरक के निचले एवं निकृष्ट प्रदेशों में ले जाता है जहाँ उन्हें विभिन्न प्रकार के त्रासमय दंड दिए जाते हैं। इसी बीच ओदिसियस नगर के बाहर खेतों में जाकर अपने पिता लैरटीज़ से मिलता है। अंत में ओदिसियस के घर लौट आने के उपलक्ष में शानदार दावत होती है और इथाका में सुखशांति स्थापित होने की सूचना के साथ ग्रंथ का समापन हो जाता है। (कै० चं० श०)

ओद्रक प्रसिद्ध शुंगवंश का पाँचवाँ राजा। इसका दूसरा नाम पुराणों में आद्रक भी मिलता है। उसके अनुसार उसने केवल दो वर्ष राज किया। संभवतः इसका एक और नाम काशीपुत्र भागभद्र भी था। इस नाम के साथ ओद्रक का एकीकरण संदेह से खाली नहीं है। तक्षशिला के ग्रीक राजा अंतलिकिद ने दियपुत्र हेलियोदोरस को अपना राजदूत बनाकर मगध भेजा था। वह दूत वैष्णव था और उसने विष्णु के नाम पर बेसनगर (मध्य प्रदेश) में एक स्तंभ खड़ा कराया। उसपर उत्कीर्ण लेख में मगधराज काशीपुत्र भागभद्र का उल्लेख है, जो ओद्रक अथवा भागवत दोनों में से कोई हो सकता है। संभवतः ओद्रक ने १२३ ई० पू० के लगभग राज किया। (ओं० ना० उ०)

ओनाइडा संयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयॉर्क राज्य के मैडिसन प्रदेश का एक नगर है। यह उनिता तथा सीराक्यूज़ नगरों के मध्य में ओनाइडा झील से दक्षिण पूर्व छह मील पर स्थित है। इसको सैंड्स हिगिनबाथम ने १८२९-३० ई० में बसाया था। १९०१ ई० से इसे नगर माना गया है। यह नगर न्यूयॉर्क सेंट्रल तथा न्यूयॉर्क, ओंटेरियो तथा पश्चिमी रेलमार्गो द्वारा जुड़ा हुआ है। दक्षिण-पूर्व की ओर ओनाइडा कासल गाँव है जहाँ पहले ओनाइडा जाति के अमरीकी आदिवासी एकत्रित होते थे। यह नगर इस जातिवालों का मुख्य केंद्र है। ये लोग अधिकांशतः चाँदी के बर्तन बनाने का धंधा करते हैं। इस नगर में लकड़ी की वस्तुओं, विद्युत् संबंधी उपकरण, दूध दुहने के यंत्रों, लोहे के सामान, पट्टियों, कागज की पेटियों इत्यादि का निर्माण होता है। (वि० चं० मि०)

ओ' नील, यूजिन ग्लैडस्टोन (१८८८–१९५३ ई०) प्रख्यात अमरीकी नाटककार, कवि तथा उपन्यासकार। ओ'नील का जन्म १६ अक्टूबर, १८८८ ई० को न्यूयार्क नगर के ब्रॉडवे स्थित एक होटल में हुआ था। उनके पिता जेम्स ओ' नील (१८४७–१९२० ई०) विख्यात अभिनेता थे लेकिन उन्हें अत्यधिक शराब पीने की लत पड़ गई थी। उनकी माता भी भावनात्मक दृष्टि से जर्जर थीं और लगातार नशीले पदार्थों का सेवन किया करती थीं। ओ'नील ने अपने जीवन के प्रथम सात वर्ष गलियों, सड़कों तथा बाजारों में बिताए क्योंकि उनके अभिनेता पिता नगर नगर, गाँव गाँव घूमकर नाटक दिखलाया करते थे। उनकी आरंभिक शिक्षा कैथोलिक स्कूल में हुई किंतु परिवार के घुमंतू होने के कारण वे किसी भी स्थान पर टिककर व्यवस्थित रूप में न पढ़ सके। अंत में वे प्रिंस्टन कालेज में पढ़ने गए लेकिन एक वर्ष बाद परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के कारण पढ़ाई छोड़ दी। पश्चात् उन्होंने कई स्थानों पर क्लार्की की, पत्रकार भी रहे परंतु कहीं भी जम न सके। फिर विवाह किया और थोड़े ही समय बाद पत्नी को तलाक दे दिया। तदुपरांत उन्होंने सोने की खानों की खोज में तकदीर आजमाने की कोशिश की। वहाँ भी असफल हुए तो भागकर नाविक बन गए और आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका तथा अन्य अनेक देशों की यात्राएँ कीं। २५ वर्ष की आयु में उन्हें क्षय रोग ने धर दबोचा तो उनकी दुःसाहसिक वृत्ति भी शिथिल पड़ गई। उपचार के लिये वे छह महीने एक स्वास्थ्य केंद्र में रहे जहाँ उन्हें नाटक और नाट्यसाहित्य विषयक अनेक पुस्तकें पढ़ने का सुअवसर मिला। यहीं उन्होंने जीविका कमाने के लिये नाटक लिखने का निश्चय किया। उनका प्रथम नाटक 'द वैब' था जिसके प्रकाशित होते ही वे एक प्रतिभाशाली नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। पहली पत्नी को तलाक देने के काफी बाद उन्होंने दूसरा विवाह किया लेकिन उसका अंत भी तलाक में हुआ। उनका तीसरा विवाह भी सफल न हो सका और वे अपनी मृत्यु (२७ नवंबर, १९५३ ई०) तक व्यवस्था एवं समाज के प्रति विद्रोही ही बने रहे।

सुशील, सौम्य एवं आकर्षक व्यक्तित्वधारी ओ'नील ने कुल मिलाकर ४७ नाटकों का सृजन किया। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक कविताएँ तथा उपन्यास भी लिखे हैं। ओ'नील को अपने नाटकों पर चार बार 'पुलिट्ज़र पुरस्कार' मिला—'बियांड द होराइज़न' पर १९२० ई० में 'एन्ना क्राइस्टी' पर १९२२ ई० में 'स्ट्रेंज इंटरल्यूड' पर १९२८ ई० में तथा 'लांग डेज़ जर्नी इंटू नाइट' पर १९५७ ई० (मरणोपरांत) में। १९३६ ई० में उन्हें साहित्य संबंधी 'नोबेल पुरस्कार' भी प्रदान किया गया। 'नोबेल पुरस्कार' पानेवाले वे प्रथम अमरीकी नाटककार थे।

उनकी प्रमुख रचनाएँ : १. बाउंड ईस्ट फ़ार कार्डिफ़ (१९१६) २. द मून ऑव द कैरिबीज़ (१९१८) ३. बियांड द होराइज़न (१९१६), ४. एन्ना क्राइस्टी (१९२२), ५. स्ट्रेंज इंटरल्यूड (१९२८), ६. दि एम्परर जोंस (१९२१), ७. द हेयरी एप (१९२२), ८. आल गॉड्स चिलन गॉट विंग्स (१९२४), ९. द ग्रेट गॉड ब्राउन (१९२५), १०. डिज़ायर अंडर द एल्म्स (१९२५), ११. लैज़ेरस लाफ़्ड (१९२६), १२. मोर्निंग बिकम्स एलेक्ट्रा (१९३१, तीन नाटकों का संग्रह), १३. आइसमैन कमेथ (१९४६) तथा लांग डेज़ जर्नी इंटू नाइट (रचनाकाल अनिश्चित) हैं।

ओ'नील स्वीडन के महा नाटककार आगस्त स्ट्राइंडबर्ग से प्रभावित थे। १९३६ ई० में नोबेल पुरस्कार स्वीकार करते समय उन्होंने कहा था, "आधुनिक नाटक की कल्पना मुझे स्ट्राइंडबर्ग से प्राप्त हुई है।" स्ट्राइंडबर्ग की भाँति उन्होंने अपने आरंभिक नाटकों में प्रकृतिवादी दृष्टिकोण अपनाया, किंतु दर्शकों से सीधे बात करने की सुविधा को लेकर उन्होंने प्रकृतिवाद का परित्याग कर अभिव्यंजनावाद का सहारा लिया और रंगमंच के नवीन रूपों तथा भूले बिसरे पुराने माध्यमों के संबंध में नए प्रयोग करने शुरू किए। विभाजित व्यक्तित्व का चित्रण करने के लिये 'द ग्रेट गॉड ब्राउन' की रचना की, पर्दे के पीछे के जीवन को प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'द स्ट्रेंज इंटरल्यूड' में लंबे स्वगत कथनों तथा पार्श्व संवादों की योजना की और पृथकत्व एवं काव्यात्मक यथार्थ के सृजन हेतु 'मार्को विलियम्स' तथा 'लैज़ेरस लाफ़्ड' में वृंदगानों एवं बैले का प्रयोग किया। नाटकों की लंबाई के मामले में भी ओ'नील अन्य नाटककारों से अलग हैं। उन्होंने १५ मिनट के स्वगत कथनात्मक 'बिफ़ोर ब्रेकफ़ास्ट' से लेकर रंगमंच पर तीन दिन में पूरे होनेवाले और दर्शकों को बेहद उबानेवाले 'मोर्निंग बिकम्स एलेक्ट्रा' जैसे बृहदाकार नाटक भी लिखे हैं। उनके उक्त प्रयोगों से परंपराप्रेमी सामाजिक तथा समालोचक काफी क्षुब्ध हुए। ओ'नील के चरित्र प्रतीकात्मक (सिंबॉलिक) कहे जाते हैं। ये चरित्र अपने अचेतन मन की तरंगों को स्वगत कथन के रूप में अनजाने ही व्यक्त करते हुए से लगते हैं। उनके बहुत से चरित्र तो इतने विलासी हैं कि वे अपने निकटतम संबंधियों से भी कामतृप्ति की आकांक्षा रखते हैं। तो भी अमरीकी रंगमंच के उत्थान और विकास में अकेले ओ'नील ने जितना योगदान किया है, उतना किसी अन्य अमरीकी नाटककार ने नहीं किया। (कै० चं० श०)

ओनेस हेक केमरलिंग (१८५३–१९२६ ई०) लाइडेन (नेदरलैंड्स) के वैज्ञानिक थे। प्रसिद्ध क्रायोजेनिक प्रयोगशाला में अति निम्न ताप पर उन्होंने शोधकार्य आरंभ किया और हीलियम गैस को द्रव में परिणत करने में उन्हें सफलता मिली। तदनंतर हीलियम द्रव को ठोस में रूपांतरित करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया परंतु असफल रहे। इस कार्य को उसी प्रयोगशाला में दूसरे वैज्ञानिक कीसम ने पूरा किया। ओनेस अनुमानतः ०.९ डिग्री परम ताप तक पहुँचने में भी सफल हुए। वे बहुत ही सरल स्वभाव के तथा नवयुवकों को प्रोत्साहित करनेवाले वैज्ञानिक थे। उनको १९१२ ई० में रमफ़ोर्ड मेडल तथा सन् १९१३ में नोबेल पुरस्कार मिला।

वैज्ञानिक उपकरण बनानेवाले प्रशिक्षित युवकों को वे अधिक प्रोत्साहन देते थे। वहाँ के सीखे हुए लोग दूसरी प्रयोगशालाओं में भी बहुत ही मूल्यवान् समझे जाते थे।

सं०ग्रं०—ई० कोहेन : जर्नल ऑव केमिकल सोसायटी (१९२७); एच० एम० स्मिथ : टॉर्च बेअरर्स ऑव केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

ओपावा चेकोस्लोवाकिया के विस्तृत मैदान के मध्य भाग में ओडर नदी की ओपावा नामक सहायक नदी पर स्थित नगर है। इस शब्द का निर्माण जर्मन शब्द ट्रौपाव से हुआ है। १३वीं शताब्दी में पुराना नगर बसाया गया था। यह नगर उद्यानों से घिरा हुआ है जिसके बाहर की ओर नया नगर बसा है। इस नगर में अनेक उद्योग धंधे विकसित हैं, जैसे मदिरा, चीनी तथा औद्योगिक यंत्र इत्यादि बनाना। सन् १९६८ ई० में इसकी जनसंख्या ४६,००० थी, जिसमें अधिकांशतः जर्मन थे। सन् १९३८ ई० में म्यूनिख़ समझौते के उपरांत यह जर्मनी को मिल गया था परंतु १९४५ ई० में यह नगर चेकोस्लोवाकिया को मिल गया। (वि० चं० मि०)

ओपेरा गान नाट्य (गीतिनाटक) को ओपेरा कहते हैं। ओपेरा का उद्भव १५९४ ई० में इटली के फ़्लोरेंस नगर में 'ला दाफ़ने' नामक ओपेरा के प्रदर्शन से हुआ था, यद्यपि इस ओपेरा के प्रस्तुतकर्ता स्वयं यह नहीं जानते थे कि वे अनजाने किस महत्वपूर्ण कला की विधा को जन्म दे रहे हैं। गत चार शताब्दियों में ओपेरा की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। लेकिन परंपरा और अनुभव के आधार पर यही माना जाता है कि ओपेरा गानबद्ध नाटक होता है, जिसमें वार्तालाप के स्थान पर गाया जाता है। इसका ऐतिहासिक कारण यह है कि १६वीं सदी तक यह माना जाता था कि नाटक पद्य में होना चाहिए। नाटक के लिये पद्य यदि अनिवार्य है तो संगीत के लिये भूमि स्वतः तैयार हो जाती है। क्योंकि काव्य और संगीत पूरक कलाएँ हैं, दोनों ही अमूर्त भावनाओं तथा कल्पनालोकों से अधिक संबंधित हैं। इसलिये जब तक नाटक काव्य में लिखे जाते रहे तब तक विशेष कठिनाई नहीं हुई, लेकिन कालांतर में नाटक की विधा ने गद्य का रूप लिया तथा यथार्थोन्मुख हुई। तभी से ओपेराकारों के लिये कठिनाइयाँ बढ़ती गईं। चूँकि ओपेरा का जन्म इटली में हुआ था इसलिये उसके सारे अंगों पर इटली का प्रभुत्व स्वाभाविक था। लेकिन फ्रांस तथा जर्मनी की भी प्रतिभा ओपेरा को सुषमित तथा विकसित करने में लगी थी, इसलिये ओपेरा कालांतर में अनेक प्रशाखाओं में पल्लवित हुआ।

इटली में ओपेरा पाँच अंकों का होता था लेकिन फ्रांस में वह तीन अंकों का ही होता था। इटली में उसका संगीत पक्ष अधिक पुष्ट था, फ्रांस में उसकी विषयवस्तु पर अधिक ध्यान दिया जाता था। लेकिन ओपेरा के इतिहास पर इटली और जर्मनी की ही प्रतिभाओं ने दिशाकारी प्रभाव डाला। नाटक के प्रमुख भेद कामदी (कामेडी) और त्रासदी (ट्रैजेडी) दोनों ही ओपेरा में भी मान्य हैं। इसके अलावा प्रहसन से लेकर व्यंग्य तक ओपेरा में संनिहित हैं। इटली के ओपेराकार नाटकीय त्रिसंधियों को नहीं स्वीकारते थे। इटली के ओपेराकार संगीत तथा भव्य मंचसज्जा पर ज्यादा ध्यान देते रहे हैं, जबकि अन्य ओपेराकार ओपेरा के नाट्यलेख अर्थात् 'लिबरेत्तो' पर केंद्रित रहे हैं। ओपेरा में आज तक पाठ (रेसीटेशन) को लेकर काफी कठिनाइयाँ हुई हैं। प्राचीन एकालापों (सालीलॉकीज़) को तो किसी तरह संगीत में निबद्ध किया जाता था लेकिन आज की नाटकीय विधा में एकालापों का कोई स्थान नहीं है। आज वार्तालापों में जो यथार्थता तथा दैनिक अकाव्यात्मकता आ गई है उसे ओपेराकार किस प्रकार संगीत में निबद्ध करें, यह आज के ओपेरा की समस्या है।

नाटकों की भाँति ही ओपेरा की कथावस्तु भी आरंभ में धार्मिक आख्यानों से ली जाती थी। मध्ययुग में यही आधार ऐतिहासिक वीरगाथाएँ हो गया। इसका अर्थ हुआ कि ओपेरा ग्रीस से चलकर रोम आया। इस कारण उस काल के ओपेरों में दो ही भावनाएँ प्रमुख हैं, महत्वाकांक्षा और कामना। आज नाटक जीवन के बीच खड़ा हुआ है इसलिये ओपेरा को भी वहीं आना पड़ा है। और यह यात्रा ४०० वर्षों की है। कथावस्तु के साथ साथ संगीत के तालमेल में भी परिवर्तन हुआ है। आरंभ में ओपेरा में नाट्यलेख प्रमुख होता और संगीत गौण, लेकिन क्रमशः नाट्यलेख गौण होता गया और संगीत ने प्राधान्य ले लिया। पहले कथावस्तु को मनोरंजक बनाने के लिये गान, सहगान तथा समूहगान की व्यवस्था की। इसके बाद अनवरत संगीत के सिद्धांत ने संपूर्ण ओपेरा को ही संगीतमय कर दिया। अब वातावरण, चित्रण, भावदशा आदि सभी के लिये संगीत की योजना होने लगी। इसीलिये ओपेरा में संगीत लेखक का जितना महत्व है उतना नाट्यलेखक का नहीं।

सभी कलाओं के आश्रयदाता एक समय में राजा, सामंत हुआ करते थे। इटली में भी तत्कालीन सामंत तथा रईस इस कला के पोषक थे। इसीलिये एक समय तक ओपेरा के अर्थ ही विशाल मंच, भव्य साजसज्जा, विराट् दृश्यांकन आदि थे। पेरिस के किसी ओपेरागृह में प्रवेश करते ही बाक्सों और बालकनियों तथा उत्कीर्ण बारजों और छज्जों की दीर्घाओंवाले हॉल के

दर्शन होते हैं। ये ओपेरागृह १८वीं और १९वीं सदियों के स्मारक हैं। यहीं बैठकर सामंतवर्ग तथा भद्रलोक ग्लक और मोजार्ट, बियूवेन और वेबर, वैग्नर और वर्दी के महान् संगीतमय ओपेरों को देखते रहे हैं। इटली, फ्रांस, और जर्मनी के ओपेरागृहों में ही इन महान् ओपेराकारों को अपनी सफलताओं तथा असफलताओं का सामना करना पड़ा है। इटली १६वीं सदी के आसपास सारी यूरोपीय कला, साहित्य और संस्कृति का केंद्र था। सर्वप्रथम फ्लोरेंस में ओपेरा खेला गया था। आज जिसकी लिपि उपलब्ध है, वह ओपेरा भी वहीं खेला गया था—'यूरिडिस', सन् १६०० ई० में। इसके बाद वेनिस नगर ओपेरा का सबसे बड़ा केंद्र हो गया। सारे यूरोप के कलाप्रिय इस नगर की यात्रा करते और महान् ओपेरों को देखकर कृतकृत्य होते थे। सन् १६३७ में वेनिस में एक सार्वजनिक ओपेरागृह की स्थापना हुई जिसके कारण ओपेरा पर क्रमशः व्यावसायिकता का प्रभाव हुआ। अब ओपेरा केवल शौक की विधा न रहकर आय का साधन बना। ओपेरा के लिये जिस उन्नत ओपेरागृह की अपेक्षा हुआ करती थी उसके कारण तत्कालीन मंचशिल्प के विकास में नाटकों से कहीं अधिक श्रेय ओपेरों को है। उन दिनों चक्रित मंच (रिवाल्विंग स्टेज) तो आविष्कृत हुए नहीं थे, इसलिये ओपेरा के विशेष काल्पनिक मंचांकनों को मूर्त कर सकना काफी कठिन काम था। चक्रित मंच की समस्या जापान द्वारा १८वीं सदी में दूर हुई।

ओपेरा धीरे धीरे यूरोप के दूसरे देशों में भी लोकप्रिय होता जा रहा था। अब आस्ट्रिया, फ्रांस तथा जर्मनी भी इसके केंद्र बन चले थे। सदियों तक इटली के संगीतज्ञों, कलाकारों, नाट्यलेखकों तथा अभिनेताओं का प्राधान्य सारे यूरोप के ओपेरागृहों में रहा। ओपेरा, इटली का राष्ट्रीय कलात्मक उद्योग रहा है। वेनिसीय संगीत, साज सज्जा, अभिनय आदि ही प्रमाण माने जाते थे। फ्रांस के मंच पर भी इतालवी भव्य साज सज्जा में ही जर्मन संगीतज्ञों द्वारा कला की यह अद्भुत विधा मंचित होती रही। ओपेरा की भाषा आरंभ में इतालवी फ्रेंच रही। कालांतर में फ्रांस की भाषा भी प्रचलित हुई। लेकिन अन्य देशों में ओपेरा की भाषा इतालवी ही बनी रही। इस क्षेत्र में इटली का प्रभाव यहाँ तक था कि अनेक बार इतालीयेतर ओपेराकार भी अपना नाम इतालीय रख लिया करते थे।

ओपेरा का सूक्ष्म परिचय भी इस विधा के प्रसिद्ध ओपेराकारों के परिचय बिना अधूरा ही रह जाएगा। वैसे तो फ्रांस के संगीतज्ञों का भी इसमें योग रहा है। रोमियो ही संभवतः एक ऐसा फ्रांसीसी नाम है जो जन्मना फ्रांसीसी भी है और प्रतिभाशाली संगीतज्ञ भी। अन्यथा न फ्रांसीसी कभी संगीत में श्रेष्ठ रहे हैं और न इतालीय कभी नाट्यलेख में। फ्रांस में ओपेरा की नींव डालनेवाला जेवान्नी बतिस्ता लुली भी इतालीय था, जो लुई १४वें के शासनकाल में लाया गया था। रोमियो ही संभवतः पहला ओपेराकार है जिसने वाद्यवृंद का उपयोग आँधी, समुद्रादि के वर्णनों के लिये किया। यद्यपि लुली यह प्रयोग कर चुका था, तथापि इसे व्यवस्था रोमियो ने दी। जर्मन ओपेराकारों की सबसे अधिक तथा महत्वपूर्ण देन दार्शनिकता रही है। पहला जर्मन ओपेराकार ग्लक है, जो ओपेरा का सुधारक कहलाता है। आज २०० वर्षों के बाद भी उसकी रचनाओं को सुनना कलात्मक अनुभव है। ग्लक ने संगीत के दार्शनिक पक्ष को पुष्ट बनाया और ओपेरा में उसे अभिव्यक्त किया।

ओपेराकारों में दूसरा महत्वपूर्ण नाम मोज़ार्ट का है। मोज़ार्ट ने वैसे तो आठ बरस की उम्र में ही एक ओपेरा की रचना कर डाली थी लेकिन जो ओपेरा के इतिहास में महत्वपूर्ण है उसकी रचना उसने २४ वर्ष की अवस्था में की, और वह था 'इडोमेनिया' (सन् १७८१ ई०)। मोज़ार्ट अद्वितीय निष्णात ओपेराकार माना जाता है। ओपेरा के इतिहास में जिन क्लासिकीय ओपेरों की गणना है उनमें 'मैजिक फ्लूट' का अन्यतम स्थान है। इस ओपेरा को भविष्य के जर्मन ओपेरों का आधार माना जाता है। इस ओपेरा में उसे दिव्यता प्राप्त हुई थी। बियूवेन के नाम के साथ विद्रोह की भावना मूर्त हो जाती है। ओपेरा के इतिहास में वह शेली या बायरन के समान है। उसका विद्रोही संगीत हमारे अधिक निकट है।

जर्मन रोमांटिक आंदोलन का अभूतपूर्व ओपेराकार वेबर है। बच्चों के लिये भी उसका एक प्रसिद्ध ओपेरा है। अपने ओपेरों द्वारा उसने रोमांटिक ओपेरों को वही गौरव दिलवाया जो राजसभावाओंवाले ओपेरों को प्राप्त था। 'यूरोआंते' में कोई वार्तालाप नहीं, बल्कि अनवरत संगीत ही है। सब जर्मन ओपेराकार गायकों से अधिक वाद्यवृंद पर जोर देते रहे हैं।

ओपेराकारों में वेबर जहाँ सुंदर था वहाँ रिचर्ड वैग्नर (१८१३-१८८३) कुरूप, नाटा, बड़े सिर का, घमंडी और स्वार्थी था। लेकिन १९वीं सदी के कलात्मक जीवन का वही प्रमुख स्तंभ भी था। यही एकमात्र ओपेराकार था जो स्वतः नाट्यलेख भी लिखता था। इसके ओपेरा का नाम है 'द रिंग' जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। वैग्नर के विचारों को मंचसज्जा के तत्कालीन ओपेरागृह मूर्त नहीं कर पाते थे इसलिये वेरुथ नामक कस्बे में उसने ओपेरागृह खोला जो आगे चलकर ओपेरा के इतिहास में सांस्कृतिक केंद्र के रूप में स्वीकार किया गया। वैग्नर का ही समकालीन इतालीय ओपेराकार था वर्दी (१८१३-१९०१) जो बड़ी विषम परिस्थितियों में इटली के ओपेरा के क्षेत्र में आया था। रासिनी ने मंच से अवकाश ले लिया था। बेलिनी की मृत्यु हो चुकी थी और दानीज़ेत्ती पागल हो गया था। वर्दी के सामने भी समकालीन शासकों ने अवरोध खड़े कर रखे थे। 'स्वाधीनता' का उच्चारण ही कठिन हो गया था। वर्दी ने पहली बार समकालीन जीवन पर ओपेरा में त्रासदी प्रस्तुत की। अभी तक दर्शक आधुनिक भूषा में त्रासदी देखने के अभ्यस्त नहीं थे। स्वेज नहर के उद्घाटन के अवसर पर वर्दी ने काहिरा में एक ओपेरा प्रस्तुत किया था। चूंकि वह वैग्नर का समकालीन था, इसलिये प्रायः इतिहासज्ञ वर्दी के प्रति अन्याय कर जाते हैं।

पिछले दिनों में पूर्वी यूरोप में सोवियत् के अतिरिक्त युगोस्लाविया में भी ओपेरा को संजीवित और विकसित करने के प्रयत्न हुए हैं। संसारप्रसिद्ध ओपेरा गायिका मिरियाना रादेव ज़ाग्रेब की ही हैं और वहाँ के राष्ट्रीय ओपेरागृह की प्रधान तारिका हैं।

पूर्वी देशों में ओपेरा के क्षेत्र में चीन ने बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वस्तुतः चीनी ओपेरा संसार के प्राचीनतम ओपेरों में है और यद्यपि पश्चिमी मंचसमीक्षकों ने उसका उल्लेख नहीं किया है, चीनी ओपेरा अनेक दृष्टियों से अपने कृतित्व एवं प्रदर्शनों में अपना सानी नहीं रखता। भारत में भी इधर ओपेरा लिखने और ओपेरागृह संगठित करने के कुछ प्रयास होने लगे हैं। (न० मे०)

ओपेलाइका संयुक्त राज्य, अमरीका, के पूर्वी ऐलाबैमा राज्य में एक औद्योगिक तथा व्यापारिक केंद्र है तथा संघीय राजपथ पर बसा हुआ है। सन १७७३ ई० में इसकी स्थापना हुई थी। यह नगर सेंट्रल जार्जिया रेलवे तथा वेस्टर्न ऐलाबैमा रेलवे द्वारा जुड़ा हुआ है। (वि० चं० मि०)

ओपोर्टो पुर्तगाल देश में डयूरो नदी के मुहाने से तीन मील ऊपर की ओर बसा हुआ नगर है। डयूरो के दक्षिण में बसे हुए इस नगर के भाग को विला नोवा डि गोइया कहा जाता है। वास्तव में यह उत्तरी पुर्तगाल की राजधानी के समान है। व्यापारिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में यह लिस्बन नगर का प्रतिद्वंद्वी समझा जाता है। यहाँ पर तीन मुख्य रेलें मिलती हैं। उत्तरी सीमा से, लिस्बन से, वेलेन्का डु मिन्हो से तथा उत्तरपूर्व की ओर बर्का दि अल्वा से रेलें आती हैं। मुख्य रूप से ओपोर्टो नगर, डयूरो नदी के दाहिनी ओर बसा हुआ है। ओपोर्टो नाम की मदिरा निर्यात करने के कारण यह विशेष रूप से प्रसिद्ध है। जिस अंगूर से मदिरा बनाई जाती है वह डयूरो जिले में इसी नदी से ६० मील ऊपर की ओर पेज डु विनहो नामक पर्वतीय प्रदेश में होता है। इस नगर द्वारा मदिरा का निर्यात १६७८ ई० से किया जा रहा है। यहाँ की जनसंख्या (१९६० ई० में ३,१०,०००) का एक तिहाई भाग सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र, चमड़े, तंबाकू, मदिरा, वातित पेय, डिब्बों में रक्षित खाद्यपदार्थ तथा आभूषणों के निर्माण का कार्य करता है। (वि० चं० मि०)

ओब, ओबी एशियाई रूस की एक नदी है जिसको यहाँ की विभिन्न जातियों ने कई नामों से अभिहित किया है—उदाहरणार्थ, ओस्तियाक इसे आस, याग, कोल्टा तथा येमा नामों से, सामोएड कोल्टा और क्वे

ओपेरा (द्र० पृ० २६६)

अजरबैजान के अखुंदोव ओपेरा और बैले थियेटर के 'केर ओग्ली' ओपेरा का एक दृश्य
(रूसी दूतावास के सूचना विभाग के सौजन्य से—फोटो वी० रयावि निन)

जाग्रेव (युगोस्लाविया) की प्रसिद्ध ओपेरा गायिका मिरियाना रादेव
(भगवतशरण उपाध्याय के सौजन्य से)

ओपेरा (द्र० पृ० २९९)

उजबकिस्तान के मुकीमी म्यूजिकल ड्रामा थियेटर में प्रस्तुत 'गेलपोमिश' का एक दृश्य
फोटो—एस० कोपोव्निल्स्की और एल० पोर्टर
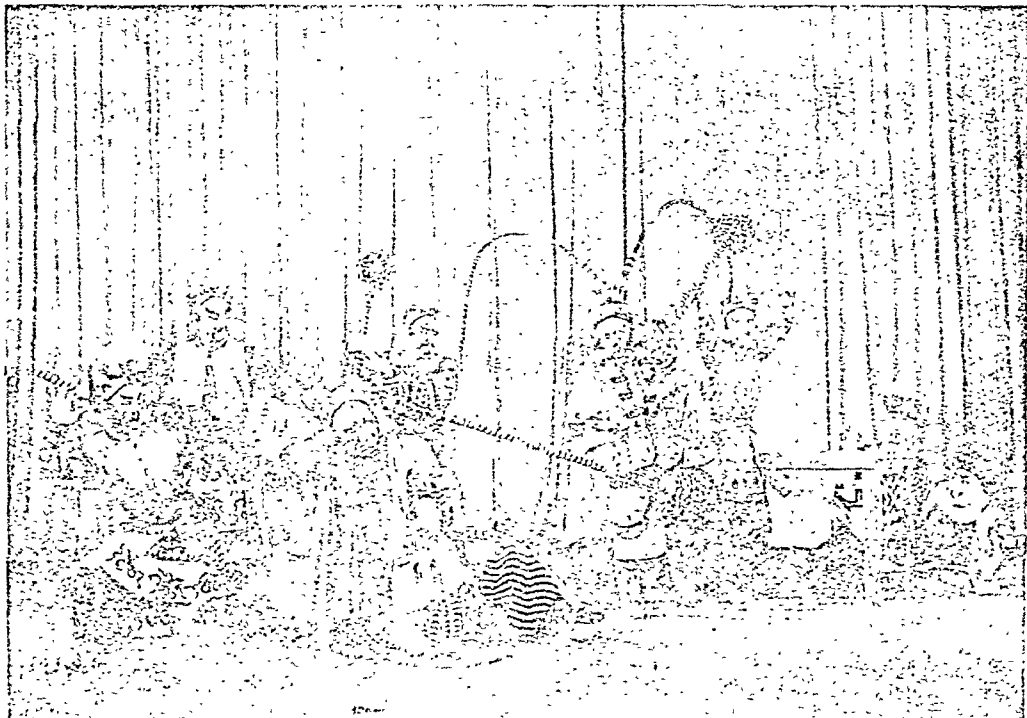
चीनी ओपेरा का एक दृश्य

नामों से तथा तातार ओमर एवं उमर नाम से जानते थे। यह ३,२०० मील लंबी है तथा इसका नदीक्षेत्र १० लाख वर्गमील है। इसमें १,७०० मील तक नौतरण किया जा सकता है। अल्टाई पर्वत से निकलकर यह नदी उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों में से होकर खिरगीज़ स्टेप्स में बहकर आती है और ओब की खाड़ी में डेल्टा बनाती है। इसके मध्यवर्ती एक लाख वर्ग मील क्षेत्र में दलदल पाया जाता है। इस दलदली क्षेत्र का नाम वासुईगन दलदल है। ग्रीष्म काल में इस क्षेत्र में से गुजरना असंभव हो जाता है। वसंत ऋतु में यह क्षेत्र बाढ़ के कारण सागर का रूप ले लेता है और शरद् ऋतु में वर्फ से जम जाता है। इस काल में इसे आसानी से पार किया जा सकता है। ओब की सबसे बड़ी सहायक नदी ईर्तिश है जिसके सगम तक ओब में नौतरण किया जा सकता है। ओब नदी नवंबर से मई अथवा जून मास तक वर्फ से जमी रहती है। बाढ़, वर्फ तथा तैरते हुए लट्ठों के कारण कुछ समय तक इसमें नौतरण करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह नदी यात्रियों, आटा, मक्का तथा इमारती लकड़ी के लाने ले जाने का सुगम मार्ग है। (श्री० ना० मे०)

ओबद्याह बारह गौण नबियों में से एक; उनके उपदेशों का संग्रह विस्तार की दृष्टि से बाइबिल का सबसे छोटा ग्रंथ है। बाबुल के सम्राट् नबूखदनेज्ज़ार की सेना ने ५८६ ई० पू० में यहूदियों की राजधानी जेरूसलम का विनाश किया था; इसके बाद एदोम के लोगों ने यहूदिया प्रांत लूटकर उसे अपने अधिकार में कर लिया था। ओबद्याह ने पाँचवी शताब्दी ई० पू० में एदोम की हार तथा जेरूसलम के पुनर्वास की भविष्य-वाणी की थी। (का० बु०)

ओमान (१६°–२५° उ० अ० तथा ५५°५०′–६०° पू० दे०) को मस्कत और ओमान के संयुक्त नाम से भी पुकारते हैं। ब्रिटिश संरक्षण के अंतर्गत अरब प्रायद्वीप के दक्षिण पूर्वी कोने पर समुद्रतटीय क्षेत्र में स्थित, २,१२,३८० वर्ग कि० मी० (८२,००० वर्ग मील) पर विस्तीर्ण यह भी एक स्वतंत्र अरब सल्तनत है। इसके उत्तर में ओमान की खाड़ी, पूर्व एवं दक्षिण में अरब सागर, पश्चिम में सऊदी अरब, उत्तर पश्चिम में ट्रूशियल ओमान तथा दक्षिण पश्चिम में अदन है। इस राज्य की कुल जनसंख्या केवल ८,२८,००० है। अतः प्रतिवर्ग कि० मी० जनसंख्या केवल ३५ व्यक्ति है। मस्कत इसकी राजधानी है। मैत्राह दूसरा प्रमुख नगर है। इसमें बतिना का समुद्रतटीय मैदान, अरब सागरतटीय धुफार प्रांत, आंतरिक पठारी भाग, ओमान के ईमाम का क्षेत्र एवं मस्कत नगर संमिलित हैं। समुद्रतट कुल लगभग १,६०० कि० मी० लंबा है।

धरातलीय स्वरूप—मस्कत के पश्चिम समुद्रतट की ओर ओमान पर्वत (९,००० फुट ऊँचाई, जेबेल जाम शिखर ९,९०० फुट) फैले हैं। इनके पृष्ठभाग में चौका तथा ढोकेदार चट्टानयुक्त पठारी भाग विस्तीर्ण है जिसका विस्तार उत्तर पश्चिम में रबे-अल-खाली अर्थात 'दक्षिणी अरब के खाली क्षेत्र' में समाहित हो जाता है। दक्षिण में तटीय धुफार प्रांत में नीची हरी भरी पहाड़ियाँ मिलती हैं और उनके नीचे उपजाऊ तटीय मैदान फैला है।

जलवायु, वनस्पति एवं जीवजंतु—ओमान भी एक शुष्क रेगिस्तानी क्षेत्र है। यह मानसूनी हवाओं के क्षेत्र में पड़ता है, फिर भी वर्षा कम होती है। मस्कत तथा तटीय भागों में वार्षिक वर्षा की औसत मात्रा लगभग १० सें० है लेकिन पहाड़ों की ओर वर्षा अधिक होती जाती है और ओमान पर्वत पर लगभग ३० सें० होती है। धुफार क्षेत्र में ६० सें० से भी अधिक वर्षा हो जाती है जिससे यहाँ हरियाली रहती है और खेती बारी होती है। इस क्षेत्र में अधिकतम तापमान ९०° फा० तक पहुँचता है किंतु ओमान का अधिकतम तापमान १३५° फा० तक बढ़ जाता है। मस्कत की जलवायु अत्यधिक गर्म और आर्द्र है। जलवायु में क्षेत्रीय विषमता के कारण कई तरह की प्राकृतिक वनस्पतियाँ मिलती हैं। यहाँ प्रमुखतया दक्षिणी अरब में पाए जानेवाले रेगिस्तानी झाड़ झंखाड़ तथा घासें उगती हैं लेकिन उत्तरी रेगिस्तानी पठार में वनस्पति विरल हो जाती है। ओमान पर्वत और धुफार क्षेत्रों में हरी घासें और पेड़ मिलते हैं। हजारों वर्षों की अंधाधुंध चराई एवं ईंधन के लिये वनों के लगातार काटे जाने से वनों का प्रचुर ह्रास हुआ है। अब भी आंतरिक भागों में वन पाए जाते हैं और ईरान की खाड़ी प्रदेश में यहाँ से ईंधन की लकड़ी का प्रचुर निर्यात होता है। जंगली जानवरों में चीते, भेड़िए, लोमड़ी तथा खरहे आदि पाए जाते हैं। कई तरह के पक्षी भी मिलते हैं।

जनसंख्या—अधिकांश जनसंख्या अरब तथा अरबी भाषी है और इस्लाम धर्म (ईबाहदी संप्रदाय) को मानती है किंतु नगरों में कई अन्य प्रजातियों और देशों के लोग मिलते हैं। मस्कत मैत्राह द्विनगर (Twin Cities) में वस्तुतः भारतीय, हब्शी तथा बलूची लोगों का आधिक्य है और अरब वहाँ अल्पसंख्यक हैं। इन नगरों में हिंदी और बलूची बोली जाती है।

आर्थिक तंत्र—ओमान की आर्थिक धुरी प्रमुखतया खनिज तेल तथा अल्पमात्रा में तटीय क्षेत्रों की खेती बाड़ी और व्यापारिक शक्ति पर निर्भर है। अन्य आर्थिक संसाधन कम है और उद्योगधंधों का विकास अभी नहीं हो पाया है। फाहूद, नातिह एवं यिबाल क्षेत्रों में खनिज तेल पाए जाते है। १९६९ में खनिज तेल का कुल उत्पादन १.६ करोड़ टन से भी अधिक था। सरकार को इससे प्राप्त निवल आमदनी का अर्धांश और उसके अतिरिक्त कुल तेल निर्यात का १२.५ प्रतिशत मिलता है। बतिना तथा शुमाइलिया क्षेत्रों में, जहाँ पर्याप्त कुएँ है और १५ फुट तक भूमिगत जल मिल जाता है, खेती की जाती है। आंतरिक भागों मे वादियो (नदियाँ जो ऊपर से सूखी रहती हैं और खोदने पर जिनसे पानी प्राप्त होता है) के समीप तथा अन्य क्षेत्रों में जहाँ पर्वतों से पानी स्रवित होता रहता है, पानी को करेज जैसी प्रणाली द्वारा खेतों में पहुँचाकर खेती की जाती है। जल ले जाने तथा कुओं के लिये अब मोटर पंप प्रचुर संख्या में लगाए जा रहे हैं। खजूर प्रमुख फसल है और बतिना तटीय क्षेत्र में तो खजूरों के बगानों की ढाई सौ कि० मी० लंबी और ४० कि० मी० चौड़ी पट्टी है; इसके अतिरिक्त यहाँ गेहूँ, चावल, दर्रा एवं केले, खुबानी, अनार, इमली, आम, अंगूर, अंजीर, तरबूज, बादाम आदि फल उगाए जाते हैं। धुफार क्षेत्र के केले, बेर, नारियल आदि प्रसिद्ध हैं। कई क्षेत्रों में रसदार फल, तंबाकू आदि उगाए जाते हैं। ऊँट, भेड़, बकरियाँ, खच्चर आदि भी पाले जाते है। ओमान के ऊँटों की सारे अरब में ऊँची कीमत मिलती है क्योंकि वे सवारी के लिये उत्तम माने जाते हैं। खेतीबाड़ी तथा पशुपालन व्यवसायों तथा उनपर आधारित कई उपभोक्ता उद्योग धंधों का भविष्य उज्वल है। मत्स्य उत्पादन अभी भी काफी पिछड़ा है, लेकिन इसके विकास की प्रचुर संभावनाएँ हैं। पिछड़ी विधियों के बावजूद प्रचुर मात्रा में मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। सुखाकर सार्डिन का निर्यात यूरोप को होता है जहाँ उनका उपयोग पशुओं के चारे तथा उर्वरक के रूप में किया जाता है। श्रीलंका तथा चीन को भी मछलियों का निर्यात होता है।

यातायात एवं आयात निर्यात—मस्कत राजधानी ही नहीं, यातायात तथा व्यापारिक केंद्र भी है। मस्कत तथा मैत्राह दोनों नगरों से बतिना मैदान में काल्बा तक ३४० कि० मी० लंबी सड़कें जाती हैं। मस्कत में दूसरी सड़क आंतरिक भाग की ओर निर्माणाधीन है। वस्तुतः आंतरिक भागों में अब भी रेगिस्तान के जहाज ऊँट से काम लिया जाता है। मैत्राह एवं सलाला में हवाई अड्डे हैं और अन्यत्र छोटी हवाई पट्टियाँ हैं। मस्कत और बहरेन के गल्फ एवियेशन कंपनी द्वारा सप्ताह में एक बार तथा अदन और सलाला के मध्य अदन एयरवेज द्वारा वायु यातायात संचालित होता है। बंबई, करांची तथा ईरान की खाड़ी के क्षेत्रों से साप्ताहिक जहाजी सेवाओं द्वारा संबंध है। ओमान की निर्यात वस्तुओं में खजूर (प्रमुखतया बतिना क्षेत्र से), मछलियाँ तथा उत्पाद, फल (अनार, लाइम, प्रधानतया धुफार क्षेत्र से), ऊँट (आंतरिक भागों से) और ईंधन की लकड़ियाँ प्रमुख हैं। चावल, कहवा, मोटर तथा उनके पुरजे, सूती वस्त्र, चीनी, गेहूँ और सीमेंट आदि का आयात किया जाता है। अधिकांश व्यापार भारत, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान और ईरान के खाड़ीक्षेत्रीय राज्यों से होता है।

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य—समुद्रतटीय होने के कारण ओमान प्राचीन काल से ही सुज्ञात रहा है। यूनानी नाविकों का भी इससे संपर्क रहा। हजरत मुहम्मद के जीवनकाल में ही यहाँ के लोगों ने

इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया थां। लेकिन थोड़े दिनों बाद ही उदारवादी ईवाहदी संप्रदाय का प्रचार हुआ। तदनुसार यहाँ आठवीं सदी के उत्तरार्ध से ही इमामों का चुनाव होता रहा है। १५०८ ई० में मस्कत पर पुर्तगालियों ने अधिकार कर लिया। १७९८ ई० में फ्रांसीसी प्रभाववृद्धि देखकर ब्रिटेन ने मस्कत से अपनी प्रथम संधि की। बाह्य दबाव तथा आंतरिक अराजकता के कारण सईद इब्न सुल्तान (१८०४–१८५६ ई०) लगभग पूर्णतया ब्रिटेन पर आश्रित हो गया। बाद में मस्कत ने संयुक्त राज्य अमरीका (१८३३ ई०), फ्रांस (१८४६ ई०), नीदरलैंड (१८७७ ई०) तथा ब्रिटेन से कई संधियाँ कीं। अरब क्षेत्रों में खनिज तेल की प्राप्ति तथा ओमान में भी इसकी संभावनाओं के साथ अंतरराष्ट्रीय खींचतान और दबाव का कुप्रभाव पड़ा है। १९२० ई० में सुलतान और इमाम के मध्य भी संधि हुई। लेकिन फिर भी अराजकता चलती रही और १९५७ ई० में ब्रिटिश फौजों को विद्रोह दबाना पड़ा। सऊदी अरब एवं अन्य अरब राष्ट्र इमाम की सुल्तान से स्वतंत्रता की माँग का समर्थन करते हैं।

(का० ना० सिं०)

ओमाहा संयुक्त राज्य, अमरीका, के नेब्रास्का राज्य का सबसे बड़ा नगर है और मिसूरी नदी के पश्चिमी तट पर स्थित है। यहाँ रेलमार्गो, वायुयानों तथा राजमार्गो के केंद्र हैं। १९७० ई० में इसकी जनसंख्या ३,२७,७८९ थी। यहाँ उद्यानों, खेल के मैदानों तथा मनोरंजनगृहों का बाहुल्य है। दो विश्वविद्यालय, दो सैनिक केंद्र––फ़ोर्ट क्रुक तथा फ़ोर्ट ओमाहा––एवं प्रशिक्षण तथा रसायन विद्यालय हैं। बहरे बच्चों का भी एक स्कूल है। विश्वविख्यात फ़ादर फ्लैगर्स बालगृह तथा जोस्लिन मेमोरियल कला संग्रहालय देखने योग्य है। यहाँ शिकागो और डेनवर के मध्य सबसे बड़ा फुटकर बाजार है। मक्खन के उत्पादन में इस नगर का प्रथम स्थान है और यहाँ गल्ले तथा पशुओं की भी मंडी है। यहाँ से मांस डब्बों में भरकर बाहर भेजा जाता है। यह नगर समुद्रतल से ९४०–१,२७० फुट की ऊँचाई पर है। नगर के प्रमुख उद्योग धंधे कृषि संबंधी तथा अन्य मशीनों का बनाना, कपड़ा बुनना तथा शराब तैयार करना है। यहाँ से मांस, मक्खन तथा खालें निर्यात की जाती हैं।

(श्री० ना० मे०)

ओम्स्क साइबेरियन रूस में ईर्तिश नदी के दाहिने तट पर ५५° उ० अ० तथा ७३°३८' पू० दे० पर स्थित नगर है। यहाँ पर ईर्तिश और ओम नदियों का संगम होता है। शरद् का औसत ताप ५° फा० तथा ग्रीष्म का ६८° फा० है। औसत वार्षिक वर्षा १२.४" है। शीतकाल में हिमवर्षा से नगर जम जाता है। यह ट्रांस साइबेरियन रेलमार्ग का एक प्रमुख स्टेशन है जहाँ से रेल की एक शाखा सिवर्डलोवस्क तक जाती है। जलमार्गो द्वारा यह उत्तर में ओब नदी से तथा दक्षिण में अल्टाई नगर तथा ज़ैसन झील से मिला हुआ है। मध्य एशिया और कज़ाकिस्तान से कारवाँ के मार्ग भी यहाँ को आते हैं। १९७० ई० में यहाँ की जनसंख्या ८,२१,००० थी। नगर के प्रमुख उद्योग धंधे कृषि संबंधी तथा अन्य मशीनों का बनाना, कपड़ा बुनना तथा शराब तैयार करना है। यहाँ मांस, मक्खन तथा खालें तैयार की जाती हैं। वर्तमान समय में यह सैनिक अड्डा है। सन् १९१७ ई० की क्रांति के पश्चात् यह साइबेरियन राजनीति का गढ़ तथा केंद्र बन गया था। यह वृक्षरहित ठंढी घास की शोषस्थली (स्टेप्स) में स्थित है और समुद्रतल से इसकी ऊँचाई २८५ फुट है।

(श्री० ना० मे०)

ओरई उत्तर प्रदेश के जालौन जिले का एक नगर तथा उत्तर रेलवे का एक स्टेशन है (स्थिति : २५° ५९' उ० अ० एवं ७९° २९' पू० दे०)। यहाँ जिले तथा तहसील के सभी मुख्य कार्यालय हैं। १८७१ ई० में नगरपालिका का संगठन हो जाने से नगर का विकास प्रारंभ हुआ। यहाँ एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, राजकीय चिकित्सालय तथा अन्य बहुत सी संस्थाएँ हैं। यहाँ का बाजार भी पर्याप्त अच्छा है।

(ह० ह० सिं०)

ओरछा बुंदेलखंड में २५° २१' उ० अ० एवं ७८° ३८' पू० दे० पर स्थित यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है। अतीत काल में यह ओरछा राज्य की राजधानी रहा। इस नगर की स्थापना सन् १५३१ ई० में भारतीचंद द्वारा की गई थी। यह बेतवा नदी के किनारे चारों ओर घनघोर भयानक जंगलों से आवृत है। सन् १६३४ ई० में ये जंगल पर्याप्त घने रहे होंगे क्योंकि मुगलों को उस समय यहाँ पहुँचना दुष्कर रहा। सन् १७८३ ई० में विक्रमजीत ने अपनी राजधानी टीकमगढ़ में स्थापित की और इसी समय से ओरछा का पतन होना प्रारंभ हुआ। ओरछा ऐतिहासिक कलाकृतियों एवं इमारतों के लिये प्रसिद्ध है जिनमें अधिकांश भवन राजा वीरसिंह देव द्वारा बनवाए गए थे। बेतवा नदी में एक द्वीप है जिसपर १६ खंभों के एक पुल द्वारा पहुँचने की व्यवस्था की गई है। यह द्वीप एक मजबूत दीवार द्वारा घिरा हुआ है। इस द्वीप पर एक विशाल राजमहल खड़ा है जो वीरसिंह देव के कलाप्रेम का प्रतीक माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त राजमंदिर चौकोर आकृति में बना हुआ है जिसका बाह्यभाग समतल है और अनेक खिड़कियाँ तथा गुंबज इसके सौंदर्य को बढ़ाते हैं। जहाँगीर महल का निर्माण सम्राट् जहाँगीर के विश्राम के लिये कराया गया था क्योंकि समय समय पर वे अपने मित्र वीरसिंह देव से मिलने ओरछा आते थे। यह एक विशाल, सुंदर एवं मनमोहक महल है।

इनके अतिरिक्त अनेक मंदिर नगर के चारों ओर बनाए गए हैं। सबसे सुंदर चतुर्भुज मंदिर है जो भगवान् विष्णु के चरणों में समर्पित कर दिया गया है। इस मंदिर का निर्माण एक विशाल प्रस्तरखंड के ऊपर किया गया है। भारतीचंद का स्मारक (१५३१–५४), मधुकर शाह (१५५४–९२), वीरसिंह देव (१६०५–२७), पहाड़सिंह (१६४१–५३) और सनवंतसिंह (१७५२–६५) एवं अन्य शासकों तथा उनकी रानियों की प्रतिमूर्तियाँ किले के अंतस्थल में नदी के किनारे बनाई गई हैं। हरदुल की मूर्ति चतुर्भुज मंदिर के बहुत ही समीप है जहाँ, बताया जाता है, राजकुमार अपने भाई जुझारसिंह द्वारा विष दिए जाने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ था। ओरछा में आज भी तहसील का मुख्यालय है।

(शी० प्र० सिं०)

ओरांग-ऊटान एक श्रेणी के बंदर हैं जिनको पूँछ नहीं होती। ये एशिया के दक्षिण-पूर्व में सुमात्रा और बोर्नियो द्वीपों में पाए जाते हैं। ओरांग-ऊटान नाम मलय देशवासियों ने दिया है। इन बंदरों के शरीर पर भूरे लाल रंग के घने और बड़े बड़े बाल होते हैं। इनका ललाट ऊँचा होता है और मुँह सामने की ओर उभड़ा रहता है। अकस्मात् देखने पर ये वृद्ध मनुष्य से प्रतीत होते हैं।

इनके पैर छोटे होते हैं परंतु हाथ इतने लंबे होते हैं कि प्रायः भूमि तक पहुँचते हैं। नर ओरांग प्रायः ५ फुट या उससे भी ऊँचे और बड़े शक्तिशाली होते हैं। इनका भार २·५ मन तक होता है। पूर्ण वयस्क नर ओरांग की कनपटी के निकट का चमड़ा उभड़ आता है, पर सभी ओरांगों में यह बात नहीं पाई जाती, कारण इनमें छह जातियाँ होती हैं। पूर्णावस्था प्राप्त होने पर नर ओरांगों में दाढ़ी भी उगती है। इनके कान बहुत छोटे होते हैं। हाथों के अँगूठे भी बहुत छोटे होते हैं। इनसे इनको अधिक सहायता नहीं मिलती। पैरों के अँगूठे अत्यधिक छोटे होते हैं और उनमें अंतिम भाग नहीं होता। इस कारण पैर के अँगूठे में नख नहीं रहते। इनके गले के भीतर एक बड़ी थैली श्वासनलिका से संबद्ध रहती है जिसके द्वारा इनके बोल की उद्घोषता बढ़ती है।

ओरांग अधिकतर वृक्षों पर रहते हैं और हाथों के सहारे एक डाल से दूसरी पर झूलते चलते हैं। इनकी गति मंद होती है। पहाड़ों की तलहटी के जलसिक्त जंगलों में ये वास करते हैं। वृक्षों के ऊपर शाखाओं और पत्तियों का मंच बनाकर ये विश्राम करते हैं, परंतु एक स्थान पर अधिक दिन नहीं टिकते। साधारणतः माता पिता और चार पाँच बच्चे एकत्र रहते हैं। इनकी प्रकृति नम्र होती है। मनुष्य इन्हें पकड़कर सर्कस में खेल दिखलाने के लिये पालते हैं।

ये प्रधानतः फल और वृक्षों की कोमल पत्तियाँ, डालियाँ और बाँस के कोमल प्ररोह आदि खाते हैं।

ओरांगऊटान अथवा वनमानुष

यह चित्र सारावाक (बोर्निओ द्वीप) की सादोंग नदी के किनारे लिया गया।

लघुशृंगी टिड्डा
(Short horned grasshopper)
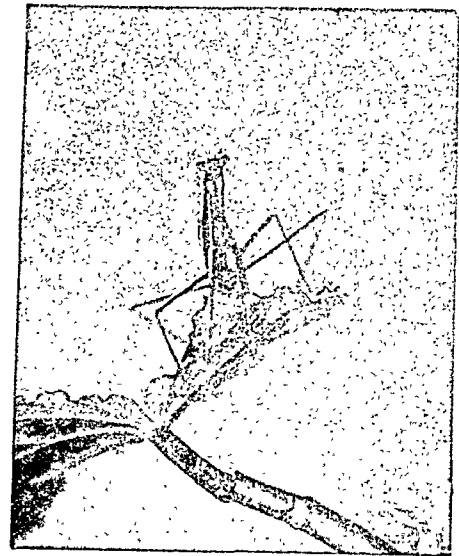
बद्धहस्त कीट
(Praying mantis)

(अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से प्राप्त)

औद्योगिक वास्तु (द्र० पृ० ३१६,
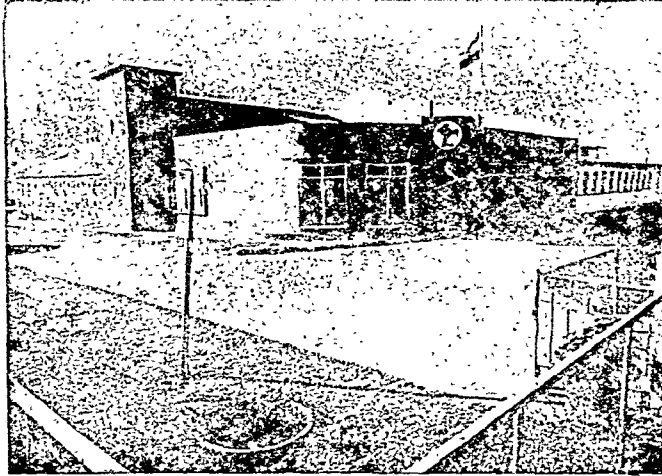
औद्योगिक वास्तु के दो उत्कृष्ट नमूने

इनका जीवनकाल साधारणत: २५ वर्ष होता है, परंतु मनुष्य के संरक्षण में कुछ ओरांग ४० वर्ष तक जीवित रहे है। एक बार में इनको केवल एक संतान पैदा होती है और गर्भ ८.५ महीने का होता है। ओरांग वंश की संख्या तेजी से घट रही है। अनुमान है कि संसार भर में अब ये ५,००० से अधिक नही है। (श० चं०)

ओरॉंव, उरॉंव बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र का एक आदिवासी समूह। ओरॉंव अथवा उरॉंव नाम इस समूह को दूसरे लोगों ने दिया है। अपनी लोकभापा में यह समूह अपने आपको 'कुरुख' नाम से वर्णित करता है। अँगरेजी में 'ओ' अक्षर से लिखे जाने के कारण इस समूह के नाम का उच्चारण 'ओरॉंव' किया जाता है; बिहार में 'उरॉंव' नाम का प्रचलन अधिक है।

उरॉंव भापा द्रविड़ परिवार की है जो समीपवर्ती आदिवासी समूहों की मुंडा भापाओं से सर्वथा भिन्न है। उरॉंव भाषा और कन्नड़ में अनेक समताएँ हैं। संभवत: इन्हें ही ध्यान में रखते हुए, गेट ने १९०१ की अपनी जनगणना की रिपोर्ट में यह संभावना व्यक्त की थी कि उरॉंव मूलत: कर्नाटक क्षेत्र के निवासी थे। उनका अनुमान था कि इस समूह के पूर्वज पहले कर्नाटक से नर्मदा उपत्यका में आए और वहाँ से बाद में बिहार राज्य के सोन तट के भागों में आकर बस गए। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में इस अनुमान को वैज्ञानिक मानना उचित नही होगा।

सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार उरॉंव समूह की जनसंख्या दस लाख से अधिक थी। इनमें से अधिकांश इस समय राँची जिले के मध्य और पश्चिमी भाग में रहते हैं। उरॉंव समूह के प्रथम वैज्ञानिक अध्येता स्वर्गीय शरच्चंद्र राय का मत है कि बिहार में ये पहले शाहाबाद जिले के सोन और कर्मनाशा नदियों के बीच के भाग में रहते थे। यह क्षेत्र 'कुरुख देश' के नाम से जाना जाता था। कुरुख शब्द संभवत: किसी मूल द्रविड़ शब्द का विगड़ा हुआ रूप है। राय का अनुमान है कि इस मूल शब्द का अर्थ 'मनुष्य' रहा होगा।

इस समूह की अर्थव्यवस्था मूलत: कृपि पर अवलंबित है। आखेट द्वारा भी वे अंशत: अपनी जीविका अर्जित करते हैं। जाल और फंदों द्वारा वे जंगली जानवर और मछलियाँ पकड़ते हैं।

उरॉंव अनेक गोत्रों में विभाजित हैं। गोत्र के भीतर वैवाहिक संबंध निपिद्ध होते हैं। प्रत्येक गोत्र का अपना विशिष्ट गोत्रचिह्न होता है। राय के अनुसंधानों द्वारा ६८ गोत्रों की सूची प्राप्त हुई है। इनमें से १६ के गोत्र-चिह्न जंगली जानवरों पर, १२ के पक्षियों पर, १४ के मछलियों तथा अन्य जलचरों पर, १९ के वनस्पतियों पर, २ के खनिजों पर, २ के स्थानीय नामों पर तथा १ का सर्पों पर आधारित है। शेप दो विभाजित गोत्र हैं। प्रत्येक गोत्र अपने आपको एक विशिष्ट पूर्वज की संतान मानता है, यद्यपि गोत्रचिह्न को ही पूर्वज मानने का विश्वास उनमें नहीं पाया जाता। गोत्र-चिह्न के संबंध में उनका विश्वास है कि उनके पूर्वजों को उससे प्राचीन काल में कोई न कोई अविस्मरणीय सहायता मिली थी जिसके कारण समूह के एक खंड का नाम उससे अविभाज्य रूप से संबद्ध हो गया। प्रत्येक गोत्र अपने गोत्रचिह्नवाले प्राणी, वृक्ष अथवा पदार्थ का किसी भी तरह उपयोग नहीं करता। उसे किसी भी प्रकार हानि पहुँचाना भी उनके सामाजिक नियमों द्वारा वर्जित है। यदि उनका गोत्रचिह्न कोई प्राणी या पक्षी है तो वे न तो उसका शिकार करेंगे और न उसका मांस खाएँगे। इसी तरह यदि उनका गोत्रचिह्न कोई वृक्ष है तो वे उसकी छाया में भी नहीं जायँगे।

उरॉंव समाज में संबंधव्यवस्था वर्गीकृत संज्ञाव्यवस्था पर आधारित होती है। विवाह सदा गोत्र के बाहर होते है। तीन पीढ़ियों तक के कतिपय रक्तसंबंधियों और वैवाहिक संबंधियों में भी विवाह का निपेध होता है।

प्रत्येक उरॉंव ग्राम की अपनी स्वतंत्र नियंत्रण व्यवस्था होती है। सामाजिक नियमों के उल्लंघन पर विचार गाँव के पंच करते हैं। गाँव के 'महतो' और 'पाहन' इस कार्य में उनका निर्देश करते है। पंचों की बैठक बहुधा गाँव के अखाड़े में होती है। राज्य-शासन-व्यवस्था का विस्तार अब आदिवासी क्षेत्रों में हो चुका है, इसलिये पंचों की परंपरागत शक्ति बहुत अंशों में क्षीण हो गई है। वे अब जातीय परंपराओं के उल्लंघन पर ही विचार कर सकते है।

उरॉंव लोगों का अंतर-ग्राम-संगठन भी उल्लेखनीय है। कई समवर्ती ग्राम 'परहा' के रूप में संगठित होते है। उनके केंद्रीय संगठन का नाम 'परहा पंच' होता है। परहा का सबसे महत्वपूर्ण गाँव राजा-गाँव माना जाता है। तीन अन्य महत्वपूर्ण गाँव अपने महत्व के अनुसार क्रमश: दीवान गाँव, पानरे गाँव (लिपिक ग्राम) और कोटवार ग्राम माने जाते है। शेष सब प्रजागाँव माने जाते है। परहा संगठन अपने सब सदस्य ग्रामों की सुरक्षा का प्रबंध करता है। मानवीय तथा अमानवीय --प्राकृतिक तथा दैवी-- प्रत्येक प्रकार की शक्तियों से ग्रामसमूह को बचाना इस संगठन का मुख्य कार्य होता है। परहा संगठन की ओर से सामूहिक शिकार, नृत्य, भोज इत्यादि का भी आयोजन किया जाता है। वे मेले और जात्राओं का भी प्रबंध करते हैं। जातीय लड़ाइयों में परहा के सदस्य एक दूसरे की सहायता करते हैं।

'धूमकुड़िया' उरॉंव समाज की एक विशिष्ट संस्था थी। यह एक प्रकार का युवागृह होता है जिसका प्रचलन भारत तथा संसार के कतिपय अन्य आदिवासी समूहों में वास और संगठन के महत्वपूर्ण भेदों के साथ पाया जाता है। उरॉंव समाज में लड़कों और लड़कियो की अलग अलग धूमकुड़िया होती है यद्यपि वे एक दूसरे के पास आ जा सकने के लिये स्वतंत्र रहते है। कहा जाता है, पहले तरुण तरुणियों को इन गृहो मे यौन संबंधो की स्वतंत्रता रहती थी। इस दिशा में उनका केवल गोत्रनियमों भर का पालन करना आवश्यक माना जाता था। समवर्ती जातियों की आलोचना के कारण इस संस्था का ह्रास होता जा रहा है। उसकी संख्या कम हो गई है। जहाँ वह आज भी पाई जाती है वहाँ उसके आंतरिक संगठन में अनेक मूलभूत परिवर्तन हो गए है। तरुण तरुणियों की स्वतंत्रता कई अंशों में सीमित हो गई है।

उरॉंव समाज में बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। ईसाई धर्म के प्रचार का इसमें बड़ा हाथ रहा है। आजीविका के लिये अनेक उरॉंव खनिज उद्योग तथा इस्पात उद्योग की ओर भी अग्रसर हुए हैं। नई राज-नीतिक चेतना ने भी उन्हें संगठन की एक नई दिशा दी है।

सं०ग्रं०--शरच्चंद्र राय : दि ओरॉंव; धीरेंद्रनाथ मजूमदार : रेसेज ऐंड कल्चर्स ऑव इंडिया। (श्या० दु०)

ओरान अलजीरिया देश का एक बंदरगाह है। यह भूमध्यसागर की ओरान की खाड़ी के सिरे पर स्थित है। यह नगर जेबेल मुरजाजो पर्वत पर बसा हुआ है जिसकी ऊँचाई १,६०० फुट है।

ओरान बड़ा व्यापारिक केंद्र है। मारसेई, बारसेलोना, वालेंशिया, जिब्राल्टर इत्यादि तथा बारबारी तट के अन्य बंदरगाहों से यहाँ बराबर गमनागमन की सुविधाएँ हैं। सन् १९६७ ई० में ओरान की संपूर्ण जन-संख्या ३,२५,००० थी। (वि० चं० मि०)

ओरिज़ाबा मेक्सिको देश के वेराक्रूज राज्य का एक नगर है। यह नगर वेराक्रूज़ बंदरगाह से पश्चिम-दक्षिण की ओर ८२ मील तथा मेक्सिको नगर से दक्षिण-पूर्व की ओर २०३ मील पर स्थित है। यह स्थान दो रेलमार्गो द्वारा जुड़ा हुआ है। अपनी विशेप स्थिति के कारण मेक्सिको के इतिहास में यह नगर प्रसिद्ध रहा है। इसी कारण उसका आर्थिक विकास भी हुआ। सियरा मादरे ओरिएंटल पर्वत की एक उपजाऊ तथा शीतोष्ण घाटी में लगभग ४,२०० फुट की ऊँचाई पर यह नगर बसा है। इसी के ऊपर लगभग १८,५५० फुट ऊँचा पिकोडि ओरिजाबा नाम का प्रसिद्ध तथा शांत ज्वालामुखी पर्वत बर्फ से ढका हुआ है। पर्याप्त मात्रा में जलप्राप्ति तथा शीतोष्ण जलवायु के कारण यह कृपि तथा औद्योगिक प्रदेश है। यहाँ की मुख्य उपज मक्का, चीनी, तंबाकू इत्यादि हैं। रियो ब्लैंको से जलविद्युत् शक्ति मिलती है जिसका उपयोग कपड़ों की मिलों तथा तंबाकू के कारखानों में किया जाता है। सन् १९६० ई० में इसकी जनसंख्या ७०,००० थी (वि० चं० मि०)

ओरिजेन (१८५–२५४ ई०) संत अगस्तिन के वाद ईसाई गिरजे के प्रथम पाँच शताब्दियों के सबसे महान् आचार्य। इनका जन्म सिकंदरिया के एक सुशिक्षित एवं भक्त ईसाई परिवार में हुआ था जिससे यह लौकिक तथा धार्मिक विषयों की अच्छी शिक्षा पा सके। सन् २०२ ई० में इनके पिता लेओनिदस को ईसाई होने के कारण प्राणदंड की आज्ञा मिली और परिवार की समस्त संपत्ति जब्त कर ली गई। एक धनी महिला की सहायता से ओरिजेन अपनी पढ़ाई पूरी कर सके; बाद में वह अपनी विधवा माँ और अपने छह छोटे भाइयों के निर्वाह के लिये व्याकरण सिखलाने लगे। इसके कुछ समय वाद ओरिजेन के जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। दीक्षार्थियों को ईसाई धर्म सिखलाने के लिये सिकंदरिया में एक ईसाई शिक्षा संस्था थी। विशप ने ओरिजेन को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया। ओरिजेन ने व्याकरण का अध्यापन छोड़ दिया तथा बाइबिल को अपने अध्ययन का केंद्र बनाकर आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने का निश्चय किया। ओरिजेन ने शीघ्र ही साधारण दीक्षार्थियों की शिक्षा का भार दूसरों को सौंपकर बाइबिल के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये ईसाई शिक्षा संस्था का एक नवीन विभाग खोल दिया जो धीरे धीरे विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हुआ, जहाँ शिक्षित गैर ईसाई भी बड़ी संख्या में कला, विज्ञान और दर्शन पढ़ने आए। बाइबिल के वैज्ञानिक अध्ययन तथा धर्म के तर्कसंगत प्रतिपादन के लिये ओरिजेन इन विषयों को आवश्यक समझते थे। इस संस्था के माध्यम से ओरिजेन की ख्याति समस्त रोमन साम्राज्य में फैल गई। व्याख्यान देने के अतिरिक्त वह अपनी पुस्तकें भी प्रकाशित करने लगे तथा चारों ओर से आए हुए निमंत्रण स्वीकार कर इन्होंने कई देशों की यात्रा की। एक वार रोमन सम्राट् अलेक्जेंडर सेवेरस की माता ने ईसाई धर्म की जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से ओरिजेन को बुला भेजा था।

सन् २३० ई० में फिलिस्तीन की यात्रा के समय ओरिजेन ने वहाँ के विशपों के हाथ से पुरोहताभिषेक ग्रहण किया जिसके फलस्वरूप सिकंदरिया के विशप ने उनको स्थानीय ईसाई शिक्षा संस्था के अध्यक्ष के पद से अलग कर दिया। ओरिजेन सिकंदरिया छोड़कर फिलिस्तीन को लौटे; वहाँ के विशपों ने इनका हार्दिक स्वागत किया। ओरिजेन ने कैसरिया में एक नई शिक्षा संस्था स्थापित कर सिकंदरिया का कार्यक्रम जारी रखा। इसके अतिरिक्त विशप का अनुरोध स्वीकार कर प्राय: प्रति दिन गिरजाघर में वे बाइबिल पर प्रवचन देने लगे। सन् २४७ ई० में सम्राट् देसियस ईसाइयों को सताने लगा; ओरिजेन को प्राणदंड की आज्ञा तो नहीं मिली किंतु इनको सन् २५० ई० में कारावास तथा घोर शारीरिक यंत्रणाएँ सहनी पड़ीं। इनका देहांत सन् २५४ ई० में तीर नामक नगर में हुआ।

ओरिजेन की रचनाओं की संख्या ६,००० बताई जाती है। अधिकांश प्राप्य ग्रंथ बाइबिल की व्याख्याएँ हैं। बाइबिल के वैज्ञानिक पाठनिर्धारण के विषय में इनकी हेक्साप्ला नामक पुस्तक में चार यूनानी तथा दो इब्रानी पाठ समानांतर स्तंभों में प्रकाशित हैं। इनकी गंभीरतम रचना **पेरी अरखोन** है जिसमें पहले पहल समस्त ईसाई धार्मिक विश्वासों का सुव्यवस्थित सिद्धांतवादी प्रतिपादन किया गया है। ओरिजेन की मृत्यु के पश्चात् इनके कई दार्शनिक सिद्धांतों का विरोध अवश्य होने लगा, किंतु धार्मिक विश्वासों के साथ मानव संस्कृति के मूल्यों का जो समन्वय आपकी रचनाओं में विद्यमान है, उसके लिये ओरिजेन चिरस्मरणीय हैं।

सं०ग्रं०—जे० दानियेलू : ओरिजेन, न्यूयार्क, १९५५। (का० बु०)

ओरीनिको दक्षिणी अमरीका के उत्तरी भाग की एक बड़ी नदी है। इस नदी के क्षेत्र में कोलंबिया देश के पूर्वी मैदान का लगभग आधा भाग, समस्त वेनेजुइला तथा ऐंडीज़ पर्वत प्रदेश का भाग संमिलित है। यह नदी सियरा पोरिमा पर्वत से निकलती है जो वेनेजुइला-ब्राज़ील की सीमा पर स्थित है। इसकी लंबाई लगभग १,७०० मील है। नदी के ५१। भाग में अनेक छोटे बड़े प्रपात हैं जो नदी के बहाव में बाधा डालते हैं। ५२ के मुहाने में ओरीनिको नदी गर्मी के मौसम में दो मील और वर्षा ८७ में लगभग सात मील चौड़ी हो जाती है। स्यूदाद वोलीवार नगर के निकट इसकी चौड़ाई केवल ८०० फुट है। समुद्रतट से ७०० मील भीतर तक बड़े जहाज चले जाते हैं। कैरोनिदन प्रपात के निकट ऊँचे तथा नीचे जल में लगभग ३२ फुट का अंतर मिलता है, परंतु सिउदाल वोलिवर के निकट ऐंगॉस्टुरा में लगभग ५० फुट ऊँचाई का अंतर है।

इस नदी के डेल्टा का क्षेत्रफल लगभग ७०० वर्ग मील है जो द्वीपों तथा दलदल से भरा हुआ है। इसमें घनी वनस्पति भी पाई जाती है।

(वि० चं० मि०)

ओरेगॉन संयुक्त राज्य, अमरीका, के उत्तरी पश्चिमी भाग में स्थित एक राज्य है तथा साधारणत: 'बीवर' राज्य कहलाता है। सेलेम इस राज्य की राजधानी है। इस राज्य के उत्तर में वाशिंगटन राज्य है। यह अंशत: कोलंबिया नदी तथा अंशत: ४६° अक्षांश रेखा द्वारा इससे अलग है। इसके पूर्व में इडाहो राज्य है जिसकी सीमा स्नेक नदी बनाती है। पश्चिम में प्रशांत महासागर का तट है जिसकी लंबाई ४३० मील है। यह राज्य पूर्व से पश्चिम ३७५ मील लंबा तथा उत्तर से दक्षिण २९० मील चौड़ा है। इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ९६,९८० वर्ग मील है और *जनसंख्या* (१९७०) २०,५६,१७१।

ओरेगॉन नगर इसी राज्य के विलामेट नदी के दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। यह पोर्टलैंड से १२ मील दक्षिण की ओर है। इस नगर से दक्षिणी पैसिफ़िक रेलवे गुजरती है। इस नगर में विलामेट नदी ४० फुट ऊँचा जलप्रपात बनाती है। इस प्रपात से जलविद्युत् का उत्पादन किया जाता है। यह नगर कागज तथा ऊनी कपड़ों के उत्पादन का केंद्र है। (वि० चं० मि०)

ओरोंटीज़ सीरिया देश की एक मुख्य नदी का प्राचीन नाम है। इसे ड्रेको, टाइफ़ून अथवा ऐक्सियस भी कहते थे। इसका प्रचलित नाम अल-असी है। इस नाम की उत्पत्ति ऐक्सियस शब्द से हुई है। बेका पर्वत के पूर्व से निकलकर यह नदी उत्तर की ओर बहती हुई होम्स झील में मिलती है। यहाँ से यह ऐंटियाक मैदान में बहती है। ऐफ़रिन तथा कारा सू नामक दो सहायक नदियाँ इसमें मिलती हैं। स्वेडिया बंदरगाह के निकट यह नदी समुद्र में मिलती है। इसकी लंबाई लगभग १७० मील है। इसमें नौचालन कठिन है। यह नदी सेनाओं के यातायात तथा मिस्र और एशिया माइनर के बीच व्यापार के लिये उपयोगी है।

(वि० चं० मि०)

ओलवाइन संयुक्त राज्य, अमरीका, के आइओवा राज्य में एक नगर है। यह राज्य के उत्तर-पूर्व में स्थित है और शिकागो, ग्रेट वेस्टर्न तथा रॉक आइलैंड रेलमार्गो से जुड़ा हुआ है। यहाँ कई उद्योग विकसित हैं, परंतु ये ऐसे प्रदेश में है जहाँ कृषि, पशुपालन, दुग्धशालाएँ और मुर्गी, बत्तक आदि पालने के कार्य ही प्रमुख हैं। इस नगर की नींव औगुस्त (ओलवाइन) ने १८७३ ई० में डाली थी। सन् १८९७ ई० में यह एक नगर घोषित किया गया। (श्री० ना० मे०)

ओलिंपिक खेल प्राचीन यूनान की महान् खेल परंपरा जो अर्वाचीन काल में फ्रांस के शिक्षाविद् बैरन पिरे डी कोवरटिन के प्रयास से पुनर्जीवित होकर विश्वव्यापी बनी और आधुनिक विश्वसंस्कृति का अंग बन गई। प्राचीन ओलिंपिक खेल शृंखला ७७६ ई० पू० में यूनानी इतिहास के उपाकाल से प्रारंभ होकर, उत्कर्षकाल में परिपुष्ट होती हुई, यूनानी पराधीनता (१४६ ई० पू० में रोम द्वारा) में विकारग्रस्त होकर ३९४ ई० तक चलती रही। अर्वाचीन ओलिंपिक खेल शृंखला १८९६ ई० में प्रारंभ होकर निरंतर गतिशील है। प्राचीन ओलिंपिक खेलों का विस्तार एकदेशीय था परंतु अर्वाचीन ओलिंपिक खेलों का विस्तार सार्वभौम है। उदात्त मानवमूल्यों की अमृत स्रोतस्विनी अतीत से नि:सृत होकर आधुनिक खेलों को अनुप्राणित कर रही है। यद्यपि ओलिंपिक परंपरा का शरीर दो भागों में विभक्त है और दोनों के बीच १,५०३ वर्षों का अंतर है तथापि आत्मा एक है। अत: इस परंपरा के सम्यक् बोध के लिये प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों शृंखलाओं का परिज्ञान आवश्यक है।

प्राचीन ग्रोलिंपिक खेल

जन जीवन से प्रसूत परंपरा—प्राचीन यूनान छोटे छोटे नगरराज्यों में विभक्त था जो राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन ग्रौर पृथक् होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से एक थे। ग्रापत्ति ग्रौर क्रीड़ाप्रतियोगिता के समय एक हो जाना इनकी विलक्षणता थी। यूनानी लोग खेल ग्रौर संगीत को नितांत पवित्र मानते थे ग्रौर इनके ग्रनन्य उपासक थे; इतने ग्रनन्य कि केवल ग्रवकाश, उत्सव एवं ग्रातिथ्य के समय ही नहीं ग्रपितु प्रियजनों के ग्रंतिम संस्कार के समय दिवंगत ग्रात्मा का परितोष भी क्रीड़ाप्रतियोगिता के ग्रायोजन से ही करते थे। होमर के विख्यात महाकाव्यों में प्राचीन यूनानी जीवन के विविध क्रीड़ासंदर्भ इस क्रीड़ाप्रेम के साक्षी हैं। यूनानी इतिहास के उषाकाल में क्रीड़ाप्रतियोगिताएँ स्थानीय होती थीं परंतु कालांतर में क्षेत्रीय प्रतियोगिताएँ भी विकसित हुई। क्षेत्रीय प्रतियोगिताग्रों में से कुछ ग्रपने कार्यक्रम के संमोहन द्वारा राष्ट्रीय प्रतियोगिताग्रों में परिणत हो गई। इन राष्ट्रस्तरीय प्रतियोगिताग्रों में चार उल्लेखनीय है, यथा

चित्र १. एक तैराक प्रतियोगी

स्थिमियन खेल, पीथियन खेल, नेमियन खेल तथा ग्रोलिंपियन खेल। ग्रोलिंपिक खेल इनमें सर्वाधिक जनप्रिय एवं विख्यात हो गए तथा केवल यूनान प्रायद्वीप में ही नहीं ग्रपितु समस्त भूमध्यसागर के तटों पर बसे यूनानी उपनिवेशों के खिलाड़ियों को ग्राकर्षित करने लगे।

कब ग्रौर कैसे—यद्यपि ग्रोलिंपिया घाटी में हुए ग्राधुनिक उत्खनन प्राचीन खेलों की तिथि को कुछ ग्रौर पीछे की ग्रोर ले जाते हैं तथापि निश्चयात्मक पुरातात्विक साक्ष्य के ग्रभाव में साहित्यिक साक्ष्य के ग्राधार पर खेलों को ७७६ ई० पू० में प्रारंभ हुग्रा माना जाता है। प्रारंभ के विषय में प्रचलित ग्रनेक मिथक 'प्रारंभ कैसे हुग्रा' प्रश्न को रहस्यमय किए हुए हैं। इनमें दो मिथक बहुचर्चित है, यथा, ज्यूस-कॉरोनास-द्वंद्व मिथक तथा ग्रायनोमस-हिपोडैमिया-पैलोप्स मिथक। पहले मिथक के ग्रनुसार यूनान के दो देवताग्रों, ज्यूस तथा कॉरोनास के बीच पृथ्वी के स्वामित्व हेतु ग्रोलिंपिया के पास स्थित पर्वतशिखर पर द्वंद्व हुग्रा जिसमें विजय ज्यूस की रही। उसकी विजय के स्मरणार्थ खेलों का प्रारंभ हुग्रा। दूसरे मिथक के ग्रनुसार राजा ग्रायनोमस की सुंदरी पुत्री हिपोडैमिया के प्रणयाभिलाषी ग्रनेक राजकुमार रथों की दौड़ में पराजित होकर ग्रायनोमस के भाले के शिकार हुए परंतु ग्रंत में पैलोप्स नामक राजकुमार युक्ति से विजयी हुग्रा ग्रौर इस विजय के उपलक्ष्य में खेलों की नई परंपरा प्रारंभ हुई।

नामकरण—इस विषय में दो विकल्प है। प्रथम के ग्रनुसार नामकरण स्थानबोधक है ग्रर्थात् ग्रोलिंपिया घाटी में ग्रायोजित होने के कारण ये खेल ग्रोलिंपिक कहलाए। दूसरे विकल्प के ग्रनुसार ग्रोलिंपिस पर्वतवासी ज्यूस देवता (जो खेलों के ग्रधिष्ठाता माने गए है) को प्रसन्न करने के लिये ग्रायोजित होने के कारण देवता के ग्रावास के नाम पर खेलों की संज्ञा ग्रोलिंपिक हुई। पहला विकल्प ही समीचीन प्रतीत होता है।

घोषणा, व्यवस्था, पात्रता—समारंभ तिथि के एक मास पूर्व ही खेलों के दूत घूम घूमकर ग्रागामी समारोह की घोषणा कर डालते थे। तुरंत पारस्परिक संघर्ष स्थगित हो जाते थे। जनविश्वास था कि ग्रधिष्ठाता देव ज्यूस ग्रोलिंपिया की ग्रोर यात्रा करनेवाले प्रतियोगियों तथा दर्शकों
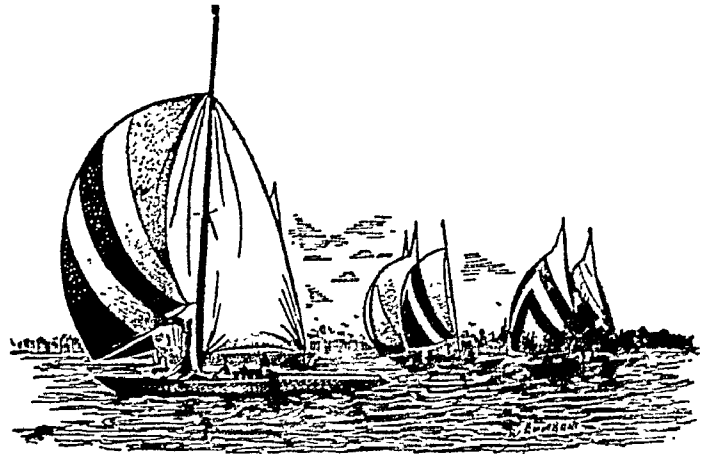
चित्र २. नौका दौड़

की रक्षा करते है ग्रौर यात्रियों के मार्ग में बाधक होनेवाले ज्यूस के कोपभाजन बनेंगे। एलिस राज्य में, जिसके क्षेत्र में ग्रोलिंपिया ग्रवस्थित थी, दस ग्रधिकारियों की व्यवस्थापिका प्रबंध सँभालती थी। प्रतियोगियों के लिये चार शर्तें थीं। यथा, वे शुद्ध यूनानी रक्त के हों, जीवन में कोई ग्रपराध न किया हो, दस महीने तक प्रशिक्षण लिया हो, ग्रवधि का ग्रंतिम मास ग्रोलिंपिया में बिताया हो साथ ही ग्रौर वे ईमानदारी के साथ खेलों में भाग लेने की प्रतिज्ञा करें।

एक सांस्कृतिक समागम भी—परंतु यह खेल मात्र क्रीड़ाप्रतियोगिता ही नहीं, ग्रपितु राष्ट्रीय सांस्कृतिक ग्रादान प्रदान का एक महान् ग्रवसर भी होता था। देश के मूर्धन्य कवि, शिल्पी, राजनीतिज्ञ, संगीतज्ञ, दार्शनिक ग्रौर इतिहासकार, सभी को यह महोत्सव ग्राकर्षित करता था। शिल्पी ग्रपनी छेनी से खिलाड़ियों का शरीरसौष्ठव प्रस्तर में उतारते थे। प्रसिद्ध शिल्पी फ़िडियास ने तो ग्रपनी एक वर्कशॉप ग्रोलिंपिया परिसर में ही बना रखी थी। उसने खेलों के ग्रधिष्ठाता ज्यूस देव की सुवर्ण ग्रौर हाथीदाँत खचित संगमरमर प्रतिमा गढ़ी थी, जिसपर लिखा था, "कारमाइडीज़ के पुत्र एथेंसवासी फ़िडियास ने मुझे बनाया है।" कवि खिलाड़ियों की साधना, साहस ग्रौर उपलब्धियों से प्रेरणा ग्रहण करते थे। पिंडार के 'ग्रोड्स टु विक्ट्री' में सबसे ग्रधिक (१४) ग्रोलिंपिक विजेताग्रों पर ही है। इस प्रकार बेकीलाइड्स द्वारा रचित तेरह पदों में से चार (सर्वाधिक) का विषय ग्रोलिंपिक उपलब्धियाँ ही है। प्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोटस स्वरचित इतिहास ग्रोलिंपिक खेलों के दर्शकों ग्रौर खिलाड़ियों को पढ़कर सुनाया करता था।

उद्घाटन समारोह—प्राचीन यूनान की व्यायामसाधना धार्मिक भावना से ग्रावेष्टित थी। प्रत्येक प्रतियोगिता का कोई एक ग्रधिष्ठिता देवता होता था तथा संपूर्ण वातावरण श्रद्धा, तपश्चर्या, पवित्रता ग्रौर निष्ठा से सिक्त रहता था। जनविश्वास था कि बारह देवताग्रों की एक ग्रोलिंपिक परिषद् पवित्र ग्राचरणवाले निष्ठावान् खिलाड़ियों की निगहबानी करके पुरस्कृत करती है। ग्रोलिंपिक के ग्रधिष्ठाता ज्यूस माने गए थे। प्रतियोगी उपवास के उपरांत ब्रह्ममुहूर्त में उठकर स्नानोपरांत पुरोहित के पीछे चलकर ज्यूस की वेदी पर एक वराह तथा पेलोप्स की समाधि पर एक काले रंग के मेढ़े का बलिदान करते थे। तूर्यों की समवेत ध्वनि, कपोतों के विमोचन तथा दर्शकों की हर्षध्वनि के मध्य उद्घाटन संपन्न होता था।

स्थली—खेलों के प्रारंभिक काल में ग्रोलिंपिया की घाटी में एल्फ़ियस नदी के तटवर्ती मैदान में प्रतियोगिताएँ होती थीं ग्रौर दर्शक निकटवर्ती पहाड़ की ढलानों पर बैठकर इन्हें देखते थे परंतु ई० पू० चौथी शताब्दी में देवपीठों के निकट एक विशाल स्टेडियम का निर्माण हुग्रा। तदुपरांत उसी के पास रथों की दौड़ के लिये एक विशाल हिपोड्रोम बना। कालांतर

में प्रतियोगियों के व्यायाम, अभ्यंग, स्नान एवं विश्रामादि के लिये एक जिम्नेजियम तथा उसी से सटा हुआ, डोरिक शैली के स्तंभों पर छत साधकर, छतदार धावनपथ (कवर्ड रनिंग ट्रैक) निर्मित हुआ।

घटनाएँ, भूषा, अवधि—पहले केवल एक ही घटना थी—पैदल दौड़। आठवें ओलिंपिक मे पंचागी प्रतियोगिता भी (पैंटेथलन) प्रारंभ हो गई। इसमें पैदल दौड़, लंबी कूद, चक्रप्रक्षेप, बर्छी प्रक्षेप तथा कुश्ती, ये पाँच घटनाएँ थी। २३वें ओलिंपिक मे मुक्केबाजी को स्थान मिला तथा २५वें में दो घोड़ोंवाले रथों तथा घोड़ों एव बछड़ों की दौड़ भी संमिलित हो गई।

चित्र ३. बर्छा फेंक (जैवलीन थ्रो) का प्रतियोगी

३३वें ओलिंपिक में चार घोड़ोंवाले रथों की दौड़ तथा पैंक्रेटियम (कुश्ती और मुक्केबाजी का संमिश्रण) कार्यक्रम में आ गए। छठी शताब्दी ई० पू० में कवचदौड़ इनमें शामिल की गई।

प्रारंभ में प्रतियोगिताएँ एक दिन में ही समाप्त हो जाती थीं परंतु घटनाओं की वृद्धि के स [illegible] कर पाँच दिन तक जा पहुँची। प्रतियोगिनाओं में खिलाड़ी [illegible] होकर भाग लेते थे। अतः डेमीटर की पुजारिन तथा क्वाँ [illegible] महिलाओं को खेल देखने की अनुमति [illegible] ।एादंड। हुआ ऐसा कि स्पार्टा निवा [illegible] के कारण प्रशिक्षण का दायित्व उस [illegible] ित। देखने जा पहुँची। पुत्र के सर्व [illegible] ाच उठी और पहचान ली गई। [illegible] पर करुण-प्रसंग-उद्घाटन [illegible] देखने ही नहीं, [illegible] वें खेलों में दो [illegible] e) के सर्व-

[illegible] अव्याव- [illegible] ण का [illegible] जैतून [illegible] किया

जाता था। परंतु वास्तविक पुरस्कार और प्रेरणास्रोत थी अमरकीर्ति। देश के जनगायक, कवि और इतिहासकारों की वाणी विजेताओं का यशोगान करती थी, शिल्पी उनका रूप प्रस्तर में उतारते थे, ओलिंपिया से घर तक की यात्रा एक अतुलित शोभायात्रा होती थी और अपने नगर में खिलाड़ियों का देवदुर्लभ स्वागत होता था।

पतन और अंत—श्रेष्ठ परंपराएँ राष्ट्र का बल होती है। जब तक ओलिंपिक खेल पवित्र रहे, यूनान अजेय रहा। जैसे ही यह परंपरा उत्कोच और भ्रष्टाचार का शिकार बनी, खेलों का आकर्षण मंद पड़ गया और राष्ट्र की शक्ति टूट गई। अंत में १४६ ई० पू० में रोम की चपेट से यूनानी स्वाधीनता का दीप बुझ गया। दासता ने उत्कोच, भ्रष्टाचार को बढ़ाया। रोमन स्वामियों ने ओलिंपिक खेलों के साथ खिलवाड़ किया। चरित्र नियामक घटनाओं के स्थान पर बर्बरतापूर्वक, उत्तेजनावर्धक घटनाओं का संमान बढा और इनका रूप विकृत हो गया। ओलिंपिया के पवित्र देवपीठ आक्रामकों द्वारा लूटे गए और अंत में रोमन सम्राट् थियोडासियस प्रथम ने ३६४ ई० में अपनी राजाज्ञा से इन्हें बंद कर दिया। इतना ही नहीं, थियोडासियस द्वितीय ने ४२६ ई० में परिसर की वेष्टनी ध्वस्त करवा दी। एक शताब्दी बाद भूकंप और बाढ़ ने विध्वंस को संपूर्ण कर दिया। मिट्टी का कफन ओढ़कर खेल सो गए।

अर्वाचीन ओलिंपिक खेल—(ओलिंपिक पुनश्चेतना) १५वीं शताब्दी में ही यूरोप में नवजागरण प्रारंभ हो चुका था। मठों के अज्ञातवास से निकलकर प्राचीन यूनान एवं रोम का साहित्यिक वैज्ञानिक और दार्शनिक चिंतन का मार्ग प्रशस्त कर रहा था। १८वी शती का जर्मनी क्रांतिकारी विचारक रूसो के शैक्षणिक आदर्शो पर निसर्गवादी स्कूलों की स्थापना कर रहा था। इन्हीं स्कूलों में से एक में, आधुनिक युग के प्रथम व्यायाम विचारक जे० एफ़० गट्स मथ्स (१७४६–१८३६) ने अपने ग्रंथों में प्राचीन यूनान के ओलिंपिक खेलों की पहली बार चर्चा की। जर्मन शोधकर्ता एर्स्ट कर्टियस ने ओलिंपिया घाटी में उत्खनन कार्य प्रारंभ किया। प्राचीन ओलिंपिक खेलों का इतिहास प्रकाश में आने लगा। कर्टियस वक्ता भी था। १० जनवरी, १८५२ को उसने बर्लिन में 'प्राचीन खेल' विषय पर भाषण देकर ओलिंपिक खेलों को चर्चा का विषय बना दिया। चर्चा के परिणामस्वरूप चेतना जागी। रूमानिया के धनाढ्य व्यापारी मेजर एवांजलिस जप्पास ने सन् १८५६ में आर्थिक सहायता के आश्वासन सहित यूनान नरेश के पास प्राचीन यूनानी खेलो के पुनरुद्धार के लिये प्रस्ताव भेजा। सन् १८५६ में राष्ट्रीय स्तर पर एथेंस में प्रथम अखिल यूनानी खेल आयोजित हुए। परंपरा चल निकली। सन् १८७०, १८७५, १८८८ और १८८६ में भी ये आयोजित हुए। मेजर जप्पास की पहल से यूरोप के जनमानस में ओलिंपिक चेतना का विकास हुआ। समय की धुंध में लिपटी क्रीड़ापरंपरा में चैतन्य का संचार हुआ।

खेलों का पुनर्जन्म—इस समय फ्रांस के राजपरिवार से संबंधित एक उदारचेता शिक्षाविद् बैरन पियरे डी कूबरटिन (Baron Pierre de Coubertin) भी ओलिंपिक चेतना से प्रभावित हो रहा था। उसकी खेलकूद में गंभीर रुचि थी। फ्रांसीसी सरकार ने १८८६ में उसे व्यायाम पद्धतियों के अध्ययनार्थ विश्वभ्रमण के लिये भेजा। इस कल्पनाशील पुरुष के हृदय में ओलिंपिक खेलों के सार्वभौम स्वरूप की रूपरेखा बन रही थी। उसके अनुसार इन खेलों ने प्राचीन यूनानियों को ऐक्य, शांति और अन्य उच्च मानवीय मूल्यों की ओर प्रेरित करके उनकी संस्कृति को अनुकरणीय बनाया था तथा आधुनिक तनावपूर्ण राजनीतिक वातावरण को परिवर्तित करके विश्वमैत्री के विकास के लिये इनकी पुन: आवश्यकता थी। अपनी विश्वयात्रा के दौरान कूबरटिन ने अनेक देशों के क्रीड़ाप्रेमियों से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ओलिंपिक खेलों के पुनरुद्धार की संभावना पर विचार विनिमय किया। हमखयाल मिलते गए और हौसला बढ़ता गया। यात्रा से लौटकर २५ नवंबर, १८६२ को कूबरटिन ने पेरिस के सोर्बोन हाल में ओलिंपिक खेलों के पुनरुद्धार पर भाषण दिया। उसके विचारों का जोरदार स्वागत हुआ। परिणामस्वरूप १८६३ में मसले को आगे बढ़ाने के लिये एक अंतरराष्ट्रीय संमेलन बुलाया। १६ से लेकर २३ जून, १८६४ तक १३ देशों के प्रतिनिधियों ने समस्या पर विचार किया। २१ देशों ने समर्थन

संदेश भेजे। २३ जून को प्रस्ताव पारित हुआ कि यूनानी ओलिंपिक खेलों के नमूने पर प्रत्येक चार वर्ष पर प्रतियोगिताएँ हों और प्रत्येक राष्ट्र को

चित्र ४. भारी भारवहन (हैवी वेट लिफ्टिंग) का प्रतियोगी

आमंत्रित किया जाय। कूबरटिन का विचार था कि सन् १९०० में पेरिस में प्रथम खेलों का आयोजन हो परंतु यूनानियों ने प्रस्ताव किया कि आधुनिक युग के प्रथम ओलिंपिक खेलों के आयोजन का आतिथ्याधिकार उन्हें मिले तथा खेल १८९६ में एथेंस नगर में हों। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। १२ सदस्यों की अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति (आई० ओ० सी०) बनी और तैयारियाँ प्रारंभ हो गईं। ओलिंपिया की घाटी में १५०३ वर्ष पूर्व समाधिस्थ परंपरा जी उठी। जगानेवाले मनीषी कूबरटिन को 'आधुनिक ओलिंपिक खेलों का पिता' कहा जाता है।

आधुनिक शृंखला—५ अप्रैल, १८९६ को यूनान की राजधानी एथेंस में आधुनिक युग के प्रथम ओलिंपिक खेलों का श्रीगणेश हुआ। तब से प्रथम विश्वयुद्ध में एक बार (१९१६) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में दो बार (१९४० तथा १९४४) रुकते हुए प्रत्येक चार वर्ष पर खेलों का आयोजन होता जा रहा है। शृंखला का क्रम निम्न प्रकार है :

१. एथेंस १८९६, २. पेरिस १९००, ३. सेंट लुइस १९०४, ४. लंदन १९०८, ५. स्टाकहोम १९१२, ६. बर्लिन १९१६ (युद्ध के कारण नहीं हो सके), ७. ऐंटवर्प १९२०, ८. पेरिस १९२४, ९. ऐम्स्टरडम १९२८, १०. लॉस ऐंजेल्स १९३२, ११. बर्लिन १९३६, १२. टोकियो बाद में हेलसिंकी १९४० (युद्ध के कारण नहीं हो सके), १३. लंदन १९४४ (युद्ध के कारण नहीं हो सके), १४. लंदन १९४८, १५. हेलसिंकी १९५२, १६. मेल्बोर्न १९५६, १७. रोम १९६०, १८. टोकियो १९६४, १९. मेक्सिको सिटी १९६८, २०. म्यूनिख १९७२। आगामी २१वें खेल मांट्रियल (कनाडा) में १८ जुलाई से १ अगस्त, १९७६ तक आयोजित होंगे।

व्यवस्था—खेलों का प्रबंध अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति करती है जिसका मुख्यालय स्विट्जरलैंड के लॉसेन नगर में है। संप्रति समिति में ४७ देशों के ७२ सदस्य हैं। सदस्यता आजीवन रहती है, बशर्ते सदस्य बैठकों में नियमित रूप से भाग लेता रहे। सदस्यों पर अपने देश की सरकार अथवा अन्य किसी का कोई दबाव नहीं रहता। वे अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण से अपना कार्य करते हैं। बैरन कूबरटिन सन् १९३२ तक स्वयं समिति के सभापति रहे। तत्पश्चात् सन् १९४२ तक बेल्जियम के काउंट हेनरी डी बेले लाटूर, सन् १९५२ तक स्वीडन के जे० सिगफ्रिड एडस्ट्रोम तथा सन्

चित्र ५. साइकिल दौड़ का प्रतियोगी

१९७२ तक अमरीका के एवरी ब्रंडेज सभापति रहे। आजकल सभापति हैं आयरलैंड के लार्ड किलानिन।

अव्यावसायिक खेल—इन खेलों में वही खिलाड़ी भाग ले सकते हैं जो केवल आनंदलाभ के लिये प्रतियोगिता में भाग लेते हों, जीविकोपार्जन के लिये नहीं। इन्हें 'एमेच्योर' खिलाड़ी कहते हैं। खिलाड़ियों का निर्वाचन उनके राष्ट्र की ओलिंपिक समितियाँ करती हैं जो अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति के आधीन होती हैं।

प्रतियोगिता कार्यक्रम—यह कार्यक्रम प्राचीन परंपरा के अनुरूप ही आधुनिक खेलों का सर्वाधिक संमानित एवं महत्वपूर्ण क्रीड़ा ऐथलेटिक्स है। एथेंस के पहले खेल में ऐथलेटिक्स, भारोत्तोलन, कुश्ती, तैराकी, साइक्लिंग, टेनिस, निशानेबाजी, तलवारबाजी और जिम्नास्टिक्स में प्रतियोगिताएँ हुई थीं। क्रमशः नई क्रीड़ाएँ कार्यक्रम में जुड़ती गईं जिनमें बड़े खेल एवं हिम क्रीड़ाएँ हैं। हिम क्रीड़ाएँ सन् १९२४ से प्रारंभ हुईं। इनका आयोजन मुख्य आयोजन के पूर्व ही पृथक् रूप से जनवरी, फरवरी (शीतकाल में) 'विंटर गेम्स' के नाम से होता है। महिलाओं का प्रवेश वैसे सन् १९१२ में ही हो चुका था परंतु ऐथलेटिक्स में उनकी प्रतियोगिताएँ १९२८ से प्रारंभ हुईं। कार्यक्रम की सीमाओं का विस्तार क्रीड़ा कौशलों के परे ललित कलाओं के क्षेत्र तक है। इस अवसर पर आयोजित कलाप्रदर्शनी में भव्य निर्माण, शिल्प, नगरनियोजन, चित्रांकन, रेखांकन, मूर्तिशिल्प, साहित्य, नाटक तथा संगीत में प्रविष्टियाँ ली जाती हैं। इधर १९६८ से युवाशिविर का आयोजन हुआ है जिसका उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय सांस्कृतिक समागम है।

आतिथ्य का अधिकार—यह अधिकार नगर को दिया जाता है राष्ट्र को नहीं। सदस्य राष्ट्रों के क्रीड़ा-सुविधा-संपन्न नगरों के नगरप्रमुख (मेयर) अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति के समक्ष आतिथ्याधिकार हेतु आवेदन प्रस्तुत करते हैं। समिति उनके पात्रत्व पर विचार करके योग्यतम नगर को स्वीकृति देती है। यह कार्य वर्षों पूर्व संपन्न हो जाता है क्योंकि नियोजन और तैयारी बहुत समय लेती है।

ध्वज—श्वेत पृष्ठभूमि पर नीले, पीले, काले, हरे और लाल वर्णों के पाँच संगुंफित वृत्त शृंखलाबद्ध रहते हैं। शृंखला आड़ी रहती है जिसमें नीले, काले और लाल वृत्त किंचित् ऊपर तथा पीले और हरे किंचित् नीचे रहते हैं।

ओलिंपिक ग्राम—लॉस ऐंजेल्स ओलिंपिक (१९३२) में प्रथम बार खिलाड़ियों एवं अधिकारियों के आवास भोजनादि के लिये ओलिंपिक ग्राम निर्मित हुआ और तब से यह परंपरा चल पड़ी।

में प्रतियोगियों के व्यायाम, अभ्यंग, स्नान एवं विश्रामादि के लिये एक जिम्नेज़ियम तथा उसी से सटा हुआ, डोरिक शैली के स्तंभों पर छत साधकर, छतदार धावनपथ (कवर्ड रनिंग ट्रैक) निर्मित हुआ।

घटनाएँ, भूषा, अवधि—पहले केवल एक ही घटना थी—पैदल दौड़। आठवें ओलिंपिक में पंचांगी प्रतियोगिता भी (पैंटेथलन) प्रारंभ हो गई। इसमें पैदल दौड़, लंबी कूद, चक्रप्रक्षेप, बर्छी प्रक्षेप तथा कुश्ती, ये पाँच घटनाएँ थीं। २३वें ओलिंपिक में मुक्केबाजी को स्थान मिला तथा २५वें में दो घोड़ोंवाले रथों तथा घोड़ों एवं बछड़ों की दौड़ भी संमिलित हो गई।
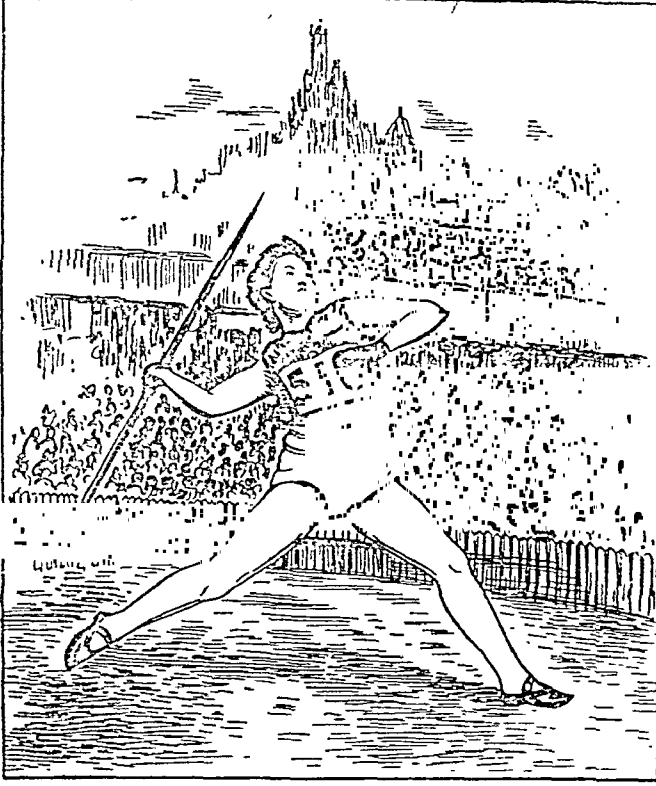
चित्र ३. बर्छा फेंक (जैवलीन थ्रो) का प्रतियोगी

३३वें ओलिंपिक में चार घोड़ोंवाले रथों की दौड़ तथा पैंक्रेटियम (कुश्ती और मुक्केबाजी का संमिश्रण) कार्यक्रम में आ गए। छठी शताब्दी ई० पू० में कवचदौड़ इनमें शामिल की गई।

प्रारंभ में प्रतियोगिताएँ एक दिन में ही समाप्त हो जाती थीं परंतु घटनाओं की वृद्धि के साथ अवधि बढ़कर पाँच दिन तक जा पहुँची। प्रतियोगिताओं में खिलाड़ी एकदम निर्वस्त्र होकर भाग लेते थे। अतः डेमीटर की पुजारिन तथा क्वाँरी कन्याओं को छोड़, अन्य महिलाओं को खेल देखने की अनुमति नहीं थी। नियमभंग का दंड था, प्राणदंड। हुआ ऐसा कि स्पार्टा निवासी पिसीडोरस के पिता की मृत्यु होने के कारण प्रशिक्षण का दायित्व उसकी माँ ने सँभाला और छद्मवेश में प्रतियोगिता देखने जा पहुँची। पुत्र के सर्वजेता होने पर वह हर्षातिरेक में चीखकर नाच उठी और पहचान ली गई। अधिकारियों के सामने प्रस्तुत किए जाने पर करुण-प्रसंग-उद्‌घाटन ने इतिहास बदल दिया और तब से महिलाएँ देखने ही नहीं, संभवतः भाग लेने की भी अधिकारिणी मान ली गईं। १२८वें खेलों में दो बछड़ों की रथदौड़ में मैसेडोनिया की बेलिस्के (Belische) के सर्वजेत्री होने का उल्लेख है।

पुरस्कार और संमान—ओलिंपिक प्रतियोगिताएँ पूर्ण रूप से अव्यावसायिक अथवा शौकिया थीं। स्वास्थ्य, कौशल एवं चरित्रनिर्माण का उच्चादर्श इसका प्राण था। सर्वजेताओं का आधिकारिक संमान जैतून (Olive) की पत्तियों के मुकुट तथा खजूर की एक टहनी मात्र से किया जाता था। परंतु वास्तविक पुरस्कार और प्रेरणास्रोत थी अमरकीर्ति। देश के जनगायक, कवि और इतिहासकारों की वाणी विजेताओं का यशोगान करती थी, शिल्पी उनका रूप प्रस्तर में उतारते थे, ओलिंपिया से घर तक की यात्रा एक अतुलित शोभायात्रा होती थी और अपने नगर में खिलाड़ियों का देवदुर्लभ स्वागत होता था।

पतन और अंत—श्रेष्ठ परंपराएँ राष्ट्र का बल होती हैं। जब तक ओलिंपिक खेल पवित्र रहे, यूनान अजेय रहा। जैसे ही यह परंपरा उत्कोच और भ्रष्टाचार का शिकार बनी, खेलों का आकर्षण मंद पड़ गया और राष्ट्र की शक्ति टूट गई। अंत में १४६ ई० पू० में रोम की चपेट से यूनानी स्वाधीनता का दीप बुझ गया। दासता ने उत्कोच, भ्रष्टाचार को बढ़ाया। रोमन स्वामियों ने ओलिंपिक खेलों के साथ खिलवाड़ किया। चरित्र नियामक घटनाओं के स्थान पर बर्बरतापूर्वक, उत्तेजनावर्धक घटनाओं का संमान बढ़ा और इनका रूप विकृत हो गया। ओलिंपिया के पवित्र देवपीठ आक्रामकों द्वारा लूटे गए और अंत में रोमन सम्राट् थियोडासियस प्रथम ने ३९४ ई० में अपनी राजाज्ञा से इन्हें बंद कर दिया। इतना ही नहीं, थियोडासियस द्वितीय ने ४२६ ई० में परिसर की वेष्टनी ध्वस्त करवा दी। एक शताब्दी बाद भूकंप और बाढ़ ने विध्वंस को संपूर्ण कर दिया। मिट्टी का कफन ओढ़कर खेल सो गए।

अर्वाचीन ओलिंपिक खेल—(ओलिंपिक पुनश्चेतना) १५वीं शताब्दी में ही यूरोप में नवजागरण प्रारंभ हो चुका था। मठों के अज्ञातवास से निकलकर प्राचीन यूनान एवं रोम का साहित्यिक वैज्ञानिक और दार्शनिक चिंतन का मार्ग प्रशस्त कर रहा था। १८वीं शती का जर्मनी क्रांतिकारी विचारक रूसो के शैक्षणिक आदर्शो पर निसर्गवादी स्कूलों की स्थापना कर रहा था। इन्हीं स्कूलों में से एक में, आधुनिक युग के प्रथम व्यायाम विचारक जे० एफ़० गट्स मथ्स (१७४६–१८३६) ने अपने ग्रंथों में प्राचीन यूनान के ओलिंपिक खेलों की पहली बार चर्चा की। जर्मन शोधकर्ता एंर्स्ट कर्टियस ने ओलिंपिया घाटी में उत्खनन कार्य प्रारंभ किया। प्राचीन ओलिंपिक खेलों का इतिहास प्रकाश में आने लगा। कर्टियस वक्ता भी था। १० जनवरी, १८५२ को उसने बर्लिन में 'प्राचीन खेल' विषय पर भाषण देकर ओलिंपिक खेलों को चर्चा का विषय बना दिया। चर्चा के परिणामस्वरूप चेतना जागी। रूमानिया के धनाढ्य व्यापारी मेजर एवांजलिस ज़प्पास ने सन् १८५६ में आर्थिक सहायता के आश्वासन सहित यूनान नरेश के पास प्राचीन यूनानी खेलों के पुनरुद्धार के लिये प्रस्ताव भेजा। सन् १८५९ में राष्ट्रीय स्तर पर एथेंस में प्रथम अखिल यूनानी खेल आयोजित हुए। परंपरा चल निकली। सन् १८७०, १८७५, १८८८ और १८८९ में भी ये आयोजित हुए। मेजर ज़प्पास की पहल से यूरोप के जनमानस में ओलिंपिक चेतना का विकास हुआ। समय की धुंध में लिपटी क्रीड़ापरंपरा में चैतन्य का संचार हुआ।

खेलों का पुनर्जन्म—इस समय फ्रांस के राजपरिवार से संबंधित एक उदारचेता शिक्षाविद् बैरन पिरे डी कूबरटिन (Baron Pierre de Coubertin) भी ओलिंपिक चेतना से प्रभावित हो रहा था। उसकी खेलकूद में गंभीर रुचि थी। फ्रांसीसी सरकार ने १८८९ में उसे व्यायाम पद्धतियों के अध्ययनार्थ विश्वभ्रमण के लिये भेजा। इस कल्पनाशील पुरुष के हृदय में ओलिंपिक खेलों के सार्वभौम स्वरूप की रूपरेखा बन रही थी। उसके अनुसार इन खेलों ने प्राचीन यूनानियों को ऐक्य, शांति और अन्य उच्च मानवीय मूल्यों की ओर प्रेरित करके उनकी संस्कृति को अनुकरणीय बनाया था तथा आधुनिक तनावपूर्ण राजनीतिक वातावरण को परिवर्तित करके विश्वमैत्री के विकास के लिये इनकी पुनः आवश्यकता थी। अपनी विश्वयात्रा के दौरान कूबरटिन ने अनेक देशों के क्रीड़ाप्रेमियों से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ओलिंपिक खेलों के पुनरुद्धार की संभावना पर विचार विनिमय किया। हमखयाल मिलते गए और हौसला बढ़ता गया। यात्रा से लौटकर २५ नवंबर, १८९२ को कूबरटिन ने पेरिस के सोर्बोन हाल में ओलिंपिक खेलों के पुनरुद्धार पर भाषण दिया। उसके विचारों का जोरदार स्वागत हुआ। परिणामस्वरूप १८९३ में मसले को आगे बढ़ाने के लिये एक अंतरराष्ट्रीय संमेलन बुलाया। १६ से लेकर २३ जून, १८९४ तक १३ देशों के प्रतिनिधियों ने समस्या पर विचार किया। २१ देशों ने समर्थन

संदेश भेजे। २३ जून को प्रस्ताव पारित हुआ कि यूनानी ओलिंपिक खेलों के नमूने पर प्रत्येक चार वर्ष पर प्रतियोगिताएँ हों और प्रत्येक राष्ट्र को

चित्र ४. भारी भारवहन (हेवी वेट लिफ्टिंग) का प्रतियोगी

आमंत्रित किया जाय। कूबरटिन का विचार था कि सन् १९०० में पेरिस में प्रथम खेलों का आयोजन हो परंतु यूनानियों ने प्रस्ताव किया कि आधुनिक युग के प्रथम ओलिंपिक खेलों के आयोजन का आतिथ्याधिकार उन्हें मिले तथा खेल १८९६ में एथेंस नगर में हों। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। १२ सदस्यों की अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति (आई० ओ० सी०) बनी और तैयारियाँ प्रारंभ हो गई। ओलिंपिया की घाटी में १५०३ वर्ष पूर्व समाधिस्थ परंपरा जी उठी। जगानेवाले मनीषी कूबरटिन को 'आधुनिक ओलिंपिक खेलों का पिता' कहा जाता है।

आधुनिक शृंखला—५ अप्रैल, १८९६ को यूनान की राजधानी एथेंस में आधुनिक युग के प्रथम ओलिंपिक खेलों का श्रीगणेश हुआ। तब से प्रथम विश्वयुद्ध में एक बार (१९१६) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में दो बार (१९४० तथा १९४४) रुकते हुए प्रत्येक चार वर्ष पर खेलों का आयोजन होता जा रहा है। शृंखला का क्रम निम्न प्रकार है :

१. एथेंस १८९६, २. पेरिस १९००, ३. सेंट लुइस १९०४, ४. लंदन १९०८, ५. स्टाकहोम १९१२, ६. बर्लिन १९१६ (युद्ध के कारण नहीं हो सके), ७. ऐंटवर्प १९२०, ८. पेरिस १९२४, ९. ऐम्स्टरडम १९२८, १०. लॉस ऐंजेल्स १९३२, ११. बर्लिन १९३६, १२. टोकियो बाद में हेलसिंकी १९४० (युद्ध के कारण नहीं हो सके), १३. लंदन १९४४ (युद्ध के कारण नहीं हो सके), १४. लंदन १९४८, १५. हेलसिंकी १९५२, १६. मेल्वोर्न १९५६, १७. रोम १९६०, १८. टोकियो १९६४, १९. मेक्सिको सिटी १९६८, २०. म्यूनिख १९७२। आगामी २१वें खेल मांट्रियल (कनाडा) में १८ जुलाई से १ अगस्त, १९७६ तक आयोजित होंगे।

व्यवस्था—खेलों का प्रबंध अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति करती है जिसका मुख्यालय स्विटजरलैंड के लॉसेन नगर में है। संप्रति समिति में ४७ देशों के ७२ सदस्य हैं। सदस्यता आजीवन रहती है, बशर्ते सदस्य बैठकों में नियमित रूप से भाग लेता रहे। सदस्यों पर अपने देश की सरकार अथवा अन्य किसी का कोई दबाव नहीं रहता। वे अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण से अपना कार्य करते हैं। बैरन कूबरटिन सन् १९३२ तक स्वयं समिति के सभापति रहे। तत्पश्चात् सन् १९४२ तक बेल्जियम के काउंट हेनरी डी बेले लाटूर, सन् १९५२ तक स्वीडन के जे० सिगफ्रिड एडस्ट्रोम तथा सन्

चित्र ५. साइकिल दौड़ का प्रतियोगी

१९७२ तक अमरीका के एवरी ब्रंडेज सभापति रहे। आजकल सभापति हैं आयरलैंड के लार्ड किलानिन।

अव्यावसायिक खेल—इन खेलों में वही खिलाड़ी भाग ले सकते हैं जो केवल आनंदलाभ के लिये प्रतियोगिता में भाग लेते हों, जीविकोपार्जन के लिये नहीं। इन्हें 'एमेच्योर' खिलाड़ी कहते हैं। खिलाड़ियों का निर्वाचन उनके राष्ट्र की ओलिंपिक समितियाँ करती हैं जो अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति के आधीन होती हैं।

प्रतियोगिता कार्यक्रम—यह कार्यक्रम प्राचीन परंपरा के अनुरूप ही आधुनिक खेलों का सर्वाधिक संमानित एवं महत्वपूर्ण क्रीड़ा ऐथलेटिक्स है। एथेंस के पहले खेल में ऐथलेटिक्स, भारोत्तोलन, कुश्ती, तैराकी, साइकिलिंग, टेनिस, निशानेबाजी, तलवारबाजी और जिम्नास्टिक्स में प्रतियोगिताएँ हुई थीं। क्रमशः नई क्रीड़ाएँ कार्यक्रम में जुड़ती गईं जिनमें बड़े खेल एवं हिम क्रीड़ाएँ हैं। हिम क्रीड़ाएँ सन् १९२४ से प्रारंभ हुईं। इनका आयोजन मुख्य आयोजन के पूर्व ही पृथक् रूप से जनवरी, फरवरी (शीतकाल में) 'विंटर गेम्स' के नाम से होता है। महिलाओं का प्रवेश वैसे सन् १९१२ में ही हो चुका था परंतु ऐथलेटिक्स में उनकी प्रतियोगिताएँ १९२८ से प्रारंभ हुईं। कार्यक्रम की सीमाओं का विस्तार क्रीड़ा कौशलों के परे ललित कलाओं के क्षेत्र तक है। इस अवसर पर आयोजित कलाप्रदर्शनी में भव्य निर्माण, शिल्प, नगरनियोजन, चित्रांकन, रेखांकन, मूर्तिशिल्प, साहित्य, नाटक तथा संगीत में प्रविष्टियाँ ली जाती हैं। इधर १९६८ से युवाशिविर का आयोजन हुआ है जिसका उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय सांस्कृतिक समागम है।

आतिथ्य का अधिकार—यह अधिकार नगर को दिया जाता है राष्ट्र को नहीं। सदस्य राष्ट्रों के क्रीड़ा-सुविधा-संपन्न नगरों के नगरप्रमुख (मेयर) अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति के समक्ष आतिथ्याधिकार हेतु आवेदन प्रस्तुत करते हैं। समिति उनके दावे पर विचार करके योग्यतम नगर को स्वीकृति देती है। यह कार्य वर्षों पूर्व संपन्न हो जाता है क्योंकि नियोजन और तैयारी बहुत समय लेती है।

ध्वज—श्वेत पृष्ठभूमि पर नीले, पीले, काले, हरे और लाल वर्णों के पाँच संगुंफित वृत्त शृंखलाबद्ध रहते हैं। शृंखला आड़ी रहती है जिसमें नीले, काले और लालवृत्त किंचित् ऊपर तथा पीले और हरे किंचित् नीचे रहते हैं।

ओलिंपिक ग्राम—लॉस ऐंजेल्स ओलिंपिक (१९३२) में प्रथम बार खिलाड़ियों एवं अधिकारियों के आवास भोजनादि के लिये ओलिंपिक ग्राम निर्मित हुआ और तब से यह परंपरा चल पड़ी।

ओलिंपिक ज्योति—यह प्रथा बर्लिन ओलिंपिक खेल से प्रारंभ हुई। इसके अनुसार ओलिंपिक परंपरा की आदिभूमि, यूनान की ओलिंपिया घाटी में, धवलवसना कुमारियाँ आतशी शीशे से पवित्र अग्नि प्रज्वलित करती हैं और फिर धावकों की रिले द्वारा मशाल के माध्यम से ज्योति प्रतियोगिता स्थल तक पहुँचाई जाती है जहाँ वह एक विशेष अग्निकुंड में स्थापित की जाती है और समापन की घोषणा पर्यंत निरंतर प्रज्वलित रहती है।

चित्र ६. स्केटिंग

अवधि—आजकल खेल १५ दिन तक चलते हैं। आगामी खेल (मांट्रियल) १८ जुलाई से १ अगस्त, १९७६ तक होंगे।

पुरस्कार—विभिन्न क्रीड़ाओं की विभिन्न घटनाओं में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त करनेवाले खिलाड़ियों को क्रमशः स्वर्ण, रजत तथा कांस्य पदक प्रदान किए जाते हैं। खेलों में दल के प्रत्येक खिलाड़ी को पदक प्रदान किया जाता है।

उद्घाटन एवं समापन—खेल का उद्घाटन व्यवस्थापक राष्ट्र का राजा या राष्ट्रपति करता है। मुख्य अतिथि के आगमन पर मंचप्रयाण प्रारंभ होता है—आगे ध्वज लिए यूनान का दल, उसके पीछे वर्णक्रमानुसार शेष दल और अंत में मेजवान देश का दल। मंचप्रयाण और अभिवादन के पश्चात् दल क्रीडांगण में एकत्र होते हैं। ओलिंपिक ध्वज लहराया जाता है। मेजवान देश का वरिष्ठ खिलाड़ी सभी खिलाड़ियों की ओर से सचाई, सद्भावना तथा न्यायोचित ढंग से अपने राष्ट्र तथा संसार में खेलकूद के गौरव हेतु भाग लेने की प्रतिज्ञा करता है। अंतरराष्ट्रीय ओलिंपिक समिति का सभापति मुख्य अतिथि से उद्घाटन हेतु प्रार्थना करता है। उद्घाटन के साथ ही कपोत विमोचन और तोप की गर्जना का प्रबंध होता है। अंत में आती है ओलिंपिक ज्योति। खेल का समापन भी इसी प्रकार धूमधाम से होता है। पवित्र अग्नि बुझा दी जाती है, पाँच बार तोपों की सलामी दी जाती है और ओलिंपिक ध्वज आगामी खेलों के मेजवान नगर के नगर-प्रमुख के हवाले कर दिया जाता है।

साम्यवादी देशों का प्रवेश—१९५२ ई० में सोवियत रूस तथा अन्य साम्यवादी देशों (केवल लाल चीन को छोड़कर) ने खेलों में प्रवेश करके ऐसा भव्य प्रदर्शन किया कि आधी शताब्दी से स्थापित अमरीकी एकाधिकार भंग हो गया। उपलब्धियों की दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ। आजकल दोनों पक्ष निरंतर तकनीकी विकास में संलग्न हैं और मानव सामर्थ्य की सीमाएँ बढ़ रही हैं।

तथापि रंगभेद, जातिसंघर्ष तथा आर्थिक समस्याएँ यदा कदा मनुष्य की निम्न कोटि की प्रवृत्तियों को उभारकर उसे क्रोध और घृणा की ओर मोड़ ओलिंपिक आंदोलन के भाग में विघ्न डालती रहती हैं। सन् १९७२ में म्यूनिख में आयोजित ओलिंपिक खेलों के दौरान अरब छापामारों ने इज़रायली खिलाड़ियों में से कई की हत्या कर दी जिससे विश्व भर में हाहाकार मच गया। परंतु संस्थापक कूबरटिन का निम्नलिखित वरद वाक्य हृदय में धारण किए ओलिंपिक खेल शांति और सौहार्द्र के लक्ष्य की ओर प्रगतिशील हैं :

"आनंद एवं सुमैत्री का साम्राज्य तथा मानवता का कल्याण करती और राष्ट्रों के बीच सौहार्द्रपूर्ण, नित्य वर्धमान मैत्रीभाव बिखेरती ओलिंपिक ज्योति युगयुगांतर तक गतिशील रहे।" (जी० कु० पा०)

ओलिंपिक कीर्तिमानों (रेकार्डों) की तालिका १.
(१९५६ ई० तक)

प्रतियोगिता	स्थान	वर्ष	विजेता	राष्ट्र	समय तथा दूरी
१०० मीटर	लास ऐंजेल्स	१९३२	ई० टोलेन	संयुक्त राष्ट्र अमरीका	१०.३ सेकंड
	बर्लिन	१९३६	जे० ओवेंस	,,	,,
	लंदन	१९४८	एच० डिलार्ड	,,	,,
	मेलबोर्न	१९५६	आर० मारो	,,	,,
	मेलबोर्न	१९५६	आई० मरचिसन	,,	,,
२०० मीटर	मेलबोर्न	१९५६	आर० मारो	,,	२०.६ सेकंड
४०० मीटर	हेलसिंकी	१९५२	वी० रोडन	जमैका	४५.९ सेकंड
	,,	१९५२	एच० मकिनली	,,	,,
४०० मीटर रिले	मेलबोर्न	१९५६	आई० मरचिसन, एल० किंग, टी० बेकर तथा आर० मारो।	संयुक्त राष्ट्र अमरीका	३९.५ सेकंड ,,
८०० मीटर	मेलबोर्न	१९५६	टी० कुर्टनी	,,	१ मि० ४७.७ से०
१,५०० मीटर	,,	१९५६	आर० डिलेनी	आयर	३ मि० ४१.२ से०
१,६०० मीटर रिले	हेलसिंकी	१९५२	ए० विंट, एल० लैंग, एच० मकिनली, तथा वी० रोडन	जमैका ,,	३ मि० ३.९ सेकंड ,,
३,००० मीटर स्टीपलचेज	मेलबोर्न	१९५६	सी० ब्रेशर	ग्रेट ब्रिटेन	८ मि० ४१.२ से०
५,००० मीटर	मेलबोर्न	१९५६	वी० कुट्स	रूस	१३ मि० ३९.६ से०
१०,००० मीटर	मेलबोर्न	१९५६	वी० कुट्स	,,	२९ मि० ४५.६ से०
११० मीटर हर्डल	मेलबोर्न	१९५६	{ एल० केलहून { जे० डेविस	संयुक्त राष्ट्र अमरीका	१३.५ सेकंड

४०० मीटर हर्डल	मेलबोर्न	१९५६	जी० डेविस इ० सदर्न	,, ,,	५०.१ सेकंड ,,
मैराथॉन (२६ मील ३८५ गज)	हेलसिंकी	१९५२	इ० जाटोपेक	चेकोस्लोवेकिया	२ घंटा २३ मिनट ०३.२ सें०
१० किलोमीटर पैदल	मेलबोर्न	१९५६	एल० स्पिरिन	रूस	१ घंटा ३१ मिनट २७.४ से०
५० किलोमीटर पैदल	हेलसिंकी	१९५२	जी० डारडानी	इटली	४ घंटा २८ मिनट ७.८ से०
ऊँची कूद	मेलबोर्न	१९५६	सी० डयूमस	संयुक्त राष्ट्र अमरीका	६ फुट ११¼ इंच (२.१२ मीटर)
लंबी कूद	बर्लिन	१९३६	जे० ओवेंस	अमरीका	२६ फुट ५¾ इंच (८.०६ मीटर)
हॉप स्टेप कूद	मेलबोर्न	१९५६	ए० एफ़० डीसिल्वा	ब्राजिल	५३ फुट ७½ इंच (१६.३५ मीटर)
पोल वॉल्ट	मेलबोर्न	१९५६	आर० रिचर्ड्‌स	संयुक्त राष्ट्र अमरीका	१४ फुट ११½ इंच (४.५६ मीटर)
गोला फेंक	,,	१९५६	पी० ओब्रायन	,,	६० फुट ११ इंच (१८.५७ मीटर)
हथौड़ा फेंक	,,	१९५६	एच० कानोली	,,	२०७ फुट ३¾ इंच (६३.१९ मीटर)
चक्रक्षेप	,,	१९५६	ए० ओर्टर	,,	१८४ फुट १०¾ इंच (५६.३६ मीटर)
वर्छा फेंक	,,	१९५६	इ० डेनियलसन	नारवे	२८१ फुट २¼ इंच (८५.७१ मीटर)
डेकेथलान (१० प्रतियोगिताओं के आधार पर)	,,	१९५६	एम० कैंपबेल	संयुक्त राष्ट्र अमरीका	७,९३७ अंक

(सैं० ल० प०)

एथलेटिक्स के ओलिंपिक कीर्तिमानों की तालिका २, ई० १९७२ तक

प्रतियोगिता	समय/दूरी/ऊँचाई/अंक	विजेता	राष्ट्र	स्थान	वर्ष
१. १०० मीटर	९.९ सेकंड	जे० हाइंस	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
२. २०० मीटर	१९.८ से०	टी० स्मिथ	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
३. ४०० मीटर	४३.८ से०	एल० इवान्स	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
४. ४×१०० मी० रिले	३८.२ से०	एल० ब्लैक, आर० टेलर, जी० टिंकर, इ० हर्ट	सं० रा० अमरीका	म्यूनिख	१९७२
५. ८०० मीटर	१ मि० ४४.३ से०	आर० डाउवेल	आस्ट्रेलिया	मेक्सिको सिटी	१९६८
६. १,५०० मीटर	३ मि० ३४.९ से०	एच० काइनो	कीनिया	मेक्सिको सिटी	१९६८
७. ४ ४०० मी० रिले	२ मि० ५६.१ से०	वी० मैथ्यूज, आर० फ्रीमैन, एल० जेम्स, एल० इवांस	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
८. ३,००० मीटर स्टीपल चेज	८ मी० २३.६ से०	किपचोगे कीनो	कीनिया	म्यूनिख	१९७२
९. ५,००० मीटर	१३ मी० २६.४ से०	लासे वीरेन	फिनलैंड	म्यूनिख	१९७२
१०. १०,००० मीटर	२७ मि० ३८.४ से०	लासे वीरेन	फिनलैंड	म्यूनिख	१९७२
११. ११० मीटर हर्डिल	१३.२ से०	राड मिलबर्न	सं० रा० अमरीका	म्यूनिख	१९७२
१२. ४०० मीटर हर्डिल	४७.८ से०	जोन अकी बुआ	यूगांडा	म्यूनिख	१९७२
१३. मैराथान (२६ मी० ३८५ गज)	२ घं० १२ मि० ११.२ से०	ए० बिकीला	इथियोपिया	टोकियो	१९६४
१४. २० कि.मी. पदयात्रा	१ घं० २६ मि० ४२.६ से०	पीटर फेंकेल	जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
१५. ५० कि.मी. पदयात्रा	३ घं० ५६ मि० ११.६ से०	बेंर्ड कानेनबर्ग	पश्चिम जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
१६. ऊँची कूद	२.२४ मीटर	आर० फासबरी	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
१७. लंबी कूद	८.९० मीटर	आर० बोमोन	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
१८. तिकड़ी कूद	१७.३९ मीटर	वी० सनीर	सोवियत रूस	मेक्सिको सिटी	१९६८
१९. पोल वाल्ट	५.५० मीटर	वुल्फगांग नोर्डविग	पूर्व जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
२०. गोला प्रक्षेप	१.१८ मीटर	व्लादिस्लाव कोमर	पोलैंड	म्यूनिख	१९७२

२१. गुर्ज प्रक्षेप	७५.०० मीटर	अनातोले बोंदारचुक	सोवियत रूस	म्यूनिख	१९७२
२२. चक्र प्रक्षेप	६४.७८ मीटर	एल्फ्रेड ओएर्टर	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
२३. बर्छी प्रक्षेप	९०.४८ मीटर	कार्ल वोल्फरमन	पश्चिम जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
२४. डेकायलान	८,४५० अंक	निकोलाय अवीलोव	सोवियत रूस	म्यूनिख	१९७२

महिला वर्ग

१. १०० मीटर	११.०० सेकंड	डब्ल्यू० टायस	सं० रा० अमरीका	मेक्सिको सिटी	१९६८
२. २०० मीटर	२२.४ से०	रेनाटे स्टेकर	पूर्व जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
३. ४०० मीटर	५१.१ से०	मोनीका सेर्ट	पूर्व जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
४. ८०० मीटर	१ मि० ५८.६ से०	हिडेगार्ड फाल्क	पश्चिम जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
५. १,५०० मीटर	४ मि० १.४ से०	ल्युटमिला ब्रज़ीना	सोवियत रूस	म्यूनिख	१९७२
६. ४×१०० मी. रिले	४२.८ से०	सी० क्राउसे, आई० मिकलर ए० गिवटर, हेच रोन्सेंडाल	पश्चिम जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
७. ४×४०० मी. रिले	३ मि० २३.० से०	डी० कैरिलंग, आर० कूने, एच० साइडलर, एम० सेर्ट	पूर्व जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
८. १०० मीटर हर्डिल	१२.५९ मीटर	एन्नेली एरहार्ट	पूर्व जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
९. ऊँची कूद	१.९२ मीटर	उलरिके मेफार्थ	पश्चिम जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
१०. लंबी कूद	६.८२ मीटर	वी० विस्कापोलियानू	रूमानिया	मेक्सिको सिटी	१९६८
११. गोला प्रक्षेप	२१.०३ मीटर	नदेज्दोग्रा चिज़ोवा	सोवियत रूस	म्यूनिख	१९७२
१२. चक्र प्रक्षेप	६६.६२ मीटर	फैना मैल्निक	सोवियत रूस	म्यूनिख	१९७२
१३. बर्छी प्रक्षेप	६३.८८ मीटर	रूथ फुक्स	पूर्व जर्मनी	म्यूनिख	१९७२
१४. पैंटेथलान	४,८०१ अंक	मैरी पीटर्स	ब्रिटेन	म्यूनिख	१९७२

(जि० कु० पा०)

ओलिंपिक खेल प्रतियोगिता में भारत का स्थान

सन्	स्थान	पुरस्कार
१९००	पेरिस	एन० जी० प्रिचार्ड : २०० मीटर रजत पदक।
१९२४	,,	जे० के० पिट : ४०० मीटर सेमीफाइनल में तृतीय।
१९२४	,,	दिलीप सिंह : ऊँची कूद में छठा स्थान।
१९३२	लॉस ऐंजिलिस	एम० सटन : ११० मीटर बाधा में सातवाँ स्थान।
१९४८	लंदन	एच० रिबैलो : तिकड़ी कूद के फाइनल में बाहर।
१९४८	,,	बलदेव सिंह : ऊँची कूद में फाइनल में बाहर।
१९४८	,,	के० डी० जादव : बैंटमवेट कुश्ती में छठा स्थान।
१९५२	हेलसिंकी	के० डी० जादव : फ्री स्टाइल बैंटम वेट में कांस्य पदक।
१९५२	,,	मांग्यू : फ्री स्टाइल फेदरवेट में चौथा स्थान।
१९५२	,,	लेवी पिंटो : १००–२०० मीटर दौड़ में सेमी फाइनल तक पहुँचे।
१९६०	रोम	मिलखा सिंह : ४०० मीटर में चौथा स्थान।
१९६०	,,	माधो सिंह : मिडिलवेट कुश्ती में छठे।
१९६४	टोकियो	गुरबचन सिंह : ११० मीटर बाधा में पाँचवें।
१९६४	,,	स्टीफी डिसूज़ा : ८०० मीटर सेमी फाइनल में सातवाँ स्थान।
१९६४	,,	विशंभर सिंह : फ्री स्टाइल बैंटमवेट कुश्ती में छठा स्थान।

ओलिंपिक हाकी में भारत

सन्	पदक
१९२८	स्वर्ण पदक
१९३२	,, ,,
१९३६	,, ,,
१९४८	,, ,,
१९५२	,, ,,
१९५६	,, ,,
१९६०	रजत पदक
१९६४	स्वर्ण पदक
१९६८	कांस्य पदक
१९७२	,, ,,

फुटबाल में १९५६ में चौथा स्थान। (कै० च० श०)

ओलिंपिया नगर प्राचीन काल में ओलिंपिक खेलों का स्थल था। यह यूनान देश के पश्चिमी मोरिया में रूफ़िया नदी के उत्तरी किनारे पर आधुनिक पिरगोस नगर से ११ मील पूर्व स्थित है।

यूनान के इतिहास में इस नगर का धार्मिक और राजनीतिक महत्व रहा है। हीरा का मंदिर प्राचीनतम विद्यमान भवन है जिसका निर्माण, अपने मौलिक रूप में, संभवतः ईसा से १,००० वर्ष पूर्व हुआ था। यहाँ खेलों की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न धारणाएँ हैं। एक मत के अनुसार पहली दौड़ पेलौप्स और आयनोमौस के बीच हुई थी, किंतु द्वितीय मतानुसार यहाँ सर्वप्रथम हेराक्लिस द्वारा खेलकूदों का उत्सव मनाया गया था। ११वीं शताब्दी के यूनानी लेखक सेड्रीनस के अनुसार ओलिंपिक उत्सव ३९३ ई० तक ही मनाए गए।

ओलिंपिया अथवा ओलिंविया का वर्तमान गाँव क्लादियस नदी के दूसरे तट पर स्थित है। यहाँ एक संग्रहालय भी है। (श्री० ना० मे०)

ओलैंड बाल्टिक सागर में गोटलैंड के पास स्वीडेन का एक द्वीप है और कलमर जलडमरूमध्य द्वारा स्वीडेन से पृथक् है। इसकी अधिकतम लंबाई ८५ मील तथा चौड़ाई १० मील है और कुल क्षेत्रफल ५१९ वर्ग मील है। यहाँ का एकमात्र प्रमुख नगर बोरघम है। यहाँ पुराने किले के भग्नावशेष विद्यमान हैं। पहले यहाँ के निवासी ओनिन्गर कहलाते थे। भाषा, रीति रिवाज तथा आकृति के विचार से वे भिन्न जातियों के वंशज ज्ञात होते हैं। यह द्वीप चूने के पत्थर का बना है जो स्वीडेन के तटीय भाग से भिन्न है। इसके पूर्वी और पश्चिमी किनारों पर क्रमशः रेत और चूने के बने ६० तथा २०० फुट ऊँचे दो पर्वत हैं, जिन्हें लैंडबोर्गर कहते हैं। उत्तर तथा दक्षिण में रेतीले भाग हैं जिनपर झाड़ियाँ पाई जाती हैं। इस द्वीप में हार्नसिओ (Hornsjo) नाम की तीन मील लंबी एक झील है। (श्री० ना० मे०)

ओल्ढम, टामस (१८१६–१८७८ ई०) भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग (जिओलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया) के इस प्रथम अध्यक्ष का जन्म ४ मई, १८१६ ई० को डबलिन में हुआ था। इनकी शिक्षा डबलिन तथा एडिनबरा विश्वविद्यालयों में हुई। १८४५ में ये डबलिन विश्वविद्यालय के भूविज्ञान विभाग में प्रोफेसर हुए। १८४६ में ये आयरलैंड भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए तथा १८४८ में रॉयल सोसाइटी के फ़ेलो चुने गए।

४ मार्च, १८५१ को इन्होंने भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग की बागडोर सँभाली। इनके कार्यकाल में इस विभाग की सर्वांगीण उन्नति

हुई। १८५८-५९ में सर्वेक्षण की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित हुई। १८५९ में भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग की अनुसंधान पत्रिका (मेमॉयर्स) का शुभारंभ हुआ। १८६१ में पैलिअॉण्टॉलोजिका इंडिका नामक ग्रंथमाला का श्रीगणेश हुआ। १८६४ में आपने भारत के कोयले के क्षेत्रों पर अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

२५ वर्षो की निरंतर सेवा के उपरांत १८७७ में ६० वर्ष की आयु में आपने अवकाश प्राप्त किया। १७ जुलाई, १८७८ को रगबी (इंग्लैंड) में आपका देहावसान हुआ। (म० ना० मे०)

ओविद इसका पूरा नाम पुब्लियुस ओविदियुस नासो था। इस रोमन कवि का समय ई० पू० ४३ से ई० १७ तक माना जाता है। इसका जन्म सुल्मो नामक नगर में हुआ था और यह जन्मना अश्वारोही पद का अधिकारी था। इसने रोम में विधि (कानून) और वाक्चातुर्य की शिक्षा प्राप्त की थी। अरेल्लियुस फ़ुस्कुस और पोर्कियुस लात्रो इसके गुरु थे। यद्यपि इसके पिता ने इसे अभिवक्ता या वकील बनाना चाहा, तथापि यह अपना हृदय आरंभ से ही कविता को समर्पित कर चुका था। कुछ समय तक तो यह अपने पिता की आज्ञा मानकर अपनी शिक्षा पूरी करने के लिये एथेंस में रहा किंतु तत्पश्चात् इसने सिसली और लघु एशिया की यात्रा की। युवावस्था में पिता की मृत्यु के पश्चात् इसने रोम नगर में अपने को कविता और प्रेम को समर्पित कर दिया। पैतृक संपत्ति के कारण यह आर्थिक चिंताओं से मुक्त था। इसने तीन बार विवाह किया और संभवतः दूसरे विवाह से उसकी एकमात्र संतान एक पुत्री का जन्म हुआ।

ई० पू० १४ में उसकी प्रथम रचना 'अमोरेस' निर्मित हुई। इसमें उसने एक काल्पनिक प्रेमिका कोरिन्ना के प्रति अपने हृदय की प्रेमभावना को काव्य का रूप प्रदान किया। प्रथम संस्करण में इसमें पाँच पुस्तकें (अध्याय) थीं, पर दूसरे संस्करण में पुस्तकों की संख्या घटाकर तीन कर दी गई। निर्मित होते ही इस पुस्तक के लेखक की ख्याति सारे रोम में फैल गई। इसी समय के आसपास उसने 'मीदिया' नामक ट्रैजेडी की भी रचना की। परंतु आजकल इस नाटक की कुछ पंक्तियाँ ही उपलब्ध हैं। इसके पश्चात् उसने वीरांगनाओं के प्रेमपत्रों की रचना की जिनका प्रकाशन 'हेरोइदेस' के नाम से हुआ। सब पत्रों की संख्या २१ है, पर मूलतः इन पत्रों की संख्या इससे अधिक थी। वंगीय कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने इस रचना के अनुकरण पर 'वीरांगना' नामक काव्य की रचना की है। ओविद के मित्र आउलुस साबिनुस ने इन पत्रों का उत्तर लिखना आरंभ किया था। साबिनुस के भी तीन पत्र उपलब्ध हैं। ई० पू० २ में ओविद की प्रेम संबंधी सर्वोत्कृष्ट रचना 'आर्स अमातोरिया' (प्रेम की कला) है। प्रेम की देवी वेनुस के द्वारा कवि को प्रेम की कला का दीक्षागुरु नियुक्त किया गया है अतएव उसने तीन पुस्तकों में इस काव्य की रचना की, ऐसा ओविद ने इस ग्रंथ के आदि और अंत में लिखा है। उस समय की रंग-रेलियों से पूर्ण रोमन समाज की पृष्ठभूमि में इस काव्य के प्रकाशन से दो परिणाम घटित हुए। एक ओर तो कवि उस समाज में और भी अधिक प्रिय हो गया, और दूसरी ओर सम्राट् ओगुस्तु, जो उस समाज का सुधार करने के लिये कटिबद्ध था तथा जिसने आचरण संबंधी शिथिलता के कारण अपनी एकमात्र संतान यूलिया (जूलिया) तक को निर्वासित कर दिया था, कवि के प्रति अत्यंत रुष्ट हो गया। कवि ने प्रायश्चित्तस्वरूप 'रेमेदिया अमोरिस' (प्रेम का उपचार) नामक काव्य की रचना की जो आकार में 'प्रेम की कला' के तृतीयांश के बराबर है। इस रचना में प्रेमोन्माद को दूर करने के उपाय बतलाए गए हैं। संभवतया इस समय से कुछ पहले उसने एक छोटी सी कविता साजशृंगार के संबंध में भी लिखी थी जिसका नाम 'मेदिकामिना फ़ाकियेइ फ़ेमिनियाए' (रमणियों के मुखड़े का इलाज) है। इसकी सामग्री यूनानी ग्रंथों से ग्रहण की गई है।

'प्रेम की कला' में ओविद की प्रतिभा अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। अब उसने दो महान् रचनाओं का श्रीगणेश किया जिनमें से प्रथम का नाम है मेतामोर्फ़ोसिस (रूपांतर) और दूसरी का 'फ़ास्ती' (वात्सरिक उत्सवमालिका)। यूनान और रोम दोनों ही राष्ट्रों में ऐसी प्राचीन कथाएँ मिलती हैं जिनमें अनेक वस्तुओं और मनुष्यों के रूपांतर का वर्णन पाया जाता है; जैसे अव्यवस्था का व्यवस्था में परिवर्तित हो जाना, जूलियुस कैसर (सीजर) का मरणोपरांत तारे के रूप में बदल जाना, इत्यादि। ओविद ने इन कथाओं को १५ पुस्तकों में एक विशाल एवं कलापूर्ण काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। यह काव्य यूरोप की कला और साहित्य का आकरग्रंथ सिद्ध हुआ है। पाश्चात्य जगत् की पौराणिक कथाओं से परिचित होने के लिये यह अकेली रचना पर्याप्त है।

फ़ास्ती (वात्सरिक उत्सवमालिका) में कवि ने रोमन संवत्सर के प्रत्येक मास का ज्योतिष, इतिहास और धर्म की दृष्टि से वर्णन आरंभ किया था। परंतु इसी समय, लगभग ७ ई० में, कवि के भाग्य ने पलटा खाया और जब वह ऐल्बा नामक द्वीप में था, उसको पता चला कि सम्राट् ओगुस्तु ने उसको निर्वासित कर दिया। उसकी संपत्ति का अपहरण नहीं किया गया, और निर्वासन आज्ञा में कोई कारण भी निर्दिष्ट नहीं किया गया। इसके अनुसार उसको अपना शेष जीवन कृष्णसागर के तट पर स्थित 'तोमिस' (वर्तमान नाम कांस्तांजा) में व्यतीत करना पड़ा। यह नगर सभ्यता की परिधि से परे था। इसी समय के लगभग सम्राट् ने अपनी दौहित्री छोटी यूलिया (जूलिया) को भी आचारशैथिल्य के कारण निर्वासित किया था। कुछ व्यक्ति इन दोनों निर्वासनों का संबंध जोड़ते हैं पर वास्तविकता का पता किसी को नहीं है।

तोमिस में कवि का जीवन अत्यंत दुःखमय था। उसने वहाँ जो पद्यमय पत्रादि लिखे उनमें उसने अपने निर्वासन को समाप्त करने की प्रार्थना न जाने कितने व्यक्तियों से कितनी बार और कितने प्रकार से की। परंतु उसका फल कुछ नहीं निकला। ओगुस्तु के पश्चात् तिबेरियुस सम्राट् बना किंतु उसने भी ओविद की एक न सुनी। अंत में यहीं ई० १७ या १८ में उसकी जीवनलीला समाप्त हो गई। तोमिस से उसने जो कवित्वमय पत्र लिखे उनका संग्रह 'त्रिस्तिया' कहलाता है। इसको ओविद का विशालकाय 'मेघदूत' कह सकते हैं। इन पत्रों में कवि की व्यथा का वर्णन है। जो पत्र उसने अपनी पत्नी और पुत्री को लिखे हैं वे कारुण्य से परिपूर्ण हैं। एक दूसरा पत्रसंग्रह 'ऐपिस्तुलाए ऐक्स पोन्तो' कहलाता है। व्यथित कवि ने 'इबिस' नाम से एक अभिशाप भी लिखा है जिसमें उसने एक 'अनाम' शत्रु को शाप दिया है। इसके अतिरिक्त उसने दो छोटी पुस्तकें मछलियों और अखरोट के संबंध में 'हलियुतिका' और 'नुक्स' नाम से लिखी थीं। ओविद की बहुत सी रचनाएँ आजकल विलुप्त हो चुकी हैं, उनके यत्रतत्र उल्लेख भर मिलते हैं।

ओविद मुख्यतया प्रेम का कवि है। उसके चरित्र में प्राचीन रोमन वीरों की दृढ़ता नहीं थी। एक प्रकार से उसका चरित्र भावी इटालियन कासानोवा के चरित्र का पूर्वाभास था। उसकी शैली स्वच्छ और ओजस्वी है। प्राचीन यूनान और रोम के साहित्य का उसका ज्ञान अगाध था। आगे आनेवाले यूरोपीय साहित्य और कला पर उसकी प्रतिभा की छाप अमिट रूप से विद्यमान है। 'मेतामोर्फ़ोसिस' (रूपांतर) के अंत में उसने लिखा था "पेर साएकुला ओम्निया विवाम्"—"मैं जीऊँगा सदा सर्वदा।"

सं०ग्रं०—(मूल ग्रंथ) टायब्नर और ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के संस्करण; (अनुवाद : अंग्रेजी) लोएब क्लासिकल लायब्रेरी में छह जिल्दों में; जार्ज बेल कंपनी का केवल अंग्रेजी अनुवाद, तीन जिल्दों में; (आलोचना इत्यादि) मैकेल : लैटिन लिटरेचर; वाइट डफ़ : राइटर्स ऑव रोम।

(भो० ना० श०)

ओव्येदो १. स्पेन के उत्तर-पश्चिम में अपने नाम के प्रांत की राजधानी है, जो नालोन नदी से १० किलोमीटर पूर्व की ओर और बिस्के की खाड़ी के तट से ३५ किलोमीटर दूर स्थित है। यह लंबी चौड़ी घाटी के दक्षिणी सिरे पर पहाड़ी के ऊपर बसा है। इसकी स्थिति ४३° २०' उ० अ० तथा ५०° ५३' प० दे० पर है। इसका ऐतिहासिक नाम ओवीटम था जो किसी समय लेओं के राजाओं की राजधानी था। सन् १९६० ई० के अंत में यहाँ की जनसंख्या १,४२,७६६ थी।

यह नगर लेओं द्वारा होकर मैड्रिड सैंटैंडर, हिहोंन तथा आविलेस से रेलमार्ग द्वारा मिला है। ओव्येदो के पास ही कोयले और लोहे की बड़ी खानें हैं। स्पेन का सबसे अधिक कोयला यहीं निकाला जाता है। जस्ता, चाँदी तथा संगमरमर भी यहाँ पाया जाता है। इस नगर में कई कारखाने

स्थापित हैं, जिनमें मुख्य लोहा और फौलाद, हथियार, सूती और ऊनी कपड़े, चमड़ा तथा दियासलाई तैयार करने के हैं। यह निकटवर्ती क्षेत्र का भौगोलिक केंद्र है तथा यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है।

२. ओव्येदो नाम का दूसरा नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, में फ्लोरिडा स्टेट के बालूसिया प्रदेश के दक्षिणी भाग में बसा है। इसकी स्थिति २८° ४०′ उ० अ० तथा ८१° १२′ प० दे० पर है। यह रेल द्वारा सैनफ़ोर्ड, और ओरलैंडो से मिला है। ऐटलांटिक तट रेलवे मार्ग यहाँ से होकर जाता है। (ल० कि० सिं० चौ०)

ओशमा क्यूशिओ के दक्षिण में तीन छोटे छोटे द्वीपों के समूह को कहते हैं। इनपर जापान का अधिकार है। यह ३०° ५०′ उ० अ० तथा १३०° पू० दे० पर स्थित है। पश्चिम से पूर्व की ओर इन द्वीपों के नाम क्युरोशिमा, आयोशिमा तथा टकेशिमा हैं। क्युरोशिमा की ऊँचाई २,४७५ फुट है तथा आयोशिमा में २,४८० फुट की ऊँचाई पर एक ज्वालामुखी स्थित है। (वि० चं० मि०)

ओशावा कैनाडा के ओंटेरियो राज्य के उसी नाम के प्रदेश तथा झील पर एक औद्योगिक नगर तथा पत्तन है। यह टोरंटो से ३० मील पूर्व-उत्तर-पूर्व की ओर कैनेडियन नैशनल तथा कैनेडियन पैसिफ़िक रेलमार्गों पर बसा हुआ है। इस नगर के उद्योग धंधों में मोटर गाड़ी के कारखाने, आटे तथा ऊनी कपड़े की मिलें, लकड़ी का सामान तथा कृषि संबंधी यंत्रों का निर्माण मुख्य हैं। सन् १९६६ ई० में यहाँ की जनसंख्या ७८,०८२ थी। (वि० चं० मि०)

ओसाका नगर जापान का एक मुख्य औद्योगिक केंद्र है। यह नगर तीन ओर पर्वतों से घिरा हुआ है परंतु दक्षिण-पश्चिम में ओसाका की खाड़ी है। यह नदियों की अनेक शाखाओं द्वारा बँटा हुआ है। ओसाका और कोबे के बीच पानी के जहाज चलते हैं। हिउगो (Hiogo) अथवा कोबे तथा ओसाका रेल के बड़े केंद्र हैं। १८७३ ई० में रेलमार्ग बनने के उपरांत कोबे में विदेशी व्यापार का विकास हुआ तथा ओसाका में पानी के जहाज का बंदरगाह बनाया गया।

रेनियो शोनिन ने सन् १४९५-९६ ई० में एक मंदिर बनवाया था, जहाँ पर इस समय एक दुर्ग बना हुआ है। वहीं पर यह नगर भी बस गया। १९२५ ई० में इस नगर का अधिक विकास हुआ और कुछ समय के लिये यहाँ की आबादी जापान के सब नगरों से अधिक हो गई थी। १९०९ ई० में लगभग एक तिहाई नगर आग लग जाने से नष्ट हो गया था। इसके पश्चात् अच्छे मकान तथा अधिक चौड़ी सड़कें बनीं। इस बंदरगाह का विकास बराबर होता जा रहा है। इसकी तुलना मैंचेस्टर से हो सकती है। १९६५ ई० में इसकी जनसंख्या ३१,५६,००० थी। (वि० मि० चं०)

ओस्टवाल्ड विल्हेल्म ओस्टवाल्ड (१८५३-१९३२ ई०) प्रसिद्ध रसायनज्ञ थे। उनका जन्म रीगा में हुआ था। प्रारंभ में उन्होंने अध्यापन का कार्य डोरपत विश्वविद्यालय तथा पीछे रीगा पॉलिटेक्नीक में किया। उसके बाद वे लाइपज़िग में प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हुए। शीघ्र ही वे अच्छे अध्यापक के रूप में लोकप्रसिद्ध हो गए और दूर देशों के विद्यार्थी उनके पास आने लगे। अपने व्याख्यानों तथा पुस्तकों में अर्रहिनियस के 'इलेक्ट्रॉलिटिक डिसोसिएशन' के सिद्धांत का उन्होंने अत्यधिक समर्थन किया। भौतिक रसायन के अनेक विषयों में उन्होंने अनुसंधान किया जिससे आधुनिक भौतिक रसायन के क्षेत्र में उनका नाम अमर हो गया है। १९०९ में उन्हें उत्प्रेरण (कैटालिसिस), रासायनिक क्रियाओं की गति तथा संतुलन (इक्वीलिब्रियम) के नियमों के कार्य पर नोबेल पुरस्कार मिला। अपने समय के वे प्रसिद्ध लेखक भी थे। उन्होंने १८८७ में 'साइट्शिफ़्ट फ़ूर फ़िज़िकलीशे केमी' नामक पत्रिका निकाली तथा कई पुस्तकें भी लिखीं। परिणामतः विज्ञानजगत् में उनकी पर्याप्त ख्याति हो गई। उनकी कई पुस्तकों का अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ है।

सं०ग्रं०—अर्न्स्ट फ़ोन मेयर (जॉर्ज मैक्गोवन द्वारा अनूदित) : ए हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९०६); हेनरी मॉनमथ स्मिथ : टार्च बेयरर्स ऑव केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

ओस्लो नॉर्वे देश का सबसे बड़ा नगर एवं राजधानी है। इसका पुराना नाम क्रिस्ट्यानिआ था, जो नार्वे के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ के नाम पर, १६२४ ई० में रखा गया था। १९२५ ई० में इसका नाम बदलकर ओस्लो पड़ा। यह नार्वे के दक्षिणी-पूर्वी समुद्रतट पर ओस्लो फ़्योर्ड के उत्तरी सिरे पर स्कैगरैक के खुले समुद्र से ८० मील दूर ५९° ५४′ उ० अ० तथा १०° ४५′ पू० दे० पर स्थित है। शहर के बीच से एकर नाम की छोटी नदी उत्तर से दक्षिण को बहती है। यह नार्वे के सबसे अधिक उपजाऊ और घने आबाद प्रदेश का भौगोलिक केंद्र है। यहाँ सर्वोच्च न्यायालय, संसद भवन तथा विश्वविद्यालय हैं। इस नगर का क्षेत्रफल ४५३.२८ वर्ग किलोमीटर है। यहाँ की जनसंख्या १९७१ ई० के अंत में ४,८१,२०४ थी।

ओस्लो क्षेत्र में रेलों का घना जाल बिछा है और कई दिशाओं से रेलमार्ग आकर यहाँ मिलते हैं। विद्युत्संचालित रेलें इस नगर को फ्रेडरिक स्टा, यटेबॉरड, गोटेबर्ग, स्टाकहोम, ट्रॉनहम, बैर्जेन शेएन तथा स्टावांजर से जोड़ती हैं।

यह सुंदर, सुरक्षित प्राकृतिक पत्तन है और अपने पश्च प्रदेश से भली भाँति संबंधित है। स्टीमर पास के द्वीपों और फ़्योर्ड के किनारे स्थित नगरों तथा नॉर्वे के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित बड़े पत्तनों को जाते हैं। यह पत्तन जाड़े की ऋतु में तीन या चार महीने बर्फ के कारण बंद रहता है।

यहाँ कई प्रकार के कारखाने हैं जो अधिकतर जलविद्युत् से चलते हैं, जैसे जहाज बनाने, सूती, ऊनी तथा लिनेन कपड़ा बनाने, लकड़ी चीरने, लुगदी और कागज बनाने, आटा पीसने, दियासलाई बनाने, लोहा गलाने, इंजीनियरिंग का सामान बनाने, एल्युमिनियम, रासायनिक द्रव्य, मछली तथा दूध से बने सामान बनाने के कारखाने। नॉर्वे का अधिकतर व्यापार यहीं से होता है।

निर्यात—लकड़ी की लुगदी, कागज, दियासलाई, चमड़ा, दूध तथा मछली से बना सामान।

आयात—अनाज, आटा, रुई, ऊन, कहवा, लोहा, कोयला, पेट्रोल, शक्कर, मशीनें तथा खनिज पदार्थ। (ल० कि० सिं० चौ०)

ओहायो १. मिसिसिपि की पूर्वी सहायक नदियों में से सबसे महत्वपूर्ण नदी है। यह अलेघनी तथा मोनोंगाहीला नदियों के संगम से पिट्सबर्ग के पास बनी है। इसकी लंबाई ९६७ मील है तथा जल-प्रवाह-क्षेत्र २,१०,००० वर्ग मील है। औसत जलप्रवाह १,५८,००० घन फुट प्रति सेकंड है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण जलप्रपात लूइविल के पास है। जल-प्रवाह-क्षेत्र की औसत वार्षिक वर्षा ४३″ है। दक्षिण में नदी में बहुधा बाढ़ आ जाती है। नौतरण किया जाता है। १८२५ ई० से पूर्व, जब ईरी नहर निर्मित नहीं हुई थी, ओहायो नदी आवागमन तथा व्यापार का प्रमुख मार्ग थी। इस नदी का पता सन् १६७० ई० में रॉबर्ट कावाल्ये स्यर-डि-ला-साल, ने लगाया था। (श्री० ना० मे०)

२. संयुक्त राज्य, अमरीका, का उत्तरी मध्यवर्ती राज्य है जो लगभग ३८° २५′ उ० अ० से ४१° ५८′ उ० अ० तक तथा ८०° ३१′ प० दे० से ८४° ४९′ प० दे० तक फैला हुआ है। यह लगभग वर्गाकार है और २२० मील लंबा तथा २१० मील चौड़ा है। कुल क्षेत्रफल ४१,२२२ वर्ग मील है जिसमें से २२२ वर्ग मील जलमग्न है। इसके पश्चिम में प्रेयरीज़ मैदान तथा पूर्व में अलेघनी पठार है। नदियों के कटाव से यहाँ अगणित पहाड़ियाँ तथा घाटियाँ बन गई हैं। गतिशील हिमराशियों ने इन घाटियों तथा अन्य ऊबड़ खाबड़ भूमि को मिट्टी से भर दिया है। अतः उत्तर-पश्चिम में बड़े बड़े समतल क्षेत्र बन गए हैं। राज्य की समुद्रतल से औसत ऊँचाई ८५० फुट है पर कहीं कहीं १,५५० फुट और ४२५ फुट की ऊँचाइयाँ भी मिलती हैं। प्रमुख जलविभाजक के उत्तर की नदियाँ ईरी झील में तथा दक्षिण की

ओहायो नदी में गिरती हैं। ब्लैक, वरमीलियन तथा ह्यूरन नदियाँ उन दलदली भागों से निकलती हैं जो जलविभाजक पर स्थित हैं। ओहायो नदी दक्षिणी सीमा पर ४३६ मील तक एक सँकरी घाटी से होकर बहती है। ईरी झील उत्तर में लगभग २३० मील तक राज्य की सीमा बनाती है। यहाँ पाई जानेवाली प्राकृतिक वनस्पतियाँ तथा जीवजंतु समशीतोष्ण कटिबंधीय है। वार्षिक तापमान ५१° फा० है। वार्षिक वर्षा ३९" है। पूर्वी मध्यवर्ती भाग में चूनेवाली मिट्टी, घाटियों में कछारी मिट्टी तथा अन्यत्र हिमानी मिट्टी पाई जाती है। १९७० ई० में यहाँ की जनसंख्या १,०६,५२,०१७ थी तथा उसका औसत घनत्व २५८.४ मनुष्य प्रति वर्ग मील था। यहाँ की ७५.३% जनसंख्या नागरिक तथा शेष ग्रामीण है। फसलों में मक्का, गेहूँ, सोयाबीन, आलू, तंबाकू, राई और जौ की फसलें तथा फलों में सेब, अंगूर और अखरोट प्रमुख हैं। पशुओं तथा मुर्गो द्वारा किसान फसलों से दूना धन कमा लेते हैं। कच्चा लोहा, कोयला, तेल, चूना तथा नमक यहाँ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं और लोहे, इस्पात, रबर, रासायनिक पदार्थ, शीशा, तेल, कागज, लकड़ी तथा चमड़ा तैयार करने के कारखाने हैं। इस राज्य के प्रमुख औद्योगिक नगर क्लीवलैंड, एक्रन, सिंसिनाटी, टोलेडो, यंग्सटाउन, डेटन, कोलंबस (राजधानी), स्प्रिंगफ़ील्ड तथा कैंटन हैं और रेल तथा सड़कों के होते हुए भी जलमार्ग महत्वपूर्ण हैं। (श्री० ना० मे०)

ऑंटेरियो १. कैनाडा का एक राज्य है। यह पूर्व में क्विवेक, दक्षिण में न्यूयार्क, ओहायो, मिशिगन तथा मिनिसोटा राज्यों से, पश्चिम में मैनिटोबा राज्य तथा उत्तर में हड्सन और जेम्स की खाड़ियों से घिरा हुआ है। यह पूर्व से पश्चिम १,००० मील तथा उत्तर से दक्षिण लगभग १,०५० मील के अंतर्गत फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४,१२,५८० वर्ग मील है। यह कैनाडा के सभी राज्यों से घना बसा हुआ है। इसकी अधिकांश जनसंख्या $\frac{1}{10}$वें भाग में बसी हुई है।

इस राज्य में अनेक झीलें तथा नदियाँ फैली हुई हैं। इनमें से सबसे मुख्य सेंट लारेंस नदी तथा ग्रेट लेक्स हैं। निपिगॉन झील (५० मील चौड़ी तथा ७० मील लंबी) से सेंट लारेंस नदी निकलती है। जितनी नदियाँ सुपीरियर झील में गिरती हैं वे अधिकतर प्रपात बनाती है। इस कारण इनसे उत्पन्न जलविद्युत् का औद्योगिक केंद्रों में उपयोग होता है।

इस राज्य की जलवायु पर अक्षांशों तथा ग्रेट लेक्स का प्रभाव पड़ता है। लेक सुपीरियर के उत्तरी किनारे तक शीतकाल में अधिक ठंढक पड़ती है और यहाँ का तापक्रम कभी कभी ५०° फा० तक पहुँच जाता है। साथ साथ गर्मी की ऋतु सुहावनी होती है क्योंकि इस समय दिन गरम तथा रातें ठंढी होती हैं। उत्तरी भाग में क्रोरेन नगर में तापक्रम का अंतर जनवरी में ०° फा० से लेकर गर्मियों में ६८° फा० तक हो जाता है।

यहाँ की जनसंख्या के आँकड़े निम्नांकित हैं :

	१९११	१९२१	१९३१
राज्य की जनसंख्या	२५,२७,३००	२९,३३,६००	३४,३१,६००
	१९४१	१९५१	१९७०
,, ,,	३७,८७,६००	४५,९७,५००	७६,३७,०००

औद्योगिक क्षेत्र में यह राज्य कैनाडा के अन्य राज्यों से बढ़ा हुआ है। १९४० ई० तक यहाँ के औद्योगिक धंधों का अनुपात कैनाडा के सब राज्यों से अधिक था। इस आर्थिक विकास के कई कारण है। इनमें से सबसे मुख्य यहाँ की उपजाऊ भूमि है। साथ साथ यहाँ के घने वन तथा अनेक खनिज पदार्थ भी हैं। जलविद्युत् अधिक तथा सस्ती है और ग्रेट लेक्स तथा सेंट लारेंस से आने जाने के सस्ते जलमार्ग की सुविधा भी है। यहाँ के उद्योग-धंधों में मोटर गाड़ियाँ, कृषियंत्रों का निर्माण, विद्युयंत्र, कागज तथा रबर के सामान, चमड़ा, मक्खन, लोहे तथा इस्पात का निर्माण और लकड़ी के सामान उल्लेखनीय हैं।

ऑंटेरियो का लगभग ६० प्रतिशत क्षेत्र वनों से ढका हुआ है। यहाँ के वन चौड़ी पत्तीवाले पेड़ों से भरे हुए हैं। वाणिज्य की दृष्टि से यहाँ पर अनेक प्रकार की लकड़ियाँ मिलती हैं। सफेद चीड़ (पाइन) की सबसे अधिक खपत है। इसके साथ साथ सनोवर (स्प्रूस), पाताल सरल (जैकपाइन), भोज वृक्ष (बर्च), विषगर्जर (हेमलाक), धूपियास वृक्ष (बैलसम) इत्यादि भी महत्वपूर्ण हैं। (वि० चं० मि०)

२. नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, के कैलिफ़ोर्निया राज्य के सैन बर्नार्डिनो प्रदेश में लास ऐंजेलेस नगर से ३७ मील दक्षिण में सैन ऐंटोनियो पर्वत की ढाल पर बसा हुआ है। नगर के मध्य भाग में प्रसिद्ध यूक्लिड ऐवेन्यू बना हुआ है। यह ७ मील लंबा तथा २०० फीट चौड़ा है। यहाँ पर एक अंतरराष्ट्रीय बड़ा हवाई अड्डा हे। यहाँ के उद्योग धंधों में विद्युत् के तार, कपड़ा, प्लास्टिक तथा हाथ के बने सामान बनाना मुख्य हैं। यह नगर १८८२ ई० में बसाया गया था। (वि० चं० मि०)

औघड़ द्र० 'अघोरी'।

औचित्यवाद भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेंद्र ने अपनी कृति "औचित्यविचारचर्चा" में रससिद्ध काव्य का जीवित या आत्मभूत औचित्य तत्व को घोषित कर एक नए सिद्धांत की स्थापना की थी, जो औचित्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। क्षेमेंद्र की इस उद्भावना के बीज महर्षि भरत के नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध हैं, जिन्होंने नाटक में वेशभूषा के समुचित संनिवेश की बात की है। बाद में औचित्य शब्द का प्रयोग न करते हुए भी भामह, उद्भट और दंडी इस तत्व की सत्ता प्रकारांतर से मानते जान पड़ते हैं। रुद्रट तो 'औचित्य' शब्द का स्पष्ट प्रयोग भी करते है। किंतु औचित्य को विशेष महत्व दिया ध्वनिकार आनंदवर्धन ने। उनके अनुसार रसदोष का प्रधान कारण औचित्य का अभाव है। अतः कवि को काव्य में औचित्य का सदा ध्यान रखना होगा। अलंकार और गुण की योजना जब तक उचित नहीं होगी, काव्य चमत्कारी नहीं हो सकेगा। इस बात को ही क्षेमेंद्र ने अपनी कृति में स्पष्ट घोषित करते हुए कहा था, "औचित्य के विना न अलंकार ही रुचि पैदा करते हैं, न गुण ही।" वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक ने भी काव्य के दो प्रधान गुणों में एक औचित्य माना है, दूसरा है सौभाग्य। वस्तुतः औचित्य कुछ नहीं, कवि के मूल भाव के अनुरूप गुण, अलंकार, रीति, शब्दशय्या, छंदरचना, विभावादी की योजना आदि का समुचित विन्यास है। इस प्रकार औचित्य सिद्धांत काव्य की समग्रता को ध्यान में रखकर स्थापित उद्भावना है। कहा भी जाता है कि ध्वनि, रस, काव्यार्थानुमिति, गुण, अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति सभी वस्तुतः औचित्य का ही अनुधावन करते है। कथ्य तथा शिल्प दोनों परस्पर समानुरूप होने चाहिएँ, मूलतः औचित्यवाद का मंतव्य इतना ही है। इससे मिलता जुलता 'आ प्रोपोन' का सिद्धांत अरस्तू के काव्यशास्त्र में भी मिलता है जो इस बात का संकेत करता है कि जैसे किसी व्यंजन में सभी मसाले उचित मात्रा में होने चाहिएँ, उसी तरह काव्य के विभिन्न अवयवों में भी औचित्य का ध्यान रखना कवि के लिये आवश्यक है। क्षेमेंद्र ने इस तत्व को काव्य की आत्मा घोषित कर इसके २७ भेद माने है—पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद। इस तालिका से स्पष्ट है कि औचित्य सिद्धांत काव्य के बहिरंग तथा अंतरंग दोनों को ध्यान में रखकर प्रतिष्ठापित समीक्षाविधि है।

सं०ग्रं०—क्षेमेंद्र : औचित्यविचारचर्चा; डा० राघवन् : सम कंसेप्ट्स ऑव अलंकारशास्त्र; पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र (द्वितीय खंड); डा० भोलाशंकर व्यास : ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत (भाग १)। (भो० शं० व्या०)

औद्योगिक अनुसंधान आज के युग में उद्योग का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है जिसमें रचनात्मक विचारों के सृजन की तथा उनको क्रियान्वित करने की आवश्यकता न हो। रचनात्मक विचारों का लाभ समाज तथा देश को तभी प्राप्त हो सकता है जब कई क्रमबद्ध क्रियाओं द्वारा

उनकी व्यावहारिकता का परीक्षण कर सफलता प्राप्त की जा सके। इन क्रमबद्ध क्रियाओं के सामूहिक रूप को हम औद्योगिक अनुसंधान कहते हैं।

औद्योगिक अनुसंधान के उद्देश्य—इस प्रतियोगिता के युग में प्रत्येक उद्योगपति को सदा इस बात की चिंता लगी रहती है कि वह अपने प्रतियोगियों की अपेक्षा अपने आपको अधिक समर्थ बना सके। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो निश्चय है कि शीघ्र ही प्रतियोगी उसे औद्योगिक क्षेत्र छोड़ देने को बाध्य कर देंगे। इस चिंता और भय के कारण प्रत्येक उद्योगपति के मस्तिष्क में अनेक रचनात्मक विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इन विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के पहले उनकी व्यावसायिक उपयोगिता के संबंध में कई प्रकार के परीक्षण करना आवश्यक होता है।

प्रतियोगियों की अपेक्षा कम मूल्य पर वस्तुओं का निर्माण करना, वस्तुओं के गुणों में वृद्धि करना तथा उनको अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करना, बड़े पैमाने पर एकरूप वस्तुओं का निर्माण, बाजार में वस्तुओं की माँग का सही अनुमान लगाना तथा उसमें वृद्धि करने के उद्देश्य से सबसे अधिक प्रभावोत्पादक विज्ञापनप्रणाली का प्रयोग करना, ये कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिनकी पूर्ति करने के लिये औद्योगिक अनुसंधान अनवरत रूप से चलता रहता है।

आयात किए हुए या मूल्यवान् साधनों के स्थान पर स्थानीय और सस्ते साधनों का उपयोग किया जाता है। निर्माणविधियों में सब प्रकार के पदार्थों तथा साधनों के अपव्यय को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। अवशिष्ट पदार्थों का प्रयोग कर नए नए पदार्थों के निर्माण का प्रयत्न किया जाता है। संक्षेप में कहें तो उपलब्ध साधनों का सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग कर कम लागत पर उत्तम से उत्तम वस्तुओं का निर्माण करना ही औद्योगिक अनुसंधान का उद्देश्य रहता है।

औद्योगिक अनुसंधान तथा वैज्ञानिक अनुसंधान—औद्योगिक अनुसंधान वैज्ञानिक अनुसंधान से भिन्न प्रकार का होने पर भी दोनों में निकटतम संबंध है। कई प्रकार से औद्योगिक अनुसंधान वैज्ञानिक अनुसंधानों पर ही पूर्णतः निर्भर हैं। वैज्ञानिक नए नए सिद्धांतों की खोज करता है। इन सिद्धांतों का प्रयोग होने पर नई नई निर्माणविधियाँ विकसित होती हैं तथा नए नए पदार्थों का निर्माण संभव होता है। ये वैज्ञानिक सिद्धांत जनहित तभी कर सकते हैं जब उनका प्रयोग करके व्यापारिक स्तर पर निर्माण संभव हो सके। अतः वैज्ञानिक अनुसंधानों को, जो प्राकृतिक तथ्य तथा ज्ञान को सामने लाते हैं, अनेक परीक्षणों द्वारा व्यावसायिकता की कसौटी पर कसा जाता है। इस कसौटी पर जब वे खरे उतरते हैं तभी वे उद्योग में कार्यरूप में लाए जा सकते हैं। नए नए सिद्धांतों का प्रयोग हो सकना या नई वस्तुओं का निर्माण हो सकना ही उद्योगपति की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। यह प्रयोग या निर्माण उस लागत तथा उस रूप में होना चाहिए जिसमें उसका व्यवसाय लाभप्रद हो तथा उसका उपयोग संभव हो। अतः औद्योगिक अनुसंधान एवं वैज्ञानिक अनुसंधान की भिन्नता उनकी विधियों में नहीं वरन् उनके उद्देश्य में है। जहाँ वैज्ञानिक अनुसंधान के उद्देश्य की पूर्ति प्राकृतिक सत्य की खोज से हो जाती है वहाँ औद्योगिक अनुसंधान का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है जब इन सिद्धांतों का प्रयोग व्यापारिक स्तर पर तथा व्यावहारिक रूप में किया जा सकता हो।

निजी रूप से औद्योगिक अन्वेषण—जैसा हम ऊपर देख आए हैं, आधुनिक उद्योगपति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कम से कम मूल्य पर उत्तम से उत्तम वस्तु बेच सके। सफलता के लिये उसे अपनी विज्ञापन व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बनाना चाहिए जिसमें उसका विज्ञापन हर संभावित ग्राहक तक पहुँच सके। ये सब कार्य करने के लिये प्रत्येक आधुनिक औद्योगिक संगठन का औद्योगिक अनुसंधान विभाग एक आवश्यक अंग बन गया है। उद्योगपति अपनी अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार, औद्योगिक अनुसंधानों पर मुक्तहस्त व्यय करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनकी सफलता अंत में सफल औद्योगिक अनुसंधान पर ही निर्भर है।

व्यावसायिक संघों द्वारा अनुसंधान—निजी रूप से औद्योगिक अनुसंधान का कार्य संचालित करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि उद्योगपतियों के पास अनुसंधान कार्य के लिये पर्याप्त आर्थिक साधन नहीं होते। योग्य अन्वेषकों की भी कमी रहती है। व्यावसायिक संघ इन कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं तथा सदस्य उद्योगपतियों के सहयोग से इस कार्य को अपने हाथ में ले सकते हैं। व्यावसायिक संघों का अन्वेषणकार्य केवल वस्तुओं के गुणों में वृद्धि तथा निर्माणविधियों के परीक्षणों तक ही सीमित नहीं रहता। वे सदस्य उद्योगपतियों द्वारा निर्माण के प्रतिमान भी निश्चित करते है जिनका पालन करना सदस्य उद्योगपतियों के लिये अनिवार्य होता है। इन उद्योगपतियों को प्रतिमान के पालन के प्रमाणपत्र भी इन संघों द्वारा दिए जाते है।

पाश्चात्य देशों में, विशेषतः संयुक्त राज्य, अमरीका में, व्यावसायिक संघ बड़े पैमाने पर अनुसंधान का कार्य करते हैं। संयुक्त राज्य के वाणिज्य विभाग के मतानुसार व्यावसायिक संघों के रचनात्मक कार्यों में वैज्ञानिक अनुसंधान से अधिक उपयुक्त या लाभदायक कोई अन्य कार्य नहीं है। उत्पादन तथा वितरण संबंधी समस्याओं का अध्ययन कर अधिक कार्यक्षम तथा मितव्ययी विधियाँ निकालना व्यावसायिक संघों का एक प्रमुख कार्य हो गया है।

भारतवर्ष के कुछ व्यावसायिक संघों ने भी अनुसंधान कार्य को अपने कार्यों के एक प्रमुख अंग के रूप में अपनाया है। उदाहरण के लिये अहमदाबाद वस्त्र उद्योग अनुसंधानशाला को ही लीजिए। यह भव्य अनुसंधानशाला उद्योगपतियों द्वारा औद्योगिक अनुसंधान के कार्य में आपसी सहयोग का एक जीता जागता उदाहरण है। इस अनुसंधानशाला में, जिसे अहमदाबाद के वस्त्रनिर्माताओं ने संयुक्त रूप से स्थापित किया है, वस्त्रनिर्माण की आधुनिकतम मशीनों तथा विधियों के परीक्षण किए जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के कपास तथा वस्त्र उद्योग में काम आनेवाले रंगों और अन्य रासायनिक पदार्थों के प्रयोग तथा उनके विश्लेषण भी इस अनुसंधानशाला में किए जाते हैं। परीक्षणों तथा विश्लेषणों के परिणामों के आधार पर सदस्य वस्त्रनिर्माताओं को व्यावहारिक सुझाव दिए जाते हैं।

औद्योगिक अन्वेषण तथा एकस्वाधिकार—निजी रूप से तथा व्यावसायिक संघों द्वारा नई वस्तुओं की तथा नई निर्माणविधियों की खोज करने में अत्यधिक व्यय की आवश्यकता होती है। यदि उद्योगपतियों को इस बात का आश्वासन न प्राप्त हो कि अन्वेषण द्वारा की गई खोज के प्रयोग का सर्वाधिकार उन्हीं का रहेगा तो वे कभी भी इतना अधिक व्यय करने का साहस नहीं करेंगे। औद्योगिक अनुसंधान निर्विघ्न रूप से चलते रहने के लिये व्यापारचिह्न (ट्रेड मार्क) तथा एकस्वाधिकार के पंजीयन की व्यवस्था की आवश्यकता है। पंजीयन का अर्थ यह होता है कि पंजीयित आविष्कारों और एकस्वाधिकार का प्रयोग उनके आविष्कारक की अनुमति के बिना कोई अन्य उत्पादन नहीं कर सकता। व्यापारिक चिह्न के पंजीयन से एक अन्य लाभ यह होता है कि पंजीयित व्यापारचिह्न के अंतर्गत जिन वस्तुओं का विक्रय होता हो उनके संबंध में ग्राहकों को आश्वासन मिलता है कि उन वस्तुओं में वांछनीय गुण एक निश्चित मात्रा तक अवश्य हैं।

ओषधियों के निर्माण में औद्योगिक अनुसंधान विशेष महत्वपूर्ण है। यदि अनुसंधान के व्यय को छोड़ दिया जाय तो अधिकांश ओषधियों की लागत प्रायः नगण्य होती है। अतः एकस्वाधिकार को पंजीयित कराकर अन्वेषित ओषधि का सर्वाधिकार आविष्कारक के पास सुरक्षित रखने की आवश्यकता इस उद्योग में सर्वाधिक है। एकस्वाधिकार के संबंध में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी देशों के बीच समझौते होते हैं जिनके द्वारा एक देश में पंजीयित एकस्वाधिकार के अंतर्गत उद्योगपति के अधिकारों को अंतरराष्ट्रीय रूप से मान्यता दी जाती है :

राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय मानक—अनुसंधान द्वारा नई नई वस्तुओं के निर्माण के अतिरिक्त वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि किसी निर्मित वस्तु को व्यावसायिक दृष्टि से सफल होने के लिये उसमें कौन कौन से न्यूनतम गुण होने चाहिए। यह जानकारी हो जाने पर उन वस्तुओं के संबंध में मानक निश्चित किए जा सकते हैं। मानक संस्थाएँ वस्तुओं के निर्माण में न्यूनतम आवश्यक गुण तथा माप आदि के संबंध में प्रतिबंध निश्चित कर देती हैं। निर्माताओं द्वारा निर्मित वस्तुओं का

परीक्षण किया जाता है श्रौर यदि परीक्षण द्वारा यह सिद्ध होता है कि मानक के प्रतिबंधों का पूर्णतः पालन उस निर्माता द्वारा किया जाता है तो मानक संस्था उसे मानक के पालन का प्रमाणपत्र दे देती है।

कई वस्तुश्रों के निर्माण के संबंध में मानक निश्चित करने के लिये अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ भी स्थापित की गई हैं। ये संस्थाएँ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानक निश्चित करती हैं।

भारतवर्ष में भी अब भारतीय मानक संस्था की स्थापना हो गई है। इस संस्था को स्थापना केंद्रीय शासन द्वारा की गई है। इस संस्था द्वारा अनेक परीक्षणों तथा विश्लेषणों के बाद कई वस्तुश्रों के निर्माण के मानक निश्चित किए गए हैं। इस मानक संस्था को अपने कार्य में राष्ट्रीय अनुसंधानशालाश्रों का भी सहयोग प्राप्त होता है। जो उद्योगपति इस संस्था द्वारा निश्चित मानकों का पालन अपनी वस्तुश्रों के निर्माण में करते हैं उन्हें भारतीय मानक संस्था के प्रमाणपत्र का उपयोग करने का अधिकार दे दिया जाता है।

श्रौद्योगिक अनुसंधान श्रौर श्रमजीवी—श्रौद्योगिक उत्पादन में श्रमजीवी एक प्रमुख सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक श्रौद्योगिक अनुसंधान उनको भी प्रभावित करे। अनुसंधान के परिणामस्वरूप दिन प्रति दिन उत्पादन में मशीनों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। मशीनों के प्रयोग में वृद्धि होने का प्रभाव यह होता है कि पहले की अपेक्षा कम संख्या में श्रमजीवियों की आवश्यकता होती है तथा बहुत से श्रमजीवी बेकार हो जाते हैं। श्रौद्योगिक अनुसंधान का अर्थ केवल यह नहीं होना चाहिए कि अधिक श्रौर सस्ता उत्पादन हो सके। इस अन्वेषण का यह भी प्रयत्न होना चाहिए कि मशीनों का ऐसा नियोजित उपयोग हो कि देश में बेकारी न उत्पन्न हो तथा श्रमजीवियों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मशीनों का उद्योग में प्रयोग करने के पहले उनके संबंध में कई प्रकार के परीक्षण करने की आवश्यकता होती है। केवल ग्राहकों को ही संतुष्ट रखने से किसी उत्पादक को पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। ग्राहकों के साथ साथ श्रमजीवियों तथा अन्य श्रौद्योगिक कार्यकर्ताश्रों को संतुष्ट रखना भी उसके लिये उतना ही आवश्यक होता है। कोई भी ऐसा अनुसंधान जो केवल एक पक्ष को संतुष्ट करता हो तथा दूसरे पक्ष को असंतुष्ट, तब तक वांछनीय नहीं है जब तक उसके द्वारा उत्पन्न दूसरे पक्ष के असंतोष का यथोचित समाधान न हो जाय। यह कार्य अनुसंधान द्वारा ही संभव है।

श्रौद्योगिक अनुसंधान तथा श्रमजीवियों की सुरक्षा—उद्योगों में मशीनों तथा विद्युत् का बड़े पैमाने पर प्रयोग आरंभ हो जाने से कई समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। इनमें से एक प्रमुख समस्या श्रमजीवियों की सुरक्षा की भी है। किसी भी ऐसी मशीन या विधि के उपयोग की आज्ञा शासन द्वारा नहीं दी जानी चाहिए जिसके प्रयोग से श्रौद्योगिक कार्यकर्ताश्रों का जीवन अरक्षित हो जाने की आशंका हो। ऐसी मशीनों तथा विधियों को परीक्षणों द्वारा पूर्णतः रक्षित बनाने का प्रयत्न अनिवार्य है। अधिकांश देशों में मजदूरों की सुरक्षा का प्रबंध आवश्यक कर दिया गया है जिसमें दुर्घटनाएँ यथासंभव न हों।

प्रत्येक गतिशील उद्योगपति श्रमजीवियों की सुरक्षा का ध्यान तो रखता ही है, साथ ही वह उनके कार्य को अधिक से अधिक सुविधाजनक बनाने का भी प्रयत्न करता है। यह थकावट उत्पन्न करनेवाली प्रत्येक निर्माणविधि के स्थान पर ऐसी पद्धति अपनाने का प्रयत्न करता है जो कार्य को सरल तथा कम से कम कष्टसाध्य बना सके। श्रमजीवियों के दैनिक कार्यकाल के बीच उन्हें उपयुक्त समय पर विश्राम देने से थकावट कम प्रतीत होती है तथा वे आनंदपूर्वक कार्य करते हैं। श्रमव्यवस्था स्वयं एक विज्ञान बन गई है। इस विज्ञान का उद्देश्य श्रमजीवियों की कार्यक्षमता बढ़ाना तथा उनके जीवन को अधिक सुखमय श्रौर संतुष्ट बनाना है। (प्र० कु० से०)

श्रौद्योगिक श्रौषधोपचार चिकित्सा ने देश के श्रौद्योगिक जन के लिये जो योगदान किया है वही श्रौद्योगिक श्रौषधोपचार है। इसका संबंध उद्योग के स्थलों में अंतर्व्याप्त परिस्थितियों के अध्ययन तथा नियंत्रण से है। बहुत पहले से ही स्वास्थ्यवेत्ता यह मानते आ रहे हैं कि काम करनेवालों के स्वास्थ्य श्रौर कल्याण पर काम करने की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, जैसा बरडर्डाइन रमज्जने, Berdardine Ramazzne (७०० ई०) की इस टिप्पणी से प्रत्यक्ष हो जाता है: "हिपोक्रेटीज़ ने कहा है कि 'जब आप किसी रोगी के घर जायँ तो उससे आपको पूछना चाहिए कि उसे किस प्रकार की पीड़ा है, वे पीड़ाएँ कैसे हुईं, श्रौर वह कितने दिनों से रुग्ण है। उसका पेट ठीक काम कर रहा है न श्रौर वह किस प्रकार का भोजन करता है।' मैं एक प्रश्न श्रौर जोड़ना चाहूँगा: वह क्या व्यवसाय करता है।"

काम की परिस्थितियाँ—श्रमिक सामान्यतः अपने समय का एक तिहाई अपने काम के स्थल में व्यतीत करता हे श्रौर इसलिये अपने काम की भौतिक, रासायनिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से वह विशेष रूप से प्रभावित होता है। साधारणतः भौतिक परिस्थितियाँ ये है: गर्मी, ठंढक, तरी, प्रकाश आदि। रासायनिक तत्व हैं: विविध गैसें, धुश्राँ, धूल आदि। मनोवैज्ञानिक तत्व हैं: स्वास्थ्यविषयक सुविधाएँ, प्रकाश, पीने तथा मुँह हाथ धोने का पानी, मनोविनोद, उपाहारगृह, संरक्षक उपकरण, बैठने तथा विश्राम की सुविधाएँ, रहन सहन की दशा, प्रबंधकों का बरताव, *तथा उच्चतर अधिकारियों तक पहुँच होने की सुविधाएँ*। इन तत्वों का प्रभाव जटिल होता है श्रौर इनमें से किसी एक अथवा सबकी संमिलित क्रिया द्वारा श्रमिक के स्वास्थ्य, कल्याण तथा योग्यता पर प्रभाव पड़ सकता है।

ताप श्रौर दुर्घटना—यह देखा गया है कि जब गर्मी अथवा ठंढ से बेचैनी उत्पन्न होती है तब उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है, छोटी-छोटी दुर्घटनाएँ बढ़ जाती हैं, श्रमिकों का मन मर जाता है श्रौर उनमें असंतोष फैलता
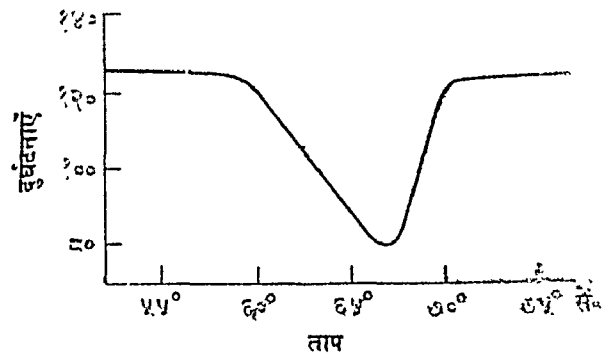
दुर्घटनाश्रों की संख्या पर ताप का प्रभाव

है। ब्रिटेन में कारखाने के ताप से संबद्ध दुर्घटनाश्रों का जो अध्ययन किया गया उससे विदित हुआ कि ६७° सें० ताप पर दुर्घटनाएँ सबसे कम थीं, इससे कम श्रौर अधिक तापों पर दुर्घटनाएँ अधिक हुईं (लेखाचित्र द्र०)।

प्रकाश श्रौर दुर्घटनाश्रों का संबंध—इसी प्रकार संयुक्त राज्य, अमरीका में, बिजली से चलनेवाले कारखानों में एक महत्वपूर्ण अध्ययन हुआ। इसमें उत्पादन के संबंध में प्रकाश की तीव्रता तथा चकाचौंध के प्रभावों का अध्ययन किया गया था। उससे पता चला कि ऐसे तत्वों का कारीगरों की प्रसन्नता तथा उत्पादन पर अत्यंत उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। ब्रिटेन की इल्युमिनेटिंग इंजीनियरिंग सोसाइटी के अनुसार महीन काम के लिये ५० फुट-कैंडल का प्रकाश चाहिए (अर्थात् उतने प्रकाश का ५० गुना जो एक मोमबत्ती से १ फुट की दूरी पर पड़ता है), साधारण कामों के लिये १५ से २५ फुट-कैंडल तक का श्रौर मोटे कामों के लिये ६ से १० फुट-कैंडल तक का। कम प्रकाश से कम काम होता है, उसमें अशुद्धियाँ रह जाती हैं श्रौर दुर्घटनाएँ अधिक होती हैं। श्रमिकों की आँखों में पीड़ा उत्पन्न होती है श्रौर सरदर्द होता है, मन खिजलाने लगता है श्रौर उदासी उत्पन्न होती है। उत्तर के आकाश से आए प्रकाश में दिन में काम हो सके तो सबसे अच्छा।

श्रौद्योगिक रोग—प्रतिकूल परिस्थितियों से विशेष पीड़ाएँ तथा रोग भी उत्पन्न होते हैं जिसका प्रभाव कारीगरों के उत्पादन तथा योग्यता पर पड़ता है। बढ़ने पर श्रौद्योगिक रोगों को पहचानना बहुत कठिन

नहीं होता किंतु आरंभिक लक्षणों का अन्वेषण और उनके कारणों की पहचान करना कुछ कठिन और साथ ही रोचक भी है।

औद्योगिक रोगों का वर्गीकरण करना कठिन है, साधारणतः उनको निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है :

प्राकृतिक माध्यम से होनेवाले रोग—ठंढ से ऐंठन (क्रैंप) गरमी से लू या उष्माघात मोतियाविंद, पाला मारना, दाब, केसन (Caisson) का रोग, जिसमें वायु दाब के एकाएक घटने के कारण सारे शरीर में बड़ी पीड़ा होती है तथा वायविक रक्तप्रसारणावरोध (एअर एंबालिज़्म)—जिसमें वायु के बुलबुलों के कारण रुधिर का बहना रुक जाता है।

रासायनिक कारणोंवाले रोग—वे रोग जो पोटास, ऐनीलिन, रासायनिक रज (धूल), ऐस्बेस्टस, पारा, सीसा, संखिया तथा अन्य विषों से काम करनेवाले श्रमिकों को होते हैं। रासायनिक गैसों, जैसे अमोनिया, फ़ौसजीन, नाइट्रस धुएँ, बेंज़ीन आदि के वाष्प से होनेवाली विषाक्तता।

मनोवैज्ञानिक कारणोंवाले रोग—आँख की पुतलियों की कँपकँपी (माइनर्स न्यिस्टैगमस)।

ऊपर जिन औद्योगिक रोगों का उल्लेख किया गया है उनमें से कुछ तो बहुत महत्वपूर्ण हैं। अधिकांश देशों की सरकारों ने नियम बना दिया है कि रोग होते ही उन्हें सूचना मिले। भारत में फैक्टरी ऐक्ट द्वारा १७ रोगों को विज्ञापनीय कर दिया गया है, चिकित्सकों के देखने में यदि ऐसा कोई रोगी आ जाय जो इनमें से किसी रोग से आक्रांत हो तो चिकित्सक के लिये सरकार को सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया है। ये रोग हैं : सीसा, टेट्राएथिल, फ़ास्फ़रस, पारा, संखिया, नाइट्रस धुआँ, कार्बन बाइसल्फ़ाइड, बेंज़ीन, क्रोमियम के लवण, धूलि, आयोडीन, ब्रोमीन, रेडियोधर्मी पदार्थ तथा एक्सरे से उत्पन्न रोग और ऐंथ्रैक्स; चर्म का कर्कट, विषाक्त रक्तहीनता तथा विषाक्त पीलिया नामक रोग।

औद्योगिक रोगों में से प्रायः सभी रोके जा सकते हैं, अतः औद्योगिक औपधोपचार के अध्ययन तथा व्यवसाय का अत्यधिक महत्व स्वयंसिद्ध है।

औद्योगिक रोगोपचार सेवा—प्रत्येक देश में औद्योगिक रोगोपचार सेवा का क्षेत्र एक सा नहीं है, किंतु सामान्यतः इसके अंतर्गत निम्नलिखित औद्योगिक कार्य समाविष्ट हैं : रोगों की रोकथाम, कारखानों में काम की दशाओं में सुधार, औद्योगिक दुर्घटनाओं का उपचार तथा घायल अथवा अपंग औद्योगिक कारीगरों को फिर कोई काम करने योग्य बनाना।

यथोचित औद्योगिक रोगोपचार सेवा के निमित्त एक चिकित्सक, एक काया (प्रकृति) परीक्षक, एक योग्य इंजीनियर, एक रसायनज्ञ, एक शरीर-विज्ञान-वेत्ता, एक भौतिक चिकित्सा करनेवाला तथा एक औद्योगिक नर्स होनी चाहिए। इस पूरे दल को परस्पर सहयोग से काम करना चाहिए क्योंकि औद्योगिक रोगों के आरंभिक लक्षणों का पता तथा उनका निदान इस दल के प्रत्येक सदस्य के निरीक्षण पर ही निर्भर रहेगा, उदाहरणतः सीसे की विषाक्तता के निदान के लिये यह आवश्यक है कि चिकित्सक कारीगर की साधारण परीक्षा करे, कायापरीक्षक उस रोगी के रक्त के चित्र बनाकर दे, बायोकेमिस्ट मलमूत्र में रोग के संचयन का पता लगाए, रसायनज्ञ वायु में सीसे की मात्रा का अनुसंधान करे, इंजीनियर इस बात का पता लगाए कि कारखाने की किन मशीनों से यह विष उत्पन्न होता है। यदि कोई कारीगर औद्योगिक रोग अथवा चोट से अपाहिज हो गया हो तो विशेषज्ञ उसे फिर से काम करने योग्य बनाने में सहायता दे सकता है। औद्योगिक नर्स केवल चिकित्सक की ही सहायता नहीं करती वरन् वह कारीगर को स्वास्थ्य और कल्याण के विषय में परामर्श देने का भी काम करती है।

औद्योगिक चिकित्सक को कारीगर की प्रारंभिक चिकित्सा और उसके रोग का निदान तो करना ही होता है, साथ ही कारीगरों की परीक्षा करके कारखानों में उनके प्रवेश से पूर्व यह भी निर्धारित करना होता है कि वह कारीगर अपनी शारीरिक क्षमता के अनुकूल किस विशेष काम पर लगाया जाना चाहिए, अथवा उसे कारखाने में काम करने देना ही नहीं चाहिए। इसी प्रकार उसे उन कारीगरों की भी समय समय पर चिकित्सीय परीक्षा करते रहना पड़ता है जो भयावह प्रक्रियाओं पर लगाए जाते हैं, जिससे भयावह सामग्री के संपर्क से कारीगरों पर धीरे धीरे पड़नेवाले बुरे प्रभाव की जानकारी समय से हो सके। औद्योगिक चिकित्सक का यह भी दायित्व है कि वह छोटी छोटी सेवाएँ, जैसे दाँतों की रक्षा आदि का भी कार्य करता रहे। उसे श्रमिकों की मनोवैज्ञानिक समस्याओं के संबंध में भी परामर्श देना पड़ता है, अतः यदि उसे श्रमिक तथा मालिक दोनों का ही विश्वासभाजन बनना है तो उसे अपने कार्य में विशेष दक्ष होना चाहिए। यह सिद्ध हो चुका है कि जिन बड़े कारखानों में अच्छी औद्योगिक रोगोपचार सेवा की व्यवस्था रहती है, वहाँ केवल उसका व्यय ही नहीं निकल आता वरन् यथेष्ठ अतिरिक्त लाभ भी होता है, क्योंकि इसके द्वारा उद्योग में कम से कम व्यय पर बढ़िया सामान उत्पन्न किया जा सकता है।

इस देश में भी सरकार की ओर से एक औद्योगिक रोगोपचार सेवा की स्थापना के प्रयत्न किए जा रहे हैं और निश्चय ही वह बड़ा भाग्यशाली दिन होगा जिस दिन इस सेवा की यथोचित रूप में स्थापना की जायगी।

सं०ग्रं०—टी० ए० लायड डेविस : द प्रैक्टिस ऑव इंडस्ट्रियल मेडिसिन (लंदन, १९४८); मेडिकल रिसर्च काउंसिल : दि ऐप्लिकेशन ऑव सायंटिफ़िक मेथड्स टु इंडस्ट्रियल ऐंड सर्विस मेडिसिन (लंदन, १९५१)। (कृ० स० भा०)

औद्योगिक क्रांति १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड में एक महान् सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति हुई जिसकी व्याप्ति तथा परिणाम इतने महत्वपूर्ण थे कि उसका नाम ही 'औद्योगिक क्रांति' पड़ गया। 'औद्योगिक क्रांति' शब्द का इस संदर्भ में उपयोग सबसे पहले आरनोल्ड टायनबी ने अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन दि इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन इन इंग्लैंड' में सन् १८४४ में किया।

१६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में यूरोप के कुछ देशों ने अपनी नौशक्ति के आधार पर दूसरे महाद्वीपों में आधिपत्य जमा लिया। उन्होंने वहाँ पर धर्म तथा व्यापार का प्रसार किया। उस युग में मशीनों का आविष्कार बहुत कम हुआ था। जहाज लकड़ी के ही बनते थे। जिन वस्तुओं का भार कम परंतु मूल्य अधिक होता उनकी बिक्री सात समुद्र पार भी हो सकती थी। उस युग में नए व्यापार से धनोपार्जन का एक नया प्रबल साधन प्राप्त हुआ और कृषि का महत्व कम होने लगा। व्यक्तियों में किसी सामंत की प्रजा के रूप में रहने की भावना का अंत होने लगा। अमरीका के स्वाधीन होने तथा फ्रांस में 'भ्रातृत्व, समानता, और स्वतंत्रता' के आधार पर होनेवाली क्रांति ने नए विचारों का सूत्रपात किया। प्राचीन शृंखलाओं को तोड़कर नई स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होने की भावना का आर्थिक क्षेत्र में यह प्रभाव हुआ कि गाँव के किसानों में अपना भाग्य स्वयं निर्माण करने की तत्परता जाग्रत हुई। वे कृषि का व्यवसाय त्याग कर नए अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। यह विचारधारा १८वीं शताब्दी के अंत में समस्त यूरोप में व्याप्त हो गई। इंग्लैंड में उन दिनों कुछ नए यांत्रिक आविष्कार हुए। जेम्स के फ़्लाइंग शटल (१७३३), हारग्रीव्ज़ की स्पिनिंग जेनी (१७७०), आर्कराइट के वाटर पावर स्पिनिंग फ्रेम (१७६९), क्रांपटन के म्यूल (१७७९) और कार्टराइट के पावर लूम (१७८५) से वस्त्रोत्पादन में पर्याप्त गति आई। जेम्स वाट के भाप के इंजन (१७८९) का उपयोग गहरी खानों से पानी को बाहर फेंकने के लिये किया गया। जल और वाष्प शक्ति का धीरे धीरे उपयोग बढ़ा और एक नए युग का सूत्रपात हुआ। भाप के इंजन में सर्दी, गर्मी, वर्षा सहने की शक्ति थी, उससे कहीं भी २४ घंटे काम लिया ज सकता था। इस नई शक्ति का उपयोग यातायात के साधनों में करने से भौगोलिक दूरियाँ कम होने लगीं। लोहे और कोयले की खानों का विशेष महत्व प्रकट हुआ और वस्त्रों के उत्पादन में मशीनों का काम स्पष्ट झलक उठा।

इंग्लैंड में नए स्थानों पर जंगलों में खनिज क्षेत्रों के निकट नगर बसे, नहरों तथा अच्छी सड़कों का निर्माण हुआ और ग्रामीण जनसंख्या अपने नए स्वतंत्र विचारों को क्रियान्वित करने के अवसर का लाभ उठाने लगी। देश में व्यापारिक पूंजी, साहस तथा अनुभव को नया क्षेत्र मिला। व्यापार विश्वव्यापी हो सका। देश की मिलों को चलाने के लिये कच्चे माल की आवश्यकता हुई, उसे अमरीका तथा एशिया के देशों से प्राप्त करने के उद्देश्य से वहाँ उपनिवेशों की स्थापना की गई। कच्चा माल

प्राप्त करने और तैयार माल बेचने के साधन भी वे ही उपनिवेश हुए। नई व्यापारिक संस्थाएँ, बैंकों और कमीशन एजेंटों का प्रादुर्भाव हुआ। एक विशेष व्यापक अर्थ में दुनिया के विभिन्न हिस्से एक दूसरे से संबद्ध होने लगे। १८वीं सदी के अंतिम २० वर्षों में आरंभ होकर १९वीं के मध्य तक चलती रहनेवाली इंग्लैंड की इस क्रांति का अनुसरण यूरोप के अन्य देशों ने भी किया। हॉलैंड तथा फ्रांस में शीघ्र ही, तथा जर्मनी, इटली आदि राष्ट्रों में बाद में, यह प्रभाव पहुँचा। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापारियों ने अपने अपने राज्यों में धन की वृद्धि की और बदले में सरकारों से सैन्य सुविधाएँ तथा विशेषाधिकार माँगे। इस प्रकार आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में व्यापार तथा सेना का यह सहयोग उपनिवेशवाद की नींव को सुदृढ़ करने में सहायक हुआ। राज्यों के बीच, अपने देशों की व्यापारनीति को प्रोत्साहन देने के प्रयास में, उपनिवेशों के लिये युद्ध भी हुए। उपनिवेशों का आर्थिक जीवन 'मूल राष्ट्र' की औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला बन गया। स्वतंत्र अस्तित्व के स्थान पर परावलंबन उनकी विशेषता बन गई। जिन देशों में औद्योगिक परिवर्तन हुए वहाँ मानव बंधनों से मुक्त हुआ, नए स्थानों पर नए व्यवसायों की खोज में वह जा सका, धन का वह अधिक उत्पादन कर सका। किंतु इस विकासित संपत्ति का श्रेय किसे हो, और उसका प्रतिफल कौन प्राप्त करे, ये प्रश्न उठने लगे। २४ घंटे चलनेवाली मशीनों को सँभालनेवाले मजदूर भी कितना काम करें, कब और किस वेतन पर करें, इन प्रश्नों पर मानवता की दृष्टि से विचार किया जाने लगा। मालिक-मजदूर-संबंधों को सहानुभूतिपूर्ण बनाने की चेष्टाएँ होने लगीं। मानव मुक्त तो हुआ, पर वह मुक्त हुआ धनी या निर्धन होने के लिये, भरपेट भोजन पाने या भूखा रहने के लिये, वस्त्रों का उत्पादन कर स्वयं वस्त्रविहीन रहने के लिये। अतएव दूसरे पहलू पर ध्यान देने के लिये शासन की ओर से नए नियमों की आवश्यकता पड़ी, जिनकी दिशा सदा मजदूरों की कठिनाइयाँ कम करने, उनका वेतन तथा सुविधाएँ बढ़ाने तथा उन्हें उत्पादन मे भागीदार बनाने की ओर रही।

इस प्रकार १८वीं शताब्दी के अंतिम २० वर्षों में फ्रांस की राज्यक्रांति से प्रेरणा प्राप्त कर इंग्लैंड में १९वीं शताब्दी में विकसित मशीनों का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। उत्पादन की नई विधियों और पैमानों का जन्म हुआ। यातायात के नए साधनों द्वारा विश्वव्यापी बाजार का निर्माण हुआ। इन्ही सबसे संबंधित आर्थिक एवं सामाजिक परिणामों का ५० वर्षों तक व्याप्त रहना क्रांति की संज्ञा इसलिये पा सका कि परिवर्तनों की वह मिश्रित शृंखला आर्थिक-सामाजिक-व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन की जन्मदायिनी थी।

संसार के दूसरे देशों तथा उपनिवेशों के स्वतंत्र होकर आगे बढ़ने से इस क्रांति के प्रभाव धीरे धीरे दृष्टिगत होने लगे। उनके समक्ष २०वीं शताब्दी में कृषि के स्थान पर उद्योगों को विकसित करने का प्रश्न है; किंतु उनके पास न तो गत दो शताब्दियों के व्यापार की एकत्रित पूँजी तथा अनुभव है और न उनमें यातायात तथा मूल उद्योगों का विकास ही हुआ है। ये राष्ट्र स्वाधीन होने के पश्चात् अन्य संपन्न राष्ट्रों से सीमित रूप में पूँजी तथा यांत्रिक सहायता प्राप्त करने की चेष्टाओं में लगे हैं, किंतु इस प्रकार की सहायता के बदले में वे किसी राजनीतिक बंधन में नहीं पड़ना चाहते। इन राष्ट्रों का मूलभूत उद्देश्य अपने यहाँ उसी प्रकार के परिवर्तन करना है जैसे परिवर्तन औद्योगिक क्रांति के साथ यूरोप में हुए। पर यह स्पष्ट है कि मूलतः इन नए राष्ट्रों को अपने लिये कच्चा माल प्राप्त करने तथा पक्के माल का विक्रय करने के साधन अपनी सीमाओं के अनुसार ही विकसित करना है। (ब्र० रा० चौ०)

भारत में औद्योगिक क्रांति—प्राचीन काल में भारत एक संपन्न देश था। भारतीय कारीगरों द्वारा निर्मित माल अरब, मिस्र, रोम, फ्रांस तथा इंग्लैंड के बाजारों में बिकता था और भारतवर्ष से व्यापार करने के लिये विदेशी राष्ट्रों में होड़ सी लगी रहती थी। इसी उद्देश्य से सन् १६०० में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना इंग्लैंड में हुई। यह कंपनी भारत में बना हुआ माल इंग्लैंड ले जाकर बेचती थी। भारतीय वस्तुएँ, विशेषकर रेशम और मखमल के बने हुए कपड़े, इंग्लैंड में बहुत अधिक पसंद की जाती थीं; यहाँ तक कि इंग्लैंड की महारानी भी भारतीय वस्त्रों को पहनने मे अपना गौरव समझती थी। परंतु यह स्थिति बहुत दिनों तक बनी न रह सकी। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप इंग्लैंड में माल बड़े पैमाने पर तैयार होने लगा और यह उपनिवेशों में बेचा जाने लगा। अंग्रेज व्यापारियों को अपनी सरकार का पूरा पूरा सहयोग प्राप्त था। भारतीय कारीगर निर्बल और बिखरे हुए थे; अतएव वे मशीन की बनी वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ रहे। फलतः उन्हें अपना पुश्तैनी पेशा छोड़कर खेती का सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार औद्योगिक-क्रांति के फलस्वरूप भारतीय उद्योग धंधों का नाश हो गया तथा लाखों कारीगर भूखों मरने लगे। औद्योगिक क्रांति, जो इंग्लैंड के लिये वरदान स्वरूप थी, भारतीय उद्योगों के लिये अभिशाप सिद्ध हुई।

आधुनिक रूप में भारतवर्ष का औद्योगीकरण १८५० ई० से प्रारंभ हुआ। सन् १८५३-५४ मे भारत मे रेल और तार की प्रणाली प्रारंभ हुई। यद्यपि रेल बनाने का मुख्य उद्देश्य कच्चे माल का निर्यात तथा निर्मित माल का आयात करना था, तो भी रेलों से भारतीय उद्योगों को विशेष सहायता मिली। प्रारंभ में भारतीय पूँजी से कुछ सूती मिलें और कोयले की खदानें स्थापित की गई। धीरे धीरे ये उद्योग बहुत उन्नत हो गए। कुछ समय के पश्चात् कागज बनाने और चमड़े के कारखाने भी स्थापित हो गए और १९०८ ई० में भारतवर्ष में प्रथम बार लोहे और इस्पात का कारखाना भी प्रारंभ हुआ। प्रथम महायुद्ध (१९१४–१९१८) के अनंतर उद्योगों को संरक्षण देने की जो नीति १९२२ ई० में अपनाई गई, भारतीय उद्योगों की उन्नति में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई। सन् १९२२ और १९३९ ई० के बीच सूती कपड़ों का निर्माण दुगुना और कागज का उत्पादन ढाई गुना हो गया। १९३२ ई० में शक्कर के कारखानों की स्थापना भी हुई और शक्कर का उत्पादन इतना अधिक बढ़ा कि देश शक्कर के बारे में आत्मनिर्भर हो गया। इसी काल में सीमेंट के कारखानों की भी स्थापना हुई और १९३५–३६ ई० में वे देश की ९५ प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे।

द्वितीय महायुद्ध काल में भारतीय उद्योगों ने और भी अधिक उन्नति की। पुराने उद्योगों की उत्पादन शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई और अनेक नवीन उद्योगों की भी स्थापना हुई। भारत में डीजल इंजन, पंप, बाइसिकलें, कपड़ा सीने की मशीनें, कास्टिक सोडा, सोडा ऐश, क्लोरिन, आदि का उत्पादन प्रारंभ हुआ तथा देश के इतिहास में पहली बार वायुयानों, मोटरकारों तथा जहाजों की मरम्मत करने का कार्य प्रारंभ हुआ। द्वितीय महायुद्ध के अंत तक भारतवर्ष की गणना विश्व के प्रथम आठ औद्योगिक राष्ट्रों में होने लगी। उस समय भारतीय कंपनियों में लगी हुई कुल पूँजी ४२४.२ करोड रु० थी तथा उद्योगों में २५ लाख मजदूर कार्य करते थे। भारत शक्कर, सीमेंट तथा साबुन के क्षेत्र में पूर्णतः आत्मनिर्भर था तथा जूट के क्षेत्र में तो उसका एकाधिपत्य था।

स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत औद्योगिक उन्नति का नया अध्याय प्रारंभ हुआ। राष्ट्रीय सरकार ने देश की सर्वांगीण उन्नति के लिये पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई। **प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल** में सरकार ने १०१ करोड़ रुपए की राशि उद्योगों में विनियोजित की तथा रासायनिक खाद, इंजन, रेल के डब्बे, पेनीसिलिन, डी० डी० टी० तथा न्यूजप्रिंट (अखबारों का कागज) बनाने के कारखानों की स्थापना की। देश के पूंजीपतियों ने भी, इस काल में, ३४० करोड़ रुपए की पूँजी लगाकर अनेक नए कारखाने खोले तथा पुराने कारखानों की उत्पादन शक्ति बढ़ाई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य देश की औद्योगिक प्रगति को तीव्रतर करना था।

सं०ग्रं०—बारबैरा हैमंड : द राइज ऑव मॉडर्न इंडस्ट्री (१९२७); जे० ए० हॉबसन : दि इवोल्यूशन ऑव मॉडर्न कैपिटलिज्म (१९२६)।
(वि० प्र० पां०)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—(१९५६–६१) उद्योगप्रधान योजना थी। अतः द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास के लिये औद्योगिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता हुई और १९५६ में नई औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। द्वितीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में वृहत् एवं लघु

उद्योग तथा खनिज पर १,०७५ करोड़ रुपए व्यय किए गए। योजनाकाल मे सार्वजनिक क्षेत्र मे लोहा तथा इस्पात के तीन नए कारखाने स्थापित किए गए और दूसरे कारखानों का विस्तार किया गया। निजी क्षेत्र के संगठित उद्योगो के विकास को भी पर्याप्त महत्व दिया गया। द्वितीय योजना मे किए गए प्रयत्नो के फलस्वरूप सपूर्ण औद्योगिक उत्पादन मे दस वर्षो मे ६४ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

तृतीय योजनाकाल—(१९६१–६६) मे भी उद्योग धधो के विकास को पर्याप्त महत्व दिया गया था। योजनाकाल मे उद्योग तथा खनिज पर सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल १,८०८ करोड़ रुपए व्यय का अनुमान था परतु वास्तविक व्यय १,७२६ करोड़ रुपए ही हुआ। निजी क्षेत्र मे भी १,०५० करोड रुपए व्यय का अनुमान था परतु योजनाकाल मे औद्योगिक विकास की प्रगति बहुत ही धीमी रही जिसका मुख्य कारण बाहरी आक्रमण तथा अत्यधिक मूल्यवृद्धि एव भयानक सूखे से उत्पन्न आतरिक अव्यवस्था थी।

तीन वार्षिक योजनाओ (१९६६–६९)—मे उद्योग तथा खनिज के मद मे १,५७५ करोड रुपए व्यय किए गए परतु मुद्रास्फीति तथा उद्योगो के क्षेत्र मे सुस्ती आ जाने के कारण औद्योगिक उत्पादन मे बहुत ही कम वृद्धि हुई।

चतुर्थ योजनाकाल (१९६९–७४)—मे उद्योग धधो के विकास को पर्याप्त महत्व देने का आयोजन था। सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योग तथा खनिज पर ३,०६० करोड रुपए तथा निजी क्षेत्र मे २,४०० करोड रुपए विनियोग की व्यवस्था थी जिसके फलस्वरूप सात प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की दर की आशा की गई थी।

पंचम पंचवर्षीय योजना (१९७४–७९)—मे भी उद्योगो को काफी महत्व दिया गया है तथा ८.५ प्रतिशत की दर से वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है।

अतः यह कहा जा सकता है कि पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से भारत ने अपने औद्योगिक विकास की गति को तीव्रता प्रदान की है और शीघ्र ही उसकी गणना औद्योगिक दृष्टि से विश्व के विकसित राष्ट्रो मे की जाएगी। (उ० प्र०)

औद्योगिक न्यायालय विश्व के विभिन्न देशो मे औद्योगिक न्यायालय (इडस्ट्रियल कोर्ट) शब्द अनेक अर्थो मे व्यवहृत हुआ है। एक साधारण व्यक्ति इसे न्यायालय समझता है जहाँ विभिन्न प्रकार के औद्योगिक विधानो के कारण उत्पन्न मामलो की सुनवाई होती है, किंतु वास्तव मे यह न्यायालय नहीं है। यह एक ऐसा सगठन है जहाँ सरकार अथवा सबद्ध पक्षो की पारस्परिक सहमति से रोजगार की अवस्थाएँ, औद्योगिक घटनाएँ, पारस्परिक तथा लाभाश आदि से सबद्ध मामले पंचायत या समझौते के लिये भेजे जाते हैं।

सन् १९१५ मे ब्रिटेन मे सरकारी पचप्रणाली का न्यायाधिकरण स्थापित हुआ, जिससे इस प्रकार के न्यायालयो की नीव पडी। सन १९१९ मे औद्योगिक न्यायालय अधिनियम स्वीकृत हो जाने के बाद सरकारी पंचप्रणाली के न्यायाधिकरण का पुनस्सघटन हुआ और इसका नाम औद्योगिक न्यायालय रखा गया। जब मामले इस न्यायालय मे भेजे जाते थे तब वह उनपर अपना निर्णय देता था। ये निर्णय औपचारिक रूप मे उभय पक्षो के लिये मान्य समझे जाते थे, फिर भी यदि उभय पक्ष उनको स्वीकार न करते तो स्वीकार कराने के लिये कोई व्यवस्था नही थी।

पिछले दोनो महायुद्धकालो मे इस प्रकार के न्यायालय उन देशो मे स्थापित हो चुके थे जहाँ उद्योग पर्याप्त विकसित हो चुके थे। उस समय यह प्रतीत हुआ कि औद्योगिक विवादो मे समझौते के लिये एक नियमित साधन आवश्यक है। औद्योगिक-विवाद-विधान का इतिहास भारत मे उतना प्राचीन नही है जितना अन्यान्य उद्योगप्रधान देशो मे, क्योकि व्यापक रूप से औद्योगिक हडतालें इस देश मे सामान्यतः प्रचलित नही थी। सन् १९१९ के ब्रिटिश औद्योगिक न्यायालय अधिनियम के आधार पर भारत सरकार ने सन् १९२० मे औद्योगिक विवादो के संबध मे एक विधान स्वीकृत करना चाहा, किंतु सन्१९१४-१८ के महायुद्ध के बादवाले अशातिकाल मे इस प्रकार का कार्य आरंभ करना उसने उचित नही समझा। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन मे उद्योगों की जो अवस्थाएँ रही है वे भारत मे प्रचलित अवस्थाओ से भिन्न रही है। अतएव उस समय इस प्रकार के विचारो को छोड़ देना पड़ा।

सन् १९२४ मे बबई की सूती मिलो मे व्यापक हड़ताल हुई। उस हड़ताल से सरकार को एक विधान तैयार कराने की प्रेरणा मिली। फलस्वरूप सन् १९२९ मे मजदूर-विवाद-अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम मे इस बात की व्यवस्था थी कि उपयुक्त अधिकारी द्वारा जाँच-अदालत अथवा सराधन मंडल (कॉनसिलिएशन बोर्ड) स्थापित किया जाय जो विवादग्रस्त मामलो मे समझौता कराए। जाँच अदालत के जिम्मे यह काम रखा गया कि वह मामले की जाँच कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे तथा सराधन मडल उस मामले मे समझौता कराने का प्रयास करे।

उपर्युक्त दोनों सघटन स्थायी नही थे। इसके अतिरिक्त, अधिनियम मे औद्योगिक विवाद रोकने की कोई व्यवस्था भी नही थी। श्रम के प्रश्न पर जो राजकीय आयोग स्थापित हुआ उसने सुझाव दिया कि राज्य सरकार द्वारा स्थायी रूप मे सराधन अधिकारी नियुक्त किए जायँ, जिनका यह कर्तव्य हो कि औद्योगिक विवाद उठ खड़ा होने पर आरंभ मे ही उभय पक्षो मे समझौता करा दे।

सन् १९३४ मे एक सशोधन द्वारा सन् १९२९ के अधिनियम को स्थायी रूप दिया गया। सन् १९३८ मे 'श्रमिक विवाद' की परिभाषा के सबध मे उपर्युक्त अधिनियम मे फिर से सशोधन किया गया। संशोधित अधिनियम ने इस बात की भी व्यवस्था की कि गैरकानूनी हडतालें और तालाबदी कम प्रतिबधात्मक हो। इतना होते हुए भी विवादो के हल के लिये अधिनियम मे कोई स्थायी व्यवस्था नही थी और न यही व्यवस्था थी कि सराधन मडल अथवा जाँच-अदालत के निर्णय दोनो पक्षो के लिये अनिवार्य रूप से मान्य हों।

सन् १९३८ मे बबई सरकार ने बबई-औद्योगिक-विवाद-अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम का लक्ष्य इसके पहले के विधानो की त्रुटियो का निवारण करना था। सन् १९३९ मे बबई राज्य मे औद्योगिक न्यायालय स्थापित कर दिए गए। द्वितीय महायुद्ध के समय सन् १९४२ मे भारत-रक्षा-नियमावली मे एक व्यवस्था की गई जिसके द्वारा सरकार को अधिकार दिया गया कि हडताल और तालाबदी रोकने के लिये वह सामान्य अथवा विशेष नियम बनाए तथा ऐसे किसी भी विवाद को सराधन अथवा न्यायिक निर्णय के लिये सौंपे जिससे जनता को कष्ट पहुँचता हो अथवा युद्धसामग्री की पूर्ति के कार्य मे बाधा पहुँचती हो। इन युद्धकालीन नियमो की सफलता देखकर भारत सरकार ने सन् १९४७ मे सन् १९२९ के मूल अधिनियम के स्थान पर औद्योगिक-विवाद-अधिनियम पारित किया।

सन् १९४७ के अधिनियम मे मुख्य व्यवस्थाएँ ये थी: (१) श्रमसमितियो का सघटन जिनमे मालिक और मजदूर दोनो के प्रतिनिधि रखे जायँ और (२) औद्योगिक न्यायाधिकरणों की स्थापना जिनमे दो से अधिक स्वतत्र सदस्य रखे जायँ। इसके साथ ही इस अधिनियम द्वारा सरकार को यह भी अधिकार दिया गया कि वह संराधन अधिकारी नियुक्त करे जो औद्योगिक विवादो मे समझौता कराने का मार्ग निकालें और आवश्यकतानुसार मध्यस्थता भी करें। सराधन अधिकारी को यह अधिकार दिया गया कि जनोपयोगी सेवा विषयक सभी झगड़े अनिवार्य रूप से पचप्रणाली द्वारा सुलझाएँ। सन् १९४७ के अधिनियम के अंतर्गत विभिन्न न्यायाधिकरणो ने जो जो मत व्यक्त किए वे आपस मे मेल नही खा रहे थे, क्योकि उनके बीच सपर्क स्थापित करनेवाली कोई सस्था नही थी। फलतः सन् १९५० मे औद्योगिक विवाद (अपीली न्यायाधिकरण) अधिनियम पारित किया गया और देश मे अपीली न्यायाधिकरणो की स्थापना की गई। इन न्यायाधिकरणो को अधिकार मिला कि वे विभिन्न औद्योगिक न्यायाधिकरणो द्वारा दिए गए निर्णयो के विरुद्ध की जानेवाली अपीलें सुनें।

सन् १९४७ के औद्योगिक विवाद अधिनियम मे सन् १९५२, १९५३ और अतिम बार सन् १९५६ मे संशोधन किए गए, जिनमे अकारण छुट्टी एवं छँटनी के मामलो मे श्रमजीवियों को प्रतिकर (मुआवजा) दिलाया

जा सके। इसके साथ ही श्रमजीवी पत्रकार भी इस विधि के अंतर्गत श्रमजीवी मान लिए गए। सन् १९५६ के औद्योगिक विवाद (संशोधन एवं विविध व्यवस्थाएँ) अधिनियम ने 'श्रमजीवी' शब्द की परिभाषा को और विस्तृत किया तथा पहले की न्यायाधिकरण प्रणाली के स्थान पर त्रिस्तरीय प्रणाली का निर्माण किया। नवीन त्रिस्तरीय प्रणाली के अंतर्गत (क) श्रम न्यायालय, (ख) औद्योगिक न्यायाधिकरण और (ग) राष्ट्रीय न्यायाधिकरण बनाए गए। अपने अपने क्षेत्रों में सामान्य एवं विशेष समस्याओं के समाधान के लिये बंबई, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, केरल और जम्मू-कश्मीर राज्यों में औद्योगिक विवादों के संबंध में अलग अलग विधान भी बने हुए हैं।

सं०ग्रं०—ब्रिटिश मिनिस्ट्री ऑव लेबर: इंडस्ट्रियल रिलेशंस हैंडबुक (लंदन)। (दु० च० स०)

औद्योगिक परिषदें ब्रिटेन में सन् १९११ में संघटित मजदूरों और मालिकों की एक संयुक्त समिति के लिये पहले औद्योगिक परिषद् (इंडस्ट्रियल कोर्ट) नाम का उपयोग किया गया। इस परिषद् को केवल प्रतिप्रेषित विषयों पर ही विचार का अधिकार था; अनिवार्य रूप से व्यवहृत होनेवाले कोई अधिकार इसे प्राप्त नहीं थे। फलतः बाद में इसे समाप्त कर दिया गया। सन् १९१७ में ह्विटले कमेटी के प्रतिवेदन (रिपोर्ट) के प्रकाशन पर इसकी फिर चर्चा हुई। संघटित उद्योगों में श्रम संबंधों में सुधार के लिये औद्योगिक परिषदों के संघटन की सिफारिश प्रतिवेदन में की गई थी। प्रतिवेदन की सिफारिश का आशय यह था कि आर्थिक और उद्योग संबंधी व्यापक समस्याओं पर इन परिषदों में संयुक्त रूप से विचार विमर्श हो। सन् १९१९ में हुए राष्ट्रीय औद्योगिक संमेलन ने पूरे ब्रिटेन के लिये 'राष्ट्रीय संयुक्त परिषद्' की स्थापना की माँग की, परंतु सन् १९२६ की हड़ताल के पहले इसका संघटन नहीं हो सका।

सन् १९३९ में इंग्लैंड के श्रममंत्री ने मालिकों के महासंघ तथा मजदूर कांग्रेस के प्रतिनिधियों का एक संयुक्त संमेलन किया, जिसने सन् १९४० में 'राष्ट्रीय संयुक्त परामर्शदात्री परिषद्' का संघटन किया। श्रम संबंधी विभिन्न विषयों पर सरकार को परामर्श देना इस संघटन का कार्य था।

भारत में इस परिषद् के बारे में दूसरी ही कल्पना रही है। भारतीय श्रमिक समस्या संबंधी राजकीय आयोग (रॉयल कमिशन) ने मालिकों और मजदूरों के बीच संयुक्त समितियों के माध्यम से कारखाना स्तर पर संयुक्त विचार विमर्श की सिफारिश की थी। इन्हें वर्क्स कमेटी (मालिक-मजदूर-समिति) का नाम दिया गया। संचालकों और कर्मचारियों के परस्पर हित संबंधी दैनंदिन प्रश्नों पर ये समितियाँ विचार करती हैं तथा आपसी मतभेदों का आरंभिक अवस्था में ही निराकरण करने का महत्वपूर्ण कार्य भी करती हैं।

इन समितियों के निर्माण की गति अत्यंत मंद रही। अहमदाबाद में कुछ समितियों के संघटन के अतिरिक्त भारत सरकार के मुद्रणालयों में सन् १९२० में, टाटा आयरन वर्क्स में सन् १९२१ में और मद्रास के बकिंघम-कर्नाटक-मिल्स में सन् १९२२ में ऐसी समितियाँ संघटित हुईं। सन् १९४७ में औद्योगिक-विवाद-कानून में एक धारा जोड़कर उन सब औद्योगिक संस्थानों के लिये मालिक-मजदूर-समिति के संघटन की व्यवस्था की गई जिनमें १०० या १०० से अधिक कर्मचारी काम करते हैं। कानून में इन समितियों के निर्माण का उद्देश्य बताया गया—मालिकों और मजदूरों में सौहार्द और अच्छे संबंधों की स्थापना में सहायक उपायों को बढ़ावा देना, समान हित के विषयों पर विचार करना और तत्संबंधी मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न करना।

इन समितियों में अधिक से अधिक १४ प्रतिनिधि होते हैं, जिनमें आधे संचालकों द्वारा मनोनीत किए जाते हैं और शेष आधे को मान्यताप्राप्त मजदूरसंघ या कर्मचारीगण चुनते हैं। पहले सभी चीनी मिलों में और बाद में ऐसे सभी औद्योगिक संस्थानों में, जिनमें २०० या इससे अधिक कर्मचारी काम करते हैं, ऐसी समितियों के निर्माण के लिये सन् १९४८ में आदेश जारी कर उत्तर प्रदेश सरकार ने इस दिशा में नेतृत्व किया। दूसरे राज्यों में भी, विशेषकर बड़े उद्योगों में, ऐसी समितियाँ बनीं।

ये समितियाँ केवल उत्पादन संबंधी जिम्मेदारियों से ही कर्मचारियों को अवगत नहीं कराती थीं, वरन् समान हित की समस्याओं के समाधान, उत्पादन, बोनस, वेतन, काम के घंटों में कमी, कार्य करने की स्थिति में सुधार और कर्मचारी कल्याण तथा आवास संबंधी सुविधा विषयक प्रश्नों को सुलझाने में भी पर्याप्त सहायता करती रही हैं। फिर भी इन समितियों की कार्यप्रगति उत्साहप्रद नहीं है। संचालक इन समितियों को ऊपर से लादा हुआ समझते हैं और निपट उदासीनता और अनिच्छापूर्वक ही उन्होंने इन्हें स्वीकार किया है। उन्होंने इन समितियों का बनाया जाना पसंद नहीं किया है। अपने लिये अधिक से अधिक लाभ उठाने का ही उनका प्रयत्न रहा है। दूसरी ओर मजदूरों ने भी इस उपक्रम से सहयोग नहीं किया है। अपने संघीय नेताओं की प्रेरणा से उन्होंने इन समितियों को मात्र अपने हितों और अधिकारों के लिये लड़ने का मंच बनाने का प्रयत्न किया है। (दु० च० स०)

औद्योगिक वास्तु सामान्यतः औद्योगिक वास्तु के अंतर्गत ऐसी इमारतें तथा कारखाने आते हैं जहाँ वस्तुओं का प्रारंभिक निर्माण, उत्पादन, संग्रह और क्रय विक्रय होता है। ऐसी इमारते हैं—कल कारखाने, मिल, विद्युच्छक्ति केंद्र, तैलशोधन केंद्र, प्रदर्शन कक्ष, अन्नसंग्राहक (सिलो) और गोदाम इत्यादि। मूलतः इन इमारतों का निर्माण व्यावहारिक ढंग पर होना चाहिए, अर्थात् इनका ढाँचा ऐसा हो जिससे कम से कम खर्च से, स्थान, सामग्री और धन का अपव्यय बचाते तथा कार्यकुशलता को अक्षुण्ण रखते हुए ये उस विशिष्ट उद्देश्य को सिद्ध कर सकें जिसके लिये इनका निर्माण किया जाता है। ये इमारतें और कारखाने जिन लोगों के उपयोग में आते हैं उन्हें पर्याप्त सुरक्षा और अधिक से अधिक सुख सुविधा प्राप्त हो सके, इसका पूरा ध्यान रखना आवश्यक होता है। आकार प्रकार में भी इन इमारतों को सुसंतुलित, मनोरम और भव्य होना चाहिए।

आरंभ में भारत में औद्योगिक इमारतें मुख्यतः शहतीर, ईंट और पत्थरों से बनती थीं और एकमंजिली ही होती थीं। शहरों में, जहाँ भूमि का मूल्य अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता था, ये इमारतें दुमंजिली बनती थीं। तीन या इससे अधिक मंजिलोंवाली इमारतें तो बहुत ही कम थीं। लंबी धरनों के न मिल सकने के कारण छत के नीचे पास-पास खंभे रखने पड़ते थे जिससे इमारत के भीतर का एक बड़ा भाग किसी काम में न आ पाता था। आगे चलकर जब लोहा सुलभ होने लगा तो खंभे लोहे के ही बनने लगे। इस्पात और काँच सुलभ होने पर इस्पात के ही धरन, कैंचियाँ (ट्रसेज) और खंभे बनाए जाने लगे जिससे खंभे दूर दूर रखे जा सकें और काम के लिये कारखाने के भीतर अधिक स्थान मिलने लगा। साथ ही इस्पात के पायों पर खड़े किए गए कई मंजिल के भवनों का निर्माण भी संभव हो सका।

प्रबलित सीमेंट, कंक्रीट, अच्छी जाति के इस्पात और ऐल्यूमिनियम की मिश्र धातुओं के विकास से औद्योगिक इमारतों की डिजाइन, निर्माण और साज सज्जा में अच्छी प्रगति हुई। टेलिफ़ोन, लिफ़्ट तथा स्वचालित संवहन से इस प्रगति में और तीव्रता आई।

औद्योगिक इमारतों के निर्माण के लिये उपयुक्त स्थान का चुनाव करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है: विद्युच्छक्ति और जल सस्ता और पर्याप्त मात्रा में मिल सके। आवश्यक मात्रा और संतोषजनक रूप में श्रम सुलभ हो। कच्चे माल और आवश्यक उपकरण को उचित व्यय और सुविधाजनक रीति से प्राप्त करने तथा प्रस्तुत माल को बाहर भेजने के लिये समुद्र या नौसंवहन योग्य नदी, रेल लाइन और पक्की सड़क हो। व्यवसायजन्य रद्दी सामानों के उचित विक्रय की सुविधा हो। भूमि भवननिर्माण योग्य हो और पड़ोस ऐसा हो जिससे भविष्य में उद्योग का कम खर्च से सुविधाजनक एवं संतोषजनक रूप में विस्तार संभव हो सके। युद्धकालीन बमबारी जैसे जोखिमों से बचने के लिये यथासंभव जनाकीर्ण एवं सामरिक महत्व के क्षेत्रों को नहीं चुनना चाहिए।

स्थान की आवश्यकता पर सावधानी से विचार करना चाहिए। विभिन्न एककों की रचना बड़ी सतर्कता से करनी चाहिए जिससे दैनिक कार्यसंचालन में शक्ति का अपव्यय न हो और न स्थान, सामग्री, श्रम

या धन की बरबादी हो। आयोजन सरल होना चाहिए जिससे कम से कम खर्च में प्रतिष्ठान में कार्य करनेवालों की कार्यक्षमता अधिक से अधिक बढ़ाई जा सके और उन्हें अधिकतम सुख सुविधा प्राप्त हो सके। जलवायु की स्थिति, वायुप्रवाह की दिशा, वर्षा की मात्रा आदि पर भी उचित ध्यान देना आवश्यक है। इमारतें एकमंजिली हों या कई मंजिलों की, यह उद्योगविशेष की अपनी आवश्यकताओं, भूमि के आपेक्षिक मूल्य, भूमि की स्थिति तथा क्षेत्रफल आदि पर निर्भर है। कई मंजिलोंवाली इमारतों में अग्नि के नियंत्रण के लिये स्वचालित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे बीमे का खर्च कम हो। अग्निकांड और संकट के समय निकल भागने का भी उचित प्रबंध आवश्यक है। लिफ्ट और स्वचालित सोपानों की व्यवस्था भी हो सके तो अच्छा है।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक विभाग का विस्तार समय आने पर उचित रीति और कम व्यय से किया जा सके और इससे उत्पादन में कोई ह्रास न हो। प्रतिष्ठान के विस्तार के अनुरूप जलपान एवं भोजनगृह, विश्रामकक्ष, शौचालय, बहुमूल्य वस्तुओं को रखने के लिये सुरक्षित स्थान, चिकित्सालय एवं क्रीड़ांगण आदि कल्याणकारी सुविधाएँ भी नितांत अपेक्षित है। वास्तु को प्रभावशाली बनाने के लिये भवन के आकार प्रकार, बनावट, सौष्ठव और सम्यक् अनुपात का ध्यान रखना चाहिए। कर्मचारियों की मनोदशा और मानसिक वृत्तियों पर रंगों के आयोजन का बड़ा प्रभाव पड़ता है, जिससे अंततः उत्पादन के परिमाण और अच्छाई दोनों प्रभावित होते हैं। प्रतिष्ठान की भीतरी दीवालों की रँगाई हल्के रंगो से या सफेद होनी चाहिए। इमारतों में रोशनी की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए जिससे निरंतर एकरूप प्रकाश मिल सके, किंतु चकाचौंध न उत्पन्न हो। प्राकृतिक प्रकाश का अधिकतम लाभ उठाना चाहिए। इसके लिये उत्तर की ओर बड़ी बड़ी खिड़कियाँ लगानी चाहिए। रात के समय कृत्रिम प्रकाश के रूप में बिखरकर आया बिजली का श्वेत प्रकाश अपेक्षित होता है। प्रायः विद्युन्नलिकाएँ (फ़्लुओ-रेसेंट ट्यूब लाइट) सर्वाधिक सुविधाजनक होती हैं। इमारतों में स्वच्छ वायु के गमनागमन की व्यवस्था बड़े महत्व की है। इसके लिये प्राकृतिक और कृत्रिम दोनों प्रकार की व्यवस्थाएँ की जा सकती हैं। तंबाकू, औषध और वस्त्रोद्योग जैसे प्रतिष्ठानों में, जहाँ ताप एवं आर्द्रता का नियंत्रण और धूलिकणों का दूर रखना बहुत आवश्यक होता है, वायु अनुकूलन की भी व्यवस्था करनी पड़ती है (द्र० 'वायु अनुकूलन')। औद्योगिक इमारतों का निर्माण अग्निसह होना चाहिए।

कुछ देशों में कारखानों की वृद्धि इतनी अधिक हुई है कि शहरों में उनका बनाना असंभव हो गया है। इसलिये बड़े कारखाने शहर से दूर बनाए जाते है और पास में ही कार्यकर्ताओं के लिये गृह, पाठशाला, उद्यान, अस्पताल, बाजार, सिनेमा आदि सभी विशेष रूप से बनाए जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कारखाना एक छोटा सा नगर ही हो जाता है।

कार्यालयों के लिये भवन भी औद्योगिक वास्तु के अंतर्गत गिने जाते हैं। विदेशों में कुछ इतने बड़े बड़े कार्यालय हैं कि वे तीस मंजिले या इससे भी ऊँचे बनाए गए है। इस्पात के ढाँचे के आविष्कार के पहले ऐसे ऊँचे कार्यालयों के निम्नतम खंड में जगह बिलकुल नहीं बचती थी, क्योंकि आवश्यक दृढ़ता के लिये दीवारें बड़ी मोटी बनानी पड़ती थीं। उदाहरणतः, ३४८ फुट ऊँचे एक कार्यालय के निम्नतम खंड में दीवारें २० फुट मोटी थीं। सन् १८८४ में पहली बार ऐसा भवन बना जिसमें इस्पात का कंकाल था और सब छतों और सामान का बोझ इसी कंकाल पर टिका था। इसमें दीवारें बहुत पतली थीं और उनका भी भार कंकाल पर ही सँभला हुआ था। पीछे इस्पात के गर्डरों को लवंगित (रिवेट) करने के बदले वेल्डिंग से जोड़ने का उपयोग होने लगा। तब वांछित दृढ़ता के लिये बहुत हल्के कंकालों का ही प्रयोग होने लगा और बहुत ऊँचे भवन बनने लगे। परंतु बहुत ऊँचे भवनों में इतने एलिवेटरों की आवश्यकता पड़ने लगी कि बहुत सा उपयोगी स्थान उन्हीं में लग जाता था। अब स्वयंचल (ऑटो-मैटिक) एलीवेटरों के प्रयोग मे इस समस्या का भी हल निकल आया है।

भवनों को अग्निसह (फ़ायर प्रूफ़) बनाने के लिये यह आवश्यक है कि इस्पात के गर्डर आदि सीमेंट-कंक्रीट में दबे रहें, अन्यथा भवन के भीतर रखे सामान के जलने पर वे तप्त होकर नरम पड़ जाते हैं और भवन गिर पड़ता है।

प्रकाश अधिक आ सके, इस अभिप्राय से कभी कभी काँच की ईंटों से दीवार बना दी जाती है। यदि ऐसा न भी किया जाय तो काँच लगी बड़ी खिड़कियों से काम लिया जाता है। कंकालयुक्त भवनों में दीवारों पर तो कोई बोझ रहता नहीं, इसलिये उनको प्रायः काच से ही भरना संभव होता है। विदेशों में बहुत से कारखानों में दीवार का ९० प्रतिशत काँच होता है; परंतु भारत में धूप से भी बचना रहता है; इसलिये इतना काँच नहीं लगाया जा सकता। कंकालयुक्त भवनों में खंभों के बीच ३०'×९०' का स्थान सुगमता से रखा जा सकता है। हवाई जहाज के कारखानों में इससे भी बड़े चौके (स्तंभ-रहित स्थान) रखे जाते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इंग्लैंड मे बने एक कारखाने में ३५८ फुट× ४२० फुट के चौके है। ऐसे भवनों पर पड़े गर्डर सादे नहीं, कैंची (ट्रस) या पुलों पर प्रयुक्त कंकालमय गर्डर की तरह या मेहराब होते हैं।
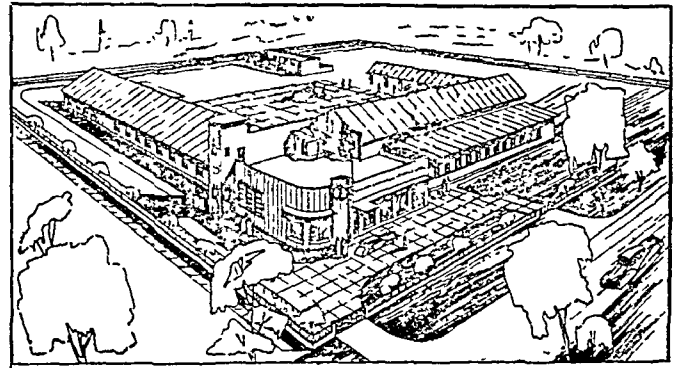
एक आधुनिक कारखाना

कारखाने के चारों ओर वृक्षों के रहने से श्रमिकों को शुद्ध वायु मिलती है।

कारखाने के चारों ओर उद्यान हो तो अच्छा (चित्र द्र०)। अधिक मंजिलोंवाले कार्यालयों के चारों ओर उद्यान रखना आवश्यक समझा जाता है, जिसमें कार्यकर्ताओं को शुद्ध वायु मिला करे। यूनाइटेड नेशंस हेडक्वार्टर्स १२ एकड़ भूमि में बना है। भवन में ३९ मंजिल हैं, और यह सारी इमारत भूमि के एक छोटे अंश में ही बनी है। शेष भूमि में उद्यान है।

पिछले विश्वयुद्ध में इसकी भी आवश्यकता पड़ी कि औद्योगिक भवन शीघ्रता से बनें। तब ऐसी निर्माण रीतियाँ निकाली गई कि वर्षो का काम सप्ताहों में होने लगा। सफलता प्रामाणिक नाप के अवयवों और ब्योरों से मिली। उदाहरणतः सब कारखानों में विशिष्ट नापों के कक्ष बनते थे और दरवाजे, खिड़कियाँ आदि विशेष नापों के और विशेष मेलों के ही लगाए जाते थे।

सं०ग्रं०—सी० जी० होल्म (संपादक): इंडस्ट्रियल आर्किटेक्चर (लंदन, १९३५); क्लेयरेंस डब्ल्यू० डनहम: प्लैनिंग इंडस्ट्रियल स्ट्रक्चर्स (१९४८)। (ती० रा० म०)

औद्योगिक विष-अनुसंधान-केंद्र की स्थापना सन् १९६५ में औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के अंतर्गत लखनऊ में हुई। आजकल कुछ उद्योगों में विषैले पदार्थो का भी प्रयोग होता है जिसका कुप्रभाव उद्योग कर्मियों पर पड़ता है। इन विषैले पदार्थो के प्रभाव से रोगी उद्योग कर्मियों का निदान उक्त केंद्र में किया जाता है।

किसान कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिये खेतों में प्रायः उर्वरकों और कीटनाशियों का प्रयोग करते ही हैं। इनके प्रयोग से खाद्य पदार्थो के उत्पादन में वृद्धि तो होती है लेकिन कृषकों को अनेक रोगों का शिकार होना पड़ता है। डी० डी० टी०, लिंडेन, डाइएल्ड्रिन और एल्ड्रिन आदि कीट-

नाशियों का प्रयोग खूब होता है। इनसे रक्ताल्पता (लो ब्लड प्रेशर) होने की आशंका रहती है। डी० डी० टी० से त्वचा की कोशिकाओं में परिवर्तन हो जाता है तथा बाल बहुत तेजी से झड़ने लगते हैं। इसके अलावा अन्य कीटनाशियों पर केंद्र में शोध चल रहा है। (नि० सिं०)

औद्योगिक श्रमिक औद्योगिक श्रमिक के अंतर्गत, जैसा इन शब्दों से ध्वनित होता है, विभिन्न देशों के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्य करनेवाले सभी कर्मचारी आ जाते हैं। 'विश्व के औद्योगिक श्रमिक' नाम सर्वसाधारण के अतिरिक्त संयुक्त राज्य, अमरीका, के एक क्रांतिकारी संघ को भी दिया गया है। सन् १९०५ में शिकागो में हुए समाजवादियों और मजदूर संघ के कार्यकर्ताओं के संमेलन के परिणामस्वरूप इसकी व्यवस्था हुई थी।

उस समय अमरीका में क्रांतिकारी श्रमिकों की यह तीव्र भावना थी कि पूँजीपतियों से असहाय श्रमिकों की रक्षा का एकमात्र उपाय स्वतंत्र राजनीतिक कार्रवाई ही है। तत्कालीन श्रमिक संघटन इतना ही था कि विविध कारखानों या उद्योगों में विभिन्न शिल्प संघटन या दलीय संघटन थे। मालिकों द्वारा श्रमिकों का शोषण सरलतापूर्वक होता था और छोटे छोटे संघटन कुछ विशेष उपाय कर नहीं पाते थे। मालिकों तथा 'अमरीकी श्रमिक संघ' में परस्पर घोर विरोध होते हुए भी संयुक्त राज्य, अमरीका के खनकों के पश्चिमी संघ ने एक शक्तिशाली संघटन की स्थापना के उद्देश्य से एक संमेलन बुलाया। उक्त समेलन में रेवरेंड हैगर्टी द्वारा प्रस्तुत योजना सभी श्रमिकों को स्वीकृत हुई, जिसके फलस्वरूप 'विश्व के औद्योगिक श्रमिक" (इंडस्ट्रियल वर्कर्स ऑव द वर्ल्ड) नामक संघ की स्थापना हुई। संघ ने कम से कम समय और धन व्यय द्वारा अभीसिप्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिये 'कोई एक या सभी युक्तियाँ' से कार्य करने की विधि अपनाई। इस संघ ने प्रत्येक औद्योगिक प्रतिष्ठान में एक ही संघ की स्थापना का प्रयास किया। संघ के प्रयत्नों से प्रत्येक स्थान के विभिन्न संघ एक में मिलकर स्थानीय औद्योगिक संघ का स्वरूप ग्रहण कर लेते थे, और वह संघ 'विश्व के राष्ट्रीय औद्योगिक श्रमिक' नामक वृहत् संघ का एक विभाग बन जाता था।

राजनीतिक विचारों में मतभेद के कारण १९०७ ई० में उक्त संस्था बिखर सी गई, परंतु उसके बाद भी कुछ समय तक वह अपना प्रभाव बनाए रख सकी और सन् १९१२ में संयुक्त राज्य, अमरीका, के सूती मिल मजदूरों को उसने विजयश्री दिलाई। प्रथम विश्वयुद्ध के समय यही एकमात्र संघ था जिसने युद्ध का विरोध किया, किंतु १९१७ के दमनात्मक कानून के कारण इसके कार्यकर्ताओं पर १९१८ ई० में सामूहिक रूप से मुकदमे चले और ९३ कर्मचारियों को २०–२० वर्ष का कारावास दिया गया। १९२० ई० तक इसने अपनी सामाजिक शक्ति खो दी। फिर भी संयुक्त राज्य, अमरीका, में कतिपय श्रमिक १९४९ ई० तक अपने उद्देश्यों के लिये उसी कार्यविधि से संघर्परत थे और इसकी स्थानीय शाखाएँ ग्रेट ब्रिटेन के कतिपय आस्ट्रेलियाई बंदरगाहों में विद्यमान थीं।

सामान्य धारणा के अनुसार विभिन्न देशों के श्रमिक अधिकतर संघाधिपत्यवाद तथा अराजकतावाद के सिद्धांत से प्रभावित होते रहते है। संघाधिपत्यवाद के सिद्धांत की प्रस्थापना सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी के अंत में फ्रांसीसी नेताओं द्वारा की गई थी, यद्यपि इसके कुछ चिह्न इसके पूर्व १८३३ ई० मे ग्रेट ब्रिटेन मे भी देखे गए थे। वस्तुतः इसका विकास फ्रांस के मजदूर वर्ग की उग्र संसद्‌विरोधी परंपरा से हुआ था। १८६९ ई० में बास्ले में हुई अंतरराष्ट्रीय श्रमिकों की कांग्रेस में एक फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने यह भविष्यवाणी की थी कि संघाधिपत्यवाद श्रमिकों तथा प्रबंधसंचालकों के संबंधों को और देशों की राजनीति को नियंत्रित करता रहेगा। सन् १८९० तक यह प्रवृत्ति यूरोपीय देशों में प्रबल रूप से विद्यमान थी। संयुक्त राज्य, अमरीका, में विश्व के औद्योगिक श्रमिकों का आंदोलन ठीक इसी के समान था। ग्रेट ब्रिटेन में श्रमिकगण संघाधिपत्यवाद और समाजवाद से एक साथ ही प्रभावित थे। बाद में संघाधिपत्यवाद का स्थान समाजवाद ने ले लिया। इटली में आज भी यत्र तत्र इसके प्रभाव मिलते है, यद्यपि स्पेन में यह स्वतंत्र रूप से अराजकतावाद से विकसित हुआ।

संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद का भारतीय श्रमिकों पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही है, क्योंकि इस देश में श्रमिक आंदोलन बहुत बाद में प्रारंभ हुआ। यद्यपि ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों के श्रमिक आंदोलनों ने इस देश के श्रमिक आंदोलन को प्रभावित किया, तथापि भारतीय श्रमिकों का प्रेरक सिद्धांत अंततः समाजवाद ही था। साम्यवाद का भी कुछ प्रभाव यहाँ पाया गया है, परंतु स्वतंत्र भारत के श्रमिकों को तथा देश के विकास को सरकार की ओर से जो महत्व प्रदान किया जा रहा है तथा समाजवादी समाजरचना के अंतर्गत औद्योगिक श्रमिकों के विविध हितों को जो पूर्ण संरक्षण प्राप्त है, उनके कारण यह अपना सामाजिक प्रभाव खोता जा रहा है।

सं०ग्रं०—जे० एस० गैब्स : द डिक्लाइन ऑव दि आई० डब्ल्यू० डब्ल्यू०, कोलंबिया युनिवर्सिटी, १९३२। (दु० च० स०)

औद्योगिक संबंध स्वामी और श्रमिक के निजी उद्देश्यों की भिन्नता ने औद्योगिक संबंधों की समस्या को जन्म दिया, जो अब विभिन्न देशों में होनेवाले औद्योगिक विकास के साथ अधिकाधिक जटिल होती जा रही हे। मानव कल्याण के प्रसाधन के रूप मे अब उद्योगों के सामाजिक उद्देश्य को भली भाँति स्वीकार कर लिया गया है। इसका अर्थ है, काम करने के लिये अधिक अनुकूल ऐसी अवस्थाओं का सृजन जिनके अंतर्गत उत्पादन को सुव्यवस्थित किया जा सके और उत्पादन के दो मुख्य प्रसाधनों, पूँजी और श्रम, के बीच होनेवाली क्रिया प्रतिक्रिया को सुविभाजित करने के लिये एक उपयुक्त सिद्धात बन सके। कारखानों की पुरानी व्यवस्था के अंतर्गत पूँजीपति श्रमिकों के साथ एक विक्रेय वस्तु की भाँति व्यवहार करते थे और वे पारिश्रमिक, काम के घंटों और नौकरी के प्रतिबंधों के लिये माँग एवं पूर्ति के नियम के अनुसार अनुशासित होते थे। आरंभ में तो श्रमिकों ने इसे टल जानेवाली विपत्ति समझा, किंतु बाद में उन्हें यह भान हुआ कि उनके ये दुःख प्रायः स्थायी से हो चले हैं। स्वामी के अधिकारक्षेत्र मे उनके सामाजिक एवं भौतिक अभाव दिन दूने रात चौगुने होते गए और इस प्रकार दोनो के संबंध इस ढंग के न रहे जिन्हें किसी भी प्रकार सद्भावनापूर्ण कहा जा सके। समस्या दिनों दिन उग्र रूप धारण करती गई। अब औद्योगिक संबंधों का अर्थ केवल स्वामी श्रमिक का संबंध ही नहीं रहा, अपितु वैयक्तिक संबंध, सह परामर्श, समितियों के संयुक्त लेन देन तथा इन संबंधों के निर्वाह कार्य में सरकार की भूमिका आदि सब कुछ है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—मध्ययुग में व्यापारों का क्षेत्र छोटा था तथा स्वामी एवं श्रमिक अधिक निकट संपर्क में थे। श्रमिक स्वामियों से पृथक् अपनी एक भिन्न जाति ही समझते थे। धीरे धीरे उन्हें बोध हुआ कि उनकी व्यक्तिगत शक्ति कितनी अल्प थी। फिर उनकी स्थिति में और भी पतन हुआ जिससे वे क्रीतदास के समान हो गए और अंततः स्वामी श्रमिक का संबंध इसी आधार पर स्थिर हुआ। उत्पादन कार्य में कारखानों की पद्धति प्रारंभ होने पर श्रमिक वर्ग ने अपना संघ स्थापित करना आरंभ किया। इस दिशा में सर्वप्रथम ब्रिटेन के श्रमिक १९वीं सदी में अग्रगामी सिद्ध हुए, यद्यपि उनके संघ १८२४ ई० तक गैरकानूनी माने जाते रहे और सन् १८५० तक उनपर कुछ न कुछ कानूनी प्रतिबंध लगा ही रहा। फिर भी, औद्योगिक संघटनों (ट्रेड यूनियन) के आंदोलन के विकास के साथ साथ संयुक्त मोल भाव की प्रणाली शक्तिशाली बनती गई, और आज यह प्रणाली न केवल ब्रिटेन में, वरन् विश्व भर के देशों में, औद्योगिक संबंधों को सुनिश्चित करने की मुख्य प्रणाली के रूप में व्यवहृत हो रही है। इन संघटनों (यूनियन) का महत्व इतने से ही समझा जा सकता है कि १९०० ई० से इन्होंने कुछ देशों की राजनीति पर भी अपना प्रभाव डालना आरंभ कर दिया और उनके वर्तमान एवं भविष्य को अधिकाधिक प्रभावित करने लगे।

औद्योगिक-श्रम-संघटनों का अंतरराष्ट्रीय संघ १९१९ ई० में स्थापित हुआ जिसमें ६० देशों के मालिकों, श्रमिकों एवं सरकारों के प्रतिनिधि संमिलित हुए। कुछ यूरोपीय देशों में मालिकों एवं श्रमिकों के संघटन सरकारी नियंत्रण में ले लिए गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद भी अधिकांश देशों की सरकारों ने अनेक मामलों में मालिकों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधियों से परामर्श ग्रहण किया। अब सामान्यतः सभी श्रमिक देश के लिये अपना महत्व समझने लगे हैं और यह भी जान गए हैं कि उनकी सुखसुविधा अंततः उत्पादन को विकसित करने पर ही अवलंबित है।

भारत में भी औद्योगिक श्रमिक वर्ग इन्हीं अवस्थाओं में से गुजरा और विपत्तियों का सामना करने को बाध्य हुआ। उस समय मालिक मजदूरों के बीच कटु मतभेदों के, जो प्रायः मद्रास, बंबई और अहमदाबाद जैसे बड़े औद्योगिक नगरों में हड़ताल का रूप भी ले लेते थे, होते हुए भी सरकार ने सदैव तटस्थ रहने की नीति अपनाई। यह स्थिति प्रथम महायुद्ध के अंत तक क्रमशः उग्र होती ही गई, क्योंकि श्रमिकों की आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत अधिक हो चली थीं और उनके सामूहिक जागरण के चिह्न प्रकट हो चले थे। जीवनयापन के उन्नत स्तर एवं बढ़ती हुई महँगाई की तुलना में भारतीय उद्योगों में पारिश्रमिक की दर बहुत कम पड़ रही थी। श्रमिकों ने उस प्रचुर लाभ में भी अपने भाग की माँग की जिसे उद्योगपतियों ने युद्धकाल में बटोरा था। इसी समय महात्मा गांधी राजनीति के क्षेत्र में आए। देश की बदलती राजनीतिक अवस्थाओं तथा 'अंतरराष्ट्रीय श्रम संघ' की स्थापना ने उन्हें अपने राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों के प्रति सजग कर दिया था। देश में श्रमसंघटनों की एक लहर आ गई थी और औद्योगिक कलहों के १९२८ ई० में आनेवाले दूसरे दौर तक हुई प्रायः सभी हड़तालों को इन्हीं के कारण सफलता मिल पाई थी। भारत सरकार ने इन सबसे विवश होकर औद्योगिक कलह अधिनियम १९१९ में पारित किया, जिससे ये झगड़े शीघ्र सुलझाए जा सकें। सन् १९३७ में प्रदेशीय शासन हस्तगत करने के बाद उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार ने श्रमिक वर्ग की ठीक दशा जानने के लिये एक जाँच कमेटी नियुक्त की तथा बंबई में १९३८ का 'औद्योगिक कलह अधिनियम' इसी उद्देश्य से पारित हुआ कि ऐसे झगड़ों को निबटाने के लिये एक स्थायी साधन सुरक्षित रहे। सन् १९३९ में पुनः युद्ध छिड़ने के बाद मजदूरों की मजदूरी एवं रहन सहन के खर्च के बीच की खाई चौड़ी होती गई। फलतः ऊँची मजदूरी और महँगाई भत्ते के लिये अनेक हड़तालें हुईं। इससे युद्धजनित पूर्ति का कार्य बाधित होने लगा और भारतरक्षा कानून, १९४२, के अंतर्गत कई पग उठाए गए जिनके कारण युद्धकाल में श्रमिकों को अनेक प्रकार के दुःख झेलने पड़े।

१९४७ में भारत ने परतंत्रता का जुआ उतार फेंका। राजनीतिक परिवर्तनों, मुद्रास्फीति की कठिनाइयों, बाजार में वस्तुओं की कमी तथा अन्य युद्धोत्तर प्रभावों का लाभ उठाते हुए कुछ राजनीतिक दलों ने औद्योगिक उपद्रवों को प्रोत्साहित किया। देश के अनेक राज्यों में हड़तालों की बाढ़ सी आ गई। तब १९४७ का औद्योगिक कलह अधिनियम पारित हुआ। इसमें उद्देश्य यह रखा गया कि श्रम समितियों, मेलमिलाप पदाधिकारियों तथा औद्योगिक न्यायालयों की नियुक्ति द्वारा इन झगड़ों का निपटारा करने के लिये एक स्थायी विभाग स्थापित हो। इसके सद्भावपूर्ण निर्णय कानूनी तौर पर लागू होते थे। इन औद्योगिक अदालतों के निर्णयों में एकरूपता लाने के लिये १९५० ई० के औद्योगिक कलह अपील न्यायालय अधिनियम द्वारा मामलों पर पुनर्विचार के लिये एक श्रमिक अपील न्यायालय स्थापित हुआ। कुछ कानूनी दोषों को दूर करने की दृष्टि से १९४७ ई० के अधिनियम को सन् १९५२ में संशोधित किया गया। १९५३ ई० में मजदूरों की छँटनी करने अथवा उनसे कम समय तक काम लेने के मामले में क्षतिपूर्ति देने के लिये पुनः संशोधन उपस्थित किया गया। सबसे महत्वपूर्ण और नवीनतम संशोधन है 'औद्योगिक कलह संशोधन तथा विविध व्यवस्था अधिनियम, १९५६ ई०।' इसके द्वारा 'श्रमजीवी' की परिभाषा ने विस्तार पाया और औद्योगिक न्याय ने अब श्रमिक न्यायालय, औद्योगिक न्यायालय तथा राष्ट्रीय न्यायिक निर्णयों का मिला जुला रूप धारण किया। औद्योगिक संबंधों की पूरी प्रक्रिया अब दो प्रमुख बातों के अंतर्गत आ गई, यद्यपि दोनों परस्पर सर्वथा पृथक् नहीं थे। साधारण भाषा में, पहली स्थिति को 'वैयक्तिक संबंध' माना गया जिसके अंतर्गत उद्योग में व्यक्ति के आधार पर होनेवाले संबंधों को लिया गया है तथा दूसरा 'सामूहिक संबंध' समझा गया जिसमें सामूहिक रूप से निर्वाह किए जानेवाले संबंधों का समावेश था। इस प्रकार व्यक्तिगत संबंधों की सीमा में कार्य संबंधी नाते, लोगों की अलग अलग व्यवस्था आदि रखे गए और सामूहिक मोल चाल, मालिकों एवं मजदूरों के संघों के पारस्परिक संबंध आदि श्रमजन्य संबंधों के क्षेत्र में।

मूल समस्या के इन दो पक्षों के अतिरिक्त सरकार का इन मामलों में भाग लेना भी एक प्रमुख घटना है। सरकार की भूमिका है मेलमिलाप के कार्यो द्वारा सद्भावनापूर्ण संबंध बनाए रखने में सहायता करना, मामलों को सुलझाने में पंच बनना और कारखाने के मजदूरों की कार्यगत दशाओं को सुधारते हुए उन्हें विधिवत् संचालित करना।

वैयक्तिक संबंध—वैयक्तिक आधार पर औद्योगिक सद्भावना स्थापित करने के लिये कुछ उद्योगों में कार्यसमितियाँ (वर्क्स कमिटी) स्थापित की गई। सन् १९४७ के औद्योगिक कलह अधिनियम के अंतर्गत ऐसी कार्यसमितियों को संघटित करने की छूट रखी गई जिनमें मालिकों और मजदूरों, दोनों के, प्रतिनिधियों की संख्या बराबर हो और कारखाने में कम से कम २०० श्रमिक कार्य करते हों। किंतु इन समितियों के प्रति मालिकों की भावना, एक सीमा तक मजदूरों की भावना भी, प्रतिकूल हो जाने के कारण इसे स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो गया। श्रमिकों के दुःखों के निवारण के लिये दूसरा उपाय कल्याण-अधिकारियों की संस्थापना के रूप में उपस्थित किया गया। इनकी नियुक्ति १९४८ के कारखाना अधिनियम के अनुसार विधिसंमत थी। अधिनियम में ५०० या अधिक श्रमिकोंवाले कारखानों में इनकी नियुक्ति का विधान था। यद्यपि सौंपे गए कार्य में सफलता प्राप्त कर लेना इनके लिये कठिन था, तथापि यह अब स्पष्ट हो चला है कि ये अधिकारी बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं और इन उद्योगों में औद्योगिक संबंधों की उल्लेखनीय प्रगति हुई है। कारखाने के मालिक एवं मजदूरों के संबंधों में वे परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं जिनके अंतर्गत मजदूर काम करते हैं। इनके लिये मुख्य विचारणीय विषय हैं उनके काम के घंटे, अधिक थकावट से रक्षा, काम करते समय वातावरण का अनुकूल होना (यथा यथेष्ट प्रकाश, स्वच्छ वायु, शोरगुल की कमी आदि)। ये सभी बातें १९४८ के कारखाना अधिनियम के अंतर्गत आती हैं। दूसरा विषय है श्रमिकों के साथ किए गए संचालकों के व्यवहार। ये संचालक मालिकों और श्रमिकों के बीच मध्यस्थ का सा काम करते हैं, परंतु साधारणतः अच्छी सूझबूझ या शिक्षावाले नहीं होते। इन्हें वैयक्तिक ईर्षा द्वेष से मुक्त होना चाहिए। कार्यकुशल, निर्णायक एवं नेतृत्व के गुणों से युक्त होना इनके लिये आवश्यक है, जिसमें काम करनेवालों के लिये ये उत्साहवर्धक सिद्ध हो सकें। यह सुझाव रखा जा चुका है कि संचालन विभाग के सदस्यों को उद्योग में अपेक्षित मानवीय संबंधों का प्रशिक्षण दिया जाया करे।

सामूहिक संबंध—संयुक्त मोल चाल की प्रणाली औद्योगिक-संबंध-स्थापन में अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा वेतन तथा नौकरी की शर्तें एक सौदे के समान तय की जाती हैं और ये ही मालिक एवं मजदूरों के संघों के बीच हुए समझौते का रूप ले लेती हैं। औद्योगिक संबंधों में संयुक्त मोल चाल की यह प्रणाली, श्रमिकों के पक्ष में अत्यंत सफल सिद्ध हुई है, विशेषतः उन जगहों पर जहाँ के श्रमसंघटन शक्तिशाली हैं। भारत में अहमदाबाद के मिल मालिकों के संघ और कपड़ा उद्योग श्रमिक संघ के बीच १९५५ में हुआ ऐसा समझौता, ताता आयरन ऐंड स्टील कंपनी एवं ताता श्रमिक संघ, जमशेदपुर, के बीच १९५६ में हुआ समझौता, भत्ते के मामले में बंबई मिल मालिक संघ एवं राष्ट्रीय मिल मजदूर संघ के बीच हुआ समझौता तथा कुछ अन्य मामले औद्योगिक सुख शांति के लिये उत्तरदायी रहे हैं।

सरकार का हस्तक्षेप—श्रम-व्यवस्था-जन्य संबंधों में रुचि रखनेवाले एक तीसरे दल के रूप में सरकार की भूमिका सर्वविदित है। औद्योगिक सहयोगों के परिणामस्वरूप हड़ताल तथा तालेबंदी हो जाना सामान्य घटनाएँ है, जिनके परिणाम होते हैं उत्पादन में ह्रास एवं बेरोजगारी। मेल कराना तथा मध्यस्थता करना, ये दो भूमिकाएँ इस मामले में सरकारी हस्तक्षेप के उदाहरण हैं जो औद्योगिक विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने मे सहायक होती है।

मेल स्थापित कराने में दोनों दलों के प्रतिनिधियों को एक तीसरे के संमुख इस विचार से उपस्थित होना पड़ता है कि वे आपस में बहस तथा विचारविनिमय करके किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें। भारत में १९४७ का औद्योगिक-विवाद-अधिनियम कुछ विशिष्ट प्रकार के विवादों में मेल अनिवार्य बताता है। भारत मे इस मेल स्थापित कराने की एक संकुचित सीमा हो चली है जिससे यह दोषपूर्ण हो चला है। मेल-मिलाप-अधिकारी अपने को निर्णायक समझने लगते हैं और विवादों मे अपने निर्णय का एहसान बाँटने को तैयार हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि मालिकों एवं मजदूरों के बीच वे एक कड़ी मात्र है जिसका काम किसी विशेष मामले में दोनों पक्षों को परस्पर ठीक ठीक समझने में सहायता देना है।

मध्यस्थता की रीति वह रीति है जिसके अंतर्गत किसी विवादग्रस्त मामले का हल ढूंढ़ने के लिये दोनों पक्षों द्वारा एक तीसरे पक्ष के संमुख अपनी समस्याएँ उपस्थित की जाती हैं। यह वैकल्पिक भी हो सकती है, अनिवार्य भी। भारत में द्वितीय महायुद्ध काल में और बाद को १९४७ के औद्योगिक कलह नियम के दौरान में मेल स्थापन के लिये अध्यादेश (आर्डिनेंसेज) जारी किए गए। बाद के वर्षों मे अधिनियमों को पुनः संशोधित किया गया जिससे उनकी त्रुटियों के शोधन की व्यवस्था की जा सके। सन् १९५६ के औद्योगिक कलह (संशोधन एवं विविध समस्याएँ) अधिनियम के द्वारा मेल स्थापन की मध्यस्थता का पूरा ढाँचा श्रम न्यायालयों, औद्योगिक पंचायतों एवं राष्ट्रीय पंचायतों में विभाजित कर दिया गया। ये सभी विभाग किसी भी विचाराधीन मामले से संबद्ध किसी भी दल अथवा गवाह को विचार कार्य के सहायतार्थ बुलाने के अधिकारी थे।

औद्योगिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप के कारण मिल मजदूरों के वेतन निर्धारण विषयक समस्या का जन्म हुआ। यह देखा जाता है कि जिन उद्योगकेंद्रों में वेतन की व्यवस्था है वहाँ अच्छा औद्योगिक सौहार्द रहता है। मजदूरों के लिये न्यूनतम-वेतन-निर्धारण के सरकारी आश्वासन ने वेतन-निर्धारण-समिति (फ़ेयर वेजेज कमिटी) का रूप लिया। यह १९४७ के 'औद्योगिक संधिप्रस्ताव' का ही परिणाम थी। समिति ने उचित वेतन के सुझाव के अतिरिक्त इस विषय में एक विधान निर्मित करने का भी सुझाव दिया। संसद् का अधिवेशन स्थगित हो जाने के कारण सन् १९४८ का उचित-वेतन-विधेयक यों ही रह गया। तथापि १९४८ का न्यूनतम-वेतन-अधिनियम सरकार को किसी भी उद्योग के लिये न्यूनतम वेतन-निर्धारण का अधिकार देता है और वेतन के निर्धारण एवं संशोधनार्थ एक त्रिदलीय विभाग स्थापित करने की छूट भी देता है। वेतन के अतिरिक्त लाभ में श्रमिकों को हिस्सा मिलने की योजनाओं के कार्यान्वयन पर सरकार पूरी चौकसी रख रही है और श्रमिक संघों के साथ उन प्रवंध-व्यवस्थाओं में भी, जो कुछ उद्योगों के साथ निर्धारित हैं, अपने कर्तव्य के प्रति सचेष्ट है।

अंत में, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि औद्योगिक शांतिस्थापन का कार्य पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में, जिनके द्वारा भारत अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के लिये उद्युक्त है, अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। औद्योगिक संबंधों में किसी भी प्रकार की असद्भावना हमारे उद्देश्यों को चौपट कर पंचवर्षीय योजनाओं को असफलता के गढ़े में ढकेल सकती है।

सं०ग्रं०—ब्रिटिश मिनिस्ट्री ऑव लेबर : इंडस्ट्रियल रिलेशन्स हैंडबुक; आर० एफ़० ट्रेगोल्ड : ह्यमैन रिलेशन्स इन मॉडर्न इंडस्ट्री (१९४९); सी० एच० नॉर्थकॉट : परसॉनेल मैनेजमेंट (१९५०); के० जी० जे० नोल्स : स्ट्राइक्स—ए स्टडी इन इंडस्ट्रियल कॉनफ़्लिक्ट (१९५२); एस० डी० पुनेकर : इंडस्ट्रियल पीस इन इंडिया (बंबई, १९५२)।

(दु० च० स०)

औद्योगिक स्वास्थ्य विज्ञान मानव स्वास्थ्य विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि इसके द्वारा जनता के एक बहुत बड़े श्रम-जीवी भाग क स्वास्थ्य, कल्याण और मानव अधिकारों की रक्षा होती है। मशीनों के आविष्कार से उत्पन्न औद्योगिक क्रांति के पश्चात् बहुत से उद्योग धंधे पनपने लगे, परंतु उनके फलस्वरूप समाज मे जो अव्यवस्था आई उसकी ओर तत्काल ध्यान न देने के कारण उद्योगपतियो तथा श्रमिकों के दो परस्पर विरोधी वर्ग बन गए, जिनमे प्रायः सघर्ष होता रहता है। श्रमिक वर्ग की निर्धनताजन्य विवशता से अनुचित लाभ उठाकर धनलोलुप उद्योगपतियों ने अपने आपको अत्यधिक सपन्न बना लिया और श्रमिकों का शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक पतन होता गया जिसके कारण वे भारवाही पशुवत् जीवन व्यतीत करने लगे।

दुर्गंध धूलि, धूम्र और प्रधूम (फ़्यूम्स) युक्त दूषित संवातन (वेंटिलेशन), अपर्याप्त प्रकाश, अत्यधिक शीत, ताप या आर्द्रता, जनसंकुल (ओवरक्राउडेड) कोलाहलपूर्ण कार्यस्थल, अपर्याप्त भोजन, विश्राम का अभाव, श्रांति (फ़ैटीग), क्लांति (स्ट्रेन) और दिन रात का घोर कष्ट-दायक परिश्रम, अल्पतम वेतन या मजदूरी, गंदी बस्तियो मे असुविधापूर्ण आवास, शिक्षा, चिकित्सा, सामाजिक न्याय और सुरक्षा का अभाव, आकस्मिक दुर्घटनाओं का बाहुल्य आदि के कारण श्रमिकों का जीवन साधारणतः दूभर रहता है। प्रति वर्ष अगणित ग्रामीण अपना परंपरागत कृषि कार्य और कुटीर उद्योग छोड़ बड़े उद्योगों मे कार्य करने के लिये नगरों की गंदी बस्तियों मे आ बसते है और कारखानो मे अविराम परिश्रम कर अपना स्वास्थ्य गँवा देते हैं।

सन् १९७२ ई० मे भारत में १,८०,००,००० व्यक्ति उत्पादक उद्योगों में काम कर रहे थे। १९७३–७४ में उक्त संख्या में और भी वृद्धि हुई है। अतः इतने व्यक्तियों के स्वास्थ्य तथा कल्याण के प्रति उदासीन रहना नैतिक अपराध है। भारत में अनेक निरोधसाध्य (प्रिवेंटिबिल) रोगों का नियंत्रण नही हो पाया, इस कारण श्रमिकों को रोगग्रस्त होने पर अपने धंधे से छुट्टी लेनी पड़ती है, जिससे उन्हें स्वास्थ्य के साथ ही वेतन की हानि भी भुगतनी पड़ती है। निरोधसाध्य रोगों के कारण उद्योग धंधों मे श्रमिकों की अनुपस्थिति कल कारखानों की दुर्घटनाओं के कारण होने-वाली अनुपस्थिति से कई गुनी अधिक है। मलेरिया, काला आजार आदि समष्टिगत रोगों (मास डिसीजेज) के रोगियो की सख्या में पहले की अपेक्षा अब बहुत कमी हो गई है। आंत्रिक ज्वर (एंटेरिक फ़ीवर), प्लूरिसी, अतिसार, ज्वर, आमाशय व्रण (पेप्टिक अल्सर) श्रमिकों की अल्पकालीन अनुपस्थिति के मुख्य कारण हैं। दीर्घकालीन अनुपस्थिति क्षय, श्वास तथा कुष्ठ रोग के कारण होती है। व्यावसायिक रोगों में त्वचा तथा श्वास के रोगों का बाहुल्य है। क्षय रोग मुख्यतः नगरों में अत्यधिक फैला हुआ है। ट्यूबरक्युलीन परीक्षा से ज्ञात होता है कि भारत की लगभग आधी जनता क्षयरोग के संक्रमण (इन्फ़ेक्शन) से प्रभावित है। प्रति वर्ष इस रोग से प्रति सहस्र पाँच नए रोगी पीड़ित होते है। पूर्ण तथा अल्प बेकारी (अनएंप्लायमेंट ऐंड अंडर-एंप्लायमेंट) इतनी अधिक है कि एक श्रमिक की रोगजन्य अनुपस्थिति की दशा मे पचास अन्य श्रमिक प्राप्त हो सकते हैं। छोटे छोटे उद्योगों में धनाभाव के कारण श्रमिकों के स्वास्थ्य तथा कल्याण के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता। सामाजिक सुरक्षा का लाभ केवल कुछ लाख श्रमिकों को ही प्राप्त है। श्रमिकों के हितार्थ कर्मचारी सरकारी बीमा अधिनियम के अतर्गत जो धन देना पड़ता है उसे देकर उद्योगपतियों की यही धारणा है कि श्रमिकों के हितार्थ अब उनका कोई कर्तव्य शेष नही रहा। जो कुछ करना है वह इस अधिनियम के अनुसार स्थापित निगम को ही करना है। इस प्रकार की स्थिति भयावह है।

इन कष्टदायक और संकटापन्न परिस्थितियों में काम करनेवाले श्रमिकों की रक्षा के हेतु फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत फैक्टरियों के मुख्य निरीक्षक के अधीन सरकारी निरीक्षक, प्रमाणपत्रदाता सर्जन आदि नियुक्त किए गए है जो श्रमिकों को नाना प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कराते है और उनकी सुरक्षा एवं कल्याण संबंधी नियमों का पालन कराते है। पूरे १४ वर्ष से कम आयुवाले बालकों को किसी भी कार्य पर नही नियुक्त किया जा

सकता। १८ वर्ष पूरा कर चुकनेवाले वयस्क श्रमिक कहलाते हैं, इससे कम अवस्था के किशोर श्रमिक कहलाते हैं। किशोर श्रमिकों को शारीरिक स्वस्थता का प्रमाणपत्र प्राप्त करना होता है और एक बिल्ला धारण करना पड़ता है। कोई भी वयस्क श्रमिक सप्ताह में ४८ घंटे से अधिक और एक दिन में साधारणतया ६ घंटे से अधिक समय के लिये काम पर नहीं लगाया जा सकता। सप्ताह में एक दिन की पूरी छुट्टी और प्रति दिन अधिक से अधिक पाँच घंटे तक काम कर चुकने पर कम से कम आधे घंटे का विश्राम दिया जाता है। धूलि, धूम्र, प्रधूम तथा अत्यधिक शीतोष्णता और आर्द्रता आदि का समुचित प्रबंध कर परिवेश स्वास्थ्यानुकूल और सुविधापूर्ण बनाया जाता है। प्रकाश, संवातन (वेंटिलेशन) और जनसकुलता संबंधी नियमों का पालन करना पड़ता है। हानि-लाभ-रहित लागत मूल्य पर जलपान, चाय, दूध, शर्बत, मिठाई, नमकीन, चबैना आदि खाद्य और पेय पदार्थों का प्रबंध किया जाता है। बड़ी फैक्टरियों में महिला श्रमिकों के दूध पीते बालकों के लिये उपचारिकाओं (नर्सों) की देख रेख में उपचार गृह चलाए जाते हैं और ऐसे बालकों को दूध पिलाने के लिये श्रमिक माताओं को समय समय पर छुट्टी दी जाती है। समुचित वेतन, सवेतन छुट्टियाँ तथा अन्य सुविधाएँ भी श्रमिकों को दी गई हैं।

आकस्मिक दुर्घटनाओं और उद्योगजन्य व्यावसायिक रोगों की रोकथाम तथा चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है। स्वास्थ्य संरक्षण के हेतु प्राथमिक चिकित्सा (फ़र्स्ट एड) और शारीरिक स्वच्छता के हेतु स्नानागार और शौचालय स्थापित किए जाते हैं। स्त्रियों तथा किशोर श्रमिकों के लिये विशेष प्रकार के आपज्जनक कार्य वर्जित हैं। विभिन्न प्रकार के उद्योगों के लिये और मुख्य व्यावसायिक रोगों के लिये विशेष प्रतिबंध लगाए गए हैं। रासायनिक पदार्थों का निरापद रीति से उपयोग करना अनिवार्य है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (एंप्लॉयीज स्टेट इन्श्योरेन्स ऐक्ट) के अंतर्गत रोगावस्था, जरावस्था, अकाल मृत्यु, अपंगता आदि की दशा में चिकित्सा, आर्थिक सहायता या छुट्टी की व्यवस्था है। स्त्रियों के लिये मातृत्व सहायता के रूप में प्रसव के छह सप्ताह पूर्व से लेकर छह सप्ताह पश्चात् तक तीन मास की छुट्टी और धन की सहायता मिलती है, रोगावस्था में सबकी चिकित्सा की जाती है। इस कार्य का संचालन एक निगम द्वारा किया जाता है। कर्मचारीगण, उद्योगपति, राज्य सरकारें तथा केंद्र सरकार इस नियम को चलाने के लिये नियमानुसार आर्थिक योग देती हैं। श्रमिकों को अपने वेतन से आय के अनुसार कटौती करानी पड़ती है। ४०० रुपए मासिक से कम आयवाले श्रमिकों को ही ये हितलाभ (बेनिफ़िट) प्राप्त हैं। जिस स्थान में कर्मचारी सरकारी बीमा योजना अभी चालू नहीं की जा सकी है वहाँ कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम (वर्कमेन्स कंपेन्सेशन ऐक्ट) के अंतर्गत श्रमिकों का कारखाने में काम करने से अंगभंग, अशक्तता अथवा मृत्यु होने पर श्रमिकों या उनके परिवार के सदस्यों को आर्थिक सहायता मिलने की व्यवस्था है।

दुर्बल और असंतुष्ट श्रमिकों द्वारा किया गया उत्पादन कार्य निम्न कोटि का और मात्रा में कम होता है। उनकी कार्यक्षमता कम होने से उत्पादन कार्य पूर्ण रूप से लाभदायक नहीं होता। श्रमिकों की दशा सुधारने से उद्योगपतियों को भी लाभ होता है। भारत में उद्योग धंधों का श्रीगणेश संतोषजनक ढंग से नहीं हुआ। पश्चिमी देशों ने गत शताब्दी में जो भूलें की उनसे बचने का प्रयास नहीं किया गया। इस कारण कानपुर, अहमदाबाद, बंबई, कलकत्ता आदि में श्रमिकों की दशा अत्यंत शोचनीय हो गई थी। परंतु अब सरकार इस ओर जागरूक है और उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के परस्पर संबंध सुधारते हुए, बहुमुखी कल्याणकारी योजनाओं द्वारा श्रमिक, उद्योगपति तथा उपभोक्ताओं के हितों में सामंजस्य स्थापित कर, नए नए उद्योग चालू करने में सभी प्रकार की सहायता देती है।

मुख्य कार्य तो श्रमिकों तथा उनके परिवार को गंदी बस्तियों से निकालकर स्वच्छ परिवेश (एन्वाइरन्मेंट) में स्वास्थ्यप्रद आवासों में बसाने का है। इनके साथ ही उनकी आर्थिक दशा सुधार कर और उनकी व्यवसाय संबंधी कठिनाइयों को दूर कर उनको अधिक कार्यकुशल बनाना है। मालिक-श्रमिक-संघर्ष को शांतिपूर्ण और न्यायोचित ढंग से दूर कर परस्पर सद्भावपूर्ण सहयोग उत्पन्न करना है जिससे नए नए उद्योग धंधे चालू कर उत्पादन बढ़ाया जा सके और व्यापक बेकारी दूर की जा सके। सामाजिक न्याय तथा सुरक्षा संबंधी मान्यताओं के आधार पर श्रमनीति निर्धारित करनी चाहिए। कृषि, कुटीर और बड़े उद्योगों में समन्वय स्थापित कर, खाद्य और अन्य आवश्यक पदार्थों का उत्पादन बढ़ाकर देश को आत्मनिर्भर बनाने की ओर सबको कटिबद्ध होना चाहिए। श्रमिकों के कल्याण द्वारा ही नवभारत का निर्माण संभव है।

औद्योगिक स्वास्थ्यसुधार श्रमकल्याण का महत्वपूर्ण अंग है। श्रमकल्याण से ही स्वास्थ्य में सुधार होता है, उत्पादन बढ़ता है और श्रमिकों का जीवनस्तर उन्नत होता है। फैक्टरी अधिनियम (१९४८), न्यूनतम वेतन अधिनियम (१९४८), बागान श्रम अधिनियम (१९५१), उत्तर प्रदेश वाणिज्य प्रतिष्ठान अधिनियम (१९४१), औद्योगिक विवाद अधिनियम (१९४७), श्रमजीवी पत्रकार अधिनियम (१९५५), कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, कर्मचारी प्राविडेंट फ़ंड अधिनियम (१९५२), चीनी एवं चालक मद्यसार अधिनियम (१९५१), औद्योगिक आवास अधिनियम (१९५५), आदि अधिनियमों को गत कुछ ही वर्षों में जारी कर उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिकों के कल्याण की ओर बड़ी तत्परता से कार्य हो रहा है।

सं०ग्रं०—राज़िनोज : प्रिवेंटिव मेडिसिन ऐंड हाइजीन।

(भ० श० या०)

औयलर ल्योनार्ड औयलर (ऑयलर, Leonhard Enler) (१७०७ ई०–१७८३ ई०) स्विस गणितज्ञ का जन्म बाज़ेल (Basel) में १५ अगस्त, १७०७ ई० को हुआ था। ये गणितज्ञ जोहन बेर्नूली के प्रिय शिष्य थे। इनके मुख्य ग्रंथ निम्नलिखित हैं :

१. 'ऐंत्रोदयुक्स्यो इन अनालिसिन इन्फिनितोरुम' (Introductio in analysin infinitorum १७४८ ई०), जिसने वैश्लेपिक-गणित-संसार में क्रांति मचा दी। इसमें इन्होंने फलन की परिभाषा दी और त्रिकोणमिति को विश्लेषण की एक शाखा एवं त्रिकोणमितीय मानों की निष्पत्ति को अवधारित किया।

२. 'इंस्तित्युस्योनिस कालकूली दिफ़रेंस्यालिस' (Institutiones calculi differentialis) (१७५५ ई०) और 'इंस्तित्युस्योनिस कालकूलि इंतेग्रालिस (Institutiones calculi inte ra'is १७६८–१७७० ई०)—इन ग्रंथों में उस समय तक ज्ञात समस्त कलन और बीटा एवं गामा फलनों तथा लेखक के कुछ अन्य अन्वेषणों का वर्णन है।

३. 'मिथोदुस इन्वेनियेंदि लिनेआस कुरवास माक्सीमी मिनिमीवे प्रोप्रियेताते गौदेंतिस' (Methodus inveniendi lineas curvas maximi minimive proprietate gaudentes, १७४४ ई०)। इसमें इनके परिणामन-कलन के अन्वेषणों का वर्णन है।

४. 'थेओरिया मोतुउम प्लानेतारुम एत कोमेतारुम' (Theoria motuum planetarum et cometarum १७४४ ई०), 'थेओरिया मोतुस लुनी' (Theoria motus lunae, १७५३ ई०) और 'थेओरिया मोतुउम लुनी' (Theoria motuum lunae, १७२२ ई०)—इनमें खगोलशास्त्र का विवेचन है।

५. 'से लेत्रआ ऊन प्रेंसेस दालमाञ्ञ् सुर केल्के सूजे द फिजीक ए द फ़िलोज़ोफ़ी' (Ses lettres a' une princesse d' Allemagne sur quelques sujets de Physique et de Philosophie १७७० ई०)—इसमें दिए गए मौलिक एवं महत्वपूर्ण अन्वेषणों के कारण ऑयलर को बहुत ख्याति प्राप्त हुई।

गणित के संकेतों को भी ऑयलर की देन अपूर्व है। इन्होंने संकेतों में अनेक संशोधन करके त्रिकोणमितीय सूत्रों को क्रमबद्ध किया। १७३४ ई० में ऑयलर ने x के किसी फलन के लिये $f(x)$, १७२८ ई० में लघुगणकों के प्राकृत आधार के लिये e, १७५० ई० में अर्ध-परिमिति के लिये s, १७५५ ई० में योग के लिये $\sum$ और १७७७ ई० में $\sqrt{-1}$ के लिये i संकेतों का प्रचलन किया।

१७६६ ई० में ये अंधे हो गए, परंतु मृत्यु पर्यंत (१८ सितंबर, १७८३ ई०) शोधकार्य में संलग्न रहे। (रा० कु०)

औरंगजेब (आलमगीर प्रथम) अबुलजफर मुहिउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब मुगल सम्राट् शाहजहाँ का छठा संतान और तीसरा बेटा था। रविवार, २४ अक्टूबर, सन् १६१८, ई० (१५ जीकादा, १०२७ हि०) को दाहद में उसका जन्म हुआ था, जो महाराष्ट्र राज्य के पंचमहाल तालुके में है। शाहजहाँ इस समय मलिक अंबर के बलवे का दमन करने के लिये दकन गया हुआ था। औरंगजेब की माता मुमताज महल नूरजहाँ के भाई आसफ खाँ की बेटी थी।

इस घटना के कुछ ही समय बाद मुगल दरबार की राजनीति ने पलटा खाया और शाहजहाँ ने १६२२ में अपने पिता सम्राट् जहाँगीर के विरुद्ध बलवे का झंडा खड़ा कर दिया। इस संघर्ष में शाहजहाँ परास्त हुआ और उसे अपने दो बेटों, दारा और औरंगजेब को १६२६ में जहाँगीर के पास लाहौर में बंधक रखना पड़ा। वहाँ पर लगभग डेढ़ बरस रहने के बाद औरंगजेब दारा सहित फरवरी, १६२८ में, अपने पिता के पास आगरे आया। जहाँगीर की अक्टूबर, १६२७ में मृत्यु हो गई थी और शाहजहाँ राजगद्दी पर बैठ चुका था। इस समय मीरमुहम्मद हाशिम गीलानी के द्वारा औरंगजेब की शिक्षा आरंभ हुई। शुरू से ही उसने बड़ी तीव्र बुद्धि का परिचय दिया किंतु उसे कुरानी तथा अन्य इस्लामी साहित्य के सिवा और किसी विद्या में रुचि न थी। वास्तु, शिल्प, चित्रकारी, काव्य, संगीत आदि कलाओं से उसे अरुचि ही नहीं, घृणा थी, क्योंकि वह इन सबको इस्लाम का विरोधी समझता था।

औरंगजेब की योग्यता—औरंगजेब अत्यंत साहसी, वीर तथा योद्धा था। १६३३ में, जब वह केवल १५ बरस का था, उसने एक बौराए मस्त हाथी का इतने अविचल भाव तथा निर्भीकता से सामना किया था कि शाहजहाँ तथा सब दरबारी चकित रह गए थे। १६ बरस की उम्र में सम्राट् ने उसे १० हजारी मंसबदार बनाया और जुझार सिंह बुंदेले का दमन करने के लिये भेजा। यहीं से उसकी सैनिक शिक्षा आरंभ हुई। १६३६ के मध्य से १६४४ तक वह दकन का सूबेदार रहा। इस सूबे का शासन उसने बड़ी योग्यता से किया। १६४५ में वह गुजरात का सूबेदार बना। अपने सुप्रबंध के लिये उसे बड़ी प्रशंसा प्राप्त हुई। इसके बाद उसे बलख और बदखशाँ की चढ़ाई पर भेजा गया। इस सुदूर तथा शीतग्रस्त, बीहड़ प्रदेश में, जहाँ के दुर्धर्ष सैनिकों से लोहा लेना अत्यंत कठिन कार्य था, औरंगजेब ने ऐसी वीरता तथा अनुपम धैर्य का परिचय दिया कि उसकी ख्याति मुस्लिम जगत् में फैल गई। दोनों दलों में जब घमासान युद्ध हो रहा था, औरंगजेब अपने हाथी से उतरा और बड़ी शांति तथा निश्चित भाव से नमाज पढ़ने लगा। जब यह बात शत्रु पक्ष के सुलतान ने सुनी तब उसने कहा कि ऐसे मनुष्य से लड़ाई करना अपनी मौत बुलाना है। उसने तुरंत लड़ाई बंद कर दी।

१६५२ के अगस्त मास में औरंगजेब दुबारा दकन का सूबेदार नियुक्त हुआ। इस पद पर वह छह बरस तक रहा। इस अवकाश में एक सुयोग्य अर्थमंत्री, मुर्शिद कुली खाँ की सहायता से उसने बरसों की लड़ाइयों से उजड़े हुए दकन प्रदेश का उद्धार एवं पुनर्निर्माण किया। अनेक कठिनाइयों तथा अड़चनों का सामना करते हुए उसने इस कार्य को बड़ी तत्परता से संपन्न किया। दकन की सूबेदारी के ये छह बरस औरंगजेब के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण एवं लाभकारी सिद्ध हुए। राजकाज तथा सैनिक नीति आदि का जो अनुभव इस अवसर से उसे प्राप्त हुआ वह भविष्य में उसके लिये बहुत हितकर सिद्ध हुआ।

राजगद्दी के लिये संघर्ष—१६५८ में शाहजहाँ की कष्टसाध्य बीमारी की सूचना पाते ही औरंगजेब यथाशक्य सेना एकत्रित कर राजगद्दी के लिये अपने भाइयों से संघर्ष करने को उत्तर की ओर रवाना हुआ। जून, १६५८ में दारा को परास्त कर उसने आगरे पर अधिकार किया और अपने पिता सम्राट् शाहजहाँ को किले में बंदी कर दिया। तदनंतर अपने छोटे भाई मुराद को घोर कपट एवं विश्वासघातपूर्वक मरवाकर वह दिल्ली पहुँचा और वहाँ बड़े समारोह से सिंहासनारूढ़ हुआ। एक बरस बाद उसने अपना राज्याभिषेकोत्सव दुबारा मनाया।

शासन का पूर्वार्ध—औरंगजेब ने पूरे ५० बरस राज किया। उसके राज्यकाल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले २५ बरस वह उत्तर भारत में रहा। इसमें उसने साम्राज्य की नीति में मौलिक परिवर्तन किए और दक्षिण एवं उत्तर पश्चिम की रक्षा की गहन समस्याओं का समाधान करने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही साम्राज्य का विस्तार दक्षिण की ओर करने के प्रयास में उसने कोई कसर न की। इसके अतिरिक्त उसने पतनोन्मुख मुसलमान जाति का पुनरुत्थान करने के हेतु तथा अपने संकीर्ण धार्मिक विचारों को क्रियात्मक रूप देने के लिये हिंदुओं के प्रति अत्याचार एवं अन्याय की नीति का अनुसरण किया। उसने हिंदू धर्मस्थानों को ध्वस्त किया और जजिया आदि अनेक अन्यायपूर्ण कर हिंदुओं पर लगाए। इस प्रकार भेदभाव की नीति से तथा अनेक प्रलोभनों के द्वारा उसने हिंदुओं को मुसलमान बनाने का भरसक प्रयत्न किया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य में असंतोष की ऐसी आग भड़क उठी जिसे वह जीवनभर अपनी समस्त शक्ति लगाकर दबाने का प्रयत्न करता रहा किंतु सफल न हुआ। उत्तर में सबसे भयानक विद्रोह उन्हीं राजपूतों का हुआ जो अकबर महान् के समय से ही साम्राज्य के स्तंभ रहे थे।

शासन का उत्तरार्ध—उसके शासनकाल का उत्तरार्ध १६८१ से आरंभ होता है, जब राजपूतों के साथ जल्दी से समझौता कर, औरंगजेब दकन पहुँचा। यहीं पर मराठे सैनिकों की छापामार टुकड़ियों के साथ संघर्ष करते करते अंत समय में अपने कर्मों पर पश्चात्ताप करता हुआ ८९ बरस की आयु में यह मुगल सम्राट् औरंगाबाद में परलोक सिधारा।

मराठों से संघर्ष—शिवाजी की मृत्यु के बाद अपने संकल्पों की पूर्ति का सुअवसर समझकर औरंगजेब दकन गया था। लगभग आठ बरस के सतत संग्राम के बाद गोलकुंडा और बीजापुर की मृतप्राय रियासतों को जीतकर उसने साम्राज्य में संमिलित कर लिया और १६८९ में शिवाजी के अयोग्य एवं विलासी पुत्र शंभाजी का वध कर मराठा राज्य का भी बहुत सा भाग हस्तगत कर लिया। किंतु मराठा जाति इससे दबनेवाली न थी। तेज आँधी में जिस प्रकार जंगल की आग देखते देखते फैलकर चारों ओर सबको भस्म करने लगती है, उसी प्रकार मराठा सैनिकों ने सम्राट् की महाकाय सेना को नष्ट करना आरंभ किया। इसका प्रतिकार औरंगजेब के बस का न था। मराठा जाति की उठती हुई बाढ़ में मुगल साम्राज्य का सारा वैभव बह गया। साम्राज्य का अपूर्व विस्तार तो हुआ पर उसकी जड़ें पहले ही खोखली हो चुकी थीं; वह स्वयं अपने बोझ के नीचे ही दबकर सम्राट् की आँख बंद होते ही छिन्न भिन्न होने लगा।

चरित्र—औरंगजेब संसार के महान् सम्राटों में था। उसमें योग्य राजा, शासक तथा सैनिक के गुण विपुल मात्रा में विद्यमान थे। उसका निजी चरित्र पवित्र था और वह यथाशक्ति इस्लाम की शिक्षाओं का पालन करता था। रहन सहन भी उसकी सादी थी। वह अत्यंत परिश्रमी, कार्यकुशल, तीव्रबुद्धि तथा विद्वान् था। मुगल सम्राटों में वह सबसे अधिक आयुष्मान् हुआ। किंतु उसकी संकीर्ण नीति, संकुचित सांप्रदायिक दृष्टि तथा अदूरदर्शी राजनीति ने उसके सब गुणों पर पानी फेर दिया और अंत में उसके साम्राज्य को नष्ट कर दिया।

परिवार—औरंगजेब ने दो विवाह किए थे और चार कनीजों को भी रखा था। उसके पाँच बेटे और चार बेटियाँ हुईं।

सं०ग्रं०—यदुनाथ सरकार : ए ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑव औरंगजेब (१९३०); यदुनाथ सरकार : एनेक्डोट्स ऑव औरंगजेब (१९१२); एन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम। (प० श०)

औरंगाबाद महाराष्ट्र राज्य के मराठवाड़ा क्षेत्र का प्रमुख नगर है। यह राज्यपुनर्गठन के पूर्व हैदराबाद राज्य में था। यह गोदावरी नदी की सहायक डुडना नदी के पास १९° ५३′ उ० अ० एवं ७५° २३′ पू० दे० पर स्थित, पूना से १३८ मील, हैदराबाद से २७० मील और बंबई से रेलमार्ग द्वारा ४३५ मील दूर है। यह अपने ही नाम के जिले का मुख्यालय है। १९६१ ई० के अंत में इस नगर की जनसंख्या ८७,५७९ थी।

यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर सन् १६१० ई० में फतेहनगर के नाम से बसाया गया था। शाहजहाँ के शासनकाल में दक्षिण की सूबेदारी करते समय औरंगजेब ने इसे अपनी राजधानी बनाया और इसका नाम औरंगाबाद रखा। मुगल साम्राज्य के अंतर्गत यह सेना का बड़ा केंद्र था। यहाँ कई ऐतिहासिक इमारतें देखने योग्य हैं, जिनमें औरंगजेब की पत्नी का मकबरा, जिसकी तुलना ताजमहल से की जा सकती है, मुख्य है। इस जिले में अजंता और एलोरा की गुफाएँ एवं दौलताबाद का किला है, जिन्हें देखने का इस शहर से अच्छा प्रबंध है।

मनमाड से सिकंदराबाद जानेवाली मध्य रेलवे (मीटर गेज) की शाखा पर इसका प्रमुख स्टेशन मनमाड से ७० मील दूर है। धूलिया से शोलापुर जानेवाली मुख्य सड़क यहाँ से होकर जाती है।

यहाँ कई कालेज हैं तथा यह मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का प्रधान कार्यालय है। यहाँ सूत कातने और कपड़ा बुनने की मिल है, जिसका नाम औरंगाबाद मिल्स लिमिटेड है। यह नगर निकटवर्ती क्षेत्र का व्यापारकेंद्र है। (ल० कि० सिं० चौ०)

औरलेंआँ फ्रांस का एक मुख्य नगर है तथा पेरिस से ७७ मील दक्षिण-पश्चिम में ल्वार नदी पर बसा हुआ है। इसके एक मील उत्तर फ्रांस के मुख्य रेलमार्गों का एक केंद्र ला ओरें है। यहाँ के उद्योग धंधों में तंबाकू तैयार करना, कंबल बुनना, कृषि संबंधी तथा अन्य यंत्रों और लोहे के बर्तनों का निर्माण तथा सुरक्षित डिब्बों में बंद फलों का काम मुख्य हैं। यहाँ मदिरा, ऊन, अनाज तथा पशुपक्षियों का वाणिज्य होता है। सन् १९६८ ई० में यहाँ की जनसंख्या ९५,८२८ थी। (वि० चं० मि०)

ओरलैंडो संयुक्त राज्य, अमरीका, के फ़्लोरिडा राज्य का सबसे बड़ा अंतर्देशस्थ नगर है। यह नगर संघ राजपथ पर स्थित है: यहाँ से ऐटलांटिक कोस्ट लाइन तथा सीबोर्ड एयर लाइन नामक रेलपथ गुजरते हैं। फल उगानेवाले क्षेत्र के मध्य भाग में यह नगर बसा हुआ है। इस नगर में अनेक झीलें और उद्यान हैं जो दर्शकों के आकर्षण के केंद्र हैं। इस नगर की स्थापना १८४३ ई० में हुई थी और प्रारंभ में इसका नाम जर्नीगन था। सन् १९७० ई० में इसकी जनसंख्या ९९,००६ थी। (वि० चं० मि०)

औरेस अफ्रीका के उत्तर पश्चिम में स्थित एक पर्वतीय क्षेत्र है। अल्जीरिया के पूर्वी भाग में टेलऐटलस और सहारा की ऐटलस पर्वतश्रेणियों का जहाँ संधिस्थल है, उस पर्वतीय क्षेत्र को औरेस कहते हैं। दोनों पर्वतमालाओं के मिल जाने से ऊँचाई काफी अधिक हो गई है। यह अल्जीरिया का सबसे अधिक ऊँचा भाग है जिसकी औसतन ऊँचाई समुद्रतल से ६,००० फुट और सबसे ऊँची चोटी ७,६३८ फुट ऊँची है। यह क्षेत्र अधिकतर चूने के पत्थर का बना है।

पुराने युग में औरेस पहाड़ बर्बर शरणार्थियों के छिपने का उत्तम स्थान था। रोम साम्राज्य में यह सेना का केंद्र था। कई पुराने टूटे किले अब भी दिखाई पड़ते हैं। इस क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा १२" से २०" तक होती है। परंतु औरेस पहाड़ का दक्षिणी भाग, जो सहारा रेगिस्तान की ओर है, सूखा है और यहाँ प्राकृतिक वनस्पतियाँ बहुत कम हैं।

इस पर्वतीय क्षेत्र में आबादी बहुत कम है; अधिकतर बर्बर लोग रहते हैं। यायावर बर्बर जानवर चराते हैं। जहाँ पानी मिल जाता है वहाँ कुछ खेती होती है तथा फलों के बाग लगाए जाते हैं। फलों में खूबानी और अंजीर मुख्य हैं। (ल० कि० सिं० चौ०)

ऑर्किड (Orchid) पौधों का एक कुल है जिसके सदस्यों के पुष्प अत्यंत सुंदर और सुगंधयुक्त होते हैं। ऑर्किडों को ठीक ही पुष्प-जगत् में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त है, क्योंकि इनके रंग रूप में विलक्षण विचित्रता है। ऑर्किड बहुवर्षी बूटों का विशाल समुदाय है, जो प्रायः भूमि पर अथवा दूसरे पेड़ों पर आश्रय ग्रहण कर उगते हैं, या कुकुरमुत्ते के समान मृतभोजी जीवन बिताते हैं। मृतभोजी ऑर्किडों में पर्णहरिम (क्लोरोफ़िल) नहीं होता। जो ऑर्किड वृक्षों पर होते हैं उनमें बरोहियाँ (वायवीय जड़ें) होती हैं जिनकी बाहरी पर्त में जलशोषक तंतु होते हैं। विस्तृत रेगिस्तानी भागों के अतिरिक्त ऑर्किड प्रायः संसार के सभी भागों में होते हैं। वैसे ये उष्ण और समोष्ण देशों में अधिक होते हैं। ऑर्किडों की लगभग ४५० प्रजातियाँ (जेनरा) और १५,००० जातियाँ (स्पीशीज़) हैं तथा ये सब एक ही कुल (फ़ैमिली) के अंतर्गत हैं। किसी भी समूह के फूल में इतने विविध रूप नहीं हैं जितने ऑर्किडों में। वास्तव में इनके फूल की रचना लिली के फूल जैसी ही होती है, परंतु फूल के कुछ भागों के पृथक्करण तथा अन्य भागों के रूपांतरण ने इन्हें इतना भिन्न बना दिया है कि ये साधारण एकदली फूल जैसे लगते ही नहीं हैं। ऑर्किडों के फूल चिरजीवी होने के लिये प्रसिद्ध हैं। यदि परागण न हो तो ये महीने डेढ़ महीने अथवा इससे भी अधिक दिनों तक अम्लान बने रहते हैं, यद्यपि यह समय बहुत कुछ वातावरण पर भी निर्भर है। परागण के पश्चात् फूल तुरंत मुर्झा जाते हैं। ऑर्किडों में बीज अधिक मात्रा में बनते हैं तथा अत्यंत नन्हे होते हैं। प्रायः एक फल से कई हजार बीज उत्पन्न होते हैं और ये इतने हल्के होते हैं कि इनका प्रसारण वायु द्वारा सुगमता से हो जाता है।

कुछ ऑर्किडों को छोड़कर प्रायः सभी की जड़ों में कवक (फ़ंगस) होता है जो बिना कोई हानि पहुँचाए तंतुओं में रहता है। इस परिस्थिति का ऑर्किडों के अंकुरण से विशेष संबंध है। ऐसा अनुमान है कि इनके बीज बिना कवक से संपर्क के अंकुरित ही नहीं हो पाते।

ऑर्किड की खेती का एक अत्यंत रोचक तथा आवश्यक अंग उनसे संकर पौधे उत्पन्न करना है। ऑर्किडों में कृत्रिम परागण द्वारा सफलता प्राप्त करने के लिये इनके फूलों की रचना का यथार्थ ज्ञान, हस्त-

ऑर्किड
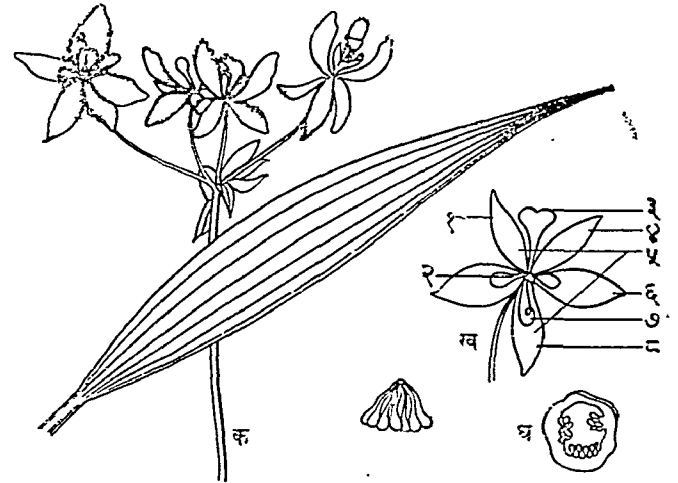
क. फूल और पत्ता; ख. पूर्ण पुष्प—१. पार्श्व बाह्यदल, २. मकरंदकोष, ३. तृतीय उदोष्ठक (लैबेलम), ४. पार्श्व बाह्यदल, ५. बाह्यदलपुंज (तीन समरूप), ६. पार्श्व बाह्यदल, ७. तुंडक (रॉस्टेलम); ग. परागपिंड (पॉलिनिआ); घ. अंडाशय की अनुप्रस्थ काट

लाघव, कौशल तथा धैर्य का होना अत्यंत आवश्यक है। ऑर्किडों का सारा महत्व इनके फूलों की सुंदरता तथा सजधज में है। इनमें से कुछ से, जैसे वैनीला से, एक प्रकार का सार (इत्र) भी प्राप्त होता है जो इनके फलों से निकाला जाता है।

भारतवर्ष में ऑर्किड पहाड़ी प्रदेशों में, जैसे हिमालय, खासी-जयंती पर्वत, पश्चिमी घाट, कोडै कैनाल और नीलगिरि पर्वत पर होते हैं।

सं०ग्रं०—ए० एंगलर और के० प्रैंट्ल : डी नाटूरलिख़ेन प्लांट्सेन-फ़ैमिलीन (१८८७-१९०९); सी० हैरिसन : कमर्शियल ऑर्किड ग्रोइंग (१९१४)। (मी० सै० उ०)

औशकोश संयुक्त राज्य, अमरीका, के विसकॉन्सिन राज्य का एक नगर। यह नगर विन्नेबेगो झील के पश्चिमी तट पर स्थित है। इसी नगर के पास फ़ॉक्स नदी इस झील में मिलती है। यह विन्नेबेगो

औषध निर्माण (द्र० पृ० ३२७)
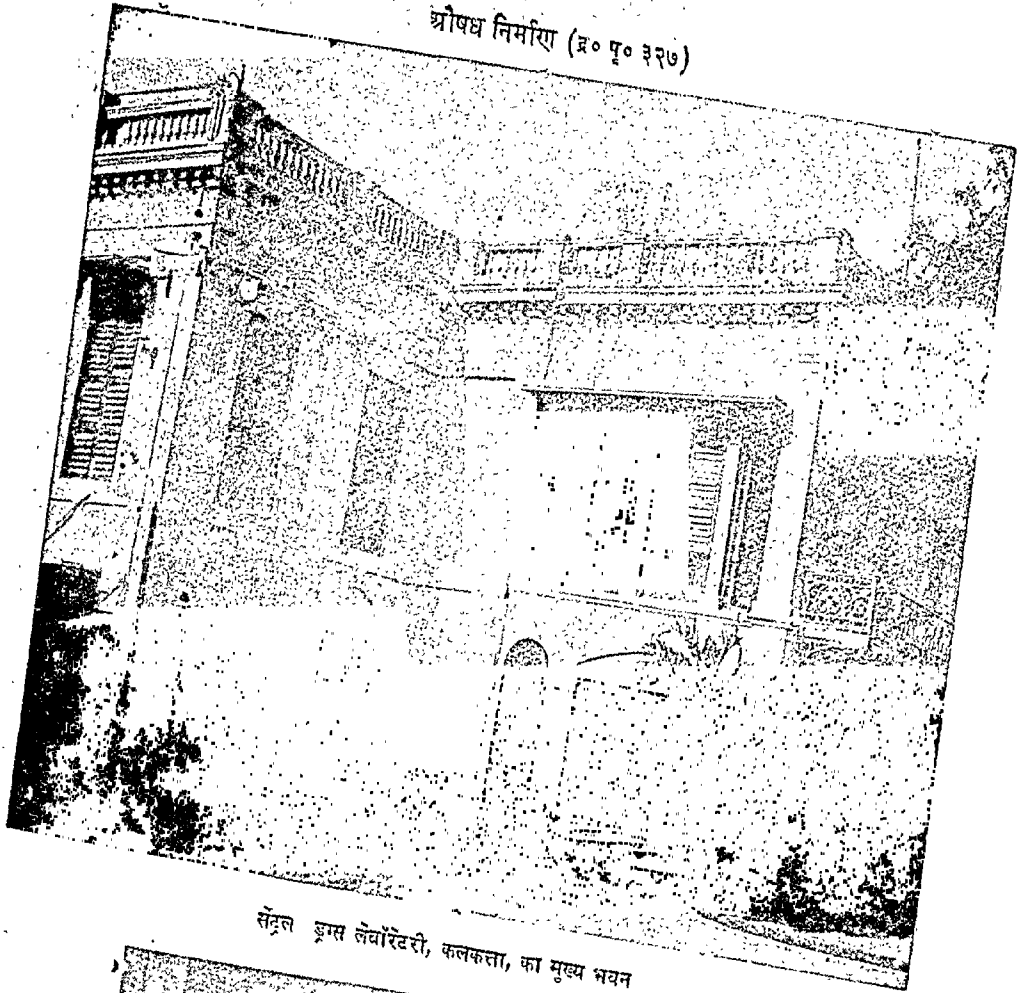
सेंट्रल ड्रग्स लेबॉरेटरी, कलकत्ता, का मुख्य भवन

लेबॉरेटरी के औषध निर्माण विभाग में
जीवाणुद्वेषी पदार्थों की रासायनिक परीक्षा की जा रही है।
(सेंट्रल ड्रग्स लेबॉरेटरी, कलकत्ता, के सौजन्य से प्राप्त)
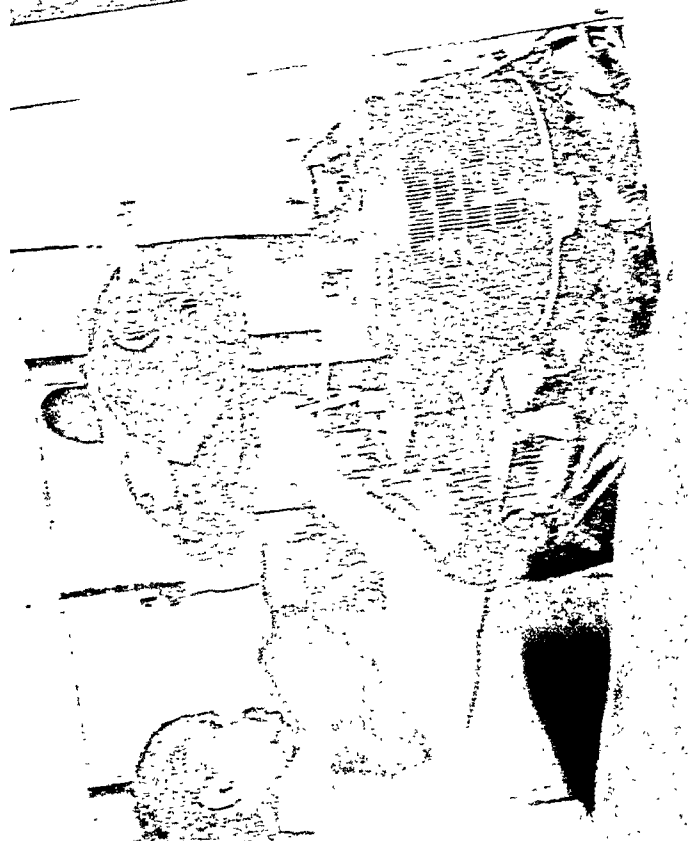
प्रदेश का केंद्र है। लकड़ी चीरने का काम यहाँ का मुख्य धंधा है। फ्रांस के राज्यकाल में फ़ॉक्स नदी तथा विन्नेवेगो झील शीघ्र ही मुख्य व्यापारिक मार्ग बन गई थी। १६३६ ई० के लगभग यह नगर वसना प्रारंभ हुआ था। नदी का उत्तरी भाग सॉकीर तथा दक्षिणी भाग ऐलगोमा कहलाता था। १८४० ई० में इसका संयुक्त नाम ओशकोश कर दिया गया। १९७० ई० में इसकी जनसंख्या ५३,२२१ थी। (वि० चं० मि०)

औषधनिर्माण चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्यों के ज्ञान को औषधनिर्माण अथवा भेषज विज्ञान भी कहते है। इसके अंतर्गत औषधों का ज्ञान तथा उनका संयोजन ही नहीं वरन् उनकी पहचान, संरक्षण, निर्माण, विश्लेषण तथा प्रमापण भी है। नई औषधों का आविष्कार तथा संश्लेषण भेषज (फ़ार्मेसी) के प्रमुख कार्य है। फार्मेसी उस स्थान को भी कहते है जहाँ औषधयोजन तथा विक्रय होता है।

जब तक भेषजीय प्रविधियाँ सुगम् थीं तब तक भेषज विज्ञान चिकित्सा का ही अंग था। परंतु औषधों की संख्या तथा प्रकारों के बढ़ने तथा उनकी निर्माणविधियों के क्रमशः जटिल होते जाने से भेषज विज्ञान के अलग विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ी।

अध्ययन के लिये भेषज विज्ञान दो भागों में बाँटा जा सकता है— क्रियात्मक तथा सैद्धांतिक भेषज।

सैद्धांतिक भेषज के अंतर्गत भौतिकी, रसायन, गणित और सांख्यिक विश्लेषण तथा वनस्पति विज्ञान, प्राणिशास्त्र, वनौषध परिचय, औषध-प्रभाव-विज्ञान, सूक्ष्म-जीव-विज्ञान तथा जैविकीय प्रमापण का भी ज्ञान आता है। साथ ही, इसमें भाषाज्ञान, भेषज संबंधी कानून, औषधनिर्माण, प्राथमिक चिकित्सा और सामाजिक स्वास्थ्य इत्यादि भी संमिलित है।

क्रियात्मक भेषज विज्ञान विज्ञान की वह शाखा है जिसमें भेषज के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप में लाने के हेतु प्रयुक्त विधियों तथा निर्माण क्रियाओं का ज्ञान आता है। इसके अंतर्गत औषध संयोजन तथा भेषजीय द्रव्यों का निर्माण भी है।

क्रियात्मक भेषज विज्ञान के अध्ययन में छात्र को घोल, चूर्ण, कैपसूल, मलहल, गोलियाँ, लेप, वर्ती (सपोजिटरी), टिकियाँ, इंजेक्शन आदि बनाना सीखना पड़ता है। साधारण उपकरणों से लेकर जटिल यंत्रों तक के प्रयोग की विधि विद्यार्थी को सीखनी पड़ती है। औषधों की सूची का संकलन तथा उनके गुण, प्रभाव आदि और निर्माणविधि का वर्णन जिस ग्रंथ में किया गया है उसको औषधकोष (फ़ारमेकोपिया) कहते हैं। कितने ही राष्ट्र मिलकर अथवा एक राष्ट्र स्वतः भी अपना औषधकोष विशेषज्ञों की समिति द्वारा प्रकाशित करवाता है जिसमें चिकित्सोपयोगी पदार्थों की सूची, उनकी निर्माणविधि, नाप तौल आदि दी रहती है। समय समय पर इसको दोहराया जाता और प्रयोगानुसार औषधों को घटाया बढ़ाया जाता है। एक अंतरराष्ट्रीय फ़ारमेकोपिया भी बनती है। यह प्रथम बार सन् १९५१ में विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लू० एच० ओ०) द्वारा प्रकाशित हुई थी। इससे सब राष्ट्रों की फ़ारमेकोपियों का एकीकरण किया गया है।

पहली भारतीय फ़ारमेकोपिया (आई० पी०) सन् १९५५ में संकलित हुई और आजकल एक अतिरिक्त भाग संकलित हो रहा है। फ़ारमेकोपिया के अतिरिक्त कई देशों में अन्य प्रामाणिक पुस्तकें भी हैं। अमरीका में एक नैशनल पत्रावली (नैशनल फ़ारमुलरी) और एक न्यू ऐंड ऑफ़िशियल रेमेडीज नाम की पुस्तक है। इसी प्रकार की पुस्तकें अन्य राष्ट्रों ने भी तैयार की हैं।

अस्पतालों तथा औषधशालाओं में प्रयुक्त प्रमुख क्रियाओं में से कुछ ये हैं :

निस्सादन (लेविगेशन)—औषध को जल के साथ घोटकर सुखा लेना तथा उसका महीन चूर्ण तैयार करना।

प्रोद्धावन (इल्यूशन)—किसी अघुलनशील चूर्ण को पानी में मिलाकर भारी भाग को बैठ जाने देते हैं। फिर ऊपर के द्रव को निथार लेते है। ऐसा कई बार करने पर ऐसा द्रव मिल जाता है जिसमें वांछित महीन चूर्ण निलंवित रहता है।

मृदुभावन (मैसिरेशन)—औषध के मोटे चूर्ण को किसी द्रव में भिगोकर समय समय पर पात्र को हिलाते रहते है। अंत में परिणामी घोल को निकाल लेते है। इस प्रकार प्राप्त घोल को सत्व या टिंक्चर कहते हैं।

च्यवन (परकोलेशन)—किसी औषध के ऊपर कोई विलायक डालकर उसका विलेय भाग निकाल लेने को च्यवन कहते हैं। यह क्रिया एक शंक्वाकार पात्र में की जाती है तथा ऊपर विलायक छोड़कर नीचे के छिद्र से विलयन बूंद बूंद करके इकट्ठा कर लिया जाता है। अनेक सत्व तथा टिंक्चर इसी प्रकार बनते हैं।

प्रमापण क्रिया (स्टैंडर्डाइज़िंग)—फ़ार्माकोपिया का आदेश है कि कुछ निमित्त औषधियाँ प्रमापित की जायँ, अर्थात् यह देखा जाय कि उनमें उनकी प्रमुख औषधि एक निर्धारित अनुपात में अवश्य विद्यमान रहे।

जैविकीय प्रमापण (बायोलॉजिकल स्टैंडर्डाइजेशन)—यदि कोई औषधि रसायनविशेष हो तो औषधि को रासायनिक विधियों द्वारा प्रमापित किया जा सकता है। परंतु कुछ औषधियों की माप घटा बढ़ाकर जीवित प्राणी पर उसके प्रभाव की न्यूनाधिकता से ही उसका प्रमापण संभव है; उदाहरणार्थ हारमोन, हीपेरिन, पेनिसिलिन आदि। ऐसे प्रमापण को जैविकीय प्रमापण कहते है।

साधारणतः प्रयुक्त भैषज पदार्थों का वर्गीकरण निम्नलिखित है :

वारि (ऐक्वी)—ये प्रायः सौरभिक तेलों को जल के साथ हिलाकर बनते हैं; स्रवित जल भी इसी सूची में है।

क्रीम—त्वचा पर लगानेवाली औषधि को क्रीम कहते है।

पायस (इमलशन)—यदि दो न मिल सकनेवाले द्रव्यों को इस प्रकार मिश्रित कर दिया जाता है कि वे पर्याप्त समय तक अलग नहीं होते तो पायस प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, मछली के तेल का पायस।

सार (एक्स्ट्रैक्ट)—वनस्पति या अन्य पदार्थ से किसी विलायक द्वारा विलेय भाग निकालकर उसे गाढ़ा कर लेते या सुखा लेते हैं। इस तरह तरल अथवा शुष्क निस्सार बन जाता है।

अंतःक्षेप (इंजेक्शन)—त्वचा के नीचे, पेशी में या नस में सुई द्वारा प्रवेश करने योग्य औषधि को इंजेक्शन कहते है।

मृदय (लिनिमेंट)—ये तैलीय या मद्यसारयुक्त लेप है जो त्वचा पर रगड़े जाते है।

विलयन (लिकर)—प्रायः जल में या मद्यसार में किसी रसायनविशेष के घोल को लिकर कहते हैं।

अवनेग (लोशन)—किसी औषधि को जल के साथ मिलाकर किसी अंगविशेष को धोने के लिये या पट्टी भिगोकर रखने के लिये बनाई गई औषधि को लोशन कहते है।

गोली (पिल)—एक या कई औषधियाँ मिलाकर गोली के रूप में बना दी जाती हैं तथा निगलने के लिये दी जाती है। दुःस्वाद छिपाने के लिये प्रायः इन पर शर्करादि का लेप कर दिया जता है।

मिश्रण (मिक्स्चर)—कई औषधियों को जल अथवा अन्य किसी पेय में मिलाकर नियमित मात्रा में पिलाने के लिये बनी औषधि को मिक्सचर कहते हैं।

चूर्ण (पाउडर)—यह एक औषधि अथवा कई औषधियों का चूर्ण होता है।

प्रासव (स्पिरिट)—यह सौरभिक तैलों अथवा अन्य किसी द्रव का मद्यसार में घोल होता है।

वर्ती (सपोजिटरी)—किसी नरम पदार्थ से छोटी पेंसिल के समान बनी वस्तु है, जिसमें औषधि मिली रहती है तथा जो गुदाद्वार या योनि में प्रविष्ट करा दी जाती है।

टिकिया (टैबलेट)—ये प्रायः मशीन से बनती हैं तथा इनमें एक या कई औषधियाँ होती है।

औषध निर्माण (द्र० पृ० ३२७)

जीवरसायन प्रयोगशाला में
विटामिन पदार्थों का विश्लेषण किया जा रहा है।
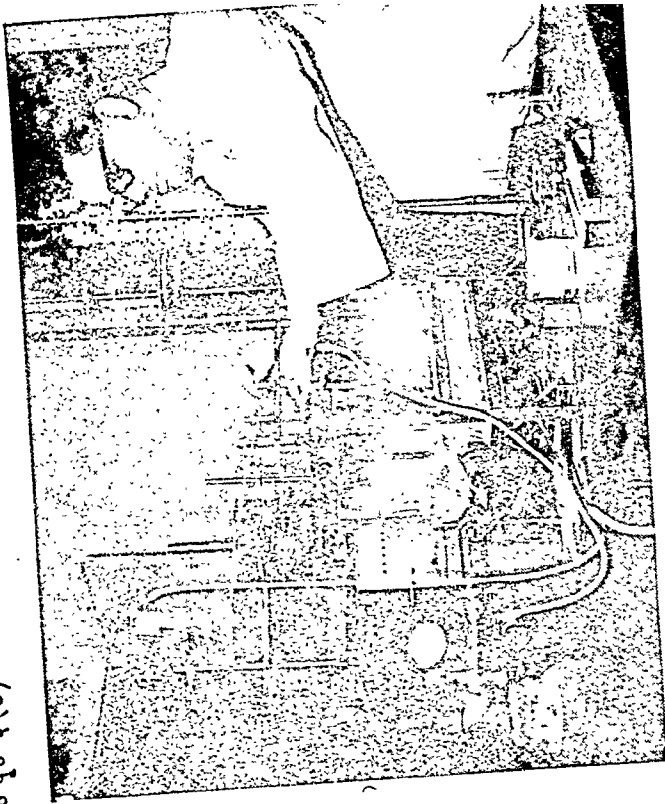
औषध निर्माण विभाग में
औषधियों का जविक आमापन हो रहा है।

जीवाणु विज्ञान विभाग में
जीवाणुद्वेषी पदार्थों का सूक्ष्म-जीव-वैज्ञानिक परिमापन किया जा रहा है। (सेंट्रल ड्रग्स लेबॉरेटरी, कलकत्ता, के सौजन्य से प्राप्त)

प्रदेश का केंद्र है। लकड़ी चीरने का काम यहाँ का मुख्य धंधा है। फ्रांस के राज्यकाल मे फ्रॉक्स नदी तथा विन्नेबेगो झील शीघ्र ही मुख्य व्यापारिक मार्ग बन गई थी। १६३६ ई० के लगभग यह नगर बसना प्रारंभ हुआ था। नदी का उत्तरी भाग सॉकीर तथा दक्षिणी भाग ऐलगोमा कहलाता था। १८४० ई० मे इसका संयुक्त नाम ओशकोश कर दिया गया। १९७० ई० मे इसकी जनसंख्या ५३,२२१ थी। (वि० चं० मि०)

औषधनिर्माण चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्यों के ज्ञान को औषधनिर्माण अथवा भेपज विज्ञान भी कहते है। इसके अंतर्गत औषधो का ज्ञान तथा उनका संयोजन ही नही वरन् उनकी पहचान, संरक्षण, निर्माण, विश्लेपण तथा प्रमापण भी है। नई औषधों का आविष्कार तथा संश्लेपण भेपज (फ़ार्मेसी) के प्रमुख कार्य है। फार्मेसी उस स्थान को भी कहते है जहाँ औषधयोजन तथा विक्रय होता है।

जब तक भेपजीय प्रविधियाँ सुगम थी तब तक भेपज विज्ञान चिकित्सा का ही अंग था। परंतु औषधो की संख्या तथा प्रकारो के बढ़ने तथा उनकी निर्माणविधियो के क्रमशः जटिल होते जाने से भेपज विज्ञान के अलग विशेपज्ञों की आवश्यकता पड़ी।

अध्ययन के लिये भेपज विज्ञान दो भागों मे बाँटा जा सकता है—क्रियात्मक तथा सैद्धांतिक भेपज।

सैद्धांतिक भेपज के अंतर्गत भौतिकी, रसायन, गणित और सांख्यिक विश्लेपण तथा वनस्पति विज्ञान, प्राणिशास्त्र, वनौपध परिचय, औपध-प्रभाव-विज्ञान, सूक्ष्म-जीव-विज्ञान तथा जैविकीय प्रमापण का भी ज्ञान आता है। साथ ही, इसमें भापाज्ञान, भेपज संबंधी कानून, औषधनिर्माण, प्राथमिक चिकित्सा और सामाजिक स्वास्थ्य इत्यादि भी संमिलित हैं।

क्रियात्मक भेपज विज्ञान विज्ञान की वह शाखा है जिसमें भेपज के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप मे लाने के हेतु प्रयुक्त विधियों तथा निर्माण क्रियाओं का ज्ञान आता है। इसके अंतर्गत औषध संयोजन तथा भेपजीय द्रव्यों का निर्माण भी है।

क्रियात्मक भेपज विज्ञान के अध्ययन मे छात्र को घोल, चूर्ण, कैपसूल, मलहल, गोलियाँ, लेप, वर्ती (सपोजिटरी), टिकियाँ, इंजेक्शन आदि बनाना सीखना पड़ता है। साधारण उपकरणों से लेकर जटिल यंत्रों तक के प्रयोग की विधि विद्यार्थी को सीखनी पड़ती है। औषधों की सूची का संकलन तथा उनके गुण, प्रभाव आदि और निर्माणविधि का वर्णन जिस ग्रंथ में किया गया है उसको औषधकोप (फ़ारमेकोपिया) कहते हैं। कितने ही राष्ट्र मिलकर अथवा एक राष्ट्र स्वतः भी अपना औषधकोप विशेषज्ञों की समिति द्वारा प्रकाशित करवाता है जिसमें चिकित्सोपयोगी पदार्थों की सूची, उनकी निर्माणविधि, नाप तौल आदि दी रहती है। समय समय पर इसको दोहराया जाता और प्रयोगानुसार औषधों को घटाया बढाया जाता है। एक अंतरराष्ट्रीय फ़ारमेकोपिया भी बनती है। यह प्रथम बार सन् १९५१ मे विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लू० एच० ओ०) द्वारा प्रकाशित हुई थी। इससे सब राष्ट्रों की फारमेकोपियों का एकीकरण किया गया है।

पहली भारतीय फ़ारमेकोपिया (आई० पी०) सन् १९५५ में संकलित हुई और आजकल एक अतिरिक्त भाग संकलित हो रहा है। फ़ारमेकोपिया के अतिरिक्त कई देशों में अन्य प्रामाणिक पुस्तकें भी हैं। अमरीका में एक नैशनल पत्रावली (नैशनल फ़ारमुलरी) और एक न्यू ऐंड ऑफ़िशियल रेमेडीज़ नाम की पुस्तक है। इसी प्रकार की पुस्तकें अन्य राष्ट्रों ने भी तैयार की हैं।

अस्पतालों तथा औषधशालाओं में प्रयुक्त प्रमुख क्रियाओं में से कुछ ये हैं :

निस्सादन (लेविगेशन)—औपध को जल के साथ घोटकर सुखा लेना तथा उसका महीन चूर्ण तैयार करना।

प्रोद्धावन (इल्यूशन)—किसी अघुलनशील चूर्ण को पानी में मिलाकर भारी भाग को बैठ जाने देते है। फिर ऊपर के द्रव को निथार लेते है। ऐसा कई बार करने पर ऐसा द्रव मिल जाता है जिसमें वांछित महीन चूर्ण निलंबित रहता है।

मृदुभावन (मैसिरेशन)—औपध के मोटे चूर्ण को किसी द्रव में भिगोकर समय समय पर पात्र को हिलाते रहते है। अत मे परिणामी घोल को निकाल लेते है। इस प्रकार प्राप्त घोल को सत्व या टिक्चर कहते हैं।

च्यवन (परकोलेशन)—किसी औपध के ऊपर कोई विलायक डालकर उसका विलेय भाग निकाल लेने को च्यवन कहते है। यह क्रिया एक शक्वाकार पात्र मे की जाती है तथा ऊपर विलायक छोड़कर नीचे के छिद्र से विलयन बूँद बूँद करके इकट्ठा कर लिया जाता है। अनेक सत्व तथा टिक्चर इसी प्रकार बनते है।

प्रमापण क्रिया (स्टैंडर्डाइजिंग)—फ़ार्माकोपिया का आदेश है कि कुछ निमित्त ओपधियाँ प्रमापित की जायँ, अर्थात् यह देखा जाय कि उनमें उनकी प्रमुख ओपधि एक निर्धारित अनुपात मे अवश्य विद्यमान रहे।

जैविकीय प्रमापण (बायोलॉजिकल स्टैंडर्डाइजेशन)—यदि कोई ओपधि रसायनविशेष हो तो ओपधि को रासायनिक विधियों द्वारा प्रमापित किया जा सकता है। परंतु कुछ ओपधियों की माप घटा बढ़ाकर जीवित प्राणी पर उसके प्रभाव की न्यूनाधिकता से ही उसका प्रमापण संभव है; उदाहरणार्थ हारमोन, हीपेरिन, पेनिसिलिन आदि। ऐसे प्रमापण को जैविकीय प्रमापण कहते है।

साधारणतः प्रयुक्त भेपज पदार्थों का वर्गीकरण निम्नलिखित है :

वारि (ऐक्वी)—ये प्रायः सौरभिक तेलो को जल के साथ हिलाकर बनते है; स्रवित जल भी इसी सूची मे है।

क्रीम—त्वचा पर लगानेवाली ओपधि को क्रीम कहते है।

पायस (इमलशन)—यदि दो न मिल सकनेवाले द्रव्यो को इस प्रकार मिश्रित कर दिया जाता है कि वे पर्याप्त समय तक अलग नही होते तो पायस प्राप्त होता हे। उदाहरणार्थ, मछली के तेल का पायस।

सार (एक्स्ट्रैक्ट)—वनस्पति या अन्य पदार्थ से किसी विलायक द्वारा विलेय भाग निकालकर उसे गाढ़ा कर लेते या सुखा लेते है। इस तरह तरल अथवा शुष्क निस्सार बन जाता है।

अंतःक्षेप (इंजेक्शन)—त्वचा के नीचे, पेशी मे या नस में सुई द्वारा प्रवेश करने योग्य ओपधि को इंजेक्शन कहते है।

मृदय (लिनिमेंट)—ये तैलीय या मद्यसारयुक्त लेप है जो त्वचा पर रगड़े जाते है।

विलयन (लिकर)—प्रायः जल में या मद्यसार मे किसी रसायनविशेष के घोल को लिकर कहते है।

अवनेग (लोशन)—किसी ओपधि को जल के साथ मिलाकर किसी अंगविशेप को धोने के लिये या पट्टी भिगोकर रखने के लिये बनाई गई ओपधि को लोशन कहते है।

गोली (पिल)—एक या कई ओपधियाँ मिलाकर गोली के रूप में बना दी जाती है तथा निगलने के लिये दी जाती है। दुःस्वाद छिपाने के लिये प्रायः इन पर शर्करादि का लेप कर दिया जता है।

मिश्रण (मिक्स्चर)—कई ओपधियों को जल अथवा अन्य किसी पेय में मिलाकर नियमित मात्रा मे पिलाने के लिये बनी ओपधि को मिक्सचर कहते है।

चूर्ण (पाउडर)—यह एक ओपधि अथवा कई ओपधियों का चूर्ण होता है।

प्रासव (स्पिरिट)—यह सौरभिक तैलों अथवा अन्य किसी द्रव का मद्यसार में घोल होता है।

वर्ती (सपोजिटरी)—किसी नरम पदार्थ से छोटी पेंसिल के समान बनी वस्तु है, जिसमे ओपधि मिली रहती है तथा जो गुदाद्वार या योनि में प्रविष्ट करा दी जाती है।

टिकिया (टैब्लेट)—ये प्रायः मशीन से बनती है तथा इनमें एक या कई ओपधियाँ होती है।

निष्कर्ष (टिंक्चर)—जैसा पहले लिखा जा चुका है, यह वनस्पति पदार्थों के ऊपर कोई विलायक (प्रायः मद्यसार) छोड़कर बनाई जाती है। घुलनशील तत्व इस प्रकार विलायक में आ जाते हैं।

मलहम (अंग्वेंट)—ये वैसलीन आदि में किसी ओषधि को फेंटकर बनाए जाते हैं तथा त्वचा पर लगाने के काम आते हैं।

सं०ग्रं०—इयर बुक ऑव फ़ारमेसी (प्रति वर्ष छपता है), फ़ार्मासूटिकल जनरल (पत्रिका); एच० वी० आर्नो : प्रिंसिपल्स ऑव फ़ार्मेसी (१९२६); एडवर्ड क्रेमर्स और जॉर्ज उरडांग : हिस्ट्री ऑव फ़ार्मेसी। (मो० ला० गु०).

ओषध-प्रभाव-विज्ञान (फ़ार्माकॉलोजी)

शारीरिक अवयवों पर ओषधियों के प्रभाव को कहते हैं। प्राचीन काल में यह केवल उन वनस्पति पदार्थों का संकलन मात्र था जिनको रोगों में लाभ पहुँचानेवाला समझा जाता था। वर्षों तक इसका नाम मैटीरिया मेडिका रहा।

आधुनिक ओषध-प्रभाव-विज्ञान अब १० शाखाओं में विभक्त है। १. फ़ार्मेको डायनैमिक्स, २. मैटीरिया मेडिका, ३. फ़ार्मेकोग्नोसी, ४. फ़ार्मेसी, ५. फ़ार्मास्युटिक्स, ६. थेराप्यूटिक्स, ७. केमोथेरैपी, ८. फ़ार्मेकोथेरैपी, ९. पोसोलाजी, १०. टाक्सिकॉलाजी।

फ़ार्मेको डायनैमिक्स—के अंतर्गत ओषधियों के गुणों का प्रयोगात्मक एवं उनका जीवों के शरीर में जो अंतिम रूप होता है, उसका अध्ययन किया जाता है।

मैटीरिया मेडिका—के अंतर्गत ओषधियों के मूल पदार्थ तथा उनके बनाने की विधि का विस्तृत वर्णन किया जाता है।

फ़ार्मेकोग्नोसी—के अंतर्गत ओषधियों के वानस्पतिक, रासायनिक तथा भौतिक लक्षणों का अध्ययन किया जाता है।

फ़ार्मेसी—के अंतर्गत ओषधियों को एकमित कर उन्हें मात्रक तथा मानक रूप दिया जाता है।

फ़ार्मास्युटिक्स—के अंतर्गत ओषधियों को रोगों हेतु प्रयोग किए जाने की विधि का वर्णन किया जाता है।

थेराप्यूटिक्स—के अंतर्गत औषध-प्रभाव-विज्ञान का रोग-निवारण-हेतु लक्षणों के आधार पर प्रयोग का वर्णन रहता है।

फ़ार्मेकोथेरैपी—के अंतर्गत बाधक अवस्था में सूक्ष्म जीवों की रासायनिक संवेदनों के प्रति क्रियाशीलता का वर्णन रहता है।

कैमोथेरैपी—के अंतर्गत रासायनिकों द्वारा रोगनिवारण तथा ज्ञात रासायनिक संरचना एवं संबंधित रासायनिक संरचना वाली ओषधियों के शरीर पर प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।

पोसोलाजी—के अंतर्गत ओषधियों की उपयुक्त मात्राओं का अध्ययन किया जाता है।

टाक्सिकोलाजी—के अंतर्गत लक्षण रासायनिक पुष्टीकरण तथा प्रतिविष के उपयोग आदि का अध्ययन किया जाता है। (र० प्र० ति०; शै० कु० त्रि०)

मनुष्य को प्राचीन काल से ही वनस्पतियों का ज्ञान रहा है क्योंकि वह सदा से उन्हीं के संपर्क में रहा है। रेचक एवं निद्राजनक द्रव्य वनस्पतियों में भी प्रायः होते हैं। इनका कभी मानव ने अचानक प्रयोग किया होगा, जिससे उनके परिणाम या प्रभाव का उसने अनुभव किया होगा। द्राक्षा के किण्वन से मद्य को उत्पन्न करने की रीति मनुष्य को अति प्राचीन काल से ज्ञात रही है। संज्ञाहारी तथा विषों में बुझे हुए बाणों का प्रयोग भी वह प्राचीन काल से करता आया है।

कई सहस्र वर्ष पूर्व उपचार के लिये ओषधियों के प्रयोग में मनुष्य की पर्याप्त रुचि हो चुकी थी। प्राचीन हिंदू पुस्तकों में ओषधियों के निर्माण में यंत्रमंत्रादि का विस्तृत उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में ऐसे अनेक विधानों का वर्णन है। कई सौ ओषधियों का सामूहिक विवरण चरक तथा सुश्रुत-संहिता एवं निघंटु में मिलता है। अन्य पूर्ववर्ती वनस्पतिसूचियों में एक का इबर्स पैपरिस है जो लगभग १,५०० ई० पू० में संकलित हुआ था। हिप्पोक्रेटिस (४६०-३७७ ई० पू०) ने बृहत् रूप से वानस्पतिक ओषधियों का प्रयोग किया तथा उसके लेखों में ऐसे ३०० पदार्थों का ब्योरा है। गैलेन (१३०-२०० ई०) ने, जो रोम का एक सफल चिकित्सक था, चिकित्सोपयोगी ४०० वनस्पतियों की सूची तैयार की थी। मध्ययुग में यह इस क्षेत्र में सर्वमान्य पुस्तक थी।

इब्न सीना ने अपना ओषधिज्ञान यूनान से प्राप्त किया था तथा आज भी इस देश में उसकी चिकित्साप्रणाली यूनानी प्रणाली के नाम से जानी जाती है।

पैरासेल्सस (१४९३-१५४१ ई०) बासेल विश्वविद्यालय में रसायन का अध्यापक था। इसने सर्वप्रथम चिकित्सा में धातुओं का प्रयोग किया। उपदंश (सिफ़िलिस) की चिकित्सा में पारद के उपयोग का श्रेय इसी को है। प्रायः इसी काल में भारत में रसशास्त्र का विकास हुआ।

१७८३ ई० में अंग्रेज चिकित्सक विलियम विदरिंग ने अपना युगांतरकारी लेख प्रकाशित किया जिसमें डिजिटैलिस द्वारा हृदयरोग के उपचार का वर्णन था।

अब तक ओषधियाँ वानस्पतिक पदार्थों से ही तैयार की जाती थीं। १८०७ ई० में जर्मन भैषजिक सरटुरनर ने अफ़ीम में से मारफ़ीन नामक ऐलकलाएड निकाला तथा यह सिद्ध किया कि अफ़ीम का अवसादक गुण इसी के कारण है। तदुपरांत वनस्पतियों से अनेक सक्रिय पदार्थ निकाले गए जिनमें स्ट्रिकनीन, कैफ़ीन, एमिटीन, ऐट्रोपीन तथा क्विनीन आदि ऐलकलाएड हैं।

१८२८ ई० में वलर (Wöhler) ने यूरिया का संश्लेषण किया। इसके बाद तो कार्बन रासायनिकों द्वारा लाखों कार्बनिक यौगिक संश्लिष्ट किए गए। इनमें से कितने ही आगे चलकर मनुष्य तथा पशुरोगों में बहुमूल्य सिद्ध हुए। सन् १९१० में पाल एर्लिख (Paul Ehrlich) ने आर्सफ़ेनामीन नामक औषध तैयार किया। यह उपदंश के उपचार के हेतु अन्वेषण की जानेवाली ६०६वीं ओषधि थी। यह ओषधि न केवल वर्षों के अनुसंधान का अमूल्य फल थी, वरन् पहली कीटाणुनाशक संश्लिष्ट ओषधि थी, जो कीटाणुविशेष पर प्रभाव डालती थी। परवर्ती २५ वर्षों में रसायनचिकित्सा में विशेष प्रगति नहीं हुई, यद्यपि विटामिन तथा हारमोन के क्षेत्रों में बहुमूल्य अनुसंधान हुए।

१९३५ ई० में डोमाक ने सल्फ़ोनामाइड ओषधियों का आविष्कार किया। वुड्स और फ़ाइल्ड्स ने इनकी प्रभावप्रणाली का विशदीकरण किया तथा जिस सिद्धांत का प्रतिपादन इन्होंने किया उसके आधार पर कई बहुमूल्य ओषधियाँ बनीं, जैसे मलेरियांतक, अमीबा नाशक तथा क्षय-जीवाणु-नाशक द्रव्यादि। फ़्लेमिंग द्वारा पेनिसिलीन के आविष्कार ने फ़ारमाकॉलोजी में एक नया अध्याय आरंभ किया। आज हमें स्ट्रेप्टोमाइसीन, क्लोरोमाइसेटीन, सल्फ़ा ड्रग्स तथा टेट्रासाइक्लीन आदि कई उपयोगी प्रतिजैविक ओषधियाँ प्राप्त हैं। आधुनिक आविष्कारों में से प्रशांतक (ट्रैंक्विलाइजर्स) तथा रेडियो सक्रिय समस्थानिक महत्वपूर्ण हैं।

पिछले २५ वर्षों में फ़ारमाकॉलोजी में जितनी प्रगति हुई वह पहले कई हजार वर्षों में भी नहीं हुई थी तथा यह प्रगति बढ़ ही रही है।

सं०ग्रं०—टी० सालीनान : मैनुअल ऑव फ़ारमाकॉलोजी (फ़िलाडेल्फ़िया, १९२६)। (मो० ला० गु०)

औस्कालूसा

संयुक्त राज्य, अमरीका, के आइओवा राज्य में एक नगर है। इस नगर से मिनियापोलिस, सेंट लूई तथा रॉक आइलैंड रेलमार्गों द्वारा मिले हुए हैं। यह नगर कृषि तथा कोयले की खानोंवाले क्षेत्र में बसा है। इस नगर में अनेक कारखाने हैं। प्रसिद्ध विलियम पेन कालेज इस नगर के उत्तर में स्थित है। यह १८४३ ई० में बसाया गया था। १९६० ई० में यहाँ की जनसंख्या ११,०५३ थी। (वि० चं० मि०)

औस्नाब्रुक

फेडरल रिपब्लिक ऑव जर्मनी (पश्चिमी जर्मनी) का एक प्रसिद्ध नगर है, जो ब्रिटिश क्षेत्र के हैनोवर प्रांत में हैनोवर नगर से ७० मील पश्चिम हेस नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। इस नगर की स्थिति ५२° १६' उ० अ० तथा ८° ४' पू० दे० पर

है। १९६९ ई० के अंत में यहाँ की जनसंख्या १,४१,००० थी। यह पुराना ऐतिहासिक नगर १८५७ ई० से रोमन कैथोलिक चर्च, निकट के क्षेत्र की शासन व्यवस्था और व्यापार का केंद्र है।

इस नगर की स्थिति महत्वपूर्ण मार्ग पर है। कई दिशाओं से रेलमार्ग यहाँ आकर मिलते हैं। रेल द्वारा यह ब्रीमेन, हैंवर्ग, हैनोवर, कोलोन, और ऐम्स्टरडैम से मिला है। मिटीलैंड नहर की कई शाखाएँ इसके औद्योगिक क्षेत्र में फैली हैं। इस नगर में कई प्रकार के माल तैयार होते हैं और सूत कातने, कपड़ा वुनने, तंवाकू और सिगार वनाने, कागज, रासायनिक द्रव्य, शराव तथा इंजीनियरिंग का सामान वनाने के वड़े कारखाने है। यहाँ लोहा और इस्पात वनाने के भी कारखाने है, जिनका मुख्य कारण लोहे और कोयले की निकटवर्ती खानें है। अव लोहा विदेशों से अधिक आता है। यहाँ का मुख्य व्यापार अनाज, लकड़ी, कपड़ा और लोहे के सामान का है। (ल० कि० सिं० चौ०)

ओस्वर्न (ओज़्वर्न), हेनरी फ़ेयरफ़ील्ड प्रसिद्ध पुराजीव वैज्ञानिक हेनरी ओस्वर्न का जन्म ८ अगस्त, १८५७ ई० को फ़ेयरफ़ील्ड (कनेक्टिकट, संयुक्त राज्य, अमरीका) में हुआ। इनकी शिक्षा प्रिंस्टन विश्वविद्यालय में हुई। १८८३ में ये इसी विश्वविद्यालय में जीव विज्ञान के प्रोफेसर हो गए। १८९१ मे ये कोलंविया विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होकर चले आए। इनका अमरीकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री, न्यूयार्क जूलॉजिकल सोसाइटी, कार्नेगी इंस्टिट्यूशन तथा संयुक्त राष्ट्र भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग से निकट संवंध था। १९०८ मे ये अमरीकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के अध्यक्ष चुने गए। ये वहुत सी विदेशी वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य भी थे।

इनका मुख्य अनुसंधान पृष्ठवंशी पुराजीवों (Vertebrate Fossils) पर था। इनके वैज्ञानिक निवंधों की सख्या लगभग ७५० है। इनके कुछ प्रमुख प्रकाशन निम्नांकित हैं :

१. फ़ॉम ग्रीक टु डार्विन (१८९४)
२. एवोल्यूशन ऑव मैमेलियन मोलर टूथ (१९०७)
३. दि एज ऑव मैमल्स (१९१०)
४. हक्सली ऐंड एजुकेशन (१९१०)
५. ओरिजिन ऐंड एवोल्यूशन ऑव लाइफ़ (१९१७)
६. क्रिएटिव एजुकेशन (१९२२)।

६ नवंवर, १९३५ को इनकी मृत्यु हो गई। (म० ना० मे०)

ओस्वीगो १. इस नाम का एक नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, में न्यूयार्क राज्य के उसी नाम के प्रदेश के प्रधान अधिकारी का निवास स्थान है। यह सिराक्यूज नगर से ३५ मील उत्तर-पश्चिम ओस्वीगो नदी के मुहाने पर उसके दोनों ओर तथा ओंटेरियो झील के दक्षिणी-पूर्वी किनारे पर एक छोटे वंदरगाह के रूप में वसा है। इसकी स्थिति ४३° २७' उ० अ० और ७६° ३२' प० दे० पर है। १९६० ई० के अंत में इस शहर की जनसंख्या २२,१५५ थी।

यहाँ कई रेलमार्ग आकर मिले हैं, जिनके द्वारा यह रॉचेस्टर और सिराक्यूज से मिला हुआ है। इस वंदरगाह में झील के स्टीमर तथा छोटे जहाज कई वंदरगाहों से आते हैं। सन् १८२८ ई० में ओस्वीगो नहर वनी, जो ओंटेरियो झील को, न्यूयार्क स्टेट वार्ज नहर से सिराक्यूज के पास जोड़ती है। ओस्वीगो नदी में ३४ फुट ऊँचा एक प्रपात है, जहाँ विजली उत्पन्न की जाती है।

यहाँ कई प्रकार के कारखाने हैं, जिनमें मंड (स्टार्च) वनाने का कारखाना सवसे वड़ा है। इसके सिवाय लकड़ी की लुगदी और कागज के, सिल्क, ऊनी और सूती कपड़ों के एवं दियासलाई तथा मशीनें वनाने के भी कारखाने हैं। कैनाडा से लकड़ी की लुगदी जलमार्ग से यहाँ लाने में सुविधा होती है और वदले में कोयला जाता है। ओस्वीगो का व्यापार अधिकतर कैनाडा के शहरों से होता है।

२. ओस्वीगो नामक दूसरा नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, के कैंसास राज्य के दक्षिण-पूर्व की ओर लावेटी प्रदेश के प्रधान अधिकारी का निवास स्थान है। यह निओशो नदी के दाहिने किनारे पर वसा है। इसकी स्थिति ३७° ११' उ० अ० और ९५° ०९' प० दे० पर है। यह नगर रेलों का भी केंद्र है और रेलमार्ग द्वारा कैंसास नगर, टेक्सैस, सेंट लूई और सैनफ़्रैंसिस्को से जुड़ा है।

३. ओस्वीगो नाम का तीसरा नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, के ओरिगन राज्य के क्लेकामस प्रदेश मे एक छोटा नगर है। यह कोलंविया नदी की सहायक विलैमेट नदी के वाएँ किनारे पर वसा है। यह पोर्टलैंड नगर से सात मील दक्षिण है और इससे रेल द्वारा जुड़ा है। (ल० कि० सिं० चौ०)

कंकनी (टिनोफ़ोरा, Ctenophora) अपृष्ठवंशी जंतुओं का एक छोटा संघ (फ़ाइलम) है जो कुछ ही समय पहले तक आंतरगुही (सिलेंटरेटा, Coelenterata) समुदाय से घनिष्ठ संवंध के कारण उसी के उपसमुदाय क अंतर्गत रखा जाता था। इसके सभी सदस्य समुद्री, स्वतंत्रजीवी, स्वतंत्र रूप से तैरनेवाले तथा वहुत ही पारदर्शी होते है। ये वहुविस्तृत है और उष्ण भागों में वहुतायत से पाए जाते हैं।

इनको सामान्यत: समुद्री अखरोट (सी वालनट) या कंकत-गिजगिजिया (कोम-जेली) कहते है। पहला नाम आकार के कारण तथा दूसरा उसके पारदर्शी तथा कोमल होने और उनपर कंकत (कंघी) जैसे चलांगों के कारण है। ये 'कंघियाँ' शरीर पर लाक्षणिक रूप से आठ पंक्तियों में स्थित होती हैं। कुछ जातियाँ फीते जैसी चपटी भी होती हैं, जैसे 'रति-वलय' (वीनस गर्डिल), जिसकी लंवाई ६ इंच से लेकर ४ फुट तक होती है।

इस समुदाय के साधारण लक्षण निम्नलिखित हैं :

१. शरीर के द्विअरीय विधि से उदग्र अक्ष पर संमित होता है;

२. शरीर के निर्माण में दो मुख्य स्तरों—वहिर्जनस्तर (एक्टोडर्म) तथा अंतर्जनस्तर (एंडोडर्म) का होना, किंतु साथ ही इनके वीच में वहुविकसित मध्यश्लेप (मेसोग्लीआ) का स्तर होना, जिसमें अनेक कोशिकाएँ होती हैं। इन कोशिकाओं का पृथक्करण वहुत प्रारंभिक अवस्था में हो जाता है जिससे इसको अधिकांश लेखक एक अलग स्तर—मध्यचर्म (मेसोडर्म)—मानते हैं। इस प्रकार कंकनी समुदाय त्रिस्तरीय (ट्रिप्लोव्लैस्टिक) कहा जा सकता है। मध्यचर्म की कोशिकाओं से पेशीय कोशिकाएँ वनती है।

आभिलागी कोशिका (Colloblast)

१. आसंजक क्षुद्र-गोलक; २. सर्पिल तंतु; ३. सीधा तंतु;

३. समुदाय में शरीर विखंडित (सेगमेंटेड) नहीं होता।

४. शरीर वहुत कुछ गोलाकार या लंवी नाशपाती जैसा होता है, किंतु कुछ सदस्य चपटे भी होते है। शरीर के ऊपरी तल पर पक्ष्म-कोशिकाओं (सिलिअरी सेल्स) से वनी 'कंघियों' की आठ पंक्तियाँ होती हैं। ये ही इन जीवों के चलांग हैं।

५. सूच्यंग अथवा डंक (निमैटोसिस्ट, nematocyst सर्वथा अनुपस्थित रहते हैं।

६. पाचक अंगों के अंतर्गत मुख, 'ग्रसनी', आमाशय तथा शाखित नलिकाएँ रहती हैं।

७. स्नायु संस्थान आंतरगुही की भाँति फैला हुआ और जाल जैसा तथा मुख की विपरीत दिशा में स्थित्यंग (स्टैटोसिस्ट, statocyst) नामक संवेदांग की उपस्थिति होती है।

८. ये जीव द्विलिंगी होते हैं; जननकोशिकाओं का निर्माण अंतर्जनस्तर से, कंकनीपंक्तियों के नीचे, होता है।

९. परिवर्धन सरल तथा विना किसी डिंभ (लार्वा) की अवस्था और पीढ़ियों के एकांतरण से होता है।

इसके अतिरिक्त अधिकांश कंकनियों में दो ठोस, लंवी स्पर्शिकाएँ (टेंटेकल्स, tentacles) होती हैं, जो प्रत्येक पार्श्व में स्थित

एक अंधी थैली से निकलती हैं। इन स्पर्शिकाओं पर कुछ विचित्र कोशिकाएँ होती है जिनको कॉलोव्लास्ट कहते है। प्रत्येक कॉलोव्लास्ट से एक प्रकार का लसदार द्रव निकलता है और इसमें कुंतलित कमानी के आकार की एक संकोची धागे जैसी रचना होती है, जो शिकार से लिपट जाती है और उसे पकड़ने में सहायक होती है।

कंकनी की संरचना का कुछ ज्ञान पार्श्वक्लोम (प्ल्यूरोब्रैंकिया, Pleurobranchia) के संक्षिप्त वर्णन से हो जायगा। यह प्रायः गोल होता है और इसका व्यास लगभग ३/४ इंच होता है। इसका मुख एक ओर स्थित होता है तथा उपलकोष्ठ मुख की विपरीत दिशा में रहता है। इन दो ध्रुवों के बीच, एक दूसरे से लगभग बराबर दूरी पर, आठ
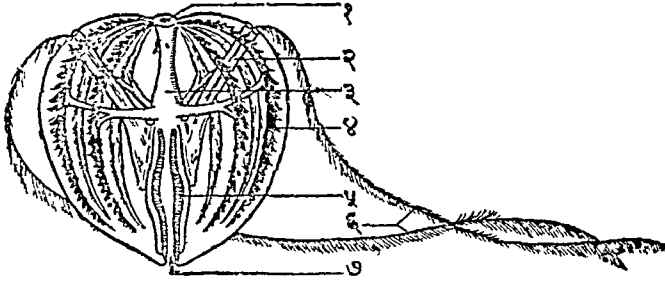
प्ल्यूरोब्रैंकिया (Pleurobranchia) की संरचना

१. इंद्रिय; २. स्पर्शिका कोष; ३. आमाशय; ४. कंघी पट्ट; ५. ग्रसनी; ६. स्पर्शिकाएँ; ७. मुख।

कंकनी पंक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पंक्ति सामान्य धरातल से कुछ ऊपर उठी हुई होती है और प्रत्येक का निर्माण अनेक वेड़ी, कंघी जैसी रचना से होता है। अंत में प्रत्येक कंघी स्वयं अनेक जुड़े हुए रोमाभ (सिलिया, cilia) से बनती है। इन रोमाभों की गति में सामंजस्य होने से जंतु में गति होती है और वह मुख को आगे की ओर रखकर चलनक्रिया करते हैं। स्थित्यंग की ओर दो अंधी थैलियों में से प्रत्येक से एक अंगक निकलता है जो बहुधा छह इंच लंबा होता है। तैरते समय अधिकतर ये रचनाएँ पीछे की ओर घिसटती रहती हैं। इनपर असंख्य कॉलोव्लास्ट होते हैं जिनकी सहायता से यह जीव छोटे जंतुओं का शिकार करता है।

मुख का संबंध ग्रसनी (फेरिंग्स) या मुखाग्र (स्टोमोडियम) से होता है जहाँ पाचन क्रिया होती है। इसके आगे आमाशय होता है जिससे पाचक नलिकाएँ एक विशेष योजना के अनुसार निकलती हैं। इनके अतिरिक्त आमाशय और भी संवेदांग की ओर बढ़ता है और अंत में उससे चार नलिकाएँ निकलती हैं जिनमें से दो संवेदांग के इधर उधर उत्सर्जन छिद्रों द्वारा बाहर खुलती हैं। वास्तव में इन छिद्रों से अपचित भोजन बाहर निकलता है।

संवेदांग की रचना में रोमाभों के चार लंबे गुच्छे भाग लेते हैं और उनके बीच एक गोल पथरीला कण, या स्थितिकण (स्टैटोलिथ), होता है। समस्त रचनाएँ एक अर्ध गोल आवरण से ढकी होती हैं। स्टैटोसिस्ट का संबंध जंतु के संतुलन से, अर्थात् गुरुत्वाकर्पण के संबंध में प्राणी की स्थिति से, होता है। संभवतः उसके द्वारा किसी प्रकार रोमाभों की गति में सामंजस्य भी उत्पन्न होता है।

पार्श्वक्लोम का समस्त वाह्य तल अधिचर्म (एपिडर्मिस) का बना होता है तथा उसके आमाशय और पाचक नलिकाओं का निर्माण रोमाभयुक्त आंतर चर्म से होता है। इन दोनों के बीच मोटा, दलदार मध्यश्लेप होता है। इसमें अनेक पेशीतंतु, संयोजक ऊतक कोशिकाएँ तथा अनियमित आकार की अमीवाभ (अमीवोसाइट, amoebocyte) कोशिकाएँ होती हैं जिनको मिलाकर मध्यचर्म (मेसोडर्म) कहा जाता है।

कंकनी का विभाजन दो वर्गों या उपवर्गों में किया जाता है—टेंटाकुलाटा तथा न्यूडा (Nuda)। इनका विवरण इस प्रकार है:

(१) **वर्ग टेंटाकुलाटा**—जिसमें साधारणतः दो लंबी स्पर्शिकाएँ पाई जाती हैं। इसमें चार गण (ऑर्डर्स) होते है:
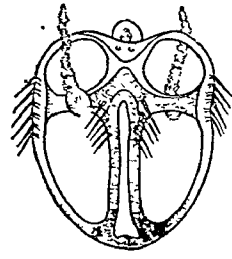
काचकुड्म (साइडिपिड, (Cydippid) कावालडिंभ (लार्वा)

(क) **साइडिपिडा** (Cydippida)—इनमें शरीर गोल होता है तथा दो स्पर्शिकाएँ पाई जाती है। ये बहुधा शाखित होती है और अपनी थैलियों में वापस की जा सकती हैं; जैसे पार्श्वक्लोम (प्ल्यूरोब्रैंकिया) तथा काचकुड्म (हॉर्मिफ़ोरा) में।

(ख) **लपालि** (लावाटा)—इनमें शरीर कुछ अंडाकार तथा चिपटा होता है। स्पर्शिकाएँ बिना थैलियों या आवरण के होती हैं और मुख के इधर उधर एक जोड़ा मौखिक पिंडक होता है; जैसे काचर उर्वशी (बोलिनॉप्सिस, *Bolinopsis*), और (नीमियाप्सिस mnemiopsis)।

(ग) **मेखला** (सेस्टिडा, Cestida)—इनमें शरीर चिपटा, लंबा, फीते जैसा होता है, दो या अधिक अविकसित स्पर्शिकाएँ होती हैं और कई छोटी पार्श्वीय स्पर्शिकाएँ; जैसे **सेस्टम वेनेरिस** (Cestum Veneris)
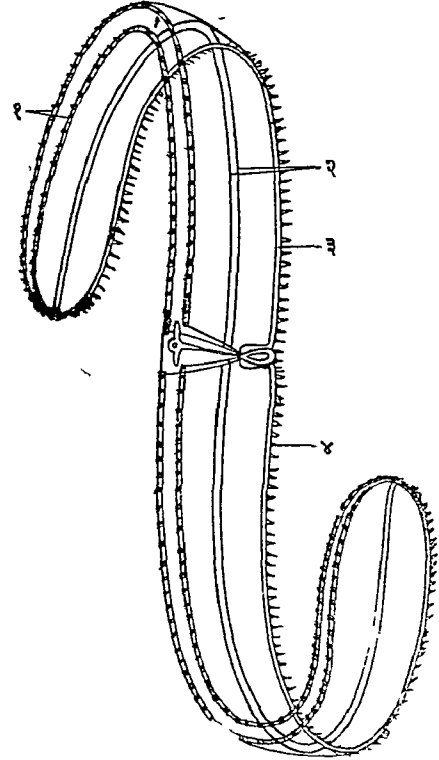
मेखला गण (सेस्टिडा) का प्राणी, विलेमेन

१. मध्य समांतर तल के (सवसैजिटल) कंघी सदृश उपांगकों की पंक्ति; २. उपांगकीय मध्यस्थित नलियाँ; ३. ग्रसनी (फैरिंजियल) नलिकाएँ; ४. स्पर्शिकाएँ।

जो दो इंच चौड़ा और लगभग तीन फुट लंबा होता है, उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है और टेढ़े मेढ़े ढंग से चलता है।

(घ) **प्लैटिक्टीनिया**—इनमें शरीर उदग्र अक्ष में चिपटा होता है और इस प्रकार रेंगने के लिये संपरिवर्तित हो जाता है; जैसे **सीलोप्लेना** (Coeloplana), **टेनोप्लेना** (Ctenoplana)।

(२) **वर्ग न्यूडा**—इनमें स्पर्शिकाओं का अभाव रहता है, शरीर थैली या टोपी जैसा होता है, मुख चौड़ा होता है और ग्रसनी बहुत बड़ी होती है। इस वर्ग में एक ही गण है:

विरोइडी (Beroidea)—इसके जंतु बहुभक्षी, शंक्वाकार शरीरवाले होते हैं। ये पार्श्वीय अक्ष मे कुछ चिपटे होते है। इस गण की मुख्य जाति वेरोई (Beroe) है, जो संसार भर में पाई जाती है। यह कुछ गुलाबी होती है और लगभग ८ इंच तक ऊँची हो सकती है।
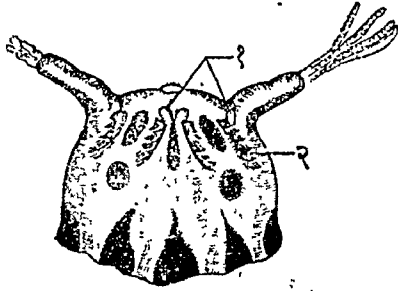
तैरता हुआ कंकत चिपिट (Ctenoplana)
१. अंकुरक (Papillae); २. कंघी सदृश पंक्ति।

वयस्क उरुमुख (बेरोई)
१. शाखाओं में फैले हुए, ध्रुवीय क्षेत्रों के अंकुरक; २. ग्रसनी नलिकाएँ; ३. मध्यस्थित नलियाँ; ४. मुख के किनारे की नली; ५. मुख।

जंतुसंसार में कंकनी की स्थिति तथा अन्य समुदायो से उनके संवंध के विषय में जंतुशास्त्रवेत्ताओं के वीच पर्याप्त मतभेद है। कुछ लक्षणों के आधार पर इनका संवंध आंतरगुहियों से स्पष्ट है, जैसे देहगुहा का अभाव, समिति की प्रकृति, श्लेपाभोय मध्यश्लेप, विस्तृत नाड़ीजाल, शाखित पाचक गुहा इत्यादि। कई लेखकों ने इसका संवंध जलीयक वर्ग (हाइड्रोजोआ) के चलछत्रिक (ट्रेकिलाइनी, Trachylinae) गण से जोड़ने का प्रयत्न किया है। यह स्थापना तथ्यपूर्ण जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त कुछ लक्षणों के कारण साइफोजोआ (Scyphozoa) और ऐंथोजोआ (Anthozoa) से भी इसका संवंध जान पड़ता है, किंतु साथ ही इस समुदाय में कुछ ऐसे लक्षण भी देखे जाते हे जिनके कारण यह सभी आंतरगुहियों से पृथक् दिखाई पड़ता है—जैसे पेशीय तंतुओं की दशा, कोलोब्लास्ट कोशिकाओं की उपस्थिति, कंकनी पंक्तियों की उपस्थिति आदि। संभव यही जान पड़ता है कि कंकनी समुदाय आंतरगुहियों के किसी वहुत प्रारंभिक पूर्वज से, जो ट्रेकिलाइनी जैसा था, उत्पन्न होकर अलग हो गया है।
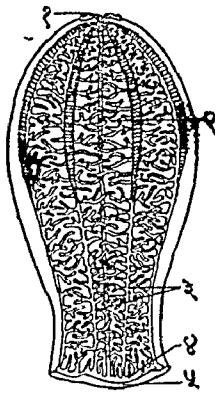
लैंग के अनुसार कंकनी से ही द्विसंमित जंतुओं का उद्भव हुआ जिनमें से मुख्य है पर्णचिपिट (टरवेलैरिया, Turbellaria)। किंतु इस मत की पुष्टि में जो तथ्य दिए गए है वे वहुत विश्वसनीय नही जान पड़ते। संभावना यही हे कि विशेषीकरण के कारण यह समुदाय जंतुओं की एक प्रकार की छोटी वंद शाखा है, यद्यपि इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि द्विस्तरीय जंतुओं से त्रिस्तरीय जंतुओं का उद्भव किस प्रकार हुआ। (उ० शं० श्री०)

कंकाल मानव शरीर के ढाँचे को कहते है जो अस्थियों से और कुछ भागों में उपास्थियों (कार्टिलेज) से मिलकर वना है। (उपास्थि नरम और लचीली हड्डियों को कहते हैं जिनमें से कई एक समय पाकर अस्थियों में वदल जाती है।)

साधारणतः मेरुदंडधारी प्राणियों में, जिनमें मनुष्य भी है, कंकाल शरीर के भीतर रहता है अतः इसे आंतरिक कंकाल कहते हैं। कुछ प्राणियों में, जैसे कछुए में, आंतरिक और वाह्य दोनों कंकाल होते हैं। परंतु जिन प्राणियों में मेरुदंड नहीं होता उनमें केवल वाह्य कंकाल ही होता है। मनुष्य में वाह्य कंकाल केवल नख और दाँत के इनैमल के रूप में ही दिखाई पड़ता है।
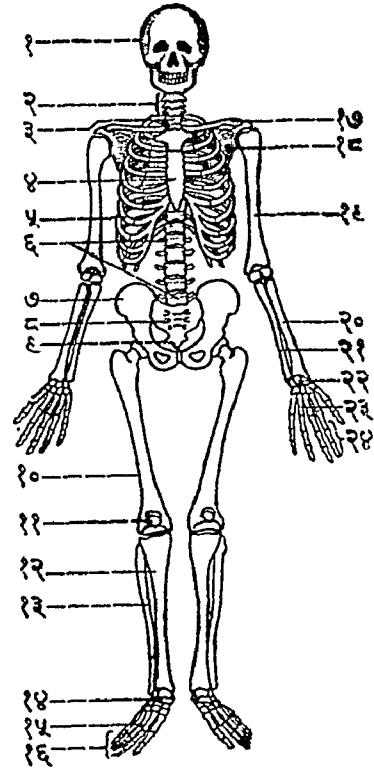
चित्र १. कंकाल

१. खोपड़ी; २. ग्रीवा कशेरुका (Cervical Vertebra); ३. पहली और दूसरी पृष्ठकशेरुकाएँ; ४. उरोस्थि (Sternum); ५. पर्शुकाएँ (Ribs); ६. कटिकशेरुकाएँ (Lumbar Vertebra); ७. श्रोण्यस्थि (Ilium); ८. त्रिक (Sacrum); ९. अनुत्रिक; १०. ऊर्विका (Femur); ११. जान्विका (Patella); १२. अंतर्जंघिका; (Tibia); १३. वहिर्जंघिका (Fibula); १४. प्रपटोपास्थि १५. अनुगुल्फिका (Meta-tarsal bones); १६. पादांगुलास्थियाँ (Phalanges); १७. अक्षक (Clavicle); १८. स्कैप्युला; १९. प्रगंडिका (Humerus) २०. वहिःप्रकोष्ठिका (Radius); २१. अंतःप्रकोष्ठिका (Ulna); २२. मणिवंध (Carpal bones); २३. पश्चमणिवंधिका (metacarpal bones); २४. आंगुलास्थियाँ (Phalanges)।

मानव कंकाल दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

१. अक्ष-कंकाल (ऐक्सियल स्केलिटन)—सिर और धड़ की अस्थियाँ;

२. शाखाकंकाल (अपेंडिक्युलर स्केलिटन)—ऊर्ध्व और अधः शाखाओं की अस्थियाँ (वाहु, भुजा, हाथ और जाँघ, टाँग, पैर)।

कंकाल में कुल २०६ अस्थियाँ होती हैं जो निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत की जा सकती है:

वर्ग	अस्थिसंख्या
मेरुदंड (रीढ़)	२६
खोपड़ी	२२
हायोइड अस्थि	१
पर्शुका (पसुली) और उरोस्थि (छाती की) हड्डियाँ)	२५
ऊर्ध्व शाखा (बाहु आदि)	६४
अधः शाखा (जाँघ आदि)	६२
श्रोत्र अस्थिका	६
कुल	२०६

अस्थियों का वर्गीकरण—आकार की दृष्टि से अस्थियों को चार वर्गों में विभाजित कर सकते है, लंबी, छोटी, चपटी और विषम आकारवाली।

लंबी अस्थियाँ—ये ऊर्ध्व और अधः शाखाओं मे होती है और गति में उत्तोलनदड (लीवर) की भाँति काम करती है। इनमें एक दड और दो सिरे होते है। दड नली के सदृश होता है जिसके बीच मे मज्जागुहा होती है और दीवार ठस (अविरल) अस्थि की बनी होती है। सिरे फैलकर सधि बनाने मे भाग लेते हैं। इन सिरो में विरल (स्पॉन्जी) अस्थि होती है। मज्जागुहा और विरल अस्थि के रिक्त स्थानों में मज्जा भरी रहती हैं।

छोटी अस्थियाँ—ये बहुभुजाकार होती है और विरल अस्थि की बनी होती है। विरल अस्थि के चारो ओर अविरल अस्थि की एक पतली तह होती है। कंकाल मे ये उन स्थानो पर रहती है जहाँ दृढ़ता के साथ साथ गति की भी आवश्यकता होती है, जैसे कलाई (मणिबंध) और प्रपटोपास्थि।

चपटी अस्थियाँ—इनमे अविरल अस्थि की दो तहें होती है जिनके बीच में विरल अस्थि रहती है। इनकी बनावट कही कही अंगो की रक्षा करती है, जैसे खोपड़ी और वक्ष, अथवा इनकी चौड़ी सतह से पेशियाँ लगी रहती है, जैसे स्कैपुला।

खोपड़ी की कुछ अस्थियों मे विरल पदार्थ के स्थान पर गुहा होती है जिनके भीतर श्लेष्म-झिल्ली (म्यूकस मेंब्रेन) लगी रहती है। गुहाओ को वायुविवर कहते है। ये विवर आनन अस्थियो मे होते है और नासिका से इनका संबंध रहता है। कंकाल के भार को बढ़ाए बिना ही ये मुख की आकृति बनाते और वाणी को प्रतिध्वनि प्रदान करते है।

विषम आकारवाली अस्थियाँ—ये भिन्न भिन्न रूप और आकार की होती हैं। कशेरुका और खोपड़ी की कुछ अस्थियाँ इस प्रकार की होती हैं।

अस्थिमज्जा—लबी अस्थियों की मज्जा (बोन मैरो) गुहा और विरल अस्थियों के रिक्त स्थानो मे भरी रहती है। बालकों मे सब मज्जा लाल होती है, परंतु ज्यों ज्यो आयु बढ़ती है, यह पीली होने लगती है। तरुण अवस्था मे लाल मज्जा केवल विरल अस्थियों में ही रह जाती है और लंबी अस्थियों की मज्जा गुहाओं में पीली मज्जा पाई जाती है। रुधिरकणिका की उत्पत्ति प्रधानतः लाल मज्जा करती हे और इस कारण इसकी रुधिरसंप्राप्ति प्रचुर मात्रा मे होती है। पीली मज्जा लगभग समस्त ही चरबी होती है और अपेक्षाकृत इसकी रुधिरप्राप्ति नही के बराबर होती है।

अस्थिच्छद (पेरिऑस्टियम Periosteum)—अस्थियों के चारों ओर तंतुमय झिल्ली (फ़ाइब्रस मेंब्रेन) की खोली होती है जिसे अस्थिच्छद कहते है। अस्थिच्छद की दो परतें होती है। बाहरी परतें अस्थि को सीमाबद्ध करती है। भीतर की परत बड़े महत्व की होती है, क्योंकि इसमे पोषण करने के अतिरिक्त अस्थि बन जाने की सामर्थ्य भी होती है।

खोपड़ी (स्कल)—खोपड़ी २२ अस्थियो से मिलकर बनी है, जो अधोहन्वस्थि (मेंडिबिल) को छोड़कर टाँकों द्वारा इस प्रकार जुड़ी रहती है कि उनमे एक दूसरे के सापेक्ष कोई गति नही होती। खोपड़ी को दो भागों मे विभाजित किया जाता है—१. कपाल और २. आननभाग।

कपाल—कपाल (क्रेनियम) अंडाकार होता हे और भीतर स्थित मस्तिष्क की रक्षा करता है। कपाल आठ अस्थियों से मिलकर बना है (चित्र २, ३) : एक ललाट अस्थि, दो पार्श्विक अस्थियाँ, एक अनुकपाल, एक तितवस्थि (इथमॉइड) एक जतुकास्थि (स्फिनॉइड) और दो शंखास्थि (टेंपोरल)।

आनन भाग—खोपड़ी के आनन भाग से चेहरे का ढाँचा, नासिका तथा मुंह की गुहा बनती है। नेत्रगुहा कपाल और आनन अस्थियो के बीच
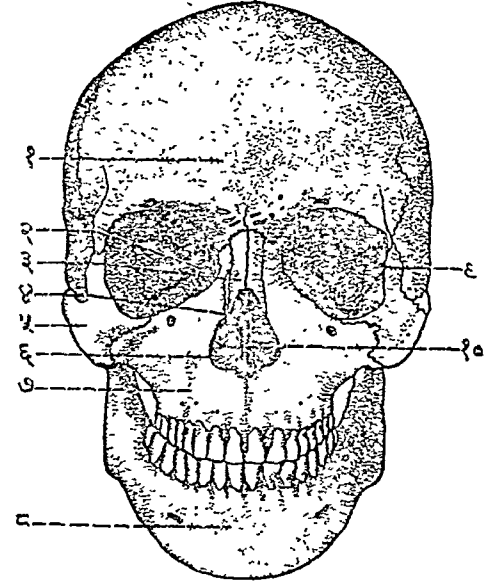
चित्र २. कपाल (सामने से)

१. ललाटास्थि (frontal bone); २. आश्रवास्थि (लैक्रिमल बोन, lachrymal bone); ३. नास्यास्थि (nasal bone); ४. कौका, बीच का (superior concha); ५. गंडास्थि (Zygomatic); ६. कौका नीचे का (inferior concha); ऊर्ध्वहन्वस्थि (मैक्सिला, maxilla); ८. अधोहन्वस्थि (मैंडिबल, mandible); ९. नेत्रगुहा (eye socket); १०. नासारंध्र (nasal cavity)

स्थित है। आनन भाग मे १४ अस्थियाँ होती है, एक अधोहन्वस्थि, दो ऊर्ध्वहन्वस्थियाँ (मैक्सिला), दो ताल्वस्थियाँ, दो गडास्थियाँ (ज़ाइगोमैटिक, zygomatic), दो आश्रवास्थियाँ (लैक्रिमल) दो नासास्थियाँ, दो नासिका कौका, और एक हलास्थि (वोमर, vomer) (द्र० चित्र २ और ३)।

इनमें से कुछ अस्थियाँ, जैसे तितवस्थि (ethmoid) और ललाटास्थि, कपाल और आनन के भाग है।

कपाल—कपाल (क्रेनियम) सब ओर से बंद रहता हे। केवल इसकी तली मे कुछ छोटे छोटे छिद्र रहते है, जिनमे से तंत्रिका और वाहिकाएँ जाती हैं। तली मे पीछे की ओर एक बड़ा रंध्र होता है जिसमे से मस्तिष्क का एक भाग (मस्तिष्क पुच्छ, मिडुला ओबलॉङ्गेटा, medulla oblongata) निकलकर रीढरज्जु से मिलता है।

कपाल का वर्णन दो भागों में किया जा सकता है : (क) गुंबज के आकार की छत, और (ख) तली, जो विषम अस्थियों से मिलकर बनी होती है।

गुंबज के आकारवाली छत—यह छह अस्थियों से मिलकर बनी होती है। आगे ललाटास्थि, इसके पीछे दो पार्श्विक अस्थियाँ और सबसे पीछे

चित्र ३. कपाल (बगल से)
१. ललाटास्थि (frontal bone); २. कॉरोनैल सीवनी (Coronal suture); ३. नासास्थि; ४. गंडास्थि; ५. ऊर्ध्वहन्वस्थि (maxillary bone); ६. पार्श्विकास्थि; ७. शंखकास्थि (टेंपोरल बोन); ८. अनुकपालास्थि (Occipital bone); ९. अधोहन्वस्थि (mandibular bone)।

अनुकपालास्थि रहती है। बराबरवाली भीत के बनाने में शंखास्थियाँ भी भाग लेती हैं।

इन अस्थियों के बीच की तंतुसंधियों को सीवनी कहते हैं। ललाटास्थि और दोनों पार्श्विक अस्थियों के बीच की सीवनी को कॉरोनैल (Coronal),
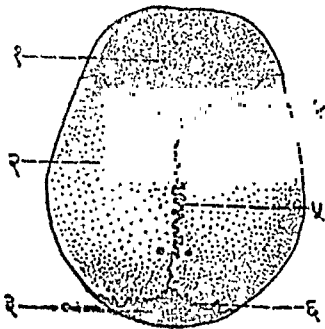
चित्र ४. कपाल (ऊपर से)
१. ललाटकीय अस्थि; २. पार्श्विकास्थि; ३. अनुकपाल अस्थि; ४. कॉरोनैल सीवनी; ५. सैजिटल सीवनी; ६. लैम्डाएड सीवनी।

दोनों पार्श्विक अस्थियों के बीचवाली को सैजिटल (Sagittal) और पीछे की ओर की पार्श्विक अस्थियों और अनुकपाल के बीचवाली सीवनी को लैम्डॉएड (Lambdoid) कहते हैं (चित्र ४)।

कपाल के विवर—जन्म के समय कपाल की अस्थियाँ पूर्ण रूप से परिपक्व नहीं होतीं और पार्श्विक अस्थि के कोनों पर कोमल झिल्ली रहती है। इन स्थानों को कपाल के विवर कहते हैं। जन्म के समय इन विवरों की अस्थियाँ एक दूसरे पर आकर कपाल की नाप को छोटा बना देती है। सबसे बड़ा विवर आगे की ओर रहता है, जहाँ सैजिटल और कॉरोनैल सीवनी मिलती हैं। यह जन्म के पश्चात् लगभग १८ मास तक बंद नहीं होता। पीछेवाला विवर सैजिटल और लैम्डॉएड सीवनी के संगम पर होता है और यह जन्म के कुछ ही समय बाद बंद हो जाता है। प्रत्येक ओर के शेष दो विवर भी जन्म के बाद कुछ ही मास में बंद हो जाते हैं (चित्र ५)।
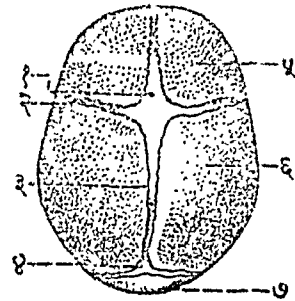
चित्र ५. नवजात शिशु का कपाल (ऊपर से)
१. आगे का विवर; २. कॉरोनैल सीवनी; ३. सैजिटल सीवनी; ४. पीछे का विवर; ५. ललाटकीय अस्थि; ६. पार्श्विकास्थि; ७. अनुकपालास्थि।

कपाल की तली—यदि छत को हटा दें और कपाल की तली को ऊपर से देखें तो तीन विभाग या विवरक दिखाई देते हैं। ये विवरक छह अस्थियों से मिलकर बने होते हैं। ललाटास्थि, तितवास्थि, जतुकास्थि, दो शंखास्थियाँ और अनुकपाल।

आगवाला विवरक तीनों में सबसे कम गहरा होता है, और इसमें मस्तिष्क और फ्रौंटल पालि रहती है। इस विवरक के बीच का भाग इथ-माइड अस्थि से बनता है। इसी अस्थि से नासिका की छत भी बनती है और इसके छोटे छोटे छिद्रों में से घ्राणतंत्रिका प्रवेश करती है। तित-वास्थि और ललाटास्थि इस विवरक को नेत्रगुहा से पृथक् करती हैं।

मध्य विवरक के बीच जतुकास्थि के एक छोटे से विभाग में पोषग्रंथि (पिट्यूटरी) पिंड रहता है। इस विभाग के दोनों ओर एक विस्तीर्ण और गहरा अवतल होता है जिसमें प्रमस्तिष्क की शंखपालि रहती है। इस अवतल की पीछे की सीमा शंखास्थि का प्रस्तर (पीटरस) भाग बनाती है, जिसके भीतर मध्यकर्ण और कान का गहन (लैबीरिंथ) रहता है।

पीछे का विवरक सबसे अधिक गहरा होता है और इसमें अनुमस्तिष्क, मध्यमस्तिष्क, सेतु (पौंस) और मस्तिष्कपुच्छ (मिडुला औब्लॉङ्गेटा) रहता है। इसी विवरक में वह बड़ा रंध्र होता है जिसमें से मस्तिष्कपुच्छ
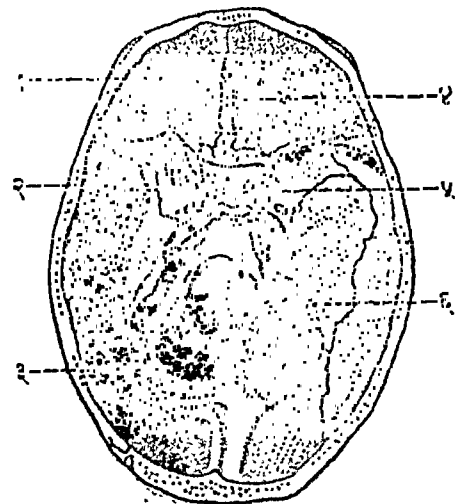
चित्र ६. कपाल की तली
१. अगला विवरक; २. मध्यविवरक; ३. पिछला विवरक; ४. घ्राणतंत्रिकाछिद्र; ५. पिट्यूटरी ग्रंथिस्थान; ६. बड़ा रं

(मैडुला ऑब्लॉङ्गेटा) जाता है। बड़े रंध्र के दोनों ओर जुगलर रंध्र होता है जिसमें से मातृका (जुगलर) शिरा और कुछ कपालतंत्रिका कपाल से बाहर आती हैं। इस विवरक की पीछे की सीमा अनुकपालास्थि बनाती है जिसमें ग्रीवा की प्रसारण पेशियाँ लगी रहती हैं।

यदि कपाल की तली में अस्थिभंग हो तो बहुधा शरीर के विशेष भाग से रक्तस्राव के चिह्न इसका संकेत करते हैं कि अमुक विवरक में अस्थिभंग हुआ है। उदाहरणार्थ, कपाल में चोट के बाद यदि नासिका, पलक या नेत्रश्लेष्मिका (कंजक्टाइवा) के नीचे रक्तप्रवाह हो तो सामने के विवरक में और कान से रक्त का आना बीच के विवरक में अस्थिभंग होना बताता है। ग्रीवा के पीछे की चोट और प्रसारण पेशियों में रक्त के चिह्न पीछेवाले विवरक में अस्थिभंग होने का संकेत करते हैं।

खोपड़ी का आनन भाग—आनन अस्थियाँ अधोहन्वस्थि को छोड़कर आपस में और कपाल के सामने तथा नीचे की ओर टाँकों द्वारा बड़ी दृढ़ता से जुड़ी रहती हैं। नेत्रगुहा और नासिकागुहा प्रधानतया आनन अस्थियों से ही बनी है। परंतु इनकी छत कपाल द्वारा बनती है।

आनन अस्थियों की सामान्य रचना का ज्ञान खोपड़ी के चित्रों का अध्ययन करने से हो सकता है। एक ऊर्ध्वहन्वस्थि, जिसमें ऊपर के दाँत रहते हैं, दूसरी से नासारंध्र के नीचे मिलती है। नासारंध्र के ऊपर की ओर दोनों नासास्थियाँ मिलती हैं। नेत्रगुहा के भीतर के किनारे के पासवाली अस्थि का नाम अश्रवास्थि (लैक्रिमल) है। अश्रवास्थि और ऊर्ध्वहन्वस्थि के बीच नासिकाश्रु नाल होती है जिसके द्वारा आँसू नेत्र से नासिका में आता है। नेत्रगुहा की बगल का किनारा गंडास्थि है। यह अस्थि पीछे की ओर शंखास्थि के ऊपर उभार से मिलकर ज़ाइगोमैटिक चाप बनाती है। यह चाप जुए की भाँति आनन और कपाल की अस्थियों को मिलाता है।

हलास्थि (वोमर)—इस पतली त्रिभुजाकार अस्थि से नाक की भित्तिका (सेप्टम) का पिछला भाग बनता है। नासिका की बगल की भीत में तीन कौंका (Concha) होते हैं। इनमें से ऊपर के दो तितवास्थि के भाग और सबसे नीचे का कौंका पृथक् अस्थि है। तालवस्थि केहुनी (L) के आकार की होती है। दोनों तालवस्थियों के समतल भाग मिलकर तालु का पिछला भाग बनाते हैं। तालु के अगले भाग से उर्ध्वहन्वस्थि बनती है। तालवस्थि के खड़े भाग से नासिका की बगलवाली भीत का पिछला भाग बनता है।

अधोहन्वस्थि—आनन की अस्थियों में से केवल यही अस्थि पर्याप्त रूप से गति करती है। इस गति द्वारा भोजन का चर्वण और ध्वनियों का उच्चारण संभव होता है। जन्म के समय अधोहन्वस्थि के दो भाग होते हैं, जो सामने की ओर चिबुक पर एक वर्ष की आयु तक अवश्य मिल जाते हैं। चिबुक का आगे की ओर उभाड़ मनुष्य जाति की विशेषता है।

चित्र ७. अधोहन्वस्थि
१. दाँत; २. खड़ा भाग; ३. कोण; ४. समतल भाग।

अधोहन्वस्थि के समतल भाग में दाँत लगे रहते हैं और इसका खड़ा भाग कपाल की शंखास्थि से जुड़ा रहता है। इसी भाग में चर्वण पेशियाँ लगी रहती हैं। अधोहन्वस्थि के ये दोनों भाग मिलकर एक कोण बनाते हैं। यह कोण युवावस्था में लगभग ११०° का होता है (चित्र ७)।

मेरुदंड—मेरुदंड (वर्टेब्रल कॉलम) ३३ कशेरुकाओं से मिलकर बना है। इनमें ७ ग्रीवा, १२ पृष्ठ, ५ कटि, ५ त्रिक और ४ अनुत्रिक कशेरुकाएँ कहलाती हैं। कशेरुकाएँ एक दूसरे के ऊपर सटी रहती हैं। ये आपस में अंतःकशेरुकाओं, उपास्थियों, स्नायुओं और पेशियों द्वारा दृढ़ता से जुड़ी रहती हैं। ग्रीवा, पृष्ठ और कटि कशेरुकाएँ अलग अलग गतिशील होती हैं। ये मुख्य कशेरुकाएँ कहलाती हैं। त्रिक और अनुत्रिक कशेरुकाएँ जुड़कर त्रिक और अनुत्रिक बनाती है। इनको गौण कशेरुका कहते हैं (चित्र ८)।
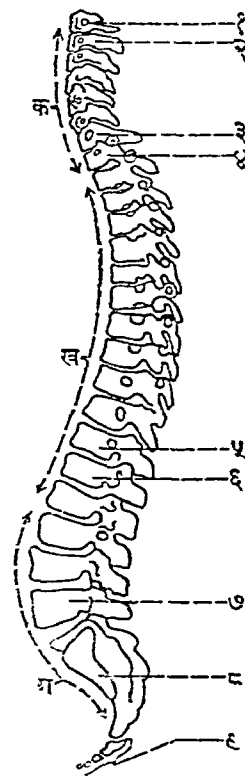
चित्र ८. मेरुदंड वक्र

१. प्रथम ग्रीवा कशेरुका (ऐटलैस); २. द्वितीय ग्रीवा कशेरुका (ऐक्सिस); ३. सातवीं ग्रीवा कशेरुका; ४. प्रथम पृष्ठ कशेरुका; ५. बारहवीं पृष्ठ कशेरुका; ६. प्रथम कटि कशेरुका; ७. पंचम कटि कशेरुका; ८. त्रिक; ९. अनुत्रिक।

युवा पुरुष में मेरुदंड की लंबाई लगभग २८ इंच होती है और स्त्रियों में ३ या ४ इंच कम। कुल लंबाई का लगभग एक चौथाई भाग अंतःकशेरुका उपास्थि बनाती है।

मेरुदंड को शरीर का अक्ष कहते हैं। यह धड़, सिर और ऊर्ध्व शाखा का भार वहन करता है। मेरुदंड में पर्याप्त मात्रा में गति भी संभव है। मेरुदंड उस तनाव अथवा दबाव का भी अवरोध करता है जो अधिक गति या मनुष्य के अधिक भार उठाने के कारण उत्पन्न हो जाता है। यह आघात अथवा दहल से रक्षा करता है। इसके द्वारा धड़, सर और ऊर्ध्व शाखा का भार, श्रोणिमेखला से होकर, अधःशाखाओं में चला जाता है। मेरुदंड वक्ष को दृढ़ता से सँभाले रखता है। इसमें शरीर की बड़ी समर्थ पेशियाँ लगी रहती हैं। मेरुदंड कोमल मेरुरज्जु की रक्षा करता है। इस प्रकार मेरुदंड शरीर का एक बड़ा विलक्षण अंग है और बड़े उपयोगी कार्यो को पूर्ण करता है। इसके अतिरिक्त कशेरुका में लाल मज्जा होती है जो रुधिरकणिका के निर्माण के लिये परम आवश्यक है।

समस्त कशेरुकाओं की सामान्य बनावट एक सी ही होती है। तथापि प्रत्येक भाग में कुछ विशेषताएँ रहती हैं। प्रत्येक कशेरुका के दो मुख्य भाग होते हैं; कशेरुका-काय आगे की ओर और इसके पीछे कशेरुकाचाप। दोनों के बीच एक बड़ा रंध्र होता है। सब कशेरुकारंध्र मिलकर पूरे मेरुदंड में एक नाल बनाते हैं जिसमें मेरुरज्जु सुरक्षित रहती है।

कशेरुकाकाय—यह वर्तुलाकार होता है और प्रधानतया विरल (स्पॉन्जी) अस्थि का बना होता है। ऊपर और नीचे की सतहों पर

चित्र ९. पृष्ठ कशेरुका (ऊपर से)
१. कशेरुकाकाय; २. आड़ा निकास; ३. कशेरुकाकंटक।
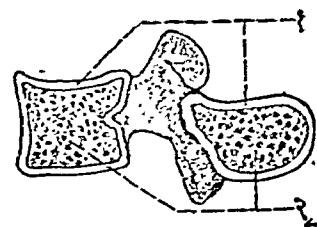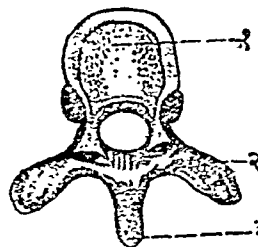
चित्र १०. कशेरुका की आंतरिक बनावट
१. अविरल अस्थि; २. विरल अस्थि।

चक्राकार अविरल अस्थि होती है जो अस्थिशिर (एपिफिसिस, Epiphy-

sis) कहलाती है। दोनों सतहें चिपटी और खुरखुरी होती हैं जिससे अंतःकशेरुका उपास्थि भली भाँति जुड़ सके। ऊपर से नीचे की ओर कशेरुकाओं का आकार कटित्रिक (लंबो सैक्रल, lumbo-sacral) संधि तक बड़ा होता जाता है, क्योंकि मेरुदंड पर पड़नेवाला भार भी नीचे की ओर बढ़ता जाता है। कटित्रिक संधि से समस्त भार श्रोणिमेखला द्वारा होकर अधःशाखाओं में चला जाता है, इसलिये त्रिक और अनुत्रिक के नीचे के सिरे पतले होकर नुकीले हो जाते है (चित्र ९, १०)।

कशेरुकाचाप—दो पेडिकल और दो लैमिना से मिलकर बनता है। पेडिकल कशरुका काय से पीछे की ओर निकली हुई दो छोटी छड़ें होती हैं। इनमें पीछे की ओर जाती हुई दो चपटी परतें लैमिना कहलाती हैं। जिस जगह दोनों लैमिनाएँ मिलती है वहाँ से पीछे निकले हुए उभाड़ को कशेरुकाकंटक (स्पाइनस प्रोसेस) कहते हैं। पेडिकल और लैमिरा के मिलने के स्थान से दो निकास (आर्टिक्युलर प्रोसेस) ऊपर की ओर और दो नीचे की ओर निकलते है जो समीपवर्ती कशेरुका के निकास से संधित होते हैं। इसी जगह से दो और आड़े प्रवर्ध (ट्रैंसवर्स प्रोसेस) बाहर की ओर निकले रहते हैं। समीपवर्ती कशेरुकाओं के पेडिकल के बीच अंतःकरुशेका रंध्र होते हैं जिनमें से तंत्रिकाएँ बाहर निकलती हैं।

ग्रीवाकशेरुका के विशेष लक्षण—सिर को सँभालने और इसकी गति के कारण प्रथम और द्वितीय ग्रीवाकशेरुका की बनावट बहुत भिन्न होती है। प्रथम ग्रीवाकशेरुका, अथवा शिरोधर (ऐटलस), बिना काय की होती है। ऊपर की ओर यह अनुकपाल से जुटी होती है। इस संधि पर सिर को आगे और पीछे की ओर हिलाने की गति होती है (चित्र ११)। द्वितीय ग्रीवाकशेरुका अथवा अक्षकीकस (ऐक्सिस) की विशेषता एक

चित्र ११. प्रथम ग्रीवाकशेरुका (ऊपर से)
इसका काय नहीं होता।

चित्र १२. द्वितीय ग्रीवाकशेरुका
१. दंताभ प्रवर्ध।

दंताभ प्रवर्ध (ओडंटॉएड प्रोसेस) है, जो इसकी काय से ऊपर उठा रहता है। यह प्रवर्ध शिरोधर से विवर्तिका संधि बनाता है। इस संधि पर सिर शिरोधर, ऐटलस (atlas) के ऊपर घूमता है (चित्र १२)।

मेरुदंडवक्र—जन्म के समय मेरुदंड पीछे की ओर उत्तल होता है, परंतु जिस समय शिशु तीन या चार मास का होता है और अपनी ग्रीवा को ऊपर उठाने लगता है, मेरुदंड का ग्रीवा विभाग सामने की ओर उत्तल हो जाता है; और छह या नौ मास के भीतर, जिस समय शिशु बैठने लगता है, कटि विभाग भी सामने उत्तल हो जाता है। वक्ष और त्रिक विभाग के पीछे की ओर के उत्तल 'मौलिक वक्र' कहलाते हैं। ये गर्भावस्था में ही बन जाते हैं और आयुपर्यंत रहते हैं। इनके कारण वक्ष और श्रोणिगुहाओं की धारणशक्ति बढ़ जाती है। ग्रीवा और कटि के सामनेवाले उत्तल 'सहकारी वक्र' कहलाते हैं। ये जन्म के बाद बनते हैं जिससे शरीर प्रलंब आसन में संतुलन प्राप्त कर सके (चित्र ८)।

ये वक्र कुछ तो इस कारण बनते हैं कि कशेरुकाएँ आगे और पीछे की ओर एक सी मोटी नहीं होतीं, परंतु अंतःकशेरुका-उपास्थियों का समान मोटाई का न होना इनका मुख्य कारण है। वृद्धावस्था में अंतःकशेरुका-उपास्थि का क्षय होने लगता है और धीरे धीरे सहकारी वक्र भी कम होने लगते हैं। इसी कारण बुढ़ापे में कमर झुक जाती है।

पर्शुकाएँ—वक्ष में एक ओर बारह पर्शुकाएँ (रिब्स) होती हैं। ऊपर की सात पर्शुकाएँ मुख्य कहलाती हैं, क्योंकि ये उरोस्थि से पर्शुकोपास्थि द्वारा संधित होती हैं। शेष पाँच गौण पर्शुकाएँ कहलाती हैं, क्योंकि ये उरोस्थि से संधि नहीं बनातीं। इनमें से आठवीं, नवीं और १०वीं पर्शुकाएँ लंबी उपास्थि द्वारा अपने से ऊपरवाली उपास्थि से मिलती हैं। अंतिम दो चलायमान पर्शुकाएँ कहलाती हैं। इनकी उपास्थियों के नुकीले सिरे किसी दूसरी उपास्थियों से नहीं मिलते। सबसे ऊपर और नीचे की पर्शुकाएँ सबसे छोटी होती हैं, इसलिये वक्ष का आकार ढोल की तरह होता है। सबसे अधिक चौड़ाई सातवी और आठवीं पर्शुका के समीप होती है।
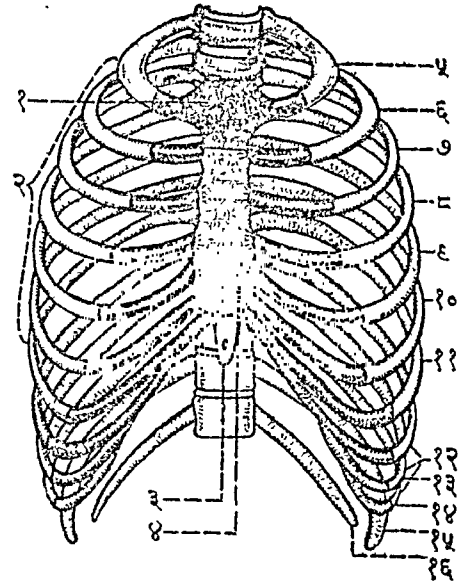
चित्र १३. संधित मेरुदंड, पर्शुका तथा उरोस्थि (सामने से)
१. हस्तक (मैन्युब्रियम, manubrium); २. मुख्य पर्शुकाएँ; ३. अग्रपत्रक; ४. काय। पर्शुकाएँ: ५. प्रथम; ६. द्वितीय; ७. तृतीय; ८. चतुर्थ; ९. पंचम; १०. षष्ठ; ११. सप्तम। गौण पर्शुकाएँ: १२. अष्टम; १३. नवम; १४. दशम; १५. एकादश; १६. द्वादश (चलायमान पर्शुका)।

पर्शुका एक लंबी चपटी अस्थि होती है जिसका अगला सिरा उपास्थि द्वारा उरोस्थि से मिलता है और पिछला कशेरुका से। बीच का भाग मुड़ा होता है। यह मोड़ सबसे अधिक पीछे की ओर होता है और पर्शुका का कोण बनाता है। इस बीच के भाग का ऊपर का किनारा गोल और नीचेवाला तीक्ष्ण होता है। नीचे के किनारे के पास ही एक अवतल में अंतःपर्शुका वाहिकाएँ और तंत्रिकाएँ रहती हैं। दो पर्शुकाओं के बीच अंतःपर्शुका पेशियाँ रहती हैं।

उरोस्थि—उरोस्थि (स्टर्नम) वक्ष में सामने की ओर रहती है। इसका आकार चौड़े भाले के समान होता है। ऊपर से नीचे की ओर इस अस्थि के तीन भाग होते हैं: हस्तक (मैन्युब्रियम), काय और अग्रपत्रक (जिफॉयड प्रोसेस, xiphoid process)। हस्तक त्रिभुजाकार होता है। ऊपर की ओर दोनों तरफ अक्षक कटाव होते हैं, जिनमें अक्षक का भीतरवाला सिरा संधित होता है। ऊपर का किनारा अवतल होता है और इसे उरोस्थि का ऊपर का कटाव (सुप्रास्टर्नल नॉच) कहते हैं। अक्षक कटाव के ठीक नीचे पहली पर्शुकोपास्थि हस्तक से संधि बनाती है। नीचे की ओर, हस्तक, काय से मिलकर, उरोस्थि कोण बनाते हैं। इस कोण को लुई का कोण भी कहते हैं। इसे वक्ष में सामने की ओर बड़ी सुगमता से परिस्पर्श कर सकते हैं। इसी जगह दूसरी पर्शुकोपास्थि उरोस्थि से मिलती है। इस कोण का परिस्पर्श पर्शुका गिनने में सहायक होता है।

उरोस्थि काय लगभग चार इंच लंबा होता है। इसके दोनों ओर कटाव होते हैं जिनमें दूसरी से लेकर सातवीं पर्शुकोपास्थि तक संधियाँ बनती है।

अग्रपत्रक एक छोटी सी उपास्थि उरोस्थि-काय से संधि बनाता है। शरीर में इस संधि के स्थान को एक उभरी हुई रेखा सदृश परिस्पर्श

सकते हैं। इसी जगह सातवीं पर्शुकोपास्थि की संधि है। अग्रपत्रक हृदय के निचले भाग के सामने रहता है। मध्य भाग में मध्यच्छदा (डायाफ्राम, diaphragm) अग्रपत्रक से लगा रहता है और मध्यच्छदा के ठीक नीचे यकृत रहता है (चित्र १३)।

ऊर्ध्वशाखा (अपर लिंब)—**अंसमेखला**—अंसमेखला आगे की ओर अक्षक (क्लैविकिल, Clavicle) और पीछे अंसफलक (स्कैप्युला) से मिलकर बनती है।

अक्षक एक लंबी, पतली और मुड़ी हुई अस्थि है जो ग्रीवा के निचले भाग में रहती है। इसका भीतर का सिरा उरःफलक से संधि बनाता है और बाहरवाला अंसफलक के उत्फलकाग्र (आक्रोमिअन, acromion) से। अक्षक कंधे को बाहर की ओर रखने में पहिए की तीली की भाँति काम करता है और इस प्रकार अंसफलक स्वतंत्र रूप से घूम सकता है।

अंसफलक (स्कैप्युला, Scapula)—अंसफलक एक चिपटी त्रिकोणाकार अस्थि है, जिसमें कंधे को गति देनेवाली बड़ी बड़ी पेशियाँ लगी रहती हैं। स्कैप्युला ऊपर की सात पर्शुकाओं के पृष्ठभाग में रहता है। इसके बाहर के सिरे पर एक छिछली गुहा होती है जिसे ग्लिनाइड गुहा कहते हैं। स्कैप्युला के पीछ की ओर एक समतल प्रवर्ध है जिसे कंटक (स्पाइन) कहते है। कंटक का बाहरी सिरा उत्फलकाग्र प्रवर्ध से मिलता है। यह प्रवर्ध उरोंस्था प्रवर्ध (कौराकॉयड प्रोसेस) से मिलकर कंधे के ऊपर एक मेहराव बनाता है। यह मेहराब प्रगंडिका (ह्यूमरस) के सिर का संधिभंग होने से रोकता है। इस प्रकार अंसमेखला और अक्षकंकाल
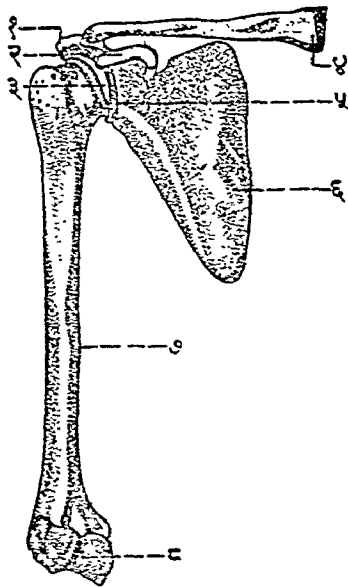
चित्र १४. अंसमेखला और प्रगंडिका (सामने से)

१. आक्रोमिअन; २. कौराकॉयड (Coracoid) प्रवर्ध; ३. गोलार्ध शिर; ४. अक्षक; ५. ग्लीनॉयड (gl·noid) गुहा; ६. स्कैप्युला; ७. प्रगंडिका; ८. नीचे का सिरा।

के बीच अस्थिसंबंध केवल उस एक छोटी संधि द्वारा होता है जो अक्षक उरःफलक से बनाती है। इसके फलस्वरूप ऊर्ध्वशाखा को बड़ी गति मिल जाती है। उदाहरणार्थ, जिस समय प्रगंड उठाया जाता है, अंसफलक वक्ष की भीत पर घूमता है और इस प्रकार अपवर्तन की सीमा बहुत बढ़ जाती है; परंतु इस रचना में ऊर्ध्वशाखा का सारा भार पेशियों को सँभालना पड़ता है और इस कारण वे शीघ्र ही थक जाती हैं (चित्र १४)।

प्रगंडिका—प्रगंडिका (ह्यूमरस, humerus) प्रगंड की एकमात्र अस्थि है। इसका ऊपर का सिरा गोलार्ध होता है और इसके पासवाले दो उभार बड़े और छोटे प्रार्बुद (ट्यूबरोसिटी) कहलाते हैं। गोलार्ध सिरा अंस-उलूखल (ग्लीनॉइड गुहा) से कंधे की उलूखल-संधि बनाता है। ग्लिनाइड के छिछले होने के कारण कंधे की संधि पर जितनी गति संभव है उतनी शरीर में और किसी भी संधि पर नहीं होती। प्रगंडिका का नीचे का सिरा फैलकर प्रकोष्ठ की अस्थियों के साथ केहुनी की संधि बनाता है (चित्र १४)।

बहिप्प्रकोष्ठिका (रेडियस) **और अंतःप्रकोष्ठिका** (अल्ना)—जब हथेली सामने की ओर अथवा चित हो तब प्रकोष्ठ की दोनों अस्थियाँ आसपास, बहिप्प्रकोष्ठिका बाहर की ओर और अंतःप्रकोष्ठिका भीतर की ओर रहती है। परंतु जिस समय हथेली को पट किया जाता है उस समय बहिप्प्रकोष्ठिका का नीचे का सिरा अंतःप्रकोष्ठिका के सामने से घूमकर भीतर की ओर आ जाता है। हथेली को चित या पट करने की गति इन दोनों अस्थियों की ऊपर और नीचेवाली संधियों पर होती है।

चित्र १५. प्रकोष्ठ की अस्थिया (सामने से)

१. अंतःप्रकोष्ठिका; २. निचले सिरे; ३. गहरा कटाव; ४. बहिप्प्रकोष्ठिका।

केहुनी पर अंतःप्रकोष्ठिका का एक गहरा कटाव प्रगंडिका के निचले सिरे पर घिरनी के आकारवाले भाग से बहुत पुष्ट संधि बनाता है। बहिप्प्रकोष्ठिका और प्रगंडिका की संधि इतनी पुष्ट नहीं होती। दोनों अस्थियों के नीचे के सिरे कलाई पर परिस्पर्श किए जा सकते हैं (चित्र १५)।

हाथ की अस्थियाँ—मणिबंध (कलाई) आठ छोटी छोटी अस्थियों से मिलकर बना है। ये अस्थियाँ ऊपर और नीचे चार चार की दो पंक्तियों में रहती हैं। ऊपरवाली पंक्ति में बाहर से भीतर की ओर मणिबंधास्थियों के नाम इस प्रकार हैं: स्कैफॉयड (नाव के आकार की), ल्यूनेट (चाँद के आकार की); ट्राइक्वेट्रल (तीन कोनोंवाली) और पिसिफ़ॉर्म (मटर के दाने के आकार की)। स्कैफॉयड और ल्यूनेट बहिप्प्रकोष्ठिका के नीचेवाले सिरे के साथ संधि बनाती हैं। ट्राइक्वेट्रल और अंतःप्रकोष्ठिका के बीच एक तिकोनी उपास्थि रहती है। इस प्रकार बहिप्प्रकोष्ठिका और उपास्थि नीचे की ओर स्कैफॉयड, ल्यूनेट और ट्राइक्वेट्रल अस्थियों के साथ कलाई की संधि बनाती हैं। पिसिफ़ॉर्म ट्राइक्वेट्रल के सामने रहती है। इसको कलाई में परिस्पर्श किया जा सकता है।

नीचे की पंक्ति में बाहर से भीतर की ओर अस्थियों के नाम इस प्रकार हैं: ट्रैपीजियम, ट्रैपिज़ॉयड, कैपिटेट और हैमेट। इनमें सबसे बड़ी अस्थि कैपिटेट का गोल सिर स्कैफॉयड और ल्यूनेट से संधि बनाता है।

मणिबंधास्थियों की ऊपर और नीचेवाली पंक्तियों के बीच संधि पर पर्याप्त मात्रा में गति संभव है। यह गति कलाई की गति में वृद्धि करती है।

पाँच करशलाकाओं से हाथ का ढाँचा बना है। पहली करशलाका ट्रैपीजियम से संधि बनाती है और इस संधि पर गति होने के कारण अँगूठा चारों उँगलियों के समीप आ सकता है। शेष चार करशलाकाएँ आसपास एक दूसरे से बँधी रहती हैं।

अँगुलियों की अस्थियाँ और भी छोटी होती हैं। अँगूठे में दो और शेष उँगलियों में तीन तीन अंगुल्यस्थियाँ होती हैं। अंगुल्यस्थियों के बीच सभी संधियों पर गति संभव है (चित्र १६)।

अधःशाखा (लोअर लिंब)—**श्रोणिमेखला**—श्रोणिमेखला दो नितंबास्थियों और त्रिक (सैक्रम, Sacrum) से मिलकर बनती है। त्रिक दोनों ओर नितंबास्थि के शेषांश भाग से मिलकर त्रिक पृष्ठनितंब (सैक्रो-इलिअक, Sacro-iliac) संधि बनाता है। आगे की ओर दोनों

नितंबास्थियाँ जुड़कर भगास्थि संधि बनाती हैं। ये संधियाँ शरीर का भार वहन करती हैं; इसलिये इन संधियों की स्नायु बहुत पुष्ट होती है।
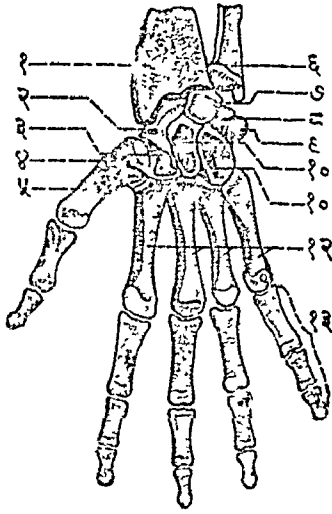
चित्र १६. प्रकोष्ठ की अस्थियों के निचले सिरे तथा हाथ की अस्थियाँ

१. बहिष्प्रकोष्ठिका; २. स्कैफ़ॉयड; ३. ट्रैपिजॉयड; ४. ट्रैपीजियम; ५. प्रथम करशलाका; ६. अंतःप्रकोष्ठिका; ७. ल्यूनेट; ८. ट्राइक्वेट्रल; ९. पिसिफ़ॉर्म; १०. कैपिटट; ११. हैमेट; १२. करशलाकाएँ; १३. अंगुल्यस्थियाँ।

नितंबास्थि—यह अस्थि तीन अस्थियों से मिलकर बनी है। आगे भगास्थि (प्यूबिस), ऊपर की ओर पृष्ठनितंब (इलियम), पृष्ठ और नीचे की ओर आसनास्थि (इस्कियम, *Ischium*) होती है। जिस समय हम बैठते है, शरीर का भार आसनास्थि वहन करती है। ये तीनों अस्थियाँ उलूखल में संधित होती है। उलूखल का आकार कटोरी जैसा होता है। १२ वर्ष की आयु तक तीनों अस्थियों के बीच त्रिरश्मि (Y) आकार की उपास्थि रहती है। इस उपास्थि का अस्थि मे परिणत होना १५–१८ वर्ष की आयु तक संपूर्ण हो जाता है। भगास्थि और आसनास्थि की शाखाएँ भगास्थि-चाप बनाती है। इन शाखाओं का अस्थि मे परिणत होना सात आठ वर्ष मे संपूर्ण होता है। भगास्थि-चाप और श्रोणि-उलूखल के बीच एक रंध्र होता है (चित्र १७)।
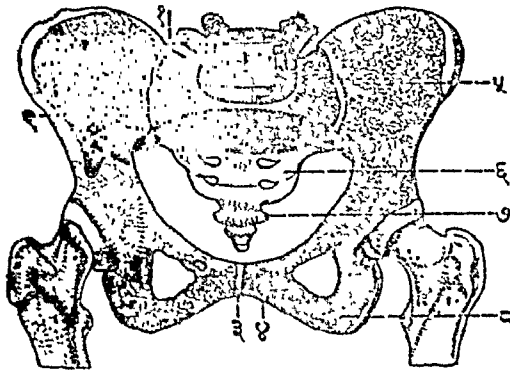
चित्र १७. श्रोणिमेखला, पंचम कटिकशेरुका तथा ऊर्विकाओं के ऊपरी सिरे

१. पंचम कटिकशेरुका; २. त्रिक इलियम संधि; ३. भगास्थि संधि; ४. भगास्थि; ५. इलियम; ६. त्रिक; ७. अनुत्रिक; ८. आसनास्थि।

ऊर्विका—ऊर्विका (फ़ीमर, femur) की तुलना प्रगंडिका से की जा सकती है, परंतु ऊर्विका बड़ी और अधिक पुष्ट होती है। इसका गोलाकार सिर श्रोणि उलूखल के साथ उलूखल संधि बनाता है। लगभग दो इंच लंबी पुष्ट ग्रीवा इसके सिर को तने से जोड़ती है। ग्रीवा और सिर के संगम पर दो ऊरुकूट (ट्रोकैंटर), एक बड़ा और दूसरा छोटा, स्थित है। ऊर्विका का नीचे का सिरा फैलकर दो संधिकंद (कॉण्डाइल्स) का रूप धारण कर लेता है। ये संधिकंद अंतर्जंघिका (टिबिया) और जानुफलक से मिलकर जानुसंधि बनाते है।

दोनों ऊर्विकाएँ, ऊपर की ओर, श्रोणि की चौड़ाई के कारण, दूर रहती है, परंतु उनके नीचे के सिर समीप रहते हैं। इस प्रकार ऊर्विका शरीर में तिरछी रहती है। स्त्रियों में श्रोणि की अधिक चौड़ाई के कारण ऊर्विका का तिरछापन अधिक होता है (चित्र १८)।
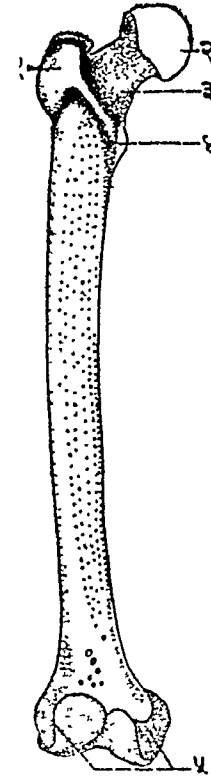
चित्र १८. ऊर्विका (सामने से)

१. बड़ा ट्रोकैंटर (trochanter); २. गोलाकार सिर; ३. ग्रीवा; ४. छोटा ट्रोकैंटर; ५. कॉण्डाइल्स (condyles)।

जान्विका—जान्विका (पैटेला, patella) चिपटी और त्रिभुजाकार है। यह ऊर्विका के निचले सिरे के सामने की ओर संधि बनाती है और जानुसंधि की सामने से रक्षा करती है। कभी कभी जान्विका का अस्थि-भंग होने पर इसको शल्यक्रिया द्वारा निकाल दिया जाता है (चित्र १९)।

चित्र १९. जान्विका (सामने से)

अंतर्जंघिका (टिबिया, tibia) और बहिर्जंघिका (फिबुला, fibula)—पैर मे ये दोनों अस्थियाँ एक झिल्ली द्वारा परस्पर जुड़ी रहती है। इनके ऊपर

और नीचे के सिरे ऊर्ध्व और अधःसंधियां बनाते हैं। इन संधियों पर गति बहुत ही कम मात्रा में संभव है। अंतर्जंघिका भीतर की ओर अधिक स्थूल और पुष्ट अस्थि है। वहिर्जंघिका वाहर की ओर एक पतली कमठी जैसी होती है। वहिर्जंघिका का ऊपर का सिरा जानुसंधि तक नहीं पहुँचता। दोनों अस्थियों के नीचे के सिरे एक चाप बनाते हैं। यह चाप गुल्फिका (टार्सस) की टैलस अस्थि के साथ संधि बनाता है जिसे टखना कहते हैं। वहिर्जंघिका का नीचे का सिरा अंतर्जंघिका के नीचे के सिरे से लगभग आधा इंच नीचा रहता है (चित्र २०)।

चित्र २०. अंतर्जंघिका और वहिर्जंघिका (सामने से)
१. अंतर्जंघिका; २. तथा ३. ऊपर के सिरे; ४. वहिर्जंघिका; ५. नीचे के सिरे।

पादास्थियाँ—प्रपटोपास्थि में सात अस्थियाँ होती हैं। ये मणिबंधास्थि की अस्थियों से बड़ी होती हैं। सबसे ऊपरवाली अस्थि का नाम टैलस है। टैलस के नीचे प्रगुल्फास्थि (कैलकेनियम) होती है, जो प्रपटोपास्थि की सबसे बड़ी अस्थि है। प्रगुल्फास्थि का पिछला सिरा एड़ी के नीचे रहता है। टैलस के आगे नौकाकार (नैवीक्युलर) अस्थि है जो टैलस के तिरछी होने के कारण पैर के भीतर की ओर रहती है। नैवीकुलर के आगे तीन स्फान (क्यूनीफ़ॉर्म, Cuneiform) अस्थियाँ होती हैं। अँगूठे की ओर की तीन पादशलाकाएँ तीनों स्फानास्थियों (क्यूनीफ़ॉर्म) से संधित होती हैं। पैर के वाहर की ओर प्रगुल्फास्थि के आगे घनास्थि (क्यूबॉयड अस्थि) रहती है। घनास्थि चौथी और पाँचवीं पादशलाकाओं से संधित होती है।

तलवे के भीतर और वाहर की ओर मुड़ने की गति उस संधि पर होती है जो टैलस, प्रगुल्फास्थि और नौकाकार अस्थियों से मिलकर बनती है।

पैर के अग्रभाग में पाँच पादशलाकाएँ रहती हैं। पहली पादशलाका दूसरों की अपेक्षा अधिक पुष्ट होती है। यद्यपि इसकी तुलना पहली कर-

चित्र २१. पाद की अस्थियाँ (ऊपर से)
१. क्यूनीफ़ॉर्म; २. नैवीक्युलर; ३. अंगुलास्थियाँ; ४. पादशलाकाएँ; ५. क्यूबॉएड; ६. टैलस; ७. कैलकेनियम।

भास्थि (मैटाकार्पल) से की जा सकती है, तथापि यह दूसरी पादशलाकाओं से इस प्रकार जुड़ी रहती है कि स्वतंत्र रूप से इसमें कुछ भी गति शक्य नहीं होती है। दो छोटी छोटी स्नायुजात अस्थियाँ (सेसामॉयड्स, Sesamoids) पहली पादशलाका के अगले सिरे के नीचे रहती हैं।

पैर की अंगुल्यस्थियाँ हाथ की भाँति ही होती हैं, परंतु आकार में पैर के अँगूठे की दो अंगुल्यस्थियाँ, हाथ के अँगूठे से बड़ी और शेष अंगुल्यस्थियाँ, जो प्रत्येक अँगुली में तीन होती हैं, हाथ की अंगुल्यस्थियों की अपेक्षा छोटी और पतली होती हैं (चित्र २१)। (ध० कु०)

कंक्रीट अग्रलिखित पदार्थों का मिश्रण है : (१) कोई अक्रियाशील पदार्थ, जैसे टूटा पत्थर या ईंट (गिट्टी), बड़ी बजरी, छाई (मशीन की राख, सिंडर) अथवा मशीन से निकला झावाँ; (२) बालू या पत्थर का चूरा या पिसी ईंट (सुरखी); (३) पूर्वोक्त पदार्थों को जोड़ने के लिये कोई पदार्थ, जैसे सीमेंट अथवा चूना, और (४) आवश्यकतानुसार पानी। इस मिश्रण को जब अच्छी तरह मिला दिया जाता है और केवल इतना ढीला रखा जाता है कि गड्ढे या साँचे के कोने कोने तक पहुँच सके तब यह किसी भी आकृति के गड्ढे अथवा खोखले स्थान में, जैसे नीव में अथवा मेहराब की बगल में, भरा जा सकता है। कुछ समय में यह पत्थर जैसा कड़ा हो जाता है। कंक्रीट का उपयोग २००० ई० पू० से होता आ रहा है। कंक्रीट के गुण उन पदार्थों पर निर्भर होते हैं जिनसे यह बनाया जाता है, परंतु प्रधानतः वे उस पदार्थ पर निर्भर रहते हैं जो पत्थर, गिट्टी आदि को परस्पर चिपकाने के लिये प्रयुक्त होता है। १९वीं शताब्दी में पोर्टलैंड सीमेंट के आविष्कार के पहले इस काम के लिये केवल चूना उपलब्ध था, परंतु अब चूने के कंक्रीट का उपयोग केवल वहीं होता है जहाँ अधिक पुष्टता की आवश्यकता नहीं रहती। अधिक पुष्टता के लिये सीमेंट कंक्रीट का उपयोग होता है। सीमेंट कंक्रीट को इस्पात से दृढ़ करके उन स्थानों में भी प्रयुक्त किया जा सकता है जहाँ लपने या मुड़ने की संभावना रहती है, जैसे धरनों अथवा स्तंभों में। चूने की कंक्रीट के लिये द्र० **चूना**।

सीमेंट कंक्रीट—यह सीमेंट, पानी, बालू और पत्थर या ईंट की गिट्टी अथवा बड़ी बजरी या झावाँ से बनता है और भवननिर्माण में अधिक काम में आता है। जैसा ऊपर बताया गया है, जब ये पदार्थ भली भाँति मिला दिए जाते हैं तब उनसे कुम्हार की मिट्टी की तरह प्लैस्टिक पदार्थ बनता है, जो धीरे धीरे पत्थर की तरह कड़ा हो जाता है। यह कृत्रिम पत्थर प्रकृति में मिलनेवाले कांग्लोमरेट नामक पत्थर के स्वभाव का होता है। भवननिर्माण में सीमेंट कंक्रीट के इस गुण के कारण यह बड़ी सुगमता से किसी भी स्थान में ढाला जा सकता है और इसको कोई भी वांछित रूप दिया जा सकता है। इसके लिये आवश्यक पदार्थ प्रायः सभी स्थानों में उपलब्ध रहते हैं, परंतु सर्वोत्तम परिणाम के लिये कंक्रीट को मिलाने और ढालने का काम प्रशिक्षित मजदूरों को सौंपना चाहिए। कंक्रीट की पुष्टता उसके अवयवों के अनुपात और उनको मिलाने के ढंग पर निर्भर रहती है।

इंजीनियरी और भवननिर्माण में इसके प्रायः असंख्य प्रकार के उपयोग हो सकते हैं, जिनमें भारी नीवें, पुश्ते, नौस्थान (डॉक, dock) की भित्तियाँ, तरंगों से रक्षा के लिये समुद्र में बनी दीवारें, पुल, उद्रोध इत्यादि बृहत्काय संरचनाएँ भी संमिलित हैं। इस्पात से प्रबलित (रिइन्फ़ोर्स्ड, reinforced) कंक्रीट के रूप में यह अनेक अन्य संरचनाओं के लिये प्रयुक्त होता है, जैसे फर्श, छत, मेहराब, पानी की टंकियाँ, अट्टालिकाएँ, पुल के बड़े पीपे (पांटून, pontoon), घाट, नरम भूमि में नीव के नीचे ठोंके जानेवाले खूँटे, जहाजों के लिये समुद्री घाट, तथा अनेक अन्य रचनाएँ। टिकाऊपन, पुष्टता, सौंदर्य, अग्नि के प्रति सहनशीलता, सस्तापन इत्यादि ऐसे गुण हैं जिनके कारण भवननिर्माण में कंक्रीट अधिकाधिक लोकप्रिय होता जा रहा है और इनके कारण भवननिर्माण में प्रयुक्त होनेवाले पहले के कई अन्य पदार्थ हटते जा रहे हैं।

गिट्टी और बालू—पत्थर या ईंट के छोटे छोटे टुकड़ों को गिट्टी कहते हैं। गिट्टी के बदले बड़ी बजरी आदि का भी उपयोग हो सकता है, अतः उनको भी हम यहाँ गिट्टी के अंतर्गत मानेंगे। गिट्टी और बालू दोनों के संमिलित रूप को अभिसमूह (ऐग्रिगेट) कहते हैं। नाप के अनुसार गिट्टी के निम्नलिखित वर्ग हैं :

कंक्रीट (द्र० पृ० ३३८)
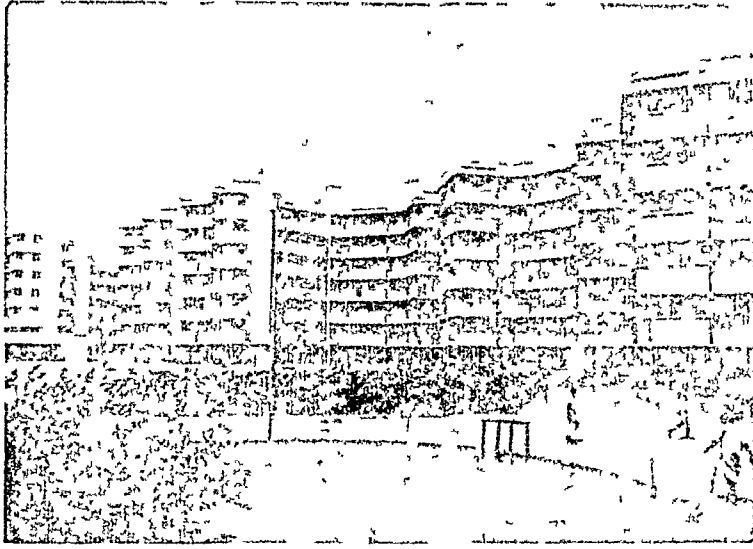
आधुनिक आवास भवन

ये बॉम्बे सेंट्रल स्टेशन के पास स्थित रिज़र्व बैंक के कर्मचारियों के रहने के लिये बनाए गए है।
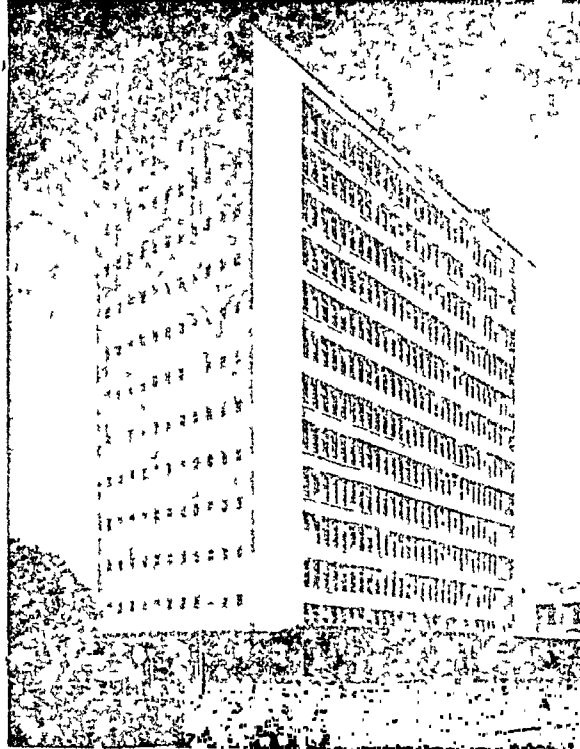
मद्रास का एक विशिष्ट भवन

१७६ फुट ऊँचे पूर्व प्रतिबलित कंक्रीट के इस भवन मे लाइफ इंश्योरेंस कॉर्पोरेशन ऑव इंडिया का कार्यालय है।

(ऐसोशिएटेड सीमेंट कं० लि०, मुंबई, के सौजन्य से प्राप्त)।

कंक्रीट (द्र० पृ० ३३८)

ऐसोशिएटेड सीमेंट कं० लि० का भवन, मुंबई
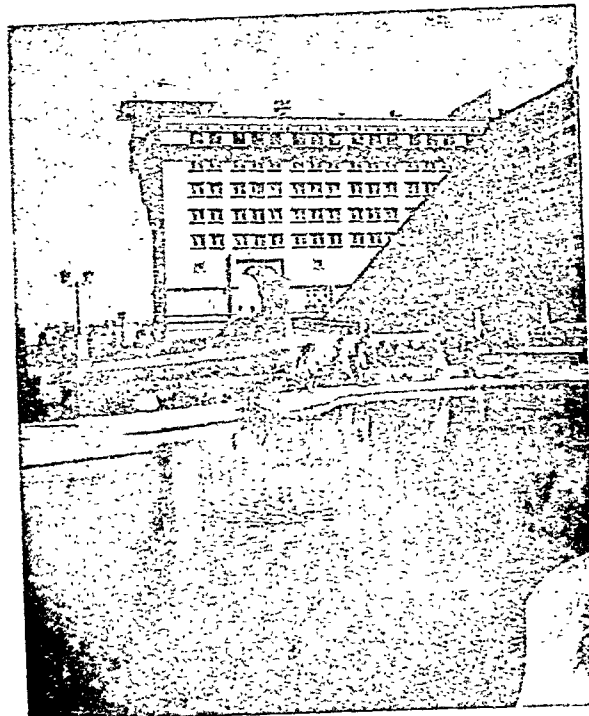
अशोक होटल, दिल्ली

(ऐसोशिएटेड सीमेंट कं० लि०, मुंबई, के सौजन्य से प्राप्त)।

) दानवी (साइक्लोपियन), जब नाप ७.५ से १५ सेंटीमीटर से ६ इंच तक) होती है;
) मोटी गिट्टी, ०.५ से ७.५ सेंटीमीटर तक (३/१६ से ३ इंच तक);
) महीन, ०.१५ से ५ मिलीमीटर तक (०.००५९ से ३/१६ इंच

। की नाप बताने के लिये 'सूक्ष्मता मापांक' (फ़ाइननेस मॉड्युलस, modulus) का प्रयोग किया जाता है। नापने के लिये दस चलनियाँ रहती हैं जिनकी जाली की नाप निम्नलिखित होती है: इंच, १½ इंच, ¾ इंच, ⅜ इंच, ३/१६ इंच, २.४१ मिलीमीटर, १.२०४ मीटर, ०.५९९ मिलीमीटर, ०.२९५ मिलीमीटर और ०.१५२ मीटर। २.४१ मिलीमीटरवाली चलनी को नंबर ७ चलनी तथा बाद की चलनियों को क्रमानुसार नंबर १४, नंबर २५, नंबर ५२ नंबर १०० भी कहते हैं।

सूक्ष्मता मापांक प्राप्त करने के लिये माल को इन चलनियों से क्रमार चाला जाता है। माल की तौल के अनुसार इन चलनियों पर जितना ना प्रतिशत बचा रह जाता है उनके योगफल को १०० से भाग दे जाता है। इस प्रकार प्राप्त लब्धि को सूक्ष्मता मापांक कहते है।

कंक्रीट के लिये सूक्ष्म मिलावे (बालू या सुर्खी) का सूक्ष्मता मापांक र ३ के बीच होना चाहिए और मोटे मिलावे (गिट्टी) का ५ और ८ च।

सूक्ष्म मिलावे (बालू इत्यादि) का ९० प्रतिशत अंश ३/१६ इंच जाली के पार हो जाना चाहिए और १०० नंबरवाली जाली पर ८५ शत से कम नहीं पड़ा रहना चाहिए (अर्थात् बालू में धूलि आदि बहुत) । सूक्ष्म मिलावे के लिये नदी या समुद्र की बालू, अथवा पत्थर खान से निकला चूरा पीसकर प्रयुक्त किया जाता है। प्राकृतिक अथवा बजरी में मिट्टी, तलछट और धूलि तौल के अनुसार ३ प्रतिशत से क नहीं होनी चाहिए तथा चूर्ण किए गए पत्थर में १० प्रतिशत से क धूलि आदि न होनी चाहिए। बालू आदि को घास पात आदि णज (ऑर्गैनिक, organic) अशुद्धियों से मुक्त होना चाहिए।

मोटे मिलावे (गिट्टी) के कम से कम ९५ प्रतिशत को ३ इंचवाली नी से पार हो जाना चाहिए और कम से कम ९० प्रतिशत को ३/१६ इंच-ी चलनी पर पड़ा रहना चाहिए। तोड़ा गया पत्थर, तोड़ी गई ईंट, किया गया पत्थर, झावाँ अथवा छाई, ये सब मोटे मिलावे के लिये म में लाई जा सकती है। छाई और कोक हलके कंक्रीट के लिये उपयोगी परंतु भारी और पुष्ट काम के लिये चूने का पत्थर, ग्रैनाइट, नाइस, ट्रैप वा कड़ा बलुआ पत्थर काम में लाया जाता है। चिपकानेवाले पदार्थ मेंट) से कमजोर पड़नेवाले नरम पत्थर का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

गिट्टी कुछ गोलाकार हों, रुक्ष हो, उससे चिप्पड़ न छूटें और तोड़ने पुष्ट हो। तौल के अनुसार गिट्टी पाँच प्रति शत से अधिक पानी न े। उसमें यथासंभव मिट्टी न हो और प्राणिज (ऑर्गैनिक) पदार्थ घास, काई इत्यादि) न हों।

सीमेंट—यों तो कार्य और आवश्यकता के अनुसार कई प्रकार के का व्यवहार किया जाता है, परंतु साधारण काम के लिये अधिकतर सीमेंट काम में लाया जाता है। यह प्रधानतः ट्राइकैल्सियम केट, डाइकैल्सियम सिलिकेट, ट्राइकैल्सियम ऐल्युमिनेट और जिपसम मिश्रण होता है। पानी मिलाने के बाद सबसे पहले पुष्टता ऐल्यु-ेट और ट्राइकैल्सियम सिलिकेट से आती है, क्योंकि पानी का शोषण समय उनके कारण अधिक गरमी उत्पन्न होती है। सारणी १ में सीमेंटों से बनी कंक्रीट की पुष्टता कंक्रीट की आयु के अनुसार गई है। काम में लाने के पहले सीमेंट को सूखे स्थान में रखना अन्यथा आर्द्रता से सीमेंट खराब हो जायगा। नम स्थान में रखने सीमेंट कड़ा हो जाता है वह किसी काम का नहीं रहता। कभी कभी, मेंट की बोरियाँ एक के ऊपर एक बहुत ऊँचाई तक लदी रहती हैं चे का सीमेंट अधिक दाब के कारण भी बँध जाता है, परंतु यह सीमेंट खराब नहीं रहता और कंक्रीट बनाते समय सरलतापूर्वक अन्य पदार्थों के साथ मिल जाता है।

कड़ा होने का प्रारंभिक समय ३० मिनट से कम नहीं होना चाहिए। कंक्रीट को सानने के बाद ३० मिनट के भीतर ही अपने स्थान में ढाल देना चाहिए। कड़ा होने का अंतिम समय १० घंटे से कम न होना चाहिए। सात दिन के बाद परीक्षा लेने पर दाब और तनाव में सीमेंट की पुष्टता क्रमानुसार २,५०० पाउंड प्रति वर्ग इंच और ३७५ पाउंड प्रति वर्ग इंच से कम न होनी चाहिए। १७० नंबर की चलनी से सीमेंट के ९० प्रतिशत
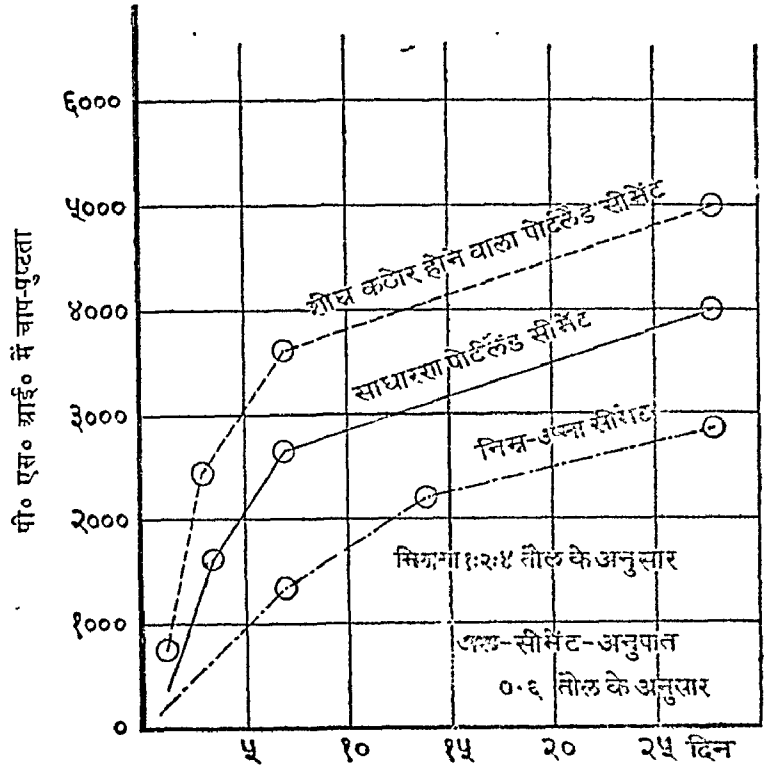
चित्र १. कंक्रीट की आयु-पुष्टता-वक्ररेखा

से अधिक अंश को पार हो जाना चाहिए और एक ग्राम सीमेंट के कणों का संमिलित क्षेत्रफल २,२५० वर्ग सेंटीमीटर से कम न होना चाहिए।

पानी—पानी स्वच्छ हो, उसमें प्राणिज पदार्थ, अम्ल, क्षार और कोई भी अन्य हानिकारक पदार्थ न होना चाहिए। संक्षेप में, जो जल पीने योग्य होता है वही कंक्रीट बनाने के भी योग्य होता है।

पदार्थों की नाप—कंक्रीट बनाने में विविध पदार्थों को ठीक ठीक नापना बहुत महत्वपूर्ण है। जब पदार्थों को आयतन के अनुसार नापकर मिलाया
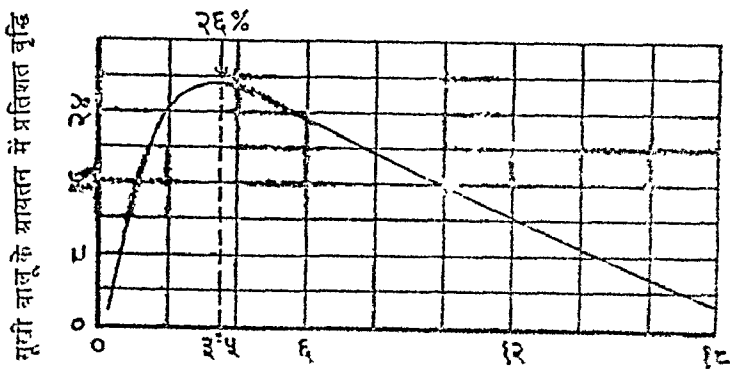
जाता है तब नापनेवाला बरतन छोटा बड़ा होने से अंतिम नाप में अंतर पड़ जाता है। पदार्थ किस प्रकार उठाकर बरतन में डाला जाता है और बरतन को अंत में कैसे भरा जाता है, इसका प्रभाव भी अंतिम नाप पर पड़ता है। फिर, मिलावे की किस्म और उसकी आर्द्रता का भी प्रभाव पड़ता है। महीन मिलावे (बालू आदि) में ३.५ प्रतिशत आर्द्रता रहने पर आयतन लगभग २५ प्रतिशत अधिक हो जाता है। मिलावा जितना ही अधिक महीन होगा, आर्द्रता से आयतन उतना ही अधिक बढ़ेगा। आर्द्रता से आयतन का बढ़ना चित्र २ में दिखाया गया है।

अतः अच्छे काम में पदार्थों को तौलकर मिलाना चाहिए। परंतु साधारणतः निर्माण कार्यों में पदार्थों की नाप आयतन से होती है। अतः उन सभी बातों पर ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है जिनसे आयतन घटता बढ़ता है। सीमेंट की प्रत्येक बोरी के लिये आवश्यक पानी की मात्रा साधारणतः गैलनों में बताई जाती है।

सीमेंट कंक्रीट के अवयव—कंक्रीट के अवयवों का अनुपात अच्छी सुकरता, पुष्टता, टिकाऊपन और सस्तेपन के विचार से रखा जाता है।

सुकरता (वर्केबिलिटी, workability) का अनुमान इस बात से किया जाता है कि कंक्रीट के मिलाने, ढालने और ढालने के बाद कूटने में कितना समय लगता है। सुकरता जल की मात्रा, गिट्टी की नाप और मोटे तथा महीन मिलावे के अनुपात पर निर्भर रहती है। जल और महीन मिलावा बढ़ाने से सुकरता बढ़ती है। सुकरता नापने की कई रीतियाँ है परंतु अधिक उपयोग अवपात (स्लंप, Slump) रीति का ही होता है। इस रीति का वर्णन नीचे किया जाता है।

ताजा बने कंक्रीट को पेंदी रहित बालटी में डालते हैं जिसकी आकृति शंकु के छिन्नक (फ़स्टम) की भाँति होती है। ऊपर का व्यास ५ इंच तथा नीचे का ८ इंच होता है और ऊँचाई १२ इंच होती है। कंक्रीट को इस बरतन में भरकर कूटने के बाद, बरतन को उठा लिया जाता है। तब कंक्रीट कुछ बैठ जाता है, जैसा चित्र ३ में दिखाया गया है। कंक्रीट का
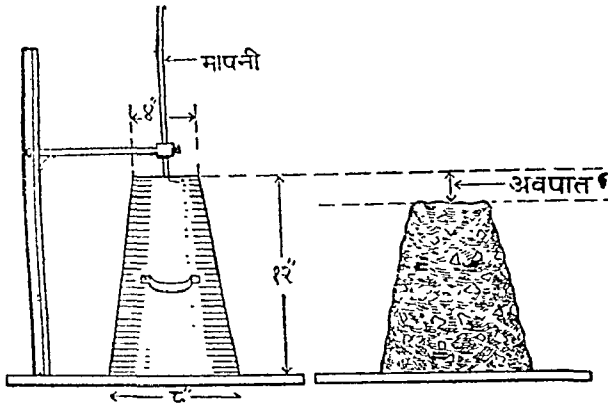
चित्र ३. **कंक्रीट का अवपात**

माथा जितने नीचे धँसता है उतना ही अवपात (स्लंप) कहलाता है। अवपात जितना ही अधिक होगा, सुकरता भी उतनी ही अधिक होगी। सड़क बनाने के लिये १ इंच के कंक्रीट का अवपात ठीक रहता है। छत, धरन (बीम, beam) इत्यादि में अवपात १½ इंच से २ इंच तक होना चाहिए। खंभों और उन पतली दीवारों के लिये जो कमरों को दो या अधिक खंडों में बाँटने के लिये खड़ी की जाती हैं, अवपात को ४ इंच तक बढ़ाना पड़ता है, जिसमें कंक्रीट फैलकर सब जगह पहुँच जाय और कहीं पोलापन न रह जाय।

कंक्रीट की पुष्टता (स्ट्रेंग्थ, Strength), सीमेंट के गुण, जल और सीमेंट के अनुपात और सघनता की मात्रा पर निर्भर होती है। यदि सीमेंट वही रहे और गिट्टी तथा बालू इस प्रकार से विविध नापों के रहें कि पूर्ण ‍[illegible]घनता प्राप्त हो तो कंक्रीट की पुष्टता जल और सीमेंट के अनुपात पर [illegible]र रहेगी। चित्र ४ में जल तथा सीमेंट के अनुपात और पुष्टता का [illegible]ध दिखाया गया है। इसे देखते ही पता चलता है कि जल और सीमेंट का अनुपात बढ़ने से, अर्थात् अधिक जल मिलाने से, पुष्टता घटती है; परंतु स्मरण रहे कि पानी की मात्रा एक निश्चित सीमा से कम नहीं की जा सकती। रासायनिक क्रिया पूरी होने के लिये जल की मात्रा सीमेंट की मात्रा की कम से कम ०.२५ होनी चाहिए, परंतु सुकरता के लिये और कंक्रीट को कूटकर सघन बना सकने के लिये इससे अधिक पानी की आवश्यकता पड़ती है।

०.३५ से कम अनुपात में पानी मिलाकर बनाया गया मिश्रण प्रायः इतना खर्रा (सूखा) होता है कि उससे काम नहीं लिया जा सकता।
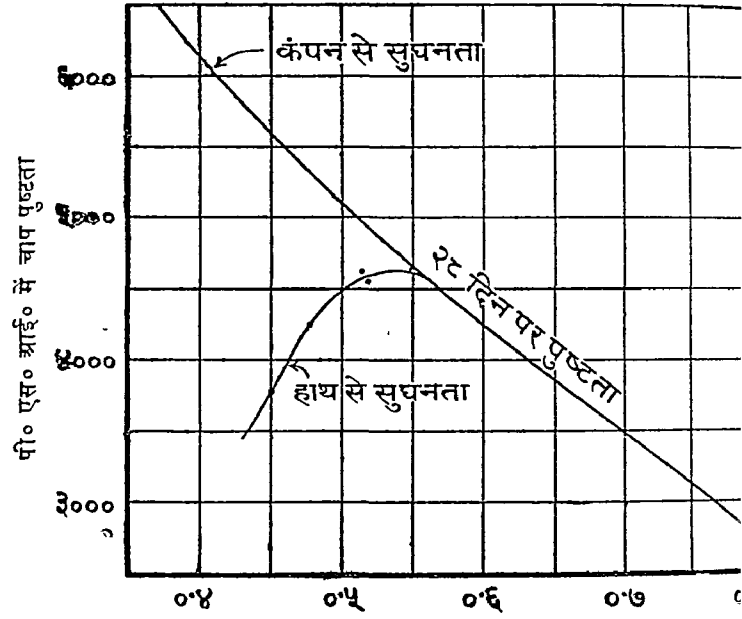
संहति के अनुसार जल तथा सीमेंट का अनुपात

चित्र ४. **जल तथा सीमेंट के अनुपात तथा पुष्टता का संबंध**

कंक्रीट का टिकाऊपन प्रधानतः उसकी सघनता पर निर्भर रहता है। कंक्रीट में जितने ही कम रंध्र रहते हैं, उसमें उतना ही कम क्षारीय जल अथवा अन्य हानिकर पदार्थ घुल पाते है, इसलिये उसमें उतना ही कम क्षय होता है। सघनता प्राप्त करने के लिये यथासंभव कम पानी डालना चाहिए और गिट्टी के रोड़ों की नाप तथा बालू का प्रकार और उसकी मात्रा ऐसी होनी चाहिए कि कंक्रीट में रिक्त स्थान न छूटने पाए।

मितव्ययता या सस्तेपन के लिये यह आवश्यक है कि सीमेंट कम से कम पड़े और मिलाने, ढालने तथा कूटने में परिश्रम न्यूनतम लगे। एतदर्थ इसका ध्यान रखना चाहिए कि आवश्यक सुकरता के लिये जितना न्यूनतम जल अपेक्षित हो उससे अधिक न छोड़ा जाय।

इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि हमें पहले ऐसा जल-सीमेंट-अनुपात चुनना चाहिए कि आवश्यक पुष्टता मिले और तब महीन और मोटे मिलावे के अवयवों को इस अनुपात में रखना चाहिए कि अच्छी सुकरता और पूर्ण सघनता के लिये उसमें न्यूनतम मात्रा में जल और सीमेंट का मिश्रण डालना पड़े। पूर्ण सघनता का अर्थ यह है कि मिलावे (गिट्टी-बालू) के कणों के बीच के समस्त रिक्त स्थान जल-सीमेंट-मिश्रण से भर उठें और वायु के बुलबुले कहीं न रहें।

मिलावे के विविध पदार्थों को नाप के अनुसार उचित अनुपात में मिलाना अत्यंत महत्वपूर्ण है। इससे केवल पुष्टता ही नहीं बढ़ती, सुकरता भी बढ़ती है। उचित रीति से श्रेणीबद्ध गिट्टी-बालू में सभी नापों के कण इस प्रकार रहते हैं कि बड़े कणों के बीच के रिक्त स्थान छोटे कणों से भर जाते हैं और इन छोटे कणों के बीच के रिक्त स्थान उनसे भी छोटे कणों से भर जाते हैं, इत्यादि। यदि ऐसा न हुआ तो सब रिक्त स्थानों को जल-सीमेंट-मिश्रण से भरना पड़ेगा। इसलिये कंक्रीट की चरम सघनता के निमित्त मिलनेवाले मिलावे की गिट्टी और बालू को इस प्रकार उचित रीति से

कंक्रीट की सड़क (द्र० पृ० ३४१)
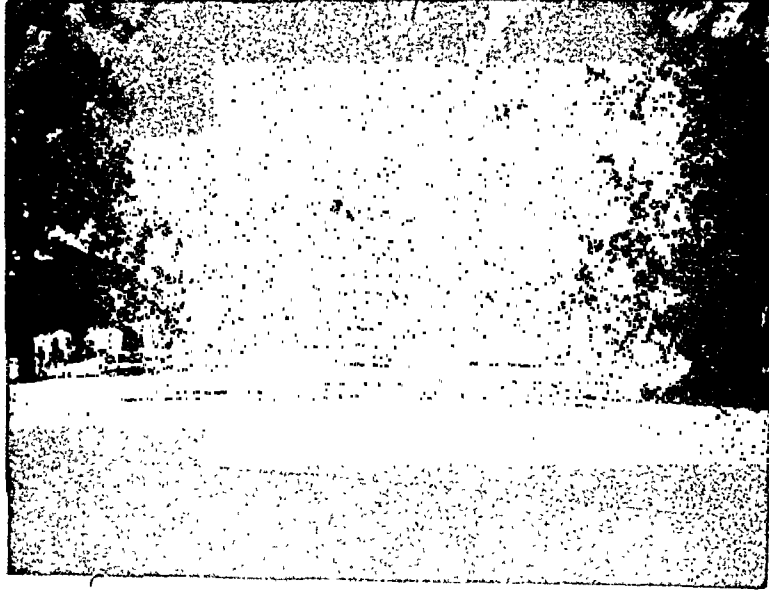
वाराणसी—मुगलसराय सड़क
ग्रैंड ट्रंक रोड के ८ मील लंबे इस भाग पर बनी कंक्रीट की सड़क ३४ वर्ष पश्चात् भी बहुत अच्छी अवस्था में है।

मुंबई—पूना मार्ग
इस २० फुट चौड़ी सड़क का ८० मील लंबा भाग ५ इंच मोटे कंक्रीट का है।

...बना पुल

...क सौ वर्ष पुराना यह पुल अभी

...दशा में है।

असाधारण ऊँची उठान का महराबदार पुल

१३२ फुट ऊँचा यह पुल पश्चिम बंगाल में तीस्ता नदी के ऊपर है।

इसका चाप-विस्तार २७६ फुट है।

साबरमती पर रिंजा पुल

पूर्वकृत पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट की धरनें १४० फुट दूर स्थित

पायों पर रखी हैं।

श्रेणीवद्ध किया जाता है कि मिलावे में कम से कम रिक्तता हो जाय। कुछ महत्वपूर्ण कामों में सस्तेपन के लिये अंतर-श्रेणीकरण (गैप ग्रेडिंग) की रीति बरती जाती है। इसमें ब्रिटिश स्टैंडर्ड नंबर ३/१६ से ७ की चलनी तक की वजरी को मिलावे मे संमिलित नही किया जाता।

आवश्यक मात्राओं का अनुमान—साधारणत: कंक्रीट का मिश्रण सीमेंट, वालू और गिट्टी के आयतनों के अनुपात के अनुसार तैयार किया जाता है। कभी कभी सीमेंट की मात्रा बताने के लिये बोरियों की संख्या बताई जाती है। प्रत्येक बोरी मे ११२ पाउंड या १.२५ घन फुट सीमेंट रहता है। इस प्रकार १ : २ : ४ के कंक्रीट मिश्रण का अर्थ है १ घन फुट सीमेंट (जिसकी तौल प्रति घनफुट ९० पाउंड होती है), २ घन फुट वालू (अथवा अन्य महीन मिलावा) और ४ घन फुट गिट्टी। मिश्रण मे औसत से ६६% से ७८% मिलावा ७% से १४% सीमेंट और १५% से २२% पानी होता है। इस प्रकार १०० घन फुट तैयार (सघन किए गए) कंक्रीट के लिये कुल मिलाकर लगभग १५५ घन फुट सूखे पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है।

कंक्रीट का मिलाना—यह महत्वपूर्ण है कि सव पदार्थ अच्छी तरह मिल जायँ जिसमें सर्वत्र एक समान का संरचना रहे। जव कभी अधिक कंक्रीट की आवश्यकता होती है तव उसे हाथ से मिलाना कठिन होता है इसलिये मशीन का प्रयोग किया जाता है। एसी मशीन में एक वड़ा सा ढोल रहता है जिसके भीतर पंखे लगे रहते हैं। ढोल को इंजन से घुमाया जाता है और भीतर सीमेंट, वालू, गिट्टी और पानी नापकर डाल दिया जाता है। शीघ्र ही अच्छा मिश्रण तैयार हो जाता है।

कंक्रीट को ढालना और कूटना—मिश्रण तैयार होने के वाद कंक्रीट को चटपट ढालना और सघन करना चाहिए। पानी डालने के क्षण से इस क्रिया के अंत तक कुल ३० मिनट से कम समय लगना चाहिए। इसपर भी इसका ध्यान रखना चाहिए कि ढालते समय कंक्रीट के मिश्रण का कोई अवयव अंशत: अलग न होने पाए। इसका तात्पर्य यह है कि कंक्रीट वहुत ऊँचे से नही गिराया जाना चाहिए।

कंक्रीट की कुटाई लोहे के छड़ों से करनी चाहिए और इस प्रक्रिया में छड़ों को कुछ दूर तक कंक्रीट में घुस जाना चाहिए। जव मिश्रण इतना सूखा रहता है कि इस विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता तो कंपनकारी यंत्रों का प्रयोग किया जाता है जिसमें पूरी सघनता आ सके। सपाट (चौरस) सतहों के लिये ऐसे कंपनकारियों का प्रयोग किया जाता है जो सतह के ऊपर रखे जाते है, परंतु धरनों और दीवारों के लिये कंक्रीट के भीतर डाले जानेवाले कंपनकारियों से काम लिया जाता है। किंतु यदि कंक्रीट के भीतर कंपनकारी को डालने की सुविधा भी न हो तो ऐसे वाहरी कंपनकारियों का उपयोग किया जाता है जो साँचे को हिलाते हैं और इस प्रकार कंक्रीट सघन हो जाता है।

कम कुटाई तो हानिकारक है ही, परंतु कुटाई या कंपन की अधिकता भी हानिकर हो सकती है, क्योंकि इससे कंक्रीट के अवयव अलग होने लगते है और उसमें मधुमक्खी के छत्ते की तरह रिक्त स्थान वन जाने की संभावना रहती है। अत: यह चेतावनी देना उचित होगा कि पूर्ण सघनता के वदले केवल ८५ प्रतिशत सघनता उत्पन्न की जाय तो पुष्टता पूर्ण सघन कंक्रीट की कुल १५ प्रति शत ही उत्पन्न होगी।

कंक्रीट को परिपक्व करना—जव तक कंक्रीट कड़ा होता रहता है तव तक उसे आर्द्र रखना चाहिए। इस क्रिया को परिपक्वीकरण (पक्का करना) कहते हैं। यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि कड़ा होने की क्रिया में जितना पानी सीमेंट के रासायनिक संयोग के लिये आवश्यक है, उतना उसे मिलता रहे। यदि कंक्रीट को ठीक प्रकार से परिपक्व न किया जाय तो पुष्टता वहुत कम हो जाती है। कंक्रीट की पुष्टता का अधिकांश दो तीन सप्ताहों में उत्पन्न होता है, अतएव इतने ही समय तक कंक्रीट को आर्द्र रखना आवश्यक है। यदि इस समय में कंक्रीट सूखे वातावरण में रहता है तो उसमें अधिक संकोच हो जाता है और परिणामत: वह फट जाता है।

यदि ताप अधिक हो तो कंक्रीट की पुष्टता कम समय में आती है। इसलिये जाड़े की अपेक्षा गरमी के दिनों में साँचा कम समय में हटाया जा सकता है। यदि कंक्रीट को वहुत शीघ्र परिपक्व करना रहता है तो कंक्रीट को भाप से तप्त किया जाता है। वहुधा सड़क वनाने में ऐसा करना पड़ता है, क्योंकि सड़कों को दो तीन सप्ताह तक वंद रखने में असुविधा होती है।

कंक्रीट के गुण—निम्नलिखित सारणी में विविध संरचनाओं के कंक्रीट और उनके गुण दिखाए गए हैं :

मिश्रण	२८ दिन वाद संपीडन क्षमता, पाउंड प्रति वर्ग इंच	प्रयोग
१ : २ : ४	२,२५०	प्रवलित (रिइन्फ़ोर्स्ड) काम में।
१ : १½ : ३	२,८५०	मेहराव, स्तंभ, पानी की टंकियों और पानी के अन्य कामों में।
१ : १ : २	३,४५०	पूर्व प्रतिवलित (प्रिस्ट्रेस्ड, prestressed) कंक्रीट और ऐसी संरचनाओं में जहाँ विशेष पुष्टता की आवश्यकता होती है।

सादा कंक्रीट—जो कंक्रीट प्रवलित (रिइन्फ़ोर्स्ड) नही रहता उसे सादा (प्लेन) कंक्रीट कहते है। साधारण वोझवाली दीवारों की नीवों में साधारणत: १ : ३ : ६ का सीमेंट कंक्रीट दिया जाता है। यदि भूमि कड़ी हो तो खंभों की नीवों में भी ऐसा ही कंक्रीट दिया जा सकता है। तनाव में ऐसा कंक्रीट वहुत पुष्ट नही होता और जव किसी भाग में तनाव पड़ने की आशंका रहती है तव उसे इस्पात के छड़ों से प्रवलित करना आवश्यक होता है।

विपुल कंक्रीट—जव वहुत वड़े आयतनवाला, कंक्रीट का कोई काम वनता है, जैसे उद्रोध (डैम), पुश्ता (रिटेनिंग वाल), भारी काम होनेवाले कारखाने का फर्श, इत्यादि तव सुभीते के लिये उसे विपुल कंक्रीट (मास कंक्रीट) कहा जाता है। जव कभी वहुत सा कंक्रीट एक साथ ढाला जाता है तव सीमेंट के जल सोखने से वड़ी गरमी उत्पन्न होती है। पीछे जव कंक्रीट ठंढा होता है तव भीतरी तनाव वहुत हो जाता है और कंक्रीट चटख जाता है। इसलिये उद्रोध आदि वनाने मे गिट्टी और वालू को पहले से खूव ठंढा कर लिया जाता है और कंक्रीट में नल (पाइप) लगा दिए जाते है, जिनमें ठंढा पानी प्रवाहित किया जाता है। इससे ताप वढ़ने नही पाता। विपुल कंक्रीट के लिये वड़ी नाप की गिट्टियों का उपयोग किया जाता है जो व्यास में ६ इंच तक की होती है। इससे पानी कम खर्च होता है और यदि जल-सीमेंट-अनुपात न वदला जाय तो सीमेंट भी कम खर्च होता है। फलत: वचत होती है। साथ ही, कंक्रीट का घनत्व भी वढ़ जाता है। यह गुरुत्व-उद्रोध और वड़ी टंकियों के फर्श के लिये महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि ये अपनी स्थिरता के लिये अपने ही भार पर निर्भर रहते हैं।

सं०ग्रं०—ई० ई० वावर : प्लेन कंक्रीट (न्यूयार्क, १९४९); एल० सी० अरकर्ट तथा सी० ई० ओरूर्क : डिजाइन ऑव कंक्रीट स्ट्रक्चर्स (न्यूयार्क, १९५१); ओ० फ़ेवर तथा एच० एल० चाइल्ड : द कंक्रीट ईयर वुक (१९५१)। (ज० कृ०)

कंक्रीट की सड़क भवनादि के निर्माण में कंक्रीट की विशेषता यह है कि जव यह सुघट्यावस्था में रहता है तव यह किसी भी आकृति में सुगमता से ढाला जा सकता है। अपने इसी गुण के कारण सड़कों के निर्माण तथा पुल, पुलिया, पुश्ता, दीवारों (रिटेनिंग वॉल, retaining wall) इत्यादि के निर्माण मे इसका उपयोग अत्यधिक होता है।

सड़कों के फर्श वनाने में कंक्रीट का गुण यह है कि यह वहुत दिन तक चलता है, घिसता पिसता कम है, चिकना होता है एवं गाड़ियों के चलने में वहुत कम अवरोध उत्पन्न करता है। इसकी मरम्मत में वहुत कम

कंक्रीट के पुल (द्र० पृ० ३४२)

चूने के कंक्रीट का बना पुल

कांगड़ा घाटी में चंबी नदी पर बना एक सौ वर्ष पुराना यह पुल अभी तक बहुत अच्छी दशा में है।

असाधारण ऊँची उठान का महराबदार पुल

१३२ फुट ऊँचा यह पुल पश्चिम बंगाल में तीस्ता नदी के ऊपर है। इसका चाप-विस्तार २७६ फुट है।

दुर्गावती पुल, बिहार

इस पुल की कुल लंबाई ३२६ फुट ६ इंच है। धनुर्बंधक रूपी इसकी एकमात्र धरन १६७ फुट ३ इंच लंबी है।
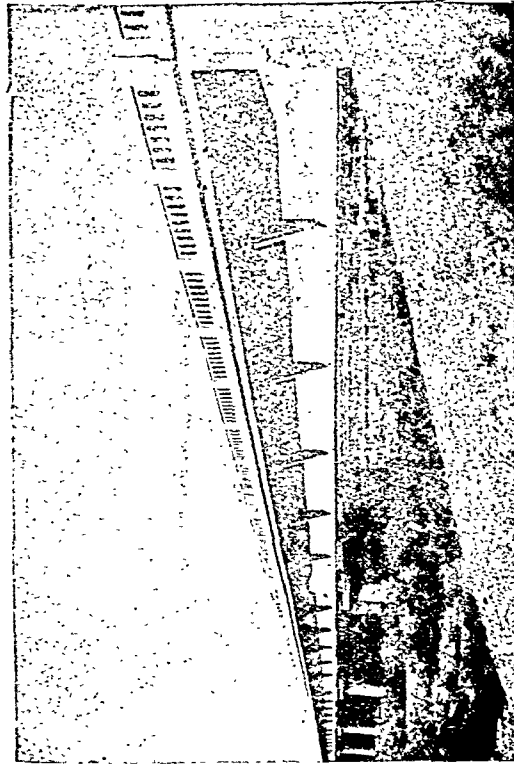
साबरमती पर रिंजा पुल

पूर्वकृत पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट की धरनें १४० फुट दूर स्थित पायों पर रखी हैं।

श्रेणीवद्ध किया जाता है कि मिलावे में कम से कम रिक्तता हो जाय। कुछ महत्वपूर्ण कामों में सस्तेपन के लिये अंतर-श्रेणीकरण (गैप ग्रेडिंग) की रीति बरती जाती है। इसमें ब्रिटिश स्टैंडर्ड नंबर ⅜ से ७ की चलनी तक की बजरी को मिलावे में संमिलित नहीं किया जाता।

आवश्यक मात्राओं का अनुमान—साधारणतः कंक्रीट का मिश्रण सीमेंट, बालू और गिट्टी के आयतनों के अनुपात के अनुसार तैयार किया जाता है। कभी कभी सीमेंट की मात्रा बताने के लिये बोरियों की संख्या बताई जाती है। प्रत्येक बोरी में ११२ पाउंड या १.२५ घन फुट सीमेंट रहता है। इस प्रकार १ : २ : ४ के कंक्रीट मिश्रण का अर्थ है १ घन फुट सीमेंट (जिसकी तौल प्रति घनफुट ९० पाउंड होती है), २ घन फुट बालू (अथवा अन्य महीन मिलावा) और ४ घन फुट गिट्टी। मिश्रण में औसत से ६६% से ७८% मिलावा ७% से १४% सीमेंट और १५% से २२% पानी होता है। इस प्रकार १०० घन फुट तैयार (सघन किए गए) कंक्रीट के लिये कुल मिलाकर लगभग १५५ घन फुट सूखे पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है।

कंक्रीट का मिलाना—यह महत्वपूर्ण है कि सब पदार्थ अच्छी तरह मिल जायँ जिसमें सर्वत्र एक समान का संरचना रहे। जब कभी अधिक कंक्रीट की आवश्यकता होती है तब उसे हाथ से मिलाना कठिन होता है इसलिये मशीन का प्रयोग किया जाता है। एसी मशीन में एक बड़ा सा ढोल रहता है जिसके भीतर पंखे लगे रहते हैं। ढोल को इंजन से घुमाया जाता है और भीतर सीमेंट, बालू, गिट्टी और पानी नापकर डाल दिया जाता है। शीघ्र ही अच्छा मिश्रण तैयार हो जाता है।

कंक्रीट को ढालना और कूटना—मिश्रण तैयार होने के बाद कंक्रीट को चटपट ढालना और सघन करना चाहिए। पानी डालने के क्षण से इस क्रिया के अंत तक कुल ३० मिनट से कम समय लगना चाहिए। इसपर भी इसका ध्यान रखना चाहिए कि ढालते समय कंक्रीट के मिश्रण का कोई अवयव अंशतः अलग न होने पाए। इसका तात्पर्य यह है कि कंक्रीट बहुत ऊँचे से नहीं गिराया जाना चाहिए।

कंक्रीट की कुटाई लोहे के छड़ों से करनी चाहिए और इस प्रक्रिया में छड़ों को कुछ दूर तक कंक्रीट में घुस जाना चाहिए। जब मिश्रण इतना सूखा रहता है कि इस विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता तो कंपनकारी यंत्रों का प्रयोग किया जाता है जिसमें पूरी सघनता आ सके। सपाट (चौरस) सतहों के लिये ऐसे कंपनकारियों का प्रयोग किया जाता है जो सतह के ऊपर रखे जाते हैं, परंतु धरनों और दीवारों के लिये कंक्रीट के भीतर डाले जानेवाले कंपनकारियों से काम लिया जाता है। किंतु यदि कंक्रीट के भीतर कंपनकारी को डालने की सुविधा भी न हो तो ऐसे बाहरी कंपनकारियों का उपयोग किया जाता है जो साँचे को हिलाते हैं और इस प्रकार कंक्रीट सघन हो जाता है।

कम कुटाई तो हानिकारक है ही, परंतु कुटाई या कंपन की अधिकता भी हानिकर हो सकती है, क्योंकि इससे कंक्रीट के अवयव अलग होने लगते हैं और उसमें मधुमक्खी के छत्ते की तरह रिक्त स्थान बन जाने की संभावना रहती है। अतः यह चेतावनी देना उचित होगा कि पूर्ण सघनता के बदले केवल ८५ प्रतिशत सघनता उत्पन्न की जाय तो पुष्टता पूर्ण सघन कंक्रीट की कुल १५ प्रति शत ही उत्पन्न होगी।

कंक्रीट को परिपक्व करना—जब तक कंक्रीट कड़ा होता रहता है तब तक उसे आर्द्र रखना चाहिए। इस क्रिया को परिपक्वीकरण (पक्का करना) कहते हैं। यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि कड़ा होने की क्रिया में जितना पानी सीमेंट के रासायनिक संयोग के लिये आवश्यक है, उतना उसे मिलता रहे। यदि कंक्रीट को ठीक प्रकार से परिपक्व न किया जाय तो पुष्टता बहुत कम हो जाती है। कंक्रीट की पुष्टता का अधिकांश दो तीन सप्ताहों में उत्पन्न होता है, अतएव इतने ही समय तक कंक्रीट को आर्द्र रखना आवश्यक है। यदि इस समय में कंक्रीट सूखे वातावरण में रहता है तो उसमें अधिक संकोच हो जाता है और परिणामतः वह फट जाता है।

यदि ताप अधिक हो तो कंक्रीट की पुष्टता कम समय में आती है। इसलिये जाड़े की अपेक्षा गरमी के दिनों में साँचा कम समय में हटाया जा सकता है। यदि कंक्रीट को बहुत शीघ्र परिपक्व करना रहता है तो कंक्रीट को भाप से तप्त किया जाता है। बहुधा सड़क बनाने में ऐसा करना पड़ता है, क्योंकि सड़कों को दो तीन सप्ताह तक बंद रखने में असुविधा होती है।

कंक्रीट के गुण—निम्नलिखित सारणी में विविध संरचनाओं के कंक्रीट और उनके गुण दिखाए गए हैं :

मिश्रण	२८ दिन बाद संपीडन क्षमता, पाउंड प्रति वर्ग इंच	प्रयोग
१ : २ : ४	२,२५०	प्रबलित (रिइन्फ़ोर्स्ड) काम में।
१ : १½ : ३	२,८५०	मेहराब, स्तंभ, पानी की टंकियों और पानी के अन्य कामों में।
१ : १ : २	३,४५०	पूर्व प्रतिबलित (प्रिस्ट्रेस्ड, prestressed) कंक्रीट और ऐसी संरचनाओं में जहाँ विशेष पुष्टता की आवश्यकता होती है।

सादा कंक्रीट—जो कंक्रीट प्रबलित (रिइन्फ़ोर्स्ड) नहीं रहता उसे सादा (प्लेन) कंक्रीट कहते हैं। साधारण बोझवाली दीवारों की नीवों में साधारणतः १ : ३ : ६ का सीमेंट कंक्रीट दिया जाता है। यदि भूमि कड़ी हो तो खंभों की नीवों में भी ऐसा ही कंक्रीट दिया जा सकता है। तनाव में ऐसा कंक्रीट बहुत पुष्ट नहीं होता और जब किसी भाग में तनाव पड़ने की आशंका रहती है तब उसे इस्पात के छड़ों से प्रबलित करना आवश्यक होता है।

विपुल कंक्रीट—जब बहुत बड़े आयतनवाला, कंक्रीट का कोई काम बनता है, जैसे उद्रोध (डैम), पुश्ता (रिटेनिंग वाल), भारी काम होनेवाले कारखाने का फर्श, इत्यादि तब सुभीते के लिये उसे विपुल कंक्रीट (मास कंक्रीट) कहा जाता है। जब कभी बहुत सा कंक्रीट एक साथ ढाला जाता है तब सीमेंट के जल सोखने से बड़ी गरमी उत्पन्न होती है। पीछे जब कंक्रीट ठंढा होता है तब भीतरी तनाव बहुत हो जाता है और कंक्रीट चटख जाता है। इसलिये उद्रोध आदि बनाने में गिट्टी और बालू को पहले से खूब ठंढा कर लिया जाता है और कंक्रीट में नल (पाइप) लगा दिए जाते हैं, जिनमें ठंढा पानी प्रवाहित किया जाता है। इससे ताप बढ़ने नहीं पाता। विपुल कंक्रीट के लिये बड़ी नाप की गिट्टियों का उपयोग किया जाता है जो व्यास में ६ इंच तक की होती है। इससे पानी कम खर्च होता है और यदि जल-सीमेंट-अनुपात न बदला जाय तो सीमेंट भी कम खर्च होता है। फलतः बचत होती है। साथ ही, कंक्रीट का घनत्व भी बढ़ जाता है। यह गुरुत्व-उद्रोध और बड़ी टंकियों के फर्श के लिये महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि ये अपनी स्थिरता के लिये अपने ही भार पर निर्भर रहते हैं।

सं०ग्रं०—ई० ई० बावर : प्लेन कंक्रीट (न्यूयार्क, १९४९); एल० सी० अरकर्ट तथा सी० ई० ओरूर्के : डिज़ाइन ऑव कंक्रीट स्ट्रक्चर्स (न्यूयार्क, १९५१); ओ० फ़ेबर तथा एच० एल० चाइल्ड : द कंक्रीट ईयर बुक (१९५१)। (ज० कु०)

कंक्रीट की सड़क भवनादि के निर्माण में कंक्रीट की विशेषता यह है कि जब यह सुघटयावस्था में रहता है तब यह किसी भी आकृति में सुगमता से ढाला जा सकता है। अपने इसी गुण के कारण सड़कों के निर्माण तथा पुल, पुलिया, पुश्ता, दीवारों (रिटेनिंग वॉल, retaining wall) इत्यादि के निर्माण में इसका उपयोग अत्यधिक होता है।

सड़कों के फर्श बनाने में कंक्रीट का गुण यह है कि यह बहुत दिन तक चलता है, घिसता पिसता कम है, चिकना होता है एवं गाड़ियों के चलने में बहुत कम अवरोध उत्पन्न करता है। इसकी में

पैसा लगता है। सड़क दूर तक दिखाई पड़ती है। यदि कभी सड़क को तोड़ना पड़े तो पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है। कंक्रीट की सड़कों का उपयोग करनेवालों को इसके चिकनेपन, घड़घड़ाहट की कमी और धूल की अनुपस्थिति से सुविधा रहती है। कंक्रीट की गोली सड़कों पर से फिसलन का डर भी अन्य प्रकार की सड़कों की अपेक्षा कम रहता है।

आकल्पन—कंक्रीट की सड़कों का आकल्पन (डिजाइन, design) करते समय इसकी मोटाई, संधियों और लोहे की छड़ों से प्रबलन (रिइन्फोर्समेंट, reinforcement) पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। ये सभी बातें स्थानीय दशाओं पर, जैसे मिट्टी, गाड़ियों के प्रकार और जलवायु पर, निर्भर है। कंक्रीट की सिल्ली का ठीक आचरण कई एक बातों पर निर्भर करता है, यथा कंक्रीट के अवयवों के गुण, कंक्रीट के नीचे की मिट्टी, इसपर चलनेवाली गाड़ियों का भार और ऋतुओं की भिन्नता। कंक्रीट का संपीडनक्षमता अपेक्षाकृत अधिक है, परंतु तनाव में यह दुर्बल पड़ता है, अत: यह परमावश्यक है कि कंक्रीट के नीचे की भूमि सर्वत्र समान रूप से ऊपर के बोझ को सँभाले। अन्य पदार्थों की तरह कंक्रीट भी गर्मी से फैलता और ठंढ से सिकुड़ता है। कंक्रीट की सिल्ली के ऊपरी और निचले पृष्ठों के तापों में जो अंतर प्रति दिन और ऋतुओं के अनुसार होता है उसके कारण सिल्ली में ऐंठन और मुड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती रहती है। इन तथा अन्य जटिलताओं के कारण कंक्रीट की सड़क में उत्पन्न होनेवाले बलों की सैद्धांतिक गणना अति कठिन है। इसीलिये कंक्रीट की सड़कों की अभिकल्पना साधारणत: अनुभवप्राप्त सूत्रों से की जाती है।

कंक्रीट की सड़कों को लोहे की छड़ों से साधारणत: उनकी पुष्टता बढ़ाने के लिये प्रबलित नहीं किया जाता, वरन्, इन छड़ों का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि सड़कें बहुत फटें नहीं और यदि फटें भी तो टुकड़े परस्पर सटे रहें। सड़कों में निर्धारित दूरियों पर आड़ी संधि देनी पड़ती है, लोहे की छड़ों का प्रयोग होने पर ये संधियाँ पर्याप्त दूर दूर रखी जा सकती हैं।

संधियाँ—कंक्रीट में जल की न्यूनाधिक मात्रा और उसके ताप में घट बढ़ से उत्पन्न प्रसरण अथवा सिकुड़न तथा ऐंठन थोड़ी बहुत हो सके इसलिये सड़कों में निर्धारित दूरी पर संधियाँ दे दी जाती हैं। संधियाँ प्रधानत: तीन प्रकार की होती हैं: प्रसरण संधियाँ, सिकुड़न संधियाँ और लंबाई के अनुदिश संधियाँ।

१०० से लेकर १५० फुट के अंतर पर जो आड़ी संधियाँ दी जाती हैं, वे प्रसरण के लिये दी जाती हैं। साधारणत: इन संधियों में कोई संपीड्य (कंप्रेसिबल, Compressible) पदार्थ इस प्रकार भर दिया जाता है कि ऊपर से पानी घुसने के लिये कोई मार्ग न रहे। संधि के एक पार से दूसरे पार, बिना झटके के बोझ पहुँचाने के निमित्त इस पार की कई एक छड़ें सड़क की लंबाई की दिशा में लगा दी जाती हैं। संधि के दोनों ओर की सड़क में ये डूबी रहती हैं।

पूर्वोक्त प्रसरण संधियों के बीच में सिकुड़न संधियाँ दी जाती हैं। ये संधियाँ साधारणत: झूठी (डमी, dummy) संधियाँ होती हैं। यहाँ पर कंक्रीट की सिल्ली दुर्बल कर दी जाती है, जिसमें यदि कभी ताप के अधिक गिर जाने से अथवा अन्य किसी कारण से कंक्रीट सिकुड़े तो अनियमित रूप से टूटने के बदले सीधी रेखा में पूर्वोक्त झूठी संधि पर ही टूटे। इसके लिये कंक्रीट की सिल्ली में ऊपर, अथवा ऊपर तथा नीचे दोनों ओर, एक खाँचा (गड्ढा) बना लिया जाता है।

जो सड़कें १५ फुट से अधिक चौड़ी होती हैं, उनमें सड़क के अनुदिश एक या अधिक संधियाँ इसलिये डाल दी जाती हैं कि कंक्रीट थोड़ा बहुत ऐंठ सके और यदि नीचे की भूमि कहीं धँसे तो कंक्रीट की सिल्ली टूटे नहीं, उसका केवल एक खंड बैठ जाय।

निर्माण और मरम्मत—कंक्रीट की सड़क हाथ से अथवा मशीन से बनाई जाती हैं। नीचे की भूमि पूर्णत: दृढ़ और चौरस होनी चाहिए, पुरानी सड़क हो तो और भी अच्छा। मशीन से कंक्रीट बिछाना अधिक अच्छा होता है और प्रति दिन इसका चलन बढ़ रहा है। अच्छी चिकनी [illegible]ट की सड़क के लिये अच्छी कारीगरी की आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि कंक्रीट वांछित पुष्टता की हो। ऊपरी सतह की ढाल ठीक हो और पृष्ठ चिकना हो। संधियाँ नियमानुसार बनी हों और अपेक्षित काल तक कंक्रीट को पानी से तर रखा जाय। अच्छी अभिकल्पना के अनुसार उचित प्रकार से बनाई गई सड़क बहुत टिकाऊ होती है, मरम्मत बहुत कम करनी पड़ती है, सो भी साधारणत: यही कि संधियाँ पूर्ववत् बनी रहें। ये संधियाँ, और यदि सड़क कहीं चटख जाय तो नवीन संधियाँ भी, अच्छी प्रकार संपीड्य पदार्थ से भर दी जानी चाहिए।

सड़क निर्माण के लिये सीमेंट कंक्रीट का प्रयोग भारत में थोड़े ही वर्षों से हो रहा है। भारत में कंक्रीट की पहली सड़क मद्रास नगर निगम के कार्यालय के समीप सन् १९१४ में बनाई गई थी। इसके थोड़े ही दिनों के पश्चात् मसूरी (उत्तर प्रदेश) तक जानेवाली पहाड़ी सड़कों के मोड़ों के लिये कंक्रीट का उपयोग हुआ था। हैदराबाद नगर में चौड़ी एवं सुव्यवस्थित ७० मील लंबी कंक्रीट की सड़कें हैं। भारतीय नगरों में बनी कंक्रीट की सड़कों में ये सबसे अधिक लंबी हैं।

भारत में बनी कंक्रीट की सड़कों की कुल लंबाई १९५८ ई० में, ३,२०० मील के लगभग थी (७०० मील राष्ट्रीय राजपथ और २,५०० मील राज्य सड़क)। इनमें से एक सड़क त्रावनकोर और कन्याकुमारी अंतरीप के बीच, पश्चिम तट की बगल में अत्यंत सुरम्य प्रदेश में बनी हुई राष्ट्रीय राजपथ की सड़क है।

पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट की सड़कें—अर्वाचीन वर्षों में पूर्वप्रतिबलीकरण का सिद्धांत कंक्रीट की सड़कों में भी चलाया गया है। किंतु भारत में अभी यह प्रयोगात्मक स्तर पर ही है।

सं०ग्रं०—कंक्रीट रोड्स: डिजाइन ऐंड कंस्ट्रक्शन, १९५५, हिज़ मैजेस्टीज स्टेशनरी ऑफिस, लंदन, एफ० एन० स्पार्क्स ऐंड ए० एफ० स्मिथ: कंक्रीट रोड्स, (१९५२), द रोड मेकर्स लाइब्रेरी, एडवर्ड आर्नल्ड ऐंड कंपनी, लंदन, ए० जी० ब्रूस ऐंड जे० क्लार्कसन. हाइवे डिजाइन ऐंड कंस्ट्रक्शन (१९५०), इंटरनैशनल टेक्स्ट बुक कंपनी, पी० यू० एस० ए०, एल० आई० हीवेम: अमरीकन हाइवे प्रैक्टिस, जॉन विले ऐंड संस इंक०, न्यूयार्क, एल० जे० रिटर ऐंड आर० जे० पाक्वेटे: हाइवे इंजीनियरिंग, द रोनल्ड प्रेस कं०, न्यूयॉर्क। (ज० मि० त्रि०)

कंक्रीट के पुल

कंक्रीट के पुल पुल बनाने के लिये कंक्रीट बहुत उपयुक्त वस्तु है, क्योंकि जब यह सुघट्यावस्था में रहती है, तब यह कहीं भी भरी जा सकती है और किसी भी आकृति में ढाली जा सकती है। इसलिये पुलों के बनाने में इसका बहुत उपयोग किया जाता है।

प्राय: प्राचीनतम काल से पुल बनाने के लिये सादी कंक्रीट का उपयोग किया जाता रहा है। अनिवार्य रूप से ऐसा पुल कंक्रीट की मेहराब की आकृति का होता था। भारत में १९वीं शताब्दी में पहाड़ी सड़कों पर कई पुल चूने की कंक्रीट से बनाए गए थे। कभी कभी सादी कंक्रीट की मेहराबें पहले से ढाली गई कंक्रीट की ईंटों से बनाई जाती हैं। छोटी पुलियों के लिये स्थल पर ही ढाली गई कंक्रीट की मेहराबें पूर्णतया उपयुक्त होती हैं। स्थल पर ढाली गई कंक्रीट के पुल का एक उत्तम उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन में १९२८ ई० में बना पुल है। इसमें दो पार्श्ववाले दर (स्पैन) ५०–५० फुट के हैं और बीचवाला दर ११० फुट का। संसार में सादी कंक्रीट का सबसे लंबा दर संयुक्त राज्य, अमरीका, में क्लीवलैंड में रॉकी नदी पर बने पुल का मध्य दर है। इसकी लंबाई २८० फुट है। अब अधिकतर इस्पात की छड़ों से प्रबलित (रिइन्फोर्स्ड, reinforced) कंक्रीट का ही उपयोग होता है और पत्थर तथा सादी कंक्रीट की मेहराबों की अपेक्षा ये बहुत बड़े बड़े दरों के बन सकती हैं। कुछ महत्तम लंबाईवाले, प्रबलित कंक्रीट की मेहराबवाले पुल निम्नलिखित हैं:

१. सैंडो पुल—स्वीडेन ८६६ फुट दर (पाट)
२. एस्ला पुल—स्पेन ६४५ फुट दर (पाट)
३. प्लाउ गेस्टल पुल—फ्रांस ६१२ फुट दर (पाट)
४. ट्रानेबर्ग पुल—स्वीडेन ५९४ फुट दर (पाट)

४० फुट दर के पुलों के लिये सादी कंक्रीट की मेहराबवाले पुलों की मानक अभिकल्पनाएँ (डिज़ाइन) इंडियन रोड्स कांग्रेस ने बनाई हैं।

४ से लेकर ३० फुट तक की दरों के लिये चूने की कंक्रीट और ४-४० फुट तक की दर के लिये सीमेंट कंक्रीट उपयुक्त बताई गई है।

कंक्रीट के पुलों में कंक्रीट के कारण कई एक गुण होते हैं। उदाहरणतः चटपट निर्माण और तदनंतर मरम्मत तथा देखभाल की कम आवश्यकता। इन पुलों में न आग लगने का डर रहता है और न पानी से मोरचा खाने का। इस्पात के पुलों को समय समय पर रँगते रहना नितांत आवश्यक है, परंतु कंक्रीट के पुलों को रँगना नहीं पड़ता। इस्पात के पुलों का, वायु और जल के प्रभाव से मोरचा खाकर, क्षय होता रहता है, परंतु प्रवलित कंक्रीट के पुल समय पाकर अधिकाधिक पुष्ट होते जाते है। यदि अच्छी अभिकल्पना की जाय तो ये सुंदर लगते है और इनपर वास्तुकला के नियमों के अनुसार अलंकरण किया जा सकता है। इनपर घड़घड़ाहट नहीं होती, इस्पात के पुलों की घड़घड़ाहट उनका महान् दोष है। परंतु साथ ही कंक्रीट के पुलों के बनाने में सब काम बड़ी कुशलता से करना पड़ता है और कारीगरों के काम की देखभाल बराबर करनी पड़ती है। दूसरा दोष यह है कि पुल के लिये ढोला (सेंटरिंग, centering) बाँधने में बहुत खर्च हो जाता है।

१९वीं शताब्दी के अंत में प्रवलित सीमेंट कंक्रीट का प्रयोग होने लगा और तब से इसमें तीव्र गति से प्रगति हुई है। प्रवलित कंक्रीट से पुल बनाने की कई रीतियों का विकास हुआ है जिनमें से किसी एक का चुनाव स्थल की परिस्थितियों पर निर्भर है। मोट हिसाब से सीमेंट के पुल १३ प्रमुख प्रकार के होते है। इनमें से अधिकांश कई विधियों से बन सकते है, जो पुल की अनुप्रस्थ (ट्रांसवर्स) आकृति पर निर्भर करती है।

किसी विशेप स्थल के लिये, संभव है, पूर्वोक्त १३ प्रकारों में से कई एक उपयुक्त पाए जायँ। परंतु अंत मे महत्तम कार्यक्षमता, मितव्ययता और पुष्टतावाले पुल का चुनाव अत्यंत जटिल समस्या है। उचित चुनाव के लिये, मोटे हिसाब से गणना करके अनुमानों की तुलना करनी पड़ती है। पूर्वकथित १३ प्रकार और वे पाट (दर) जिनके लिये वे उपयुक्त हैं, निम्नोक्त हैं :

१. एक पाट (दर) का, धरन और पट्टवाला (बीम ऐंड स्लैब टाइप, (beam and slab type) अथवा केवल पट्टवाला	२०-४० फुट
२. कई दरों का, धरन और पट्टवाला अथवा केवल पट्टवाला	२०-४० फुट
३. एक दर का कैंचीदार चौखटे पट्टवाला (पोर्टल फ्रेम स्लैब टाइप, portal frame slab type) अथवा धरन और पट्टवाला (स्लैब ऐंड बीम टाइप)	१५-३० फुट
४. कई दरों का, कैंचीदार चौखटे पट्ट और पसलीवाला (पोर्टल फ्रेम स्लैब ऐंड रिब टाइप, portal frame slab and rib type) अथवा पट्टवाला	२०-४० फुट
५. आवश्यकतानुसार परिवर्तनीय जड़ता घूर्ण का गर्डर (गर्डर विद वेरिइंग मोमेंट ऑव इनर्शिया, girder with varying moment of inertia)	५०-१२० फुट
६. दोहरे बाहुधरन (कैंटिलीवर, cantilever) और एक अनवद्ध (फ्री, free) मध्य दरवाला (डबल कैंटिलीवर टाइप विद फ्री सेंटर स्पैन, double cantilever type with free center span)	६०-१०० फुट
७. दोहरे बाहुधरनवाला (डबल कैंटिलीवर टाइप, double cantilever type)	६०-१२० फुट
८. आवद्ध लंबी मेहराबवाला (फिक्स्ड बैरल आर्च टाइप, fixed barrel arch type) एक या अधिक दरों का (सिंगल ऑर मल्टिपल स्पैन, single or multiple span)	३०-१०० फुट
९. खुले कंधोंवाली पसलीदार मेहराब (स्पैंड्रल रिब्ड आर्च, open spandrel ribbed arch) वाला	१००-२०० फुट
१०. तीन-कब्जी लंबी मेहराबवाला, एक या अधिक दरों का (थ्री हिंज्ड बैरल आर्च टाइप, सिंगल-ऑर मल्टीपल स्पैन, three hinged barrel arch type, single or multiple span)	५०-१०० फुट
११. दो-कब्जी लंबी मेहराबवाला एक या अधिक दरों का (टू हिंज्ड बैरल टाइप, सिंगल ऑर मल्टिपल स्पैन, two hinged barrel arch type, single or multiple span)	५०-१०० फुट
१२. प्रत्यचा (बोस्ट्रिंग, bowstring) रूपी गर्डर वाला	१००-१५० फुट
१३. पसलीदार मेहराब और आंशिक लटके फर्शवाला (आर्च रिब्ड टाइप विद पार्शियली हंग डेकिंग, arch ribbed type with partially hung decking)	१८०-२५० फुट

जैसा ऊपर बताया गया है, किसी विशेष स्थान पर कई प्रकार की रचनाएँ स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उपयुक्त होंगी। अंतिम निर्णय दो कारणसमूहों पर निर्भर है। पहले समूह के कारणों को प्राकृतिक कहा जा सकता है। ये स्थान की परिस्थितियों पर पूर्णतः निर्भर है, जैसे नीव, खदान या अन्य हलचल, पुल के ऊपर अपेक्षित खाली जगह (अर्थात् उसपर या उसके नीचे कितनी ऊँची गाड़ियाँ जायँगी) और पुल की लंबाई। कारणों का दूसरा समूह वह है जिसमें कृत्रिम कारण हों, यथा, पुल पर महत्तम भार कितना पड़ेगा। उसकी चौड़ाई कितनी हो, उसकी रूपरेखा कैसी हो और उसकी आकृति कैसी हो, और इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उसकी लागत। साधारणतः अनवद्ध, आश्रित संरचना सबसे महँगी पड़ती है, यद्यपि इसी की अभिकल्पना सरलतम है। जहाँ अचल नीव मिल सकती है, वहाँ अनम्य ढाँचेवाला पुल सबसे सस्ता पड़ता है। पूर्वप्रतिवलित (प्रीस्ट्रेस्ड, prestressed) कंक्रीट सुलभ हो जाने के कारण इंजीनियरों को एक नई शक्ति प्राप्त हुई है, जिससे कंक्रीट के पुलों की अभिकल्पना में विस्तृत अनुपातों के पुल का निर्माण संभव हो गया है। साधारण प्रवलित कंक्रीट के पुलों की अपेक्षा पूर्वप्रतिवलित कंक्रीट के पुल १०-१५ प्रति शत तक सस्ते पड़ते है। इनसे सामग्री की बचत होती है, क्योंकि बड़े पाट (दर) बनाए जा सकते है और उनको अपेक्षाकृत हलका रखा जा सकता है।

संतोषजनक संरचना के लिये तीन आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति होनी चाहिए। प्रथम यह कि योग्य इंजीनियर पहले पूर्ण और ब्योरेवार संरचनात्मक आलेखन तैयार करे। फिर, यह कि कंक्रीट बनाने के लिये सामग्री को सावधानी से चुना जाय और उसकी पूरी जाँच की जाय कि वह आवश्यक गुणों के अनुसार ही है, और अंत में यह कि कारीगरों के काम की उचित देखरेख हो। उचित देखरेख और अनुपातों के नियंत्रण का महत्व इसी से प्रत्यक्ष है कि किसी भी विशेष अनुपात की कंक्रीट की पुष्टता और टिकाऊपन सामग्री को भली प्रकार मिलाने, उचित ढंग से ढालने तथा ठीक तरह से कूटने (संघनन, कंपैक्शन) और फिर उसे उचित रीति से नियमानुसार गीला रखने पर ही निर्भर है। यह आवश्यक है कि ढोला ठीक प्रकार से और पूर्णतया दृढ बनाया जाय तथा इस्पात की छड़ों को ठीक से मोड़ा जाय एवं कंक्रीट ढालने से पूर्व उचित स्थान में रखकर बाँध दिया जाय। इस्पात पृष्ठ के बहुत निकट न रखा जाय, अन्यथा उसमें मोरचा लगना आरंभ हो जायगा और तब संरचना कुछ दिनों में उखड़ने लगेगी। संरचना में कहाँ कहाँ संधियाँ डाली जायँ, इसका निर्णय इंजीनियर ही करे। इसे ठेकेदार पर नहीं छोड़ना चाहिए।

आजकल निर्माण अधिकतर मशीनों से होता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि यंत्र पुल के स्थान पर लाए जायँ। किन यंत्रों

श्यकता पड़ेगी, यह पुल के प्रकार पर निर्भर है। मुख्य यंत्र कंक्रीट मिश्रक (मिक्सर्स, mixers), बोझ उठानेवाले क्रेन (डेरिक क्रेन, Derrick crane), कंपनोत्पादक (वाइब्रेटर, vibrator), सामग्री नापने के साँचे, पंप, संपीडक (कंप्रेसर, compressor), छड़ मोड़ने की मशीनें इत्यादि हैं।

पुल आकल्पन में सौंदर्यदृष्टि को अंतरराष्ट्रीय मान्यता मिलने के कारण, आकल्पन का ध्यान अब रेखा, आकृति, अनुपात तथा सामग्री की गठन पर रखना आवश्यक हो गया है। पुल का प्रकार और वास्तुकला के दृष्टिकोण से उसका औचित्य केवल इंजीनियर का ही काम नहीं है। इन दिनों डिज़ाइन को अंतिम रूप देते समय इंजीनियर के साथ कोई वास्तुकलाविद् भी रख दिया जाता है।

पुल की रेखाएँ, अनुपात और संतुलन सुंदर हों तथा सामग्री का रंग और गठन (टेक्स्चर) सुरुचिपूर्ण होना चाहिए। पुल का अलंकरण और रूप इसके पदार्थो के अनुरूप और पास पड़ोस के अनुकूल होना चाहिए। इन बातों में कई विधियों से विभिन्नता लाई जा सकती है, उदाहरणतः पृष्ठ को न्यूनाधिक चिकना या खुरदरा रखकर, आकृतियों को स्थूलकाय अथवा कृशांगी रखकर, रंगों को बदलकर, पलस्तर करके अथवा तैल रंगों से उन्हें ऊपर से रँगकर।

भारत में अब अधिकतर पुल प्रबलित कंक्रीट या पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट के ही बनाए जाते हैं। कुछ मुख्य नए बने पुल ये हैं :

१. मद्रास में कोलरून पुल : लंबाई २,१०० फुट, १४ दरें, प्रत्येक १५० फुट की। असंतुलित बाहुधरन, पूर्वप्रतिबलित, पूर्वरचित धरन। लागत ३४.५० लाख रुपए।

२. उत्तर प्रदेश में रामगंगा पुल : लंबाई २,२१० फुट, पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट, १४ दरें, प्रत्येक १५० फुट की। लागत ६० लाख रुपए।

३. उत्तर प्रदेश में गढ़मुक्तेश्वर में गंगा पर पुल : २,३०८ फुट लंबा, १३ दरें, प्रत्येक १७७ फुट १० इंच, पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट। लागत ७९ लाख रुपए।

४. बिहार में उत्तरी कोयल पुल : प्रबलित कंक्रीट, २७ दरें, बीच की दर ५६ फुट ५ इंच की और दो अंतिम दरें प्रत्येक ४६ फुट १½ इंच की, लंबाई १,६१५ फुट। लागत १८.५ लाख रुपए।

५. केरल में कुप्पम पुल : ५२५ फुट लंबाई, धनुपाकार धरन के ढंग की ५ दरें, प्रत्येक १०० फुट। लागत १०.६० लाख रुपए।

सं०ग्रं०—जर्नल ऑव दि इंडियन रोड्स कांग्रेस, वॉल्यूम १२, १९४७–४८; 'ब्रिजिंग इंडियाज़ रीवर्स', ऐन ऐकाउंट ऑव फ़िफ़्टी ब्रिजेज़ बिल्ट इन इंडिया ड्यूरिंग १९४९–१९५९, इंडियन रोड्स कांग्रेस, नई दिल्ली; सी० एस० चीटो ऐंड एच० सी० ऐडम्स : रिइन्फ़ोर्स्ड कंक्रीट ब्रिज डिज़ाइन, चैपमैन ऐंड हाल लि०, लंदन; ए० डब्ल्यू० लेगाट, जी० डन ऐंड डब्ल्यू० ए० फ़ेयरहर्स्ट : डिज़ाइन ऐंड कंस्ट्रक्शन ऑव कंक्रीट ब्रिजेज, कांस्टेबल ऐंड कंपनी लि०, लंदन; एफ़० रिंग्स। रिइन्फ़ोर्स्ड कंक्रीट ब्रिजेज़, कांस्टेबल ऐंड कंपनी लि०, लंदन; एफ़० डब्ल्यू० टेलर, एस० ई० टामसन ऐंड ई० स्मल्सकी : रिइन्फ़ोर्स्ड कंक्रीट ब्रिजेज़, जॉन विले ऐंड सन्स इंक०, न्यूयॉर्क। (ज० मि० त्रे०)

कंगारू आस्ट्रेलिया के प्रसिद्ध शाकाहारी, शिशुधानीय (मार्सूपियल, marsupial) जीव हैं जो स्तनप्राणियों में अपने ढंग के निराले प्राणी हैं। इन्हें सन् १७७३ ई० में कैप्टन कुक ने देखा और तभी से ये सभ्य जगत् के सामने आए। इनकी पिछली टाँगें लंबी और अगली छोटी होती हैं, जिससे ये उछल उछलकर चलते हैं। पूँछ लंबी और मोटी होती है जो सिरे की ओर पतली होती जाती है।

कंगारू स्तनधारियों के शिशुधानिन भाग (मारस्यूपियालिया, marsupialia) के जीव हैं जिनकी विशेषता उनके शरीर की थैली है। जन्म के पश्चात् उनके बच्चे बहुत दिनों तक इस थैली में रहते हैं। इनमें सबसे बड़े, भीम कंगारू (जायंट कंगारू) छोटे घोड़े के बराबर, और सबसे छोटे, गंध कंगारू (मस्क कंगारू) खरहे से भी छोटे होते हैं।

कंगारू केवल आस्ट्रेलिया में ही पाए जाते हैं। वहाँ इनकी २१ प्रजातियों (जीनस, genus) का अब तक पता चल सका है जिनमें १५८ जातियाँ तथा उपजातियाँ संमिलित हैं। इनमें कुछ प्रसिद्ध कंगारू इस प्रकार हैं :

न्यू गिनी में डोरकोपसिस (Dorcopsis) जाति के कंगारू मिलते हैं जो कुत्ते के बराबर होते हैं। इनकी पूँछ और टाँगें छोटी होती हैं। इन्हीं के निकट संबंधी तरुकुरंग (डेंड्रोलेगस कंगारू, Dendrolagus kangaroos) हैं जो पेड़ों पर भी चढ़ जाते हैं। इनके कान छोटे और पूँछ पतली तथा लंबी होती है।

पैडीमिलस (Pademelous) नामक कंगारू डोलकोपसिस के बराबर होने पर भी छोटे सिरवाले होते हैं। ये न्यू गिनी से टैस्मेनिया तक फैले हुए हैं।

प्रोटेमनोडन (Protemnodon) जाति के कई कंगारू बहुत प्रसिद्ध हैं जो घास के मैदानों में रहते है। ये रात में चराई करके दिन का समय किसी झाड़ी में बिताते हैं। इनकी पूँछ, कान और टाँगें लंबी होती हैं।

मैकरोपस (Macropus) जाति का महान् धूम्रवर्ण कंगारू (ग्रेट ग्रे कंगारू) भी बहुत प्रसिद्ध है। यह घास के मैदान का निवासी है। इसी का निकट संबंधी लाल कंगारू भी किसी से कम प्रसिद्ध नहीं है, यह आस्ट्रेलिया के मध्य भाग के निचले पठारों पर रहता है।

कंगारू
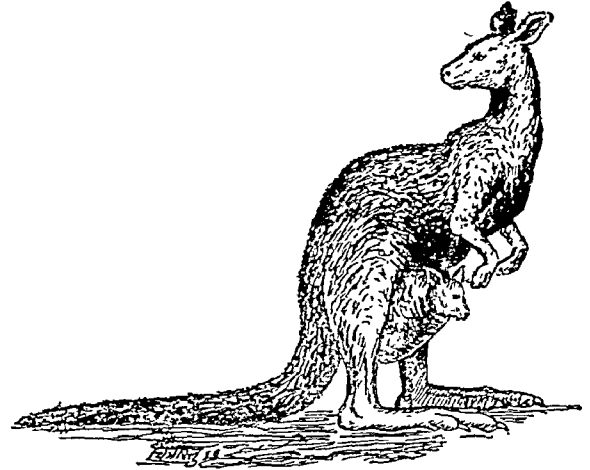
शैलधाकुरंग (पेट्रोग्रोल, Petrogole) और ओनीकोगोल (Onychogole) प्रजाति के शैल वैलेबी (रॉक वैलेबी, Rock Wallaby) और नखपुच्छ (नेल टेल) वैलाबी नाम के कंगारू बहुत सुंदर और छोटे कद के होते हैं। इनमें से पूर्वोक्त प्रजातिवाले कंगारू पहाड़ की खोहों में और दूसरे घास के मैदानों में रहते हैं।

पैलार्किस्टिस (Palorchistes) जाति के प्रातिनूतन भीम कंगारू (प्लाइस्टोसीन जायंट कंगारू, Pliestocene giant kangaroo) काफी बड़े (लगभग छोटे घोड़े के भार के) होते हैं। इनका मुख्य भोजन घास पात और फल फूल है। इनका सिर छोटा, जबड़ा भारी और टाँगें छोटी होती हैं।

कंगारू के पैरों में अँगूठे नहीं होते। इनकी दूसरी और तीसरी अँगुलियाँ पतली और आपस में एक झिल्ली से जुड़ी रहती हैं, चौथी और पाँचवीं अँगुली बड़ी होती हैं। चौथी में पुष्ट नख रहता है।

कंगारू की पूँछ लंबी और भारी होती है। उछलते समय वे इसी से अपना संतुलन बनाए रहते हैं और बैठते समय इसी को टेककर इस प्रकार बैठे रहते हैं मानो कुर्सी पर बैठे हों। वे अपनी अगली टाँगों और पूँछ को टेककर पिछली टाँगों को आगे बढ़ाते हैं और उछलकर पर्याप्त दूरी तक पहुँच जाते हैं।

कंगारू का मुखछिद्र छोटा होता है जिसका पर्याप्त भाग ओठों से छिपा रहता है। मुख में निचले कर्तनकदंत (इनसाइज़र्स, incisors) आगे की ओर पर्याप्त बढ़े रहते हैं, जिनसे ये अपना मुख्य भोजन, घास पात, सुगमता से कुतर लेते हैं। इनकी आँखें भूरी और औसत कद की, कान गोलाई लिए बड़े और घूमनेवाले होते हैं, जिन्हें हिरन आदि की भाँति इधर उधर घुमाकर ये दूर की आहट पा लेते हैं। इनके शरीर के रोएँ पर्याप्त कोमल होते हैं और कुछ के निचले भाग में घने रोओं की एक और तह भी रहती है।

कंगारू की थैली उसके पेट के निचले भाग में रहती है। यह थैली आगे की ओर खुलती है और उसमें चार थन रहते हैं। जाड़े के आरंभ में इनकी मादा एक बार में एक बच्चा जनती है, जो दो चार इंच से बड़ा नहीं होता। प्रारंभ में बच्चा माँ की थैली में ही रहता है। वह उसको लादे हुए इधर उधर फिरा करती है। कुछ बड़े हो जाने पर भी बच्चे का संबंध माँ की थैली से नहीं छूटता और वह तनिक सी आहट पाते ही भागकर उसमें घुस जाता है। किंतु और बड़ा हो जाने पर यह थैली उसके लिये छोटी पड़ जाती है और वह माँ का साथ छोड़कर अपना स्वतंत्र जीवन बिताने लगता है। आस्ट्रेलिया के लोग कंगारू का मांस खाते हैं और उसकी पूँछ का रसा बड़े स्वाद से पीते हैं। वैसे तो यह शांतिप्रिय शाकाहारी जीव है, परंतु आत्मरक्षा के समय यह अपनी पिछली टाँगों से भयंकर प्रहार करता है। (सु० सिं०)

कंचनजंगा सिक्किम-नेपाल-सीमा पर २८,१४६ फुट ऊँचा, गौरीशंकर (एवरेस्ट) पर्वत के बाद संसार का दूसरा सर्वोच्च पर्वतशिखर है। (स्थिति २७° ४२′ उ० अ०, ८८° ९′ पू० दे०)। इस पर्वत की भूगर्भीय स्थिति हिमालय की मुख्य श्रेणी के सदृश है। यह तिब्बत एवं भारत की जलविभाजक रेखा के दक्षिण में स्थित है। इसीलिये इसकी उत्तरी ढाल की नदियाँ भी भारतीय मैदान में गिरती हैं। कंचनजंगा तिब्बती शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ 'महान् हिमानियों के पाँच अतिक्रमण' है, जो इसकी पाँच चोटियों से संबंधित है। इसका दूसरा नाम कोंगलोचु है जिसका शाब्दिक अर्थ 'बर्फ का सर्वोच्च पर्दा' है। (रा० वृ० सिं०)

कंचनपाड़ा ग्राम तथा रेलवे स्टेशन कलकत्ता नगर से २७ मील की दूरी पर है। यह रेलवे स्टेशन पूर्व रेलवे पर जिला २४ परगना की उत्तरी सीमा पर पड़ता है। यहाँ रेलवे का कारखाना है। (सु० प्र० सिं०)

कंचुकपक्ष (कोलिऑप्टेरा, Coleoptera) कीटवर्ग (इनसेक्टा) का एक अति विकसित, गुणसंपन्न तथा महान् गण (ऑर्डर) है। इसके मुख्य लक्षण ये हैं: दो जोड़े पंखों में से अगले ऊपरी पंखों का कड़ा, मोटे चमड़े जैसा होना; ये अगले पंख पीठ की मध्यरेखा पर एक दूसरे से मिलते हैं और इनको बहुधा पक्षवर्म (एलिट्रा, Elytra) कहते हैं; पिछले पंख पतले, झिल्ली जैसे होते हैं और अगले पंखों के नीचे छिपे रहते हैं जिनसे उनकी रक्षा होती है; उड़ते समय पक्षवर्म संतोलकों का काम करते हैं; इनके वक्षाग्र (प्रोथोरैक्स, prothorax) बड़े होते हैं; मुखअंग कुतरने या चबाने के योग्य होते हैं; इनके डिंभ (लार्वा) विविध प्रकार के होते हैं, किंतु ये कभी भी प्रारूपिक बहुपादों (पॉलीपॉड्स Polypods) की भाँति के नहीं होते। साधारणतः इस गण के सदस्यों को अंग्रेजी में 'बीट्ल' कहते हैं और ये विविध आकार प्रकार के होने के साथ ही लगभग सभी प्रकार के वातावरण में पाए जाते हैं। उड़ने में काम आनेवाले पंखों पर चोली के समान संरक्षक पक्षवर्म (एलिट्रा) रहने के कारण ही इन जीवों को कंचुकपक्ष कहते हैं।

कंचुकपक्ष गण में २,२०,००० से अधिक जातियों का उल्लेख किया जा चुका है और इस प्रकार यह कीटवर्ग ही नहीं, वरन् समस्त जंतुसंसार का सबसे बड़ा गण है। इनकी रहन सहन बहुत भिन्न होती है; किंतु इनमें से अधिकांश मिट्टी या सड़ने गलने पदार्थों में पाए जाते हैं। कई जातियाँ गोबर, घोड़े के मल, आदि में मिलती हैं और इसलिये इनको गुबरैला कहा जाता है। कुछ जातियाँ जलीय प्रकृति की होती हैं; कुछ वनस्पत्याहारी हैं और इनके डिंभ तथा प्रौढ़ दोनों ही पौधों के विभिन्न भागों को खाते हैं; कुछ जातियाँ, जिनको साधारणतः घुन नाम से अभिहित किया जाता है, काठ, बाँस आदि में छेदकर उनको खोखला करती हैं और उन्हीं में रहती हैं। कुछ सूखे अनाज, मसाले, मेवे आदि का नाश करती हैं।

नाप में कंचुकपक्ष एक ओर बहुत छोटे होते हैं, दूसरी ओर काफी बड़े। कोराइलोफ़िडी (Corylophidae) तथा टिलाइडी (Ptiliidae) वंशों के कई सदस्य ०.५ मिलीमीटर से भी कम लंबे होते हैं तो स्कैराबीडी (Scarabaeidae) वंश के डाइनेस्टीज़ हरक्यूलीस (Dynastes hercules) तथा सेरैंबाइसिडी (Cerambycidae) वंश के मैक्रोडॉन्शिया सरविकॉर्निस (Macrodontia Cervicornis) की लंबाई १५.५ सेंटीमीटर तक पहुँचती है। फिर भी संरचना की दृष्टि से इनमें बड़ी समानता है। इनके सिर की विशेषता है गल (ग्रीव, अंग्रेजी में gula) का सामान्यतः उपस्थित होना, अधोहन्वस्थि (मैंडिबल्स, mandibles) का बहुविकसित और मजबूत होना, ऊर्ध्वहन्वस्थि (मैक्सिली) का सामान्यतः पूर्ण होना तथा अधरोष्ठ (लेबियम) में चिबुक (मेंटम) का सुविकसित होना। वक्ष भाग में वक्षाग्र बड़ा तथा गतिशील होता है और वक्षमध्य तथा वक्षपश्च एक दूसरे से जुड़े होते हैं; पृष्ठकाग्र (प्रोनोटम) एक ही पट्ट का बना होता है तथा पार्श्वक (प्लूरान) कई पट्टों में नहीं विभाजित होता। टाँगें बहुधा दौड़ने या खोदने के लिये संपरिवर्तित होती हैं, किंतु जलीय जातियों में ये तैरने योग्य होती है। पंखों में पक्षवर्म लाक्षणिक महत्व के है तथा पिछले पंख कभी कभी छोटे या अनुपस्थित भी रहते है। पिछले पंखों का नाड़ीविन्साय (वेनेशन) अन्य गणों के नाड़ीविन्यास से भिन्न होता है—इसकी विशेषता है लंबवत् नाड़ियों की प्रमुखता। नाड़ीविन्यास तीन मुख्य भेदों में बाँटा जाता है: (१) सभी मुख्य नाड़ियों का पूर्णतया विकसित होना और उनका एक दूसरे से आड़ी नाड़ियों द्वारा जुड़ी होना [एडिफ़ेगिड (Adephagid) प्रकार का होना]; (२) आड़ी नाड़ियों की अनुपस्थिति तथा M के प्रारंभिक भाग की अनुपस्थिति [स्टैफ़िलिनिड (Staphylinid) प्रकार का होना]; और
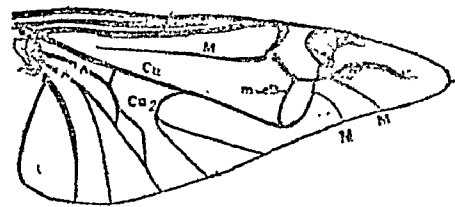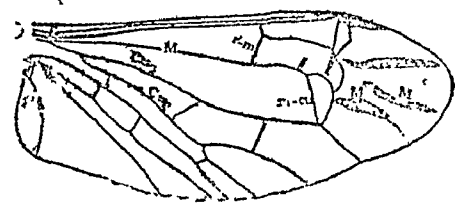
चित्र १. एडिफ़ेगिड प्रकार के पंख

ऊपर क्यूपिडिडी (Cupididae) तथा नीचे कारैबिडी (Carabidae)
M = मध्यवर्ती (Medial); Cu = अग्रबाहुक (Cubital);
M – Cu = आभिमध्य-अग्रबाहुक (Medio – Cubital)।

(३) M तथा Cu का दूरस्थ भाग में एक दूसरे से जुड़कर एक चक्र का निर्माण करना [कैंथैरिड (Cantharid) प्रकार का होना]। उदर की संरचना भी विभिन्न होती है, किंतु उनमें बहुधा नौ स्पष्ट खंड होते हैं। कई वंशों में उदर के पिछले खंड नलिकाकार होते हैं और वे भीतर की ओर खींचे जा सकते हैं। बहुधा नवें खंड पर जनन संबंधी प्रवर्ध होते हैं। नर में ये मैथुन में सहायक होते हैं और स्त्री में अंडरोपकों (ओविपोज़िटरों

(Ovipositors) का निर्माण करते हैं। इनका संबंध कुछ हद तक अंडरोपण स्वभाव से होता है और ये वर्गीकरण में सहायक हैं।
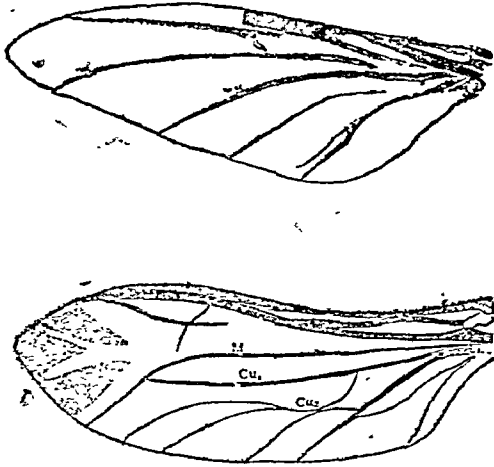
चित्र २. कोलिअॉप्टेरा पॉलिफ़ागा (Coleoptera-Polyphaga)
ऊपर स्टैफ़िलिनिड प्रकार (ऑसिपस, Ocypus); नीचे कैंथैरिड प्रकार (कैंथैरिस, Cantharis)

अधिकांश जातियों में किसी न किसी प्रकार के ध्वन्युत्पादक अंग पाए जाते हैं। इनकी रचना अनेक प्रकार की होती है। इनकी स्थितियाँ भी बहुत विभिन्न होती हैं। उदाहरण के लिये ये शिर के ऊपर तथा अग्र वक्ष पर स्थित हो सकते हैं, या शिर के नीचे के भाग में। स्थिति के अनुसार गहन (१६००) ने इनको चार मुख्य भेदों में बाँटा है। स्कैरावीडी वंश के सदस्यों में ये बहुत सुविकसित दशा में मिलते हैं।

कंचुकपक्ष कीटों के जीवनेतिहास में स्पष्ट रूपांतरण होता है। अंडे विविध स्थानों में दिए जाते हैं और विविध रूप के होते हैं। उदाहरण
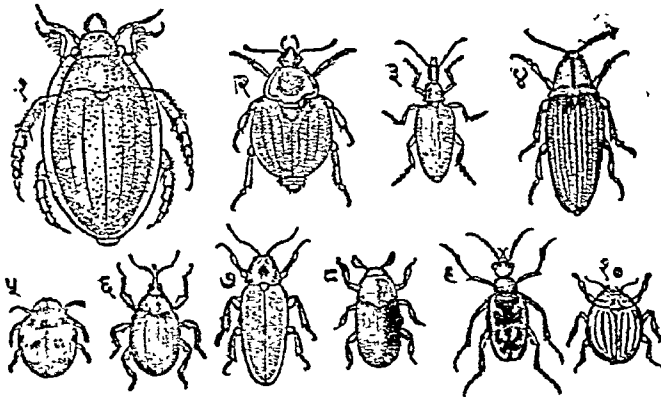
चित्र ३. विविध कंचुकपक्ष

१. आखेटप्रिय, निमज्जी गुबरैला (डाइटिसिडी); २. गलित मांसभोजी गुबरैला (सिल्फ़िडी); ३. भू-गुबरैला (कारैबिडी); ४. टकगुबरैला (एलाटेरिडी); ५. बीरबहूटी (कॉक्सिनेलिडी); ६. कपास कंचुकी (रुई की डोंडी) का गुबरैला (कर्कुलिअॉलिडी); ७. जुगनू (लैंपिरिडी); ८. वल्क (पेड़ की छाल) का गुबरैला (स्कॉलिटिडी); ९. नाहर गुबरैला (सिसिंडेलिडी); १०. आलूपर्ण गुबरैला (क्रिसोमेलिडी)।

के लिये ऑसिपस (Ocypus) वंश के अंडे बहुत बड़े और संख्या में थोड़े होते हैं और मिलोइडी (Meloidae) वंश के अंडे बहुत छोटे और बहुसंख्यक होते हैं। हाइड्रोफ़िलिडी (Hydrophilidae) वंश में अंडे कोषों में सुरक्षित रखे जाते हैं और कैसिडिनी (Cassidinae) उपवंश में वे एक डिंबावरण में चिपटे होते हैं। कॉक्सिनेलिडी (Coccinellidae) के अंडे पत्तियों पर समूहों में दिए जाते हैं और करकुलियोनिडी (Curculionidae) के कीट अपने मुखांग द्वारा पौधों या बीजों में छेद कर उनमें अंडे देते हैं। इसी प्रकार स्कोलाइटिनी (Scolytinae) में स्त्री तनों में घुसकर सुरंगों में अंडे देती है। इस उपवंश के कुछ कीटों में स्त्री अंडों और डिंभ की रक्षा और उनका पोषण भी करती है।

इनमें वर्धन काल में स्पष्ट रूपांतरण होता है तथा डिंभ विविध प्रकार के होते हैं। रोचक बात यह है कि ये डिंभ रहन सहन के अनुरूप संपरिवर्तित होते हैं। एडिफेगा (Adephaga) उपवर्ग में तथा कुछ पालीफ़ागा (Polyphaga) में डिंभ अविकसित कैंपोडाई (Campodai) रूपी होते हैं, अर्थात् ये जंतुभक्षी, लंबी टाँगों, मजबूत मुखांगोंवाले तथा कुछ चिपटे होते हैं। कुकुजॉयडिया (Cucujoidea) के डिंभ कैंपोडाई रूपी तथा एरुसिफ़ार्म (Fruciform) के बीच के होते हैं, अर्थात् उनमें औदरीय टाँगें दिखाई पड़ती हैं। करकुलियोनायडिया में अपाद (ऐपोडस) अर्थात् बिना टाँगों के डिंभ होते हैं। स्पष्ट है कि कैंपोडाई रूपी डिंभ बहुत गतिशील होते हैं, परिवर्तित कैंपोडाई रूपी कम क्रियाशील तथा पादरहित डिंभ गतिविहीन होते हैं। काठ में सुरंग बनानेवाले डिंभ साधारणतः मांसल होते हैं, इनके मुखांग मजबूत होते हैं और शिर वक्ष में धँसा रहता है। *जलीय वंशों के डिंभों की टाँगें तैरने के निमित्त संपरिवर्तित होती हैं।* कुछ वंशों में, जैसे मिलोइडी (Meloidae), राइपिफ़ोरिडी (Rhipiphoridae) तथा माइक्रोमाल्थिडी (Micromalthidae) में अतिरूपांतरण (हाइपरमेटामॉर्फ़ोसिस, hypermetamorphosis) पाया जाता है। इनमें डिंभ की विभिन्न अवस्थाएँ अलग अलग रूपों की होती हैं।

इतनी विविधता के कारण कंचुकपक्षों का वर्गीकरण विशेष जटिल है और यहाँ उसकी बहुत संक्षिप्त रूपरेखा मात्र ही दी जा सकती है। क्रोसन (Crowson) द्वारा सन् १९५५ में दिए गए आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार इस गण को चार उपगणों में बाँटा जाता है—आर्कोस्टेमाटा (Archostemata), एडिफ़ेगा (Adephaga), मिक्सोफ़ेगा (Myxophaga) तथा पॉलिफ़ेगा (Polyphaga)। आर्कोस्टेमाटा में केवल दो वंश और लगभग २० जातियाँ हैं: वंश क्यूपेडाइडी (Cupedidae) की जातियाँ केवल जीवाश्म रूप में पाई जाती हैं और माइक्रोमैल्थिडी में जीवित जातियाँ हैं। यह उपगण अति अविकसित है। एडिफ़ेगा उपगण कुछ लक्षणों में अविकसित तथा कुछ लक्षणों में विशिष्ट है। कुछ सदस्यों को छोड़ सभी जंतुभक्षी होते हैं। इस उपगण में १० वंश रखे गए हैं—राइसोडाइडी (Rhisodidae), पासिडी (Paussidae), कैराबिडी (Carabidae), ट्रैकीपैकीडी (Trachypachidae), हैलिप्लाइडी (Haliplidae), ऐंफ़िज़ोइडी (Amphizoidae), हाइग्रोबाइडी (Hygrobiidae), नोटेरिडी (Noteridae), डाइटिस्किडी (Dytiscidae) तथा गाइरिनिडी (Gyrinidae)। इनमें से कैराबिडी प्रारूपिक वंश है और इसके सदस्य संसारव्यापी हैं; तथा डाइटिस्किडी के सदस्य वास्तविक जलीय प्रवृत्ति के हैं। मिस्कोफ़ेगा उपगण में अधिकांश संदेहजनक स्थिति की जातियाँ हैं जिनको चार छोटे वंशों में रखा जाता है—लेपिसेरिडी (Lepiceridae), हाइड्रोस्कैफ़िडी (Hydroscaphidae), स्फ़ीराइडी (Sphaeriidae) तथा कैलिप्टोमेरिडी (Calyptomeridae)। पालीफ़ेगा में अधिकांश बीट्लों की जातियाँ आती हैं जिनकी विविध संरचना तथा रहन सहन के कारण उनका वर्गीकरण बहुत कठिन समझा जाता है। क्रोसन इस उपगण को १९ वंशसमूहों में बाँटते हैं जिनके अंतर्गत रखे जानेवाले वंशों की कुल संख्या १४१ है। इन वंशों का नाम तो यहाँ देना संभव नहीं है, किंतु वंशसमूह इस प्रकार हैं। हाइड्रोफ़िलॉयडिया (Hydrophiloidea) जिसके अंतर्गत अधिकतर जलीय प्रकृति की जातियाँ हैं। इनमें पाँच वंश माने गए हैं; हिस्टेरॉयडिया, (Hysteroidea), जिसमें तीन वंश हैं; स्टैफ़िलिनोडिया (Staphylinodea) जिसमें १० वंश रखे जाते हैं; स्कैराबायडिया (Scaraboidea), जिसमें छह वंश हैं; डैस्किलिफ़ॉर्मिया (Dascilliformia), जिसमें चार वंश हैं; बिरायडिया (Byrrhoidea), जिसमें केवल एक ही वंश है; ड्रायोपायडिया, जिसमें आठ वंश रखे गए हैं; ब्युपेस्टेरायडिया (Bupesteroidea), जिसमें

एक ही वंश है; रिपिसेरायडिया (Rhipiceroidea), जिसमें दो वंश हैं; इलेटेरायडिया (Elateroidea), जिसमें छह वंश हैं; कैंथेरायडिया (Cantheroidea), जिसमें नौ वंश हैं; बोस्ट्रिकायडिया (Bostrychoidea), जिसमें चार वंश है; डरमेस्टायडिया (Dermestoidea) जिसमें पाँच वंश हैं; क्लेरायडिया (Cleroidea), जिसमें पाँच वंश है; लाइमेक्सिलायडिया (Lymexyloidea), जिसमें एक ही वंश है; कुकुजायडिया (Cucujoidea), जो सबसे बड़ा, ५७ वंशोंवाला उपसमूह है; क्राइसोमेलायडिया (Crysomeloidea), जिसमें केवल दो किंतु बहुत बड़े वंश है; करकुलियोनायडिया (Curculionoidea), जिसमें नौ वंश है तथा स्टाइलोपायडिया (Stylopoidea), जिसमें दो वंश रखे जाते है।

कंचुकपक्ष गण के कीट हमारे लिये बहुत आर्थिक महत्व के हैं। इसके अंतर्गत अनाज, तरकारियों, फलों आदि का विनाश करनेवाली विविध जातियाँ, चावल, आटा, गुदाम में रखी दाल, गेहूँ, चावल आदि में लगनेवाले घुन, सूँड़ी इत्यादि, ऊन, चमड़े आदि की 'कीड़ी' तथा काठ में छेद करनेवाले घुन हैं। (उ० शं० श्री०)

कंजर संभवतः द्रविड़ मूल का घुमक्कड़ कबीला जो संपूर्ण उत्तर भारत की ग्राम्य और नागरिक जनसंख्या में छितराया हुआ है। कंजर शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'कानन-चर' से हुई भी बताई जाती है। वैसे भाषा, नाम, संस्कृति आदि में उत्तर भारतीय प्रवृत्तियाँ कंजरों में इतनी बलवती हैं कि उनका मूल द्रविड़ मानना वैज्ञानिक नहीं जान पड़ता। कंजरों तथा साँसिया, हाबूरा, बेरिया, भाट, नट, बंजारा, जोगी और बहेलिया आदि अन्य घुमक्कड़ कबीलों में पर्याप्त सांस्कृतिक समानता मिलती है। एक किंवदंती के अनुसार कंजर दिव्य पूर्वज 'मान' गुरु की संतान है। मान अपनी पत्नी नथिया कंजरिन के साथ जंगल में रहता था। मान गुरु के पुरावृत्त को ऐतिहासिकता का पुट भी दिया गया है, जैसा उस आख्यान से विदित है जिसमें मान दिल्ली सुल्तान के दरबार में शाही पहलवान को कुश्ती में हराता है।

कंजरों का कबीली संगठन विषम है। वे बहुत से अंतर्विवाही (एंडोगैमस) विभागों और बहिर्विवाही (एक्सोगैमस) उपविभागों में बँटे है। १८६१ की जनगणना में दर्ज किए गए १०६ कंजर उपविभागों के नाम हिंदू और छह के नाम मुसलमानी थे। कंजरों का विभाजन पेशेवर विभागों में हुआ है, जैसा उनके जल्लाद, कूँचबंद, पथरकट, राछबंद आदि विभागीय नामों से स्पष्ट होता है। कंजरों में वयस्क विवाह का प्रचलन है। यद्यपि स्त्रियों को विवाहपूर्व यौन स्वच्छंदता पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है, तथापि विवाह के पश्चात् उनसे पूर्ण पातिव्रत की अपेक्षा की जाती है। स्त्री एवं पुरुष दोनों के विवाहेतर यौन संबंध हेय समझे जाते हैं और दंडस्वरूप वंचित पति को अधिकार होता है कि वह अपराधी पुरुष की न केवल संपत्ति वरन् संतान भी हस्तगत कर ले। विवाह वधूमूल्य देकर होता है। रकम का भुगतान दो किस्तों में होता है, एक विवाह के समय और दूसरी संतानोत्पत्ति के पश्चात्। परंपरागत विवाहों के अतिरिक्त पलायन विवाह (मैरेज बाइ एलोपमेंट) का भी चलन है। अज्ञातवास से लौटने पर युग्म पूरे गाँव को भोज पर आमंत्रित कर वैध पतिपत्नी का पद प्राप्त कर सकता है। विधवाविवाह संभव है और विधवा अधिकतर अपने अविवाहित देवर से ब्याही जाती है।

पेशेवर नामधारी होने पर भी कंजरों ने किसी व्यवसायविशेष को नहीं अपनाया। कुछ समय पूर्व तक ये यजमानी करते थे और गाँववालों का मनोरंजन करने के बदले धन और मवेशियों के रूप में वार्षिक दान पाते थे। प्रत्येक कंजर परिवार की यजमानी में कुछ गाँव आते थे जहाँ वे उत्सव और विशेष अवसरों पर नाच गाकर गाँववालों का मनोरंजन करते थे। इनमें से कुछ परिवार गाँव की गूजर, मीना और अन्य जातियों के परंपरागत चारण और वंशावली संग्रहकर्ता का काम करते थे। कुछ कंजर स्त्रियाँ भीख माँगने के साथ साथ वेश्यावृत्ति भी करती थीं। किंतु वर्तमान कंजर अपने परंपरागत धंधों को छोड़ आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक पेशों की ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

वेशभूषा में कंजर गूजरों के सदृश होते है। इनकी स्त्रियाँ मुसलमान स्त्रियों की भाँति लहँगे की बजाय लंबा कुरता और पाजामा पहनती है। खान पान में ये कबीले जौ, बाजरे, कंद, मूल, फल से लेकर छिपकली, गिरगिट और मेढ़क का मांस तक खाते हैं। छिपकली, साँडा, साँप और गिद्ध की खाल से विशेष प्रकार का तेल निकालकर ये उसे दुःसाध्य रोगों की दवा कहकर बेचते हैं। भीख माँगनेवाली कंजर स्त्रियाँ प्रायः संभ्रांत कृषक महिलाओं को अपनी बातों में फँसाकर बाँझपन तथा अन्य स्त्रीरोगों की दवा बेचती हैं और हाथ देखकर भाग्य बताती हैं।

कंजरों की कबीली पंचायत शक्तिशाली और सर्वमान्य सभा है। सभ्य समाज की दृष्टि में पेशेवर अपराधी माने जानेवाले कंजरो में भी कबीली नियमों के उल्लंघन की कड़ी सजा मिलती है। अपराधस्वीकृति के निराले और यातनापूर्ण ढंग अपनाए जाते हैं। कंजर कबीली देवी-देवताओं के साथ साथ हिंदू देवी देवताओं की भी मनौती करते है। विपत्ति पड़ने पर कबीली देवता 'अलमुंदी' और 'असपाल' के क्रोध-शमन-हेतु बकरे, सुअर और मुर्गे की बलि दी जाती है।

सं०ग्रं०—कुक : ट्राइब्ज ऐंड कास्ट्स ऑव नार्थवेस्टर्न फ्रंटियर ऐंड अवध; धीरेंद्र मजूमदार : सम वैग्रेंट ट्राइब्ज़ ऑव नॉर्थ इंडिया (लखनऊ, १६४४); रिपोर्ट ऑव द क्रिमिनल ट्राइब्ज़ ऐक्ट इंक्वायरी कमिटी (१६४६–५०)। (र० जै०)

कंटकारी एक अत्यंत काँटेदार परिप्रसरी क्षुप है जो भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र रास्तों के किनारे तथा परती भूमि में पाया जाता है। लोक में इसके लिये भटकटैया, कटेरी, रेंगनी अथवा रिंगिणी, संस्कृत साहित्य में कंटकारी, निदिग्धिका, क्षुद्रा तथा व्याघ्री आदि, और वैज्ञानिक पद्धति में, सोलेनेसी कुल के अंतर्गत, सोलेनम ज़ैंथोकार्पम (Solanum xanthocarpum) नाम दिए गए हैं। इसका लगभग सर्वांग-कंटकमय होने के कारण यह दुःस्पर्श होता है। काँटे सीधे, पीताभ, लगभग आध इंच लंबे और कभी कभी स्वयं छोटे काँटों से युक्त होते हैं। पत्तियाँ प्रायः पक्षवत्, खंडित और पत्रखंड पुनः खंडित या दंतुर (दाँतीदार) होते है। पुष्प जामुनी वर्ण के, फल गोल, व्यास में आध से एक इंच के, श्वेत रेखांकित, हरे, पकने पर पीले और कभी कभी श्वेत भी होते हैं। यह लक्ष्मणा नामक संप्रति अनिश्चित वनौषधि का स्थानापन्न माना है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में कटेरी के मूल, फल तथा पंचांग का व्यवहार होता है। प्रसिद्ध ओषधिगण 'दशमूल' और उसमें भी 'लघुपंचमूल' का यह एक अंग है। स्वेदजनक, ज्वरघ्न, कफ-वात-नाशक तथा शोथहर आदि गुणों के कारण आयुर्वेदिक चिकित्सा में कासश्वास, प्रतिश्याय तथा ज्वरादि में विभिन्न रूपों में इसका प्रचुर उपयोग किया जाता है। बीजों में वेदनास्थापन का गुण होने से दंतशूल तथा अर्श की शोथयुक्त वेदना में इनका धुंआ दिया जाता है। (ब० सिं०)

कंटशुंडी (अकांथोसेफ़ाला, Acanthocephala) एक प्रकार की परार्थयी अथवा परोपजीवी कृमियों की श्रेणी है जो पृष्ठवंशी प्राणियों की सभी श्रेणियों—स्तनपायियों, चिड़ियों, उरगमों, मेढकों और मछलियों—में पाई जाती है। श्रेणी का यह नाम इसकी बेलनाकार आकृति तथा शिरोभाग में मुड़े हुए काँटों के कारण पड़ा है। काँटे कृमि को पोषक की आँत की दीवार में स्थापित करने का काम करते हैं। इस श्रेणी में कृमियों में मुख, गुदा तथा अंत्र आदि पाचक अवयवों का सर्वथा अभाव रहता है। अतएव, पोषक से प्राप्त आत्मसात्कृत भोजन कृमि के शरीर की दीवार से व्याप्त होकर कृमि का पोषण करता है। भिन्न भिन्न जातियों (स्पीशीज) की कंटशुंडियों की लंबाई भिन्न होती है और दो मिलीमीटर से लेकर ६५० मि० मी० तक पाई जाती है। किंतु प्रत्येक जाति के नर तथा नारी कृमि की लंबाई में बड़ा अंतर रहता है। सभी जातियों की कंटशुंडियों में नारी सर्वदा नर से अधिक बड़ी होती है। विभिन्न जातियों की आकृति में भी बड़ी भिन्नता पाई जाती है। किसी का शरीर लंबा, दुबला और बेलनाकार होता है तो किसी का पार्श्व से चिपटा, छोटा और स्थूल होता है। शरीर की सतह चिकनी हो सकती है, किंतु प्रायः झुर्रीदार होती है। मांसपेशियों के कारण इनमें फैलने तथा सिकुड़ने की विशेष क्षमता होती है।

के भोजन के रग पर निर्भर रहता हे। गदे भूरे रग से लेकर चमकीले रग तक की कटशुडियाँ पाई जाती हे।
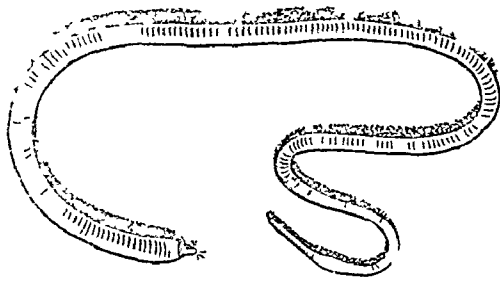
स्त्री नवशल्यतुड (Female Echinorhynchus)

इस श्रेणी का कोई भी सदस्य स्वतत्र जीवन व्यतीत नही करता। सभी सदस्य अत परोपजीवी (एडोपैरासाइट, endoparasite) होते ह और प्रत्येक सदस्य अपने जीवन की प्रारभिक अवस्था (डिभावस्था अर्थात् लार्वल स्टेज) सधिपाद समुदाय की कठिनी (Crustacea) श्रेणी के प्राणी मे और उत्तरार्ध अवस्था (वयस्क अवस्था अर्थात् adult stage) किसी पृष्ठवशी प्राणी मे व्यतीत करता ह। सभी श्रेणियो के पृष्ठवशी इन कटशुडियो के पोषक हो सकते ह, यद्यपि प्रत्येक जाति किसी विशेष पृष्ठवशी मे ही पाई जाती है।

इस श्रेणी मे परिगणित ३०० जातियो का नामकरण हो चुका हे और उनमे से अधिकाश मछलियो, चिडियो तथा स्तनपायियो मे पाई जाती ह। कटशुडी ससार के सभी भूभागो मे पाई जाती हे।

इस श्रेणी की मुख्य जाति (genus) शल्यतुड (Echinorhynchus), वा वृहत्तुड (Gigantorhynchus) है, जो सूअरो मे पाई जाती हे। इसकी लबाई एक गज से भी अधिक तक की होती ह। यह अपने पोषक की आत्र की दीवार से अपने काँटो द्वारा, लटकी रहती हे। जब इसका भ्रूण तैयार हो जाता हे तब यह पोषक के मल के साथ शरीर से बाहर चली आती हे। सूअर के मल को जब एक विशेष प्रकार का गुबरैला खाता हे तब उस गुबरैले के भीतर यह भ्रूण पहुँचकर डिभ (लार्वा) मे विकसित हो जाता ह। इस प्रकार के सक्रमित गुबरैले को जब सूअर खाता हे तो डिभ पुन सूअर के आत्र मे पहुँच जाता हे, जहाँ वह वयस्क हो जाता हे। नवशल्यतुड (Neoechinorhynchus) एक अन्य उदाहरण ह। यह कटशुडी वयस्क अवस्था मे मछलियो तथा डिभावस्था मे प्रजालपक्ष डिभो (Sialis larvae) मे परोपजीवीजीवन व्यतीत करती हे।

पहले कटशुडी सूत्रकृमि (Nemathelminthes) समुदाय की श्रेणी मे गिनी जाती थी, किंतु अब इसकी एक अलग श्रेणी निर्धारित की जा चुकी हे। इस श्रेणी की वशावली अभी अनिर्णीत है।
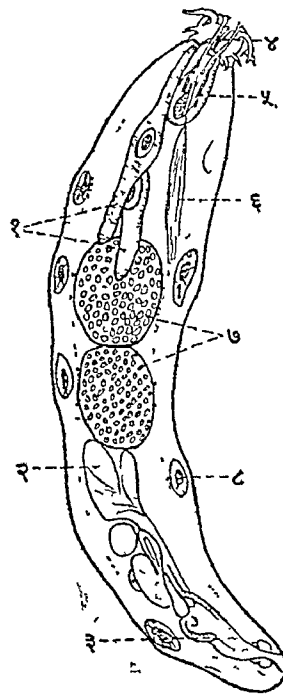
नर नवशल्यतुंड (नियोएकाइनोरिंकस) की अंतःरचना
१. मुद्गरिकाएँ (लेम्निसाइ); २. सश्लेषक ग्रथि (सीमेट ग्लैंड); ३ शुक्रवाहक; ४. शुड; ५. शुड आवरण; ६. प्रतिकर्षक पेशी; ७. वृषण; ८. वृहत् केंद्रक।

आकैथोसेफाला वर्ग के इस जीव के वयस्क मछलियो मे तथा इसके डिभ प्रजाल पक्ष (साइऐलिस) के डिभो मे निवास करते हैं।

इस श्रेणी का वर्गीकरण विभिन्न वैज्ञानिको ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया हे, किंतु सबसे आधुनिक वर्गीकरण हाइमन (Hyman) का ह। इन्होंने सपूर्ण श्रेणी को तीन वर्गो मे विभक्त किया ह: (क) आदिकटशुडी (Archiacanthocephala), (ख) पुराकटशुडी (Palaeacanthocephala) तथा (ग) प्रादिकटशुडी (Eoacanthocephala)। इस वर्गीकरण के मुख्य आधार शुड (Proboscis) मे वर्तमान काँटो की सख्या तथा कुछ अन्य विशेषताएँ ह।

स०ग्र०—एफ० ए० ब्राउन, जनरल एडीटर. सेलेक्टेड इनवर्टिब्रेट टाइप्स, जान वीले ऐंड सस, न्यूयॉर्क, १९५०, एल० एच० हाइमान. दि इनवर्टिब्रेट्स, खड ३, मैक्ग्रॉ-हिल बुक कपनी, न्यूयॉर्क, पी० हिकमान क्लीवलैंड. इटिग्रेटेड प्रिंसिपल्स ऑव जुऑलोजी, सी० वी० मासबाई कपनी, सेंट लुई, १९५५। (भृ० ना० प्र०)

कठमाला लस ग्रथियो का एक चिरकारी रोग ह। इसमे गले की ग्रथिया बढ जाती ह और उनकी माला सी बन जाती हैं इसलिये इसे कठमाला कहते ह। आयुर्वेद मे इसका वर्णन 'गडमाला' तथा 'अपची' दो नाम से उपलब्ध ह, जिन्हे कठमाला के दो भेद या दो अवस्थाएँ भी कह सकते ह। इनमे प्राय. कफ और मेद की अधिकता होती है।

गंडमाला—छोटी बेर, बड़ी बेर या आवले के प्रमाण की गाँठे (गड) गले मे हो जाती हैं जो माला का रूप धारण कर लेती ह उन्हे गडमाला कहते ह। परतु यह ज्ञेय ह कि इसका स्थान केवल ग्रीवा प्रदेश ही नही हे अपितु शरीर के अन्य भागो मे भी, जैसे कक्ष, वक्षण आदि स्थानो मे ग्रथिया के साथ ही इसका प्रादुर्भाव या विकास हो सकता ह। गाँठो की शृखला या माला होने के कारण इसे गडमाला कहते हे। ज्ञातव्य ह कि मामूली प्रतिश्याय, व्रण इत्यादि कारणो से भी ये ग्रथिया विकृत होकर बढ जाती हे परतु माला नही बन पाती हे अत. इनका अतर्भाव इसमे नही होता।

अपची—इन ग्रथियो की माला मे जब पाक होने लगता है तो उसे अपची कहते ह। इसका प्रधान लक्षण ह कि किसी ग्रथि मे पाक हो जाता हे और वह फूटकर बह जाती है, परतु इसके साथ ही दूसरी ग्रथि मे पाक होने लगता ह और वह भी स्रवित हो जाती है। इस प्रकार नई नई ग्रथियो का बढना, फूटना और बहना लगा रहता ह और यह क्रम चलता ही रहता हे। परतु व्रण भरने पर उसका चिह्न रह जाता ह जिससे उसके स्थान का पता लगता रहता हे। इस प्रकार बार बार नई ग्रथियो का उपचय होने के कारण इसे अपची रोग कहा गया है।

इस सदर्भ मे कई लेखको का दृष्टिकोण हे कि गडमाला और अपची एक ही रोग हे और इसकी दो अवस्थाएँ हे। परतु यह ज्ञातव्य ह कि कुछ ग्रथियाँ ऐसी होती ह जिनमे कभी पाक होता हो नही और कुछ मे होता हे। इन दोनो का कारण, लक्षण एव चिकित्सा सब कुछ भिन्न हे अत. इनको दो भिन्न वर्ग भी माना जा सकता ह, एक पकनेवाली और दूसरी न पकनेवाली। परतु कठमाला मे दोनो का अतर्भाव हो जाता है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली मे कठमाला का तत्सम रूप सरवाइकल लिफ ऐडीनाइटिस है। इसमे ग्रीवा प्रदेश की लिफ ग्लैंड की वृद्धि हो जाती हे जिन्हे लिम्फ नोड (गड) भी कहते ह। मुख मे, गले के भीतर, कान मे या शिर पर किसी प्रकार के शोथ या पाक के कारण ये ग्रथियाँ बढ जाती ह जो प्रमुख रोग की चिकित्सा या शाति पर पुन बैठ जाती हैं परतु इनका स्वरूप कभी माला का नही होता और ये चिरकारी भी नहीं होती। ये बहुधा आशुकारी ही होती ह अर्थात् इनका उदय और शाति दोनो क्षिप्र ही होती हे। चिरकारी प्रकार की ग्रथियो के मुख्य कारण तीन हे—

१. क्षयज लस ग्रथि (ट्युबरकुलर लिफ एडिनाइटिस)
२. औपदशिक लस ग्रथि (सिफिलिटिक लिफ एडिनाइटिस)
३. लस ग्रथियो के अर्बुद (हाजकिन डिजीज ल्यूकीमिया इत्यादि)

क्षयज लस ग्रंथि

क्षय रोग की उत्पत्ति क्षय के कीटाणुओ से ही होती हे, ऐसा सिद्ध हो चुका है। क्षय के किटाणु दो प्रकार के होते हैं:

१. ह्यूमन, (२) बोवाइन।

इसमें प्रथम प्रकार के कीटाणुओं से फेफड़े के रोग होते हैं, दूसरे प्रकार के कीटाणुओं से गले के, आँतों के तथा तत्संबंधी लस ग्रंथियों के। इससे स्पष्ट है कि कंठमाला की उत्पत्ति बोवाइन जाति के कीटाणु से होती है। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के कीटाणुओं का संक्रमण गोदुग्ध के द्वारा होता है। यदि दूध को अच्छी तरह उबालकर पिया जाय तो इस रोग के होने की संभावना नहीं रह जाती है।

जहाँ तक इसके लक्षण एवं चिकित्सा का प्रश्न है, यह विशेषकर गले के अगले भाग में ग्रंथियों के रूप में उत्पन्न होता है और क्रमशः पकता एवं फूटता रहता है। साथ ही, राजयक्ष्मा के अन्य सभी लक्षण, जैसे ज्वर, भूख का कम लगना, दुर्बलता आदि भी पाए जाते हैं। इसकी चिकित्सा में सामान्य रूप से स्ट्रेप्टोमाइसिन एवं आइसोनियाज़िड एवं पास का प्रयोग होता है। इस रोग से पूर्ण मुक्त होने के लिये चिकित्सा लंबे समय तक करनी चाहिए (डेढ़ से दो वर्ष) अन्यथा पुनः प्रादुर्भाव होने का डर बना रहता है। किसी किसी अवस्था में शल्य चिकित्सा का भी सहारा लेना पड़ता है। साथ ही पौष्टिक आहार एवं उचित आराम की उपयोगिता रोग निवारण में कम नहीं है।

ये ग्रंथियाँ बहुधा ग्रीवा के पार्श्व भाग में पाई जाती हैं। ये कठिन तथा अपाकी होती हैं। इनमें वेदना भी नहीं होती। अतः ये कंठमाला का स्वरूप नहीं ले पातीं। इनकी उत्पत्ति का कारण उपदंश के जीवाणु है। इसकी चिकित्सा भी उपदंश विरोधी चिकित्सा ही है। पहले आर्सेनिक, बिसमथ एवं मर्करी आदि धातुओं का प्रयोग इनकी चिकित्सा में होता था। परंतु ये काफी विषाक्त थे अतः धीरे धीरे इनका प्रयोग में आना बंद हो गया है। आज कल इसकी सुगम चिकित्सा पेन्सिलीन के द्वारा ही होती है और अब पेन्सिलीन के युग में ग्रीवा के औपदंशिक लस ग्रंथियों के रोगी दिखाई भी कम देते हैं।

लस ग्रंथियों के अर्बुद

हाचकिन डिज़ीज़, ल्यूकीमिया एवं लिंफ़ोसार्कोमा मुख्य रूप से लस ग्रंथियों के अर्बुद हैं। इनमें हाचकिन डिज़ीज़ प्रमुख है। लिंफोसार्कोमा एक आशुकारी व्याधि है जिसमें दो तीन हफ्ते में ही मृत्यु हो सकती है और ल्यूकीमिया एक प्रकार का रक्त का कैंसर है जिसमें प्लीहावृद्धि विशेष रूप से होती है। रक्तपरीक्षा के द्वारा इसका निर्णय शीघ्र हो जाता है।

हाचकिन डिज़ीज़ मुख्यतया नौजवान व्यक्तियों में पाई जाती है। इसमें गले की विभिन्न लस ग्रंथियाँ कुछ तीव्र गति से तथा कुछ धीरे धीरे वृद्धि करती हैं तथा ये त्वचा से अलग रहती है। ये स्पर्श में लचीली मालूम पड़ती हैं। कुछ दिनों के बाद रोगी में रक्त की अति क्षीणता हो जाती है तथा रोगी को अनियमित ढंग से ज्वर भी आने लगता है।

संक्षेप में, यह स्मरणीय है कि ग्रीवा में होनेवाली सभी लस ग्रंथियाँ एक ही प्रकार की नहीं होतीं और उनकी चिकित्सा भी भिन्न भिन्न होती है। सभी ग्रंथियों को कंठमाला शब्द से संबोधित करना भी उचित नहीं है। कंठमाला शब्द क्षयज लस ग्रंथियों के लिये विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। (सु० ना० त्रि०; भै० ना० उ०)

कंठार्ति (Laryngitis) स्वरयंत्र का रोग है। इसमें स्वरयंत्र की श्लैष्मिक कला फूल जाती है और उसमें से एक लसदार पदार्थ (श्लेष्मा) निकलने लगता है।

कारण—इस रोग के होने की संभावना प्रायः सर्दी लग जाने, पानी में भीगने, गले में धूल के कण या धुआँ जाने, जोर से गाना गाने या व्याख्यान देने से तथा उन सभी अवस्थाओं से जिनमें स्वरयंत्रों का प्रयोग अधिक किया जाता है, बढ़ जाती है।

यह अनुभव हुआ है कि यदि शीत लग जाने के बाद स्वरयंत्र का अधिक प्रयोग किया जाता है तो 'कंठार्ति' के लक्षण प्रायः उत्पन्न हो जाते हैं। अकस्मात् हवा की गति बदल जाने से, या दूषित वायुवाले स्थान में अधिक समय तक रहने से भी, कंठार्ति के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। कंठार्ति के लक्षण आंत्रिक ज्वर, शीतला, फुफ्फुसी यक्ष्मा, मसूरिका, रोमांतिका आदि रोगों में भी पाए जाते हैं।

लक्षण—इस रोग में रोगी का गला खरखराने लगता है और उसमें पीड़ा तथा जलन जान पड़ती है। सूखी खाँसी के साथ कड़ी श्लेष्मा निकलती है। किसी किसी रोगी को थोड़ा या अधिक ज्वर भी रहता है। भूख प्यास नहीं लगती। कंठार्ति में स्वरतार रक्त एवं शोथयुक्त हो जाते हैं जिसके कारण बोलने में रोगी को कष्ट होता है। कभी कभी रोग की तीव्रता के कारण स्वर पूर्ण रूप से बंद हो जाता है और साँस लेने में भी कष्ट होता है।

बच्चों में कंठार्ति बहुधा उग्र रूप धारण कर लेती है, इसलिये उनमें कंठार्ति होने पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

उपचार—रोग की दशा में रोगी को पूर्ण रूप से शैया पर आराम करना चाहिए। उसका कक्ष प्रकाशयुक्त तथा सुखद होना चाहिए। जाड़े के दिनों में अग्नि या अन्य साधनों से उसे उष्ण रखना अच्छा है, परंतु अग्नि का प्रयोग करने पर इसका ध्यान रखना चाहिए कि आग से निकली गैस चिमनी से बाहर चली जाय, कक्ष में न फैले। स्वरयंत्र का प्रयोग कम से कम करना चाहिए। रोगी की ग्रीवा को सेंकना चाहिए और गले को किसी कपड़े से लपेटकर रखना चाहिए। आंतरिक सेंक के लिये रोगी को वाष्प में श्वास लेना चाहिए। (क० दे० मा०)

कंदहार अफगानिस्तान का तीसरा प्रमुख ऐतिहासिक नगर एवं कंदहार प्रदेश की राजधानी। इसकी स्थिति ३१° २७' उ० अ० से ६४° ४३' पू० दे० पर, काबुल से लगभग २८० मील दक्षिण-पश्चिम और ३,४६२ फुट की ऊँचाई पर है। यह नगर टरनाक एवं अर्गंदाब नदियों के उपजाऊ मैदान के मध्य में स्थित है जहाँ नहरों द्वारा सिंचाई होती है, परंतु इसके उत्तर का भाग उजाड़ है। समीप के नए ढंग से सिंचित मैदानों में फल, गेहूँ, जौ, दालें, मजीठ, हींग, तंबाकू आदि लगाई जाती हैं। कंदहार से नए चमन तक रेलमार्ग है और वहाँ तक पाकिस्तान की रेल जाती है। प्राचीन कंदहार नगर तीन मील में बसा है जिसके चारों तरफ २४ फुट चौड़ी, १० फुट गहरी खाई एवं २७ फुट ऊँची दीवार है। इस शहर के छह दरवाजे हैं जिनमें से दो पूरब, दो पश्चिम, एक उत्तर तथा एक दक्षिण में हैं। मुख्य सड़कें ४० फुट से अधिक चौड़ी हैं। कंदहार चार स्पष्ट भागों में विभक्त है जिनमें अलग अलग जाति (कबीले) के लोग रहते हैं। इनमें चार—दुर्रानी, घिलजाई, पारसिवन और काकार—प्रसिद्ध हैं।

यहाँ वर्षा केवल जाड़े में बहुत कम मात्रा में होती है। गर्मी अधिक पड़ती है। यह स्थान फलों के लिये प्रसिद्ध है। अफगानिस्तान का यह एक प्रधान व्यापारिक केंद्र है। यहाँ से भारत को फल निर्यात होते हैं। यहाँ के धनी व्यापारी हिंदू हैं। इस नगर की जनसंख्या १९६५ में १,१५,००० थी। १९०८ ई० में हिंदुओं की संख्या लगभग ५,००० थी। नगर में लगभग २०० मसजिदें हैं। दर्शनीय स्थल हैं अहमदशाह का मकबरा और एक मसजिद जिसमें मुहम्मद साहब का कुर्ता रखा है।

कंदहार प्रदेश—अफगानिस्तान का एक प्रांत है। इसके उत्तर में ताइमानी तथा काबुल, पूर्व तथा दक्षिण में बलूचिस्तान और पश्चिम में फराह है। यदि काबुल से फराह तक एक सीधी रेखा मिला दी जाय तो यह प्रदेश दो स्पष्ट भागों में विभक्त हो जाता है। इस रेखा के उत्तर का भाग पहाड़ी है। धरातलीय ऊँचाई ४,००० फुट से १०,००० फुट तक है। दक्षिणी भाग नीचा है। अफगानिस्तान का एकमात्र मैदान हरीत, फराह एवं हेलमंद नदी द्वारा निर्मित है। कंदहार नगर के दक्षिण तथा पश्चिम में क्रमशः रेगिस्तान एवं अफगान-सीस्तान की मरुभूमि है। हेलमंद रेगिस्तानी नदी है जो उत्तर के ऊँचे पहाड़ों से निकलकर सीस्तान की मरुभूमि में समाप्त हो जाती है। प्राचीन काल में काबुल के नीचे के देश एवं कंदहार को गांधार देश कहते थे। धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी यहीं की थीं। यह सम्राट् अशोक के सीमांत राज्यों में था। ११वीं सदी में महमूद गजनवी ने कंदहार को अफगानों से छीन लिया था और २०० वर्षों तक उसके वंशजों का यहाँ साम्राज्य रहा। तदनंतर यह चंगेज खाँ, तैमूर लंग, बाबर और उसके परवर्ती मुगल सम्राटों (१६२५ ई०

ईरान के शाह अब्बास प्रथम, नादिर शाह, अहमदशाह दुर्रानी तथा अंग्रेजी साम्राज्य का अंग बना रहा। सन् १७४७ ई० मे अहमदशाह दुर्रानी ने अफगान साम्राज्य की नीव रखी और आधुनिक स्थन पर कंदहार नगर की, राजधानी के रूप मे, स्थापना की। (रा० लो० सिं०)

कंपाना दी रोमा इटली देश के रोम नगर का समीपवर्ती क्षेत्र। यह क्षेत्रफल मे लगभग ८०० वर्ग मील है। रोम नगर की स्थिति इसके लगभग मध्य मे हे। इस क्षेत्र की सीमाएँ पूर्णतः निर्धारित नही की जा सकी है। वर्तमान मानचित्र रचयिताओं के अनुसार सीमाएँ इस प्रकार है : उत्तर मे सबेटाइन पहाड़ियाँ, पूर्व मे सैबीनी पर्वत, दक्षिण मे अलवान पहाड़ियाँ और पश्चिम मे टाइरीनियन सागर। यह ज्वालामुखीय लावा से निर्मित एक मैदानी प्रदेश हे। इसका अधिकाश भाग घास से ढका है। समुद्रतट की ओर का भाग ढालुआँ है। समुद्रतल से इसकी अधिकतम ऊँचाई २३० फुट है। टाइबर और उसकी सहायक ऐनियन इस प्रदेश की मुख्य नदियाँ है। यहाँ की झीलो की उत्पत्ति मुख्यतः ज्वालामुखीय है, जैसे रेजिलस, आलबानो और नेमी। ये परिमृत ज्वालामुखियो के मुख में जल भर जाने से बन गई है। इस क्षेत्र के पूर्वी भाग मे, विशेषकर रोम और टिवोली नगरो के बीच, गंधक के सोते है जिनमे खौलता हुआ जल जमीन के अदर से निरतर निकलता रहता है। इस भाग मे स्थित सोलफ़ाटरा झील का निर्माण इसी जल के सचयन से हुआ है। जमीन मे से उठती हुई गधक इत्यादि की वाष्प से भरा इस प्रदेश का वातावरण स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।

कंपाना क्षेत्र मे सिचाई द्वारा दाल, फल, अनाज और शाक का उत्पादन होता है परतु अधिकाश भूमि चरागाह के रूप मे प्रयुक्त होती है। कुछ समय पूर्व से देश की सरकार कपाना क्षेत्र के दक्षिणी भाग मे स्थित पाटाईन की दलदली भूमि के सुधार मे सलग्न है।

रोम के अलावा इस क्षेत्र के अन्य महत्वपूर्ण नगर आलबानो, लेजियाले, फ़ाजकेटी और टिवोली है, जो सब इसकी सीमा पर स्थित है; आस्ट्रिया नगर एक समय प्राचीन रोम नगर का बदरगाह था, परंतु अब ऐतिहासिक महत्व का स्थल मात्र है। समुद्रतट पर स्थित लीदो दी रोमा नगर भी उल्लेखनीय है। (रा० ना० मा०)

कंपोज़िंग मुद्रणालयों (छापेखानो) मे उस क्रिया को कहते है जिसमें टाइप छपाई के लिये क्रमानुसार रखा जाता हे। इस काम के लिये

चित्र १. कंपोज़िंग स्टिक

एक छोटे उपकरण की आवश्यकता पड़ती है जिसे कंपोज़िंग स्टिक कहते है। यह लगभग १० इंच लबी और २ इच चौड़ी एक प्रकार की तश्तरी होती है जो केवल तीन ओर से घिरी रहती है। इनमे से दो ओर की दीवारे अचल रहती हे, परंतु तीसरी ओर की दीवार किसी भी स्थान मे कसी जा सकती है, जिससे भीतर की चौड़ाई इच्छानुसार नापी जा सकती है। इस स्टिक मे टाइप एक एक करके रखे जाते है। प्रत्येक टाइप के पार्श्व में एक खाँचा कटा रहता हे, जिसे निक कहते है। टाइप लकडी की बड़ी-बड़ी खानेदार तश्तरियों में रखे रहते हे जिनको केस कहते है। केस लगभग ३२॥ इंच लंबा, १४॥ इंच चौड़ा और १$\frac{3}{8}$ इच गहरा होता है। प्रत्येक केस में कई घर रहते हैं और प्रत्येक घर मे केवल एक प्रकार के टाइप रहते है। इसलिये टाइप उठाते समय टाइप की जाँच नही करनी पड़ती। उदाहरणतः, यदि अक्षर क को स्टिक में रखना है तो क वाले खाने से एक टाइप उठा लिया

चित्र २. टाइप और उसके अंगों के नाम : १ अक्षर; २. निक; ३. शरीर।

जायगा और उसे स्टिक मे इस प्रकार रखा जायगा कि निक बाएँ हाथ के अँगूठे

ﬂ	ﬀ	ﬁ —	) ;		y	1	2	3	4	5	6
& ,	b	c	d	e	i	s		f	g	7 9	8 0
j k	l	m	n	h	o	Thin Sp	p	,	w	En Quad	Em Quad
z x	v	u	t	Thick Spaces.	a	r		q : . .		Large Quads	

चित्र ३. यह अंग्रेजी का निचला केस है।

की ओर पड़े (द्र० चित्र ४)। इसी हाथ से स्टिक पकड़ी जाती है। इसलिये

चित्र ४. अँगूठे से निक टटोलते चलते हैं।

अँगूठे से छूते ही पता चल जाता है कि टाइप ठीक रखा गया या नही। इस

[illegible]	( )	[ ]	यु	पु	षु	पु	ैं	ं	~	ॅ	~	ृ	॥	क	ए
ई	पतला स्पेस	ँ	ँ	ँ	स			ॅ		,	;	†	ि	ॉ	ऐ
क्त ष	य	क		ट		ा		ॅ		य	ध	प	प	° .	: .
ि ।	ढ	म		न		ह		ो	ौ	।	प	ि	ी	[illegible]	[illegible]
र्ि त	इ	य		व		स्पेस		द		र		^ -	, .	कदरैत	

चित्र ५. हिंदी का निचला कस

जब संशोधित प्रूफ कंपोजिटर के पास आता है, तब वह मैटर को बाँधनेवाली डोरी खोल डालता है और प्रूफ पर अंकित अशुद्ध अक्षरों को मैटर से
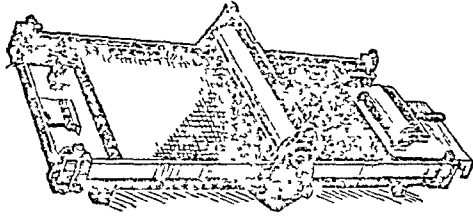
चित्र ११. प्रूफ प्रेस

चिमटी द्वारा निकालकर केसों में यथास्थान रख देता है और उनके बदले शुद्ध अक्षर लगाता चलता है तथा अन्य आवश्यक संशोधन करता है। संशोधित मैटर को खडों मे बाँटकर पृष्ठों के अनुसार लगा दिया जाता है, पृष्ठ-संख्या कंपोज कर दी जाती है और पृष्ठ का शीर्षक भी (जिसे **फ़ोलियो** कहते है) लगा दिया जाता है। अब फिर प्रूफ उठाया (छापा) जाता है जिसे या तो प्रूफ संशोधक पढ़ता है अथवा पुस्तक का लेखक।

जब कहीं भी कोई अशुद्धि नहीं रह जाती तब मैटर मशीन विभाग को छापने के लिये सौंप दिया जाता है।

मशीन से कंपोज़िंग—मशीन से कंपोजिंग दो प्रकार से हो सकती है। एक में पूरी पूरी पंक्तियाँ एक साथ एक टुकड़े में ढलती है; दूसरे में एक एक अक्षर अलग ढलते है। लाइन ढालनेवाली मशीनों के उदाहरण लाइनोटाइप और इंटरटाइप मशीने है। इन मशीनों मे प्रत्येक टाइप के लिये कई एक साँचे रहते है जिनको मैट्रिक्स कहते हैं। मशीन मे चाभियों का समूह (कुंजीपटल, key board) रहता है। एक चाभी (कुंजी) दबाने से उस चाभीवाला एक अक्षर उतरता है। चाभी दबाने का काम लगभग उसी प्रकार का होता है जैसे साधारण टाइपराइटर में, केवल छोटे और बड़े (कैपिटल) अँग्रेजी अक्षर सब कुंजीपटल पर अलग अलग रहते हैं।
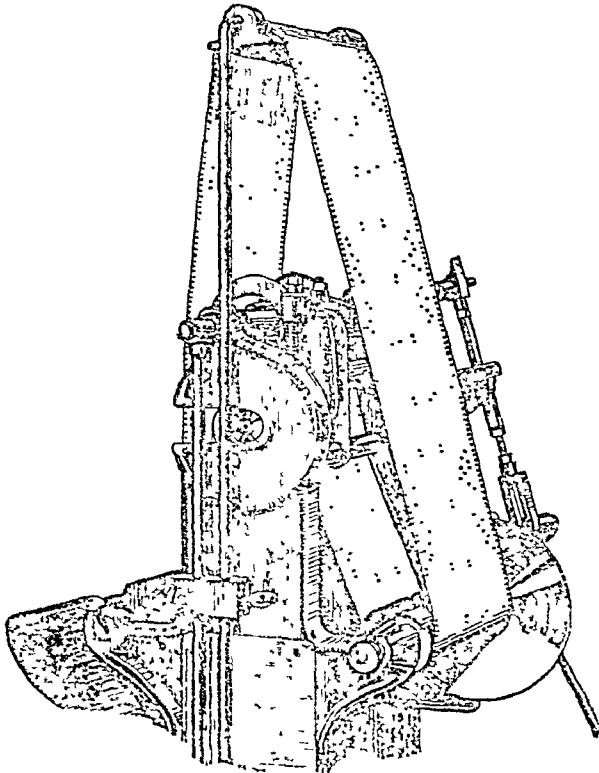
चित्र १२. मोनोटाइप कंपोज़िग

इसमें अक्षरों के अनुसार कागज में पहले छेद किया जाता है। प्रत्येक शब्द के बाद स्पेसवाली चाभी दबाकर स्पेस लगाते चलते है। जब पंक्ति लगभग पूरी हो जाती है तब एक मुठिया ऐंठी जाती है जिससे सब कंपोज किए हुए साँचे ढालने की स्थिति में आ जाते है और पंक्ति जस्टिफ़ाई (Justify) हो जाती है, अर्थात् लंबाई की कमी पूरी हो जाती है। प्रत्येक स्पेस दोहरा होता है और प्रत्येक आधा भाग, स्फान (wedge) रूपी होता है। इसलिये दबने पर दोहरे स्पेस की सम्मिलित मोटाई बढ़ जाती है और इस प्रकार पंक्ति जस्टिफ़ाई हो जाती है। तब पिघली धातु साँचे के सामने डटे खोखले बक्स मे भर जाती है, जिससे पंक्ति ढल जाती है। साँचे के कारण इस ढली पंक्ति के माथे पर कंपोज किए अक्षर बन जाते है। फिर मशीन मे लगी छुरियाँ इस ढले छड़ को बगल और नीचे से नाम मात्र छील देती है, जिससे मोटाई और ऊँचाई सच्ची हो जाय। तब ढली पंक्ति गैली में जा गिरती है। उधर साँचेवाले अक्षर मशीन के माथे पर पहुँच जाते है। उनकी पटी से ताले की चाभियों की भाँति दाँत बने रहते है। इनके कारण वे अपने अपने घरों में जा गिरते हैं। इस प्रकार थोड़े से ही साँचों से बराबर काम होता रहता है।

ऐसी मशीनों से कंपोजिंग का काम बड़ी शीघ्रता से होता है। कड़ी धातु से बने रहने के कारण साँचे बहुत दिनों तक नए की भाँति बने रहते है, अतः उनसे ढला टाइप बहुत तीक्ष्ण रहता है और छपाई अच्छी होती है। समाचारपत्रों की छपाई मे इस मशीन की विशेष उपयोगिता है, क्योंकि मैटर पंक्तियों में ढला रहता है जिससे उसके बिखरने का डर नही रहता। परंतु साथ ही यह असुविधा भी है कि कंपोजिंग में कहीं अशुद्धि हो जाने से पूरी पंक्ति फिर से कंपोज करनी पड़ती है। फिर, कंपोजिंग में एक दो शब्द छूट जाने से कई पंक्तियों को कम स्पेस लगा लगाकर फिर से कंपोज करना पड़ता है जिससे छूटा हुआ शब्द यथास्थान लग सके।

मोनोटाइप—अलग अलग टाइप ढालकर कंपोज करनेवाली मशीन अभी केवल एक कंपनी बनाती है। मशीन का नाम है मोनोटाइप। वस्तुतः इसमें तीन पृथक् मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। एक मशीन तो पंप है जो हवा को संपीडित करके (दबाकर) एक टंकी में भरती रहती है। इस संपीडित वायु की आवश्यकता शेष दोनों मशीनों में पड़ती है। एक मशीन बहुत बड़े टाइपराइटर की तरह होती है जिसमें २२५ या अधिक चाभियाँ रहती है। चाभी दबाने पर संपीडित वायु के बल से एक पंक्ति में लगी तीस सुइयों में से साधारणतः दो सुइयाँ उठती है जो एक पुलिंदे में से निकले कागज में दो छेद कर देती हैं (द्र० चित्र १२)। छेद होने का ढंग यह है कि कागज की टिकली कटकर निकल जाती है। प्रत्येक चाभी से छेद विभिन्न स्थानों में होते है। एक पंक्ति में दो छेद हो जाने पर कागज थोड़ा आगे बढ़ जाता है और तब दूसरी पंक्ति में छेद होते है।

दूसरी मशीन मे अक्षर ढलते है। पहली मशीन से छेद किया कागज इस मशीन में चढ़ा दिया जाता है। कागज एक बेलन पर चपक कर बैठता है और उसके ऊपर एक अर्धनलिका चपककर बैठती है। इस अर्धनलिका में संपीडित वायु आती रहती है। कागज के छेदों की कोई पंक्ति पूर्वोक्त बेलन के छेदों की पंक्ति पर आती है, तब कागज के दोनों छेदों में से संपीडित वायु बेलन के भीतर की दो नलिकाओं में घुसती है। बेलन के भीतर ३०
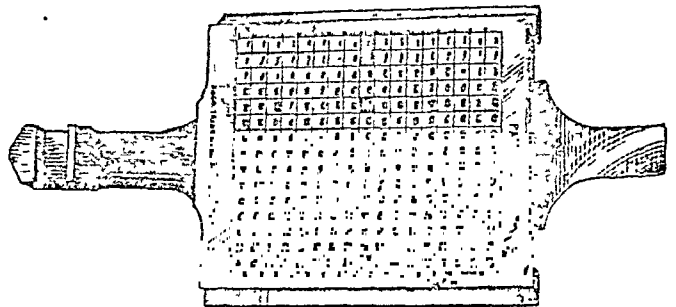
चित्र १३. मोनोटाइप मैट्रिक्स केस

नलिकाएँ रहती है और प्रत्येक का सिरा बेलन के एक छेद से संबद्ध रहता है। जब किसी नलिका मे वायु घुसती है तो उसके दूसरे सिरे से संबद्ध खूँटी संपीडित वायु के बल से उठ जाती है। १५ खूँटियाँ एक पट्ट मे से निकलती

हैं; १५ एक अन्य पट्ट से। अक्षरों के साँचे ३ इंच × ३ इंच के फ्रेम में कसे रहते हैं (द्र० चित्र १३)। यह फ्रेम कमानी के बल से पूर्वोक्त खूँटियों से जा डटता है। मान लें, १५ खूँटियों का पहला समूह फ्रेम के ठीक उत्तर में है और दूसरा समूह ठीक पश्चिम में, तो अन्य फ्रेम नीचे लगे एक खाँचे के ठीक उत्तर चला जा सकता है और एक दक्षिण के खाँचे पर। फ्रेम और पहला खाँचा दोनों साथ ही पूरब-पश्चिम चल सकते हैं। जब फ्रेम उत्तर और पश्चिमवाली खूँटियों से जा डटेगा तब उसी अक्षर का साँचा पंप के मुँह पर पड़ेगा जिसके लिये कंपोज करते समय चाभी दबाई गई थी। अब एक कमानी साँचे को एक खोखले छेद पर दबा देगी (जिसकी चौड़ाई अक्षर की चौड़ाई के अनुसार घटती बढ़ती रहती है) और नीचे से पिघली धातु पंप द्वारा आकर ढल जायगी। फिर मशीन स्वयं इस अक्षर को खींच ले जायगी, दूसरा अक्षर ढलेगा, फिर अन्य अक्षर, और पंक्ति पूरी हो जाने पर एक हुक उसे खींचकर गैली में पहुँचा देगा। उधर फ्रेम ढीला होकर अपनी प्रस्थान स्थिति में पहुँच जायगा और वहाँ से चलकर अन्य खूँटियों से जा डटेगा।

पंक्तियाँ सब पूरी नाप की (अर्थात् जस्टिफ़ाई होकर) निकलती हैं। कारण यह है कि कंपोज करते समय पंक्ति लगभग पूरी होने पर कार्यकर्ता (ऑपरेटर) मशीन में लगे सूचक को देखकर समझ जाता है कि कितने मोटे स्पेसों के लगने पर पंक्ति पूरी होगी और वह उसी के अनुरूप विशेष कुंजी को दबाता है। अक्षरों का ढालना उलटी ओर से आरंभ होता है,
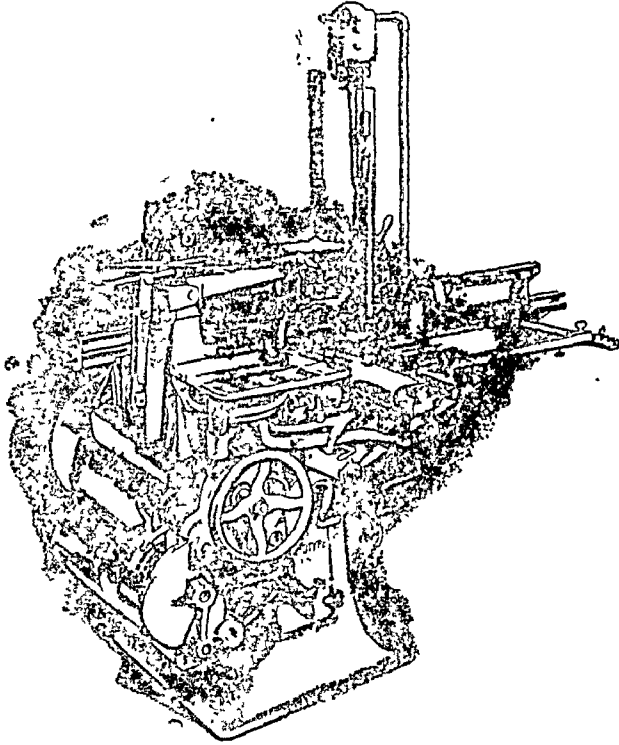
चित्र १४. मोनोटाइप की ढालनेवाली मशीन

अर्थात् अंतिम छेद का अक्षर पहले ढाला जाता है और जब किसी नई पंक्ति की ढलाई आरंभ की जाती है तो मशीन का एक पुरजा ऐसी स्थिति में आ जाता है कि दाबी गई चाभियों के अनुसार वांछित नाप के ही स्पेस उस पंक्ति में ढलते हैं।

साँचे कड़ी धातु के बने रहते हैं। इसलिये उनसे बहुत दिनों तक बढ़िया टाइप ढलता रहता है और छपाई बड़ी सुंदर होती है। असुविधा यही है कि देवनागरी के लिये इने गिने प्रकार के ही साँचे मिलते हैं, यद्यपि अंग्रेजी के लिये सैकड़ों आकार प्रकार के अक्षर ढल सकते हैं। (म० ला० जा०)

देवनागरी की कंपोज़िंग—देवनागरी की कंपोज़िंग में दो कारणों से विशेष कठिनाई पड़ती है :

(१) मात्राओं का ऊपर नीचे लगना;
(२) संयुक्ताक्षरों की बहुलता।

कंपोज करने की रीति से यह स्पष्ट है कि यदि टाइपों को एक दूसरे की बगल में लगाना हो तभी कार्य सुगमता से हो सकता है। परंतु देवनागरी में इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अँ, ओं, ऑ, की मात्राएँ (अर्थात् ि, ी, ु, ू, ृ, े, ै, ो, ौ, ं, ँ, ॅ) और (्) ये अक्षरों के ऊपर अथवा नीचे लगते हैं। इससे विशेष कठिनाई पड़ती है। इसके दो हल निकले हैं। एक तो है बंबइया शैली के टाइपों का प्रयोग। इसमें अक्षरों के ऊपर तथा नीचे आवश्यकतानुसार मात्राएँ तथा स्पेस कंपोज किए जाते हैं, अर्थात् एक पंक्ति शब्दावली कंपोज करने के लिये वस्तुतः तीन पंक्तियाँ कंपोज करनी पड़ती हैं; एक में ऊपर लगनेवाली मात्राएँ और स्पेस, एक में बिना मात्रा के अक्षर और एक में नीचे लगनेवाली मात्राएँ तथा स्पेस, जैसा चित्र से स्पष्ट है। इस शैली में कुं या इसी प्रकार के अन्य मात्रायुक्त अक्षर कंपोज़ करने के लिये कम से कम तीन टुकड़े, और अक्षर से मात्राएँ छोटी होने पर मात्राओं को बीच में लाने के लिये चार अन्य स्पेसों (धातु के टुकड़ों) की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ऐसी कंपोज़िंग में समय अधिक लगता है। १२ तथा १६ पॉइंट के अक्षरों में बंबइया शैली का प्रयोग प्रायः नहीं होता, क्योंकि उनमें मात्राओं को इतनी छोटी टुकड़ियों पर रखना पड़ता है कि उनको उठाना और स्टिक में बैठाना कठिन कार्य हो जाता है। (१ पॉइंट = १/७२ इंच)।
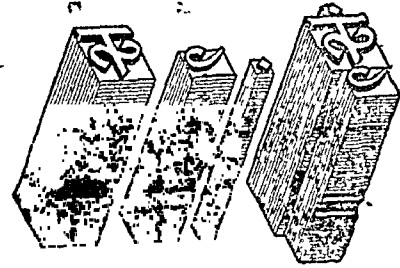
चित्र १५. बंबइया शैली के टाइप से कंपोज़िंग
देखिए कुं कंपोज करने के लिये तीन टुकड़े लगे हैं।

१२ तथा १६ पॉइंट के टाइपों के लिये साधारणतः 'अखंड' शैली का प्रयोग होता है। इसमें अक्षर और बार बार आनेवाली मात्राएँ एक साथ ढली रहती हैं। उदाहरणतः टाइपों में क, कु, कू, कृ, के, कै अक्षर भी ढले मिलेंगे। परंतु इससे टाइपों की संख्या छह गुनी हो जाती है। इतना ही नहीं, जब इन मात्राओं के साथ अनुस्वार, रेफ आदि का भी प्रयोग करना पड़ता है तब ऐसे कु की आवश्यकता पड़ती है जिसके ऊपर अनुस्वार (बिंदी)
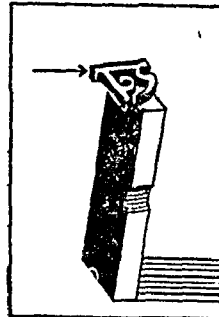
चित्र १६. कर्नवाला टाइप
१. टाइप के शरीर के बाहर बढ़ा मुखड़े का भाग जिसे कर्न कहते हैं।

चित्र १७. पूर्वोक्त प्रकार के टाइप का बगल से दृश्य

लग सके। इसके लिये टाइप के माथे पर चूल कटा रहता है और बगल के नीचे से धातु कटी रहती है। इसी बगल में धातु का दूसरा टुकड़ा आ बैठता है। इस दूसरे टुकड़े में एक अंग एक बगल बिना पेंदी का सहारा पाए बढ़ा

रहता है, जो प्रधान अक्षर की चूल पर जा बैठता है। चित्र से यह बात स्पष्ट हो जायगी। टाइप के मुखड़े के उस भाग को कर्न कहते है जो शरीर के बाहर बढ़ा रहता है (द्र० चित्र १६ तथा १७)।

'अखंड' शैली में कुं देखें, जो दो टुकड़ों से बना है।

इस रीति से काम तो चल जाता है, परंतु अँग्रेजी की कंपोज़िंग की तुलना में, जिसमे कहीं चूल नही बैठाना पड़ता और केवल इटैलिक **एफ़** या **जे** में कर्न रहता है, देवनागरी की कंपोज़िंग में समय अधिक लगता है। फिर, बगल से बिठाई गई मात्राएँ बहुधा टूट जाती हैं। कारण यह है कि जहाँ प्रधान टाइप की चूल पर बगल से आकर मात्रा बैठती है वहाँ टाइपों की ऊँचाइयों में कुछ अंतर रह जाने से मात्रावाले टाइप का एक अंग बिना आधार का रह जाता है और छपाई के समय दाब पड़ने पर मात्रा टूट जाती है। देवनागरी में छपी कदाचित् ही कोई पुस्तक हो जिसमें मात्रा कहीं भी न टूटी हो। गीता प्रेस (गोरखपुर) से छपी गीता में प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है कि कहीं अशुद्धि न होने पाए और जहाँ कहीं मात्रा टूट गई है अथवा कोई अन्य अशुद्धि हो गई है वहाँ छपी पुस्तक में हाथ से संशोधन कर दिया गया है; परंतु इतनी सावधानी बरतने पर भी कहीं कहीं टूटी मात्रा के कारण

चित्र १८. अखंड शैली में कुं

उत्पन्न हुई अशुद्धि (कम से कम मेरी प्रति में, जो एकादश संस्करण की है) रह गई है।

बगल से चूल बैठाने के कारण देवनागरी में पर्याप्त छोटे टाइप नहीं मिलते। अँग्रेजी में ४॥ पॉइंट तक में, हाथ से कंपोज किए मैटर से, छपाई सुविधासहित हो सकती है और ३ पॉइंट तक का टाइप बनता है, परंतु हिंदी में ६ पॉइंट का टाइप भी अभी किसी ग्रंथ के छपने में प्रयुक्त नहीं किया जा सका है। कोश आदि की छपाई में इससे बड़ी कठिनाई पड़ती है। यदि हिंदी-शब्द-सागर, जिसमें ४,३०० पृष्ठ हैं, १२ पॉइंट टाइप में लेडयुक्त छपने के बदले ६ पॉइंट ठोस में छप सकता तो कुल सामग्री ८०० पृष्ठों में ही आ जाती और इसका मूल्य भी पंचमांश हो जाता। इससे हिंदी की जो सेवा होती उसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं। कोश आदि लगातार घंटों तक नहीं पढ़े जाते; दो चार मिनट में काम चल जाता है। इसलिये कोश के छोटे टाइप से आँखों पर विशेष बल नहीं पड़ता। वेब्स्टर के प्रसिद्ध अँग्रेजी कोश में अधिकतर ५ पॉइंट का टाइप व्यवहृत हुआ है जिससे एक इंच में १४ पंक्तियाँ आ जाती हैं। यदि यह भी हिंदी विश्वकोश की भाँति १२ पॉइंट में लेडयुक्त छपता तो दो जिल्दों के बदले यह उतनी ही बड़ी तथा उतनी ही मोटी १४ जिल्दों में संपूर्ण होता।

संयुक्त अक्षरों से कठिनाई—देवनागरी में संयुक्त अक्षर बनाने की दो रीतियाँ हैं। एक रीति में अक्षर को आधा करके उसकी बगल में समूचा अक्षर रखा जाता है; दूसरी में अक्षर एक के नीचे एक लिखे जाते हैं। उदाहरणार्थ :

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः—

की तुलना

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः

से करें। दूसरी पंक्ति में ञ्च के नीचे च तथा ञ्ज में ञ के नीचे ज हैं। इस पद्धति में ऊपर लिखा आधा अक्षर (अर्थात् हल्) और नीचे लिखा अक्षर पूरा समझा जाता है।

देवनागरी के जिन अक्षरों में दाहिनी ओर खड़ी रेखा है उनका आधा बनाना सरल है; केवल खड़ी रेखा छोड़ दी जाती है। इस प्रकार हमें ख्, ग्, घ्, च्, ज्, ञ्, ण्, त्, थ्, ध्, न्, प्, ब्, भ्, म्, य्, ल्, व्, श्, ष्, स्, मिल जाते हैं। शेष अक्षरों मे से क, क्त, फ, ह की दाहिनी ओरवाली टाँग को सीधी और छोटी कर देने से काम चल जाता है, यथा क्, क्त्, फ्, ह्। इनमें से अंतिम अर्थात् ह का आधा रूप, हाल ही में चला है; इसे संभवतः मोनोटाइपवालों ने चलाया है। अब बच जाते हैं १० अक्षर : ङ, छ, ट, ठ, ड, ड़, ढ, ढ़, द तथा र। इनके आधे बनाने की कोई सुगम रीति नहीं निकल पाई है, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर हल् लगाकर काम चला ही लिया जाता है। वस्तुतः अब अधिकाधिक अवसरों पर हल् से काम लिया जाता है। उत्तर प्रदेश की नागरी लिपि सुधार समिति (१९५४) ने तो सुझाव दिया था कि जहाँ कहीं इन अक्षरों के आधे का काम पड़े वहाँ हल् से काम लिया जाय, परंतु जनता के एक महत्वपूर्ण अंग को यह बात पसंद नहीं आई।

जब पूर्वोक्त अक्षरों का आधा बन नहीं पाता, और हल् का प्रयोग पसंद नहीं होता, तब अक्षरों को ऊपर नीचे लिखने की प्रथा अपनानी पड़ती है। ये संयुक्ताक्षर कहलाते हैं। उदाहरण के लिये द पर विचार करें। आधे द के बाद क, ख, ग आदि में से जो जो अक्षर आ सकते हैं उनमें से प्रत्येक के लिये एक पृथक् संयुक्त अक्षर का टाइप रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ

श्रीमद्भगवद्गीता

पर विचार करें। देखिए, इनमें द्भ और द्ग ये टाइप द तथा भ अथवा द और ग के टाइपों को जोड़ने से नहीं बने हैं। इनके लिये पृथक् टाइप रहते हैं। इसी प्रकार द्ध, द्द, द्ब, द्म, द्य, द्र, द्व के भी टाइप रहते हैं। सच पूछिए तो कई एक अन्य संयुक्त टाइप भी चाहिए जिसमें द आधा और परवर्ती अक्षर पूरा रहे, परंतु झंझट कम करने के लिये वहाँ द् से काम चला लिया जाता है। फिर, उन संयुक्त अक्षरों के टाइपों में, जो बने हुए रखे जाते हैं, बहुधा उ, ऊ, ए, ऐ की मात्राएँ भी लगानी पड़ती हैं। चाहिए तो मात्रायुक्त भी अखंड टाइप, परंतु साधारणतः पूर्वोक्त मात्रारहित संयुक्ताक्षरों में चूल कटे टाइप भी रहते हैं और बगल से मात्राएँ लगा दी जाती हैं। ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, तथा ड़, ढ़, ह के लिये भी ये ही बातें लागू हैं। कुछ संयुक्त टाइप रहते हैं, अन्य स्थानों में हल् से काम चलता है; मात्राएँ लगानी होती हैं तो चूल कटे टाइपों से काम चलाया जाता है। कुछ संयुक्ताक्षर ऐसे भी हैं जो आधे अक्षरों से बन सकते हैं, परंतु उनका कोई विशेष रूप भी प्रचलित है, जैसे त्त, ज्ञ, ह्म, क्त, क्ष, र का स्थान निराला है। आधा र रेफ कहलाता है और अक्षरों के ऊपर लगता है, यथा **धर्म**। यहाँ भी वस्तुतः **र्म** के लिये अखंड टाइप होता तो अच्छा होता; तब रेफ के टूट जाने का डर नहीं रहता। परंतु कितने संयुक्त अक्षरों और मात्रासहित संयुक्त अक्षरों के टाइप रखे जायँ? यदि कोई प्रण कर ले कि एक भी चूल कटा अक्षर न रखा जायगा और कोई भी संयुक्त अक्षर हल् से न बनाया जायगा तो संभवतः इतने टाइप हो जायँगे कि प्रचलित चार केसों के बदले २० केसों में टाइप भरने की आवश्यकता पड़ जायगी। इसे कोई अतिशयोक्ति न समझे, क्योंकि साधारण व्यंजनों के अतिरिक्त बिंदीयुक्त व्यंजन भी हैं (जैसे क़, ख़, ग़ इत्यादि) और मात्राएँ केवल उतनी ही नहीं हैं जितनी ऊपर गिनाई गई हैं और न संयुक्ताक्षर उतने ही हैं जिनके लिये ऊपर संकेत किया गया है। दो दो मात्राएँ एक साथ आ सकती हैं और रेफ के साथ भी। संयुक्ताक्षर तीन अक्षरों के मेल से भी बनते हैं। साधारणतः मात्राओं में निम्नलिखित मेल रखे जाते हैं :

ा ि ु ू ॅ े ै ो ौ ं : ीं ीं ीं ीं ॅं ें ैं ों ौं ि ि ि ुं ूं

ों ौं, ि ि ि ु ू ें ैं ों ौं ृ ृ ौ

और इन सब का उपयोग चूल कटे अक्षरों के साथ होता है।

र का रूप पहले ɿ था। अब भी देहातों में बनियों की दूकानों पर

ɿाम १

में र का प्राचीन रूप मिलता है। ट्र के नीचे लगा र भी इसी रूप का एक अंश है। मेरा अनुमान है कि द्रुत गति से लिखने में ɿ की बाईं टाँग छोटी होती गई और दाहिनी तिरछी तथा बड़ी, और इस प्रकार इसी अक्षर ने र रूप

धारण कर लिया। यदि यह अनुमान अशुद्ध हो तो भी कोई हानि नहीं। इतना निर्विवाद है कि ग्र का प्राचीन रूप अब भी संयुक्त अक्षरों में बना रह गया है। क्र में वस्तुतः क के नीचे र का प्राचीन रूप ् लगा हुआ है। इसी प्रकार ग्र, घ्र इत्यादि अक्षरों में भी। ट्र में तो यह स्पष्ट ही पहचाना जा सकता है। प्रश्न यह है कि जब ग्र बदलकर र हो गया है तो क्यों न हम नवीन रूप का ही प्रयोग सर्वत्र करें। क्यों न हम अब प्रसाद को प्‍रसाद लिखें, क्रम को क्‍रम। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, प्‍रसाद आदि के प्रचलित न होने का कारण यह है कि टाइपवालों के पास साँचा बना है, वे क्र, ग्र, घ्र इत्यादि ढालते चले आए हैं। इसलिये जब उनसे सब प्रकार का टाइप इकट्ठा मँगाया जाता है तो वे उसमें क्र, ग्र आदि भी रख देते हैं। जब टाइप आ जाता है तो कंपोजिटर भी उनका प्रयोग करने ही लगता है। फिर पाठक बचपन से क्र, ग्र, घ्र, . . . देखते आए हैं। उन्हें क्‍र, ग्‍र, घ्‍र, . . . खटकते हैं, यद्यपि वे भाषा के नियमों से पूर्णतया शुद्ध हैं। परिणाम यह होता है कि पुराना ढर्रा चला चलता है और कंपोजिटरों के केसों में क्रे, ग्रे, घ्रे . . . के लिये भी घर रखना पड़ता है। फिर, इनमें से प्रत्येक घर में दो प्रकार का टाइप रखना पड़ता है, एक सादा, एक चूल कटा, क्योंकि इन संयुक्ताक्षरों पर मात्राएँ बहुधा लगानी पड़ती हैं।

कुछ संयुक्ताक्षर बेकार ही प्रचलित हैं, क्योंकि उनके बदले आधे अक्षर से बने संयुक्ताक्षर का प्रयोग सुगमता से हो सकता है। कुछ उदाहरण गीता प्रेस की गीता से दिए जा रहे हैं, और प्रत्येक के नीचे उनका सरलीकृत रूप भी दिखाया जा रहा है।

च्च श्च ष्ट्व ष्ट्वा ष्ट त्त न्न श्व क्त प्त

च्च श्च ष्ट्व ष्ट्वा ष्ट त्त न्न श्व क्त प्त

ञ्च ष्ट्र ह्य क्न घ्न ज्ज स्न ग्न

ञ्च ष्ट्र ह्य क्न घ्न ज्ज स्न ग्न

ब्रह्मविद्ब्रह्माणि भुङ्क्ते पुङ्गव शङ्ख काङ्क्षे

ब्रह्मविद्ब्रह्माणि भुंक्ते पुंगव शंख कांक्षे

सुगम छपाई के लिये नागरी लिपि में सुधार—यह सर्वमान्य है कि हमारी नागरी लिपि अन्य लिपियों की तुलना में बहुत वैज्ञानिक है। परंतु इसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। एक तो यह कि सभी इकारांत शब्दों के उच्चारण में इ का उच्चारण अंत में होता है, परंतु मात्रा लिखी जाती है पहले, जैसे वृद्धि। वृद्धि के उच्चारण में स्पष्टतया पहले वृद् का उच्चारण होता है, फिर जिह्वा ध् के स्थान पर जाती है और अंत में इ से मिलकर उसका उच्चारण होता है; परंतु प्रचलित शैली में इ की मात्रा पहले लिखी जाती है। इकारांत कहने से ही बोध होता है कि इ अंत में है। इसी विचार से नागरी लिपि सुधार समिति (लखनऊ, १९५४) ने प्रस्तावित किया कि इ की मात्रा भी अक्षरों के दाहिनी ओर लिखी जाय, और ई की मात्रा से इसे छोटा रखा जाय। परंतु नागरी लिपि सुधार समिति (लखनऊ, १९५६) ने इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया, क्योंकि यह जनता को पसंद नहीं था और उनका कहना था कि ा तथा ी में विशेष अंतर न होने से अंततोगत्वा भाषा भ्रष्ट हो जायगी। यद्यपि अँग्रेजी लिखने में **a** तथा **d** का भेद केवल खड़ी रेखा की लंबाई पर निर्भर है, और प्रस्तावित शैली में ह्रस्व मात्रा को बहुत छोटी और दीर्घ मात्रा को बहुत लंबी बनाना भी संभव था, यथा

की री टी

किंतु इस झगड़े को फिर उठाना बेकार है। परंतु यदि ह्रस्व इ की मात्रा को दाहिनी ओर लाया जा सकता तो बगल से लगनेवाली निम्नलिखित मात्राएँ और मात्रायुक्त रेफ, अनुस्वार आदि, जो बहुत दुर्बल होते हैं और शीघ्र टूटते हैं, दाहिनी ओर जाकर पुष्ट हो जाते :

ि ि ि ि

परंतु इससे कहीं अधिक आवश्यक सुधार यह है कि ि, ी, ु, ू, े, ै, ो, ौ, ं का रूप थोड़ा बदल दिया जाय और उनको अक्षरों की बगल में इस प्रकार लगाया जाय कि चूल कटे अक्षरों की आवश्यकता न पड़े और कहीं भी किसी मात्रा का कोई अंग किसी अक्षर के किसी अंग पर चढ़ा न रहे। लाइनोटाइप वालों ने ऐसा सुधार किया है। उनकी मशीन से हिंदी की कंपोजिंग 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' वाले अपनी पत्रिका में करते हैं। एक बानगी नीचे दी जाती है :

> हम चाय से निबट चुके थे। पार्वती
> पास आ कर बोली, 'मेरा पूरा चिड़िया-
> घर कहां देखा है तू ने! देखोगे?
> सच, बड़ा दिलचस्प अनुभव होगा
> तुम्हारे लिए!'

लाइनोटाइप से हिंदी कंपोजिंग की बानगी

इसमें संदेह नहीं कि यह पर्याप्त सुपाठ्य है, परंतु इसमें उन्नति की जा सकती है, विशेषकर मात्राओं के रूप में, जिसमें ए तथा ओ की मात्राओं के ऊपरी भाग सदैव परस्पर समांतर रहें। फिर, एक दो अक्षर कुछ अधिक सुंदर बनाए जा सकते हैं।

हाथ की कंपोज़िंग में लाइनोटाइप की परिपाटी पर बने अक्षरों के प्रयोग से बहुत कुछ समय और पूंजी की बचत हो सकती है। मुद्रकों, टाइप डिज़ाइन करनेवालों और टाइप ढालनेवालों को इधर ध्यान देना चाहिए। जनता को भी सुधरे टाइपों को अपनाना चाहिए, क्योंकि इससे अधिक शुद्ध पठनीय सामग्री उनको मिला करेगी, छपाई कुछ सस्ती हो जायगी और छोटे अक्षरों के प्रयोग से कोश आदि अधिक छोटे, हल्के और सस्ते दाम में मिल सकेंगे।

हिंदी साहित्य संमेलन ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा सुझाव दिया था कि छोटे टाइपों के लिये अक्षरों की शिरोरेखा वैकल्पिक रहे, अर्थात् यदि मुद्रक चाहे तो बिना शिरोरेखा के अक्षरों का उपयोग करे। ऐसे अक्षरों से छह पॉइंट की ठोस छपाई हो सकती है, जैसा नीचे के नमूने से प्रत्यक्ष है :

छह पॉइंट में ठोस छपाई के नमूने का चित्र।

एक काम जो प्रत्येक मुद्रक बिना पैसा कौड़ी खर्च किए कर सकता है यह है कि वह ऐसे संयुक्ताक्षर का टाइप कभी भी मोल न ले जो किसी आधे अक्षर से बन सकता है। इसके अतिरिक्त जहाँ हल् का लगाना अनुपयुक्त न जान पड़े वहाँ अनिवार्य रूप से हल् से ही काम चलाए। ऐसा उन सब जगहों में किया जा सकता है जहाँ उच्चारण में स्वाभाविक रुकावट आ सकती है, जैसे 'श्रीमद्भगवद्गीता' छापने में। (गो० प्र०)

कंपोजिटी (Compositae) फूलवाले पौधों का एक कुल है। इस कुल में अन्य कुलों की अपेक्षा बहुत अधिक पौधे हैं और ये विश्वव्यापी भी हैं। इसमें लगभग ९५० प्रजातियाँ (जेनेरा) और २०,००० जातियाँ (स्पीशीज) हैं। इस कुल के पौधों की विशेषता यह है कि प्रत्येक फूल वस्तुतः कई पुष्पों का गुच्छ होता है। साधारण गेंदा नामक फूल का पौधा इसी कुल में है। परंतु इस कुल के पौधों में बड़ी भिन्नता होती है। अधिकांश पौधे शाक के समान हैं। किंतु संसार के उष्ण भागों में झाड़ियाँ और वृक्ष भी इस कुल में पाए जाते हैं। कुछ पौधे आरोही होते हैं। पत्तियाँ बहुधा गुच्छों में होती हैं। जिन पौधों में तने लंबे होते हैं, उनमें पत्तियाँ साधारणतः एकांतर होती हैं। जड़ बहुधा मोटी होती है और कभी कभी उसमें कंद होता है, जैसे डालिया (Dahlia) में। कुछ पौधों के तनों में दूध के सदृश रस रहता है। जैसा पहले बताया गया है, फूल गोलों (कैपिट्यूला, capitula) में एकत्र रहते हैं। ये चारों ओर हरे निपत्रों (ब्रैक्ट, Bract) से घिरे रहते हैं। जब फूल कलिकावस्था में रहता है तो इन्हीं से उनकी रक्षा होती है। ये ही बाह्यदल-पुंज (कैलिक्स, calyx) का काम देते हैं। ये

फूल के शीर्ष परागण के लिये अत्युत्तम रूप से व्यवस्थित होते हैं। फूलों के एक साथ एकत्र रहने के कारण किसी एक कीट के आ जाने से अनेक का परागण हो जाता है। वर्तिका (स्टाइल, style) की जड़ पर मकरंद निकलता है और दलपुंज नलिका (कौरोला ट्यूब, corolla tube) के कारण वर्षा से अथवा ओस से बहने नहीं पाता। छोटे होंठ के कीट भी इस मकरंद को प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि दलपुंज नलिका लंबी होती है।

फूल का जीवनेतिहास दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। आरंभ में फूल नर का काम करते हैं और अंत में नारी का। इस प्रकार इन फूलों में साधारणतः परपरागण होता है, स्वयंपरागण नहीं। परंतु कुछ फूलों में एक तीसरी अवस्था भी होती है, जिसमें वर्तिकाग्र (स्टिग्मा, stigma) पीछे मुड़ जाता है और बचे खुचे परागणों को, जो नीचे की वर्तिका (स्टाइल) पर पड़े रहते हैं, छू देता है। यदि परपरागण नहीं हुआ रहता तो इस प्रकार स्वयंपरागण हो जाता है।

फलों के वितरण की विधियाँ भी अनेक होती हैं। कुछ फूलों में बीज में रोएँ लगे रहते हैं, जिससे वे दूर दूर तक उड़ जाते हैं। कुछ में काँटे होते हैं, जिनसे वे पशुओं की खाल में चिपककर अन्यत्र पहुँच जाते हैं। कभी कभी बीज अपने स्थान पर ही पड़े रहते हैं और पौधे को झटका लगने पर इधर उधर बिखर जाते हैं।

इस परिवार के कुछ सदस्य आर्थिक लाभ के हैं, जैसे लैक्ट्यूका सैटाइवा (Lactuka Sativa), चिकरी (सिकोरियम, **cichorium**), हाथी चोक (आर्टिचोक, Artichoke)। बहुत से सदस्य अपने सुंदर फूल के कारण उद्यान में उगाए जाते हैं, जैसे ज़िन्निआ, सूरजमुखी, गेंदा, डालिया इत्यादि। कुछ ओषधि के भी काम में आते हैं। आरटीमिज़िया वल्गेरिस (Artimisia vulgaris) से 'सैंटोनिन' दवा बनती है। पाइरेथ्रम से कीट मारने का चूर्ण बनाया जाता है। यह पुष्प प्रसिद्ध गुलदाउदी (क्राइसैंथिमम, Chrysanthemum) की प्रजाति का है। पार्थेनियम की एक जाति से एक प्रकार का रबर प्राप्त होता है।

इस कुल को हिंदी में संग्रथित कुल कह सकते हैं।

कंप्यूटर का निर्माण बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में हुआ था। प्रारंभ में इसका उपयोग केवल गणना के लिये किया गया। अंग्रेजी के 'कंप्यूट' शब्द का अर्थ 'गणना करना' ही है। कंप्यूटर या 'गणक' शब्द इसी से बना है। इसीलिये इस मशीन को कंप्यूटर कहा गया। धीरे धीरे कंप्यूटर का विकास होता गया और इसके निर्माण में इलेक्ट्रानिक ट्यूबों का प्रयोग होने लगा। बाद में इलेक्ट्रानिक ट्यूबों की जगह ट्रांजिस्टरों का प्रयोग होने लगा। इलेक्ट्रानिकी के विकास के साथ साथ कंप्यूटरों की रूपरेखा में भी परिवर्तन होता गया। इसी शताब्दी के छठे दशक से कंप्यूटरों में संकलित परिपथों (इंटीग्रेटेड सर्किट) का उपयोग होने लगा।

बैंक के एकाउंट, विश्वविद्यालय के परीक्षाफल, एक भाषा से दूसरी भाषा के अनुवाद, शतरंज के खेल, ट्रैफ़िक का नियंत्रण, मौसम की सूचना, हवाई जहाज की रचना, संगीत काव्य का निर्माण, आज सभी कुछ कंप्यूटर के अधिकार क्षेत्र में है। (नि० सिं०)

कंबन तमिल रामायण के रचयिता। इनका समय निश्चित नहीं है।

जनश्रुति के अनुसार कंबन का जन्म ईसा की नवीं शताब्दी में हुआ था। किंतु अन्नामलै विश्वविद्यालय के तमिल विभागाध्यक्ष श्री टी० पी० मीनाक्षिसुंदरम् इनका समय १२वीं शताब्दी मानते हैं। कंबन के जीवनवृत्त के विषय में भी ठीक ठीक ज्ञात नहीं है। उन्हें लेकर अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, लेकिन इन्हें प्रामाणिक नहीं माना जाता। कवि ने अपने विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा है, परंतु तिरुवेण्णेयनल्लूर गाँव के शडयप्पवल्लर नामक एक लोकप्रिय एवं दानी व्यक्ति का उल्लेख कंब रामायण में एकाधिक स्थलों पर हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि कंबन इस उदार व्यक्ति के आश्रय में कुछ दिन रहे थे। इसीलिये उन्होंने अपने काव्य में शडयप्पवल्लर का आदर एवं कृतज्ञता के साथ स्मरण किया है। पता यह भी चलता है कि कंबन चोल और चेर राजाओं के दरबार में भी गए थे, पर उन्होंने उक्त राजाओं में से किसी को भी अपनी महान् कृति समर्पित नहीं की है।

कंबन वैष्णव थे। उनके समय तक बारहों प्रमुख आलवार (द्र०) हो चुके थे और भक्ति तथा प्रपत्ति का शास्त्रीय विवेचन करनेवाले यामुन, रामानुज आदि आचार्यों की परंपरा भी चल पड़ी थी। कंबन ने प्रमुख आलवार 'नम्मालवार' (पाँचवें आलवार जो शठकोप या परांकुश मुनि के नाम से भी प्रसिद्ध हैं) की प्रशस्ति की है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि कंबन की रामायण रंगनाथ जी को तभी स्वीकृत हुई, जब उन्होंने नम्मालवार की स्तुति उक्त ग्रंथ के आरंभ में की। इतना ही नहीं, कंब रामायण में यत्र तत्र उक्त आलवार की श्रीसूक्तियों की छाया भी दिखाई पड़ती है, तो भी कंबन ने अपने महाकाव्य को केवल सांप्रदायिक नहीं बनाया है, उन्होंने शिव और विष्णु के रूप (केवल सृष्टिकर्ता) में भी परमात्मा का स्तवन किया है और रामचंद्र को उस परमात्मा का ही अवतार माना है। ग्रंथारंभ में एवं प्रत्येक कांड के आदि में प्रस्तुत मंगलाचरण के पद्यों से उक्त तथ्य प्रकट होता है। प्रो० टी० पी० मीनाक्षिसुंदरम् भी कंब रामायण को केवल वैष्णव संप्रदाय का ग्रंथ नहीं मानते। इसीलिये शैवों तथा वैष्णवों में कंब रामायण का समान आदर हुआ और दोनों संप्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य के दूर होने में इससे पर्याप्त सहायता मिली।

कंब रामायण तमिल साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृति एवं एक बृहद् ग्रंथ है (डा० आर० पी० सेतुपिल्लै, तमिल विभागाध्यक्ष, मद्रास विश्वविद्यालय का अंग्रेजी में 'तमिल लिटरेचर' शीर्षक लेख) और इसके रचयिता कंबन 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि से प्रसिद्ध हैं। उपलब्ध ग्रंथ में १०,०५० पद्य हैं और बालकांड से युद्धकांड तक छह कांडों का विस्तार इसमें मिलता है। इससे संबंधित एक उत्तरकांड भी प्राप्त है जिसके रचयिता कंबन के समसामयिक एक अन्य महाकवि 'ओट्टक्कूत्तन' माने जाते हैं। पौराणिकों के कारण कंब रामायण में अनेक प्रक्षेप भी जुड़ गए हैं किंतु इन्हें बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि कंबन की सशक्त भाषा और विलक्षण प्रतिपादन शैली का अनुकरण शक्य नहीं है।

कंब रामायण का कथानक वाल्मीकि रामायण से लिया गया है, परंतु कंबन ने मूल रामायण का अनुवाद अथवा छायानुवाद न करके, अपनी दृष्टि और मान्यता के अनुसार घटनाओं में सैकड़ों परिवर्तन किए हैं। विविध परिस्थितियों के प्रस्तुतीकरण, घटनाओं के चित्रण, पात्रों के संवाद, प्राकृतिक दृश्यों के उपस्थापन तथा पात्रों की मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति में पदे पदे मौलिकता मिलती है। तमिल भाषा की अभिव्यक्ति और संप्रेषणीयता को सशक्त बनाने के लिये भी कवि ने अनेक नए प्रयोग किए हैं। छंदोविधान, अलंकारप्रयोग तथा शब्दनियोजन के माध्यम से कंबन ने अनुपम सौंदर्य की सृष्टि की है। सीता-राम-विवाह, शूर्पणखा प्रसंग, बालिवध, हनुमान द्वारा सीता संदर्शन, इंद्रजीतवध, राम-रावण-युद्ध आदि प्रसंग अपने अपने काव्यात्मक सौंदर्य के कारण विशेष आकर्षक हैं। लगता है, प्रत्येक प्रसंग अपने में पूर्ण है और नाटकीयता से ओतप्रोत है। घटनाओं के विकास के सुनिश्चित क्रम हैं। प्रत्येक घटना आरंभ, विकास और परिसमाप्ति में एक विशिष्ट शिल्पविधान लेकर सामने आती है।

वाल्मीकि ने राम के रूप में 'पुरुष पुरातन' का नहीं, अपितु 'महामानव' का चित्र उपस्थित किया था, जबकि कंबन ने अपने युगादर्श के अनुरूप राम को परमात्मा के अवतार के साथ आदर्श महामानव के रूप में भी प्रतिष्ठित किया। वैष्णव भक्ति की तत्कालीन मान्यताओं और जनता की भक्तिपूत भावनाओं से जुड़े रहकर इस महाकवि ने राम के चरित्र को महत्तापूरित एवं परमपूर्णत्व समन्वित ऐसे आयामों में प्रस्तुत किया जिनकी इयत्ता और ईदृक्ता सहज ग्राह्य होते हुए भी अकल्पनीय रूप से मनोहर किंवा मनोरम थी। यह निश्चित ही कंबन जैसा अनन्य सुलभ प्रतिभावान् महाकवि ही कर सकता था।

कंब रामायण का प्रचार प्रसार केवल तमिलनाडु में ही नहीं, उसके बाहर भी हुआ। तंजौर जिले में स्थित तिरुप्पणांदाल मठ की एक शाखा वाराणसी में है। लगभग ३५० वर्ष पूर्व कुमारगुरुपर नाम के एक संत उक्त मठ में रहते थे। संध्यावेला में वे नित्यप्रति गंगातट पर आकर कंब रामायण की व्याख्या हिंदी में सुनाया करते थे। गोस्वामी तुलसीदास उन दिनों काशी में ही थे और संभवतः रामचरितमानस की रचना कर रहे थे। दक्षिण में जनविश्वास प्रचलित है कि तुलसीदास ने कंब रामायण से प्रेरणा ही प्राप्त नहीं की, अपितु मानस में कई स्थलों पर अपने ढंग से, उसकी सामग्री का उपयोग भी किया। यद्यपि उक्त विश्वास की प्रामा-

णिकता विवादास्पद है, तो भी इतना सच है कि तुलसी और कंबन की रचनाओं में कई स्थलों पर आश्चर्यजनक समानता मिलती है।

श्री वी० वी० एस० अय्यर (कंब रामायण—ए स्टडी) के अनुसार "कंब रामायण विश्वसाहित्य में उत्तम कृति है। 'इलियड', 'पैरेडाइज लॉस्ट' और 'महाभारत' से ही नहीं, वरन् आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण की तुलना में भी यह अधिक सुंदर है।" (गा० अ० श०)

कंबरलैंड १. संयुक्त राज्य, अमरीका, के मेरीलैंड प्रांत में, पोटोमैक नदी के किनारे समुद्र से ६४१ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह रेल द्वारा देश के अन्य भागों से जुड़ा हुआ है। १८५० ई० में ओहायो नहर बन जाने से इसका संबंध जार्जटाउन से हो गया, इस प्रकार यह नगर दो राजकीय मार्गों से संबंधित है। इस शहर के पश्चिम में दिनरोज नामक एक सुंदर गॉर्ज है, जिसमें से पश्चिम जाने का रास्ता है। उद्योग धंधों एवं जनसंख्या की दृष्टि से यह मेरीलैंड प्रांत का दूसरा नगर है। यहाँ रेलवे का एक कारखाना भी है। इसी स्थान से मेरीलैंड प्रदेश का बालू, चूना, मिट्टी एवं फल बाहर भेजा जाता है।

२. ओहायो नदी की एक सहायक नदी जो कंबरलैंड के पठार से निकलकर दक्षिणी केंटुकी एवं उत्तरी टेनेसी प्रांत में बहती हुई ओहायो टेनेसी नदी के मुहाने से करीब २० मील उत्तर ओहायो नदी में मिलती है। इसका वहावक्षेत्र १८,०८० वर्गमील है। यह ६६३ मील लंबी है तथा मुहाने से करीब ४६१ मील तक नाव चलाने योग्य है। नैशविल, क्लार्कविल एवं टेना इसके तट के प्रमुख नगर हैं। (रा० वृ० सिं०)

कंबुज, कंबोज कंबोडिया का प्राचीन संस्कृत नाम। भूतपूर्व इंडोचीन प्रायद्वीप में सर्वप्राचीन भारतीय उपनिवेश की स्थापना फूनान प्रदेश में प्रथम शती ई० के लगभग हुई थी। लगभग ६०० वर्षों तक फूनान ने इस प्रदेश में हिंदू संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार करने में महत्वपूर्ण योग दिया। तत्पश्चात् इस क्षेत्र में कंबुज या कंबोज का महान् राज्य स्थापित हुआ जिसके अद्भुत ऐश्वर्य की गौरवपूर्ण परंपरा १४वीं सदी ई० तक चलती रही। इस प्राचीन वैभव के अवशेष आज भी अंग्कोरवात, अंग्कोरथोम नामक स्थानों में वर्तमान है।

कंबोज की प्राचीन दंतकथाओं के अनुसार इस उपनिवेश की नींव 'आर्य देश' के राजा कंबु स्वायंभुव ने डाली थी। वह भगवान् शिव की प्रेरणा से कंबोज देश में आए और यहाँ बसी हुई नाग जाति के राजा की सहायता से उन्होंने इस जंगली मरुस्थल में एक नया राज्य बसाया जो नागराज की अद्भुत जादूगरी से हरे भरे, सुंदर प्रदेश में परिणत हो गया। कंबु ने नागराज की कन्या मेरा से विवाह कर लिया और कंबुज राजवंश की नींव डाली। यह भी संभव है कि भारतीय कंबोज (कश्मीर का राजौरी जिला तथा संवर्ती प्रदेश—द्र० 'कंबोज') से भी इंडोचीन में स्थित इस उपनिवेश का संबंध रहा हो। तीसरी शती ई० में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसनेवाले मुरुंडों का एक राजदूत फूनान पहुँचा था और संभवतः कंबोज के घोड़े अपने साथ वहाँ लाया था। कंबोज के प्रथम ऐतिहासिक राजवंश का संस्थापक श्रुतवर्मन था जिसने कंबोज देश को फूनान की अधीनता से मुक्त किया। इसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन ने अपने नाम पर श्रेष्ठपुर नामक राजधानी बसाई जिसके खंडहर लाओस में वाटफू पहाड़ी (लिंगपर्वत) के पास स्थित हैं। तत्पश्चात् भववर्मन ने, जिसका संबंध फूनान और कंबोज दोनों ही राजवंशों से था, एक नया वंश (ख्मेर) चलाया और अपने ही नाम पर भवपुर नामक राजधानी बसाई। भववर्मन तथा इसके भाई महेंद्रवर्मन के समय से कंबोज का विकास-युग प्रारंभ होता है। फूनान का पुराना राज्य अब जीर्णशीर्ण हो चुका था और शीघ्र ही इस नए दुर्धर्ष साम्राज्य में विलीन हो गया। महेंद्रवर्मन की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र ईशानवर्मन गद्दी पर बैठा। इस प्रतापी राजा ने कंबोज राज्य की सीमाओं का दूर दूर तक विस्तार किया जिससे कंबोडिया और कोचीन-चीन का संपूर्ण प्रदेश उसके अंतर्गत हो गया। उसने भारत और चंपा के साथ राजनयिक संबंध स्थापित किए और ईशानपुर नाम की एक नई राजधानी का निर्माण किया। ईशानवर्मन ने चंपा के राजा जगद्धर्म को अपनी पुत्री व्याही थी जिसका पुत्र प्रकाशधर्म अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् चंपा का राजा हुआ। इससे प्रतीत होता है कि चंपा इस समय कंबोज के राजनीतिक प्रभाव के अंतर्गत था। ईशानवर्मन् के बाद भववर्मन् द्वितीय और जयवर्मन् प्रथम कंबोज नरेशों के नाम मिलते हैं। जयवर्मन् के पश्चात् ६७४ ई० में इस राजवंश का अंत हो गया। कुछ ही समय के उपरांत कंबोज की शक्ति क्षीण होने लगी और धीरे धीरे ८वीं सदी ई० में जावा के शैलेंद्र राजाओं का कंबोज देश पर आधिपत्य स्थापित हो गया। ८वीं सदी ई० का कंबोज का इतिहास अधिक स्पष्ट नहीं है किंतु ९वीं सदी का आरंभ होते ही इस प्राचीन साम्राज्य की शक्ति मानों पुनः जीवित हो उठी। इसका श्रेय जयवर्मन् द्वितीय (८०२–८५४ ई०) को दिया जाता है। उसने अंगकोर वंश की नींव डाली और कंबोज को जावा की अधीनता से मुक्त किया। उसने संभवतः भारत से हिरण्यदास नामक ब्राह्मण को बुलवाकर अपने राज्य की सुरक्षा के लिये तांत्रिक क्रियाएँ करवाईं। इसी विद्वान् ब्राह्मण ने देवराज नामक संप्रदाय की स्थापना की जो शीघ्र ही कंबोज का राजधर्म बन गया। जयवर्मन् ने अपनी राजधानी क्रमशः कुटी, हरिहरालय और अमरेंद्रपुर नामक नगरों में बनाई जिससे स्पष्ट है कि वर्तमान कंबोडिया का प्रायः समस्त क्षेत्र उसके अधीन था और राज्य की शक्ति का केंद्र धीरे धीरे पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ता हुआ अंततः अंग्कोर के प्रदेश में स्थापित हो गया था।

जयवर्मन् द्वितीय को अपने समय में कंबुजराजेंद्र और उसकी महारानी को कंबुजराजलक्ष्मी नाम से अभिहित किया जाता था। इसी समय से कंबोडिया के प्राचीन नाम कंबुज या कंबोज का विदेशी लेखकों ने भी प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया था। जयवर्मन् द्वितीय के पश्चात् भी कंबोज के साम्राज्य की निरंतर उन्नति और वृद्धि होती गई और कुछ ही समय के बाद समस्त इंडोचीन प्रायद्वीप में कंबोज साम्राज्य का विस्तार हो गया। महाराज इंद्रवर्मन् ने अनेक मंदिरों और तड़ागों का निर्माण करवाया। यशोवर्मन् (८८९–९०८ ई०) हिंदू शास्त्रों और संस्कृत काव्यों का ज्ञाता था और उसने अनेक विद्वानों को राजाश्रय दिया। उसके समय के अनेक सुंदर संस्कृत अभिलेख प्राप्य हैं। इस काल में हिंदू धर्म, साहित्य और काल की अभूतपूर्व प्रगति हुई। यशोवर्मन् ने कंबुपुरी या यशोधरपुर नाम की नई राजधानी बसाई। धर्म और संस्कृति का विशाल केंद्र अंग्कोर थोम (द्र० 'अंग्कोर थोम' लेख) भी इसी नगरी की शोभा बढ़ाता था। 'अंग्कोर संस्कृति' का स्वर्णकाल इसी समय से प्रारंभ होता है। ९४४ ई० में कंबोज का राजा राजेंद्रवर्मन् था जिसके समय के कई वृहद् अभिलेख सुंदर संस्कृत काव्यशैली में लिखे मिलते हैं। १००१ ई० तक का समय कंबोज के इतिहास में महत्वपूर्ण है क्योंकि इस काल में कंबोज की सीमाएँ चीन के दक्षिणी भाग को छूती थीं, लाओस उसके अंतर्गत था और उसका राजनीतिक प्रभाव स्याम और उत्तरी मलाया तक फैला हुआ था।

सूर्यवर्मन् प्रथम (मृत्यु १०४९ ई०) ने प्रायः समस्त स्याम पर कंबोज का आधिपत्य स्थापित कर दिया और दक्षिण ब्रह्मदेश पर भी आक्रमण किया। वह साहित्य, न्याय और व्याकरण का पंडित था तथा स्वयं बौद्ध होते हुए भी शैव और वैष्णव धर्मों का प्रेमी और संरक्षक था। उसने राज्यासीन होने के समय देश में चले हुए गृहयुद्ध को समाप्त कर राज्य की स्थिति को पुनः सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। उत्तरी चंपा को जीतकर सूर्यवर्मन् ने उसे कंबोज का करद राज्य बना लिया किंतु उसे शीघ्र ही दक्षिण चंपा के राजा जयहरि वर्मन् से हार माननी पड़ी। इस समय कंबोज में गृहयुद्धों और पड़ोसी देशों के साथ अनबन के कारण काफी अशांति रही।

जयवर्मन् सप्तम (अभिषेक ११८१ ई०) के राज्यकाल में पुनः एक बार कंबोज की प्राचीन यशःपताका फहराने लगी। उसने एक विशाल सेना बनाई जिसमें स्याम और ब्रह्मदेश के सैनिक भी संमिलित थे। जयवर्मन् ने अनाम पर आक्रमण कर उसे जीतने का भी प्रयास किया किंतु निरंतर युद्धों के कारण शनैः शनैः कंबोज की सैनिक शक्ति का ह्रास होने लगा, यहाँ तक कि १२२० ई० में कंबोजों को चंपा से हटना पड़ा। किंतु फिर भी जयवर्मन् सप्तम की गणना कंबोज के महान् राज्यनिर्माताओं में की जाती है क्योंकि उसके समय में कंबोज के साम्राज्य का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। जयवर्मन् सप्तम ने अपनी नई राजधानी वर्तमान अंग्कोरथोम में बनाई थी। इसके खंडहर आज भी संसार के प्रसिद्ध प्राचीन अवशेषों में गिने जाते हैं। नगर के चतुर्दिक् एक ऊँचा परकोटा था और

११० गज चौड़ी एक परिखा थी। इसकी लंबाई साढ़े आठ मील के लगभग थी। नगर के परकोटे के पाँच सिंहद्वार थे जिनसे पाँच विशाल राजपथ (१०० फुट चौड़े, १ मील लंबे) नगर के अंदर जाते थे। ये राजपथ, बेयोन के विराट् हिंदू मंदिर के पास मिलते थे, जो नगर के मध्य में स्थित था। मंदिर में ६६,६२५ व्यक्ति नियुक्त थे और इसके व्यय के लिये ३,४०० ग्रामों की आय लगी हुई थी। इस समय के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कंबोज में ७९८ मंदिर तथा १०२ चिकित्सालय थे और १२१ वाह्नी (विश्राम) गृह थे।

जयवर्मन् सप्तम के पश्चात् कंबोज के इतिहास के अनेक स्थल अधिक स्पष्ट नहीं हैं। १३वीं सदी में कंबोज में सुदृढ़ राजनीतिक शक्ति का अभाव था। कुछ इतिहासलेखकों के अनुसार कंबोज ने १३वी सदी के अंतिम चरण में चीन के सम्राट् कुबले खाँ का आधिपत्य मानने से इनकार कर दिया था। १२९६ ई० मे चीन स एक दूतमंडल अंग्कोरथोम आया था जिसके एक सदस्य शू-ता-कुआन ने तत्कालीन कंबोज के विषय में विस्तृत तथा मनोरंजक वृत्तांत लिखा है जिसका अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में १९०२ ई० में हुआ था। १४वीं सदी में कंबोज के पड़ोसी राज्यों में नई राजनीतिक शक्ति का उदय हो रहा था तथा स्याम और चंपा के थाई लोग कंबोज की ओर बढ़ने का निरंतर प्रयास कर रहे थे। परिणाम यह हुआ कि कंबोज पर दो ओर से भारी दबाव पड़ने लगा और वह इन दोनों देशों की चक्की के पाटों के बीच पिसने लगा। धीरे धीरे कंबोज की प्राचीन महत्ता समाप्त हो गई और अब यह देश इंडोचीन का एक साधारण पिछड़ा हुआ प्रदेश बनकर रह गया। १९वीं सदी में फ्रांसीसियों का प्रभाव इंडोचीन में बढ़ चला था; वैसे, वे १६वीं सदी में ही इस प्रायद्वीप में आ गए थे और अपनी शक्ति बढ़ाने के अवसर की ताक में थे। वह अवसर अब आया और १८५४ ई० में कंबोज के निर्बल राजा अंगडुअोंग ने अपना देश फ्रांसीसियों के हाथों सौंप दिया। नोरदम (नरोत्तम) प्रथम (१८५८-१९०४) ने ११ अगस्त, १८६३ ई० को इस समझौते को पक्का कर दिया और अगले ८० वर्षों तक कंबोज या कंबोडिया फ्रेंच-इंडोचीन का एक भाग बना रहा। (कंबोडिया, फ्रेंच Cambodge का रूपांतर है। फ्रेंच नाम कंबोज या कंबुजिय से बना है।) १९०४-४१ में स्याम और फ्रांसीसियों के बीच होनेवाले युद्ध में कंबोडिया का कुछ प्रदेश स्याम को दे दिया गया किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् १९४५ ई० में यह भाग उसे पुनः प्राप्त हो गया। इस समय कंबोडिया में स्वतंत्रता आंदोलन भी चल रहा था जिसके परिणामस्वरूप फ्रांस ने कंबोडिया को एक नया संविधान प्रदान किया (मई ६, १९४७)। किंतु इससे वहाँ के राष्ट्रप्रेमियों को संतोष न हुआ और उन्होंने १९४९ ई० (८ नवंबर) में फ्रांसीसियों को एक नए समझौते पर हस्ताक्षर करने पर विवश कर दिया जिससे उन्होंने कंबोडिया की स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता को स्वीकार कर लिया, किंतु अब भी देश को फ्रेंच यूनियन के अंतर्गत ही रखा गया था। इसके विरुद्ध कंबोडिया के प्रभावशाली राजा नोरदम सिंहानुक ने अपना राष्ट्रीय आंदोलन जारी रखा। इनके प्रयत्न से कंबोडिया शीघ्र ही स्वतंत्र राष्ट्र बन गया और ये अपने देश के प्रथम प्रधान मंत्री चुने गए।

धर्म, भाषा, सामाजिक जीवन

कंबोज वास्तविक अर्थ में भारतीय उपनिवेश था। वहाँ के निवासियों का धर्म, उनकी संस्कृति एवं सभ्यता, साहित्यिक परंपराएँ, वास्तुकला और भाषा—सभी पर भारतीयता की अमिट छाप थी जिसके दर्शन आज भी कंबोज में दर्शक को अनायास ही हो जाते हैं। हिंदू धर्म और वैष्णव संप्रदाय और तत्पश्चात् (१००० ई० के बाद) बौद्ध धर्म कंबोज के राजधर्म थे और यहाँ के अनेक संस्कृत अभिलेखों को उनकी धार्मिक तथा पौराणिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण भारतीय अभिलेखों से अलग करना कठिन ही जान पड़ेगा। उदाहरण के लिये राजेंद्रवर्मन् के एक विशाल अभिलेख का केवल एक अंश यहाँ प्रस्तुत है जिसमें शिव की वंदना की गई है :

रूपं यस्य नवेन्दुमंडितशिखं त्रय्याः प्रतीतं परं
बीजं ब्रह्महरीश्वरोदयकरं भिन्नं कलाभिस्त्रिधा।
साक्षादक्षरमामनन्ति मुनयो योगाधिगम्यं नमस्
संसिद्ध्यै प्रणवात्मने भगवते तस्मै शिवायास्तु वः॥

पुराने अरब पर्यटकों ने कंबोज को हिंदू देश के नाम से ठीक ही अभिहित किया है। कंबुज की राजभाषा प्राचीन काल में संस्कृत थी, उसका स्थान धीरे धीरे बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण पाली ने ले लिया और आज भी यह धार्मिक क्षेत्र में यहाँ की मुख्य भाषा बनी हुई है। कंबुज भाषा में संस्कृत के हजारों शब्द अपने कंबुजी या ख्मेर रूप में आज भी पाए जाते हैं (जैसे—तेप्दा = देवता, शात्स = शासन, सुओर = स्वर्ग, फीमेअन = विमान)। ख्मेर लिपि दक्षिणी भारत की पल्लव और पूर्वी चालुक्य लिपियों के मेल से बनी है। कंबोज की वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। अंग्कोरथोम का बेयोन मंदिर दक्षिण भारत के मंदिरों से बहुत मिलता जुलता है। इसके शिखर में भी भारतीय मंदिरों के शिखरों की स्पष्ट झलक मिलती है। इस मंदिर और एलोरा के कैलास मंदिर के कलातत्व, विशेषतः मूर्तिकारी तथा आलेख्य विषयों और दृश्यों में अद्भुत साम्य है।

कंबोज की सामाजिक दशा का सुंदर चित्रण, शू-ता-कुआन के वर्णन (१३वीं सदी का अंत) में इस प्रकार है—

"विद्वानों को यहाँ पंकि (पंडित), भिक्षुओं को शू-कू (भिक्षु) और ब्राह्मणों को पा-शो-वेई (पाशुपत) कहा जाता है। पंडित अपने कंठ में श्वेत धागा (यज्ञोपवीत) डाले रहते हैं, जिसे वे कभी नहीं हटाते। भिक्षु लोग सिर मुड़ाते और पीत वस्त्र पहनते हैं। वे मांस मछली खाते हैं पर मद्य नहीं पीते। उनकी पुस्तकें तालपत्रों पर लिखी जाती हैं। बौद्ध भिक्षुणियाँ यहाँ नहीं हैं। पाशुपत अपने केशों को लाल या सफेद वस्त्रों से ढके रहते हैं। कंबोज के सामान्य जन श्याम रंग के तथा हृष्टपुष्ट हैं। राजपरिवार की स्त्रियाँ गौर वर्ण हैं। सभी लोग कटि तक शरीर विवस्त्र रखते हैं और नंगे पाँव घूमते हैं। राजा पटरानी के साथ झरोखे में बैठकर प्रजा को दर्शन देता है।

"लिखने के लिये कृष्ण मृग का चमड़ा भी काम में आता है। लोग स्नान के बहुत प्रेमी हैं। यहाँ स्त्रियाँ व्यापार का काम भी करती हैं। गेहूँ, हल्दी, चीनी, रेशम के कपड़े, राँगा, चीनी बर्तन कागज आदि यहाँ व्यापार की मुख्य वस्तुएँ हैं।

"गाँवों में प्रबंध करने के लिये एक मुखिया या मयिची रहता है। सड़कों पर यात्रियों के विश्राम करने के लिये आवास बने हुए हैं।"

(वि० कु० मा०)

कंबोडिया—कंबोज का अर्वाचीन नाम है। यह हिंद चीन प्रायद्वीप का एक देश है जो सन् १९५५ ई० में फ्रांसीसी आधिपत्य से मुक्त हुआ है। १९वीं शताब्दी के पूर्व यह प्रदेश ख्मेर राज्य का अंग था किंतु १८६३ ई० में फ्रांसीसियों के आधिपत्य में आ गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में कंबोडिया पर जापान का अधिकार था।

कंबोडिया का क्षेत्रफल १,८१,००० वर्ग मील है। इसकी पश्चिमी और उत्तरी सीमा पर स्याम तथा लाओ और पूर्वी सीमा पर दक्षिणी वियतनाम देश हैं। दक्षिण-पश्चिम भाग स्याम की खाड़ी का तट है। कंबोडिया तश्तरी के आकार की एक घाटी है जिसे चारों ओर से पर्वत घेरे हुए हैं। घाटी में उत्तर से दक्षिण की ओर मीकांग नदी बहती है। घाटी के पश्चिमी भाग में तांगले नामक एक छिछली और विस्तृत झील है जो उदाँग नदी द्वारा मीकांग से जुड़ी हुई है।

कंबोडिया की उपजाऊ मिट्टी और मौसमी जलवायु में चावल प्रचुर परिमाण में होता है। अब भी विस्तृत भूक्षेत्र श्रमिकों के अभाव में कृषिविहीन पड़े हैं। यहाँ की अन्य प्रमुख फसलें तंबाकू, कहवा, नील और रबर हैं। पशुपालन का व्यवसाय विकासोन्मुख है। पर्याप्त जनसंख्या मछली पकड़कर अपनी जीविका अर्जित करती है। चावल और मछली कंबोडिया की प्रमुख निर्यात की वस्तुएँ हैं। इस देश का एक विस्तृत भाग बहुमूल्य वनों से आच्छादित है। मीकांग और टोनलेसाप के संगम पर स्थित प्नॉम पेन कंबोडिया की राजधानी है। बड़े बड़े जलयान इस नगर तक आते हैं। यह नगर कंबोडिया के विभिन्न भागों से सड़कों द्वारा जुड़ा है। (प्र० व०)

कंबुजीय प्रथम ईरानी नरेश कुरुष प्रथम का पुत्र था और द्वितीय कुरुष द्वितीय का। विख्यात कंबुजीय द्वितीय है। पिता की मृत्यु के

पश्चात् इसने उसी की विजयनीति अपनाई और सबसे पहले मिस्र को हस्तगत कर लेने के लिये चढ़ाई की। ईरानी सेनाओं के संमुख टिकने की क्षमता मिस्री सेनाओं में नही थी, यद्यपि पेलूजियम में एक छोटा सा युद्ध हुआ जिसमें अमसिस का पुत्र समतिक तृतीय पराजित हुआ और मेफिस भागा। कंबुजीय ने वहाँ तक उसका पीछा किया और मेफिस पर अधिकार कर लिया। उसने फ़राऊन को कैद करके ईरान भेज दिया और स्वय सिंहासनारुढ़ हुआ। *मिस्र पर अधिकार करने का रहस्य सिंहासनारुढ़ होने तथा मिस्री* देवताओ की पूजा करने में था। कंबुजीय ने दोनों किया। उसने मिस्री नाम भी धारण कर लिया। मिस्र विजय के उपरांत उसने कार्थेज विजय के लिये सेनाएँ भेजी जो रास्ते में ही नष्ट हो गईं। यह दक्षिण मिस्र के कुछ खोए हुए प्रदेशो को भी पुनः प्राप्त करना चाहता था किंतु इस अभियान मे भी उसकी सेनाएँ नष्ट हो गईं। उसके दिमाग मे इन हानियों का कारण 'मिस्र का जादू' जम गया। इसी बीच उसे खबर मिली कि फारस में विद्रोह उठ खड़ा हुआ है। कंबुजीय मिस्र का शासनभार एक सामंत आर्यदेस के ऊपर छोड़कर शीघ्र वापस आया। सीरिया पार करते हुए अकस्मात् उसकी मृत्यु हो गई। (चं० भा० पां०)

के उत्कृष्ट ऊन का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है (१,१२६) उसी प्रकार कंबोज के कवलो का उल्लेख यास्क के निरुक्त मे हुआ है (२, २)। वास्तव मे यास्क ने 'कंबोज' शब्द की व्युत्पत्ति ही सुदर कवलो का उपभोग करनेवाले या विकल्प मे सुदर भोजन करनेवाले लोग—इस प्रकार की है। गांधार और कंबोज इन दोनो जनपदो के अभिन्न सबध की परंपरा से ही इनका सान्निध्य सिद्ध होता है। गाधार अफगानिस्तान (कदहार) का संवर्ती प्रदेश था और इसी के पडोस मे पूर्व की ओर कंबोज की स्थिति थी।

वाल्मीकि रामायण मे कंबोज का वाह्लीक और वनायु जनपदो के साथ वर्णन है और इन देशो मे उत्पन्न श्रेष्ठ काले घोड़ो से अयोध्या नगरी को भरी पूरी बताया गया है (बाल० ६, २२)। महाभारत मे अर्जुन की दिग्विजय के प्रसंग मे परमकांबोज का लोह और ऋषिक जनपदों के साथ उल्लेख है (सभा० २७, २५)। (ऋषिक यूची का रूपांतरण जान पड़ता है। यूची जाति का निवासस्थान दक्षिण-पश्चिम चीन या चीनी तुर्किस्तान के अंतर्गत था। प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट् कनिष्क का रक्तसबध इसी जाति के कुशान नामक कबीले से था।) द्रोणपर्व मे सात्यकि द्वारा कांबोजो, यवनो, शकों, किरातों और बर्बरों आदि की दुर्मद सेना को हराने और उनके मुडित मस्तको और

कंबोज उत्तरापथ में गांधार के निकट स्थित प्राचीन भारतीय जनपद।

इसकी ठीक ठीक स्थिति दक्षिण पश्चिम कश्मीर के पुँछ के इलाके के अंतर्गत मानी जा सकती है। प्राचीन संस्कृत एवं पाली साहित्य मे कंबोज और गांधार का नाम प्रायः साथ साथ आता है। जिस प्रकार गांधार
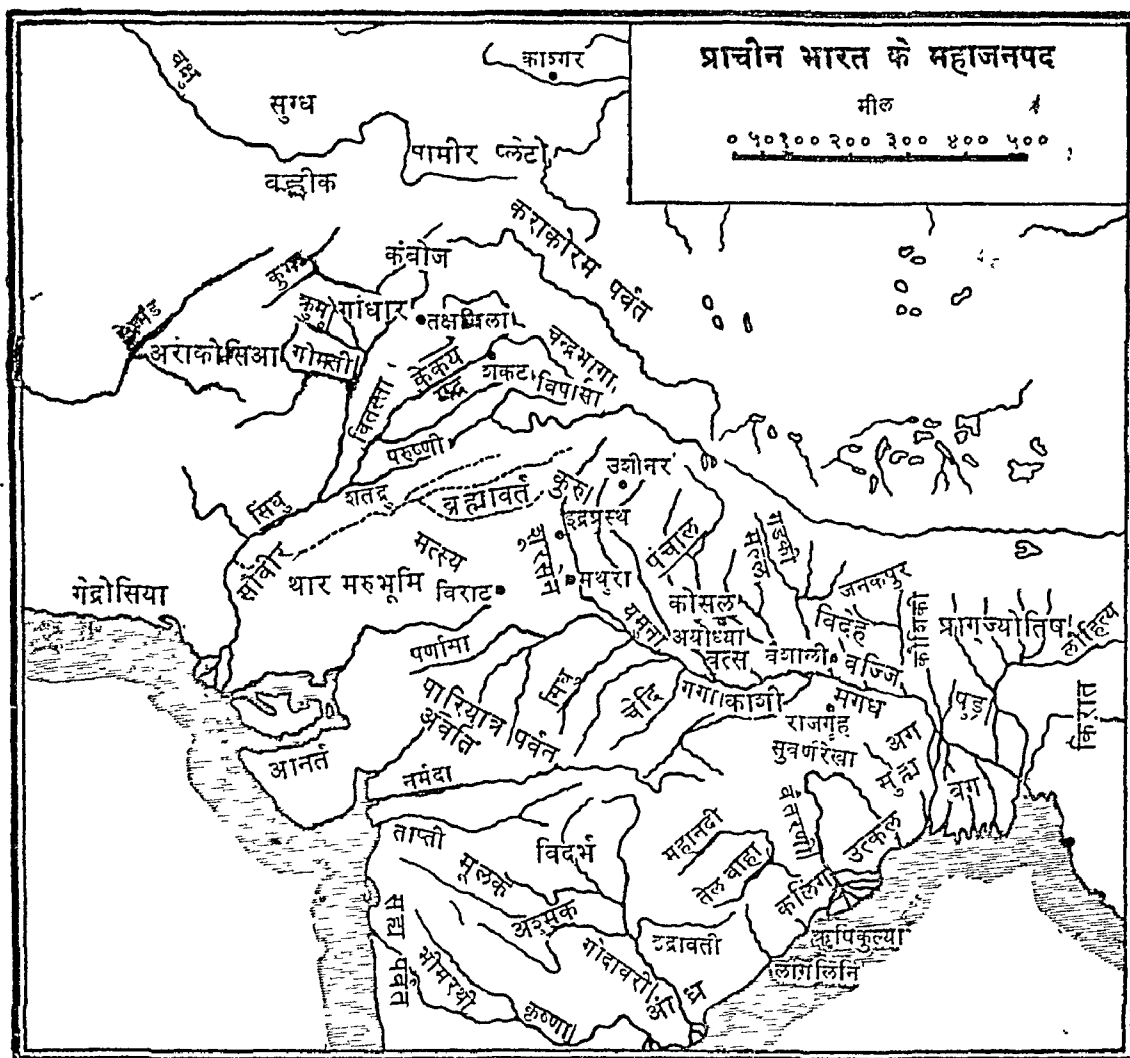
लंबी दाढ़ियो का चित्रमय उल्लेख है (११६, ४५-४८)—"हे राजन्, सात्यकि ने आपकी (धृतराष्ट्र की) सेना का सहार करते हुए हजारो कांबोजो, शको, शबरो, किरातो और बर्बरो के शवो से रणभूमि को पाटकर वहाँ मांस और रुधिर की नदी बहा दी थी। उन दस्युओं के, शिरस्त्राणों से

मुंडित और लंबी दाढ़ियोंवाले सिरों से रणभूमि पंखहीन पक्षियों से भरी हुई सी दिखाई दे रही थी।" महाभारत के युद्ध में कांवोजों ने कौरवों का साथ दिया था। यह द्रष्टव्य है कि कांवोजादि की आकृति संवंधी जिन विशेषताओं का वर्णन महाभारत के इस प्रसंग में है वे आज भी इस प्रदेश के निवासियों में विद्यमान हैं। महाभारत में कांवोजों के राजपुर नामक नगर का भी उल्लेख है जिसे कर्ण ने जीता था (द्रोण० ४, ५)।

कनिंघम ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'एंशेंट जियोग्रफी ऑव इंडिया' (पृ० १४२) में राजपुर का अभिज्ञान दक्षिण-पश्चिम कश्मीर के राजौरी नामक नगर (जिला पुंछ, कश्मीर) के साथ किया है। इस प्रकार कंवोज देश की अवस्थिति का ज्ञान हमें प्रायः निश्चित रूप से हो जाता है। राइस डेविड्स ने इस प्रदेश की पूर्ववौद्धकालीन द्वारका नामक नगरी का उल्लेख किया है। लूडर्स के अभिलेखों (संख्या १७६, ४१२) में कंवोज जनपद के एक दूसरे स्थान नंदिनगर का भी उल्लेख है जिसकी स्थिति का ठीक पता नहीं।

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने, जो स्वयं कंवोज के सहवर्ती प्रदेश के निवासी थे 'कंवोजाल्लुक' सूत्र से (अष्टाध्यायी ४, १, १७३) इस जनपद के वारे में अपनी जानकारी प्रकट की है। पतंजलि ने भी महाभाष्य में कंवोज का उल्लेख किया है।

सिकंदर के आक्रमण के समय (३२७ ई० पू०) कंवोज प्रदेश की सीमा के अंतर्गत उरशा (जिला हजारा) और अभिसार (जिला पुंछ) नामक छोटे छोटे राज्य वसे हुए थे।

पालि ग्रंथ अंगुत्तरनिकाय में भारत के १६ महाजनपदों में कंवोज की भी गणना की गई है (१,२१३; ४,२५२-२५६-२६१)। अशोक के अभिलेखों में कांवोजों का उल्लेख, सीमावर्ती यवनों, नाभकों, नाभपंक्तियों, भोजपितिनकों और गंधारों आदि के साथ किया गया है (शिलालेख १३)। इस धर्मलिपि से ज्ञात होता है कि यद्यपि कंवोज जनपद अशोक का सीमावर्ती प्रांत था तथापि वहाँ भी उसके शासन का पूर्ण रूप से प्रचलन था। विद्वानों का मत है कि शाहवाजगढ़ी (जिला पेशावर) और मानसेहरा (जिला हजारा) में प्राप्त अभिलेखों से, अशोक के समय में (मध्य तृतीय शताब्दी ई० पू०), क्रमशः गांधार और कंवोज जनपदों की स्थिति का ज्ञान होता है।

महाभारत के वर्णन में कंवोज देश के अनार्य रीति रिवाजों का आभास मिलता है। भीष्म० ६,६५ में कांवोजों को म्लेच्छजातीय वताया गया है। मनु ने भी कांवोजों को दस्यु नाम से अभिहित किया है तथा उन्हें म्लेच्छ भाषा वोलनेवाला वताया है (मनुस्मृति १०, ४४-४५)। मनु की ही भाँति निरुक्तकार यास्क ने भी कांवोजों की वोली को आर्य भाषा से भिन्न कहा है और इस तथ्य के प्रमाण में उन्होंने उदाहरण भी दिया है (११-२)। इसी प्रकार भूरिदत्त जातक में भी कांवोजों के अनार्याचरण तथा अनार्य धर्म का उल्लेख है।

चीनी यात्री युवानच्वांग ने (मध्य ७वीं सदी ई०) भी राजपुर के संवर्ती प्रदेश के निवासियों को भारत के आर्यजनों की सांस्कृतिक परंपरा के वहिर्गत माना है और उन्हें उत्तर-पश्चिम की सीमावर्ती असभ्य जातियों के अंतर्गत वताया है। युवानच्वांग ने राजपुर को चीनी भाषा में होलोशिपुलो लिखा है (द्र० युवानच्वांग, वाटर्स १, २८४)। किंतु इसके साथ यह वात भी ध्यान देने योग्य है कि कंवोज में वहुत प्राचीन काल से ही आर्यो की वस्तियाँ विद्यमान थीं। इसका स्पष्ट निर्देश वंशब्राह्मण के उस उल्लेख से होता है जिसमें कांवोज औपमन्यव नामक आचार्य का प्रसंग है। यह आचार्य उपमन्यु गोत्र में उत्पन्न, मद्रगार के शिष्य और कंवोज देश के निवासी थे। कीथ का अनुमान है कि इस प्रसंग में वर्णित औपमन्यव कांवोज और उनके गुरु मद्रगार के नामों से उत्तरमद्र और कंवोज देशों के संनिकट संवंध का आभास मिलता है। (द्र० वेदिक इंडेक्स—कंवोज)। पालि ग्रंथ मज्झिमनिकाय से भी कंवोज में आर्य संस्कृति की विद्यमानता के वारे में सूचना मिलती है।

महाभारत में कंवोज देश के कमठ और सुदक्षिण नामक राजाओं के नाम मिलते हैं—(सभा० ४, २२—उद्योग० १६६, १)। किंतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में कांवोज में संघ या गणराज्य की स्थापना भी की गई थी। अर्थशास्त्र (पृ० ३१८) में कांवोजों को वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ अर्थात् कृषि और शस्त्रों से जीविका अर्जन करनेवाले संघ की संज्ञा दी गई है। महा० ७, ८६, ३८ में भी 'कंवोजानां च ये गणाः', ऐसा वर्णन मिलता है।

संस्कृत के काव्य ग्रंथों में भी कंवोज के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ, कालिदास ने रघुवंश में रघु की दिग्विजययात्रा के प्रसंग में कांवोजों पर उनकी विजय का सुंदर वर्णन इस प्रकार किया है—(रघु० ४, ६९)—'रघु के प्रभाव को सहने में असमर्थ कंवोज-निवासियों को अपने देश के अखरोट के वृक्षों, जिनसे रघु की सेना के मदमत्त हाथियों की शृंखलाएँ वाँधी गई थीं, की भाँति ही विनत होना पड़ा।' यह द्रष्टव्य है कि कालिदास के समय में भी आज ही की तरह भारत के इस प्रदेश के अखरोट प्रसिद्ध थे।

इतिहासकार कल्हण के अनुसार कश्मीर नरेश ललितादित्य ने उत्तरापथ के अन्य कई देशों के साथ कंवोज को भी जीता था। उसके वर्णन में भी कंवोज के परंपरा से प्रसिद्ध घोड़ों का उल्लेख है (४, १६३)। इस वर्णन से यह भी प्रमाणित होता है कि भारतीय इतिहास के प्रायः मध्यकाल (११वीं-१२वीं सदी ई०) तक कंवोज देश के नाम का प्रचलन था तथा इसकी सीमाएँ भी प्रायः पूर्ववत् ही थीं, किंतु यह जान पड़ता है कि तत्पश्चात् धीरे धीरे इस जनपद का विलय कश्मीर राज्य में हो जाने से इसकी पृथक् सत्ता का अंत हो गया और इसके साथ ही इसका नाम भी विस्मृति के गर्त में जा पड़ा। फिर भी अभी तक कंवोज के नाम की स्मृति काफिरिस्तान के निकटवर्ती प्रदेश के कुछ कवीलों के नामों, जैसे कंवोजी, कमोज और कामोजे आदि में सुरक्षित है (द्र० एलफ़िंस्टन: ऐन एकाउंट ऑव द किंगडम ऑव कावुल, जिल्द २, पृ० ३७५)।

टि०—नेपाली परंपरा में कंवोज देश के नाम से तिव्वत का अभिधान किया जाता रहा है (द्र० फ़ूशे: इकोनोग्राफ़ीक वुद्धीक, पृ० १३४), किंतु उपर्युक्त तथ्यों से यह भली भाँति प्रमाणित होता है कि इस जनपद की स्थिति प्राचीन भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा के निकट ही रही होगी। यह तथ्य उनकी वोली से भी, जो ईरानी भाषा की ही एक शाखा थी, सिद्ध है (द्र० ग्रियर्सन: जर्नल ऑव द रायल एशियाटिक सोसायटी, १९११, पृ० ८०२)। (वि० कु० मा०)

कंस मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र। पुराणों के अनुसार इसके रूप में कालनेमि दानव उत्पन्न हुआ था। मगधनरेश जरासंध की पुत्री से इसका विवाह हुआ था। कंस शस्त्रज्ञान तथा वलपराक्रम में हैहय-नरेश कार्तवीर्य (सहस्रार्जुन) के समान था। पिता को कारावास में डाल स्वयं राजा वन वैठा, तत्पश्चात् मंत्रियों ने इसका राज्याभिषेक किया। अपनी वहिन देवकी का विवाह इसने वसुदेव से किया। इसी अवसर पर आकाशवाणी सुनकर कि देवकी का पुत्र ही उसकी मृत्यु का कारण होगा, वह देवकी को मार डालने के लिये उद्यत हुआ। एक एक करके देवकी के छह पुत्रों का उसने वध भी किया। फिर वसुदेव द्वारा लाई हुई गोप कन्या को भी मार डालने का प्रयास किया किंतु इसके हाथ से छूटते ही आकाशमार्ग में स्थित होकर उसने कंस से कहा, "तुम्हारी मृत्यु का कारण व्रज में उत्पन्न हो गया!" कंस ने व्रज के गोपों को विभिन्न प्रकार से सताया तथा कृष्ण को मार डालने का प्रयास किया। कृष्ण ने सभा में विराजमान कंस को मंत्रियों तथा परिवार सहित मार डाला। (चं० भा० पां०)

ककड़ी विश्वास किया जाता है कि ककड़ी की उत्पत्ति भारत से हुई। इसकी खेती की रीति विलकुल तरोई के समान है, केवल उसके वोने के समय में अंतर है। यदि भूमि पूर्वी जिलों में हो, जहाँ शीत ऋतु अधिक कड़ी नहीं होती, तो अक्टूवर के मध्य में वीज वोए जा सकते हैं, नहीं तो इसे जनवरी में वोना चाहिए। ऐसे स्थानों में जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है, इसे फरवरी और मार्च के महीनों में लगाना चाहिए। इसकी फसल वलुई दुमट भूमियों में अच्छी होती है। इस फसल की सिंचाई सप्ताह में दो वार करनी चाहिए। ककड़ी में सवसे अच्छी सुगंध गरम शुष्क जलवायु में आती है। इसमें दो मुख्य जातियाँ होती हैं—एक में हलके हरे रंग के फल होते हैं तथा दूसरी में गहरे हरे रंग के। इनमें पहली को ही लोग पसंद करते हैं। ग्राहकों की पसंद के अनुसार फलों की चुनाई

तरुणावस्था में अथवा इसके बाद करनी चाहिए। इसकी माध्य उपज लगभग ७५ मन प्रति एकड़ है। ककड़ी को 'कुकुमिस मेलो वैराइटी यूटिलिसिमस' (Cucumis melo var. utilissimus) कहते हैं जो 'कुकुरबिटेसी' (Cucurbitaceae) वंश के अंतर्गत आती है।

(य० र० मे०)

ककुत्स्थ विकुक्षि के पुत्र जो इक्ष्वाकु के पौत्र और वैवस्वत मनु के प्रपौत्र थे। देवासुर संग्राम में इन्होंने वृषरूपधारी इंद्र के ककुद् अर्थात् डील (कूवड़) पर सवार होकर राक्षसों को पराजित किया था। इसी कारण वे ककुत्स्थ कहलाए। इनके पुत्र अनेना और पौत्र पृथु हुए। कूर्म तथा मत्स्य पुराणों में इनके एक पुत्र का नाम सुयोधन भी दिया है।

(२) इसी नाम के भगीरथ के भी एक पुत्र थे जिनके पुत्र प्रवृद्ध हुए। प्रवृद्ध के पुत्र शंखन और शंखन के सुदर्शन हुए। (रा० द्वि०)

कच देवताओं के गुरु बृहस्पति के पुत्र। देवासुर संग्राम में जब बहुत से असुर मारे गए तब दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ने उन्हें अपनी संजीवनी विद्या द्वारा पुनर्जीवित कर दिया। यह देख बृहस्पति ने कच को शुक्राचार्य के पास यह संजीवनी विद्या सीखने भेजा। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी कच से प्रेम करने लगी और जब असुरों ने उनका वध करना चाहा तब उसने उन्हें बचाया। अंत में देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया, पर कच ने इसे ठुकरा दिया। तब देवयानी ने कच को शाप दे दिया कि तुम्हारी सीखी हुई विद्या तुम्हारे काम न आएगी। इसपर कच ने भी देवयानी को शाप दिया कि कोई ब्राह्मण तुमसे विवाह न करेगा। यह कथा विस्तारपूर्वक महाभारत के आदि पर्व में दी हुई है। (रा० द्वि०)

कचनार के छोटे अथवा मध्यम ऊँचाई के वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र होते हैं। लेग्यूमिनोसी (Leguminosae) कुल और सीजलपिनिआयडी (Caesalpinioideae) उपकुल के अंतर्गत बॉहिनिया प्रजाति की समान, परंतु किंचित् भिन्न, दो वृक्षजातियों को यह नाम दिया जाता है, जिन्हें बॉहिनिया वैरीगेटा (Bauhinia variegata) और बॉहिनिया परप्यूरिया (Bauhinia purpurea) कहते है। बॉहिनिया प्रजाति की वनस्पतियों में पत्र का अग्रभाग मध्य में इस तरह कटा या दवा हुआ होता है मानो दो पत्र जुड़े हुए हों। इसीलिये कचनार को युग्मपत्र भी कहा गया है।

बॉहिनिया वैरीगेटा में पत्र के दोनों खंड गोल अग्रभागवाले और तिहाई या चौथाई दूरी तक पृथक्, पत्रशिराएँ १३ से १५ तक, पुष्पकलिका का घेरा सपाट और पुष्प बड़े, मंद सौरभवाले, श्वेत, गुलाबी अथवा नीलारुण वर्ण के होते हैं। एक पुष्पदल चित्रित और मिश्रवर्ण का होता है। अतः पुष्पवर्ण के अनुसार इसके श्वेत और लाल दो भेद माने जा सकते है। बॉहिनिया परप्यूरिया में पत्रखंड अधिक दूर तक पृथक् पत्रशिराएँ ९ से ११ तक, पुष्पकलिकाओं का घेरा उभरी हुई संधियों के कारण कोणयुक्त और पुष्प नीलारुण होते हैं।

संस्कृत साहित्य में दोनों जातियों के लिये 'कांचनार' और 'कोविदार' शब्द प्रयुक्त हुए है। किंतु कुछ परवर्ती निघंटुकारों के मतानुसार ये दोनों नाम भिन्न भिन्न जातियों के हैं। अतः बॉहिनिया वैरीगेटा को कांचनार और बॉहिनिया परप्यूरिया को कोविदार मानना चाहिए। इस दूसरी जाति के लिये आदिवासी बोलचाल में, 'कोइलार' अथवा 'कोइनार' नाम प्रचलित है, जो निस्संदेह 'कोविदार' के ही अपभ्रंश प्रतीत होते हैं।

आयुर्वेदीय वाङ्मय में भी कोविदार और कांचनार का पार्थक्य स्पष्ट नहीं है। इसका कारण दोनों के गुणसादृश्य एवं रूपसादृश्य हो सकते हैं। चिकित्सा में इनके पुष्प तथा छाल का उपयोग होता है। कचनार कषाय, शीतवीर्य और कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुदभ्रंश, गंडमाला एवं व्रण का नाश करनेवाला है। इसके पुष्प मधुर, ग्राही और रक्तपित्त, रक्तविकार, प्रदर, क्षय एवं खाँसी का नाश करते है। इसका प्रधान योग 'कांचनारगुग्गुल' है जो गंडमाला में उपयोगी होता है। कोविदार की अविकसित पुष्पकलिकाओं का शाक भी बनाया जाता है, जिसमें हरे चने (होरहे) का योग बड़ा स्वादिष्ट होता है।

कुछ लोगों के मत से कांचनार को ही 'कर्णिकार' भी मानना चाहिए। परंतु संभवतः यह मत ठीक नहीं है। (द्र० 'कर्णिकार')।

(ब० सिं०)

कचहरी मध्यकालीन सामंतवादी युग में कचहरी उस स्थान को कहते थे, जहाँ पर सम्राट्, उसके सामंत अथवा अन्य अधिकारी विभिन्न विषयों पर अपने निर्णय देते थे। वर्तमान शासन प्रणाली में प्रत्येक राज्य न्यायिक प्राविधि द्वारा अधिकार दायित्व संबंधी विवादो के समाधान एवं विधि की अधिकृत व्याख्या के लिये पृथक् संगठन की स्थापना करता है। इन संस्थाओं के लिये, एवं उस स्थान के लिये जहाँ न्यायप्रशासन होता है, कचहरी शब्द का प्रयोग होता है। (र० कु० मि०)

कचारी असम राज्य के उत्तरी असम-भूटान-सीमावर्ती कामरूप और दरंग जिले वर्तमान कचारी या 'बड़ा' कबीले का मुख्य निवास स्थान हैं। सन् १९३१ की जनगणना में कचारियों की संख्या ३,४२,२९७ थी किंतु १९५१ में वह घटकर २,७१,५२४ रह गई। इस कमी का मुख्य कारण कचारियों का हिंदू जातिव्यवस्था में प्रवेश है। असम राज्य की कुछ नदियों एवं प्राकृतिक विभागों के नाम कचारी मूल के हैं जिससे अनुमान होता है कि अतीत में कचारी कबीले का प्रसार संपूर्ण असम में रहा होगा। सन् १९११ में फ़ादर एंडल ने वास्तविक कचारियों के पड़ोसी राभा, मेछ, धीमल, कोच, मछलिया, लालुंग तथा गारो कबीलियों की गणना भी बृहद् कचारी प्रजाति (रेस) के अंतर्गत की थी और असम के १०,००,००० व्यक्तियों को इस श्रेणी में रखा था। किंतु बाद की जनगणनाओं और नृतात्विक अध्ययन के प्रकाश में यह मत तर्कसंगत प्रतीत नही होता।

कचारी मंगोल प्रजाति के हैं। मोटे तौर पर इनका पारिवारिक जीवन पड़ोसी हिंदुओं से अधिक भिन्न नहीं है। जीवननिर्वाह का मुख्य साधन कृषि है। दो प्रकार का धान, 'मैमा' और 'मैसा', दाल, रुई, ईख और तंबाकू इनकी प्रधान फसलें हैं। हाल में ये चाय बगान और कारखानों में मजदूरी पेशे की ओर भी आकृष्ट हुए है। खान पान में खाद्यान्नों के अतिरिक्त सुअर के मांस, सूखी मछली ('ना ग्रान') और चावल की शराब 'जू' का इनमें अधिक प्रचलन है। कुछ समय पूर्व तक कचारियों में दूध पीना ही नहीं वरन् छूना भी वर्जित था। मछली मारना पुरुष तथा स्त्री दोनों का धंधा है। किंतु सामूहिक आखेट में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं। रेशम के कीड़े पालना और कपड़ा बुनना स्त्रियों का काम है। समाज में स्त्रियों का स्थान सामान्यतः उच्च है।

कचारी बहुत से बहिर्विवाही (एक्सोगैमस) और टोटमी कुलों (क्लैन्स) में विभाजित है। प्रत्येक कुल के सदस्यों द्वारा टोटमी पशु का वध वर्जित है। कबीली अंतर्विवाही विधान अचल नही है। निकटवर्ती राभा, कोच और सरनिया कबीलों से विवाह संभव है किंतु प्रतिष्ठित नही। विधुर अपनी छोटी साली से विवाह कर सकता है और विधवा अधिकतर अपने देवर से विवाह करती है। सामान्यतया एकपत्नी कचारियों में भी अधिक धनी वर्ग के पुरुष या संतानहीन व्यक्ति बहुपत्नीत्व अपनाते है। विवाह के लिये पति पत्नी, दोनों की पारस्परिक संमति आवश्यक है। शादी विवाह और संपत्ति से संबंधित सभी झगड़ों का निर्णय गाँव के गण्यमान्य व्यक्तियों की सभा के हाथ में होता है।

कचारियों के धर्म का सर्वप्रधान लक्षण आत्मावाद, अर्थात् भूत प्रेत आदि में विश्वास है। इस विश्वास के मूल में भय की भावना है। कचारी पृथ्वी, वायु और आकाश में दैवी शक्तियों का वास मानते है जिन्हें वे 'मोदै' की संज्ञा देते हैं। इसमें अधिकांश दुरात्माएँ हैं, जिन्हें व्याधि, अकाल, भूकंप आदि दुर्घटनाओं के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता है। पूर्वजपूजा और प्रकृतिपूजा के छिटपुट प्रमाण मिलते हैं किंतु इनका कचारी धार्मिक विश्वासों में अधिक महत्व नहीं है। कचारियों में विशुद्ध कबीली देवी देवताओं की संख्या बहुत कम रह गई है और अनेक हिंदू देवी देवता अपना लिए गए हैं। कबीली देवी देवताओं में १९ गृहदेवता है और ६५ ग्राम देवता, जिनकी

पूजा गाँव से १५–२० गज दूर स्थित बाँसों या पेड़ों के झुरमुट (थानसाली) में की जाती है। जन्म, नामकरण तथा विवाह के अवसरों पर इनकी आराधना ग्राम का पुजारी 'देउरी' या 'देवदाई' करता है। गाँव के ओझा का काम भविष्यवाणी और मामूली झाड़ फूंक द्वारा इलाज करना है। हैजा और महामारी से गाँववालों की रक्षा 'देवदानी' कहलानेवाली आत्माओं के वशीभूत स्त्रियाँ करती हैं। साधारणतः मृतक का दाह-कर्म-संस्कार किया जाता है किंतु अधिक धनी वर्ग में शव गाड़ने की प्रथा पाई जाती है। कचारी विश्वास है कि मृत्यु का अर्थ केवल शारीरिक अवस्था में परिवर्तन है और मृतक की आत्मा नष्ट न होकर परिवर्तित रूप में बची रहती है।

सं०ग्रं०—रेवरेंड सिडनी ऐंडल : दि कचारीज, लंदन, १९११; सी० ए० सोपिट : ऐन हिस्टॉरिकल ऐंड डेस्क्रिप्टिव एकाउंट ऑव द कचारी ट्राइब्स इन द नार्थ कचार हिल्स, शिलांग, १८५५; सेन्सस ऑव इंडिया रिपोर्ट्स, १९३१ तथा १९५१। (र० जै०)

कचूर हल्दी के समान एक क्षुप है जो जिंजीवरेसी (Zingiberaceae) कुल का है। इसे 'करक्यूमा ज़ेडोयिरया (Curcuma zedoaria) कहते हैं। पूर्वोत्तर भारत तथा दक्षिण के समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में यह स्वतः उगता है और भारत, चीन तथा लंका में इसकी खेती भी की जाती है। इसके लिये कर्चूर, षटकचोरा आदि कचूर से मिलते जुलते नाम भी प्रचलित हैं।

इसका क्षुप तीन-चार फुट ऊँचा, पत्रकोषों का बना हुआ, नकली कांड और एक दो फुट लंबे, आयताकार, लंबाग्र, लंबे पत्रनाल से युक्त रहता है। पत्तियाँ चिकनी और मध्यभाग में गुलाबी छायावाली होती हैं। पत्तियों के निकलने से पहले ही ६"×३" नाप की मंजरी निकलती है, जिसमें पुष्प विनाल, हलके पीले रंग के और विपत्र (ब्रैक्ट) रक्ताभ, अथवा भड़कीले लाल रंग के, होते हैं। इस प्रजाति में वास्तविक कांड भूमिगत होता है। कचूर का भूमिगत आधार भाग शंक्वाकार (कॉनिकल) होता है जिसकी बगल से मोटे, मांसल तथा लंबगोल प्रकंद (rhizome) निकलते हैं और इन्हीं से फिर पतले मूल निकलते हैं, जिनके अग्रभाग कंदवत् फूले रहते हैं। प्रकंद भीतर से हलके पीले रंग के और कर्पूर के सदृश प्रिय गंधवाले होते हैं। इन्हीं के कटे हुए गोल-चिपटे टुकड़े सुखाकर व्यवहार में लाए जाते हैं और बाजार में कचूर के नाम से बिकते हैं।

इसके मूलाग्रकंदों में स्टार्च होता है, जो 'शटीफ़ूड' के नाम से बाजार में मिलता है। बच्चों के लिये अरारूट तथा बार्ली की तरह यह पौष्टिक खाद्य का काम देता है। इसका उत्पादन बंगाल में एक लघु उद्योग बन गया है। कचूर के चूर्ण और पतंगकाष्ठ के क्वाथ से अबीर बनाया जाता है। चिकित्सा में कचूर को कटु, तिक्त, रोचक, दीपक तथा कफ, वात, हिक्का, श्वास, कास, गुल्म एवं कुष्ठ में उपयोगी माना गया है।

आयुर्वेद के संहिताग्रंथों में कचूर का नाम नहीं आया है। केवल निघंटुओं में संहितोक्त 'शठी' के पर्याय रूप में, अथवा स्वतंत्र द्रव्य के रूप में, यह वर्णित है। ऐसा मालूम होता है कि वास्तविक शठी के सुलभ न होने पर पहले इस कचूर का प्रतिनिधि रूप में उपयोग प्रारंभ हुआ और बाद में कचूर को ही शठी कहा जाने लगा। कचूर को ज़ेडोरी (Zedory), इसकी दूसरी जाति करक्यूमा सीसिया (Curcuma caesia) को काली हल्दी, नरकचूर और ब्लैक ज़ेडोरी तथा तीसरी जाति वनहरिद्रा (करक्यूमा ऐरोमैटिका, (Curcuma aromatica) को वनहल्दी अथवा येलो ज़ेडोरी भी कहते हैं। (ब० सिं०)

कच्चान (सं० कात्यायन) बुद्ध भगवान् के एक परम ऋद्धिमान् शिष्य, जिनकी प्रशंसा में कहा गया है : ये आयुष्मान् महाकात्यायन, बुद्ध द्वारा प्रशंसित, सब्रह्मचारियों द्वारा प्रशंसित और शास्ता द्वारा संक्षेप में कहे हुए उपदेश का विस्तार से अर्थविभाग करने में समर्थ हैं। (म० नि०—मधु पिं० सुत्त)।

१९वीं सदी में ब्रह्मदेश में लिखे गए 'गंधवंसो' के अनुसार महाकच्चान की छह रचनाएँ हैं—१. कच्चायन गंधो, २. महानिरुत्ति गंधो, ३. चुल्ल-निरुत्ति गंधो. ४. नेत्ति गंधो, ५. पेटकोपदेस गंधो और ६. वण्णनेत्ति गंधो। किंतु न तो इन ग्रंथों के कर्ता बुद्ध के समकालीन उक्त महाकात्यायन हैं, और न वे सब किसी एक ही ग्रंथकार की रचनाएँ हैं। नेत्ति गंध या नीति प्रकरण अनुमानतः प्रथम शती के आसपास की रचना है और उसमें बुद्ध के उपदेशों का वर्गीकरण, पाठों के शास्त्रीय नियम, मंतव्यों की नाना दृष्टियों से सूचियाँ तथा शब्दों की व्याख्या एवं तात्पर्य का निर्णय उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रंथ पर पाँचवी सदी में धम्मपाल द्वारा नेत्ति-प्रकरणअत्थसंवण्णा नामक अट्ठकथा लिखी गई। पेटकोपदेस में नेत्ति-प्रकरण के विषय को कुछ भिन्न रीति से बुद्ध शासन के चार आर्यसत्यों के अनुसार व्यवस्थित किया गया है। इसके कर्ता कच्चान या महाकच्चान पृथक् ही प्रतीत होते हैं। वण्णनेत्ति ग्रंथ की कोई विशेष प्रसिद्धि नहीं है। शेष तीन रचनाएँ व्याकरण विषयक हैं।

कच्चान व्याकरण पालि भाषा का प्राचीनतम उपलब्ध व्याकरण है, जिसमें कुल ६७५ सूत्र हैं। इसकी रचना में संस्कृत के कातंत्र व्याकरण तथा अष्टाध्यायी एवं उसकी काशिकावृत्ति का अनुसरण पाया जाता है। अतः इसका रचनाकाल सातवीं सदी से पूर्व नहीं हो सकता। इसपर विमलबुद्धि द्वारा मुखमत्तदीपनी नामक टीका तथा न्यास ११वीं सदी में रचा गया, और उसपर छप्पद आचार्य ने १२वीं सदी में न्यासप्रदीप नामक टीका लिखी। छप्पद की कच्चान व्याकरण पर अलग से भी सुत्तनिद्देस नामक एक टीका है। तत्पश्चात् इस व्याकरण पर स्थविर संघरक्षितकृत संबंधचिंता, सद्धमासिरीकृत सद्दत्थ-भेद-चिंता, बुद्धप्रिय दीपंकरकृत रूपसिद्धि, धर्म-कीर्तिकृत बालावतार व्याकरण, नागित्तकृत सद्दत्थजालिनी, महायासकृत कच्चायनभेद और कच्चायनसार, क्यच्वाकृत सद्दबिंदु तथा बालप्पबोधन, अभिनव चुल्लनिरुत्ति, कच्चायनवंदना और धातुमंजूषा नामक टीकाएँ भिन्न भिन्न कर्ताओं द्वारा क्रमशः १७-१८वीं सदी तक रची गई, और उनपर भी अनेक ग्रंथ टीका टिप्पणी के रूप में लिखे गए। इससे कच्चान व्याकरण के महत्व एवं प्रचार का पता चलता है। (ही० ला० जै०)

कच्चा माल उन मूल द्रव्यों को कहते हैं जिनका उपयोग विविध शिल्पों में उत्पादन कार्य के लिये होता है। उदाहरणार्थ, चीनी मिल के लिये गन्ना, वस्त्र उद्योग के लिये रूई, कागज बनाने के लिये बाँस, ईख की छोई तथा सन और लोहे के कारखानों के लिये कच्चा लोहा आदि कच्चा माल हैं।

औद्योगिक दृष्टि से यूरोप के विकसित पूँजीवादी देशों को कच्चे माल की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने संसार के अन्य महाद्वीपों में अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किए और वहाँ के कच्चे माल से विविध वस्तुएँ तैयार करके उन्हें पुनः उन्हीं देशों में खपाया तथा अकल्पित लाभ प्राप्त किया। (कै० चं० श०)

कच्ची सड़कें प्राचीन काल से ही पगडंडियाँ बनने लगी थीं। परंतु सभ्यता के विकास के साथ ही चौड़ी कच्ची सड़कें बनने लगीं। मोहनजोदड़ो (सिंध) की खुदाई से पता चला है कि ३,००० ई० पू० में भी चौड़ी कच्ची सड़कें बनने लगी थीं और उनमें पानी की निकासी का भी अच्छा प्रबंध रहता था। मौर्यकाल (लगभग ६०० ई०) में सड़क बनाने और उसकी देखरेख की कला समुन्नत अवस्था में पहुँच गई थी। उस काल में कहा जाता था कि राजपथ कछुए की पीठ के समान कड़ा और ढालू हो और उसकी चौड़ाई कम से कम १६ हाथ हो। सैनिक उपयोग तथा वाणिज्य के लिये महत्वपूर्ण सड़कें ३२ हाथ चौड़ी बनाई जाती थीं। १६वीं शताब्दी तक महत्वपूर्ण सड़कों का एक जाल सा बिछ गया था, जिसमें सर्वविख्यात सड़क उत्तरापथ की थी। सन् १५४० से १५५५ तक शेर-शाह सूरी ने इसी को दोबारा सुधारकर बंगाल से पेशावर तक बनवाया था। अंग्रेजी शासनकाल में इसे ही ग्रैंड ट्रंक रोड कहा गया। ये सब सड़कें वस्तुतः कच्ची ही थीं।

सन् १९५९ में भारत में कुल ३,६३,००० मील लंबी सड़कें थीं। इनमें कच्ची सड़कें २,५३,८०० मील थीं। कच्ची सड़कें ही यातायात के बढ़ जाने पर पक्की बना दी जाती हैं। इसलिये उनका पथनिर्णय और ज्यामितिक आकल्पन (डिजाइन), अर्थात् उनकी चौड़ाई, वक्रों की गोलाई, चढ़ाई, उतराई की ढलान इत्यादि, के निर्णय उन्हीं सिद्धांतों पर किए जाते हैं जिनपर पक्की सड़कें बनाई जाती हैं। जहाँ पुल बनाने की आवश्यकता होती है वहाँ पुल भी वैसी ही सामर्थ्य के बनाए जाते हैं जैसे पक्की सड़कों पर।

यातायात से मिट्टी के धूल में बदल जाने के कारण और वर्षा में कीचड़ और फिसलन हो जाने के कारण कच्ची सड़कें तेज चाल की गाड़ियों के लिये खराब मौसम में ठीक नहीं रहती। कभी कभी तो बैलगाड़ियों तक का इनपर चलना कठिन हो जाता है। इसलिये जनता इन्हें पसंद नहीं करती। किंतु पक्की सड़क बनाने में लागत बहुत आती है, अतः सभी सड़कें पक्की नहीं बनाई जा सकती।

कच्ची सड़क का निर्माण—सड़क के पथ का निर्णय हो जाने पर सर्वेक्षण से उसकी इच्छित चौड़ाई के दोनों ओर लकीरें लगाई जाती हैं और फिर इच्छित समतल और ढाल के अनुसार उसमें मिट्टी की कटाई और भराई की जाती है। कच्ची सड़कों के लिये यह कटाई और भराई न्यूनतम रखी जाती है और जहाँ तक हो सकता है सड़क को दोनों ओर की प्राकृतिक भूमि से नौ इंच से अधिक ऊँचा या नीचा नहीं रखा जाता। भारत में यह काम मजदूर गैंती, फावड़े से ही कर लेते हैं, परंतु विदेशों में यह काम मिट्टी खोदनेवाली मशीनें करती हैं जिन्हें मोटर ग्रेडर कहते हैं। भारत में भी जहाँ मजदूर मिलने में दिक्कत होती है, या जहाँ काम बहुत शीघ्रता से कराना होता है, जैसे सेना के लिये, वहाँ मोटर ग्रेडर काम में लाए जाते हैं। इन मशीनों में उनके आगे पैनी धारवाली इस्पात की चौड़ी पट्टी लगी होती है। भूमि पर इन ग्रेडरों को चलाने से बगल की मिट्टी खुरचकर बीच में पड़ जाती है और इस प्रकार सड़क का बीच का भाग ऊँचा हो जाता है और सड़क के दोनों ओर इच्छित ढाल तथा पानी बहने के लिये नाली भी बन जाती है। इन मोटर ग्रेडरों की सहायता से सड़क का निर्माण शीघ्रता से इच्छित लंबाई, चौड़ाई तथा ढालवाला हो जाता है। वर्षा में सड़क के खराब हो जाने पर और अधिक यातायात से भी ढाल बिगड़ जाने पर हल्के ग्रेडर सड़क को फुर्ती से ठीक कर देते हैं। यह कार्य मजदूरों के शारीरिक परिश्रम से इतना अच्छा नहीं हो सकता। जहाँ सड़क के बाँध की ऊँचाई अधिक होती है वहाँ मजदूर भी ठीक काम कर सकते हैं, जैसा आगे बताया गया है।

रेखांकन (alignment)—नवीन सड़कों की लकीर लगाने में ये सिद्धांत प्रयुक्त होते हैं :

क. दो स्थानों के बीच की सड़क लंबाई में यथासंभव छोटी से छोटी होनी चाहिए।

ख. सड़क ऐसे गाँवों और कस्बों में से होकर निकलनी चाहिए जिससे उस क्षेत्र के वाणिज्य, उद्योग तथा कृषि की समस्त आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति हो सके।

ग. सड़कों में उतार चढ़ाव बहुत तीव्र न होना चाहिए। मैदानों में उतार या चढ़ाव साधारणतः १०० लंबाई में १ ऊँचाई का, और अधिक से अधिक ३३ लंबाई में १ ऊँचाई का, होना चाहिए। पहाड़ों पर उतार चढाव साधारणतः २० में १ का और अधिक से अधिक १४ में १ का रहना चाहिए।

घ. वक्रता यथासंभव कम होनी चाहिए। वक्रता की न्यूनतम त्रिज्या कम से कम ३०० फुट हो। साधारणतः यह लगभग १,००० फुट होनी चाहिए।

ङ. सड़क के बीच से दोनों ओर ढाल रहनी चाहिए। जिससे वर्षा का पानी उसपर से सरलतापूर्वक बह जाय।

च. सड़क के लिये छोड़ी हुई भूमि कम से कम ४० फुट और अधिक से अधिक १५० फुट चौड़ी रहनी चाहिए।

पास पड़ोस की भूमि से सड़क कुछ ऊँची होनी चाहिए। जहाँ बाढ आती हो वहाँ जल के उच्चतम स्तर से सड़क कम से कम डेढ़ फुट ऊँची होनी चाहिए। सड़क के बाँध के पार्श्वों की ढाल दो पड़े और एक खड़े के अनुपात में हो, जैसा चित्र में दिखाया गया है।

कच्ची सड़क का नमूना (अनुप्रस्थ काट)
क = पार्श्व की ढाल; ख = सड़क; उ = ऊँचाई।

सड़कों के बाँध बनाने, अर्थात् भराव करने के लिये, मिट्टी के काम की मान्यताएँ—सड़क के आसपास के ऊँचे स्थानों को, या गड्ढे खोदकर, मिट्टी ले ली जाती है। ये गड्ढे साधारणतः एक फुट से अधिक गहरे न हों और यथासंभव बराबर चौड़ाई के हों, एक दूसरे से संबद्ध हो तथा ऐसा प्रबंध रहे कि बरसात में उनमें पानी न रुके। गड्ढे बेढंगे न हों और इधर उधर न खोदे जायँ।

यदि यांत्रिक कुटाई न की जाय तो मान लेना चाहिए कि निम्नलिखित अनुपात में मिट्टी बैठेगी :

बलुई मिट्टी—एक इंच प्रति फुट ऊँचाई
दोमट (लोम) मिट्टी—डेढ़ इंच प्रति फुट ऊँचाई
चिकनी तथा काली मिट्टी—दो इंच प्रति फुट ऊँचाई

यदि मिट्टी ढालू पृष्ठ पर डाली जाय तो पृष्ठ को सीढ़ीनुमा बना देना चाहिए। बगल की ढाल यथासंभव दो पड़े और एक खड़े के अनुपात में हो और वह प्राकृतिक विश्राम कोण से किसी भी दशा में अधिक न हो। दोमट मिट्टी के लिये साधारणतः दो क्षैतिज और एक ऊर्ध्वाधर के अनुपात में बगली ढाल बनाई जाती है और अच्छी तरह कूटी हुई चिकनी मिट्टी तथा बजरीवाली मिट्टी के लिये $1\frac{1}{2}$: १ की ढाल दी जा सकती है।

पानी की निकासी—सड़क के भराव से पानी की निकासी का प्रबंध करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। अधिक आर्द्रता से भार सहन करने की शक्ति घट जाती है। फिर, चिकनी मिट्टी और काली मिट्टी पर अधिक पानी पड़ने से भूमि फूल उठती है और सूखने पर संकुचित हो जाती है। ये दोनों बातें हानिकर हैं। अतः यह परमावश्यक है कि कच्ची सड़कों के पृष्ठ से पानी के शीघ्र बह जाने के लिये सड़क के बीच की ऊँचाई किनारों की अपेक्षा १ : ३ के अनुपात में रखी जाय। बगल में इस नाप और इस ढाल की नालियाँ रखी जायँ कि महत्तम प्रत्याशित वर्षा का जल भी शीघ्रता से बह जाय।

देखरेख—यदि नया बाँध बाँधा गया हो और उसकी ऊँचाई १० फुट से अधिक हो तो वर्षा से उसकी रक्षा के लिये बगल में गिरनेवाले जल को बगल में बनी नालियों में गिरने देना चाहिए। ये नालियाँ कहीं दूर जाकर पानी को बहा दें। बाँध कहीं कटकर बह न जाय, अतः ऊपरी चार इंच में खादयुक्त मिट्टी हो, जिसमें उपयुक्त घास बो दी जाय। ढालों पर सरपत रोपी जा सकती है। सड़क की कोर पर दूब जमाई जा सकती है।

यदि सड़क कहीं कट या फट जाय तो उसकी मरम्मत तुरंत करनी चाहिए। कभी कभी सड़क पर पड़ी लीकों को भी भर देना चाहिए और कुटाई करके चौरस कर देना चाहिए।

वृक्षरोपण—सड़कों के अगल बगल छायादार वृक्षों के रोपने की प्रथा है। इससे गर्मी में यात्रियों को छाया मिलती है और फल तथा लकड़ी से कुछ आय भी हो जाती है। पेड़ों की छाया से यात्रा का कष्ट बहुत कुछ मिट जाता है। पार्श्ववर्ती वृक्षावली का गाड़ी चालक के मस्तिष्क पर शांतिप्रद प्रभाव पड़ता है और उसकी थकान कम होती है। यदि सड़क का बाँध ३२ फुट चौड़ा हो, तो वृक्षों की पंक्तियाँ सड़क के मध्य भाग से ३० फुट अथवा अधिक दूरी पर हों। वृक्षों के बीच की दूरी वृक्षों की किस्म पर निर्भर है। परंतु साधारणतः वे ४०-४० फुट पर लगाए जाते हैं। यदि वृक्ष बड़े और बहुशाखी हों, तो उनके बीच की दूरी ६० फुट तक बढ़ा दी जा सकती है। छोटे पेड़ों के लिये यह दूरी ३० फुट तक भी रखी जा सकती है। निम्नलिखित वृक्ष इस काम के लिये उपयोगी हैं :—शीशम, आम, अर्जुन, तुन, इमली, जामुन, पाकड़, नीम इत्यादि। इनमें से आम और शीशम उत्तर भारत के मैदानों में अधिक लोकप्रिय हैं।

नीरसता मिटाने और सौंदर्यवृद्धि के लिये कहीं कहीं फूलवाले अथवा सुंदर आकृतिवाले वृक्ष भी लगा दिए जाते हैं, विशेषकर नगरों के आसपास अथवा महत्वपूर्ण पुलों के समीप। निम्नलिखित वृक्ष इस काम के लिये उपयोगी हैं—अमलतास, कचनार, गुलमोहर, जेकरांडा, मौलसिरी (मौलिश्री, वकुल), अशोक, यूकालिप्टस (Eucalyptus) इत्या-

यदि सड़क के रास्ते में नाला या नदी पड़े तो उसपर उपयुक्त पुल बनाना चाहिए। यह पुल इतना ऊँचा हो कि घोरतम वर्षा मे भी सुगमतापूर्वक इसपर से जल बह जाय। पुलो का आकल्पन यह ध्यान रखकर करना चाहिए कि वे सड़क पर चलनेवाली भारी गाड़ियो का बोझ निरापद रूप से सहन कर सके। साधारणतः इडियन रोड्स कांग्रेस के वर्ग बी के सिद्धातो के अनुसार इन पुलो और पुलियों का आकल्पन करना चाहिए। यदि सड़क की एक बगल की भूमि ऊँची तथा दूसरी ओर की नीची हो तो थोड़ी थोड़ी दूर पर पुलियाँ बना देनी चाहिए, जिसमे वर्षा का जल सुगमता से पार हो सके। ऊँची ओर की भूमि का सर्वेक्षण करके पता लगा लेना चाहिए कि वर्षा का कितना जल एक ओर से दूसरी ओर जाएगा और पुलियो की नाप उसी के अनुसार रखनी चाहिए। (का० प्र०)
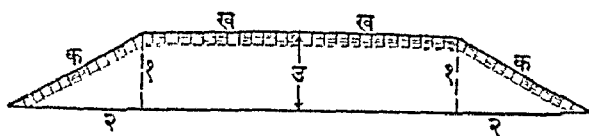
कच्चे मकान सभवतः मिट्टी ही सबसे पुरानी वस्तु है, जिसका उपयोग मनुष्य घर बनाने के लिये करता है। अनत काल से मिट्टी से दीवारे बनाई जाती रही है, जो टेढी मेढी होती थी और धूप मे भली प्रकार से सुखाई हुई ईंटो की बनी, सीधी भी। ऐसे मकान दक्षिण और मध्य अमरीका, दक्षिण यूरोप, अफ्रीका, फारस तथा निकटवर्ती देश मिस्र और भारत, अर्थात् ससार के प्रायः सभी भागो मे मिलते है।

कच्चा माल—मकानो आदि की रचना में प्रायः चिकनी मिट्टी का ही प्रयोग होता है। किंतु कई स्थानो मे मिट्टी मे दृढता एवं सुघटचता लाने के लिये रेत भी मिला दी जाती है। यद्यपि सूखने पर मिट्टी सिकुड़ती है, तथापि सिकुड़न के कारण ईंटो के छोटी पड़ने के अतिरिक्त अन्य कोई हानि नही होती। ऐसा भी विश्वास है कि सूखने पर ईंटो के सिकुड जाने से उनकी दाब के प्रति सहनशीलता मे वृद्धि हो जाती है। फलतः इन ईंटो से बनी दीवारें अधिक बोझ सँभाल सकती है। विश्व के कतिपय ऐसे भागो में जहाँ मिट्टी मे रेत मिलाने की परपरा नही है, थोड़ा सा भूसा या सूखी घास मिला दी जाती हे, जिससे मिट्टी की पुष्टता मे वृद्धि हो जाय और वह सूखने पर चटखे नही।

जलवायु की परिस्थितियाँ—अल्प वर्षावाले स्थानों में ही कच्चे मकान अधिक बनाए जाते है। कारण यह है कि वहाँ की मिट्टी की बनी हुई ईंटों में ०.२ से लेकर १ टन प्रति वर्ग फुट तक की दाब की सहनशीलता होती है, जो शुष्कावस्था मे एकमजिले मकानो के लिये पर्याप्त होती है। अधिक वर्षावाले स्थानो मे उचित प्रकार की छतोवाले मकान बनाए जा सकते हैं।

मिट्टी सानना—इसका पुराना ढंग यह हे कि एक गड्ढा खोद लिया जाता है और आवश्यकतानुसार पर्याप्त जल डाल दिया जाता है। ढेले तोड़ने के लिये दो दिन तक मिट्टी को पैरो से गूंधा जाता है। तब इस सुघटच मिट्टी से मानक माप की ईंटे बना ली जाती हैं। मिट्टी और पानी को एकरूप सानने के लिये आजकल इंजनचालित चक्की का भी प्रयोग किया जाता हे, जिसे 'पग मिल' कहते है। इंजन के अतिरिक्त पग मिल पशुओं द्वारा भी चलाई जा सकती है।

पाथना—कच्ची ईंटो को पाथने के लिये मिट्टी का चौरस, कड़ा फर्श चाहिए। साधारणतया साँचे मे बालू छिड़क दी जाती है जिससे उसमें ईंट न चिपके। कच्ची ईंटो की नाप कई बातो पर निर्भर होती है, उदाहरणतः भीत की मोटाई, मजदूर अधिक से अधिक कितना बोझ उठा सकता हे, इत्यादि। काम मे लाने के पूर्व इन ईंटों को लगभग एक महीने तक धूप में सुखाना आवश्यक हे। भारत के कुछ गाँवो मे कच्ची ईंटें बनाने के लिये भूमि पर सुघटच मिट्टी वांछित मोटाई में फैला दी जाती है और उसे वांछित नापो मे काटकर टुकड़े टुकड़े कर दिया जाता है। इस प्रकार बनाई गई ईंटो का आकार ठीक नही रहता और बहुधा वे ऐंठ जाती हे। इन दोषों का निराकरण मोटी सधियों से हो जाता है। इस प्रकार ईंटे बनाने मे यह गुण है कि कोई भी परिवार अपनी सुविधा के अनुसार ऐसी ईंटे बना सकता है। इन ईंटो को बनाने के लिये कच्चा माल पास मे ही मिल जाता हे और बनानेवाले मे किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नही होती। अतः लड़के बच्चे सभी इस कार्य मे सहायता कर सकते है। कच्ची ईंटों से बने मकानो मे यह दोष होता है कि वे बहुत टिकाऊ नही होते और उनके पृष्ठ पर बार बार पलस्तर करना पड़ता है, अन्यथा उनके गिर जाने का डर रहता है। फिर, आस पास की भूमि से पानी की निकासी अच्छी होनी चाहिए, अन्यथा दीवाल की नीव के बैठ जाने का भय रहता है।

कच्ची ईंटों के बनाने में सुधार—विज्ञान की प्रगति के साथ मृत्तिका विज्ञान मे भी उन्नति हुई है। कच्ची ईंटें अच्छी बन सके, इसके लिये कई प्रकार के प्रयत्न किए गए है। इनका संक्षिप्त ब्योरा नीचे दिया जाता है :

१. **मिट्टी को ठोस करना** (कंपैक्शन, Compaction, संघनन) : प्रयोगो से पता चला है कि सूखी ईंटो की पुष्टता उतनी ही अधिक होगी जितना अधिक मिट्टी के कण परस्पर सटे रहेंगे। इस गुण को संघनन (कपैक्शन) कहते हे। अधिक संघनन से आर्द्रावस्था मे भी ईंटे अधिक स्थायी होती हैं। बाजार मे अब कई एक मशीनें आ गई है, जिनमें ईंटो को पाथते समय उनमें अधिक संघनन आ जाता हे। सघनन की मात्रा मिट्टी मे पानी की मात्रा पर निर्भर है। इसलिये पाथते समय मिट्टी मे जल की मात्रा पर पूर्ण नियंत्रण रखना आवश्यक हे। प्राचीन रीतियो से कच्ची ईंटे पाथने के समय ३० प्रतिशत आर्द्रता की आवश्यकता रहती है। परंतु प्राचीन विधियो से बनी सूखी ईंटो मे लगभग १ टन प्रति वर्ग फुट की ही पुष्टता रहती हे। इसकी तुलना मे मशीन से पाथने मे कुल ८–१० प्रतिशत आर्द्रता की आवश्यकता पड़ती है। प्रयोगो से पता चला है कि मिट्टी को अच्छी तरह सानकर और मशीन से ठीक प्रकार से दबाकर बनाई ईंटो मे सूखने पर पुष्टता लगभग ८–१० टन प्रति वर्ग फुट होती है।

२. **बंधक** (बाइंडर, binder) **मिलाना** :

बिटुमेन—कच्ची ईंटो की जल प्रतिरोधक शक्ति बिटुमेन से बहुत बढ़ाई जा सकती है। पाथनेवाली मिट्टी मे ३ से ५ प्रतिशत तक बिटुमेन मिलाना पर्याप्त होता है। प्रयोगो से ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार बनी ईंटें पर्याप्त जलाभेद्य होती है और उनसे बनी भीतो पर पलस्तर करने की कोई आवश्यकता नही रहती।

सीमेंट—मिट्टी मे सीमेट मिलाने से पानी की क्रिया से कच्ची ईंटो के नम हो जाने की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती हे। किंतु सीमेंट की सफलता इसपर निर्भर हे कि मिट्टी मे कितना सीमेट मिलाया गया हे और ईंटो के बनाने मे कितना संघनन उत्पन्न किया गया हे। प्रयोगो से पता चला है कि यदि पर्याप्त संघनन किया जाय और मिट्टी मे छोटे बड़े कण उचित मात्रा मे रहें तो ३ से ५ प्रतिशत तक सीमेंट से पर्याप्त स्थायित्व आ जाता है। यहाँ तक कि जहाँ ईंटों का पकाना बहुत व्ययसाध्य होता है वहाँ सीमेंट मिलाकर ईंट पाथने का काम किया जा सकता है।

जलाभेद्य पलस्तर—मशीनो की सहायता से कच्ची ईंटों को सीमेंट या बिटुमेन मिलाकर बनाने और स्थायी करने का कार्य गाँवो मे प्रचलित होने मे अभी कुछ समय लगेगा, किंतु यह सुधार तो तुरत किया जा सकता है कि कच्ची दीवारो पर जलाभेद्य पलस्तर कर दिया जाया करे। भारत की कई अनुसंधान संस्थाओं ने इस काम के लिये कई रीतियाँ बताई है। इनमें सीमेंट के साथ काठकोयला, साबुन तथा अन्य पदार्थ अथवा बिटुमैन के मिश्रण और घोल आज भी प्रयुक्त होते है। इन रीतियो की तुलनात्मक जाँच भारत की केंद्रीय सड़क अनुसधान संस्था (सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्टिटच्यूट) ने की है। परीक्षण मे निम्नोक्त कार्य किए गए हैं : (१) १४४ घट तक १५–२० मील प्रति घटे के वेग मे दीवालो पर पानी का सतत छिड़काव, (२) उपरिलिखित ढंग से रात्रि के समय उतने ही वेग से छिड़काव और दिन मे धूप लगने देना। यह कार्य दो महीने तक चालू रखा गया, अर्थात् छिड़काव और सुखाने के ६० चक्र जारी रखे गए।

पता चला कि बिटुमेन और पानी के पायस (इमल्शन) से सर्वाधिक संतोषप्रद परिणाम निकलता है। बिटुमेन का मिट्टी के तेल के साथ घोल (कट बैक, Cut back) इससे कुछ ही कम संतोपजनक था। बिटुमेन के पायस से जलाभेद्य पलस्तर बनाने की रीति इस प्रकार हे—१० घन फुट अच्छी मिट्टी और २० सेर छोटे कटे भूसे को एक में मिला दिया जाय; फिर इसमे पर्याप्त जल मिलाकर सात दिनों तक सड़ने दिया जाय। पर, जैसा साधारण मिट्टी के पलस्तर मे किया जाता है, बीच बीच में पैर या

कच्चे मकान (द्र० पृ० ३६४)
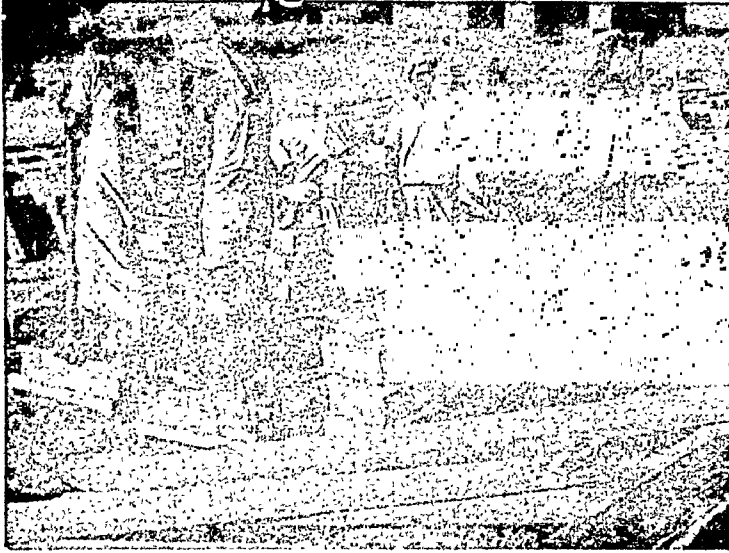
मिट्टी की दृढ़ ईंटें बनाई जा रही हैं।
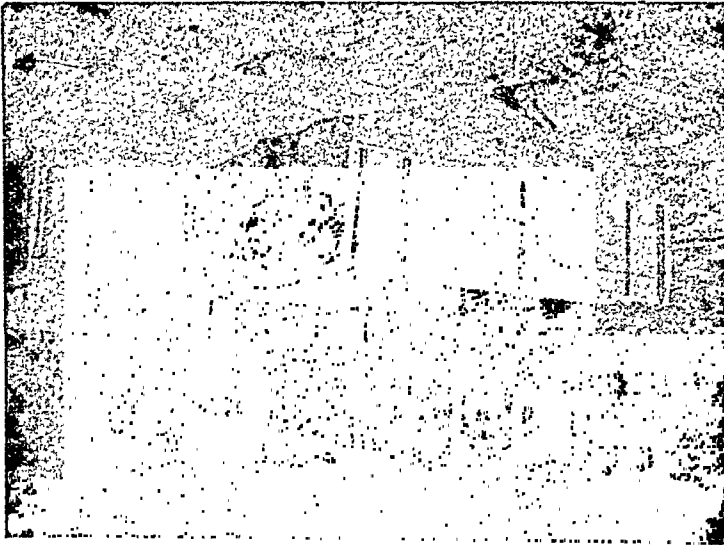
मिट्टी की दृढ़ दीवार बनाने के लिये तख्ते खड़े किए गए हैं।

कच्चे मकान (द्र० पृ० ३६४)

दीवार के बनने का काम आधा हो गया है।
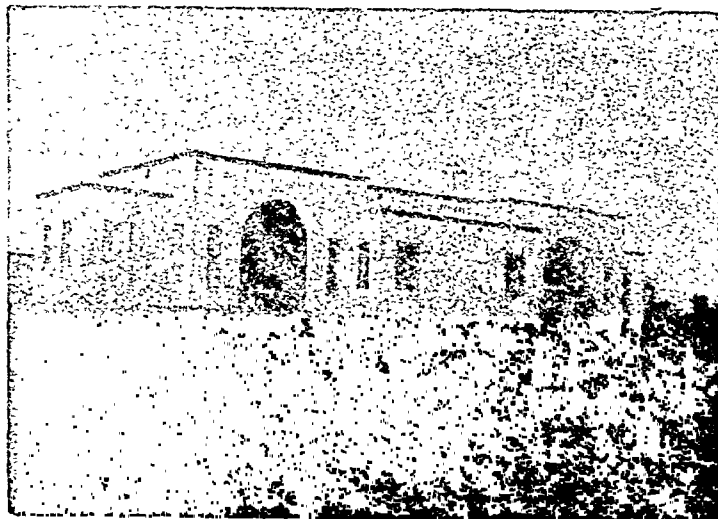
मिट्टी तथा सीमेंट का पूर्ण निर्मित, दृढ़ीकृत, कच्चा भवन

फावड़े से इसे अच्छी तरह उलटा पलटा जाय। पलस्तर करने के दो घंटे पूर्व इसमें बिटूमेन पायस डाल दिया जाता है और फावड़े से अथवा पैरों से गूँधकर अच्छी तरह मिला दिया जाता है।

कच्ची दीवार पर पानी छिड़ककर १/२ इंच मोटा पलस्तर लगाना चाहिए और उसे करनी से रगड़कर पृष्ठ को चिकना कर देना चाहिए। यदि यह काम उष्ण ऋतु में किया जाय तो पलस्तर पर कभी कभी पानी छिड़कना चाहिए, अन्यथा पलस्तर के चटख जाने का डर रहता है। जब पलस्तर थोड़ा सूख जाय तब उसपर एक बार गोबरी करनी चाहिए, अर्थात् गाय के गोबर तथा मिट्टी और पानी के मिश्रण से लेप कर देना चाहिए। इस मिश्रण के लिये नुस्खा निम्नोक्त है :

मिट्टी	एक घन फुट
गोबर	दस सेर
पायस (जनता)	दो सेर

सं०ग्रं०—एलबर्ट हव्वैल : अर्थ ब्रिक कंस्ट्रक्शन (ए पब्लिकेशन ऑव एड्यूकेशन डिविज़न, डब्ल्यू० एस० ऑफ़िस ऑव इंडियन अफ़ेयर्स); जे० एस० लॉङ्ग : ऐडोबे कंस्ट्रक्शन (बुलेटिन नं० ४७२, यूनिवर्सिटी ऑव कैलिफ़ोर्निया, बर्क्ले, कैलिफ़ोर्निया); अर्थ फ़ॉर हाउसेज़, १९५५ (हाउसिंग ऐंड फ़ाइनैंस एजेंसी, वाशिंगटन २५, डी० सी०); वाटरप्रूफ़ रेंडरिंग्स फ़ॉर मड वाल्स (ए पब्लिकेशन ऑव एन० बी० ओ०, नई दिल्ली, १९५८); द वर्किंग ऑव 'लैंडक्रीट' मेशीन फ़ॉर मेकिंग स्टैबिलाइज्ड सॉयल हाउसेज (एन० बी० ओ०, जरनल, मार्च, १९५६); स्पेसिफ़िकेशंस फॉर द यूस ऑव रैम्ड सीमेंट-सॉयल इन बिल्डिंग कंस्ट्रक्शन। (हृ० ल० उ०)

कच्छ का रन गुजरात प्रांत में कच्छ जिले के उत्तर तथा पूर्व में फैला हुआ एक नमकीन दलदल का वीरान प्रदेश है। यह २२°५५' उ० अ० से २४°४३' उ० अ० तक तथा ६८°४५' पू० दे० से ७१°४६' पू० दे० तक लगभग २३,३०० वर्ग कि०मी० क्षेत्रफल में फैला हुआ है। यह समुद्र का ही एक सँकरा अंग है जो भूचाल के कारण संभवतः अपने मौलिक तल से ऊपर उभड़ आया है और परिणामस्वरूप समुद्र से पृथक् हो गया है। सिकंदर महान् के समय यह नौगम्य झील था। उत्तरी रन, जो लगभग २५७ कि० मी० लंबा (पश्चिम से पूर्व) तथा १२८ कि० मी० चौड़ा (उत्तर से दक्षिण) है, अनुमानतः लगभग १८,१२२ वर्ग कि० मी० में फैला है। पूर्वी रन अपेक्षाकृत छोटा है। इसका क्षेत्रफल लगभग ५,१७८ वर्ग कि० मी० है। मार्च से अक्टूबर मास तक यह क्षेत्र अगम्य हो जाता है। सन् १८१९ ई० के भूकंप में उत्तरी रन का मध्य भाग किनारों की अपेक्षा अधिक ऊपर उभड़ गया। इसके परिणामस्वरूप मध्य भाग सूखा तथा किनारे पानी, कीचड़ तथा दलदल से भरे हैं। ग्रीष्म काल में दलदल सूखने पर लवण के श्वेत कण सूर्य के प्रकाश में चमकने लगते हैं। (न० प्र०)

कच्छ के रन की पश्चिमी सीमा पाकिस्तान से मिलती है। ९ अप्रैल, १९६५ को पाकिस्तान ने अचानक आक्रमण करके इसके एक भाग पर कब्जा कर लिया। भारतीय सैनिकों ने अपना क्षेत्र वापस लेने के लिये कार्रवाई की तो युद्ध छिड़ गया। लेकिन ब्रिटेन के हस्तक्षेप से युद्धविराम हुआ और मामला फैसले के लिये अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में ले जाया गया। अंतरराष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय (१९ फरवरी, १९६८) के अनुसार कच्छ के रन का लगभग एक तिहाई भाग पाकिस्तान को मिल गया। (कै० चं० श०)

कच्छपावतार (कूर्मावतार) नरसिंहपुराण के अनुसार द्वितीय तथा भागवतपुराण (१.३.१६) के अनुसार ग्यारहवें अवतार। शतपथ ब्राह्मण (७.५.१.५–१०), महाभारत (आदि पर्व, १६) तथा पद्मपुराण (उत्तराखंड, २५९) में उल्लेख है कि संतति प्रजनन हेतु प्रजापति, कच्छप का रूप धारण कर पानी में संचरण करता है। लिंगपुराण (९४) के अनुसार पृथ्वी रसातल को जा रही थी, तब विष्णु ने कच्छपरूप में अवतार लिया। उक्त कच्छप की पीठ का घेरा एक लाख योजन था। पद्मपुराण (ब्रह्मखंड, ८) में वर्णन है कि इंद्र ने दुर्वासा द्वारा प्रदत्त पारिजातक माला का अपमान किया तो कुपित होकर दुर्वासा ने शाप दिया, "तुम्हारा वैभव नष्ट होगा।" परिणामस्वरूप लक्ष्मी समुद्र में लुप्त हो गई। पश्चात् विष्णु के आदेशानुसार देवताओं तथा दैत्यों ने लक्ष्मी को पुनः प्राप्त करने के लिये मंदराचल की मथानी तथा वासुकी की डोर बनाकर क्षीरसागर का मथन किया। मथन करते समय मंदराचल रसातल को जाने लगा तो विष्णु ने कच्छप के रूप में उसे अपनी पीठ पर धारण किया और देवदानवों ने समुद्र से अमृत एवं लक्ष्मी सहित १४ रत्नों की प्राप्ति करके पूर्ववत् वैभव संपादित किया। एकादशी का उपवास लोक में कच्छपावतार के बाद ही प्रचलित हुआ। कूर्मपुराण में विष्णु ने अपने कच्छपावतार में ऋषियों से जीवन के चार लक्ष्यों (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) का वर्णन किया था। (कै० चं० श०)

कच्छ प्रदेश १९४७ ई० के पहले पश्चिमी भारतीय राज्यसंघ का एक छोटा सा राज्य था। यह अब नवनिर्मित महागुजरात राज्य का एक अंग है। इसका क्षेत्रफल १६,७२४ वर्ग मील है। इसके पूर्व एवं उत्तर में कच्छ का रन, दक्षिण में कच्छ की खाड़ी एवं पश्चिम में अरब सागर है।

कच्छ प्रदेश का अधिकांश भाग पहाड़ी एवं जंगली है। संपूर्ण प्रदेश ज्वालामुखी भूचाल के प्रभाव में है। मुख्य फसलें गेहूँ, जौ, ज्वार, दाल एवं कपास हैं। इस प्रदेश में पानी की कमी, वर्षा की अनिश्चितता एवं भूकंप की बहुलता के कारण अकाल अधिक पड़ते हैं। गर्मी के दिनों में यहाँ का तापक्रम १००° फा० से १०५° फा० तक हो जाता है। छोटी छोटी पहाड़ी नदियाँ हैं जो वर्षा के अतिरिक्त अन्य मौसमों में सूखी रहती हैं। उपर्युक्त भौतिक कठिनाइयों के कारण यहाँ की आबादी कम है। १९७१ ई० में यहाँ की जनसंख्या ८,४९,२४५ थी। (रा० वृ० सिं०)

कछुआ उरगों के एक गण परिवर्मिगण (किलोनिया, Chelonia) का प्राणी है। यह जल और स्थल दोनों स्थानों में पाया जाता है। जल और स्थल के कछुए तो भिन्न होते ही हैं, मीठे तथा खारे जल के कछुओं की भी पृथक् जातियाँ होती हैं।

कछुओं का गोल शरीर कड़े डिब्बे जैसे आवरण से ढका रहता है। इस कड़े आवरण या खोल से, जिसे 'खपड़ा' कहा जाता है, इनकी चारों टाँगें तथा लंबी गरदन बाहर निकली रहती हैं। यह खपड़ा कड़े पर्तदार शल्कों से ढका रहता है। इसका ऊपरी भाग प्रायः उत्तल (उभरा हुआ) और निचला भाग चपटा रहता है। ऊपरी भाग को उत्कवच (कैरापेस, carapace) और नीचेवाले को उदरवर्म (प्लैस्ट्रन, plastron) कहते हैं। कुछ कछुओं का ऊपरी भाग चिकना रहता है, परंतु कुछ कड़े शल्क इस प्रकार एक दूसरे पर चढ़े रहते हैं जैसे प्रायः मकानों पर खपड़े छाए रहते हैं। ये खपड़े कई टुकड़ों के जुड़ने से बनते हैं, जो सुदृढ़ता से परस्पर जुड़े रहते हैं। ऊपर और नीचे के खपड़े भी बगल में सुदृढ़तापूर्वक एक दूसरे से संयोजित रहते हैं।

कछुआ
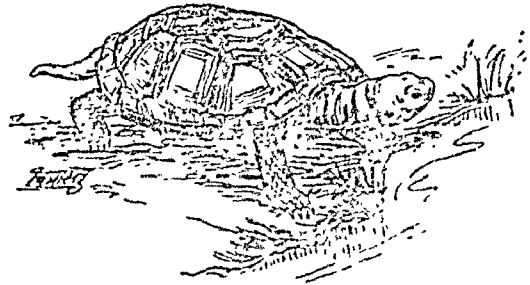
कछुओं के खपड़ों की बनावट उनकी रहन सहन के अनुसार ही होती है। भूमि में रहनेवाले कछुओं के खपड़े ऊँचे और गोलाई लिए रहते हैं जिसके भीतर वे अपनी गरदन और टाँगों को सरलता से सिकोड़ लेते हैं। किंतु पानी के कछुओं के खपड़े चपटे होते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी टाँगों को शीघ्र भीतर बाहर करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अन्य कई कटी-संहृतियाँ बनी हैं जिनसे शांकव, समविभव वक्र आदि खींचे जा सकते हैं।

सं०ग्रं०—ए० बी० केंप : हाउ टु ड्रॉ ए स्ट्रेट लाइन (१८७७)।
(गो० प्र०)

कठ कठों का नाम पाणिनि के अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है। एक मुनिविशेष का भी नाम 'कठ' था। यह वेद की कठ शाखा के प्रवर्तक थे। पतंजलि के महाभाष्य के मत से कठ वैशंपायन के शिष्य थे। इनकी प्रवर्तित शाखा 'काठक' नाम से भी प्रसिद्ध है। आजकल इस शाखा की वेदसंहिता नहीं प्राप्त होती। काठक शाखाध्यायी भी 'कठ' कहलाते हैं। इनसे सामवेद के कालाप और कौथुम शाखीय लोगों का मिश्रण हुआ। वाल्मीकि रामायण मे कठकालाप एक स्थान पर प्रयुक्त हैं (ये चेम कठकालापा बहवो दण्डमानवाः, अयो० ३२।१८)। कठोपनिषद् से भी इनका संबंध है। यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अंतर्गत आता है। सिकंदर के विजयाभियान के इतिहासकारों ने भी इनका 'कथोई' नाम से उल्लेख किया है। कठ जाति के लोग इरावती (रावी) नदी के पूर्वी भाग में बसे हुए थे जिसे आजकल पंजाब में 'माझा' कहा जाता है। सिकंदर के आने पर कठों ने अपनी राजधानी संगल (अथवा साँकल) के चारों ओर रथों के तीन चक्कर लगाकर शकटव्यूह का निर्माण किया और यूनानी आक्रमणकारी से डटकर लोहा लिया। पीछे से पुरु की कुमक प्राप्त होने पर ही विदेशी साँकल पर अधिकार कर सका। इस युद्ध में कठों का विनाश हुआ, किंतु इस अवसर पर सिकंदर इतना खीझ उठा कि साँकल को जीतने के बाद उसने उसे मिट्टी में मिला दिया। कठों के संघ में प्रत्येक बच्चा संघ माना जाता था। संघ की ओर से वहाँ गृहस्थों की संतान के निरीक्षक नियत होते थे। सुंदरता के वे विकट रूप से पोषक थे। इनकी चर्चा करते हुए ग्रीक इतिहासकारों ने लिखा है कि इस दृष्टि से कठ स्पार्ता नगर के निवासियों से बहुत मिलते थे। एक महीने की अवस्था के भीतर वे जिस बच्चे को दुर्बल अथवा कुरूप पाते उसे मरवा डालते थे। युद्ध-कौशल में उनकी ख्याति सभी जातियों में अधिक थी। ओनेसिक्रितीज़ के अनुसार जाति में सर्वांगसुंदर व्यक्ति को राजा बनाते थे।
(चं० भा० पां०)

कठपुतली अत्यंत प्राचीन नाटकीय खेल जो समस्त सभ्य संसार में—प्रशांत महासागर के पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक—व्यापक रूप में प्रचलित रहा है। यह खेल गुड़ियों अथवा पुतलियों (पुत्तलिकाओं) द्वारा खेला जाता है। गुड़ियों के नर मादा रूपों द्वारा जीवन के अनेक प्रसंगों की, विभिन्न विधियों से, इसमें अभिव्यक्ति की जाती है और जीवन को नाटकीय विधि से मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।

चित्र १. अँगुलियों से चलनेवाली कठपुतली (पीछे से)

चालक की अँगुलियों की स्थिति दिखाई है।

कठपुतलियाँ या तो लकड़ी की होती हैं या पेरिस-प्लास्टर की या कागज की लुग्दी (पेपर मैशे) की। उसके शरीर के भाग इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उनसे बँधी डोर खींचने पर वे अलग अलग हिल सकें।

यूरोप में अन्य नाटकों की भाँति कठपुतलियों के नाटक भी होते हैं। विशेषतः फ्रांस में तो इस खेल के लिये स्थायी रंगमंच भी बने हुए हैं जहाँ नियमित रूप से इनके खेल खेले जाते हैं। एक छोटे से रंगमंच पर कठपुतलियाँ अपना नाटक करती हैं। वे चलती हैं, नाचती हैं और प्रत्येक काम ऐसी सफाई से करती हैं मानो वे सजीव हों। यह तनिक भी नहीं जान पड़ता कि ये डोर द्वारा चलाई जा रही हैं। इन कठपुतलियों से जो मंतव्य प्रकट कराना होता है उसको परदे के पीछे छिपे हुए आदमी माइक्रोफ़ोन द्वारा इस खूबी से कहते हैं मानों ये गुड़ियाँ आप ही बोल रही हों।

चित्र २. अँगुलियों से चलनेवाली कठपुतली (सामने से)

चलनेवाली डोर बहुत पतली और काली होती है, पृष्ठभूमि का परदा भी काला रहता है, इसलिये डोर दिखलाई नहीं पड़ती। एक व्यक्ति साधारणतः छह डोरें चलाता है (द्र० चित्र ४)। अधिक से अधिक वह आठ चला सकता है। जब रंगमंच पर कठपुतलियों की संख्या अधिक होती है तब उनको चलाने के लिये कई व्यक्ति रहते हैं (द्र० चित्र ५)।

कठपुतलियाँ चार प्रकार की होती हैं। एक ऐसी जिनको हाथ में पहनकर
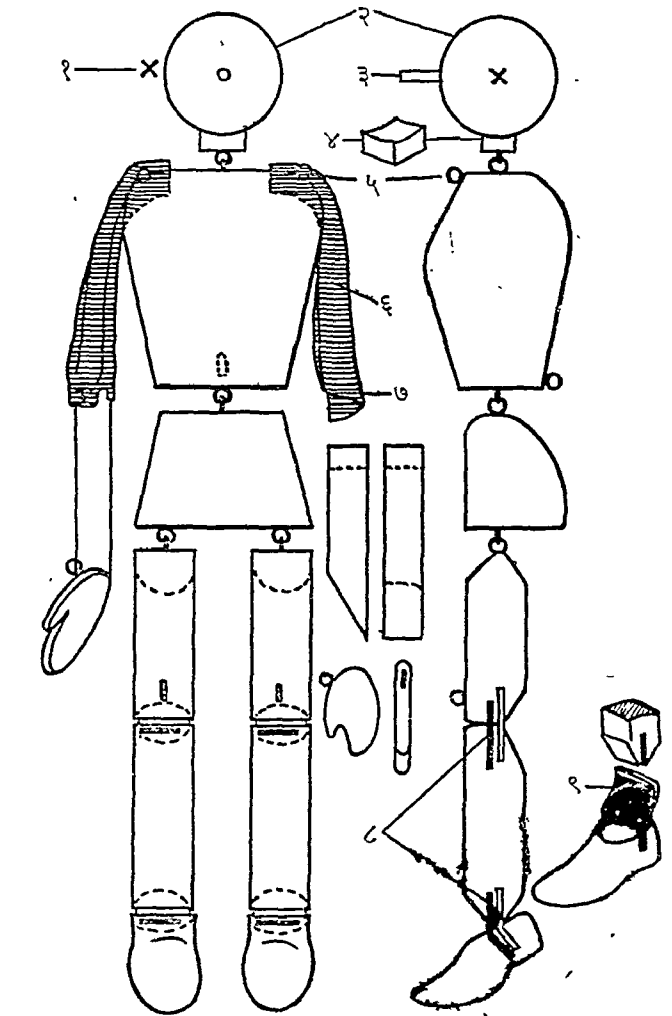
चित्र ३. तागे से चलनेवाली कठपुतली की रचना

१. सिरवाली डोर के चिपकाने का स्थान; २. सिर (इसके लिये पिंग पांग की गेंद प्रयुक्त की जा सकती है); ३. नाक के लिये दियासलाई की तीली; ४. गले के लिये काठ का टुकड़ा; ५. गोल अँकुड़ा; ६. कपड़े की बनी ऊपरी बाँह; ७. कील; ८. फीते का टुकड़ा; ९. पाँव की रचना (काट बड़ी करके दिखाई है)।

कठपुतली (द्र० पृष्ठ ३६८)

जावा की कठपुतली

जावा में, चमड़े से मढ़ी, रँगी तथा अलंकृत कठपुतलियों से रामायण तथा महाभारत पर आधृत नाटकों के छायाचित्र दिखाए जाते हैं जो बहुधा कई रातों तक चलते रहते हैं। नाच के संगीत वाद्यों में मृदंग प्रमुख होता है। कठपुतलियों को गति देने का काम संलग्न छड़ियों से लिया जाता है। कठपुतलियों की मूर्ति शैली जावा की विशेषता है, जिस पर भारतीय [illegible] की छाप स्पष्ट है।

चलाया जाता है। ये भीतर से खोखली होती हैं जिसमें चलानेवाला अपना हाथ उनके भीतर डाल सके और अपनी अँगुलियों से कठपुतली का सिर तथा हाथ हिला सके (द्र० चित्र १.)। भारत में अधिकतर ऐसी ही कठपुतलियाँ होती है। राजस्थान के पेशेवर कठपुतली चलानेवाले खुले स्थान मे बच्चों के सामने ही खड़े होकर उनको चलाते है और बोलते भी जाते है। परंतु यूरोप में इनके लिये भी रंगमंच होता है। चलानेवाले इन कठपुतलियों को अपने सिर से ऊँचा उठाकर नचाते हैं और रंगमंच का फर्श बहुत नीचा होने के कारण वे स्वयं दिखाई नहीं पड़ते। ऐसा जान पड़ता है कि कठपुतलियाँ आप ही चल फिर और बोल रही हैं (द्र० चित्र २.)।

दूसरे प्रकार की कठपुतलियाँ, जो यूरोप में बहुत प्रचलित हैं, डोर द्वारा नचाई जाती है। कठपुतली नचानेवाले रंगमंच से बहुत ऊपर दर्शकों
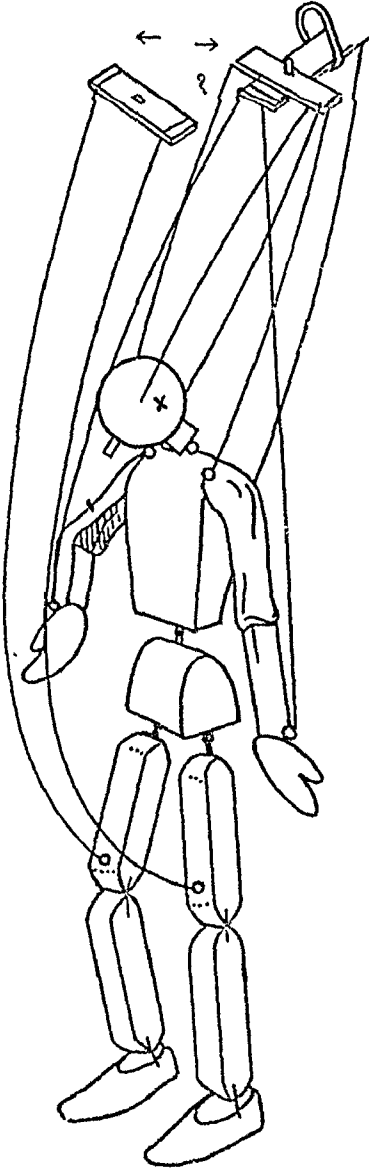
चित्र ४. डोरों से नियंत्रण करने की रीति
१. नियंत्रण के लिये पट्ट।

छिपकर बैठते है और उनके हाथों में कठपुतलियों की डोरें रहती है जिनसे रंगमंच पर लटकी रहती है। एक कठपुतली में कई डोरें बंधी रहती है, जिनके द्वारा उनके सिर, हाथ, पैर हिलाए जा सकते है। कठपुतलियों की इन छोटी मोटी नाटचशालाओं में संपूर्ण नाटक अभिनीत होते है और स्त्री, पुरुष और पशु सभी काम करते हैं। वे नाचते है, गाते हैं, घोड़ा चलाते है, मोटर चलाते हैं, तात्पर्य यह कि प्रत्येक काम, जो मनुष्य कर सकता है, ये भी कर सकते हैं। बच्चे बूढ़े सभी उनके नाटको से बहुत प्रसन्न होते हैं।

तीसरे प्रकार की कठपुतलियाँ डोर से नही वरन् तीलियो से चलाई जाती है। डोरीवाली कठपुतलियाँ ऊपर से नीचे लटकाई जाती है, तीलीवाली कठपुतलियाँ नीचे से ऊपर उठाई जाती हैं। चलानेवालो के लिये बना फर्श बहुत नीचा होता है जिसमे वे दिखाई न दें। ऐसी कठपुतलियाँ चीन तथा जापान मे अधिक प्रचलित हैं।

चौथे प्रकार की कठपुतलियाँ छायारूपको मे काम आती है। ये गत्ते (कार्डबोर्ड) से काटकर बनाई जाती है, इसलिये चिपटी होती है। ये भी तीलियों द्वारा नचाई जाती है। इनका नाच एक सफेद परदे के पीछे होता है जिसपर पीछे से प्रकाश डाला जाता है। कठपुतलियाँ प्रकाश और परदे के बीच मे रहती है और उनकी परछाइयाँ परदे पर पड़ती है। सामने बैठे हुए लोग यह छायानाटक देखते है। यद्यपि छायानाटक में केवल परछाइयाँ काम करती है तथापि यह बड़ा प्रभावशाली होता है। इसमें बोलनेवालों के संलाप कला की दृष्टि से बहुत उच्च स्तर के होते हैं।

यूरोप में एक अन्य विधि भी कठपुतली के खेलों में जहाँ तहाँ प्रयुक्त होती है—चुंबक की विधि। चुंबक के संयोग से पुतलियाँ अपने आप संचालित भावावेगों को प्रकट करती हुई, चलती फिरती नाचती जाती हैं। इसमें सूत्रधार की अपेक्षा नही होती।

पुत्तलिकाओ के रागविन्यास, हाव भाव, कथोपकथन आदि प्रकट करने के लिये पृष्ठभूमि में रहकर सूत्रधार सूत्रों अथवा लकड़ियों (तीलियों) द्वारा उनका संचालन करते हैं। पुतलियों के परस्पर स्नेह, संघर्ष, वाद-

चित्र ५. कठपुतलियों को चलाने के लिये कई व्यक्ति एक साथ काम करते हैं

विवाद आदि सूत्रधार ही ध्वनित करते है। जहाँ पक्ष और प्रतिपक्ष के लिये भिन्न सूत्रधार नही होते, वहाँ एक ही व्यक्ति अपना स्वर बदलकर दोनों पक्षों का कार्य संपन्न करता है, जो स्वाभाविक ही बड़े अभ्यास और कौशल द्वारा ही संपादित हो सकता है।

भारतीय कठपुतलियों का यूरोपीय कठपुतलियों की अपेक्षा बहुत अधिक प्राचीन इतिहास है, किंतु संचालनतंत्र की दृष्टि से वे यूरोपीय कठपुतलियों की तुलना में प्राथमिक और सरल है। भारत में कठपुतलियों के खेल का सबसे प्राणवंत और वैविध्यपूर्ण प्रदर्शन राजस्थानी नट ही करते हैं। वे स्वयं चलते फिरते रंगमंच है और देश के विभिन्न प्रांतों में घूमकर अपने खेलों का प्रदर्शन करते हैं। (ह० अ०)

इतिहास—कठपुतलियो का यह खेल कलाओ की उन विधाओं में से है जिन्होंने [illegible] को जन्म [illegible] और जो स्वयं भी समानान्तर रूप से [illegible] हैं। अनेक [illegible] मत है कि नाटक का आरंभ कठपुत[illegible] ही हुआ। [illegible] इन विद्वानों में अग्रणी है और

उनका विचार है कि कठपुतली के खेल की उत्पत्ति भारत में ही हुई जहाँ से वह बाद में पाश्चात्य देशों में फैला। अपने 'थियरी ऑव पपेट शो' में उन्होंने संस्कृत नाटक की आदिम उत्पत्ति इसी खेल से मानी है। इसमें संदेह नहीं कि नर्तन और गायन के अतिरिक्त कठपुतलियों का प्रधान कार्य कथोपकथन अथवा 'डायलाग' प्रस्तुत करना है। नाटकों का केंद्र अथवा प्रधान पक्ष भी 'डायलाग' द्वारा ही संपन्न होता है जिससे उनका आदि रूप 'डायलाग' ही माना गया है। ऋग्वेद में सरमा और पणियों, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी, इंद्र और शची, वृषाकपि और इंद्राणी के संवाद इसी प्रकार के डायलाग हैं जो प्राथमिक नाट्यभूमि प्रस्तुत करते हैं। कुछ आश्चर्य नहीं यदि कठपुतली का खेल वेदों का समकालीन रहा हो। उसके आदिम रंगमंच पर भी इसी प्रकार के अथवा इन्हीं डायलागों की पहले अभिव्यक्ति हुई होगी। पुत्तलिका शब्द का प्रयोग निस्संदेह अत्यंत प्राचीन है क्योंकि वेदों में भी इसका उपयोग हुआ है। अथर्ववेद में शत्रु का पुतला बनाकर मंत्र द्वारा जलाने और इस विधि से पुरश्चरण कर उसका विनाश संपन्न करने का उल्लेख हुआ है और ऋग्वेद में इंद्राणी का अपनी सपत्नी का 'उपनिषत्सपत्नीबाधनम्' मंत्र द्वारा मारक प्रसंग भी इसी दिशा में संकेत करता है। मध्यकाल की सिंहासनबत्तीसी और सिंहासनपचीसी की पुतलियों का प्रश्न करना कठपुतली के खेल से, अपनी अलौकिक क्षमता के बावजूद, बहुत दूर नहीं है। संस्कृत के प्रसिद्ध समीक्षक, नाटककार और कवि राजशेखर ने सीता की नाचती और कथोपकथन करती पुत्तलिका का उल्लेख किया है जिससे प्रकट है कि कठपुतली का खेल केवल लोकसंमत ही नहीं था बल्कि उसका साहित्य में भी प्रसंगतः वर्णन प्रायः हुआ करता था। आज भी वह खेल समूचे देश में पूर्ववत् ही लोकप्रिय है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि कठपुतली के खेल का समारंभ संभवतः यूरोप में ही हुआ जहाँ से पहले वह चीन और वहाँ से बेयरिंग स्ट्रेट की राह अमरीका पहुँचा। अमरीकी इंडियनों में निस्संदेह कोलंबस के वहाँ पहुँचने से पूर्व ही यह खेल प्रचलित था। इसमें संदेह नहीं कि प्रायः ३०० ई० पू० के लगभग ग्रीक साहित्य में सूत्र द्वारा संचालित पुतलियों का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष उल्लेख हुआ है। पहली सदी ई० के आसपास के ग्रीस और इटली के बच्चों की समाधियों में भी डोरियों से संचालित पुतलियों के नमूने मिले हैं। कठपुतली का खेल पश्चिम में मूलतः आविष्कृत होकर पीछे पूर्व के देशों में गया अथवा पूर्व के देशों में आविष्कृत होकर वह यूरोपीय देशों में गया—यह प्रसंग निश्चित ही विवादास्पद है, पर इसमें संदेह नहीं कि कम से कम कठपुतलियों का यह खेल, जिसे अंग्रेजी में 'पपेट शैडो प्ले' कहते हैं, उसका आरंभ एशिया में ही हुआ जहाँ से वह यूरोप और अमरीका पहुँचा। १७वीं सदी से जिन छायाचित्रों के प्रदर्शन में कठपुतलियों का उपयोग होने लगा, वह इसी सांस्कृतिक संक्रमण का परिणाम था। जहाँ तक सूत्रसंचालित पुत्तलिकाओं का नाटक से संबंध है, यह प्रायः निर्विवाद है कि वह प्रसंग जितना भारतीय वातावरण द्वारा प्रमाणित है, उतना और कहीं नहीं। संस्कृत नाटकों के आरंभ में जिन 'सूत्रधार' और 'स्थापक' नामक दो पात्रों का उपयोग होता है, वे निस्संदेह कठपुतली के खेल से भी प्रथमतः संबंधित रहे थे। सूत्रधार का अर्थ है डोरी को पकड़नेवाला, डोरियों द्वारा पुतलियों का संचालन करनेवाला, स्थापक उसका सहायक होता था जो पुतलियों और आनुषंगिक वस्तुओं को मंच पर प्रस्तुत करता था। इन दोनों पात्रों का कठपुतली के खेल और संस्कृत नाटक में एकशः प्रयोग, दोनों ही, रंगभूमि की एकता को प्रमाणित करते हैं।

यूरोप के मध्यकालीन धार्मिक नाटकों का भी कठपुतली के खेल से घना संबंध था। धार्मिक नाटकों को सूत्रों द्वारा संचालित कठपुतलियों के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जाता था। इन पुत्तलिका-नाटकों को फ्रेंच में 'मारियोनेत' (Marionettes) कहते थे, क्योंकि उसमें ईसा की माता कुमारी मेरी की भी एक कठपुतली के रूप में भूमिका हुआ करती थी। 'मारियोनेत' का अर्थ ही है 'नन्हीं मेरी'।

मध्यपूर्व के इस्लामी देशों में मूर्तियों का विरोध होने के कारण कठपुतलियों की छाया आकृतियों के खेल बड़े लोकप्रिय हुए और वे उस अभाव की भी पूर्ति कर लिया करते थे। उनसे पूर्व रोमनों ने तो कठपुतलियों के खेल के लिये अपना रंगमंच ही साजा था जो रोमन साम्राज्य के पतन के बाद भी अपनी अनेक परंपराओं के साथ सदियों जीवित रहा। इटली के पुनर्जागरण काल में कठपुतलियों का जो खेल फिर लोकप्रिय हुआ उसकी संज्ञा 'पोर्चिनेला' (Porcinella) थी जिसे फ्रांस में 'पोचिनेल' कहते थे। फ्रांस से वह खेल १६६० ई० के लगभग इंग्लैंड पहुँचा और वहाँ उसकी संज्ञा संक्षिप्त होकर 'पंच' रह गई। अंग्रेजी का जगद्विख्यात कार्टून-पत्र 'पंच' का नामकरण उसी का परिणाम था।

यूरोप में तो यह रंगमंच इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके लिये महान् नाटककारों ने वहाँ खेले जाने के लिये स्वतंत्र नाटक लिखे। इस प्रकार का एक नाटक स्वयं गेटे ने अपने १२वें जन्मदिन पर लिखा था। इसी प्रकार लेविस कैरो, हांस क्रिश्चियन हैंडर्सन और लिंकन ने कठपुतली रंगमंचों के लिये अपने अपने नाटक लिखे। लंदन में कठपुतली कला के जितने लेखक हैं, उतने कम देशों में हैं। पेरिस में जो स्थायी रंगमंच हैं उनमें कठपुतलियों के नाटक बड़ी सफलता से खेले जाते हैं और उनमें दर्शकों की भीड़ भी खासी हुआ करती है। व्यंग्य नाटककार लमसिए द नविल के नाटक इस दिशा में बड़ी संख्या में दर्शकों को आकृष्ट करते हैं और वहाँ के अन्य कठपुतलियों संबंधी रंगमंच, थियात्र और कैबरे भी, असाधारण रूप से इन खेलों को प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। जर्मनों के ड्रेसडन नगर में कठपुतलियों का एक बड़ा संग्रहालय भी है और चेकोस्लोवाकिया के प्राग नगर में कठपुतली-प्रशिक्षण-केंद्र भी हैं जहाँ विश्व भर से आए हुए छात्रों को तीन वर्ष के कोर्स के अनुसार कठपुतली कला की सैद्धांतिक और व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। यूरोप में कठपुतली कला में निरंतर प्रयोग हो रहे हैं और यह आज वहाँ की सूक्ष्म और प्राणवान् कलाओं में मानी जाती हैं। (भ० श० उ०)

कठफोड़वा द्र० 'भारतीय पशुपक्षी'।

कठिनी (क्रस्टेशिया) जीवजगत् में संधिपाद जीवों (फ़ाइलम ऑर्थ्रोपोडा, Phylum Arthropoda) का एक मुख्य विभाग है, जिसमें बड़े केकड़ (Crabs), झींगे (Prawns), चिंगट (श्रृंप, Shrimp), प्रचिंगट (क्रे-फ़िश, cray-fish), महाचिंगट (लॉब्स्टर,
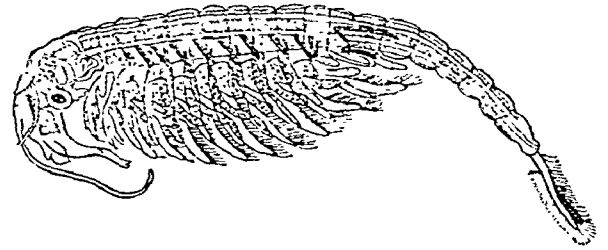
चित्र १. क्लोमपाद (ब्रैंकिपस, Branchipus)
इसके धड़ के अवयव एक समान हैं।

lobster), खंडावर (बार्नेकिल, barnacle), काष्ठ यूका (वुड लाउस, wood louse) तथा जलपिशु (वाटर फ़्ली, water flea) इत्यादि हैं, परंतु इसके सबसे छोटे जीवों को देखने के लिये अणुवीक्षण यंत्र का सहारा लेना पड़ता है। कठिनी की भिन्न भिन्न जातियों के आकार प्रकार में बहुत ही अंतर होता है जिस कारण इसकी संक्षिप्त परिभाषा देना अत्यंत कठिन है। कठिनी का प्रत्येक लक्षण, विशेषकर इसके पराश्रयी तथा उच्च विशेष जीवों में तो, पूर्ण रूप से किसी न किसी प्रकार बदल जाता है।

क्रस्टेशिया शब्द का उपयोग प्रारंभ में उन जीवों के लिये किया जाता रहा है जिनका कवच कठोर तथा नम्य हो। इसके विपरीत दूसरे जीव वे हैं जिनका कवच कठोर तथा भंगुर होता है, जैसे सीप तथा घोंघे इत्यादि। परंतु अब यह ज्ञात है कि सब संधिपाद जीवों का बहिःकंकाल (Exoskeleton) कठोर तथा नम्य होता है। इस कारण अब कठिनी को अन्य लक्षणों से पृथक् किया जाता है। इस वर्ग के जीव प्रायः जलनिवासी होते हैं और संसार में कोई भी ऐसा जलाशय नहीं है जहाँ इनकी कोई न कोई जाति न पाई जाती हो। इस कारण कठिनी वर्ग के जीव

प्रायः जलश्वसनिका (गिल्स, gills) अथवा त्वचा से श्वास लेते हैं। इनमें दो जोड़ी शृंगिका (Antennae) जैसे अवयव मुख के सामने और तीन जोड़ी हनु (mandibles) मुख के पीछे होते हैं।

कठिनी वर्ग के मुख्य परिचित जीव तो झींगें और केकड़े हैं जिनका उपयोग मानव अपने खाद्य रूप मे करता है, परंतु इनसे कही अधिक आर्थिक
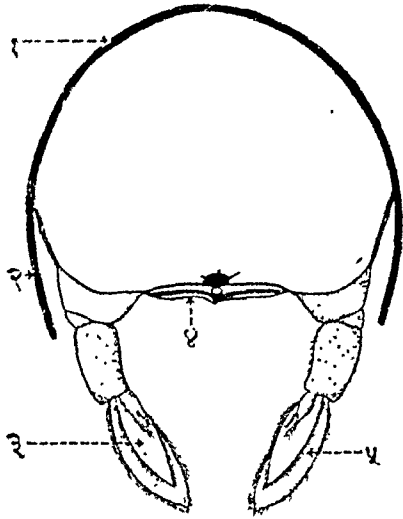
चित्र २. झींगे के उदरखंड की काट

नीचे की ओर प्रतिपृष्ठ पर एक जोड़ी द्विशाखी अवयव (Biramus appendages) हैं।

१. पृष्ठ पट्ट (टर्गम, tergum); २. फुफ्फुसावरण (प्लूरा, pleura); ३. अंतरुपांग (एंडोपोडाइट, endopodite); ४. उरोस्थि (स्टर्नम, sternum); ५. वहिरुपांग (एक्सोपोडाइट, exopodite)।

महत्व के इसके निम्न जीव, ऐंफ़िपाड्ज, (Amphipods), आइसोपाड्ज़, (Isopods) इत्यादि, है जो उथले जलाशयों में समूहों में रहते हुए
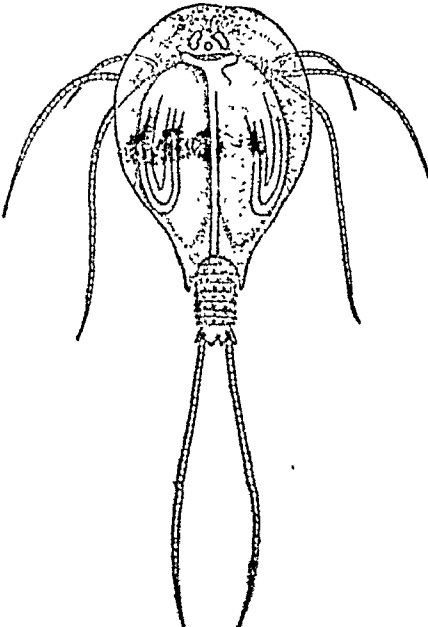
चित्र ३. अंडलवर्म (एपस, Apu)
ढाल की आकृति के पृष्ठवर्म से इसके शरीर का बड़ा भाग ढका रहता है।

संमार्जक का काम करते हैं। इन निम्न जीवों का भोजन दूसरे जीव तथा वनस्पतियों की त्यक्त वस्तुएँ हैं और साथ ही यह स्वयं उच्च प्राणियों, जैसे मत्स्य इत्यादि, का भोजन बनते हैं। इसके कई तलप्लावी सूक्ष्म जीव ऐसे भी हैं जिनके समूह मीलों तक सागर के रंग को बदल देते हैं, जिससे मछुओं को उचित मत्स्यस्थानों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह मत्स्य का भोजन बनकर और साथ ही मछुओं की सहायता करके आर्थिक लाभ पहुँचाते हैं।

बाह्य रचना—इस वर्ग के जीवों का कवच दूसरे संधिपाद जीवों के समान ही खंडों के समूहों में विभाजित रहता है, परंतु इनमे से प्रायः कुछ खंड एकीभंजित भी होते हैं। प्रत्येक खंड कवच अँगूठी के समान होता है, जो अपने अगले तथा पिछले खंड के साथ नम्य इटेगुमट (Integument) से जुड़ा रहता है। प्रत्येक खंड का चाप सदृश पृष्ठीय (borsal) पट्ट, टर्गम Tergum) तथा संकीर्ण प्रतिपृष्ठीय (ventral) पट्ट, स्टर्नम् (Sternum) कहलाता है और टर्गम के दोनों पार्श्व भाग, जो पट्टों के रूप मे रहते हैं, प्लूरा (Pleura) कहलाते हैं। प्रत्येक खंड के स्टर्नम के साथ एक जोड़ी अंग जुड़े रहते हैं। शरीर का अंतिम खंड, जिसपर गुदा होती है, अंगहीन रहता है और टेल्सन (Telson) कहलाता है। आधुनिक कठिनी में कोई भी ऐसा जीव नही मिलता जिसमे प्रत्येक खंड एक दूसरे से स्पष्टतया पृथक् हो। उदाहरणार्थ, झींगे के शरीर के अग्रभाग का कवच अविभाजित तथा नालाकार होता है और कैरापेस (Carapace) कहलाता है। इसके खंडों की संख्या का अनुमान इस भाग के साथ जुड़े अवयवों की संख्या से लगाया जाता है। इस भाग मे संयुक्त खंडों की संख्या कम से कम छह मानी गई है जिसमें नैत्रिक खंड भी संमिलित हैं। इस भाग को सिर कहते है। जब इस भाग में इससे

चित्र ४. जलपिशु (डैफ़्निआ, Daphnia)

अधिक खंड संमिलित रहते हैं तब इसके बादवाले खंडों के अवयव अगले अवयवों से पूर्णतः पृथक् होते है। सिर के पीछे के खंडों को शरीर के दो भागों, वक्ष (Thorax) तथा उदर (Abdomen) में बाँटा गया है, जिनको उनके विभिन्न अवयव एक दूसरे से पृथक् करते है। परंतु उच्च कठिनी मैलाकॉस्ट्राका (Malacostraca) इत्यादि में वक्ष के खंड सिर में संमिलित हो जाते है। तब इस संयुक्त भाग को शीर्षोवक्ष (Cephalothorax) के नाम से अभिहित करते हैं। इस प्रकार कैरापेस का रूप भी भिन्न भिन्न कठिनी जीवों में अनेक प्रकार का पाया जाता है। यह ब्रैंकिओपोडा (Branchiopoda) और ऑस्ट्राकोडा (Ostracoda) में बाह्यावरण कवच के रूप में शरीर तथा अंगों को पूर्णतया ढके रहता है, सिरीपीडिआ (Cirripedia) में यह मांसल प्रावार के आकार का होता है और इसे पुष्ट करने के लिये कैल्सियममयुक्त (Calcified) पट्ट भी स्थित रहते है। ये तो इसके कुछ विशेष रूप है, परंतु साधारण नालाकार रूप के कैरापेस में वक्ष के एक से लेकर सारे खंड सिर मे संमिलित हो सकते हैं। कैरापेस विभिन्न कठिनियों में से प्रायः सभी में पाया जाता है। केवल एनोस्ट्राका (Anostraca) ही ऐसे जीव हैं जिनमें कैरापेस नहीं होता।

कठिनी के शरीर की अपरिवर्तित चरम सीमा इसके परजीवी तथा स्थगित जीवों में पाई जाती है। खंडावर अपनी प्रौढ़ावस्था में इसके सिर से मूलबद्ध रहते हैं और साथ ही उनमें रैडियल सममिति की ओर प्रवृत्ति

होती हैं जिसका कारण इनका स्थगित जीवन है। पराश्रयी जीवों में शरीरखड लुप्त हो गए हैं और शरीर का आकार भी पूर्ण रूप से परिवर्तित
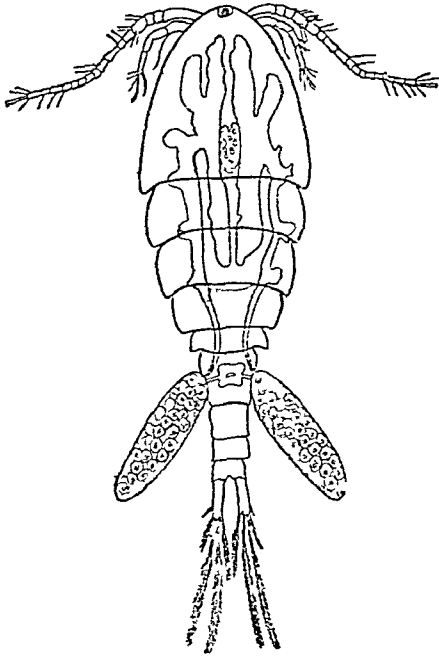
चित्र ५. स्वच्छंद प्लावित अरित्रपाद, (कोपीपोडा Copepoda) मध्याक्ष (साइक्लॉप्स, Cyclops) की मादा।

हो गया है। इसका उदाहरण राइज़ोसेफ़ाला (Rhyzocephala) है,

(क) (ख)
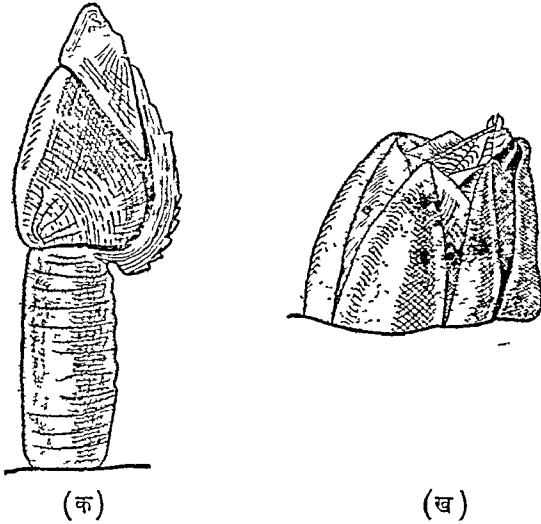
चित्र ६. दो खंडावर (Barnacles)

(क) शश (लीपस, Lepus) तथा (ख) शैल खंडावर (बैलानस, Balanus) दोनों वयस्क अवस्था में मूलबद्ध रहते हैं।

जिसमें कठिनी के लक्षण तो क्या, संधिपाद जीवों का भी कोई लक्षण प्रौढावस्था में नहीं दिखाई देता।

अवयव (Appendages)—कठिनी जीव मुख्यतः जलनिवासी हैं। इस कारण अनुमान किया जाता है कि इस वर्ग के पूर्वज का शरीर समान खंडों में विभाजित था और प्रत्येक खंड पर एक जोड़ी अंग जुड़े थे। इनका प्रत्येक अवयव प्रचलन, भोजनप्राप्ति, श्वसन तथा ज्ञानग्रहण आदि सब कार्य साथ साथ करता था। ट्राइलोबाइटा (Trilobita) में अवयवों की ऐसी ही व्यवस्था मानी गई है, परंतु यह उपवर्ग लुप्त हो गया है। अभी तक आधुनिक कठिनी में किसी भी ऐसे जीव का पता नहीं चला जिसके अवयवों में ये चारों कार्य साथ होते हों। इसके सिर के अंग तो भिन्न भिन्न विशेष कार्यों के लिये उपयुक्त होते हैं, परंतु ब्रैकिओपोडा के धड़ के अवयव एक समान होते हैं और कुछ सीमा तक माना जा सकता है कि इनसे ये चारों कार्य होते हैं। अन्यथा अंगों की विशेषता कठिनी में कई उपायों से उन्नति कर गई है, क्योंकि यह विदित है कि जो अंग कुछ कठिनियों में एक कार्य करते हैं वे ही किसी दूसरी कठिनी में उसके

(क) (ख) (ग)
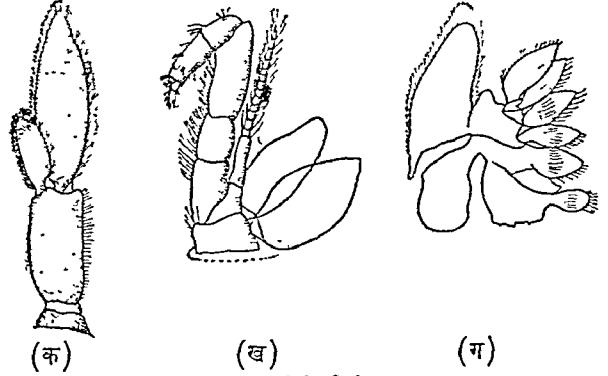
चित्र ७. कठिनी के विभिन्न अवयव

(क) झींगे का प्रथम उदर अंग, (ख) अनुत्कवच (ऐनैस्पिडीज़, Anaspides) का द्वितीय वक्ष अंग तथा (ग) अंडलवर्म (एपस, Apus) का दसवाँ वक्ष अंग।

विपरीत कोई अन्य कार्य करते हैं। कठिनी के भीतर का विकास मुख्यतः इन अंगों के ही कर्तव्य के नियंत्रण पर आधारित है।

चाहे कठिनी के अवयव किसी भी कार्य के लिये उपयोजित हों और उनके आकार में चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो, इनकी बनावट मुख्यतः द्विशाखी (biramus) होती है। प्रत्येक अवयव का आधारित वृत्त द्विखंडी होता है और इसे सिपॉड या प्रोटोपोटाइट (Protopodite) कहते हैं और इसके ऊपरी खंड से दो शाखाएँ एंडोपोडाइट (Endopodite) और एक्सोपोटाइड (Exopodite) निकलती है। इस प्रकार के मूल आधारित अवयव को स्टीनोपोडियम (Stenopodium) कहते हैं। ऐसे साधारण द्विशाखी अवयव कोपीपॉड (Copepod) के प्लवन पद, मैलाकॉस्ट्राका के उदर अंग इत्यादि हैं और ऐसे ही अंग पूर्वज डिंभ (लार्वा) में भी, जिसे नॉप्लिअस (Nauplius) कहते हैं, पाए जाते हैं। इसी प्रकार के अवयव दूसरे कठिनी जीवों में विशेष कार्यों के लिये विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं।

सिर के अवयव—कठिनी में नेत्र दो प्रकार के होते हैं मध्यम (median) तथा संयुक्त (compound) नेत्र। अति सरल मध्यम नेत्र नॉप्लिअस और अनेक वयस्क कठिनियों में रहते हैं, परंतु मैलाकॉस्ट्राका
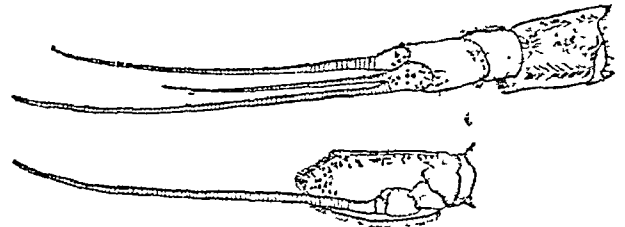
चित्र ८. झींगे की बाईं तथा द्वितीय शृंगिका (Antenna)

में ये लुप्त हो जाते हैं और इनमें संयुक्त नेत्र ही कार्यशील नेत्र होते हैं। संयुक्त नेत्र प्रायः एक जोड़ी होते हैं, जो कुछ जीवों में अवृंत (sessile) और कई एक में वृंतयुक्त (stalked) रहते हैं। नेत्रवृंत (Eye-stalk) को सिर का अवयव माना गया है, परंतु यह संदेहात्मक है। कारण, परिवर्धन में यह दूसरे अंगों से बहुत पश्चात् उदित होते हैं।

प्रथम शृंगिकाएँ (ऐंटेन्यूल्ज़, Antennules), जो मुख के सामने रहती हैं, दूसरे खंड के अवयव मानी गई हैं। यह नॉप्लिअस तथा सब

उपजातियों के जीवों में, केवल मैलाकॉस्ट्राका के अतिरिक्त, एकशाखी होती हैं। इनका मुख्य कार्य संवेदक है, परंतु अनेक डिभो और वयस्क कठिनियो मे ये प्लवन के कार्य में भी आती है और अनेक नर शृंगिका से मादा को पकड़ते भी है। सिरीपीडिया मे सीमेंट ग्रंथियों (Cement-glands) के छिद्र इन्ही अवयवों पर होते है, जिनकी सहायता से इनके वयस्क स्थगित होते है। यद्यपि द्वितीय शृंगिका (ऐंटेना) मुख के आगे स्थित रहती है, तथापि वास्तव में इसका स्थान मुख के पीछे था। नॉप्लिअस मे इसका स्थान मुख के पार्श्व मे रहता है और यह भोजन को मुख की ओर लाने में सहायता देती है। इसके शेष कार्य प्रथम शृंगिका के समान होते है। मेलाकॉस्ट्राका मे इसकी एक शाखा बहुसंधिमान कशांग (फ्लैजेलम, Flagellum) के आकार की होती है और इसका कार्य केवल संवेदन ग्रहण है, परतु दूसरी शाखा का आकार चपटे पट्ट के समान होता है और यह प्लवन मे संतोलन का कार्य भी करती है।

नॉप्लिअस तथा वयस्क कोपीपोडा, आइसोपोडा (Isopoda) इत्यादि में अधोहनु (मैंडिबल, Mandible) भी द्विशाखी होते है और भोजनप्राप्ति मे सहायता करते है, परंतु बहुतेरे कठिनियो मे अधोहनु शक्तिमान हनु का रूप धारण कर लेते है और इनकी सतह दाँत और कंडों (Spines) से सुसज्जित होती है। पराश्रयी कठिनी के अधोहनु वेधन के लिये नलाकार शुंड (Proboscis) के सदृश होते है। उपभंजक (मैक्सिलूला, Maxillula) तथा उपजंभ (मैक्सिला, Maxilla), या प्रथम और द्वितीय मैक्सिला, सदा पत्तियों के समान चपटे होते है और इनके वृंतोपांग (प्रोटोपोडाइट, Protopodite) पर हनु की शाखिकाएँ स्थित रहती है। ये तीनों मुख के पिछले हनु हैं।
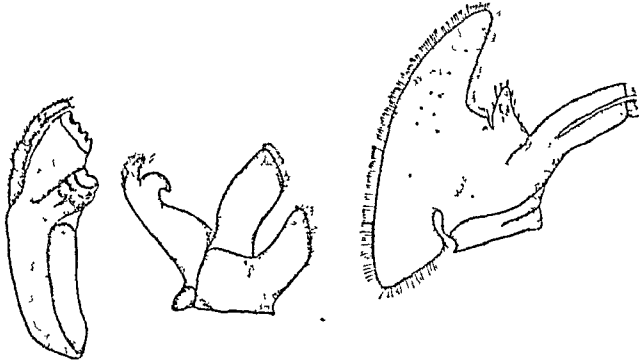
चित्र ६. झींगे के मुख के अंग

बाईं ओर: जंभ (मैंडिबल, mandible); मध्य में: उपजंभक (मैक्सिलूला, maxillula); दाहिनी ओर: उपजंभ (मैक्सिला, maxilla)।

अन्य अवयव—सिर के पीछेवाले अंगों में ब्रैकिओपोडा, कोपीपोडा इत्यादि में आपस में कोई विशेष भिन्नता नही होती और ये अंग मुख्यत: एक समान होते हैं। इनका आकार मेलाकॉस्ट्राका के उपजंभक (मैक्सिलूला) और उपजंभ (मैक्सिला) से मिलता जुलता होता है। इस प्रकार के अवयवों को फिल्लोपोडिया (Phyllopodea) कहते है। परतु मेलाकॉस्ट्राका के धड़ के अंगो को दो भागो मे विभाजित किया जाता है—आठ जोड़ी वक्ष के अवयव (Thoracic appendages) तथा छह जोडी उदर के अवयव (Abdominal appendages)। ये एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न होते है। वक्ष के अवयव मुख्यतः गति करने के काम मे आते है और इसी कारण इनके एंडोपोडाइट (Endopodite), जो इस कार्य मे प्रमुख भाग लेते है, उसी प्रकार परिवर्तित हो जाते है, परंतु इनके एक्सोपोडाइट (Exopodite), जो प्लवन मे उपयोगी होते है, इनमें लुप्त हो गए हैं। वक्ष के पूर्व एक अथवा दो जोड़ी अवयव प्राय: पदहनु (Foot-Jaws) के आकार के होते है जिस कारण इन्हें अनुपाद (मैक्सीलीपीड्ज Maxillipedes) नाम दिया गया है। उदर के अग सदा द्विशाखी और प्लवन में उपयोगी होते है। अंतिम उदरांग (टेल्सन, telson) के सहयोग से पूँछ मीनपक्ष (tail-fin) का आकार धारण करके जीव को विशेष प्रकार से उलटने मे सहायता देती है।

श्वसन—अधिकतर निम्न कठिनी शरीरतल से ही साँस लेते है, परतु जिन जीवो का बहि:कंकाल (Exoskeleton) अधिक कठोर हो गया है वे श्वसन कार्य अपने उन शरीरस्थानो से करते है जहाँ का तल क्षीण रह गया है, जैसे कैरापेस (Carapace) का अस्तर; अथवा यह काम विशेष इंद्रियो द्वारा होता है, जिनको जलश्वसनिका (गिल्ज) कहते है। जलश्वसनिका वक्ष (Thorax) या उसके अगो पर स्थित शाखिकाएँ (branchlets) है जिनका आकार चपटा होता है और जिनकी सूक्ष्म भीतों के भीतर रुधिर प्रवाहित होता रहता है। डेकापोडा (Decapoda) मे जलश्वसनिकाएँ अपनी स्थिति के आधार पर तीन श्रेणियो मे रखी गई है—वक्षांगमूल की शाखिकाएँ (Podobranch), वक्षांगो के समीप की शाखिकाएँ (Arthrobranch) तथा ब्रैकियल मडल (Pleurobranch) के भीतरी भाग जो केरापेस से ढके रहते है। थलनिवासी कठिनी, जैसे केकड़े इत्यादि, वायुश्वसन के लिये अनुकूलित होते है—इनके ब्रैकियल मंडल के अस्तर का तल फेफड़ो का कार्य करता है। अन्य जीवो मे, जैसे आइसोपोडा (Isopoda), काष्ठयूका (wood-lice) इत्यादि मे, उदरांगों में शाखाविन्यस्त वायु भरी नलिकाएँ पाई जाती है, जो कीट तथा अन्य स्थलजीवो की श्वासनलियो (trachea) के समान होती है।

आहारतंत्र (Digestive system)—कठिनियो मे आहारनली (Alimentary canal) प्रतिपृष्ठ मुख से लेकर अत तक पूर्ण शरीर मे सदैव सीधी रहती है। परतु इस वर्ग के कुछ ऐसे जीव भी है जिनमे यह न्युदेष्टित (twisted) अथवा कुडलित भी पाई जाती है। अन्य संधिपाद जीवो के समान यह भी तीन भागो मे विभाजित रहती है। अग्रांत्र (स्टोमोडियम, Stomodaeum) तथा पश्चान्त्र (प्रॉक्टोडियम, Proctodaeum), जिनके छिद्र मुख तथा गुदा है और जिनका आंतरिक तल काइटिन (chitin) से, जो वाह्य शरीर के काइटिन के साथ संलग्न रहता है, आच्छादित रहते है। तीसरा भाग मध्यांत्र (mesenteron, midgut) है, जो इन दोनो के मध्य मे रहता है। अग्रांत्र की पेशियाँ प्रबल होती है और इनके अंतरीय तल पर बाल, काँटे तथा दाँत इत्यादि विकसित रहते है। मेलाकॉस्ट्राका में यह भाग आमाशय बनाता है, जिसमे जठर, पेषणी तथा छानन उपकरण खाद्य रसो को कणो से अलग करने के लिये विशेष साधन रहते है। परंतु पेषणी तथा छाननी प्राय: हृदीय (कार्डियक, cardiac) तथा निजठरीय (पाइलोरिक, Pyloric) विभागो मे पृथक् रहते है। मध्यांत्र के अगले सिरे पर एक जोड़ी या अधिक यकृत (hepatic) उंडुक (सीकम, Caecum) रहते है जिनका कार्य अवशोषण तथा स्राव है और जिनमें से शाखा निकलकर यकृत भी बना सकती है। डेकापोडा मे यकृत ग्रंथि (Hepato-pancreas) प्राय: सारे आवश्यक एंजाइम (enzyme) बनाती है और साथ ही अपनी गुहा से वंचित पदार्थों का शोषण भी करती है। इसी मे भोजन ग्लाइकोजन (glycogen) के रूप में संचित होता है। कुछ डेकापोडा मे मध्यांत्र बहुत छोटी होती है जिसके कारण आहारनली केवल अग्र तथा पश्च आन्त्र की बनी विदित होती है। पराश्रयी कठिनी जीवों मे आहारनली या तो नाममात्र को होती है अथवा उसका बिलकुल अभाव होता है।

रुधिरवाही तंत्र—(Blood vascular system) अन्य संधिपाद जीवो की भाँति कठिनियो में भी रुधिर शरीरगुहा (Haemocoele) तथा गतिकाओं (Sinuses) में प्रवाहित होता है। हृदय भी अन्य संधिपादों की भाँति आहारनली के पृष्ठीय हृदयावरण (pericardium) के भीतर स्थित रहता है। ब्रैकिओपोडा, आस्ट्राकोडा (Ostracoda) तथा कुछ मेलाकॉस्ट्राका में हृदय प्राय: शरीर की पूरी लंबाई के बराबर होता है और शरीर के अंतिम खंड के अतिरिक्त प्रत्येक खंड में इसमें एक जोड़ी कपाटयुत अंध्र (valvular ostia) होता है, जो हृदयावरण से जा मिलता है। अन्य कठिनियों में हृदय की लंबाई प्राय: कम होती है। धमनियाँ हृदय से निकलकर रुधिरस्थानों में खुलती है, जहाँ से रुधिर के प्रत्येक भाग तथा अंग से होता हुआ हृदयावरण में आता है।

को आक्सीजनयुक्त करने के लिये जलश्वसनिका इसी भाग में स्थित रहती है। अनेक कठिनी ऐसे भी हैं जिनमें हृदय नहीं होता, जैसे सिरीपीडिया (Cirripedia), कोपीपोडा इत्यादि और इनमें रुधिरवहन शरीर तथा आहारनली के संचालन की सहायता से होता है।

कठिनियों का रुधिर हलका तरल पदार्थ होता है जिसमें ल्यूकोसाइट (Leucocyte) भी रहते हैं। मेलाकॉस्ट्राका के रुधिर मे हामोसाइआनिन (hemocyanin) मिला रहता है और ऐंटोमेस्ट्राका मे हीमोग्लोबिन (hemoglobin) भी उपस्थित रहता है।

उत्सर्जन तंत्र (Excretory system)—कठिनी की मुख्य उत्सर्जन इंद्रियाँ शृंगिका संबंधी (ऐंटेनैल, antennal) तथा उपजंभ संबंधी (मैक्सीलरी, maxillary) दो जोड़ी ग्रंथियाँ हैं जो इन्ही नामों के अंगों के आस्थानों पर खुलती है। दोनों ग्रंथियो का पूर्ण विकास कभी भी किसी जाति को एक अवस्था मे एक साथ नही मिलता, अतएव जीवन के इतिहास मे भिन्न भिन्न अवस्थाओं में एक के पश्चात् दूसरी ग्रंथि कार्यशील होती है। उदाहरणार्थ, झींगे तथा दूसरे दशपादों (डेकापोडा, Decapoda) की वयस्क अवस्था मे शृंगिका संबंधी ग्रंथि कार्यशील होती है और इनके डिंभ (लार्वा) मे उपजंभ संबंधी। परंतु अधिकतर कठिनियों में इसके विपरीत दशा होती है। इनमें इन दोनों ग्रंथियों की रचना एक समान होती है।

प्रत्येक ग्रंथि में तीन मुख्य भाग होते हैं: (१) अंतस्यून (एंड सैक, end sac), जो देहगुहा (सीलोम, Coelome) का अवशेष तथा क्षीण भीतवाला भीतरी भाग है, (२) उत्सर्गी नलिका (Excretory duct) तथा (३) परिवर्तित बहिर्गमन प्रणाली (Ureter), जो अंतस्यून से जुड़ी रहती है और जिसका एक भाग ग्रंथिमान भीतवाली (Glandular plexus) उत्सर्गी नलिका है। उत्सर्गी नलिका का अधर भाग तथा बहिर्गमन प्रणाली दोनों बड़ी होकर संग्राही मूत्राशय (Renal sac) बनाती है।

तंत्रिका तंत्र (Nervous system)—केंद्रीय तंत्रिकातंत्र का सामान्य रूप भी अन्य संधिपाद जीवों की भाँति होता है। मस्तिष्क का संयोग प्रतिपृष्ठीय तंत्रिकारज्जु के साथ परिग्रसिका संयोजक (Oesophageal connective) के द्वारा होता है। प्रतिपृष्ठीय तंत्रिका रज्जु गुच्छिकाओं (गैंग्लिया, Ganglia) की एक दोहरी शृंखला है जिनका आपस में योग संयोजकों (Connectives) तथा समामिलों (कमिशुर्स, Commissures) से होता है। प्रायः चार जोड़ी भ्रूणीय गुच्छिकाएँ (Embryonic ganglia) आपस में मिलकर मस्तिष्क बनाती है और नेत्र गुच्छिका (Optic gang ia) भी इसी में संमिलित है।

कठिनी में तंत्रिका तंत्र की अवस्था में संधिपादों की आदर्श दशा से लेकर अत्यंत संकेंद्रीय दशा तक की पूर्ण श्रेणी मिलती है। आदिम ब्रैकिओपोडा में प्रतिपृष्ठ गुच्छिकाओं की शृंखला (Ventral ganglionic chain) सीढ़ियों के आकार की होती है जैसी कुछ ऐनीलिड्ज़ (Annelids) में पाई जाती है और जिसमें शृंखला के दोनों भाग एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। अन्य कठिनी समूहों में प्रायः शृंखला के दोनों भागों का आपस में संरोहण हो जाता है, साथ ही, गुच्छिकाएँ भी एक दूसरे के समीप आकर सायुज्जित हो जाती हैं। इस श्रेणी की अंतिम दशा में, जो केकड़ों में पाई जाती है, केवल गुच्छिकाओं का एक समूह ही दिखाई देता है।
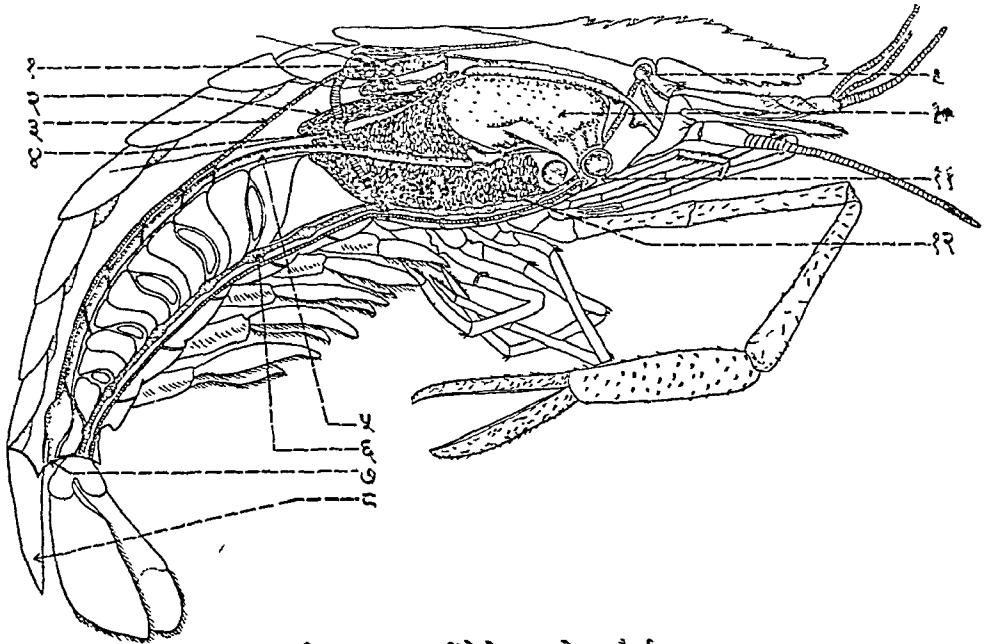
चित्र १०. नर झींगे के मध्य से अनुदैर्घ्य काट

आहार तंत्र, धमनियाँ तथा तंत्रिकाएँ विशेषकर दिखाई गई हैं। १. हृदय; २. वृषण (Testis); ३. अध्यांत्रिक (supra-intestinal) धमनी; ४. उरोस्थि (स्टर्नल) धमनी; ५. मध्यांत्र; ६. प्रतिपृष्ठीय तंत्रिका रज्जु (ventral nerve cord); ७. गुदा (Anus); ८. पुच्छखंड (टेल्सन); ९. मस्तिष्क; १०. आमाशय; ११. मुख; १२. यकृत ग्रंथि (Hepato-pancreas)।
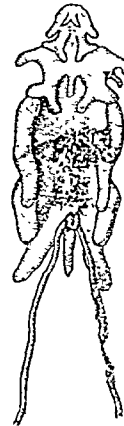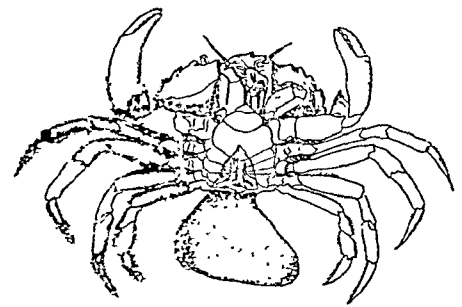
चित्र ११. दो पराश्रयी कठिनी

(क) पराश्रयी अरित्रपाद कौंड्रोकैंथस (Chondrocanthus) की मादा। इसमें अंडों की एक जोड़ी लंबी थैलियाँ हैं तथा इसके पश्च भाग में छोटा सा नर चिपका हुआ है। (ख) केकड़े के पश्च भाग में अलकपाद स्यूनिका (सिरिपीडिया सैकुलाइना, Cirripedia sacculina) चिपकी हुई है।

जननतंत्र (Genital system)—स्वतंत्र तथा कर्मण्य जीवों के समान बहुधा कठिनी में भी लिंग पृथक् होते हैं, परंतु सिरीपीडिआ तथा

अनेक पराश्रयी आइसोपोडा के जीव द्विलिंगी भी होते हैं। ये पूर्वपुंपक्व (प्रोटैंड्स, protandrous) होते है जिनमें पुल्लिग अंगो का परिवर्धन (development) स्त्रीलिंग अंगों से पहले होता है। सिरीपीडिआ में सूक्ष्म संपूरक नर भी परजीवियों के समान इस जाति के साधारण अथवा द्विलिंगी जीवों के साथ प्रायः चिपके रहते है, क्योंकि इनके पुल्लिग अंग पूर्णरूप से गर्भाधान (निषेचन क्रिया) नही कर सकते। अनेक ब्रैंकिओपोडा तथा आस्ट्रेकोडा में अनिषेक जनन (पारथेनोजेनेसिस, parthenogenesis) भी होता है। लैंगिक द्विरूपता (sexual dimorphism) भी इनमें सामान्यतः पाई जाती है। नर मे मादा को पकड़ने के लिये विशेप अंग भी रहते है, जो शरीर के किसी भाग से संपरिवर्तित होकर इस कार्य के लिये उपयोगी हो जाते हैं। उच्च दशपादों में नर प्रायः स्त्री से वड़े होते हैं, परंतु अन्य समूहों में व्यवस्था इसके विपरीत होती है।

दोनों लिंगों के जननपिंड (Gonads) सदा एक जोड़ी नाल इंद्रियाँ होती हैं, जो आहारनली के पृष्ठ पर (dorsal) एक दूसरे से जुड़ी रहती है। ये साधारण अथवा शाखायुक्त भी हो सकती है और इनसे नलिकाएँ उत्पन्न होकर शरीर के प्रायः मध्य मे बाहर की ओर खुलती है। सिरीपीडिया में और कुछ क्लैडोसिरा (Cladocera) के नर में यह छिद्र शरीर की सीमा पर रहते है, परंतु इनकी मादा में यह छिद्र वक्ष के प्रथम खंड पर स्थित रहते है और मेलाकॉस्ट्राका में भी दोनों लिंगों में छिद्र इसी स्थान पर रहते है।

भ्रूण तत्व (Embryology)—कठिनी के अंडजनन से जो डिंभ (लार्वा) वहुलसंख्या में उपलब्ध होते हैं वे वयस्क से पूर्णतः भिन्न होते हैं। वयस्क अवस्था धारण करने के पूर्व जीव को विभिन्न डिंभों की एक श्रेणी पार करनी पड़ती है जिसमें प्रथम डिंभ नॉप्लिअस लार्वा कहलाता है। प्रत्येक कठिनी इस अवस्था को अवश्य पार करता है चाहे वह स्वच्छंद प्लावित (free swimming) अवस्था में उत्पन्न हो अथवा भ्रूणित (embryonic) में। प्रारूपिक अवस्था में यह डिंभ अखंडित (unsegmented) अंडाकार होता है, जिसमे तीन जोड़ी अवयव रहते है और जो वयस्क के ऐंटेन्यूल्ज (antennules), ऐंटेनी (antennae) और मैंडिवल्ज (mandibles) वन जाते है। इसके प्रथम जोड़ी अंग साधारण एकशाखी (uniramus) होते है, परंतु दूसरी तथा तीसरी जोड़ी द्विशाखी (biramu) होते हैं, और ये सव नॉप्लिअस को प्लवन में सहायता देते हैं। द्विशाखी अवयव भोजन को मुख मे पहुँचाने का कार्य भी करते है। इसमें संयुक्त नेत्र नही होते परंतु मध्यम नेत्र अवश्य रहते हैं। इसके मुख के सामने एक वड़ा सा उदोष्ठ (लेब्रम, labrum) रहता है। डिंभ के आंत्र के तीनों भाग अग्रांत्र (Fore-gut), मध्यांत्र (Midgut) तथा पश्चांत्र (Hindgut) रहते है। आस्ट्राकोडा में नॉप्लिअस अंडजनन (hatching) के समय संपरिवर्तित होता है, क्योंकि इसमें वाइवाल्व (Bivalved) कैरोपेस परिवर्धित रहती है।

(क) (ख) (ग) (घ)

चित्र १२. विभिन्न प्रकार के डिंभ (लार्वा)

(क) व्युपांग (नॉप्लिअस, Nauplius); (ख) जीवक (जोइया, Zoea); (ग) महाक्ष (मेगालोपा, Megalopa) तथा (घ) काचकर्क (फ़िल्लोसोमा. Phyllosoma)।

निम्न जाति के कठिनियों मे नॉप्लिअस का परिवर्तन क्रमशः होता है, जिसमें खंड एक एक करके, पीछे से आगे, अंतिम खंड (टेल्सन) में जुड़ते जाते हैं। तव इन खंडों में अवयव उत्पन्न होने लगते है। इस प्रकार इसकी अवस्था अन्य रूपों में परिवर्तित हो जाती है जिनमें मेटानॉप्लिअस (Metanauplius), साइप्रिस (Cypris), ज़ोइआ (Zoea), फ़िल्लोसोमा (Phyllosoma), मेगालोपा (Megalopa) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अधिकतर ये सारी अवस्थाएँ स्वच्छंद तलप्लावी होती है। केवल अलवण जल (Fresh water) के क्रेिंगट (Crayfish) तथा नदियों के भींगे ही ऐसे जीव है जिनके परिवर्धन में विशेप रूपांतर नहीं होता।

वर्गीकरण (classification)—इस वर्ग के जीवों की रचना में दूसरे वर्गो से कही अधिक अनेकरूपता पाई जाती है। इस कारण इनका वर्गीकरण, जिसमें आपस की समानताओं पर विशेप ध्यान रखा जाता है, अति जटिल है। इस वर्ग को निम्नलिखित उपवर्गों में विभाजित किया गया है जिनके साथ उनके मुख्य गणों (आर्डर्स) के नाम भी अंकित है:

वर्ग : कठिनी

उपवर्ग : ब्रैंकिओपोडा—(Branchiopoda)
गण : ऐनोस्ट्राका (Anostraca), नोटोस्ट्राका (Notostraca), कौंकोस्ट्राका (Conchostraca) तथा क्लैडोसिरा (Cladocera)।

उपवर्ग : ओस्ट्राकोडा—(Ostracoda)
गण : माइओडोकोपा (Myodocopa) तथा पोडाकोपा (Podacopa)

उपवर्ग : कोपीपोडा—(Copepoda)
गण : साइक्लोपाइडिआ (Cyclopidea), लरनीओपोडाइडिया (Lernaeopodidea), केलिगाइडा (Caligiida), केलेनाइडा (Calaniida) इत्यादि।

उपवर्ग : ब्रैंक्यूरा—(Branchiura)
गण : आर्गुलाइडिया (Argulidea)।

उपवर्ग : सिरीपीडिया—(Cirripedia)
गण : थोरैसिका (Thoracica), ऐक्रोथोरैसिका (Acrothoracica), ऐस्कोथोरैसिका (Ascothoracica), एपोडा (Apoda) तथा राइजोसेफ़ाला (Rhizocephala)।

उपवर्ग : मेलाकॉस्ट्राका—(Malacostraca)
विभाग : फ़िल्लोकेरीडा (Phyllocarida)—गण : निवैंलिएशि (Nebaliacea)
विभाग : सिंकेरिडा (Syncarida)—गण : ऐनैसपिडेशिया (Anaspidacea)
विभाग : पेराकैरिडा (Peracarida)—गण : माइसिडेशिया (Mysidacea), कुमेसिया (Cumacea), टैनाइडेशिया (Tanaidacea), आइसोपोडा (Isopoda) तथा ऐंफ़िपोडा (Amphipoda)।

विभाग : यूकेरीडा (Eucarida)—गण : यूफॉसिएशिया (Euphausiacea) तथा डेकापोडा (Decapoda)।
विभाग : हॉप्लोकेरीडा (Hoplocarida)—गण : स्टोमैटोपोडा (Stomatopoda)। (रा० कु० मे०)

कडलोर भारत का एक नगर है जो तमिलनाडु राज्य के दक्षिणी अर्काट जिले में मद्रास नगर से १६० कि० मी० तथा पांडिचेरी से १६ कि० मी० की दूरी पर मद्रास त्रिचनापल्ली सड़क पर स्थित है। यहाँ की जलवायु अच्छी है। यह आसपास के जिलों का स्वास्थ्यवर्धक केंद्र है। पोनेयर तथा गदिलम नदियाँ इस नगर से बहती हुई समुद्र में गिरती हैं। इसका नाम संभवतः 'कुदल-उर' का विकृत रूप है, जिसका अर्थ दो नदियों का संगम है।१८८४ ई० में बाढ़ का पानी नगर के बीच से बहने लगा था। यहाँ से गन्ना और तेलहन बाहर भेजा जाता है। यह नगर संत डेविड के किले के लिये प्रख्यात है जो खंडहर के रूप में गदिलम नदी के किनारे स्थित है। इस किले का निर्माण एक हिंदू व्यापारी ने कराया था। सन् १६७७ ई० में यह शिवाजी के हाथ में चला आया। तब से इसका नाम संत डेविड का किला हो गया। सन् १७५६ ई० में रॉबर्ट क्लाइव यहाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया। १७५८ ई० में फ्रांसीसियों ने इसको अपने अधिकार में कर लिया। १७८५ ई० में यह पुनः अंग्रेजों के हाथ में चला आया। बाफ्ता की बुनाई यहाँ का मुख्य उद्योग है। जेल के कैदी दरी, गमछे तथा अन्य सूती कपड़े बुनते हैं। यहाँ दो महाविद्यालय हैं। (रा० वृ० सिं०)

कणाद जैन ग्रंथ **उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति** (अध्ययन ३) में अतिरंजिका नामक राजा के शासनकाल में इनकी उत्पत्ति बताई जाती है। इनके विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं; इन्हें कणभुक्, कणभस भी कहा गया है। कणाद नाम पड़ने का कारण यह बताया जाता है कि ये अपना जीवनयापन शिलोंछ वृत्ति से (मार्ग अथवा खेत के 'कण' उठाकर) करते थे (न्यायकंदली, पृ० २)। कुमारलात के ग्रंथ **सूत्रालंकार** में उनको 'उलूक' कहा गया है। आर्यदेव के शतशास्त्र के टीकाकार चित्सान के अनुसार वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक का नाम उलूक था; वे बुद्ध से ८०० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। ये दिन में ग्रंथ की रचना करते और रात में भिक्षा के लिये निकलते थे, इसीलिये इनका नाम उलूक पड़ा। कहते हैं, उन्होंने एक लाख श्लोकों में वैशेषिक शास्त्र बनाया। श्रीधर की कंदली टीका पर टीका लिखनेवाले जैन लेखक राजशेखर ने एक पुरानी जनश्रुति का उल्लेख किया है कि ईश्वर कणाद ऋषि की तपस्या से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उलूक के रूप में प्रकट होकर ऋषि को वैशेषिक में माने गए द्रव्यादि छह पदार्थों का उपदेश दिया। कणाद ने भगवान् महेश्वर को प्रसन्न कर उनकी कृपा से शास्त्र पाया (प्रशस्तपादभाष्य, कंदली सहित, पृ० ७)। प्रशस्तपाद ने कणाद ऋषि का नाम कश्यप भी लिखा है जो गोत्रनाम प्रतीत होता है (वही, पृ० २००)। संभवतः शिव की तपस्या से शास्त्र पाने के कारण गौतम तथा कपिल के साथ इनको भी पाशुपत कहा गया है (पाशुपतसूत्र, पृ० ३)। इनके जीवन के बारे में अन्य बातों का पता नहीं मिलता। (चं० भा० पां०)

कणाद वैशेषिक दर्शन के आदिप्रवर्तक थे। इन्होंने **वैशेषिकसूत्र** की रचना की जो दस अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार करने के कारण कणाद के दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा। कुछ विद्वानों का मत है कि कणाद का दर्शन अन्य दर्शनों से, विशेष रूप से सांख्य दर्शन से, अधिक युक्तिसंगत है अतः इसका नाम वैशेषिक हुआ (डॉ० उई : वैशेषिक फ़िलासफ़ी, पृ० ३–७)। कणाद का दूसरा नाम उलूक या औलूक्य था, इससे इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। श्रीहर्ष ने **नैषध** (२२।३६) में इनके दर्शन को औलूक संज्ञा दी है। वायुपुराण के अनुसार कणाद द्वारिका के समीप प्रभास में उत्पन्न हुए थे और सोम शर्मा के शिष्य थे। इनका एक अन्य नाम 'काश्यप' भी था। उदयनाचार्य ने किरणावली में इन्हें कश्यप मुनि का पुत्र बतलाया है।

वैशेषिक सूत्रों का रचनाकाल निर्धारित करना कठिन है। बोड्स के अनुसार वैशेषिक सूत्रों का रचनाकाल तृतीय शतक विक्रमपूर्व का है (तर्कसंग्रह की प्रस्तावना, पृ० ४०)। गार्वे ने वैशेषिक को न्याय की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन माना है (द फ़िलासफ़ी ऑव ऐंशेंट इंडिया, पृ० २०)। अश्वघोष ने अपने सूत्रालंकार में वैशेषिक को बुद्ध का पूर्वकालीन माना है। दासगुप्त कतिपय तर्को के आधार पर वैशेषिक सूत्रों को बुद्ध के पूर्व का ही सिद्ध करते है (एस० एन० दासगुप्त : ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलासफ़ी, पृ० २८२)।

कणाद का दर्शन बाह्यार्थवादी है। यह बाह्य पदार्थो को सत्य मानता है। उन्हें चेतना से स्वतंत्र मानता है। कणाद ने छह पदार्थो का प्रतिपादन किया है। ये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। पदार्थ का अर्थ है नाम धारण करनेवाली वस्तु अर्थात् वह वस्तु जो ज्ञेय तथा अभिधेय हो। कणाद ने 'अभाव' को पदार्थ रूप से स्वीकार नहीं किया है। वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' को पदार्थ की संज्ञा पीछे दी गई।

द्रव्य गुण और कर्म का आश्रय तथा किसी कार्य का समवायि कारण होता है (वै० सू० १, १, १५)। द्रव्य नौ प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन। गुण द्रव्य में रहता है, उसका स्वयं कोई गुण नहीं होता। वह संयोग एवं विभाग का कारण भी नहीं होता (१, १, १६)। कणाद के अनुसार गुण १७ प्रकार के हैं। पीछे के आचार्यो ने सात गुणों को और जोड़कर उनकी संख्या २४ निर्धारित की है। कर्म द्रव्य में रहता है, गुणरहित है तथा संयोग और विभाग का कारण होता है (१, १, १७)। कर्म पाँच प्रकार के माने गए हैं। सामान्य का अर्थ है जाति अथवा वस्तुओं में पाई जानेवाली समानता। जैसे दो व्यक्तियों के रंग आदि में भेद होने पर भी उनमें एक समानता पाई जाती है जिससे उन्हें मनुष्य कहा जाता है। कणाद के अनुसार सामान्य एवं विशेष बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं (१, २, ३)। विशेष वस्तुओं को एक दूसरे से पृथक् करता है। विशेष के कारण से ही एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद व्यक्त होता है। विशेष नित्य द्रव्यों, जैसे पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन में रहते हैं। विशेष नित्य तथा अनंत हैं। दो वस्तुओं में रहनेवाले नित्य संबंध को समवाय कहते हैं। कणाद केवल उपादान कारण तथा उसके कार्य के संबंध को समवाय कहते हैं।

वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। कणाद पृथ्वी, जल, तेज और वायु के नित्य परमाणुओं के संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। परमाणु स्वतः शांत तथा निस्पंद अवस्था में रहते हैं। किंतु प्राणियों के अदृष्ट के द्वारा परमाणुओं तथा मन आदि में स्पंदन होता है जिससे सृष्टि का आरंभ होता है (५. २. १३)। वृक्षों में जल का जाना, अग्नि की ज्वाला का ऊपर उठना, वायु का तिरछा बहना आदि अदृष्ट से ही नियंत्रित होता है (५. २. ६)। पीछे के आचार्यो ने अदृष्ट के अनुसार ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में स्पंदन तथा उसके कारण जगत् की उत्पत्ति माना है। अदृष्ट ही प्राणियों के जन्म मरण के चक्र का मूल कारण है। इसके अभाव में मोक्ष की प्राप्ति होती है। अदृष्ट के अभाव में संयोग का अभाव तथा पुनः उसका प्रादुर्भाव न होना मोक्ष है (५. २. १८)। अदृष्ट के अभाव में कर्मबंधन नष्ट हो जाते हैं। आत्मा का शरीर, मन आदि से तादात्म्य समाप्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा को दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है।

सं०ग्रं०—ए० बी० कीथ : इंडियन लाजिक ऐंड एटामिज़्म; ए० ई० गफ़ : द वैशेषिक अफ़ारिज़्म्स ऑव कणाद; कावेल एवं गफ़ : सर्वदर्शनसंग्रह; जे० सी० चैटर्जी : द हिंदू रियैलिज़्म; उई (Ui) : द वैशेषिक फ़िलासफ़ी; नंदलाल सिनहा : द वैशेषिक सूत्राज़ ऑव कणाद; फ़ैडेगन : द वैशेषिक सिस्टम; एस० एन० दासगुप्त : ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलासफ़ी, भाग १; एस० राधाकृष्णन : इंडियन फ़िलासफ़ी, भाग १।
(रा० शं० मि०)

जंगल में कत्थे की भट्ठियों का सामान्य दृश्य
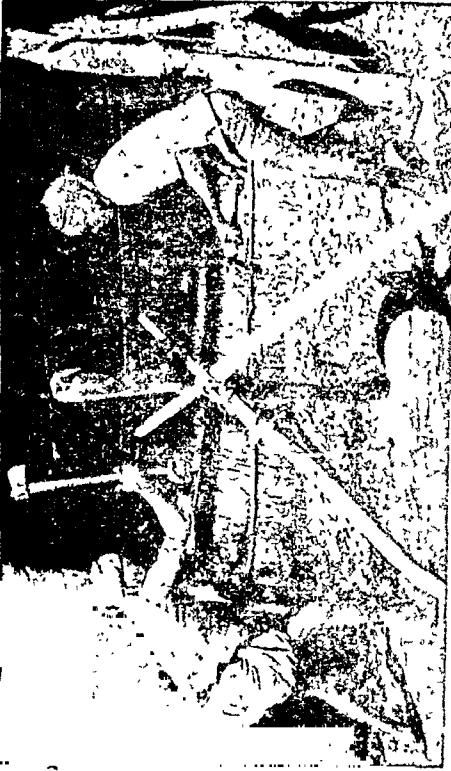
खैर के लट्ठे के छोटे छोटे टुकड़े किए जा रहे है।

छोटे टुकड़े हाँड़ियों में पकाने के लिये भरे जा रहे हैं।

लंबी भट्ठो पर खैर की कतरन पकाई जा रही है।

कत्था (द्र० पृ० ३७७)
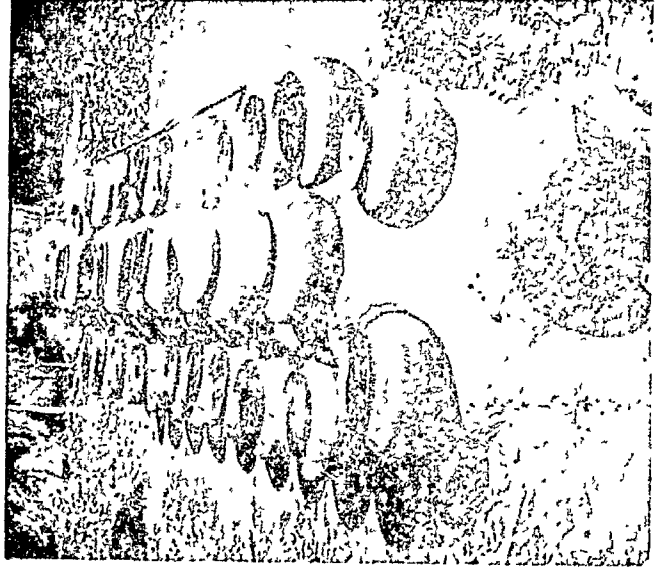
(कत्था तथा कच निर्माण की डा० सद्गोपाल द्वारा आविष्कृत सुधारी रीति)

खैर के लट्ठों के छोटे छोटे टुकड़े काटे जा रहे हैं।

मार्गदर्शी संयंत्र का साधारण दृश्य

तांबे के बरतनों में खौलते पानी द्वारा खैर के टुकड़े निष्कर्षित किए जाते हैं तथा विशेष प्रकार की भट्ठियों पर तांबे की कढ़ाइयों में द्रव को संघनित करते हैं।

कत्था अलग किया जा रहा है।

मणिभीकरण के पश्चात् निस्पंदन दाबक (filter press) द्वारा टैनिन से कत्था अलग कर लेते हैं।

कत्थे का सुखाया जाना
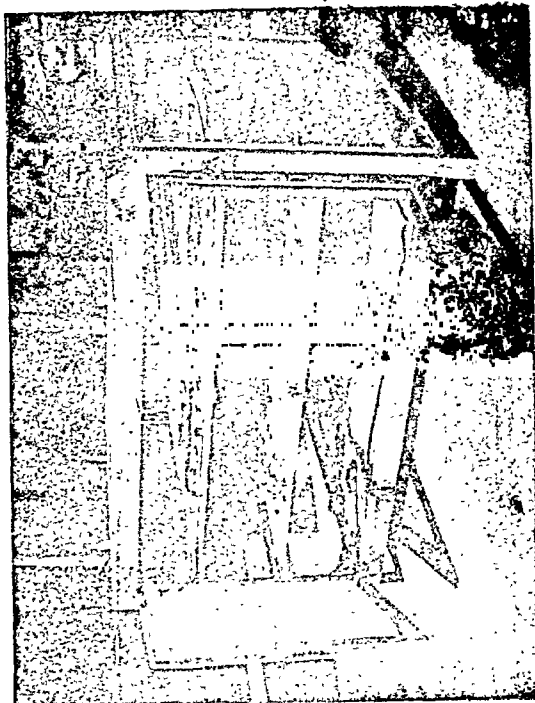
तार की जाली से बने खानों में कत्थे की टिकियाएँ छाया में सूखने के लिये रखी जाती हैं।

कण्व प्राचीन भारत में इस नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध महर्षि कण्व थे जिन्होंने मेनका के गर्भ से उत्पन्न विश्वामित्र की कन्या शकुंतला को पाला था। दुष्यंत एवं शकुंतला के पुत्र भरत का जातकर्म इन्होंने ही संपादित किया था। दूसरे कण्व ऋषि कंडु के पिता थे जो अयोध्या के पूर्व स्थित अपने आश्रम में रहते थे। रामायण के अनुसार वे राम के लंका विजय करके अयोध्या लौटने पर वहाँ आए और उन्हें आशीर्वाद दिया। तीसरे कण्व पुरुवंशी राजा प्रतिरथ के पुत्र थे जिनसे काण्वायन गोत्रीय ब्राह्मणों की उत्पत्ति बतलाई जाती है। इनके पुत्र मेधातिथि हुए और कन्या ईलिनी। चौथे कण्व ऐतिहासिक काल में मगध के शुंगवंशीय राजा देवभूति के मंत्री थे जिनके पुत्र वसुदेव हुए। इन्होंने राजा की हत्या करके सिंहासन छीन लिया और इनके वंशज काण्वायन नाम से डेढ़ सौ वर्ष तक राज करते रहे। पाँचवें कण्व पुरुवंशीय राजा अजामीढ़ के पुत्र थे और छठे महर्षि कश्यप के पुत्र। सातवें महर्षि घोर के पुत्र थे जिन्होंने ऋग्वेद के अनेक मंत्रों की रचना की है। इनके अतिरिक्त छह सात और कण्व हुए हैं जो इतने प्रसिद्ध नहीं हैं। (रा० द्वि०)

कत्था भारत में एक सुपरिचित वस्तु है जो मुख्य रूप से पान में लगाकर खाने के काम आता है। कभी कभी ओषधि और रंग के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। कत्था खैर (आकेशा कैटिचू, Acacia catechu) नामक वृक्ष की भीतरी कठोर लकड़ी से निकाला जाता है। खैर के वृक्ष भारत भर में, विशेषतया सूखे क्षेत्रों में, पाए जाते हैं। खैर का वृक्ष वनस्पति विज्ञान में, असली कैटिचू किस्म का कहा जाता है। यह
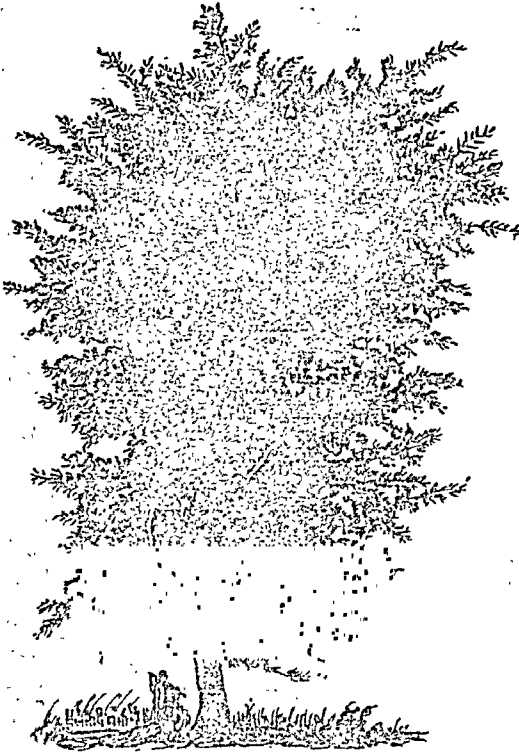
चित्र १. खैर का वृक्ष : आकेशा कैटिचू

पंजाब, जम्मू और कश्मीर, उत्तर प्रदेश में गढ़वाल और कुमाऊँ, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तरी कनारा और दक्षिण में गंजाम तक पाया जाता है। पूर्वी हिमालय तथा आसाम की ओर इस खैर के वृक्षों के होने की सूचना नहीं है।

खैर की लकड़ी से कत्था निकालने का उद्योग बहुत पुराना है। खैर से कत्था निकालने का काम प्राय: वे लोग करते हैं जो पीढ़ियों से इसे करते आए हैं। ये लोग 'खैरय्या' या 'चाई' कहलाते हैं और उत्तरी भाग में गोंडा और बहराइच जिले के निवासी अथवा पहाड़ी होते हैं। कत्था कुटीर उद्योग के करनेवाले दूर दूर फैले हुए हैं। इन व्यक्तियों द्वारा प्रति वर्ष कितना कत्था तैयार किया जाता है, इसके विषय में ठीक आँकड़े प्राप्य नहीं हैं। अनुमान है कि ये लोग प्रति वर्ष २-२॥ हजार टन कत्था तैयार करते हैं। कत्था बनाने का काम कुछ संगठित कारखानों में भी किया जाता है। ये कारखाने अधिकतर उत्तर प्रदेश, बंबई और मध्य प्रदेश में स्थित हैं। इनके द्वारा प्रति वर्ष १-१॥ हजार टन कत्था तैयार किया जाता है।

कारखाने में बने कत्थे में जल में विलेय पदार्थ ३०.० प्रति शत, अविलेय (अधिकतम) ०.७५ प्रति शत, नमी ६.२५ प्रति शत और कैटिचीन (अंतर से) ६०.० प्रति शत होता है। जलाने पर यह कत्था राख (अधिकतम) ०.५० प्रति शत देता है।

पुरानी विधि—देश के विभिन्न भागों में सब मिलाकर लगभग ५०,००० खैर के वृक्ष प्रति वर्ष कत्था बनाने के लिये काटे जाते हैं। जो वृक्ष २५-३० वर्ष पुराने होते हैं और जिनकी मोटाई एक फुट या अधिक होती है वे इस काम के लिये प्रयुक्त होते हैं। गिराने के बाद वृक्षों के दो तीन फुट (६० से १०० सें० मी०) लंबे बोटे बना लिये जाते हैं और उनपर से छाल और मुलायम लकड़ी उतार दी जाती है। इनका उपयोग ईंधन के रूप में किया जा सकता है। भीतरवाली लाल लकड़ी को छोटे छोटे टुकड़ों में काट लिया जाता है, जो आकार में लगभग एक वर्ग इंच (लगभग साढ़े छह वर्ग सें० मी०) होते हैं। इनको मिट्टी की हाँडियों में रखकर पानी के साथ खौलाया जाता है। हाँडियों को एक लंबी भट्ठी के ऊपर पंक्ति में रखा जाता है। खौलने से लकड़ी का घुलनशील भाग पानी में आ जाता है। निष्कर्षण की इस क्रिया को कई घंटों तक किया जाता है और तीन से लेकर पाँच बार तक दुहराया जाता है। इन छिपटियों (टुकड़ों) से लाल रंग का जो निसार मिलता है उसे ताजी छिपटियों पर डालते और उबालते हैं। इस काम को उस समय तक दुहराते हैं जब तक इच्छित सघनता का घोल तैयार नहीं हो जाता। गर्म निष्कर्ष को मलमल से छान लेते हैं और छनित को मिट्टी के बर्तनों में उस समय तक गाढ़ा करते हैं जब तक वह चाशनी के समान नहीं हो जाता।

चित्र २. छिपटियों से कत्था निष्कर्षित करने की विधि

इस प्रकार सांद्र बनाए हुए निष्कर्ष को ठंढा किया जाता है और फिर महीन रेत में गढ़े बनाकर अथवा मिट्टी के बर्तनों पर टोकरी रखकर उनमें उड़ेल दिया जाता है। अब इसको टाट से ढककर कुछ सप्ताहों के लिये छोड़ देते हैं जिससे कत्था अलग हो जाता है। जब निष्कर्ष को टोकरी में रखा जाता है तब घुलनशील टैनीनें (tannins) बर्तन में छन जाती हैं और अशोधित कत्था टोकरी में ऊपर रह जाता है। जब निष्कर्ष रेत में गढ़ों में भरा जाता है तो ये टैनीनें रेत में चली जाती हैं और कत्था ऊपर रह जाता है। ऊपर की ठोस वस्तु को उठा लेते हैं। उसे दबाकर सिल्लियाँ बनाते हैं। इनको छोटी सिल्लियों और अंत में टिकियों के रूप में काट लेते हैं। इसके

बाद कत्थे के टुकड़ों को कई सप्ताह तक छाया में सुखाया जाता है और बाजार में भेजा जाता है। सूखे पेड़ की अपेक्षा ताजे कटे हुए पेड़ों से अधिक कत्था मिलता है। कत्था बनाने का काम मौसमी है। यह वर्ष में लगभग ६० दिन चलता है और औसतन एक भट्ठी से, ताजे वृक्षों का प्रयोग करने से २५–३० बोरी कत्था मिलता है। एक बोरी में लगभग दो मन (लगभग ७५ किलोग्राम) माल होता है।

पुरानी विधि की कमियाँ—इस विधि में जो क्रियाएँ काम में लाई जाती हैं उनके कारण कत्था उद्योग मौसमी उद्योग बन गया है। यह वर्ष में ६० दिन से अधिक नहीं चलाया जा सकता। बाजार के योग्य माल तैयार करने में सब मिलाकर दो तीन महीने का समय लग जाता है। भीतरी लकड़ी का जो निष्कर्ष तैयार होता है उसमें पानी की मात्रा अधिक होती है। उसे सांद्र बनाने के लिये देर तक उबालना पड़ता है जिससे माल का गुण खराब होता है और कैटिचीन की मात्रा में कमी आती है। अशोधित कत्थे में पर्याप्त पानी होता है और उसे सूखने में अधिक समय लगता है। इससे कत्थे में फफूँद लग जाती है, उसका रंग बिगड़ जाता है और माल घटिया हो जाता है। निष्कर्ष का जो घुलनशील अंश रेत में सीझ जाता है उसमें एक पदार्थ होता है, जो कच कहलाता है। कच एक उपयोगी पदार्थ है। यह उद्योगों में काम आता है और बेचा जा सकता है। कत्था बनाने की इस पुरानी विधि में कच को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता।

कत्था बनाने की विधि में सुधार—सुधरी विधि में खैर के भीतर की कठोर लकड़ी की बारीक छिपटियाँ बनाई जाती है और उनका निष्कर्ष ताँबे के पात्रों में तैयार किया जाता है। छिपटियाँ पात्र के संपर्क में न आएँ, इसलिये उनको ताँबे के तार से बने हुए पिंजड़ों में रखकर पात्र के भीतर लटकाया जाता है। प्रत्येक पिंजड़े में लगभग ११ किलोग्राम छिपटी रखी जाती है और उसको लगभग २८ किलोग्राम पानी से डेढ़ से लेकर दो घंटे तक निष्कर्षित किया जाता है। निष्कर्षण की क्रिया को २८ किलोग्राम साफ पानी के साथ लगभग आध घंटे तक दुहराया जाता है और इसके बाद इसी प्रकार तीसरी बार निष्कर्षण की क्रिया की जाती है। इस अंतिम निष्कर्ष को नई छिपटियों के पहले निष्कर्षण के लिये काम में लाया जाता है। विभिन्न निष्कर्षो को मिलाकर ताँबे के खुले बर्तन में उस समय तक सांद्र बनाते है जब तक घोल का घनत्व १.०७–१.१३ नही हो जाता। इस काम में साधारणतः लगभग तीन घंटे लगते है।

इस सांद्र निष्कर्ष को ठंढा होने देते है। यदि इसमें कत्थे के कुछ रवे डाल दिए जाते है तो कत्थे के मणिभित (क्रिस्टेलाइज) होने की क्रिया शीघ्र हो जाती है। कत्थे के मणिभ अलग होकर तली पर जम जाते है और ऊपर के घोल (मातृद्रव) से अलग कर लिए जाते हैं। आवश्यक होने पर कत्थे के मणिभों की दूसरी फसल प्राप्त करने के लिये इस द्रव को सांद्र बनाकर फिर पहले की तरह रवे प्राप्त किए जा सकते हैं।

कत्थे के अलग निकाले हुए मणिभों को पानी में लेकर हाथ से चलाए जानेवाले फ़िल्टर प्रेस में छान लिया जाता है। इससे मातृद्रव कत्थे से अलग हो जाता है। फ़िल्टर प्रेस में कत्था कैनवैस से चिपक जाता है। उसे कैनवैस पर से स्टेनलेस इस्पात या निकेल की खुरचियों द्वारा खुरचा जाता है और लकड़ी के हत्थे से चलनेवाले स्क्रू प्रेस में दबाकर यथासंभव अधिक से अधिक पानी निकाल दिया जाता है। कत्थे की सिल को हाथ से वांछित आकार की छोटी टिकियों में काट लेते हैं और इन टिकियों को तारों की जाली की आलमारियों में छाया में सूखने दिया जाता है। इन टिकियों को खुली धूप में सुखाना ठीक नहीं होता। इससे कैटिचीन को हानि पहुँचती है, वह विच्छिन्न हो जाता है और उसका रंग गहरा पड़ जाता है। छाया में सुखाने के बाद टिकियों को अंतिम रूप से एक गर्म-हवा-पेटी में ४०° सें० पर सुखाया जाता है। इस पेटी को गर्म करने के लिये वे बेकार गैसें काम में लाई जाती हैं जो निसारक पात्रों और सांद्रण की कड़ाहियों के चूल्हों से आती हैं। इस रीति से माल का एक घान तैयार करने में लगभग एक सप्ताह का समय लगता है।

कत्थे को दुबारा मणिभीकृत करने के बाद जो मातृद्रव बचता है उसको ताँबे की खुली कड़ाही में इच्छानुसार गाढ़ा कर लिया जाता है, फिर इस सांद्र तरल को लकड़ी के चौखटों में भर दिया जाता है। इससे जो पदार्थ मिलता है वह कच कहलाता है। कच कत्था उद्योग का उपजात है।

इस विधि से कत्था शीघ्र तैयार होता है। वह लकड़ी में से पर्याप्त मात्रा में भली प्रकार निकल आता है। इस विधि से कत्था बनाने का काम किसी उपयुक्त स्थान पर पूरे वर्ष किया जा सकता है। पुरानी विधि में मिट्टी की हाँडियो की टूट फूट से जो हानि होती है वह इस विधि मे नही होती। इस विधि से जो कत्था तैयार होता है वह पुरानी रीति से तैयार किए गए कत्थे की अपेक्षा हल्का होता है, उसका रंग और स्वाद बढ़िया होता है और उसमें कैटिचीन का अंश ६५–७० प्रतिशत होता है।

बड़ा उद्योग—बड़े पैमाने पर कत्था निकालने की विधि मोटे तौर से वैसी ही होती है जैसी छोटे पैमाने पर काम में लाई जाती है। अंतर इस बात का है कि बड़े कारखानों में यांत्रिक साधन काम में लाए जाते है। बड़े बड़े लट्ठों को शक्ति से चलनेवाली मशीनों द्वारा काटकर छिपटियाँ बनाई जाती है और उनको ताँबे के ऑटोक्लेवों (Autoclaves) मे हल्के से दबाव के नीचे निष्कर्षित किया जाता है। निष्कर्ष को निर्वात (वैकुअम) में सांद्रित करके लगभग एक सप्ताह तक ठंढी टंकियों मे रखते है। इससे कत्थे के रवे बनकर अलग हो जाते है। इसको फ़िल्टर प्रेसों में छान लेते हैं। फिर सिल्लियों और वर्गाकार टिकियों में काटकर ऐसे कमरों में सुखाते हैं जिन्हें गरम हवा से गरम किया जाता है। निष्कर्षित लकड़ी के बोझ पर कत्थे की प्राप्ति ४ सेर ४.५ प्रतिशत होती है। मातृद्रव को सांद्रित करके लकड़ी के चौखटों में डाल दिया जाता है। उसके ठंढा होने पर यहाँ 'कच' जम जाता है।

परख और मानक—*बाजार में बिकनेवाले साधारण कत्थे में* बहुत मिलावट होती है। रेत, मिट्टी और राख तो उसमें मिली ही रहती है, इनके अतिरिक्त कत्थे का बोझ बढ़ाने के लिये चीनी मिट्टी, सेलखड़ी, मंड, गोंद, लाल मिट्टी और लोहे के लाल आक्साइड के समान रंगदार पदार्थ मनमाने ढंग से मिलाए जाते हैं।

इस संबंध में सारणी १ में कुछ सुझाव दिए जा रहे हैं, जो कत्थे की मानक विशिष्टताएँ निर्धारित करने में सहायक सिद्ध हो सकते है :

सारणी १—कत्थे की मानक विशिष्टताओं के संबंध में सुझाव

विशिष्टता	दर्शन
रंग	हल्का कत्थई।
बनावट	तोड़ने पर बहुत हल्के कत्थई रंग के रवेदार पदार्थ की, बहुत से नन्हें नन्हें छेदोंवाली, बनावट दिखाई दे।
सूक्ष्मदर्शी के नीचे	जब माल को थोड़े से पानी में घोला जाय तो उसमें स्पष्ट रूप से सुई की आकृति के रवे (मणिभ) दिखाई दें।
विलेयता	माल खौलते पानी में पूर्णतया घुल जाय और घोल ठंढा होने पर रवेदार रूप में जम जाय।
रंग अभिक्रिया	जब उसे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड और पोटैशियम क्लोरेट के आधिक्य से उपचारित किया जाय तब एक क्लोरीनीकृत प्रतिस्थापन-पदार्थ मिले, जिसका रंग सोडियम सल्फ़ाइड मिलाने पर बैंगनी लाल हो जाय।

कच—कत्था बनाने की पुरानी देशी विधि में कच प्राप्त नहीं किया जाता। सुधरी विधि में कच उपलब्ध किया जाता है और उसकी मात्रा कत्थे की मात्रा से २–२॥ गुनी होती है। कत्था बनाने के सभी संगठित कारखानों में कच तैयार किया जाता है। इसकी मात्रा ४–५ हजार टन प्रति वर्ष होती है।

आकेशा कैटिचू (किस्म असली) के अतिरिक्त सिक्किम, तराई, बंगाल, असम और कुछ सीमा तक मैसूर तथा नीलगिरि में खैर की एक किस्म मिलती है जो कैटिचुआइडीज कहलाती है। इससे बर्मा में कच निकाला जाता है। यह कच पेगू कच के नाम से बिकता है। खैर की तीसरी किस्म

सुंदरा या लाल खैर कहलाती है। लाल खैर के वृक्ष दक्षिण और पश्चिम भारत में दूर दूर बिखरे हुए पाए जाते हैं। इन वृक्षों से दक्षिण में कच या श्यामल कत्था तैयार किया जाता है।

कच छोटे घनाकार टुकड़ों में बिकता है। इन टुकड़ों का रंग लोहे के जंग के समान कत्थई या धुँधला नारंगी होता है। कच में कमावक (टैनिन) पदार्थ ५३–५८, अ-कमावक अंश ३०–३३, अघुलनशील ०.५–१.५ और नमी १२–१४ प्रतिशत तक पाई जाती है। लोवीबोंड पैमाने पर उसका रंगमान लाल ८–१० : पीला १८–२० होता है।

सं०ग्रं०—सद्गोपाल : कत्था उद्योग का विकास (विज्ञान प्रगति, जिल्द ७, अंक ८, १९५८)। (स०)

कथा साहित्य की एक प्रमुख विधा। **संस्कृत साहित्यशास्त्रीय दृष्टि** से विचार के पूर्व ध्यान देने की एक विचित्र बात यह है कि प्रायः समस्त चरितकाव्यों में रचयिताओं द्वारा अपने काव्य का कथा के नाम से उल्लेख है। पुराने समय से प्रचलित चरितकाव्य को कथा कहने की प्रथा बहुत बाद तक चलती रही है। 'तुलसी' का **रामचरितमानस** चरितकाव्य भी है, कथा भी है। तथ्य यह है कि प्राचीन साहित्य में स्पष्ट रूप से दो अर्थों को लेकर 'कथा' शब्द व्यवहृत हैं—१. साधारण कहानी और २. अलंकृत काव्य (जिसमें कहानी का भी तत्व वर्तमान हो)। "साधारण कहानी के अर्थ में पंचतंत्र की कथाएँ भी कथा हैं, महाभारत और पुराणों के आख्यान भी कथा हैं और सुबंधु की वासवदत्ता, बाण की कादंबरी, गुणाढ्य की बृहत्कथा आदि भी कथा है। पर विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्यकाव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है" (हिंदी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२)।—पर उक्त अर्थ में कथा शब्द का प्रयोग कब से चला, यह कहना कठिन है। लगता है, व्यापक अर्थ में कथा शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है और आज भी अनेक अर्थों में वह प्रयुक्त है। परंतु इस सामान्य अर्थ के अलावा अलंकृत गद्यकाव्य की कहानी के अर्थ में कथा शब्द का जो शास्त्रीय अर्थ-परक प्रयोग है, मुख्यतः उसका उल्लेख यहाँ करना है। लक्षणकार आचार्यों ने जिन लक्षणों को निरूपित किया है उनकी परिकल्पना असंदिग्ध रूप से उनके सामने वर्तमान लक्ष्य कृतियों के आधार पर ही हुई होगी।

कथा की शास्त्रीय चर्चा में सबसे पहले अग्निपुराण (अ० १७३) का उल्लेख किया जा सकता है जहाँ पाँच भेदों के नाम हैं—१. कथा, २. आख्यायिका, ३. खंडकथा, ४. परिकथा और ५. कथानक। पर आगे चलकर कथा और आख्यायिका—दो ही भेद आलंकारिकों द्वारा चर्चित और परिभाषित हुए। आख्यायिका का उल्लेख बहुत पुराना है। ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व वैयाकरण वररुचि के वार्तिकों तथा पतंजलि (लगभग १५० ई० पू०) के महाभाष्य (४।२।६० एवं ४।३।८७) में **आख्यान** और **आख्यायिका** शब्द मिलते हैं। वहाँ यह संकेत भी झलक जाता है कि पात्र (मुख्यतः नायिका) के नाम पर ग्रंथ शीर्षक भी दिया जाता था। पतंजलि ने **वासवदत्ता, सुमनोत्तरी** और **भैमरथी**—इन तीन आख्यायिका कृतियों के नामों का भी संकेत किया है। संभवतः ये गद्य कृतियाँ रही होंगी। रुद्रदामा का शिलालेख भी गद्यकाव्य का अच्छा नमूना है। हो सकता है, आख्यायिका भी पुराने जमाने की संस्कृत गद्य-काव्यकृति रही हो। संस्कृत साहित्य के पुराने आचार्य **भामह** ने सबसे पहले अपने काव्यालंकार में **आख्यायिका** और **कथा** का अंतर बताते हुए इनके लक्षण लिखे है—सुंदर गद्य में लिखित रसमय कहानीवाली कृति आख्यायिका कही जाती है। इसकी कथा का विभाजन उछ्वास नामक अध्यायों में होता है। वर्ण्य विषय कन्याहरण, संग्राम, विरोध आदि रहता है और अंत में नायक अपने प्रयास में सफल या विजयी दिखाया जाता है। इसके बीच बीच में या उछ्वासों के आदि अंत में वक्त्र और अपरवक्त्र छंद भी आ जाते हैं। इसकी कथा का आधार यथार्थ (ऐतिहासिक या कभी कभी पौराणिक) वृत्त होता है। फलतः कल्पना की अतिरंजना इसमें कम या नहीं के बराबर होती है। इसकी कथा का वक्ता भी और कोई नहीं वरन् स्वयं नायक ही होता है। आख्यायिका की भाषा भी संस्कृत ही होनी चाहिए। नायक के वक्ता होने और यथार्थ पर कथानक आधारित होने के कारण काल्पनिक वृत्त या कथानक रूढ़ियों के अधिक प्रयोग का अवसर नहीं रहता है। कथा का काव्य रूप इससे थोड़ा भिन्न होता है। उसकी कथावस्तु कल्पित होती है, कविप्रतिभा से निष्पन्न रहती है। वह उछ्वासों में विभाजित नहीं होती। कथा की कहानी कहनेवाला नायक न होकर, वहाँ वक्ता श्रोता अन्य होते हैं। इन्हीं दो (वक्ता श्रोता) व्यक्तियों की बातचीत या प्रश्नोत्तर के रूप में कथा कही जाती है। कथा की भाषा भी संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश—कुछ भी हो सकती है। उसमें भाषा के माध्यम का कोई बंधन नहीं होता। **भामह** के लक्षण को देखकर मानों उसकी आलोचना अथवा उसमें संशोधन करते हुए **दंडी** ने अपने काव्यादर्श (१।२३–३०) में कहा है—कथा और आख्यायिका दोनों वस्तुतः एक ही कोटि की साहित्यिक रचनाएँ हैं। कहानी का कहनेवाला चाहे नायक हो या और कोई, अध्याय चाहे उछ्वासों के नाम से विभक्त हों या लंभक नाम से, बीच बीच में चाहे वक्त्र अपरवक्त्र छंद आएँ या न आएँ—इन सबसे कहानी में क्या अंतर पड़ता है ? अतः इन ऊपरी और बाहरी अंतरों के आधार पर **कथा** और **आख्यायिका** में भेद मानने का कोई खास कारण नहीं है। दंडी स्वयं भी गद्यकाव्य की—दशकुमारचरित नामक—कहानीवाली एक पुस्तक के निर्माता हैं। निश्चय ही उनके कथन का यह संकेत हो सकता है कि अपने समकालीन कहानी के लक्ष्यग्रंथों का आधार लेकर **भामह** ने कथा आख्यायिका के जो लक्षण बताए थे, संभवतः दंडी के काल तक आते आते लक्ष्यकारों ने उनको भुलाकर या उपेक्षित समझकर कड़ाई से उन लक्षणों का पालन करना छोड़ दिया था। फिर भी **भामह** के कथन में कुछ सार है। आख्यायिका के लिये शायद संस्कृत और गद्य का माध्यम ही मान्य रहा। पर कथा के लिये वे बंधन नहीं थे। **गुणाढ्य** की **बृहत्कथा** (जिसकी कथावस्तु के ऋणी सुबंधु, दंडी और बाणभट्ट—तीन प्रमुख संस्कृत-गद्य-साहित्य-लेखक कहे जाते है) संस्कृत में नहीं बल्कि प्राकृत में और गद्य में नही, पद्य में थी। रुद्रट और उनके टीकाकार नमिसाधु ने काव्यालंकार मे इसे निरूपित करते हुए बताया है कि संस्कृत-निबद्ध-कथाओं के लिये गद्य माध्यम आवश्यक है। परंतु अन्य भाषा अर्थात् प्राकृत, अपभ्रंश आदि की कथाओ को अगद्य (अर्थात् पद्य) में लिखना चाहिए। वैसे प्राकृत की, गद्य में लिखी, वसुदेवहिंडी नामक प्राचीन कथा उपलब्ध भी है। इसके अलावा प्राकृत में लिखित पद्यबद्ध कतिपय अन्य कथाएँ भी प्राप्त हुई हैं और उनमे से अनेक प्रकाशित भी हो चुकी हैं। अनुमान किया जा सकता है, रुद्रट के कथा-लक्षण और काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु की व्याख्या में बताए गए लक्षण उस काल के उपलब्ध लक्ष्यों को देखकर ही निरुपित हैं। (१६। २०–३०)। बताया गया है कि कथा या महाकथा के "कथारंभ में देवता या गुरु की वंदना करने और संक्षेप में स्वकुल परिचय देने के पश्चात् कथा-लेखन का उद्देश्यवर्णन रहना चाहिए। प्रारंभ में एक कथांतर भी रहना चाहिए जो कहानी का प्रस्ताव करे। कथा गद्य और अगद्य में भी हो सकती है। सरस वर्णनयुक्त कन्याप्राप्ति ही इसका प्रतिपाद्य होता है।" आख्यायिका में वंशवर्णन आदि विस्तृत रहता है। कथा आख्यायिका के बारे में और भी बहुत सी बातें बताई गई है। रुद्रट से पूर्व की, कौतूहल कवि की 'लीलावती' आज उपलब्ध है जिसमें रुद्रट का कथालक्षण प्रायः पूरा का पूरा देखा जा सकता है। कवि और कविपत्नी की बातचीत द्वारा कहानी उपस्थित की गई है। इस देश के कथाकथन की यह पुरानी प्रथा है। पुराणों में और सबसे बढ़कर महाभारत में व्यास ने इसी रूप से प्रश्नोत्तरात्मक बातचीत द्वारा कथा ही नहीं, सब कुछ बता डाला है। **हेमचंद्र** ने अपने काव्यानुशासन (अध्या० ८) में प्रायः इसी प्रकार के लक्षणों द्वारा आख्यायिका और कथा को परिभाषित किया है। आख्यायिका की रचना संस्कृत में होनी आवश्यक है। अन्य बातें प्रायः पूर्ववत् हैं। प्राचीन आलंकारिकों ने और हेमचंद्र ने भी बाण के हर्षचरित को आख्यायिका का प्रतिमान माना है और कविकल्पनाप्रसूत लोकोत्तर, असंभव एवं अद्भुत पात्रों तथा उनके चरितों से युक्त बाण की कादंबरी, लीलावती (पद्यबद्ध) आदि को कथा कहा है। यह भी स्पष्ट रूप से हेमचंद्र ने कहा है कि कथा गद्य या पद्य में और सभी भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि) में लिखी जा सकती है। उन्होंने अनेक ग्रंथों के नाम लिखकर कथा और आख्यायिका के अतिरिक्त आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खंडकथा, सकलकथा, उपकथा आदि

का भी सोदाहरण परिचय दिया है। आख्यायिका का नायक आख्यातवृत्त एव धीरप्रशात होता हे, पर कथा का धीरशात (नायकाख्यातवृत्ताभाव्यर्थ शसिवादि: सोछ्वासा सस्कृता गद्ययुक्ता **आख्यायिका**। धीरशातनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा)।

निष्कर्ष इतना ही ह कि **कथा** और **आख्यायिका** के **भामह** और **दंडी** द्वारा सूचित अनेक लक्षण उपेक्षित रहे या भुला दिए गए अथवा कठोरता के साथ उनका पालन नही हुआ। पर भामह द्वारा कुछ बाते मार्के की कही गई थी जिनकी गूँज भविष्यत् के लक्षणो मे भी ह। पहली बात यह हे कि आख्यायिका स्वय नायक द्वारा कथित होती है और ऐतिहासिक या यथार्थ वृत्त पर आधारित। उनके कहने का कदाचित् सकेत यह था कि इसी कारण वह अधिकत. यथार्थशसी होती हे; उसमे अलौकिक, असामान्य या दिव्य घटनाओ और चारित्रिक उत्कर्षो के आरोपण का स्थान कम होता है। पर **कथा** के इससे भिन्न और कल्पनाधारित होने से उसमे कथानक रुढियो के लिये पर्याप्त अवकाश और अवसर रहता ह। पात्रो मे असभव शौर्य-वीर्य-त्यागादि गुणो के चरिताकन की सुविधा रहती है और अद्भुत असामान्य उसमे गूँथ दिया जा सकता हे। इसका **एक कारण** यह भी था कि उसका कहनेवाला नायक न होकर अन्य श्रोता वक्ता होते थे जो सुनी सुनाई या जनश्रुति की कहानी हू-ब-हू या थोडा वहुत इधर उधर करके श्रोता के सामने रख देते थे। इसमे कवि और नायक दोनो का उत्तरदायित्व कम हो जाता था। **दूसरी बात** यह हे कि सस्कृत के आलकारिको की मान्यता के अनुसार आख्यायिका की भाषा मुख्यत. सस्कृत रही है और रचनारूप उसका गद्य रहा हे। पर कथा मे न तो भाषा का प्रतिबध है और न गद्य पद्य का। जब जब जैसी रचनाएँ होती गई तब तब कथा आख्यायिका के लक्ष्यानुसारी लक्षण बनाए गए। लक्षणो के अनुसार रचना करने की कलाकारो ने कभी बाध्यता स्वीकार नही की। भाषा, कथावस्तु और उसका विभाजन, छद आदि के संदर्भ मे आख्यायिका-कथाकारो ने अपनी रुचि का अनुसरण किया।

साहित्यशास्त्रीय अर्थ से भिन्न एक अर्थ को लेकर लोकव्यवहार मे **कथा** शब्द का प्रयोग मिलता हे। इसके अनुसार कथा शब्द से उन कथाओ का बोध होता हे जो पौराणिक, सांस्कृतिक लोकपरपरा के अनुसार (अथवा मिथक के अनुसार) कथामाध्यम से व्रत, दान, तीर्थयात्रा, देवदर्शन, स्नान, धर्मानुष्ठान, स्वर्गप्राप्ति, मनोरथपूर्ति आदि की महिमा और फलदायिता बताकर तत्तत्कर्मानुष्ठान आदि की प्रेरणा देती हैं, जैसे, महालक्ष्मी व्रत-कथा, हरितालिका व्रतकथा, सत्यनारायण व्रतकथा आदि। यह प्रयोग हिंदू धर्म और भारतीय सास्कृतिक परंपरा से संबद्ध हे। जातक कथाएँ आदि भी वहुत कुछ इसी कोटि की कथाएँ हे। वस्तुत: कथा शब्द का वडे व्यापक और अनेक अर्थो मे प्रयोग होता है। यहाँ शास्त्रीय तथा कुछ हिंदी-भाषी क्षेत्र के लौकिक अर्थ का संकेत मात्र किया जा सका हे।

सं० ग्रं०—भामह : काव्यालकार; दंडी : काव्यादर्श; रुद्रट : काव्यालंकार; हेमचंद्र : काव्यानुशासन; वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास; डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल। (क० प० त्रि०)

कथानक कथातर्गत 'कार्यव्यापार की योजना'। 'कथानक' और 'कथा' दोनो ही शब्द संस्कृत 'कथ' धातु से उत्पन्न हे। संस्कृत साहित्यशास्त्र मे 'कथा' (द्र०) शब्द का प्रयोग एक निश्चित काव्यरूप के अर्थ मे किया जाता रहा है किंतु कथा शब्द का सामान्य अर्थ है—'वह जो कहा जाए'। यहाँ कहनेवाले के साथ साथ सुननेवाले की उपस्थिति भी अंतर्भुक्त हे क्योकि 'कहना' शब्द तभी सार्थक होता है जब उसे सुननेवाला भी कोई हो। श्रोता के अभाव मे केवल 'बोलने' या 'बडबड़ाने' की कल्पना की जा सकती हे, 'कहने' की नही। इसके साथ ही, वह सभी कुछ 'जो कहा जाए' कथा की परिसीमाओ मे नही सिमट पाता। अतः कथा का तात्पर्य किसी ऐसी 'कथित घटना' के कहने या वर्णन करने मे होता हे जिसका एक निश्चित क्रम एव परिणाम हो। ई० एम० फार्स्टर (ऐस्पेक्ट्स ऑव द नावेल, लंदन, १९४९, पृ० २९) ने 'घटनाओ के कालानुक्रमिक वर्णन' को कथा (स्टोरी) की संज्ञा दी है; जैसे, नाश्ते के बाद मध्याह्न का भोजन, सोमवार के बाद मंगलवार, यौवन के बाद वृद्धावस्था आदि।

इसके विपरीत कथानक कथा (चाहे वह महाकाव्य की हो अथवा खडकाव्य, नाटक, उपन्यास या लोकगाथा की हो) का वह तत्व है जो उसमे वर्णित कालक्रम से शृखलित घटनाओ की धुरी बनकर उन्हें सगति देता हे और कथा की समस्त घटनाएँ जिसके चारो ओर ताने बाने की तरह बुनी जाकर वढती और विकसित होती ह। कथा या कहानी भी साधारणत: कार्यव्यापार की योजना ही होती ह, परतु किसी एक भी कथा को कथानक नही कहा जा सकता; कारण, कथा का विशिष्टता केवल उसके कालानुक्रमिक वर्णन मे निहित रहती हे जबकि कथानक मे कार्यकारण की भावना कालानुक्रमिक वर्णन को अभिभूत कर लेती ह। 'नायक को नायिका से प्रेम हुआ, और अत मे उसने उसका वरण कर लिया।'—कथा हे। 'नायक ने नायिका को देखा, वह उसपर अनुरक्त हो गया। प्राप्तिमार्ग के अनेक अवरोधो को अपने शौर्य और लगन से दूर करके, अत मे, उसने नायिका से विवाह कर लिया।'—कथानक है। अर्थात् कथा किसी भी कथात्मक साहित्यिक कृति का ढाँचा मात्र होती ह जबकि कथानक मे तत्प्रस्तुत प्रकरणवस्तु (थीम) के अनुरूप कथा का स्वरूप स्पष्ट, सगत एव वुद्धिग्राह्य बनकर उभरता ह। वेब्सटर (थर्ड न्यू इंटरनैशनल डिक्शनरी) के अनुसार कथानक (प्लाट) की परिभाषा इस प्रकार हे—'किसी साहित्यिक कृति (उपन्यास, नाटक, कहानी अथवा कविता) की ऐसी योजना, घटनाओ के पैटर्न अथवा मुख्य कथा को कथानक कहते ह जिसका निर्माण उद्दिष्ट प्रसगो की सहेतुक सयोजित शृखला (स्तरक्रम) के क्रमिक उद्घाटन से किया गया हो।'

उपर्युक्त विवेचन से इस महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन होता है कि कथा को सुनते या पढते समय श्रोता अथवा पाठक के मन मे आगे आनेवाली घटनाओ को जानने की जिज्ञासा रहती ह अर्थात् वह बार बार यही पूछता या सोचता ह कि फिर क्या हुआ, जबकि कथानक मे वह ये प्रश्न भी उठाता हे कि 'ऐसा क्यो हुआ?' 'यह कैसे हुआ?' आदि। अर्थात् आगे घटनेवाली घटनाओ को जानने की जिज्ञासा के साथ साथ श्रोता *अथवा पाठक घटनाओ के बीच कार्य-कारण-सवध के प्रति भी सचेत रहता* है। कथा गुहामानव की जिज्ञासा को शात कर सकती हे किंतु वुद्धिप्रवण व्यक्ति की तृप्ति कथानक के माध्यम से ही सभव है। अत. कहा जा सकता है, कथानक मे समय की गति घटनावली को खोलती चलती है और इसके साथ ही उसका घटना सयोजन—विश्व के युक्तियुक्त सघटन के अनुरूप—तर्कसमत कार्य-कारण-ग्रत सबधो पर आधारित रहता हे। इसीलिये उसमे आरभ, मध्य और अत, तीनो ही सुनिश्चित रहते है। 'आदम हव्वा' के आदि कथानक मे इन तीनो सोपानो को स्पष्ट देखा जा सकता हे; यथा, निषेध (प्राहिबिशन), उल्लघन (ट्रासग्रेशन) तथा दड (पनिशमेट)।

कथानक कला का साधन हे, अत. भावोत्तेजना लाने के लिये उसमे जीवन की प्रत्ययजनक यथार्थता के साथ आकस्मिकता का तत्व भी आवश्यक हे। इसीलिये कथानक की घटनाएँ यथार्थ घटनाओ की यथावत् अनुकृति मात्र न होकर, कला के स्वनिर्मित विधान के अनुसार सयोजित रहती है। कथानक देव दानव, अतिप्राकृत और अप्राकृत घटनाओ से भी निर्मित होते है किंतु उनका उक्त निर्माण परपरा द्वारा स्वीकृत विधान तथा अभिप्रायो के अनुसार ही होता हे। अत. अविश्वसनीय होते हुए भी वे विश्वसनीय होते हे। कथानक की गतिशील घटनाएँ सीधी रेखा मे नही चलती। उनमे उतार चढाव आते हे, भाग्य बदलता हे, परिस्थितियाँ मनुष्य को कुछ से कुछ बना देती हे। अपने सगीसाथियो के साथ या बाह्य शक्तियो अर्थात् अपनी परिस्थिति के विरुद्ध उसे प्राय: सघर्ष करना पड़ता हे। कथानक मे जीवन के इसी गतिमान सघर्षशील रूप की जीवत अवतारणा की जाती हे। (कै० चं० श०)

कथानक रूढ़ि वास्तविकता, कल्पना अथवा संभावना पर आधारित किसी छोटी घटना, निश्चित साँचे मे ढले हुए कार्यव्यापार या उस विचार (आइडिया) को कहते हे जो समान स्थिति मे कथानक को आरंभ करने, गति देने, कोई नवीन मोड या घुमाव देने, कथा को चामत्कारिक ढंग से समाप्त करने अथवा अपने मे ही संपूर्ण कथा का सघटन कर लेने के लिये बार बार प्रयुक्त होता हे। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने

कथानक रूढ़ि के बारे में (हिंदी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५७ ई०, पृ० ८०) कहा है—"संभावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिये कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आए हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल गए हैं।" अभिप्राय (मोटिफ़) की परिभाषा देते हुए शिप्ले (डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर) ने बताया है, "एक शब्द या निश्चित साँचे में ढले हुए विचार जो समान स्थिति का बोध कराने या समान भाव जगाने के लिये किसी एक ही कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार बार प्रयुक्त हों, अभिप्राय कहलाते है।" अभिप्राय की यह सामान्य परिभाषा है, क्योंकि विभिन्न कलारूपों में इसका विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है और प्रत्येक कलारूप के अपने अलग अलग अभिप्राय होते हैं। अतः यहाँ अभिप्राय के बारे में विचार कर लेना समीचीन रहेगा।

अभिप्राय—अनेक परंपरागत कृत्य अथवा नियम निरंतर जनविश्वास का संबल पाते रहने के कारण चलन या रूढ़ि मान लिए जाते है। इनके वास्तविक अर्थ या मूल तात्पर्य का पता किसी को नहीं होता, तो भी विशेष अवसरों पर लोग इनका पालन करते ही है। इनमें से बहुतों का पालन न करने से जहाँ केवल सामाजिक अप्रतिष्ठा की आशंका रहती है, वहाँ कुछ ऐसे भी चलन होते है जिन्हें पूरा न करने पर दैवी विपत्तियों अथवा विभिन्न प्रकार की हानियों का भय रहता है। कुछ रूढ़ियाँ इस प्रकार की भी होती हैं जिन्हें छोड़ देने पर न तो प्रतिष्ठा का किसी प्रकार का धक्का लगता है और न ही जिनका पालन न करने से किसी दैवी विपत्ति की आशंका रहती है। तो भी अवसर उपस्थित होने पर लोग उनका पालन यंत्रवत् पीढ़ी-दर-पीढ़ी करते चलते हैं। जन्म, मरण, विवाह, पुत्रोत्पत्ति तथा अन्यान्य पुण्य अवसरों एवं विधि संस्कारों के समय किए जानेवाले विभिन्न कृत्यों को इनके अंतर्गत गिना जा सकता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में विधुर का विवाह कन्या से पहले अर्कवृक्ष के साथ कर दिया जाता है ताकि उक्त व्यक्ति की दूसरी पत्नी के मरने का भी यदि विधिविधान हो तो उसके स्थान पर अर्कवृक्ष ही नष्ट हो, नई वधू नहीं। विवाह के अवसर पर वरयात्रा के समय वर की माता कुएँ में पैर लटकाकर बैठ जाती है और वहाँ से वह तभी हिलती है जब उसका पुत्र उसके दूध का मूल्य चुका देता है। कदाचित् इस चलन के पीछे युद्ध जीतने के बाद ही कन्या को प्राप्त कर सकने की मध्यकालीन उस सामंती प्रथा का अवशेष काम कर रहा होता है जिसके अनुसार माता विवाह के पहले पुत्र से वचन लेती थी कि वह वधू को साथ लेकर ही लौटेगा, खाली हाथ नहीं। इन सभी रूढ़ियों या चलनों को 'सामाजिक परंपरा' (सोशल कॉन्वेंशन) की संज्ञा दी जा सकती है। इस सामाजिक परंपरा की तरह संगीत, कला तथा साहित्य अथवा काव्य आदि के क्षेत्रों में भी समय समय पर कुछ अभिप्राय प्रयोग किए जाते हैं। प्रयोग धीरे धीरे चलन का रूप धारण करके रूढ़िगत हो जाते है, तो भी इनका अभिप्रायपक्ष मुखर रहता है और इन्हें रूढ़ि से कुछ विशिष्ट परंपरागत अभिप्रायों (मोटिफ़्स) के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

कथानक रूढ़ि संबंधी हजारीप्रसाद द्विवेदी की उपर्युक्त परिभाषा में तीन बातें कही गई हैं। प्रथम यह कि संभावनाओं पर बल देने के कारण कथाभिप्रायों (कथानक रूढ़ियों) का जन्म होता है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि कथानक रूढ़ियों का प्रयोग प्रायः रोमांच, चमत्कार तथा पुराकालीन बिंबों एवं वातावरण को उपस्थित करने के लिये किया जाता है। अतः उनमें असंभव, असाधारण, अस्वाभाविक और कभी कभी अलौकिक तत्वों का समावेश भी कर दिया जाता है। पर, इन कथानक रूढ़ियों के मूल में संभावनाश्रित कल्पना ही अधिक काम कर रही होती है। उदाहरणार्थ, 'किसी राक्षस या यक्ष द्वारा नायक या नायिका को लेकर उड़ जाना' में अतिप्राकृत शक्ति के प्रति विश्वास की झलक सबल है। पक्षी किसी छोटे मोटे जानवर को चोंच में लेकर उड़ सकता है तो पराशक्तिधारी यक्ष या राक्षस नायक अथवा नायिका को उठाकर क्यों नहीं उड़ सकता ? कम से कम इसकी संभावना तो है ही, फिर रोमांच और चमत्कारोत्पादन के लिये क्यों न इसका उपयोग कर लिया जाए। कथानक रूढ़ियों में से अधिकांश के मूल स्रोत उन मिथकों, लोककथाओं, निजंधरी आख्यानों तथा गाथाओं में मिल जाते है जिनका निर्माण आदिम विश्वासों, प्रचलनों, अनुष्ठानों, विधिनिषेधों तथा टॉटमों को आधार बनाकर हुआ था। परवर्ती काल में यद्यपि सांस्कृतिक परिष्कार हो जाने पर कुछ कथानक अभिप्राय प्रचलन से पिछड़ गए अथवा उनके रूपों में अत्यधिक परिवर्तन हो गया तथापि, जैसा नृतत्वशास्त्रीय शोधों से सिद्ध हो चुका है कि मानव उन्नत सांस्कृतिक अवस्था में पहुँच जाने पर भी अपनी सबल धारणात्मक शक्ति के कारण, आदिम अवशेषों को त्यागने में असमर्थ रहता है—ये कथानक रूढ़ियाँ, मिथकों, लोककथाओं, निजंधरी आख्यानों तथा गाथाओं में पूर्ववत् बनी रहीं और वहीं से शिष्ट साहित्य में गृहीत होती रहीं। सांस्कृतिक उत्थान और परिष्कार के साथ नई कथानक रूढ़ियों का निर्माण भी हुआ। युग युग में जैसे जैसे नए नए रीति रिवाज, मान्यताएँ, विश्वास आदि स्थापित हुए, धर्म, आयुर्वेद, ज्योतिष, शकुन, तंत्रमंत्र, काम आदि से संबधित शास्त्रों का निर्माण हुआ, वैसे वैसे नई नई कथानक रूढ़ियों ने भी जन्म लिया और लोकसाहित्य से लेकर शिष्ट साहित्य तक में उनका जमकर उपयोग होने लगा, लगातार होता रहा।

दूसरा सूत्र है—'कथानक को गति और घुमाव देने के लिये इन अभिप्रायों का प्रयोग होता है।' कथानक (द्र०) में समय की गति घटनावली को खोलती चलती है और इसके साथ ही उसका घटना संयोजन, विश्व के युक्तियुक्त संघटन के अनुरूप तर्कसंमत कार्य-कारण-अंतःसंबंधों पर आधारित रहता है। कथांतर्गत इस घटनावली को खोलने का अर्थ कथा को गति देना ही है और इसमें कथानक अभिप्रायों का प्रमुख हाथ रहता है। उदाहरण के लिये, 'उपश्रुति' नामक अभिप्राय को लिया जा सकता है। प्रिया की खोज में निकला हुआ नायक जब जंगल में भटक जाता है तो कथा को आगे बढ़ाने का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे अवसर पर 'उपश्रुति' नामक या किसी ऐसी ही अन्य कथानक रूढ़ि का प्रयोग करके कथा को गति दी जाती है। किसी वृक्ष के नीचे अथवा कोटर में लेटा हुआ निराश प्रेमी वृक्ष के ऊपर बैठे पक्षीयुगल की बातचीत अथवा पक्षीसमूह को किसी एक पक्षी द्वारा किसी कथा के सुनाए जाने के बीच कोई ऐसी सूचना पा जाता है कि उसे अपनी प्रिया से मिलने का तरीका मालूम हो जाता है या यह विश्वास हो जाता है कि वह अपनी प्रिया को अवश्य ही प्राप्त कर सकेगा। कभी कभी तो वक्ता पक्षी अगली सुबह स्वयं उसी जगह जानेवाला होता है जहाँ नायक को पहुँचना रहता है और फिर नायक बड़े कौशल से पक्षी की पूँछ में छिपकर अभीप्ट स्थल पर पहुँच जाता है। कथानक को घुमाव या नया मोड़ देने के संदर्भ में 'स्त्री की दोहद कामना' को लिया जा सकता है। 'दोहद' शब्द का निर्माण 'द्विहृद' से हुआ है। आपन्नसत्वा नारी की दोहदकामना स्त्री के जीवन की अति सामान्य एवं परिचित घटना है। इस स्थिति में औरत कभी खट्टा मीठा खाने की इच्छा व्यक्त करती है तो कभी उसका मन चूल्हे की जली हुई मिट्टी खाने के लिये आतुर हो उठता है। पति गर्भवती पत्नी की प्रत्येक इच्छा पूरी करने के लिये तत्पर रहता है और उसकी दोहदकामना को पूर्ण करना अपना परम कर्तव्य समझता है। कथाकारों ने इस दोहदकामना को अभिप्राय के रूप में ग्रहण करके विभिन्न अवसरों पर विविध प्रकार से इसके चामत्कारिक तथा अद्भुत प्रयोग किए हैं और जैन कथाकारों ने तो इसे अपना सर्वाधिक प्रिय अभिप्राय बना लिया था। हर अर्हत अथवा चक्रवर्तिन् की उत्पत्ति के पूर्व उसकी माता कोई पवित्र और श्रेष्ठ कार्य करने की दोहदकामना करती दिखाई पड़ती है। 'समरादित्य संक्षेप' और इसके आधार पर प्राकृत भाषा में रचित 'समराइच्च कहा' में प्रमुख संभ्रांत व्यक्तियों के पुनर्जन्मों के अवसरों पर लगभग सभी गर्भिणी स्त्रियाँ दोहदकामना व्यक्त करती है। अन्य अनेक कथाओं में भी कथा को नया मोड़ देने के लिये नायिकाएँ चंद्रपान करने की, पति के रक्त में स्नान करने की अथवा किसी रक्तवापी में स्नान करने की इच्छा व्यक्त करती देखी जाती हैं। नायक कृत्रिम रक्तवापी बनवाकर प्रिया को उसमें स्नान करवाता है। वापी से बाहर निकलने पर ऊपर से नीचे तक रक्तस्नात स्त्री को आकाश में मँडराता कोई भरुंड, गरुड़ अथवा गिद्ध मांसपिंड समझकर चोंच में दबाकर उड़ा ले जाता है। तत्पश्चात् नायक को उसे पाने के लिये अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। कहीं राक्षसों से मुठभेड़ होती है तो कहीं किसी मंत्रविद् से

निपटना पड़ता है और अंत में वह पत्नी को पा लेता है। इस प्रकार कथानक एक नई दिशा प्राप्त करके ही सामने नहीं आता, उसमें अनेक रोमांचक एवं अद्भुत घटनाओं का संनिवेश भी हो जाता है। केवल यही नहीं, कथा आरंभ करने एवं उसको चामत्कारिक ढंग से समाप्त करने में भी इन कथानक अभिप्रायों से पर्याप्त सहायता ली जाती है। कोई हंस अथवा शुक नायक के हाथ लग जाता है और किसी सुंदरी का रूपगुण वर्णन करके उसे प्रेमातुर बना देता है। प्रेमिका को पाने के लिये नायक योगीवेश में निकल पड़ता है। इस प्रकार कथा का सुप्रारंभ होता है जो उत्तरोत्तर कौतूहलपूर्ण एवं जिज्ञासापूर्ण बनता जाता है। कथा का चामत्कारिक अंत करने के लिये बहुत बार नायक की अनुपस्थिति में किसी मनचले अथवा विषयी राजा या राजकुमार की ओर से कोई कुट्टनी नायिका के पास भेज दी जाती है। किंतु नायिका सत् से नहीं डिगती। नायक के लौट आने पर वह उक्त घटना उसे सुनाती है जिससे आगबबूला होकर नायक प्रतिद्वंद्वी से युद्ध ठान देता है और समरांगण में शत्रु को मारने में इतना घायल हो जाता है कि उसके स्वयं के प्राण भी नहीं बचते और नायिका उसके शव के साथ सती हो जाती है। पर-काय-प्रवेश आदि कुछ अभिप्रायों में संपूर्ण कथा का संघटन करने की क्षमता भी रहती है।

द्विवेदी जी के उपर्युक्त कथन से तीसरा सूत्र यह प्राप्त होता है कि 'दीर्घकाल से व्यवहृत होनेवाले ये अभिप्राय थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक रूढ़ियों में बदल जाते हैं।' प्रस्तुत पंक्तियों को सरसरी तौर पर देखने से ऐसा आभास होता है कि 'कथानक अभिप्राय' और 'कथानक रूढ़ि' भिन्नार्थक हैं। किंतु जरा गहरे पैठने पर यह भ्रम छिन्न भिन्न हो जाता है, क्योंकि आरंभ में किसी भी अभिप्राय का प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य को लेकर किया जाता है और ऐसा करते समय उक्त अभिप्राय के मूल में वास्तविकता की कोई न कोई मात्रा अवश्य रहती है। पश्चात् कल्पना के संयोजन से उक्त अभिप्राय को उत्तरोत्तर ऐसा रूप मिलता चला जाता है कि उसमें विश्वसनीय तत्व की मात्रा पर्याप्त विरल हो जाती है परंतु उसका संभावनापक्ष अभी भी पर्याप्त मुखर रहता है और रचयिता-वर्ग सत्यासत्य अन्वेषण से निरपेक्ष रहकर अपनी अनुकरणप्रवृत्ति के कारण उपयुक्त अवसरों पर अभीष्ट प्रयोजनार्थ उसका प्रयोग करता ही रहता है। इसी स्तर पर कथानक अभिप्राय कथानक रूढ़ि में बदल जाता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कथानक रूढ़ि मात्र रूढ़ि होकर रह जाती है। कथानक अभिप्राय के समान ही कथानक रूढ़ि का भी अभिप्रायपक्ष पूर्णरूपेण सक्रिय रहता है, कथा या आख्यान को आगे बढ़ाने, उसे कोई नवीन मोड़ देने या चामत्कारिक ढंग से समाप्त करने की उसकी क्षमता में कोई अंतर नहीं पड़ता। इस दृष्टि से ये दोनों एक दूसरे के पर्याय रहते हैं। 'कथानक अभिप्राय' को 'कथानक रूढ़ि' नाम देने में तात्पर्य केवल इतना रहता है कि इससे यह भी स्पष्ट हो जाए कि इसका प्रयोग चलन या परंपरा के आधार पर भी किया गया रहता है। उदाहरणार्थ, हंस, कपोत, शुक आदि के पैर या ग्रीवा में पत्र बाँधकर प्रिय अथवा प्रिया के पास संदेश भेजने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः आरंभ में कथाकारों ने यथावत् इसे अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त किया होगा। पश्चात् शुकादि द्वारा थोड़ा बहुत मानववाणी का अनुकरण कर लेने की क्षमता के आधार पर संभावना का सहारा लेकर बहुत से पक्षियों को मानववाणी में मौलिक संदेशवाहक के रूप में दिखाया जाने लगा। इतना ही नहीं, आगे चलकर उन्हें शास्त्रज्ञ, मुखर पंडित और परामर्शदाता के रूप में प्रयुक्त कर लेने में भी हिचकिचाहट न रही। जायसी कृत पद्मावत का 'हीरामन' शुक प्रमाण है। निष्कर्षतः, आरंभ में यथार्थ रहने पर भी 'संदेशवाहक पक्षी' नामक अभिप्राय दीर्घ काल तक व्यवहृत होते रहने के बाद न केवल यथार्थ से दूर ही चला गया अपितु उसका प्रयोग भी हर प्रेमी प्रेमिका के बीच संदेशवाहक, प्रेमसंघटक, मार्ग-निर्देशक आदि के रूप में बार बार किया जाने लगा। यही बात अन्य सभी अभिप्रायों के लिये भी सत्य है। प्रयोग संबंधी इस रूढ़ि का पालन करने के कारण ही 'कथानक अभिप्राय' को 'कथानक रूढ़ि' कह लेने में कोई अनौचित्य नहीं रह जाता।

कथानक रूढ़ि जहाँ कथानक को गति या घुमाव देने अथवा चामत्कारिक ढंग से समाप्त करने आदि में असमर्थ रहती है वहाँ उसे कथारूढ़ि या मात्र रूढ़ि कहा जाएगा, कथानक रूढ़ि नहीं। उदाहरणस्वरूप नूर मुहम्मद कृत इंद्रावती के पूर्वार्ध में इंद्रावती से विवाह करने के लिये समुद्र से मोती निकाल लाने का अनुबंध 'कथानक रूढ़ि' है क्योंकि उसी को पूरा करने जाने के कारण राजकुँवर को दुर्जनराय का बंदी बनना पड़ा और बुद्धसेन तथा इंद्रावती दोनों ने प्रयत्न करके कृपा नामक राजा के द्वारा दुर्जनराय का नाश करवाकर राजकुँवर को कैद से मुक्त करवाया। कथा का विस्तार भी हुआ और उसे एक नया मोड़ भी मिला। लेकिन रसरतन में ऐसी कोई शर्त न रहने से स्वयंवर में रंभा सूरसेन का सीधे वरण कर लेती है। कथा को इससे न कोई गति मिलती है और न ही किसी प्रकार का घुमाव अथवा विस्तार। अतः यहाँ स्वयंवर या विवाह एक कथारूढ़ि या रूढ़ि भर है जिसका आयोजन केवल कथा के कालानुक्रमिक वर्णन को व्यवस्थित रखने के लिये ही किया गया है।

कथानक रूढ़ि या कथानक अभिप्राय का संबंध विशुद्ध रूप से कथा के वस्तुशिल्प (प्लाट कॉन्स्ट्रक्शन) या ढाँचे (फ़ार्म) से रहता है। लेकिन काव्य अभिप्राय इससे बिल्कुल भिन्न कथा या काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष से संबंधित होते हैं। सादृश्य के आधार पर निर्मित रूढ़ियों का संबंध भी अभिव्यक्ति पक्ष से ही है परंतु इनका कार्य सादृश्य के आधार पर अर्थबोध या भावबोध कराना मात्र है। नगर, उपवन, आश्रम, नखशिख, ऋतुवर्णन, बारहमासा आदि वर्णनात्मक या नियम संबंधी रूढ़ियाँ भी कथा या काव्य के बाह्याकार से संबंध रखती हैं। लेकिन ये कविनियम मात्र हैं या इन्हें वर्णनरूढ़ि भी कह सकते हैं और इनसे उन सधे हुए संकेतों को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जो काव्य अभिप्रायों या कथानक रूढ़ियों के माध्यम से थोड़े में बहुत कुछ द्योतित करने की क्षमता रखते हैं।

(कै० चं० श०)

कथावत्थु स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स की लिखी हुई एक स्थविरवादी रचना है जिसका समय लगभग तीसरी शताब्दी ई० पू० माना जाता है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने संघ के अनुशासन का उल्लंघन किया और 'महासंघिक' नामक संप्रदाय की स्थापना की जिसमें पाँच और शाखाओं का उद्भव बाद में हुआ। पहले जिस बौद्ध धर्म को प्रथम संगीति में एक निश्चित रूप प्राप्त हुआ था, उसमें अशोक के समय तक आते आते ११ संप्रदाय और उदित हो गए थे। इस प्रकार सब मिलाकर, ऐसा माना जाता है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी तक बौद्ध धर्म में कुल १८ संप्रदाय प्रचार में आ चुके थे। इतने वैभिन्य और विवाद को देखकर मूल बौद्ध धर्म की स्थापना के लिये अशोक ने बुद्ध के महापरिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद २५३ अथवा २४६ ई० पू० में पाटलिपुत्र में बौद्ध भिक्षुओं की एक सभा बुलाई, जिसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने १८ निकायों में से केवल थेरवाद या स्थविरवाद को मूल बौद्ध धर्म मानकर शेष १७ निकायों के दार्शनिक सिद्धांतों का निराकरण किया और उसे कथावत्थुप्पकरण नामक ग्रंथ में प्रस्तुत किया। यह ग्रंथ उसी समय से अभिधम्मपिटक का अंग माना जाने लगा। इस ग्रंथ में विरोधी संप्रदायों के २१६ सिद्धांतों का खंडन है जिसे २३ अध्यायों में विभक्त किया गया है, किंतु उक्त विरोधी संप्रदायों का नामोल्लेख इसमें नहीं मिलता। उन संप्रदायों के नामों का पता पाँचवीं शताब्दी में आचार्य बुद्धघोष द्वारा लिखित 'कथावत्थु अट्ठकथा' (कथावस्तु अर्थकथा) नामक ग्रंथ से लगता है जिसमें निराकृत २१६ सिद्धांतों को १७ संप्रदायों से पृथक् पृथक् रूप में संबद्ध भी किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि कथावत्थु में कुछ अशोकपरवर्ती संप्रदायों के भी दार्शनिक सिद्धांतों का निराकरण मिलता है। यह तो पूर्णतया स्पष्ट है कि कथावत्थु में संप्रदायों के नामों का उल्लेख नहीं है। अतः यह अनुमान स्वाभाविक है कि मोग्गलिपुत्त तिस्स के समय में जो सिद्धांत जीवित थे, वे ही बाद में संप्रदाय रूप में विकसित हो गए। इस कथावत्थु का अनुवर्तन बाद के दीपवंस और महावंस जैसे ग्रंथों में मिलता है। प्रथम ईस्वी शताब्दी में रचित मिलिंद पञ्हों नाम के प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ के उपदेष्टा भदंत नागसेन के ऊपर भी कथावत्थु का पर्याप्त प्रभाव माना जाता है। अनेक लोगों का मत है कि मिलिंद पञ्हों के रचयिता भदंत नागसेन ही थे। इस प्रकार कथावत्थु का महत्व स्थविरवादी सिद्धांत, तद्विरोधी मतों के सैद्धांतिक परिचय, उनके उदय के इतिहास आदि की दृष्टि से सर्वथा स्वीकार्य है। (ना० ना० उ०)

कथावाचक राधेश्याम द्र० 'राधेश्याम कथावाचक'।

कथासरित्सागर कथा साहित्य का शिरोमणि ग्रंथ। इसकी रचना कश्मीर में पंडित सोमदेव (भट्ट) ने त्रिगर्त अथवा कुल्लू कांगड़ा के राजा की पुत्री, कश्मीर के राजा अनंत की रानी सूर्यमती के मनोविनोदार्थ १०६३ ई० और १०८२ ई० के मध्य संस्कृत में की। कथासरित्सागर में २१,३८८ पद्य हैं और इसे १२४ तरंगों मे बाँटा गया है। इसका एक दूसरा संस्करण भी प्राप्त है जिसमें १८ लंबक हैं। लंबक का मूल संस्कृत रूप लंभक था। विवाह द्वारा स्त्री की प्राप्ति 'लंभ' कहलाती थी और उसी की कथा के लिये लंभक शब्द प्रयुक्त होता था। इसीलिये रत्नप्रभा लंबक, मदनमंचुका लंबक, सूर्यप्रभा लंबक आदि अलग अलग कथाओं के आधार पर विभिन्न शीर्षक दिए गए होंगे।

कथासरित्सागर गुणाढ्यकृत बड्डकहा (बृहत्कथा) पर आधृत है जो पैशाची भाषा में थी। सोमदेव ने स्वयं कथासरित्सागर के आरंभ में कहा है: "मैं बृहत्कथा के सार का संग्रह कर रहा हूँ।" बड्डकहा की रचना गुणाढ्य ने सातवाहन राजाओं के शासनकाल में की थी जिनका समय ईसा की प्रथम द्वितीय शती के लगभग माना जाता है। आंध्र-सातवाहन-युग में भारतीय व्यापार उन्नति के चरम शिखर पर था। स्थल तथा जल मार्गो पर अनेक सार्थवाह नौकाएँ और पोतसमूह दिन रात चलते थे। अतः व्यापारियों और उनके सहकर्मियों के मनोरंजनार्थ, देश-देशांतर-भ्रमण में प्राप्त अनुभवों के आधार पर अनेक कथाओं की रचना स्वाभाविक थी। गुणाढ्य ने सार्थो, नाविकों और सांयात्रिक व्यापारियों में प्रचलित विविध कथाओं को अपनी विलक्षण प्रतिभा से गुंफित कर, बड्डकहा के रूप मे प्रस्तुत कर दिया था।

मूल बड्डकहा अब प्राप्य नहीं है, परंतु इसके जो दो रूपांतर बने, उनमें चार अब तक प्राप्त हैं। इनमें सबसे पुराना बुधस्वामीकृत बृहत्कथा श्लोकसंग्रह है। यह संस्कृत में है और इसका प्रणयन, एक मत से, लगभग ईसा की पाँचवी शती में तथा दूसरे मत से, आठवी अथवा नवी शती में हुआ। मूलतः इसमें २८ सर्ग तथा ४,५३९ श्लोक थे किंतु अब यह खंडशः प्राप्त है। इसके कर्ता बुधस्वामी ने बृहत्कथा को गुप्तकालीन स्वर्णयुग की संस्कृति के अनुरूप ढालने का यत्न किया है। बृहत्कथा श्लोकसंग्रह को विद्वान् बृहत्कथा की नेपाली वाचना मानते हैं किंतु इसका केवल हस्तलेख ही नेपाल में मिला है, अन्य कोई नेपाली प्रभाव इसमें दिखाई नहीं पड़ता।

बृहत्कथा के मूल रूप का अनुमान लगाने के लिये संघदासगणिकृत वसुदेव हिंडी का प्राप्त होना महत्वपूर्ण घटना है। इसकी रचना भी बृहत्कथा श्लोकसंग्रह के प्रायः साथ ही या संभवतः १०० वर्ष के भीतर हुई। वसुदेव हिंडी का आधार भी यद्यपि बृहत्कथा ही है, तो भी ग्रंथ के ठाट और उद्देश्य में काफी फेर बदल कर दिया गया है। बृहत्कथा मात्र लौकिक कामकथा थी जिसमें वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के विभिन्न विवाहों के आख्यान थे, लेकिन वसुदेव हिंडी में जैन धर्म संबंधी अनेक प्रसंग संमिलित करके, उसे धर्मकथा का रूप दे दिया गया है। इतना ही नहीं, इसका नायक नरवाहनदत्त न होकर, अंधक वृष्णि वंश के प्रसिद्ध पुरुष वसुदेव है। 'हिंडी' शब्द का अर्थ पर्यटन अथवा परिभ्रमण है। वसुदेव हिंडी में २९ लंबक हैं और महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में गद्य शैली के माध्यम से लगभग ११,००० श्लोक प्रमाण की सामग्री में वसुदेव के १०० वर्ष के परिभ्रमण का वृत्तांत है जिसमें वे २९ विवाह करते हैं। सब कुछ मिलाकर लगता है कि वसुदेव हिंडी बृहत्कथा का पर्याप्त प्राचीन रूपांतर है।

वसुदेव हिंडी के अनंतर क्षेमेंद्र कृत बृहत्कथामंजरी का स्थान है। क्षेमेंद्र कश्मीर नरेश अनंत (१०२९-१०६४) की सभा के सभासद् थे। उनका मूल नाम व्यासदास था। रामायणमंजरी, भारतमंजरी, अवदान-कल्पलता, कलाविलास, देशोपदेश, नर्ममाला और समयमातृका नामक ग्रंथों में क्षेमेंद्र की प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप मिलता है। क्षेमेंद्रकृत बृहत्कथा-मंजरी में १८ लंबक हैं और उनके नाम भी सोमदेव के लंबकों मे मिलते हैं। इसमें लगभग ७,५४० श्लोक है और लेखक ने शब्दलाघव के माध्यम से संक्षेप में सुरुचिपूर्ण प्रेमकथाएँ प्रस्तुत की है जिनका मूलाधार बृहत्कथा की कहानियाँ ही हैं।

कथासरित्सागर में पहला लंबक कथापीठ है। गुणाढ्य कवि संबंधी कथानक उसका विषय है जिसमें पार्वती के शाप से शिव का गण पुष्पदंत वररुचि कात्यायन के रूप में जन्म लेता है और उसका भाई माल्यवान् गुणाढ्य के नाम से उत्पन्न होता है। वररुचि विंध्यपर्वतमाला में काण-भूति नामक पिशाच को शंकर द्वारा पार्वती को सुनाई गई सात कथाएँ सुनाता है। गुणाढ्य काणभूति से उक्त कथाएँ सुनकर बृहत्कथा की रचना करता है जिसके छह भाग आग में नष्ट हो जाते हैं और केवल सातवाँ भाग ही शेष बचता है जिसके आधार पर कथासरित्सागर की रचना की जाती है। दूसरा लंबक कथामुख और तीसरा लावणक है जिसमें वत्सराज उदयन, उसकी रानी वासवदत्ता, मंत्री यौगंधरायण, पद्मावती आदि की कथाएँ हैं। चौथे लंबक में नरवाहनदत्त का जन्म है। शेष चतुर्दारिका, मदनमंचुका, रत्नप्रभा, सूर्यप्रभा, अलंकारवती, शक्तियशस्, वेला, शशांक-वती, मदिरावती, पंच, महाभिषेक, सुरतमंजरी, पद्मावती तथा विषमशील इत्यादि लंबकों में नरवाहनदत्त के साहसिक कृत्यों, यात्राओं, विवाहों आदि की रोमांचक कथाएँ हैं जिनमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं तथा नगरों, राजतंत्र एवं षड्यंत्र, जादू और टोने, छल एवं कपट, हत्या और युद्ध, रक्तपायी वेताल, पिशाच, यक्ष और प्रेत, पशुपक्षियों की सच्ची और गढ़ी हुई कहानियाँ एवं भिखमंगे, साधु, पियक्कड़, जुआरी, वेश्या, विट तथा कुट्टनी आदि की विविध कहानियाँ संकलित हैं। इतना ही नहीं, 'वेताल पंचविंशति' की २५ कहानियाँ तथा पंचतंत्र की भी अनेक कहानियाँ इसमें मिल जाती हैं। सी० एच० टानी और एन० एम० पेंजर ने कथासरित्सागर का एक प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद (१९२४-२८ ई०) १० भागों में 'दि ओशन ऑव स्टोरी' नाम से प्रकाशित करवाया है जिसमें अनेक पादटिप्पणियों तथा निबंधों के माध्यम से भारतीय कथाओं एवं कथानक रूढ़ियों पर बहुमूल्य सामग्री जुटाई गई है।

फ्रेंच विद्वान् लोकात ने 'गुणाढ्य एवं बृहत्कथा' नामक अपनी पुस्तक (१९०८ ई० में प्रकाशित) में लिखा है: "अपने दो काश्मीरी रूपांतरों (कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी) में गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा अत्यंत भ्रष्ट एवं अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध है। इन ग्रंथों में अनेक स्थलों पर मूल ग्रंथ का संक्षिप्त सारोद्धार कर दिया गया है, और इनमें मूल ग्रंथ के कई अंश छोड़ भी दिए गए हैं एवं कितने ही नए अंश प्रक्षेप रूप में जोड़ दिए गए हैं। इस तरह मूल ग्रंथ की वस्तु और आयोजना में बेढंगे फेरफार हो गए। फलस्वरूप, इन काश्मीरी कृतियों में कई प्रकार की असंगतियाँ आ गई और जोड़े हुए अंशों के कारण मूल ग्रंथ का स्वरूप पर्याप्त भ्रष्ट हो गया। इस स्थिति में बुधस्वामी के ग्रंथ में वस्तु की आयोजना द्वारा मूल प्राचीन बृहत्कथा का सच्चा चित्र प्राप्त होता है। किंतु खेद है कि यह चित्र पूरा नहीं है, क्योंकि बुधस्वामी के ग्रंथ का केवल चतुर्थांश ही उपलब्ध है। इसलिये केवल उसी अंश का काश्मीरी कृतियों के साथ तुलनात्मक मिलान शक्य है।"

अंत में कहा जा सकता है कि सोमदेव ने सरल और अकृत्रिम रहते हुए आकर्षक एवं सुंदर रूप में कथासरित्सागर के माध्यम से अनेक कथाएँ प्रस्तुत की हैं जो निश्चित ही भारतीय मनीषा का एक अन्यतम उदाहरण है। (कै० चं० श०)

कथासाहित्य (संस्कृत) संस्कृत भाषा में निबद्ध कथाओं का प्रचुर साहित्य है जो सैकड़ों वर्षो से मनोरंजन करता हुआ उपदेश देता आ रहा है। पश्चिमी देशों में कथाएँ तीन श्रेणियों में विभक्त की जाती हैं—१. फ़ेअरी टेल्स (परियों की कहानियाँ), २. फ़ेबुल्स (जंतुकथाएँ) तथा ३. डायडेक्टिक टेल्स (उपदेशमयी कहानियाँ)। संस्कृत साहित्य में इन तीनों प्रकार की कहानियों के उदाहरण मिलते हैं जो कथासाहित्य से संबद्ध ग्रंथों के आलोचन से स्पष्ट हो जाता है।

'कथा' का मूल स्रोत—कथाओं के मूल स्रोत की खोज के लिये वैदिक संहिताओं का अनुशीलन आवश्यक है। ऋग्वेद की मंत्रसंहिता में अनेक रोचक कहानियों की सूचना मिलती है जिनका परिबृंहण शौनक ने 'बृह-द्देवता' में, षड्गुरुशिष्य ने 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थदीपिका में, यास्क ने निरुक्त में, सायण ने अपने वेदभाष्यों में तथा स्याद्विवेद ने नीति-

मंजरी' (रचनाकाल १५वीं शती का अंत) में किया है (द्र० 'आख्यान')। यहीं से ये कथाएँ पुराणों के माध्यम से होकर जनता के मनोरंजन तथा शिक्षण के निमित्त लौकिक संस्कृत साहित्य में अवतीर्ण हुई।

प्रधान ग्रंथ—इस साहित्य के प्रधान ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :

क. पंचतंत्र—संस्कृत की कहानियों का यही सर्वश्रेष्ठ तथा प्राचीन संग्रह है। ग्रंथकार का उद्देश्य आरंभ से ही रोचक कथाओं के द्वारा नीति तथा सदाचार का शिक्षण रहा है। दक्षिण में महिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति राजा के मूर्ख पुत्रों को नीति तथा व्यवहार की शिक्षा देने के लिये विष्णु शर्मा ने इस ग्रंथरत्न का प्रणयन किया। इसके अनेक संस्करण भिन्न भिन्न शताब्दियों में तथा भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों में होते रहे हैं जिनका सांगोपांग अध्ययन कर जर्मनी के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डॉ० हर्टेल ने इसके विकास की चार श्रेणियाँ बतलाई है। पंचतंत्र का सबसे प्राचीन रूप 'तंत्राख्यायिका' में सुरक्षित है जिसका मूल स्थान कश्मीर है। पंचतंत्र के विभिन्न चार संस्करण आज उपलब्ध हैं—१. पंचतंत्र का पहलवी (पुरानी फारसी) अनुवाद, २. गुणाढ्य की बृहत्कथा में अंतर्निविष्ट रूप, ३. दक्षिणी पंचतंत्र, नेपाली पंचतंत्र तथा हितोपदेश के द्वारा निर्दिष्ट संस्करण, ४. वर्तमान परिवर्धित जैन संस्करण। 'तंत्राख्यायिका' या 'तंत्राख्यान' में कथाओं की रूपरेखा बहुत ही परिमित है। नीतिमय पद्यों का संकलन बहुत ही संक्षिप्त तथा औचित्यपूर्ण है। पहलवी अनुवाद का यही मूल रूप है जिसकी रचना चतुर्थ शती में की गई थी। आजकल उपलब्ध पंचतंत्र पूर्णभद्र नामक जैन विद्वान् के परिबृंहण और परिवर्धन का परिणत फल है। इन्होंने १२५५ विक्रमी (११९९ ई०) में मूल ग्रंथ का आमूल संशोधन किया तथा नीति के पद्यों का समावेश कर इसे भरा पूरा बनाया। पंचपंत्र से प्राचीनतर कहानियों का संग्रह 'बौद्ध जातकों' में उपलब्ध होता है जो संख्या में ५५० हैं तथा जिनमें भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मों की कथाएँ दी हैं और जो मूलतः पालि भाषा में हैं।

इन कहानियों का रूपगत वैशिष्ट्य यह है कि एक बड़ी कहानी के भीतर छोटी कहानियाँ एक के भीतर एक उसी रूप में गूँथी गई है जिस प्रकार चीन देश के बाक्स में बड़े बाक्स के भीतर छोटे बाक्स एक के भीतर एक बनाए जाते हैं। पंचपंत्र के पाँचों प्रकरणों में पाँच ही मुख्य कहानियाँ है जिनके भीतर अवांतर कहानियाँ प्रसंग के अनुसार निविष्ट की गई हैं।

ख. हितोपदेश—संस्कृत के कथासाहित्य में अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। रोचक होने के अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से इतना सरल तथा सुबोध है कि भारत में तथा पश्चिमी देशों में संस्कृत भाषा सीखने के लिये यह पहली पुस्तक है। इसके रचयिता नारायण पंडित है जिनके आश्रयदाता बंगाल के राजा धवलचंद्र थे। रचना का काल १४वीं शती है।

ग. बृहत्कथा—पैशाची भाषा में निबद्ध प्राचीन ग्रंथ है जिसकी कहानियों की जानकारी हमें इसके संस्कृत अनुवादों से होती है (द्र० 'गुणाढ्य')।

घ. वेताल पंचविंशति—(बैतालपचीसी)—इस कथाचक्र का संबंध राजा विक्रमादित्य के अलौकिक तथा शौर्यमंडित जीवन से है। कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामंजरी में ये पचीसों कहानियाँ प्रायः एक रूप में उपलब्ध होती हैं। इसके अनेक लोकप्रिय संस्करण संस्कृत गद्य-पद्य में मिलते हैं। शिवदासरचित 'पंचविंशति' में कथाएँ अधिकतर गद्य में वर्णित हैं, परंतु बीच बीच में उसे श्लोकों के उद्धरणों से परिपुष्ट किया गया है। जंभलदत्त का संस्करण बिल्कुल गद्यात्मक है। कहानियों में स्थल स्थल पर अंतर होने पर भी यह संस्करण कश्मीरी संस्करण से विशेष मिलता है। ये कहानियाँ मनोरंजक, ज्ञानवर्धक और कौतूहलजनक हैं जिनमें राजा विक्रमादित्य की अलोकसामान्य चातुरी तथा वीरता का वर्णन बड़े सुंदर ढंग से किया गया है।

ङ. सिंहासन द्वात्रिंशिका (सिंहासनबतीसी)—भी राजा विक्रम के चरित से संबद्ध है और इसीलिये इसका नाम 'विक्रमचरित' भी है। जैन मुनि क्षेमकर का संस्करण उत्तरी वाचनिका का प्रतिनिधि माना जाता है जिसके ऊपर बंगाली संस्करण आश्रित है। दक्षिण भारत में ये ही कहानियाँ 'विक्रमचरित' नाम से प्रख्यात हैं। डॉ० हर्टेल की दृष्टि में जैन विवरण ही मूल ग्रंथ के समीप आता है, परंतु डॉ० एड्गर्टन के विचार से दक्षिणी वाचनिका ही मौलिक तथा प्राचीनतर है। दोनों संस्करण १३वीं शती से प्राचीन नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में हेमाद्रि (१३ शतक) के 'दानखंड' का उल्लेख मिलता है।

च. शुकसप्तति—की कहानियाँ कम रोचक नहीं हैं जिनमें कोई सुग्गा अपने गृहस्वामी के परदेश चले जाने पर परपुरुषों के आकर्षणजाल से अपनी स्वामिनी को बचाता है। इसकी विस्तृत वाचनिका के लेखक कोई चिंतामणि भट्ट हैं जिनका समय १२ शतक से पूर्ववर्ती होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने इस ग्रंथ में पूर्णभद्र के द्वारा संस्कृत 'पंचतंत्र' का स्थान स्थान पर उपयोग किया है।

इन कथाओं के अतिरिक्त अनेक जैन तथा बौद्ध कहानियों के संग्रह उपलब्ध हैं। जैन लोग कहानियों की रचना में बड़े पटु थे और इस साहित्यिक काव्यरूप को उन्होंने अपने धर्मप्रचार का समर्थ साधन बनाया था। भरटक द्वात्रिंशिका तथा कथारत्नाकर की कहानियाँ इसी कोटि की हैं। 'जैन प्रबंधों' में भी लोकप्रिय कहानियाँ खोजी जा सकती हैं। बौद्ध साहित्य में कथासाहित्य का एक विशाल संग्रह है जो 'अवदानों' के नाम से प्रख्यात है (द्र० 'अवदान')। मध्ययुग में भी कहानियों की रचना होती रही है। ऐसी कहानियों का मध्ययुगीन संग्रह मैथिलकोकिल विद्यापति (१४वीं शती) के मनोरम ग्रंथ 'पुरुषपरीक्षा' में उपलब्ध होता है। इस प्रकार संस्कृत का कथा साहित्य नाना ग्रंथों में अपना वैभव बिखेर रहा है तथा अपने प्रभाव से विश्व के शिष्ट साहित्य को अपना अनवरत ऋणी बना रहा है।

भारतीय कहानियों की विदेशयात्रा—संस्कृत का कथासाहित्य और विशेषतः पंचतंत्र, विश्वसाहित्य को भारत की देन है। ये कहानियाँ भारत के निवासियों का ही शिक्षण और मनोरंजन नहीं करतीं, प्रत्युत विश्व के सभ्य साहित्य का अंग बनकर नाना देशों के निवासियों का भी मनोरंजन करती हैं। भारतीय कथा की विदेशयात्रा की यह रामकहानी बड़ी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है। फारस के प्रसिद्ध सम्राट् खुसरो नौशेरवाँ (५३१ ई०-५७९ ई०) के राज्यकाल में पंचतंत्र की कहानियाँ पहलवी भाषा (पुरानी) में प्रथमतः ५३३ ई० में अनूदित की गई। अनुवादक का नाम था हकीम बुरजोई। प्रथम तंत्र के शृगालबंधुओं—करटक और दमनक—के नाम पर यह अनुवाद 'कलेलाह-व-दिमनाह' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ५६० ई० में 'बुद' नामक एक ईसाई संत ने इस पहलवी अनुवाद को सीरियाई भाषा में रूपांतरित किया। ७५० ई० में सीरियाई से अरबी अनुवाद करने का श्रेय प्राप्त है अब्दुल्ला-बिन-अलमुकफ्फा को, जो स्वयं तो मुसलमान था, परंतु जिसका पिता पारसी था। इस अनुवाद के भी अनेक अनुवाद लैटिन, ग्रीक, स्पेनिश, इतालीय, जर्मन तथा अंग्रेजी भाषाओं में भिन्न भिन्न शताब्दियों में होते रहे और इस प्रकार ये कहानियाँ १९वीं शती से पूर्व ही यूरोप के विभिन्न देशों में घर कर गई। उन देशों के निवासियों को इनके भारतीय होने का तनिक भी भान नहीं था। ये 'पिदापई' की कहानियों के नाम से सर्वत्र विख्यात हो गई। यूनान के प्रख्यात कथासंग्रह 'ईसप फ़ेबुल' तथा अरब की मनोरंजक कहानियों (अलिफ़लैला) की आधारभूत ये ही भारतीय कथाएँ हैं। यूरोप तथा अरब के निवासी इन्हें अपने साहित्य की निधि मानते थे। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई संतों की श्रेणी में विराजने लगे। यूरोप के मध्ययुग की एक विख्यात कहानी थी—बरलाम और जोजेफ़ की कहानी जिसमें जोजेफ़ ने अपने उपदेशों से बरलाम नामक राजा को ईसाई मत में दीक्षित कर लिया। इसमें जोजेफ़ नाम 'बुदसफ़' के रूप में 'बोधिसत्व' का ही अपभ्रंश है और जोजेफ़ स्वयं बुद्ध ही है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इन्हीं कहानियों की कृपा से बुद्ध अपने से विरोधी धर्म के मान्य संत के रूप में ईसाई धर्म में गृहीत हैं।

यह तो हुई मध्ययुग में भारतीय कथाओं की पश्चिमी देश की यात्रा। इससे भी पहले सुदूर प्राचीन काल में भी हिब्रू (यहूदी) लोगों को इन कहानियों का परिचय मिल चुका था। 'सुलेमान का न्याय' (सालोमंस जजमेंट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भी भारतीय है। बाइबिल की अनेक कथाएँ

मूलतः भारतीय हैं। प्रसिद्ध यूनानी सम्राट् सिकंदर के विषय की वह लोकप्रिय कहानी भी भारतीय ही है जिसमें उसकी माता के तीव्र पुत्रशोक को कम करने के लिये किसी तत्ववेत्ता ने ऐसे घर से सरसों लाने को कहा था जहाँ किसी की कभी मृत्यु नहीं हुई थी। ऐसी सरसों की खोज में निराश होने पर ही उस वृद्धा को देह की नश्वरता की व्यावहारिक शिक्षा मिली थी। यह कथा भी भगवान् बुद्ध द्वारा 'किसा गोतमी' (कृशा गौतमी) को दिए गए उपदेश को प्रतिध्वनित करती है। इतना ही नहीं, षष्ठ शती से पूर्व ही ये भारतीय कथाएँ चीन देश के दो अत्यंत प्राचीन विश्वकोशों में अनूदित की गई उपलब्ध होती हैं। फलतः समस्त सभ्य संसार के लोग प्राचीन तथा मध्ययुग में इन भारतीय कहानियों से आनंद उठाते थे और अपने जीवन को सुखमय बनाते थे। मध्ययुग का एक प्रख्यात कथाचक्र था जो इटली देश के कवि पेत्रार्क के विश्वविश्रुत कथाग्रंथ 'डेकामेरों' में आज भी सुरक्षित है। आलोचकों से यह बात परोक्ष नहीं है कि शेक्सपियर के अनेक नाटकों की कथावस्तु इसी रोचक ग्रंथ से गृहीत है। डेकामेरों की अधिकांश कहानियाँ भारतवर्ष की कहानियों का किंचित् परिवर्धित तथा परिवर्तित रूप है। 'शुकसप्तति' की कहानियाँ भी फारस में बहुत ही प्रख्यात और लोकप्रिय थीं। १३२६–३० में हाफिज और सादी के समकालीन एक लेखक ने 'तूतीनामा' के नाम से फारसी में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका तुर्की भाषा में अनुवाद सौ वर्ष के भीतर ही किया गया। १८वीं शती में कादिरी नामक लेखक ने इसका नया अनुवाद तैयार किया। इस फारसी अनुवाद की बहुत सी कहानियाँ यूरोप में फैल गई। जर्मनी के प्रसिद्ध प्राच्यविद् डॉ० थिओडोर बेनफ़ी ने बड़े अध्यवसाय से भारतीय कहानियों की इस यात्रा का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया है। फलतः विश्वसाहित्य को भारतवर्ष की देनों में कथाओं की देन बड़ी ही व्यापक, रोचक तथा लोकप्रिय है।

सं०ग्रं०—मूल ग्रंथ पूर्णभद्र का पंचतंत्र : संपादक डॉ० हर्टेल, हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज (ग्रं० सं० ११); तंत्राख्यायिका : उसी सीरीज में १३वाँ ग्रंथ, हार्वर्ड (अमरीका); शिवदास की 'वेताल पंचविंशति' : सं० हाइनरिश ऊली, लाइपज़िग, १८८४; जंभलदत्त की वेतालपंचविंशति : सं० एमेनाड, मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद, १९३४; विक्रमचरित : सं० एड्गर्टन, हा० ओ० सी०, १९२६; शुकसप्तति : डा० स्मिड, मूल तथा जर्मन अनुवाद, लाइपज़िग, १८९३ तथा १८९८।

विवेचक ग्रंथ—कीथ : हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, आक्सफ़ोर्ड; इसका हिंदी अनुवाद, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६०; दासगुप्त और दे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता; बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास (षष्ठ सं०) काशी, १९६०। (ब० उ०)

कदंब दक्षिण भारत का एक ब्राह्मण राजवंश। कदंब कुल का गोत्र मानव्य था और उक्त वंश के लोग अपनी उत्पत्ति हारीति से मानते थे। ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार कदंब राज्य का संस्थापक मयूर शर्मन् नाम का एक ब्राह्मण था जो विद्याध्ययन के लिये कांची में रहता था और किसी पल्लव राज्याधिकारी द्वारा अपमानित होकर जिसने चौथी शती ईसवी के मध्य (लगभग ३४५ ई०) प्रतिशोधस्वरूप कर्नाटक में एक छोटा सा राज्य स्थापित किया था। इस राज्य की राजधानी वैजयंती अथवा वनवासी थी। समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय से संत्रस्त पल्लव इस राज्य की स्थापना को रोकने के लिये तत्काल हस्तक्षेप न कर सके। मयूर शर्मन् के पुत्र कंग वर्मन् ने वाकाटक नरेश विंध्यशक्ति द्वितीय (वासिम शाखा) के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया, तो भी उसके राज्य का कुछ क्षेत्र वाकाटकों के अधिकार में चला गया। इस कुल का अन्य शक्तिशाली राजा काकुत्स्थ वर्मन् था जिसने इस वंश के यश तथा राज्यसीमा में पर्याप्त विस्तार किया। छठी शती के आरंभिक दशाब्दों में रवि वर्मन् राजा हुआ जिसने अपनी राजधानी वनवासी से हटाकर पालाशिका अथवा हाल्सी (बेलगाँव जिले में) बनाई। रवि वर्मन् को पल्लवों तथा गंगवंशियों से निरंतर युद्ध करना पड़ा। वातापि के चालुक्यों के उत्कर्ष का कदंब राज्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। चालुक्यराज पुलकेशिन् प्रथम ने कदंबों से उत्तरी प्रांत छीन लिए और पुलकेशिन् द्वितीय ने उनको सर्वथा शक्तिहीन कर डाला। उधर कदंब राज्य के दक्षिण में स्थित गंगराज्य के राजा ने भी अवसर देखकर पुराने वैर का बदला लेने के लिये, आक्रमण किया और कदंबों के दक्षिणी प्रांतों पर अधिकार कर लिया। फिर भी कदंब वंश का अंत न हुआ और १०वीं शती के अंतिम चरण में राष्ट्रकूटों के पतन के बाद उन्होंने एक बार पुनः सिर उठाया। १३वीं शती के अंत तक कदंबों की अनेक छोटी छोटी शाखाएँ दक्कन और कोंकण में राज करती रहीं। धारवाड़ जिले में हंगल और गोआ उनके राज्य के प्रमुख केंद्र थे। इस प्रकार लगभग एक हजार वर्ष तक कदंब दक्षिण के विभिन्न स्थानों पर गिरते पड़ते शासन करते रहे हालांकि उनका असाधारण उत्कर्ष कभी भी संभव न हो सका। (कै० चं० श०)

कदपानल्लूरुह तमिलनाडु राज्य में, तिनेवेली जिले के तेनकासी ताल्लुके का एक प्रमुख कस्बा है। इसकी स्थिति ९° ४' उ० अ० तथा ७७° २०' पू० दे० है।

प्रारंभ से ही यह कस्बा अपने हथकरघा उद्योग के लिये जनपद में प्रसिद्ध रहा है। यहाँ कपड़ा बुनने का काम जुलाहों द्वारा होता है। पहले इस कस्बे का प्रबंध एक पंचायत संघ द्वारा होता था, परंतु अब एक छोटी नगरपालिका इसका स्वायत्त शासन देखती है। (व० प्र० रा०)

कद्रू (कद्रु) दक्ष प्रजापति की कन्या, महर्षि कश्यप की पत्नी। पौराणिक इतिवृत्त है कि एक बार महर्षि कश्यप ने कहा, 'तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो'। कद्रू ने एक सहस्र तेजस्वी नागों को पुत्र रूप में माँगा (म० भा०, आदि०, १६–८)। श्वेत उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ के रंग को लेकर कद्रू तथा विनता में विवाद छिड़ा। कद्रू ने उसे काले रंग का बताया। हारने पर दासी होने की शर्त ठहरी। कद्रू ने अपने सहस्र पुत्रों को आज्ञा दी कि वे काले रंग के बाल बनकर पूँछ में लग जायँ। जिन सर्पों ने उसकी आज्ञा नहीं मानी उन्हें उसने शाप दिया कि पांडववंशी बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजय के सर्पसत्र में प्रज्वलित अग्नि उन्हें जलाकर भस्म कर देगी। शीघ्रगामिनी कद्रू विनता के साथ उस समुद्र को लाँघकर तुरंत ही उच्चैःश्रवा घोड़े के पास पहुँच गई। श्वेतवर्ण के महावेगशाली अश्व की पूँछ के घनीभूत काले रंग को देखकर विनता विषाद की मूर्ति बन गई और उसने कद्रू की दासी होना स्वीकार किया। कद्रू, विनता तथा कद्रू के पुत्र गरुड की पीठ पर बैठकर नागलोक देखने गए। गरुड इतनी ऊँचाई पर उड़े कि सर्प सूर्य ताप से मूर्छित हो उठे। कद्रू ने मेघवर्षा के द्वारा तापशमन करने के लिये इंद्र की स्तुति की। (चं० भा० पां०)

कनकमुनि गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती एक बुद्ध। प्राचीन बौद्ध साहित्य में गौतमबुद्ध के छह पूर्ववर्ती बुद्धों अथवा तथागतों में इनका उल्लेख मिलता है। महावस्तु, कर्मविभंग आदि कुछ ग्रंथों में इनका कोनाकमुनि अथवा कोनाकगमन के नाम से भी उल्लेख किया गया है। इनका नाम, बौद्ध विश्वास के अनुसार, कनकमुनि इसलिये पड़ा कि इनके जन्म के समय जंबूद्वीप भर में स्वर्णवर्षा हुई थी। इनका जन्मस्थान सोदवती था। इनके पिता सैन्यदत्त और माता उत्तरा थीं। अपने पुत्र के जन्म के पश्चात् ये अपने ३०,००० अनुयायियों के साथ राज्य छोड़कर चल पड़े और इन्होंने भिक्षुधर्म स्वीकार कर लिया। कुछ काल की तपस्या के पश्चात् इन्हें बोधि अथवा ज्ञान प्राप्त हो गया। इन्होंने गौतमबुद्ध के आविर्भाव के विषय में भी भविष्यवाणी की थी। ये प्रागैतिहासिक युग के माने जाते है। मेजर फ़ोर्ब्स ने गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती तीन बुद्धों का कालनिर्धारण करने का प्रयत्न किया है (जर्नल ऑव एशियाटिक सोसाइटी, जून, १८३६)। उनके अनुसार ककुच्छंद ३१०१ ई० पू० बुद्ध हुए थे। इस कालगणना के अनुसार कनकमुनि ने २०९९ ई० पू० और काश्यप ने १०१४ ई० पू० बुद्धत्व की प्राप्ति की थी। किंतु स्वाभाविक ही यह सर्वसंमत मत नहीं है। कनकमुनि का मंजुश्रीमूलकल्प, दिव्यावदान, महावस्तु, लंकावतार, ललितविस्तर, कर्मविभंग आदि अनेक प्राचीन

बौद्ध ग्रंथों में अन्य तथागतों, विशेष रूप से, ककुच्छंद और काश्यप के साथ, उल्लेख हुआ है। (रा० शं० मि०)

कनखल उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में स्थित एक कस्बा। यह २९° ५५' उ० अ० और ७८° ११' पू० दे० पर बसा है। जनसंख्या लगभग २५,००० और क्षेत्रफल ६३ एकड़ है। कनखल हरिद्वार से लगभग एक मील दक्षिण और ज्वालापुर से दो मील पश्चिम गंगा के पश्चिमी किनारे पर स्थित है। नगर के दक्षिण में दक्ष प्रजापति का भव्य मंदिर है जिसके निकट सतीघाट के नाम से वह भूमि है जहाँ पुराणों (कूर्म २.३८ अ०, लिंगपुराण १००.८) के अनुसार शिव ने सती के प्राणोत्सर्ग के पश्चात् दक्षयज्ञ का ध्वंस किया था। यह हिंदुओं का एक पुण्य तीर्थस्थल है जहाँ प्रति वर्ष लाखों तीर्थयात्री दर्शनार्थ आते हैं। कनखल में अनेक उद्यान हैं जिनमें केला, आलूबुखारा, लीची, आड़ू, चकई, लुकाट आदि फल भारी मात्रा में उत्पन्न होते हैं। यहाँ के अधिकांश निवासी ब्राह्मण हैं जिनका पेशा प्रायः हरिद्वार अथवा कनखल में पौरोहित्य या पंडागिरी है। (कै० चं० श०)

कनपेड़ (कर्णफेर, गलसुआ अथवा मंप्स) एक संक्रामक रोग है, जो पाव्य विषाणु (छन सकने योग्य विषाणु, filterable virus) के कारण होता है। वैसे तो यह रोग किसी भी अवस्था के मनुष्य को हो सकता है, किंतु बालकों में यह अधिक होता है। इस रोग में कान के आगे तथा नीचेवाली कर्णमूल-ग्रंथियाँ (पैरोटिड ग्लैंड्स, parotid glands) सूज जाती है। रोगी को १०१°–१०२° फा० ज्वर हो जाता है। कभी कभी ताप १०४°–१०५° फा० भी हो जाता है। परंतु साधारणतः ज्वर का ताप १०२° फा० रहता है। ज्वर प्रायः एकाएक होता है या शीतकंपन से आरंभ करके। रोगी की कर्णमूल ग्रंथियों पर और मुख के भीतर लाली हो जाती है। उसे सिर पीड़ा, निर्बलता और अरुचि भी हो जाती है। वह बेचैनी में अंडबंड बकने लगता है। गले में सूजन होने के कारण ग्रीवा को घुमाने और खाद्य पदार्थ चबाने में पीड़ा होती है। सामान्यतः पहले एक पार्श्व की ग्रंथियों में सूजन होती है और एक आध दिन के उपरांत दूसरे पार्श्व में भी सूजन हो जाती है, अथवा दोनों ओर साथ ही साथ सूजन आरंभ होती है। ज्वर तथा सूजन की तीव्रता तीन चार दिन तक रहती है और एक सप्ताह में रोगी ठीक हो जाता है।

रोग का उद्भवनकाल (इनक्यूबेशन पीरीयड, incubation period) साधारणतः २१ दिन का होता है, किंतु कभी कभी यह अवधि घटकर केवल १४ दिन की या बढ़कर ३५ दिन तक की भी हो जाती है। कनपेड़ प्रायः रोगी की नाक के स्राव, राल या थूक से वायु द्वारा फैलता है। यह अति संक्रामक रोग है। स्कूलों, छात्रावासों तथा सैनिक छावनियों में तीव्रता से फैलता है। इस रोग में सबसे अच्छी बात यह होती है कि ग्रंथियों में पूयस्राव नहीं होता और इससे मृत्यु भी नहीं होती।

इसका संक्रमणकाल २१ दिन है। अतः बच्चों को स्कूल, अथवा युवकों को कालेज या विश्वविद्यालय, या अपने काम पर, रोग प्रारंभ होने से तीन सप्ताह तक नहीं जाना चाहिए। घर में एक बच्चे को रोग हो जाने पर माँ की असावधानी से परिवार के प्रायः सब बच्चे इससे पीड़ित हो जाते हैं। यह रोग शीतकाल में अधिक होता है।

उपद्रव—वृषणशोथ (आरकाइटिस, Architis), डिंबशोथ, अग्न्याशयशोथ (पैंक्रिऐटाइटिस, Pancreatitis), मूत्र में ऐल्ब्युमिन और मेनिनजीज (meninges) का प्रदाह (सूजन) हो जा सकता है।

चिकित्सा—रोग के प्रारंभ में मुख की स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। रोगी का बिस्तर गर्म रखना चाहिए और जब तक सूजन दूर न हो जाय हल्का भोजन, दूध, चाय और फल का रस देना चाहिए। ए० पी० सी० नामक टिकिया (टैबलेट) दिन में तीन बार, या सल्फ़ाडाइज़ीन टिकिया दिन में चार बार देना लाभदायक है। इकथिआल-बेलाडोना-ग्लिसरीन (Ichthyol-belladona-glycerine) का सूजन पर लेप करना, उसपर गरम घी लगा रेंड का पत्ता रखकर और उसके ऊपर रूई रखकर बाँध देना भी बहुत हितकर है। (क० दे० व्या०)

कनफटा गोरख संप्रदाय के योगियों का एक वर्ग है। दीक्षा के समय कान छिदवाकर उनमें मुद्रा या कुंडल धारण करने के कारण इन्हें कनफटा कहते हैं। मुद्रा अथवा कुंडल को दर्शन और पवित्री भी कहते हैं। इसी आधार पर कनफटा योगियों को दरसनी साधु भी कहा जाता है। नाथयोगी संप्रदाय में ऐसे योगी, जो कान नहीं छिदवाते और कुंडल नहीं धारण करते, औघड़ कहलाते हैं। औघड़ जालंधरनाथ के और कनफटे मत्स्येंद्रनाथ तथा गोरखनाथ के अनुयायी माने जाते हैं, क्योंकि प्रसिद्ध है कि जालंधरनाथ औघड़ थे और मत्स्येंद्रनाथ एवं गोरखनाथ कनफटे। कनफटे योगियों में विधवा स्त्रियाँ तथा योगियों की पत्नियाँ भी कुंडल धारण करती देखी जाती हैं। यह क्रिया प्रायः किसी शुभ दिन अथवा अधिकतर वसंतपंचमी के दिन संपन्न की जाती है और इसमें मंत्रोपयोग भी होता है। कान चिरवाकर मुद्रा धारण करने की प्रथा के प्रवर्तन के संबंध में दो मत मिलते हैं। एक मत के अनुसार इसका प्रवर्तन मत्स्येंद्रनाथ ने और दूसरे मत के अनुसार गोरक्षनाथ ने किया था। कर्णकुंडल धारण करने की प्रथा के आरंभ की खोज करते हुए विद्वानों ने एलोरा गुफा की मूर्ति, सालीसेटी, एलीफैंटा, आरकाट जिले के परशुरामेश्वर के शिवलिंग पर स्थापित मूर्ति आदि अनेक पुरातात्विक सामग्रियों की परीक्षा कर निष्कर्ष निकाला है कि मत्स्येंद्र और गोरक्ष के पूर्व भी कर्णकुंडल धारण करने की प्रथा थी और केवल शिव की ही मूर्तियों में यह बात पाई जाती है।

कहा जाता है, गोरक्षनाथ ने (शंकराचार्य द्वारा संगठित शैव संन्यासियों से) अवशिष्ट शैवों का १२ पंथों में संगठन किया जिनमें गोरखनाथी प्रमुख हैं। इन्हें ही कनफटा कहा जाता है। एक मत यह भी मिलता है कि गोरखनाथी लोग गोरक्षनाथ को संप्रदाय का प्रतिष्ठाता मानते हैं जबकि कनफटे उन्हें पुनर्गठनकर्ता कहते हैं। इन लोगों के मठ, तीर्थस्थानादि बंगाल, सिक्किम, नेपाल, कश्मीर, पंजाब (पेशावर और लाहौर), सिंध, काठियावाड़, बंबई, राजस्थान, उड़ीसा आदि प्रदेशों में पाए जाते हैं। (ना० ना० उ०)

कनफ़ूशस् इतिहासकार **स्ज़ेमा चिएन** के मतानुसार कनफ़ूशस् का जन्म ५५० ई० पू० में हुआ। उनका जातीय नाम **कुंग** था। कुंग फूत्से का लातीनी स्वरूप ही कनफ़ूशस् है जिसका अर्थ होता है 'दार्शनिक कुंग'। वर्तमान **शांतुंग** कहलानेवाले प्राचीन लू प्रदेश का वह निवासी था, और उसका पिता **शू-लियागहीह त्साऊ** जिले का सेनापति था। कनफ़ूशस् का जन्म अपने पिता की वृद्धावस्था में हुआ जो उसके जन्म के तीन वर्ष के उपरांत ही स्वर्गवासी हो गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका परिवार बड़ी कठिन परिस्थितियों में फँस गया, जिससे उसका बाल्यकाल बड़ी ही आर्थिक विपन्नता में व्यतीत हुआ। परंतु उसने अपनी इस निर्धनता को ही आगे चलकर अपनी विद्वत्ता तथा विभिन्न कलाओं में दक्षता का कारण बनाया। जब वह केवल पाँच वर्ष का था तभी से अपने साथियों के साथ जो खेल खेलता उसमें धार्मिक संस्कारों तथा विभिन्न कलाओं के प्रति उसकी अभिरुचि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती थी। १९ वर्ष की अवस्था में सुंग नामक प्रदेश की एक कन्या से उसका विवाह हो गया। विवाह के दूसरे वर्ष उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसके पश्चात् दो कन्याएँ। विवाह के थोड़े ही दिन पश्चात् त्साऊ नामक जिले के स्वामी के यहाँ, जो **की** जाति का प्रधान था, उसे नौकरी मिल गई।

२२ वर्ष की अवस्था में कनफ़ूशस् ने एक विद्यालय की स्थापना की। इसमें ऐसे युवक और प्रौढ़ शिक्षा ग्रहण करते थे, जो सदाचरण एवं राज्यसंचालन के सिद्धांतों में पारंगत होना चाहते थे। अपने शिष्यों से वह यथेष्ट आर्थिक सहायता लिया करता था। परंतु कम से कम शुल्क दे सकनेवाले विद्यार्थी को भी वह अस्वीकार नहीं करता था; किंतु साथ ही ऐसे शिक्षार्थियों को भी वह अपने शिक्षाकेंद्र में नहीं रखता था जिनमें शिक्षा और ज्ञान के प्रति अभिरुचि तथा बौद्धिक क्षमता नहीं होती थी। ५१७ ई० पू० में दो **सिग्रन** युवक अपने जातीय प्रधान के मृत्युकालीन आदेश के अनुसार कनफ़ूशस की शिष्यमंडली में संमिलित हुए। उन्हीं के साथ वह राजधानी गया, जहाँ उसने राजकीय पुस्तकालय की अमूल्य पुस्तकों का अवलोकन किया और तत्कालीन राजदरबार में प्रचलित उच्च कोटि के संगीत का अध्ययन किया। वहाँ उसने कई बार ताओवाद के प्रवर्तक **लाओत्से** से भेंट की और उससे बहुत प्रभावित भी हुआ।

जब कनफ़ूशस् लौटकर लू प्रदेश में आया तो उसने देखा, प्रदेश में बड़ी अराजकता उत्पन्न हो गई है। मंत्रियों से झगड़ा हो जाने के कारण उक्त प्रदेश का सामंत भागकर पड़ोस के त्सी प्रदेश में चला गया है। कनफ़ूशस् को ये सब बातें रुचिकर नहीं लगीं और वह भी अपनी शिष्यमंडली के साथ त्सी प्रदेश को चल दिया। कहा जाता है, जब वे लोग एक पर्वत के बीच से जा रहे थे तब उन्हें वहाँ एक स्त्री दिखाई दी जो किसी कब्र के पास बैठी विलाप कर रही थी। कारण पूछने पर उसने बताया कि एक चीते ने वहाँ पर उसके श्वसुर को मार डाला था, इसके बाद उसके पति की भी वही दशा हुई और अब उसके पुत्र को चीते ने मार डाला है। इसपर उस स्त्री से यह प्रश्न किया गया कि वह ऐसे वन्य तथा भयंकर स्थान में क्यों रहती है, तो उसने उत्तर दिया कि उस क्षेत्र में कोई दमनकारी सरकार नहीं है। इसपर कनफ़ूशस् ने अपने शिष्यों को बताया कि क्रूर एवं अनुत्तरदायी सरकार चीते से भी अधिक भयानक होती है।

कनफ़ूशस् को त्सी में भी रहना नहीं रुचा। वहाँ के शासक के दरबारियों ने उसकी बड़ी आलोचना की, उसे अगणित विचित्रताओं से भरा हुआ अव्यावहारिक तथा आत्माभिमानी मनुष्य बताया, फिर भी वहाँ का शासक सामंत उसका बहुत आदर करता था और उसने उसे राजकीय आय का बहुत बड़ा भाग समर्पित करने का प्रस्ताव किया। किंतु कनफ़ूशस् ने कुछ भी लेना स्वीकार न किया और स्पष्ट रूप से कह दिया कि यदि उसके परामर्शों पर राज्य का संचालन न किया गया तो उसे किसी भी प्रकार की सहायता या प्रतिष्ठा स्वीकृत न होगी। असंतुष्ट मन से वह लू प्रदेश को पुनः लौट आया और लगभग १५ वर्ष तक एकांत जीवन व्यतीत करता हुआ स्वाध्याय में दत्तचित्त रहा। ५२ वर्ष की अवस्था में उसे चुंगतू प्रदेश का मुख्य न्यायाधीश बना दिया गया। उसके इस पद पर आते ही जनता के व्यवहार में आश्चर्यजनक सुधार दिखाई देने लगा। तत्कालीन सामंत शासक ने, जो विगत भागे हुए सामंत का छोटा भाई था, कनफ़ूशस् को अधिक उच्च पद प्रदान किया और अंत में उसे अपराध विभाग का मंत्री नियुक्त कर दिया। इसी समय उसके दो शिष्यों को भी उच्च एवं प्रभावशाली पद प्राप्त हो गए। अपने इन शिष्यों की सहायता से कनफ़ूशस् ने जनता के आचार एवं व्यवहार में बहुत अधिक सुधार किया। शासन का जैसे कायापलट हो गया, बेईमानी और पारस्परिक अविश्वास दूर हो गए। जनता में उसका बड़ा आदर संमान होने लगा और वह सबका पूज्य बन गया।

कनफ़ूशस् के इस बढ़ते हुए प्रभाव से त्सी के सामंत और उसके मंत्रिगण आतंकित हो उठे। उन्होंने सोचा कि यदि कनफ़ूशस् इसी प्रकार अपना कार्य करता रहा तो संपूर्ण राज्य में लू प्रदेश का प्रभाव सर्वाधिक हो जायगा और त्सी प्रदेश को बड़ी क्षति पहुँचेगी। पर्याप्त विचारविमर्श के पश्चात् त्सी के मंत्रियों ने संगीत एवं नृत्य में कुशल अत्यंत सुंदर तरुणियों का एक दल लू प्रदेश को भेजा। यह चाल चल गई। लू की जनता ने इन विलासिनी रमणियों का खूब स्वागत किया। जनता का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट होने लगा और उसने संत कनफ़ूशस् के परामर्शों तथा आदर्शों की अवहेलना आरंभ कर दी। कनफ़ूशस् को इससे बड़ा खेद हुआ और उसने लू प्रदेश छोड़ देने का विचार किया। सामंत भी उसकी अवहेलना करने लगा। किसी एक बड़े बलिदान के पश्चात् मांस का वह भाग कनफ़ूशस् के पास नहीं भेजा जो उसे नियमानुसार उसके पास भेजना चाहिए था। कनफ़ूशस् को राज्यसभा छोड़ देने का यह अच्छा अवसर मिला और वह धीरे धीरे वहाँ से अलग होकर चल दिया। यद्यपि वह बड़े बेमन से जा रहा था और यह आशा करता था कि शीघ्र ही सामंत की बुद्धि सन्मार्ग पर आ जायगी और उसे वापस बुला लेगा किंतु ऐसा हुआ नहीं और इस महात्मा को अपने जीवन के ५६वें वर्ष में इधर उधर विभिन्न प्रदेशों में भटकने के लिये चल देना पड़ा।

१३ वर्ष तक कनफ़ूशस् विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण इस आशा से करता रहा कि उसे कोई ऐसा सामंत शासक मिल जाय जो उसे अपना मुख्य परामर्शदाता नियुक्त कर ले और उसके परामर्शों पर शासन का संचालन करे जिससे उसका प्रदेश एक सार्वदेशिक सुधार का केंद्र बन जाय, किंतु उसकी सारी आशाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई। शासकगण उसका संमान करते थे, उसको प्रतिष्ठा एवं आदर संमान तथा राजकीय सहायता देने के लिये उद्यत थे, किंतु कोई उसके परामर्शों को मानने और अपनी कार्यप्रणाली में परिवर्तन करने के लिये तैयार न था। इस प्रकार १३ वर्ष भ्रमण करने के पश्चात् अपने जीवन के ६९वें वर्ष में कनफ़ूशस् फिर से लू प्रदेश में वापस लौट आया। इसी समय उसका एक शिष्य एक सैनिक अभियान में सफल हुआ और उसने प्रदेश के महामंत्री को बताया कि उसने अपने गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा और ज्ञान के आधार पर ही उक्त सफलता प्राप्त की। इस शिष्य ने महामंत्री से कनफ़ूशस् को पुनः उसका पद प्रदान करने की प्रार्थना की और वह मान भी गया, किंतु कनफ़ूशस् ने दुबारा राजकीय पद ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया और अपने जीवन के अंतिम दिन अपनी साहित्यिक योजनाओं की पूर्ति तथा शिष्यों को ज्ञानदान करने में लगा देना उसने अधिक श्रेयस्कर समझा। ४८२ ई० पू० में उसके पुत्र का स्वर्गवास हो गया, किंतु जब ४८१ ई० पू० में उसके अत्यंत प्रिय शिष्य येनह्वइ की मृत्यु हो गई तब वह बहुत ही शोकाकुल हुआ। उसके एक और शिष्य त्जे तू का भी मृत्यु कुछ समय पश्चात् हो गई। एक दिन प्रातःकाल वह अपने द्वार पर टहलते हुए कह रहा था :

ऊँचा पर्वत अब नीचे गिरेगा
मजबूत शहतीर टूटनेवाली है
बुद्धिमान मनुष्य भी पौधे के समान नष्ट हो जायँगे।

उसका शिष्य त्जे कुंग यह सुनकर तुरत उसके पास आया। कनफ़ूशस् ने उससे कहा कि पिछली रात मैंने एक स्वप्न देखा है, जिससे मुझे संकेत मिला कि मेरा अंत अब निकट है। उसी दिन से कनफ़ूशस् ने शैया ग्रहण की और सात दिन पश्चात् वह महात्मा इस लोक से विदा हो गया। उसके अनुयायियों ने बड़ी धूमधाम से उसके शरीर को समाधिस्थ किया। उनमें से बहुत से तीन वर्ष तक उसी स्थान पर शोकप्रदर्शन के लिये बैठे रहे और उसका सर्वप्रिय शिष्य त्जे कुंग तो अगले तीन वर्ष भी उसी स्थान पर जमा रहा। कनफ़ूशस् की मृत्यु का समाचार सभी प्रदेशों में फैल गया और जिस महापुरुष को उसके जीवनकाल में इतनी अवहेलना की गई थी, मृत्यु के उपरांत वह सर्वप्रशंसा और आदर का पात्र बन गया। कुइफ़ाउ नगर के बाहर कुंग समाधिस्थल से अलग कनफ़ूशस् की समाधि अब भी विद्यमान है। समाधि के सामने संगमरमर का एक चौखटा लगा हुआ है जिसपर यह अभिलेख अंकित है :

प्राचीन महाज्ञानी सतगुरु, संपूर्ण विद्याओं में पारंगत, सर्वज्ञ नराधिप।

कनफ़ूशस् की रचनाएँ---कनफ़ूशस् ने कभी भी अपने विचारों को लिखित रूप देना आवश्यक नहीं समझा। उसका मत था कि वह विचारों का वाहक हो सकता है, उनका स्रष्टा नहीं। वह पुरातत्व का उपासक था, क्योंकि उसका विचार था कि उसी के माध्यम से यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उसका कहना था कि मनुष्य को उसके समस्त कार्यकलापों के लिये नियम अपने अंदर ही प्राप्त हो सकते हैं। न केवल व्यक्ति के लिये वरन् संपूर्ण समाज के सुधार और सही विकास के नियम और स्वरूप प्राचीन महात्माओं के शब्दों एवं कार्यशैलियों में प्राप्त हो सकते हैं। कनफ़ूशस् ने कोई ऐसा लेख नहीं छोड़ा जिसमें उसके द्वारा प्रतिपादित नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांतों का निरूपण हो। किंतु उसके पौत्र त्जे त्जे द्वारा लिखित **'औसत का सिद्धांत'** (अंग्रेजी अनुवाद, **डाक्ट्रिन ऑव द मीन**) और उसके शिष्य **त्सांग सिन** द्वारा लिखित **'महान् शिक्षा'** (अंग्रेजी अनुवाद, **द ग्रेट लर्निंग**) नामक पुस्तकों में तत्संबंधी समस्त सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। **'वसंत और पतझड़'** (अंग्रेजी अनुवाद, **स्प्रिंग ऐंड ऑटम**) नामक एक ग्रंथ, जिसे लू का इतिवृत्त भी कहते है, कनफ़ूशस् का लिखा हुआ बताया जाता है। यह समूची कृति प्राप्त है और यद्यपि बहुत छोटी है तथापि चीन के संक्षिप्त इतिहासों के लिये आदर्श मानी जाती है।

शिष्य मंडली---कनफ़ूशस् के शिष्यों की संख्या सब मिलाकर प्रायः ३,००० तक पहुँच गई थी, किंतु उनमें से ७५ के लगभग ही उच्च कोटि के प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उसके परम प्रिय शिष्य उसके पास ही रहा करते थे। वे उसके आसपास श्रद्धापूर्वक उठते बैठते थे और उसके आचरण की सूक्ष्म विशेषताओं पर ध्यान दिया करते थे तथा उसके मुख से निकली वाणी के प्रत्येक शब्द को हृदयंगम कर लेते और उसपर मनन करते थे। वे उससे प्राचीन इतिहास, काव्य तथा देश की सामाजिक प्रथाओं का अध्ययन करते थे।

सामाजिक और राजनीतिक विचार––कनफ़ूशस् का कहना था कि किसी देश में अच्छा शासन और शांति तभी स्थापित हो सकती है जब शासक, मंत्री तथा जनता का प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर उचित कर्तव्यों का पालन करता रहे। शासक को सही अर्थों में शासक होना चाहिए, मंत्री को सही अर्थों में मंत्री होना चाहिए। कनफ़ूशस् से एक बार पूछा गया कि यदि उसे किसी प्रदेश के शासनसूत्र के संचालन का भार सौंपा जाय तो वह सबसे पहला कौन सा महत्वपूर्ण कार्य करेगा। इसके लिये उसका उत्तर था––'नामों में सुधार'। इसका आशय यह था कि जो जिस नाम के पद पर प्रतिष्ठित हो उसे उस पद से संलग्न सभी कर्तव्यों का विधिवत् पालन करना चाहिए जिससे उसका वह नाम सार्थक हो। उसे उदाहरण और आदर्श की शक्ति में पूर्ण विश्वास था। उसका विश्वास था कि आदर्श व्यक्ति अपने सदाचरण से जो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, आम जनता उनके सामने निश्चय ही झुक जाती है। यदि किसी देश के शासक को इसका भली भाँति ज्ञान करा दिया जाय कि उसे शासन कार्य चलाने में क्या करना चाहिए और किस प्रकार करना चाहिए तो निश्चय ही वह अपना उदाहरण प्रस्तुत करके आम जनता के आचरण में सुधार कर सकता है और अपने राज्य को सुखी, समृद्ध एवं संपन्न बना सकता है। इसी विश्वास के बल पर कनफ़ूशस् ने घोषणा की थी कि यदि कोई शासक १२ महीने के लिये उसे अपना मुख्य परामर्शदाता बना ले तो वह बहुत कुछ करके दिखा सकता है और यदि उसे तीन वर्ष का समय दिया जाय तो वह अपने आदर्शों और आशाओं को मूर्त रूप प्रदान कर सकता है।

कनफ़ूशस् ने कभी इस बात का दावा नहीं किया कि उसे कोई दैवी शक्ति या ईश्वरीय संदेश प्राप्त होते थे। वह केवल इस बात का चिंतन करता था कि व्यक्ति क्या है और समाज में उसके कर्तव्य क्या हैं। उसने शक्तिप्रदर्शन, असाधारण एवं अमानुषिक शक्तियों, विद्रोह प्रवृत्ति तथा देवी देवताओं का जिक्र कभी नहीं किया। उसका कथन था कि बुद्धिमत्ता की बात यही है कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण उत्तरदायित्व और ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करे और देवी देवताओं का आदर करते हुए भी उनसे अलग रहे। उसका मत था कि जो मनुष्य मानव की सेवा नहीं कर सकता वह देवी देवताओं की सेवा क्या करेगा। उसे अपने और दूसरों के सभी कर्तव्यों का पूर्ण ध्यान था, इसीलिये उसने कहा था कि बुरा आदमी कभी भी शासन करने के योग्य नहीं हो सकता, भले ही वह कितना भी शक्तिसंपन्न हो। नियमों का उल्लंघन करनेवालों को तो शासक दंड देता ही है, परंतु उसे कभी यह नहीं भूलना चाहिए कि उसके सदाचरण के आदर्श प्रस्तुत करने की शक्ति से बढ़कर अन्य कोई शक्ति नहीं है।

सं०ग्रं०––जे० लेगी : द लाइफ़ ऐंड टीचिंग्स ऑव कनफ़ूशस् (भाग १); आर० के० डगलस : कनफ़ूशनिज़्म ऐंड ताओइज़्म; एच० ए० गाइल्स : कनफ़ूशनिज़्म इन द नाइंटींथ सेंचुरी; डब्ल्यू० ई० सूथिल : दि एनालेक्ट्स ऑव कनफ़ूशस्; एन० एम० डासन : दि एथिक्स ऑव कनफ़ूशस्; डब्ल्यू० जे० क्लेनेल : द हिस्टारिकल डेवलपमेंट ऑव रिलीजन इन चाइना; लिन यू ताँग : द विजडम ऑव कनफ़ूशस्।

(श्री० स०)

कनफ़ूशीवाद

कनफ़ूशस् के दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों पर आधारित मत को **कनफ़ूशीवाद** या **कुंगफुत्सीवाद** नाम दिया जाता है। कनफ़ूशस् के मतानुसार भलाई मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य को यह स्वाभाविक गुण ईश्वर से प्राप्त हुआ है। अतः इस स्वभाव के अनुसार कार्य करना ईश्वर की इच्छा का आदर करना है और उसके अनुसार कार्य न करना ईश्वर की अवज्ञा करना है। कनफ़ूशीवाद के अनुसार समाज का संगठन पाँच प्रकार के संबंधों पर आधारित हैं : (१) शासक और शासित, (२) पिता और पुत्र, (३) ज्येष्ठ भ्राता और कनिष्ठ भ्राता, (४) पति और पत्नी, तथा (५) इष्ट मित्र। इन पाँच में से पहले चार संबंधों में एक ओर आदेश देना और दूसरी ओर उसका पालन करना निहित है। शासक का धर्म आज्ञा देना और शासित का कर्तव्य उस आज्ञा का पालन करना है। इसी प्रकार पिता, पति और बड़े भाई का धर्म आदेश देना है और पुत्र, पत्नी एवं छोटे भाई का कर्तव्य आदेशों का पालन करना है। परंतु साथ ही यह आवश्यक है कि आदेश देनेवाले का शासन औचित्य, नीति और न्याय पर आधारित हो। तभी शासित गण से भी यह आशा की जा सकती है कि वे विश्वास तथा ईमानदारी से आज्ञाओं का पालन करेंगे। पाँचवें, अर्थात् मित्रों के संबंध में पारस्परिक गुणों का विकास ही मूल निर्धारक सिद्धांत होना चाहिए। जब इन संबंधों के अंतर्गत व्यक्तियों के रागद्वेष के कारण कर्तव्यों की अवहेलना होती है तभी एक प्रकार की सामाजिक अराजकता की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य में अपने श्रेष्ठ व्यक्तियों का अनुकरण करने का स्वाभाविक गुण है। यदि किसी समाज में आदर्श शासक प्रतिष्ठित हो जाय तो वहाँ की जनता भी आदर्श जनता बन सकती है। कुशल शासक अपने चरित्र का उदाहरण प्रस्तुत करके अपने राज्य की जनता का सर्वतोमुखी सुधार कर सकता है। उसके अपने चरित्रबल के प्रभाव से समस्त राज्य सुखी, समृद्ध तथा उचित संबंधों का पालन करनेवाले मनुष्यों से भरपूर हो सकता है। कनफ़ूशीवाद की शिक्षा में धर्मनिरपेक्षता का सर्वांगपूर्ण उदाहरण मिलता है। *कनफ़ूशीवाद का मूल सिद्धांत* इस स्वर्णिम नियम पर आधारित है कि 'दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम उनके द्वारा अपने प्रति किए जाने की इच्छा करते हो।'

(श्री० स०)

कनिंघम, सर एलेग्ज़ैंडर

(१८१४–१८९३) भारतीय पुरातत्व, ऐतिहासिक भूगोल तथा इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान्। जन्म इंग्लैंड में सन् १८१४ ई० में। भारत में अंग्रेजी सेना में कई उच्च पदों पर रहे और १८६१ ई० में मेजर जनरल के पद से सेवानिवृत्त हुए। मृत्यु १८९३ ई० में हुई।

अपने सेवाकाल के प्रारंभ से ही भारतीय इतिहास में इनकी काफी रुचि थी और इन्होंने भारतीय विद्या के विख्यात शोधक जेम्स प्रिंसेप की, प्राचीन सिक्कों के लेखों और खरोष्ठी लिपि के पढ़ने में पर्याप्त सहायता की थी। मेजर किट्टो को भी, जो प्राचीन भारतीय स्थानों की खोज का काम सरकार की ओर से कर रहे थे, इन्होंने अपना मूल्यवान् सहयोग दिया। १८७२ ई० में कनिंघम को भारतीय पुरातत्व का सर्वेक्षक बनाया गया और कुछ ही वर्ष पश्चात् उनकी नियुक्ति (उत्तर भारत के) पुरातत्व-सर्वेक्षण-विभाग के महानिदेशक के रूप में हो गई। इस पद पर वे १८८५ ई० तक रहे।

पुरातत्व विभाग के उच्च पदों पर रहते हुए कनिंघम ने भारत के प्राचीन विस्मृत इतिहास के विषय में काफी जानकारी संसार के सामने रखी। प्राचीन स्थानों की खोज और अभिलेखों एवं सिक्कों के संग्रहण द्वारा उन्होंने भारतीय अतीत के इतिहास की शोध के लिये मूल्यवान् सामग्री जुटाई और विद्वानों के लिये इस दिशा में कार्य करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। कनिंघम के इस महत्वपूर्ण और परिश्रमसाध्य कार्य का विवरण पुरातत्व विषयक रिपोर्टों के रूप में, २३ जिल्दों में, छपा जिसकी उपादेयता आज प्रायः एक शताब्दी पश्चात् भी पूर्ववत् ही है।

कनिंघम ने प्राचीन भारत में आनेवाले यूनानी और चीनी पर्यटकों के भारतविषयक वर्णनों का अनुवाद तथा संपादन भी बड़ी विद्वत्ता तथा कुशलता से किया है। चीनी यात्री युवानच्वांग (७वीं सदी ई०) के पर्यटनवृत्त का उनका संपादन, विशेषकर प्राचीन स्थानों का अभिज्ञान, अभी तक बहुत प्रामाणिक माना जाता है। १८७१ ई० में उन्होंने 'भारत का प्राचीन भूगोल' (एंशेंट ज्योग्रैफ़ी ऑव इंडिया) नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी जिसका महत्व आज तक कम नहीं हुआ है। इस शोधग्रंथ में उन्होंने प्राचीन स्थानों का जो अभिज्ञान किया था वह अधिकांश में ठीक साबित हुआ, यद्यपि उनके समकालीन तथा अनुवर्ती कई विद्वानों ने उसके विषय में अनेक शंकाएँ उठाई थीं। उदाहरणार्थ, कौशांबी के अभिज्ञान के बारे में कनिंघम का मत था कि यह नगरी उसी स्थान पर बसी थी जहाँ वर्तमान कौसम (जिला इलाहाबाद) है, यही मत आज पुरातत्व की खोजों के प्रकाश में सर्वमान्य हो चुका है। किंतु इस विषय में वर्षों तक विद्वानों का कनिंघम के साथ मतभेद चलता रहा था और अंत में वर्तमान काल में जब कनिंघम का मत ही ठीक निकला तब उनकी अनोखी सूझ बूझ की सभी विद्वानों को प्रशंसा करनी पड़ी है।

(वि० कु० मा०)

कनिष्क

कुषाण वंश का प्रमुख सम्राट् कनिष्क भारतीय इतिहास में अपनी विजय, धार्मिक प्रवृत्ति, साहित्य तथा कला का प्रेमी होने

के नाते विशेष स्थान रखता है। विम कथफिस के साथ इसका न तो कोई संबंध था और न उसकी मृत्यु के बाद ही यह सिंहासन पर बैठा। कदाचित् इन दोनों के राज्यकाल के आंतरिक समय में क्षत्रपों ने स्वतंत्रता घोषित कर थोड़े समय तक राज्य किया। इस सम्राट् के लेखों से प्रतीत होता है कि अपने राज्यकाल के प्रथम तीन वर्षों में उसने उत्तरी भारत में पेशावर से सारनाथ तक जीता और उसकी ओर से खरपल्लान और वनस्पर क्रमशः महाक्षत्रप तथा क्षत्रप के रूप में शासन कर रहे थे। कुमारलात की कल्पनामंड टीका के अनुसार इसने भारतविजय के पश्चात् मध्य एशिया में खोतान जीता और वहीं पर राज्य करने लगा। इसके लेख पेशावर, माणिक्याल (रावलपिंडी), सुयीविहार (बहावलपुर), जेदा (रावलपिंडी), मथुरा, कौशांबी तथा सारनाथ में मिले हैं, और इसके सिक्के सिंध से लेकर बंगाल तक पाए गए हैं। कल्हण ने भी अपनी 'राजतरंगिणी' में कनिष्क, झुष्क और हुष्क द्वारा कश्मीर पर राज्य तथा वहाँ अपने नाम पर नगर बसाने का उल्लेख किया है। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्राट् कनिष्क का राज्य कश्मीर से उत्तरी सिंध तथा पेशावर से सारनाथ के आगे तक फैला था। किंवदंतियों के अनुसार कनिष्क पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर अश्वघोष नामक कवि तथा बौद्ध दार्शनिक को अपने साथ ले गया था और उसी के प्रभाव में आकर सम्राट् की बौद्ध धर्म की ओर प्रवृत्ति हुई। इसके समय में कश्मीर में कुंडलवन विहार अथवा जालंधर में चतुर्थ बौद्ध संगीति प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुमित्र की अध्यक्षता में हुई। हुएंत्सांग के मतानुसार सम्राट् कनिष्क की संरक्षता तथा आदेशानुसार इस संगीति में ५०० बौद्ध विद्वानों ने भाग लिया और त्रिपिटक का पुनः संकलन सस्करण हुआ। इसके समय से बौद्ध ग्रंथों के लिये संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ और महायान बौद्ध संप्रदाय का भी प्रादुर्भाव हुआ। कुछ विद्वानो के मतानुसार गांधार कला का स्वर्णयुग भी इसी समय था, पर अन्य विद्वानों के अनुसार इस सम्राट् के समय में उपर्युक्त कला उतार पर थी। स्वयं बौद्ध होते हुए भी सम्राट् के धार्मिक दृष्टिकोण में उदारता का पर्याप्त समावेश था और उसने अपनी मुद्राओं पर यूनानी, ईरानी, हिंदू और बौद्ध देवी देवताओं की मूर्तियाँ अंकित करवाईं, जिससे उसके धार्मिक विचारों का पता चलता है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति' की वैदिक भावना को उसने क्रियात्मक स्वरूप दिया।

इतने विस्तृत साम्राज्य के शासन के लिये सम्राट् ने क्षत्रपों तथा महाक्षत्रपों की नियुक्ति की जिनका उल्लेख उसके लेखों में है। स्थानीय शासन संबंधी 'ग्रामिक' तथा 'ग्राम कूट्टक' और 'ग्रामवृद्ध पुरुष' और 'सेना संबंधी', 'दंडनायक' तथा 'महादंडनायक' इत्यादि अधिकारियों का भी उसके लेखों में उल्लेख है।

निश्चित रूप से कनिष्क की तिथि निर्धारित करने का प्रयास अभी भी हो रहा है। फ्लीट, केनेडी इत्यादि विद्वान् इसे ५८ ई० पू० संवत् का निर्माता मानते हैं। रैप्सन, टामस तथा कुछ अन्य विद्वान् इसके अभिषेक की तिथि ७८ ई० में रखते हैं; और उनके अनुसार इसी सम्राट् ने शक संवत् चलाया था। मार्शल, कोनो तथा स्मिथ ने कनिष्क का राज्यकाल ई० की दूसरी शताब्दी में रखा है और इसके अभिषेक की तिथि लगभग १२५ ई० निर्धारित की है। बेगराम ने खुदाई कराने पर गिर्शमान को तीन तिथियों का लेख मिला और उन्होंने कनिष्क के शासनकाल का प्रथम वर्ष १४२–३ ई० में माना है। कनिष्क ने २४ वर्ष तक राज्य किया। अफगानिस्तान में कनिष्क का एक लेख यूनानी भाषा में ३१ सं० का मिला। आरा में कनिष्क का ४१ सं० का एक लेख पहले मिला था। इन दोनों को कनिष्क द्वितीय ही मानना चाहिए, पर यह विषय विवादास्पद है। यदि शक संवत् का प्रवर्तक कनिष्क प्रथम ही है तो निःसंदेह उसे संवत् को प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त है, जो प्रायः २,००० वर्षों से भारत में राष्ट्रीय संवत् के रूप में हिंदुओं की कुंडली आदि में प्रयुक्त होता रहा है और जिसे प्रायः इसी रूप में स्वतंत्र भारतीय सरकार ने स्वीकार किया है।

सं०ग्रं०—स्टेनकोनो : कारपस इंस्क्रिप्शनं इंडिकेरम्, भाग २; रैप्सन : कैंब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग १; मजूमदार ऐंड पुसालकर : दि एज ऑव इंपीरियल यूनिटी; नीलकंठ शास्त्री : ए कांप्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑव इंडिया; गिशमान : बेगराम; स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया; बै० पुरी : कुषाणकालीन भारत (अप्रकाशित)। (बै० पु०)

कनेक्टिकट १. नदी, जो उत्तरी कनेक्टिकट झील से निकलकर वरमांट राज्य एवं न्यू हैंपशायर राज्य की सीमारेखा बनाती हुई मैसाचुसेट्स एवं कनेक्टिकट राज्यों में बहती हुई लांग आइलैंड साउंड में गिरती है। इसकी लंबाई ३४५ मील तथा इसका बहाव क्षेत्र ११,०८५ वर्ग मील में है। इसकी घाटी बड़ा उत्पादक क्षेत्र है। इस नदी पर अनेक बाँध, जलविद्युत् पैदा करने के लिये, बनाए गए हैं।

२. राज्य, संयुक्त राज्य, अमरीका, का एक प्रांत है जिसकी स्थिति ४०° ५४' उ० अ० से ४२° ३' उ० अ० एवं ७१° ४७' प० दे० से ७३° ४३' प० दे० तक है। इसका क्षेत्रफल ५,००० वर्गमील एवं जनसंख्या १९७० ई० में ३,३२,३१७ थी।

इसके मध्य में कनेक्टिकट नदी बहती है। इस प्रदेश की ढाल उत्तर से दक्षिण की ओर करीब २० फुट प्रति मील है तथा इसका समुद्रतट करीब १०० मील लंबा है जिसमें अनेक अच्छे बंदरगाह हैं। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। इस राज्य के लगभग आठ प्रतिशत लोग नगरों में रहते हैं। तंबाकू यहाँ की प्रमुख खेती है। दुग्धोत्पादन, मुर्गी पालन, मछली मारना यहाँ के प्रमुख व्यवसाय है। (रा० बृ० सिं०)

कन्नड भाषा तथा साहित्य कन्नड तथा कर्नाटक शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध मे यदि किसी विद्वान् का यह मत है कि 'करिदु + नाडु' अर्थात् 'काली मिट्टी का देश' से कन्नड शब्द बना है तो दूसरे विद्वान् के अनुसार 'कंपितु नाडु' अर्थात् 'सुगंधित देश' से 'कन्नाडु' और 'कन्नाडु' से 'कन्नड' की व्युत्पत्ति हुई है। कन्नड साहित्य के इतिहासकार आर० नरसिंहाचार ने इस मत को स्वीकार किया है। कुछ वैयाकरणों का कथन है कि कन्नड संस्कृत शब्द 'कर्नाट' का तद्भव रूप है। यह भी कहा जाता है कि 'कर्णयो अटति इति कर्नाटक' अर्थात् जो कानों में गूंजता है वह कर्नाटक है।

प्राचीन ग्रंथों में कन्नड, कर्नाट, कर्नाटक शब्द समानार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। महाभारत में कर्नाट शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है (कर्नाटकश्च कुटाश्च पद्मजालाः सतीनराः, सभापर्व, ७८, ९४; कर्नाटका महिषिका विकल्पा मूषकास्तथा, भीष्मपर्व ५८-५६)। दूसरी शताब्दी में लिखे हुए तमिल 'शिलप्पदिकारम्' नामक काव्य में कन्नड भाषा बोलनेवालों का नाम 'करुनाडर' बताया गया है। वराहमिहिर के बृहत्संहिता, सोमदेव के 'कथासरित्सागर' गुणाढ्य की पैशाची 'बृहत्कथा' आदि ग्रंथों में भी कर्नाट शब्द का बराबर उल्लेख मिलता है।

अंग्रेजी में कर्नाटक शब्द विकृत होकर कर्नाटिक (Karnatic) अथवा केनरा (Canara), फिर केनरा से केनारीज़ (Canarese) बन गया है। उत्तरी भारत की हिंदी तथा अन्य भाषाओं में कन्नड शब्द के लिये कनाडी, कन्नडी, केनारा, कनारी का प्रयोग मिलता है।

आजकल कर्नाटक तथा कन्नड शब्दों का निश्चित अर्थ में प्रयोग होता है—'कर्नाटक' प्रदेश का नाम है और 'कन्नड' भाषा का।

कन्नड भाषा तथा लिपि

द्राविड भाषापरिवार की भाषाएँ पंचद्राविड भाषाएँ कहलाती हैं। किसी समय इन पंचद्राविड भाषाओं में कन्नड, तमिल, तेलुगु, गुजराती तथा मराठी भाषाएँ संमिलित थीं। किंतु आजकल पंचद्राविड भाषाओं के अंतर्गत कन्नड, तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा तुलु मानी जाती हैं। वस्तुतः तुलु कन्नड की ही एक पुष्ट बोली है जो दक्षिण कन्नड जिले में बोली जाती है। तुलु के अतिरिक्त कन्नड की अन्य बोलियाँ है—कोडगु, तोड, कोट तथा बडग। कोडगु कुर्ग में बोली जाती है और बाकी तीनों का नीलगिरि जिले में प्रचलन है। नीलगिरि जिला तमिलनाडु राज्य के अंतर्गत है।

रामायण-महाभारत-काल में भी कन्नड बोली जाती थी, तो भी ईसा के पूर्व कन्नड का कोई लिखित रूप नहीं मिलता। प्रारंभिक कन्नड का लिखित रूप शिलालेखों में मिलता है। इन शिलालेखों में हल्मिडि नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख सबसे प्राचीन है, जिसका रचनाकाल ४५० ई० है। सातवीं शताब्दी में लिखे गए शिलालेखों में बादामि और श्रवण बेलगोल के शिलालेख महत्वपूर्ण हैं। प्रायः आठवीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों में गद्य

का ही प्रयोग हुआ है और उसके बाद के शिलालेखों में काव्यलक्षणों से युक्त पद्य के उत्तम नमूने प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखों की भाषा जहाँ सुगठित तथा प्रौढ़ है वहाँ उसपर संस्कृत का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार यद्यपि आठवीं शताब्दी तक के शिलालेखों के आधार पर कन्नड में गद्य-पद्य-रचना का प्रमाण मिलता है तो भी कन्नड के उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रंथ का नाम 'कविराजमार्ग' है जिसका रचनाकाल सन् ८१५-८७७ के बीच में माना गया है। 'कविराजमार्ग' के उपरांत कन्नड में ग्रंथनिर्माण का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ा और भाषा निरंतर विकसित होती गई। कन्नड भाषा के विकासक्रम की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं जो इस प्रकार हैं १. अति-प्राचीन कन्नड (आठवीं शताब्दी के अंत तक की अवस्था), २. हळ गन्नड—प्राचीन कन्नड (नवीं शताब्दी के आरंभ से १२वीं शताब्दी के मध्य काल तक की अवस्था), ३. नडु गन्नड—मध्ययुगीन कन्नड (१२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक की अवस्था), और ४ हास गन्नड—आधुनिक कन्नड (१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अब तक की अवस्था)।

चारों द्राविड भाषाओं की अपनी पृथक् पृथक् लिपियाँ हैं। डॉ० एम० एच० कृष्ण के अनुसार इन चारों लिपियों का विकास प्राचीन अशोककालीन ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शाखा से हुआ है। बनावट की दृष्टि से कन्नड और तेलुगु में तथा तमिल और मलयालम में साम्य है। १३वीं शताब्दी के पूर्व लिखे गए तेलुगु शिलालेखों के आधार पर यह बताया जाता है कि प्राचीन काल में तेलुगु और कन्नड की लिपियाँ एक ही थीं। वर्तमान कन्नड की लिपि बनावट की दृष्टि से देवनागरी लिपि से भिन्न दिखाई देती है, किंतु दोनों के ध्वनिसमूह में अधिक अंतर नहीं है। अंतर इतना ही है कि कन्नड में स्वरों के अंतर्गत 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व रूप तथा व्यंजनों के अंतर्गत वर्त्स्य 'ल' के साथ साथ मूर्धन्य 'ल' वर्ण भी पाए जाते हैं। प्राचीन कन्नड में 'र' और 'ळ' प्रत्येक के एक एक मूर्धन्य रूप का प्रचलन था, किंतु आधुनिक कन्नड में इन दोनों वर्णों का प्रयोग लुप्त हो गया है। बाकी ध्वनिसमूह संस्कृत के समान है। कन्नड की वर्णमाला में कुल ४७ वर्ण हैं। आजकल इनकी संख्या बावन तक बढ़ा दी गई है।

कन्नड साहित्य

कन्नड साहित्य के इतिहास पर जितने छोटे बड़े ग्रंथ रचे गए हैं उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं : १. सन् १८७५ में रे० एफ० किट्टल द्वारा लिखी नागवर्मा के 'छंदोंबुधि' नामक ग्रंथ की प्रस्तावना, २. एपिग्राफिया कर्नाटिका में बी० एल० राइस का लेख, ३. आर० नरसिंहाचार का लिखा हुआ 'कर्नाटक कविचरित' (तीन भागों में, १९०७), ४. ई० पी० राइस की 'ए हिस्ट्री ऑव केनरीस लिटरेचर' (अंग्रेजी में), ५. डॉ० आर० एस० मुगलि का 'कन्नड साहित्य चरित्रे' (१९५३), ६ श्री० एम० मरियप्प भट्ट का 'संक्षिप्त कन्नड साहित्य चरित्रे' (१९०१)। इन इतिहासों में कन्नड साहित्य के इतिहास का कालविभाजन भिन्न भिन्न आधारों पर किया गया है। किसी ने १२वीं शताब्दी के मध्यकाल तक जैन युग, १२वीं शताब्दी के मध्यभाग से १५वीं शती के मध्यभाग तक 'वीरशैव युग', १५वीं शताब्दी के मध्यभाग से १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक 'ब्राह्मण युग' और उसके बाद के काल को आधुनिक युग माना है, और किसी विद्वान् के अनुसार आरंभकाल १०वीं शताब्दी तक, धर्म-प्राबल्य-काल, (१०वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक जैन कवि, वीरशैव कवि, ब्राह्मण कवि) तथा नवीन काल। काव्य शैलियों के आधार पर किसी ने चंपू, वचन, रगले, षटपदि एवं नवीनकाल कहा है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब तक लिखे गए कन्नड साहित्य के इतिहासों में डॉ० आर० एस० मुगलि का लिखा हुआ 'कन्नड साहित्य चरित्रे' कई दृष्टियों से सर्वोत्तम है। अत: यह कह सकते हैं कि मुगलि का कालविभाजन सर्वाधिक मान्य है जो इस प्रकार है—१ पंपपूर्व युग (सन् ९५० तक), २. पंप युग (सन् ९५० से सन् ११५० तक), ३ बसवयुग (सन् ११५० से १५०० तक), ४. कुमारव्यास युग (सन् १५०० से १९०० तक) और ५ आधुनिक युग (सन् १९०० से)। प्रो० मुगलि ने प्रत्येक युग के सर्वाधिक प्रतिभासंपन्न कवि के नाम से उस युग का नामकरण करते हुए मोटे तौर पर सारे साहित्य को मार्ग युग, संक्रमण युग, देशी युग के रूप में विभाजित किया है।

पंपपूर्व युग—'कविराज मार्ग' कन्नड का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ है। चंपू शैली में लिखा हुआ यह रीतिग्रंथ प्रधानतया दंडी के 'काव्यादर्श' पर आधारित है। इसका रचनाकाल सन् ८१५-८७७ के बीच माना जाता है। इस बात में विद्वानों में मतभेद है कि इसके रचयिता मान्यखेट के राष्ट्रकूट चक्रवर्ती स्वयं नृपतुंग थे या उनका कोई दरबारी कवि। डॉ० मुगलि का यह मत है कि इसके लेखक नृपतुंग के दरबारी कवि श्रीविजय थे। कविराज मार्ग का प्रतिपाद्य विषय अलंकार है। ग्रंथ तीन परिच्छेदों में विभाजित है। द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदों में क्रमश: शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण उदाहरण सहित किया गया है। प्रथम परिच्छेद में काव्य के दोषादोष (गुण, दोष) का विचार किया गया है। साथ ही ध्वनि, रस, भाव, दाक्षिणी और उत्तरी काव्यपद्धतियाँ, काव्यप्रयोजन, साहित्यकार की साधना, साहित्यविमर्श के स्वरूप आदि का संक्षेप में परिचय दिया गया है। कन्नड भाषा, कन्नड साहित्य, कन्नड प्रदेश, कर्नाटक की जनता की संस्कृति आदि कई बातों की दृष्टि से कविराज मार्ग एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

इस काल का दूसरा ग्रंथ है 'वड्डाराधने' जिसमें १९ जैन महापुरुषों की कहानियाँ गद्य में निरूपित हैं। इसके लेखक तथा रचनाकाल के संबंध में यही समझा जाता है कि शिवकोट्याचार्य नामक जैन कवि ने इसे सन् ९००-१०७० के बीच रचा था। यह प्राकृत के 'भगवतीआराधना' नामक ग्रंथ के आधार पर रचा गया है और इसमें उत्तम काव्य के गुण मिलते हैं। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमें कन्नड के गद्य का सर्वप्रथम रूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दो ग्रंथों के अतिरिक्त अब तक इस काल का अन्य कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है।

पंप युग—कन्नड साहित्य के इतिहास में पंप का काल विशेष महत्वपूर्ण है, जो 'स्वर्णयुग' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस काल का दूसरा नाम है 'जैन युग', क्योंकि इस अवधि में कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि करनेवालों में जैन मतावलंबी कवियों का विशेष हाथ रहा। इन जैन कवियों में प्रत्येक ने प्रधानतया दो प्रकार के काव्य रचे—एक जैन धर्म संबंधी काव्य अथवा धार्मिक काव्य, दूसरे लौकिक काव्य अथवा शुद्ध काव्य। धार्मिक काव्य की वस्तु किसी तीर्थंकर या महापुरुष की कहानी होती थी और लौकिक काव्य में पौराणिक काव्यों के कथानकों का चित्रण होता था। इस प्रकार दो दो ग्रंथ रचने का उद्देश्य एक ओर जैन धर्म के तत्वों का प्रचार करना था और दूसरी ओर संस्कृत के लोकप्रिय महाकाव्यों का कन्नड में प्रतिरूप प्रस्तुत करके लोगों को अपने धर्म की ओर आकर्षित करना था। ये जैन कवि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के विद्वान् थे, साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे और प्रतिभासंपन्न कवि भी। इन कवियों ने आवश्यक परिवर्तन के साथ पौराणिक कथानकों को अपने धर्म के अनुकूल अवश्य बनाया, किंतु उनकी मौलिकता को नष्ट न होने देकर रोचकता को बनाए रखा। जैन कवियों की रचनाओं से कन्नड भाषा और साहित्य का बड़ा उपकार हुआ। इस अवधि में चंपू काव्यशैली का विशेष प्रचार हुआ। इस समय के धार्मिक काव्यों में अद्भुत तथा शांत और लौकिक काव्यों में वीर तथा रौद्र रसों की विशेष रूप से अभिव्यंजना हुई। उपर्युक्त दो प्रकार के काव्यों के अतिरिक्त छंद, रस, अलंकार, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयों पर भी ग्रंथ लिखे गए। इस प्रकार इस युग में कन्नड साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

इस युग के प्रसिद्ध कवि तीन थे—पंप, पोन्न तथा रन्न जो 'रत्नत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। महाकवि पंप अथवा आदि पंप ने दो काव्य रचे—'आदिपुराण' और 'विक्रमार्जुनविजय' अथवा 'पंपभारत'। आदिपुराण में जिनसेनाचार्यकृत संस्कृत पूर्वपुराण के आधार पर प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथ का जीवनचरित चित्रित किया गया है और 'विक्रमार्जुनविजय' में महाभारत के कथानक का निरूपण किया गया है। ये दोनों चंपूकाव्य हैं। पंप कन्नड के आदिकवि माने जाते हैं। इनका समय सन् ९४१ के लगभग माना जाता है।

पोन्न पंप के समकालीन थे। उन्होंने तीन ग्रंथ रचे थे—'शांतिपुराण', 'जिनाक्षरमाला' तथा 'भुवनैकरामाभ्युदय'। अंतिम ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। रन्न की मुख्य रचनाएँ दो हैं—'अजितपुराण' तथा 'साहस भीम-

विजय' अथवा 'गदायुद्ध'। गदायुद्ध के नायक भीम हैं। गदायुद्ध में वीररस की अनूठी व्यंजना हुई है। इसी काव्य से रन्न की कीर्ति अचल हुई है।

पंप युग के अन्य कवियों में चाउंडराय, नागवर्म (प्रथम), दुर्गसिंह, चंद्रराज, नागचंद्र, नागवर्म (द्वितीय) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। चाउंडराय का 'चाउंडरायपुराण' प्राचीन कन्नड गद्य का सुंदर नमूना है। नागवर्म प्रथम के दो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं—'कर्नाटक कादंबरी' तथा 'छंदोंबुधि'। 'कर्नाटककादंबरी' बाण की कादंबरी का कन्नड प्रतिरूप है। यह चंपू शैली में है। प्रो० मुगलि का मत है कि कन्नड में अनूदित जितने ग्रंथ हैं उनमें नागवर्म (प्रथम) की कर्नाटककादंबरी सर्वश्रेष्ठ है—चंद्रराज और श्रीधराचार्य नागवर्म (प्रथम) के समकालीन कवि हैं। चंद्रराज का कामशास्त्र पर लिखा हुआ 'मदनतिलक' नामक ग्रंथ और श्रीधराचार्य का 'जातकतिलक' नामक ज्योतिष ग्रंथ, दोनों उत्तम कृतियाँ हैं। इसी काल में दुर्गसिंह ने, जो भागवत संप्रदाय के कवि थे, संस्कृत 'पंचतंत्र' का अनुवाद प्रस्तुत किया।

११वीं और १२वीं शताब्दियों के बीच एक अन्य प्रसिद्ध कवि हुए, जिनका नाम नागचंद्र था। क्योंकि इन्होंने पंपभारत से प्रेरणा पाकर रामायण की रचना की, इसलिये इनका दूसरा नाम 'अभिनव पंप' पड़ा। नागचंद्र ने भी पूर्ववर्ती जैन कवियों की भाँति दो काव्य रचे—'मल्लिनाथपुराण' तथा 'रामचंद्रचरितपुराण' अथवा 'पंपरामायण'। पंपरामायण ही कन्नड के उपलब्ध रामकथा संबंधी काव्यों में सबसे प्राचीन है।

पंपयुग में महाकवियों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपनी महान् कृतियों से कन्नड को समृद्ध बनाया। यद्यपि इस काल में बड़े बड़े कलात्मक प्रौढ़ काव्यों का निर्माण हुआ, तो भी समाज के साधारण लोगों के जीवन के साथ साहित्य का संपर्क नहीं था। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय के कवि राजाओं के आश्रय में रहते थे और वे जो कुछ लिखते थे, या तो अपने आश्रयदाता राजाओं का यश गाने के लिये लिखते थे या दरबार के अन्य पंडितों के बीच वाहवाही लूटने के लिये अथवा अपने धर्म का प्रचार करने के लिये। इसका परिणाम यह हुआ कि बोलचाल की भाषा साहित्य सर्जन के लिये उपयुक्त नहीं समझी गई। सर्वत्र संस्कृत का प्रभाव पड़ा। चंपू शैली में जो प्रौढ़ काव्य रचे गए वे साधारण जनता की वस्तु न होकर पंडितों तक सीमित रहे।

बसव युग—१२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से १५वीं शताब्दी तक का काल बसव युग कहलाता है। इस युग का दूसरा नाम 'क्रांतियुग' है। इस समय कर्नाटक में धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जो क्रांति से अछूता रह सका हो। इस क्रांति के उन्नायक बसव, बसवण्ण अथवा बसवेश्वर थे, इसलिये इस युग का नाम बसव युग पड़ा।

इस काल में संस्कृतनिष्ठ कन्नड के स्थान पर बोलचाल की कन्नड साहित्य के निर्माण के लिये उपयुक्त समझी गई और संस्कृत की काव्यशैली के बदले देशी छंदों को विशेष प्रोत्साहन दिया गया। पिछली शताब्दियों में जैन मतावलंबियों का साहित्यक्षेत्र में सर्वाधिकार था। इस युग में भिन्न भिन्न मतावलंबियों ने साहित्य के निर्माण में योग दिया। साहित्य की श्रीवृद्धि में भक्ति एक प्रबल प्रेरक शक्ति के रूप में सहायक हुई।

१२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बसवेश्वर का आविर्भाव हुआ। उन्होंने वीरशैव मत का पुनः संघटन करके कर्नाटक के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में बड़ी उथल पुथल मचाई। बसव तथा उनके अनुयायियों ने अपने मत के प्रचार के लिये बोलचाल की कन्नड को माध्यम बनाया। वीरशैव भक्तों ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार एवं नीति पर निराडंबर शैली में अपने अनुभवों की बातें सुनाईं, जो वचन साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इन वीरशैव भक्तों अथवा शिवशरणों के वचन एक प्रकार के गद्यगीत हैं। शिवशरणों ने साहित्य के लिये साहित्य नहीं रचा। उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारों का प्रचार करना ही था। उनके विचारों में सरलता थी, सचाई थी और सच्चे जिज्ञासु की रसमग्नता थी। इसलिये उनकी वाणी में साहित्यिक सौष्ठव अपने आप आ गया। इन शिवशरणों के वचनों ने कर्नाटक में वही कार्य किया जो कबीर तथा उनके अनुयायियों ने उत्तर भारत में किया।

बसव ने भक्ति का उपदेश दिया और इस भक्ति की साधना में वैदिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा, जाति पाँति का भेदभाव, अवतारवाद, अंधश्रद्धा आदि को बाधक ठहराया। जातिरहित, वर्गरहित, वर्णरहित समाज के निर्माण द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक साधन का मार्ग सर्वसुलभ बनाना चाहा। बसव के समकालीन वीरशैव भक्तों में अल्लमप्रभु, अक्कमहादेवी, चेन्नबसव तथा सिद्धराम प्रमुख हैं।

इन वचनकार शिवशरणों के अतिरिक्त वीरशैव मतावलंबी बहुत से ऐसे कवि हुए जिन्होंने भक्तिभावप्रधान नाना प्रकार के काव्यग्रंथ देशी छंदों का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किए। १२वीं और १३वीं शताब्दियों के बीच तीन श्रेष्ठ कवि हुए—हरिहर, राघवांक और पद्मरस। इस काल के जैन कवियों में नेमिचंद्र, बंधुवर्मा, जन्न, मल्लिकार्जुन, केशिराज, रट्टकवि और कुमुदेंदु मुनि के नाम उल्लेखनीय हैं।

१३वीं शताब्दी में कर्नाटक की धार्मिक स्थिति में फिर से उथल पुथल हुई। एक ओर कर्नाटक रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्रीवैष्णव संप्रदाय से प्रभावित हुआ और दूसरी ओर उसमें मध्वाचार्य के द्वैत मत की भक्ति की नई लहर चली। इन दोनों वैष्णव संप्रदायों द्वारा चलाई गई भक्तिधारा से कन्नड साहित्य में नूतन शक्ति का संचार हुआ। परिणामस्वरूप पौराणिक महाकाव्यों के कथानकों का कन्नड में नए सिरे से विशुद्ध मूल रूप में निरूपण हुआ। इस अवधि में रुद्रभट्ट नामक एक वैष्णव कवि हुए जिनका 'जगन्नाथविजय' कन्नड का सर्वप्रथम वैष्णव प्रबंध काव्य माना जाता है। यह चंपू शैली में लिखा गया है और इसकी कथावस्तु कृष्ण से संबंधित है।

कुमारव्यास युग—१५वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के अंत तक का काल कुमारव्यास युग कहलाता है। इस अवधि में विजयनगर के सम्राटों तथा मैसूर के राजाओं ने कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि में विशेष हाथ बँटाया। वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ी जिसकी प्रतिक्रिया कन्नड साहित्य में भी दिखाई पड़ी। वैष्णव धर्म द्वारा प्रचारित भक्ति साहित्य-सर्जन में प्रेरक शक्ति के रूप में प्रकट हुई। साहित्य जनता के अति निकट संपर्क में आया। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि नारणप्प (नारणप्प) हैं जो अपनी लोकप्रियता के कारण 'कुमारव्यास' के अभिधान से प्रख्यात हुए। कुमारव्यास भागवत संप्रदाय के प्रमुख कवि थे।

नारणप्प अथवा कुमारव्यास की जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा उनके रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। प्रो० मुगलि के अनुसार १४वीं और १५वीं शताब्दियों के बीच कुमारव्यास जीवित थे। कुमारव्यास ने 'कन्नड भारत' अथवा 'गदुगिन भारत' और 'ऐरावत' नामक दो काव्य लिखे थे, ऐसा माना जाता है। लेकिन ऐरावत के उनकी कृति होने में संदेह प्रकट किया गया है। 'कन्नड भारत' में व्यासरचित महाभारत के प्रथम दस पर्वों की कथा का निरूपण किया गया है। यद्यपि पंप ने अपने 'पंपभारत' द्वारा महाभारत की सारी कथा का कन्नड प्रतिरूप प्रस्तुत किया था तो भी वह कुमारव्यास के कन्नडभारत की तरह लोकप्रिय नहीं हो सका। इसके दो कारण हैं—एक यह है कि पंपभारत में पांडित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी और दूसरा यह कि उसमें जैन धर्म का रंग भी चढ़ा था।

कुमारव्यास के कन्नडभारत के उपरांत महाभारत, रामायण और भागवत के कथानकों के आधार पर बहुत से उत्तम काव्य षट्पदि शैली में प्रस्तुत किए गए। कुमारव्यास के दिखलाए हुए मार्ग पर चलकर नरहरि अथवा कुमारवाल्मीकि नामक कवि ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर कन्नड में 'तोरवेरामायण' की रचना की। यह भी भक्तिप्रधान प्रबंध काव्य है, जो प्राचीन कन्नड की एक सरस कलाकृति है। भागवत मतावलंबी कवियों में तिम्मण्ण कवि, चाटु विट्ठलनाथ, लक्ष्मीश तथा नागरस के नाम उल्लेखनीय हैं। कुमारव्यास से प्रेरणा पाकर तिम्मण्ण कवि ने महाभारत के अंतिम आठ पर्वों की कथा का निरूपण 'कृष्णराज भारत' नामक अपने काव्य में किया। सबसे पहले समग्र भागवत का कन्नड पद्यानुवाद चाटु विट्ठलनाथ नामक भागवत कवि ने प्रस्तुत किया। लगभग इसी काल में एक अत्यंत प्रतिभासंपन्न कवि हुए, जिनका नाम लक्ष्मीश

तीन दशाब्दियों में कन्नड भाषा तथा साहित्य के अभिवर्धन के लिये महत्वपूर्ण कार्य हुआ। इधर दक्षिण कर्नाटक में कर्नाटक के राजाओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप कर्नाटक में प्राच्य पुस्तकालय तथा उधर धारवाड़ में कर्नाटक विद्यावर्धक संघ की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं की ओर से प्राचीन शिलालेखों तथा पांडुलिपियों के संग्रह, संपादन तथा प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हुआ। बी० एल० राइस तथा ऑर० नरसिंहाचार ने अनथक प्रयत्न करके 'दि एपिग्राफ़िया कर्नाटिका' का बारह भागों में प्रकाशन कराया। राइस ने भट्टाकळंक के 'शब्दानुशासन' नामक प्राचीन व्याकरण ग्रंथ का संपादन किया और उसकी प्रस्तावना में कन्नड साहित्य के इतिहास की रूपरेखा अंग्रेजी में पहली बार प्रस्तुत की। मंगलोर के बासेल मिशन के तत्वावधान में रेवरेंड एफ़० किट्टल नामक एक जर्मन पादरी ने १८ वर्ष निरंतर परिश्रम करके कन्नड पंडितों के सहयोग से 'कन्नड अंग्रेजी बृहत्कोश' प्रकाशित कराया, साथ ही कन्नड के प्राचीन ग्रंथों का संग्रह एवं संपादन कार्य प्रारंभ किया। इसी अवधि में मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से फ़ोर्ट सेंट कालेज में कन्नड सिखाने के उद्देश्य से पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की गईं। इस प्रकार यद्यपि कन्नड भाषा तथा साहित्य के पुनरुद्धार के लिये स्तुत्य उद्योग हुआ, तो भी स्कूल कालेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण कन्नड के प्रति जनता में जैसा आदर होना चाहिए था वैसा नहीं उत्पन्न हुआ।

१९०० से १९२१ ई० तक का काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियों का काल है। पहली बार ऑर० नरसिंहाचार ने सन् १९०७ में कन्नड साहित्य का एक बृहत् इतिहास 'कर्नाटक कविचरिते' तीन भागों में प्रकाशित किया जिसमें एक सहस्र वर्षो के कन्नड के समस्त कवियों तथा उनकी कृतियों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत हो गया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस इतिहास में कवि और काव्य का मूल्यांकन आधुनिक आलोचना पद्धति के आधार पर किया गया है, फिर भी यह निश्चित है कि कन्नड साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य के लिये 'कर्नाटक कविचरिते' द्वारा एक निश्चित आधारशिला प्रस्तुत हो गई। सन् १९१५ में ई० पी० राइस ने अंग्रेजी में हिस्ट्री ऑव कनरीज़ लिटरेचर लिखकर पाश्चात्य दृष्टिकोण से कन्नड साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार प्रथम उत्थान में राइस के 'दि एपिग्राफ़िया कर्नाटिका' के प्रकाशन के फलस्वरूप आधुनिक दृष्टिकोण से साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन प्रारंभ हुआ और नरसिंहाचार के 'कर्नाटक कविचरिते' के निर्माण से कन्नड के साहित्यकारों की जीवनियों तथा उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की निश्चित पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी समय एक ओर बँगलोर में कन्नड साहित्य परिषद् का जन्म हुआ और दूसरी ओर मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन दोनों सस्थाओं के आश्रय में कन्नड भाषा एवं साहित्य के संवर्धन के लिये नया परिवेश प्रस्तुत हुआ।

सन् १९२१ से १९४० तक की अवधि में कन्नड का आधुनिक काल अपने स्वर्णयुग में प्रवेश करता है। इस तृतीय उत्थान के प्रारंभ में प्रो० बी० एम० श्रीकंठय्या, जो कर्नाटक में 'श्री' अभिधान से लोकप्रिय हैं, कन्नड भाषा और साहित्य में नवोदय के अग्रदूत हुए। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से कन्नड में भी आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाएँ प्रस्फुटित हो सर्वतोमुखी उन्नति में सहायक हुईं। नाटक, उपन्यास, जीवनी, आलोचना, निबंध आदि सभी विधाएँ अपने सच्चे रूप में विकसित होने लगीं जिसके परिणामस्वरूप कन्नड का साहित्य सशक्त होकर जीवन को सही अर्थ में प्रतिबिंबित करने लगा।

कन्नड में आधुनिक कविता का प्रारंभ एक प्रकार से अंग्रेजी कविता के अनुवाद तथा अनुकरण के साथ साथ हुआ। विशेष रूप से बी० एम० श्रीकंठय्या का अंग्रेजी कविताओं का कन्नड अनुवाद 'इंगलीषु गीतेगलु' नवयुवकों के लिये भाषा, वस्तुविधान, शैली, छंद एवं अलंकारयोजना की दृष्टि से पथप्रदर्शक बन गया। इसी समय कर्नाटक के विविध भागों में कवियों की खासी मंडलियाँ स्थापित हुईं, धरती का प्रेम तथा राष्ट्रीयता का पूरा भावलोक व्यक्त हुआ। प्रगाथा, विलापिका, गीतिकाव्य, सॉनेट गीत और भजन, वर्णनात्मक कविता, खंडकाव्य, वीरकाव्य, रोमांस, दार्शनिक कविता, गद्यगीत और स्वागतभाषण—ये और अन्य काव्यविभाग उत्कृष्ट आनंद और उच्च प्रेरणा से विकसित हुए। इस दल के कवियों में अनुभूति की गहराई, व्यापकता तथा कृतियों के परिमाण की दृष्टि से कुवेंपु (के० वी० पुट्टप्पा) तथा अंबिकातनयदत्त (द० रा० बेंद्रे) सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। लगभग बीस कवितासंग्रह तथा रामायणदर्शन नामक अतुकांत महाकाव्य कुवेंपु की अमर कीर्ति के आधारस्तंभ हैं। प्रधानतया बेंद्रे ने गीत ही रचे हैं। 'गरि', 'सखीगीत', 'नादलीले', 'अरळु मरळु' उनके गीतसंग्रहों में मुख्य हैं।

सन् १९३० में जिस प्रगतिशील आंदोलन का सूत्रपात हुआ उसने इस समय के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। कविता के क्षेत्र में भी नई शक्ति का संचार हुआ। नए छंद और नए रचनाविधान की प्रतिष्ठा हुई।

आधुनिक कन्नड साहित्य में छोटी कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय है। मास्ति वेंकटेश अय्यंगार (श्रीनिवास) आधुनिक कन्नड कहानी साहित्य के पिता माने जाते हैं। उनकी कहानियों में दार्शनिकता, देशभक्ति, ऐतिहासिकता, ग्रामीण जीवन के चित्र, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पारिवारिक चित्रण आदि तत्वों का बड़ा ही सुंदर समावेश हुआ है। कहानी के वस्तुविधान तथा शिल्पविधान की दृष्टि से इस समय कन्नड की कहानी में विकासक्रम का स्पष्ट परिचय मिलता है।

कन्नड में बँगला और मराठी उपन्यासों के अनुवाद के साथ उपन्यास साहित्य के निर्माण में नई प्रेरणा का संचार हुआ। बी० वेंकटचार ने बंकिमचंद्र के उपन्यासों का सफल अनुवाद प्रस्तुत किया। गलगनाथ ने अनुवाद के अतिरिक्त 'माधव करुण विलास' तथा 'कुमुदिनी' नामक दो मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। फिर भी, गुल्वाडि वेंकटराव का लिखा 'इंदिरादेवी' (१८९९) तथा एम० एस० पुट्टण्णा का लिखा 'माडिदुण्णो महाराया' कन्नड के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माने जाते हैं। इस अवधि में कन्नड में विशिष्ट उपन्यास लिखे गए जिनके कई उदाहरण आज भी मिलते हैं, जैसे वटगेरि के 'सुदर्शन' में सामाजिक शिष्टाचार के उपन्यास, ए० एन० कृष्णराव के 'संध्याराग' में चरित्रप्रधान उपन्यास, कस्तूरि के 'चक्रदृष्टि' में व्यंग्यप्रधान उपन्यास, देवुड के 'अंतरंग' में मनोवैज्ञानिक उपन्यास, शिवराम कारंत के 'मरळि मण्णिगे' में कालप्रधान उपन्यास, मुगलि के 'कारणपुरुष' में समस्याप्रधान उपन्यास। मास्ति का 'चेन्नबसव' नामक, के० वी० अय्यर का 'शांतला' तथा ए० एन० कृष्णराव का 'नटसार्वभौम', त० रा० सु० का 'हंसगीते', के० वी० पुट्टप्पा का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडति', कारंत के 'बेट्टद जीव' और 'चोमनदुडि गोकाक' का 'समरस वे जीवन' आदि उपन्यास अपने विशिष्ट गुणों के कारण कन्नड भाषाभाषियों के जीवन, संस्कृति तथा इतिहास के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। मिर्जी अण्णाराव, बसवराज कट्टीमानी, मुळ्ळूरु, शिवराव, इनामदार और पुराणिक भी आधुनिक कन्नड के समर्थ उपन्यासकार हैं। कारंत का 'मरलि मण्णिगे', के० वी० अय्यर का 'शांतला', त० रा० सु० का 'हंसगीते' का हिंदी रूपांतर प्रकाशित हो चुका है। कुवेंपु का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडिति' अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है।

जिस प्रकार हिंदी के नाटक साहित्य और रंगमंच का मूल रूप रामलीला, कृष्णलीला, रासधारी मंडलियों के रूप में पाया जाता है उसी प्रकार कन्नड के नाटक तथा रंगमंच का मूलरूप 'यक्षगान', 'बयलाट', 'ताळमद्दले' के रूप में प्राप्त होता है। यक्षगान के लिये लिखे गए नाटक प्रायः पद्य में पाए जाते हैं। कन्नड के प्राचीन साहित्य के अंतर्गत सन् १६८० में लिखा हुआ सिंगरार्य का 'मित्रविंदा गोविंद' कन्नड का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है। यह हर्ष की 'रत्नावली नाटिका' के आधार पर लिखा गया रूपक है। आधुनिक कन्नड में पहले पहल संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इन अनुवादकों में बसवप्प शास्त्री, नंजनगूड श्रीकंठ शास्त्री एवं गहरिंग कृष्णाचार्य, रामशेष शास्त्री, अनंतनारायण शास्त्री, कवितिलक अप्पा शास्त्री, नरहरि शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय अनूदित नाटकों में उत्तररामचरित, रत्नावली, वेणीसंहार, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, नागानंद, मृच्छकटिक, हरिश्चंद्र, शाकुंतल आदि

था। इनका लिखा हुआ 'जैमिनिभारत' अनुपम काव्य है जिसमें महाभारत के कतिपय रोचक प्रसंगों का सुंदर एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। लोकप्रियता की दृष्टि से कर्नाटक में कुमारव्यास के भारत के बाद जैमिनिभारत का स्थान है। नागरस नामक कवि ने भगवद्गीता का 'वासुदेवकथामृतसार' नामक कन्नड पद्यानुवाद प्रस्तुत किया।

जिस प्रकार इस अवधि में कुमारव्यास, कुमारवाल्मीकि, लक्ष्मीश जैसे भागवत संप्रदाय के कवियों ने भारत, रामायण, भागवत आदि महाकाव्यों से कथावस्तु लेकर कन्नड में भक्तिप्रधान प्रबंध काव्यों का प्रणयन किया, उसी प्रकार माध्वमतावलंबी भक्तों ने बोलचाल की कन्नड में गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्ति का संदेश कर्नाटक के घर घर पहुँचाया। इन भक्तों की परंपरा का आरंभ १३वीं शताब्दी में नरहरितीर्थ द्वारा हुआ था। इस समय इन भक्तों की एक बड़ी मंडली जुट गई थी जो प्रधानतया दो भागों में विभाजित थी। एक दल का नाम था 'व्यासकूट' और दूसरे का 'दासकूट'। इन दोनों में अंतर यही था कि वे भक्त व्यासकूट के कहलाते थे जो अधिकांश ब्राह्मण थे और जो अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत को ही उपयुक्त समझते थे, एवं वे भक्त दासकूट के माने जाते थे जिनमें सभी जातियों के लोग संमिलित थे और जो कन्नड के माध्यम से भजन, कीर्तन रचते थे। संप्रदाय की तत्व संबंधी बातों में 'व्यासकूट' तथा 'दासकूट' के भक्तों में कोई अंतर नहीं था। इन दोनों दलों के भक्त कर्नाटक में हरिदास के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन हरिदासों ने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोकव्यवहार आदि विषयों पर सरस, किंतु व्याकरणबद्ध कन्नड में हजारों पद रचकर कन्नड साहित्य का भंडार भरा। हरिदासों की परंपरा १८वीं शती तक चलती है। हरिदासों के गीतों का कन्नडवासी जनता पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। इन हरिदासों में पुरंदरदास, कनकदास, जगन्नाथदास आदि प्रमुख हैं।

१७वीं शताब्दी में मैसूर (संप्रति कर्नाटक) के राजा चिकदेवराय के आश्रय में रहते हुए कतिपय वैष्णव कवियों ने उत्तम काव्यों का निर्माण किया। इन कवियों में तिरुमलार्य, चिकुपाध्याय, सिंगरार्य, होन्नम्मा, हेळवन कट्टे गिरियम्मा, महालिंगरंग कवि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय पहली बार श्रीवैष्णव संप्रदाय का प्रभाव कन्नड साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ा। चिकदेवराय 'विन्नप' तथा 'गीतगोपाल' नामक अपनी रचनाओं में तिरुमलार्य ने श्रीवैष्णव संप्रदाय के साथ साथ ऐकांतिक भक्ति का निरूपण किया है। 'हदिबदेयधर्म' होन्नम्मा का एक सुंदर काव्य है जिसमें सतीधर्म (गृहिणी धर्म) का प्रांजल भाषा में वर्णन किया गया है। महालिंगरंग कवि के लिखे 'अनुभवामृत' में शंकर के अद्वैत सिद्धांत का सार सरस कन्नड में प्रस्तुत किया गया है। चिकदेवराय स्वयं अच्छे कवि थे।

इस युग में वीरशैव मतावलंबी भक्तों एवं कवियों ने भी नाना प्रकार के ग्रंथ रचकर कन्नड की सेवा की। इनमें कुछ शतक शैली में लिखे गए हैं। वचन शैली के अतिरिक्त कुछ गद्य ग्रंथ भी लिखे गए और सांगत्य, त्रिपदि, वृत्त, चंपू, गीत आदि छंदों का विशेष प्रयोग किया गया। किंतु इस लंबी अवधि में जितने वचनकार हुए वे इने गिने ही हैं।

चरितकाव्य प्रस्तुत करनेवाले वीरशैव कवियों में चामरस, विरूपाक्ष पंडित और षडक्षरदेव अग्रगण्य थे। चामरस के लिखे काव्यों में 'प्रभुलिंगलीले' श्रेष्ठ चरितकाव्य है। 'प्रभुलिंगलीले' में अल्लम प्रभु के जीवनवृत्त का विस्तार किया गया है। वीरशैव कवियों में श्रेष्ठ प्रबंध काव्य रचनेवालों में हरिहर के बाद चामरस का नाम आदर के साथ लिया जाता है। विरूपाक्ष पंडित का लिखा हुआ चेन्नबसव पुराण भी उत्तम प्रबंध काव्य है, जिसमें प्रसिद्ध वीरशैव भक्त चेन्नबसव की कहानी कही गई है। हरिहर के 'बसवराजरगले' तथा चामरस के 'प्रभुलिंगलीले' जैसे चरितकाव्यों में मतधर्म तथा काव्यधर्म का जैसा सुंदर समन्वय हुआ है, वैसा 'चेन्नबसवपुराण' में नहीं हो पाया है।

पंप युग में जैन कवियों ने अपने श्रेष्ठ प्रबंध काव्यों के द्वारा कन्नड में चंपूशैली को अत्यंत लोकप्रिय बनाया। लेकिन आगे चलकर इस शैली का उपयोग कम होता गया। कुमारव्यास युग में फिर से यह शैली अपनाई गई। इसे अपनानेवाले कवि जैन नहीं अपितु वीरशैव थे। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में षडक्षरदेव नामक एक प्रतिभासंपन्न वीरशैव कवि ने चंपूशैली में तीन प्रबंध काव्य रचे जिनके नाम 'राजशेखरविलास', 'शबरशंकरविलास' तथा 'वृषभेंद्रविजय' हैं। 'राजशेखरविलास' तथा 'शबरशंकरविलास' में शिवलीला से संबंध रखनेवाली कहानियों का वर्णन किया गया है। 'वृषभेंद्रविजय' की कथावस्तु बसव का जीवनवृत्त है।

इस युग में एक महान् वीरशैव संत का अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था, इसका कुछ पता नहीं लगा है। इनका साहित्यिक उपनाम 'सर्वज्ञ' था। इन्होंने 'त्रिपदि' नामक छंद में अपनी अमृत वाणी सुनाई है। प्रत्येक छंद 'सर्वज्ञ' शब्द के साथ समाप्त होता है और हिंदी के दोहे की तरह स्वतंत्र अर्थ रखता है।

इस अवधि में जैन धर्म का प्रभाव लुप्त हो चला था। फिर भी कुछ जैन मतावलंबी कवियों ने अपनी शक्ति भर कन्नड की सेवा की। जैन कवियों ने प्रचलित देशी काव्यशैलियों में काव्यरचना की। ऐसे कवियों में भास्कर, तेरकणांबि, बोम्मरस, शिशुमायण, तृतीयमंगरस, साल्व कवि तथा रत्नाकरवर्णि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रत्नाकरवर्णि सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनकी कृतियों में 'भरतेशवैभव' मुख्य है। प्रथम तीर्थंकर आदिदेव के पुत्र भरत और बाहुबलि के उज्वल चरित्रों का वर्णन ही 'भरतेशवैभव' की कथावस्तु है। पंप, हरिहर, कुमारव्यास जैसे कन्नड के महाकवियों की श्रेणी में रत्नाकरवर्णि का नाम भी लिया जाता है।

इस युग की अंतिम अर्थात् १९वीं शताब्दी में कुछ अच्छे कवि हुए। देवचंद्र नामक जैन कवि ने 'रामकथावतार' लिखकर जैन रामायण परंपरा को आगे बढ़ाया। मैसूर (संप्रति कर्नाटक) के राजा मुम्मुडि कृष्णराज ओडियर के दरबारी कवियों में केंपुनारायण तथा बसवप्प शास्त्री ने संस्कृत एवं अंग्रेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करके कन्नड में नाटक साहित्य के निर्माण के लिये अनुकूल वातावरण तैयार किया। कालिदास के शाकुंतल आदि नाटकों का बसवप्प शास्त्री ने इतनी सफलता से अनुवाद किया कि वे 'अभिनव कालिदास' के नाम से प्रसिद्ध हुए। केंपुनारायण ने मुद्रामंजूष' नामक, एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। नंदवंश की कहानी इसकी कथावस्तु है जिसपर मुद्राराक्षस का प्रभाव लक्षित होता है। यही कन्नड का सर्वप्रथम उपन्यास है।

१९वीं शताब्दी के अंत में मुद्दण नामक एक सफल कवि हुए जिन्होंने तीन सरस काव्य लिखे : 'अद्भुत रामायण', 'रामपट्टाभिषेक' और 'रामाश्वमेध'। 'अद्भुत रामायण' और 'रामाश्वमेध' दोनों गद्य ग्रंथ हैं। इनके गद्य की यह विशेषता है कि प्राचीन कन्नड की प्रौढ़ता एवं मधुरता के साथ साथ आधुनिक कन्नड की सरलता का परिचय मिलता है।

आधुनिक युग—भारतीय जीवन के इतिहास में १९वीं शती का उत्तरार्ध अत्यंत महत्वपूर्ण है। चूँकि इस समय समान परिस्थितियों तथा प्रभावों से सारा भारतीय जीवन मथित तथा आंदोलित हुआ था, अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कन्नड साहित्य की गतिविधि की कहानी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की कहानी से कुछ भिन्न नहीं है।

आधुनिक कन्नड साहित्य को प्रधानतया चार भागों में विभाजित किया जा सकता है जो इस प्रकार हैं :

(१) १९०० तक प्रथम उत्थान,
(२) १९०१ से १९२० तक द्वितीय उत्थान,
(३) १९२१ से १९४० तक तृतीय उत्थान, तथा
(४) १९४० से अब तक चतुर्थ उत्थान।

आधुनिक कन्नड का प्रथम उत्थान गद्य के साथ प्रारंभ होता है जिसके निर्माण में ईसाई मिशनरियों (प्रोटेस्टेंट) की सेवा उल्लेखनीय है। कहा जाता है, १८०९ में रेवरेंड विलियम केरी ने बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत किया। लगभग १८३१ में बळ्ळारि तथा मंगलोर में मिशनरियों द्वारा मुद्रणालय स्थापित किए गए जिनके कारण कन्नड ग्रंथों की छपाई में सहायता मिली। प्रायः सन् १८२३ में प्रकाशित कन्नड बाइबिल ही आधुनिक कन्नड का सर्वप्रथम गद्य ग्रंथ है। तदुपरांत ईसाई पादरियों ने अपने धर्म के प्रचार के हेतु कन्नड में पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित कराईं जिनमें 'सभापत्र', 'सत्यदीपिके' तथा 'कर्नाटक' मुख्य हैं। १९वीं शती की अंतिम

तीन दशाब्दियों में कन्नड भाषा तथा साहित्य के अभिवर्धन के लिये महत्वपूर्ण कार्य हुआ। इधर दक्षिण कर्नाटक में कर्नाटक के राजाओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप कर्नाटक में प्राच्य पुस्तकालय तथा उधर धारवाड़ में कर्नाटक विद्यावर्धक संघ की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं की ओर से प्राचीन शिलालेखों तथा पांडुलिपियों के संग्रह, संपादन तथा प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हुआ। बी० एल० राइस तथा आर० नरसिंहाचार ने अनथक प्रयत्न करके 'दि एपिग्राफ़िया कर्नाटिका' का बारह भागों में प्रकाशन कराया। राइस ने भट्टाकळंक के 'शब्दानुशासन' नामक प्राचीन व्याकरण ग्रंथ का संपादन किया और उसकी प्रस्तावना में कन्नड साहित्य के इतिहास की रूपरेखा अंग्रेजी में पहली बार प्रस्तुत की। मंगलोर के बासेल मिशन के तत्वावधान में रेवरेंड एफ़० किट्टल नामक एक जर्मन पादरी ने १८ वर्ष निरंतर परिश्रम करके कन्नड पंडितों के सहयोग से 'कन्नड अंग्रेजी बृहत्कोश' प्रकाशित कराया, साथ ही कन्नड के प्राचीन ग्रंथों का संग्रह एवं संपादन कार्य प्रारंभ किया। इसी अवधि में मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से फ़ोर्ट सेंट कालेज में कन्नड सिखाने के उद्देश्य से पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की गईं। इस प्रकार यद्यपि कन्नड भाषा तथा साहित्य के पुनरुद्धार के लिये स्तुत्य उद्योग हुआ, तो भी स्कूल कालेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण कन्नड के प्रति जनता में जैसा आदर होना चाहिए था वैसा नहीं उत्पन्न हुआ।

१९०० से १९२१ ई० तक का काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियों का काल है। पहली बार आर० नरसिंहाचार ने सन् १९०७ में कन्नड साहित्य का एक बृहत् इतिहास 'कर्नाटक कविचरिते' तीन भागों में प्रकाशित किया जिसमें एक सहस्र वर्षों के कन्नड के समस्त कवियों तथा उनकी कृतियों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत हो गया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस इतिहास में कवि और काव्य का मूल्यांकन आधुनिक आलोचना पद्धति के आधार पर किया गया है, फिर भी यह निश्चित है कि कन्नड साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य के लिये 'कर्नाटक कविचरिते' द्वारा एक निश्चित आधारशिला प्रस्तुत हो गई। सन् १९१५ में ई० पी० राइस ने अंग्रेजी में हिस्ट्री ऑव कनरीज़ लिटरेचर लिखकर पाश्चात्य दृष्टिकोण से कन्नड साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार प्रथम उत्थान में राइस के 'दि एपिग्राफ़िया कर्नाटिका' के प्रकाशन के फलस्वरूप आधुनिक दृष्टिकोण से साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन प्रारंभ हुआ और नरसिंहाचार के 'कर्नाटक कविचरिते' के निर्माण से कन्नड के साहित्यकारों की जीवनियों तथा उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की निश्चित पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी समय एक ओर बैंगलोर में कन्नड साहित्य परिषद् का जन्म हुआ और दूसरी ओर मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं के आश्रय में कन्नड भाषा एवं साहित्य के संवर्धन के लिये नया परिवेश प्रस्तुत हुआ।

सन् १९२१ से १९४० तक की अवधि में कन्नड का आधुनिक काल अपने स्वर्णयुग में प्रवेश करता है। इस तृतीय उत्थान के प्रारंभ में प्रो० बी० एम० श्रीकंठय्या, जो कर्नाटक में 'श्री' अभिधान से लोकप्रिय हैं, कन्नड भाषा और साहित्य में नवोदय के अग्रदूत हुए। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से कन्नड में भी आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाएँ प्रस्फुटित हो सर्वतोमुखी उन्नति में सहायक हुईं। नाटक, उपन्यास, जीवनी, आलोचना, निबंध आदि सभी विधाएँ अपने सच्चे रूप में विकसित होने लगीं जिसके परिणामस्वरूप कन्नड का साहित्य सशक्त होकर जीवन को सही अर्थ में प्रतिबिंबित करने लगा।

कन्नड में आधुनिक कविता का प्रारंभ एक प्रकार से अंग्रेजी कविता के अनुवाद तथा अनुकरण के साथ साथ हुआ। विशेष रूप से बी० एम० श्रीकंठय्या का अंग्रेजी कविताओं का कन्नड अनुवाद 'इंगलीषु गीतेगळु' नवयुवकों के लिये भाषा, वस्तुविधान, शैली, छंद एवं अलंकारयोजना की दृष्टि से पथप्रदर्शक बन गया। इसी समय कर्नाटक के विविध भागों में कवियों की खासी मंडलियाँ स्थापित हुईं, धरती का प्रेम तथा राष्ट्रीयता का पूरा भावलोक व्यक्त हुआ। प्रगाथा, विसापिका, गीतिकाव्य, सॉनेट गीत और भजन, वर्णनात्मक कविता, खंडकाव्य, वीरकाव्य, रोमांस, दार्शनिक कविता, गद्यगीत और स्वागतभाषण—ये और अन्य काव्यविभाग उत्कृष्ट आनंद और उच्च प्रेरणा से विकसित हुए। इस दल के कवियों में अनुभूति की गहराई, व्यापकता तथा कृतियों के परिमाण की दृष्टि से कुवेंपु (के० वी० पुट्टप्पा) तथा अंबिकातनयदत्त (द० रा० बेंद्रे) सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। लगभग बीस कवितासंग्रह तथा रामायणदर्शन नामक अतुकांत महाकाव्य कुवेंपु की अमर कीर्ति के आधारस्तंभ हैं। प्रधानतया बेंद्रे ने गीत ही रचे हैं। 'गरि', 'सखीगीत', 'नादलीले', 'अरळु मरळु' उनके गीतसंग्रहों में मुख्य हैं।

सन् १९३० में जिस प्रगतिशील आंदोलन का सूत्रपात हुआ उसने इस समय के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। कविता के क्षेत्र में भी नई शक्ति का संचार हुआ। नए छंद और नए रचनाविधान की प्रतिष्ठा हुई।

आधुनिक कन्नड साहित्य में छोटी कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय है। मास्ति वेंकटेश अयंगार (श्रीनिवास) आधुनिक कन्नड कहानी साहित्य के पिता माने जाते हैं। उनकी कहानियों में दार्शनिकता, देशभक्ति, ऐतिहासिकता, ग्रामीण जीवन के चित्र, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पारिवारिक चित्रण आदि तत्वों का बड़ा ही सुंदर समावेश हुआ है। कहानी के वस्तुविधान तथा शिल्पविधान की दृष्टि से इस समय कन्नड की कहानी में विकासक्रम का स्पष्ट परिचय मिलता है।

कन्नड में बँगला और मराठी उपन्यासों के अनुवाद के साथ उपन्यास साहित्य के निर्माण में नई प्रेरणा का संचार हुआ। बी० वेंकटचार ने बंकिमचंद्र के उपन्यासों का सफल अनुवाद प्रस्तुत किया। गलगनाथ ने अनुवाद के अतिरिक्त 'माधव करुण विलास' तथा 'कुमुदिनी' नामक दो मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। फिर भी, गुल्वाडि वेंकटराव का लिखा 'इंदिरादेवी' (१८९९) तथा एम० एस० पुट्टण्णा का लिखा 'माडिदुण्णो महाराया' कन्नड के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माने जाते हैं। इस अवधि में कन्नड में विशिष्ट उपन्यास लिखे गए जिनके कई उदाहरण आज भी मिलते हैं, जैसे वटगेरि के 'सुदर्शन' में सामाजिक शिष्टाचार के उपन्यास, ए० एन० कृष्णराव के 'संध्याराग' में चरित्रप्रधान उपन्यास, कस्तूरि के 'चक्रदृष्टि' में व्यंग्यप्रधान उपन्यास, देवुड के 'अंतरंग' में मनोवैज्ञानिक उपन्यास, शिवराम कारंत के 'मरळि मण्णिगे' में कालप्रधान उपन्यास, मुगलि के 'कारणपुरुष' में समस्याप्रधान उपन्यास। मास्ति का 'चेन्नबसव' नामक, के० वी० अय्यर का 'शांतला' तथा ए० एन० कृष्णराव का 'नटसार्वभौम', त० रा० सु० का 'हंसगीते', के० वी० पुट्टप्पा का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडति', कारंत के 'बेट्टद जीव' और 'चोमनदुडि गोकाक' का 'समरस वे जीवन' आदि उपन्यास अपने विशिष्ट गुणों के कारण कन्नड भाषाभाषियों के जीवन, संस्कृति तथा इतिहास के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। मिर्जी अण्णाराव, बसवराज कट्टीमानी, कुळकुंद, शिवराव, इनामदार और पुराणिक भी आधुनिक कन्नड के समर्थ उपन्यासकार हैं। कारंत का 'मरलि मण्णिगे', के० वी० अय्यर का 'शांतला', त० रा० सु० का 'हंसगीते' का हिंदी रूपांतर प्रकाशित हो चुका है। कुवेंपु का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडिति' अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है।

जिस प्रकार हिंदी के नाटक साहित्य और रंगमंच का मूल रूप रामलीला, कृष्णलीला, रासधारी मंडलियों के रूप में पाया जाता है उसी प्रकार कन्नड के नाटक तथा रंगमंच का मूलरूप 'यक्षगान', 'बयलाट', 'ताळमद्दले' के रूप में प्राप्त होता है। यक्षगान के लिये लिखे गए नाटक प्रायः पद्य में पाए जाते हैं। कन्नड के प्राचीन साहित्य के अंतर्गत सन् १६८० में लिखा हुआ सिंगरार्य का 'मित्रविंदा गोविंद' कन्नड का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है। यह हर्ष की 'रत्नावली नाटिका' के आधार पर लिखा हुआ रूपक है। आधुनिक कन्नड में पहले पहल संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इन अनुवादकों में बसवप्प शास्त्री, नंजनगुड श्रीकंठ शास्त्री एवं सहगिरि कृष्णाचार्य, रामशेष शास्त्री, अनंतनारायण शास्त्री, कवितिलक अण्णा शास्त्री, नरहरि शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय अनूदित नाटकों में उत्तररामचरित, रत्नावली, वेणीसंहार, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, नागानंद, मृच्छकटिक, हरिश्चंद्र, शाकुंतल आदि

मुख्य हैं। अनुवाद करने की कला में बसवप्पा शास्त्री ने इतनी सफलता पाई कि उन्हें कर्नाटक के तत्कालीन महाराज ने 'अभिनव कालिदास' की उपाधि से पुरस्कृत किया। आगे चलकर अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद होने लगा। इसी समय कुछ नाटक कंपनियाँ भी स्थापित हुईं जिनके लिये विशेष रूप से पौराणिक तथा कुतूहलवर्धक सामाजिक नाटक लिखे गए। ऐसे नाटकों में कृष्णलीला, रुक्मिणीस्वयंवर, लंकादहन, कृष्णपारिजात, सदारमें, कबीरदास, जलंधर मुख्य हैं। कर्नाटक के प्रसिद्ध नट ए० वी० वरदाचार तथा गुब्बिवीरण्णा द्वारा स्थापित नाटक कंपनियों के आश्रय में रंगमंच की ही नहीं, नाट्य साहित्य की भी विशेष वृद्धि हुई।

अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप कन्नड के नाटक साहित्य पर पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव पड़ा। आधुनिक कन्नड के प्रमुख साहित्यकारों ने भी नाटक रचकर उसकी श्रीवृद्धि में योग दिया। नाटक की वस्तुओं में विविधता दिखाई देने लगी। शेरिडन, ऑस्कर वाइल्ड और इब्सन जैसे पाश्चात्य लेखकों का अनुकरण करके कन्नड में बड़े ही सुंदर, व्यंगात्मक, हास्य-रस-प्रधान नाटक रचे गए। ऐसे नाटकों में टी० पी० कैलासम के 'होमरूल' तथा 'टोल्लुगट्टि', श्रीरंग का 'हरिजन्वार', कारंत का 'गर्भगुडि', कुवेंपु का 'रक्ताक्षि' आदि नाम उल्लेखनीय हैं। दुःखांत नाटकों में बी० एम० 'श्री' के 'अश्वत्थामन' और 'गदायुद्ध' तथा कुवेंपु के 'बेरल्गेकोरल' मुख्य कहे जा सकते हैं। रोमांटिक एवं सुखांत नाटकों में गोकाक के 'युगांतर' जैसे नाटक पठनीय हैं। आधुनिक कन्नड में एकांकी, गीतिनाटक, अतुतांक पद्यनाटक, संगीतरूपक (ऑपेरा), रेडियो नाटक आदि नाटक के विविध रूपों का भी प्रचलन हुआ है।

निबंध आधुनिक कन्नड साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। आधुनिक युग के द्वितीय उत्थान में आलूर वेंकटराव के 'कर्नाटक गतवैभव' तथा पंडित तारानाथ के 'धर्मसंभव' जैसे विचारात्मक ग्रंथों द्वारा आधुनिक कन्नड की गंभीर गद्यशैली का मार्ग प्रशस्त हुआ। डी० वी० गुंडप्पा के 'साहित्यशक्ति', स० स० मालवाड के 'कर्नाटक-संस्कृति-दर्शन', सिद्धवनहल्लि कृष्णशर्मा के गांधी साहित्य में विचारप्रधान गद्यशैली निखरने लगी। व्यंग्यात्मक निबंधों के लिये जी० पी० राजरत्नम्, ना० कस्तूरि, कारंत, बल्लारि बीचि की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पी० टी० नरसिंहाचार के भावनाचित्र, प्रो० ए० लुन० मूर्तिराव के हगएगनसुगलु एवं वामन भट्ट के कोदंडन उपन्यास गलु जैसे निबंधों में लघु वार्तालाप के सुंदर नमूने मिलते हैं। वेंद्रे के रेखाचित्र, टी० एन० श्रीकंठय्या और ए० एन० कृष्णराव के आलोचनात्मक निबंध, पुट्टप्पा के वर्णनात्मक निबंध, गोकाक के पत्रात्मक तथा भौगोलिक सांस्कृतिक निबंध, मोटे तौर पर यह दर्शाते हैं कि इस क्षेत्र में कितनी और कैसी उपलब्धियाँ हुई हैं। डी० वी० गुडप्पा के 'गोखले', पुट्टप्पा के 'विवेकानंद', मधुरचेन्न के 'प्रिल्यूड', मास्ति के 'रवींद्रनाथ ठागूर' राजरत्नम् के 'दस वर्ष', दिवाकर के 'सेरेमने', गोकाक के 'समुद्रदाचेयिद' आदि ग्रंथों में क्रमशः क्लासिकल जीवनचरित्, रोमांटिक साहित्यिक तथा सौंदर्यात्मक जीवनवृत्त, साहित्यिक डायरी, आदि निबंध के विविध रूपों के सुंदर नमूने हैं। वी० सीतारामय्या के 'पंपा यात्रे', कारंत के 'आबुविद' और 'बरामक्के', मान्वि नरसिंहराव के निबंध इत्यादि प्रवास संबंधी साहित्य के आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

लगभग ३० वर्ष पहले बच्चों का विश्वकोश 'बालप्रपंच' लिखकर संभवतः भारतीय भाषाओं के साहित्यों के संमुख एक नूतन आदर्श उपस्थित करने का श्रेय कन्नड के महान् लेखक शिवराम कारंत को मिलना चाहिए। उन्होंने 'ईजगत्तु' के नाम से अपने विश्वकोश के प्रथम भाग का प्रकाशन कराया है और अन्य भागों के संपादन कार्य में अब वे निरंतर लगे हुए हैं।

रेवरेंड एफ० किट्टल, वी० एल० राइस तथा आर० नरसिंहाचार जैसे विद्वानों ने कन्नड के प्राचीन ग्रंथों का शोध, संपादन तथा प्रकाशन कार्य ही नहीं किया अपितु आधुनिक काव्यविमर्श की भी परंपरा चलाई। अंग्रेजी तथा प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन करके कन्नड में आलोचना साहित्य के लिये निश्चित मार्गदर्शन करनेवालों में डी० वी० गुंडप्पा, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, ए० आर० कृष्णशास्त्री तथा एम० गोविंद पै मुख्य कहे जा सकते हैं। डी० वी० गुंडप्पा का 'जीवनसौंदर्य मतु साहित्य' और 'साहित्यशक्ति', मास्ति का तीन भागों में प्रकाशित 'विमर्शे', ए० आर० कृष्ण शास्त्री का 'भाषणगळु मत्तु लेखनगळु', आधुनिक कन्नड के आलोचना साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। डॉ० ए० वेंकटसुब्बय्या तथा एम० गोविंद पै ने अपने शोधपूर्ण निबंधों में कन्नड के प्राचीन कवियों के कालनिर्णय, वस्तुनिरूपण, भाषास्वरूप आदि पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। कन्नड साहित्य परिषद् की छमाही पत्रिका 'परिषत्पत्रिके' तथा मैसूर विश्वविद्यालय की त्रैमासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध कर्नाटक' में कन्नड के कवि और काव्य पर आलोचनात्मक लेख गत पच्चीस तीस वर्षों से बराबर प्रकाशित होते आ रहे हैं। मैसूर विश्वविद्यालय तथा कन्नड साहित्य परिषद् के तत्वावधान में पंप, कुमारव्यास, नागचंद्र, रन्न आदि प्राचीन कवियों पर उत्तम विमर्शात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। साथ ही अन्यान्य साहित्य संघों की ओर से छोटे बड़े आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह निकाले गए हैं। पी० जी० हलकट्टि, आर० आर० दिवाकर, एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति जैसे विद्वानों ने क्रमशः 'वचनशास्त्रसार', 'वचनशास्त्ररहस्य', 'वचनधर्मसार', तथा 'भक्ति भंडारि बसवण्ण' नामक ग्रंथों में वीरशैव भक्त कवियों तथा उनकी कृतियों का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। मुलिय तिम्मप्पया का 'नाडोजपंप', शि० शि० बसवनाल का 'प्रभुलिंगलीले', कुंदणगार का 'हरिहर देव', महादेवियक्क, आर० सी० हिरेमठ का 'महाकविराघवांक', के० वी० राघवाचार का 'यशोधरचरित', ए० आर० कृष्णशास्त्री का 'संस्कृत नाटकगलु', 'टी० एन० श्रीकंठय्या का 'भारतीय काव्यमीमांसे' और 'काव्यसमीक्षे', कुवेंपु के 'साहित्यविहार' तथा 'तपोनंदन', 'विभूतिपूजे', वेंद्रे का 'साहित्यसंशोधने', गोविंद पै का 'कन्नड साहित्यद प्राचीनते', बेटगेरि का 'कर्नाटक दर्शन', आर० एस० पंचमुखी का 'हरिदास साहित्य', डॉ० कर्कि का 'छंदोविकास', डी० एल० नरसिंहाचार द्वारा संपादित 'शब्दमणिदर्पण', आर० एस० मुगळि का 'कन्नड साहित्य चरित्रे' आदि ग्रंथ ऐसे महत्वपूर्ण हैं जिनके अध्ययन से कन्नड भाषा एवं साहित्य की व्यापकता तथा गहराई पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। सन् १९४७ में मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से एक 'बृहत् अंग्रेजी-कन्नड-कोश' प्रकाशित हुआ। शिवराम कारंत का 'कन्नड अर्थकोश' तथा डी० के भारद्वाज का 'कन्नड-अंग्रेजी-कोश' उल्लेखनीय हैं। कर्नाटक राज्य सरकार तथा भारत सरकार के अनुदान से कन्नड-साहित्य-परिषद् की ओर से एक बृहत् कन्नड कोश का संपादन कार्य चल रहा है।

आधुनिक कन्नड में शिशु साहित्य के निर्माण के लिये भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। इस दिशा में पहले पहल पंजेमंगेशराव ने 'बाल-साहित्य-मंडल' नामक संस्था की स्थापना करके बालसाहित्य की वृद्धि में योग दिया। कुवेंपु, जी० पी० राजरत्न, दिनकर देसाई, होइसल, देवुडु नरसिंह शास्त्री, आदि अनेक आधुनिक कन्नड के लेखकों ने बच्चों के लिये सुंदर गीत रचकर शिशुसाहित्य को लोकप्रिय बनाया है। कर्नाटक में बच्चों की शिक्षा के लिये शिशुविहार जगह जगह स्थापित हुए हैं। 'अखिल कर्नाटक मक्कल-कूट', 'चिक्कबरकणाज' जैसी बच्चों की संस्थाओं के कारण शिशुसाहित्य के सृजन में विशेष प्रोत्साहन मिला है। मक्कल पुस्तक, नम्मपुस्तक, कंद, चंदमामा, जैसी बच्चों की मासिक पत्रिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

कन्नड के लोकगीतों तथा लोककलाओं के अध्ययन का कार्य भी प्रारंभ हुआ है। कर्नाटक में गत ३०० वर्षों से अत्यंत लोकप्रिय लोककला 'यक्षगान' पर शिवराम कारंत का लिखा हुआ 'यक्षगान' बयलाट एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसपर भारत सरकार ने ५,००० रुपए का पुरस्कार प्रदान किया है। मास्ति वेंकटेश अय्यंगार ने अपने 'पापुलर कल्चर इन कर्नाटक' में कन्नड के लोकसाहित्य का सुंदर परिचय दिया है। ग्रामगीतों के भी कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें वेंद्रे का 'गरतियरहाडु', एल० गुंडप्पा का 'हल्लियपदगलु', वी० एन० रंगस्वामी तथा गोरूर रामस्वामयंगार का 'हल्लियहाडुगलु', मतिगट्ट कृष्णमूर्ति का 'हल्लियपदगलु' तथा का० रा० कृ० का 'जनपदगीतेगलु' उल्लेखनीय हैं।

विगत ६०–७० वर्षों से कन्नड में अध्यात्म, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, शिक्षा, प्राणिशास्त्र, गणित, आरोग्य, वैद्यक, शस्यशास्त्र, कृषि, चित्रकला, संगीतकला आदि विभिन्न विषयों पर ग्रंथनिर्माण का कार्य हुआ है। इधर कुछ वर्षों से हाई स्कूलों तथा कालेजों

की पढ़ाई के लिये कन्नड को माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न विषयों पर कन्नड में पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की जा रही हैं।

आधुनिक कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि में कन्नड की पत्रपत्रिकाओं का सहयोग कुछ कम महत्व का नहीं है। मंगलोर के बासेल मिशन के पादरियों को कन्नड में सर्वप्रथम पत्रिका प्रकाशित करने का श्रेय दिया जाता है। इन पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिये सन् १८५६ में 'कन्नडवार्तिक' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के प्रचार के साथ साथ कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशों से अनेक पत्रपत्रिकाओं का संपादन प्रारंभ हुआ। मैसूर के एम० वेंकटकृष्णय्या के परिश्रम के फलस्वरूप कन्नड में पत्रिका चलाने के कार्य में विशेष प्रोत्साहन मिला। कन्नड की प्रारंभिक पत्रिकाओं में हितबोधिनी, सुदर्शन, आर्यमतसंजीवनी, कर्नाटक काव्यमंजरी, कर्नाटक काव्यकलानिधि, सुवासिनी, वाग्भूषण, विवेकोदय, सद्गुरु सद्बोधचंद्रिके, धनुर्धारी, मधुरवाणी, श्रीकृष्णसूक्ति तथा साधवी के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९२१ के सर्वेक्षण के अनुसार कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशों से कुल ६६ पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं। आजकल की दैनिक पत्रिकाओं में संयुक्त कर्नाटक, प्रजावाणी, जनवाणी, तमिलनाडु तथा नवभारत मुख्य हैं। प्रजामत, कर्मवीर, जनप्रगति आदि साप्ताहिक पत्र लोकप्रिय हैं। कहानी संबंधी पत्रिकाओं में कतेगार, कथांजलि, कथाकुंज, कोरवंजी तथा मासिक पत्रिकाओं में जीवन, कस्तूरि, जय कर्नाटक आदि उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक कन्नड के प्रथम तथा द्वितीय उत्थान में राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित हुआ। उसके बाद समाजसुधार तथा दलित जातियों के उद्धार की भावना जोर पकड़ने लगती है। पौराणिक विषयों तथा पात्रों का मानवीकरण एक महत्वपूर्ण विषय है। प्रकृति के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण पूरी तरह से व्यक्त हुआ है। नवीन लेखक के कई महत्वपूर्ण सिद्धांतों में एक आत्माभिव्यंजना है। मनुष्य के व्यक्तित्व की महानता तथा उसकी पवित्रता पर सर्वत्र आग्रह दिखाई देता है। लेखकों के लिये यह नया साक्षात्कार था कि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होकर स्वयं पूर्णता को प्राप्त होता है। गीत और निबंध, उपन्यास और नाटक इत्यादि भी इसी व्यक्तिवाद से अनुप्राणित हुए हैं। यथार्थवादी लेखकों ने सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं के झूठे विश्वासों तथा खोखलेपन का पर्दाफाश किया है। प्रगतिशील सहित्यकारों ने प्रधानतया समाज की दुर्व्यवस्था की समस्या को मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर हल करने का प्रयत्न किया है। रूढ़िवादी लेखक अपने सुप्रतिष्ठित विश्वास के मूल्य में आस्था रखते हैं। लेखकों का एक वर्ग वह है जिसने काव्यात्मक धार्मिक अनुभूतियों की सुंदर व्यंजना की है। ऐसे भी कतिपय लेखक हैं जिनका चरम उद्देश्य सौंदर्यजगत् में साहसपूर्ण अभियान है। लेखकों की एक आस्तिक धारा भी है जिसमें नीति तथा विचारपूर्ण दार्शनिकता की ध्वनि मुखरित है। इस धारा के लेखकों पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद एवं अरविंद के जीवनदर्शन का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इस दल की कृतियों में बुद्धिवाद और रहस्यवाद, सौंदर्यवाद और समाजवाद, कर्म और ज्ञान जैसे परस्पर विरोधी तत्वों, का समाहार हुआ है। इस प्रकार विविध विचारधारा के लेखकों ने साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से कन्नड भारती को सजाया है। इन विभिन्न विचारधाराओं से जिस साहित्यसंगम की सृष्टि हुई है उसके समष्टिरूप में से एक मानवतावादी उज्वल जीवनदर्शन प्रकाशित हुआ है जिसका कालांतर में व्यापक प्रभाव अवश्य लक्षित होगा। (हि०)

कन्नौज उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले का एक नगर, गंगा के बाईं ओर ग्रैंड ट्रंक सड़क से ३ कि० मी० की दूरी पर स्थित है। (स्थिति २७° ३' उ० अ० तथा ७९° ५६' पू० दे०)। किसी समय गंगा नदी इस नगर के पार्श्व से बहती थी। रामायण में इस नगर का उल्लेख मिलता है। तॉलेमी ने ईसा के काल में कन्नौज को कनोगिजा लिखा है। पाँचवीं शताब्दी में यह गुप्त साम्राज्य का एक प्रमुख नगर था। छठी शताब्दी में श्वेत हूणों के आक्रमण से यह काफी विनष्ट हो गया था। चीनी यात्री युवानच्वाङ ने, जो हर्षवर्धन के समय भारत आया था, इस नगर का उल्लेख किया है। (द्र० 'कान्यकुब्ज')। ११वीं शताब्दी के आरंभिक काल में मुसलमानों के आक्रमण के कारण यह नगर काफी विनष्ट हुआ। ११९४ ई० में मुहम्मद गोरी ने इस नगर पर अपना स्वत्व जमाया। 'आइन अकबरी' द्वारा ज्ञात होता है कि अकबर के समय में यहाँ सरकार का मुख्य कार्यालय था। प्राचीन काल के भग्नावशेष आज भी लगभग छह कि० मी० व्यास के अर्धवृत्तीय क्षेत्र में वर्तमान हैं। इस नगर के निकट कई मसजिदें, कब्रे तथा समाधियाँ हैं जिनमें बालापीर तथा शेख महँदा की समाधियाँ उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान काल में यह नगर गुलाबजल, इत्र एवं अन्य सुगंधित पदार्थ बनाने के लिये प्रसिद्ध है। (द्र० 'कान्यकुब्ज')। (रा० ला० सि०)

कन्याकुमारी यह मद्रास राज्य के सुदूर दक्षिण में भारत का एक पवित्र तीर्थस्थल है। यह भारतीय प्रायद्वीप के अंतिम बिंदु पर स्थित है। यहीं से पश्चिमी घाट के पहाड़ उत्तर की ओर फैले हुए हैं। समुद्रतट पर पश्चिमी घाट पर्वत की अंतिम नोक पर कन्यांभल देवी का मंदिर है। इसके बंदरगाह न होने के कारण यहाँ केवल छोटी नावें चलती हैं। इसी के नाम पर भारत एवं लंका के बीच के जलविस्तार को कन्याकुमारी जलडमरूमध्य कहते हैं। (रा० वृ० सिं०)

कन्हेरी पश्चिमी भारत के दरीमंदिरों में से एक। कन्हेरी का यह गिरिमंदिर बंबई से लगभग २५ मील दूर सालसेट द्वीप पर अवस्थित पर्वत की चट्टान काटकर बना बौद्धों का चैत्य है। हीनयान संप्रदाय का यह चैत्यमंदिर आंध्रसत्ता के प्रायः अंतिम युगों में दूसरी शती ई० के अंत में निर्मित हुआ था। यह बना प्रायः कार्ली की परंपरा में ही है, उसी का सा इसका चैत्य हाल है, उसी के से स्तंभों पर युगल आकृतियाँ इसमें भी बैठाई गई हैं। दोनों में अंतर मात्र इतना है कि कन्हेरी की कला उतनी प्राणवान् और शालीन नहीं जितनी कार्ली की है। कार्ली की गुफा से इसकी गुफा कुछ छोटी भी है। फिर, लगभग एक तिहाई छोटी यह गुफा अपूर्ण भी रह गई है। इसकी बाहरी दीवारों पर जो बुद्ध की मूर्तियाँ बनी हैं, उनसे स्पष्ट है कि इसपर महायान संप्रदाय का भी बाद में प्रभाव पड़ा और हीनयान उपासना के कुछ काल बाद बौद्ध भिक्षुओं का संबंध इससे टूट गया था जो गुप्त काल आते आते फिर जुड़ गया, यद्यपि यह नया संबंध महायान उपासना को अपने साथ लिए आया, जो बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों से प्रभावित है। इन मूर्तियों में बुद्ध की एक मूर्ति २५ फुट ऊँची है।

कन्हेरी के चैत्यमंदिर का प्लान प्रायः इस प्रकार है—चतुर्दिक् फैली वनसंपदा के बीच बहती जलधाराएँ, जिनके ऊपर उठती हुई पर्वत की दीवार और उसमें कटी कन्हेरी की यह गहरी लंबी गुफा। बाहर एक प्रांगण नीची दीवार से घिरा है जिसपर मूर्तियाँ बनी हैं और जिससे होकर एक सोपानमार्ग चैत्यद्वार तक जाता है। दोनों ओर द्वारपाल निर्मित हैं और चट्टानी दीवार से निकली स्तंभों की परंपरा बनती चली गई है। कुछ स्तंभ अलंकृत भी हैं। स्तंभों की संख्या ३४ है और समूची गुफा की लंबाई ८६ फुट, चौड़ाई ४० फुट और ऊँचाई ५० फुट है। स्तंभों के ऊपर की नर-नारी-मूर्तियों को कुछ लोगों ने निर्माता दंपति होने का भी अनुमान किया है जो संभवतः अनुमान मात्र ही है। कोई प्रमाण नहीं जिससे इनको इस चैत्य का निर्माता माना जाय। कन्हेरी की गणना पश्चिमी भारत के प्रधान बौद्ध दरीमंदिरों में की जाती है, और उसका वास्तु अपने द्वार, खिड़कियों तथा मेहराबों के साथ कार्ली की शिल्पपरंपरा का अनुकरण करता है। (चं० भा० पां०)

कपाल अथवा खोपड़ी मानव शरीर अस्थिपंजर का बना हुआ है। अस्थि के ऊपर मांसपेशी तथा त्वचा का आवरण रहता है। अस्थिपंजर शरीर को आकृति प्रदान करता तथा पुष्टि देता है; इसके अतिरिक्त शरीर के कोमल अंगों, जैसे मस्तिष्क, फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा आदि को सुरक्षित रखता है। मांसपेशियाँ भी इन्हीं अस्थियों के सहारे एक दूसरे से संबंधित रहती हैं।

खोपड़ी का आशय उन अस्थियों से है जो शिर तथा चहरे को आकृति प्रदान करती हैं। मानव कपाल अस्थियों से बना हुआ है। यह गुंबज

के समान उभरा हुआ कुछ चपटा, गोल तथा अंडे के आकार का होता है। निचले जबड़े (मैंडिबल, mandible) को छोड़कर, जो केवल तंतुओं द्वारा जुड़ा रहता है, कपाल की सभी अस्थियाँ प्रौढ़ावस्था में आपस में पूर्णरूपेण जुड़ी रहती हैं। कपाल के सभी जोड़ अचल होते हैं। कपाल की अस्थियों के टुकड़ों के किनारे आरे के दाँतों की भाँति होते हैं। एक अस्थि दूसरी अस्थि के खाँचे में पूर्ण रूप से संसक्त होती है। इस प्रकार इनमें किसी प्रकार की सापेक्ष गति नहीं होती। कपाल में अनेक गड्ढे तथा छिद्र होते हैं तथा उनमें संबंधित मांसपेशियाँ और स्नायु रहती हैं। नासिका गुहा में श्वास तथा गंध संबंधी संस्थान रखता है। मुख में स्वाद तथा भोजन की पाचन क्रिया आरंभ होती है। शंखास्थि में संतुलन तथा श्रवण संस्थान स्थित रहता है।

नवजात शिशुओं में कपाल की अस्थियाँ पूर्ण रूप से संयुक्त नहीं होतीं। फलतः कपाल में खाली स्थान होते हैं जिन्हें हम त्वचा को छूकर ज्ञात कर सकते हैं। परंतु बड़े होने पर अस्थियाँ बढ़कर इन रिक्त स्थानों को ढक लेती हैं। जन्म के समय कपाल शरीर के अनुपात में बड़ा होता है। चेहरा
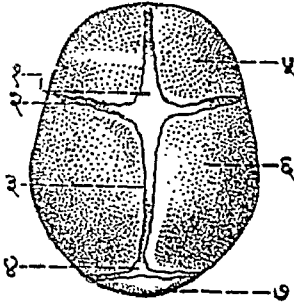
चित्र १. नवजात शिशु का कपाल (ऊपर से)

१. आगे का विवर; २. कॉरोनैल सीवनी (Coronal suture); ३. सैजिटैल सीवनी (Sagittal suture); ४. पीछे का विवर; ५. ललाटास्थि; ६. पार्श्विकास्थि; (Parietal bone); ७. अनुकपालास्थि (Occipital bone)।

कपाल के अनुपात में छोटा होता है। जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है, चेहरा बड़ा होता जाता है तथा कपाल और शरीर का अनुपात भी ठीक होता जाता है। कपाल के ऊपरी गोलार्ध पर, जन्म के समय अस्थियों का पूर्ण रूप से निर्माण न होने के कारण, रिक्त स्थानों पर कड़े बंधकतंतु रहते हैं। इन अस्थियों के सिरे पर आरे की भाँति दाँते उपस्थित नहीं रहते। कुछ स्थानों पर रिक्त स्थान अधिक बड़े होते हैं जिन्हें फ़ॉण्टानेल (Fontanell) कहते हैं। ये पार्श्विकास्थि (पैरीयटल बोन Parietal bone) के चारों सिरों पर पाए जाते हैं। इनमें सबसे बड़ा आगे का फॉण्टानेल होता है जो वर्गाकार होता है। यह ललाटास्थि तथा पार्श्विकास्थि के बीच में रहता है। यह लगभग १८ मास की आयु में बंद हो जाता है। पीछे का (Posterior) फॉण्टानेल त्रिकोणाकार होता है जो पार्श्वास्थि तथा पीछे की अस्थि के बीच में स्थित रहता है। यह १६ मास की आयु में बंद हो जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक कपाल की अस्थियों के आकार प्रकार में परिवर्तन होते रहते हैं। परिणामस्वरूप इन अस्थियों से तथा दाँतों से आयु का पता लगाने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है जैसे :

(१) प्रथम वर्ष की आयु के पश्चात् आगे के फ़ॉण्टानेल को छोड़कर सभी रिक्त स्थान बंद हो जाते हैं। शंखास्थि के चारों भाग आपस में जुड़ जाते हैं तथा नीचे के जबड़े की अस्थि के दोनों भाग भी आपस में जुड़ जाते हैं। (२) इसी प्रकार २० वर्ष की आयु के पश्चात् कपाल की सभी सीवनियाँ (टाँके) अदृश्य हो जाती हैं। (३) कपाल से लिंग का ज्ञान भी हो सकता है। नारी का संपूर्ण कपाल और उसकी अलग अलग अस्थियाँ भी पुरुष के कपाल की अपेक्षा छोटी होती हैं। परतु, फिर भी कपाल की अस्थियों द्वारा लिंग का निर्धारण कठिन कार्य है।

कपाल की अस्थियों का वर्गीकरण—कपाल को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : (१) मस्तिष्क का डिब्बा (Cranium), (२) चेहरे को बनानेवाली अस्थियाँ (Facial bones)।

मस्तिष्क का डिब्बा—यह आठ चपटी अस्थियों का बना हुआ रहता है। आठों अस्थियाँ आपस में जुड़कर एक बक्स बनाती हैं जिसके भीतर
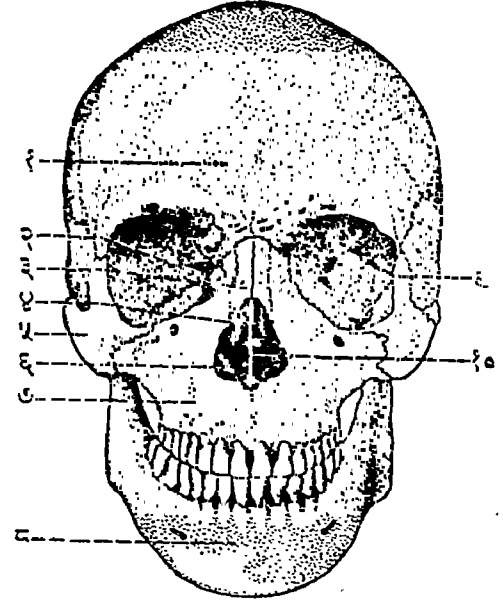
चित्र २. कपाल (सामने से)

१. ललाटास्थि (Frontal bone); २. आश्रवास्थि (लैक्रिमल बोन, Lachrymal bone); ३. नास्यास्थि (Nasal bone); ४. कौंका, बीच का (Superior concha); ५. गंडास्थि (Zygomatic); ६. कौंका नीचे का (Inferior concha); ७. ऊर्ध्वहन्वस्थि (मैक्सिला, Maxilla); ८. अधोहन्वस्थि (मैंडिबल, Mandible); ९. नेत्रगुहा (Eye socket); १०. नासारंध्र (Nasal cavity)

शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अंग मस्तिष्क सुरक्षित रहता है। अस्थियों का विवरण इस प्रकार है :
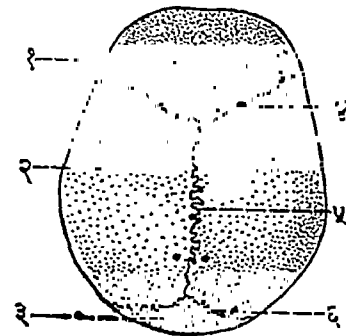
चित्र ३. कपाल (ऊपर से)

१. ललाटकीय अस्थि; २. पार्श्विकास्थि; ३. अनुकपाल अस्थि; ४. कॉरोनैल सीवनी; ५. सैजिटैल सीवनी; ६. लैम्डाएड (Lambdoid) सीवनी।

(अ) **ललाटास्थि**—सामने की अस्थि को ललाटास्थि कहते हैं। यह अकेली एक अस्थि है। इसी अस्थि के द्वारा मानव ललाट (माथा) या मस्तिष्क बनता है। जन्म के समय यह अस्थि ललाट सीवनी द्वारा दो भागों में विभक्त रहती है। प्रथम वर्ष की आयु में यह जोड़ विलीन

होने लगता है और सात वर्ष की आयु तक पूर्णतः विलीन हो जाता है। यह जोड़ आजीवन रह भी सकता है।

(आ) पार्श्विकास्थि—ललाटास्थि के पीछे कपाल की छत में दो अस्थियाँ होती हैं जिन्हें पार्श्विकास्थियाँ कहते हैं। ये अस्थियाँ कपाल की छत में अगल बगल, एक बाईं ओर तथा दूसरी दाहिनी ओर स्थित रहती हैं। बीच में मिलकर ये कपाल की छत बनाती हैं। सिर के आकार के अनुसार ये अस्थियाँ कुछ गोलाकार लिए मुड़ी रहती हैं। इस अस्थि के चार किनारे होते हैं।

(इ) शंखास्थि (Temporal bone)—दो अस्थियों द्वारा कनपटी का भाग बना हुआ है। इन अस्थियों को हम कनपटी की अस्थियाँ या शंखास्थि कहते हैं। कर्ण के दोनों ओर के छिद्र इन्हीं अस्थियों में होते हैं। दोनों ओर की इन अस्थियों में एक पतली नली होती है, जिसे कर्णनली कहते हैं। यह मध्यकर्ण तक जाती है। कर्ण के छिद्र के पीछे यह अस्थि कुछ आगे की ओर निकली रहती है, जिसमें नीचे के जबड़े के दोनों ओर के सिरे हिलने डुलनेवाले जोड़ों से जुड़े रहते हैं। इस अस्थि के भीतरी भाग से कुछ त्रिकोण के आकार की अस्थि उठी रहती है, जिसके कारण कर्ण का आंतरिक भाग सुरक्षित रहता है।

(ई) अनुकपालास्थि—कपाल का पिछला भाग अनुकपालास्थि द्वारा बना हुआ है। कपाल के पीछे के भाग में स्थित होने के कारण इसे खोपड़ी
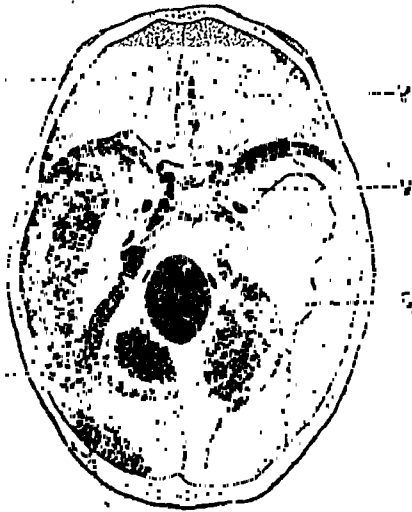
चित्र ४. कपाल की तली

१. अगला विवरक; २. मध्यविवरक; ३. पिछला विवरक; ४. घ्राणतंत्रिकाछिद्र; ५. पिट्यूटरी ग्रंथिस्थान; ६. बड़ा रंध्र

के पीछे की अस्थि भी कहते हैं। अनुकपालास्थि ऊपर की ओर दोनों पार्श्विकास्थियों से जुड़ी रहती है। इसके नीचे की ओर एक महाछिद्र होता है। इस छिद्र द्वारा सुषुम्ना निकलकर मेरुदंड की नली में जाती है। महाछिद्र के दोनों ओर दो किलों की भाँति अस्थियाँ निकली रहती हैं, जिन्हें कांडिल्स (Condyles) कहते हैं। अनुकपालास्थि के कांडिल मेरुदंड पर इस खूबी से रखे रहते हैं कि मनुष्य अपने सिर को आसानी से आगे झुका सकता है। इस अस्थि का बीच का भाग स्पंज के समान होता है। इसकी मोटाई सर्वत्र एक सी नहीं होती; उभड़े हुए स्थानों पर तथा पूर्वीय आधारित भाग पर सबसे मोटी होती है, निचले भाग पर सबसे पतली होती है और यहाँ पर पारदर्शक भी हो सकती है।

(उ) जतूकास्थि (Spheroid bone)—इस अस्थि का आकार तितली की भाँति होता है। इस अस्थि में मध्य का भाग (शरीर) और दो पंख (छोटे तथा बड़े) होते हैं। ये पंख शरीर के दोनों पार्श्वों में होते हैं। यह अस्थि कपाल के निचले तथा अगल बगल के भाग का निर्माण करती है। यह अस्थि कपाल की अनेक अस्थियों से जुड़ी रहती है।

(ऊ) झर्झरास्थि (Ethmoid bone)—इस अस्थि में अनेक छिद्र होते हैं। इन छिद्रों द्वारा स्नायुसूत्र निकलकर नासिका में प्रवेश करते हैं। यह अस्थि नासिका की छत तथा नाक के गड्ढों की दीवार का कुछ भाग बनाती है। यह अस्थि जतूकास्थि से जुड़ी रहती है।

(ऋ) चेहरे की अस्थियाँ (Facial bones)—चेहरे में कुल १४ अस्थियाँ होती हैं। इन्हीं १४ अस्थियों से मिलकर चेहरा बनता है। कपाल की अस्थियों के जोड़ों की भाँति चेहरे की अस्थियों का जोड़ भी प्रायः स्थिर तथा अचल होता है। केवल निचले जबड़े के जोड़ चल या हिलने डुलनेवाले होते हैं। चेहरे की अस्थियों का विवरण निम्नांकित है:

(क) नीचे के जबड़े की अस्थि (Mandible)—वह गिनती में एक होती है। यह अस्थि चिबुक बनाती है। इसके ऊपरी किनारों में १६
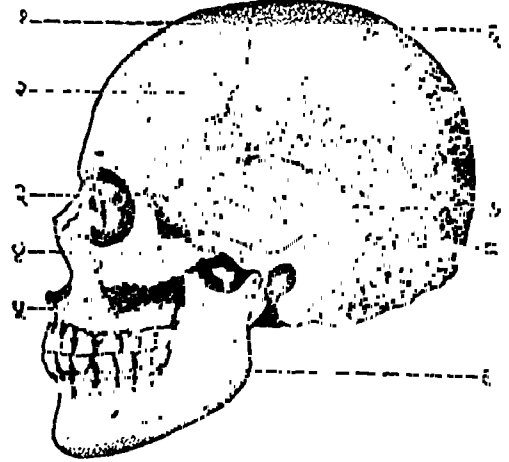
चित्र ५. कपाल (बगल से)

१. ललाटास्थि; २. कॉरोनैल सीवनी (Coronal suture); ३. नासास्थि; ४. गंडास्थि; ५. ऊर्ध्वहन्वस्थि (Maxillary bone); ६. पार्श्विकास्थि; ७. शंखकास्थि (Temporal bone); ८. अनुकपालास्थि (Occipital bone); ९. अधोहन्वस्थि (Mandibular bone)।

दाँतों के लिये गड्ढे होते हैं। यह चेहरे की सबसे पुष्ट अस्थि होती है। कपाल की सभी अस्थियों में केवल नीचे के जबड़े की संधि ही चल संधि बनाती है। इसी के कारण जबड़ा ऊपर नीचे और इधर उधर घूम सकता है। मनुष्य अपना भोजन सुगमतापूर्वक इस चल संधि के कारण ही चबा सकता है। इस संधि का निर्माण भ्रूण में डेढ़ मास के लगभग आरंभ होता है। जन्म के समय यह अस्थि दो भागों में विभक्त रहती है और चिबुक के पास सौत्रिकतंतु (Fibrous tissue) द्वारा जुड़ी रहती है। प्रथम वर्ष की समाप्ति के बाद इस अस्थि के दोनों भाग आपस में पूर्ण रूप से जुड़ जाते हैं। युवावस्था में अस्थि शरीर के ऊपर तथा नीचे के किनारों के मध्य में 'मानसिक छिद्र' (Mental foramen) रहता है। बच्चों में यह छिद्र ऊपर के किनारे की अपेक्षा नीचे के किनारे के अधिक समीप रहता है। वृद्धावस्था में दाँतों के गिर जाने पर कोपगत उपांत (Alvelar margin) का शोषण हो जाता है; फलतः मानसिक छिद्र नीचे के किनारे की अपेक्षा ऊपर के किनारे के अधिक समीप हो जाता है।

(ख) ऊपर के जबड़े की अस्थियाँ (Maxilla)—ये गिनती में दो होती हैं। ये अस्थियाँ मुँह की छत का कुछ भाग बनाने में सहायक होती हैं। प्रत्येक अस्थि के निचले भाग में १६ गड्ढे होते हैं जिनमें दाँत फँसे रहते हैं। ये चेहरे की मुख्य अस्थियाँ हैं। इन अस्थियों से कपोलास्थि विवर बनता है। युवावस्था में इसकी ऊँचाई ३.५ सेंटीमीटर, चौड़ाई २.५ सें० मी० तथा गहराई ३.० सेंटीमीटर होती है। यह विवर भ्रूण में चौथे मास में बनना आरंभ होता है तथा जन्म के समय यह बहुत छोटा रहता है। प्रथम दंतोत्पत्ति के समय यह कुछ बढ़ता है, परंतु द्वितीय दंतोत्पत्ति के समय मुख्य रूप से बढ़ता है।

(ग) **नासिका की अस्थियाँ** (Nasal bones)—ये अस्थियाँ गिनती में दो होती हैं। ये अस्थियाँ बीच में मिलकर दोनों नथुनों की बाहरी दीवार बनाती हैं। ऊपर की ओर ये ललाटास्थि (फ्रंटल बोन, frontal bone) से तथा पार्श्व में जबड़े की अस्थि से संयुक्त रहती हैं। नीचे की ओर ये नासिका की उपास्थि (कार्टिलेज, cartilage) से जुड़ी रहती हैं। इसकी बाहरी सतह पर एक छिद्र होता है जिसमें से एक शिरा निकलती है। इसकी भीतरी सतह पर एक लंबी प्रसीता (ग्रूव, groove) होती है जिसमें से पूर्वझर्झर रक्त वाहिनियाँ तथा नाड़ी (Anterior ethmoidal vessel and nerve) निकलती है। नासिका की अस्थि का निर्माण भ्रूणावस्था में तीसरे मास से प्रारंभ होता है।

(घ) **कपोलास्थियाँ** (Molar and cheek bones)—ये गिनती में दो होती हैं। चेहरे में ये गालों के उभरे हुए भाग बनाती हैं। ये वास्तव में स्वतंत्र अस्थियाँ नहीं हैं। ये ऊपर के जबड़े की अस्थि उर्ध्वहन्वस्थि (Maxilla) के प्रवर्धन मात्र हैं।

(ङ) **मृदु अस्थियाँ** (Spongy bones)—ये गिनती में दो होती हैं। ये अस्थियाँ नाक के भीतर होती हैं। इनकी आकृति सीपी की भाँति होती है और ये स्पंज के समान कोमल होती हैं। इन अस्थियों पर गुलाबी रंग की श्लेष्मिक कला चढ़ी रहती है।

(च) **अश्रु अस्थियाँ** (Lachrymal bones)—ये गिनती में दो होती हैं। ये अस्थियाँ नेत्रकोटर की भीतरी दीवाल में नासिका की ओर लगी रहती हैं। इनमें छिद्र होता है। इन्हीं छिद्रों द्वारा अश्रु नेत्र से नासिका में चला जाता है। यह अस्थि पीछे की ओर झर्झरास्थि से तथा आगे की ओर जबड़े की अस्थि से संयुक्त रहती है। इस अस्थि का निर्माण भ्रूण (intra-uteric life) में १२वें सप्ताह के लगभग प्रारंभ होता है।

(छ) **नासिका के पर्दे की अस्थि** (Vomer bone)—यह केवल एक होती है और दोनों नथुनों के बीच में स्थित रहती है। इसी अस्थि द्वारा मानव नासिका दो नथनों में विभक्त रहती है। (के० दे० मा०)

कपास प्राचीन काल से चीन रेशम के लिये, मिस्र सन तथा भारत कपास के लिये प्रसिद्ध रहा है। मोहनजोदड़ो में प्राप्त हुए कपड़ों से पता चलता है कि कपास भारत में ईसामसीह से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व उगाई जाती रही होगी। ढाका तथा मसुलीपटम की बारीक मलमलों की कहावतें अब तक प्रसिद्ध हैं।

अँग्रेजों की नीति के कारण भारत केवल कपास पैदा करनेवाला देश बना दिया गया और यहाँ की हस्तकला समाप्त कर दी गई, परंतु इस नीति से यह लाभ हुआ कि यहाँ कपास की पैदावार बढ़ गई और उससे उपार्जित धन से कपड़ों की मिलें बनाई गईं। सन् १९७१ के अंत तक ६७० मिलें यहाँ काम करने लगीं और फिर भारत का कपड़ा विदेशों को जाने लगा। आजकल भारत का स्थान संसार में कपड़ा पैदा करनेवाले देशों में दूसरा है।

जातियाँ—कपास मालवेसी (Malvaceae) कुल में आती है। शाखा गैसिपियम (Gossypium) है। इसका पौधा भूमध्य क्षेत्रों तथा समशीतोष्ण भागों में पैदा होता है। कपास की जातियों की चार शाखाएँ, गोसिपियम आरबोरियम (G. arboreum), गोसिपियम हरबेसियम, (G. herbaceum), गोसिपियम हिरसुटम (G. hirsutum) तथा गोसिपियम बारबेडेंस (G. barbadense) हैं। पहली तीन शाखाओं की कपास की जातियाँ भारत में तथा चौथी शाखा की कपास विदेशों में पैदा होती है।

कपास की खेती—

जलवायु : कपास की अच्छी खेती के लिये पालारहित २०० दिन का समय, गरम ऋतु, पर्याप्त नमी तथा चुनाई के समय सूखी ऋतु की आवश्यकता है। ७०° से ११०° फ़ारेनहाइट ताप तथा १० इंच से १०० इंच तक वर्षा में यह पैदा हो सकती है। लगभग २५ इंच वर्षा इसके लिये अधिक उत्तम है। भारत में लगभग ९० प्रतिशत कपास वर्षा के भरोसे बोई जाती है।

भूमि : भूमि के अनुसार कपास के क्षेत्रों को तीन भागों में, (१) गंगा सिंधु के मैदान की कछार भूमि, (२) मध्य भारत की काली भूमि तथा (३) दक्षिणी भारत की लाल भूमि, में विभाजित किया गया है।

जुताई, गुड़ाई इत्यादि : कपास के लिये दो तीन जुताई पर्याप्त है, परंतु खरपतवार से बचाने के लिये पाँच छह निराई तथा गुड़ाई अति आवश्यक है।

बोने का समय : देश के विभिन्न भागों में वर्षा के समय तथा परिमाण पृथक् पृथक् हैं, इसलिये बुआई नवंबर, दिसंबर तथा जनवरी को छोड़कर प्रत्येक मास में किसी न किसी प्रदेश में होती रहती है।

बीज : छिड़कवाँ अथवा कतारों में, १२ इंच से ३६ इंच की दूरी पर, कपास की जाति अथवा भूमि की उर्वरता के अनुसार ५ से २० पाउंड तक प्रति एकड़ बोया जाता है।

खाद : कपास के लिये ४०–४५ पाउंड नाइट्रोजन प्रति एकड़ अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

सिंचाई : भारत का केवल लगभग १० प्रति शत कपास का क्षेत्र सिंचाई से बोया जाता है। इसके कारण कपास की पैदावार कम होती है, क्योंकि सिंचाई से बोई हुई कपास की पैदावार वर्षा से बोई गई फसल की अपेक्षा दुगुनी तिगुनी तक हो जाती है। सिंचाई से बोने के पश्चात् पहली सिंचाई ३०-४० दिन के उपरांत करनी चाहिए।

बीमारियाँ तथा कीड़े : कपास के मुख्य रोग उकठा (विल्ट, Wilt), मूलगलन (रूट रॉट, Root-rot) तथा कलुआ (ब्लैक आर्म, Black arm) हैं। उकठा के लिये रोगमुक्त जाति बोना, मूलगलन के लिये कपास के बीच में दालवाली फसलें बोना और ब्लैक आर्म के लिये ऐग्रोसन नामक दवा का बीज पर उपयोग करना लाभदायक है।

मुख्य क़ीड़े कर्पासकीट (बोल वर्म), जैसिड तथा पतियामोड़ (लीफ़ रोलर) हैं। कर्पासकीट के लिये बीज को मई जून की तीव्र धूप में सुखाना या बीज पर मेथिल ब्रोमाइड का उपयोग करना और अन्य दोनों के लिये पौधे पर डी० डी० टी० अथवा बी० एच० सी० का छिड़काव लाभदायक सिद्ध हुआ है।

चुनाई तथा उपज : देशी कपास में ४-७ और अमरीकी कपासों में १०-१५ दिन के अंतर से प्रायः ३ से ८ तक चुनाई की जाती है।

भारत में कपास की प्रति एकड़ औसत उपज ९० पाउंड रुई है। सबसे अधिक उपज पंजाब की है (१८५ पाउंड)।

उन्नतिशील जातियाँ—भारत के लगभग ६० प्रतिशत क्षेत्रफल में उन्नत जातियाँ, जैसे विजय, जरीला, जयाधर, लक्ष्मी, कारुंगनी, एच १४, एफ ३२०, सुयोग ३५।१ इत्यादि बोई जाती हैं, जो अनुसंधान द्वारा निकाली गई हैं।

क्रय विक्रय तथा ओटाई—बहुत से प्रदेशों में किसानों को उनकी कपास का उचित पैसा नहीं मिलता, क्योंकि उनके तथा मिलवालों के बीच कई और खरीदार होते हैं। गुजरात में किसानों की अपनी सहकारी समितियाँ हैं जो कपास के क्रय विक्रय का प्रबंध करती हैं। बंबई, मद्रास, मध्य प्रदेश, पंजाब और मैसूर में नियंत्रित बाजार हैं जिनसे किसानों को काफी सुविधाएँ मिलती हैं। हाल ही में केंद्रीय तथा प्रदेशीय गोदाम बना दिए गए हैं जिनमें कपास की सुरक्षा तथा क्रय विक्रय का प्रबंध किया जायगा।

भारत में बंबई रुई व्यवसाय का सबसे बड़ा संगठित केंद्र है और ईस्ट इंडिया कॉटन ऐसोसियेशन रुई के व्यापार के लिये सरकार से स्वीकृत संस्था है।

कपास की ओटाई मशीन से की जाती है, रुई की एक एक गाँठ लगभग पाँच मन की होती है। यह बहुत दबाकर बाँधी जाती है, जिसमें इधर उधर भेजने में सुविधा रहे।

कपास उत्पादन—संसार के लगभग ६० देशों में कपास उत्पन्न की जाती है, परंतु ८० प्रतिशत से अधिक अमरीका, रूस, चीन, भारत, मिस्र, ब्राज़ील तथा पाकिस्तान में होती है। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले सन् १९३८-३९ में भारत में कपास का क्षेत्रफल २.३ करोड़ एकड़ था जिसकी उपज

३६.६ लाख गाँठ थी जो घटकर सन् १६४८-४६ में १.४ करोड़ एकड़ क्षेत्रफल तथा १७.६७ लाख गाँठ हो गई। सन् १६४६-५० से केंद्रीय सरकार ने कपास का उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ बनाईं जिसके कारण क्षेत्रफल फिर बढ़कर १६७०–७१ में लगभग १,८७,८७,१८८ एकड़ हो गया। क्षेत्रफल के हिसाब से भारत का स्थान सर्वप्रथम है, परंतु उपज में चौथा है। इस बात में प्रथम तीन देश क्रमानुसार अमरीका, रूस तथा चीन हैं।

कपड़ा उद्योग—यह भारत का सबसे बड़ा उद्योग और भारतीय आय का मुख्य साधन है। सन् १६७०–७१ में भारत में कपड़े की ६७० मिलें हो गई, जिनमें लगभग ७५६.६ करोड़ मीटर कपड़ा बना और ३५४.१ करोड़ मीटर करघों द्वारा बनाया गया है।

गत रुई मौसम (सितंबर, १६७१–अगस्त, १६७२) में रुई की फसल ६६ लाख गाँठों की थी। इतनी उपज पहले कभी नहीं हुई लेकिन रुई मौसम (सितंबर, ७२–अगस्त,'७३) में रुई का उत्पादन उतना नहीं हुआ जितने का लक्ष्य था। तो भी ६२ लाख गाँठ रुई उत्पन्न हुई जबकि लक्ष्य ८० लाख गाँठों का था। इस मौसम की फसल की एक मुख्य विशेषता यह है कि लंबे रेशेवाली रुई का उत्पादन गत मौसम के उत्पादन के मुकाबले पाँच लाख गाँठें अधिक हुआ, हालाँकि मध्यम तथा छोटे रेशे की रुई के उत्पादन में उसी अनुपात से कमी भी हुई है।

(सी० बी० सिं०; कै० चं० श०)

कपिल सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक। इनके समय और जन्मस्थान के बारे में निश्चय नहीं किया जा सकता। बहुत से विद्वानों को तो इनकी ऐतिहासिकता में ही संदेह है। पुराणों तथा महाभारत में इनका उल्लेख हुआ है। कहा जाता है, प्रत्येक कल्प के आदि में कपिल जन्म लेते है। जन्म के साथ ही सारी सिद्धियाँ इनको प्राप्त होती है। इसीलिये इनको आदिसिद्ध और आदिविद्वान् कहा जाता है। इनका शिष्य कोई आसुरि नामक वंश में उत्पन्न वर्षसहस्रयाजी श्रोत्रिय ब्राह्मण बतलाया गया है। परंपरा के अनुसार उक्त आसुरि को निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर इन्होंने तत्वज्ञान का उपदेश दिया था। निर्माणचित्त का अर्थ होता है सिद्धि के द्वारा अपने चित्त को स्वेच्छा से निर्मित कर लेना। इससे मालूम होता है, कपिल ने आसुरि के सामने साक्षात् उपस्थित होकर उपदेश नहीं दिया अपितु आसुरि के ज्ञान में इनके प्रतिपादित सिद्धांतों का स्फुरण हुआ, अतः ये आसुरि के गुरु कहलाए। महाभारत में ये सांख्य के वक्ता कहे गए है। इनको अग्नि का अवतार और ब्रह्मा का मानसपुत्र भी पुराणों में कहा गया है। **श्रीमद्भागवत** के अनुसार कपिल विष्णु के पंचम अवतार माने गए हैं। कर्दम और देवहूति से इनकी उत्पत्ति मानी गई है। बाद में इन्होंने अपनी माता देवहूति को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया जिसका विशद वर्णन **श्रीमद्भागवत** के तीसरे स्कंध में मिलता है।

कपिलवस्तु, जहाँ बुद्ध पैदा हुए थे, कपिल के नाम पर बसा नगर था और सगर के पुत्र ने सागर के किनारे कपिल को देखा और उनका शाप पाया तथा बाद में वहीं गंगा का सागर के साथ संगम हुआ। इससे मालूम होता है कि कपिल का जन्मस्थान संभवतः कपिलवस्तु और तपस्या-क्षेत्र गंगासागर था। इससे कम से कम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि बुद्ध के पहले कपिल का नाम फैल चुका था। यदि हम कपिल के शिष्य आसुरि को **शतपथ ब्राह्मण** के आसुरि से अभिन्न मानें तो कह सकते हैं कि कम से कम ब्राह्मणकाल में कपिल की स्थिति रही होगी। इस प्रकार ७०० वर्ष ई० पू० कपिल का काल माना जा सकता है।

सांख्यशास्त्र का उद्देश्य तत्वज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञकर्म के द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति बतलाई गई है। कर्मकांड के विपरीत ज्ञानकांड को महत्व देना सांख्य की सबसे बड़ी विशेषता है। उपनिषदों में ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि अधिकांश उपनिषदों में ब्रह्म को चरम सत्ता और संसार को उसी का परिणाम या विवर्त बतलाया गया है; तथापि कुछ उपनिषदों में, मुख्य रूप से **श्वेताश्वतर** में सांख्य के सिद्धांतों का प्रतिपादन मिलता है। परंतु यह प्रतिपादन क्रमबद्ध रूप में नहीं है, केवल कुछ ऐसे सिद्धांतों की ओर संकेत करता है जिसका आगे चलकर सांख्य सिद्धांत में समावेश हो गया। कपिल को आदिसिद्ध अथवा सिद्धेश कहने का अर्थ यह है कि संभवतः कपिल ने ही सर्वप्रथम ध्यान और तपस्या का मार्ग बतलाया था। उनके पहले कर्म ही एक मार्ग था और ज्ञान केवल चर्चा तक सीमित था। ज्ञान को साधना का रूप देकर कपिल ने त्याग, तपस्या एवं समाधि को भारतीय संस्कृति में पहली बार प्रतिष्ठित किया।

कपिल ने क्या उपदेश दिया, यह कहना कठिन है। **'तत्वसमाससूत्र'** को उसके टीकाकार कपिल द्वारा रचित मानते है। सूत्र छोटे और सरल है। इसीलिये मैक्समूलर ने उन्हें बहुत प्राचीन बतलाया। परंतु इसपर न तो कोई बहुत प्राचीन टीका उपलब्ध होती है और न किसी पुराने ग्रंथ में इसका उल्लेख मिलता है। ८वीं शताब्दी के जैन ग्रंथ **'भगवदज्जुकीयम्'** मे सांख्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है—**अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, आत्मा, पंचावयवाः, त्रैगुण्यम, मनः, संचरः, प्रतिसंचरश्च,** (आठ प्रकृतियाँ, सोलह विकार, आत्मा, पाँच अवयव, तीन गुण, मन, सृष्टि और प्रलय) ये सांख्यशास्त्र के विषय है। **'तत्वसमाससूत्र'** में भी ऐसा ही पाठ मिलता है। साथ ही **तत्वसमाससूत्र** के टीकाकार भावागणेश कहते है कि उन्होंने टीका लिखते समय पंचशिख लिखित टीका से सहायता ली है। रिचार्ड गार्बे के अनुसार पंचशिख का काल प्रथम शताब्दी का होना चाहिए। अतः **भगवदज्जुकीयम्** तथा भावागणेश की टीका को यदि प्रमाण मानें तो **'तत्वसमाससूत्र'** का काल ईसा की पहली शताब्दी तक ले जाया जा सकता है। इसके पूर्व इसकी स्थिति के लिये सबल प्रमाण का अभाव है। **सांख्यप्रवचनसूत्र** को भी कुछ टीकाकार कपिल की कृति मानते है। **कौमुदीप्रभा** के कर्ता स्वप्नेश्वर **'सांख्यप्रवचनसूत्र'** को पंचशिख की कृति मानते है और कहते हैं कि यह ग्रंथ कपिल द्वारा निर्मित इसलिये माना गया है कि कपिल सांख्य के प्रवर्तक है। यही बात 'तत्वसमास' के बारे में भी कही जा सकती है। परंतु सांख्यप्रवचनसूत्र का विवरण माधव के **'सर्वदर्शनसंग्रह'** में नही है और न तो गुणरत्न में ही इसके आधार पर सांख्य का विवरण दिया है। अतः विद्वान् लोग इसे १४वीं शताब्दी का ग्रंथ मानते है।

सांख्य में प्रकृति और पुरुष ये दो तत्व माने गए है। प्रकृति को सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से निर्मित कहा गया है। त्रिगुण की साम्यावस्था, प्रकृति और इनके वैषम्य से सृष्टि होती है। सृष्टि में कुछ नया नही है, सब प्रकृति से ही उत्पन्न है। संसार प्रकृति का परिणाम मात्र है। सत्कार्यवाद और परिणामवाद के प्रवर्तक के रूप में सांख्य की प्रसिद्धि है। पुरुष के संनिधि मात्र से प्रकृति में वैषम्य होने से सृष्टि होती है। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन, प्रकृति कर्ता है, पुरुष निष्क्रिय। लँगड़े और अंधे के संयोग की तरह पुरुष और प्रकृति का संयोग है। पुरुष चेतन है और अपना बिंब प्रकृति में देखकर अपने को ही कर्ता समझता है और इसी अज्ञान के बंधन में पड़कर दुःख भोगता है, मोह को प्राप्त होता है। जिस समय पुरुष को ज्ञान हो जाता है कि वह कर्ता नही है, निलिप्त, कूटस्थ साक्षी मात्र है, प्रकृति का नाटच उसके लिये समाप्त हो जाता है। अज्ञानजन्य कर्मबंध से मुक्त होकर अपने केवल रूप को जान लेना कैवल्य या मोक्ष है और यही परम पुरुषार्थ है। मुक्त होने पर मुक्त पुरुष के लिये प्रकृति महत्वहीन है परंतु अन्य संसारी पुरुष के लिये वह सत्य है क्योंकि प्रकृति का नाश नहीं होता। यही कारण है कि सांख्य में नाना पुरुष माने गए है। पुराणों तथा **'सांख्यप्रवचनसूत्र'** के अनुसार पुरुषों के ऊपर एक पुरुषोत्तम भी माना गया है। यह पुरुषोत्तम या ईश्वर पुरुष को मोक्ष देता है। परंतु प्राचीनतम उपलब्ध सांख्य ग्रंथ **'सांख्यकारिका'** के अनुसार ईश्वर को सांख्य में स्थान नही है। स्पष्टतः कपिल भी निरीश्वरवादी थे, सेश्वर सांख्य का विकास बाद में हुआ।

सांख्य में पचीस तत्व माने गए हैं। पुरुष, पुरुष की संनिधियुक्त प्रकृति से महत् या बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ अथवा सूक्ष्म भूत और मन, पाँच तन्मात्राओं से पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ और पाँच स्थूलभूत उत्पन्न होते है। इनमें से प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं है, महत्, अहंकार और तन्मात्राएँ, ये सात प्रकृति से उत्पन्न हैं और दूसरे तत्वों को उत्पन्न भी करते हैं। बाकी सोलह तत्व केवल उत्पन्न हैं, किसी नए तत्व

को जन्म नहीं देते। अतः ये सोलह विकार माने जाते हैं, प्रकृति अविकारी है, महत् आदि सात तत्व स्वयं विकारी है और विकार उत्पन्न भी करते है।

कपिल ने सर्वप्रथम विकासवाद का प्रतिपादन किया और संसार को एक क्रम के रूप में देखा। संसार को स्वाभाविक गति से उत्पन्न मानकर इन्होंने संसार के किसी अति प्राकृतिक कर्ता का निषेध किया। सुख दुःख प्रकृति की देन है तथा पुरुष अज्ञान में बद्ध है। अज्ञान का नाश होने पर पुरुष और प्रकृति अपने अपने स्थान पर स्थित हो जाते हैं। अज्ञाननाश के लिये ज्ञान की आवश्यकता है अतः कर्मकांड निरर्थक है। ज्ञानमार्ग का यह प्रवर्तन भारतीय संस्कृति को कपिल की देन है। यदि बुद्ध, महावीर जैसे नास्तिक दार्शनिक कपिल से प्रभावित हों तो आश्चर्य नहीं। आस्तिक दार्शनिकों में से वेदांत, योग और पौराणिक स्पष्ट रूप में सांख्य के त्रिगुणवाद और विकासवाद को अपनाते हैं। इस प्रकार कपिल प्रवर्तित सांख्य का प्रभाव प्रायः सभी दर्शनों पर पड़ा है।

सं०ग्रं०—विज्ञानभिक्षु : सांख्यप्रवचनभाष्य (रिचार्ड गार्बे द्वारा संपादित); ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका; सुरेंद्रनाथ दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलासफ़ी, भाग १; एस० राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलासफ़ी, भाग २; चक्रवर्ती : ओरिजिन ऐंड डेवेलपमेंट ऑव सांख्य; ए० बी० कीथ : सांख्य; उदयवीर शास्त्री : सांख्य शास्त्र का इतिहास। (रा० पां०)

कपिलवस्तु शाक्य गण की राजधानी, जिसमें गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। विंसेंट स्मिथ के मत से यह बस्ती जिले का पिपरावा नामक स्थान है जहाँ बुद्ध की अस्थियों पर शाक्यों द्वारा निर्मित स्तूप पाया गया है। पर अधिकतर विद्वान् कपिलवस्तु नेपाल के तिलौराकोट को मानते हैं जो नेपाल की तराई के प्रधान नगर तौलिहवा से दो मील उत्तर की ओर है। बुद्ध शाक्य गण के राजा शुद्धोदन और महामाया के पुत्र थे। उनका जन्म लुंबिनी वन में हुआ जिसे अब रुम्मिनदेई कहते हैं। रुम्मिनदेई तिलौराकोट (कपिलवस्तु) से १० मील पूर्व और भगवानपुर से दो मील उत्तर है। यहाँ अशोक का एक स्तंभलेख मिला है जिसका आशय है कि भगवान् बुद्ध के इस जन्मस्थान पर आकर अशोक ने पूजा की और स्तंभ खड़ा किया तथा 'लुम्मिनीग्राम' के कर हलके किए।

गौतम बुद्ध ने बाल्य और यौवन के सुख का उपभोग कर २९ वर्ष की अवस्था में कपिलवस्तु से महाभिनिष्क्रमण किया। बुद्धत्वप्राप्ति के दूसरे वर्ष वे शुद्धोदन के निमंत्रण पर कपिलवस्तु गए। इसी प्रकार १५वाँ चातुर्मास भी उन्होंने कपिलवस्तु में न्यग्रोधाराम में बिताया। यहाँ रहते हुए उन्होंने अनेक सूत्रों का उपदेश किया, ५०० शाक्यों के साथ अपने पुत्र राहुल और वैमात्र भाई नंद को प्रव्रज्या दी तथा शाक्यों और कोलियों का झगड़ा निपटाया।

बुद्ध से घनिष्ठ संबंध होने के कारण इस नगर का बौद्ध साहित्य और कला में चित्रण प्रचुरता से हुआ है। इसे बुद्धचरित काव्य में 'कपिलस्य वस्तु' तथा ललितविस्तर और त्रिपिटक में 'कपिलपुर' भी कहा है। दिव्यावदान ने स्पष्टतः इस नगर का संबंध कपिल मुनि से बताया है। ललितविस्तर के अनुसार कपिलवस्तु बहुत बड़ा, समृद्ध, धनधान्य और जन से पूर्ण महानगर था जिसकी चार दिशाओं में चार द्वार थे। नगर सात प्राकारों और परिखाओं से घिरा था। यह वन, आराम, उद्यान और पुष्करिणियों से सुशोभित था और इसमें अनेक चौराहे, सड़कें, बाजार, तोरणद्वार, हर्म्य, कूटागार तथा प्रासाद थे। यहाँ के निवासी गुणी और विद्वान् थे। सौंदरानंद काव्य के अनुसार यहाँ के अमात्य मेधावी थे। पालि त्रिपिटक के अनुसार शाक्य क्षत्रिय थे और राजकार्य 'संथागार' में एकत्र होकर करते थे। उनकी शिक्षा और संस्कृति का स्तर ऊँचा था। भिक्षुणीसंघ की स्थापना का श्रेय शाक्य स्त्रियों को है।

फ़ाह्यान के समय तक कपिलवस्तु में थोड़ी आबादी बची थी पर युआन्च्वाङ के समय में नगर वीरान और खँडहर हो चुका था, किंतु बुद्ध के जीवन के घटनास्थलों पर चैत्य, विहार और स्तूप १,००० से अधिक संख्या में खड़े थे। (कृ० दे०)

कपर द्र० 'कर्पूर'।

कपूरकचरी जिंजीबरेसी (Zingiberaceae) कुल की एक क्षुप जाति है जिसे हेडीचियम स्पाइकेटम (Hedychium spicatum) कहते हैं। यह उपोष्णदेशीय (subtropical) हिमालय, नेपाल तथा कुमाऊँ में पाँच सात हजार फुट की ऊँचाई तक स्वतः उत्पन्न होता है। इसके पत्र साधारणतः लगभग एक फुट लंबे, आयताकार अथवा आयताकार-भालाकार, (oblong lancedate) चिकने और कांड पर दो पंक्तियों में पाए जाते हैं। कांड के शीर्ष पर कभी कभी एक फुट तक लंबी सघन पुष्पमंजरी बनती है, जिसमें पुष्प अवृंत और श्वेत तथा निपत्र (bracts) हरित वर्ण के होते है। इसके नीचे भूमिशायी, लंबा और गाँठदार प्रकंद (rhyzome) होता है जिसके गोल, चपटे कटे हुए और शुष्क टुकड़े बाजार में मिलते है। कचूर की तरह इसमें ग्रंथामय मूल (nodulose roots) नहीं होते और गंध अधिक तीव्र होती है।

ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन आयुर्वेदाचार्यो ने जिस शटी या शठी नामक औषधद्रव्य का संहिताओं में प्रचुर उपयोग बतलाया है, वह यही हिमोद्भवा कपूरकचरी है। परंतु इसके अलभ्य होने के कारण इसी कुल के कई अन्य द्रव्य, जो मैदानों में उगते है और जो गुण में शठी तुल्य हो सकते हैं, संभवतः इसके स्थान पर प्रतिनिधि रूप में ग्रहण कर लिए गए हैं। इनमें कचूर, चंद्रमूल (कैंपफ़ेरिया गालैंजा, Kaempferia galanga) तथा वनहरिद्रा (करक्यूमा ऐरोमैटिका, Curcuma aromatica) मुख्य हैं। इसीलिये इन सभी द्रव्यों के स्थानीय नामों में प्रायः कचूर, शठी, तथा कपूरकचरी आदि नाम मिलते हैं, जो भ्रम पैदा करते हैं। निघंटुओं के शठी, कर्चूर, गंधपलाश, मुरा तथा एकांगी आदि नाम इन्हीं द्रव्यों के प्रतीत होते हैं।

आयुर्वेद में शटी (ठी) को कटु, तिक्त, उष्णवीर्य एवं मुख के वैरस्य, मल एवं दुर्गंध को नष्ट करनेवाली और वमन, कास-श्वास, व्रण, शूल, हिक्का और ज्वर में उपयोगी माना गया है। (ब० सिं०)

कपूरथला नगर पंजाब के कपूरथला नामक पूर्व राज्य का प्रमुख नगर एवं राजधानी था। (स्थिति ३१° २३' उ० अ० तथा ७५° २५' पू० दे०)। यह व्यास नदी से लगभग १७ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह नगर संभवतः ११वीं शताब्दी में जैसलमेर के राजपूत राजा राणा कपूर द्वारा स्थापित हुआ था। मुगल साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने पर एक मुसलमान सरदार ने इस नगर को अपने अधीन कर लिया था, जिसे सन् १७८० ई० में सरदार जस्सासिंह ने पुनः छीन लिया। इस नगर में राजप्रासाद के अतिरिक्त और भी अनेक सुंदर भवन हैं। यहाँ की नगरपालिका की मुख्य आय चुंगी से होती है। यहाँ रणधीर महाविद्यालय के अतिरिक्त कई माध्यमिक शिक्षा संस्थाएँ भी हैं। (न० प्र०)

२. कपूरथला राज्य सिंधु-गंगा के मैदानी भाग में पूर्वी पंजाब राज्यसंघ का एक सिक्ख राज्य था जो जालंधर से आठ मील पश्चिम व्यास नदी के किनारे, उत्तर में होशियारपुर जिला से लेकर दक्षिण में सतलज नदी तक, बसा हुआ था। इस राज्य का क्षेत्रफल ६५२ वर्ग मील तथा जनसंख्या ३,७८,३८० थी। बीच दोआबा में पड़ने के कारण यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है, किंतु यहाँ नहरें नहीं हैं। वर्षा आवश्यकतानुसार पर्याप्त नहीं होती, अतएव कुओं द्वारा सिंचाई करके ही कृषि की जाती है। यह राज्य साधारणतः दो भागों में विभक्त था जिसका एक भाग व्यास नदी के किनारे उत्तर-पूरब से लेकर दक्षिण-पश्चिम, सतलज नदी तक, फैला था। यह भाग राज्य के शेष भाग से इस्टर्न वेंइन नदी द्वारा विभक्त था। यह भूखंड अपनी अच्छी जलवायु तथा उपजाऊ भूमि के कारण कृषि के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। इस भाग में कपास, ईख, गेहूँ, जौ तथा तंबाकू की अच्छी उपज होती है। राज्य का दूसरा शेष भाग 'भुंग इलाका' था जिसमें छोटे छोटे गाँव बसे हुए हैं। यहाँ कुओं द्वारा सिंचाई करके कुछ गेहूँ, जौ उत्पन्न कर लिया जाता है। सिवालिक पर्वत से निकलनेवाली छोटी छोटी तीव्रगामिनी बरसाती नदियों द्वारा इस प्रदेश का संपूर्ण क्षेत्र प्रायः प्रवाहित रहता है, किंतु ये नदियाँ दीर्घजीवी नहीं हैं अतएव सिंचाई के लिये अनुपयुक्त हैं। इस राज्य को पंजाब प्रदेश में संमिलित कर लिया गया है। (कृ० प्र० सिं०)

कपूर, पृथ्वीराज प्रख्यात भारतीय अभिनेता। जन्म पश्चिम पंजाब के लायलपुर की तहसील समुद्री में ३ नवंबर, १९०६ ई० को एक खत्री परिवार में हुआ। दादा तहसीलदार थे तथा पिता पुलिस इंस्पेक्टर। बचपन से ही व्यायाम और खेलकूद आदि के कारण शरीर अत्यंत स्वस्थ और डीलडौल मनोमुग्धकारी था। पृथ्वीराज में नाटच-कला के बीज अत्यल्प वय से ही अंकुरित होने लगे। आठ वर्ष की वय में समुद्री के मिडिल स्कूल में पढ़ते समय ही स्थानीय रामलीला मंडली द्वारा अभिनीत नाटक 'सत्य हरिश्चंद्र' में एक अत्यंत छोटी भूमिका का निर्वाह इतने सुंदर ढंग से किया कि एक दर्शक ने तुरंत ही एक रुपया पुरस्कार दिया। उस समय के लिये यह बहुत बड़ी बात थी। उसी समय के लगभग पृथ्वीराज ने एक और क्रांतिकारी कार्य किया। रामलीला मंडली के संचालकों में मतभेद हो जाने के कारण जब मंडली टूटने लगी तब स्वयं उसकी बागडोर सँभाली और राम की भूमिका स्वयं करते हुए लक्ष्मण अपने एक मुसलमान मित्र को बनाया। हिंदू जनता ने बहुत विरोध किया किंतु पृथ्वीराज अपने निश्चय पर अडिग रहे और रामलीला की सफलता देखते हुए जनता ने भी अपना विरोध क्रमशः बंद कर दिया।

लायलपुर के खालसा कालेज से १६ वर्ष की वय में पृथ्वीराज ने प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल पास किया और एफ़० ए० तथा बी० ए० परीक्षाएँ पेशावर के एडवर्ड्स कालेज से उत्तीर्ण की। कानून पढ़ने के लिये जब वे लाहौर आए तो प्रोफ़ेसर जयदयाल की प्रेरणा से उनमें रंगकला का आकर्षण प्रबल होने लगा। कानून की पढ़ाई छोड़कर फिल्मों में काम करने के उद्देश्य से वे कलकत्ता गए किंतु वहाँ काम नहीं पा सके और उन्हें बंबई आना पड़ा। अवैतनिक एक्स्ट्रा कलाकार के रूप में एक फिल्म में काम मिला किंतु दूसरी ही फिल्म में मिस एरमिलिन के साथ नायक का काम करने का अवसर मिल गया। उन्होंने कई अवाक् चित्रपटों में भी काम किया। कुल जोड़कर उन्होंने लगभग २०० फिल्मों में कार्य किया जिनमें प्रमुख हैं— राजरानी, मीरा, सीता, विद्यापति, आफ़्टर दि अर्थक्वेक, मंजिल, पागल, सिकंदर, मुगल-ए-आजम और वाल्मीकि आदि। प्रथम भारतीय सवाक् चित्रपट 'आलमआरा' में भी उन्होंने नायक का काम किया था।

पृथ्वी थिएटर्स का निर्माण और उसके द्वारा हिंदी रंगमंच की सेवा पृथ्वीराज कपूर के जीवन का सबसे बड़ा कार्य था। बंबई में कुछ नवयुवक 'शकुंतला' खेलना चाहते थे, पृथ्वीराज निर्देशन कर रहे थे, काम बहुत आगे बढ़ चुका था तभी वे नवयुवक आपस में लड़ पड़े और नाटक खेलने की योजना ठप होने लगी। यह १४ जनवरी, १९४४ का दिन था। अपने परिश्रम को व्यर्थ जाता देखकर पृथ्वीराज ने निश्चय किया कि नाटक अवश्य होगा। किंतु उसके लिये पैसे कहाँ से आएँ? स्वयं तो उस समय केवल ७० रु० मासिक वेतन पाते थे। सौभाग्य से देना बैंक के डायरेक्टर पृथ्वीराज के अनुरोध पर सहायता के लिये आगे आए और १५ जनवरी, १९४४ को पृथ्वी थिएटर्स नामक संस्था का जन्म हुआ। इसके अंतर्गत पहला नाटक शकुंतला ही खेला गया। पृथ्वीराज दुष्यंत बने थे किंतु बाद में इसका प्रदर्शन छोड़ दिया गया। तत्पश्चात् सामयिक स्थितियों पर लिखित और अभिनीत नाटकों यथा दीवार, पठान, गद्दार, आहुति, पैसा, कलाकार और किसान ने देश के कोने कोने में रंगमंच जगत् में क्रांति पैदा कर दी। सबमें पृथ्वीराज की प्रधान भूमिका होती थी। अत्यधिक घाटा उठाकर भी १६ वर्ष तक उन्होंने अपना थिएटर चलाया। इस अवधि में वह अपना थिएटर लेकर १३० स्थानों में घूमे और २,६६२ बार अपने नाटकों में अभिनय किया। सन् १९६० में स्वरनलिका में रोग हो जाने के कारण तथा अर्थाभाव न सह सकने के कारण उन्हें थिएटर बंद कर देना पड़ा और इस प्रकार १५० त्यागी कलाकारों का परिवार बिखर गया।

महात्मा गांधी ने उनके नाटक 'दीवार' पर, जो हिंदू-मुस्लिम-विभाजन पर आधारित था, खेलने के पूर्व, अपना आशीर्वाद दिया था तथा पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल उनकी अभिनयकला के बड़े प्रशंसक थे। उन्हें नाटचाचार्य की उपाधि प्राप्त थी और भारत सरकार ने पद्मभूषण अलंकार प्रदान किया था।

पृथ्वीराज ने अपने थिएटर द्वारा चंदा करके लगभग १०–१२ लाख रुपए देश की अन्य संस्थाओं को सहायता रूप में दिए। चार वर्ष तक केंद्रीय रेलवे मजदूर यूनियन के अध्यक्ष रहे। १९५१ में वे भारत के प्रतिनिधि के रूप में अखिल-विश्व-शांति-संमेलन मे वियना भेजे गए थे। १९५२ और १९५४ मे राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के सदस्य मनोनीत किए गए थे। १९५४ मे ही उन्होंने चीन जानेवाले भारतीय शिष्टमंडल का नेतृत्व किया था तथा १९५६ में भारतीय सांस्कृतिक शिष्टमंडल के नेता के रूप में दक्षिण पूर्वी एशिया गए थे।

उनका निधन ६६ वर्ष की आयु में २९ मई, १९७२ को बंबई में हुआ। हिंदी रंगमंच पर अपनी कला में वे अद्वय थे। (स०)

कपोत कोलंबिडी (Columbidae) गण के प्रसिद्ध पक्षी है। इनकी दो जंगली जातियों—नील शैलकपोत (ब्लू रॉक पिजन, Blue rock pigeon) तथा शैल कपोतक (रॉक डव, कोलंबिडस पालंबस, Rock dove, Columbidus palumbus)—से मनुष्यों ने बहुत सी पालतू जातियाँ निकाली है, जो चार श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं :

१—**बुद्बुदक कपोत** (पाउटर, Pouters)—जिनकी ग्रासनली (गलेट, gullet) बड़ी और अन्नग्रह (क्रॉप, crop) से अलग रहती है। अन्नग्रह को फुलाकर ये बड़ा कर सकते हैं।

२—**वाहक कपोत** (कैरियर, Carrier)—जिनमें तीन प्रकार के कपोत बहुत प्रसिद्ध हैं : (क) साधारण वाहक (Carrier), जिनकी चोंच लंबी और आँख का घेरा नंगा रहता है। (ख) विराट् (रंट, Runts), जिनका कद बड़ा और चोंच लंबी तथा भारी होती है। (ग) कंटक (बार्ब्स, Barbs), जिनकी चोंच छोटी और आँख का घेरा नंगा रहता है। इसकी बहुतेरी उपजातियाँ फैली हुई है।

३—**व्यजनपुच्छ** (फैनटेल, Fantails), जिनमें चार तरह के कपोत प्रसिद्ध हैं : (क) टरबिट (Turbit) और उलूक (आउल, Owl), जिनकी चोंच छोटी और मोटी तथा गले के पंख तिरछे रहते हैं। (ख) गिरहबाज (टंबलर, Tumbler), जो उड़ते उड़ते उलटकर कलैया खाते रहते है। (ग) झल्लरीपृष्ठ (फ़िलबैक, Frill-back), जो अपनी पूँछ के पंख ऊपर की ओर छत्राकार उठा सकते है। साधारण बोलचाल में इन्हें लक्का कहते है। (घ) जैकोबिन, (Jacobin) जिनके गले के पंख कंठेनुमा उभरे रहते हैं।

४—**शृंगवाकु** (ट्रंपेटर, Trumpeters) जिनके गले के नीचे के पंख आगे की ओर घूमे रहते है। इनकी बोली बहुत कर्कश होती है।

लगभग ३,००० ई० पू० से मनुष्यों द्वारा कबूतरों के पालने का पता (मिस्र देश के भित्तिचित्रों से) चलता है। उसके बाद ईरान, बगदाद तथा अरब के अन्य देशों में भी कबूतर पालने का प्रचलन था। सन् १८४८
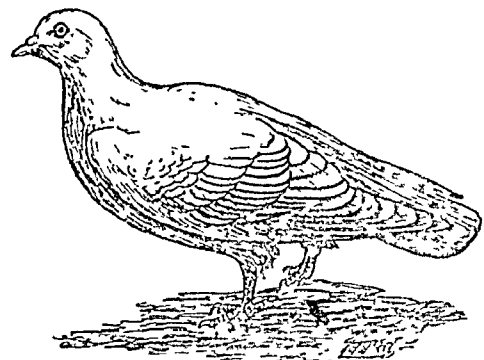
कपोत (कबूतर)

की फ्रांस की क्रांति में कबूतरों का उपयोग संदेशवाहक के रूप में किया गया था। विज्ञान के इस युग में भी इनकी उपयोगिता कम नहीं हुई है और

इनकी टाँगों अथवा पीठ पर एक पोली नली में पत्र रखकर आज भी लड़ाई में इनका उपयोग होता है। शांतिदूत के रूप में भी सफेद कबूतर उड़ाए जाते हैं।

संसार भर में बेलजियम कबूतरों का सबसे अधिक शौकीन देश है। वहाँ इनकी उड़ान पर घोड़ों की दौड़ के समान बाजी लगती है। लगभग सभी गाँवों में कबूतरों के क्लब स्थापित हैं। हमारे देश में भी गिरहबाज, लक्का, मुक्खीलोटन, अंबरसरे, चीना, शिराजी, गोला आदि अनेक जातियों के कबूतरों को शौकीन लोग पालते हैं।

जंगली कबूतरों में नीलशैल जाति संसार के प्रायः सभी देशों में फैली हुई है, यह लगभग १५ इंच लंबा सिलेटी रंग का पक्षी है जिसके नर तथा मादा एक जैसे होते हैं। ये दाना और बीज चुगनेवाले पक्षी है जो भुंडों में रहते हैं। मादा साल में दो बार भूमि पर या किसी छेद में घोंसले के नाम पर दो चार तिनके रखकर दो सफेद अंडे देती है। बच्चे कुछ दिनों तक बिना पंख के असहाय रहते हैं। उनके मुँह में अपनी चोंच डालकर माँ बाप एक प्रकार का रस भर देते हैं जो उनके शरीर के भीतर की अन्नग्रह थैली में एकत्र हो जाता है और सुगमता से पचता है।

इनके अतिरिक्त न्यूगिनी के विशाल किरीटधारी कबूतर (जायंट क्राउंड पिजन, Giant crowned pigeon) भी कम प्रसिद्ध नहीं हैं। ये कद में सबसे बड़े होते हैं और इनके सिर पर पंखीनुमा कलँगी सी रहती है।

एक अन्य जाति, निकोबार कबूतर, भी बहुत प्रसिद्ध है। यह अपने गले की लंबे पंखों की हँसली के कारण बड़ी आसानी से पहचाना जाता है। इसके शरीर के भीतर की पेषणी (गिजर्ड, Gizzard) भी विचित्र होती है।

एक अन्य जाति के कबूतर सन् १९१४ ई० तक पाए जाते थे, परंतु अब वे पृथ्वी से लुप्त हो गए हैं। ये यात्री कबूतर (पैसेंजर पिजन, Passen er pigeon) कहलाते थे। जब ये हजारों के बड़े बड़े समूहों में उड़ते थे तो आकाश काला हो जाता था। ये फाख्ता (पंडुक) के बराबर होते थे और इनका रंग गाढ़ा सिलेटी तथा पूँछ लंबी होती थी।

कबूतरों के ही वर्ग के हारिल भी चिरपरिचित पक्षी हैं जो हरे और धानी रंग के तथा बहुत सुंदर होते हैं। इनकी कई जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें 'कोकला' सबसे प्रसिद्ध है। ये सब अपने स्वादिष्ट मांस के लिये भी प्रसिद्ध है। (सु० सिं०)

कपोतक (डव, Dove) एक पक्षी है, जो कबूतरों (कोलंबिडी गण, Order columbidae) का निकट संबंधी है। यह पँडुकी, फाखता, पंडुक और सिरोटी के नाम से भी प्रसिद्ध है। वैसे तो इसकी
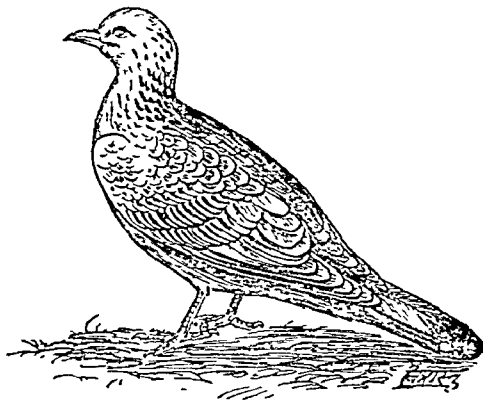
कपोतक

कई जातियाँ सारे संसार में फैली हुई हैं, परंतु उनमें निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं :

१—**धवर** (रिंग डव, Ring Dove)—यह कद में सब कपोतकों से बड़ा और राख के रंग का होता है जिसके गले में काला कंठा सा रहता है।

२—**काल्हक** (टर्टल डव, Turtle Dove)—यह धवर से कुछ छोटा और भूरे रंग का होता है। इसके ऊपरी भाग पर काली चित्तियाँ और चिह्न पड़े रहते हैं।

३—**चितरोखा** (स्पॉटेड डव, Spotted Dove)—यह काल्हक से कुछ छोटा, परंतु सबसे सुंदर होता है। इसके अगले ऊपरी काले भाग में सफेद बिंदियाँ और पिछले भूरे भाग में कत्थई चित्तियाँ पड़ी रहती है।

४—**टुटरूँ** (ब्राउन डव, Stock Dove)—यह उपर्युक्त तीनों कपोतकों से छोटा होता है। इसका ऊपरी भाग भूरा और छाती से नीचे का भाग सफेद रहता है। गले पर काली पट्टी रहती है जिसपर सफेद बिंदियाँ रहती हैं।

५—**इँटकोहरी** (रेड टर्टल डव, Red Turtle Dove)—इसका रंग ईंट जैसा और कद सबसे छोटा होता है। पूँछ के नीचे का भाग सफेद और गले में काला कंठा रहता है।

६—**स्टॉक डव** (Stock Dove)—यह धवर से कुछ छोटा होता है, परंतु रंग उससे कुछ गाढ़ा होता है। इसके गले में धवर की तरह कंठा नहीं रहता। इसकी मादा पेड़ों के कोटरों में अंडे देती है।

७—**कॉलर्ड** (Collared) **या बारबरी डव** (Barbary Dove)—यह उत्तरी अमरीका का प्रसिद्ध कपोतक है जिसके शरीर का रंग चंदन के समान और गले में काला कंठा रहता है।

८—**शैल कपोतक** (रॉक डव, Rock Dove)—इनसे हमारे पालतू कबूतर उत्पन्न किए गए हैं।

९—**विलापी कपोतक** (मोर्निंग डव, Mourning Dove)—यह छोटे कद का होता है।

कपोतक १२ इंच तक लंबे, भोले भाले पक्षी हैं। इनकी प्रकृति, स्वभाव तथा अन्य बातें कपोतों से मिलती जुलती हैं। कपोत की तरह ये भी अनाज और बीज आदि से अपना पेट भरते हैं और इन्हीं की भाँति इनका अंडा देने का समय भी साल में दो बार आता है। तब मादा अपने मचाननुमा, तितरे बितरे घोंसले में दो सफेद अंडे देती है। (सु० सिं०)

कबड्डी भारत का प्रसिद्ध एवं प्राचीन जन खेल है, जिसे ग्रामों और नगरों में आबालवृद्ध प्रायः अपनी अवस्था के लोगों की टोलियाँ बनाकर खेलते हैं। किसी मुहल्ले के चौक में, खुले मैदान में, उद्यान में अथवा किसी खाली खेत में जली लकड़ी के बुझे कोयले, खड़िया के टुकड़े अथवा कंकड़ी से समान आकारवाले (आयताकार अथवा वृत्ताकार) पाले खींच लिए जाते हैं। दोनों के ठीक बीच में एक रेखा चौड़ाई की ओर खींचकर इन्हें दो भागों में बाँट लेते हैं। साधारणतः चौड़ाई इतनी रहती है कि प्रत्येक खिलाड़ी के बीच आधे हाथ का अंतर छूटा रहे। आधी लंबाई से चौड़ाई सवा या डेढ़ गुना अधिक रखी जाती है। फटने के भय से कमीज आदि उतारकर, जाँघिया, लँगोट या नेकर पहने और कई बार धोती या पाजामे को ही ऊपर खोंसकर खिलाड़ी पाले में उतर पड़ते हैं।

खेल प्रारंभ होने से पूर्व किसी सिक्के या सपाट कंकड़ी को उछालकर 'टॉस' कर लिया जाता है। टॉस जीतनेवाली टोली का एक सिरे का पहला आदमी एक ही साँस में जोर से 'कबड्डी', 'कबड्डी' बोलता हुआ, उछलता कूदता दूसरी टोली के पाले में जाकर और विपक्षी दल के अधिकाधिक व्यक्तियों को छूकर, उनकी पकड़ में आने से पूर्व ही, 'कबड्डी', 'कबड्डी' कहता हुआ मध्यरेखा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। अभियान में सफल होनेवाले इस खिलाड़ी द्वारा छुए हुए विरोधी पक्ष के व्यक्ति पाले से बाहर बैठा दिए जाते हैं। इन्हें 'मरे हुए खिलाड़ी' (मरे हुए से हारने का अभिप्राय है) कहा जाता है। किंतु यदि 'कबड्डी', 'कबड्डी' का स्वर अलापनेवाला स्वयं ही दूसरे दलवालों के द्वारा पकड़ा जाय और मध्यरेखा तक पहुँचने के पहले उसकी साँस टूट जाय, या किसी प्रतिपक्षी को छूकर मध्यरेखा तक पहुँचने से पहले ही साँस टूट जाय, तो वह 'मर' जाता है। उसे अब खेलने का अधिकार नहीं रहता।

इस प्रकार वारी वारी से दोनों ओर के एक एक खिलाड़ी विपक्षी दल में पहुँचकर अपना शौर्य दिखाते हैं। खिलाड़ी कभी स्वयं मरता है, कभी
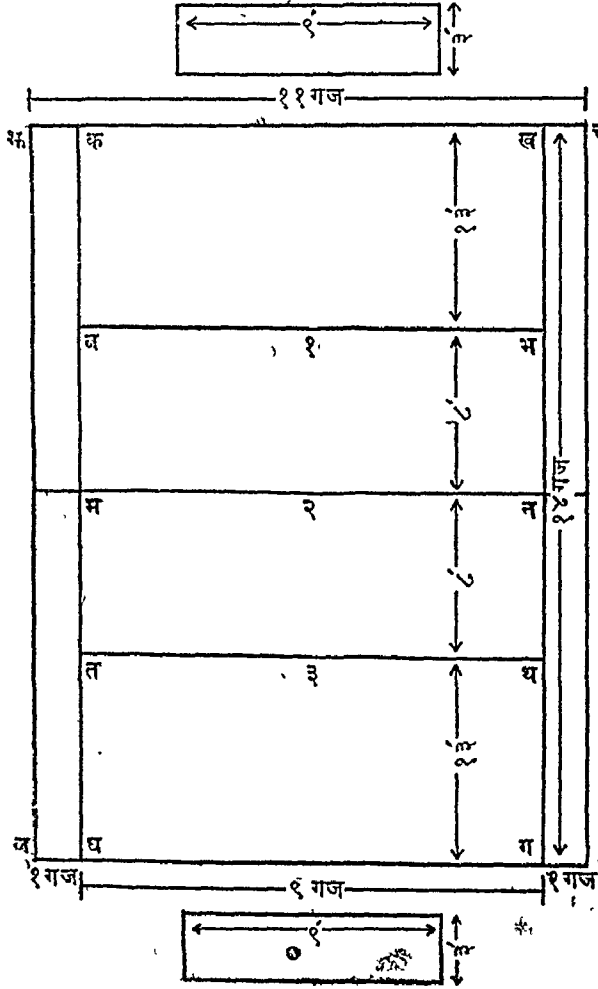
कवड्डी का पाला

दूसरों को मारता है, कभी खाली हाथ अपने पाले में लौट आता है। मरने जीने (जागने) की यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक एक दल के सभी व्यक्ति 'मर' कर पाले से बाहर नहीं बैठ जाते। जो टोली हार जाती है उसके जिम्मे एक पाला हो जाता है। 'मरे' हुए खिलाड़ी उसी क्रम से 'जीते' हैं (जीने से अभिप्राय है पाले से बाहर निकाले हुए व्यक्तियों का पाले में आकर पुनः खेलने लगना) जिस क्रम से वे मरे रहते हैं। जीनेवालों की संख्या विरोधी पक्ष के मरे हुए खिलाड़ियों की संख्या के अनुसार होती है। पराजित टोली के जिम्मे पाला होने पर जब खेल दोबारा प्रारंभ होता है तब दोनों ओर के मृत खिलाड़ी पुनः जी उठते हैं। प्रायः दो वार के खेल में तब हार जीत का निर्णय हो जाता है, परंतु चार छह पालों तक भी, अथवा जब तक खिलाड़ी पूर्णतया थक न जायँ तब तक यह खेल चलता रहता है।

क्रिकेट, फुटवाल, हाकी के सदृश कवड्डी प्रतियोगिता भी स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में होने लगी है। खेल को वैज्ञानिक बनाने के लिये कुछ नियम भी बन गए हैं, जो प्रायः इस प्रकार हैं :

दोनों वर्गों में सात सात खिलाड़ी रहते हैं। बड़े पाले में दोनों दलों का अलग अलग एक पाला रहता है। प्रत्येक ओर का पाला ११ गज लंबा और सात गज चौड़ा होता है। चौड़ाई की ओर दोनों पार्श्वों में एक एक गज स्थान छोड़ दिया जाता है। इसे प्रकोष्ठ (Lobby) कहते हैं। चौड़ाई के सात गज के अर्थात् २१ फुट के स्थान को इस प्रकार बाँटा जाता है। मध्यरेखा (Middle अथवा March line) से ८ फुट की दूरी पर, मध्यरेखा के समांतर व्यत्यास रेखा (बॉक लाइन, Baulk line) खीची रहती है। इस प्रकार व्यत्यास रेखा से सीमारेखा १३ फुट की दूरी पर रह जाती है। ९० पाउंड से ११० पाउंड तक के कनिष्ठ खिलाड़ियों (Junior players) तथा महिलाओं की कवड्डी प्रतियोगिता मे पाला थोड़ा छोटा होता है। इस पाले की लंबाई प्रत्येक ओर ९ गज और चौड़ाई ६ गज होती है। लंबाई की माप में से एक एक गज प्रकोष्ठ दोनों ओर छूटा रहता है। मध्यरेखा अथवा प्रस्थानरेखा से व्यत्यास रेखा ७ फुट की दूरी पर होती है।

टॉस जीतनेवाले दल पर निर्भर है कि वह स्वय अपने पाले से कवड्डी खेलनेवाले को दूसरे पाले मे भेजकर खेल का प्रारंभ करे या विरोधी पक्ष के खिलाड़ी को अपनी ओर बुलाकर। पुराने खेल के समान ही एक पक्ष का खिलाड़ी (आक्रमणकारी : Raider) प्रस्थान (मध्य) रेखा से दूसरे पक्ष की ओर जाने और पुनः लौटने तक, बिना दूसरा साँस लिए, 'कवड्डी', 'कवड्डी' लाक्षणिक शब्द (Count) का निरंतर उच्चारण करता रहता है। नए नियमों के अनुसार प्रत्येक खिलाड़ी को विपक्षी दल के पाले की व्यत्यास रेखा अवश्य पार करनी पड़ती है। खिलाड़ियों को छूने और पकड़ने के वही नियम है। संघर्ष (पकड़ धकड़, Struggle) प्रारंभ होने पर यदि खिलाड़ी चाहें तो प्रकोष्ठों का उपयोग कर सकते है। जो आक्रमणकारी खिलाड़ी 'कवड्डी' आदि लाक्षणिक शब्द का प्रयोग नही कर पाता, उसे अधिनिर्णायक (Referee) वापस लौटा देता है और प्रतिरक्षक वर्ग के खिलाड़ी (Anti-raider) को खेलने के लिये भेजता है। वारी वारी से प्रत्येक दल प्रतिरक्षक का कार्य करता है। यदि अधिनिर्णायक की चेतावनी पर भी आक्रमणकारी नियम का पालन नही करता तो दूसरे वर्ग को एक अंश (Point) दे दिया जाता है। पकड़े गए आक्रमणकारी का श्वासावरोध करने का प्रयास प्रतिरक्षकों द्वारा नहीं होना चाहिए, न उसे सीमारेखा से बाहर ढकेलना ही चाहिए। ऐसी स्थिति मे आक्रमणकारी को जीवित माना जाता है। बाहर निकाला हुआ मृत प्रतिरक्षक भी आक्रमणकारी को नही पकड़ सकता। यदि ऐसा हो तब भी आक्रमणकारी जीवित रहता है। प्रत्येक आक्रमणकारी अपनी वारी से ही जाता है। अधिनिर्णायक के विचार में यदि इस नियम का वार वार भंग हुआ हो तो प्रतिपक्ष को एक पाइंट दे दिया जाता है। यदि कोई दल संपूर्ण विरोधी दल को पराजित करने में सफल हो जाता है तो विजयी पक्ष को क्रीड़ावधि में प्राप्त अंशो के अतिरिक्त पाले (लोना) के दो अधिक अंश और मिल जाते हैं। पराजयासन्न दल के एक दो खिलाड़ी शेष रहने पर विजय की आशावाले दल का अग्रणी (Captain) बाहर बैठे हुए विरोधी दल के खिलाड़ियों को पुनः पाले में बुला सकता है। ऐसी दशा मे भी विजयाशावाले दल को पहले से उपलब्ध अंशों के अतिरिक्त पाले के दो और अंश मिल जाते है।

यह खेल २० मिनट की अवधि में दो वार खेला जाता है। महिलाओं और कनिष्ठों के लिये खेल के बीच मे पाँच मिनट का अंतराल (interval) रहता है। एक खेल के बाद पाले बदल दिए जाते है। खेल के अंत मे जिस दल के अंशों की संख्या सर्वाधिक होती है वही विजयी घोषित किया जाता है। ग्रंथि (Tie) पड़ने पर प्रत्येक खेल के लिये पाँच पाँच मिनट का अतिरिक्त समय दिया जाता है। इस अतिरिक्त समय मे उभय पक्षों में उतने ही खिलाड़ी विद्यमान रहते हैं, जितने ग्रंथि पड़ने के समय थे। यदि किसी कारणवश कोई खेल पूरा नही होता तो खेल दोबारा होता है। किसी खिलाड़ी को चोट लगने पर उस दल का अग्रणी 'खेल स्थगित' (Time out) की घोषणा कर देता है। यह स्थगन दो मिनट से अधिक नहीं होना चाहिए। यदि अधिनिर्णायक यह समझे कि खिलाड़ी को गहरी चोट आई है तो आहत खिलाड़ी के स्थान पर अतिरिक्त (extra) खिलाड़ी रखा जा सकता है।

किसी दल में एक दो खिलाड़ियों की कमी होने पर भी कवड्डी का खेल प्रारंभ हो सकता है, किंतु खेल पूरा होने पर ये अनुपस्थित खिलाड़ी भी 'मृत' गिने जायँगे और इनके अंश विजयी वर्ग को मिलेंगे। अनुपस्थित खिलाड़ी खेल प्रारंभ होने पर अधिनिर्णायक की अनुमति से ही खेल में भाग ले सकते हैं। अनुपस्थित खिलाड़ियों के स्थानापन्न (Substitute) कभी भी रखे जा सकते हैं, किंतु खेल की समाप्ति तक (आहत खिलाड़ी को

छोड़कर) इन स्थानापन्नों का परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि खेल दोबारा खेला जाय तो यह आवश्यक नहीं है कि पहलेवाले खिलाड़ी ही रहें।

खिलाड़ियों का न्यूनतम परिधान बनियान और नेकर है। नेकर के नीचे जाँघिया या लंगोट होना चाहिए। खिलाड़ी आवश्यकतानुसार सीधे तल्लेवाले कैनवेस के जूते और मोजे भी धारण कर सकता है। प्रत्येक खिलाड़ी के कपड़े पर संख्या लगी रहनी चाहिए। वह किसी प्रकार की धातु नहीं पहन सकता। शरीर पर तैल या कोई मृदु पदार्थ भी नहीं मल सकता। खिलाड़ियों के नाखून भी भली भाँति कट रहने चाहिए। खेल के समय अग्रणी या नेता के अतिरिक्त अन्य कोई अनुदेश भी नहीं दे सकता। उसका अनुदेश भी केवल अपने दलवालों के लिये होता है।

(न० क०)

कवावचीनी नाम से कालीमिर्च सदृश सवृंत फल बाजार में मिलते हैं। इनका स्वाद कटु-तिक्त होता है, किंतु चबाने से मनोरम तीक्ष्ण गंध आती है और जीभ शीतल मालूम होती है। इसे कंकोल (ल्ल), सुगंधमरिच, शीतलचीनी और क्यूबेब (Cubeb) भी कहते हैं। यह पाइपरेसिई (Piperaceae) कुल की पाइपर क्यूबेबा (Piper Cubeba) नामक लता का फल है जो जावा, सुमात्रा तथा बोर्निओ में स्वतः पैदा होती है। लंका तथा दक्षिण भारत के कुछ भागों में भी इसे उगाया जाता है।

कवावचीनी की लता आरोही एवं वर्षानुवर्षी, कांड स्पष्ट तथा मोटी संधियों से युक्त और पत्र चिकने, लंबाग्र, सवृंत और स्पष्ट शिराओंवाले तथा अधिकतर आयताकार होते हैं। पुष्प अवृंत, द्विक्षयक (dioecious) और शूकी (स्पाइक, spike) मंजरी से निकलते हैं। व्यवहार के लिये अपक्व परंतु पूर्ण विकसित फलों को ही तोड़कर सुखाया जाता है। ये गोलाकार, सूखने पर गाढ़े भूरे रंग के किंतु धूलिधूसरित, व्यास में लगभग चार मिलीमीटर और एक बीजवाले होते हैं। फलत्वक् के ऊपर सिलवटों का जाल बना होता है। फल के शीर्ष भाग पर त्रिरश्म्याकार (ट्राइरेडिएट, triradiate) वर्तिकाग्र (स्टिग्मा, stigma) और आधार पर लगभग चार मिलीमीटर लंबी वृंत सदृश बाह्यवृद्धि उपस्थित रहती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में इसका उपयोग बहुत कम होता है, परंतु नव्य चिकित्सा पद्धति में इसका बहुत महत्व है। इसे कटु तिक्त, दीपक-पाचक, वृष्य तथा कफ, वात, तृषा एवं मुख की जड़ता और दुर्गंध दूर करनेवाली कहा गया है। श्लेष्मल कलाओं, विशेषतः मूत्र मार्ग, गुदा एवं श्वासमार्ग की श्लेष्मल कलाओं पर इसकी उत्तेजक क्रिया होती है। पुराने सुजाक (पूयमेह), अर्श तथा पुराने कफरोग में उत्तेजक, मूत्रजनक, पूतिहर, वातनाशक, दीपक और कफघ्न गुणों के कारण इसका प्रचुर उपयोग होता है। कवावचीनी में ५–२० प्रति शत उड़नेवाला तैल होता है, जिसमें टरपीन (Terpene), सेस्क्वि-टरपीन (Sesqui-Terpene) तथा केडिनीन (Cadinene) आदि श्रेणी के कई द्रव्यों का मिश्रण होता है। (ब० सिं०)

कवाल (Cabal) किसी समिति के आपसी संबंधों में गुप्त षड्यंत्र के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इंग्लैंड का चार्ल्स द्वितीय, पाँच अंतरंग मंत्रियों के परामर्श से कूटनीति के गुप्त मामले तथा महत्वपूर्ण विदेशी मामलों को तय किया करता था। ये पाँच मंत्री थे—क्लिफ़र्ड, आर्लिंग्टन, बकिंघम, आशले और लाडरडेल। इन्हीं पाँचों के नामों के पहले अक्षरों को मिलाकर कवाल शब्द निर्मित हुआ है, साधारणतः ऐसा माना जाता है; किंतु है यह संयोग मात्र, क्योंकि इस शब्द की व्युत्पत्ति फ्रेंच शब्द कवाल (Cabale) से हुई है। कवाल कैबिनेट का अग्रगामी माना जाता है। कवाल की शक्ति देखकर राज्य के अन्य व्यक्ति इससे ईर्ष्या करने लगे तथा कवाल शब्द का प्रयोग कुत्सित भाव से होने लगा।

(शु० ते०)

कबीर का नाम कबीरदास, कबीर साहब एवं संत कबीर जैसे रूपों में भी प्रसिद्ध है। ये मध्यकालीन भारत के स्वाधीनचेता महापुरुष थे और इनका परिचय, प्रायः इनके जीवनकाल से ही, इन्हें सफल साधक, भक्त कवि, मतप्रवर्तक अथवा समाजसुधारक मानकर, दिया जाता रहा है तथा इनके नाम पर कबीरपंथ नामक संप्रदाय भी प्रचलित है। कबीरपंथी इन्हें एक अलौकिक अवतारी पुरुष मानते हैं और इनके संबंध में बहुत सी चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी सुनी जाती हैं। इनका कोई प्रामाणिक जीवनवृत्त आज तक नहीं मिल सका है, जिस कारण इस विषय में निर्णय करते समय, अधिकतर जनश्रुतियों, सांप्रदायिक ग्रंथों और विविध उल्लेखों तथा इनकी अभी तक उपलब्ध कतिपय फुटकल रचनाओं के अंतःसाक्ष्य का ही सहारा लिया जाता रहा है। फलतः, इस संबंध में तथा इनके मत के भी विषय में बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है।

कबीर की मृत्युतिथि निश्चित करनेवालों के तीन प्रमुख मतों में से एक उसे माघ सुदी ११, संवत् १५७५ ठहराता है तो दूसरा उसे अगहन सुदी ११, संवत् १५०५ तक ले जाता है और तीसरा उसे इन दोनों के बीच, संवत् १५५२ के किसी मास में, रखना चाहता है। इसके सिवाय, एक चौथे मत के अनुसार, हम उसे किसी निश्चित तिथि, मास या संवत् तक निरुद्ध न करके, उसे किसी शताब्दी या उसके किसी चरण तक ही ले जा सकते हैं। प्रथम तीन मतों का आधार जहाँ परंपरागत उक्तियाँ मात्र है, वहाँ चौथा, प्राप्त सामग्रियों का, युक्तिसंगत परिणाम भी निकालना चाहता है और, तदनुसार, कबीर की मृत्यु के, विक्रमी संवत् की १६वीं शताब्दी के प्रथम चरण में, होने का अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार, कबीर की जन्मतिथि को भी परंपरागत ज्येष्ठ पूर्णिमा, चंद्रवार, संवत् १४५५ के कुछ पहले तक ले जाया जा सकता है और इन्हें हम प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति का कनिष्ठ समसामयिक भी ठहरा सकते हैं।

कबीर की जाति के संबंध में भी प्रधानतः दो मत प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक इन्हें हिंदू बतलाकर इनके कोरी होने का अनुमान करता है। इसे माननेवालों में से कुछ के अनुसार ये किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और इनकी उस माता ने, अपनी लाज बचाने के उद्देश्य से, इन्हें काशी के निकटवर्ती लहरतारा तालाब के पास त्याग दिया जहाँ से नीरू और नीमा नामक जुलाहा दंपति ने अपने घर लाकर इनका पालन पोषण किया और, इसी कारण, ये पीछे 'जुलाहा' कहलाकर भी प्रसिद्ध हुए। परंतु दूसरा मत इन्हें जन्मजात जुलाहा मानता है और संत रैदास जैसे अनेक पुराने लोगों के कथनों (जैसे, 'आदिग्रंथ', रागु मलार २) के आधार पर, इनके मुसलमान तक भी होने का निर्णय करता है। इसके अतिरिक्त एक तीसरा मत भी प्रचलित है जिसके अनुसार कबीर का जुलाहा कुल, किन्हीं धर्मांतरित हिंदू कोरियों का ही रहा होगा अथवा वह किसी ऐसी 'जुगी' वा जोगी जाति का होगा जो नाथपंथी भी रही होगी। परंतु इसके लिये पर्याप्त प्रमाणों की कमी दीखती है।

कबीरपंथी कबीर को बहुधा अविवाहित मानते हैं, किंतु अन्य लोग इनकी पत्नी का 'लोई' नाम तक निश्चित कर देना चाहते हैं और, इसी प्रकार इनके पुत्र कमाल और पुत्री कमाली तथा किसी निहाल और निहाली तक की चर्चा की जाती है। इनकी रचनाओं (जैसे, आदि ग्रं०, गौड़ ६) में 'लोई' शब्द का उल्लेख भी पाया जाता है जिसका प्रयोग 'लोग' के अर्थ में भी किया गया माना जा सकता है और इसी प्रकार, ऐसे दो अन्य शब्दों 'धनियाँ' एवं 'रमजनियाँ' (वही, आत्मा ३३) की भी प्रासंगिक व्याख्या की जा सकती है। परंतु वहीं पर पाए जानेवाले 'लरिकी लरिकन खेलो नाहिं' तथा अन्यत्र (वही, गूजरी २) के 'ए बारिक कैसे जीवहिं रघुराई' से इनका संतानयुक्त होना भी सिद्ध किया जा सकता है। इनकी पैतृक जीविका कपड़े की बुनाई थी जिसके आधार पर इनके परिवार का भरण पोषण तथा साधुओं की आर्थिक सेवा करना कठिन था, अतएव इन्हें आर्थिक कष्ट ही रहा। कबीर, कदाचित् पढ़े लिखे नहीं थे, किंतु बहुश्रुत अवश्य थे और इनकी रचनाएँ साखी, सबद एवं रमैनी आदि के रूपों में पाई जाती हैं।

कबीर ने अपने किसी गुरु के नाम का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया हैं, किंतु बहुमत स्वामी रामानंद को इनका गुरु मानने के पक्ष में दीख पड़ता है। कुछ लोगों के अनुसार शेख तकी भी इनके 'पीर' रहे होंगे, किंतु 'बीजक' (रमैनी ४८ और ६३) में उनके प्रति इनकी श्रद्धा प्रकट होती नहीं जान पड़ती। उनसे अधिक संमान ये किसी 'पीतांबर पीर' के प्रति प्रदर्शित करते जान पड़ते हैं (आ० ग्रं० आत्मा १३), किंतु उनका भी इनका गुरु होना प्रमाणित नहीं होता। कबीर का देशाटन करना तथा दूर दूर तक जाकर

कबीर (द्र० पृ० ४०४)

मध्यकालीन संत कबीर : कपड़े की बुनाई करते हुए
(काशी नागरीप्रचारिणी सभा के सौजन्य से प्राप्त)

कनिष्क (द्र० पृ० ३८८)
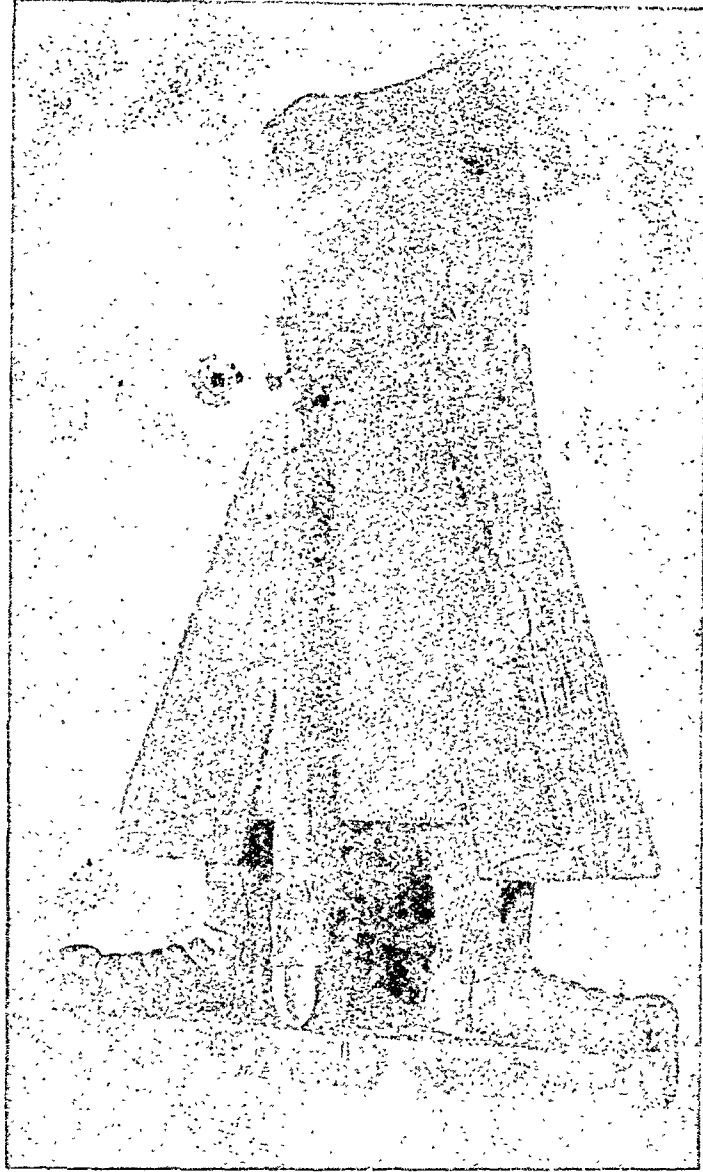
कनिष्क की कुषाणकालीन प्रतिमा
(मथुरा संग्रहालय)

वहाँ सत्संग करना और उपदेश देना भी प्रसिद्ध है। परंतु ये अधिकतर काशी में ही रहे जिसे अथवा जिसके निकटवाले किसी स्थान का इनकी जन्मभूमि भी मान लेने की परंपरा चली आती है। फिर भी कुछ लोग (ग्रा० ग्रं० रामकली ३ के आधार पर) इसके मगहर होने का भी अनुमान करते हैं जो तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार उसका बेलहरा होना सिद्ध नहीं है। कबीर के मृत्युस्थान का मगहर होना प्रायः सर्वसंमत सा है जिसे कभी कभी कुछ लोग मगह वा मग्गह समझने की भी भूल कर देते हैं।

कबीर की रचनाओं के उपलब्ध संग्रहों में से सिखों का 'आदिग्रंथ', 'कबीर ग्रंथावली' तथा 'कबीरबीजक' अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। परंतु तीनों के अंतर्गत संगृहीत इनकी बानियों में न्यूनाधिक पाठभेद पाया जाता है तथा उनके, संख्या में कम या अधिक, होने का भी अंतर स्पष्ट है। फिर भी, उनके तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन के आधार पर इनके मूल सिद्धांत एवं साधना के विषय में, कुछ न कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। इनकी रचनाओं द्वारा यह भी नहीं जान पड़ता कि ये किसी सिद्धांत का निरूपण करने अथवा उसके प्रति विशेष आग्रह प्रदर्शित करने की चेष्टा कर रहे हैं। ये अधिकतर प्रचलित मतों की समीक्षा करते, उनकी त्रुटियों के प्रति सब किसी का ध्यान आकृष्ट करते तथा अपनी अनुभूति एवं विचारपद्धति के अनुसार कहते मात्र दीख पड़ते है। ये दूसरों को भी स्वानुभूति एवं आत्मचिंतन पर ही आश्रित रहने का परामर्श देते है और, इस प्रकार, ये विचारस्वातंत्र्य के समर्थक भी जान पड़ते हैं।

इनकी परमतत्व विषयक धारणा इनके द्वारा प्रयुक्त 'अगम', 'अकथ' 'अनुपम' एवं 'अविगत' जैसे शब्दों से स्पष्ट है। ये इस संबंध में 'वो है तैसा वो ही जानै, ओही आहि आहि नहिं आनै' (क० ग्रं० रमैणी ६) तथा 'जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ' (वही, रमैणी ३) जसे वाक्य भी प्रयुक्त करते हैं जिनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि ये उसके विषय में कुछ भी कथन करना अनावश्यक एवं व्यर्थ तक समझते होंगे। परंतु फिर भी ये उसे 'गुन अतीत', 'गुनबिहून' वा 'निरगुन' भी ठहराते हैं तथा उसके लिये कभी 'आतम', कभी 'निजपद', कभी 'सहज' वा 'सुंनि' (शून्य) अथवा 'ब्रह्म' जैसे शब्दों तक के प्रयोग करते हैं और उसे 'करता' वा 'सिरजनहार' तक कह डालते हैं। इन्होंने उसका वर्णन 'विराट्' जैसा भी किया है (आ० ग्रं०, और भैरउ २०) तथा उसे विष्णु, नरसिंह और कृष्ण जैसा सगुण और अवतारी रूप भी दे डाला है। इन्होंने जगत् को उसकी 'लीला' बतलाया है तथा उसकी माया को विश्वमोहिनी तथा कभी कभी 'साँपिनि' वा 'डाइनि' तक भी ठहरा दिया है।

इस प्रकार इनका वह 'सति', वेदांत के 'ब्रह्म' जैसा प्रतीत होता हुआ भी कोरा 'चैतन्य' या भावात्मक 'सच्चिदानंद' मात्र नहीं है। उसका रूप सर्वथा अनिर्वचनीय होने पर भी, उसे जीवात्मा से स्वरूपतः अभिन्न कहा जा सकता है और उसे कोई अनुपम व्यक्तित्व भी प्रदान किया जा सकता है। वह सबका नियामक है, किंतु इस्लाम के 'अल्लाह' जैसा शाहंशाह अथवा शासक भी नहीं है, प्रत्युत सहृदय और दयालु है। जीवात्मा उसे 'भरम करम' के कारण अपने से पृथक् मान बैठता है और जन्मांतर के फेर में पड़कर, दुःख उठाता है। उसे अपने भीतर और बाहर, सर्वत्र अनुभव करता और, उसके प्रति प्रेमाभक्ति का भाव प्रदर्शित करते हुए, निरंतर 'सहज समाधि' में लीन रहना ही सबका ध्येय होना चाहिए। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये कबीर मन की चंचलता को दूर कर 'सुरति' का 'अनहद सबद' में लगाए रहना आवश्यक मानते हैं तथा, आत्मशुद्धि के साथ सभी प्राणियों को तत्वतः अभिन्न समझते हुए 'सहज सील' के अनुसार व्यवहार करने का आदर्श भी चित्रित करते हैं।

वैसी दशा में, अपने जीवन में ही, आमूल परिवर्तन आ जाता है, 'प्रेम ध्यान' की 'नारी' लग जाती है और संसार मात्र के साथ आत्मीयता का बोध होने लगता है। कबीर के अनुसार यही स्थिति किसी सच्चे 'संत' की भी है जिसके गुणों में निर्वैरता, निष्कामता, भगवद्भक्ति और विषयों के प्रति अनासक्ति की गणना होती है। इनकी दृष्टि में, जब सभी एक ही 'ज्योति' से उत्पन्न हैं, तो आपस में भेदभाव का होना न्यायसंगत नहीं है। मानव समाज के अंतर्गत पाए जानेवाले सांप्रदायिक भेद अथवा ऊँच नीच, ब्राह्मण शूद्र और धनी-निर्धन-परक भेदभाव को सर्वथा त्याज्य समझना उचित है, क्योंकि 'ये सभी बर्तन एक ही मिट्टी के बने हैं और उनका बनानेवाला भी एक है तथा वही सबके भीतर, काठ क भीतर अग्नि की भाँति, व्याप्त है।' (क० ग्रं०, पद ५५)। इसी कारण ये वैसी बाहरी वेशभूषा, धार्मिक विडंबना एवं मूर्तिपूजन, व्रतादि को भी हेय ठहराते हैं जिनसे पारस्परिक अंतर तथा दंभ पाखंड को प्रवृत्ति जागृत हो सकती है। इस प्रकार ये एक ऐसे जीवनादर्श की प्रतिष्ठा करते प्रतीत होते है जिसके अनुसार भूतल ही स्वर्ग के रूप में परिणत हो जा सके।

कबीर की रचनाओं का मूल रूप उनके उपलब्ध पाठों में पूर्णतः सुरक्षित नहीं जान पड़ता और, इनके संभवतः अशिक्षित होने तथा इस बात से भी कि इनके समसामयिक धर्मोपदेशक प्रायः किसी न किसी मिश्रित भाषा का प्रयोग किया करते थे, उसके विशुद्ध न होने की ही अधिक संभावना है। फिर भी हम उसमें पुरानी 'हिंदवी', 'पूर्वी हिंदी, आदि के प्रयोग विशेष मात्रा में पाते है और उसपर पछाँही बोलियों का भी प्रभाव लक्षित होता है। इनकी रचनाएँ व्याकरण एव पिंगल के नियमों का यथेष्ट अनुसरण करती नहीं जान पड़तीं और उनमें कई शब्दों के विकृत रूप मिलते हैं। परंतु इनकी रचनाशैली में एक विशिष्ट ओज और चुटीलापन पाया जाता है जा अन्यत्र दुर्लभ है। इसके सिवाय, इनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों एव रूपकादि के कारण, उसमें एक अपूर्व स्पष्टता और सरसता आ जाती है जो इनकी कविसुलभ प्रतिभा की ओर संकेत करती है। कबीर एक ओर जहाँ अपनी गूढ़ और गंभीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में पटु है, वहाँ, दूसरी ओर, ये 'मति का भोरा' व्यक्ति की कटु आलोचना करना भी जानते है।

कबीर का व्यक्तित्व विलक्षण था और उनकी बानियों में भी हमें अधिकतर निरालेपन के ही उदाहरण मिलते है। उनके मत की सार्वभौमिकता का पता इससे चलता है कि कुछ लोग जहाँ उन्हें शांकराद्वैत का समर्थक मानते हैं वहाँ दूसरे परम वैष्णव के रूप मे देखते है; इसी प्रकार, जहाँ किसी को उनपर बौद्ध सिद्धों और नाथपंथियों का प्रभाव लक्षित होता है तो दूसरे उन्हें सूफियों ही नहीं ईसाइयों तक से प्रभावित पाने लगते हैं। उनके मार्ग पर पीछे संतों की एक पृथक् परंपरा चल निकली जिसके अनुसार 'संतमत' की विचारधारा प्रवर्तित हुई और 'संतसाहित्य' का निर्माण भी हुआ, किंतु ऐसे संतों के नामों पर जो विभिन्न पंथ वा संप्रदाय स्थापित हुए उनके द्वारा उन उच्चादर्शों का सम्यक् पालन न हो सका जो कबीर को अभीष्ट थे।

सं०ग्रं०—'आदिग्रंथ'; 'गुरुग्रंथ साहिब' (अमृतसर); 'कबीर-ग्रंथावली' (वाराणसी); 'कबीर बीजक' (बाराबंकी); परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तरी भारत की संतपरंपरा' और 'कबीर साहित्य की परख' (प्रयाग); हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कबीर' (बंबई); ब्रह्मलीन मुनि : 'सद्गुरु श्रीकबीरचरितम्' (बड़ोदा) आदि। (प० च०)

कबीर पंथ कबीर पंथ संत कबीर के नाम पर स्थापित मध्यकालीन भारतीय संप्रदाय है। कबीर ने ही इसका प्रवर्तन किया था, यह विवादास्पद है। कबीरपंथी साहित्य से ज्ञात होता है कि संत कबीर ने चतुर्दिक् अपने विचारों का प्रचार करने के लिये अपने चार प्रमुख शिष्यों—चतुर्भुज, बंके जी, सहते जी और धर्मदास—को भेजा था। प्रथम तीन शिष्यों के संबंध में कोई विवरण प्राप्त नहीं है। धर्मदास के विषय में अवश्य यह सूचना मिलती है कि उन्होंने कबीर पंथ की धर्मदासी अथवा छत्तीसगढ़ी शाखा की स्थापना की थी। इस समय जो अन्य संस्थाएँ दिखाई पड़ती है वे भी कबीर अथवा उनके किसी शिष्य अथवा किसी परवर्ती व्यक्ति के नाम से ही संबद्ध हैं। कबीर के नाम पर ही द्वादश पंथों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें कबीर के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है। कुछ लोग इन द्वादश पंथों को शुद्ध कल्पना मानते हैं।

कबीर पंथ की विभिन्न संस्थाओं के विभाजन के संबंध में दो मत मिलते हैं। एक मत के अनुसार कबीर पंथ की दो प्रमुख शाखाएँ बताई गई हैं। प्रथम शाखा का केंद्र, कबीरचौरा (काशी) है। इसकी एक उपशाखा मगहर में है। दूसरा केंद्र, मध्य प्रदेश के अंतर्गत छत्तीसगढ़ जिले में है, जिसकी स्थापना धर्मदास ने की थी। इसकी भी अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ बताई गई हैं। दूसरे मत के अनुसार कबीर पंथ के नाम से चलनेवाली संस्थाओं का विभाजन इस प्रकार है: (क) स्वतंत्र रूप से स्थापित

कबीरपंथ की शाखाएँ, जिनका संबंध ऐसे व्यक्तियों से जोड़ा जाता है जो कबीर के प्रमुख शिष्यों में से थे—(१) रामकबीर पंथ, (२) फतुहा मठ, (३) बिद्दूपुर मठ, (४) भगताही शाखा, (५) कबीरचौरा (काशी), (६) छत्तीसगढ़ी या धर्मदासी शाखा। (ख) छत्तीसगढ़ी शाखा से संबंध विच्छेद करके पृथक् मठ के रूप में स्थापित शाखाएँ इस प्रकार हैं—(१) कबीरचौरा जगदीशपुरी, (२) हरकेसर मठ, (३) कबीर-निर्णय-मंदिर (बुरहानपुर) तथा (४) लक्ष्मीपुर मठ। शेष प्रमुख शाखाओं में से कुछ ऐसी हैं जिन्हें उपर्युक्त स्वतंत्र शाखाओं में से किसी न किसी की उपशाखा मात्र कह सकते हैं। आचार्य गद्दी, बड़ैया और महादेव मठ, रुसड़ा जैसी संस्थाएँ कबीरपंथी विचारधारा द्वारा प्रभावित कही जा सकती हैं। मध्यकालीन जाति-उपजाति-विकास के अनुसार ही कबीर के नाम से प्रचलित पनिका कबीरपंथियों तथा कबीरवंशियों का ऐसे समूह के रूप में विकास हो गया है जिसे हम जुग्गी जैसी विशिष्ट जाति कह सकते हैं।

गुजरात में प्रचलित रामकबीर पंथ के प्रवर्तक कबीरशिष्य पद्मनाभ तथा पटना जिले में फतुहा मठ के प्रवर्तक तत्वाजीवा अथवा गणेशदास बताए जाते हैं। इसी प्रकार मुजफ्फरपुर जिलांतर्गत कबीरपंथ की बिद्दूपुर मठवाली शाखा की स्थापना कबीर के शिष्य जागूदास ने की थी। बिहार में सारन जिले के अंतर्गत धनौती में स्थापित भगताही शाखा के प्रवर्तक कबीरशिष्य भागोदास वा भगवान गोसाईं कहे जाते हैं। भगताही शाखा में भक्तिभावना ही प्रधान है, न कि वाह्योपचार। सुरतगोपाल द्वारा प्रवर्तित काशीस्थ कबीरचौरा शाखा अन्य शाखाओं से प्राचीन समझी जाती है। लेकिन कुछ लोग इसमें संदेह भी व्यक्त करते हैं। काशी स्थित लहरतारा, बस्ती जिले में स्थित मगहर तथा कबीरवाग (गया) में इसकी उपशाखाएँ बताई जाती हैं। कबीर पंथ की अन्य शाखाओं की तुलना में छत्तीसगढ़ी शाखा अधिक व्यापक है। इस शाखा द्वारा पर्याप्त सांप्रदायिक साहित्य भी निर्मित हुआ है। छत्तीसगढ़ी शाखा की अनेक उपशाखाएँ मांडला, दामाखेड़ा, छतरपुर आदि स्थानों में स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त कबीरपंथ की अनेक अन्य शाखाओं, उपशाखाओं का भी उल्लेख मिलता है।

कबीरपंथी संस्थाओं के अस्तित्व में आ जाने पर उनमें अनेक प्रकार की पौराणिक कथाओं की सी कल्पना करके कबीर को विशेष प्रकार का अलौकिक रूप दे दिया गया। साथ ही, संसार की सृष्टि, विनाश, विभिन्न लोकों को भी कल्पनाएँ कर ली गई हैं। इस प्रकार के कबीरपंथी साहित्य के अधिकांश भाग का, जो पौराणिक कथाओं, कर्मकांड अथवा गोष्ठियों, संवादों आदि से संबद्ध है, निर्माण छत्तीसगढ़ी शाखा के अनुयायियों द्वारा किया गया। इसके अंतर्गत 'सुखनिधान', 'गुरुमाहात्म्य', 'अमरमूल', 'गोरखगोष्ठी', 'अनुरागसागर', 'निरंजनबोध' और 'कबीर मंसूर' जैसी रचनाओं की गणना की जाती है। इस प्रकार के साहित्यनिर्माण द्वारा कबीर का मूल रूप वस्तुतः तिरोहित हो गया और जिस संप्रदायवाद, कर्मकांड, वाह्याडंबर आदि का उन्होंने विरोध किया था, उन सबका विधिवत् प्रचार, प्रसार कबीरपंथी संस्थाओं द्वारा होने लगा।

(रा० श्या० दू०)

कबीला भारत में कबीली जनसंख्या के विषय में स्पष्ट और सुलझे विचारों का अभाव रहा है। 'कबीला' शब्द की परिभाषा के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फलस्वरूप जनगणना रिपोर्टों में भी जहाँ कुछ कबीलों को जातियों की सूची में रखा गया है, बहुत सी नीची जातियों को भी कबीलों में संमिलित कर लिया गया है। इस संबंध में एक जनगणना से दूसरी जनगणना में भी विषमता पाई जाती है। एक जनगणना के अनुसार समस्त भारतीय कबीलों का धर्म 'आत्मावाद' की श्रेणी में आता है किंतु उसकी अगली जनगणना में ही कबीली धर्म की सर्वथा पृथक् श्रेणी बना दी गई है। वास्तव में मूल प्रश्न यह है कि 'कबीला' कहते किसे हैं? इस शब्द की अब तक दी गई परिभाषाओं से अधिक संगत संभवतः नूतन किंतु गुणात्मक परिभाषा है। इस नवीन परि- के अनुसार कबीला निश्चित भौगोलिक सीमा के भीतर वास करने-वाला ऐसा अंतर्विवाही सामाजिक समूह है जिसमें कार्यों का विशिष्टीकरण नहीं पाया जाता। समान भाषा या बोली द्वारा संगठित और कबीलों अधिकारियों द्वारा प्रशासित यह समूह अन्य कबीलों और जातियों से सामाजिक दूरी मानता है किंतु जातिव्यवस्था की भाँति सामाजिक द्वेष जैसी भावना से अछूता है। कबीले की अपनी परंपराएँ, विश्वास एवं रीतियाँ होती हैं और प्रजातीय तथा भौगोलिक संग्रथन से उद्भूत सजातीयता की भावना कबीले के सदस्यों में बाह्य प्रभावों से प्रतिरक्षा को जन्म देती है। कबीला अनुसूचित हो सकता है और नहीं भी। कबीले में पर-संस्कृति-धारण की प्रक्रिया या तो पूर्णरूपेण संपन्न हो चुकी होती है या आंशिक रूप में ही।

प्रजातीय आधार पर भारतीय कबीलों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में मंगोलीय मूल के नागा, कूकी, गारो तथा अन्य असमी कबीले या अल्मोड़ा जिले के भोटिया आदि कबीले आते हैं। दूसरी श्रेणी के अंतर्गत मुंडा, संथाल, कोरवा आदि पुरा-ऑस्ट्रेलीय कबीले और तीसरी श्रेणी में विशुद्ध आर्य मूल के निचले हिमालयवासी खस कबीले या हिंद-आर्य-रक्त की प्रधानता लिए किंतु मिश्रित प्रकार के भील आदि कबीले रखे जा सकते हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भारतीय कबीलों का वर्गीकरण तीन पृथक् भाषापरिवार के समूहों में किया जा सकता है। ये समूह क्रमशः मुंडा, तिब्बती-बर्मी और द्रविड़ भाषापरिवारों के हैं। कुछ कबीले अपनी मूल बोली त्यागकर हिंदी बोलने लगे हैं। कुछ मुंडा कबीले इस श्रेणी में आते हैं। मूल रूप से मुंडा भाषापरिवार की बोली बोलनेवाले गुजरात के भीलों ने भी अपने अधिवासानुसार गुजराती या मराठी अपना ली है। निश्चित भौगोलिक सीमाओं में बसे इन कबीलों के अतिरिक्त नट, भाँटू, साँसी, करवाल और कंजर आदि ऐसे खानाबदोश कबीले हैं जो हाल तक अपराधोपजीवी थे किंतु जिन्हें अब कठोर नियंत्रण और कठिन नियमों से मुक्त कर दिया गया है। सभी श्रेणियों के इन कबीलों की कुल जनसंख्या लगभग तीन करोड़ है किंतु अनेक कबीलों ने जातिनाम और जातिगत व्यवसाय अपना लिए हैं। इसीलिये हाल की जनगणना ने इनकी संख्या लगभग दो करोड़ ठहराई है। पुनर्वास की समस्या को ध्यान में रखते हुए सांस्कृतिक पदानुसार कबीलों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है: १. सांस्कृतिक दृष्टि से ग्राम्य व नगरसमूहों से दूर कबीले, अर्थात् वे जो प्रायः संपर्कविहीन हैं, २. नगरसंस्कृति से प्रभावित वे कबीले जिनमें संपर्कों के फलस्वरूप समस्याओं का बीजारोपण हुआ है, और ३. ग्राम्य तथा नगरसमूहों के संपर्क में आए वे कबीले जिनमें ऐसी समस्याएँ या तो उठी ही नहीं, अथवा सफल पर-संस्कृति-धरण (अकल्चरेशन) के कारण अब नहीं रहीं। सांस्कृतिक संपर्कों के प्रसंग में भारतीय कबीलों को अनुकूलक (अडैप्टिव) और सात्मीकारक (ऐसीमिलेटेड), इन दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। अनुकूलक कबीले तीन प्रकार के हो सकते हैं—सहभोजी, समजीवी और पर-संस्कृति-धारक। सहभोजिता का अर्थ पड़ोसी समूहों के साथ समान आर्थिक कार्यों में भाग लेना है। समजीविता शब्द का प्रयोग कबीलों की आर्थिक और सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता के अर्थ में किया गया है। पर-संस्कृति-धरण का तात्पर्य सांस्कृतिक लक्षणों की एकतरफा स्वीकृति से है, अर्थात् पर-संस्कृति-धारक कबीले वे हैं जो अपने से सभ्य पड़ोसी समूहों के रीति रिवाज ग्रहण करते हैं। इस वर्गीकरण में उन कबीलों की गणना नहीं हुई जो बाह्य संस्कृतियों के संपर्क से अछूते छूट गए हैं। किंतु वास्तविकता यह है कि भारत में सांस्कृतिक संपर्कों का 'शून्य बिंदु' (ज़ीरो प्वाइंट) है ही नहीं। दूसरे शब्दों में, सभी कबीले अपने से अधिक उन्नत संस्कृतियों के संपर्क में आए हैं और परिणामस्वरूप या तो समस्याग्रसित हैं अथवा संपर्क स्थिति से समायोजन स्थापित कर अपेक्षाकृत संतोषप्रद जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अधिकांश भारतीय कबीलों का निवास वनों में है और वे वन्य प्राकृतिक साधनों पर ही निर्भर करते हैं। कोचीन के कदार, त्रावणकोर के मलायांतरम्, मद्रास के पलियान और वायनाद के पनियन ऐसे ही कबीले हैं। कुछ कबीलों की अर्थव्यवस्था खाद्य पदार्थों के संचयन और पिछड़ी कृषि के बीच की है। इन कबीलों में प्रमुख मध्य प्रदेश के कमार और इसी राज्य में मांडला

क्षेत्र के बैगा तथा दक्षिण में बिसन पहाड़ियों के रेड्डी हैं। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के कबीलों पर शासन की वन संबंधी नीतियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। भारतीय कबीलों की तीसरी आर्थिक श्रेणी में देश की अधिकांश कबीली जनसंख्या को रखा जा सकता है। यह श्रेणी उन कबीलियों की है जिनके जीविकोपार्जन का मुख्य साधन कृषि हैं किंतु जिन्होंने वनों की निकटता के कारण संचयन व्यवसाय को दूसरे मुख्य धंधों के रूप में अपना लिया है। उत्तरी-पूर्वी एवं मध्य भारत के प्रायः सभी कबीले इस श्रेणी में आते है।

ब्रिटिश सरकार ने कबीली जनसंख्या के प्रति निर्हस्तक्षेप की नीति अपनाकर उसे अपने भाग्य पर छोड़ दिया था। इसके विपरीत वर्तमान शासन की नीति सक्रिय हस्तक्षेप की है। भारत सरकार कबीलों के प्रति उपादेय और गतिमान नीति अपनाने के लिये वचनबद्ध है। किंतु यह समझ लेना आवश्यक है कि कबीलों का स्तर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न हो जाता है और कुशल नीतिनिर्धारण के पूर्व स्थानीय दशाओं का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। विगत भूलें भविष्य की पथप्रदर्शक होती है। अब तक शासन की ओर से कबीली पुनर्वास जैसे विशाल कार्य के दार्शनिक आधार का स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है और यह तब तक संभव नहीं जब तक भारतीय कबीलों के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त नहीं हो जाती। कबीली कार्यक्रमों में परंपरागत संस्कृति के संरक्षण और सुचारु एवं संगठित रूप से परिवर्तनों के बीजारोपण पर समान रूप से बल दिया जा रहा है। कबीली जनता में नवोदित सामाजिक चेतना और सरकारी प्रयत्नों द्वारा लाभान्वित होने की आकांक्षा भारतीय कबीली समस्याओं के प्रसंग में दो नए दिशासंकेत हैं। कबीलों को उनकी वर्तमान पिछड़ी दशा से उबारकर उन्हें ग्राम्य संस्कृतियों के अनुरूप बनाने का कार्य अत्यंत सतर्कतापूर्वक संपन्न किया जाना चाहिए। यदि प्रगति की योजना इस प्रकार की गई तो भावी भारतीय संस्कृति में जीवनयापन के केवल दो प्रारूप होंगे—ग्राम्य और नागरिक, एवं समाज वैज्ञानिकों का दायित्व यह होगा कि वे इन दो प्रारूपों के बीच की खाई को दृढ़ पुलों द्वारा पाटने का प्रयत्न करें।

ब्रिटिश शासन ने भी समय समय पर आदिवासी जनसंख्या की ओर ध्यान दिया था। कभी कभी सरकार के पास हिंसात्मक विद्रोहों की सूचना पहुँचती थी। ऐसे अधिकांश विद्रोहों का मूल प्रायः तीन कारणों में होता था: (१) कबीली भूमि से कबीलियों का निष्कासन, (२) कबीली प्राकृतिक साधनों का बाहरी लोगों द्वारा उपयोग, और (३) साहूकारों और विदेशी खिलौनों और आभूषणों के विक्रेताओं द्वारा शोषण। शासन की ओर से इन कठिनाइयों को दूर करने की समुचित व्यवस्था नहीं थी और यदि कभी कबीलियों के कष्ट की सुनवाई होती भी थी तो वह किन्हीं उदार और सहानुभूतिपूर्ण शासकों की व्यक्तिगत रुचि के फलस्वरूप। ईसाई मिशनरियों को अपने कार्यकलापों में शासन का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता था और शासन की ओर से उन्हें अनेक अधिकार भी मिले हुए थे। इस प्रकार कबीली समस्या से सरकार चितामुक्त थी और मिशनरी मनमाने हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण कर रहे थे। किंतु जब पहाड़िया लोगों ने हिंदू जमींदारों के विरुद्ध विद्रोह का नारा लगाया तो ब्रिटिश सरकार ने शांतिस्थापना के लिये अपनी सेना भेजी। विद्रोही नेताओं को सनदें देकर प्रतिहिंसा की ज्वाला शांत की गई। शांतिस्थापना के हित में पहाड़िया क्षेत्र के चारों ओर अवकाशप्राप्त और सामर्थ्यहीन सैनिकों को बसने के लिये प्रोत्साहित किया गया। कालांतर से व्यवहार और दंडविधियाँ भी कबीली नेताओं के अधिकार क्षेत्र में आ गई। न्याय और अनुशासन में सुधार हुआ और शासन ने कबीले को विशेष व्यवहार के योग्य समझा। फलस्वरूप सन् १७८२ में राजमहल पहाड़ियाँ साधारण न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से निकाल ली गईं। सन् १७९६ में पहाड़िया क्षेत्र का नया नामकरण 'दमानीको' हुआ और इसके प्रशासन के लिये नई न्यायविधि स्वीकृत हुई। यह संपूर्ण क्षेत्र एक समहर्ता के प्रशासनाधिकार में आ गया जिसके शासन में भारत के अन्य भागों में प्रचलित विधि से कोई संबंध नहीं था। इसी समय छोटा नागपुर और संथाल परगना में भी असंतोष की आग सुलग रही थी। जमींदारों ने कई बार शासन से सशस्त्र हस्तक्षेप की माँग की थी। सन् १८८६ में विख्यात संथाल विद्रोह भड़क उठा। संथाल परगना को एक पृथक् जिला बना दिया गया और सन् १८५५ के ३८वें विनियम के अनुसार यह 'अविनियमित' क्षेत्र घोषित कर दिया गया। फ़ोर्ट विलियम, फ़ोर्ट सेंट जार्ज और बंबई की प्रबंधकारिणी परिषदों के तत्वावधान में अनेक नए अधिनियम पारित हुए। सन् १८६१ के इंडिया काउंसिल ऐक्ट के अनुसार स्थानीय प्राधिकारों द्वारा बनाए गए 'अविनियमित' संबंधी नियमों को मान्यता दे दी गई। सन् १८७० के भारत सरकार अधिनियम द्वारा सपरिषद् महाशासक को ऐसे क्षेत्रों के लिये नियम बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ जहाँ ब्रिटिश भारत के अन्य भागों मे प्रचलित व्यवहार तथा दंड प्रक्रिया सीमित रूप में लागू होती थी। सन् १८७४ में भारतीय विधान मंडल में स्वीकृत १४वें जिला अनुसूचित अधिनियम द्वारा स्थानीय शासन को अधिनियम में निर्दिष्ट क्षेत्रों मे विधि लागू करने के नए अधिकार प्राप्त हुए। स्थानीय शासनको अधिकार मिला कि वह उन कानूनों का स्पष्टीकरण करे जो ब्रिटिश भारत के अन्य भागों की भाँति इन क्षेत्रों में लागू नही होते थे। यदि आवश्यकता पड़ने पर संशोधित अथवा सीमित रूप में ब्रिटिश भारत के अन्य भागों मे प्रचलित कोई कानून इन क्षेत्रों में लागू किया गया तो उसकी अधिसूचना केंद्र को देना अनिवार्य था। किंतु इस विशिष्ट शासनव्यवस्था ने भी कबीली कठिनाइयों को हल नही किया। पहाड़ी कबीलों में भू-स्वामित्व-हरण रोकने के निमित्त मद्रास सरकार ने सन् १९१७ में एक कानून बनाकर कबीलियों को उपलब्ध उधार पर व्याज की दर निश्चित करने का प्रयत्न किया। सन् १८७६ में ही संथाल परगना में व्यक्तिगत रूप से अथवा अदालतों के आदेश द्वारा भूमि का विक्रय और हस्तांतरण अवैध घोषित कर दिया गया था। मोंटफ़ोर्ड समिति ने १९१९ के अधिनियम की ५२वी धारा में कबीलों के प्रति शासन की स्थिति को स्वीकार कर लिया। इस धारा के अनुसार पिछड़े क्षेत्रों का दो भागों में विभाजन किया गया—(१) पूर्णतः अपवर्जित क्षेत्र, और (२) अंशतः अपवर्जित क्षेत्र। सन् १९३५ में रक्षात्मक उपायों द्वारा कबीली जनसंख्या में सुधार की चेष्टा की गई। नवीन भारतीय संविधान में कबीलों के प्रति शासन के रक्षणात्मक उत्तरदायित्व पर और अधिक जोर दिया गया है। उनकी स्थिति में सुधार के लिये नए उपाय ढूँढ़े गए हैं और उनके उत्थान की दिशा में शासन अभूतपूर्व रूप से क्रियाशील है। इन क्षेत्रों में शिक्षा, सामुदायिक विकास, सामाजिक कल्याण तथा पारिवारिक स्वच्छता आदि के लिये समुचित प्रबंध हो रहे है। कबीलों के प्रति विशेष व्यवहार की नीति के अतिरिक्त शासन ने राजकीय सेवाओं में भी कबीलियों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित कर दिए हैं। इस कार्य के लिये अनुसूचित कबीलों एवं जातियों का विभाग बनाया गया है जिसकी अध्यक्षता एक आयुक्त करता है। यह विभाग उन समस्याओं से जूझ रहा है जो कबीलियों को त्रस्त किए हुए हैं। कबीली पुनर्वास के इन प्रयत्नों की सफलता या असफलता के विषय में इतना शीघ्र कुछ भी कहना संभव नहीं। किंतु इसमें संदेह नहीं कि यह प्रयत्न कबीलों की वर्तमान दशा में सुधार और उन्हें समझने की इच्छा से प्रेरित हुए है। (धी० ना० म०)

कमकर (कामगार) प्रतिकर वह क्षतिपूर्ति जो श्रमिक अथवा कमकर (कामगार) को उसके अंगभंग आदि हानियों के बदले मिला करती है। पहले यह पूर्ति श्रमिकों को अप्राप्य थी, पर आज विधितः यह स्वीकार कर ली गई है। वर्तमान समय में संसार के सभी देशों में औद्योगीकरण का प्रचार बड़ी तेजी से हो रहा है। उत्पादन प्रणाली में मशीनों तथा यांत्रिक शक्तियों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। आधुनिक औद्योगिक प्रक्रियाएँ बड़ी जटिल होती जा रही हैं। तापक्रम, स्वच्छ वायु, रोशनी, आर्द्रता आदि का उचित प्रबंध न रहने से कारखाने के अंदर काम करना कष्टदायक होता है। औद्योगिक दुर्घटनाएँ मशीनउत्पादन-प्रणाली की विशेष परिणाम हैं। यह ठीक है कि 'अपनी सुरक्षा पहले' (सेफ़्टी फ़र्स्ट) जैसे नियमोंवाले इश्तहार लगाकर, अथवा आग बुझाने के साधन आदि रखकर सुरक्षा का प्रयत्न किया जाता है, तथापि सुरक्षा के पर्याप्त साधनों के अभाव और खतरनाक मशीनों के प्रयोग में वृद्धि के कारण सभी औद्योगिक देशों में ऐसी दुर्घटनाओं की संख्या बढ़ती ही जा रही है। इन दुर्घटनाओं के कारणों में मशीनों का तेजी से चलना, श्रमिकों की अकुशलता तथा जटिल मशीनों को चलाने की अनभिज्ञता, उनकी लापर

वाही, काम करते करते थक जाना, या आवश्यक सावधानी न वरतना, आदि गिनाए जा सकते हैं। वास्तव में दुर्घटनाओं की संभावना सदैव वनी रहती है क्योंकि एक ओर उत्पादन की गति दिन पर दिन तीव्र होती जा रही है और दूसरी ओर मशीनों का आकार और भी विशाल तथा उनकी रचना और भी जटिल होती जा रही है।

दुर्घटना होने का अर्थ है—आकस्मिक मृत्यु या स्थायी अथवा अस्थायी पंगुता। पंगुता के कारण श्रमिक की उपार्जन शक्ति तो समाप्त हो ही जाती है, साथ ही कुशल श्रमिक की आकस्मिक मृत्यु या उसका आजीवन पंगु रह जाना उद्योग और राष्ट्र के लिये भी हानिकर है। सवसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ऐसी आकस्मिक विपत्तियों के समय उसके आश्रितों का क्या होगा? उनकी देखभाल कौन करेगा और उनके व्यय का क्या प्रवंध होगा? क्या समाज की कोई व्यवस्था इन प्रश्नों का समाधान कर सकती है कि उसके आश्रितों को लालन पालन में कम से कम उस समय तक कोई कष्ट न हो जव तक उसके आश्रित योग्य होकर कमाने लायक न हो जायँ। शारीरिक क्षतियों के अलावा कभी कभी कुछ उद्योग धंधों में उनसे संवंधित रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे शीशे के कारखानों में काम करनेवालों को रक्तपित्त और रुई के कारखानों में काम करनेवालों को दमा का रोग हो जाता है। ऐसे रोगों का एक उल्लेख भारतीय कमकर प्रतिकर (श्रमिक क्षतिपूर्ति) अधिनियम की तीसरी सूची में किया गया है। ऐसी अवस्था में इस प्रकार की योजनाओं की वहुत आवश्यकता है जो मिल मालिकों को ऐसी व्यवस्था करने के लिये वाध्य करें जिससे इस प्रकार की दुर्घटनाएँ कम से कम हों और दुर्घटना होने पर क्षतिपूर्ति हो जाय। इसी आवश्यकता का अनुभव करके संसार के सभी उन्नतिशील देशों ने इन परिस्थितियों के लिये वहुत से उपाय निकाले। दुर्घटनाओं, वीमारी, सामयिक असमर्थता, मृत्यु या आकस्मिक विपत्ति के समय श्रमिकों के आश्रितों की देखभाल की योजना को संयुक्त रूप से 'कमकर प्रतिकर' (वर्कमेंस कांपेनसेशन) योजना कहा जाता है। वर्तमान काल में सभी प्रगतिशील देशों में श्रमिकों के कल्याण के लिये वहुत से कानून वनाए गए हैं। इस प्रकार की औद्योगिक दुर्घटनाओं की क्षतिपूर्ति प्रत्येक देश के श्रमविधान का आवश्यक अंग है तथा अनेक देशों में सामाजिक वीमा योजना के अंतर्गत संमिलित कर दी गई है। इस दिशा में अंतरराष्ट्रीय श्रमिक संघ के प्रयत्न सराहनीय हैं। इस संघ ने वहुत से ऐसे कनवेंशन पारित किए हैं जिनसे प्रतिकर से संवंध रखनेवाले श्रमविधानों के सिद्धांत निश्चित होते हैं।

आर्थिक तथा मानवीय दोनों दृष्टियों से प्रतिकर प्रदान करने के सिद्धांत का समर्थन किया जा सकता है। इससे श्रमिकों में सावधानी तथा सुरक्षा की भावना पैदा होती है और उनकी कार्यशक्ति में वृद्धि होती है। साथ ही औद्योगिक कार्य का अनाकर्षण कम होता है और कार्य के प्रति उनकी रुचि वढ़ती है। इस प्रकार की योजनाएँ मालिकों का भी ध्यान सुरक्षा के प्रति आकर्षित करती हैं। इस व्यवस्था के कारण ही वे श्रमिकों को चिकित्सा आदि की उचित सुविधाएँ प्रदान करते हैं। इस व्यवस्था के द्वारा मानव व्यक्तित्व के मूल्य को भी स्वीकृति मिलती है, इसी आधार पर इस धारणा का विकास होता है कि श्रमिक वाजार की कोई वस्तु नहीं है जिसे जव चाहे खरीदा जा सके। प्रत्युत मूलतः वह ऐसा प्राणी है जिसके सुख, दुःख कष्ट इत्यादि की वे ही सीमाएँ हैं जो किसी भी अन्य व्यक्ति की। अव यह भी सैद्धांतिक रूप से मान लिया गया है कि कार्य चाहे वड़ा हो या छोटा, व्यवसाय चाहे खतरनाक हो या न हो, चाहे औद्योगिक, वाणिज्य संवंधी हो या कृषि संवंधी और चाहे श्रमिक औद्योगिक दुर्घटना का शिकार हो या व्यवसायजनित वीमारी का—सभी अवस्थाओं में प्रतिकर का अधिकार वैसा ही वना रहता है।

प्रतिकर के रूप में दी जानेवाली धनराशि साधारणतः कमकर को लगी हुई चोट के स्वभाव तथा उसकी औसत मासिक मजदूरी पर निर्भर करती है। इस उद्देश्य के लिये क्षतियों को तीन भागों में वाँटा जाता है: (१) ऐसी चोट जिससे आकस्मिक मृत्यु हो जाय, (२) स्थायी और पूर्ण अथवा आंशिक पंगुता उत्पन्न करनेवाली चोट, (३) अस्थायी पंगुतावाले आघात। भारत में ऐसा प्रतिकर अधिनियम सर्वप्रथम १९२३ में (इंडियन वर्कमेंस कांपेनसेशन ऐक्ट) पारित हुआ, तदुपरांत १९२६, १९२९, और १९३१ में शाही कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप १९३४, १९३६, १९४२, १९४६ और १९४८ में संशोधन होते रहे जिससे उसके क्षेत्र में काफी विस्तार हो गया है। किसी वयस्क की मृत्यु पर अधिनियम में दी हुई दरें निम्नतम वेतनवर्ग (अर्थात् दस रुपया प्रति मास से कम) के व्यक्तियों पर ५०० रु० से लेकर उच्चतम वेतन वर्ग (अर्थात् ३०० रु० प्रति मास से अधिक) वाले व्यक्तियों पर ४,५०० रु० तक हैं। किसी व्यक्ति की स्थायी और पूर्ण पंगुता पर इस प्रकार के प्रतिकर की दर वेतन के अनुसार ७०० रु० से लेकर ६,२०० रु० तक है। अस्थायी पंगुता पर श्रमिकों को उनके वेतन के अनुसार उनके मासिक वेतन की आधी राशि दी जाती है। ये दरें अल्पवयस्क तथा वयस्क दोनों के लिये समान हैं। हर्ष की वात है कि भारत में अधिकतर मिलमालिकों ने इन नियमों को कार्यान्वित करने में अपना सहयोग दिया है। इंग्लैंड में प्रथम कमकर प्रतिकर अधिनियम १९०६ में पारित किया गया जिसमें मिलमालिकों से क्षति संवंधी भुगतान कराने का प्रवंध किया गया। हर्जाना उस व्यक्ति को दिया जाता है जो अपने काम के दौरान में किसी निर्दिष्ट वीमारी या दुर्घटना के कारण अपनी साधारण मजदूरी कमाने में असमर्थ है। अमरीका में इस प्रकार की सुविधाओं के लिये वड़ी व्यापक व्यवस्था है। प्रत्येक प्लांट के 'वीमारी और दुर्घटना वीमा' द्वारा उसे नकद भुगतान का लाभ मिलेगा। अस्पताल की देखभाल या आपरेशन की आवश्यकता होने पर 'अस्पताल वीमा' से सहायता मिलेगी तथा व्यावसायिक रोग से ग्रस्त हो जाने पर उसे राज्य द्वारा मालिकों के चंदे से स्थापित कोष से सहायता मिलेगी। चोट यदि स्थायी रूप से पंगु वना देती है तो 'व्यावसायिक पुनर्वास कोष' (वोकेशनल रिहैविलिटेशनल फ़ंड) तथा संघीय सरकार उसे ओषधि संवंधी, शल्य संवंधी और 'साइकियाट्रिक' चिकित्सा की सुविधा देगी और उसे नए काम के लिये प्रशिक्षित किया जायगा। इसके अतिरिक्त संयुक्तराष्ट्र में वहुत सी व्यक्तिगत समाजकल्याण एजेंसियाँ हैं जो परिवारों पर मुसीवत आने पर सहायता देती हैं। 'सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाएँ' भी असमर्थता की रोकथाम की प्रधान साधन हैं। वास्तव में ऐसी सुविधाओं की अधिकाधिक उपलव्धि से ही राज्य सचमुच जनहितकर राज्य (वेलफ़ेयर स्टेट) वन सकता है।

ऐसी व्यापक व्यवस्थाओं के वावजूद दुर्घटनाएँ हो ही जाती हैं। मूलतः समाज का प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि ऐसी दुर्घटनाएँ न्यूनतम हों। इसके लिये वचाव संवंधी इश्तहारों का अधिक से अधिक प्रचार, मशीनों की आड़, रक्षात्मक पोशाकों के प्रवंध इत्यादि की आवश्यकता है। नए तथा अनभिज्ञ श्रमिकों को रक्षा के उपाय भली प्रकार समझा देने चाहिए। और यदि दुर्घटनाएँ हो ही जायँ तो क्षतिपूर्ति की व्यवस्था शीघ्र से शीघ्र होनी चाहिए, अन्यथा इसका महत्व समाप्त हो जाता है। सभी प्रकार की दुर्घटनाओं की सूचना तत्काल उच्चाधिकारियों को दे देनी चाहिए। प्रशासनात्मक कार्यवाही का यथासंभव सरल होना तथा क्षतिपूर्ति के मामलों का शीघ्र ही निपटारा हो जाना उचित है। (भू० कु० मु०)

कमरहाटी चौवीस परगना, पश्चिमी वंगाल की वैरकपुर तहसील का एक प्रमुख नगर है। यह हुगली नदी के वाएँ किनारे पर कलकत्ता से लगभग १२ मील उत्तर स्थित है (स्थिति २२°४०' उ० अ० तथा ८८°२३' पू० दे०)। इस नगर की जनसंख्या १९६१ में १,२५,४५७ थी।

सन् १८९८ ई० तक यह नगर वड़नगर नगरपालिका द्वारा शासित होता था, किंतु वाद में इसकी एक अलग नगरपालिका वना दी गई। इस नगर में तीन मंदिर, एक काली का, दूसरा कृष्ण का तथा तीसरा महादेव का, विशेष दर्शनीय है। यहाँ अनेक छोटे स्कूल, एक कालेज एवं औषधालय भी हैं। (व० प्र० रा०)

कमल भारत का सवसे प्रसिद्ध फूल है। संस्कृत में इसके नाम हैं—कमल, पद्म, पंकज, पंकरुह, सरसिज, सरोज, सरोरुह, सरसीरुह, जलज, जलजात, नीरज, वारिज, अंभोरुह, अंवुज, अंभोज, अव्ज, अरविंद, नलिन, उत्पल, पुंडरीक, तामरस, इंदीवर, कुवलय, वनज आदि आदि। फारसी में कमल को नीलोफ़र कहते हैं और अंग्रेजी में इंडियन लोटस या सैक्रेड लोटस,

चाइनीज वाटर-लिली, ईजिप्शियन या पाइथागोरियन वीन। इसका वनस्पति वैज्ञानिक लैटिन नाम नीलंबियन न्यूसिफ़ेरा (Nelumbian nucifera) है।

कमल का वृक्ष (कमलिनी, नलिनी, पद्मिनी) पानी में ही उत्पन्न होता है और भारत के सभी उष्ण भागों में तथा ईरान से लेकर आस्ट्रेलिया तक पाया जाता है। कमल का फूल सफ़ेद या गुलाबी रंग का होता है और पत्ते लगभग गोल, ढाल जैसे, होते हैं। पत्तों की लंबी डंडियों और नसों से एक तरह का रेशा निकाला जाता है जिससे मंदिरों के दीपों की वत्तियाँ बनाई जाती हैं। कहते हैं, इस रेशे से तैयार किया हुआ कपड़ा पहनने से अनेक रोग दूर हो जाते हैं। कमल के तने लंबे, सीधे और खोखले होते हैं तथा पानी के नीचे कीचड़ में चारों ओर फैलते जाते हैं। तनों की गाँठों पर से जड़ें निकलती हैं।

कमल के पौधे के प्रत्येक भाग के अलग अलग नाम हैं और उसका प्रत्येक भाग चिकित्सा में उपयोगी है—अनेक आयुर्वेदिक, ऐलोपैथिक और यूनानी ओषधियाँ कमल के भिन्न भिन्न भागों से बनाई जाती हैं। चीन और मलाया के निवासी भी कमल का ओषधि के रूप में उपयोग करते हैं।

कमल के फूलों का विशेष उपयोग पूजा और शृंगार में होता है। इसके पत्तों को पत्तल के स्थान पर काम में लाया जाता है। बीजों का उपयोग अनेक ओषधियों में होता है और उन्हें भूनकर मखाने बनाए जाते हैं। तनों (मृणाल, बिस, भिस, भसींडा) से अत्यंत स्वादिष्ट शाक बनता है।

भारत की पौराणिक गाथाओं में कमल का विशेष स्थान है। पुराणों में ब्रह्मा को विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल से उत्पन्न बताया गया है और लक्ष्मी को पद्मा, कमला और कमलासना कहा गया है। चतुर्भुज विष्णु को शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाला माना जाता है। भारतीय मंदिरों में स्थान स्थान पर कमल के चित्र अथवा संकेत पाए जाते हैं। भगवान् बुद्ध की जितनी मूर्तियाँ मिली हैं, प्रायः सभी में उन्हें कमल पर आसीन दिखाया गया है। मिस्र देश की पुस्तकों और मंदिरों की चित्रकारी में भी कमल का प्रमुख स्थान है। कुछ विद्वानों की राय है कि कमल मिस्र से ही भारत में आया।

भारतीय कविता में कमल का निर्देश और वर्णन बड़ी प्रचुरता से पाया जाता है। सुंदर मुख की, हाथों की और पैरों की उपमा लाल कमल के फूल से और आँख की उपमा नील-कमल-दल से दी जाती है। कवियों का यह भी विश्वास है कि कमल सूर्योदय होने पर खिलता है और सूर्यास्त होने पर मुँद जाता है। कमल के तने (मृणाल, बिस) का वर्णन हंसों और हाथियों के प्रिय भोजन के रूप में किया गया है। कमल के पत्तों से बने हुए पंखे तथा मृणालखंड विरहिणी स्त्रियों की संतापशांति के साधन वर्णित किए गए हैं। कामशास्त्र में स्त्रियों का विभाजन चार वर्गों में किया गया है जिनमें सर्वश्रेष्ठ वर्ग पद्मिनी नाम से अभिहित है। (मो० सं०)

उद्यान में कमल—यदि उद्यान में कमल लगाने की इच्छा हो तो सबसे अधिक संतोषजनक रीति यह है कि सीमेंट की बावली बनाई जाय। प्रबलित (reinforced) कंक्रीट, या प्रबलित ईंट और सीमेंट, से पेंदा बनाया जाय। इसमें लंबाई और चौड़ाई दोनों दिशा में लोहे की छड़ें रहें जिसमें इसके चटखने का डर न रहे। दीवारें भी प्रबलित बनाई जायँ। तीन फुट गहरी बावली से काम चल जायगा। लंबाई, चौड़ाई जितनी ही अधिक हो उतना ही अच्छा होगा। प्रत्येक पौधे को लगभग १०० वर्ग फुट स्थान चाहिए। इसलिये १०० वर्ग फुट से छोटी बावली बेकार है। बावली की पेंदी में पानी की निकासी के लिये छेद रहें तो अच्छा है जिसमें समय समय पर बावली खाली करके साफ की जा सके। तब इस छेद से नीची भूमि तक पनाली भी चाहिए।

बावली की पेंदी में ६ से १२ इंच तक मिट्टी की तह बिछा दी जाय और थोड़ा बहुत पीट दिया जाय। इस मिट्टी में सड़े गोबर की खाद मिली हो। मिट्टी के ऊपर एक इंच मोटी बालू डाल दी जाय। यदि बावली बड़ी हो तो पेंदी पर सर्वत्र मिट्टी डालने के बदले १२ इंच गहरे लकड़ी के बड़े बड़े बक्सों का प्रयोग किया जा सकता है। तब केवल बक्सों में मिट्टी डालना पर्याप्त होगा। इससे लाभ यह होता है कि सूखी पत्ती दूर करने, या फूल तोड़ने के लिये, जब किसी को बावली में घुसना पड़ता है तब पानी गंदा नहीं होता और इसलिये पत्तियों पर मिट्टी नहीं चढ़ने पाती। कमल के बीज को पेंदी की मिट्टी में, मिट्टी के पृष्ठ से दो तीन इंच नीचे, दबा देना चाहिए। वसंत ऋतु के आरंभ में ऐसा करना अच्छा होगा। कहीं से उगता पौधा जड़ सहित ले लिया जाय तो और अच्छा। बावली सदा स्वच्छ जल से भरी रहे।

नई बनी बावली को कई बार पानी से भरकर और प्रत्येक बार कुछ दिनों के बाद खाली करके स्वच्छ कर देना अच्छा है, क्योंकि आरंभ में पानी में कुछ चूना उतर आता है जो पौधों के लिये हानिकारक होता है। पेंदी की मिट्टी भी चार, छह महीने पहले से डाल दी जाय और पानी भर दिया जाय। पानी पहले हरा, फिर स्वच्छ हो जायगा। बावली में नदी का, अथवा वर्षा का, या मीठे कुएँ का जल भरा जाय। शहरों के बंबे के जल में बहुधा क्लोरीन इतनी मात्रा में रहती है कि पौधे उसमें पनपते नहीं। बावली ऐसे स्थान में रहनी चाहिए कि उसपर बराबर धूप पड़ सके। छाँह में कमल के पौधे स्वस्थ नहीं रहते। (भ० दा० व०)

कमला द्र० 'लक्ष्मी'।

कमला नेहरू द्र० 'नेहरू, जवाहरलाल'।

कमाल अतातुर्क मुस्तफ़ा कमाल पाशा को आधुनिक तुर्की का निर्माता कहा जाता है। उनका जन्म १८८१ में सलोनिका में एक किसान परिवार में हुआ। ११ साल की उम्र में ही वह इतने दुर्दांत मान लिए गए थे कि उन्हें साधारण विद्यालय से निकाल देना पड़ा और वह सलोनिका में सैनिक विद्यालय के विद्यार्थी हो गए। वहाँ भी उनका वही स्वभाव बना रहा। पर उन्हें सैनिक विद्या में दिलचस्पी रही।

१७ साल की उम्र में मोनास्तीर के उच्च सैनिक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें सब-लेफ़्टिनेंट का पद देकर कुस्तुंतुनिया के स्टाफ़ कालेज में भेज दिया गया।

वहाँ वह अध्ययन के साथ साथ बुरी संगत में घूमते रहे। कुछ काल तक उद्दंड जीवन बिताने के बाद वह 'वतन' नामक एक गुप्त क्रांतिकारी दल के सदस्य और थोड़े ही दिनों में नेता बन गए। 'वतन' का उद्देश्य एक तरफ सुल्तान की तानाशाही और दूसरी तरफ विदेशियों के षड्यंत्रों को मिटाना था। एक दिन दल की बैठक हो रही थी कि एक गुप्तचर ने खबर दे दी और सबके सब षड्यंत्रकारी अफसर गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गए। प्रचलित कानून के अनुसार उन्हें मृत्युदंड दिया जा सकता था, पर दुर्बलचित्त सुल्तान को भय था कि कहीं ऐसा करने पर देश में विद्रोह न भड़क उठे, अतः उसने सबको क्षमादान करने का निश्चय किया।

इस प्रकार कमाल छूट गए और द्रूज जाति के विद्रोह को दबाने के लिये दमिश्क भेजे गए। वहाँ कमाल ने अच्छा काम किया, पर कुस्तुंतुनिया लौटते ही उन्होंने 'वतन' दल का पुनरारंभ कर दिया। इस बीच उन्हें यह ज्ञात हुआ कि मकदूनिया में सुल्तान के विरुद्ध खुला विद्रोह होनेवाला है। इसपर कमाल ने छुट्टी ले ली और वह जाफ़ा, मिस्र, एथेंस होते हुए वेश बदलकर विद्रोह के केंद्र सलोनिका पहुँचे। पर वहाँ वह पहचान लिए गए। फिर वह ग्रीस होते हुए जाफ़ा भागे। पर तब तक उनकी गिरफ्तारी का आदेश वहाँ पहुँच चुका था। अहमद बे नामक एक अफसर पर कमाल को पकड़ने का भार था,, पर अहमद स्वयं वतन का सदस्य था, इसलिये उसने कमाल को गिरफ्तार करने के बजाय उन्हें गाजा मोर्चे पर भेज दिया और यह रिपोर्ट भेज दी कि वह छुट्टी पर गए ही नहीं थे।

यद्यपि कमाल सलोनिका में बहुत थोड़े समय तक रह पाए थे, फिर भी वह समझ गए थे कि उसे ही विद्रोह का केंद्र बनना है, इसलिये बड़े प्रयत्नों के बाद १९०८ में उन्होंने अपना स्थानांतरण वहाँ करा लिया।

वहाँ अनवर के नेतृत्व में दो साल पहले ही 'एकता और प्रगति समिति' नाम से एक क्रांतिकारी दल की स्थापना हो चुकी थी। कमाल फौरन इसके सदस्य बन गए, पर नेताओं ने उनकी कद्र नहीं की। फिर भी समिति

काम करती रही। इस दल के एक नेता नियाज़ी ने केवल कुछ सौ आदमियों को लेकर तुर्की सरकार के विरुद्ध विद्रोह बोल दिया। थी तो यह बड़ी मूर्खता की बात, पर देश तैयार था, इसलिये जो सेना उससे लड़ने के लिये भेजी गई, वह भी उससे जा मिली। इस प्रकार देश में अनवर का जय-जयकार हो गया। अब यह संमिलित सेना राजधानी पर आक्रमण करने की तैयारी कर रही थी। सुल्तान ने इन्हीं दिनों कुछ शासनसुधार भी किए। फिर भी विद्रोह की शक्तियाँ काम करती रहीं, पर जब विद्रोह सफल हो चुका तब सुल्तान अब्दुल हमीद ने सेना के कुछ लोगों को यथेष्ट घूस देकर मिला लिया, जिससे सैनिकों ने विद्रोह करके अपने अफसरों को मार डाला और फिर एक बार इस्लाम, सुल्तान और खलीफ़ा की जय के नारे बुलंद हुए।

इन दिनों अनवर बर्लिन में थे। वह जल्दी ही लौटे और उन्होंने अब्दुल हमीद को सिंहासनच्युत करके प्रतिक्रियावादियों के बीसियों नेताओं को फाँसी पर चढ़ा दिया और क्रांतिकारी समिति के हाथ में शक्ति आ गई। अब्दुल हमीद का भांजा सिंहासन पर नाममात्र के लिये बिठाया गया।

अब कमाल अनवर के विरुद्ध षड्यंत्र करते रहे क्योंकि उनके विचार से अनवर अव्यावहारिक व्यक्ति थे, आदर्शवादी अधिक थे। अनवर ने इस समय होनेवाले विदेशी आक्रमणों को भी प्रतिहत किया और इससे उनकी ख्याति और बढ़ी।

इसके बाद अनवर ने अपने सर्व इस्लामी स्वप्न को सत्य करने के लिये कार्य आरंभ किया और उन्होंने इसके लिये सबसे पहला काम यह किया कि तुर्की सेना को संगठित करने का भार एक जर्मन जनरल को दिया। कमाल ने इसके विरुद्ध आंदोलन किया कि यह तो तुर्की जाति का अपमान है। इसपर कमाल सैनिक दूत बनाकर सोफ़िया भेज दिए गए।

इसी बीच महायुद्ध छिड़ गया। इसमें अनवर सफल नहीं हो सके, पर कमाल ने एक युद्ध में कुस्तुंतुनिया पर अधिकार करने की ब्रिटिश चाल को व्यर्थ कर दिया और इसके बाद उनकी जीत पर जीत होती चली गई। फिर भी महायुद्ध में तुर्की हार गया। कमाल दिन रात परिश्रम करके विदेशियों के विरुद्ध आंदोलन करते रहे। १९२० में सेव्र की संधि की घोषणा हुई पर इसकी शर्तें इतनी खराब थीं कि कमाल ने फौरन ही एक सेना तैयार कर कुस्तंतुनिया पर आक्रमण की तैयारी की। इसी बीच ग्रीस ने तुर्की पर हमला कर दिया और स्मरना में सेना उतार दी जो कमाल के प्रधान केंद्र अंगारा की तरफ बढ़ने लगी। अब कमाल के लिये बड़ी समस्या पैदा हो गई, क्योंकि इस युद्ध में यदि वे हार जाते तो आगे कोई संभावना न रहती। उन्होंने बड़ी तैयारी के साथ युद्ध किया और धीरे धीरे ग्रीक सेना को पीछे हटना पड़ा।

इस बीच फ्रांस और रूस ने भी कमाल को गुप्त रूप से सहायता देना शुरू किया। थोड़े दिनों में ही ग्रीक निकाल बाहर किए गए। ग्रीकों को भगाने के बाद ही अंग्रेजों के हाथ से बाकी हिस्से को निकालने का प्रश्न था। देश उनके साथ था, इसके अतिरिक्त ब्रिटेन अब लड़ने के लिये तैयार नहीं था। इस कारण यह समस्या भी सुलझ गई।

कमाल ने देश को प्रजातंत्र घोषित किया और स्वयं प्रथम राष्ट्रपति बने। अब राज्य लगभग निष्कंटक हो चुका था, पर मुल्लाओं की ओर से उनका विरोध हो रहा था। इसपर कमाल ने सरकारी अखबारों में इस्लाम के विरुद्ध प्रचार शुरू किया। अब तो धार्मिक नेताओं ने उनके विरुद्ध फतवे दिए और यह कहा कि कमाल ने अंगोरा में स्त्रियों को पर्दे से निकाला है और देश में आधुनिक नृत्य का प्रचार किया है, जिसमें पुरुष स्त्रियों से सटकर नाचते हैं, इसका अंत होना चाहिए। हर मस्जिद से यह आवाज उठाई गई। तब कमाल ने १९२४ के मार्च में खिलाफत प्रथा का अंत करते हुए और तुर्की को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित करते हुए एक विधेयक रखा। अधिकांश संसद्सदस्यों ने इसका विरोध किया, पर कमाल ने उन्हें धमकाया। इसपर विधेयक पारित हो गया।

पर भीतर भीतर मुल्लाओं के विद्रोह की आग सुलगती रही। कमाल के कई भूतपूर्व साथी मुल्लाओं के साथ मिल गए थे। इन लोगों ने विदेशी पूंजीपतियों से धन भी लिया था। कमाल ने एक दिन इनके मुख्य नेताओं को गिरफ्तार कर फाँसी पर चढ़ा दिया। कमाल ने देखा कि केवल फाँसी पर चढ़ाने से काम नहीं चलेगा, देश को आधुनिक रूप से शिक्षित करना है तथा पुराने रीति रिवाजों को ही नहीं, पहनावे आदि को भी समाप्त करना है।

कमाल ने पहला हमला तुर्की टोपी पर किया। इसपर विद्रोह हुए, पर कमाल ने सेना भेज दी। इसके बाद इन्होंने इस्लामी कानूनों को हटाकर उनके स्थान पर एक नई संहिता स्थापित की जिसमें स्विट्ज़रलैंड, जर्मनी और इटली की सब अच्छी बातें शामिल थीं। बहुविवाह गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। इसके साथ ही पतियों से यह कहा गया कि वे अपनी पत्नियों के साथ ढोरों की तरह व्यवहार न करके बराबरी का बर्ताव रखें। प्रत्येक व्यक्ति को वोट का अधिकार दिया गया। सेवाओं में घूस लेना निषिद्ध कर दिया गया और घूसखोरों को बहुत कड़ी सजाएँ दी गई। पर्दा उठा दिया गया और पुरुष पुराने ढंग के परिच्छद छोड़कर सूट पहनने लगे।

इससे भी बड़ा सुधार यह था कि अरबी लिपि को हटाकर रोमन लिपि की स्थापना की गई। कमाल स्वयं सड़कों पर जाकर रोमन वर्णमाला पढ़ाते रहे।

इसके साथ ही कमाल ने तुर्की सेना को अत्यंत आधुनिक ढंग से संगठित किया। इस प्रकार तुर्क जाति उनके कारण आधुनिक जाति बनी। १९३८ के नवंबर मास में मुस्तफ़ा कमाल अतातुर्क की मृत्यु हुई तो आधुनिक तुर्की के निर्माता के रूप में उनका नाम संसार में चमक चुका था।

सं०ग्रं०—जान गुंथर : इनसाइड यूरोप; वन हंड्रेड ग्रेट लाइव्ज़—द होम लायब्रेरी क्लब। (म० गु०)

कमाल कमाली द्र० 'कबीर'।

कमिशन (आयोग) कोई कर्तव्य या दायित्व किसी व्यक्ति को सौंपने की क्रिया, या इस प्रकार सौंपा हुआ कार्य या दायित्व, अथवा विशेष रूप से कोई अधिकार, या प्रपत्र जो इस प्रकार के अधिकार किसी व्यक्ति को किसी पद पर कार्य करने के लिये प्रदान करता है, कमिशन (आयोग) कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द सेना पर प्रभुत्व हेतु ऐसे लिखित अधिकार के लिये प्रयुक्त होता है जो किसी राष्ट्र का सर्वोच्च शासक, अथवा राष्ट्रपति, सशस्त्र सेना के प्रमुख सेनापति के रूप में पदाधिकारियों को प्रदान करता है। इस शब्द का उपयोग इसी प्रकार के अन्य ऐसे अधिकारपत्रों के हेतु भी होता है जो शांतिव्यवस्था के लिये आवश्यक होते हैं।

सेना आयोग—सेना का आयोग किसी सैनिक कार्यालय में देशसेवा के हेतु कार्य करने का प्रमाणपत्र होता है। इस प्रकार के प्रामाणिक व्यक्ति आयुक्त अधिकारी कहे जाते हैं। ये आयोग किसी देश की किसी सैनिक संस्था में प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् दिए जाते हैं। भारत में स्थल सेनाधिकारियों को दो प्रकार के आयोग प्रदान किए गए हैं। भारतीय आयोग और कनिष्ठ आयोग (जूनियर कमिशन)। कनिष्ठ आयोग की विशेषता यह है कि यह केवल भारत में ही सैनिक अधिकारियों को प्रदान किया जाता है। अन्य देशों में ऐसा नहीं किया जाता। यह अंग्रेजों द्वारा प्रारंभ किया गया था, क्योंकि वे प्रत्यक्ष नियंत्रण में और सेना के अन्य पदों में संपर्क रखने में असमर्थ थे। किंतु पदाधिकारियों में राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भी कनिष्ठ आयोग को समाप्त नहीं किया गया। अधिकारियों को भारतीय आयोग उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे अन्य देशों में और इसके लिये कुछ प्राथमिक योग्यताएँ अनिवार्य होती हैं। १८७१ ई० के पूर्व तक इंग्लैंड में सेना के कुछ संगठनों, यथा अभियंता, तोपखाना और इसी प्रकार के कुछ अन्य सैनिक प्राविधिक संगठनों को छोड़कर शेष आयोगों को क्रय किया जा सकता था। शांतिकाल में, भारत और इंग्लैंड में, जिन सैनिकों को आयोग नहीं प्राप्त हुआ रहता, उन्हें नियमित प्राविधिक शिक्षा प्राप्त करके, परीक्षा उत्तीर्ण करके, उचित संस्तुति होने पर, आयोग प्रदान कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त आयोग प्राप्त करने के अन्य क्षेत्र विश्वविद्यालयों और कालेजों के केडेट कोर, प्रमुख आरक्षिक अधिकारी

वर्ग, और प्रादेशिक सेना है। संयुक्त राष्ट्र सेना में, वेस्ट प्वाइंट को छोड़कर, नाच क पदा स हा तरक्का दा जाती ह। उन नागरिकों को भी आयोग प्रदान किया जाता ह जा पराक्षा म उत्तीर्ण होते है, किंतु ऐसा तभी संभव ह जब विशष रूप स शिक्षा संस्थाओं के प्रशिक्षण कोर (corps) उनकी सस्तुात करे।

युद्धकाल में आयोग प्राप्त करने के लिये अनिवार्य योग्यताएँ शिथिल कर दा जाती है। शांतिकाल म आयोग प्राप्त करने के लिये प्रशिक्षण और उच्च प्राविधिक पराक्षाओं म उत्तीर्ण होना अनिवार्य होता है, किंतु युद्धकाल में योग्य व्यक्तियों को विना प्रशिक्षण और विना प्राविधिक पराक्षा में उत्तीर्ण हुए भी आयाग प्रदान किया जाता है।

जब किसी नौसेना अधिकारी को किसी युद्धपोत के उपयोग का निर्देश दिया जाता है तब इस आज्ञापत्र को भी आयोग कहा जाता है। जब युद्ध-पोत सैनिकों तथा शस्त्रों से सुसज्जित करके युद्ध के लिये तैयार किया जाता है तब कहा जाता है कि युद्धपोत आयोजित कर दिया गया है।

विधानानुसार न्यायालय में गवाह की उपस्थिति अनिवार्य न समझकर जब न्यायाधीश कुछ मनोनीत सदस्यों की उपस्थिति में किसी अन्य स्थान पर गवाही लेन को आज्ञा दता है तब इस प्रकार के मनोनीत सदस्यों के वर्ग को भी आयोग कहा जाता है।

जब कोई व्यक्ति अपने कार्यालय के कुछ कार्यो को संपन्न करने का कुछ विशेप व्यक्तियो को अधिकार देता है तब वह व्यक्तिवर्ग, जो शिष्ट-मंडल की भाँति इन कार्यो का निर्वाह करता है, साधारण रूप से आयोग कहलाता है और ये व्यक्ति उस आयाग के सदस्य कहे जाते है।

अंतरराष्ट्रीय आयोगों की भी नियुक्ति होती है। ये आयोग संबद्ध राष्ट्रों द्वारा उनके बीच के झगड़ों का सुलझाने, सीमारेखा का निर्णय करने, या अन्य समस्याएँ सुलझाने के लिये भी नियुक्त होते हैं।

व्यवसाय में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अभिकर्ता के रूप में कार्य करने का आयोग प्रदान करता है। सामान या वस्तुएँ बिक्री के लिये अभिकर्त्ता को सौंप दी जाती है। बिक्री से प्राप्त धन का कुछ प्रतिशत अभिकर्ता को पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता है। इस प्रतिशत पारिश्रमिक को अंग्रेजी मे कमिशन कहते हैं, परंतु हिंदी में इसे दस्तूरी (आढ़त) कहते हैं। पारिश्रमिक की दर व्यवसायी और अभिकर्ता के बीच लिखित, या मौखिक रूप से तय की जाती है।

जांच आयोग—किसी विधि (कानून) को लागू करने के लिये आवश्यक सूचनाएँ और तथ्य एकत्र करने के निमित्त विधि आयोग की योजना की जाती है, जैसा इस शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतीय विधि आयोग में किया गया था। सामाजिक, शैक्षिक आदि विशेप मामलो की जाँच करने के लिये जो आयोग संगठित किए जाते है उनका नामकरण नियुक्ति की शर्तों के आधार पर किया जाता है। अधिकारपत्र मे जाँच संबंधी विषयों का भली भाँति स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आयोग निर्माण करने के अधिनियमों आदि की व्याख्या करनेवाले इस अधिकारपत्र को निर्देश कहते है। (दा० दा० ख०)

कमेनियस जॉन एमॉस (१५९२-१६७० ई०)—मोराविया (अब चेकोस्लोवाकिया) के एक महान् शिक्षाविद्, धर्मशास्त्रवेत्ता और तत्वज्ञानी। आधुनिक शिक्षा की निगमन विधि और ज्ञान के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय सहकारिता के विचारों की पूर्वकल्पनाएँ उनके ग्रंथों में है। उनको आधुनिक शिक्षाविज्ञान का जन्मदाता और विश्वविवेक का अग्रदूत कहा जाता है। उनके जीवन का महत्वपूर्ण भाग जर्मनी, पोलैंड, हंगरी, स्वीडेन और हालैंड में व्यतीत हुआ। उन्होंने १४० से अधिक ग्रंथ लिखे। उनके प्रमुख ग्रंथों में 'द ग्रेट डाइडैक्टिक', 'लैबरिंथ ऑव द वर्ल्ड ऐंड द पैराडाइज ऑव द हार्ट', 'ए गाइड फ़ॉर इन्फैंट स्कूल्स', 'ओरबिस पिक्टस' और 'आयनुआ लिंगुआरमे रिसरेटा' है। कमेनियस शिक्षा को जीवन में पूर्णता प्राप्त करने का अनंत शक्तिशाली साधन मानते थे। वे बालक के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करने के पक्षपाती थे और उनका कहना था कि सफल शिक्षण का एकमात्र रहस्य प्राकृतिक नियमों का अनुपालन है। प्राग के कमेनियस संस्थान में कमेनियस के विचारों पर अनुसंधान करने की विशेष सुविधाएँ है।

सं०ग्रं०—एम० ए० कीटिंग : कमेनियस, मैकग्रॉ हिल, न्यूयार्क (१९३८); यूनेस्को कोरियर, (नवंबर, १९५७ अंक), २, प्लेस डी० फांटेनाय, पेरिस ७, फ्रांस। (म० द० श०)

कम्यून की परंपरा अति प्राचीन है, इसका संबंध आदिम और ईसाई कम्यूनिज्म से भी पूर्व इजरायली 'किवूतों' से रहा है। इन किवूतों में संपत्ति पर सामूहिक स्वामित्व रहता रहा है। आज भी इजरायल में राष्ट्रीय संस्था के रूप में किवूतों का नए सिरे से निर्माण हुआ है। इस व्यवस्था में प्रत्येक सदस्य अपनी अर्जित संपत्ति किवूत का सौंप देता है, और बदले में केवल जीवनयापन के लिये आवश्यक सहायता उससे प्राप्त करता है। (द्र० 'किवूत')।

वैधिक अर्थ में मध्ययुग के सभी नगर कम्यून थे। कम्यून की उत्पत्ति का प्रमुख कारण तत्कालीन विकसित होते हुए व्यावसायिक तथा श्रमिक वर्ग की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उनकी सामान्य रक्षा के लिये आवश्यक संगठन था। इनका इतिहास ११वी शताब्दी से स्पष्ट रूप मे मिलता है, जब वाणिज्य और व्यवसाय के लिये भौगोलिक दृष्टि से सर्वाधिक लाभप्रद क्षेत्रों में इनकी स्थापना हुई। इनके निवासियों की सामाजिक स्थिति अन्य लोगों से इसलिये भिन्न थी कि उन्होंने कृपि के स्थान पर वस्तुओं के उत्पादन तथा विनिमय को जीविकोपार्जन का साधन बनाया था। कम्यून की उत्पत्ति सामंतवादी संगठनों के बीच हुई क्योंकि इन संगठनों ने जब नवोदित व्यावसायिक वर्ग की आवश्यकताओं की अवहेलना की तब विवश हो उस वर्ग को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने साधन अपनाने पड़े। प्रारंभ में कम्यून का संगठन पूर्ण रूप से वैयक्तिक था; वह केवल उन्हीं लोगों से संबंधित था जो उसमें स्वेच्छा से संमिलित होने के लिये तैयार थे और इस संगठन के हेतु शपथ ग्रहण करते थे। १२वी शताब्दी के अंत में कम्यून वैयक्तिक न होकर क्षेत्रीय हो गए जिसके फलस्वरूप नगर के सभी निवासियों को उसके अधीन रहने की शपथ लेनी अनिवार्य हो गई। मध्ययुगीन समाज के विभाजित तथा स्थानीय होने के कारण कम्यूनों के स्वरूप में स्थान तथा परिस्थितियों के अनुसार विभिन्नताएँ थीं, यद्यपि इन विभिन्नताओं के होते हुए भी कुछ सामान्य लक्षण भी थे।

फ्रांस के कम्यून आंदोलन का अभिप्राय बड़े नगरों को देश में स्थापित केंद्रीय सत्ता के नियंत्रण से मुक्ति दिलाना था। इस मुक्तिप्राप्ति के ढंगों के विषय में वहाँ दो मत थे। एक यह कि देश को विभिन्न स्वायत्तशासित कम्यूनों में बाँट दिया जाय और उन सबके सामान्य हितों का प्रतिनिधान करनेवाली किसी संघीय परिषद् में प्रत्येक कम्यून अपने अपने सदस्य भेज सके। कम्यून विषयक यह सिद्धांत साम्यवादी सिद्धांत है, और इसी सिद्धांत को पेरिस के कम्यून ने अपनाया था। दूसरे, कम्यून पूरे देश में अपने विचारों की निरंकुशता स्थापित करे और देश पर आधिपत्य जमाने के लिये उन नगरों को संगठित करे जो उसके आदर्शों के प्रति संवेदनशील हों। यह विचार पेरिस के क्रांतिकारी दल के एक वर्ग में प्रचलित था क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियाँ इस विचार को वल प्रदान करने में सहायक थीं। इस विचार के समर्थकों ने बाहरी शत्रु से आतंकित देश के लिये तत्कालीन सरकार की निरर्थकता इस आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की कि वह अनुशासन और शासनप्रबंध के पुराने तथा असामयिक ढंगों पर चलनेवाली सरकार थी जब कि समयानुसार आवश्यकता थी अपने को स्वयं संगठित कर सकने के लिये जनशक्ति की स्वतंत्रता की, सार्वजनिक सुरक्षा के लिये जनमत द्वारा निर्वाचित एक समिति की, प्रांत के लिये आयुक्तों की, तथा देशद्रोहियों के मृत्युदंड की उचित व्यवस्था की।

सन् १८७१ ई० का पेरिस कम्यून एक क्रांतिकारी आंदोलन था जिसका प्रमुख महत्व फ्रांस के सामंतशाही आधिपत्य से पेरिस के सर्वहारा वर्ग द्वारा अपने को स्वतंत्र करने के प्रयत्नों में है। सन् १७९३ ई० के कम्यून के समय से ही पेरिस के सर्वहारा वर्ग में क्रांतिकारी शक्ति पोपित हो रही थी जिसने समय असमय उसके प्रयोग के निष्फल प्रयत्न भी किए थे। २ सितंबर, सन् १८७० को तृतीय नेपोलियन की हार के फलस्वरूप

उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक परिस्थितियों ने पेरिस और सामंतशाही फ्रांस के बीच के संघर्ष और बढ़ा दिए। ४ सितंबर को गणतंत्र की घोषणा के साथ राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार (गवर्नमेंट ऑव नैशनल डिफ़ेंस) की स्थापना हुई और दो सप्ताह बाद ही जर्मन सेना ने पेरिस पर घेरा डाल दिया जिससे आतंकित हो पेरिस ने गणतंत्र स्वीकार कर लिया। परंतु मास पर मास बीतने पर भी जब घेरा न हटा तब भूख और शीत से व्याकुल पेरिस की जनता ने पेरिस के एकाधिनायकत्व में लेवी आँ मास (levee en masse) की चर्चा प्रारंभ कर दी। सितंबर में ही नई सरकार के पास स्वायत्तशासित कम्यून की स्थापना की माँग भेज दी गई थी; इधर युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नए सैन्य जत्थों का संगठन, श्रमिकवर्ग के लोगों की भर्ती तथा उन्हें अपने अफसरों को नामजद करने के अधिकार की प्राप्ति के फलस्वरूप भी पेरिस के सर्वहारा वर्ग की शक्तियाँ बढ़ गई थीं। फरवरी, सन् १८७१ ई० में इन सर्वहारा सैन्य जत्थों ने परस्पर मिलकर एक शिथिल संघ की तथा २० आरोंदिस्मों (arondissmonts) में प्रत्येक से तीन प्रतिनिधियों के आधार पर राष्ट्रीय संरक्षकों की एक केंद्रीय समिति (कोमिती द ला गार्द नात्सियोनाल) की स्थापना की।

२८ जनवरी को जर्मन सेना तथा राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार के बीच किंचित् काल के लिये इस उद्देश्य से युद्ध स्थगित करने की संधि हुई कि फ्रांस को राष्ट्रीय संसद् (नैशनल असेंब्ली) के निर्वाचन का अवसर प्राप्त हो सके जो शांतिस्थापना या युद्ध के चलते रहने पर अपना निर्णय दे। परंतु सामंतशाही फ्रांस की भावनाओं का प्रतिनिधान करनेवाली इस संसद् ने सर्वहारा वर्ग को और अधिक क्रुद्ध किया। उसने महँगे दामों में केवल युद्धसमाप्ति को ही नहीं स्वीकार किया वरन् फ्रांस की राजधानी वरसाई में स्थानांतरित कर पेरिस वासियों को अपमानित भी किया और कुछ ऐसे प्रस्ताव पास किए जो पेरिस वासियों के हितों के लिये घातक थे। पेरिस के स्वायत्तशासन संबंधी आंदोलन को आघात पहुँचाने के आशय से राष्ट्रीय संरक्षक समिति की सैन्य शक्तियाँ कम करने के हेतु १८ मार्च को सरकार द्वारा उसकी तोपों पर आधिपत्य प्राप्त करने के निष्फल प्रयत्न ने दोनों के बीच होनेवाले संघर्ष को क्रांतिकारी आंदोलन का रूप दे दिया जिसमें सरकारी सेना ने राष्ट्रीय संरक्षकों पर वार करना अस्वीकार कर दिया। फलतः सरकारी पक्ष के अनेक नेता मारे गए और शेष ने वारसाई में भागकर शरण ली। इस प्रकार किसी विशेष संघर्ष के बिना नगर राष्ट्रीय संरक्षक समिति के आधिपत्य में आ गया जिसने तुरंत अंतरिम सरकार की स्थापना की तथा २६ मार्च को पेरिस कम्यून के प्रतिनिधियों के निर्वाचन का प्रबंध किया। ६० प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये लगभग दो लाख व्यक्तियों ने मतदान किया। अंतरिम सरकार के रूप में अपना कार्य समाप्त कर चुकने के कारण राष्ट्रीय संरक्षक समिति ने राजनीतिक कार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया और इस प्रकार अंततः पेरिस नगर अपने हित में अपना शासनप्रबंध स्वयं करने का अवसर पा सका।

१८ मार्च की क्रांति केवल राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार और उसकी संसद् के ही नहीं वरन् केंद्रीकरण की उस संपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध थी जिसके कारण न केवल स्थानीय प्रबंध केंद्रीय सत्ता द्वारा नियंत्रित था, वरन् प्रांतों द्वारा आरोपित प्रतिक्रियावादी सरकार ने पेरिस तथा अन्य बड़े नगरों का सामाजिक और राजनीतिक विकास अवरुद्ध कर रखा था। क्रांतिकारियों के अनुसार इन सबका केवल एक उपचार था : केंद्रीय सत्ता के कार्यों को न्यूनतम करना ताकि स्थानीय संगठनों को न केवल अपने प्रबंध के लिये वरन् अपने समाज के संपूर्ण संगठन एवं विकास के लिये भी स[illegible] शक्तियाँ प्राप्त हो सकें; दूसरे शब्दों में, फ्रांस को स्वशासि[illegible] में बदलना। १९ अप्रैल को प्रकाशित पेरिस कम्यून [illegible] अनुसार कम्यून के अधिकार थे—बजट पास करना; क[illegible] स्थानीय व्यवसाय का निर्देशन; पुलिस, शि[illegible] कम्यून की संपत्ति का प्रबंध; सभी अ[illegible] नियंत्रण तथा उन्हें पदच्युत करना; वैय[illegible] नागरिक सुरक्षा का संगठन आदि। इ[illegible] समाजवाद की घोषणा करता है जो पूरे [illegible] सिद्धांत पूर्ण रूप से पेरिस, लिय[illegible] के हितों की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया था और इसलिये फ्रांस के अधिकतर भाग में यह लागू नहीं हो सकता था। इसके पीछे यह विचार था कि ग्रामों के कृषक तथा छोटे नगरों के निवासी अभी इतने योग्य नहीं हैं कि वे अपना सामान्य स्थानीय प्रबंध भी स्वयं कर सकें। इसलिये उन्हें वित्त, पुलिस, शिक्षा तथा समान्य सामाजिक विकास का उत्तरदायित्व तुरंत नहीं सौंपा जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि फ्रांस पर पेरिस का आधिपत्य क्रांतिकारियों के कम से कम एक भाग का उद्देश्य अवश्य था; दूसरे कम्यून सिद्धांत में प्रारंभ से ही एक अंतर्विरोध विद्यमान था। इस सिद्धांत ने पेरिस तथा अन्य प्रगतिशील नगरों को अप्रागतिक प्रांतों के नियंत्रण से मुक्त कर उनके लिये स्थानीय स्वायत्तशासन घोषित किया था, परंतु प्रांत इस सिद्धांत को, जैसा स्वयं सिद्धांत की प्रस्तावना में वर्णित है, स्वीकार करने के योग्य प्रगतिशील न थे। फलतः उन्हे इस आंदोलन में संमिलित होने के लिये पेरिस की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। दूसरे शब्दों में, कम्यून सिद्धांत की स्थापना के लिये यह अनिवार्य था कि उसे पहले नष्ट कर दिया जाय। जाकोबें (Jacobins) एक बार पुनः स्वतंत्रता के वेश में प्रकट होता है और स्थानीय स्वायत्तशासन एक केंद्रीय सत्ता द्वारा आरोपित होता है तथा राजधानी से प्राप्त बल के आधार पर स्वतंत्र संघ की नींव डाली जाती है।

शासनप्रबंध के लिये कम्यून की परिषद् ने अपने को दस आयोगों में विभक्त किया था। वे आयोग थे—वित्त, युद्ध, सार्वजनिक सुरक्षा, वैदेशिक संबंध, शिक्षा, न्याय, श्रम और विनिमय, खाद्य, सार्वजनिक सेवा, तथा सामान्य कार्यकारिणी संबंधी। प्रारंभ से ही कम्यून ने समाजवादी सिद्धांत अपनाने की घोषणा की थी; परंतु व्यवहार रूप में जिस सरकार की प्रायः सभी शक्तियाँ अपने शत्रु को नष्ट करने में ही प्रमुख रूप से व्यय हुई हों उसके लिये, दो मास की छोटी अवधि में क्रांतिकारी आर्थिक संगठन कर पाना असंभव था। कम्यून ने सैद्धांतिक रूप से स्थानीय स्वायत्तशासन को स्वीकार किया था, परंतु व्यवहार में उसकी प्रवृत्ति समस्त फ्रांस पर पेरिस की सरकार आरोपित करना था। उदाहरणार्थ, अप्रैल में पेरिस कम्यून ने स्वतंत्रता को फ्रांसीसी गणतंत्र का प्रथम सिद्धांत मानकर, और यह स्वीकार कर कि धार्मिक मतों का बजट इस सिद्धांत के प्रतिकूल है क्योंकि वह नागरिकों को उन धार्मिक विश्वास के प्रचार के लिये आर्थिक सहायता देने के लिये बाध्य करता है जो उनका नहीं है, तथा यह विचार कर कि पोप स्वतंत्रता के आदर्श के विरुद्ध राजतंत्र द्वारा किए गए अपराधों में सहायक हुआ है, यह आज्ञप्ति जारी की कि चर्च राज्य से अलग कर दिया जाय और धार्मिक मठों की संपत्ति राष्ट्र की संपत्ति घोषित कर दी जाय। अतः पेरिस की कम्यून परिषद् ने यद्यपि सैद्धांतिक रूप से केवल पेरिसवासियों के हितों का प्रतिनिधान स्वीकार किया था, तथापि स्वतंत्रता के नाम पर समस्त फ्रांस के पोप पर लागू होनेवाली आज्ञप्ति उसी ने जारी की।

कम्यून के अल्प जीवन तथा प्रशासकीय एवं आर्थिक सुधारों को कार्यरूप में परिणत करने की उसकी असफलता का प्रमुख कारण था ऐसे नेताओं की कमी जो विभिन्न तत्वों के परस्पर संबद्ध एवं सृजनात्मक कार्यक्रमों को निर्धारित कर सकें। अल्प समय में ही व्यावहारिक प्रशासन संबंधी न्यो-जाकोंबे (*Neo-Jacobins*) की अक्षमता प्रकट हो गई। १८ मार्च की क्रांति के ठीक ६४ दिन बाद वरसाई के सैन्य जत्थे पेरिस में घुस पड़े। भयंकर युद्ध के अनंतर २२ अक्टूबर को कम्यून की संसद् विनष्ट हो गई।

फिर भी १८ मार्च की इस क्रांति को तत्कालीन समाजवादी संगटनों ने समाजवादी आदर्श के लिये की गई सर्वहारा वर्ग की क्रांति के रूप में स्वीकार [illegible] और इस प्रकार कम्यून सिद्धांत समाजवादी दर्शन का एक अंग बन [illegible] इसमें संदेह नहीं कि कम्यून सिद्धांत ने वर्गसंघर्ष एवं समाजवादी [illegible]धारा के प्रचार में यथेष्ट योग दिया। जिस तत्परता, वीरता और [illegible] की भावना से पेरिस कम्यून ने विदेशी विजेताओं और उनसे मिले [illegible]हियों से पेरिस की सड़कों पर 'बैरिकेड' बनाकर इंच इंच जमीन [illegible] लिया था, वह स्वदेशरक्षा संबंधी युद्धों में अमर हो गया है। [illegible] राज्यक्रांति से प्रायः आधी सदी पहले पेरिस में सर्वहाराओं [illegible] किया। पर इसका मूल्य उसे रक्त से चुकाना पड़ा। [illegible] विचारक बाकूनिन ने कम्यून आंदोलन में अपने राज्य-

विहीन संघवाद का संकेत पाया तो प्रिंस क्रोपाटकिन ने सन् १८७१ की क्रांति को जनक्रांति की संज्ञा दी तथा मार्क्स ने अपने साम्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसे अपने एक महत्वपूर्ण ग्रंथ का विषय चुना और रूसी नेता, लेनिन, त्रोत्स्की आदि ने उसके महत्व को स्वीकार किया।

हाल में साम्यवादी चीन ने कम्यून व्यवस्था अपनाई है जिसे वहाँ के कृषकों ने समाजवादी चेतना के आधार पर आंदोलन के रूप में प्रारंभ किया है। चीन में कम्यून समाजवादी निर्माण के लिये साम्यवादी दल द्वारा निर्धारित नीति के पोषक तथा समाजवाद से साम्यवाद की ओर क्रमिक विकास के लिये आवश्यक संगठन माने जाते हैं। ७ अगस्त, सन् १९५८ ई० को जनता के इन कम्यूनों के लिये अस्थायी संविधान का जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया उसके अनुसार जनता का कम्यून समाज की मूलभूत इकाई है जिसमें श्रमिक साम्यवादी दल तथा जनता की अधीनता स्वीकार करते हुए स्वेच्छा से संमिलित होते हैं। इसका कार्य समस्त औद्योगिक तथा कृषि संबंधी उत्पादन, व्यवसाय तथा सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक कार्यों का प्रबंध करना है। इसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को संगठित करना और उसे साम्यवादी व्यवस्था में परिणत करने के लिये आवश्यक परिस्थितियों का सृजन करना है। इसकी पूर्ण सदस्यता १६ वर्ष से अधिक के सभी व्यक्तियों को प्राप्त है और उन्हें कम्यून के विभिन्न पदों पर निर्वाचित होने, मतदान करने तथा उसके प्रबंध का निरीक्षण करने का अधिकार है। कृषकों के सहकारी संगठन जब भी कम्यून में मिलें तब उन्हें अपनी समस्त सामूहिक संपत्ति कम्यून के अधीन करनी होगी और उनके ऋण कम्यून द्वारा चुकाए जायँगे। उसी प्रकार कम्यून के सदस्य बनने पर व्यक्तियों को अपनी निजी संपत्ति तथा उत्पादन के समस्त साधनों को कम्यून को सौंपना होगा। कम्यून राजकीय व्यवसाय के प्रमुख अंग, वितरण तथा क्रय-विक्रय-विभाग की तथा जनता के बैंक की एजेंसी के रूप में ऋण विभाग की स्थापना करेगा। उसकी अपनी नागरिक सेना होगी। कम्यून का सर्वोच्च प्रशासकीय संगठन उसकी कांग्रेस होगी जो उसके सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करेगी तथा निर्णय देगी और जिसमें जनता के सभी अंगों के प्रतिनिधि होंगे। यह कांग्रेस एक प्रबंधक समिति का निर्वाचन करेगी जिसके सदस्यों में कम्यून के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष भी होंगे। इस समिति के अधीन, कृषि, जल, वन, पशुपालन, उद्योग तथा यातायात, वित्त, खाद्य, वाणिज्य सुरक्षा, नियोजन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक कार्य संबंधी विभाग होंगे। विभिन्न स्तरों पर प्रबंधकीय संगठनों द्वारा कम्यून एक केंद्रीय नेतृत्व की, चिकित्सालय तथा सार्वजनिक सांस्कृतिक एवं खेलकूद के केंद्रों की, वृद्धों और अपाहिजों के लिये उचित प्रबंध की, स्त्रियों की प्रगति के लिये उनके योग्य घरेलू उद्योग धंधों की, श्रमिकों के दैनिक वेतन तथा खाद्यान्न की व्यवस्था करेगा। पूरे कम्यून में प्रशासन की जनतंत्रात्मक व्यवस्था लागू होगी।

सं०ग्रं०—एल्टन, जी० : द रिवोल्यूशनरी आइडिया इन फ्रांस, १७८९-१८७१, लंदन, १९२३; डिकिन्सन, जी० एल० : रिवोल्यूशन ऐंड रिऐक्शन इन माडर्न फ्रांस, लंदन, १८९२; पिरेन, एच० : मेडीवल सिटीज़, प्रिंस्टन, १९२५; पीपुल्स कम्यून्स इन चाइना, फ़ारेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, पेकिंग, १९५८; मेटलैंड, एफ० डब्ल्यू० : टाउनशिप ऐंड बरो, कैंब्रिज, १८९८; गैसन, ई० एस० : द पेरिस कम्यून, न्यूयार्क, १९३०। (रा० अ०)

कयामत ईसाइयों का विश्वास है कि कयामत के दिन अर्थात् काल के अंत में ईश्वर सभी मनुष्यों का न्याय करेगा (अरबी शब्द 'कयामत' इब्रानी धातु 'कूम' से संबंध रखता है; 'कूम' का अर्थ है खड़ा होना, न्याय करना)।

बाइबिल के प्रारंभ से ही इसका वारंवार उल्लेख मिलता है कि ईश्वर मनुष्यों को पाप के कारण दंड देता है। यहूदी जाति ईश्वर के दिन की प्रतीक्षा करती थी—उस दिन ईश्वर भलों को पुरस्कार और बुरों को दंड देकर पृथ्वी पर अपना राज्य स्थापित करनेवाला था। अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में ईश्वर के दिन के अवसर पर मृतकों के पुनरुत्थान का उल्लेख मिलता है। दानियाल नबी के ग्रंथ (दे० १२, २) में पहले पहल कहा गया है कि काल के अंत में कुछ लोग अनंत जीवन के लिये और कुछ लोग अनंत दंड पाने के लिये जी उठेंगे किंतु काल के अंत में सभी मनुष्यों का पुनरुत्थान स्पष्ट रूप से बाइबिल के पूर्वार्ध में प्रतिपादित नहीं किया गया है। फिर भी ईसा के जीवनकाल में पुनरुत्थान पर विश्वास व्यापक रूप से यहूदियों में प्रचलित था।

बाइबिल के उत्तरार्ध में ईश्वर के दिन के विषय में माना गया है कि काल के अंत में (कयामत के दिन) सभी मनुष्य पुनरुज्जीवित होंगे तथा ईसा न्यायकर्ता के रूप में प्रकट होकर भलों को स्वर्ग का पुरस्कार तथा बुरों को नरक का दंड प्रदान करेंगे। (आ० वे०)

करंज नाम से प्रायः तीन वनस्पति जातियों का बोध होता है जिनमें दो वृक्ष जातियाँ और तीसरी लता सदृश फैली हुई गुल्म जाति है। इनका परिचय निम्नांकित है :

(१) **नक्तमाल**—प्रथम वृक्ष जाति को, जो प्राचीनों का संभवतः वास्तविक करंज है, संस्कृत वाङ्मय में नक्तमाल, करंजिका तथा वृक्षकरंजादि और लोकभाषाओं में डिढोरी, डहरकरंज अथवा करणभी आदि नाम दिए गए हैं। इसका वैज्ञानिक नाम पोंगैमिया ग्लैब्रा (Pongamia glabra) है, जो लेग्यूमिनोसी (Leguminosae) कुल एवं पैपिलिओनेसी (Papilionac. ae) उपकुल में समाविष्ट है। यद्यपि परिस्थिति के अनुसार इसकी ऊँचाई आदि में भिन्नता होती है, परंतु विभिन्न परिस्थितियों में उगने की इसमें अद्भुत क्षमता होती है। इसके वृक्ष अधिकतर नदी नालों के किनारे स्वतः उग आते हैं, अथवा सघन छायादार होने के कारण सड़कों के किनारे लगाए जाते हैं।

इसके पत्र पक्षवत् संयुक्त (पिन्नेटली कंपाउंड, Pinnately compound), असम पक्षवत् (इंपेरी-पिन्नेट, Impari-pinnate) और पत्रक गहरे हरे, चमकीले और प्रायः २-५ इंच लंबे होते हैं। पुष्प देखने में मोती सदृश, गुलाबी और आसमानी छाया लिए हुए श्वेत वर्ण के होते हैं। फली कठोर एवं मोटे छिलके की, एक बीजवाली, चिपटी और टेढ़ी नोकवाली होती है। पुष्पित होने पर इसके मोती तुल्य पुष्प रात्रि में वृक्ष के नीचे गिरकर बहुत सुंदर मालूम होते हैं। 'करंज' एवं 'नक्तमाल' संज्ञाओं की सार्थकता और काव्यों में प्रकृतिवर्णन के प्रसंग में इनका उल्लेख इसी कारण होता है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में मुख्यतः इसके बीज और बीजतैल का प्रचुर उपयोग बतलाया गया है। इनका अधिक उपयोग व्रणशोधक एवं व्रणरोपक, कृमिघ्न, उष्णवीर्य तथा चर्मरोगघ्न रूप में किया जाता है।

(२) **चिरबिल्व**—भिन्न जाति एवं कुल का होने पर भी चिरबिल्व नाम-रूप-गुण तीनों बातों में नक्तमाल से बहुत कुछ मिलता जुलता है। यह अल्मेसी (Ulmaceae) कुल का होलोप्टीलिया इंटेग्रिफ़ोलिया (Holoptelia integrifolia) नामक जाति का वृक्ष है, जिसे चिरबिल्व, करंजक वृक्ष या वृद्धकरंज तथा उदकीर्य और लोकभाषाओं में चिलबिल, पापड़ी, कंजू तथा करणभी आदि नाम दिए गए हैं।

इसके वृक्ष प्रायः बहुत ऊँचे और मोटे होते हैं और नदी नालों के संनिकट अधिक पाए जाते हैं। छाल धूसर वर्ण की और पत्तियाँ प्रायः अखंड और लंबाग्र होती हैं। ताजी छाल और काष्ठ से तथा मसलने पर पत्तियों से तीव्र दुर्गंध आती है। जाड़ों में पत्रमोक्ष हो जाने पर नंगी शाखाओं पर सूक्ष्म हरित पुष्पों के गुच्छे निकलते हैं और ग्रीष्म में बहुत हलके, पतले चिपटे तथा सपक्ष वृत्ताकार फलों के गुच्छे बन जाते हैं, जो सूखने पर वायु द्वारा प्रसारित होते हैं। द्विखंडित पंख के बीच में एक बीज बंद रहता है जिसे निकालकर ग्रामीण बालक चिरौंजी की भाँति खाते हैं। बीजों से तेल भी निकाला जा सकता है। प्रथम श्रेणी के करंज के सदृश इसके पत्र, बीज तथा बीजतैल चिकित्सोपयोगी माने जाते हैं, किंतु आजकल इन्हें प्रयोग में नहीं लाया जाता। शोथ, व्रण तथा चर्मरोगों में इनका उपयोग ग्रामीण चिकित्सा में पाया जाता है।

(३) **कटकरंज**—यह एक काँटेदार लता सदृश फैला हुआ गुल्म है जिसे विटपकरंज, कंटकीकरंज, प्रकीर्य और लोकभाषा में कंजा, नागरगोटा तथा नाटा करंज कहते हैं। इसका एक नाम 'फ़ीवर नट' (Fever nut) भी है। आधुनिक ग्रंथकारों ने इसे ही आयुर्वेदीय साहित्य का 'पूति (ती)

उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक परिस्थितियों ने पेरिस और सामंतशाही फ्रांस के बीच के संघर्ष और बढ़ा दिए। ४ सितंबर को गणतंत्र की घोषणा के साथ राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार (गवर्नमेंट ऑव नैशनल डिफ़ेंस) की स्थापना हुई और दो सप्ताह बाद ही जर्मन सेना ने पेरिस पर घेरा डाल दिया जिससे आतंकित हो पेरिस ने गणतंत्र स्वीकार कर लिया। परंतु मास पर मास बीतने पर भी जब घेरा न हटा तब भूख और शीत से व्याकुल पेरिस की जनता ने पेरिस के एकाधिनायकत्व में लेवी आँ मास (levee en masse) की चर्चा प्रारंभ कर दी। सितंबर में ही नई सरकार के पास स्वायत्तशासित कम्यून की स्थापना की माँग भेज दी गई थी; इधर युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नए सैन्य जत्थों का संगठन, श्रमिकवर्ग के लोगों की भर्ती तथा उन्हें अपने अफसरों को नामजद करने के अधिकार की प्राप्ति के फलस्वरूप भी पेरिस के सर्वहारा वर्ग की शक्तियाँ बढ़ गई थीं। फरवरी, सन् १८७१ ई० में इन सर्वहारा सैन्य जत्थों ने परस्पर मिलकर एक शिथिल संघ की तथा २० आरोंदिस्मों (arondissmonts) में प्रत्येक से तीन प्रतिनिधियों के आधार पर राष्ट्रीय संरक्षकों की एक केंद्रीय समिति (कोमिती द ला गार्द नात्सियोनाल) की स्थापना की।

२८ जनवरी को जर्मन सेना तथा राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार के बीच किंचित् काल के लिये इस उद्देश्य से युद्ध स्थगित करने की संधि हुई कि फ्रांस को राष्ट्रीय संसद् (नैशनल असेंब्ली) के निर्वाचन का अवसर प्राप्त हो सके जो शांतिस्थापना या युद्ध के चलते रहने पर अपना निर्णय दे। परंतु सामंतशाही फ्रांस की भावनाओं का प्रतिनिधान करनेवाली इस संसद् ने सर्वहारा वर्ग को और अधिक क्रुद्ध किया। उसने महँगे दामों में केवल युद्धसमाप्ति को ही नहीं स्वीकार किया वरन् फ्रांस की राजधानी वरसाई में स्थानांतरित कर पेरिस वासियों को अपमानित भी किया और कुछ ऐसे प्रस्ताव पास किए जो पेरिस वासियों के हितों के लिये घातक थे। पेरिस के स्वायत्तशासन संबंधी आंदोलन को आघात पहुँचाने के आशय से राष्ट्रीय संरक्षक समिति की सैन्य शक्तियाँ कम करने के हेतु १८ मार्च को सरकार द्वारा उसकी तोपों पर आधिपत्य प्राप्त करने के निष्फल प्रयत्न ने दोनों के बीच होनेवाले संघर्ष को क्रांतिकारी आंदोलन का रूप दे दिया जिसमें सरकारी सेना ने राष्ट्रीय संरक्षकों पर वार करना अस्वीकार कर दिया। फलतः सरकारी पक्ष के अनेक नेता मारे गए और शेष ने वारसाई में भागकर शरण ली। इस प्रकार किसी विशेष संघर्ष के बिना नगर राष्ट्रीय संरक्षक समिति के आधिपत्य में आ गया जिसने तुरंत अंतरिम सरकार की स्थापना की तथा २६ मार्च को पेरिस कम्यून के प्रतिनिधियों के निर्वाचन का प्रबंध किया। ९० प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये लगभग दो लाख व्यक्तियों ने मतदान किया। अंतरिम सरकार के रूप में अपना कार्य समाप्त कर चुकने के कारण राष्ट्रीय संरक्षक समिति ने राजनीतिक कार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया और इस प्रकार अंततः पेरिस नगर अपने हित में अपना शासनप्रबंध स्वयं करने का अवसर पा सका।

१८ मार्च की क्रांति केवल राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार और उसकी संसद् के ही नहीं वरन् केंद्रीकरण की उस संपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध थी जिसके कारण न केवल स्थानीय प्रबंध केंद्रीय सत्ता द्वारा नियंत्रित था, वरन् प्रांतों द्वारा आरोपित प्रतिक्रियावादी सरकार ने पेरिस तथा अन्य बड़े नगरों का सामाजिक और राजनीतिक विकास अवरुद्ध कर रखा था। क्रांतिकारियों के अनुसार इन सबका केवल एक उपचार था : केंद्रीय सत्ता के कार्यों को न्यूनतम करना ताकि स्थानीय संगठनों को न केवल अपने प्रबंध के लिये वरन् अपने समाज के संपूर्ण संगठन एवं विकास के लिये भी सर्वाधिक संभावित शक्तियाँ प्राप्त हो सकें; दूसरे शब्दों में, फ्रांस को स्वशासित कम्यूनों के संघ में बदलना। १९ अप्रैल को प्रकाशित पेरिस कम्यून के घोषणापत्र के अनुसार कम्यून के अधिकार थे—बजट पास करना; कर निश्चित करना; स्थानीय व्यवसाय का निर्देशन; पुलिस, शिक्षा एवं न्यायालयों का संगठन; कम्यून की संपत्ति का प्रबंध; सभी अधिकारियों का निर्वाचन, उनपर नियंत्रण तथा उन्हें पदच्युत करना; वैयक्तिक स्वतंत्रता की स्थायी सुरक्षा; नागरिक सुरक्षा का संगठन आदि। इस दृष्टि से यह अधिकारपत्र ऐसे समाजवाद की घोषणा करता है जो पूरे आंदोलन का वास्तविक आधार है। कम्यून सिद्धांत पूर्ण रूप से पेरिस, लियों तथा एक या दो अन्य बड़े नगरों के हितों की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया था और इसलिये फ्रांस के अधिकतर भाग में यह लागू नहीं हो सकता था। इसके पीछे यह विचार था कि ग्रामों के कृषक तथा छोटे नगरों के निवासी अभी इतने योग्य नहीं हैं कि वे अपना सामान्य स्थानीय प्रबंध भी स्वयं कर सकें। इसलिये उन्हें वित्त, पुलिस, शिक्षा तथा समान्य सामाजिक विकास का उत्तरदायित्व तुरंत नहीं सौंपा जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि फ्रांस पर पेरिस का आधिपत्य क्रांतिकारियों के कम से कम एक भाग का उद्देश्य अवश्य था; दूसरे कम्यून सिद्धांत में प्रारंभ से ही एक अंतर्विरोध विद्यमान था। इस सिद्धांत ने पेरिस तथा अन्य प्रगतिशील नगरों को अप्रागतिक प्रांतों के नियंत्रण से मुक्त कर उनके लिये स्थानीय स्वायत्तशासन घोषित किया था, परंतु प्रांत इस सिद्धांत को, जैसा स्वयं सिद्धांत की प्रस्तावना में वर्णित है, स्वीकार करने के योग्य प्रगतिशील न थे। फलतः उन्हें इस आंदोलन में संमिलित होने के लिये पेरिस की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। दूसरे शब्दों में, कम्यून सिद्धांत की स्थापना के लिये यह अनिवार्य था कि उसे पहले नष्ट कर दिया जाय। जाकोबें (Jacobins) एक बार पुनः स्वतंत्रता के वेश में प्रकट होता है और स्थानीय स्वायत्तशासन एक केंद्रीय सत्ता द्वारा आरोपित होता है तथा राजधानी से प्राप्त बल के आधार पर स्वतंत्र संघ की नींव डाली जाती है।

शासनप्रबंध के लिये कम्यून की परिषद् ने अपने को दस आयोगों में विभक्त किया था। वे आयोग थे—वित्त, युद्ध, सार्वजनिक सुरक्षा, वैदेशिक संबंध, शिक्षा, न्याय, श्रम और विनिमय, खाद्य, सार्वजनिक सेवा, तथा सामान्य कार्यकारिणी संबंधी। प्रारंभ से ही कम्यून ने समाजवादी सिद्धांत अपनाने की घोषणा की थी; परंतु व्यवहार रूप में जिस सरकार की प्रायः सभी शक्तियाँ अपने शत्रु को नष्ट करने में ही प्रमुख रूप से व्यय हुई हों उसके लिये, दो मास की छोटी अवधि में क्रांतिकारी आर्थिक संगठन कर पाना असंभव था। कम्यून ने सैद्धांतिक रूप से स्थानीय स्वायत्तशासन को स्वीकार किया था, परंतु व्यवहार में उसकी प्रवृत्ति समस्त फ्रांस पर पेरिस की सरकार आरोपित करना था। उदाहरणार्थ, अप्रैल में पेरिस कम्यून ने स्वतंत्रता को फ्रांसीसी गणतंत्र का प्रथम सिद्धांत मानकर, और यह स्वीकार कर कि धार्मिक मतों का बजट इस सिद्धांत के प्रतिकूल है क्योंकि वह नागरिकों को उस धार्मिक विश्वास के प्रचार के लिये आर्थिक सहायता देने के लिये बाध्य करता है जो उनका नहीं है, तथा यह विचार कर कि पोप स्वतंत्रता के आदर्श के विरुद्ध राजतंत्र द्वारा किए गए अपराधों में सहायक हुआ है, यह आज्ञप्ति जारी की कि चर्च राज्य से अलग कर दिया जाय और धार्मिक मठों की संपत्ति राष्ट्र की संपत्ति घोषित कर दी जाय। अतः पेरिस की कम्यून परिषद् ने यद्यपि सैद्धांतिक रूप से केवल पेरिसवासियों के हितों का प्रतिनिधान स्वीकार किया था, तथापि स्वतंत्रता के नाम पर समस्त फ्रांस के पोप पर लागू होनेवाली आज्ञप्ति उसी ने जारी की।

कम्यून के अल्प जीवन तथा प्रशासकीय एवं आर्थिक सुधारों को कार्यरूप में परिणत करने की उसकी असफलता का प्रमुख कारण था ऐसे नेताओं की कमी जो विभिन्न तत्वों के परस्पर संबद्ध एवं सृजनात्मक कार्यक्रमों को निर्धारित कर सकें। अल्प समय में ही व्यावहारिक प्रशासन संबंधी न्यो-जाकोबें (Neo-Jacobins) की अक्षमता प्रकट हो गई। १८ मार्च की क्रांति के ठीक ६४ दिन बाद वरसाई के सैन्य जत्थे पेरिस में घुस पड़े। भयंकर युद्ध के अनंतर २२ अक्टूबर को कम्यून की संसद् विनष्ट हो गई।

फिर भी १८ मार्च की इस क्रांति को तत्कालीन समाजवादी संगठनों ने समाजवादी आदर्श के लिये की गई सर्वहारा वर्ग की क्रांति के रूप में स्वीकार किया और इस प्रकार कम्यून सिद्धांत समाजवादी दर्शन का एक अंग बन गया। इसमें संदेह नहीं कि कम्यून सिद्धांत ने वर्गसंघर्ष एवं समाजवादी विचारधारा के प्रचार में यथेष्ट योग दिया। जिस तत्परता, वीरता और बलिदान की भावना से पेरिस कम्यून ने विदेशी विजेताओं और उनसे मिले फ्रेंच देशद्रोहियों से पेरिस की सड़कों पर 'बैरिकेड' बनाकर इंच इंच जमीन के लिये लोहा लिया था, वह स्वदेशरक्षा संबंधी युद्धों में अमर हो गया है। उसने सोवियत राज्यक्रांति से प्रायः आधी सदी पहले पेरिस में सर्वहाराओं का पहला राज कायम किया। पर इसका मूल्य उसे रक्त से चुकाना पड़ा। यदि अराजकतावादी विचारक बाकूनिन ने कम्यून आंदोलन में अपने राज्य-

विहीन संघवाद का संकेत पाया तो प्रिंस क्रोपात्किन ने सन् १८७१ की क्रांति को जनक्रांति की संज्ञा दी तथा मार्क्स ने अपने साम्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसे अपने एक महत्वपूर्ण ग्रंथ का विषय चुना और रूसी नेता, लेनिन, त्रोत्स्की आदि ने उसके महत्व को स्वीकार किया।

हाल में साम्यवादी चीन ने कम्यून व्यवस्था अपनाई है जिसे वहाँ के कृषकों ने समाजवादी चेतना के आधार पर आंदोलन के रूप मे प्रारंभ किया है। चीन में कम्यून समाजवादी निर्माण के लिये साम्यवादी दल द्वारा निर्धारित नीति के पोषक तथा समाजवाद से साम्यवाद की ओर क्रमिक विकास के लिये आवश्यक संगठन माने जाते है। ७ अगस्त, सन् १९५८ ई० को जनता के इन कम्यूनों के लिये अस्थायी संविधान का जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया उसके अनुसार जनता का कम्यून समाज की मूलभूत इकाई है जिसमें श्रमिक साम्यवादी दल तथा जनता की अधीनता स्वीकार करते हुए स्वेच्छा से संमिलित होते हैं। इसका कार्य समस्त औद्योगिक तथा कृषि संबंधी उत्पादन, व्यवसाय तथा सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक कार्यों का प्रबंध करना है। इसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को संगठित करना और उसे साम्यवादी व्यवस्था में परिणत करने के लिये आवश्यक परिस्थितियों का सृजन करना है। इसकी पूर्ण सदस्यता १६ वर्ष से अधिक के सभी व्यक्तियो को प्राप्त है और उन्हें कम्यून के विभिन्न पदों पर निर्वाचित होने, मतदान करने तथा उसके प्रबध का निरीक्षण करने का अधिकार है। कृषकों के सहकारी संगठन जब भी कम्यून में मिलें तब उन्हें अपनी समस्त सामूहिक संपत्ति कम्यून के अधीन करनी होगी और उनके ऋण कम्यून द्वारा चुकाए जायँगे। उसी प्रकार कम्यून के सदस्य बनने पर व्यक्तियों को अपनी निजी संपत्ति तथा उत्पादन के समस्त साधनों को कम्यून को सौंपना होगा। कम्यून राजकीय व्यवसाय के प्रमुख अंग, वितरण तथा क्रय-विक्रय-विभाग की तथा जनता के बैंक की एजेंसी के रूप में ऋण विभाग की स्थापना करेगा। उसकी अपनी नागरिक सेना होगी। कम्यून का सर्वोच्च प्रशासकीय संगठन उसकी कांग्रेस होगी जो उसके सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करेगी तथा निर्णय देगी और जिसमें जनता के सभी अंगों के प्रतिनिधि होंगे। यह कांग्रेस एक प्रबंधक समिति का निर्वाचन करेगी जिसके सदस्यों मे कम्यून के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष भी होंगे। इस समिति के अधीन, कृषि, जल, वन, पशुपालन, उद्योग तथा यातायात, वित्त, खाद्य, वाणिज्य सुरक्षा, नियोजन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक कार्य संबंधी विभाग होंगे। विभिन्न स्तरों पर प्रबंधकीय संगठनों द्वारा कम्यून एक केंद्रीय नेतृत्व की, चिकित्सालय तथा सार्वजनिक सांस्कृतिक एवं खेलकूद के केंद्रों की, वृद्धों और अपाहिजों के लिये उचित प्रबंध की, स्त्रियों की प्रगति के लिये उनके योग्य घरेलू उद्योग धंधों की, श्रमिकों के दैनिक वेतन तथा खाद्यान्न की व्यवस्था करेगा। पूरे कम्यून में प्रशासन की जनतंत्रात्मक व्यवस्था लागू होगी।

सं०ग्रं०—एल्टन, जी० : द रिवोल्यूशनरी आइडिया इन फ्रांस, १७८९-१८७१, लंदन, १९२३; डिकिन्सन, जी० एल० : रिवोल्यूशन ऐंड रिऐक्शन इन माडर्न फ्रांस, लंदन, १८९२; पिरेन,एच० : मेडीवल सिटीज, प्रिंस्टन, १९२५; पीपुल्स कम्यून्स इन चाइना, फ़ारेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, पेकिंग, १९५८; मेटलैंड, एफ० डब्ल्यू० : टाउनशिप ऐंड बरो, कैंब्रिज, १८९८; मैसन, ई० एस० : द पेरिस कम्यून, न्यूयार्क, १९३०। (रा० अ०)

कयामत ईसाइयों का विश्वास है कि कयामत के दिन अर्थात् काल के अंत मे ईश्वर सभी मनुष्यों का न्याय करेगा (अरबी शब्द 'कयामत' इब्रानी धातु 'कूम' से संबंध रखता है; 'कूम' का अर्थ है खड़ा होना, न्याय करना)।

बाइबिल के प्रारंभ से ही इसका बारंबार उल्लेख मिलता है कि ईश्वर मनुष्यों को पाप के कारण दंड देता है। यहूदी जाति ईश्वर के दिन की प्रतीक्षा करती थी—उस दिन ईश्वर भलों को पुरस्कार और बुरों को दंड देकर पृथ्वी पर अपना राज्य स्थापित करनेवाला था। अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में ईश्वर के दिन के अवसर पर मृतकों के पुनरुत्थान का उल्लेख मिलता है। दानियाल नबी के ग्रंथ (दे० १२, २) में पहले पहल कहा गया है कि काल के अंत में कुछ लोग अनंत जीवन के लिये और कुछ लोग अनंत दंड पाने के लिये जी उठेंगे किंतु काल के अंत में सभी मनुष्यों का पुनरुत्थान स्पष्ट रूप से बाइबिल के पूर्वार्ध मे प्रतिपादित नहीं किया गया है। फिर भी ईसा के जीवनकाल में पुनरुत्थान पर विश्वास व्यापक रूप से यहूदियों मे प्रचलित था।

बाइबिल के उत्तरार्ध में ईश्वर के दिन के विषय मे माना गया है कि काल के अंत में (कयामत के दिन) सभी मनुष्य पुनरुज्जीवित होंगे तथा ईसा न्यायकर्ता के रूप में प्रकट होकर भलों को स्वर्ग का पुरस्कार तथा बुरों को नरक का दंड प्रदान करेंगे। (आ० बे०)

करंज नाम से प्रायः तीन वनस्पति जातियों का बोध होता है जिनमें दो वृक्ष जातियाँ और तीसरी लता सदृश फैली हुई गुल्म जाति है। इनका परिचय निम्नांकित है :

(१) **नक्तमाल**—प्रथम वृक्ष जाति को, जो प्राचीनो का संभवतः वास्तविक करंज है, संस्कृत वाङ्मय मे नक्तमाल, करजिका तथा वृक्षकरंजादि और लोकभाषाओं मे डिढोरी, डहरकरज अथवा कणभी आदि नाम दिए गए हैं। इसका वैज्ञानिक नाम पोंगैमिया ग्लैब्रा (Pongamia glabra) है, जो लेग्यूमिनोसी (Leguminosae) कुल एवं पैपिलिओनेसी (Papilionaceae) उपकुल में समाविष्ट है। यद्यपि परिस्थिति के अनुसार इसकी ऊँचाई आदि में भिन्नता होती है, परंतु विभिन्न परिस्थितियों में उगने की इसमें अद्भुत क्षमता होती है। इसके वृक्ष अधिकतर नदी नालों के किनारे स्वतः उग आते है, अथवा सघन छायादार होने के कारण सड़कों के किनारे लगाए जाते हैं।

इसके पत्र पक्षवत् संयुक्त (पिन्नेटली कंपाउंड, Pinnately compound), असम पक्षवत् (इंपेरी-पिन्नेट, Impari-pinnate) और पत्रक गहरे हरे, चमकीले और प्रायः २-५ इंच लंबे होते है। पुष्प देखने में मोती सदृश, गुलाबी और आसमानी छाया लिए हुए श्वेत वर्ण के होते है। फली कठोर एवं मोटे छिलके की, एक बीजवाली, चिपटी और टेढ़ी नोकवाली होती है। पुष्पित होने पर इसके मोती तुल्य पुष्प रात्रि में वृक्ष के नीचे गिरकर बहुत सुंदर मालूम होते हैं। 'करंज' एवं 'नक्तमाल' संज्ञाओं की सार्थकता और काव्यों में प्रकृतिवर्णन के प्रसंग में इनका उल्लेख इसी कारण होता है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में मुख्यतः इसके बीज और बीजतैल का प्रचुर उपयोग बतलाया गया है। इनका अधिक उपयोग व्रणशोधक एवं व्रणरोपक, कृमिघ्न, उष्णवीर्य तथा चर्मरोगघ्न रूप में किया जाता है।

(२) **चिरबिल्व**—भिन्न जाति एवं कुल का होने पर भी चिरबिल्व नाम-रूप-गुण तीनों बातों में नक्तमाल से बहुत कुछ मिलता जुलता है। यह अल्मेसी (Ulmaceae) कुल का होलोप्टीलिया इंटेग्रिफ़ोलिया (Holoptelia integrifolia) नामक जाति का वृक्ष है, जिसे चिरबिल्व, करंजक वृक्ष या वृद्धकरंज तथा उदकीर्य और लोकभाषाओं में चिलबिल, पापड़ी, कंजू तथा कणभी आदि नाम दिए गए है।

इसके वृक्ष प्रायः बहुत ऊँचे और मोटे होते हैं और नदी नालों के संनिकट अधिक पाए जाते हैं। छाल धूसर वर्ण की और पत्तियाँ प्रायः अखंड और लंबाग्र होती हैं। ताजी छाल और काष्ठ से तथा मसलने पर पत्तियों से तीव्र दुर्गंध आती है। जाड़ों में पत्रमोक्ष हो जाने पर नंगी शाखाओं पर सूक्ष्म हरित पुष्पों के गुच्छे निकलते है और ग्रीष्म में बहुत हलके, पतले चिपटे तथा सपक्ष वृत्ताकार फलों के गुच्छे बन जाते हैं, जो सूखने पर वायु द्वारा प्रसारित होते हैं। द्विखंडित पंख के बीच मे एक बीज बंद रहता है जिसे निकालकर ग्रामीण बालक चिरौंजी की भाँति खाते हैं। बीजों से तेल भी निकाला जा सकता है। प्रथम श्रेणी के करंज के सदृश इसके पत्र, बीज तथा बीजतैल चिकित्सोपयोगी माने जाते है, किंतु आजकल इन्हें प्रयोग में नही लाया जाता। शोथ, व्रण तथा चर्मरोगों में इसका उपयोग ग्रामीण चिकित्सा में पाया जाता है।

(३) **कटकरंज**—यह एक काँटेदार लता सदृश फैला हुआ गुल्म है जिसे विटपकरंज, कंटकीकरंज, प्रकीर्य और लोकभाषा में कंजा, सागरगोटा तथा नाटा करंज कहते है। इसका एक नाम 'फ़ीवर नट' (Fever nut) भी है। आधुनिक ग्रंथकारों ने इसे ही आयुर्वेदीय साहित्य का 'पूति (ती)

क' एवं 'पूतिकरंज' भी लिखा है। किंतु करंज के सभी भेदों में न्यूनाधिक पूति (दुर्गंध) होने के कारण किसी वर्गविशेष को ही पूतिकरंज कहना संगत नहीं प्रतीत होता।

कटकरंज लेग्यूमिनोसी कुल एवं सेज़ैलपिनिग्रायडी उपकुल का सेज़ैलपिनिया क्रिस्टा (Caesalpinia crista) नाम का गुल्म है, जिसकी काँटेदार शाखाएँ लता के समान फैलती हैं। काँटे दृढ़मूलक, सीधे अथवा पत्रदंड पर प्रायः टेढ़े होते हैं। पत्तियाँ द्विपक्षवत् (बाइपिन्नेट, bipinnate) और पत्रक लगभग एक इंच तक बड़े होते हैं। हलके पीले पुष्पों की मंजरियाँ नक्तमाल के फलों के आकार की होती है, किंतु फल काँटों से ढके रहते हैं और उनमें दृढ़ कवचवाले तथा धूम्रवर्ण के प्रायः दो दो बीज होते हैं। बीज, बीजतैल एवं पत्ती का चिकित्सा में अधिक उपयोग होता है। कटकरंज उत्तम ज्वरघ्न, कटु, पौष्टिक, शोथघ्न और कृमिघ्न द्रव्य है और सूतिकाज्वर, शीतज्वर, यकृत एवं प्लीहा के रोग तथा कुपचन में इसके पत्ते का रस, या बीजचूर्ण का उपयोग होता है। यद्यपि निघंटुओं में करंज के तीन भेद बताए गए हैं, तथापि चिकित्साग्रंथों में अनेक बार 'करंजद्वय' का एक साथ उपयोग बतलाया गया है। करंजद्वय से यहाँ किन किन भेदों का ग्रहण होना चाहिए, इसका निर्णय प्रसंग तथा व्यक्तिगत गुणों के अनुसार किया जा सकता है। (ब० सिं०)

करंजा १. अकोला जिले के मुर्तजापुर नामक ताल्लुके का एक प्रमुख नगर है। इसकी स्थिति २०° २९' उ० अ० तथा ७७° ३०' पू० दे० है।

इस नगर का नाम एक संत के नाम पर पड़ा है। कहा जाता है, उस संत को अंबादेवी का अभय वरदान मिला था। आज भी एक सरोवर तथा मंदिर उस संत से संबंधित बताए जाते हैं। इस नगर के बाहर अनेक भग्नावशेष हैं जो इसके प्राचीन इतिहास पर अस्पष्ट प्रकाश डालते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि पहले इस नगर के चारों ओर प्राचीर था जो समतल सा हो गया है। यह नगर एक पक्की सड़क द्वारा मुर्तजापुर से संबद्ध है।

२. इसी नाम का एक प्रायद्वीप बंबई पत्तन से लगभग छह मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। इसकी लंबाई करीब आठ मील तथा चौड़ाई चार मील है। इसका अधिक भाग पठारी है। यहाँ का मुख्य उद्यम चावल की खेती करना, मछली मारना और मदिरा तथा नमक बनाना है। इस प्रायद्वीप की मुख्य बस्ती यूरान है। (ब० प्र० रा०)

करण अनेक कारणों में से जो असाधारण और व्यापारवान् कारण होता है उसे करण कहते हैं। इसी को प्रकृष्ट कारण भी कहते हैं। असाधारण का अर्थ है कार्य की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक होना। दंड, जिससे चाक चलता है, घड़े की उत्पत्ति में व्यापारवान् होकर साक्षात् सहायक है, परंतु जंगल की लकड़ी करण नहीं है क्योंकि न तो वह व्यापारवान् है और न साक्षात् सहायक। नव्य न्याय में तो व्यापारवान् वस्तु को करण नहीं कहते। उनके अनुसार वह पदार्थ जिसके बिना कार्य ही न उत्पन्न हो (अन्य सभी कारणों के रहते हुए भी) करण कहलाता है। यह करण न तो उपादान है और न निमित्त वस्तु, अपितु निमित्तगत क्रिया ही असाधारण और प्रकृष्ट कारण है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इंद्रिय और अर्थ का संनिकर्ष (संबंध) करण है अथवा इंद्रियगत वह व्यापार जिससे अर्थ का संनिकर्ष होता है, नव्य मत में करण कहलाता है।

सं०ग्रं०—अन्नंभट्ट : तर्कसंग्रह और दीपिका; केशव मिश्र : तर्कभाषा। (रा० पां०)

करद नगर महाराष्ट्र के सतारा जिले में इसी नाम के ताल्लुक का मुख्यालय है। इसकी स्थिति १७°१७' उ० अ० तथा ७४°११' पू० दे० है। यह नगर कृष्णा तथा कोयना नदियों के संगम पर सतारा नगर से ३१ मील दक्षिण-पूर्व में बसा है। इस नगर का स्वायत्त शासन १८८५ ई० में आरंभ हुआ और अब यह एक सुव्यवस्थित नगरपालिका द्वारा शासित होता है। यहाँ की बौद्धकालीन गुफाएँ मुसलमान-कालीन मसजिदें और नवीन मंदिर आकर्षण के विशेष केंद्र हैं। कुछ लोग इसे करदाह या करहाकादा के नाम से भी जानते हैं। (ब० प्र० रा०)

करनाल नगर हरियाणा के इसी नाम के जिले के शासन का मुख्यालय है। यह २९° ४२' १७" उ० अ० तथा ७७° १' ४५" पू० दे० पर स्थित है। यह नगर यमुना नदी के प्राचीन किनारे के ऊँचे भाग पर स्थित है। पहले नदी इसके समीप बहती थी, किंतु अब यहाँ से सात मील पूर्व हटकर बहती है। १२ फुट ऊँचे परकोटे से यह नगर घिरा हुआ है। इस नगर के समीप से ही पश्चिमी यमुना नहर जाती है जो गंदे पानी के निकास में अवरोध उत्पन्न करती है। इसी कारण यह नगर मलेरिया का घर बना रहता है।

दंतकथा के अनुसार इस नगर को महाभारत के राजा कर्ण ने बसाया था। यहीं पर नादिरशाह ने मुगल बादशाह मुहम्मदशाह को हराया था। इसके बाद यह क्रमशः जिंद के राजाओं, मरहठों और लदवा के सिक्ख राजा गुरुदत्तसिंह के अधिकार में रहा। १८०५ ई० में अंग्रेजों ने इसपर अपना अधिकार कर लिया।

इसका विशाल किला बहुत समय तक अंग्रेजों के अधिकार में रहा और क्रमानुसार कारागार, सैनिकों का निवासस्थान, दरिद्रालय और जिला विद्यालय के कार्य में आता रहा।

नगर की सड़कें अधिकांशतः पक्की, परंतु टेढ़ी मेढ़ी और सँकरी हैं। यहाँ देशी कपड़ा बनता है जो यहीं पर प्रयोग में आ जाता है। कंबल और जूते बाहर भेजे जाते हैं। कंबल व्यवसाय में अधिक लोग लगे हुए हैं। यह नगर दिल्ली तथा अंबाला से विशेष संबंधित है। (सु० प्र० सिं०)

करनेस (कवि) अकबर के दरबार से संबंध रखनेवाले हिंदी के एक कवि। इनका जन्मकाल सन् १५५४ ई० और रचनाकाल १५८० ई० के लगभग माना जाता है (हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, द्वि० सं०, पृ० ३७)। मिश्रबंधुविनोद (भाग १, पृ० ३२४, सं० १९९४) के अनुसार ये नरहरि कवि (जन्म १५०५ ई०) के साथ अकबर के दरबार में आया जाया करते थे। करनेस ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण' नामक तीन अलंकार संबंधी ग्रंथों की रचना की थी (हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, १६वाँ पुनर्मुद्रण, पृ० २००) किंतु उक्त सभी ग्रंथ अभी तक अप्राप्त हैं। मिश्रबंधुओं के अनुसार करनेस ने खड़ी बोली में भी कविताएँ लिखी थीं, लेकिन इनका उक्त काव्य साधारण कोटि का ही है। करनेस का 'करनेसि', 'करणेश', 'कर्नेश' आदि विभिन्न नामों से उल्लेख मिलता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा भगीरथ मिश्र इन्हें 'करनेस वंदीजन' लिखते हैं तो सरयूप्रसाद अग्रवाल ने इनका उल्लेख 'करनेश' नाम से किया है (अकबरी दरबार के हिंदी कवि); लेकिन रामचंद्र शुक्ल तथा विजयेंद्र स्नातक ने इन्हें 'करनेस कवि' ही लिखा है।

असनी निवासी महापात्र करनेश कवि की चर्चा भी डा० भगीरथ मिश्र ने (हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, द्वि० सं०, पृ० १८०) चंद्रशेखर बाजपेयी के प्रसंग में की है। लेकिन ये अकबरी दरबार के करनेस नहीं हैं क्योंकि चंद्रशेखर बाजपेयी का जन्म संवत् १८५५ वि०, तदनुसार १७९८ ई० है और उनके गुरु महापात्र करनेस कवि का जन्म सन् १७५० ई० के आसपास आँका गया है। दोनों में २०० वर्ष का अंतर है, अतः दोनों दो भिन्न व्यक्ति हैं। 'रसकल्लोल' (रचना सन् १७०० अथवा १८०० के आसपास) के रचयिता 'करन' कवि, जिनका उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने पन्ना नरेश के आश्रित कवि के रूप में किया है और डा० भगीरथ मिश्र (हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, द्वि० सं०, पृ० ४२) द्वारा उल्लिखित 'साहित्यरस' (रचना सन् १८०३ ई०) नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ के प्रणेता 'करन' कवि भी करनेस कवि से अलग व्यक्ति हैं। (कैं० चं० श०)

करनिर्धारण शासन द्वारा समाज में व्यवस्था बनाए रखने एवं समस्त प्रजा की कल्याणकारी आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से लगाए गए अनिवार्य उद्ग्रहण को 'कर' कहते हैं। कर की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उसका व्यक्तिगत प्रत्यावर्तन (Quid pro quo) नहीं होता, अर्थात् उसके बदले में करदाता को व्यक्तिशः कुछ प्राप्त करने का

अधिकार नहीं होता। विनिमय के भाव का अभाव कर की कल्पना का सर्वविशिष्ट अंग है।

कर, शुल्क, मूल्य और अनुज्ञप्ति में अंतर—कर की इसी परिभाषा के कारण जल, विद्युत्, डाक, तार आदि विशिष्ट सेवाओं को प्राप्त करने के लिये दी जानेवाली धनराशि को कर नहीं कह सकते। वह मूल्य की श्रेणी में गिनी जायगी। कारण, एक तो यह मूल्य देना प्रत्येक के लिये अनिवार्य नहीं और दूसरे मूल्य एवं उसके द्वारा प्राप्त सेवा में विनिमय का भाव प्रत्यक्ष ही अवलक्षित होता है (Quid pro quo)। इसी प्रकार शुल्क (फ़ी) एवं अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) भी कर से भिन्न है। पथशुल्क (टॉल टैक्स), गृहशुल्क (हाउस टैक्स), जलशुल्क (वाटर टैक्स) श्वपच शुल्क (स्कैवेंजिंग फ़ी) आदि प्रत्येक व्यक्ति को देना अनिवार्य नहीं। पथ, गृह, जल, श्वपच आदि का लाभ जो उठाना चाहते है उन्हें ही ये शुल्क देने पड़ते हैं। इसी प्रकार मादक पदार्थो का विक्रय करने के लिये जो अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) दी जाती है उसके प्रतिदान में राज्य कुछ धनराशि लेता है। यहाँ भी अनुज्ञप्ति की प्राप्ति का एतदर्थ प्रदत्त धनराशि से प्रत्यक्ष संबंध है। इसीलिये अनुज्ञप्ति भी कर की परिभाषा में नही आती। कारण, कर किन्हीं सेवाओं का मूल्य या शुल्क नहीं होता। कर तो वास्तव में व्यक्ति के ऊपर शासन की सार्वभौम सत्ता एवं शक्ति का प्रतीक है। इस शक्ति के आधार पर ही शासन व्यक्ति पर उद्ग्रहण आरोपित कर सकता है, व्यक्ति उसका आनुपातिक प्रत्यग्वर्तन नहीं माँग सकता। जिन उद्ग्रहणों का आनुपातिक प्रत्यावर्तन करने के लिये शासन बाध्य हो, वे मूल्य, शुल्क या अनुज्ञप्ति भले ही हों, पर वे कर तो निश्चय ही नहीं हैं।

इतिहास—कर उतना ही प्राचीन है जितना राज्य। परंतु कर के रूप एवं वे सिद्धांत जिनके आधार पर उनका निर्धारण होता है, समय समय पर परिवर्तित होते रहे हैं। ये सैद्धांतिक परिवर्तन मुख्यत: दो कारणों से हुए हैं।

(१) **नागरिकों के प्रति राज्य का कर्तव्य**—प्रत्येक समाज जिस राज्य का निर्माण करता है, उस राज्य से कुछ अपेक्षाएँ भी रखता है। राज्य उन अपेक्षाओं के अनुरूप ही उस समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्धारण करता है। ये अपेक्षाएँ समय समय पर परिवर्तित होती रहती हैं। उदाहरणस्वरूप प्राचीन या मध्यकाल में अधिकतर राज्यों का मुख्य आदर्श केवल व्यवस्था की स्थापना और राजतंत्र से संबंधित व्यक्तियों को अधिकाधिक सुख देना होता था। शासित वर्ग की सुख सुविधाओं का प्रबंध करना राज्य का कर्तव्य नहीं था। ऐसे राज्य नागरिकों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करने की नीति में विश्वास रखते थे (Policy of Laissez-Faire)। इस सिद्धांत के अनुसार स्पष्ट है कि राज्य को अधिक धन की आवश्यकता नहीं पड़ती थी अतएव अधिक कर भी नहीं लगाए जाते थे और जो कर लगाए भी जाते थे उनके पीछे शासित वर्ग के कल्याण की भावना निहित नहीं होती थी।

धीरे धीरे समाज के प्रति राज्य के कर्तव्य की कल्पनाएँ बदलने लगीं और यह विश्वास किया जाने लगा कि नागरिकों को सुख, समृद्धि और सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है। इन कल्पनाओं का पूर्ण विकसित रूप लोककल्याणकारी राज्य का आदर्श है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना की कल्पना प्रजातंत्रवादी शासनतंत्र के आविर्भाव का परिणाम है। इस आदर्श को कार्यान्वित करने के लिये स्पष्टत: राज्य को अधिक धन की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप न केवल करों की संख्या में वृद्धि आवश्यक हो गई प्रत्युत इस प्रकार के करों की खोज भी करनी पड़ी जो समाज के धनी एवं निर्धन, दोनों ही वर्गो से, उनकी क्षमता के अनुसार कर लेते हुए भी उन्हें समान सामाजिक एवं आर्थिक स्तर पर लाने में सफल हों। आयकर, व्ययकर, मृत्युकर, संपत्तिकर, दानकर आदि इसी खोज के परिणाम हैं।

(२) **समाज की बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था**—करप्रणाली की रूपरेखा पर समाज की आर्थिक स्थिति का सीधा प्रभाव पड़ता है। कृषिप्रधान राज्य में स्पष्टत: अधिकतर कर कृषिकर्म करनेवाले नागरिकों से ही वसूल किए जायेंगे। यही कारण है कि सामंती युग में भूराजस्व करप्रणाली का मुख्य आधार था। मध्यकालीन यूरोप में अधिकतर देशों में कृषि के स्थान पर व्यापार की प्रधानता हो गई। परिणामस्वरूप भूराजस्व के अतिरिक्त आयात, निर्यात कर एवं पथशुल्क का आविर्भाव हुआ। औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ होने के बाद करप्रणाली के मुख्य आधार उद्योग संबंधी कर हो गए। विभिन्न प्रकार के उत्पादनशुल्क (एक्साइज़ ड्यूटीज) एवं क्रय-विक्रय-कर इसी औद्योगिक आर्थिक प्रणाली की देन है।

करों के प्रकार—यों तो करों के अनेक प्रकार हैं, परंतु सर्वप्रमुख वर्गीकरण प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करों का है। प्रत्यक्ष कर वे हैं जो जिस व्यक्ति पर लगाए जायँ उसके द्वारा उनके भार का स्थानांतरण न हो सके। परोक्ष कर प्रत्यक्ष मे तो एक व्यक्ति पर लगाए जाते हैं परंतु वह व्यक्ति उस कर को एकत्र करने का माध्यम मात्र होता है क्योंकि वह उस कर के भार को स्वयं वहन नहीं करता वरन् तुरंत उसका स्थानांतरण कर देता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कर के वर्गीकरण का मुख्य आधार स्थानांतरण की क्षमता है। यदि करभार स्थानांतरित किया जा सकता है तो वह कर परोक्ष है। कारण, वह व्यक्ति जिसपर करभार स्थानांतरित किया गया है, यह नही जानता कि वह परोक्ष रूप में कर दे रहा है। इसके विपरीत यदि करभार स्थानांतरित नही किया जा सकता तो स्पष्ट है कि वही व्यक्ति, जिसपर कर आरोपित किया गया है, उस कर को देगा और जानेगा कि वह कर दे रहा है। उदाहरणार्थ आयकर, व्ययकर, दानकर, संपत्तिकर, मृत्युकर आदि प्रत्यक्ष कर है क्योंकि जिस व्यक्ति पर ये कर आरोपित किए जाते है वह पूर्णत: दूसरो से इन्हें किसी भी रूप मे वसूल नहीं कर सकता। इसके विपरीत उत्पादनशुल्क, क्रय-विक्रय-शुल्क, आयात-निर्यात-कर आदि परोक्ष कर है। जिन व्यापारियों पर ये आरोपित होते हैं वे मूल्य के साथ साथ अपने ग्राहकों से इनको भी वसूल लेते है।

प्रत्यक्ष कर के स्थानांतरित न हो सकने के गुण का परिणाम यह है कि शासन यदि चाहे तो उनका उपयोग किसी वर्गविशेष पर करभार अधिक या कम करने में कर सकता है। परोक्ष कर का उपयोग इस रूप मे नहीं हो सकता क्योंकि बराबर स्थानांतरित होते रहने के कारण यह अनुमान लगाना कठिन है कि अंततोगत्वा उस कर का भार किसने अधिक वहन किया। यही कारण है कि किसी भी लोककल्याणकारी शासन की करप्रणाली में प्रत्यक्ष करों को अधिक महत्व दिया जाता है और जहाँ तक संभव होता है, परोक्ष करों को कम से कम रखने का ही प्रयास किया जाता है; क्योंकि प्रत्यक्ष करों के द्वारा ही धनिक वर्ग से, मध्यम एवं निम्न वर्ग की तुलना में, अधिक धनराशि उद्ग्रहीत हो सकती है और करप्रणाली को प्रगतिशील रूप देते हुए समस्त नागरिकों की सामाजिक एवं आर्थिक समता के आदर्श की उपलब्धि संभव है। इसका यह तात्पर्य नही है कि परोक्ष करों का कोई उपयोग नही है। वास्तव मे राज्य के जनोन्नति के प्रयासों में अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। यह समस्त धन प्रत्यक्ष करों से प्राप्त नहीं हो सकता। एतदर्थ परोक्ष करों का सहारा लेना ही पड़ता है, विशेष रूप से इसलिये कि उनके द्वारा धनप्राप्ति भी हो जाती है, साथ ही परोक्ष रूप में होने के कारण उद्ग्रहण के प्रति स्वाभाविक विरोध की प्रक्रिया भी तीव्र नहीं हो पाती।

करों के अन्य वर्गीकरण विशेष महत्वपूर्ण नही है। संक्षेप में वे हैं—(क) मूल्याधार या नाप तौल के आधार पर—कुछ वस्तुओं पर कर मूल्य के प्रतिशत पर लगता है, कुछ पर उनकी तौल के आधार पर; जैसे १ रुपया प्रति किलोग्राम, या ३० नए पैसे प्रति गज। (ख) आवश्यकता के आधार पर—जैसे सामान्य और आपत्कालीन कर। (ग) स्थायित्व के आधार पर, जैसे स्थायी और आपत्कालीन कर; उदाहरणार्थ, अतिरिक्त लाभकर, व्यापारिक लाभकर आदि, जो युद्धकाल में भारत में भी लगाए गए थे। (घ) क्षेत्राधिकार के आधार पर—जैसे, राष्ट्रीय, प्रांतीय तथा स्थानीय। (ङ) आनुपातिक आधार पर—इस आधार पर करों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—आनुपातिक, प्रगतिशील एवं प्रतिगामी। आनुपातिक कर उसे कहते हैं जो व्यक्ति की कर-देय-क्षमता की चिंता किए बिना प्रत्येक व्यक्ति से समान अनुपात से लिया जाता है। प्रगतिशील कर उसे कहते है जो कर-देय-क्षमता को ध्यान में रखते हुए अधिक

क्षमतावालों से अधिक और कम क्षमतावालों से कम लिया जाय। उदाहरणस्वरूप आयकर, व्ययकर आदि। प्रतिगामी कर प्रगतिशील का उल्टा होता है। अर्थात् जिन लोगों की कर देने की क्षमता कम है उन्हें अधिक और जिनकी क्षमता अधिक है, उन्हें कम कर देना होता है। फ्रांस में सन् १७८९ की राज्यक्रांति से पूर्व इसी प्रकार की करप्रणाली विद्यमान थी जहाँ अमीर सामंतों को कर 'नहीं' के बराबर देना होता था जब कि निर्धन कृषक करभार से दबे हुए थे। आजकल इस प्रकार के प्रतिगामी कर का शुद्ध उदाहरण प्राप्त होना कठिन है, परंतु वास्तव में अंतिम प्रभाव की दृष्टि से सारे ही परोक्ष कर प्रतिगामी होते हैं। इस दृष्टि से सभी आनुपातिक कर भी प्रतिगामी की श्रेणी में ही आ जाते हैं। इसलिये करों का वास्तविक वर्गीकरण आनुपातिक, प्रगतिशील और प्रतिगामी के रूप में नहीं अपितु प्रगतिशील और प्रतिगामी के ही रूप में होना चाहिए।

करनिर्धारण के आदर्श—करनिर्धारण राज्य द्वारा होता है। अतएव किस राज्य में करनिर्धारण कैसा हो, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उस राज्य के आदर्श क्या हैं। यदि राज्य स्वयं को नागरिकों की शांति, व्यवस्था और देश की सुरक्षा मात्र के लिये उत्तरदायी समझता है तो स्पष्ट है कि ऐसा राज्य देश की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन लाने की तनिक भी उत्सुकता न दिखाएगा। ऐसे राज्य में कर राज्य के लिये धन एकत्रित करने के साधन मात्र होंगे, उनका अन्य कोई उद्देश्य नहीं होगा। यह बात दूसरी है कि जो कर लगाए जायँ वे स्वयं अपनी प्रतिक्रिया द्वारा समाज के जीवन पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव छोड़ जायँ, पर राज्य का उद्देश्य करप्रणाली द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करना नहीं था। राज्य के कर्तव्यादर्श की यह विचारधारा अब बहुत पुरानी हो चुकी है।

१९वीं तथा २०वीं सदी के पूर्वार्ध में पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रांति के कारण जब आर्थिक प्रगति तीव्रता से हो रही थी, उस समय उन राज्यों की करप्रणाली का मुख्य उद्देश्य उत्पादन में सहायता प्रदान करना था।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सभी देशों के राजनीतिक एवं आर्थिक चिंतन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। अभी तक अधिकतर पाश्चात्य देशों के अर्थविदों एवं राजनीतिज्ञों का ध्यान केवल राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने में था। उस बढ़ती हुई राष्ट्र की संपदा का राष्ट्र के विभिन्न वर्गों में वितरण किस प्रकार हो रहा है, इस ओर राज्य का ध्यान बिल्कुल नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि पूँजीवादी अर्थनीति के कारण अधिकतर देशों में विभिन्न वर्गों में असमानता एवं विषमता बढ़ती गई। साथ ही, चूंकि पूंजीवादियों का मुख्य उद्देश्य लाभ की प्राप्ति था, इसलिये जब कभी उनके लाभांश में कमी होने का अंदेशा होता था, वह उत्पादन से एकदम हाथ खींच लेते थे और उत्पादित वस्तुओं को जला देने या समुद्रतल में डुबा देने में भी संकोच नहीं करते थे। १९३० में जब विश्वव्यापी महान् आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ तब उद्योगपतियों ने अपनी मिलों में ताले डाल दिए। राष्ट्रों का उत्पादन एकदम गिर गया, भयानक बेकारी चारों ओर फैल गई। आर्थिक वितरण की विषमता के कारण राष्ट्र की संपत्ति का अधिकांश उद्योगपतियों के पास था अतएव उन्हें अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ा। परंतु मध्यम एवं निम्न वर्ग के लोग मर मिटे। इन सब परिस्थितियों को देखकर समाजशास्त्रियों एवं अर्थविदों ने अपनी विरोध की आवाज ऊँची की और कहा कि राज्य को स्वयं ऐसी स्थिति में आर्थिक जीवन में प्राण डालने का प्रयास करना चाहिए एवं बेकारी तथा वितरण की समस्या को सदा के लिये दूर कर देना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप लोककल्याणकारी राज्य की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और राज्य के नागरिकों के प्रति कर्तव्यादर्श परिवर्तित हुए। राज्य की अर्थनीति को, करनीति जिसका एक अंतरंग भाग है, एक नई दिशा मिली और अर्थनीति का मुख्य उद्देश्य हो गया—(१) सब कार्य कर सकने योग्य व्यक्तियों को कार्य दिलाना (फुल एंप्लायमेंट) एवं (२) संपूर्ण समाज की सुख समृद्धि को अधिकतम करना (मैक्सिमम सोशल ऐडवैंटेज)। आजकल के सभ्य कहे जानेवाले सभी राष्ट्रों की अर्थनीति के यही दो आदर्श हैं। इन आदर्शों की पूर्ति के लिये जहाँ यह आवश्यक है कि राष्ट्र की आय अधिक से अधिकतर होती चले, वहाँ यह भी आवश्यक है कि यह बढ़ती हुई राष्ट्रसंपदा सब वर्गों में समान रूप से वितरित हो। यही कारण है कि जहाँ आजकल की करप्रणालियों में उत्पादन को प्रोत्साहन देने की व्यवस्था होती हैं वहाँ साथ ही इस बात का भी प्रबंध होता है कि धनिक वर्गों से अधिकाधिक धन कर द्वारा लेकर राज्य उसका व्यय लोकमंगल के कार्यों में करे जिसका अधिक लाभ उन वर्गों को प्राप्त हो जिनसे या तो कम कर लिया जाता है या बिल्कुल ही नहीं लिया जाता।

ऐसी सुव्यवस्थित करप्रणाली का निर्माण सरल नहीं है, जो राज्य के आदर्शों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर सके। अर्थशास्त्रियों ने सुव्यवस्थित करप्रणाली की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। वे ये हैं : (क) **लचीलापन**। करव्यवस्था ऐसी हो कि उससे आवश्यकतानुसार धनराशि का उद्ग्रहण कम या अधिक किया जा सके; (ख) **स्थायित्व**। करप्रणाली में शीघ्र परिवर्तन नहीं होने चाहिएँ। उसमें स्थायित्व का अंश रहना आवश्यक है अन्यथा करप्रशासन में बहुत कठिनाइयाँ होंगी; (ग) **सारल्य**। करव्यवस्था इतनी सरल हो कि जनसाधारण सुगमता से उसे समझ सके और अपने करभार का अनुमान लगा सके; (घ) **समानता तथा न्यायपरता**। यह नितांत आवश्यक है कि कोई नागरिक यह न अनुभव करे कि किसी वर्ग के साथ पक्षपात किया जा रहा है और स्वयं उसके साथ अन्याय या असमानता का व्यवहार किया गया है। यदि करव्यवस्था में वर्गविशेष के साथ पक्षपात होगा तो निश्चय ही समाज में अशांति होगी। (ङ) **मितव्ययता**। करप्रणाली इस प्रकार की हो कि करनिर्धारण करने एवं एकत्र करने में कम से कम व्यय हो।

संक्षेप में किसी भी अच्छी करव्यवस्था में कर इस प्रकार लगाए जायँ कि वे उत्पादन में बाधक न हों, उनके वसूल करने में कम से कम व्यय हो, उनके कारण नागरिकों में विरोध की भावना न उदित हो और सामाजिक दुर्गुणों का उदय न हो। यदि सामाजिक हित का प्रोत्साहन करव्यवस्था के द्वारा किया जाता है, नागरिकों को यह विश्वास हो जाता है कि करव्यवस्था न्यायसंगत है और उसके कारण उत्पादनक्षमता बढ़ती है और बेकारी की समस्या का निराकरण होता है, तो ऐसी आदर्श व्यवस्था में नागरिक को कर देने में भी उत्साह होता है।

करव्यवस्था में करप्रशासन का महत्व बहुत बड़ा है। करप्रशासन के बुरे होने पर करों के प्रति जनता में घृणा और क्रोध की भावना उत्पन्न होती है। इसीलिये यह कहा गया है कि करव्यवस्था के अच्छे या बुरे होने में विधायिका का हाथ १० प्रतिशत और प्रशासन का ९० प्रतिशत रहता है।

करनिर्धारण की तीन स्थितियाँ होती हैं। पहली स्थिति में विधायिका कर के नियम और अधिनियम बनाती है जिनके आधार पर प्रशासन करनिर्धारण करता है। दूसरी स्थिति करनिर्धारण की है जिसमें प्रशासक व्यक्तिविशेष की स्थिति (स्टेटस) पर ध्यान देते हुए विधायिका द्वारा निश्चित किए हुए नियमों एवं अधिनियमों के आधार पर उस व्यक्तिविशेष का करभार निर्धारित करते हैं। तीसरी स्थिति कर का उद्ग्रहण करने की है जिसमें निर्धारित कर को प्रशासन व्यक्ति से उद्ग्रहीत करता है। कर न देने की स्थिति में करप्रणाली में दंड का विधान भी होता है। दंड अधिकतर आर्थिक होता है किंतु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कारागार में बंदी बना दिए जाने का भी विधान होता है। करनिर्धारण एवं करोद्ग्रहण दोनों प्रशासन का उत्तरदायित्व है। इन कार्यों का सुचारु, निर्भीक एवं न्यायपूर्ण ढंग से संपादन करने में ही प्रशासन की कुशलता है।

(द्र० 'आयकर', 'दानकर', 'मृत्युकर', 'व्ययकर', 'संपत्तिकर')।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; एनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज़; ह्यू डाल्टन : पब्लिक फ़ाइनैंस; आइ० एस० गुलाटी : कैपिटल टैक्सेशन इन इंडिया। (रा० चं० पां०)

करमकल्ला एक प्रकार का शाक है, जिसमें केवल कोमल पत्तों का बँधा हुआ संपुट होता है। इसे बंदगोभी और पातगोभी भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसका नाम है कैबेज। यह जंगली करमकल्ले (ब्रैसिका ओलेरेसिया, *Brassica oleracea*) से विकसित किया गया है। शाक के लिये उगाया जानेवाला करमकल्ला मूल प्रारूप से बहुत भिन्न हो गया है, यद्यपि फूल और बीज में विशेष अंतर नहीं पड़ा है।

करमकल्ला (द्र० पृ० ४१६) तथा उद्रोध (द्र० पृ० १०६)

करमकल्ला (cabbage)
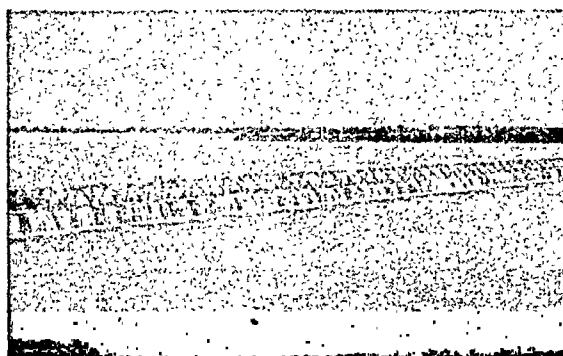
गंगा नदी पर बना नरौरा उद्रोध

उपग्रह (द्र० पृ० ११०)
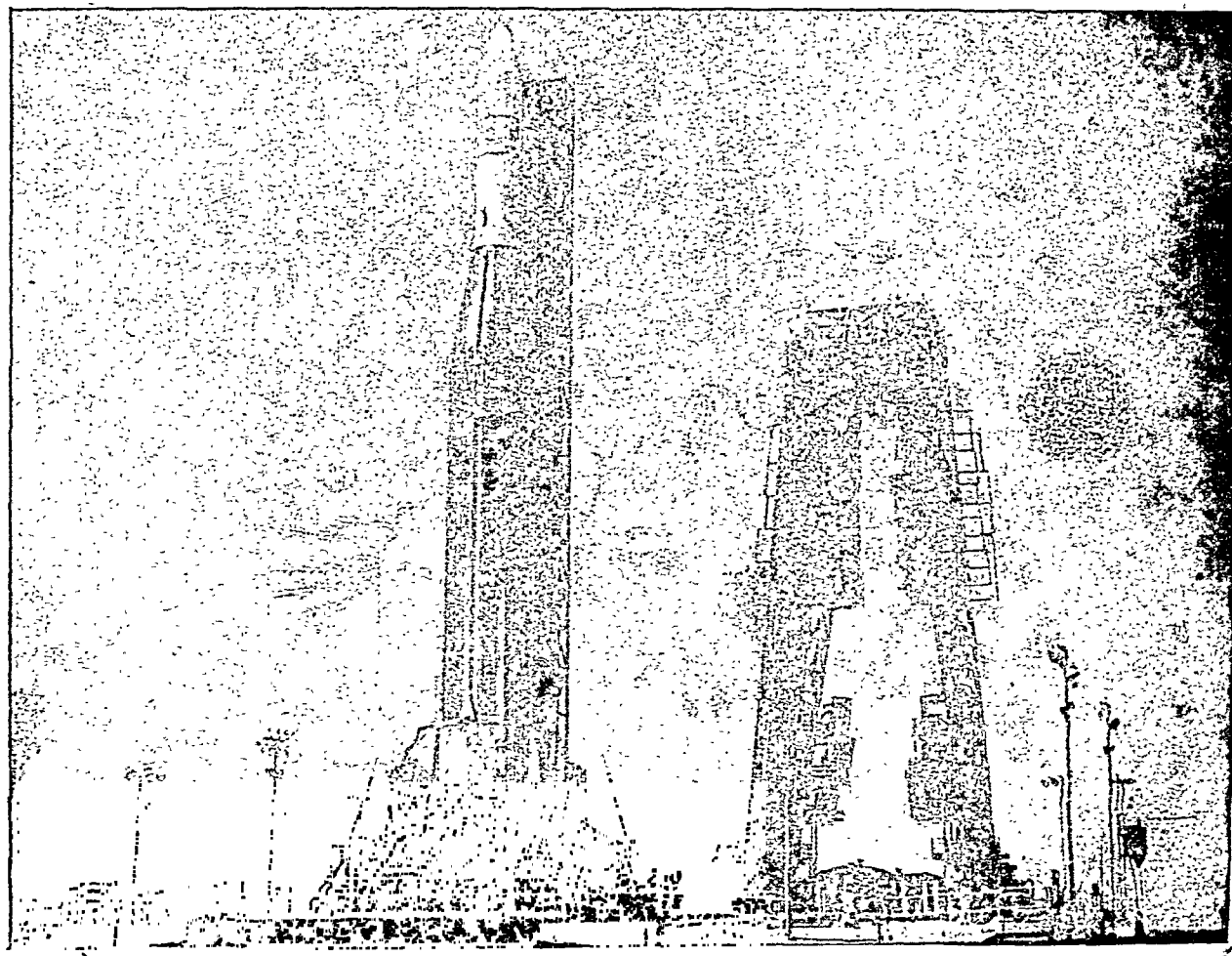
सैमोस उपग्रह सहित ऐजीना-ए
ऐटलैस नामक बृहत् प्रयाण स्टैंड पर उपर्युक्त दोनों यंत्र दागने के पूर्व रखे हैं ।

करमकल्ले के लिये पानी और ठंढे वातावरण की आवश्यकता है। इसको खाद भी खूब चाहिए। बीच में दो चार दिन गर्मी पड़ जाने से भी करमकल्ले का संपुट अच्छा नहीं बन पाता। संपुट बनने के बदले इसमें से शाखाएँ निकल पड़ती हैं, जिनमें फूल तथा बीज उगने लगते हैं। करमकल्ला पाला नहीं सहन कर सकता। पाले से यह मर जाता है। यद्यपि ऋतु ठंढी होनी चाहिए, तो भी करमकल्ले के पौधों को दिन में धूप मिलना आवश्यक है। छाँह में अच्छे पौधे नहीं उगते।

जैसा ऊपर कहा गया है, करमकल्ले के लिये खूब खाद चाहिए, परंतु किसी विशेष प्रकार की खाद की आवश्यकता नहीं है; यहाँ तक कि ताजे गोवर से भी यह काम चला लेता है, किंतु सड़ा गोवर और रासायनिक खाद इसके लिये अधिक उपयोगी है। अन्य पौधों में अधिक खाद देने से फूल अथवा फल देर मे तैयार होते हैं। इसके विपरीत करमकल्ला अधिक खाद पाने पर कम समय में ही खाने योग्य हो जाता है। पानी में थोड़ी भी कमी होने से पौधा मुरझाने लगता है और उसकी वृद्धि रुक जाती है। पर इसकी जड़ में पानी लगने से पौधा सड़ने लगता है। भूमि से पानी की निकासी अच्छी होनी चाहिए, जिसमें पानी जड़ों के पास एकत्र न होने पाए। भूमि दोरसी हो, अर्थात् उसमें चिकनी मिट्टी की भाँति बँधने की प्रवृत्ति न हो। जो भूमि पानी मिलने के पश्चात् बँधकर कड़ी हो जाती है वह करमकल्ले के लिये उपयुक्त नहीं होती। मिट्टी कुछ बलुई हो। इतने पर भी भूमि की गुड़ाई बार बार करनी चाहिए, परंतु गुड़ाई इतनी गहरी न की जाय कि जड़ ही कट जाय।

करमकल्ले की कई जातियाँ हैं। कुछ तो लगभग तीन महीने में तैयार हो जाती हैं और कुछ के तैयार होने में छह महीने तक समय लग सकता है। भारत के मैदानों के लिये शीघ्र तैयार होनेवाली जातियाँ ही उपयुक्त होती हैं, क्योंकि यहाँ जाड़ा अधिक दिनों तक नहीं पड़ता। आकृतियों में भी बहुत अंतर होता है। कुछ का पत्ता इतना छोटा और सिर इतना चिपटा रहता है कि वे भूमि पर बिछे हुए जान पड़ते हैं। कुछ के तने १६ से २० इंच तक लंबे होते हैं। उनका सिर गोल, अंडाकार या शंक्वाकार हो सकता है। पत्तियों का रंग पिलछौंव, हरा, धानी (गाढ़ा हरा), अथवा इतना गहरा लाल होता है कि वे काली दिखाई पड़ती हैं। भारत के मैदानों में हलके रंग के करमकल्ले ही उगाए जाते हैं। कुछ के पत्ते चिकने और कुछ के झालरदार होते हैं। अमरीका के बीज बेचनेवाले पाँच सौ से अधिक जातियों के बीज बेचते हैं।

यद्यपि कुछ स्थानों में खेत में ही बीज बो दिया जाता है और उनके उगने पर अवांछित पौधों को निकालकर फेंक दिया जाता है, तो भी सुविधा इसी में होती है कि बीजों को छिछले गमलों में बोया जाय। १०-१५ दिन के बाद इनको अन्य बड़े गमलों में दो से चार इंच तक की दूरी पर रोप दिया जाता है। कुछ समय और बीतने पर इन्हें खेतों में आरोपित कर देते हैं। रद्दी बीज, पौधों को बहुत पास पास आरोपित करना, आरोपण में असावधानी, शरद ऋतु से पूर्व ही उन्हें खेतों में लगा देना अथवा खेतों में आरोपित करने में विलंब करना, भूमि का अनुपयुक्त होना, अथवा पानी की कमी, इन सबके कारण करमकल्लों में बहुधा अच्छा संपुट (सर) नहीं बन पाता और वे शीघ्र फूल और बीज देने लगते हैं।

भारत में पौधे ७-८ से लेकर २०-२२ इंच तक की दूरी पर लगाए जाते हैं और गोड़ने का काम हाथ से किया जाता है, परंतु अमरीका में पंक्तियों के बीच बहुधा ३०-३६ इंच तक की दूरी छोड़ दी जाती है और मशीन से गुड़ाई की जाती है। संपुट बन जाने पर भी गोड़ाई और सिंचाई करते रहना चाहिए, क्योंकि इससे संपुट का भार बढ़ता रहता है।

तैयार पौधों को काटकर बाहर की कुछ पत्तियाँ तोड़कर फेंक दी जाती हैं। भारत में उन्हें खाँचे में भरकर, सिर पर उठाकर अथवा इक्कों में लादकर बाजार पहुँचाया जाता है, पर विदेशों में इस काम के लिये मोटर गाड़ियों का उपयोग होता है।

विदेश में करमकल्ले की नरम पत्तियों पर नमक छिड़ककर और कुछ समय तक उन्हें रखकर एक प्रकार का अचार बनाया जाता है, जिसे सावर क्राउट (Sour crout) कहते हैं।

भूमि में रहनेवाला एक परजीवी करमकल्ले में रोग उत्पन्न करता है। अधिकतर यह भूमि के अम्ल में पनपता है और मिट्टी में चूना तथा राख मिलाने से नष्ट होता है, परंतु यदि पौधों में यह परजीवी (प्लैस्मोडायोफ़ोरा ब्रैसिका, (Plasmodiophora Brassica) लग ही जाय तो उन पौधों को जला देना चाहिए और उस भूमि मे चार पाँच वर्षों तक करमकल्ला नही बोना चाहिए। करमकल्ले में तने के सड़ने की प्रवृत्ति एक संक्रामक रोग से उत्पन्न होती है, जो आक्रांत बीज तथा रोगग्रस्त करमकल्ला खानेवाले चौपायों के गोवर आदि से फैलता है। रोगग्रस्त पौधों को जला डालना चाहिए और अगली बार बीज बोते समय गमले की मिट्टी को फ़ॉरमैल्डिहाइड (Formaldehyde) के फीके विलयन से (एक भाग को २६० भाग जल में मिलाकर) कुछ समय तक तर रखना चाहिए। बीज को भी १५ मिनट तक इसी विलयन में भिगो रखना चाहिए। कभी कभी करमकल्ला खानेवाले पतिंगों से फसल की रक्षा करनी पड़ती है। यह काम पौधों से कुछ ऊँचाई पर मसहरी तानकर किया जाता है, किंतु भारत में इसकी आवश्यकता कदाचित् ही कहीं पड़ती है। तना काटनेवाले कीड़ों को मारने के लिये आटे या चोकर में थोड़ा चोटा और पेरिस ग्रीन ताजे घास में मिलाकर खेत में छोड़ देना चाहिए। करमकल्ले के सिरों में घुमनेवाले कीड़ों को मिट्टी के तेल, साबुन, पानी और पेरिस ग्रीन का मिश्रण छिड़ककर नष्ट किया जाता है।

करमान (प्राचीन करमेनिया) बलूचिस्तान (पाकिस्तान) के पश्चिम एक प्रदेश है जिसमें पूर्वी ईरान के मकरान तथा बलूचिस्तान के प्रदेश संमिलित हैं। संपूर्ण प्रदेश उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व जानेवाली पर्वतश्रेणियों से घिरा हुआ है जिसके उत्तर में कुहरुड की श्रेणियाँ मिलती हैं। इनकी अधिकतम ऊँचाई १५,००० फुट है। दक्षिण की पर्वतश्रेणियाँ अपेक्षाकृत कम ऊँची हैं, परंतु वर्ष के अधिकांश भाग तक इन श्रेणियों की चोटियों पर बर्फ जमी रहती है। करमान में कोई महत्वपूर्ण नदी नहीं है।

करमान का उत्तरी तथा उत्तरपूर्वी भाग पूर्णतः रेगिस्तान है जिसमें वनस्पति नाम मात्र को नहीं मिलती। यहाँ की जलवायु बहुत ठंढी है, परंतु कुछ प्रदेशों तथा घाटियों में सिंचाई द्वारा गेहूँ, जौ, खजूर, पोस्ता आदि उगाते हैं। भेड़, बकरी चराना मुख्य उद्यम है और बकरियों के बाल से, जिसे 'कुर्क' कहते हैं, शाल तैयार किए जाते हैं। ये शाल इस स्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। अधिकतर निवासी ईरानी हैं, परंतु यायावर जातियों में अरब, तुर्क और कुर्द लोगों की संख्या अधिक है।

प्रदेश का कुल क्षेत्रफल ६५,००० वर्ग मील, और जनसंख्या १९६६ में, ७,७३,६६९ थी। करमान यहाँ की राजधानी तथा बंदर अब्बास यहाँ का बंदरगाह है। करमान नगर (राजधानी) की जनसंख्या १९६६ में १,१८,३४४ थी। (उ० सिं०)

करमानशाह ईरान के पश्चिमी भाग में हमदान के पश्चिम तथा कुर्दिस्तान के दक्षिण ईराक की सीमा तक फैला हुआ ईरान का बहुत ही धनी प्रदेश है जहाँ गेहूँ, मक्का, चावल, अंडी का तेल, पोस्ता, फल आदि उत्पन्न किए जाते है। पहाड़ियों पर अच्छे चरागाह हैं, जिनमें भेड़ बकरियाँ अधिक संख्या में पाली जाती है। भेड़ों का मांस अधिकतर तेहरान नगर को भेजा जाता है। करमानशाह प्रदेश की जनसंख्या १९६६ में ७,७६,४०९ थी। करमानशाह इस प्रदेश का मुख्य नगर है। यह नगर समुद्र से ४,८६० फुट की ऊँचाई पर एक उपजाऊ मैदान में ३४° २०′ उ० अ० और ४७° पू० दे० पर स्थित है। इसकी उन्नति का मुख्य कारण इसकी औद्योगिक स्थिति है, क्योंकि यहाँ से बगदाद का व्यापार ईरान में प्रवेश करता है। करमानशाहनगर (राजधानी) की जनसंख्या १९६६ में, १,८७,९३० थी। (उ० सिं०)

कराईकुडि तमिलनाडु राज्य के रामनाथपुरम् जिले का एक नगर है (स्थिति १०° ४′ उ० अ०, ७८° ४३′ पू० दे०)। यह स्थानीय व्यापार का मुख्य केंद्र है। यहाँ पर अधिकतर नट्टकोट्टई चेट्टी जाति के धनी मानी

व्यापारी तथा महाजन लोग अधिक संख्या में निवास करते हैं जिनके अच्छे अच्छे मकानों से नगर की शोभा बढ़ गई है। (उ० सिं०)

कराकोरम पर्वतमाला एशिया महाद्वीप में तारिम तथा सिंधु बेसिन के मध्य, तिव्वत की सीमा के पश्चिम ३४° उ० अ० से ३७° उ० अ० और ७४° पू० दे० से ७८° पू० दे० तक लगभग २५० मील की दूरी में फैली हुई है। उक्त नाम १८,५५० फुट की ऊँचाई पर अवस्थित कराकोरम दर्रे के लिये है जो कश्मीर के खोतान स्थान से चीन के सिनकियांग प्रांत तक जाने के लिये प्राचीनतम मार्ग रहा है। इस अत्यंत विषम पर्वतीय क्षेत्र में संसार का सर्वोच्च द्वितीय शिखर गाडविन आस्टिन (Mt. K_2, २८,२५० फुट) के अतिरिक्त गैशेरब्रम (२६,७७०), मैशेरब्रम (२५,६६०) तथा अन्य ऊँचे शिखर हैं। इस पर्वतमाला में ६० शिखर २२,००० फुट से तथा ३३ शिखर २४,००० फुट से भी अधिक ऊँचे हैं। डे टेरी के अनुसार उत्तर से दक्षिण कराकोरम की चार प्रमुख श्रेणियाँ हैं। उत्तर पश्चिम में ये श्रेणियाँ पामीर एवं हिंदूकुश तथा पूरब में पैंगाम श्रेणियों के द्वारा कैलास से मिल जाती है। मुख्य पर्वतश्रेणी को मुजताघ कराकोरम भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अधिक कराकोरम पर्वतश्रेणी, कैलास कराकोरम श्रेणी और लद्दाख पर्वतश्रेणियाँ हैं। ये श्रेणियाँ सिंधु एवं तारिम बेसिन की नदियों के बीच प्रमुख जलविभाजक का कार्य करती हैं। कराकोरम में लद्दाख एवं कुएनलुन पर्वतों के मध्य तृतीय युग (tertiary) के जमाव नहीं मिलते, अतः हिमालय की अपेक्षा यह अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। ऊँचे शिखरप्रांतों में आग्नेय, तलछटी तथा कार्यांतरित तीनों प्रकार की चट्टानों का विषम संमिश्रण दृष्टिगोचर होता है। कराकोरम दर्रे के क्षेत्र में लाइएसिक (Liassic) तथा क्रोटेशश (Cretaceous) युग के जमाव मिलते हैं। दक्षिणी श्रेणियाँ मुख्य ग्रेनाइट एवं साइएनाइट (Syenite) चट्टानों द्वारा निर्मित हैं।

उपध्रुवीय क्षेत्र के बाहर कराकोरम में ही वृहत्तर हिमानियाँ हैं। विशाल धरातलीय हिमानियों में हिस्पर, बाल्टोरो, बिआफो, सियाचेन और रेमो मुख्य हैं। हिस्पर नदी की घाटी (१५,०००′) मध्य एशिया में जाने का प्रमुख मार्ग तथा लेह और यारकंद के मध्य एक अन्य दर्रा (१८,३००′) है। १९,०३० फुट ऊँचा मुजताघ दर्रा संसार का सर्वोच्च व्यापारिक दर्रा है। राजनीतिक द्वंद्वों के कारण इन दर्रों का आधुनिक महत्व कम हो गया है परंतु इनका ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है।

(का० ना० सिं०; शी० प्र० सिं०)

कराची सिंध नदी के त्रिभुज (डेल्टा) पर स्थित अविभाजित भारत का तृतीय बंदरगाह तथा संप्रति पाकिस्तान के सिंध प्रांत की राजधानी और उस देश का प्रथम बंदरगाह है (स्थिति २४° ५५′ उ० अ० और ६७° पू० दे०, ज० सं० १९,१२,५९८ (१९६१)। यह बंदरगाह एक लंबी शैलभित्ति (रीफ़) द्वारा अरब सागर की धाराओं तथा तीव्र पवनों से सुरक्षित है। जहाज कियामरी द्वीप के निकट रुकते हैं, जो नगर से तीन मील लंबे बाँध द्वारा, जिसे 'नेपियर मोल' कहते हैं, जुड़ा है।

कराची की जलवायु शुष्क है। यहाँ की वार्षिक वर्षा केवल ५″ है जो दो महीने, जुलाई एवं अगस्त में, होती है, पर दिसंबर में दो एक अच्छे फुहारे पड़ जाते हैं। नवंबर से मार्च तक का जाड़े का समय बड़ा सुहावना होता है। शेष मास तर समुद्री हवाओं के प्रभाव के कारण नम होते हैं। गर्मी के महीनों में तापमान फिर भी अधिक होता है और सामान्यतः ८०° फा० रहता है।

सन् १७५० ई० के पूर्व इस स्थान पर किसी नगर के स्थापित होने के चिह्न नहीं मिलते। सिंध के प्राचीन बंदरगाह, शाह बंदर, के पट जाने के कारण इस स्थल पर स्थित एक गाँव के व्यापार को काफी सहायता मिली। धीरे धीरे यह नगर के रूप में आया, जिसे तालपुर के मीरों ने अपने अधिकार में कर लिया। उन्होंने 'बंदरगाह' के मुख्य द्वार, मनोरा पर एक दुर्ग भी बनाया। सन् १८४३ ई० में जब अंग्रेजों ने इस नगर पर आधिपत्य जमाया, इसकी जनसंख्या केवल १४,००० थी।

कराची के उत्थान में सर चार्ल्स नेपियर का काफी हाथ रहा जिनके योजनानुसार १८५४ ई० में नेपियर मोल का निर्माण हुआ और वर्तमान पत्तन की रूपरेखा स्थापित हुई। कुछ ही वर्ष बाद अमरीका के गृहयुद्ध के कारण रूई का भाव अधिक बढ़ गया और नगर को इस व्यापार से काफी आय हुई। सन् १८६३–६४ ई० के कराची व्यापार का मूल्य १८५७–५८ ई० के व्यापार के मूल्य का २८ गुना हो गया। १८७८ ई० में निर्मित रेलों द्वारा नगर का संबंध पंजाब के भीतरी भागों से भी हो गया जिससे यहाँ के व्यापार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। सक्खर बाँध से सिंचाई का प्रबंध होने पर कराची की निकटवर्ती पृष्ठभूमि अधिक उपजाऊ सिद्ध हुई और उसने नगर की उन्नति को विशेष प्रभावित किया।

कराची को व्यापार संबंधी एक और सुविधा थी। यह पत्तन निकटवर्ती पत्तन बंबई की अपेक्षा, स्वेज मार्ग द्वारा, लंदन से करीब २०० मील निकट था। इस कारण उत्तर-पश्चिमी भारत के आयात निर्यात का एक बड़ा भाग इस पत्तन से होता था। १९१८ ई० और १९३९ ई० के बीच अंतरराष्ट्रीय वायुमार्ग की वृद्धि के कारण नगर की महत्ता और भी बढ़ी। मिट्टी के तेल की खानों की निकटता, समुद्रतल से कम ऊँचाई पर स्थित विस्तृत मैदान, तथा बाढ़ आदि से सुरक्षा, कम ऊँचाई पर के बादलों की प्रायः न्यूनता, इत्यादि बातें इसे वायुमार्ग का केंद्र बनाने में यथेष्ट सहायक सिद्ध हुई हैं।

कराची का औद्योगिक विकास अधिक नहीं हो पाया है। यहाँ के मुख्य उद्योगों में मौरीपुर में नमक बनाने का उद्योग, आटे की मिलें तथा सीमेंट के कारखाने मुख्य हैं। परंतु अब लोहे के कई कल कारखाने तथा रुई की गाँठें बाँधने के कारखाने भी खुल गए हैं।

नगर की सबसे बड़ी कठिनाई पीने के पानी का दुर्लभत्व है। पानी नलकूपों द्वारा प्राप्त किया जाता है। परंतु विभाजन के कुछ दिन पूर्व सिंधु नदी पर ९० मील लंबा एक बाँध बनाकर पानी की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया गया था। पानी की कमी के कारण नगर की सफाई करने तथा धरातल के नीचे नालियों द्वारा गंदगी बहाने में भी कठिनाई होती है।

कराची आधुनिक युग का नगर है। सड़कें अपेक्षाकृत चौड़ी हैं, तथा इमारतों में नवीनता है। कुछ इमारतें अच्छी हैं। कॉटन एक्सचेंज, एसेंबली हाउस, हवाई अड्डा आदि का निर्माण अर्वाचीन शैली पर हुआ है।

पंजाब के नहरी क्षेत्रों में गेहूँ के उत्पादन की वृद्धि से कराची से गेहूँ का निर्यात अधिक बढ़ गया। गेहूँ के अतिरिक्त तेलहन, रूई, ऊन, चमड़े तथा खाल, हड्डी आदि वस्तुएँ यहाँ से निर्यात की जाती हैं। आयात की वस्तुओं में मशीनें, मोटर गाड़ियाँ, पेट्रोल, चीनी, लोहा तथा लोहे के सामान मुख्य हैं।

विभाजन के कारण कराची में शरणार्थी बड़ी संख्या में पहुँचे जिन्हें अस्थायी तथा स्थायी रूप में बसाना नगर के लिये कठिन समस्या बन गई। अस्थायी तथा स्थायी रूप में बसाना नगर के लिये कठिन समस्या बन गई थी। नगर के विस्तार, कई नियोजित उपनगरों की स्थापना, उद्योग धंधों की वृद्धि आदि से भी इस समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं हो पाया है। अतः आजकल भी कराची की सड़कों पर सोनेवालों की संख्या बहुत बड़ी है। बहुतों ने सड़कों पर ही टेढ़े सीधे घेर घारकर मकान बना लिए हैं तथा दुकानें खोल रखी हैं, जिसके कारण नगर का स्वरूप बड़ा विकृत हो गया है।

बंदरगाह की पृष्ठभूमि विशेष विस्तृत है। इसके अंतर्गत संपूर्ण सिंध, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा पश्चिमी पंजाब के क्षेत्र संमिलित हैं।

(उ० सिं०)

करीमनगर आंध्र प्रदेश का एक नगर है। यहाँ से करीमनगर जिले तथा ताल्लुके का प्रबंध होता है। नगर मनेरी नदी पर स्थित है (स्थिति १८° २६′ उ० अ० तथा ७९° ८′ पू० दे०)। इस नगर में जिले की कचहरियाँ, अस्पताल, स्थानीय शासन संबंधी कार्यालय, कई पाठशालाएँ एवं विद्यालय स्थापित हैं।

करीमनगर जिला अधिकतर पहाड़ी है। इसका धरातल प्राचीन युग की चट्टानों, आद्यकल्पीय पट्टिताश्म (आर्कियन नाइस) तथा गोंडवाना आदि से बना है। जिले के अधिकतर भागों में नाइस चट्टानें मिलती हैं।

यहाँ की जलवायु गरम और तर है। अधिकतम ताप १००° से ११०° फा० तक तथा न्यूनतम (दिसंबर) ६०° फा० होता है। वार्षिक वर्षा का औसत ३३" है। जिले की जनसंख्या १९७१ में, १६,५६,३७३ थी।

जिले का बहुत बड़ा भाग जंगल से ढका है जिसमें हिरन से लेकर शेर तक अनेक जंगली जानवर रहते है। (उ० सिं०)

करुणगीति (एलिजी) द्र० 'गीत'।

करुणा चित्त की एक भावना अथवा वृत्ति। यह दुखी जीवों के प्रति दया अथवा सहानुभूति के रूप में व्यक्त होती है। भारतीय दर्शनों में इस वृत्ति के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। इसे मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये तथा चित्त में शांति तथा समत्व की प्राप्ति के लिये आवश्यक माना गया है। पतंजलि ने **योगसूत्र** में करुणा का मैत्री, मुदिता और उपेक्षा के साथ उल्लेख किया है। जैन आचार्य उमास्वामी ने **तत्वार्थाधिगम** सूत्र में करुणा का मैत्री, प्रमोद और माध्यस्थ वृत्तियों के साथ उल्लेख किया है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार बोधिसत्वों का हृदय करुणा से ओतप्रोत रहता है और वे प्राणिमात्र के दुःखों को दूर करने के लिये कृतसंकल्प होते हैं। (रा० शं० मिं०)

करुणाभरण नाटक ब्रजभाषा का अत्यंत महत्वपूर्ण काव्यनाटक। इसके रचयिता लछिराम हैं। कृष्णजीवन से संबंधित यह नाटक दोहा, चौपाई छंदों में लिखा गया है और अंकों में विभाजित है। अंकों का नामकरण राधा अवस्था, राधा मिलन आदि शीर्षकों में किया गया है। इसमें कृष्ण का, सूर्यग्रहण के अवसर पर, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि के साथ कुरुक्षेत्र आना और वहाँ नंद, यशोदा, राधा, गोपियों तथा गोपसमूह से उनका मिलन वर्णित है। करुणाभरण का कथानक अत्यंत प्रौढ़ एवं नाट्यधर्मी है। पात्रों को मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रस्तुत किया गया है और उनका अंतर्द्वंद्व भी उभड़कर सामने आता है। नाटक में मानसिक संघर्ष की मात्रा अधिक है। सत्यभामा की ईर्ष्या को केंद्रबिंदु बनाकर कथानक का ताना बाना बुना गया है। भाषा सीधी सादी, सरस तथा सहज प्रवाहपूर्ण है। संवाद चुटीले हैं और वर्णन भी उबानेवाले नहीं हैं।

करुणाभरण नाटक के निर्माणकाल को लेकर काफी मतभेद है। बाबू ब्रजरत्नदास (हिंदी नाट्य साहित्य, च० सं०, पृ० ६०) तथा डा० दशरथ ओझा (हिंदी नाटक : उद्भव और विकास, प्र० सं०, पृ० १६१) इसका प्रणयनकाल १७७२ वि० (१७१५ ई०) मानते हैं जिसका आधार सरस्वती भवन, उदयपुरवाली सं० १७७२ वि० की हस्तलिखित प्रति है किंतु याज्ञिक संग्रह के एक हस्तलेख (याज्ञिकसंग्रह, ८१२।३६, आर्यभाषा पुस्तकालय, ना० प्र० सभा, काशी) में इसका लिपिकाल १७५१ वि० (१६९४ ई०) मिलता है। साथ ही, उक्त नाटक के सातवें अंक में उल्लेख है कि लछिराम ने इस नाटक को बनाकर संन्यासी कवींद्र सरस्वती को दिखाया। कवींद्र सरस्वती ने 'योगवासिष्ठसार' की रचना १६५७ ई० में की थी। अतः करुणाभरण नाटक का निर्माणकाल १६५७ ई० के लगभग माना जा सकता है।

करुणाभरण में सात अंक हैं किंतु इसके जितने भी हस्तलेख मिले हैं उनमें से अधिकांश में छह अंक ही हैं। सातवाँ अंक अलग से मिलता है। छठे अंक के अंत में रचनाकार ने सूचना दी है कि उसने ३०० छंदों (छंद तीन से करे रसाला) में उक्त ग्रंथ की रचना की है और गणना करने पर छठे अंक के अंत तक ३०० छंद ही मिलते हैं। सातवें अंक में ३५ छंद हैं। इस प्रकार सातवें अंक के छंदों को संमिलित करने पर छंदसंख्या ३३५ हो जाती है। इसके अतिरिक्त छठे अंक के अंत तक नाटक दुःखांत है और नाटक के 'करुणाभरण' नामकरण से भी यही प्रतीत होता है कि कवि ने मूलतः दुःखांत नाटक लिखा था। हो सकता है, दुःखांत होने से करुणाभरण नाटक की तीव्र आलोचना हुई हो या फिर कवींद्र सरस्वती ने ही नाटक को दुःखांत के बजाय सुखांत बनाने का निर्देश दिया हो और उन्हीं के परामर्श के अनुसार कवि ने ३५ छंदों का सातवाँ अंक जोड़ दिया हो। सातवें अंक के अंत में पुष्पिका है—'इति श्री करुणा नाटक देवीदास कृत संपूर्ण।' इसी अंक के एक दूसरे हस्तलेख में की पुष्पिका में 'देवदत्त गुरु' नाम मिलता है (हस्तलेख ५७१।२०, आर्यभाषा पुस्तकालय, ना० प्र० सभा, काशी)। देवीदास और देवदत्त गुरु एक ही व्यक्ति के नाम हो सकते है। ये लछिराम के गुरु रहे होंगे और उन्हीं के कहने से नाटक को सुखांत बनाने के लिये सातवें अंक की रचना की गई होगी।

करुणाभरण नाटक यद्यपि काव्यनाटक है और आलोचक प्रबंधशैली पर लिखे ब्रजभाषा काव्य नाटकों को नाटक नहीं मानते, तो भी इस नाटक का मंचन हुआ था, इस बात के प्रमाण मिल जाते हैं। कवि स्वयं कहता है :

> लछिराम नाटक कियो, दीनो गुनिन पढ़ाय।
> भेष - रेप - निर्तन निपुन लाए नट निस धाय।।
> सुहृद मंडली जोरि तहाँ कीना बड़ो समाज।
> जो उनि नाच्यो सो कह्यो कविता में सुख साज।।

कवि के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि नाटक का मंचन हुआ था और रात्रि के समय हुआ था। एक साक्ष्य और भी है। इस नाटक के पहाड़ी शैली के १७ चित्र मिलते हैं (कलानिधि पत्रिका, संपादक, राय कृष्णदास, श्रावण, २००५ अंक में श्री गोपालकृष्ण का 'करुणाभरण नाटक और उसकी चित्रावली' शीर्षक लेख)। लगता है, उक्त चित्र या तो नाटक के चित्राभिनय के लिये बनाए गए थे अथवा नाटकीय दृश्यों की आयोजना के लिये। साथ ही उक्त नाटक का एक अन्य नाम 'कुरुक्षेत्र-लीला' भी मिलता है—'अथ कुरुक्षेत्र लीला लीषते'। इससे सिद्ध होता है कि मंचन हेतु जननाट्य से संबंधित रासलीला शैली में इसका प्रणयन किया गया था। (कै० चं० श०)

करूर त्रिचनापल्ली से ४८ मील दूर कावेरी और अमरावती नदी के संगम के निकट अमरावती नदी के तट पर स्थित है। स्थिति १०° ५८' उ० अ० और ७८° ८' पू० दे०। यह दक्षिण भारत का एक प्राचीन नगर है जो १०वीं शताब्दी में चोलों के अधिकार में था और अगले ६०० वर्षों तक विजयनगर राज्य का एक अंग था। १६वीं शताब्दी के मध्य काल में यह मदुरा के नायकों के हाथ में चला गया। १७८३ ई० में यह नगर ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में आया और १७८४ ई० की संधि के अनुसार मैसूर को वापस कर दिया गया। १७९९ ई० में अंग्रेजों ने पुनः नगर पर अधिकार कर लिया और तब से यह बराबर अंग्रेजों के अधिकार में रहा। १८०१ ई० में इसे महत्वपूर्ण सैनिक केंद्र बनाया गया।

यहाँ पर पीतल एवं ताँबे के कुछ कार्य होते है। लकड़ी का काम, पत्थर का काम, चूड़ी बनाने का उद्योग, टोकरी बनाने का उद्यम तथा कपड़े बुनने के काम भी होते हैं। रेलवे लाइन पर बसे तथा कई सड़कों का केंद्र होने के कारण यह व्यापारी नगर बन गया है।

यह नगर एक धार्मिक स्थान भी है। नगर में यत्रतत्र कई शिवालय हैं। यहाँ का सबसे प्रसिद्ध मंदिर पशुपतीश्वर स्वामी का है जिसमें पाँच फुट का शिवलिंग स्थापित है।

नगर का सबसे बड़ा दोष अत्यंत घना बसा होना है। सड़कें पतली तथा टेढ़ी मेढ़ी हैं और इमारतें पुरानी शैली पर बनी हुई है। (उ० सिं०)

करेला कड़ुए स्वादवाला प्रसिद्ध भारतीय फल शाक है, जिसके फल का तरकारी के रूप में और पत्रशाक अथवा पत्रस्वरस का चिकित्सा में प्रयोग होता है। यह लता जाति की स्वयंजात और कृषिजन्य वनस्पति है, जिसे कुकरबिटेसी (Cucurbitaceae) कुल के मोमोर्डिका चरंशिया (Momordica charantia) के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है। इसे कारवेल्लक, कारवेल्लिका, करेल, करेली तथा काँरले आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।

करेले की आरोही अथवा विसर्पी कोमल लताएँ, झाड़ियों और बाड़ों पर स्वयंजात अथवा खेतों में बोई हुई पाई जाती है। इनकी पत्तियाँ ५—७ खंडों में विभक्त, तंतु (ट्रेंड्रिल, tendril) अविभक्त, पुष्प पीले और फल उन्नत मुलिकावाले (ट्यूबर्कल्ड, tubercled) होते हैं।

कटुतिक्त होने पर भी रुचिकर और पथ्य शाक के रूप में इसका बहुत व्यवहार होता है। चिकित्सा में लता या पत्र स्वरस का उपयोग दीपन, भेदन, कफ-पित्त-नाश तथा ज्वर, कृमि, वातरक्त, और आमवातादि में हितकर माना जाता है। (ब० सिं०)

करोटिमापन मानव की विभिन्न जातियों के कपाल (करोटि) आकार और रूप में भिन्न होते हैं और उनका अध्ययन करोटिमापन का विषय है जो नृतत्वशास्त्र की शाखा है। करोटि का ठीक ठीक मापन ही करोटिमापन की मूलभूत तकनीक है और कालावधि में इससे ही नापने की विधि निकली है। इस विधि में भूचिह्न (लैंडमार्क्स) और अनुस्थिति के धरातल (प्लेन्स ऑव ओरिएंटेशन) संश्लिष्ट रहते हैं। इन सबकी अंतरराष्ट्रीय समझौतों के द्वारा सही सही व्याख्या की हुई होती है। इस अर्थ में करोटिमापन किसी भी तरह की करोटि पर लागू होता है, किंतु, चूँकि इसका उपयोग अत्यंत गहन रूप से मानव करोटि पर हुआ है, अतः यह मानव-शरीर-मापन के बृहत्तम क्षेत्र का एक अंश है।

रेखीय मापन के अतिरिक्त करोटि गह्वर की धारकता भी नापी जाती है जिसमें उसमें के मस्तिष्क का अच्छा निर्देश मिलता है। औसत मानव की करोटि धारकता १४५० घ० सें० मी० से अधिक होती है और उसे दीर्घकरोटि कहते हैं। करोटि की चौड़ाई से लंबाई का अनुपात $\left(\frac{\text{चौड़ाई}}{\text{लंबाई}} \times १००\right)$ करोटि निर्देशांक निर्धारित करता है और यदि यह निर्देशांक ८० से ऊपर रहता है तो करोटि का वर्गीकरण चौड़ा होता है; ७५ और ८० के बीच का मध्यम और ७५ से कम होने पर लंबा।

मानव-शरीर-मापन की शाखा के रूप में करोटिमापन का एक प्रतिरूप भी है जो जीवित व्यक्तियों के शिरोमापन से संबंध रखता है और जिसे प्रायः शिरोमापन कहते हैं। इनमें विभेद महत्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि बहुतेरे भूचिह्नों तथा मापों का दोनों में प्रयोग होता है तथापि शिरोमापन में मापें कुछ बड़ी रहती हैं क्योंकि वे चर्म तथा अन्य तंतुओं के ऊपर से ली जाती हैं।

सामान्यतः मानव-शरीर-मापन के समान ही करोटिमापन का उद्देश्य वस्तुपरक मीट्रिक अंकों में विवरण देना होता है जिन्हें कोई भी कहीं आँक सके और तुलना में उपयोग कर सके। इसके अतिरिक्त, चूँकि करोटि में भिन्नता रहती है, करोटिमापन करनेवालों का लक्ष्य सामान्यतः विभिन्न प्रकारों के कपालों की श्रेणियों का मापन होता है जिससे प्रत्येक के लिये औसत अंक प्राप्त हो सके। इसके लिये वे समुचित सांख्यिकी विधियों का प्रयोग करते हैं।

जे० एफ़० ब्लूयेनबाख़ करोटिमापन के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके अनुशीलन ने जातियों के प्ररूपों को स्थिर करने में करोटि के रूपों के महत्व का उद्घाटन किया। स्विडन के आंड्रेज अडाल्फ़ केजियस (१७९६–१८६०) ने कैरोटिक निर्देशांक का आविष्कार किया और सँकरे करोटि को दीर्घ करोटि (डोलीकोसेफ़ैलिक) और चौड़े को लघुकरोटि (ब्रैकीसेफ़ैलिक) संज्ञा दी।

करोटिमापन ने १९वीं शती में, विशेषतः फ्रांस के पाल ब्रोका के नेतृत्व में अत्यधिक प्रगति की। १८८२ के फ़ैंकफ़ुर्त समझौते की एक विशिष्ट बात थी करोटिमापन की मापों के लिये करोटियों का मानक निर्धारित करना। इसे फ़ैंकफ़ुर्त क्षैतिज (फ़ैंकफ़ुर्त हारिज़ांटल) अथवा एफ़० एच० कहते हैं। उसके बाद मनुष्य की करोटि के विश्लेषण के अधिक प्रयोग किए गए। यद्यपि ये बहुसंख्यक नहीं हैं तथापि करोटिमापन के अध्ययन के विषय में बहुत महत्व के हैं। इसके अतिरिक्त चूँकि ये अनुसंधान प्रायः अपूर्ण हैं और विश्व में इतने व्यापक रूप से छितराए हुए हैं कि केवल कुछ ही लोग असली नमूनों को देख सकते हैं, इसलिये यह आवश्यक है कि उपयोगी मापें उपलब्ध हों ताकि कोई भी उनकी तुलना कर सके। जब अतीत और वर्तमान में मनुष्य के कंकालीय अवशेष संबंधी करोटिमापन की आधार सामग्री कालानुक्रम से रखी जाती है, तब एक विकासक्रम प्रत्यक्ष होता है। सामान्यतः मानव करोटि पिछले दस लाख वर्षों में प्रकटतः मस्तिष्क का आकार बढ़ने के कारण अधिक बड़ी, अधिक गोल और अधिक पतली हो गई है।

(श्या० च० दु०)

करोल, कैरल (Carol) साधारणतः, मनुष्य या पक्षी का आह्लादमय गान; विशेषतः, क्रिस्मस का धार्मिक गान। व्युत्पत्ति Choraula (लातीनी) या Khoraules (यूनानी)—सामूहिक नृत्यगान का वेणुवादक; Corolla (लातीनी)—चक्र या वृत्त।

करोल का उदय फ्रांस के करोल (Carole) नामक लोकप्रिय सामूहिक नृत्य से माना जाता है जिसके महत्वपूर्ण अंग कविता और संगीत भी थे। १२वीं सदी में इसके माध्यम से फ्रांस ने मध्ययुगीन यूरोप के लोकजीवन, साहित्य और संस्कृति को प्रभावित किया। यूरोप में मसीही धर्म के प्रचार के पूर्व, प्रकृतिपूजा के युग में, प्रजनन संबंधी कर्मकांडों, लीलाओं, सामूहिक उत्सवों और भोजों के अवसर पर नृत्यगान का आयोजन होता था। मसीही धर्म के प्रचार के बाद चर्च के नाक भौं सिकोड़ने के बावजूद यह लोकपरंपरा हवेलियों से लेकर साधारण झोपड़ियों तक करोल (Carole) के रूप में जीवित रही। उत्सवों, संतदिवसों और क्रिस्मस इत्यादि के नैश जागरण के अवसर पर जनता इस सामूहिक नृत्यगान का आयोजन स्वयं चर्च के अहाते में ही करती रही।

करोल (Carole) में समूह का नायक एक के बाद दूसरी नई पंक्ति को गाता जाता था और उनके बीच बाकी लोग एक दूसरे का हाथ पकड़कर चक्रनृत्य करते हुए टेक या धुन की पंक्तियाँ गाते थे। इन गानों में भोज के लिये आखेट में मारे हुए सुअर के सिर, हौली और आइवी की बोलियों के रूप में क्रमशः युवकों और युवतियों के केलिमय विवाद, आपानक, गड़ेरियों के वेणुवादन इत्यादि का प्रमुख उल्लेख प्रकृतिपूजा के युग की देन था। फ्रांस के चारण कवियों ने संयमित प्रेम से इन गीतों को निखारने का प्रयत्न किया, लेकिन प्रकृतिपूजा के युग के प्रतीक अपनी जगह पर कायम रहे। १४वीं सदी तक इसी प्रकार के नृत्यगान, आपानक और प्रायः असंयमित क्रीड़ाओं के आयोजन के साथ क्रिस्मस का पर्व मनाया जाता रहा।

विवश होकर पादरियों को करोल (Carole) पर धार्मिक रंग चढ़ाना पड़ा। इंग्लैंड में इस दिशा में सबसे बड़ा प्रयत्न संत फ्रांसिस के अनुयायी पादरियों का रहा। इस प्रकार १५वीं सदी में करोल (Carole) के नृत्यगान से नृत्यमुक्त क्रिस्मस करोल (Carol) का जन्म हुआ। किंतु पहले के लौकिक या धर्मनिरपेक्ष और प्रेमपरक गीतों की रचना भी होती रही। ऐसे गीत हेनरी अष्टम और वायट ने भी लिखे। करोल (Carol) के दो रूपों—धर्मनिरपेक्ष और क्रिस्मस संबंधी या धार्मिक—के विकसित होने के बावजूद उनके बीच की विभाजक रेखा प्रायः बहुत अस्पष्ट है। उदाहरणार्थ, बहुत से गीत ऐसे हैं जिनमें कुमारी मरियम को विटप, पुष्प या मधुमास की देवी के रूप में चित्रित किया गया है। 'देयर इज़ ए फ्लावर स्प्रंग ऑव ए ट्री', 'ऑव ए रोज़, लव्ह ली रोज़', 'देयर इज़ नो रोज़ ऑव सच वर्चू' आदि गीतों में कुमारी मरियम या तो स्वयं गुलाब का फूल है या गुलाब का पौधा जिसकी डाल पर ईसा जैसा गुलाब का फूल खिलता है। कुछ में कुमारी मरियम को पुत्र के वध पर विलाप करती हुई माँ के रूप में चित्रित किया गया है।

ये करोल (Carol) १५वीं सदी की अंग्रेजी कविता की बहुत बड़ी उपलब्धि हैं। उन्होंने प्रवाहपूर्ण छंदों में धर्म के सूक्ष्म सिद्धांतों को नाटकीय शैली और चित्रमयी भाषा में सजीव कर दिया। उनमें लोकगीतों की स्वाभाविक सरलता और संगीतमाधुर्य है। इन गीतों का प्रभाव १६वीं सदी के अंत और १७वीं सदी के प्रारंभ के अनेक अंग्रेजी गायक कवियों पर पड़ा।

सं०ग्रं०—द अर्ली इंग्लिश कैरल (संपादक, ग्रीन); इंग्लिश लिटरेचर ऐट द क्लोज़ ऑव द मिडिल एजेज़ (ऑक्सफ़र्ड हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर)।

(चं० व० सिं०)

कर्कट द्र० 'कैंसर'।

कर्कोट, कर्कोटक कश्मीर का एक राजवंश, जिसने गोनंद वंश के पश्चात् कश्मीर पर अपना आधिपत्य जमाया। 'कर्कोट' पुराणों में वर्णित एक प्रसिद्ध नाग का नाम है। उसी के नाम पर इस वंश का नाम पड़ा। गोनंद वंश का अंतिम नरेश बालादित्य पुत्रहीन था। उसने अपनी कन्या का विवाह दुर्लभवर्धन से किया जिसने कर्कोट वंश की स्थापना लगभग ६२७ ई० में की। इसी के राजत्वकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान्च्वांग भारत आया था। उसके ३० वर्ष राज्य करने के पश्चात्

उसका पुत्र दुर्लभक गद्दी पर बैठा और उसने ५० वर्ष तक राज्य किया। फिर उसके ज्येष्ठ पुत्र चंद्रापीड़ ने राज्य का भार सँभाला। इसने चीनी नरेश के पास दूत भेजकर अरब आक्रमण के विरुद्ध सहायता माँगी थी। अरबों का नेता मुहम्मद बिन कासिम इस समय तक कश्मीर पहुँच चुका था। यद्यपि चीन से सहायता नहीं प्राप्त हो सकी तथापि चंद्रापीड़ ने कश्मीर को अरबों से आक्रांत होने से बचा लिया। चीनी परंपरा के अनुसार चंद्रापीड़ को चीनी सम्राट् ने राजा की उपाधि दी थी। संभवतः इसका तात्पर्य यही था कि उसने चंद्रापीड़ के राजत्व को मान्यता प्रदान की थी। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार चंद्रापीड़ की मृत्यु उसके अनुज तारापीड़ द्वारा प्रेषित कृत्या से हुई थी। चंद्रापीड़ ने साढ़े आठ वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् तारापीड़ ने चार वर्ष तक अत्यंत क्रूर एवं नृशंस शासन किया। उसके बाद ललितादित्य मुक्तापीड़ ने शासनसूत्र अपने हाथ में लिया।

७३३ ई० में ललितादित्य ने चीनी सम्राट् के पास सहायतार्थ दूत भेजा। सहायता न प्राप्त होने पर भी उसने पहाड़ी जातियों—कंबोज, तुर्क, दरद, खस तथा तिब्बतियों—को पराजित कर कश्मीर में एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना की। ललितादित्य ने कन्नौज के यशोवर्मन् को भी पराजित किया। गौड़ नरेश ने बिना लड़े ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया और उपायन में हाथी प्रदान किए। दक्षिण के विजयाभियान में ललितादित्य कावेरी तट तक पहुँचा था। पश्चिम में सप्त कोंकणों को पराजित किया था। प्राग्ज्योतिष, स्त्रीराज्य, तथा उत्तर कुरु की भी विजय की। इन विजयों के वर्णन में कहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसमें असाधारण अतिरंजन है। ३६ वर्ष तक राज्य करने के बाद उसकी मृत्यु हुई। उसके बाद उसके दो पुत्र कुवलयापीड़ तथा वज्रापीड़ गद्दी पर बैठे। वज्रापीड़ ने लगभग ७६२ ई० में शासन आरंभ किया। राज्य के अनेक मनुष्यों को उसने म्लेच्छों के हाथ बेच दिया और ऐसे कार्य प्रारंभ किए जिनसे म्लेच्छों को लाभ हो। ये म्लेच्छ संभवतः सिंध के अरब थे। हिशाम-इब्न-अम्र-अम्रतगलबी (सिंध का गवर्नर, ७६२-७७२ ई०) ने कश्मीर पर धावा मारा था और अनेक दास कैदियों को पकड़ लाया था। यह आक्रमण वज्रापीड़ के ही काल में हुआ होगा। वज्रापीड़ के तीन पुत्र पृथिव्यापीड़, संग्रामापीड़ और जयापीड़ थे। पृथिव्यापीड़ गद्दी पर बैठने के सात ही दिन के बाद मर गया। तब जयापीड़ विनयादित्य ने शासन सँभाला। अपने दादा मुक्तापीड़ की भाँति दिग्विजय के लिये वह प्राची चला। इधर उसके बहनोई जज्ज ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। यह हाल सुनकर सेना ने विनयादित्य का साथ छोड़ दिया। अकेला विनयादित्य पुंड्रवर्धन पहुँचा। दैवयोग से उसने एक सिंह मारकर वहाँ के राजा को प्रसन्न किया और उसकी कन्या से विवाह किया। आसपास के नरेशों को जीतकर अपने श्वसुर को उनका नेता बनाया। इसके बाद कान्यकुब्ज के नरेश (संभवतः इंद्रराज) को पराजित करते हुए वह वापस लौटा। जज्ज मारा गया। इस प्रकार तीन वर्ष के पश्चात् वह विजयी होकर सिंहासनारूढ़ हुआ। ३१ वर्ष शासन करने के बाद कुछ ब्राह्मणों के षड्यंत्र से वह मारा गया। इसके दरबार को अलंकृत करनेवाले कवियों में क्षीर, भट्ट उद्भट, दामोदर गुप्त इत्यादि थे। उसका राज्यकाल ल० ७७० ई० से ८०० ई० तक माना जाता है। इसके बाद ललितादित्य (जयापीड़ का पुत्र), संग्रामादित्य द्वितीय (पृथिव्यापीड़) ने शासन किया। इसकी मृत्यु के समय थिप्पट जयापीड़ (बृहस्पति) बालक था। मामाओं ने राज्य सँभाला और मिलकर बृहस्पति का वध कर दिया, किंतु वे स्वयं आपस में लड़ने लगे थे। इसी अवस्था में राजा को कठपुतली की भाँति बैठाकर उन्होंने ४० वर्ष तक राज्य किया। साम्राज्य का शासन इस प्रकार ढीला पड़ गया। अंतिम नरेश उत्पलापीड़ को राज्यच्युत करके मंत्री ने अवंतिवर्मन् को गद्दी पर बैठाया और कर्कोट वंश का अंत हुआ। (चं० भा० पां०)

कर्ण पुराणानुसार सूर्य से उत्पन्न कुंती के प्रसिद्ध पुत्र जिन्हें इंद्र ने एक विशेष शक्ति प्रदान की थी। इनके दो नाम और हैं—वसुषेण एवं वैकर्तन। इनकी और दुर्योधन की बड़ी मैत्री थी। दुर्योधन ने इन्हें अंगदेश का राजा घोषित कर दिया था और द्रौपदी के स्वयंवर में ये ब्राह्मण-वेशधारी अर्जुन द्वारा परास्त हुए थे। द्रोणाचार्य ने जब कर्ण को ब्रह्मास्त्र की शिक्षा देने से इनकार कर दिया तब वे परशुराम के पास जाकर यह विद्या सीखने लगे। पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि कर्ण ने झूठ बोल, ब्राह्मण बनकर गुरु को धोखा दिया है तब परशुराम ने कर्ण को शाप दे दिया। दिग्विजय करने के लिये बाहर जाकर दुर्योधन के लिये कर्ण ने बहुत सा धन एकत्र किया। महाभारत के १६वें दिन द्रोणाचार्य के मारे जाने पर ये डेढ़ दिन के लिये कौरवों के सेनापति रहे, और १७वें दिन अर्जुन के हाथ से इनकी मृत्यु हुई। (रा० द्वि०)

कर्णकवकता (Otomycosis) यह बाह्यकर्ण का एक छूत का रोग है जो प्रायः श्रवणछिद्र पर होता है। ऐसा माना जाता है कि यह रोग बाह्य जीवाणुनाशक ओषधियों के प्रयोग का कुपरिणाम होता है। ये जीवाणुनाशक ओषधियाँ फ़ंगस जीवाणुओं हेतु एक पीढ़ी-वर्धक पोषक का कार्य करती है। इस रोग में मुख्यतः भाग लेनेवाले फ़ंगस या तो एस्परगिलस समूह से संबद्ध होते है या फिर केंडिडा एल्बीकेंस समूह के होते है। यह रोग ऊष्ण या अर्धोष्ण जलवायु में अधिक प्रखर होता है।

कान का परीक्षण करने पर पता चलता है कि कर्णछिद्र एक प्रकार के भीगे हुए सफेद सोख्ता कागज की तरह मुलायम पदार्थ से भरा होता है। कभी कभी एस्परगिलस नाइगर नामक फ़ंगस की उपस्थिति के कारण यह मुलायम पदार्थ सफेद के स्थान पर गाढे भूरे या काले रंग का भी पाया जा सकता है। इस पदार्थ को छिद्र से हटा देने के बाद यदि तुरंत ही दूसरा पदार्थ बन जाय तो कर्णकवकता नाम की बीमारी का संदेह किया जा सकता है। फिर भी निदान का संदेह मिटाने हेतु पदार्थ का सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षण करते हैं जिसमें शाखायुक्त तंतु माइसीलियम बनाते हुए तथा बीजयुक्त एस्परगिलस फ़ंगस के तंतु अथवा केंडिडा एल्बीकेंस फ़ंगस के यीस्ट की तरह की कोशिकाएँ भी हो सकती हैं।

इस रोग की दशा में कान में खुजली होती है, कभी कभी रंगहीन स्राव और यदि कर्णछिद्र का पूरा व्यास रुग्णक पदार्थ से भरा हो तो दर्द के साथ बहरापन भी पाया जा सकता है। उपचार के लिये कर्णछिद्र की शुष्क सफाई तथा 'निस्टेटिन' नामक फ़ंगस विनाशक ओषधि का उपयोग या तो पाउडर की तरह करते हैं या फिर मरहम के रूप में लगाते है। २% क्षमतावाले सेलिसिलिक अम्ल को ६५% क्षमतावाले ऐल्कोहल के साथ मिलाकर अथवा उपर्युक्त घोल में भीगे हुए फीते के टुकड़े कर्णछिद्र में करते है। वैसे एनीलिन अभिरंजक का भी कर्णछिद्र पर लेप करते है, किंतु इसका प्रयोग उपर्युक्त ओषधियों से कम प्रभावशाली है। (र० प्र० ति०; शै० कु० ति०)

कर्णचेदि लगभग सन् १०४१ में चेदीश्वर गांगेयदेव की मृत्यु हुई और उसका पुत्र कर्ण गद्दी पर बैठा। राज्य के पहले सात वर्षों में उसने अनेक दिशाओं में विजय प्राप्त की। पूर्व में उसने बंगाल के राजा गोविंदचंद्र को हराया और उसके स्थान पर वीरवर्मा को बैठाकर उसके पुत्र जातवर्मा से अपनी कन्या वीरश्री का विवाह किया। दक्षिण में कांची प्रदेश को उसने लूटा। पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम पर और गुजरात के राजा भीमदेव प्रथम पर भी इसने सन् १०४८ से पूर्व आक्रमण किया।

सन् १०४८ के बाद उसने केवल विजय ही प्राप्त नहीं की, अपने राज्य का चारों ओर विस्तार भी किया। मालवे में उस समय परमार राजा भोज प्रथम का राज्य था। भोज के हाथों अपने पिता गांगेयदेव की पराजय का बदला लेने के लिये कर्ण ने गुजरात के राजा भीमदेव प्रथम से मिलकर मालवे पर पूर्व और पश्चिम दिशाओं से आक्रमण किया। भोज की इसी समय मृत्यु हो गई। भीम और कर्ण ने इस स्थिति का लाभ उठाकर मालवे की राजधानी धारा को जीत लिया और भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह परमार को भी संभवतः सिंहासन से उतार दिया। कर्ण ने मालवे की बहुत सी भूमि आत्मसात् कर ली। भीम को गज, अश्व, मंडपिकादि से संतुष्ट होना पड़ा। सन् १०५१ के आस पास कर्ण ने चंदेल राजा देववर्मा को भी परास्त किया और जिझौती को अपने राज्य में मिला लिया। उत्तर-पश्चिमी बंगाल में गौड़ाधिपति विग्रहपाल तृतीय उससे हारा। किंतु कर्ण ने अपनी

कन्या यौवनश्री का विग्रहपाल से विवाह किया और इस प्रकार शत्रुता मित्रता में परिवर्तित हो गई। सन् १०५२ में भारत का बहुत सा भूभाग कर्ण के अधीन था और आसपास के राजा उससे मेलजोल बढ़ाने में अपनी कुशल समझते थे। इसी चक्रवर्तित्व की स्थापना के लिये संभवतः कर्ण ने अपना पुनरभिषेक किया।

जीवन के उत्तरार्ध में कर्ण की यह समृद्धि बहुत कुछ क्षीण हो गई। परमार राजा जयसिंह ने चालुक्यराज सोमेश्वर का शरण ग्रहण की और चालुक्य राजकुमार विक्रमादित्य ने कर्ण को हराकर जयसिंह का एक बार फिर गद्दी पर बिठाया। चंदेल राज्य भी कर्ण के हाथों से निकल गया। देववर्मा के उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मा ने कर्ण को हराकर जिझौती की पराधीनता समाप्त की।

अपने राज के अंतिम दिनों में कर्ण ने मालवे के परमार राज्य की समाप्ति का फिर प्रयत्न किया। सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर द्वितीय ने मालवराज के मित्र अपने भाई विक्रमादित्य की बढ़ती शक्ति से शंकित होकर कर्ण से संधि की और मालवे पर आक्रमण कर दिया। जयसिंह परमार हारा और अपना राज्य खो बैठा। सोमेश्वर को शायद मालवराज्य का दक्षिणी भाग और अवशिष्ट भाग कर्ण को मिला हो। किंतु इस बार भी कर्ण अधिक समय तक मालवे को अपने अधिकार में न रख सका। उदयादित्य परमार ने सन् १०७३ के लगभग कर्ण को हराया और मालवे में पुनः परमार राज्य की स्थापना की। इसके कुछ समय बाद ही कर्ण ने राज्य का त्याग कर अपने पुत्र यशःकर्ण को सिंहासनारूढ़ किया।

कर्ण कलचुरि वंश का सबसे प्रतापी शासक था। उसने अनेक राजाओं को हराया। किंतु कर्ण केवल योद्धा ही नहीं, भारतीय संस्कृति का भी पोषक था। काशी में उसने कर्णमेरु नाम का द्वादशभूमिक मंदिर बनाया। प्रयाग में कर्णतीर्थ का निर्माण कर उसके अपनी कीर्ति को चिरस्थायी किया। उसने विद्वान् ब्राह्मणों के लिये कर्णावती नामक ग्राम की स्थापना की और काशी को अपनी राजधानी बनाया। ब्राह्मणों को उसने अनेक दान दिए और अपने कर्ण नाम को सार्थक किया। उसके दरबार के अनेक कवियों में विशेष रूप से वल्लण, नाचिराज, कर्पूर, विद्यापति और कनकामर के नाम उल्लेख्य हैं। कश्मीरी कवि बिल्हण को भी उसने सत्कृत किया था।

सं०ग्रं०—वी० वी० मिराशी : कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, प्रस्तावना भाग; एच० सी० राय : डाइनैस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इंडिया, जिल्द २; आर० डी० बैनर्जी : हैहयाज़ ऑव त्रिपुरी ऐंड देयर मान्यूमेंट्स; हीरालाल : मध्य प्रदेश का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी।

(द० श०)

कर्णिकार एक वृक्षविशेष का नाम है जो पुष्पित होने पर वनश्री की शोभा बढ़ाता है और जिसके पुष्पों एवं मंजरियों को महिलाएँ कर्णाभरण के रूप में प्राचीन काल से उपयोग करती रही हैं। साहित्य में इसीलिये इसका जहाँ तहाँ उल्लेख मिलता है।

आयुर्वेदीय संहिताओं में कर्णिकार का नाम नहीं मिलता, परंतु निघंटुओं में यह प्रायः आरग्वध (अमलतास) का एक भेद अथवा पर्याय माना गया है। अमरकोष के टीकाकारों ने इसकी लोकसंज्ञा 'कंठचंपा' बतलाई है, जो मुचकंद अथवा कचनार दोनों ही हो सकता है। भावप्रकाश के रचयिता 'पांगारा इति लोके प्रसिद्धः' कहकर पारिभद्र (फरहद) को कर्णिकार मानते हैं। इस प्रकार विभिन्न मतों के अनुसार चार वृक्ष जातियों—अमलतास, कचनार, मुचकंद और फरहद—को कर्णिकार माना जा सकता है।

काव्य में कर्णिकार के जिस रूपरंग की ओर संकेत किया गया है उससे ज्ञात होता है कि इसके पुष्पों को 'हेमद्युति' अर्थात् स्वर्णवत् पीतवर्ण होना चाहिए। अमलतास की मंजरियों में पीतवर्ण के सुकोमल पुष्प रहते हैं, जिन्हें कर्णाभरण के रूप में पहन भी सकते हैं। कचनार, पारिभद्र और मुचकुंद के पुष्प भी कर्णफूल के सदृश प्रयुक्त होते रहे हैं। संभव है, उपयोग-सादृश्य के कारण उन्हें भी 'कर्णिकार' कह दिया गया हो, क्योंकि कहीं कहीं इसे 'हुतहुताशनदीप्ति' भी कहा गया है। कचनार तथा पारिभद्र के पुष्पों को यह विशेषण दिया जा सकता है। सभी बातों पर विचार करने पर अमलतास को ही वास्तविक कर्णिकार कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(ब० सिं०)

कर्तव्य और अधिकार सी० डी० बर्न्स की उक्ति है, "फ्रांस की क्रांति ने कोई दान नहीं माँगा, उसने मनुष्य के अधिकारों की माँग की।" अधिकार ऐसी अनिवार्य परिस्थिति है जो मनुष्य के विकास के लिये आवश्यक है। यह व्यक्ति की माँग है जिसे समाज, राज्य तथा कानून नैतिक मान्यता देते हैं और उनकी रक्षा करना अपना परम धर्म समझते हैं। अधिकार वे सामाजिक परिस्थितियाँ तथा अवसर हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास के लिये आवश्यक होते हैं। इन्हें समाज इसी कारण से स्वीकार करता है और राज्य इसी आशय से इनका संरक्षण करता है। अधिकार उन कार्यों की स्वतंत्रता का बोध कराता है जो व्यक्ति और समाज दोनों के ही लिये उपयोगी सिद्ध हों।

१७वीं और १८वीं शताब्दी के यूरोपीय राजनीतिज्ञों का यह अटल विश्वास था कि मनुष्य के अधिकार जन्मसिद्ध तथा उनके स्वभाव के अंतर्गत हैं। वे प्राकृतिक अवस्था में, जब समाज की स्थापना नहीं हुई थी तब, मनुष्य को प्राप्त थे। एथेंस के महान् विचारक अरस्तू का भी यही विचार था। १७८९ में फ्रांस की क्रांति के उपरांत फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने मानवीय अधिकारों की उद्घोषणा की। जिन मौलिक तत्वों को लेकर फ्रांस ने क्रांति का कदम उठाया था उन्हीं सब तत्वों का समावेश इस घोषणा में किया गया था। इस घोषणा के परिणामस्वरूप फ्रांस के सामाजिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवन में और तज्जनित सिद्धांतों में परिवर्तन हुआ। मानवीय अधिकारों की घोषणा का प्रभाव आधुनिक संविधानों पर स्पष्ट ही है। यूरोपीय जीवन, विचार, इतिहास और दर्शन पर इस घोषणा की अमिट छाप है। इस घोषणा से प्रत्येक मनुष्य के लिये स्वतंत्रता, संपत्तिसुरक्षा एवं अत्याचार का विरोध करने के अधिकार को मौलिक अधिकार की मान्यता प्रदान की गई। मानवीय अधिकारों की उद्घोषणा का बड़ा व्यापक प्रभाव रहा है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक अर्थात् मनुष्य जीवन से संबंधित सभी क्षेत्रों पर इन विचारों का प्रभाव सुस्पष्ट है। समाजवादी दर्शन ने इन अधिकारों का क्षेत्र और भी विस्तृत कर दिया है। सोवियत संघ ने अपने सामाजिक अधिकारों में इन अधिकारों को प्रमुख स्थान दिया है। सन् १९४६ में जब फ्रांस ने अपने संविधान की रचना की तब इन श्रेष्ठतम अधिकारों को स्थान देते हुए उसने और भी नए सामाजिक अधिकारों का समावेश संविधान की धाराओं में किया। आधुनिकतम सभी संविधानों में इन अधिकारों का समावेश है। नागरिक के मूल अधिकारों में इनकी गणना है। यह जाति और नरनारी की समानता का युग है। नागरिक अधिकारों में इन्हें भी स्थान प्राप्त हो गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी इन मानवीय अधिकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर एक विस्तृत सूची बनाई। नागरिक अधिकारों के संबंध में बदलती हुई सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया की छाप उसपर स्पष्ट है। १० दिसंबर, १९४८ को संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी साधारण सभा में सार्वभौम मानवीय अधिकारों को घोषित किया। यह सूची ४८ सदस्य राज्यों के बहुमत से पारित हुई। मनुष्य जीवन के जितने भी आधुनिक मूल्य हैं उन सारे मूल्यों का समाहार इस सूची में किया गया है।

सामान्यतः कर्तव्य शब्द का अभिप्राय उन कार्यों से होता है, जिन्हें करने के लिये व्यक्ति नैतिक रूप से प्रतिबद्ध होता है। इस शब्द से यह बोध होता है कि व्यक्ति किसी कार्य को अपनी इच्छा, अनिच्छा या केवल बाह्य दबाव के कारण नहीं करता है अपितु आंतरिक नैतिक प्रेरणा के ही कारण करता है। अतः कर्तव्य के पार्श्व में सिद्धांत या उद्देश्य की प्रेरणा है। उदाहरणार्थ संतान और माता पिता का परस्पर संबंध, पति पत्नी का संबंध, सत्यभाषण, अस्तेय (चोरी न करना) आदि के पीछे एक सूक्ष्म नैतिक बंधन मात्र है। कर्तव्य शब्द में 'कर्म' और 'दान' इन दो भावनाओं का संमिश्रण है। इसपर निःस्वार्थता की अस्फुट छाप है। कर्तव्य मानव के किसी कार्य को करने या न करने के उत्तरदायित्व के लिये दूसरा शब्द है। कर्तव्य दो प्रकार के होते हैं—नैतिक तथा कानूनी। नैतिक कर्तव्य वे हैं

जिनका संवंध मानवता की नैतिक भावना, अंतःकरण की प्रेरणा या उचित कार्य की प्रवृत्ति से होता है। इस श्रेणी के कर्तव्यो का संरक्षण राज्य द्वारा नहीं होता। यदि मावन इन कर्तव्यों का पालन नहीं करता तो स्वयं उसका अंतःकरण उसको धिक्कार सकता है, या समाज उसकी निंदा कर सकता है किंतु राज्य उन्हें इन कर्तव्यो के पालन के लिये वाध्य नही कर सकता। सत्यभापण, संतान का संरक्षण, सद्व्यवहार, ये नैतिक कर्तव्य के उदाहरण हैं। कानूनी कर्तव्य वे है जिनका पालन न करने पर नागरिक राज्य द्वारा निर्धारित दंड का भागी हो जाता है। इन्ही कर्तव्यों का अध्ययन राजनीति शास्त्र में होता है।

हिंदू राजनीति शास्त्र में अधिकारों का वर्णन नहीं है। उसमें कर्तव्यों का ही उल्लेख हुआ है। कर्तव्य ही नीतिशास्त्र के केंद्र है।

अधिकार और कर्तव्य का बड़ा घनिष्ठ संवंध है। वस्तुतः अधिकार और कर्तव्य एक ही पदार्थ के दो पार्श्व है। जव हम कहते है कि अमुक व्यक्ति का अमुक वस्तु पर अधिकार है, तो इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि अन्य व्यक्तियों का कर्तव्य है कि वे उस वस्तु पर अपना अधिकार न समझकर उसपर उस व्यक्ति का ही अधिकार समझें। अतः कर्तव्य और अधिकार सहगामी है। जव हम यह समझते हैं कि समाज और राज्य में रहकर हमारे कुछ अधिकार बन जाते है तो हमें यह भी समझना चाहिए कि समाज और राज्य में रहते हुए हमारे कुछ कर्तव्य भी है। अनिवार्य अधिकारों का अनिवार्य कर्तव्यो से नित्यसंवंध है।

फ्रांस के क्रांतिकारियों ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत को संसार में प्रसारित किया था। समता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, ये क्रांतिकारियों के नारे थे ही। जनसाधारण को इनका अभाव खटकता था, इनके विना जनसाधारण अत्याचार का शिकार बन जाता है। आधुनिक संविधानों ने नागरिकों के मूल अधिकारों की घोपणा के द्वारा उपर्युक्त राजनीतिदर्शन को संपुष्ट किया है। मनुष्य की जन्मजात स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की गई है, स्वतंत्र जीवनयापन के अधिकार और मनुष्यों की समानता को स्वीकार किया है। आज ये सव विचार मानव जीवन और दर्शन के अविभाज्य अंग है। आधुनिक संविधान निर्माताओं ने नागरिक के इन मूल अधिकारों को संविधान में घोपित किया है। भारतीय गणतंत्र संविधान ने भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान दिया है। (शु० ते०)

कर्दम द्र० 'प्रजापति'।

कर्नाटक राज्य, स्थिति : १८° २५' से ३१° १५' उ० अ० तथा ७४° १०' से ७८° ३५' पू० दे०। यह दक्षिणी भारत का एक राज्य है, जिसका पुनर्गठन सन् १९५६ में भापा के आधार पर किया गया था। इसके परिणामस्वरूप कन्नड़ भापी क्षेत्रों को इसमे मिला दिया गया है। इसका क्षेत्रफल १,९१,७७३ वर्ग कि० मी० है। इसके उत्तर में महाराष्ट्र, पूर्व में आंध्र प्रदेश, दक्षिण में केरल और तमिलनाडु तथा पश्चिम मे गोआ एवं अरव सागर है।

धरातल एवं प्राकृतिक वनावट—कर्नाटक राज्य का धरातल ऊँचा नीचा एवं पठारी है। समुद्रतल से ऊँचाई लगभग २,००० फुट है। प्राकृतिक वनावट के आधार पर इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) पश्चिम का तटीय मैदान और (२) दक्षिणी दकन प्रदेश। तटीय मैदान मालावार तट का उत्तरी भाग है, जिसकी चौड़ाई बहुत कम है। इसके पश्चिम में पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ है, जिनमे छोटी छोटी द्रुतगामी नदियाँ निकलकर अरव सागर मे विलीन हो जाती है। तट के किनारे अनूप एवं रेत के बाँध भी दृष्टिगत होते हैं। पूर्वी भाग उच्च पहाड़ी एवं पठारी प्रदेश है। कर्नाटक के मध्य में, उत्तर से दक्षिण, पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ हैं। इसके पूर्व में प्राचीन चट्टानों से निर्मित दकन का भाग है। उत्तर-पूर्व में कृष्णा, तुंगभद्रा एवं भीमा नदियों का समतल उच्च मैदान है।

जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति—यहाँ का ताप साधारणतया ऊँचा रहता है। औसत ताप २७° सें० है। तापांतर आंतरिक भाग में अधिक रहता है। वर्षा पश्चिमी घाट के पश्चिम में अधिक (३७५ सेंमी० से अधिक) एवं पूर्व के वृष्टिछाया प्रदेश में कम (५० सेंमी० से भी कम) होती है। अधिकांशतः वर्षा दक्षिण-पूर्वी मानसून से होती है। यहाँ की प्राकृतिक वनस्पति सदावहार के जंगल हैं, जिनसे सागौन, चंदन, रोजवुड आदि की लकड़ी प्राप्त होती है। वनाच्छादित क्षेत्र ३०,६८३.७ वर्ग कि० मी० है, जो संपूर्ण क्षेत्र का १६ प्रतिशत है।

कृषि—५३.५ प्रतिशत क्षेत्र में खेती होती है तथा ७१.२% जनसंख्या कृपि कार्य में लगी हुई है। मुख्य उपजें धान, ज्वार, गेहूँ, दलहन, मूंगफली, कपास आदि है। वागाती खेती में कहवा, चाय तथा रवर का उत्पादन होता है। पशुपालन भी महत्वपूर्ण है। कर्नाटक राज्य में लगभग १० लाख रुपये के मूल्य की मछलियाँ प्रति वर्ष पकड़ी जाती है। तुंगभद्रा, घाटप्रभा, ऊर्ध्व कृष्णा, भद्रा, काली नदी, हरगी, हेमवती आदि १४ वहूद्देश्यीय सिंचाई योजनाएँ यहाँ चल रही है। कुल कृपिभूमि की १२ प्रतिशत भूमि सिंचित है।

खनिज पदार्थ—सोना हट्टी, एवं कामत श्रेणियों में, वँगलौर एवं चिक्कामगलूर मे ऐम्वेस्टस तथा लोहा और अन्य क्षेत्रों में मैंगनीज़, ताँवा, वॉक्साइट, गंधक आदि मिलते हैं। कोयला एवं खनिज तेल का अभाव है, जिसकी पूर्ति जलविद्युत् से की जा रही है। यह अधिकांशतः शारावती, भद्रा एवं तुंगभद्रा जलविद्युत् योजनाओं से प्राप्त होती है।

उद्योग—रेशमी वस्त्र, चमडे, आभूपण, टोकरी, रस्सी, चंदन, हाथी-दाँत की वस्तुएँ आदि के कुटीर उद्योग तथा वस्त्र उद्योग वँगलौर, मैसूर, वल्लारि आदि में, लोहे एवं इस्पात का उद्योग भद्रावती में, सीमेंट शाहावाद एवं भद्रावती मे, दियासलाई शिवमोगा में, ऊनी एवं रेशमी वस्त्र वँगलौर एवं मैसूर में, कागज भद्रावती में तथा टेलीफोन, हवाई जहाज आदि के उद्योग वँगलौर में है।

यातायात—सड़कों की लंवाई १९७० ई० मे ६४,२०७ कि० मी० एवं रेलमार्ग की लंवाई २,७५७ कि० मी० थी। वँगलौर वड़ा जंकशन है तथा वायु यातायात का भी केंद्र है। मंगलौर तथा कारवार आदि प्रमुख वंदरगाह हैं।

जनसंख्या—इसकी जनसंख्या २,९२,९९,०१४ (१९७१) है। जनसंख्या का घनत्व मैदान की ओर अधिक है। ७ प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण है एवं राज्य के ३१.५४ (प्रतिशत पुरुप ६६%, स्त्रियाँ ३३%) शिक्षित है। वँगलौर, मैसूर, कोलार, हुब्ली, धारवाड, मंगलौर, वेलगाँव आदि मुख्य नगर हैं। वंगलौर राज्य की राजधानी है जिसकी जनसंख्या १९७१ में १६,४८,२३२ थी।

दर्शनीय स्थान—जोग प्रपात, वँगलौर में लाल वाग, रमन अनुसंधान-शाला आदि, कावेरी प्रपात, श्रीरंगपटनम में रंगनाथ स्वामी का मंदिर, मैसूर में वृंदावन वाग तथा अन्य कई स्थानों के मंदिर दर्शनीय है।

मैसूर नगर : स्थिति १२° १९' उ० अ० एवं ७६° ३८' पू० दे०। कर्नाटक राज्य का एक प्रसिद्ध नगर है, इसकी जनसंख्या २,५३,८६५ (१९६१) थी। कर्नाटक राज्य में इस नगर का जनसंख्या के दृष्टि से द्वितीय स्थान है। यह मैसूर जिले का शासनकेंद्र एवं दक्षिणी रेलमार्ग का प्रमुख स्टेशन है। नगर अति सुंदर एवं स्वच्छ है, जिसमें रंग विरंगे पुष्पों से युक्त वाग वगीचों की भरमार है। चामुंडी पहाड़ी पर स्थित होने के कारण प्राकृतिक छटा का आवास वना हुआ है। भूतपूर्व महाराजा का महल, विशाल चिडियाघर, नगर के समीप ही कृष्णराजसागर वाँध, वृंदावन वाटिका, चामुंडी की पहाड़ी तथा सोमनाथपुर का मंदिर आदि दर्शनीय स्थान हैं। इन्ही आकर्पणों के कारण इसे पर्यटकों का स्वर्ग कहते हैं। यहाँ पर सूती एवं रेशमी कपडे, चंदन का सावन, वेंत एवं अन्य कलात्मक वस्तुएँ भी तैयार की जाती हैं। यहाँ प्रसिद्ध मैसूर विश्वविद्यालय भी है। (सु० चं० श०)

कर्नाटक (इतिहास)—कर्नाटक का प्रामाणिक इतिहास भारत पर सिकंदर के आक्रमण (३२७ ई० पू०) के वाद से प्राप्त होता है। उस तूफान के पश्चात् ही कर्नाटक के उत्तरी भाग पर सातवाहन वंश का अधिकार हुआ था और यह अधिकार द्वितीय शती ईसवी तक चला। कर्नाटक के ये राजा सातकर्णी कहलाते थे। इनके वाद उत्तर पश्चिमी क्षेत्र पर कदंव वंश का और उत्तर पूर्वी भाग पर पल्लवों का शासन हुआ। कदंवों की

राजधानी वनवासी में तथा पल्लवों की कांची में थी। इसी बीच उत्तर से इक्ष्वांकु वंश के दो गंग राजाओं ददिग तथा माधव ने कर्नाटक के अन्य भागों पर अधिकार कर लिया (दूसरी शती के अंत में)। इस गंग वंश के सातवें राजा दुर्विनीत ने पल्लवों से कुछ क्षेत्र छीनकर अपने अधिकार में कर लिए। आठवें शासक श्रीपुरुष ने पल्लवों को हराकर 'परमनंदि' की उपाधि धारण की, जो गंग वंश के परवर्ती शासकों की भी उपाधि कायम रही।

उत्तर पश्चिमी क्षेत्र पर पाँचवीं शती में चालुक्यों ने आक्रमण किया। ६ठी शती में चालुक्य नरेश पुलिकेशिन ने पल्लवों से वातादि (वादामी) छीन लिया और वहीं राजधानी स्थापित की। आठवीं शती के अंत में राष्ट्रकूट वंश के ध्रुव या धारावर्ष नामक राजा ने पल्लव नरेश से कर वसूल किया और गंग वंश के राजा को भी कैद कर लिया। वाद में गंग राजा मुक्त कर दिया गया। राचमल (लगभग ८२० ई०) के वाद गंग वंश का प्रभाव पुनः बढ़ने लगा। सन् १००४ में चोलवंशीय राजेंद्र चोल ने गंगों को हराकर दक्षिण तथा पूर्वी हिस्से पर अपना अधिकार कर लिया।

कर्नाटक के शेप भाग याने उत्तर तथा पश्चिमी क्षेत्र पर पश्चिमी चालुक्यों का अधिकार रहा। इनमें विक्रमादित्य बहुत प्रसिद्ध था, जिसने १०७६ से ११२६ तक शासन किया। ११५५ में चालुक्यों का स्थान कलचुरियों ने ले लिया। इनकी सत्ता ११८३ तक ही कायम रही।

गंग वंश की समाप्ति पर पोयसल या होयसाल वंश का अधिकार स्थापित हो गया। ये अपने को यादव या चंद्रवंशी कहते थे। इनमें विट्टिदेव अधिक प्रसिद्ध था जिसने ११०४ से ११४१ तक शासन किया। १११६ में तलकाद पर कब्जा करने के वाद उसने कर्नाटक से चोलों को निकाल वाहर किया। सन् १३४३ में इस वंश का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

सन् १३३६ में तुंगभद्रा के पास विजयनगर नामक एक हिंदू राज्य उभरा। इसके संस्थापक हरिहर तथा वुक्क थे। इसके आठ राजाओं ने १४७६ तक राज्य किया। इसके बाद नरसिंग नामक सेनापति ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसकी मृत्यु के वाद उसके तीन पुत्रों, नरसिंह, कृष्णराय तथा अच्युतराय ने वारी वारी से राजसत्ता सँभाली। सन् १५६५ में वीजापुर, गोलकुंडा आदि मुसलिम राज्यों के संमिलित आक्रमण से तालीकोटा की लड़ाई में विजयनगर राज्य का अंत हो गया।

१८वीं शती में कर्नाटक पर मुसलमान शासक हैदरअली की पताका फहराई। सन् १७८२ में उसकी मृत्यु के वाद १७९९ तक उसका पुत्र टीपू सुल्तान शासक रहा। इन दोनों ने अंग्रेजों से अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। श्रीरंगपट्टम् के युद्ध में टीपू सुल्तान की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् कर्नाटक के भाग्यनिर्णय का अधिकार अंग्रेजों ने अपने हाथ में ले लिया। किंतु राजनीतिक स्थिति निरंतर उलझी हुई बनी रही, इसलिये १८३१ में हिंदू राजा को गद्दी से उतारकर वहाँ अंग्रेज कमिश्नर नियुक्त हुआ। १८८१ में हिंदू राजा चामराजेंद्र गद्दी पर वैठे। १८९४ में कलकत्ते में इनका देहावसान हो गया। महारानी के संरक्षण में उनके वड़े पुत्र राजा वने और १९०२ में शासन संवंधी पूरे अधिकार उन्हें सौंप दिए गए। भारत के स्वतंत्र होने पर मैसूर नाम से एक पृथक् राज्य बना दिया गया जिसमें आसपास के भी कुछ क्षेत्र संमिलित कर दिए गए। ३० जुलाई, १९७३ को मैसूर का नाम परिवर्तित करके **कर्नाटक** कर दिया गया। (संपा०)

कर्नूलु आंध्र प्रदेश का प्रसिद्ध नगर है। यह कर्नूलु जिले का मुख्य प्रशासकीय केंद्र है। (स्थिति १५° ५०' उ० अ० और ७८° ४' पू० दे०) यह नगर तुंगभद्रा तथा हिंद्री नदी के संगम पर समुद्र के धरातल से ६०० फुट ऊँची एक चट्टानी भूमि पर स्थित है। यहाँ एक ब्रांच रेलवे लाइन मिलती है।

कर्नूलु व्यापारिक केंद्र तथा गल्ले की मंडी है। यहाँ पर कपड़े तथा दरियाँ बनाने और चमड़ा सिझाने का काम अच्छा होता है। नगर में रूई दावक (cotton presses) के कई कारखाने हैं। नगर की जनसंख्या १,००,८१५ (१९६१) थी जिनमें से करीव ५० प्रतिशत मुसलमान थे। आंध्र प्रांत के निर्माण पर कर्नूलु कुछ काल के लिये इस प्रदेश की राजधानी भी था।

कर्नूलु जिले का विस्तार १८,७९९ वर्ग कि० मी० तथा उसकी जनसंख्या (१९७१) १९,८२,०९० है। जिले में कई समांतर पहाड़ियाँ मिलती हैं जिनमें नलामलै तथा ऐलामलै की पहाड़ियाँ मुख्य हैं। तुंगभद्रा एवं कृष्णा मुख्य नदियाँ हैं। मुख्य फसलें रूई, दाल, तेलहन, चावल तथा अन्य अन्न हैं। कपड़े की वुनाइ, रूई की गाँठें वाँधना, तेल निकालना यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। (उ० सिं०)

कर्पास कीट (Cotton Boll Weevil) कपास के पौधे, फूल और ढेंढ़ को क्षति पहुँचानेवाला एक प्रकार का घुन है। यह देखने में अनाज में लगनेवाले घुन के सदृश होता है। इसकी लंवाई लगभग चौथाई इंच, रंग पीला भूरा अथवा खाकी होता है जो आयुवृद्धि के साथ काला पड़ जाता है। इसका थूथन पतला और नाप में शरीर की लंवाई का आधा होता है। पंख आस पास सटे हुए और चिकने होते हैं, जिनपर शरीर के अक्ष के समांतर पतली धारियाँ होती हैं। कर्पास कीट की अंगरचना की एक विशेषता यह भी है कि इसकी ऊर्विका (फ़ीमर, Femur) में दो काँटे (स्पर, Spur) होते हैं; भीतरी काँटा वाहरी काँटे की अपेक्षा लंवा होता है और मध्य जाँघ में केवल एक ही काँटा होता है (द्र० चित्र १)। कर्पास कीट का आदिस्थान मेक्सिको या मध्य अमरीका है।
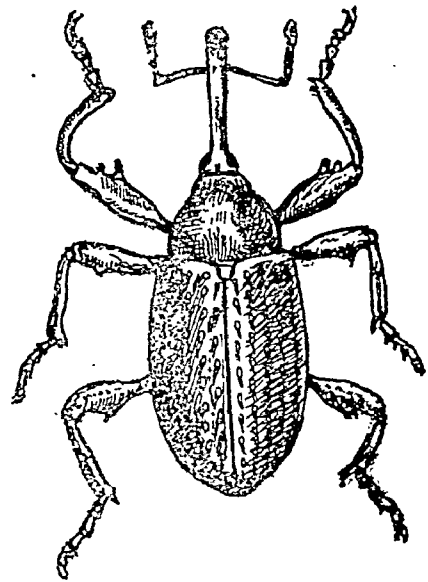
चित्र १. कपास की ढोंड़ी का घुन (आर्वांधत)
एक वयस्क कर्पास कीट (पृष्ठीय दृश्य)

वयस्क अवस्था में यह कीट सूखी पत्तियों के नीचे, कपास के डंठलों के ढेरों के नीचे, वृक्षों की खोखली छालों तथा खलिहान आदि में शीतकाल व्यतीत करता है। कपास जव फूलने लगता है तव प्रौढ़ कीट सुरक्षास्थल से वाहर निकलते हैं और कपास की कोमल पत्तियों पर आक्रमण कर देते हैं। इन कीटों को कपास की कलियाँ वहुत प्रिय हैं। छह दिनों के वाद कर्पास-कीट कपास के पुष्पों या कलियों में गड्ढा वनाने लगते हैं और इन गड्ढों में अंडे देते चलते हैं। प्रत्येक नारी १०० से ३०० तक अंडे दे सकती है। जव ढेंढ़ वनना आरंभ होता है तव वे ढेंढ़ (डोंड़ा) में अंडे देने लगते हैं। केवल तीन दिनों में ही अंडों से मक्षिजातक (ग्रव) अथवा डिंभ (लार्वा) निकल आते हैं। डिंभ दो सप्ताह तक कली या ढेंढ़ी से ही भोजन प्राप्त करते हैं और दो तीन वार त्वचाविसर्जन करके लगभग आधा इंच लंवे हो जाते हैं (द्र० चित्र सं० २ ख तथा ग)। उस समय इन कीटों का रंग श्वेत, शरीर की आकृति मुड़ी हुई तथा झुर्रीदार और मुँह तथा सिर का रंग भूरा होता है। डिंभ अपने जन्मस्थान कली या डोंड़ा (ढेंढ़ी) से वाहर नहीं आता और वहीं पर वह प्यूपा वन जाता है (द्र० चित्र २ घ) प्यूपा अवस्था लगभग

उपग्रह (द्र० पृ० ११०)

उपग्रह का संस्थापन
वैंग्वार्ड (Vanguard) उपग्रह को प्रयाण यान के ऊपर
स्थापित किया जा रहा है।

कर्पास कीट (द्र० पृ० ४२४)

रुई के डोंड़े में कर्पास कीट का डिंभ

ऊधम सिंह (द्र० पृ० १८३)

ऊधम सिंह

कंप्यूटर (द्र० पृ० ३५६)

कंप्यूटर

तीन से पाँच दिनों की होती है। तदुपरांत कीट की वयस्क अवस्था आ जाती है। वयस्क कीट नली या डोंड़ा को काटकर बाहर चले आते हैं। जन्मस्थान से बाहर निकलने के अनंतर मैथुन के तीन चार दिनों बाद ही नारी अंडे देने लगती है। इनका जीवनचक्र अधिक से अधिक १५–२५ दिनों का होता है :

अंडावस्था ——→ डिंभावस्था ——→ प्यूपावस्था ——→ वयस्कावस्था
३ दिन ७–१४ दिन ३–५ दिन

अतएव स्पष्ट है कि एक वर्ष में केवल दो या तीन से लेकर आठ या दस पीढ़ी तक ही उत्पन्न हो सकती है। कपास के पूर्णतया पक जाने पर ये कीट २० से ५० मील तक के क्षेत्र में इधर उधर फैल जाते हैं। शीत ऋतु आने पर ये पुनः सुरक्षित स्थानों में निष्क्रियावस्था (हाइबर्नेशन, hibernation) में पड़े रहने के निमित्त चले जाते हैं।

कर्पास कीट की वृद्धि की सभी अवस्थाएँ कपास की कली या ढेंढ़ी (डोंड़ा) में ही होती हैं। परंतु वयस्क कीट भोजन ढूँढ़ते समय अपने पतले दाँतों को पौधों में चुभाकर उनका रस चूस लेता है। इसका प्रभाव यह होता है कि कलियाँ मुरझा जाती और सूखकर गिर पड़ती हैं। अंडों में से उत्पन्न होनेवाले मक्खिजातक (grub) कलियों या डोंड़ों (bolls) के भीतर के कोमल तंतुओं को खाते रहते हैं जिससे पुष्प मुरझा जाते हैं और यदि डोंड़ा बनता भी है तो उनमें रूई के रेशे कम होते हैं।

इस हानिकारक कीट के डिंभ मुख्यतः कपास पर ही अवलंबित रहते हैं, परंतु वयस्क कीटों के संबंध में ज्ञात हुआ है कि ये भिंडी (Okra), गुलखैरा (Hollyhock), पटसन (Hibiscus) आदि भी खाते हैं। इस कीट की एक जाति जंगली कपास खाकर भी जीवित रहती है।

साधारणतया ये कीट शीत ऋतु में कम हानि पहुँचाते हैं, किंतु जब कपास पूर्णतया पक जाती है तब इनपर नियंत्रण अनिवार्य हो जाता है। सफल नियंत्रण के लिये निम्नलिखित साधनों में से किन्हीं दो या तीन का एक साथ प्रयोग करना चाहिए।

कर्पास कीट का नियंत्रण

(१) मुरझाकर गिरे हुए पौधों को शीघ्र नष्ट कर देना—जब यह ज्ञात हो जाय कि प्रायः सभी कलियों में छेद हो चुके हैं तब अविलंब पौधों को काटकर और डंठलों को टुकड़े टुकड़े करके जला देना अथवा हल चलाकर गहराई में दबा देना चाहिए। छिद्रित कलियों से कपास नहीं प्राप्त हो सकती। उपर्युक्त प्रकार की तत्परता बरतने से हजारों घुनों को वयस्क अवस्था में पहुँचने से रोका जा सकता है। इन कीटों को कलियाँ ही प्रिय होती हैं और आक्रांत कलियों से अच्छे ढेंढ़ नहीं बन सकते, इसलिये आवश्यक है कि ढेंढ़ बनने से पूर्व ही आक्रांत पुष्प तोड़ लिए जायँ।

(२) शीघ्र फसल तैयार करना—शीघ्र फसल तैयार करने के लिये निम्नांकित साधनों का प्रयोग किया जा सकता है : (क) शीघ्र फसल तैयार करनेवाले बीज का प्रयोग, (ख) खेत तैयार हो जाने पर यथाशीघ्र बीज बोना तथा (ग) खेत में खाद डालकर खेत की उर्वरा शक्ति को बढ़ाना।

(३) विषचूर्ण का छिड़काव—कीटनाशक विषों में कैल्सियम आर्सिनेट का चूर्ण तैयार फसल पर छिड़कने से कीटों का संहार हो जाता है। यदि उचित ढंग और सावधानीपूर्वक चूर्ण का छिड़काव हो तो प्रचुर लाभ हो सकता है। उचित ढंग से तात्पर्य है : (क) छिड़काव के लिये अच्छे यंत्रों का प्रयोग, (ख) ४० प्रतिशत आर्सेनिक पेंटाक्साइड युक्त कैल्सियम आर्सिनेट के चूर्ण का प्रयोग, (ग) यथासंभव चूर्ण का छिड़काव रात्रि में होना चाहिए। यदि दिन में किया जाय तो वातावरण में आर्द्रता होनी चाहिए, (घ) चार पाँच दिनों के अंतर से दो या चार सेर प्रति एकड़ चूर्ण तीन या चार बार छिड़का जाय, (ङ) कलियाँ लगते ही एक या दो सेर प्रति एकड़ चूर्ण छिड़का जाय, (च) संक्रमण दस प्रतिशत से कम हो जाने पर चूर्ण का छिड़काव स्थगित कर देना चाहिए। भूमि यदि बलुई हो तो कैल्सियम आर्सिनेट में समान मात्रा में चूने का घोल मिलाना आवश्यक है।

अमरीका जैसे प्रगतिशील देशों में सन् १९२३ से ही विशेष वायुयानों द्वारा विषचूर्ण का छिड़काव बहुत ही सफलतापूर्वक हो रहा है। विशेष ढंग से निर्मित ये वायुयान कपास के सिरों से ५ से २५ फुट तक की ऊँचाई पर ८० से १०० मील प्रति घंटे की गति से उड़कर विशेष यंत्रों द्वारा २०० से २५० फुट की चौड़ाई में चूर्ण छिड़कते हैं। इस प्रकार एक घंटे में लगभग ५०० एकड़ भूमि पर विषचूर्ण का छिड़काव हो जाता है। वायुयान द्वारा छिड़का हुआ विष विद्युत् आकर्षण के कारण पत्तों पर भली भाँति चिपक जाता है। इस प्रकार अमरीका में विष छिड़कने का औसत व्यय लगभग पाँच रुपया प्रति एकड़ पड़ता है।

चित्र २. कर्पास कीट का जीवनचक्र

क. कपास के पौधे की डोंड़ा सहित एक डाली; ख. डोंड़ा जिसमें डिंभ (larva) बैठा है। (काटकर दिखाया है); ग. आधा इंच लंबा डिंभ; घ. कर्पास कीट का प्यूपा; ङ. तथा च. वयस्क कर्पास कीट (ङ पंख मुड़े हुए; च. पंख फैले हुए)।

(४) फली लगने से पूर्व छिड़काव—पौधों में जब प्रथम बार कली लगने लगे और प्रति एकड़ २० से अधिक कीट दिखाई पड़ें तब प्रत्येक पौधे के सिरे पर विष का विलयन या चूर्ण तुरंत छिड़कना चाहिए। विष विलयन बनाने के लिये आधा सेर कैल्सियम आर्सिनेट में पाँच सेर जल मिलाकर फेंटना चाहिए और छिड़कने के समय अच्छे प्रकार के पाँच सेर शर्बत को विलयन में मिलाकर, कूँची से पौधों के सिरे पर लेप कर देना

चाहिए। ध्यान रहे, जिन पौधों पर विष लगाया गया हो उन्हें पशुओं को न खिलाया जाय। (भृ० ना० प्र०)

कर्पूर उड़नशील वानस्पतिक द्रव्य है, जो तीन विभिन्न वर्गों की वनस्पति से प्राप्त होता है। इसीलिये यह तीन प्रकार का होता है: (१) चीनी अथवा जापानी कपूर, (२) भीमसेनी अथवा बरास कपूर, (३) हिंदुस्तानी अथवा पत्रीकपूर। कपूर को संस्कृत में कर्पूर, फारसी में काफ़ूर और अंग्रेजी में कैंफ़र कहते हैं।

(१) जापानी कपूर—यह एक वृक्ष से प्राप्त किया जाता है जिसे सिनामोमम कैंफ़ोरा (Cinnamomum camphora) कहते हैं। यह लॉरेसी (Lauraceae) कुल का सदस्य है। यह वृक्ष चीन, जापान तथा फ़ारमोसा का आदि निवासी है, परंतु कपूर के उत्पादन के लिये अथवा बागों की शोभा के लिये अन्य देशों में भी उगाया जाता है। भारत में यह देहरादून, सहारनपुर, नीलगिरि तथा मैसूर आदि में पैदा किया जाता है। भारतीय कर्पूर वृक्ष छोटे, उनकी पत्तियाँ २॥ से ४ इंच लंबी, आधार से कुछ ऊपर तीन मुख्य शिराओं से युक्त, अधारपृष्ठ पर किंचित् श्वेताभ, लंबाग्र और मसलने पर कर्पूरतुल्य गंधवाली होती हैं। पुष्प श्वेताभ, सौरभयुक्त और सशाख मंजरियों में निकलते हैं।

जापानी कपूर—जापान आदि में लगभग ५० वर्ष पुराने वृक्षों के काष्ठ के आसवन (distillation) से कपूर प्राप्त किया जाता है। किंतु भारत में यह पत्तियों से ही प्राप्त किया जाता है। कपूर के पौधों से बार बार पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं, इसलिये वे झाड़ियों के रूप में ही बने रहते हैं। इस जाति के कई भेद ऐसे भी हैं जो साधारण दृष्टि से देखने पर सर्वथा समान लगते हैं, परंतु इनमें कपूर से भिन्न केवल यूकालिप्टस आदि गंधवाले तेल होते हैं, जिनका आभास मसली हुई पत्तियों की गंध से मिल जाता है। कपूरयुक्त भेदों के सर्वांग में तेलयुक्त केशिकाएँ होती हैं जिनमें पीले रंग का तेल उत्पन्न होता है। इससे धीरे धीरे पृथक् होकर कपूर जमा होता है।

भीमसेनी कपूर—जिस वृक्ष से यह प्राप्त होता है उसे ड्रायोबैलानॉप्स ऐरोमैटिका (Dryobalanops aromatica) कहते हैं। यह डिप्टरोकार्पेसिई (Dipterocarpaceae) कुल का सदस्य है जो सुमात्रा तथा बोर्निओ आदि में स्वतः उत्पन्न होता है। इस वृक्ष के काष्ठ में जहाँ पाले होते हैं अथवा चीरे पड़े रहते हैं वहीं कपूर पाया जाता है। यह श्वेत एवं अर्धपारदर्शक टुकड़ों में विद्यमान रहता है और खुरचकर काष्ठ से निकाला जाता है। इसीलिये इसे अपक्व और जापानी कपूर को पक्व कर्पूर कहा गया है। यह अनेक बातों में जापानी कपूर से सादृश्य रखता है और उसी के समान चिकित्सा तथा गंधी व्यवसाय में इसका उपयोग होता है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह पानी में डालने पर नीचे बैठ जाता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में यह अधिक गुणवान भी माना गया है। आजकल भीमसेनी कपूर के नाम पर बाजार में प्रायः कृत्रिम कपूर ही मिलता है, अतः जापानी कपूर का उपयोग ही श्रेयस्कर है।

पत्री कपूर—भारत में कंपोज़िटी (compositae) कुल की कुकरौंधा प्रजातियों (Blumea species) से प्राप्त किया जाता है, जो पर्णप्रधान शाक जाति की वनस्पतियाँ होती हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के कपूर के अतिरिक्त आजकल अमरीका तथा ब्रिटेन आदि में संश्लिष्ट (synthetic) कपूर भी तैयार किया जाता है।

कपूर उत्तम वातहर, दीपक और पूतिहर होता है। त्वचा और फुफ्फुस के द्वारा उत्सर्जित होने के कारण यह स्वेदजनक और कफघ्न होता है। न्यूनाधिक मात्रा में इसकी क्रिया भिन्न भिन्न होती है। साधारण औषधीय मात्रा में इससे प्रारंभ में सर्वांगिक उत्तेजन, विशेषतः हृदय, श्वसन तथा मस्तिष्क, में होता है। पीछे उसके अवसादन, वेदनास्थापन और संकोच-विकास-प्रतिबंधक गुण देखने में आते हैं। अधिक मात्रा में यह दाहजनक और मादक विष हो जाता है। (ब० सिं०)

कर्पूरमंजरी संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार एवं काव्यमीमांसक राजशेखर (द्र०) द्वारा रचित प्राकृत का नाटक (सट्टक) है। कर्पूरमंजरी (११६) में कहा गया है—नाटिका से बहुत सी बातों में मिलती जुलती नाटचरचना को सट्टक कहते हैं। परंतु उसमें प्रवेशक, विष्कंभक और अंक नहीं होते। साहित्यदर्पण के अनुसार सट्टक आदि से अंत तक प्राकृत भाषा में रचित होता है, न कि संस्कृत नाटकों के समान जिसमें केवल कुछ पात्र ही प्राकृत में संवाद करते हैं। उसमें अद्भुत रस का वैशिष्ट्य होता है। अंक के लिये जवनिकांतर शब्द का प्रयोग होता है। शेष बातों में सट्टक प्रायः नाटिका के समान होता है। दोनों में शीर्षक नायिका के नाम पर होता है।

प्राकृत भाषा में पाँच सट्टकों (१. विलासवती, २. चंदलेहा, ३. आनंदसुंदरी, ४. सिंगारमंजरी और ५. कर्पूरमंजरी) की प्रसिद्धि है जिनमें विलासवती के अतिरिक्त सभी उपलब्ध हैं। इन सबमें कर्पूरमंजरी सर्वोत्कृष्ट और प्रौढ़ रचना है। राजशेखर का संस्कृत और प्राकृत भाषाओं पर असाधारण अधिकार था। वे सर्वभाषानिपुण कहे जाते थे। कर्पूरमंजरी की प्राकृत प्रौढ़ एवं प्रांजल है। पहले कहा जाता था कि इसका पद्यभाग महाराष्ट्री और गद्यभाग शौरसेनी प्राकृत में हैं। पर डा० मनमोहन घोष ने इस मत को अमान्य सिद्ध किया है। इसमें मुख्यतः शौरसेनी का ही प्रयोग है। इसमें कवि ने स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसंततिलका आदि संस्कृत के छंदों का प्रौढ़ एवं सफल प्रयोग किया है। प्राकृत के छंद भी इसमें हैं। प्राकृत में इस सट्टक के लिखने का कारण कर्पूरमंजरी (१।७) में कवि ने बताया है कि संस्कृत बंध परुष होते हैं और प्राकृत भाषा के बंध सुकुमार। दोनों में पुरुष और ललना के समान अंतर है। प्राकृत भाषा के प्रौढ़ आद्यंत प्रयोग के कारण इस सट्टक में दिखाया गया है कि राजा चंद्रपाल ने कुंतलराजपुत्री कर्पूरमंजरी से विवाह करके चक्रवर्तीपद प्राप्त किया। ऐंद्रजालिक भैरवानंद ने इंद्रजाल द्वारा इसमें अद्भुत रस की योजना की गई है। प्राकृत भाषा की विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं में इस कृति का विशिष्ट स्थान है।

सं०ग्रं०—भूमिकाएँ, काव्यमीमांसा (बड़ोदा संस्करण); कर्पूरमंजरी : स्टेन कोनो द्वारा संपादित; हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज़ (मोतीलाल बनारसीदास); डा० मनमोहन घोष द्वारा संपादित, युनिवर्सिटी ऑव कैलकटा (१९३९); प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचंद्र जैन, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी। (क० प० त्रि०)

कर्फ़्यू कहा जाता है, 'कर्फ़्यू' का प्रारंभ इंग्लैंड में विलियम द कांकरर द्वारा राजनीतिक दमन के लिये किया गया था। यद्यपि यह धारणा १६वीं शताब्दी से चल रही है, तथापि इसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

मध्यकालीन यूरोप में 'कर्फ़्यू' एक प्रकार के नियंत्रण का साधन था जिसके द्वारा किसी निश्चित समय पर गिरजाघरों में घंटे बजाकर आग को बुझाया या दबा दिया जाता था। कर्फ़्यू के माध्यम से कभी कभी सायंकाल के किसी निर्धारित समय की, जो प्रायः पाँच बजे या नौ बजे होता था, सूचना गिरजाघर में घंटे बजाकर दी जाती थी। इसका प्रयोग म्युनिसिपल या सामुदायिक विनियमों के द्योतक चिह्न के रूप में किया जाता है। सायंकाल गिरजाघरों में घंटा बजाने की प्रथा अभी यूरोप के अनेक नगरों में चालू है। कर्फ़्यू का मूल उद्देश्य कदाचित् यूरोप जैसे शीतप्रधान महाद्वीप में अग्निकांडों को बचाना था जो असावधानीवश घरों में अग्नि को बिना बुझाए छोड़ देने के कारण घटित हो जाते थे।

एक धारणा यह भी है कि कर्फ़्यू मध्यकालीन यूरोप में सुरक्षा का साधन था। उस समय बड़े बड़े भूस्वामी होते थे और प्रजा उनको कर देती थी। प्रजा की सुरक्षा का भार भूस्वामी अपना नैतिक दायित्व समझते थे। परंतु सुरक्षा व्यवस्था करने के लिये उन्हें कोई वैधानिक प्राधिकार नहीं मिला था। इस कठिनाई को सुलझाने के लिये उन्होंने धर्म की आड़ ली इसलिये कि प्रजा धर्मभीरु थी और धर्म को ही न्यायव्यवस्था समझती थी। भूस्वामियों ने प्रजा की सुरक्षा के लिये उसकी धर्मभीरुता अथवा अंधविश्वास का पूर्ण लाभ उठाया। सुरक्षा व्यवस्था विशेषकर रात्रि के लिये ही करनी थी और इस उद्देश्य से रात्रि में पूर्वनिर्धारित समय पर गिरजाघरों में घंटे बजने लगते थे तथा लोग इसको ईश्वरीय आज्ञा समझकर उसकी अवहेलना करने से डरते थे क्योंकि यह उनकी दृष्टि में पाप था। अतः निर्धारित समय

से बहुत पहले ही वे लोग अपने घरों में वापस लौट जाते थे और घंटा बजने पर घरों का प्रकाश बुझा देते तथा प्रातःकाल पुनः घंटा बजने के उपरांत ही घरों से बाहर निकलते थे।

धर्म के नाम पर भोली जनता को भरमानेवाला यह ईश्वरीय आदेश ही 'कर्फ़्यू' था। किंतु समय और सभ्यता की प्रगति के साथ ईश्वरीय आदेश (कर्फ़्यू) ने आज के युग में वैधानिक आदेश का स्थान ले लिया है; यद्यपि उसके मूल में सुरक्षा की भावना यथावत् है।

वर्तमान युग में प्रजा की सुरक्षा का पूर्ण दायित्व शासन पर है और यह कार्य पुलिस के द्वारा करवाया जाता है। 'कर्फ़्यू' का उपयोग विशेष परिस्थितियों में, उदाहरणतः दंगा, लूटपाट, आगजनी, हिंसात्मक तथा विध्वंसक कार्यों को रोककर पुनः शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने तथा नागरिकों की सुरक्षा के निमित्त किया जाता है। आज के कर्फ़्यू आदेश के साथ विधि का बल है और इसका उल्लंघन दंडनीय है। यह आदेश दंड-विधान संहिता की धारा १४४ के अंतर्गत कार्यकारी मैजिस्ट्रेटों द्वारा प्रसारित किया जाता है। कर्फ़्यू आदेश की अवधि में यातायात पर तथा जनता के घरों से बाहर निकलकर घूमने फिरने पर प्रतिबंध रहता है। (म० प्र०)

कर्बेला (अथवा मशहदुलहुसेन) इराक का एक नगर जो कूफ़ा से आठ लीग (ल० २४ मील या ३९ किलोमीटर) उत्तर-पश्चिम, बगदाद से ५० मील दक्षिण-पश्चिम तथा फ़रात नदी से छह मील पश्चिम स्थित है। मुहम्मद साहब के पौत्र और अली के पुत्र हुसेन के सन् ६१ हिजरी (६८० ई०) में शहीद होने के स्थल तथा उनकी समाधि के रूप में विख्यात है। वर्तमान शिया मुसलमानों के लिये कर्बला प्रसिद्ध धार्मिक स्थान है और मशहदे अली या नजफ़ अशरफ़ से भी अधिक महत्व रखता है। यह इराक के प्रधान केंद्रों में से है तथा शियों की तीर्थयात्रा का मुख्य केंद्र है।

कर्बला का तीर्थस्थान पहले पहल किसने बनवाया यह ज्ञात नहीं परंतु तीसरी सदी हिजरी (नवीं स० ई०) में यहाँ कोई स्मारक अवश्य रहा होगा, ऐसा अनुमान है, क्योंकि सन् २३६ हि० (८५० ई०) में खलीफा मुतवक्किल ने इसे गिरवा देने की आज्ञा प्रदान की और शियों के कोपभाजन बने। उन्होंने इस पवित्र स्थान पर लोगों को जाने से भी रोका। यह स्थान कब तक ध्वस्त रहा, यह ज्ञात नहीं है, परंतु ३६८ हि० (९७९ ई०) में बुवहिद सुल्तान अद्दूद् उद् दौला ने एक सुंदर तथा वृहत् मक़बरा बनवाया जो निस्संदेह पहलेवाले भवन का विस्तारमात्र है और जिसका उल्लेख भूगोलशास्त्री इस्तखरी और इब्न हाकल ने इससे कुछ ही पहले किया था। इब्नबतूता के अनुसार समाधि का पवित्र अग्रिम भाग, तीर्थयात्री भवन में पदार्पण करते ही जिसका चुंबन करते थे, ठोस चाँदी का बना था। भवन में सोने और चाँदी के दीपकों से प्रकाश किया जाता था और द्वार पर रेशमी परदे पड़े रहते थे। (इब्नबतूता २।९९)।

कर्बला वर्तमान इराक़ के पश्चिमी भाग का एक प्रांत है। पहले यहाँ किसी प्रकार की उपज नहीं होती थी और बहुत कम चरागाहें तथा जलस्रोत थे। अब कर्बला की तीव्र गति से उन्नति हो रही है। एक नहर के द्वारा इस नगर का संबंध फ़रात नदी से जोड़ा गया है। कई प्रकार के फल, खजूर, कुंज आदि की उपज होने लगी है। नगर के एक भाग में चौड़ी सड़कें भी बनाई गई हैं, जिससे इस भाग में पाश्चात्य सभ्यता की झलक मिलती है। परंतु मध्य भाग अभी भी प्राचीन खंडहरों और गंदगी से भरा हुआ है, सड़कें और गलियाँ भी सँकरी हैं। इसका क्षेत्रफल ७,१७० वर्ग कि० मी० और जनसंख्या १९६५ में ३,३९,६९६ थी। (मो० या०)

कर्म साधारण बोलचाल की भाषा में 'कर्म' का अर्थ होता है क्रिया।

व्याकरण में क्रिया से निष्पाद्यमान फल के आश्रय को कर्म कहते हैं। 'राम घर जाता है' इस उदाहरण में 'घर' गमन क्रिया के फल का आश्रय होने के नाते 'जाना क्रिया' का कर्म है।

दर्शन में 'कर्म' एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। जो कुछ मनुष्य करता है उससे कोई फल उत्पन्न होता है। यह फल शुभ, अशुभ अथवा दोनों से भिन्न होता है। फल का यह रूप क्रिया के द्वारा स्थिर होता है। दान शुभ कर्म है पर हिंसा अशुभ कर्म है। यहाँ कर्म शब्द क्रिया और फल दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह बात इस भावना पर आधारित है कि क्रिया सर्वदा फल के साथ संलग्न होती है। क्रिया से फल अवश्य उत्पन्न होता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं का इसमें समावेश नहीं है। आँख की पलकों का उठना, गिरना भी क्रिया है, परंतु इससे फल नहीं उत्पन्न होता। दर्शन की सीमा में इस प्रकार की क्रिया का कोई महत्व इसलिये नहीं है कि वह क्रिया मनःप्रेरित नहीं होती। उक्त सामान्य नियम मनःप्रेरित क्रियाओं मे ही लागू होता है। जान बूझकर किसी को दान देना अथवा किसी का वध करना ही सार्थक है। परंतु अनजाने में किसी का उपकार कर देना अथवा किसी को हानि पहुँचाना क्या कर्म की उक्तपरिधि में नहीं आता? कानून में कहा जाता है कि नियम का अज्ञान मनुष्य को क्रिया के फल से नहीं बचा सकता। गीता भी कहती है कि कर्म के शुभ अशुभ फल को अवश्य भोगना पड़ता है, उससे छुटकारा नहीं मिलता। इस स्थिति में जाने अनजाने में की गई क्रियाओं का शुभ अशुभ फल होता ही है। अनजाने में की गई क्रियाओं के बारे में केवल इतना ही कहा जाता है कि अज्ञान कर्ता का दोष है और उस दोष के लिये कर्ता ही उत्तरदायी है। कर्ता को क्रिया में प्रवृत्त होने के पहले क्रिया से संबंधित सभी बातों का पता लगा लेना चाहिए। स्वाभाविक क्रियाओं से अज्ञान में की गई क्रियाओं का भेद केवल इस बात में है कि स्वाभाविक क्रियाएँ बिना मन की सहायता के अपने आप होती हैं पर अज्ञानप्रेरित क्रियाएँ अपने आप नहीं होती— उनमें मन का हाथ होता है। न चाहते हुए भी आँख की पलके गिरेंगी, पर न चाहते हुए अज्ञान में कोई क्रिया नहीं की जा सकती है। क्रिया का परिणाम क्रिया के उद्देश्य से भिन्न हो, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि क्रिया की ही जाय। अतः कर्म की परिधि में वे क्रियाएँ और फल आते हैं जो स्वाभाविक क्रियाओं से भिन्न हैं।

क्रिया और फल का संबंध कार्य-कारण-भाव के अटूट नियम पर आधारित है। यदि कारण विद्यमान है तो कार्य अवश्य होगा? यह प्राकृतिक नियम आचरण के क्षेत्र में भी सत्य है। अतः कहा जाता है कि क्रिया का कर्ता फल का अवश्य भोक्ता होता है। बौद्धों ने कर्ता को क्षणिक माना है परंतु इस नियम को चरितार्थ करने के लिये वे क्षणसंतान में एक प्रकार की एकरूपता मानते हुए कहते हैं कि एक व्यक्ति की संतान दूसरे व्यक्ति की संतान से भिन्न है। क्षणभेद होने से भी व्यक्तित्व में भेद नहीं होता; अतः व्यक्ति पूर्वनिष्पादित क्रिया का उत्तर काल में भोग करता ही है। यदि हम यह न मानें तो कहना पड़ेगा कि किसी दूसरे के द्वारा की गई क्रिया का फल कोई दूसरा भोगता है जो तर्कविरुद्ध है। यदि इस नियम पर पूर्ण आस्था हो तो तर्क हमें इसके एक अन्य निष्कर्ष को भी स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है। यदि सभी क्रियाओं का फल भोगना पड़ता है तो उन क्रियाओं का क्या होगा जिनका फल भोगने के पहले ही कर्ता मर जाता है? या तो हमें कर्म के सिद्धांत को छोड़ना होगा या फिर, मानना होगा कि कर्ता नहीं मरता, वह केवल शरीर को बदल देता है। भारतीय विचारकों ने एक स्वर से दूसरा पक्ष ही स्वीकार किया है। वे कहते है कि मरना शरीर का स्वाभाविक कर्म है, परंतु भोग के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वही शरीर भोगे जिसने क्रिया की है। भोक्ता अलग है और वह कर्मफल का भोग करने के लिये दूसरा शरीर धारण करता है। इसी को पुनर्जन्मवाद कहते हैं। मृत्यु शरीर की आनुषंगिक स्वाभाविक क्रिया है जिसका कर्म पर कोई प्रभाव नहीं होता। अतः कर्म के सिद्धांत को पुनर्जन्म से अलग करके नहीं रखा जा सकता।

इतना ही नहीं, जब क्रिया का संबंध फलभोग के साथ माना जाता है तब यह भी मानना पड़ेगा कि भोग—जो शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार सुखमय या दुःखमय होता है—अवश्यंभावी है। उससे बचा नहीं जा सकता, न तो उसको बदला जा सकता है। फल के क्षय का एकमात्र उपाय है उसको भोग लेना। इस जन्म में प्राणी जैसा है वह उसके पूर्व जन्मों की क्रियाओं का फल मात्र है। फल एक शक्ति है जो जीवन की स्थिति को नियंत्रित करती है। इस शक्ति का पुंज भी कर्म कहा जाता है और कुछ लोग इसे भाग्य या नियति भी कहते हैं। नियतिवाद में माना गया है कि प्राणी नियति से नियंत्रित अतः परवश है। वह स्वयं कुछ नहीं करता। परंतु पूर्वजन्मों की क्रिया

का फल भोगने के अलावा वह इस जन्म में स्वतंत्र कर्ता भी है, अतः पूर्व कर्मों को भोगने के साथ ही वह भविष्य के लिये कर्म करता है। इसी में उसका स्वातंत्र्य है। आचार के लिये स्वतंत्रता परमावश्यक है और प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक इसे मानते हैं। क्रिया, क्रियाफल तथा क्रियाफल का समूह, जिसे अदृष्ट भी कहते है, भारतीय दर्शन में कर्म शब्द से अभिहित होता है।

पहले कहा गया है कि मनःप्रेरणा कर्म का आवश्यक उपकरण है। मनः-प्रेरणा के शुभ या अशुभ होने से ही कर्म शुभ या अशुभ होता है। डाक्टर रोगी की भलाई के लिये उसकी चीरफाड़ करता है। यदि इस चीरफाड़ से रोगी को कष्ट होता है तो डाक्टर उसका उत्तरदायी नहीं है। डाक्टर शुभ कर्म कर रहा है। अतः दुःख, जो अशुभ मनःप्रेरणा से की गई क्रिया का फल है, तभी दूर हो सकता है जब मन को अशुभ प्रभावों से बचाया जाय। सर्वदा शुभ कर्म करना सर्वदा शुभ सोचने से ही हो सकता है। कष्ट के बचने का यही एक उपाय है। परतु शुभ कर्म करनेवाले व्यक्ति को फलभोग के लिये जन्म लेना ही होगा, चाहे स्वर्ग में, चाहे पृथ्वी पर। जन्म लेना अपने आपमें महान् कष्ट है क्योंकि जन्म का संबंध मृत्यु से है। मृत्यु का कष्ट दुःसह कष्ट माना गया है। अतः यदि इस कष्ट से भी छुटकारा पाना है तो जन्म की परंपरा को भी समाप्त करना होगा। इसके लिये शुभ कर्मो का भी परित्याग आवश्यक है क्योंकि बिना उसके जन्म से मुक्ति नहीं है। अतः शुभाशुभ परित्यागी ही वास्तविक दुःखमुक्त हो सकता है।

क्या शुभाशुभ परित्याग संभव है? शरीर रहते यह संभव नहीं मालूम होता। पर एक उपाय है। मन के शोधन से यह सिद्ध हो सकता है। यदि मन में किसी फल की आकांक्षा के बिना, पलक उठने गिरने की तरह, सारी क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से की जायँ तो उनसे शुभ अशुभ फल उत्पन्न नहीं होंगे और जन्म मृत्यु से भी छुटकारा मिल जायगा। निष्काम कर्म का यही आदर्श है। इसके विपरीत सारे कर्म—जो शुभ अशुभ होते हैं—सकाम कर्म हैं और वे बंधन के कारण हैं।

कर्म के इस सिद्धांत के साथ स्वर्ग नरक की कल्पनाएँ भी जुड़ी हैं। शुभ कर्मो के परिणामस्वरूप सकल सुखों से पूर्ण स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत नरक की प्राप्ति होती है। स्वर्ग नरक में भी शुभ अशुभ कर्म की मात्रा के अनुसार अनेक स्तर माने गए हैं, जैसे पृथ्वी पर अनेक स्तर हैं। कर्म के सिद्धांत को मानने पर स्वर्ग नरक की कल्पना को भी मानना आवश्यक हो जाता है।

जिन्हें हम शुभ कर्म कहते हैं वे पुण्य तथा अशुभ कर्म पाप कहलाते हैं। पुण्य और पाप मुख्यतः क्रिया के फल का बोध कराते हैं। ये कर्म तीन प्रकार के होते हैं। नित्यकर्म वे हैं जो न करने पर पाप उत्पन्न करते हैं, किंतु करने पर कुछ भी नहीं उत्पन्न करते। नैमित्तिक कर्म करने से पुण्य तथा न करने से पाप होता है। काम्य कर्म कामना से किए जाते हैं अतः उनके करने से फल की सिद्धि होती है। न करने से कुछ भी नहीं होता। चूंकि तीनों कर्मो में यह उद्देश्य छिपा है कि पुण्य अर्जित किया जाय, पाप से दूर रहा जाय, अतः ये सभी कर्म मनःप्रेरित हैं। जन्म से छुटकारा पाने के लिये नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का परित्याग अत्यंत आवश्यक माना गया है। (रा० पां०)

कर्मयोग इसका प्रतिपादन गीता में विशद रूप से हुआ है। भारतीय दर्शन में कर्म बंधन का कारण माना गया है। किंतु कर्मयोग में कर्म के उस स्वरूप का निरूपण किया गया है जो बंधन का कारण नहीं होता। योग का अर्थ है समत्व की प्राप्ति (समत्वं योग उच्यते)। सिद्धि और असिद्धि, सफलता और विफलता में सम भाव रखना समत्व कहलाता है। योग का एक अन्य अर्थ भी है। वह है कर्मो का कुशलता से संपादन करना (योगः कर्मसु कौशलम्)। इसका अर्थ है, इस प्रकार कर्म करना कि वह बंधन न उत्पन्न कर सके। अब प्रश्न यह है कि कौन से कर्म बंधन उत्पन्न करते हैं और कौन से नहीं? गीता के अनुसार जो कर्म निष्काम भाव से ईश्वर के लिये किए जाते हैं वे बंधन नहीं उत्पन्न करते। वे मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति में सहायक होते हैं। इस प्रकार कर्मफल तथा आसक्ति से रहित होकर ईश्वर के लिये कर्म करना वास्तविक रूप से कर्मयोग है और इसका अनुसरण करने से मनुष्य को अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

गीता के अनुसार कर्मों से संन्यास लेने अथवा उनका परित्याग करने की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मों का केवल परित्याग कर देने से मनुष्य सिद्धि अथवा परमपद नहीं प्राप्त करता। मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रहता। सभी अज्ञानी जीव प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम, इन तीन गुणों से नियंत्रित होकर, परवश हुए, कर्मों में प्रवृत्त किए जाते हैं। मनुष्य यदि बाह्य दृष्टि से कर्म न भी करे और विषयों में लिप्त न हो तो भी वह उनका मन से चिंतन करता है। इस प्रकार का मनुष्य मूढ़ और मिथ्या आचरण करनेवाला कहा गया है। कर्म करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है। उसके बिना शरीर का निर्वाह भी संभव नहीं है। भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं कि तीनों लोकों में उनका कोई भी कर्तव्य नहीं है। उन्हें कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनी नहीं रहती। फिर भी वे कर्म में संलग्न रहते हैं। यदि वे कर्म न करें तो मनुष्य भी उनके चलाए हुए मार्ग का अनुसरण करने से निष्क्रिय हो जायँगे। इससे लोकस्थिति के लिये किए जानेवाले कर्मो का अभाव हो जायगा जिसके फलस्वरूप सारी प्रजा नष्ट हो जायगी। इसलिये आत्मज्ञानी मनुष्य को भी, जो प्रकृति के बंधन से मुक्त हो चुका है, सदा कर्म करते रहना चाहिए। अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार फलप्राप्ति की आकांक्षा से कर्म करता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी को लोकसंग्रह के लिये आसक्तिरहित होकर कर्म करना चाहिए। इस प्रकार आत्मज्ञान से संपन्न व्यक्ति ही, गीता के अनुसार, वास्तविक रूप से कर्मयोगी हो सकता है।

सं०ग्रं०—शंकराचार्य : श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य; तिलक : गीता-रहस्य; अरविंद : एसेज़ आन द गीता, भाग १–२। (रा० शं० मि०)

कर्मवाद कर्म और उसके फल का अनिवार्य संबंध है। व्यक्ति अच्छे और बुरे जो भी कर्म करता है उसके अनुरूप भविष्य में उसे सुख अथवा दुःख की प्राप्ति होती है। इसी को कर्मसिद्धांत अथवा कर्मवाद कहते हैं। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शन कर्मवाद का एक स्वर से प्रतिपादन करते है और इसको जीवन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

कर्मवाद की उत्पत्ति—कर्मवाद की प्रथम अनुभूति वैदिक यज्ञ के विधान में होती है। वैदिक विश्वास के अनुसार यदि यज्ञ का विधिवत् संपादन किया जाय तो उससे एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न होती है। इसे अदृष्ट अथवा अपूर्व कहते हैं। यही उचित अवसर आने पर यज्ञ के वांछित फल को उत्पन्न करती है। इस प्रकार यज्ञ का फल मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है। इस कर्म और फल के संबंध की सार्वभौम नियम के रूप में अभिव्यक्ति सर्वप्रथम ऋग्वेद के ऋत के सिद्धांत में मिलती है। ऋत समस्त विश्व में व्याप्त है तथा उसका संचालन और नियंत्रण करता है। यह जगत् की भौतिक तथा नैतिक व्यवस्था का आधार है। देवता तथा मनुष्य सभी इसका पालन करते हैं। वरुण ऋत के अधिष्ठाता माने गए हैं। वह पाप करनेवालों को घोर अंधकार के गह्वर में डालते हैं जहाँ से उनका प्रत्यावर्तन नहीं होता। इसी प्रकार अच्छे कर्म करनेवालों को सर्वोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मृत्यु के उपरांत जीव को दो अग्नियों के मध्य से होकर जाना पड़ता है। वे अशुभ कर्म करनेवालों को जलाती हैं पर शुभ कर्म करनेवालों को नहीं।

कर्मवाद और नैतिक व्यवस्था—कर्म का शाश्वत तथा सार्वभौम नियम जगत् की नैतिक व्यवस्था का आधार है। इसका और अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है। बृहदारण्यक के अनुसार मनुष्य का कर्म ही उसके साथ जाता है। आत्मा का जैसा चरित्र एवं व्यवहार होता है वह वैसा ही हो जाता है। छांदोग्य के अनुसार सुंदर चरित्रवाले व्यक्ति अच्छी योनि प्राप्त करते हैं, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य योनि, और निंद्य चरित्रवाले व्यक्ति नीच योनियों में जन्म लेते हैं, जैसे कुत्ते, सुअर, चांडाल आदि। कौषीतकी उपनिषद् में कर्मनियम का स्पष्ट उल्लेख है कि जीव अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कीड़े, पतंगे, मछली, पक्षी, सिंह, सर्प और मनुष्य आदि योनियों में जन्म लेते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो

जाता है कि जीवन में अव्यवस्था तथा संयोग के लिये कोई स्थान नहीं है। प्राणियों का जन्म, उनका विकास, उनके सुख दुःख आदि की अनुभूति कर्म के द्वारा नियंत्रित होती रहती है। उन्हें उनके कर्मानुसार फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

कर्मवाद और दुःख तथा असमानता—कर्मनियम के जीवन की नैतिक व्यवस्था का आधार होने के कारण उससे अनेक समस्याओं का हल भी प्राप्त हो जाता है। जीवन दुःखमय है। वह अनेक प्रकार की बुराइयों तथा विपन्नताओं से भरा हुआ है। इन सबका कारण क्या है? भारतीय दार्शनिक विचारधारा के अनुसार इनका मूल कारण कर्म है। बौद्ध दार्शनिक नागसेन के अनुसार कर्मों के अंतर के कारण ही सभी मनुष्य समान नहीं होते। कुछ अधिक आयुवाले, कुछ कम आयुवाले, कुछ स्वस्थ, कुछ रोगी, कुछ धनी कुछ निर्धन आदि होते हैं। वेदांत के अनुसार ईश्वर जीवों के कर्मानुसार ही उन्हें विभिन्न फल प्रदान करता है। इसमें उसका कोई पक्षपात नहीं है। इसी प्रकार अन्य भारतीय दर्शन भी दुःख, असमानता, पुनर्जन्म आदि समस्याओं का समाधान कर्मसिद्धांत के द्वारा करते हैं।

कर्मवाद और अदृष्ट, अपूर्व, आश्रव तथा अविज्ञप्ति रूप—कर्म और उसके फल का अनिवार्य संबंध मानने में एक तार्किक कठिनाई उपस्थित होती है। वह यह है कि कर्म और उसके फल में बहुधा अधिक समय का अंतर देखा जाता है। यह भी संभव है कि वर्तमान जीवन में किए हुए कर्मों का फल मनुष्य को दूसरे जन्म में भोगना पड़े। इस प्रकार समय का इतना अधिक अंतर होने के कारण कर्म और फल का संबंध कैसे संभव है? भारतीय दर्शन अदृष्ट, अपूर्व, आश्रव तथा अविज्ञप्ति रूप आदि सिद्धांतों के द्वारा इस समस्या का हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। न्याय के अनुसार, व्यक्ति द्वारा किए हुए कर्मों से उत्पन्न पुण्य और पाप के समूह को अदृष्ट कहते हैं। यह अदृष्ट आत्मा के साथ संयुक्त रहता है और अवसर आने पर सुख दुःख आदि फलों को उत्पन्न करता है। मीमांसकों के अनुसार, यज्ञ आदि जो किए जाते है वे यज्ञकर्ता की आत्मा में एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न करते हैं जिसे अपूर्व कहा जाता है। यह अपूर्व आत्मा में रहता है और कालांतर में यज्ञ का अभीप्सित फल उत्पन्न करता है। जैन दर्शन में कर्म और फल के संबंध की व्याख्या जीव में पुद्गल कर्मों अथवा कर्म पुद्गल के आश्रव के सिद्धांत के द्वारा की गई है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार प्राणियों के अंदर एक अत्यंत सूक्ष्म और अदृश्य शक्ति कार्य करती रहती है जिसे अविज्ञप्ति रूप कहते हैं। यही उनके द्वारा किए हुए शुभ अशुभ कर्मों का तदनुसार फल उत्पन्न करती है। इस प्रकार अदृष्ट, अपूर्व, आश्रव तथा अविज्ञप्ति रूप तत्व कर्म और फल के बीच सेतु का कार्य करते हैं।

कर्मवाद और कर्मस्वातंत्र्य—अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कर्म का सिद्धांत मनुष्य के कर्मस्वातंत्र्य का विरोधी है? क्या मनुष्य पूर्वजन्म में किए हुए अथवा इसी जन्म में किए हुए पहले के कर्मों से इतना बँध गया है कि वह स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता? भारतीय दर्शन इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मनुष्य कर्म करने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। पूर्व के कर्म मनुष्य के अंदर विशेष प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर सकते हैं पर उसे किसी विशेष प्रकार का कार्य करने के लिये बाध्य नहीं कर सकते। मनुष्य अच्छे बुरे जो भी कर्म करता है उसके लिये नैतिक दृष्टि से वह पूर्ण रूप से जिम्मेदार है। इस प्रकार कर्मवाद अथवा कर्मसिद्धांत का मनुष्य के संकल्प की स्वतंत्रता तथा उसके कर्मस्वातंत्र्य से किंचिन्मात्र भी विरोध नहीं है। कर्मस्वातंत्र्य के कारण ही मनुष्य योग आदि आध्यात्मिक मार्गों का अनुसरण कर कर्मनियम का अंत में अतिक्रमण कर जाता है और दुःख तथा जन्ममरण के बंधन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

सं०ग्रं०—ऋग्वेद; शतपथ ब्राह्मण; बृहदारण्यक, छांदोग्य, कौषीतकी तथा कठोपनिषद्; अभिधर्मकोश; मिलिंदप्रश्न; तत्वार्थसूत्र; बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन; मैकडॉनेल : वेदिक माइथालाजी; आर० डी० रानाडे : ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक् फ़िलासफ़ी; एस० एन० दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलासफ़ी, भाग १; एस० राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलासफ़ी, भाग १–२। (रा० शं० मि०)

कर्वे, धोंडो केशव (महर्षि) महाराष्ट्र के मुरुड नामक कस्बे में १८ अप्रैल, १८५८ ई० को एक गरीब परिवार में जन्म। पिता का नाम केशवपंत और माता का लक्ष्मीबाई। आरंभिक शिक्षा मुरुड में हुई। पश्चात् सतारा में दो ढाई वर्ष अध्ययन करके बंबई के राबर्ट मनी स्कूल में दाखिल हुए। १८८४ ई० में उन्होंने बंबई विश्वविद्यालय से गणित विषय लेकर बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। बी० ए० करने के बाद वे एलफिंस्टन स्कूल में अध्यापक हो गए। कर्वे का विवाह १५ वर्ष की आयु में ही हो गया था और बी० ए० पास करने तक उनके पुत्र की अवस्था ढाई वर्ष हो चुकी थी। अतः खर्च चलाने के लिये स्कूल की नौकरी के साथ साथ लड़कियों के दो हाईस्कूलों में वे अंशकालिक काम भी करते थे। गोपालकृष्ण गोखले के निमंत्रण पर १८९१ ई० में वे पूना के प्रख्यात फर्ग्युसन कालेज में प्राध्यापक बन गए। यहाँ लगातार २३ वर्ष तक सेवा करने के उपरांत १९१४ ई० में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

भारत में हिंदू विधवाओं की दयनीय और शोचनीय दशा देखकर कर्वे, बंबई में पढ़ते समय ही, विधवा विवाह के समर्थक बन गए थे। उनकी पत्नी का देहांत भी उनके बंबई प्रवास के बीच हो चुका था। अतः ११ मार्च, १८९३ ई० को उन्होंने गोडूबाई नामक विधवा से विवाह कर, विधवा विवाह संबंधी प्रतिबंध को चुनौती दी। इसके लिये उन्हें घोर कष्ट सहने पड़े। मुरुड में उन्हें समाजबहिष्कृत घोषित कर दिया गया। उनके परिवार पर भी प्रतिबंध लगाए गए। कर्वे ने 'विधवा विवाह संघ' की स्थापना की। किंतु शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि इक्के दुक्के विधवा विवाह करने अथवा विधवा विवाह का प्रचार करने से विधवाओं की समस्या हल होनेवाली नहीं है। अधिक आवश्यक यह है कि विधवाओं को शिक्षित बनाकर उन्हें अपने पैरों पर खड़ा किया जाए ताकि वे संमानपूर्ण जीवन बिता सकें। अतः १८९६ ई० में उन्होंने 'अनाथ बालिकाश्रम एसोसिएशन' बनाया और जून, १९०० ई० में पूना के पास हिंगणे नामक स्थान में एक छोटा सा मकान बनाकर 'अनाथ बालिकाश्रम' की स्थापना की गई। ४ मार्च, १९०७ ई० को उन्होंने 'महिला विद्यालय' की स्थापना की जिसका अपना भवन १९११ ई० तक बनकर तैयार हो गया।

काशी के बाबू शिवप्रसाद गुप्त जापान गए थे और वहाँ के महिला विश्वविद्यालय से बहुत प्रभावित हुए थे। जापान से लौटने पर १९१५ ई० में गुप्त जी ने उक्त महिला विश्वविद्यालय से संबधित एक पुस्तिका कर्वे को भेजी। उसी वर्ष दिसंबर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का बंबई में अधिवेशन हुआ। कांग्रेस अधिवेशन के साथ ही 'नैशनल सोशल कानफ़रेंस' का अधिवेशन भी होना था जिसके अध्यक्ष महर्षि कर्वे चुने गए। गुप्त जी द्वारा प्रेषित पुस्तिका से प्रेरणा पाकर कर्वे ने अपने अध्यक्षीय भाषण का मुख्य विषय 'महाराष्ट्र में महिला विश्वविद्यालय' को बनाया। महात्मा गांधी ने भी महिला विश्वविद्यालय की स्थापना और मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने के विचार का स्वागत किया। फलस्वरूप १९१६ ई० में, कर्वे के अथक प्रयासों से, पूना में महिला विश्वविद्यालय की नीव पड़ी, जिसका पहला कालेज 'महिला पाठशाला' के नाम से १६ जुलाई, १९१६ ई० को खुला। महर्षि कर्वे इस पाठशाला के प्रथम प्रिंसिपल बने। लेकिन धन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने अपना पद त्याग दिया और धनसंग्रह के लिये निकल पड़े। चार वर्ष में ही सारे खर्च निकालकर उन्होंने विश्वविद्यालय के कोष में दो लाख १६ हजार रुपए से अधिक धनराशि जमा कर दी। इसी बीच बंबई के प्रसिद्ध उद्योगपति सर विट्ठलदास दामोदर ठाकरसी ने इस विश्वविद्यालय को १५ लाख रुपए दान दिए। अतः विश्वविद्यालय का नाम श्री ठाकरसी की माता के नाम पर 'श्रीमती नत्थीबाई दामोदर ठाकरसी (एस० एन० डी० टी०) विश्वविद्यालय रख दिया गया और कुछ वर्ष बाद इसे पूना से बंबई स्थानांतरित कर दिया गया। ७० वर्ष की आयु में कर्वे उक्त विश्वविद्यालय के लिये धनसंग्रह करने यूरोप, अमरीका और अफ्रीका गए।

सन् १९३६ ई० में गाँवों में शिक्षा के प्रचार के लिये कर्वे ने 'महाराष्ट्र ग्राम प्राथमिक शिक्षा समिति' की स्थापना की, जिसने धीरे धीरे विभिन्न गाँवों में ४० प्राथमिक विद्यालय खोले। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद यह कार्य राज्य सरकार ने सँभाल लिया।

सन् १६१५ ई० मे कर्वे द्वारा मराठी भाषा में रचित 'आत्मचरित' नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुका था। १६४२ ई० में काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने उन्हें डा० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया। १६५१ ई० में पूना विश्वविद्यालय ने भी उन्हें डा० लिट्० की उपाधि प्रदान की। १६५८ ई० में उनके अपने महिला विश्वविद्यालय ने उन्हें एल–एल० डा० की उपाधि दी। १६५५ ई० में भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मविभूषण' से अलंकृत किया और १०० वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर, १६५७ ई० में, बंबई विश्वविद्यालय ने उन्हें एल–एल० डी० की उपाधि से सम्मानित किया। १६५८ ई० में भारत के राष्ट्रपति ने उन्हें देश के सर्वोच्च सम्मान 'भारतरत्न' से विभूषित किया। भारत सरकार के डाक तार विभाग ने इनके सम्मान में एक डाक टिकट निकालकर इनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की थी। देशवासी आदर से उन्हें महर्षि कहते थे। ६ नवंबर, १६६२ ई० को १०४ वर्ष की आयु में 'महर्षि' कर्वे का शरीरांत हो गया।

(कै० चं० श०)

कर्षण (जुताई) वह कृषिकार्य है जिसमें भूमि को कुछ इंचों की गहराई तक खोदकर मिट्टी को पलट दिया जाता है, जिससे नीचे की मिट्टी ऊपर आ जाती है और वायु, पाला, वर्षा और सूर्य के प्रकाश तथा उष्मा आदि प्राकृतिक शक्तियों द्वारा प्रभावित होकर भुरभुरी हो जाती है। एकदम नई भूमि को जोतने के पहले पेड़ पौधे काटकर भूमि स्वच्छ कर ली जाती है। तत्पश्चात् किसी भी भारी यंत्र से जुताई करते हैं जिससे मिट्टी कटती है और पलट भी जाती है। इस प्रकार कई बार जुताई करने से एक निश्चित गहराई तक मिट्टी फसल उपजाने योग्य बन जाती है। ऐसी उपजाऊ मिट्टी की गहराई साधारणतः एक फुट तक होती है। उसके नीचे की भूमि, जिसे गर्भतल कहते हैं, अनुपजाऊ रह जाती है। इस गर्भतल को भी गहरी जुताई करनेवाले यंत्र से जोतकर मिट्टी को उपजाऊ बना सकते है। यदि यह गर्भतल जोता न जाय और हल सर्वदा एक निश्चित गहराई तक कार्य करता रहे तो उस गहराई पर स्थित गर्भतल की ऊपरी सतह अत्यंत कठोर हो जाती है। इस कठोर तह को अंग्रेजी मे प्लाऊ पैन (Plough pan) कहते है। यह कठोर तह कृषि के लिये अत्यंत हानिकारक सिद्ध होती है, क्योंकि वर्षा या सिंचाई से खेत में अधिक जल हो जाने पर वह इस कठोर तह को भेदकर नीचे नही जा पाता। अतः मिट्टी में अधिक समय तक जल भरा रहता है और अनेक प्रकार की हानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन हानियों से बचने के लिये उस कठोर तह (प्लाऊ पैन) को प्रत्येक वर्ष तोड़ना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। मिट्टी के कणों के परिमाण पर मिट्टी की बनावट (texture) और उनके क्रम पर मिट्टी का विन्यास (structure) निर्भर है। जुताई से बनावट तथा विन्यास में परिवर्तन करके हम मिट्टी को इच्छानुसार शस्य उत्पन्न करने योग्य बना सकते हैं।

बीज बोने के लिये उच्च कोटि की मिट्टी प्राप्त करने के निमित्त सर्वप्रथम मिट्टी पलटनेवाले किसी भारी हल का उपयोग किया जाता है। तत्पश्चात् हलके हल से जुताई की जाती है जिसमें बड़े ढेले न रह जायँ और मिट्टी भुरभुरी हो जाय। यदि बड़े बड़े ढेले हों तो बेलन (रोलर) या पाटा का उपयोग किया जाता है, जिससे ढेले फूट जाते है। जुताई के किसी यंत्र का उपयोग मुख्यतः मिट्टी की प्रकृति तथा ऋतु की दशा पर निर्भर है। बीज बोने के पहले अंतिम जुताई अत्यंत सावधानी से करनी चाहिए, क्योंकि मिट्टी में आर्द्रता का संरक्षण इसी अंतिम जुताई पर निर्भर है और बीज के जमने की सफलता इसी आर्द्रता पर निर्भर है। यह आर्द्रता मिट्टी की केशिका नलियों द्वारा ऊपरी तह तक पहुँचती है। ये केशिका नलियाँ कणांतरिक छिद्रों से बनती है। ये छिद्र जितने छोटे होंगे, केशिका नलियाँ उतनी ही पतली और सँकरी होंगी और कणांतरिक जल मिट्टी में उतना ही ऊपर तक चढ़ेगा। इन छिद्रों और इसलिये केशिका नलियों के आकार का उपयुक्त या अनुपयुक्त होना जुताई पर निर्भर है।

हल से खेत को जोतना ही जुताई नहीं कही जा सकती। हल चलाने के अतिरिक्त गुड़ाई, निराई, फावड़े से खोदना, पाटा या बेलन (रोलर) चलाना इत्यादि कार्य जुताई में संमिलित हैं। इन सब क्रियाओं का मुख्य अभिप्राय यही है कि मिट्टी भुरभुरी और नरम हो जाय तथा पौधे के सफल जीवन के लिये मिट्टी में उपयुक्त परिस्थिति प्रस्तुत हो जाय। पौधों के लिये जल, वायु, उचित ताप, भाज्य पदार्थ, हानिकारक वस्तुओं की अनुपस्थिति तथा जड़ों के लिये सहायक आधार की आवश्यकता पड़ती है। ये सारी वस्तुएँ कर्षण द्वारा प्राप्त की जाती हैं और शस्य की सफलता इसी बात पर निर्भर रहती है कि ये उपयुक्त दशाएँ किस सीमा तक मिट्टी में संरक्षित की जा सकती हैं। अस्तु, कर्षण के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं: (१) खेतवाले क्षेत्र के खरपतवार सब नष्ट हो जाने चाहिए। (२) मिट्टी भुरभुरी हो जाय जिससे उसमें जल, वायु, ताप और प्रकाश का आवागमन और संचालन सफलतापूर्वक हो सके। (३) लाभदायक जीवाणु भली भाँति अपना कार्य प्रतिपादन कर सकें। (४) मिट्टी भली प्रकार वर्षा का जल सोख और धारण कर सके। (५) पौधों की जड़ें सुगमतापूर्वक फैलकर पौधे के लिये भोजन प्राप्त कर सकें। (६) हानिकारक कीड़ों के अंडे, बच्चे ऊपर आकर नष्ट हो जायें। (७) खेत में डाली हुई खाद मिट्टी में भली भाँति मिल जाय। (८) विलायक (घोलक) शक्तियाँ अपना कार्य भली प्रकार कर सकें जिससे पौधों को प्राप्त होने योग्य विलेय तत्व अधिक मात्रा में उपलब्ध हों।

जल, वायु और ताप में अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। यदि मिट्टी में जल की मात्रा अधिक होगी तो वायु की मात्रा कम हो जायगी, तदनुसार ताप कम हो जायगा। इसके विपरीत यदि मिट्टी अधिक शुष्क है तो ताप अधिक हो जायगा। ये तीनों आवश्यक दशाएं मिट्टी की जोत (टिल्थ, tilth) पर निर्भर हैं। यदि जोत उत्तम है, तो मिट्टी में जल, वायु तथा ताप भी उचित रूप में हैं। यदि मिट्टी में जल अधिक या न्यून मात्रा में हो, तो उत्तम जोत प्राप्त नही हो सकती। अधिक जल के कारण मिट्टी चिपकने लगती है और ऐसी मिट्टी की जुताई करने से जोत नष्ट हो जाती है। जब मिट्टी सूखने लगती है तब एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि यदि उस समय जुताई की जाय तो उत्तम जोत प्राप्त होती है। मटियार मिट्टी जब सूख जाती है तब उसमें ढेले बन जाते है जिनको तोड़ना कठिन हो जाता है।

जुताई कई प्रकार की होती है, जैसे गहरी जुताई, छिछली जुताई, अधिक समय तक जुताई, ग्रीष्म ऋतु की जुताई, हलाई या हराई की जुताई, मध्य से बाहर की ओर या किनारे से मध्य की ओर तथा एक किनारे से दूसरे किनारे की ओर जुताई। हर प्रकार की जुताई में कुछ न कुछ विशेषता होती है। गहरी जुताई से मिट्टी अधिक गहराई तक उपजाऊ हो जाती है और यह गहरी जानेवाली जड़ों के लिये अत्यंत उपयुक्त होती है। छिछली जुताई झकड़ा जड़वाले और कम गहरी जानेवाली जड़ के पौधों के लिये उत्तम होती है। अधिक समय तक तथा ग्रीष्म ऋतु की जुताई से मिट्टी में प्रस्तुत हानिकारक कीड़े तथा उनके अंडे नष्ट हो जाते है। खरपतवार भी समूल नष्ट हो जाते हैं और मिट्टी की जलशोषण या जलधारण शक्ति अधिक हो जाती है। यदि खेत बहुत बड़ा है तो उसे हलाई या हराई नियम से कई भागों में बाँटकर जुताई करते है (हराई उतने भाग को कहते हैं जितना एक बार में सुगमता से जोता जा सकता है)। खेत यदि समतल न हो और मध्य भाग नीचा हो, तो मध्य से बाहर की ओर, और यदि मध्य ऊँचा हो, तो किनारे से मध्य की ओर जुताई करनी चाहिए। खेत एक ओर ढालुआ हो तो नीचे की ओर से ढाल के लंबवत् जुताई आरंभ करके ऊँचाई की ओर समाप्त करना चाहिए। ऐसा करने से खेत धीरे धीरे समतल हो जाता है तथा मिट्टी भी भली प्रकार जुत जाती है। परंतु यह कार्य देशी हल से नहीं किया जा सकता। इसके लिये मिट्टी पलटनेवाला हल होना चाहिए। इसमें मिट्टी पलटने के लिये पंख लगा रहता है। यही कारण है कि देशी हल को वास्तव में हल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हल की परिभाषा है वह यंत्र जो मिट्टी को काटे और उसे खोदकर पलट दे। देशी हल से मिट्टी कटती है, परंतु पलटती नहीं। इसको हल की अपेक्षा कल्टिवेटर (Cultivater) कहना उचित है।

जुताई के कुछ सिद्धांत हैं जिनका उपरिलिखित नियमों की अपेक्षा प्रत्येक दशा में पालन करना कृषक का कर्तव्य है। उपयोग से पहले हल का भली भाँति निरीक्षण कर लेना चाहिए। उसका कोई भाग ढीला न हो। जूए में उसको आवश्यक ऊँचाई पर लगाएँ। यह ऊँचाई बैलों की

ऊँचाई पर निर्भर है। जुताई करते समय हल की मुठिया दृढ़तापूर्वक पकड़नी चाहिए ताकि हल सीधा और आवश्यक गहराई तक जाय। कूँड़ों (हल रेखाओं) को सीधी और पास पास काटना चाहिए अन्यथा कूँड़ों के बीच बिना जुती भूमि (अँतरा) छूट जाती है। देशी हल से जुताई करने में अँतरा अवश्य छूटता है, जिसको समाप्त करने के लिये कई बार खेत को जोतना पड़ता है। खेत की मिट्टी अधिक गीली या सूखी न हो। अधिक गीली मिट्टी से कटे टुकड़े पीछे कड़े कड़े ढोंके हो जाते हैं और सूखी मिट्टी पर हल मिट्टी को काट नहीं पाता। उसमें इतनी आर्द्रता हो कि वह भुरभुरी हो जाय। हल चलाते समय कटी हुई मिट्टी भली भाँति उलटती जाय और पास का, पहले बना, खुला हुआ कूँड़ उस मिट्टी से भरता जाय। जोतने के पश्चात् खेत समतल दिखाई पड़े और खरपतवार नष्ट हो जायँ। जुताई करते समय हल का फार मिट्टी के ऊपर न आए। पहली जुताई के बाद प्रत्येक बार खेत को इस प्रकार जोतना चाहिए कि दूसरी जुताई द्वारा कूँड़ लंबवत् कटे। सफल कर्षण के लिये इन सिद्धांतों का पालन आवश्यक है।

जुताई के लिये कोई विशेष समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यह कार्यकाल स्थान की जलवायु तथा फसल की किस्म पर निर्भर है। जलवायु के अनुसार वर्ष को खरीफ, रबी और जायद में विभक्त किया जाता है तथा इन्हीं के अनुसार फसलें भी विभाजित होती हैं। खरीफ की फसल वर्षा ऋतु में, रबी की फसल जाड़े में तथा जायद की फसल ग्रीष्म ऋतु में होती है। प्रत्येक ऋतु की फसल बोने के पहले और काटने के बाद खेत को जोतना अत्यंत आवश्यक है। यदि कोई फसल न भी उगानी हो तो खेत को बिना जुते नहीं छोड़ना चाहिए। फसल काटने के बाद खेत को तुरंत जोतना चाहिए। रबी की फसल काटने के बाद यदि जायद फसल न बोनी हो, तो खेत को मार्च के अंत या अप्रैल के आरंभ से खरीफ की फसल बोने तक कई बार जोतना चाहिए। यह कर्षण क्रिया अधिकांश ग्रीष्म ऋतु में होनी चाहिए, जिससे मिट्टी भली प्रकार जुत जाय। इस प्रकार उसमें वर्षा के जल को धारण करने की अधिक क्षमता आ जायगी। इसी तरह खरीफ की फसल कटने और रबी की फसल बोने के बीच के लगभग दो महीनों में खेत को आठ या दस बार भली भाँति जोतना आवश्यक है। खेत में आर्द्रता की कमी होने पर बोने से पूर्व पलेवा करना (ढेलों को चूर करना) आवश्यक है (पलेवा करने में मिट्टी को तसले में उठाकर फेंका जाता है जिससे ढेले गिरने की चोट से चूर हो जाते हैं)।

कार्य और प्रयोग के अनुसार जुताई के यंत्र, चार भागों में विभाजित किए गए हैं: (१) हल, (२) हैरो (harrow) और कल्टिवेटर (Cultivater), (३) पाटा और बेलन, (४) अन्य छोटे छोटे यंत्र, जैसे खुरपी, रेक (rake), हैंड हो (hand hoe) इत्यादि। इनका उपयोग आवश्यकतानुसार समय समय पर करना चाहिए। इन चारों विभागों के यंत्रों के उपयोग का मुख्य अभिप्राय यही है कि कर्षण के नियमों तथा सिद्धांतों का पालन करके खेत की जोत अत्युत्तम कर ली जाय और फसल की सफलता के लिये सारे उपयुक्त साधन और वातावरण उपस्थित रहें।

सं०ग्रं०—एंसाइक्लोपीडिया ऑव ऐग्रिकल्चर : सॉयल, इट्स प्रॉपर्टीज ऐंड मैनेजमेंट। (ज० रा० सिं०)

कलकत्ता गंगा के मुहाने से ८० मील उत्तर हुगली के बाएँ किनारे पर स्थित भारत का द्वितीय व्यापारिक नगर एवं बंदरगाह तथा पश्चिमी बंगाल प्रदेश की राजधानी है। [स्थिति २०° ३४' उ० अ० और ८८° २४' पू० दे०; ज० सं० (१९७१) ७०,४०,३४५] यह नगर समुद्र के धरातल से २० फुट की ऊँचाई पर हुगली के किनारे, उत्तर से दक्षिण, करीब छह मील की लंबाई तथा दो तीन मील की चौड़ाई में विस्तृत है। इसकी पश्चिमी सीमा हुगली नदी से तथा पूर्वी सीमा वृत्ताकार नहर, खारी भील (साल्ट लेक) तथा निकटवर्ती दलदली भूमि द्वारा निर्धारित होती है।

जलवायु—कलकत्ता की जलवायु आर्द्रोष्ण है। यहाँ का औसत वार्षिक ताप ७९° फा० है। सबसे गरम मास मई का होता है जिसका औसत तापमान ८६° फा० और सबसे ठंढा मास जनवरी है जिसका औसत तापमान ६५° फा० है। वार्षिक वर्षा का औसत ६६"; मूल वर्षाकाल जून से सितंबर तक, जुलाई और अगस्त मास में सर्वाधिक वर्षा, करीब १३" प्रत्येक मास में, होती है। नवंबर से फरवरी तक यहाँ की जलवायु साधारणतया सुखप्रद रहती है, परंतु वर्षाकाल में जुलाई से सितंबर तक नमी तथा ताप की अधिकता के कारण जलवायु कुछ कष्टप्रद हो जाती है।

ऐतिहासिक विकास—कलकत्ता की स्थापना १६८६ ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी के गवर्नर जॉब चार्नाक द्वारा हुई जिसने मुगलों के हस्तक्षेप के भय से कंपनी के हुगली में स्थापित कारखाने हटाकर सुटानाटी ग्राम (अब कलकत्ता का एक भाग) में पुनः स्थापित किए। धीरे धीरे यह नवीन बस्ती नदी के किनारे स्थित उस समय के कालीकाता ग्राम तक फैल गई। सन् १६९८ ई० में कंपनी ने सुटानाटी, कालीकाता तथा गोविंदपुर गाँवों को औरंगजेब के पुत्र राजकुमार आजिम से खरीद लिया। ये ही तीन गाँव आज के विशाल कलकत्ता नगर के केंद्रबिंदु बने। कलकत्ते को अंग्रेजों द्वारा बंगाल का व्यापारिक केंद्र चुने जाने के दो मुख्य कारण थे—प्रथम हुगली नदी द्वारा गंगा के उपजाऊ मैदान के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने में सुविधा थी, दूसरे कलकत्ता हुगली नदी के तट पर उस स्थल पर स्थित था जहाँ तक समुद्री जहाज सुगमता से पहुँच सकते थे।

सन् १७०७ ई० तक कलकत्ता ने एक नगर का रूप धारण कर लिया था जिसमें सैनिकों के आवास के अतिरिक्त एक अस्पताल तथा एक चर्च भी स्थापित हो गए थे। सन् १७४२ ई० में नगरवासियों ने मरहठों के आक्रमण से नगर की रक्षा के लिये एक खाई (नहर) की खोदाई आरंभ की जिसका दक्षिणी भाग कभी पूरा न हो सका। यह नहर आज की सरकुलर रोड के समांतर जाती थी।

सन् १७५६ ई० में बंगाल के नवाब शुजाउद्दौला द्वारा नगर पर आक्रमण किए जाने के फलस्वरूप नगर को भारी क्षति पहुँची। प्लासी के युद्ध के पश्चात् ईस्ट इंडिया कंपनी अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई और क्लाइव ने वर्तमान फ़ोर्ट विलियम की नींव डाली जो १७७३ ई० तक बनकर तैयार हुआ। "उस समय नगर में केवल ७० मकान थे और वर्तमान किले के स्थान पर जंगल था तथा वर्तमान चौरंगी में बाँस के कुंज तथा धान के खेत थे। किले के निर्माण के पश्चात् आसपास के जंगल साफ कर लिए गए जिसके फलस्वरूप वर्तमान मैदान का निर्माण हुआ।" सन् १७७९ ई० में वर्तमान बड़े अस्पताल की स्थापना की गई और उसके दक्षिण की ओर चौरंगी सड़क पर यूरोपीय बस्तियाँ स्थापित होने लगीं।

सन् १८५२ ई० में इस नगर में नगरपालिका की भी स्थापना की गई और तब से नगर की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। बाद में यहाँ नगर-महापालिका की स्थापना हुई जिसका १९६९ में पुनर्गठन हुआ। सन् १८३७ ई० में नगर की जनसंख्या २,२९,७०० थी जो १८८१ ई० में ४,०१,६७१ तक पहुँच गई। तदुपरांत नगर की जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार होती रही—१९०१ में ९,२०,९३३; १९२१ में १०,३१,६९७; १९४१ में २१,०८,८९१; १९५१ में २५,४८,६७७, १९६१ में २९,२७,२८९ तथा १९७१ में ७०,४०,३४५।

सन् १८५८ ई० में, जब अंग्रेजी सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी से भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली, कलकत्ता अंग्रेजी भारत की राजधानी बना और उसे यह श्रेय १९१२ तक प्राप्त रहा जब भारत की राजधानी दिल्ली को स्थानांतरित की गई।

सन् १९०५ ई० में लार्ड कर्जन के बंगविच्छेद के निश्चय ने नगर में स्वदेशी आंदोलन की नींव डाली और कलकत्ता भारतीय राजनीति का अखाड़ा बना। १९०६ ई० में दादा भाई नौरोजी के सभापतित्व में अखिल भारतीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन यहीं हुआ जिसमें स्वराज्य की माँग की गई। सन् १९२० ई० का कांग्रेस अधिवेशन, जिसमें महात्मा गांधी ने अंग्रजी सरकार के विपक्ष में अहिंसात्मक युद्ध करने का निश्चय किया, इसी नगर में हुआ था। तब से कलकत्ता राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक तथा कलात्मक, सभी आंदोलनों में अग्रणी रहा।

द्वितीय महायुद्ध में कलकत्ता 'मित्रसेना' का बहुत बड़ा केंद्र था जहाँ से चीन, बर्मा तथा भारत की सीमाओं की रक्षा होती थी। सन् १९४२ ई०

में कलकत्ता में जापानी विमानों ने प्रथम बार गोले बरसाए तथा १९४३ ई० में नगर में भीषण अकाल पड़ा जिसमें हजारों व्यक्तियों की मृत्यु का अनुमान किया जाता है। सन् १९४७ ई० में, देश के विभाजन के पश्चात्, पूर्वी पाकिस्तान के लाखों शरणार्थियों ने इस नगर में प्रवेश किया। इनके अस्थायी आवास का प्रबंध नगर को करना पड़ा था।

नगर की रूपरेखा—हुगली नदी पर दो स्थलों पर पुल बाँधकर कलकत्ता को शेष भारत से संबंधित कर दिया गया है। उत्तर की ओर विलिंग्टन पुल द्वारा पूर्वी रेलवे (पुरानी ईस्ट इंडियन रेलवे) की हावड़ा-वर्दवान-कॉर्ड हुगली को पारकर नगर को उत्तर पूर्व से अर्धवृत्ताकार घेरती हुई हावड़ा से करीब चार मील पूर्व स्थित स्यालदह रेलवे स्टेशन तक पहुँचती है। यहाँ पर पूर्व क्षेत्रीय अन्य रेलवे भी मिलती है। हावड़ा पूर्वी तथा मध्य रेलमार्गो का जंकशन है जिसे एक विशाल पुल द्वारा कलकत्ता से संबंधित किया गया है। २,१५० फुट लंबा यह पुल १९४३ ई० में बनकर तैयार हुआ। यह फौलाद का बना हुआ पुल है और केवल दो खंभों पर आधारित है। यह पुल (कैंटिलिवर ब्रिज) इस प्रकार के पुलों में लंबाई के विचार से संसार में तीसरा स्थान ग्रहण करता है। इसके निर्माण में करीब ५५,००,००० रुपए तथा २६,००० टन फौलाद खर्च होने का अनुमान है। इस पुल के निर्माण के पूर्व नदी पर एक तैरता हुआ पुल था जिसे जहाज आने पर बीच से तोड़कर हटा लिया जाता था। इसकी लंबाई १,५३० गज थी। यह १८७४ ई० से १९४३ ई० तक उपयोग में आता रहा।

हावड़ा का पुल भारत के पुलों में सबसे अधिक व्यस्त पुल है। केंद्रीय स्टैटिस्टिकल इंस्टीटयूट द्वारा १९४६ ई० में की गई गणना के अनुसार इस पुल को नित्य हर प्रकार की २७,००० सवारियाँ, एक लाख पैदल मनुष्य तथा १,५७० मवेशी पार करते हैं। पुल पर गमनागमन का भार (ट्रैफ़िक लोड) प्रति दिन ६५,४०० टन होता है।

हावड़ा (पश्चिम) और स्यालदह (पूर्व) जंकशनों को करीब चार मील लंबी हैरिसन रोड मिलाती है। इन स्टेशनों के बीच का क्षेत्र कलकत्ते का सबसे बड़ा व्यापारकेंद्र है। धर्मतल्ला स्ट्रीट स्यालदह स्टेशन के दक्षिण से प्रारंभ होकर हुगली नदी के किनारे स्थित हाईकोर्ट तथा राजभवन तक पहुँचती है। हुगली के किनारे की ओर कलकत्ते का सबसे बड़ा क्रय-विक्रय-केंद्र 'इंडिया एक्सचेंज' है। इसके दक्षिण डलहौज़ी स्क्वायर में नगर का महत्वपूर्ण पार्क, बाजार, कार्यालय तथा जनरल पोस्ट ऑफिस, टेलीग्राफ़ ऑफिस, कस्टम हाउस, बंगाल प्रदेशीय मंत्रालय आदि इमारतें खड़ी है। डलहौज़ी स्क्वायर के दक्षिण कलकत्ता का 'मैदान' नदी से १½ मील की दूरी तक विस्तृत है, जिसमें सार्वजनिक उपवन, अनेक खेलकूद के मैदान, रेसकोर्स आदि मनोरंजन के क्षेत्र मिलते हैं। फ़ोर्ट विलियम तथा महारानी विक्टोरिया स्मारक इसी मैदान में पड़ते हैं। मैदान के पश्चिमी भाग में नदी के किनारे किनारे स्ट्रैंड रोड तथा पूर्व की ओर चौरंगी रोड जाती है। इन सड़कों पर कलकत्ता की कुछ भव्य इमारतें तथा यूरोपीय बस्तियाँ हैं। मैदान के उत्तर की ओर एस्प्लनेड से कैनिंग स्ट्रीट तक कलकत्ता के व्यापार तथा व्यवसाय प्रधान क्षेत्र विस्तृत हैं। धर्मतल्ला स्ट्रीट के दक्षिण चौरंगी और सर्कुलर रोड के बीच में कलकत्ते का न्यू मार्केट स्थापित है। इसके दक्षिण वेलेजली स्क्वायर मिलता है जिसके दक्षिण में अधिकांश सरकारी कार्यालय, म्यूज़ियम, क्लब, सर्वे ऑफिस, इत्यादि हैं। कलकत्ते का यह भाग अपेक्षाकृत नया बसा है।

कलकत्ता शिक्षा का भी बहुत बड़ा केंद्र है। कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना १८५७ ई० में हुई। इससे संबंधित बहुत से महाविद्यालय भी हैं जहाँ स्नातक कक्षाओं तक की शिक्षा दी जाती है। इन विद्यालयों में प्रेसिडेंसी कालेज, मुस्लिम कालेज, संस्कृत कालेज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त मेडिकल कालेज तथा गवर्नमेंट स्कूल ऑव आर्ट्स नगर की मुख्य शिक्षा संस्थाएँ हैं।

नगर प्रारंभ से ही विभिन्न संस्थाओं का केंद्र रहा है। एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल की स्थापना १७८४ ई० में हुई। बोटैनिकल गार्डेन, शिवपुर की स्थापना १७८६ ई० में हुई। अलीपुर में एशिया का सबसे बड़ा चिड़ियाघर स्थापित है। चौरंगी के भारतीय संग्रहालय में भारत के प्राचीन कालीन, विशेषकर बुद्ध तथा हिंदू युग के, शिल्प और वास्तु के सुंदर एवं दुर्लभ नमूने संगृहीत है। धार्मिक संस्थाओं में काली जी का मंदिर, जैन मंदिर, स्वामी विवेकानंद का वेलूर मठ, रामकृष्ण परमहंस का दक्षिणेश्वर मंदिर, महाबोधि सभा का 'धर्मतार्थक विहार' आदि मुख्य है।

बंदरगाह एवं व्यापार—कलकत्ते का बंदरगाह उत्तर में श्रीरामपुर से लेकर दक्षिण में बजबज तक फैला हुआ है। इस बीच में लगातार अवतरणियाँ (जेट्टी), गोदाम तथा व्यावसायिक कार्यालय स्थापित हैं। बंदरगाह में आयात निर्यात की सुविधा के लिये खिदिरपुर डाक नं० १ और नं० २ मे २९ वर्थ, किंग जार्ज डाक में पाँच आयात वर्थ, एक निर्यात वर्थ और पेट्रोल के लिये एक अलग वर्थ, गार्डेन रीच में पाँच वर्थ, कलकत्ता जेट्टी में नौ वर्थ तथा बजबज में पेट्रोल के गोदाम की व्यवस्था है। जहाजों की मरम्मत के लिये खिदिरपुर डाक में तीन तथा किंग जार्ज डाक में दो शुष्क नौस्थान (ड्राई डॉक) स्थापित किए गए हैं। इन सुविधाओं से युक्त कलकत्ते का बंदरगाह प्रति वर्ष १० लाख टन वस्तुओं का आयात निर्यात करने में समर्थ है। कलकत्ता बंदरगाह को अधिक उपयोगी बनाने के लिये फरक्का बैरेज का निर्माण किया जा रहा है ताकि पानी के बहाव को नियंत्रित किया जा सके और उत्तरी तथा दक्षिणी बंगाल के बीच रेलवे एवं सड़क को जोड़ा जा सके। कलकत्ता और समुद्र के बीचोबीच हाल्दिया में एक और बंदरगाह का विकास किया जा रहा है जिससे भारी मालवाही जहाजों को बंदरगाह तक पहुँचाया जा सके।

कलकत्ता बंदरगाह की सबसे बड़ी असुविधा यह है कि हुगली नदी की तलहटी में कीचड़ जमा हो जाता है जिसे साफ करने में प्रति वर्ष ३० लाख रुपए से अधिक खर्च होता है।

कलकत्ते की पृष्ठभूमि बहुत विस्तृत क्षेत्र में है। आसाम की चाय, बिहार का कोयला, अभ्रक तथा मैंगनीज, बंगाल का जूट, उड़ीसा का लौह, मध्य प्रदेश की लाख, उत्तर प्रदेश तथा बिहार का तेलहन आदि कलकत्ता से बाहर जाते है तथा मशीनें, मोटरकार, साइकिल, लोहा तथा फौलाद, खाद्यान्न, कागज आदि तैयार वस्तुएँ इन प्रदेशों को भेजी जाती हैं।

इसकी पृष्ठभूमि में देश के महत्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र संमिलित हैं। हुगली घाटी में कलकत्ते से ४० मील के भीतर भारत के अधिकांश जूट के कारखाने, कागज के कारखाने, चर्म उद्योग, वस्त्र उद्योग, इंजीनियरिंग उद्योग आदि स्थापित हैं। १५० मील के भीतर ही दामोदर घाटी की कोयले की तथा समीप की लोहे की खदानों पर आश्रित जमशेदपुर का लोहे का कारखाना है। नवगठित दामोदर घाटी आयोग (दामोदर वैली कारपोरेशन) से प्राप्त अनेक सुविधाओं से कलकत्ता के विकास में और भी सहायता मिलेगी। (उ० सिं०)

कलचुरी प्राचीन भारत का विख्यात राजवंश। कलचुरी शब्द के विभिन्न रूप—कटच्छुरी, कलत्सूरि, कलचुटि, कालच्छुरि, कलचुर्य तथा कलिचुरि प्राप्त होते हैं। विद्वान् इसे संस्कृत भाषा का न मानकर तुर्की के कुलचुर शब्द से मिलाते हैं जिसका अर्थ उच्च उपाधियुक्त होता है। अभिलेखों में ये अपने को हैहय नरेश अर्जुन का वंशधर बताते हैं। इन्होंने २४८-४९ ई० से प्रारंभ होनेवाले संवत् का प्रयोग किया है जिसे कलचुरी संवत् कहा जाता है। पहले वे मालवा के आसपास के रहनेवाले थे। छठी शताब्दी के अंत में बादामी के चालुक्यों के दक्षिण के आक्रमण, गुर्जरों के समीपवर्ती प्रदेशों पर आधिपत्य, मैत्रकों के दबाव तथा अन्य ऐतिहासिक कारणों से पूर्व जबलपुर (जाबालिपुर ?) के आसपास बस गए। यहीं लगभग नवीं शताब्दी में उन्होंने एक छोटे से राज्य की स्थापना की। अभिलेखों में कृष्णराज, उसके पुत्र शंकरगण, तथा शंकरगण के पुत्र बुधराज का नाम आता है। उसकी मुद्राओं पर उसे परम माहेश्वर कहा गया है। शंकरगण शक्तिशाली नरेश था। इसने साम्राज्य का कुछ विस्तार भी किया था। बड़ौदा जिले से प्राप्त एक अभिलेख में निरिहुल्लक अपने को कृष्णराज के पुत्र शंकरगण का सामंत बतलाता है। लगभग ५९५ ई० के पश्चात् शंकरगण के बाद उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र बुधराज हुआ। राज्यारोहण के कुछ ही वर्ष बाद उसने मालवा पर

कलकत्ता (द्र० पृ० ४३१) तथा कंपोजिंग (द्र० पृ० ३५०)
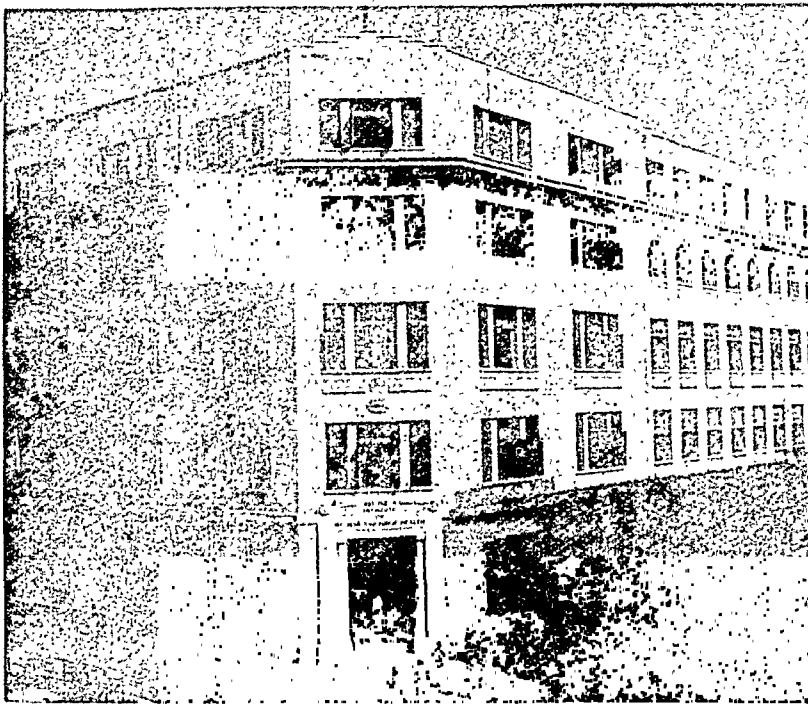
स्वास्थिकी तथा लोकस्वास्थ्य की अखिल भारतीय संस्था, कलकत्ता
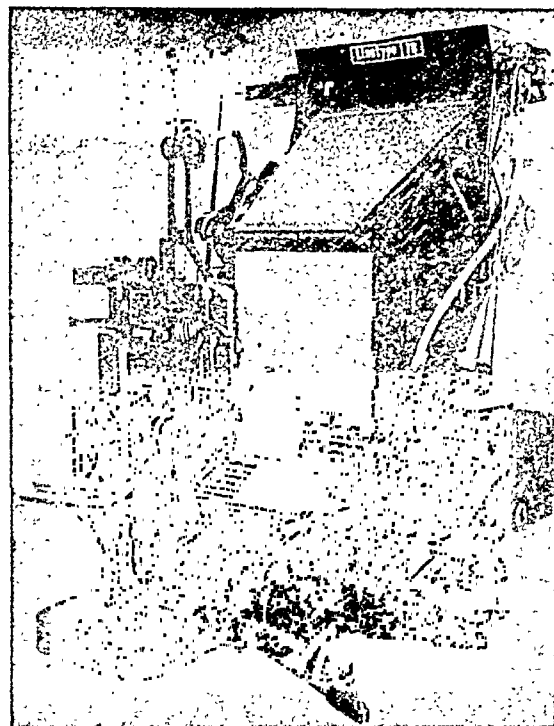
लाइनोटाइप मशीन
(द्र० कंपोजिंग)

कलकत्ता (द्र० पृ० ४३१) तथा औरंगाबाद (द्र० पृ० ३२५)
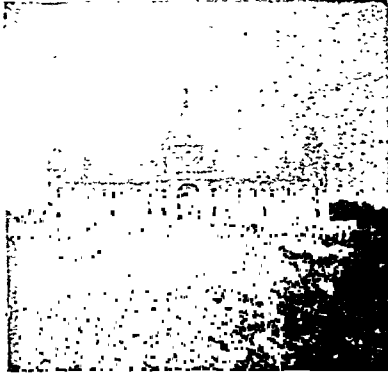
विक्टोरिया मेमोरियल
कलकत्ता के इस सुंदर भवन में
मूल्यवान् चित्र सुरक्षित हैं।
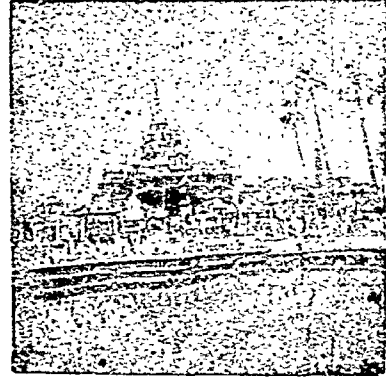
जैन मंदिर
कलकत्ता के दर्शनीय स्थानों में
यह एक है।
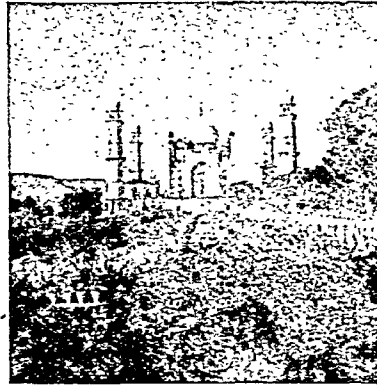
बीबी का रौजा
बादशाह औरंगजेब की पत्नी, बीबी रबिया उद्दुर्रानी दिलरस
बानू की स्मृति में यह सन् १६६० ई० में औरंगाबाद
में बनवाया गया था।
(श्री भगवानदास वर्मा से प्राप्त)

अधिकार कर लिया। महाकूट-स्तंभ-लेख से पता चलता है कि चालुक्य नरेश मंगलेश ने इसी बुधराज को पराजित किया था। इस प्रदेश से कलचुरी शासन का ह्रास चालुक्य विनयादित्य (६८१-९६ ई०) के बाद हुआ।

त्रिपुरी के आसपास चंदेल साम्राज्य के दक्षिण भी कलचुरियों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था। त्रिपुरी के कलचुरियों के वंश का प्रथम व्यक्ति कोकल्ल प्रथम था। अपने युग के इस अद्भुत वीर ने भोज प्रथम प्रतीहार तथा उसके सामंतों को दक्षिण नहीं बढ़ने दिया। इनकी निधियों को प्राप्त कर उसने इन्हें भय से मुक्त किया। अरबों को पराजित किया तथा वंग पर धावा मारा। चंदेलों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर अपने साम्राज्य को दृढ़ किया। इसके १८ पुत्रों का उल्लेख मिलता है किंतु केवल शंकरगण तथा अर्जुन के ही नाम प्राप्त होते हैं। शंकरगण ने मुग्धतुंग, प्रसिद्ध धवल तथा रणविग्रह विरुद धारण किए। इसने राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय से मिलकर चालुक्य विजयादित्य तृतीय पर आक्रमण किया किंतु दोनों को पराजित होना पड़ा। प्रसिद्ध कवि राजशेखर इसके दरबार से भी संबंधित रहे। इसके बाद इसका छोटा भाई युवराज सिंहासनारूढ़ हुआ। विजय के अतिरिक्त शैव साधुओं को धर्मप्रचार करने में सहायता पहुँचाई। युवराज के बाद उसका पुत्र लक्ष्मणराज गद्दी पर बैठा। इसने भी पिता की भाँति राज्यविस्तार के साथ साथ शैव धर्म के प्रचार का प्रयास किया। उसके बाद उसका अनुज युवराज गद्दी पर बैठा, इसने त्रिपुरी की पुरी को पुनर्निर्मित करवाया। इसी के राज्यकाल से राज्य में ह्रास होना प्रारंभ हो गया। चालुक्य तैलप द्वितीय और मुंज परमार ने इनकी शक्ति को छिन्न भिन्न कर दिया। मुंज ने त्रिपुरी पर विजय प्राप्त कर ली। उसके वापस जाने पर मंत्रियों ने युवराज द्वितीय को राजकीय उपाधि नहीं धारण करने दी और उसके पुत्र कोकल्ल द्वितीय को गद्दी पर बैठाया। इसने साम्राज्य की शक्ति को कुछ दृढ किया, किंतु इसके बाद धीरे धीरे राजनीतिक शक्तियों ने त्रिपुरी के कलचुरियों के साम्राज्य का अंत कर दिया।

उत्तर में गोरखपुर जिले के आसपास कोकल्ल द्वितीय के जमाने में कलचुरियों ने एक छोटा सा राज्य स्थापित किया। इस वंश का प्रथम पुरुष राजपुत्र था। इसके बाद शिवराज प्रथम, शंकरगण ने राज्य किया। कुछ दिनों के लिये इस क्षेत्र पर मलयकेतु वंश के तीन राजाओं, जयादित्य, धर्मादित्य, तथा जयादित्य द्वितीय ने राज किया था। संभवतः भोज प्रथम परिहार ने जयादित्य को पराजित कर गुणांबोधि को राज्य दिया। गुणांबोधिदेव के पुत्र भामानदेव ने महीपाल प्रतिहार की सहायता की थी। उसके बाद शंकरगण द्वितीय मुग्धतुंग, गुणसागर द्वितीय, शिवराज द्वितीय (भामानदेव), शंकरगण तृतीय तथा भीम ने राज किया। अंतिम महाराजाधिराज सोढदेव के बाद इस कुल का पता नहीं चलता। संभवतः पालों ने इनकी शक्ति को छिन्न भिन्न कर दिया। (चं० भा० पां०)

कलन, अवकल तथा अनुकल (Calculus, differential and integral) गणित की एक विशेष शाखा है जिसमें बीजगणित की छह मूल क्रियाओं—जोड़ना, घटाना इत्यादि—के अतिरिक्त सीमा-क्रिया का प्रयोग विशेष रूप से होता है। इस क्रिया का प्रयोग १७वीं शताब्दी के परार्ध में आरंभ हुआ। इससे बीजगणित और ज्यामिति से भिन्न गणित की एक नवीन शाखा कलन का जन्म हुआ। वैसे तो तब भी सीमा की कल्पना बिलकुल नई न थी, क्योंकि ज्यामिति में वृत्त का क्षेत्रफल उसके अंतर्लिखित बहुभुज की सीमा मानकर किया जाता था तथा बेलन और शंकु का घनफल समपार्श्व और सूचीस्तंभ की सीमा मानकर। उदाहरणार्थ, यदि किसी वृत्त में एक बहुभुज-क्षेत्र अंतर्लिखित हो और इसकी भुजाओं की संख्या को हम बढ़ाते चले जायँ तो वृत्त और बहुभुज क्षेत्र के क्षेत्रफल में अंतर घटता चला जायगा। जैसे जैसे भुजाओं की संख्या अनंत की ओर प्रवृत्त होगी, बहुभुज अपनी चरम सीमा में वृत्त हो जायगा इसी प्रकार बीजगणित में भी आवर्त दशमलव का मान ज्ञात करते समय, या किसी अनंत श्रेणी का योगफल ज्ञात करते समय, सीमा का प्रयोग होता था, जैसे श्रेणी

$$१ + \frac{१}{२} + \frac{१}{२^२} + \frac{१}{२^३} + \cdots$$

$$\left[1 + \frac{1}{2} + \frac{1}{2^2} + \frac{1}{2^3} + \cdots\right]$$

के म (m) पदों का योगफल

$$य_म = २ - \frac{१}{२^{म-१}} \left[S_m = 2 - \frac{1}{2^{m-1}}.\right]$$

यदि म (m) अनंत की ओर प्रवृत्त हो तो $य_म$ (S_m), स्वयं २ (2) की ओर प्रवृत्त होगा।

बीजगणित और ज्यामिति के इन गिने चुने उदाहरणों में सीमा का प्रयोग तो होता था, परंतु निर्दोष ढंग से नहीं। कलन में सीमा का प्रयोग बड़े निर्दोष ढंग से होता है। इसमें दो सीमाओं का विशेष अध्ययन करते हैं—एक अवकलज और दूसरी निश्चित समाकलन।

अवकलज—यदि र = फ (य) [y = f (x)] स्वतंत्र चर य (x) का कोई एकमानीय (सिंगल-वैल्यूड, single valued) फलन हो तो परतंत्र चर र (y) का स्वतंत्र य (x) के सापेक्ष अवकलज

$$= \underset{\triangle य \to ०}{\text{सीमा}} \frac{फ(य + \triangle य) - फ(य)}{\triangle य}$$

$$\left[\lim_{\triangle x \to 0}\right] \frac{f(x + \triangle x) - f(x)}{\triangle x}$$

यदि यह सीमा विद्यमान हो।

$\triangle य$ ($\triangle x$) का अर्थ है य (x) के मान में स्वेच्छ छोटी से छोटी वृद्धि और $\triangle र$ ($\triangle y$) का अर्थ है य (x) के मान में $\triangle य$ ($\triangle x$) की वृद्धि के फलस्वरूप र (y) के मान में संगत वृद्धि अर्थात् $\triangle र = फ (य + \triangle य) - फ (य)$ [$\triangle y = f(x + \triangle x) - f(x)$]। यहाँ $\triangle$ और य (x) का अलग अलग कोई अर्थ नहीं है। पूरा $\triangle य$ ($\triangle x$) ही एक चिह्न है, जो य (x) के मान में स्वेच्छ छोटी से छोटी वृद्धि प्रदर्शित करता है। अतः ऊपर दी गई सीमा को

$$\underset{\triangle य \to ०}{\text{सी}} \frac{\triangle र}{\triangle य} \left[\lim_{\triangle x \to 0} \frac{\triangle y}{\triangle x}\right]$$ भी लिख सकते हैं।

यदि ऊपर दी हुई सीमा विद्यमान हो तो उसे

$$\frac{तार}{ताय}$$ अथवा तार/ताय $\left[\frac{dy}{dx} \text{ या } dy/dx\right]$

से प्रदर्शित करते हैं। इस चिह्न में अक्षर ता, य, र, ताय, तार, (d, x, y, dx, dy) का अलग अलग कोई अर्थ नहीं है। पूरा तार/ताय ऊपर दी हुई सीमा का मान द्योतित करता है तथा र (y) का य (x) के सापेक्ष अवकलज कहलाता है। तार (dy) और ताय (dx) का केवल एक परिस्थिति में अलग अलग अर्थ लिया जाता है, जिसको जानने के लिये कलन की विशिष्ट पुस्तकें द्रष्टव्य हैं। तार/ताय (dy/dx) साधारणतः अवकल गुणांक कहलाता है। अवकलज ज्ञात करने की क्रिया को अवकलन करना या अवकल ज्ञात करना कहते हैं। जैसे, मान लें $र = य^म$ [$y = c^m$], तो अवकल गुणांक

$$\frac{तार}{ताय} = \underset{\triangle य \to ०}{\text{सी}} \frac{(य + \triangle य)^म - य^म}{\triangle य}$$

$$= \underset{\triangle य \to ०}{\text{सी}} \frac{१}{\triangle य} \left\{ य^म + मय^{म-१}(\triangle य) + \frac{म(म-१)}{२!} य^{म-२}(\triangle य)^२ + \ldots + (\triangle य)^म - य^म \right\}$$

$$= \underset{\triangle य \to ०}{सी} \left\{ म\, य^{म-१} + \frac{म(म-१)}{२\,!} य^{म-२}(\triangle य) + (\triangle य) \text{ के और ऊँचे घात} \right\}$$

$$= म\, य^{म-१}$$

$$\left[\frac{dy}{dx} = \lim_{\triangle x \to 0} \frac{(x+\triangle x)^m - x^m}{\triangle x} \right.$$

$$= \lim_{\triangle x \to 0} \frac{1}{\triangle x} \left\{ x^m + mx^{m-1}(\triangle x) + \frac{m(m-1)}{2!} x^{m-2}(\triangle x)^2 + \ldots (\triangle x)^m - x^m \right\}$$

$$= \lim_{\triangle x \to 0} \left\{ mx^{m-1} + \frac{m(m-1)}{2!} x^{m-2}(\triangle x) + \triangle x \text{ के और उच्च घात} \right\}$$

$$\left. = mx^{m-1} \right]$$

इसी प्रकार यदि र=ज्या य ($y = \sin x$),

तो $\frac{तार}{ताय}$ = कोज्या य $\left[\frac{dy}{dx} = \cos x \right]$

तथा र = क [$y = c$], तो $\frac{तार}{ताय} = ०$ $\left[\frac{dy}{dx} = 0 \right]$

अवकल गुणांक ज्ञात करने की अनेक विधियाँ अवकल कलन की पुस्तकों में दी रहती हैं जिनसे किसी फलन का अवकल गुणांक सुगमता से ज्ञात हो सकता है। गणित में अवकल गुणांक बहुत उपयोगी है। विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी इसका अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है। सच पूछिए तो आधुनिक युग के विज्ञान की उन्नति कुछ सीमा तक कलन पर ही निर्भर है। इसका प्रयोग वक्रों के स्पर्शी, उनके महत्तम अल्पतम विंदु, उनकी वक्रता, अवगुंठन (एनवेलप, envelope) इत्यादि तथा परिवर्तनशील राशियों की तात्कालिक परिवर्तन दर तथा उनके पारस्परिक संबंध इत्यादि निकालने में होता है।

स्पर्शी—अवकल गुणांक का अर्थ वक्र के स्पर्शी से सुगमता से विकसित हो सकता है। मान लें आसन्न चित्र वक्र र = फ (य) [$y = f(x)$] का रेखाचित्र है। वक्र पर व (P) कोई विंदु है। म (Q) कोई अन्य विंदु है।
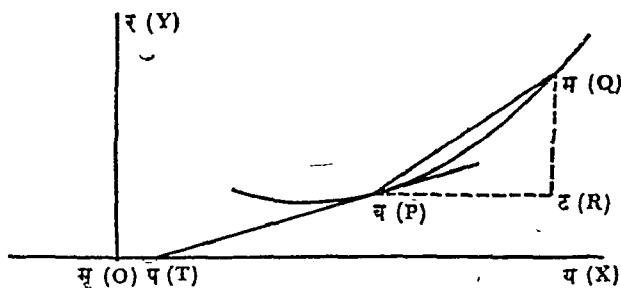
रेखा व म (PQ) खींचें। इसे विंदु व (P) पर इस प्रकार घुमाएँ कि विंदु म (Q) विंदु व (P) की ओर आए और मव (PQ) को इतना घुमाएँ कि विंदु म (P) विंदु प (P) पर पहुँच जाय; तो छेदन रेखा व म (PQ) की सीमा विंदु व (P) पर की स्पर्शी होगी।

साथ ही ∠ म व ट (QPR) की सीमा ∠ व प य (PTX) होगी। मान लें विंदु व (P) के नियामक य, र [x, y] हैं तथा म (Q) के (य+तय, र+तर) [$x+\delta x, y+\delta y$] हैं। यहाँ त र=म ट ($\delta y = QR$) और तय=वट ($\delta x = PR$)। नियामक ज्यामिति से रेखा व म (PQ) का समीकरण निम्नलिखित है :

$$रा - र = \frac{र + तर - र}{य + तय - य}(या - य) = \frac{तर}{तय}(या - य)$$

$$\left[Y - y = \frac{y + \delta y - y}{x + \delta x - x}(X - x) = \frac{\delta y}{\delta x}(X - x) \right]$$

यहाँ या (X) और रा (Y) चालु नियामक है।

यदि विंदु म (Q) विंदु व (P) की ओर अग्रेसारित हो तो इस समीकरण का रूप निम्नलिखित होगा :

$$रा - र = \frac{तार}{ताय}(या - य) \qquad \left[Y - y = \frac{dy}{dx}(X - x) \right]$$

$$\text{क्योंकि } \underset{तय \to ०}{सी} \frac{तर}{तय} = \frac{तार}{ताय} \qquad \left[\lim_{\delta x \to 0} \frac{\delta y}{\delta x} = \frac{dy}{dx} \right]$$

उस अवस्था में रेखा व म (PQ) रेखा व प (PT) को ढक लेगी तथा ∠ म व ट (QPR), ∠ व प य (PTX) के बराबर होगा। तथा समानता

$$स्प\ \angle\ मवट \quad \frac{म\,ट}{व\,ट} = \frac{तर}{तय} \left[\tan QPR = \frac{QR}{PR} = \frac{\delta y}{\delta x} \right]$$

अपनी चरम सीमा में

$$स्प\ व\ प\ य = \frac{तार}{ताय} \left[\tan PTX = \frac{dy}{dx} \right]$$

हो जायगी अर्थात् तार $\frac{तार}{ताय} \left[\frac{dy}{dx} \right]$ उस कोण की स्पर्शज्या है जो कि उस विंदु पर की स्पर्शी य- अक्ष के साथ बनाती है। इस कोण को जानकर स्पर्शी आसानी से खीची जा सकती है। मान लें, परवलय

$$४\ र = य^२ \quad [4Y = x^2]$$

के विंदु (२, १) पर स्पर्शी खींचना है तो यहाँ $\frac{तार}{ताय} = \frac{१}{२}य$ $\left[dy/dx = \frac{1}{2}x \right]$ जिसका मान दिए विंदु पर १ है। अब विंदु (२, १) से ऐसी रेखा खीचें जिसकी प्रवणता १ हो। यही उस विंदु पर परवलय की स्पर्शी है।

परिवर्तन दर—किसी परिवर्तनशील राशि की तात्कालिक परिवर्तन दर से विवेचन से भी अवकलज का भाव विकसित किया जा सकता है। मान लें कोई कण विंदु का (A) से चलना प्रारंभ करता है और उसका वेग प्रति क्षण बढ़ता रहता है, तो प्रश्न उठता है कि पथ के किसी विंदु खा (B) पर कण का वेग कैसे नापा जाय।

का (A) खा (B) गा (C)

यदि कण समान वेग से चलता तो विंदु खा (B) से किसी अन्य विंदु गा (C) तक जाने का समय नाप लेते तथा दूरी खा गा (BC) को इससे भाग देकर कण का वेग निकाल लेते। पथ के प्रत्येक विंदु पर कण का वेग समान होता तो ऐसा किया जा सकता था, परंतु कण का वेग हमारे प्रश्न में प्रत्येक विंदु पर भिन्न है। यदि विंदु का (A) से खा (B) की दूरी द (s) तथा खा (B) से गा (C) की दूरी द′ (d) हो तथा का (A) से खा (B) तक चलने का समय स (t) तथा खा (B) से गा (C) तक चलने का समय स′ (t′) हो तो द′/स′ (s′/t′) विंदु खा (B) से गा(C) तक का मध्यमान (औसत) वेग होगा। यह विंदु खा (B) पर के वेग से अधिक तथा गा (C) पर के वेग से कम होगा। यदि हम समय स′ (t′) को अत्यंत अल्प रखें तो भी खा (B) विंदु पर का वेग ठीक ज्ञात नहीं हो सकता। द′/स′ (s′/t′) उसका केवल लगभग मान ही बतलाएगा। ठीक ठीक मान तब तक ज्ञात नहीं हो सकता जब तक समय स′ (t′) शून्य के बराबर न हो जाय। परंतु स′ (t′) को शून्य करते ही द′ (s′) भी शून्य ही जाता है

और इसलिये द'/स', [s'/t',] का मान निकल ही नहीं सकता। इस कठिनाई से बचने के लिये वेग की परिभाषा यों दी जाती है :

कण का बिंदु खा (B) पर वेग

$$= \text{सीमा}_{स' \to ०} \frac{द'}{स'} = \frac{\text{ताद}}{\text{तास}} \left[\lim_{s' \to 0} \frac{s'}{t'} = \frac{ds}{dt} \right]$$

यह स्पष्ट है कि समय स (t) में चली हुई दूरी स (t) के मान पर निर्भर है, अर्थात् स (t) का एक फलन है, अर्थात् द फ (स) [$s = f(t)$], जिससे ताद/तास [ds/dt] का मान किसी भी समय स (t) पर कण के वेग का मान होगा। इसी प्रकार यदि समय स (t) पर कण का वेग व (v) हो तो

$$\text{त्वरण} = \frac{\text{ता व}}{\text{ता स}} = \frac{dv}{dt} \text{ ।}$$

महत्तम अल्पतम मान—किसी वक्र र = फ (य) [$y = f(x)$] के रेखाचित्र पर विचार करें :
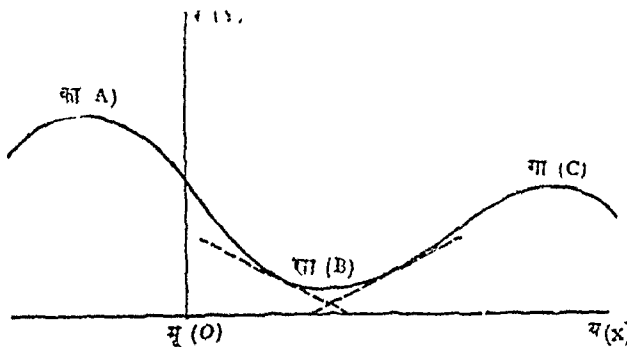
इस चित्र के बिंदु का (A), गा (C) राशि र (y) के महत्तम मान प्रदर्शित करते हैं और खा (B) अल्पमत मान। बिंदु का (A) और गा (C) पर वक्र का ऊपर उठना रुक जाता है और नीचे उतरना आरंभ हो जाता है। बिंदु खा (B) पर इसके विपरीत उतरना रुक जाता है और ऊपर उठना प्रारंभ हो जाता है। ज्यों ज्यों वक्र ऊपर उठता है त्यों त्यों स्पर्शी की प्रवणता (अर्थात् स्पर्शी और य—(x—) अक्ष के बीच के कोण की स्पर्शज्या, जिसका मान तार/ताय [dy/dx] है), घटती जाती है और नीचे उतरने पर बढ़ती जाती है। क्योंकि ऊपर उठते समय स्पर्शी और य—(x—) अक्ष के बीच का कोण न्यून कोण है, अतः इसकी स्पर्शज्या अर्थात् तार/ताय [dy/dx] का मान धन होगा और उतरते समय वह कोण अधिक कोण होगा अर्थात् तार/ताय [dy/dx] ऋण होगा। अतः बिंदु का और गा पर तार/ताय [dy/dx] का मान धन से ऋण की ओर जाएगा। इस क्रिया में वह एक स्थान पर अवश्य शून्य के बराबर होगा। वही स्थान महत्तम बिंदु होगा। इसी प्रकार खा पर तार/ताय [dy/dx] का मान ऋण से धन में बदल जायगा अर्थात् उस बिंदु पर उसका मान शून्य होगा। अतः महत्तम और अल्पतम बिंदुओं पर

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} = ० \left[\frac{dy}{dx} = 0 \right]$$

इस संबंध से उन बिंदुओं का पता लगाया जा सकता है। उदाहरण : एक छड़ २० फुट लंबी है, उसका ऐसा आयत बनाएँ जिसका क्षेत्रफल महत्तम हो।

मान लें आयत की एक भुजा य (x) है, तो दूसरी २०–य (20–x) होगी और उसका क्षेत्रफल

र = य(२०–य) = २०य–य² [$y = x(20-x) = 20x-x^2$]

महत्तम के लिये

तार/ताय = २०–२य = ० [$dy/dx = 20-2x = 0$]

अतः य = १० [$x = 10$];

अर्थात् जब छड़ वर्ग के रूप में होगा तब क्षेत्रफल अधिकतम होगा।

अवकलज के अन्य प्रयोग अवकल कलन की पुस्तकों में मिलेंगे।

अनुकल—किसी दिए हुए फलन के अनुकल के दो मुख्य अर्थ होते हैं। एक तो ऐसा फलन जिसका अवकलज वह दिया हुआ फलन हो और दूसरा, एक विशेष श्रेणी के पदों के योग की सीमा। इस दशा में यह सीमित अनुकल कहलाता है।

यदि एक फलन दूसरे फलन का अवकल गुणांक हो तो दूसरा फलन पहले का अनुकल कहलाता है। जैसे ऊपर बताया जा चुका है कि यᵐ (x^m) का अवकल गुणांक मयᵐ⁻¹ है; अतः य (x^m) फलन मयᵐ⁻¹ [mx^{m-1}] का एक अनुकल है। एक अनुकल इसलिये कहा जाता है कि यदि यᵐ + क, [$x^m + c$] का अवकलज निकालें तो वह भी मयᵐ⁻¹, [mx^{m-1}] ही होगा। अतः यᵐ + क, [$x^m + c$] फलन मयᵐ⁻¹, [mx^{m-1}] का पूर्ण अनुकल है, जिसका यᵐ (x^m) एक विशेष रूप है। इस विचार को

$$\int \text{मय}^{म-१} \text{ताय} = \text{य}^{म} + \text{क}, \left[\int m\, x^{m-1}\, dx = x^m + c \right]$$

से प्रदर्शित करते हैं और पहले को "अनुकल मयᵐ⁻¹ ताय बराबर है यᵐ + क" के पढ़ते हैं।

सीमित अनुकल—मान लें, फ (य) [$f(x)$] स्वतंत्र चर य(x) का कोई फलन है, जिसका अंतराल क, ख [a, b] में प्रत्येक बिंदु पर केवल एक मान है। मान लें, चित्र में मूका = क, मूखा = ख [$OA = a$, $OB = b$]।

अंतराल को बिंदु बा₁ (P_1), बा₂ (P_2), ... बाₘ₋₁ [P_{m-1}] से म (m) भागों में बाँटो। यहाँ

मूका < मूबा₁ < मूबा₂ < . . . < मूबाᵥ < मूबाᵥ₊₁ < . . . < मूखा
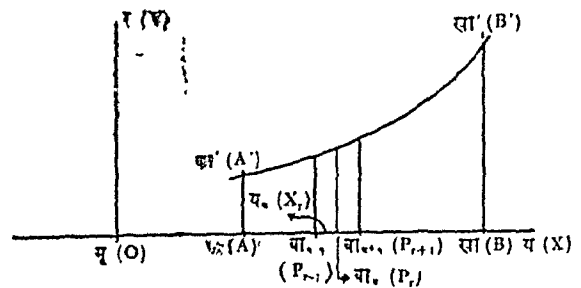
$$[OA < OP_1 < OP_2 < \ldots < OP_r < OP_{r+1} < \ldots < OB]$$

मान लें व वाँ (r वाँ) अंतराल बाᵥ₋₁ बाᵥ [$P_{r-1}\, P_r$] है तथा बाᵥ₋₁ बाᵥ = त यᵥ, [$P_{r-1}\, P_r = \delta x$]। इस अंतराल में कोई बिंदु यᵥ (x_r) लो जिसपर फलन का मान फ (यᵥ) [$f(x_r)$], है। फिर मान लो कि

यो = $\sum_{व}$ फ(यᵥ) (बाᵥ₋₁ बाᵥ) = $\sum_{व}$ फ (यᵥ) त यᵥ

$$[S = \sum_r f(x_r)\, P_{r-1}\, P_r = \sum_r f(x_r)\, \delta x_r]$$

यदि यो(S) की सीमा जब सबसे बड़ा अंतराल तयᵥ (δx_r) शून्य की ओर तथा म (m) अनंत की ओर अग्रसर होता है, विद्यमान है, तो यो (S) का चरम मान फ (य) [$f(x)$] का क (a) से ख (b) तक सीमित अनुकल कहलाता है। इसे

$$\int_{\text{क}}^{\text{ख}} \text{फ (य) ताय} \left[\int_a^b f(x)\, dx \right]$$

से प्रदर्शित करते हैं तथा इसे "य के सापेक्ष फ(य) का क से ख तक अनुकल" पढ़ते हैं। समाकल चिह्न ∫ अंग्रेजी अक्षर S का बिगड़ा रूप है जो अंग्रेजी में योगफल के पर्याय (Sum) का पहला अक्षर है। अनुकलन की पुस्तकों में यह बताया गया है कि किन किन परिस्थितियों में यह सीमा विद्यमान होती है। उनमें से एक परिस्थिति यह है कि फ (य) [$f(x)$] अविच्छिन्न हो।

$$\text{यदि } \frac{\text{ता फा (य)}}{\text{ताय}} = \text{फ(य)} \left[\frac{d\,F(x)}{dx} = f(x) \right] \text{तो}$$

$$\int_{\text{क}}^{\text{ख}} \text{फ(य)ताय} = \text{फा(ख)} - \text{फा(क)} \left[\int_a^b f(x)dx = F(b) - F(a) \right]$$

इस प्रमेय द्वारा सीमित अनुकल का मान ज्ञात होता है।

निश्चित समाकल बहुत उपयोगी है। इसका एक प्रयोग है क्षेत्रफल निकालना, जिसका उदाहरण नीचे दिया हुआ है।

मान लें कि आसन्न चित्र वक्र र = फ(य) [$y = f(x)$] का रेखाचित्र है
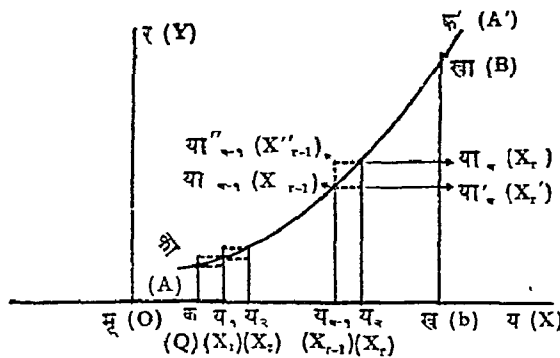
रेखाएँ य = क तथा य = ख खींची गई हैं, जो वक्र को बिंदुओं का और खा पर काटती हैं। तो क्षेत्र क ख ख, का का क्षेत्रफल

$$\int_{क}^{ख} \text{फ}(\text{य})\, \text{ताय} \left[\int_{a}^{b} f(x)\, dx\right]$$

है। अंतराल क(a), ख(b) को म(m) भागों में बाँटें। प्रत्येक विभाजक बिंदु $य_1, य_2, \ldots$ $(x_1, x_2, \ldots)$ से र-(y-) अक्ष के समांतर रेखाएँ खींचें जो वक्र को $या_1, या_2 \ldots$ $(X_1, X_2 \ldots)$ पर काटें। $या_1, या_2 \ldots$ $(X_1, X_2 \ldots)$ य-(x-) अक्ष के समांतर रेखाएँ खींचें। तो प्रत्येक अंतराल, जैसे $य_{व-1}, य_व$ (x_{r-1}, x_r) पर दो आयतं बनेंगे जिनमें से स्पष्टतया एक क्षेत्र $य_{व-1}\, य_व\, या_व\, या_{व-1}$ $(x_{r-1}\, x_r, X_r\, X_{r-1})$ से छोटा और दूसरा पड़ा होगा, अर्थात्

आयत $य_{व-1}\, या'_व <$ क्षेत्र $य_{व-1}\, य_व\, या_व\, या_{व-1} <$ आयत $य_{व-1}\, या_व$

[$Rect.\ x'_{r-1} X'_r < Area\ x_{r-1}\, x_r\, X_r\, X_{r-1} < Rect\ x_{r-1} X$]

जिन आयताकार क्षेत्रों में क्षेत्रफल क ख ख, का रेखाओं $य = य_1, य = य_2, \ldots$ $(x = x_1, x = x_2, \ldots)$ से विभाजित है उन सबके लिये ऐसी ही असमानताएँ लिखकर जोड़ने से

$\Sigma(य_व - य_{व-1})फ(य_{व-1}) <$ क्षेत्र क ख खा का $< \Sigma(य_व - य_{व-1})फ(य)$

[$\Sigma(x_r - x_{r-1})\, f(x_{r-1}) < Area\ abBA < \Sigma(x_{r-1} - x_{r-1}) f(x_r)$]

अब दाहिने पक्ष की सीमा जब म→∝ ($m \to \infty$)

$$= \underset{म \to \infty}{\text{सी}} \sum \text{फ}(य_व)\,(य_व - य_{व-1})$$

$$= \int_{क}^{ख} \text{फ}(\text{य})\,\text{ताय}$$

$$[\underset{m \to \infty}{Lt} \sum f(x_r)\,(x_r - x_{r-1})$$

$$= \int_{a}^{b} f(x)\, dx]$$

और बाएँ पक्ष की सीमा जब म→∝ ($m \to \infty$)

$$= \underset{म \to o}{\text{सी}} \sum \text{फ}(य_{व-1})\,(य_व - य_{व-1})$$

$$= \int_{क}^{ख} \text{फ}(\text{य})\,\text{ताय}$$

$$\underset{m \to \infty}{Lt} \sum f(x_{r-1})\,(x_r - x_{r-1})$$

$$= \int_{a}^{b} f(x)\, dx]$$

अतः क्षेत्र क ख खा का ($a\,b\,B\,A$) का क्षेत्रफल भी

$$= \int_{क}^{ख} \text{फ}(\text{य})\,\text{ताय}$$

$$= \int_{a}^{b} f(x)\, d_x$$

इसी प्रकार पिंडों के आयतन, पृष्ठों के क्षेत्रफल और वक्रों की लंबाई इत्यादि का मान निकालते हैं। (भ० ला० श०)

कलन (परिमित अंतरों का) यदि कुछ राशियाँ परस्पर आश्रित हों तो उनकी युगपद् वृद्धियों के अनुपातों का अध्ययन जिस विज्ञान का विषय है, उसी का नाम **परिमित अंतर कलन** है। साधारणतया इसका उपयोग सांख्यिकी सिद्धांत और अवलोकन सिद्धांत में होता है। इसके विपरीत अवकल कलन में उन सीमाओं का अध्ययन किया जाता है जिनकी ओर उक्त अनुपात तब अग्रसर होते हैं जब वृद्धियाँ अत्यल्प हो जाती हैं।

वृद्धियों के लिये हम इस संकेतलिपि का प्रयोग करेंगे :

$$\triangle व_य = व_{य + \triangle य} - व_य,\quad \frac{\triangle व_य}{\triangle य} = \frac{व_{य + \triangle य} - व_य}{\triangle य}$$

$$\left[\triangle u_x = u_{x + \triangle x} - u_x\quad \frac{\triangle}{\triangle x} = \frac{u_{x + \triangle x} - u_x}{\triangle x}\right]$$

$\dfrac{\triangle व_य}{\triangle य}$ $\left(\dfrac{\triangle u_x}{\triangle x}\right)$ एक वास्तविक भिन्न है, किंतु अवकल कलन की राशि $\dfrac{\text{ताव}}{\text{ताय}}$ $\left(\dfrac{du}{dx}\right)$ कोई वास्तविक भिन्न नहीं है, और न ताव (dn) और ताय (dx) का एक दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व ही है।

यदि $\triangle$य ($\triangle x$) को मान १ दिया जाय, $\triangle व_य = व_{य+1} - व_य$ ($\triangle u_x = u_{x+1} - u_x$) माना जाय, तो जब $\triangle$य = ट ($\triangle x = h$) तो

$$\frac{\triangle व_य}{\triangle य} = \frac{व_{य+ट} - व_य}{ट}\quad \left[\frac{\triangle u_x}{\triangle x} = \frac{u_{x+h} - u_x}{h}\right]$$

य (x) के किसी फलन के अंतरों के अंतर को **द्वितीय अंतर** कहते हैं। यथा

$$\triangle\triangle व_य = \triangle^2 व_य,\qquad \triangle\triangle^{घ-1} व_य = \triangle^घ व_य$$

$$\triangle\triangle u_x = \triangle^2 u_x,\qquad \triangle\triangle^{n-1} u_x = \triangle^n u_x$$

यदि $व_य = य^3$ ($u_x = x^3$) तो हमें निम्नलिखित सारणी प्राप्त होगी :

य के मान	१	२	३	४	५	६
[values of x	1	2	3	4	5	6]
$व_य$	१	८	२७	६४	१२५	२१६
[u_x	1	8	27	64	125	216]
$\triangle व_य$	७	१९	३७	६१	९१	
[$\triangle u_x$	7	19	37	61	91]	
$\triangle^2 व_य$	१२	१८	२४	३०		
[$\triangle^2 u_x$	12	18	24	30]		
$\triangle^3 व_य$	६	६	६			
[$\triangle^3 u_x$	6	6	6]			

$\triangle व_य = (य+1)^3 - य^3 = 3य^2 + 3य + 1$, $\triangle^2 व_य = \triangle(3य^2 + 3य + 1) = 6य + 6$, $\triangle^3 व_य = 6$

[$\triangle u_x = (x+1)^3 - x^3 = 3x^2 + 3x + 1$, $\triangle^2 u_x = \triangle(3x^2 + 3x + 1) = 6x + 6$, $\triangle^3 u_x = 6$]

यदि $व_य (u_x)$ य (x) के स वें (n^{th}) घात का, कोई परिमेय, पूर्णांक फलन हो तो उसका स वाँ $(n\ th)$ अंतर इस प्रकार निकलेगा :

$$व_य = क\ य^स + ख\ य^{स-1} + \ldots [u_x = ax^n + bx^{n-1} + \ldots]$$

$$\triangle व_य = क(य+1)^स + ख(य+1)^{स-1} + \ldots - क\ य^स - ख\ य^{स-1} - \ldots$$

$$[\triangle u_x = a(x+1)^n + b(x+1)^{n-1} + \ldots - ax^n - bx^{n-1} - \ldots$$

अर्थात् $\triangle व_य = क\ स\ य^{स-1} + ख_1\ य^{स-2} + ख_2\ य^{स-3} + \ldots$

$$[\triangle u_x = a\,n\,x^{n-1} + b_1 x^{n-2} + b_2 x^{n-3} + \ldots]$$

जिसमें $ख_1, ख_2, \ldots (b_1, b_2 \ldots)$ अचर है। अतः $\triangle व_य\ (\triangle u_x)$ (स—१) वें $[(n-1)^{th}]$ घात का फलन है।

अत में, $\triangle^स व_य = क\ स\ (स-1)(स-2)\ldots3.2.1$

$$[\triangle^n u = a\,n\,(n-1)\,(n-2)\ldots3.2.1]$$

और $\triangle^स य^स = स!\ [\triangle^n x^n = n!]$

२. प्रारंभिक फलनों के अंतर

(१) यदि $व_य = य(य-1)(य-2)\ldots(य-म+1)$

$$[u_x = x(x-1)(x-2)\ldots(x-m+1)]$$

$$\triangle व_य = म\ य(य-1)(य-2)\ldots(य-म+2)$$

$$\triangle u_x = m\,x(x-1)(x-2)\ldots(x-m+2)]$$

इस संबंध मे निम्नलिखित संकेतलिपि प्रयुक्त होती है, जिसका नाम क्रमगुणन संकेतलिपि है :

$$य\ (य-1)\ (य-2)\ldots(य-म+1) = य^{(म)}$$

$$[x(x-1)(x-2)\ldots(x-m+1) = x^{(m)}]$$

हमें प्राप्त है :

$$\triangle य^{(म)} = म\ य^{(म-1)}\ [\triangle x^{(m)} = m\,x^{(m-1)}]$$

अतः $\triangle^2 य^{(म)} = म(म-1)य^{(म-2)}\ [\triangle^2 x^{(m)} = m(m-1)x^{(m-2)}]$

$$\triangle^स य^{(म)} = म\ (म-1)\ldots(म-स+1)\ य^{(म-स)}$$

$$[\triangle^n x^{(m)} = m(m-1)\ldots(m-n+1)x^{(m-n)}]$$

(२) यदि $व_य = \frac{1}{य(य+1)\ldots(य+म-1)}$, $\triangle व_य = \frac{-म}{य(य+1)\ldots(य+म)}$

$$\left[u_x = \frac{1}{x(x+1)\ldots(x+m-1)}, \triangle u_x = \frac{-m}{x(x+1)\ldots(x+m)}\right]$$

यदि $य^{(-म)} = \frac{1}{य(य+1)\ldots(य+म-1)}$

$$\left[x^{(-m)} = \frac{1}{x(x+1)\ldots(x+m-1)}\right],$$

हमें प्राप्त है $\triangle य^{(-म)} = -म\ य^{(-म-1)} [\triangle x^{(-m)} = -m\,x^{(-m-1)}]$

उत्तरोत्तर पगों से हमें प्राप्त होगा

$$\triangle^स य^{-म} = (-1)^म म(म+1)\ldots(म+स-1)य^{(-म-स)}$$

$$[\triangle^n x^{(-m)} = (-1)^m m(m+1)\ldots(m+n-1)x^{(-m-n)}]$$

इसी प्रकार के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

(३) क्रमगुणितों म प्रसार

यदि $फ\ (य) = क + ख\ य + ग\ य^{(2)} + \ldots ट\ य^{(म)}$

$$[\phi\ (x) = a + b\,x + c\,x^{(2)} + \ldots h\,x^{(m)}]$$

तो $\triangle\ फ\ (य) = ख + 2\ ग\ य + 3\ घ\ य^{(2)} + \ldots म\ ट\ य^{(म-1)}$

$$[\triangle\phi\ (x) = b + 2\,c\,x + 3\,d\,x^{(2)} + \ldots mh\,x^{(m-1)}]$$

$$\triangle^म\ फ\ (य) = म(म-1)\ldots2.1.ट।$$

$$[\triangle^m\phi(x) = m(m-1)\ldots\ldots2.1.h]$$

यदि हम इनमें से प्रत्येक में $म = 0\ (x = 0)$ रखें तो हमें प्राप्त होगा,

$फ(0) = क, \triangle फ(0) = ख, \triangle^2 फ(0) = 2ग, \ldots \triangle^म फ(0) = 1.2.म\ldots ट।$

$$[\phi(0) = a, \triangle\phi(0) = b, \triangle^2\phi(0) = 2c, \ldots\ldots\triangle\phi(0) = 1.2\ldots\ldots m\,h]$$

अतः $फ\ (म) = फ\ (0) + \triangle फ\ (0) म + \frac{\triangle^2 फ(0)}{2!} य^{(2)} + \frac{\triangle^3 फ(0)}{3!} य^{(3)} + \ldots$

$$\left[\phi(x) = \phi(0) + \triangle\phi(0)x + \frac{\triangle^2\phi(0)}{2!}x^{(2)} + \frac{\triangle^3\phi(0)}{3!}x^{(3)} + \ldots\right]$$

४. $व_य\ (u_x)$ और अंतर श्रेणी के पदों में $व_{य+स}\ (u_{x+n})$ का प्रसार। हमें हस्तगत है :

$$व_{य+स} = व_य + स\triangle व_य + \frac{स(स-1)}{2!}\triangle^2 व_य + \frac{स(स-1)(स-2)}{3!}\triangle^3 व_य + \ldots\ldots$$

$$\left[u_{x+h} = u_x + n\triangle u_x + \frac{n(n-1)}{2!}\triangle^2 u_x + \frac{n(n-1)(n-2)}{3!}\triangle^3 u_x + \ldots\ldots\right]$$

५. धा—संकेतलिपि $(E\text{—}notation)$

$धा\ व_य = व_{य+1}\ [Eu_x = u_{x+1}]$

$\triangle$ वितरणशील है : $\triangle(व_य + भ_य + \ldots) = \triangle व_य + \triangle भ_य \ldots$

$$[\triangle(u_x + v_x + \ldots) = \triangle u_x + \triangle v_x + \ldots]$$

$\triangle$ किसी अचल गुणांक के प्रति व्यत्ययशील है।

$\triangle क\ व_य = क\triangle व_य\ \ [\triangle a u_x = a\triangle u_x]$

$धा = 1 + \triangle\ \ [E = 1 + \triangle]$

$$धा\ व_य = व_{य+1} = व_य + \frac{ताव_य}{ताय} + \frac{1}{2}\frac{ता^2व_य}{ताय} + \ldots = ध^{\frac{ता}{ताय}}व_य$$

$$\left[Eu_x = u_{x+1} = u_x + \frac{du_x}{dx} + \frac{1}{2}\frac{d^2 u_x}{dx^2} + \ldots = e^{\frac{d}{dx}}u_x\right]$$

$व_{य+1} = धा\ व_य\ \ \ [u_{x+1} = E\,u_x]$

$व_{य+2} = धा^2 व_य\ \ \ [u_{x+2} = E^2\,u_x]$

$व_{य+स} = धा^स व_य = (1+\triangle)^स व_य\ \ \ [u_{x+n} = E^n\,u_x = (1+\triangle)^n u_x]$

सं०ग्रं०—बूल : ट्रिटिज ऑन द कैलक्युलस ऑव फ़ाइनाइट डिफ़रेंसेज।

(ना० गो० श०)

कलमा वह वाक्य जो इस्लाम धर्म का मूल मंत्र है। यथा—"ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद उर् रसूलुल्लाह।" यह अरबी भाषा मे हैं और कुरान शरीफ के तीसरे पारे (अध्याय) से लिया गया है। इसका अर्थ है, "अल्लाह के सिवा दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है जिसकी इबादत (पूजा) की जा सके और मुहम्मद उस अल्लाह के पैगंबर है।" मुसलमान किसी भी अच्छे काम को शुरू करते वक्त कलमा पढते है। नमाज के वक्त और किसी भी व्यक्ति के इस्लाम मे दीक्षित होने के समय इसे पढा जाता है।

(कैं० चं० श०)

कलमी शोरा द्र० 'शोरा'।

कलविंकक ईरान के साहित्योद्यान का प्रसिद्ध गायक पक्षी। यह अपने मधुर स्वर के कारण उर्दू फारसी के कवियों द्वारा साहित्य में अमर हो गया है। यह अरब और ईरान में बुलबुल हजार दास्ताँ तथा यूरोप में नाइटिंगेल के नाम से प्रसिद्ध है।

कविकल्पना के अनुसार मादा बुलबुल विरह से व्याकुल होकर अपने सीने को काँटों से दबाकर गाती है। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि अन्य पक्षियों के जोड़ा बाँधने के समय नर ही नारी को रिझाने के लिये बहुत बहुत मीठे स्वर में बोलता है।

यह यूरोप के दक्षिणी भाग में पर्याप्त संख्या में मिलता है, परंतु उत्तरी भाग में बहुत कम या बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ता। इसकी कई जातियाँ हैं जिनमें ल्युसीनिया मेगारिका (Luscinia magarhy cha) सबसे प्रसिद्ध है। यह जाड़ों में ईरान, अरब, न्यूबिया, अबासीनिया, अल्जीरिया तथा गोल्ड कोस्ट तक पहुँच जाता है। कलविंकक छोटा सा चार पाँच इंच लंबा पक्षी है, जिसके नर और मादा एक ही तरह के होते हैं। इसके शरीर

कलविंकक

का ऊपरी भाग कत्थई और नीचे का राखीपन लिए सफेद रहता है। सीने का रंग गाढ़ा और दुम का चटक तथा चमकीला होता है। दूसरा कलविंकक (ल्युसीनिया, फ़िलोमैला, Lucinia philomela) पहले से कद में कुछ बड़ा और रंग में उससे चटकीला होता है। यह यूरोप के पूर्वी भाग का निवासी है। तीसरा कलविंकक (ल्युसीनिया हैफ़िज़ी Lucinia hafizi) ईरान और अरब का प्रसिद्ध बुलबुल हजार दास्ताँ है, जो इन्हीं देशों के आसपास पाया जाता है।

कलविंकक को ईरान में ठीक ही 'बुलबुल हजार दास्ताँ' का नाम मिला है, क्योंकि वह बिना दम तोड़े, लगातार, घंटे घंटे भर तक गाता है। वह कई प्रकार से, हमारे यहाँ के लाल दुमवाले बुलबुल से भिन्न पक्षी है। वह कीटभक्षी पक्षी है जो हमारे देश की ओर नहीं आता, परंतु भारत के शौकीन लोग इसे सैकड़ों रुपए तक खर्च करके बाहर से मँगवाते हैं और पिंजरों में पालते हैं।

अन्य पक्षियों की भाँति इसके नर नारी समय आने पर घास फूस, पत्तियों और पतली जड़ों से अपना ढीला ढाला घोंसला किसी झाड़ी में, पृथ्वी पर, अथवा किसी नीची डाल पर, बनाते हैं। नारी इसमें गाढ़े जैतूनी रंग के चार पाँच अंडे देती है।

चरखी की जाति के दो पक्षी भी 'चीनी नाइटिंगेल' तथा 'जापानी नाइटिंगेल' के नाम से प्रसिद्ध हैं, पर वे कलविंकक से भिन्न होते हैं।

(सु० सिं०)

कला शब्द का प्रयोग शायद सबसे पहले भरत के 'नाट्यशास्त्र' में ही मिलता है। पीछे वात्स्यायन और उशनस् ने क्रमशः अपने ग्रंथ 'कामसूत्र' और 'शुक्रनीति' में इसका वर्णन किया।

कला का अर्थ अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है, यद्यपि इसकी हजारों परिभाषाएँ की गई हैं। प्रगट है कि यह शब्द इतना व्यापक है कि विभिन्न विद्वानों की परिभाषाएँ केवल एक विशेष पक्ष को छूकर रह जाती हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार कला उन सारी क्रियाओं को कहते हैं जिनमें कौशल अपेक्षित हो। यूरोपीय शास्त्रियों ने भी कला में कौशल को महत्वपूर्ण माना है।

'कामसूत्र', 'शुक्रनीति', जैन ग्रंथ 'प्रबंधकोश', 'कलाविलास', 'ललितविस्तर' इत्यादि सभी भारतीय ग्रंथों में कला का वर्णन प्राप्त होता है। अधिकतर ग्रंथों में कलाओं की संख्या ६४ मानी गई है। 'प्रबंधकोश' इत्यादि में ७२ कलाओं की सूची मिलती है। 'ललितविस्तर' में ८६ कलाओं के नाम गिनाए गए है। प्रसिद्ध कश्मीरी पंडित क्षेमेंद्र ने अपने ग्रंथ 'कलाविलास' में सबसे अधिक संख्या में कलाओं का वर्णन किया है। उसमें ६४ जनोपयोगी, ३२ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष संबंधी, ३२ मात्सर्य-शील-प्रभावमान संबंधी, ६४ स्वच्छकारिता संबंधी, ६४ वेश्याओं संबंधी, १० भेपज, १६ कायस्थ तथा १०० सार कलाओं की चर्चा है। सबसे अधिक प्रामाणिक सूची 'कामसूत्र' की है।

यूरोपीय साहित्य में भी कला शब्द का प्रयोग शारीरिक या मानसिक कौशल के लिये ही अधिकतर हुआ है। वहां प्रकृति से कला का कार्य भिन्न माना गया है। कला का अर्थ है रचना करना अर्थात् वह कृत्रिम है। प्राकृतिक सृष्टि और कला दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। कला उस कार्य में है जो मनुष्य करता है। कला और विज्ञान में भी अंतर माना जाता है। विज्ञान में ज्ञान का प्राधान्य है, कला में कौशल का। कौशलपूर्ण मानवीय कार्य को कला की संज्ञा दी जाती है। कौशलविहीन या भोंड़े ढंग से किए गए कार्यों को कला में स्थान नहीं दिया जाता।

'कामसूत्र' के अनुसार ६४ कलाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) गायन, (२) वादन, (३) नर्तन, (४) नाट्य, (५) आलेख्य (चित्र लिखना), (६) विशेषक (मुखादि पर पत्रलेखन), (७) चौक पूरना, अल्पना, (८) पुष्पशय्या बनाना, (९) अंगरागादिलेपन, (१०) पच्चीकारी, (११) शयन रचना, (१२) जलतरंग बजाना (उदक वाद्य), (१३) जलक्रीड़ा, जलाघात, (१४) रूप बनाना (मेक अप), (१५) माला गूँथना, (१६) मुकुट बनाना, (१७) वेश बदलना, (१८) कर्णाभूषण बनाना, (१९) इत्र आदि सुगंधद्रव्य बनाना, (२०) आभूषणधारण, (२१) जादूगरी, इंद्रजाल, (२२) असुंदर को सुंदर बनाना, (२३) हाथ की सफाई (हस्तलाघव), (२४) रसोई कार्य, पाक कला, (२५) आपानक (शर्बत बनाना), (२६) सूचीकर्म, सिलाई, (२७) कलाबत्तू, (२८) पहेली बुझाना, (२९) अंत्याक्षरी, (३०) बुझौवल, (३१) पुस्तकवाचन, (३२) नाटक प्रस्तुत करना, नाटकाख्यायिका-दर्शन, (३३) काव्य-समस्या-पूर्ति, (३४) बेंत की बुनाई, (३५) सूत बनाना, तुर्क कर्म, (३६) बढ़ईगरी, (३७) वास्तुकला, (३८) रत्नपरीक्षा, (३९) धातुकर्म, (४०) रत्नों की रंगपरीक्षा, (४१) आकर ज्ञान, (४२) बागबानी, उपवनविनोद, (४३) मेढ़ा, पक्षी आदि लड़वाना, (४४) पक्षियों को बोली सिखाना, (४५) मालिश करना, (४६) केश-मार्जन-कौशल, (४७) गुप्त-भाषा-ज्ञान, (४८) विदेशी कलाओं का ज्ञान, (४९) देशी भाषाओं का ज्ञान, (५०) भविष्यकथन, (५१) कठपुतली नर्तन, (५२) कठपुतली के खेल, (५३) सुनकर दोहरा देना, (५४) आशुकाव्य क्रिया, (५५) भाव को उल्टा कर कहना, (५६) धोखा धड़ी, छलिक योग, छलिक नृत्य, (५७) अभिधान, कोशज्ञान, (५८) नकाब लगाना (वस्त्रगोपन), (५९) द्यूतविद्या, (६०) रस्साकशी, आकर्षण क्रीड़ा, (६१) बालक्रीड़ा कर्म, (६२) शिष्टाचार, (६३) मन जीतना (वशीकरण) और (६४) व्यायाम।

'शुक्रनीति' के अनुसार कलाओं की संख्या असंख्य है, फिर भी समाज में अति प्रचलित ६४ कलाओं का उसमें उल्लेख हुआ है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की व्याख्या करते हुए जयमंगल ने दो प्रकार की कलाओं का उल्लेख किया है—(१) कामशास्त्र से संबंधित कलाएँ, (२) तंत्र संबंधी कलाएँ। दोनों की अलग अलग संख्या ६४ है। काम की कलाएँ २४ हैं जिनका संबंध संभोग के आसनों से है, २० द्यूत संबंधी, १६ काममुख संबंधी और ४ उच्चतर कलाएँ। कुल ६४ प्रधान कलाएँ हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय साधारण कलाएँ भी बताई गई हैं।

'शुक्रनीति' के अनुसार गणना इस प्रकार है :—

(१) नर्तन (नृत्य), (२) वादन, (३) वस्त्रसज्जा, (४) रूपपरिवर्तन, (५) शैय्या सजाना, (६) द्यूत क्रीड़ा, (७) सासन रतिज्ञान, (८) मद्य बनाना और उसे सुवासित करना, (९) शल्य क्रिया, (१०)

पाक कार्य, (११) वागवाती, (१२) पाषाण, धातु आदि से भस्म बनाना, (१३) मिठाई बनाना, (१४) धात्वौषधि बनाना, (१५) मिश्रित धातुओं का पृथक्करण, (१६) धातुमिश्रण, (१७) नमक बनाना, (१८) शस्त्रसंचालन, (१९) कुश्ती (मल्लयुद्ध), (२०) लक्ष्यवेध, (२१) वाद्यसंकेत द्वारा व्यूहरचना, (२२) गजादि द्वारा युद्धकर्म, (२३) विविध मुद्राओं द्वारा देवपूजन, (२४) सारथ्य, (२५) गजादि की गतिशिक्षा, (२६) बर्तन बनाना, (२७) चित्रकला, (२८) तालाब, प्रासाद आदि के लिये भूमि तैयार करना, (२९) घटादि द्वारा वादन, (३०) रंगसाजी, (३१) भाप के प्रयोग—जलवाटवग्नि संयोगनिरोधैः क्रिया, (३२) नौका, रथादि यानों का ज्ञान, (३३) यज्ञ की रस्सी बटने का ज्ञान, (३४) कपड़ा बुनना, (३५) रत्नपरीक्षण, (३६) स्वर्णपरीक्षण, (३७) कृत्रिम धातु बनाना, (३८) आभूषण गढ़ना, (३९) कलई करना, (४०) चर्मकार्य, (४१) चमड़ा उतारना, (४२) दूध के विभिन्न प्रयोग, (४३) चोली आदि सीना, (४४) तैरना, (४५) बर्तन माँजना, (४६) वस्त्रप्रक्षालन (संभवतः पालिश करना), (४७) क्षौरकर्म, (४८) तेल बनाना, (४९) कृषिकार्य, (५०) वृक्षारोहण, (५१) सेवाकार्य, (५२) टोकरी बनाना, (५३) काँच के बर्तन बनाना, (५४) खेत सींचना, (५५) धातु के शस्त्र बनाना, (५६) जीन, काठी या हौदा बनाना, (५७) शिशुपालन, (५८) दंडकार्य, (५९) सुलेखन, (६०) तांबूलरक्षण, (६१) कलाममंज्ञता, (६२) नटकर्म, (६३) कलाशिक्षण, और (६४) साधने की क्रिया।

प्रगट है कि इन कलाओं में से बहुत कम का संबंध ललित कला या फ़ाइन आर्ट्स से है। ललित कला—अर्थात् चित्रकला, मूर्तिकला आदि—का प्रसंग इनसे भिन्न और सौंदर्यशास्त्र से संबंधित है। (उसकी सामग्री के लिये देखें 'ललित कला' लेख)। (रा० चं० शु०)

कलापक्ष [हायमेनोप्टेरा (Hymenoptera); हायमेन (hymen) =एक झिल्ली; टेरोन (pteron)=एक पक्ष] के अंतर्गत चींटियाँ, बर्रें, मधुमक्खियाँ और इनके निकट संबंधी तथा आखेटि पतंग (द्र०) आते हैं। लिनीयस ने १७५८ ई० में हायमेनोप्टेरा नाम उन कीटों को दिया जिनके पक्ष झिल्लीमय होते हैं तथा जिनकी नारियों में डंक होता है। इन कीटों के लक्षण ये हैं—पक्ष झिल्लीमय, प्रायः छोटे और पारदर्शक होते हैं तथा पक्षों का नाड़ीविन्यास (Venation) क्षीण होता है। अग्रपक्ष की तुलना में पश्चपक्ष बड़ा होता है। पश्चपक्ष अग्रपक्ष के पिछलेवाले किनारे में ठीक ठीक समा जाता है। अग्रपक्ष का पिछला किनारा मुड़ा रहता है जिसमें पश्चपक्ष के अगले किनारेवाले काँटे (Hamuli) फँस जाते हैं। ये काँटे बहुत ही छोटे तथा एक पंक्ति में होते हैं। कुछ जातियों की नारियाँ पक्षविहीन भी होती हैं, उदाहरणतः डेसीबेवरिस अरजेंटीयेम (Dasybabris argenti) में, किंतु नर सदैव पक्षवाले होते हैं। इनके मुखभाग चबाकर खानेवाले (chewing type) या चबाने चाटनेवाले (chewing lapping type) होते हैं। मैंडिबल तो चबाने या काटने का कार्य करते हैं, किंतु लेबियम प्रायः एक प्रकार की जिह्वा सी बन जाता है, जिससे पतंग भोजन चाटता है। वक्ष के अग्र और मध्य खंड का समेकन हो जाता है। उदर प्रायः पतला होकर कमर सा बन जाता है और इसके प्रथम खंड का वक्ष से सदा ही समेकन रहता है। नारियों में अंडरोपक (ovipositor) सदा पाया जाता है, जो काटने तथा छेदने और रक्षक तथा आक्रामक शस्त्र के रूप में डंक मारने का कार्य करता है। इनमें पूर्ण रूपांतरण होता है। डिंभ या तो इल्लियों के आकार के या बिना टाँगोंवाले होते हैं। उदर की टाँगें, जो पूर्वपाद (Proleg) कहलाती है, पाँच जोड़ी से अधिक होती हैं। कलापक्ष की बहुत सी जातियाँ समाजों में रहती हैं।

कलापक्ष सर्वाधिक विकसित कीटगणों में से एक गण है। इस गण की महत्ता केवल इसलिये नहीं है कि इसकी रचना पूर्ण रीति से हो चुकी है, वरन् इसलिये भी है कि इसमें अंतःप्रवृत्ति का अद्भुत विकास मिलता है। इसके जीवन के विषय में पर्याप्त अध्ययन द्वारा ज्ञान हुआ है कि इस कीटगण में समाज का विकसन किस प्रकार हुआ। कलापक्ष की लगभग ९०,००० जातियों का पता चला है। इनमें से अधिकांश जातियाँ अन्य गणों की जातियों की भाँति एकाकी (solitary) जीवन ही व्यतीत करती हैं, केवल कुछ ही जातियों में सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति विकसित हुई है। ये जातियाँ बड़े बड़े समाजों में रहती हैं, जैसे मधुमक्खियाँ, बर्रें और चींटियाँ। कलापक्ष की सहस्रों जातियाँ पराश्रयी (parasitic) होने के कारण मनुष्य के लिये बहुत लाभदायक हैं, क्योंकि ये अनेक हानिकारक कीटों को नष्ट कर देती हैं।

शरीररचना—कलापक्ष सूक्ष्म से लेकर मझोली नाप तक के होते हैं। दृष्टि तीक्ष्ण होती है, क्योंकि इनके नेत्र संयुक्त तथा बड़े होते हैं और प्रायः तीन सरल नेत्र भी पाए जाते हैं। दोनों लिंगों की शृंगिकाओं में बहुत भेद रहता है। मधुमक्खी तथा बर्रों के नरों की शृंगिकाओं में प्रायः १२ खंड होते हैं और नारियों की शृंगिकाओं में १३ खंड। ककचमक्षी (सॉफ्लाई, Sawfly) के मुखभाग साधारण रूप के होते हैं और काटने का ही कार्य कर सकते हैं। अधिकतर कलापक्षों में मैंडिबल भोजन काटने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करते हैं, जैसे मधुमक्खियाँ अपने छत्ते के लिये मोम ढालने का कार्य मैंडिबल से ही करती हैं। कुछ मधुमक्खियों की जिह्वा बहुत लंबी होती है। कतिपय मधुमक्खियों की जिह्वा उनके शरीर की लंबाई से भी अधिक होती है। किसी किसी में अधरोष्ठ (लेबियम, Labium) की स्पर्शनियाँ और ऊर्ध्व हन्वस्थि (मैक्सिला, Maxilla) भी जिह्वा के अनुसार ही लंबी हो जाती हैं और सब मिलकर एक स्पष्ट शुंड बना देती हैं। उदर के दूसरे खंड के आकोचन के कारण कमर बन जाती है। पक्षों के नाड़ीविन्यास में बहुत भेद पाए जाते हैं। ककचमक्षी में नाड़ीविन्यास भली प्रकार विकसित रहता है। कुछ पराश्रयी कलापक्षों के अग्रपक्ष में केवल एक ही शिरा (वेन, vein) होती है और कभी वह भी लुप्त हो जाती है। अग्रपक्षों के तल (base) पर छोटे शल्कि के आकार की खपड़ियाँ (टेगुली, Tegulae) होती हैं, जो कलापक्ष के वर्गीकरण में एक महत्वपूर्ण लक्षण मानी जाती हैं। नारियों में अंडरोपक पूर्ण रूप से विकसित रहता है। लाक्षणिक अंडरोपक में तीन जोड़ी कपाट (वाल्व, Valve) होते हैं, एक जोड़ी कपाट मिलकर डंक बन जाते हैं, दूसरी जोड़ी डंक का खोल या म्यान और तीसरी जोड़ी डंक की स्पर्शनियाँ होती हैं। ककचमक्षी का अंडरोपक अंडरोपण के अतिरिक्त पौधों में अंडा रखने के लिये छोटे छोटे छेद भी बनाता है; आखेटि पतंग और इसके संबंधी इसको अन्य कीटों पर आघात के लिये भी प्रयुक्त करते हैं। मधुमक्खियाँ, बर्रें और कुछ चींटियाँ इसको डंक मारने के काम में लाती हैं। डंक मारने की प्रकृति इन कीटों के अतिरिक्त अन्य किसी भी कीट में नहीं पाई जाती।

जनन और विकसन—जनन के संबंध में अत्यंत रोचक बात यह है कि इन कीटों में अधिकतर अनिषेक जनन होता है। मधुमक्खियों में अनिषिक्त अंडों में से केवल नर ही उत्पन्न होते हैं। द्रुस्फोट बरटों (गॉल वास्प, Gall wasp) के अनिषिक्त अंडों से नर और नारी दोनों ही उत्पन्न होते हैं। अनिषिक्त अंडों की पीढ़ी और संसेचित अंडों की पीढ़ी, एक के पश्चात् एक, क्रमानुसार उत्पन्न होती रहती है। कुछ द्रुस्फोट बरटों में नर संभवतः उत्पन्न नहीं होते। ककचमक्षी और भुजतंतु बरट (कैल्सिड, Chalcid) में भी अधिकतर अनिषेक जनन ही होता है।

जीवन—सिमफ़ायटा (Symphyta) के डिंभ शाकभक्षी होते हैं। जो डिंभ खुले में रहकर पत्तियाँ खाते हैं, वे इल्लियाँ कहलाते हैं। इनके उदर पर छह जोड़ी या इससे अधिक टाँगें होती हैं, किंतु पौधों और काष्ठ को छेदनेवाले डिंभों में टाँगें नहीं पाई जातीं और वक्ष की टाँगें भी क्षीण होकर गुटिका के आकार की बन जाती हैं। ऐपोक्रिटा (Apocrita) के डिंभ प्रायः अपने भोजन के संपर्क में ही अंडे से निकलते हैं, अतः इनको भोजन की खोज नहीं करनी पड़ती। इस कारण इनमें अधःपतन (डिजेनेरेशन, degeneration) हो जाता है। इनमें टाँगें तो होती ही नहीं और अन्यान्य विशिष्ट ज्ञानेंद्रियों का भी पूर्ण अभाव रहता है। पराश्रयी कलापक्षों में प्रायः अतिरूपांतरण (हाइपरमेटामॉर्फ़ोसिस, hypermetamorphosis) होता है, अतः डिंभ भी कई प्रकार के होते हैं और एक दूसरे में अत्यधिक भेद रहता है। उन पराश्रयी

कलापक्षों में, जो अपने अंडे पोषक से दूर रखते हैं, अंडों से निकले हुए डिंभ बहुत क्रियाशील होते हैं, क्योंकि तभी वे पोषकों के पास पहुँच सकते हैं। पोषक पा जाने के पश्चात् ये पदविहीन डिंभ का आकार धारण कर लेते हैं। इस प्रकार के डिंभ साधारणतया सभी ऐपोक्रिटा में पाए जाते हैं। कुछ जातियाँ बाह्य पराश्रयी (external parasite) होने के कारण अपने मुखभागों से अपने पोषक की देह छेदकर अपना भोजन प्राप्त करती हैं, किंतु अधिकतर पराश्रयी कलापक्ष आंतरिक परजीवी हैं। आंतरिक परजीवियों की नारी अपना अंडरोपक पोषक के भीतर घुसाकर एक अंडा रख देती हैं, किंतु जब पोषकों की कमी होती है तब एक एक पोषक के भीतर एक से अधिक भी अंडा रख दिया जाता है। कुछ परजीवी इतने छोटे होते हैं कि किसी अन्य कीट के अंडे के भीतर ही अपना विकसन पूरा कर लेते हैं। कुछ परजीवी अपने अंडे अन्य कीटों के डिंभ और प्यूपा के भीतर भी रखते हैं, किंतु प्रौढ़ के भीतर अंडा रखनेवाले परजीवियों की संख्या बहुत थोड़ी है। पोषक की अंत में मृत्यु हो जाती है। खोदाई करनेवाले वरट अन्य कीटों को पकड़कर अपने डिंभों को खिलाते हैं। ये पकडे हुए कीट प्रत्येक अंडे के साथ घरौंदा बनाकर रख दिए जाते हैं। जब अंडे से डिंभ निकलता है तब उसको अपने समीप ही भोजन मिल जाता है। मधुमक्खियाँ केवल पुष्पपराग और पुष्पमकरंद ही खाती हैं और अपने डिंभों के लिये इन्हें एकत्र कर लेती हैं। इस प्रकार ये कीट अपनी संतान का ध्यान रखते हैं। संतान का ध्यान रखने की यह प्रवृत्ति अन्य कीटों में नहीं है। इसी प्रकार इन कीटों के कुछ समुदायों में सामाजिक जीवन का विकास हुआ है। डिंभ पूर्ण अवस्था को पहुँचने पर कोप (कोकून, cocoon) के भीतर प्यूपा बन जाते हैं।

सबसे बड़े कलापक्ष खोदाई करनेवाले वरटों में मिलते हैं। इनमें से कोई कोई वरट तीन इंच तक लंबा होता है। सबसे छोटे कलापक्ष अन्य कीटों के अंडों के भीतर रहनेवाले परजीवी हैं। अप्सरा (फ़ेयरी फ़्लाइ, Fairy fly) नामक परजीवी केवल ०.२१ मिलीमीटर लंबा होता है। अधिकतर कलापक्ष भूमि पर रहने और हवा में उड़नेवाले हैं। केवल अप्सराएँ ही पानी में रहती हैं। ये अन्य जलवाले कीटों के अंडों या डिंभों पर अंडा रखने के लिये अपने पक्षों की सहायता से शीघ्रतापूर्वक तैरती रहती हैं। पराश्रयी जातियों की संख्या इस गण की शेष जातियों की संख्या की तुलना में बहुत अधिक है। भूमि पर रहनेवाले कीटों का कोई भी गण इनके आक्रमण से बचा नहीं। भूमि में गहराई पर छेद करके, या ठोस काष्ठ में, रहनेवाले डिंभ भी इनसे बच नहीं पाते। जिन परजीवियों को वृक्षों के भीतर रहनेवाले पोषकों तक अपना अंडा पहुँचाने के लिये अपना अंडरोपक वृक्षों के भीतर प्रविष्ट करना पड़ता है उनका अंडरोपक बहुत लंबा होता है। खोदाई करनेवाले वरट अपने घोंसले में अन्य कीट या मकड़ियाँ जमा करके रखते हैं। इन्हें साधारणत: डंक मारकर केवल निश्चल कर दिया जाता है। कुछ वरट अपने आखेट को मार भी डालते हैं। किंतु मरा हुआ शिकार सड़ता नहीं है, इसलिये ऐसा अनुमान है कि डंक मारते समय जो विष शिकार में पहुँचता है वह शिकार को सड़ने नहीं देता।

मधुमक्खियाँ, बर्रे और कुछ चींटियाँ अपना डंक अपनी रक्षा के लिये प्रयुक्त करती हैं। इनके डंक की जड़ पर विशेष प्रकार की बड़ी ग्रंथि होती है, जिसका स्राव डंक मारते समय शत्रु में प्रविष्ट हो जाता है। यह स्राव शत्रु में क्षोभ उत्पन्न करता है। चींटियों के स्राव में फ़ॉर्मिक अम्ल होता है।

घोंसला या छत्ता बनाना भी कलापक्षों का एक गुण है। खोदाई करनेवाले वरट केवल सादा सा ही बिल धरती में बना लेते हैं। कुछ भ्रमरों का घोंसला सुरंगाकार कई शाखाओंवाला होता है। कुछ भ्रमर काष्ठ को छेदकर या वृक्षों के खोखले तनों में अपना घोंसला बनाते हैं। बर्रे सूखी लकड़ी को चबा चबाकर और चबाई हुई लकड़ी में अपनी लार मिलाकर एक प्रकार का कागज तैयार कर लेती है और इसी कागज का उपयोग अपना छत्ता बनाने में करती है। सामाजिक मधुमक्खियाँ अपने शरीर से मोम का उत्सर्जन करती हैं और इसे अपने छत्ते बनाने के काम में लाती हैं। कुछ कलापक्ष अपने घोंसले नहीं बनाते, बल्कि दूसरी जातियों के बनाए घोंसलों में ही रहने लगते हैं। ऐसे कलापक्ष अधिवासी (इनक्विलाइन, inquiline) कहलाते हैं। छत्तेवासियों द्वारा अपने डिंभों के लिये लाया गया भोजन भी कभी कभी अधिवासियों के डिंभ खा जाते हैं। कुछ अधिवासी कलापक्ष ऐसे भी हैं जो छत्तेवासियों के डिंभों को भी खा जाते हैं और इस प्रकार वास्तविक परजीवी बन जाते हैं। कलापक्षों का सबसे रोचक लक्षण है इनका सामाजिक जीवन। (द्र० **सामाजिक कीट**)।

हानि और लाभ--सिमफ़ायटा उपगण की जातियों के तथा क्रकचमक्षियों के डिंभ अत्यधिक हानिकारक होते हैं। अथेलिया प्रॉक्सिमा (Athelia proxima) नामक क्रकचमक्षी के डिंभ पत्ती खाते हैं और इस प्रकार मूली, सरसों आदि को हानि पहुँचाते हैं। ऐपोक्रिटा उपगण की केवल थोड़ी सी ही जातियाँ हानिकारक हैं, अधिकतर जातियाँ लाभदायक हैं। ईकोफ़ायला स्मारग्डीना (oecophylla smaragdina) आम आदि फलों के वृक्षों के लिये हानिकारक हैं। ये अपने घोंसले इन वृक्षों पर पत्तियों से बनाते हैं। डोरीलस ओरिएंटैलिस (Dorylus orientalis) ईख को हानि पहुँचाता है। परंतु ऐपोक्रिटा से मनुष्य को अनेक लाभ हैं। मधुमक्खियाँ और इनके संबंधी अनेक फलदार वृक्षों तथा पौधों के फूलों का परागण करते हैं। एक बहुत ही सुंदर उदाहरण अंजीर का कीट (ब्लैस्टोफ़ागा, Blastophaga) है। मधुमक्खियाँ (एपिस डोरसेटा और एपिस इंडिका, Apis dorsata and Apis Indica) मधु और मोम देती हैं। पराश्रयी कलापक्ष भी अत्यंत लाभदायक सिद्ध हुए हैं, क्योंकि मनुष्य हानिकारक कीटों को नष्ट करने में उनका उपयोग करने लगा है। ट्राइकोग्रामा माइन्यूटम (Trichograma minutum) और फ़ेनुरस बेनीफ़ीशियंस (Phanurus beneficiens) ईख के भीतर रहनेवाले कीटों के अंडों में अपने अंडे रखकर उनका नाश कर देते हैं। स्टेनोब्रेकॉन निसिविली (Stenobracon nicivillei) इन कीटों के डिंभों के परजीवी हैं। टेट्रास्टिकस पायरीली (Tetrastichus pyrillae) ईख के फतिंगों के अंडों का परजीवी है। ये सब परजीवी ईख के इन हानिकारक कीटों को नष्ट करने में उपयुक्त होते हैं। ऐफ़ीलिनस माली (Aphelinus mali) सेब की ऊनी लाही (woolly aphis) को नष्ट करने के लिये कश्मीर में उपयोग किया गया है।
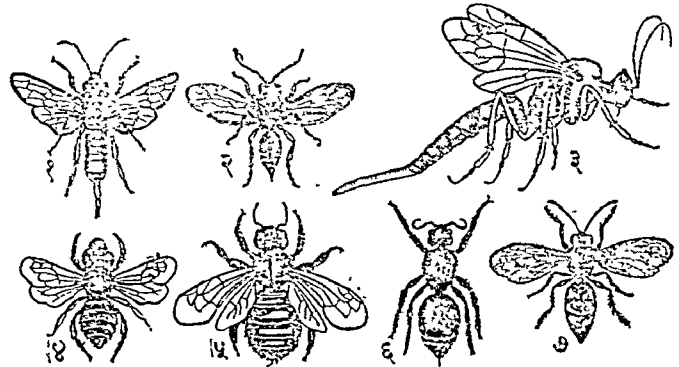
विविध कलापक्ष

१. शृंगपुच्छ या काष्ठवरट (सिरिसिडी, Siricidae : horn-tail), लंबाई ३० मि० मी०; २. गुलाबमाजू का बर्रे (सिनिपिडी, Cynipidae : Rose-gall wasp); ३. स्त्री आखेटि पतंग (पिंप्ला पोमोरम, Ichneumon fly : pimpla pomorum); ४. पर्णकर्तक मधुमक्खी (मेगाकिलिडी, Megachilibae : Leafcutter bee), लंबाई १२ मि० मी०; ५. तक्षक मधुमक्खी (जाइलोकॉपिडी, Xylocopidae : carpenter bee), लंबाई १२ से० २० मि० मी०; ६. पंखहीन या मखमली बर्रे (म्यूटिलिडी, Mutilidae : Velvet ant, Sphaerophthalma), लंबाई १२ मि० मी०; ७. मृदालेपक बर्रे (स्फ़ेसिडी, Sphecidae : Mud-dauber wasp, Sphecius)।

भौगोलिक वितरण--कलापक्ष बहुत शीतल भागों के अतिरिक्त प्राय: सारे संसार में पाए जाते हैं। मधुमक्खियाँ केवल उन्हीं देशों में मिलती हैं जहाँ फूलवाले पौधे उगते हैं, क्योंकि इनका

जीवन फूलों पर ही निर्भर होता है। तक्षक मधुमक्खी (Carpenter bee) की अधिकतर जातियाँ उष्ण प्रदेशों तक ही सीमित है, किंतु गुंज-मधुमक्खी (बंबल बी, Bumble bee) की जातियाँ समशीतोष्ण भागों में भी पाई जाती हैं।

भूवृत्तीय वितरण—कलापक्ष के पूर्वज प्रःकलापक्ष थे जिनकी उत्पत्ति अवर गिरियुग (लोअर परमियन, Lower Permian) में हुई थी और जिनके कुछ अस्तित्वावशेष कानसस के अवर गिरियुग की चट्टानों में पाए जाते हैं। कलापक्ष का विकास सबसे पहले उत्तर महासरट (अपर-जूरैसिक, Upper Jurrasic) युग में हुआ और इनके अस्तित्वावशेष बवेरिया की इस युग की चट्टानों में मिले हैं। तृतीयक (टरशियरी, Tertiary) युग में इस गण की चीटियाँ, मधुमक्खियाँ तथा कुछ अन्य जातियाँ भी उत्पन्न हो गई थीं। ये जातियाँ आधुनिक जातियों से लगभग मिलती जुलती थीं।

वर्गीकरण—कमर की स्थिति या अभाव के आधार पर कलापक्ष दो उपगणों में विभाजित किए गए हैं। सिमफ़ायटा (Symphyta) उपगण में उदर के अगले खंड अन्य खंडों की भाँति ही चौड़े होते हैं और पूरी चौड़ाई द्वारा वक्ष से जुड़े रहते हैं, अर्थात् इनमें कमर का अभाव रहता है। इनका अंडप्रस्थापक छेद करने या काटने का कार्य करता है और डंक का काम कभी नहीं देता। दूसरे उपगण ऐपोक्रिटा (Apocrita) में उदर के अगले खंड अन्य खंडों की तुलना में बहुत पतले होते हैं और इस प्रकार कमर बन जाती है। इनमें अंडप्रस्थापक ही प्रायः डंक का काम देता है।

सं०ग्रं०—आर० इ० स्नॉडग्रास : ऐनाटोमी ऐंड फ़िज़ियालॉजी ऑव द हनी बी (१९५६); रामरक्षपाल : कीटों में सामाजिक जीवन (१९-५६); ए० डी० इंस : ए जेनरल टेक्स्ट बुक ऑव एंटोमॉलोजी, रिवाइज्ड बाई ओ० डब्ल्यू० रिचर्ड्स ऐंड आर० जी० डेविस (१९५७); एच० एम० लेफ़राय : इंडियन इंसेक्ट लाइफ़ (१९०९); टी० वी० आर० अय्यर : ए हैंडबुक ऑव इकोनामिक एंटोमॉलोजी फ़ॉर साउथ इंडिया (१९४०)। (रा० र०)

क़लाख्, क़लाह, क़ला—प्राचीन असीरिया अथवा असुर देश का नगर जो मोसुल से लगभग १९ मील दक्षिण दजला और उपरली जाब नदियों के संगम पर कभी बसा था। असुरों की प्राचीन राजधानी 'असुर' और पश्चात्कालीन राजधानी निनेवे के बीच की सदियों में क़ला उनकी राजधानी रहा। संभवतः इसका निर्माण १३९५ ई० पू० में हुआ था और जब राजधानी बदलकर राजनीतिक कारणों से निनेवे चली गई तब भी क़ला (क़लाख्) का महत्व बना रहा क्योंकि, चंदेल राजाओं के कालिंजर की तरह, वही नगर असुर सैन्य शक्ति का सर्वदा केंद्र रहा। असुरों के साम्राज्य में जितने भी ऐसे सैनिक षड्यंत्र हुए जिनका संबंध असुर देश से था, सब इसी क़ला में रचे गए।

पिछली खुदाइयों में क़लाख् के विविध राजाओं द्वारा निर्मित अनेक राजप्रासादों के खंडहर मिले हैं। इन खंडहरों की शिल्पकला प्राचीन सभ्यता में मूर्धन्य है। लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में रखे पंखधारी विशाल सिंह क़लाख् से ही प्राप्त हुए थे। पंखधारी सिंह और वृषभ, असुर राजाओं के महलों के द्वार पर, द्वारपालों के जोड़े की तरह, प्रतिष्ठित होते थे। क़लाख् संभवतः सभ्यता का प्राचीनतम नगर था जिसके चारों ओर परकोटा खिंचा था। इसी गढ़नुमा रूप के कारण अरबी में 'क़िला' शब्द का दुर्ग के अर्थ में प्रयोग हुआ जो मध्यपूर्व के सभी देशों और पाकिस्तान, भारत आदि में इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है। पिछले युगों की काहिरा की प्रसिद्ध मस्जिद अल्-क़िला का नाम इसी नगर के नाम पर पड़ा है। पहले भारत और अब पाकिस्तान का 'क़लात' भी इसी नगर से, 'संज्ञा' की दृष्टि से, संबंधित है। ईरानी शब्द 'क़लई', जिसका उपयोग भारत में भी सामान्य रूप से होता है, इसी नगर के नाम से संबंधित है। ईरानियों ने असुरों और उनकी राजधानी क़ला (क़लाख्) का पराभव करके भी बहुत कुछ उनसे सीखा था और उनसे वे असाधारण प्रभावित हुए थे। असुरों का अपने अभिलेखों में यह दावा करना कि राष्ट्रों द्वारा हमारे शिल्पियों के लिये इतनी माँग आ रही है कि हम उसे पूरा नहीं कर सकते—क़ला की खुदाइयों में मिली अगणित शिल्प सामग्री से बहुशः प्रमाणित है। भारतीय वास्तु और तक्षण साहित्य में मय असुर का नाम शिल्पाचार्यों के रूप में प्रस्तुत और स्वीकृत हुआ।

कलात पहले ब्रिटिश भारत का और इसके उपरांत पाकिस्तान का एक स्वतंत्र राज्य था, जो १२ अप्रैल, १९५२ ई० से बलूचिस्तान के अन्य स्वतंत्र राज्य, लास बेला, खुरान और मकरान के साथ पाकिस्तान में संमिलित कर लिया गया। कलात राज्य का क्षेत्रफल ५९,०६८ वर्ग मील था और जनसंख्या ५,८९,००० थी (१९६१)। १९४७ ई० में पाकिस्तान के निर्माण के उपरांत भी कलात एक स्वतंत्र राज्य था और बलूचिस्तान के उपर्युक्त तीनों स्वतंत्र राज्यों पर भी सामान्यतः कलात का ख़ान ही राज्य करता था। पाकिस्तान में संमिलित होने पर एक आज्ञा द्वारा पाकिस्तान सरकार ने कलात के वर्तमान खान को, अपने अंतिम समय तक के लिये, उपर्युक्त राज्यों के अध्यक्ष पद पर रहने की स्वीकृति दे दी है। तदुपरांत अध्यक्ष का चुनाव शासकों की एक सभा द्वारा हुआ करेगा।

इस राज्य का मुख्य नगर कलात है जो क्वेटा से ८८ मील दक्षिण २९°२′ उ० अ० और ६६°३५′ पू० दे० पर समुद्रतल से ६,७८० फ़ुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह नगर दीवारों से घिरा है, परंतु अब इनके बाहर भी आबादी का विस्तार हो गया है। कलात के खान का राजभवन एक दर्शनीय गढ़ के भीतर स्थित है, परंतु नगर के अधिकांश गृह मिट्टी द्वारा निर्मित हैं। उपर्युक्त गढ़ के चारों ओर स्थित घाटियाँ घनी बसी हैं जिनमें ऊँचाई की अधिकता तथा तापक्रम की विषमता होते हुए भी खेती खूब होती है। यह नगर कुज़दर, गंडावा, नुश्की, क्वेटा और अन्य नगरों को जानेवाले यात्रीमार्गों का केंद्र है। इस नगर पर १८३९ ई० में अंग्रेजों ने अपना अधिकार जमाया था। (सु० प्र० सिं०)

कलाल अर्थात् शराब बनाने एवं बेचनेवाले। इनको कल्यपाल और कलवार भी कहा जाता है। इस प्रकार का व्यापार करनेवालों की प्राचीन काल में कोई विशेष जाति नहीं थी। वह समाज कर्मसिद्धांत पर आधारित था। किंतु कालांतर में जन्मना सिद्धांत के जोर पकड़ने के कारण एवं श्रमणों का भी भारतीय समाज पर प्रभाव होने के कारण क्रमशः इनका भी एक वर्ग बना और ये हेय दृष्टि से देखे जाने लगे, अछूत तक समझे जाने लगे। कलाल अथवा कलवार का छुआ पानी पीने में आज भी कहीं कहीं लोगों को आपत्ति होती है। समाज की इस छुआछूत की भावना के बीच इन लोगों के आत्मस्वातंत्र्य की भावना दबने लगी थी। परिणामस्वरूप इस बिरादरी के कई विचारकों ने इससे त्राण पाने के हेतु प्रयास किया। क्षत्रिय होना संमानित समझा जाता था। फलतः कलवारों के इतिहास की खोज की जाने लगी और बिरादरी सभा उसके 'हैहय क्षत्रिय' होने के निष्कर्ष पर पहुँची। अतः उस सभा ने कलालों को क्षत्रिय घोषित किया।

कलालों को प्राचीन काल में 'शौंडिक' कहते थे। शौंडिक शुंडिक से बना है। शुंडिक मद्य चुआने के शुंडाकृतिक भबके को कहते हैं और भबके (घड़े) से मद्य चुआनेवाले व्यक्ति को शौंडिक। शौंडिक के रूप में इनका उल्लेख रामायण, महाभारत, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों और पुराणों आदि में हुआ है। 'शूँड़ी', कलालों की एक उपजाति का नाम भी है। पाणिनि ने शौंडिक नामक आय का उल्लेख किया है। मद्य विभाग से प्राप्त आय का यह नाम था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि इस प्रकार का व्यापार करनेवाले व्यक्तियों को लाइसेंस दिया जाता था और इनसे दैवसिकमत्ययम् (लाइसेंस फ़ीस) लिया जाता था।

मोनियर विलियम्स ने अपनी 'ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' में शौंडिकों को संकर वर्ण कहा है। उन्होंने लिखा है—कुछ लोगों के मतानुसार वे कैवर्त पिता और गांधिक माता की संतान थे; दूसरों के अनुसार वे निष्ठ्य पिता और शूद्रा माँ की संतान थे। मनुस्मृति उनका उल्लेख जातियों (संकर) में करती है, किंतु महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने मनुस्मृति पर टिप्पणी लिखते हुए शौंडिकों को 'द्विज' कहा है। व्यावसायिक लाभ के लिये अनेक जाति के लोगों ने इस पेशे को

स्वीकार किया होगा, क्योंकि कलालों में चालीस उपजातियाँ हैं; संभवतः इन्हीं किन्हीं कारणों से पुरानी परिभाषा में इसको संकर कहा गया। सत्य क्या है, यह तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि यह तो एक व्यवसाय था जिसको लाभ की दृष्टि से संपूर्ण देश में किया जाता था। किंतु डा० मोनियर विलियम्स का यह कहना कि वे निष्ठ्य पिता और शूद्रा माँ की संतान थे, ठीक नहीं लगता। वैश्य भी 'द्विज' कहे गए हैं। पर, चूँकि वे शराब बनाने और बेंचने का व्यवसाय करते थे, कालांतर में, श्रमण-विचारधारा से अनुप्राणित होने के कारण समाज की दृष्टि में वे हेय और अस्पृश्य समझे जाने लगे। शिक्षा दीक्षा से उनका संबंध टूट चला था। परिणामस्वरूप, आज भी, कई राज्यों में उनको 'पिछड़े वर्ग' में गिना जाता है। भारतीय संविधान में भी उनका परिगणन 'अनुसूचित जातियों में हुआ है। (प्र० कु० जा०)

कलावाद 'कला कला के लिये' मान्यता पर आधारित कला के प्रति एक दृष्टिकोणविशेष जिसे लेकर १९वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में व्यापक वादविवाद छिड़ गया था। कलावाद को साहित्य एवं कला के क्षेत्र मे उपयोगितावाद के विलोम के रूप में जाना जाता है। कलावादियों के अनुसार *कलाकार लोकोत्तर प्राणी, कला लोकातीत वस्तु तथा कलाजन्य* आनंद अलौकिक आस्वादयुक्त एवं समाजनिरपेक्ष होता है। इसके विपरीत उपयोगितावादी कला को न केवल समाज की मनोवृत्तियाँ परिवर्तित करके वांछित दिशा की ओर अग्रेसारित करने का सशक्त साधन मानते हैं, अपितु उसे सिद्धांत प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम भी बताते हैं। उपयोगितावादियों ने कलावादियों पर संकीर्ण एवं व्यक्तिनिष्ठ होने का आरोप लगाते हुए कहा है, "वे वायवीय घोड़े पर आरूढ़ हैं।" कलावादियों ने उपयोगितावादियों पर स्थूल सामाजिकता का आग्रही होने का लांछन लगाया और कहा, "उन्होंने हमें स्वर्ग देने का वचन दिया था, लेकिन दिया है रुग्णालय।" विचारकों का एक तीसरा वर्ग भी है जो कलावाद के व्यक्तिपक्ष और उपयोगितावाद के समाजपक्ष के समन्वय को हितकर मानता है।

कलावादी दृष्टिकोण की प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सत्ता यूरोप में प्लेटो तथा अरस्तू से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में लगातार मिलती है। प्लेटो ने अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में कवियों और कलाकारों को राष्ट्रबहिष्कृत कर देने की व्यवस्था दी है; कारण, उनकी दृष्टि में कल्पनाशील कलाकारों एवं कवियों का असीम प्रभाव नैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय था। अरस्तू ने यद्यपि अपने गुरु प्लेटो की नैतिक एवं सामाजिक धारणा का खुले रूप में खंडन नहीं किया है, साथ ही कला में नैतिक तत्व तथा उपदेशात्मकता भी उन्हें अमान्य नहीं है, तो भी प्रसिद्ध कलासमीक्षक बूचर के मतानुसार अरस्तू ने ही पहले पहल कलाशास्त्र से नीतिशास्त्र को पृथक् किया और बताया कि परिष्कृत आनंदानुभूति ही काव्यकला अथवा कला का चरम लक्ष्य होता है। रोम के प्रसिद्ध विचारक सिसरो ने शालीनता (डेकोरम) तथा उदात्तता (सब्लाइमनेस) को कला का प्रमुख प्रतिपाद्य निर्धारित किया है। लोंगिनुस (लांजाइनस) ने अपनी कृति 'पेरिइप्सुस' में कला को न केवल शिक्षा और मनोरंजन से भिन्न एवं श्रेष्ठ माना है बल्कि उसे संप्रेरणा के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करके, उसके स्वतंत्र मूल्यांकन का परामर्श भी दिया है। लोंगिनुस के अनुसार काव्य तथा कला का मुख्य तत्व उदात्त (द्र०) है और भावना का उदात्तीकरण ही उनका प्रधान परिणाम होता है जिसका व्यक्ति से भी और समाज से भी सीधा संबंध रहता है। अतः अपने वक्तव्य और प्रतिपादन में लोंगिनुस निश्चित ही मध्यमार्गी हैं। डायोनीसिस तथा डिमेट्रियस प्रभृति अन्य अनेक रोमन विचारकों ने काव्य तथा कला के शैलीपक्ष पर ही विशेष जोर दिया है।

यूरोप की शास्त्रीय या क्लासिकल कला का पल्लवन अधिकांशतः ईसाई धर्म अथवा 'चर्च' के संरक्षण में हुआ। अतः सातवीं से १५वीं शती ईसवी के बीच रोम को केंद्र मानकर जिस बैजेंतिया (बाइजैंटाइन अर्थात् रोम साम्राज्य में विकसित शैली) कला का विकास मिस्र से रूस तक हुआ, वह चर्च आश्रित होने के कारण नैतिक-धार्मिक-मूल्य-समन्वित थी, अतः उसका सोद्देश्य तथा उपदेशात्मक होना जरूरी था और इसीलिये उसमें कलापक्ष गौण ही रहा। तो भी ऐसा नहीं है कि उक्त काल की कला में कल्पना तथा भावनाओं के लिये कोई छूट थी ही नहीं। इसके विपरीत धार्मिक दृष्टिसंपन्न कलाकार बिना किसी बाहरी नियंत्रण अथवा बाध्यता के उच्च कोटि की कला का सृजन करते थे। टाल्स्टाय (१८२८–१९१० ई०) कलावादी विचारधारा के प्रबल विरोधी थे। उनके मत से धर्म के प्रति विश्वास का अभाव ही कलावादी विचारों को जन्म देता है और कला का साध्य न आनंद है; न ही सौंदर्य। वे नैतिकता के प्रति अत्याग्रही थे और गांधी जी की तरह उनका दृष्टिकोण सुधारवादी था। सुधारवाद प्रकारांतर से उपयोगितावाद ही है। अतः टाल्स्टाय के लिये कला निश्चित ही एक गौण साधन मात्र रहा।

इटली के महान् कवि आलीग्यारी दांते (१२६५–१३२१ ई०) ने कला के क्षेत्र में पुनः उदात्त गुणों एवं भव्य शैली की प्रतिष्ठा की। दांते का प्रभाव कुछ ही दिन रहा। पश्चात् शास्त्रीय दृष्टि धीरे धीरे रुमानी दृष्टिकोण से आच्छादित होने लगी। फलतः इस समय कला संबंधी मूल्यों में भारी परिवर्तन हुआ। १७वीं शताब्दी को कला की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसके दौरान फ्रांस में नव्यशास्त्रवाद (नियोक्लासिसिज्म) का उदय हुआ। लेकिन यह भी मध्यकालीन चिंतन के नवीन संस्करण से अधिक नहीं था।

रेनेसाँ (१४५३ ई०) के बाद यूरोप में मध्यकालीन नैतिक मूल्यों का विघटन होना शुरू हुआ जिससे परंपरावादी तथा स्वातंत्र्यमूलक विचारों के बीच अस्थिरता का वातावरण ही उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि परस्पर टकराव भी होने लगा। इसका कारण इस समय किसी सुदृढ़ दर्शन का अभाव था। सन् १८६६ ई० के लगभग विविध साहित्यिक एवं कलासंबंधी वादों के प्रवर्तन में आग्रही देश फ्रांस में 'ल आर्त पोर ल आर्त' सूत्रकथन सामने आया जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'आर्ट फ़ॉर आर्ट्‌स सेक' है और हिंदी में जिसे 'कला कला के लिये' वाक्यांश से जाना जाता है। यहीं से कलावादी विचारधारा का प्रत्यक्ष आरंभ माना जा सकता है। अमरीकी चित्रकार जेम्स एबॉट मैकनील ह्विस्लर (१८३४–१९०३ ई०), जो आजीवन फ्रांस और इंग्लैंड में कार्यरत रहा, कलावाद का प्रबल समर्थक बना। हुआ यह कि १८७७ ई० में ग्रॉसवेनर चित्रकला प्रदर्शनी में अंग्रेजी के प्रख्यात समालोचक रस्किन ने ह्विस्लर के चित्रों की तीखी आलोचना की और कहा, "ह्विस्लर अपने चित्रों के माध्यम से दर्शकों के चेहरों पर रंगभरी प्यालियाँ उँड़ेल देता है।" रस्किन के इस कथन पर अदालत में मुकदमा शुरू हो गया जिसमें ह्विस्लर को अंततः क्षतिपूर्ति के रूप में एक फार्दिंग (इंग्लैंड में प्रचलित सबसे छोटा सिक्का) मिला। इसके बाद भी कला के उद्देश्य को लेकर रस्किन और ह्विस्लर के बीच वादविवाद चलता रहा। रस्किन कला को नैतिकता से अलग थलग बिल्कुल स्वतंत्र एवं स्वतःपूर्ण मानता था। इसी से प्रेरित होकर ह्विस्लर ने अपनी पूरी शक्ति से 'कला कला के लिये' मत का प्रवर्तन किया जो अतिवाद की सीमा तक जा पहुँचा।

ब्रैडले, क्लाइव बेल, रोजर फ़्राइ तथा जार्ज इन्नेस इत्यादि प्रमुख समालोचक कलावादी विचारधारा के प्रबल पोषक थे। ब्रैडले (१८५१–१९३५ ई०) ने तो अपने ग्रंथ 'पोएट्री फ़ॉर पोएट्रीज सेक' (१९०१ ई०) में स्पष्ट रूप से घोषणा की कि नैतिकता कविता का मात्र बाह्य पक्ष है। अतः कविता की श्रेष्ठता के लिये उसे अनिवार्य मानना एकदम बेमूझ है। क्लाइव बेल ने आधुनिक चित्रकला के संदर्भ में रूपतत्व को प्रमुख माना और १९१४ ई० में 'सिगनिफ़िकेंट फ़ार्म' का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसका पुनराधान रोजर फ़्राई ने १९२० ई० में किया। क्रोचे (१८६६–१९५२ ई०) के अभिव्यंजनावाद से कलावाद को एक सुस्पष्ट दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया। कांट (१७२४–१८०४ ई०) की स्थापना 'सौंदर्य का कोई बाह्य अस्तित्व नहीं है' को आधार बनाकर क्रोचे ने अपने 'ला स्पिरितो' (१९०३–१९०९ ई०) नामक ग्रंथ में सौंदर्यबोध के लिये 'अंतःप्रज्ञा' (इनट्यूशन) की सत्ता का प्रतिपादन किया और बताया कि सौंदर्यसृष्टि तथा सौंदर्यानुभूति दोनों ही सूक्ष्म मानसिक व्यापार हैं। साथ ही वर्ण्य-वस्तु तथा अभिव्यंजना के बीच तात्विक एकता होती है। अतः कलापक्ष और वस्तुपक्ष को विच्छिन्न करके देखना भ्रामक है। क्रोचे के अनुसार

कला मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया है, इसलिये उसकी दृष्टि में अभिव्यंजना के अतिरिक्त कला का कोई अन्य उद्देश्य अथवा प्रयोजन नहीं होता। इतना ही नहीं, क्रोचे ने कला को नैतिक किंवा शैक्षणिक सीमाओं से मुक्त भी माना है।

देखा जाए तो क्रोचे के सिद्धांत द्वारा एक प्रकार से उपयोगितावादी मान्यता का खंडन हो जाता है, लेकिन उक्त सिद्धांत कला के अमूर्त व्यापार पर ही लागू होता है, मूर्त पर नहीं। क्रोचे का कला सिद्धांत तत्वतः समाज-विरोधी नहीं है क्योंकि मूर्त होने पर वह भी कला को समाजनिरपेक्ष नहीं मानता। फ्रायड के 'स्वप्नवाद' से भी कलावादी दृष्टि को काफी बल मिला। आई० ए० रिचर्ड्स ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (१९२४ ई०) में कलावादी दृष्टि का खंडन सैद्धांतिक आधार पर करते हुए प्रेषणीयता को काव्यप्रक्रिया में विशेष महत्व प्रदान किया तथा कहा कि काव्य की सत्ता शेष जगत् से भिन्न नहीं है और न ही काव्य की अनुभूति शेष जगत् की अनुभूति से भिन्न है। इस प्रकार रिचर्ड्स ने कला के क्षेत्र में उपयोगितावाद की पुनः प्रतिष्ठा की।

मार्क्सवाद के उदय के साथ कलावादी मान्यताओं का तेजी से विघटन हुआ। मार्क्स ने अपने अर्थशास्त्र में कला के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया और कहा कि कला जनता के लिये, मुख्यतः सैनिकों और श्रमिकों के लिये ही है। स्टालिन ने रूस में और माओ ने चीन में कला तथा साहित्य को राजनीति के प्रचार का प्रमुख साधन माना एवं उसपर राजशक्ति का अंकुश लगा दिया। माओ ने 'प्राब्लम्स ऑव आर्ट ऐंड लिटरेचर' शीर्षक अपने परिपत्र में मार्क्स की उपर्युक्त स्थापनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। मार्क्सवादी समालोचक कॉडवेल ने भी कलावादी विचारधारा को विशुद्ध बूर्जुआ दृष्टि से उत्पन्न कुत्सित वृत्ति का परिणाम बताया है। मार्क्सवादी खेमे में ट्राट्स्की ही एक ऐसा व्यक्ति है जो कला के क्षेत्र में राजनीतिक पार्टी के हस्तक्षेप को अनुचित मानता है। 'लिटरेचर ऐंड रिवोल्यूशन' नामक अपने ग्रंथ में उसने स्पष्ट कहा है, "कला के क्षेत्र में पार्टी का आदेश देने की आवश्यकता नहीं है। यह ठीक है कि पार्टी के कर्तव्यों में कला की रक्षा और उसकी सहायता करना भी है, लेकिन नेतृत्व उस क्षेत्र में अपरोक्ष रूप से ही हो सकता है। इधर आई० पी० पावलोव आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत शरीर-क्रिया-मनोविज्ञान संबंधी उच्च अध्ययन द्वारा अंतिम रूप से निर्णय हो गया है कि कला भी व्यक्ति एवं समाज के लिये उतनी ही उपयोगी है जितने अन्य सामान्य भौतिक उपादान।

भारतीय साहित्य में भी अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि से संबंधित अनेक ऐसे संप्रदाय रहे हैं जिनकी दृष्टि में कलापक्ष अधिक महत्वपूर्ण था। हिंदी के आधुनिक साहित्य में प्रेमचंद, दिनकर आदि उपयोगितावादी थे तो प्रसाद ने आनंदवादी दृष्टि अपनाई जो कलावाद के अधिक निकट है। अज्ञेय, महादेवी वर्मा आदि कलावादी हैं तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा आदि आलोचकों की दृष्टि विशुद्ध उपयोगितावादी है। डा० श्यामसुंदरदास साहित्य में कलावाद एवं उपयोगितावाद के समन्वित रूप को ही उत्तम और श्रेयस्कर मानते हैं।

(कैं० चं० श०)

कलिंग कलिंग नाम देश (जनपद), राज्य और नगर तीनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। कलिंग देश वैतरणी और गोदावरी नदियों के बीच पूर्वी समुद्रतट के भूखंड को कहते हैं। समय समय पर कलिंग देश की सीमा घटती बढ़ती रही है। कभी कभी इसकी सीमा गंगा के मुहाने से गोदावरी तक विस्तृत थी पर अधिकतर महानदी और गोदावरी नदियों के बीच में सीमित थी। (द्र०, मानचित्र 'कंबोज' लेख के साथ)।

प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में कलिंग का उल्लेख प्राच्य जनपदों और राज्यों में हुआ है। पाणिनि के अनुसार कलिंग एकराज जनपद था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अंग और कलिंग के हाथी श्रेष्ठ कहे गए हैं। महाभाष्य, महाभारत, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, भागवतपुराण, रघुवंश, बृहत्संहिता, दशकुमारचरित और काव्यमीमांसा में भी कलिंग का उल्लेख हुआ है। कलिंग देश मौर्यों के पूर्ववर्ती मगधसम्राट् नंद के साम्राज्य का अंग था। पर मौर्य चंद्रगुप्त और बिंदुसार के काल में यह स्वतंत्र हो गया। प्लिनी ने तत्कालीन कलिंग राज्य की शक्तिशालिनी सेना का वर्णन किया है। सम्राट् अशोक ने भीषण युद्ध कर कलिंगविजय की, जिसका मार्मिक वर्णन उसके अभिलेखों में हुआ है। उसके काल में कलिंग की राजधानी तोसली थी जिसकी ध्वनि धौली (भुवनेश्वर से पाँच मील दक्षिण) नाम में, जहाँ अशोककालीन अभिलेख और विशाल गजमूर्ति प्राप्त हुई है, जीवित है। ई० पू० दूसरी या प्रथम शताब्दी में खारवेल कलिंग का प्रतापी राजा हुआ। अभिलेखों में खारवेल को कलिंगाधिपति और कलिंगचक्रवर्ती कहा गया है और उसकी राजधानी को कलिंगनगर, जिसका शिशुपालगढ़ नामक प्राचीन स्थान (भुवनेश्वर से १½ मील दक्षिण-पूर्व), से अभिन्न माना गया है। अभिलेखों के अनुसार कलिंग नगर के द्वार, प्राकार, भवन और उपवन तूफान में नष्ट हो गए थे, इनकी खारवेल ने मरम्मत करवाई और नहर तथा मंदिर बनवाकर नगर की शोभा बढ़ाई। चौथी सदी में कलिंग छोटे छोटे राज्यों में बँटा था जो गुप्त साम्राज्य में संमिलित कर लिए गए। पाँचवीं शती में मध्य कलिंग में पितृभक्त कुल के तथा दक्षिण कलिंग में माठर और वासिष्ठ वंशों के राजा क्रमशः सिंहपुर (वर्तमान सिंगुपुरम्, श्रीकाकुलम् के निकट) और पिष्टपुर (वर्तमान पिठापुरम्, जिला पूर्व गोदावरी) से राज करते थे। पर इनसे अधिक पराक्रमी गंग राजा थे जिनका कलिंग पर छठी से आठवीं सदी तक और बाद में १०वीं से १३वीं सदी तक अधिकार रहा। छठी और सातवीं सदियों में थोड़े काल के लिये शशांक और हर्षवर्धन की भी यहाँ सत्ता रही। उसी समय यहाँ चीनी यात्री युआन-च्वाङ आया जिसका वृत्तांत उपलब्ध है। गंगों की राजधानी कलिंगनगर थी जिसकी पहिचान वंशधारा नदी पर स्थित श्रीकाकुलम् जिले के मुखलिंगम् और कलिंगपत्तनम् से की गई है। इनकी दूसरी राजधानी दंतपुर में थी जो इन दोनों स्थानों के बीच में है। महावस्तु के अनुसार दंतपुर कलिंग का प्रधान नगर था। स्पष्ट है कि समय समय पर कलिंग में छोटे बड़े अनेक राज्य हुए जिनकी राजधानियाँ विभिन्न स्थानों में थीं। कलिंग के प्रायः सभी राजा अपने को 'कलिंगाधिपति' और अधिकतर गंग राजा 'त्रिकलिंगाधिपति' कहते थे। 'त्रिकलिंग' के सही अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

बर्मा और मलय द्वीप में भी कलिंग शब्द प्रचलित है। मलय साहित्य में क्लिंग भारत को कहते हैं जिससे ज्ञात होता है कि एशिया के द्वीपांतरों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में कलिंग का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

(कृ० दे०)

कलिंग पुरस्कार द्र० 'पुरस्कार'।

कलियुग प्राचीन पौराणिक परंपरा में सृष्टि के संपूर्ण काल को आनुश्रुतिक और ज्योतिष परंपराओं के आधार पर चार युगों में बाँटा गया है—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि मूलतः ये चारों युग देशजीवन की विशेषताओं की लाक्षणिक रूप से अभिव्यक्ति मात्र करते थे और उनके एक एक श्लोकों के अनुसार शयन करता हुआ कलि है, जँभाई लेता हुआ द्वापर, उठता हुआ त्रेता और चलता हुआ कृत अर्थात् सतयुग है। पुराणों से भी इसी स्थिति की पुष्टि होती है। गुप्तवंशी राजाओं के आसपास तक के इतिहास का वर्णन कर चुकने के बाद भविष्य के इतिहास का अंत करते हुए वे कलियुगी राजाओं और कलियुग के अनेक दोषों का वर्णन करते हैं तथा मानव जीवन की गिरी हुई एक अवस्थाविशेष की ओर निर्देश करते हैं। कल्कि अवतार द्वारा उस गिरी हुई दशा का अंत होगा, यह उनकी भविष्यवाणी है। प्रसिद्ध ज्योतिषी और गणितज्ञ आर्यभट्ट ने महाभारत युद्ध का समय और उसी के अंत के साथ कलियुग का प्रारंभ ३,१०२ ई० पू० में निश्चित किया था, जिसकी स्वीकृति रविकीर्ति ने अइहोड़ के लेख (६३३ ई०) में की। परंतु वृद्ध गर्ग, वराहमिहिर और कल्हण जैसे कुछ अन्य गणितज्ञ ज्योतिषियों और इतिहासलेखकों ने उसका प्रारंभ महाभारत युद्ध के ६३५ वर्ष पूर्व माना। स्पष्ट ही परंपराओं में भेद है। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो कलियुग का प्रारंभ मनुवैवस्वत के युग से मानते हैं। लेकिन साधारण विश्वास यही है कि महाभारत युद्ध के अंत तथा कृष्ण की मृत्यु और पांडवों के हिमगलन के साथ ही कलि-

युग का प्रारंभ हुआ और परीक्षित इस युग के सबसे पहले राजा थे। पुराण ग्रंथ भी भविष्य के कलियुगी राजाओं का वर्णन वहीं से शुरू करते हैं। परंतु उसके प्रारंभ की ठीक ठीक तिथि निश्चित करने में निर्णय संबंधी अनेक भेद इसलिये होंगे ही कि महाभारत युद्ध का काल ही अभी निश्चित नहीं। उसका समय अनेकानेक विद्वानों द्वारा अलग अलग निश्चित किया गया है। कलियुग की अवधि ४,३२,००० वर्ष मानी जाती है।

(वि० पा०)

कलिल के लिये अँग्रेजी में कॉलायड (colloid) शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द ग्रीक भाषा के कोला शब्द से बना है. जिसका अर्थ सरेस होता है। सन् १८६१ ई० में एक अँग्रेज वैज्ञानिक, टामस ग्राहम, ने देखा कि ऐल्ब्यूमिन, सरेस, गोंद, माँड़, सिलिसिक अम्ल और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ जल में घोले जाने पर जैव झिल्ली के छिद्रों से छनकर नहीं निकल पाते। इसके विपरीत शर्करा, यूरिया; सोडियम क्लोराइड इत्यादि के जलविलयन जैव झिल्ली के छिद्रों से निकल जाते हैं। पूर्व प्रकार के पदार्थ अधिकांश में अमणिभीय रूप में मिलते हैं और दूसरे प्रकार के पदार्थ साधारणतः मणिभीय रूप में पाए जाते हैं। इस गुण के आधार पर जल में विलेय पदार्थों का दो वर्गों में विभाजन किया गया: एक वे पदार्थ, जो मणिभीय थे और जल में विलयन के पश्चात् जैव झिल्ली के छिद्रों से बहिर्गत हो सकते थे, क्रिस्टलॉयड (crystalloid) कहलाए, और दूसरे वे, जो अमणिभीय थे और जल में घोलने पर जैव झिल्ली के छिद्रों से निकलने में समर्थ नहीं हो सकते थे, कलिल कहलाए। किंतु अब यह सिद्ध हो गया है कि शर्करा और सोडियम क्लोराइड आदि मणिभीय पदार्थ भी उपयुक्त माध्यम में कलिल के रूप में प्राप्त किए जा सकते हैं।

कलिलावस्था में कलिल कण एक अविच्छिन्न माध्यम में बिखरे रहते हैं। इस प्रकार कलिलों में दो संघटक रहते हैं। नीचे की सूची में पहला नाम माध्यम का और दूसरा नाम वितरित पदार्थ का है:

(१) ठोस + ठोस (माणिक के रंग का काँच, कुछ मिश्र धातुएँ)
(२) ठोस + द्रव (जेली)
(३) ठोस + गैस (ठोस फेन)
(४) द्रव + ठोस (आलंबन या suspension)
(५) द्रव + द्रव (पायस)
(६) द्रव + गैस (फेन, झाग)
(७) गैस + ठोस (धुआँ, अंतरिक्ष धूलि)
(८) गैस + द्रव (कुहरा, बादल)

कलिलकणों का आकार विशेष महत्वपूर्ण है। आकार में कलिलकण अणुओं से बड़े होते हैं, किंतु ऐसे सभी कणों से, जो सूक्ष्मदर्शी से देखे जा सकते हैं, ये आकार में छोटे रहते हैं। इनका विस्तार $१०^{-५}$ सें० मी० से $१०^{-७}$ सें० मी० तक होता है।

यद्यपि ऊपर दी गई सूची के प्रत्येक मेल के कलिल प्राप्त किए जा सकते हैं, फिर भी (४) और (५) प्रकार के कलिल अधिक प्रयुक्त होते हैं और इन्हीं का अध्ययन भी अधिक विस्तारपूर्वक किया गया है। जल के माध्यम में वितरित ठोस या द्रव के कलिल को सौल (Sol) कहा जाता है। कार्बनिक और अकार्बनिक दोनों प्रकार के पदार्थ अनेक रूपों में कलिलवस्था में पाए जाते हैं। वैज्ञानिक या प्राविधिक, कदाचित् ही कोई ऐसी शाखा हो जिसमें कलिलों का महत्वपूर्ण उपयोग न होता हो। अपनी इसीमहत्ता के कारण कलिल विज्ञान का विकास विशेष रूप से होता गया है।

कलिलों का वर्गीकरण—*कलिलों के गुणों में भेद होने की दृष्टि से* उन्हें दो प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया है। पहले वर्ग में धात्वीय प्रकार के कलिल, जैसे स्वर्ण कलिल आदि, हैं और दूसरे वर्ग में प्रोटीन प्रकार के कलिल हैं, जैसे जिलेटीन आदि। इनके विशेष गुण निम्नलिखित हैं:

	धात्वीय प्रकार के कलिल	प्रोटीन प्रकार के कलिल
(१)	अप्राकृतिक अकार्बनिक कलिल।	प्राकृतिक कलिल।
(२)	सांद्रण, साधारणतः तनु।	सांद्रण बढ़ाना संभव है।
(३)	अस्थिर और विद्युद्विश्लेष्यों के प्रति संवेदनशील।	विद्युद्विश्लेष्यों के अधिक सांद्रण से अवक्षिप्त किए जा सकते हैं।
(४)	अवक्षेपण पर रूक्ष कणों का निर्माण होता है।	जेली के रूप में अवक्षेपण होता है।
(५)	अवक्षिप्त पदार्थ को पुनः कलिल में परिवर्तित करना असंभव।	अवक्षिप्त पदार्थ को पुनः कलिल रूप देना संभव।
(६)	कलिल माध्यम के प्रति विशेष बंधुता नहीं दिखाता। इससे फूलता नहीं।	कलिल माध्यम के प्रति विशेष बंधुता दिखाता है और फूल जाता है।
(७)	श्यानता लगभग वही होती है जो साधारणतः माध्यम की होती है।	श्यानता माध्यम से अधिक होती है।
(८)	तीव्र प्रकाशकिरण के प्रभाव से उच्च टिंडल प्रभाव दिखाता है।	तीव्र प्रकाशकिरण के प्रभाव से विशेष टिंडल प्रभाव नहीं दिखाता।

इन दोनों प्रकार के कलिलों के लिये जिन शब्दों का विशेष प्रयोग होता है वे हैं जलसंत्रासी (hydrophobic) और जलप्रेमी (hydrophilic)। इन्हें अँग्रेजी में क्रमानुसार लायोफ़ोबिक (lyophobic) और लायोफ़िलिक (lyophilic) भी कहा जाता है। यह वर्गीकरण पूर्णरूपेण संतोषजनक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कतिपय कलिलों के कुछ गुण दोनों चरम वर्गों के अपेक्षित गुणों के मध्यवर्ती होते हैं। इस प्रकार के जलकलिलों में कुछ धात्वीय आक्साइडें या हाइड्रॉक्साइडें, कुछ अविलेय फ़ास्फ़ेट, मॉलिब्डेट, टंग्स्टेट इत्यादि हैं। कुछ लोग कलिलों को आलंबाभ और पायसाभ के दो वर्गों में विभाजित करते हैं। इनके अतिरिक्त कलिलों का एक तीसरा वर्ग भी है जो अब विशेष महत्वपूर्ण हो गया है। यह वर्ग कलिलीय विद्युद्विश्लेष्य कहलाता है। साबुन का जलकलिल इसका लाक्षणिक उदाहरण है। इन जलकलिलों में विद्युच्चालकता भी होती है। परिष्कारकों के रूप में अब इनका अधिक उपयोग होने लगा है।

ब्राउनीय गति—कलिलों में अतिसूक्ष्मदर्शी (ultra-microscope) की सहायता से ब्राउनीय गति को देखा जा सकता है। विलयनों में यह क्रिया नहीं होती। जब एक तीव्र किरणावली केंद्रित करके जलकलिल के मध्य से भेजी जाती है तब किरणपथ दुग्धाभ हो जाता है और बहिर्गत किरणें ध्रुवत्व प्राप्त कर लेती हैं। इसके कारण हैं कलिलकणों के आकार और प्रकाश के तरंगदैर्घ्य में समानता तथा वितरित पदार्थ के वर्तनांक और प्रकाश के तरंगदैर्घ्य में समानता तथा वितरित पदार्थ के वर्तनांक का अविच्छिन्न माध्यम के वर्तनांक से अधिक होना। शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी की सहायता से टिंडल के प्रभाव द्वारा कलिलकणों को देखा जा सकता है।

इस प्रकार देखे जाने पर कलिलकण प्रकाशित तारों की भाँति दिखाई पड़ते हैं। साथ ही इनकी गति तीव्र, अनियमित और निरंतर होती है। इस गति को ही ब्राउनियन गति कहते हैं। इसी गति से पदार्थों के गत्यात्मकता-सिद्धांत के विचारों की प्रायोगिक पुष्टि हुई है। आवोगाड्रो नियतांक को इस सिद्धांत के अनुसार निकालने पर यह सिद्ध हो गया है कि प्रायोगिक त्रुटि का विचार करके इस विधि से निकाले गए आवोगाड्रो-नियतांक के मान अन्य विधियों के निकाले गए इस नियतांक के मान से साम्य रखते हैं। पेरिन ने मैस्टिक गोंद के कलिल पर परीक्षा करके आवोगाड्रो नियतांक का मान $६.५१०^{२} \times ^{३}$ निकाला है। प्रयोग में उपयुक्त मैस्टिक गोंद के कलिलकणों का अर्धव्यास ६.५×१०^{-४} था।

कलिल-निर्माण-विधियाँ—अनेक प्राविधिक विधियों के लिये कलिल निर्मित करना आवश्यक है। जलसंत्रासी कलिल ही सरलता से बनाए जा सकते हैं, क्योंकि जलप्रेमी कलिल उत्क्रमणीय हैं। जलसंत्रासी कलिलों के निर्माण के लिये कई विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। इन विधियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) एकीकरण और (२) विघटन। पहली विधि में आणवीय आकार के कणों को धीरे धीरे तब तक बढ़ाया जाता है जब तक वे कलिलों का आकार नहीं प्राप्त कर लेते और उनके अधिक बढ़ने की गति किसी स्थायित्व प्रदान करनेवाले पदार्थ की उप-

स्थिति से, अथवा किसी जलप्रेमी कलिल के मिला देने से, नियंत्रित कर दी जाती है। इस विधि से कई धातुएँ, हाइड्राक्साइडें, अविलेय लवण तथा फोटोग्राफी में काम आनेवाली रजत हैलाइडें कलिलावस्था में निर्मित की गई हैं। दूसरी विधि से बड़े बड़े कणों को छोटे छोटे कणों में विभाजित किया जाता है। ब्रेडिग विधि में धातुओं के बड़े टुकड़ों को विद्युत् आर्क की सहायता से तोड़कर धात्वीय कलिल प्राप्त किए जाते हैं। इस कारण इस विधि को विघटन की विधि कहा जाता है, किंतु वास्तव में ये कलिल भी एकीकरण की विधि से ही बनते हैं। आर्क के उच्च ताप पर धातु वाष्पीकृत हो जाती है। फिर वाष्प के अति सूक्ष्म कण एकीकृत होकर कलिलकणों का आकार प्राप्त कर लेते हैं। वास्तव में विभाजन द्वारा कलिल बनाने का प्रमुख साधन कलिल-मिल है। इस यंत्र में दो प्लेटें, जो एक दूसरे के अत्यंत समीप रहती हैं, परस्पर विपरीत दिशा में घूमती हैं। वितरित किया जानेवाला पदार्थ उचित माध्यम के साथ इन दोनों प्लेटों के बीच से भेजा जाता है। इस प्रकार कण छोटे होकर कलिल कणों का आकार ग्रहण कर लेते हैं।

दोनों में से किसी भी विधि से निर्मित कलिलों के शोधन के लिये उन्हें मणिभाभ पदार्थ से अपोहन (डायालिसिस, dialysis) द्वारा पृथक् क्रिया जाता है। ऐसा करने के लिये कलिल को पार्चमेंट या सेलोफ़ेन के झोले में रखा जाता है। इस झोले को अब शुद्ध विलायक में रख दिया जाता है। यह विलायक ही कलिल का माध्यम होता है। वैद्युत अपोहन से शोधन अधिक पूर्ण और शीघ्र संपन्न किया जा सकता है।

कलिलों का स्थायित्व (Stability)—जलप्रेमी कलिल अत्यंत स्थायी होते हैं और विद्युद्विश्लेप्य की लघुमात्राओं के प्रति निष्क्रिय होते हैं। इनका स्थायित्व उनकी माध्यम में विलेयता के कारण होता है। इन कलिलकणों का वाह्य तल माध्यम के अणुओं से ढका रहता है। इस प्रकार वाह्यतल की मुक्त ऊर्जा नगण्य रहती है। इससे ये कण आकार में बढ़ने में असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह देखा गया है कि जलप्रेमी कलिल माध्यम का अंतरतलीय तनाव कम कर देते हैं। इस प्रभाव से भी कलिलों का स्थायित्व नियंत्रित रहता है।

जलसंत्रासी कलिलों का स्थायित्व कलिलकणों पर स्थित आवेश के कारण होता है। कलिलकणों के वाह्य तल पर आवेश का सृजन उनके द्वारा अवशोषित आयनों के कारण होता है। किसी विद्युद्विश्लेप्य के मिलाने पर कलिलकणों के तल पर का आवेश क्षीण हो जाता है और धीरे धीरे ऐसी स्थिति आ जाती है जब विद्युद्विश्लेप्य की निम्नतम सांद्रता पर कलिलकणों का तल एकीकरण की शक्तियों का विरोध कर पाने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार विद्युद्विश्लेप्य का वह निम्नतम सांद्रण, जो किसी कलिल की एक निश्चित मात्रा के अवक्षेपण में समर्थ होता है, कलिल का अवक्षेपण मान कहा जाता है। साधारणतः विद्युद्विश्लेप्य के उस आयन की संयोजकता, जो कलिलकण के आवेश के विपरीत हो, जितनी ही अधिक होती है, विद्युद्विश्लेप्य की अवक्षेपण शक्ति भी उतनी ही अधिक प्रवल होती है।

जलसंत्रासी कलिलों को विद्युद्विश्लेप्यों से सुरक्षित रखने के लिये उनमें जलप्रेमी कलिल मिला दिए जाते हैं। इस विधि को संरक्षण विधि कहते हैं। स्वर्णकलिल को जिलेटिन की सूक्ष्म मात्रा से अवक्षिप्त किया जा सकता है किंतु इस प्रोटीन की अधिक मात्रा इस कलिल को स्थायित्व प्रदान करती है।

जिगमोंडी के अनुसार किसी कलिल संरक्षक का स्वर्णमान कलिल संरक्षक के मिलीग्रामों की वह संख्या है जिसकी उपस्थिति में स्वर्ण के १० घन सेंटीमीटर प्रामाणिक कलिल को सोडियम क्लोराइड के ऐसे १ घन सें० मी० विलयन द्वारा, जिसका सांद्रण १० प्रतिशत हो, अवक्षिप्त किया जा सके। कलिल का संरक्षण विशेष महत्व रखता है और अत्यंत प्राचीन समय से इसका व्यवहार होता रहा है।

कलिलों का वैद्युत गुण—यह पहले ही कहा जा चुका है कि कलिल कणों पर आवेश रहता है। कलिल पर आवेश का प्रकार ज्ञात करने के लिये सरल अवशोषण प्रयोग किए जा सकते हैं। धनात्मक कलिल सिलिका जेली द्वारा और ऋणात्मक कलिल ऐल्यूमीनियम हाइड्राक्साइड द्वारा अवशोषित कर लिए जाते हैं। जलसंत्रासी कलिल के स्थायित्व के लिये आवेश का स्थान प्रमुख है। आवेश का प्रकार पदार्थ के भौतिक स्वभाव पर और कलिल को स्थायित्व प्रदान करनेवाले विद्युद्विश्लेप्य पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ यदि रजत आयोडाइड के सॉल को लें तो उसपर आवेश का प्रकार धनात्मक या ऋणात्मक दोनों ही हो सकता है। यदि कलिल मे रजत नाइट्रेट का सूक्ष्म आधिक्य हुआ तो सॉल धनात्मक होगा। इसके विपरीत यदि पोटैसियम आयोडाइड का आधिक्य हुआ तो सॉल ऋणात्मक हो जायगा। यह देखा गया है कि धनात्मक रजत आयन के अधिमान्य अधिशोषण के कारण रजत आयोडाइड कलिल का आवेश धनात्मक और आयोडाइड के ऋणात्मक आयन के अधिशोषण के कारण इस कलिल का आवेश ऋणात्मक हो जाता है।

कलिलीय तल पर आवेश की मात्रा और विभव धन-विद्युत्-संचारण (कैटाफ़ोरेसिस, cataphoresis) द्वारा परिमापित किए जाते हैं। सॉल को यू नली मे भरा जाता है जिसमे दो प्लैटिनम के विद्युदग्र रहते हैं। अब सॉल में दिष्ट विद्युद्धारा प्रवाहित की जाती है। यदि कण धनाग्र की ओर बढ़ते हैं तो उनपर ऋणात्मक विद्युत् आवेश रहता है और यदि वे ऋणाग्र की ओर बढ़ते हैं तो उनपर धनात्मक आवेश रहता है। विद्युत् क्षेत्र में कणों की इस प्रकार की गति धन-विद्युत्-संचारण कहलाती है। यह गति उपयुक्त प्रकाशीय विधियों द्वारा सुविधापूर्वक मापी जा सकती है। वेग के मापन द्वारा विद्युद्विभव की गणना की जा सकती है। इस विभव को साधारणतः वैद्युत-गत्यात्मक-विभव कहा जाता है। यह विद्युत्-गत्यात्मक विभव उस समय भी देखा जाता है जब विद्युद्विश्लेपीय विलयन को किसी सरध्र तनुपट से होकर भेजा जाता है। दो अन्य संबंधित क्रियाओं पर भी अनुसंधान किए गए हैं। ये हैं धाराविभव और अवक्षेपण विभव।

वैद्युतिक गत्यात्मक विभव नर्न्स्ट विद्युत रासायनिक विभव से भिन्न है। अब सिद्ध हो गया है कि वैद्युतिक रासायनिक विभव वह विभव है जो वितरित कला (फ़ेज़) और वितरण माध्यम के मुख्य आयतन के बीच होता है। वैद्युतिक-गत्यात्मक विभव वह विभव है जो उस वितरित कला से संलग्न द्विक तल के स्थिर भाग और वितरण माध्यम के मुख्य आयतन के बीच होता है। वितरित कला से संलग्न द्विकतल का वास्तविक स्वभाव अब भी कल्पना का विषय है। फिर भी यह ज्ञात कर लिया गया है कि वैद्युत-गत्यात्मक-विभव उपस्थित आयनों से विशेष प्रभावित होता है।

कलिलों की रसाकर्षण दाव (ऑस्मॉटिक प्रेशर, osmotic pressure)—गैस के नियम कलिल विलयनों पर ठीक बैठते हैं, इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। किसी कलिल की रसाकर्षण दाव की गणना नीचे लिखे समीकरण द्वारा की जा सकती है :

$$\text{दा} = \text{र ता}\frac{\text{मा}}{\text{नि}}\left[P = RT\frac{n}{N}\right]$$

जहाँ मा (n) वितरित पदार्थों की प्रति एकक आयतन में मात्रा तथा नि (N) आवोग्रैड्रो नियतांक है। अब चूँकि मा (n) कण के आकार का प्रतिलोमानुपाती होता है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिल की रसाकर्षण दाव कम होनी चाहिए और वितरण की मात्रा के आधिक्य के साथ इनकी मात्रा भी बढ़नी चाहिए। इस प्रकार साधारणतः सॉलों की रसाकर्षण दाव कम ही होती है और जब रसाकर्षण दाव अधिक हो जाती है तो वह मुख्यतः अशुद्धियों के कारण ही होती है।

रसाकर्षण दाव का मापन अर्धपारगम्य झिल्ली की सहायता से किया जाता है। विद्युद्विश्लेपण के असमान वितरण से कुछ कलिलों में डोनन-संतुलन नामक क्रिया के कारण जटिलता उत्पन्न होती है। इस तनुपट संतुलन की क्रिया का अध्ययन कांगो रेड नामक रंग, साबुन तथा अन्य कई कलिलीय विद्युद्विश्लेप्यों पर किया गया है। इन स्थितियों में कलिलीय पदार्थ विद्युद्विश्लेप्य के समान व्यवहार करता है। जब किसी आयन का आकार कलिलकणों के आकार के समान होता है तब तनुपट (membrane) के दोनों ओर विभव का सृजन होता है, जिसे तनुपट विभव कहते हैं। कई प्रोटीन सॉलों में तनुपट-विभव सदैव ही उत्पन्न हो जाता है और जीवित सेलों पर आवेश इस तनुपट संतुलन के कारण ही होता है।

युग का प्रारंभ हुआ और परीक्षित इस युग के सबसे पहले राजा थे। पुराण ग्रंथ भी भविष्य के कलियुगी राजाओं का वर्णन वहीं से शुरू करते हैं। परंतु उसके प्रारंभ की ठीक ठीक तिथि निश्चित करने में निर्णय संबंधी अनेक भेद इसलिये होंगे ही कि महाभारत युद्ध का काल ही अभी निश्चित नहीं। उसका समय अनेकानेक विद्वानों द्वारा अलग अलग निश्चित किया गया है। कलियुग की अवधि ४,३२,००० वर्ष मानी जाती है।

(वि० पा०)

कलिल के लिये अंग्रेजी में कॉलायड (colloid) शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द ग्रीक भाषा के कोला शब्द से बना है. जिसका अर्थ सरेस होता है। सन् १८६१ ई० में एक अंग्रेज वैज्ञानिक, टामस ग्राहम, ने देखा कि ऐल्ब्यूमिन, सरेस, गोंद, माँड़, सिलिसिक अम्ल और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ जल में घोले जाने पर जैव झिल्ली के छिद्रों से छनकर नहीं निकल पाते। इसके विपरीत शर्करा, यूरिया; सोडियम क्लोराइड इत्यादि के जलविलयन जैव झिल्ली के छिद्रों से निकल जाते हैं। पूर्व प्रकार के पदार्थ अधिकांश में अमणिभीय रूप में मिलते हैं और दूसरे प्रकार के पदार्थ साधारणतः मणिभीय रूप में पाए जाते हैं। इस गुण के आधार पर जल में विलेय पदार्थो का दो वर्गों में विभाजन किया गया: एक वे पदार्थ, जो मणिभीय थे और जल में विलयन के पश्चात् जैव झिल्ली के छिद्रों से वहिर्गत हो सकते थे, क्रिस्टलॉयड (crystalloid) कहलाए, और दूसरे वे, जो अमणिभीय थे और जल में घोलने पर जैव झिल्ली के छिद्रों से निकलने में समर्थ नहीं हो सकते थे, कलिल कहलाए। किंतु अब यह सिद्ध हो गया है कि शर्करा और सोडियम क्लोराइड आदि मणिभीय पदार्थ भी उपयुक्त माध्यम में कलिल के रूप में प्राप्त किए जा सकते हैं।

कलिलावस्था में कलिल कण एक अविच्छिन्न माध्यम में विखरे रहते हैं। इस प्रकार कलिलों में दो संघटक रहते हैं। नीचे की सूची में पहला नाम माध्यम का और दूसरा नाम वितरित पदार्थ का है:

(१) ठोस + ठोस (माणिक के रंग का काँच, कुछ मिश्र धातुएँ)
(२) ठोस + द्रव (जेली)
(३) ठोस + गैस (ठोस फेन)
(४) द्रव + ठोस (आलंबन या suspension)
(५) द्रव + द्रव (पायस)
(६) द्रव + गैस (फेन, झाग)
(७) गैस + ठोस (धुआँ, अंतरिक्ष धूलि)
(८) गैस + द्रव (कुहरा, बादल)

कलिलकणों का आकार विशेष महत्वपूर्ण है। आकार में कलिलकण अणुओं से बड़े होते हैं, किंतु ऐसे सभी कणों से, जो सूक्ष्मदर्शी से देखे जा सकते हैं, ये आकार में छोटे रहते हैं। इनका विस्तार १०$^{-५}$ सें० मी० से १०$^{-७}$ सें० मी० तक होता है।

यद्यपि ऊपर दी गई सूची के प्रत्येक मेल के कलिल प्राप्त किए जा सकते हैं, फिर भी (४) और (५) प्रकार के कलिल अधिक प्रयुक्त होते हैं और इन्हीं का अध्ययन भी अधिक विस्तारपूर्वक किया गया है। जल के माध्यम में वितरित ठोस या द्रव के कलिल को सौल (Sol) कहा जाता है। कार्वनिक और अकार्वनिक दोनों प्रकार के पदार्थ अनेक रूपों में कलिलवस्था में पाए जाते हैं। वैज्ञानिक या प्राविधिक, कदाचित् ही कोई ऐसी शाखा हो जिसमें कलिलों का महत्वपूर्ण उपयोग न होता हो। अपनी इसीमहत्ता के कारण कलिल विज्ञान का विकास विशेष रूप से होता गया है।

कलिलों का वर्गीकरण—कलिलों के गुणों में भेद होने की दृष्टि से उन्हें दो प्रधान वर्गो में विभाजित किया गया है। पहले वर्ग में धात्वीय प्रकार के कलिल, जैसे स्वर्ण कलिल आदि, हैं और दूसरे वर्ग में प्रोटीन प्रकार के कलिल हैं, जैसे जिलेटीन आदि। इनके विशेष गुण निम्नलिखित हैं:

धात्वीय प्रकार के कलिल	प्रोटीन प्रकार के कलिल
(१) अप्राकृतिक अकार्वनिक कलिल।	प्राकृतिक कलिल।
(२) सांद्रण, साधारणतः तनु।	सांद्रण बढ़ाना संभव है।
(३) अस्थिर और विद्युद्विश्लेष्यों के प्रति संवेदनशील।	विद्युद्विश्लेष्यों के अधिक सांद्रण से अवक्षिप्त किए जा सकते हैं।
(४) अवक्षेपण पर रूक्ष कणों का निर्माण होता है।	जेली के रूप में अवक्षेपण होता है।
(५) अवक्षिप्त पदार्थ को पुनः कलिल में परिवर्तित करना असंभव।	अवक्षिप्त पदार्थ को पुनः कलिल रूप देना संभव।
(६) कलिल माध्यम के प्रति विशेष बंधुता नहीं दिखाता। इससे फूलता नहीं।	कलिल माध्यम के प्रति विशेष बंधुता दिखाता है और फूल जाता है।
(७) श्यानता लगभग वही होती है जो साधारणतः माध्यम की होती है।	श्यानता माध्यम से अधिक होती है।
(८) तीव्र प्रकाशकिरण के प्रभाव से उच्च टिंडल प्रभाव दिखाता है।	तीव्र प्रकाशकिरण के प्रभाव से विशेष टिंडल प्रभाव नहीं दिखाता।

इन दोनों प्रकार के कलिलों के लिये जिन शब्दों का विशेष प्रयोग होता है वे हैं जलसंत्रासी (hydrophobic) और जलप्रेमी (hydrophilic)। इन्हें अँग्रेजी में क्रमानुसार लायोफ़ोबिक (lyophobic) और लायोफ़िलिक (lyophilic) भी कहा जाता है। यह वर्गीकरण पूर्णरूपेण संतोषजनक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कतिपय कलिलों के कुछ गुण दोनों चरम वर्गों के अपेक्षित गुणों के मध्यवर्ती होते हैं। इस प्रकार के जलकलिलों में कुछ धात्वीय आक्साइडें या हाइड्रॉक्साइडें, कुछ अविलेय फ़ास्फ़ेट, मॉलिब्डेट, टंग्स्टेट इत्यादि हैं। कुछ लोग कलिलों को आलंबाभ और पायसाभ के दो वर्गों में विभाजित करते हैं। इनके अतिरिक्त कलिलों का एक तीसरा वर्ग भी है जो अब विशेष महत्वपूर्ण हो गया है। यह वर्ग कलिलीय विद्युद्विश्लेष्य कहलाता है। साबुन का जलकलिल इसका लाक्षणिक उदाहरण है। इन जलकलिलों में विद्युच्चालकता भी होती है। परिष्कारकों के रूप में अब इनका अधिक उपयोग होने लगा है।

ब्राउनीय गति—कलिलों में अतिसूक्ष्मदर्शी (ultra-microscope) की सहायता से ब्राउनीय गति को देखा जा सकता है। विलयनों में यह क्रिया नहीं होती। जब एक तीव्र किरणावली केंद्रित करके जलकलिल के मध्य से भेजी जाती है तब किरणपथ दुग्धाभ हो जाता है और वहिर्गत किरणें ध्रुवत्व प्राप्त कर लेती हैं। इसके कारण हैं कलिलकणों के आकार और प्रकाश के तरंगदैर्ध्य में समानता तथा वितरित पदार्थ के वर्तनांक और प्रकाश के तरंगदैर्ध्य में समानता तथा वितरित पदार्थ के वर्तनांक का अविच्छिन्न माध्यम के वर्तनांक से अधिक होना। शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी की सहायता से टिंडल के प्रभाव द्वारा कलिलकणों को देखा जा सकता है।

इस प्रकार देखे जाने पर कलिलकण प्रकाशित तारों की भाँति दिखाई पड़ते हैं। साथ ही इनकी गति तीव्र, अनियमित और निरंतर होती है। इस गति को ही ब्राउनियन गति कहते हैं। इसी गति से पदार्थों के गत्यात्मकता-सिद्धांत के विचारों की प्रायोगिक पुष्टि हुई है। आवोगाड्रो नियतांक को इस सिद्धांत के अनुसार निकालने पर यह सिद्ध हो गया है कि प्रायोगिक त्रुटि का विचार करके इस विधि से निकाले गए आवोगाड्रो-नियतांक के मान अन्य विधियों के निकाले गए इस नियतांक के मान से साम्य रखते हैं। पेरिन ने मैस्टिक गोंद के कलिल पर परीक्षा करके आवोगाड्रो नियतांक का मान ६.५१०^{२} × ^{३} निकाला है। प्रयोग में उपयुक्त मैस्टिक गोंद के कलिलकणों का अर्धव्यास ६.५ × १०$^{-४}$ था।

कलिल-निर्माण-विधियाँ—अनेक प्राविधिक विधियों के लिये कलिल निर्मित करना आवश्यक है। जलसंत्रासी कलिल ही सरलता से बनाए जा सकते हैं, क्योंकि जलप्रेमी कलिल उत्क्रमणीय हैं। जलसंत्रासी कलिलों के निर्माण के लिये कई विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। इन विधियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) एकीकरण और (२) विघटन। पहली विधि में आणवीय आकार के कणों को धीरे धीरे तब तक बढ़ाया जाता है जब तक वे कलिलों का आकार नहीं प्राप्त कर लेते और उनके अधिक बढ़ने की गति किसी स्थायित्व प्रदान करनेवाले पदार्थ की उप-

स्थिति से, अथवा किसी जलप्रेमी कलिल के मिला देने से, नियंत्रित कर दी जाती है। इस विधि से कई धातुएँ, हाइड्राक्साइडे, अविलेय लवण तथा फोटोग्राफी में काम आनेवाली रजत हैलाइडे कलिलावस्था में निर्मित की गई हैं। दूसरी विधि से बड़े बड़े कणों को छोटे छोटे कणों में विभाजित किया जाता है। ब्रेडिग विधि में धातुओं के बड़े टुकड़ों को विद्युत् आर्क की सहायता से तोड़कर धात्वीय कलिल प्राप्त किए जाते हैं। इस कारण इस विधि को विघटन की विधि कहा जाता है, किंतु वास्तव में ये कलिल भी एकीकरण की विधि से ही बनते हैं। आर्क के उच्च ताप पर धातु वाष्पीकृत हो जाती है। फिर वाष्प के अति सूक्ष्म कण एकीकृत होकर कलिलकणों का आकार प्राप्त कर लेते हैं। वास्तव में विभाजन द्वारा कलिल बनाने का प्रमुख साधन कलिल-मिल है। इस यंत्र में दो प्लेटें, जो एक दूसरे के अत्यंत समीप रहती है, परस्पर विपरीत दिशा में घूमती हैं। वितरित किया जानेवाला पदार्थ उचित माध्यम के साथ इन दोनों प्लेटों के बीच से भेजा जाता है। इस प्रकार कण छोटे होकर कलिल कणों का आकार ग्रहण कर लेते हैं।

दोनों में से किसी भी विधि से निर्मित कलिलों के शोधन के लिये उन्हें मणिभाभ पदार्थ से अपोहन (डायालिसिस, dialysis) द्वारा पृथक् किया जाता है। ऐसा करने के लिये कलिल को पार्चमेंट या सेलोफ़ेन के झोले में रखा जाता है। इस झोले को अब शुद्ध विलायक में रख दिया जाता है। यह विलायक ही कलिल का माध्यम होता है। वैद्युत अपोहन से शोधन अधिक पूर्ण और शीघ्र संपन्न किया जा सकता है।

कलिलों का स्थायित्व (Stability)—जलप्रेमी कलिल अत्यंत स्थायी होते हैं और विद्युद्विश्लेष्य की लघुमात्राओं के प्रति निष्क्रिय होते हैं। इनका स्थायित्व उनकी माध्यम में विलेयता के कारण होता है। इन कलिलकणों का बाह्य तल माध्यम के अणुओं से ढका रहता है। इस प्रकार बाह्यतल की मुक्त ऊर्जा नगण्य रहती हैं। इससे ये कण आकार में बढ़ने में असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह देखा गया है कि जल-प्रेमी कलिल माध्यम का अंतरतलीय तनाव कम कर देते हैं। इस प्रभाव से भी कलिलों का स्थायित्व नियंत्रित रहता है।

जलसंत्रासी कलिलों का स्थायित्व कलिलकणों पर स्थित आवेश के कारण होता है। कलिलकणों के बाह्य तल पर आवेश का सृजन उनके द्वारा अवशोषित आयनों के कारण होता है। किसी विद्युद्विश्लेष्य के मिलाने पर कलिलकणों के तल पर का आवेश क्षीण हो जाता है और धीरे धीरे ऐसी स्थिति आ जाती है जब विद्युद्विश्लेष्य की निम्नतम सांद्रता पर कलिलकणों का तल एकीकरण की शक्तियों का विरोध कर पाने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार विद्युद्विश्लेष्य का वह निम्नतम सांद्रण, जो किसी कलिल की एक निश्चित मात्रा के अवक्षेपण में समर्थ होता है, कलिल का अवक्षेपण मान कहा जाता है। साधारणतः विद्युद्विश्लेष्य के उस आयन की संयोजकता, जो कलिलकण के आवेश के विपरीत हो, जितनी ही अधिक होती है, विद्युद्विश्लेष्य की अवक्षेपण शक्ति भी उतनी ही अधिक प्रबल होती है।

जलसंत्रासी कलिलों को विद्युद्विश्लेष्यों से सुरक्षित रखने के लिये उनमें जलप्रेमी कलिल मिला दिए जाते हैं। इस विधि को संरक्षण विधि कहते हैं। स्वर्णकलिल को जिलेटिन की सूक्ष्म मात्रा से अवक्षिप्त किया जा सकता है किंतु इस प्रोटीन की अधिक मात्रा इस कलिल को स्थायित्व प्रदान करती है।

जिगमोंडी के अनुसार किसी कलिल संरक्षक का स्वर्णमान कलिल संरक्षक के मिलीग्रामों की वह संख्या है जिसकी उपस्थिति में स्वर्ण के १० घन सेंटीमीटर प्रामाणिक कलिल को सोडियम क्लोराइड के ऐसे १ घन सें० मी० विलयन द्वारा, जिसका सांद्रण १० प्रतिशत हो, अवक्षिप्त किया जा सके। कलिल का संरक्षण विशेष महत्व रखता है और अत्यंत प्राचीन समय से इसका व्यवहार होता रहा है।

कलिलों का वैद्युत गुण—यह पहले ही कहा जा चुका है कि कलिल कणों पर आवेश रहता है। कलिल पर आवेश का प्रकार ज्ञात करने के लिये सरल अवशोषण प्रयोग किए जा सकते हैं। धनात्मक कलिल सिलिका जेली द्वारा और ऋणात्मक कलिल ऐल्यूमीनियम हाइड्राक्साइड द्वारा अवशोषित कर लिए जाते हैं। जलसंत्रासी कलिल के स्थायित्व के लिये आवेश का स्थान प्रमुख है। आवेश का प्रकार पदार्थ के भौतिक स्वभाव पर और कलिल को स्थायित्व प्रदान करनेवाले विद्युद्विश्लेष्य पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ यदि रजत आयोडाइड के सॉल को लें तो उसपर आवेश का प्रकार धनात्मक या ऋणात्मक दोनों ही हो सकता है। यदि कलिल में रजत नाइट्रेट का सूक्ष्म आधिक्य हुआ तो सॉल धनात्मक होगा। इसके विपरीत यदि पोटैसियम आयोडाइड का आधिक्य हुआ तो सॉल ऋणात्मक हो जायगा। यह देखा गया है कि धनात्मक रजत आयन के अधिमान्य अधिशोषण के कारण रजत आयोडाइड कलिल का आवेश धनात्मक और आयोडाइड के ऋणात्मक आयन के अधिशोषण के कारण इस कलिल का आवेश ऋणात्मक हो जाता है।

कलिलीय तल पर आवेश की मात्रा और विभव धन-विद्युत्-संचारण (कैटाफ़ोरेसिस, cataphoresis) द्वारा परिमापित किए जाते हैं। सॉल को यू नली में भरा जाता है जिसमें दो प्लैटिनम के विद्युदग्र रहते हैं। अब सॉल में दिष्ट विद्युद्धारा प्रवाहित की जाती है। यदि कण धनाग्र की ओर बढ़ते हैं तो उनपर ऋणात्मक विद्युत् आवेश रहता है और यदि वे ऋणाग्र की ओर बढ़ते हैं तो उनपर धनात्मक आवेश रहता है। विद्युत् क्षेत्र में कणों की इस प्रकार की गति धन-विद्युत्-संचारण कहलाती है। यह गति उपयुक्त प्रकाशीय विधियों द्वारा सुविधापूर्वक मापी जा सकती है। वेग के मापन द्वारा विद्युद्विभव की गणना की जा सकती है। इस विभव को साधारणतः वैद्युत-गत्यात्मक-विभव कहा जाता है। यह विद्युत्-गत्यात्मक विभव उस समय भी देखा जाता है जब विद्युद्विश्लेपीय विलयन को किसी सरंध्र तनुपट से होकर भेजा जाता है। दो अन्य संबंधित क्रियाओं पर भी अनुसंधान किए गए हैं। ये हैं धाराविभव और अवक्षेपण विभव।

वैद्युतिक गत्यात्मक विभव नर्न्स्ट विद्युत रासायनिक विभव से भिन्न है। अब सिद्ध हो गया है कि वैद्युतिक रासायनिक विभव वह विभव है जो वितरित कला (फ़ेज) और वितरण माध्यम के मुख्य आयतन के बीच होता है। वैद्युतिक-गत्यात्मक विभव वह विभव है जो उस वितरित कला से संलग्न द्विक तल के स्थिर भाग और वितरण माध्यम के मुख्य आयतन के बीच होता है। वितरित कला से संलग्न द्विकतल का वास्तविक स्वभाव अब भी कल्पना का विषय है। फिर भी यह ज्ञात कर लिया गया है कि वैद्युत-गत्यात्मक-विभव उपस्थित आयनों से विशेष प्रभावित होता है।

कलिलों की रसाकर्षण दाब (ऑस्मॉटिक प्रेशर, osmotic pressure)—गैस के नियम कलिल विलयनों पर ठीक बैठते हैं, इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। किसी कलिल की रसाकर्षण दाब की गणना नीचे लिखे समीकरण द्वारा की जा सकती है :

$$\text{दा} = \text{र ता} \frac{\text{मा}}{\text{नि}} \left[P = RT \frac{n}{N} \right]$$

जहाँ मा (n) वितरित पदार्थो की प्रति एकक आयतन में मात्रा तथा नि (N) आवोगैड्रो नियतांक है। अब चूँकि मा (n) कण के आकार का प्रतिलोमानुपाती होता है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिल की रसाकर्षण दाब कम होनी चाहिए और वितरण की मात्रा के आधिक्य के साथ इनकी मात्रा भी बढ़नी चाहिए। इस प्रकार साधारणतः सॉलों की रसाकर्षण दाब कम ही होती है और जब रसाकर्षण दाब अधिक हो जाती है तो वह मुख्यतः अशुद्धियों के कारण ही होती है।

रसाकर्षण दाब का मापन अर्धपारगम्य झिल्ली की सहायता से किया जाता है। विद्युद्विश्लेषण के असमान वितरण से कुछ कलिलों में डोनन-संतुलन नामक क्रिया के कारण जटिलता उत्पन्न होती है। इन तनुपट संतुलन की क्रिया का अध्ययन कांगो रेड नामक रंग, साबुन तथा अन्य कई कलिलीय विद्युद्विश्लेष्यों पर किया गया है। इन स्थितियों में कलिलीय पदार्थ विद्युद्विश्लेष्य के समान व्यवहार करता है। जब किसी आयन का आकार कलिलकणों के आकार के समान होता है तब तनुपट (membrane) के दोनों ओर विभव का सृजन होता है, जिसे तनुपट विभव कहते हैं। कई प्रोटीन सॉलों में तनुपट-विभव सदैव ही उत्पन्न हो जाता है और जीवित सेलों पर आवेश इस तनुपट संतुलन के कारण ही होता है।

कलिलकणों का आकार और रूप—अति सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने से कलिलकणों का आकार या रूप नही देखा जा सकता। फिर भी कलिलकणों की संख्या गिनी जा सकती है, तब वितरित पदार्थ के पूर्ण आयतन के मान से एक कण का औसत आयतन ज्ञात किया जा सकता है। किंतु जब सौल निर्माण किया जाता है तब उसमें कई आकार के कण उपस्थित रहते है।

कलिलकणो का रूप गोलाकार, दडाकार, दीर्घवृत्ताकार या परतदार हो सकता है। कलिलकणो का रूप ज्ञात करने के लिये कई विधियाँ विकसित की गई है जो प्रकाशीय गुणो पर आधारित है।

जलप्रेमी कलिलों के गुण—इन कलिलो की विशेषता है वितरण माध्यम की श्यानता पर प्रभाव डालना। श्यानता अधिकतर बढ जाती है और वितरित पदार्थ की मात्रा की वृद्धि के साथ शीघ्रता मे बढ़ती जाती है। एक विशेष सांद्रण के पहुँचने पर श्यानता इतनी बढ जाती है कि कलिल जेली का रूप ग्रहण कर लेता है। सौल के अवक्षेपण से भी जेली प्राप्त की जा सकती है। जेली का उपयोग सीमित सा है और जिलेटिन, ऐगर ऐगर, स्टार्च आदि के सोलो को शीतल करके जो अर्धपारदर्शक जेलियाँ बनाई जाती है उन्हे ही जेली की सज्ञा दी जाती है। अधिकाश जलप्रेमी कलिल शीतलीकरण पर या गर्म करने पर जेली बनाते है। कई अकार्बनिक जलसत्रासी कलिल भी विशेष परिस्थितियो मे जेली के रूप मे प्राप्त किए जा सकते है। इस प्रकार से कई जलीय हाइड्राक्साइडो, अविलेय फास्फेटो, मोलिब्डटो की जेलियाँ प्रयोगशाला मे बनाई जाती है। जेली साधारणतः तरलमोचन का गुण प्रदर्शित करती है। अधिक समय तक रखने पर जेली सिकुड़ती तथा चटक जाती है और जेली मे बँधा हुआ जल बाहर निकल आता है।

जेलियाँ—जेलियो को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है : प्रत्यास्थ तथा दृढ। प्रत्यास्थ जेलियाँ साधारणतः जिलेटिन, ऐगर आदि प्राकृतिक कलिलो से बनती है, किंतु अधिकाश अकार्बनिक जेलियाँ, जिनमे सिलिसिक अम्ल भी रहता है, दृढ व्यवहार दिखाती है। कुछ जेलियो का स्वभाव विचित्र होता है। वे हिलाने पर, आदोलित करने पर या कर्णातीत तरगो के प्रभाव से पुनः सौल मे परिवर्तित हो जाती है। किंतु यदि अब उन्हे स्थिर रख दिया जाय तो वे फिर जेली बन जाती है। यह क्रिया कई बार दुहराई जा सकती है। इस क्रिया को स्पर्शबोध (थिक्सोट्रॉपी, thixotropy) कहते है।

जलप्रेमी कलिलो मे प्रोटीनों के सौलों पर विशेष खोजें हुई है। इसका कारण है इनका शारीरिक रसायन शास्त्र मे महत्व। प्रोटीनो के जो सौल प्राकृतिक अवस्था मे पाए जाते है वे साधारणतः ऋणात्मक आवेशवाले होते है। अधिकाश सौल अम्लीय बनाए जाने पर धनात्मक आवेश प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार एक विशेष पी एच (pH) पर प्रोटीन के सौल पर कोई भी आवेश नही होगा। इसे समविद्युत् विंदु (आइसो-इलेक्ट्रिक-प्वाइंट, Iso-electric point) कहते है। इसी से प्रोटीन की पहचान होती है। रासायनिक गुणों मे प्राचीन उभयधर्मी (ऐंफोटेरिक, amphoteric) होता है क्योकि इसमे नाहा$_2$ (NH_2) और कार्औऔहा ($COOH$) दोनों समूह रहते है। इस गुण के कारण प्रोटीन बफर का काम देता है। जंतुओ के जीवन में इस गुण का विशेष महत्व है। प्रोटीनों मे जलसंत्रासी कलिलो को स्थायित्व प्रदान करने का सामर्थ्य रहता है और इनकी स्वर्ण-संख्या की सहायता से कई रोगों के निदान मे सहायता मिलती है।

उपयोग—कलिलोंके समस्त उपयोगो की गणना संभव नही। अधिकांश जैविक तरल पदार्थ, जैसे रक्त आदि, कलिलीय स्वभाव के होते है। कैल्सियम-साबुन के रूप मे कैलसियम, स्वर्ण, लौह, वंग (राँगा), मैगनीज, रजत इत्यादि धातुएँ, या उनके अविलेय योगिक, कलिल के रूप मे ओपधियो में प्रयुक्त होते हैं।

आहार विज्ञान मे कलिलीय पदार्थो पर विचार करना पडता है। ह्यूमस और चिकनी मिट्टी के कलिलीय गुण भूमि की उर्वरता और उसके भौतिक गुणों पर विशेष प्रभाव डालते है। रेशे कार्बनिक कलिल है और कपड़ा उद्योग भी कलिलीय उद्योग ही है। छींट के निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले रंग और छपाई कलिलीय गुणों के कारण ही संपन्न होती है। कुछ अभिकारको मे सेल्यूलोसीय पदार्थ के कलिलीय गुणों पर कृत्रिम रेशम का निर्माण आधारित है। साबुन और अपक्षालक कलिलीय पदार्थ है और अनेक वस्तु-समूह, यथा चिपकानेवाले पदार्थ, प्लास्टिक, रबर, स्नेहक पदार्थ, तैल रंग इत्यादि मे कलिलीय गुण पाए जाते हैं। काँच, मृत्तिका तथा सीमेंट उद्योग कलिलीय विज्ञान से विशेष रूप से संबद्ध है। हमारे अधिकांश आहार, जैसे प्रोटीने, स्टार्च के रूप मे कार्बोहाइड्रेट, वसा आदि भी गुण मे कलिलीय है। कलिल रसायन की तकनीक हमारे अनेक भोज्य पदार्थ बनाने मे आवश्यक होती है जैसे पावरोटी, मक्खन, जेली, जाम, पेय, आइसक्रीम आदि। (स० घो०)

कलीनिन सोवियत सघ मे स्थित कलीनिन प्रदेश का मुख्य नगर है और वॉल्गा नदीतट पर मॉस्को नगर से ९६ मील उत्तर-पश्चिम ५६° ५०′ उ० अ० और ३५° ३०′ पू० दे० पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम त्विवर है। यह महत्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र है और यहाँ की निर्मित वस्तुओ मे लोहे एव इस्पात के सामान, सूती कपड़ा और चमड़े का सामान उल्लेखनीय है। कलीनिन नगर की जनसख्या ३,४५,००० थी (१९७० ई०)। पहले यह प्रदेश एक स्वतन्त्र राज्य था, परतु १९४० ई० मे मॉस्को प्रदेश के साथ मिला दिया गया। इसका वर्तमान नाम मिखाइल ईवानोविच कलीनिन के समान हेतु रखा गया है। (सु० प्र० सिं०)

कलीनिनग्राद सोवियत सघ मे स्थित कलीनिनग्राद प्रदेश का मुख्य नगर है। यह ५४°४४′ उ० अ० और २०° ३१′ पू० दे० पर बाल्टिक सागरतट पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम कोनिग्जबर्ग है। यह नगर प्रेगल नदी पर इसके मुहाने से ४॥ मील दूर स्थित है। १९०१ ई० मे यहाँ एक नहर के निर्माण से अब बड़े स्टीमर भी बाल्टिक सागर से आ जा सकते है। यह महत्वपूर्ण औद्योगिक नगर है। यहाँ की निर्मित वस्तुओ मे लोहे एव इस्पात के सामान, तागा, ऊनी कपड़े और रासायनिक पदार्थ उल्लेखनीय है। नगर की स्थापना १२५५ ई० मे हुई थी। इसका वर्तमान नाम मिखाइल ईवानोविच कलीनिन के समानार्थ रखा गया था। विश्वविख्यात दार्शनिक काट का जन्म इसी नगर मे १७२४ ई० मे हुआ था। इसकी कुल जनसख्या ३,०६,००० (१९७१ ई०) थी। (सु० प्र० सिं०)

कलीम अथवा मिर्जा अबू तालिब १७वी शती ई० का भारतवर्ष का अत्यत प्रसिद्ध फारसी कवि हुआ है। उसका जन्म हमदान मे हुआ किंतु वह अधिक समय काशन मे रहा, अतः उसे काशानी तथा हमदानी दोनो ही कहा जाता है। मुगल शाहशाह सम्राट् जहाँगीर (१६०५–१६२७ ई०) के समय मे वह दक्षिणी भारत के कई स्थानो की सैर करता हुआ उत्तरी भारत पहुँचा किंतु १६०९ ई० मे वह पुनः अपने देश चला गया। परतु भारत की याद उसके हृदयपट से कभी न मिट सकी और वह शीघ्र ही भारत लौट आया और आजीवन यहीं निवास करता रहा।

जहाँगीर के दरबार मे तो उसे अधिक उन्नति न प्राप्त हो सकी क्योकि नूरजहाँ बेगम उसकी शायरी से प्रभावित न थी, किंतु शाहजहाँ (१६२८–१६५६ ई०) ने उसे अत्यधिक आश्रय प्रदान किया। शाहजहाँ के साथ १६४५ ई० मे वह कश्मीर पहुँचा और वह प्रदेश उसे इतना पसंद आया कि उसने वही निवास करने की अनुमति ले ली और १६५२ ई० मे वही उसकी मृत्यु हुई। शाहजहाँ ने उसे मलिकुश्शुअरा (कवियो के सम्राट्) की उपाधि प्रदान की। उसने शाहजहाँ के दरबार की अनेक छोटी छोटी घटनाओ के सबंध मे कविताएँ लिखी और 'पादशाहनामा' अथवा 'शाहजहाँनामा' नामक एक बृहत् काव्य की भी रचना की जिसमे शाहजहाँ के राज्य का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण दिया है।

कलीम को भारतवर्ष से तो अत्यधिक प्रेम था ही, हिंदी से भी उसे बड़ी रुचि थी। उसने अपनी कविताओ मे अनेक हिंदी शब्दो का प्रयोग किया है। धोबी, चंपा, गुड़हल, नीम जैसे शब्दो के प्रयोग उसने अपने शेरो मे बड़ी सुंदरता से किए है। भारत के अनेक व्यवसायो, कारीगरियो, फूलों, तथा फलो के विषय में भी उसने कविताओ की रचना की। उसके दीवान मे गजल, कसीदे तथा मसनवियाँ, सभी प्रकार की कविताएँ मिलती हैं और उसके शेरों की संख्या लगभग २४ हजार बताई जाती है। उसका दीवान नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) से १८७८ ई० मे प्रकाशित हो चुका है।

सं०ग्रं०—मौलाना शिबली नोमानी: शेरुल अजम, भाग ३; स्प्रेंगर : ए कैटलाग ऑव द मैनस्क्रिप्ट्स ऑव द लाइब्रेरीज़ ऑव किंग ऑव अवध; रियु : कैटलाग आव द परशियन मैनस्क्रिप्ट्स इन द ब्रिटिश म्युज़ियम। (सै० अ० अ० रि०)

कलोल १. गुजरात राज्य के महेसाणा जिले के दक्षिण भाग में स्थित एक ताल्लुका है जो क्षेत्रफल में २६७ वर्ग मील है। इस

ताल्लुके का मुख्य नगर कलोल है जो २३° १५' उ० अ० और ७२° ३२' पू० दे० पर पश्चिम रेल मार्ग की दिल्ली-अहमदाबाद-शाखा के अहमदाबाद-महेसाणा-खंड पर, अहमदाबाद नगर से १५ मील उत्तर स्थित है। यह नगर खाद्यान्न के व्यापार का महत्वपूर्ण केंद्र है।

२. गुजरात राज्य के पंचमहाल जिले के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित एक ताल्लुका है जो क्षेत्रफल में ४१४ वर्ग मील है। इस ताल्लुके का मुख्य नगर कलोल है जो २२° २५' उ० अ० और ७३° ३०' पू० दे० पर पश्चिम रेल मार्ग की दिल्ली-बंबई-शाखा के बड़ौदा-गोध्रा-खंड पर वड़ोदरा नगर से लगभग ३८ मील उत्तर-पूर्व स्थित है। (सु० प्र० सिं०)

कलौंजी यह लगभग ४५ सें०मी० ऊँचा पौधा है। इसका लैटिन नाम नाइजेला सैटाइवा है। पंजाब, विहार, हिमाचल प्रदेश और असम में इसकी खेती की जाती है। कभी कभी यह अन्य फसलों के साथ खरपतवार के रूप में भी पैदा होता है। इसके पत्ते २ से ३ सें०मी० दीर्घतम, पिच्छाकार, २.५ से ५ सें०मी० लंबे, सीधे भालाकार, खडों में कटे हुए, फूल हल्के नीले पीले, २ से २.५ सें०मी० तक फैले हुए, सहपत्र चक्ररहित, एक लंबा पुष्पावलिवृंत, बीज त्रिकोणाकार, काले, महीन झुर्रीदार गुलिकायुक्त होते है।

कलौंजी का उपयोग चीजों को सुगंधित करने अथवा ओपधि के रूप में किया जाता है। इसके बीजों को कुचलकर प्राप्त वसा तेल को खाने के काम में लाया जाता है। कलौंजी के बीजों में वातानुलोमक, उद्दीपक, मूत्रल, आर्तवजनक और स्तनवर्धक गुण होते हैं तथा मामूली प्रसूतिक उपचार करने में इसका उपयोग किया जाता है। नाशक कीटों से सुरक्षा के लिये इसके बीज लिनेन और ऊनी कपड़ों की तहों के बीच रखे जाते है। (नि० सिं०)

कल्कि अवतार द्र० 'अवतारवाद'।

कल्प (१) इस नाम के चार व्यक्ति हुए हैं जिनमें एक राजा उत्तानपाद के पुत्र प्रसिद्ध भक्त ध्रुव के पुत्र थे। इनकी माता शिशुपाल की कन्या भ्रमी थी। इनकी विस्तृत कथा श्रीमद्भागवत में दी हुई है। इनके भाई का नाम वत्सल था। दूसरे कल्प यदुवंशी वसुदेव के पुत्र थे जिनकी माता का नाम उपदेवा था। उपदेवा के दस पुत्र हुए जिनमें कल्प के अतिरिक्त राजन्य तथा वर्ष भी थे। इनकी कथा भी भागवत में है। तीसरे कल्प हिरण्यकशिपु की वहन सिंहिका के १३ पुत्रों में से एक थे। इनके पिता का नाम विप्रचित्ति था। इनकी कथा मत्स्यपुराण में है। चौथे कल्प एक महर्षि थे जिनकी कथा स्कंदपुराण में मिलती है। इन्होंने सिंधुपति विश्वावसु की एक कन्या को पाला था जिसका विवाह नेपाल के राजा दुर्दर्श से हुआ।

(२) सृष्टिक्रम और विकास की गणना के लिये कल्प हिंदुओं का एक परम प्रसिद्ध मापदंड है। जैसे मानव की साधारण आयु सौ वर्ष है, वैसे ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की भी आयु सौ वर्ष मानी गई है, परंतु दोनों गणनाओं में बड़ा अंतर है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहलाता है, उसके बाद प्रलय होता है। प्रलय ब्रह्मा की एक रात है जिसके पश्चात् फिर नई सृष्टि होती है। चारों युगों के एक चक्कर को चतुर्युगी अथवा पर्याय कहते हैं। १,००० चतुर्युगी अथवा पर्यायों का एक कल्प होता है। ब्रह्मा के एक मास में तीस कल्प होते हैं जिनके अलग अलग नाम हैं, जैसे श्वेतवाराह कल्प, नीललोहित कल्प आदि। प्रत्येक कल्प के १४ भाग होते है और इन भागों को मन्वंतर कहते है। प्रत्येक मन्वंतर का एक मनु होता है, इस प्रकार स्वायंभुव, स्वारोचिप् आदि १४ मनु हैं। प्रत्येक मन्वंतर के अलग अलग सप्तर्षि, इंद्र तथा इंद्राणी आदि भी हुआ करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के आज तक ५० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, ५१वें वर्ष का प्रथम कल्प अर्थात् श्वेतवाराह कल्प प्रारंभ हुआ है। वर्तमान मनु का नाम वैवस्वत मनु है और इनके २७ चतुर्युगी बीत चुके हैं, २८वें चतुर्युगी के भी तीन युग समाप्त हो गए हैं, चौथे अर्थात् कलियुग का प्रथम चरण चल रहा है।

युगों की अवधि इस प्रकार है—सतयुग १७,२८,००० वर्ष; त्रेता १२,९६,००० वर्ष; द्वापर ८,६४,००० वर्ष और कलियुग ४,३२,००० वर्ष। अतएव एक कल्प चार अरब बत्तीस करोड़ (४,३२,००,००,०००) वर्ष का हुआ। (रा० द्वि०)

कल्पना (इमैजिनेशन) विगत प्रत्यक्षज्ञानात्मक अनुभवों (पास्ट पर्सेप्चुअल एक्सपीरिएन्सेज) का बिंबों और विचारों (इमेजेज़ ऐंड आइडियाज) के रूप में, विचारणात्मक स्तर पर, रचनात्मक नियोजन कल्पना है। कल्पना की मानसिक प्रक्रिया के अंतर्गत वास्तव में दो प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएँ निहित हैं—प्रथम, विगत संवेदनशीलताओं का प्रतिस्मरण, बिंबों एवं विचारों के रूप अर्थात् स्मृति, द्वितीय, उन प्रतिस्मृत अनुभवों की एक नए संयोजन में रचना। लेकिन कल्पना में इन दोनों प्रकार की क्रियाओं का इतना अधिक संमिश्रण रहता है कि न तो इनका अलग-अलग अध्ययन ही किया जा सकता है और न इनकी अलग अलग स्पष्ट अनुभूति ही व्यक्तिविशेष को हो पाती है। इसी कारण कल्पना को एक उच्चस्तरीय जटिल प्रकार की मानसिक प्रक्रिया कहा जाता है।

कल्पना एवं चिंतन की मानसिक प्रक्रियाओं की प्रकृति इतनी अधिक समान होती है कि साधारण भाषा में कभी कभी इनका पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। समानता की दृष्टि से, दोनों ही क्रियाओं में विगत अनुभवों का प्रतिस्मरण तथा उनका नया संयोजन तैयार करना है, एवं दोनों ही क्रियाएँ व्यक्ति की असंतुष्ट आवश्यकताओं और इच्छाओं की संतुष्टि का मार्ग खोजने के लिये उत्पन्न होती है। लेकिन दोनों के उद्देश्य भिन्न होते है। कल्पना अवास्तविक, अतार्किक एवं काल्पनिक रचनात्मक हल आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये खोजती है, चिंतन का उद्देश्य हमेशा तार्किक एवं वास्तविक हल खोजना है और इसीलिये इसे तार्किक (रीजनिंग) क्रिया के नाम से भी पुकारा जाता है। चिंतन की क्रिया तब तक प्रारंभ नहीं होगी जब तक कोई वास्तविक समस्या आवश्यकताओं की संतुष्टि में मार्ग में उपस्थित न हो। लेकिन कल्पना अवास्तविक और काल्पनिक समस्याओं की उपस्थिति से भी प्रारंभ हो सकती है।

कल्पना को भी दो प्रकारों में बाँटा जाता है। प्रथम प्रकार की कल्पना के अंतर्गत दिवास्वप्न और मानसिक उड़ानें आती हैं जिनकी सहायता से व्यक्ति एक काल्पनिक जगत् का निर्माण करता है, जो वास्तविक जगत् की तुलना में उसकी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार की कल्पना से सभी सामान्य व्यक्ति लाभान्वित होते हैं तथा अपनी भौतिक असमर्थता के मानसिक कुप्रभाव से अपनी रक्षा करते हैं। किंतु इस प्रकार की कल्पना की बारंबारता मानसिक रोगियों का एक प्रधान लक्षण बन जाती है जिसके फलस्वरूप विचित्र भ्रमों (डेल्यूजन्स) का निर्माण होता है। दूसरे प्रकार की कल्पना सर्जनात्मक (क्रिएटिव) नाम से अभिहित होती है जिसके अंतर्गत ऐसी काल्पनिक उड़ानें गिनी जाती हैं जिनके द्वारा साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, सर्जनात्मक रचनाकार्य होते है। सर्जनात्मक रचनाएँ प्रतिभाशाली व्यक्ति ही कर पाते है। सर्जनात्मक कल्पना का विश्लेषण करते हुए प्रतिभाशाली हेल्महोल्त्स (Helmholtz), प्वांकार (Poincare), ग्रैहम वैलेस (Graham Wallas) आदि ने इसकी चार अवस्थाएँ बताई हैं—तैयारी (प्रिपरेशन), निलायन (इन्क्यूबेशन), उच्छ्वसन (इंस्पिरेशन) तथा प्रमापन (वेरिफिकेशन)। प्रथम अवस्था में सृजनकर्ता विभिन्न तथ्यों तथा निरीक्षणों को एकत्रित करके अपनी समस्या और उद्देश्य की वास्तविकता की परीक्षा करता है। दूसरी अवस्था में कोई स्पष्ट प्रगति दृष्टिगत नहीं होती लेकिन, वास्तव में, विभिन्न उपकल्पनाओं (हाइपाथेसिस) का आंतरिक गनन चलता रहता है। सबसे महत्वपूर्ण तीसरी अवस्था ही है जिसमें दैवी प्रेरणा भी प्राप्त होती है और सृजन कार्य हो जाता है। अगर यह सृजन कार्य वैज्ञानिक उपकल्पना के रूप में है तो उसकी सत्यता को प्रमाणित (वेरिफाई) करना होता है तथा, अगर वह साहित्यिक या कलात्मक सृजन कार्य है, तो उसे अपने अपने प्रकाशन के माध्यमों से व्यक्त करना होता है। मनोवैज्ञानिक रौसमैन (Rossman, १९३१), मनके (Meinecke), तथा प्लैट (Platt) और बेकर (Baker, १९३१), ने अनुसंधानकर्ताओं एवं वैज्ञानिकों से, एवं सी० पैट्रिक (१९३५) महोदया ने कवियों एवं चित्रकारों से जो तथ्य प्राप्त किए हैं वे सर्जनात्मक कल्पना की इन चारों अवस्थाओं का समर्थन करते हैं।

कल्पना के शारीरिक आधार के संबंध में भी दो प्रकार के सिद्धांत प्रचलित हैं—पहला, केंद्रीय सिद्धांत (सेंट्रल थियरी) के अनुसार, जो प्राचीन सिद्धांत है, कल्पना मस्तिष्क की जटिल क्रियाओं पर आधारित है और उसका ही एक अंग है। दूसरा, प्रेरक या परिधि सिद्धांत (मोटर ऐंड पेरिफ़ेरल थियरी) के नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनुसार कल्पना चूंकि एक व्यवहार है इसलिये इसके अंतर्गत भी साधारण व्यवहार की ही भाँति ज्ञानेंद्रियों, मस्तिष्क तथा मांसपेशियों की शारीरिक क्रियाएँ होती हैं। इस सिद्धांत का समर्थन विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से जैकबसन (१९३२), मैक्स (१९३५), शा (१९४०), आसेरिस्की और क्लाइतमान (१९५३) आदि ने किया है और यही सिद्धांत दिनोंदिन अधिक मान्य होता जा रहा है। (ओं० प्र० क०)

कल्पवृक्ष देवलोक का एक वृक्ष। इसे कल्पद्रुम, कल्पतरु, सुरतरु, देवतरु तथा कल्पलता इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। पुराणों के अनुसार समुद्रमंथन से प्राप्त १४ रत्नों में कल्पवृक्ष भी था। यह इंद्र को दे दिया गया था और इंद्र ने इसकी स्थापना सुरकानन में कर दी थी। हिंदुओं का विश्वास है कि कल्पवृक्ष से जिस वस्तु की भी याचना की जाय, वही यह दे देता है। इसका नाश कल्पांत तक नहीं होता। 'तूबा' नाम से ऐसे ही एक पेड़ का वर्णन इस्लामी धार्मिक साहित्य में भी मिलता है जो सदा अदन (मुसलमानों के स्वर्ग का उपवन) में फूलता फलता रहता है।

सिद्ध, नाथ और संत कल्पलता या कल्पवल्लरी संज्ञा 'उन्मनी' को देते हैं क्योंकि उनके मतानुसार सहजावस्था या कैवल्य की प्राप्ति के लिये उन्मनी ही एकमात्र साधन है जो न केवल सभी कामनाओं को पूरी करनेवाली है अपितु स्वयं अविनश्वर भी है और जिसे मिल जाती है, उसे भी अविनश्वर बना देती है। (कै० चं० श०)

कल्पसूत्र वेद और वेदांग की भारतीय इतिहास में बड़ी चर्चा है। संहिता (मंत्र संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् (मुख्य और प्राचीन) वेद हैं तथा शिक्षा (प्रातिशाख्यादि), कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंदशास्त्र और ज्योतिष—छह वेदांग हैं। अनेक वैदिक ऐतिहासिकों के मत से कल्पग्रंथ या कल्पसूत्र वेदांगों में प्राचीनतम और वैदिक साहित्य के अधिक निकट हैं। षट् वेदांगों में कल्प का विशिष्ट महत्व है। कल्प का तात्पर्य है वेद (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकादि विहित कर्मों, अनुष्ठानों का क्रमपूर्वक कल्पना करनेवाला शास्त्र या ग्रंथ—**कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्** (ऋग्वेदप्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति)। षोडश संस्कारों और श्रौत यागादि का क्रमवद्ध रूप में वर्णन और विवरण आदि यहाँ है। कल्प का प्रस्तुत संदर्भ में अर्थ है विधि, नियम, न्याय, कर्म, आदेश आदि। कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है वैदिक विधिविधानों, कर्मानुष्ठानों, न्यायनियमों, रीतिव्यवस्थाओं और धर्मादेशों-धर्मोपदेशों का संक्षिप्त, संदेहहीन और निर्दोष रूप में निरूपण विवेचन करना। लौकिक संस्कृत और सूत्रवाङ्मय का वैदिक सूत्रों, विविध वेदांगसूत्रों, दार्शनिक सूत्र ग्रंथादि का आरंभ और प्रवर्तन भी कल्पसूत्रों से होता है। अतः इनका ऐतिहासिक महत्व भी है। वैदिक ब्राह्मणग्रंथों में मुख्यतः वर्णित वैदिक विधिविधानों का नित्य नैमित्तिक काम्य-कर्म-यज्ञादि के अनुष्ठानों का कर्मकांडीय कृत्यों का, गृहस्थजीवन के गृह्य धर्म कर्मों के आचरण का, सामाजिक जीवन के रीति रिवाजों, परंपराओं, प्रथाओं आदि का, वर्णाश्रम-धर्म-पालन-नियमों तथा शासन और राज्य-व्यवस्था आदि का वैदिक दृष्टि से विवेचन, प्रतिपादन और निरूपण ही इन कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है। दुरूह वैदिक यज्ञयागादि और विविध धर्म कर्मादि के जटिल एवं गूढ़ विधिविधानों का स्पष्ट असंदिग्ध और आदेशात्मक रूप में विधिनिषेधों की इन वैदिक सूत्रग्रंथों द्वारा घोषणा की गई है। वैदिक ज्ञान, कर्म और परंपरा की जो धारा दुर्बोध्य या अबोध्य हो रही थी उस परंपरा को सुरक्षित रखने एवं नवोद्भूत ज्ञानादि के साथ उनका सामंजस्य बैठाने में इन वैदिक कल्पसूत्रों का बड़ा योगदान रहा है। आगे धार्मिक स्मृतियों ने उसी दिशा में बहुत कुछ कार्य किया। वैदिक शाखाओं के अनुयायी तपोवन आश्रमवासी ऋषि आचार्यों के आश्रमों में ही इन कल्पसूत्रों का निर्माण हुआ और वैदिक आर्यों के पुरायुगीन पारिवारिक, धार्मिक याज्ञिक एवं सामाजिक जीवन में उन कर्मधर्मादि का निरूपण किया गया जिसके कारण आज भी पूर्ववैदिकयुगीन आर्यों की जीवनचर्या, समाज एवं आचारविचार की गतिविधि का हमें ज्ञान हो पाता है।

इन कल्पसूत्रों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है संस्कारों, यज्ञों और वर्णाश्रम धर्मों की व्याख्या, विधिविधान तथा अनुष्ठानचर्या। इन्हीं के आधार पर कल्पसूत्रों का तीन मुख्य वर्गों में विभाजन किया गया है—(१) श्रौतसूत्र, (२) गृह्यसूत्र और (३) धर्मसूत्र। इसके अतिरिक्त शुल्वसूत्र भी एक भेद है।

श्रौतसूत्रों में श्रुतिप्रतिपादित दर्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि श्रौत यज्ञों का और उनके अनुष्ठेय कर्मकांडीय विधिविधानों का क्रमवद्ध वर्णन है। आज उपलब्ध प्रायः प्रत्येक वेद और उसकी प्रत्येक शाखा के अलग अलग श्रौत सूत्र है। धार्मिक दृष्टि से इन श्रौतसूत्रों का विशेष महत्व है। ऐतिहासिक क्रम में ये यज्ञ धीरे धीरे अप्रचलित होते जा रहे है, परंतु भारतीय आर्यों के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से इनका महत्व आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है।

गृह्यसूत्रों में गृहस्थ जीवन संबंधी संस्कारों और गृहाग्नि में संपन्न होनेवाले यज्ञों के (उपनयन, उद्वाह आदि के) विधान, अनुष्ठान आदि का विवरण मिलता है। पार्वणयज्ञ, पितृयज्ञादि सप्त गृह्यज्ञों, देवयज्ञादि पंच महायज्ञों तथा षोडश हिंदू संस्कारों का विधिविधान इन गृह्यसूत्रों में वर्णित है। प्रत्येक वेद और शाखा के गृह्यसूत्र भी पृथक् पृथक् हैं।

धर्मसूत्रों में सामाजिक आचार विचार तथा वर्णों एवं आश्रमों से संबद्ध धर्मकर्माचारों के विषय में विधिनिषेधों तथा कर्तव्याकर्तव्यों का वैदिककालीन स्वरूप वर्णित है। राजधर्म, शासनव्यवस्था. राजा-प्रजा-धर्म-कर्म आदि का भी वर्णन यहाँ मिल जाता है। दंड आदि के विधान भी यहाँ वर्णित हैं। आचार विषयक नियमों से इनका संबंध था और वर्णाश्रमाचार तथा सामाजिक आचरण के लिये धर्मसूत्रों को प्रमाण माना जाता था। धर्मसूत्रों का गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषय से वर्णधर्मों एवं आश्रमधर्मों के संदर्भ में निकटता भी लक्षित होती है। इनमें संस्कारों की चर्चा यद्यपि यत्रतत्र ही हुई है तथापि वर्णाश्रमाचार संबंधी विधिनिषेधों का निरूपण इनका मुख्य लक्ष्य था। अनेक धर्मसूत्र ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं और उनमें भी अधिकांश प्रकाशित हैं। विभिन्न धर्मसूत्रों के साथ वेदशाखाओं के धर्मसूत्रों का कुमारिल भट्ट के तंत्रवार्तिक में उल्लेख मिलता है।

शुल्वसूत्रों में यज्ञ-निमित्तक वेदी के निर्माण का विवरण है। प्राचीन आर्यों के ज्यामितिक ज्ञान का इनसे परिचय मिलता है।

सं०ग्रं०—पं० बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति; वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास; डा० राजवंश सहाय 'हीरा' : संस्कृत साहित्यकोश। (क० प० त्रि०)

कल्माषपाद इक्ष्वाकुवंशीय नरेश ऋतुपर्ण के पौत्र तथा सुदास के पुत्र (सौदास)। इनका अन्य नाम मित्रसह भी था। इनकी रानी मदयती थीं जिन्हें इन्होंने वसिष्ठ की सेवा में अर्पित किया (म० भा०, शांति० २३४-३०)। पौराणिक इतिवृत्त है कि एक समय वन से मृगया से लौटते हुए तंग रास्ते पर वसिष्ठपुत्र शक्ति मुनि से मार्ग देने के प्रश्न पर विवाद हुआ। राजा ने मुनि का तिरस्कार किया। शक्ति मुनि ने इन्हें राक्षस होने का शाप दिया। विश्वामित्र ऋषि से प्रेरित किंकर नामक राक्षस ने इनके शरीर में प्रवेश किया। राक्षस-स्वभाव-युक्त होने का शाप एक तपस्वी ब्राह्मण ने भी दिया था जिससे इन्होंने अपने रसोइए को मनुष्य का मांस देने को प्रेरित किया। राक्षस स्वभाव से युक्त होकर शक्ति तथा वसिष्ठ के अन्य पुत्रों का भक्षण कर लिया। इसी अवस्था में इन्होंने मैथुन के लिये उद्यत एक ब्राह्मण का भक्षण कर लिया था अतः ब्राह्मणपत्नी आंगिरसी ने इन्हें अपनी पत्नी से समागम करते ही मृत्यु होने का शाप दिया। वसिष्ठ ने राक्षस योनि से इनका उद्धार मंत्रपूत जल छिड़ककर किया और पुनः ब्राह्मणों का अपमान न करने का आदेश दिया। वसिष्ठ ने इनकी पत्नी के गर्भ से अश्मक नामक पुत्र उत्पन्न किया। (चं० भा० पां०)

कल्याण महाराष्ट्र राज्य में थाना जिले का एक दक्षिणी तालुका है जो क्षेत्रफल में २६७ वर्ग मील है। इस तालुके का मुख्य नगर

कल्याण है जो १९° १४' उ० अ० और ७३° १०' पू० दे० पर उल्हास नदी के तट पर स्थित है। बंबई नगर से ३३ मील उत्तर-पूर्व की ओर 'मध्य रेल मार्ग' यहाँ दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हो जाता है। बंबई नगर के समीप स्थित होने के फलस्वरूप कल्याण नगर की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ी और १९४१-५१ के दशक में लगभग दुगनी हो गई। कुल जनसंख्या ७३,४८२ (१९६१ ई०) थी। मुख्य उद्योग धान साफ करना और ईंटें बनाना है, समीपवर्ती क्षेत्रों में जमीन से पत्थर खोदने का कार्य भी होता है। इस नगर के औद्योगीकरण की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। इसकी उत्तम खाड़ी नौका विहार एवं मछली पकड़ने के लिये अनुकूल है। यहाँ पर मुसलमानों का मेला मई के महीने मे हर वर्ष बड़े धूमधाम से लगता है।

कल्याण नगर का नाम प्राचीन शिलालेखों में भी मिलता है जो संभवतः पहली, दूसरी, पाँचवी या छठी सदी ई० काल के है। ईसा काल की आरंभिक शताब्दियों में यह नगर एक राज्य की राजधानी और समुद्रवर्ती व्यापार का केंद्र था। १४वी सदी ई० के आरंभ में मुसलमान शासकों ने इसका नाम बदलकर इसलामाबाद कर दिया। १५३६ ई० में पुर्तगालियों ने इसपर आधिपत्य जमाया। १७८० ई० में अंग्रेजो ने मराठों से जीतकर इस नगर को अपने अधीन कर लिया। (कृ० प्र० सिं०)

कल्लिदाह कुरिच्चि तमिलनाडु राज्य में तिरुनेलवेली जिले के अंबासमुद्रम् ताल्लुक का एक नगर है जो ८° ४१' उ० अ० और ७७°२७' पू० दे० पर ताम्रपर्णी नदीतट पर स्थित है। यहाँ का सूती वस्त्रोद्योग महत्वपूर्ण है। समीपवर्ती क्षेत्र कृषि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और यह नगर खाद्यान्न के संग्रह और वितरण का मुख्य केंद्र बन गया है। (कृ० प्र० सिं०)

कल्हण (११५० ई०) विश्वविख्यात ग्रंथ राजतरंगिणी (११४८-५० ई०) का रचयिता कल्हण कश्मीर के महाराज हर्षदेव (१०८९-११०१) के महामात्य चंपक का पुत्र था और संगीतमर्मज्ञ कनक का अग्रज। मंख ने श्रीकंठचरित (११२८-४४) (स० २५, श्लो० ७८-२०) में कल्याण नाम के इसी कवि की प्रौढ़ता को सराहा है और इसे महामंत्री अलकदत्त के प्रश्रय में 'बहुकथाकेलिपरिश्रमनिरंकुश' घोषित किया है।

वास्तव में कल्हण एक विलक्षण महाकवि था। उसकी 'सरस्वती' रागद्वेष से अलेप रहकर 'भूतार्थचित्रण' के साथ ही साथ 'रम्यनिर्माण' में भी निपुण थी; तभी तो बीते हुए काल को 'प्रत्यक्ष' बनाने में उसे सरस सफलता मिली है। 'दुष्ट वैदुष्य' से बचने का उसने सुरुचिपूर्ण प्रयत्न किया है और 'कविकर्म' के सहज गौरव को प्रणाम करते हुए उसने अपनी प्रतिभा का सचेत उपयोग किया है। इतिहास और काव्य के संगम पर उसने अपने 'प्रबंध' को शांत रस का 'मूर्धाभिषेक' दिया है और अपने पाठकों को राजतरंगिणी की अमंद रसधारा का आस्वादन करने को आमंत्रित किया है।

सच तो यह है कि कल्हण ने 'इतिहास' (इति + ह + आस) को काव्य की विषयवस्तु बनाकर भारतीय साहित्य को एक नई विधा प्रदान की है, और राष्ट्रजीवन के व्यापक विस्तार के साथ साथ मानव प्रकृति की गहराइयों को भी छू लिया है। शांत रस के असीम पारावार में शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स और करुण आदि सभी रस हिलोरें लेते दिखाए गए हैं; और बीच बीच में हास्य और व्यंग के जो छींटे उड़ते रहते है वे भी बहुत महत्वपूर्ण है। क्षेमेंद्र के बाद कल्हण ने ही तो सामयिक समाज पर व्यंग कसकर संस्कृत साहित्य की एक भारी कमी को पूरा करने में योग दिया है।

इतिहासकार के नाते निःसंदेह कल्हण की अपनी सीमाएँ हैं, विशेषकर प्रारंभिक वंशावलियों और कालगणना के बारे में। उसके साधन भी तो सीमित थे। पर खेद की बात है कि अपनी विवशता से सतर्क रहने के बजाय उसने कुछ लोकप्रचलित अंधविश्वासों को अत्युक्तियुक्त मान्यता दी, जैसे रणादित्य के ३०० वर्ष लंबे शासन की उपहास्य अनुश्रुति को। किंतु यह भी कम सराहनीय नहीं कि चौथे तरंग के अंतिम भाग मे अपने समय तक अर्थात् ३८८९ लौकिक शक (८१३-१४ ई०) से ४२२५ लौ० शक (११४९-५० ई०) तक उसकी कालगणना और इतिहास सामग्री विस्तृत और विश्वसनीय है। अपने पूर्ववर्ती 'सूरियों' के ११ ग्रंथो और 'नीलमत' (पुराण) के अतिरिक्त उसने प्राचीन राजाओं के 'प्रतिष्ठाशासन', 'वास्तुशासन', 'प्रशस्तिपट्ट', 'शास्त्र' (लेख आदि), भग्नावशेष, सिक्के और लोकश्रुति आदि पुरातात्विक साधनों से यथेष्ट लाभ उठाने का गवेषणात्मक प्रयास किया है; और सबसे बड़ी बात यह कि अपने युग की अवस्थाओं और व्यवस्थाओं का निकट से अध्ययन करते हुए भी वह अपनी टीका टिप्पणी में बेलाग है। और तो और, अपने आश्रयदाता महाराज जयसिंह के गुण-दोष-चित्रण (तरंग ८, श्लो० १५५०—) में भी उसने अनुपम तटस्थता का परिचय दिया है। उसी के शब्दों में 'पूर्वापरानुसंधान' और 'अनीर्ष्य (अर्थात् ईर्ष्याशून्य) विवेक' के बिना गुणदोष का निर्णय समीचीन नही हो सकता।

संभवतः इसीलिये कल्हण ने केवल राजनीतिक रूपरेखा न खींचकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश की झलकियाँ भी प्रस्तुत की हैं; और चरित्रचित्रण में सरस विवेक से काम लिया है। मातृगुप्त और प्रवरसेन, नरेंद्रप्रभा और प्रतापादित्य तथा अनंगलेखा, खंख और दुर्लभवर्धन (तरंग ३) अथवा चंद्रापीड और चमार (तरंग ४) के प्रसंगों मे मानव मनोविज्ञान के मनोरम चित्र झिलमिलाते हैं। इसके अतिरिक्त बाढ़, आग, अकाल और महामारी आदि विभीषिकाओं तथा धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उपद्रवों में मानव स्वभाव की उज्वल प्रगतियों और कुत्सित प्रवृत्तियों के साभिप्राय संकेत भी मिलते है।

कल्हण का दृष्टिकोण बहुत उदार था; माहेश्वर (ब्राह्मण) होते हुए भी उसने बौद्ध दर्शन की उदात्त परंपराओं को सराहा है और पाखंडी (शैव) तांत्रिकों को आड़े हाथों लिया है। सच्चे देशभक्त की तरह उसने अपने देशवासियों की बुराइयों पर से पर्दा सरका दिया है और एक सच्चे सहृदय की तरह देशकाल की सीमाओं से ऊपर उठकर सत्य, शिव और सुंदर का अभिनंदन तथा प्रतिपादन किया है।

समूचे प्राचीन भारतीय इतिहास में जो एक मात्र वैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ है वह है कल्हण की राजतरंगिणी। अपनी कुछ कमजोरियों के बावजूद कल्हण का दृष्टिकोण प्रायः आज के इतिहासकार जैसा है। स्वयं तो वह समसामयिक स्थानीय पूर्वाग्रहों के ऊपर उठ ही गया है, साथ ही घटनाओं के वर्णन में अत्यंत समीचीन अनुपात रखा है। विवरण की संक्षिप्तता सराहनीय है।

सं०ग्रं०—एम० ए० स्टीन : कल्हणाज़ राजतरंगिणी; आर० एस० पंडित : रिवर ऑव किंग्स; गोपीकृष्ण शास्त्री द्विवेदी : हिंदी राजतरंगिणी; यू० एन० घोषाल : स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर; पांडेय रामतेज शास्त्री : राजतरंगिणी (हिंदी अनुवाद)। (पृ० पु०)

कवक (फ़ंगस, Fungus) जीवों का एक विशाल समुदाय है जिसे साधारणतया वनस्पतियों में वर्गीकृत किया जाता है। इस वर्ग के सदस्य पर्णहरिम (क्लोरोफ़िल, chlorophyll) रहित होते है और इनमें प्रजनन बीजाणुओं (स्पोर, spore) द्वारा होता है। ये सभी सूकाय (थैलॉयड, thalloid) वनस्पतियाँ है, अर्थात् इनके शरीर के ऊतकों (टिशूज़, tissues) में कोई भेदकरण नहीं होता; दूसरे शब्दों में, इनमें जड़, तना और पत्तियाँ नहीं होती तथा इनमें अधिक प्रगतिशील पौधों की भाँति संवहनीयतंत्र (वैस्क्युलर सिस्टम, vascular system) नही होता। पहले इस प्रकार के सभी जीव एक ही वर्ग कवक के अंतर्गत परिगणित होते थे, परंतु अब वनस्पति विज्ञानविदों ने कवक वर्ग के अतिरिक्त दो अन्य वर्गो की स्थापना की है जिनमें क्रमानुसार जीवाणु (बैक्टीरिया, bacteria) और श्लेप्मोर्णिका (स्लाइम मोल्ड, slime mold) है। जीवाणु एककोशीय होते है जिनमें प्रारूपिक नाभिक (टिपिकल न्यूक्लियस, typical nucleus) नहीं होता तथा श्लेप्मोर्णिक की बनावट और पोषाहार (न्यूट्रिशन, nutrition) जंतुओं की भाँति होता है। कवक अध्ययन के विज्ञान को कवक विज्ञान (माइकॉलोजी, mycology) कहते हैं।

कल्पना के शारीरिक आधार के संबंध में भी दो प्रकार के सिद्धांत प्रचलित हैं—पहला, केंद्रीय सिद्धांत (सेंट्रल थियरी) के अनुसार, जो प्राचीन सिद्धांत है, कल्पना मस्तिष्क की जटिल क्रियाओं पर आधारित है और उसका ही एक अंग है। दूसरा, प्रेरक या परिधि सिद्धांत (मोटर ऑर पेरिफ़ेरल थियरी) के नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनुसार कल्पना चूँकि एक व्यवहार है इसलिये इसके अंतर्गत भी साधारण व्यवहार की ही भाँति ज्ञानेंद्रियों, मस्तिष्क तथा मांसपेशियों की शारीरिक क्रियाएँ होती हैं। इस सिद्धांत का समर्थन विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से जैकवसन (१६३२), मैक्स (१६३५), शा (१६४०), आसेरिस्की और क्लाइतमान (१६५३) आदि ने किया है और यही सिद्धांत दिनोंदिन अधिक मान्य होता जा रहा है। (ओं० प्र० क०)

कल्पवृक्ष देवलोक का एक वृक्ष। इसे कल्पद्रुम, कल्पतरु, सुरतरु, देवतरु तथा कल्पलता इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। पुराणों के अनुसार समुद्रमंथन से प्राप्त १४ रत्नों में कल्पवृक्ष भी था। यह इंद्र को दे दिया गया था और इंद्र ने इसकी स्थापना सुरकानन में कर दी थी। हिंदुओं का विश्वास है कि कल्पवृक्ष से जिस वस्तु की भी याचना की जाय, वही यह दे देता है। इसका नाश कल्पांत तक नहीं होता। 'तूबा' नाम से ऐसे ही एक पेड़ का वर्णन इस्लामी धार्मिक साहित्य में भी मिलता है जो सदा अदन (मुसलमानों के स्वर्ग का उपवन) में फूलता फलता रहता है।

सिद्ध, नाथ और संत कल्पलता या कल्पवल्लरी संज्ञा 'उन्मनी' को देते हैं क्योंकि उनके मतानुसार सहजावस्था या कैवल्य की प्राप्ति के लिये उन्मनी ही एकमात्र साधन है जो न केवल सभी कामनाओं को पूरी करनेवाली है अपितु स्वयं अविनश्वर भी है और जिसे मिल जाती है, उसे भी अविनश्वर बना देती है। (कै० चं० श०)

कल्पसूत्र वेद और वेदांग की भारतीय इतिहास में बड़ी चर्चा है। संहिता (मंत्र संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् (मुख्य और प्राचीन) वेद हैं तथा शिक्षा (प्रातिशाख्यादि), कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंदशास्त्र और ज्योतिष—छह वेदांग हैं। अनेक वैदिक ऐतिहासिकों के मत से कल्पग्रंथ या कल्पसूत्र वेदांगों में प्राचीनतम और वैदिक साहित्य के अधिक निकट हैं। षट् वेदांगों में कल्प का विशिष्ट महत्व है। कल्प का तात्पर्य है वेद (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकादि विहित कर्मों, अनुष्ठानों का क्रमपूर्वक कल्पना करनेवाला शास्त्र या ग्रंथ—**कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्** (ऋग्वेदप्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति)। षोडश संस्कारों और श्रौत यागादि का क्रमबद्ध रूप में वर्णन और विवरण आदि यहाँ है। कल्प का प्रस्तुत संदर्भ में अर्थ है विधि, नियम, न्याय, कर्म, आदेश आदि। कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है वैदिक विधिविधानों, कर्मानुष्ठानों, न्यायनियमों, रीतिव्यवस्थाओं और धर्मादेशों-धर्मोपदेशों का संक्षिप्त, संदेहहीन और निर्दोष रूप में निरूपण विवेचन करना। लौकिक संस्कृत और सूत्रवाङमय का वैदिक सूत्रों, विविध वेदांगसूत्रों, दार्शनिक सूत्र ग्रंथादि का आरंभ और प्रवर्तन भी कल्पसूत्रों से होता है। अतः इनका ऐतिहासिक महत्व भी है। वैदिक ब्राह्मणग्रंथों में मुख्यतः वर्णित वैदिक विधिविधानों का नित्य नैमित्तिक काम्य-कर्म-यज्ञादि के अनुष्ठानों का कर्मकांडीय कृत्यों का, गृहस्थजीवन के गृह्य धर्म कर्मों के आचरण का, सामाजिक जीवन के रीति रिवाजों, परंपराओं, प्रथाओं आदि का, वर्णाश्रम-धर्म-पालन-नियमों तथा शासन और राज्यव्यवस्था आदि का वैदिक दृष्टि से विवेचन, प्रतिपादन और निरूपण ही इन कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है। दुरूह वैदिक यज्ञयागादि और विविध धर्म कर्मादि के जटिल एवं गूढ़ विधिविधानों का स्पष्ट असंदिग्ध और आदेशात्मक रूप में विधिनिषेधों की इन वैदिक सूत्रग्रंथों द्वारा घोषणा की गई है। वैदिक ज्ञान, कर्म और परंपरा की जो धारा दुर्बोध्य या अबोध्य हो रही थी उस परंपरा को सुरक्षित रखने एवं नवोद्भूत ज्ञानादि के साथ उनका सामंजस्य बैठाने में इन वैदिक कल्पसूत्रों का बड़ा योगदान रहा है। आगे धार्मिक स्मृतियों ने उसी दिशा में बहुत कुछ कार्य किया। वैदिक शाखाओं के अनुयायी तपोवन आश्रमवासी ऋषि आचार्यों के आश्रमों में ही इन कल्पसूत्रों का निर्माण हुआ और वैदिक आर्यों के पुरायुगीन पारिवारिक, धार्मिक याज्ञिक एवं सामाजिक जीवन में उन कर्मधर्मादि का निरूपण किया गया जिसके कारण आज भी पूर्ववैदिकयुगीन आर्यों की जीवनचर्या, समाज एवं आचारविचार की गतिविधि का हमें ज्ञान हो पाता है।

इन कल्पसूत्रों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है संस्कारों, यज्ञों और वर्णाश्रम धर्मों की व्याख्या, विधिविधान तथा अनुष्ठानचर्या। इन्हीं के आधार पर कल्पसूत्रों का तीन मुख्य वर्गों में विभाजन किया गया है—(१) श्रौतसूत्र, (२) गृह्यसूत्र और (३) धर्मसूत्र। इसके अतिरिक्त शुल्वसूत्र भी एक भेद है।

श्रौतसूत्रों में श्रुतिप्रतिपादित दर्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि श्रौत यज्ञों का और उनके अनुष्ठेय कर्मकांडीय विधिविधानों का क्रमबद्ध वर्णन है। आज उपलब्ध प्रायः प्रत्येक वेद और उसकी प्रत्येक शाखा के अलग अलग श्रौत सूत्र हैं। धार्मिक दृष्टि से इन श्रौतसूत्रों का विशेष महत्व है। ऐतिहासिक क्रम में ये यज्ञ धीरे धीरे अप्रचलित होते जा रहे हैं, परंतु भारतीय आर्यों के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से इनका महत्व आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है।

गृह्यसूत्रों में गृहस्थ जीवन संबंधी संस्कारों और गृहाग्नि में संपन्न होनेवाले यज्ञों के (उपनयन, उद्‌वाह आदि के) विधान, अनुष्ठान आदि का विवरण मिलता है। पार्वणयज्ञ, पितृयज्ञादि सप्त गृह्यज्ञों, देवयज्ञादि पंच महायज्ञों तथा षोडश हिंदू संस्कारों का विधिविधान इन गृह्यसूत्रों में वर्णित है। प्रत्येक वेद और शाखा के गृह्यसूत्र भी पृथक् पृथक् हैं।

धर्मसूत्रों में सामाजिक आचार विचार तथा वर्णों एवं आश्रमों से संबद्ध धर्मकर्माचारों के विषय में विधिनिषेधों तथा कर्तव्याकर्तव्यों का वैदिककालीन स्वरूप वर्णित है। राजधर्म, शासनव्यवस्था. राजा-प्रजा-धर्म-कर्म आदि का भी वर्णन यहाँ मिल जाता है। दंड आदि के विधान भी यहाँ वर्णित हैं। आचार विषयक नियमों से इनका संबंध था और वर्णाश्रमाचार तथा सामाजिक आचरण के लिये धर्मसूत्रों को प्रमाण माना जाता था। धर्मसूत्रों का गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषय से वर्णधर्मो एवं आश्रमधर्मों के संदर्भ में निकटता भी लक्षित होती है। इनमें संस्कारों की चर्चा यद्यपि यत्रतत्र ही हुई है तथापि वर्णाश्रमाचार संबंधी विधिनिषेधों का निरूपण इनका मुख्य लक्ष्य था। अनेक धर्मसूत्र ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं और उनमें भी अधिकांश प्रकाशित हैं। विभिन्न धर्मसूत्रों के साथ वेदशाखाओं के धर्मसूत्रों का कुमारिल भट्ट के तंत्रवार्तिक में उल्लेख मिलता है।

शुल्वसूत्रों में यज्ञ-निमित्तक वेदी के निर्माण का विवरण है। प्राचीन आर्यों के ज्यामितिक ज्ञान का इनसे परिचय मिलता है।

सं०ग्रं०—पं० बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति; वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास; डा० राजवंश सहाय 'हीरा' : संस्कृत साहित्यकोश। (क० प० त्रि०)

कल्माषपाद इक्ष्वाकुवंशीय नरेश ऋतुपर्ण के पौत्र तथा सुदास के पुत्र (सौदास)। इनका अन्य नाम मित्रसह भी था। इनकी रानी मदयंती थीं जिन्हें इन्होंने वसिष्ठ की सेवा में अर्पित किया (म० भा०, शांति० २३४–३०)। पौराणिक इतिवृत्त है कि एक समय वन से मृगया से लौटते हुए तंग रास्ते पर वसिष्ठपुत्र शक्ति मुनि से मार्ग देने के प्रश्न पर विवाद हुआ। राजा ने मुनि का तिरस्कार किया। शक्ति मुनि ने इन्हें राक्षस होने का शाप दिया। विश्वामित्र ऋषि से प्रेरित किंकर नामक राक्षस ने इनके शरीर में प्रवेश किया। राक्षस-स्वभाव-युक्त होने का शाप एक तपस्वी ब्राह्मण ने भी दिया था जिससे इन्होंने अपने रसोइए को मनुष्य का मांस देने को प्रेरित किया। राक्षस स्वभाव से युक्त होकर शक्ति तथा वसिष्ठ के अन्य पुत्रों का भक्षण कर लिया। इसी अवस्था में इन्होंने मैथुन के लिये उद्यत एक ब्राह्मण का भक्षण कर लिया था अतः ब्राह्मणपत्नी आंगिरसी ने इन्हें अपनी पत्नी से समागम करते ही मृत्यु होने का शाप दिया। वसिष्ठ ने राक्षस योनि से इनका उद्धार मंत्रपूत जल छिड़ककर किया और पुनः ब्राह्मणों का अपमान न करने का आदेश दिया। वसिष्ठ ने इनकी पत्नी के गर्भ से अश्मक नामक पुत्र उत्पन्न किया। (चं० भा० पां०)

कल्याण महाराष्ट्र राज्य में थाना जिले का एक दक्षिणी तालुका है जो क्षेत्रफल में २६७ वर्ग मील है। इस तालुके का मुख्य नगर

कल्याण है जो १६° १४' उ० अ० और ७३° १०' पू० दे० पर उल्हास नदी के तट पर स्थित है। बंबई नगर से ३३ मील उत्तर-पूर्व की ओर 'मध्य रेल मार्ग' यहाँ दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हो जाता है। बंबई नगर के समीप स्थित होने के फलस्वरूप कल्याण नगर की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ी और १९४१-५१ के दशक में लगभग दुगनी हो गई। कुल जनसंख्या ७३,४८२ (१९६१ ई०) थी। मुख्य उद्योग धान साफ करना और ईंटें बनाना है, समीपवर्ती क्षेत्रों में जमीन से पत्थर खोदने का कार्य भी होता है। इस नगर के औद्योगीकरण की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। इसकी उत्तम खाड़ी नौका विहार एवं मछली पकड़ने के लिये अनुकूल है। यहाँ पर मुसलमानों का मेला मई के महीने में हर वर्ष बड़े धूमधाम से लगता है।

कल्याण नगर का नाम प्राचीन शिलालेखों में भी मिलता है जो संभवतः पहली, दूसरी, पाँचवीं या छठी सदी ई० काल के हैं। ईसा काल की आरंभिक शताब्दियों में यह नगर एक राज्य की राजधानी और समुद्रवर्ती व्यापार का केंद्र था। १४वीं सदी ई० के आरंभ में मुसलमान शासकों ने इसका नाम बदलकर इसलामाबाद कर दिया। १५३६ ई० में पुर्तगालियों ने इसपर आधिपत्य जमाया। १७८० ई० में अंग्रेजों ने मराठों से जीतकर इस नगर को अपने अधीन कर लिया। (कृ० प्र० सि०)

कल्लिदाह कुरिच्चि तमिलनाडु राज्य में तिरुनेलवेली जिले के अंबासमुद्रम् तालुक का एक नगर है जो ८° ४१' उ० अ० और ७७°२७' पू० दे० पर ताम्रपर्णी नदीतट पर स्थित है। यहाँ का सूती वस्त्रोद्योग महत्वपूर्ण है। समीपवर्ती क्षेत्र कृषि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और यह नगर खाद्यान्न के संग्रह और वितरण का मुख्य केंद्र बन गया है। (कृ० प्र० सि०)

कल्हण (११५० ई०) विश्वविख्यात ग्रंथ राजतरंगिणी (११४८-५० ई०) का रचयिता कल्हण काश्मीर के महाराज हर्षदेव (१०८९-११०१) के महामात्य चंपक का पुत्र था और संगीतमर्मज्ञ कनक का अग्रज। मंख ने श्रीकंठचरित (११२८-४४) (स० २५, श्लो० ७८-८०) में कल्याण नाम के इसी कवि की प्रौढ़ता को सराहा है और इसे महामंत्री अलकदत्त के प्रश्रय में 'बहुकथाकेलिपरिश्रमनिरंकुश' घोषित किया है।

वास्तव में कल्हण एक विलक्षण महाकवि था। उसकी 'सरस्वती' रागद्वेष से अलेप रहकर 'भूतार्थचित्रण' के साथ ही साथ 'रम्यनिर्माण' में भी निपुण थी; तभी तो बीते हुए काल को 'प्रत्यक्ष' बनाने में उसे सरस सफलता मिली है। 'दुष्ट वैदुष्य' से बचने का उसने सुरुचिपूर्ण प्रयत्न किया है और 'कविकर्म' के सहज गौरव को प्रणाम करते हुए उसने अपनी प्रतिभा का सनेत उपयोग किया है। इतिहास और काव्य के संगम पर उसने अपने 'प्रबंध' को शांत रस का 'मूर्धाभिषेक' दिया है और अपने पाठकों को राजतरंगिणी की अमंद रसधारा का आस्वादन करने को आमंत्रित किया है।

सच तो यह है कि कल्हण ने 'इतिहास' (इति + ह + आस) को काव्य की विषयवस्तु बनाकर भारतीय साहित्य को एक नई विधा प्रदान की है, और राष्ट्रजीवन के व्यापक विस्तार के साथ साथ मानव प्रकृति की गहराइयों को भी छू लिया है। शांत रस के असीम पारावार में शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स और करुण आदि सभी रस हिलोरें लेते दिखाए गए हैं; और बीच बीच में हास्य और व्यंग के जो छींटे उड़ते रहते हैं वे भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। क्षेमेंद्र के बाद कल्हण ने ही तो सामयिक समाज पर व्यंग कसकर संस्कृत साहित्य की एक भारी कमी को पूरा करने में योग दिया है।

इतिहासकार के नाते निःसंदेह कल्हण की अपनी सीमाएँ हैं, विशेषकर प्रारंभिक वंशावलियों और कालगणना के बारे में। उसके साधन भी तो सीमित थे। पर खेद की बात है कि अपनी विवशता से सतर्क रहने के बजाय उसने कुछ लोकप्रचलित अंधविश्वासों को अत्युक्तियुक्त मान्यता दी, जैसे रणादित्य के ३०० वर्ष लंबे शासन की उपहास्य अनुश्रुति को। किंतु यह भी कम सराहनीय नहीं कि चौथे तरंग के अंतिम भाग में अपने समय तक अर्थात् ३८८६ लौकिक शक (८१३-१४ ई०) से ४२२५ लौ० शक (११४९-५० ई०) तक उसकी कालगणना और इतिहास सामग्री विस्तृत और विश्वसनीय है। अपने पूर्ववर्ती 'सूरियों' के ११ ग्रंथों और 'नीलमत' (पुराण) के अतिरिक्त उसने प्राचीन राजाओं के 'प्रतिष्ठाशासन', 'वास्तुशासन', 'प्रशस्तिपट्ट', 'शास्त्र' (लेख आदि), भग्नावशेष, सिक्के और लोकश्रुति आदि पुरातात्विक साधनों से यथेष्ट लाभ उठाने का गवेषणात्मक प्रयास किया है; और सबसे बड़ी बात यह कि अपने युग की अवस्थाओं और व्यवस्थाओं का निकट से अध्ययन करते हुए भी वह अपनी टीका टिप्पणी में बेलाग है। और तो और, अपने आश्रयदाता महाराज जयसिंह के गुण-दोष-चित्रण (तरंग ८, श्लो० १५५०—) में भी उसने अनुपम तटस्थता का परिचय दिया है। उसी के शब्दों में 'पूर्वापरानुसंधान' और 'अनीर्ष्य (अर्थात् ईर्ष्याशून्य) विवेक' के बिना गुणदोष का निर्णय समीचीन नहीं हो सकता।

संभवतः इसीलिये कल्हण ने केवल राजनीतिक रूपरेखा न खींचकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश की झलकियाँ भी प्रस्तुत की हैं; और चरित्रचित्रण में सरस विवेक से काम लिया है। मातृगुप्त और प्रवरसेन, नरेंद्रप्रभा और प्रतापादित्य तथा अनंगलेखा, खंख और दुर्लभवर्धन (तरंग ३) अथवा चंद्रापीड और चमार (तरंग ४) के प्रसंगों में मानव मनोविज्ञान के मनोरम चित्र झिलमिलाते हैं। इसके अतिरिक्त बाढ़, आग, अकाल और महामारी आदि विभीषिकाओं तथा धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उपद्रवों में मानव स्वभाव की उज्वल प्रगतियों और कुत्सित प्रवृत्तियों के साभिप्राय संकेत भी मिलते हैं।

कल्हण का दृष्टिकोण बहुत उदार था; माहेश्वर (ब्राह्मण) होते हुए भी उसने बौद्ध दर्शन की उदात्त परंपराओं को सराहा है और पाखंडी (शैव) तांत्रिकों को आड़े हाथों लिया है। सच्चे देशभक्त की तरह उसने अपने देशवासियों की बुराइयों पर से पर्दा सरका दिया है और एक सच्चे सहृदय की तरह देशकाल की सीमाओं से ऊपर उठकर सत्य, शिव और सुंदर का अभिनंदन तथा प्रतिपादन किया है।

समूचे प्राचीन भारतीय इतिहास में जो एक मात्र वैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ है वह है कल्हण की राजतरंगिणी। अपनी कुछ कमजोरियों के बावजूद कल्हण का दृष्टिकोण प्रायः आज के इतिहासकार जैसा है। स्वयं तो वह समसामयिक स्थानीय पूर्वाग्रहों के ऊपर उठ ही गया है, साथ ही घटनाओं के वर्णन में अत्यंत समीचीन अनुपात रखा है। विवरण की संक्षिप्तता सराहनीय है।

सं०ग्रं०—एम० ए० स्टीन : कल्हणाज राजतरंगिणी; आर० एस० पंडित : रिवर ऑव किंग्स; गोपीकृष्ण शास्त्री द्विवेदी : हिंदी राजतरंगिणी; यू० एन० घोषाल : स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर; पांडेय रामतेज शास्त्री : राजतरंगिणी (हिंदी अनुवाद)। (पृ० पु०)

कवक (फ़ंगस, Fungus) जीवों का एक विशाल समुदाय है जिसे साधारणतया वनस्पतियों में वर्गीकृत किया जाता है। इस वर्ग के सदस्य पर्णहरिम (क्लोरोफ़िल, chlorophyll) रहित होते हैं और इनमें प्रजनन बीजाणुओं (स्पोर, spore) द्वारा होता है। ये सभी सूकाय (थैलॉयड, thalloid) वनस्पतियाँ हैं, अर्थात् इनके शरीर के ऊतकों (टिशूज, tissues) में कोई भेदकरण नहीं होता; दूसरे शब्दों में, इनमें जड़, तना और पत्तियाँ नहीं होतीं तथा इनमें अधिक प्रगतिशील पौधों की भाँति संवहनीयतंत्र (वैस्क्युलर सिस्टम, vascular system) नहीं होता। पहले इस प्रकार के सभी जीव एक ही वर्ग कवक के अंतर्गत परिगणित होते थे, परंतु अब वनस्पति विज्ञानविदों ने कवक वर्ग के अतिरिक्त दो अन्य वर्गों की स्थापना की है जिनमें क्रमानुसार जीवाणु (बैक्टीरिया, bacteria) और श्लेष्मोर्णिका (स्लाइम मोल्ड, slime mold) हैं। जीवाणु एककोशीय होते हैं जिनमें प्रारूपिक नाभिक (टिपिकल न्यूक्लियस, typical nucleus) नहीं होता तथा श्लेष्मोर्णिका की बनावट और पोषाहार (न्यूट्रिशन, nutrition) जंतुओं की भाँति होता है। कवक अध्ययन के विज्ञान को कवक विज्ञान (माइकॉलोजी, mycology) कहते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि कवक की उत्पत्ति शैवाल (ऐलजी; algae) में पर्णहरिम की हानि होने से हुई है। यदि वास्तव में ऐसा हुआ है तो कवक को पादप सृष्टि (प्लांट किंग्डम, plant kingdom) में रखना उचित ही है। दूसरे लोगों का विश्वास है कि इनकी उत्पत्ति रंगहीन कशाभ (फ्लैजेलेटा, flagellata) या प्रजीवा (प्रोटोज़ोआ, protozoa) से हुई है जो सदा से ही पर्णहरिम रहित थे। इस विचारधारा के अनुसार इन्हें वानस्पतिक सृष्टि में न रखकर एक पृथक् सृष्टि में वर्गीकृत किया जाना चाहिए।

वास्तविक कवक के अंतर्गत कुछ ऐसी परिचित वस्तुएँ आती है, जैसे गुंधे हुए आटे (dough) से पावरोटी बनाने में सहायक एककोशीय खमीर (यीस्ट, yeast), बासी रोटियों पर रूई की भाँति उगा फफूंद, चर्म को मलिन करनेवाले दाद के कीटाणु, फसल के नाशकारी रतुआ तथा कंडुवा (रस्ट ऐंड स्मट, rust and smut) और खाने योग्य एव विषैली खुंभियाँ (मश्रूम्स, mushrooms)।

पोषाहार (न्यूट्रिशन, nutrition)—पर्णहरिम की अनुपस्थिति के कारण कवक कार्बन डाइ-ऑक्साइड और जल द्वारा कार्बोहाइड्रेट निर्मित करने में असमर्थ होते हैं। अतः अपने भोज्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये अन्य वनस्पतियों, जंतुओं तथा उनके मृत शरीर पर ही आश्रित रहते हैं। इनकी जीवनविधि और संरचना इसी पर आश्रित हैं। यद्यपि कवक कार्बन डाइ-ऑक्साइड से शर्करा निर्मित करने में पूर्णतया असमर्थ होते हैं तथापि ये साधारण विलेय शर्करा से जटिल कार्बोहाइड्रेट का संश्लेषण कर लेते हैं, जिससे इनकी कोशिकाभित्ति (सेल वॉल, cell wall) का निर्माण होता है। यदि इन्हें साधारण कार्बोहाइड्रेट और नाइट्रोजन यौगिक (नाइट्रोजेनस कंपाउंड, nitroenous compound) दिए जायें तो कवक इनसे प्रोटीन और अंततः (प्रोटोप्लाज्म protoplasm) निर्मित कर लेते हैं।

चित्र १. कंडुवा लगी हुई गेहूँ की बाली

मृतोपजीवी (सैप्रोफ़ाइट, saprophyte) के रूप में कवक या तो कार्बनिक पदार्थों, उत्सर्जित पदार्थ (वेस्ट प्रॉडक्ट, waste product) या मृत ऊतकों को विश्लेषित करके भोजन प्राप्त करते हैं। परजीवी (parasite) के रूप में कवक जीवित कोशों पर आश्रित रहते हैं। सहजीवी (सिमबाइऑण्ट, s mbiont) के रूप में ये अपना संबंध किसी अन्य जीव से स्थापित कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप इस मैत्री का लाभ दोनों को ही मिल जाता है। इन दोनों प्रकार की भोजनरीतियों के मध्य में कुछ कवक आते हैं जो परिस्थिति के अनुसार अपनी भोजनप्रणाली बदलते रहते हैं।

रहन सहन और वितरण—कवक की जातियों की संख्या लगभग ८० से ९० हजार तक है। संभवतः कवक सबसे अधिक व्यापक है। जलीय कवक में एकलाया (Achlaya), सैप्रोलेग्निया (Saprolegnia), मिट्टी में पाए जानेवाले म्यूकर (Mucor), पेनिसिलियम (Penicillium), एस्परजिलस (Aspergillus), फ्यूज़ेरियम (Fusarium) आदि; लकड़ी पर पाए जानेवाले मेरुलियस लैक्रिमैंस (Merulius lachrymans); गोबर पर उगनेवाले पाइलोबोलस (Pilobolus) तथा सॉर्डेरिया (Sordaria); वसा में उगनेवाले यूरोटियम (Eurotium) और पेनिसिलियम की जातियाँ हैं। ये वायु तथा अन्य जीवों के शरीर के भीतर या उनके ऊपर भी पाए जाते हैं। वास्तव में विश्व के उन सभी स्थानों में कवक की उत्पत्ति हो सकती है जहाँ कहीं भी इन्हें कार्बनिक यौगिक की प्राप्ति हो सके। कुछ कवक तो लाइकेन (lichen) की संरचना में भाग लेते है जो कड़ी चट्टानों पर, सूखे स्थान में तथा पर्याप्त ऊँचे ताप में उगते हैं, जहाँ साधारणतया कोई भी अन्य जीव नहीं रह सकता।

चित्र २. बाजरे की हरी बाली का रोग कवक से उत्पन्न होता है।

कवक की अधिकाधिक वृद्धि विशेष रूप से आर्द्र परिस्थितियों में, अँधेरे में या मंद प्रकाश में होती है। इसीलिये छत्रक अधिक संख्या में आर्द्र और उष्ण तापवाले जंगलों में उगते हैं।

वानस्पतिक शरीर की संरचना—कुछ एककोशिकीय जातियों, उदाहरणार्थ खमीर, के अतिरिक्त अन्य सभी जातियों का शरीर कोशिकामय होता है, जो सूक्ष्मदर्शीय (माइक्रोस्कोपिक) रेशों से निर्मित होता है और जिससे प्रत्येक दिशा में शाखाएँ निकलकर जीवाधार (substratum) के ऊपर या भीतर फैली रहती हैं। प्रत्येक रेशे को कवकतंतु (hypha) कहा जाता है और इन कवकतंतुओं के समूह को कवकजाल (माइसीलियम, mycelium) कहते हैं। प्रत्येक कवकतंतु एक पतली, पारदर्शी नलीय दीवार का बना होता है, जिसमें जीवद्रव्य का एक स्तर होता है या जो जीवद्रव्य से पूर्णतया भरा होता है। ये शाखी या अशाखी रहते है और इनकी मोटाई ०.५ म्यू से लेकर १०० म्यू तक होती है (१ म्यू = एक मिलीमीटर का हजारवाँ भाग)।

जीवद्रव्य या तो अटूट पूरे कवकतंतु में फैला रहता है जिसमें नाभिक (nucleus) बिना किसी निश्चित व्यवस्था के बिखरे रहते हैं, अन्यथा कवकतंतु दीवारों का पट (सेप्टम, septum) द्वारा विभाजित रहते है जिससे संरचना बहुकोशिकीय होती है। पहली अवस्था को बहुनाभिक (सीनोसिटिक, coenocytic) तथा दूसरी को पटयुक्त (सेप्टेट, septate) अवस्था कहते हैं। प्रत्येक कोशिका में एक, दो या अधिक नाभिक हो सकते हैं।

अधिकांश कवक के तंतु रंगहीन होते हैं, किंतु कुछ में ये विभिन्न रंगों से रँगे होते हैं।
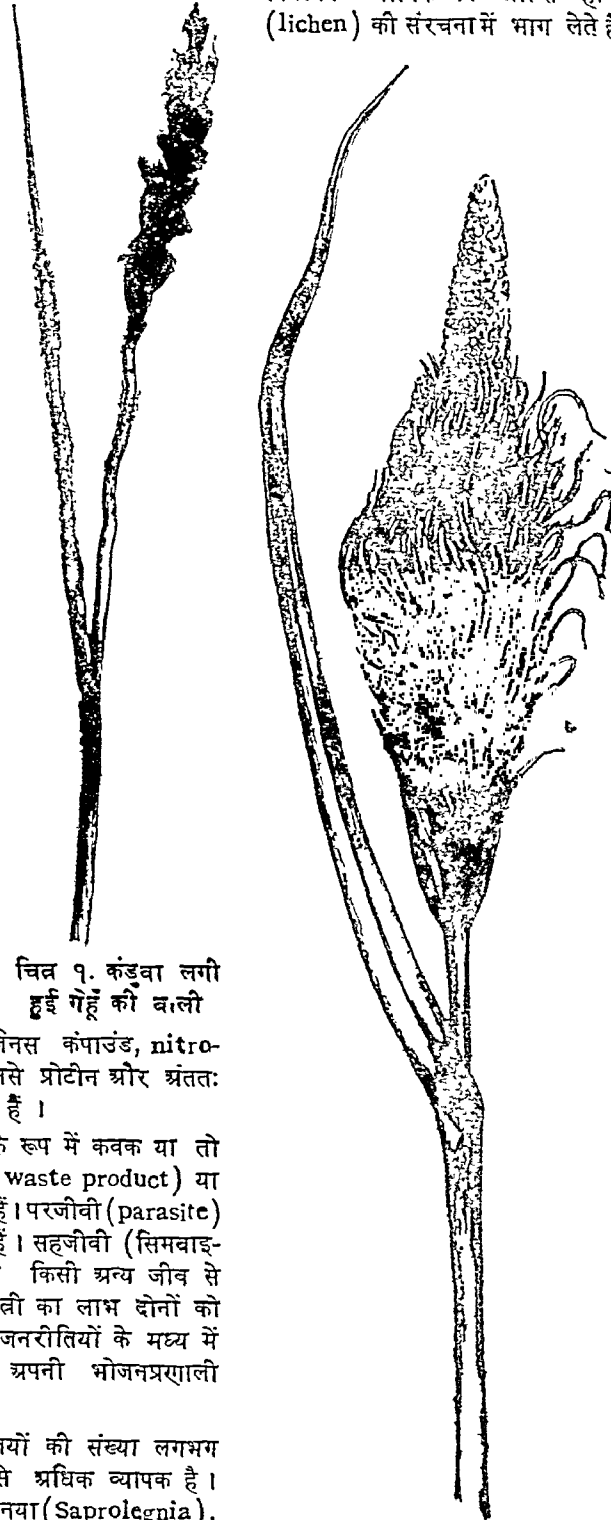
साधारण कवक का शरीर ढीले कवकततुओं से निर्मित होता है किंतु कुछ उच्च कवको के जीवनवृत्त की कुछ अवस्थाओं मे उनसे कवकजाल घने होकर सघन ऊतक बनाते है जिसे सजीवितक (प्लेक्टेनकिमा, plectenchyma) कहते है। सजीवितक दो प्रकार का हो सकता है—दीर्घितक (प्रोसेंकिमा, prosenchyma) और कूटजीवितक (स्यूडोपैरेंकिमा, pseudoparenchyma)।

दीर्घितक ढीला ऊतक होता है, जिसमे प्रत्येक कवकततु अपना अपनत्व बनाए रखता है। कूटजीवितक मे सूत्र काफी घने होते हैं तथा वे अपना ऐकात्म्य खो बैठते है और काटने पर उच्चवर्गीय पौधो के जीवितक कोशो (पैरेंकिमा सेल्स Parenchyma cells) के समान दिखाई पडते हे। इन ऊतको से विभिन्न प्रकार के वानस्पतिक और प्रजनन विन्यास (रिप्रॉडक्टिव स्ट्रक्चर, reproductive structure) का निर्माण होता है। कवक की बनावट चाहे कितनी हा जटिल क्यो न हो, पर वे सभी कवकततुओं द्वारा ही निर्मित होते हैं। ये ततु इतने सघन होते हैं कि वे ऊतक के रूप मे प्रतीत होते है, किंतु कवको मे कभी भी वास्तविक ऊतक नही होता।
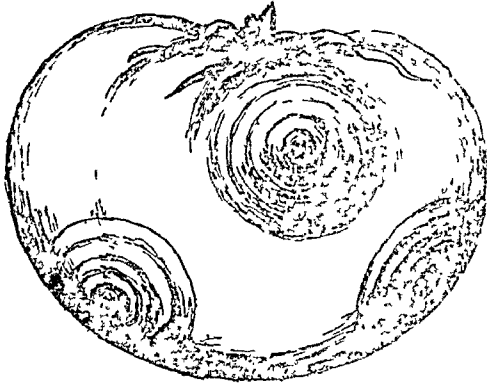
चित्र ३. टमाटर कवकों के उगने के कारण सड़ता है।

कोशिकाभित्ति (सेल वाल, cell wall) की रासायनिक संरचना एवं कोशिका विज्ञान (साइटॉलोजी, cytology)—कुछ जातियो को
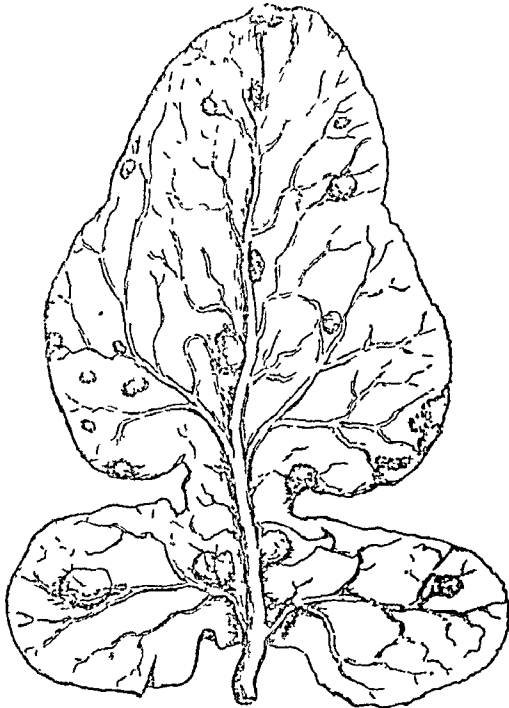
चित्र ४. सरसों में श्वेत धब्बे कवकों से उत्पन्न होते हैं।

छोड़कर कवको की कोशिकाभित्तियो की रासायनिक व्याकृतियाँ (केमिकल कपोजिशन, chemical composition) विभिन्न जातियो मे भिन्न भिन्न होती है। कुछ जातियो की कोशिकाभित्तियो मे सेलुलोस या एक विशेष प्रकार का कवक सेल्यूलोस पाया जाता है तथा अन्य जातियो मे काइटिन (chitin) कोशिकाभित्ति के निर्माण के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी होता है। कई कवको मे कैलोस (callose) तथा अन्य कार्बनिक पदार्थ भी कोशिकाभित्ति मे पाए गए है।

कवकततु मे नाभिक के अतिरिक्त कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म, cytoplasm) तैलबिंदु तथा अन्य पदार्थ उपस्थित रहते है, उदाहरणार्थ कैल्सियम ऑक्सलेट, (calcium oxalate) के रवे, प्रोटीन कण इत्यादि। प्रत्येक जाति में प्रोटोप्लास्ट (protoplast) हरिमकणक (क्लोरोप्लास्ट, chloroplast) रहित होता है। यद्यपि कोशिकाओ मे स्टार्च का अभाव होता है, तथापि एक दूसरा जटिल पोलिसैकेराइड ग्लाईकोजन (polysaccharide glycogen) पाया जाता है।

मृतोपजीवी (सैप्रोफाइट, saprophyte) कवक के कवकततु आधार के निकट संस्पर्श मे आकर अपना भोजन अपने रेशो की दीवार से विसरण (डिफ्यूजन, diffusion) द्वारा प्राप्त करते है।

पराश्रयी (पैरासाइट, parasite) कवक जतुओ और वनस्पतियो की कोशिकाओ से पोषित होते है और इस प्रकार ये अपने पोषक को हानि पहुँचाते है, जिसके कारण वनस्पतियो एव जंतुओ मे व्याधियाँ उत्पन्न होती है। कवकजाल प्राय. पोषको के धरातल पर अथवा पोषकों
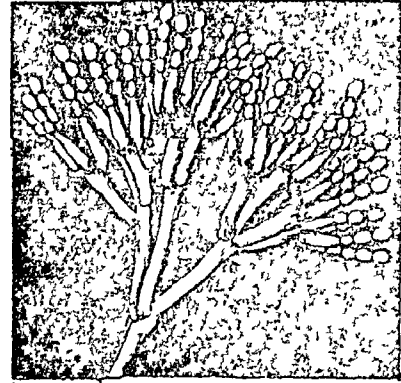
चित्र ५. पेनिसिलियम का सूक्ष्मदर्शी द्वारा दिखाई पड़नेवाला रूप।

के भीतरी स्थानो मे अंतःकोशिका (इटरसेलुलर, intercellular) या पोषको के कोशो को छेदकर (कोशिकाभ्यतरी, इट्रासेलुलर, intracellular) उगते है। कवकततु के अग्रभाग से एक प्रकार के एजाइम (enzyme) का स्राव होता है जिससे इन्हे कोशिकाभित्ति के वेधन तथा विघटन मे सहायता प्राप्त होती है। अंतःकोशिकाततु एक विशेष प्रकार की शाखाओ को पोषक कोशिकाओ मे भेजते है जिन्हे आशोपाग (हॉस्टोरिआ, haustoria) कहते है। ये आशोपाग अति सूक्ष्म छिद्रों द्वारा कोशिकाभित्ति (सेल वॉल, cell wall) मे प्रवेश करते है। ये विशेषित अवशोपक अग (एब्जॉरबिंग ऑर्गन्स, absorbing organs) होते है, जो विभिन्न जातियो मे विभिन्न प्रकार के होते है। जतुओ मे पाए जानेवाले पराश्रयी कवको मे अवशोपकाग नही पाए गए है।

सदा पराश्रयी (ऑब्लिगेट पैरासाइट, obligate parasite) अपना भोजन कोशिकाओ के जीवित जीवद्रव्य से ही प्राप्त करते है, किंतु वैकल्पिक पराश्रयी (फैकल्टेटिव पैरासाइट, facultative parasite) अधिकतर पराश्रयी जीवन व्यतीत करते है परतु कभी कभी मृतोपजीवी रूप से भी अपना भोजन प्राप्त करते है।

विभिन्न कवको के लिये विभिन्न खाद्य सामग्री की आवश्यकता होती है। कुछ कवक सर्वभोजी होते हैं तथा किसी भी कार्बनिक पदार्थ से अपना

भोजन प्राप्त कर सकते हैं, जैसे ऐस्परजिलस (Aspergillus) और पेनिसिलियम। अन्य कवक अपने भोजन में विशेष दुस्तोष्य होते हैं। कुछ सदा पराश्रयी के पोषण के लिये जीवित प्रोटोप्लाज्म की ही नहीं वरन् किसी विशेष जाति के आधार की भी आवश्यकता होती है।

कीटों द्वारा कवक की खेती—दक्षिणी अफ्रीका में कुछ चींटियाँ तथा दीमकें कवकों का केवल आहार ही नहीं करतीं वरन् उनको उगाती भी है। ये जीव विशेष प्रकार के कार्बनिक पदार्थों को इकट्ठा कर अपने घोसलों में बिछाते है जिनपर कवक अच्छी तरह उग सकें। कुछ दशाओं में ये कवकों का रोपण करते हैं। विद्वानों का ऐसा विचार है कि एक जाति की चींटी अपना विशेष कवक उत्पन्न करती हैं।
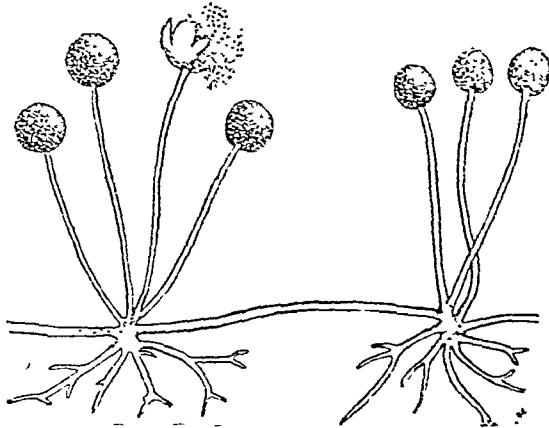
चित्र ६. रोटी की फफूँद (Rhizopus)
(वास्तविक से अनेक गुना बड़े पैमाने पर)

कीटों पर उगनेवाले कवक (कीटपरजीवी, एंटोमोजीनस फ़ंजाई, Entomogenous fungi)—अनेक कवक कीटों पर ही उगते हैं। एंटोमॉफ़्थोरा (Entomophthora) की कई जातियाँ कीटाश्रयी हैं। एंटोमॉफ़्थोरा मस्की (Entomophthora muscae) साधरण मक्खियों पर आक्रमण करता है। कवकजाल से मक्खियों का पूरा शरीर भर जाता है और बीजाणुओं के परिपक्व होने पर वे प्रक्षिप्त होकर मृत मक्खी के चारों ओर वृत्ताकार क्षेत्र में फैल जाते हैं। कॉर्डिसेप्स (Cordyceps) की कई जातियाँ कीटों पर ही आश्रित रहती हैं। कॉर्डिसेप्स मिलिटैरिस (Cordyceps militaris) प्यूपा (pupa) और इल्ली (कैटरपिलर, caterpillar) पर आश्रित रहता है। एक कवक बोवेरिया बैसियाना (Beauveria bassiana) रेशम के कीड़े की मुख्य व्याधि श्वेतमारी (मस्करडीन, Muscardine) के लिये उत्तरदायी है।

हिंसाजीवी कवक (प्रिडेशस फ़ंजाइ, Predaceous fungi)—कवक की कुछ जातियाँ मिट्टी और जल में रहती हैं। ये जातियाँ अपने भोजन के लिये अमीबा, सूत्रकृमि (नेमाटोड्स, Nematodes) एवं अन्य छोटे छोटे भूमीय जंतुओं को ग्रहण करती हैं। इन मांसाहारी कवकों में कुछ का कवकजाल चिपकनेवाला होता है जैसे ट्राइकोथेसियम साइटॉस्पोरियम (Trichothecium cytosporium) में, परंतु कुछ दूसरे कवक अपने शिकार को पकड़ने के लिये विशेष प्रकार की युक्तियों का उपयोग करते हैं; उदाहरणार्थ डेक्टीलेरिया ग्रैसिलिस (Dactylaria gracilis) में संकुचित वलय (कॉंस्ट्रिक्टिंग रिंग्स, Constricting rings) तथा सोमरस्टॉफ़िया (Sommerstorffia) में चिपकनेवाली खूँटियाँ होती हैं। कवकतंतु कुंडली बनाकर सूत्रकृमि के चारों ओर चिपट जाते हैं और उसे चूस डालते हैं। कवक विज्ञान में कवकतंतुओं द्वारा प्रचूषण का यह एक विचित्र और आश्चर्यजनक उदाहरण है।

सहजीवन (सिंबिऑसिस, Symbiosis)—कवक उच्च वनस्पतियों से सहजीवन का संबंध स्थापित कर कवकमूलता (माइकोरिज़ा, Mycorrhiza) बनाते हैं। इस सहजीवन संबंध की स्थापना पेड़ों, झाड़ियों तथा पर्णांगोद्भिद (टेरिडोफ़ाइट्स, Pteridophytes) और हरितोद्भिद (ब्रायोफ़ाइट्स, Bryophytes) से भी होती है।

चित्र ७. खुंबी (मौरकेला एस्क्यूलेंटा Morchella esculenta)

कवक नीले तथा हरे शैवाल (ऐलजी, Algae) के साहचर्य से लाइकेन की स्थापना करते है। कवक और इन जीवों का यथार्थ संबंध अभी तक स्पप्ट ज्ञात नहीं हो सका है।

प्रतिजीविता (ऐंटिबायोसिस, Antibiosis)—कवक प्राय: ऐसे जटिल कार्बनिक (ऑर्गैनिक, organic) उत्सर्गी पदार्थों (मल आदि) का उत्पादन करते हैं जो दूसरों की वृद्धि पर प्रभाव डालते हैं। इसकी क्रिया कभी कभी उत्तेजक होती है, जैसे कैण्वक (बायॉस, bios) नामक पदार्थ की, परंतु अधिकतर इनका कार्य निरोधी होता है। इस दशा को प्रतिजीविता (antibiosis) कहते हैं। इस क्रिया के ज्ञान से ही रोगाणुनाशी पदार्थों (antibiotics) का आविष्कार हुआ है।

प्रजनन (Reproduction)—कवकों में प्रजनन कार्य विशेष रूप से अलैंगिक (asexual) और लैंगिक (sexual) दोनों रीतियों से होता है, किंतु अधिकांश कवकों में इनमें से केवल एक ही रीति से होता है।

प्रजननांग के निर्माण में या तो संपूर्ण सूकाय (शरीर) एक या अनेक प्रजनन अंग में परिवर्तित हो जाता है या केवल इसका कोई भाग। इनमें से पूर्व भाग को एकफलिक (होलोकार्पिक, holocarpic) और अपर भाग को बहुफलिक (यूकार्पिक, eucarpic) कहते हैं।

अलैंगिक प्रजनन (Asexual reproduction)—सबसे साधारण प्रकार के जनन में एक या अधिक कोशिकाएँ पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से बढ़ती हैं और नए कवकसूत्र को जन्म देती है। यद्यपि दैहिक रूप से ये बीजाणुओं के समान आचरण करती हैं, तथापि उनसे भिन्न होती हैं और

चित्र ८. छत्रक

इनको चिपिटो-बीजाणु (ऑइडिया, oidia) या खमीर (यीस्ट) में कुड्‌म (बड, bud) या कुड्‌मलाणु (जेम्मा, gemma) नाम दिया जाता है।

बीजाणु (Spores) सूक्ष्म होते हैं और इनके आकार तथा संरचनाएँ भिन्न भिन्न जातियों के लिये विभिन्न होती हैं। ये बीजाणु जन्म देनेवाले सूत्रों से आकार प्रकार, रंग, उत्पत्तिस्थान और ढंग में भिन्न होते हैं। फिर, ये बीजाणु स्वयं अलग अलग आकार, प्रकार और रंग के होते हैं तथा पटयुक्त (सेप्टेट, septate) या पटरहित (असेप्टेट, aseptate) रहते हैं। प्रायः ये अति सूक्ष्म होते हैं और बहुत कम दशाओं में ये बिना सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) के देखे जा सकते हैं।

बीजाणु एक विशेष प्रकार के थैले या आवरण में निर्मित होते हैं जिन्हें बीजाणुधानी (स्पोरेंजियम, sporangium) कहते हैं। जब ये बीजाणु चर (मोटाइल, motile) होते हैं तब इन्हें चलजन्तु (ज़ूस्पोर्स, zoospores) कहते हैं। इनमें एक या दो कशाभ (फ्लैजेलम, flagellum) हो सकते हैं। यदि बीजाणु किसी कवकसूत्र (हाइफ़ा, hypha) के शीर्ष से कटकर पृथक् होते हैं तब ये कणी (कोनिडिआ, conidia) कहलाते हैं और सूत्र तब कणीधर (कोनिडिओफ़ोर, conidiophore) कहलाता है।

चित्र ९. लकड़ी पर उगनेवाला कवक

कणीधरों में बहुत भिन्नता होती है। यह बहुत छोटे तथा सरल से लेकर लंबे तथा शाखित तक होते हैं। ये व्यवस्थाहीन, एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं अथवा विशेष रूप से विभिन्न संरचनाओं में सघटित रहते हैं।

१. जब ये कणीधर इकट्ठे होकर विस्तीर्ण तल्प (गद्दी, cushion) का निर्माण करते हैं तब मृतोपजीवी कवक में ये स्पोरोडोकिया (Sporodochia) और परोपजीवी कवक में प्रगुच्छक (एसरवुलस, acervulus) कहलाते हैं। जिस ऊतक से इनका जन्म होता है उसे घनकाय (स्ट्रोमा, stroma) कहते हैं।

२. दूसरी दशा में संजीविनक (प्लेक्टेनकाइमा, plectenchyma) एक खोखली गुहा बनाता है जिसकी आंतरिक दीवाल से कणी निकले रहते हैं। इस पिंड को पत्रिधा (पिक्निडिआ, pycnidia) कहते हैं और उन बीजाणुओं को पत्रिधाबीजाणु (पिक्निडिओस्पोर, pycnidiospore) कहते हैं।

३. जब कणीधर एक समूह में युक्त होते हैं तब इन्हें मार्जनीकाय (कोरिमीआ, coremia) कहते हैं।

पूर्वोक्त सभी प्रकार के बीजाणुओं की उत्पत्ति एकल कवकजाल (हैप्लॉयड माइसीलिअम, haploid mycelium) पर होती है और ये बीजाणु उचित वातावरण में प्रजनन का कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति बहुत अधिक संख्या में होती है और ये वायु, जल, कीटाणु और अन्य साधनों द्वारा दूर दूर तक वितरित हो जाते हैं।

एक अलैंगिक बीजाणु एक या दो परतों से आवृत होता है जिसके कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज़्म, cytoplasm) में साधारणतया एक नाभिक होता है तथा खाद्य सामग्री तैलबिंदु के रूप में एकत्रित रहती है। अंकुरण के समय आवरण का एक भाग निकलकर एक अंकुरनाल (जर्म ट्यूब, germ tube) बनाता है जो बढ़कर एक सूत्र बन जाता है। यह सूत्र विभाजित होकर कवकजाल (mycelium) को जन्म देता है।

कभी कभी मोटे और बड़े आवरण के बीजाणु भी बनते हैं। इन्हें कंचुक बीजाणु (क्लैमाइडोस्पोर्स, chlamydospores) कहते हैं।

लैंगिक प्रजनन (Sexual reproduction)—लैंगिक प्रजनन में दो अनुरूप नाभिकों का संमेल होता है। इस विधि में तीन अवस्थाएँ होती हैं: १. जीवद्रव्य-सायुज्यन (प्लाज़्मोगामी, plasmogamy): इस क्रिया से दो एकल नाभिक (हैप्लॉयड न्यूक्लियस, haploid nucleus) एक कोशिका में आ जाते हैं। २. नाभिक-सायुज्यन (कैरिओगामी, karyogamy): इसमें दोनों एकल नाभिक मिलकर एक द्विगुणित निषेचनज (डिप्लॉइड ज़ाइगोट, diploid zygote) नाभिक का निर्माण करते हैं। ३. अर्धसूत्रण (मायोसिस, meiosis): इसके द्वारा द्विगुणित युक्त नाभिक विभाजित होकर चार एकल नाभिकों को जन्म देते हैं।

कवकों के लैंगिक अंगों को युग्मकधानी (गैमिटैंजिआ, gametangia) कहते हैं। ये युग्मकधानी विभिन्न लैंगिक कोशिकाओं को निर्मित करते हैं, जिन्हें युग्मक (गैमीट, gamete) कहते हैं या कभी कभी इनमें केवल युग्मक नाभिक (गैमीट न्यूक्लिअस, gamet nucleus) ही होता है। जब युग्मकधानी और युग्मक आपस में आकार प्रकार में समान होते हैं तब इस प्रकार की दशा को समयुग्मकधानी (आइसोगामिटैंजिअम, isogametangium) और समयुग्मक (आइसोगैमीट, isogamete) कहते हैं। जब ये बनावट, आकार प्रकार में भिन्न होते हैं तब इन्हें विषमयुग्मकधानी (हेटेरोगैमिटैंजिआ, heterogametangia) और विषमयुग्मक (हेटेरोगैमीट, heterogamete) कहते हैं। पुरुष युग्मकधानी (मेल गैमिटैंजिअम, male gametangium) को पुंधानी (ऐंथेरिडियम, Antheridium) और स्त्री युग्मकधानी को स्त्रीधानी (ओओगोनियम, Oogonium) कहते हैं।

निम्नलिखित कई साधनों द्वारा लैंगिक नाभिक एक कोशिका में आ जाते हैं जिससे नाभिक सायुज्य हो सके:

१. दो युग्मक, जो आकार में समान या भिन्न होते हैं और जिनमें दोनों ही या एक चलायमान होता है, मिलकर निषेचनज (ज़ाइगोट, Zygote) का निर्माण करते हैं।

२. डिंबसंगम (ओओगैमी, oogamy): इसमें पुंधानी (ऐंथेरिडियम, antheridium) पुरुष नाभिक को एक छिद्र या निषेचन नाल (फ़र्टिलाइज़ेशन ट्यूब, fertilization tube) द्वारा स्त्रीधानी (ओओगोनियम, oogonium) में भेजता है।

३. युग्म संगम (ज़ाइगोगैमी, Zygogamy): इसमें दो अभिन्न अखंड कोशिकाओं (सीनोसाइटिक गैमिटैंजिआ, coenocytic gametangia) का योजन होता है।

४. शुक्राणु जननता (स्परमैटाइज़ेशन, spermatisation): इसमें पुंजन्यु, जो सूक्ष्म, एकनाभिक नर पिंड होता है, किसी भी स्त्री युग्मकधानी (फ़ीमेल गैमिटैंजिआ, female gametangia) या विशेष संग्रहणशील (रिसेप्टिव, receptive) कवकतंतु अथवा दैहिक (सोमैटिक, somatic) कवकतंतुओं तक ले जाए जाते हैं और वहाँ पुंजन्यु की अंतर्वस्तुएँ एक छिद्र द्वारा स्त्री इंद्रिय में पहुँचती हैं।

५. दैहिक संगम (सोमैटोगैमी, somatogamy): उच्चवर्गीय कवकों में लैंगिक अंग नहीं होते। इनमें देहकोशिका (सोमैटिक सेल, somatic cell) ही लैंगिक कार्य करती हैं।

अधिकतर शैवल कवकों (फ़ाइकोमाइसिटिज़, Phycomycetes) में नाभिक संगम (कैरियोगैमी, Karyogamy) जीवद्रव्य संगम (प्लाज़्मोगैमी, plasmogamy) के तुरंत बाद होता है और इससे युग्मांड (ओओस्पोर, oospore) या युग्मनज (ज़ाइगोस्पोर्स, Zygospores)

वनते हैं। इनके उद्भेदन के समय अर्धसूत्रण (मायोसिस, meiosis) होती है और फिर या तो सीधी देह (सोमा, Soma) वनती है या एक बीजाणुधानी (स्पोरेंजिअम, sporangium)। इसमें बीजाणु वनते हैं जिनके उद्भेदन से देह वनती है।

उच्चवर्गीय कवक अर्थात् ऐस्कोमाइसिटीज़ (Ascomycet s) तथा 'वेसिडिओमाइसिटीज़' (Basidiomycetes) मे नाभिक संगम के लिये जो नाभिक निकट आते है वे तुरंत संगमित नहा होते, वल्कि वे जोड़े के रूप में साथ रहते हैं जिसे युग्माष्ट (डाइकैरियन, dikaryon) कहते हैं। इनमें क्रमिक संयुग्मित कोशिकाभाजन (conjugate cell division) होता है जिसके फलस्वरूप युग्माष्टिक कोशिकाएँ (डाइकैरियॉटिक सेल्स, dikaryotic cells) वनती हैं।

कुछ कवकों में नाभिकों का सायुज्यन एक विशेष कोशिका में होता है। ऐस्कोमाइसीटीज़ में यह विशेष अंग एक थैले के रूप में विकसित होता है जिसे ऐस्कस (Ascus) कहते हैं। ऐस्कस में अर्धसूत्रण (meiosis) होती है जिसके फलस्वरूप पहले चार और वाद में आठ नाभिक होते हैं जो आठ धानीवीजाणुओं में आयोजित होते हैं। ये ऐस्कस बीजाणु एकल (haploid) होते हैं और ऐस्कस में व्यवस्थित होते है।

वेसीडिओमाइसीटीज़ में वे कोशिकाएँ, जिनमें नाभिक सायुज्यित होते हैं, वेसीडियम (basidium) का रूप धारण करती हैं जिसमें अर्धक (माइऑटिक, meiotic) विभाजन के पश्चात् चार नाभिक वनते हैं। इसी समय वेसिडियम मे से चार कणीवृंत (स्टेरिगमेटा, sterigmata) निकलते हैं जिनके सिरे पर एक नाभिक चला जाता है और वहीं वेसिडियम वीजाणु (वेसिडिओस्पोर, basidiospore) का निर्माण होता है। इस प्रकार य वेसिडियम वीजाणु वाह्यतः वेसिडियम पर आयोजित होते हैं। कुछ अधिक उच्च वेसिडियोमाइसीटीज़ अपने वेसिडियम एक विशेष फलन काय में वनाते हैं जिसे वेसीडिओ काय (वेसीडिओकार्प, basidiocarp) कहते हैं।

वर्गीकरण—अधिकांश लेखक कवकों को निम्नलिखित चार वर्गों में वाँटते हैं :

१. फ़ाइकोमाइसिटीज़ (Phycomycetes)—इसमें कवकसूत्र वहुनाभिक एवं अखंड कोशिकावाले (coenocytic) होते हैं तथा परिपूर्ण अवस्था या तो शुक्रांड (ओओस्पोर, oospore) या युग्मनज (ज़ाइगोस्पोर, zygospore) वाली होती है।

२. ऐस्कोमाइसिटीज़ (Ascomycetes)—इसमें कवकसूत्र पटयुक्त (सेप्टेट, septate) होते हैं। कोशिका एकनाभिक या वहुनाभिक तथा इनकी परिपूर्ण अवस्था ऐस्कस होती है जिसमें ऐस्कस वीजाणु होते हैं।

३. वेसिडियोमाइसीटीज़ (Basidiomycetes)—इसमें कवकसूत्र पटयुक्त, कोशिका प्रायः द्विनाभिक तथा परिपूर्ण अवस्था वेसिडियम होती है जिसपर वेसिडियम वीजाणु (वेसिडियोस्पोर) होते हैं।

४. ड्यूटेरोमाइसीटीज़ (Deuteromycetes)—यह एक कृत्रिम वर्ग है जिसके सदस्यों का पूरा जीवनवृत्त ज्ञात नहीं है। इसमें प्रायः लैंगिक अवस्था की जानकारी नहीं रहती।

आर्थिक महत्व—कवकों के आहारपोषण को देखने से ज्ञात होता है कि इनकी तथा हमारी आवश्यकताओं में असाधारण समानता है। ये न केवल मनुष्य के भोज्य पदार्थ पर हाथ साफ करते हैं, वरन् मनुष्य, जीवजंतु तथा पौधों पर आक्रमण कर उन्हें रुग्ण कर देते हैं। परंतु कई दशाओं में ये मनुष्य के लिये लाभदायक भी सिद्ध होते हैं।

कवकों के जो गुण मनुष्य के लिये लाभदायक सिद्ध हुए हैं वे निम्नलिखित हैं :

१. ओषधि के रूप में प्राचीन काल में कवकों का प्रयोग वहुत अधिक होता था, परंतु वर्तमान भेपज विज्ञान में कुछ कम हो गया है। खमीर (यीस्ट) विटामिन 'वी' तथा एरगेस्ट्रॉल (ergastrol) के कारण प्रयोग में लाया जाता है। इसी प्रकार क्लेविसेप्स परप्यूरिया (claviceps purpurea) के जलाश्म (sclerotium) का प्रयोग प्रसूति विपयक कार्यों में होता आया है। हाल ही में जीवाणुद्वेपी ओपधियाँ (ऐंटिवायोटिक्स, antibiotics), जैसे पेनिसिलिन, (Penicillin), क्लोरोमाइसिटिन (chloromycetin) तथा टेरामाइसिन, (terramycin) सव कवकों द्वारा ही निकाली गई हैं।

२. कवक औद्योगिक कार्यों में भी प्रयोग में आते हैं। पावरोटी, मदिरा, अन्य आसवों तथा अम्लों के वनाने में किण्वन (फ़रमेंटेशन, fermentation) किया जाता है जो कवकों द्वारा ही संपन्न होता है, उदाहरणतः सैकारोमाइसीज़ सेरेविसी (Saccharomyces cerevisiae) रोटी वनाने में प्रयुक्त होता है, म्यूकर ओराइज़ी (Mucor oryzea) मदिरा वनाने मे। इसके अतिरिक्त कवक कई प्रकार के पनीर की उत्पत्ति में तथा तंतुवेचन (retting) में भी काम आते हैं।

३. भोजन के रूप में भी कवकों का विशेष महत्व रहा है। अधिकतर तो ये जंगलों से एकत्र किए जाते है और इनमे मौरकेला एस्क्यूलेंटा (Morchella esculenta) और ऐगेरिकस कॅपेस्ट्रिस (Agaricus campestris) मुख्य हैं। परंतु वर्तमान काल में वहुत से देशों में खुंभी की खेती की जाने लगी है।

कवकों से मनुष्यों को होनेवाली हानियाँ :

१. इनसे मनुष्यों में कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। वच्चों में कंठपाक रोग (थ्रश, thrush) मोनिलिया ऐलविकैंस (Monilia albicans) द्वारा, गदाक दोप (अरगोटिज्म, ergotism) जिसमें अंग अकड़ जाते या निर्जीव हो जाते है क्लेविसेप्स परप्यूरिया (Claviceps perpurea) द्वारा, दाद, खाज आदि त्वचा के रोग ट्राइकोफ़ाइटोन टोनस्यूरेंस (Trichophyton tonsurans) द्वारा तथा कवकरुजा रोग (माइकोसिस, mycosis) अन्य कवकों द्वारा होते है।

२. जंतुओं में कवक द्वारा उत्पन्न रोग केवल पालतू पशुओं में ही ज्ञात है। आदारुण (फ़ेवस, favus) नामक चर्मरोग अकोरिऑन शौनलिनाई (Achorion Sehonleinii) द्वारा पक्षी, खरगोश तथा विल्ली में उत्पन्न होता है। दाद वैल, घोड़ा तथा कुत्ते को होता है। ऐक्टिनोमाइसीज़ वोविस (Actinomyces bovis) द्वारा उत्पन्न 'गँठीला जवड़ा' तथा 'कड़ी जिह्वा' नामक रोग गाय, भैंस, भेंड़, वकरी, सुअर आदि पशुओं में होते हैं। मछलियाँ जलकवकों द्वारा रुग्ण हो जाती हैं। इन कवकों में सैप्रोलेग्निया फ़ेरैक्स (Saprolegnia ferax) मुख्य हैं।

३. पौधों में रोग उत्पन्न करनेवाले कवक वहुत अधिक हैं तथा उनका प्रभावक्षेत्र भी विस्तृत है। आयरलैंड के १८४६ ई० वाले अकाल का कारण एक कवक फ़ाइटोफ़्थोरा इन्फ़ेस्टैंस (Phytophthora infestans) द्वारा आलू की फसल का सड़ जाना था। गेहूँ का रतुआ (Rust) तथा कंडुवा (Smut), गन्ने का लाली रोग (रेड रॉट, Red rot), रुई तथा अरहर के पौधों का उक्ठा (विल्ट, wilt) एवं सरसों का श्वेत रतुआ, ये सव कवकों द्वारा ही होते हैं। कुछ फलों की सड़ान भी कवकों द्वारा होती है। इन तथा अन्य पौधों के रोगों से प्रति वर्ष मनुष्य के धन तथा श्रम की अपरिमित हानि होती है।

४. कवकों द्वारा हानि हमारे अनुमान से कहीं अधिक होती है। औद्योगिक हानियों में लकड़ी की सड़न मेरुलियस लेक्राइमैंस (Merulias lochrymans) तथा पोरिया वैपोरेरिया (Poria vaporaria) द्वारा, तांत्विक क्षय ऐस्परजिलस (aspergillus), पेनिसिलियम (Penicillium) तथा क्लैडोस्पोरियम (cladosporium) द्वारा होते हैं। अन्य वस्तुओं के कल्क भी अनेक प्रकार के कवकों द्वारा होते हैं।

५. पूर्वोक्त के अतिरिक्त खाद्य पदार्थों के विनाश के मूल कारण भी कवक हैं। मांस कल्क स्पोरोट्राइकम कार्निस (Sporotrichum coarnis) द्वारा, फलों के कल्क ग्लोमेरेला (Glomerella) अथवा पेनिसिलियम या म्यूकर (Mucor) इत्यादि द्वारा, रोटी की फफूँद राइज़ोपस (Rhizopus) तथा पेनिसिलियम द्वारा होते है।

(का० स० भा०)

खाद्य कवक—कुछ कवक स्वाद में अच्छे होते हैं और इनका प्रयोग प्रायः भोजन को स्वादिष्ट और आकर्षक बनाने में होता है। भारतवर्ष में वर्षा के दिनों में पहाड़ अथवा पहाड़ के नीचे जंगलों में सड़ी और मृत वनस्पतियों के ढेरों पर अथवा जंतुओं के मृत अवशेषों पर कुछ खाद्य कवकों की जातियाँ उगी हुई पाई गई है। कुछ खाद्य कवक भारत के पहाड़ी और उत्तर तथा पूर्वी भारत के मैदानों में भी उगते है। इनका वृंत सफेद, चिकना और किंचित् छोटा होता है जिसके मध्य या शीर्ष के पास एक पतला वलय होता है।

इन खाद्य कवकों में से खुंबी के कृत्रिम संवर्धन के लिये उपयुक्त समय मैदानों में अगस्त से मार्च तक और पहाड़ों पर मार्च से अक्टूबर तक माना गया है।

खुंबी ताजी अथवा सुखाकर दोनों तरह से पकाई जाती है। डंठल सहित छत्रकों को प्रौढ़ होने के पूर्व ही तोड़ लिया जाता है, पानी से अच्छी तरह धोकर इनके छोटे छोटे टुकड़े काटकर धूप में सुखा लिए जाते हैं। संपूरकों के साथ प्रोटीन स्रोत के रूप में खुंबी का उपयोग कभी कभी किया जाता है।

उद्योग और कवक—कुछ कवकों का उपयोग खाद्य उद्योगों में तथा कुछ अन्य कार्बनिक अम्लों और एंजाइमों के उत्पादन में किया जाता है। उद्योग की दृष्टि से ऐस्पर्जिलस, पेनसिलियम और म्यूकर वंश का महत्व अधिक है। (नि० सिं०)

कवकजीव

कवकजीव (माइसेटोजोआ, Mycetozoa) अत्यंत सूक्ष्म एककोशीय जंतुओं का वर्ग है जो प्रोटोजोआ (Protozoa) समुदाय के अंतर्गत आता है। साधारणतया कवकजीव स्थलीय होता है और इस प्रकार वह अन्य प्रोटोजोआ से भिन्न होता है। प्रोटोजोआ समुदाय के अधिकांश जीवों की भाँति न तो यह पूर्ण जलीय होता है और न पूर्ण परजीवी ही, किंतु स्वभावतः यह अर्धवायवीय जीवन व्यतीत करता है और सड़े गले जीवपदार्थों पर ही निर्भर रहता है। बीजाणुधानी (स्पोरैंजिया, Sporangia) तथा बीजाणु (स्पोर, spore) की रचना की दृष्टि से यह कुछ परोपजीवी पौधों (कवकों, फ़ंजाइ, Fungii) से मिलता जुलता है। यही कारण है कि वनस्पतिविज्ञानवेत्ता जब मिक्सोमाइसिटिज (Myxomycetes) अथवा श्लेष्म कवक (स्लाइम फ़ंजाइ, Slime fungi) का वर्णन करते हैं तो इसे भी उसी अध्याय में संमिलित कर लेते हैं। किंतु जंतु-विज्ञान-वेत्ता इसकी अमीबा सदृश आकृति, कशाभों (फ़्लैजेला, flagella) की रचना, स्वचालन की शक्ति एवं ठोस पदार्थों के भोजन के कारण इसकी गिनती जंतुओं की श्रेणी में करते हैं और इसे प्रोटोजोआ के एक वर्ग राइजोपोडा (rhizopoda) के अंतर्गत रखते हैं, किंतु राइजोपोडा के जनन के विचित्र ढंग के कारण इसे उसके अंतर्गत रखना ठीक नहीं प्रतीत होता।

अब वास्तविक कवकों और इसके दो अन्य मित्रों बैक्टीरिया तथा कवकजीवों की पहचान निश्चित रूप से हो चुकी है। कवकजीव को अमरीका में 'स्लाइम मोल्ड' (Slime mould, लसलस फफूँद) कहते हैं। नाटकीय ढंग से मानव रोगों के साथ अपना अद्भुत संबंध स्थापित कर लेने के कारण कवकजीव कदाचित् बैक्टीरिया से अधिक महत्वपूर्ण हैं और वनस्पति की अपेक्षा जंतुओं के अधिक समीप हैं। कवकों की भाँति इनमें पर्णहरिम (क्लोरोफ़िल, chlorophyll) का अभाव रहता है। प्रत्येक कवकजीव के जीवन की दो अवस्थाएँ होती हैं जो क्रमशः एक के बाद दूसरी आती हैं। पहली अवस्था (क) वर्धन अवस्था (वेजिटेटिव फ़ेज, vegetative phase) होती है। इस अवस्था में वह केवल जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म, protoplasm) का पिंड होता है और उसमें केवल प्रवाह गति होती है। वर्धन अवस्था के उपरांत इसकी दूसरी अवस्था (ख) जनन अवस्था (रिप्रोडक्शन फ़ेज, reproduction phase) अथवा बीजाणु (स्पोर, spore) अवस्था आती है। जब यह अवस्था आती है तब जीवद्रव्य-पिंड टुकड़ों में बँट जाता है और विशेष बीजाणु की डिब्बियाँ (स्पोर कंटेनर्स, spore containers) प्रकट हो जाती हैं। जब बीजाणु अंकुरित होते हैं तब वे या तो सीधे जीवद्रव्यीय ढेर बन जाते हैं अथवा उनकी एक माध्यमिक अवस्था होती है जिसमें अंकुरित बीजाणु तब तक स्वच्छंदतापूर्वक तैरते रहते हैं जब तक वे सभी मिलकर सामान्य जेली जैसा ढेर अथवा प्लाज्मोडियम (plasmodium) नहीं बन जाते। (टिप्पणी—जब कभी बहुत से कोष्टसार आपस में मिलकर एक हो जाते हैं और उसमें बहुत से नाभिक उपस्थित रहते हैं, तब यह बहुनाभिक जीवद्रव्य का पिंड प्लाज्मोडियम कहलाता है)।

किसी नगर के निवासियों की उन्नति तथा स्वास्थ्य इस बात पर निर्भर है कि उनका मलमूत्रादि शीघ्र नष्ट कर दिया जाय, अन्यथा रोग फैलने लगते हैं। मलमूत्रादि नष्ट करने में कवकजीव, बैक्टीरिया और कवक सहायता करते है। कभी कभी कवक वर्ग के सदस्य अनुशासनभंग भी कर देते हैं और वनस्पतियों पर उसी प्रकार परजीवी बन जाते है जैसे, मानव शरीर में मलेरिया ज्वर के कीटाणु। इस प्रकार पोषक (होस्ट host) का सामान्य जीवन अव्यवस्थित हो जाता है और उसमें रोग उत्पन्न हो जाता है। पातगोभी का प्रसिद्ध रोग गदामूल (क्लब रूट, club root) प्लाज्मोडिओफ़ोरा ब्रासिकी (plasmodiophora brassicae) नामक कवकजीव द्वारा फैलता है जो पातगोभी की जड़ में होता है।

यह वर्ग तीन उपवर्गों में विभाजित है :

(क) **ऐक्रेसीना** (Acrasina)—इसमें एकक एककोशिकीय होते हैं किंतु वे प्लाज्मोडियम का निर्माण कर सकते है, यद्यपि कोशिकाओं का कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म, cytoplasm) मिलकर एकरूप नहीं बनता। उदाहरण डिक्टियोस्टेलियम (Dictyostelium)।

(ख) **प्लाज्मोडियोफ़ोरिना** (Plasmodiophorina)—इसके अंतर्गत आनेवाले कवकजीव परजीवी होते हैं और वयस्क अवस्था में प्लाज्मोडिया होते हैं। ये बीजाणु नहीं बनाते। इसका उदाहरण प्लाज्मोडियोफ़ोरा है।
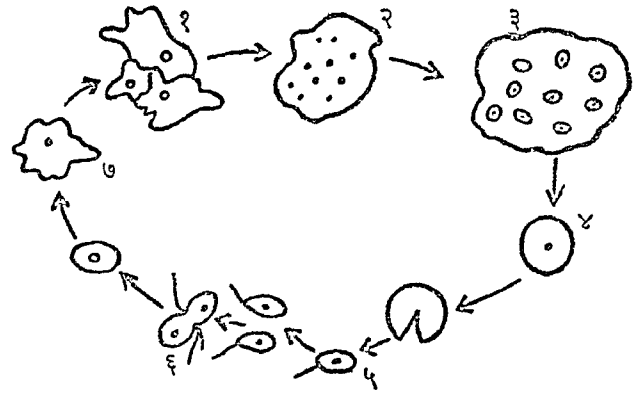
डाइडिमियम डाइफ़ॉर्मी (Didymium difforme) नामक कवकजीव का जीवनचक्र

१. एकत्रित कवकजीव; २. प्रौढ; ३. बीजाणुनिर्माण; ४. एक बीजाणु; ५. कशिका (फ़्लैजेलूला); ६. संयुग्मन; ७. बच्चे कवकजीव।

(ग) **यूमाइसेटोज़ोइना** (Eumycetozoina)—इसके अंतर्गत स्वतंत्र जीवन व्यतीत करनेवाले कवकजीव आते है। इसके प्लाज्मोडियम गमनशील होते है और बीजाणुओं की उत्पत्ति करते हैं। उदाहरण, बाधामिया (Badhamia)। (भू० ना० प्र०)

कवचपट्ट

कवचपट्ट इस्पात की उन चादरों को कहते हैं जो जहाजों की रक्षा के लिये उनके चारों ओर मढ़ी रहती है। ये चादरें बड़ी मोटी होती हैं, उदाहरणतः १४ इंच; इसलिये इन्हें चादर न कहकर पट्ट कहा जाता है।

जहाजो को कवचपट्टों से सुरक्षित करने की कल्पना बड़ी पुरानी है। २५० ई० पू० मे प्रसिद्ध प्राचीन वैज्ञानिक आर्किमिडीज ने अपने देश के राजा हीरो के लिये पीतल के मिक्कड़ों और मोटी रस्सियो मे सुरक्षित पोत बनवाया था। १८४० ई० मे ब्रिटेन ने लोहे के पत्रो से जहाजो को मढ़ने के प्रयोग किए, परतु पहले लौह-पत्र-रक्षित पोत फ़्रासवालो ने बनाए, जो १८५५ की लड़ाई मे बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। इसके बाद अन्य देशो मे कई जहाज बने जिनपर लोहे के पट्ट चढे थे। ये लगभग १ इच मोटे होते थे। धीरे धीरे पट्टो की मोटाई बढ़ाई जाने लगी। १८५७ मे ४ इच मोटे पट्टो का उपयोग हुआ, १८६६ मे ६ इच का, १८८१ मे २४ इच का।

स्वभावत. खोज होने लगी कि किस धातु के पट्ट मे अधिकतम सुरक्षा होती है। ढलवाँ लोहे, इस्पात और पिटवाँ लोहे मे पिटवाँ लोहा ही अधिक अच्छा निकला और पहले इसी धातु का उपयोग किया जाता था। यद्यपि इस्पात पिटवाँ लोहे से अधिक कडा अवश्य होता है, तथापि चोट खाने पर वह चटख जाता है। अधिक चिमड़ापन लाने के लिये मुख पर इस्पात और पीठ पर पिटवाँ लोहा लगाने की प्रथा चली। पहले दोनो को जोड़ने मे कठिनाई पड़ती थी, परतु कुछ समय मे एक अच्छी रीति निकली जिसमे पिटवाँ लोहे के पट्ट पर अतितप्त पिघला इस्पात ढाल दिया जाता है। इससे पिटवाँ लोहे का ऊपरी पृष्ठ पिघल जाता है और जोड सच्चा बनता है· परतु अधिक सफलता कैप्टेन टी० जे० ट्रेसिटर की विधि से मिली (सन् १८८७), जिसमे इस्पात के पत्र को ही एक ओर कडा कर दिया जाता था और दूसरी ओर नरम रखा जाता था। इसके लिये तप्त इस्पात को पानी की धार से एक ओर शीतल किया जाता था। इससे अच्छा पट्ट बनाने की रीति १८९१ ई० मे अमरीका के एक व्यक्ति हार्वी ने आविष्कृत की। इस रीति के अनुसार पिटवाँ लोहे के दो पट्टो के बीच चूर्ण कार्बन रखकर उन्हे दो या तीन सप्ताह तक तप्त रखा जाता था। इससे प्रत्येक पट्ट का एक पृष्ठ इस्पात हो जाता था और एकाएक शीतल करने पर अत्यत कड़ा हो जाता था। इस प्रकार के बने पट्ट पहले से बहुत अच्छे होते थे, परतु तब भी उनमे यह त्रुटि थी कि पीठ पर्याप्त चिमड़ी नही होती थी। १८९४ ई० मे जर्मनी के प्रसिद्ध क्रुप कारखाने ने निकेल तथा क्रोमियम मिश्रित इस्पात के पट्ट बनाए जो एक ओर हार्वी की रीति से कडे कर दिए जाते थे। ये पट्ट अपने मे ढाई गुने मोटे पिटवाँ लोहे के पट्ट के समान पुष्ट होते थे। अब भी जहाजो की बगल को दृढ करने के लिये इसी विधि से कवचपट्ट बनते है। लगभग १६ इच की मोटाई से साधारण सुरक्षा मिल जाती है।

सन् १९१४–१८ के विश्वयुद्ध मे जहाजों की छतो को भी कवचित करने की आवश्यकता पड़ी, क्योंकि ऊपर से हवाई जहाजो से गोलियाँ बरसती थी या बम गिरते थे और अधिक दूरस्थ तोपो के गोले भी ऊँचाई से गिरते थे। छत के लिये बहुत चिमडे कवचपट्टो की आवश्यकता पडती है। निकेल तथा क्रोमियम पडे इस्पात यहाँ भी लगाए जाते है, परतु उनका पृष्ठ विशेष कठोर नही किया जाता।

पट्टो के भेदन प्रतिरोध का सूत्र निम्नलिखित है :

मो² = **भा वे**/**अ व्य**, [$T^2 = WV^3/CD$]

जहाँ **मो** (T) (इच मे) कवचपट्ट की मोटाई है, **भा** (W) (पाउड मे) तोप के गोले का भार है, **वे** (V) (फ़ुट प्रति सेकड) उसका वेग है और **व्य** (D) (इंच मे) उसका व्यास। **अ** (C) एक अचर है जिसका मान पिटवाँ लोहे के लिये निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होता है :

लघु अ = ८.८४१० । [$\log C = 8.8410$]

इस्पातो के लिये अ का मान भिन्न होता है। क्रुप का सूत्र इससे भिन्न था, परतु दोनो सूत्रो से उत्तर लगभग एक ही निकलता है।

कवचित यान

द्र० 'आयुध'।

कवलाहार

मुनि का छठा बाह्य तप अवमौदर्य (खुराक से कम खाना) है। भगवतीसूत्र, गाथा २११ मे मुनि का अधिकतम आहार ३२ और आर्यिका (साध्वी) का २८ कवल (कौर) बताया है। एक कवल का उत्कृष्ट प्रमाण ५० चावलो का भात है। इस प्रकार कवलो मे प्रमाण होने के कारण कवलाहार मुनि के आहार का पर्यायवाची है। आगम मे किए गए मुनि के आहार के नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार और मानसाहार भेदो से भी यही स्पष्ट है।

मूल मान्यता यही है कि केवली (जीवन्मुक्त) के कवलाहार नही होता है क्योंकि उनके शरीर की स्थिति के लिये नोकर्म-कर्माहार ही पर्याप्त होते है। उत्तर काल मे सवस्त्र मुक्ति के समान केवली के कवलाहार की भी कल्पना की गई। फलत. कवलाहार दिगवर तथा श्वेतावर सप्रदायों की मुख्य तीन भिन्नताओं मे से भी एक है। (खु० च० गो०)

कवाध

कवाद, कवात या कोबाद, फारस के ससानी वश के दो राजाओ के नाम।

कवाध प्रथम (४८७–५३१ ई०), फ़ीरोज का पुत्र, अपने चाचा बलास की जगह गद्दी पर बैठा। कवाध के दीर्घ राज्यकाल का पहला वीरकार्य उन बर्बर खज्रो के विरुद्ध सफल अभियान था जो तुर्की जाति के थे और कोहकाफ लाघ कूर की घाटी मे प्राय: धावे किया करते थे।

मजदक द्वारा स्थापित सामूहिक सत्तावादी सप्रदाय की सहायता करने के कारण कवाध को प्राय: अपना सिंहासन ही छोड़ना पड़ा। उसे गद्दी से उतार दिया गया और सूसियाना के प्रसिद्ध गढ मे (जिसे साधारणत: विस्मृति का गढ कहते है) कैद कर दिया गया (४९८–५०१ ई०)। उसका उत्तराधिकार उसके भाई जमास्प को मिला। कवाध अपनी पत्नी की मदद से कैद मे निकल भागा। उसने अपनी गद्दी पर भी फिर से अधिकार कर लिया। इस बार उसने मजदको के सबध मे बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार किया, उनसे अपनी सरक्षा हटा ली और उनमें से बहुतो को बाद मे मरवा तक डाला।

रोम के साथ ससानियो का जो मित्रता सबध अब तक चला आ रहा था, उसे कवाध ने तोड़ दिया। दोनो ओर से एक दूसरे पर लगातार धावे होते रहे और इन धावो ने दोनो पक्षो को कमजोर कर भावी अरब विजयो के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। श्वेत हूणो के साथ कवाध का सघर्ष प्राय: १० वर्ष (५०३–५१३ ई०) चलता रहा और उसने उनकी शक्ति प्राय: नष्ट कर दी। कवाध दूरदर्शी और शक्तिमान शासक था। तबरी का कहना है कि कवाध ने जितने नगर बनाए उतने किसी अन्य नृपति ने नही बसाए। उसकी मृत्यु के समय ईरान की शक्ति और मान चोटी पर थे।

कवाध द्वितीय खुसरू परवेज का पुत्र था जो ६२८ ई० की फरवरी मे, पिता के गद्दी से उतारे जाने के बाद, सिंहासनारूढ हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने रोम के सम्राट् हिराक्लियस से सधि कर ली। कवाध द्वितीय ६२९ ई० मे मरा।

सं०ग्रं०—पर्सी साइक्स : ए हिस्ट्री ऑव पर्शिया (दो भाग, लंदन, १९५८)। (मो० या०)

कवाल नगर

उत्तर प्रदेश राज्य के पाँच महानगर जिनमे से प्रत्येक की जनसख्या पाँच लाख से अधिक है। ये नगर कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, आगरा और लखनऊ है। इनमे से हरेक मे नगर महापालिका है जिसके अध्यक्ष को नगर प्रमुख कहा जाता है। 'कवाल' शब्द का निर्माण उक्त नगरो के प्रथम अग्रेजी अक्षरो को लेकर किया गया है; यथा, कानपुर का 'के', इलाहाबाद (अग्रेजी नाम एलहाबाद) का 'ए', वाराणसी का 'वी', आगरा का 'ए' तथा लखनऊ का 'एल' लेकर 'कवाल' (KAVAL) बना है। (कै० च० श०)

कविशिक्षा

काव्यरचना सबधी विधिविधान अथवा रीति की शिक्षा।

काव्यसर्जना की प्रतिभा यद्यपि प्राचीन काल से नैसर्गिक किंवा जन्मजात मानी जाती रही है, तथापि संस्कृत काव्यशास्त्र के लगभग सभी प्रमुख आचार्यो ने कवि के लिये सुशिक्षित एवं बहुश्रुत होना आवश्यक बताया है। भामह (काव्यलकार, १।१०) ने ईसा की छठी-सातवी शताब्दी मे कवियो के लिये शब्दार्थज्ञान की प्राप्ति, शब्दार्थवेत्ताओ की सेवा तथा अन्य कवियो के निबधो का मनन कर लेने के पश्चात् ही कविकर्म मे प्रवृत्त होना उचित माना है। ८०० ई० के लगभग वामन (काव्यालकारसूत्र, १।३ तथा ११) ने लोकव्यवहार, शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छदशास्त्र, कामशास्त्र, कला तथा दंडनीति का ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त कवियो

के लिये काव्यशास्त्र का उपदेश करनेवाले गुरुओं की सेवा भी जरूरी बताई है। ९०० ई० के लगभग राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के १८ अध्यायों में शास्त्रपरिचय, पदवाक्य, विवेक, पाठप्रतिष्ठा, काव्य के स्रोत, अर्थ-व्याप्ति, कविचर्या, राजचर्या, काव्यहरण, कविसमय, देशविभाग, काल-विभाग, आदि विविध कविशिक्षोपयोगी विषयों का निरूपण किया है। वस्तुतः कविशिक्षा संबंधी सामग्री के लिये राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' मानक ग्रंथ है। इसीलिये राजशेखर के परवर्ती आचार्यों ने कविशिक्षा पर लिखते समय 'काव्यमीमांसा' में उपलब्ध सामग्री का जमकर उपयोग किया है। क्षेमेंद्र ने १०५० ई० के समीप अपने ग्रंथ कविकंठाभरण (संधि १ : २) में काव्यरचना में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों को निर्देश दिया है कि वे नाटक, शिल्पकौशल, सुंदर चित्र, मानवस्वभाव, समुद्र, नदी, पर्वत आदि विभिन्न स्थानों का निरीक्षण करने के साथ साथ साहित्यमर्मज्ञ गुरुओं की सेवा तथा वाक्यार्थशून्य पदों के संनिवेश से काव्यसर्जना का अभ्यास आरंभ करें। वाग्भट (वाग्भटालंकार, १ : २, ७, १६ तथा २६) ने ईसा की १२वीं शती के पूर्वार्ध में काव्यरचना के लिये विविध शास्त्रों, कविसमयों आदि के ज्ञान के अतिरिक्त कवि का छंदयोजना तथा अलंकार-प्रयोग पर अधिकार होना भी आवश्यक माना है। इतना ही नहीं, वाग्भट ने तो यह भी कहा है कि कवि तभी काव्यरचना करे जब उसका मन प्रसन्न हो। हेमचंद्र (१०८८–११७२ ई०) के 'काव्यानुशासन', अमरचंद्र (१३वीं शती ई०) के 'काव्यकल्पलता', देवेश्वर (१४वीं शती ई०) के 'कविकल्पलता' तथा केशव मिश्र (१६वीं शती ई०) के 'अलंकारशेखर' इत्यादि ग्रंथों में कविशिक्षा संबंधी पर्याप्त विवरण उपलब्ध हैं जो अधिकांशतः राजशेखर के अनुसार हैं।

हिंदी काव्यशास्त्र में कविशिक्षा संबंधी ग्रंथ बहुत कम हैं, तो भी रीतिकाल का पूरा काव्य संस्कृत के उपर्युक्त ग्रंथों से प्रभावित है और इस काल में संस्कृत ग्रंथों की मान्यताओं का परंपरा के रूप में अनुसरण भी किया गया है। आचार्य केशवदास (१५५५–१६१७ ई०) ने 'कविप्रिया' में कविता के विषय, काव्यरचना के तरीके, कविनियम (कविसमय) तथा वर्णन परिपाटी को प्रस्तुत किया है। लेकिन उक्त ग्रंथ की अधिकांश सामग्री 'अलंकारशेखर' और 'काव्यकल्पलता' पर आधृत है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत 'काव्यप्रभाकर' (१९१० ई० में प्रकाशित) में भी कविशिक्षा संबंधी प्रामाणिक सामग्री मिलती है। उर्दू साहित्य में नए कवि पुराने या प्रतिष्ठित कवियों के संमुख अपनी रचनाएँ इस्लाह (संशोधन) के लिये प्रस्तुत करते रहे हैं। यह भी एक प्रकार की कविशिक्षा ही है।

आधुनिक हिंदी साहित्य (१९०० ई० से प्रारंभ) में न केवल साहित्य एवं काव्य संबंधी मान्यताएँ बदली है अपितु कविता के प्रतिमान भी परिवर्तित हो गए हैं। आज का कवि रूढ़ परिपाटियों से मुक्त होकर स्वतंत्रचेता होने का प्रयास कर रहा है। प्रकृति, व्यक्ति और समसामयिक सामाजिक परिवेश को वह नए ढंग से नवीन बिंबविधान एवं स्वप्रसूत सरलीकृत छंदों के माध्यम से रूपायित करने की दिशा में अग्रसर हो रहा है। अतः काव्य-रचना संबंधी पुराने विधिविधान उसे यथावत् ग्राह्य नहीं है। परंतु कविता के स्वरूप तथा शक्ति को बनाए रखने के लिये प्राचीन काल की तरह आज भी यह आवश्यक है कि कवि काव्यरचना आरंभ करने के पूर्व काव्यभाषा, छंद, सामाजिक व्यवहार एवं परिवेश आदि से पूरी तरह परिचित हो जाए। (कै० चं० श०)

कविसमय कवि समुदाय में प्रचलित मान्यताएँ जो प्राचीन परंपरा के अनुसार प्रयोजनविशेष के लिये काव्य में प्रयुक्त होती आई हैं। सामाजिक परंपरा की भाँति साहित्य या काव्य के क्षेत्र में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण प्रत्येक देश या वर्ग के साहित्य में कुछ साहित्य संबंधी अभिप्राय बन जाते हैं और उनका यांत्रिक ढंग से प्रयोग होने लगता है। इन अभिप्रायों को कविसमय (साहित्यिक अभिप्राय) की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वामन (काव्यालंकारसूत्र, ५ : १) ने सबसे पहले काव्यसमय शब्द का प्रयोग व्याकरण, छंद एवं लिंग के संबंध में प्रतिष्ठित कविपरिपाटी का बोध कराने के लिये किया। किंतु यह शब्द अधिक प्रचलित न हो सका। राजशेखर (काव्यमीमांसा, पृ० १६०, अनु० केदारनाथ शर्मा, १९५४ ई०) ने कविसमय की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—"अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।" अर्थात् अशास्त्रीय (शास्त्र से बहिर्भूत), अलौकिक (लोकव्यवहार से बहिर्भूत), केवल परंपरा प्रचलित जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते है, वह कविसमय है। इस विषय में आगे चलकर (काव्यमीमांसा, पृ० १६१) उन्होंने यह भी लिखा है—"प्राचीन विद्वानों ने सहस्रों शाखावाले वेदों का अंगोंसहित अध्ययन करके, शास्त्रों का तत्वज्ञान करके, देशांतरों और द्वीपांतरों का भ्रमण करके जिन वस्तुओं को देख, सुन और समझकर उल्लिखित किया है उन वस्तुओं और पदार्थों का देशकाल और कारणभेद होने पर या विपरीत हो जाने पर भी उसी प्राकृत, अविकृत रूप में वर्णन करना कविसमय है।" राजशेखर के परवर्ती संस्कृत के आचार्यों हेमचंद्र (काव्यानुशासन, अध्या० १), वाग्भट (काव्यानुशासन, अध्या० १), अमरचंद्र (काव्यकल्पलतावृत्ति, प्रतान १), केशव मिश्र (अलंकारशेखर, रत्न ६), तथा हिंदी के आचार्यों केशवदास (कविप्रिया, चौथा प्रभाव) और जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (काव्यप्रभाकर, मयूख ११) इत्यादि ने कविसमय पर जो विवेचन किए हैं, वे प्रायः सभी राजशेखर के आधार पर हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिंदी साहित्य की भूमिका, सप्तम संस्करण, पृ० १८०) के अनुसार "कविसमय शब्द का अर्थ है कवियों का आचार या संप्रदाय।"

प्रमदाओं की विभिन्न क्रियाओं से अशोक, मंदार, बकुल, आम (सहकार), कुरबक आदि का फूलना; नदियों में कमल का खिलना; चकोर का आग खाना; चातक का मात्र स्वातिजल पीना आदि कुछ प्रमुख 'कविसमय' है। इन्हें 'कविप्रसिद्धि' भी कहा जाता है और ये अधिकांशतः कविकल्पनाश्रित तथा एक सीमा तक संभावनाश्रित वास्तविकता पर आधारित होते हैं। यहाँ इस तथ्य का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कला में किसी काल्पनिक या वास्तविक वस्तु को अलंकृति मात्र के लिये अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है जब कि काव्य में अभिप्राय या कविसमय मुख्यरूप से उस परंपरागत विचार (आइडिया) को कहते हैं जो अलौकिक और अशास्त्रीय होते हुए भी उपयोगिता और अनुकरण के कारण कवियों द्वारा गृहीत होता है तथा बाद में चलकर रूढ़ हो जाता है।

राजेश्वर ने 'कविसमयों' को तीन प्रमुख कोटियों में रखा है :

१. स्वर्ग्य—स्वर्गलोक संबंधी ; यथा, चंद्रमा में दिखाई देनेवाले काले धब्बे को कलंक, खरगोश या हिरन मानना; कामदेव की पताका में मीन या मकर के आकार का वर्णन करना; कामदेव को मूर्त या अमूर्त दोनों रूपों में प्रस्तुत करना; चंद्रमा का जन्म समुद्रमंथन से या अत्रि ऋषि के नेत्र से मानना; शिव के मस्तक पर बालचंद्र को मानना आदि।

२. पातालीय—पाताललोक संबंधी; यथा, नाग और सर्पों को एक मानना तथा इसी प्रकार दैत्य, दानव और असुर को भी एक मानना।

३. भौम—पृथ्वीलोक संबंधी। इस कोटि के कविसमय चार वर्गों में बाँटे गए हैं : (क) जातिरूप, (ख) द्रव्यरूप, (ग) क्रियारूप तथा (घ) गुणरूप। इनमें से भी प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं : (१) असत्, जो विद्यमान नहीं है उसका वर्णन करना, (२) सत्, विद्यमान होने पर भी जिसका वर्णन न किया जाए तथा (३) नियम, किसी वस्तु का स्थान-विशेष के प्रसंग में ही वर्णन करना तथा उसके अन्यत्र मिलने पर भी उस स्थान के प्रसंग में वर्णन न करना। अतः भौम कविसमयों के १२ भेद हैं :—

(१) **असत् जातिरूप** : यथा, नदियों में कमल का वर्णन, जलाशय मात्र में हंसों का वर्णन आदि, (२) **असत् द्रव्यरूप** : यथा, अंधकार का मुष्टिग्राह्यत्व तथा सूचीभेद्यत्व, चाँदनी का घड़ों में भरकर ले जाया जा सकना आदि, (३) **असत् क्रियारूप** : यथा, चकवे चकवी का रात में विलग हो जाना, चकोरों का अंगार चुगना या चंद्रिकापान करना, (४) **असत् गुणरूप** : यथा, यश, हास आदि को शुक्ल बताना; अयश, पाप आदि का काले रूप में वर्णन; अनुराग क्रोध आदि को लाल बताना आदि, (५) **सत् जातिरूप** : यथा, वसंत में मालती, चंदनवृक्ष पर फल फूलों का, अशोक वृक्ष में फलों का वर्णन न करना आदि, (६) **सत् द्रव्यरूप** :

यथा, कृष्णपक्ष में चाँदनी और शुक्लपक्ष में अंधकार का वर्णन न करना आदि, (७) सत् क्रियारूप . यथा, दिन में नीलोत्पल के अविकास तथा शेफालिका के पुष्पों के झड़ने का वर्णन करना आदि, (८) **सत् गुणरूप :** यथा कुंद, कुड्मल और दाँतों की लाली का, कमल, मुकुल आदि के हरे रंग का तथा प्रियंगु पुष्पों के पीतवर्ण का वर्णन न करना आदि, (९) **नियम जातिरूप :** यथा, समुद्र में ही मकरों का वर्णन करना, मोतियों का स्रोत ताम्रपर्णी को ही बताना आदि, (१०) **नियम द्रव्यरूप** . यथा, मलयगिरि को ही चंदन का उत्पत्ति स्थल तथा हिमालय को ही भूर्जपत्र का प्रभव-स्थान मानना आदि, (११) **नियम क्रियारूप** यथा, केवल वसंत में ही कोयल के कूकने का वर्णन, मयूरों के कूजन और नृत्य का वर्षा ऋतु में ही वर्णन आदि तथा (१२) **नियम गुणरूप** . यथा, माणिक्य में लाली, फूलों में शुक्लता और मेघों में कालिमा का वर्णन करना।

वस्तुत कविगण प्राचीन काल से ही कविसमयों का उपयोग जाने अनजाने अपने अपने काव्य में करते आ रहे थे। राजशेखर ने सर्वप्रथम उनका नामकरण, शास्त्रीय विवेचन एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किया और तत्पश्चात् उन्हें कविशिक्षा (द्र०) में संमिलित कर लिया गया।

(कैं० च० श०)

कवींद्राचार्य सरस्वती दक्षिण में गोदावरी के तीर पर एक गाँव में ऋग्वेदीय आश्वलायन शाखा के ब्राह्मण कुल में जन्मे कवींद्राचार्य के वास्तविक नाम का पता नहीं चलता। कवींद्र इनकी उपाधि है। अद्वैतवेदांती सन्यासी होने के कारण ये 'सरस्वती' उपाधि से विभूषित थे और शाहजहाँ के राज्यकाल में प्रयाग तथा वाराणसी के सबसे प्रधान सन्यासी मठाधीश और काव्यदर्शन तथा वेदवेदांग के मूर्धन्य पंडित थे। बचपन में सन्यस्त हो ये महाराष्ट्र से वाराणसी चले आए थे। वरुणा के किनारे इनका विशाल मठ था। मठ तो संभवतः इनके ब्रह्मलीन होने के बाद ही यवनों ने ध्वस्त कर दिया, पर वह स्थान आज भी 'वेदांती' का बाग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मठ में कवींद्राचार्य ने विशाल पुस्तकालय स्थापित किया था, जिसमें सहस्रों दुर्लभ हस्तलेख थे। इनमें से कई हस्तलेख आज भी बड़ोदा, पूना तथा लंदन के पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। कुछ पर तो मुगल राजकुमार दाराशिकोह के हस्ताक्षर तक मिलते हैं। कवींद्राचार्य मुगल सम्राट् शाहजहाँ, शाहजादा दाराशिकोह और शाहजादी जहाँनारा के निकट संपर्क में रहे। वे इनका बड़ा सम्मान करते थे, इसके प्रमाण मिलते हैं। कहा जाता है, उन्हें धार्मिक दृष्टि से उदार बनाने में कवींद्र का खास हाथ रहा है। शाहजहाँ ने अपने शासनकाल में हिंदुओं पर यात्राकर लगाया था। तीर्थयात्रा के लिये आए यात्रियों से जबरन करवसूली करने में घोर अत्याचार होना देख कवींद्र वाराणसी के पंडितों और हिंदू जनता के प्रतिनिधि बन आगरा गए थे और वहाँ जब इन्होंने हिंदुओं पर मुस्लिम अधिकारियों द्वारा किए जा रहे अत्याचार का वर्णन किया तो शाहजहाँ बड़े दुःखी हुए और इनके प्रभाव में आकर न केवल उन्होंने शाही फरमान जारी कर यात्राकर बंद कर दिया, अपितु कवींद्र को 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से विभूषित कर जागीर भी बख्शी थी। बाद में समय समय पर ये आगरा जाते रहे। शाहजहाँ दाराशिकोह और जहाँनारा के संबंध में इन्होंने ब्रजभाषा में कविताएँ भी लिखी हैं।

इनकी मातृभाषा मराठी होते हुए भी, इन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी रचनाएँ की थीं। संस्कृत में इन्होंने ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था। हंसदूत नामक दार्शनिक काव्य की रचना की थी। इनकी और भी कई रचनाओं के नाम मिलते हैं, पर प्राय. वे सभी अनुपलब्ध हैं। दंडी के दशकुमारचरित पर इनकी संस्कृत टीका अवश्य प्रकाशित है। इनके फुटकल संस्कृत पद्यों का संग्रह 'कवींद्रकल्पद्रुम' इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन में है, पर अप्रकाशित है। ब्रजभाषा काव्य का संग्रह 'कवींद्रकल्पलता' प्रकाशित हो चुकी है। योगवाशिष्ठ का इन्होंने ब्रजभाषा में अनुवाद भी किया था, पर वह अभी तक नहीं मिल पाया है।

वाराणसी के पंडितों में इनका बड़ा आदर था। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने वाराणसी के जिन प्रधान पंडित, उनके विद्यालय और पुस्तकालय का बड़े आदर के साथ जिक्र किया है, वे संभवत. कवींद्र ही हैं। वाराणसी तथा प्रयाग के जनसमाज में इनका कितना सम्मान था, इनका प्रमाण तो इसी से चलता है कि यात्राकर हटवाकर जब ये आगरा से वाराणसी लौटे तो प्रयाग और वाराणसी की जनता तथा पंडित समाज ने इनका भव्य अभिनंदन किया था। 'कवींद्रचंद्रोदय' नाम से लगभग ७० संस्कृत कवियों ने और 'कवींद्रचंद्रिका' नाम से ३३ ब्रजभाषा के कवियों ने इन्हें काव्यात्मक अभिनंदन भेंट किए थे। इनमें से प्रथम प्रकाशित हो चुका है।

सं०ग्रं०—कृष्णमाचारी : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर; डॉ० हरदत्त शर्मा संपादित : कवींद्रचंद्रोदय, रानी लक्ष्मीकुमारी संपादित : कवींद्रकल्पलता, मिश्रबंधु विनोद। (भो० श० व्या०)

कव्वाणी कावेरी नदी की एक प्रमुख सहायक नदी है। इसे कपिनि या कपिला भी कहते हैं। इसका उद्गम स्थान पश्चिमी घाट पर्वत पर उत्तरी विनाद में है। मैसूर जिले के दक्षिण-पश्चिम कोण पर यह कर्नाटक प्रांत में प्रवेश करती है। यह नदी हेगददेवकोट ताल्लुक से होकर पूर्वोत्तर दिशा में टेढी मेढी चाल से बहती हुई बेलातुर के निकट पूर्व की ओर मुड़ जाती है। नुगु तथा गुँदल नामक इसकी दो सहायक नदियाँ दक्षिण में आकर मिलती हैं। तिरुमकुदल नर्सिपुर में कव्वाणी कावेरी नदी में मिल जाती है। यह संगम स्थान बड़ा ही पवित्र माना जाता है।

कव्वाणी, जिसकी लंबाई लगभग २४० किलोमीटर है, निरंतर बहती रहनेवाली नदी है। इस नदी से लगभग ५१ किलोमीटर लंबी रामपुर नहर निकाली गई है जिससे लगभग १,४०० एकड़ भूमि सींची जाती है।

(न० प्र०)

कव्वाली एक विशेष प्रकार की गायनपद्धति अथवा धुन जिसमें कई प्रकार के काव्यविधान या गीत, यथा कसीदा, गजल, रुबाई आदि गाए जा सकते हैं। कव्वाली के गायक कव्वाल कहे जाते हैं और इसे सामूहिक गान के रूप में अक्सर पीरों के मजारों या सूफियों की मजलिसों में गाया जाता है। कव्वाली जातिगत पेशा नहीं, बल्कि कर्मगत है, अत कव्वालों की कोई विशेष जाति नहीं, बल्कि कव्वाली पेशा होता है। कुछ विद्वान् 'कव्वाल' शब्द की व्युत्पत्ति अरबी की 'नक्ल' धातु से मानते हैं जिसका अर्थ 'बयान करना' होता है। लेकिन विद्वानों की अधिक संख्या इसका मूल अरबी के 'कौल' शब्द से मानती है जिनका अर्थ 'कहना' अथवा 'प्रशंसा करना' है। भारत में कव्वाली गायन का आरंभ ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के कारण हुआ बताया जाता है, जो १०वीं मुहर्रम, ५६१ हिजरी को अजमेर पहुँचे थे और जिन्होंने सर्वप्रथम फारसी में गजलें कही थीं। परंतु डा० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार (हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७२८, ना० प्र० सभा, काशी) अमीर खुसरो (जन्म ६५२ हि०) ने भारत में सर्वप्रथम कव्वाली गायन का प्रचलन किया था। कव्वाली की लोकप्रियता सूफियों के कारण हुई। उपासना सभाओं में सूफी मत समवेत स्वर में कव्वाली गाना आरंभ करते थे और कुछ समय बाद ही, भावावेश में आकर, झूम झूमकर गाने लगते थे। सभा में उपस्थित शेष सारा समाज उनका अनुकरण करता था। पश्चात् आवेश उत्पन्न करने के साधन और माध्यमरूप में कव्वाली को स्वीकृति मिली। धीरे धीरे कव्वाली गानेवालों के दल संगठित होने लगे जो आगे चलकर पेशेवर हो गए। विषय के अनुसार कव्वाली के कई भेद होते हैं, यथा, हम्द, नात, मनकबत आदि। हम्द में ईश्वर की प्रशंसा के गीत रहते हैं, नात में रसूल की शान का बखान होता है और मनकबत में औलिया के संबंध में वर्णन किया जाता है।

(कैं० च० श०)

कशेरुकदंडी (वर्टेब्रेट, Vertebrate) प्राणिसाम्राज्य के कॉर्डेटा (Chordata) समुदाय का सबसे बड़ा उपसमुदाय है, जिसके सदस्यों में रीढ़ की हड्डियाँ या पृष्ठवंश विद्यमान रहते हैं। निम्नलिखित गुणोंवाले सभी कॉर्डेटा इसमें परिगणित होते हैं

१. जो करोटि (स्कल, skull) वाले होते हैं।
२ जिनके वयस्क में नोटोकॉर्ड का स्थान कशेरुकाएँ ले लेती हैं।
३ जिनके मस्तिष्क की रचना जटिल होती है।
४. जिनका हृदय तीन या चार खंडों में बँटा रहता है।

५. जिनमें शाखांगों के दो जोड़े पखों (फ़िन, Fin) या हाथ-पैर के रूप में होते है।

६. जिनके शरीर में लाल रक्तकण पाए जाते है।

कशेरुकदंडी दो प्रकार के हैं : ऐग्नेथा (Agnatha) तथा ग्नेथोस्टोमेटा (Gnathostomata) ऐग्नेथा की एक ही श्रेणी है--चक्रमुखी (साइक्लोस्टोमेटा, (Cyclostomata) । चक्रमुखी प्राणी जबड़े रहित और चूषक मुख (सक्टोरियल माउथ, suctorial mouth) वाले होते है जिसमें कादर दाँत लगे रहते हैं। ये जलचर होते हैं। इनकी त्वचा चिकनी और शल्करहित होती है। पंख अयुग्म होते हैं। छह से लेकर १४ जोड़ी तक गलफड़ होते हैं। कंकाल कास्थिजातिक (calcified) होता है। लैंप्रि (Lamprey) तथा हैग (Hag) मछलियाँ इसके उदाहरण हैं।
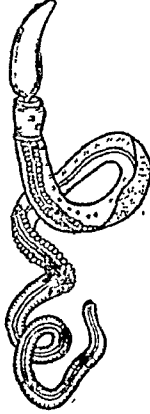
चित्र १. अवर्ध ग्रैवेय (Balanoglossus) वर्ग एंटराप्न्यूस्टा (Entcropneusta)

ग्नेथोस्टोमेटा कशेरुकदंडी जबड़ेवाले प्राणी हैं। ये पाँच वर्गों में विभक्त हैं, जिनका परिचय निम्नोक्त है :
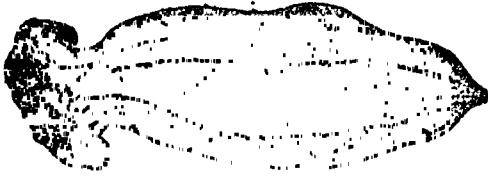
चित्र २. समुद्रोद्गारी (Sea-squirt) वर्ग जलोद्गारो (Ascidiacea)।

१. मत्स्य (Pisces)--इस श्रेणी में सभी प्रकार की मछलियाँ आती हैं। मछलियाँ जलवासी जीव हैं और गलफड़ों द्वारा श्वसन करती है।

चित्र ३. मीनलागी (Lamprey) वर्ग चूषमुख (Cyclostomata)।

गलफड़ जीवन पर्यंत उपस्थित रहते हैं। साधारणतया त्वचा शल्कों से ढकी रहती है। प्रचलन के लिये अंस तथा श्रोणि पख (पेक्टोरल ऐंड पेल्विक फ़िन्स, Pectoral and pelvic fins) और अयुग्म पृष्ठीय (dorsal), औदरिक तथा पुच्छ पंख होते हैं। पंखों में कंकालीय पंखरश्मियाँ होती हैं। इनके अतिरिक्त अधिकतर मछलियों में वातवस्ति (एयर ब्लैडर, air bladder) उपस्थित होती है। हृदय एक अलिंद तथा एक निलय, दो खंडों में बँटा रहता है। इस श्रेणी के उदाहरण शार्क, कतला, रोहू, मृगल, टेंगड़ा, सिंघी तथा केवइ इत्यादि मछलियाँ हैं।
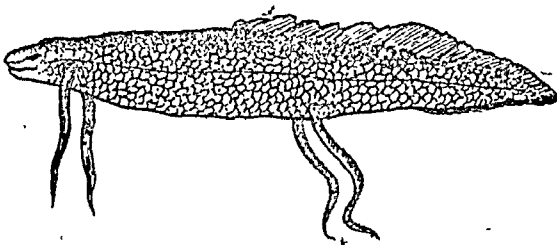
चित्र ४. फुपफुस मीन (Lung fish) वर्ग मीन (Pisces)।
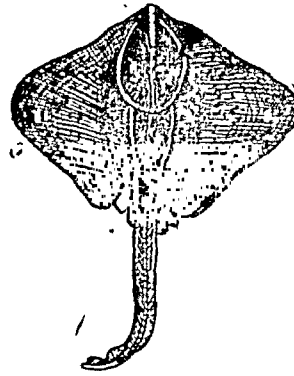
चित्र ५. दंश पृथिका (Sting ray) वर्ग मीन (Pisces)।

२. उभयचर (ऐंफ़ीबिया, Amphibia)--ये मछली तथा उरग दोनों श्रेणियों के बीच के प्राणी हैं, जो जल तथा स्थल दोनों ही पर रह सकते हैं। इनकी त्वचा प्राय: कोमल, नम तथा चिकनी होती है और उसपर किसी प्रकार के शल्क नहीं होते। इनमें अधिकांश अपनी बेंगची (tadpole) अवस्था में गलफड़ों द्वारा और वयस्क अवस्था में फुपफुसों द्वारा श्वसन करते हैं, किंतु कुछ जीवन पर्यंत गलफड़ों द्वारा ही श्वसन करते हैं। शाखांग कभी पख के रूप में नहीं होते। शाखांग जब वर्तमान होते हैं तो उनकी रचना

चित्र ६ सरटिका (Newt) वर्ग उभयचर (Amphibia)

पंचांगुलिक होती है जो चलने फिरने तथा तैरने के लिये होते है तथा उनमें किसी प्रकार के नाखून नहीं होते। हृदय में दो अलिंद और एक निलय होता

चित्र ७. गुहासर्पिका (Proteus) वर्ग उभयचर (Amphibia)।

है। इनके जीवन में प्रायः रूपांतरण होता रहता है। इस श्रेणी के उदाहरण सैलामैंडर (Salamander), दादुर, मेढक तथा सिसीलियन हैं।

३. उरग (रेप्टीलिया, Reptilia)--इस श्रेणी के प्राणियों के पैर इतने छोटे होते है कि चलते समय ऐसा प्रतीत होता है मानों ये पेट के
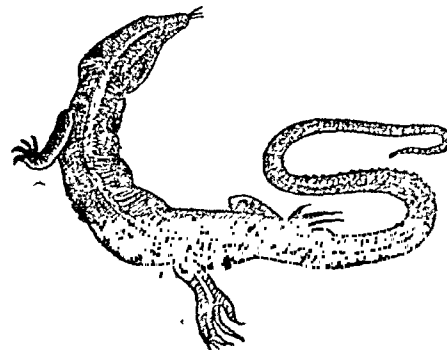
चित्र ८. वेदार (Varannas) वर्ग उरग (Reptilia)

बल रेंग रहे हों। उरग शीतरक्तीय कशेरुकदंडी हैं। इनकी त्वचा शृंगी (horny) शल्कों से ढकी रहती है और कुछ में इन शल्कों के स्थान पर शृंगी या अस्थि पट्टिकाएँ होती हैं। हृदय में दो अलिंद और अपूर्ण रूप से,
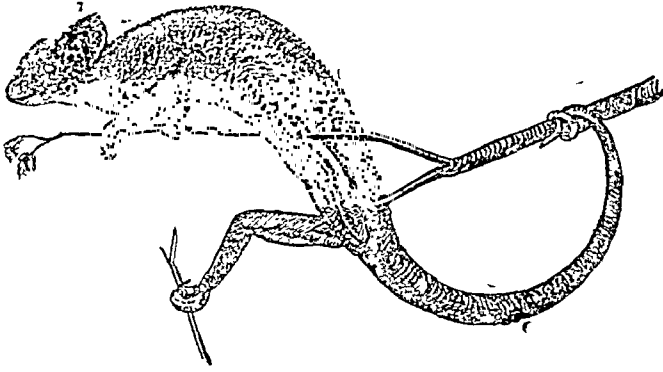
चित्र ९. गिरगिट (Chameleon)
वर्ग उरग (Reptilia)।

दाएँ तथा बाएँ में विभाजित, निलय होता है, किंतु मगरमच्छ में निलय पूर्ण रूप से दो खंडों में बँटा रहता है। इस श्रेणी में छिपकलियाँ, गिरगिट, साँप, कछुए, मगरमच्छ तथा नक्र इत्यादि आते हैं।

४. **पक्षी** (एवीज, Aves)—इस श्रेणी में वे जंतु संमिलित हैं जिन्हें हम पक्षी कहते हैं। ये उष्णरक्तीय, दो पैरोंवाले जंतु होते हैं। इनका शरीर परों से ढँका रहता है। अग्रशाखांग डैनों में परिवर्तित होते हैं। ऊर्ध्व तथा अधोहन्विकाएँ मिलकर चोंच बनाती हैं, जो एक शृंगी छाद (Horny sheath) से ढकी रहती है। इन्हें दाँत नहीं होते। हृदय पूर्ण रूप से चतुष्कोष्ठीय (दो अलिंद तथा दो निलय) होता है। इस श्रेणी के अंतर्गत सभी प्रकार की चिड़ियाँ, जैसे कौवे, गौरैया, चील, बाज, मुर्गा, बत्तख, शुतुरमुर्ग, नीलकंठ, कोयल, मोर, बुलबुल इत्यादि आते हैं।

चित्र १०. किविक (Kiwi)
वर्ग पक्षी (Aves)

५. **स्तनधारी** (मैमेलिया; Mammalia)—इस श्रेणी में वे कशेरुकदंडी जंतु आते हैं जिनकी मादा स्तनोंवाली होती हैं। बच्चों के पोषण के लिये स्तनों से दूध स्रावित होता है। नर में वृषण अंडकोश में स्थित होते हैं। इनके अतिरिक्त स्तनधारियों के शरीर पर बाल पाए जाते
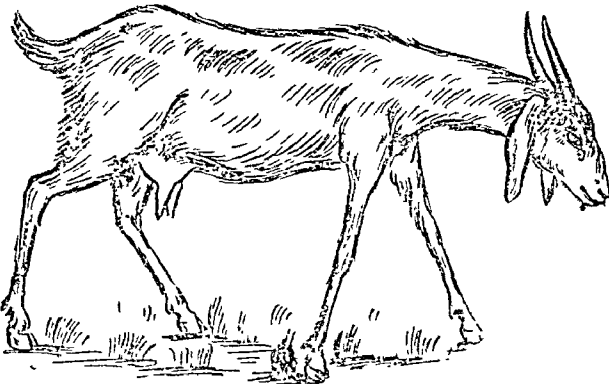
चित्र ११. बकरी (Goat)
वर्ग स्तनधारी (Mammalia)

हैं; शरीर के मध्य अनुप्रस्थ दिशा में फैला हुआ एक महापट (डायफ़ाम, diaphragm) हृदय चतुष्कोठीय तथा कान का बाहरी छिद्र कर्णशष्कुली से ढका होता है। ये उष्णरक्तीय तथा वायुश्वसनीय प्राणी हैं। इनके लाल रक्तकणों में केंद्रक का अभाव होता है। साधारणतया बच्चे पूर्ण विकसित अवस्था में ही मादा के शरीर से बाहर निकलते हैं। इस श्रेणी के उदाहरण बनचोंचा, चींटीखोर, कंगारू, बकरी, भेड़, गाय, भैंस, कुत्ता, सियार, भालू, शेर, हाथी, ह्वेल, खरगोश, गिलहरी, बंदर तथा मनुष्य इत्यादि हैं। (भृ० ना० प्र०)

कशेरुकदंडी-भ्रूण-तत्व (वर्टेब्रेट एंब्रिऑलोजी, Vertebrate embryology) प्रत्येक कशेरुकदंडी अपना जीवन एक संसेचित अंडे के रूप में प्रारंभ करता है। संसेचन की क्रिया अंडे के कोशिकाद्रव्य के भीतर एक शुक्राणु के प्रवेश करने से होती है। शुक्राणु का केवल सिर ही कोशिकाद्रव्य के भीतर प्रवेश करता है। यथार्थ शुक्राणु का सिर केवल केंद्रक का ही बना होता है, इसमें कोशिकाद्रव्य की मात्रा बहुत ही कम होती है। अंडे और शुक्राणु के केंद्रक का एक दूसरे से समेकन होता है। संयुक्त केंद्रक के विभाजन के साथ ही कोशिकाद्रव्य का विभाजन भी होता रहता है। संसेचन से दो कार्य सिद्ध होते हैं। एक तो इस क्रिया से नर और मादा के आनुवंशिक पदार्थ एकत्र होते हैं, दूसरे इस क्रिया से अंडे का उद्दीपन होता है जिससे एक संजटिल परंतु समन्वित विधि की एक श्रेणी आरंभ होती है, जिसे भ्रूणीय विकास कहते हैं।

युग्मज खंडीभवन योक की मात्रा पर निर्भर रहता है। कम योकवाले या योक रहित अंडे पूर्णभाजित (होलोब्लास्टिक, holoblastic) और योक के प्राचुर्यवाले अंडे अपूर्णभाजित (मेरोब्लास्टिक, meroblastic) होते हैं। सरीसृपों और पक्षियों के अंडे योक से परिपूर्ण होते हैं। इनमें युग्मज विभाजन की रेखा अंडे के कोशिकाद्रव्य-काय ध्रुव (पोल, pole) की सीमा के आगे नहीं पहुँचती। ऐसे जंतुओं में ब्लैस्टोडर्म का विकास योक के ऊपर होता है। ऐंफ़ीबिया में पूरा युग्मज विभाजित होता है परंतु जंतुध्रुव (ऐनिमल पोल, animal pole) की अपेक्षा वेजिटल पोल (vegital pole) की कोशिकाएँ अधिक शीघ्रता से विभाजित होती हैं।

मोरुला (Morula) **और ब्लैस्ट्यूला** (Blastula)—बार बार विभाजित होने के कारण युग्मज एक कोशिका समूह में परिणत हो जाता है जिसे मोरुला कहते हैं। धीरे धीरे मोरुला के भीतर तरल पदार्थ से भरी हुई एक गुहा उत्पन्न होती है, जिसे ब्लैस्टोसील (Blastocoele) और इस श्रेणी में भ्रूण को ब्लैस्टयूला कहते हैं।

गैस्ट्रुलेशन (Gastrulation)—एंफ़िऑक्सस (Amphioxus) में ब्लैस्टचूला की भित्ति केवल एक कोशिकास्तर की बनी होती है। इस कारण गैस्ट्रुलेशन की विधि सरल होती है। ब्लैस्टचूला की भित्ति एक विशेष स्थान पर भीतर की ओर बैठने लगती है, जिसे अंतर्गमन (इनवैजिनेशन, invagination) कहते हैं। ब्लैस्टोसील गुहा के भीतर भित्ति के डूबने से उत्पन्न गुहा के किनारे एक दूसरे के समीप आने लगते हैं। इस प्रकार एक छिद्र बनता है जिसे ब्लैस्टोपोर (Blastopore) कहते हैं। इस नई गुहा को, जिसमें ब्लैस्टोपोर खुलता है, आर्कटेरॉन (Archenteron) कहते हैं। ब्लैस्टोपोर भ्रूण के पश्च भाग पर स्थित होता है।

अब दोनों प्राथमिक जननस्तर (जर्म लेअर, germ layer) स्थापित हो गए। छोटी कोशिकाओं से बना बाहरी स्तर बहिर्जनस्तर (Ectoderm या Epiblast) है और आर्कटेरॉन की भित्ति को बनानेवाला आंतरिक स्तर अंतर्जनस्तर (Endoderm अथवा Hypoblast) है। हाइपोब्लास्ट की कोशिकाएँ एपिब्लास्ट की कोशिकाओं से अधिक बड़ी होती हैं। ब्लैस्टचूला में ही गैस्ट्रुलेशन से ये दोनों प्रकार की कोशिकाएँ पहचानी जा सकती हैं। जंतुध्रुव के क्षेत्र में स्थित कोशिकाएँ आकार में छोटी और वेजिटल पोल पर स्थित कोशिकाएँ आकार में बड़ी होती हैं। पहली श्रेणी की कोशिकाओं से एपिब्लास्ट और दूसरी से हाइपोब्लास्ट बनता है। गैस्ट्रुलेशन से केवल इनके पारस्परिक स्थानीय संबंध में अंतर उत्पन्न होता है। ब्लैस्टचूला में हाइपोब्लास्ट कोशिकाओं के ऊपर की दो या तीन पंक्ति की कोशिकाएँ न्यूरल प्लेट (Neural plate) की कोशिकाएँ

हैं। ये ही आगे चलकर तंत्रिका कोशिकाएँ (नर्व सेल्स, nerve cells) बन जाती हैं। अंतर्जनस्तर के किनारेवाली दो तीन पंक्तियों की कोशिकाओं से नोटोकॉर्ड (Notochord) बनता है और इन्हीं के समीप मध्यजनस्तर (मेसोडर्म, Mesoderm) की कोशिकाएँ होती हैं।

गैस्ट्रुलेशन के पश्चात् आर्केंटरॉन की छत पर स्थापित कोशिकाओं से नोटोकॉर्ड बनता है। नोटोकॉर्ड और अंतर्जनस्तर (एंडोडर्म) के बीच की कोशिकाएँ दोनों ओर खोखली धानी बनाती हैं। यह धानी मेसोडर्म या मेसोब्लास्ट की है।

ऐसिडिऐन (Ascidian) में गैस्ट्रुलेशन का अंतर इतना ही है कि इन जंतुओं के अंडे मोजेइक होते हैं, अर्थात् अंडे के प्रत्येक भाग के भविष्य का निर्णय संसेचन के पूर्व ही हो जाता है। इनके कोशिकाद्रव्य स्थानानुसार भिन्न प्रकार के होते हैं। केंद्रक के चारों ओर का कोशिकाद्रव्य रंगहीन हाइलाइन (Hyaline) होता है। शेष कोशिकाद्रव्य कणिकामय और भूरा होता है तथा कार्टेक्स पर एक पतला स्तर कणिकामय पीले कोशिकाद्रव्य का होता है। हाइलाइन कोशिकाद्रव्य उन कोशिकाओं में जाता है जिनका एपिब्लास्ट और न्यूरल पट्ट बनता है। भूरा कणिकामय कोशिकाद्रव्य अंतर्जनस्तर कोशिकाओं में और पीला कोशिकाद्रव्य मध्यजनस्तर कोशियों में जाता है।

मेढक में गैस्ट्रुलेशन इससे कुछ भिन्न रूप में होता है। मेढक के ब्लैस्टचूला में ऊपरी कोशिकाएँ छोटी और काली तथा नीचे की बड़ी बड़ी योक से भरी हुई और रंगहीन होती है। इन ऊपरी और निचले प्रदेशों के बीच एक अंतःस्थ प्रदेश भी होता है। निचली कोशिकाओं की अपेक्षा ऊपरी भाग की कोशिकाएँ अधिक शीघ्रता से विभाजित होती है, फलतः ये छोटी कोशिकाएँ बड़े आकारवाली निचली कोशिकाओं के ऊपर सरक आती हैं। इस विधि को एपिबोली (Epiboly) कहते है। ऊपरी कोशिकाओं की संख्या तथा आकार में वृद्धि के कारण ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त और भी एक घटना होती है। भ्रूण के भावी पश्च पृष्ठ (डॉरसो पॉस्टीरियर, dorso posterior) तल पर एक ग्रूव बनती है। यह प्रारंभिक अवस्था का ब्लैस्टोपोर है। इस ग्रूव में से अनेक कोशिकाएँ भीतर की ओर चली जाती हैं, जिससे ग्रूव अधिक गहरा हो जाता है और एक नई गुहा उत्पन्न हो जाती है। यह गुहा आर्केंटरॉन है और भ्रूण अब गैस्ट्रुला की अवस्था में है।

भ्रूण के भीतर प्रवेश करनेवाली कोशिकाएँ अंतःस्थ क्षेत्र से आती हैं। ब्लैस्टचूला के भीतर प्रस्तुत गुहा, ब्लैस्टोसील, इन कोशिकाओं के भीतर प्रवेश करने से और आर्केंटरॉन के फैलाव के कारण दबकर आगे तथा नीचे की ओर हटने लगती है और अंतःस्थ क्षेत्र के भीतर प्रविष्ट कोशिकाएँ आर्केंटरॉन की छत बनाती हैं। ब्लैस्टोपोर का ग्रूव दाहिने और बाएँ फैलता है। फिर यह ग्रूव दोनों ओर से आकर नीचे मिल जाता है और एक वृत्ताकार छिद्र का रूप धारण कर लेता है। इसी बीच निचले ध्रुव की बड़ी बड़ी कोशिकाएँ भी ब्लैस्टोपोर से भीतर प्रवेश करती हैं, यहाँ तक कि ये सब कोशिकाएँ भ्रूण के भीतरी भाग में प्रवेश कर जाती हैं। किंतु कुछ समय तक इन बड़ी कोशिकाओं का एक समूह ब्लैस्टोपोर के मुँह में स्थित रहता है जिसे योक प्लग कहते है। इस समय तक ब्लैस्टोपोल पूर्णतः लुप्त हो चुका होता है। आर्केटरॉन की छत की कोशिकाएँ मध्यजनस्तर (मेसोडर्म) और छत के मध्य की कोशिकाएँ नोटोकॉर्ड बनाती हैं। मध्य के समीप दाएँ बाएँ की कोशिकाओं के सोमाइट बनते है और दोनों किनारों की कोशिकाएँ पार्श्व पट्ट (लैटरल प्लेट, lateral plate) बनाती हैं। आर्केटरॉन के भूमितल की कोशिकाएँ एंडोडर्म स्तर बनाती हैं। ये कोशिकाएँ एक नालिका (ट्यूबूल, tubule) बनाती हैं। यह नालिका (ट्यूबूल) ही आहार नाल (एलिमेंटरी कैनाल, alimentary canal) है। गैस्ट्रुलेशन के पश्चात् छोटी छोटी कोशिकाएँ अर्थात् अंतर्जनस्तरीय (एंडोडर्म) कोशिकाएँ ही बाहर रह जाती हैं और मध्यजनस्तरीय तथा अंतर्जनस्तरीय कोशिकाएँ भ्रूण के भीतर स्थित हो जाती हैं।

ब्लैस्टूला के विशेष भाग के अंतर्गमन (इन्वैजिनेशन, invagination) तथा उसके संभावी भाग्य का निर्णय ऐंफ़िबिया (Amphibia) की कई जातियों में किया जा चुका है। यूरोडीला (Urodela) में ब्लैस्टचूला के निचले ध्रुव (पोल) की कोशिकाओं का अंतर्गमन होता है और इनसे आहार नली (गट, Gut) बनती है। एक बालेंदु क्षेत्र में जो मध्य में चौड़ा और पीछे से दोनो ओर अत्यंत पतला होता है तथा ब्लैस्टोपोर के डॉर्सल किनारे से ऊपर स्थित होता है, भावी नोटोकॉर्ड बनानेवाला द्रव्य प्रस्तुत रहता है। ब्लैस्टोपोर के ऊपरी किनारे का ऊपरी क्षेत्र गैस्ट्रुला का ओष्ठ कहलाता है। इसको ऑर्गेनाइज़र (organiser) भी कहते हैं। नोटोकॉर्ड उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र के दाहिने और बाएँ के क्षेत्र सोमाइट (Somite) उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र है। संभावी अंतर्जनस्तर (एंडोडर्म) के चारो ओर का पार्श्व पट्ट (लैटरल प्लेट, Lateral plate) मध्यजनस्तर (मेसोड) बनानेवाली कोशिकाओं का क्षेत्र है। संभावी नोटोकॉर्ड सोमाइट, पार्श्व-पट्ट-क्षेत्र के ऊपर पूँछ के मध्यजनस्तर का क्षेत्र है। इन क्षेत्रों की कोशिकाएँ अंतर्गमन के पश्चात् गैस्ट्रुला के भीतर प्रवेश करती है। संभावी मध्यजनस्तर क्षेत्र के ऊपरी किनारे की रेखा, जो अंतर्गमन की परिसीमा भी अंकित करती है, ब्लैस्टचूला की मध्य रेखा के समांतर नहीं जाती। यह पृष्ठीय तल की ओर मध्य के ऊपर जाती है और प्रतिपृष्ठ (वेंट्रल, ventral) तल की ओर उसके नीचे।

अतर्गमन की परिसीमा बनानेवाली रेखा के ऊपरी क्षेत्र का अधिकांश भाग, जो पूरा पृष्ठीय तल घेरता है और कुछ कुछ प्रतिपृष्ठ तल को ओर झुका होता है, संभावी न्यूरल पट्ट का क्षेत्र है जिससे मस्तिष्क और मेरुरज्जु (स्पाइनल कॉर्ड spinal cord) उत्पन्न होते है। प्रतिपृष्ठ तल का क्षेत्र एपिडर्मिस (Epidermis) बनाता है। मेढक के ब्लैस्टचूला के विभिन्न क्षेत्रों का संभावी भाग्य इसी प्रकार का होता है, किंतु ब्योरे में कुछ भिन्न। सरीसृपों और पक्षियों के ब्लैस्टोडर्म (Blastoderm) के विभिन्न भागों के संभावी भाग्य का चित्र ऐंफ़िबिआ के प्रतिरूप से भिन्न होता है, परतु इनमें कुछ समानता भी होती है। संभावी नोटोकॉर्ड के मध्यजनस्तर का क्षेत्र अग्रस्थित न्यूरल पट्ट क्षेत्र और पश्चवर्ती अंतर्जनस्तर क्षेत्र के बीच में होता है। इसके दाहिने बाएँ सोमाइटिक मध्यजनस्तर का क्षेत्र होता है। पक्षियों में संभावी अंतर्जनस्तर का क्षेत्र बहुत छोटा होता है। गैस्ट्रुलेशन की गति के पश्चात् इन सब क्षेत्रों की कोशिकाएँ अपने निश्चित स्थान पर पहुँचकर विकसित होने लगती है।

मॉनोट्रीमों (Monotremes) के अतिरिक्त स्तनधारी जंतुओं के अंडे योक विहीन होते है [मॉनोट्रीमों के अंडों में योक होता है और मार्सूपियल (marsupial) के अंडों में भी योक होता है, परतु यह शीघ्र ही लुप्त हो जाता है]। इनमें युग्मज विभाजन संपूर्ण होता है। लगातार विभाजन से युग्मज, समानाकार कोशिकाओं का एक समूह बन जाता है। यह समूह शीघ्र ही दो भागों में विभक्त हो जाता है, एक बाह्य कोशिकास्तर और दूसरा आंतरिक कोशिकासमूह। पहले को ट्रोफ़ोब्लास्ट (Trophoblast) और दूसरे को भ्रूणगुच्छ (एंब्रिओनल नॉट, Embryonal Knot) कहते हैं। भ्रूण के आंतरिक भाग में एक गुहा होती है। भ्रूणगुच्छ के नीचे और ट्रोफ़ोब्लास्ट के नीचे चारों ओर कोशिकाओं का एक स्तर उत्पन्न होता है। भ्रूणगुच्छ के नीचे की कोशिकाएँ अंतर्जनस्तर बनाती है और ट्रोफ़ोब्लास्ट के नीचेवाली परिधि का अंतर्जनस्तर। अब भ्रूण में एक प्रिमिटिव स्ट्रीक उत्पन्न होता है।

पक्षियों के अंडों में योक की मात्रा अधिक होती है। अतः हाइआलिन (hyaline) कोशिकाद्रव्य ध्रुव पर संकीर्ण क्षेत्र में पाया जाता है। मेरोब्लास्टिक (meroblastic) युग्मज खंडन से इस ध्रुव पर कोशिकाओं का एक छोटा समूह उत्पन्न हो जाता है। इसे ब्लैस्टोडर्म कहते हैं। ब्लैस्टोडर्म में कोशिकाओं के बाह्य स्तर के आंतरिक स्तर से पृथक् (डिलेमिनेशन) हो जाने पर क्रमशः बहिर्जनस्तर तथा अंतर्जनस्तर बनते हैं। उक्त दोनों स्तरों का अंतराल खंडीभवन गुहा (सेगमेंटेशन कैविटी, segmentation cavity) है। ऐंफ़िऑक्सस (Amphioxus) तथा ऐंफ़िबिआ (Amphibia) की भाँति पक्षियों में अंतर्गमन (इन्वैजिनेशन) नहीं होता। इनमें गैस्ट्रुलेशन की विधि भिन्न है। ब्लैस्टोडर्म के मध्य का क्षेत्र पेलुसिडा (Pellucida) कहलाता है। यह ब्लैस्टोडर्म के बाहरी क्षेत्र से, जिसे ओपाका कहते हैं, विभिन्न होता है। पेलुसिडा क्षेत्र के भीतर एक लंबी रेखा

उत्पन्न होती है जो कोशिकाओं के अधिक संख्या में एकत्र होने के कारण बनती है। प्रिमिटिव स्ट्रीक वह स्थान है जहाँ एपिब्लास्ट (Epiblast) की कोशिकाएँ भ्रूण के भीतर प्रवेश करती हैं और नोटोकॉर्डल सोमाइट तथा पार्श्व पट्ट (लैटरल प्लेट, lateral plate) बनाती है। स्तनधारी जंतुओं के ब्लैस्टोडर्म का प्रिमिटिव स्ट्रीक भी इसी प्रकृति का होता है। इस लिये प्रिमिटिव स्ट्रीक को ऐंफ़िबिया के ब्लैस्टोपोर के समान समझा जाता है।

प्रारंभ में उरगों में भ्रूण का परिवर्धन पक्षियों के समान होता था किंतु अंतर्गमन (इन्वैजिनेशन) ऐंफ़िबिया के सदृश होता है। गहन कोशिका विभाजन के कारण पेलुसिडा क्षेत्र के मध्य में एक रेखा उत्पन्न हो जाती है, जिसे प्रिमिटिव नॉट या प्रिमिटिव पट्ट (प्लेट, plate) कहते हैं। इस क्षेत्र में अंतर्गमन होने से अर्थात् कोशिकाओं का तल नीचे दबने से एक गुहा बन जाती है। इस गुहा के द्वार को ऐंफ़िबिया के भ्रूण के ब्लैस्टोपोर के समान और गुहा को आर्केंटरिक गुहा के समान समझा जा सकता है।

लैंप्रि (Lamprey) में युग्मज खंडन (होलोब्लास्ट) होता है और ब्लैस्टचूला के भागों का आंशिक चित्र गैस्ट्रुलेशन ऐंफ़िबिया के समान ही होता है।

योक की अधिकता के कारण मछलियों में युग्मज खंडन मेरोब्लास्टिक होता है और भ्रूण योकसमूह के ऊपर एक कोशिकासमूह के रूप में परिवर्धित होता है। परंतु ब्लैस्टोडर्म क्रमशः नीचे की ओर फैलता हुआ अंत में संपूर्ण योक को घेर लेता है। इस फैलाव के साथ ही संभावी मध्यजनस्तर (मेसोडर्म) कोशिकाओं का अंतर्गमन भी होता है। सैमन (Salmon) मछली के ब्लैस्टचूला के भाग्य चित्र (diagram of presumptive fate) पर पूरे क्षेत्र का अधिकांश भाग संभावी मेसोडर्मल और न्यूरल ऊतकों (टिशू, tissue) से घिरा हुआ पाया जाता है। अंतर्जनस्तर और मध्यजनस्तर एक साथ उत्पन्न होते हैं, किंतु ब्लैस्टोडर्म का पश्च किनारा अंतस्तुन्न (tucked in) होता है।

डिपनोआन सिरेटोडस (Dipnoan ceratodus) में ब्लैस्टोमीर (Blastomere) छोटे बड़े होते हैं, किंतु युग्मज खंडन (होलोब्लास्टिक) होता है। ब्लैस्टोपोर की उत्पत्ति ऐंफ़िबिया के सदृश होती है।

अंगविकास (आर्गेनोजेनेसिस, Organogenesis)—गैस्ट्रुलेशन के उपरांत शास्त्रीय भ्रूणतत्व के तीनों प्राथमिक भ्रूणीय स्तर, बहिर्जनस्तर, अंतर्जनस्तर और मध्यजनस्तर निश्चित रूप से स्थापित हो जाते हैं। सपरीक्षात्मक भ्रूणतत्व ने यह सिद्ध कर दिया है कि बहिर्जनस्तर और मध्यजनस्तर अंतर्निमेय हैं। ऐंफ़िबिया में बहिर्जनस्तर गैस्ट्रुला के बाहरी तल पर होता है। प्रतिपृष्ठ के बहिर्जनस्तर और मध्यजनस्तर के बाहरी भाग, त्वचा, उसके उपांग (अपेंडेजेज, Appendages) और उसकी ग्रंथियों का उत्पन्न करते हैं। गैस्ट्रुलेशन के पश्चात् नोटोकॉर्डल मध्यजनस्तर के ऊपर स्थित कोशिकाओं का विभेदीकरण आरंभ हो जाता है और यह क्षेत्र न्यूरल पट्ट में परिणत हो जाता है, जो क्रमशः नीचे की ओर दबने लगता है। साथ ही न्यूरल पट्ट के दोनों ओर के किनारे ऊपर उठने लगते हैं। अंत में दोनों किनारों के ऊपर की ओर एक दूसरे से मिल जाने पर उनमें समेकन हो जाता है, फलतः न्यूरल पट्ट एक नली में परिणत हो जाता है, जिसे न्यूरल नली कहते हैं। इस तंत्रिकानाल के आगे का भाग मस्तिष्क और तत्सबंधी ज्ञानेंद्रियों के संवेदक भाग और कपाल तंत्रिकाओं को उत्पन्न करता है। पीछे के भाग से मेरुरज्जु और उसकी तंत्रिकाएँ उत्पन्न होती हैं। दूसरे पृष्ठवंशी जंतुओं में भी तंत्रिकानाल की उत्पत्ति इसी प्रकार होती है।

तंत्रिका नाल के नीचे के मध्यजनस्तर से नोटोकॉर्ड बनता है। निचली श्रेणी के कुछ पृष्ठधारी जंतुओं में नोटोकॉर्ड प्रौढ़ावस्था में भी पाया जाता है, किंतु ऊँची श्रेणी के जंतुओं में नोटोकॉर्ड चारों ओर से कशेरुकों से घिर जाता है और अंत में नष्ट हो जाता है। नोटोकॉर्ड के दाहिने और बाएँ दोनों ओर की कोशिकाएँ डॉर्सल मेसोब्लास्टिक सोमाइट बनाती हैं।

सोमाइट को माइओटोम (Myotome) भी कहते हैं। इसके बाहरी भाग क्यूटिस लेअर (cutis layer) से त्वचा का डर्मल भाग उत्पन्न होता है। यह खोखला होता है और इसकी गुहा को (माइओसील, myocoele) कहते हैं। इसकी भीतरी दीवार के ऊपरी भाग से बने माइओमियर (myomere) से मांसपेशियाँ उत्पन्न होती हैं। आंतरिक भित्ति के नीचे का भाग स्क्लियरोटोम (Sclerotome) बनाता है जिससे कशेरुक बनते हैं। सारे मेसोब्लास्टिक सोमाइट एक दूसरे से पृथक् दोनों ओर एक श्रेणी में स्थापित होते हैं। परंतु पार्श्वपट्ट (लैटरल) एक दूसरे से पृथक् नहीं होते। दोनों पक्षों के पार्श्वपट्ट नीचे की ओर प्रसारित होकर आहारनाल के नीचे एक दूसरे के समीप आते हैं। यहाँ निश्चित स्थान पर इनके किनारों से हृदय, रक्त की नालियाँ और रक्तकोशिकाएँ बनती हैं। डॉर्सल सोमाइट और पार्श्वपट्ट को मिलानेवाले भाग से वृक्क और इसकी मूत्रनालियाँ उत्पन्न होती हैं। बहिर्जनस्तर से आहारनाल और उससे संबद्ध ग्रंथियाँ तथा फेफड़े उत्पन्न होते हैं।

फ़ीटल झिल्लियाँ (Foetal membranes)—ऐंफ़िबिया में ब्लैस्टोमीयर के कोशिकाद्रव्य में योक प्रस्तुत होता है जिसके आधार पर भ्रूणीय परिवर्तन होता है। परंतु उरगों और पक्षियों में ब्लैस्टोडर्म योक के बाहर होता है। इसी से पोषक पदार्थ रुधिर की नालियों के द्वारा ही ब्लैस्टोडर्म तक पहुँच सकता है, जिसकी आवश्यकता परिवर्तन में पड़ती है। पक्षियों का ब्लैस्टोडर्म फैलकर योक पुंज को चारों ओर से घेर लेता है। इस प्रकार थैले के समान बने भाग को योक कोष (सैक) कहते हैं। ब्लैस्टोडर्म शीघ्र ही जिन दो भागों में विभक्त हो जाता है वे हैं—भ्रूणीय और भ्रूणातीत भाग। भ्रूणातीत भाग में रक्त की केशिकाएँ (कैपिलरीज, capillaries) उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार वैस्क्युलस (vasculous) क्षेत्र की उत्पत्ति होती है। इस क्षेत्र की शिराएँ पूरे योक कोष में फैलकर योक का शोषण करती हैं और इन्हीं के द्वारा यह पोषक पदार्थ ब्लैस्टोडर्म को पहुँचता है। उरगों में भी यही यत्न पाया जाता है। स्तनधारी जंतुओं में योक नहीं होता परंतु भ्रूणीय परिवर्धन के समय योक कोष (सैक, sac) उत्पन्न अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त उरगों, पक्षियों और स्तनधारियों में दो फ़ीटल झिल्लियाँ भी बनती हैं, जिनको उल्व (ऐम्निऑन, Amnion) और ऐलैंटोइस (Allantois) कहते हैं।

पक्षियों में एक उल्व भंज (ऐम्निओटिक फ़ोल्ड, Amniotic fold) भ्रूण के दोनों ओर तथा आगे और पीछे उत्पन्न होता है। भंज (फ़ोल्ड, fold) चारों ओर से आकर भ्रूण के डॉर्सल पक्ष के ऊपर एक दूसरे से मिलते हैं और इनका समेकन हो जाता है। इस भंज में बहिर्जनस्तर और मध्यजनस्तर दोनों होते हैं। भंज के समेकन के कारण भ्रूण के ऊपर एक गुहा बन जाती है, यह उल्व गुहा है। इस गुहा की भित्ति का आंतरिक स्तर बहिर्जनस्तर का बना होता है और बाहरी मध्यजनस्तर का। इस गुहा में एक तरल पदार्थ भरा रहता है जिसे उल्व-तरल (ऐम्निओटिक फ़्लूइड, Amniotic fluid) कहते हैं। उल्व के ऊपर एक और झिल्ली होती है, जिसे सरडस झिल्ली कहते हैं। यह एक बाहरी स्तर, बहिर्जनस्तर और आंतरिक मध्यजनस्तर की बनी होती है। इसके और उल्व के बीच की गुहा को अतिरिक्त भ्रूण (Extra embryonic coelome) कहते हैं। अंडे के चारों ओर परिवर्धन के पूर्व ही एक विटेलिन (viteline) झिल्ली होती है। सरडस झिल्ली के उत्पन्न होने पर इसका और विटेलिन झिल्ली का समेकन हो जाता है।

ऐलैंटोइस मध्यांत्र के पिछले भाग से एक डाइवर्टिकुलम (Diverticulum) के रूप में उत्पन्न होता है और इस अतिरिक्त भ्रूण सीलोम के भीतर प्रसारित होता है। ऐलैंटोइस की भित्ति का आंतरिक स्तर अंतर्जनस्तर का बना होता है और बाहरी मध्यजनस्तर का। यह क्रमशः भ्रूण के चारों ओर फैलता है और अंत में योक कोष की ओर इसका सीरस झिल्ली (मेम्ब्रेन, membrane) और विटेलिन झिल्ली से समेकन हो जाता है। उल्व से भ्रूण की रक्षा होती है और ऐलैंटोइस में गुर्दे का उत्सर्जित पदार्थ एकत्रित होता है तथा इसके द्वारा श्वसन की क्रिया भी होती है।

उरगों में भी उल्व और ऐलैंटोइस इसी विधि से बनते हैं। इस संबंध में इनमें और पक्षियों में कोई अंतर नहीं होता। अधिकांश स्तनधारी जंतुओं में भी उल्व इसी प्रकार बनता है। यह ट्राफ़ोब्लास्टिक (tropho-blast c) कोशिकाओं और मध्यजनस्तर कोशिकाओं का बना होता है। इसके बनने से इसके ऊपर एक कोरिऑन (Chor on) या सबजोनल (sub onal) झिल्ली भी उत्पन्न हो जाती है जिसे पक्षियों के भ्रूण की सेरस झिल्ली के समान समझा जाता है। परंतु कुछ स्तनधारियों में उल्व की उत्पत्ति की विधा कुछ भिन्न होती है। इनमें भ्रूणीय बहिर्जनस्तर में एक गुहा उत्पन्न होती है। यह उल्वगुहा है और इसकी भित्ति उल्व है।

स्तनधारी जंतुओं में ऐलैंटोइस की उत्पत्ति पक्षियों के समान ही है। यह आहारनाल के पश्चांत के कुछ आगे से एक डाइवर्टिक्युलम के रूप में उत्पन्न होता है और भ्रूण के ऊपर चारों ओर फैल जाता है। किसी किसी स्तनधारी में यह कुछ निश्चित स्थानों तक ही फैलता है।

उरग और पक्षी अपने अंडे शरीर से बाहर निकाल देते है और परिवर्धन की पूरी क्रिया मादा के शरीर के बाहर होती है। परंतु स्तनधारियों में [मॉनोट्रीम्स (Monotremes) के अतिरिक्त] परिवर्धन गर्भाशय के भीतर ही होता है। भ्रूण गर्भाशय की भित्ति से सटा होता है। कोरिओन झिल्ली से विली (Villi) उत्पन्न होते हैं और यह जननी के गर्भाशय की श्लेष्मिक झिल्ली में प्रवेश कर जाते है और उसके भीतर प्रस्तुत क्रिप्टी में स्थान पाते हैं। कोरिऑन के विली में ऐलैंटोइस के मध्यजनस्तर और रुधिर-वाहिकाएँ भी प्रवेश करती है। कोरिओनिक विली की शाखाएँ गर्भाशय की दीवार में दूर तक फैल जाती हैं और इसकी रुधिरवाहिकाओं और गर्भाशय की रुधिरवाहिकाओं में घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाता है। इनकी केशिकाएँ (Capillaries) एक दूसरे से मिल जाती हैं। इनकी भित्तियाँ इतनी पतली होती हैं कि इनके बीच से आहार और गैसों का विनिमय बड़ी सुगमता से हो जाता है। इस पूरी संरचना को प्लासेंटा (Placen!a) कहते हैं। प्लासेंटा के द्वारा भ्रूण को आहार और आविस-जन पहुँचता है और मल का उत्सर्जन होता है।

प्लासेंटा (Placenta)—कई प्रकार के होते हैं। कृंतकों (Rodents) में ऐलैंटोइस और कोरिओन का संबंध एक सीमित क्षेत्र में ही स्थापित होता है और विली केवल इसी स्थान पर उत्पन्न होते है। यह डिसकॉइडल (discoidal) प्लासेंटा कहलाता है। कुछ स्तनधारियों में कोरिओन तल से उत्पन्न होता है। ऐसे प्लासेंटा को डिफ़्यूज (diffuse) प्लासेंटा कहते है। ऐसे प्लासेंटा के विली यदि किसी सीमित स्थान पर ही शेष रह जाते है और अन्य जगहों पर नष्ट हो जाते हैं तो इसको जोनरी (zonary) कहते हैं। यदि विली कई एक समूहों में प्रस्तुत हों तो उसे कोटिलीडनेरी (cotyledonary) प्लासेंटा कहा जाता है। यदि विली एक सीमित प्रतिपृष्ठ क्षेत्र में ही पाए जाते हैं तो इन्हें मेटा-डिसकॉयडल प्लासेंटा के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रसूति (पार्चुरिशन, parturition) के समय पूरा प्लासेंटा और जननी के गर्भाशय की श्लेष्मिक झिल्ली (म्यूकस मेंब्रेन, mucous membrane) का कुछ भाग भी गर्भाशय से बाहर निकल आता है। ऐसे प्लासेंटा को डेसिडुएट (deciduate) कहते है। यदि जननी के गर्भाशय की श्लेष्मिक झिल्ली का कोई भाग प्लासेंटा के साथ बाहर न निकले तो उसे मेटाडेसिडचुएट प्लासेंटा कहते है। कुछ स्तनधारियों में जननी का पूरा प्लासेंटा और कुछ भ्रूण प्लासेंटा भी गर्भाशय के भीतर ही रह जाता है और शोषित हो जाता है। इसे कॉण्ट्राडेसिडचुएट (contra-deciduate) प्लासेंटा कहते है। (मु० ला० श्री०)

कशेरुकीय जीवाश्म विज्ञान जीवाश्म विज्ञान की परिभाषा देते हुए ट्वेंब होफ़ेल और ओक ने लिखा है: जीवाश्म विज्ञान वह विज्ञान है, जो आदिम पौधों तथा जंतुओं के अश्मीभूत अवशेषों द्वारा प्रकट भूतकालीन भूगर्भिक युगों के जीवन की व्याख्या करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवाश्म विज्ञान आदिकालीन जीवजंतुओं का, उनके अश्मीभूत अवशेषों के आधार पर अध्ययन करता है। जीवाश्म शब्द से ही यह इंगित होता है कि यह जीव + अश्म (अश्मीभूत जीव) का अध्ययन है। अँगरेजी का Palaeontology शब्द भी palaios = प्राचीन + Onto = जीव के अध्ययन का निर्देश करता है।

कशेरुकीय जीवाश्म विज्ञान की दो मुख्य शाखाएँ हैं: वानस्पतिक जीवाश्मिकी (Palaeobotany) तथा जंतविक जीवाश्मिकी (Palaeozoology)। स्पष्ट है कि प्रथम के अंतर्गत प्राचीन अश्मीभूत वनस्पतियों तथा दूसरे के अंतर्गत प्राचीन अश्मीभूत जंतुओं का अध्ययन किया जाता है। किंतु, साधारणतया प्राचीन अश्मीभूत जंतुओं के अध्ययन को ही जीवाश्म विज्ञान की संज्ञा प्राप्त है। अतः हम इसी प्रचलन का पालन करते हुए कशेरुकीय जंतुओं के अश्मीभूत इतिहास का अध्ययन करेंगे।

जीवाश्म विज्ञान का अध्ययन जीवविज्ञान की नई शाखा है और इसका विकास गत २०० वर्षों में ही अधिक हुआ है। सन् १८२० तक केवल १२७ अश्मीभूत वनस्पतियों तथा २,१०० जंतुओं का ही पता चला था, जो १८४० तक बढ़कर क्रमश: २,०५० तथा २४,३०० की संख्या तक पहुँच गया। तब से अब तक इन संख्याओं में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। मानव क्षमता के अधीन यह संभव नहीं है कि संसार के जितने भी जीवाश्मों के स्रोत हैं, उन सबकी खोजबीन कर ली जाए। दूसरे, पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति अरबों वर्ष पूर्व से ही होती आई है। तीसरे, संसार की भौगोलिक आकृति जैसी आज दृष्टिगोचर होती है, वैसी उन दिनों नहीं थी। जीव जंतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाया करते थे। अतः हमें उनके अश्मीभूत नमूनों से जो ज्ञान प्राप्त होता या हो सकता है, वह विच्छिन्न ही है, या होगा। अंत में यह कभी संभव नहीं है कि जितने भी जीवजंतु इतिहास के उस अंधकार युग में उपस्थित थे उन सबका अश्मीकरण हो ही गया हो। अश्मीकरण की कुछ दशाएँ होती हैं, जिनके कारण जीवजंतु के मृत शरीरों का अश्मीकरण हो जाता है। सभी जीवों का अश्मीकरण न तो आवश्यक ही है, न ही संभव है। इस कारण भी आदिम जीवों के जीवन का शृंखलाबद्ध इतिहास लिखना दुरूह कार्य है।

अब तक जितने भी जीवाश्मीय प्रमाण हमें प्राप्त हो चुके हैं, उनके आधार पर जीवों के क्रमिक विकास पर अच्छा खासा प्रकाश पड़ता है। जीवाश्मों के अध्ययन से हमें उन जीवों का पता चलता है जो अब या तो लुप्त (extinct) हो गए हैं, या उनका वर्तमान स्वरूप पर्याप्त परिवर्तित हो गया है। जीवाश्म प्राचीन जीवों के वे अवशेष है, जो शिलाखंडों या अन्य स्थानों पर पत्थर जैसे हो गए है। जीवों के कुछ ऐसे भी अवशेष प्राप्त हुए है, जो प्रस्तरीभूत (stratified) न होकर अपने मूल रूप में ही हैं। हिमसागरीय क्षेत्रों में प्राप्त मैमथों तथा अन्य जंतुओं के मृत शरीर रूस तथा इंगलैंड और अमरीका के संग्रहालयों में सुरक्षित है।

जेप्सेन, मेयर एवं सिम्पसन के शब्दों में, "कशेरुकीय जीवाश्म विज्ञान समय की सीमा में बँधे तुलनात्मक अस्थिविज्ञान का अध्ययन है। कारण कि (१) जैवाश्मिकीय न्यास (data) मूल रूप से कंकाल (skeleton) तंत्र तक ही सीमित होते हैं। (२) जीवाश्मवैज्ञानिकों के पास अध्ययन सामग्री के रूप में विविध पुराकालिक कंकालों के संकलन मात्र होते हैं।" (ग्लेन एल० जेप्सेन, अर्न्स्ट मेयर तथा जार्ज गेलार्ड सिम्पसन: जेनेटिक्स, पैलिओन्टोलाजी ऐंड इवोल्यूशन, प्रिंस्टन यूनि० प्रेस प्रिंस्टन, न्यूजर्सी, १९४९)।

जीवाश्मों के अभिलक्षण—जीवाश्म भी, आधुनिक जीवों की आकृति से, न्यूनाधिक रूप में, मिलते जुलते है। जीवाश्म केवल अवसादी शिलाखंडों में ही (कुछ अपवादों को छोड़कर) मिला करते हैं। अनेक प्रकार के जीवजंतुओं की अनेक परिस्थितियों में मृत्यु के उपरांत उनके शवों पर जो अवसाद (Sediment) जमा होते रहते हैं, कालांतर में वे ही जीवाश्म बन जाया करते हैं। कुछ जीवाश्म तो इतने पूर्ण है कि उनकी आण्वीक्षिकीय परीक्षा (microscopic examination) करने पर जीवों की कोशिका तक की रचनाएँ स्पष्ट दीख पड़ती है। जीवों के अश्मीभूत प्रमाण (fossilized specimens) अपने (जीवों के) जीवित शरीर के रूप में ही मिल जायँ, यह आवश्यक नहीं है। उनके शवों में सड़ाँध, आक्सीकरण (oxidation), हिंसक जीवों द्वारा विकृत कर देने, शीत, वर्षा, धूप आदि के कारण विकार उत्पन्न हो जाता है। कुछ जंतु, जिनके

शरीर कैल्सियम कार्बोनेट, सिलिका आदि जैसे अकार्बनिक पदार्थों द्वारा बने होते है, उनपर विकार का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ता है। ऐसे जीवों के जीवाश्म बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं। जो उपलब्ध हैं भी वे आधुनिक जीवित जीवों से तुलना करने के लिये अपूर्ण हैं।

जीवों की एक अन्य विशेषता यह भी है कि एक प्रकार के जीवाश्म कुछ विशेष प्रकार के शिलाखंडों में ही मिलते हैं। इन शिलाखंडों से जीवाश्मों के पूर्ण जीवन के परिवेश का ज्ञान हो जाता है। जीवाश्मों से यह भी मालूम होता है कि जीव कैसे स्थान पर रहा करता था और क्या खाता पीता था। इनसे तत्कालीन भौगोलिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है।

हिम क्षेत्रों में पाए गए जीवाश्म अथवा संपूर्ण जीवशरीर जीवाश्म वैज्ञानिकों के लिये वरदान सिद्ध हुए हैं। विशेषत: साइबेरिया के सुदूर उत्तर ध्रुवसागरीय क्षेत्र में लगभग संपूर्ण जीव ज्यों के त्यों प्राप्त हुए हैं। इनसे सुदूर अतीत के जीवों पर अच्छा खासा प्रकाश पड़ता है। साधारण रूप से जंतुओं के शरीर के कड़े भाग—हड्डियाँ, दाँत, खोल (shell) आदि—प्रस्तरीकृत (petrifacted) हो जाते हैं। लल ने इटली के पाम्पिआई नगर को 'जीवाश्मनगर' (fossil city) की संज्ञा देते हुए बतलाया है कि ईस्वी सन् ७९ में विसूवियस ज्वालामुखी के उद्गार के फलस्वरूप इस सुंदर नगर में कम से कम २,००० व्यक्तियों की जानें गई। ज्वालामुखी की धधकती आग, तप्त राख आदि ने संपूर्ण नगर को कई फुट मोटी पर्त से ढँक दिया। अंत में पर्वत के बड़े बड़े जलते टुकड़ों ने घरों की खिड़कियाँ तथा दरवाजों के भीतर घुसकर उनके भीतर मृत मनुष्यों एवं पशुपक्षियों को घर में ही दफन कर दिया। [रिचर्ड स्वान लल: आर्गेनिक रेवोल्यूशन, मैक्मिलन कं०, टोरंटो (कैनेडा), १९२९]।

कभी कभी अश्मीभूत जंतुओं की खोखली अस्थियों, जैसे कपाल (स्कल), हाथ पैर की हड्डियों, खोलों आदि के भीतर की वसा या मज्जा नष्ट हो जाती है और उसमें दूसरे पदार्थों के अवसाद भर जाते हैं। कालांतर में ये इतने कठोर हो जाते हैं कि यदि ऊपरी खोल को तोड़ दिया जाए तो भीतर एक मूर्ति जैसी प्रतिकृति (cast) बन जाती है। इसी प्रकार दलदलों, गीली मिट्टियों और भूमि पर पड़े पशुपक्षियों के पदचिह्न भी अश्मीभूत हो गए हैं। इन पदचिह्नों से जंतुओं के पैरों के तलवों की रचनाकृति एवं आकार का ही ज्ञान नहीं होता वरन् उनके आवागमन के मार्ग का भी निर्देश होता है। कुछ जंतुओं की विष्ठा भी अश्मीभूत रूप में प्राप्त होती हैं। इनके रासायनिक अध्ययन से उन जंतुओं के आहार का ज्ञान होता है। कुछ समुद्री मछलियों तथा अन्य जंतुओं की अन्ननली में दूसरी छोटी मछलियाँ या कीड़े मकोड़े, पशुपक्षी, अधपके मांस (अश्मीभूत) आदि भी पाए गए हैं।

जीवाश्मों की उपयोगिता—इन जीवाश्मों को अतीत की थाती समझना चाहिए क्योंकि इनसे पृथ्वी के लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व की अवस्था के प्रमाण मिलते हैं। शैलस्तरों (rock strata) के अभिनिर्धारण (identification) तथा इन स्तरों के वर्षक्रम (आयु) को निश्चित करने में जीवाश्मों से बहुत सहायता मिलती है। इनकी कुछ प्रमुख उपयोगिताएँ निम्नलिखित हैं:

(१) **कालानुक्रमिक** (Chronological)—जीवाश्मों में उत्कीर्ण अथवा संपूर्ण या अपूर्ण रूप में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर प्राचीन भूगर्भिक (geological) अवस्था का पता चलता है। किसी भूगर्भिक कालविशेष का निर्धारण करने में जीवाश्मों से बहुत सहायता मिलती है। स्तरीय स्थिति (stratigraphic) अथवा स्तरण विन्यास का जीवाश्मों से अविच्छिन्न संबंध माना गया है।

पृथ्वी पर जो भौतिक-रासायनिक परिवर्तन पहले हो चुके हैं, लगभग वैसे ही परिवर्तन आज भी हो रहे हैं। किंतु, जीवों का विकास क्रमिक रूप से होता रहा है। उनका जो स्वरूप पहले था, उसमें महान् अंतर पड़ गया है। खनिज पदार्थों की प्रकृति पूर्ववत् होती हुई भी कार्बनिक पदार्थों की प्रकृति परिवर्तनशील रही है। अत: खनिज पदार्थयुक्त शैलखंडों से उनकी प्राचीनता का निर्धारण कठिन होता है। किंतु उनके बीच प्राप्त जीवाश्मों के अवसादों का अध्ययन करने पर यह कार्य सरल हो जाता है। कुछ जीवाश्मों को निर्देशक जीवाश्म (Index fossil) की संज्ञा इस आधार पर दे दी गई है कि उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि अमुक जंतु या वनस्पति अमुक भूगर्भिक काल में ही उत्पन्न हुए या हो सकते है।

(२) **आदिम परिवेश** (Ancient environment)—जीवों के जीवन के लिये, चाहे वे वनस्पतियाँ हों, चाहे जानवर, विशेष प्रकार के भौगोलिक वातावरण ही उपयुक्त होते है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि विशेष वातावरण में विशेष प्रकार के जीव जंतु जीवित रहते हैं। जीवाश्मों से पता चलता है कि तत्कालीन जीव जंतुओं के जीवनयापन केलिये किस प्रकार का भौगोलिक वातावरण था। इन जीवजंतुओं की मृत्यु किस प्रकार हुई अथवा किस स्थान पर किस अवस्था में हुई थी, इसकी भी एक झलक जीवाश्म दे देते हैं। इसके साथ ही प्राचीन भूमि, सागर, जलाशय आदि की सीमा तथा विस्तार, जंतुओं और पक्षियों के परिव्रजन (migration) आदि पर भी जीवाश्म प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इन्हीं जीवाश्मों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ है कि प्राचीन कालीन भौगोलिक मानचित्रों की रचना सरल एवं सुलभ हो सकी है। जीवाश्मों द्वारा प्रकट भौगोलिक परिवेश के अध्ययन के लिये अब एक नवीन विज्ञान का जन्म हो चुका है, जिसे पुराभूगोल (Palaeogeography) कहते है।

(३) **पुरापारिस्थितिकी** (Palaeoecology)—सजीव प्राणियों को जीवित रहने के लिये विविध प्रकार के परिवेशों की आवश्यकता पड़ती है। कुछ जीव अन्य जीवों के शरीर के ऊपर या भीतर रहकर जीवनयापन करते हैं; इन्हें परजीवी या पराश्रयी (parasites) कहते हैं। कुछ जीव अन्य जीवों के निकट संपर्क में या उनसे संलग्न रहकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। ऐसे जीवनयापन को सहजीवन (Commensalism) कहते हैं। जीवाश्मों द्वारा जीव जंतुओं के इस अंत:संबंध का ज्ञान हमें सहज ही हो जाता है।

(४) **जीवों का उद्विकास** (Organic Evolution)—चार्ल्स डार्विन के जीवों के उद्विकास संबंधी सिद्धांत की पुष्टि के लिये जिन पुष्ट प्रमाणों या तर्कों को उनके समर्थक उपस्थित किया करते हैं, उनमें 'जीवाश्मीय प्रमाण' भी एक है। प्रत्येक जीवाश्म अपने आपमें जीवविशेष की अपनी सत्ता का स्वयं प्रमाण है। इनके अध्ययन से इनके क्रमिक विकास पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। जीवाश्मों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में एक ऐसा भी समय था, जब डाइनासौर जैसे दैत्याकार जंतुओं से पृथ्वी आक्रांत थी, अथवा सीलाकैंथस मछलियों (Coelacanthus) के जीवित अवशेष अब संभवत: समाप्त हो चले हैं। इसी प्रकार, उद्विकास संबंधी अन्य अनेक समस्याओं का समाधान जीवाश्म करते रहे हैं।

भूगर्भिक कालों का निर्धारण सहज कार्य नहीं है। इस दिशा में अनेक विद्वानों ने, समय समय पर, अनेक सिद्धांत उपस्थित किए हैं। उन सबका विवेचन एक पृथक् विषय हो जाता है, अत: हम सर्वमान्य सिद्धांत के अनुसार युगविभाजन का ही उल्लेख करेंगे। इन कालों (महाकल्पों, कल्पों तथा युगों) के विभाजन का पारम्परिक आधार योरपीय एवं उत्तरी अमरीका के तटवर्ती सागरों की तलहटियों में हुए परिवर्तन हैं। कालों का विभाजन करनेवाली सीमाएँ वास्तविक न होकर मात्र सुविधानुसार हैं। अकशेरुकीय जंतुओं के जीवन में परिवर्तन अथवा अवसादों के निक्षेपण में व्यवधान को लक्ष्य करके कालों को विभाजित कर लिया गया है। कैम्ब्रियन महाकल्प से लेकर नूतन महाकल्प तक, अनुमानत:, ५०,००,००,००० वर्षों का विस्तार रहा है। शिलाखंडों की पहचान कर लेने के बाद सबसे प्राचीन खंड की आयु तीन अरब वर्ष पूर्व की आँकी गई है। कैम्ब्रियन काल में ही पहली बार जीवाश्म दिखलाई पड़ते हैं; उनकी आयु ५० करोड़ वर्ष पूर्व मानी गई है। इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि इसके पूर्व पृथ्वी पर जीवन था ही नहीं। जीवन अवश्यमेव था, नहीं तो जीवाश्म कहाँ से प्राप्त होते। यह दूसरी बात है कि जीवन के उस आदिम काल के प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि उनका क्रमिक उद्विकास हो रहा था।

प्रथम कशेरुकीय जंतु की उत्पत्ति अनुमानतः ४० करोड़ वर्ष पूर्व हुई थी, जो ऑर्डोविसियन कल्प के नाम से जाना जाता है। विख्यात दैत्याकार डाइनासौर लगभग २० करोड़ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए और प्रायः १ करोड़ वर्षों तक पृथ्वी पर चंक्रमण करते रहे। सात करोड़ वर्ष पूर्व स्तनपायी (mammals) जंतु प्रकट हुए और डाइनासौर लुप्त हो गए। मनुष्य की उत्पत्ति लगभग १० लाख वर्ष पूर्व मानी जाती है।

भूगर्भिक काल (Geological age)—ऊपर कहा जा चुका है कि जीवाश्मों तथा भूगर्भिक कालों में अटूट संबंध होता है। ये भूगर्भिक काल कौन कौन से हैं, इसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :

महाकल्प (Era)	कल्प (Period)	युग (Epoch)
(क) नूतन जीवी (Cenozoic) या स्तनपायी जंतुओं एवं मानव का काल	(१) चतुर्थ (Quaternary) (२) तृतीय (Tertiary)	नूतन (Holocene) अत्यंत नूतन (Pleiotocene) अतिनूतन (Pliocene) मध्यनूतन (Miocene) अल्पनूतन (Obigocene) आदिनूतम (Eocene) पुरानूतन (Palaeocene)
(ख) मध्यजीवी (Mesozoic) या सरीसृपो का काल	(१) क्रेटैशस (Cretaceous) (२) जुरैसिक (Turassic) (३) ट्राइऐसिक (Triassic)	
(ग) पुराजीवी (Paleooic) या अकशेरुकीय तथा आदिम कशेरुकीय जंतुओं का काल	(१) पर्मियन) (Permian) (२) पेन्सिल्वैनियन (Pennrylvanian) (३) मिसिसिपियन (Mississippian) (४) डेवोनियन (Devonian) (५) सिल्यूरियन (Silurian) (६) ऑर्डोविसियन (Ordovician) (७) कैंब्रियन (Cambrian)	
(घ) कैंब्रियनपूर्वी (Pre-Combrian)		

कालों का नामकरण—ऊपर की तालिका में प्रत्येक महाकल्प, कल्प तथा युग का कोई न कोई नाम दिया गया है। कैम्ब्रियन नाम इंग्लैंड के वेल्स प्रदेश में स्थित कैम्ब्रिया जिले के नाम पर दिया गया, जहां इस काल के शिलाखंड प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। ऑर्डोविसिन तथा सिल्यूरियन कल्प का नामकरण दक्षिणी इंग्लैंड तथा वेल्स की इसी नाम की आदिम जातियों के नाम के आधार पर पड़ा है। डिवोनियन कल्प का नामकरण डिवॉनशायर (इंग्लैंड) के नाम पर पड़ा है। इसी प्रकार उत्तरी अमरीका की मिसिसिपी नदी तथा पेंसिल्वैनिया प्रदेश की एलेगनी पर्वत श्रेणी के क्षेत्र में पाए गए शिलाखंडों के नाम पड़े हैं। रूस के उत्तरी भाग में स्थित पर्म प्रदेश में पाए गए पुराजीवी शिलाखंडों को पर्मियन नाम दिया गया। इसी प्रकार अन्य नामों को भी समझना चाहिए।

महाकल्पों के कशेरुकीय जंतु—कशेरुकीय जंतुओं के अश्मीभूत प्रमाण सर्वप्रथम ऑर्डोविसियन काल में मिलते है, जो विच्छिन्न रूप में है। हम ज्यों ज्यों सिल्यूरियन काल की ओर बढ़ते है, ये जीवाश्मीय प्रमाण अधिक ठोस और पूर्ण होते जाते है। डिवोनियन शैल खंडों के जीवाश्मीय प्रमाण वास्तविक अर्थ में पूर्ण और विश्वसनीय हो जाते है। डिवोनियन कल्प के मध्य तथा अंतकाल के बीच मछलियाँ उत्पन्न हो चुकी थी। पुराजीवी-महाकल्प के अंत काल में उभयचर (amphibians) भी उत्पन्न हो चुके थे। पेन्सिलवैनियय काल में सरीसृप उत्पन्न हुए और उन्होंने लाखों वर्षों तक पृथ्वी पर शासन किया। मध्यजीवी महाकल्प के जुरैसिक कल्प में पक्षी तथा स्तनपायी उत्पन्न हुए। नूतनजीवी महाकल्प में स्तनपायी जंतु युग का आरंभ हुआ। इस प्रकार, मोटे तौर पर, कशेरुकीय जंतुओं का प्रादुर्भाव होता गया।

कशेरुकीय जीवाश्मविज्ञान—इसके पूर्व कि हम कशेरुकीय जीवाश्मों पर विचार करें, कशेरुकीय जंतुओं के लक्षणों पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा। कशेरुकीय जंतुओं के निम्नलिखित लक्षण बतलाए गए है :

(१) सभी कशेरुकीय जंतुओं में **द्विपार्श्व सममिति** (Bilateral symmetry) पाई जाती है।

(२) **पृष्ठरज्जु** (Notochord)—कशेरुकीय जंतुओं में अवलंबन (support) के लिये आंतरिक कंकाल पाया जाता है। इससे पेशीय संचलन में भी सुविधा मिलती है। इस कंकाल के पृष्ठभाग में एक लंबी पतली शलाका होती है, जो पुच्छ भाग से लेकर कपाल की ग्रीवा तक फैली रहती है। अति विकसित कशेरुकीयों में यही रीढ़ की हड्डी बन जाती है।

(३) **उपास्थि एवं अस्थि** (Cartilage and bone)—सभी कशेरुकीय जंतुओं में उपास्थियों या अस्थियों द्वारा निर्मित एक कंकाल तंत्र (*skeletal system*) पाया जाता है।

(४) **अक्षीय कंकाल** (Axial skeleton)—अक्षीय कंकाल तंत्र के मुख्य घटक कशेरुक (vertebrae) हैं। कशेरुकों का विस्तार होने के कारण उच्च कशेरुकीय जंतुओं में पसलियाँ (ribs) बन जाती है।

(५) **युग्मित अनुबंध** (Paired appendages)—मछलियों में युग्मित पखें (paired fins) तथा भूमि पर रहनेवाले कशेरुकों में हाथ पैर पाए जाते हैं। ये सब एक एक जोड़ होते है। हाथों के अवलंबन के लिये हँसलियाँ (pectoral girdles) तथा पैरो के लिये कूल्हे (pelvic girdles) होते है।

(६) **क्लोम तंत्र** (Branchial system)—सभी कशेरुकीयों में साँस लेने के लिये क्लोमतंत्र पाया जाता है, जो उच्च कशेरुकीयों में विकसित होकर फेफड़ा बन जाता है।

(७) **खोपड़ी** (Skull)—कंकाल के एक सिरे पर एक मस्तिष्क खोल (brain case) पाई जाती है जिसके भीतर वसा जैसे पदार्थ भरे रहते है। इसका पिछला भाग रीढ़ की हड्डी से जुड़ा रहता है और अगले या संमुख भाग में नाक तथा आँख के गड्ढे बने रहते है। पृष्ठीय खंड के विस्तार क्षेत्र में कान की गुहाएँ पाई जाती हैं।

पुराजीवी महाकल्प (Paleozoic Era)—इस महाकल्प का विस्तार ३२ करोड़ वर्षो तक की अवधिवाला माना गया है। इसके अंतर्गत सात कल्प समाविष्ट हैं : कैंब्रियन, ऑर्डोविसियन, सिल्यूरियन, डिवोनियन, मिसिसिपियन, पेंसिल्वैनियन तथा पर्मियन।

(१) **कैंब्रियन कल्प**—पुराजीवी महाकल्प के इस प्रथम चरण में अकशेरुकीय जंतुओं के पूर्णविकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। कशेरुकीय जंतुओं के जीवाश्म कैंब्रियनकाल में नहीं मिलते। इसका कारण यह बतलाया गया है कि संभवतः आदिम कशेरुकीय जंतुओं का शरीर ऐसे पदार्थों द्वारा निर्मित रहा होगा, जिनका प्रस्तरीकरण संभव नहीं है।

दूसरे, इस कल्प के जीवाश्म अधिकतर समुद्री हैं, अतः हो सकता है कि वे, या तो विरल (rare) रहे हों, या खारे जल में वे रहते ही न रहे हों।

(२) **ऑर्डोविसियन कल्प**—पुराजीवी महाकल्प के द्वितीय चरण के भी जीवाश्म अधिकतर समुद्री हैं। ऑर्डोविसियन कल्प में भी अकशेरुकीयों की भरमार है। इसमें इक्के दुक्के कशेरुकीय जीवाश्म मिले हैं, किंतु वे इतने अधूरे हैं कि उनसे कोई अर्थ निकालना कठिन है।

(३) **सिल्यूरियन कल्प**—सिल्यूरियन कल्प के भी जीवाश्मीय प्रमाण अधिकतर सागरजलीय हैं। इस कल्प के कुछ अतिशय प्राचीन पर्वतीय क्षेत्रों में, विशेषकर रूस के पास, कुछ आदिम कशेरुकीयों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। मीठे जलाशयों के पेटों (beds) तथा समुद्रों के मुहानों पर, जहाँ नदियाँ उनसे संगम करती हैं, कुछ सार्थक जीवाश्म प्राप्त हो सके हैं। मछलियों का प्रादुर्भाव यद्यपि इस कल्प में हो चुका था, तथापि उनका उद्विकास तेजी से हो रहा था जो अगले चरण में जाकर पूरा हुआ।

(४) **डिवोनियन कल्प**—इस कल्प में कशेरुकीय जंतुओं के स्पष्ट रूप से प्रमाण प्राप्त होते हैं। डिवोनियन कल्प को 'मत्स्य युग' (Age of fishes) कहा जाता है। कशेरुकीय जंतुओं का शृंखलाबद्ध इतिहास यहीं से आरंभ होता है। इंग्लैंड के स्कॉटलैंड प्रदेश में मीठे जल की मछलियों के प्रथम दर्शन मिलते हैं। डिवोनियनकालीन अवसाद उत्तरी अमरीका, कैनेडा, उत्तरी रूस, ऑस्ट्रेलिया आदि में भी मिलते हैं। इस कल्प में काँटेदार शार्क (spiny shark) का भी प्रादुर्भाव दिखलाई देता है।

(५-६) **मिसिसिपियन एवं पेंसिल्वेनियन कल्प**—कुछ जीवाश्म वैज्ञानिकों ने इन दोनों कल्पों को एक संयुक्त नाम—कार्बोनीफ़रस या कार्बनिक कल्प दिया है। इन दोनों कल्पों की संयुक्त अवधि लगभग आठ करोड़ वर्षों की मानी गई है। मिसिसिपियन कालीन क्षेत्र अधिकतर समुद्री हैं और इनमें चूने (Limestone) की मोटी तहें हैं। पेंसिल्वेनियन कल्प में कोयले की खानों की रचना आरंभ हो चुकी थी, अतः स्वाभाविक रूप से ये क्षेत्र स्थलीय हैं। इस काल में भी विविध प्रकार की मछलियों के जीवाश्म प्रचुर मात्रा में पाए गए हैं। इस कल्प का मुख्य आकर्षण उभयचरों (amphibians) का प्रादुर्भाव है। इन्हीं कल्पों की समाप्ति होते होते सरीसृप (reptiles) भी उत्पन्न हो चुके थे।

(७) **पर्मियन कल्प**—पुराजीवी महाकल्प के इस अंतिम चरण में योरप तथा अमरीका के अनेक क्षेत्रों के अवसादों में पर्याप्त अंतर पड़ चुका था। दक्षिणी अफ्रीका तथा रूस के कुछ भागों में भी इसी प्रकार का परिवेश था और इसमें स्थलीय कशेरुकीय जंतुओं के दर्शन होने लगते हैं। उभयचरों का विकास तेजी से होता जा रहा था और सरीसृप भी फैलते जा रहे थे। इस काल के सरीसृप शाकाहारी थे। कुछ सरीसृप मछलियों का आहार करते थे, ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हुए हैं। दक्षिणी अफ्रीका में कुछ ऐसे भी सरीसृप मिले हैं जो स्तनपायी जंतुओं जैसे दिखलाई देते हैं।

मध्यजीवी महाकल्प (Mesozoic Era)—इस महाकल्प की अवधि लगभग १३ करोड़ वर्षों की आँकी गई है और इसे 'सरीसृपकाल' (Age of Reptiles) की संज्ञा प्रदान की गई है। इस महाकल्प में तीन कल्प हैं: ट्राइऐसिक, जुरैसिक तथा क्रिटेशस।

(१) **ट्राइऐसिक कल्प**—मध्यजीवी महाकल्प में भयंकर प्रकार के सरीसृप जल, थल तथा नभ तीनों का शासन करते थे। ईश्वर की कृपा है कि अब उनका लोप हो चुका है। ट्राइऐसिक कल्प का क्षेत्र योरप के अल्पाइन पर्वत से आरंभ होता है। इस क्षेत्र के सागरों की तलहटियों में कई प्रकार के निक्षेप (deposits) मिलते हैं। ऐसे ही क्षेत्र दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी ऑस्ट्रेलिया, भारत, ब्राज़ील आदि में भी थे।

इस कल्प में पुरानी मछलियों का धीरे धीरे लोप होता जो रहा था और उनके स्थान पर नए प्रकार की मछलियों का प्रादुर्भाव हो रहा था। कुछ नए प्रकार के सरीसृपों को भी हम उसी काल में पाते हैं, जिनके वंशज आज प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। इसी कल्प के अंतिम चरण में डाइनासौरों के पूर्वज जन्म ले चुके थे।

(२) **जुरैसिक कल्प**—इस कल्प की विशेषता यह कि इसमें जलीय कशेरुकीय जीवाश्म प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इनकी तुलना में स्थलीय कशेरुकी कम प्राप्त हुए हैं। इस कल्प के क्षेत्र जूरा पर्वत, इंग्लिश चैनेल, बैवेरिया (जर्मनी), फ्रांस आदि तक ही सीमित है। इस कल्प में टीलियोस्ट (teleosts) तथा एलास्मोब्रैंक (elasmobranch) मछलियों, मेढकों, समुद्री सरीसृपों, छिपकली जाति के जंतुओं (lizards), मगर, पक्षी तथा आदिम स्तनपायी जंतुओं के दर्शन हमें स्पष्ट रूप से होते हैं। समुद्री इक्थियोसौर इस कल्प के उल्लेखनीय जंतु हैं। जुरैसिक कल्प के अंतिम चरण में डाइनोसौरों के भी दर्शन होने लगते हैं। इस काल के प्रमुख पक्षी वर्ग में आर्किऑप्टेरिक्स (Archaeopteryx) तथा आर्किऑर्निस (Archaeornis) है, जिनका आज लोप हो चुका है।

(३) **क्रीटेशस कल्प**—इस अकेले कल्प की अवधि लगभग पाँच करोड़ वर्ष आँकी गई है। इस कल्प के प्रमाण योरप, उत्तरी अमरीका, ब्राज़ील, आस्ट्रेलिया, माउंट लेबनान, सीरिया आदि में उपलब्ध होते हैं। इस कल्प के जंतु भारत, चीन, मंगोलिया, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में भी मिले हैं। इस काल में बड़े बड़े समुद्री कच्छप, सर्प, मगर, मांसाहारी डाइनोसौर आदि प्रचुर संख्या में दिखलाई देते हैं। प्लीसियोसौरों (Plesiosaurs) की प्रभुता इस कल्प की विशेषता प्रतीत होती है, जिनके अवशेषों में एक ऐसी खोपड़ी मिली है, जो लगभग तीन मीटर लंबी है।

नूतनजीवी महाकल्प (Cenozoic Era)—इस काल की अवधि पाँच छह करोड़ वर्ष आँकी गई है और इसे तृतीय तथा चतुर्थ कल्पों में विभक्त किया गया है। इस महाकल्प में दैत्याकार सरीसृपों का अंत हो चुका था और आधुनिक जंतुओं के पूर्वजों का अवतरण आरंभ होने लगा था।

(१) *तृतीय कल्प*—इस कल्प को पाँच युगों में विभक्त किया गया है, पुरानूतन (*Palaeocene*), आदिनूतन (*Eocene*), अल्पनूतन (*Oligocene*) मध्यनूतन (*Miocene*) तथा अतिनूतन (*Pliocene*)।

(क) **पुरानूतन युग** (Palaeocene Epoch)—तृतीय कल्प का यह प्राचीनतम युग है, जिसमें मुख्य रूप से स्तनपायी जंतुओं के आदिम पूर्वज विकसित हो रहे थे। तत्कालीन जंतुओं को प्राणिशास्त्रियों ने यद्यपि कीटभक्षी, मांसभक्षी अथवा प्राइमेट वर्गों में वर्गीकृत किया है, तथापि आज कल के इन्हीं वर्गों के जंतुओं से वे सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। इन आदिम पूर्वजों में से अधिकतर अब लुप्त हो चुके हैं।

(ख) **आदिनूतन युग** (Eocene Epoch)—इस युग के जंतु भी पुरानूतन युगीन जंतुओं की भाँति उत्तरी अमरीका में ही अधिकतर प्राप्त हुए। योरप में कुछ काल बाद स्विटज़रलैंड तथा फ्रांस और बेल्जियम में भी कुछ प्रमाण प्राप्त हुए। इस युग की विशेषता खुरदार जंतुओं की उत्पत्ति है। मध्ययुग में चमगादड़ भी अपना दर्शन देने लगते हैं। उत्तर युग आते आते कुत्ते, बिल्लियों आदि के कुलों के पूर्वज भी प्रकट होने लगते हैं। इसी समय दरियायी घोड़ों, टेपियरों, घोड़ों आदि के भी आदिम प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं।

(ग) **अल्पनूतन युग** (*Oligocene Epoch*)—इस युग के जीवाश्म योरप, एशिया, अमरीका आदि अनेक महाद्वीपों में प्राप्त हुए हैं। मंगोलिया, दक्षिणी डकोटा (उत्तरी अमरीका), पैटागोनिया (दक्षिणी अमरीका) मुख्य क्षेत्र बतलाए गए हैं। एक तिहाई से भी कम स्थलीय स्तनपायी जंतुओं का पता इस युग में लगा है। कारण यह है कि अधिकतर जंतुकुलों का लोप भी होता गया। उत्तर युग में अपोज़म, बीवर, क्रियोडॉंट, फ़िसीपीड आदि भी पाए गए हैं। मस्टेलिड तथा फ़ीलिड, समूहों की प्रचुरता थी। टेपियर, राइनोसिरस, आर्टिओडैक्टाइल आदि भी काफी प्राप्त हुए हैं।

(घ) **मध्यनूतन युग** (Miocene Epoch)—इस युग का विस्तार बहुत लंबा है और फ्रांस, जर्मनी आदि में बहुत से जीवाश्म मिले हैं। इस युग के जंतु अति आधुनिक हैं। बहुत से प्राचीन कुल लुप्त हो गए और

अखरोट वृक्ष की पत्तियाँ और फल

कश्मीर में इसकी लकड़ी की अनेक उपयोगी तथा सुंदर नक्काशीवाली वस्तुएँ बनाई जाती हैं।
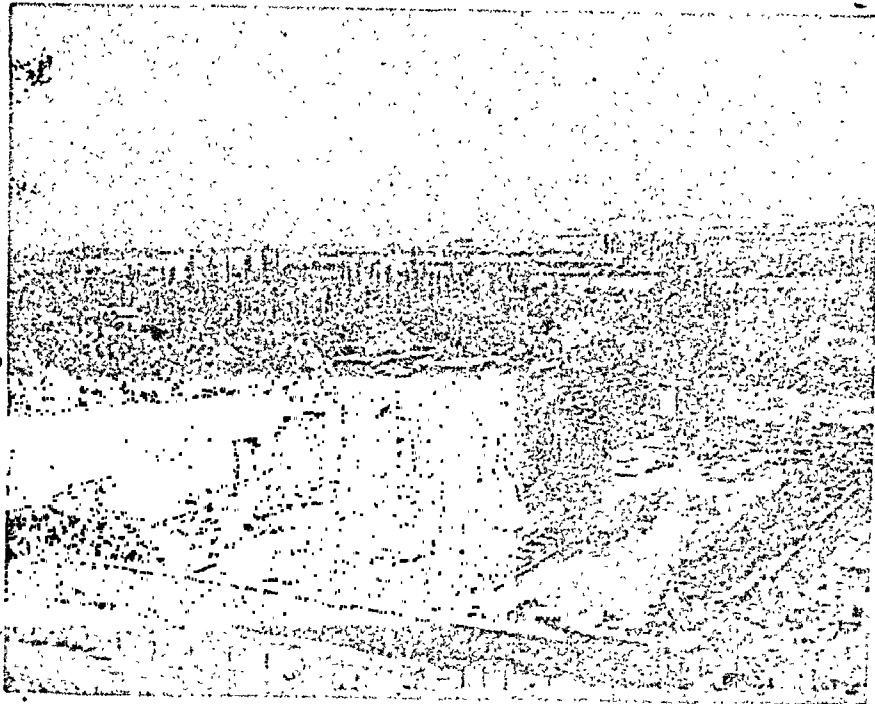
कश्मीर के ऐतिहासिक मार्तंड मंदिर के भग्नावशेष

(डा० भगवतशरण उपाध्याय के सौजन्य से)

सिंधु घाटी में वेगवती सिंधु नदी

८,२०० फुट ऊँचे सोनमर्ग का एक सामान्य दृश्य
(दोनों चित्र श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार के सौजन्य से)

उनके स्थान पर नए कुल विकसित हो रहे थे। मस्टेलिड, फ़ीलिड, सिवेट, हायना, रोडेंट आदि सुधरे रूपों में दिखलाई देते हैं। यौरप में गिबन के पूर्वजों का आभास मिलता है। बाद में इसका क्षेत्र अफ्रीका हो गया। घोड़ों, ऊँटों के भी पूर्वजों का कुछ संकेत इस युग में मिलने लगता है।

(ङ) **अतिनूतन युग** (Pliocene Epoch)—इस युग के अवशेष अधिकतर भूमध्यसागरी क्षेत्रों तथा पूर्वी और मध्य यूरोप से प्राप्त हुए हैं। चीन के शांसी प्रदेश तथा भारत मे शिवालिक पर्वत के आसपास भी इस युग के कुछ अवशेष मिले है। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका में भी टेक्सास, न्यू मेक्सिको, कैंसास, अर्जेंटाइना आदि क्षेत्रों के अवशेष इसी युग के हैं। आधुनिक जंतुकुलों (Families) के वास्तविक प्रपितामहों का विकास होने लगा था और पुराने अंगुलेट कुल लुप्त होते जा रहे थे। तेंदुआ, मृग, सूअर, जिराफ, आदिम हाथी आदि के जीवाश्म इस युग में प्रचुर संख्या में मिले हैं। ऊँटों के कई रूप भी दर्शनीय हैं और अनेक प्रकार के घोड़े भी दिखलाई देते हैं। स्पर्म ह्वेल मछलियाँ सागरों में विचरण करने लगी थीं।

(२) **चतुर्थ कल्प**—इस कल्प के दो युग हैं: अत्यंत नूतन तथा नूतन।

(i) **अत्यंत नूतन युग** (Pleistocene Epoch)—इस युग को उत्तरी क्षेत्रों का हिम युग (Ice Age) कहा जाता है। भौगोलिक दृष्टि से ध्रुव, समशीतोष्ण तथा उष्ण कटिबंध अलग हो चुके थे, तथापि उनमें सीमांकन करना कठिन था। पूर्व युगों के जंतुओं का धीरे धीरे लोप होता जा रहा था और उनके स्थान पर नए नए प्राणी विकसित होने लगे थे। आस्ट्रेलिया में बड़े बड़े कंगारू तथा ऑर्निथोरिंकस धीरे धीरे कम होते जा रहे थे। इस युग में लगभग वे सभी जंतु दिखलाई देते हैं, जो आज वर्तमान है। शीत, उष्ण तथा समशीतोष्ण कटिबंधों के जंतुओं का अंतर स्पष्ट हो चला था। मानव की उत्पत्ति इस युग में हुई या नहीं, यह एक विवाद का प्रश्न है।

(ii) **नूतन युग** (Holocene Epoch)—इस युग की उल्लेखनीय विशेषता मनुष्य की उत्पत्ति है। इसके पूर्व युग के दैत्याकार जंतु लुप्तप्राय हो चले थे और उनके स्थान पर सुडौल शरीरधारी आते जा रहे थे। (रा० सि०)

कश्मीर (३२° १७' उ० अ० से ३६° ५८' उ० अ० और ७३° २६' पू० दे० से ८३° ३०' पू० दे० तक) भारतवर्ष का धुर उत्तरी राज्य है। इसमें जम्मू (पुँछ सहित), कश्मीर, लद्दाख बल्तिस्तान एवं गिलगित के क्षेत्र संमिलित हैं। इस राज्य का पाकिस्तान अधिकृत भाग को लेकर क्षेत्रफल २,२२,२३६ वर्ग कि० मी० एवं उसे छोड़कर १,३८,१२४ वर्ग कि० मी० है। यहाँ के निवासियों में अधिकांश मुसलमान हैं, किंतु उनकी रहन सहन, रीति रिवाज एवं संस्कृति पर हिंदू धर्म की पर्याप्त छाप है। पाकिस्तान अधिकृत क्षेत्र को छोड़कर १९७१ की प्रथमांकित गणना के अनुसार कश्मीर की जनसंख्या ४६,१६,६३२ है। कश्मीर के सीमांत क्षेत्र पाकिस्तान, अफगानिस्तान, सिक्यांग तथा तिब्बत से मिले हुए हैं। कश्मीर भारत का महत्वपूर्ण राज्य है।

कश्मीर के अधिकांश क्षेत्र पर्वतीय हैं। केवल दक्षिण-पश्चिम में पंजाब के मैदानों का क्रम चला आया है। कश्मीर क्षेत्र में प्रधानतया दो विशाल पर्वतश्रेणियाँ हैं। सुदूर उत्तर में कराकोरम तथा दक्षिण में हिमालय-ज़ास्कर श्रेणियाँ हैं जिनके मध्य सिंधु नदी की सँकरी घाटी समाविष्ट है। हिमालय की प्रमुख श्रेणी की दक्षिणी ढाल की ओर संसारप्रसिद्ध कश्मीर घाटी है जो दूसरी ओर पीर पंजाल की पर्वतश्रेणी से घिरी हुई है। पीर पंजाल पर्वत का क्रम दक्षिण में पंजाब की सीमावर्ती नीची तथा अत्यधिक विदीर्ण तृतीय युगीन पहाड़ियों तक चला गया है।

प्राकृतिक दृष्टि से कश्मीर को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:

१. जम्मू क्षेत्र की वाह्य पहाड़ियाँ तथा मध्यवर्ती पर्वतश्रेणियाँ,
२. कश्मीर घाटी,
३. सुदूर वृहत् मध्य पर्वतश्रेणियाँ जिनमें लद्दाख, बल्तिस्तान एवं गिलगित के क्षेत्र संमिलित है।

कश्मीर का अधिकांश भाग चिनाव, झेलम तथा सिंधु नदी की घाटियों में स्थित है। केवल मुज़ताघ तथा कराकोरम पर्वतों के उत्तर तथा उत्तर-पूर्व के निर्जन तथा अधिकांश अज्ञात क्षेत्रों का जल मध्यएशिया की ओर प्रवाहित होता है। लगभग तीन चौथाई क्षेत्र केवल सिंधु नदी की घाटी में स्थित है। जम्मू के पश्चिम का कुछ भाग रावी नदी की घाटी में पड़ता है। पंजाब के समतल मैदान का थोड़ा सा उत्तरी भाग जम्मू प्रांत में चला आया है। चिनाव घाटी में किश्तवाड़ तथा भद्रवाह के ऊँचे पठार एवं नीची पहाड़ियाँ (कंडी) और मैदानी भाग पड़ते हैं। झेलम की घाटी में कश्मीर घाटी, निकटवर्ती पहाड़ियाँ एवं उनके मध्य स्थित सँकरी घाटियाँ तथा बारामूला-किशनगंगा की संकुचित घाटी का निकटवर्ती भाग समिलित हैं। सिंधु नदी की घाटी में ज़ास्कर तथा रुपशू सहित लद्दाख क्षेत्र, बल्तिस्तान, अस्तोर एवं गिलगित क्षेत्र पड़ते हैं। उत्तर के अर्धवृत्ताकार पहाड़ी क्षेत्र मे बहुत से ऊँचे दर्रे हैं। उसके निकट ही नंगा पर्वत (२६,१८२ फुट) है। पंजाल पर्वत का उच्चतम शिखर १५,५२३ फुट ऊँचा है।

झेलम या विहत (Behat), वैदिक काल में वितस्ता तथा यूनानी इतिहासकारों एवं भूगोलवेत्ताओं के ग्रंथों में हाईडसपीस के नाम से प्रसिद्ध है। यह नदी वेरिनाग से निकलकर कश्मीरघाटी से होती हुई बारामूला तक का ७५ मील का प्रवाहमार्ग पूरा करती है। इसके तट पर अनंतनाग, श्रीनगर तथा बारामूला जैसे प्रसिद्ध नगर स्थित हैं। राजतरंगिणी के वर्णन से पता चलता है कि प्राचीन काल में कश्मीर एक वृहत् झील था जिसे ब्रह्मासुत मारीचि के पुत्र कश्यप ऋषि ने बारामूला की निकटवर्ती पहाड़ियों को काटकर प्रवाहित कर दिया। इस क्षेत्र के निवासी नागा, गाधारी, खासा तथा द्रादी (Daradae) कहलाते थे। खासा जाति के नाम पर ही कश्मीर (खसमीर) का नामकरण हुआ है, पीरपंजाल तथा हिमालय की प्रमुख पर्वतश्रेणियों के मध्य स्थित क्षेत्र को कश्मीर घाटी कहते है। यह लगभग ८५ मील लंबा तथा २५ मील चौड़ा वृहत् क्षेत्र है। इस घाटी में चबूतरे के समान कुछ ऊँचे समतल क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें करेवा कहते हैं। धरातलीय दृष्टि से ये क्षेत्र अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

कश्मीर घाटी में जल की बहुलता है। अनेक नदी नालों और सरोवरों के अतिरिक्त कई एक झीलें हैं। वुलर मीठे पानी की भारतवर्ष की विशालतम झील है। कश्मीर में सर्वाधिक मछलियाँ इसी झील से प्राप्त होती है। स्वच्छ जल से परिपूर्ण डल झील तैराकी तथा नौकाविहार के लिये अत्यंत रमणीक है। तैरते हुए छोटे छोटे खेत सब्जियाँ उगाने के व्यवसाय में बड़ा महत्व रखते हैं। कश्मीर अपनी अनुपम सुषमा के कारण नंदनवन कहलाता है। भारतीय कवियों ने सदा इसकी सुंदरता का बखान किया है।

पीरपंजाल की श्रेणियाँ दक्षिणी-पश्चिमी मानसून को बहुत कुछ रोक लेती हैं, किंतु कभी कभी मानसूनी हवाएँ घाटी में पहुँचकर घनघोर वर्षा करती हैं। अधिकांश वर्षा वसंत ऋतु में होती है। वर्षा ऋतु में लगभग ९.७" तथा जनवरी-मार्च में ८.१" वर्षा होती है। भूमध्यसागरी चक्रवातों के कारण हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में, विशेषतया पश्चिमी भाग में, खूब हिमपात होता है। हिमपात अक्टूबर से मार्च तक होता रहता है। भारत तथा समीपवर्ती देशों में कश्मीर तुल्य स्वास्थ्यकर क्षेत्र कहीं नहीं है। पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण यहाँ की जलवायु तथा वनस्पतियाँ भी पर्वतीय हैं।

कश्मीर घाटी की प्रसिद्ध फसल चावल है जो यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन है। मक्का, गेहूँ, जौ और जई भी क्रमानुसार मुख्य फसलें हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न फल एवं सब्जियाँ यहाँ उगाई जाती हैं। अखरोट, बादाम, नासपाती, सेब, केसर, तथा मधु आदि का प्रचुर मात्रा में निर्यात होता है। कश्मीर केसर की कृषि के लिये प्रसिद्ध है। शिवालिक तथा मरी क्षेत्र में कृषि कम होती है। इन क्षेत्र में विभिन्न स्थानों पर अच्छी कृषि होती है। जनवरी और फरवरी में कोई कृषि कार्य नहीं होता। यहाँ की झीलों का बड़ा महत्व है। उनसे मछली, हरी खाद, सिंघाड़े, कमल एवं मृणाल तथा तैरते हुए बगीचों से सब्जियाँ उपलब्ध होती हैं। कश्मीर की

मदिरा मुगल बादशाह बाबर तथा जहाँगीर को बड़ी प्रिय थी किंतु अब उसकी इतनी प्रसिद्धि नहीं रही। कृषि के अतिरिक्त, रेशम के कीड़े तथा भेड़ बकरी पालने का धंधा भी यहाँ पर होता है।

इस राज्य में प्रचुर खनिज साधन हैं किंतु अधिकांश अविकसित हैं। कोयला, जस्ता, ताँबा, सीसा, बाक्साइट, सज्जी, चूना पत्थर, खड़िया मिट्टी, स्लेट, चीनी मिट्टी, अदह (ऐसबेस्टस) आदि तथा बहुमूल्य पदार्थों में सोना, नीलम आदि यहाँ के प्रमुख खनिज हैं।

श्रीनगर का प्रमुख उद्योग कश्मीरी शाल की बुनाई है जो बाबर के समय से ही चली आ रही है। कश्मीरी कालीन भी प्रसिद्ध औद्योगिक उत्पादन है। किंतु आजकल रेशम उद्योग सर्वप्रमुख प्रगतिशील धंधा हो गया है। चाँदी का काम, लकड़ी की नक्काशी तथा पाप्ये-माशे (Papier-Mache) यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। पर्यटन उद्योग कश्मीर का प्रमुख धंधा है जिससे राज्य को बड़ी आय होती है। लगभग एक दर्जन औद्योगिक संस्थान स्थापित हुए है परंतु प्रचुर औद्योगिक क्षमता के होते हुए भी बड़े उद्योगों का विकास अभी तक नहीं हो पाया है। अच्छी सड़कों के विकास एवं अधिक मात्रा में सस्ती बिजली की प्राप्ति इस दिशा में इस राज्य की मुख्य आवश्यकताएँ हैं।

पर्वतीय धरातल होने के कारण यातायात के साधन अविकसित हैं। पहले बनिहाल दर्रे (९,२९० फुट) से होकर जाड़े में मोटरें नहीं चलती थीं किंतु दिसंबर, १९५६ ई० में बनिहाल सुरंग के पूर्ण हो जाने के बाद वर्ष भर निरंतर यातायात संभव हो गया है। पठानकोट द्वारा श्रीनगर का नई दिल्ली से नियमित हवाई संबंध है। अब पठानकोट से जम्मू तक रेल की भी सुविधा हो गई है। लेह तक भी जीप के चलने योग्य सड़क निर्मित हो गई है। वहाँ भी एक हवाई अड्डा है।

समुद्रतल से ५,२०० फुट की ऊँचाई पर स्थित श्रीनगर जम्मू-कश्मीर की राजधानी तथा राज्य का सबसे बड़ा नगर है। इसकी जनसंख्या ४,०३,६१२ (१९७१) है। इस नगर की स्थापना सम्राट् अशोकवर्धन ने की थी। यह झेलम नदी के दोनों तट पर बसा हुआ है। डल झील तथा शालीमार, निशात आदि रमणीक बागों के कारण इस नगर की शोभा द्विगुणित हो गई है। अतः इसकी गणना एशिया के सर्वाधिक सुंदर नगरों में होती है। अग्निकांड, बाढ़ तथा भूकंप आदि से इस नगर को अपार क्षति उठानी पड़ती है। यहाँ के उद्योग धंधे राजकीय हैं। कश्मीर घाटी तथा श्रीनगर का महत्व इसलिये भी अधिक है कि हिमालय के पार जानेवाले रास्तों के लिये ये प्रमुख पड़ाव हैं।

जम्मू नगर की जनसंख्या १,५५,२४९ (१९७१) है। यह जम्मू प्रांत का सबसे बड़ा नगर तथा जम्मू-कश्मीर राज्य की जाड़े की राजधानी है।

सिंधु-कोहिस्तान क्षेत्र में नंगा पर्वत संसार के सर्वाधिक प्रभावशाली पर्वतों में से एक है। सिंधु के उस पार गिलगित का क्षेत्र पड़ता है। रूसी प्रभावक्षेत्र से भारत को दूर रखने के हेतु अंग्रेजी सरकार ने कश्मीर के उत्तर में एक सँकरा क्षेत्र अफगानिस्तान के अधिकार में छोड़ दिया था। गिलगित तथा सीमावर्ती क्षेत्रों में जनसंख्या बहुत कम है—१,८०,००० वर्ग मील में कुल १२ हजार। प्रति वर्ग मील कृषि क्षेत्र पर आबादी का घनत्व १,३०० है। गिलगित से चारों ओर पर्वतीय मार्ग जाते हैं। यहाँ पर्वतक्षेत्रीय फसलें तथा सब्जियाँ उत्पन्न की जाती हैं। वृहत् हिमालय तथा जास्कर पर्वत-श्रेणियों के क्षेत्र में जनसंख्या कम तथा घुमक्कड़ी है। १५,००० फुट ऊँचाई पर स्थित कोर्जोक नामक स्थान संसार का उच्चतम कृपकग्राम माना जाता है। लद्दाख एवं बल्तिस्तान क्षेत्र में लकड़ी तथा ईंधन की सर्वाधिक आवश्यकता रहती है। बल्तिस्तान में अधिकांशतः मुसलमानों तथा लद्दाख में बौद्धों का निवास है। अधिकांश लोग घुमक्कड़ों का जीवन यापन करते हैं। इन क्षेत्रों का जीवन बड़ा कठोर है। कराकोरम क्षेत्र में श्योक से हुंजा तक के छोटे से भाग में २४,००० फुट से ऊँचे ३३ पर्वतशिखर वर्तमान हैं। अतः उक्त क्षेत्र को ही, न कि पामीर को, 'संसार की छत' मानना चाहिए। अनेक कठिनाइयों से भरे इन क्षेत्रों से किसी समय तीर्थयात्रा के प्रमुख मार्ग गुजरते थे।

अक्टूबर, १९४७ ई० में कश्मीर राज्य का विलयन भारत में हुआ। पाकिस्तान अथवा तथाकथित आजाद कश्मीर सरकार, जो पाकिस्तान की प्रत्यक्ष सहायता तथा अपेक्षा से स्थापित हुई, आक्रामक के रूप में पश्चिमी तथा उत्तरपश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्रों को अधिकृत किए हुए है। भारत ने यह मामला १ जनवरी, १९४८ को ही राष्ट्रसंघ में पेश किया था किंतु अभी तक निर्णय खटाई में पड़ा है। उधर लद्दाख में चीन ने भी लगभग १२,००० वर्ग मील क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया है। भारत सरकार तथा जनता की ओर से प्रस्तुत चीनी आक्रमण का घोर विरोध हुआ है।

१९४७ के बाद कश्मीर ने विभिन्न क्षेत्रों में प्रचुर प्रगति की है। इसके सर्वांगीण विकास के लिये भारत सरकार द्वारा विशेष सहायता दी जा रही है। (शां० ला० का०)

कश्मीरी, आग़ा हश्र (१८७९–१९३५ ई०) इनका पूरा नाम आग़ा मुहम्मद शाह और उपनाम 'हश्र' था। इनके पिता आग़ा ग़नी शाह १८ वर्ष की आयु में श्रीनगर (कश्मीर) से वाराणसी आए और यहीं बस गए। वाराणसी में ४ अप्रैल, १८७९ ई० को आग़ा हश्र का जन्म हुआ। आग़ा हश्र की आरंभिक शिक्षा घर पर अरबी, फारसी के धार्मिक ग्रंथों से हुई। जयनारायण स्कूल, बनारस में आपने छठी कक्षा तक अंग्रेजी तथा हिंदी के अतिरिक्त अन्य विषय भी पढ़े। तत्पश्चात् नाटक और शायरी में रुचि लेने लगे। सैयद अहसन लखनवी कृत 'चंद्रावली' नाटक के जवाब में आग़ा हश्र ने सन् १८९७ ई० में अपना पहला नाटक 'आफ़ताबे मुहब्बत' लिखा। इनके पिता इन्हें नगरपालिका में बिल कलक्टर के स्थान पर नियुक्त कराना चाहते थे। लेकिन उक्त पद के लिये नगरपालिका में जमानत के तौर पर जमा किए जानेवाले रुपए लेकर ये १८९८ ई० में बंबई चले गए और कुछ दिन बाद वहाँ 'अल्फ़ेड कंपनी' के मालिक कावस जी खटाऊ के यहाँ नाटक लिखने पर ३५ रुपए महीने की नौकरी कर ली। सन् १९१० ई० में आग़ा हश्र ने 'द ग्रेट अल्फ़ेड थियेट्रिकल कंपनी ऑव हैदराबाद' का गठन किया। इसके टूट जाने के बाद उन्होंने सन् १९१३ ई० में 'इंडियन शेक्सपियर थियेट्रिकल कंपनी' की स्थापना लाहौर में की। लेकिन सन् १९१७ ई० में यह भी टूट गई। पश्चात् आग़ा हश्र ने एक हजार रुपए माहवार पर जे० एफ० मदन थियेटर में नौकरी कर ली। कुछ दिनों बाद उन्होंने मदन थियेटर से भी इस्तीफा दे दिया और १९२५ ई० में बनारस में 'द ग्रेट शेक्सपियर थियेट्रिकल कंपनी ऑव कलकत्ता' कायम की जो तीन साल बाद खत्म हो गई। सन् १९२९–३० ई० में आग़ा हश्र पुनः 'मदन थियेटर' में नौकर हो गए और रंगमंच के लिये नाटक लिखने लगे। पश्चात् उन्होंने 'ईस्ट इंडिया (फिल्म) कंपनी' और 'न्यू थियेटर्स' के लिये फिल्मी कहानियाँ लिखीं। सन् १९३४ ई० में ये लाहौर चले गए। वहाँ हश्र पिक्चर्स नामक फिल्म कंपनी स्थापित की और 'भीष्म' नामक फ़िल्म की शूटिंग हो ही रही थी कि २८ अप्रैल, १९३५ ई० को लाहौर में ही इनका लंबी बीमारी के बाद देहांत हो गया।

आग़ा हश्र ने रंगमंच के लिये कुल २७ नाटक लिखे हैं :

१. आफ़ताबे मुहब्बत (१८९७), २. मुरीदे शक (द विंटर्स टेल का रूपांतर, १८९९), ३. मारे आस्तीन, ४. असीरे हिर्स (शेरिडन के नाटक पिज़ारो से कुछ कथांश लेकर, १९०२), ५. दोरंगी दुनिया उर्फ मीठी छुरी, ६. दामे हुस्न (मेज़र फ़ॉर मेज़र से कुछ कथांश लेकर), ७. सुफ़ेद खून (किंग लियर से कुछ कथांश लेकर, १९०६), ८. सैदे हवस (पहला दृश्य किंग लियर से लेकर, १९०७), ९. ख़्वाबे हस्ती (१९०८), १०. खूबसूरत बला (१९०९), ११. सिल्वर किंग उर्फ जुर्मे वफ़ा (इसी को दुबारा नेक परवीन नाम से लिखा, १९११), १२. यहूदी की लड़की (१९१३), १३. बिल्वमंगल (१९१५), १४. बनदेवी (१९१६), १५. मधुर मुरली (१९१८–१९), १६. भगीरथ गंगा (१९२०), १७. भारत रमणी (१९२०), १८. प्राचीन और नवीन भारत (१९२१), १९. तुर्की हूर (१९२२), २०. पहला प्यार (१९२३), २१. आँख का नशा (१९२४), २२. भीष्म, २३. सीता बनवास (१९२७), २४. रुस्तम सोहराब (१९२९), २५. धर्मी बालक उर्फ

२०,००० फुट ऊँचे हरमुख के निकट की पर्वत श्रेणी
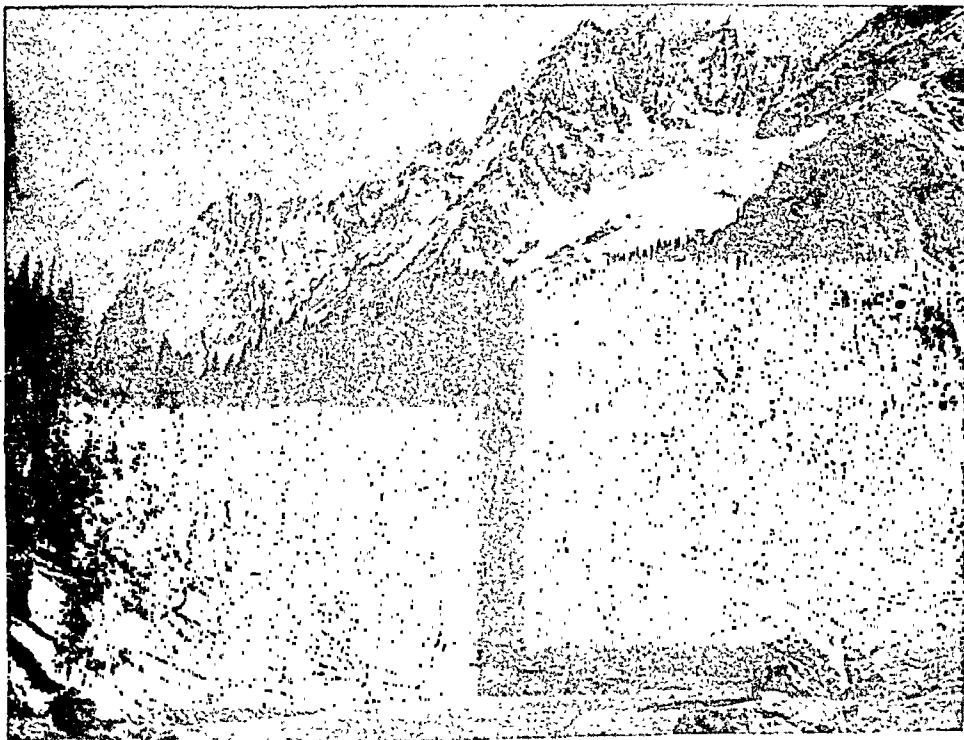
सोनमर्ग के निकट का ग्लेशियर

(दोनों चित्र श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार के सौजन्य से)
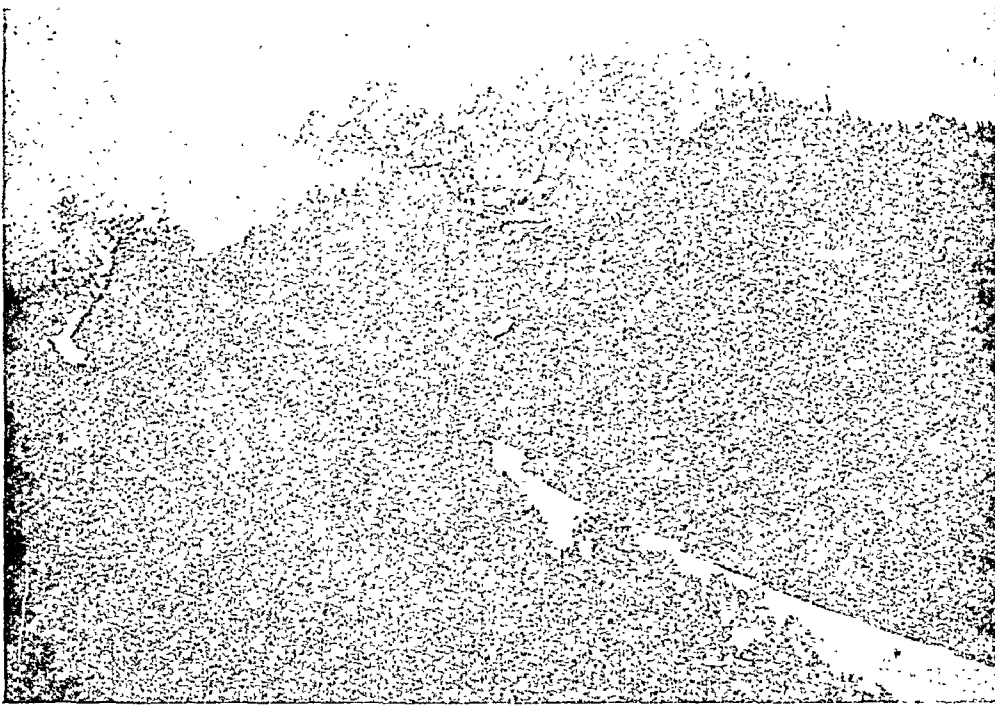
हिमशिखरों से निकलकर आती हुई सिंधु नदी
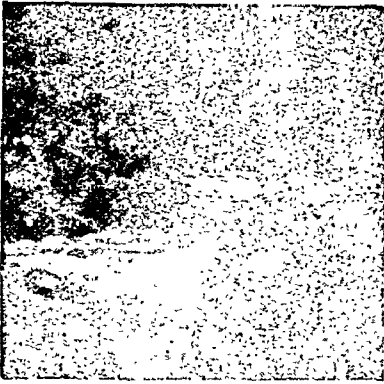
प्राकृतिक दृश्य
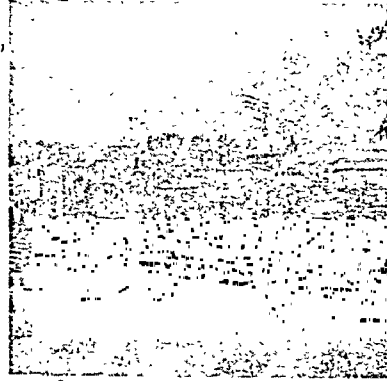
सूर्यमंदिर के अवशेष

एक चश्मा

(तीनों छोटे चित्र श्री भगवानदास वर्मा से प्राप्त)

श्रीनगर के निकट डल झील (दोनों बड़े चित्र श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार से प्राप्त)
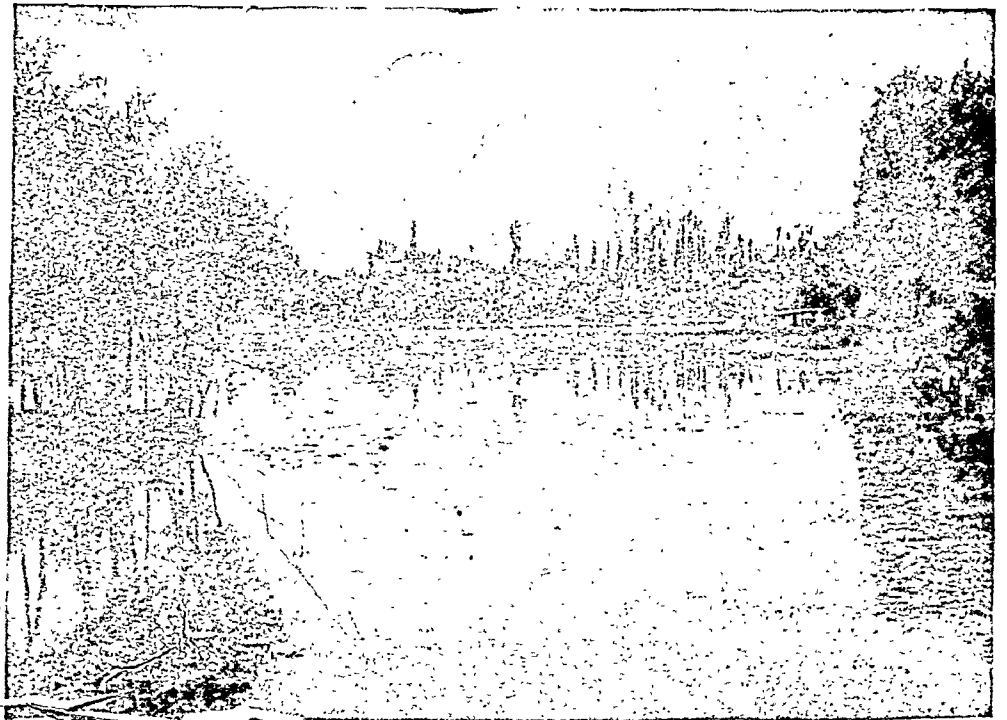
गरीब की दुनिया (१६३०), २६. भारतीय बालक उर्फ समाज का शिकार (१६३१) तथा २७. दिल की प्यास (१६३२ ई०)।

(अ० कु० न०)

कश्मीरी भाषा और साहित्य

क्षेत्रविस्तार १०,००० वर्ग मील; कश्मीर की वितस्ता घाटी के अतिरिक्त उत्तर में जोजीला और वर्जल तक तथा दक्षिण में वानहाल से परे किश्तवाड़ (जम्मू प्रांत) की छोटी उपत्यका तक। कश्मीरी जम्मू प्रांत के बानहाल, रामवन तथा भद्रवाह मे भी बोली जाती है। कुल मिलाकर बोलनेवालो की संख्या १५ लाख से कुछ ऊपर है। प्रधान उपभाषा किश्तवाड़ की 'कश्तवाड़ी' है।

नामकरण—कश्मीरी का स्थानीय नाम का'शुर है; पर १७वी शती तक इसके लिये 'भाषा' या 'देशभाषा' नाम ही प्रचलित रहा। संभवतः अन्य प्रदेशों में इसे कश्मीरी भाषा के नाम से ही सूचित किया जाता रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से इस नाम का सबसे पहला निर्देश अमीर खुसरो (१३वी शती) की नुह-सिपिह्र (सि० ३) में सिंधी, लाहौरी, तिलंगी और मावरी आदि के साथ मिलता है, जिससे इसके उद्भव और विकास की दिशा का भी पता चलता है। स्पष्टतः यह दिशा वही है जो पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, बँगला, हिंदी और उर्दू आदि भारतीय भाषाओं की रही है।

उद्भव—ग्रियर्सन ने जिन तर्को के आधार पर कश्मीरी के 'दारद' होने की परिकल्पना की थी, उन्हें फिर से परखना आवश्यक है; क्योंकि इससे भी कश्मीरी भाषा की कई गुत्थियाँ सुलझ नही पाती। घोष महाप्राण के अभाव में जो दारद प्रभाव देखा गया है वह तो सिंधी, पश्तू, पंजाबी, डोगरी के अतिरिक्त पूर्वी बँगला और राजस्थानी मे भी दिखाई पड़ता है; पर क्रियापदों के सश्लेषण मे कर्ता के अतिरिक्त कर्म के पुरुष, लिंग और वचन का जो स्पर्श पाया जाता है उसपर दारद भाषाएँ कोई प्रकाश नहीं डालतीं। संभवतः कश्मीरी भाषा 'दारद' से प्रभावित तो है, पर उद्भूत नहीं।

लिपि—१५वीं शती तक कश्मीरी भाषा केवल शारदा लिपि में लिखी जाती थी। बाद में फारसी लिपि का प्रचलन बढ़ता गया और अब इसी का एक अनुकूलित रूप स्थिर हो चुका है। सिरामपुर से बाइबल का सर्वप्रथम कश्मीरी अनुवाद शारदा ही में छपा था, दूसरा फारसी लिपि में और कुछ एक संस्करण रोमन में भी निकले। देवनागरी को अपनाने के प्रयोग भी होते रहे है।

ध्वनिमाला—कश्मीरी ध्वनिमाला में कुल ४६ ध्वनिम (फ़ोनीम) है।

स्वर : अ, आ; इ, ई; उ, ऊ; ए; ओ;
अ', आ'; उ', ऊ'; ए'; ओ';

मात्रा स्वर : —इ,—उ्,—ऊ्

अनुस्वार : अं

अंतःस्थ स्वर : —य , —व

व्यंजन : क, ख, ग, ङ; च, छ, ज; च़, छ़, ज़, ञ;
ट, ठ, ड; त, थ, द, न; प, फ, ब, म;
य, र, ल, व; श, स, ह

इ, ई, उ, ऊ और ए के रूप पदारंभ में यि, यी, वु, वू और ये' हो जाते है। च़, छ़, और ज़ दंततालव्य है और छ़ ज़ का महाप्राण है। पदांत अ बोला नहीं जाता।

कारक—कश्मीरी कारकों में संश्लेषणात्मकता के अवशेष आज भी दिखाई पड़ते हैं; जैसे—

सु ज़ोग्न ∠*सो जनो ∠* स जनो; तिम ज़'न्य ∠* तें जने (ते जनाः); त'म्य ज'न्य ∠* तें३ जनें३ (तेन जनेन); तिमव, जन्यव ∠* तैं जनैः (तैः जनैः); कर्म, संप्रदान, अपादान और अधिकरण में प्रायः संबंध के मूल रूप में ही परसर्ग जोड़कर काम निकाला जाता है; यद्यपि नपुं० के अधिकरण (एक०) में प्राचीन रूपों की झलक भी मिलती है। संबंध का मूल रूप यों है—तस ज'निस ∠*तस्स जनस्स ∠ तस्य जनस्य; तिमन ज़न्यन ∠* [तेंणां जनेणां (तेषां जनानाम्)।

नपुं० में—तथ गरस ∠* तद् घरस्स; तमिग रु' ∠* तम्हादो घरदो; तमि गरुक ∠* घरको (गृहकः); तमि गरि ∠* घरे (गृहे)।

क्रियापद—कश्मीरी क्रियापदों मे भारतीय अर्थविशेषताओं के ऊपर बहुत ही विलक्षण प्रभाव पड़ता गया है, जिनसे कुछ विद्वानों को उनके अभारतीय होने का भ्रम भी हुआ है। लिंग, वचन, पुरुष और काल के अनुसार एक एक धातु के सैकड़ा रूप बनते है, जैसे—

वुछ < वीक्षस्व; वुछान छु < वीक्ष (म) ाण : अस्ति (वह देखता/देख रहा है); वुछान छुम (वह मुझे देखता/देख रहा है); वुछान छम (वह मुझे देखती/देख रही है।)—छुहम (तू मुझे...है); —छुसथ (मैं तुम्हें...हूँ); —छुसन (मैं उसे...हूँ); वुछन (मैं उस देखूँगा); वुछथ (मैं तुझे देखूंगा); वुछुथ (तुमने देखा); वुछथस (तुमने मुझे देखा। तुमने उसके लिये देखा); वुछथन (तुमने उसे देखा); वुछिथ (तुमने उन्हे देखा); वुछु'थ [तुमने उस (स्त्री) को देखा]; वुछ्यथ (तुमने उन (स्त्रियो) को देखा); वुछुथम (तुमने मेरा/मेरे लिये देखा); वुछ्यथम (तुमने मेरे/मेरे लिये देखे); वुछु' थम (तुमने मेरी/मेरे लिये देखी); वुछिथम (तुमने मेरी/मेरे लिये देखी), आदि—आदि।

क्रियापदो की यह विलक्षण प्रवृत्ति सभवतः मध्य एशियाई प्रभाव है जो खुरासान से होकर कश्मीर पहुँचा है।

साहित्यारंभ—कश्मीरी साहित्य का पहला नमूना 'शितिकठ' के महानयप्रकाश (१३वी शती) की 'सर्वगोचर देशभाषा' मे मिलता है। सभवतः शैव सिद्धो ने ही पहले कश्मीरी को शैव दर्शन का लोकसुलभ माध्यम बनाया और बाद मे धीरे धीरे इसका लोकसाहित्य भी लिखित रूप धारण करता गया। पर राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आश्रय से निरतर वचित रहने के कारण इसकी क्षमताओ का भरपूर विकास दीर्घकाल तक रुका ही रहा। कुछ भी हो, १४वी शती तक कश्मीरी भाषा बोलचाल के अतिरिक्त लोकदर्शन और लोकसस्कृति का भी माध्यम बन चुकी थी और जब हम लल-वाख (१४०० ई०) की भाषा को 'बाणासुरवध' (१४५० ई०) की भाषा से अधिक मँजा हुआ पाते है तो मौखिक परपरा की गतिशीलता मे ही इसका कारण खोजना पड़ता है।

लोकसाहित्य—कश्मीरी लोकसाहित्य में संतवाणी, भक्तिगीत (लीला, नात आदि), अध्यात्मगीत, प्रणयगीत, विवाहगीत, श्रमगीत, क्रीडागीत, लडीशाह (व्यंग विनोद आदि), तथा लोककथाएँ विशेष रूप से समृद्ध है। 'सूफियाना कलाम' नाम की सगीत कृतियो मे भी लोकसाहित्य का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

अस्तु, विकासक्रम की दृष्टि से कश्मीरी साहित्य के पाँच काल माने जा सकते हैं :

१. आदिकाल (१२५०–१४०० ई०) : इस काल में सतो की मुक्तक वाणी प्रधान रही जिसमें शैव दर्शन, तसव्वुफ़, सहजोपासना, सदाचार, अध्यात्मसाधना, पाखंडप्रतिरोध तथा आडंबरत्याग का प्रतिपादन और प्रवचन ही अधिक रहा; संवेदनशील अभिव्यक्ति कम। इस काल की रचनाओं मे से शितिकंठ का महानयप्रकाश, किसी अज्ञात शैव संत का छुम्म संप्रदाय ललद्यद के वाख, नुंदर्यो'श के श्लोक तथा दूसरे ये'शों ('ऋषियों') के पद ही अब तक प्राप्त हो सके हैं। इनमे से भी प्रथम दो रचनाओं में कश्मीरी छंदों को संस्कृत के चौखटे मे कसकर प्रस्तुत किया गया है; हाँ, छुम्म संप्रदाय में कश्मीरी छंदों से अधिक कश्मीरी 'सूत्र' पाए जाते है जो शैव सिद्धों द्वारा कश्मीरी भाषा के लोकग्राह्य उपयोग की ओर निश्चित संकेत करते है।

२. प्रबंधकाल (१४००–१५५० ई०) : इस काल की इतिवृत्तप्रधान रचनाओं में पौराणिक तथा लौकिक आख्यानों को काव्य का आश्रय मिला। विशेषकर सुल्तान जैन-उल्-आबिदीन (बडशाह) (१४२०–७० ई०) के प्रोत्साहन से कुछ चरितकाव्य लिखे गए और संगीतात्मक कृतियों की रचना भी हुई। सुल्तान के जीवन पर आधारित एक खंडकाव्य और एक दृश्यकाव्य भी रचा गया था; पर खेद है, इनमें से अब कोई भी रचना उपलब्ध नही। केवल भट्टावतार का बाणासुरवध प्राप्त हुआ है जो हरिवंश में वर्णित उषा अनिरुद्ध की प्रणयगाथा पर आधारित होते हुए भी स्वतंत्र

रचना है, विशेषकर छंदयोजना में। इस काल की एक ही और रचना मिलती है; वह है सुल्तान के पोते हसनशाह के दरबारी कवि गणक प्रशस्त का सुख-दुःखचरित जिसमें आश्रयदाता की प्रशस्ति के पश्चात् जीवन की रीतिनीति का प्रतिपादन है।

३. **गीतिकाल** (१५५०-१७५० ई०)—लोकजीवन के हर्षविषाद का विश्वजनीन भावचित्रण इस गीतिप्रधान काल की मनोरम विशेषता है। इसके 'अथ' और 'इति' हब्ब खातून (१६वीं शती) और अ'रनिमाल (१८वीं शती) हैं जिनके वेदनागीतों में लोकजीवन के विरह मिलन का वह करुण मधुर सरगम सुनाई पड़ता है जो एक का होते हुए भी प्रत्येक का है। १६०० ई० के आसपास इस सरगम से सूफी रहस्यवाद का स्वर भी (विशेषकर हबीबुल्लाह नौशहरी) की गीतिकाओं में फूट पड़ा और १६५० ई० के लगभग (साहिब कौल के कृष्णावतार में) लीलाकाव्य की भी उद्भावना हुई। 'सूफ़ियाना कलाम' का अधिकांश इसी काल मे रचा हुआ जान पड़ता है। छंदविधान में नए प्रयोग भी इस काल की एक विशेष देन है।

४. **प्रेमाख्यान काल** (१७५०-१९०० ई०)—इस काल में प्रबंध और प्रगीत के संयोजन से पौराणिक प्रणयकाव्य और प्रेममार्गी (सूफी) मसनवी काव्य परिपुष्ट हुए। एक ओर रामचरित, कृष्णलीला, पार्वतीपरिणय, दमयंती स्वयंवर आदि आख्यानों पर मार्मिक लीलाकाव्य रचे गए तो दूसरी ओर फारसी मसनवियों के रूपांतरण के अतिरिक्त अरबी, उर्दू और पंजाबी प्रेमाख्यानों से भी सामग्री ली गई; इसके साथ ही कुछ ऐसे धार्मिक प्रगीतों की भी रचना हुई जिनमें लौकिक तथा अलौकिक प्रेम के संश्लिष्ट चित्रण के साथ साथ पारिवारिक वेदना का प्रतिफलन भी हुआ है। इस काल की रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय ये हैं—रमज़ान बट का अकनंदुन; प्रकाशराम का रामायन; महमूद गामी के **शीरीं खुसरव**, लैला मजनूँ और युसुफ जुलेखा; परमानंद के राधा स्वयंवर, **श'वलगन** और सो'दामचर्यथ; वलीउल्लाह मत्तू तथा ज़रीफ़शाह की सहकृति **हीमाल**; मक़बूल शाह क्रालवारी की **गुलरेज**; अज़ीजुल्लाह हक्कानी की मुमताज़ बेनज़ीर; कृष्ण राज़दान का श'वलगन; तथा ल'ख्ययन बठ नागाम 'बुलबुल' का नलदमन।

५. **आधुनिक काल** (१९००)—इस काल में कश्मीर के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन ने भी आधुनिकता की अँगड़ाई ली और भारत के दूसरे प्रदेशों की (विशेषकर पंजाब की) साहित्यिक प्रगति से प्रभावित होकर यहाँ के कवियों ने भी नई जागृति का स्वागत किया। धीरे धीरे कश्मीरी कविता का राष्ट्रीय स्वर ऊँचा होता गया और सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन की नई गतिविधि का सजीव संगीत भी गूँज उठा। वहाब पुरे के **शाहनामा**, मक़बूल के **ग्रीस्त्यनामा** और रसूल मीर की गजल ने इस जागरण काल की पूर्वपीठिका बाँधी, महजूर ने इसकी प्रभाती गाई और आजाद ने नवीन चेतना देकर इसे दूसरे प्रदेशों के भारतीय साहित्य का सक्रिय सहयोगी बना दिया।

उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से इस आधुनिक काल के चार चरण हैं: (१) १९००-१९२०; (२) १९२०-१९३१; (३) १९३१-१९४७; (४) १९४७—से आगे। पहले चरण में सूफी पदावली की घिसी पिटी परंपरा ने ही मानववाद की हल्की सी गूँज पैदा की और ऐतिहासिक (इतिवृत्तात्मक) मसनवियों ने अपने युग का परोक्ष चित्रण भी प्रतिबिंबित किया। दूसरे चरण में देशभक्ति की भावना अँगड़ा उठी और तीसरे में राजनीतिक तथा राष्ट्रीय चेतना का निखार हुआ तथा मानववाद का स्वर ऊँचा होता गया। चौथे चरण में कश्मीरी कविता ने नई करवटें लीं। पहले दो वर्षों तक शत्रु के प्रतिरोध और नई आजादी के संरक्षण की उमंग ही गूँजती रही। उसके पश्चात् नए कश्मीर के निर्माण की मूलभूत अपेक्षाओं को पूरा करने के लिये आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना और विश्वशांति की प्रतिष्ठा पर जोर दिया जाने लगा। ऐसे महत्वपूर्ण विषयों पर कविताएँ ही नहीं, गीतिनाट्य और नृत्यगीत भी रचे गए। लोकगीतों की शैली को अपनाने के नए नए प्रयोग भी हुए और छंदोविधान में भारी परिवर्तन आया। दूसरे चरण में प्रकृतिचित्रण की जो प्रवृत्ति जाग उठी थी वह इस चौथे चरण में एक नई कलात्मकता के अनुप्राणित हुई और प्राकृतिक परिवेश में सामाजिक सांस्कृतिक चित्रण की एक संश्लिष्ट शैली का विकास हुआ। 'महजूर' और 'आजाद' के बाद 'मास्टर जी', 'आरिफ़', 'नादिम', 'रोशन', 'राही', 'कामिल', 'प्रेमी' और 'अलमस्त' ने इस दिशा में विशेष योग दिया। आजकल 'फिराक़', 'चमन', 'बेकस', 'आज़िम', 'कुंदन', 'साक़ी' और 'ख़याल' विशेष साधनाशील हैं। 'फ़ाज़िल', 'अंबारदार' और 'फ़ानी' भी अपने अपने रंग में प्रगीतों की सर्जना कर रहे हैं।

कश्मीरी गद्य पत्रकारिता के अभाव से विकसित नहीं हो पा रहा है। रेडियो और कुछ (अल्पायु) मासिकों का सहारा पाकर यद्यपि नाटक, कहानी, वार्ता और निबंध अवश्य लिखे जा रहे हैं; पर जब तक कश्मीरी का कोई दैनिक या साप्ताहिक नहीं निकलता, कश्मीरी गद्य का विकास संदिग्ध ही रहेगा। फिर भी, लिखनवालों की कमी नहीं है। कहानीकारों में अख़्तर मुहीउद्दीन, अमीन कामिल, सोमनाथ जुत्शी, अली मुहम्मद लोन, दीपक कौल, अवतारकृष्ण रहबर, सूफ़ी गुलाम मुहम्मद, हृदय कौल भारती, उमेश कौल और बनसी निर्दोष विशेष सक्रिय हैं। नाटककारों में 'रोशन', जुत्शी', 'लोन', पुष्कर भान और 'कामिल' तथा उपन्यासकारों में 'अख़्तर', 'लोन' और 'कामिल' के नाम लिए जा सकते हैं। प्रकाशन की सुविधा मिले तो बीसों उपन्यास छप जायें। कश्मीरी भाषा को स्कूलों के शिक्षाक्रम में अभी समुचित स्थान नहीं मिल सका है। कश्मीरी भाषा और साहित्य के समुचित विकास में यह एक बहुत बड़ी बाधा है।

सं०ग्रं०—कश्मीरी भाषा और उसका साहित्य (चतुर्दश-भाषा-निबंधावली, पृ० १२३-४४), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५७; कश्मीरी लिटरेचर (कंटेंपोरेरी इंडियन लिटरेचर), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९५७; कश्मीरी (आज का भारतीय साहित्य), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली ,१९५८; कश्मीर शब्दामृतम्, एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता, १८९८; लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, खंड ८, भाग २; कश्मीरी लिरिक्स (राइन मिस्री), श्रीनगर, १९४५; कश्मीरी (भाषा तथा साहित्य), हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् २०१५। (पृ० ना० पु०)

कश्यप इस नाम के कई वीर, विद्वान् तथा ऋषि हुए हैं जिनमें एक १६ प्रजापतियों में परिगणित हैं। इन्होंने दक्ष की ६० कन्याओं में से आठ से विवाह किया जिनमें दिति, अदिति तथा दनु आदि थीं। अदिति के गर्भ से सब मिलाकर ३३ देवता हुए जिनमें १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र तथा दोनों अश्विनीकुमार हैं। यह मरीचिपुत्र कश्यप हैं जो महर्षि और ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा माने जाते हैं। दूसरे कश्यप के पुत्र विवस्वान् और विवस्वान् के मनु हुए। ये महर्षि कहीं उत्तर में रहते थे और इनकी पत्नी मुनि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति हुई। इन्हीं की दूसरी पत्नी अनला से फल देनेवाले वृक्षों की सृष्टि बतलाई जाती है। तीसरे कश्यप ब्रह्मा के पौत्र थे, जो, रामायण के अनुसार, राम के अयोध्या लौटने पर उन्हें आशीर्वाद देने वहाँ गए थे।

हरिहर पुराण में किसी चौथे कश्यप की १३ पत्नियाँ लिखी हैं जो दक्ष की कन्याएँ थीं। इसी के अनुसार कश्यप ने अपनी पत्नी अदिति के पुण्यक व्रतार्थ कल्पवृक्ष की सृष्टि की थी। कहीं कहीं इनकी स्त्रियों की संख्या १२ दी हुई है। पाँचवें कश्यप संभवतः लिंगपुराण में निर्दिष्ट महर्षि थे। लिंगपुराण में लिखा है कि वाराह कल्प के १६वें द्वापर में महादेव जी ने जब गोकर्ण नाम से अवतार लिया तो उनके चार पुत्र हुए जिनमें एक कश्यप थे। वे सभी परम योगी हुए। धर्मशास्त्र प्रणेता कश्यप छठे थे, जिन्हें परशुराम ने २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके दान में दे दिया था। इनकी कथा वाराहपुराण में दी हुई है। सातवें कश्यप की कथा विष्णुपुराण में है। इनकी स्त्री दिति की कई संतानें देवासुर संग्राम में नष्ट हो गई तो इन्हें इंद्रविनाशी एक पुत्र की प्राप्ति का वरदान मिला। इंद्र को जब यह ज्ञात हुआ तो दिति के गर्भ में प्रवेश कर उसने भ्रूण के ४९ खंड कर डाले। इन्हीं खंडों से ४९ मरुतों की उत्पत्ति हुई।

वामनपुराण के अनुसार एक कश्यप का पुत्र मुर नामक दानव था जिसे मारकर श्रीकृष्ण ने मुरारि नाम प्राप्त किया। नवें कश्यप की कथा श्रीमद्भागवत में है जिसमें लिखा है कि इन्होंने वैश्वानर दानव की चार कन्याओं में से दो, पुलोमा तथा कालका, से व्याह किया और उनसे पोलोम

एवं कालकेय नामक ६० सहस्र युद्धकुशल पुत्र हुए। इन सबको अकेले अर्जुन ने मार डाला था। (रा० द्वि०)

कश्यपसंहिता कश्यप या काश्यप के नाम से तीन संहिताएँ मिलती हैं: १. कश्यप संहिता या वृद्धजीवकीय तंत्र; इसको नेपाल देशवासी, राजगुरु हेमराज शर्मा, ने १९३८ ई० में प्रकाशित किया था। यह प्राचीन विलुप्त संहिता है; इसमें स्थान स्थान पर पाठ खंडित है। इसका संबंध बाल-रोग-चिकित्सा से है। इसमें देशों के नाम, भूगोल तथा बहुत से नए शब्द आए हैं। २. कश्यप संहिता—यह मद्रास प्रांत से प्रकाशित हुई है, इसका विषय विष से संबंधित है; इसमें गारुड़ी विद्या, विषहर प्रयोग हैं। ३. कश्यप संहिता—यह उमा-महेश्वर-प्रश्नोत्तर के रूप में है और चिकित्सा संबंधी है। यह छोटी सी पुस्तक है; जो तंजौर पुस्तकालय में है।

काश्यप शब्द गोत्रवाची भी है; मूल ऋषि का नाम कश्यप प्रतीत होता है। मत्स्य पुराण में मरीच के पुत्र कश्यप को मूल गोत्रप्रवर्तक कहा गया है; परंतु आगे चलकर कश्यप मारीच भी कहा है। चरकसंहिता में कश्यप पृथक् लिखकर 'मारीचिकाश्यपौ' यह लिखा है (चरक० सू० अ० १।८; १२)। चरकसंहिता में फिर 'मारीचि कश्यपः' पाठ भी है (चरक० शा० अ० ६।२१)। इसमें मारीच कश्यप का विशेषण है। इसी प्रकार चरक के एक पाठ में 'काश्यपो भृगुः' यह पाठ आया है (चरक, सू० अ० १।८)। इसमें काश्यप गोत्रोत्पन्न भृगु का उल्लेख है। इस प्रकार काश्यप शब्द जहाँ गोत्रवाची है, वहाँ व्यक्तिवाची भी मिलता है।

उपलब्ध कश्यपसंहिता—वृद्धजीवकीय तंत्र में 'इति ह स्माह कश्यपः' या 'इत्याह कश्यपः', 'इति कश्यपः', 'कश्यपोऽब्रवीत्' आदि वचन मिलते हैं, इससे इनका आचार्य होना स्पष्ट है। कहीं पर कश्यप के लिये मारीच शब्द भी आया है। (भोजन कल्पाध्याय—३; पृष्ठ १६८; षडकल्पाध्याय—३; पृष्ठ १४८)। इससे स्पष्ट होता है कि मारीच कश्यप शब्द के लिये ही आया है। अनुमान होता है, मारीच का पुत्र कश्यप था, जिससे आगे कश्यप गोत्र चला।

गालव ऋषि गुरुदक्षिणा में घोड़ों को देने के लिये काशीपति दिवोदास के पास गए थे; मार्ग में उनको हिमालय की तराई में मारीच कश्यप का आश्रम मिला था (महा० उद्योग० १०७।३–१५)। कश्यप संहिता में भी कश्यप का स्थान गंगाद्वार में बताया गया है (हुताग्नि होत्रमासीनं गंगाद्वारे प्रजापतिम्—लशुनकल्पाध्याय—३; पृष्ठ १३७)।

कश्यप ने आयुर्वेद का अध्ययन आयुर्वेद परंपरा में इंद्र से किया था। कश्यप संहिता में वृद्ध कश्यप के मत का भी उल्लेख मिलता है (वमन विरेचनीयाध्याय; पृष्ठ ११६)। इसके आगे ही अपना मत दिखाने के लिये 'कश्यपोऽब्रवीत्' पाठ है। इससे प्रतीत होता है कि वृद्ध कश्यप और संहिताकार कश्यप भिन्न व्यक्ति है। ऋक् सर्वानुक्रम में कश्यप और काश्यप के नाम से बहुत से सूक्त आए है। इनमें कश्यप को मरीचिपुत्र कहा है (वेदार्थदीपिका, पृ० ६१)।

इस प्रकार से कश्यप या काश्यप का संबंध मारीच से है। संभवतः इसी मारीच कश्यप ने कश्यपसंहिता की रचना की है।

महाभारत में तक्षक-दंश-उपाख्यान में भी कश्यप का उल्लेख आता है। इन्होंने तक्षक से काटे अश्वत्थ को पुनर्जीवित करके अपनी विद्या का परिचय दिया था (आदि पर्व० ५०।३४)। डल्हण ने काश्यप मुनि के नाम से उनका एक वचन उद्धृत किया है, जिसके अनुसार शिरा आदि में अग्निकर्म निषिद्ध है। माधवनिदान की मधुकोष टीका में भी वृद्ध काश्यप के नाम से एक वचन विष प्रकरण में दिया है। ये दोनों कश्यप पूर्व कश्यप से भिन्न हैं। संभवतः इनको गोत्र के कारण कश्यप कहा गया है। अष्टांगहृदय में भी वृद्ध कश्यप और कश्यप नाम से दो योग दिए गए हैं। ये दोनों योग उपलब्ध कश्यपसंहिता से मिलते हैं (कश्यप संहिता—उपोद्घात, पृष्ठ ३७–३८)। (अ० दे० वि०)

कषाय भारतीय दर्शन में इस शब्द का प्रयोग विशेष रूप से राग, द्वेष आदि दोषों के लिये हुआ है। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार मृदित कषाय (जिनका कषाय नष्ट हो गया है) नारद को भगवान् सनत्कुमार ने अविद्यारूप तम के पार परमार्थतत्व को दिखलाया। शंकराचार्य के मत से ज्ञान, वैराग्य और अभ्यास से कषाय का नाश होता है। बौद्ध दर्शन में इस शब्द का प्रयोग अशुद्धि, पतन तथा क्षय के अर्थ में हुआ है। उसके अनुसार कषाय पाँच प्रकार के हैं—आयु, दृष्टि, क्लेश, सत्व तथा कल्प। कषायों के कारण आयु क्षीण होती है, मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है, क्लेश होते हैं, प्राणियों का ह्रास होता है तथा संसार के एक कल्प अथवा युग का क्षय होता है। जैन दर्शन मे कषाय के मुख्य चार भेद—क्रोध, मान, माया तथा लोभ माने गए है। इनके कारण जीव में पुद्गल कणों का आश्रव होता है और वह कर्मबंधन से अधिकाधिक ग्रस्त होता जाता है। जीव की कषाय सहित तथा कषायरहित, ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कषायों का विनाश होने पर ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। (रा० शं० मि०)

कसाई अफ्रीका की प्रसिद्ध नदी कांगो की एक सहायक नदी है, जो कांगो के बाएँ किनारे पर स्थित स्टैनलीपूल से कुछ मील उत्तर मिलती है। इसके संगम को क्वा मुहाना कहते है (स्थिति ३° १०' उ० अ० तथा १६° १६' पू० दे०)। कसाई की भी अनेक उपशाखाएँ हैं जिनमें क्वांगो तथा संकुरु विशेष उल्लेखनीय है। कसाई नदी प्रणाली की लगभग सब नदियाँ ऐंगोला प्रदेश की पहाड़ियों से निकलती है तथा उत्तर या उत्तर-पश्चिम की ओर बहती हैं। ये पहाड़ियाँ आद्य कल्प पुंजक (आर्कियन मैसिफ़) की चट्टानों से बनी है। फलस्वरूप इन नदियों पर अनेक सुंदर जलप्रताप बन गए हैं। कसाई नदी की पूरी लंबाई लगभग १,२०० मील है जिसमें लगभग १०० मील ही नौपरिवहन के उपयुक्त है। (व० प्र० रा०)

क़सीदा अरबी शब्द, जिसका अर्थ है, भरा हुआ, ठोस, गूदेदार। शायरी की भाषा में क़सीदा उस नज्म (कविता) को कहते है जिसके शेर हमवज़न और हमकाफ़िया हों और विषय क्रमबद्ध हो। इसके अतिरिक्त उसमें किसी व्यक्ति की तारीफ या हजो (निंदा) की जाय। क़सीदे में शेरों की संख्या कम से कम १५ अनिवार्य है, अधिक की कोई सीमा नही है। अरब में कविता कसीदों से शुरू हुई और ईरान ने उसका अनुगमन किया। इसलिये फ़ारसी में भी क़सीदों से ही काव्य का आरंभ है। क़सीदे का पहला शेर, जिसके दोनों मिस्रे हमकाफ़िया हों, 'मत्ला' कहलाता है। मत्ले के बादवाला शेर, जिसके दोनों मिस्रे हमकाफ़िया हों जेब-ए-मत्ला (मतले का भूषण) या हुस्न-ए-मतला (मतले का सौंदर्य) कहलाता है। मत्ले के दोनों मिस्रों का हमकाफ़िया होना जरूरी है, बाकी शेरों का सिर्फ़ दूसरा मिस्रा हमकाफ़िया होता है। कसीदा तीन भागों में विभक्त होता है: (१) तशबीब, (२) गुरेज, (३) दुआ। शुरू के कुछ शेर, जो तारीफ़ या हजो से पहले इश्किया तरीके (प्रेमव्यंजक शैली) पर लिखे जाते है, तशबीब या तम्हीद कहलाते हैं। गुरेज वह भाग है जहाँ से असली मजमून शुरु होता है और उस व्यक्ति का जिक्र आता है जिसकी तारीफ या हजो करनी है। इसी को तख़ल्लुस भी कहते हैं। दुआ उस अंतिम भाग को कहते हैं जहाँ कसीदा खत्म होता है। अंतिम शेर को मक़्ता कहा जाता है। कसीदे के बहुत से प्रकार हैं जिनमें अधिकतर मदहिया (प्रशंसात्मक), हजविया (निंदात्मक), इश्किया (प्रेमात्मक), मर्सिया (शोकात्मक) और बहारया (बसंत वर्णनात्मक) इत्यादि हैं। क़सीदे के इतिहास में अबुतमाम (अरबी), अनवरी, खाकानी, रशीद वत्वात (फ़ारसी), सौदा और जौक (उर्दू) आदि के नाम अति प्रसिद्ध है। (मु० म०)

कसीदाकारी सुई से किसी भी वस्त्र पर किया गया अलंकरण "कसीदा" है। इसे हिंदी में "सुईकारी", "कसीदाकारी", या "सूचीकर्म" कहते हैं, गुजराती में इसका नाम "भरत" है तथा अंग्रेजी में "एंब्रॉयडरी"।

कसीदे का प्रचार प्रायः तभी से हुआ होगा जब मनुष्य ने वस्त्र बुनने की कला ढूंढ निकाली होगी। उसकी अलंकरणप्रिय प्रवृत्ति ने उसे बर्तन-भांडों जैसी नित्य उपयोगी वस्तुओं की भाँति वस्त्रों पर भी कुछ नक्शा करने को प्रेरित किया होगा। रुचिभेद, स्थानभेद तथा स्तरभेद के अनुसार

कसीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)

कश्मीरी शाल, १६वीं शताब्दी
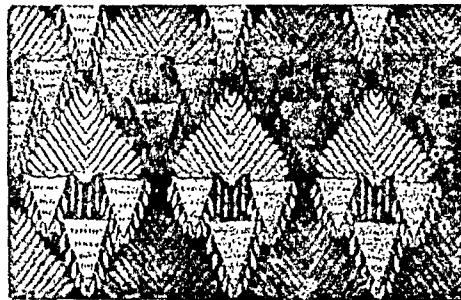
'ककड़ी बाग', हजारा जिला (पंजाब), १६वीं शताब्दी
(दोनों चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)

तरहों और कसीदे के लिये प्रयुक्त वस्त्रों में भी भेद होता गया। ठंढे स्थानों के लोग मोटे अथवा ऊनी कपड़ों पर कसीदा करते हैं और गर्म स्थानों के लोग सूती वस्त्रों अथवा महीन रेशम पर। कुछेक अपवादों को छोड़कर निर्धन लोग सूती वस्त्रों पर सूती अथवा रेशमी धागों से तथा संपन्न लोग रेशमी या मखमली कपड़ों पर रेशम और जरी का काम करते या करवाते हैं।

कसीदे का प्रचार सभी देशों में दीर्घकाल से रहा है। यूरोप, चीन, जापान, ईरान और मिस्र आदि सभी जगह कसीदे का कोई न कोई रूप अवश्य मिलता है। लेकिन सभी जगह कसीदे का उत्पत्तिकाल जानने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। पुरातत्ववेत्ताओं ने इस संबंध में जो खोज की है उससे प्राचीन वस्त्र मिले अवश्य हैं पर इनकी संख्या बहुत कम है। जलवायु के सहयोग से कुछ स्थानों के कसीदे दूसरे स्थानों से जरा अधिक दिन टिके रहे पर इनसे भी उन देशों के कसीदे का क्रमिक इतिहास पूर्ण रूप से सुलभ नहीं पाता। प्राचीन कसीदों के लुप्त हो जाने का एक विशेष कारण यह भी है कि कहीं भी हो, वस्त्रों को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखना कठिन ही है, अधिकांश तो स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। सूती वस्त्रों पर बने बहुत से कसीदे तो इसलिये नष्ट हुए कि कीमती न होने से उनकी सुरक्षा आवश्यक नहीं समझी गई, जरी आदि के कसीदों को फट जाने पर या अन्य कारणों से जलाकर सोना चाँदी निकाल ली गई।

भारत के अतिरिक्त स्लाव देशों, जर्मनी, फ़्लैंडर्स (फ़्लेमिश), इटली, फ्रांस, रूस, इंग्लैंड, चीन, जापान, ईरान और तुर्की के कसीदे विख्यात हैं। स्थानभेद से तथा विभिन्न कालों में इनकी शैलियाँ भी विभिन्न रहीं।

यूरोप में स्लाव देशों के कसीदे सबसे प्राचीन, सुरुचिपूर्ण और रंग-बिरंगे हैं। यहाँ कट्टम के टाँकों का काम (क्रास स्टिच) तथा पंजाब की "फुलकारी", कर्नाटक की "कसूती" और बिहार की "दो मुहें" कसीदों से मिलता जुलता "स्ट्रेट स्टिच" काम ही अधिक मिलता है और सूती या ऊनी कपड़ों पर सूती या रेशमी धागों से किया गया है। इनके प्रारंभिक कसीदों में सफेद, लाल और काला रंग प्रधान होता था पर अब रंग-बिरंगापन बढ़ गया है। डिजाइनों में विशेष परिवर्तन इतने दीर्घ काल में भी नहीं हुआ। ये डिजाइन अधिकतर ज्यामितिक होते हैं पर बीच बीच में पशु पक्षियों की आकृतियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं।

सारे यूरोप में अभी तक "स्लाव" देशोंवाला उपर्युक्त कसीदा अन्य कसीदों के साथ अवश्य मिलता है।

लगभग १०वीं सदी के बाद से जर्मनी, स्पेन आदि यूरोपीय देशों में मनुष्य, पशु और पक्षियों की आकृतियुक्त, तथा फूल पत्तों के अलंकरण से सजे कसीदे मिलने शुरू हो जाते हैं। इनका पूर्वरूप क्या था, यह कहना कठिन है, पर लगता है, तब स्लाव देशों जैसा कसीदा ही सारे यूरोप में प्रचलित रहा होगा।

कालक्रम से कसीदे में प्रयुक्त टाँकों में भी विविधता बढ़ती गई। तभी जंजीर (चेन), मुरमुरे (सैटीन), तहरीर (स्टेम), रफूगरी (डार्निंग), कच्ची कढ़ाई (रनिंग स्टिच), काज (बटन होल), लपेटवाँ (इंटर्लाक) और मरोड़ीदार (नाटेड) आदि प्रमुख टाँकों का प्रयोग आरंभ हुआ।

प्रत्येक देश में कुछ टाँके विशेष प्रिय रहे हैं, जैसे चीन जापान में मुरमुरे और कच्ची कढ़ाई के टाँके, स्पेन में लपेटवाँ टाँके और इंग्लैंड में कट्टम के टाँके अधिक प्रचलित रहे। बात असल में यह है कि प्रत्येक देश की रुचि के अनुसार तरहें (डिजाइंस) भी भिन्न होती हैं और उन्हें साफ साफ बनाने के लिये उचित टाँकों की मदद से ही काढ़ना पड़ता है।

जैसे चीनी और जापानी लोग बेलबूटों की तरहों के अतिरिक्त ऐसे कसीदे भी बनाते हैं जिनमें दृश्य और पशु पक्षी आदि चित्रों की भाँति बनाए जाते हैं। इनमें रूपरेखा को बड़ी सुघड़ाई से काढ़ा जाता है। यह कसीदा धीरे धीरे पिछले १००-१५० वर्षों में सारे संसार में फैल गया और चीनी कसीदे के नाम से ही विख्यात है। इस प्रकार के कसीदे को वास्तव में चित्र ही मानना चाहिए। इसका प्रयोग भी दीवार पर टाँगने के लिये ही होता है।

सभी जगह कसीदों का अधिकतर प्रयोग रोजमर्रा इस्तेमाल में आनेवाले वस्त्रों में ही हुआ है। स्त्रियों की पोशाक, बच्चों के कपड़े, चादर, तकियों के गिलेफ और पर्दों के लिये ही अधिकांश कसीदे किए जाते हैं। इस श्रेणी के घरेलू कसीदे बनाने की विधि लड़कियाँ माँ से या पड़ोस की किसी स्त्री से सीखती थी। अभी हाल तक प्रायः प्रत्येक माँ अपनी बेटी को अपने बनाए कसीदे युक्त वस्त्र विवाह के अवसर पर भेंट देती थी।

दूसरी तरह के कसीदे धार्मिक अथवा राजकीय प्रयोग की वस्तुओं पर किए जाते रहे हैं। धार्मिक स्थानों में प्रयुक्त पिछवई, वेदी ढकने के और देवताओं के पहनने के वस्त्र आदि पर कसीदे होते रहे हैं। इनका रूप नित्य प्रयोग के घरेलू कसीदों से भिन्न होता है क्योंकि या तो इनपर केवल बेलबूटों के अलंकरण होते हैं या धर्मविशेष के देवी देवताओं से संबंधित आख्यानादि का चित्रण उनपर होता है। भक्त जन स्वयं बनाकर या दूसरों से बनवाकर इन्हें धार्मिक स्थानो को भेंट देते हैं। इसी प्रकार राजाओं आदि के प्रयोग की वस्तुओं पर, जैसे चोगे, चँदोवे, मसनद, गद्दी, पंख और परदों वगैरह पर प्रतिष्ठा और रुचि के अनुरूप उनके ऐश्वर्य प्रदर्शन के लिये कारचोबी कसीदा किया जाता रहा है। यूरोप के धार्मिक कसीदों में फ़्लेमिश कसीदा १५वीं-१६वी सदी में सबसे आगे था।

स्लाव और रूसी प्रदेशों के प्राचीन कसीदों की तरहों में अक्सर क्रास या ऐसे अन्य चिह्न बने मिलते हैं जिनका आशय सुरक्षा होता था। पत्नी अपने पति के वस्त्रों पर उसकी सुरक्षा के लिये इसका ध्यान अवश्य रखती थी। नवीनतम खोजों से ऐसे अनेक प्रतीकों का रहस्य स्पष्ट होता जा रहा है।

अन्य देशों की भाँति भारतीय कसीदे का ठीक उत्पत्तिकाल जानने का हमारे पास कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। हमारे पुरातत्ववेत्ताओं को अभी तक, मिस्र और चीनी तुर्किस्तान की भाँति १६वीं सदी से पुराने नमूने नहीं मिले हैं, लेकिन इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि भारत में कसीदा बड़े प्राचीन काल से ही बनता आ रहा है।

भारतीय कसीदा—आज से चार पाँच हजार वर्ष पूर्व के मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मिट्टी के खिलौने पर अंकित वस्त्र को भली भाँति देखने से लगता है कि वह कसीदा ही होगा। ऋग्वेद में हिरण्यपेशस् शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह भी तत्कालीन कसीदाकारी की ओर ही संकेत करता है जिसमें सोने के तारों का उपयोग हुआ करता था। यदि ईसा से ६०० वर्ष पूर्व बौद्धकाल के व्यापार को देखें, तो विदित होगा कि महीन कपड़े, यंत्र, हथियार, किमखाब, कसीदे, कालीन, इत्र और हाथीदाँत की चीजें तथा सोना भारतीय व्यापार की मुख्य वस्तुएँ थीं। मेगस्थनीज़ (ल० ३२० ई० पूर्व) ने भी भारतीय सूती परिधानों का वर्णन करते हुए लिखा है—"ये सोने के काम के होते हैं जिनमें नाना प्रकार के रत्नों का भी प्रयोग होता है।" गुप्तकाल में कालिदास और पीछे बाणभट्ट के साहित्य से भारतीय परिधानों के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है।

मुगलकाल के चित्रों से भी कुछ कपड़ों पर बने कसीदों की जानकारी हमें मिलती है। भारतीय कारीगर बहुत से कसीदे १७वीं-१८वीं सदी में बाहर भेजते रहे। यूरोप और निकटवर्ती पूर्वी देशों को अनेक प्रकार के कसीदे यहाँ से जाते थे।

खानाबदोश जातियों ने इस कला का प्रसार विशेष रूप से किया। कसीदे को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाकर फैलाने का श्रेय इन्हीं को है। हमारी खेतिहर जातियों ने हमें सर्वश्रेष्ठ कसीदा दिया है। पंजाब की फुलकारी, सिंध, कच्छ और काठियावाड़ के जंजीरे और शीशेदार काम तथा बंगाल के काँथे खेतिहर लोगों की देन हैं। लखनऊ की चिकन-कारी तथा दिल्ली, बनारस, आगरा, सूरत और हैदराबाद का कारचोबी का काम संपन्न लोगों के लिये बनाया गया। इनमें दक्षता अधिक होती है, पर खेतिहर लोगों और बनजारों के कसीदे में सरलता और सौंदर्य अधिक रहता है।

ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सामाजिक उथल पुथल और विदेशी प्रभाव के कारण भारत में अनेक देशी विदेशी शैलियाँ हमें देखने को मिलती हैं। कश्मीरी 'मुरमुरे के टाँकों का काम' चीनी काम से मिलता है जो

कसीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)
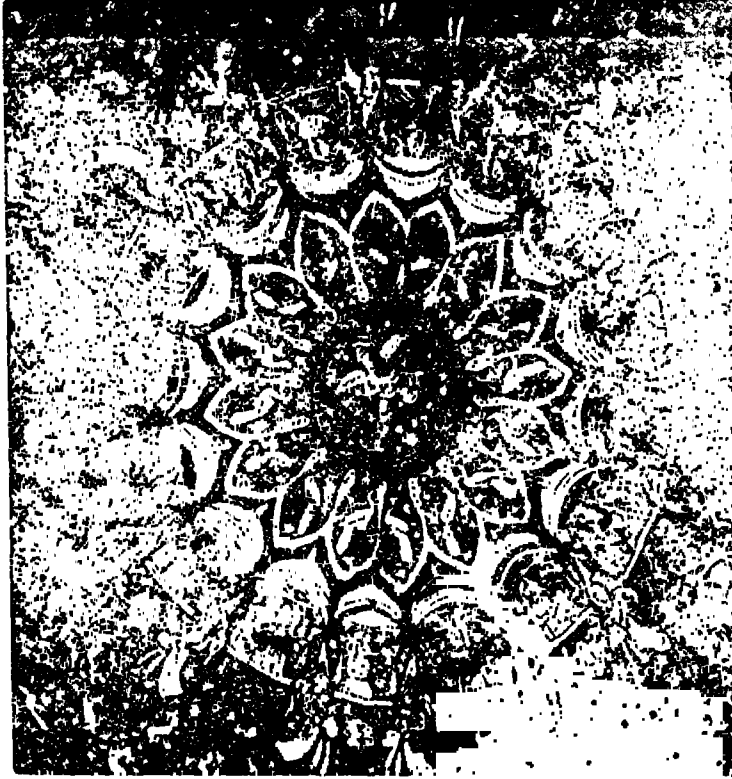
कश्मीरी शाल, १९वीं शताब्दी
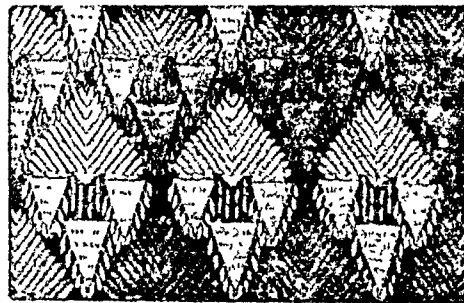
'ककड़ी बाग', हजारा जिला (पंजाब), १९वीं शताब्दी
(दोनों चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)

तरङ्गों और कसीदे के लिये प्रयुक्त वस्त्रों में
तें

फलक ५९
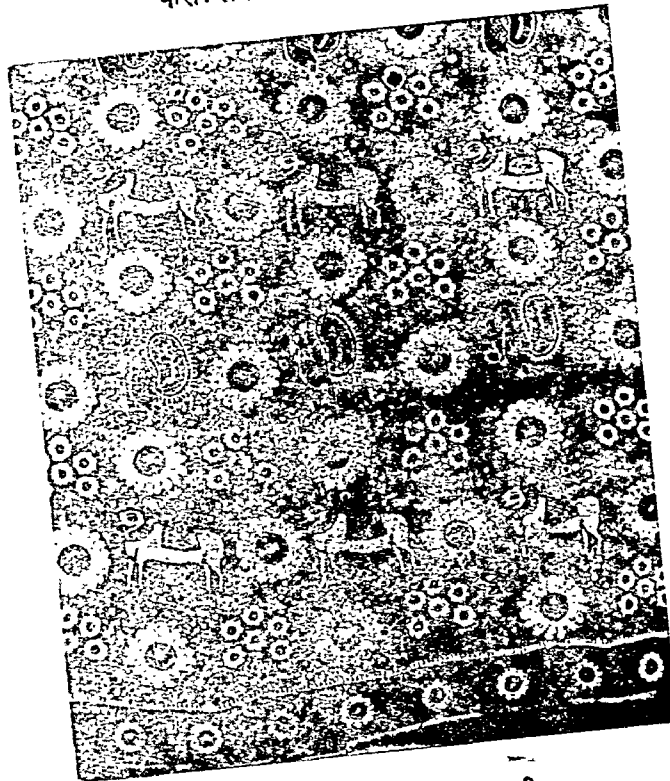
कसीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)
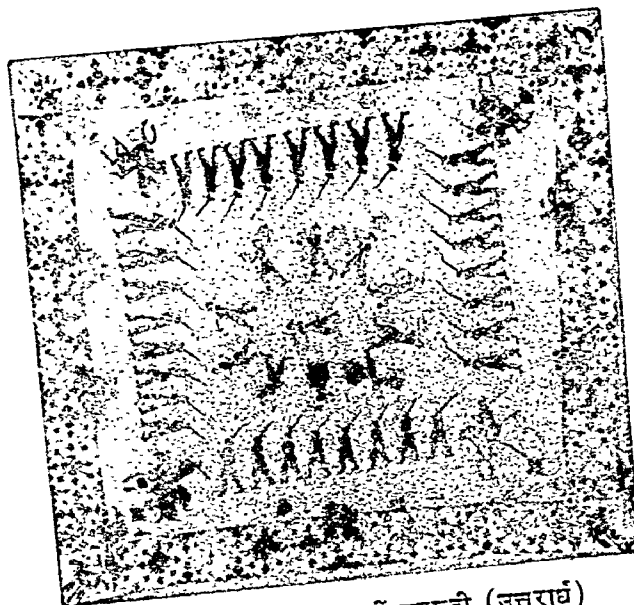
मूल, कच्छ, १९वीं शताब्दी

'फौज', चंबा रमाल, १९वीं शताब्दी (उत्तरार्ध)
(जगदीश मित्तल के संग्रह से)

कसीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)

घाघरा, सिंध, १९वीं शताब्दी

तोरण, काठियावाड़, १९वीं शताब्दी
(दोनों चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)

कसीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)

मूल, कच्छ, १९वीं शताब्दी

'फौज', चंबा रुमाल, १९वीं शताब्दी (उत्तरार्द्ध)
(जगदीश मित्तल के संग्रह से)
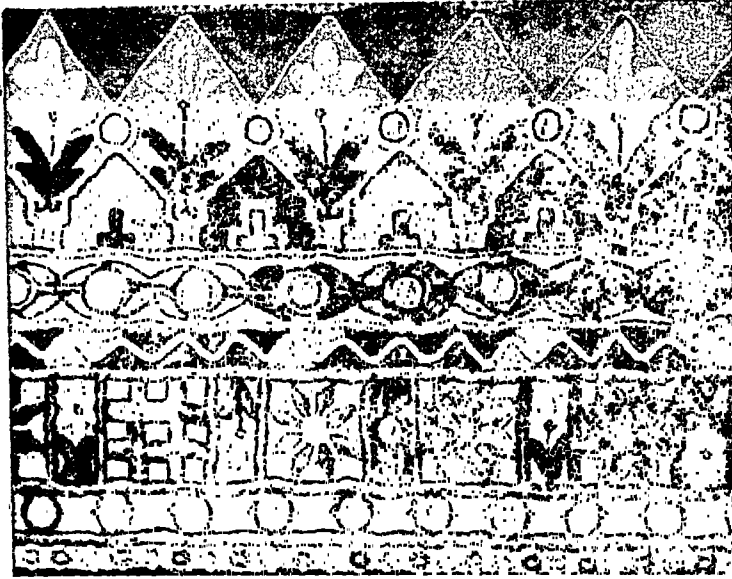
कसीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)

घाघरा, सिंध, १९वीं शताब्दी
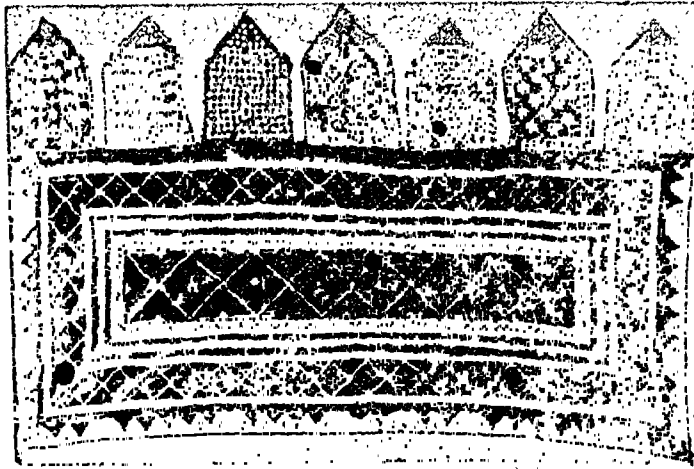
तोरण, काठियावाड़, १९वीं शताब्दी
(दोनों चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)

कसीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)

चिकनकारी की ओढ़नी, लखनऊ, १९वीं शताब्दी
(इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता का संग्रह)

कसीदाकारी (द्र० पृ० ४३१)
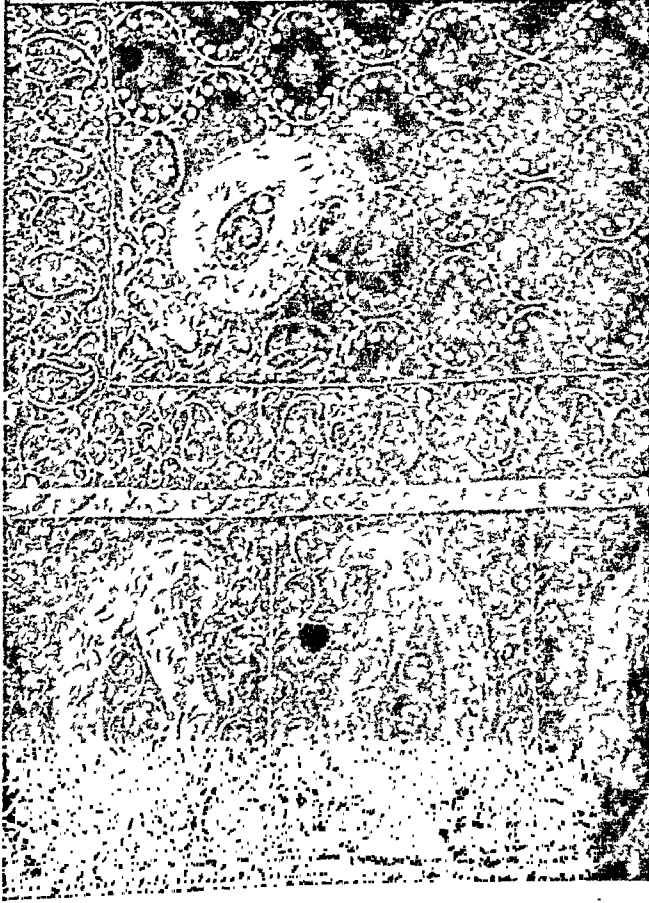
जरदोजी काम, सूरत, १९वीं शताब्दी
(बड़ौदा संग्रहालय)
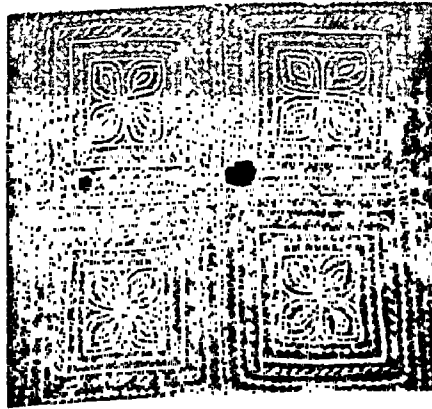
कटवाँ (एपलिक) काम, बिहार, १९वीं शताब्दी
(दोनों चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)

कशीदाकारी (द्र० पृ० ४७१)

कट्टम के टाँकों से बना कच्छी लहँगा, १९वीं शताब्दी
(जगदीश मित्तल के संग्रह से)
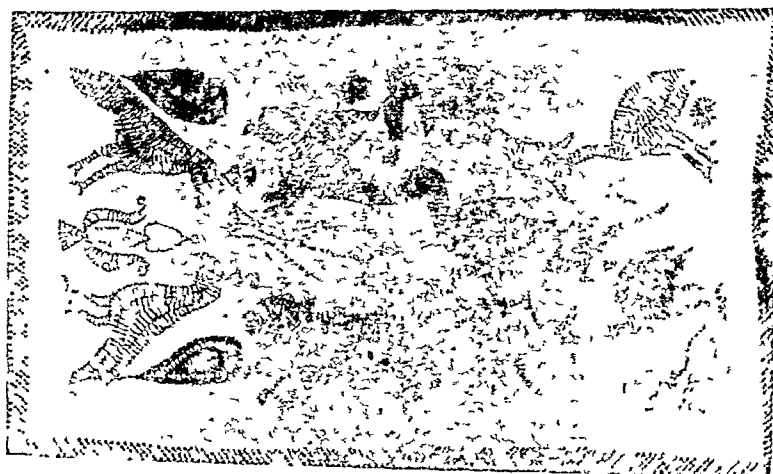
काँथा, बंगाल, १९वीं शताब्दी
(जगदीश मित्तल के संग्रह से)

शायद तिब्बत की राह यहाँ आया। पंजाब की फुलकारी बलोचिस्तान के काम से मिलती है। सिंध, कच्छ और काठियावाड़ की लपेटवाँ शैली स्पेन और जर्मनी से ली हुई जान पड़ती है। चिकनकारी विलायती सूती कसीदों से मिलती है। कर्नाटक की "कसूती" और बिहार का "दो-मुहाँ" काम स्लाव देशों से मिलता जुलता है। लेकिन भारतीय कसीदा-कारों ने उन्हें ऐसे ढंग से अपना लिया है कि उनपर भारतीयता की छाप लग गई है। मुगलकाल से भारतीय कसीदों की विधि और तरहों में ईरानी असर बढ़ता गया।

भारतीय कसीदों के विभिन्न प्रांतीय रूप हैं। इनमें प्रमुख हैं :

१. कश्मीरी कसीदा—यहाँ के कसीदों में "सोजनकारी", "गब्बा" और "जंजीरे का काम" प्रसिद्ध है। "सोजनकारी" या "रफूगरी टाँको" से कश्मीरी लोग शाल दुशालों पर फूल पत्तियाँ, मनुष्य और पशु पक्षियों की आकृतियाँ बनाते हैं। यह काम बड़े सूक्ष्म टाँकों से किया जाता है। "गब्बा" ऊनी रंग बिरंगी कतरनों को जोड़कर बनाया जाता है। आसन-बिछौने आदि पर यह काम होता है। जंजीरे के मोटे टाँकों से नम्दों पर अलंकरण किया जाता है और शाल दुशालों पर ऊनी या जरी के धागों से जंजीरे के ही महीन टाँकों का काम होता है।

२. पंजाब की फुलकारी—वैसे "फुलकारी" का अर्थ है फूलदार या बेल बूटों का काम, पर पंजाब में सूती चादरों और ओढ़नों पर किए गए कसीदे को ही फुलकारी कहते हैं। जाट लोग ही यह काम अधिक करते हैं। कुसुंमी लाल या नीले खद्दर पर रेशमी धागों से फुलकारी काढ़ी जाती है। काम हल्का भारी होने से, इनको तीन विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है : १. फुलकारी : इसमें बूटियाँ थोड़ी थोड़ी दूर पर बनाई जाती हैं। २. बाग : इसमें पूरी जमीन ज्यामितिक नमूनों से भर दी जाती है और ३. चोप : इस काम को केवल किनारों पर ही किया जाता है।

फुलकारी सदा उलटी तरफ से धागों को गिनकर की जाती है। अधिकांश फुलकारियाँ माँ द्वारा बेटी को दिए जाने के लिये बनाई गई हैं।

३. कच्छी और काठियावाड़ी कसीदा—इन दोनों स्थानों का कसीदा इतना एक सा दीखता है कि शीघ्र अलग अलग पहचानना सरल नहीं। कच्छी कसीदे को "कनबी" काम या "भरत" कहते हैं। खेतिहर लोग (जिन्हें "कनबी" कहते हैं) इस काम को ज्यादा करते हैं। भुज इसका प्रधान केंद्र है। आम तौर से कच्छी कसीदे में बहुत बारीक जंजीर के टाँकों का प्रयोग अधिक होता है जिनके बीच कभी कभी शीशे भी जड़े रहते हैं। कच्छी कसीदा साटन, रेशमी या सूती कपड़े पर ही होता है। जमीन सफेद, केसरिया, काली या अधिकतर लाल होती है।

काठियावाड़ी कसीदे में मुरमुरे और जंजीर के टाँकों का प्रयोग तोरण, ओढ़ने, चोलियाँ, लहँगे और जानवरों की भूल आदि बनाने के लिये होता है। कच्छी काम की अपेक्षा यह काम मोटा होता है।

४. उत्तर प्रदेश की चिकनकारी—यह सफेद मलमल पर सफेद सूती धागे से की जाती है तथा लखनऊ, रामपुर और बनारस में अधिक होती है। तरहों में फूल पत्तियों की बूटियों का ही प्रयोग किया जाता है। इसमें तेपची (स्टग स्टिच), बखिया (बैक स्टिच), मुर्री या मरोड़ी (नाटेड) और जाली आदि टाँके बरते जाते हैं। उत्तर भारत की ग्रीष्म ऋतु के लिये यह है भी बहुत हलका फुलका कसीदा। कुर्ते, टोपियाँ, कुरतियाँ और साड़ियाँ ही इस कसीदे से सजाई जाती है।

५. कर्नाटक की कसूती—"कसूती" शब्द का अर्थ कसीदा है। कर्नाटक में घर घर "कसूती" की जाती है। बेलगाँव, धारवाड़ और बीजापुर इसके केंद्र हैं। कसूती में अनेक रंगों का प्रयोग होता है। तरहों में पालना, नंदी, तुलसी का थाँवला, हाथी, हिरन, मोर, हंस और तोते आदि अधिक रहते हैं। गहरे रंग की जमीन पर ही इसे बनाया जाता है। गवंती (स्ट्रोक स्टिच), नेगी (स्ट्रेट स्टिच) और मेथी (क्रास स्टिच) आदि टाँकों का ही प्रयोग इसमें विशेषकर होता है।

६. कारचोबी काम—यह दो प्रकार का होता है : १. जरदोजी : यह काम सबसे कीमती होता है। इसमें कारीगरी और काम अधिक रहता है, २. कामदानी : इसमें काम घना नहीं होता। कारचोबी में सोने चाँदी के धागे, जैसे 'कलाबत्तू' तथा 'सलमा', और आकृतियाँ, जैसे 'बादला'—जिसमें चाँद सितारे बने होते हैं, प्रयुक्त होता है। शामियाने, हाथी घोड़ों की भूल, चोगे, कुरतियाँ, टोपियाँ, आसन, छत्तर और जूते आदि वैभवसूचक वस्तुएँ ही इस कसीदे में बनाई जाती है। दिल्ली, बनारस, लखनऊ, पटना, सूरत और हैदराबाद इसके मुख्य केंद्र हैं।

उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त बंगाल का काँथा, जिसमें पुरानी साड़ियों को आपस में सीकर सूती धागों से कसीदा किया जाता है, चंबा (हिमाचल प्रदेश) और काँगड़ा के रुमाल, जिनमें सूती कपड़े पर रेशम से विवाह, रास और शिकार आदि के चित्र इस प्रकार काढ़े जाते हैं कि काम दोनों तरफ एक सा दीखे; बंजारों का शीशेदार अथवा मनकों का काम और बिहार का 'दोमुँहा' काम भी प्रसिद्ध है। बिहार, उड़ीसा और रामपुर का कटवाँ काम (ऐप्लीक वर्क) भी महत्वपूर्ण है। इसमें विभिन्न आकृतियों को काटकर दूसरे कपड़े पर सिल दिया जाता है। दक्षिण भारत में कसीदा बहुत कम किया गया।

कुछ काल पूर्व तो भारतीय कसीदा यूरोपीय प्रभाव के कारण कला की दृष्टि से बड़ी दयनीय अवस्था को पहुँच गया था पर इधर उसके सुधारने का भरपूर प्रयास हो रहा है। (ज० मि०)

कसूर पाकिस्तान के लाहौर जिले का एक नगर है जो ३१° ५′ उ० अ० और ७४° २५′ पू० दे० पर व्यास नदी की प्राचीन तलहटी के उत्तर तट पर लाहौर नगर से ३४ मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। यहाँ मुसलिम काल में सिंधु नदी के उत्तर से पठान आकर बस गए थे। यहाँ से कपास और अनाज अन्य स्थानों को भेजा जाता है एवं सूती कपड़ा तथा चमड़े का सामान बनाने का उद्योग होता है। (रा० ना० मा०)

कसौंदी यह भारत में पाई जानेवाली छोटी झाड़ी है। इसका वास्तविक नाम 'कैसिया आक्सीडेंटैलिस लिनियस' है। इसकी पत्तियाँ और बीज कालिक ज्वररोधी है। चर्मरोग होने पर बीजों का कहीं कहीं बाह्य लेप भी किया जाता है। फ्रांसीसी अफ्रीका और अर्जेंटाइना के उत्तरी भाग में काफी के स्थान पर कसौंदी के बीजों को भूनकर प्रयुक्त करते हैं। (नि० सि०)

कसौली हिमाचल प्रदेश के शिमला जिले की एक छावनी तथा स्वास्थ्य-शाला है जो उप-हिमालय प्रदेश में पहाड़ी की चोटी पर स्थित है। यह अंबाला नगर से ४५ मील उत्तर तथा शिमला नगर से ३२ मील दक्षिण-पश्चिम में ३०° ५३′ १३″ उ० अ० तथा ७७° ०′ ४२″ पू० दे० पर स्थित है। यहाँ पर १८४४–४५ ई० में विजा राज्य की भूमि पर छावनी का निर्माण हुआ और उसी वर्ष सैनिकों के रहने का स्थान भी बन गया। गर्मी के मौसम में प्रति वर्ष यहाँ बाहर से यात्री आते हैं। कसौली पहाड़ी सुबाठी समूह का ही एक शिखर है जो समुद्र की सतह से ६,३२२ फुट ऊँचा है। यहाँ के रमणीक दृश्य के एक ओर दक्षिण-पश्चिम के मैदानी भाग तथा दूसरी ओर हिमालय की बर्फीली पंक्तियाँ हैं। इसकी स्थापना सैनिक छावनी के रूप में हुई थी, किंतु इस समय यह एक स्वास्थ्यवर्धक और पर्यटक केंद्र के रूप में अधिक प्रसिद्ध हो गया है। यात्रियों की सुविधा के लिये ग्रीष्मकाल में होटलों का प्रबंध रहता है, किंतु पानी के वितरण की व्यवस्था ठीक नहीं है। यहाँ उप कमिश्नर का प्रधान कार्यालय है। गर्मी के मौसम में अंबाला के कमिश्नर का प्रधान कार्यालय भी यहाँ आ जाता है। यहाँ का व्यापार यात्रियों की तथा छावनी के सैनिकों की आवश्यकताओं तक ही सीमित है।

लारेंस सैनिक-आश्रय-स्थान यहाँ से तीन मील की दूरी पर सनावर नगर में स्थित है। उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध पैस्टर (Pasteur) संस्था की स्थापना कसौली में १९०१ ई० में पागल पशुओं द्वारा काटे गए लोगों की चिकित्सा के लिये की गई थी। १९०६ ई० में यहाँ एक केंद्रीय अनुसंधानशाला स्थापित की गई जिसमें भारतवर्ष में उत्पन्न विशेष रोगों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया जाता है। (सु० प्र० सि०)

कस्ट्रमा सोवियत संघ में स्थित उत्तरी यूरोपीय रूस के कस्ट्रमा प्रांत का मुख्य नगर है जो ५७° ४५' उ० अ० और ४०° ५८' पू० दे० पर वॉल्गा नदी के बाएँ किनारे, वॉल्गा और उसकी सहायक कस्ट्रमा नदी के संगम पर स्थित है। कुल जनसंख्या २,२३,००० (१९७०) है। यहाँ गिरजाघरों की संख्या ३८ से भी अधिक है। इस नगर का दुर्ग प्राचीन काल में युद्ध के समय बहुधा मॉस्को के राजकुमारों का आश्रयस्थल रहा है। एक भव्य गिरजाघर, जो १२३९ ई० में निर्मित और १७७३ ई० में पुनः निर्मित हुआ, प्राचीन रूसी शिल्पकला का महत्वपूर्ण स्मारक है। प्राचीन काल में कई बार यह नगर सैनिक आक्रमणों द्वारा ध्वस्त हुआ। १६वीं शताब्दी से ही यह नगर लिनेन कपड़े के लिये विख्यात है। मुख्य उद्योगों में लकड़ी चीरना, आटा पीसना, सूती और लिनेन कपड़ा बनाना, चमड़े का सामान, तंबाकू और लकड़ी का सामान बनाना हैं। (कृ० प्र० सिं०)

कस्तूरी प्रसिद्ध सुगंधित द्रव्य है, जो एक प्रकार के मृग से प्राप्त होता है (द्र० कस्तूरीमृग)। यह विभिन्न स्थलों में विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। संस्कृत में इसे कस्तूरी, मृगनाभि, मृगमद, कश्मीर में रौस, हिमाचल में बिजौरी और रौसा, नेपाल में वीना, लद्दाख में रिबजा, तिब्बत में ला, लव, लहारचे, चीन में शे-ही एंग, अरब में मिस्क, ईरान में मुश्क और अंग्रेजी में मस्क कहते हैं।

कस्तूरी के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित थीं, पर अब यह सिद्ध हो गया है कि कस्तूरी का नाफा एक पतली झिल्ली से बनी, बड़े से नींबू की नाप की ग्रंथि की थैली के रूप में, पेट में नार की गाँठ के ऊपर गढ़े में सटा हुआ पाया जाता है। इस पतली झिल्ली की थैली के ऊपर, इसके रक्षार्थ अधिक कड़ी झिल्ली की बनी दूसरी थैली होती है। उदर की बाह्य त्वचा और कस्तूरीग्रंथि के बीच में से निकलते हुए शिश्न की अग्रत्वचा की झिल्लीदार थैली या मुख कस्तूरी के नाफा के छिद्रद्वार से २० मिलीमीटर की दूरी पर खुलता है। इस प्रकार कस्तूरी का नाफा उदर की बाह्य त्वचा और आँतों के बीच में, किंतु बाह्य त्वचा से सटा हुआ, पेट के बाहर उठा रहता है। इस झिल्ली की थैली में एक मोटी सुई सा छिद्र पतले और सफेद बालों से ढँका रहता है। यह छिद्र शिश्न की अग्रत्वचा के मुखद्वार के सामने रहता है। दबाने से इस छिद्र में से थोड़ी सी कस्तूरी बाहर निकल आती है। ... के चारों ओर वर्तुलाकार नरम बालों के घने से चक्र... कस्तूरीमृग को जीते-जी झाड़ियों और पत्तियों से ढँके ... में फाँसकर, अथवा शिकार द्वारा मारकर, पकड़ा ... मारते ही उसका नाफा अलग से काटकर सी दिया ... द्वार को जलाकर अथवा मुहरबंद करके रखा जाता है ... शिश्न के भाग को साधारणतया काट दिया जाता ...

लगभग १० वर्ष की आयु के कस्तूरीमृगों के न... अधिकतम रहती है। अल्पवयस्क और बूढ़े मृगों ... मात्रा कम रहती है। प्रायः प्रत्येक नाफे में १... तक कस्तूरी की मात्रा रहती है। बढ़िया नाफ... गोलियों के रूप में पाई जाती है। कस्तूरी के ... अथवा तवों के ऊपर सेंककर, अथवा गरम ते... रखा जाता है। कस्तूरी का रंग गहरे बैंगनी ... काला तक होता है। कस्तूरी स्पर्श करने प... धब्बा लगानेवाली तथा पानी में ५० प्रतिशत ... ...त विलेय होती है। यह १५ प्रति... ८ प्रतिशत तक राख का अंश देती ...

...चि प्रचार क... और इ...

(ग) युन्नान नामक कस्तूरी; (घ) आसामी तथा नेपाली कस्तूरी और (च) कश्मीरी कस्तूरी।

विशुद्ध कस्तूरी काफी महँगी होने के कारण प्रायः सदैव इसमें मिलावट की जाती है। सूखा हुआ रुधिर, मिट्टी इत्यादि से नकली नाफों में कस्तूरी के नाफों की झिल्ली इत्यादि मिलाकर धोखाधड़ी की जाती है। अभी तक कस्तूरी की वैज्ञानिक जाँच की कोई विधि प्रयोग में नहीं लाई जा सकी है।

कृत्रिम कस्तूरी—कुछ ऐसे रासायनिक द्रव्य है जिनकी गंध कस्तूरी से मिलती जुलती है। ऐसे द्रव्यों को मस्क जाइलीन, मस्क अंब्रेट्री और मस्क कीटोन कहते है। इनमें वह पदार्थ नहीं है जिससे कस्तूरी की गंध होती है। पर कस्तूरी की सी गंध होने के कारण सस्ते गंधवाले द्रव्य के रूप में इनका उपयोग आज भी अधिकता से होता है।

कस्तूरी के रासायनिक संघटकों में से मुख्यतया मस्कोन (Muscone) का २ प्रतिशत अंश ही कस्तूरी के विशिष्ट गंध का मूल कारण समझा जाता है। १९६२ ई० में जगद्विख्यात रसायनज्ञ रूजिका की अनुपम खोजों के आधार पर मस्कोन का संघटन यह माना गया है :

वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि कस्तूरी के समान गंधवाले जांतव पदार्थ कस्तूरी मृग के अतिरिक्त आठ प्रकार के अन्य जंतुओं से भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त संबुल, लताकस्तूरी (मुश्कदाना), जटामांसी इत्यादि अनेक वनस्पतियों में भी कस्तूरी जैसे गंधद्रव्यों के होने की संभावना पाई गई है। पूना की राष्ट्रीय रसायनशाला में, कमला (नारंगी) के तेल, सरसों के तेल, ओलीडकाम्ल, लाख इत्यादि के उपयोग से मस्कोन जैसे कई रसायनक बनाने में सफलता प्राप्त हुई है।

...र्नेस्ट जे० पैरी : द केमिस्ट्री ऑव एसेंशिअल ऑयल्स ऐं... पर्फ्यूम्स, वॉल्यूम २, स्कॉट ग्रीनवुड ऐंड संस, लंदन (... आर० नेव्स ऐंड जी० मैजुयर : नैचुरल परफ्यूम मेटी-...रिअल्स, न्यूयॉर्क (१९४७); विलियम ... ऐंड सोप्स, वॉल्यूम १, चैपमैन एड ... प्रणवानंद : मस्क ऐंड मस्क डीअर, ... नंबर, जून १९५६, वॉल्यूम ८, नं० ...

(सद्०)

... के प्राचीन ग्रंथों और गंधशास्त्र संबंधी ...पयोगों का विस्तृत वर्णन मिलता है। ... वीर्यस्तंभक, स्फूर्तिदायक, ... गया है। आमाशय, हृदय, ...कर और आक्षेपहर होता ... धड़कन, वातिक उन्माद, ...क और आक्षेपयुक्त रोगों ... गंध के कारण अंगरागों ...

(वं० सिं०)

... (Ungulata) कुल ...) की **मॉस्कस मॉस्किफ़रस** ...त का जुगाली करनेवाला ...र्वत के २,४०० से ३,६०० ..., इंडोचीन और साइबेरिया, ... में पाया जाता है। शारीरिक ... डिक डिक नामक मृग की तरह ... पिछले पुट्ठे तक ५०० से ७०० ... नाक से लेकर पिछले पुट्ठों ... है। इसकी पूँछ लगभग

कस्तूरीमृग (द्र० पृ० ४७४) तथा कंगारू (द्र० पृ० ३४४)

कस्तूरीमृग

कस्तूरी का नाफा

लकड़ी के एक कुंदे पर ओपासम, मारस्यूपियल (कंगारू) जाति का एक प्राणी तथा उसके बच्चे
(अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से).

कस्ट्रमा सोवियत संघ में स्थित उत्तरी यूरोपीय रूस के कस्ट्रमा प्रांत का मुख्य नगर है जो ५७°४५′ उ० अ० और ४०°५८′ पू० दे० पर वॉल्गा नदी के वाएँ किनारे, वॉल्गा और उसकी सहायक कस्ट्रमा नदी के संगम पर स्थित है। कुल जनसंख्या २,२३,००० (१९७०) है। यहाँ गिरजाघरों की संख्या ३८ से भी अधिक है। इस नगर का दुर्ग प्राचीन काल में युद्ध के समय बहुधा मॉस्को के राजकुमारों का आश्रयस्थल रहा है। एक भव्य गिरजाघर, जो १२३९ ई० में निर्मित और १७७३ ई० में पुनः निर्मित हुआ, प्राचीन रूसी शिल्पकला का महत्वपूर्ण स्मारक है। प्राचीन काल में कई बार यह नगर सैनिक आक्रमणों द्वारा ध्वस्त हुआ। १६वीं शताब्दी से ही यह नगर लिनेन कपड़े के लिये विख्यात है। मुख्य उद्योगों में लकड़ी चीरना, आटा पीसना, सूती और लिनेन कपड़ा बनाना, चमड़े का सामान, तंबाकू और लकड़ी का सामान बनाना है। (कृ० प्र० सिं०)

कस्तूरी प्रसिद्ध सुगंधित द्रव्य है, जो एक प्रकार के मृग से प्राप्त होता है (द्र० कस्तूरीमृग)। यह विभिन्न स्थलों में विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। संस्कृत में इसे कस्तूरी, मृगनाभि, मृगमद, कश्मीर में रौस, हिमाचल में बिजौरी और रौसा, नेपाल में बीना, लद्दाख में रिवजा, तिब्बत में ला, लव, लहारचे, चीन में शे-ही एंग, अरब में मिस्क, ईरान में मुश्क और अंग्रेजी में मस्क कहते हैं।

कस्तूरी के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित थीं, पर अब यह सिद्ध हो गया है कि कस्तूरी का नाफा एक पतली झिल्ली से बनी, बड़े से नींबू की नाप की ग्रंथि की थैली के रूप में, पेट में नार की गाँठ के ऊपर गढ़े में सटा हुआ पाया जाता है। इस पतली झिल्ली की थैली के ऊपर, इसके रक्षार्थ अधिक कड़ी झिल्ली की बनी दूसरी थैली होती है। उदर की वाह्य त्वचा और कस्तूरीग्रंथि के बीच में से निकलते हुए शिश्न की अग्रत्वचा की झिल्लीदार थैली या मुख कस्तूरी के नाफा के छिद्रद्वार से २० मिलीमीटर की दूरी पर खुलता है। इस प्रकार कस्तूरी का नाफा उदर की वाह्य त्वचा और आँतों के बीच में, किंतु वाह्य त्वचा से सटा हुआ, पेट के बाहर उठा रहता है। इस झिल्ली की थैली में एक मोटी सुई सा छिद्र पतले और सफेद वालों से ढँका रहता है। यह छिद्र शिश्न की अग्रत्वचा के मुखद्वार के सामने रहता है। दबाने से इस छिद्र में से थोड़ी सी कस्तूरी बाहर निकल आती है। इस छिद्र के चारों ओर वर्तुलाकार नरम बालों के घने से चक्कर पड़े रहते हैं। कस्तूरीमृग को जीते-जी झाड़ियों और पत्तियों से ढँके गड्ढों अथवा जालों में फाँसकर, अथवा शिकार द्वारा मारकर, पकड़ा जाता है। मृग को मारते ही उसका नाफा अलग से काटकर सी दिया जाता है। इसके छिद्र-द्वार को जलाकर अथवा मुहरबंद करके रखा जाता है। नाफा के निकटवर्ती शिश्न के भाग को साधारणतया काट दिया जाता है।

लगभग १० वर्ष की आयु के कस्तूरीमृगों के नाफों में कस्तूरी की मात्रा अधिकतम रहती है। अल्पवयस्क और बूढ़े मृगों के नाफों में कस्तूरी की मात्रा कम रहती है। प्रायः प्रत्येक नाफे में १० ग्राम से लेकर ४५ ग्राम तक कस्तूरी की मात्रा रहती है। बढ़िया नाफों की कस्तूरी छोटी छोटी गोलियों के रूप में पाई जाती है। कस्तूरी के नाफों को धूप में सुखाकर, अथवा तवों के ऊपर सेंककर, अथवा गरम तेल में सुखाकर बेचने के लिये रखा जाता है। कस्तूरी का रंग गहरे बैंगनी और गहरे लाल से लेकर काला तक होता है। कस्तूरी स्पर्श करने पर चिकनी, कागज पर पीला धब्बा लगानेवाली तथा पानी में ५० प्रतिशत और ऐल्कोहल में १० से २० प्रतिशत विलेय होती है। यह १५ प्रतिशत तक जलांश और जलाए जाने पर ८ प्रतिशत तक राख का अंश देती है।

बाजारों में साधारणतया पाँच प्रचार की कस्तूरी बेची जाती है, (क) सर्वोत्तम कस्तूरी तिब्बत, शीकांग और इंडोचीन की पहाड़ियों में पाए जानेवाले मृगों की होती है। संसार में बिकनेवाली कुल कस्तूरी में से „ प्रकार की कस्तूरी (टॉनक्विन मस्क, Tonquin musk) का अंश ८५ प्रतिशत तक कहा जा सकता है; (ख) मंगोलिया बाहरी पहाड़ी इलाके और दक्षिण साइबेरिया से प्राप्त कस्तूरी को कैबरडाइन मस्क (Cabardine musk) के नाम से घटिया समझकर बेचा जाता है; (ग) युन्नान नामक कस्तूरी; (घ) आसामी तथा नेपाली कस्तूरी और (च) कश्मीरी कस्तूरी।

विशुद्ध कस्तूरी काफी मँहगी होने के कारण प्रायः सदैव इसमें मिलावट की जाती है। सूखा हुआ रुधिर, मिट्टी इत्यादि से नकली नाफों में कस्तूरी के नाफों की झिल्ली इत्यादि मिलाकर धोखाधड़ी की जाती है। अभी तक कस्तूरी की वैज्ञानिक जाँच की कोई विधि प्रयोग में नहीं लाई जा सकी है।

कृत्रिम कस्तूरी—कुछ ऐसे रासायनिक द्रव्य हैं जिनकी गंध कस्तूरी से मिलती जुलती है। ऐसे द्रव्यों को मस्क जाइलीन, मस्क अंब्रेट्टी और मस्क कीटोन कहते हैं। इनमें वह पदार्थ नहीं है जिससे कस्तूरी की गंध होती है। पर कस्तूरी की सी गंध होने के कारण सस्ते गंधवाले द्रव्य के रूप में इनका उपयोग आज भी अधिकता से होता है।

कस्तूरी के रासायनिक संघटकों में से मुख्यतया मस्कोन (Muscone) का २ प्रतिशत अंश ही कस्तूरी के विशिष्ट गंध का मूल कारण समझा जाता है। १९६२ ई० में जगद्विख्यात रसायनज्ञ रूजिका की अनुपम खोजों के आधार पर मस्कोन का संघटन यह माना गया है:

```
CH3
|
CH-----------CH2
|            /
(CH2)12-----CO
```

वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि कस्तूरी के समान गंधवाले जांतव पदार्थ कस्तूरी मृग के अतिरिक्त आठ प्रकार के अन्य जंतुओं से भी प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त सुंबुल, लताकस्तूरी (मुश्कदाना), जटामांसी इत्यादि अनेक वनस्पतियों में भी कस्तूरी जैसे गंधद्रव्यों के होने की संभावना पाई गई है। पूना की राष्ट्रीय रसायनशाला में, कमला (नारंगी) के तेल, सरसों के तेल, ओलीइकाम्ल, लाख इत्यादि के उपयोग से मस्कोन जैसे कई रसायनक बनाने में सफलता प्राप्त हुई है।

सं०ग्रं०—अर्नेस्ट जे० पैरी: द केमिस्ट्री ऑव एसेंशिअल ऑयल्स ऐंड आर्टिफ़िशल पर्फ्यूम्स, वॉल्यूम २, स्कॉट ग्रीनवुड ऐंड संस, लंदन (१९२२); वाई० आर० नेव्स ऐंड जी० मैंजुयर: नैचुरल परफ्यूम मेटीरियल्स, रीइनहोल्ड पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, न्यूयॉर्क (१९४७); विलियम ए० पाउचर: पर्फ्यूम्स, कॉस्मेटिक्स ऐंड सोप्स, वॉल्यूम १, चैपमैन एड हॉल लि०, लंदन (१९४१), स्वामी प्रणवानंद: मस्क ऐंड मस्क डीअर, हिमाचल टाइम्स, देहरादून; ऐनुअल नंबर, जून १९५६, वॉल्यूम ८, नं० २३। (सद्०)

आयुर्वेद में कस्तूरी—आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों और गंधशास्त्र संबंधी साहित्य में कस्तूरी और कस्तूरी के उपयोगों का विस्तृत वर्णन मिलता है। आयुर्वेदिक ग्रंथों में यह तिक्तकटु, पौष्टिक, वीर्यस्तंभक, स्फूर्तिदायक, बलवर्धक, कफ, वात, पित्त और दुर्गंधनाशक कहा गया है। आमाशय, हृदय, ज्ञानेंद्रिय और मस्तिष्क के लिये बलवर्धक, वाजीकर और आक्षेपहर होता है। हृदय एवं मस्तिष्क की दुर्बलता, हृदय की धड़कन, वातिक उन्माद, अपस्मार एवं कुकुरखाँसी आदि वातिक, श्लेष्मिक और आक्षेपयुक्त रोगों में इसका उपयोग होता है। अनुपम और प्रबल गंध के कारण अंगरागों में इसका उपयोग मिलता है। (वं० सिं०)

कस्तूरीमृग नामक पशु मृगों के अंग्युलेटा (Ungulata) कुल (शफि कुल, खुरवाले जंतुओं का कुल) की **मॉस्कस मॉस्किफ़रस** Moschus Moschiferus नामक प्रजाति का जुगाली करनेवाला शृंगरहित चौपाया है। प्रायः हिमालय पर्वत के २,४०० से ३,६०० मीटर तक की ऊँचाइयों पर तिब्बत, नेपाल, इंडोचीन और साइबेरिया, कोरिया, कांसू इत्यादि के पहाड़ी स्थलों में पाया जाता है। शारीरिक परिमाण की दृष्टि से यह मृग अफ्रीका के डिक डिक नामक मृग की तरह बहुत छोटा होता है। प्रायः इसका शरीर पिछले पुट्ठे तक ५०० से ७०० मिलीमीटर (२० से ३० इंच) ऊँचा और नाक से लेकर पिछले पुट्ठों तक ७५० से ९५० मिलीमीटर लंबा होता है। इसकी पूँछ लगभग

कस्तूरीमृग (द्र० पृ० ४७४) तथा कंगारू (द्र० पृ० ३४४)

कस्तूरीमृग

कस्तूरी का नाफा

लकड़ी के एक कुंदे पर ओपासम, मारस्यूपियल (कंगारू) जाति का एक प्राणी तथा उसके बच्चे।
(अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से)

कांगड़ी (उ० पृ० ४३८)

विश्वविद्यालय का वेदमंदिर जिसकी विशाल गैलरियों (दीर्घाओं) में पुरातत्व संग्रहालय अवस्थित है

विश्वविद्यालय का जीवविज्ञान ब्लॉक

विश्

बालविहीन, नाममात्र को ही (लगभग ४० मिलीमीटर की) रहती है। इस जाति के मृगियों का पूंछ पर घने बाल पाए जाते हैं। जुगाली करनेवाले अन्य पशुओं के समान इस मृग के ऊपरी जबड़े में आगे का काटनेवाला चौड़ा दाँत (इनसिज़र, incisor) नहीं रहता। केवल चबाने में सहायक दाँत (चौभड़ और चौभड़ के पूर्ववाले दाँत) होते हैं। नर मृगों के ६० से ७५ मिलीमीटर लंबे दोनों सुवे दाँत (कैनाइन, canine) ऊपर से ठुड्ढी के बाहर तक निकले रहते हैं। इसके अगोभाग लंबे और पतले होते हैं। पिछली टाँगें अगली टाँगों से अधिक लंबी होती हैं। इसके खुरों और नखों की बनावट इतनी छोटी, नुकीली और विशेष ढंग की होती है कि बड़ा फुर्ती और तेजी से भागते समय भी इसकी चारों टाँगें चट्टानों के छोटे छोटे किनारों पर टिक सकती हैं। नीचे से इसके खुर पोले होते हैं। इसी से पहाड़ों पर गिरनेवाली रूई जैसे हल्के हिम में भी ये नहीं धँसते और कड़ी से कड़ी जमी बर्फ पर भी नहीं फिसलते। इसकी एक एक कुदान १५ से २० मीटर तक लंबी होती है। इसके कान लंबे और गोलाकार होते हैं तथा इसकी श्रवणशक्ति बहुत तीक्ष्ण होती है। इसके शरीर का रंग विविध प्रकार से बदलता रहता है। पेट और कमर के निचले भाग लगभग सफेद ही होते हैं और बाकी शरीर कत्थई भूरे रंग का होता है। कभी कभी शरीर का ऊपरी रंग सुनहरी झलक लिए ललछौंह, हल्का पीला या नारंगी रंग का भी पाया जाता है। बहुधा इन मृगों की कमर और पीठ पर रंगीन धब्बे रहते हैं। अल्पवयस्कों में धब्बे अधिक पाए जाते हैं। इनके शरीर पर खूब घने बाल रहते हैं। बालों का निचला आधा भाग सफेद होता है। बाल सीधे और कठोर होते हुए भी स्पर्श करने में बहुत मुलायम होते हैं। बालों की लंबाई ७६ मिलीमीटर के लगभग होती है।

कस्तूरीमृग पहाड़ी जंगलों की चट्टानों के दर्रों और खोहों में रहता है। साधारणतया यह अपने निवासस्थान को कड़े शीतकाल में भी नहीं छोड़ता। चरने के लिये यह मृग दूर से दूर जाकर भी अंत में अपनी रहने की गुहा में लौट आता है। आराम से लेटने के लिये यह मिट्टी में एक गड्ढा सा बना लेता है। घास पात, फूल पत्ती और जड़ी बूटियाँ ही इसका मुख्य आहार हैं। ये ऋतुकाल के अतिरिक्त कभी भी इकट्ठे नहीं पाए जाते और इन्हें एकांतसेवी पशु ही समझना चाहिए। कस्तूरीमृग के आर्थिक महत्व का कारण उसके शरीर पर सटा कस्तूरी का नाफा ही उसके लिये मृत्यु का दूत बन जाता है (द्र० कस्तूरी)।

सं०ग्रं०—कस्तूरी नामक लेख में बताए गए संदर्भग्रंथ कस्तूरीमृग की जानकारी के लिये भी उपयोगी हैं। (सद्०)

कहानी साधारणतः गद्य या पद्य में रचित मौखिक या लिखित कहानी; विशेषतः गद्य में लिखित आधुनिक छोटी कहानी (शार्ट स्टोरी), जिसके लिये कभी कभी गल्प, आख्यायिका या लघुकथा शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

कहानी की इन परिभाषाओं के आधार पर उसे साहित्यिक अभिव्यक्ति का सबसे पुराना और सबसे नया माध्यम कहा जा सकता है। सबसे पुराना इसलिये कि मानव समाज और भाषा के उदय के साथ ही आखेटक की आपबीती कहने और परबीती सुनने की सहज इच्छा से इसका जन्म हुआ। सबसे नया इसलिये कि सहज कलात्मक सृष्टि के रूप में इसका उदय पश्चिम में १९वीं सदी में हुआ। कथानक, पात्र, संवाद और न्यूनाधिक मात्रा में उद्देश्य या नैतिक शिक्षा के उभयनिष्ठ रहने के बावजूद नई कहानी और पुरानी कहानी में रूप और आत्मा का आधारभूत अंतर है।

कहानी के सबसे प्रारंभिक रूपों में लोककथाओं, पौराणिक आख्यायिकाओं, पशु पक्षियों के आधार पर रचित गल्पों और धार्मिक या नैतिक व्याख्यानों की गणना होती है। ऐसी रचनाओं में वेदों, पुराणों और महाभारत की कथाएँ, मिस्र की लोककथाएँ, यूनान के ईसप की पशु पक्षियों की कथाएँ, इब्रानी (हिब्रू) भाषा में यहूदियों के धर्मग्रंथ ओल्ड टेस्टामेंट की कथाएँ, बुद्ध और ईसा के प्रवचनों की गूढ़ाख्यायिकाएँ इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के प्रसिद्ध कथासंग्रह कथासरित्सागर, बृहत्कथा, पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक, जैन कथाएँ, शुकसप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, कथार्णव, प्रबंधकोश, प्रबंधचिंतामणि आदि हैं।

पश्चिम में यूनान की अनेक कथाएँ रोम पहुँचीं। यूनान और रोम की संस्कृति के पतन के बाद कथा की परंपरा ईसाई धर्म के प्रवचनों और मध्ययुगीन यूरोप के प्रेम और साहसिक यात्राओं या अभियानों के वृत्तांतों में जीवित रही। पुराने कथासंग्रहों में फारसी और अरबी के सहस्ररजनीचरित और अलिफलैला अत्यंत लोकप्रिय हैं। यूरोप में कथा के विकास में फ्रांस के चारणों और इटली के लघु-उपन्यास-लेखकों का महत्वपूर्ण योगदान था। १४वीं सदी में प्रणीत इटली के बोकाच्चो का 'देकामेरान' नामक संग्रह, अश्लीलता के बावजूद, यूरोपीय कथाकारों के लिये प्रवाह और रोचकता का आदर्श बन गया। लघु उपन्यासों में रूप की सुघड़ता नहीं थी, लेकिन उनमें वृत्तांत को अकृत्रिम और सरल ढंग से प्रस्तुत किया जाता था। यूरोप में १९वीं सदी के प्रारंभ तक कथा साहित्य लघु उपन्यासों या लोककथाओं की पद्धति पर ही चलता रहा। अक्सर ऐसी कथाओं को लंबे उपन्यासों की घटनाओं के अंतराल में क्षेपक के रूप में समाविष्ट कर दिया जाता था।

कथा में प्रयोग की दृष्टि से इंग्लैंड में एडीसन और स्टील के निबंध और स्केच और बौज के स्केच भी काफी महत्वपूर्ण थे। लेकिन न तो पहले की कथाएँ और न ये निबंध और स्केच आधुनिक कहानी के प्रतिरूप कहे जा सकते हैं।

१९वीं सदी के प्रारंभ में जर्मनी में हाफ़मन, जैकब, ग्रिम और टीक, अमरीका में इर्विंग और हाथार्न, फ्रांस में मेरिमिए, गोतिए और बाल्जाक, रूस में पुश्किन इत्यादि ने आधुनिक कहानी की रचना की, लेकिन उसे स्वतंत्र और विशिष्ट साहित्यिक विधा मानकर प्रयोग करने की दृष्टि से रूसी लेखक निकोलाई गोगोल (१८०९–१८५२) और अमरीकी लेखक एडगर ऐलेन पो (१८०९-१८४९) आधुनिक कहानी के प्रवर्तक माने जाते हैं। गोगोल ने कहानी को रोमांस की जगह जनसाधारण के जीवन का यथार्थ प्रदान किया। पो की कहानियों की विशेषता रोमांचकारी रहस्य, अलौकिकता, भूत-प्रेत-संबंधी अंधविश्वास और रक्तरंजित आतंक से उत्पन्न मानसिक तनाव है। पो ने आधुनिक कहानी के रचनाविधान के मूल सिद्धांत एवं उसके प्रभाव की एकता या केंद्रीयता की स्थापना की। उसके अनुसार "पूरी रचना में ऐसा एक शब्द भी नहीं होना चाहिए जिसकी प्रवृत्ति, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, किसी पूर्वनिश्चित उद्देश्य की ओर न हो।"

इस प्रकार पुरानी कथाओं की कपोलकल्पित घटनाओं और चरित्रों के प्रति बाह्य और संकुचित नैतिक दृष्टिकोण के स्थान पर आधुनिक कहानी ने जीवन के यथार्थ और चरित्रों के अंतर्द्वंद्वों की अनुभूति को महत्व दिया। यथार्थ और मनोविज्ञान आधुनिक कहानी के पाए कहे जा सकते हैं। आधुनिक कहानी घटनाओं या व्यक्तियों का रोचक वर्णन मात्र नहीं, बल्कि व्यक्ति और समाज के जीवन के अर्थ को पकड़ने और खोलने का प्रयत्न है।

पो का तात्कालिक प्रभाव फ्रांसीसी लेखकों पर पड़ा, जिनमें बोदलेयर, फ्लाबेर और दोदे उल्लेखनीय हैं।

संसार के दो महत्तम कहानीकार फ्रांस के मोपासाँ और रूस के चेखव, १९वीं सदी की ही उपज हैं। दोनों ने ही किसानों और मध्य या निम्नवर्गीय बुद्धिजीवियों और कर्मचारियों के जीवन की विविध असमर्थताओं और लघु व्यंग्यों का चित्रण किया, दोनों में ही जीवन के प्रति गहरा औत्सुक्य है, दोनों में ही निराशा और विषाद का दृष्टिकोण है। लेकिन इन समानताओं के बावजूद दोनों दो तरह के कहानीकार हैं। मोपासाँ के चरित्र वासनाओं के और चेखव के चरित्र बौद्धिक प्रमाद, स्वप्नभंग और नियति के शिकार हैं। मोपासाँ में अपने चरित्रों के प्रति अतिरंजित और प्रायः कृत्रिम भावुकता है; चेखव जीवन को रासायनिक वस्तुनिष्ठता के साथ देखता है, किंतु उसकी आत्मा में गहरी सहानुभूति और करुणा है। मोपासाँ में अक्सर नाटकीय अंतों के बावजूद वर्णन की सरलता और स्वाभाविकता है; चेखव की विशेषता स्वच्छ, संयमित, निश्छल, व्यंजनात्मक और प्रहसनयुक्त शैली और भाषा है। रचना में प्रयासहीन कलात्मक

कांगड़ी (द्र० पृ० ४७८)
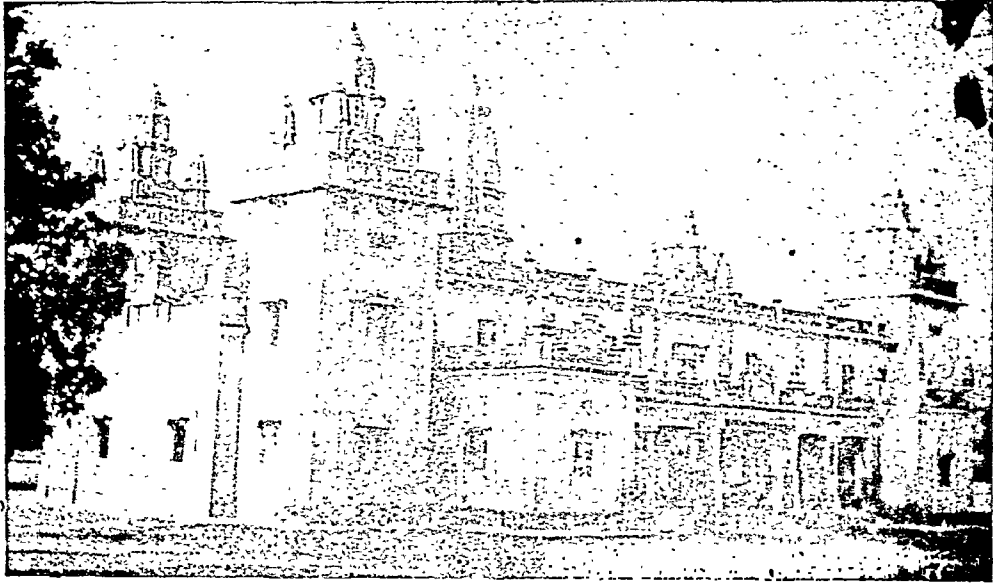
विश्वविद्यालय का वेदमंदिर जिसकी विशाल गैलरियों (दीर्घाग्रों) में पुरातत्व संग्रहालय अवस्थित है
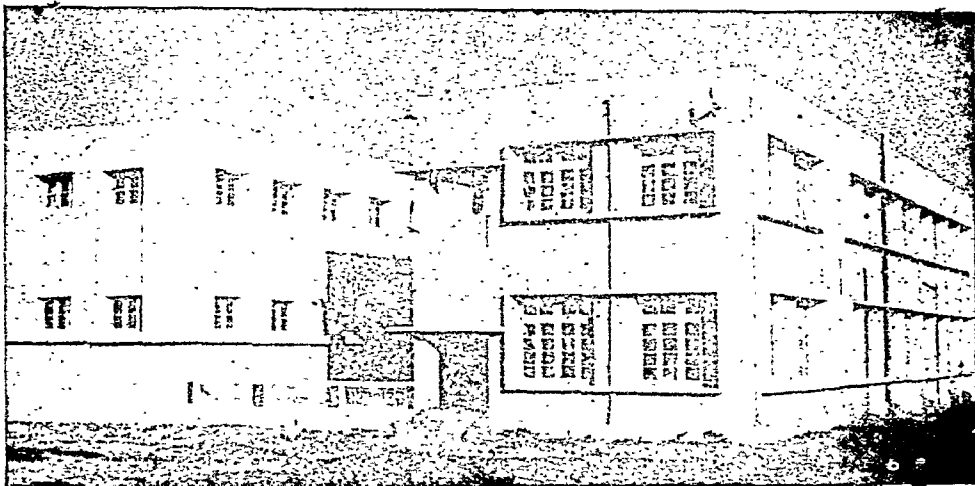
विश्वविद्यालय का जीवविज्ञान (बायोलॉजी) ब्लॉक
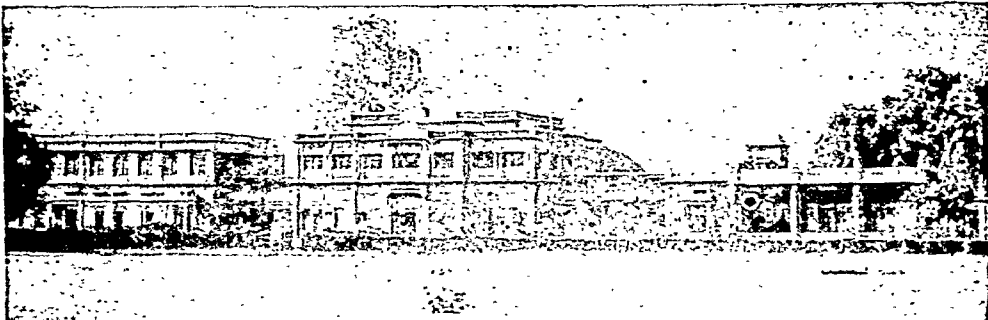
विश्वविद्यालय का आयुर्वेद महाविद्यालय भवन
(तीनों फोटो रामेश बेदी द्वारा)

वालविहीन, नाममात्र को ही (लगभग ४० मिलीमीटर की) रहती है। इस जाति के मृगियों की पूँछ पर घने बाल पाए जाते हैं। जुगाली करनेवाले अन्य पशुओं के समान इस मृग के ऊपरी जबड़े में आगे का काटनेवाला चौड़ा दाँत (इनसिज़र, incisor) नहीं रहता। केवल चबाने में सहायक दाँत (चौभड़ और चौभड़ के पूर्ववाले दाँत) होते हैं। नर मृगों के ६० से ७५ मिलीमीटर लंबे दोनों सुवे दाँत (कैनाइन, canine) ऊपर से ठुड्ढी के बाहर तक निकले रहते हैं। इसके अगोभाग लंबे और पतले होते हैं। पिछली टाँगें अगली टाँगों से अधिक लंबी होती हैं। इसके खुरों और नखों की बनावट इतनी छोटी, नुकीली और विशेष ढंग की होती है कि बड़ा फुर्ती और तेजी से भागते समय भी इसकी चारों टाँगें चट्टानों के छोटे छोटे किनारों पर टिक सकती हैं। नीचे से इसके खुर पोले होते हैं। इसी से पहाड़ों पर गिरनेवाली रूई जैसे हल्के हिम में भी ये नहीं धँसते और कड़ी से कड़ी जमी बर्फ पर भी नहीं फिसलते। इसकी एक एक कुदान १५ से २० मीटर तक लंबी होती है। इसके कान लंबे और गोलाकार होते हैं तथा इसकी श्रवणशक्ति बहुत तीक्ष्ण होती है। इसके शरीर का रंग विविध प्रकार से बदलता रहता है। पेट और कमर के निचले भाग लगभग सफेद ही होते हैं और बाकी शरीर कत्थई भूरे रंग का होता है। कभी कभी शरीर का ऊपरी रंग सुनहरी झलक लिए ललछौंह, हल्का पीला या नारंगी रंग का भी पाया जाता है। बहुधा इन मृगों की कमर और पीठ पर रंगीन धब्बे रहते हैं। अल्पवयस्कों में धब्बे अधिक पाए जाते हैं। इनके शरीर पर खूब घने बाल रहते हैं। बालों का निचला आधा भाग सफेद होता है। बाल सीधे और कठोर होते हुए भी स्पर्श करने में बहुत मुलायम होते हैं। बालों की लंबाई ७६ मिलीमीटर के लगभग होती है।

कस्तूरीमृग पहाड़ी जंगलों की चट्टानों के दर्रों और खोहों में रहता है। साधारणतया यह अपने निवासस्थान को कड़े शीतकाल में भी नहीं छोड़ता। चरने के लिये यह मृग दूर से दूर जाकर भी अंत में अपनी रहने की गुहा में लौट आता है। आराम से लेटने के लिये यह मिट्टी में एक गड्ढा सा बना लेता है। घास पात, फूल पत्ती और जड़ी बूटियाँ ही इसका मुख्य आहार है। ये ऋतुकाल के अतिरिक्त कभी भी इकट्ठे नहीं पाए जाते और इन्हें एकांतसेवी पशु ही समझना चाहिए। कस्तूरीमृग के आर्थिक महत्व का कारण उसके शरीर पर सटा कस्तूरी का नाफा ही उसके लिये मृत्यु का दूत बन जाता है (द्र० कस्तूरी)।

सं०ग्रं०—कस्तूरी नामक लेख में बताए गए संदर्भग्रंथ कस्तूरीमृग की जानकारी के लिये भी उपयोगी हैं। (सद्०)

कहानी साधारणतः गद्य या पद्य में रचित मौखिक या लिखित कहानी; विशेषतः गद्य में लिखित आधुनिक छोटी कहानी (शार्ट स्टोरी), जिसके लिये कभी कभी गल्प, आख्यायिका या लघुकथा शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

कहानी की इन परिभाषाओं के आधार पर उसे साहित्यिक अभिव्यक्ति का सबसे पुराना और सबसे नया माध्यम कहा जा सकता है। सबसे पुराना इसलिये कि मानव समाज और भाषा के उदय के साथ ही आखेटक की आपबीती कहने और परबीती सुनने की सहज इच्छा से इसका जन्म हुआ। सबसे नया इसलिये कि सहज कलात्मक सृष्टि के रूप में इसका उदय पश्चिम में १९वीं सदी में हुआ। कथानक, पात्र, संवाद और न्यूनाधिक मात्रा में उद्देश्य या नैतिक शिक्षा के उभयनिष्ठ रहने के बावजूद नई कहानी और पुरानी कहानी में रूप और आत्मा का आधारभूत अंतर है।

कहानी के सबसे प्रारंभिक रूपों में लोककथाओं, पौराणिक आख्यायिकाओं, पशु पक्षियों के आधार पर रचित गल्पों और धार्मिक या नैतिक गूढ़ाख्यानों की गणना होती है। ऐसी रचनाओं में वेदों, पुराणों और महाभारत की कथाएँ, मिस्र की लोककथाएँ, यूनान के ईसप की पशु पक्षियों की कथाएँ, इब्रानी (हिब्रू) भाषा में यहूदियों के धर्मग्रंथ ओल्ड टेस्टामेंट की कथाएँ, बुद्ध और ईसा के प्रवचनों की गूढ़ाख्यायिकाएँ इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के प्रसिद्ध कथासंग्रह कथासरित्सागर, बृहत्कथा, पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक, जैन कथाएँ, शुकसप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, कथार्णव, प्रबंधकोश, प्रबंधचिंतामणि आदि हैं।

पश्चिम में यूनान की अनेक कथाएँ रोम पहुँचीं। यूनान और रोम की संस्कृति के पतन के बाद कथा की परंपरा ईसाई धर्म के प्रवचनों और मध्ययुगीन यूरोप के प्रेम और साहसिक यात्राओं या अभियानों के वृत्तांतों में जीवित रही। पुराने कथासंग्रहों में फारसी और अरबी के सहस्त्ररजनीचरित और अलिफलैला अत्यंत लोकप्रिय हैं। यूरोप में कथा के विकास में फ्रांस के चारणों और इटली के लघु-उपन्यास-लेखकों का महत्वपूर्ण योगदान था। १४वीं सदी में प्रणीत इटली के बोकाच्चो का 'देकामेरान' नामक संग्रह, अश्लीलता के बावजूद, यूरोपीय कथाकारों के लिये प्रवाह और रोचकता का आदर्श बन गया। लघु उपन्यासों में रूप की सुघड़ता नहीं थी, लेकिन उनमें वृत्तांत को अकृत्रिम और सरल ढंग से प्रस्तुत किया जाता था। यूरोप में १९वीं सदी के प्रारंभ तक कथा साहित्य लघु उपन्यासों या लोककथाओं की पद्धति पर ही चलता रहा। अक्सर ऐसी कथाओं को लंबे उपन्यासों की घटनाओं के अंतराल में क्षेपक के रूप में समाविष्ट कर दिया जाता था।

कथा में प्रयोग की दृष्टि से इंग्लैंड में एडीसन और स्टील के निबंध और स्केच और वीज के स्केच भी काफी महत्वपूर्ण थे। लेकिन न तो पहले की कथाएँ और न ये निबंध और स्केच आधुनिक कहानी के प्रतिरूप कहे जा सकते हैं।

१९वीं सदी के प्रारंभ में जर्मनी में हाफ़मन, जैकब, ग्रिम और टीक, अमरीका में इर्विंग और हाथार्न, फ्रांस में मेरिमिए, गोतिए और बाल्ज़ाक, रूस में पुश्किन इत्यादि ने आधुनिक कहानी की रचना की, लेकिन उसे स्वतंत्र और विशिष्ट साहित्यिक विधा मानकर प्रयोग करने की दृष्टि से रूसी लेखक निकोलाई गोगोल (१८०९–१८५२) और अमरीकी लेखक एडगर ऐलेन पो (१८०९-१८४९) आधुनिक कहानी के प्रवर्तक माने जाते हैं। गोगोल ने कहानी को रोमांस की जगह जनसाधारण के जीवन का यथार्थ प्रदान किया। पो की कहानियों की विशेषता रोमांचकारी रहस्य, अलौकिकता, भूत-प्रेत-संबंधी अंधविश्वास और रक्तरंजित आतंक से उत्पन्न मानसिक तनाव है। पो ने आधुनिक कहानी के रचनाविधान के मूल सिद्धांत एवं उसके प्रभाव की एकता या केंद्रीयता की स्थापना की। उसके अनुसार "पूरी रचना में ऐसा एक शब्द भी नहीं होना चाहिए जिसकी प्रवृत्ति, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, किसी पूर्वनिश्चित उद्देश्य की ओर न हो।"

इस प्रकार पुरानी कथाओं की कपोलकल्पित घटनाओं और चरित्रों के प्रति बाह्य और संकुचित नैतिक दृष्टिकोण के स्थान पर आधुनिक कहानी ने जीवन के यथार्थ और चरित्रों के अंतर्द्वंद्वों की अनुभूति को महत्व दिया। यथार्थ और मनोविज्ञान आधुनिक कहानी के पाए कहे जा सकते हैं। आधुनिक कहानी घटनाओं या व्यक्तियों का रोचक वर्णन मात्र नहीं, बल्कि व्यक्ति और समाज के जीवन के अर्थ को पकड़ने और खोलने का प्रयत्न है।

पो का तात्कालिक प्रभाव फ्रांसीसी लेखकों पर पड़ा, जिनमें बोदलेयर, फ्लाबेर और दोदे उल्लेखनीय हैं।

संसार के दो महत्तम कहानीकार फ्रांस के मोपासाँ और रूस के चेख़व, १९वीं सदी की ही उपज हैं। दोनों ने ही किसानों और मध्य या निम्नवर्गीय बुद्धिजीवियों और कर्मचारियों के जीवन की विविध असमर्थताओं और लघु व्यंग्यों का चित्रण किया, दोनों में ही जीवन के प्रति गहन औत्सुक्य है, दोनों में ही निराशा और विषाद का दृष्टिकोण है। लेकिन इन समानताओं के बावजूद दोनों दो तरह के कहानीकार हैं। मोपासाँ के चरित्र वासनाओं के और चेख़व के चरित्र बौद्धिक प्रमाद, स्वप्नभंग और नियति के शिकार हैं। मोपासाँ में अपने चरित्रों के प्रति अनिर्लिप्त और प्रायः कृत्रिम भावुकता है; चेख़व जीवन को रासायनिक वस्तुनिष्ठता के साथ देखता है, किंतु उसकी आत्मा में गहरी सहानुभूति और करुणा है। मोपासाँ में अक्सर नाटकीय अंतों के बावजूद वर्णन की सरलता और स्वाभाविकता है; चेख़व की विशेषता स्वच्छ, संयमित, निश्छल, व्यंजनात्मक और प्रहसनयुक्त शैली और भाषा है। रचना में प्रयासहीन कलात्मक

चारुता और जीवन के निर्मम और निर्लिप्त सत्य के अंकन की दृष्टि से चेखव मोपासाँ से बढ़कर हैं। चेखव के अनुसार "कहानी में प्रारंभ और अंत नहीं होना चाहिए।" संसार के अधिकांश कहानीकारों ने इन्हीं दोनों से दीक्षा ली।

चेखव के समकालीन अन्य महान् रूसी कहानीकारों में तोल्स्तोइ, तुर्गनेव, गोर्की, दास्तोएव्स्की, गार्शिन, आंद्रेयेव, कोरोलेंको आदि हैं। सूक्ष्म अंतर्दृष्टि, गहरी सामाजिक चेतना और मानवतावादी दृष्टिकोण में रूसी कहानीकार बेजोड़ हैं।

पो के बाद पूरी १९वीं सदी में अनेक अमरीकी कहानीकारों का उदय हुआ, जिनमें मेल्विल, ओ'ब्रायन, ब्रेट हार्ट, ऐंब्रोज बीयर्स, सारा ओर्न जिवेट, मेरी विल्किंस फ्रीमन, ओ'हेनरी, जैक लंडन, हेनरी जेम्स, थियोडोर ड्रेजर, स्टीफ़ेन क्रेन के नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। अमरीकी कहानियों में अधिकांशतः कलात्मक सौंदर्य के स्थान पर उस युग के अमरीकी जीवन के अनुरूप वेग है, उनमें अनुभूतियों की गहराई न होकर अधिकतर पत्रकारिता और गद्य का भीनापन है। अमरीका में काफी बड़ी संख्या में ऐसे कहानीकार भी हुए जिन्होंने ओ'हेनरी के यांत्रिक अनुकरण के सहारे प्रभाव के चमत्कार को ही अपना धर्म बना लिया।

इंग्लैंड में कहानी का विकास १९वीं सदी के अंतिम वर्षों में हुआ। अक्सर इस विलंबित विकास का दोष उस काल के इंग्लैंड में थोथी नैतिकता और लातीनी बहुल शैली के प्रभुत्व को दिया जाता है। इंग्लैंड से पहले अमरीका में कहानी के उदय और विकास का श्रेय अमरीका में रूढ़ियों के अभाव, वेगवान जीवन और प्रहसन की क्षिप्र और जीवंत शैली को दिया जाता है। १९वीं सदी के अंतिम दशक में 'सिक्स पेनी' पत्रिकाओं के प्रचलन ने इंग्लैंड में कहानी के लिये विस्तृत पाठकवर्ग तैयार किया। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक औद्योगिक और व्यावसायिक जीवन की व्यस्तता तथा व्यापक जन साक्षरता ने कहानी को सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक माध्यम बना दिया है।

पो और मोपासाँ से प्रभावित स्टीवेंसन और किपलिंग ने इंग्लैंड में कहानी का नेतृत्व किया। उसके युग के बाद प्रसिद्ध कहानीकारों में जिसिंग, जार्ज मूर, आस्कर वाइल्ड, वेल्स, जेम्स, कानन डायल, कानराड, पी० जी० वुडहाउस, गाल्सवर्दी वेनेट, सॉमरसेट माम आदि हैं। इनके समानांतर यूरोप की अन्य भाषाओं में भी कहानी का विकास हुआ।

२०वीं सदी में यूरोप और अमरीका में कहानीकारों ने साधारणतः पो और ओ'हेनरी की चमत्कारिक कथानकवाली शैली के स्थान पर यथार्थवाद या प्रकृतिवाद का अनुसरण किया है। उनकी कहानियों में व्यक्तिगत शैली का भी बहुत बड़ा महत्व है। उदाहरणार्थ, जेम्स ज्वायस, कापर्ड, कैथरीन मैंसफ़ील्ड, टामस मान, शेरवुड ऐंडर्सन, कैथरीन ऐन पोर्टर का उल्लेख किया जा सकता है। कुछ लेखकों में यह प्रवृत्ति इतनी आगे बढ़ गई है कि उन्होंने कहानी के 'कहानीपन' को सर्वथा त्याज्य कहा है। शेरवुड ऐंडर्सन के अनुसार कथानक "कहानी का विष है"। इस सदी में कहानी के विकास की एक और अत्यंत महत्वपूर्ण दिशा 'समाजवादी यथार्थवाद' है जिसका प्रवर्तक गोर्की था। समाजवादी देशों के कहानीकारों के अतिरिक्त अन्य देशों के अनेक कहानीकारों ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर मेहनत करनेवालों की जिंदगी के यथार्थ चित्रण के साथ साथ उनकी भावी आशा आकांक्षाओं को भी अभिव्यक्ति दी है।

भारतीय भाषाओं ने आधुनिक कहानी की प्रेरणा पश्चिम से ही ली। यहाँ प्रारंभ में मोपासाँ, चेखव, तुर्गनेव, तोल्स्तोइ आदि प्रसिद्ध कहानीकारों के अनुवाद बहुत व्यापक पैमाने पर हुए। सबसे पहले यह प्रभाव बँगला पर पड़ा, जिसने रवींद्रनाथ ठाकुर और शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय जैसे विश्वकोटि के कहानीकार उत्पन्न किए। हिंदी में आधुनिक कहानी का उदय २०वीं सदी के दूसरे दशक में हुआ और उसके सबसे बड़े रचनाकार प्रेमचंद को संसार के बड़े बड़े कहानीकारों के समकक्ष रखा जा सकता है। दक्षिण भारत की भाषाओं का कहानी साहित्य भी अत्यंत समृद्ध है; वास्तव में आज भारत की प्रत्येक विकसित भाषा में कहानी सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम है।

एशिया की अन्य भाषाओं में भी, विशेषतः चीनी और जापानी में, कहानी का ऊँचा स्थान है। लू सुन को चीन का गोर्की कहा जाता है। जापान का सबसे प्रसिद्ध कहानीकार आकुतागावा है।

इतने बड़े पैमाने पर रची जाने के कारण कहानी में वस्तु और रूप की असाधारण विविधता है। इसलिये विधा के रूप में अक्सर कहानी की "अनंत तरलता" का उल्लेख किया जाता है।

कहानीकारों में आग्रहों की भिन्नता के बावजूद साधारणीकरण की प्रणाली से कहानी के प्रधान तत्व ये हैं : **विषयवस्तु और कथानक, चरित्र, कथोपकथन, वातावरण, शैली, जीवनदर्शन।** इन्हीं तत्वों से उपन्यास की भी रचना होती है, लेकिन इनके बारे में कहानीकार और उपन्यासकार के रुख अलग अलग होते हैं। इस प्रकार उपन्यास और कहानी में तत्वों की समानता किंतु विधाओं का अंतर होता है।

सतही तौर पर देखने से उपन्यास और कहानी में सबसे बड़ा अंतर लंबाई का है। पो, वेल्स आदि कई कहानीकारों के अनुसार कहानी बस इतनी लंबी हो कि पंद्रह बीस मिनट से लेकर घंटे दो घंटे में पढ़कर खत्म की जा सके। इसका यह अर्थ नहीं कि उपन्यास को काट छाँटकर कहानी में और कहानी को खींच तानकर उपन्यास में बदल दिया जा सकता है। उपन्यासकार जीवन को उसके विशाल परिवेश से संलग्न कर देखता है जबकि कहानीकार उसके किसी छोटे किंतु अर्थपूर्ण क्षण या खंड से ही संतुष्ट हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि कहानी में चरित्रों की भीड़ या एक चरित्र के भी बहुमुखी विकास की गुंजाइश नहीं होती। इतना ही नहीं, घटना, चरित्र और वातावरण किसी भी कहानी में समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं हो सकते। कहानीकार उनमें से किसी एक पर ही जोर देता है और वह भी अत्यंत छोटी परिधि में रहकर। अनेक कहानियों में समय अचल सा लगता है, जिससे उनके कथानक में आदि और अंत या उनके बीच की अवस्थाओं का ही लोप हो जाता है। एकाग्रता और लक्ष्य और प्रभावान्विति की दृष्टि से ही कहानी और गीति या सानेट के रचनाविधानों को मूलतः समान कहा गया है।

कहानी का कथोपकथन या संवाद भी एकाग्रता के सिद्धांत से ही अनुशासित होता है। वह नपा तुला, संक्षिप्त और सांकेतिक होता है। उपन्यास की तरह उसमें लंबे व्याख्यानों या विवादों के लिये स्थान नहीं। भाषाचमत्कार के स्थान पर उसका साध्य चरित्र का प्रस्फुटन होता है।

कहानी के वातावरण की सृष्टि चरित्र की आकृति, वेशभूषा, भाषा, परिस्थिति, देशकाल, मानसिक उथल पुथल आदि की अन्विति का फल होता है। कुशल कहानीकार के निकट ये साधन बाह्य, निरर्थक या संदर्भहीन सज्जा मात्र न होकर चरित्र की कुंजियाँ होते हैं। उपन्यास इनके सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों की ओर ध्यान देता है। कहानी इनके उस अंश भर को ही ग्राह्य समझती है जो वस्तु और चरित्र को आलोकित करने के लिये आवश्यक है।

शैलियों की अनेकरूपता के कारण कहानी बहुत ही लचकदार साहित्यिक माध्यम है। वार्ता, वर्णन, पत्रलेखन, संवाद और डायरी कहानी की मुख्य शैलियाँ हैं। कभी कभी कहानी और निबंध, रेखाचित्र और रिपोर्ताज की विभाजक रेखा बिलकुल धुँधली पड़ जाती है। साहित्येतर माध्यमों में चलचित्र और चित्रकारी ने कहानी की तकनीक को काफी प्रभावित किया है।

कहानी के छोटे आकार का यह अर्थ नहीं कि उसका जीवनदर्शन भी अनिवार्यतः अकिंचन या उपेक्षणीय होगा। आकार की लघुता के बावजूद कहानी महान् विचारों का वहन कर सकती है। नाविक के तीर की तरह कहानी गंभीर घाव कर सकती है। कहानी के खंडचित्रों में भी आगे और पीछे का प्रसार हो सकता है, जिसमें लेखक का सम्यक् जीवनदर्शन होता है। कहानीकार अपने जीवनदर्शन को सैद्धांतिक स्थापनाओं में ही नहीं प्रकट करता है; उसका दृष्टिकोण घटनाओं के आंतरिक संबंधों से भी ध्वनित होता है। लेखक का दृष्टिकोण वस्तु और चरित्र की कुछ विशेषताओं के उभरने और दबने में भी व्यक्त हो जाता है। इसलिये कहानी को उद्देश्यहीन मनोरंजन समझना गलत है। साहित्यिक और साहित्येतर विधाओं से पुष्ट अपनी अनेकरूपता के कारण कहानी बड़े ही सहज ढंग से आधुनिक

जीवन के नए और प्रतिनिधि तत्वों को ग्रहण कर लेती है। जीवन की व्यस्तता और पत्रपत्रिकाओं के व्यापक प्रचलन से भी अधिक शायद यही उसकी लोकप्रियता का कारण है।

सं०ग्रं०—एस० ओ'फ़ाओलेन : द शॉर्ट स्टोरी; एच० ई० बेट्स : द मार्डन शार्ट स्टोरी; ए क्रिटिकल सर्वे। (चं० व० सिं०)

कहावत, लोकोक्ति कहावत जनता की उक्ति होती है। लोक उसे अपनी करके मानता है, इसीलिये वह लोकोक्ति कहलाती है। विद्वानों ने कहावत की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। किसी ने उसे अनुभव की दुहिता कहा है, किसी ने ऐसे सूत्रवाक्य का नाम दिया है जिसमें जीवन का अनुभव संचित रहता हैं; किसी ने उसे ज्ञान के सागर की गागर कहा है, किसी ने उसे कालातीत बताया है, ऐसा 'फर्नीचर (साजसज्जा) जिसमें काल की दीमक नहीं लग पाती।' किंतु सच तो यह है कि किसी उक्ति में चाहे अन्य कितने ही गुण क्यों न हों, जब तक वह लोक की उक्ति नहीं होगी, लोकोक्ति या कहावत नही कहला सकेगी।

संक्षेप, सारगर्भिता तथा सप्राणता—इन तीनों का कहावत के संबंध में प्रायः उल्लेख किया जाता है किंतु ऐसी अनेक उक्तियाँ मिलती हैं जिनमें उक्त तीनों गुणों के होते हुए भी लोकोक्ति के अनिवार्य गुण लोकप्रियता का अभाव पाया जाता है जिसके कारण वे लोकोक्ति के रूप में व्यवहृत नहीं हो पातीं। इसलिये इन तीनों गुणों का यह सिद्धांत सामान्यतः अच्छी कहावतों के संबंध में यद्यपि लागू होता है, तथापि लोकप्रियता ही कहावत मात्र का अनिवार्य गुण है। वेदांत की पारिभाषिक शब्दावली का आश्रय लेकर कहा जा सकता है कि उक्त तीन गुणों का संबंध कहावत के तटस्थ लक्षण से है जबकि लोकप्रियता कहावत का स्वरूपलक्षण है। वस्तुतः संक्षेप, सारगर्भिता, सप्राणता तथा लोकप्रियता, इन चारों तत्वों के कारण ही किसी उक्ति को सामान्यतः कहावत का गौरव प्राप्त होता है।

यद्यपि परिभाषा करना बड़ा कठिन है, कहावत की एक साधारण परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है : अपने कथन की पुष्टि में, शिक्षा या चेतावनी देने के उद्देश्य से, किसी बात को किसी की आड़ में कहने के अभिप्राय से, अथवा उपालंभ देने और व्यंग्य कसने आदि के लिये अपने में स्वतंत्र अर्थ रखनेवाली जिस लोकप्रचलित तथा सामान्यतः सारगर्भित, संक्षिप्त एवं चटपटी उक्ति का लोग प्रयोग करते है, उसे लोकोक्ति अथवा कहावत का नाम दिया जा सकता है।

'कहावत' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कथावत्, कथावृत्त, कथावस्तु, कथापत्य, कथावार्ता आदि अनेक शब्द विद्वानों द्वारा सुझाए गए है जिनसे उक्त शब्द का निर्वचन किया जा सकता है। यह भी संभव है कि यह शब्द संस्कृत के किसी मूल रूप से व्युत्पन्न न हो, इसके निर्माण में उर्दू फारसी शब्दरचना का कुछ हाथ हो। स्वर्गीय आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का मत था कि 'कह्' धातु के आगे 'आवत' प्रत्यय लगकर 'कहावत' शब्द बना है, जो बहुतों को ग्राह्य नहीं है।

व्युत्पत्तिशास्त्री अथवा वैयाकरण किसी शब्द के मूल रूप का अन्वेषण करते समय पहले इस बात का निर्णय कर लेना भूल जाते है कि वह मूल रूप उस भाषाविशेष में प्रचलित भी था अथवा नहीं। कथावत्, कथावस्तु, कथावृत्त, कथापत्य आदि से यद्यपि 'कहावत' शब्द व्याकरण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है तथापि संस्कृत साहित्य में लोकोक्ति के अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग देखने में नहीं आता। इसलिये जब तक संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि में लोकोक्ति के अर्थ में प्रयुक्त 'कहावत' शब्द के मूल रूप का पता नहीं चलता, तब तक इस प्रकार की व्युत्पत्तियाँ उट्टंकणा मात्र ही मानी जायँगी। हाँ, निष्कर्ष के रूप में दो विकल्प यहाँ रखे जा सकते हैं :—

१. यदि 'कहावत' शब्द संस्कृत के किसी शब्द से भारतीय भाषाओं में आया है तो 'कथावार्ता' एक ऐसा शब्द है जिससे उसका घनिष्ठ संबंध जान पड़ता है। 'कथावार्ता' का प्राकृत रूप 'कहावत्ता' भी ध्वनि और अर्थ दोनों की दृष्टि से 'कहावत' के अत्यधिक निकट है। दूसरी बात यह है कि 'कथावार्ता' शब्द 'कथावत्' आदि की तरह कोई कल्पित शब्द नहीं है, यह प्रयोग में भी आता है।

२. यदि 'कहावत' शब्द सादृश्य के आधार पर प्रचलित हुआ है तो 'लिखावट', 'सजावट' आदि के सादृश्य पर 'कहावट' (कहावत) शब्द का बन सकना असंभाव्य नहीं है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राजस्थानी भाषा में कथन के अर्थ में, कुवावट, कुहावट आदि शब्द बोलचाल में आज भी प्रयुक्त होते हैं।

संस्कृत में कहावत के लिये आभाणक, प्रवाद, लोकोक्ति, लोकप्रवाद, लौकिकी गाथा, लौकिक न्याय तथा प्रायोवाद आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि रामायण में कहावत के अर्थ में प्रवाद, लोकप्रवाद तथा लौकिकी गाथा जैसे शब्द प्रयुक्त हुए है। यथा,

> प्रवादः सत्य एवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप।
> पतिव्रतानां नाकस्मात्पतन्त्यश्रूणि भूतले॥ ६।१११४।६७
> लोकप्रवादः सत्योऽयं पंडितैः समुदाहृतः।
> अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा॥ ५।२५।१२
> कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
> एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥ ६।१२६।२

कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में कहावत के लिये 'लोअवाओ' (लोकवाद) तथा 'लोअप्पवाओ' (लोकप्रवाद) शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

१. हंजे णिउणिए सुणामि बहुसो मदो किल इत्थि आजणस्स विसेसमण्डणं त्ति। अवि सच्चो एसो लोअवाओ। (तृतीय अंक)

निपुणिका—मैं बहुत सुना करती हूँ कि मदिरा पीने से स्त्रियाँ बहुत सुंदर लगने लगती है। यह लोकवाद क्या सच है ?

२. जोसिणीए—अत्थि क्खु लोअप्पवादो आआमि सुहं दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदि त्ति। (पंचम अंक)

ज्योत्सनिका—यह लोकप्रवाद है कि अपना मन आगे आनेवाले सुख या दुःख सभी बता देता है।

पालि साहित्य में कहावत के लिये 'भासितो' शब्द का व्यवहार हुआ है।

अपभ्रंश में 'अहाणउ' (आभाणक) शब्द कहावत के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है किंतु इस भाषा में भी ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जिसे 'कहावत' शब्द का पूर्वरूप कहा जा सके।

कुछ आधुनिक भारतीय भाषाओं से 'कहावत' शब्द के पर्यायों का आकलन यहाँ किया जा रहा है :

भाषा	पर्याय
तमिल	फ़ज़ुमोलि।
तेलुगु	सुमेतु।
मलयालम	पजुमचोल।
मराठी	म्हण, म्हणणी, आणा, आहणा, न्याय, लोकोक्ति।
बँगला	प्रवाद, वचन, प्रवचन, लोकोक्ति, प्रचलित वाक्य।
गुजराती	कहेवत, कहेणी, कहेती, कथन, उखाणुं।
हिंदी	कहावत, कहनावत, कहाउत, कहनूत, उपखान, पखाना, लोकोक्ति।
उर्दू	जर्बुल मसल।
लहँदी	अखाण।
गढ़वाली	पखाणा।
मिकिर भाषा (असमी)	लंबीर, लंबरिम।
राजस्थानी	ओखाणो, कहवत, कैवत, कुवावत, कुवावट
मालवी	केवात।

लोकोक्तियाँ जनसमुद्र के बिखरे हुए रत्न हैं। किसने ये रत्न बिखेरे, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; फिर भी इतना निश्चित है कि एकांत में बैठकर कहावतों का निर्माण नही किया गया; प्रत्युत जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकताओं ने कहावतों को जन्म दिया है। किताबों की आँखों से देखनेवाले निरे बुद्धिविलासी व्यक्ति कहावतों के निर्माता नहीं

थे, कहावतों के रचयिता जीवन के द्रष्टा थे। क्या हुआ यदि किसी कहावत के निर्माता ने कोई पुस्तक नहीं पढ़ा, जीवन की पुस्तक से उसने जो पाठ पढ़ा था, सूक्ष्म निरीक्षण, सामान्य बुद्धि और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सत्य का जो साक्षात्कार उसने किया था, वही एक मनोरम लोकोक्ति के रूप में प्रकट हो गया। कहावत का जन्मदाता तो विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया किंतु उससे उद्भूत वह अमर वाक्य कालसमुद्र की लहरियों पर अमिट होकर तैरता रहा। किंतु कोई कहावत कब जन्मी और किसने उसको जन्म दिया, इसका कुछ पता नहीं चल सकता।

संसार के सभी देशों और जातियों में कहावतों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। दुनिया की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसमें कहावतों का प्रयोग न हुआ हो। ईसामसीह ने कहावतों द्वारा शिक्षा दी—बाइबिल में कहावतों (प्रावर्ब्स) का एक विशद प्रकरण ही है। गौतमबुद्ध ने उपदेश के लिये लौकिकी गाथाओं का प्रयोग किया—जातक कथाएँ उसी संदर्भ में प्रस्तुत हुई। स्वयं अरस्तू जैसे सुविख्यात दार्शनिक ने सर्वप्रथम कहावतों का संग्रह किया। इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल से कहावतों को अमित संमान मिलता रहा है। ऐसा लोकोक्तियाँ, जिनका सत्य पुराना नहीं पड़ा है, जीवनरूपी व्याकरण के लिये पाणिनि के सूत्रों की भाँति ही उपयोगी है।

कहावतों के अध्ययन का महत्व अब प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। लोगों को अब इस तथ्य की प्रतीति होने लगी है कि पुराने सिक्कों और शिलालेखों के अन्वेषण की भाँति ही कहावतों का अन्वेषण और अध्ययन भी वांछनीय है। कहावतों के तुलनात्मक अध्ययन से अनुभव की समानता और सांस्कृतिक एकता पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। क्या साहित्य, क्या भाषाविज्ञान, क्या नृतत्वशास्त्र, सभी दृष्टियों से कहावतें महत्वपूर्ण हैं।

सं०ग्रं०—आर० सी० ट्रेंच : लेसंस इन प्रावर्ब्स; एस० जी० चैंपियन : रेशल प्रावर्ब्स; जे० लांग : प्रीफ़ेस टु ईस्टर्न प्रावर्ब्स ऐंड एंब्लेम्स; एच० स्मिथ : प्रावर्ब्स ऐंड कामन सेइंग्स फ़्रॉम द चाइनीज़; डिज़रेली : द फ़िलॉसफ़ी ऑव प्रावर्ब्स; जमशेदजी नशरवानजी पेतीत : कहेवत माला; सुशीलकुमार दे : बाँग्ला प्रवाद; यशवंत रामकृष्ण दाते और चिंतामणि गणेश कर्वे : महाराष्ट्र वाक्संप्रदाय कोश; कन्हैयालाल सहल : राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन; कन्हैयालाल सहल : राजस्थानी कहावतें; आशाराम दुलीचंद शाह : गुजराती कहेवत संग्रह। (क० स०)

काँगड़ा हिमाचल प्रदेश का ऐतिहासिक नगर तथा जिला है। काँगड़ा जिला ३१° २०' से ३३° उ० अ० तक तथा ७५° ३६' से ७८° ४४' पू० दे० तक विस्तृत है। इसका क्षेत्रफल ५५,६७३ वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या १३,०४,९५६ (१९७१) है। इसका अधिकतर भाग पहाड़ी है। इसके उत्तर और पूर्व में क्रमानुसार लघु हिमालय तथा बृहत् हिमालय की हिमाच्छादित श्रेणियाँ स्थित हैं। पश्चिम में सिवालिक (शिवालिक) तथा दक्षिण में व्यास और सतलज के मध्य की पहाड़ियाँ हैं। बीच में काँगड़ा तथा कुल्लू की सुंदर उपजाऊ घाटियाँ हैं। काँगड़ा चाय और चावल तथा कुल्लू फलों के लिये प्रसिद्ध है। व्यास (विपासा) नदी उत्तर-पूर्व में रोहतांग से निकलकर पश्चिम में मीर्थल नामक स्थान पर मैदानी भाग में उतरती है। काँगड़ा जिले में कड़ी सर्दी पड़ती है परंतु गर्मी में ऋतु सुहावनी रहती है। इस ऋतु में बहुत से लोग शैलावास के लिये यहाँ आते हैं। जगह जगह देवस्थान हैं अतः काँगड़ा को देवभूमि के नाम से भी अभिहित किया गया है। हाल ही में लाहुल तथा स्पीत्ती प्रदेश का अलग सीमांत जिला बना दिया गया है और अब काँगड़ा का क्षेत्रफल ४,२८० वर्ग मील रह गया है।

काँगड़ा नगर ३२° ६' उ० अ० तथा ७६° १६' पू० दे० पर लगभग २,३५० फुट की ऊँचाई पर, पठानकोट से ५२ मील पूर्व स्थित है। हिमकिरीट धौलाधार पर्वत तथा काँगड़ा की हरी भरी घाटी का रमणीक दृश्य यहाँ से दृष्टिगोचर होता है। यह नगर बाणगंगा तथा माँझी नदियों के बीच बसा हुआ है। दक्षिण में पुराना किला तथा उत्तर में ब्रजेश्वरी देवी के मंदिर का सुनहला कलश इस नगर के प्रधान चिह्न हैं। एक ओर पुराना काँगड़ा तथा दूसरी ओर भवन (नया काँगड़ा) की नई बस्तियाँ हैं। काँगड़ा घाटी रेलवे तथा पठानकोट-कुल्लू और धर्मशाला—होशियारपुर सड़कों द्वारा यातायात की सुविधा प्राप्त है। काँगड़ा पहले नगरकोट के नाम से प्रसिद्ध था और ऐसा कहा जाता है कि इसे राजा सुसर्माचंद ने महाभारत के युद्ध के बाद बसाया था। छठी शताब्दी में नगरकोट जालंधर अथवा त्रिगर्त राज्य की राजधानी था। राजा संसारचंद (१८वीं शताब्दी के चतुर्थ भाग में) के राज्यकाल में यहाँ पर कलाकौशल का बोलबाला था। 'काँगड़ा कलम' विश्वविख्यात है और चित्रशैली में अनुपम स्थान रखती है। काँगड़ा किले, मंदिर, बासमती चावल तथा कटी नाक की पुनः व्यवस्था और नेत्रचिकित्सा के लिये दूर दूर तक विख्यात था। १९०५ के भूकंप में नगर बिल्कुल उजड़ गया था। तत्पश्चात् नई आबादी बसाई गई। यहाँ पर देवीमंदिर के दर्शन के लिये हजारों यात्री प्रति वर्ष आते हैं तथा नवरात्र में बड़ी चहल पहल रहती है। (शां० ला० का०)

कांगड़ी हरिद्वार के निकट गंगा के पूर्वी तट पर दूसरी ओर बिजनौर जिले में बसा हुआ एक बहुत छोटा गाँव है। वर्तमान शताब्दी के आरंभ में इस गाँव के पास स्वामी श्रद्धानंद जी (तत्कालीन महात्मा मुंशीराम—१८५७—१९२६ ई०) ने एक गुरुकुल की स्थापना की। यह उस समय के शिक्षा जगत् में एक सर्वथा नवीन और क्रांतिकारी प्रयत्न था। ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री रैम्जे मैकडोनल्ड के शब्दों में "मेकाले के बाद भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक प्रयत्न हुआ है, वह गुरुकुल है।" अतः इसे देश और विदेश में असाधारण ख्याति प्राप्त हुई। गुरुकुल कांगड़ी शिक्षाविषयक एक विशिष्ट विचारधारा का प्रतीक बन गया।

१९वीं शताब्दी में भारत में दो प्रकार की शिक्षापद्धतियाँ प्रचलित थीं। पहली पद्धति ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने शासन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये विकसित की गई सरकारी स्कूलों और विश्वविद्यालयों की प्रणाली थी और दूसरी संस्कृत, व्याकरण, दर्शन आदि भारतीय वाङ्मय की विभिन्न विद्याओं को प्राचीन परंपरागत विधि से अध्ययन करने की पाठशाला पद्धति। दोनों पद्धतियों में कुछ गंभीर दोष थे। पहली पद्धति में पौरस्त्य ज्ञानविज्ञान की घोर उपेक्षा थी और यह सर्वथा अराष्ट्रीय थी। इसके प्रबल समर्थक तथा १८३५ ई० में अपने सुप्रसिद्ध स्मरणपत्र द्वारा इसका प्रवर्तन करानेवाले लार्ड मेकाले (१८००—१८५९ ई०) के मतानुसार "किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की आलमारी के एक खाने में पड़ी पुस्तकों का महत्व भारत और अरब के समूचे साहित्य के बराबर" था। अतः सरकारी शिक्षा पद्धति में भारतीय वाङ्मय की घोर उपेक्षा करते हुए अंग्रेजी तथा पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान विज्ञान के अध्ययन पर बल दिया गया। इस शिक्षा पद्धति का प्रधान उद्देश्य मेकाले के शब्दों में "भारतीयों का एक ऐसा समूह पैदा करना था, जो रंग तथा रक्त की दृष्टि से तो भारतीय हो, परंतु रुचि, मति और आचार विचार की दृष्टि से अंग्रेज हो"। इसलिये यह शिक्षापद्धति भारत के राष्ट्रीय और धार्मिक आदर्शों के प्रतिकूल थी। दूसरी शिक्षा प्रणाली, पंडितमंडली में प्रचलित पाठशाला पद्धति थी। इसमें यद्यपि भारतीय वाङ्मय का अध्ययन कराया जाता था, तथापि उसमें नवीन तथा वर्तमान समय के लिये आवश्यक पश्चिमी ज्ञान विज्ञान की घोर उपेक्षा थी। उस समय देश की बड़ी आवश्यकता पौरस्त्य एवं पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान का समन्वय करते हुए दोनों शिक्षा पद्धतियों के उत्कृष्ट तत्वों के सामंजस्य द्वारा एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करना था। इस महत्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने में गुरुकुल कांगड़ी ने बड़ा सहयोग दिया।

गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम पिछली शताब्दी के भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण में असाधारण महत्व रखनेवाले आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानंद (१८२४—१८८३ ई०) के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में प्रतिपादित शिक्षा संबंधी विचारों से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने १८९७ में अपने पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' द्वारा गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धार का प्रबल आंदोलन आरंभ किया। ३० अक्टूबर, १८९८ को उन्होंने इसकी विस्तृत योजना रखी। नवंबर, १८९८ ई० में पंजाब के आर्यसमाजों के केंद्रीय संगठन आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव स्वीकार किया और महात्मा मुंशीराम ने यह प्रतिज्ञा की कि वे इस कार्य के लिये, जब तक ३०,००० रुपया एकत्र नहीं कर लेंगे, तब तक अपने घर में पैर नहीं रखेंगे। तत्कालीन परिस्थितियों में इस दुस्साध्य कार्य को अपने अनवरत उद्योग और अविचल निष्ठा से उन्होंने आठ मास में

पूरा कर लिया। १६ मई, १९०० को पंजाब के गुजरांवाला स्थान पर एक वैदिक पाठशाला के साथ गुरुकुल की स्थापना कर दी गई।

किंतु महात्मा मुंशीराम को यह स्थान उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। वे शुक्ल यजुर्वेद के एक मंत्र (२६।१५) 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां। धिया विप्रो अजायत' के अनुसार नदी और पर्वत के निकट कोई स्थान चाहते थे। इसी समय नजीबाबाद के धर्मनिष्ठ रईस मुंशी अमनसिंह जी ने इस कार्य के लिये महात्मा मुंशीराम जी को १,२०० बीघे का अपना कांगड़ी ग्राम दान दिया। हिमालय की उपत्यका में गंगा के तट पर सघन रमणीक वनों से घिरी कांगड़ी की भूमि गुरुकुल के लिये आदर्श थी। अतः यहाँ घने जंगल साफ कर कुछ छप्पर बनाए गए और होली के दिन सोमवार, ४ मार्च, १९०२ को गुरुकुल गुजरांवाला से कांगड़ी लाया गया।

गुरुकुल का आरंभ ३४ विद्यार्थियों के साथ कुछ फूस की झोपड़ियों में किया गया। पंजाब की आर्य जनता के उदार दान और सहयोग से इसका विकास तीव्र गति से होने लगा। १९०७ ई० में इसका महाविद्यालय विभाग आरंभ हुआ। १९१२ ई० में गुरुकुल कांगड़ी से शिक्षा समाप्त कर निकलनेवाले स्नातकों का पहला दीक्षांत संस्कार हुआ। इस समय सरकार के प्रभाव से सर्वथा स्वतंत्र होने के कारण इसे चिरकाल तक ब्रिटिश सरकार राजद्रोही संस्था समझती रही। १९१७ ई० में वायसराय लार्ड चेम्जफ़ोर्ड के गुरुकुल आगमन के बाद इस संदेह का निवारण हुआ। १९२१ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा ने इसका विस्तार करने के लिये वेद, आयुर्वेद, कृषि और साधारण (आर्ट्स) महाविद्यालयों को बनाने का निश्चय किया। १९२३ ई० में महाविद्यालय की शिक्षा और परीक्षा विषयक व्यवस्था के लिये एक शिक्षापटल बनाया गया। देश के विभिन्न भागों में इससे प्रेरणा ग्रहण करके, इसके आदर्शों और पाठविधि का अनुसरण करनेवाले अनेक गुरुकुल स्थापित हुए।

२४ सितंबर, १९२४ ई० को गुरुकुल पर भीषण दैवी विपत्ति आई। गंगा की असाधारण बाढ़ ने गंगातट पर बनी इमारतों को भयंकर क्षति पहुँचाई। भविष्य में बाढ़ के प्रकोप से सुरक्षा के लिये १ मई, १९३० ई० को गुरुकुल गंगा के पूर्वी तट से हटाकर पश्चिमी तट पर गंगा की नहर पर हरिद्वार के समीप वर्तमान स्थान में लाया गया। १९३५ ई० में इसका प्रबंध करने के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के अंतर्गत एक पृथक् विद्यासभा का संगठन हुआ।

गुरुकुल शिक्षा पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—विद्यार्थियों का गुरुओं के संपर्क में, उनके कुल या परिवार का अंग बनकर रहना, ब्रह्मचर्यपूर्वक सरल एवं तपस्यामय जीवन बिताना, चरित्रनिर्माण और शारीरिक विकास पर बौद्धिक एवं मानसिक विकास की भाँति पूरा ध्यान देना, शिक्षा में संस्कृत को अनिवार्य बनाना, वैदिक वाङ्मय के अध्ययन पर बल देना, शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हिंदी को बनाना, संस्कृत, दर्शन, वेद आदि प्राचीन विषयों के अध्ययन के साथ आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान और अंग्रेजी की पढ़ाई तथा राष्ट्रीयता की भावना। आजकल ये विशेषताएँ सर्वमान्य हो गई हैं, किंतु इस शताब्दी के आरंभ में ये सभी विचार सर्वथा क्रांतिकारी, नवीन और मौलिक थे। गुरुकुल कांगड़ी का सबसे बड़ा कर्तृत्व अपने क्रियात्मक परीक्षण द्वारा इन विचारों को सर्वमान्य बनाना था। पहले यह असंभव समझा जाता था कि हिंदी उच्च शिक्षा एवं वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन अध्यापन का माध्यम बन सकती है। गुरुकुल ने सर्वप्रथम आधुनिक भारत में इस विचार को अपने परीक्षण द्वारा संभव बनाया। यहाँ के अध्यापकों तथा प्राध्यापकों ने रसायन, भौतिक विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, मनोविज्ञान, विकासवाद आदि विषयों पर हिंदी में पहली पुस्तकें लिखीं। मातृभाषा द्वारा शिक्षा के इस परीक्षण को देखने के लिये १९१८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान डा० सैडलर, सर आशुतोष मुखर्जी, श्रीनिवास शास्त्री आदि महानुभाव यहाँ पर पधारे और महाविद्यालय विभाग की शिक्षा के लिये अंग्रेजी का माध्यम अनिवार्य रूप से बनाए रखने के संबंध में उनके एवं देश के अन्य शिक्षाशास्त्रियों के विचारों में मौलिक परिवर्तन हुआ। गुरुकुल ने सभी राष्ट्रीय और समाज सुधार के आंदोलनों में प्रमुख भाग लिया, हिंदी साहित्य को अनेक यशस्वी पत्रकार, लेखक और साहित्यिक प्रदान किए, संस्कृत एवं वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन, अध्ययन अध्यापन को विलक्षण प्रोत्साहन दिया।

संप्रति गुरुकुल कांगड़ी में वेदवेदांग, संस्कृत, दर्शनशास्त्र, इतिहास, राजनीति, आयुर्वेद, कृषि तथा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा का प्रबंध है। इसके लिये वेद महाविद्यालय, आर्ट्स महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय, कृषि विद्यालय और विज्ञान महाविद्यालय व्यवस्थित हैं। विद्यालय का पाठ्यक्रम १० वर्ष का है, इसमें आठ से १० वर्ष तक के बालक लिए जाते हैं। जिन्हें विद्यालय आश्रम में रहना पड़ता है, उन्हें संस्कृत व्याकरण आदि ग्रंथ, प्राचीन विषयों के साथ गणित, विज्ञान अंग्रेजी आदि आधुनिक विषयों का अध्ययन करना पड़ता है। १० वर्ष की शिक्षा और परीक्षा के उपरांत अधिकारी की उपाधि दी जाती है। इसके बाद महाविद्यालयों में स्नातक परीक्षा का चार वर्ष का पाठ्यक्रम है। वेद तथा आर्ट्स महाविद्यालयों में वेद, वेदांग और दर्शन के अध्ययन के साथ इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान आदि अर्वाचीन विषयों का अध्ययन कराया जाता है और स्नातक बनने पर वेदालंकार, विद्यालंकार, आयुर्वेदालंकार की उपाधियाँ दी जाती हैं। इसके बाद विभिन्न विषयों में दो वर्ष का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम है जिसे उत्तीर्ण करने पर वाचस्पति की उपाधि दी जाती है। विशिष्ट विषयों का अनुसंधान तथा विद्वानों को संमानित करने की उपाधि विद्यामार्तंड है।

गुरुकुल की प्रबंध व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान मुख्याधिष्ठाता या उप कुलपति का है। यह विद्यासभा द्वारा पाँच वर्ष के लिये नियत किया जाता है। इसकी देख रेख में विभिन्न महाविद्यालयों के प्रधानाचार्य या प्रिंसिपल अपना कार्य करते हैं। उप कुलपति की सहायता के लिये सहायक मुख्याधिष्ठाता या प्रस्तोता होता है। इसके अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी के उद्योग विभाग के नियंत्रण के लिये एक व्यवसाय पटल है। गुरुकुल कांगड़ी का सबसे बड़ा उद्योग गुरुकुल फ़ार्मेसी है, जिसमें आयुर्वेद की दवाइयाँ शास्त्रोक्त एवं प्रामाणिक रूप से तैयार की जाती हैं। गुरुकुल की अर्थव्यवस्था के नियंत्रण के लिये एक वित्तसमिति है।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद गुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रदान की जानेवाली विद्यालंकार, वेदालंकार, आयुर्वेदालंकार आदि उपाधियों को केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों ने तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों ने मान्यता प्रदान की। १९६१ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से पृथक् स्वतंत्र संस्था के रूप में गुरुकुल कांगड़ी का संगठन बना और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसे विश्वविद्यालय जैसी संस्था स्वीकार किया। (ह० द० वे०)

कांगो गणराज्य अफ्रीका महाद्वीप के पश्चिमी भाग में ३° उ० अ० से ५° द० अ० तथा १२° पू० दे० से १८° पू० दे० के मध्य ३,४६,६५० वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैला हुआ एक स्वतंत्र राष्ट्र है। इसके उत्तर में मध्य अफ्रीका गणराज्य तथा कैमेरुन, पश्चिम में गैबान और अंध महासागर तथा दक्षिण और पूर्व में कांगो नदी के दूसरी ओर ज़ैरे गणराज्य का विस्तार है। कुछ समय तक यह राज्य फ्रांस के आधिपत्य में रहा लेकिन अगस्त, १९६० ई० में यह पूर्णरूपेण स्वतंत्र हो गया। कांगो और ज़ैरे गणराज्यों के बीच ज़ैरे नदी प्राकृतिक सीमा निर्धारित करती है जो इस गणराज्य के लिये बड़े महत्व की है। ब्राजाविले, जिसकी स्थापना १९वीं शताब्दी के अंत में पिरे सैवोरनान ब्राजा द्वारा की गई थी, यहाँ की राजधानी है। कांगो के पश्चिमी किनारे पर ब्राजाविले और ठीक दूसरी ओर पूर्वी किनारे पर किन्शासा नगर बसे हुए हैं। सन् १९७१ ई० में ब्राजाविले की जनसंख्या २,००,००० थी तथा पूरे गणराज्य की जनसंख्या १०,१२,८०० रही।

धरातलीय संरचना एवं जलवायु—इस प्रदेश का उत्तरी भाग पूर्णतया पठारी है जिसकी औसत ऊँचाई २,६०० फुट (७९० मी०) है। यह भूभाग सवाना घासों एवं घने जंगलों से पूर्णतया आवृत है। ब्राजाविले के उत्तरी भाग में बेटेके नामक पठार है जो घासों से पूर्णतया आवृत और नदियों द्वारा कटा फटा है। इस पठार के उत्तर में कांगो नदी के बेसिन अभेद्य वनों से आवृत हैं।

उबांगी तथा कांगो इस प्रदेश की मुख्य नदियाँ हैं। कांगो नदी का ६९० कि० मी० जलप्रवाह इस देश में पड़ता है जिसके दूसरी ओर कांगो

किन्शासा गणराज्य है। इसके अतिरिक्त संगा, लिकोइला, कोइलोऊ, एलिमा और नियारी मुख्य नदियाँ हैं, जिनमें कोइलोऊ नदी पर ४१० फुट

ऊँचा बाँध बना हुआ है। उत्तरी पठारी भाग काफी ऊबड़ खाबड़ और कृषि कार्य के लिये अनुपयुक्त है। साथ साथ यहाँ की मिट्टी भी अनुपजाऊ है।

प्रदेश का दक्षिणी भाग निम्नतटीय प्रदेश है जो देश के अंदर ६० कि० मी० तक फैला हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भूभाग अंध-महासागर का ऊपर उठा हुआ उथला प्रदेश है जिसपर वृक्ष देखने को नहीं मिलते, जबकि उत्तरी भाग वनों से ही आवृत है।

भूमध्यरेखीय प्रदेश में पड़ने के कारण यहाँ की जलवायु उष्ण कटिबंधीय है। वर्ष का औसत तापमान ७०° फा० से ८०° फा० तथा वर्षा ४८" होती है। महाद्वीप के पश्चिमी भाग में अवस्थित होने के कारण यहाँ भूमध्यरेखीय प्रदेशों की तुलना में वर्षा बहुत कम होती है।

आर्थिक स्थिति—भूभाग पठारी होने के कारण इस प्रदेश की आर्थिक प्रगति धीमी रही है। मूंगफली, कोकोआ, काफी, मक्का, चावल, नारियल, तंबाकू यहाँ काफी मात्रा में उत्पन्न किए जाते हैं और इन पदार्थों का निर्यात भी विदेशों को किया जाता है। सन् १९६८ ई० में यहाँ से १,२८५ मी० टन कोकोआ, १,७५५ मी० टन काफी, १,१०८ मी० टन धान, २,८९३ मी० टन नारियल एवं ७४० मी० टन तंबाकू का निर्यात विदेशों में किया गया। इसके अतिरिक्त यह राज्य कड़ी लकड़ियों, हीरे, चीनी और पोटास का भी निर्यात करता है। देश का मुख्य व्यापारिक संबंध फ्रांस के साथ जुड़ा हुआ है जहाँ से इस देश को ऋण के रूप में आर्थिक एवं यांत्रिक सहायता उपलब्ध होती रहती है। खनिज संपदा में भी यह राष्ट्र समृद्धिशाली है। हीरे के अलावा यहाँ पर सोना, सीसा, जस्ता, ताँबा, तेल आदि का भी उत्पादन पर्याप्त मात्रा में होता है। आयात की जानेवाली वस्तुओं में मुख्य रूप से मशीनें एवं यांत्रिक उपकरण, मोटर गाड़ियाँ, सूती कपड़े, पेट्रोल के सामान, लौह, इस्पात, सुखाई हुई मछलियाँ, कागज और कागज के सामान तथा शराब हैं जिनमें से अधिकांश वस्तुएँ फ्रांस से ही आयात की जाती हैं।

यातायात—विषम धरातल होने के कारण पठारी भाग में यातायात का विकास बहुत कम हो पाया है। कांगो एवं उसकी सहायक नदियों से ही यातायात का अधिकांश काम लिया जाता है। ब्राजाविले नदी के किनारे स्वयं एक अच्छा बंदरगाह है जहाँ से कांगो नदी का मुहाना केवल ३८५ कि० मी० दूर है। दक्षिण-पश्चिम की ओर समुद्रतट पर स्थित प्वाइंट नोरे बंदरगाह से यह नगर रेल द्वारा भी जुड़ा हुआ है। इस रेलवे लाइन की एक शाखा गैबान के फ्रांसविले में स्थित लौह खदानों तक जाती है।

पशुधन—सन् १९६८ ई० में यहाँ कुल ३०,००० गाय बैल, ७५,००० भेड़ और बकरियाँ तथा ४०,००० सूअर थे। घास के मैदान पशुपालन के लिये पर्याप्त सुविधाजनक हैं।

निवासी—वास्तव में यह गणराज्य आदिम जातियों का देश है। अगणित जनजातियों में १५ मुख्य हैं जिनमें बाकोंगो एक प्रगतिशील जाति है जो ब्राजाविले के दक्षिण पश्चिम में निवास करती है। पूरे देश में आधी से अधिक जनसंख्या इन्हीं जातियों की है और राजधानी में लगभग २५ प्रतिशत ये ही आबाद हैं। इनके प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है कि ये जातियाँ प्रागैतिहासिक काल से यहाँ निवास कर रही हैं और कुछ काल पूर्व इनका साम्राज्य कांगो नदी के पार अंगोला राज्य तक फैला हुआ था। बेटेके जातियाँ ब्राजाविले के उत्तरी भाग में निवास करती हैं। ये जातियाँ अफ्रीकी हस्तकला में सिद्धहस्त हैं। देश की ४० प्रतिशत जनसंख्या नगरों में निवास करती है, शेष राष्ट्र के दक्षिणी भाग में ही सीमित है। उत्तरी पठारी प्रदेश बिलकुल वीरान दिखाई देता है। यहाँ कांगो ३,५०,०००, टेके १,५०,००० और बोची ९५,००० हैं जो देश के दक्षिणी भागों में ही सीमित हैं।

यहाँ के अधिकांश निवासी ईसाई मतावलंबी हैं जिनमें रोमन कैथोलिक ३२ प्रतिशत और प्रोटेस्टेंट १६ प्रतिशत हैं। मुसलमानों की जनसंख्या बहुत ही कम है। बांटू, सूडानी, अरबी और फ्रेंच यहाँ की मुख्य भाषाएँ हैं जबकि सरकारी कार्य फ्रेंच में ही किया जाता है। अधिकांश जंगली जातियाँ किसी धर्म में विश्वास नहीं करतीं और आज भी अपनी प्राचीन पद्धतियों को लेकर चल रही हैं।

शिक्षा का विकास इस देश में बड़े जोरों से हो रहा है। यहाँ कुल ८५१ प्रारंभिक विद्यालय, ५२ माध्यमिक विद्यालय एवं ३३ तकनीकी विद्यालय हैं जहाँ विशेष प्रकार की तकनीकी शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

मुख्य नगर—यहाँ के मुख्य नगरों में ब्राजाविले (२,००,०००), प्वाइंट नोरे (१,००,०००), दोलिसी (२०,०००), जैकोब (१५,०००), जांबाला (१,४३३), ईपेना (८,४४६), केले (१,२८२) और मोसाका (२,१२८) हैं जो प्रगति की ओर धीरे धीरे बढ़ रहे हैं। (शी० प्र० सिं०)

कांगो (ज़ैरे गणराज्य)

अफ्रीका महाद्वीप के मध्य भाग में स्थित यह एक स्वतंत्र गणराज्य है। ३० जून, १९६० के पूर्व तक यह देश बेल्जियम सरकार के आधिपत्य में रहा। सन् १९७१ में कांगो नदी का नाम 'ज़ैरे' रखने के लिये देशव्यापी विवाद खड़ा हो गया और उसी समय अक्टूबर मास के पश्चात् कांगो नदी का नाम 'ज़ैरे' तथा राष्ट्र 'ज़ैरे गणराज्य' के नाम से पुकारा जाने लगा। सन् १९६६ में अनेक यूरोपीय और कांगोली नाम बदल दिए गए; जैसे, लियोपोल्डविले को किन्शाशा, एलिज़ाबेथविले को लुबुंबाशी, स्टैलेनविले को किसन गनाई, ऐल्बर्टविले को कालेमी, कोक्विलहाटविले को मांदाका, पाउलिस को इसिरो और बैनिगविले को बान्युन्यु नाम दिए गए। सन् १९७२ में ज़ैरे सरकार ने एक विधेयक पारित किया जिसमें सभी उच्च अधिकारियों के लिये 'ज़ैरीज' नाम रखना आवश्यक हो गया। तत्पश्चात् राष्ट्रपति जोसेफ़ डेसेर मोबुटु का नाम ज़ैरे में 'मोबुटु सेसे सेको' कर दिया गया।

ज़ैरे गणराज्य के उत्तर में मध्य अफ्रीका गणतंत्र और सूडान; पूर्व में युगांडा, रोआंडा, बुरुंडी, तंजानिया; दक्षिण में जांबिया तथा अंगोला और पश्चिम में कैबिंदा, ब्राजाविले, कांगो गणराज्य तथा अंध महासागर हैं। इस गणतंत्र का संपूर्ण क्षेत्रफल २३,४४,८८५ वर्ग कि० मी० और १९७० में जनसंख्या २,१६,५३,००० थी। ज़ैरे गणराज्य की राजधानी किन्शासा है जहाँ १३,२३,००० व्यक्ति निवास करते हैं। ज़ैरे गणराज्य आठ प्रांतों में विभक्त है जिनके क्षेत्रफल और जनसंख्या निम्न प्रकार हैं :—

राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग कि० मी०)	जनसंख्या (१६७०)
१. वास जैरे	५३,६२०	१५,१६,०००
२. किन्शासा	६,६६५	१३,२३,०००
३. इक्वेटर	४,०३,२६३	२४,३२,०००
४. हाटजैरे	५,०३,२३६	३३,५६,०००
५. किवु	२,५६,६६२	३३,६१,०००
६. कटांगा	४,६६,६६५	२७,५६,०००
७. काशीपूर्वी	१,६८,२१६	
८. वान्युन्यु	२,६५,६५८	२६,०१,०००

यह प्रदेश ज़ैरे (कांगो) तथा उसकी सहायक नदियों की द्रोणी में बसा हुआ है। इसका कुछ उत्तरी भाग नील नदी के द्रोणीक्षेत्र में भी पड़ता है। इसके उत्तर पूर्व में एल्वर्ट तथा एडवर्ड झीलों के मध्य का भूभाग ज्वालामुखी चोटियों से आवृत है। इसमें सबसे ऊँची चोटी माउंट रेवोज़ेरी है, जिसकी ऊँचाई १६,७६१ फुट है। प्रदेश का अधिकांश भूभाग अभेद्य जंगलों से ढका हुआ है। इन जंगलों में कहीं कहीं उपजाऊ तथा कृषियोग्य भूमि भी उपलब्ध है। अत्यधिक गर्म तथा नम वातावरण होने के कारण इस प्रदेश की जलवायु शीत प्रदेश के निवासियों के स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद नहीं है। इस भाग में अक्टूवर, नववंर तथा फरवरी से मई तक पर्याप्त वर्षा होती है।

यहाँ के जंगलों में बहुमूल्य लकड़ियाँ जैसे कुदार (एवनी, सागौन, महोगनी) तथा रवर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। जंगली पशुओं में जिराफ, हाथी, शेर, भैंसा तथा गोरिल्ला विशेष उल्लेखनीय हैं। यह प्रदेश अपनी खनिज संपदा के लिये विशेष स्थान रखता है। यहाँ मैंगनीज़, जस्ता, लोहा, सीसा, चाँदी, सोना, यूरेनियम और हीरा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। सन् १९७० में यहाँ ३,८५,६७६ मी० टन ताँवा, ८,७०० मी० टन टिन, ३,५३,०३२ मी० टन मैंगनीज, १,१०,२८० मी० टन कोयला, ९७,३३८ मी० टन जस्ता, १२,७१० मी० टन औद्योगिक हीरा, ५५,४२४ मी० टन चाँदी और ५,६२८ मी० टन सोने का उत्पादन किया गया। विश्व की सुप्रसिद्ध यूरेनियम की खदानों में यहाँ की भी एक खदान गिनी जाती है जो लुबुंवासी से ७० मील दूर उत्तर पश्चिम में शिकोलावबे नाम से प्रसिद्ध है।

अन्य औद्योगिक पदार्थो में सिगरेट ३,६६८ मिलियन, शराब ३,१२० मि० है० ली०, चीनी ३६० मी० टन, गंधक का तेजाब २,५७८ मी० टन, सोडा, १,३२,००० मी० टन, सादे कपड़े ६४,२०० मी० टन, छपे कपड़े ४१,३८० मी० टन तथा कंवल १,५५२ मी० टन (१९७१ में) तैयार किए गए।

खाद्य पदार्थ एवं व्यापारिक फसलों में कहवा, कोको, रवर, कपास, नारियल, केला, चाय, कसावा, मक्का, मटर, धान, कंदा, आलू और सारवम इत्यादि है जिनमें सन् १९६६ में इस प्रदेश ने ४४,६६३ मी० टन कहवा, ४,६२४ मी० टन कोको, ४०,७६६ मी० टन रवर, ६,७०४ मी० टन कपास के रेशे, १,३२,६८२ मी० टन नारियल का तेल, ३६६ मी० टन केला तथा ४,०५१ मी० टन चाय का निर्यात विदेशों को किया। यहाँ से ताँवा, हीरा, सोना, कोवाल्ट एवं जस्ता भी विदेशों को निर्यात किए जाते है। यहाँ पर आयात की जानेवाली वस्तुओं में मुख्य रुप से मांस, मछली, अनाज, पेट्रोलियम के अन्य पदार्थ, दवाइयों के सामान, प्लास्टिक, रवर के सामान, कपड़े, लोहे की छड़ें, विद्युत् की मशीनें तथा सड़कों पर चलनेवाली विभिन्न प्रकार की कारें और अन्य सवारियाँ है। सन् १९६६ में यहाँ कुल आयात २०५.१ मिलियन जैरे का तथा निर्यात ३२४.६ मि० जैरे का हुआ जो देश के विकास का द्योतक है।

यहाँ के अधिकांश निवासी वांटू जाति के हैं। उत्तरी भाग में असल नीग्रो जाति के लोग निवास करते है। प्रदेश के पूर्वी भाग में कुछ सूडानी तथा वौनी जाति (पिग्मी) के भी लोग पाए जाते हैं। साम्राज्यवादी जातियों में वेल्जियमवासी, अंग्रेज तथा अरवनिवासी हैं जो अपनी अपनी भाषा एवं संस्कृति के साथ निवास कर रहे हैं। ईसाई प्रचारमंडल यहाँ स्वास्थ्य एवं शिक्षाप्रसार के लिये कार्य कर रहे हैं। यहाँ की लगभग एक तिहाई जनसंख्या शिक्षित हो चुकी है।

(रा० लो० सिं०, शी० प्र० सिं०)

कांगो नदी विश्व की समस्त नदियों में, दक्षिणी अमरीका की ऐमेज़न को छोड़कर सबसे अधिक लंबी है। इसकी संपूर्ण लंबाई २,६०० मील है। इसका प्रवाहक्षेत्र १४,२५,००० वर्ग मील है। इस प्रवाहक्षेत्र में प्रतिवर्ष ४०" से १००" तक जलवृष्टि होती है। नदी अपने मुहाने पर सात मील चौड़ा रूपधारण कर समुद्र में गिरती है। यह समुद्र में प्रति सेकेंड २० लाख घन फुट कीचड़ युक्त पानी गिराती है जो संपूर्ण मिसिसिपि के औसत का चौगुना है। इसका कीचड़ युक्त पानी समुद्री किनारे से १०० मील दूर तक तथा ४,००० फुट की गहराई तक समुद्री जल से अलग रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

यह नदी मध्य अफ्रीका के ४,६५० फुट की ऊँचाई से निकलकर पश्चिम दिशा में २,६०० मील की यात्रा समाप्त करके समुद्र में गिरती है। अपने यात्रापथ में यह भारतवर्ष की गंगा नदी की तरह कई नामों से पुकारी जाती है, उदाहरणार्थ उत्तरी रोडेशिया में चंवेजी तदुपरांत लूआ पूला (Lua Pula) नाम से विख्यात है। यह नदी २०० फुट की ऊँचाई से गिरकर स्टैनली जलप्रपात का सृजन करती है। इसके पश्चात् यह बहुत बड़ी नदी का रूप धारण कर लेती है जो ६८० मील चंद्राकार रूप में वहती हुई भूमध्य रेखा को दो बार आर पार करती है।

इसकी सहायक नदियों में कसाई तथा उवांगी विशेष उल्लेखनीय है। इस नदी में ४,००० लघु द्वीप है। इसमें छोटी छोटी वाष्पचालित नौकाएँ भी चलाई जाती हैं। इसका निचला जलप्रवाह २८ स्थलों पर विघटित होकर जलशक्ति उत्पादक स्थानों का सृजन करता है। यहाँ पर शिकार खेलने योग्य भयंकर जंगली जानवर पाए जाते हैं क्योंकि इस नदी का अधिकांश मार्ग घने तथा अभेद्य जंगलों से घिरा हुआ है। इसमें सैकड़ों जातियों की मछलियाँ मिलती हैं तथा तटीय प्रदेश में दुर्लभ कीड़े मकोड़ों की प्राप्ति होती है।

भूगर्भीय तत्वों के आधार पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह नदी सुदूर भूत काल में उत्तर की ओर, जहाँ पर इस समय उजाड़ सहारा रेगिस्तान है, वहती थी। नदी का वर्तमान मुहाना नवीन प्रतीत होता है।

दीर्घ काल तक यह नदी यात्रियों के लिये पहेली वनी रही। सर्वप्रथम इसके मुहाने पर सन् १४८२ ई० में डायगोकाओ नामक पुर्तगाली यात्री का आगमन हुआ तथा उसने यहाँ पर एक स्तंभ (पडराओ) खड़ा किया। तब से इस नदी को रीओ डी पडराओ के नाम से पुकारा जाने लगा। कालांतर में पुर्तगाली अन्वेषकों ने इसको जैरे नाम प्रदान किया। अंतिम तथा विश्वविख्यात नाम कांगो पड़ा। (रा० लो० सिं०)

कांग्रेस या अंतरराष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस अथवा इंटरनैशनल कांफ्रेंस) अंतरराष्ट्रीय महासभा का अभिप्राय अंतर्देशीय प्रतिनिधियों की उस सभा से है जो अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार, परामर्श तथा समाधान के हेतु वुलाई गई हो। इन सभाओं के उद्देश्य कई प्रकार के हो सकते हैं, पारस्परिक मतविरोध समाधान अथवा अंतरराष्ट्रीय विधि में नवीन नियम की योजना या संशोधन, और कभी किसी विशेष भूप्रदेश की वस्तुस्थिति संवंधी निश्चय—इन सभी प्रश्नों के स्पष्टीकरण के लिये ऐसी महासभाएँ नियोजित होती है। उदाहरणार्थ १९१४ ई० की शिमला कांफ्रेंस भारत-चीन-सीमा निश्चित करने, १८६६ ई० एवं १९०७ ई० की हेग कांफ्रेंस स्थल संवंधी युद्धकालीन विधिनियम अनुवद्ध करने तथा १८१५ ई० में वियना कांग्रेस स्विट्जरलैंड को तटस्थता प्रदान करने के लिये वुलाई गई थी। सभा में भाग लेनेवाले देश अपने नियुक्त प्रतिनिधियों द्वारा सभा के अधिवेशन में भाग लेते हैं। सभा में एक राज्य की ओर से गणना में एकल मत प्रदान की ही व्यवस्था मानी जाती है चाहे उस राज्य के प्रतिनिधियों की संख्या कितनी ही हो। कुछ समय से कुछ व्यक्ति पर्यवेक्षक के रूप में भी सभा में वैठते हैं, किंतु उन्हें मताधिकार नहीं प्राप्त होता। १९४५ ई० में संयुक्त राष्ट्रसंघ अधिकारपत्र स्वीकरण के

लिये सैनफ्रांसिस्को में जो महासभा नियोजित हुई थी उसमें ५० राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अनेक अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं को पर्यवेक्षक रूप में आमंत्रित किया गया था।

यदि कोई राज्य किसी प्रश्न के लिये ऐसी महासभा नियोजित करना चाहता है तो वह कुछ अन्य राज्यों को आमंत्रित करता है। वे राज्य इसकी स्वीकृति तभी देते हैं जब यह स्पष्ट कर लेते हैं कि कौन अन्य राज्य सभा में संमिलित किए जायँगे और कौन नहीं। तदुपरांत राज्यों के प्रतिनिधि पूर्वनिश्चित समय तथा स्थान पर एकत्र हो प्रत्ययपत्रों का परस्पर विनिमय करते हैं। अधिकतर पोषित देश के वैदेशिक विभाग के सचिव को ही सभा का प्रधान निर्वाचित कर लिया जाता है। सैनफ्रांसिस्को की महत्वपूर्ण महासभा में चार मुख्य राज्यप्रतिभू शक्तियाँ थीं। इन चारों के प्रतिनिधियों ने क्रमशः महासभा का प्रधानत्व ग्रहण किया था। सभा की कार्यसुगमता के लिये कुछ प्रारंभिक समितियाँ बनाई जाती हैं जो वादविवाद की विषय-सामग्री पहले से व्यवस्थित कर लेती हैं। वादविवाद के उपरांत मतदान होता है जिसमें सर्वसंमति से विषय का समर्थन अनिवार्य होता है, अन्यथा बहुमतप्राप्त प्रस्ताव उन देशों को आबद्ध नहीं करते, जो अपना मत प्रस्ताव के विरुद्ध देते हैं। यदि प्रस्ताव का सर्वसंमति से समर्थन हो जाता है तो वह लिखित रूप में सबके हस्ताक्षरों सहित सभा का "फ़ाइनल ऐक्ट" (सर्वांत्य कृत्य) अथवा "जेनरल ऐक्ट" (सामान्य कृत्य) कहलाता है।

सं०ग्रं०—ओपनहाइम : इंटरनैशनल ला; यूइन-ली-लिऐंग : ह्वाट इज ऐन इंटरनैशनल कांफ्रेंस (अमेरिकन जर्नल ऑव इंटरनैशनल ला; १९५०; पृष्ठ ३३३)। (सु० कु० अ०)

कांग्रेस, अमरीकी कांग्रेस लातीनी शब्द है जिसका अर्थ 'साथ आना' है। कांग्रेस शब्द का प्रयोग पहली बार १७वीं शताब्दी में किया गया था। जब किसी देश के सम्राट् या उसके पूर्णशक्तिप्राप्त महादूत किसी गंभीर अंतरराष्ट्रीय समस्या का समाधान करने के लिये कृतसंकल्प होकर संमिलित होते हैं तब ऐसी सभा को कांग्रेस कहते हैं। विद्वानों की मंडली को भी कांग्रेस कहा जा सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका के संघीय एवं संघांगों की व्यवस्थापिका सभाओं के लिये कांग्रेस शब्द का प्रयोग किया गया है।

संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान संघीय संविधान है। इस संविधान में शक्तिसंतुलन एवं अधिकारविभाजन के सिद्धांत को मान्यता दी गई है। संविधान निर्माताओं ने संयुक्त राज्य अमरीका की विधिनिर्माण की सत्ता को एक कांग्रेस के अधीन रखा है, जिसके सिनेट और हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ नाम से दो सदन हैं। राष्ट्रीय कनवेंशन में अत्यधिक मतभेद रहा है। अंत में संविधान निर्माताओं ने अपनी व्यावहारिक कुशलता का परिचय देते हुए यह निर्णय किया कि हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ का संगठन राष्ट्रीय आधार पर किया जाय तथा सिनेट को संघांगों की स्वतंत्र अस्तित्व की भावना को बनाए रखने की दृष्टि से संगठित किया जाय। अतः सिनेट एवं हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ का संमिलित रूप ही कांग्रेस है। संविधान निर्माताओं ने सिनेट के संगठन में संघांगों की स्वतंत्रता की भावना को एवं हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के संगठन में राष्ट्रीय एकता की भावना को यथायोग्य स्थान दिया है। इस प्रकार कांग्रेस के संगठन में विरोधी भावनाओं का सुंदर समन्वय दिखलाई पड़ता है। संयुक्त राज्य अमरीका ने संघीय विधानमंडल का नाम कांग्रेस इसलिये रखा कि यह शब्द संघात्मक सरकार का परिचायक है। यह सत्य है कि साधारणतया कांग्रेस के संगठन एवं अधिकारों में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ है। संविधान निर्माताओं ने कांग्रेस के संगठन एवं अधिकारों के संबंध में जो कल्पना की थी, उसका पूर्ण आभास वर्तमान कांग्रेस में है।

सिनेट एवं हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के प्रतिनिधियों का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन से होगा। संयुक्त राज्य अमरीका के २१ वर्ष से अधिक वय के प्रत्येक स्त्री पुरुष को निर्वाचन में मतदान का अधिकार है। सिनेट के सदस्यों की योग्यता यह है : कम से कम ३० वर्ष की वय का हो, नौ बरस की संयुक्त राज्य की नागरिकता हो तथा उस राज्य का निवासी हो जिससे वह चुना जानेवाला हो। हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के सदस्यों के लिये यह योग्यता है : कम से कम २५ साल की वय का हो, सात वर्ष की संयुक्त राज्य की नागरिकता हो तथा उस संघांतरित राज्य का निवासी हो जहाँ से उसका निर्वाचन होनेवाला है।

सिनेट के सदस्यों का कार्यकाल छह बरस के लिये निर्धारित है। किंतु प्रति दूसरे वर्ष एक तिहाई सदस्यों का नया निर्वाचन होता है। संयुक्त राज्य की सिनेट का निर्माण प्रत्येक राज्य के दो दो प्रतिनिधियों से होता है जो उसकी जनता द्वारा छह वर्ष के लिये चुने जाते हैं। हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ संयुक्त राज्य के विधानमंडल का अधिक प्रतिनिधि सदन है। हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के सदस्यों की संख्या संघांतरित राज्य की आबादी के अनुसार निर्धारित की गई है, अर्थात् ३,००,००० व्यक्तियों के पीछे एक प्रतिनिधि चुना जाता है। परंतु यह भी शर्त है कि प्रत्येक संघांतरित राज्य का कम से कम एक प्रतिनिधि अवश्य निर्वाचित हो। इस प्रकार संघवाद के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक संघांतरित राज्य का समान प्रतिनिधित्व आवश्यक था। अतः सिनेट के संगठन में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है और हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ जनतंत्र तथा संपूर्ण राष्ट्र की एकता का प्रतीक है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि ऐसे राष्ट्रीय विषयों के अधिकार जिनका संविधान में उल्लेख नहीं है और जो कांग्रेस के लिये वर्जित नहीं हैं, कांग्रेस के दोनों सदनों को समान रूप से प्राप्त हैं। परंतु कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो उसके दोनों सदनों को न देकर केवल एक ही सदन को दिए गए हैं। अतः कांग्रेस के अधिकारों का अध्ययन तीन क्षेत्रों में किया जा सकता है—(१) हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के विशेषाधिकार, (२) सिनेट के विशेषाधिकार तथा (३) कांग्रेस के अधिकार।

हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के विशेषाधिकार निम्नांकित हैं : (१) आयसंबंधी विधेयकों का प्रारंभ, (२) महाभियोग आरोपण, (३) निर्धारित अवस्था में राष्ट्रपति का निर्वाचन। सिनेट के विशेषाधिकार हैं : (१) उपराष्ट्रपति का निर्वाचन, (२) महाभियोग का निर्णयन, (३) राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों का पुष्टीकरण, (४) विदेशी राज्यों के साथ की गई संधियों का पुष्टीकरण।

कांग्रेस के दोनों सदनों के वर्णित विशेषाधिकारों के अतिरिक्त कुछ अधिकार ऐसे हैं जो दोनों सदनों को समान रूप से प्राप्त हैं और दोनों सदन मिलकर संविधान के अंतर्गत इनका प्रयोग करते हैं। ये अधिकतर निम्नलिखित हैं : (१) कांग्रेस के दोनों सदनो को दो तिहाई बहुमत से संविधान में संशोधन के प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार, (२) दोनों सदनों का अपने अपने निर्वाचनों के समय, स्थान तथा निर्वाचन के ढंग को निश्चित करना, (३) संघीय कार्यपालिका के विभिन्न विभागों तथा विभिन्न संघीय पदाधिकारियों के पदों के निर्माण का अधिकार, (४) कांग्रेस के दोनों सदनों के विविध विषयों की जाँच का अधिकार, (५) न्याय संबंधी कतिपय अधिकार भी कांग्रेस के अंतर्गत हैं, (६) परराष्ट्र-संबंध-संचालन तथा अंतरराष्ट्रीय मामलों से संबद्ध कतिपय अधिकार, (७) कांग्रेस को १३ विषयों में विधिनिर्माण का अधिकार है। कांग्रेस के अधिकार आदेशात्मक नहीं हैं। 'कांग्रेस इन विषयों पर विधि बना सकेगी'—ऐसे शब्दों का प्रयोग संविधान में किया गया है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट ही है कि कांग्रेस केवल विधिनिर्माण की संस्था नहीं है। यह संविधाननिर्माता है तथा कार्यपालिका एवं न्यायपालिका संबंधी भी कुछ अधिकार इसे प्राप्त हैं।

मोटे तौर से देखते हुए यह ज्ञात होता है कि दोनों भवनों के अधिकार समान हैं। प्रत्येक विधेयक का दोनों भवनों में पारित होना आवश्यक है। प्रजातंत्र की भावना को जागरूक रखने के लिये यह नितांत आवश्यक है कि धन विधेयकों का प्रारंभ हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज में हो। प्रजातंत्र प्रणाली में निष्ठा रखनेवाले सभी देशों में यह परंपरा है कि धन विधेयक तथा वार्षिक आय व्यय के ब्योरे के लिये प्रथम सदन ही अधिक अधिकारी हो। किंतु संसार के अन्य दूसरे सदनों की तुलना में यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमरीका का दूसरा सदन बहुत शक्तिशाली और प्रभावशाली सिद्ध हुआ है क्योंकि एक ओर यह अपनी अनुमति एवं मंत्रणा के अधिकार द्वारा राष्ट्रपति को निरंकुश होने से रोकता है

और दूसरी ओर हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के आवेशपूर्ण तथा कम विवेकशील विधेयका को रोकने में सहायक होता है। (शु० तै०)

कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय इस महान् भारतीय संस्था (इंडियन नैशनल कांग्रेस) का जन्म सन् १८८५ में हुआ। सन् १९७४ तक इसके ७२ अधिवेशन हो चुके हैं। इसको स्थापित करनेवालों ने उस समय कदाचित् यह कल्पना भी न की होगी कि वे जिस छोटे से बीज को रोप रहे हैं, वह समय पाकर इतना विशाल वृक्ष हो जायगा जिसकी छाया में इस महादेश के नए इतिहास की रचना का कार्य पूरा होगा। पिछले ९० वर्षो का कांग्रेस का इतिहास वास्तव में समूचे देश का इतिहास है। इस युग में जिस प्रकार यह देश जागा और पतन के गढ़े से निकलने का उसने प्रयत्न किया, उसका प्रतिबिंब ही कांग्रेस का इतिहास है। जिस अनुपात मे इस राष्ट्रीय संस्था ने प्रगति की है उसी अनुपात मे देश भी उन्नति करता गया है। दानों का संबंध कुछ इस प्रकार अन्योन्याश्रित रहता है कि जिस सीमा तक भारत जाग्रत हुआ है उस सीमा तक कांग्रेस भी जागरूक रही है और जब जब कांग्रेस कुंठित हुई है तब तब हमारा देश भी कुंठाग्रस्त होता गया है, झिझकता, रुकता गया है। कांग्रेस को अखिल भारतीय, शुद्ध राष्ट्रीय और खालिस राजनीतिक संस्था बनाने की कल्पना पहले पहल किसके मन मे उठी, यह कहना तो कठिन है परंतु तत्कालीन परिस्थितियों से स्पष्ट है कि यह दृष्टि अथवा प्रेरणा वस्तुतः एकांतिक अथवा वैयक्तिक न थी, सामूहिक थी; कारण कि जब कांग्रेस स्थापित हुई तब सारे देश मे, उसके विभिन्न भागो के अनेक मूर्धन्य दूरदर्शी देशभक्तो के मन में यह भावना अंकुरित हो चुकी थी।

भारत के कल्याण और पुनरुद्धार के लिये यह आवश्यक है कि एक सर्वभारतीय राजनीतिक संस्था स्थापित की जाय, इस प्रकार की भावना जिन लोगों में उत्पन्न हुई थी उनमे केवल भारतीय ही नहीं थे। देश की गतिविधि को पहचाननेवाले ऐसे कुछ अंग्रेज भी थे जिन्हें यह आभास मिल रहा था कि सारे देश में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध जो असंतोष फैला हुआ है, उसे यदि बाहर निकलने का कोई मौका न दिया गया और उसे बाहर आने देने का कोई उपाय न निकाला गया तो यह व्यापक असंतोष किसी दिन भीषण ज्वाला के रूप में धधक उठेगा। वे समझते थे कि इससे अंग्रेजी राज्य भी भयानक खतरे में पड़ जायगा। ऐसे ही विदेशी दूरदर्शियो में श्री ए० सी० ह्यूम भी एक सज्जन थे, जो इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे। श्री ह्यूम ने अवकाश ग्रहण करने के बाद इस दिशा में अपना प्रयत्न आरंभ किया और भारत में फैले असंतोष को प्रकट रूप से मार्गप्रदान करने के उद्देश्य से, सारे देश की राजनीतिक संस्था स्थापित करने की योजना बनाई। कहा जाता है, श्री ह्यूम ने सिपाही विद्रोह का भी जमाना देखा था। उनके मन में यह आशंका पैदा हुई थी कि यदि कोई उपाय न किया गया और जनता की अशांति विद्रोह का रूप धारण करने से न रोकी गई, तो सिपाही विद्रोह की पुनरावृत्ति हो जा सकती है।

कदाचित् इस प्रयास में श्री ह्यूम को तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन की सहमति और आशीर्वाद प्राप्त था। यह भी कहा जाता है कि श्री ह्यूम ने इंग्लैंड जाकर वहाँ कुछ लोगों से, विशेषतः भारत से पेंशन पानेवाले ऐंग्लो इंडियनों से भी राय बात की और सबकी सलाह और सहमति के बाद इस योजना को कार्यान्वित करने का सूत्रपात किया। सन् १८८४ में लार्ड डफरिन से मिलने के बाद इन दोनों ने यह निश्चय किया कि अगले वर्ष, सन् १८८५ में, सारे देश का एक संमेलन बुलाया जाय। यद्यपि श्री ह्यूम को कांग्रेस का जनक कहा जा सकता है, तथापि इसका अर्थ यह नही है कि तत्कालीन भारत के नेता, सारे देश की राजनीतिक संस्था स्थापित करने के विचार से प्रभावित नहीं थे।

सन् १८५७ में भारतीय स्वतंत्रता के लिये सिपाही विद्रोह के रूप में जो संघर्ष हुआ वह सफल न हो सका। उस समय देश में ईस्ट इंडिया कंपनी का राज्य स्थापित था और अंग्रेजी साम्राज्यवाद विकराल रूप धारण कर चुका था। व्यापारी कंपनी के रूप में आई हुई अंग्रेजों की शक्ति ने बिखरते हुए भारतीय राष्ट्र को अपनी कुटिल नीति की चोटों से ध्वस्त करने में सफलता पाई थी। डलहौजी की नीति ने बड़े बड़े जागीरदारों, राजाओं और नवाबों की हैसियत और संमान को लूट लिया था। अंग्रेजों की अर्थनीति लूट खसोट की थी। फलतः भारत के सभी वर्ग और समुदाय निर्धन हो रहे थे। इन्हीं परिस्थितियों की प्रतिक्रिया १८५७ के विद्रोह में प्रकट हुई।

अंग्रेजों ने इस विद्रोह को बलपूर्वक दबा दिया और अपने भयंकर दमन से भारत की बची खुची शक्ति को बुरी तरह चूर कर दिया। इसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी की अमलदारी खतम हुई और भारत का शासन ब्रिटिश पार्ल्यमिंट के अधीन हुआ। अंग्रेजों ने शायद यह कल्पना की थी कि उनके दमन की सफलता भारत को शताब्दियों के लिये कुचल देने में समर्थ हुई है। परंतु उनकी यह धारणा गलत निकली। १८५७ के बाद, यद्यपि भारत मूर्छित पड़ा रहा, तथापि उसकी मूर्छा जल्दी ही टूटी और उसमें सक्रियता और जागृति के लक्षण दिखाई देने लगे।

१८५७ से १८८५ के बीच की राजनीति में मुख्य रूप से दो विचारधाराएँ उल्लेखनीय हैं। एक विचार उन लोगों का था जो हिंसात्मक संगठन पर अंग्रेजी राज को पूर्णरूपेण समाप्त कर देने की बात सोच रहे थे। दूसरा उनका जो यह मानते थे कि अंग्रेजी राज का अंत तो न होना चाहिए पर वैध उपायों से ब्रिटिश शासन के अधीन देश को स्वशासन का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यह सही है कि लार्ड डफरिन से पूर्व के भारत के वायसराय लार्ड रिपन ने अपनी नीति से हिंसात्मक संगठनों को रोक दिया था तथापि असंतोष की आग भीतर ही भीतर सुलग अवश्य रही थी।

दूसरे विचार के लोगों में अधिकतर अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों का प्रभाव था जो अंग्रेजी शासन के अनेक लाभों को स्वीकार करते हुए और अपने को राजभक्त मानते हुए भी वैध उपायों द्वारा देश मे अपने देश के शासन को प्राप्त करने की इच्छा रखते थे। उन्हें अंग्रेजों की नेकनीयती पर भी विश्वास था और वे यह भी समझते थे कि धीरे धीरे माँगकर अंग्रेजों से अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेना संभव होगा।

वैध उपायों से स्वराज्य प्राप्त करने की विचारधारा का लोकप्रिय होना स्वाभाविक भी था। क्योंकि शस्त्र और हिंसा के द्वारा अंग्रेजी राज्य समाप्त करने की कोशिश जब बेकार हुई तब देश के सामने दो ही मार्ग हो सकते थे, या तो राष्ट्र मृतप्राय हो जाता या, यदि उसमें जीवन बाकी होता तो, वह वैध उपायों का आश्रय लेता। भारत मरा नही था। इसका सबूत यही है कि उसने एक मार्ग से विफल होने पर भी दूसरे सक्रिय उपाय का अवलंबन किया। भारत के कतिपय तत्कालीन नेता इस दिशा में अग्रसर हुए और देश के विभिन्न भागों में प्रदेशीय संगठन स्थापित हुए। १८७० में पूना सार्वजनिक सभा कायम हुई। १८७६ में कलकत्ते में सुरेंद्रनाथ बनर्जी और आनंदमोहन बोस के उद्योग से इंडियन ऐसोसिएशन नामक संस्था का जन्म हुआ और बदरुद्दीन तैयबजी तथा फिरोजशाह मेहता ने बंबई में १८८५ के आसपास बंबई प्रेसिडेंसी एसोसिएशन स्थापित किया। इस प्रकार प्रांतीय स्तर पर वैध आंदोलन करनेवाले कुछ राष्ट्रीय संगठन १८८५ से पूर्व भी स्थापित हो चुके थे। इसके संचालक भारतीय नेता थे। सुरेंद्रनाथ बनर्जी का इंडियन ऐसोसिएशन बंगाल के बाहर भी कार्य करने लगा था, जिससे पता चलता है कि सुरेंद्र बाबू ने सारे देश के लिये एक राजनीतिक संगठन स्थापित करने की कोशिश आरंभ कर दी थी। दादाभाई नौरोजी ने, जिनके नेतृत्व में फिरोजशाह मेहता, तैलंग तथा तैयबजी आदि कार्य कर रहे थे, इंग्लैंड में भी ईस्ट इंडिया ऐसोसिएशन के नाम से एक संगठन बना लिया था जो वहाँ भारत की ओर अंग्रेज जनता का ध्यान आकृष्ट करता रहता था।

प्रगट है कि श्री ह्यूम के अतिरिक्त तत्कालीन प्रमुख भारतीय नेता भी सारे देश के लिये एक राष्ट्रवादी, देशव्यापी राजनीतिक संगठन की स्थापना करने की कोशिश में लग चुके थे। इसी भूमिका में सन् १८८४ के दिसंबर में मद्रास के अड्यार नामक स्थान पर थियोसाफिकल सोसाइटी का वार्षिक अधिवेशन भी हुआ। कहा जाता है, इसी अवसर पर सन् १८८५ के दिसंबर में इंडियन नैशनल यूनियन की एक अटचार कांफ्रेंस करने का विचार साकार हुआ। यही कांफ्रेंस इंडियन नैशनल कांग्रेस के रूप में अवतरित हुई। थियोसाफिकल सोसाइटी के इस अधिवेशन में देश भर

से प्रतिनिधि आए थे जिनमें श्री ह्यूम के सिवाय सुरेंद्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, काशीराम त्र्यंबक तैलंग आदि प्रमुख लोग भी थे। परस्पर विचार विनिमय के बाद इन लोगों ने यह निश्चय किया कि यह कांफ्रेंस १८८५ के दिसंबर में पूना में हो जिसमें देश के सभी प्रांतों के प्रतिनिधि संमिलित हों। इनकी ओर से एक गश्ती चिट्ठी भी घुमाई गई जिसमें कांफ्रेंस का उद्देश्य विभिन्न प्रांतों के कार्यकर्ताओं में परस्पर परिचय कराना तथा अगले वर्ष के लिये राजनीतिक कार्यक्रम को स्थिर करना बताया गया। इस प्रकार कांग्रेस के जन्म की भूमिका तैयार हुई। १८८५ में पूना में यह अधिवेशन हैजे की बीमारी के कारण न हो सका।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन १८८५ में बंबई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के भवन में उमेशचंद्र बनर्जी के सभापतित्व में हुआ। देश के विभिन्न भागों के ७२ प्रमुख व्यक्तियों ने इसमें भाग लिया। अधिवेशन में नौ प्रस्ताव पारित हुए जिनसे ब्रिटिश सरकार से विभिन्न क्षेत्रों में सुधार की माँग की गई। उस समय अध्यक्ष ने कांग्रेस के उद्देश्य की घोषणा इन शब्दों में की थी : (क) साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों में देशहित के लिये लगन से काम करनेवालों की परस्पर निकटता और घनिष्ठता बढ़ाना, (ख) राष्ट्रीय ऐक्य की उन समस्त भावनाओं का पोषण परिवर्धन जो लार्ड रिपन के चिरस्मरणीय शासनकाल में उद्भूत हुई, (ग) उन उपायों और दिशाओं का निर्णय करना जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देशहित के कार्य करें। इसी अधिवेशन में संस्था का नाम इंडियन नैशनल कांग्रेस रखा गया।

आरंभ में कांग्रेस का उद्देश्य शुद्ध राजनीतिक न था। वह सब प्रकार के सामाजिक सुधारों का काम भी अपने हाथ में लेना चाहती थी। पर १८८६ में कलकत्ते में कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन के अध्यक्ष पद से दादाभाई नौरोजी ने यह घोषणा की कि कांग्रेस शुद्ध राजनीतिक संस्था है और उसका विवादग्रस्त सामाजिक प्रश्नों से कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार प्रति वर्ष दिसंबर में कांग्रेस का अधिवेशन देश के विभिन्न स्थानों में होने लगा। अपनी स्थापना से लेकर सन् १९०५ तक कांग्रेस का इतिहास प्रकट रूप से घटनाप्रधान नहीं है। जो संघटन कालांतर में विदेशी प्रभुसत्ता को समाप्त करके भारत की जनता के प्रतिनिधि के रूप में विदेशी शासकों से शासन की बागडोर छीन लेने में समर्थ हुआ, उसका यह शैशवकाल था। अपने आरंभिक दिनों में कांग्रेस मूलतः विदेशी सरकार से सुविधाओं की माँग करनेवाले व्यक्तियों का संगठन थी। उस समय कोई भी उसपर 'गरम' या 'अविनयी' होने का आरोप नहीं लगा सकता था। १८९९ के अपने लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस ने अपना ध्येय वैध उपायों से भारतीय साम्राज्य के निवासियों के स्वार्थो और हितों को बढ़ाना घोषित किया। यद्यपि आरंभ के २० वर्षों की अवधि घटनाओं की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं रही, तथापि राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि इस बीच तैयार हो गई।

इतिहास साक्षी है कि कोई हुकूमत क्यों न हो, वह अपने अधिकार के संबंध में रंचमात्र भी हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकती। कांग्रेस, जो लार्ड डफ़रिन के आशीर्वाद और ह्यूम की प्रेरणा से अवतरित हुई थी, वह भी उपर्युक्त सत्य का अपवाद नहीं रह सकी। लगता है, जैसे जैसे कांग्रेस का प्रभाव शिक्षित समुदाय पर बढ़ने लगा और देश का ध्यान उसकी ओर खिंचने लगा, वैसे ही वैसे भारतीय अंग्रेज सरकार का विरोध भी बढ़ने लगा। कांग्रेस का जन्म हुए तीन वर्ष भी न बीते होंगे कि अधिकारियों की भौंहें टेढ़ी होने लगीं। सन् १८८८ में इलाहाबाद के कांग्रेस अधिवेशन का विरोध अधिकारियों द्वारा हुआ। अधिवेशन के लिये स्थान मिलना भी कठिन हो गया था। अब कांग्रेस की ओर धीरे धीरे अंग्रेजी सरकार भी सशंक दृष्टि से देखने लगी थी। उसकी यह सशंक दृष्टि ही भारत के लिये वरदान सिद्ध हुई। ज्यों ज्यों अंग्रेजी सरकार सशंक होती गई, कांग्रेस के निश्चयों की उपेक्षा करती गई, उसकी माँगों को ठुकराती गई, अपनी शासननीति को कठोर करती गई, भारतीयों के साथ भेदमूलक वर्ताव करती गई और अपनी अर्थनीति से देश का दोहन करके भारत को दरिद्रता के गढ़े में ढकेलती गई, त्यों त्यों उन लोगों का विश्वास भी शनैः शनैः अंग्रेजों की नेकनीयती से उठता गया जो अब तक यह समझते थे कि अंग्रेज उदार हैं, वे भारत की माँग स्वीकार करके उसे स्वशासन का अधिकार प्रदान करेंगे और भारत की उद्भावना का आदर करने में कुछ उठा नहीं रखेंगे। ऐसे लोग यहाँ तक समझते थे कि भारत में अंग्रेजों का राज्य, भगवान् की महती कृपा का फल है जो भारत का कल्याण करने के लिये ही व्यक्त हुआ है। इस काल अंग्रेज सरकार की भारतीय नीति ऐसे लोगों का विश्वास डिगाने और उनकी मोहनिद्रा समाप्त करने में सफल हुई।

जहाँ कांग्रेस की छोटी से छोटी माँग भी ठुकराई गई, वहाँ देश के नागरिकों के साधारण अधिकार छीननेवाले कई कानून भी बनाए गए। फल यह हुआ कि कांग्रेस द्वारा सरकार का विरोध भी कुछ तगड़ा होने लगा और देश में ऐसे तत्व उत्पन्न होने लगे जिनका प्रार्थनाओं तथा आवेदनपत्रों की नीति से विश्वास उठने लगा। इसी बीच, कांग्रेस बलसंचय न कर पावे, इसके लिये एक और नीति भी बरती गई। मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने की चेष्टा उसी समय से आरंभ हुई। अंग्रेजों की इस नीति को सफल बनाने में सर सैयद अहमद खाँ से बड़ी सहायता मिली। सर सैयद अहमद खाँ मुसलमानों को राजनीति से पृथक् रखना चाहते थे। वह यह समझते थे कि १८५७ के विरोध के कारण सरकार मुसलमानों से नाराज है क्योंकि मुसलमानों ने उसमें बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। फलतः उनका विचार था कि मुसलमान अगर कांग्रेस में शरीक होंगे तो सरकार उनसे और अधिक नाराज होगी और मुसलमान उन सुधारों से लाभ न उठा सकेंगे जो कांग्रेस के आंदोलनों के फलस्वरूप भारतवासियों को प्राप्त होंगे। कांग्रेस की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने जन्म से लेकर आज तक विशुद्ध राष्ट्रवादी संस्था रही है। राष्ट्रीयता के लिये आरंभिक अनुभूति ही कांग्रेस के जन्म का कारण हुई। उसने जन्म से ही कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक देश को एक माना है और इस देश में बसनेवाले सभी वर्गों, संप्रदायों; जातियों और समूहों को इस देश की संतान स्वीकार किया है। अंग्रेजों ने सदा इसके इस राष्ट्रीय स्वरूप को तोड़ने की चेष्टा की।

अंग्रेजी सरकार की इन तमाम खामियों ने लोगों का विश्वास डिगा दिया जिसके फलस्वरूप कांग्रेस में ऐसे तत्व आने लगे जो प्रार्थना की नहीं, अपितु अधिकार की भाषा में बोलने लगे थे। स्वभावतः जिस संघटन को शासकों ने असंतोष के विकल्प के रूप में प्रश्रय दिया था, उसका यह परिवर्तित रूप उन्हें सह्य नहीं हुआ। बंगाल के मध्यम वर्ग में शिक्षा का प्रसार राजनीतिक कारणों से अपेक्षाकृत पहले होने के कारण वहाँ राष्ट्रीय चेतना भी अधिक उग्र थी। कुछ हिंसात्मक घटनाएँ भी घटीं। अतः इस चेतना को आरंभ में ही दबा देने के उद्देश्य से १९०५ में बंगाल को दो हिस्सों में बाँट दिया गया।

यह जमाना लार्ड कर्जन का था जो भारतीयों को घृणा की दृष्टि से देखता था। स्पष्ट है कि बंगभंग विदेशी शासकों ने राष्ट्रीय चेतना के हनन के उद्देश्य से किया था। किंतु इसकी प्रतिक्रिया कांग्रेस के स्वरूप को आमूल परिवर्तित करने का कारण बनी। आवेदनपत्रों का युग समाप्त हुआ। कांग्रेस के जीवनक्रम में यह पहला बड़ा महत्वपूर्ण मोड़ था जिसने भारत के राजनीतिक जीवन में एक नए युग का सूत्रपात किया। बंगभंग के विरोध में न केवल बंगाल में, बल्कि संपूर्ण देश में आंदोलन होने लगा। १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस के सभापति ददाभाई नौरोजी ने कांग्रेस के उद्देश्यों की घोषणा करते हुए कहा : "हमारा सारा आशय केवल एक शब्द स्वशासन या स्वराज्य में आ जाता है।" तभी से लोकमान्य का 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह तेजस्वी उद्घोष भी देश में गूंज उठा।

अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों का भी कांग्रेस का स्वरूप बदलने में हाथ रहा। १९०४ में जापान के हाथों रूस की पराजय ने एशियाई देशों में जो आत्मविश्वास उत्पन्न किया उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। कलकत्ता कांग्रेस ने स्वदेशी, विदेशी का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य का जो कार्यक्रम अपनाया उससे न केवल विदेशी सत्ता को क्षोभ हुआ, अपितु कांग्रेस भी नरम और गरम दो दलों में बँट गई। इसी विचारभेद का परिणाम था कि १९०७ में कांग्रेस का सूरत अधिवेशन सफल न हो सका। इसके बाद १९१५ तक कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर यद्यपि नरम विचार के व्यक्तियों के ही हाथों में रही, तथापि उग्र भावनाओं के व्यक्ति भी राष्ट्रीय चेतना को बढ़ाते रहे। नरम विचारों के व्यक्तियों ने एक ओर

विदेशी सत्ता से अनुनय विनय का क्रम जारी रखा तो दूसरी ओर शासन ने उग्र विचारवादियों का कठोरता के साथ दमन आरंभ कर दिया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक पर, जो उग्र विचारवादियों के नेता थे, राजद्रोह का मुकदमा चलाकर उन्हें छह वर्ष के लिये जेल में बंद कर दिया गया।

दमन से सदा क्रांति की भावना को प्रेरणा ही मिलती है। अतः १९०६-१९११ तक की अवधि में जहाँ विदेशी सत्ता न राष्ट्रीय चेतना को दबाने के लिये खुलकर अत्याचार किए, वहीं इस अवधि में देश में पहला जोरदार आंदोलन भी हुआ और सरकार का १९११ में बंगभंग का आदेश वापस लेना पड़ा। ४ अगस्त, १९१४ को प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और शासन की ओर से युद्धकालीन स्थिति के नाम पर नवीन दमनकारी उपाय काम में लाए जाने लगे। १९१४ में तिलक के रिहा होकर आ जाने से फिर उग्र विचारों को प्रश्रय मिलने लगा। १९१५ में बंबई कांग्रेस में इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि राष्ट्र की माँग संयुक्त रूप से उपस्थित करने के लिये मुस्लिम लीग से, जिसे ब्रिटिश सरकार अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिये बराबर प्रोत्साहन देती आई थी, विचार विमर्श किया जाय।

१९१६ की लखनऊ कांग्रेस राष्ट्रीय संघटन के इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुई। नरम और गरम दल एक दूसरे के निकट आए और यह माँग की गई कि भारत का दर्जा बढ़ाकर उसे "पराधीन देश के बदले साम्राज्य के स्वशासित उपनिवेशों के समान भागीदार बना दिया जाय।" अंबिकाचरण मजूमदार इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। इसी अधिवेशन में प्रसिद्ध कांग्रेस-लीग-समझौता पहले पहल हुआ जिसके द्वारा स्वशासन प्राप्त होने पर मुसलमानों को प्रतिनिधान का अधिकार देने की व्यवस्था निर्धारित की गई। प्रथम महायुद्ध में आश्वासन के बावजूद मित्रराष्ट्रों ने मुस्लिम देशों के साथ जो व्यवहार किया था उसने मुसलमानों की भी आँख खोल दीं। मुस्लिम लीग की स्थापना मिंटो के जमाने में ही (१९०६ में) हो गई थी पर लीग न केवल कांग्रेस से अलग रही, वरन् मुसलमानों को भी राष्ट्रीय चेतना से अलग रखने की बराबर कोशिश करती रही। इस प्रकार नरम और गरम को एक करके मुस्लिम लीग को साझीदार बनाकर देश के स्वशासन का अधिकार प्राप्त करने का यह प्रयास कांग्रेस के जीवन का दूसरा मोड़ था। अब कांग्रेस अधिक शक्तिशाली और व्यापक संघटन के रूप में अवतरित होने जा रही थी। इन्हीं दिनों लोकमान्य तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेंट के प्रयत्नों से होमरूल लीग की स्थापना हुई। होमरूल आंदोलन का दमन करने के लिये विदेशी सत्ता ने भी कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा, प्रमुख नेता जेलों में बंद कर दिए गए। किंतु अब कांग्रेस आवेदनपत्रों के युग से आगे बढ़ रही थी, अतः नेताओं को जेल से छुड़ाने के लिये सत्याग्रह की भाषा में बातें होने लगीं। भारतरक्षा के नाम पर युद्धकालीन काले कानूनों का जोर था और लोकप्रिय आंदोलनों को बलपूर्वक दबाया जा रहा था।

भारत के इतिहास में इस समय विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हुई। बंगभंग का आंदोलन सन् १९१२ तक समाप्त हो गया था पर उस समय जो क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ जग चुकी थीं वे जाग्रत बनी रहीं। सन् १९१४ में यूरोप में प्रथम महायुद्ध का आरंभ हो चुका था। युद्ध के कारण देश में अशांति फैली हुई थी। अब तक अंग्रेजी सरकार की नीति की सारी पोल भी खुल चुकी थी। बंगभंग के आंदोलन के समय सरकार ने जो दमन किया था उसे भी लोग भूले नहीं थे। ब्रिटिश सरकार की अंतरराष्ट्रीय नीति के फलस्वरूप भारत के आसपास के देशों में और विशेषकर निकट पश्चिम के इस्लामी राष्ट्रों में पश्चिमी शक्ति के विरुद्ध उग्र भावनाएँ जाग चुकी थीं। इन सबका प्रभाव भारत के राजनीतिक जीवन पर व्यापक रूप से पड़ रहा था। लोगों के मन में महायुद्ध के अवसर से लाभ उठाने की भावना भर चली थी। फलतः भारत में और भारत के बाहर विप्लववादियों के प्रचंड संगठन कायम हो रहे थे और उनकी गतिविधि भी तीव्र हो रही थी। भारत के कुछ विप्लववादी जर्मनी की सहायता से इंग्लैंड के शासन को समाप्त करना चाहते थे। अमरीका में गदर पार्टी की स्थापना हुई थी जिसकी ओर से बहुत से विप्लववादी विप्लव करने के लिये भारत आए। बंगाल और पंजाब में विशेषकर षड्यंत्रकारी संगठन कायम हुए और जगह जगह इनके द्वारा राजनीतिक डकैतियाँ और हत्याएँ भी हुई।

इन सबने मिलकर क्रांति की व्यापक योजना बनाई। विदेशों से भी बहुत से हथियार देश में आए और उन्हें अधिकाधिक लाने का प्रबंध किया गया। क्रांति का दिन निश्चित कर दिया गया और यह तय हुआ कि २१ फरवरी, १९१५ को एक साथ ही देश के विभिन्न भागों में विद्रोह की आग सुलगाई जाय। पर यह योजना असफल रही। सरकार को इसका पता लग गया और उसने एक साथ ही धावा बोलकर व्यापक गिरफ्तारियाँ आरंभ कर दीं। इतिहास को अभी दूसरा मार्ग पकड़ना था अतः क्रांतिकारियों का यह प्रयास असफल हुआ।

अब अंग्रेजी सरकार को खुलकर दमन करने का मौका मिल गया। युद्धकालीन स्थिति में सुरक्षा के नाम पर 'डिफ़ेंस ऑव इंडिया ऐक्ट' पारित किया गया जिसके अनुसार बहुत से विप्लवकारी नजरबंद कर लिए गए। सरकारी दमन का प्रहार इतना तीव्र था कि सारे देश में आतंक छा गया। इस प्रहार ने एक प्रकार से तत्कालीन विप्लवकारी शक्तियों की कमर ही तोड़ दी। सरकार ने केवल विप्लवकारियों का ही दमन नहीं किया प्रत्युत प्रत्यक्ष रूप से चलनेवाले खुले आंदोलनों पर, स्थिति से लाभ उठाकर सफाया कर देने के विचार से हाथ लगाया। होमरूल के आंदोलन को दबाने के लिये सन् १९१७ में श्रीमती ऐनी बेसेंट नजरबंद कर ली गईं। इस प्रकार सरकारी दमनचक्र देश की उमड़ती हुई राजनीतिक चेतना को जड़ से समाप्त कर देने के प्रयत्न में संलग्न था। सरकार की इस नीयत का स्पष्ट रूप तब प्रकट हुआ जब युद्ध के समाप्त होने पर 'डिफ़ेंस ऑव इंडिया ऐक्ट' की अवधि को समाप्त कर देने के बजाय रौलट कमीशन नियुक्त किया गया, जिसके सुपुर्द यह काम हुआ कि वह षड्यंत्रों की जाँच करके विद्रोहों को दबाने के लिये नए कानून बनाने के संबंध में सिफारिश करे। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने सन् १९१९ में केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में दो बिल पेश किए और ये नए दमनकारी कानून बने।

अब देश की स्थिति यह थी कि एक ओर तो वैध उपायों से स्वराज्य प्राप्त करने की नीति निष्फल हो चुकी थी और दूसरी ओर क्रांतिकारियों का संपूर्ण उन्मूलन हो चुका था। विदेशी सरकार की नीयत और नीति भी स्पष्ट हो चुकी थी। उसके आश्वासन और लड़ाई के जमाने में किए गए वादे, सभी झूठे साबित हो चुके थे। इसके विपरीत भारत की गुलामी की जंजीरों को जकड़ देने और देश की जागृति के बचे खुचे अंश को समाप्त कर देने की योजना काले कानूनों के रूप में कार्यान्वित की जा रही थी। सारा राष्ट्र असहाय पड़ा था। जो परिस्थिति थी उसमें चुपचाप आत्मसमर्पण कर देने के सिवाय कोई दूसरा विकल्प दिखाई नहीं दे रहा था।

ऐसे ही समय देश के संकटकाल में भारत के राजनीतिक आकाश में एक नए सूर्य के उदय होने के लक्षण दिखाई देने लगे। मोहनदास करमचंद गांधी दक्षिण अफ्रीका में सफलता प्राप्त करने के उपरांत सन् १९१५ में भारत आए। महायुद्ध प्रारंभ हो चुका था और दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रही गांधी जी उस युद्ध में अंग्रेजों की मदद के समर्थक थे। वे यद्यपि आते ही कांग्रेस में प्रमुख भाग नहीं ले रहे थे और न उन्होंने होमरूल के आंदोलन में ही योगदान किया, तथापि निलहे गोरों के अत्याचार के विरुद्ध चंपारन के किसानों का नेतृत्व करके नए प्रकार की युद्धशैली की आजमाइश वे करने लगे थे। रौलट ऐक्ट से गांधी जी के हृदय को बड़ी चोट लगी। उन्होंने यह घोषणा की कि यदि ये काले कानून बनाए गए तो वे इन्हें तोड़ने के लिये बाध्य होंगे और सत्याग्रह का युद्ध छेड़ देंगे। गांधी जी की इस घोषणा ने देश में नई जान फूंक दी। ऐसे समय जब सारा राष्ट्र अपने को चारों ओर से असहाय पा रहा था और जब उद्धार के सभी मार्ग अवरुद्ध दिखाई दे रहे थे, गांधी जी के रूप में नए प्रकाशपुंज को पाकर वह खिल उठा। दुनिया के इतिहास ने अब तक प्रतिरोध का एक ही उपाय देखा था—बलसंचय करके शस्त्र द्वारा आततायी सत्ता का विनाश करने में सफल होना अथवा स्वयं पराभूत होने पर उसके संमुख सिर झुका देना। विद्रोह, प्रतिरोध अथवा संघर्ष का कोई दूसरा उपाय मानव जगत् ने तब तक नहीं

जाना था। गांधी जी एक नई पद्धति और नया प्रकार लेकर उपस्थित हुए : सत्य और अहिंसा, त्याग और बलिदान के आधार पर सत्याग्रह के रूप में एक प्रचंड और प्रखर प्रतिरोध का उत्पन्न किया जा सकता है, जो सशस्त्र विद्रोह के पराभव का विकल्प होने में सर्वथा समर्थ है। अब देश को नई आशा, नया उत्साह, नई ज्योति और नई दिशा दिखाई पड़ी। रौलट ऐक्ट का विरोध करने के लिये गांधी जी ने इस नई युद्धनीति का प्रयोग किया। सत्याग्रह की तैयारी के सिलसिले में उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया और लोगों से सत्याग्रह करने की प्रतिज्ञा ली। ३० मार्च, १९१९ को उन्होंने सारे देश में हड़ताल और उपवास आदि करने की अपील की। बहुत से स्थानों में ३० मार्च को ही सफल हड़ताल हुई, पर सभी जगह सूचना न पहुँचने के कारण गांधी जी ने यह तिथि बदलकर ६ अप्रैल कर दी। गांधी जी के द्वारा जनजागृति का जो विशाल रूप प्रकट हुआ वह अंग्रेजी सरकार के लिये असह्य हो उठा।

फिर क्या था, सरकारी दमनचक्र चल पड़ा। गोली बरसाना साधारण बात हो गई। १३ अप्रैल को जलियाँवाला बाग में जो रोमांचकारी घटना घटी वह भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा की ओर मोड़ देने में समर्थ हुई। इसके बाद उस महान् गांधीयुग का सूत्रपात हुआ जिसने आज के भारत की रचना की। गांधी जी देश के जीवन में नए युग के प्रवर्तक के रूप में चमक उठे। पंजाब की घटनाओं ने ब्रिटिश निरंकुशता का जो नग्न रूप प्रकट किया उसने सारे देश के कण कण को भारत की घृणित, पराधीन स्थिति का ज्ञान पूरी तरह करा दिया। चारों ओर देश में घोर असंतोष व्याप्त हो गया। धीरे धीरे देश के नेतृत्व की बागडोर गांधी जी के हाथों में आ गई। कांग्रेस ने पंजाब के हत्याकांड की जाँच के लिये एक कमेटी बनाई जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने पर उसने पंजाब में जो कुछ हुआ था उसके लिये कुछ अधिकारियों को दंड देने की माँग की। उधर सरकार ने भी जाँच कमेटी बैठाई थी जिसका परिणाम असंतोष को और बढ़ाने में भी सहायक हुआ। सरकारी जाँच कमेटी ने अधिकारियों की नीयत में कोई दोष न पाते हुए उनकी थोड़ी बहुत विवेकहीनता स्वीकार की और एक प्रकार से उन्हें निर्दोष ही सिद्ध कर देने का प्रयास किया। सन् १९१९ में अमृतसर में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ और उसमें पंजाब की घटनाओं के संबंध में कांग्रेस में जो माँग की गई, उसे स्वीकार करना तो दूर रहा, केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में इंडेम्निटी ऐक्ट बनाकर सरकारी अधिकारियों को सुरक्षा प्रदान कर दी गई।

यह स्थिति देश के लिये असह्य हो उठी। पंजाब में जो कुछ किया गया था वह न केवल अत्याचार था बल्कि सारे भारतीय राष्ट्र का उद्दंड अपमान था। गांधी जी तत्कालीन भारत की भावना और आकांक्षा की प्रतिध्वनि के रूप में राष्ट्रीय जीवन के मंच पर उतरे थे। वे देश की स्थिति से अत्यंत क्षुब्ध हुए। उधर युद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेजों ने तुर्की के खलीफा के साथ जो बर्ताव किया उससे भारत के मुसलमान बहुत ही क्रुद्ध थे। खिलाफत का प्रश्न जुड़ जाने से अब सारे देश में एक स्वर से अंग्रेजी सरकार के प्रति क्षोभ प्रकट किया जाने लगा। इस व्यापक जनजागृति और क्षोभ की प्रतिक्रिया गहरे रूप में कांग्रेस पर हुई। गांधी जी ने १ अगस्त, १९२० से व्यापक असहयोग आंदोलन आरंभ करने की घोषणा की। देश में नई जान आई और प्रचंड जन आंदोलन की भूमिका प्रस्तुत हो गई। सितंबर, १९२० में कलकत्ते में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस ने अपने विशेष अधिवेशन में गांधी जी के असहयोग के प्रस्ताव को स्वीकार किया। उसी वर्ष नागपुर में श्री विजयराघवाचारी की अध्यक्षता में कांग्रेस के साधारण वार्षिक अधिवेशन में गांधी जी के असहयोग का प्रस्ताव बड़े उत्साह के साथ बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ।

कांग्रेस का यह ऐतिहासिक नागपुर अधिवेशन कांग्रेस के जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण और बड़ा मोड़ है जिसने राष्ट्रीय जागृति को महान् भारतीय जनजीवन के मूल तक पहुँचा दिया। कांग्रेस का स्वरूप भी ऊपर से नीचे तक बदल गया। यह राष्ट्रीय संस्था अब तक मध्यम वर्ग के पढ़े लिखे और सुशिक्षित वर्गों का संगठन बनी हुई थी और इसमें अंग्रेजी भाषा के देश के हिमायतियों का ही प्राधान्य था। वही कांग्रेस अब सहसा जनसंगठन का रूप ग्रहण करने जा रही थी। कांग्रेस के विधान में भी अब परिवर्तन आवश्यक था, और परिवर्तन किया गया। उसका द्वार सबके लिये खोल दिया गया और जनवर्ग के प्रवेश के लिये मार्ग प्रस्तुत कर दिया गया। कांग्रेस का लक्ष्य शांतिमय तथा उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना घोषित किया गया। सत्य और अहिंसा पर आधारित असहयोग और सत्याग्रह को राष्ट्रीय ध्येय की पूर्ति के लिये साधन घोषित किया गया। भारत की राजनीति अब भारत के लाखों गाँवों में बसनेवाले करोड़ों किसानों और दलित प्राणियों की ओर मुड़ चली। कांग्रेस में हिंदी का समावेश हुआ, उसे राष्ट्रीय पताका मिली, तेजस्वी नेता प्राप्त हुआ। उसका ध्येय स्पष्ट हुआ, मार्ग निर्धारित हुआ और नई क्रांतिशैली तथा साधन उपलब्ध हुए। गांधी जी ने स्वदेशी के प्रयोग और चरखे की प्रतिष्ठा करके करोड़ों दलित और शोषित वर्गों के हृदय में नई आशा का संचार कर दिया। यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस के एक करोड़ सदस्य बनाए जायँ और एक करोड़ रुपया एकत्रित किया जाय जिससे कांग्रेस अपना संदेश लेकर दूर दूर तक गरीबों की झोपड़ियों में भी पहुँच सके। १९२१ में अहमदाबाद कांग्रेस ने, जिसके मनोनीत अध्यक्ष देशबंधु चित्तरंजन दास की गिरफ्तारी के कारण अध्यक्ष पद का भार हकीम अजमल खाँ ने उठाया, सामूहिक सविनय अवज्ञा आंदोलन की योजना स्वीकार की। इस प्रकार गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने उस विशाल भारतीय जन-आंदोलन का सूत्रपात किया जो कालांतर में सैकड़ों वर्षों से इस देश पर लदी हुई ब्रिटिश सत्ता का उन्मूलन करने में समर्थ हुआ। गांधी जी सदा साधन पर ही अधिक जोर दिया करते थे। उनका कहना था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन का आधार अहिंसा है जिसके बिना उसका चलाया जाना सर्वथा असंभव है। यही कारण है कि कुछ दिनों तक चलने के बाद जब गोरखपुर जिले के चौरीचौरा नामक स्थान में हिंसात्मक कार्य हो गया तो गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न होने तक के लिये स्थगित कर दिया। एक बार इससे देश का उत्साह मंद पड़ गया। सरकार ने भी आंदोलन को रुकते देखकर गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया और राजद्रोह के अभियोग में उन्हें छह वर्ष की सजा देकर जेल भेज दिया।

जब आंदोलन का पहला जोर कम हुआ, तब पुनः लोगों का ध्यान कौंसिलों में प्रवेश करके उनके माध्यम से स्वराज्य की लड़ाई जारी रखने की ओर गया। इसके लिये स्वराज्य पार्टी बनाई गई। १९२३ की कोकोनाडा कांग्रेस ने कौंसिल प्रवेश को स्वीकार कर लिया। १९२५ में कांग्रेस में दो विचारधाराएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी थीं। एक वर्ग के लोग रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास करते थे और दूसरे कौंसिलों के भीतर से संघर्ष जारी रखने में। पर १९२८ आते आते यह प्रकट हो गया कि कौंसिलों के माध्यम से विदेशी सत्ता से मुक्ति नहीं मिल सकती। देश में फिर वातावरण बदलने लगा। भारत में किस सीमा तक उत्तरदायी शासन का सिद्धांत लागू किया जाय इसकी जाँच के लिये साइमन कमीशन को यहाँ भेजने की घोषणा नवंबर, १९२७ में ब्रिटिश सरकार ने की। कांग्रेस की माँग की इससे रंचमात्र भी पूर्ति होते न देखकर कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय किया गया। फरवरी, १९२८ में जब साइमन कमीशन भारत आया तब देश भर में उसका बहिष्कार हुआ। इसी बीच कांग्रेस की ओर से भावी शासनव्यवस्था का रूप निर्धारित करने के लिये मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेहरू कमेटी की स्थापना की गई। दिसंबर, १९२८ की कलकत्ता कांग्रेस ने इस कमेटी की रिपोर्ट को स्वीकार किया और यह घोषणा की कि यदि ब्रिटिश सरकार ने एक वर्ष के भीतर इसे स्वीकार न कर लिया तो जनता को पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये करबंदी और अहिंसात्मक असहयोग आरंभ करने के लिये संघटित किया जायगा। जब ब्रिटिश सरकार ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया तो दिसंबर, १९२९ में लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी गई और निश्चय किया गया कि अब से कांग्रेस अपनी सारी शक्ति देश को हर प्रकार के विदेशी आधिपत्य से मुक्त करने में लगाएगी। लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे। इस अधिवेशन में कांग्रेस के उद्देश्य को परिवर्तित करते हुए यह घोषणा की गई कि कांग्रेस का लक्ष्य देश में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना है जिसका अर्थ ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण संबंधविच्छेद है।

इस स्वाधीनता की प्राप्ति का साधन समस्त शांतिमय और उचित उपायों का अवलंबन ही होगा। २६ जनवरी, १९३० को संपूर्ण देश में स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की गई। (यह स्वाधीनता की प्रतिज्ञा का दिवस इसके बाद प्रति वर्ष मनाया जाता रहा है और अब यही स्वाधीन भारत में गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है)।

१९२९ की घोषणा के बाद पुनः देश के वातावरण में राजनीतिक चेतना प्रकट होने लगी। जनजागृति का यह नया रूप देखकर कांग्रेस ने व्यापक विधि से सविनय अवज्ञा आंदोलन का निश्चय किया और उसके संचालन का संपूर्ण भार महात्मा गांधी को सौंप दिया। महात्मा गांधी ने नमक कानून भंग कर आंदोलन आरंभ करने का निश्चय किया और १२ मार्च, १९३० को वे स्वयं इसके लिये दांडी की ओर चल पड़े। ५ अप्रैल को समुद्र के किनारे इस स्थान पर नमक बटोरकर उन्होंने सरकारी कानून भंग किया। उसी रात गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए और इसके बाद ही संपूर्ण देश में नमक कानून का उल्लंघन, शराब और विदेशी वस्त्र की दूकानों पर धरना आदि के रूप में आंदोलन फैल गया। जितना व्यापक आंदोलन था उतना ही उग्र सरकार का दमनचक्र चला। किंतु कांग्रेस की उपेक्षा करके भारत के प्रश्न का निपटारा करने के प्रयत्नों में असफल होने के बाद ब्रिटिश सरकार का रुख बदला। कांग्रेस के नेता जेलों से रिहा कर दिए गए। मार्च, १९३१ में गांधी जी और तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन के बीच समझौता हुआ। मार्च में ही कराची में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन की विशेषता उस प्रस्ताव के कारण है जिसे कांग्रेस ने देश के भावी आर्थिक ढाँचे को निर्धारित करते हुए जनता के मौलिक अधिकारों की घोषणा के रूप में स्वीकार किया। इस प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह देश की कोटि कोटि भूखी नंगी जनता के लिये ही स्वराज्य के संघर्ष का संचालन कर रही है। इसमें प्रथम बार कांग्रेस ने मौलिक अधिकारों का प्रस्ताव स्वीकार करके यह घोषणा की कि स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस के मत से देश के नागरिकों के क्या अधिकार होंगे।

प्रकट रूप से समझौता करने पर भी सरकार ने अपनी नीति वास्तव में बदली नहीं और समझौते की शर्तों का बराबर उल्लंघन होता रहा। गांधी जी गोलमेज संमेलन में संमिलित होने के लिये लंदन गए। पर वहाँ भी हरिजनों, मुसलमानों आदि के प्रश्न को लेकर नई समस्याएँ खड़ी की गई। गांधी जी के स्वदेश लौटने से पहले ही कांग्रेस के बड़े बड़े नेता फिर जेलों में बंद कर दिए गए। कांग्रेस को पुनः असहयोग आंदोलन आरंभ करना पड़ा। १९३२-३३ में जेलें सत्याग्रहियों से भर गईं। गांधी जी ने जेल में ही हरिजनों की समस्या को लेकर अनशन आरंभ किया और सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। सविनय अवज्ञा आंदोलन का जोर समय बीतने के साथ कम होता देखकर गांधी जी ने उसे वापस ले लिया। सरकार ने इसमें अपनी विजय देखी और यह सिद्ध करने के लिये कि कांग्रेस का प्रभाव समाप्त कर दिया गया है, नवंबर, १९३४ में केंद्रीय असेंबली का चुनाव कराने की घोषणा की। कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया, वह चुनाव में संमिलित हुई और विदेशी सरकार की आशा के प्रतिकूल उसे सफलता प्राप्त हुई।

इसके बाद १९३५ के इंडिया ऐक्ट के अनुसार कांग्रेस ने प्रांतों के निर्वाचन में भाग लिया और आठ प्रांतों में उसे बहुमत प्राप्त हुआ। बहुमत-वाले प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय किया गया और जुलाई, १९३७ में मंत्रिमंडल बने। इंडिया ऐक्ट की सीमित परिधि में भी मंडलों के कार्यों में बाधाएँ आती रहीं, पर द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने तक कोई ऐसा बड़ा संकट, जो इन सीमित अधिकारों के मंत्रिमंडलों का ससंमान चलना असंभव कर दे, उपस्थित नहीं हुआ। १ सितंबर, १९३९ को हिटलर के पोलैंड पर आक्रमण करने पर द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हुआ और ब्रिटिश सरकार ने भारत की केंद्रीय धारा सभा और प्रांतों के मंत्रि-मंडलों की उपेक्षा कर यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध इस युद्ध में स्वेच्छा से संमिलित है। कांग्रेस फासिस्तवाद का विरोध आरंभ से करती आई थी, पर देश के प्रतिनिधियों की उपेक्षा करके उसे युद्ध में संमिलित घोषित करने की नीति का उसने विरोध किया। युद्ध-कालीन संकट के नाम पर वाइसराय और गवर्नरों का हस्तक्षेप भी अत्यधिक होने लगा था। फलतः २२ अक्टूबर, १९३९ को कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया। जगत् की बदलती हुई राजनीतिक स्थिति में मंत्रिमंडलों की परिधि से बाहर आकर कांग्रेस के लिये चुपचाप बैठना संभव नहीं था। फलतः १५ सितंबर, १९४० को कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का निश्चय किया और १० अक्टूबर, १९४० से व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ हो गया। अक्टूबर, १९४१ तक यह सत्याग्रह पूरे वेग से चला। बाद में बदली हुई युद्धस्थिति के कारण कांग्रेस ने पुनः स्थिति का सिंहावलोकन किया। जापान के युद्ध में आ जाने से भारत के लिये बाहरी आक्रमण का भी संकट उपस्थित हो गया था। भारत का सामरिक महत्व देखकर ब्रिटिश सरकार के सहयोगी राष्ट्र भी उसपर समस्या का समाधान करने के लिये जोर डालने लगे थे।

मार्च, १९४२ के अंत में सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि बन भारतीय नेताओं से परामर्श करने के लिये दिल्ली आए। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव में कांग्रेस की माँग स्वीकार नहीं की गई थी और ऐसी बातों का उल्लेख हुआ था जो यदि स्वीकार कर ली जातीं तो भारत के अनेक टुकड़े हो जाते। जो तात्कालिक संकट देश के सामने उपस्थित था उसका सामना करने के लिये भारत को कोई अधिकार नहीं मिल रहे थे। फलतः क्रिप्स की यात्रा का कोई परिणाम नहीं निकला। इतना अवश्य स्पष्ट हो गया कि भारत को अधिकार देने के बदले ब्रिटिश सरकार उसे जापानी आक्रमण के सामने अरक्षित छोड़ सकती है। बर्मा से हटने तथा भारत के पूर्वी भागों को खाली करने की योजना से यह प्रकट था। कांग्रेस इस स्थिति की निरपेक्ष दर्शक नहीं बन सकती थी। इस देश में अंग्रेजों की उपस्थिति से, भारत पर बाहरी आक्रमण की अधिक आशंका थी। अधिकारों से वंचित होने के कारण भारतवासी अपने देश की रक्षा करने में असमर्थ थे। अतः गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' का नारा लगाया, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस अंग्रेजों से जब हटने के लिये कह रही है तब उनके स्थान पर किसी अन्य का स्वागत नहीं करेगी। प्रत्येक आक्रमणकारी का सामना किया जायगा। कांग्रेस ने देश में बढ़ते हुए असंतोष को संघटित किया और 'भारत छोड़ो' आंदोलन आरंभ करने का निश्चय करने के लिये ७ अगस्त, १९४२ से बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। ब्रिटिश सरकार क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद से ही दमन की पूरी तैयारी कर चुकी थी। अतः ९ अगस्त, १९४२ को प्रातःकाल बंबई में ही गांधी जी तथा अन्य प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिए गए और कांग्रेस संघटन गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। इसके साथ ही देश में व्यापक आंदोलन आरंभ हो गया। यह अवसर था जब कांग्रेस के उच्च नेताओं की गिरफ्तारी के बाद जनता ने अपने हाथ में नेतृत्व ले लिया।

कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य अहमदनगर के किले में बंद थे और गांधी जी पूना स्थित आगा खाँ महल में। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को बदनाम करने के लिये उसके नेताओं की अनुपस्थिति में जो प्रचार आरंभ किया, उसका गांधी जी ने जेल से ही पत्रव्यवहार में विरोध किया। इस प्रकार यहाँ जनता बाहर संघर्षरत थी, भीतर बंद होने पर भी नेतागण अपना कार्य करते जा रहे थे। फरवरी, १९४३ में गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार के मिथ्या आरोपों का खंडन करने के लिये कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों से न मिलने देने के विरोध में २१ दिन का अनशन किया। अप्रैल, १९४४ में गांधी जी जेल में बीमार पड़े और उनकी दशा चिंताजनक देखकर ६ मई, १९४४ को उन्हें रिहा कर दिया गया। छूटते ही गांधी जी ने यह घोषित किया कि ८ अगस्त, १९४२ के प्रस्ताव का सविनय अवज्ञा संबंधी अंश अब स्वतः समाप्त हो गया है क्योंकि १९४४ में हम १९४२ को वापस नहीं ला सकते। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि प्रस्ताव का शेष अंश, जो राष्ट्रीय माँग से संबंधित है, यथावत् विद्यमान है। रिहा होते ही गांधी जी ने सांप्रदायिक एकता के लिये भी प्रयत्न किया, जो सदा से कांग्रेस का ध्येय रहा है। सितंबर, १९४४ में वे मुस्लिम लीग के नेता

श्री मुहम्मद अली जिन्ना से भी मिले। पर यह वार्ता लीग की नीति के कारण सफल नहीं हो सकी।

इस बीच यूरोप में युद्ध की स्थिति बदल चली थी और अंग्रेजों के पक्ष को सफलताएँ प्राप्त होने लगी थीं। अतः विश्व के समक्ष भारतीय नेताओं को अनिश्चित अवधि तक बंद रखने का औचित्य सिद्ध करना ब्रिटिश सरकार के लिये कठिन हो गया। फलतः मार्च, १९४५ में वाइसराय को वार्ता के लिये लंदन बुलाया गया और लौटने पर लार्ड वेवल ने १४ जून, १९४५ को ब्रिटिश सरकार की भारत संबंधी नीति की घोषणा की तथा १५ जून, १९४५ को कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य भी जेल से रिहा कर दिए गए।

वाइसराय ने जो घोषणा की उसके अनुसार २५ जून, १९४५ से शिमला में राजनीतिक नेताओं का संमेलन आरंभ हुआ। पर ब्रिटिश सरकार तथा मुसलिम लीग की नीति के कारण वह सफल नहीं हो सका और जुलाई, १९४५ के मध्य में इसकी असफलता की घोषणा कर दी गई।

७ मई, १९४५ को जर्मनी के बिना शर्त आत्मसमर्पण करते ही द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया। ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ और उसमें श्री चर्चिल के कंज़रवेटिव दल के स्थान पर मजदूर दल को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। मजदूर सरकार ने भारत में भी नए चुनाव कराने की घोषणा की और कांग्रेस संघटन से प्रतिबंध हटा लिया। सितंबर, १९४५ में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। भारत की स्थिति का अध्ययन करने के लिये दिसंबर, १९४५ में ब्रिटेन से पार्लमेंट के सदस्यों का एक प्रतिनिधिमंडल भारत भेजा गया। १५ फरवरी, १९४६ को लंदन में यह घोषणा की गई कि भारतीय शासनविधान के निर्माण के संबंध में नेताओं से विचार विनिमय करने के लिये ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों का एक मिशन भारत आएगा। २३ मार्च, १९४६ को इस मिशन के सदस्य भारत पहुँचे। लगभग तीन महीने यह मंत्रिमिशन इस देश में रहा और उसने अलग अलग तथा संमिलित रूप से भारतीय नेताओं से बात की। १६ जून, १९४६ को इस मंत्रिमंडल ने भारत के राजनीतिक भविष्य के संबंध में घोषणा की और अंतरिम सरकार की स्थापना की चर्चा की। पर्याप्त विचार विमर्श के उपरांत कांग्रेस ने अंतरिम सरकार में संमिलित होना स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग आरंभ में उसमें संमिलित नहीं हुई।

२ सितंबर, १९४६ को अंतरिम नेहरू सरकार का जन्म हुआ। कांग्रेस और वाइसराय दोनों की इच्छा थी कि लीग भी अंतरिम सरकार और ब्रिटिश घोषणा के अनुसार बननेवाली संविधान परिषद्, दोनों में, सहयोग की भावना से संमिलित हो। १५ अक्टूबर, १९४६ को लीग भी अंतरिम सरकार में तो संमिलित हो गई, पर उसने अलग पाकिस्तान की स्थापना की माँग जारी रखी। सरकार में संमिलित होने के बाद उसके प्रतिनिधि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये गुप्त और प्रकट रूप से कार्य करते रहे। देश में दंगे हुए और संमिलित रूप से शासन का संचालन असंभव हो गया। अंत में ३ जून, १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने एक और योजना की घोषणा की जिसमें विभाजन के बाद भारत को सत्ता हस्तांतरित करने का अपना निश्चय बताया। ४ जुलाई, १९४७ को ब्रिटिश पार्लमेंट में एक बिल पेश हुआ जो 'इंडियन इंडिपेंडेंस ऐक्ट. १९४७' कहलाता है। इसमें भारत को दो भागों में विभाजित करके १५ अगस्त, १९४७ को सत्ता हस्तांतरण की व्यवस्था की गई।

१४ अगस्त, सन् १९४७ को अर्धरात्रि के बाद, अंग्रेजी गणना के अनुसार १५ अगस्त का प्रारंभ हुआ और ठीक उसी समय लार्ड माउंटबैटन के द्वारा तत्कालीन भारत की अंतरिम सरकार के प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू को ब्रिटिश सत्ता सौंप दी गई। १४ अगस्त, १९४७ को रात के १२ बजे तक, ३५ करोड़ नरनारियों से भरा जो देश सदियों से गुलाम था, वह १२ बजते ही स्वाधीन हो गया। १८५७ में जिस क्रांति का सूत्रपात हुआ और १८८५ में जन्म ग्रहण कर राष्ट्रीय चेतना की जिस बागडोर को कांग्रेस ने अपने हाथों में लिया वह ९० वर्ष का क्रांतियुग सन् १९४७ में समाप्त हुआ। कांग्रेस का लक्ष्य सिद्ध हुआ और कई सौ वर्षों के बाद भारत की जनता ने स्वतंत्रता की आबहवा में साँस ली। सन् १८८५ में पैदा हुआ छोटा सा संगठन एक ऐसी बलवती संस्था के रूप में बढ़ा जो भारत की विशाल जनता की इच्छाओं और भावनाओं का प्रतीक बनने में सफल हुई। स्वराज्य के जिस लक्ष्य को दादाभाई नौरोजी ने पहले पहल घोषित किया, लोकमान्य तिलक ने जिसे देश का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित करके सप्राण बनाया, उसी की संसिद्धि कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में प्राप्त की। स्वयं इस संस्था में आत्मनिर्भरता और राष्ट्राभिमान भरकर गांधी जी ने उसे भारत की प्रतिनिधि संस्था बनाया। १५ अगस्त, १९४७ को वह अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हुई और स्वतंत्र भारत की जनता की सेवा में अपने को उत्सर्ग कर देने की दूसरी प्रतिज्ञा लेकर अग्रसर हुई।

भारत की स्वतंत्रता के साथ साथ देश पर विपत्ति के बादल भी मँडराए। एक ओर स्वाधीनता मिली, दूसरी ओर भारत का विभाजन हुआ। देश के लिये विभाजन का परिणाम बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। उत्तर भारत के बहुत बड़े हिस्से में सांप्रदायिक दंगों, हत्याओं, लूटपाट और खूनखराबी से तबाही आ पड़ी। लाखों लोग बेघरबार के हुए। प्रदेश के प्रदेश उजड़ गए और न जाने कितनों ने अपनी जान गँवाई। भाई ने भाई के खून से देश को रँग डाला और ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्वतंत्रता का बीज, जो अभी अभी बोया गया है, अंकुरित होने से पूर्व ही झुलस कर राख हो जायगा। बड़ी कठिनाई से इस रक्तपात को रोका गया। इस कठिन समय में भी कांग्रेस ने अपनी राष्ट्रवादिनी प्रवृत्ति का सुंदर परिचय दिया और दृढ़तापूर्वक उसने राष्ट्रीयता की डगमगाती नैया की पतवार पकड़े रखी। इस समय कांग्रेस और देश को जो बड़ा भारी बलिदान करना पड़ा उसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती। गांधी जी ने सांप्रदायिकता के इस जहर को शांत करने में अपने प्राणों की आहुति दे डाली। उन्होंने दासता से निकालकर हमें स्वतंत्र बनाया था। राष्ट्र को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने में सफलता प्राप्त की थी। अहिंसा, प्रेम और राष्ट्रीयता के अपने आदर्श के लिये उन्होंने अपना बलिदान किया और संकटकाल में कांग्रेस उनके लोकोत्तर नेतृत्व से वंचित हो गई।

देश एक बार पुनः दुःख और निराशा के गर्त में जा गिरा। पर कांग्रेस का सुदृढ़ नेतृत्व पुनः उसकी सहायता और सेवा करने में समर्थ हुआ। कांग्रेस ने स्वाधीनता की अपनी पुरानी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के बाद; देश के लिये अपने दूसरे दायित्व को पूरा करने का कदम उठाया। सदा से यह राष्ट्रीय संस्था देश की गरीबी, अज्ञता और शोषण तथा विषमता मिटाने की चेष्टा करती रही है। स्वतंत्रता की प्राप्ति तो हो गई, पर देश को सुखी एवं संपन्न करने का महान् कार्य अभी बाकी बड़ा था। गांधी जी के नेतृत्व के अभाव में यद्यपि इस भार को उठाना उसके लिये कठिन हो रहा था, तथापि आत्मविश्वास और सेवा के जिस मंत्र से गांधीजी ने उसे अनुप्राणित किया था, उनके उसी संदेश ने उसे बल प्रदान किया। सत्ता हस्तांतरित करते हुए भारत का भावी संविधान बनाने के लिये संविधान परिषद् की स्थापना की योजना तैयार की गई थी। कांग्रेस का सदा से यह मत था कि स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने के लिये संविधान परिषद् ही उपयुक्त प्रकार हो सकता है। सन् १९३६ में लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "हमारा संविधान बनाने के लिये संविधान सभा ही एकमात्र उचित और लोकतंत्रीय ढंग हो सकता है।" तब से कांग्रेस बराबर इस निश्चय को दोहराती आई थी।

१६ मई, १९४६ को ब्रिटेन के मंत्रिमंडल कमीशन ने जो घोषणा की थी उसमें भारत का संविधान बनाने के लिये संविधान परिषद् का उल्लेख किया गया था। फलतः संविधान परिषद् की प्रथम बैठक ९ दिसंबर, १९४६ को हुई। १५ नवंबर, १९४९ को संविधान स्वीकृत हुआ और इसके द्वारा भारत सर्वप्रभुतासंपन्न स्वतंत्र गणराज्य घोषित किया गया। २६ जनवरी, १९५० को हमारा यह संविधान लागू कर दिया गया। २६ जनवरी, १९३० को जिस स्वाधीनता की घोषणा कांग्रेस ने की थी, सन् १९५० के उसी २६ जनवरी को स्वतंत्र भारतीय गणराज्य का जन्म हुआ। इस बीच जहाँ एक ओर लाखों शरणार्थियों को पुनः बसाने और शांति स्थापित करने का कार्य हो रहा था, वहीं दूसरी ओर दृढ़तापूर्वक भारत की एकता की नींव डाली जा रही थी। भारत के सैकड़ों देशी रजवाड़ों के राज्य धीरे धीरे विशाल भारतीय संघ में विलीन किए गए।

आश्चर्य यह है कि अपने ढंग का यह अनूठा विलीनीकरण कांग्रेस के नेतृत्व में बनी हुई केंद्रीय सरकार ने शांति और सहयोग के साथ कर डाला। स्वतंत्र भारत में कांग्रेस के सामने नवीन लक्ष्य स्थापित करने का प्रश्न भी उपस्थित था। पहले यह निश्चय किया गया कि शांति और वैध उपायों से भारत की कोटि कोटि भूखी एवं नंगी जनता के लिये सहकारिता के आधार पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना कांग्रेस का लक्ष्य है। आगे चलकर इसी लक्ष्य की निश्चित और सही सही व्याख्या की गई। १६५५ में आवडी में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें स्पष्ट रूप से यह घोषणा की गई कि कांग्रेस देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना अपना लक्ष्य निर्धारित करती है। समाजवाद के साथ साथ वह लोकतांत्रिक शासनव्यवस्था में विश्वास करती है और नए सिरे से यह एलान करती है कि उक्त लक्ष्य की सिद्धि का उसका साधन शांतिमय होगा। फलतः कांग्रेस ने अपनी मौलिक प्रवृत्ति को प्रकट किया। प्रजातांत्रिक, समाजवादी शासनव्यवस्था उसका लक्ष्य है और शांतिमय तथा विधेय मार्ग उसके साधन है। राष्ट्र की एकता और असांप्रदायिक हुकूमत वह आधार है जिसपर नवीन भारत के निर्माण का प्रयत्न करने का उसने निश्चय किया एवं जिस संविधान की रचना हुई उसकी प्रस्तावना में कांग्रेस की इन्हीं मूल प्रवृत्तियों का समावेश किया गया।

संविधान की भूमिका में कहा गया : "हम भारत के लोग, भारत को प्रभुतासंपन्न, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तथा न्यायविचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करने के लिये तथा अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये और व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता के लिये पारस्परिक बंधुभाव बढ़ाने के हेतु दृढ़संकल्प होकर अपने संविधान को अंगीकार करते है और आत्मार्पित करते है।" इस प्रकार नए भारत और उसके भविष्य की कल्पना का जन्म हुआ।

सन् १६५१-५२ में संपूर्ण भारत में नवीन संविधान के अनुसार प्रथम आम चुनाव हुए। संसार में कहीं भी, इससे पूर्व इतने बड़े पैमाने पर लोकतंत्रात्मक ढंग से ऐसा चुनाव नहीं हुआ था। भारत के लगभग १६ करोड़ बालिग स्त्री पुरुषों को, बिना किसी भेदभाव के, इस चुनाव में मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। कांग्रेस ने भी चुनाव में भाग लिया और जनता ने उसे बहुत बड़ी विजय प्रदान कर उसके प्रति अपने विश्वास की घोषणा की। नए आम चुनाव के बाद देश में स्थिरता आई। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में केंद्र की सरकार ने भारत की अनेक समस्याओं का समाधान करने के लिये नियोजित कदम उठाने का निश्चय किया। कांग्रेस ने अपने प्रस्तावों द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं की रूपरेखा स्थिर की और इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रचालित हुई। ११ मार्च, सन् १६५६ को प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति हुई तथा दूसरी पंचवर्षीय योजना का प्रारंभ हुआ। दूसरी पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने पर तृतीय योजना का आरंभ सन् १६६१ के मार्च से हुआ। पंचवर्षीय योजनाओं का यह क्रम अभी तक जारी है।

सन् १६५७ में दूसरा आम चुनाव हुआ जिसमें पुनः कांग्रेस के प्रति भारतीय राष्ट्र ने अपना विश्वास प्रकट करके उसे केंद्र में और प्रायः सभी राज्यों में बहुमत प्रदान किया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफल समाप्ति ने देश की चतुर्मुखी उन्नति के लिये नींव रखी। तीसरे आम चुनाव का समय निकट आने के साथ तृतीय पंचवर्षीय योजना प्रारंभ हुई। (क० त्रि०)

सन् १६६२ ई० में तीसरा आम चुनाव हुआ जिसमें केंद्र और लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस की ही विजय हुई। सन् १६६७ ई० में हुए आम चुनाव में यद्यपि कांग्रेस को केंद्र में स्पष्ट बहुमत मिला, तथापि कई राज्यों में उसे असफलता का मुँह देखना पड़ा और नौ राज्यों में या तो संविद (संयुक्त विधायक दल) सरकारें बनीं या अन्य राजनीतिक दलों ने अपनी सरकारें बनाईं। लेकिन संविद सरकारें स्थायी प्रशासन न दे सकीं और आपसी मतभेद के कारण शीघ्र ही टूट गई। सन् १६६६ ई० के दौरान कांग्रेस में आंतरिक विघटन हुआ और वह दो दलों में विभाजित हो गई। हुआ यह कि जून, १६६८ ई० को कांग्रेस महासमिति के बँगलौर अधिवेशन में राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के चुनाव को लेकर प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी और तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा तथा दोनों के समर्थकों के बीच सीधा टकराव हुआ। दल के संसदीय बोर्ड ने १३ जून को, श्रीमती गांधी के विरोध के बावजूद, लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री नीलम संजीव रेड्डी को दो के विरुद्ध चार मत से कांग्रेस प्रत्याशी चुना।

१६ अगस्त, १६६६ ई० को हुए राष्ट्रपति के चुनाव में श्रीमती गांधी और उनके समर्थकों ने 'अंतरात्मा की आवाज' के आधार पर श्री वराह वेंकट गिरि को मत दिए और श्री गिरि विजयी रहे। श्री निजलिंगप्पा और उनके गुट ने इस कार्य को अनुशासन भंग की गंभीर कार्यवाही माना और कार्यसमिति की अगली बैठक से एक रात पूर्व श्री जगजीवनराम, श्री फखरुद्दीन अली अहमद तथा तीन में से एक महासचिव डा० शंकरदयाल शर्मा को कांग्रेस कार्यसमिति की सदस्यता से अलग कर दिया। श्रीमती गांधी ने उसी रात अपने समर्थक नेताओं की एक बैठक बुलाकर कार्यसमिति की बैठक अपने निवासस्थान पर उसी समय करने की घोषणा की। इस प्रकार अगले दिन एक ही समय कार्यसमिति की दो समानांतर बैठकें हुईं—एक दल के मुख्यालय पर श्री निजलिंगप्पा की अध्यक्षता में हुई जिसमें कार्यसमिति के २१ सदस्यों में से ११ ने भाग लिया और दूसरी प्रधान मंत्री निवास पर श्रीमती गांधी के सभापतित्व में हुई जिसमें शेष १० सदस्य उपस्थित थे। प्रधान मंत्री और उनके समर्थकों ने २३ तथा २४ नवंबर, १६६६ ई० को महासमिति की विशेष बैठक में श्री निजलिंगप्पा और उनकी कार्यसमिति के सभी सदस्यों को कांग्रेस से निकाल दिया तथा उनके द्वारा की गई अनुशासनात्मक कार्रवाई रद्द कर दी। इसके बाद कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई; 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' तथा 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगठन कांग्रेस'।

कांग्रेस के विभाजन के बाद अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसे सामान्यतः कांग्रेस के नाम से जाना जाता है, सत्ता में रही। उसने राजाओं के 'प्रिवी पर्स' बंद कर दिए तथा देश के प्रमुख १४ बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने उक्त मामलों में प्रशासन के विरुद्ध निर्णय दिया। अतः १६७० ई० में लोकसभा भंग कर दी गई और १६७१ ई० के मध्यावधि लोकसभा चुनाव में कांग्रेस ने भारी बहुमत से विजय प्राप्त की। उसे ५२१ में से ३५० स्थान मिले। नवनिर्वाचित लोकसभा ने देश में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिये संविधान में संशोधन किए जिससे 'प्रिवी पर्स' व्यवस्था की समाप्ति और बैंकों का राष्ट्रीयकरण संभव हो सका। (कैं० चं० श०)

कांचीपुरम् मद्रास नगर से ४५ मील दूर पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम में अरक्कोणम् तथा चिंगलपेट को मिलानेवाली रेलवे लाइन पर स्थित है। (स्थिति १२° ५०' उ० अ०, ७६° ४२' पू० दे०)। इस नगर को कांची या कांजीवरम् भी कहते है। यह दक्षिणी भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नगरों में से एक है और पल्लव राजाओं की राजधानी रह चुका है। चीन का प्रसिद्ध यात्री युवान च्वाङ भी सातवीं शताब्दी में इस नगर में आया था। उसके कथनानुसार यह उस समय शिक्षा, न्याय, वीरता इत्यादि का केंद्र था और छह मील के घेरे में फैला हुआ एक बड़ा नगर था। उपर्युक्त यात्री के समय यहाँ पर जैनियों का काफी प्रभाव था तथा ब्राह्मण एवं बौद्ध अल्पसंख्या में थे। पिछले दोनों धर्मों का प्रभाव लगभग समान था। यह नगर चोल वंश की भी राजधानी उस समय तक बना रहा जब तक मुसलमानों ने इसपर सन् १३१० ई० में आक्रमण कर अपने अधीन नहीं कर लिया। इसके उपरांत यह नगर विजयनगर राज्य की बढ़ती हुई शक्ति का भी शिकार बना; परंतु इनका आधिपत्य बहुत अधिक समय तक न रह सका और मुसलमान राजाओं ने इसपर पुनः सन् १६४६ ई० में अपना आधिपत्य जमा लिया। कुछ वर्षों के लिये इसपर मराठों का भी अधिकार हो गया था, परंतु शीघ्र ही औरंगजेब के सैनिकों ने इसे जीत लिया। मुगलों ने इसको सन् १७५२ ई० तक अपने अधीन रखा। इसी वर्ष लार्ड क्लाइव ने इसको ईस्ट इंडिया कंपनी के

अधिकार में ले लिया। अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों में कालांतर में इसके लिये दो दो, एक एक साल के वाद आपस में काफी छीना झपटी होती रही। इस प्रकार औरंगजेब के हाथों से निकल जाने के बाद यह नगर अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के प्रलोभन का विशेष केंद्र बना रहा।

यह नगर हिंदुओं का दक्षिणी भारत स्थित प्रमुख तीर्थस्थान है। यह भारत के सात मोक्षदायी नगरों में से एक है तथा मंदिरों और पवित्र समाधि स्थलों से भरा पड़ा है। यहाँ अत्यंत पुराना जैनियों का प्रसिद्ध मंदिर तिरुप्परुत्तिकुनरम् नामक वस्ती से दो मील दूर दक्षिण की दिशा में स्थित है जिसको पिल्लापलैयम् कहते हैं। इसका कलात्मक निर्माण, पत्थर पर की गई कारीगरी, मंदिरों की चित्रकारी तथा रँगाई दर्शनीय है। इसका निर्माण चोलवंश के राजाओं ने उस समय कराया था जब यह राज्य उन्नति की पराकाष्ठा पर था। विजयनगर राज्य द्वारा इन कलात्मक मंदिरों तथा अन्य दर्शनीय स्थलों का जीर्णोद्धार कराने तथा नवीन मंदिरों के निर्माण कार्य के लिये १४वीं, १५वीं तथा १६वीं शताब्दियों में यथेष्ट धन व्यय किया गया। यहाँ के विष्णु तथा शिवमंदिरों का निर्माण पल्लव राजाओं ने कराया था। यहाँ कामकोटि पीठ है जो चार शंकराचार्य पीठों में नहीं है, वल्कि पाँचवीं पीठ है। शंकराचार्य ने यहाँ एक विद्यालय की स्थापना भी की थी।

विजयनगर राज्य के सबसे प्रवल राजा श्री कृष्णदेव ने अपने समय में दो बड़े मंदिरों का निर्माण कराया था। इन मंदिरों के अतिरिक्त बहुत से छोटे छोटे समाधिस्थल तथा विश्रामगृहों का निर्माण भी इसी वंश के राजाओं ने कालांतर में कराया। यहाँ का सबसे बड़ा मंदिर बहुत ही सुंदर कंगूरों से मुसज्जित है। इसमें एक बहुत बड़ा कमरा है जिसमें ५४० अलंकृत स्तंभ, अच्छे अच्छे ओसारे तथा सरोवर भी हैं, इन सबका निर्माण किसी व्यवस्थित योजना के अनुसार नहीं हुआ है। इसकी क्रमहीन बनावट के विषय में फ़र्गुसन नामक एक विद्वान् ने कहा है, "मंदिरों के सभी कंगूरे एक दूसरे के सामने नहीं हैं। इसकी दीवारें आपस में एक दूसरे के समांतर नहीं हैं और वे साधारणतः समकोण पर भी नहीं मिलतीं।"

कांचीपुरम् को सन् १८६६ ई० में नगरपालिका का रूप दिया गया, जिसकी आय प्रधानतः मकानों तथा भूमिकरों द्वारा होती थी। सन् १८९५-९६ में यहाँ पर जलदायगृह (वाटर वर्क्स) की व्यवस्था की गई जो दो वर्षों में अर्थात् सन् १८९८ ई० में २,५६,००० रुपए की लागत से बनकर तैयार हुआ। यहाँ जल की प्राप्ति वेगवती नदी के सहायक एक सोते से होती है। यहाँ की सूती तथा रेशमी साड़ियाँ सुप्रसिद्ध हैं।

(व० सिं०)

कांट, इमानुएल (१७२४-१८०४) जर्मन वैज्ञानिक, नीतिशास्त्री एवं दार्शनिक। उसका वैज्ञानिक मत 'कांट-लाप्लास' परिकल्पना (हाइपॉथेसिस) के नाम से विख्यात है। उक्त परिकल्पना के अनुसार संतप्त वाष्पराशि नेबुला से सौरमंडल उत्पन्न हुआ। कांट का नैतिक मत 'नैतिक शुद्धता' (मॉरल प्योरिज़्म) का सिद्धांत, 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' का सिद्धांत अथवा 'कठोरतावाद' (रिगॉरिज़्म) कहा जाता है। उसका दार्शनिक मत 'आलोचनात्मक दर्शन' (क्रिटिकल फ़िलॉसफ़ी) के नाम से प्रसिद्ध है।

वह जर्मनी के पूर्वी प्रशा प्रदेश के अंतर्गत, कोनिग्ज़वर्ग नगर में घोड़े का साधारण साज बनानेवाले के घर २२ अप्रैल, सन् १७२४ ई० को पैदा हुआ था। उसकी प्रारंभिक शिक्षा अपनी माता की देखरेख में हुई थी, जो अपने समय के 'पवित्र मार्ग' (पायटिज़्म) नामक धार्मिक आंदोलन से बहुत प्रभावित थी। अतएव, अल्पायु में ही वह धर्मानुमोदित आचरण, सरल, सुव्यवस्थित एवं अध्यवसायपूर्ण जीवन में रुचि रखने लगा था। १६ वर्ष की आयु में, 'कॉलेजियम फ़्रीडेरिकियेनम' की शिक्षा समाप्त कर, वह कोनिग्ज़वर्ग के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ, जहाँ छह वर्ष (१७४६ ई० तक) उसने भौतिकशास्त्र, गणित, दर्शन एवं धर्मशास्त्र का अध्ययन किया।

विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद कांट नौ वर्षों के लिये, कोनिग्ज़वर्ग से ६० मील दूर, जुड्स्केन (Judschen) नामक गाँव में चला गया। वहाँ वह दो तीन परिवारों में अध्यापन कार्य कर अपनी जीविका चलाता और भौतिकशास्त्र तथा दर्शन में स्वाध्याय करता रहा। इस बीच उसके बहुत से लेख तथा लघुग्रंथ प्रकाशित हुए, जिनमें से दो—'जीवित शक्तियों के उचित अनुमान पर विचार' (थाट्स अपॉन द ट्रू एस्टिमेशन ऑव लिविंग फ़ोर्सेज़, १७४७ ई०) तथा 'सामान्य प्राकृतिक इतिहास एवं आकाश-संबंधी सिद्धांत' (जनरल नैचुरल हिस्ट्री ऐंड थ्योरी ऑव हेवेन, १७५५ ई०) विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम प्रकाशन में उसने रीने द कार्त्त (१५९६-१६५० ई०) तथा गॉटफ़्रीड विल्हेल्म लीवनित्स (१६४६-१७१६ ई०) के सत्ता संवंधी विचारों का तथा दूसरे में न्यूटन तथा लीवनित्स के यांत्रिक एवं प्रयोजनतावादी विचारों में समन्वय करने का प्रयत्न किया था। उसने 'डाक्टर लेजेंस' की उपाधि के निमित्त आवश्यक प्रवंध भी १७५५ ई० में प्रस्तुत कर दिया था और कोनिग्ज़वर्ग विश्वविद्यालय ने उसे उक्त उपाधि प्रदान कर उसकी योग्यता प्रमाणित की थी। किंतु उसकी व्यक्तिगत समस्याओं में कोई परिवर्तन न हुआ। विश्वविद्यालय ने उसके नौ वर्ष के परिश्रम से प्रसन्न होकर उसे विशिष्ट व्याख्याता (प्राइवेट डोज़ेंट) नियुक्त कर लिया था, किंतु इस कार्य के लिये उसे वेतन कुछ भी नहीं मिलता था।

कांट ने, विषम परिस्थितियों के बावजूद, १७६६ ई० तक विश्वविद्यालय की अवैतनिक रूप से सेवा की। १७५८ ई० में उसने तर्क और दर्शन के मुख्य अध्यापक पद के लिये प्रार्थना की थी, किंतु वह असफल रहा। १७६६ ई० में उसे अध्यापन के साथ साथ सहायक पुस्तकालय प्रवंधक भी नियुक्त किया गया और अब उसे दस पौंड वार्षिक वेतन मिलने लगा। चार वर्षों तक कांट ने इस रूप में भी कार्य किया, किंतु उसने अध्ययन, चिंतन और लेखन कार्य जारी रखा। 'प्राइवेट डोज़ेंट' नियुक्त होने के बाद से १७७० ई० तक उसके पाँच प्रकरण ग्रंथ प्रकाशित हुए—(१) 'न्याय के चार आकारों की मिथ्या सूक्ष्मता' (ऑन द फ़ाल्स सट्लिटी ऑव द फ़ोर सिलोजिस्टिक फ़िगर्स, १७६२), (२) 'दर्शन में अभावात्मक परिमाण की धारणा के समावेश का प्रयत्न' (अटेंप्ट टु इंट्रोड्यूस द नोशन ऑव नेगेटिव क्वांटिटी इंटु फ़िलॉसफ़ी, १७६३), (३) 'ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण' (ओन्ली पॉसिव्ल् प्रूफ़ ऑव द एग्ज़िस्टेंस ऑव गॉड, १७६३), (४) 'दर्शन के स्वप्नों द्वारा आत्मवादी के स्वप्नों की व्याख्या' (ड्रीम्स ऑव ए स्पिरिचुअलिस्ट एक्स्प्लेंड वाइ द ड्रीम्स ऑव मेटाफ़िज़िक, १७६६), (५) 'देश की वस्तुओं के भेद के प्रथम आधार पर' (ऑन द फ़र्स्ट ग्राउंड ऑव द डिस्टिंक्शन ऑव ऑब्जेक्ट्स् इन स्पेस, १७६८)।

उपर्युक्त ग्रंथों के शीर्षकों से पता चलता है कि १७५५ और १७७० ई० के वीच का समय कांट के विचारों के निर्माण का था। सन् १७७० ई० में प्रकाशित लातीनी स्थापनालेख (डिज़र्टेशन)—'संसार की समझ और बुद्धि के आकार एवं सिद्धांत' (दी मुंदी सेंसिबिलिस एत इंतेलीजिबिलिस फ़ार्मा एत प्रिंसिपिइस) से उसका चिंतन व्यवस्थित रूप में विकसित होता दिखाई देता है। इसी वर्ष, वह कोनिग्ज़वर्ग विश्वविद्यालय में तर्क और दर्शन के उसी अध्यापक पद पर नियुक्त हुआ, जिसके लिये उसे १२ वर्ष पूर्व निराश होना पड़ा था। पहले से अब वह चिंतामुक्त भी हो गया था क्योंकि उसे ६० पौंड वार्षिक वेतन मिलने लगा था। उन दिनों इतना वेतन संमानित अध्यापकों को ही दिया जाता था। ग्रंथों के प्रकाशन से भी कोई बड़ी धनराशि नहीं प्राप्त होती थी। अपने 'क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न' से कांट को केवल ३० पौंड आय हुई थी। किंतु, भौतिक सुखों की आकांक्षा न कर, १७९६ ई० तक वह सक्रिय रूप से संसार के ज्ञानकोश की अभिवृद्धि के निमित्त प्रयत्न करता रहा।

इन २६ वर्षों में से आदि के १२ वर्ष उसने केवल एक पुस्तक "शुद्ध बुद्धि की समीक्षा" (क्रिटिक ऑव प्योर रीजन) के लिखने में व्यतीत किए। उक्त ग्रंथ १७८१ ई० में प्रकाशित हुआ था। कांट के प्रौढ़ ग्रंथों में यह सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक ग्रंथ माना जाता है। इस काल के अन्य ग्रंथ 'प्रत्येक भावी दर्शन की भूमिका' (प्रोलेगोमेना टु एव्री फ़्यूचर मेटाफ़िज़िक, १७८३), 'नीतिदर्शन की पृष्ठभूमि' (द ग्राउंड वर्क ऑव द मेटाफ़िज़िक्स ऑव मॉरल्स, १७८६), 'प्राकृतिक विज्ञान के दार्शनिक आधार' (मेटा-

फ़िजिकल फ़ाउंडेशंस ऑव नैचुरल साइंस, १७८७), 'व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा' (क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न, १७८८), 'निर्णय की समीक्षा' (क्रिटाक ऑव जजमेंट, १७६०), 'केवल बुद्धि द्वारा सीमित धर्म' (रिलीजन विदिन द लिमिट्स ऑव मिअर रीज़न, १७६३), तथा 'शाश्वत शांति पर' (ऑन एवरलास्टिंग पीस, १७६५)।

१७६६ ई० के बाद भी वह अध्ययन, चिंतन एवं लेखन मे व्यस्त रहा किंतु उसके जीवन के ये आठ वर्ष बड़ी दयनीय दशा मे व्यतीत हुए। उसकी स्मृति इतनी क्षीण हो गई थी कि उसे छोटी मोटी बाते भी लिखकर याद रखनी पड़ती थी। स्वयं अपने घर की देखभाल करने की शक्ति उसमें नहीं थी; विवाह उसने किया नही था, किंतु ४२ वर्ष के अध्यापन काल में उसने अपने सहयोगियों एवं विद्यार्थियो पर अच्छा प्रभाव डाला था। अतएव मित्रों एवं शिष्यों से उसे अपने जीवन के अंतिम भाग में काफी सहायता एवं सहानुभूति प्राप्त हुई। सन् १८०१ ई० के बाद तो वह बहुत ही अशक्त हो गया था, किंतु अंतिम तीन वर्षो मे वेसियांस्की नामक उसके शिष्य ने साथ रहकर अहर्निश उसकी देखभाल की।

आश्चर्य की बात है कि इस काल के लिखे हुए कांट के सात ग्रंथ उपलब्ध है—'नीतिदर्शन' (मेटाफ़िज़िक्स ऑव मॉरल्स, १७६७), 'नैतिक गुण के सिद्धांत के दार्शनिक आधार' (मेटाफ़िज़िकल फ़ाउंडेशंस ऑव द थ्योरी ऑव वर्चू, १७६६-६७), 'मानस शक्तियों का अंतर्विरोध' (द कॉन्फ़्लिक्ट ऑव फ़ैकल्टीज, १७६८), 'व्यावहारिक दृष्टि से नृशास्त्र' (ऐंथ्रपॉलॉजी फ़्रॉम द प्रैक्टिकल प्वाइंट ऑव व्यू, १७६८), 'तर्कशास्त्र' (लॉजिक, १८००), 'भौतिक भूगोल' (१८०२) तथा 'शिक्षाशास्त्र' (पेडॅगॉजिक्स, १८०२)।

इतना कार्य करने के बाद १२ फरवरी, १८०४ ई० को कोनिग्जवर्ग में उसकी मृत्यु हुई। कांट का व्यक्तिगत जीवन अटल नियमों से जकड़ा हुआ था। प्रातःकाल से संध्या तक उसके सभी काम निश्चित समय पर होते थे। भोजन के समय के संलाप के भी नियम थे। पाश्चात्य दार्शनिकों में से अधिकांश भ्रमणशील रहे है, किंतु कांट अपने नगर से जीवन भर में अधिक से अधिक साठ मील गया था। फिर भी उसका दृष्टिकोण संकुचित न था। वह केवल बौद्धिक चिंतक न था, उसने सुकरात और पाइथागोरस की भाँति जीवन में अपने दार्शनिक विचारों को स्थान दिया था। हाइने नामक जर्मन कवि ने कांट के दार्शनिक जीवन की प्रशंसा में ऐसी बातें कही हैं जो उसे सनकी सिद्ध करती है, किंतु, उसके विचारों ने उत्तरवर्ती दर्शन को इतना प्रभावित किया कि कांट के अध्येता उसे दर्शन में एक नवीन युग का प्रवर्तक मानते है (द्र० 'कांटीय दर्शन')।

(शि० नं० श०)

कांटॉर, जॉर्ज (Georg Cantor, १८४५ ई०–१९१८ ई०) जर्मन गणितज्ञ थे। इनका जन्म ३ मार्च. १८४५ ई० को पीट्रोग्राड में एक यहूदी परिवार में हुआ था। १८६३ ई० से १८६६ ई० तक इन्होंने बर्लिन में गणित, दर्शन शास्त्र और भौतिको का अध्ययन किया। १८६७ ई० में इनकी अनिर्णीत समीकरण कय² + खर² + गल² = ०, ($ax^2 + by^2 + cz^2 = 0$) के हल से संबंधित, गाउस द्वारा अवशिष्ट एक कठिन समस्या के हल पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। हाले (Halle) में ये १८६६ ई० में प्राध्यापक (लेक्चरर), १८७२ ई० में गणित के असाधारण और १८७६ ई० में साधारण प्रोफेसर नियुक्त हुए। १८७४ ई० में इनका प्रथम क्रांतिकारी शोधपत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने 'संख्याओं के कांटॉर सिद्धांत' की व्याख्या की थी। इस सिद्धांत के अनुसार कोई अपरिमेय संख्या उस एक अनंत अनुक्रम क$_1$, क$_2$, क$_3$, ···क$_न$, ··· ($a_1, a_2, a_3 \ldots a_n, \ldots$) से प्राप्त की जा सकती है, जिसमें यदि न (n) और म (m) के मान पर्याप्त हों, तो क$_न$ – क$_म$ । < ε। ($a_n - a_m$ । < ε। तदुपरांत इन्होंने इसपर अनेक महत्वपूर्ण शोधपत्र लिखे।

(रा० कु०)

कांटि ड निकालो (१४१६–१४४४), वेनिस नगर के श्रेष्ठ व्यवसायी परिवार में इनका जन्म हुआ था। यह प्रसिद्ध समन्वेषक और लेखक थे। १४१६ ई० में २५ वर्षो के लिये समन्वेषणार्थ वेनिस से इन्होंने प्रस्थान किया। दमिश्क, अरब का रेगिस्तान, मेसोपोटेमिआ, बगदाद, बसरा इत्यादि स्थानों का भ्रमण करते हुए ये भारत के पश्चिमी तट से होकर विजयनगर आए। इसके बाद ये सुमात्रा, मलाया से लौटने पर बगदाद और ब्रह्मदेश में अराकान और ईरावती से आगे तक कई बार गए। कूलम, कोचीन, कालीकट, कँबे, अदन, जिद्दा और कैरो होते हुए १४४४ मे यह वेनिस पहुँचे। तत्कालीन भारतीय जीवन, वेशभूषा, शिष्टाचार, रीतिरिवाज तथा सामाजिक जातियों का इन्होंने रोचक वर्णन किया है।

(र० शं० पां०)

कांटीय दर्शन इमानुएल कांट (१७२४–१८०४) का दर्शन, जिसे 'आलोचनात्मक दर्शन' (क्रिटिकल फ़िलॉसॉफ़ी), 'आलोचनावाद' (क्रिटिसिज्म), 'परतावाद' (ट्रैंसेंडेंटलिज्म), अथवा 'परतावादी प्रत्ययवाद' (ट्रैंसेंडेंटल आइडियलिज्म) कहा जाता है। इस दर्शन में ज्ञानशक्तियों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। साथ ही, १७वी और १८वी शताब्दियों के इंद्रियवाद (सेंसेशनलिज्म) एवं बुद्धिवाद (इंटेलेक्चुअलिज्म) की समीक्षा है। विचारसामग्री के अर्जन में इंद्रियों की माध्यमिकता की स्वीकृति में कांट इंद्रियवादियों से सहमत था; उक्त सामग्री को विचारों में परिणत करने में बुद्धि की अनिवार्यता का समर्थन करने मे वह बुद्धिवादियों से सहमत था, किंतु वह एक का निराकरण कर दूसरे का समर्थन करने में किसी से सहमत न था। कांट के मत मे बुद्धि और इंद्रियाँ ज्ञान संबंधी दो भिन्न संस्थान नही है, बल्कि एक ही संस्थान के दो विभिन्न अवयव है। कांट के दर्शन को "परतावाद" कहने का आशय उसे इंद्रियवाद तथा बुद्धिवाद से 'पर' तथा प्रत्येक दार्शनिक विवेचन के लिये आधारभूत मानना है। उसके दर्शन में बुद्धि द्वारा ज्ञेय विषयो का नही, स्वय बुद्धि का परीक्षण किया गया है और बहुत ही विशद रूप में। यूरोपीय दर्शन के विस्तृत इतिहास में, प्रथम और अंतिम बार, कांट के माध्यम से, ज्ञानशक्तियों ने स्वयं की व्याख्या इतने विस्तार से प्रस्तुत की है।

इस प्रकार की व्याख्या का प्रथम निर्देश यूनानी दर्शनकाल में सुकरात से प्राप्त हुआ था। उसने कहा था : "अपने आपको जानो", किंतु उसके बाद अपने आपको जानने के जितने प्रयत्न किए गए सबका पर्यवसान अपने से बाह्य वस्तुओं के ज्ञान मे ही होता रहा। आधुनिक काल के प्रारंभ में फ्रांसीसी विचारक देकार्त (१५६६–१६५०) ने फिर बलपूर्वक कहा—(१) इंद्रियाँ विश्वास के योग्य नही, वे भ्रम उत्पन्न करती है; (२) बुद्धि भी निरपेक्ष विश्वास के योग्य नहीं, वह असत् निर्णयों को सत् सिद्ध कर देती है; किंतु (३) 'मैं विचार करता हूँ, अतएव मैं हूँ', एक ऐसी प्रतीति है, जिसके खंडन का प्रत्येक प्रयत्न उसकी सत्यता का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। पर, किसी विचारक ने उस ज्ञानाधिकरण 'मैं', अथवा बुद्धि के जटिल संस्थान की छानबीन नहीं की। युग की प्रवृत्तियाँ गणित और भौतिकविज्ञान के प्रभावों से आक्रांत थीं। टाइकोब्राही और कोपरनिकस ने गणित के सहारे सदा से संसार के केंद्र में बैठी हुई पृथ्वी को धकेलकर उसके स्थान पर सूर्य को बैठा दिया था। दूसरी ओर गैलीलियो ने पीज़ा के झुके हुए स्तंभ की चोटी से पत्थरों को गिराकर, पृथ्वी की द्विविध गति का अनुसंधान किया था। यूरोपीय विचारक इन्ही दोनों प्रभावों के अंतर्गत दो दलों में बँटकर, ज्ञानसाम्राज्य पर बुद्धि अथवा इंद्रियों के एकाधिकार का समर्थन कर रहे थे। एक ओर जर्मन दार्शनिक गॉटफ्रीड विल्हेल्म लीबनित्स (१६४६-१७१६) के अनुयायी थे, दूसरी ओर अंग्रेज विचारक जॉन लॉक (१६३२-१७१४) के समर्थक थे। किंतु, युग की दशा देखकर स्काटलैंड के संदेहवादी कहे जानेवाले विचारक डेविड ह्यूम (१७११-७६) ने फिर पूछा, कारणता (कॉज़ेलिटी) के समर्थन का आधार कहाँ है? घटनाओं के जाल में केवल पूर्वापर संबंध, सहगमन आदि के अतिरिक्त कुछ भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

इस बार, कांट की प्रतिभा जागी और उसने बुद्धि का परीक्षण प्रारंभ किया। १७७० ई० से १७८१ ई० तक उसने शुद्ध बुद्धि के कार्यों पर चिंतन कर, 'क्रिटीक डेर रीनेन वेरनुन्फ़्ट' के माध्यम से घोषित किया कि शुद्ध बुद्धि ऐंद्रिक प्रदत्तों का संश्लेषण करती है। इसीलिये, प्रत्येक वैज्ञानिक

निर्णय का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर बौद्धिक एवं ऐंद्रिक दो प्रकार के तत्व उपलब्ध होते हैं। उक्त समीक्षा के प्रथम भाग में उसने ऐंद्रिक बोध का विवेचन करते हुए, इंद्रियों द्वारा बाह्य जगत् से लाई हुई सामग्री और उसके बोध के स्वभाव में, समाविष्ट रूप में, अंतर किया। उसने बताया कि बाह्य वस्तुएँ इंद्रियों पर जो प्रभाव डालती हैं, वह देश और काल के परिच्छेदों से मुक्त होता है, किंतु, ऐंद्रिक बोध इन परिच्छेदों के बिना संभव नहीं। इस प्रकार उसने निर्णीत किया कि ये बोध के दो रूप हैं, जिन्हें प्रत्येक बोधसामग्री को इंद्रियद्वारों में प्रवेश करते ही ग्रहण करना पड़ता है। कांट ने देश और काल को अवांतर आकार स्थिर करते हुए, प्रागनुभवीय (आप्रायोरी) तत्व कहा।

बाह्य जगत् से आई हुई सामग्री में इतना रूपांतर हो चुकने पर बुद्धि का दूसरा विभाग, अर्थबोधविभाग (वरस्टैंड) अपना काम प्रारंभ करता है। इस विभाग के कार्यों का विवेचन बुद्धिसमीक्षा के दूसरे भाग, 'पर विश्लेषण' (ट्रैंसेंडेंटल ऐनालिटिक) में किया गया है। वह देश और कालबोध से युक्त सामग्री पर १२ उपाधियों का आरोप करता है। कांट ने अर्थबोध की १२ उपाधियों को चार समूहों में विभाजित किया। एकता (यूनिटी), बहुता (प्लूरैलिटी) और समष्टि (टोटैलिटी) की उपाधियाँ परिमाणसूचक हैं; सत्ता (रीअलिटी), निषेध (निगेशन) और ससीमता (लिमिटेशन) की उपाधियाँ गुणसूचक हैं; व्याप्ति-अधि:कृतत्व (इन्हेरेंस सब्सिस्टेंस), कारणता निर्भरता (कॉज़ैलिटी डिपेंडेंस) और सामूहिकता (कम्यूनिटी) संबंधसूचक हैं; संभावना असंभावना (पॉसिबिलिटी इंपॉसिबिलिटी), अस्तित्व अनस्तित्व (एक्ज़िस्टेंस नॉन-एक्ज़िस्टेंस), अनिवार्यता आकस्मिकता (नेसेसिटी कांटिजेंसी) प्रकारता (माडलिटी) का बोध कराती हैं।

उपर्युक्त १२ उपाधियों के आरोप के फलस्वरूप १२ प्रकार के बौद्धिक निर्णय उपलब्ध होते हैं—(१) सामान्य (युनिवर्सल), (२) विशिष्ट (पर्टीक्युलर) तथा (३) एकबोधक (सिंग्युलर) परिमाण संबंधी निर्णय हैं, (४) स्वीकृतिबोधक (अफ़र्मेटिव), (५) निषेधबोधक (नेगेटिव) तथा (६) असीमताबोधक (इन्फ़िनिट) निर्णय गुणबोध कराते हैं; निरपेक्ष (कैटेगॉरिकल), सापेक्ष (हाइपोथेटिकल) तथा वैकल्पिक (डिस्जंक्टिव) संबंध बोध कराते हैं और समस्यामूलक (प्रॉब्लेमैटिक), वर्णनात्मक (एसर्टारिक) तथा संदेहसूचक (एपोडिक्टिक) निर्णय प्रकारता (माडलिटी) का बोध कराते हैं।

इस प्रकार कांट ने स्थिर किया कि बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करने में बुद्धि ऐंद्रिक सामग्री में इतना रूपांतर कर देती है कि इंद्रियद्वारों में प्रविष्ट होने के पश्चात् जगत् का रूप पहले जैसा नहीं रह जाता। अतएव, उसे बुद्धिगत वस्तु और बाह्य वस्तु में भेद करना पड़ा। बुद्धि के अनुशासन से मुक्त वस्तु का उसने 'न्यूमेना' और उक्त अनुशासन में जकड़ी हुई वस्तु का 'फ़ेनॉमेना' संज्ञा दी। इस अंतर का तात्पर्य यह दिखाना था कि बौद्धिक रूपांतर के पश्चात् सत्य ज्ञेय वस्तु प्रातिभासिक हो जाती है।

अब तीसरे भाग में, जिसे उसने 'परद्वैतिकी' (ट्रैंसेंडेंटल डायलेक्टिक) शीर्षक दिया था, उसने बताया कि इंद्रियों की सहकारिता के अभाव में साधनहीन शुद्ध बुद्धि ईश्वर, आत्मा तथा विश्वसमष्टि का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। किंतु, कांट का उद्देश्य बुद्धि को उक्त विषयों के ज्ञान में अक्षम सिद्ध कर 'अज्ञानवाद' (एग्नास्टिसिज़्म) का प्रवर्तन करना नहीं था। अतएव कांट ने सात वर्ष अपने शुद्ध बुद्धि की समीक्षा के अंतिम निर्णय पर अथक चिंतन किया। अंत में उसे बुद्धि के आगे बढ़ने का मार्ग दिखाई दिया। फलतः, सन् १७८८ ई० में, उसने दूसरी समीक्षा-पुस्तक प्रकाशित की। यह 'व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा' (क्रिटीक डेर प्रैक्टिस्केन वेरनुन्फ़्ट) थी।

सात वर्ष पूर्व शुद्ध बुद्धि के लिये आत्मा, परमात्मा और विश्वसमष्टि के जो अगम क्षेत्र थे, उनमें व्यावहारिक बुद्धि ने, नैतिक अनुभव का पाथेय लेकर, प्रवेश किया। कांट की व्यावहारिक बुद्धि शुद्ध बुद्धि की भाँति बाह्य प्रकृति के तथा अपने स्वभाव के नियमों से सीमित न थी। वह स्वतंत्र बौद्धिक व्यक्ति की बुद्धि थी, जो स्वतः अपना नियमन करने में समर्थ थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यावहारिक बुद्धि के सिद्धांत से कांट हाब्ज (१५८८-१६७९) के व्यक्तिवाद का समर्थन करना चाहता था। उसने व्यावहारिक बुद्धि को स्वशासन की स्वतंत्रता प्रदान की थी, किंतु ऐसे नियमों के अनुसार, जिनका अनुसरण विश्व मानव के लिये उचित हो।

कांट के दर्शन के इस स्तर को समझने के लिये एक ओर परमार्थ और व्यवहार का भेद समझने की और दूसरी ओर सैद्धांतिक और नैतिक बुद्धि के भेद को समझने की आवश्यकता है। वह परमार्थ को ज्ञानात्मक व्यापार की परिधि से 'पर' मानता था, इसीलिये सैद्धांतिक चिंतन की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए उसने सिद्ध किया कि ज्ञानव्यापार का विषय बनते ही परमार्थ, जो सत्य है, 'व्यवहार' में, जो प्रातिभासिक है, परिणत हो जाता है। किंतु, उसकी दृष्टि में नैतिक चिंतन सैद्धांतिक चिंतन से दूरगामी है, क्योंकि वह सैद्धांतिक प्रतिबंधों से मुक्त है। इसलिये, नैतिक चिंतन उन विषयों तक पहुँच सकता है जो सैद्धांतिक चिंतन के लिये दुरूह हैं। कांट जिसे व्यावहारिक बुद्धि कहता है, सचमुच वह नैतिक बुद्धि है, बौद्धिक मानव की स्वतंत्र संकल्प शक्ति है। इसी प्रसंग में कांट ने आत्मा के अमरत्व की और ईश्वर के अस्तित्व की पुनः स्थापना की है। सैद्धांतिक चिंतन इन अस्तित्वों के बिना भी अपना काम चला सकता है, किंतु इनकी कल्पना के बिना नैतिक चिंतन के पैर नहीं जम सकते। अमर आत्मा की स्वीकृति में शाश्वत जीवन की स्वीकृति है; ईश्वर की स्वीकृति कर्मफलदाता की स्वीकृति है। इनका सैद्धांतिक मूल्य भले ही कुछ न हो, किंतु नैतिक मूल्य बहुत बड़ा है। नैतिक चिंतन में बुद्धि का कार्य आचरण की समस्या पर विचार करना है। इसीलिये कांट ने इसे व्यावहारिक बुद्धि कहा था। किंतु वह अनेक बुद्धियों का समर्थन नहीं कर रहा था। वह दिखाना चाहता था कि विषयभेद से बुद्धि भिन्न रूपों में विकसित होती है, भिन्न नियमों के अनुसार कार्य करती है।

प्रकृति के वैज्ञानिक विवेचन में वह इंद्रियों की सहकारिता की अपेक्षा करती है और अपने १४ नियमों का प्रयोग करती है। वहाँ वह किसी ऐसी सत्ता का समर्थन नहीं करती, जो उसके १४ अनुबंधों के अनुशासन में न आ सके। नैतिक चिंतन में प्रवृत्त होते ही वह संकल्प का रूप ले लेती है और कर्म का पोषण करनेवाली सत्ताओं में विश्वास करती है।

कांट की तीसरी समस्या 'सुंदर' के आस्वाद में प्रवृत्त बुद्धि की गतिविधि के निरूपण की थी। यह कार्य करने के लिये उसने 'निर्णय की समीक्षा' (क्रिटीक डेर उरथील्स्क्रैफ़्ट) प्रस्तुत की। इसके प्रकाश में आने का समय १७९० ई० था। कांट के अनुसार 'सुंदर' की ओर उन्मुख होते ही बुद्धि 'निर्णय' का रूप ले लेती है। वह 'निर्णय' को शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि के बीच की कड़ी मानता था। उसने प्रकृति को शुद्ध बुद्धि का विषय ठहराया था और प्रकृति के सत्य का अवगाहन एवं अनिवार्यता का अनुसंधान उद्देश्य बताया था। व्यावहारिक बुद्धि अथवा संकल्प का विषय 'शुभ' (गुड) तथा उद्देश्य स्वतंत्रता का अनुभव था। अब वह निर्णय का विषय रसानुभूति बताता है और इस अनुभूति को अनिवार्यता तथा स्वतंत्रता के मध्य की स्थिति मानता है। स्पष्टतः निर्णय में वह यथार्थ और आदर्श का गठबंधन कराना चाहता था। उसके विचार को समझने के लिये हमें सुंदर संबंधी कल्पना को ज्ञान और संकल्प के बीच रखना होगा। वह 'सुंदर' को ज्ञान मात्र की वस्तु नहीं, सुखद वस्तु मानता था, किंतु उस सुख को जो 'सुंदर' के प्रेक्षण से उत्पन्न होता है वह संसर्गवर्जित मानता था। उसने 'सुंदर' की परिभाषा में गुण, परिमाण और प्रकारता का समावेश तथा संबंध का निषेध किया है। इस प्रकार की रसानुभूति शुद्ध बुद्धि तथा नैतिक आचरण के बिना संभव नहीं। इसीलिये, वह 'सुंदर' की कल्पना को ज्ञान और संकल्प के बीच का निर्णय कहता है।

कांट की इस सर्वांगीण समीक्षा का उत्तरवर्ती विचारधाराओं पर जितना प्रभाव पड़ा उतना किसी आधुनिक मत का नहीं। उसके स्वतंत्रता के विचार ने फ़िक्टे, शेलिंग और हेगेल को प्रभावित किया। कांट के ज्ञेय और ज्ञात वस्तु के स्वभावभेद ने शोपेनहार को प्रभावित किया। लोज़े का प्रयोजनमूलक प्रत्ययवाद (टीलियालॉजिकल आइडियलिज़्म) कांट के ही दर्शन का फल था। उसके मनोवैज्ञानिक एवं व्यवहारवादी विचारों को लेकर लैंग, सिमेल और वाईहिंगर ने अपने मतों का विकास किया।

कोहेन, नैट्रॉप, रिकर्ट, हुसेरल, हाइडेगर, कैसिरर की आलोचना पद्धतियाँ कांट के ही संकेतों पर आधारित हैं। अंग्रेज विचारक केयर्ड, ग्रीन, तथा ब्रैडले ने हेगेल के माध्यम से कांट के प्रभाव को अपने मतों में आत्मसात् किया था। फ्रांस में कांट का प्रभाव देखने के लिये रिनूवियर का अध्ययन किया जा सकता है।

सं०ग्रं०—एन० के० स्मिथ : ए कमेंट्री टु कांट्स क्रिटीक ऑव प्योर रीजन, १९१८; ए० सी० ईविंग : कांट्स ट्रीटमेंट ऑव कॉजैलिटी, १९२४; ए० डी० लिंड्जे : कांट, १९३४; एच० जे० पेटन : कांट्स मेटाफ़िज़िक्स ऑव एक्सपीरियंस, दो भाग, १९३६; द कैटेगॉरिकल इंपरेटिव—ए स्टडी ऑव कांट्स मॉरल फ़िलॉसफ़ी, १९४८; ह्विटने ऐंड बॉवर्स : द हेरिटेज ऑव कांट, १९३९। (शि० नं० श०)

कांडला कच्छ की खाड़ी के पूर्वी किनारे पर २३° उ० अ० तथा ७०° १३' पू० दे० पर स्थित सुरक्षित प्राकृतिक पत्तन है। यहाँ पर जलयानों के आने जाने तथा रुकने के लिये पर्याप्त स्थान है। कराची पत्तन के पाकिस्तान में चले जाने से पैदा हुई कमी को पूरा करने के लिये १९४९ में हैंवर्ग बंदरगाह के नमूने पर कांडला का निर्माणकार्य प्रारंभ हुआ। पुराना पत्तन सन् १९३१ में वर्तमान स्थान से दो मील की दूरी पर कच्छ राज्य द्वारा बनाया गया था। १९५५ में कांडला भारत का छठा बड़ा बंदरगाह घोषित किया गया। इसकी २,७५,००० वर्गमील पृष्ठभूमि में कच्छ, उत्तरी गुजरात, राजस्थान, पंजाब, कश्मीर तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश सम्मिलित हैं। अब तक १५ करोड़ रुपया पत्तन तथा गांधीधाम नगर के निर्माणकार्य में व्यय हो चुका है। यह पत्तन सभी आधुनिक सुविधाओं से संपन्न है। २,७०० फुट लंबी गहरे पानी की जेटी है, जहाँ चार बड़े जहाज एक साथ खड़े हो सकते हैं। राडार द्वारा ३० मील तक जहाजों के आने जाने का निरीक्षण किया जा सकता है। बिजली तथा पानी की सुविधा है। पत्तन के निकट ही गांधीधाम नगर की योजना ७,००० एकड़ भूमि पर बनाई गई है।

कांडला बंदरगाह से प्रति वर्ष दस लाख टन से ऊपर का आयात निर्यात होता है। १९५९-६० में आयात आठ लाख टन और निर्यात तीन लाख टन के लगभग था। यहाँ का मुख्य निर्यात कच्चा लोहा, मूंगफली तथा तेल, कपास, कपड़ा, दाल, खाल और नमक; तथा आयात पेट्रोल, कपास, सीमेंट, लोहा, इस्पात, अनाज, कोयला और रासायनिक पदार्थ है। कांडला उत्तर पश्चिमी भारत का भावी समुद्री द्वार बन सकता है, पर इसकी पूर्ति में अभी कतिपय न्यूनताएँ हैं, जैसे पास का पृष्ठप्रदेश उन्नत नहीं है तथा यह क्षेत्र केवल एक छोटी लाइन द्वारा कांडला से मिला हुआ है। नई योजनाओं में अहमदाबाद से कांडला तक राष्ट्रीय सड़क तथा बड़ी लाइन बनाने की व्यवस्था है। साथ ही साथ स्वतंत्र व्यापारक्षेत्र और पत्तनन्यास (पोर्ट ट्रस्ट) भी स्थापित किए जा रहे हैं। इससे कांडला को प्रोत्साहन मिलेगा। (शां० ला० का०)

कांपटन, आर्थर हॉली का जन्म अमरीका के वूस्टर नामक नगर में १० सितंबर, १८९२ ई० को हुआ। इनकी शिक्षा पहले वूस्टर विद्यालय में और फिर प्रिंस्टन विश्वविद्यालय में हुई। प्रिंस्टन विश्वविद्यालय ने इन्हें सन् १९१६ में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। कांपटन (कॉम्पटन) सन् १९२० से १९२३ तक वाशिंगटन विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रधानाध्यापक रहे, तत्पश्चात् शिकागो विश्वविद्यालय में इनकी नियुक्ति हुई। सन् १९४५ में कांपटन वाशिंगटन विश्वविद्यालय के कुलपति हुए। विश्वविद्यालयों में काम करने के साथ ही 'जेनरल इलेक्ट्रिक कंपनी' को इन्होंने गवेषणा कार्य में सन् १९२६ से १९४५ तक महत्वपूर्ण सहायता दी। द्वितीय महायुद्ध के समय, सन् १९४२ से १९४५ तक, ये 'मेटालर्जिकल ऐटॉमिक प्रोजेक्ट' के संचालक रहे।

कांपटन का प्रमुख कार्य एक्स-रे के संबंध में है। एक्स-रे के गुणधर्म कतिपय क्षेत्रों में विद्युच्चुंबकीय तरंगों के समान होते है (द्र० 'एक्स-रे की प्रकृति')। किंतु एक्स-रे किरणों का प्रकीर्णन (स्कैटरिंग, scattering) होने के पश्चात् प्रकीरित एक्स-रे के तरंगदैर्ध्य में परिवर्तन हो जाता है। इसको 'कांपटन परिणाम' कहते है। (द्र० 'कांपटन परिणाम')। इस महत्वपूर्ण आविष्कार के कारण सन् १९२७ में कांपटन को विश्वविख्यात नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस परिणाम के अतिरिक्त एक्स-रे का संपूर्ण परावर्तन, विवर्तन ग्रेटिंग (डिफ्रैक्शन ग्रेटिंग, diffaction grating) से एक्स-रे का वर्णक्रम, इत्यादि विषयों में इनके कार्य सुप्रसिद्ध हैं। अंतरिक्ष किरण (कॉस्मिक रेज, cosmic rays) संबंधी क्षेत्र में भी इनके आविष्कार महत्वपूर्ण हैं। कांपटन की प्रकाशित रचनाओं में एलिसन की सहायता से लिखा हुआ ग्रंथ एक्स-रेज : थियरी ऐंड प्रैक्टिस विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सं०ग्रं०—नील्स एच० डी० वी० हीथकोट : नोबेल प्राइज़विनर्स इन फ़िज़िक्स। (दे० र० भ०)

कांपटन परिणाम उच्च कंपन संख्या के विद्युच्चुंबकीय विकिरण की पदार्थ के साथ वह अंतःक्रिया (इंटरऐक्शन, interaction) है जिसमें मुक्त इलेक्ट्रानों से प्रकीर्ण (स्कैटर, scatter) होकर फ़ोटान की ऊर्जा में ह्रास हो जाता है और उनके तरंगआयाम में वृद्धि हो जाती है।

इस परिणाम के स्पष्टीकरण के लिये १९२३ ई० में कांपटन और डेबाई ने स्वतन्त्र रूप से यह धारणा अपनाई कि किसी दिशा में चलते हुए फ़ोटान में जो ऊर्जा और संवेग होता है उनका कुल या केवल थोड़ा सा भाग वह फ़ोटान एक इलेक्ट्रान को एक ही टक्कर (कलिज़हन, collision) होने पर दे सकता है। इससे प्रकीर्ण फ़ोटान की ऊर्जा [ऊ=प्ल आ ($E=h\nu$), जिसमें प्ल (h) प्लैंक स्थिरांक है और आ(ν) विकिरण की कंपन संख्या है] आपाती फ़ोटान की ऊर्जा से कम होती है और फ़ोटान से संबंधित तरंगआयाम बढ़ जाता है। स्पष्टतः यह फ़ोटान-इलेक्ट्रान-टक्कर-प्रतिरूप (photon-electron collision model) विकिरण के तरंगवाद (वेव थियरी) के एकदम प्रतिकूल है।

सन् १९२४ ई० में बोर (Bohr), क्रेमर्स और स्लेटर ने एक दूसरे प्रतिरूप का सुझाव रखा जो तरंगवाद पर आधारित था। इस प्रतिरूप में ऊर्जास्थिरता और संवेगस्थिरता के नियम विकिरण और इलेक्ट्रान की किसी एकाकी अंतःक्रिया में लागू न होकर अनेक टक्करों के सांख्यिकीय माध्य (statistical average) पर ही लागू होते हैं। अतएव आपाती विकिरण टामसन के तरंगवादी प्रतिरूप के अनुरूप सतत (continuously) प्रकीर्ण होता है, पर साथ में कभी कभी एक प्रतिक्षेप (recoil) इलेक्ट्रान भी प्रकीर्णक से निकलता है। यह प्रतिरूप कांपटन परिणाम के कारण तरंगआयाम में वृद्धि का स्पष्टीकरण करने में सफल तो अवश्य हुआ, पर अंततः कुछ प्रायोगिक परिणामों के आधार पर यह अमान्य हो गया और मान्यता कांपटन एवं डेबाई के फ़ोटान-इलेक्ट्रान-टक्कर-प्रतिरूप को ही मिली।

कांपटन-डेबाई-प्रतिरूप के अनुसार प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान और प्रकीर्ण विकिरण का उत्पादन साथ ही साथ होना आवश्यक है। इस युगपदीयता (Simultaneity) में क्वांटम यांत्रिकी के अनुसार समय अनिश्चितता (time uncertainty) लगभग 10^{-21} सेकंड है और नवीनतम प्रयोगों में युगपदीयता समय इस सीमा के पर्याप्त निकट ($\backsim 10^{-11}$ सेकंड तक) पहुँच चुका है।

कांपटन-डेबाई के फ़ोटान प्रतिरूप में ऊर्जा और संवेग की स्थिरता का उपयोग करके प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान और प्रकीर्ण फ़ोटान की दिशाओं में एक यथार्थ संबंध मिलता है। आधुनिक प्रयोगों से इस संबंध की संतोषजनक पुष्टि होती है।

डिरैक (Dirac) की क्वांटम यांत्रिकी (द्र० 'क्वांटम यांत्रिकी') के सिद्धांतों के अनुसार विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र और एक इलेक्ट्रान के बीच अंतःक्रिया का स्पष्टीकरण पूर्णतः भिन्न रूप से किया गया है। इस प्रतिरूप में अंतःक्रिया की प्रारंभिक और अंतिम स्थितियों के अतिरिक्त एक मध्यम (intermediate) स्थिति भी होती है, जिसमें केवल संवेग ही स्थिर रहता है, ऊर्जा नहीं। इस अंतःस्थ स्थिति में एक इलेक्ट्रान एक फ़ोटान को उत्सारित (emit) कर सकता है या एक फ़ोटान का अवशोषण (absorption) कर सकता है। अतः कांपटन परिणाम में दो विकल्पों की शक्यता है :

(१) इलेक्ट्रान पहले आपाती फ़ोटान को प्रचूषित कर लेता है और अंतःस्थ स्थिति में कोई फ़ोटान उपस्थित नहीं रहता। अंतिम स्थिति तक पहुँचने पर इलेक्ट्रान एक भिन्न ऊर्जा का (प्रकीर्ण) फ़ोटान उत्सारित कर देता है।

(२) इलेक्ट्रान पहले एक भिन्न ऊर्जा का (प्रकीर्ण) फ़ोटान उत्सारित कर देता है। अतः अंतःस्थ स्थिति में दो फ़ोटान उपस्थित रहते हैं। अंतिम स्थिति तक पहुँचने पर इलेक्ट्रान आपाती फ़ोटान का अवशोषण कर लेता है।

इन दोनों विकल्पों का विचार करके इलेक्ट्रान के विद्युच्चुंबकीय विकिरण के प्रकीर्णन का अध्ययन किया गया है और उससे जो निष्कर्ष निकले हैं (क्लाइन तथा निशीना के प्रकीर्णन क्रॉस सेक्शन के सूत्र) वे आधुनिक प्रयोगों द्वारा ऊर्जा के पर्याप्त विस्तार के लिये सिद्ध किए जा चुके हैं। कांपटन-डेबाई के निष्कर्ष इस सामान्य निष्कर्षों के विशेष रूप हैं। यदि प्रकीर्ण पदार्थ में हम इलेक्ट्रान को पूर्णतया स्वाधीन (अपरिबद्ध) और स्थिर मानें और यदि आपाती फ़ोटान की ऊर्जा **प्ल आ**$_\circ$ ($h v_0$) हो और प्रकीर्ण फ़ोटान की ऊर्जा **प्ल आ′** (hv') हो, तो ऊर्जा स्थिरता और संवेग स्थिरता के नियमों का उपयोग करके हमें निम्नलिखित समीकरण मिलते हैं :

$$\left.\begin{array}{l}\text{प्ल आ}_\circ + \text{द्र}_\circ\,\text{प्र}^2 = \text{प्ल आ}' + \dfrac{\text{द्र}_\circ\,\text{प्र}^2}{\sqrt{(1-\text{व}^2)}} \\ \left[h v_0 + m_0 c^2 = h v' + \dfrac{m_0 c^2}{\sqrt{1-\beta^2}}\right]\end{array}\right\} \quad \ldots \ldots (\text{१})$$

$$\left.\begin{array}{l}\dfrac{\text{प्ल आ}_\circ}{\text{प्र}} = \dfrac{\text{प्ल आ}'}{\text{प्र}}\,\text{कोज्या त} + \dfrac{\text{द्र}_\circ\,\text{व प्र}}{\sqrt{(1-\text{व}^2)}}\,\text{कोज्या थ} \\ \left[\dfrac{h v_0}{c} = \dfrac{h v'}{c}\cos\phi + \dfrac{m_0 \beta c}{\sqrt{1-\beta^2}}\cos\theta\right]\end{array}\right\} \ldots (\text{२})$$

$$\left.\begin{array}{l}0 = \dfrac{\text{प्ल आ}'}{\text{प्र}}\,\text{ज्या त} + \dfrac{\text{द्र}_\circ\,\text{व प्र}}{\sqrt{(1-\text{व}^2)}}\,\text{ज्या थ} \\ \left[0 = \dfrac{h v'}{c}\sin\phi - \dfrac{m_0 \beta c}{\sqrt{1-\beta^2}}\sin\theta\right]\end{array}\right\} \ldots (\text{३})$$

जिनमें द्र$_\circ$ (m_0) इलेक्ट्रान का स्थिर द्रव्यमान (rest mass) है, वे (= व प्र) अर्थात् $v\,(=\beta c)$ प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान का वेग है, त (ϕ) प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान

$$\text{ऊर्जा} = m c^2 = \frac{m_0 c^2}{\sqrt{1-\beta^2}}$$

$$\text{संवेग} = m v = \frac{m_0 \beta c}{\sqrt{1-\beta^2}}$$
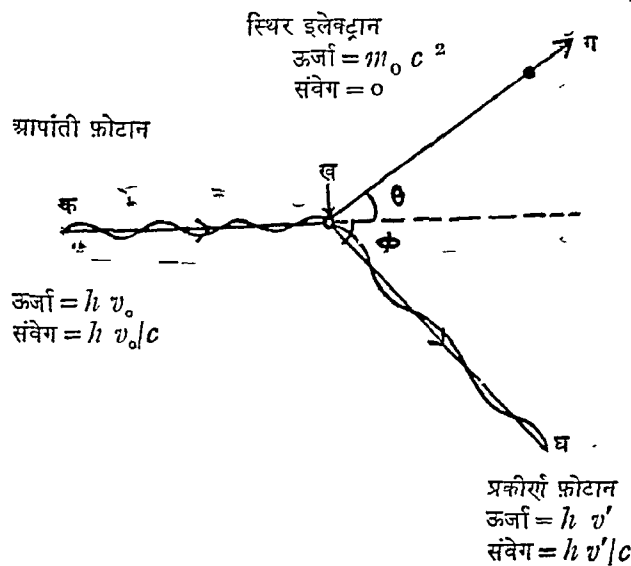
कांपटन प्रकीर्णन

प्रकीर्णन कोण है और थ (θ) प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान की दिशा और आपाती फ़ोटान की दिशा के बीच का कोण है।

इन मूल समीकरणों के उपयोग से हमें निम्नलिखित निष्कर्ष मिलते हैं : कांपटन विचलन—

$$\left.\begin{array}{l}\text{दै}' - \text{दै}_\circ = \dfrac{\text{प्र}}{\text{आ}'} - \dfrac{\text{प्र}}{\text{आ}_\circ} = \dfrac{\text{प्ल}}{\text{द्र}_\circ\,\text{प्र}}\,(1-\text{कोज्या त}) \\ \left[\lambda' - \lambda_\circ = \dfrac{c}{v'} - \dfrac{c}{v_\circ} = \dfrac{h}{m_\circ c}(1-\cos\phi)\right]\end{array}\right\} \ldots (\text{४})$$

विकीर्ण फ़ोटान की ऊर्जा—

$$\left.\begin{array}{l}\text{प्ल आ}' = \dfrac{\text{प्ल आ}_\circ}{1 + \text{ए}\,(1-\text{कोज्या त})} \\ h v' = \dfrac{h v_\circ}{1 + \alpha\,(1-\cos\phi)}\end{array}\right\} \quad (\text{५})$$

$$\text{जिसमें ए} = \frac{\text{प्ल आ}_\circ}{\text{द्र}_\circ\,\text{प्र}^2}\left[\alpha = \frac{h v_\circ}{m_\circ c^2}\right]$$

प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान की गतिक ऊर्जा—

$$\text{ऊ}_{\text{गतिज}} = \text{प्ल आ}_\circ - \text{प्ल आ}' \left[E_k = h v_\circ - h v'\right] \quad (\text{६})$$

$$\left.\begin{array}{l}\text{ऊ}_{\text{गतिज}} = \text{प्ल आ}_\circ \dfrac{\text{ए}\,(1-\text{कोज्या त})}{1+\text{ए}\,(1-\text{कोज्या त})} \\ \left[E_k = h v_\circ \dfrac{\alpha\,(1-\cos\phi)}{1+\alpha(1-\cos\phi)}\right]\end{array}\right\} \quad (\text{७})$$

$$\left.\begin{array}{l}\text{ऊ}_{\text{गतिज}} = \text{प्ल आ}_\circ \dfrac{2\,\text{ए कोज्या}^2\,\text{थ}}{(1+\text{ए})^2 - \text{ए}^2\,\text{कोज्या}^2\,\text{थ}} \\ \left[E_k = h v_\circ \dfrac{2\alpha\cos^2\theta}{(1+\alpha)^2 - \alpha^2\cos^2\theta}\right]\end{array}\right\} \quad (\text{८})$$

प्रकीर्णन कोणों त (ϕ) और थ (θ) का परस्पर संबंध निम्नांकित है

$$\left.\begin{array}{l}\text{कोस्प थ} = (1+\text{ए})\,\text{स्प}\,\tfrac{1}{2}\,\text{त} \\ \left[\cot\theta = (1+\alpha)\tan\tfrac{1}{2}\phi\right]\end{array}\right\} \quad (\text{९})$$

समीकरण (४) से आपाती फ़ोटान और प्रकीर्ण फ़ोटान के तरंग-आयामों का अंतर, जिसे कांपटन विचलन (shift) कहते हैं, ज्ञात होता है। यह कांपटन विचलन केवल प्रकीर्णन कोण पर निर्भर रहता है, आपाती फ़ोटान की ऊर्जा पर बिलकुल नहीं।

क्लाइन-निशीना सूत्र—डीरैक की क्वांटम यांत्रिकी के आधार पर क्लाइन और निशीना ने कांपटन परिणाम के लिये अवकल प्रकीर्णन अनुप्रस्थ काट (differential scattering cross-section) ता (ई$^{\text{ठ}}$), $d\,(e^\sigma)$, ज्ञात किया, जिसकी परिभाषा हम

$$\text{ता (ई}^{\text{ठ}}\text{)},\ [d(e^\sigma)] = \frac{\text{पुनः विकिरण शक्ति}}{\text{आपाती ऊर्जा}} \text{ से कर सकते है।}$$

यदि हम आपाती विकिरण अनभिस्पंदित (unpolarized) लें और प्रकीर्ण फ़ोटान को प्रकीर्णन कोणों त (ϕ) और त + तात ($\phi + d\phi$) के बीच बने ठोस कोण ता ठो ($d\ \Omega$) से जाने दें तो क्लाइन और निशीना के अनुसार

$$\text{ता (ई}^{\text{ठ}}\text{)} = \tfrac{1}{2}\,\text{गा}_\circ^2\,(\text{आ}'/\text{आ}_\circ)^2\,(\text{आ}_\circ/\text{आ}' + \text{आ}'/\text{आ}_\circ - \text{ज्या}^2\,\text{त})\ \text{ता ठो}\ \frac{\text{सेंमी}^2}{\text{इलेक्ट्रान}} \quad (\text{१०})$$

$$\left[d(e^\sigma) = \frac{\gamma_\circ^2}{2}\left(\frac{v'}{v_\circ}\right)^2\left(\frac{v_\circ}{v'} + \frac{v'}{v_\circ} - \sin^2\phi\right) d\Omega\ \text{cm}^2/\text{electron} \quad (10)\right.$$

जिसमें गा$_\circ \equiv$ इ^2/द्र$_\circ$ प्र^2, $\gamma_\circ \equiv e^2/m_\circ c^2$

और ता ठो = २π ज्या त ता त ($d\Omega = 2\pi \sin\phi\, d\phi$).

इस समीकरण का अनुकलन (Integration) करने पर हमें समस्त प्रकीर्णन अनुप्रस्थ काट (total scatterin; cross--section) ज्ञात होता है :

$$ई^{\text{द}} = \pi\, गा_{\circ}^{२} \left\{ \frac{१}{ण} लघु\ (१+२ण) + \frac{४}{ण^{२}} - \frac{२(१+ण)}{ण}\ लघु\ (१+२ण) + \frac{२(१+ण)}{(१+२ण)^{२}} \right\} \quad (११)$$

$$\left[e^{\sigma} = \pi \gamma_{\circ}^{2} \left\{ \frac{1}{a} \log (1+2a) + \frac{4}{a^{2}} - \frac{(1+a)}{a^{3}} \log (1+2a) + \frac{2(1+a)}{(1+2a)^{2}} \right\} \right] \quad \ldots\ldots (11)$$

समीकरण (१०) और (११) प्रयोगों द्वारा सत्यापित किए जा चुके है और इनकी सफलता डिरैक की इलेक्ट्रान थियरी की सत्यता का पहला प्रमाण है, क्योंकि दूसरे प्रमाण, पॉजिट्रान, का आविष्कार कई वर्षो के उपरांत हुआ।

परिवद्ध इलेक्ट्रानों से कांपटन प्रकीर्णन—कांपटन तथा डेवाई और क्लाइन तथा निशीना के समीकरण इसी धारणा पर आधारित है कि इलेक्ट्रान प्रारंभ में अपरिवद्ध और स्थित है। यह धारणा केवल संयोजी (valence) इलेक्ट्रानों के लिये ही मान्य है पर अधिक वंधकारी ऊर्जा (binding energy) वाले इलेक्ट्रानों, जैसे के-या एल-छद (K—or L—shell) इलेक्ट्रानों, के लिये मान्य नही है।

प्रयोगों से यह देखा गया है कि कांपटन प्रकीर्ण विकरण को यदि किसी एक प्रकीर्णन कोण पर मापा जाय तो उसका केवल एक तरंगआयाम नही मिलता, एक निश्चित विस्तार में तरंगआयाम मिलता है। यह तरंग-आयाम का विस्तार (breadth) प्रकीर्णांक के के—तथा एल—(K– तथा L–) इलेक्ट्रानों के संवेग के कारण होता है।

परिवद्ध इलेक्ट्रानों और नाभिक के बीच जो वंधकारी ऊर्जा होती है उसके कारण अधिकतम संभावी कांपटन विचलन में कुछ त्रुटि $\triangle$दै ($\triangle\lambda$) उत्पन्न हो जाती है जो वंधकारी ऊर्जा की अनुपाती होती है :

$$\left.\begin{array}{l} दै'' - दै_{\circ} = \dfrac{प्ल}{द्र_{\circ}\, प्र}(१ - कोज्या\ त) - \triangle दै \\ \left[\lambda'' - \lambda_{\circ} = \dfrac{h}{m_{\circ}c}(1 - \cos\phi) - \triangle\lambda\right] \end{array}\right\} \quad \ldots (१२)$$

$$और \triangle दै = \frac{खबा\ दै_{\circ}^{२}}{प्ल\ प्र} \quad \left[\triangle \lambda = \frac{B\lambda_{\circ}^{2}}{hc}\right] \quad \ldots (१३)$$

जहाँ दै″ (λ'') अधिकतम संभावी प्रकीर्ण तरंग आयाम है और ख (b) एक स्थिरांक है।

सं०ग्रं०—ए० एच० कांपटन तथा एस० के० ऐलिसन : एक्स-रेज इन थियरी ऐंड एक्सपेरिमेंट (डी० वान नोस्ट्रैंड कं०, न्यूयार्क, १९४८); आर० डी० एवांस : दि ऐटोमिक न्यूक्लियस (मैकग्रॉ हिल वुक कं०, न्यूयार्क, १९५५); हांडवुख डर फ़िज़ीक, खंड ३४ (श्प्रिन्गर वरलाग, वर्लिन, १९५८)। (ज० सिं०)

कांपटी महाराष्ट्र राज्य में नागपुर जिले का एक नगर है जो नागपुर नगर से उत्तर-पूर्व १० मील की दूरी पर कनहन नदी के दाहिने किनारे, २१° १३′ उ० अ० और ७९° १२′ पू० दे० पर दक्षिण-पूर्व-रेलमार्ग पर स्थित है। इस नगर की स्थापना एक सैनिक छावनी के रूप में १८२१ ई० में हुई थी। यह काली मिट्टी के उपजाऊ मैदानी क्षेत्र मे स्थित है। इस नगर का उच्चतम स्थान समुद्रतल से ९९६ फुट की ऊँचाई पर है। उत्तर के सतपुड़ा प्रदेश से नागपुर को आनेवाली व्यापारिक सामग्री के लिये कांपटी नगर अपनी अनुकूल स्थिति के कारण वितरक केंद्र रहा है। परंतु रेलमार्गो के विस्तार और सैनिक केंद्र के महत्व मे न्यूनता आ जाने के कारण इसका पूर्वकालीन व्यापारिक महत्व वहुत कम रह गया है। नगर में रुई से विनौला निकालनेवाली कई मिलें है। (कृ० प्र० सिं०)

कांपिल्य, कंपिला कांपिल्य या वर्तमान कंपिला (जिला फर्रुखा-बाद, उ० प्र०) की गणना भारत के प्राचीनतम नगरों में है। इसके नाम का सर्वप्रथम उल्लेख यजुर्वेद की तैत्तरीय संहिता में 'कंपिला' रूप में मिलता है। वहुत संभव है, पुराणों में वर्णित पंचाल नरेश भृम्यश्व के पुत्र कपिल या कापिल्य के नाम पर ही इस नगरी का नामकरण हुआ हो। महाभारत काल से पहले पंचाल जनपद गंगा के दोनों ओर विस्तृत था। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण पंचाल की कांपिल्य थी। दक्षिण पंचाल के सर्वप्रथम राजा अजमीढ़ का पुराणों में उल्लेख है। इसी वंश में प्रसिद्ध राजा नीप और ब्रह्मदत्त हुए थे। महाभारत के समय द्रोणाचार्य ने पंचाल नरेश द्रुपद को पराजित कर उससे उत्तर-पंचाल का प्रदेश छीन लिया था। इस प्रसंग के वर्णन मे महाभारत (१,१३७,७३–७४) में कांपिल्य को दक्षिण पंचाल की राजधानी वताया गया है। उस समय दक्षिण पंचाल का विस्तार गंगा के दक्षिण तट से चंवल नदी तक था। ब्रह्मदत्त जातक में भी दक्षिण पंचाल का नाम कंपिलरट्ठ या कांपिल्य राष्ट्र है। वौद्ध साहित्य में कांपिल्य का वुद्ध के जीवनचरित के संवंध में वर्णन मिलता है। किंवदंती के अनुसार इसी स्थान पर वुद्ध ने कुछ आश्चर्य-जनक कार्य किए थे, जैसे स्वर्ग में जाकर अपनी माता को उपदेश देने के पश्चात् वह इसी स्थान पर उतरे थे। चीनी यात्री युवान च्वांग ने भी सातवीं सदी ई० में इस नगर को अपनी यात्रा के प्रसंग मे देखा था। वर्तमान कंपिला में एक अति प्राचीन ढूह आज भी राजा द्रुपद का कोट कहलाता है एवं वूढ़ी गंगा के तट पर द्रौपदीकुंड है जिससे, महाभारत की कथा के अनुसार, द्रौपदी और धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ था। कुंड से वडे परिमाण की, संभवतः मौर्यकालीन, ईंटें निकली है। कंपिला के मंदिरों से अनेक प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। कंपिला वौद्धधर्म के समान जैनधर्म का भी कुछ दिनों तक केंद्र रह चुकी है, जैसा यहाँ से प्राप्त तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाओं तथा जैन अभिलेखों से सूचित होता है। कांपिल्य के कंपिलनगर, कंपिल्लनगर और कंपिला नाम साहित्य मे उपलब्ध है। इसका अपभ्रंश रूप कांपिल भी मिलता है। कांपिल्य नगरी प्राचीन काल में काशी, उज्जयिनी आदि की भाँति ही प्रसिद्ध थी और प्राचीन साहित्य में इसे अनेक कथाओं की घटनास्थली वनाया गया है, जैसे महाभारत, शांतिपर्व (१३९, २) में राजा व्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की कथा को कांपिल्य में ही घटित कहा गया है।

प्राचीन किंवदंती के अनुसार प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषाचार्य वराह-मिहिर का जन्म कांपिल्य में ही हुआ था। (वि० कु० मा०)

काँसा (संस्कृत कांस्य) संस्कृत कोशों के अनुसार श्वेत ताँवे अथवा घंटा वनाने की धातु को कहते है। विशुद्ध ताँवा लाल होता है; उसमें राँगा मिलाने से सफेदी आती है। इसलिये ताँवे और राँगे की मिश्रधातु को काँसा या कांस्य कहते है। साधारण वोलचाल में कभी कभी पीतल को भी काँसा कह देते है, जो ताँवे तथा जस्ते की मिश्रधातु है और पीला होता है। ताँवे और राँगे की मिश्रधातु को फूल भी कहते है। इस लेख में काँसा से अभिप्राय ताँवे और राँगे की मिश्रधातु से है। अंग्रेजी में इसे ब्रॉञ्ज (bronze) कहते है।

काँसा ताँवे की अपेक्षा अधिक कड़ा होता है और कम ताप पर पिघ-लता है। इसलिये काँसा सुविधापूर्वक ढाला जा सकता है। १६ भाग ताँवे और १ भाग राँगे की मिश्रधातु वहुत कड़ी नहीं होती। इसे नरम गन-मेटल (gun metal) कहते है। राँगे का अनुपात दुगुना कर देने से कड़ा गन-मेटल वनता है। ७ भाग ताँवा और १ भाग राँगा रहने पर मिश्रधातु कड़ी, भंगुर और सुस्वर होती है। घंटा वनाने के लिये राँगे का अनुपात और भी वढ़ा दिया जाता है; साधारणतः ३ से ५ भाग तक ताँवे और १ भाग राँगे की मिश्रधातु इस काम में लिये प्रयुक्त होती है। दर्पण वनाने के लिये लगभग २ भाग ताँवा और एक भाग राँगे का उपयोग होता था, परंतु अव तो चाँदी की कलईवाले काँच के दर्पणों के आगे इसका प्रचलन मिट गया है। मशीनों के धुरीधरों (bearings) के लिये काँसे का वहुत प्रयोग होता है, क्योंकि घर्षण (friction) कम होता है, परंतु धातु को अधिक कड़ी कर देने के उद्देश्य से उसमें कुछ

अन्य धातुएँ भी मिला दी जाती हैं। उदाहरणतः, २४ अथवा अधिक भाग राँगा, ४ भाग ताँवा और ८ भाग ऐंटिमनी प्रसिद्ध 'वैविट' मेटल है जिसका नाम आविष्कारक आइज़क वैविट (Issac Babbitt) पर पड़ा है। इसका धुरीधरों के लिये वहुत प्रयोग होता है। काँसे में लगभग १ प्रतिशत फ़ास्फ़ोरस मिला देने से मिश्रधातु अधिक कड़ी और चिमड़ी हो जाती है। ऐसी मिश्रधातु को फ़ॉस्फ़र ब्रॉन्ज़ कहते हैं। ताँवे और ऐलुमिनियम की मिश्रधातु को ऐल्युमिनियम ब्रॉन्ज कहते हैं। यह धातु वहुत पुष्ट होती है और हवा या पानी में इसका अपक्षरण नहीं होता।

कांसुल प्रजातंत्रयुगीन रोम के उच्चवर्गीय न्यायाधीशों की पदवी। प्राचीन राजतंत्र के पतन के साथ ही इस पद का उत्कर्ष हुआ। रोमन राजनीति एवं समाज में न्याय की जिस आदर्श भावना ने जन्म लिया था उसी ने इस राजकीय पद के अधिकार की रक्षा की। जिन दो पदाधिकारियों ने राजा के स्थान को ग्रहण किया उनमें से एक प्रधान तथा दूसरा न्यायाधीश वना, परंतु जिस सहकारिता की भावना ने राजतंत्र का अंत किया था, उसने एक तीसरे पद को जन्म दिया—कांसुल यानी सहाधिकारी अथवा सहभागी के पद को। सहकारिता के आधार पर स्थापित रोमन प्रजातंत्र का यह प्रथम स्वरूप था। प्रत्येक पद एवं वर्ग में दो कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी, प्रत्येक पदाधिकारी उच्च शासन के समस्त अधिकारों का उपभोग तथा उसके अनुसार शासन कर सकता था, परंतु उसके सहयोगी की संमति के अभाव में उसकी नीति एवं आदेश व्यर्थ सिद्ध हो सकते थे। इसके अतिरिक्त इस पद का जीवन भी अवधि की परिधि से बाँधा गया था। पदकाल की समाप्ति पर ये दोनों ही पदाधिकारी, अन्य दो पदाधिकारियों को, जो उनके स्थान पर नियुक्त होते थे, अपने अधिकार सौंप देने के हेतु वाध्य थे। चूँकि इनकी नियुक्ति का आधार जनता द्वारा उनका चुना जाना था, अतः ये जनता की संमति के प्रति कृतज्ञ होते थे। इस युग में कोमीशिया नामक एक संघ था जो इन पदाधिकारियों का चुनाव करता था। कांसुल का पद आरंभ में केवल उच्च वर्ग के महानुभावों के लिये सुरक्षित था। फिर उच्च वर्ग एवं साधारण जनता में इस पद के लिये संघर्ष हुआ, परिणामतः ३६७ ई० पू० में एक नियम वना जिसके अनुसार दो में से एक कांसुल साधारण वर्ग से चुना जाने लगा।

कांसुल के अधिकार, जैसे जैसे नियम वनते गए वैसे ही वैसे सीमित होते गए, उदाहरणार्थ उसके निर्णय पर अपील करने का नियम, प्रधान के अधिकारों की वृद्धि तथा नियमों और कानूनों का प्रकाशन। साधारण जनता के अधिकारों की रक्षा के हेतु उनके प्रतिनिधियों की नियुक्ति तथा नए न्यायाधीशों की नियुक्त द्वारा भी कांसुल के अधिकारों पर आघात पहुँचा, क्योंकि कांसुल के कुछ उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिए गए। इन सीमाओं एवं वंधनों के परिणामस्वरूप कांसुल का कार्य वहुत थोड़ा सा रह गया। अतः यह स्वाभाविक था कि उसका कार्य साधारणतया शासन के कार्यो के निरीक्षण की ओर उन्मुख हो जाता। और ये कांसुल वास्तव में राज्य के प्रमुख पदाधिकारी हो गए। उन्होंने सिनेट की स्वीकृति से, जिसके वे प्रमुख कर्मचारी थे, नियंत्रण रखा। इस सभा के ये सवसे नियमित सदस्य थे, उसके अंतर्गत हुए वादविवाद को ये घोषणा का रूप देते, तथा सिनेट द्वारा स्वीकृत नियमों को जनता के संमुख प्रकाशित करते, विदेशों में स्वदेश का प्रतिनिधान करते तथा सिनेट के संमुख विदेशी राजदूतों को प्रस्तुत करते। उन्हें दीवानी तथा फौजदारी के न्यायसंवंधी अधिकार भी प्राप्त थे, वैसे ही, धनसंवंधी मामले भी, जैसे सरकार और प्रजा के वीच, तथा इटली नगर राज्यों के मध्य। फौजदारी के तीन प्रकार के मामलों में उन्हें न्याय का अधिकार था। साधारण अपराधों के विरुद्ध नियमों को कार्यान्वित करना, तथा जव सिनेट या जनता किसी आयोग का निर्माण करती थी तव आयोग के सदस्य कांसुल होते थे। इसके अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय नियम के अनुसार किसी अपराध की जाँच भी कांसुल ही करता था। ऐसे विषय में यह संभव था कि उसकी सहायता के लिये हेराल्ड्स की एक समिति भी रहे।

कांसुल रोम में तथा रोम से वाहर स्थित रोमन शासन के भी प्रधान माने जाते थे। अतः यह नितांत आवश्यक था कि प्रशासन संवंधी विभाग निश्चित कर दिए जाते। इस विभागीय वितरण के तरीके भिन्न भिन्न थे; जैसे विदेशी युद्ध दोनों कांसुलों का उत्तरदायित्व था। ऐसी स्थिति में स्थायी सेना को दोनों में वरावर वरावर वाँट दिया जाता था। और जव दोनों सेनाओं को एक दूसरे की सहायता करनी पड़ती तव ये दोनों कांसुल एक एक दिन की वारी से सेना की अध्यक्षता करते थे। कैने (कान) के युद्ध में तथा तीसरी और दूसरी शताव्दी ई० पू० में की गई विजयों में यही पद्धति अपनाई गई। इटली उस समय कांसुल का प्रांत माना जाता था। परंतु जव इटली में युद्ध समाप्ति के पश्चात् शांति की स्थापना हुई तव दोनों कांसुलों ने अपने राजकीय तथा सैनिक क्षेत्र वाँट लिए। इन विभागों को वे या तो समझौते द्वारा निश्चित करते या गोटी डालकर। कुछ काल पश्चात् कांसुल के कर्तव्य निश्चित करने का अधिकार सिनेट के हाथों में चला गया। परंतु राजकीय पदाधिकारी, जिनके ऊपर शासन का भार था, साम्राज्य की सैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ रहे। अतः सेना की अध्यक्षता को स्थायी करने की प्रवृत्ति वढ़ने लगी। अपने शासन की अवधि समाप्त करने के वाद ये शासक एक वर्ष के लिये देश के वाहर प्रांतीय शासन सँभालने के लिये जाने लगे। कभी कभी तो ये नियुक्तियाँ कुछ अधिक काल के लिये नियमपूर्वक की जाती थीं। ५२ ई० पू० में वने एक नियम के अनुसार देश के भीतर एवं विदेशी प्रांतों के शासन की अवधि में पाँच वर्ष का अंतर आवश्यक कर दिया गया। प्रारंभ में राजतंत्रीय शासन के अंतर्गत भी प्रजातंत्र के सिद्धांतों को ही आधार माना गया था। अतः कांसुल के पद की प्रतिष्ठा पूर्ववत् वनी रही तथा एक अध्यक्ष की मृत्यु और दूसरे के चुनाव के मध्य काल में कांसुल शासन के प्रमुख का पद भोगता रहा। सिनेट के अध्यक्षों के रूप में सिनेट के न्याय संवंधी अधिकारों का भी उन्होंने उपभोग किया। यह अधिकार उनकी स्थिति की श्रेष्ठता का द्योतक है और संभव है कि सिनेट में की गई अपील भी कांसुल को ही सौंप दी जाती रही हो। धन एवं व्यक्ति की संरक्षणता के क्षेत्र में उन्होंने राज्य के अध्यक्ष का भी प्रतिनिधान किया। कांसुल का पद विशेषतया सेना की अध्यक्षता की आधारशिला था। इनका पदकाल घटता गया, यथा आरंभिक अधिनायकतंत्र काल में कांसुल की अवधि छह मास थी, उसके पश्चात् चार मास एवं दो मास हो गई। जनवरी में नियुक्त कांसुल 'आर्दिनरी' कहलाते थे तथा अन्य 'सफ़ेक्ती'। कोंस्तांतीन के शासनकाल तक यह अंतर वना रहा। आर्दिनरी सम्राट् के द्वारा मनोनीत होते थे, सफ़ेक्ती सिनेट के द्वारा; परंतु सम्राट् इस नियुक्ति पर भी अपनी स्वीकृति देता था। यह पद अव भी साम्राज्य द्वारा प्रदत्त महत्तम संमान था। परंतु जैसे जैसे इस पद का वाह्य संमान वढ़ता गया, वास्तविक अधिकार घटता गया। कांसुल द्वारा पदग्रहण एक जुलूस से प्रारंभ होता था। उसमें जनता द्वारा मनोरंजनार्थ विभिन्न खेलों का आयोजन होता था, तथा भेंट और उपहार वाँटे जाते थे। परंतु सिनेट, जिसकी वे अध्यक्षता करते थे, अव केवल रोम की नगरपालिका सभा के रूप में रह गया था। उनके द्वारा किए हुए न्याय का मूल्य घट गया था। अंतिम कांसुल ई० ५४१ का वासीलियस है, परंतु सम्राट् इस पदवी को कुछ काल तक भोगते रहे। (प० उ०)

कांसेपीसियो चिली देश के दक्षिणी भाग के मध्य में स्थित इसी नाम के प्रांत का मुख्य नगर है, जो ३६° ४८' द० अ० और ७३° ५' प० दे० पर स्थित है। यह वियो वियो (Bio Bio) नदी के दाहिने तट पर मुहाने से सात मील ऊपर और सेंटियागो नगर से दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम रेल मार्ग द्वारा ३५५ मील की दूरी पर स्थित है। चिली देश के नगरों में महत्व की दृष्टि से इस नगर का तृतीय स्थान है। कुल जनसंख्या १,७८,००० (१९६६) है। यह नगर संपन्न कृषिप्रदेश के मध्य में स्थित व्यापारिक केंद्र है और व्यापार का अधिकांश यहाँ से रेलमार्ग द्वारा आठ मील की दूरी पर कांसेपीसियो की खाड़ी पर स्थित टालक्वानो (ज० सं० १,३९,०००) वंदरगाह से होकर गुजरता है। वाणिज्य की अधिकांश सामग्री कृषि संवंधी है। इस नगर के समीपवर्ती क्षेत्रों में मुख्यतः गेहूँ, आटा, मदिरा, ऊन, गाय-वैल, मांस, चमड़ा, कोयला और लकड़ी इत्यादि वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। औद्योगिक व्यवसायों में आटा पीसना, लकड़ी

चीरना, मेज कुर्सी, कपड़ा, चमकदार सामान, धातु की वस्तुएँ, रासायनिक पदार्थ, गाड़ियों के डब्बे और माहिड़े बनाना है।

कांसिपीसियो नगर समतल मैदानी प्रदेश में समुद्रतल से थोड़ी ही ऊँचाई पर स्थित है। सड़कें चौड़ी हैं और समान क्रम से फैली हैं। यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है। इस नगर की स्थापना पेंड्रो डी वालडीविया ने १५५० ई० में की थी। पहले यह टालक्वानो की खाड़ी पर स्थित था, जहाँ अब पेंको (Penco) नगर स्थित है।

कांसेपीसियो नगर १५७०, १७३० और १७५१ ई० में भूकंपों में नष्ट हो गया। फलस्वरूप १७५५ ई० में इसकी स्थापना पुराने स्थल से सात मील हटकर वर्तमान रूप में हुई। १९३९ ई० के भूकंप से वर्तमान नगर को विशेष क्षति पहुँची थी। (रा० ना० मा०)

कांस्टेबुल, जान अंग्रेज दृश्यचित्रकार, जिसका जन्म ११ जून, १७७६ को सफ़ोक के पूर्वी वर्गनाल्ट में हुआ था। पिता धनी थे जिनकी डेडहम और फ़्लैटफ़ोर्ड में कई पनचक्कियाँ चलती थीं। जान पिता का द्वितीय पुत्र था। १७ वर्ष की आयु में डेडहम ग्रामर स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर वहाँ की चक्कियों की व्यवस्था में लगा दिया गया। बाल्यावस्था से ही उसे चित्रकारी में दिलचस्पी थी और वह इसे अपने अवकाश के समय में निरंतर सीखता रहा। ऐसे ही समय में सर जार्ज ब्यूमांट से उसका परिचय हुआ। उनके यहाँ के चुने हुए चित्रों का उसके ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। चित्रकला में उसकी बढ़ती हुई रुचि देखकर उसके पिता ने सन् १७९५ में जोसेफ़ फ़रिंग्टन से, जो प्रसिद्ध दृश्यचित्रकार था, सलाह लेने के लिये उसे लंदन भेजा। जोसेफ़ ने उसकी मौलिकता को पहचाना और उसे कुछ आधारभूत बातें भी बताईं। प्रसिद्ध कलाकार जे० टी० स्मिथ से उसने एचिंग सीखा। कुछ वर्ष तक वह चित्रकला की साधना में डूबा रहा। चित्रकारों से पत्रव्यवहार करता तथा कभी कभी उनसे मिलने भी जाता। इस साधना की अवधि कुछ लंदन में बीती, कुछ सफ़ोक में। आखिरकार १७९९ की फरवरी में उसने चित्रकला को अपने जीवन का प्रमुख अंग बना लिया। रायल अकादमी का वह विद्यार्थी बना जिसके अध्यक्ष बेंजामिन वेस्ट ने उसे बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने जान को चित्रकला का अध्यापन स्वीकार करने से भी मना किया और इस तरह उसकी मौलिकता को उत्साह मिला। वेस्ट, गेंसबरो तथा गिरतीन का प्रभाव उसकी कला पर बहुत पड़ा। सन् १८०६ से १८०९ तक वह अधिकतर रेनाल्ड तथा हाप्नर की नकल करता रहा। इनका प्रभाव भी उसकी चित्रकला पर गहरा पड़ा। तैलचित्र बनाना भी उसने सीखा और कुछ दिन उसने अपने इस अर्जित ज्ञान को प्रकृति के जीवित रंगों के साथ जोड़ने में बिताया।

'डेडहम घाटी' में जान की कला की अपनी विशेषता दिखाई देती है जो १८११ में प्रदर्शित हुई। १८१६ में पिता की मृत्यु के पश्चात् विवाह कर वह लंदन के रसेल स्क्वायर में बस गया। यहीं उसके बहुत से प्रशंसनीय चित्रों का निर्माण हुआ; जैसे 'फ़्लैटफ़ोर्ड मिल', 'ए काटेज इन कार्नफ़ील्ड', 'द ह्वाइट हॉर्स' तथा 'स्टेटफ़ोर्ड मिल', आदि। १८१९ में उसे रायल अकादमी की सदस्यता मिली, १८२१ में प्रसिद्ध चित्र 'द हेवाइन' का निर्माण हुआ जिसपर उसे स्वर्णपदक प्रदान किया गया।

सन् १८२७ में उसे २० हजार पौंड की एक संपत्ति मिली परंतु उसी वर्ष उसकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। पत्नी की मृत्यु उसके जीवन की सबसे बड़ी हानि सिद्ध हुई। इस चोट को वह जीवनपर्यंत न भूल सका। वह दस वर्ष और जीवित रहा। चित्रकार का जीवन पूर्ववत् चलता रहा, तूलिका अपना कार्य करती रही। 'द मेनोटाफ़' तथा 'अरंडेल मिल ऐंड कैसल' उसके अंतिम चित्र थे। जान के अंतिम दिन गठिया तथा मानसिक शिथिलता में बीते। ३१ मार्च, १८३७ को उसकी मृत्यु हुई। उसकी समाधि हैंपस्टेड गिरजाघर के मैदान में आज भी देखी जा सकती है। कांस्टेबुल वर्तमान दृश्यचित्रकला में अपनी मौलिकता के कारण बहुत ऊँचा स्थान रखता है। चूँकि वह पूर्वी इंग्लैंड का निवासी था जहाँ हरे भरे चरागाह, सुंदर क्षितिज, गाँव और रंग बिरंगे बादलों से भरा आकाश था; वहाँ की प्रकृति ने उसकी कला पर बहुत प्रभाव डाला। यही नहीं, वल्कि उसके हृदय को इतना रँग डाला कि जान के चित्रों में प्रयुक्त रंग चित्रकला के क्षेत्र मे प्रयुक्त आकाश के रंगों में अपना सर्वथा एकाकी स्थान रखते हैं। १८२५ में जब 'सलो' में उसने अपने चित्रों का प्रदर्शन किया, उसकी शैली ने फ्रांस के चित्रकारों को बहुत प्रभावित किया तथा इसके प्रभाव से वहाँ एक नई शैली का जन्म हुआ। किसी पूर्ववर्ती का सहारा उसने कभी नहीं लिया, वल्कि वही रंग उसकी तूलिका पर चढ़े जो उसके चक्षुओं ने स्वयं देखे। आकाश का निरंतर बदलता हुआ चित्र उसकी आँखों से उतर, हृदय को छूता, तूलिका से फिसल पड़ता। प्रकृति का यह स्वाभाविक चित्रण ही उसकी कला की देन है। प्रकृति के जीवित चित्रण के लिये जिन रंगों का प्रयोग उसने किया वे खुरदरे है, साधारण चिकने तथा चमकदार चित्रों से सर्वथा भिन्न। परंतु जिस जीवन को इन रंगों ने निखारा है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। (प० उ०)

कांस्टैंटाइन यह अल्जीरिया में अपने नाम के विभाग (प्रदेश) की, जिसका क्षेत्रफल १९,८९९ वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या सन् १९६६ में १५,१३,७०० थी, राजधानी है। प्राचीन काल में इसका किर्ता नाम विख्यात था। यह अल्जीरिया से २०० मील पूर्व-दक्षिण-पूर्व दिशा में एक चट्टानी प्रायद्वीप पर, जिसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से २,१६२ फुट है, स्थित है। अरबवासियों द्वारा बनवाई गई पत्थर की पक्की दीवार से यह शहर चारों तरफ से घिरा हुआ है। रोमन लोगों ने इसमें कालांतर में चार अत्यंत सुंदर प्रवेशद्वारों का निर्माण कराया। सन् १८३०–३६ ई० में एक सुप्रसिद्ध महल का निर्माण कराया गया, जिसमें, अल्जीरिया के स्वतंत्र होने से पहले, फ्रेंच राज्यपाल का निवास था। नगर ऊनी तथा चमड़े के उद्योगों के लिये प्रसिद्ध है।

नगर की स्थापना फिनीशियन जाति के लोगों द्वारा हुई। राजनैतिक उथल पुथल होते रहने के कारण यह नगर संतोषजनक उन्नति नहीं कर सका। सन् ३१३ ई० में कांस्टैंटाइन प्रथम ने इसको अपने नाम पर फिर से बसाया। यहाँ अरब, तुर्क तथा मूर वासियों में उस समय तक युद्ध होते रहे जब तक पूर्ण रूप से यह फ्रेंच वासियों के अधिकार में (सन् १८३७ ई०) नहीं आ गया। सन् १९४२ में द्वितीय महायुद्ध के समय इसपर संयुक्त राज्य, अमरीका का आधिपत्य हो गया था। इस नगर की जनसंख्या सन् १९६७ में २,५५,००० थी। (ब० सिं०)

कांस्टैंस झील जर्मनी, स्विटजरलैंड तथा आस्ट्रिया राज्यों की सीमाओं से घिरी हुई यह झील मध्य यूरोप में समुद्र की सतह से करीब १,३०९ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसमें गिरनेवाली नदियों में राइन प्रमुख है जो इसके दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित आस्ट्रिया राज्य से ब्रेजेंट्स तथा स्विस राज्यों की सीमा के मध्य में आकर इसमें गिरती है। यह झील उत्तर-पश्चिम की दिशा में बोडानरूक प्रायद्वीप द्वारा दो भुजाओं के रूप में विभाजित हो जाती है। इस झील की सबसे अधिक चौड़ाई १०.५ मील, क्षेत्रफल २०४ वर्गमील तथा सबसे अधिक गहराई ८२७ फुट है।

इसका जल गाढा हरा तथा स्वच्छ है। कभी कभी इसमें एकाएक काफी बाढ़ आती है जो बर्फ से पिघलने से नदियों में अधिक पानी आ जाने के कारण होती है। ऐसे अवसरों पर आसानी से पानी तीन फुट से १२ फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाता है। प्रमुख झील केवल अत्यंत ठंडक के दिनों में ही जमती है। आसपास मत्स्य उद्योग काफी उन्नत दशा में है। भूमि उपजाऊ है तथा आसपास का देश सुंदर बगीचों, ग्रामों तथा नगरों से परिपूर्ण है। इन प्रसिद्ध नगरों के बीच चलनेवाली छोटी छोटी वाष्पचालित नावें झील की सुंदरता में चार चाँद लगा देती हैं। (ब० सिं०)

कांस्य कला काँसा मनुष्य ने कैसे बनाना सीखा, यह कहना कठिन है (द्र० 'काँसा')। कदाचित् ताँबा गलाने के समय उसके साथ मिली हुई खोट के गल जाने के कारण यह अकस्मात् बन गया होगा क्योंकि काँसे की वस्तुएँ तो सुमेर, मिस्र, ईरान, भारत, चीन के प्रागैतिहासिक युग के सभी स्थानों से प्राप्त हुई हैं परंतु इन सभी स्थानों के उन प्राचीन

युग के काँसे की मूल विविध धातुओं के परिमाण में अंतर है। जैसे भारत के एक प्रकार के काँसे में ताँबा ९३.०५ भाग, जस्ता २.१४, निकेल ४.८० भाग तथा आरसेनिक मिला है एवं दूसरी भाँति के काँसे में टिन सुमेर, ईरान इत्यादि के स्थानों की भाँति प्राप्त हुआ है। इस मिली हुई धातु से कारीगर को वस्तुओं को ढालने में बड़ी सरलता हुई तथा इस मिश्रित धातु की बनी कुल्हाड़ी खालिस ताँबे की बनी कुल्हाड़ी से कहीं अधिक धारदार तथा कड़ी बनी। ऐसा अनुमान होता है कि इस धातु के कारीगरों का अपना एक जत्था प्रागैतिहासिक युग में बन गया जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर अपने धंधे का प्रचार करता था। पाषाण की बनी हुई कुल्हाड़ियाँ इन काँसे की कुल्हाड़ियों के समक्ष फीकी पड़ गयीं। इन्होंने इसी धातु से प्रागैतिहासिक पशु आकृतियाँ भी बनाईं। इन्हीं कारीगरों ने कुल्हाड़ी बनाते बनाते चमकते हुए आभूषण भी बनाने प्रारंभ किए जिनके सबसे उत्कृष्ट युग के नमूने हमें जूड़े के काँटों के रूप में हड़प्पा, मोहनजोदेड़ो, खुरेब, हिसार, सूसा, छागर बाजार, लुरिस्तान, ऊर इत्यादि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार काँसे के बने कड़े हड़प्पा, मोहनजोदेड़ो, चान्हूदेड़ो, हिसार, सूसा, सियाल्क, चीन, कीश, ऊर तथा मिस्र से मिले हैं। अँगूठियाँ भी इस धातु की बहुत सुंदर बनी हुई मिली हैं। लूरिस्तान की बनी एक अँगूठी के ऊपर तो बड़े ही सुंदर पशु अंकित हैं।

काँसे को जब कारीगर गलाकर ढालने लगे तो इन्होंने विविध आकृतियाँ भी बनानी प्रारंभ कीं। जूड़े के काँटों के मस्तक पर बने प्रागैतिहासिक युग के पशुओं की आकृतियाँ दर्शनीय हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक काँटे पर एक बारहसिंघा और उसपर आक्रमण करता हुआ एक कुत्ता दिखाया गया है, खुरेब से प्राप्त एक काँटे के मस्तक पर ऊँट, हिसार से प्राप्त काँटे पर हंस, छागर बाजार से प्राप्त काँटे पर बंदर इत्यादि। काँसे की इसके पश्चात् बड़ी बड़ी मूर्तियाँ भी बनने लगीं। इनमें सबसे मुख्य तो इस काल के सुमेर के अन्निपाद के गौ देवी के मंदिर के चबूतरे पर बने दो साँड़ तथा एक सिंह के मुख की चील है जो अपने पंजों में सिंह के दो बच्चों को पकड़े हुए है। साँड़ों के शरीरों पर तिपतिया की उभाड़दार आकृतियाँ बनी हैं। मोहनजोदेड़ो से प्राप्त काँसे की एक ठोस स्त्रीमूर्ति भी दर्शनीय है। इस काल में प्रायः मूर्तियाँ ढालकर बनाई जाती थीं। (द्र० चित्र)

प्रागैतिहासिक युग में काँसे के कारीगरों ने छोटी गाड़ियाँ भी बनाईं जो खिलौनों की भाँति व्यवहार में आती थीं। इस प्रकार की एक बड़ी सुंदर गाड़ी, जिसपर उसका चलानेवाला भी बैठा है, हमें हड़प्पा से प्राप्त हुई है।

काँसे पर उभाड़दार काम की हुई वस्तुएँ सबसे बढ़िया लूरिस्तान से प्राप्त हुई हैं जिसमें एक तरकश पर बना काम तो देखते ही बनता है।

काँसे के बरतन भी इस काल में बने। ऐसे बरतन ईरान, सुमेर, मिस्र तथा भारत के मोहनजोदेड़ो, हड़प्पा तथा लोथल से प्राप्त हुए हैं। ये भी प्रायः ढालकर या पत्तर को पीटकर बनाये जाते थे। पीछे चलकर इन पर उभाड़दार काम भी दिखाई देने लगता है जो कदाचित् मिट्टी पर काम बनाकर उसपर पत्तर रखकर पीटकर बनता था।

पीछे इन मिश्रित धातु की विविध वस्तुएँ बनीं। भारत में भी तक्षशिला से कटोरी के आकार के मसीह पात्र प्राप्त हुए हैं जिनपर ढक्कन लगा हुआ है तथा जिसमें कलम से स्याही लेने के हेतु छेद बना है। ऐसी धातु की बनी घंटियाँ भी यहाँ से प्राप्त हुई हैं। बहुत सी छोटी छोटी चीजों में यहाँ धर्मचक्र के आकार की बनी पुरोहित के डंडे की मूठ, मुर्गे की मूर्ति तथा मनुष्य की मूर्तियाँ इत्यादि बहुत सी मिली हैं। यहाँ पर स्त्री की ठोस मूर्ति, जो कमल पर खड़ी है, बड़ी ही सुंदर है। यह कला ईरान की कला से बहुत प्रभावित ज्ञात होती है क्योंकि ईरान में काँसे से बने बारहसिंघे प्रायः हखमनी काल के मिल चुके हैं तथा काँसे के बरतन भी उसी काल के प्राप्त हुए हैं।

काँसे का बना ई० पू० द्वितीय शताब्दी का एक चीता, जिसके पैर में पहिए लगे हैं, उज्जैन के पास नागदा से भी प्राप्त हुआ है। सिद्धार्थ की काँसे की बनी मूर्ति दक्षिण के नागार्जुन कोंडा से खुदाई में प्राप्त हुई है। यह प्रायः ईसा की प्रथम शताब्दी की है।

इंग्लिस्तान में सिक्के भी काँसे के बने जिसमें प्रायः ९५ प्रतिशत ताँबा, ४ प्रतिशत टिन तथा १ प्रतिशत जस्ता है। प्राचीन फ़ीनीशिया के लोगों ने भी काँसे पर बड़ा सुंदर काम किया। प्राचीन चीन में काँसे पर बड़ी सुदर खुदाई का काम बना। यहाँ प्रायः अजगर के आकार की खुदाई के काम को मुख्यता दी गई। यहाँ के काँसे के दर्पण, घंटे तथा मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। ईरान में कारीगरों ने काँसे पर खुदाई करके बड़े सुंदर बेल बूटे बनाए।

पीछे काँसे के बर्तनों पर ईरानियों ने चाँदी से पच्चीकारी करना भी प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार के जो सुंदर बरतन प्रायः ईसा की १३वीं और १४वीं शताब्दी के प्राप्त हुए हैं, वे दर्शनीय हैं। इनमें ईरान के स्त्री-पुरुषों को बगीचों में क्रीड़ा करते हुए दिखाया गया है। काँसे की जालीदार कटाव के काम की लालटेनें भी अरब में प्रायः ईसा की आठवीं शताब्दी की बनी हुई मिली हैं।

और धातुओं के प्राप्त हो जाने पर भी आज काँसे का उपयोग मनुष्य के जीवन में कम नहीं हुआ है। इसके बनाने की विधि में कुछ अंतर करके वैज्ञानिकों ने विविध प्रकार के काँसे प्रस्तुत कर दिए हैं। आज मूर्ति बनाने के हेतु जो काँसा बनता है उसमें ८५ प्रतिशत ताँबा, ११ प्रतिशत जस्ता तथा ४ प्रतिशत टिन रहता है। एक दूसरे प्रकार का काँसा, जो विद्युत् के तार बनाने के काम में आता है, उसमें ८७ प्रतिशत ताँबा, ९ प्रतिशत टिन तथा ५ प्रतिशत फ़ासफ़ोरस रहता है। यह साधारण काँसे से कड़ा होता है।

आज आभूषण बनाने के हेतु एक प्रकार के काँसे का व्यवहार किया जाता है जिसका रंग सुनहरा होता है। इस धातु को ऐल्यूमिनियम तथा ताँबा विविध भाग में मिलाकर बनाया गया है। इसपर खुदाई का काम बड़ा सुंदर बनता है। जर्मनी में इस प्रकार का काँसा बहुत व्यवहार में आता है और वहाँ के बने इस काँसे के आभूषण आजकल यूरोप और अमरीका में बहुत पहिने जा रहे हैं।

इस प्रकार काँसा मनुष्य के उपयोग में सभ्यता के प्रारंभ से लेकर आज तक आता रहा है। भले ही इसका रंग बदल गया हो या इसकी दूसरी उपयोगिता हो गई हो, परंतु यह मनुष्य का निरंतर साथी रहा है और आगे भी कदाचित् बना रहेगा।

सं०ग्रं०—पिगट, स्टुअर्ट : प्रीहिस्टारिक इंडिया; चाइल्ड, गॉर्डन : ह्वाट हैपेंड इन हिस्ट्री ?; पोप, आर्थर उफ़म : मास्टरपीसेज़ ऑव पर्शियन आर्ट; मार्शल, सर जान : दि इंडस वैली सिविलाइजेशन।

(रा० गो० चं०)

का प्राचीन मिस्रियों के धर्म में द्वितीय आत्मा, जिसका चित्र उनकी लिपि में दो ऊपर उठाए हाथों के रूप में लिखा मिलता है। प्राचीन मिस्री प्रायः तीन आत्माओं में विश्वास करते थे। एक तो शरीर के मरने के साथ ही मर जाया करती थी, पर दो—का और बई—शारीरिक मृत्यु के बाद भी जीवित रहती थीं। 'का' का जन्म शरीर के साथ ही होता था जो जीवनकाल में शरीर की रक्षा करती थी और उसके मर जाने पर भी स्वयं जीवित रह जाती थी। (द्र० 'बई')। (भ० श० उ०)

काइग्रानाइट (Kyanite) अथवा साइग्रानाइट (Cyanite) एक खनिज है जो प्रायः ऐल्यूमिनियम सिलिकेट (ऐ, सि औ, $Al_3 Si O_5$) है। यह नीले चिपट त्रिप्रवणिक (triclinic) मणिभों और मणिभ समुदाय के रूप में प्राप्त होता है। इसके निक्षेप सिंहभूमि जिले के उत्तरी भाग में खर्सवान में लप्सावुरू नामक स्थान पर स्थित हैं। इसके अतिरिक्त बाडिया, बाकरा, उपेरबेदा, मोहनपुर, उपारसोली आदि में भी इसका खनन किया जाता है। लप्सावुरू के काइग्रानाइट निक्षेप संसार के सर्वाधिक विशाल निक्षेप हैं। उड़ीसा में बोनाई तथा ढेनकनाल आदि स्थानों में काइग्रानाइट के कुछ लघु निक्षेप मिले हैं। आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले तथा मध्य प्रदेश के भंडारा जिले में काइग्रानाइट युक्त कुछ शिलाएँ प्राप्त हुई हैं। खर्सवान, सरायकेला, घाटशिला (बिहार) तथा मैनूर के निक्षेपों में आजकल खनन कार्य किया जा रहा है। भारत से इंगलैंड,
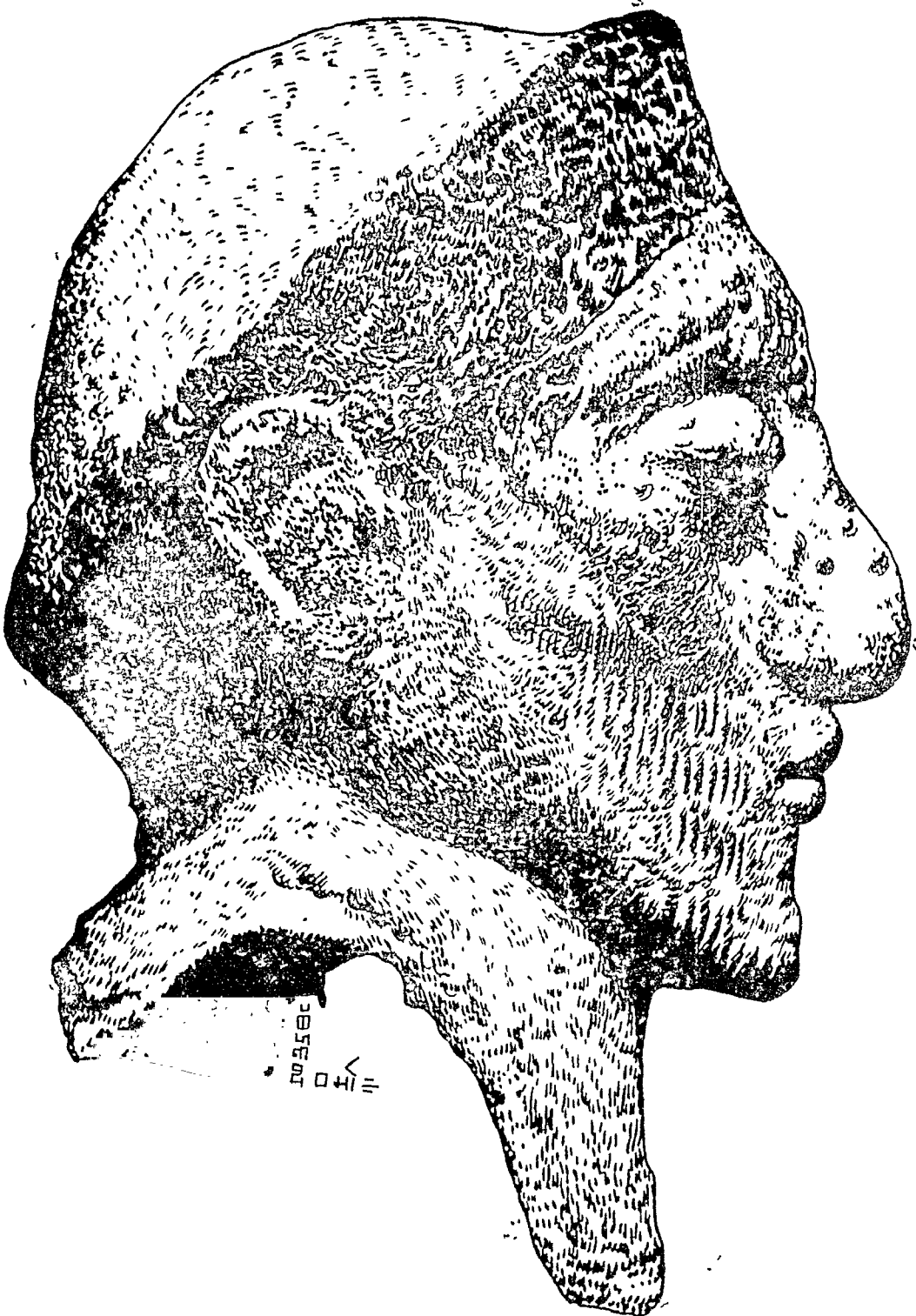
प्राचीन ईरानी कांस्य मुखाकृति

उत्तर पश्चिम ईरान से प्राप्त २००० ई० पू० की खोखली ढाली हुई एक कांस्य मुखाकृति

(जोजेफ़ ब्रूमर के संग्रह से)

कांस्य कला (ई० पू० ४९७)
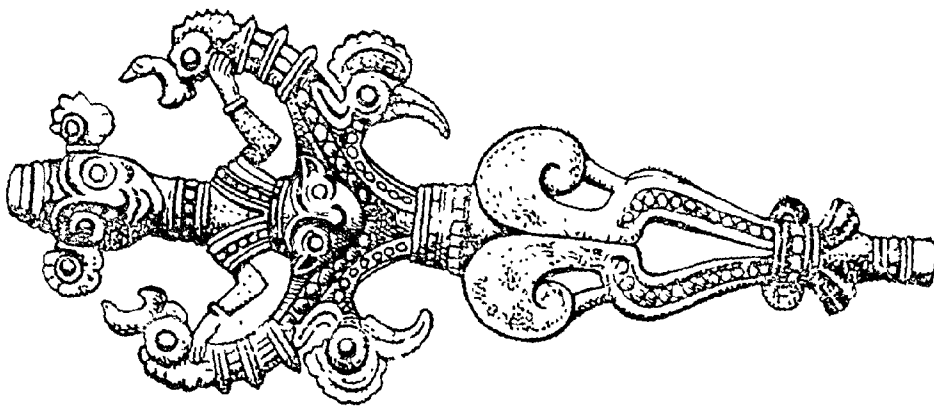
लूरिस्तान से प्राप्त १००० ई० पू० की ७½ इंच की कांसे की बनी ताबीज (डी० जी० केलेकिअन के संग्रह से)
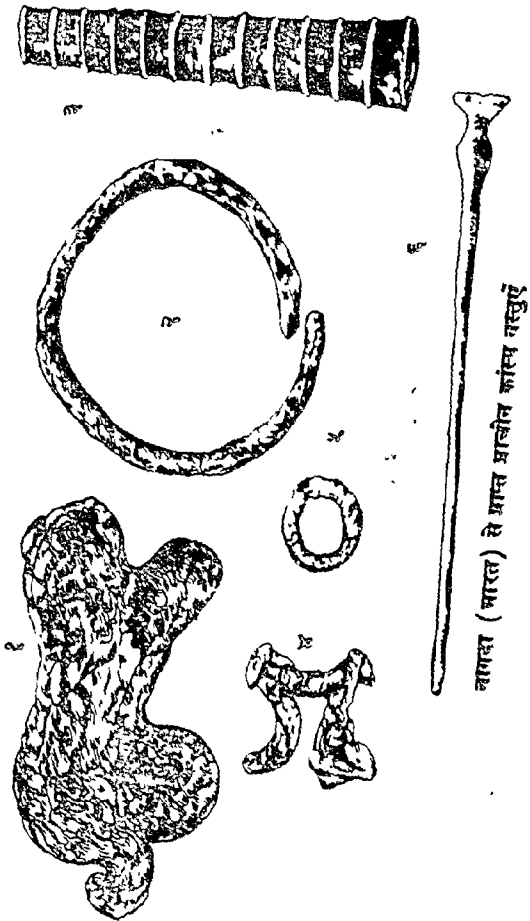
नागदा (भारत) से प्राप्त प्राचीन कांस्य वस्तुएं
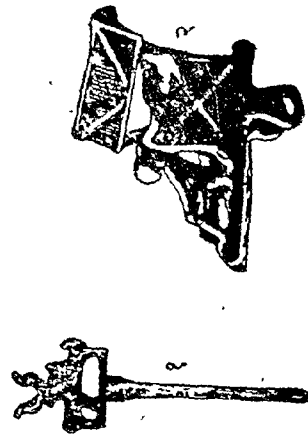
हड़प्पा (भारत) की खुदाई में प्राप्त प्राचीन कांस्य वस्तुएं

अमरीका, वेल्जियम तथा जर्मनी आदि देशों को काइआनाइट भेजा जाता है। गत वर्षों से भारत में भी तापरोधी उपकरणों में इसका उपयोग होने लगा है, जिससे भविष्य में देश की आंतरिक माँग में वृद्धि होने की पूर्ण संभावना है। काइआनाइट में अनेक गुण होने के कारण इसका उपयोग तापरोधक के अतिरिक्त सीमेंट तथा मिट्टी के वरतनों, गैस तथा तेल के तंदूरों (ovens), वकभांडों (retorts), घरियों (crucibles) अप-वारित भट्ठियों (muffle furnaces) तथा अनेक प्रकार के छोटे मोटे उद्योगों में किया जाता है। (वि० सा० दु०)

क़ाइन वाइविल में आदम और हव्वा के ज्येष्ठ पुत्र का नाम क़ाइन (अर्थात् लाभ) रखा गया है। क़ाइन का ईश्वर पर अधूरा विश्वास था अतः ईश्वर ने क़ाइन की अपेक्षा उसके भाई हाविल के वलिदान को अधिक पसंद किया था। यह देखकर क़ाइन ने ईर्ष्यावश अपने अनुज हाविल का वध किया था। फलस्वरूप ईश्वर ने क़ाइन को यायावर की तरह पृथ्वी पर भटकने का शाप देने के साथ साथ उसे पश्चात्ताप करने का भी अवसर प्रदान किया था। क़ाइन उन विधर्मी मनुष्यों का प्रतीक है जो भक्तों से ईर्ष्या करते हैं।

वाइविल के वृत्तांत में क़ाइन विषयक अनेक परंपरागत दंतकथाओं का सहारा लिया गया और उसमें यायावर जातियों की सभ्यता का भी चित्रण हुआ है। इस वृत्तांत की मुख्य धार्मिक शिक्षा इस प्रकार है—(१) आदम के कारण इस पृथ्वी पर पाप का प्रवेश हुआ था (द्र० आदिपाप) जिससे क़ाइन ने अपने पिता की अपेक्षा और घोर पाप किया था; (२) सर्वज्ञ एवं परमदयालु ईश्वर पाप का दंड देकर पश्चात्ताप के लिये भी समय देता है; (३) मनुष्य द्वारा निष्कपट हृदय से चढ़ाया हुआ वलिदान ही ईश्वर को ग्राह्य है; (४) मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे मनुष्य का वध कर सके। (आ० वे०)

काइफांग (नगर) होनान प्रांत की राजधानी है और ह्वांगहो नदी के किनारे ३४° ४८' उ० अ० ११४° २६' पू० दे० पर स्थित है। यह रेलों एवं व्यापारों का वहुत वड़ा केंद्र है। इसकी मुख्य व्यापारिक वस्तुएँ रेशम और रुई की वनी हुई चीजें, फल, पशु और नमक हैं।

यह नगर प्राचीन समय में भी राजधानी था। चारों ओर से सड़कों के आकर मिलने के कारण यह पश्चिमी राज्यों का नगरद्वार रहा है। यहाँ पर अधिक संख्या मुसलमानों की है। यहूदियों की वस्तियों के भग्नावशेष यहाँ आज भी मिलते है। पास के प्रदेश में गेहूँ, ज्वार, वाजरा एवं कपास की खेती होती है तथा घोड़े, खच्चर, सूअर और भेड़ पाले जाते हैं। यह नगर ह्वांगहो नदी की वाढ़ से ग्रसित है। (वि० रा० सिं०)

काउंटी न्यायालय वर्तमान काउंटी न्यायालय सर्वप्रथम काउंटी न्यायालय अधिनियम, १८४६, के अंतर्गत स्थापित किए गए थे। आजकल ये न्यायालय अन्य अधिनियम द्वारा संशोधित काउंटी न्यायालय अधिनियम, १६३४, से नियंत्रित होते है। ये व्यवहार विषयक लघु विवादों में अपना निर्णय देते हैं। इनके न्यायाधीश लार्ड चांसलर द्वारा उन वकीलों में से नियुक्त किए जाते है जो सात वर्ष तक वकालत कर चुके होते हैं। निर्धारित मूल्यों के अनुवंध (कांट्रैक्ट) से संवंधित ऋण और किसी त्रुटि (टार्ट) से संवंधित हानि के विवाद, निर्धारित वार्षिक मूल्य अथवा लगान (अथवा किराया) की भूमि के विवाद, और न्याय्यता (ईक्विटी) और प्रमाण (प्रोवेट) विषयक निर्धारित मूल्य के विवाद इन न्यायालयों द्वारा तय किए जाते हैं। कुछ काउंटी न्यायालयों को परिमित नौकाधिकरण (ऐडमिरैल्टी) विषयक क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हैं। ये किसी भी मूल्य के उन विवादों को भी तय करते हैं जो दोनों पक्षों की संमिलित राय से उनके समक्ष प्रस्तुत किए गए हों अथवा उच्च न्यायालय द्वारा प्रेपित किए गए हों। इन न्यायालयों को विभिन्न अधिनियमों के अंतर्गत, जिनमें दिवाला, किराया, रहन और कृषि आदि से संवंधित अधिनियम उल्लेखनीय हैं, विशेष क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। इन न्यायालयों की प्रक्रिया सरल है और विवादों में उच्च न्यायालय की अपेक्षा व्यय भी कम होता है। इसलिये ये न्यायालय अति लोकप्रिय हो गए हैं। विधि संवंधी प्रश्नों पर इन न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील-न्यायालय (कार्ट ऑव अपील) में अपील की जा सकती है। (जि० कु० मि०)

काउत्स्की, कार्ल (१८५४–१६३८) इस जर्मन मार्क्सवादी का जन्म १० अक्टूबर, सन् १८५४ ई० को प्राग में हुआ था। यह मार्क्स का मित्र तथा प्रिय शिष्य था और एंगेल्स का मृत्यु के वाद इसको ही मार्क्सवादी दर्शन का सवसे वड़ा व्याख्याकार माना जाता था। सन् १८८३ ई० में इसने एक समाजवादी पत्र निकालना प्रारंभ किया जो सन् १६१७ तक निकलता रहा। सन् १८६१ ई० की एरफ़ुर्ट योजना के प्रवर्तक के रूप में इसने मार्क्सवादी विचारधारा को रूपांतरित करने के आदोलन का विरोध किया। सन् १६१४ ई० में प्रथम महायुद्ध का प्रारंभ होने पर इसने शांतिवादी दृष्टिकोण अपनाया और सन् १६१७ ई० में इंडिपेंडेंट सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी में संमिलित हुआ। यह रूसी क्रांति के सर्वथा विरुद्ध था तथा लेनिन, त्रात्स्की आदि रूसी नेताओं के विरुद्ध इसने काफी प्रचार किया। इसने अपनी पुस्तक 'डिक्टेटरशिप ऑव द प्रालिटेरियट' में लेनिन के सिद्धांतों तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना का खडन किया और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि रूसी क्रांति पूँजीपतियों की क्रांति है। यह सन् १६३४ ई० में चेकोस्लोवाकिया का नागरिक वना परंतु रहता वियना ही में था और वहीं से आस्ट्रिया के समाजवादी दल का निर्देशन करता रहा। मार्च, सन् १६३८ ई० में, जव जर्मन सेनाओं ने आस्ट्रिया में प्रवेश किया तव, इसने चेकोस्लोवाकिया में भाग कर शरण ली। परंतु शीघ्र ही इसे वहाँ से आंटर्डम भागना पड़ा जहाँ १७ अक्टूबर, सन् १६३८ ई० को इसका निधन हो गया। (रा० अ०)

काउनित्स-रीतवर्ग, वेंत्सेल आंतोन (१७११–६४) आस्ट्रिया का चांसलर और राजनीतिज्ञ। काउंट मावर्स उलरिख़ का पुत्र। सम्राट् चार्ल्स पष्ठ की मृत्यु के वाद उसने साम्राज्ञी मारिया थेरेसा का मंत्रित्व स्वीकार कर लिया और १७४४ में वह वेल्जियम का राज्यपाल वना दिया गया। आया–ला–शापेल की शांति-कांग्रेस में जिस रीति से उसने आस्ट्रिया के अधिकारों का प्रतिनिधान किया, उससे वह यूरोप के प्रधान राजनीतिज्ञों में गिना जाने लगा। साम्राज्ञी ने प्रसन्न होकर उसे अपना विशिष्ट परामर्शदाता वनाया और अपनी सारी योजनाओं को, कार्य रूप में परिणत करने के लिये, उसे सौंप दिया। प्रायः ४० वर्ष काउनित्स पूर्वी और मध्य यूरोपीय राजनीति पर छाया रहा। उसकी नीति का परममंत्र था आस्ट्रिया के राजकुल के अधिकारों की रक्षा करना। वह फ्रांसीसी राज्यक्रांति को समुचित रूप से समझ न सका फिर भी उसके विरोध में उसने मेटर्निक की नीति का समर्थन किया। वह १७६४ में मरा। (चं० भा० पां०)

काकति, वाणीकांत वाणीकांत काकति का जन्म नवंवर, १८६४ ई० में कामरूप जिले के वाटीकुरिहा ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम ललितराम काकति, माता का लाहोवाला काकति तथा पत्नी का कनकलता था। १६१८ में इनकी नियुक्ति कॉटन कालेज में अध्यापक पद पर हुई। उक्त कालेज में अध्यापन कार्य करते हुए इन्होंने असमिया भाषा, इसके गठन और क्रमपरिवर्तन विषय पर शोधप्रवंध लिखकर कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'पी-एच० डी०' की उपाधि प्राप्त की। ये दो वर्ष तक कॉटन कालेज के प्रधानाचार्य भी रहे। अवकाश प्राप्त करने के कुछ दिनों पश्चात् इनकी नियुक्ति गौहाटी विश्वविद्यालय के डीन, फ़ैकल्टी ऑव आर्ट्स पद पर हुई और मृत्युपर्यंत ये इसी पद पर कार्य करते रहे। कामरूप अनुसंधान समिति के पुनर्गठन का श्रेय इन्हीं को है। १५ नवंवर, १६५२ को शनिवार के दिन इनका निधन हुआ।

इनकी रहन सहन सर्वसाधारण से भिन्न न थी। सत्य तथा ईश्वर में इनका अगाध विश्वास था, किंतु ये किसी कार्य को ईश्वर के भरोसे न छोड़ते थे। कठोर परिश्रम द्वारा व्यक्ति अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है, इस सिद्धांत में इनकी आस्था थी। स्पष्टवादिता और कठोर सत्य वोलने के कारण कुछ लोग इनसे अप्रसन्न भी रहते थे।

इन्होंने असमिया भाषा, साहित्य और संस्कृति की एकनिष्ठ सेवा की। साहित्यचर्चा इनके जीवन का एकमात्र व्रत थी। आधुनिक असमिया समालोचकों में काकति को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। साधारण असमिया शब्दों का प्रयोग इनकी शैली की विशेषता है; कहीं कहीं इनकी भाषा गद्यसुलभ काव्य में परिणत हो गई है और उसमें छंदों की झनकार सुनाई देती है।

इनके ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—पुरणि कामरूपर धर्मर धारा; कलिता जातिर इतिवृत्त; पुरणि असमिया साहित्य विष्णुइट मिथ्स ऐंड लीजेंड्स; मदर गॉडेस कामाख्या; साहित्य आरु प्रेम; असमिया भाषा, इसका गठन और क्रमपरिवर्तन; लाइफ़ ऐंड टीचिंग ऑव शंकरदेव; स्टडीज़ फ़ाम असमीज़ हिस्ट्री; तथा परिवला। (ला० शु०)

काकतीय राजवंश ११६० ई० के बाद जब कल्याण के चालुक्यों का साम्राज्य टूटकर बिखर गया तब उसके एक भाग के स्वामी वारंगल के काकतीय हुए, दूसरे के द्वारसमुद्र के होएसल, और तीसरे के देवगिरि के यादव। स्वाभाविक ही यह भूमि काकतीयों के अन्य शक्तियों से संघर्ष का कारण बन गई। काकतीयों की शक्ति प्रोलराज द्वितीय के समय विशेष बढ़ी। उसके पौत्र गणपति ने दक्षिण में कांची तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। गणपति की कन्या रुद्रंमा इतिहास में प्रसिद्ध हो गई है। उसकी शासननीति के प्रभाव से काकतीय साम्राज्य की समुन्नति हुई। वेनिस के यात्री मार्को पोलो ने रुद्रंमा की बड़ी सराहना की है। प्रतापरुद्रदेव प्रथम और द्वितीय, काकतीय राजाओं, को दिल्ली के सुल्तानों से भी संघर्ष करना पड़ा। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा भेजी सेना को १३०३ ई० में काकतीय प्रतापरुद्रदेव से हारकर लौटना पड़ा। चार वर्ष बाद यादवों की पराजय से उत्साहित होकर मुसलमान फिर काकतीय नरेश पर चढ़ आए। सुल्तान का उद्देश्य वारंगल के राज्य को दिल्ली की सल्तनत में मिलाना न था—उस दूर के राज्य का, दूरी के ही कारण, समुचित शासन भी दिल्ली से संभव न था—वह तो मात्र प्रतापरुद्रदेव द्वारा अपना आधिपत्य स्वीकार कराना और उसका अमित धन स्वायत्त करना चाहता था। उसने अपने सेनापति मलिक काफूर को आदेश भी दिया कि यदि काकतीय राजा उसकी शर्तें मान लें तो उसे वह बहुत परेशान न करे। प्रतापरुद्रदेव ने वारंगल के किले में बैठकर मलिक काफूर का सामना किया। सफल घेरा डाल काफूर ने काकतीय नरेश को १३१० में संधि करने पर मजबूर किया। मलिक काफूर को काककीय राजा से भेंट में १०० हाथी, ७,००० घोड़े और अनंत रत्न तथा ढाले हुए सिक्के मिले। इसके अतिरिक्त राजा ने दिल्ली के सुल्तान को वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया। अलाउद्दीन की मृत्यु पर फैली अराजकता के समय प्रतापरुद्रदेव द्वितीय ने वार्षिक कर देना बंद कर दिया और अपने राज्य की सीमाएँ भी पर्याप्त बढ़ा लीं। शीघ्र ही तुग़लक वंश के पहले सुल्तान गयासुद्दीन ने अपने बेटे मुहम्मद जौना को सेना देकर वारंगल जीतने भेजा। जौना ने वारंगल के किले पर घेरा डाल दिया और हिंदुओं ने जी तोड़कर उसका सामना किया तो उसे बाध्य होकर दिल्ली लौटना पड़ा। चार महीने बाद सुल्तान ने वारंगल पर फिर आक्रमण किया। घमासान युद्ध के बाद काकतीय नरेश ने अपने परिवार और सरदारों के साथ आत्मसमर्पण कर दिया। राजा दिल्ली भेज दिया गया और काकतीय राज्य पर दिल्ली का अधिकार हो गया। जौना ने वारंगल का सुल्तानपुर नाम से नया नामकरण किया। वैसे काकतीय राज्य दिल्ली की सल्तनत में मिला तो नहीं लिया गया पर उसकी शक्ति सर्वथा टूट गई और उसके पिछले काल के राजा श्रीविहीन हो गए। वारंगल की पिछले काल की एक रानी ने तेलंगाना को शक्ति तो नहीं पर शालीनता निश्चय प्रदान की जब अपनी अस्मत पर हाथ लगाने का साहस करनेवाले मुसलमान नवाब के उसने छक्के छुड़ा दिए। तेलंगाना का अधिकतर भाग निजाम के अधिकार में रहा है और उसकी राजधानी वारंगल रही है।

काकनी स्कूल स्काटलैंड के साहित्यालोचकों द्वारा लंदन के एक विशिष्ट लेखकवर्ग के लिये प्रयुक्त एक तिरस्कारपूर्ण अभिव्यक्ति। 'काकनी' (Cockney) शब्द का प्रयोग सबसे पहले अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक लॉकहर्ट ने कीट्स की रचनाओं के लिये किया था। तत्पश्चात् १८१८ ई० में 'ब्लैकवुड्स मैगज़ीन' में प्रकाशित एक धारावाहिक लेख का शीर्षक 'काकनी स्कूल' के नाम से सामने आया। उक्त पत्रिका ने शेली तथा हैज़लिट को भी काकनी लेखकों की श्रेणी में रखा था, लेकिन आक्रमण मुख्यतया ले हंट तथा कीट्स पर ही किया गया था। काकनी लेखकों को लेकर जो कुछ भी लिखा गया, उसमें न केवल उक्त लेखकों के कृतित्व अपितु व्यक्तित्व को भी निम्न तथा कुत्सित बताया गया है। (कै० चं० श०)

काकभुशुंडि तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में रामकथा के वक्ता। शंकर ने हंस का रूप धारण कर काकभुशुंडि से रामचरित सुना था (मानस, बालकांड)। ये अपने पूर्व भव में ब्राह्मण थे किंतु लोमश मुनि के शाप से कौए की योनि में आ गए थे। मानस में प्राप्त विवरण के अनुसार ये न केवल महान् ज्ञानी थे बल्कि विष्णु के अवतार राम के परम भक्त होने के कारण इन्होंने अमरत्व भी प्राप्त किया था। प्रसिद्धि है कि राम एक बार अपने आँगन में खेल रहे थे तो काकभुशुंडि उनके हाथ से पुए का टुकड़ा लेकर उड़ गए। राम के इशारे पर गरुड़ ने काकभुशुंडि का पीछा किया। काकभुशुंडि को तीनों लोकों में कहीं भी आश्रय न मिला। अंत में, बुरी तरह घायल एवं थकान से चकनाचूर काकभुशुंडि को राम की ही शरण में आना पड़ा, तभी उनकी रक्षा हुई। काकभुशुंडि राम के बालरूप के उपासक थे। (कै० चं० श०)

काकिनाड एक नगर तथा समुद्री बंदरगाह है। यह आंध्र प्रदेश के पूर्व गोदावरी जिले में इसी नाम के ताल्लुके का मुख्यालय है। (स्थिति १६° ५७' उ० अ० तथा ८२° १४' पू० दे०)। सन् १९६१ ई० में इसकी जनसंख्या १,२२,८६५ थी।

वर्तमान नगर की नीवें १७वीं सदी में डचों ने डाली थी। जब यह नगर सन् १८२५ ई० में अंग्रेजों के अधिकार में चला गया तो इसका विकास धीमा हो गया। यह समुद्रतटीय रेलवे की एक उपशाखा द्वारा कलकत्ता से मद्रास जानेवाले मुख्य रेलमार्ग से मिला हुआ है। इसका बंदरगाह अर्धप्राकृतिक है, जिसका विकास एक सीमा तक ही हो सका है। समुद्रतट से प्रायः ४॥ मील अंदर आने के बाद माल लादा तथा उतारा जाता है। इस बंदरगाह से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में कपास, तिलहन, तंबाकू, तथा दाल मुख्य हैं। आयात मुख्यतः उपभोग की वस्तुएँ, जैसे कपड़ा, मिट्टी का तेल और चावल आदि हैं। नगर का मुख्य धंधा चावल साफ करना, तंबाकू की वस्तुएँ बनाना, आदि हैं। यहाँ अनेक शिक्षा संस्थाएँ और औषधालय हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय भारतभूमि पर हुए जापानी हवाई हमले का पहला बम यहीं गिरा था। (द० प्र० रा०)

काकेशिया सोवियत संघ का एक विशाल प्रायद्वीप, तुर्की और ईरान के उत्तर, कालासागर और कैस्पियन सागर के मध्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग ८०,००० वर्ग मील है। इसके उत्तर में बृहत् काकेशस तथा दक्षिण में लघु काकेशस पर्वत हैं। इन दोनों पर्वतश्रृंखलाओं के मध्य काकेशिया की समतल भूमि है जिसके उत्तर की ओर कूबन और टेरेक नामक दो प्रमुख नदियाँ बहती हैं। काकेशस प्रदेश के अधिकांश लोग यहीं निवास करते हैं। यहाँ की जलवायु उपोष्णकटिबंधीय है। काले सागर की नम हवाओं के फलस्वरूप पश्चिमी तटवर्ती भाग को सोवियत कैलिफोर्निया की संज्ञा मिली है। अतएव यह भूखंड उपोष्ण कटिबंधीय अन्न और फल के लिये पूर्ण उपयुक्त है। इसके प्रायः विपरीत परिस्थिति में पूर्वी तटवर्तीय प्रदेश है जहाँ मध्य एशिया की मरुभूमि से शुष्क हवाएँ आकर इसे अर्ध मरुभूमि में परिवर्तित कर देती हैं। अतः यहाँ की कृषि सिंचाई पर निर्भर रहती है। इस भूभाग की मुख्य उपज कपास है।

यहाँ की पर्वतमालाएँ खनिज पदार्थों से भरी हैं तथा इनमें पशुपालन की भी सुविधा है। इस प्रदेश की नदियाँ तीव्रगामिनी हैं अतएव गमनागमन के लिये अनुपयोगी हैं। परंतु इनसे पर्याप्त जलविद्युत् शक्ति मिलती है। अधिकांश भाग पर्वतीय होने के कारण यातायात के साधनों की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है फिर भी यहाँ की तीन प्रमुख रेलवे लाइनें इसे सोवियत

कांस्य कला (द्र० पृ० ४९७)
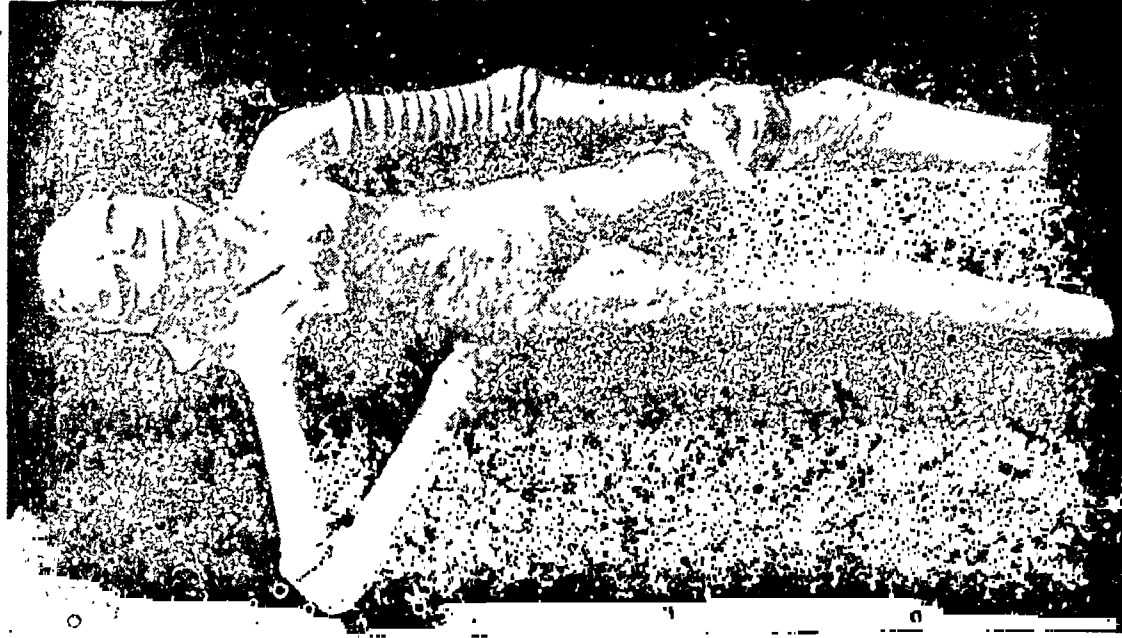
(सामने से) मोहन जोदड़ो की नर्तकी की कांस्य मूर्ति (ल० २५०० ई० पू०) (बगल से)

(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

कागज (द्र० पृ० ५०१)
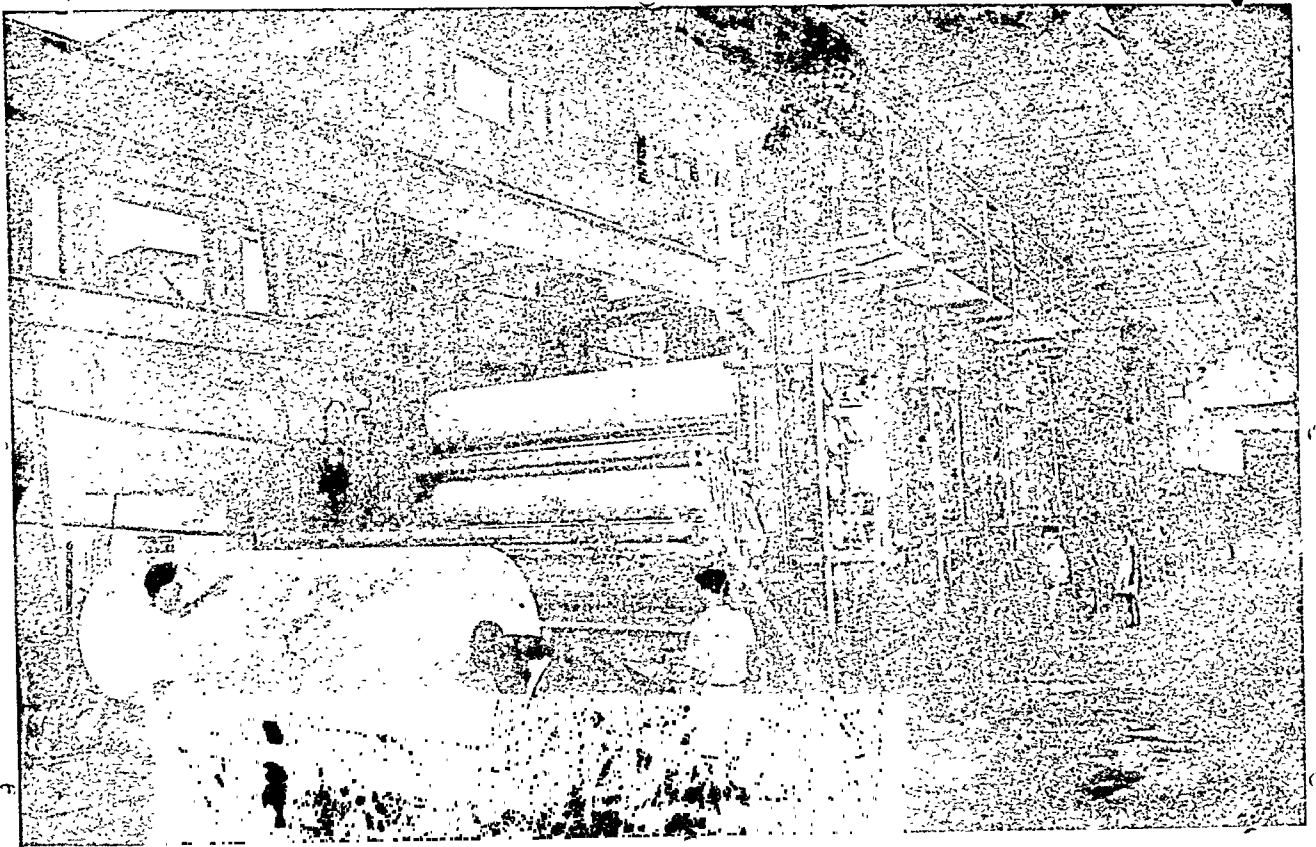
डयूप्लेक्स कागज बनाने की मशीन

इस कागज के संमुख तथा पृष्ठतल भिन्न रंगों और चिकनाहट के होते हैं। ऐसे ही कागज की सिगरेट की डिबियाएँ बनती हैं।
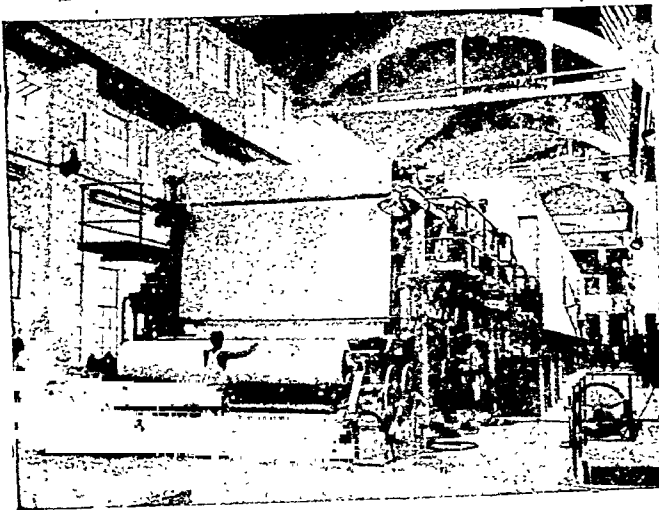
विशिष्ट आवरण चढ़ाने की मशीन

इसके द्वारा आवृत (coated) कागज तैयार होते हैं।
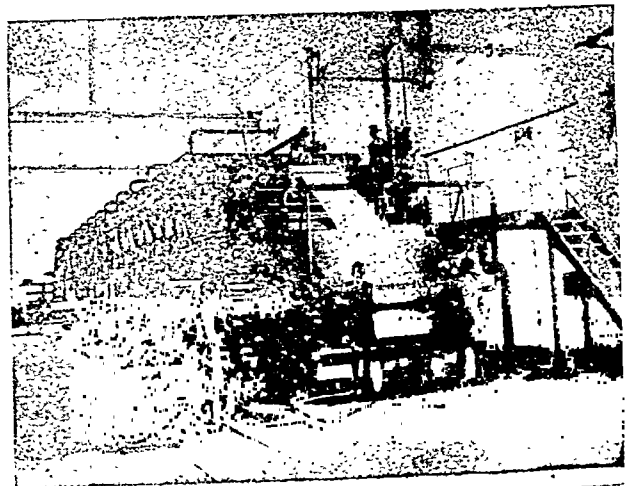
अधिनिष्पीड़ित करने की मशीन

छपाई के लिये उत्कृष्ट कोटि के कागजों को इससे अधिनिष्पीड़ित (super-calendering) किया जाता है।

(डालमियानगर के श्री विष्णु पोद्दार के सौजन्य से प्राप्त)

सघ के अन्य भागों से मिलाती है और समुद्रीय यातायात भी पर्याप्त उन्नति पर है। यूरोप और एशिया के सन्निकट होने के फलस्वरूप इस प्रदेश में जातीय विभिन्नता है। प्रायः तीस प्रमुख जातियाँ यहाँ निवास करती हैं। इस प्रायद्वीप का शासन १८ प्रशासनिक खंडों में होता है।

रूस के संपूर्ण तेल का आधा भाग यहीं से निकाला जाता है। अतएव यहाँ का मुख्य उद्योग तेल निकालना और उसे शुद्ध करना है। तेल की संसारप्रसिद्ध खान बाकू तथा मैकाप और ग्रोजनी इसी प्रदेश में स्थित हैं। संसार का सर्वश्रेष्ठ मैंगनीज उत्पादक स्थान, जॉर्जिया भी यहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य खनिज पदार्थ भी यहाँ मिलते हैं। इस प्रदेश का मुख्य निर्यात पेट्रोल, कपास, मैंगनीज तथा अन्य खनिज पदार्थ हैं। निर्यात में फल का भी विशेष महत्व है। खाद्यान्न के लिये इसे कूबन की समभूमि पर निर्भर रहना पड़ता है। (कु० प्र० सिं०)

काकोरी पड्यंत्र केस द्र० 'चंद्रशेखर आजाद'।

कावस, डेविड (१७८३-१८५९) अंग्रेज चित्रकार डेविड कावस का नाम कांस्टेबुल जैसे श्रेष्ठ कलाकारों के साथ लिया जाता है। इंग्लैंड के दृश्यों का चित्रण ही इनकी कृतियों में अधिक हुआ है। बर्मिघम आर्ट गैलरी तथा ब्रिटिश म्यूजियम में इनकी कृतियाँ आज भी देखी जा सकती हैं। इनके 'शांति और युद्ध' तथा 'क्लाइड वैली' नामक चित्र प्रसिद्ध हैं। (भा० स०)

काग (कॉर्क) वृक्षों के तनों में बाह्यत्वचा (epidermis) के स्थान पर अवस्थित मृत कोशिकाओं के बने ऊतकों का मोटा स्तर होता है। इनके कारण सामान्यतः हवा और पानी पेड़ के भीतर नहीं जा सकते। प्रायः सभी वृक्षों में काग पाया जाता है, परंतु कुछ वृक्षों के तनों पर काग प्रचुर मात्रा में बनता है, जैसे त्वक्षा-वजु (काग-ओक, Quercus suber occidentalis) में। इनमें से समय समय पर यह व्यापार के लिये निकाला जाता है। यह पौधा फागेसी (Fagaceae) कुल का सदस्य है। त्वक्षा-वजु के वृक्ष ३० से ४० फुट तक ऊँचे होते हैं। ये दक्षिणी यूरोप तथा अफ्रीका के उत्तरी समुद्री तटों के देशज हैं। १५ से २० वर्षीय वृक्षों से काग निकलने लगता है। जून से अगस्त तक यह कार्य संपन्न होता है। भूमि से कुछ ऊपर और फिर शाखाओं के कुछ नीचे तने के चारों ओर गड्ढा काट दिया जाता है। इसके बाद काग को इन दोनों कटे भागों के बीच में से लंबी पट्टियों के रूप में निकाल लिया जाता है।
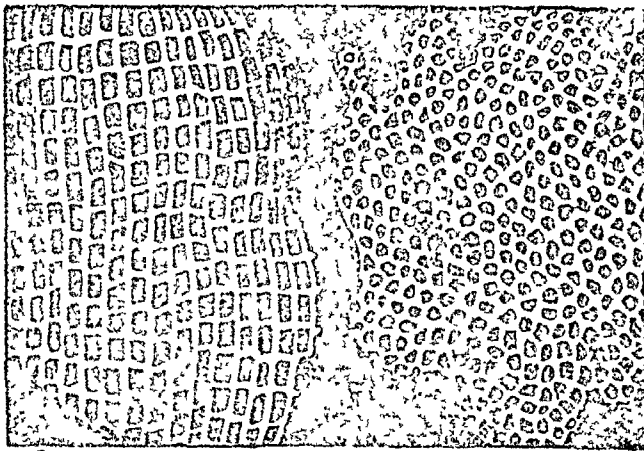
सूक्ष्मदर्शी यंत्र की सहायता से दिखाई पड़नेवाली काग की आंतरिक रचना

(रॉबर्ट हुक ने सन् १६६५ में इसे पहली बार देखा था।)

काग पूर्णतया कोशिकाओं से बना रहता है। प्राकृतिक काग के एक घन इंच में लगभग २०,००,००,००० सूक्ष्म, वायु से भरी हुई मृत कोशिकाएँ रहती हैं। काग का आपेक्षिक गुरुत्व केवल लगभग ०.२५ होता है। काग की उत्प्लावकता (buoyancy), संपीड्यता (compressibility), प्रत्यास्थता (elasticity), वायु और पानी की अप्रवेश्यता (imperviousness), उच्च घर्षण-गुणांक (coefficient of friction), न्यून उष्मा-चालकता आदि गुण इनकी विशिष्ट रचना के फलस्वरूप होते हैं।

१९वीं शताब्दी के लगभग अंत तक काग बोतलों के डाटों, प्लवों (floats), उत्प्लवों (buoys), टोपों और जूतों के तल्ले बनाने के काम आता था। इसके पश्चात् इसका उपयोग अनेक अन्य आवश्यक कार्यों में भी होने लगा, जैसे अचालक काग दफ्तियों द्वारा शीत गोदामों के बनाने में तथा मोटरों के गैसकट और खाने पीने की वस्तुओं को पैक करने के लिये। (रा० कु० स०)

कागज पौधों में सेल्यूलोस नामक एक सकीर्ण कार्बोहाइड्रेट होता है जो पौधों की कोशिकाओं की भित्ति बनाता है। कोशिकाएँ जीव की इकाइयाँ होती हैं। अतः सेल्यूलोस पौधों के पंजर का मुख्य पदार्थ है।

सेल्यूलोस के रेशों को परस्पर जुटाकर एकसम पतली चद्दर के रूप में जो वस्तु बनाई जाती है उसे कागज कहते हैं। कागज मुख्य रूप से लिखने और छपाई के लिये प्रयुक्त होता है।

कोई भी पौधा या पदार्थ, जिसमें सेल्यूलोस अच्छी मात्रा में हो, कागज बनाने के लिये उपयुक्त हो सकता है। रुई लगभग शुद्ध सेल्यूलोस है, किंतु कागज बनाने में इसका उपयोग नहीं किया जाता क्योंकि यह महँगी होती है और मुख्य रूप से कपड़ा बनाने के काम में आती है।

परस्पर जुटकर चद्दर के रूप में हो सकने का गुण सेल्यूलोस के रेशों में ही होता है और इसी कारण कागज केवल इसी से बनाया जा सकता है। रेशम और ऊन के रेशों में इस प्रकार परस्पर जुटने का गुण न होने के कारण ये कागज बनाने के काम में नहीं आ सकते। जितना अधिक शुद्ध सेल्यूलोस होता है, कागज भी उतना ही स्वच्छ और सुंदर बनता है। कपड़ों के चिथड़े तथा कागज की रद्दी में लगभग शत प्रतिशत सेल्यूलोस होता है, अतः इनसे कागज सरलता से और अच्छा बनता है। इतिहासज्ञों का ऐसा अनुमान है कि सबसे पहला कागज कपड़ों के चिथड़ों से ही चीन में बना था।

पौधों में सेल्यूलोस के साथ अन्य कई पदार्थ मिले रहते हैं, जिनमें लिग्निन और पेक्टिन पर्याप्त मात्रा में तथा खनिज लवण, वसा और रंग पदार्थ सूक्ष्म मात्राओं में रहते हैं। इन पदार्थों को जब तक पर्याप्त अंश तक निकालकर सेल्यूलोस को पृथक् रूप में नहीं प्राप्त किया जाता तब तक सेल्यूलोस से अच्छा कागज नहीं बनाया जा सकता। लिग्निन का निकालना विशेष आवश्यक होता है। यदि लिग्निन की पर्याप्त मात्रा सेल्यूलोस में विद्यमान रहती है तो सेल्यूलोस के रेशे परस्पर चद्दर के रूप में जुट नहीं पाते। विभिन्न पौधों से शुद्ध रूप में सेल्यूलोस प्राप्त करना कठिन होता है। आरंभ में जब तक सेल्यूलोस को पौधों से शुद्ध रूप में प्राप्त करने की कोई अच्छी विधि ज्ञात नहीं हो सकी थी, कागज मुख्य रूप से फटे सूती कपड़ों से ही बनाया जाता था। चिथड़ों तथा कागज की रद्दी से यद्यपि कागज बहुत सरलता से और उत्तम कोटि का बनता है, तथापि इनकी इतनी मात्रा का मिल सकना संभव नहीं है कि कागज की हमारी पूरी आवश्यकता इनसे बनाए गए कागज से पूरी हो सके। आजकल कागज बनाने के लिये निम्नलिखित वस्तुओं का उपयोग मुख्य रूप से होता है: चिथड़े, कागज की रद्दी, बाँस, विभिन्न पेड़ों की लकड़ी, जैसे स्प्रूस और चीड़, तथा विविध घासें जैसे सबई और एस्पार्टो। हमारे देश में बाँस और सबई घास का उपयोग कागज बनाने के लिये मुख्य रूप से होता है।

कागज बनाने की पूरी क्रिया के कई अंग हैं :—(१) सेल्यूलोस की लुगदी (pulp) बनाना, (२) लुगदी को विरंजित करना और इसके रेशों को आवश्यक अंश तक महीन और कोमल करना तथा (३) अंत में लुगदी को चद्दर के रूप में परिणत करना।

लुगदी बनाना—

चिथड़ों से लुगदी बनाना : सूती कपड़ों के चिथड़ों को झाड़कर उनकी धूल निकालने के बाद उनमें मिले पत्थर के टुकड़े और उनमें लगे बटन तथा

हुक आदि निकाल दिए जाते हैं। रेशम, ऊन तथा कृत्रिम रेशम के टुकड़ों को भी छाँटकर निकाल दिया जाता है। इसके बाद चिथड़ों को गोलाई से घूमनेवाले कर्तक (rotary cutter) द्वारा लगभग एक एक इंच छोटे टुकड़ों में काट लिया जाता है और फिर एक ऐसे बेलनाकार वर्तन में डालकर घुमाया जाता है जिसमें तार की जाली लगी रहती है। यहाँ टुकड़ों की धूल झड़कर जाली के नीचे गिर जाती है। अब टुकड़ों को गोल या लंबे बेलनाकार लोहे के वाष्पित्र (boilers) में भर दिया जाता है। वाष्पित्र में चिथड़ों से तिगुना पानी भरकर इसमें दाहक सोडे की उपयुक्त मात्रा घुला दी जाती है। साधारणतः कपड़ों में लगे रंग, माँड़ी, गंदगी आदि का ध्यान रखते हुए दाहक सोडे की मात्रा, कपड़े के भार के हिसाब से, एक प्रतिशत से दस प्रतिशत तक रखी जाती है। थोड़ा सोडियम सिलिकेट भी प्रायः डाल दिया जाता है। इसकी उपस्थिति से कपड़े की चिकनाई अधिक शीघ्रता से निकल जाती है। अब वाष्पित्र को २० से ५० पाउंड दाब की भाप द्वारा गरम कर, टुकड़ों को भीतर भरे विलयन में आवश्यकतानुसार २ से १२ घंटे तक उबाला जाता है। दाहक सोडा सेल्यूलोस में उपस्थित अपद्रव्यों को घुला देता है।

उबालने के बाद दाहक (कास्टिक) सोडा द्राव को बहाकर वाष्पित्र में से निकाल दिया जाता है और चिथड़ों को वाष्पित्र में ही कई बार गरम पानी से धोया जाता है। इस फेंके गए द्राव में से दाहक सोडे को पुनः प्राप्त करने का प्रबंध भी कारखाने में रहता है। अब वाष्पित्र में से टुकड़ों को एक आयताकार बड़ी नाँद में पहुँचाया जाता है और साथ ही इसमें पर्याप्त पानी भर दिया जाता है। इस नाँद में लोहे के बहुत से छड़ इस प्रकार लगे रहते हैं कि घूमने पर वे कपड़े के टुकड़ों को रगड़ते और मसलते हैं। टुकड़ों के रगड़ने और मसलने की क्रिया के बीच बीच में नाँद का पानी निकालकर इसमें नया साफ पानी डालते रहते हैं। इस प्रकार नाँद में कपड़े के टुकड़े मसले जाकर और फिर पानी से धुलकर स्वच्छ लुगदी के रूप में परिणत हो जाते हैं।

बाँस, एस्पार्टो तथा सबई घास से लुगदी बनाना : इन वस्तुओं को कर्तक द्वारा छोटे छोटे टुकड़ों में काटकर इस्पात के बने पाचक यंत्र (digester) में भर दिया जाता है और फिर इसमें २५ प्रतिशत दाहक सोडा विलयन का चार गुना भाग, जिसमें थोड़ा सोडियम सल्फ़ाइड भी घुला रहता है, डालकर ४५ पाउंड की दाब की भाप द्वारा लगभग ५ घंटे तक उबाला जाता है। बाँस तथा घास में उपस्थित लिग्निन, पेक्टिन तथा अन्य अपद्रव्य दाहक सोडा विलयन में घुल जाते हैं और विलयन का रंग काला हो जाता है। इस विलयन को अब 'काला द्राव' (black liquor) कहते हैं। लिग्निन और पेक्टिन आदि के निकल जाने के बाद सेल्यूलोस के रेशे मुक्त होकर लुगदी के रूप में परिणत हो जाते हैं। उबालने की क्रिया की समाप्ति पर काले द्राव को पाचक यंत्र से बाहर निकाल दिया जाता है और लुगदी को गरम पानी से कई बार धोया जाता है। सोडा मूल्यवान् पदार्थ है, अतः काले द्राव में से पुनः दाहक सोडा प्राप्त किया जाता है और इसी को फिर नया विलयन बनाने के काम में लाया जाता है।

लकड़ी से लुगदी बनाना : (क) सल्फ़ेट विधि—यह विधि मुख्य रूप से चीड़ की जाति की लकड़ियों के लिये उपयोग में आती है और इसके द्वारा बाँधने के काम में आनेवाला कागज (kraft paper) बनाया जाता है। इस विधि के लिये सोडियम सल्फ़ेट का विलयन, जिसमें थोड़ा दाहक सोडा भी घुला रहता है, उपयुक्त होता है। छाल निकालने के बाद लकड़ी को लगभग आधे इंच छोटे टुकड़ों में काटकर और इस्पात के बने पाचक यंत्रों में भरकर दाहक सोडा मिश्रित सोडियम सल्फ़ेट विलयन के साथ लगभग ५ घंटे तक १००—१२० पाउंड दाब पर उबाला जाता है। लकड़ी में उपस्थित लिग्निन तथा अन्य अपद्रव्य क्षारीय सोडियम सल्फ़ेट विलयन में घुल जाते हैं और सेल्यूलोस लुगदी के रूप में बच रहता है। उबालने की क्रिया के बाद बचे काले द्राव को अलग निकाल दिया जाता है और लुगदी को कई बार पानी से धो लिया जाता है। इस काले द्राव में से सोडियम सल्फ़ेट और दाहक सोडे को पुनः प्राप्त किया जाता है, जिससे खर्च में कमी हो जाती है।

इस विधि में उबालने का द्राव क्षारीय होता है, इस कारण यह द्राव लकड़ी में उपस्थित रोज़िन और अम्लों को घुला लेता है। अतः इस द्राव की सहायता से ऐसी लकड़ियाँ लुगदी में परिवर्तित की जा सकती हैं जिनमें रोज़िन बहुत रहता है। इस कारण यह विधि इन्हीं लकड़ियों के लिये उपयुक्त होती है।

सल्फ़ेट विधि में एक कठिनाई यह है कि लिग्निन पदार्थ द्राव में पूर्ण रूप से नहीं घुलता, जिसके फलस्वरूप लुगदी को विरंजित करने में कठिनाई होती है और इस कारण इस विधि द्वारा सफ़ेद कागज बनाना संभव नहीं होता। इसीलिये यह विधि क्रैफ्ट कागज बनाने के लिये ही मुख्य रूप से उपयुक्त होती है। लिग्निन की कुछ मात्रा के बच रहने के कारण इस विधि से बनाया गया क्रैफ्ट कागज बहुत चिमड़ा और मजबूत होता है।

(ख) सल्फ़ाइट विधि—इस विधि में लकड़ी के टुकड़ों को कैल्सियम और मैग्नीशियम बाइसल्फ़ाइट के विलयन में उबाला जाता है। विलयन निम्नांकित विधि से बनाया जाता है :

गंधक अथवा लौह माक्षिक (iron pyrites) को वायु में जलाकर सल्फ़र डाइ-ऑक्साइड गैस बनाई जाती है और बनते ही इस गैस को तुरंत ठंढा कर साधारण ताप पर लाया जाता है। फिर इस गैस को चूने का पत्थर भरे एक मीनार में नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित किया जाता है। इसी समय मीनार में ऊपर से पानी भी बहुत धीमी गति से फुहारों द्वारा गिराया जाता है। सल्फ़र डाइ-ऑक्साइड जब नीचे से ऊपर को आता है तब ऊपर से गिरनेवाले इस पानी में घुलकर सल्फ़्यूरस अम्ल बनाता है। यह अम्ल तुरंत चूने के पत्थर पर अभिक्रिया कर इसे कैल्सियम बाइसल्फ़ाइट में परिणत कर देता है। चूने के पत्थर में थोड़ा मैग्नीशियम कार्बोनेट भी अपद्रव्य के रूप में उपस्थित रहता है। सल्फ़्यूरस अम्ल की इसपर भी अभिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप मैग्नीशियम बाइ-सल्फ़ाइट भी बनता है। इस प्रकार कैलसियम और मैग्नीशियम बाइ-सल्फ़ाइट का एक विलयन प्राप्त होता है।

जिस लकड़ी से लुगदी बनानी होती है उसकी छाल निकालने के बाद उसे लगभग आधा इंच छोटे टुकड़ों में काटकर इस्पात के बने पाचक यंत्र में भर दिया जाता है और फिर इसमें पूर्वोक्त विधि से बनाए गए कैल्सियम और मैग्नीशियम बाइ-सल्फ़ाइट विलयन की उपयुक्त मात्रा भी भर दी जाती है। अब इस विलयन में लकड़ी को १३०°—१३५° सें० ताप पर लगभग २०—३० घंटे तक उबाला जाता है। लकड़ी में उपस्थित लिग्निन, पेक्टिन तथा अन्य पदार्थ बाइ-सल्फ़ाइट विलयन में घुल जाते हैं और सेल्यूलोस लुगदी के रूप में बच रहता है। जब क्रिया पूरी हो जाती है तो विलयन को निकालकर अलग कर दिया जाता है और लुगदी को पानी से धो लिया जाता है।

लुगदी को विरंजित करना—जिस पेड़ की लकड़ी या पौधे से लुगदी बनाई जाती है उसमें उपस्थित रंग के कारण लुगदी में कुछ रंग रहता है। क्रैफ्ट कागज बनाने के लिये लुगदी को बिना विरंजित किए ही उपयोग में लाया जाता है, किंतु अच्छा सफ़ेद कागज बनाने के लिये लुगदी को विरंजित कर उसे सफ़ेद करना आवश्यक होता है।

विरंजन की क्रिया में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि लुगदी का रंग तो निकल जाय, किंतु सेल्यूलोस पर विरंजक का कोई हानिकारक प्रभाव न पड़े। इस काम के लिये साधारण रीति से कोई आम्लिक विरंजक या क्लोरीन का उपयोग किया जाता है। आम्लिक विरंजक तथा क्लोरीन लुगदी में उपस्थित लिग्निन को तथा रंग पदार्थ को ऐसे यौगिक में परिणत कर देते हैं जो पानी में तो अविलेय होते हैं, किंतु दाहक सोडे या सोडियम सल्फ़ाइट विलयन में विलेय होते हैं। इन विरंजकों का सेल्यूलोस पर कोई विशेष हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता। अतः लुगदी को इनके द्वारा उपचारित करने और फिर दाहक सोडा या सोडियम सल्फ़ाइट विलयन द्वारा निष्कर्षित करने पर लुगदी में उपस्थित अधिकांश लिग्निन और रंग पदार्थ बिना सेल्यूलोस को कोई हानि पहुँचाए निकल जाते हैं। विरंजित करने के बाद लुगदी को पानी से कई बार धो लिया जाता है।

लुगदी को पीटकर तथा कोमल बनाकर कागज बनाने के उपयुक्त बनाना—विरंजित करने और धोने के बाद लुगदी को पीटक (beater) में भेजा जाता है। पीटक एक अंडाकार नाँद होती है, जिसमें लोहे का एक बेलन, पट्ट तथा कई डंडे लगे रहते हैं। जब बेलन घूमता है तो लुगदी,

खिंचकर डंडों के बीच में वेलन पर आ जाती है। वेलन के घूमने से लुगदी विच्छिन्न हो जाती है और इसके सेल्यूलोस के रेशे टूटकर छोटे हो जाते हैं। सेल्यूलोस के रेशों को जितना महीन करने की आवश्यकता होती है उतना महीन उन्हें पीटक में कर लिया जाता है। जिस प्रकार का कागज बनाना होता है उसी के अनुसार लुगदी के रेशों को महीन किया जाता है। रेशे जितने महीन होते हैं वे उतने ही घने और मजबूत ढंग से परस्पर जुटकर कागज की चद्दर बनाते हैं।

पीटक में जब पीटने की क्रिया होती रहती है तभी जो भी रंग आदि मिलाना होता है लुगदी में मिला दिया जाता है। यहीं पर लुगदी में चीनी मिट्टी तथा टाइटेनियम डाइ-आक्साइड आदि पूरक (filler) भी मिलाए जाते हैं। चीनी मिट्टी से कागज में चिकनापन आता है और टाइटेनियम डाइ-आक्साइड से कागज में अधिक सफेदी तथा पारांधता आती है।

पूर्वोक्त विधि द्वारा प्राप्त लुगदी से कागज बनाने पर उसमें महीन रंध्र रहते हैं, जिनमें पानी शोषित करने का गुण होता है। अत: ऐसे कागज पर स्याही फैलती है। इस कारण लिखने का कागज बनाने के लिये कुछ ऐसे पदार्थों का व्यवहार किया जाता है जो कागज के रंध्रों को भरकर सतह को चिकना कर देते हैं। इन पदार्थों को सज्जीकारक कहते हैं और इनके द्वारा रंध्रहीन बनाने की क्रिया को सज्जीकरण (si in) कहते हैं।

जिलैटिन का उपयोग सज्जीकारक के रूप में हाथ का कागज बनाने के लिये बहुत प्राचीन काल से होता आया है। जिलैटिन द्वारा सज्जीकरण करने में कागज के ताव (sheet) को जिलैटिन के एक पतले विलयन में डुबोकर हवा में सूखने के लिये लटका दिया जाता है। इससे जिलैटिन की एक महीन पर्त कागज की सतह पर जम जाती है जिसके कारण कागज के रंध्र भर जाते हैं और स्याही कागज पर नहीं फैलती। जिलैटिन की परत का एक लाभ यह भी होता है कि यह कागज के ताव को पुष्टता भी प्रदान करती है। सज्जीकरण की यह रीति हिसाब लिखनेवाला पुष्ट और टिकाऊ कागज बनाने में आज भी उपयुक्त होती है। जिलैटिन महँगा पदार्थ है; इस कारण साधारण प्रकार का कागज बनाने के लिये अन्य सस्ते सज्जीकारक उपयोग में लाए जाते हैं, जिनमें रोजिन अधिक प्रचलित है। रोजिन सज्जीकारक निम्नलिखित प्रकार से बनाया जाता है—

रोजिन को क्षार विलयन की सीमित मात्रा से उपचारित कर पहले एक सफेद पायस (इमलशन) के रूप में परिणत कर लिया जाता है और फिर इस पायस को पीटक में ही लुगदी में मिला दिया जाता है। इसके बाद लुगदी में फिटकरी की उपयुक्त मात्रा मिलाकर अभिक्रिया को थोड़ा आम्लिक रखा जाता है (पीएच ४ और ६ के बीच में)। फिटकिरी मिलाने पर एक महीन अवक्षेप बनता है जो रोजिन, ऐल्यूमिना और भास्मिक ऐल्यूमिनियम सल्फेट का मिश्रण होता है। यह अवक्षेप सेल्यूलोस के रेशों की सतह पर दृढ़ता से चिपक जाता है और सेल्यूलोस को पानी के प्रति प्रतिसारक (repellent) बनाता है, जिसके फलस्वरूप इस लुगदी से बनाए गए कागज पर स्याही नहीं फैलती।

लुगदी को कागज में परिवर्तित करना—पीटक में लुगदी को पूर्वोक्त विधि से उपयुक्त रूप में तैयार कर लेने पर कागज बनाने के लिये इसे केवल इच्छित मोटाई की चद्दर के रूप में परिवर्तित करना होता है। यह कार्य हाथ या मशीन द्वारा होता है। हाथ से यह काम करने के लिये लकड़ी का बना एक आयताकार चौखटा लिया जाता है जिसपर उपयुक्त बारीकी की जाली जड़ी रहती है। जिस नाप का कागज बनाना होता है उसी नाप का चौखटा लेना पड़ता है। जाली के ऊपर एक अन्य चौखटा बैठता है जिसकी ऊँचाई लगभग आध इंच होती है। यह चौखटा जाली पर से हटाकर अलग किया जा सकता है। लुगदी को पानी में फेंटकर एक पतला आलंबन बनाया जाता है। फिर चौखटे को इस आलंबन में डुबाकर ऊपर उठा लिया जाता है। दूसरे चौखटे की ऊँचाई के अनुसार, लुगदी की एक नियत मात्रा इस प्रकार चौखटे की जाली पर पानी सहित आ जाती है। चौखटे को ऊपर उठाने पर पानी तो नीचे गिर जाता है, किंतु लुगदी जाली पर एक चद्दर के रूप में बच रहती है। जिस समय लुगदी के आलंबन का पानी चौखटे की जाली में से गिरता रहता है उस समय चौखटे को थोड़ा हिलाते भी रहते हैं, जिससे सेल्यूलोस के रेशे परस्पर मिलकर ठीक से जुट जायँ। जब सारा पानी टपककर निकल जाता है तब ऊपरी चौखटा हटाकर नीचे के चौखटे को एक गीले फ़ेल्ट की चद्दर पर उलटकर कागज का ताव फ़ेल्ट पर उतार दिया जाता है। नीचेवाले चौखटे, ऊपरी चौखटा लगाकर, फिर पहले की भाँति लुगदी के आलंबन में डुबाए जाते हैं और कागज का दूसरा ताव बनाया जाता है। इसे पहले कागज के ऊपर फ़ेल्ट की दूसरी चद्दर रखकर उतार दिया जाता है। इस रीति से कागज का एक के बाद दूसरा ताव बनाकर फ़ेल्ट के टुकड़ों पर क्रम से रखते जाते हैं और जब पर्याप्त ऊँचा ढेर हो जाता है तब इस ढेर को एक दाबक (press) में दबाया जाता है, जिससे कागजों का अधिकांश पानी निकल जाता है। अब इस ढेर में से प्रत्येक कागज का ताव अलग कर सूखने के लिये तार या डोरी पर टाँग दिया जाता है। सूखने के बाद कागज तैयार हो जाता है और सबको एकत्रित कर तथा चिकनाकर गट्ठे (बंडल) के रूप में बाँध लिया जाता है। हाथ से कागज बनाने में बहुत मजदूरी लगती है। इसलिये इस विधि का उपयोग केवल सर्वोत्तम प्रकार का कागज बनाने में किया जाता है। ऐसा कागज चिथड़े से बनाया जाता है और बहुत पुष्ट होता है। इसका उपयोग पत्र लिखने और चित्र खींचने में होता है।

वर्तमान समय में लुगदी से कागज मशीनों की सहायता से बनाया जाता है। इस विधि से कागज बनाने में भी वे सब क्रियाएँ आवश्यक हैं जो हाथ द्वारा कागज बनाने में। अंतर केवल इतना होता है कि प्रत्येक क्रिया मशीन द्वारा पर्याप्त शीघ्रता से होती है। इस रीति में लुगदी का एक बहुत पतला आलंबन बनाया जाता है और इसकी उचित मात्रा तार के बने एक अंतहीन पट्टे पर उठा ली जाती है। जितना चौड़ा कागज बनाना होता है पट्टे की चौड़ाई भी उतनी ही रखी जाती है। यह पट्टा बराबर आगे बढ़ता जाता है। पट्टा जैसे जैसे आगे बढ़ता है इसपर उठाए हुए लुगदी के आलंबन का पानी टपकता जाता है और लुगदी चद्दर के रूप में परिवर्तित होती जाती है। इस तार के पट्टे की दोनों बगलों पर दो इंच चौड़ा रबर का पट्टा रहता है, जो तार के पट्टे के साथ घूमता रहता है। रबर के पट्टे का काम तार के पट्टे के कागज के ताव को बगलों की ओर खिसकने से रोकना है। जब तार का पट्टा सिरे के पास पहुँचता है तो यह ऐसे सदूकों के ऊपर से घूमकर नीचे को मुड़ता है जहाँ चूषण पंप लगे रहते हैं। ये पंप पट्टेवाले कागज के ताव का बहुत सा पानी चूसकर निकाल देते हैं। कुछ आगे इस सिरे पर दो बड़े वेलन भी होते हैं, जिनपर फ़ेल्ट मढ़ा रहता है। जब पट्टा इन वेलनों के भीतर से होकर जाता है तो कागज के ताव पर बहुत दाब पड़ती है। इस दाब से ताव का कुछ और पानी निकल जाता है, साथ ही लुगदी के रेशे अधिक दृढ़ता से परस्पर जुटकर जम जाते हैं। यहाँ से तार का पट्टा तो नीचे की ओर घूमकर पीछे की ओर चला जाता है, किंतु कागज का ताव रबर के दूसरे पट्टों की सहायता से आगे बढ़ता है। आगे बढ़ने पर ताव पुन: फ़ेल्ट मढ़े कई जोड़ी वेलनों के भीतर से होकर जाता है। ये वेलन कागज के ताव के शेष पानी को भी निकाल देते हैं और ताव को और अधिक जमा देते हैं। अब ताव को सुखाने के लिये उसे इस्पात के बने बड़े वेलनों के ऊपर से ले जाया जाता है। ये वेलन कम दाब की भाप द्वारा साधारण ताप तक गरम किए जाते हैं और दो पंक्तियों में व्यवस्थित रहते हैं। ताव क्रम से ऊपर की पंक्ति के एक वेलन के ऊपर से होकर नीचे की पंक्ति के वेलन के नीचे से होकर जाता है। इन गरम वेलनों से होकर बाहर निकलने पर कागज का ताव एकदम सूखा रहता है। तदुपरांत इन तावों को निष्पीडक वेलनों (calendering rollers) के बीच से निकाला जाता है। इससे कागज का पृष्ठ चिकना हो जाता है। इस क्रिया को निष्पीड़न (calendering) कहते हैं। यदि बहुत चिकने कागज की आवश्यकता होती है तो इस्पात के बने कई चिकने निष्पीडक वेलनों के भीतर से कागज के ताव को निकाला जाता है। अब कागज के ताव को बड़े पुलिंदे के रूप में लपेट लिया जाता है।

निष्पीडक वेलनों से निकलने के बाद जो कागज प्राप्त होता है वह बहुत सूखा रहता है। सामान्य अवस्था में लाने के लिये इसमें थोड़ी नमी शोषित कराना आवश्यक होता है। नमी शोषित कराने की क्रिया को आर्द्रताकरण (humidification) कहते हैं। इस क्रिया में कागज को पोले वेलनों के

ऊपर से, जो क्रम से व्यवस्थित रहते हैं, धीमी गति से भेजा जाता है। कक्ष का वायुमंडल आर्द्र रखा जाता है, अतः कागज आवश्यक आर्द्रता शोषित कर लेता है। आर्द्रताकरण के बाद कागज की लंबी चादर को एक मशीन की समतल सतह पर खोलकर इच्छित नाप के ताव काट लिए जाते हैं और फिर इन तावों को गिनकर बेठन के कागज में लपेटा और बाँधा जाता है। साधारणतः प्रत्येक बंडल में ५०० ताव रखे जाते हैं और इतने को एक रीम कहते हैं। (सं० प्र० ट०)

कागज चिपकाना पलस्तर की हुई दीवारों पर कभी कभी सफेदी या डिस्टेंपर करने के बजाय रंग बिरंगा कागज चिपका दिया जाता है, जिससे दीवारों का सूनापन और नीरसता दूर हो जाती है और कमरा सुंदर प्रतीत होने लगता है। कागज चिपकाने का प्रचलन इंग्लैंड आदि देशों में बहुत है। भारत की तेज गरमी में कागज बहुधा उखड़ जाता है। दीवारों की सजावट का कागज प्रायः तीन प्रकार का होता है।

लुगदी से बने कागज की पृष्ठभूमि स्वाभाविक रंग की होती है। छपाई द्वारा उसे चित्रित कर लिया जाता है। साटन कागज, साटन की भाँति चमकदार होता है। साधारण कागज पर रंग करके उसपर खड़िया (सेलखड़ी) से पालिश कर दी जाती है। बादलों की भाँति चित्रित, भड़कीला तथा चमकीला होने से इसको 'अबरी' (फ़ारसी अब्र, बादल) भी कहते हैं। इसपर आर्द्रता का विशेष प्रभाव पड़ता है, अतः इसे सूखी दीवारों पर बहुत सावधानी से सादे कागज का अस्तर देकर लगाना चाहिए। चिकना होने के कारण अबरी पर धूल नहीं जमती और वह शीघ्र गंदा नहीं होता। तीसरा रोएँदार कागज होता है। छापों द्वारा पहले सरेस से, फिर वार्निश से कागज पर आलेख (चित्र) कर दिए जाते हैं। फिर उनपर काग (कॉर्क) का चूर्ण या ऊन की बारीक कतरन छिड़क दी जाती है, जो वार्निश में चिपककर कागज के पृष्ठ को आकर्षक बना देती है। इसका उपयोग बड़ी सावधानी से किया जाता है। कहीं कहीं तो किरमिच (कैनवस) का कपड़ा लगाकर उसपर कागज का अस्तर चढ़ाया जाता है। फिर उसके ऊपर यह कागज चिपकाया जाता है।

१६वीं शताब्दी के अंत में जब पूर्व में डच, अंग्रेज, और फ्रांसीसी व्यापारिक कंपनियाँ स्थापित हुईं, चीनियों ने अपने यहाँ उपयोग में आनेवाला कलापूर्ण और चित्रित कागज उन व्यापारियों को भेंट किया। फलतः, यूरोप में राजमहलों और संपन्न घरानों में जरी आदि के कपड़ों और ठप्पे लगे हुए चमड़ों के रूप में प्रयुक्त होनेवाले बहुमूल्य आवरण के स्थान पर इन कागजों का उपयोग दीवारों को ढकने के लिये बहुत होने लगा। माँग बढ़ने पर चिपकानेवाले कागज का बनना आरंभ हो गया। फिर उन देशों में भी भाँति भाँति के कागज बनने लगे। विक्टोरिया काल में सजावट की प्रवृत्ति सीमा लाँघ गई, किंतु मशीन से बने कागज में हाथ से बने चीनी कागज के समान चित्रांकन सौंदर्य तथा विविधता न आ पाई। अतः इंग्लैंड में १६वीं शताब्दी के पश्चात् सजावट की इस प्रथा में शिथिलता आ गई। अब फिर इस कला को सजीव बनाने के प्रयत्न हो रहे हैं। अब तो कुछ ऐसे कागज भी बनने लगे हैं जो पानी से धोकर साफ किए जा सकते हैं। इनपर प्लास्टिक का लेप रहता है।

भारत में कागज चिपकाकर दीवारें सजाने का प्रचलन पहाड़ों पर था, किंतु अब दिन प्रति दिन घट रहा है। सजावट का कागज यहाँ नहीं बनता। इंग्लैंड, फ्रांस और अन्य देशों से ही आता है।

सं०ग्रं०—एन० चौधरी : इंजीनियरिंग मैटीरियल्स।

(वि० प्र० गु०)

कागोशिमा ३१° ३१' उ० अ० और १३° ३२' पू० दे० पर जापान के क्यूशू द्वीप में कागोशिमा की खाड़ी पर स्थित एक सुरक्षित पत्तन है। यह क्यूशू द्वीप के दक्षिणी तट का प्रमुख द्वार है। कागोशिमा प्रांत (Prefecture) की राजधानी है और प्राचीन काल में सत्सूमा जाति की राजधानी रहा। यह सत्सूमा बर्तनों के लिये अब भी प्रसिद्ध है। ऊनी रेयन और नाइलान कपड़ों की बुनाई का केंद्र भी यहाँ है। जनसंख्या ३,२८,००० (१९६५)। (कै० ना० सि०)

काच गुप्तवंश का शासक (?), जिसका नाम कुछ स्वर्णमुद्राओं पर खुदा मिलता है। इन मुद्राओं पर सामने बाएँ हाथ में चक्रध्वज लिए खड़े राजा की आकृति मिलती है। उसके बाएँ हाथ के नीचे गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में राजा का नाम 'काच' लिखा रहता है। मुद्रा पर वर्तुलाकार ब्राह्मी लेख 'काचो गामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैः जयति' मिलता है, जिसका अर्थ है 'पृथ्वी को जीतकर काच पुण्यकर्मों द्वारा स्वर्ग की विजय करता है।' सिक्के के पीछे लक्ष्मी की आकृति तथा 'सर्व्वराजोच्छेत्ता' (सब राजाओं को नष्ट करनेवाला) ब्राह्मी लेख रहता है।

ये सिक्के गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्कों से बहुत मिलते हैं। 'सर्व्वराजोच्छेत्ता' विरुद गुप्तवंश के अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः कुछ विद्वान् समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम 'काच' मानकर उक्त सिक्कों को उसी का घोषित करते हैं। परंतु इसे ठीक नहीं कहा जा सकता। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसका नाम 'समुद्र' मिलता है न कि काच। दूसरे, चक्रध्वज चिह्न काच के अतिरिक्त समुद्रगुप्त या अन्य किसी गुप्त शासक के सिक्कों पर नहीं मिलता।

हाल में रामगुप्त नामक शासक की कुछ ताम्रमुद्राओं के मिलने से तथा उसका नाम साहित्य एवं अन्य प्रमाणों से ज्ञात होने के कारण कुछ लोग इसी रामगुप्त को काच समझते हैं। परंतु यह भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। काच तथा रामगुप्त के सिक्के एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं। प्रतीत होता है कि गुप्त शासक चंद्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद काच नाम के किसी शक्तिशाली व्यक्ति ने पाटलिपुत्र की गुप्तवंशी गद्दी पर अधिकार कर लिया और उसी ने काचांकित उक्त मुद्राएँ प्रचलित कीं। (कृ० द० वा०)

काच अथवा शीशा अकार्बनिक पदार्थों से बना हुआ वह पारदर्शक अथवा अपारदर्शक पदार्थ है जिससे शीशी बोतल आदि बनती हैं। काच का आविष्कार संसार के लिये एक बहुत बड़ी घटना थी और आज की वैज्ञानिक उन्नति में काच का बहुत अधिक महत्व है।

प्रकृति में ऑब्सीडियन (Obsidian) पाषाण पाया जाता है जो एक प्रकार का काच है। यह ज्वालामुखी पहाड़ों से निकलता है और इसके टुकड़ों में तीव्र धार होती है। पाषाण युग में बाण के सिरे, भालों की नोकें एवं चाकू के फल इसी के बनाए जाते थे। धातु युग में इसी आब्सीडियन पाषाण से शृंगार की वस्तुएँ, जैसे दर्पण इत्यादि, बनाए गए।

किंवदंती के अनुसार, मनुष्य को काच का पता तब चला जब कुछ व्यापारियों ने सीरिया में फ़ीनीशिया के समुद्रतट पर शोरे के ढेलों पर भोजन के पात्र चढ़ाए। अग्नि के प्रज्वलित होने पर उन्हें द्रवित काच की धारा बहती हुई दिखाई दी। यह काच बालू और शोरे के संयोग से बन गया था।

ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम बरतनों पर काच के समान चमक उत्पन्न करने की रीति का आविष्कार मेसोपोटामिया (इराक) में ईसा के प्रायः १२,००० वर्ष पूर्व हुआ।

प्राचीनतम काच साँचे में ढले हुए तावीज के रूप में मिस्र में पाया गया है, जिसका निर्माणकाल ईसा से ७,००० वर्ष पूर्व माना जाता है।

ईसा से लगभग १,२०० वर्ष पूर्व, मिस्रवासियों ने खुले साँचों में काच को दबाने का कार्य आरंभ किया और इस विधि से काच की तश्तरियाँ, कटोरे आदि बनाए गए। ईसा के १,५५० वर्ष पूर्व से लेकर ईसा युग के आरंभ तक मिस्र काचनिर्माण का केंद्र बना रहा।

फुँकनी द्वारा तप्त काच को फूँकने की क्रिया मानव का एक महान् आविष्कार था और इसका श्रेय भी फ़ीनीशियावासियों को ही है। इस आविष्कार की अवधि ईसा से ३२०–२० वर्ष पूर्व है। इस आविष्कार द्वारा काच के अनेक प्रकार के खोखले पात्र बनाए जाने लगे। वस्तुतः आजकल के काच निर्माण के आधुनिक यंत्रों में भी इसी क्रिया का उपयोग किया जाता है।

काच उद्योग का व्यापारिक विस्तार ईसा काल से आरंभ होता है। इटली के रोम तथा वेनिस प्रदेशों में इसका निर्माण चरम सीमा पर पहुँचा।

अपनी आवश्यकताओं और वैज्ञानिक उन्नति के साथ प्रत्येक देश में विभिन्न गुणों के काच के निर्माण में उन्नति होती गई। काच उद्योग की आधुनिक उन्नति का बहुत कुछ श्रेय इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त-राज्य (अमरीका) को है। उदाहरणतः, सन् १५५७ ई० में सीसयुक्त स्फटिक का लंदन में आविष्कार हुआ; सन् १६६८ में पट्टिका काच ढालने की विधि का पेरिस में आविष्कार हुआ; सन् १८८० में लेंस (लेन्ज़) आदि बनाने योग्य अनेक प्रकार के काचों का आविष्कार जर्मनी में शाट एवं एबी द्वारा हुआ; १८७९ ई० में न्यूयार्क प्रांत के कार्निङ्ग नगर में प्रथम विद्युद्दीपों का निर्माण हुआ; सन् १८९९ में काच बनाने के लिये पूर्ण स्वचालित यंत्र ओवेन का निर्माण हुआ; १९०१ ई० में काच प्रदायक 'ब्रुक' नामक यंत्र का निर्माण हुआ; सन् १९१५ में ऊष्मा-प्रतिरोधक "पाइरेक्स" काच का निर्माण हुआ, जो तप्त करके ठंडे पानी में डुबा देने पर भी नहीं तड़कता; सन् १९२८ में निरापद काच (सेफ़्टी ग्लास) का निर्माण हुआ जो चोट लगने पर चटख तो जाता है, परंतु उसके टुकड़े अलग होकर छटकते नहीं। यह मोटरकारों में लगाया जाता है; १९३१ ई० में काच के धागों और वस्त्रों का निर्माण हुआ; सन् १९०२ में, संयुक्त राज्य (अमरीका) के पिट्सबर्ग नगर में और बेल्जियम में 'लिबी ओवेंस' और 'फ़ूरकाल्ट' प्रणालियों द्वारा चद्दरी काचों का निर्माण होना आरंभ हुआ।

प्राचीन भारत में भी महाभारत, यजुर्वेद संहिता, रामायण और योगवाशिष्ठ में काच शब्द का उपयोग कई जगह किया गया है। प्राचीन भारत में स्फटिक (Quartz) से बनी सामग्री उत्तम वस्तु मानी जाती थी। भारत के कई प्रदेशों में प्राचीन काच के टुकड़े प्राप्त हुए है। भारतीय काच का विवरण वास्तव में १६वीं शताब्दी से आरंभ होता है। उस समय यहाँ से अनिर्मित काच बहुत अधिक मात्रा में यूरोप और उत्तरी इटली को निर्यात किया जाता था; यहाँ तक कि काच निर्माण के लिये रासायनिक पदार्थ भी वेनिस भेजे जाते थे। १९वीं शताब्दी में भारत के प्रत्येक प्रांत में काच की चूड़ियों, शीशियों और खिलौनों का निर्माण होता था।

आधुनिक भारतीय काच उद्योग सन् १८७० से आरंभ हुआ और सन् १९१५ तक कितने ही काच के कारखाने खोले गए, पर वे सब असफल रहे। प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीय काच उद्योग को खूब प्रोत्साहन मिला। परंतु युद्धोपरांत भारतीय बाजार काच के विदेशी माल से भर गया, फलस्वरूप कई भारतीय कारखाने बंद हो गए। काच उद्योग की जाँच और उन्नति के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने एक समिति का संगठन किया और उसकी संस्तुतियों को सरकार ने मान्यता दी। उसी समय से काच उद्योग में तीव्रता के साथ उन्नति हो रही है और अब भारत में काच की सब प्रकार की वस्तुओं का निर्माण आधुनिक ढंग से हो रहा है।

आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में काच शब्द से (१) पदार्थ की एक विशेष 'काचीय' अवस्था समझी जाती है अथवा (२) वह पदार्थ समझा जाता है जो कुछ अकार्बनिक पदार्थों को ऊँचे ताप पर द्रवित करके बनाया जाता है। द्रव काच ही वास्तविक काच है; केवल द्रव काच के विद्युत् और प्रकाशीय गुण सब दशाओं में एक से होते है। द्रव काच को ठंढा करने पर उसमें श्यानता (Viscosity) बढ़ती है और वह धीरे धीरे बिना काचीय गुणों का साधारण ठोस काच बन जाता है।

काच बनाने के लिये उपयोग के अनुसार कई प्रकार के कच्चे माल विभिन्न मात्राओं में मिलाकर, ऊँचे ताप पर द्रवित किए जाते हैं। द्रवित काच को सिलिकेटों तथा बोरेटों का पारस्परिक विलयन कहा जा सकता है। इस विलयन में ताप के अनुसार बहुत कुछ अवयव आक्साइडों में विमुक्त हो जाते हैं। विलयन में वे अतिरिक्त आक्साइड भी होते हैं, जो रासायनिक यौगिकों के निर्माण की आवश्यकताओं से अधिक मात्रा में होते हैं।

काच को 'अधिशीतलित' (Under-cooled) द्रव भी कहा जा सकता है, क्योंकि द्रव अवस्था से ठोस अवस्था में काच का परिवर्तन क्रमशः होता है और ठोस काच में उसकी द्रवावस्था के सभी भौतिक गुण, जैसे ऊष्मासालकता इत्यादि, होते हैं।

काच के उपादान—काच निर्माण के लिये मुख्य पदार्थ सिलिका (सि औ$_2$, SiO_2) है और यह प्रकृति में मुक्त अवस्था एवं सिलिकेट यौगिकों के रूप में पाया जाता है। प्रकृति में सिलिका अधिकतर क्वार्ट्ज़ के रूप में पाया जाता है। इसका विशुद्ध रूप बिल्लौर पत्थर है। काच निर्माण के लिये सबसे उपयुक्त सामग्री बालू, बालुका प्रस्तर और क्वार्ट्जाइट (Quartzite) चट्टानें हैं। यदि पाने की सुविधा, प्राप्य मात्रा और ढुलाई बराबर हो तो बालू ही सबसे उपयुक्त पदार्थ है। काच निर्माण के लिये सबसे उपयुक्त वही बालू है जिसमें सिलिका की मात्रा कम से कम ९९ प्रतिशत हो और फ़ेरिक आक्साइड (Fe_2O_3) के रूप में लोहा ०.१ प्रतिशत से कम हो। बालू के कण भी ०.५–०.२५ मिलीमीटर के व्यास के हों। अच्छे काच निर्माण के लिये बालू को जल द्वारा धो भी लिया जाता है। इलाहाबाद में शंकरगढ़ और बरगढ़ के बालू के निक्षेप काच निर्माण के लिये अति उत्तम हैं और उत्तर प्रदेश सरकार ने वहाँ पर बालू धोने के कुछ यंत्र भी लगा दिए हैं।

साधारण काच निर्माण के लिये कुछ क्षारीय पदार्थ जैसे सोडा ऐश (Sodium carbonate) का होना भी अति आवश्यक है। इस मिश्रण से द्रवणांक कम और द्रवण क्रिया सरल हो जाती है। केवल इन दो पदार्थों के द्रवण से जो काच बनता है वह जल काच (Water glass) के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि यह जल में विलेय है। काच को स्थायी बनाने के लिये कोई द्विसमाक्षारीय (dibasic) आक्साइड जैसे कैल्सियम आक्साइड (चूना) या सीस आक्साइड को भी मिलाना पड़ता है। रासायनिक नियम के अनुसार, जितने ही अधिक पदार्थ मिलाए जाते है द्रवणांक भी उतना ही कम हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ काच में कुछ विशेष गुण उत्पन्न करता है और इन गुणों को ही ध्यान में रखते हुए काच के मिश्रण बनाए जाते हैं।

कैल्सियम आक्साइड काच को रासायनिक स्थायित्व प्रदान करता है, पर अधिक मात्रा में होने पर काच में विकाचण (devitrification) होने की प्रवृत्ति आ जाती है। साधारण काच बालू, सोडा और चूना के मिश्रण से बनाया जाता है।

कैल्सियम आक्साइड के लिये काच मिश्रण में चूना या चूना-पत्थर मिलाया जाता है। बोरिक अम्ल या सुहागा मिलाने से काच में विशेष भौतिक गुण उत्पन्न हो जाते है, जैसे न्यून प्रसार-गुणांक और अधिक तनाव सहनशीलता, तापीय सहन शक्ति एवं अधिक जल-प्रतिरोधकता। इन गुणों के कारण तापमापी नली, लालटेन की चिमनी और भोजन पकाने के पात्र आदि आकस्मिक ताप परिवर्तन सहनेवाली वस्तुओं का निर्माण करने में, बोरिक आक्साइड की मात्रा अधिक से अधिक और क्षार की मात्रा कम से कम रखी जाती है।

सोडियम कार्बोनेट के स्थान में अन्य क्षार जैसे पोटैसियम कार्बोनेट का भी उपयोग विशेष काचों में किया जाता है। बहुधा क्षार, सल्फ़ेट लवण के रूप में प्रयुक्त होता है।

सीस आक्साइड के लिये अधिकतर लाल सीस (सिंदूर) का उपयोग किया जाता है। इस आक्साइड द्वारा काच का घनत्व और वर्तनांक दोनों बढ़ते हैं और इस कारण ऐसा काच प्रकाशीय (optical) काचों, भोजन एवं पीने के पात्रों और कृत्रिम रत्नों के निर्माण के उपयोग में आता है। सीसयुक्त काच शीघ्र ही काटे और पालिश किए जा सकते है। पोटाश क्षार का सीसयुक्त काच सबसे अधिक चमकदार होता है।

ऐल्यूमिनियम आक्साइड (Al_2O_3), अधिकतर फ़ेल्सपार द्वारा काच में संमिलित किया जाता है। इस आक्साइड से काच में उष्मागतिक प्रसार, कठोरता, स्थायित्व, प्रत्यास्थता, तनन शक्ति, चमक और अम्ल प्रतिरोधकता बढ़ती है। इसके द्वारा काच में समांगता और वैज्ञानिक कार्यों में उपयोगी अन्य गुणों की वृद्धि होती है। यह आक्साइड काच का प्रसार गुणांक और मृदूकरण (annealing) ताप कम करता है। यह विकाचण को रोकता है और इसके प्रयोग से काच का द्रवण और शोध सरल हो जाता है।

जस्ता ग्राक्साइड (ZnO) प्रायः जस्ता कार्वोनेट ($ZnCO_3$) द्वारा काच में संमिलित किया जाता है। यह पदार्थ काच के प्रसार गुणांक को वहुत कम करता है। काच में अधिक स्थायित्व एवं उष्मा-जनित कम प्रसार उत्पन्न करने के कारण यह रासायनिक काच के निर्माण में प्रयुक्त होता है। कुछ काचों में मैग्नीशियम या वेरियम ग्राक्साइड भी संमिलित किया जाता है। कुछ पदार्थ काच में विशेष रासायनिक गुण उत्पन्न करने के उद्देश्य से संमिलित किए जाते हैं। सीस युक्त काचों में कुछ ग्राक्सीकारक पदार्थ, जैसे पोटैसियम नाइट्रेट या शोरा का होना ग्रावश्यक होता है।

काच के द्रवित होने पर उसमें गैस के वहुधा ग्रसंख्य छोटे छोटे वुलवुले, जिनको 'वीज' कहते है, फँस जाते हैं। काच को इनसे मुक्त करने के लिये कुछ रासायनिक पदार्थो का उपयोग किया जाता है। ये पदार्थ द्रव काच में गैस हो जाते हैं ग्रौर वीजों को ग्रपने साथ काच के वाहर निकाल लाते हैं। इन पदार्थो को 'शोधक द्रव्य' कहते है। साधारणतः शोधक द्रव्य के लिये कार्वन ऐमोनियम लवण या ग्रारसेनिक प्रयुक्त होता है। ग्रालू, चुकंदर ग्रौर भीगी लकड़ी के टुकड़े द्रवित काच में डालकर भी कहीं कहीं काच का शोधन किया जाता है।

भौतिक गुण—काच का उपयोग ऐसी कई प्रकार की वस्तुग्रों में किया जाता है जिनमें विभिन्न भौतिक गुणों की ग्रावश्यकता रहती है। काच के भौतिक गुणों में भिन्नता विभिन्न ग्राक्साइडों द्वारा लाई जा सकती है। भौतिक गुण काच में उपस्थित प्रत्येक ग्राक्साइड की ग्रापेक्षिक मात्रा पर भी निर्भर करता है।

घनत्व—काच में सवसे अधिक घनत्व सीस ग्राक्साइड द्वारा ग्राता है ग्रौर सवसे कम वोरिक ग्राक्साइड द्वारा।

वैद्युत गुण—काच की विद्युच्चालकता उसकी रचना, ताप एवं वातावरण पर निर्भर होती है। ग्राजकल काच का उपयोग ग्रचालक (insulator) के लिये भी किया जा रहा है।

तापीय गुण—तप्त करने पर काच प्रसारित होता है, पर वोरिक ग्राक्साइड एवं मैग्नीसियम ग्राक्साइड से काच में न्यूनतम प्रसार होता है ग्रौर क्षारीय ग्राक्साइड से अधिकतम प्रसार।

उष्मा चालकता—काच उष्मा का ग्रधम चालक है; सिलिका तथा वोरिक ग्राक्साइड से काच में उष्मा-चालकता कम होती है। काच के ग्रन्य भौतिक गुण, जैसे यंग (Young) का प्रत्यास्थता-गुणांक, तनाव शक्ति, दृढ़ता तथा तापीय सहनशीलता, काच में पड़े ग्राक्साइडों पर निर्भर होते हैं। काच में इनके प्रभाव का वैज्ञानिक ग्रध्ययन करके रासायनिक काच (जिसपर किसी रासायनिक पदार्थ या ताप का प्रभाव नहीं पड़ता), उष्माप्रतिरोधक काच, जो लाल तप्त कर एकदम वर्फ में ठंढे किए जा सकते हैं, ग्रौर तापमापी काच का निर्माण किया जाता है।

पट्टिका काच की शक्ति के परीक्षण के लिये पट्टिका को चारों किनारों पर रखते हैं ग्रौर ज्ञात भार के इस्पात के एक गोले को विभिन्न ऊँचाई से काच के मध्य में स्वतंत्रतापूर्वक गिरने देते हैं। जिस ऊँचाई से गोले को गिराने पर काच में दरार पड़ जाय वह ऊँचाई काच की पुष्टता की मात्रिक माप होती है। वोतलों की पुष्टता की परीक्षा के लिये वोतलों के भीतर जल भरकर जल की दाव धीरे धीरे इतनी वढ़ाई जाती है कि वोतलें फट जायँ।

तापीय सहनशीलता—ग्रचानक ताप परिवर्तन की उस मात्रा को, जिसे काच विना टूटे सहन कर सके, काच की तापीय सहनशीलता कहते हैं। इस गुण के परीक्षण के लिये काच की वस्तुग्रों को जल में विभिन्न तापों तक गरम कर वर्फ से ठंढे किए गए जल में ग्रचानक डुवो देते हैं।

पाश्चरीकरण, भोजन वनाने के वरतन, लैंप की चिमनियाँ, रासायनिक काच ग्रौर तापमापी की नली के लिये, उच्च तापीय सहनशीलतावाले काच की ग्रावश्यकता होती है। काच में ग्रधिक तापीय सहनशीलता उत्पन्न करने के लिये सिलिका की मात्रा अधिक ग्रौर क्षार की मात्रा कम होनी चाहिए तथा काच में कुछ मात्रा में जस्ता ग्राक्साइड, वोरन ग्राक्साइड ग्रौर ऐल्युमिनियम ग्राक्साइड भी होना चाहिए।

प्रकाशीय गुण—लेंसों (लेंज़ों) में प्रकाशीय गुण, जैसे उच्च वर्तनांक एवं विक्षेपण भी, काच में भिन्न ग्राक्साइडों की मात्राग्रों पर निर्भर है ग्रौर इसलिये सीस ग्राक्साइड, वेरियम ग्राक्साइड ग्रौर कैल्सियम की मात्राग्रों को घटा वढ़ाकर प्रत्येक भाँति के विशेष वर्तनांक ग्रौर विक्षेपण के वहुमूल्य काच तैयार किए जा सकते है।

परावैंगनी (ultra-violet) प्रकाश के पारगमन के लिये पारद-वाष्पदीप का काच कात्रीय सिलिका का वनाया जाता है, क्योंकि ये रश्मियाँ साधारण व्यापारिक काच के पार नहीं जा सकती हैं; परंतु द्रवित क्वार्ट्ज़ के पार ये सरलता से जा सकती है।

श्यानता—काच निर्माण में श्यानता भी एक ग्रावश्यक गुण है, क्योंकि काच का धमन (फूंकना), पीडन, कर्पण ग्रौर वेलना, वहुत कुछ काच की श्यानता पर ही निर्भर रहते हैं; ग्रभितापन में विकृति को हटाना भी श्यानता से ही सीधा संवंधित है। काच की श्यानता काच के ग्राक्साइड ग्रवयवों पर निर्भर करती है। सिलिका की मात्रा वढ़ाने से काच का श्यानता-परास (रेंज़) वढ़ जाता है; चूने की वृद्धि से श्यानता वढ़ती है, परंतु श्यानता-परास कम होता है। सोडा की मात्रा वढ़ाने से श्यानता घटती है, पर श्यानता-परास वढ़ता है।

विकृतियाँ—जव काच की वस्तु को गरम किया जाता है तो वाहर की सतह भीतर के भागों की ग्रपेक्षा अधिक गरम हो जाती है ग्रौर इसी प्रकार जव तप्त द्रवित काच को ठंढा करके ठोस किया जाता है तव ठोस होते समय काच के वाहर की सतह भीतर की ग्रपेक्षा ग्रधिक ठंढी हो जाती है। ताप में ग्रंतर होने के कारण काच में ग्रसमान प्रसार या ग्राकुंचन ग्रा जाता है, जिसके फलस्वरूप उसके भीतर प्रतिवल उत्पन्न हो जाते हैं ग्रौर काच में तदनुरूप विकृतियाँ ग्रा जाती हैं।

निर्माण के समय काच तप्त रहता है, इसलिये ठंढा होने पर काच की वस्तुग्रों में प्रतिवल ग्रौर विकृतियाँ ग्रा जाती हैं। इनको हटाने की क्रिया को काच का ग्रभितापन (annealing) कहा जाता है। इस विधि में काच की वस्तुग्रों को फिर से काच को कोमल होनेवाले ताप से कुछ कम ताप तक एक समान तप्त कर दिया जाता है। इससे श्यानता के परिवर्तन के कारण काच विकृतियों से मुक्त हो जाता है। तव काच को वहुत धीरे धीरे ठंढा किया जाता है। व्यापारिक काच का ग्रभितापन-परास ४२५° से ६००° सें० तक होता है। यह ग्रभितापन-परास भी काच के ग्राक्साइड ग्रवयवों पर निर्भर रहता है। ग्रधिक क्षारयुक्त काच पर्याप्त निम्न ताप पर ग्रभितापित किए जा सकते हैं। जटिल काच का, जैसे रासायनिक काच या उष्मा प्रतिरोधक काच का, ग्रभितापन ताप वहुत ऊँचा होता है। प्रकाशीय काचों के ग्रभितापन में वहुत ग्रधिक समय लगता है, क्योंकि उनको वहुत धीरे धीरे ठंढा करना होता है जिसमें वे प्रायः विकृतिहीन हों। संसार के सवसे वड़े २०० इंच व्यास वाले दूरवीक्षण यंत्र के काच को ठंढा करने में एक वर्प से ऊपर समय लगा था।

स्थायित्व—जिन काच पात्रों में ग्रोपधि, भोजन या पेय रखा जाता है, उनके काचों पर वहुत समय तक द्रवों की रासायनिक क्रिया होने की संभावना रहती है। सभी रासायनिक काच-वस्तुग्रों को जल, ग्रम्ल ग्रौर क्षार का संक्षारण (corrosion) सहना पड़ता है। द्वारवाले एवं प्रकाशीय काचों को ऋतुक्षारण सहना पड़ता है। ग्रतः यह ग्रावश्यक है कि इन काचों में ऐसे गुण हों कि पूर्वोक्त संक्षारणों का उनपर न्यूनतम प्रभाव पड़े।

काच का स्थायित्व काच के भिन्न ग्राक्साइड ग्रवयवों की मात्राग्रों पर निर्भर है। स्थायित्व वढ़ाने के लिये सर्वोत्तम पदार्थ जस्ता ग्राक्साइड है ग्रौर इसके वाद ऐल्यूमिनियम, मैग्नीसियम ग्रौर कैल्सियम ग्राक्साइड हैं। क्षार की मात्रा अधिक होने पर काच का स्थायित्व घटता है। वोरिक ग्राक्साइड १२ प्रतिशत तक काच का स्थायित्व वढ़ाता है ग्रौर तदुपरांत स्थायित्व घटता है। क्षारीय ग्राक्साइड के स्थान में सिलिका वढ़ाने से भी स्थायित्व में वृद्धि ग्राती है।

रंगीन काच—रंगीन काचों के निर्माण के लिये विभिन्न प्रकार के वर्णकों को काच-मिश्रण में डाला जाता है। इनका व्योरा नीचे दिया जाता है।

काच का रंग	वर्णक	वर्णक की मात्रा (प्रति १,००० भाग बालू)
पील।	कैडमियम सल्फ़ाइड	२०-३० भाग
	गंधक	५-१० ,,
भूरा (amber)	कार्बन	५-१० ,,
	गंधक	२-४ ,,
हरा	क्रोमियम आक्साइड	१-२ ,,
नीला	कोबाल्ट आक्साइड	१-३ ,,
उपल	क्रायोलाइट	१००-१२० ,,
आसमानी	क्यूप्रिक आक्साइड	१०-२० ,,
लाल	स्वर्ण क्लोराइड	१-४ ,,
लाल	सिलीनियम	८-१५ ,,
	कैडमियम सलफ़ाइड	१०-१५ ,,

काच निर्माण के लिये पिसे कच्चे पदार्थों को तौलकर खूब मिलाया जाता है और तदुपरांत उन्हें भट्ठी में रखकर द्रवित किया जाता है।

कुछ आदर्श काचों की संरचना और उपयुक्त काचमिश्रण नीचे दिए जा रहे हैं :

(१) धमनाइ द्वारा निर्मित भारतीय काच :

संरचना		मिश्रण		
सिलिका (SiO_2)	७४%	बालू	१०००	भाग
कैलसियम आक्साइड (CaO)	७%	चूना पत्थर	१६६	,,
सोडियम आक्साइड (Na_2O)	१६%	सोडा ऐश	४३६	,,

(२) यंत्रनिर्मित चादरी काच :

संरचना		काच-मिश्रण		
सिलिका (SiO_2)	७२.०%	बालू	१०००	भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	१.६%	ऐल्युमिना	२२	,,
कैलसियम आक्साइड (CaO)	१०.४%	चूना पत्थर	२५७	,,
सोडियम आक्साइड (Na_2O)	१६.०%	सोडा ऐश	३८०	,,

(३) पूर्ण मणिभ काच (crystal glass) :

संरचना		काच मिश्रण		
सिलिका (SiO_2)	५२.५%	बालू	१०००	भाग
सीस आक्साइड (PbO)	३३.८%	लाल सीस	६६०	,,
पोटैसियम आक्साइड (K_2O)	१३.३%	पोटाश	३३०	,,
		शोरा	४०	,,

(४) यंत्रनिर्मित विद्युत्-प्रकाश-दीप के लिये काच :

संरचना		काच-मिश्रण		
सिलिका (SiO_2)	७२.५%	बालू	१०००	भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	१.६%	ऐल्युमिना	२२	,,
कैलसियम आक्साइड (CaO)	४.६%	चूना पत्थर	१२१	,,
मैग्नीशियम आक्साइड (MgO)	३.५%	मैग्नेसाइट	१०१	,,
सोडियम आक्साइड (Na_2O)	१७.५%	सोडा ऐश	४१३	,,

(५) उष्मा प्रतिरोधक काच :

संरचना		काच-मिश्रण		
सिलिका (SiO_2)	७३.६%	बालू	१०००	भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	२.२%	ऐल्युमिना	३०	,,
सोडियम (Na_2O)	६.७%	सोडा ऐश	१५५	,,
बोरिक आक्साइड (B_2O_3)	१६.५%	बोरिक अम्ल	३६५	,,

(६) रासायनिक काच (पाइरेक्स) :

संरचना		काच-मिश्रण		
सिलिका (SiO_2)	८०.६%	बालू	१०००	भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	२.२%	ऐल्युमिना	२५	,,
मैग्नीशियम आक्साइड (MgO)	०.३%	मैग्नेसाइट	८	,,
बोरिक आक्साइड (B_2O_3)	११.६%	बोरिक अम्ल	२६२	,,
सोडियम आक्साइड (Na_2O)	३.६%	सोडा ऐश	८३	,,
पोटैशियम आक्साइड (K_2O)	०.७%	पोटाश	१३	,,

(रा० च०)

काच तंतु काच से पूर्णतः निर्मित तंतु के लिये काच तंतु (glass fibre) शब्द का उपयोग होता है।

निर्माण विधि—प्लैटिनम धातु के बने प्यालो के पेंदे के अति सूक्ष्म छिद्रों से द्रवित काच अति संपीडित जलवाष्प, या वायु, द्वारा निकलने पर और शीघ्रता से खींचने पर काच तंतु बनता है। कर्षण करने की गति प्रायः ६,००० फुट प्रति मिनट होती है। प्रत्येक तंतु का अनुप्रस्थ काट वृत्ताकार होती है और इसका व्यास .००००५ से .०००३ इंच तक होता है, इसकी लंबाई ६ से १५ इंच तक होती है। छिद्रों के नीचे वाहकपट्ट (Conveyor) पर तंतु संगृहीत होते हैं। इन संगृहीत तंतुओं को ही काच का रूई (glass wool) कहा जाता है। काच की रूई को दबा और नमदे की भाँति जमाकर काच के बहुत कोमल कंबल भी बनाए जाते हैं। काच वस्त्र के निर्माण के लिये आध इंच के व्यास की काच की गोलियाँ बना ली जाती हैं। इन गोलियों को विद्युत् भट्ठी में द्रवित किया जाता है और प्लैटिनम धातु के प्यालों के अति सूक्ष्म छिद्रों से निकालकर तंतुओं को अति शीघ्रता से और बिना किसी ऐंठन के, कर्षण यंत्र के तकुआ द्वारा खींचा जाता है। आधुनिक कर्षण प्रणाली मे अनेक (२०० से अधिक) तंतुओं को मिलाकर एक तंतु बनाया जाता है। इस तंतु की लंबाई असीम होती है। इस तंतु को सूत कातने के यंत्र पर लाया जाता है जहाँ पूर्वोक्त रीति से बने १०–१२ तंतुओं को मिलाकर एवं बटकर भिन्न प्रकार के काच के सूत बनाए जाते हैं। अंत मे बुनने की साधारण मशीनों पर सूती और रेशमी वस्त्रों के सदृश ही बुने जाते हैं। ये वस्त्र देखने और छूने मे, रेशमी वस्त्रों के समान होते हैं।

गुण—काच तंतु पर रासायनिक अम्लों एवं क्षारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। काच की भाँति केवल हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से इसका संक्षारण होता है। यह ६००° सें० तक के ताप को सहन कर सकता है और इस ताप पर यह कोमल हो जाता है। बिना कते तंतु की अपेक्षा कते तंतु और उनकी अपेक्षा काच वस्त्र कहीं अधिक ताप सहन कर सकते हैं। काच तंतु में किसी प्रकार के कीड़े नहीं लगते और काच वस्त्र को अम्ल, साबुन अथवा केवल जल से धोकर साफ किया जा सकता है। रंगीन काच से रंगीन धागे और रंगीन वस्त्र निर्मित हो सकते हैं। ये रंग टिकाऊ एवं पक्के होते हैं। काच तंतु गरमी या ठंढ रोकने के लिये भी उपयुक्त है, क्योंकि ये उत्तम असंचालक हैं। विशेष काच द्वारा उत्पादित काच तंतु विद्युत् के लिये भी उत्तम पृथक्कारी (insulator) है। काच तंतु ध्वनि को भी आगे बढ़ने से रोकता है। उत्तम ध्वनि संहारक होने के कारण इसका उपयोग ध्वनिकी (Acoustics) मे होता है। काच वस्त्रों से पर्दे, मेज के कपड़े और नेकटाई आदि बनाए जाते हैं। काच तंतु मे तनाव शक्ति बहुत अधिक होती है, अतः किसी वस्तु में अधिक तनाव शक्ति लाने के लिये प्लास्टिक के भीतर काच तंतु रख दिए जाते हैं और विशेष पीडन क्रिया से उसमें अधिक तनाव शक्ति आ जाती है। ऐसी वस्तुओं का उपयोग हवाई जहाज के काया निर्माण में विशेष रूप से हो रहा है।

भारत में किसी भी प्रकार के काच तंतु का निर्माण अभी नहीं होता है।

(रा० च०)

काच निर्माण काच से अनेक वस्तुएँ बनती हैं। निर्माण के लिये काच का अर्ध द्रवित अवस्था मे होना आवश्यक है, क्योंकि इसी अवस्था में काच का कर्षण, बेलन, पीडन एवं धमन (फूँकना) हो सकता है। उपयुक्त मात्रा और गुण के विविध कच्चे मालों को मिलाकर मिश्रण को विशेष भट्ठी में उच्च ताप (१३००°–१५००° सें०) पर द्रवित किया जाता है।

भट्ठियाँ—काच-द्रावण के लिये अग्निसह मिट्टी की ईंटों, सिल्लियों की भट्ठियाँ बनाई जाती हैं। ईंधन के लिये स।

कोयला, तेल या गैस का प्रयोग किया जाता है। घट-भट्ठी (Pot-furnace) में भट्ठी के भीतर अग्निसह मिट्टी (Fire clay) के खुले या बंद पात्रों में काच द्रवित किया जाता है। कुंड भट्ठी (Tank furnace) में दहन कक्ष के फर्श और चारों ओर की दीवारों के निम्न भाग में द्रवित काच रहता है। गैस, या तेल से तप्त कई प्रकार की पुनर्नियोजी (Regenerative) और पुनराप्त (Recuperative) भट्ठियाँ भी काच द्रावण के लिये प्रयुक्त होती हैं। प्रत्येक भट्ठी में प्रति दिन सैकड़ों टन उच्च गुणों का काच तैयार किया जाता है। काच के द्रवित हो जाने पर वस्तुओं के निर्माण से पूर्व इसे कुछ ठंढा किया जाता है, जिससे निर्माण क्रिया के लिये उसमें उपयुक्त सुघटता आ जाय।

सुषिर (पोली) वस्तुओं का निर्माण—सुषिर वस्तुएँ, यथा बोतलों, विद्युत लट्टुओं, गिलासों इत्यादि का निर्माण हाथ से या यंत्र द्वारा किया जाता है। हाथ से निर्माण में कुशल कारीगर द्रवित काच को फुंकनी पर संग्रह करता है। फुंकनी पाँच फुट लंबी, तीन चौथाई से एक इंच बाह्य व्यास और चौथाई इंच छिद्रवाली, लोहे की नली होती है। फुंकनी के एक सिरे

चित्र १. काच की शीशी बनाई जा रही है।

लोहे की चद्दर पर बेलकर शीशी को प्रारंभिक रूप दिया जा रहा है। बाईं ओर फूंकनेवाला मनुष्य है।

पर द्रवित काच को डुबोकर, या लपेटकर, उपयुक्त मात्रा में भट्ठी के बाहर निकाला जाता है और नाड में मुख द्वारा फूंककर और काच के गोले को विशेष पट्टी पर बेलकर, संगृहीत काच को लोंदे या गोले का रूप दिया जाता है, जिसका पारिभाषिक नाम निर्माण्य (parison) है। लोंदा बनाना भी एक कला है, क्योंकि इसका आकार और परिमाण वांछित वस्तु के सदृश होना चाहिए।

काच को धमन या पीडन द्वारा आकार में लाने के लिये साधारणतः लोहे के साँचों का प्रयोग होता है। धमन साँचे दो अवतल भागों में विभाजित होते हैं और ये भाग कब्जों से जुड़े रहते हैं। निर्माण के पश्चात् लोंदे को धमन साँचे के भीतर रखकर धमनकर्ता अपनी पूरी शक्ति के साथ, फुंकनी के ऊपरी सिरे में मुख से फूंकता है और इस प्रकार लोंदा फूलकर धमन साँचे के आकार का बन जाता है। इस विधि से विभिन्न प्रकार की पोली वस्तुएँ, जैसे बोतल इत्यादि बनाई जाती हैं। बोतल का कंठ बनाने के लिये, बोतल को फुँकनी से अलग कर लेते हैं। तब उसके ऊपरी सिरे को तप्त करके विशेष साँचों द्वारा दबाया और बेला जाता है। सभी उद्योगों की तरह काच उद्योगों में भी यंत्रों का प्रयोग होने लगा है और सब प्रकार की काच की वस्तुएँ अर्ध स्वचालित एवं पूर्ण स्वचालित यंत्रों द्वारा निर्मित की जा रही हैं।

अर्ध स्वचालित बोतल-निर्माण-यंत्र—समुन्नत देशों में इन यंत्रों का उपयोग अधिक मात्रा में होता है। ये यंत्र सस्ते होते हैं और प्रत्येक देश में बनाए जाते हैं।

साधारणतः यंत्र में लोहे की ढलवाँ मेज पर बाईं ओर लोंदावाला साँचा उलटा लगा रहता है। मेज के नीचे और लोंदेवाले साँचे के निकट हस्तक (वेंट) से चलनेवाला वायु-बेलन (cylinder) होता है। हस्तक को सामने खींचने पर लोंदेवाले साँचे में निर्वात (vacuum) स्थापित हो जाता है और उसे पीछे हटाने पर साँचे से लोंदा बाहर आ जाता है। लोंदेवाले साँचे के ठीक नीचे छोटा कंठवलय साँचा होता है। इस साँचे में ऊपरी ओर एक मज्जक (Plunger) होता है। बड़े साँचे में द्रवित काच सीमित मात्रा में डाल देते हैं और मज्जक की सहायता से बोतल का कंठ बना लेते हैं। हस्तक को इधर उधर चलाने से, लोंदे का निर्माण होता है। मेज पर दाहिनी ओर धमन साँचा रहता है। लोंदे को कंठवलय साँचे सहित धमन साँचे के ऊपर रखा जाता है और धमन साँचे में संपीडित वायु का प्रयोग कर बोतल का निर्माण किया जाता है।

काच प्रदायक यंत्र—भट्ठी के अग्र भाग में स्वचालित काच प्रदायक यंत्र लगाने से आवश्यक मात्रा मे द्रवित काच किसी भी यंत्र में डाला जा सकता है। यह यंत्र गिरते हुए काच स्रोत को द्रवित गोले के रूप मे परिणत कर देता है और ये गोले नीचे टिके हुए स्वचालित यंत्रों के लोंदेवाले साँचों में स्वयं ही पहुँच जाते हैं।

पूर्ण स्वचालित बोतल-निर्माण-यंत्र—ये यंत्र कई प्रकार के होते हैं, जिनमें मिलर, ओनील, लिच, ओवेन, राइरांट, मोनिश और वेस्टलेक कंपनियों के निर्माण यंत्र बहुत प्रचलित हैं। प्रत्येक में अपनी अपनी विशेषताएँ हैं।

लिच यंत्र—इन यंत्रों में दो घूमनेवाली मेजें होती हैं। एक मेज पर छह लोंदेवाले उलटे साँचे और दूसरी पर छह धमन साँचे रहते हैं। द्रवित काच का गोला, काच प्रदायक यंत्र द्वारा क्रमानुसार प्रत्येक लोंदेवाले साँचे में गिरता है। लोंदे के बन जाने के अनंतर लोंदे स्वयं ही दूसरी मेज पर स्थित धमन साँचों में चले जाते हैं और उस साँचे में संपीडित वायु द्वारा फूंके जाने पर बोतल तैयार हो जाती है। तब एक वायुचालित निष्कासक (take out) बोतल को उठाकर स्वचालित पट्टे पर रख देता है।

धमन यंत्रों की भाँति पीडन यंत्रों का भी प्रचलन है। इन यंत्रों में काच को लोंदेवाले साँचों में ही स्वचालित मज्जक द्वारा पीडित कर कुछ पोली वस्तुएँ, जैसे गिलास, कलश, प्याले, टाइलें (tiles), मसिपात्र, कलमदान, भस्मधानियाँ इत्यादि निर्मित की जाती हैं। साँचे से वस्तु की बाह्य रूपरेखा बनती है और भीतर का आकार मज्जक द्वारा तैयार होता है।

कुछ यंत्रों में, जैसे मोनिश एवं ओवेन यंत्रों में काच-प्रदायक यंत्रों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि इन यंत्रों से लोंदेवाले साँचे काच पिघलाने की भट्ठी से आवश्यक काच चूस लेते हैं और लोंदा बनने पर उसको धमन साँचे में डाल देते हैं।

पोली वस्तुओं को निर्माण के पश्चात् अभितापन भट्ठी में रखा जाता है। इन भट्ठियों का ताप इतना होता है कि काच में कुछ कोमलता आ जाए। साधारण काच के लिये यह ताप प्रायः ४५०°–५५०° सें० तक होता है। इस ताप पर काच की आंतरिक विकृतियाँ दूर हो जाती हैं। तब काच शनैः शनैः ठंढा किया जाता है।

खिड़कियों में लगनेवाला काच—यह दो प्रकार का होता है (१) चादरी काच; जो हाथ से बेलन के रूप में, या भट्ठी से यंत्र द्वारा, कर्षित कर पतली चादरों के रूप में बनाया जाता है; (२) पट्टिका काच, जो ढालकर और बेलकर बनाया जाता है, परंतु इसकी दोनों सतहों पर विशेष

प्रणाली द्वारा पालिश की जाती है। कुछ देशों में अब भी चादरी काच हाथ से बनाते है। इस विधि में फुँकनी द्वारा मुख से फूँककर काच के विशाल
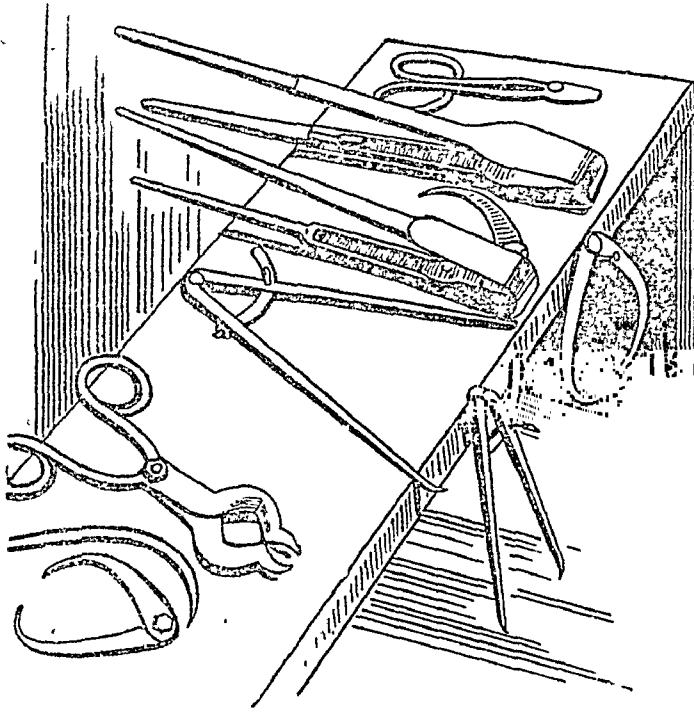
चित्र २. काच की वस्तुएँ बनाने के साधारण औजार

पोले वेलन बनाए जाते हैं। तब इन्हें लंबाई में काटकर विशेष भट्ठी में रखकर चिपटा एवं अभितापित किया जाता है।

चादरी काच निर्माण के लिये यांत्रिक प्रणालियों में फ़ूरकाल्ट कर्षण प्रणाली बहुत प्रचलित है। द्रवित काच में तैरती हुई, अग्निसह मिट्टी से बनी एक ८ फुट लंबी वेंड़ी नली होती है। इस नली के माथे में एक लंबी दरार होती है और इस दरार से चौड़े फीते के रूप में द्रवित काच की अविराम धारा ऊपर की ओर निकलती है। दरार के दोनो ओर दो जल शीतित नलियाँ निकलते हुए काच को ठंढा कर देती है। दरारवाली नली के ऊपर कर्षण यंत्र होता है। काच की चादर समान गति से घूमते हुए एक जोड़ी ऐस्बेस्टस के वेलनों के बीच से होकर निरंतर ऊपर बढ़ती है और ऊपर से उपयुक्त लंबाई की चादरें काट ली जाती है। इस बननेवाली चादर की चौड़ाई ३ से ६ फुट तक होती है। इन चादरों में कुछ हल्की क्षैतिज रेखाएँ बन जाती हैं। इन चादरों को अलग से अभितप्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

पट्ट काच (plate glass)—पट्ट काच की सतहें बड़ी सफाई से समतल और परस्पर समांतर बनाई जाती हैं। अच्छे दर्पण बनाने के लिये पट्ट काच ही उपयोग में लाया जाता है। एक निर्माण विधि में द्रवित काच के पात्र को उभरे किनारों की ढलवाँ लोहे की मेज पर एक लोहे के भारी बेलन के सामने उड़ेल दिया जाता है। वेलन के आगे बढ़ने पर काच पीडन द्वारा मेज के ऊपरी स्थल में फैलकर और दवकर, प्रारंभिक पट्ट काच के रूप में परिणत हो जाता है। अभितापन के पश्चात् पट्ट काच की दोनों ओर की सतहों को स्वचालित यंत्र द्वारा बालू से घिसकर कुंकुमी (rouge) से पालिश किया जाता है। दूसरी विधि में पट्ट काच अविराम-स्रोत-प्रणाली द्वारा बनाया जाता है। इस विधि में काच बड़े अविराम कुंडों में द्रवित किया जाता है। काच की छिछली धारा एक ओष्ठ के ऊपर से बहकर दो बेलनों के मध्य से गुजरती है। यह काच पट्ट धीरे धीरे ठंढा होकर स्वयं ही अभितापित हो जाता है। इस पट्ट को काटकर लोहे की मेज पर पेरिस पलस्तर से जमा दिया जाता है। तब स्वचालित पेटी (belt) पर पट्ट आगे बढ़ता है और घर्षक यंत्र क्रम से, बालू एवं जल से, पट्ट को रगड़ते और कुंकुमी तथा जल से पालिश करते हैं। इसी प्रकार पट्ट के दूसरी ओर भी घर्षण और पालिश की जाती है।

तार-जालिका युक्त पट्ट काच—इसके निर्माण के लिये काच की चादर को बेलते समय जस्त की कलईदार लोहे की जाली उसमें डाल दी जाती है।

काच शलाका एवं नली का हस्तकर्षण द्वारा निर्माण—फुँकनी के सिरे पर अधिक मात्रा में द्रवित काच सगृहीत कर उसे दवाकर और बेलकर, बेलन के आकार का लोदा बनाया जाता है। तब लोदे को कोमलांक तक पुनः तप्त कर एक लोह शलाका पर रखकर, उसमें एक दूसरी शलाका संयोजित की जाती है। संयुक्त होने के पश्चात् दो श्रमिक शलाकाओं को पकड़कर विपरीत दिशाओं में शीघ्रता से चलते हैं। इससे लोदा शलाका के रूप में खिंच जाता है।

काच नली के निर्माण के लिये सगृहीत काच में फुँकनी द्वारा मुख से फूंकने पर स्थूल दीवार का पोला वेलन बन जाता है। फिर इसे पूर्वोक्त रीति से खीचा जाता है। कर्षण की अवधि में भी मुँह से निरंतर फूंका जाता है।
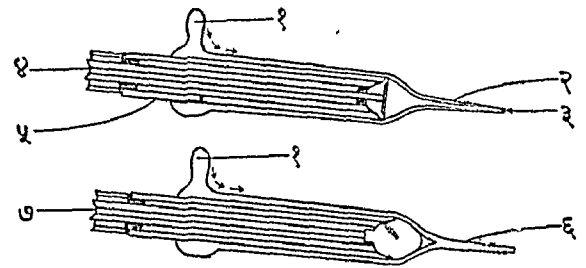
चित्र ३. काच की नली तथा शलाका कर्षण की स्वचालित रीति

१. काच; २. काच की नली; ३. कर्षण यन्त्र को; ४. वायु फूँकने का स्थान; ५. अग्निसह मिट्टी का घूमता हुआ वर्तुलाकार दंड; ६. काच की शलाका; ७. यहाँ से वायु नहीं फूँकी जाती।

काच शलाका एव नली का निर्माण पूर्णतः स्वचालित यंत्र द्वारा भी किया जाता है। इन यंत्रों में सबसे अधिक प्रचलित डैनर यन्त्र है। इस यंत्र मे काच की दो इंच चौड़ी और आध इंच मोटी धारा अक्ष पर घूमती हुई पोली लोह शलाका पर गिरती रहती हैं। इस शलाका पर अग्निसह मिट्टी चढ़ी रहती है। शलाका के घूमते रहने के कारण काच शलाका के चारों ओर लिपट जाता है। शलाका को कुछ तिरछा रखा जाता है; इसके काच शलाका के अंत तक पहुँच जाता है। वहाँ से काच को खीचा जाता है। साथ ही शलाका में से संपीडित वायु भी आती रहती है। इससे काच नली के रूप में खिचता है। खीचनेवाला यंत्र प्रायः १०० फुट की दूरी पर रहता है। यंत्र कर्षित नली का छिद्र एक समान होता है और दीवारों की मोटाई भी सर्वत्र समान होती है। हस्त कर्षित नली में यह बात नहीं आ पाती। नली एवं शलाका को अभितप्त करने की आवश्यकता नही होती, क्योंकि १०० फुट की दूरी तय करने में नली अपने आप धीरे धीरे ठंढी हो जाती है।

चूड़ी निर्माण—चूड़ियाँ कई विधियों से बनाई जाती हैं। विशेष प्रचलित विधि यह है कि एक लोह शलाका पर द्रवित काच को संगृहीत किया जाता है और फिर अपने भार से लटके हुए काच को खीचकर उसे लोहे के एक क्षैतिज बेलन से जोड़ा जाता है। इस बेलन का व्यास चूड़ी के नाप का होता है और उसके नीचे कुछ अग्नि जलती रहती है। इस बेलन को घुमाने पर बेलन अनुप्रस्थ गति से थोड़ा आगे बढ़ता जाता है। इसलिये ऊपर के बेलन से खिचा काच सर्पिल रूप (spiral form) में नीचेवाले बेलन पर लिपट जाता है। काच के सर्पिल को बेलन से निकालकर, लंबाई में खरोंच करने से, सर्पिल भाग खुले वलयों में विभाजित हो जाता है। अब वलयों के सिरों को कोमलांक तक तप्त करके दबाने पर, सिरे जुड़ जाते हैं और चूड़ी तैयार हो जाती है। चूड़ियों को अभितप्त नहीं किया

जाता। रंगीन चूड़ियों के लिये रंगीन काचों का उपयोग किया जाता है और दक्ष कारीगर विभिन्न प्रकार की कलात्मक चूड़ियाँ इस रीति से बना सकते हैं।

फेनसम काच (foam glass)—इस काच में नन्हें नन्हें बहुत से बुलबुले होते हैं। ये बुलबुले परस्पर अति निकट होने पर भी एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् रहते हैं। इस बनाने के लिये चूर्ण किए हुए काच को कार्बनीय मिश्रण के साथ ७००°–९००° सें० तक के ताप पर द्रवित किया जाता है। ताप के कारण कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस निकलती है। फलतः काच फूल उठता है और वह फेन के समान हो जाता है। भवन निर्माण के लिये फेनसम काच उपयुक्त पदार्थ है। इसकी बनी ईंटों और शलाकाओं को आरी से काटा जा सकता है और इसमें कीलें भी जड़ी जा सकती है। फिर, ध्वनि भी इन ईंटों को सुगमता से पार नहीं कर सकती।

प्रकाशीय काच (optical glass)—उस काच को कहते हैं जिससे लेंस (लेंज़), प्रिज्म (त्रिपार्श्व) आदि बनाए जाते हैं। प्रकाशीय काच निर्माण के लिये स्वच्छ, समांग, स्थायी, और पूर्णतया रंगहीन काच का होना आवश्यक है। इस काच के प्रकाश-नियतांक (optical constants), जैसे वर्तनांक (refractive index) आदि, आवश्यकतानुसार होने चाहिए। समस्त आंतरिक विकृतियाँ दूर करने के हेतु इस काच को पूर्णतया तपाया जाता है। काच-मिश्रण के लिये लोहरहित और सुनिश्चित रचना के कच्चे पदार्थों का उपयोग किया जाता है। उत्तम मिट्टी के बने बंद पात्र में स्थिर ताप पर काच को द्रवित किया जाता है। द्रवण और शोधन के पश्चात् काच को चलाया (विलोड़ित किया) जाता है। काच में विलोड़न क्रिया अग्निसह मिट्टी की बनी छड़ों द्वारा की जाती है। विलोड़क छड़ द्रवित काच में ऊर्ध्वाधर रखकर उसको एक लौह शलाका से संबद्ध कर दिया जाता है और इस शलाका को यंत्र से चलाया जाता है। काच में छड़ के वृत्ताकार परिक्रमण से काच में समांगता आ जाती है। फिर विलोड़क को बाहर निकाल लिया जाता है और पात्र को भी भट्ठी के बाहर निकालकर शीघ्र ठंडा किया जाता है। तदनंतर पात्र को तोड़ दिया जाता है। इससे काच कई टुकड़ों में विभाजित हो जाता है। शुद्ध एवं निर्दोष टुकड़ों को साँचों में रखकर साँचों को विद्युत् भट्ठी में रख दिया जाता है। पिघलने के पश्चात् ठंढा होने पर काच वांछित आकार का हो जाता है। कुछ विशेष स्थितियों में द्रवित काच को ढालनेवाली मेज पर उड़ेलकर और बेलकर पट्ट काच का रूप दिया जाता है। काच पट्ट एवं आकार युक्त काच टुकड़ों का विद्युत् तापित विशेष भट्ठी में पूर्णतः अभितापन किया जाता है। इस कार्य में कई सप्ताह लग जाते हैं। अभितप्त काच को काटकर बालू से घिसकर और कुंकुम से पालिश करके मनचाहे आकार के लेंस (लेंज़) आदि बनाए जाते हैं। (रा० च०)

काच लगाना भवन निर्माण में प्रायः दरवाजों, खिड़कियों, झरोखों, या विभाजन परदों इत्यादि में काच का व्यवहार किया जाता है।
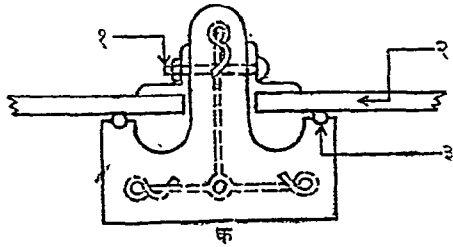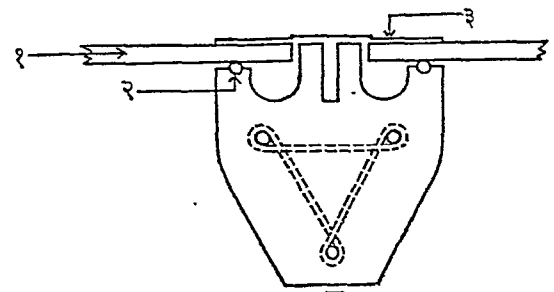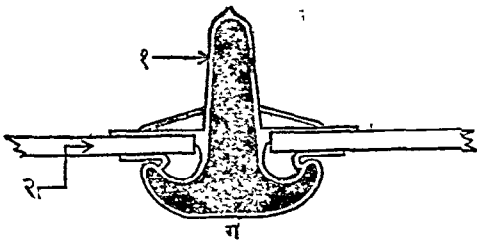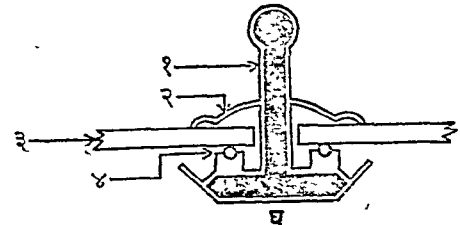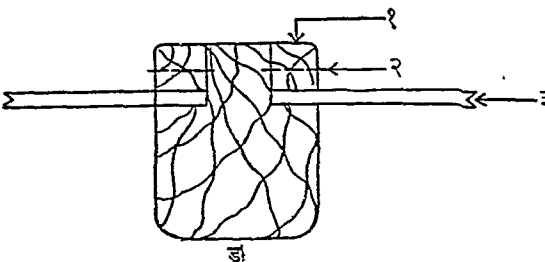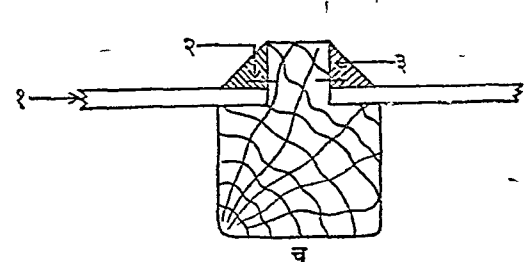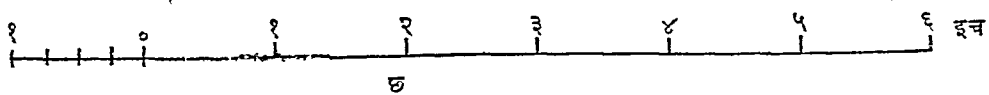
काच लगाने के गजों की किस्में

(क) लोहा प्रबलित पत्थर का गज (bar) : १. धातु की चुटकी (clip) तथा कबले (bolt); २. काच; ३. ऐस्बेस्टस की डोरी। (ख) कंक्रीट का गज : १. काच; २. ऐस्बेस्टस की डोरी; ३. सीसे की टोपी। (ग) इक्लिप्स (eclipse) गज : १. सीसा चढ़ा धातु का गज; २. काच। (घ) बी० आइ० बार : १. धातु का गज; २. सीसे का पतरा; ३. काच; ४. तेल लगी ऐस्बेस्टस की डोरी। (ङ) लकड़ी का गज : १. गोला (beading); २. कीलें; ३. काच। (च) लकड़ी का गज : १. काच; २. कीलें; ३. पोटीन। (छ) इंचों में लगभग अनुमाप।

काच लगाने का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि कमरे इत्यादि में प्रकाश आए, परंतु वर्षा और तप्त अथवा शीत पवन से रक्षा हो। किंतु मकान में अथवा उसके किसी भाग में काच का प्रयोग प्रकाश कम करने के लिये अथवा परदा करने तथा सौंदर्य वृद्धि के विचार से भी किया जाता है, क्योंकि काच कई प्रकार के तथा रंग बिरंगे भी होते हैं।

काच की मोटाई $\frac{1}{16}$ इंच से लेकर साधारणत: $\frac{1}{2}$ इंच तक होती है (अधिकांश शीशे $\frac{1}{10}$", $\frac{1}{8}$", $\frac{3}{16}$" तथा $\frac{1}{4}$" मोटाई के होते हैं)। लंबाई, चौड़ाई भी ३ फुट से ४ फुट तक किसी भी माप की मिल सकती है। बड़ी माप का काच महँगा पड़ता है तथा विशेष माँग पर मिलता है। खिड़कियों में लगाने के लिये ८"×१०", १०"×१२", १२"×१४" इत्यादि नाप के शीशे बाजार में सुलभ रहते हैं।

काच लगाने के लिये दरवाजे या खिड़की के दिलहे में खाँचा छोड़ दिया जाता है। इसी खाँचे में उपयुक्त नाप का शीशा स्थान पर बैठाकर उसे बिरंजियों (छोटी कीलों) से फँसा दिया जाता है। फिर ऊपर से पोटीन लगा दी जाती है, जैसा नीचे चित्र च में दिखलाया गया है। पोटीन आड़ी या तिरछी काट दी जाती है, जैसा चित्र से स्पष्ट है। पोटीन इसलिये लगाई जाती है कि शीशा ढीला न रहे, नहीं तो हिलने से वह खड़खड़ाएगा और उसके टूट जाने की आशंका रहेगी।

अधिक समय बीतने पर पोटीन का तेल सूख जाता है और तब वह भंगुर हो जाती है। फिर धीरे धीरे पोटीन उखड़ जाती है, जिससे उसकी मरम्मत की आवश्यकता पड़ जाती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये पोटीन के स्थान पर लकड़ी की एक पतली डंडी जड़ने की प्रथा भी अब चल पड़ी है। डंडी उसी लकड़ी की होनी चाहिए जिस लकड़ी की खिड़की या दरवाजा हो तथा उसकी नाप ऐसी होनी चाहिए कि शीशे के ऊपर लगाने से वह पल्ले की लकड़ी से ऊँची न उठी रहे। लकड़ी की डंडी पतली, छोटी कीलों से जड़ी जाती है और उसके किनारे की धार को रंदे से मार का कुछ गोल कर दिया जाता है (द्र० चित्र ङ)।

लकड़ी की डंडी के दबाव से शीशा चटख न जाय इसके लिये डंडी के नीचे उसी की चौड़ाई का पतला नमदा (f lt) अथवा रबर की पट्टी भी लगा दी जाती है।

लकड़ी के दरवाजों तथा खिड़कियों के अतिरिक्त अब लोहे अथवा ऐल्यूमिनियम धातु के भी दरवाजे इत्यादि बनने लगे हैं और उनमें भी शीशे लगाए जाते हैं। यहाँ भी काच लगाने की विधि प्राय: उपर्युक्त विधि के ही समान रहती है, अंतर केवल यह होता है कि काच लगाने का खाँचा दरवाजे में पहले से ही बना हुआ रहता है जिसपर शीशा लगाकर या तो पोटीन लगाई जा सकती है, अथवा ऊपर एक L अथवा अन्य आकार की धातु की बनी बनाई डंडी पेंच से जड़ दी जाती है, जैसा चित्र ख में दिखाया गया है।

एक और रीति (जो इस देश में कम प्रचलित है) सीसे के H आकार की पट्टियों के प्रयोग की है। इन पट्टियों को लकड़ी या धातु दोनों प्रकार के दरवाजों में काच लगाने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है, जैसा चित्र ग में दिखाया गया है। सीसे की इन पट्टियों द्वारा काच पत्थर के खाँचों में भी लगाया जा सकता है (द्र० चित्र घ)। (का० प्र०)

काचीन यह ब्रह्मदेश अथवा बरमा राज्य संघ का एक राज्य है। ब्रह्मदेश के संविधानानुसार २४ सितंबर, १९४७ ई० को मितकीना एवं भामो जिलों को मिलाकर इसका निर्माण किया गया। काचीन का क्षेत्रफल लगभग १५,५०० वर्गमील है। यह राज्य उत्तरी ब्रह्मदेश में नागा एवं पटकोई पहाड़ियों के पूर्व तथा सालविन नदी के पश्चिम में स्थित है। ईरावती तथा इसकी सहायक चाडविन नदियाँ इस राज्य के उत्तरी भाग से निकलकर दक्षिण की ओर बहती हैं। इस छिन्न भिन्न पहाड़ी एवं पठारी क्षेत्र में घने जंगल हैं। पूर्वी भाग में काचीन पहाड़ियाँ (६,००० से ७,००० फुट) उत्तर-दक्षिण फैली हुई हैं। भामो तथा मितकीना इस राज्य के प्रमुख नगर हैं। भामो चीनी सीमा से २० मील की दूरी पर स्थित बरमा चीन व्यापार का मुख्य केंद्र है। मितकीना रेल द्वारा मांडले और रंगून से संबद्ध है। यहाँ से 'लेडो मार्ग' आसाम को जाता है। धान एवं मक्का इस राज्य की मुख्य उपज है। इसके अतिरिक्त कपास, तंबाकू, अफीम, मटर, तिलहन एवं सब्जियाँ भी उगाई जाती हैं। यह क्षेत्र निर्माण काष्ठ के लिये प्रसिद्ध है जो नदियों द्वारा बहाकर मांडले एवं रंगून के कारखानों में पहुँचाया जाता है। ईरावती तथा अन्य नदियों की घाटियों में सोना पाया जाता है। (न० कि० प्र० सि०)

क़ाज़ी इस्लामी राज्यों में न्याय विभाग का मुख्य अधिकारी क़ाजी होता है। प्रारंभ में न्याय विभाग की देखरेख ख़लीफ़ा के अधीन होती थी जो पूरे इस्लामी राज्य का हाकिम होता था। मुसलमानों के प्रथम ख़लीफ़ा हज़रत अबू बक्र (६३२–६३४ ई०) ने अपने शासन काल में न्याय विभाग को अपने अधिकार ही में रखा अत: उनके समय में क़ाजी की नियुक्ति की आवश्यकता न हुई। दूसरे ख़लीफ़ा हजरत उमर (६३४–६४४ ई०) ने अन्य लोगों को क़ाजी नियुक्त किया। इसका कारण यह था कि राज्य की सीमाएँ फैल गई थीं और ख़लीफ़ा के लिये पूरे राज्य की देखभाल के साथ साथ न्याय विभाग का संचालन असंभव था। मदीने में वे स्वयं तथा अबू दरदा क़ाजी के कार्य को सम्हालते थे। बसरे में उन्होंने शुरैह तथा कूफ़े में अबू मूसा अशअरी को क़ाज़ी नियुक्त कर दिया था। अबू मूसा की नियुक्ति के समय हजरत उमर ने एक पत्र लिखा जिसे क़ज़ा विभाग, जिसका संबंध क़ाजियों से होता था, के आदेशों एवं कार्यों का पूर्ण विधान समझना चाहिए। इस पत्र में वचन का पालन करने, न्याय की उपेक्षा न करने, पक्षपात न करने तथा शक्तिहीनों को सहारा देने पर बड़ा जोर दिया गया है। क़ाजी के लिये यह भी आदेश था कि वह निर्णय देने के उपरांत उसपर ठंडे दिल से सोच-विचार करे। यदि न्याय किसी अन्य ओर ज्ञात हो तो न्याय का पालन करने में किसी प्रकार का संकोच न करे। गवाही तथा उसके अनुसार न्याय करने पर भी बड़ा जोर दिया जाता था। उदाहरणत: ऐसे व्यक्ति की गवाही स्वीकार करनी निषिद्ध थी जिसे किसी अपराध के दंड में कोड़े लग चुके हों या वह किसी गवाही के समय झूठा सिद्ध हो चुका हो।

यद्यपि ख़लीफ़ाओं ने न्याय विभाग को क़ाजी के सुपुर्द कर दिया था, फिर भी महत्वपूर्ण निर्णय वे स्वयं ही करते थे। ख़लीफ़ाओं के शासन काल में क़ाजी को केवल अभियोगों के निर्णय का अधिकार था किंतु शनै: शनै: क़ाज़ियों के अधिकार बढ़ते चले गए और अन्य कार्य भी उन्हें सौंपे जाने लगे ; यहाँ तक कि सर्वसाधारण के हितों की रक्षा भी उन्हीं के सुपुर्द कर दी गई। पागलों, अंधों, दरिद्रों, एवं मूर्खों की धन-संपत्ति की देख-भाल, वसीअतों का पालन, वक़्फ़ों का प्रबंध, विधवाओं के विवाह की व्यवस्था, मार्गों और घरों की देखभाल, दस्तावेजों की जाँच-पड़ताल, साक्षियों की छानबीन, अमीनों और नायबों की देखरेख क़ाजी के ही सुपुर्द रहने लगी। कभी कभी सैनिक दस्ते भी जेहाद में क़ाजी के नेतृत्व में भेजे जाते थे। भारतवर्ष में भी देहली के सुल्तानों तथा मुगलों के राज्यकाल में क़ाजियों के सुपुर्द लगभग यही कार्य थे और सर्वोच्च क़ाज़ी, क़ाजि-उल-कुज़ात कहलाता था।

सं०ग्रं०—(अरबी) मावद : एहकामुस्सुलतानिया; इब्ने ख़लदून : मुक़द्दमा; (हिंदी) रिजवी : इब्ने ख़लदून का मुकद्दमा, हिंदी समिति, लखनऊ, १९६१। (सै० अ० अ० रि०)

काटोवास नगर रेबा नदी पर स्थित, पोलैंड का एक नगर, बिथनी से पाँच मील दक्षिण पूर्व में है। इसका संबंध बियनी से रेल द्वारा कर दिया गया है। यह लौह उद्योग का प्रमुख नगर है, क्योंकि इसके पास ही में ऐंथ्रासाइट कोयले एवं जस्ते की खानें हैं। यह नगर बड़ी तीव्रता के साथ उन्नति कर रहा है। इसका मुख्य कारण खानों की निकटता है। यह १८१५ ई० में एक छोटा नगर था जिसने अब बड़े नगर का रूप धारण कर लिया है। सन् १९५३ में इस नगर का पुन: नामकरण स्तालिनोगाद किया गया। यहाँ की जनसंख्या १८७५ में ११,३५१ थी जो १९३९ में १,३४,०००; १९५० में १,५६,००१; १९५१ में १,९९,६०० तथा १९७० में बढ़कर ३,०३,००० हो गई। (वि० रा० सिं०)

काठकोयला हवा की अपर्याप्त मात्रा में लकड़ी जलाने से उड़नशील भाग गैस के रूप में बाहर निकल जाता है और काली ठोस वस्तु, जिसे काठकोयला कहते है, बच रहती है। यह कार्बन नामक तत्व का ही एक अशुद्ध रूप है, जिसमें कुछ अन्य तत्व भी अल्प मात्रा मे रहते है। लकड़ी से इसके भौतिक एवं रासायनिक गुण भिन्न होते हुए भी उस लकड़ी की बनावट इसमें सुरक्षित रह जाती है जिससे यह प्राप्त किया जाता है। सूखी लकड़ी को ३१०° सें० तक तप्त करने पर पहले वह हल्के, तत्पश्चात् गाढ़े भूरे रंग की तथा अंततः काली और जलने योग्य हो जाती है। इससे अधिक ताप पर काठकोयला प्राप्त होता है। इस उष्माविघटन की क्रिया में कुछ अति उपयोगी वस्तुओं का भी उत्पादन होता है। प्रथमतः जलवाष्प निकलता है, परंतु ताप बढ़ाने पर प्रारंभिक विघटन से कार्बन मोनोक्साइड और कार्बन डाइआक्साइड भी मिलते है। अधिक ताप पर उष्मक्षेपक क्रिया प्रारंभ
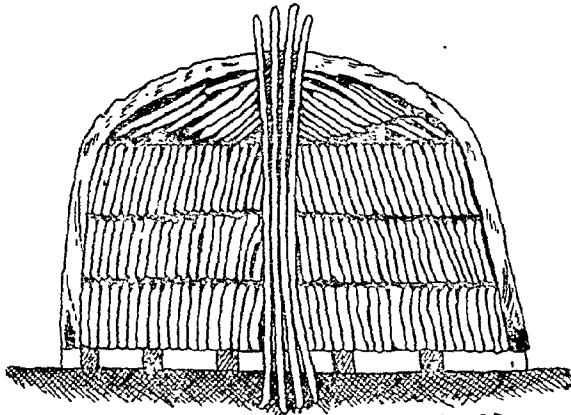
चित्र १. लकड़ी जलाकर कोयला बनाने की प्राचीन रीति
(श्री फूलदेवसहाय वर्मा की कोयला नामक पुस्तक से)

होती है और अलकतरा (टार), अम्ल तथा मेथिल ऐल्कोहल इत्यादि का आसवन होता है और काठकोयला शेप रह जाता है। इस क्रिया के एक
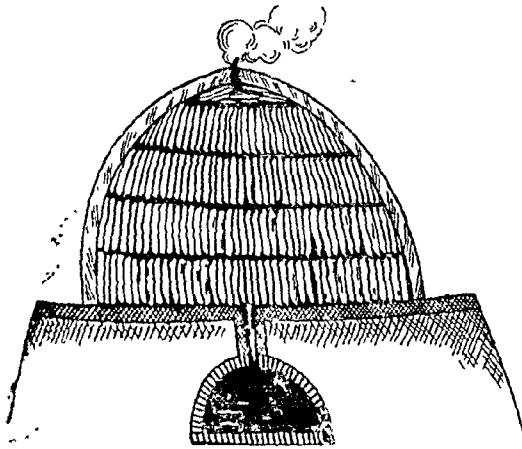
चित्र २. काठकोयला बनाने की सुधारी रीति
ऊपर लकड़ी जलाकर कोयला बनाते है और नीचे गड्ढे में अलकतरे का संग्रह होता है।
(श्री फूलदेवसहाय वर्मा की कोयला नामक पुस्तक से)

बार प्रारंभ होने पर अभिक्रिया की उष्मा ही कार्बनीकरण की प्रक्रिया को चलाने के लिये पर्याप्त होती है और बाहर से उष्मा पहुँचाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

घरेलू अथवा दूसरे कार्यों में ईंधन के लिये काठकोयले का उपयोग बहुत प्राचीन है। व्यावसायिक मात्रा में इसे तैयार करने की कई विधियाँ काम में लाई जाती हैं। प्रारंभिक विधि में लकड़ी के टुकड़ों को एक गड्ढे या गोल ढेर में इस प्रकार सजाकर एकत्रित कर लिया जाता है कि बीच में धुआँ अथवा विघटन से बनी हुई गैस के निकलने के लिये मार्ग रहे। पूरे ढेर को घास फूस रहित मिट्टी और ढेले से ढक देते हैं। भीतर की लकड़ी जलाने के लिये चिमनी स जलती हुई लुआठी डाल दी जाती है तथा ढेर की जड़ मे स्थित, हवा के प्रवेश के लिये बने छिद्र खोल दिए जाते हैं। प्रारंभ में थोड़ी सी लकड़ी के जलने से उत्पन्न उष्मा शेष लकड़ी को जलाने मे सहायक होती है। कई दिनों बाद, जब चिमनी से प्रकाशप्रद लौ के स्थान पर हल्की नीली लौ दिखाई देने लगती है तब नीचे के छिद्र बंद कर, काठकोयले को ठंढा होने के लिये छोड़ दिया जाता है। इस विधि में लगभग २४ प्रतिशत काठकोयला प्राप्त होता है, परंतु बहुत से उपयोगी उड़नशील पदार्थों के वायु में मिल जाने से हानि होती है। कई देशों में, विशेषकर जहाँ लकड़ी सस्ती है, अभी भी इसी विधि द्वारा काठकोयला बनाया जाता है।

१८वीं शताब्दी के बाद ईंटों की बनी भट्ठियों और लोहे के वकभांडों (retorts) का उपयोग होने लगा। वकभांड को सामान्यतया बाहर से गरम किया जाता है तथा उत्पन्न गैस को संघनित्र (condenser) में प्रवाहित कर उपयोगी उपजात एकत्रित कर लिया जाता है। बची गैस वकभांडों को गरम करने के लिये प्रयुक्त की जाती है। प्राप्त पदार्थों से लकड़ी की स्पिरिट, पाइरोलिग्नियस अम्ल, जिससे मेथिल ऐल्कोहल, ऐसिटोन तथा ऐसीटिक अम्ल बनते हैं, तथा अलकतरा (tar) मिलता है। इन्हें आसवन द्वारा अलग कर लिया जाता है। कहीं कहीं इन बहुमूल्य उपजातों के लिये ही लकड़ी का कार्बनीकरण करते हैं। ऐसीटिक अम्ल तथा मेथिल ऐल्कोहल के अधिक उत्पादन के लिये पर्णपाती (पतझड़वाले) वृक्षों की लकड़ी को प्राथमिकता दी जाती है। उत्पादन मूल्य घटाने के विचार से कुछ देशों में नलिका-भट्ठी अथवा लंबी बेलनाकार लोहे की ऊर्ध्वाधर भट्ठी का उपयोग होता है और कार्बनीकरण से प्राप्त जलनशील गैस ही इन्हें गरम करने के काम मे लाई जाती है। अमरीका में तो लकड़ी से भरे हुए रेल के डिब्बे वकभांड के भीतर प्रविष्ट कर दिए जाते है तथा क्रिया की समाप्ति पर बाहर निकाल लिए जाते हैं।

काठकोयला काले रंग का ठोस पदार्थ है, जो पीटने पर चूर हो जाता है। इसके सरंध्र होने से इसमे शोषण की शक्ति बहुत होती है। यह वायुमंडल से वाष्प तथा विविध प्रकार के गैसों की बड़ी मात्रा सोख लेता है। यह शक्ति काठकोयले को सक्रियकृत (activated) करने पर अत्यधिक बढ़ जाती है। इसी कारण साधारण काठकोयले में भी शोषित हवा की अच्छी मात्रा मिलती है। वैसे तो वायुरहित काठकोयले का वास्तविक आपेक्षिक घनत्व १.३ से १.९ के बीच होता है, परंतु आभासी घनत्व ०.२ से ०.५ के बीच मिलता है। काठकोयला भी लकड़ी की भाँति पानी पर तैरता है। लकड़ी की तुलना में यह उन प्रभावों के प्रति अधिक अवरोधक है जिनसे लकड़ी सड़ती है अथवा उसका क्षय होता है। इसी कारण लकड़ी के लट्ठों की ऊपरी सतह को जलाकर गाड़ने अथवा रखने से भीतर का भाग बहुत समय तक सुरक्षित रह जाता है।

काठकोयला हवा मे गरम करने पर रंगहीन लौ देता हुआ जलता है, जिसमें कार्बन डाइआक्साइड गैस बनती है तथा थोड़ी राख बच रहती है, जो क्षारीय होती है। इस क्रिया में अत्यधिक गर्मी निकलती है, जिसके कारण ईंधन के रूप में काठकोयले का अधिक उपयोग होता है। बारूद तथा आतिशबाजी के विभिन्न संमिश्रणों में काठकोयले के चूरे का उपयोग होता है। ईंधन के अतिरिक्त, विषैली गैसों से बचने के लिये गैसमास्क तथा उष्मा अवरोधक बनाने में इसका प्रयोग होता है। गैसमास्क में, अथवा घोलों मे कुछ वस्तुओं को हटाने के लिये, काठकोयले का उपयोग इसकी शोषणशक्ति पर आश्रित है। कुछ वस्तुओ से अनिच्छित गंध या रंग दूर करने में सक्रियकृत काठकोयला अत्यधिक प्रयुक्त होता है। ऐसे कोयले के रंध्रों में शोषित आक्सिजन से शोषित विषाक्त गैस की प्रतिक्रिया हो जाती है, जिसमे विषाक्त गैस हानिरहित गैसों [illegible] जाती है।

सक्रियकृत काठकोयला (Activated ch[illegible] आर० ऑस्ट्राइको ने सन् १९०० के कुछ पहले ही पता लगा

की धारा में काठकोयले को चटक लाल ताप तक गरम करने से काठकोयले की शोषणशक्ति बहुत बढ़ जाती है। ऐसे काठकोयले को सक्रियकृत काठकोयला कहते हैं। सन् १९१६ के बाद सक्रियकृत काठकोयला बनाने की कई रीतियाँ आविष्कृत हुई। द्वितीय महायुद्ध के गैस मास्कों के लिये अधिक सक्रियकृत काठकोयले की आवश्यकता पड़ी। तब अनुसंधानों

चित्र ३. सविराम अमरीकी भट्ठा

ईंटों से बना यह भट्ठा मधुमक्खी के छत्ते के आकार का होता है। शिखर से लकड़ी जलाई जाती है। लकड़ी जलाकर पट्ट (क) से मिट्टी का लेप देकर मुँह बंद कर देते है। इसके कुछ नीचे के मार्ग (ख) से लकड़ी डाली जाती है। भट्ठे के पेंदे के तल पर एक मार्ग (ग) होता है, जिससे कोयला निकाला जाता है। (ख) और (ग) लोहे के पट्ट के बने होते है। ये पट्ट ईंटों से लोहे के एक चिपटे चक्कर द्वारा, मिट्टी से लेपकर, बंद कर दिए जाते है। भट्ठे के चारों ओर सूराख (घ) होते है, जिन्हे आवश्यकतानुसार ईंटो से बंद कर सकते है, अथवा खुला रख सकते है। चूल्हे के पेंदे से निकास मार्ग (च) द्वारा गैसें और वाष्प निकलते हैं। इसमें एक वातयम (Damper) (छ) और पाशी (Trap) लगी रहती है। ऐसे उपकरण मे अच्छी कोटि का कोयला बनता है। वाष्पशील अंशो का संग्रह गौण महत्व का होता है। ठंढे हो जाने पर इनसे कोयला निकाला जाता है। ठंढे होने मे पर्याप्त समय लगता है।

द्वारा पता लगा कि पत्थर के कोयले को विशेष ताप तक तप्त करके उसपर भाप प्रवाहित करने से सस्ते में अच्छा सक्रियकृत कोयला प्राप्त हो सकता है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर : ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२); जे० आर० पार्टिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री; जे० एफ़० थॉर्प तथा एम० ए० ह्वाइटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री; फूलदेवसहाय वर्मा : कोयला। (वि० वा० प्र०)

काठमांडू हिमालय की पर्वतशृंखला की दो शाखाओं के मध्य विस्तृत काठमांडू घाटी के केंद्र में स्थित यह नगर काठमांडू प्रदेश तथा नेपाल देश की राजधानी है। भारत की सीमा से १२० किलोमीटर दूर, उत्तर की ओर, बागमती और विष्णुमती नदियों के संगम पर यह नगर बसा हुआ है। इसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से ४,५०० फुट है।

१७वीं शताब्दी में भीममाला ने केवल काठ से बने हुए एक मंदिर का निर्माण किया जिसका नाम काठमंदिर रखा गया। काठमांडू नाम की उत्पत्ति तभी से कही जाती है (काष्ठमंडप>काठमांडो>काठमांडू)। ग्रीष्म ऋतु की यहाँ की जलवायु आनंदप्रद है। यहाँ का औसत ताप तब लगभग ७५° फा० रहता है, किंतु जाड़े के दिन कष्टप्रद होते हैं जब ताप कभी कभी ३२° फा० तक हो जाता है। नगर के प्रत्येक दिशा मे हिमालय की बर्फीली चोटियाँ दिखाई पड़ती है। इस नगर में कई जातियाँ निवास करती है जिनमें प्रमुख नेवारी, ठाकुरी, गुरंग और गोरखा हैं। इस नगर की जनसंख्या १९६४ ई० मे १,९५,२६० थी। यहाँ के निवासियों के प्रायः सभी कार्य धार्मिक विचारों से प्रभावित होते हैं। ये मुख्यतः हिंदू तथा बौद्ध धर्मानुयायी है।

प्राकृतिक बाधाओं तथा कुछ राजनीतिक प्रतिबंधों के फलस्वरूप इस नगर तथा नेपाल राज्य का विदेशों मे अधिक संबंध नहीं रहा। अतएव १९वीं शताब्दी के अंत तक नेपाल सुषुप्तावस्था में ही पड़ा रहा। किंतु वर्तमान शताब्दी के मध्यकाल तक यहाँ पूर्ण जागृति हुई। स्वतंत्र सत्ता की रक्षा के लिये अब इस देश ने धीरे धीरे संसार के कोने कोने से अपना संबंध स्थापित कर लिया है तथा यह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। यहाँ की निरक्षरता को दूर करने पर स्थानीय सरकार ने विशेष ध्यान दिया है। अब उच्च शिक्षा की व्यवस्था क्रमशः हो रही है। इस समय इस नगर में नवस्थापित त्रिभुवन विश्वविद्यालय तथा तीन उच्च विद्यालय हैं।

यहाँ के निवासी लघु उद्योग धंधों में बड़े निपुण है। यहाँ का काष्ठ उद्योग विशेषतया उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कपड़े के जूते, छाता, हस्तकला की वस्तुएँ, बर्तन, कालीन, कढाई का काम, ऊनी वस्त्र इत्यादि तैयार करने तथा चर्म उद्योग मे यहाँ के कारीगर बड़े कुशल हैं। यद्यपि यहाँ लोहे की खानें नही है, तथापि यह नगर भारत से लोहे का आयात करके घरेलू आवश्यक सामग्री का स्वयं निर्माण करता रहा है। यहाँ की मुख्य उपज गेहूँ, चावल, फल तथा तरकारी है, किंतु भूमि तथा उपज की कमी के कारण इस नगर को खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। यहाँ अनेक भव्य मंदिर हैं जिनमे पशुपतिनाथ, बोधनाथ, स्वयंभूनाथ तथा हनुमानढोक प्रस्तरस्मारक दर्शनीय है। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यहाँ अभी तक गमनागमन के साधनों की उन्नति नही हो पाई है। माल ढोने के लिये १४ मील लंबा एक रज्जुपथ है जो आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भारत की सहायता से नवनिर्मित त्रिभुवन राजपथ, जिसकी लंबाई २११ किलोमीटर है तथा जो काठमांडू को भारत के सीमांत नगर रक्सौल से संबंधित करता है, नेपाल देश के लिये उन्नति का मार्ग है। अब काठमांडू संसार के वायुमार्ग से भी संबंधित हो गया है। (रा० लो० सिं०)

काठियावाड़ भारतवर्ष के पश्चिम तट का यह प्रायद्वीप, उत्तर-पश्चिम में कच्छ की खाड़ी तथा दक्षिण-पूर्व में कैंबे की खाड़ी से घिरा हुआ है। इसका क्षेत्रफल २१,४३२ वर्ग मील है। इस प्रदेश की दो प्रमुख नदियाँ भादर और शतरंजी हैं जो क्रमशः पश्चिम और पूर्व की ओर बहती है। इस प्रदेश का मध्यवर्ती भाग पहाड़ी है। काठियावाड़ का उच्चतम बिंदु ३,६६६ फुट ऊँचा है। वृत्ताकार गिरनार पर्वतसमूहों का दृश्य बड़ा विलक्षण है। काठियावाड़ की प्रायः ५० प्रतिशत भूमि कृषि के लिये उपयोगी है। यहाँ की मुख्य उपज कपास है और अधिकांश भूमि इसी के उत्पादन में लगी है। कैंबे की खाड़ी पर स्थित भावनगर इस प्रदेश का मुख्य नगर और बंदरगाह है। इसके अतिरिक्त जामनगर, राजकोट, पोरबंदर, जूनागढ़ आदि नगर भी उल्लेखनीय हैं। यहाँ चूने का पत्थर पर्याप्त रूप में मिलता है जो आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर पर दिउ स्थित है। (कृ० प्र० सिं०)

काड़ी कस्बा बड़ोदरा (बड़ौदा) जिले में इसी नाम के ताल्लुक का मुख्यालय है। स्थिति २३° १८′ उ० अ० तथा ७२° २′ पू० दे०। सन् १९०४ ई० तक यह कस्बा इसी नाम की जागीर का मुख्यालय था। परंतु जब जागीर जनपद में मिला दी गई तो ताल्लुक का मुख्यालय यहाँ स्थापित कर दिया गया। इस कस्बे में एक प्राचीन प्रासाद, अनेक स्कूल, कालेज, औषधालय एवं कचहरी हैं। इस कस्बे का मुख्य धंधा कपड़ा बुनना, कपड़ा रँगना एवं पीतल के वर्तन बनाना आदि है। (व० प्र० रा०)

काणे, पांडुरंग वामन (१८८०–१९७२ ई०) संस्कृत के अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त उद्भट विद्वान् एवं उच्च कोटि के प्राच्यविद्याविशारद। महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले के दापोली नामक गाँव में ७ मई, १८८० ई० को आपका जन्म हुआ। इसी जिले में लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, न्यायमूर्ति रानाडे तथा आचार्य विनोबा भावे प्रभृति महापुरुष पैदा हो चुके हैं। श्री काणे ने अपने विद्यार्थी जीवन के दौरान संस्कृत में नैपुण्य एवं विशेषता के लिये सात स्वर्णपदक प्राप्त किए और संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। पश्चात् बंबई विश्वविद्यालय से एल-एल० एम० की उपाधि प्राप्त की। इसी विश्वविद्यालय ने आगे चलकर आपको साहित्य में संमानित डाक्टर (डी० लिट्०) की उपाधि दी। भारत सरकार की ओर से आपको महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया गया। उत्तररामचरित (१९१३ ई०), कादंबरी (२ भाग, १९११ तथा १९१८), हर्षचरित (२ भाग, १९१८ तथा १९२१); हिंदुओं के रीतिरिवाज तथा आधुनिक विधि (३ भाग, १९४४), संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (१९५१) तथा धर्मशास्त्र का इतिहास (४ भाग, १९३०–१९५३ ई०) इत्यादि आपकी अंग्रेजी में लिखित कृतियाँ हैं।

डा० काणे अपने लंबे जीवनकाल में समय समय पर उच्च न्यायालय, बंबई में अभिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय, दिल्ली में वरिष्ठ अधिवक्ता, एलफ़िंस्टन कालेज, बंबई में संस्कृत विभाग के प्राचार्य, बंबई विश्वविद्यालय के उपकुलपति, रायल एशियाटिक सोसाइटी (बंबई शाखा) के फ़ेलो तथा उपाध्यक्ष, लंदन स्कूल ऑव ओरियंटल ऐंड अफ़्रीकन स्टडीज के फ़ेलो, राष्ट्रीय शोध प्राध्यापक तथा सन् १९५३ से १९५९ तक राज्यसभा के मनोनीत सदस्य रहे। पेरिस, इस्तंबूल तथा कैंब्रिज में आयोजित प्राच्यविज्ञ संमेलनों में आपने भारत का प्रतिनिधित्व किया। भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना से भी आप काफी समय तक संबद्ध रहे।

साहित्य अकादमी ने सन् १९५६ ई० में 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पर पाँच हजार रुपए का पुरस्कार प्रदान कर आपको संमानित किया और १९६३ ई० में भारत सरकार ने आपको 'भारतरत्न' उपाधि से अलंकृत किया। १८ अप्रैल, १९७२ को ९२ वर्ष की आयु में डा० काणे का देहांत हो गया। (कैं० चं० श०)

कातेना, विंसेंत्सो दी विअगिओ (१४७०-१५३१) वेनिस के एक प्रतिष्ठित परिवार में चित्रकार कातेना का जन्म हुआ था। कलागुरु जोवानी बेलिनी से उसने चित्रकला सीखी। लिवरपूल, ड्रेसडेन, बुडापेस्ट और वेनिस के संत फ़्रांसिस और संत जेरोम चर्च में 'मेदोना' सहित उसके सारे चित्र सुरक्षित हैं। वह व्यक्तिचित्रण में विशेष कुशल था। गरीब चित्रकारों की लड़कियों के विवाह में दहेज देने के लिये उसने अपनी सारी संपत्ति वेनिस के चित्रकार गिल्ड को सौंप दी। (भा० स०)

कातो, मार्कस पोर्सियस (९५–४६ ई० पू०) रोमन दार्शनिक, जो राजनीति और युद्ध में भी रुचि लेता था। पांपे और जूलियस सीजर के बीच हुए युद्ध में उसने पांपे का पक्ष लिया जिसकी पराजय होने पर उसने आत्महत्या कर ली। बताया जाता है, मरते समय तक अफ़लातून (प्लेटो) के 'डायलाग' का 'आत्मा की अमरता' वाला भाग पढ़ता रहा, यद्यपि स्वयं उसने भविष्य की अपेक्षा तत्कालकर्तव्य को सदैव अधिक महत्वपूर्ण समझा। इसी तरह राजनीति में तो वह अराजकतावादी, सिद्धांततः स्वतंत्र राज्य का समर्थक था। उसकी मृत्यु के उपरांत उसका चरित्र चर्चा का विषय बना—सिसरो ने 'कातो' लिखा और सीजर ने 'अंतीकातो'। ब्रूतस ने कातो को सद्गुणों और आत्मत्याग का आदर्श बताया। (श्री० स०)

कात्यायन धर्मग्रंथों से जिन कात्यायनों का परिचय मिलता है, उनमें तीन प्रधान हैं—(१) विश्वामित्रवंशीय कात्यायन, (२) गोमिलपुत्र कात्यायन, तथा (३) सोमदत्तपुत्र वररुचि कात्यायान।

(१) विश्वामित्रवंशीय कात्यायन मुनि ने कात्यायन श्रौतसूत्र, कात्यायन गृह्यसूत्र और प्रतिहारसूत्र की रचना की।

स्कंदपुराण के नागर खंड में कात्यायन को याज्ञवल्क्य का पुत्र बतलाया गया है जिसमें उन्हें यज्ञविद्याविचक्षण कहा है। उस पुराण के अनुसार इन्हीं कात्यायन ने श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्रों और शुक्लयजुःपार्षत् आदि ग्रंथों की रचना की। वास्तव में स्कंदपुराण के यह कात्यायन विश्वामित्रवंशीय कात्यायन हैं और यही कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के अंगिरसायन की कात्यायन शाखा के जन्मदाता है।

शुक्ल यजुर्वेद की कात्यायन शाखा विंध्याचल के दक्षिण भाग से महाराष्ट्र तक फैली हुई है। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि कात्यायन वररुचि कोई दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। महाराष्ट्र में व्याप्त कात्यायन शाखा इस प्रमाण का द्योतक है। शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य के बहुत से सूत्र कात्यायन के वार्तिकों से मिलते हैं। इससे भी उक्त संबंध की पुष्टि होती है।

स्कंदपुराण में याज्ञवल्क्य का आश्रम गुजरात में बतलाया गया है। बहुत संभव है जब याज्ञवल्क्य मिथिला में जा बसे हों तब उनके पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र की ओर चले गए हों और वहीं कात्यायन वररुचि वार्तिककार का जन्म हुआ हो।

(२) गोमिलपुत्र कात्यायन ने छंदोपरिशिष्टकर्मप्रदीप की रचना की है। कुछ लोगों का अनुमान है कि श्रौतसूत्रकार कात्यायन और स्मृतिप्रणेता कात्यायन एक ही व्यक्ति हैं। परंतु यह सिद्धांत ठीक नहीं जान पड़ता। हरिवंशपुराण में विश्वामित्रवंशीय 'कति' के पुत्र कात्यायन गण का नामोल्लेख है। कात्यायन गण में वेदशाखा के प्रवर्तक अनेक व्यक्ति हुए हैं और इन्हीं में से एक याज्ञवल्क्य शुक्लयजुः अर्थात् वाजसनेयि शाखा के प्रवर्तक हैं। श्रौत सूत्रकार कात्यायन इसी वाजसनेयि शाखा के अनुवर्तक हैं। इसी से यह अनुमान होता है कि विश्वामित्रवंशीय याज्ञवल्क्य के अनुवर्ती कात्यायन ऋषि ही कात्यायन श्रौतसूत्र के रचयिता हैं और गोमिलपुत्र कात्यायन स्मृतिकार हैं।

(३) वररुचि कात्यायन ही पाणिनीय सूत्रों के प्रसिद्ध वार्तिककार हैं। पुरुषोत्तमदेव ने अपने त्रिकांडशेष अभिधानकोश में कात्यायन के ये नाम भी लिखें हैं—कात्य, पुनर्वसु, मेधाजित् और वररुचि। 'कात्य' नाम गोत्रप्रत्ययांत है, महाभाष्य में उसका उल्लेख है। पुनर्वसु नाम नक्षत्र संबंधी है, 'भाषावृत्ति' में पुनर्वसु को वररुचि का पर्याय कहा गया है। मेधाजित् का कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त, कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी में कात्यायन वररुचि का एक नाम 'श्रुतधर' भी आया है। हेमचंद्र एवं मेदिनी कोशों में भी कात्यायन के 'वररुचि' नाम का उल्लेख है।

वररुचि कात्यायन के वार्तिक पाणिनीय व्याकरण के लिये अति महत्वशाली सिद्ध हुए हैं। इन वार्तिकों के बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा सा रह जाता। वार्तिकों के आधार पर ही पीछे से पतंजलि ने महाभाष्य की रचना की।

कात्यायन वररुचि के वार्तिक पढने पर कुछ तथ्य सामने आते हैं—यद्यपि अधिकांश स्थलों पर कात्यायन ने पाणिनीय सूत्रों का अनुवर्ती होकर अर्थ किया है, तर्क वितर्क और आलोचना करके सूत्रों के संरक्षण की चेष्टा की है, परंतु कहीं कहीं सूत्रों में परिवर्तन भी किया है और यदा कदा पाणिनीय सूत्रों में दोष दिखाकर उनका प्रतिषेध भी किया है और जहाँ तहाँ कात्यायन को परिशिष्ट भी देने पड़े हैं। संभवतः इसी वररुचि कात्यायन ने वेदसर्वानुक्रमणी और प्रातिशाख्य की भी रचना की है। कात्यायन के बनाए कुछ भ्राजसंज्ञक श्लोकों की चर्चा भी महाभाष्य में

की गई हैं। कैयट और नागेश के अनुसार ये भ्राजसंज्ञक श्लोक वार्तिककार के ही बनाए हुए हैं।

वार्तिककार कात्यायन वररुचि और प्राकृतप्रकाशकार वररुचि दो व्यक्ति हैं। प्राकृतप्रकाशकार वररुचि 'वासवदत्ता' के प्रणेता सुबंधु के मामा होने से छठी सदी के हर्ष विक्रमादित्य के समसामयिक थे, जबकि पाणिनीय सूत्रों के वार्तिककार इससे बहुत पूर्व हो चुके थे।

अशोक के शिलालेख में वररुचि का उल्लेख है। प्राकृतप्रकाशकार वररुचि का गोत्र भी यद्यपि कात्यायन था, इसी एक आधार पर वार्तिककार और प्राकृतप्रकाशकार एक ही व्यक्ति नहीं माने जा सकते, क्योंकि अशोक के लेख की प्राकृत से वररुचि की प्राकृत स्पष्ट ही नवीन मालूम पड़ती है। फलतः अशोक के पूर्ववर्ती कात्यायन वररुचि वार्तिककार हैं और अशोक के परवर्ती वररुचि प्राकृतप्रकाशकार। मद्रास से जो 'चतुर्भाणी' प्रकाशित हुई है, उसमें 'उभयसारिका' नामक भाण को वररुचिकृत बतलाया गया है। वस्तुतः यह वररुचि प्रसिद्ध वार्तिककार वररुचि नहीं है, क्योंकि वार्तिककार वररुचि 'तद्धितप्रिय' नाम से प्रसिद्ध रहे हैं और 'उभयसारिका' में तद्धितों के प्रयोग अति अल्प मात्रा में हैं। संभवतः यह वररुचि कोई अन्य व्यक्ति है।

हुयेनत्सांग ने बुद्धनिर्वाण से प्रायः ३०० वर्ष बाद हुए पालिवैयाकरण जिस कात्यायन की अपने भ्रमण वृत्तांत में चर्चा की है, वह कात्यायन भी वार्तिककार से भिन्न व्यक्ति है। यह कात्यायन एक बौद्ध आचार्य था जिसने 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान' नामक बौद्धशास्त्र की रचना की है।

कात्यायन नाम का एक प्रधान जैन स्थावर भी हुआ है। आफ्रेक्ट की हस्तलिखित ग्रंथसूची में वररुचि और कात्यायन के बनाए अनेक ग्रंथों की चर्चा की गई है। इन ग्रंथों मे कितने वार्तिककार कात्यायन प्रणीत हैं, इसका निर्णय करना कठिन है। (द्वि० ना० मि०)

कात्यायनी (१) याज्ञवल्क्य की स्त्री का नाम। इनकी दूसरी स्त्री का नाम मैत्रेयी था। बृहदारण्यक उपनिषद् में कात्यायनी संसारी स्त्री के रूप में अभिव्यक्त हुई हैं, मैत्रेयी इनके विरुद्ध, संसारविरक्त है।

(२) पार्वती का नाम। मत्स्यपुराण के अनुसार महिषासुर का वध करनेवाली सिंहवाहिनी देवी। इनके दस भुजाएँ तथा तीन नेत्र है। नवयौवन से संपन्न है तथा पूर्ण चंद्र के सदृश इनका मुख है। ये त्रिशूल, चक्र, तीक्ष्ण बाण, शक्ति, परशु आदि अस्त्र शस्त्रों से युक्त दिखलाई जाती है। (रा० शं० मि०)

कादंब राजकुल द्र० 'कदंब'।

कादिरी नगर तमिलनाडु राज्य के कुड़प्पा जिले में कादिरी नाम के ताल्लुके में है। स्थिति १४° ६' उ० अ० तथा ७८° १०' पू० दे०। यह नगर दक्षिण भारत का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहाँ नरसिंह भगवान् का एक विशाल तथा प्राचीन मंदिर है। लोकोक्ति है कि पहले यह सारा भाग जंगल से ढका हुआ था जिसमें जंगली जानवर घूमा करते थे। कादिरी के एक वृक्ष के नीचे चीटिओं की भित्तिका में नरसिंह भगवान् की यह मूर्ति मिली। फलस्वरूप यहाँ पर नगर का विकास हुआ तथा उस पेड़ के नाम पर ही नगर का नाम कादिरी रखा गया। प्रति वर्ष जनवरी में यहाँ मेला लगता है।

नगर अब दक्षिण रेलवे का एक स्टेशन है। यहाँ अनाज की बहुत बड़ी मंडी है। लघु उद्योग धंधे भी होते है। कुछ लोगों का कथन है कि यह हिंदू नगर कभी मुसलमानों के अधिकार में था। परंतु केवल कुछ मकबरों तथा मस्जिदों के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा प्रमाण नहीं मिलता। स्वतंत्रता के बाद नगर के विकास में सराहनीय वृद्धि हुई है। नगर का शासन नगरपालिका के अधीन है।

कादिरी ताल्लुका कुड़प्पा जिले का उजाड़ पर्वतीय भाग है। भूमि अनुपजाऊ है। कुछ छोटी नदियाँ भी हैं जो सिंचाई के लिये उपयुक्त नहीं हैं। यहाँ की मुख्य फसलें ईख तथा कपास है। ताल्लुके का क्षेत्रफल १,१५८ वर्ग मील है। इसमें १३९ गाँव है तथा मुख्य नगर कादिरी है। (ह० ह० सिं०)

कादीस १. दक्षिण स्पेन का प्रांत है। यह १८३३ ई० मे सेविल प्रांत के कुछ जिलों को अलग करके बनाया गया। क्षेत्रफल ७,३८५ वर्ग कि० मी०, जनसंख्या ८,८५,४३३ (१९७०) है। प्रांत के दक्षिण तटीय भाग मे विभिन्न सँकरी खाड़ियाँ पाई जाती है। उत्तरी समूचे भाग का पश्चिमी भाग समतल तथा उपजाऊ है। पूर्वी भाग पर्वतीय है जो जंगलों से ढका हुआ है। यहाँ की जलवायु शीतोष्ण कटिबंधीय है किंतु समुद्र प्रभाव के कारण सम है। भूमि उपजाऊ है जिसमे फल (अंगूर तथा जैतून) पर्याप्त मात्रा में पैदा होते है। जंगलो से प्राप्त बहुमूल्य लकड़ियाँ तथा समुद्र से प्राप्त मछलियाँ प्रांत की संपत्ति है। कादीस खाड़ी के पास समुद्र से नमक भी प्राप्त किया जाता है। यातायात का विकास समुचित नहीं है। यहाँ से फल, मछलियाँ तथा इमारती लकड़ियाँ बाहर भेजी जाती है। इस प्रांत की राजधानी का नाम भी कादीस है। ला लीनिया, सैनलकार, सैनफ़रनैंडो आदि अन्य नगर है जो अपने विशेष व्यवसायो तथा स्वच्छता के लिये प्रसिद्ध है।

२. स्पेन राज्य में कादीस प्रांत की राजधानी तथा इस देश का बहुत ही सुंदर नगर और प्रसिद्ध बदरगाह है। जनसंख्या १,३७,६२५ (१९६८) है। यह नगर सेविल से ६४ मील की दूरी पर एक पतले, सँकरे तथा पाँच मील तक समुद्र में प्रलंबित स्थलीय भाग पर स्थित है। अपनी इस सुरक्षित तथा सागरीय स्थिति के ही कारण यह नगर बहुत बड़ा व्यावसायिक केंद्र हो गया है। यहाँ की जलवायु समुद्री है। जाड़ा बहुत ही सुहावना होता है। जाड़े का तापक्रम ५३° फा० तथा गर्मी का ७६° फा० रहता है।

सात मील की परिधि में फैला हुआ यह नगर चारों तरफ से समुद्र से घिरा हुआ है, केवल एक तरफ से एक बड़े मार्ग के समान संकीर्ण भूमि द्वारा मुख्य स्थलखंड से मिला हुआ है। नगर के भव्य विशाल भवन एक ही आकार के तथा सुव्यवस्थित ढंग से बने हुए हैं जिससे यह नगर देश के मुख्य सुंदर नगरों में गिना जाता है। (ह० ह० सिं०)

कादुसी, बातोलोमो (१५६०–१६१०) इटली का चित्रकार जो फ्लोरेंस में जन्मा और जिसने वहीं अपनी कलाशिक्षा ली। अपने समय के प्रचलित कलाकार अमानती से उसने वास्तुशिल्प तथा मूर्तिकला सीखी। चित्रकला की शिक्षा उसे प्रसिद्ध चित्रकार जुकेरो से मिली थी। जुकेरो प्रायः चित्र बनाने के लिये दूर दूर से बुलाया जाता था, जो साथ ही कादुसी को भी सहायक के रूप में ले जाया करता था। जुकेरो के साथ वह माद्रिद गया था जहाँ उसने एस्कोरियल पुस्तकालय के लिये चित्र बनाए तथा उस प्रसिद्ध राजमहल की दीवारों पर भित्तिचित्र लिखे। धीरे धीरे उसकी पहुँच राजदरबार तक हो गई और स्पेन के राजा फ़िलिप द्वितीय का वह कृपापात्र बन गया। अधिकतर वह स्पेन में ही रहा और वहीं उसकी मृत्यु भी हुई। उसके बनाए अधिकतर चित्र स्पेन में ही हैं। उसका सबसे प्रसिद्ध चित्र 'क्रूस से अवतरण' (ईसा का क्रास पर से उतारा जाना) है। यह सॉं फ़ेलिप अल रील नामक गिरजाघर (माद्रिद) में सुरक्षित है। (रा० चं० शु०)

कान (कर्ण, श्रवणेंद्रिय) मनुष्यों की खोपड़ी की जड़ में दाएँ और बाएँ स्थित होते हैं। कान हमारे शरीर की पाँच विशेष ज्ञानेंद्रियों में से एक है। इसी के द्वारा हम सुनते है। जब कोई ध्वनि उत्पन्न होती है तब वह तरंगों के रूप में होती है। हमारा कान इन ध्वनितरंगों को एकत्रित कर और स्नायविक प्रेरणा में परिवर्तित कर उसे मस्तिष्क में ले जाता है और इस प्रकार हमको ध्वनि का ज्ञान हो जाता है।

हमारा कान तीन भागों में विभक्त रहता है—पहला बाह्य कर्ण, दूसरा मध्य कर्ण और तीसरा आंतरिक कर्ण।

बाह्य कर्ण—इसके दो अंश होते हैं—(१) कर्णपुट (Pinna), (२) कर्णकुहर (External Auditory Meatus)। कर्णपुट उपास्थि

का बना होता है। इसका आकार सीपी जैसा होता है और इसके ऊपर खाल चढ़ी रहती है। इसका मुख्य कार्य शब्दों का संग्रह करना है।

कर्णकुहर—कर्णपुट के भीतर की ओर लगभग सवा इंच की टेढ़ी-मेढ़ी एक नली कर्णपटह तक जाती है। इस नली में खाल की एक पतली तह होती है जिसपर अत्यंत सूक्ष्म बाल होते है। श्रवण नली के भीतरी भाग में कान का मैल निकालनेवाली कई ग्रंथियाँ होती हैं जिन्हें 'कर्णमल स्नायविक ग्रंथि' कहते हैं। इन ग्रंथियों से एक प्रकार का मोम जैसा तरल पदार्थ निकलता रहता है जो कान के आंतरिक भाग को चिकना रखता है। कान का मैल और कान के बाल अत्यंत उपयोगी होते हैं। धूल के कण तथा अन्य किसी प्रकार के कीड़े आदि इसके द्वारा बाह्य कर्ण में ही रोक लिए जाते है।

ग्रंथियों से निकलनेवाला गाढ़ा तरल पदार्थ कभी कभी कर्णनली में एकत्रित होकर जम जाता है, फलस्वरूप कान में पीड़ा होने लगती है। बहुधा सुनाई भी कम पड़ने लगता है।

मध्य कर्ण—यह कनपटी की हड्डियों से बने एक छोटे कोष्ठ मे स्थित होता है। इसके भीतर की दीवारें एक श्लैष्मिक झिल्ली द्वारा ढकी रहती है। इसकी बाहरी दीवार कर्णपटह से बनती है और भीतरी दीवार से अंतःकर्ण आरंभ होता है।

इस कोठरी में वायु भरी रहती है। इसकी भीतरी दीवार में दो छोटे छोटे छिद्र होते हैं, जिनमें से एक गोल होता है और दूसरा अंडाकार। मध्य कर्ण का ऊपरी और निचला भाग अस्थियों से निर्मित रहता है तथा एक छोटी अस्थि द्वारा मस्तिप्क से पृथक् कर दिया गया है।

मध्य कर्ण कंठ-कर्ण-नली द्वारा कंठ से भी संबंधित रहता है। कर्ण-कंठ-नली मध्य कर्ण में उपस्थित वायु से कर्णपटह के दोनो ओर की वायु की दाब के संतुलन में सहायता देती है। नाक और मुँह के छिद्रों को बंद करने पर श्वास कर्ण-कंठ-नली से होकर कर्ण से आने लगता है। सहसा बड़ी तीव्र ध्वनितरंग उत्पन्न होने पर मध्य कर्ण की वायु कंठ में चली जाती है और इस प्रकार मध्य कर्ण और बाह्य कर्ण के मध्य कर्णपटह को क्षति पहुँचने से रोकती है।

मध्य कर्ण में कर्णपटह से लेकर आंतरिक कर्ण तक तीन छोटी छोटी अस्थियाँ होती हैं। रचना के अनुसार ही इन अस्थियों का नामकरण हुआ है। सबसे पहली अस्थि, जो कर्णपटह के समीप है, मुगदर कहलाती है। इस अस्थि का आकार मुगदर की भाँति होता है। यह कर्णपटह की भीतरी सतह से जुड़ी रहती है। दूसरी अस्थि को निहाई और तीसरी अस्थि को रकाब कहते हैं।

रकाब नामक अस्थि निहाई और अंतःकर्ण को मिलाती है। ये तीनों अस्थियाँ एक सीधी रेखा में स्थित रहती हैं और बंधक तंतुओं द्वारा परस्पर जुड़ी रहती हैं।

ध्वनितरंगें कर्णपटह में कंपन उत्पन्न कर देती हैं। तत्पश्चात् कर्ण-पटह से लगे हुए मध्य कर्ण की तीनों सूक्ष्म अस्थियों में भी कंपन होने लगता है। इस प्रकार ध्वनि तरंगें बाह्य कर्ण से मध्य कर्ण में पहुँचती हैं।

अंत.कर्ण—यह कर्ण का सबसे आवश्यक भाग है। अतःकर्ण की रचना अत्यंत विचित्र और जटिल है। यह कनपटी की अस्थियों से बने एक कोष्ठ में सुरक्षित रहता है। अपनी बनावट की जटिलता के कारण यह 'घूमघुमैया' भी कहलाता है।

भीतरी कान उपास्थियों का बना होता है। पर विशेषता यह है कि उपास्थियों के बने घूमघुमैया के भीतर झिल्ली का घूमघुमैया रहता है। इन झिल्ली से बने कोष्ठों में एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है, जिसको अंतर्लसिका कहते है।

जब ध्वनितरंगें मध्य कर्ण की अस्थियों से टकराती हुई आंतरिक कर्ण में पहुँचती हैं उस समय अंतर्लसिका मे भी एक प्रकार का कंपन उत्पन्न हो जाता है। अंतःकर्ण में मस्तिष्क से निकले हुए स्नायुओं के आठवें जोड़े (८वें स्नायु) का जाल बिछा रहता है।

अंतःकर्ण भी तीन भागों में विभाजित है। पहला कर्ण कुटी, दूसरा कोक्लिआ (Cochlea) और तीसरा अर्धचंद्राकार नलिकाएँ।
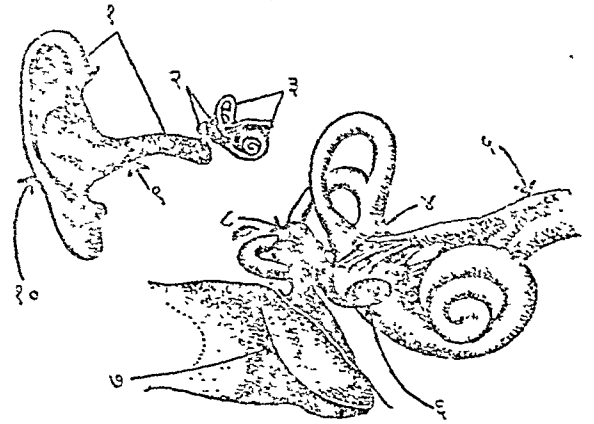
कान (कर्ण) की रचना

१. बाह्य कर्ण; २. मध्य कर्ण; ३. अंतस्थ कर्ण; ४. निहाई (Incus); ५. संग्राहक नलिकाएँ; ६. रकाब (Stapes), जो अंडाकार खिड़की से टिकी हुई रहती है; ७. कर्णपटह; ८. मुगदर (Malleus); ९. बाह्य नाल; १०. कर्ण शष्कुली (Orifice)।

कर्णकुटी—यह भीतरी कान के घुमघुमैया के बीच का भाग है। इसके सामने 'कोक्लिआ' और पीछे की ओर अर्धचंद्राकार नलिकाएँ स्थित होती है। इसकी दीवारों में अंडाकार छिद्र होते हैं, जिनमें मध्य कर्ण की रकाब नामक अस्थि का चौड़ा भाग ढक्कन के समान लगा रहता है।

कोक्लिआ (Cochlea)—इसकी आकृति घोंघे या शंख के समान होती है। यह कर्णकुटी के सामने नीचे की ओर, घड़ी की कमानी के समान मुड़कर झुका सा रहता है। इसके अंत के झिल्लीवाले भाग में मस्तिप्क से निकली श्रवणस्नायु के सिरे का जाल बिछा रहता है।

अर्धचंद्राकार नलिकाएँ—ये नलिकाएँ कर्णकुटी के पिछले भाग में जुड़ी होती है। ये गिनती में तीन होती है, जो एक दूसरी पर लंब होती है। ये कर्णकुटी से पाँच छिद्रों द्वारा जुड़ी रहती हैं और तीन त्रिकोणों की आकृतियाँ बनाती है। इनके दो सिरे आपस में जुड़ने के बाद कर्ण-कुटी से एक छिद्र से जुड़े रहते है। इन तीनों अर्धचंद्राकार नलिकाओं का एक सिरा चौड़ा होता है और इसी सिरे में श्रवणस्नायु की शाखाएँ फैली रहती हैं।

स्नायु के तार संवेदनशील होते है और वे लघु मस्तिप्क के केंद्रों में जाते है तथा शरीर की गति की सूचना लघु मस्तिप्क को देते हैं। इस प्रकार अर्धचंद्राकार नलिकाएँ लघु मस्तिप्क से संबंधित रहती हैं और शरीर के संतुलन का कार्य करती है। अर्धचंद्राकार नलिकाओं में किसी प्रकार की हानि या क्षति होने पर शरीर के संतुलन का कार्य बिगड़ जाता है और मनुष्य चक्कर अनुभव करने लगता है।

ध्वनितरंगों का कर्ण पर प्रभाव—जब कोई ध्वनि उत्पन्न होती है तो ध्वनि उत्पादक वस्तु का कंपन वायु में तरंगें उत्पन्न करता है, जो प्रत्येक दिशा में लगभग १,१०० फुट प्रति सेकेंड के वेग से आगे बढ़ती हैं।

ध्वनितरंगें हमारे कर्णपुट द्वारा एकत्र होकर कर्णनली में प्रवेश करती है। कर्णनली से होती हुई ध्वनितरंगें कर्णपटह झिल्ली (Tympanic Membrane) से जा टकराती हैं, जिसके फलस्वरूप कर्णपटह झिल्ली में कंपन उत्पन्न होता है। कर्णपटह अपने स्पंदन से ध्वनि की तीव्रता को बढ़ा देता है। तत्पश्चात् कर्णपटह झिल्ली का कंपन मध्य कर्ण की तीनों सूक्ष्म अस्थियों—मुगदर, निहाई और रकाब—में कंपन उत्पन्न करता हुआ आंतरिक कर्ण की झिल्ली के तरल पदार्थ 'अंतर्लसिका' में भी लहरें उत्पन्न करता है।

अंतःकर्ण में मस्तिष्क से निकली हुई श्रवणस्नायु का घना जाल बिछा रहता है। कंपन के कारण स्नायु के सिरे उत्तेजित हो जाते हैं। केंद्रगामी स्नायु कर्ण के ध्वनि अनुभव को मस्तिष्क तक ले जाते हैं। इस प्रकार हमको शब्द सुनाई पड़ता है। कर्ण में 'प्रसारक' और 'उत्थापिका' नाम की दो पेशियाँ होती हैं। ये ही दोनों पेशियाँ शब्दों को ठीक ठीक नियोजित करती हैं। कर्ण अस्थियाँ कंपनों को उचित स्थान पर पहुँचाती हैं और कंठ-कर्ण-नली से शब्दों का दबाव और सामंजस्य ठीक रहता है। (क० दे० मा०)

कान, नाक और गले के रोग कान के रोग—कान एक सुरंग के समान है जो करोटि की शंखास्थि में भीतर की ओर चली गई है। इस सुरंग का बाहरी छिद्र कान के बाहरी कोमल भाग के, जो कर्णशष्कुली कहलाता है, बीच में खुलता है। शष्कुली का काम केवल शब्द की तरंगों को एकत्र करके कान की सुरंग में पहुँचाना है।

इस सुरंग में तीन भाग हैं : (१) पहिला बहिःकर्ण है, जो शष्कुली के बीच से प्रारंभ होकर भीतर को चला गया है। यहाँ उसके अंत में एक पट्ट है। यह कर्णपटह कहलाता है। यह एक सीधा खड़ा हुआ पर्दा नहीं है, वरन् बीच में भीतर को कुछ दबा हुआ और टेढ़ा स्थित है। शब्द की तरंगों से परदे में कंपन होने लगते हैं। इस परदे के दूसरी ओर एक छोटी कोठरी सी है, जो (२) मध्य कर्ण कहलाती है। इसमें तीन सूक्ष्म अस्थियाँ हैं; जो कर्णपटह के कंपनों से स्वयं हिलने लगती हैं और उनको कान के तीसरे भाग (३) अंतःकर्ण में पहुँचाती हैं। इसमें भी दो भाग हैं। एक भाग कोक्लिआ (Cochlea) का श्रवण से संबंध है और दूसरा भाग (अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ) चलने फिरने, कूदने या गिरने के समय दिशा का ज्ञान कराता है। मध्य कर्ण से एक नली गले में भी जाती है।

रोग—बहिःकर्ण में विद्रधि (फोड़ा) बनना साधारण रोग है। बहुत बार बहुत सी सूक्ष्म विद्रधियाँ बन जाती हैं, अथवा एक बड़ी विद्रधि बन सकती है। पीड़ा इस रोग का मुख्य लक्षण होता है। विद्रधि के फूटने पर कान से पूय निकलने लगती है, जिसको साधारणतया कान का बहना कहते हैं। इस दशा में हाइड्रोजन परआक्साइड में शलाका पर लगी हुई अवशोषक रूई को भिगोकर उससे पोंछ दें। पेनिसिलिन लोशन कान में डालना उपयोगी है।

मध्यकर्ण की विद्रधि (Otitis media)—यह अधिक भयंकर होती है। इससे मध्यकर्ण के ऊपर, या उसकी छत की पतली अस्थि में, शोथ होकर उसके ऊपर स्थित मस्तिष्कावरण तथा मस्तिष्क में शोथ और उससे बढ़कर विद्रधि बन सकती है। मध्य कर्ण में उत्पन्न पूय को निकलने का रास्ता न मिलने के कारण वह कर्णपटह में विदार कर देती है। झिल्ली के फटने से उसमें एक छोटा सा छिद्र बन जाता है, जिससे पूय बहने लगती है। किंतु पूय के पूर्ण रूप से न निकल सकने के कारण रोग ठीक नहीं होता। इस रोग में दारुण पीड़ा होती है। ज्वर भी १०३° या १०४° फा० तक रहता है। ऐसी दशा में कान के विशेषज्ञ डाक्टर की तुरंत सलाह लेनी चाहिए। कर्णपटह में विदार होने से पूर्व ही उसमें उचित स्थिति में छोटा छेदन कर देने से पूय निकल जाती है और पेनिसिलिन के प्रयोग से रोग ठीक हो जाता है।

कर्णमूल शोथ (Mastoiditis)—कर्ण के पीछे की ओर निचले भाग में जो अस्थि होती है उसमें शोथ और उससे विद्रधि बनने को कर्णमूल शोथ कहते हैं। यह रोग सदा मध्य कर्ण की विद्रधि से उत्पन्न होता है, विशेषकर जब कर्णपटह में विदार होकर, या उसके छेदन से, पूय का निर्हरण पूर्ण नहीं होता। मध्य कर्ण से रोग का संक्रमण पीछे या नीचे की ओर अस्थि में पहुँच जाता है और वहाँ शोथ तथा विद्रधि बनकर अस्थि गलने लगती है। रोग के दो रूप होते हैं : (१) उग्र (acute) और (२) जीर्ण (chronic)।

उग्र रूप के विशेष लक्षण कान के पीछे और नीचे के भाग में, जिसको कर्णमूल (Mastoid) कहते हैं, पीड़ा, दबाने से पीड़ा का बढ़ना, शोथ, १०२° से १०४° फा० तक ज्वर और कान से पूय का निकलते रहना हैं। यदि मध्य कर्ण विद्रधि से कान के परदे (कर्णपटह) के फटने के पहिले ही से पूय निकल रही है तो पीड़ा और ज्वर बढ़ने के साथ पूय की मात्रा का भी बढ़ जाना, इस उपद्रव के निश्चित लक्षण हैं।

यदि इसी अवस्था में रोगी को वमन और प्रलाप होने लगे और ग्रीवा के पीछे की ओर की पेशियाँ संकोच से कड़ी पड़ जायँ और सिर पीछे को खिंच जाय तो समझना चाहिए कि मस्तिष्क में, या उसके नीचे कपाल के भीतर स्थित एक बड़े शिरानाल (Sinus) में संक्रमण पहुँच गया है, जो जीवन के लिये अल्पकाल ही में साघातिक हो सकता है।

जीर्ण रूप उग्र रूप के पश्चात् हो सकता है, या वह मध्य कर्ण विद्रधि से संक्रमण के विस्तार के प्रारंभ ही से हो सकता है। इससे भी मस्तिष्क तथा कपाल में ऊपर कहे हुए उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

एक्स-रे द्वारा रोग का निश्चय करने के पश्चात् शीघ्र ही शल्य क्रिया (operation) द्वारा चिकित्सा अभीष्ट है।

बधिरता—बच्चों में प्रायः टांसिल और ऐडिनाएड (Adenoid) के शोथ से, जुकाम के बार बार होने से, कान में विद्रधि आदि रोग से और विशेषकर खसरा (Measles) तथा स्कारलेट ज्वर से बधिरता उत्पन्न हो जाती है। यह रोग प्रौढ़ावस्था में अधिक होता है। और प्रायः टांसिल के शोथ, नासारंध्रों में अवरोध तथा नासागुहा के पास के वायुविवरों (air sinuses) के रोग का परिणाम होता है। कभी कभी पूर्ण बधिरता हो जाती है। किसी विशेषज्ञ द्वारा बच्चों, युवा या प्रौढ़ों में रोग के कारण को दूर करवाना आवश्यक है। कान बहने की सफल चिकित्सा से यह दशा ठीक हो जाती है।

कान में मैल—बहिःकर्ण सुरंग के चारों ओर की त्वचा तथा श्लेष्मल कला की ग्रंथियों का स्राव सुरंग में जमा होकर सूख जाता है। कुछ व्यक्तियों में स्राव बनता ही अधिक है। इसके एकत्र हो जाने से कान में भारीपन, झनझनाहट तथा कुछ बधिरता उत्पन्न हो जाती है। साधारण खाने के सोडे को जल में घोलकर उसको गरम करके कान में डालने से उसमें मैल घुल जाती है, नहीं तो ढीली अवश्य हो जाती है। हाइड्रोजन परआक्साइड से भी वह ढीली होकर निकल जाती है।

नाक के रोग—नाक की लंबी गुहा एक मध्य फलक द्वारा दो लंबी सुरंगों में विभक्त है जो नासारंध्र कहलाती हैं। ये नासाग्र पर नथुने नामक द्वारों से प्रारंभ होकर ऊपर और तब पीछे की ओर मुड़कर दो पश्चनासा द्वारों द्वारा कोमल तालु के पीछे खुलती हैं। इन सुरंगों के पार्श्व में सीप के समान दो दो छोटी अस्थियाँ हैं। सुरंगें भीतर से श्लेष्मिक कला से आच्छादित हैं जिसमें रक्तवाहिकाएँ और तंत्रिका फैली हुई हैं।

रोग—सबसे साधारण रोग जुकाम कहलाता है जो प्रत्येक व्यक्ति को और किसी किसी को प्रत्येक दो या तीन महीने पर होता रहता है। श्लैष्मिक कला में संक्रमण के कारण शोथ हो जाता है और उसमें गाढ़ा, चिपचिपा श्वेत रंग का स्राव निकलता है जिसको सिनक कहते हैं। दो तीन दिन में यह पतला पड़ जाता है और फिर शोथ ठीक हो जाने से रोग जाता रहता है। सिर पीड़ा और शरीर में बेचैनी के लिये ऐस्पिरीन लाभदायक है। यदि ज्वर हो तो शय्या में विश्राम करना उचित है। बनफशे के काढ़े का यद्यपि बहुत प्रयोग किया जाता है, तथापि उससे कोई लाभ नहीं होता, जो लाभ होता है वह स्वयं ही होता है।

नकसीर (Epistaxis) का कारण नासासुरंगों में कहीं पर श्लेष्मल कला में व्रण (ulcer) बनना होता है। इसमें कोई रक्तवाहिका फट जाती है। इसी से रक्त निकलता है। कभी कभी रक्त की अधिक मात्रा निकलती है। रोग कभी घातक नहीं होता। अवशोषक रूई के टुकड़े को ऐड्रेनैलिन हाइड्रोक्लोर, १००० में १, की शक्ति के लोशन में भिगोकर सुरंग में भर देना चाहिए। यदि सुरंग के अगले भाग में व्रण होता है तो सामने से रूई भर देने से रक्त निकलना बंद हो जाता है। किंतु पिछले भाग में व्रण के होने पर रुई के टुकड़े को गले के द्वारा सुरंग के पश्चद्वार से पहुँचाना पड़ता है। एक पतले रबर के कैथिटर में डोरा डाल, या बाँधकर, नासारंध्र में सामने से प्रविष्ट करते हैं। कैथिटर जब गले के भीतर पश्चद्वार से निकलता है तो उसके सिरे

को चिमटी से पकड़कर मुँह के मार्ग से खींच लिया जाता है। ऐड्रेनेलिन में भीगे हुए रुई के टुकड़े का कैथिटर में बँधे हुए डोरे में बाँधकर कैथिटर को फिर सामने के द्वार से वापस लौटा लिया जाता है। रुई का टुकड़ा पश्चसुरंग में भर जाता है। तब डोरे के दोनों सिरों को बाँधकर छोड़ दिया जाता है।

नासा में अवरोध—मध्य फलक के टेढ़े होने अथवा पार्श्व में स्थित सीपी के समान अस्थियों (शुक्तिकायों) के बढ़ जाने से, नासारंध्रों में कभी कभी अवरोध इतना बढ़ जाता है कि श्वास लेने में कठिनाई होती है। इन दशाओं की चिकित्सा शल्य क्रिया द्वारा की जाती है।

गले के रोग—गले के भीतर की विस्तृत गुहा मुँह को चौड़ा कर और जीभ को दाबकर भीतर प्रकाश डालने से, दिखाई पड़ती है। स्वरयंत्र को भी यहीं से देखा जाता है, जिसके लिये विशेषज्ञ विशेष यंत्रों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार देखने से गले में जिह्वा के पीछे दोनों ओर पार्श्व में दो अस्थियाँ दिखाई देती हैं, जो फूले हुए दानेदार पिंडों के समान हैं। इनको टांसिल कहते हैं। ऊपर कोमल तालु के बीच में मांस का एक तिकोना प्रवर्ध लटकता हुआ दिखाई पड़ता है। यह घाँटी, काक या कौवा (अवला) कहलाता है। कोमल तालु के ऊपर नासासुरंगों के पश्च भाग में, विशेषतः बालकों में, ऐडिनॉएड नामक पिंड भी बन जाते हैं।

टान्सिल में प्रायः संक्रमण हो जाता है, जिससे वे सूज जाते हैं। उनमें पूय भी पड़ सकती है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। कभी कभी शोथ उग्र हो जाता है, फिर दब जाता है। ऐसे ही आक्रमण होते रहते हैं। बालकों में टान्सिल शोथ बहुत होता है। संक्रमित होकर बढ़े हुए टान्सिलों को निकलवा देना ही उत्तम है।

ऐडिनॉएडों के कारण बच्चा श्वास नहीं ले पाता। मुँह खोलकर सोना और मुँह से श्वास लेना इसके विशेष लक्षण हैं। बच्चा पर इनका बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इनको भी ऑपरेशन द्वारा निकलवा देना उचित है। (मु० स्व० व०)

कानपुर उत्तर प्रदेश का एक विशाल औद्योगिक नगर जो कानपुर जिले में गंगा नदी के दाहिने किनारे पर बसा हुआ है (स्थिति २६° २८' उ० अ० तथा ८०° २१' पू० दे०; जनसंख्या १२,७३,०४२ (१९७१)। यहाँ से ग्रैंड ट्रंक सड़क गुजरती है। यह नगर लखनऊ से लगभग ४२ मील तथा इलाहाबाद से १२० मील की दूरी पर है। नगर की उत्पत्ति के संबंध में अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं; किंतु कानपुर ग्राम, जिसका शुद्ध नाम कान्हपुर या कन्हैयापुर माना जाता है, और जिसे अब पुराना कानपुर कहते हैं, कितना प्राचीन है, इसका कुछ पता नहीं। नगर की उत्पत्ति का सचेंदी के राजा हिंदूसिंह से, अथवा महाभारत काल के वीर कर्ण से संबद्ध होना चाहे संदेहात्मक हो पर इतना प्रमाणित है कि अवध के नवाबों के शासनकाल के अंतिम चरण में यह नगर पुराना कानपुर, पटकापुर, कुरसवाँ, जुही तथा सीसामऊ गाँवों के मिलने से बना था। पड़ोस के प्रदेश के साथ इस नगर का शासन भी पहले कन्नौज तथा कालपी के शासकों के हाथों में रहा और बाद में मुसलमान शासकों के। १७७३ से १८०१ तक अवध के नवाब अलमास अली का यहाँ सुयोग्य शासन रहा। १७७३ की संधि के बाद यह नगर अंग्रेजों के शासन में आया, फलस्वरूप १७७८ ई० में यहाँ अंग्रेजी छावनी बनी।

गंगा के तट पर स्थित होने के कारण यहाँ यातायात तथा उद्योग धंधों की सुविधा थी। अतएव अंग्रेजों ने यहाँ उद्योग धंधों को जन्म दिया तथा नगर के विकास का प्रारंभ हुआ। सबसे पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने यहाँ नील का व्यवसाय प्रारंभ किया। १८३२ में ग्रैंड ट्रंक सड़क के बन जाने पर यह नगर इलाहाबाद से जुड़ गया। १८६४ ई० में यह लखनऊ, कालपी आदि मुख्य स्थानों से सड़कों द्वारा जोड़ दिया गया। ऊपरी गंगा नहर का निर्माण भी हो गया। यातायात के इस विकास से नगर का व्यापार पुनः तेजी से बढ़ा।

विद्रोह के पहले नगर तीन ओर से छावनी से घिरा हुआ था। नगर जनसंख्या के विकास के लिये केवल दक्षिण की निम्नस्थली ही अवशिष्ट फलस्वरूप नगर का पुराना भाग अपनी सँकरी गलियों, घनी आबादी और अव्यवस्थित रूप के कारण एक समस्या बना हुआ है। १८५७ के विद्रोह के बाद छावनी की सीमा नहर तथा जाजमऊ के बीच में सीमित कर दी गई; फलस्वरूप छावनी की सारी उत्तरी-पश्चिमी भूमि नागरिकों तथा शासकीय कार्य के निमित्त छोड़ दी गई। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में मेरठ के साथ साथ कानपुर भी अग्रणी रहा। नाना साहब की अध्यक्षता में भारतीय वीरों ने अनेक अंग्रेजों को मौत के घाट उतार दिया। इन्होंने नगर में अंग्रेजों का सामना जमकर किया किंतु संगठन की कमी और अच्छे नेताओं के अभाव में ये पूर्णतया दबा दिए गए।

शांति हो जाने के बाद विद्रोहियों को काम देकर व्यस्त रखने के लिये तथा नगर की व्यावसायिक दृष्टि से उपयुक्त स्थिति का लाभ उठाने के लिये नगर में उद्योग धंधों का विकास तीव्र गति से प्रारंभ हुआ। १८५९ ई० में नगर में रेलवे लाइन का संबंध स्थापित हुआ। इसके पश्चात् छावनी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सरकारी चमड़े का कारखाना खुला। १८६१ ई० में सूती वस्त्र बनाने की पहली मिल खुली। क्रमशः रेलवे संबंध के प्रसार के साथ नए नए कई कारखाने खुलते गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् नगर का विकास बहुत तेजी से हुआ। यहाँ मुख्य रूप से बड़े उद्योग धंधों में सूती वस्त्र उद्योग प्रधान है। चमड़े के कारबार का यह उत्तर भारत में सबसे प्रधान केंद्र है। ऊनी वस्त्र उद्योग तथा जूट की दो मिलों ने नगर की प्रसिद्धि को अधिक बढ़ाया है। इन बड़े उद्योगों के अतिरिक्त कानपुर में छोटे छोटे बहुत से कारखाने हैं। प्लास्टिक का उद्योग, इंजिनियरिंग तथा इस्पात के कारखाने, साबुन बनाने का धंधा, आटा पीसने की मिलें, शीशे के कारखाने, बिस्कुट आदि बनाने के कारखाने पूरे शहर में फैले हुए हैं। १९ सूती और दो ऊनी वस्त्रों की मिलों के सिवाय यहाँ आधुनिक युग के लगभग सभी प्रकार के छोटे अथवा बड़े कारखाने हैं।

नगर का आकार चतुर्भुज के समान है जिसकी एक बड़ी भुजा गंगा नदी का दाहिना किनारा है। अंग्रेजों के आगमन काल से ही यहाँ का शासन नगरपालिका के द्वारा होता रहा। १९४३ ई० में नगर की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के साथ इंप्रूवमेंट ट्रस्ट की स्थापना हुई। ट्रस्ट ने नगर के फैलाव तथा विकास को सुव्यवस्थित ढंग से अग्रसर करने में पर्याप्त काम किया है।

पिछले वर्षों में नगर के फैलाव के फलस्वरूप आजादनगर, किदवईनगर, अशोकनगर, सीसामऊ, काकादेव आदि बहिर्वर्ती क्षेत्रों का सुनियोजित विकास हुआ है। नगर के बीच से ग्रैंड ट्रंक सड़क यातायात के मेरुदंड के समान गुजरती है।

योजना के फलस्वरूप मध्य शहर के सुधार के लिये सुनियोजित बाजारों, औद्योगिक क्षेत्रों तथा रहने के क्षेत्रों का पर्याप्त विकास हुआ है। कानपुर नगर उत्तर रेलवे का बहुत बड़ा जंकशन हो गया है। नगर का संबंध प्रायः देश के प्रत्येक भाग से है तथा आधुनिक काल की प्रायः सभी सुविधाएँ यहाँ सुलभ हैं।

देश के विभाजन के कारण शरणार्थी यहाँ भी अधिक संख्या में आए जिनके कारण अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। विकास योजनाओं के अंतर्गत उनके समाधान की भी व्यवस्था हो रही है।

लोगों का मुख्य पेशा उद्योग धंधों से संबंधित है। संपूर्ण जनसंख्या के ९८.७ प्रतिशत लोगों की जीविका व्यापार, उद्योग धंधा, यातायात तथा नौकरी आदि है। केवल १.३ प्रतिशत लोग कृषि से संबद्ध हैं। नगर निगम के हो जाने से यह आशा की जाती है कि कानपुर शीघ्र ही भारतवर्ष का एक विशाल, सुव्यवस्थित नगर हो जायगा।

कानपुर छावनी—कानपुर नगर में ही है। सन् १७७८ ई० में अंग्रेजी छावनी बिलग्राम के पास फैजपुर 'कंपू' नामक स्थान से हटकर कानपुर आ गई। छावनी के इस परिवर्तन का मुख्य कारण कानपुर की व्यावसायिक उन्नति थी। व्यवसाय की प्रगति के साथ इस बात की विशेष आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि यूरोपीय व्यापारियों तथा उनकी दूकानों और गोदामों की रक्षा के लिये यहाँ फौज रखी जाय। अंग्रेजी फौज पहले जुही, फिर वर्तमान छावनी में आ बसी। कानपुर की छावनी में पुराने कानपुर की सीमा से जाजमऊ की सीमा के बीच का प्रायः सारा भाग

संमिलित था। कानपुर के सन् १८४० ई० के मानचित्र से विदित होता है कि उत्तर की ओर पुराना कानपुर की पूर्वी सीमा से जाजमऊ तक गंगा के किनारे किनारे छावनी की सीमा चली गई थी। पश्चिम में इस छावनी की सीमा उत्तर से दक्षिण की ओर भैंरोघाट से सीसामऊ तक चली गई थी। यहाँ से यह वर्तमान मालरोड (महात्मा गांधी रोड) के किनारे किनारे पटकापुर तक चली गई थी। फिर दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़कर कलेक्टरगंज तक पहुँचती थी। वहाँ से यह सीमा नगर के दक्षिण-पश्चिमी भाग को घेरती हुई दलेलपुरवा पहुँचती थी और यहाँ से दक्षिण की ओर मुड़कर ग्रैंड ट्रंक रोड के समांतर जाकर जाजमऊ से आनेवाली पूर्वी सीमा में जाकर मिल जाती थी। छावनी के भीतर एक विशाल शस्त्रागार तथा यूरोपियन अस्पताल था। परमट के दक्षिण में अंग्रेजी पैदल सेना की बैरक तथा परेड का मैदान था। इनके तथा शहर के बीच में काली पलटन की बैरकें थीं जो पश्चिम में सूबेदार के तालाब से लेकर पूर्व में क्राइस्ट चर्च तक फैली हुई थीं। छावनी के पूर्वी भाग में बड़ा तोपखाना था तथा एक अंग्रेजी रिसाला रहता था। १८५७ के विद्रोह के बाद छावनी की प्रायः सभी इमारतें नष्ट कर दी गईं। विद्रोह के बाद सीमा में पुनः परिवर्तन हुआ। छावनी का अधिकांश भाग नागरिकों को दे दिया गया। इस समय छावनी की सीमा उत्तर में गंगा नदी, दक्षिण में ग्रैंड ट्रंक रोड तथा पूर्व में जाजमऊ है। पश्चिम में लखनऊ जानेवाली रेलवे लाइन के किनारे किनारे माल रोड पर पड़नेवाले नहर के पुल से होती हुई फूलबाग के उत्तर से गंगा के किनारे हार्नेस फैक्टरी तक चली गई है। छावनी के मुहल्लों—सदरबाजार, गोराबाजार, लालकुर्ती, कछियाना, शुतुरखाना, दानाखोरी आदि—के नाम हमें पुरानी छावनी के दैनिक जीवन से संबंध रखनेवाले विभिन्न बाजारों की याद दिलाते है।

आजकल छावनी की वह रौनक नहीं है जो पहले थी। उद्देश्य पूर्ण हो जाने के कारण अंग्रेजों के काल में ही सेना का कैंप तोड़ दिया गया, पर अब भी यहाँ कुछ सेनाएँ रहती हैं। बैरकों में प्रायः सन्नाटा छाया हुआ है। छावनी की कितनी ही बैरकें या तो खाली पड़ी हुई हैं या अन्य राज्य-कर्मचारी उनमें किराए पर रहते है। मेमोरियल चर्च, कानपुर क्लब और लाट साहब की कोठी (सरकिट हाउस) के कारण यहाँ की रौनक कुछ बनी हुई है। छावनी का प्रबंध कैंटूनमेंट बोर्ड के सुपुर्द है जिसके कुछ चुने हुए सदस्य होते हैं।

कानपुर जिला—उत्तर प्रदेश (भारतवर्ष) में गंगा यमुना के दोआबे के अधोमार्ग में अवस्थित है। स्थिति ३५° २६' उ० अ० से २६° २८' उ० अ० तथा ७९.° ३१' पू० दे० से ८०° ३४' पू० दे०; क्षेत्रफल ६,१२१ वर्ग कि० मी० जनसंख्या २६,९२,५३५ (१९७१)। आकार में यह एक असम चतुर्भुज है जिसकी लंबाई उत्तर से दक्षिण ७० मील तथा चौड़ाई पूर्व से पश्चिम ६४ मील है। जिले में पानी के बहाव की ढाल पश्चिमोत्तर से दक्षिण-पूर्व की ओर है। यह समस्त भूभाग नदियों की लाई हुई दोमट मिट्टी के बिछाव से बना है। औसत ऊँचाई समुद्रतट से ४२० फ़ुट से ४५० फ़ुट तक है। इस जिले की मुख्य नदी गंगा है तथा अन्य बड़ी नदियाँ यमुना, पांडो (पांडव), ईशान (ईसन) तथा उत्तरी नोन है। यमुना की सहायक नदियाँ दक्षिणी नोन, खिंद और सेंगुर है। जिले की भूमि स्वयं एक दोआब है तथा इस दोआबे के अंतर्गत और उसी की लंबाई में अन्य पाँच छोटे छोटे दोआब हैं। गंगा-यमुना की सहायक नदियाँ इस भूमि में इन्हीं नदियों के समानांतर बहती हैं और इन्हीं से ये दोआबे बनते हैं।

जलवायु दोआबे के अन्य भागों की भाँति है। मार्च मास से लेकर वर्षा आरंभ होने तक जलवायु शुष्क रहती है तथा मई, जून में भयानक गर्मी पड़ती है। अक्टूबर के अंत से ही जाड़ा पड़ने लगता है। जनवरी में यथेष्ट जाड़ा पड़ता है। रात का तापक्रम ४०° फा० तक हो जाता है। प्रायः पाला भी पड़ जाता है। गर्मी के दिनों में तापक्रम ११५°–११८° फा० तक पहुँच जाता है। वार्षिक वृष्टि का वर्तमान औसत ३२.८७" है। आखिरी ५० वर्षों में केवल १९१८-१९ ई० में वर्षा १४" से कम रही; अन्य वर्षों में २८" से अधिक ही रही। जिले में बाढ का भय अपेक्षाकृत कम रहा और यदि बाढ आई भी तो विशेषकर बिठूर तथा नवाबगंज के बीच गंगा के कछारी भाग में, जहाँ नोन नदी का पानी गंगा की बाढ़ के कारण रुक जाता है। जिले की सबसे भयंकर बाढ़ें सन् १९२४ ई० तथा १९४८ ई० में आईं जिनमें परमट, पुराने कानपुर आदि के कुछ भागों में भी पानी भर गया था। जिले में कभी वर्षा औसत से बहुत कम होती है, अतः अकाल की संभावनाएँ होती रहती हैं।

जिले के संपूर्ण क्षेत्रफल के ६४% भूमि पर खेती बारी होती है तथा २२.२% भूमि खेती के लिये प्राप्त नहीं है। ऊसर भूमि १५.५% है। जिले में सिंचाई मुख्य रूप से नहरों (८८.७%) तथा कुओं (८.४%) से होती है। तालाब तथा झीलें भी सिंचाई के साधन हैं। जिले की अधिकांश भूमि पर रबी की फसलें होती है (कृषि का क्षेत्रफल : रबी = ५,६७,६४६ एकड़, खरीफ ५,२०,१६७ एकड़ तथा फसल जायद ६,०३५ एकड़)। रबी की मुख्य उपज गेहूँ, जौ, चना, मटर, अरहर और सरसों आदि तथा खरीफ की उपज चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा, कपास आदि है। गन्ने की खेती भी होती है।

क्षेत्रफल के अनुसार जिले का स्थान राज्य में १६वाँ है, तथा जनसंख्या के अनुसार पहला। जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग मील ८१५ है जबकि उत्तर प्रदेश राज्य का घनत्व ५५७ है। घनत्व की इस उच्चता का कारण कानपुर नगर की जनसंख्या का आधिक्य है। देहाती क्षेत्रों का घनत्व ५२१ ही है। यहाँ प्रति १,००० पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या ७९६ है। शिक्षित लोगों का औसत लगभग ३१% है। जिले की जनसंख्या में ५० वर्ष पूर्व से ५४.१% की वृद्धि हुई जबकि उत्तर प्रदेश में केवल ३०% की ही वृद्धि थी। जानवरों की संख्या लगभग ८.४ लाख है; भेड़, बकरियों की संख्या में पिछले २० वर्षों में पर्याप्त कमी हुई है। इसका एकमात्र कारण गोचर भूमि में दिन प्रति दिन होनेवाली कमी ही है। सन् १९५१ में कृषि पर निर्भर रहनेवाले लोगों का औसत ५१.४% रहा जो १९२१ ई० में ६६.२% था। इस भारी कमी का कारण कानपुर नगर का औद्योगिक विकास है। अतः यह स्पष्ट है कि जिले का आर्थिक तथा सामाजिक स्वरूप कानपुर नगर से बहुत प्रभावित हुआ है।

संपूर्ण जनपद शासन की सुविधा के लिये, अकबरपुर, भोगनीपुर, बिल्हौर, डेरापुर, धामपुर तथा कानपुर नामक छह तहसीलों में विभक्त है। कानपुर तहसील का क्षेत्रफल ४१८ वर्ग मील है। (ह० ह० सिं०)

कानानोर दक्षिण भारत के तमिलनाडु राज्य में मलाबार जिले का नगर है जो कालीकट से ५८ मील उत्तर में तथा मद्रास से ४७० मील की दूरी पर स्थित है। प्राचीन काल में यह हिंदू चेर राजाओं के अधीन था, फिर हैदरअली के शासन में आया। १६५६ ई० में डच लोगों का विशेष प्रभाव रहा जिन्होंने यहाँ के प्रसिद्ध किले को बनवाया जो इस समय सेना के रहने का केंद्र हो गया। अंग्रेजों ने १७८३ ई० में इसको अपने अधिकार में कर लिया। यहाँ के शासक ईस्ट इंडिया कंपनी को कर देने लगे। इसके बाद नगर का इतिहास भारत के भाग्य के साथ बदलता रहा। अधिकार के इस उलट पलट के कारण नगर का समुचित विकास न हो सका।

यहाँ सूती कपड़े की मिलें तथा बिस्कुट बनाने के कारखाने हैं। इसके सिवाय लकड़ी के सामान बनाने का व्यवसाय, चमड़े के उद्योग धंधे तथा अन्य बहुत से उद्योग धंधे होते है। यहाँ की जनसंख्या का अधिकांश व्यापार तथा उद्योग धंधों में लगा हुआ है। शिक्षा की समुचित व्यवस्था है। पीपल, नारियल, गरी का तेल तथा नारियल की जटा की रस्सियाँ यहाँ से बाहर भेजी जाती हैं। (ह० ह० सिं०)

कानूनगो यह तहसील का एक अधिकारी होता है। प्रत्येक गाँव के लिये एक रजिस्टर होता है जिसमें उन सब व्यक्तियों का विवरण होता है जो भूमि को जोतते बोते हैं या उसपर किसी और प्रकार से अधिकार किए हुए है। इस रजिस्टर में राजस्व की रकम का भी विवरण होता है। प्रति वर्ष इस रजिस्टर से एक संशोधित रजिस्टर तैयार किया जाता है जिसको वार्षिक रजिस्टर कहते है। जिले में इस प्रकार के वार्षिक रजिस्टरों का उचित नियंत्रण, रक्षण, निरीक्षण और शोधन कानूनगो का मुख्य कार्य है। इस प्रकार कानूनगो राजस्व विभाग का एक अधिकारी होता

है और भारतीय दंडविधान के अर्थ में नागरिक कार्यकर्ता (पब्लिक सर्वेंट) हैं। सरकार द्वारा प्रस्तावित अनेक अन्य कार्य भी कानूनगो करता है। (जि० कु० मि०)

कानेतकर, शंकर केशव मराठी के सुप्रसिद्ध कवि। कानेतकर का जन्म २८ अक्टूबर, १८९३ ई० को फत्यापुर, रहिमतपुर, जिला सतारा में हुआ। आपने एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की और लेखनकार्य में जुट गए। 'अभागी कमल' (१९२३ ई०), 'अंबाराय' (१९२८), 'कांचनगंगा' (१९३०), 'चंद्रलेखा' (१९५१) तथा 'अनिकेत' (१९५५) इत्यादि आपके प्रकाशित काव्यग्रंथ है। 'नाटचछटा' (१९३९ ई०) नामक एक आलोचनात्मक ग्रंथ का भी आपने प्रणयन किया है। ४ दिसंबर, १९७३ ई० को ८० वर्ष की आयु मे आपका देहावसान हो गया। (कै० चं० श०)

कान्यकुब्ज उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में २७° ३' उ० अ० तथा ७९° ५९' पू० दे० पर स्थित नगर। इसे आजकल 'कन्नौज' कहते हैं। प्राचीन काल में 'कान्यकुब्ज' नगर के अतिरिक्त प्रदेश का भी द्योतक था। चीनी यात्री हुएनत्सांग ने इस जनपद का विस्तार ४,००० ली (लगभग ६७० मील) लिखा है। प्रतीहार अभिलेखों में कान्यकुब्ज प्रदेश की राजधानी का नाम 'महोदय' मिलता है। राजतरंगिणी मे कान्यकुब्ज का विस्तार यमुनातट से कालिका नदी तक बताया गया है। पहले जैसे भारत पर आक्रमण करनेवाले राजा बिना मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार किए अपने को अकृतकार्य मानते थे, वैसे ही मध्यकाल में बिना कन्नौज पर अधिकार किए विदेशी विजेता अपने को असफल मानते थे। कुसुमपुर की 'श्री' अब 'महोदयश्री' कहलाने लगी थी, जिसे स्वायत्त करने की महत्वाकांक्षा जैसी विदेशियों में थी वैसी ही देश के राजाओं में भी प्रबल हो गई थी।

वाल्मीकीय रामायण में चंद्रवंशीय राजा कुशनाभ द्वारा महोदय नगर की स्थापना की कथा है। उसके अनुसार जब राजा की एक सौ कन्याएँ वायुदेव के शाप से कुबड़ी हो गई तब इस नगर का नाम 'कान्यकुब्ज' हुआ। कान्यकुब्ज तथा महोदय के अतिरिक्त नगर के नाम गाधिपुर, कुशस्थल, कुशिक आदि मिलते हैं। प्राचीन साहित्य में कान्यकुब्ज के अनेक शासकों के नाम दिए हैं। जह्नु नामक राजा के नाम पर गंगा की एक संज्ञा 'जाह्नवी' हुई। कुशनाभ के पौत्र विश्वामित्र की वसिष्ठ मुनि के साथ बहुत समय तक प्रतिस्पर्धा चली।

बुद्ध के समय से लेकर गुप्तकाल के अंत तक स्वतंत्र जनपद के रूप में कान्यकुब्ज का उल्लेख नहीं मिलता है। उसके बाद कान्यकुब्ज उत्तर भारत के मौखरी राज्य का केंद्र बना, जिसका संस्थापक हरिवर्मा था। मौखरियों के सबसे प्रसिद्ध शासक ईशानवर्मा ने 'महाराजाधिराज' उपाधि ग्रहण की। उनकी बढ़ती शक्ति के कारण मालवा के परवर्ती गुप्त शासक तथा बंगाल के गौड मौखरियों के विरोधी हो गए। थानेश्वर के प्रसिद्ध शासक हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री मौखरी राजा ग्रहवर्मा को ब्याही गई। मालवा के शासक देवगुप्त ने ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को कैद कर लिया। अंत में कन्नौज के मंत्रियों ने राजनीतिक कारणों से अपना राज्य हर्षवर्धन को सौंप दिया।

हर्ष के समय कान्यकुब्ज उन्नति के शिखर पर आरूढ हुआ और एक बड़े साम्राज्य की राजधानी बना। उस समय यहाँ आए हुए चीनी यात्री हुएनत्सांग ने नगर की समृद्धि की बड़ी प्रशंसा की। हर्ष के बाद यशोवर्मा कान्यकुब्ज का शासक हुआ। उसके बाद क्रमशः आयुध, प्रतीहार तथा गाहड़वाल राजवंशों का यहाँ अधिकार रहा। प्रतीहार वंश में नागभट, मिहिरभोज, महेंद्रपाल आदि कई बड़े शासक हुए। गाहड़वालवंश में गोविंदचंद्र तथा उसके पौत्र जयचंद्र के समय कन्नौज की अच्छी उन्नति हुई। जयचंद्र को अपने पराक्रमी प्रतिद्वंद्वी चाहमाननरेश पृथ्वीराज तृतीय से युद्ध करना पड़ा। ११९३ ई० में मोहम्मद गोरी ने जयचंद्र को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

छठी से १२वीं शताब्दी के अंत तक कान्यकुब्ज में धर्म, साहित्य और ललितकला का बड़ा विकास हुआ। समय समय पर यहाँ अनेक देवों के मंदिरों का निर्माण हुआ। बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध के कण्णकुज्ज (कान्यकुब्ज का पालिरूप) आने की चर्चा मिलती है। हुएनत्सांग ने यहाँ बौद्ध विहार होने तथा उनमें दस हजार भिक्षुओं के निवास का उल्लेख किया है। हर्षवर्धन उच्च कोटि का विद्वान् भी था। उसके राजकवियों में 'हर्षचरित' तथा 'कादंबरी' के प्रसिद्ध लेखक बाणभट्ट का नाम अग्रगण्य है। यशोवर्मा के राजकवि वाक्पति तथा भवभूति थे। प्रतीहार शासनकाल में राजशेखर तथा गाहड़वालकाल मे लक्ष्मीधर एवं श्रीहर्ष संस्कृत के उद्भट लेखक और कवि हुए। प्रतीहारों के समय कान्यकुब्ज स्थापत्य तथा मूर्तिकला के लिये प्रख्यात था। कान्यकुब्ज नामक ब्राह्मणों की उत्पत्ति इसी स्थान से मानी जाती है, जहाँ से उनका विकास बंगाल तक हुआ। (कृ० द० वा०)

कापडवंज कस्बा खेड़ा जिला, गुजरात राज्य में इसी नाम के तालुके का मुख्यालय है। इसकी स्थिति २३° १' उ० अ० तथा ७३° ५' पू० दे० है। यह मध्य भारत तथा पश्चिमी तट को मिलानेवाले मुख्य रास्ते पर स्थित होने के कारण व्यापारिक केंद्र हो गया है।

इस कस्बे के पास बिखरे भग्नावशेष इसके प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। परंतु यह विवादास्पद है कि इसकी नींव कब पड़ी। यहाँ का स्वायत्त शासन सन् १८६३ ई० से प्रारंभ हुआ। इस कस्बे के पास ही अनेक प्रकार के कीमती पत्थर निकाले जाते हैं। यहाँ के मुख्य उद्यम पत्थर की वस्तुएँ तैयार करना, काच के सामान बनाना, आदि हैं। व्यापार की मुख्य वस्तुएँ काच का सामान, अनाज तथा पत्थर निर्मित वस्तुएँ हैं। (ब० प्र० रा०)

कापरमाइन कैनाडा देश के मैकेंजी जिले की एक नदी जो १,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित प्वाइंट झील से निकलती है। यह नदी इस झील से निकलकर ग्रास झील तक दक्षिण की तरफ बहती है, पुनः उत्तर पश्चिम को बहती हुई कारोनेशन की खाड़ी में, जो आर्कटिक महासागर का ही एक भाग है, गिरती है। प्वाइंट झील (स्थिति ११०° २०' प० दे० तथा ६५° ५०' उ० अ०) कैनाडा के उत्तरी-पश्चिमी इलाके में स्थित है। नदी की कुल लंबाई लगभग ५२५ मील है। पर्वतीय एवं ऊबड़ खाबड़ स्थल में बहने के कारण इसमें प्रपात बहुत हैं; अतः जलयातायात के लिये यह नितांत अनुपयुक्त है। इस नदी में पर्याप्त मछलियाँ पाई जाती हैं। इसके मुहाने पर कापरमाइन नाम का एक छोटा व्यावसायिक नगर बसा हुआ है। (ह० ह० सिं०)

कापालिक शैव संप्रदाय के अंतर्गत नकुलीश या लकुलीश को पाशुपत मत का प्रवर्तक माना जाता है। यह कहना कठिन है कि लकुलीश (जिसके हाथ में लकुट हो) ऐतिहासिक व्यक्ति था अथवा काल्पनिक। इनकी मूर्तियाँ लकुट के साथ हैं, इस कारण इन्हें लकुटीश भी कहते हैं। डा० रा० गो० भंडारकर के अनुसार पाशुपत संप्रदाय की उत्पत्ति का समय ई० पू० दूसरी शताब्दी है। पाशुपत संप्रदाय से ही कालमुख और कापालिक शाखाएँ उद्भूत हुई। कालमुख मुख्य रूप से राजदरबारों और नगरों में सीमित रहा किंतु कापालिक मत दक्षिण और उत्तर भारत में गुह्य साधना के रूप में फैला। कापालिकों के देवता माहेश्वर थे। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के अनुसार श्रीनाथ के दूतों ने जब विष्णु के चौबीस अवतारों के कपाल काट लिए तब वे कापालिक कहलाए। इससे तथा बहुत सी अन्य कथाओं के द्वारा वैष्णव संप्रदाय से कापालिक या शैव संप्रदाय का विरोध लक्षित होता है। वैसे, डा० भंडारकर के अनुसार, भक्तिवाद का प्रभाव शैवधर्म पर पड़ा; आर्येतर जातियों में शिव जैसे देवता की उपासना प्रचलित थी किंतु बाद में वैदिक देवता इंद्र, रुद्र और आर्येतर स्रोत के देवता एक हो गए। भक्तिवादी उपासना में शिव उदार और भक्तवत्सल चित्रित किए गए। गुह्य साधनाओं में शिव का आदिम रूप न्यूनाधिक रूप में वर्तमान रहा जिसके अनुसार वे विलासी और घोर क्रियाकलापों से संबद्ध थे। कापालिक संप्रदाय पाशुपत या शैव संप्रदाय का वह अंग है जिसमें वामाचार अपने चरम रूप मे पाया जाता है। कापालिक मत में प्रचलित साधनाएँ बहुत कुछ वज्रयानी साधनाओं में गृहीत हैं। यह कहना

कठिन है कि कापालिक संप्रदाय का उद्भव मूलतः वज्रयानी परंपराओं से हुआ अथवा शैव या नाथ संप्रदाय से। यक्ष-देव-परंपरा के देवताओं और साधनाओं का सीधा प्रभाव शैव और बौद्ध कापालिकों पर पड़ा क्योंकि तीनों में ही प्रायः कई देवता समान गुण, धर्म और स्वभाव के हैं। 'चर्या-चर्यविनिश्चय' की टीका में एक श्लोक आया है जिसमें प्राणी को वज्रधर कहा गया है और जगत् की स्त्रियों को कपालवनिता (अर्थात् 'कपालिनी')। ऐसा जान पड़ता है कि स्त्री-जन-साध्य होने के कारण यह साधना कापालिक कही गई।

बौद्ध संप्रदाय में सहजयान और वज्रयान में भी स्त्रीसाहचर्य की अनिवार्यता स्वीकार की गई है और बौद्ध साधक अपने को 'कपाली' कहते थे (चर्यापद ११, चर्या-गीत-कोश; बागची)। प्राचीन साहित्य (जैसे मालतीमाधव) में कपालकुंडला और अघोरघंट का उल्लेख आया है। इस ग्रंथ से कापालिक मत के संबंध में कुछ स्थूल तथ्य स्थिर किए जा सकते हैं। कापालिक मत नाथ संप्रदायियों और हठयोगियों की तरह चक्र और नाड़ियों में विश्वास करता था। उसमें जीव और शिव में अभिन्नता मानी गई है। योग से ही शिव का साक्षात्कार संभव है। शिव का शक्तिसंयुक्त रूप ही समर्थ और प्रभावकारी है। शिव और शक्ति के इस मिलनसुख को ही कापालिक अपनी कपालिनी के माध्यम से अनुभव करता है जिसे वह महासुख की संज्ञा देता है। सोम को कापालिक (स + उमा) शक्तिसहित शिव का भी प्रतीक मानता है और उसके पान से उल्लसित हो योगिनी के साथ विहार करते हुए कैलासस्थित शिवउमावत् अपने को अनुभव करता है। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मिथुन, इन पंचमकारों के साथ कापालिकों, शाक्तों और वज्रयानी सिद्धों का समानतः संबंध था और पूर्वमध्यकाल की साधनाओं में इनका महत्वपूर्ण स्थान था। (मो० सिं०)

कापिज़ा, पीटर लीग्रो निडोविच रूस के इस भौतिकज्ञ का जन्म ९ जुलाई, सन् १८९४ को क्रोंस्टाड्ट में हुआ। आपने प्रारंभिक शिक्षा पेट्रोग्राड में प्राप्त की। तदुपरांत आप कैंब्रिज में स्वर्गीय लार्ड रदरफ़र्ड के विद्यार्थी रहे और परमाणु विघटन अनुसंधान के क्षेत्र में अत्यंत प्रबल चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करने की तकनीकी क्रियाप्रणाली के विकास में विशेष दक्षता प्राप्त की। सन् १९२४ में आपकी नियुक्ति कैवेंडिश प्रयोगशाला में चुंबकीय अनुसंधान के सहायक निर्देशक के रूप में हुई और १९३२ ई० तक इस पद पर कार्य करते रहे। सन् १९३० से १९३५ तक आप रॉयल सोसाइटी की मॉण्ड प्रयोगशाला के अनुसंधान प्रोफ़ेसर रहे। सन् १९२९ में आप रायल सोसाइटी के सदस्य चुने गए और १९४२ में आपको फ़ैरेडे पदक प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त भौतिकी का स्टैलिन पुरस्कार आपको सन् १९४१ में और फिर १९४३ में मिला। सन् १९४३ और १९४४ में आप ऑर्डर ऑव लेनिन उपाधि से भी विभूषित किए गए।

सन् १९३४ में आप जब छुट्टी पर स्वदेश (रूस) गए तो सोवियत सरकार ने आपको पुनः देश से बाहर जाने की अनुमति नहीं दी। कापिजा के लिये मास्को में कैवेंडिश प्रयोगशाला के टक्कर की प्रयोगशाला बनाई गई ताकि कापिजा सुचारु रूप से अपना अनुसंधान कार्य चला सकें। फलस्वरूप कापिजा कुछ ही समय उपरांत मास्को की भौतिकीय समस्या संस्था (इंस्टीट्यूट फ़ॉर फ़िजिकल प्रॉब्लेम्स) के निर्देशक नियुक्त कर दिए गए।

आपका मुख्य कार्य 'चुंबकत्व' तथा 'अत्यंत ठंढे ताप' से संबंध रखता है। आपने ३,००,००० ओर्स्टेड तक का चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है और हाइड्रोजन तथा हीलियम के द्रवीकरण के प्लांट की भी सफल डिजाइन दी है। (अं० प्र० स०)

कॉप्टिक (कोप्ती), प्राचीन मिस्रियों के आधुनिक वंशधर कोप्तों (किब्त, कुब्त) की भाषा। यह भाषा उस प्राचीन मिस्री से निकली थी जो स्वयं चित्रलिपिक (हिरोग्लिफिक), पुरोहिती (हिरेतिक), देमोतिक आदि अनेक रूपों में लिखी गई। दीर्घ काल तक, ग्रीक भाषा के घने प्रभाव के बावजूद, कोप्ती अपनी निजता बनाए रही। अरबों की मिस्र विजय ने निःसंदेह इसपर अपना गहरा साया डाला और अरबी प्रायः इसे आत्मसात् कर गई। १६वीं सदी ईसवी तक पहुँचते पहुँचते इसके अस्तित्व का लोप हो गया। दूसरी सदी ईसवी में देमोतिक से मिलीजुली वह जंतर मंतर के उपयोग के लिये लिखी जाने लगी थी। तब तक उसका रूप प्रायः शुद्ध प्राचीन था।

प्राचीन कोप्ती की अपनी अनेक जनबोलियाँ भी थीं जिनमें तीन—साहीदी, अख़मीमी और फ़ायूमी—प्रधान थीं। ग्रीक भाषा से प्रभावित इन बोलियों का उपयोग अधिकतर १३वीं सदी तक होता रहा, पर अरबी के बढ़ते हुए प्रभाव और प्रयोग ने धीरे धीरे इनका अस्तित्व मिटा दिया। इनके धार्मिक साहित्यों की व्याख्या तक अरबी में होने लगी। स्वयं कोप्तों ने १०वीं सदी से ही अरबी में लिखना पढ़ना शुरू कर दिया था, यद्यपि कोप्ती का साहित्यिक व्यवहार एक अंश में १४वीं सदी तक जहाँ तहाँ दीख जाता है। प्रायः पिछले ३०० वर्षों से बोली जानेवाली भाषा के रूप में कोप्ती का उपयोग उठ गया है।

साधारणतः माना जाता है कि कोप्त जाति और भाषा का संबंध मिस्र के उस कुफ्त गाँव से है जो नील नदी के पूर्वी तट पर प्राचीन थीब्ज से प्रायः २५ मील उत्तर-पूर्व आज भी खड़ा है। कोप्त लोग ईसा की तीसरी चौथी सदी में ईसाई हो गए थे। वस्तुतः प्राचीन मिस्री ईसाइयों का ही नाम कोप्त पड़ा और उनकी भाषा कोप्ती कहलाई। इसकी जनबोली साहीदी थियाई जनपद में बोली जाती थी, जैसे अख़मीमी अख़मीम के पड़ोस में और फ़ायूमी फ़ायूम के आस पास मिस्र के मध्य भाग में, मेंफ़िस तक। बोहाइरी नाम की कोप्ती बोली डेल्टा के उत्तर-पश्चिमी भाग में बोली जाती थी। इसमें लिखा नवीं सदी का ईसाई साहित्य आज भी उपलब्ध है।

कोप्ती का प्रायः समूचा साहित्य धार्मिक है जो मूलतः ग्रीक से अनूदित है। साहीदी, अख़मीमी और फ़ायूमी तीनों में बाइबिल की पुरानी और नई दोनों पोथियों के अनुवाद ४५० ई० से पूर्व ही प्रस्तुत हो चुके थे। धर्मेतर विषयों का बहुत थोड़ा साहित्य कोप्ती में लिखा गया या आज बच रहा है। इसमें कुछ तो झाड़ फूंक या जंतर मंतर संबंधी प्रयोग हैं, कुछ चिकित्सा से संबंधित हैं, कुछ में सिकंदर और मिस्रविजेता प्राचीन ईरानी सम्राट् कंबुजीय के जीवन की घटनाएँ हैं। १३वीं-१४वीं सदी में कोप्ती का यह रूप भी अरबी के प्रभाव से मिट गया।

सं०ग्रं०—एल० स्टेर्न : कोप्तिशे ग्रामातिक; ए० पेरोन : लेक्सिकम् कोप्तिकम्। (भ० श० उ०)

काफ़िरिस्तान अफगानिस्तान का एक प्रांत जिसके उत्तर में बदख़्शाँ का प्रदेश, उत्तर-पूर्व में चित्राल की लूथो की घाटी, पूर्व में चित्राल तथा दक्षिण-पूर्व में कुनार की घाटी है। (क्षेत्रफल—५,००० वर्ग मील, स्थिति ३४° ३०' उ० अ० से ३६° उ० अ० तथा ७०° पू० दे० से ७१° ३०' पू० दे०)। सन् १८८५–८६ से पहले इस पर्वतीय प्रदेश के बारे में बहुत कम ज्ञान था। काफ़िर लोगों का यह देश १८९५ ई० तक पूर्ण रूप से स्वतंत्र रहा। इसके पश्चात् काबुल के अमीर अब्दुर्रहमान ने इस भाग को अपने अधिकार में कर लिया तथा यहाँ के निवासियों को इस्लाम धर्म का समर्थक बना लिया।

देश में विभिन्न सँकरी घाटियाँ है जो ऊँचे परिवर्तित चट्टानों से बनी हुई पर्वतश्रेणियों द्वारा अलग अलग कर दी गई है। पूरा प्रदेश बहुत ही ऊँचा नीचा है। मैदान या समतल क्षेत्र नाममात्र के लिये भी नहीं हैं। सारा पर्वतीय क्षेत्र जंगलों से ढका हुआ है। ढालों पर चरागाह है। यहाँ पर फल तथा तरकारियाँ पैदा की जाती हैं। नदियों में पर्याप्त मछलियाँ पाई जाती हैं। घाटियों में फल, फूल तथा अन्न पैदा किए जाते है। यहाँ शराब भी बनाई जाती हैं। (इ० इ० सिं०)

काफी (अंग्रेजी में कॉफ़ी, अरबी कहवा) एक सदाहरित वृक्ष का बीज है जो समशीतोष्ण देशों में उत्पन्न होता है। वृक्ष या तो बीज से उगाए जाते हैं, या दाबकलम से। पाँच वर्ष में बिक्री के लिये अच्छे बीज

मिलने लगते है। यो तो वृक्षो से लगभग ५० वर्ष तक बीज मिलते रहते हैं, परतु अधिकाशत. २५–३० वर्ष के बाद नए वृक्ष लगाए जाते है। फल चुनने की सुविधा के लिये वृक्ष काट छाँटकर १०–१२ फुट ऊँचाई के ही रखे जाते ह। इस वृक्ष के फूल सफेद, सुगधमय और गुच्छा मे, पत्तियो की बगल मे खिलते ह। फूल कुछ ही दिनो मे भड जाते है और उनके स्थान पर वदरियाँ (नन्हे फल) लगती है। ये वदरियाँ वृक्ष के डठलो पर गुच्छो मे लगती ह। पकने पर बदरी गाढे लाल रग की हो जाती है। भीतर साधारणत दो बीज होते है, जो अडाकार परतु एक ओर चिपटे होते है और ये चिपटे तल एक दूसरे से प्राय सटे रहते हे। बीज के ऊपर गूदा होता हे। पकने पर साधारणत बदरियो को हाथ से ही चुना जाता हे। पानी मे वदरियो को भिगोकर गूदे को थोडा गलने दिया जाता हे और तब उसे वहा दिया जाता है। फिर बीजो को आठ दस दिन तक धूप मे सुखाया जाता हे। तब मशीन मे डालकर बीज का छिलका छुडा दिया जाता है। इस रूप मे प्रस्तुत बीज को हरी काफी (green coffee) कहते है, जो बाजार मे बिकती है। भूनने और पीसने अथवा चूर्ण करने पर बाजार मे बिकनेवाली साधारण काफी बनती है।

वनस्पति विज्ञान में काफी—काफी के वृक्ष का, वानस्पतिक, वैज्ञानिक वर्गीकरण एंग्लर के अनुसार निम्नलिखित है:

वर्ग	—	द्विदली
उपवर्ग	—	सिमपिटैली (Sympetalae)
गण	—	रूबिऐलिस (Rubiales)
कुल	—	रुबिएसी (Rubiaceae)
श्रेणी	—	कॉफिया (Coffea)
जाति	—	कॉफिया अरेबिका (Coffea Arabica)
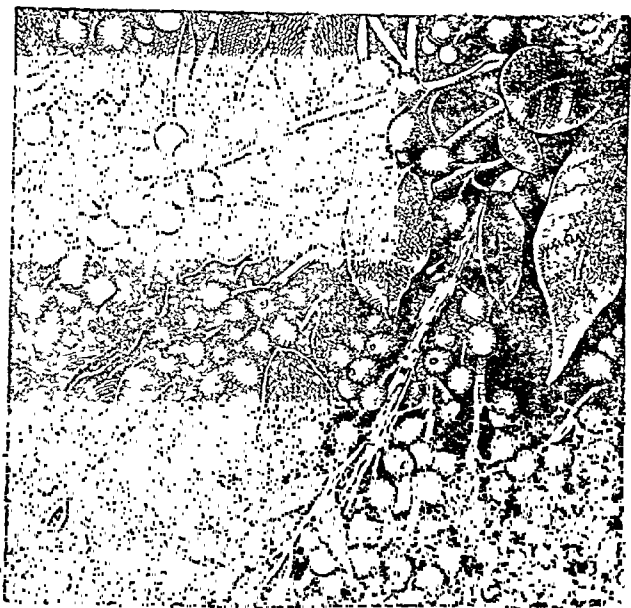
काफी का पौधा, पत्तियाँ तथा फल

कॉफिया श्रेणी मे लगभग ४५ जातियाँ है, जिनमे से केवल चार के बीज पीने की काफी बनाने के काम आते हे। अधिकतर (९० प्रतिशत) कॉफिया अरेबिका का ही उपयोग होता है, परतु थोडी मात्रा मे कॉफिया लाइबेरिका (Coffea Liberica, लाइबेरियन काफी), कॉफिया स्टेनोफिला (Coffea Stenophylla) और कॉफिया रोबस्टा (Coffea Robusta) (कागो कॉफी) के बीज भी काम आते है। कॉफिया अरेबिका की पत्तियाँ लबी, अडाकार तथा नुकीली होती है। ये चार से छह इच तक लबी और डेढ से ढाई इच तक चौडी तथा एक साथ दो पाई जाती है। इनका रग गहरा हरा होता है और पृष्ठ मोम जैसा जान पडता हे। फूलने पर वृक्ष सुंदर प्रतीत होता है। वदरी के भीतर हरापन लिए हुए दो भूरे बीज गूदे के अदर एक झिल्ली से आच्छादित रहते है, जिसे 'पार्चमेंट' कहते हे और उसके भीतर दूसरा सूक्ष्म आवरण रहता है जिसे रजतचर्म (silver skin) कहते है।

काफी की खेती—जैसा पहले बताया गया हे, काफी *समशीतोष्ण* देशो मे, मुख्यत. अफ्रीका मे, होती है। काफिया अरेबिका *की खेती अधिकतर* दक्षिणी ब्राजील, जावा, तथा जमैका मे *कम ऊँचाई पर की जाती है,* परतु ऊँचे स्थानो मे (३,००० फुट से ६,००० फुट *तक ऊँची पहाडियो पर*) उत्पन्न काफी अति स्वादिष्ट और कम कडवी होती है। *काफी के वृक्षो मे* कई प्रकार के हानिकारक कीडे और रोग लगते है। लका के काफी पत्र-रोग हेमीलिया वैस्टैटिक्स (*Hemileia vastatrix*) ने, जो फफूँद जाति का एक रोग है, पुरानी दुनियाँ की उपज को बहुत कम कर दिया हे। वदरियो के भीतर घुसकर रहनेवाला स्टेफैनोडेरेस कीडा भी बहुत हानिकारक है। बहुधा वृक्ष की जड मे भी रोग लग जाता हे। सदा सतर्क रहने और बराबर उपचार करते रहने से ही नई दुनिया मे काफी का उत्पादन विशेष उन्नति कर गया है।

स्वाद की परख—यूरोप मे बीजो की आकृति देखकर ही माल खरीदा जाता हे, परतु अमरीका मे काफी बनाकर और स्वाद परखकर काफी की श्रेष्ठता का निर्णय किया जाता हे। यह काम व्यवसायी चखनेवाले करते है जो वर्षो के अनुभव के वाद ही सच्चे पारखी माने जाते हैं।

भूनना—बिना भूने बीजो के क्वाथ मे वह स्वाद नही होता जिसे जनता काफी का यथार्थ स्वाद मानती हे। स्वाद और सुगध बीजो को भूनने से आती है। बीजो को बडे बडे ढोलो मे, जिन्हे नीचे से तप्त किया जाता है, लगभग २० मिनट तक भूना जाता हे। इससे बीज भूरे हो जाते है। कुछ लोग अधिक भूनी काफी पसद करते है, इसलिये अधिक भूनी (काली) काफी भी बिकती है।

पिसाई—भूनी काफी, महीन पिसी, मोटी पिसी, चूर्ण और समूची सभी प्रकार की खरीदी जा सकती हे। पीसने पर काफी की सुगध उडने लगती है और वायु के अधिक सपर्क से काफी की सुगध, जो शीघ्र ही उडनेवाले कैफिओल (Caffeol) से होती हे, नष्ट हो जाती है। जितनी महीन काफी होगी उतना ही शीघ्र वह खराब होगी। इसलिये महीन पिसी काफी टिन के डिब्बो मे, जिनके भीतर से हवा निकाल दी जाती हे, बद करके बिकती हे।

स्वादपारखी विशेषज्ञो का कहना हे कि पीसने के दो घटे बाद स्वाद बदलने लगता है। उनके विचार मे कुछ लोग काफी की केवल कडवाहट ही चख पाते है, श्रेष्ठ स्वाद नही, क्योकि वे बहुत दिनो पहले की पिसी, दफ्ती के डिब्बो मे रखी, काफी खरीदते है।

काफी बनाने की रीति—काफी बनाने की रीतियो का आधार यह हे कि पिसी काफी को खौलते पानी के सपर्क मे उचित समय तक रखा जाय। चार रीतियाँ प्रचलित हे एक रीति यह है कि पानी मे काफी मिलाकर उसे आग पर रखा जाय, उबाल आते ही उतारकर चला दिया जाय और पाच मिनट के बाद छान लिया जाय, या ऊपर से द्रव को दूसरे बरतन मे ढाल लिया जाय। दूसरी रीति यह है कि काफी पर खौलता पानी डाला जाय। १० मिनट मे काफी छान ली जाय। छानने के पहले तीन चार बार मिश्रण को चलाना आवश्यक हे। तीसरी रीति मे विशेष बरतन की आवश्यकता होती है। ऊपर की टोकरी मे मोटी या पिसी काफी रख दी जाती हे और उसपर तेज खौलता पानी छोडा जाता हे। काफी बनकर और छनकर नीचे के बरतन मे पहुँच जाती हे। छनना इतना घना हो कि काफी छह सात मिनट मे नीचे पहुँचे, शीघ्र छनने से पूरा स्वाद नही उतरता, देर लगने से कडवाहट बढ जाती है। चौथी रीति मे भी विशेष बरतन की आवश्यकता होती हे जिसमे एक के ऊपर एक, लोटे के आकार के, दो बरतन रहते हे। बीच मे छनना रहता हे। नीचे के बरतन मे पानी भरकर और ऊपर के बरतन मे काफी रखकर बतरन आँच पर चढा दिया जाता है। खौलने पर आग की दाब के कारण एक नली द्वारा नीचे का पानी ऊपर चढ जाता है। थोडा ठढा होने पर पानी फिर नीचे उतर आता है। इसका छनना इतना घना रहे कि पानी के उतरने मे छह सात मिनट लगे।

काफी (द्र० पृ० ५२१)

काफी की बदरियाँ बटोरी जा रही हैं।
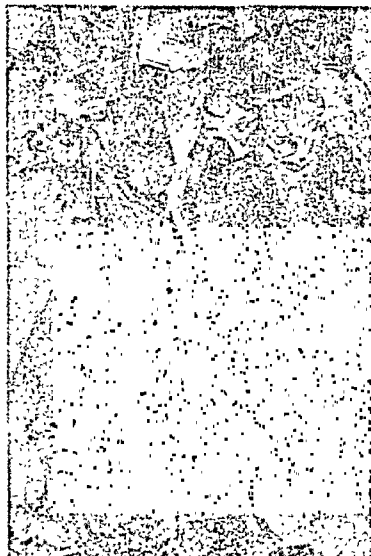
अच्छी और बुरी बिनकर अलग कर रहे हैं।
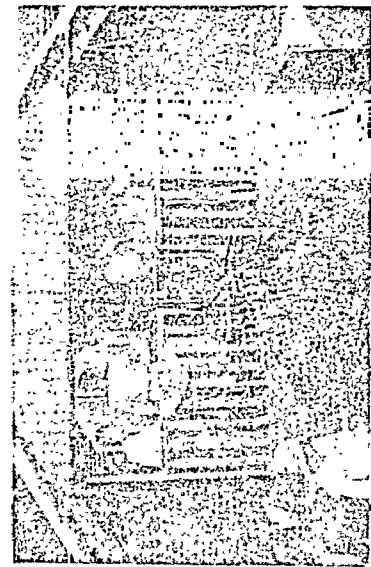
गूदा निकालने की मशीन में बदरियाँ डाली जा रही हैं।
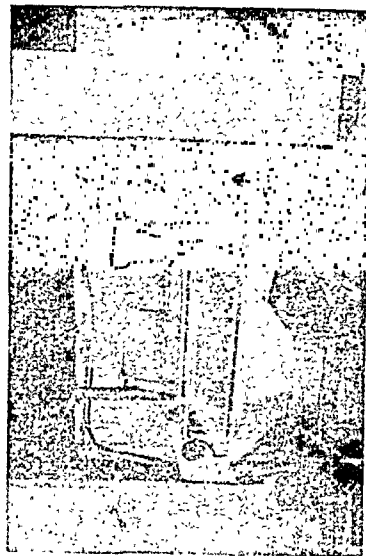
मशीन द्वारा गूदा निकाला जा रहा है।
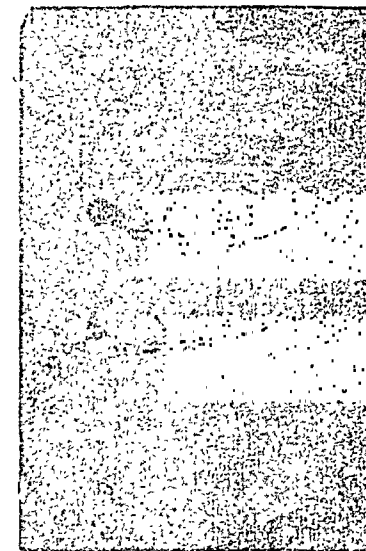
टंकी में दली हुई त्वचा की सफाई हो रही है।

नाली में काफी धोई जा रही है।

काफी की त्वचा की सुखाई

चलनी पर, मंच पर, प्रांगण में

काली (द्र० पृ० ५६५), कामदेव (द्र० पृ० ५२६) तथा कार्तिकेय (द्र० पृ० ५४१)
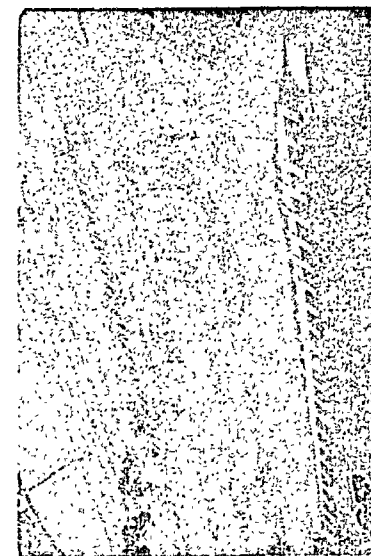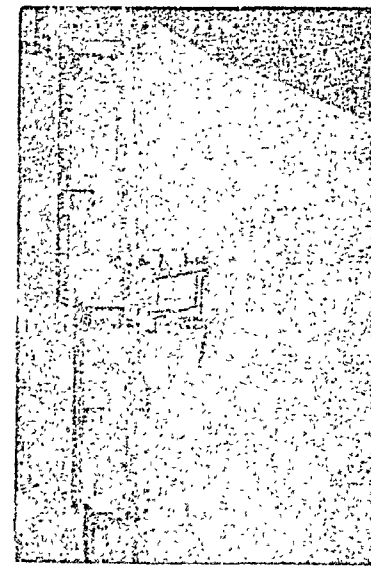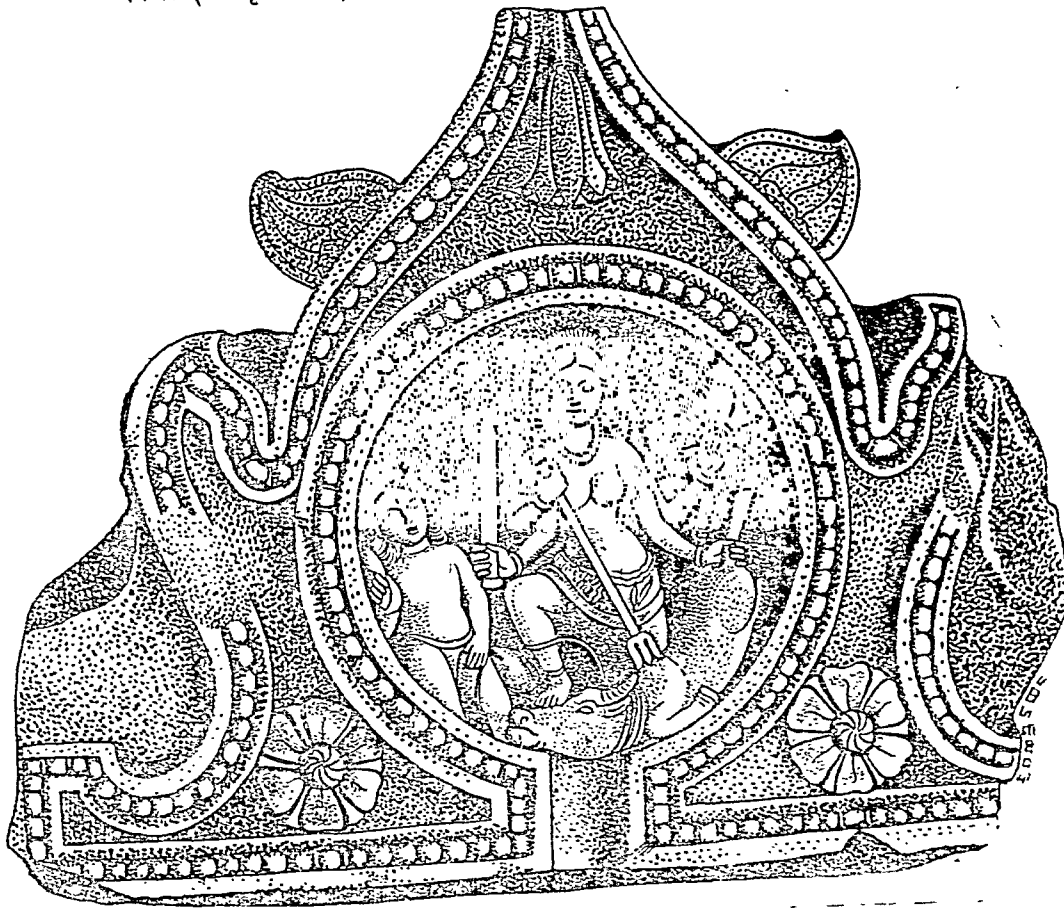
काली की एक प्राचीन मूर्ति की अनुकृति
(भगवतशरण उपाध्याय के सौजन्य से)

कामदेव की एक प्रा
(वासुदेवशरण अ

कार्तिकेय
मोर पर आसीन पाँचवीं सदी की एक मूर्ति
(भारत सरकार के प्रेस सूचना केंद्र के सौजन्य से)

दूध या उपराई (क्रीम) और चीनी डालकर काफी पी जाती है। फ्रांस के प्रसिद्ध 'कफ़े ग्राले' में लगभग आधा दूध रहता है।

काफी बनाने में काफी और पानी दोनों नापकर डालना चाहिए। एक बड़े चम्मच (टेबुल स्पून) से अधिक से अधिक जितनी काफी उठे, एक प्याले पानी के लिये पर्याप्त होती है। ठीक समय तक काफी को तप्त जल में रखना चाहिए, घड़ी देखकर काम करना उत्तम है। काफी बनाने के बरतन को पूर्णतया स्वच्छ रखना चाहिए। उन्हें प्रति सप्ताह पानी और सोडा (१/२ छटाँक सोडा, सेर भर पानी) में उबालना चाहिए। धातु का बर्तन हो तो उसे माँजकर सिरके और पानी में उबालना चाहिए। काफी को पानी में डालकर नहीं उबालना चाहिए। छानने के बाद काफी को तुरत पीने के लिये दे देना चाहिए।

शरीर पर काफी का प्रभाव—क्षार कैफ़ीन के कारण काफी से नींद दूर होती है और स्फूर्ति आती है। पीने के दो ढाई घंटे के बाद इसका प्रभाव मिट जाता है, क्योंकि इसका प्रधान रासायनिक तत्व, कैफ़ीन, मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। साधारण स्वस्थ व्यक्ति पर साधारण मात्रा में काफी पीने से कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता।

काफी के अवयव—विविध मेल की काफियों की रासायनिक संरचनाओं में थोड़ा बहुत अंतर रहता है जो काफी बनाने की विधि, जलवायु, भूमि, खाद, और फल पकने की सीमा पर निर्भर करता है। काफी के प्रमुख अवयव कैफ़ीन, काठतंतु, जल में विलेय अंश, नाइट्रोजन, शर्करा, जल और राख हैं।

उत्पादन और खपत—विश्व की काफी का लगभग ५९ प्रतिशत ब्राजील में उत्पन्न होता है। ब्राजील को लेकर दक्षिण अमरीका में विश्व की लगभग तीन चौथाई उपज होती है। दक्षिण भारत में कम ऊँची पहाड़ियों पर उत्पन्न होनेवाली एक प्रति शत काफी उत्तम श्रेणी की होती है, जिसका लगभग आधा उत्पादन मैसूर प्रदेश में होता है। उसके बाद मद्रास एवं कुर्ग की बारी आती है। उड़ीसा, असम तथा मध्य भारत में थोड़ी काफी होती है। भारत में कॉफ़िया अरेबिका तथा कॉफ़िया रोबस्टा दोनों ही उगाई जाती हैं। कॉफिया लाइबेरिया नाम मात्र की होती है। इसकी देखरेख तथा सुरक्षा भारतीय काफी परिषद् द्वारा होती है।

आधी से अधिक काफी की खपत संयुक्त राज्य (अमरीका) में है, जहाँ प्रति वर्ष व्यक्ति पीछे काफी की औसत खपत ७ सेर है।

अन्य उपयोग—बदरी फल का गूदा और पार्चमेंट खाद बनाने तथा जलाने के उपयोग में भी लाया जाता है। इससे कैफ़ेलाइट नामक वस्तु तैयार की जाती है। (सा० जा०)

क़ाफ़ूर, मलिक नायब का परिचय इतिहास को तब प्राप्त हुआ जब अलाउद्दीन खल्जी की विशाल सेना ने गुजरात के राजपूत राजा राय कर्णदेव द्वितीय पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन की सेना ने गुजरात के राजा को हरा दिया। जब यह सेना दिल्ली वापस लौटी तो अपने साथ अपार धन संपत्ति, गुजरात की सुंदर रानी कमला देवी तथा हरम के एक नौजवान नौकर को, जिसका नाम काफ़ूर था, अपने साथ लाई। यह काफ़ूर बाद में अलाउद्दीन का बड़ा प्रभावशाली दरबारी बन गया। अलाउद्दीन की मृत्यु के कुछ पहले से लेकर कुछ बाद तक काफ़ूर पूरे राज्य का वास्तविक स्वामी बन बैठा था। अलाउद्दीन ने उसके रणकौशल तथा अन्य गुणों से प्रसन्न होकर उसे राज्य के 'मलिक नायब' की उपाधि दी थी तथा उसे प्रधान सेनापति एवं वजीर भी बना दिया था।

सन् १३०७ में अलाउद्दीन ने मलिक काफ़ूर के नेतृत्व में एक सेना देवगिरि भेजी। वहाँ के यादव राजा रामचंद्रदेव ने पिछले तीन सालों से एलिचपुर प्रांत का कर अलाउद्दीन को नहीं दिया था तथा गुजरात के राजा कर्णदेव को अपने यहाँ शरण दी थी। काफ़ूर मालवा होता अपनी सेना के साथ देवगिरि जा पहुँचा। उसने पूरे राज्य को लूटा और वहाँ के राजा को हराकर संधि करने के लिये मजबूर किया। इस पराजय के बाद वह दिल्ली सल्तनत के अधीन होकर राज करता रहा। यादवों की पराजय से प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने वारंगल के राजा प्रतापरुद्रदेव को हराने के लिये सन् १३०९ में मलिक काफ़ूर को भेजा। वास्तव में अलाउद्दीन वारंगल के खजाने तथा हाथी घोड़ों से आकृष्ट हुआ था। उसने काफ़ूर को आदेश दिया कि यदि वारंगल का राजा यह सब कुछ उसे दे दे तो वह उसे अधिक परेशान न करे। काफ़ूर ने जाकर वारंगल के किले पर घेरा डाल दिया और अंत में मार्च, १३१० में वहाँ के शासक ने काफ़ूर को हाथी, घोड़े तथा बड़ी संख्या में जवाहरात तथा धन दिया और आगे देने का वचन दिया। काफ़ूर सैकड़ों ऊँटों पर लूट का धन लादकर दिल्ली लौट आया।

इन सब सफलताओं के पश्चात् अलाउद्दीन ने दक्षिणी राज्यों की ओर अपना हाथ फैलाया। नवंबर, १३१० में ख्वाजा हाजा के साथ मलिक काफ़ूर के नेतृत्व में एक बड़ी सेना होयसल राजा के विरुद्ध भेजी गई। काफ़ूर ने जाकर होयसल की राजधानी द्वारसमुद्र पर आक्रमण किया। होयसल राजा वीर बल्लाल घबरा गया और उसने अपना सारा खजाना काफ़ूर को सौंप दिया। इसके अतिरिक्त काफ़ूर ने बहुत बड़ी मात्रा में सोना, चाँदी, हीरे तथा जवाहरात मंदिरों से एकत्र कर लिए। उसके बाद प्राप्त की हुई सारी संपत्ति को उसने दिल्ली भेज दिया।

कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात् मलिक ने अपना ध्यान पांड्य शासक कुलशेखर के राज्य की ओर किया। वहाँ कुलशेखर के दो पुत्रों—सुंदर पांड्य और वीर पांड्य—में उत्तराधिकार के लिये युद्ध छिड़ा था। सुंदर ने अपने पिता की कृपादृष्टि वीर पर देखकर उनका वध कर दिया और वह स्वयं सिंहासन पर बैठ गया। बाद में वीर पांड्य ने उसे हरा दिया। इस पर सुंदर ने काफ़ूर से सहायता माँगी। काफ़ूर अपनी विशाल सेना के साथ दक्षिण की ओर बढ़ा और १३११ में पांड्य राजधानी मदुरा पहुँच गया। काफ़ूर को आते देख वीर पांड्य भाग गया। फिर भी मलिक नायब ने राजधानी को खूब लूटा और हाथी, घोड़े तथा सैकड़ों मन हीरे जवाहरात प्राप्त किए। इसके पश्चात् अक्टूबर, १३११ में अपनी वर्णनातीत लूट की संपत्ति के साथ वह दिल्ली पहुँच गया। इस विजय के बाद पांड्यों का राज्य काफी समय तक दिल्ली सल्तनत के अधीन रहा। मलिक ने एक बार पुनः यादव राजा को हराकर मार डाला। इस प्रकार सारा दक्षिण भारत दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गया।

सन् १३१२ में अलाउद्दीन अपनी प्रभुता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया, पर शीघ्र ही उसका पतन प्रारंभ हो गया। वह काफ़ूर के हाथ की कठपुतली बन चुका था। सन् १३१६ में अलाउद्दीन की मृत्यु हो गई। कुछ लोगों का विश्वास है कि अलाउद्दीन की मृत्यु में काफ़ूर का हाथ था। अलाउद्दीन के बाद काफ़ूर ने उसके तीन बड़े बेटों को शासनाधिकार से वंचित करके सबसे छोटे बेटे को सिंहासन पर बिठाया और स्वयं इच्छानुसार राजकार्य का संचालन करने लगा। वास्तव में वह स्वयं सिंहासन पर बैठना चाहता था। इसके लिये उसने अवर्णनीय षड्यंत्र रचे तथा अपराध किए। उसके इन अमानुषिक कृत्यों का बदला उसे यों मिल गया कि वह शीघ्र ही मार डाला गया। (मि० चं० पां०)

काबा मक्का में एक प्रसिद्ध मंदिर के लिये यह नाम दिया गया है। काबा या काबे शब्द का तात्पर्य वास्तव में उस मंदिर के मध्यभाग में अवस्थित एक छोटे उपासनागृह (ऑरेटरी) से है जिसके चारों ओर लंबी गैलरी बनी हुई है। यह मंदिर एक विषम घन के रूप में ४० फुट लंबा, ३३ फुट चौड़ा और ५० फुट ऊँचा है। यही एक निर्दिष्ट स्थान पर खड़े होकर मुसलमान ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। इस मंदिर के द० पू० कोने में पाँच फुट की ऊँचाई पर एक काला पत्थर रखा है। लोगों का विश्वास है कि यह स्वर्ग का एक अत्यधिक मूल्यवान् प्रस्तरखंड है जिसे देवदूत गब्रीएल ने तब अब्राहम को दिया था जब वे काबे का निर्माण करा रहे थे। कुछ लोगों के अनुसार यह पत्थर किसी समय चुराकर तोड़ डाला गया था। लेकिन जो भी हो, धार्मिक प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों के लिये यह बड़े महत्व एवं श्रद्धा की वस्तु है।

काबे का मंदिर मुहम्मद के समय से भी प्राचीन है। इसके पूर्व यह अरब का सर्वदेवमंदिर था जिसमें राष्ट्र संबंधी विशिष्ट प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित की गई थीं। बाद में धर्मपुरोहितों ने इन मूर्तियों को नष्ट कर डाला। लेकिन विशेष प्रकार की पूजा के तरीके 'तवाफ' को कायम रहने

दिया गया। पुजारियों के आधिपत्य में मंदिर की वाहरी दीवार कपड़े की पतली पट्टियों से ढकी रहती थी जिनके ऊपर कुरान की प्रसिद्ध आयतें लिखी थीं। मंदिर का प्रवेशद्वार, खंभे एवं छत चमकती हुई चाँदी से निर्मित हैं। रजतजटित एक कपाट सीढ़ी की ओर खुलता है जिससे छत की ओर जाने का मार्ग है। खलीफा मेहदी ने इस मंदिर की सजावट में अनंत धनराशि व्यय की। यह मंदिर सोलहवीं शताव्दी में पूरा वनकर तैयार हो चुका था। (शी० प्र० सिं०)

कावुल नगर कावुल नदी की घाटी में, पश्चिमी उच्च पर्वतीय शृंखलाओं के छोर पर, समुद्र की सतह से ६,६०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। (स्थिति ३४° ३२′ उ० अ० तथा ६९° १४′ पू० दे०, जनसंख्या ४,३५,००० (१९६५)) । कावुल प्रांत का यह नगर अफगानिस्तान की राजधानी है। पेशावर से १६५ मील की दूरी पर स्थित यह ऐतिहासिक नगर प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। इसके उत्तर में हिंदूकुश पर्वत के तथा पश्चिम में कंधार के दर्रे मिलते हैं। ऐतिहासिक काल मं, सिकंदर (अलक्षेंद्र) महान्, चंगेज खाँ, वावर तथा नादिरशाह आदि के आक्रमण कावुल से ही होकर हुए। यह भी सत्य है कि वावर के शासनकाल से लेकर नादिरशाह के समय तक (१५२६ ई० से १७३८ ई० तक) कावुल दिल्ली साम्राज्य का भाग था।

प्राचीन नगर चारों तरफ से दीवारों से घिरा हुआ था, जिसमें सात द्वार थे, इस समय चिह्नस्वरूप 'दरवाजा लाहौरी' नामक द्वार उपस्थित है। इस नगर में चौड़ी तथा सँकरी, दोनों प्रकार की, सड़कें वर्तमान हैं। नगर में प्राचीन किले का ध्वंसावशेष, जिसे वालाहिसार कहते हैं, १५० फुट की ऊँचाई पर खड़ा है। अफगानिस्तान का राजप्रासाद नगर के उत्तर-पश्चिम में आधे मील की दूरी पर अवस्थित है। नगर में वहुत सी ऐतिहासिक वस्तुओं के भग्नावशेष अव तक वर्तमान हैं।

यह नगर अफगानिस्तान राज्य के सभी प्रांतों से तथा तुर्किस्तान, वोखारा, पाकिस्तान आदि से पक्की सड़कों द्वारा संवद्ध है। आधुनिक नगर का समुचित विकास वहाँ की सुनियोजित सड़कों, सुंदर पुष्पवाटिकाओं तथा भव्य भवनों को देखने से प्रकट होता है। कावुल में शाहजहाँ द्वारा वनवाई हुई एक मस्जिद भी है। यहाँ दियासलाई, वटन, चमड़े के सामान, जूते, संगमरमर की वस्तुएँ तथा लकड़ी के सामान वनाने के वहुत से कारखाने हैं। कावुल अपने ऊन तथा फल के व्यापार के लिये भी प्रसिद्ध है।

कावुल में कुछ माध्यमिक विद्यालय, कावुल विश्वविद्यालय (स्थापित १९३२ ई०) तथा प्राध्यापकों के दो प्रशिक्षण केंद्र हैं। यहाँ आधुनिक युग की नगरसुलभ सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं।

कावुल प्रांत पर्वतीय क्षेत्र है। क्षेत्रफल १०० वर्ग मील, जनसंख्या १२,६७,००० (१९६६)। गेहूँ, जौ आदि फसलों के सिवाय कावुल घाटी अमूल्य फलों की निधि है। (द्र० 'अफगानिस्तान')

कावुल नदी—अफगानिस्तान की यह मुख्य नदी ३०० मील लंवी है। नदी का प्राचीन नाम कोफेसा है। यह नदी हिंदूकुश पर्वत की संगलाख श्रेणी के उनाई दर्रे के पास से निकलती है। देश की राजधानी कावुल नगर इस नदी की घाटी में स्थित है। उद्गम स्थान से कावुल नगर तक नदी की लंवाई ४५ मील है। अफगानिस्तान का मुख्य प्रांत कावुल इस नदी के क्षेत्र से वना है जिसमें हिंदूकुश तथा सफेद कोह के वीच का भाग संमिलित है। कावुल नगर के ऊपरी हिस्से में नदी का सारा पानी (विशेषकर गर्मियों में) सूख जाता है। पुनः कावुल नगर से आधा मील पूर्व आने पर लोगार नाम की वड़ी नदी, जो १४,२०० फुट की ऊँचाई पर गुलकोह (गजनी पश्चिम) से निकलती है, कावुल नदी में मिलती है। नदी के मिलनस्थान से कावुल नदी तीव्रगामी तथा वड़ी नदी के रूप में आगे वढ़ती है और हिंदूकुश से निकलनेवाली प्रायः सभी नदियों के पानी को आगे वहाती है। कावुल नगर से नीचे आने पर इस नदी में क्रमशः पंजशीर तथा टगाओ नदियाँ, तत्पश्चात् अलिंगार तथा अलिशांग नदियों की संयुक्त धाराएँ मिलती हैं। आगे वढ़ने पर सुरखाव और कुनार नदियाँ मिलती हैं। कावुल नदी की यह विशाल धारा मोहमंद पहाड़ियों के गहरे, सँकरे कंदरों में होती हुई पेशावर के उपजाऊ मैदान में प्रवेश करती है। अपने आखिरी भाग में नदी स्वात तथा वारा नदियों के पानी को लेकर अटक के पास सिंध नदी में मिल जाती है।

पर्वतीय प्रकृति की यह नदी अपने निम्न भाग में जलालावाद के वाद से ही नौका चलाने के उपयुक्त है। इस नदी की घाटी वहुत ही उपजाऊ है। इसमें गेहूँ आदि अन्नों के साथ फल तथा तरकारियाँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती हैं। कावुल नदी पर सरोवी का विजलीघर स्थित है, जहाँ नदी पर वाँध वनाकर पानी से विजली पैदा की जाती है। इससे कावुल नगर लाभान्वित होता है। (ह० ह० सिं०)

कावेट, विलियम (१७६२–१८३५) का संघर्षमय जीवन ऐसे काल में व्यतीत हुआ था, जो इंग्लैंड ही नहीं, समस्त पाश्चात्य श्वेत जाति के इतिहास में क्रांतिपूर्ण युग माना जाता है। इसी काल में अमरीका का स्वातंत्र्य संग्राम हुआ और फ्रांस में राजनीतिक क्रांति का विस्फोट; इसके वाद ही नेपोलियन का उदय हुआ और समस्त यूरोप में उसकी विजयवाहिनी ने आतंकपूर्ण वातावरण पैदा कर दिया। इन विप्लवात्मक परिवर्तनों का इंग्लैंड के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पर गहरा असर पड़ा और इसके फलस्वरूप पार्लमेंट संवंधी सुधारों का क्रम आरंभ हुआ। परंतु इससे अधिक महत्वपूर्ण वह आर्थिक तथा औद्योगिक क्रांति थी जो इंग्लैंड की परंपरागत ग्राम तथा कृषि व्यवस्था का कलेवर ही ध्वस्त करने पर उतारू थी। पूँजीपतियों की लोलुपता तथा कुचक्रों के फलस्वरूप भूस्वामियों, कृषकों तथा भूमिहीन श्रमिकों का ह्रास और औद्योगिक जमींदारियों का विस्तार हो रहा था। विलियम कावेट ने अपने लंवे जीवनकाल में इन घातक परिवर्तनों का भरपूर विरोध किया क्योंकि इससे राष्ट्रीय शक्ति के मूल स्रोतों का ही शोषण हो रहा था।

वे स्वयं कृषक वर्ग के प्रतिनिधि थे। उनका जन्म सन् १७६२ में फार्नहैम गाँव के एक कृषक परिवार में हुआ था और उनका वचपन कृषि संवंधी परिश्रमों तथा मनोरंजनों के वीच व्यतीत हुआ। इसी समय उनके हृदय में प्रकृतिप्रेम का भी वीजारोपण हुआ जो उत्तरोत्तर वढ़ता हुआ उनके लेखों में काव्यमय होकर प्रस्फुटित हुआ। इनकी शिक्षा सुव्यवस्थित रूप से नहीं हो पाई परंतु विद्याप्रेम इनका जन्मजात गुण था और वचपन ही में अपने जेव की समस्त पूँजी स्विफ्ट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'ए टेल ऑव ए टव' पर लगाकर इन्होंने इसका आश्चर्यजनक परिचय दिया। स्वच्छंद स्वभाव का यह नवयुवक गाँव के संकीर्ण दायरे में वँधकर रहना पसंद न कर सका; इसलिये घर से भागकर यह सेना में भर्ती हुआ और कालांतर में अमरीका के संघर्षपूर्ण वातावरण का अंग वन गया। आठ वर्षों तक कावेट ने अमरीका में उदार तथा प्रगतिशील सिद्धांतों का निर्वाध रूप से प्रतिपादन किया, फलस्वरूप उन्हें 'पीटर पारक्युपाइन' का सार्थक उपनाम दिया गया। परंतु इसके साथ ही साथ वे अपने देश की राजनीतिक संस्थाओं का भी जोरदार समर्थन करते रहे। स्वदेश लौटने पर टोरी दल ने उनकी प्रतिभा को क्रय करने का भागीरथ प्रयत्न किया परंतु कावेट किसी भी मूल्य पर विकने के लिये तैयार नहीं हुए। सन् १८०२ ई० में उन्होंने 'द पोलिटिकल रजिस्टर' नामक प्रसिद्ध पत्रिका का संपादन आरंभ किया और वैधानिक सुधारों के पक्ष में अपनी प्रभावपूर्ण लेखनी को सर्वदा के लिये समर्पित कर दिया। सन् १८३२ में ओल्डम क्षेत्र से वे पार्लमेंट के सदस्य भी चुने गए और वहाँ के कृषकों तथा श्रमिकों का आजीवन समर्थन करते रहे। कई वार सरकार से लोहा लेकर वे उसके कोपभाजन भी वने परंतु उनका उत्साह अदम्य था और कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलने में वे काफी अभ्यस्त थे। सन् १८३५ में वे अस्वस्थ हुए परंतु मृत्यु काल तक लिखते तथा काम करते रहे।

विलियम कावेट के लेखों का संग्रह ५० मोटी जिल्दों में हुआ है, जिनमें 'काटेज इकानोमी', 'ऐडवाइस टु यंग मेन', 'रूरल राइड्स' तथा 'लिगेसी टु वर्कर्स' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखों में विविध विषयों का समावेश है परंतु इनके दो केंद्रविंदु हैं—राजनीति तथा देहाती जीवन संवंधी प्रकृतिसौंदर्य। राजनीतिक लेखों में उन्होंने अन्याय तथा कुरीतियों के प्रति अपनी विदग्ध लेखनी का संचालन कर अपनी स्वाभाविक उग्रता तथा संघर्षप्रियता का परिचय दिया है, परंतु 'रूरल राइड्स' के पृष्ठों में उनके प्रकृतिप्रेम तथा काव्यमयी प्रतिभा की सुखद अभिव्यक्ति हुई है।

उनकी ख्याति का स्थायी आधारस्तंभ इन्हीं साहित्यिक लेखों में है क्योंकि उनके राजनीतिक तथा सामाजिक विचार ऐतिहासिक महत्व के ही रह गए हैं। समाजसुधारक के रूप में उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं था। रस्किन तथा मारिस के समान वे मध्यकालीन समाजव्यवस्था के समर्थक थे, जिसमें समस्त गाँव एक कुटुंब के समान रहता था और पारिवारिक जीवन परिश्रमजन्य सुखसाधनों से संपन्न था।

सं०ग्रं०—जार्ज सेंट्सबरी : विलियम कावेट (एसेज इन इंग्लिश लिटरेचर, सेकंड सीरीज, १८९५); ई० जे० कारलाइल : विलियम कावेट—ए स्टडी ऑव हिज लाइफ़ ऐज शोन इन हिज राइटिंग्स—१९०४; द लाइफ़ ऐंड लेटर्स ऑव विलियम कावेट इन इंग्लैंड ऐंड अमेरिका, दो भाग, १९१३। (वि० रा०)

कामंदकीय कामंदकीय नीतिसार राज्यशास्त्र का एक ग्रंथविशेष है।

कामंदकि अथवा कामंदक इसके कर्ता का नाम है जिससे यह साधारणतः कामंदकीय नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में यह ग्रंथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मूलतः राजनीति विद्या, के सारभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर १९ अध्याय हैं।

इसके रचनाकाल के विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। विंटरनित्स के मतानुसार किसी कश्मीरी कवि ने इसकी रचना ईस्वी ७००-७५० के बीच की। डा० राजेंद्रलाल मित्र का अनुमान है कि ईसा के जन्मकाल के लगभग बालिद्वीप जानेवाले आर्य इसे भारत से बाहर ले गए जहाँ इसका 'कवि' भाषा में अनुवाद हुआ। पीछे यह ग्रंथ जावाद्वीप में भी पहुँचा। छठी शताब्दी के कवि दंडी ने अपने 'दशकुमारचरित' के प्रथम उच्छ्वास के अंत में 'कामंदकीय' का उल्लेख किया है।

इसके कर्ता कामंदकि या कामंदक कब और कहाँ हुए, इसका भी कोई पक्का प्रमाण नहीं मिलता। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति से पूर्व इस ग्रंथ का लेखक हुआ था, क्योंकि भवभूति ने अपने नाटक 'मालतीमाधव' में नीतिप्रयोगनिपुणा एक परिव्राजिका का 'कामंदकी' नाम दिया है। संभवतः नीतिसारकर्ता 'कामंदक' नाम से रूढ़ हो गया था और नीतिसारनिष्णात व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होने लगा था। कामंदक की प्राचीनता का एक और प्रमाण भी दृष्टिगोचर होता है। कामंदकीय नीतिसार की मुख्यतः पाँच टीकाएँ उपलब्ध होती हैं : उपाध्याय निरक्षेप, आत्मारामकृत, जयरामकृत, वरदराजकृत तथा शंकराचार्य कृत। (द्वि० ना० मि०)

काम प्रत्येक प्राणी के भीतर रागात्मक प्रवृत्ति की संज्ञा काम है। वैदिक दर्शन के अनुसार काम सृष्टि का मूल है। काम के लिये द्वंद्वभाव आवश्यक है, अर्थात् सृष्टि के पूर्व में जो एक अविभक्त तत्व था वह विश्वरचना के लिये दो विरोधी भावों में आ गया। इसी को भारतीय विश्वास में यों कहा जाता है कि आरंभ में प्रजापति अकेला था। उसका मन नहीं लगा। उसने अपने शरीर के दो भाग किए। वह आधे भाग से स्त्री और आधे भाग से पुरुष बन गया। तब उसने आनंद का अनुभव किया। स्त्री और पुरुष का युग्म संतति के लिये आवश्यक है और उनका पारस्परिक आकर्षण ही कामभाव का वास्तविक स्वरूप है। प्रकृति की रचना में प्रत्येक पुरुष के भीतर स्त्री और प्रत्येक स्त्री के भीतर पुरुष की सत्ता है। ऋग्वेद में इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति पाई जाती है, जैसा अस्यवामीय सूक्त में कहा है—जिन्हें पुरुष कहते हैं वे वस्तुतः स्त्री हैं; जिसके आँख है वह इस रहस्य को देखता है; अंधा इसे नहीं समझता (स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः।—ऋग्वेद, ३।१६४।१६)।

इस सत्य को अर्वाचीन मनोविज्ञान शास्त्री भी पूरी तरह स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि प्रत्येक पुरुष के मन में एक आदर्श सुंदरी स्त्री बसती है जिसे 'अनिमा' कहते हैं और प्रत्येक स्त्री के मन में एक आदर्श तरुण का निवास होता है जिसे 'अनिमस' कहते हैं। वस्तुतः न केवल भावात्मक जगत् में किंतु प्राणात्मक और भौतिक संस्थान में भी स्त्री और पुरुष की यह अन्योन्य प्रतिमा विद्यमान रहती है, ऐसा प्रकृति की रचना का विधान है। कायिक, प्राणिक और मानसिक, तीन ही व्यक्तित्व के परस्पर संयुक्त धरातल हैं, और इन तीनों में काम का आकर्षण समस्त रागों और वासनाओं के प्रबल रूप में अपना अस्तित्व रखता है। अर्वाचीन शरीरशास्त्री इसकी व्याख्या यों करते हैं कि पुरुष में स्त्रीलिंगी हार्मोन (Female sex hormones) और स्त्री में पुरुषलिंगी हार्मोन (Male sex hormones) होते हैं। भारतीय कल्पना के अनुसार यही अर्धनारीश्वर है, अर्थात् प्रत्येक प्राणी में पुरुष और स्त्री दोनों अर्ध अर्ध भाव में संमिलित रूप से विद्यमान हैं और शरीर का एक भी कोष ऐसा नहीं जो इस योषा-वृषा-भाव से शून्य हो। यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राणिजगत् की मूल रचना अर्धनारीश्वर सूत्र से प्रवृत्त हुई और जितने भी प्राण के मूर्त रूप हैं सबमें यह उभयलिंगी देवता ओतप्रोत है। एक मूल पक्ष के दो भागों की कल्पना को ही 'माता पिता' कहते हैं। इन्हीं के नाम द्यावा-पृथिवी और अग्नि-सोम हैं। द्यौः पिता, पृथिवी माता, यही विश्व में माता पिता हैं। प्रत्येक प्राणी के विकास का जो आकाश या अंतराल है, उसी की सहयुक्त इकाई द्यावा पृथिवी इस प्रतीक के द्वारा प्रकट की जाती है। इसी को जायसी ने इस प्रकार कहा है :

> एकहि बिरवा भए दुइ पाता,
> सरग पिता औ धरती माता।

द्यावा पृथिवी, माता पिता, योषा वृषा, स्त्री पुरुष का जो दुर्धर्ष पारस्परिक राग है, वही काम है। कहा जाता है, सृष्टि का मूल प्रजापति का ईक्षण अर्थात् मन है। विराट् में एक केंद्र की उत्पत्ति को ही मन कहते हैं। इस मन का प्रधान लक्षण काम है। प्रत्येक केंद्र में मन और काम की सत्ता है, इसलिये भारतीय परिभाषा में काम को मनसिज या संकल्पयोनि कहा गया है। मन का जो प्रवृद्ध रूप है उसे ही मन्यु कहते हैं। मन्यु भाव की पूर्ति के लिये जाया भाव आवश्यक है। बिना जाया के मन्यु भाव रौद्र या भयंकर हो जाता है। इसी को भारतीय आख्यान में सती से वियुक्त होने पर शिव के भैरव रूप द्वारा प्रकट किया गया है। वस्तुतः जाया भाव से असंपृक्त प्राण विनाशकारी है। अतृप्त प्राण जिस केंद्र में रहता है उसका विघटन कर डालता है। प्रकृति के विधान में स्त्री पुरुष का संमिलन सृष्टि के लिये आवश्यक है और उस संमिलन से जिस फल की निष्पत्ति होती है उसे ही कुमार कहते हैं। प्राण का बालक रूप ही नई नई रचना के लिये आवश्यक है और उसी में अमृतत्व की शृंखला की बार बार लौटनेवाली कड़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। आनंद काम का स्वरूप है। यदि मानव के भीतर का आकाश आनंद से व्याप्त न हो तो उसका आयुष्यसूत्र उच्छिन्न हो जाय। पत्नी के रूप में पति अपने आकाश को उससे परिपूर्ण पाता है।

अर्वाचीन मनोविज्ञान का मौलिक अन्वेषण यह है कि काम सब वासनाओं की मूलभूत वासना है। यहाँ तक तो यह मान्यता समुचित है, किंतु भारतीय विचार के अनुसार काम रूप की वासना स्वयं ईश्वर का रूप है। वह कोई ऐसी विकृति नहीं है जिसे हेय माना जाय।

इस नियम के अनुसार काम प्रजनन के लिये अनिवार्य है और उसका वह छंदोमय मर्यादित रूप अत्यंत पवित्र है। काम वृत्ति की बीभत्स व्याख्या न इष्ट है, न कल्याणकारी। मानवीय शरीर में जिस प्रकार श्रद्धा, मेधा, क्षुधा, निद्रा, स्मृति आदि अनेक वृत्तियों का समावेश है, उसी प्रकार काम वृत्ति भी देवी की एक कला के रूप में यहाँ निवास करती है और वह चेतना का अभिन्न अंग है। (वा० श० अ०)

कामग्रंथि द्र० 'ग्रंथि'।

कामताप्रसाद गुरु (१८७५–१९४७ ई०) हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ वैयाकरण तथा साहित्यकार। इनका जन्म सागर में सन् १८७५ ई० (सं० १९३२ वि०) में हुआ। १७ वर्ष की आयु में ये एंट्रेंस की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। १९२० ई० में लगभग एक वर्ष तक इन्होंने इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित 'बालसखा' तथा 'सरस्वती' पत्रिकाओं का संपादन किया। ये बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे और अनेक भाषाओं का इन्हें अच्छा ज्ञान था। 'सत्य', 'प्रेम', 'पार्वती और यशोदा' (उपन्यास), 'भौमासुर वध', 'विनय पचासा' (व्रजभाषा काव्य), 'पद्य पुष्पावली', 'सुदर्शन' (पौराणिक नाटक) तथा 'हिंदुस्तानी शिष्टाचार' इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। किंतु गुरु जी की असाधारण ख्याति उनकी उपर्युक्त साहित्यिक कृतियों से नहीं, बल्कि उनके 'हिंदी व्याकरण' के कारण है जिसका प्रकाशन सर्वप्रथम नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने अपनी

लेखमाला में सं० १६७४ से सं० १६७६ वि० के बीच किया और जो सं० १६७७ (१६२० ई०) में पहली बार सभा से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। यह हिंदी भाषा का सबसे बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण माना जाता है। कतिपय विदेशी भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए हैं। संक्षिप्त हिंदी व्याकरण मध्य हिंदी व्याकरण और प्रथम हिंदी व्याकरण इसी के संक्षिप्तीकृत संस्करण हैं। गुरु जी ने अपने जीवनकाल में कई बार इसमें कुछ विशेष महत्वपूर्ण परिष्कार किए। संप्रति इसका दसवाँ संस्करण प्रचलित है। गुरु जी का निधन १६ नवंबर, १६४७ ई० को जबलपुर में हुआ। (कैं० चं० श०)

कामदेव भारतीय गाथाशास्त्र के अनुसार कामदेव एक देवता की संज्ञा है। इसकी पत्नी का नाम रति है। कहीं कहीं पुराणों में रति और प्रीति दोनों कामदेव की स्त्रियाँ कही गई हैं। मनुष्य की जो रागात्मक वृत्ति है और जो सब प्राणियों को अभिभूत करती है, उसे ही मूल रूप में कामदेव माना गया है। देवों में परिगणित होने के कारण कामदेव इंद्र की सभा का एक सदस्य है। इंद्र जब किसी का तप भंग करना चाहता है तब काम को प्रेरित करता है। उर्वशी, मेनका, रंभा आदि अप्सराएँ काम की विजय के साधन हैं। इनके द्वारा वह समाधि में विघ्न उत्पन्न करता है। ये अप्सराएँ स्त्रीसौंदर्य की प्रतीक हैं। वसंतऋतु और मलयानिल कामदेव के मित्र कहे गए हैं। काम को पुष्पधन्वा और पंचबाण भी कहा गया है। रक्तकमल, अशोक, आम्रमंजरी, नवमल्लिका और नीलोत्पल ये पाँच पुष्प कामदेव के पंचबाण कहे जाते हैं। अथवा संमोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तंभन ये भी कामदेव के पंचशर हैं।

कामदेव की एक संज्ञा अनंग है। कथा यों है कि कामदेव का शरीर शिव की कोपाग्नि में भस्म हो गया था और तब से वह एक वृत्ति या भाव के रूप में जीवित रहा, शरीर के रूप में नहीं। इसीलिये वह मनोज या मनसिज कहलाता है। कालिदास ने 'कुमारसंभव' काव्य में शिव द्वारा मदनदहन का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है। वस्तुतः इस कथा के मूल में काम के विषय में जो भारतीय दर्शन का अभिमत था, उसी की व्याख्या की गई है। यहाँ के तत्वज्ञ काम को सृष्टि का आवश्यक अंग मानते हैं और उसे देवता का संमानित पद दिया गया है। देवता अमर और पवित्र होते हैं; किंतु हम लोक में यह भी देखते हैं कि कामवृत्ति मानव में अनेक कुत्सित और विकृत रूप भी धारण कर लेती है। वह मानव हित की विरोधी है और इसलिये इष्ट नहीं। इस अधम वृत्ति को पवित्र करने या ऊर्ध्वमुखी करने के लिये तपश्चर्या आवश्यक उपाय है। पार्वती की तपश्चर्या और शिव की समाधि इसी ओर संकेत करती है। पार्वती ने शिव को पति रूप में पाना चाहा। उन्हें रूपसौंदर्य का गर्व था और सोचती थीं कि हावभाव से ही शिव को आकृष्ट कर लेंगी। वे हिमालय के देवदारु वन में, जहाँ शिव अखंड तप में लीन थे, गई और उनकी सहायता के लिये देवों ने कामदेव को भी भेजा। उपयुक्त अवसर पर काम ने बाण चलाकर शिव की समाधि को भंग कर दिया। शिव ने अपने नेत्र खोले। पार्वती का रूपप्रदर्शन सामने था ही, पर शिव को आकृष्ट न कर सका। शिव ने सोचा, समाधिभंग का कारण अंतःकरण में नहीं, कहीं बाहर ही होना चाहिए। सामने वृक्ष पर उन्हें कामदेव दिखाई पड़ा। तब उनके तृतीय नेत्र से निकली हुई ज्वाला ने उसे भस्म कर दिया। अपने नेत्रों से इस प्रकार रूप को विफल होते देखकर पार्वती का गर्व खर्व हो गया और उन्होंने भी तपस्या द्वारा शिव को पाने का मार्ग अपनाया। इसमें उन्हें सफलता मिली। इस कथा का तात्पर्य आध्यात्मिक है और वह यह कि काम की अधोमुखी वृत्ति को तपस्या और संयम द्वारा ऊर्ध्वमुखी बनाना आवश्यक है। शिव के मदनदहन से मिलता हुआ अभिप्राय बुद्ध के मारधर्षण की कथा में है। मार को पराजित करके ही बुद्ध संबोधि की सिद्धि तक पहुँच सके।

प्राचीन भारतीय जीवन में कामदेव की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं और कामायतन या कामदेव के मंदिरों में उनकी पूजा होती थी (द्र० चित्र कामदेव)। इस प्रकार का एक मंदिर उज्जयिनी में था जिसका उल्लेख 'मृच्छकटिक' में आया है। बाण ने लिखा है कि राज्यश्री के कौतुकगृह के द्वार पर एक पार्श्व में कामदेव और दूसरे में रति और प्रीति के चित्र अंकित किए गए थे। मथुरा से प्राप्त एक मिट्टी के खिलौने पर कामदेव की मूर्ति उभारी गई है जो हाथ में पाँच पुष्प बाण लिए खड़ा है। उसके पैरों के नीचे एक लेटे हुए पुरुष की मूर्ति है जिसकी पहचान शूर्पक नामक कछुवे से की गई है। लोककथा है कि राजकुमारी कुमुद्वती शूर्पक पर अनुरक्त हो गई पर शूर्पक ने कोई आसक्ति प्रकट न की। तब राजकुमारी ने कामदेव की पूजा की और वह शूर्पक को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हुई। पुराणों की कथा के अनुसार कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव के अवतार थे पर इस रूप में उनकी मूर्ति या चित्र प्राप्त नहीं होता। कामदेव की पूजा का विशेष उत्सव वसंतोत्सव कहलाता था और उस समय स्त्री और पुरुष विशेष समारोह से उनके मंदिर में जाकर उनकी पूजा करते थे। (वा० श० अ०)

कामधेनु एक गाय जो प्राचेतस् दक्षप्रजापति एवं अश्विनी की पुत्री मानी जाती है। महाभारत (आदिपर्व, १८.३७, गीता प्रेस) में उल्लेख है कि समुद्रमंथन से प्राप्त १४ रत्नों में कामधेनु (सुरभि) भी थी। इसी ग्रंथ में अन्यत्र (अनुशासन पर्व, ७७.१७) प्रजापति के सुरभि-गंध-युक्त श्वास से सुरभि (कामधेनु) की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। कामधेनु बड़ी हुई तो इसके थनों से पृथ्वी पर दूध टपकने लगा, जिससे क्षीरसागर की उत्पत्ति हुई। कामधेनु का निवास गोलोक में माना जाता है। गोलोक स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है। ब्रह्मा की उपासना कर कामधेनु ने अमरत्व प्राप्त किया था। कश्यप ऋषि से इसे नंदिनी नामक कन्या हुई थी जो बाद में वसिष्ठ ऋषि की होमधेनु बनी। संसार की समस्त गउओं और बैलों की जननी कामधेनु ही मानी जाती है। कार्तिकेय को इसने एक लाख गायें भेंट दी थीं। कामधेनु की चार पुत्रियाँ चार दिशाओं की प्रतिपालक मानी जाती हैं—१. सुरूपा (पूर्व दिशा), २. हंसिका (दक्षिण दिशा), ३. सुभद्रा (पश्चिम दिशा) तथा ४. सर्वकामदुघा (उत्तर दिशा)। (कैं० चं० श०)

कामपाला मध्य अफ्रीका में यूगांडा राज्य की राजधानी तथा यूगांडा का प्रधान व्यापारिक केंद्र है। यह नगर विक्टोरिया झील के पश्चिमोत्तर तट से सात मील की दूरी पर एवं इंटेबी से २५ मील पूर्वोत्तर ३,६०५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। नगर में विभिन्न प्रकार के शासन संबंधी कार्यालयों की सुंदर इमारतें हैं। नगर के अंदर बहुत सी छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं जिनमें मेंगो पहाड़ी पर ही मेत्सा के राजा के भव्य भवन हैं। कामपाला पहाड़ी के ऊपर एक पुराना किला है जिसको इस समय यूगांडा की कलात्मक रचनाओं तथा वहाँ के आदिवासियों की कृतियों को प्रदर्शित करने के लिये अजायबघर बना दिया गया है। देश की प्रसिद्ध केन्या और यूगांडा रेलवे लाइन, जो मोंबासा से आती है, कामपाला में ही समाप्त होती है। यहाँ पूर्व अफ्रीका के विश्वविद्यालय का एक महाविद्यालय है। सन् १६७० में कामपाला नगर की जनसंख्या ८०,००० तथा बृहत्तर कामपाला की १,७०,००० थी। (ह० ह० सिं०)

कामरान (मीर्ज़ा) बाबर का पुत्र, उसके ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ से छोटा था। बाबर ने उसे अल्पावस्था में ही क़ंधार का राज्य प्रदान कर दिया था। वहाँ उसने बड़ी योग्यता से शासन किया। बाबर ने अपने जीवनकाल में ही यह आदेश दे दिया था कि हुमायूँ तथा कामरान में राज्य का इस प्रकार विभाजन हो कि पाँच भाग कामरान को मिले तो छह भाग हुमायूँ को। इसके अतिरिक्त बाबर की यह भी इच्छा थी कि काबुल ख़ालसे में संमिलित रहे। बाबर की मृत्यु के बाद कामरान मिर्ज़ा ने अपने राज्य को विस्तृत करने का निश्चय कर लिया। उसने अपने छोटे भाई मीर्ज़ा अस्करी को क़ंधार सौंपकर लाहौर की ओर प्रस्थान किया और उसे युक्ति द्वारा जीत लिया। हुमायूँ ने भी संघर्ष उचित न देख उसे काबुल, क़ंधार तथा पंजाब दे दिए। जब हुमायूँ शेरशाह से युद्ध के लिये बंगाल पहुँचा और उसके सबसे छोटे भाई हिंदाल ने विद्रोह करके देहली पर आक्रमण कर दिया तब कामरान भी लाहौर से देहली, फिर आगरे जा पहुँचा। २६ जून, १५३६ ई० को जब हुमायूँ शेरशाह से पराजित होकर आगरा पहुँचा तो कामरान तथा हुमायूँ की भेंट हुई। शेरशाह से युद्ध में मुग़लों की ओर से नेतृत्व के लिये कामरान ने पहले तो असफल प्रयत्न किया फिर वह हुमायूँ का साथ छोड़कर अपनी सेना सहित लाहौर की ओर चल दिया। १७ मई, १५४० ई० को हुमायूँ कन्नौज के युद्ध में पराजित होकर

आगरा होता हुआ काबुल की ओर बढ़ा किंतु अभी वह चिनाब नदी के तट पर ही था कि कामरान तथा अस्करी काबुल की ओर चल दिए और उन्होंने काबुल पर अधिकार जमा लिया। कामरान ने ग़ज़नी आदि अस्करी मीर्ज़ा को दे दिए। तदुपरांत उसने बदख़्शाँ पर आक्रमण कर मीर्ज़ा सुलेमान को अधीनता स्वीकार करने पर विवश कर दिया। हिंदाल को भी, जिसने क़ंधार पर अधिकार कर लिया था, पराजित करके वह अपने साथ ले आया और अस्करी को क़ंधार प्रदान कर दिया। तदुपरांत मीर्ज़ा सुलेमान के विरुद्ध बदख़्शाँ पर पुनः आक्रमण कर मीर्ज़ा सुलेमान तथा उसके पुत्र मीर्ज़ा इब्राहीम को बंदी बना लिया।

१५४५ ई० में हुमायूँ ईरान के शाह तहमास्प सफवी से सहायता लेकर क़ंधार पहुँचा और उसे विजित कर लिया। १७ नवंबर, १५४५ ई० को काबुल भी जीत लिया। कामरान ग़ज़नी होता थट्टा पहुँचा। अगले साल फिर ग़ज़नी और काबुल पर अधिकार कर लिया। हुमायूँ तुरंत काबुल पहुँचा और कई मास के घोर संघर्ष के उपरांत उसने किला विजय कर लिया। कामरान जान छोड़कर लड़ा किंतु उसे सफलता न मिली। भाग्य के अनेक उलटफेर के बाद अंत में उसने हुमायूँ के प्रति १७ अगस्त, १५४८ ई० को आत्मसमर्पण कर दिया। कामरान क्षमायाचना करके हज की अनुमति लेकर बदख़्शाँ से रवाना हुआ किंतु कुछ दूर जाकर लौट आया और २२ अगस्त, १५४८ ई० को हुमायूँ की सेवा में उपस्थित हुआ। हुमायूँ ने उसे क्षमा कर कोलाब की जागीर प्रदान कर दी पर कामरान को इससे भी संतोष न हुआ और उसने फिर विद्रोह कर काबुल पर अधिकार जमा लिया। किंतु हुमायूँ ने पुनः सेना संगठित करके कामरान से काबुल छीन लिया। हुमायूँ ने उसे बार बार क्षमा किया, अंत में भी क्षमा करना चाहा, किंतु अमीरों के अत्यधिक विरोध के कारण उसकी आँखों में सलाई फिरवा कर मक्का चले जाने की अनुमति दे दी (दिसंबर, १५५३ ई०)। वह अपनी पत्नी के साथ मक्का पहुँचा और ५ अक्टूबर, १५५७ ई० को मर गया। कामरान बड़ा अच्छा कवि, वीर, दानी, योग्य शासक एवं कट्टर सुन्नी था।

सं० ग्रं०—(फारसी) बाबरनामा; गुलबदन बेगम : हुमायूँनामा; जौहर : तज़किरतुल वाक़ेआत; बायजीद : तज़किरए हुमायूँ व अकबर; (हिंदी)—सै० अ० अ० रिज़वी : मुग़ल कालीन भारत—बाबर (अलीगढ़, १९६०); मुग़ल कालीन भारत—हुमायूँ (अलीगढ़, १९६१, १९६२ ई०)। (सै० अ० अ० रि०)

कामरून (फ्रेंच) पश्चिमी अफ्रीका में नाइजीरिया तथा फ्रेंच भूमध्यवर्ती अफ्रीका के बीच में स्थित एक राज्य है [क्षेत्रफल ४,७६,००० वर्ग कि० मी०; जनसंख्या ५८,३६,००० (१९७०)]। १९१६ ई० में जर्मन अधीनस्थ कामरून एक संधि के फलस्वरूप ब्रिटिश कामरून [क्षेत्रफल ४,३२,००० वर्ग कि० मी०, जनसंख्या १४,४२,५०० (१९७१)] तथा फ्रेंच कामरून दो भागों में बाँट दिया गया। फ्रेंच कामरून १ जनवरी, सन् १९६० ई० से पूर्ण स्वतंत्र हो गया है। देश का अधिकांश दक्षिणी तथा मध्य भाग पठारी है। औसत ऊँचाई २,००० फुट है। पठारी भाग के उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में पर्वतीय शृंखलाएँ हैं। उत्तर में ऐदामावा तथा मंदारा नामक ऊँचे पर्वत हैं। पश्चिम में कामरून का जाग्रत ज्वालामुखी पर्वत है। यहाँ की नदियों में सनागा, बेनुइ तथा लागोन आदि मुख्य हैं। देश की जलवायु उष्ण कटिबंधीय है। तापक्रम ७५° फा० से अधिक रहता है। वर्षा साल भर होती है। पर्वतीय तथा पठारी भाग जंगलों से ढके हैं।

देश की आर्थिक दशा कृषि तथा जंगलों पर आधारित है। ज्वार, बाजरा, सरघम, मक्का, मूँगफली, केला, नारियल, ककोआ, काफी, कपास तथा रबर यहाँ की मुख्य पैदावार है। पशुपालन का कार्य होता है। यहाँ से काफी, ककोआ, केला, इमारती लकड़ी आदि वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं। आयात होनेवाली वस्तुओं में शराब, गेहूँ, चावल, चीनी तथा मछली मुख्य हैं।

देश की राजधानी याऊंडे (जनसंख्या १९७१ में १,५०,०००) है। दउआला (जनसंख्या १९७१ में ४,५०,०००) देश का प्रधान पत्तन, पुरानी राजधानी तथा सबसे बड़ा औद्योगिक नगर है। सड़कों का विकास उल्लेखनीय है। रेलें कम हैं। (हृ० ह० सिं०)

कामरूप असम का प्राचीन नाम। पुराणों तथा तंत्रों में कामरूप को महापीठस्थान कहा गया है। योगिनीतंत्र में इसका विस्तार करतोया से दिक्करवासिनी तक बताया गया है। तीसरी श० ई० के पूर्व का इतिहास पौराणिक कथा के रूप में प्राप्त होता है, जैसे यहाँ वराह विष्णु तथा पृथ्वी के पुत्र नरकासुर ने एक राजवंश की स्थापना की। सातवीं श० की एक जनश्रुति के अनुसार नरक तथा उसके पुत्र भगदत्त ने पुष्यवर्मा के पूर्व राज किया। पुष्यवर्मा के १२ अधिकारियों के नाम अभिलेखों में प्राप्त होते हैं : पुष्यवर्मा, समुद्रवर्मा (= दत्तदेवी अथवा दत्तवती), बलवर्मा (रत्नवती), कल्याणवर्मा (= गंधर्ववती), गणपतिवर्मा (यज्ञवती), महेंद्रवर्मा (= सुव्रता), नारायणवर्मा (= देववती), मूर्तिवर्मा (विज्ञानवती), चंद्रमुखवर्मा (= भोगवती), स्थितवर्मा (= नयनदेवी अथवा नयनशोभा), सुस्थितवर्मा (= श्यामादेवी अथवा ध्रुवलक्ष्मी)। सुस्थितवर्मा के दो पुत्र सुप्रतिष्ठितवर्मा तथा भास्करवर्मा थे जो हर्ष के समकालीन तथा मित्र थे। हर्ष जब चीनी यात्री को अपने यहाँ भेजने के संबंध में कुपित हो गया था तो मित्र के यहाँ चीनी यात्री, २०,००० हाथी तथा ३०,००० नावें लेकर रवाना हुआ। हर्ष तथा इसमें फिर मित्रता हो गई थी।

भास्करवर्मा ने गौड़ों को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसके बाद कामरूप के इतिहास में एक नए राजवंश का उदय हुआ। भास्करवर्मा के वंश से इसका क्या संबंध था, कहना कठिन है। एक ताम्रपट्ट के अनुसार इस वंश का संस्थापक शालंभ अथवा प्रालंभ था। राजवंश के परिवर्तन के कारण पालों ने सफलतापूर्वक कामरूप पर आक्रमण किया। देवपाल ने वहाँ अपना कृपापात्र स्थापित किया। शालंभ के पुत्र अथवा भतीजे हर्जरवर्मा को महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक कहा गया है। शालंभ के बाद प्रायः २१ नरेशों ने यहाँ लगभग ८०० ई० से १,००० ई० तक राज किया। उसके बाद का इतिहास, अंग्रेजों के आने तक, अव्यवस्थित सा है।

कामरूप का नाम लोकसाहित्य में भरपूर आया है। पश्चिमी प्रदेशों के लोकगीतों में अक्सर ही पत्नी अपने पति को कामरूप, असम या पूर्व बंगाल जाते समय वहाँ की जादुई आकर्षक स्त्रियों से सावधान करती है। उनका विश्वास है कि पश्चिम के पुरुषों को वे स्त्रियाँ जादू से दिन में भेड़ा बनाकर रखती हैं और रात मे उन्हें उनका प्रकृत रूप देकर उनके साथ सहवास करती हैं। शक्तिपूजा का तो यह प्रदेश केंद्र था ही, उसकी राजधानी प्राग्ज्योतिष (आधुनिक गौहाटी) में कामाख्यादेवी का प्रसिद्ध मंदिर भी था जो आज भी वहाँ अवस्थित है। (चं० भा० पां०)

कामरो द्वीप हिंद महासागर में मैडागास्कर द्वीप तथा अफ्रीका महाद्वीप के बीच में स्थित है (स्थिति १२° द० अ० तथा ४५° पू० दे०)। यह द्वीपसमूह फ्रांसीसियों के शासन में है। क्षेत्रफल २,१७० वर्ग कि० मी०, जनसंख्या २,७५,२२७ (१९७०)। इन द्वीपों की संरचना मुख्यरूप से ज्वालामुखी के उद्गारों के ही कारण मानी जाती है। कुछ छोटे छोटे प्रवालों की संरचना के माने जाते हैं। यहाँ के निवासी मुख्य रूप से इस्लाम धर्मावलंबी हैं। कुछ भारतीय तथा यूरोपियन लोग भी हैं। लोगों का मुख्य व्यवसाय जहाजरानी करना तथा निकटवर्ती द्वीपों के बीच व्यापार करना है। इसकी राजधानी मोरोनी है जिसकी अनुमित जनसंख्या ११,५१५ (१९७०) है। द्वीपसमूह में अनेक द्वीप संमिलित हैं जिनमें चार मुख्य हैं :

१. ग्रेट कामरो या अंगाजिया पश्चिम में स्थित सबसे बड़ा द्वीप है। इसका क्षेत्रफल १,१४८ वर्ग कि० मी०; अनुमित जनसंख्या १,२६,२०५ (१९७०) है। इसके दक्षिणी छोर पर करतोला नाम का जाग्रत ज्वालामुखी पहाड़ है। मध्य का भाग लावा से आच्छादित है। मुख्य नगर मोरोनी है जहाँ फ्रांसीसी प्रशासक निवास करता है।

२. अंजोन या जोहन्ना ग्रेट कामरो के दक्षिण-पूर्व में स्थित है।

धरातल का क्रमिक विकास मध्य की तरफ है। मोसामांड इसका मुख्य नगर है।

३. मायोट्टी का क्षेत्रफल ३७४ वर्ग कि० मी०, अनुमित जनसंख्या ३१,६३० (१६७०) है। द्वीप के चारों ओर प्रवाली भित्तियों का जमाव है। धरातल पर्वतीय है। मसापेरे यहाँ का मुख्य केंद्र है।

४. मोहीली—यह द्वीप प्रथमोक्त दो द्वीपों के मध्य में स्थित है। क्षेत्रफल २६० वर्ग कि० मी०, अनुमित जनसंख्या १०,३०० (१६७०) है। धरातल पर्वतीय है। मध्य के भाग की औसत ऊँचाई १,६०० फुट है। फांबुनी तथा नुमाचोआ मुख्य कस्बे हैं।

ग्रेट कामरो द्वीप अनुपजाऊ है। अन्य सभी द्वीपों में धान, मक्का, आलू, कपास, वनीला, खजूर आदि पैदा होते हैं। मुख्य पेशा खेती करना, नाविक का काम तथा मछली पकड़ना है। निवासियों के पास फलों के उद्यान तथा पशुधन भी हैं। (ह० ह० सि०)

कामला (पीलिया) रक्तरस में पित्तरंजक (Bili rubin) नामक एक रंग होता है, जिसके आधिक्य से त्वचा और श्लेष्मिक कला में पीला रंग आ जाता है। इस दशा को कामला या पीलिया (Jaundice) कहते हैं। सामान्यतः रक्तरस में पित्तरंजक का स्तर १.० या इससे कम प्रतिशत होता है, किंतु जब इसकी मात्रा २.५ प्रतिशत से ऊपर हो जाती है तब कामला के लक्षण प्रकट होते हैं। कामला स्वयं कोई रोगविशेष नहीं है, प्रत्युत कई रोगों में पाया जानेवाला एक लक्षण है। यह लक्षण नन्हें नन्हें बच्चों से लेकर ८० साल तक के बूढ़ों में उत्पन्न हो सकता है। वास्तविक रोग का निदान कर सकने के लिये पित्तरंजक का उपापचय (Metabolism) समझना आवश्यक है।

रक्तसंचरण में रक्त के लाल कण नष्ट होते रहते हैं और इस प्रकार मुक्त हुआ हीमोग्लोबिन रेटिकुलो-एंडोथीलियल (Reticulo-endothelial) प्रणाली में विभिन्न मिश्रित प्रक्रियाओं के उपरांत पित्तरंजक के रूप में परिणत हो जाता है, जो विस्तृत रूप से शरीर में फैल जाता है, किंतु इसका अधिक परिमाण प्लीहा में इकट्ठा होता है। यह पित्तरंजक एक प्रोटीन के साथ मिश्रित होकर रक्तरस में संचरित होता रहता है। इसको अप्रत्यक्ष पित्तरंजक कहते हैं। यकृत के सामान्यतः स्वस्थ अणु इस अप्रत्यक्ष पित्तरंजक को ग्रहण कर लेते हैं और उसमें ग्लूकोरॉनिक अम्ल मिला देते हैं। यह मिश्रित पित्तरंजक, जिसे साधारणतः प्रत्यक्ष पित्तरंजक कहते हैं यकृत की कोशिकाओं में से गुजरता हुआ पित्तमार्ग द्वारा प्रत्यक्ष पित्तरंजक के रूप में छोटी आँतों की ओर जाता है। आँतों में यह पित्तरंजक यूरोबिलिनोजन में परिवर्तित होता है जिसका कुछ अंश शोषित होकर रक्तरस के साथ जाता है और कुछ भाग, जो विष्ठा को अपना भूरा रंग प्रदान करता है, विष्ठा के साथ शरीर से निकल जाता है।

यदि पित्तरंजक की विभिन्न उपापचयिक प्रक्रियाओं में से किसी में भी कोई दोष उत्पन्न हो जाता है तो पित्तरंजक की अधिकता हो जाती है, जो कामला का कारण होती है। रक्त में लाल कणों का अधिक नष्ट होना तथा उसके परिणामस्वरूप अप्रत्यक्ष पित्तरंजक का अधिक बनना बच्चों में कामला, नवजात शिशु में रक्त-कोशिका-नाश तथा अन्य जन्मजात, अथवा अर्जित, रक्त-कोशिका-नाश-जनित रक्ताल्पता इत्यादि रोगों का कारण होता है। जब यकृत की कोशिकाएँ अस्वस्थ होती हैं तब भी कामला हो सकता है, क्योंकि वे अपना पित्तरंजक मिश्रण का स्वाभाविक कार्य नहीं कर पातीं और यह विकृति संक्रामक यकृतप्रदाह, रक्तरसीय यकृतप्रदाह और यकृत का पथरा जाना (कड़ा हो जाना, Cirrhosis) इत्यादि प्रसिद्ध रोगों का कारण होती है। अंततः यदि पित्तमार्ग में अवरोध होता है तो पित्तप्रणाली में अधिक प्रत्यक्ष पित्तरंजक का संग्रह होता है और यह प्रत्यक्ष पित्तरंजक पुनः रक्त में शोषित होकर कामला की उत्पत्ति करता है। अग्न्याशय, सिर, पित्तमार्ग तथा पित्तप्रणाली के कैंसरों में, पित्ताश्मरी की उपस्थिति में, जन्मजात पैत्तिक संकोच और पित्तमार्ग के विकृत संकोच इत्यादि शल्य रोगों में मार्गावरोध यकृत से बाहर होता है। यकृत के आंतरिक रोगों में यकृत के भीतर की वाहिनियों में संकोच होता है, अतः अप्रत्यक्ष पित्तरंजक के अतिरिक्त रक्त में प्रत्यक्ष पित्तरंजक का आधिक्य हो जाता है। (शि० शं० मि०)

प्रत्येक दशा में रोगी की आँख (सफेदवाला भाग Sclera) की त्वचा पीली हो जाती है, साथ ही साथ रोगविशेष का भी लक्षण मिलता है। वैसे सामान्यतः रोगी की तिल्ली बढ़ जाती है, पाखाना भूरा या मिट्टी के रंग का, ज्यादा तथा चिकना होता है। भूख कम लगती है। मुँह में धातु का स्वाद बना रहता है। नाड़ी की गति कम हो जाती है। विटामिन 'के' का शोषण ठीक से न हो पाने के कारण तथा रक्तसंचार को अवरुद्ध करनेवाले अन्य तत्वों की कमी हो जाने से भी कभी कभी रोगी को रक्तस्राव (haemorrhage) होने लगता है। पित्तमार्ग में काफी समय तक अवरोध रहने से यकृत की कोशिकाएँ नष्ट होने लगती हैं। उस समय रोगी शिथिल, अर्धविक्षिप्त और कभी कभी पूर्ण विक्षिप्त हो जाता है तथा मर भी जाता है।

कामला के उपचार के पूर्व रोग के कारण का पता लगाया जाता है। इसके लिये रक्त की जाँच, पाखाने की जाँच तथा यकृत की कार्यशक्ति की जाँच करते हैं। इससे यह पता लगता है कि यह रक्त में लाल कणों के अधिक नष्ट होने से है या यकृत की कोशिकाएँ अस्वस्थ हैं अथवा पित्तमार्ग में अवरोध होने से है।

इसकी चिकित्सा में उत्पादक कारणों का निर्मूलन किया जाता है जिसके लिये रोगी को अस्पताल में भरती कराना आवश्यक हो जाता है। रोगी के खान पान के संबंध में चिकित्सों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ मिर्च, मसाला, तेल, घी, प्रोटीन पूर्णरूपेण बंद कर देते हैं। कुछ लोगों के अनुसार किसी भी खाद्यसामग्री को पूर्णरूपेण न बंद कर, रोगी के ऊपर ही छोड़ दिया जाता है कि जो वह पसंद करे, खा सकता है। ओषधि साधारणतः टेट्रासाइक्लीन तथा नियोमाइसिन दी जाती है। कभी कभी कार्टिकोस्टिरायड (Corticosteroid) का भी प्रयोग किया जाता है जो यकृत में फ़ाइब्रोसिस और अवरोध उत्पन्न नहीं होने देता। यकृत अपना कार्य ठीक से संपादित करे, इसके लिये दवाएँ दी जाती हैं जैसे लिव–५२, हिपालिव, लिवोमिन इत्यादि। कामला के पित्तरंजक को रक्त से निकालने के लिये काइनेटोमिन (Kinetomin) का प्रयोग किया जाता है। कामला के उपचार में लापरवाही करने से जब रोग पुराना हो जाता है तब एक से एक बढ़कर नई परेशानियाँ उत्पन्न होती जाती हैं और रोगी विभिन्न स्थितियों से गुजरता हुआ कालकवलित हो जाता है। (कृ० कु० पां०)

कामशास्त्र मानव जीवन के लक्ष्यभूत चार पुरुषार्थों में 'काम' अन्यतम पुरुषार्थ माना जाता है। संस्कृत भाषा में उससे संबद्ध विशाल साहित्य विद्यमान है। इस शास्त्र का आधारपीठ है महर्षि वात्स्यायनरचित **कामसूत्र**। सूत्र शैली में निबद्ध, वात्स्यायन का यह महनीय ग्रंथ विषय की व्यापकता और शैली की प्रांजलता में अपनी समता नहीं रखता। महर्षि वात्स्यायन इस शास्त्र के प्रतिष्ठाता ही माने जा सकते हैं, उद्भावक नहीं, क्योंकि उनसे बहुत पहले इस शास्त्र का उद्भव हो चुका था। कहा जाता है, प्रजापति ने एक लाख अध्यायों में एक विशाल ग्रंथ का प्रणयन कर कामशास्त्र का आरंभ किया, परंतु कालांतर में मानवों के कल्याण के लिये इसके संक्षेप प्रस्तुत किए गए। पौराणिक परंपरा के अनुसार महादेव की इच्छा से 'नंदी' ने एक सहस्र अध्यायों में इसका सार अंश तैयार किया जिसे और भी उपयोगी बनाने के लिये उद्दालक मुनि के पुत्र **श्वेतकेतु** ने पाँच सौ अध्यायों में उसे संक्षिप्त बनाया। इसके अनंतर पांचाल **बाभ्रव्य** ने तृतीयांश में इसको और भी संक्षिप्त किया—डेढ़ सौ अध्यायों तथा सात अधिकरणों में, कालांतर में सात महनीय आचार्यों ने प्रत्येक अधिकरण के ऊपर सात स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण किया—(१) **नारायण** ने ग्रंथ बनाया साधारण अधिकरण पर, (२) **सुवर्णनाभ** ने सांप्रयोगिक पर, (३) **घोटकमुख** ने कन्या संप्रयुक्तक पर, (४) **गोनर्दीय** ने भार्याधिकारिक पर, (५) **गोणिकापुत्र** ने पारदारिक पर, (६) **दत्तक** ने वैशिक पर तथा (७) **कुचिमार** ने औपनिषदिक पर। इस पृथक् रचना का फल शास्त्र के प्रचार के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ और क्रमशः यह उच्छिन्न होने लगा। फलतः वात्स्यायन ने इन सातों अधिकरण ग्रंथों का सारांश एकत्र प्रस्तुत किया और इस विशिष्ट प्रयास का परिणत फल **वात्स्यायन कामसूत्र** हुआ। इस प्रकार वर्तमान कामसूत्र को शताब्दियों

के साहित्यिक सदुद्योगों का पर्यवसान समझना चाहिए, यद्यपि परंपरया घोषित कामशास्त्रीय ग्रंथों के इस अनंत प्रणयन के विस्तार को स्वीकार करना कठिन है।

कामशास्त्र के इतिहास को हम तीन कालविभागों में बाँट सकते हैं—पूर्ववात्स्यायन काल, वात्स्यायन काल तथा पश्चाद्वात्स्यायन काल। पूर्ववात्स्यायन काल के आचार्यों की रचनाओं का विशेष पता नहीं चलता। बाभ्रव्य के मत का निर्देश बड़े आदर के साथ वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ में किया है। घोटकमुख और गोनर्दीय के मत कामशास्त्र और अर्थशास्त्र में उल्लिखित मिलते हैं। केवल दत्तक और कुचिमार के ग्रंथों के अस्तित्व का परिचय हमें भली भाँति उपलब्ध है। आचार्य दत्तक की विचित्र जीवनकथा कामसूत्र की जयमंगला टीका में है। उनका ग्रंथ 'वैशिक शास्त्र' सूत्रात्मक था जो ओंकार से आरंभ होनेवाला बतलाया जाता है (शूद्रक-पद्मप्राभृतक भाण, श्लोक २४)। कुचिमार रचित तंत्र के पूर्णतः उपलब्ध न होने पर भी हम उसके विषय से परिचित हैं। इस तंत्र में कामोपयोगी औषधों का वर्णन है जिसका संबंध बृंहण, लेपन, वश्य आदि क्रियाओं से है। 'कुचिमारतंत्र' का हस्तलेख मद्रास से उपलब्ध हुआ है जिसे ग्रंथकार 'उपनिषद्' का नाम देता है और जिस कारण उसमें प्रतिपादित अधिकरण 'औपनिषदिक' नाम से प्रख्यात हुआ।

कामसूत्र—वात्स्यायन का यह ग्रंथ सूत्रात्मक है। यह सात अधिकरणों, ३६ अध्यायों तथा ६४ प्रकरणों में विभक्त है। इसमें चित्रित भारतीय सभ्यता के ऊपर गुप्त युग की गहरी छाप है, उस युग का शिष्ट-सभ्य व्यक्ति 'नागरक' के नाम से यहाँ प्रख्यात है। उसके रहने का ढंग, मनोविनोद के साधन, दिनचर्या, अध्ययन, अध्यवसाय—इन सब विषयों का जीता जागता चित्र इतनी सुंदरता से यहाँ दिया गया है कि कामसूत्र भारतीय समाजशास्त्र का एक मान्य ग्रंथरत्न बन गया है। ग्रंथ के प्रणयन का उद्देश्य है लोकयात्रा का निर्वाह, न कि राग की अभिवृद्धि। इस तात्पर्य की सिद्धि के लिये वात्स्यायन ने उग्र समाधि तथा ब्रह्मचर्य का पालन कर इस ग्रंथ की रचना की—

तदेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना।
विहितं लोकयात्रार्थं न रागार्थोऽस्य संविधिः॥
(कामसूत्र, सप्तम अधिकरण, श्लोक ५७)

ग्रंथ सात अधिकरणों में विभक्त है। प्रथम अधिकरण (साधारण) में शास्त्र का समुद्देश तथा नागरक की जीवनयात्रा का रोचक वर्णन है। द्वितीय अधिकरण (सांप्रयोगिक) रतिशास्त्र का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। पूरे ग्रंथ में यह सर्वाधिक महत्वशाली खंड है जिसके दस अध्यायों में रतिक्रीडा, आलिंगन, चुंबन आदि कामक्रियाओं का व्यापक और विस्तृत प्रतिपादन है। तृतीय अधिकरण (कन्यासंप्रयुक्तक) में कन्या का वरण प्रधान विषय है जिससे संबद्ध विवाह का भी उपादेय वर्णन यहाँ किया गया है। चतुर्थ अधिकरण (भार्याधिकारिक) में भार्या का कर्तव्य, सपत्नी के साथ उसका व्यवहार तथा राजाओं के अंतःपुर के विशिष्ट व्यवहार क्रमशः वर्णित हैं। पंचम अधिकरण (पारदारिक) परदारा को वश में लाने का विशद वर्णन करता है जिसमें दूती के कार्यों का एक सर्वांगपूर्ण चित्र हमें यहाँ उपलब्ध होता है। षष्ठ अधिकरण (वैशिक) में वेश्याओं के आचरण, क्रियाकलाप, धनिकों को वश में करने के हथकंडे आदि वर्णित हैं। सप्तम अधिकरण (औपनिषदिक) का विषय वैद्यक शास्त्र से संबद्ध है। यहाँ उन औषधों का वर्णन है जिनका प्रयोग और सेवन करने से शरीर में दोनों वस्तुओं की. शोभा और शक्ति की, विशेष अभिवृद्धि होती है। इन उपायों को वैद्यक शास्त्र में 'वृष्ययोग' कहा गया है।

रचना की दृष्टि से कामसूत्र कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के समान है—चुस्त, गंभीर, अल्पकाय होने पर भी विपुल अर्थ से मंडित। दोनों की शैली समान ही है—सूत्रात्मक; रचना के काल में भले ही अंतर है, अर्थशास्त्र मौर्यकाल का और कामसूत्र गुप्तकाल का है :

कामसूत्र के ऊपर तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—(१) जयमंगला प्रणेता का नाम यथार्थतः यशोधर है जिन्होंने वीसलदेव (१२४३–६१) के राज्यकाल में इसका निर्माण किया। (२) कंदर्पचूडामणि बघेलवंशी राजा रामचंद्र के पुत्र वीरसिंहदेव रचित पद्यबद्ध टीका (रचनाकाल सं० १६३३; १५७७ ई०)। (३) कामसूत्रव्याख्या—भास्कर नरसिंह नामक काशीस्थ विद्वान् द्वारा १७८८ ई० में निर्मित टीका। इनमें प्रथम दोनों प्रकाशित और प्रसिद्ध हैं, परंतु अंतिम टीका अभी तक अप्रकाशित है।

पश्चाद्वात्स्यायन काल—मध्ययुग के लेखकों ने कामशास्त्र के विषय में अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। इनका मूल आश्रय वात्स्यायन का ही ग्रंथरत्न है और रतिक्रीड़ा के विषय में नवीन तथ्य विशेष रूप से निविष्ट किए गए हैं। ऐसे ग्रंथकारों में कतिपय की रचनाएँ ख्यातिप्राप्त हैं—(क) **पद्मश्री**—'नागरसर्वस्व'। ग्रंथकार बौद्ध है जो दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत' का निर्देश करता है और 'शार्ङ्गधरपद्धति' में स्वयंनिर्दिष्ट है। इसलिये इसका समय दशम शती का अंत मानना चाहिए। (ख) कल्याणमल्ल—अनंगरंग। अवध के किसी मुसलमान नवाब को प्रसन्न करने के लिये यह लिखा गया है। (ग) कोक्कोक—रतिरहस्य। पारिभद्र के पौत्र तथा तेजोक के पुत्र कोक्कोक की यह रचना कामसूत्र का सुंदर सुबोध सारांश प्रस्तुत करती है। राणा कुंभकर्ण द्वारा गीत-गोविंद की टीका में उधृत होने के कारण इसका समय १३वीं शती से पहले नहीं हो सकता। इसी विद्वान् का नाम सर्वसाधारण में भ्रष्ट होकर 'कोका पंडित' पड़ गया है तथा उनकी रचना 'कोकशास्त्र' के नाम से प्रख्यात हो गई है। (घ) कविशेखर **ज्योतिरीश्वर**—पंचसायक। अनेक प्राचीन कामशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर निर्मित यह ग्रंथ पर्याप्त लोकप्रिय रहा है।

इन बहुशः प्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त कामशास्त्र की अनेक अप्रकाशित रचनाएँ उपलब्ध हैं—**हरिहर** का रतिरहस्य (या शृंगारदीपिका); विजयनगर के राजा **प्रौढदेवराय** (१४२२–४८ ई०) की रतिरत्नदीपिका; तंजोर के राजा **शाहजी** (१६८४–१७१०) की शृंगारमंजरी; **अनंत** की कामसुधा, **मीननाथ** की स्मरदीपिका, **चित्रधर** का शृंगारसार, आदि। इन ग्रंथों की रचना से इस शास्त्र की व्यापकता और लोकप्रियता का पता चलता है।

सं०ग्रं०—डा० आर० शिमट : बाइत्रेगे सुर इन्दिशे इरोतिक (जर्मन ग्रंथ; लाइपज़िग, १६११)। (ब० उ०)

कामा

कामा यूरोपीय रूस में बहनेवाली वोल्गा नदी की मुख्य शाखा है। यह यूराल पर्वत के पश्चिमी पादप्रदेश में मोलोटोव नगर के पश्चिम से निकलती है। क्रमानुसार उत्तर, पूर्व तथा दक्षिण की ओर मुड़कर मोलोटोव पहुँचती है। फिर १,२०० मील दक्षिण-पश्चिम बहकर कज़ान के निकट वोल्गा में गिरती है। यहीं संगम प्राचीन तातार राज्य का केंद्र था। नहर द्वारा कामा का संबंध उत्तरी द्वीना से हो जाने के कारण यूराल प्रदेश से बाल्टिक सागर तक यातायात का एक महत्वपूर्ण मार्ग खुल गया है। गर्मियों में मोलोटोव तक बड़े जलयान आ सकते हैं। मोलोटोव के निकट कामा के जल से विद्युत् उत्पादन भी होता है। (प्रे० चं० अ०)

कामाक्षी, कामाख्या

कामाक्षी, कामाख्या देवी अथवा शक्ति के प्रधान नामों में से एक। पुराणों के अनुसार पिता दक्ष के यज्ञ में पति शिव का अपमान होने के कारण सती हवनकुंड में ही कूद पड़ी थीं जिसके शरीर को, कहते है, शिव कंधे पर दीर्घकाल तक डाले फिरते रहे। सती के अंग जहाँ जहाँ गिरे वहाँ वहाँ शाक्त पीठ बन गए जो शाक्त तथा शैव भक्तों के परम तीर्थ हुए। इन्हीं पीठों में से एक—कामरूप असम में स्थापित हुआ, जो आज की गोहाटी के सामने कामाख्या नामक पहाड़ी पर कायम है। समूचे असम और पूर्वोत्तर बंगाल में शक्ति अथवा कामाक्षी की पूजा का बड़ा माहात्म्य है। पश्चिमी भारत में जो कामरूप की नारी शक्ति के अनेक अलौकिक चमत्कारों की बात लोकसाहित्य में कही गई है, उसका आधार इस कामाक्षी का महत्व ही है। कामरूप का अर्थ ही है इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, और विश्वास है कि असम की नारियाँ चाहे जिसको अपनी इच्छा के अनुकूल रूप में बदल देती थीं। असम के पूर्वी भाग में अत्यंत प्राचीन काल से नारी

की शक्ति की अर्चना हुई है। महाभारत में उस दिशा के स्त्रीराज्य का उल्लेख हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि मातृसत्ताक परंपरा का कोई न कोई रूप वहाँ था जो वहाँ की नागा आदि जातियों में आज भी बना है। ऐसे वातावरण में देवी का महत्व चिरस्थायी होना स्वाभाविक ही था और जब उसे शिव की पत्नी मान लिया गया तब शाक्त संप्रदाय को सहज ही शैव शक्ति की पृष्ठभूमि और मर्यादा प्राप्त हो गई। फिर जब वज्रयानी प्रज्ञा-पारमिता और शक्ति एक कर दी गई तब तो शाक्त गौरव का और भी प्रसार हो गया। उस शाक्त विश्वास का केंद्र गोहाटी की कामाख्या पहाड़ी का यह कामाक्षी पीठ है। कामाक्षी की कथा का उल्लेख कालिका पुराण में विस्तृत रूप से हुआ है। (प० उ०)

कामायनी यह आधुनिक छायावादी युग का सर्वोत्तम और प्रतिनिधि हिंदी महाकाव्य है। जयशंकर 'प्रसाद' की यह अंतिम काव्य रचना १९३६ ई० में प्रकाशित हुई, परंतु इसका प्रणयन प्रायः ७-८ वर्ष पूर्व ही प्रारंभ हो गया था। चिंता से प्रारंभ कर आनंद तक १५ सर्गों के इस महाकाव्य में मानव मन की विविध अंतर्वृत्तियों का क्रमिक उन्मीलन इस कौशल से किया गया है कि मानव सृष्टि के आदि से अब तक के जीवन के मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक विकास का इतिहास भी स्पष्ट हो जाता है।

मानव के अग्रजन्मा देव निश्चिंत जाति के जीव थे। किसी भी प्रकार की चिंता न होने के कारण वे 'चिर-किशोर-वय' तथा 'नित्यविलासी' देव आत्म-मंगल-उपासना में ही विभोर रहते थे। प्रकृति यह अतिचार सहन न कर सकी और उसने अपना प्रतिशोध लिया। भीषण जलप्लावन के परिणामस्वरूप देवसृष्टि का विनाश हुआ, केवल मनु जीवित बचे। देवसृष्टि के विध्वंस पर जिस मानव जाति का विकास हुआ उसके मूल में थी चिंता जिसके कारण वह जरा और मृत्यु का अनुभव करने को बाध्य हुई। चिंता के अतिरिक्त मनु में दैवी और आसुरी वृत्तियों का भी संघर्ष चल रहा था जिसके कारण उनमें एक ओर आशा, श्रद्धा, लज्जा और इड़ा का आविर्भाव हुआ तो दूसरी ओर कामवासना, ईर्षा और संघर्ष की भी भावना जगी। इन विरोधी वृत्तियों के निरंतर घात-प्रतिघात से मनु में निर्वेद जगा और श्रद्धा के पथप्रदर्शन से यही निर्वेद क्रमशः दर्शन और रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर अंत में आनंद की उपलब्धि का कारण बना। यह चिंता से आनंद तक मानव के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम है। साथ ही मानव के आखेटक रूप से प्रारंभ कर श्रद्धा के प्रभाव से पशुपालन, कृषक जीवन और इड़ा के सहयोग से सामाजिक और औद्योगिक क्रांति के रूप में भौतिक विकास एवं अंत में आध्यात्मिक शांति की प्राप्ति का उद्योग मानव के सांस्कृतिक विकास के विविध सोपान हैं। इस प्रकार कामायनी मानव जाति के उद्भव और विकास की कहानी है।

प्रसाद ने इस काव्य के प्रधान पात्र मनु और कामपुत्री कामायनी श्रद्धा को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में माना है, साथ ही जलप्लावन की घटना को भी एक ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किया है। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम कांड के आठवें अध्याय से जलप्लावन संबंधी उल्लेखों का संकलन कर प्रसाद ने इस काव्य का कथानक निर्मित किया है, साथ ही उपनिषद् और पुराणों में मनु और श्रद्धा का जो रूपक दिया गया है, उन्होंने उसे भी अस्वीकार नहीं किया, वरन् कथानक को ऐसा स्वरूप प्रदान किया जिसमें मनु, श्रद्धा और इड़ा के रूपक की भी संगति भली भाँति बैठ जाय। परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि इन चरित्रों के रूपक का निर्वाह ही अधिक सुंदर और सुसंयत रूप में हुआ, ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में वे पूर्णतः एकांगी और व्यक्तित्वहीन हो गए हैं।

मनु मन के समान ही अस्थिरमति हैं। पहले श्रद्धा की प्रेरणा से वे तपस्वी जीवन त्याग कर प्रेम और प्रणय का मार्ग ग्रहण करते हैं, फिर असुर पुरोहित आकुलि और किलात के बहकावे में आकर हिंसावृत्ति और स्वेच्छाचरण के वशीभूत हो श्रद्धा का सुख-साधन-निवास छोड़ झंझा समीर की भाँति भटकते हुए सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं; श्रद्धा के प्रति मनु के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध काम का अभिशाप सुन हताश हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और इड़ा के संसर्ग से बुद्धि की शरण में जा भौतिक विकास मार्ग अपनाते हैं। वहाँ भी संयम के अभाव के कारण इड़ा पर अत्याचार कर बैठते हैं और प्रजा से उनका संघर्ष होता है। इस संघर्ष में पराजित और प्रकृति के रुद्र प्रकोप से विक्षुब्ध मनु जीवन से विरक्त हो पलायन कर जाते हैं और अंत में श्रद्धा के पथप्रदर्शन में उसका अनुसरण करते हुए आध्यात्मिक आनंद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रद्धा—आस्तिक्य भाव—तथा इड़ा—बौद्धिक क्षमता—का मनु के मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसका सुंदर विश्लेषण इस काव्य में मिलता है।

काव्य रूप की दृष्टि से कामायनी चिंतनप्रधान है, जिसमें कवि ने मानव को एक महान् संदेश दिया है। 'तप नहीं, केवल जीवनसत्य' के रूप में कवि ने मानव जीवन में प्रेम की महत्ता घोषित की है। यह जगत् कल्याणभूमि है, यही श्रद्धा की मूल स्थापना है। इस कल्याणभूमि में प्रेम ही एकमात्र श्रेय और प्रेय है। इसी प्रेम का संदेश देने के लिये कामायनी का अवतार हुआ है। प्रेम मानव और केवल मानव की विभूति है। मानवेतर प्राणी, चाहे वे चिरविलासी देव हों, चाहे देह और प्राण की पूजा में निरत असुर, दैत्य और दानव हों, चाहे कलाप्रिय किन्नर और गंधर्व हों, चाहे पशु और पक्षी हों, प्रेम की कला और महिमा वे नहीं जानते, प्रेम की प्रतिष्ठा केवल मानव ने की है। परंतु इस प्रेम में सामरस्य की आवश्यकता है। समरसता के अभाव में यह प्रेम उच्छृंखल प्राण-वासना का रूप ले लेता है। मनु के जीवन में इस सामरस्य के अभाव के कारण ही मानव प्रजा को काम का अभिशाप सहना पड़ रहा है। भेद-भाव, ऊँच नीच की प्रवृत्ति, आडंबर और दंभ की दुर्भावना सब इसी सामरस्य के अभाव से उत्पन्न होती हैं जिससे जीवन दुःखमय और अभिशाप-ग्रस्त हो जाता है। कामायनी में इसी कारण समरसता का आग्रह है। यह समरसता द्वंद्व भावना में सामंजस्य उपस्थित करती है। संसार में द्वंद्वों का उद्गम शाश्वत तत्व है—फूल के साथ काँटे, भाव के साथ अभाव, सुख के साथ दुःख और रात्रि के साथ दिन नित्य लगा ही रहता है। मानव इनमें अपनी रुचि के अनुसार एक को चुन लेता है, दूसरे को छोड़ देता है और यही उसके विषाद का कारण है। मानव के लिये दोनों को स्वीकार करना आवश्यक है, किसी एक को छोड़ देने से काम नहीं चलता। यही द्वंद्वों की समन्वय स्थिति ही सामरस्य है। प्रसाद ने हृदय और मस्तिष्क, भक्ति और ज्ञान, तप, संयम और प्रणय, प्रेम, इच्छा, ज्ञान और क्रिया सबके समन्वय पर बल दिया है।

कला की दृष्टि से कामायनी छायावादी काव्यकला का सर्वोत्तम प्रतीक माना जा सकता है। चित्तवृत्तियों का कथानक के पात्र के रूप में अवतरण इस काव्य की अन्यतम विशेषता है। और इस दृष्टि से लज्जा, सौंदर्य, श्रद्धा और इड़ा का मानव रूप में अवतरण हिंदी साहित्य की अनुपम निधि है। (श्री० कृ० ला०)

कामेट हिमालय पर्वत की एक चोटी है जो कुमाऊँ खंड में सतलज के दक्षिण में स्थित है। यह चोटी सिवालिक ललाट (फ़्रांट) से उत्तर-पूर्व ३० मील की दूरी पर है। अलकनंदा की दोनों आदि शाखाओं का उद्गम इस चोटी के क्रमशः दाहिनी और बाईं ओर से होता है। इसकी ऊँचाई समुद्र से २५,४४७ फुट है। इसके आसपास का दृश्य बड़ा मनोरम है। (मु० प्र० सि०)

कॉमेडी सुखांत नाट्य रचनाएँ हैं जिनके कथानक आनंद, मनोरंजन और हास्य के सहारे विकसित होते हैं। पात्रों के कार्यों और कथनों से भी आनंद की ही उपलब्धि होती है। कॉमेडी का जन्म प्राचीन यूनान में उल्लास के वातावरण में हुआ तथा प्रारंभिक अवस्था में उसमें संगीत, अभिनय और उपहास का अनुपम संमिश्रण होता था। मदिरा के देवता दियोनिसस के उपासक उन्मत्त होकर नृत्य और गान द्वारा अपने हृदय के भाव व्यक्त करते तथा अपनी श्रद्धा अर्पित करते थे। जलूस बनाकर वे इधर उधर घूमते थे और न केवल पारस्परिक विनोद में संलग्न रहते थे बल्कि राह में मिलनेवालों का उपहास भी करते थे। इसी भाँति कॉमेडी का आविर्भाव हुआ। उसका विकास द्रुत गति से हुआ। एरिस्टोफ़ेनीज़ के सुखांत नाटकों में यूनानी कॉमेडी का विशिष्ट रूप द्रष्टव्य है।

सिसरो, होरेस प्रभृति रोमन विचारकों ने कॉमेडी के स्वरूप और प्रयोजन पर प्रकाश डाला तथा प्लातस और तेरेन्स ने यथार्थ और व्यंग्य

को मिलाकर अनेक उत्कृष्ट कॉमडियों की रचना की। मध्ययुग में कामेडी शब्द अत्यंत विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता था। उससे नाटयरचनाओं के अतिरिक्त सुखांत पद्यबद्ध कथाओं का भी बोध होता था। इसका प्रमुख उदाहरण है दांते विरचित 'ला कामेदिया दीवीनें'। नवजागरण के युग में पुन: कॉमेडी का सीधा संबंध नाटयसाहित्य और रंगशाला से स्थापित हुआ तथा प्राचीन शास्त्रीय नाटयरचनाओं का प्रचलन बढा। तत्पश्चात् शास्त्रीय तथा देशज प्रभावों के संयोग से एक नवीन प्रकार की कॉमेडी की सृष्टि हुई जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण शेक्सपियर के नाटकों में मिलता है। यह रोमैंटिक कॉमेडी कल्पना और भावना पर आधृत थी तथा पूर्वनिर्धारित नियमों की अवहेलना करती थी। इसकी प्रतिक्रिया में शीघ्र ही क्लासिकल कॉमेडी का पुनरुत्थान हुआ और बेन जान्सन ने उसका वह रूप प्रस्तुत किया जिसे 'कामडी आव ह्यूमर्स' कहते हैं। इसमें मानव स्वभाव की दुर्बलताओं का अतिरंजित चित्रण यथार्थ जीवन की पृष्ठभूमि में हुआ है। आगे चलकर मोलियर, इथरिज, कांग्रीव आदि ने कृत्रिम उच्चवर्गीय सामाजिक जीवन को आधार बनाकर उन नाटकों की रचना की जिन्हें 'कॉमेडी ऑव मैनर्स' कहते हैं। इन सुखांत नाटकों में कभी कभी अतिशय अश्लीलता मिलती है जो अनेक पाठकों और दर्शकों को अरुचिकर प्रतीत होती है। १८वीं शताब्दी में ऐसी भावनाप्रधान तथा नैतिकतासंपन्न कॉमेडियों की रचना हुई जिनका नाम 'सेंटिमेंटल कॉमेडी' पड गया है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रांस तथा स्पेन में रोमैंटिक कॉमेडी का चरमोत्कर्ष हुआ और प्राय: तभी से यूरोप और अमरीका में ऐसी म्यूजिकल कॉमेडी का प्रचलन भी बढने लगा जिसमें संगीत और परिहास का अनियंत्रित उपयोग होता है। आधुनिक काल में कॉमेडी की अनेक विशेषताएँ गंभीर समस्यामूलक नाटकों में समाविष्ट हो गई है तथा अनेक ऐसे सुखांत नाटक लिखे गए हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध कॉमेडी लेखन के पुराने आदर्शों से नहीं है। तब भी हम यह नहीं कह सकते कि वर्तमान युग में कॉमेडी ने विशेष उन्नति की है अथवा उसका कोई नवीन चमत्कारपूर्ण रूप प्रकट हुआ है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि कॉमेडी का सीधा संबंध मनोरंजन और हास्य से है। कॉमेडी का यह प्रयोजन कभी भुलाया नहीं जा सकता। किंतु उच्च कोटि की कॉमेडी में मनोरंजन के अतिरिक्त एक गंभीर अभिप्राय भी छिपा रहता है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में कामेडी को मानव जीवन में मिलनेवाली कुरूपता तथा जीवन के हास्यास्पद व्यापारों का ऐसा अनुकरण माना है जिसमें दूसरों को पीडा पहुचाने के उद्देश्य का नितांत अभाव रहता है। कॉमेडी के माध्यम से जीवन का परिष्कार होता है तथा उसका बिगडा हुआ संतुलन पुन: स्थापित होता है। अनेक परवर्ती विचारकों ने अरस्तू के इस सिद्धांत को मान्यता प्रदान की है और संसार के अनेक महत्वपूर्ण सुखांत नाटक इसी आदर्श को ध्यान में रखकर लिखे गए है। कोरी हँसी उत्पन्न करनेवाले सुखांत नाटक कॉमेडी के उच्चतम आदर्श से च्युत होकर फार्स अर्थात् प्रहसन की कोटि में स्थान पाते है। इस प्रकार उत्कृष्ट कॉमेडी, हाई कॉमेडी, जीवन की अभिव्यक्ति तथा समीक्षा है, प्राय: उसी प्रकार जैसे ट्रैजेडी। वह भी जीवन के गंभीर तत्वों के समझने का प्रयास है, अत: ट्रैजेडी और कॉमेडी का भेद अततोगत्वा मौलिक नहीं सिद्ध होता।

कॉमेडी में अनेक साधन उपयोग में लाए जाते है, जिनमें प्रमुख हैं ह्यूमर अर्थात् स्नेहन हास्य, विट अर्थात् वैदग्ध्य, सटायर अर्थात् उपहास, आयरनी अर्थात् व्यंग्य इत्यादि। इन सभी साधनों को अलग अलग अथवा मिलाकर काम में लाया जाता है और फलत: कुरूपताओं और दुर्व्यवस्थाओं का उद्घाटन तथा हास्य का आविर्भाव होता है। कॉमेडी के पाठक और प्रेक्षक क्यों हँसते है, इस प्रश्न को लेकर दीर्घकाल से वादविवाद चला आया है। आनंद और मनोरंजन के क्षणों में हँसी स्वाभाविक है, अत: सामान्य मत यह है कि लोग आनंदोद्रेक के कारण हँसते हैं, किंतु कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि हँसी अहंकार के कारण उत्पन्न होती है। प्रेक्षक प्रच्छन्न रूप से अपनी तुलना उस पात्र से करता है जिसका स्वरूप अथवा व्यवहार हास्यास्पद है और अपने को अपेक्षाकृत सुंदर, बुद्धिमान अथवा संतुलित आचरणवाला पाता है। इससे उसको संतोष प्राप्त होता है जो उसकी हँसी का कारण है। एक धारणा यह भी है कि कॉमेडी में दूसरे की निंदा और भर्त्सना से मानव मन की छिपी हुई पाशविक प्रवृत्ति का परितोष होता है और यही आनंद का कारण है। हम कह चुके है कि कामेडी के अनेक रूप है और अपने विभिन्न रूपों में वह हास्य के विभिन्न कारणों से संबंधित है। कॉमेडी के ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमें सहानुभूति और सहृदयता आद्योपांत विद्यमान रहती है और उसके ऐसे रूप भी है जिनमें कटु हास्य और व्यंग्य का प्राधान्य मिलता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कॉमेडी से उत्पन्न होनेवाले हास्य के जितने कारण दिए गए है, आंशिक रूप में वे सभी सत्य हैं।

सामाजिकता कॉमेडी का विशिष्ट गुण है। प्रारंभ से ही इसका संबंध सामान्य लोकजीवन से निरंतर बना रहा है। वैयक्तिक जीवन की समस्याएँ भी कॉमेडी में सामाजिक परिवेश में ही निरूपित होती है। सामाजिक प्रभावों और शक्तियों का पारस्परिक द्वंद्व किस प्रकार अंत में मिटकर एक समन्वित व्यवस्था उत्पन्न करता है, यही कॉमेडी का प्रतिपाद्य है। इसी तथ्य को व्यक्तिगत जीवन में भी निरूपित किया जाता है। उदाहरणार्थ शेक्सपियर के नाटकों में कुछ देर के लिये पात्र बाधा और कठिनाइयों के कारण व्यग्र हो उठते है, किंतु शीघ्र ही बाधाएँ मिट जाती है और कथानक का अवसान प्रेम और परिणय में होता है।

सं०ग्रं०—एरिस्टाटल : पोएटिक्स; मेरेडिथ, जार्ज : ऑन दि आइडिया ऑव कॉमेडी ऐंड द यूजेज ऑव द कामिक स्पिरिट, निकॉल, एलरडाइस : थियरी ऑव ड्रामा, वेट्ले ऐंड मिलेट् . ड्रामा।

(रा० अ० द्वि०)

काय चिकित्सा द्र० 'आयुर्वेद'।

कायसाँ (Caisson) धँसाई जानेवाली एक मंजूषा है, जिसका सिरा और पेंदा खुला रहता है एवं उसमें एक या एक से अधिक कूप या द्वार बने रहते है। यह सेतुस्तंभ, बंदरगाह, प्राचीर आदि के निर्माण में आधारतल का काम देता है और समुद्र तथा नदियों की तलहटी में नींव डालने के कार्यस्थल से पानी को दूर रखता है। मंजूषा तब तक धँसाई जाती है जब तक उसका पेंदा नींव में वांछित तल तक न पहुँच जाय। मंजूषा लकडी, इस्पात, पत्थर या कंक्रीट की बनाई जा सकती है। कायसाँ साधारणतया दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, पहला खुला कायसाँ और दूसरा वायवीय कायसाँ। इसकी धँसान कूप में खुदाई या निष्कर्षण करके की जाती है। धँसाने में घर्षण के कारण अवरोध होता है जिसका, तल में पानी के फौवारे का उपयोग करके, निवारण किया जाता है। कुआँ खोदने या धँसाने में बालू, चिकनी मिट्टी, गोल पत्थर तथा सूक्ष्म बालू के स्तरों से गुजरना पडता है। कुएँ को सीधा धँसाने के लिये, ताकि वह किसी तरफ न झुके और न अपने स्थान से ही हटे, पर्याप्त कौशल एवं अनुभव की आवश्यकता होती है। बहुधा कुएं के अंत: और बहि: पार्श्व के निचले भाग में पानी के तल की दाब से नरम और हलकी धरती में दरार पड जाती हैं, अत: बालू बह जाता है और जलस्राव सोतों की भाँति हवा में ऊँचाई तक उठने लगता है जिससे उत्प्लुतकूप की दशा का भान होता हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिये बहुधा गोताखोरों द्वारा खुदाई कराई जाती है।

जहाँ पर जलयुक्त महीन कणोंवाली असंसंजक (non-cohesive) मिट्टी के कारण उपर्युक्त ढंग से खुली धँसान कठिन या असंभव हो जाती है वहाँ पर वायवीय धँसान का सहारा लिया जाता है।

खुले कायसाँ के कुएँ शिखर और पेंदे में खुले रहते है। वायवीय कायसाँ की सतह से तल में एक कार्यवाही कक्ष रहता है जिसके पेंदे में वायुरोधक ढक्कन लगे रहते है। इन ढक्कनों में वायुबद्ध कक्ष रहते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य और सामग्रियाँ कार्यवाही कक्ष में प्रवेश कर सकती हैं या कक्ष में हवा को बाहर निकाले बिना बाहर आ सकती है। हवा की दाब इतनी रखी जाती है जो कायसाँ के बाहर के पानी की दाब के समकक्ष या समस्तरीय हो।

जब कायसाँ अपने आधार स्थान तक पहुँच जाता है तब उसका तल... साफ किया जा सकता है और उसे तैयार कर... उसकी धारणक्षमता का अनुमान लगाया

की शक्ति की अर्चना हुई है। महाभारत में उस दिशा के स्त्रीराज्य का उल्लेख हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि मातृसत्ताक परंपरा का कोई न कोई रूप वहाँ था जो वहाँ की नागा आदि जातियों में आज भी बना है। ऐसे वातावरण में देवी का महत्व चिरस्थायी होना स्वाभाविक ही था और जब उसे शिव की पत्नी मान लिया गया तब शाक्त संप्रदाय को सहज ही शैव शक्ति की पृष्ठभूमि और मर्यादा प्राप्त हो गई। फिर जब वज्रयानी प्रज्ञा-पारमिता और शक्ति एक कर दी गई तब तो शाक्त गौरव का और भी प्रसार हो गया। उस शाक्त विश्वास का केंद्र गोहाटी की कामाख्या पहाड़ी का यह कामाक्षी पीठ है। कामाक्षी की कथा का उल्लेख कालिका पुराण में विस्तृत रूप से हुआ है। (प० उ०)

कामायनी यह आधुनिक छायावादी युग का सर्वोत्तम और प्रतिनिधि हिंदी महाकाव्य है। जयशंकर 'प्रसाद' की यह अंतिम काव्य रचना १९३६ ई० में प्रकाशित हुई, परंतु इसका प्रणयन प्रायः ७-८ वर्ष पूर्व ही प्रारंभ हो गया था। चिंता से प्रारंभ कर आनंद तक १५ सर्गों के इस महाकाव्य में मानव मन की विविध अंतर्वृत्तियों का क्रमिक उन्मीलन इस कौशल से किया गया है कि मानव सृष्टि के आदि से अब तक के जीवन के मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक विकास का इतिहास भी स्पष्ट हो जाता है।

मानव के अग्रजन्मा देव निश्चित जाति के जीव थे। किसी भी प्रकार की चिंता न होने के कारण वे 'चिर-किशोर-वय' तथा 'नित्यविलासी' देव आत्म-मंगल-उपासना में ही विभोर रहते थे। प्रकृति यह अतिचार सहन न कर सकी और उसने अपना प्रतिशोध लिया। भीषण जलप्लावन के परिणामस्वरूप देवसृष्टि का विनाश हुआ, केवल मनु जीवित बचे। देवसृष्टि के विध्वंस पर जिस मानव जाति का विकास हुआ उसके मूल में थी चिंता जिसके कारण वह जरा और मृत्यु का अनुभव करने को बाध्य हुई। चिंता के अतिरिक्त मनु में दैवी और आसुरी वृत्तियों का भी संघर्ष चल रहा था जिसके कारण उनमें एक ओर आशा, श्रद्धा, लज्जा और इड़ा का आविर्भाव हुआ तो दूसरी ओर कामवासना, ईर्षा और संघर्ष की भी भावना जगी। इन विरोधी वृत्तियों के निरंतर घात-प्रतिघात से मनु में निर्वेद जगा और श्रद्धा के पथप्रदर्शन से यही निर्वेद क्रमशः दर्शन और रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर अंत में आनंद की उपलब्धि का कारण बना। यह चिंता से आनंद तक मानव के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम है। साथ ही मानव के आखेटक रूप से प्रारंभ कर श्रद्धा के प्रभाव से पशुपालन, कृषक जीवन और इड़ा के सहयोग से सामाजिक और औद्योगिक क्रांति के रूप में भौतिक विकास एवं अंत में आध्यात्मिक शांति की प्राप्ति का उद्योग मानव के सांस्कृतिक विकास के विविध सोपान हैं। इस प्रकार कामायनी मानव जाति के उद्भव और विकास की कहानी है।

प्रसाद ने इस काव्य के प्रधान पात्र मनु और कामपुत्री कामायनी श्रद्धा को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में माना है, साथ ही जलप्लावन की घटना को भी एक ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किया है। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम कांड के आठवें अध्याय से जलप्लावन संबंधी उल्लेखों का संकलन कर प्रसाद ने इस काव्य का कथानक निर्मित किया है, साथ ही उपनिषद् और पुराणों में मनु और श्रद्धा का जो रूपक दिया गया है; उन्होंने उसे भी अस्वीकार नहीं किया, वरन् कथानक को ऐसा स्वरूप प्रदान किया जिसमें मनु, श्रद्धा और इड़ा के रूपक की भी संगति भली भाँति बैठ जाय। परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि इन चरित्रों के रूपक का निर्वाह ही अधिक सुंदर और सुसंयत रूप में हुआ, ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में वे पूर्णतः एकांगी और व्यक्तित्वहीन हो गए हैं।

मनु मन के समान ही अस्थिरमति हैं। पहले श्रद्धा की प्रेरणा से वे तपस्वी जीवन त्याग कर प्रेम और प्रणय का मार्ग ग्रहण करते हैं, फिर असुर पुरोहित आकुलि और किलात के बहकावे में आकर हिंसावृत्ति और स्वेच्छाचरण के वशीभूत हो श्रद्धा का सुख-साधन-निवास छोड़ झंझा समीर की भाँति भटकते हुए सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं; श्रद्धा के प्रति मनु के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध काम का अभिशाप सुन हताश हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और इड़ा के संसर्ग से बुद्धि की शरण में जा भौतिक विकास मार्ग अपनाते हैं। वहाँ भी संयम के अभाव के कारण इड़ा पर अत्याचार कर बैठते हैं और प्रजा से उनका संघर्ष होता है। इस संघर्ष में पराजित और प्रकृति के रुद्र प्रकोप से विक्षुब्ध मनु जीवन से विरक्त हो पलायन कर जाते हैं और अंत में श्रद्धा के पथप्रदर्शन में उसका अनुसरण करते हुए आध्यात्मिक आनंद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रद्धा—आस्तिक्य भाव—तथा इड़ा—बौद्धिक क्षमता—का मनु के मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसका सुंदर विश्लेषण इस काव्य में मिलता है।

काव्य रूप की दृष्टि से कामायनी चिंतनप्रधान है, जिसमें कवि ने मानव को एक महान् संदेश दिया है। 'तप नहीं, केवल जीवनसत्य' के रूप में कवि ने मानव जीवन में प्रेम की महत्ता घोषित की है। यह जगत् कल्याणभूमि है, यही श्रद्धा की मूल स्थापना है। इस कल्याणभूमि में प्रेम ही एकमात्र श्रेय और प्रेय है। इसी प्रेम का संदेश देने के लिये कामायनी का अवतार हुआ है। प्रेम मानव और केवल मानव की विभूति है। मानवेतर प्राणी, चाहे वे चिरविलासी देव हों, चाहे देह और प्राण की पूजा में निरत असुर, दैत्य और दानव हों, चाहे कलाप्रिय किन्नर और गंधर्व हों, चाहे पशु और पक्षी हों, प्रेम की कला और महिमा वे नहीं जानते, प्रेम की प्रतिष्ठा केवल मानव ने की है। परंतु इस प्रेम में सामरस्य की आवश्यकता है। समरसता के अभाव में यह प्रेम उच्छृंखल प्रणय-वासना का रूप ले लेता है। मनु के जीवन में इस सामरस्य के अभाव के कारण ही मानव प्रजा को काम का अभिशाप सहना पड़ रहा है। भेद-भाव, ऊँच नीच की प्रवृत्ति, आडंबर और दंभ की दुर्भावना सब इसी सामरस्य के अभाव से उत्पन्न होती है जिससे जीवन दुःखमय और अभिशाप-ग्रस्त हो जाता है। कामायनी में इसी कारण समरसता का आग्रह है। यह समरसता द्वंद्व भावना में सामंजस्य उपस्थित करती है। संसार में द्वंद्वों का उद्गम शाश्वत तत्व है—फूल के साथ काँटे, भाव के साथ अभाव, सुख के साथ दुःख और रात्रि के साथ दिन नित्य लगा ही रहता है। मानव इनमें अपनी रुचि के अनुसार एक को चुन लेता है, दूसरे को छोड़ देता है और यही उसके विषाद का कारण है। मानव के लिये दोनों को स्वीकार करना आवश्यक है, किसी एक को छोड़ देने से काम नहीं चलता। यही द्वंद्वों की समन्वय स्थिति ही सामरस्य है। प्रसाद ने हृदय और मस्तिष्क, भक्ति और ज्ञान, तप, संयम और प्रणय, प्रेम, इच्छा, ज्ञान और क्रिया सबके समन्वय पर बल दिया है।

कला की दृष्टि से कामायनी छायावादी काव्यकला का सर्वोत्तम प्रतीक माना जा सकता है। चित्तवृत्तियों का कथानक के पात्र के रूप में अवतरण इस काव्य की अन्यतम विशेषता है। और इस दृष्टि से लज्जा, सौंदर्य, श्रद्धा और इड़ा का मानव रूप में अवतरण हिंदी साहित्य की अनुपम निधि है। (शं० कु० ला०)

कामेट हिमालय पर्वत की एक चोटी है जो कुमाऊँ खंड में सतलज के दक्षिण में स्थित है। यह चोटी सिवालिक ललाट (फ्रांट) से उत्तर-पूर्व ३० मील की दूरी पर है। अलकनंदा की दोनों आदि शाखाओं का उद्गम इस चोटी के क्रमशः दाहिनी और बाईं ओर से होता है। इसकी ऊँचाई समुद्र से २५,४४७ फुट है। इसके आसपास का दृश्य बड़ा मनोरम है। (सु० प्र० सिं०)

कॉमेडी सुखांत नाट्य रचनाएँ हैं जिनके कथानक आनंद, मनोरंजन और हास्य के सहारे विकसित होते हैं। पात्रों के कार्यों और कथनों से भी आनंद की ही उपलब्धि होती है। कॉमेडी का जन्म प्राचीन यूनान में उल्लास के वातावरण में हुआ तथा प्रारंभिक अवस्था में उसमें संगीत, अभिनय और उपहास का अनुपम संमिश्रण होता था। मदिरा के देवता दियोनिसस के उपासक उन्मत्त होकर नृत्य और गान द्वारा अपने हृदय के भाव व्यक्त करते तथा अपनी श्रद्धा अर्पित करते थे। जलूस बनाकर वे इधर उधर घूमते थे और न केवल पारस्परिक विनोद में संलग्न रहते थे वरन राह में मिलनेवालों का उपहास भी करते थे। इसी भाँति कॉमेडी का आविर्भाव हुआ। उसका विकास द्रुत गति से हुआ। एरिस्टोफ़ेनीस के सुखांत नाटकों में यूनानी कॉमेडी का विशिष्ट रूप द्रष्टव्य है।

सिसरो, हॉरेस प्रभृति रोमन विचारकों ने कॉमेडी के स्वरूप और प्रयोजन पर प्रकाश डाला तथा प्लातस और तेरेन्स ने यथार्थ और व्यंग्य

को मिलाकर अनेक उत्कृष्ट कॉमडियों की रचना की। मध्ययुग में कॉमेडी शब्द अत्यंत विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता था। उससे नाट्यरचनाओं के अतिरिक्त सुखांत पद्यबद्ध कथाओं का भी बोध होता था। इसका प्रमुख उदाहरण है दांते विरचित 'ला कॉमेदिया दीवीने'। नवजागरण के युग में पुनः कॉमेडी का सीधा संबंध नाट्यसाहित्य और रंगशाला से स्थापित हुआ तथा प्राचीन शास्त्रीय नाट्यरचनाओं का प्रचलन बढ़ा। तत्पश्चात् शास्त्रीय तथा देशज प्रभावों के संयोग से एक नवीन प्रकार की कॉमेडी की सृष्टि हुई जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण शेक्सपियर के नाटकों में मिलता है। यह रोमैंटिक कॉमेडी कल्पना और भावना पर आधृत थी तथा पूर्वनिर्धारित नियमों की अवहेलना करती थी। इसकी प्रतिक्रिया में शीघ्र ही क्लासिकल कॉमेडी का पुनरुत्थान हुआ और बेन जान्सन ने उसका वह रूप प्रस्तुत किया जिसे 'कॉमडी ऑव ह्यूमर्स' कहते है। इसमें मानव स्वभाव की दुर्बलताओं का अतिरंजित चित्रण यथार्थ जीवन की पृष्ठभूमि में हुआ है। आगे चलकर मोलियेर, इथरिज, कांग्रीव आदि ने कृत्रिम उच्चवर्गीय सामाजिक जीवन को आधार बनाकर उन नाटकों की रचना की जिन्हें 'कॉमेडी ऑव मैनर्स' कहते हैं। इन सुखांत नाटकों में कभी कभी अतिशय अश्लीलता मिलती है जो अनेक पाठकों और दर्शकों को अरुचिकर प्रतीत होती है। १८वीं शताब्दी में ऐसी भावनाप्रधान तथा नैतिकतासंपन्न कॉमडियों की रचना हुई जिनका नाम 'सेंटिमेंटल कॉमेडी' पड़ गया है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रांस तथा स्पेन में रोमैंटिक कॉमेडी का चरमोत्कर्ष हुआ और प्रायः तभी से यूरोप और अमरीका में ऐसी म्यूजिकल कॉमेडी का प्रचलन भी बढ़ने लगा जिसमें संगीत और परिहास का अनियंत्रित उपयोग होता है। आधुनिक काल में कॉमेडी की अनेक विशेषताएँ गंभीर समस्यामूलक नाटकों में समाविष्ट हो गई हैं तथा अनेक ऐसे सुखांत नाटक लिखे गए हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध कॉमेडी लेखन के पुराने आदर्शों से नहीं है। तब भी हम यह नहीं कह सकते कि वर्तमान युग में कॉमेडी ने विशेष उन्नति की है अथवा उसका कोई नवीन चमत्कारपूर्ण रूप प्रकट हुआ है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि कॉमेडी का सीधा संबंध मनोरंजन और हास्य से है। कॉमेडी का यह प्रयोजन कभी भुलाया नहीं जा सकता। किंतु उच्च कोटि की कॉमेडी में मनोरंजन के अतिरिक्त एक गंभीर अभिप्राय भी छिपा रहता है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में कॉमेडी को मानव जीवन में मिलनेवाली कुरूपता तथा जीवन के हास्यास्पद व्यापारों का ऐसा अनुकरण माना है जिसमें दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य का नितांत अभाव रहता है। कॉमेडी के माध्यम से जीवन का परिष्कार होता है तथा उसका बिगड़ा हुआ संतुलन पुनः स्थापित होता है। अनेक परवर्ती विचारकों ने अरस्तू के इस सिद्धांत को मान्यता प्रदान की है और संसार के अनेक महत्वपूर्ण सुखांत नाटक इसी आदर्श को ध्यान में रखकर लिखे गए है। कोरी हँसी उत्पन्न करनेवाले सुखांत नाटक कॉमेडी के उच्चतम आदर्श से च्युत होकर फार्स अर्थात् प्रहसन की कोटि में स्थान पाते है। इस प्रकार उत्कृष्ट कॉमेडी, हाई कॉमेडी, जीवन की अभिव्यक्ति तथा समीक्षा है, प्रायः उसी प्रकार जैसे ट्रैजेडी। वह भी जीवन के गंभीर तत्वों के समझने का प्रयास है, अतः ट्रैजेडी और कॉमेडी का भेद अंततोगत्वा मौलिक नहीं सिद्ध होता।

कॉमेडी में अनेक साधन उपयोग में लाए जाते है, जिनमें प्रमुख है ह्यूमर अर्थात् स्नेहन हास्य, विट अर्थात् वैदग्ध्य, सटायर अर्थात् उपहास, आयरनी अर्थात् व्यंग्य इत्यादि। इन सभी साधनों को अलग अलग अथवा मिलाकर काम में लाया जाता है और फलतः कुरूपताओं और दुर्व्यवस्थाओं का उद्घाटन तथा हास्य का आविर्भाव होता है। कॉमेडी के पाठक और प्रेक्षक क्यों हँसते हैं, इस प्रश्न को लेकर दीर्घकाल से वादविवाद चला आया है। आनंद और मनोरंजन के क्षणों में हँसी स्वाभाविक है, अतः सामान्य मत यह है कि लोग आनंदोद्रेक के कारण हँसते है, किंतु कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि हँसी अहंकार के कारण उत्पन्न होती है। प्रेक्षक प्रच्छन्न रूप से अपनी तुलना उस पात्र से करता है जिसका स्वरूप अथवा व्यवहार हास्यास्पद है और अपने को अपेक्षाकृत सुंदर, बुद्धिमान अथवा संतुलित आचरणवाला पाता है। इनसे उसको संतोष प्राप्त होता है जो उसकी हँसी का कारण है। एक धारणा यह भी है कि कॉमेडी में दूसरे की निंदा और भर्त्सना से मानव मन की छिपी हुई पाशविक प्रवृत्ति का परितोष होता है और यही आनंद का कारण है। हम कह चुके है कि कॉमेडी के अनेक रूप हैं और अपने विभिन्न रूपों में वह हास्य के विभिन्न कारणों से संबंधित है। कॉमेडी के ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सहानुभूति और सहृदयता आद्योपांत विद्यमान रहती है और उसके ऐसे रूप भी है जिनमें कटु हास्य और व्यंग्य का प्राधान्य मिलता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कॉमेडी से उत्पन्न होनेवाले हास्य के जितने कारण दिए गए हैं, आंशिक रूप में वे सभी सत्य हैं।

सामाजिकता कॉमेडी का विशिष्ट गुण है। प्रारंभ से ही इसका संबंध सामान्य लोकजीवन से निरंतर बना रहा है। वैयक्तिक जीवन की समस्याएँ भी कॉमेडी में सामाजिक परिवेश में ही निरूपित होती है। सामाजिक प्रभावों और शक्तियों का पारस्परिक द्वंद्व किस प्रकार अंत में मिटकर एक समन्वित व्यवस्था उत्पन्न करता है, यही कॉमेडी का प्रतिपाद्य है। इसी तथ्य को व्यक्तिगत जीवन में भी निरूपित किया जाता है। उदाहरणार्थ शेक्सपियर के नाटकों में कुछ देर के लिये पात्र बाधा और कठिनाइयों के कारण व्यग्र हो उठते हैं, किंतु शीघ्र ही बाधाएँ मिट जाती है और कथानक का अवसान प्रेम और परिणय में होता है।

सं०ग्रं०—एरिस्टाटल : पोएटिक्स; मेरेडिथ, जार्ज : आन दि आइडिया ऑव कॉमेडी ऐंड द यूजेज ऑव द कामिक स्पिरिट; निकॉल, एलरडाइस : थियरी ऑव ड्रामा; बेंट्ले ऐंड मिलेट् : ड्रामा।

(रा० अ० द्वि०)

काय चिकित्सा द्र० 'आयुर्वेद'।

कायसाँ (Caisson) धँसाई जानेवाली एक मंजूषा है, जिसका सिरा और पेंदा खुला रहता है एवं उसमें एक या एक से अधिक कूप या द्वार बने रहते है। यह सेतुस्तंभ, बंदरगाह, प्राचीर आदि के निर्माण में आधारतल का काम देता है और समुद्र तथा नदियों की तलहटी में नींव डालने के कार्यस्थल से पानी को दूर रखता है। मंजूषा तब तक धँसाई जाती है जब तक उसका पेंदा नींव में वांछित तल तक न पहुँच जाय। मंजूषा लकड़ी, इस्पात, पत्थर या कंक्रीट की बनाई जा सकती है। कायसाँ साधारणतया दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, पहला खुला कायसाँ और दूसरा वायवीय कायसाँ। इसकी धँसान कूप में खुदाई या निष्कर्षण करके की जाती है। धँसाने में घर्षण के कारण अवरोध होता है जिसका, तल में पानी के फौवारे का उपयोग करके, निवारण किया जाता है। कुआँ खोदने या धँसाने में ढालू, चिकनी मिट्टी, गोल पत्थर तथा सूक्ष्म बालू के स्तरों से गुजरना पड़ता है। कुएँ को सीधा धँसाने के लिये, ताकि वह किसी तरफ न झुके और न अपने स्थान से ही हटे, पर्याप्त कौशल एवं अनुभव की आवश्यकता होती है। बहुधा कुएँ के अंतः और बहिः पार्श्व के निचले भाग में पानी के तल की दाब से नरम और हलकी धरती में दरार पड़ जाती है; अतः बालू बह जाता है और जलस्राव सोतों की भाँति हवा में ऊँचाई तक उठने लगता है जिससे उत्स्रुतकूप की दशा का भान होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये बहुधा गोताखोरों द्वारा खुदाई कराई जाती है।

जहाँ पर जलयुक्त महीन कणवाली असंसंजक (non-cohesive) मिट्टी के कारण उपर्युक्त ढंग से खुली धँसान कठिन या असंभव हो जाती है वहाँ पर वायवीय धँसान का सहारा लिया जाता है।

खुले कायसाँ के कुएँ शिखर और पेंदे में खुले रहते है। वायवीय कायसाँ की सतह से तल में एक कार्यवाही कक्ष रहता है जिसके पेंदे में वायुरोधक ढक्कन लगे रहते है। इन ढक्कनों में वायुबंद कक्ष रहते है, जिनके द्वारा मनुष्य और सामग्रियाँ कार्यवाही कक्ष में प्रवेश कर सकती है या कक्ष से हवा को बाहर निकाले बिना बाहर आ सकती है। हवा की दाब इतनी रखी जाती है जो कायसाँ के बाहर के पानी की दाब के समकक्ष या समस्तरीय हो।

जब कायसाँ अपने आधार स्थान तक पहुँच जाता है तब उसका तल साफ किया जा सकता है और उसे तैयार कर उसका निरीक्षण करके उसकी धारणक्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वायवीय कायसाँ का सबसे महत्वपूर्ण अवयव वायुबंद कक्ष है जिसमें नियंत्रित ढंग से आवागमन की व्यवस्था रहती है। संपीडित वायु में, विशेषतः शरीर से दुर्बल व्यक्तियों का, प्रवेश संकटप्रद होता है। जब वायु की दाब अधिक हो तो वायु को दाब बिना कम किए संपीडित वायु से निकलना भी संकटप्रद है। इसस शरीर के ऊतकों तथा रक्त में बुलबुले बन सकते है, रक्तस्राव, ऐंठन, लकवा या मृत्यु तक हो सकती है। इसलिये वायवीय धँसान एक सौ दस फुट से अधिक गहराई के लिये नहीं करनी चाहिए। इससे अधिक गहराइ के लिये खुली धँसान ही संभवतः अधिक उपयुक्त है। (सी० वा० जो०)

कायस्थ सवर्ण हिंदुओं की एक उपजाति जो प्रधानतया उत्तर भारत में उत्तर प्रदेश से बंगाल तक निवास करती है। कायस्थो के कुछ भेद गुजरात, महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत में भी बिखरे हुए है। कायस्थ प्रायः पढ़ने लिखने का पेशा करते रहे हैं। नवीन आर्थिक परिस्थिति में ये धीरे धीरे अन्य पेशे भी करने लगे है। कायस्थ शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। उदाहरणार्थ कुछ लोग इसे 'कार्यस्थ' का बिगड़ा हुआ रूप समझते हैं, परंतु चूँकि स्वयं 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग इसी रूप में १;०००-१,२०० साल (याज्ञवल्क्यस्मृति, मुद्राराक्षस) से होता आया है, कार्यस्थ से कायस्थ का बनना विशेष अर्थ नही रखता।

शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा प्राचीन ग्रंथों में आए हुए उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल से यह शब्द बराबर व्यवहार मे आता रहा है। इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि १२वी शताब्दी तक कायस्थ शब्द का प्रयोग किसी जातिविशेष के लिये नही, बल्कि राजकर्मचारियों अथवा अहलकार के अर्थ में होता था, जो राजमंत्री से लेकर साधारण लेखक तक हुआ करते थे और जिनके पदों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्णो के लोग नियुक्त हो सकते और होते थे। उदाहरणार्थ रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि जो लोग लेखक अर्थात् अहलकारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाते थे। पहले कायस्थों का कोई अलग भेद नहीं था। कायस्थ अहलकार का ही पर्याय शब्द है जैसा कि आठवीं सदी के कोटा के पास के कणसवा के एक शिलालेख से पाया जाता है।... पीछे से अन्य पेशेवालों के समान इनकी भी एक जाति बन गई।" (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४७, ४८)।

उत्तर भारत तथा गुजरात में कायस्थों की १२ मुख्य उपजातियाँ प्रसिद्ध हैं। उनके अतिरिक्त महाराष्ट्र मे एक चंद्रसेनी प्रभु उपजाति भी मिलती है। कुछ लोग दक्षिण भारत के पटनलकरण उपजाति को भी कायस्थों में गिनती करते है। बंगाली कायस्थों का एक अलग ही वर्ग है। १९२१ की जनसंख्या के अनुसार कायस्थ २१,७८,३९० थे। उत्तर भारत की कायस्थों की उपजातियाँ निम्नलिखित हैं:—१. श्रीवास्तव, २. सक्सेना, ३. भटनागर, ४. माथुर, ५. कुलश्रेष्ठ, ६. अष्ठाना, ७. निगम, ८. गौड़, ९. अंबष्ठ, १०. करण, ११. वाल्मीकि और १२. सूर्यध्वज। जनसंख्या के अनुसार इनमें प्रथम स्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश के श्रीवास्तव (३ लाख, ३९ हजार), द्वितीय स्थान बिहार के करण (१ लाख, ४५ हजार) और तृतीय स्थान पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सक्सेनों को (९० हजार) देना होगा। बंगाली कायस्थों की समस्त उपजातियों की संख्या लगभग १० लाख, ६४ हजार थी। जनश्रुति के अनुसार बंगाल के कायस्थों के पूर्वपुरुष कन्नौज से गए हुए माने जाते हैं। ऊपर गिनाए कायस्थ उपवर्णो में अनेक ब्राह्मणगोत्रीय हैं, यह उल्लेखनीय है, यद्यपि गोत्र मात्र वर्ण से नहीं, पाणिनि के सूत्र—विद्यायोनिसम्बन्धौ—के अनुसार गुरु के संबंध से भी हुआ करता था।

कायस्थों की उपजातियों में आपस में खानपान तथा विवाह संबंध नहीं होता रहा है किंतु धीरे धीरे ये प्रतिबंध अब टूट रहे हैं। (खा० चं०)

कायाकल्प प्राचीन काल में आयुर्वेद में कायाकल्प चिकित्सा का महत्वपूर्ण स्थान था। जो व्याधि विविध चिकित्साविधियों से दूर [illegible] पाती वह कायाकल्प चिकित्सा से समूल नष्ट हो जा सकती है, [illegible] चिकित्सकों का विश्वास था।

आयुर्वेद दर्शन के अनुसार मानव शरीर जिन तत्वों से बना है उनकी शरीर मे न्यूनता अथवा अधिकता से ग्रंथियाँ और कोशिकाएँ विकृत हो जाती है जिससे रोगो की उत्पत्ति होती है। अतः तत्वो की न्यूनता म शरीर मे यदि उन तत्वो को अथवा समान गुणधर्मवाले पदार्थों का प्रविष्ट या सेवन कराया जाय अथवा तत्वों की अधिकता मे किसी उपाय से उन्हे शरीर से बाहर निकाल दिया जाय तो तत्वो का संतुलन फिर स्थापित किया जा सकता है और उससे स्वास्थ्य, स्मृति, सौदर्य आदि फिर से लौटाए जा सकते है और आकृति मे अभिनवता लाइ जा सकती है।

कायाकल्प के दो भेद कहे गए है। एक को वातातपिक और दूसरे को कुटीरप्रावेशिक कहते है। पहले प्रकार का संपादन हर स्थान मे किया जा सकता है, पर दूसरे प्रकार के लिये एक विशेष प्रकार की निश्चित माप की कुटी बनाई जाती है जिसमे मनुष्य को कुछ निश्चित काल तक निवास करना पड़ता है। इन चिकित्साओ मे आहार का नियंत्रण और उपयुक्त वानस्पतिक ओषधियो, पारद की पर्पटियो, दूध, मट्ठा (छाछ) आदि विभिन्न प्रकार के रसायनो का सेवन कराया जाता है।

(गौ० कु० गो०)

कायोत्सर्ग मुनि के सामयिक, संस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये 'षड् आवश्यक' कार्य है। कायोत्सर्ग का शब्दार्थ 'शरीर के ममत्व का त्याग' है। मूलाचार (अ० ७, गा० १५३) के अनुसार इसका लक्षण (परिभाषा) है—पैरो मे चार अंगुल का अंतराल देकर खड़े हो, दोनों भुजाएँ नीचे को लटकती रहे और समस्त अगो को निश्चल करके यथानियम श्वास लेने (प्राणायाम) पर कायोत्सर्ग होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग ध्यान की शारीरिक अवस्था (समाधि) का पर्यायवाची है, जैसा 'जिन सुथिर मुद्रा देख मृगगन उपल खाज खुजावते' से स्पष्ट है। संकल्प-विकल्प-रहित आंतरिक थिरता को ध्यान (आत्मकायोत्सर्ग) कहा है। अपराधरूपी व्रणों के भैषजभूत कायोत्सर्ग के दैनिक, मासिक आदि अनेक भेद है। उत्कृष्ट कायोत्सर्ग एक वर्ष तक तथा जघन्य अंतर्मुहूर्त (एक क्षण से लेकर दो घड़ी के पहिले तक) होता है। (खु० चं० गो०)

कारखानों का निर्माण और उनकी योजना बड़े बड़े कारखानों के लिये छाजनदार विस्तृत स्थान की आवश्यकता पड़ती है जिसमें बड़ी बड़ी मशीनें रखी जा सके तथा काम करनेवाले सब आदमी सुविधापूर्वक कार्य कर सकें। क्रेन इत्यादि से भारी सामान पहुँचाने के लिये कमरे पर्याप्त ऊँचे तथा चौड़े भी रखने पड़ते है। कार्यकर्ताओं को अधिक से अधिक प्रकाश मिल सके (जिससे बिजली का खर्च कम हो) और प्रकाश भी ऐसा हो जिसके द्वारा गहरी परछाई न पड़े, इसकी भी व्यवस्था रहनी चाहिए।

कारखानों के निर्माण में बड़े बड़े तथा ऊँचे कमरे बनाना प्रायः आवश्यक ही होता है। बीच में दीवार या पाया देने से रुकावट न पड़े, इसलिये छत अधिकतर बड़ी बड़ी कैंचियों पर रखी जाती है। इसलिये अधिकांश छतें लोहे या ऐसबेस्टस की चादर की बनाई जाती है जिसमें उत्तरीय प्रकाश का भी प्रबंध करना पड़ता है। उत्तरीय प्रकाश से अभिप्राय यह है कि कमरों की दिशा ऐसी रखी जाती है कि उत्तर दिशा मे कैंची में खड़ा ढाँचा देकर शीशा जड़ देने से आकाश से, उत्तर दिशा से, छत द्वारा कमरे में प्रकाश आता है। प्रातःकाल से सायंकाल तक उत्तर दिशा में प्रकाश की तीव्रता में अधिक परिवर्तन नहीं होता। अतः कमरे में भी प्रातः से सायं तक ऊपर से प्रायः समान प्रकाश आता है, जिससे परछाई नही पड़ती। अधिक प्रकाश आने के लिये शीशे की खिड़कियाँ भी बड़ी रखी जाती हैं।

कैंची प्रायः ८-१० फुट की दूरी पर एक दूसरे के समानांतर रखी जाती है। अतः यदि लंबाई की दिशा में स्थान की कमी न हो तो वांछित लंबाई का कमरा बनाया जा सकता है। अपेक्षित चौड़ाई के लिये कैंची बहुत भारी और मँहगी पड़े तो बीच में पायों की पंक्ति देकर दूसरी कैंचियों की पंक्ति भी रखी जा सकती है, अथवा कोई दूसरा कमरा बनाया जा सकता है।

मशीनों के चलने से पृथ्वी में होनेवाले कंपन के कारण दीवारों को धमक पहुँचती है, जिससे कमजोर दीवारों के ढह जाने का भय रहता है। दूसरे, कारखानों की दीवारें बहुत कड़ी होती हैं और उनपर बोझ भी बहुत अधिक रहता है। तीसरे, आंधी चलने के समय हवा की दाब सहने की क्षमता भी उनमें होनी चाहिए। इन्हीं कारणों से कारखानों की दीवारें साधारण मकानों की दीवारों से अधिक पुष्ट बनाई जाती हैं।

कारखानों का फर्श बहुत चिकना नहीं होना चाहिए, जिससे काम करनेवालों के फिसलने का डर न रहे। वैसे भी, फर्श अधिक कड़ा और दृढ़ होना चाहिए, जिससे मशीनों की घड़घड़ाहट तथा भारी सामान के बोझ से क्षति न पहुँचे। फर्श की पुष्टता बढ़ाने के लिये सीमेंट में कंक्रीट की मात्रा बढ़ा दी जाती है, अथवा सोडियम सिलिकेट या आइरोनाइट का उपयोग किया जाता है।

कारखानों में भीतर की गंदी तथा गीली हवा बदलने के लिये हवा बाहर फेंकनेवाले बिजली के पंखे छत के पास लगाए जाते हैं। इस प्रकार भीतर की गरम तथा गीली हवा बराबर शुद्ध हवा द्वारा बदलती रहती है।

कारखाने में सामान इत्यादि की चोरी रोकने के निमित्त तथा कर्मियों को बिना आज्ञा के भीतर बाहर आने जाने से रोकने के लिये कई द्वारों के स्थान पर एक ही बड़ा द्वार बनाया जाता है, जिसपर प्रायः चौकीदार रहता है। इस द्वार के अतिरिक्त आग लगने पर बच निकलने के लिये दूसरी ओर भी एक अन्य द्वार लगा देना आवश्यक है।

कारखाने की मशीनों की घड़घड़ाहट के कारण बहुत अधिक शोर और आवाज होती है, इसलिये कारखाने को बस्ती से अलग नगर के एक किनारे पर रखना चाहिए। बहुत से कारखानों में चिमनी से निकलनेवाला धुआँ भी विषाक्त गैस से भरा रहता है। इनसे बचने के हेतु भी कारखाने को आबादी से हटकर ही बनाना चाहिए।

बड़े बड़े कारखानों के निर्माण के लिये स्थान चुनते समय इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि पानी और बिजली पर्याप्त मात्रा में और सुविधापूर्वक मिल सके। इसके अतिरिक्त गंदे पानी इत्यादि की निकासी भी समुचित और सस्ते उपायों से हो सके।

कारखाने का स्थान नियत करते समय यह भी विचार रखना चाहिए कि पास में कच्चा माल उपयुक्त मात्रा में तथा मजदूर उचित मूल्य पर मिल जायँगे कि नहीं। जमीन के चुनाव के समय पानी तथा मिट्टी की जाँच भी इस विचार से करनी चाहिए कि पानी शुद्ध है तथा भूमि के नीचे की परत बहुत ऊँची तो नहीं है और नींव डालने के लिये मिट्टी यथेष्ट दृढ़ है।

अतः कारखाने के निर्माण के लिये उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त स्थान चुनते समय यह बात भी दृष्टि में रहे कि भविष्य में कारखाने के विस्तार के लिये पर्याप्त भूमि भी सरलता से और सस्ते दाम में मिल सके। यदि कारखाना मालिक बड़ा पूँजीपति हो तो प्रारंभ में ही अधिक जमीन खरीद लेना उचित होगा। (का० प्र०)

कारखानों में उत्पादन का इतिहास प्रारंभ में वस्तुएँ कारीगरों के घर पर ही बना करती थीं, परंतु जैसे जैसे कारीगरों द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपयोग बढ़ा वैसे वैसे बड़े पैमाने पर निर्माण की आवश्यकता भी बढ़ी। साहसी व्यापारी कारीगरों के घर सामान पहुँचाकर उन्हें आर्थिक सहायता देकर सामग्री बनवाने लगे। परंतु कारीगरों तक माल पहुँचाने और उनसे निर्मित सामग्री इकट्ठी करने में बहुत समय नष्ट होता था; काम बराबर अच्छे मेल का नहीं बनता था, कारीगर बहुधा समय पर काम पूरा नहीं करते थे और कारीगरों द्वारा माल दबाकर बैठ जाने का बड़ा भय रहता था। इसलिये साहसी व्यापारी बड़े बड़े भवन बनवाकर वहीं कारीगरों को बुलाने लगे और इसी से कारखानों की उत्पत्ति हुई। इसमें अवगुण यह था कि उपयुक्त भवन बनवाने में बहुत सी पूँजी फँस जाती थी। यदि यंत्रों की आवश्यकता होती थी तो उसमें भी पूँजी लगती थी। जब कारीगर दूर दूर से आते थे तब उनके रहने का भी प्रबंध करना पड़ता था; फिर, कारीगरों के कार्य के निरीक्षण के लिये रखे गए व्यक्तियों का वेतन भी देना पड़ता था। इन सब अवगुणों के होते हुए भी कारखानों की संख्या बढ़ने लगी। ग्रेट ब्रिटेन में कारखानों का विकास सबसे पहले हुआ। सन् १७५६ ई० तक वहाँ कई छोटे मोटे कारखाने खुल गए थे। कालांतर में वाष्प इंजन के आविष्कार (१७६६ ई०) के बाद कारखानों की वृद्धि बहुत शीघ्र हुई। इसी समय के लगभग इंग्लैंड के तीन व्यक्तियों (हार्ग्रीव्ज़, आर्कराइट और कॉम्पटन) ने क्रमानुसार सूत कातने, कपड़ा बुनने और तागा बटने की मशीनों की उपज्ञा की और तब से कपड़ा बड़े बड़े कारखानों में बनने लगा। १९वीं शताब्दी के मध्य तक अनेक प्रकार के कारखाने स्थापित हो गए थे, जैसे कागज, पुस्तकों, काच, मिट्टी के बरतनों, धातु के बरतनों, इंजनों, मशीनों, जूतों, लकड़ी की वस्तुओं, मक्खन, डिब्बाबंदी, पावरोटी आदि के। उस शताब्दी के अंत तक पावरोटी, बाइसिकिल, मोटरकार, बिजली के सामान, रासायनिक पदार्थ, रबर आदि के भी कारखाने खुल गए।

यद्यपि ब्रिटेन ने मशीनों और कारीगरों का बाहर जाना बंद कर रखा था, तो भी चोरी से कुछ मशीनें और अनेक कारीगर बाहर चले ही गए और यूरोप तथा अमरीका में भी कारखाने बनने लगे। अमरीका में कारखानों की विशेष आवश्यकता थी, क्योंकि वहाँ कारीगरों और श्रमिकों की कमी थी। वहाँ मशीनों के निर्माण में विशेष विकास हुआ और अनेक यंत्र बने जो प्रायः स्वचालित थे।

प्रारंभिक कारखाने छोटे होते थे क्योंकि एक व्यक्ति अधिक पूँजी नहीं लगा सकता था। लाख दो लाख रुपए की पूँजी प्रायः एक सीमा थी। परंतु १९वीं शताब्दी के अंत में साझे के कारखाने चलने लगे और कंपनियों के विषय में नियम बन जाने पर सीमित उत्तरदायित्व की कंपनियाँ बड़ी शीघ्रता से खुलने लगीं। श्रमिकों की कमी भी तब पूरी होने लगी जब श्रमिकों के स्वास्थ्य और सुख के लिये कानून बने। पहले श्रमिकों को प्रति दिन १२ घंटे काम करना पड़ता था। धीरे धीरे यह समय घटकर आठ घंटे या इससे भी कम हो गया। साथ ही, श्रमिकों के लिये न्यूनतम वेतन, छुट्टियों, आयुर्वैज्ञानिक उपचार, बीमा आदि के भी नियम बन गए। बालकों से कारखानों में काम कराना बंद कर दिया गया। इनमें से कई सुविधाओं की प्राप्ति के लिये श्रमिकों को कष्टप्रद हड़तालें करनी पड़ी थीं। अब विश्व के अधिकांश कारखानों के श्रमिक सुख से रहते हैं और विशेष मशीनों के कारण थोड़े ही मानव श्रम से बहुत अधिक सामग्री की उत्पत्ति होती है, जिससे उपभोक्ता को कोई सामग्री बहुत महँगी नहीं पड़ती।

सं०ग्रं०—एच० डी० फ्रॉङ्ग : द ट्रायंफ़ ऑव द फ़ैक्टरी सिस्टम इन इंग्लैंड (१९३०); वी० एम० क्लार्क : हिस्ट्री ऑव मैनुफ़ैक्चरर्स इन द यूनाइटेड स्टेट्स, ३ जिल्द (१९२९)।

कारडोवा यूरोप में दक्षिणी स्पेन का एक प्रांत तथा उसकी राजधानी है। इसी नाम का एक अन्य नगर उत्तरी अमरीका के अलास्का राज्य के उत्तरी-पश्चिमी भाग में भी स्थित है।

स्पेन का कारडोवा नगर ग्वॉडलक्विवर नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। संभवतः यहाँ पर प्रथम बस्ती कार्थीजियन राज्यकाल में हुई। १५२ ई० पू० में इसपर रोमन अधिकार हो गया। ७५६ ई० में मूर शासक अब्दुर्रहमान ने इसे स्पेन की राजधानी बनाया। नगर में रोमन दीवारों की नींवें तथा मूर काल की सँकरी और टेढ़ी मेढ़ी गलियाँ विद्यमान हैं। १८०८ ई० में फ्रांसीसियों ने कारडोवा में जो लूटपाट की उसका प्रभाव उस शताब्दी के अंत तक नहीं मिट सका।

नगर का मुख्य दर्शनीय भवन मेज़क्विटा अर्थात् मसजिद है जो अब एक गिरजाघर है। यहाँ के मुख्य उद्योग शराब तथा कपड़ा बनाना हैं। यात्रियों से अच्छी आय होती है। ताँबा तथा तेल के निर्यात महत्वपूर्ण हैं। जनसंख्या २,३१,६४१ (१९६८) है।

कारडोवा प्रांत की सीमाएँ उत्तर-पूर्व में क्युडाडरियल, पूर्व में जेन, दक्षिण-पूर्व में ग्रैनाडा, दक्षिण में मैलागा, दक्षिण-पश्चिम में सेविल तथा उत्तर-पश्चिम में बेडाजोज द्वारा निर्धारित होती हैं। क्षेत्रफल १३,७१८ वर्ग कि० मी०, जनसंख्या ७,९८,४३७ (१९६८) है। ग्वॉडलक्विवर नदी के

वायवीय कायसों का सबसे महत्वपूर्ण अवयव वायुवंद कक्ष है जिसमें नियंत्रित ढंग से आवागमन की व्यवस्था रहती है। संपीडित वायु में, विशेषतः शरीर से दुर्बल व्यक्तियों का, प्रवेश संकटप्रद होता है। जब वायु की दाब अधिक हो तो वायु की दाब बिना कम किए संपीडित वायु से निकलना भी संकटप्रद है। इससे शरीर के ऊतकों तथा रक्त में बुलबुले बन सकते हैं, रक्तस्राव, ऐंठन, लकवा या मृत्यु तक हो सकती है। इसलिये वायवीय धँसान एक सौ दस फुट से अधिक गहराई के लिये नहीं करनी चाहिए। इससे अधिक गहराई के लिये खुली धँसान ही संभवतः अधिक उपयुक्त है। (सी० वा० जो०)

कायस्थ सवर्ण हिंदुओं की एक उपजाति जो प्रधानतया उत्तर भारत में उत्तर प्रदेश से बंगाल तक निवास करती है। कायस्थों के कुछ भेद गुजरात, महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत में भी बिखरे हुए हैं। कायस्थ प्रायः पढ़ने लिखने का पेशा करते रहे हैं। नवीन आर्थिक परिस्थिति में ये धीरे धीरे अन्य पेशे भी करने लगे हैं। कायस्थ शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। उदाहरणार्थ कुछ लोग इसे 'कार्यस्थ' का बिगड़ा हुआ रूप समझते हैं, परंतु चूँकि स्वयं 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग इसी रूप में १,०००-१,२०० साल (याज्ञवल्क्यस्मृति, मुद्राराक्षस) से होता आया है, कार्यस्थ से कायस्थ का बनना विशेष अर्थ नहीं रखता।

शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा प्राचीन ग्रंथों में आए हुए उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल से यह शब्द बराबर व्यवहार में आता रहा है। इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि १२वीं शताब्दी तक कायस्थ शब्द का प्रयोग किसी जातिविशेष के लिये नहीं, बल्कि राजकर्मचारियों अथवा अहलकार के अर्थ में होता था, जो राजमंत्री से लेकर साधारण लेखक तक हुआ करते थे और जिनके पदों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्णों के लोग नियुक्त हो सकते और होते थे। उदाहरणार्थ रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि जो लोग लेखक अर्थात् अहलकारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाते थे। पहले कायस्थों का कोई अलग भेद नहीं था। कायस्थ अहलकार का ही पर्याय शब्द है जैसा कि आठवीं सदी के कोटा के पास के कणस्वा के एक शिलालेख से पाया जाता है।... पीछे से अन्य पेशेवालों के समान इनकी भी एक जाति बन गई।" (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४७, ४८)।

उत्तर भारत तथा गुजरात में कायस्थों की १२ मुख्य उपजातियाँ प्रसिद्ध हैं। उनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में एक चंद्रसेनी प्रभु उपजाति भी मिलती है। कुछ लोग दक्षिण भारत के पटनलकरण उपजाति की भी कायस्थों में गिनती करते हैं। बंगाली कायस्थों का एक अलग ही वर्ग है। १९२१ की जनसंख्या के अनुसार कायस्थ २१,७८,३९० थे। उत्तर भारत की कायस्थों की उपजातियाँ निम्नलिखित हैं :—१. श्रीवास्तव, २. सक्सेना, ३. भटनागर, ४. माथुर, ५. कुलश्रेष्ठ, ६. अष्ठाना, ७. निगम, ८. गौड़, ९. अंबष्ठ, १०. करण, ११. वाल्मीकि और १२. सूर्यध्वज। जनसंख्या के अनुसार इनमें प्रथम स्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश के श्रीवास्तव (३ लाख, ३९ हजार), द्वितीय स्थान बिहार के करण (१ लाख, ४५ हजार) और तृतीय स्थान पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सक्सेनों को (९० हजार) देना होगा। बंगाली कायस्थों की समस्त उपजातियों की संख्या लगभग १० लाख, ६४ हजार थी। जनश्रुति के अनुसार बंगाल के कायस्थों के पूर्वपुरुष कन्नौज से गए हुए माने जाते हैं। ऊपर गिनाए कायस्थ उपवर्गों में अनेक ब्राह्मणगोत्रीय हैं, यह उल्लेखनीय है, यद्यपि गोत्र मात्र वर्ण से नहीं, पाणिनि के सूत्र—विद्यायोनिसम्बन्धो—के अनुसार गुरु के संबंध से भी हुआ करता था।

कायस्थों की उपजातियों में आपस में खानपान तथा विवाह संबंध नहीं होता रहा है किंतु धीरे धीरे ये प्रतिबंध अब टूट रहे हैं। (खा० चं०)

कायाकल्प प्राचीन काल में आयुर्वेद में कायाकल्प चिकित्सा का महत्वपूर्ण स्थान था। जो व्याधि विविध चिकित्साविधियों से दूर [illegible] पाती वह कायाकल्प चिकित्सा से समूल नष्ट हो जा सकती है, [illegible] चिकित्सकों का विश्वास था।

आयुर्वेद दर्शन के अनुसार मानव शरीर जिन तत्वों से बना है उनकी शरीर में न्यूनता अथवा अधिकता से ग्रंथियाँ और कोशिकाएँ विकृत हो जाती हैं जिससे रोगों की उत्पत्ति होती है। अतः तत्वों की न्यूनता में शरीर में यदि उन तत्वों को अथवा समान गुणधर्मवाले पदार्थों का प्रविष्ट या सेवन कराया जाय अथवा तत्वों की अधिकता में किसी उपाय से उन्हें शरीर से बाहर निकाल दिया जाय तो तत्वों का संतुलन फिर स्थापित किया जा सकता है और उससे स्वास्थ्य, स्मृति, सौंदर्य आदि फिर से लौटाए जा सकते हैं और आकृति में अभिनवता लाई जा सकती है।

कायाकल्प के दो भेद कहे गए हैं। एक को वातातपिक और दूसरे को कुटीप्रावेशिक कहते हैं। पहले प्रकार का संपादन हर स्थान में किया जा सकता है, पर दूसरे प्रकार के लिये एक विशेष प्रकार की निश्चित माप की कुटी बनाई जाती है जिसमें मनुष्य को कुछ निश्चित काल तक निवास करना पड़ता है। इन चिकित्साओं में आहार का नियंत्रण और उपयुक्त वानस्पतिक औषधियों, पारद की पर्पटियों, दूध, मट्ठा (छाछ) आदि विभिन्न प्रकार के रसायनों का सेवन कराया जाता है। (गो० कृ० गो०)

कायोत्सर्ग मुनि के सामयिक, संस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये 'षड् आवश्यक' कार्य हैं। कायोत्सर्ग का शब्दार्थ 'शरीर के ममत्व का त्याग' है। मूलाचार (अ० ७, गा० १५३) के अनुसार इसका लक्षण (परिभाषा) है—पैरों में चार अंगुल का अंतराल देकर खड़े हों, दोनों भुजाएँ नीचे को लटकती रहें और समस्त अंगों को निश्चल करके यथानियम श्वास लेने (प्राणायाम) पर कायोत्सर्ग होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग ध्यान की शारीरिक अवस्था (समाधि) का पर्यायवाची है, जैसा 'जिन सुथिर मुद्रा देख मृगगन उपल खाज खुजावते' से स्पष्ट है। संकल्प-विकल्प-रहित आंतरिक थिरता को ध्यान (आत्मकायोत्सर्ग) कहा है। अपराधरूपी व्रणों के भैषजभूत कायोत्सर्ग के दैनिक, मासिक आदि अनेक भेद हैं। उत्कृष्ट कायोत्सर्ग एक वर्ष तक तथा जघन्य अंतर्मूहूर्त (एक क्षण से लेकर दो घड़ी के पहिले तक) होता है। (खु० चं० गो०)

कारखानों का निर्माण और उनकी योजना बड़े बड़े कारखानों के लिये छाजनदार विस्तृत स्थान की आवश्यकता पड़ती है जिसमें बड़ी बड़ी मशीनें रखी जा सकें तथा काम करनेवाले सब आदमी सुविधापूर्वक कार्य कर सकें। क्रेन इत्यादि से भारी सामान पहुँचाने के लिये कमरे पर्याप्त ऊँचे तथा चौड़े भी रखने पड़ते हैं। कार्यकर्ताओं को अधिक से अधिक प्रकाश मिल सके (जिससे बिजली का खर्च कम हो) और प्रकाश भी ऐसा हो जिसके द्वारा गहरी परछाई न पड़े, इसकी भी व्यवस्था रहनी चाहिए।

कारखानों के निर्माण में बड़े बड़े तथा ऊँचे कमरे बनाना प्रायः आवश्यक ही होता है। बीच में दीवार या पाया देने से रुकावट न पड़े, इसलिये छत अधिकतर बड़ी बड़ी कैंचियों पर रखी जाती है। इसलिये अधिकांश छतें लोहे या ऐसबेस्टस की चादर की बनाई जाती है जिसमें उत्तरीय प्रकाश का भी प्रबंध करना पड़ता है। उत्तरीय प्रकाश से अभिप्राय यह है कि कमरों की दिशा ऐसी रखी जाती है कि उत्तर दिशा में कैंची में खड़ा ढाँचा देकर शीशा जड़ देने से आकाश से, उत्तर दिशा से, छत द्वारा कमरे में प्रकाश आता है। प्रातःकाल से सायंकाल तक उत्तर दिशा में प्रकाश की तीव्रता में अधिक परिवर्तन नहीं होता। अतः कमरे में भी प्रातः से सायं तक ऊपर से प्रायः समान प्रकाश आता है, जिससे परछाई नहीं पड़ती। अधिक प्रकाश आने के लिये शीशे की खिड़कियाँ भी बड़ी रखी जाती हैं।

कैंची प्रायः ८-१० फुट की दूरी पर एक दूसरे के समानांतर रखी जाती है। अतः यदि लंबाई की दिशा में स्थान की कमी न हो तो वांछित लंबाई का कमरा बनाया जा सकता है। अपेक्षित चौड़ाई के लिये कैंची बहुत भारी और महँगी पड़े तो बीच में पायों की पंक्ति देकर दूसरी कैंचियों की पंक्ति भी रखी जा सकती है, अथवा कोई दूसरा कमरा बनाया जा सकता है।

मशीनों के चलने से पृथ्वी में होनेवाले कंपन के कारण दीवारों को धमक पहुँचती है, जिससे कमजोर दीवारों के ढह जाने का भय रहता है। दूसरे, कारखानों की दीवारें बहुत कड़ी होती हैं और उनपर बोझ भी बहुत अधिक रहता है। तीसरे, आँधी चलने के समय हवा की दाब सहने की क्षमता भी उनमें होनी चाहिए। इन्हीं कारणों से कारखानों की दीवारें साधारण मकानों की दीवारों से अधिक पुष्ट बनाई जाती हैं।

कारखानों का फर्श बहुत चिकना नहीं होना चाहिए, जिससे काम करनेवालों के फिसलने का डर न रहे। वैसे भी, फर्श अधिक कड़ा और दृढ़ होना चाहिए, जिससे मशीनों की घड़घड़ाहट तथा भारी सामान के बोझ से क्षति न पहुँचे। फर्श की पुष्टता बढ़ाने के लिये सीमेंट में कंक्रीट की मात्रा बढ़ा दी जाती है, अथवा सोडियम सिलिकेट या आइरोनाइट का उपयोग किया जाता है।

कारखानों में भीतर की गंदी तथा गीली हवा बदलने के लिये हवा बाहर फेंकनेवाले बिजली के पंखे छत के पास लगाए जाते हैं। इस प्रकार भीतर की गरम तथा गीली हवा बराबर शुद्ध हवा द्वारा बदलती रहती है।

कारखाने में सामान इत्यादि की चोरी रोकने के निमित्त तथा कर्मियों को बिना आज्ञा के भीतर बाहर आने जाने से रोकने के लिये कई द्वारों के स्थान पर एक ही बड़ा द्वार बनाया जाता है, जिसपर प्रायः चौकीदार रहता है। इस द्वार के अतिरिक्त आग लगने पर बच निकलने के लिये दूसरी ओर भी एक अन्य द्वार लगा देना आवश्यक है।

कारखाने की मशीनों की घड़घड़ाहट के कारण बहुत अधिक शोर और आवाज होती है, इसलिये कारखाने को बस्ती से अलग नगर के एक किनारे पर रखना चाहिए। बहुत से कारखानों में चिमनी से निकलनेवाला धुआँ भी विषाक्त गैस से भरा रहता है। इनसे बचने के हेतु भी कारखाने को आबादी से हटकर ही बनाना चाहिए।

बड़े बड़े कारखानों के निर्माण के लिये स्थान चुनते समय इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि पानी और बिजली पर्याप्त मात्रा में और सुविधापूर्वक मिल सके। इसके अतिरिक्त गंदे पानी इत्यादि की निकासी भी समुचित और सस्ते उपायों से हो सके।

कारखाने का स्थान नियत करते समय यह भी विचार रखना चाहिए कि पास में कच्चा माल उपयुक्त मात्रा में तथा मजदूर उचित मूल्य पर मिल जायँगे कि नहीं। जमीन के चुनाव के समय पानी तथा मिट्टी की जाँच भी इस विचार से करनी चाहिए कि पानी शुद्ध है तथा भूमि के नीचे की परत बहुत ऊँची तो नहीं है और नींव डालने के लिये मिट्टी यथेष्ट दृढ़ है।

अतः कारखाने के निर्माण के लिये उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त स्थान चुनते समय यह बात भी दृष्टि में रहे कि भविष्य में कारखाने के विस्तार के लिये पर्याप्त भूमि भी सरलता से और सस्ते दाम में मिल सके। यदि कारखाना मालिक बड़ा पूँजीपति हो तो प्रारंभ में ही अधिक जमीन खरीद लेना उचित होगा। (का० प्र०)

कारखानों में उत्पादन का इतिहास प्रारंभ में वस्तुएँ कारीगरों के घर पर ही बना करती थीं, परंतु जैसे जैसे कारीगरों द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपयोग बढ़ा वैसे वैसे बड़े पैमाने पर निर्माण की आवश्यकता भी बढ़ी। साहसी व्यापारी कारीगरों के घर सामान पहुँचाकर उन्हें आर्थिक सहायता देकर सामग्री बनवाने लगे। परंतु कारीगरों तक माल पहुँचाने और उनसे निर्मित सामग्री इकट्ठी करने में बहुत समय नष्ट होता था; काम बराबर अच्छे मेल का नहीं बनता था, कारीगर बहुधा समय पर काम पूरा नहीं करते थे और कारीगरों द्वारा माल दबाकर बैठ जाने का बड़ा भय रहता था। इसलिये साहसी व्यापारी बड़े बड़े भवन बनवाकर वहीं कारीगरों को बुलाने लगे और इसी से कारखानों की उत्पत्ति हुई। इसमें अवगुण यह था कि उपयुक्त भवन बनवाने में बहुत सी पूँजी फँस जाती थी। यदि यंत्रों की आवश्यकता होती थी तो उसमें भी पूँजी लगती थी। जब कारीगर दूर दूर से आते थे तब उनके रहने का भी प्रबंध करना पड़ता था; फिर, कारीगरों के कार्य के निरीक्षण के लिये रखे गए व्यक्तियों का वेतन भी देना पड़ता था। इन सब अवगुणों के होते हुए भी कारखानों की संख्या बढ़ने लगी। ग्रेट ब्रिटेन में कारखानों का विकास सबसे पहले हुआ। सन् १७५६ ई० तक वहाँ कई छोटे मोटे कारखाने खुल गए थे। कालांतर में वाष्प इंजन के आविष्कार (१७६९ ई०) के बाद कारखानों की वृद्धि बहुत शीघ्र हुई। इसी समय के लगभग इंग्लैंड के तीन व्यक्तियों (हारग्रीव्ज, आर्कराइट और क्रॉम्पटन) ने क्रमानुसार सूत कातने, कपड़ा बुनने और तागा बटने की मशीनों की उपज्ञा की और तब से कपड़ा बड़े बड़े कारखानों में बनने लगा। १९वीं शताब्दी के मध्य तक अनेक प्रकार के कारखाने स्थापित हो गए थे, जैसे कागज, पुस्तकों, काच, मिट्टी के बरतनों, धातु के बरतनों, इंजनों, मशीनों, जूतों, लकड़ी की वस्तुओं, मक्खन, डिब्बाबंदी, पावरोटी आदि के। उस शताब्दी के अंत तक पावरोटी, बाइसिकिल, मोटरकार, बिजली के सामान, रासायनिक पदार्थ, रबर आदि के भी कारखाने खुल गए।

यद्यपि ब्रिटेन ने मशीनों और कारीगरों का बाहर जाना बंद कर रखा था, तो भी चोरी से कुछ मशीनें और अनेक कारीगर बाहर चले ही गए और यूरोप तथा अमरीका में भी कारखाने बनने लगे। अमरीका में कारखानों की विशेष आवश्यकता थी, क्योंकि वहाँ कारीगरों और श्रमिकों की कमी थी। वहाँ मशीनों के निर्माण में विशेष विकास हुआ और अनेक यंत्र बने जो प्रायः स्वचालित थे।

प्रारंभिक कारखाने छोटे होते थे क्योंकि एक व्यक्ति अधिक पूँजी नहीं लगा सकता था। लाख दो लाख रुपए की पूँजी प्रायः एक सीमा थी। परंतु १९वीं शताब्दी के अंत में साझे के कारखाने चलने लगे और कंपनियों के विषय में नियम बन जाने पर सीमित उत्तरदायित्व की कंपनियाँ बड़ी शीघ्रता से खुलने लगीं। श्रमिकों की कमी भी तब पूरी होने लगी जब श्रमिकों के स्वास्थ्य और सुख के लिये कानून बने। पहले श्रमिकों को प्रति दिन १२ घंटे काम करना पड़ता था। धीरे धीरे यह समय घटकर आठ घंटे या इससे भी कम हो गया। साथ ही, श्रमिकों के लिये न्यूनतम वेतन, छुट्टियों, आयुर्वैज्ञानिक उपचार, बीमा आदि के भी नियम बन गए। बालकों से कारखानों में काम कराना बंद कर दिया गया। इनमें से कई सुविधाओं की प्राप्ति के लिये श्रमिकों को कष्टप्रद हड़तालें करनी पड़ी थीं। अब विश्व के अधिकांश कारखानों के श्रमिक सुख से रहते हैं और विशेष मशीनों के कारण थोड़े ही मानव श्रम से बहुत अधिक सामग्री की उत्पत्ति होती है, जिससे उपभोक्ता को कोई सामग्री बहुत महँगी नहीं पड़ती।

सं०ग्रं०——एच० डी० फ्रॉङ्ग : द ट्रायंफ़ ऑव द फ़ैक्टरी सिस्टम इन इंग्लैंड (१९३०); वी० एम० क्लार्क : हिस्ट्री ऑव मैनुफ़ैक्चरर्स इन द यूनाइटेड स्टेट्स, ३ जिल्द (१९२९)।

कारडोवा यूरोप में दक्षिणी स्पेन का एक प्रांत तथा उसकी राजधानी है। इसी नाम का एक अन्य नगर उत्तरी अमरीका के अलास्का राज्य के उत्तरी-पश्चिमी भाग में भी स्थित है।

स्पेन का कारडोवा नगर ग्वाडलक्विवर नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। संभवतः यहाँ पर प्रथम बस्ती कार्थीजियन राज्यकाल में हुई। १५२ ई० पू० में इसपर रोमन अधिकार हो गया। ७५६ ई० में मूर शासक अब्दुर्रहमान ने इसे स्पेन की राजधानी बनाया। नगर में रोमन दीवारों की नीवें तथा मूर काल की सँकरी और टेढ़ी मेढ़ी गलियाँ विद्यमान हैं। १८०८ ई० में फ्रांसीसियों ने कारडोवा में जो लूटपाट की उसका प्रभाव उस शताब्दी के अंत तक नहीं मिट सका।

नगर का मुख्य दर्शनीय भवन मेजक्विटा अर्थात् मसजिद है जो अब एक गिरजाघर है। यहाँ के मुख्य उद्योग शराब तथा कपड़ा बनाना हैं। यात्रियों से अच्छी आय होती है। ताँबा तथा तेल के निर्यात महत्वपूर्ण हैं। जनसंख्या २,३१,६४१ (१९६८) है।

कारडोवा प्रांत की सीमाएँ उत्तर-पूर्व में क्युडाडरियल, पूर्व में जेन, दक्षिण-पूर्व में ग्रैनाडा, दक्षिण में मैलागा, दक्षिण-पश्चिम में सेविल तथा उत्तर-पश्चिम में बेटाजोज द्वारा निर्धारित होती हैं। क्षेत्रफल १३,७१८ वर्ग कि० मी०, जनसंख्या ७,९८,४३७ (१९६८) है। ग्वाडलक्विवर नदी के

उत्तर का भाग सियराडी मोरेना की पर्वतीय पट्टी है तथा दक्षिण का भाग ला कैंपिना का विशाल मैदान है।

पर्वतीय भाग में पर्याप्त खनिज संपत्ति है तथा मैदान में उपजाऊ मिट्टी है, परंतु यहाँ के निवासियों के अज्ञान से किसी का सदुपयोग नहीं हुआ है। पर्वतीय भाग में भेड़ें तथा सुअर पाले जाते हैं। मैदान में अनाज तथा फल उत्पन्न होते हैं और शराब तथा तेल तैयार किया जाता है। प्रांत में कोयला, चाँदी, सीसा तथा जस्ता भी निकाला जाता है। यहाँ के मुख्य नगर कारडोवा, लुसेना, पुँटे गेनिल, वेना तथा मांटिला हैं। (प्रे० च० अ०)

कारण जो कार्य के पूर्व में नियत रूप से रहता हो और अन्यथासिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं। केवल कार्य के पूर्व में रहने से ही कारणत्व नहीं होता, कार्य के उत्पादन में साक्षात्कार सहयोगी भी इसे होना चाहिए। अन्यथासिद्धि (द्र०) में उन तथाकथित कारणों का समावेश होता है जो कार्य की उत्पत्ति के पूर्व रहते हैं पर कार्य के उत्पादन में साक्षात् उपयोगी नहीं है। जैसे कुम्हार का पिता अथवा मिट्टी ढोनेवाला गधा घट रूप कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है।

कार्य-कारण-संबंध अन्वयव्यतिरेक पर आधारित है। कारण के होने पर कार्य होता है, कारण के न होने पर कार्य नहीं होता। प्रकृति में प्रायः कार्य-कारण-संबंध स्पष्ट नहीं रहता। एक कार्य के अनेक कारण दिखाई देते हैं। हमें उन अनेक दिखाई देनेवाले कारणों में से वास्तविक कारण ढूँढ़ना पड़ता है। इसके लिये सावधानी के साथ एक एक दिखाई देनेवाले कारणों को हटाकर देखना होगा कि कार्य उत्पन्न होता है या नहीं। यदि कार्य उत्पन्न होता है तो जिसको हटाया गया है वह कारण नहीं है। जो अंत में शेष बच रहता है वही वास्तविक कारण माना जाता है। यह माना गया है कि एक कार्य का एक ही कारण होता है अन्यथा अनुमान की प्रामाणिकता नष्ट हो जायगी। यदि धूम के अनेक कारण हों तो धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान करना गलत होगा। जहाँ अनेक कारण दिखाई देते हैं वहाँ कार्य का विश्लेषण करने पर मालूम होगा कि कार्य के अनेक अवयव कारण के अनेक अवयवों से उत्पन्न हैं। इस प्रकार वहाँ भी कार्य-विशेष का कारणविशेष से संबंध स्थापित किया जा सकता है। कारण-विशेष के समूह से कार्यविशेष के समूह को उत्पन्न मानना भूल है। वास्तव में समूह रूप में अनेक कारणविशेष समूहरूप में कार्य को उत्पन्न नहीं करते। वे अलग अलग ही कार्यविशेष के कारण हैं।

कार्य के पूर्व में नियत रूप से रहना दो तरह का हो सकता है। कारण कार्य के उत्पादन के पहले तो रहता है परंतु कार्य के उस कारण से पृथक् उत्पन्न होता है। कारण केवल नवीन कार्य के उत्पादन में सहकारी रहता है। मिट्टी से घड़ा बनता है अतः मिट्टी घड़ा का कारण है और वह कुम्हार भी जो मिट्टी को घड़े का रूप देता है। कुम्हार के व्यापार के पूर्व मिट्टी मिट्टी है और घड़े का कोई अस्तित्व नहीं है। कुम्हार के सहयोग से घड़े की उत्पत्ति होती है अतः घड़ा नवीन कार्य है जो पहले कभी नहीं था। इस सिद्धांत को आरंभवाद कहते हैं। कारण नवीन कार्य का आरंभक होता है, कारण स्वयं कार्य रूप में परिणत नहीं होता। यद्यपि कार्य के उत्पादन में मिट्टी, कुम्हार, चाक आदि वस्तुएँ सहायक होती हैं परंतु ये सब अलग अलग कार्य (घड़ा) नहीं हैं और न तो ये सब संमिलित रूप में घड़ा हैं। घड़ा इन सबके सहयोग से उत्पन्न परंतु इन सबसे विलक्षण अपूर्व उपलब्धि है। अवयवों से अवयवी पृथक् सत्ता है; इसी सिद्धांत के आधार पर आरंभवाद का प्रवर्तन होता है। भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक इस सिद्धांत के समर्थक हैं।

कार्य का कारण के साथ संबंध दूसरी दृष्टि से भी देखा जा सकता है। मिट्टी से घड़ा बनता है अतः घड़ा अव्यक्त रूप में (मिट्टी के रूप में) विद्यमान है। यदि मिट्टी न हो तो चूँकि घड़े की अव्यक्त स्थिति नहीं है अतः घड़ा उत्पन्न नहीं होता। वस्तुविशेष ही कार्यविशेष के कारण हो सकते हैं। यदि कार्य कारण से भिन्न नवीन सत्ता हो तो कोई वस्तु किसी कारण से उत्पन्न हो सकती है। तिल की जगह बालू से तेल नहीं निकलता क्योंकि प्रकृति में एक सत्ता का नियम काम कर रहा है। सत्ता से ही सत्ता की उत्पत्ति होती है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती—यह प्रकृति के नियम से विपरीत होगा। सांख्ययोग का यह सिद्धांत परिणामवाद कहलाता है। इसके अनुसार कारण कार्य के रूप में परिणत होता है, अतः तत्वतः कारण कार्य से पृथक् नहीं है।

इन दोनों मतों से भिन्न एक मत और है जो न तो कारण को आरंभक मानता है और न परिणामी। कारण व्यापाररहित सत्ता है। उसमें कार्य की उत्पत्ति के लिये कोई व्यापार नहीं होता। कारण कूटस्थ तत्व है। परंतु कूटस्थता के होते हुए भी कार्य उत्पन्न होता है क्योंकि द्रष्टा को अज्ञान आदि बाह्य उपाधियों के कारण कूटस्थ कारण अपने शुद्ध रूप में नहीं दिखाई देता। जैसे भ्रम की दशा में रस्सी की जगह सर्प का ज्ञान होता है, वैसे ही कारण की जगह कार्य दिखाई पड़ता है। अतः कारण-कार्य का भेद तात्विक भेद नहीं है। यह भेद औपचारिक है। इस मत को, जो अद्वैत वेदांत में स्वीकृत है, विवर्तवाद कहते हैं। आरंभवाद में कार्य कारण पृथक् है, परिणामवाद में उनमें तात्विक भेद न होते हुए भी अव्यक्त-व्यक्त-अवस्था का भेद माना जाता है, परंतु विवर्तवाद में न तो उनमें तात्विक भेद है और न अवस्था का। कार्य कारण का भेद भ्रांत भेद है और भ्रम से जायमान कार्य वस्तुतः असत् है। जब तक दृष्टि दूषित है तभी तक व्यावहारिक दशा में वे दोनों पृथक् दिखाई देते हैं। दृष्टिदोष का विलय होते ही कार्य का विलय और कारण के शुद्ध रूप के ज्ञान का उदय होता है।

कारण की तीन विधाएँ मानी गई हैं। (१) उपादान कारण वह कारण है जिसमें समवाय संबंध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है। अर्थात् वह वस्तु जो कार्य के शरीर का निर्माण करती है, उपादान कहलाती है। मिट्टी घड़े का या तागे कपड़े के उपादान कारण हैं। इसी को समवायि कारण भी कहते हैं। (२) असमवायि कारण समवायि कारण में समवाय संबंध से रहकर कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है। तागे का रंग तागे में, जो कपड़े का समवायि कारण है, समवाय संबंध से रहता है। और यही रंग कपड़े के रंग का कारण है अतः तागे का रंग कपड़े का असमवायि कारण कहा जाता है। समवायि कारण द्रव्य होता है, परंतु असमवायि कारण गुण या क्रिया रूप होता है। (३) निमित्त कारण समवायि कारण में गति उत्पन्न करता है जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। कुम्हार घड़े का निमित्त है क्योंकि वही उपादान से घड़े का निर्माण करता है। समवायि और असमवायि से भिन्न अन्यथासिद्धिशून्य सभी कारण निमित्त कारण कहे जाते हैं। अरस्तू के अनुसार कारण की चौथी विधा भी होती है जिसे वह प्रयोजक (फ़ाइनल) कारण कहता है। जिस उद्देश्य से कार्य का निर्माण होता है वह उद्देश्य भी कार्य का कारण होता है। पानी रखने के लिये घड़े का निर्माण होता है अतः वह उद्देश्य घड़े का प्रयोजक कारण है। इस चौथी विधा का निमित्त में ही समावेश हो सकता है।

कारण के बारे में आरंभवाद का सिद्धांत निमित्त कारण को महत्व देता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य का निर्माण होता है, यदि वह उद्देश्यस्थित वस्तुओं से पूर्ण हो जाय तो कार्य की आवश्यकता ही न रहेगी। अतः निमित्त से पृथक् कार्य की स्थिति है और उसकी पूर्ति के लिये निमित्त उपादान में गति देता है। जीवों को उनके कर्मफल का भोग कराने के उद्देश्य से ईश्वर संसार का निर्माण करता है। परिणामवाद का जोर उपादान कारण पर है। गति वस्तु को दी नहीं जाती, गति तो वस्तु के स्वभाव का अंग है। अतः मुख्य कारण गति (निमित्त) नहीं अपितु गति का आधार (उपादान प्रकृति) है। अपने आप उपादान कार्य रूप में परिणत होता है, केवल अव्यक्तता के आवरण को दूर करने के लिये तथा सुप्त गति को उद्बुद्ध करने के लिये किसी निमित्त की आवश्यकता होती है।

कारण के बारे में यदि क्षणिकवाद का उल्लेख न हो तो विषय अधूरा ही रह जायगा। उपादान और निमित्त भाव रूप होने के कारण बौद्धों के अनुसार क्षणिक हैं। उनकी स्थिति एक क्षण से अधिक नहीं रह सकती। ऐसी स्थिति में उपादान जब प्रतिक्षण बदलता है तो वह कार्य को कहाँ उत्पन्न कर सकेगा? अपने एक क्षण के जीवन में वह

दूसरी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। उत्पादन के लिये कम से कम चार क्षणों तक कारण की स्थिति आवश्यक है। प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति, तृतीय क्षण में दूसरी वस्तु का उत्पादन और चतुर्थ क्षण में नाश। परंतु जब कारण चार क्षणों तक रह गया तो फिर उसका नाश कौन कर सकता है। परंतु इससे यह न मानना चाहिए कि कारण नित्य है। यदि कारण नित्य है तो वह त्रिकाल में नित्य होगा, फिर कारण से कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? यदि वस्तु नित्य है तो उसका आरंभ कैसे होगा ? न तो परिणामवाद और न आरंभवाद इसका उत्तर दे सकता है। विवर्तवाद तो हेय है क्योंकि वह सारे संसार को भ्रम मानता है। अतः क्षणिकवाद क्षणसंतान को ही सत्य मानते हुए कहता है कि कारण-कार्य का संबंध केवल क्रम का संबंध (रिलेशन ऑव सीक्वेंस) है। क्षणसंतान में जो पहला क्षण है वह कारण और बादवाला क्षण कार्य कहा जा सकता है। इस क्रम के अतिरिक्त उनमें कोई तात्विक संबंध नहीं है।

सं०ग्रं०—विश्वनाथ : न्यायसिद्धांतमुक्तावली; केशव मिश्र : तर्कभाषा; उदयन : किरणावली; वाचस्पति : सांख्यतत्वकौमुदी; राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलासफ़ी, २ भाग; शांतरक्षित : तत्वसंग्रह।

(रा० पां०)

कारण शरीर वेदांत में जीव के तीन शरीर माने गए हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। अविद्या से युक्त आत्मा को जीव कहते हैं। जीव का स्थूल शरीर भौतिक तत्वों से निर्मित होता है। उसका सूक्ष्म शरीर ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, प्राण, मन और बुद्धि से निर्मित होता है। जीव का कारण शरीर अविद्या है। यह अपेक्षाकृत स्थायी होता है। स्थूल शरीर के नष्ट होने पर इसका विनाश नहीं होता। कारण शरीर विभिन्न जन्मों में जीव के साथ लगा रहता है। कारण शरीर से युक्त होने के कारण जीव को प्राज्ञ कहते हैं। कारण शरीर इसलिये कहलाता है कि प्रकृति का एक विशिष्ट रूप होने से यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर का कारण है क्योंकि ये प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। जीव को जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसे अपने आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तब अविद्या से निर्मित कारण शरीर भी नष्ट हो जाता है। तब जीव जन्म मरण के बंधन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। (रा० शं० मि०)

कारदूच्ची, जूसूए (१८३५–१९०७ ई०) इतालीय कवि, आलोचक, देशभक्त राजनीतिज्ञ जूसूए कारदूच्ची का जन्म १८३५ में हुआ। छोटी अवस्था में ही उसने लातीनी तथा इतालीय कवियों की कृतियों का अध्ययन किया। कारदूच्ची को पिता की मृत्यु के पश्चात् अपने परिवार की भी देखरेख करनी पड़ी, किंतु उसका अध्ययन चलता रहा। १८६० में वह बोलोन विश्वविद्यालय में इतालीय साहित्य का अध्यापक नियुक्त हुआ और १९०४ तक उस पद पर कार्य किया। कारदूच्ची का सारा जीवन अध्ययन और राजनीति में बीता। १८९० में उसको सेनेटर मनोनीत किया गया। मृत्यु के कुछ समय पूर्व सन् १९०६ में कारदूच्ची को नोबेल पुरस्कार से संमानित किया गया। राजनीति के क्षेत्र में प्रसिद्धि से वह दूर रहा किंतु समसामयिक इटली को एक राजनीतिक विचारधारा में सूत्रबद्ध करने से उसका स्थान महत्वपूर्ण है।

स्वच्छंदतावाद का कारदूच्ची ने विरोध किया। वह उसे पूर्ण रूप से विद्रोही विचारधारा की काव्यशैली समझता था। काव्य में वास्तविकता का उसने समर्थन किया। कारदूच्ची प्राचीन काव्य तथा काव्यशास्त्र का गंभीर विद्वान् था और उसके प्रथम काव्यसंग्रह 'युवेनीलिया' (१८५०–६०) की कविताओं में प्राचीन युग की स्मृतियों से युक्त कविताएँ मिलती हैं। 'लेवियाग्राविया' (१८६१–७१) में तथा 'इन्नो आसताना' (शैतान के प्रति) में मुक्त वातावरण के दर्शन होते हैं। 'ज्यांबी एद एपोदी' व्यंग्यपूर्ण गीतिकाव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसकी कविप्रतिभा के सबसे सुंदर उदाहरण 'रीमे दुओवे' (नवीन कविताएँ, १८६१–८७) तथा 'ओदी बारबरे' और 'रीमे ए रीतमी' की कविताओं में मिलते हैं। विभिन्न प्रकार के विषयों से संबंधित कविताएँ इन संग्रहों में मिलती हैं, जिनमें प्रकृति के सुंदर स्वाभाविक वर्णन, संगीत और गहन अनुभूति सभी कुछ मिलती हैं। उसकी सभी कविताओं में गंभीर अध्ययन की झलक मिलती है। इतालीय साहित्य के इतिहास में कारदूच्ची का स्थान गद्यलेखक तथा आलोचक की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उसका गद्य अलंकृत शैली का है, तर्क वितर्क से वह पूर्ण है। अनेक कवियों और प्राचीन लेखकों की कृतियों का उसने संपादन भी किया तथा उनपर आलोचनाएँ लिखीं। कारदूच्ची की आलोचनाएँ दे सांक्तीस की कोटि की नहीं हैं। यह काव्यसमालोचना के सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं कर सका है। अपने पाठकों को कवियों की कृतियों के रस से परिचित कराने का महत्वपूर्ण कार्य उसने अपनी आलोचनाओं के माध्यम से किया। ऐतिहासिक आलोचना की धारा का उसने सूत्रपात किया। पेत्रार्का, पोलीत्सियानो तथा अन्य प्राचीन कृतियों पर जो आलोचनाएँ कारदूच्ची ने लिखी उनका आज भी साहित्यिक मूल्य है। आज के इतालीय साहित्य में कदाचित् कवि की अपेक्षा साहित्यकार कारदूच्ची का अधिक महत्व है। (रा० सिं० तो०)

कार निकोबार भारत के निकोबार द्वीपसमूह का सबसे उत्तर में स्थित एक द्वीप है। क्षेत्रफल ४९ वर्ग मील। धरातल मूँगे से ढका है। तट पर नारियल की पंक्तियाँ हैं। वर्ष भर तीव्र वर्षा होती है : सूखे समय में गर्मी अधिक पड़ती है। मलेरिया अधिक होता है। यहाँ के निवासी व्यापारी प्रवृत्ति के हैं। यहाँ पर कुल निकोबार द्वीप के आधे नारियल उत्पन्न होते हैं, इसलिये यह द्वीप व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहाँ के निवासी बाँस की वस्तुएँ अच्छी बनाते हैं। प्रत्येक ग्राम में एक अल्दनम नामक कक्ष होता है। जिसमें सभाभवन, विदेशियों की बस्ती, नारियल के कारखाने तथा श्मशानभूमि आदि रहती हैं। शवयात्रा के समय दो दल आपस में इस विवाद को लेकर मल्लयुद्ध करते चलते हैं कि शव को गाड़ा जाय या नहीं। (प्रे० चं० अ०)

कारनेगी ट्रस्ट विश्वविश्रुत उद्योगपति ऐंड्रू कारनेगी (सन् १८३५–१९१९ ई०) के स्वस्थापित ट्रस्टों ने मानवतावादी दृष्टि से अंग्रेजी भाषाभाषी विश्व की साहित्य, कला, संस्कृति, शिक्षा एवं समाजसेवा की दिशा में सेवा का उज्वल दृष्टांत उपस्थित किया है। कारनेगी स्काटलैंड के डनफ़र्मलिन् नामक स्थान में उत्पन्न हुए तथा १३ वर्ष की उम्र के बाद अमरीका चले गए। वहाँ अमरीकी पेन्सेलवेनियन काटन मिल में बाबिन ब्वाय (तागा उठानेवाला) के रूप में काम करने लगे। कालांतर में वे पेनसेलवेनियन रेलवे बोर्ड के मंत्री और युद्ध विभाग के अधिकारी नियत हुए। सन् १८६४ ई० में उन्होंने उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया। तेल के व्यापार से अपना औद्योगिक जीवन आरंभ कर सन् १८६५ में ये लोहे और कोयले की खानों के स्वामी हो गए; फिर १८८८ ई० तक होम स्टील मिल, कोयले एवं लोहे की खानों, ४२५ मील रेलवे लाइन और प्रपाती यातायात की एक लाइन खरीद ली। १९०१ ई० में यू० ए० स्टील कारपोरेशन में अपनी संस्थाओं के संमेल (merger) के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन लोकसेवा के क्षेत्र में समर्पित कर दिया। वस्तुतः लोकसेवा का कार्य उन्होंने ३१ वर्ष की आयु से ही आरंभ कर दिया था।

'पिट्सबर्ग कारनेगी इंस्टीटयूट' की स्थापना कारनेगी ने १८९५ ई० में स्थानीय लोगों की सुख सुविधा के लिये की। स्काटलैंड विश्वविद्यालय के हितार्थ 'स्काटलैंड कारनेगी ट्रस्ट' (सन् १९०१ ई०) तथा उदात्त मानव मूल्यों के आधार पर व्यापक पैमाने पर खोज, शोध एवं अनुसंधान के लिये 'वाशिंगटन कारनेगी ट्रस्ट' की स्थापना सन् १९०२ ई० में उन्होंने की।

अमरीका निवासी होते हुए भी वे अपनी जन्मभूमि की सेवा से विमुख नहीं रहे और अपने जन्मस्थान डनफ़र्मलिन् के बच्चों के उन्नयन, विकास एवं संवृद्धि के लिये 'कारनेगी डनफ़र्मलिन् ट्रस्ट' की स्थापना की। उनके द्वारा वीर कार्यों को प्रोत्साहन, प्रवर्धन एवं संरक्षण देने के लिये सन् १९०४ ई० में 'कारनेगी हीरो ट्रस्ट' की स्थापना की गई। संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा तथा न्यू फ़ाउंडलैंड से शिक्षण प्रशिक्षण के विकास के लिये 'कारनेगी फ़ाउंडेशन फ़ार द ऐडवांसमेंट ऑव टीचिंग' की स्थापना हुई। युद्ध की सदा के लिये समाप्ति के उद्देश्य से, उसके कारण और परि-

शांति पर अनुसंधान करने के लिये 'कारनेगी एंडाउमेंट फ़ॉर इंटरनैशनल पीस' नामक ट्रस्ट की १९१० ई० में उनके द्वारा हुई स्थापना विशेष महत्व रखती है।

'न्यूयार्क कारनेगी कारपोरेशन' ने ३१ करोड़ ५० लाख डालर का महत्वपूर्ण अनुदान संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशों एवं साम्राज्यों के लोगों के लिये दिया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में एक करोड़ डालर से कारनेगी ने 'कारनेगी यूनाइटेड किंगडम ट्रस्ट' की स्थापना की जिसका उद्देश्य परिवर्तित स्थितियों को ध्यान में रखते हुए ब्रिटेन, स्काटलैंड तथा आयरलैंड के विधानांतर्गत राष्ट्रीय महत्व के लोकोपयोगी कार्य करना है। सन् १९१७ ई० के रायल चार्टर के अंतर्गत इसका संचालन होता है।

कारनेगी के ट्रस्टों द्वारा संगीत, साहित्य, कला, नाटक, रंगमंच, शिक्षा, पुस्तकालय, संग्रहालय, मातृ-शिशु-रक्षा, बाल तथा युवा क्रीड़ा-केंद्र, युवामंगल, प्रौढ़ोत्थान, ग्रामपुनर्निर्माण एवं समाजसेवा आदि के क्षेत्रों में सतत सेवा का महत्वपूर्ण कार्य चल रहा है। अपने जीवनकाल में ४५ करोड़ डालर का दान इन महत्वपूर्ण ट्रस्टों को कारनेगी ने दिया था।

सं०ग्रं०--ए० कारनेगी : आटोबायोग्रैफ़ी, संपादक, जे० सी० वानडिका; ब्रिटेन--ऐन आफ़िशल हैंडबुक, १९५९ संस्करण, सेंट्रल आफ़िस ऑव इनफ़ारमेशन, लंदन। (सु० पां०)

कारनेगी, डेविड एक अन्वेषक था जो पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरुस्थलीय क्षेत्र में सोना तथा चरागाह की प्राप्ति के उद्देश्य से सन् १८९५ ई० से १८९७ ई० तक भ्रमण करता रहा। जुलाई, १८९६ ई० में इसने कुलगार्डी की सोने की खान से उत्तर में किंबरले (Kimberley) के पठार तक लगभग ५,००० मील की यात्रा आठ मास में तय की, किंतु यह सोना और चरागाह, दोनों की खोज में असफल रहा। इस यात्रा का सजीव वर्णन उसने अपनी 'स्पिनिफ़ेक्स ऐंड सैंड' (Spinifex and Sand) नामक पुस्तक में किया है। इसके द्वारा पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरुस्थलीय क्षेत्र की विशेष जानकारी प्राप्त होती है। कारनेगी ने उक्त पुस्तक में ३० फ़ुट से लेकर ५० फ़ुट तक ऊँचे बालू के टीलों के मिलने का उल्लेख किया है। ये इस मरुस्थलीय क्षेत्र में २६° द० अ० के उत्तर लगभग ४०० मील तक फैले हैं। (न० प्र० सिं०)

कॉरनेय पियर (१६०६-१६८४) इनका जन्म रुआँ में ६ जनवरी, सन् १६०६ को हुआ था। इनके पिता न्यायनिष्ठ मजिस्ट्रेट थे। आरंभ में ये मध्यवर्गीय (बूर्जुवा) थे; किंतु अपनी सेवाओं के कारण कालांतर में कुलीन (नोबुल) बना दिए गए। इन्होंने जेसुइट स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। सन् १६२४ में इन्होंने वकालत करने के लिये अपना नाम लिखवाया किंतु इनका व्यवसाय वकालत नहीं, काव्य था। इन्होंने सन् १६२९ में 'मेलांज पोएटिक' और प्रथम सुखांत नाटक 'मेलित' लिखा जो इनके निजी विफल प्रेमव्यापार पर आधारित है। इनके आरंभिक छह सात सुखांत नाटकों में कोई महान् गुण नहीं था; किंतु नवीनता एवं आकर्षण के कारण उन्हें सफलता प्राप्त हुई। सन् १६४० में एक मध्यवर्गीय महिला मारी द लाम्पेरियर से इन्होंने विवाह किया जिनसे छह संत... हुई।

रुआँ में कॉरनेय की नाटक विषयक सफलता ने रिशलू का ध्... आकृष्ट किया और कॉरनेय पेरिस जाकर 'पाले कारदिनाल थेआत्... रिशलू-कविमंडल में संमिलित हो गए। इस प्रकार न... कारों से इनका निकटतर संपर्क हुआ। 'मेदे' ... है। इस युगपरिवर्तनकारी पुस्तक ने उन्हें ... (१६३६) बहुत लोकप्रिय हुआ; किंतु ... उनसे अप्रसन्न हुए और रिशलू के संकेत ... आलोचना की। इससे उत्पन्न घृणा के का... रुआँ लौट आए।

'ल सिद' की आलोचना के पश्चात् 'कॉ... सुखांत नाटक को छोड़कर विशुद्ध दुःखांत ना... सन् १६४० और १६४३ के बीच लिखी हु... 'होरास', 'सिना' और 'पॉलियुत' हैं। सन् १६४३ और १६५२ के बीच इन्होंने १० नाटक लिखे जिनमें 'ला मॉर्त द पॉम्पे', 'रोदोगुन', 'आंद्रोमेद', 'निकोमेद' आदि सात दुःखांत नाटक तथा दो सुखांत नाटक हैं। 'ल मांतर' फ़्रेंच सुखांत नाटकों का अग्रदूत है, जिसमें एक सफ़ेद झूठ बोलनेवाले पात्र की व्यग्रता का सुंदर चित्रण है। 'सुइत' को सफलता नहीं मिली। 'दॉन् साँश दारागाँ' वीर रसपूर्ण सुखांत नाटक है। सन् १६५९ और १६७४ के बीच इन्होंने ११ नाटक लिखे जिनमें 'ला त्वाज़ोंदॉर', 'सैरतॉरियस', 'अतिला' और 'तित ए बेरेनिस' (रासिन के 'बेरेनिस' से उत्कृष्ट) मुख्य हैं। इनके परवर्ती नाटक इनके पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में अच्छे नहीं हैं।

दो बार अस्वीकृत होने के पश्चात् सन् १६४७ में ये अकादेमी के सदस्य चुने गए। कॉरनेय मध्यवर्गीय गुणों एवं परिमितियों से युक्त प्रांतीय (बोहीमियन नहीं) पुरुष थे। ये स्नेहपूर्ण एवं कर्तव्यपरायण पुत्र, भाई तथा पिता थे। ये असुंदर आकृति, कठोर रूप, अनाकर्षक व्यवहार, पवित्र प्रकृति और स्खलित स्वरवाले मनुष्य थे। यह धारणा भ्रांत है कि इनका निधन निर्धनावस्था में हुआ। इनका देहांत ३० सितंबर, सन् १६८४ को हुआ।

सन् १६२९ और १६७४ के बीच कॉरनेय ने ३३ नाटक लिखे, जिनमें आठ अत्यंत उत्कृष्ट हैं। ये अनुपम लेखक थे। इनके आरंभिक सुखांत नाटकों में आडंबर तथा चपलता है; किंतु वे थकानेवाले नहीं हैं। इनके अंतिम छह नाटक महत्वहीन हैं। इनके नाटकों के कुछ अनुच्छेद एवं उपकथाएँ विचार की उच्चता, गठन की समीचीनता तथा भाषा की उपयुक्तता की दृष्टि से अनुपम हैं; किंतु कहीं कहीं उनमें व्यर्थ बड़े बड़े शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। इनकी कविताएँ नीरस तथा भद्दी हैं।

जब कॉरनेय पेरिस आए तब रिनेसाँ क्लैसिकल ड्रामा विलीन हो चुका था; करुण दुःखांत नाटक का अधःपतन हो रहा था; और दुःखपूर्ण सुखांत नाटक लोकप्रिय था। कॉरनेय ने यही अंतिम नाट्यप्रणाली अपनाई। इनके दुःखांत नाटक का अभिप्राय वीररसप्रधान रोमांटिक नाटक था, जिसमें पात्रों की शक्ति का प्रदर्शन, संकल्प शक्ति के विश्वास की व्याख्या तथा गौरव की श्लाघनीय खोज होती थी। कॉरनेय फ़्रेंच क्लैसिकल दुःखांत नाटकों के रचयिता थे। इन्होंने कार्यों में मनोविश्लेषण पर बल दिया। इनके पात्रों के विषय में यह भ्रांत धारणा है कि वे 'सुंदर विचार' हैं, जीवित मनुष्य नहीं। वस्तुतः वे असाधारण मनुष्य हैं। जीवन की साधारण वस्तुओं के प्रति उनकी निश्चिंतता दर्शनीय है। ये नारी-चित्रण की अपेक्षा पुरुषचित्रण में अधिक सफल हुए हैं।

कॉरनेय ने गुणों पर नहीं, वरन् संकल्प पर बल दिया है। वीरतापूर्ण चरित्र की उदात्तता इनके दुःखांत नाटकों का प्रधान गुण है। 'ल सिद' में एक पुत्र के उदात्त एवं वीरतापूर्ण कर्तव्यपालन तथा संमान का, 'होरास' में देशभक्ति का, 'सिना' में कृपा का, 'पॉलियुत' में विश्वास का और 'निकोमेद' में सैनिक वीरता का चित्रण है। इनके समस्त नाटकों में आत्मा की उच्चता परिलक्षित होती है। सम्राटीय रोम, सामंतीय स्पेन तथा मूर्ति-पूजा-संबंधी पौराणिक कथाओं के द्वारा इन्होंने लुई चतुर्दश ...त्मा की अभिव्यक्ति की है। सम्राटीय रोम ने कॉरनेय को ... प्रदान किए। कठिन, पुष्ट, संकीर्ण, व्याव... प्रतिभा फ़्रेंच प्रतिभा के साथ मिलकर ... अनुकूल हुई।

...गीतात्मक नाटक नहीं लिख सके। ... काव्यात्मक उच्चता का अभाव ...नहीं; किंतु तर्क की प्रधानता ... वीरतापूर्ण ...त्व्य का ...ं, इनके ... की ओर ...मार्मिक ...पश्चात् ...ना से

अलेग्ज़ैंड्रीन का प्रयोग किया है। इनके 'दिसक़ुर' एवं 'एक्ज़ामें' नामक दुःखांत नाटकों में इनके नाटकीय सिद्धांत एवं प्रयोग की संक्षिप्त व्याख्या है। (मु० मो० दे०)

कारनो, एन० एल० एस० (१७९६-१८३२) यह फ्रांसीसी भौतिकीविद् थे और पेरिस में इनका जन्म हुआ था। १८१२ ई० में ये एक बहुशिल्प शिक्षणालय में भरती हुए पर अध्ययन छोड़कर इन्होंने अभियंता (Engineer) का पद ग्रहण किया। १८१६ ई० में ये सेना की एक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इन्हें लेफ्टिनेंट का पद मिला। बाद में इन्होंने गणित, रसायन, इतिहास, प्रौद्योगिकी, शासकीय अर्थव्यवस्था इत्यादि विषयों का अध्ययन किया। संगीत, ललितकला, व्यायाम विषयक खेलकूद, तैराकी, शस्त्र विद्या आदि में भी इनका अच्छा अभ्यास था। १८२७ ई० में ये कप्तान हुए और १८२८ ई० में ही नौकरी छोड़ दी।

ये मौलिक एवं गंभीर विचारक थे। केवल एक ही पुस्तक ये प्रकाशित कर पाए जिसमें इनके वैज्ञानिक अनुसंधानों की थोड़ी सी चर्चा है। इनके लेखों की पांडुलिपि सुरक्षित रखी थी जिससे पता लगा कि वे उष्मा की वास्तविक प्रकृति समझते थे। इसमें उन प्रयोगों का भी वर्णन मिलता है जिनमें बाद में जूल तथा अन्य वैज्ञानिकों ने उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक निकाला। उष्मागतिकी के मौलिक सिद्धांत के अनुसार उत्क्रमणीय इंजन (Reversible Engine) की दक्षता उन तापों पर निर्भर करती है जिनके बीच वह कार्य करता है। यह सिद्धांत कारनो की ही देन है अतः 'कारनो सिद्धांत' के नाम से प्रसिद्ध है। (र० शं० पां०)

कारपेथियन मध्य यूरोप की पर्वतमेखला में आल्प्स पर्वत के पूर्व में स्थित एक विशाल पर्वत है। यह पर्वतश्रेणी ब्रातिस्लावा से आरशोवा तक फैली है तथा एक चाप के आकार की है जिसका उन्नतोदर भाग उत्तर-पूर्व की ओर है। लंबाई तथा क्षेत्रफल में यह आल्प्स के तुल्य है परंतु ऊँचाई में आधी है। सर्वोच्च शिखर गर्लसडार्फ़स्पिज (८,७३७ फुट) है। संरचना में आल्प्स की भाँति मोड़दार है तथा समवयस्क भी है, परंतु इसकी हिमानियाँ, जलप्रपात तथा झीलें आल्प्सवालियों की अपेक्षा छोटी हैं। श्रेणी के मध्य भाग की चौड़ाई तथा ऊँचाई कम है अतः इसे पार करनेवाले मार्ग वहीं से होकर जाते हैं। (प्रे० चं० अ०)

कारफ़ू (कॉरफ़ू) भूमध्यसागर में ऐड्रियाटिक सागर के द्वार पर स्थित आयोनियन द्वीपसमूह का दूसरा बड़ा द्वीप है। यह ग्रीस राज्य का एक विभाग है। इसका क्षेत्रफल २२७ वर्ग मील है। अधिकतर भाग पर्वतीय है। पैंटोक्रैटोरास शिखर की ऊँचाई लगभग ३,००० फुट है। जलवायु भूमध्यसागरीय है, अतः मुख्य उपज नीबू, नारंगी, जैतून का फल तथा तेल, अंजीर और अंगूरी शराब हैं। ईसा से कोई ६०० वर्ष पूर्व कॉरिंथियन उपनिवेश के रूप में सर्वप्रथम मनुष्यों का बसना यहाँ प्रारंभ हुआ। कॉरफ़ू की राजधानी कॉरफ़ू नगर है जो पूर्वी तट पर स्थित एक उत्तम बंदरगाह भी है। नगर में एक संग्रहालय है जो एक मध्यकालीन दुर्ग में स्थित है। (प्रे० चं० अ०)

कारबंकल एक प्रकार का फोड़ा है जो उपचर्म के सड़ने से होता है। इसकी उत्पत्ति 'स्टैफ़ाइलोकाकस ऑरियस' नामक जीवाणु के संदूषण से होती है। दूसरे शब्दों में, यह एक प्रकार से कई छोटी छोटी फुंसियों से विकसित होता है।

कारबंकल वैसे तो किसी भी आदमी को हो सकता है, लेकिन मधुमेह से पीड़ित व्यक्तियों को लगभग ४० वर्ष की अवस्था में यह प्रायः होता है। मर्दों में बालों की अधिकता होती है अतः उनमें उनके रोममूल में उपर्युक्त जीवाणु के संदूषण से इसकी उत्पत्ति हो जाती है।

कारबंकल प्रायः गर्दन में पीछे की तरफ, कंधों पर, अँगुलियों पर तथा गुर्दे पर होता है। वैसे, शरीर के किसी भी हिस्से पर, जहाँ ऊतकों में जीवनीशक्ति की कमी होती है, यह हो जाता है। परंतु अक्सर यह गर्दन में पीछे की तरफ अधिक होता है क्योंकि उक्त स्थल पर त्वचा मोटी, खुरदुरी तथा अल्पपोषित (Ill-nourished) रहती है।

जिस स्थल पर कारबंकल निकलता है, वहाँ रोगी प्रायः अतिरिक्त कड़ापन और तेज दर्द महसूस करता है। शेष लक्षण सामान्य फोड़े जैसे होते हैं। कारबंकल निकलने के स्थान पर त्वचा लाल एवं धूसर हो जाती है। धीरे धीरे सूजन चारों तरफ फैलकर बड़ा आकार ले लेती है। फिर मध्य भाग मुलायम होने लगता है जिसके ऊपर फफोले (जल स्फोटिका) पड़ जाते हैं जो बाद में मवाद से भर जाते हैं। कुछ समय बाद कारबंकल फूटता है तो चमड़े पर अनेक चलनीनुमा छिद्र बन जाते हैं और उनसे मवाद बाहर निकलने लगता है। चलनीनुमा असंख्य छिद्र इस रोग के विशेष लक्षण हैं। ये छोटे छोटे छिद्र बाद में परस्पर मिलकर गेंद की आकृति का विवर (crater) जैसा घाव बनाते हैं जिसके नीचे राख के रंग का मुरदार मांस रहता है। अंत में मृत त्वचा या मुरदार मांस धीरे धीरे अलग हो जाता है और नीचे दानेदार घाव दिखाई देने लगता है जो घाव के भरने का लक्षण होता है।

कारबंकल प्रायः उपचर्म तक ही सीमित रहता है, लेकिन मधुमेह आदि रोगों से ग्रस्त रोगियों में जब उनकी रोगनिरोधक शक्ति कम रहती है, यह फोड़ा मांस अथवा हड्डियों तक भी फैल सकता है।

अंगुली पर कारबंकल रोममूल में स्टैफ़ाइलोकाकस ऑरियस के संदूषण से होता है। गुर्दे पर यह रक्त द्वारा उपर्युक्त जीवाणु के पहुँचने से होता है। पेड़ू पर मुक्के की चोट लगने से भी यह फोड़ा गुर्दे पर हो जाता है। स्तन पर बलतोड़ (Boil) घाव से भी यह विकसित हो जाता है।

रोगी से ध्यानपूर्वक रोगवर्णन सुनने के बाद फोड़े का आकार प्रकार देखने से कारबंकल के निदान में आसानी हो जाती है। रोगी के पेशाब में यदि चीनी पाई जाय और उसके रक्त में भी यदि चीनी की अधिक मात्रा हो तो कारबंकल का निदान प्रमाणीकृत हो जाता है। कारबंकल के रोगी के रक्त में श्वेत कीटाणुओं की भी अधिकता रहती है।

कारबंकल के रोगी का उपचार मधुमेह के उपचार से शुरू किया जाता है, क्योंकि अधिकतर मधुमेह के रोगियों को ही कारबंकल होता है। वैसे, इस रोग की प्रारंभिक अवस्था में पेनिसिलिन के इंजेक्शन उचित मात्रा में दिए जाने चाहिए। घाव के ऊपर मैगनीशियम सल्फ़ेट का संतृप्त मलहम लगाया जाता है। इन्फ़ा रेड या शार्टवेव डायथर्मी से भी इसका उपचार किया जाता है। रोगी के पूर्ण आरोग्य हेतु संतुलित आहार, उचित औषधि तथा ठीक रक्तसंचार अत्यावश्यक है। (कृ० कु० पां०)

कारवार बंबई राज्य में इसी नाम की तहसील का मुख्य नगर है। इसकी स्थिति १४° ४९' उ० अ० तथा ७४° ८' पू० दे० है। यह गोवा से ५० मील दक्षिण-पश्चिम तथा बंबई से ३६५ मील दक्षिण-पूर्व में बसा है। प्राचीन कारवार नगर काली नदी पर नगर से तीन मील पूर्व की ओर बसा था। व्यापार की दृष्टि से यह काफी महत्वपूर्ण था।

१७वीं शताब्दी के मध्य बीजापुर राज्य के कोई प्रमुख अधिकारी कारवार के राजस्व अधीक्षक हुआ करते थे। सन् १६६० में यहाँ से अच्छी किस्म की मलमल का निर्यात प्रारंभ हो गया था। अतः यह स्थान व्यापारिक दृष्टि से यथेष्ट महत्वपूर्ण हो गया था, पर शीघ्र ही सन् १६७२ ई० में आंतरिक उलझनों के फलस्वरूप कारखानों को काफी क्षति उठानी पड़ी।

१७वीं शताब्दी के अंतिम दस वर्षों में डच लोगों ने कारवार को अपने अधिकार में कर लिया और प्राचीन व्यापार को नष्ट कर डाला। इसी काल में मराठों द्वारा यहाँ सदाशिवगढ़ की स्थापना हुई, पर ये भी अधिक दिनों तक राज्य न कर सके और कारवार पुर्तगालियों के अधीन हो गया।

नए नगर का प्रादुर्भाव बंबई राज्य के हस्तांतरण के बाद हुआ। इसके पहले यह मछली पकड़ने का एक साधारण ग्राम था। वर्तमान नगर छह ग्रामों के संगठन से बना है। यहाँ नगरपालिका भी है। अब इसका संबंध बंबई से रेलों एवं स्टीमरों द्वारा हो गया है। (वि० रा० सिं०)

णाम पर अनुसंधान करने के लिये 'कारनेगी एंडाउमेंट फ़ॉर इंटरनैशनल पीस' नामक ट्रस्ट की १९१० ई० में उनके द्वारा हुई स्थापना विशेष महत्व रखती है।

'न्यूयार्क कारनेगी कारपोरेशन' ने ३१ करोड़ ५० लाख डालर का महत्वपूर्ण अनुदान संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशों एवं साम्राज्यों के लोगों के लिये दिया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में एक करोड़ डालर से कारनेगी ने 'कारनेगी यूनाइटेड किंगडम ट्रस्ट' की स्थापना की जिसका उद्देश्य परिवर्तित स्थितियों को ध्यान में रखते हुए ब्रिटेन, स्काटलैंड तथा आयरलैंड के विधानांतर्गत राष्ट्रीय महत्व के लोकोपयोगी कार्य करना है। सन् १९१७ ई० के रायल चार्टर के अंतर्गत इसका संचालन होता है।

कारनेगी के ट्रस्टों द्वारा संगीत, साहित्य, कला, नाटक, रंगमंच, शिक्षा, पुस्तकालय, संग्रहालय, मातृ-शिशु-रक्षा, बाल तथा युवा क्रीड़ा-केंद्र, युवामंगल, प्रौढ़ोत्थान, ग्रामपुनर्निर्माण एवं समाजसेवा आदि के क्षेत्रों में सतत सेवा का महत्वपूर्ण कार्य चल रहा है। अपने जीवनकाल में ४५ करोड़ डालर का दान इन महत्वपूर्ण ट्रस्टों को कारनेगी ने दिया था।

सं०ग्रं०—ए० कारनेगी : आटोबायोग्रैफ़ी, संपादक, जे० सी० वानडिका; ब्रिटेन—ऐन आफ़िशल हैंडबुक, १९५९ संस्करण, सेंट्रल आफ़िस ऑव इनफ़ारमेशन, लंदन। (सु० पां०)

कारनेगी, डेविड एक अन्वेषक था जो पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरुस्थलीय क्षेत्र में सोना तथा चरागाह की प्राप्ति के उद्देश्य से सन् १८९५ ई० से १८९७ ई० तक भ्रमण करता रहा। जुलाई, १८९६ ई० में इसने कुलगार्डी की सोने की खान से उत्तर में किंबरले (Kimberley) के पठार तक लगभग ५,००० मील की यात्रा आठ मास में तय की, किंतु यह सोना और चरागाह, दोनों की खोज में असफल रहा। इस यात्रा का सजीव वर्णन उसने अपनी 'स्पिनिफ़ेक्स ऐंड सैंड' (Spinifex and Sand) नामक पुस्तक में किया है। इसके द्वारा पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरुस्थलीय क्षेत्र की विशेष जानकारी प्राप्त होती है। कारनेगी ने उक्त पुस्तक में ३० फुट से लेकर ५० फुट तक ऊँचे बालू के टीलों के मिलने का उल्लेख किया है। ये इस मरुस्थलीय क्षेत्र में २६° द० अ० के उत्तर लगभग ४०० मील तक फैले हैं। (न० प्र० सिं०)

कॉरनेय पियर (१६०६–१६८४) इनका जन्म रुआँ में ६ जनवरी, सन् १६०६ को हुआ था। इनके पिता न्यायनिष्ठ मजिस्ट्रेट थे। आरंभ में ये मध्यवर्गीय (बूर्जुवा) थे; किंतु अपनी सेवाओं के कारण कालांतर में कुलीन (नोबुल) बना दिए गए। इन्होंने जेसुइट स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। सन् १६२४ में इन्होंने वकालत करने के लिये अपना नाम लिखवाया किंतु इनका व्यवसाय वकालत नहीं, काव्य था। इन्होंने सन् १६२९ में 'मेलाँज पोएतिक' और प्रथम सुखांत नाटक 'मेलित' लिखा जो इनके निजी विफल प्रेमव्यापार पर आधारित है। इनके आरंभिक छह सात सुखांत नाटकों में कोई महान् गुण नहीं था; किंतु नवीनता एवं आकर्षण के कारण उन्हें सफलता प्राप्त हुई। सन् १६४० में एक मध्यवर्गीय महिला मारी द लामपियर से इन्होंने विवाह किया जिनसे छह संतानें हुई।

रुआँ में कॉरनेय की नाटक विषयक सफलता ने रिशलू का ध्यान आकृष्ट किया और कॉरनेय पेरिस जाकर 'पाले कारदिनाल थेआत्र' के रिशलू-कविमंडल में संमिलित हो गए। इस प्रकार नाट्यशाला के नाटककारों से इनका निकटतर संपर्क हुआ। 'मेदे' इनका प्रथम दुःखांत नाटक है। इस युगप्रवर्तनकारी पुस्तक ने उन्हें प्रसिद्ध कर दिया। 'ल सिद' (१६३६) बहुत लोकप्रिय हुआ; किंतु अन्य नाटककार तथा रिशलू उससे अप्रसन्न हुए और रिशलू के संकेत पर अकादेमी ने उसकी कटु आलोचना की। इससे उत्पन्न घृणा के कारण कॉरनेय तीन वर्ष के लिये रुआँ लौट आए।

'ल सिद' की आलोचना के पश्चात् 'कॉरनेय' रोमांस तथा दुःखात्मक सुखांत नाटक को छोड़कर विशुद्ध दुःखांत नाटक की ओर प्रवृत्त हुए। सन् १६४० और १६४३ के बीच लिखी हुई इनकी सर्वोत्कृष्ट पुस्तकें 'होरास', 'सिना' और 'पॉलियुत' हैं। सन् १६४३ और १६५२ के बीच इन्होंने १० नाटक लिखे जिनमें 'ला मॉर्त द पॉम्पे', 'रोदोगुन', 'आँद्रोमेद', 'निकोमेद' आदि सात दुःखांत नाटक तथा दो सुखांत नाटक हैं। 'ल मांतर' फ्रेंच सुखांत नाटकों का अग्रदूत है, जिसमें एक सफेद झूठ बोलनेवाले पात्र की व्यग्रता का सुंदर चित्रण है। 'सुइत' को सफलता नहीं मिली। 'दॉन् सॉश दारागाँ' वीर रसपूर्ण सुखांत नाटक है। सन् १६५९ और १६७४ के बीच इन्होंने ११ नाटक लिखे जिनमें 'ला त्वाज़ाँदॉर', 'सेरतोरियस', 'अतिला' और 'तित ए बेरेनिस' (रासिन के 'बेरेनिस' से उत्कृष्ट) मुख्य हैं। इनके परवर्ती नाटक इनके पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में अच्छे नहीं हैं।

दो बार अस्वीकृत होने के पश्चात् सन् १६४७ में ये अकादेमी के सदस्य चुने गए। कॉरनेय मध्यवर्गीय गुणों एवं परिमितियों से युक्त प्रांतीय (बोहीमियन नहीं) पुरुष थे। ये स्नेहपूर्ण एवं कर्तव्यपरायण पुत्र, भाई तथा पिता थे। ये असुंदर आकृति, कठोर रूप, अनाकर्षक व्यवहार, पवित्र प्रकृति और स्खलित स्वरवाले मनुष्य थे। यह धारणा भ्रांत है कि इनका निधन निर्धनावस्था में हुआ। इनका देहांत ३० सितंबर, सन् १६८४ को हुआ।

सन् १६२९ और १६७४ के बीच कॉरनेय ने ३३ नाटक लिखे, जिनमें आठ अत्यंत उत्कृष्ट हैं। ये अनुपम लेखक थे। इनके आरंभिक सुखांत नाटकों में आडंबर तथा चपलता है; किंतु वे थकानेवाले नहीं हैं। इनके अंतिम छह नाटक महत्वहीन हैं। इनके नाटकों के कुछ अनुच्छेद एवं उपकथाएँ विचार की उच्चता, गठन की समीचीनता तथा भाषा की उपयुक्तता की दृष्टि से अनुपम हैं; किंतु कहीं कहीं उनमें व्यर्थ बड़े बड़े शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। इनकी कविताएँ नीरस तथा भद्दी हैं।

जब कॉरनेय पेरिस आए तब रिनेसाँ क्लैसिकल ड्रामा विलीन हो चुका था; करुण दुःखांत नाटक का अधःपतन हो रहा था; और दुःखपूर्ण सुखांत नाटक लोकप्रिय था। कॉरनेय ने यही अंतिम नाट्यप्रणाली अपनाई। इनके दुःखांत नाटक का अभिप्राय वीररसप्रधान रोमांटिक नाटक था, जिसमें पात्रों की शक्ति का प्रदर्शन, संकल्प शक्ति के विश्वास की व्याख्या तथा गौरव की श्लाघनीय खोज होती थी। कॉरनेय फ्रेंच क्लैसिकल दुःखांत नाटकों के रचयिता थे। इन्होंने कार्यों में मनोविश्लेषण पर बल दिया। इनके पात्रों के विषय में यह भ्रांत धारणा है कि वे 'सुंदर विचार' हैं, जीवित मनुष्य नहीं। वस्तुतः वे असाधारण मनुष्य हैं। जीवन की साधारण वस्तुओं के प्रति उनकी निश्चिंतता दर्शनीय है। ये नारी-चित्रण की अपेक्षा पुरुषचित्रण में अधिक सफल हुए हैं।

कॉरनेय ने गुणों पर नहीं, वरन् संकल्प पर बल दिया है। वीरतापूर्ण चरित्र की उदात्तता इनके दुःखांत नाटकों का प्रधान गुण है। 'ल सिद' में एक पुत्र के उदात्त एवं वीरतापूर्ण कर्तव्यपालन तथा संमान का, 'होरास' में देशभक्ति का, 'सिना' में कृपा का, 'पॉलियुत' में विश्वास का और 'निकोमेद' में सैनिक वीरता का चित्रण है। इनके समस्त नाटकों में आत्मा की उच्चता परिलक्षित होती है। सम्राटीय रोम, सामंतीय स्पेन तथा मूर्ति-पूजा-संबंधी पौराणिक कथाओं के द्वारा इन्होंने लुई चतुर्दश के फ्रांस की आत्मा की अभिव्यक्ति की है। सम्राटीय रोम ने कॉरनेय को उनके नाटकों के लिये विषय प्रदान किए। कठिन, पुष्ट, संकीर्ण; व्यावहारिक तथा अप्रगीतात्मक रोमन प्रतिभा फ्रेंच प्रतिभा के साथ मिलकर कॉरनेय की असाधारण प्रतिभा के अनुकूल हुई।

कॉरनेय शेक्सपियर की भाँति प्रगीतात्मक नाटक नहीं लिख सके। इनमें शेक्सपियर जैसी व्यापकता और काव्यात्मक उच्चता का अभाव है। इनके नाटकों में कल्पना की उड़ान नहीं; किंतु तर्क की प्रधानता है। इनके पात्र बड़े ही तर्कवादी हैं। ये बौद्धिक संकट एवं वीरतापूर्ण निर्णय का चित्रण करनेवाले नाटककार हैं। अरस्तू के संधित्रय का यथासंभव पालन करते हुए इन्होंने अपने नाटकों में समस्याओं, उनके समाधान एवं अंत का सुंदर निदर्शन किया है। इनमें लक्ष्य की ओर घटनाओं का प्रतिबद्ध प्रवाह दर्शनीय है। इनके संवाद बड़े ही मार्मिक एवं विनोदपूर्ण हैं। वाक्प्रवाह तथा उनके उत्तर एक दूसरे के पश्चात् बड़ी पटुता एवं तड़िक्षिप्रता के साथ आए हैं। इन्होंने बड़ी सरलता से

अलेग्ज़ैंड्रीन का प्रयोग किया है। इनके 'दिसकुर' एवं 'एक्ज़ामें' नामक दुःखांत नाटकों में इनके नाटकीय सिद्धांत एवं प्रयोग की संक्षिप्त व्याख्या है। (मु० मो० दे०)

कारनो, एन० एल० एस० (१७९६–१८३२) यह फ्रांसीसी भौतिकीविद् थे और पेरिस में इनका जन्म हुआ था। १८१२ ई० में ये एक बहुशिल्प शिक्षणालय में भरती हुए पर अध्ययन छोड़कर इन्होंने अभियंता (Engineer) का पद ग्रहण किया। १८१९ ई० में ये सेना की एक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इन्हें लेफ्टिनेंट का पद मिला। बाद में इन्होंने गणित, रसायन, इतिहास, प्रौद्योगिकी, शासकीय अर्थ-व्यवस्था इत्यादि विषयों का अध्ययन किया। संगीत, ललितकला, व्यायाम विषयक खेलकूद, तैराकी, शस्त्र विद्या आदि में भी इनका अच्छा अभ्यास था। १८२७ ई० में ये कप्तान हुए और १८२८ ई० में ही नौकरी छोड़ दी।

ये मौलिक एवं गंभीर विचारक थे। केवल एक ही पुस्तक ये प्रकाशित कर पाए जिसमें इनके वैज्ञानिक अनुसंधानों की थोड़ी सी चर्चा है। इनके लेखों की पांडुलिपि सुरक्षित रखी थी जिससे पता लगा कि वे उष्मा की वास्तविक प्रकृति समझते थे। इसमें उन प्रयोगों का भी वर्णन मिलता है जिनमें बाद में जूल तथा अन्य वैज्ञानिकों ने उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक निकाला। उष्मागतिकी के मौलिक सिद्धांत के अनुसार उत्क्रमणीय इंजन (Reversible Engine) की दक्षता उन तापों पर निर्भर करती है जिनके बीच वह कार्य करता है। यह सिद्धांत कारनो की ही देन है अतः 'कारनो सिद्धांत' के नाम से प्रसिद्ध है। (र० शं० पां०)

कारपेथियन मध्य यूरोप की पर्वतमेखला में आल्प्स पर्वत के पूर्व में स्थित एक विशाल पर्वत है। यह पर्वतश्रेणी ब्रातिस्लावा से ओरशोवा तक फैली है तथा एक चाप के आकार की है जिसका उन्नतोदर भाग उत्तर-पूर्व की ओर है। लंबाई तथा क्षेत्रफल में यह आल्प्स के तुल्य है परंतु ऊँचाई में आधी है। सर्वोच्च शिखर गर्ल्सडार्फ़स्पिज (८,७३७ फुट) है। संरचना में आल्प्स की भाँति मोड़दार है तथा समवयस्क भी है, परंतु इसकी हिमानियाँ, जलप्रपात तथा झीलें आल्प्सवालियों की अपेक्षा छोटी हैं। श्रेणी के मध्य भाग की चौड़ाई तथा ऊँचाई कम है अतः इसे पार करनेवाले मार्ग वहीं से होकर जाते है। (प्रे० चं० अ०)

कारफ़ू (कॉरफ़ू) भूमध्यसागर में ऐड्रियाटिक सागर के द्वार पर स्थित आयोनियन द्वीपसमूह का दूसरा बड़ा द्वीप है। यह ग्रीस राज्य का एक विभाग है। इसका क्षेत्रफल २२७ वर्ग मील है। अधिकतर भाग पर्वतीय है। पैंटोक्रैटोरास शिखर की ऊँचाई लगभग ३,००० फुट है। जलवायु भूमध्यसागरीय है, अतः मुख्य उपज नीबू, नारंगी, जैतून का फल तथा तेल, अंजीर और अंगूरी शराब है। ईसा से कोई ६०० वर्ष पूर्व कॉरिंथियन उपनिवेश के रूप में सर्वप्रथम मनुष्यों का बसना यहाँ प्रारंभ हुआ। कॉरफ़ू की राजधानी कॉरफ़ू नगर है जो पूर्वी तट पर स्थित एक उत्तम बंदरगाह भी है। नगर में एक संग्रहालय है जो एक मध्यकालीन दुर्ग में स्थित है। (प्रे० चं० अ०)

कारबंकल एक प्रकार का फोड़ा है जो उपचर्म के सड़ने से होता है। इसकी उत्पत्ति 'स्टैफ़ाइलोकाकस ऑरियस' नामक जीवाणु के संदूषण से होती है। दूसरे शब्दों में, यह एक प्रकार से कई छोटी छोटी फुंसियों से विकसित होता है।

कारबंकल वैसे तो किसी भी आदमी को हो सकता है, लेकिन मधुमेह से पीड़ित व्यक्तियों को लगभग ४० वर्ष की अवस्था में यह प्रायः होता है। मर्दों में बालों की अधिकता होती है अतः उनमें उनके रोममूल में उपर्युक्त जीवाणु के संदूषण से इसकी उत्पत्ति हो जाती है।

कारबंकल प्रायः गर्दन में पीछे की तरफ, कंधों पर, अँगुलियों पर तथा गुर्दे पर होता है। वैसे, शरीर के किसी भी हिस्से पर, जहाँ ऊतकों में जीवनीशक्ति की कमी होती है, यह हो जाता है। परंतु अक्सर यह गर्दन में पीछे की तरफ अधिक होता है क्योंकि उक्त स्थल पर त्वचा मोटी, खुरदुरी तथा अल्पपोषित (Ill-nourished) रहती है।

जिस स्थल पर कारबंकल निकलता है, वहाँ रोगी प्रायः अतिरिक्त कड़ापन और तेज दर्द महसूस करता है। शेष लक्षण सामान्य फोड़े जैसे होते हैं। कारबंकल निकलने के स्थान पर त्वचा लाल एवं धूसर हो जाती है। धीरे धीरे सूजन चारो तरफ फैलकर बड़ा आकार ले लेती है। फिर मध्य भाग मुलायम होने लगता है जिसके ऊपर फफोले (जल स्फोटिका) पड़ जाते है जो बाद में मवाद से भर जाते है। कुछ समय बाद कारबंकल फूटता है तो चमड़े पर अनेक चलनीनुमा छिद्र बन जाते हैं और उनसे मवाद बाहर निकलने लगता है। चलनीनुमा असंख्य छिद्र इस रोग के विशेष लक्षण हैं। ये छोटे छोटे छिद्र बाद में परस्पर मिलकर गेंद की आकृति का विवर (crater) जैसा घाव बनाते है जिसके नीचे राख के रंग का मुरदार मांस रहता है। अंत में मृत त्वचा या मुरदार मांस धीरे धीरे अलग हो जाता है और नीचे दानेदार घाव दिखाई देने लगता है जो घाव के भरने का लक्षण होता है।

कारबंकल प्रायः उपचर्म तक ही सीमित रहता है, लेकिन मधुमेह आदि रोगों से ग्रस्त रोगियों में जब उनकी रोगनिरोधक शक्ति कम रहती है, यह फोड़ा मांस अथवा हड्डियों तक भी फैल सकता है।

अंगुली पर कारबंकल रोममूल में स्टैफ़ाइलोकाकस ऑरियस के संदूषण से होता है। गुर्दे पर यह रक्त द्वारा उपर्युक्त जीवाणु के पहुँचने से होता है। पेड़ू पर मुक्के की चोट लगने से भी यह फोड़ा गुर्दे पर हो जाता है। स्तन पर बलतोड़ (Boil) घाव से भी यह विकसित हो जाता है।

रोगी से ध्यानपूर्वक रोगवर्णन सुनने के बाद फोड़े का आकार प्रकार देखने से कारबंकल के निदान में आसानी हो जाती है। रोगी के पेशाब में यदि चीनी पाई जाय और उसके रक्त में भी यदि चीनी की अधिक मात्रा हो तो कारबंकल का निदान प्रमाणीकृत हो जाता है। कारबंकल के रोगी के रक्त में श्वेत कीटाणुओं की भी अधिकता रहती है।

कारबंकल के रोगी का उपचार मधुमेह के उपचार से शुरू किया जाता है, क्योंकि अधिकतर मधुमेह के रोगियों को ही कारबंकल होता है। वैसे, इस रोग की प्रारंभिक अवस्था में पेनिसिलिन के इंजेक्शन उचित मात्रा में दिए जाने चाहिए। घाव के ऊपर मैगनीशियम सल्फ़ेट का संतृप्त मलहम लगाया जाता है। इन्फ्रा रेड या शार्टवेव डायथर्मी से भी इसका उपचार किया जाता है। रोगी के पूर्ण आरोग्य हेतु संतुलित आहार, उचित औषधि तथा ठीक रक्तसंचार अत्यावश्यक है। (कृ० कु० पां०)

कारवार बंबई राज्य में इसी नाम की तहसील का मुख्य नगर है। इसकी स्थिति १४° ४९′ उ० अ० तथा ७४° ८′ पू० दे० है। यह गोवा से ५० मील दक्षिण-पश्चिम तथा बंबई से ३९५ मील दक्षिण-पूर्व में बसा है। प्राचीन कारवार नगर काली नदी पर नगर से तीन मील पूर्व की ओर बसा था। व्यापार की दृष्टि से यह काफी महत्वपूर्ण था।

१७वीं शताब्दी के मध्य बीजापुर राज्य के कोई प्रमुख अधिकारी कारवार के राजस्व अधीक्षक हुआ करते थे। सन् १६६० में यहाँ से अच्छी किस्म की मलमल का निर्यात प्रारंभ हो गया था। अतः यह स्थान व्यापारिक दृष्टि से यथेष्ट महत्वपूर्ण हो गया था, पर शीघ्र ही सन् १६७२ ई० में आंतरिक उलझनों के फलस्वरूप कारखानों को काफी क्षति उठानी पड़ी।

१७वीं शताब्दी के अंतिम दस वर्षों में डच लोगों ने कारवार को अपने अधिकार में कर लिया और प्राचीन व्यापार को नष्ट कर डाला। इसी काल में मराठों द्वारा यहाँ सदाशिवगढ की स्थापना हुई, पर ये भी अधिक दिनों तक राज्य न कर सके और कारवार पुर्तगालियों के अधीन हो गया।

नए नगर का प्रादुर्भाव बंबई राज्य के हस्तांतरण के बाद हुआ। इसके पहले यह मछली पकड़ने का एक साधारण ग्राम था। वर्तमान नगर छह ग्रामों के संगठन से बना है। यहाँ नगरपालिका भी है। इसका संबंध बंबई से रेलों एवं स्टीमरों द्वारा हो गया है। (वि० रा०)

कारवेर या कनेर यह विशाल सदाहरित झाड़ी है जो हिमालय में नेपाल से लेकर पश्चिम में कश्मीर तक, गंगा के ऊपरी मैदान और मध्यप्रदेश में बहुतायत से पाई जाती है। अन्य प्रदेशों में यह कम पाई जाती है। इसका लैटिन नाम 'नीरियम इंडिकम' है। इसकी पत्तियाँ दो या तीन चक्रों में रेखाकार, भालाकार, लंबाग्र और चर्मिल होती हैं। पुष्प सफेद, गुलाबी या लाल अंतिम बहुर्ध्यक्षों में और सुगंधित, बीज अत्यंत छोटे हल्के भूरे होते हैं।

यह संपूर्ण भारत में अपने सुगंधित और दिखावटी फूलों के लिये उगाया जाता है। यह आड़ या बाड़ के रूप में उगाया जाता है। कनेर पौधे के समस्त भाग विषैले होते हैं। इसकी जड़ की लेई बाह्यत: अर्श, शैंकर और व्रणोत्पत्ति के रोगों में लगाई जाती है। जड़ की छाल का तैलीय काढ़ा परतदार चर्मरोगों में उपयोग किया जाता है। पत्तियों का रस आँखों में आँसू लाने के लिये डाला जाता है। इसके सुगंधित फूल माला बनाने तथा मंदिरों पर चढ़ाने के काम आते हैं। (नि० सिं०)

कारबोनारी का अर्थ है लकड़ी का कोयला जलानेवाला। इस नाम को नैपोलियन महान् के समय के कुछ गुप्त दलों ने क्यों अपनाया, इस संबंध में बताया जाता है कि फ्रेंच जंगलों में लकड़ी का कोयला जलानेवालों का एक गिल्ड (संघ) था। उसी के नमूने पर कारबोनारी समितियाँ बनीं।

फ्रांस और इटली में कारबोनारी समितियों की विशेष प्रधानता रही। जोआखिम मुरात (१८०८-१८१५) के राज्यकाल में कारबोनारी समितियाँ दक्षिण इटली में कुछ हद तक शक्तिशाली हो गईं। इनका उद्देश्य था विदेशी शासन से मुक्त होना तथा वैधानिक स्वतंत्रता प्राप्त करना। वे चाहते थे कि विदेशी हट जायँ, भले ही उनके स्थान में बुरबोन वंश के लोग या मुरात आ जायँ। प्रारंभ में मुरात ने कारबोनारी समिति के लोगों को सहायता भी दी, पर बाद को जब उसने अपनी स्थिति सँभाल ली, तब उसने १८१३ में उनका निर्दयता के साथ दमन किया। पर मुरात का पुलिस मंत्री मालगेल्ला कारबोनारी लोगों से भीतर भीतर मिला हुआ था। इसलिये समिति पूरी तरह दबाई नहीं जा सकी। इस समिति में उच्च वर्ग के लोग, सरकारी कर्मचारी, सेना के अधिकारी तथा सैनिक, किसान, यहाँ तक कि पुरोहित भी शामिल थे। कुछ रहस्यपूर्ण अनुष्ठान भी होते थे। जहाँ सदस्य रहते थे, उसे वेन्दिता (बिक्री) कहते थे। सदस्य एक दूसरे को 'बुओनि कुजिनि' यानी अच्छा भाई (चचेरे, ममेरे इत्यादि) कहकर पुकारते थे। ईश्वर को संसार का ग्रैंड मास्टर और ईसा को अवैतनिक ग्रैंड मास्टर कहा जाता था। इनका झंडा पहले लाल, नीला और काला था; आगे चलकर १८३१ में वह लाल, सफेद और हरा हो गया।

प्रसिद्ध इतालवी राजा फ़रदीनैंद ने पहले कारबोनारी लोगों की सहायता की थी; पर जब उसको अपने संबंध में विश्वास हो गया कि हमें कोई हटा नहीं सकता, तब वह उनके विरुद्ध हो गया। उसके पुलिस मंत्री ने कारबोनारी लोगों को दबाने के लिये 'कालदेराई दैल कुंतरापेजो' नाम से एक समिति बना दी जिसमें डाकुओं और गुंडों को भरती कर दिया, फिर भी कारबोनारी समिति दबाई न जा सकी और उसकी ख्याति बढ़ती रही। बहुत से विदेशियों ने इस समिति की सदस्यता स्वीकार की, जिनमें सबसे प्रसिद्ध विदेशी अंग्रेज कवि लार्ड बायरन था।

इटली में उनका पहला विद्रोह १८२० में नेपुल्स के अंचल में हुआ। सेना भी एक हद तक इनसे मिली हुई थी और उसने विद्रोहियों का साथ दिया। विद्रोहियों का नारा था—ईश्वर, राजा और संविधान। राजा को दबना पड़ा और १३ जुलाई को संविधान देना पड़ा, पर कारबोनारी सरकार चलाने में उतने सफल नहीं रहे। राजा ने आस्ट्रिया की विदेशी सेनाओं की सहायता से कारबोनारियों के जनरल पेपे को हरा दिया। राजा ने संसद् विसर्जित कर दी और दमन शुरु हुआ।

इसी प्रकार १८२१ के मार्च महीने में इटली के पीदमोंत प्रांत में कारबोनारियों द्वारा संगठित एक विद्रोह हुआ था। इसमें भी बड़े लोग शामिल थे यहाँ तक कि अपने को राज्य का उत्तराधिकारी माननेवाले चार्ल्स अल्बर्ट भी विद्रोहियों के पृष्ठपोषक थे; पर विद्रोह सफल नहीं हुआ और विद्रोहियों में से जो लोग पकड़े गए, उन्हें लंबी सजाएँ मिली।

फ्रांस में पहले पहल नेपोलियन की सेनाओं में कारबोनारी लोगों का जोर हुआ। पहले यह दल सैनिक अफसरों में गुप्त समिति के रूप में रहा, पर बाद को और लोग भी इसमें शरीक हो गए। १८२० के करीब फ्रांस में कारबोनारियों का बहुत जोर हुआ और कई विद्रोह हुए, पर ये दबा दिए गए। बाद को इसी आंदोलन की राख से कई और समितियाँ फ्रांस में बनीं जिनमें वह समिति बहुत मशहूर हुई जिसका नाम है 'तू अपनी मदद कर, ईश्वर तेरी मदद करेगा'। कहा जाता है, फ्रेंच संसद् के लाफ़ायेत आदि कई सदस्य कारबोनारी के प्रति सहानुभूति रखते थे। पिछले दिनों में इसका सदस्य सम्राट् नेपोलियन तृतीय तक अपनी युवावस्था में रहा था।

इटली में कारबोनारी समिति का स्थान धीरे धीरे मात्सीनी और गारीबाल्दी की 'नवीन इटली' नामक समिति ने ले लिया। यद्यपि कारबोनारी समितियों का लक्ष्य स्पष्ट नहीं था और वे कभी कुछ कहती थीं, कभी कुछ, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बाद के विद्रोहों तथा विद्रोहियों पर इस आंदोलन के शहीदों का बहुत बड़ा प्रभाव रहा। (म० गु०)

कारवाँसराय एक प्रकार की बड़ी आँगनवाली साजसज्जा रहित विश्रामशाला जहाँ कारवाँ आकर रुकते हैं। भारतवर्ष में अधिकतर काफिला शब्द का प्रयोग किया जाता है। एशिया तथा अफ्रीका के मरुस्थलीय प्रदेशों में व्यापारी तथा यात्री दल बनाकर चला करते हैं क्योंकि वहाँ की सड़कें सुरक्षित नहीं होतीं और निर्जन प्रदेशों से होकर जाती हैं। इस दल का एक वैतनिक नेता होता है जिसे काफिलाबशी या अमीर-ए-कारवाँ कहते हैं। यदि मार्ग में कारवाँ पर आक्रमण हो जाय तो मुस्लिम कानून के अनुसार आक्रमणकारी को प्राणदंड दिया जा सकता है। (हिदाया, २।१३१)

सराय अथवा सरा का अर्थ प्रासाद अथवा दुर्ग है। यह शब्द विशेषकर तातारों द्वारा प्रयुक्त हुआ था जब उन्होंने प्रासाद बनाने प्रारंभ किए थे। भारतवर्ष तथा फारस में आजकल कारवाँसराय ऐसे भवन को कहते हैं जिसके बीचोबीच एक बड़ा सा आँगन हो तथा चारों ओर कमरे बने हों जहाँ यात्री अपने बोझ ढोनेवाले पशुओं के साथ रुक सकें।

सं०ग्रं०—हॉब्सन-जॉब्सन, लंदन, १९०३; टी० पी० ह्यूज़: डिक्शनरी ऑव इस्लाम, लंदन, १९३५। (मो० या०)

कारा-कुल एशियाई ताजिक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक में 'बड़ी' तथा 'छोटी' कारा-कुल दो झीलें हैं। कारा-कुल का अर्थ है काली झील। बड़ी कारा-कुल झील १२ मील लंबी तथा १० मील चौड़ी है। यह पामीर के पठार पर बदख्शाँ पर्वत प्रदेश में समुद्र से १३,२०० फुट की ऊँचाई पर है। चारों ओर ऊँचे पर्वत हैं। उत्तर की ओर १४,०१५ फुट ऊँचे किजिल-अर्त दर्रे से यहाँ पहुँचते हैं। झील का जल बाहर नहीं जाता है। इसकी गहराई पूर्व में ४२ से ६३ फुट था पश्चिम में ७२६ से ७५६ फुट है।

छोटी कारा-कुल पामीर पर्वत के उत्तर-पूर्व तथा मुश्ताक दर्रे के उत्तर-पश्चिम में समुद्रतल से १२,७०० फुट ऊपर है। गहराई उत्तर में १,००० फुट से अधिक है। (प्रे० चं० अ०)

कारागांडा रूस के कजाक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक में स्थित एक नगर है। यह कारागांडा बेसिन की कोयले की खानों का मुख्य केंद्र है। कारागांडा सोवियत रूस के नवीनतम नगरों में एक है। सन् १९२६ में यह १५० व्यक्तियोंवाला एक ग्राम था पर अब विकसित होकर ५,२२,००० (१९७०) जनसंख्यावाला बड़ा नगर हो गया है। रेलमार्गों द्वारा कारागांडा यूराल पर्वत के औद्योगिक प्रदेश तथा साइबेरिया क्षेत्र और बालकश झील के समीप ताँबा उत्पादन केंद्रों से संबद्ध है। अतः कारागांडा

से कोकिंग तथा अन्य कोटि के कोयले का पर्याप्त निर्यात होता है। कारागांडा अपने ही नाम के एक बड़े राजनीतिक विभाग, ओब्लास्ट, की राजधानी है। (प्रे० चं० अ०)

कारा, जार्ज (१७६६-१८१७) स्वतंत्र सर्बिया का निर्माता, प्रतिभासंपन्न, बहादुर सेनानी, शक्तिसंपन्न कठोर प्रकृति का शासक था। साधारण अपराध के लिये भी वह किसी को क्षमा नहीं करता था। क्रोधी इतना था कि, कहते हैं, उसने अपने पिता को भी, अपने साथ हंगरी भाग जाने के लिये सहमत न होने पर, कतल कर दिया था। उसने लगभग १२५ आदमियों को मौत के घाट उतारा होगा। उसका सारा जीवन बड़ा साहसपूर्ण रहा।

वह पेटिनी नामक किसान के घर पैदा हुआ था। उसने तुर्की ब्रिगेड में काम सीखने के बाद किसान के रूप मे अपना जीवन शुरू किया और एक तुर्क की हत्या कर देने के कारण उसको आस्ट्रिया के सैनिक सीमांत प्रदेश में जाकर रहना पड़ा। सन् १७८८-६१ में सीमांत सेना मे भर्ती होकर वह तुर्की के विरुद्ध आस्ट्रिया की ओर से लड़ा। बाद मे सेना से भागकर सर्बिया मे तोपोला चला आया। वहाँ उसने पशु पक्षियों का व्यापार किया। फरवरी, १८०४ में विद्रोही नेताओं द्वारा मुखिया चुना गया। सर्बिया की लड़ाइयों में वह सैनिक नेता के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। उसकी उपस्थिति मात्र से सर्बिया की सेनाओं में अपार उत्साह पैदा हो जाता था और हारती हुई भी वे विजयी हो जाती थी। उसी के प्रभाव से आस्ट्रिया ने सर्बिया को तुर्की के विरुद्ध अपना संरक्षित राज्य घोषित किया। रूस का प्रश्रय पाकर उसने सर्बिया को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया। २६ दिसंबर, १८०६ को रूस ने उसको और उसके उत्तराधिकारियों को सर्बिया का स्वतंत्र शासक मान लिया।

उसके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उसके कुछ प्रतिस्पर्धी भी पैदा हो गए। सन् १८१२ की बुखारेस्त की संधि के बाद तुर्की ने सर्बिया पर फिर आक्रमण किया। कारा रोगशय्या पर पड़ा हुआ था। सर्बिया की सेनाओं के पराजित होने से उसे २० सितंबर, १८१३ को हंगरी में शरण लेनी पड़ी। ग्राज में कुछ समय तक नजरबंद रहने के बाद वह होतिन में एकांत जीवन व्यतीत करने लगा और उसको रूस से पेंशन मिलने लगी। वह एकाएक १८१७ में सुरे दे रेवों में प्रकट हुआ। उसका उद्देश्य यूनानियों और बाल्कनों को मिलाकर एक नया विद्रोह खड़ा करना था; परंतु पाशा ने इसकी सूचना मिलने पर उसको जीवित या मृत रूप में गिरफ्तार करने की घोषणा की। सोते हुए उसकी हत्या कर दी गई और उसका सिर काटकर कुस्तुंतुनिया भेज दिया गया। इसके बाद सर्बिया में एक सदी तक गृहकलह मची रही। (स० वि०)

कारावाज्जो, मिकेलांजेलो मेरिसी दा सन् १५७३ में इटली के लोंबर्दी प्रांत में मीलान के समीप कारावाज्जो ग्राम ने एक ऐसे चितेरे को जन्म दिया जिसने इटली की कला में क्रांति पैदा कर दी। कारावाज्जो एक राजगीर का पुत्र था। ११ वर्ष की उम्र में वह मीलान भेजा गया जहाँ सीमोने पीतरत्सेनो की संरक्षा में उसे रहना पड़ा। १६ वर्ष की उम्र में वह रोम आया (लगभग १५६० में) जहाँ वह दे आरपिनो का शिष्य बना। परंतु कम उम्र के कारण उसे जीविकार्जन में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। उसका स्वभाव बड़ा क्रोधी था और बहुत ही शीघ्र वह उत्तेजित भी हो जाया करता था। इसी उत्तेजना के प्रभाव में १६०६ में उसने अपने एक विरोधी के प्राण तक ले लिए, परिणामतः प्राणरक्षा के लिये उसे नगर छोड़कर भागना पड़ा। जीवन के शेष दिन उसने नेपुल्स, माल्टा तथा सिसिली में बिताए। इन अभाव के दिनों में भी सरकार निरंतर उसका पीछा करती रही। अपने इसी उत्तेजित स्वभाव के कारण वह जहाँ जाता, अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ा लेता। माल्टा से भी उसे शत्रुता के कारण ही सिसिली भागना पड़ा था। कुछ दिनों बाद वहीं उसे रोम द्वारा क्षमा का संदेश मिला। परंतु रोम की भूमि का दर्शन अब उसके भाग्य में न था। रोम लौटते समय राह में ज्वर का शिकार हो सन् १६१० में उसने इस संसार से विदा ले ली।

पितरत्सेनो आदि की शैली में अनाकर्षक रंगों का प्रयोग होता था, प्रकाश और छाया मे बहुत गहरा अंतर हुआ करता था, कारावाज्जो ने उसे सुधारकर एक सर्वथा भिन्न और वैयक्तिक शैली को जन्म दिया। किंतु उसकी प्रारंभिक शैली पर सबसे स्पष्ट छाप वेस्कियाई शैली के कलाकारों का पड़ी। आधी लंबाई की मानव आकृतियाँ, सरल अभिव्यक्ति, स्थानीय और सुस्पष्ट श्वेत रंगों का प्रयोग, तथा भूमि एवं अवयवों का सम्यक् रूपायन उसकी प्रारंभिक कला की विशेषताएँ थी। उसके माडल अधिकांश किशोर हैं। परंतु वह केवल बारोक शैली के क्षेत्र में ही अग्रणी नहीं था, कला के क्षेत्र में वह आधुनिक यथार्थवाद का स्रोत भी माना जाता है। उसकी प्रारंभिक कृतियाँ, जैसे 'फलों की टोकरी और किशोर', 'भविष्यवक्ता', 'संगीतरचना', 'बाकस' आदि यथार्थवादी शैली का ही निरूपण करती हैं। उसकी कला को विशेष मर्यादा देने का श्रेय कार्दिनल देल मोंते को है। उसी के बनवाए चित्रों से कारावाज्जो को विशेष यश मिला। उसकी सर्वोत्तम कृतियों—'संत मैथ्यू और देवदूत', 'संत मैथ्यू का आह्वान' तथा 'संत मैथ्यू का बलिदान'—ने १५६८ तथा १६०० के बीच एक प्रभावशाली मोड़ लिया जिसने रोम में धूम मचा दी। उसका झुकाव अब पारंपरिक धार्मिक विषयों की ओर बढ़ा परंतु उनमें उसने एक सर्वथा नवीन अभिव्यक्ति का समावेश किया। उसका आदर्श जनसाधारण का यथार्थ जीवन बना। प्रकाश और छाया का प्रभाव उसकी कृतियों में जीवन भरता तथा भावना को प्रखरता प्रदान करता गया। प्रकाश और छाया का यह गहरा अंतर उसकी कला में स्पष्टता को संकेंद्रित कर चला। उसकी शैली के इसी रूप से उसकी कृतियों को क्लासिकल कला के समकक्ष कर दिया है। उसके चित्र 'एमाउस में भोज', 'संत पाल की संशुद्धि', 'संत पीतर की शूली' आदि इसी परंपरा के हैं।

कालांतर में कारावाज्जो ने किशोरों के भड़कीले वस्त्रोंवाले आदर्श को छोड़ अपने चित्रफलक पर केवल एक धधकता लाल रंग ही रखा। इस परंपरा में कारावाज्जो के 'समाधीकरण', 'संत आन के साथ माता और शिशु', 'पवित्र कुमारी की मृत्यु' आदि आते हैं। कारावाज्जो चित्रकला के क्षेत्र में महान् क्रांतिकारी गिना जाता है। उसने प्राचीन पारंपरिक गुरुओं की कभी नकल नहीं की, परंतु पुनर्जागरण काल के परिणामों से वह स्वयं भी अछूता न बचा और न अपनी समकालीन प्रवृत्तियों की वह उपेक्षा ही कर सका। उसने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि प्रकृति ही उसका आदर्श रही है। परंतु उसकी महत्ता इसमें नहीं है कि उसने प्रकृति से अपनी कला का सीधा संबंध जोड़ा, बल्कि इसमें है कि धार्मिक विषयों को उसने जनजीवन पर ढालने की पूर्ण चेष्टा की और इसमें उसे सफलता भी मिली। उसने कला को समाज का दर्पण बनाया।

रोम की कला पर कारावाज्जो का प्रभाव गहरा तो पड़ा परंतु वह क्षणिक सिद्ध हुआ। किंतु इटली के बाहर फ्रांस और नीदरलैंड्स के कलाकारों पर यह प्रभाव गहरा एवं स्थायी दोनों सिद्ध हुआ। कुल ३७ वर्ष जीवित रहकर भी पाश्चात्य कला के इतिहास में कारावाज्जो ने अपना अमर स्थान बना लिया है। उससे पहले रोमन कलाकार धार्मिक अलौकिक कथाओं का आदर्श चित्रण उपस्थित करने में ही अपनी सफलता समझते थे और प्रत्येक नए कलाकार को उसी साँचे में ढलकर निकलना होता था। कारावाज्जो प्रथम कलाकार है जिसने इस प्रकार की चहारदीवारी में रहना स्वीकार नहीं किया। उसे कथाओं से ज्यादा महत्वपूर्ण अपना अनुभव तथा दृष्टिकोण लगता था।

उसने वेनिस तथा रोम में कलाशिक्षा प्राप्त की थी पर स्वाभाविक चित्रण की ओर वह विशेष रूप से आकृष्ट था। जिस किसी वस्तु को वह चित्रित करने बैठता, उसकी यही चेष्टा रहती थी कि वह उसे बिलकुल वैसा ही रूप प्रदान करे जैसा वह देखने में आँखों को लगता है। वास्तव में उसे प्रत्येक वस्तु के रूप, रंग तथा आकार में सौंदर्य दिखाई पड़ने लग गया था जो उससे पहले के चित्रकार नहीं देख पाते थे। पुराने कलाकार कल्पना और आदर्श में ही सौंदर्य पाते थे। कारावाज्जो के अधिकतर चित्रों में वस्तुओं को जैसा का तैसा चित्रित करने का प्रयास हुआ है। इस दृष्टि से उसका चित्र 'बोआय बिटेन बाइ अ लिजार्ड' अत्यंत महत्वपूर्ण है और निश्चित रूप से प्रचलित कला से भिन्न एक नए दृष्टिकोण का सूत्रपात करता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि [illegible] प्रचलि[illegible]

अतिरिक्त भी ऐसे विषय चित्रकला के लिये हो सकते थे। शास्त्रीय धार्मिक प्रकार के चित्रों में भी वह प्रकाश और छाया का अद्‌भुत प्रयोग करता था। इन चित्रों के पात्रों को भी वह साधारण जनजीवन से ही चुनता था। यही कारण था कि उस समय के कलारसिकों तथा कलामर्मज्ञों का उसे कोपभाजन बनना पड़ा। वे उसपर कला को अश्लील बनाने का आरोप लगाते थे। कारावाज्जो ऐसी आलोचनाओं की तनिक भी परवाह न करता था और अक्सर उनको मुँहतोड़ जवाब देता था। कई बार ऐसे लोगों से उसका झगड़ा हो गया और जेल जाने की नौबत आई। वह माल्टा में कैद कर लिया गया जहाँ से एक दिन वह भाग निकला। वह नेपुल्स वापस आया और रोम जाने की तैयारी में था। वहाँ उसे स्पेन की पुलिस ने शक में रोक लिया। वह इस समय आर्थिक संकट में था और वहीं भूख तथा ज्वर से पीड़ित हो उसने दम तोड़ दिया।

१७वीं शताब्दी की सारी कला कारावाज्जो की प्रेरणा की प्रतीक है और एक नए युग का निर्माण करती है। (रा० चं० शु०)

कारिकाल भारत के मद्रास राज्य के तंजोर जिले में कावेरी नदी के मुहाने पर स्थित एक नगर है। क्षेत्रफल ५२ वर्ग मील। १७३९ में फ्रांसीसियों ने कुछ सेनाओं के बदले इसे तंजोर के राजा से छीन लिया। १७६० ई० में अंग्रेजों ने कारिकाल जीत लिया, परंतु १७६५ ई० में लौटा दिया। १७९८ ई० में पुनः जीतकर १८१७ ई० में अंतिम बार लौटा दिया। अंततः कारिकाल फ्रांसीसियों के पांडेचेरी राज्य का एक अंग था, जो १ नवंबर, १९५४ ई० को भारत को हस्तांतरित कर दिया गया। नगर में एक रेलवे स्टेशन तथा बंदरगाह भी है, जिसका श्रीलंका तथा मलाया से व्यापारिक संबंध है। (प्रे० चं० अ०)

कारू दक्षिणी अफ्रीका का एक पठारी प्रदेश है जिसका अधिकांश भाग केप प्राविंस (दक्षिणी अफ्रीका) में है। इसके तीन प्राकृतिक विभाग हैं: १. उत्तरी कारू अथवा हाई वेल्ड (४,०००–६,००० फुट) जो दक्षिणी अफ्रीका राज्य के मध्य में है, २. वृहत्‌ या मध्य कारू (२,०००–४,००० फुट) जो ज्वार्टवर्गेन से न्यूवेल्ड श्रेणी तक फैला है, तथा ३. लघु या दक्षिणी कारू (१,०००–२,००० फुट)। समस्त कारू की जलवायु शुष्क है तथा प्राकृतिक वनस्पति में झाड़ियों का बाहुल्य है। भूमि का मुख्य उपयोग पशुचारण है। सिंचित भागों में अच्छी कृषि होती है। उच्चतम भूमि होने के कारण यहाँ के अनेक नगर उत्तम स्वास्थ्यकेंद्र हैं। (प्रे० चं० अ०)

कारोतो जोमानी फ्रांसिस्को (१४८०–१५४६) इतालवी चित्रकार, कारोतो ने मांतुआ के सुप्रसिद्ध शिल्पी मोंतेन्या से कला की शिक्षा ली। अपने गुरु की अपेक्षा उसके चित्रों पर विंची और रफ़ेल के चित्रों तथा रोमन शैली का विशेष प्रभाव पड़ा है। प्रकृतिचित्रण में वह विशेष कुशल था। मोदेना की कला गैलरी में सुरक्षित उसके सुप्रसिद्ध चित्र 'कुमारी और शिशु' में उसकी उक्त संश्लिष्ट शैली की अनुपम शक्तिमत्ता के दर्शन होते हैं। वेरोना और मांतुआ के चर्च की दीवारों पर तथा आर्ट गैलरियों में उसके अनेक चित्र आज भी दर्शनीय हैं। (भा० स०)

कारोमंडल भारत का दक्षिण-पूर्वी तट। पहले यह नाम एक राजनीतिक विभाग का था, जिसका विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने से दक्षिण में केलीमियर अंतरीप तक समुद्रतटीय मैदान में था। यह तटीय मैदान उत्तर से दक्षिण को चौड़ा होता जाता है। यह प्रदेश कर्नाटक कहलाता है। यहाँ की मिट्टी उपजाऊ है। इसमें कृष्णा तथा कावेरी नदी के डेल्टा संमिलित हैं। यहाँ पर वार्षिक वर्षा ४०" होती है, जिसका अधिकांश अक्टूबर से दिसंबर तक लौटती हुई मानसून से होता है। यहाँ की मुख्य उपज चावल है। समुद्री मछलियाँ बहुतायत से पकड़ी जाती हैं। पूलीकट, मद्रास, पांडिचेरी, कडुलोर, नेलोर तथा नेगापट्टम इस तट के मुख्य बंदरगाह हैं। (प्रे० चं० अ०)

कार्क (कॉर्क) आयरलैंड गणतंत्र का दूसरा बड़ा नगर है। ली नदी के मुहाने पर समुद्र से ११ मील दूर कार्क हार्बर से ऊपर की ओर यह एक द्वीपसमूह पर बसा है। यह राज्य की तीसरा बड़ा बंदरगाह तथा महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र है। ली नदी में इस नगर के एक मील ऊपर तक जलयान आ जाते हैं। कार्क ऊनी वस्त्र उद्योग का केंद्र है। ट्वीड के अतिरिक्त यहाँ दस्ताने, नकली रेशम, रासायनिक खाद तथा शराब बनाई जाती है। रबड़ तथा मोटर बनाने के कार्य भी उल्लेखनीय हैं। यूनिवर्सिटी, स्कूल और गिरजाघर के भवन दर्शनीय हैं। क्रामवेल ने १६४९ ई० में तथा मार्लबरो ने १६९० ई० में नगर को जीता था। जनसंख्या १९६६ ई० में १,२२,१४६ थी। (प्रे० चं० अ०)

कार्टर, हावर्ड मिस्री पुरातत्व अन्वेष्टा। १८७३ में इंग्लैंड में जन्म हुआ। शिक्षा घर पर ही प्राप्त की। प्रोफ़ेसर फ़्लाइंडर्स पेट्री आदि से पुरातत्व विद्या की शिक्षा ली तथा १८९० में मिस्री उत्खनन विभाग में सहयोगी बनकर १८९९ तक इसी कार्य में संलग्न रहा। कुछ दिनों पश्चात्‌ इसी विभाग का वह इंस्पेक्टर जेनरल बना दिया गया तथा राजा मेंतुहेतेप की समाधि की खोज की और कारनारवान के अर्ल के सहयोगी के पद पर कार्य करते हुए १९०० से १९२३ के बीच उसने बहुतसी समाधियों का पता लगाया। इन्हीं में से एक तूतनख़ामन की समाधि भी थी। 'तूतनख़ामन की समाधि' नामक पुस्तक में उसने अपनी खोजों का पूरा विवरण दिया है। (प० उ०)

कार्डिनल रोमन कैथलिक गिरजे के उच्चतम पदाधिकारी, जो गिरजे के प्रशासन में परमाध्यक्ष (पोप) की सहायता करते हैं। वास्तव में आजकल अधिकांश कार्डिनल इटली के बाहर रहकर परामर्श मात्र दे सकते हैं; दूसरे कार्डिनल स्थायी रूप से रोम में निवास करते हैं और गिरजे के प्रशासन में सक्रिय भाग लेते हैं। परमाध्यक्ष के मरने पर सभी कार्डिनल मिलकर उनका नवीन उत्तराधिकारी चुनते हैं।

कैथलिक धर्म के परमाध्यक्ष ही संसार भर के पुरोहितों में से नए कार्डिनलों की नियुक्ति करते हैं। इन नियुक्तियों में विभिन्न देशों के महत्व तथा कैथलिकों की संख्या का ध्यान रखा जाता है जिससे कार्डिनल मंडल समस्त कैथलिक संसार का प्रतिनिधान कर सके। जनवरी, १९५३ ई० में बंबई के वर्तमान आर्चबिशप कार्डिनल नियुक्त हुए; इस नियुक्ति का ऐतिहासिक महत्व इसमें है कि ये प्रथम भारतीय कार्डिनल हैं। १५वीं शताब्दी में कार्डिनलों की संख्या २४ थी। सन्‌ १५५६ ई० से लेकर वह ७० तक सीमित रही किंतु वर्तमान परमाध्यक्ष ने उसे और बढ़ा दिया है; जनवरी, १९६१ ई० में इनकी संख्या ८९ थी। नियुक्ति के बाद प्रत्येक कार्डिनल रोम जाकर परमाध्यक्ष से लाल टोपी (रेड हैट) ग्रहण करता है। सन्‌ १६३० ई० में कार्डिनलों को 'एमिनेंस' उपाधि दी गई थी।

'कार्डिनल' का अर्थ है मुख्य (लातीनी शब्द कार्दो का अर्थ है कब्जा)। कार्डिनलों के नियोजन का इतिहास इस प्रकार है: द्वितीय शताब्दी ई० से लेकर रोम के आसपास के बिशपों को, रोम नगर के प्रधान गिरजाघरों के पुरोहितों को तथा कुछ उपयाजकों को (ये दरिद्रों की देखभाल करते थे) कार्डिनल की उपाधि दी जाने लगी क्योंकि वे कैथलिक धर्म के परमाध्यक्ष की विशेष सहायता करते थे। ११वीं शताब्दी से इटली के बाहर से भी कार्डिनलों को बुलाया जाने लगा, किंतु उनका रोम में निवास करना अनिवार्य समझा जाता था। इस कारण अधिकांश कार्डिनल शताब्दियों तक इतालवी थे। १४वीं शताब्दी से कार्डिनलों को अपने अपने देश में रहने की अनुमति दी जाने लगी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विकास के कारण आज तक कार्डिनलों के तीन वर्ग हैं—(१) कार्डिनल बिशप जिनकी संख्या छह तक सीमित है; इनमें से जो पहले कार्डिनल नियुक्त हुए हैं वही नए परमाध्यक्ष का अभिषेक करते हैं; (२) कार्डिनल प्रीस्ट (याजक); इस वर्ग में इटली के बाहर रहनेवाले सभी कार्डिनल संमिलित हैं; (३) कार्निडल डीकन (उपयाजक) जिनकी संख्या १४ तक सीमित है। (का० बु०)

कार्डिफ़ वेल्स का प्रमुख नगर है। यह ग्लेमार्गन काउंटी में टैफ़ नदी पर, उसके मुहाने से एक मील ऊपर स्थित है। क्षेत्रफल १५,०८५ एकड़, १९७० ई० में अनुमित जनसंख्या २,८४,०१० थी। नगर में रोमन

तथा नार्मन राज्यकाल के दुर्ग और दीवारें वर्तमान हैं। १८५० ई० से १९१४ ई० तक कार्डिफ़ संसार का प्रमुख कोयला निर्यात करनेवाला बंदरगाह था। यह कोयला कार्डिफ़ में केंद्रित रेलमार्गो द्वारा एकत्रित होता है। नगर में ताँबा, टिन, एनैमेल, लोहा तथा इस्पात तैयार करने के उद्योग स्थापित हैं। शराब तथा बिस्कुट बनाने और आटा पीसने का कार्य भी होता है। कार्डिफ़ इंजीनियरिंग का भी केंद्र है। नगर का गिरजाघर और न्यायालय, राष्ट्रीय संग्रहालय तथा वेल्स विश्वविद्यालय के भवन मुख्य दर्शनीय स्थान है। (प्रे० चं० अ०)

कार्तवीर्य हैहयनरेश कृतवीर्य का पुत्र और माहिष्मती नगरी का राजा सहस्रबाहु अर्जुन। यह भृगुवंशियों का यजमान था। ख्यातों के अनुसार मटखीय के पुत्र ब्रह्मर्षि जमदग्नि का वध कार्तवीर्य के पुत्रों ने कर दिया था (म० भा०; वन० ११६-१८; शांति० ४९-५०)। जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की सहस्र भुजाओं को काट डाला तथा कार्तवीर्य वंश का संहार कर डाला (वही, शांति० ४९-५२-५३)। कार्तवीर्य अत्यंत अत्याचारी राजा था (वही, वन० ११५-१२-१४)। दत्तात्रेय से वरदान पा चुकने के पश्चात् इसने अहंकारपूर्ण शब्दों में ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया (वही, अनु० १५२-१५-२२), किंतु वायुदेव के समझाने पर इसने ब्राह्मणों की महत्ता स्वीकार की (वही, अनु० १५७-२४-२६)। एक बार इसने अभिमानवश समुद्र को बाणों से आच्छादित कर दिया था। (चं० भा० पां०)

कार्तिकेय शिव के पुत्र। प्राचीन भारतीय साहित्य और पुरातत्व मे इनके अन्य नाम कुमार, अग्निकुमार, षण्मुख, स्कंद, शक्तिधर, महासेन, गुह, सुब्रह्मण्य आदि मिलते हैं। ये छह मातृकाओं से उत्पन्न कहे गए हैं। इनके वाहन मयूर तथा कुक्कुट हैं और आयुध शक्ति है। पुराणों के अनुसार अपने अमित पराक्रम के कारण ये देवताओं के सेनापति बनाए गए और उनके प्रबल शत्रु तारक का इन्होंने वध किया।

प्राचीन मुद्राओं पर कार्तिकेय की आकृति मिली है। कुषाण शासक हुविष्क की एक प्रकार की स्वर्णमुद्रा पर इनके दो रूप, महासेन तथा स्कंद, मिलते हैं। यौधेयगण की कुछ मुद्राओं पर हाथ में भाला लिए, छह मुखवाले कार्तिकेय का चित्रण है और ब्राह्मी लेख 'यौधेय भगवतस्वामिनोब्रह्मण्य' या 'भगवतस्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्य कुमारस्य' लिखा है। महाभारत (२, ३२, ४-५) में यौधेयों के रोहितक जनपद को कार्तिकेय का प्रिय प्रदेश कहा गया है। उज्जयिनी की कुछ ताम्रमुद्राओं पर भी अनेक सिरवाले कार्तिकेय का अंकन है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम की एक प्रकार की स्वर्णमुद्रा में कार्तिकेय को मयूर पर आसीन दिखाया गया है (द्र० चित्र)।

भारतीय कला में कुषाणकाल से कार्तिकेय की प्रतिमाएँ मिलती है। गुप्तकालीन कुछ उत्कृष्ट कलाकृतियों में इन्हें फैलाए हुए पंखवाले मयूर के ऊपर वीरवेश में आसीन दिखाया गया है, जो कालिदास के वर्णन 'मयूर-पृष्ठाश्रयिणा गुहेन' का मूर्तरूप है। कुछ प्रतिमाओं तथा मुद्राओ पर मयूर के स्थान पर कुक्कुट मिलता है। महाभारत (३, २३१, १६) में इस रूप में कार्तिकेय का वर्णन करते हुए लिखा है—'त्वं क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन यथेष्टनानाविध कामरूपी।'

उत्तरगुप्तकाल में कार्तिकेय की स्वतंत्र प्रतिमाओं के अतिरिक्त शिव के पार्श्वदेवता के रूप में उनकी अनेक प्रतिमाएँ मिली है। कतिपय मूर्तियों में उन्हें सूर्य के पार्श्वचर देवता के रूप में मूर्त किया गया है। दक्षिण की मूर्तिकला में कार्तिकेय की 'सुब्रह्मण्य' संज्ञा है। कुछ आगम ग्रंथों में स्कंदविशाख को यक्षों आदि के समान लौकिक देवता कहा गया है। पुराणों में कार्तिकेय तथा गणेश का एक साथ बहुधा उल्लेख मिलता है। कुछ ग्रंथों में कार्तिकेय की पत्नी देवसेना का नाम आता है, जिसके साथ सुब्रह्मण्य की विवाहवाली प्रतिमाओं की संज्ञा 'देवसेना-कल्याणसुंदर-मूर्ति' हुई। दक्षिण भारत में इस विग्रह की कुछ मनोहर कांस्य प्रतिमाएँ भी मिली हैं। (कृ० द० वा०)

कार्थूसियन धर्मसंघ रोमन काथलिक गिरजे के इस संघ की स्थापना सन् १०८४ ई० में संत ब्रूनो और उनके छह साथियों द्वारा हुई थी। इस संघ की विशेषता यह है कि इसके सदस्य निरामिष भोजन करते हुए एकांत में ध्यान, स्वाध्याय तथा उपवास मे अपना जीवन बिताते है। १२वीं शताब्दी मे इस संघ की एक शाखा स्त्रियों के लिये भी स्थापित हुई थी। पश्चिमी यूरोप के देशों में पुरुषों के लिये १८ तथा स्त्रियों के लिये चार कार्थूसियन मठ स्थापित है। (का० बु०)

कार्थेज संसार के इतिहास में जिन नगरराज्यों ने साम्राज्य बनाकर उसे भोगा है, उन्हीं में यह कार्थेज भी था। पर जहाँ ऐसे साम्राज्य-निर्माता नगर—एथेंस, रोम, वेनिस आदि—आज भी कायम हैं, कार्थेज बस इतिहास की कहानी बनकर रह गया है; कारण, उस नगर के शत्रुओं ने उसका विध्वंस कर उसपर हल चला दिया। भूमध्यसागर के दक्षिणी तट पर उत्तरी अफ्रीका की भूमि जहाँ सागर के जल मे विलीन हो जाती है, वहीं त्युनिस की खाड़ी के तीर अंतरीप मे बिरसा के गढ़ से लगा वह महानगर बसा था जिसके भग्नावशेष पुराविदो ने खोद निकाले हैं। आधुनिक अंतरीप गामर्त, अरबो का गाँव सीदी-बू-सईद और गोलेत्ता का बदर मिलकर जो त्रिभुज बनाते है, वही वह कार्थेज था जिसे फ़िनीकियों (फ़ीनीशियों) ने बसाया और रोमनों ने उजाड़ डाला, जिसपर वंदालों और विजातीनियों ने शासन किया।

पर स्वयं उस प्राचीन नगर कार्थेज ने प्राचीन जगत् पर अपनी शक्ति और संस्कृति का साका चलाया था। तब के संसार पर प्रायः ५०० साल तक उस समृद्ध नगर का आधिपत्य बना रहा। उसके उत्कर्ष काल में प्रायः दस लाख आदमी वहाँ निवास करते थे। जैसे आज की दुनिया मे यहूदी अर्थपति है, सदियों संसार का अर्थनिधान सँभालते रहे हैं, वैसे ही उनसे पहले फ़िनीकी भूमध्यसागरीय ससार के वाणिज्य और धन के स्वामी थे। थे भी वे मूलतः यहूदी नस्ल के ही और लघु एशिया तथा लेबनान के उस भाग से जगत् के वणिक्पथों पर शासन करते थे जहाँ सिदन और तीर बसे है। फ़िनीकियों ने संसार को सिक्के दिए, बैंकिंग और हुडियाँ दी, चेक दिए, और उन्होंने भूमध्यसागर पर अपनी मंडियों का घेरा कार्थेज को बसाकर पूरा किया।

उस नगर के निर्माण की कहानी भी दिलचस्प है। फ़िनीकी अनुश्रुतियों के अनुसार तीर की राजकुमारी एलिसा अपने भाई के अत्याचार से भागकर वहाँ पहुँची जहाँ ई० पू० १६वीं सदी में ही कुछ सिदनी जा बसे थे। सिदनी-नूबिनाई बस्तियों से एलिसा ने ई० पू० नवी सदी के मध्य कुछ भूमि खरीदी और ८१४-१३ ई० पू० के लगभग नए नगर का निर्माण आरंभ किया। उसका नाम ही 'नया नगर' पड़ा, जिसके लिये प्राचीन फ़िनीकी शब्द 'कार्तहादाश्त्' व्यवहृत होता था और जो ग्रीकों और रोमनों के प्रयोग से बिगड़कर 'कार्थेज' बन गया। भारत मे जेतवन की खरीदारी में जैसे राजा जेत के कठिन मूल्य को श्रेष्ठी ने अपनी संपत्ति मे चुकाया, वैसे ही एलिसा ने अपने विक्रेताओं को अपनी चातुरी से जीता। उन्होंने कहा कि जितनी भूमि को वृषभ की खाल घेर ले, बस उतनी ही प्रस्तुत मूल्य में मिल सकती है। एलिसा ने वृषभ कटवा उसकी खाल उतरवा ली और उस खाल की पतली पतली पट्टियाँ तैयार कर उनसे बोरसा की पहाड़ी घेर ली और इस प्रकार वह समूची पहाड़ी अपनी चतुर्दिक् भूमि के साथ एलिसा को मिल गई। आज भी उस पहाड़ी गढ़ को 'बिरसा' कहते हैं। उसी भूमि पर कभी कार्थेज कायम था।

कार्थेज का इतिहास समृद्धि और संघर्ष का है। वाणिज्य ने उसे समृद्धि दी और समृद्धि ने ऐश्वर्य दिया। और जब उसी की देखादेखी अन्य भी ऐश्वर्य को साधने चले तब दोनों महत्वाकांक्षाएँ परस्पर टकरा गई और दोनों में संघर्ष छिड़ गया। कार्थेज का पहला संघर्ष सिसिली और परवर्ती द्वीपों के ग्रीकों से हुआ, दूसरा रोमनो से। कार्थेज की कहानी इसी संघर्ष की कहानी है। और जब इस संघर्ष का आरंभ हुआ तब वह महानगरी भूमध्यसागरवर्ती भूमि की स्वामिनी थी। जब छठी सदी ई० पू० में खल्दी सम्राट् नेबूखदनेज़्ज़ार ने प्रधान फ़िनीकी नगर तीर को विध्वस्त कर दिया तब उस प्राचीन नगर का समस्त वैभव कार्थेज को मिला। कार्थेज तब फ़िनीकी वाणिज्य, शक्ति और ऐश्वर्य का केंद्र बना।

कार्थेज का नेता माल्खस अपना बेड़ा और सेना लिये सिसिली पहुँचा और उस विशाल द्वीप को उससे ५५० ई० पू० में ग्रीकों से छीन लिया।

१४ वर्ष बाद ही उसने कोर्सिका पर भी अधिकार कर लिया। उस सागरीय संसार के आधिपत्य में तब ग्रीक भी अपना भाग पाते थे जो माल्खस की चोट से तिलमिला उठे। सिसिली पर फ़िनीकी अधिकार ने कार्थेज का प्रभुत्व भूमध्यसागर पर स्थापित कर दिया। पर सार्दीनिया को न ले सकने के कारण माल्खस अपने नगरप्रभुओं के चित्त से उतर गया। उधर ग्रीकों की पराजय ने कार्थेजियों और रोमनों को आमने सामने ला खड़ा किया। उनमें शांति कायम रखने के लिये ५०९ ई० पू० में पहली संधि हुई।

पर ग्रीकों के साथ युद्ध बंद न हुआ, चलता रहा। सार्दीनिया में युद्ध के बीच ही, ४८५ ई० पू० में, मागो का पुत्र हास्द्रुबाल मरा। उधर उसके भाई हामिल्कार को हिमेरा में उसी ऐतिहासिक वर्ष ग्रीकों ने पराजित किया जिस ४८० ई० पू० में उन्होंने सलामिस में ईरानियों को धूल चटाई थी। पर इससे कार्थेजी निरुत्साहित नहीं हुए और हामिल्कार के पुत्र हान्नो ने हर्क्यूलिज़ के स्तंभों (जिब्राल्टर) को लाँघ पश्चिमी अफ्रीकी समुद्रतट पर अपने उपनिवेश खड़े किए। उधर सिसिली में ग्रीकों के साथ प्रायः १०० साल युद्ध चलता रहा। ४०६ ई० पू० में हानिबाल और हिमिल्को ने कुछ प्रगति की पर उनके आक्रमण शीघ्र ग्रीकों ने विफल कर दिए। साथ ही अगाथो-क्लीज़ ने कार्थेज पर घेरा तक डाल दिया। पर उसकी मृत्यु के बाद कार्थेज ने फिर अपना आधिपत्य सिसिली पर स्थापित कर लिया। इस प्रकार ग्रीकों और कार्थेजियों के संघर्ष में कार्थेज विजयी हुआ।

अगली सदियों की शक्ति के लिये कशमकश रोमनों और कार्थेजियों के बीच हुई। तीन तीन युद्ध सदियों लड़े गए। इन युद्धों को प्यूनिक युद्ध कहते हैं। इनमें से पहला २६८ और २४१ ई० पू० के बीच हुआ। यह भी सिसिली पर आधिपत्य के लिये ही लड़ा गया, अंतर केवल इतना था कि कार्थेज के प्रतिद्वंद्वी अब ग्रीकों के स्थान पर रोमन थे और वे नई शक्ति के पौरुष से उन्मत्त भी थे। पहला मोर्चा उन्हीं के साथ रहा और सिसिली पर अधिकार कर उन्होंने रेगुलस को कार्थेज जीत लेने के लिये अफ्रीका भेजा; पर कार्थेजियों ने स्पार्ता के जानिथिप्पस की सहायता से उसे पराजित कर पकड़ लिया। किंतु पानोरमस में रोमन विजय (२५० ई० पू०) ने पासा पलटा और दोनों पक्षों में २४१ ई० पू० में संधि हो गई। कार्थेज ने शांति की साँस ली। और अब युद्ध बंद हो जाने से उसने जो सेना तोड़ देनी चाही तो सैनिकों ने अपना बकाया वेतन माँगा, और न मिलने पर कार्थेज पर घेरा डाल दिया। हामिलकार बार्का की ही सूझ थी जिसने सहायता की और उसने नगर को घेरे से मुक्त कर घेरा डालनेवालों को काट डाला।

अब कार्थेज ने, सिसिली हाथ से निकल जाने पर, पश्चिम स्पेन की ओर रुख किया। नौ साल के अभियान के बाद २२८ ई० पू० में स्पेन पर कार्थेज का अधिकार हो गया। तभी हामिल्कार की मृत्यु हो गई। उसका दामाद हास्द्रुबाल पुरुखर अब कार्थेज का नेता बना। उसने रोमनों से संधि कर ली। उसकी मृत्यु के बाद हामिल्कार के पुत्र हानिबाल को कार्थेज की सेना ने अपना नेता चुना। घर में शांति और समृद्धि थी। कार्थेज जितना अनंत धन का स्वामी था उतनी ही उसकी जनसंख्या भी बढ़ी और बढ़कर दस लाख हो गई। रोमनों की विजय का प्रतिशोध लेने की माँग हुई और दूसरे प्यूनिक युद्ध का आरंभ हुआ।

इस युद्ध में हानिबाल ने जो अचरज के कारनामे किए उनसे स्वाभाविक ही उसकी गणना सिकंदर के साथ संसार के असाधारण विजेताओं में होती है। २१९ ई० पू० में उसने सागुंतुम जीता और स्पेन तथा गाल को रौंदता (२१८–१७ ई० पू०) अपने हाथियों की सेना से आल्प्स् की बर्फ जमी चोटियाँ लाँघता इटली के मैदानों में उतर गया। युद्ध अब इटली की जमीन पर होने लगा, कार्थेज रोम की छाती पर था। मोर्चे पर मोर्चा सर करता हानिबाल २१६ ई० पू० में कानाइ जा पहुँचा और उसे जीत लेने पर रोम की राह अरक्षित खुल गई। पर ठीक तभी कार्थेज के नगरस्वामी एक नई नीति अपना बैठे। उन्होंने हानिबाल को सेना और युद्धखर्च भेजने से इनकार कर दिया। हानिबाल विदेश में था, शत्रुओं के बीच, जो अपने उदीयमान साम्राज्य के हृदय रोम की रक्षा के लिये कट मर रहे थे। उसका भाई हास्द्रुबाल अपनी सेना लिये उसकी मदद को स्पेन से चला, पर उसे हराकर रोमनों ने उसकी कुमक तोड़ दी। रोमनों ने स्पेन पर फिर अधिकार कर लिया और सागर लाँघ, घूमकर, वे अफ्रीका जा पहुँचे। उनका नेता और हास्द्रुबाल का विजेता स्कीपिओ आफ़्रिकानस युद्ध को इटली से अफ्रीका का जमान पर खींच ले गया। अब जा अपने भाइ को पराजय की सूचना हानिबाल को मिली, और उसने देखा कि स्वदेश से सहायता की संभावना भी नहीं, तो उसने सर्वस्व दाँव पर लगा दिया। उसने युद्धकौशल के कुछ आश्चर्यजनक मान रखे, पर २०२ ई० पू० में ज़ामा के युद्ध में हारकर वह सब कुछ खो बैठा। फिर वह भागा, नगर नगर, राज राज, और अंत में सर्वत्र शत्रुओं के शिकंजे को तत्पर देख ग्रीस में उसने जहर खाकर प्राण दे दिए। रोम और कार्थेज के बीच संधि द्वारा दूसरा प्यूनिक युद्ध समाप्त हुआ। कार्थेज का वह जहाजी बेड़ा, जिससे उसन सागर और सागरीय द्वीपों और देशों पर सदियों शासन किया था, तोड़ डाला गया और अफ्रीका को छोड़ उसका सारा बाहरी साम्राज्य छीन लिया गया। पर कार्थेज फिर भी मरा नहीं। उसने फिर शक्ति संचित की और उसकी जनसंख्या फिर सात लाख तक जा पहुँची। तीसरे प्यूनिक युद्ध का आरंभ हुआ। यह केवल तीन वर्ष चला। बड़े बलिदानों के बाद, १४६ ई० पू० में, वह नगर जीता जा सका। हास्द्रुबाल अपने दावानों के साथ एश्मून के मंदिर में डट जूझ गया। फिर तो नगर का संहार शुरू हुआ, लूट और हत्या की सीमाएँ मिट गई, नगर को गिराकर उसपर हल चला दिया गया। रोम और कार्थेज के युद्ध बंद हो गए।

१२२ ई० पू० में रोम के सिनेट ने कार्थेज को फिर से उपनिवेश के रूप में बसाना चाहा। कार्थेज बसाया भी गया, पर उसे उजड़ते भी देर न लगी। जूलियस और ओगुस्तस सीज़र दोनों ने बारी बारी वहाँ अपनी सेनाएँ भेजी, फिर वंदालो का उसपर अधिकार हुआ। गाइसेरिक के नेतृत्व में वे जिब्राल्टर का जलडमरूमध्य लाँघ वहाँ पहुँचे और बचे खुचे नगर को लूटा। फिर वहीं से उस वंदालराज ने रोमन साम्राज्य और इटली पर अपने संहार के धाव किए। अब कुछ काल कार्थेज वंदालों के ही अधिकार में रहा, पर समृद्ध विजेता नगर के रूप में नहीं, केवल जलदस्युता का आधार बनकर। रोमन साम्राज्य अब तक दो भागों में बँट चुका था। पूर्वी भाग की राजधानी बिजांतियम थी जहाँ से चलकर रोमन सेनापति बेलिसारियस ने अंतिम वंदाल राजा को पराजित कर कार्थेज पर अधिकार कर लिया। कार्थेज पर फिर एक बार रोमनों का आधिपत्य हुआ और बेलिसारियस ने नगर की प्राचीरें खड़ी कर उसे नवजीवन दिया।

पर नगर का वह जीवन दीर्घकालिक न हो सका। अरब की मरुभूमि से जो तूफान उठा वह पश्चिम की ओर आसमान पर छाता चला गया। सीरिया और फिलिस्तीन, मिस्र और त्यूनीसिया एक एक कर अरबों के कदमों में लोटते गए। हसन-इब्न-ए-नोमान ने ६९७ ई० में कार्थेज पर बगैर लड़ाई के अधिकार कर लिया। रोमन जनरल इयोनिस ने उसके पीठ फेरते ही नगर को फिर स्वतंत्र कर लिया और उसकी रक्षा के लिये कटिबद्ध हुआ। पर हसन शीघ्र लौटा, उसने बिजांतीनी सेना को पराजित कर नगर को मिट्टी में मिला दिया। इस प्रकार ६९८ ई० में कार्थेज संसार के मानचित्र से मिट गया, केवल राहगीरों से उसके साम्राज्य के उदय, विकास और संहार की कहानी कहते रहने के लिये रोमनों के बनाए नहरों के टूटे स्तंभ खड़े रह गए।

कार्थेज का शासन राजसत्तात्मक न था, अभिजातसत्तात्मक अथवा बहुसत्ताक था। प्रधान कुलों से प्रति वर्ष शासन के लिये दो 'सोफ़ेतिम' चुन लिए जाते थे। इन्हें अनेक बार भी चुना जा सकता था। हानिबाल २३ वर्षों तक सोफ़ेतिम रहा था। इनका नियंत्रण दस सदस्यों की एक समिति करती थी जो सिनेटरों में से चुनी जाती थी। सिनेट के सदस्यों की संख्या ३०० थी। सिनेटर संभ्रांत और धनी कुलों से चुने जाते थे। इनके अतिरिक्त एक जनसभा भी थी पर उसके अधिकार अत्यंत सीमित थे।

कार्थेजियों के धार्मिक विश्वास प्रायः वे ही थे जो फ़िनीकियों के थे। छोटे छोटे अनेक देवताओं के ऊपर तीन प्रधान देवता थे—१. बाल-अमोन अथवा मोलोख, २. तानित, जो चंद्रमा से संबंधित आकाश की देवी थी, और ३. एश्मून, नगर का देवता। मोलोख क्रूर देवता था जिसे बालकों की बलि भी दी जाती थी। उसकी विशाल मूर्ति की भुजाओं में बच्चे डाल दिए जाते थे जो एक एक कर, नीचे के अग्निज्वाल में गिरते जाते थे। पीछे, सिसिली के ग्रीकों से संबंध होने के कारण कार्थेज में ग्रीक

देवताओं की उपासना भी एक अंश में होने लगी थी। अपोलो का एक मंदिर नगर के बीच खड़ा था और देल्फ़ी की भविष्यवाणी के लिये भी नगर अपनी समस्याएँ और चढ़ावा भेजा करता था।

सं०ग्रं०—स्मिथ, आर० बी० : कार्थेज ऐंड द कार्थेजियंस्; चर्च, ए० जे० : द स्टोरी ऑव कार्थेज; ह्यूबक, पियर : कार्थेज।

(भ० श० उ०)

कार्नवाल इंग्लैंड के दक्षिण-पश्चिमी तट पर स्थित एक काउंटी है। यह एक प्रायद्वीप के आकार की है जिसकी लंबाई ७५ मील तथा चौड़ाई ४५ मील है। क्षेत्रफल १,३५६ वर्गमील, जनसंख्या (१९६१) ३,४२,३०१। फ़ालमाउथ स्थान पर जनवरी का औसत तापमान ४४.५° फा० तथा वार्षिक वर्षा ४३.६" है। कार्नवाल के मुख्य खाद्यान्न जई तथा मिश्रित अन्न हैं। यहाँ का मत्स्योत्पादन भी महत्वपूर्ण है। टिन का उत्पादन प्राचीन काल से ही रहा है। ताँबा उत्पन्न करने में कार्नवाल की गणना यूरोप के मुख्य क्षेत्रों में होती है। फ़ालमाउथ पर जलयान सुधारे जाते हैं। हेल, पेंजेंस, पेनरीन तथा ट्रूरो मुख्य बंदरगाह हैं।

(प्रे० चं० अ०)

कार्नवालिस (१७३८–१८०५) अभिजात कुल में उत्पन्न, कार्नवालिस के प्रथम अर्ल का ज्येष्ठ पुत्र चार्ल्स कार्नवालिस ३१ दिसंबर, १७३८ को लंदन में जन्मा। उसका व्यक्तित्व असाधारण नहीं था; न उसमें उच्चकोटीय प्रतिभा थी और न मौलिकता ही। किंतु वह ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ, दृढ़निश्चयी, संयत और सदाशयी होने के कारण सर्वत्र स्नेह और संमान का पात्र बना। वह योग्य सेनानायक भी था और कुशल शासक भी। उच्चस्तरीय विद्यालयों में शिक्षा समाप्त कर, उसने सेना में प्रवेश किया। १७६१ में उसने जर्मनी में युद्ध में भाग लिया। १७६२ में अपने पिता का उत्तराधिकार ग्रहण कर वह अर्ल बना। अमरीका के स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजी सेना का नेतृत्व ग्रहण कर उसने अमरीकी सेना को केम्डन तथा गिलफ़र्ड हाउस में परास्त किया; किंतु यार्कटाउन के युद्ध में पराजित हो उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा (१९ अक्टूबर, १७८१) इस पराजय से अंग्रेजी सत्ता अमरीका में समाप्त हो गई। १७८६ में वह ब्रिटिश भारत का गवर्नर जनरल तथा सेनापति नियुक्त हुआ। टीपू के विरुद्ध युद्ध में, प्रथम प्रयास की असफलता के पश्चात्, कार्नवालिस ने स्वयं सेना का नेतृत्व ग्रहण किया। आरंभ में तो उसे वांछित सफलता नहीं मिली; किंतु, अंतिम प्रयास में उसने बँगलोर अधिकृत कर (१७९१), सिरिंगापट्टम पर घेरा डाला, जिससे टीपू संधि करने पर विवश हुआ (१७९२) तथा उसे आधा राज्य अंग्रेजों को समर्पित करना पड़ा। कार्नवालिस ने अवध की समस्या में भी सफल हस्तक्षेप किया। उसने अंडमान तथा पेनांग में अंग्रेजी उपनिवेश स्थापित किए। चीन को प्रथम अंग्रेज प्रतिनिधिमंडल भेजा। नेपाल से व्यावसायिक संधि की तथा असम में अँग्रेजी व्यवसाय को प्रोत्साहित किया।

भारत के शासकीय क्षेत्र में कार्नवालिस ने ब्रिटिश-सिविल-सर्विस को भ्रष्टाचार से परिष्कृत कर सुदृढ़ किया। चुंगी विभाग में अनेक उपादेय सुधार किए। पुलिस तथा जेल विभागों को सुसंगठित करने का प्रयास किया तथा ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक व्यवस्था दृढ़ की। कृषि शासन में भी उसने महत्वपूर्ण सुधार किए। इस क्षेत्र में उसका सर्वप्रसिद्ध कार्य बंगाल में इस्तमरारी बंदोबस्त की स्थापना था। इससे, यद्यपि जमींदारों को नवीन वैधानिक अधिकार प्राप्त हुए, तथापि किसानों को अमित आघात सहने पड़े। उसके सर्वोत्कृष्ट सुधार न्याय के क्षेत्र में थे। ये ४८ रेग्यूलेशन 'कार्नवालिस कोड' के नाम से प्रख्यात हैं, जो कार्नवालिस की स्थायी कीर्ति हैं। किंतु कार्नवालिस की शासकीय नीति में दो मूल दोष थे। प्रथमतः, जातीयता की भावना से प्रभावित हो उसने, सिद्धांततः भारतीयों को उच्च पदों से सर्वथा वंचित रखा। द्वितीय, उसने न्यायविधान का आवश्यकता से अधिक आंग्लीकरण किया। १७९३ में कार्नवालिस स्वदेश लौटा तथा मारक्विस की पदवी से विभूषित हुआ। १७९७ में वह फिर गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। किंतु विद्रोह दमन करने के लिये वाइसराय नियुक्त हो वह आयरलैंड भेज दिया गया। वहाँ हुंबर्ट को पराजित कर (१७९८) उसने शांति स्थापित की और अंततः लोकप्रिय शासक प्रमाणित हुआ। १८०५ में वह एक बार फिर गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा गया। किंतु, गाजीपुर में उसकी मृत्यु हो गई (५ अक्टूबर, १८०५)। वहीं उसका मकबरा निर्मित हुआ।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० एस० सेट्न कार : द मार्क्विस ऑव कार्नवालिस; चार्ल्स रॉस : कार्नवालिस करेस्पांडेंस; ए० एस्पिनाल : कार्नवालिस इन बेंगाल; कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द ५; एफ़० डी० अस्कोली : अर्ली रेवेन्यू हिस्ट्री ऑव बेंगाल ऐंड द फ़िफ्थ रिपोर्ट। (रा० ना०)

कार्नाक दक्षिणी मिस्र में नील नद के पूर्वी तट पर जो प्राचीन नगर थीब्ज के भग्नावशेष हैं उनके उत्तरी भाग को कार्नाक और दक्षिणी भाग को लुक्सोर कहते हैं। कार्नाक और लुक्सोर दोनों अपने प्राचीन मंदिरों के लिये प्रसिद्ध हैं। चहारदीवारी से घिरे हुए तीन मंदिरों के खंडहर कार्नाक में आज भी खड़े हैं। इनमें सबसे उत्तर का खंडहर देवता मेंतू के मंदिर का है जिसका निर्माण आमेनहोतेप तृतीय ने कराया था। जो भाग इसका बच रहा है वह तोलेमी राजाओं के समय बना था। वह वस्तुतः प्रवेशद्वार मात्र है। इस मंदिर के दक्षिण में देवी मूत का मंदिर है। उसे भी फ़राऊन आमेनहोतेप तृतीय ने ही बनवाया था। यह पहलेवाले से पर्याप्त बड़ा है। इसके पीछे तभी की बनी एक पवित्र झील भी है। सबसे बड़ा मंदिर, जो देवता आमेन का है, मूत के मंदिर से दक्षिण की ओर खंडहर के रूप में खड़ा है। इसकी चहारदीवारी तीनों में सबसे प्रशस्त है, प्रायः १,५०० फ़ुट वर्गाकार। देवता आमेन की पत्नी का नाम मूत और पुत्र का खानसू था। खानसू का अपना मंदिर भी आमेन के मंदिर की चहारदीवारी के भीतर ही है। मूत के मंदिर से आमेन के मंदिर तक मेषमूर्तियों के बीच से राह चली गई है। मेंतू का मंदिर इन मंदिरों से पृथक् है।

आमेन के मंदिर की विशेषता उसके 'स्तंभों का हॉल' है जो संसार के आश्चर्यों में गिना जाता है और जिसका निर्माण सेती प्रथम तथा रामसेज़ द्वितीय ने कराया था। (प० उ०)

कार्पस क्रिस्टी संयुक्त राज्य, अमरीका के टेक्सास राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग में न्यूसेस नदी के मुहाने के निकट स्थित एक नगर है। जनसंख्या १,६७,६९० (१९६०)। यह एक बंदरगाह भी है जहाँ गहरे पानीवाले जलयान आ सकते हैं। २१ मील लंबी एक जलधारा इसके पोताश्रय को मेक्सिको की खाड़ी से मिलाती है। सड़कों, रेलों तथा वायुमार्गों द्वारा कार्पस क्रिस्टी का संबंध अनेक नगरों से है। यहाँ पर वायु तथा नौसेना के शिक्षणकेंद्र भी हैं। प्रारंभ में यहाँ पर स्पेनवालों की बस्ती थी, परंतु मेक्सिको के युद्ध के पश्चात् यह संयुक्त राज्य का नगर बन गया।

(प्रे० चं० अ०)

कार्पाचो, वित्तारिओ (१४५०–१५२३) वेनिस के श्रेष्ठ चित्रकारों की परंपरा में है। वेनिस अकादमी में 'संत उर्सुला' की चित्रमाला सुप्रसिद्ध है तथा 'संत उर्सुला का पिता से विछोह' नामक चित्र उस शैली का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। रस्किन ने सान जिऑर्गीओ की स्कूओ में चित्रित उसकी कृतियों की ओर रसिकों का ध्यान आकर्षित किया। ४० से लेकर ६९ वर्ष तक की आयु के बीच चित्रित उसकी कलाकृतियाँ अनुपम हैं। उसका वास्तविक नाम स्कारपोत्सा था। (भा० स०)

कार्बधातुक यौगिक (Organometallic Compounds) उन रासायनिक वस्तुओं को, जिनमें एक या अधिक हाइड्रोकार्बन मूलक धातु या उपधातु (metalloid) से ऋजु संयोजित होते हैं, कार्बधातुक यौगिक कहते हैं। प्रकृति में ये अप्राप्य हैं, पर प्रयोगशाला में संश्लेषित इन यौगिकों की संख्या बहुत बड़ी है।

फ़्रैंकलैंड ने सर्वप्रथम १८४९ ई० में डाइ-एथिल जस्ता नामक एक कार्बधातुक यौगिक का पृथक्करण किया और उसकी संरचना निर्धारित की। बाद में बहुत से धातुओं और उपधातुओं के संयोग से बहुत से यौगिकों का संश्लेषण किया गया। इन यौगिकों ने आधुनिक रसायन की उन्नति

में महत्वपूर्ण योग दिया है, जैसे टेट्रा-एथिल सीस (Lead) एक महत्व का प्रत्याघात (antiknock) है, जिसका उपयोग मोटर ईंधन में होता है। ये यौगिक कई प्रकार के है, जिन्हें साधारणतः दो भागों में विभाजित किया जाता है : (१) 'सरल' कार्बधातुक यौगिक, जिनमें कार्बनिक समूह आर (R) (ऐल्किल, ऐरिल आदि) धातु से संयोजित हैं और (२) कार्बधातुक यौगिक 'मिश्रित', जब आर (R) और एक्स (X) (हैलोजन, हाइड्राक्सिल, हाइड्रोजन आदि) दोनों ही धातु से संबद्ध हों।

इन यौगिकों का संश्लेषण प्रायः जस्ता, मैग्नीशियम, पारद आदि धातुओं और ऐल्किल आयोडाइडों की अभिक्रिया से होता है। विशेष क्रियाशील होने के कारण इनका उपयोग रासायनिक संश्लेषण की क्रियाओं में अधिकता से होता है। सोडियम मेथिल ($NaCH_3$) जैसे सोडियम ऐल्किल की प्राप्ति, पारद ऐल्किलों पर सोडियम की अभिक्रिया से, होती है। शुद्ध रूप में ये अमणिभीय पदार्थ हैं, जो भिन्न भिन्न विलायकों में अविलेय हैं। गर्म करने पर बिना द्रवित हुए ही विच्छेदित होते हैं।

जस्ता-ऐल्किल—इसकी प्राप्ति जस्ता और ऐल्किल आयोडाइडों की अभिक्रिया से होती है। जस्ते को जस्ता-ताम्र-युगल (Zinc-copper couple) के रूप में उपयोग करने से अभिक्रिया अधिक क्रियाशील होती है। पहले जस्ता ऐल्किल आयोडाइड की उत्पत्ति होती है, जो आसवन पर विच्छेदित होकर जस्ता ऐल्किल में परिवर्तित होता है :

$$C_2H_5I \quad + \quad Zn = C_2H_5ZnI$$
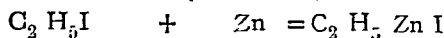
(एथिल आयोडाइड) + (जस्ता) = जस्ता एथिल आयोडाइड

$$2C_2H_5ZnI \longrightarrow Zn(C_2H_5)_2 + ZnI_2$$
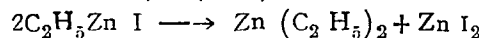
डाइथिल जस्ता आयोडाइड (डाइएथिल-जस्ता) + जस्ता आयोडाइड

ये जस्ता-ऐल्किल रंगहीन तथा दुर्गंधमय द्रव हैं जो उबलने पर विच्छेदित हो जाते हैं। ये हवा में शीघ्र ही जल उठते हैं और चमड़ी में कष्टप्रद फफोले उत्पन्न करते हैं।

कार्ब-मैग्नीशियम यौगिक—संश्लेषण के हेतु मैग्नीशियम का उपयोग सर्वप्रथम बार्वीर (Barbier) ने १८६६ ई० में किया, किंतु इसका महत्व बताने का श्रेय उनके शिष्य विक्टर ग्रीनयार्ड को है। ग्रीनयार्ड ने दिखाया कि मैग्नीशियम शुष्क ईथर की उपस्थिति में बहुत से कार्बनिक हैलोजन यौगिकों से अभिक्रिया करके ($RMgX$), जिसमें आर (R) = ऐल्किल अथवा एरिल समूह और एक्स (X) = हैलोजन है, यौगिक बनाता है। इनके असाधारण क्रियाशील होने के कारण इनका महत्व संश्लिष्ट रसायन में अतुलनीय है। (विशद वर्णन के लिये द्र० 'ग्रीनयार्ड के अभिकर्मक')। लीथियम ऐल्किलों की प्राप्ति शुष्क ईथर के माध्यम में ऐल्किल हैलाइडों और लीथियम की अभिक्रिया से होती है। गुणधर्म में ये ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों के ही समान हैं और इनका भी उपयोग संश्लेषण के हेतु किया जाता है। ताम्र, रजत और स्वर्ण के कार्बधातुक यौगिकों—क्रमशः फेनिल ताम्र, (C_6H_5—Cu); फेनिल रजत, (C_6H_5—Ag) और फेनिल स्वर्ण, (C_6H_5—Au)—की प्राप्ति भी ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों की सहायता से ही होती है। एक संयोजी (monovalent) ताम्र, स्वर्ण और रजत यौगिकों का लाक्षणिक गुण यह है कि ये पूर्ण रूप से R—R यौगिक तथा धातु (M) में विच्छेदित हो जाते हैं :

$$2C_6H_5M \longrightarrow C_6H_5—C_6H_5 + 2M$$
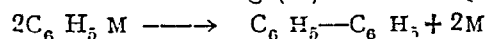
(फेनिल-ताम्र, रजत या स्वर्ण) → (डाइफेनिल) + (धातु)

कैडमियम के यौगिक शुष्क कैडमियम क्लोराइड और ग्रीनयार्ड अभिकर्मक के संयोग से प्राप्त होते हैं।

$$CH_3MgCl + CdCl_2 \rightarrow CH_3CdCl + MgCl_2$$
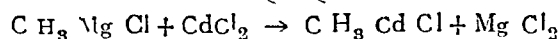
टेट्रा-मेथिल सीस, मिश्रधातु और एथिल जैसे सीस-ऐल्किल क्लोराइड से प्राप्त करते हैं। थोड़ी मात्रा में यह पेट्रोल में मिश्रित किया जाता है जो प्रत्याघात (ऐंटिनाक) का काम करता है।

पारद में हाइड्रोकार्बनों के कार्बन के साथ अथवा कार्बनिक मूलकों के साथ संयुक्त होने की विशेष क्षमता है। सोडियम संरस (Sodium amalgam) सीधे ही एथिल आयोडाइड और ब्रोमोबेंज़ीन से अभिक्रिया करता है और पारद डाइ-एथिल $Hg(C_2H_5)_2$ (क्वथनांक १५९° सें०) और पारद डाइफेनिल, $(C_6H_5)_2Hg$ (गलनांक १२०° सें०) उत्पन्न होता है। बहुत से क्रियाशील पदार्थों, जैसे सौरभिक समाक्षारों या फेनिल से संजात केवल मरक्यूरिक ऐसीटेट के साथ गरम करने पर ही प्राप्त हो जाते हैं। आर्सेनिक, ऐंटिमनी और बिस्मथ के यौगिकों का भी विशेष महत्व है, क्योंकि उनमें से बहुत से अद्भुत ओषधि गुणवाले सिद्ध हुए हैं। पोटैशियम ऐसीटेट और आर्सेनिक ट्राइ-आक्साइड के आसवन से एक सधूम द्रव, कैकोडिल आक्साइड $(CH_3)_2AsO_2$ (क्वथनांक १५० सें०) प्राप्त होता है। कैकोडिल मूलक $[(CH_3)_2As]$ भी काफी स्थायी है। कैकोडिल आक्साइड के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ आसवन पर कैकोडिल क्लोराइड (डाइ-मेथिल आर्सीन क्लोराइड) $(CH_3)_2AsCl$ की प्राप्ति होती है। मेथिल डाइक्लोरोआर्सीन CH_3AsCl का प्रयोग युद्ध में विषैली गैस के लिये किया जाता है। ऐंटिमनी के यौगिक भी गुणधर्म में इनसे बहुत मिलते है। कार्बवंग यौगिक गुणधर्म में सीस यौगिकों से मिलते हैं। स्टैनस क्लोराइड और मैग्नीशियम एथिल ब्रोमाइड से वंग डाइएथिल $Sn(C_2H_5)_2$ एक तैल प्राप्त होता है। इसी भाँति वंग डाइ फेनिल $Sn(C_6H_5)_2$ एक चटकीले पीले चूर्ण के रूप में (गलनांक १३०° सें०) प्राप्त होता है।

सं०ग्रं०—श्मिट (schmidt) : आर्गेनिक केमिस्ट्री; हेनरी गिलमैन : आर्गेनिक केमिस्ट्री। (शि० मो० व०

कार्बन एक तत्व है, जो स्वतंत्र तथा संयोजित दोनों रूपों में मिलता है। स्वतंत्र कार्बन के भिन्न अपर रूप हीरा, ग्रैफ़ाइट तथा कोयला हैं। हवा के कार्बन डाइ-आक्साइड में, पानी में घुले कार्बोनेट में और संगमरमर, खड़िया, अनेक चट्टानों तथा कई प्रकार के खनिज पदार्थों में संयोजित कार्बन रहता है। जीवधारी, वनस्पति, पेट्रोलियम तथा सभी कार्बनिक वस्तुओं का एक अत्यावश्यक अवयव कार्बन है।

साधारण ताप पर कार्बन सामान्यतः अक्रिय है, परंतु तप्त करने पर यह बहुत सी वस्तुओं से संयोग करता है। आक्सिजन से क्रिया में कार्बन मोनो-आक्साइड तथा डाइ-आक्साइड बनता है :

$$C + \frac{1}{2}O_2 = CO, \quad C + O_2 = CO_2$$
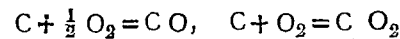
उच्च ताप पर कार्बन द्वारा कई धातुओं के आक्साइड का अवकरण हो जाता है। उच्च ताप पर आक्सिजन से संयुक्त होने की प्रवृत्ति के कारण ही यह ईंधन के लिये तथा धातुकर्म में सरल अवकारक के लिये अत्यधिक प्रयुक्त होता है। अति उच्च ताप पर यह हाइड्रोजन से भी क्रिया करता है और फलस्वरूप हाइड्रोकार्बन बनते हैं।

यौगिकों में कार्बन की सामान्यतया चतुःसंयोजकता रहती है तथा वलय अथवा शृंखला में दूसरे कार्बन परमाणु से भी संयोग करना इसका विशेष गुण है। इसीलिये असंख्य कार्बनिक यौगिक उपलब्ध हैं।

कई प्रकार के कार्बनिक यौगिकों को, जैसे लकड़ी का चूर, चीनी, पत्तियों इत्यादि को, अपर्याप्त वायु में गरम करने से वे झुलस जाते हैं और वाष्प तथा दूसरी वाष्पशील वस्तुएँ बाहर निकल जाती हैं। अंत में काली वस्तु बच रहती है जो विशुद्ध कार्बन रहता है, अथवा अल्प मात्रा में दूसरे यौगिकों सहित, प्रायः विशुद्ध कार्बन रहता है। इसी प्रकार तेल के जलने से या धुएँ से प्राप्त काजल भी कार्बन है। रंग रूप में हीरा कार्बन का रूप नहीं प्रतीत होता परंतु कोयला, काजल, ग्रैफ़ाइट की भाँति यह भी वस्तुतः कार्बन का ही एक अपर रूप है। इन सभी प्रकार की वस्तुओं को वायु में पूर्णतया जलाने पर कार्बन डाइ-आक्साइड गैस ही मिलती है। मात्रात्मक विचार से पूर्वोक्त सभी वस्तुओं से भार भी बराबर ही मिलता है। कार्बन के ये विभिन्न अपर रूप होते हुए भी उनके रंग रूप, मणिभ संरचना तथा दूसरे भौतिक गुणधर्म अत्यंत भिन्न होते हैं।

रंगहीन तथा रंगीन दोनों प्रकार के हीरे मिलते हैं; यह अत्यंत कड़ी मणिभ वस्तु है। विशेष प्रकार से काटने पर, जिससे आंतरिक पूर्ण परावर्तन अधिक हो, यह अत्यंत चमकदार हो जाता है और मणियों की भाँति प्रयुक्त होता है। इसका घनत्व ३.३—३.५ है और इसका वर्तनांक तथा विक्षेपक शक्ति अधिक होती है। कुछ प्रकार के हीरों का रंग कैथोड-रे,

ऐल्फ़ा-रे अथवा अल्ट्रावायलेट-रे में रखने पर बदलता है। काले रंग के हीरे (कार्बोनेडो तथा बोर्ट) मणियों के लिये अनुपयुक्त होते है, परंतु अत्यंत कड़े होने के कारण ये बहुमूल्य घर्षक है। काच काटने, पतला तार खीचने के ठप्पे बनाने, चट्टान छेदन, हीरा अथवा दूसरी मणियों को काटने, अथवा उनपर पालिश करने के यंत्र बनाने मे काले हीरे का उपयोग होता है।

एक्स-रे द्वारा हीरे के मणिभ (crystal) के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि कार्बन के प्रत्येक परमाणु कार्बन के दूसरे चार परमाणुओं से संबंधित है। इनके संयोजकता-बंध समचतुष्फलक के अनुसार व्यवस्थित होते है; दो निकटवर्ती कार्बन परमाणु मे दूरी केवल १.५४ ऐंगस्ट्रम है तथा षड्भुज वलय की चौड़ाई २.५१ ऐंगस्ट्रम है। इस संरचना के कारण ही हीरा अत्यंत कड़ी वस्तु हो जाता है।

ऐसा अनुमान होन पर कि पिघले हुए तप्त पदार्थ में कार्बन के विलयन को अत्यधिक दाब पर ही ठंढा करने से हीरा बनेगा, लोगों ने इस विधि द्वारा कार्बन से हीरा बनाने का प्रयत्न किया है। इस्पात के सुदृढ़ खोल में कार्बन को उच्च ताप पर पिघले लोहे में घुलने दिया जाता है। तब खोल को अचानक ठंढा किया जाता है। इसके भीतर स्वतः अत्यधिक दबाव प्राप्त होता है। लोहे को अम्ल में घुला देने पर हीरा निकलता है, परंतु नन्हें नन्हें टुकड़ों मे।

कार्बन का दूसरा रूप है ग्रैफ़ाइट जो काले रंग का कोमल, चिकना तथा चमकदार ठोस पदार्थ है। इसे कागज पर घिसने से काला चिह्न बन जाता है। इसलिये यह लिखने की पेंसिल बनाने में प्रयुक्त होता है। इसकी विद्युत् तथा उष्मा संचालकता अधिक है; इन गुणों के कारण यह विद्युत् मोटरों के विद्युद्ग्राही कूर्च (ब्रश), आर्क लैंप की वत्ती, सूखी बैटरी तथा विद्युद्विश्लेषण (electrolysis) में प्रयुक्त विद्युदग्र के लिये उपयोगी होता है। धातुओं को पिघलाने की कई प्रकार की घरियाँ भी इससे बनाई जाती हैं। व्यावसायिक मात्रा में ग्रैफ़ाइट बनाने के लिये कोयला अथवा कार्बनयुक्त दूसरी उपयुक्त वस्तु को बालू (या ऐसे ही किसी अन्य ग्राक्साइड) के साथ विद्युत् आर्क की विशेष प्रकार की भट्ठियों में लगभग २०००° सें० तक गरम किया जाता है। इस प्रक्रिया में पहले कारबाइड बनता है जिसके विघटन से सिलिकान वाष्पित हो जाता है और कार्बन, ग्रैफ़ाइट के रूप में, बच रहता है। इस प्रक्रिया से अति शुद्ध ग्रैफ़ाइट प्राप्त होता है जिसका उपयोग विशेषकर विद्युतीय कार्यों में होता है। ग्रैफ़ाइट का कलिल विलयन पानी में 'ऐक्वाडाग' नाम से अथवा तेल में 'आयलडाग' नाम से किसी सतह को विद्युच्चालकता प्रदान करने के लिये, या स्नेहन (lubrication) के लिये बहुत प्रयुक्त होता है। यद्यपि ग्रैफ़ाइट अम्ल या क्षार के तनु विलयन के प्रति अक्रिय है, तथापि अति ग्राक्सीकारक वस्तु से यह क्रिया करता है। गाढे सल्फ़्यूरिक तथा नाइट्रिक अम्ल और पोटैसियम क्लोरेट की क्रिया में ग्रैफ़ाइट से ग्रैफ़िटिक अम्ल (या ग्राक्साइड) बनता है।

एक्स-रे के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि ग्रैफ़ाइट के मणिभ में कार्बन परमाणु एक ही समतल में व्यवस्थित होते हैं और एक षड्कोण के कोनों पर स्थित रहते है। दो अगल बगल के कार्बन परमाणु की दूरी १.४२ ऐंगस्ट्रम, वलय की चौड़ाई २.४६ ऐंगस्ट्रम तथा दो निकटतम समतलों की परस्पर दूरी ३.४० ऐंगस्ट्रम होती है।

काठकोयला लकड़ी के तथा अस्थिकोयला (animal charcoal) हड्डी के कार्बनीकरण से प्राप्त होता है। व्यावसायिक मात्रा में इन्हें तैयार करने पर अनेक बहुमूल्य उपजात भी मिलते हैं। काठकोयले का उपयोग मुख्यतः ईंधन के लिये तथा अस्थिकोयले का उपयोग गैस या रंग के अवशोषक के रूप में होता है। काजल और कालिख (carbon black) तेल या पेट्रोलियम को अपर्याप्त वायु में जलाने पर प्राप्त होता है।

प्राकृतिक गैस से इसी प्रकार गैस-कालिख (gas black) प्राप्त किया जाता है। यह गाढे काले रंग का महीन चूर्ण है जिसका उपयोग काली स्याही, वार्निश तथा रबर को सुदृढ़ करनेवाले पदार्थों के रूप में होता है।

पत्थर के कोयले में कार्बन के साथ दूसरी वस्तुएँ भी पर्याप्त मात्रा में होती हैं। इसका भंडार कई देशों में पाया गया है। विभिन्न प्रकार के कोयलों में कार्बन की मात्राएँ भिन्न होती है। भारी मशीनों के लिये ईंधन के रूप में साधारणतः पत्थर का कोयला ही प्रयुक्त होता है। इसे बंद भट्ठी में गरम कर कई बहुमूल्य रासायनिक पदार्थ प्राप्त किए जाते है तथा बचा हुआ कोक घरेलू कामो में ईंधन के लिये प्रयुक्त होता है।

कार्बन से संयोजित धातु के यौगिकों को कारबाइड कहते हैं जो साधारणतया कठिनाई से ही उच्च ताप पर बनते है। ये दो प्रकार के होते है : एक तो पानी से सरलता से क्रिया करते है। इस क्रिया में हाइड्रोकार्बन बनता है। उनके उदाहरण है कैलसियम, ऐल्यूमिनियम, इत्यादि के कारबाइड।

$$CaC_2 + 2H_2O = Ca(OH_2) + C_2H_2$$
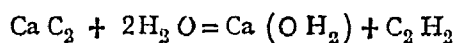
दूसरे वर्ग के सदस्य अति कठोर होते हैं तथा उष्मसह वस्तुएँ बनाने में काम आते हैं (जैसे टाइटेनियम, ज़रकोनियम, वैनेडियम और टंगस्टन के कारबाइड)।

सं०ग्रं०—जे० एफ़० थॉर्प तथा एम० ए० ह्विटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ग्रॉव ऐप्लायड केमिस्ट्री; जे० ग्रार० पारटिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ग्रॉव इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री; जे० डब्ल्यू० मेलर : ए कांप्रिहेंसिव ट्रीटिज ग्रॉन इनॉर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१६२२)। (वि० वा० प्र०)

कार्बन के ग्राक्साइड

कार्बन के ग्राक्साइड ये ग्राक्सिजन से संयोजित कार्बन के यौगिक हैं। इनमें मुख्य तीन (१) कार्बन डाइ-ग्राक्साइड, (२) कार्बन मोनो-ग्राक्साइड, तथा (३) कार्बन सब-ग्राक्साइड साधारण ताप पर गैसीय हैं। इनके अतिरिक्त ठोस ग्राक्साइड (C_4O_3), (C_8O_3) तथा ($C_{12}O_9$) भी वर्णित है।

कार्बन डाइ-ग्राक्साइड—यह गैस स्वतंत्र रूप में प्रचुरता से मिलती है। वैसे तो वान हेलमांट ने पहले पहल इसे तैयार किया और जोज़ेफ ब्लैक तथा वर्गमैन द्वारा इसकी परीक्षा हुई, परंतु लेवाज़िए ने इसकी कार्बन का ही एक ग्राक्साइड होने की पहचान की तथा कोयले एवं हीरे को जलाकर इसकी व्याकृति भी ज्ञात की। कोयले के जलने, प्राणियों के श्वास निकालने तथा कितने ही प्रकार के कार्बनिक पदार्थों के सड़ने में कार्बन डाइ-ग्राक्साइड बनता है जो वायुमंडल की हवा में मिल जाता है। कहीं कहीं पृथ्वी से (ज्वामुखीवाले स्थानों में) भी यह गैस निकलती है अथवा कुछ झरनों के पानी में ही यह घुली रहती है। साधारण हवा में इसका प्रतिशत ०.०३–०.०४ है, परंतु अत्यंत कारोबारी नगरों में, भट्ठों तथा विभिन्न प्रकार की सवारियों में कोयला या पेट्रोल जलने से इसकी मात्रा अधिक रहती है। वनस्पतियों द्वारा इसकी बड़ी मात्रा का व्यय होने से हवा में इसका संतुलन स्थिर रहता है।

खड़िया अथवा संगमरमर पर अम्ल की क्रिया से यह गैस सरलता से प्राप्त की जा सकती है :

$$CaCO_3 + 2HCl = CaCl_2 + CO_2 + H_2O$$
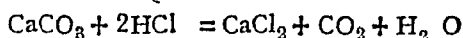
गंधक का अम्ल प्रयुक्त करने पर संगमरमर की सतह को अल्पविलेय कैलसियम सल्फ़ेट घेर लेता है जिससे थोड़ी देर में क्रिया रुक जाती है, परंतु खड़िया के महीन चूरे में क्रिया चलती रहती है। प्राप्त गैस को पानी अथवा सोडियम बाइकार्बोनेट के विलयन से प्रवाहित करने पर, साथ में आया हुआ अम्ल निकल जाता है तथा कैलसियम क्लोराइड, फ़ास्फ़रस पेंटाक्साइड इत्यादि से इसे सुखाया जा सकता है। इससे सल्फ़र डाइ-ग्राक्साइड दूर करने के लिये पोटैसियम परमैंगानेट के विलयन से प्रवाहित करते हैं।

सरलता से विघटित होनेवाले कार्बोनेट या बाइकार्बोनेट को गरम करके भी यह गैस प्राप्त की जाती है।

$$2NaHCO_3 = Na_2CO_3 + CO_2 + H_2O$$
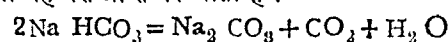
वास्तव में इस विधि द्वारा शुद्ध कार्बन डाइ-ग्राक्साइड गैस मिलती है।

व्यापारिक मात्रा में कार्बन डाइ-आक्साइड कोयले को जलाकर अथवा चूने का पत्थर, डोलोमाइट तथा मैगनेसाइट को गरम कर प्राप्त करते हैं। किण्वन अथवा अन्य रासायनिक प्रक्रियाओं में प्राप्त उपजात से अथवा प्राकृतिक स्रोतों से भी यह एकत्र की जाती है। गरम कोयले पर हवा प्रवाहित करने से कार्बन डाइ-आक्साइड के साथ मोनो-आक्साइड भी बनता है। कोयले की उपस्थिति में कार्बन मोनो-आक्साइड का आगे डाइ-आक्साइड तक पूर्णतः आक्सीकरण नहीं हो पाता, इसलिये अधिक हवा के साथ इस गरम गैसीय मिश्रण को उष्मसह ईंटों के बने दहनकक्ष (combustion chamber) में फिर प्रवाहित किया जाता है। फलतः कार्बन मोनोआक्साइड के साथ ही हाइड्रोजन तथा हाइड्रोजन सल्फ़ाइड का (जो कोयले अथवा हवा में पानी के कारण तथा कोयले में विद्यमान गंधक के कारण बन जाते हैं) भी आक्सीकरण हो जाता है। मिश्रण को ठंढा कर पानी तथा चूने के पत्थर की सहायता से साफ़ कर लिया जाता है जिससे इसमें सल्फ़र डाइ-आक्साइड तथा धूल निकल जाती है। तदुपरांत पोटैसियम कार्बोनेट के विलयन से मार्जन करने पर कार्बन डाइ-आक्साइड गैस नाइट्रोजन, आक्सिजन अथवा दूसरी गैसों से अलग कर ली जाती है। विलयन को गरम करने से शुद्ध गैस बाहर निकलती है तथा पुनः उपयोग के लिये विलयन बच रहता है। हाइड्रोजन प्राप्त करने के लिये जल गैस के उपयोग में बचे हुए कार्बन मोनो-आक्साइड से कार्बन डाइ-आक्साइड मिलता है। इसके लिये जल जैस अतिरिक्त वाष्प के साथ उत्प्रेरक पर प्रवाहित की जाती है तथा कार्बन मोनो-आक्साइड के आक्सीकरण से प्राप्त कार्बन डाइ-आक्साइड गैस पानी में अधिक दवाव पर घुलाकर अलग कर ली जाती है।

बहुत सी वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रियाओं में कार्बन डाइ-आक्साइड की आवश्यकता चूने के पत्थर को गरम करके प्राप्त होनेवाली गैस से पूरी की जाती है। इसके लिये विशेष प्रकार की भट्ठी का उपयोग होता है जो बाहर से उत्पादक (Producer) गैस द्वारा भीतर कोयला जलाकर गरम की जाती है। विभिन्न प्रकार के सोडावाटर तथा दूसरे साधारण उपयोगों के लिये कार्बन डाइ-आक्साइड लोहे के सुदृढ़ सिलिंडरों में प्राप्य है।

कार्बन डाइ-आक्साइड रंगहीन है। यह नशीली नहीं है, किंतु इसकी अधिक मात्रावाली हवा में साँस लेने से दम घुटने लगता है। जलने की प्रक्रिया में यह अंतिम उत्पाद है जिससे यह जलने में सहायक नहीं है और आग बुझाने में इसका उपयोग होता है। जलते हुए सोडियम, पोटैसियम या मैग्नीशियम इस गैस में जलते रहते हैं। इस गैस को चूने के पानी अथवा बेरियम हाइड्राक्साइड के विलयन में प्रवाहित करने से अविलेय कार्बोनेट का सफेद अवक्षेप प्राप्त होता है, जो अधिक गैस की उपस्थिति में कैलसियम बाइकार्बोनेट बनने में पुनः घुल जाता है। इस क्रिया का उपयोग इस गैस की उपस्थिति को पहचानने में होता है। पानी में घुले हुए बाइकार्बोनेट को गरम करने पर विघटन से प्राप्त कार्बोनेट का सफेद ठोस पदार्थ विलयन से बाहर आ जाता है। इस विधि द्वारा पानी का अस्थायी भारीपन दूर किया जाता है।

यह हवा से भारी है। इसका आपेक्षिक घनत्व १.३८३३ (आक्सिजन = १) या घनत्व १.९७६७ ग्राम प्रति लीटर है (०° सें० तथा ७६० मि० दवाव पर)। यह पानी में थोड़ा विलेय है और ऐसा विलयन अम्लीय गुण देता है। विलेयता दाव बढ़ाने पर अत्यधिक बढ़ जाती है, जिसका उपयोग दूसरी गैसों से इसे पृथक् करने में किया जाता है। यह ऐल्कोहल में भी विलेय है। कार्बन डाइ-आक्साइड गैस काठकोयले में अवशोषित होती है तथा वल्कनीकृत रबर से विसारित (diffused) होती है। इसके द्रवीकरण में विशेष कठिनाई नहीं होती। ठंढक तथा दवाव के प्रभाव से बड़ी मात्रा में द्रव कार्बन डाइ-आक्साइड बनाया जाता है। इसका चरम ताप ३१.१° सें०, दाब ७३.० वायुमंडल तथा द्रव का घनत्व ०.४६० ग्राम घ० सें० है। अधिक दाब के द्रव के विस्तार से ठोस कार्बन डाइ-आक्साइड प्राप्त होता है। इसे सूखी बर्फ कहते हैं। इसका गलनांक ५६.६° (५.२ वायुमंडल दाव पर) है। यह व्यावसायिक मात्रा में आयताकार अथवा बेलनाकार बड़े बड़े टुकड़ों में उपलब्ध है। इसका उपयोग सरलता से कार्बन डाइ-आक्साइड गैस उपलब्ध करने के अतिरिक्त प्रशीतन (refrigeration), खाद्य वस्तु को अधिक समय तक सुरक्षित रखने तथा निम्न ताप प्राप्त करने में होता है। यह कुछ महँगा होते हुए भी साफ रहने तथा खाद्य पदार्थ के साथ अच्छी तरह मिलाए जा सकने एवं कार्बन डाइ-आक्साइड के वायुमंडल में कीटाणुओं से सुरक्षित होने के कारण पानी की बर्फ की तुलना में अच्छा पड़ता है।

कार्बन मोनो-आक्साइड—यह रंगहीन तथा विषैली गैस है। यह मोटर के कारबुरेटर, घरों में जलनेवाली भट्ठियों तथा तंबाकू के धुएँ में मिलता है। आक्सिजन, हवा या जलवाष्प द्वारा उच्च ताप पर कार्बन के आंशिक आक्सीकरण से तथा हाइड्रोजन, कार्बन या कुछ धातुओं द्वारा कार्बन डाइ-आक्साइड के अवकरण से यह गैस प्राप्त होती है। कार्बन द्वारा कुछ धातुओं के आक्साइड या कार्बोनेट के अवकरण अथवा कारबाइड बनाने की क्रिया से भी यह बनता है। प्रयोगशाला में यह फ़ारमिक अम्ल या सोडियम फ़ारमेट पर अम्ल की क्रिया द्वारा सरलता से बनाया जा सकता है। आक्सैलिक अम्ल से ऐसी क्रिया में कार्बन डाइ-आक्साइड भी बनता है। यह गैस ज्वलनशील होने के कारण ईंधन के लिये अधिक मात्रा में तैयार की जाती है। व्यावसायिक प्रक्रियाओं में प्रयुक्त गैसीय ईंधन, जैसे कोयला गैस, जल गैस, कारबुरेटेड जल गैस, तथा उत्पादक गैस में यह दूसरी गैसों के साथ मिश्रित ही प्रयुक्त की जाती है।

कार्बन मोनो-आक्साइड गैस का घनत्व १.२५० ग्रामलीटर (०° सें० ७६० मि० मी० पर) या आपेक्षिक घनत्व ०.८७४६ (आक्सिजन = १) है। इसका चरम ताप –१३६° सें०, दाव ३४.६ वायुमंडल तथा घनत्व ०.३११ ग्राम घन सेंटीमीटर है। इसका गलनांक –२०७° सें० तथा क्वथनांक –१९०° सें० है। पानी में यह गैस थोड़ी विलेय है तथा ताप बढ़ाने से विलेयता कम होती है। गैस की बहुत कम मात्रावाली हवा में साँस लेने से सिर दर्द होने लगता है तथा अधिक मात्रा से मृत्यु हो जाती है। रुधिर के हेमोग्लोबिन से इसकी क्रिया होने के कारण यह अत्यंत हानिकारक है। कार्बन मोनो-आक्साइड युक्त हवा में कार्य करने के लिये गैस-त्राण तथा साँस लेने के लिये 'आक्सिजन बैग' का उपयोग किया जाता है।

कार्बन मोनो-आक्साइड की क्रिया कई रासायनिक वस्तुओं, जैसे आक्सिजन, जलवाष्प, हाइड्रोजन आदि से होती है। कई प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में यह महत्वपूर्ण प्रारंभिक यौगिक है। हाइड्रोजन से इसकी क्रिया मेथेन, मेथिल ऐलकोहल, फ़ॉर्मैल्डिहाइड इत्यादि बनाने के विचार से व्यावसायिक महत्व रखती है। कार्बन मोनो-आक्साइड क्लोरीन से फ़ासजीन तथा कुछ धातुओं से कारबोनिल बनाता है। पैलेडस क्लोराइड के तनु विलयन के अवकरण के कारण धातु अलग होती है। इस क्रिया द्वारा इस गैस की उपस्थिति जानी जा सकती है। क्युप्रस क्लोराइड के ऐमोनियामय विलयन में यह गैस संयोजित हो जाती है तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के विलयन से सफेद अवक्षेप $CuCl,CO, H_2O$ प्राप्त होता है। इसके द्वारा आयोडीन पेंटाक्साइड से आयोडीन मुक्त हो जाता है। कार्बन मोनो-आक्साइड की मात्रा ज्ञात करने के विचार से ये क्रियाएँ महत्वपूर्ण हैं।

कार्बन सब-आक्साइड—डील्स तथा वुल्फ़ ने इसे पहले पहल तैयार किया। मैलोनिक अम्ल अथवा उसके एस्टर को फ़ास्फ़ोरस पेंटाक्साइड की अधिक मात्रा के साथ ३००° सें० तक न्यून दाब पर गरम करने पर यह प्राप्त होता है। डाइ-एसीटिल टारटारिक एनहाइड्राइड के वाष्प को गरम प्लैटिनम तंतु (filament) पर अथवा गरम पाइरेक्स नली में प्रवाहित करने से भी यह बनता है। यह विषैली गंधयुक्त गैस है तथा सरलता से ही द्रव में परिणत की जा सकती है। द्रव का क्वथनांक ७° तथा हिमांक १११.३° सें० है। खूब स्वच्छ बर्तन में रखी रहने पर यह गैस साधारण ताप पर स्थायी रहती है परंतु नमी अथवा पारे की वाष्प की उपस्थिति में इसके बहुलीकरण से लाल पदार्थ प्राप्त होता है। इस क्रिया में बर्तन की सतह का अधिक प्रभाव है। सब-आक्साइड-तथा उसका बहुलक दोनों ही गरम करने पर कार्बन डाइ-आक्साइड तथा मोनो-आक्साइड देते हैं।

यह गैस पानी से मिलकर मेलोनिक अम्ल बनाती है। अमोनिया तथा ऐमिनो से भी यह क्रिया करती है जिसमें ऐमाइड बनते हैं। सूखे

हाइड्रोजन क्लोराइड तथा ब्रोमीन से भी इसी प्रकार के यौगिक बनते हैं। फ़ार्मिक तथा ऐसीटिक अम्ल से प्राप्त यौगिकों के गुणधर्म मिश्रित ऐनहाइड्राइड के होते हैं। इसी प्रकार बहुत से रासायनिक यौगिकों से इसकी क्रिया होती है, जैसे सल्फ़र डाइ-आक्साइड तथा हाइड्रोजन सल्फ़ाइड इत्यादि से।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर; ए कांप्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनआर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री; जे० एफ़० थॉर्प तथा एम० ए० व्हिटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री; जे० आर० पारटिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनआर्गेनिक केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड यह गंधक से संयोजित कार्बन का यौगिक है। १७९६ में लैंपेडियस (Lampadius) ने इसका पता लगाया और इसकी व्याकृति वैक्वेलिन ने ज्ञात की। यह गरम कार्बन पर गंधक का वाष्प प्रवाहित करने से बनता है : $C+2S=CS_2$ औद्योगिक परिमाण में इसके उत्पादन के लिये भी मूलतः इसी क्रिया का उपयोग होता है। ढलवाँ लोहे अथवा मिट्टी के बने भभके में काठ कोयला ८००°–९००° सें० तक गरम किया जाता है तथा गंधक का वाष्प नीचे से, कोयले से होकर प्रवाहित किया जाता है। गैसीय उत्पाद से संघनित्र में प्रवाहित कर कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड प्राप्त की जाती है। इसमें कुछ अन्य यौगिक भी रहते हैं, जो आसवन द्वारा दूर कर लिए जाते हैं। कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड के अधिक उत्पादन के लिये गंधक का अतितप्त वाष्प आवश्यक होता है। इसके लिये कार्बन से क्रिया होने के पहले ही वाष्प को अधिक गरम कर लिया जाता है। टेलर की विधि में, जिसमें विद्युत् भट्टी का उपयोग होता है, गंधक के पिघलने से प्राप्त वाष्प भभके के भीतर ही अतितप्त होकर कोयले से क्रिया करती है। इन भभकों में तापसह ईंटों का अथवा इसी प्रकार की दूसरी वस्तुओं का अस्तर आवश्यक होता है जिससे उच्च ताप पर गंधक या कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड की लोहे के बने बर्तन से क्रिया न हो सके।

साधारण ताप पर कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड रंगहीन तथा अति उड़नशील द्रव है। इसकी गंध अरुचिकर होती है परंतु सावधानीपूर्वक आसवन से प्राप्त द्रव में मीठी गंध रहती है। इसके ठोस होने तथा उबलने का ताप क्रमशः –११६° सें० तथा ४६.२५° सें० है। द्रव का आपेक्षिक घनत्व ०° सें० पर १.२९२३ है। कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड विषैला है और अंगूर की लताओं पर कीड़े तथा गेहूँ के एलिवेटर में चूहों को मारने के लिये प्रयुक्त होता है।

कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड का वाष्प ज्वलनशील है तथा आक्सिजन के साथ इसके वाष्प का मिश्रण धड़ाके के साथ जलता है। कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड बहुत सी रासायनिक वस्तुओं से क्रिया करता है। हाइड्रोजन की क्रिया में हाइड्रोजन सल्फ़ाइड बनता है। उबलते हुए कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड में क्लोरीन की क्रिया से कार्बन टेट्रा-क्लोराइड प्राप्त होता है। गरम पोटैशियम या ताँबे से यह विघटित होता है जिससे धातु के सल्फ़ाइड बनते हैं। कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड के साथ जलवाष्प अथवा हाइड्रोजन सल्फ़ाइड गरम ताँबे पर प्रवाहित करने से मीथेन प्राप्त होता है।

यह पानी में लगभग अविलेय है (०° सें० पर १०० मिलीलिटर पानी में ०.२०४ ग्राम) परंतु ऐल्कोहल, ईथर इत्यादि से मिश्रित होता है। कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड में चर्बी, गंधक, फ़ास्फ़ोरस, आयोडीन, रबर इत्यादि घुल जाते हैं जिसके कारण विलायक के रूप में इसका अधिक उपयोग होता है। नकली रेशम बनाने तथा रबर उद्योग में भी इसका अत्यधिक उपयोग है।

सं०ग्रं०—'कार्बन के आक्साइड' में वर्णित (१) थॉर्प तथा व्हिटले और (२) पारटिंगटन के ग्रंथ। (वि० वा० प्र०)

कार्बनप्रद तंत्र और युग (Carboniferous System and Period) उन शैलों के समुदाय को कहते हैं जिनसे पत्थर का कोयला और उसी प्रकार के कार्बनमय पदार्थ मिलते हैं। जिस युग में यह तंत्र बना उसे कार्बनप्रद युग कहते हैं। सन् १८२२ ई० में डब्ल्यू० डी० कानीबियर ने इस तंत्र का नाम कार्बनिफ़रस इसलिये रखा कि इसके अंतर्गत समस्त इंग्लैंड का कोयला आ जाता है। इस तंत्र के अंतर्गत विश्व की अधिकांश मुख्य कोयला खानें भी आ जाती हैं। इस दृष्टि से भी यह नाम सर्वथा उचित प्रतीत होता है। कार्बनप्रद युग और गिरियुग (Permian) में कई बातें समान होने के कारण कुछ विद्वान् इन दोनों युगों का एक ही नामकरण करते हैं; जैसे एनथ्रैकोलियिक, कार्बोपरमियन, पैलियो-परमियन अथवा परमो-कार्बनिफ़रस।

इस युग के पादप विशेष महत्व के हैं। इनकी अत्यधिक वृद्धि हुई और इनके कारण इस युग के कार्बन का निर्माण हो सका। इस युग के स्थलपादपों में पर्वांग (fern), पर्वांग के ही समान टेरिडोस्पर्म (Pteridosperm), साइकाडोफ़िलिकल, लाइकोपॉड (lycopod) और अश्वपुच्छ (equisetum), प्रजाति की प्रधानता थी।

इस तंत्र में पादछिद्रगण- (foraminifera) नामक जीव शैलनिर्माण और स्तरनिर्माण के रूप में पहली बार महत्वपूर्ण हुए। प्रवाल भी महत्व के हैं जिनमें से लासडेलिया तथा लिथॉस्ट्राशन महत्वपूर्ण हैं और जिनका एक निश्चित स्तरनिर्माण है। स्थल संधिपादों (आर्थोपॉड) में भीमकाय कीट थे, व्याघिपतंग (ड्रैगन फ़्लाइ) के पंखों का फैलाव उन दिनों २½ फ़ुट का था जिससे यह प्रकट होता है कि उस युग का वातावरण अधिक घना था, परंतु पंखों का यह आकार वायु में प्रतिद्वंद्विता के अभाव के कारण भी हो सकता है, क्योंकि उस समय पक्षियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। ब्रइयोजोआ (हरिता जीवा) नामक प्राणी प्रायः बहुतायत में थे जिनमें से फ़ेनेस्टेला कहलानेवाली प्रजाति अति व्याप्त थी। बाहुपाद (Brachiopod) भी प्रचुर संख्या में थे और उनमें स्पीरीफ़ेरा और प्रोडक्टस प्रजातियाँ अधिक थीं। उदरपाद (Gastropod) में बेलरोफ़ान सुविस्तृत प्रजाति थी और फलकक्लोमा में परेडिसमा प्रजाति उत्तर कार्बनप्रद युग में सुविस्तृत थी। शीर्षपादों (Cephalopoda) में गोनियाटाइटीज (Goniatites) अधिक थे।

पृष्ठवंशी जीवों में चौपायों का प्रादुर्भाव उल्लेखनीय है। अभी हमें उनके पादचिह्नों का ही ज्ञान है।

भारत के कार्बनप्रद शैल अवर, मध्य और उत्तर भागों में विभक्त किए गए हैं। अवर और मध्य कार्बनप्रद शैलों के अवसादन के उपरांत, भारत के भौतिक इतिहास में विशाल क्रांतियाँ घटित हुईं, जिनके परिणामस्वरूप स्थल और समुद्र के वितरण में विशेष परिवर्तन हुए।

कैंब्रियन युग के बाद आनेवाले सुपुरा कल्प के प्रारंभ में प्रायद्वीपीय भारत के बाहर के स्थल और समुद्र का पुनः विस्तरण हुआ। फलतः उस विशाल भूखंड में, जहाँ पर आज हम विशाल हिमालय को देखते हैं, टेथिस नाम से प्रसिद्ध एक सागर फैल गया। इसका विस्तार स्पेन से लेकर चीन तक लगातार था। इस टेथिस सागर ने उत्तर यूरेशिन महाद्वीप को दक्षिण गोंडवाना महाद्वीप से पृथक् कर रखा था।

यूरोप में रूस एक ऐसा देश है जहाँ पर कार्बनप्रद शैलों का विकास अन्य स्थानों की अपेक्षा पहले हुआ है। ब्रिटेन में इस युग के शैलों का दो भागों में विभाजन किया गया है जो दो विभिन्न कालों में बने हैं। ब्रिटेन की भाँति, अमरीका में भी ये शैल दो भागों में विभक्त हैं। एशिया में ये शैल हिंदचीन, चीन, मंगोलिया, जापान, साइबेरिया आदि देशों में मिलते हैं।

भारतवर्ष में अवर तथा मध्य कार्बनप्रद शैल स्पीती और कश्मीर में मिलते हैं। उत्तर कार्बनप्रद शैलों का अत्युत्तम विकास सॉल्ट रेंज (Salt Range) में हुआ है। (रा० ना०)

कार्बोनिक अम्ल और कार्बोनेट पानी तथा कार्बन डाइ-आक्साइड की क्रिया से कार्बोनिक अम्ल बनता है। कार्बन डाइ-आक्साइड गैस पानी में घुलती है तथा दाब बढ़ाने पर इसकी विलेयता बढ़ जाती है। विलयन को गरम कर घुली हुई गैस अंशतः अथवा पूर्णतः बाहर निकाली जा सकती है। इस विलयन में हल्का अम्लीय स्वाद होता है तथा इसमें नीला लिटमस लाल होता है। कार्बोनिक अम्ल द्विसमाक्षारीय (Dibasic) है और दो स्तरों में विघटित होता है :

$$H_2CO_3 \rightleftharpoons H^+ + HCO_3^-, \quad HCO_3^- \rightleftharpoons H^+ + CO_3^{--}$$
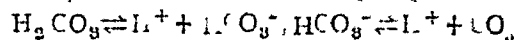
यह अम्ल निर्बल है तथा उपर्युक्त दोनों स्तरों के आयन विघटन का साम्य स्थिरांक क्रमशः ३.०४ × १०⁻⁷ (१८° सें० पर) तथा ६.४ × १०⁻¹¹ (२५° सें० पर) है। इसी कारण सवल क्षार से बने इसके लवण जल-विश्लेपित होते हैं और जलीय विलयन क्षारीय होता है।

$$Na_2CO_3 + H_2O \rightleftharpoons NaOH + NaHCO_3$$
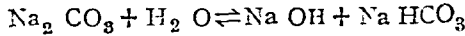
इस अम्ल से दो प्रकार के लवण प्राप्त होते हैं: साधारण कार्बोनेट, जैसे Na_2CO_3, $CaCO_3$ तथा बाइकार्बोनेट अथवा ऐसिड कार्बोनेट, जैसे $NaHCO_3$, $Ca(HCO_3)_2$

कार्बोनेट प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। बहुत सी धातुओं के कार्बोनेट तो खनिज रूप में भी मिलते हैं, जैसे विदराइट $BaCO_3$, अल्स्टोनाइट $BaCO_3$, $CaCO_3$, स्ट्रांटियानाइट $SrCO_3$, कैलसाइट, अरागोनाइट, डोलोमाइट $MgCO_3$, $CaCO_3$, मलाकाइट $CuCO_3$, $Cu(OH)_2$, अजूराइट $2CuCO_3$, $Cu(OH)_2$, सेरूसाइट $PbCO_3$ इत्यादि।

अधिकतर धातुएँ कार्बोनेट बनाती हैं। इनमें बहुत से कार्बोनेट सफेद रंग के होते हैं परंतु कुछ रंगीन भी होते हैं, जैसे ताँबे का (नीला, हरा), निकल का (हरा) इत्यादि। इनमें कुछ तो क्षारीय कार्बोनेट होते हैं, जैसे $CuCO_3.Cu(OH)_2$ तथा अन्य साधारण अथवा बाइ-कार्बोनेट। अधिकतर धातुओं के कार्बोनेट पानी में अविलेय होते हैं। इस प्रकार के कुछ कार्बोनेट विलेय लवण के जलीय विलयन से विलेय (अलकली) कार्बोनेट की क्रिया द्वारा सरलता से प्राप्त किए जा सकते हैं। चूने के पानी से भी कार्बन डाइ-आक्साइड गैस प्रवाहित करने पर कैलसियम कार्बोनेट प्राप्त होता है, जो गैस की अधिक मात्रा होने पर पुनः बाइ-कार्बोनेट बनने से घुल जाता है।

गरम करने पर कार्बोनेट का साधारणतया विघटन होता है जिसमें कार्बन डाइ-आक्साइड गैस प्राप्त होती है। अम्ल की क्रिया से भी यह गैस मिलती है तथा अम्ल से संबंधित लवण बनता है। कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की आवश्यकता इन्हीं क्रियाओं द्वारा पूरी की जाती हैं।

परकार्बोनेट—पोटैसियम कार्बोनेट के संतृप्त विलयन को −१०° से −१५° सें० पर विद्युद्विश्लेपण करने में धनाग्र आक्सीकरण से हल्के-नीले-सफेद रंग का अवक्षेप प्राप्त होता है। इसे ठंढे पानी द्वारा शीघ्रता से धोकर तथा फ़ास्फ़ोरस पेंटाक्साइड पर सुखाकर पोटैसियम पर-कार्बोनेट $K_2C_2O_6$ प्राप्त किया जा सकता है।

यह सूखा रखने से साधारण ताप पर पर्याप्त स्थायी है, परंतु पानी द्वारा इसका विघटन होता है जिससे आक्सिजन निकलता है। यह पोटैसियम आयोडाइड से आयोडीन तुरंत ही मुक्त करता है। ऐल्कोहल तथा पोटैसियम पराक्साइड पर कार्बन डाइ-आक्साइड की क्रिया से एक अन्य प्रकार का पोटैसियम परकार्बोनेट मिलता है जो विद्युद्विश्लेषण से प्राप्त लवण से पोटैसियम आयोडाइड की क्रिया में भिन्नता रखता है।

सोडियम पराक्साइड और ऐल्कोहल पर कार्बन डाइ-आक्साइड की क्रिया से प्राप्त सोडियम परकार्बोनेट $Na_2C_2O_6$ फिर सोडियम पराक्साइड से संयुक्त होने पर सोडियम पर-मोनो-कार्बोनेट $Na_2C_2O_4$ बनाता है।

सं०ग्रं०—'कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड' में उल्लिखित ग्रंथ द्र०।

(वि० वा० प्र०)

कार्बोनिल (धातु के) कार्बन मोनो-आक्साइड से संयोजित धातु के यौगिक हैं। इनमें अति महत्वपूर्ण निकल कार्बोनिल हैं जिसे पहले पहल मॉड, लैंगर और क्विंके ने ज्ञात किया। उसके बाद ही दूसरी धातुओं, विशेपकर लोहा, कोवाल्ट, रूथेनियम इत्यादि, के कार्बोनिल बनाए गए। इस श्रेणी के कुछ यौगिक उद्योग में प्रयुक्त होने के कारण अधिक मात्रा में बनाए जाते हैं। साधारणतया सूक्ष्म रूप से विभाजित धातु पर कार्बन मोनोक्साइड गैस की प्रत्यक्ष क्रिया से कार्बोनिल प्राप्त होता है। अधिकतर उच्च दाब की गैस तथा ताँबे या चाँदी की उपस्थिति का प्रयोग होता है। विशेष परिस्थितियों में अन्य विधियों का भी उपयोग होता है। भारी धातुओं के महत्वपूर्ण कार्बोनिल अपने गुणधर्म के अनुसार दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। पहला वाष्पशील पदार्थ जो बेंज़ीन ऐसे अध्रुवीय विलायक में विलेय है, जैसे निकल का टेट्रा-कार्बोनिल $Ni(CO)_4$ तथा लोहा, रूथेनियम और आसमियम के पेंटाकार्बोनिल तथा दूसरा अवाष्पशील ठोसपदार्थ, जैसे लोहा तथा रूथेनियम के नोनाकार्बोनिल और कोबाल्ट, इरीडियम इत्यादि के कार्बोनिल।

अवकृत निकल धातु को ठंढा कर, कार्बन मोनो-आक्साइड प्रविष्ट करने से गैस की अच्छी मात्रा शीघ्र ही शोपित हो जाती है तथा निकल कार्बोनिल बनता है:

$$Ni + 4CO \rightleftharpoons Ni(CO)_4$$
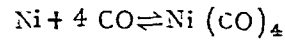
इस क्रिया में गर्मी निकलती है। इस रासायनिक संतुलन के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि गैस की अधिक दाब का उपयोग कार्बोनिल बनने के पक्ष में है और साधारण से अधिक ताप पर भी बहुत विघटन नहीं होता। वास्तव में औद्योगिक उत्पादन के लिये १०० वायुमंडल या अधिक दाब का ही उपयोग होता है। निकल कार्बोनिल रंगहीन द्रव है। इसका क्वथनांक ४३.२ सें० तथा द्रवणांक −२५° सें० है। ताप बढ़ने पर कार्बोनिल का विघटन होता है जिसमें निकल धातु तथा कार्बन प्राप्त होते हैं। इस उष्मा विघटन की क्रिया मांड विधि में अपद्रव्यों से निकल अलग करने तथा शुद्ध निकल (विशेपकर कोवाल्ट रहित) प्राप्त करने के लिये, महत्वपूर्ण है। निकल कार्बोनिल बहुत सी रासायनिक वस्तुओं से क्रिया करता है। हैलोजन की क्रिया से तुरंत विघटन होता है जिससे निकल का लवण तथा कार्बन मोनो-आक्साइड बनता है:

$$Ni(CO)_4 + Br_2 = NiBr_2 + 4CO$$
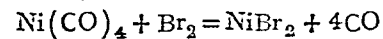
सूखे हाइड्रोजन क्लोराइड या दूसरे हाइड्रोजन हैलाइड से भी लवण प्राप्त होता है। आक्सीकारक वस्तुएँ अथवा नम हवा द्वारा भी इसका विघटन होता है। डेवर फ़्लास्क अथवा दूसरी वस्तुओं में शुद्ध निकल प्लेटिंग तथा इलेक्ट्रोप्लेटिंग में प्रयुक्त एलेक्ट्रोड के हेतु विशुद्ध निकल प्राप्त करने के लिये निकल कार्बोनिल के उपयोग का सुझाव प्रस्तुत किया गया है। इसकी कम मात्रा भी अति नशीली है।

सूक्ष्म रूप से विभाजित लोहे पर कार्बन मोनो-आक्साइड की क्रिया से लोहे का पेंटाकार्बोनिल प्राप्त होता है। गैस की उच्च दाब पर यह क्रिया समुचित वेग से होती है और ऐसी स्थिति में धातु ढेर में होने पर भी क्रिया संभव होती है। इसी कारण कार्बन मोनो-आक्साइड या ईंधन की गैस को अधिक दाब पर संचित करने के लिये लोहे के बने भांडार या संचालन की नली में कुछ पेंटाकार्बोनिल रहता है। इसे अधिक मात्रा में बनाने के लिये १००–२०० वायुमंडल तक दाब का उपयोग होता है। ताँबे की थोड़ी मात्रा की उपस्थिति में क्रिया कम ताप पर ही होती है।

लोहे का पेंटाकार्बोनिल साधारण ताप पर पीले रंग का द्रव है। इसका क्वथनांक १०२° सें० तथा द्रवणांक −२०° सें० है। कार्बोनिल के वाष्प को गरम करने से विघटन होता है और स्वतंत्र लोहा सतह पर दर्पण के रूप में जमा हो जाता है। इसमें कुछ कार्बन भी (कार्बन मोनो-आक्साइड के विघटन से प्राप्त) रहता है। शुद्ध फ़ेरिक आक्साइड के साथ इस प्रकार प्राप्त लोहे को पुनः गलाकर अति शुद्ध लोहा प्राप्त होता है। ऐसे लोहे का उपयोग विविध रासायनिक प्रक्रियाओं में उत्प्रेरक के लिये तथा ट्रांसफ़ारमर के कोर एवं चुंबक बनाने में होता है।

प्रकाश के प्रभाव से लोहे के कार्बोनिल का फोटो-रासायनिक विघटन होता है जिसमें लोहे का नोनाकार्बोनिल बनता है। यह यौगिक भी गरम करने पर विघटित होता है। लोहे के पेंटाकार्बोनिल के क्षारीय विलयन में अम्ल की क्रिया से अति शक्तिशाली अवकारक आयरन कार्बोनिल हाइड्राइड बनता है। हैलोजन की क्रिया से कार्बोनिल हैलाइड मिलता है। दोनों ही यौगिकों (कार्बोनिल तथा उसके हैलाइड) से पिरिडीन एथिलीन डाइ-एमिन या इसी प्रकार के दूसरे रासायनिक यौगिकों द्वारा कार्बन मोनो-आक्साइड प्रतिस्थापित होता है। कार्बन मोनो-आक्साइड का धातु से सीधा संवर्ग बंधक (कोआरडिनेट लिंक) द्वारा संबंध ज्ञात करने के विचार से यह क्रिया महत्वपूर्ण है। इस धातु का दूसरा कार्बोनिल

(टेट्रा-कार्बोनिल) पेंटाकार्बोनिल की भाँति ही गुण देता है परंतु यह यौगिक कुछ अधिक क्रियाशील होता है।

कोबाल्ट कार्बोनिल $CO_2(CO)_8$ नारंगी रंग का ठोस पदार्थ है जो गरम करने पर विघटित होता है तथा ५२° सें० पर कोबाल्ट का एक अन्य कार्बोनिल $CO_4(CO)_{12}$ बनाता है। लोहे के कार्बोनिल हाइड्राइड के समान ही कोबाल्ट का यौगिक भी प्राप्त होता है। नाइट्रिक ऑक्साइड से कोबाल्ट का नाइट्रोसोकार्बोनिल मिलता है।

लोहे के यौगिक की भाँति रूथेनियम पेंटा-कार्बोनिल, कार्बन मोनो-ऑक्साइड गैस की अधिक दाब पर क्रिया द्वारा प्राप्त होता है। यह $R_u I_2$, 2CO से भी चाँदी की उपस्थिति में इसी क्रिया द्वारा बनाया जा सकता है। प्रकाश द्वारा इस कार्बोनिल का भी विघटन होता है जिसमें रुथेनियम का नोनाकर्बोनिल बनता है।

ऊर्ध्वपात क्रोमियम के क्लोराइड या टंगस्टन हेक्सा-क्लोराइड पर कार्बन मोनो-ऑक्साइड की उपस्थिति में ग्रीनयार्ड प्रतिकर्मक की क्रिया द्वारा क्रमश: क्रोमियम या टंगस्टन के कार्बोनिल $Cr(CO)_6$ और $W(CO)_6$ बनते हैं। मालिब्डिनम कार्बोनिल भी इसी प्रकार अथवा अवकृत धातु पर कार्बन मोनो-ऑक्साइड की क्रिया से प्राप्त होता है। इन सभी कार्बोनिलों से, गरम करने पर, विघटन से प्राप्त धातु का दर्पण मिलता है। इनमें क्रोमियम कार्बोनिल अधिक स्थायी है जो १४०° के ऊपर ही विघटित होता है।

क्षारीय धातु के कार्बोनिल दूसरे ही प्रकार के यौगिक हैं। पोटैसियम को कार्बन मोनो-ऑक्साइड गैस में गरम करने से प्राप्त यौगिक अतिविस्फोटक होते हैं।

सं०ग्रं०—द्र० 'कार्बन डाइ-ऑक्साइड' में वर्णित ग्रंथ।

(वि० वा० प्र०)

कार्बोरंडम सिलिकान कार्बाइड है जो रेत और कोक को उच्च ताप पर विद्युत् भट्ठी में गरम करके बनाया जाता है। इस प्रकार प्राप्त क्रिस्टलीय पदार्थ का रंग हरे नीले से लेकर काले तक हो सकता है। यह हीरे के समान कठोर होता है। विशुद्ध अवस्था में यह पारदर्शक और रंगहीन होता है। इसपर अम्लों की क्रिया नहीं होती। यह धातुओं के घिसने एवं काटने के लिये अपघर्षक चूर्ण के रूप में प्रयुक्त होता है और इससे चाक, सिल्लियाँ, घर्षणचक्र, पालिश करने के कपड़े, प्रतिरोध तापक तथा भट्ठियों के अस्तर बनाए जाते हैं। (नि० सिं०)

कार्बोहाइड्रेट केवल कार्बन, हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन से बने रहते हैं और इन यौगिकों में हाइड्रोजन और ऑक्सिजन प्राय: उसी अनुपात में रहते हैं जिस अनुपात में पानी में। इसीलिये फ्रांसीसी रसायनज्ञों ने इनका नाम कार्बन के हाइड्रेट अथवा कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) रखा। प्रकृति में उपलब्ध बहु-हाइड्रॉक्सी ऐल्डिहाइड तथा कीटोन और इनके संजात कार्बोहाइड्रेट के नाम से जाने जाते हैं, जिनमें शर्करा, रूई, सेल्यूलोस, रेयन, स्टार्च, रक्त-शर्करा तथा ग्लिसरोल के संजात विशेष महत्वपूर्ण हैं। सामान्यत: कार्बोहाइड्रेट सूत्र $C_x(H_2O)_y$ से बताए जा सकते हैं, जैसे द्राक्ष शर्करा (ग्लूकोस) का सूत्र $C_6H_{12}O_6$ है और इक्षुशर्करा (केन शुगर) का सूत्र $C_{12}H_{22}O_{11}$ है। अब तो ऐसे भी कार्बोहाइड्रेट मिले हैं जिन्हें कार्बन के हाइड्रेटवाले सूत्र से दर्शाया नहीं जा सकता, जैसे रैमनोस का सूत्र $C_6H_{12}O_5$ है। ये मानव का मुख्य खाद्य पदार्थ हैं और सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक दृष्टि से इनका महत्व अत्यधिक है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति और वितरण संसार के भोजन, अर्थ-व्यवस्था तथा राजनीति पर विशेष प्रभाव डालनेवाले होते हैं।

कार्बोहाइड्रेटों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है :

१. मॉनोसैकराइड (Monosaccharide)—जिनका जलविश्लेपण से अवक्रमण नहीं होता। ये कार्बोहाइड्रेट के सरल एकक हैं।

२. डाइसैकाराइड और ट्राइसैकाराइड (Disaccharide and Trisaccharide)—ये जलविश्लेपण पर दो और तीन मॉनो-सैकाराइडों के अणु देते हैं।

३. पॉलीसैकाराइड (Polysaccharide)—ये मॉनोसैकाराइडों के कई अणुओं के संयोग से बने रहते हैं। इनका सामान्य सूत्र $(C_6H_{10}O_5)_n$ है।

मीठे स्वाद और मणिभ होने के कारण मॉनो, डाइ और ट्राइ-सैकाराइडों को शर्करा (शुगर) भी कहा जाता है।

मॉनोसैकाराइड—इन्हें इनके रासायनिक गुणों के आधार पर ऐल्डिहाइडीय ऐल्कोहल और कीटोनीय ऐल्कोहल में विभाजित किया जाता है। इन्हें क्रमानुसार ऐल्डोज (Aldose) और कीटोज (Ketose) कहा जाता है। पुन: इनका वर्गीकरण कार्बन की परमाणुसंख्या के विचार से किया जाता है, जैसे बायोस (२ कार्बन परमाणु), ट्रायोस (३ कार्बन), पेंटोस (५ कार्बन), हेक्सोस (६ कार्बन) इत्यादि। इस भाँति ग्लिसरैल्डिहाइड $CH_2OH.HOH\ CHO$ एक ऐल्डोट्रायोस है और डाइ-हाइड्रॉक्सि ऐसिटोन $CH_2OHCOCH_2OH$ एक कीटोट्रायोस है। अब हम कुछ प्रमुख मॉनोसैकाराइडों का विवेचन करेंगे।

ग्लूकोस—इसे द्राक्षशर्करा, अंगूरी शर्करा अथवा डेक्स्ट्रोस भी कहते हैं। यह फ्रुटोक्स के साथ अंगूर में, मधु में तथा अन्य मीठे फलों में मिलता है। *ग्लूकोस और फ्रुक्टोस ही ऐसे हेक्सोस हैं जो प्रकृति में* शुद्ध रूप में पाए जाते हैं।

ग्लूकोस की उत्पत्ति पॉलीसैकाराइडों, जैसे चीनी, स्टार्च और सेल्यूलोस के जलविश्लेपण से होती है। औद्योगिक प्रणाली में स्टार्च को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल से उबालकर ग्लूकोस प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्राप्त ग्लूकोस का विशेष उपयोग मिठाइयों और आसव उद्योग में होता है।

इसे ऐसीटिक ऐनहाइड्राइड के साथ गरम करने पर पेंटा-ऐसीटिल ग्लूकोस प्राप्त होता है जिससे ज्ञात होता है कि ग्लूकोस के अणु में पाँच हाइड्रॉक्सिल समूह स्थित हैं। रासायनिक क्रिया में यह ऐल्डिहाइड की भाँति तीव्र अवकारक है। यह फ़ेलिंग विलयन को अवकृत करता है तथा ऐल्डिहाइड की भाँति हाइड्रोसायनिक अम्ल, हाइड्रॉक्सिल-ऐमिन तथा फेनिल हाइड्रैज़िन से अभिक्रिया करता है। इसे जब हाइड्रोजन से अवकृत करते हैं तो हेक्सा-हाइड्रिक ऐल्कोहल, सार्बिटाल (नीचे सूत्र २ देखें) प्राप्त होता है। इसे पुन: हाइड्रोजन-आयोडाइड से अवकृत करके सामान्य (नार्मल) हेक्सेन का संजात $CH_3\ CH_2\ CH_2\ CH_2\ CHI\ (CH_3)$ प्राप्त होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह ऋजुश्रृंखल यौगिक है और ग्लूकोस का एक सरल सूत्र (नीचे सूत्र १ देखें) दिया जा सकता है।

(१)	(२)	(३)	(४)
CHO	CH_2OH	COOH	COOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CH_2OH	CH_2OH	CH_2OH	COOH
ग्लूकोस	सार्बिटल	ग्लूकोनिक अम्ल	सैकरिक अम्ल
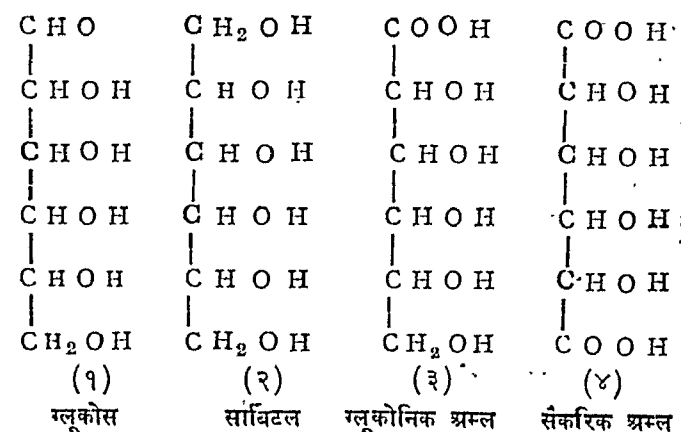
ग्लूकोस ब्रोमिन-जल से ऑक्सीकृत होकर ग्लूकोनिक अम्ल (३) तथा अंत में सैकेरिक अम्ल (४) में परिवर्तित हो जाता है। फेनिल हाइड्रैज़ीन के साथ ग्लूकोस (१ : १ अणुमात्रा में) ग्लूकोस फेनिल हाइड्रैज़ोन देता है :

$$CH_2OH\ (CHOH)_4\ CHO + H_2NNHC_6H_5 = CH_2OH\ (CHOH)_4\ CHNNHC_6H_5 + H_2O$$
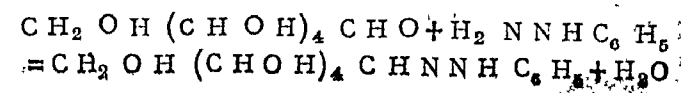
ग्लूकोस फेनिल हाइड्रैज़ोन (सूत्र A) को अधिक फेनिल हाइड्रैज़ीन के साथ गरम करने से वह इस भाँति आक्सीकृत होता है कि –CHO समूह के संनिकट का –CHOH समूह –CO समूह (सूत्र B) में परिवर्तित हो जाता है और फिर नए फेनिल हाइड्रैज़ीन अणु से संघनित होकर ग्लूकोसाज़ोन (सूत्र C) बना लेता है।

A: CH_2OH — $(CHOH)_3$ — $CHOH$ — $CH=NNHC_6H_5$ (ग्लूकोस फेनिल हाइड्रैज़ोन) $+ C_6H_5NHNH_2$ →

B: CH_2OH — $(CHOH)_3$ — $C=O$ — $CH=NNHC_6H_5$ $+ C_6H_5NH_2 + NH_3$

B: CH_2OH — $(CHOH)_3$ — $C=O$ — $CH=NNHC_6H_5$ $+ C_6H_5NHNH_2$ →

C: CH_2OH — $(CHOH)_3$ — $C=NNHC_6H_5$ — $CH=NNHC_6H_5$ $+ H_2O$ (ग्लूकोसाज़ोन)
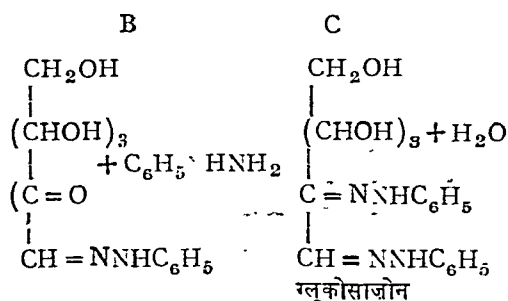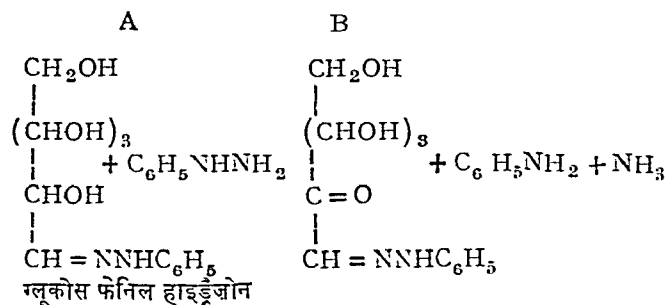
कार्बोहाइड्रेटों का विन्यास—कार्बोहाइड्रेटों के विनयास निश्चित करने के लिये जो सिद्धांत अपनाए गए हैं उनको समझने के लिये ऐसी शर्करा का अध्ययन हम करेंगे जिसमें केवल एक ही असंमित कार्बन

$CH=O$ — $CHOH$ — CH_2OH
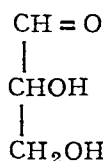
परमाणु हो। ग्लिसरैल्डिहाइड में मध्य का कार्बन परमाणु असंमित है और इसके दो विन्यास समावयविक रूप (d–) और (l–) ही संभव हैं। सर्वसंमति के अनुसार दक्षिणावर्त रूप को, जिसे (d–) रूप कहते हैं, (–OH) समूह को कार्बन के दाहिनी ओर रखकर दर्शाते हैं। इस बात को कि (–H) और (–OH) वाला समूह पृष्ठ की सतह के ऊपर है और (–CHO) तथा ($-CH_2OH$) वाला समूह पृष्ठ की सतह से नीचे है, [D(+)] विन्यास कहते हैं और इस रूप के ग्लिसलैल्डिहाइड को [D(+)] ग्लिसरैल्डिहाइड।

CHO — H–C–OH — CH_2OH [D] ग्लिसरैल्डिहाइड

CHO — HO–C–H — CH_2OH [L] ग्लिसरैल्डिहाइड
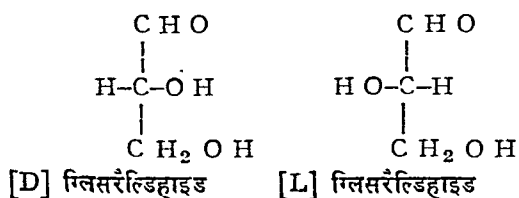
(D) और (L) अणुविन्यास की दशा के संकेत हैं तथा (+) और (–) घूर्णन की दिशा बताते हैं। वे अणु जो इस (D) विन्यास से संबंधित हैं (D) माला में आते हैं और इन अणुओं की घूर्णनदिशा (+) या (–) कुछ भी हो सकती है।

जब D ग्लिसरैल्डिहाइड (NCN) की सहायता से अगले सजातीय में परिवर्तित किया जाता है तो द्वि-विन्यास समावयव D (–) एरिथ्रोस तथा D (–) थ्रियोस प्राप्त होते हैं :

CHO — H–C–OH — CH_2OH D (+) ग्लिसरैल्डीहाइड,

CHO — H–C–OH — H–C–OH — CH_2OH D(–) एरीथ्रोस, तथा

CHO — HO–C–H — H–C–OH — CH_2OH D(–) थ्रियोस
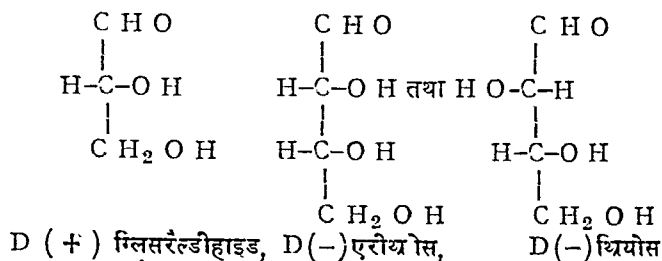
सभी मॉनो-सैकराइडें जो D (+) ग्लिसरैल्डिहाइड से संबंद्ध हैं अर्थात् जिनमें

H–C–OH — CH_2OH
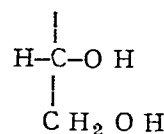
समूह विद्यमान है D माला में आते हैं। इसी भाँति पेंटोस की D माला में चार रूप और हेक्सोस की D माला में आठ रूप संभव हैं।

कीटोस, हाइड्रैज़ीन के साथ ओसाज़ोन बनाते हैं और इसलिये इनके एल्डोसों के संबंध से इनका विन्यास निर्धारित किया जाता है। जैसे ग्लूकोस और फ्रुक्टोस से एक ही ओसाज़ोन प्राप्त होता है। इसलिये इन दोनों यौगिकों में संख्या ३, ४ और ५ कार्बन परमाणु के विन्यास एक ही होंगे।

ग्लूकोस: ^1CHO — $H-^2C-OH$ — $HO-^3C-H$ — $H-^4C-OH$ — $H-^5C-OH$ — $^6CH_2OH$

फ्रुक्टोस: $^1CH_2OH$ — $^2C=O$ — $HO-^3C-H$ — $H-^4C-OH$ — $H-^5C-OH$ — $^6CH_2OH$
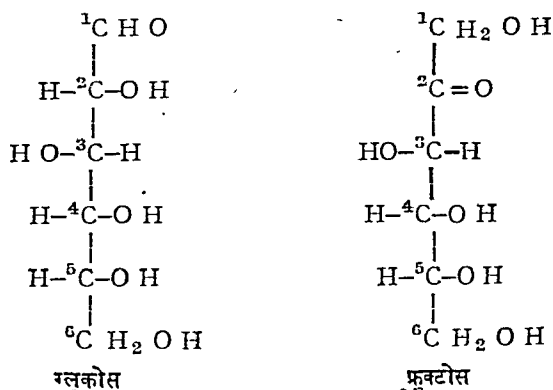
ग्लूकोस की अणुरचना—ग्लूकोस का उपर्युक्त सूत्र बहुत से प्रेक्षणों का समाधान नहीं करता। शिफ़ (Schiff) के अभिकर्मक से ग्लूकोस की परख नहीं हो पाती। ग्लूकोस सोडियम सल्फ़ाइट के साथ योगशील यौगिक नहीं बनाता और मेथिल ऐलकोहल के साथ ऐल्डिहाइड की भाँति ऐसीटल नहीं बनाता। रखने पर ग्लूकोस के अभिनव विलयन का विशिष्ट घूर्णन परिवर्तित होता रहता है और फिर एक निश्चित मान पर स्थायी हो जाता है। ग्लूकोस और मेथिल ऐल्कोहल की एकाएक अभिक्रिया से दो समावयवयी प्राप्त होते है जिससे ज्ञात होता है कि ग्लूकोस अणु का एक (–OH) समूह अभिक्रिया में भाग लेता है और कार्बन ५ के हाइड्रॉक्सिल समूह के द्वारा एक संवृतशृंखल यौगिक बनाता है। कार्बन संख्या १, जिससे (–CHO) समूह संबद्ध है, फिर एक असंमित कार्बन परमाणु में परिवर्तित हो जाता है और इसीलिये मेथिल ग्लूकोसाइड के दो समावयवी (तृतीय और चतुर्थ) उत्पन्न होते हैं। इसी कारण ग्लूकोस के भी दो समावयवी, जिन्हें प्रथम (I) या ऐल्फ़ा और द्वितीय (II) या बीटा कहते हैं, संवृतशृंखल सूत्र से इंगित किए जाते हैं :

प्रथम द्वितीय तृतीय

α–D-D-ग्लूकोस β–D-ग्लूकोस ऐल्फ़ा-α–methyl-D-ग्लूकोसाइड

$$\begin{array}{l} H_2\,CO\text{–}C\text{–}H \\ \quad H\text{–}C\text{–}OH \\ \quad HO\text{–}C\text{–}H \quad O \\ \quad H\text{–}C\text{–}OH \\ \quad H\text{–}C \\ \quad CH_2OH \end{array}$$

चतुर्थ, β-D-ग्लूकोसाइड
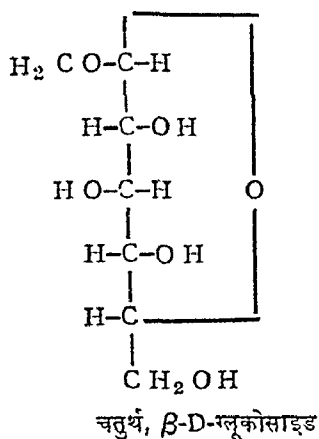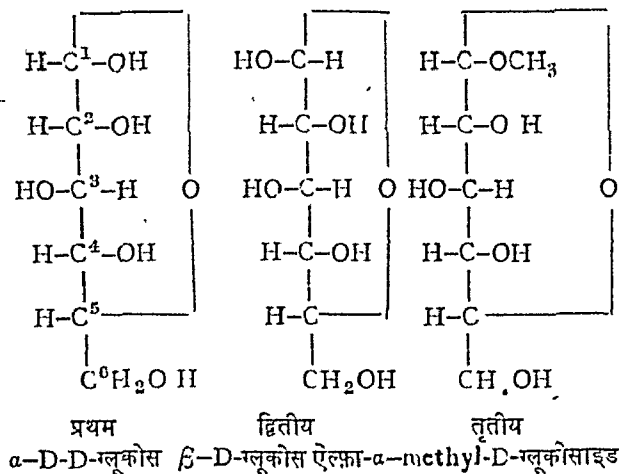
D–ग्लूकोस के दोनों ऐल्फ़ा और बीटा समावयव मणिभ दशा में प्राप्त किए जा सकते हैं। जब ग्लूकोस का मणिभीकरण ऐल्कोहल या ऐसीटिक अम्ल द्वारा होता है तो ऐल्फ़ा समावयव गलनांक १४६° तथा विशिष्ट घूर्णन [ऐल्फ़ा]द, $[\alpha]_D$ = +११३° प्राप्त होता है। इसी भाँति पिरिडीन से मणिभीकृत होने पर बीटा समावयवी, गलनांक १४८°, तथा विशिष्ट घूर्णन [ऐल्फ़ा]द, $[\alpha]_D$ = +१७° प्राप्त होता है। जलविलयन में ये दोनों समावयव अंतर्निमेय हैं और कुछ समय के उपरांत एक साम्य मिश्रण पर, जिसका घूर्णन [ऐल्फ़ा]द, $[\alpha]_D$ = +५२.५° है, स्थिर हो जाते हैं। ग्लूकोस के अभिनव विलयन की इस क्रिया को परिवर्ती घूर्णन (muta-rotation) कहते हैं।

D–फ्रक्टोस : इसे फलशर्करा अथवा लेव्युलोस भी कहते हैं। यह ग्लूकोस के साथ मधु तथा मीठे फलों में मिलता है। इक्षुशर्करा के जलविश्लेषण पर ग्लूकोस और फ़्रुटोक्स बराबर मात्रा मे प्राप्त होते है। डहलिया तथा चिकरी की जड़ों से एक पॉलिसैकाराइड (Enulin) प्राप्त होता है जो जलविश्लेषण से केवल फ्रुक्टोस ही देता है।

D–फ़्रुटोक्स पानी में ग्लूकोस से अधिक विलेय है और इसका मणिभीकरण भी कठिन है। यह शीघ्र ही किण्वित होकर एथिल ऐल्कोहल देता है। अवकृत होने पर सोर्बिटोल और मैनिटोल का मिश्रण देता है। आक्सीकृत होने पर एरिथ्रोनिक अम्ल $CH_2OH(CHOH)_2COOH$ और ग्लाइकोलिक अम्ल CH_2 OH–COOH में टूट जाता है। इसके आक्सीकृत पदार्थो तथा इसकी HCN और NH_2OH फ़ेनिल हाइड्रेजीन के साथ की अभिक्रिया से ज्ञात होता है कि यह एक कीटोहेक्सोस है और आक्सिजन दूसरे कार्बन परमाणु से संयुक्त है। ऐसीटिलीकरण पर यह पेंटा-ऐसिटील संजात देता है। इसलिये ग्लूकोस की भाँति इसे भी एक सरल सूत्र (सूत्र १) दिया जा सकता है। यह भी फ़ेनिलहाइड्रैजिन के साथ फ़्रुक्टोसाजोन (सूत्र ३) बनाता है जो ग्लूकोसाजोन के सर्वसम है :

$$\begin{array}{l} CH_2OH \\ C=O \\ CHOH \\ CHOH \\ CHOH \\ CH_2OH \end{array} \xrightarrow{C_6H_5NHNH_2} \begin{array}{l} CH_2OH \\ C=NNHC_6H_5 \\ CHOH \\ CHOH \\ CHOH \\ CH_2OH \end{array}$$

(१) फ़्रुक्टोस (२) फ़्रुक्टोफ़ेनिल हाइड्रैज़ोन

$$\xrightarrow{2\,C_6H_5NHNH_2} \begin{array}{l} CH=NNHC_6H_5 \\ C=NNHC_6H_5 \\ CHOH \\ CHOH \\ CHOH \\ CH_2OH \end{array}$$

(३)
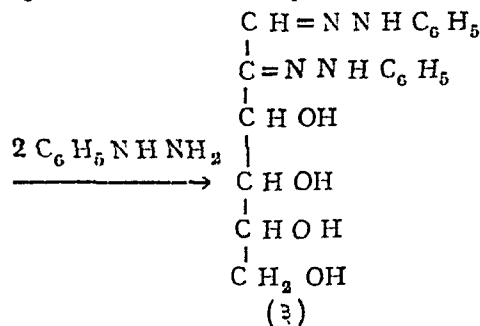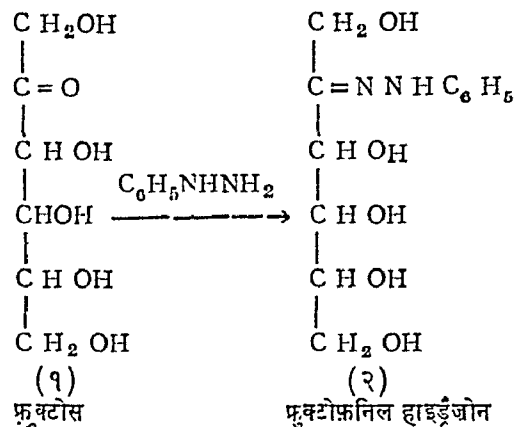
फ़्रुक्टासाज़ोन या ग्लूकोसाजोन

इस अभिक्रिया की सहायता से ग्लूकोस को फ़्रुक्टोस में परिवर्तित किया जा सकता है क्योंकि ग्लूकोस से प्राप्त ग्लूकोसाजोन हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ गरम होने पर जलविश्लेपित होकर ग्लूकोसोन में बदल जाता है जो जस्ता और ऐसीटिक अम्ल से अवकृत होकर फ़्रुक्टोस में बदल जाता है।

D–फ़्रुक्टोस वामावर्त (Laevorotatory) है और इसका विशिष्ट घूर्णन $[\alpha]_D$– ९२° है। यह भी ग्लूकोस की भाँति परिवर्त घूर्णन प्रदर्शित करता है और इसलिये इसे भी चाक्रिक सूत्र से जताया जा सकता है। इसमें छठे कार्बन का हाइड्रॉक्सिल समूहभाग लेता है :

$$\begin{array}{l} CH_2OH \\ HO\text{–}C \\ HO\text{–}C\text{–}H \\ H\text{–}C\text{–}OH \quad O \\ H\text{–}C\text{–}OH \\ CH_2 \end{array} \rightleftharpoons \begin{array}{l} CH_2OH \\ C=O \\ HO\text{–}C\text{–}H \\ H\text{–}C\text{–}OH \\ H\text{–}C\text{–}OH \\ CH_2OH \end{array}$$

α–D-फ्रुक्टोस β–D-फ्रुक्टोस

$$\rightleftharpoons \begin{array}{l} CH_2OH \\ C\diagup OH \\ HO\text{–}C\text{–}H \\ H\text{–}C\text{–}OH \quad O \\ H\text{–}C\text{–}OH \\ CH_2 \end{array}$$
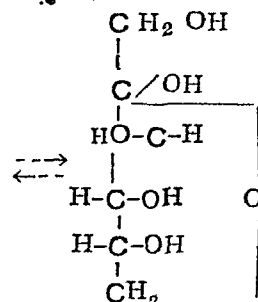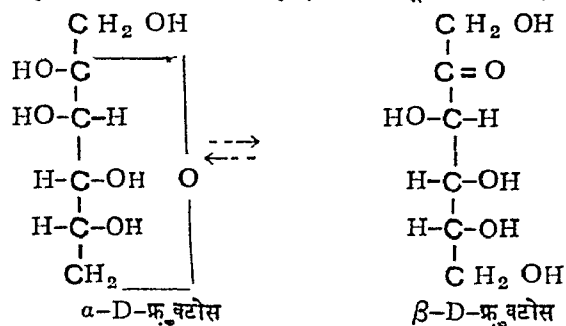
अस्थायी (Labile) शर्करा अथवा गामा शर्करा—यद्यपि फ़्रुक्टोस में छह परमाणचाक्रिक की पुष्टि होती है, फिर भी कुछ प्रेक्षणों से ज्ञात होता है कि इक्षु शर्करा और इन्यूलिन में फ़्रुक्टोस के पाँच परमाणुचाक्रिक

हैं। अब यह ज्ञात है कि साधारण शर्करा में भी इस भाँति का अस्थायी चाक्रिक वैसी ही दशा में संभव हो सकता है।

संश्लेषण—प्रयोगशाला में ग्लूकोस जैसे कार्बोहाइड्रेट का, जिसमें चार असंमित कार्बन परमाणु हों, संश्लेषण विशेष कठिन और महत्वपूर्ण है। साधारण संश्लेषणों में, जिनमें प्रकाशीय सक्रिय अभिकर्मकों का उपयोग नहीं किया जाता, एक निष्क्रिय मिश्रण प्राप्त होता है। फ़ामल्डिहाइड पर क्षार की अभिक्रिया से निम्नलिखित क्रियाएँ हो सकती हैं।

$$\underset{\text{(1) फ़ार्मेल्डीहाइड}}{CH_2O} \xrightarrow{\text{क्षार}} \underset{\text{(2) ग्यकोल ऐल्डीहाइड}}{CHO-CH_2OH}$$

ऐल्डोल संघनन

$$\underset{\text{(3) d-l-ग्लिसरैल्डीहाइड}}{CH=O-CHOH-CH_2OH} \quad (+\ CH_2O)$$

$$\underset{\text{(3)}}{CH_2OH-CHOH-CH_2OH} \xleftarrow{\text{समावयवीकृत हो}} \ldots$$

$$\underset{\text{(4) डाइहाइड्राक्सि-ऐसिटोन}}{CH_2OH-C{=}O-CH_2OH}$$

$$\underset{(3)}{CH{=}O-CHOH-CH_2OH} + \underset{(4)}{CH_2OH-C{=}O-CH_2OH}$$

(ऐल्डोल संघनन)

$$CH_2OH-C{=}O-CHOC-CHOH-CHOH-CH_2OH \quad + \quad CH{=}O-CHOH-CHOH-CHOH-CHOH-CH_2OH$$
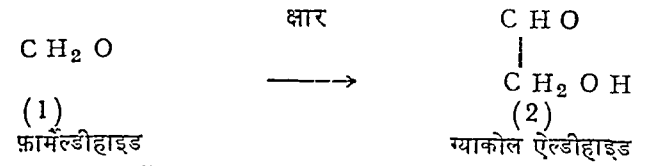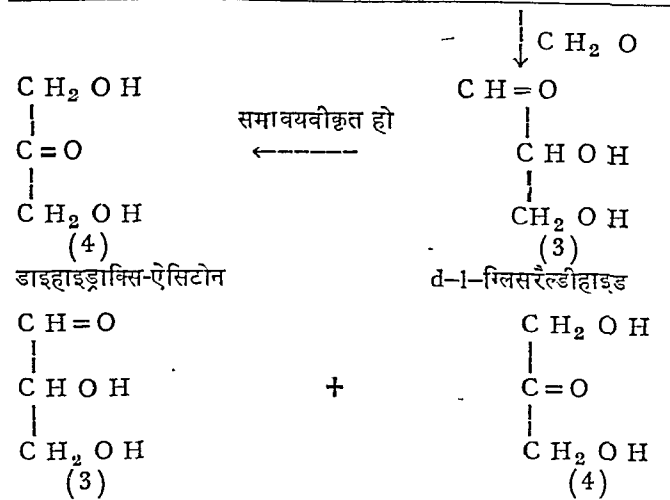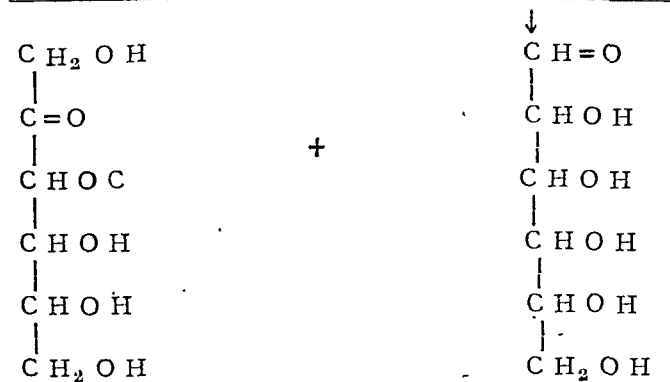
(हेक्सोसों का मिश्रण)

एमिल फ़िशर ने ठीक इसी भाँति संश्लेषण किया और बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में D-ग्लूकोस प्राप्त किया। बहुत कुछ ऐसी ही अभिक्रिया से प्रकृति में कार्बोहाइड्रेटों का संश्लेषण होता है।

डाइसैकराइड—मुख्यतः इसका अणुसूत्र $C_{12}H_{22}O_{11}$ होता है और जलविश्लेषण पर ये दो हेक्सोस एककों में विच्छिन्न होते हैं। सभी डाइसैकराइड जलविश्लेषण पर एक अणु ग्लूकोस अवश्य देते हैं। पौधों से कुछ ऐसे भी डाइसैकराइड प्राप्त हुए हैं, जैसे विसियानोस (Vicianose) जो जलविश्लेषण पर एक हेक्सोस और एक पेंटोस अणु उत्पन्न करते हैं।

इक्षु शर्करा, सुक्रोस, सैकरोस या शर्करा (cane sugar)—यह ईख के रस, चुकंदर, नीरा, मक्का में तथा बहुत से पौधों में पाई जाती है। औद्योगिक प्रणाली में इसे ईख के रस तथा चुकंदर से ही प्राप्त करते हैं।

यह एक रंगहीन मणिभीय मीठा पदार्थ है और पानी में विलेय है। इसका गलनांक १६०° सें० है। इसका जलीय विलयन दक्षिणावर्त होता है। तनु अम्लों के साथ गरम करने पर जलविश्लेपित होकर ग्लूकोस और फ़ुक्टोस के मिश्रण में परिवर्तित हो जाता है। ग्लूकोस भी इसी शर्करा की भाँति दक्षिणावर्त है, परंतु फ़ुक्टोस का वामावर्तन इतना अधिक है कि जलविश्लेषण से प्राप्त संपूर्ण मिश्रण वामावर्त होता है। इस मिश्रण को अपवृत शर्करा (Invert sugar) कहते हैं।

इक्षु शर्करा का आण्विक सूत्र $C_{12}H_{22}O_{11}$ है और यह मोनोसैकाराइडों के गुणधर्म से वंचित है। यह ऐसीटिक ऐनहाइड्राइड की अभिक्रिया से आठ ऐसीटिल समूहों के साथ यौगिक बनाती है। हावर्थ और साथियों ने सिद्ध किया है कि इसकी रचना डी-ग्लूकोपाइरैनोसिडो डी-फ़्रुक्टो-फ़्यूरैनोसाइड है :
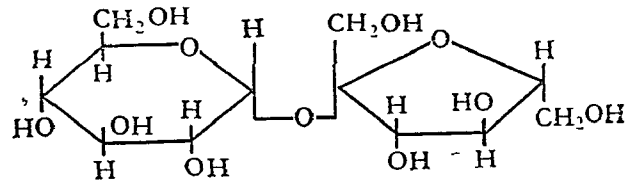
इक्षु शर्करा

दुग्ध शर्करा, लैक्टोस अथवा लैक्टोबायोस—यह जानवरों के दुग्ध में रहती है। औद्योगिक विधि में इसे छेने के पानी से प्राप्त करते हैं। यह एक अणु पानी के साथ कड़ा मणिभ बनाती है जो १४०° पर अजल होकर २०५° पर विच्छेदन के साथ पिघलता है। हावर्थ और साथियों ने सिद्ध किया है कि इसकी आण्विक संरचना निम्नलिखित है : ४—[β-D-galacto-sido-D-glucopyranose]।

दुग्ध शर्करा सुगमता से किण्वित होकर लैक्टिक अम्ल में परिवर्तित हो जाती है। दूध के खट्टे होने का यही कारण है।

यव्य शर्करा या माल्टोस (Malt sugar)—स्टार्च पर डायस्टेस एंजाइम की क्रिया से माल्टोस की प्राप्ति होती है। स्टार्चयुक्त भोजन की पाचन क्रिया में यह अंतःवर्ती की भाँति उत्पन्न होता है, क्योंकि लार में स्थित टाइआलिन (Ptyalin) एंजाइम स्टार्च को माल्टोस में परिवर्तित कर देता है।

इसके छोटे नुकीले मणिभ १००° पर पिघलते हैं। यह तीव्र दक्षिणावर्त है और जलविश्लेषण पर केवल दो-ग्लूकोस देता है। इसकी आण्विक संरचना निम्नलिखित है :
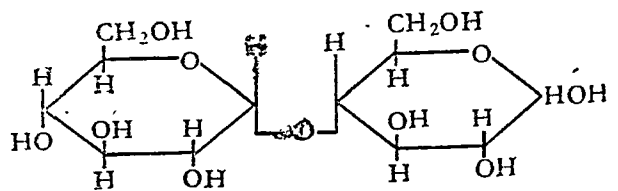
यव्य शर्करा
(Malt Sugar)

कुछ और डाइसैकाराइड, जैसे सेलोबायोस (Cell biose), जेनशियोबायोस (Gentiobiose) और रुटिनोस (Rutinose) भी पाए जाते हैं।

ट्राइसैकाराइड—इस समूह की बहुत थोड़ी ही शर्कराएँ प्राप्त हो सकी हैं और उनमें सबसे प्रमुख रैफ़िनोस है। यह आस्ट्रेलिया की क्षीरी (Manna) का मुख्य अंश है।

जलविश्लेषण पर रैफ़िनोस दो अणु जल के साथ समान अनुपात में डी–फ्रुक्टोस, डी–ग्लूकोस और डी–गैलैक्टोस के मिश्रण में विच्छिन्न होता है।

पालीसैकाराइड—इन यौगिकों को साधारणतः $(C_6H_{10}O_5)_n$ सूत्र से प्रदर्शित किया जाता है। किलियानी ने इनका उचित सूत्र $(C_6H_{10}O_5)_nH_2O$ बताया है जिसमें (n) का मान निश्चित रूप से नहीं ज्ञात है। अधिकांश पॉलीसैकाराइड अमणिभीय तथा स्वादहीन होते हैं और कुछ पानी में भी अविलेय हैं। जलविश्लेषण पर ये मोनोसैकाराइडों में विच्छिन्न हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि डाइ– और ट्राइ-सैकराइडों की भाँति ये हेक्सोसों और पेंटोसों की इकाइयों से बने हैं।

स्टार्च—यह प्रचुर मात्रा में वनस्पतियों में पाया जाता है। इसे आलू (२०%), चावल (७५%), गेहूँ (६०%), मक्का (६५%) तथा साबूदाने से प्राप्त करते हैं। सूक्ष्मदर्शी से देखने पर यह समांग नहीं दिखाई देता। इसमें एक नाभिक के चारों ओर कई संकेंद्र वृत्त दिखाई देते हैं। पानी के साथ गरम करने पर ये सूक्ष्म दाने उसमें टूटकर मिल जाते हैं और ठंढा करने पर कुल मिश्रण लेई का रूप ले लेता है। स्टार्च आयोडीन के साथ एक विशेष गाढ़ा नीला रंग देता है और इसी क्रिया से आयोडीन को परखा जाता है।

स्टार्च श्वेत, आर्द्रताग्राही, स्वादहीन तथा रंगहीन चूर्ण है। वास्तव में स्टार्च के दाने दो समान पॉलीसैकाराइडों से बने होते हैं। एक ऐमाइलोस होता है जो दाने के भीतरी भाग में रहता तथा जलविलेय होता है। दूसरा ऐमाइलो-पेक्टिन होता है जो कोशिका की झिल्ली में विद्यमान रहता है। यही पानी के साथ फूलकर कलिल (कलॉयड) बनाता है। स्टार्च पर डायस्टेस एंजाइम की अभिक्रिया से माल्टोस प्राप्त होता है, जो एक डाइसैकाराइड है। पूर्ण जलविश्लेषण से संपूर्ण ग्लूकोस की प्राप्ति होती है। अम्लों या एंजाइमों की संयमित क्रिया से स्टार्च और माल्टोस की अंतर्वर्ती अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक को डेक्स्ट्रिन कहा जाता है।

अणुसंरचना—हावर्थ और उनके साथियों ने बताया कि स्टार्च का अणु ऐल्फ़ाग्लूकोपाइरैनोस एककों की शृंखला है। इस शृंखला का एक खंड निम्नलिखित है :
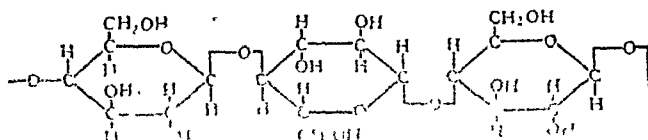
स्टार्च अणुसूत्र शृंखला का एक खंड
(One part of the starch molecular formula)

स्टार्च के अणु में लगभग २८ ग्लूकोपाइरैनोस एकक (अणुभार, ५,०००) होते हैं।

सेल्यूलोस—प्राप्य पॉलीसैकाराइडों में यह सबसे अधिक संकीर्ण है। वनस्पतियों से प्राप्त बहुत सी वस्तुओं को सेल्यूलोस के नाम से जाना जाता है। इसका शुद्ध रूप रूई में प्राप्य है। उसी प्रकार का सेल्यूलोस सन, हेंप, लकड़ी, भूसे इत्यादि में है।

यह सभी साधारण विलायकों में अविलेय है। अमोनियाकृत (अमोनियेटेड) कापर-हाइड्राक्साइड के विलयन में यह शीघ्र घुल जाता है। परंतु तनुकरण पर फिर अवक्षेप के रूप में निकल आता है। ठंढे सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल की अभिक्रिया से सेल्यूलोस पहले फूलता है, फिर धीरे धीरे विलीन हो जाता है। विलयन को पानी से तनु करने पर स्टार्च की भाँति एक पदार्थ अवक्षिप्त हो जाता है। इसे एमीलायट कहते हैं। सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ जलविश्लेषण पर सेल्यूलोस पहले सेलोडेक्स्ट्रिन फिर सेलोबायोस और अंत में ग्लूकोस देता है।

कार्बनिक पदार्थों में सेल्यूलोस का महत्व सर्वश्रेष्ठ है। इसका कुछ प्रमुख उपयोग कपड़ा, कागज, विस्फोटक, कृत्रिम रेशम, फिल्म तथा सेल्यूलायड उद्योग में होता है।

अणुसंरचना—हावर्थ और साथियों ने बताया है कि सेल्यूलोस का अणु लगभग २०० बीटा ग्लूकोपाइरैनोस एककों के संयोग से बना होता है (अणुभार ३२,०००)।

ग्लाइकोजेन—यह प्राणियों की मांसपेशियों में तथा दूध देनेवाले प्राणियों के यकृत में मिलता है। यह आयोडीन के साथ लाल रंग देता है और शीघ्र ही जलविश्लेपित होकर ग्लूकोस देता है।

इन्यूलिन—यह पौधों में उनके संचित भोजन के रूप में जमा रहता है और उसी से प्रायः स्टार्च का रूप ले लेता है। यह केवल फ्रुक्टोस एककों के ही संयोग से बना है जो ऑक्सैलिक अम्ल के जलविश्लेषण से फ्रुक्टोस देता है। (शि० मो० व०)

कार्मेलीय (कार्मेलाइट) धर्मसंघ रोमन काथलिक गिरजे के महान् धर्मसंघों में से एक। इसके प्रवर्तक बेर्थोल्द क्रूसेद (क्रूसयुद्ध) में भाग लेने के बाद १२वीं शताब्दी में दस साथियों के साथ कार्मेल नामक पर्वत पर साधना करने लगे थे। येरुसलम के बिशप ने सन् १२१० ई० में इस संघ की नियमावली को औपचारिक अनुमोदन प्रदान किया था। मुसलमानी विजयों के कारण ये धर्मसंघी यूरोप में आकर बसने लगे। वहाँ वे फ़्रांसिस्की, दोमिनिकी आदि भिक्षुक संघियों की तरह व्यक्तिगत साधना करने के अतिरिक्त उपदेश और धर्मशिक्षा देने का कार्य भी करने लगे। यह धर्मसंघ अत्यंत लोकप्रिय बनकर समस्त यूरोप में फैल गया। १५वीं सदी में स्त्रियों के लिये इस धर्मसंघ की एक शाखा की स्थापना हुई थी। दो महान् रहस्यवादियों अर्थात् अविला की संत तेरेसा तथा जॉन ऑव द क्रॉस की प्रेरणा से इस संघ का १६वीं सदी में सुधार हुआ था जिसके फलस्वरूप आजकल पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के संघों की दो दो शाखाएँ पाई जाती हैं। प्राचीन कार्मेलीय संघ अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय है—स्त्रियों के मठों में १,००० से कम तथा पुरुषों के मठों में २,००० से कुछ अधिक सदस्य हैं। नवीन कार्मेलीय संघ में १०,००० से अधिक स्त्रियाँ तथा लगभग ३,५०० पुरुष रहते हैं। इस संघ की स्त्रियाँ अपने मठ के बाहर नहीं जा सकती हैं। बैंगलोर, कलकत्ता, मैंगलूर आदि भारत के दस स्थानों में इस संघ की संन्यासिनियों के लिये मठ स्थापित हो चुके हैं जहाँ अविला की संत तेरेसा का नियम लागू है। (का० बु०)

कार्यालय किसी व्यवसाय, व्यवस्था, शासन या कार्यविशेष के संबंध में अधिकारी व्यक्ति के निर्देशन में आवश्यक लिखापढ़ी, लेखा-जोखा, लेनदेन, आयातनिर्यात आदि के लिखित विवरण प्रस्तुत करने के कार्य जहाँ होते हैं उसे कार्यालय कहते हैं। २०वीं शताब्दी में 'कार्यालय' संस्था का अमित विस्तार हुआ है।

सरकारी, अर्धसरकारी, व्यावसायिक, शैक्षणिक, साहित्यिक आदि कार्यभेद से कार्यालय भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं और उनके संघटन एवं कार्यों में कार्यविशेष के अनुसार यद्यपि थोड़ा बहुत अंतर होता है, तथापि कार्यों के मूलभूत उद्देश्य प्रायः समान होते हैं जिन्हें संक्षेप में निम्नांकित रूप में समाहित किया जा सकता है :

१—व्यवसाय या कार्यविशेष की भिन्न भिन्न शाखा प्रशाखाओं और उनके सब विभागों के समस्त कार्य ठीक ढंग के होते रहने के लिये उनमें परस्पर जो सहयोग और सहायता आवश्यक हो उनके लिये वांछित निर्देशों का ब्योरेवार नियमन।

२—निर्देशों की सम्यक् पूर्ति के उद्देश्य से आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न आँकड़ों, सूचनाओं, तथ्यों, संदर्भों आदि का संकलन।

३—उपर्युक्त सामग्री का यथोचित विश्लेषण विभाजन करके ऐसी योजनाओं का निर्धारण जिनके अनुसार न्यूनतम श्रम, समय और वित्त का उपयोग करके अधिकतम प्रतिफल की प्राप्ति हो सके।

४—अभिलेखों (रेकार्ड्स) को प्रस्तुत करना, आगत कागजपत्रों को उपयुक्त ढंग से यथोचित नत्थियों (फ़ाइलों) में संरक्षित करना और प्रेषणार्थ प्रस्तुत सामग्री को यथोचित रीति से शीघ्रतापूर्वक भेजना।

सभी प्रकार के कार्यालयों के कर्तव्य और अधिकार उपर्युक्त चतुःसूत्री योजना में समाहित हैं। कार्यसंचालन, लेखाजोखा, हानिलाभ, चिंतन परामर्श आदि इन्हीं के विस्तार हैं। कार्यालयों की स्थापना, संघटन, कर्मचारियों, उपकरणों आदि के संबंध में ज्ञातव्य बातें संक्षेप में नीचे दी जा रही हैं :

संघटन—कार्यालयों की स्थापना का श्रीगणेश उनके संघटन से होता है। सतर्कता और सावधानी से संघटित कार्यालय ही न्यूनतम श्रम, समय और पूंजी द्वारा अधिकतम प्रतिफल की व्यवस्था कर सकता है। अतएव व्यवसाय वा कार्यविशेष के स्वामी अथवा आयोजक को चाहिए कि कर्मचारीमंडल का चयन करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखें कि उनमें अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने की अधिकतम क्षमता है। तदनंतर दूसरी सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि भिन्न भिन्न कार्याधिकारियों और उनके सहयोगियों एवं निम्नस्थ कर्मचारियों के अधिकारों एवं कर्तव्यों को बहुत स्पष्ट रूप से और पर्याप्त विस्तार के साथ परिभाषित कर दिया जाय।

कर्मचारीमंडल—कार्यालय का समस्त कार्य उसके कर्मचारी ही करते हैं। अतः प्रत्येक कर्मचारी यदि अपनी संपूर्ण योग्यता और शक्ति का पूरा पूरा उपयोग नहीं करता तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। कर्मचारी का जब तक हार्दिक और मानसिक योग काम के प्रति नहीं होता, काम भी ठीक ढंग से नहीं होता। अतः आयोजकों को चाहिए कि उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानांतरण आदि में पूरी सावधानी वरतें जिनमें कर्मचारी अपने को उपेक्षित न समझें।

स्थान एवं साजसज्जा—कार्यालयों का स्थान प्रशस्त होना चाहिए। टेढ़े तिरछे न बैठकर यदि कर्मचारी क्रमानुसार सीधी पंक्ति में बैठ सकें तो और अच्छा है। प्रकाश और वायु का भी यथोचित प्रबंध होना चाहिए।

उपयोगी सामग्री—मेज, कुरसी, आलमारी, फ़ाइलिंग केबिनेट, यांत्रिक उपकरण (टंकणयंत्र, विभिन्न कैलक्युलेटिंग यंत्र, डाकव्यय के यंत्र डुप्लिकेटर आदि) कार्य और आवश्यकता के अनुसार अवश्य रहने चाहिए अन्यथा योग्यतम कर्मचारी भी अपने कर्तव्य का निर्वाह सफलतापूर्वक नहीं कर सकता।

यांत्रिक उपकरण—प्रत्येक प्रकार के कार्यालयों में आजकल सर्वाधिक प्रयुक्त उपकरण टंकणयंत्र (टाइपराइटर) और डुप्लिकेटर हैं। इनके अतिरिक्त बड़े बड़े कार्यालयों में हिसाब किताब करनेवाली भिन्न भिन्न प्रकार की मशीनें भी रहती हैं। डाक टिकट छापने की मशीनें भी बड़े कार्यालयों में रहती हैं जिनसे पत्रव्यवहार करने और डाकव्यय का लेखा-जोखा रखने में बड़ी सुविधा रहती है। सरकारी टेलिफोन के अतिरिक्त ऐसे कार्यालयों में निजी आंतरिक टेलिफोन भी रहते हैं जिनसे कार्यालय के एक विभाग का व्यक्ति दूसरे विभाग के व्यक्ति से, अपने स्थान से हटे बिना, वार्तालाप और परामर्श कर सकता है जिससे श्रम और समय की बड़ी बचत होती है।

इन समस्त उपकरणों के संचालन और उपयोग का प्रशिक्षण संबद्ध कर्मचारियों को भली भाँति करा देना अत्यावश्यक है अन्यथा यंत्रों में दोष आने या उनके टूट फूट जाने पर काम में विलंब और असुविधा तो होती ही है, व्यय भी होता है। इन उपकरणों के रखरखाव की समुचित व्यवस्था प्रायः निर्माताओं द्वारा अल्प व्यय में की जाती है। उनकी सेवा का भी उपयोग आवश्यक है। इस संबंध में एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऐसे भिन्न भिन्न उपकरण, जहाँ तक हो सके, एक ही कंपनी के बने, एक मेल के रखे जायँ तो अच्छा हो।

पंजिकाएँ (रजिस्टर), नत्थियाँ, पत्राचार आदि—आधुनिक प्रवृत्ति पुस्तकाकार बँधी हुई पंजिकाओं, बहियों आदि के स्थान पर खुले हुए फार्मों या कार्डों का उपयोग करने की होती जा रही है। इनमें विशेष सुविधा होती है। फिर भी, पुस्तकाकार बँधी पंजिकाओं का सर्वथा लोप नहीं किया जा सकता। इनमें ध्यान देने योग्य बातें ये हैं कि एक तो पंजिकाओं और मुद्रित फार्मों की संख्या कार्य की आवश्यकता के अनुसार ही रहे—न कम, न अधिक; दूसरे, प्रयोग में आनेवाली समस्त पंजिकाओं तथा फार्मों में आवश्यक प्रविष्टियाँ (एंट्रीज़) नियमित रूप से दैनंदिन होती रहनी चाहिए। इसी प्रकार पत्राचार में भी अनावश्यक विलंब न होना चाहिए। पत्राचार का आधुनिक सूत्र है—संक्षेप, स्पष्टता और समयबद्धता। नत्थियाँ अद्यतन और क्रमबद्ध होनी चाहिएँ। बहुत मोटी हो जाने पर उनका उपयोग असुविधाजनक हो जाता है। जिन नत्थियों का कार्य क्षेप हो चुके या जिनकी आवश्यकता कभी कभी ही पड़े, उन्हें दैनंदिन चालू नत्थियों से पृथक् करते चलना भी अत्यंत आवश्यक है।

सरकारी विभागों से संबंध—प्रत्येक कार्यालय का थोड़ा बहुत संबंध विभिन्न सरकारी विभागों से अवश्य रहता है। डाक-तार-विभाग और रेलवे का संबंध इनमें सर्वोपरि है। अतः उपयुक्त कर्मचारियों को अपने कार्य से संबद्ध इन विभागों के नियमादि की अद्यतन सूचना रहनी चाहिए। इसी प्रकार श्रम संबंधी केंद्रीय कानूनों और उनके आधार पर प्रादेशिक सरकारों द्वारा निर्मित नियमों की जानकारी भी कार्याधिकारियों को रहनी चाहिए, अन्यथा कर्मचारियों की नियुक्ति, वियुक्ति, पदोन्नति, वेतन आदि के संबंध में पग पग पर कठिनाइयाँ आ सकती हैं। कर्मचारियों की नियुक्ति और वियुक्ति के संबंध में एंप्लायमेंट एक्सचेंज (सरकार की ओर से संघटित कामदिलाऊ कार्यालय, जिसकी स्थानीय शाखा प्रायः प्रत्येक बड़े नगर में रहती है) द्वारा प्राप्त सुविधाओं से भी लाभ उठाया जा सकता है।

कार्याधिक्य चक्र—प्रायः प्रत्येक कार्यालय को वर्ष में कुछ अवसरों पर कार्याधिक्य का सामना करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर 'अतिरिक्त कार्य और अतिरिक्त भुगतान' का सिद्धांत सर्वाधिक उपादेय होता है। पर कार्यविस्तार अत्यधिक होने की अवस्था में अतिरिक्त कर्मचारियों की पूर्वव्यवस्था नितांत आवश्यक होती है।

भांडार—भिन्न भिन्न ढंग के कार्यालयों से संबद्ध एक भांडार अनिवार्यतः अपेक्षित होता है जिसे व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में रखना परम आवश्यक है जिससे वांछित सामग्री तत्काल प्राप्त की जा सके।

वेतन, बोनस, संचित कोश आदि—यद्यपि वेतन का कार्यालय के दैनंदिन कामों से कोई सीधा संबंध नहीं है, तथापि कार्यालयों की कार्यपटुता पर उसका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। अपर्याप्त वेतन पानेवाला कर्मचारी सर्वदा असंतुष्ट रहता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये या तो वह दूसरा कोई उपाय भी करता है या अवांछित उपायों की शरण लेता है। इसी प्रकार पर्याप्त से बहुत अधिक वेतन पानेवाला कर्मचारी समान सहकर्मियों की ईर्ष्या का पात्र होता है। दोनों ही स्थितियाँ कर्मचारीमंडल के कतिपय सदस्यों के मन पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया करती हैं जिसका प्रभाव उसके कर्तव्यगत कार्यों पर पड़ना अनिवार्य है। अतः नियोक्ता मालिकों या आयोजकों को इस दिशा में भेदभाव और पक्षपात छोड़कर उचित वेतन की व्यवस्था करनी चाहिए। परंतु साथ ही कर्मचारी की विशिष्ट योग्यता का समादर करने में भी उन्हें पश्चात्पद नहीं होना चाहिए। बोनस, संचित कोश (प्राविडेंट फ़ंड), ग्रैच्युइटी, पेंशन आदि की व्यवस्था भी कतिपय कार्यालयों की ओर से रहती है। इनके भुगतान में यथासंभव कटुता से बचना चाहिए। (शं० ना० वा०)

कार्लाइल यह इंग्लैंड की कंबरलैंड काउंटी में, ईडेन नदी पर, उसके मुहाने से आठ मील ऊपर स्थित एक नगर है, जिसमें नगरपालिका भी है। क्षेत्रफल ६,०६२ एकड़ तथा अनुमित जनसंख्या ७१,४१० (१९७०) है। यहाँ पर मानव आवास का प्रारंभ एक अंग्रेजी ग्राम के रूप में हुआ। पहली शताब्दी में रोमन निवासियों ने इसे एक नगर का रूप दिया। नवीं शताब्दी में डेन जाति के आक्रमण के फलस्वरूप इस नगर का बहुत विनाश हुआ। ११वीं शताब्दी में इंग्लैंड के विलियम रुफ़स ने यहाँ पर एक दुर्ग तथा नगर की दीवारें बनवाईं। आजकल कार्लाइल ग्रेट ब्रिटेन के प्रमुख रेल

केंद्रों में से एक है। यहाँ के मुख्य उद्योग वस्त्र, बिस्कुट तथा धातु के डिब्बे बनाना है। चिड़ियाघर, संग्रहालय तथा कलामंदिर दर्शनीय है।

(प्रे० चं० अ०)

कार्लायल, टॉमस (१७६५–१८८१) विक्टोरियन युग के लब्धप्रतिष्ठ दार्शनिक, इतिहासकार तथा समालोचक, टॉमस कार्लायल का जन्म स्काटलैंड के एक साधारण गांव में हुआ था। इनके माता पिता तो इन्हें पादरी या धर्मोपदेशक के रूप में देखना चाहते थे, परंतु कार्लायल स्वयं गणित के प्रेमी थे और गणित के अध्यापन के साथ ही वह जीवन में प्रविष्ट हुए। कालांतर में जर्मन दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और उनका जीवनप्रवाह दूसरी दिशा में मुड़ गया। १८३४ ई० में इन्होंने लंदन की ओर प्रस्थान किया और 'चेल्सिया' में आवास ग्रहण करके लेखन कार्य आरंभ किया। धनाभाव के साथ ही साथ अजीर्ण रोग का प्रकोप भी उनके मार्ग में बाधक बना रहा, परंतु उनका उत्साह अदम्य था और जीवनशक्ति अजेय, जिससे उनका लेखनी निरंतर चलती रही और ग्रंथों का निर्माण करती रही। इसके फलस्वरूप उनके धन तथा यश में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही और अंत में वह अपने युग के संत के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनकी रचनाओं में निम्नलिखित ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं :

सार्टर रिसार्टस—यह कार्लायल का सर्वप्रथम मुख्य ग्रंथ है, जिसमें उनके सभी मुख्य विचारों के तत्व निहित हैं। उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण इसमें स्पष्ट है और विशिष्ट व्यक्तिवाद भी, जो आगे चलकर 'हीरो ऐंड हीरो वर्शिप' में विकसित हुआ, पूर्णरूपेण प्रतिपादित है। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि संसार के प्रसिद्ध पुरुष दैवी शक्ति से अनुप्राणित ईश्वरीय ग्रंथ के समान हैं जिसके अध्याय विभिन्न युगों में संकलित होकर इतिहास का रूप धारण करते हैं। कार्लायल का यह विस्फोटक ग्रंथ तत्कालीन पाठकों के लिये अत्यंत कटु तथा दुरूह सिद्ध हुआ, परंतु 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' के प्रकाशन के साथ ही उनकी ख्याति का क्षेत्र व्यापक हो गया। इस ग्रंथ में इतिहास की एक तूफानी पृष्ठभूमि में लेखक ने अपने नैतिक तथा दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया है एवं क्रांतियुगीन मानव पात्रों का अत्याकर्षक चित्रण करके शैली को काव्यमय कर दिया है। इसके पश्चात् 'हीरोज ऐंड हीरो वर्शिप' का सृजन करके उन्होंने अपनी लोकप्रियता के संवर्धन के साथ ही साथ अपने ऐतिहासिक तथा दार्शनिक सिद्धांतों की विशद व्याख्या की। इसके बाद तीन लघु ग्रंथों—'चार्टिज़म', 'पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट', 'लैटरडे पैंफ़्लेट्स' में उन्होंने अपने सामाजिक सिद्धांतों का विवेचन किया और पूंजीपतियों की कड़ी भर्त्सना के साथ ही साथ श्रमजीवियों की वास्तविक उपयोगिता तथा उनके संगठन की आवश्यकता का समर्थन किया।

जीवनीलेखक के रूप में भी उनकी काफी प्रसिद्धि हुई और उनके इस कोटि के ग्रंथ—'क्रामवेल', 'लाइफ़ ऑव स्टर्लिंग', 'फ़्रेडरिक द ग्रेट'—उनके व्यापक अध्ययन, अथक परिश्रम, चयनकला तथा प्रभावशाली लेखनशैली के ज्वलंत उदाहरण हैं।

कार्लायल महोदय अपने युग के सफल लेखक ही नहीं अपितु एक प्रभावशाली नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति थे, यद्यपि उनके सिद्धांत उस युग की विशिष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध थे। विज्ञान तथा भौतिकवाद से प्रभावित समाज के समक्ष उन्होंने मुक्त कंठ से घोषित किया कि संसार ईश्वरमय है तथा मनुष्य नैतिक प्राणी, जिसका उत्कर्ष धन एवं वैभव पर नहीं, अपितु आध्यात्मिक विकास पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त, समाज में बढ़ती हुई धनलोलुपता के भी वे कट्टर शत्रु थे और 'सादा जीवन, उच्च-विचार' का सदैव समर्थन करते रहे।

उनकी शैली उनके व्यक्तित्व के समान ही बेढंगी परंतु प्रभावशाली है उसमें माधुर्य तथा स्निग्धता का अभाव है और बहुत से वाक्य बिना सिर पैर के जंतु के समान फैले हुए दिखलाई पड़ते हैं, परंतु तीव्रता तथा ओज उनमें कूट कूटकर भरे हैं।

सं०ग्रं०—ह्यू वाकर : द लिटरेचर ऑव द विक्टोरियन एरा; कैज़ामिया : कार्लायल। (वि० रा०)

कार्ली महाराष्ट्र राज्य में पूना जिले के मावल तालुका में बंबई-पूना-मार्ग पर स्थित (१८°४५' उ०अ०, ७३°२९' पू०दे०) एक ग्राम। यह पश्चिमी घाट के हीनयानीय बौद्ध चैत्य गुहाओं में विख्यात और प्रधान है। बौद्ध वास्तु और मूर्तिकला के क्षेत्र में गुहामंदिरों में प्रमाण माना जाता है। इसका निर्माण प्रसिद्ध भाजा दरीमंदिर के बाद ही पहली सदी ई० पू० के लगभग हुआ होगा। पर्वत की चट्टान को कोरकर यह लंबायत गुहा बनी है और लकड़ी की डाटों के साथ इसकी आंतरिक छत दर्शनीय है।

सामने कभी प्रायः पचास फुट ऊँचे दो सिंहस्तंभ खड़े थे, जिनकी बनावट अधिकतर अशोकीय स्तंभों की तरह थी। बरामदे में सामने रेलिंग का आभास उत्पन्न करनेवाला बहिरंग है और दाहिनी ओर अत्यंत सुंदर आधा ऊँचाई के हाथी दीवार में उभारे गए हैं। प्रवेश के तीन द्वार हैं जिनमें से बीच का बौद्ध पुरोहितों के लिये था। ऊपर रोशनी के लिये मेहराबदार खिड़की बनी है जिससे अत्यंत मृदु आलोक भीतर फैल जाता है। चैत्य-कक्ष गहरा लंबा है, पर्वत की कोख में गहरा चला गया है। लंबाई उसकी १२४ फुट, चौड़ाई ४६॥ फुट और ऊँचाई ४० फुट है। दोनों ओर की दीवारों से भीतर की ओर की दूरी पर लगातार स्तंभों का अविराम सिलसिला चला गया है। स्तंभों की संख्या ३७ है जिनमें १५—१५ दोनों ओर हैं और सात गहराई में अर्धगोलाकार। स्तंभों का सौंदर्य असामान्य है, उनमें से प्रत्येक के शीर्ष पर दो दो गजमस्तक हैं और प्रत्येक गजमस्तक पर मिथुन-प्रतीक कोरे गए हैं। मिथुनों की परंपरा अपनी चेष्टाओं और आकृतियों में सर्वथा समान नहीं है, प्रत्येक में रंच मात्र अंतर डाल दिया गया है जिससे उनकी एकरूपता सह्य हो सके। स्तंभों के शीर्ष पीछे की ओर प्रायः इन्हीं प्रतीकों को वहन करते हैं, अंतर बस इतना है कि गजमस्तकों के स्थान पर वहाँ अश्वों के अग्रार्ध निर्मित हैं।

स्तूप सामने, चैत्यगृह की गहराई में, स्तंभों के अर्धवृत्त के आगे खड़ा है और उसका निर्माण हर्मिका, छत्र आदि से संयुक्त, परंपरा के अनुकूल ही, हुआ है। पिछले प्रायः १,००० वर्षों से संभवतः इस चैत्यमंदिर की पूजा बंद रही है पर आज भी इसमें प्रवेश करने पर उसी शांति का अनुभव होता है जैसा इसके समृद्धिकाल में हुआ करता था। (चं० भा० पा०)

कार्ल्स रूये जर्मनी के वर्टेमबर्ग—बेडन प्रांत में फ्रैंकफ़ुर्त ऑन मेन—वेसल रेलमार्ग पर हीडेलबर्ग से ३३ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित एक नगर है। अनुमित जनसंख्या २,५७,१४४ (१९७०) है। बेडन के कार्ल विल्हेल्म ने १७१५ ई० में यहाँ पर अपना आखेटकेंद्र बनाया था। उसी के चारों ओर यह नगर बस गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में अंग्रेजी वायुसेना के आक्रमण से कार्ल्स रूये का मुख्य भवन, श्लास, आग से ध्वस्त हो गया था। पिछले १०० वर्षों में यहाँ पर्याप्त औद्योगीकरण हुआ है। रेल के इंजन, गाड़ियाँ, मशीनें बनाना यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। एक नहर बन जाने से कार्ल्स रूये राइन नदी पर मेक्सो से संबद्ध हो गया है। (प्रे० चं० अ०)

कार्सटेंज पूर्वी द्वीपपुंज के अंतर्गत न्यूगिनी के पश्चिमी भाग में स्थित नसाऊ पर्वतश्रेणी (Nassau Range) का सर्वोच्च शिखर है जो १६,४०४ फुट ऊँचा है। (स्थिति ४° द० अ०, १३७° १२' पू० दे०) इसके निकट आयडेनबर्ग (Idenburg) एवं विलहेलमिना (Wilhelmina) नामक दो अन्य चोटियाँ हैं जो क्रमशः १५,७५० फुट तथा १५,५८५ फुट ऊँची हैं। इस प्रदेश में हिमरेखा की ऊँचाई १४,६०० फुट है। अतः कार्सटेंज पर्वत पर हिमनदियाँ मिलती हैं।

(न० कि० प्र० सिं०)

कार्सिका भूमध्यसागर में ४१°२०' से ४३° उ० अ० तथा ८°३०' से ९°३०' पू० दे० तक फैला हुआ एक द्वीप है। राजनीतिक दृष्टि से यह फ्रांस का एक विभाग है। इसका शिखर ८,८९१ फुट ऊँचा सिंटो पर्वत है। जलवायु भूमध्यसागरीय तथा प्राकृतिक वनस्पति माकी नामक झाड़ी है। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में यह रोमन प्रांत था जिसमें राजनीतिक बंदी रखे जाते थे। द्वीप का क्षेत्रफल ३,३६७ वर्ग मील तथा जनसंख्या २,७५,४६५ (१९६२) है। कृषि की मुख्य उपज अंगूर, नीबू, तंबाकू और साग भाजी हैं। जैतून के वृक्ष भी यहाँ लगाए जाते हैं तथा भेड़,

और रेशम के कीड़े पाले जाते हैं। लोहा, ताँबा एवं सुरमा की खानें हैं। सिगार, गैलिक ऐसिड तथा सेवई (मैकारोनी) बनाने के उद्योग मुख्य है। अजैंकियो राजधानी है। (प्रे० चं० अ०)

काल भारतीय धर्म तथा दर्शन में काल की अतुलनीय महिमा प्रतिपादित की गई है। इस विश्व का सर्वश्रेष्ठ मूल तत्व काल माना जाता है जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय संपन्न होता है। काल की सर्वश्रेष्ठ तत्व के रूप में प्रतिष्ठा **अथर्ववेद** के दो सूक्तों (१९ कांड, ५४ तथा ६३ सूक्त) में प्रतिपादित की गई है :

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दनन्त्यागतेन प्रजा इमाः॥
(अथर्व० १९।६३।७)

यथार्थवादी दर्शन काल की व्यावहारिक तथा पारमार्थिक उभयविध सत्ता मानते हैं, परंतु आदर्शवादी दर्शन काल की पारमार्थिक सत्ता का निषेध करते हैं। लोकव्यवहार में वर्तमान, भूत तथा भविष्य की कल्पना मान्य है। इस व्यवहार की प्रतीति का असाधारण कारण 'काल' ही है। ज्येष्ठत्व तथा कनिष्ठत्व की कल्पनासिद्धि काल के ऊपर आश्रित होती है। 'देवदत्त जेठा है' तथा 'उसका अनुज यज्ञदत्त कनिष्ठ है'—इस प्रतीति की सत्यता काल की सिद्धि का हेतु है। काल की सत्ता का प्रमाण अनुमान है। भावकार्य होने से परत्व (ज्येष्ठत्व) तथा अपरत्व (कनिष्ठत्व) असमवायी कारणविशिष्ट होते हैं। दोनों का यह असमवायी कारण काल तथा पिंड का संयोग है और इस संयोग के आश्रय होने से **न्यायमत** में काल की अनुमानजन्य सिद्धि होती है। जन्य अर्थात् उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का काल जनक माना जाता है (जन्यानां जनकः कालः—भाषापरिच्छेद)। काल वस्तुतः एक है, परंतु उपाधि के कारण वह अनेकविध प्रतीत होता है। यह उपाधि है सूर्य की क्रिया। इसी क्रिया के हेतु शीघ्रता, विलंबित, भूत, वर्तमान, भविष्य, क्षण, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, संवत्सर तथा युग आदि अवयवों की कल्पना की और मानी जाती है। काल एक, विभु तथा नित्य माना जाता है। न्यायमत में काल में पाँच गुण होते हैं : एकत्व संख्या, परम महत् परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग। काल सब कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण होता है। न्याय मत में काल अतींद्रिय होता है अर्थात् उसका ज्ञान इंद्रियों से जन्य नहीं होता, परंतु मीमांसा के आचार्य प्रभाकर के मत में काल षडिंद्रियवेद्य है—उसका ज्ञान छहों इंद्रियों से उत्पन्न होता है।

काल की स्वतंत्र सत्ता के विषय में दार्शनिकों में ऐकमत्य नहीं है। **सांख्यदर्शन** के आचार्य काल का अंतर्भाव आकाश में मानते हैं और इसलिये वे काल की स्वतंत्र सत्ता का निषेध करते हैं। रघुनाथ शिरोमणि, रघुदेव, रामभद्र आदि **नव्य नैयायिकों** की दृष्टि में दिक् और काल दोनों ही ईश्वर से अतिरिक्त नहीं होते। फलतः काल ईश्वरात्मक होता है। इस मत में काल ईश्वर से अतिरिक्त पदार्थ नहीं होता, परंतु क्षण ही ईश्वर से अतिरिक्त होता है जो आज, कल आदि लोकव्यवहार का विषय होता है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिक तथा कतिपय नव्य नैयायिकों का काल के विषय में स्पष्ट मतभेद है। **मायावादी** वेदांती काल को साक्षी के प्रत्यय से भासित होनेवाला मानते हैं। वे उसकी पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते।

जैनमत की दृष्टि यथार्थवादी है। फलतः उसकी कालविषयक मान्यता न्याय और वैशेषिकों की मान्यता से बहुत कुछ मिलती जुलती है। जैनदर्शन में भी काल की सत्ता अनुमानजन्य मानी जाती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व—ये पाँचों काल के 'उपकार' माने जाते हैं। काल के बिना पदार्थों की स्थिति की कल्पना कथमपि नहीं की जा सकती। जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील होते हैं। इस परिणाम का साधारण कारण काल ही होता है। जैनमत में काल 'अनिस्तकाय' द्रव्य माना जाता है, क्योंकि यह जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों के समान विस्तार धारण नहीं करता। नैयायिकों के समान जैनदर्शन में भी काल के दो रूप स्वीकृत किए जाते हैं—व्यावहारिक काल तथा पारमार्थिक काल। द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दंड, घटी, पल आदि अवयवों से संपन्न काल 'व्यावहारिक' नाम से अभिहित किया जाता है; परंतु पारमार्थिक काल नित्य तथा निरवयव होता है। वर्तना—पदार्थों की स्थिति—इसका सामान्य लक्षण है। व्यावहारिक काल के ही अंगों की कल्पना की जाती है। अतएव वही सादि एवं सांत होता, परंतु पारमार्थिक काल अनवच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहनेवाला द्रव्य है। यह समस्त कल्पना न्यायमत से स्पष्टतः मिलती है।

वैयाकरणों की दृष्टि में काल शब्द तन्मात्रा का परिणाम होता है (लघुमंजूषा)। पतंजलि ने अपने महाभाष्य (२।२।५ सूत्र पर) में काल के विषय में अपना विचार अभिव्यक्त किया है—'जिससे मूर्तियों का उपचय और अपचय लक्षित होता है, उसे काल कहते हैं। आदित्य की गति से युक्त होनेवाला वही काल दिन तथा रात्रि की संज्ञा पाता है। सूर्य की गति की अनेकशः आवृत्ति से संपन्न होने पर उसे ही मास तथा संवत्सर का अभिधान प्राप्त होता है'।

योगदर्शन के अनुसार काल वास्तव न होकर विकल्प मात्र है—शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्या विकल्पः। अवास्तव पदार्थ का पद के द्वारा वास्तव के समान व्यवहार करना ही विकल्प कहलाता है। काल की यही स्थिति है। मुहूर्त, मिनट, घंटा, दिन, रात आदि समस्त कालसूचक व्यवहार अवास्तव हैं, क्योंकि दो क्षणों का समाहार कभी होता नहीं और बिना समाहार के यह व्यवहार संपन्न ही नहीं हो सकता। इसीलिये योगी लोग काल को वस्तु नहीं कहते, केवल क्षण का क्रम कहते हैं। देश के अत्यंत सूक्ष्मतम अवयव परमाणु के समान क्षण काल का सूक्ष्मतम अंश है। क्षण वस्तु के परिणामक्रम के द्वारा लक्षित किया जाता है। क्षण धारारूप से प्रवाहित होता है जिसे क्षण का क्रम कहते हैं। क्रमावलंबी क्षण ही वास्तव पदार्थ है, उसी के क्रम को कालवेत्ता योगी काल मानते हैं (द्रष्टव्य योगसूत्र, विभूतिपाद के ५२वें सूत्र का व्यासभाष्य)। योग की दृष्टि में वर्तमान की ही सत्ता है, न भूत की और न भविष्य की। क्षण तथा उसके क्रम पर संयम करने से योगी को विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन की विविध धाराओं ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से कालतत्व को समझाने का असामान्य उद्योग किया है।

आधुनिक विज्ञान काल को वस्तुओं के निर्माण में कारणस्वरूप मानता है। काल को वहाँ चतुर्थ विमा (फ़ोर्थ डाइमेंशन) मानते हैं। काल के इस रूप की खोज का श्रेय आइन्स्टाइन को है। इसका वैज्ञानिक निरूपण उन्होंने सापेक्षिता (रिलेटिविटी) सिद्धांत द्वारा किया है। सापेक्ष्यवाद का यह सिद्धांत अनुसंधान की दिशा में न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत से कुछ कम महत्व नहीं रखता।

सं०ग्रं०—मुक्तावली (प्रत्यक्ष खंड); प्रशस्तपादभाष्य (द्रव्य प्रकरण); नागेश भट्ट : लघुमंजूषा (लकारार्थ प्रकरण); भर्तृहरि : वाक्यपदीय; उमास्वाति : तत्त्वार्थसूत्र (५।२२); नारायण भट्ट : मानमेयोदय (मेय प्रकरण)। (ब० उ०)

कालक्रम विज्ञान (Chronology) वह विज्ञान है जिसके द्वारा हम ऐतिहासिक घटनाओं का कालनिर्णय कर सकते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि सब घटनाओं को किसी एक ही संवत्सर में प्रदर्शित किया जाय। केवल ऐसा करने पर ही सब घटनाओं का क्रम और उनके बीच का व्यतीत काल हम ज्ञात कर सकते हैं। यह संवत्सर कोई भी हो सकता है—प्राचीन या अर्वाचीन। इस काम के लिये आजकल अधिकतर ईसवी सन् का उपयोग किया जाता है। हमारे यहाँ इस काम के लिये गतकलि वर्ष प्रयुक्त होता था और यूरोप में, प्राचीन काल में, और कभी कभी आजकल भी, जूलियन पीरिअड व्यवहृत होता है।

जगत् के विविध देशों और विविध कालों में अलग अलग संवत् (era) प्रचलित थे। इतना ही नहीं, भारत जैसे विशाल देश में आजकल और भूतकाल में भी बहुत से संवत् प्रचलित थे। इन सब संवतों के प्रचार का आरंभ भिन्न भिन्न काल में हुआ और उनके वर्षों का आरंभ भी विभिन्न ऋतुओं से होता था। इसके अतिरिक्त वर्ष, मास और दिनों की गणना का प्रकार भी भिन्न था। सामान्यतः वर्ष का मान ऋतुचक्र के तुल्य रखने का प्रयत्न किया जाता था, परंतु इस्लामी संवत् हिजरी के अनुसार केवल बारह

चांद्र मासों, अर्थात् ३५४ दिनों का, वर्ष होता था, जो ऋतुचक्र के तुल्य नहीं है। कुछ वर्ष चांद्र और सौर वर्षों के मिश्रण होते थे, जैसा आजकल भारत के अनेक प्रांतों में प्रचलित है। इसमें १२ चांद्र मासों (३५४ दिनों) का एक वर्ष होता है, परंतु दो या तीन वर्षों में एक अधिमास बढ़ाकर वर्ष के माध्य (औसत) मान को ऋतुचक्र के तुल्य बनाया जाता है। प्रत्येक ऋतु-चक्र-तुल्य वर्ष को सौर वर्ष भी कहते है, क्योंकि उसका मान सूर्य से सबद्ध होता है।

ऊपर हमने चांद्रमास का जो उल्लेख किया है उसको वस्तुतः सौर चांद्रमास कहना चाहिए, क्योंकि उसका आधार सूर्य और चद्रमा के साथ मिश्र रूप में है। पूर्णिमा से पूर्णिमा तक अथवा अमावास्या से अमावास्या तक इस चांद्रमास का मान होता है।

जैसे वर्षमान की कल्पना ऋतुओं पर और मास की कल्पना चंद्रमा की कलाओं पर आश्रित है, उसी प्रकार दिन की गणना की कल्पना सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न अथवा मध्यरात्रि से हुई। सामान्यतः एक मध्याह्न से आगामी मध्याह्न के माध्य (औसत) काल को एक दिन कहते हैं। जहाँ चांद्र मास प्रचलित है, जैसे भारत के विभिन्न प्रदेशों में, तिथियों से गणना की जाती है, जिनका संबंध प्रधानतः चंद्रमा की कलाओं के साथ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जगत् के विविध प्रदेशों में अलग अलग संवतों से गणना होती है, वर्ष का प्रारंभ भी भिन्न भिन्न ऋतुओं में होता है और मासगणना तथा दिनगणना भी विविध प्रकार की होती है। अब यदि किसी प्राचीन शिलालेख में हमने पढ़ा कि वह दिन अमुक संवत् के अमुक मास का अमुक दिन था तो प्रश्न उठता है कि वह ठीक कौन सा दिन था। बहुधा इसका उत्तर पाना कठिन होता है, क्योंकि उस संवत् का आरंभ कब हुआ, उसका वर्षमान क्या था, और उसके मास तथा दिन किस प्रकार गिने जाते थे, इन सब बातों का ज्ञान प्राप्त किए बिना हम उस दिन का कालनिर्णय नहीं कर सकते।

इसलिये पहले यह आवश्यक है कि जगत् के भिन्न भिन्न संवतों का प्रारंभ, अर्थात् उनके प्रथम वर्ष का आरंभ किसी एक ही प्रमाणित किए हुए संवतों में बताया जाय। जगत् में प्राचीन काल से आज तक बहुत से संवत्सर चलते आए हैं। उन सबका निर्देश एक विस्तृत लेख का विषय है। अतः परिशिष्ट में भारत के प्राचीन एवं अर्वाचीन कुछेक मुख्य संवतों के प्रारंभ का काल ही देंगे।

आजकल अधिकांश घटनाओं का काल ईसवी सन् में देने की प्रणाली है। ईसवी सन् के पूर्व की घटनाओं का निर्देश करने के लिये हम 'ई० पू०' (ईसा पूर्व) अक्षरों का व्यवहार करते हैं। इतिहासवेत्ताओं की परिपाटी है कि १ ई० सन् के पूर्व के वर्ष को १ ई० पू० वर्ष कहते हैं। उसके पूर्व के वर्ष को २ ई० पू० कहते हैं—इत्यादि। किंतु गणितशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार यह परिपाटी अवैज्ञानिक है; क्योंकि इससे, उदाहरण के रूप में, ३ ई० पू० से २ ई० सन् तक के बीच में ५ वर्ष व्यतीत हुए, ऐसा भ्रम होता है, जबकि वस्तुतः यह अंतराल ४ वर्ष का ही है। इसीलिये गणितज्ञ और ज्योतिषी लोग इस कालगणना के स्थान में अन्य प्रकार की गणना का उपयोग करते हैं। वह इस प्रकार है कि वे लोग १ ई० सन् के पूर्व के वर्ष को ० (शून्य) वर्ष कहते हैं और उसके पूर्व के वर्ष को १ ई० पू० कहते हैं। इस प्रणाली से किसी भी ई० पू० वर्ष और किसी भी ई० वर्ष के बीच में व्यतीत हुए वर्षों की संख्या त्रुटिरहित होगी। इस प्रणाली में ई० सन् ० (शून्य) के पश्चात् के वर्षों के आगे + (धन) संज्ञा लगाते हैं और ई० सन् के पूर्व के वर्षों के आगे − (ऋण) चिह्न लगाते हैं।

विभिन्न संवतों के वर्षों के भीतर के मास और दिन की गणनापद्धति के लिये देखें 'पंचांग और पंचांगपद्धति' शीर्षक लेख। यहाँ हम केवल वर्षगणना तक का वर्णन करेंगे।

सामान्य मान्यता यह है कि ईसवी सन् ईसा मसीह के जन्म से गिना जाता है, परंतु कतिपय विद्वानों के मतानुसार उसमें लगभग ४ वर्ष की भूल है।

ई० सन् की गणना में एक महत्वपूर्ण प्रसंग है जिसपर ध्यान न देने से कालगणना में १३ दिन तक की भूल होने की संभावना है। आजकल सामान्यतः ई० सन् वर्ष में ३६५ दिन होते हैं और प्रति चार वर्षों में एक वर्ष ३६६ दिन का होता है। शताब्दियों के वर्षों में ४ शताब्दियों में केवल एक शताब्दी में ३६६ दिन होते हैं। शताब्दियों के दिनों की यह विशिष्ट व्यवस्था प्राचीन काल में नहीं थी। १५८२ ई० तक शताब्दी सहित सब वर्षों में प्रति चार वर्ष में एक वर्ष ३६६ दिन का गिना जाता था।

३६५ दिन के वर्ष को सामान्य वर्ष तथा ३६६ दिन के वर्ष को अधिवर्ष (Leap Year) कहते हैं।

१५८२ ई० सन् में पोप ग्रेगरी ने ई० सन् में दो सुधार किए। प्रथम सुधार यह था कि शताब्दियों के दिनों की व्यवस्था नवीन रूप से की गई, जो आजकल प्रचलित है। व्यवस्था यह हुई कि जिस शताब्दी को ४०० से निःशेष विभाजित किया जा सके वही अधिवर्ष है; अन्य सब शताब्दियाँ सामान्य वर्ष हैं। यह नियम ज्योतिष के आधुनिक यंत्रों से नापे गए सूक्ष्म सायन (ट्रॉपिकल) वर्षमान के अनुसार किया गया है। इस नियम की उपेक्षा से ईसवी सन् के आरंभ से १५८२ ई० सन् तक १० दिन की भूल एकत्रित हुई थी। उस भूल को दूर करने के लिये तारीखों में १० दिन बढ़ाए गए। इस नयी व्यवस्था को नवीन पद्धति और पूर्व की पद्धति को प्राचीन पद्धति कहते हैं। कालक्रमविज्ञान में सन् १५८२ ई० के ४ अक्टूबर तक की घटनाओं को प्राचीन पद्धति से व्यक्त किया जाता है और उसके पश्चात् की घटनाओं को नवीन पद्धति से।

नवीन पद्धति का आरंभ १५८२ ई० में पोप ग्रेगरी ने किया। इसलिये इसको ग्रेगोरियन पद्धति कहते हैं। इस पद्धति को भिन्न भिन्न ईसाई देशों में भिन्न भिन्न वर्षों में स्वीकार किया गया। इससे इन देशों का इतिहास पढ़ते समय इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। कालक्रम विज्ञान में इस अव्यवस्था का प्रवेश न हो पाय, इस हेतु इस विषय के विद्वानों ने सर्वसमति से निर्णय किया है कि १५८२ ई० के ४ अक्टूबर तक की सब ऐतिहासिक घटनाओं को प्राचीन पद्धति से और उसके बाद की सब घटनाओं को नवीन पद्धति से व्यक्त किया जाय।

जूलियन दिनांक—नई शैली, पुरानी शैली, छूटे हुए दिन, अधिवर्ष आदि की झंझटों से बचने के लिये ज्योतिषी (और कभी कभी इतिहासज्ञ भी) बहुधा जूलियन दिनांक से समय सूचित करते हैं। इस पद्धति का आरंभ फ्रेंच ज्योतिषी स्कैलियर ने किया था। इस पद्धति में १ जनवरी, सन् ४७१३ ई० पू० से आरंभ करके दिन लगातार गिने जाते हैं और दिन का आरंभ स्थानीय मध्याह्न से होता है। उदाहरणतः जूलियन दिनांक २४,३७,८९२.१२३ का अर्थ है १५ अगस्त, १९६२ के मध्याह्न से ०.१२३ × २४ घंटे बाद। नाविक पंचांगों में प्रत्येक दिन का जूलियन दिनांक दिया रहता है।

परिशिष्ट में विविध संवतों का प्रारंभ ई० सन् में बताया गया है। उसकी सहायता से उस संवत् में दिए हुए किसी काल को हम ई० सन् में सामान्यतः व्यक्त कर सकते हैं। सामान्यतः इसलिये कहा गया है कि उस संवत् का वर्षमान, मासगणना और दिनगणना का गणित जहाँ तक हम नहीं जानते वहाँ तक ई० सन् में ठीक दिनांक का निर्णय हम नहीं कर सकते।

परिशिष्ट में केवल एक ही संवत् ऐसा है जिसका वर्षमान ई० सन् के वर्षमान से बहुत भिन्न है : वह हिजरी सन् है, जिसके वर्ष का माध्य मान ३५४.३७ दिन है। कुछ अन्य संवत् सौर चांद्र मान के हैं, किंतु दो तीन वर्ष में अधिकमास बढ़ाकर वे प्रायः ई० सन् के तुल्य हो जाते हैं। फिर भी थोड़े दिनों का अंतर रह जाता है। इन संवतों का वर्षारंभ ई० सन् के कौन से मास में होता है, इसे भी परिशिष्ट में बताया गया है। इससे सामान्यतः, लगभग एक मास के भीतर, ई० सन् का मान भी ज्ञात हो जायगा।

उदाहरणतः, उत्तर प्रदेश के विक्रम संवत् १९३२ के श्रावण मास में ई० सन् का कौन सा वर्ष और मास आएगा, यह हम परिशिष्ट से ज्ञात कर सकते हैं। परिशिष्ट में यह बताया गया है कि इस संवत् का वर्षारंभ ई० सन् के −५७ वर्ष के अप्रैल मास में हुआ था। इस हिसाब से इस विक्रम संवत् के १९३२ वर्ष का प्रारंभ अर्थात् चैत्र मास + १८७५ के अप्रैल में हुआ था। इसमें इस वर्ष का श्रावण मास ई० सन् १८७५ के अगस्त में हुआ होगा। इससे अधिक इस परिशिष्ट से हम नहीं जान सकते। ई० सन् का मास और दिनांक भी निश्चित रूप से जानने के लिये हमें विक्रम संवत् के मास और दिन की गणित पद्धति से भी परिचित होना चाहिए, जिसे 'पंचांग और पंचांगपद्धति' शीर्षक लेख में बताया गया है।

परिशिष्ट

क्रमांक	संवत्	संवत् का प्रारंभ ई० सन् में※	वर्षमान	वर्षारंभ	प्रचार का प्रदेश या वर्ग
१	जूलियन	–४७१२ जनवरी※	सौर	१ जनवरी	ज्योतिषी
२	कलियुग	–३१०१ फरवरी※	चांद्र–सौर (अमांत)	चैत्र शुक्ल	हिंदू
३	सप्तर्षि	–३०७५ अप्रैल※	चांद्र–सौर (अमांत)	चैत्र शुक्ल	कश्मीर
४	विक्रम (अमांत)	– ५७ नवंबर※	चांद्र–सौर (अमांत)	कार्तिक शुक्ल	गुजरात
५	विक्रम (पौर्णिमांत)	– ५७ अप्रैल※	चांद्र–सौर (पौर्णिमांत)	चैत्र कृष्ण	उत्तर भारत
६	शक (शालिवाहन)	+ ७८ अप्रैल	चांद्र–सौर (अमांत)	चैत्र शुक्ल	दक्षिण भारत
७	वलभी	+ ३१८ नवंबर	चांद्र–सौर (अमांत)	कार्तिक शुक्ल	सौराष्ट्र ई० सन् ४०० से १३०० तक
८	विलायती	+ ५९२ सितंबर	सौर	१ कन्या	उड़ीसा
९	अमली	+ ५९२ अक्टूबर	चांद्र–सौर	भाद्रपद शुक्ल १२	उड़ीसा
१०	बंगाली	+ ५९३ अप्रैल	सौर	१ वैशाख	बंगाल
११	हिजरी	+ ६२२ जुलाई	चांद्र	१ मुहर्रम	मुसलमान
१२	कोलम (उत्तर)	+ ८२५ सितंबर	सौर	१ कन्या	उत्तर मलाबार
१३	कोलम (दक्षिण)	+ ८२५ सितंबर	सौर	१ सिंह	दक्षिण मलाबार

※ इस स्तंभ के प्रथम पाँच अंक गणितीय पद्धति के हैं। ऐतिहासिक पद्धति से ये अंक अनुक्रम से ४७१३ ई० पू०, ३१०२ ई० पू०, ३०७६ ई० पू०, ५८ ई० पू० और ५८ ई० पू० हैं। ऊपर देखिए। (हृ० प्रा० भ०)

कालनेमि १. विरोचन का पुत्र। पौराणिक परंपरा के अनुसार कंस पूर्वजन्म में कालनेमि असुर था। देवासुर संग्राम में कालनेमि ने भगवान् हरि पर अपने सिंह पर बैठे ही बैठे बड़े वेग से त्रिशूल चलाया। पर हरि ने उस त्रिशूल को पकड़ लिया और उसी से उसको तथा उसके वाहन को मार डाला। एक अन्य पौराणिक प्रसंग के अनुसार युद्ध में उसने अनेक प्रकार की माया फैलाई और ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। वह तारकामय में हरि के चक्र के द्वारा मारा गया। (रा० शं० मि०)

२. लंका का एक राक्षस जो रावण का विश्वस्त अनुचर था। युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर हनुमान् ओषधि लाने के लिये द्रोणाचल की ओर चले तो रावण ने उनके मार्ग में विघ्न उपस्थित करने के लिये कालनेमि को भेजा। वह ऋषि का वेश धारण कर मार्ग में बैठ गया। हनुमान् जलपान के लिये रुके तो कालनेमि ने उन्हें जाल में फाँसना चाहा। लेकिन हनूमान् उसके कपट को भाँप गए और उन्होंने तत्काल उसका वध कर दिया। (कै० चं० श०)

कालपी जालौन जिले में कालपी तहसील के मुख्यालय के रूप में यह नगर २६° ८' उ० अ० एवं ७९° ४५' पू० दे० पर यमुना नदी के किनारे कानपुर-सागर-राजमार्ग पर स्थित है। किंवदंतियों के आधार पर कालपी नगर चौथी शताब्दी में वसुदेव द्वारा बसाया गया था। डा० प्रताप सिंह कनौजिया के लेख के अनुसार 'कान्यकुब्ज माहात्म्य' में वर्णित कृष्णपुत्र शांब दुर्वासा ऋषि के शापवश कोढ़ी हो गए थे और सूर्यकुंड (मकरंजनगर, कन्नौज) में स्नान करने पर कोढ़मुक्त हुए थे। अतः शांब द्वारा यमुना के तट पर कालप्रियनाथ (सूर्यदेव) का मंदिर बनवाना तथा बाद में उस स्थान का कालपी नाम से प्रसिद्ध होना सत्य प्रतीत होता है। कन्नौज के मौखरी नरेश यशोवर्मन् तथा उनके दरबारी कवि भवभूति ने भी कालप्रियनाथ का वर्णन किया है। 'कान्यकुब्ज माहात्म्य' के अनुसार कन्नौज की दक्षिणी सीमा कालपी तक थी। अतः उपर्युक्त तथ्यों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कान्यकुब्ज प्रदेश के अंतर्गत यमुना तट पर निर्मित कालप्रियनाथ के नाम पर ही कालपी का नामकरण हुआ।

कालपी ऐतिहासिक नगर है जहाँ पुराने समय से लगातार राजनीतिक उथल पुथल होती रही है। सन् ११९६ ई० में यह नगर कुतुबुद्दीन के आधिपत्य में आया। पंद्रहवीं शताब्दी में जौनपुर के इब्राहिम शाह ने कालपी को जीतने के लिये दो बार प्रयास किया लेकिन असफल रहे और नगर पर मालवा के होशांग शाह का पूर्ण अधिकार हो गया। कुछ समय बाद इब्राहिम के वंशज महमूद को कालपी पर कब्जा करने को कहा गया लेकिन शर्त यह थी कि उसके राज्यपाल को दंडित किया जाए। यह शर्त महमूद को मंजूर न थी। अतः दिल्ली के शासकों और जौनपुर राज्य के बीच कालपी को लेकर काफी दिनों तक संघर्ष चलता रहा और सन् १४७७ ई० में यहाँ एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें जौनपुर के हुसेनशाह भागकर कन्नौज चले गए। वहाँ भी वे पुनः पराजित हुए। सन् १५२६ ई० में पानीपत की विजय के बाद सम्राट् बाबर का मार्ग दक्षिण की ओर स्वतः खुल गया। राणा के वंशजों और अफगानों ने मिलकर उनका रास्ता रोकना चाहा। इन्होंने कालपी पर अधिकार तो कर लिया लेकिन बाद में हार खानी पड़ी। सन् १५२७ ई० में जौनपुर और बिहार दोनों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद बाबर ने कालपी पर अधिकार कर लिया। सम्राट् हुमायूं ने कालपी को अपने अधिकार में सन् १५४० ई० तक रखा। अकबर के समय में कालपी सरकार का मुख्यालय रहा। बाद में मराठों ने इस नगर को राज्यपाल के मुख्यालय का रूप दिया। मई, सन् १८५८ ई० में झाँसी की रानी के नेतृत्व में यहाँ भयंकर युद्ध हुआ जिसमें राव साहब और बाँदा के नवाब का पूरा सहयोग था।

कालपी यमुना नदी के बीहड़ इलाके में बसा हुआ है। तमाम उथल पुथल होने के बाद भी यह नगर तीव्र गति से विकास की ओर जा रहा है। इसके पश्चिमी भाग में अनेक प्राचीन मकबरे हैं जिन्हें 'चौरासी गुंबज' कहा जाता है। यमुना के ये बीहड़ भूभाग नगर के प्राचीन एवं आधुनिक बसावक्रम को अलग कर देते हैं। प्राचीन कालपी नगर नदी के पास एक ऊँचे भूभाग पर बसा हुआ है जिसमें भूरे पलस्तर (प्लास्टर) की दीवारें और यत्रतत्र छिटके हुए वृक्ष दिखाई देते हैं। यहाँ मुसलमान शासकों के मकबरे बहुतायत से देखने को मिलते हैं। नया कालपी नगर नदी से थोड़ी दूर, दक्षिण पूर्व की ओर बसा हुआ है। नदी के किनारे इन खंडहरों में एक भग्नावशेष ऐसा है जिसकी दीवार नौ फुट मोटी है और जिसे वहाँ के राज्यपाल का कोषागार समझा जाता है। सन् १८६८ ई० से ही कालपी में एक म्युनिसिपैलिटी है। दक्षिणी उत्तर प्रदेश का यह एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र भी रह चुका है। यहाँ से अनाज एवं कपास कानपुर, कलकत्ता और मिर्जापुर को भेजे जाते रहे हैं। ३.९४ वर्ग कि० मी० क्षेत्र में फैले इस नगर में कुल २०,६७८ व्यक्ति निवास करते हैं। (शी० प्र० सिं०)

कालबाख, विल्हेल्म वान (१८०५–१८७४) डुसेलडर्फ़ अकादमी के कोर्नेलिस से कलाध्ययन कर अपने गुरु के साथ सन् १८२५ में यह जर्मन चित्रकार म्यूनिख पहुँचा, और वहाँ सन् १८४९ से जीवन के अंतिम क्षण तक वह अकादमी का निदेशक रहा। 'येरुसलम का विनाश', 'हूणों से युद्ध' और 'सालेमिस का सागरी युद्ध' के भव्य भित्तिचित्रों में उसने नाट्य रूपों का अद्भुत अंकन किया।

उसका भतीजा फ्रेड्रिक अगस्त वान कालबाख (सन् १८५०-१९२०) ऐतिहासिक दृश्यों तथा व्यक्तिचित्रों का कुशल चितेरा था जो म्यूनिख अकादमी का निर्देशक भी रहा। (भा० स०)

कालमापी (Chronometer) एक विशेष प्रकार की घड़ी है जो बहुत सच्चा समय बताती है। इसकी सहायता से समुद्र में जहाज का देशांतर ज्ञात किया जाता है। कालमापी ग्रिनिच के स्थानीय समय से मिलाकर रखा जाता है, जिससे जहाज पर ग्रिनिच समय तुरंत जाना जा सकता है। सेक्सटैंट (Sextant) से सूर्य की स्थिति नापकर जहाज जिस स्थान पर है वहाँ का स्थानीय समय ज्ञात किया जा सकता है। स्थानीय समय और ग्रिनिच समय के अंतर से देशांतर की गणना की जा सकती है। देशांतरों में एक अंश का अंतर पड़ने पर स्थानीय समयों में चार मिनट का अंतर पड़ता है।

देखने में कालमापी एक साधारण बड़ी घड़ी के समान होता है। यह एक चक्र से दो धुरीधरों द्वारा लटका रहता है। चक्र स्वयं दूसरे दो धुरीधरों द्वारा लटका रहता है। धुरीधरों की जोड़ियाँ एक दूसरी से समकोण बनाती हैं। कालमापी इस प्रकार इसलिये लटकाया जाता है कि जहाज के हिलने डोलने पर भी वह सर्वदा क्षैतिज रहे। सर्वदा क्षैतिज स्थिति में रहने से कालमापी अधिक सच्चा समय बताता है। कालमापी की बालकमानी साधारण घड़ी की तरह सर्पिल न होकर कुंतलाकार (helical) होती है। इसका कालमापी विमोचक (escapement) भी साधारण घड़ी से भिन्न प्रकार का होता है। (विमोचक उन युक्ति को कहते हैं जिसके कारण घड़ी का चक्रसमूह लगातार न चलकर रुक रुककर चलता है और टिक टिक की ध्वनि उत्पन्न होती है। इसी के द्वारा प्रधान कमानी की ऊर्जा बालकमानी में जाती है जिससे वह रुकने नहीं पाती)।

देशांतर ज्ञात करने के लिये सच्ची घड़ी बनाने का पहला प्रयास विख्यात वैज्ञानिक क्रिश्चियन हाइगेन्स ने १६६२-७० में किया था, पर उनकी बनाई घड़ियों में ताप के घटने बढ़ने तथा जहाज के हिलने डोलने के कारण बहुत अंतर पड़ जाता था और समय अधिक सचाई से नहीं नापा जा सकता था। १७१४ में ब्रिटिश सरकार ने ऐसा कालमापी बनाने के लिये, जो प्रति दिन तीन सेकंड से अधिक तेज या सुस्त न हो, २०,००० पाउंड (लगभग ढाई लाख रुपए) के पुरस्कार की घोषणा की। यह पुरस्कार जॉन हैरिसन ने जीता जिसने १७२९-६० में चार कालमापी बनाए, परंतु हैरिसन को कालमापी बनाने में मूल्य बहुत अधिक पड़ता था। पेरिस के पियर लरूआ ने १७६५ में और इंग्लैंड के जॉन आर्नोल्ड और टामस अर्नशा ने १७८५ में जो कालमापी बनाए वे आधुनिक यंत्रों से बहुत कुछ मिलते जुलते थे।

आधुनिक कालमापी का प्रयोग ठीक से करने पर वह बहुत ही सच्चा समय बताता है। दिन भर में एक सेकंड से अधिक अंतर नहीं पड़ने पाता। इस सूक्ष्म अंतर के कारण महीने भर चलने के बाद भी जहाज की गणना की स्थिति और सच्ची स्थिति में आठ मील से कम ही अंतर पड़ने पाता है। प्राचीन काल में सच्चे कालमापियों का महत्व बहुत अधिक था, क्योंकि इनके अभाव में लंबी यात्रा करना असंभव होता था। परंतु अब रेडियो संकेतों द्वारा सच्चे ग्रिनिच समय का पता दिन में कई बार मिलता रहता है और कालमापियों का बहुत सच्चा रहना पहले जैसा महत्वपूर्ण नहीं रह गया है। (चं० प्र०)

कालमेह ज्वर (Black water fever or malarial hemoglobinuria) अथवा मलेरियल हीमोग्लोबिन्युरिया। यह ज्वर घातक तृतीयक मलेरिया के कई आक्रमण के उपरांत उपद्रव के रूप में होता है। इसमें मूत्र का रंग काला या गहरा लाल हो जाने से इसका नाम कालमेह ज्वर रखा गया है। इस रोग में रक्त के कणों में से तीव्रता से हीमोग्लोबिन पृथक् हो जाता है (hemolysis), जिससे मूत्र काला हो जाता है, ज्वर आ जाता है, कामला और रक्तन्यूनता हो जाती है तथा वमन होने लगता है। ज्वर प्रायः सर्दी लगने पर होता है। कमर में पीड़ा और आमाशय में कुछ कष्ट हो जाता है। २४ घंटे में रक्त में ५० प्रति शत की कमी हो जाती है और रक्तचाप कम हो जाता है। रोग के दो रूप होते हैं—मृदु और तीव्र। मृदु में ज्वर जाड़ा लगकर आता है। मूत्र में रक्त होता है। ज्वर बहुत तीव्र नहीं होता। रोगी तीन चार दिन में ठीक हो जाता है और तब मूत्र निर्मल हो जाता है। तीव्र रूप में ज्वर बड़ी तीव्रता से आता है और बहुत अधिक हो जाता है। बार बार ज्वर का आक्रमण होता है। रोगी अत्यंत निर्बल हो जाता है। साधारणतः मूत्र पर्याप्त नहीं आता या बंद हो जाता है। मस्तिष्क ठीक काम नहीं करता, रोगी मूर्छित हो जाता है (uremia) और अंत में इसकी मृत्यु हो जाती है।

कालमेह ज्वर अधिकतर उन्हीं स्थानों में होता है जहाँ मलेरिया उग्र रूप में बराबर पाया जाता है, जैसे भारतवर्ष, उष्ण अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वीय यूरोप, दक्षिणी अमरीका और दक्षिण-पूर्वीय एशिया तथा न्यूगाइना आदि।

यदि रोगी के रक्त की परीक्षा आक्रमण के आरंभ में की जाय तो उसमें घातक तृतीयक मलेरिया के जीवाणु मिल जाते हैं। कहा जाता है कि कालमेह ज्वर कुनैन और कैमोक्वीन अधिक काल तक देने से हो जाता है। रिलैप्सिंग ज्वर और यलो फ़ीवर से इसका भेद समझना चाहिए।

चिकित्सा—रोगी को बिस्तर पर रखना चाहिए। जब मलेरिया ज्वर हो तब उसकी पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए और कुनैन आवश्यकता से अधिक मात्रा में न देकर पैल्यूड्रिन का उपयोग करना चाहिए। (क० दे० व्या०)

कालयवन यवनराज का अत्यंत शक्तिशाली पुत्र। नारद से यादवों की वीरता की प्रशंसा सुनकर एक विशाल म्लेच्छ सेना लेकर उनसे युद्ध करने गया। कृष्ण को बिना शस्त्र के अपनी ओर आते देखकर रथ से कूदकर उनका पीछा किया। कृष्ण भागते हुए एक पर्वत की गुफा में घुस गए जहाँ मांधाता के पुत्र राजा मुचुकुंद सोए हुए थे। कालयवन भी उसमें घुस गया और मुचुकुंद को कृष्ण समझकर पैर से मारा। मुचुकुंद ने जगने पर जैसे ही उसपर दृष्टिपात किया, वह भस्म हो गया। (रा० शं० मि०)

काललिख (Chronograph) वह यंत्र है जिसके द्वारा पास पास घटित होनेवाली दो घटनाओं के समय का अंतर ज्ञात किया जा सकता है। वस्तुतः यह अंतर एक मानचित्र या फीते पर अंकित हो जाता है।

ज्योतिष के कामों में प्रयुक्त किए जानेवाले काललिख अधिकतर निम्नलिखित सिद्धांत पर बने रहते हैं: एक बेलनाकार ढोल पर कागज लपेट दिया जाता है। ढोल को समगति से केवल इतने वेग से घुमाया जाता है कि वह प्रति मिनट एक या दो पूरे चक्कर लगाए। एक लेखनी इस कागज के ऊपर इस प्रकार लगी रहती है कि ढोल के घूमने से वह कागज पर रेखा खींचती जाती है। लेखनी भी मंद समगति से पेच द्वारा एक ओर हटती जाती है। इसलिये कागज पर खिंची रेखा सर्पिलाकार होती है। कलम एक विद्युच्चुंबक से संबद्ध रहती है। इस विद्युच्चुंबक में घड़ी द्वारा प्रति सेकंड एक विद्युद्धारा क्षण भर के लिये आती रहती है जिससे लेखनी प्रति सेकंड क्षण भर के लिये एक ओर खिंच जाती है। इसलिये कागज पर खिंची रेखा में प्रत्येक सेकंड का चिह्न बन जाता है। अब किसी विशेष घटना के
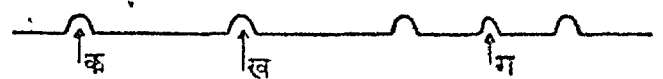
प्रति सेकंड के चिह्न घटनाविशेष का चिह्न

घटने पर बटन दबाने से वह लेखनी हटकर उस घटना के समय को भी अंकित कर देती है। चिह्नों के बीच की दूरी नापने से घटना के समय का पता सेकंड के सौवें भाग तक चल सकता है।

कभी कभी कागज चढ़े बेलनाकार ढोल की जगह कागज के फीते की रील का प्रयोग करते हैं। फीते को समगति से लेखनी के नीचे ... इसमें सुविधा यह होती है कि यंत्र छोटा होता है, किंतु ...

फीते पर के समय के लेखे को सुरक्षित रखना और बाद में प्रयोग करना कठिन होता है। कभी कभी एक के स्थान पर दो लेखनियों का उपयोग किया जाता है, एक सेकंड अंकित करने के लिये और दूसरी घटना का समय। इसमें दोष यह होता है कि प्रत्येक लेखनी के किनारे हटने से भिन्न भिन्न समय लग सकता है और इस कारण नापे हुए समय में थोड़ी त्रुटि पड़ सकती है। यदि भिन्न भिन्न यंत्रों द्वारा प्राप्त घटनाओं का समय ज्ञात करना है तो दो से अधिक लेखनियों का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक लेखनी का विद्युच्चुंबक एक भिन्न यंत्र द्वारा चालित होता है।

आजकल ऐसे भी काललिख बने हैं जिनमें मिनट, सेकंड और सेकंड के शतांश के चिह्न एक घूमते हुए चक्र द्वारा, जिसमें छापे के टाइप लगे रहते हैं, कागज पर छाप दिए जाते है। छापनेवाला चक्र एक नियंत्रक द्वारा समान वेग से घूमता है और घड़ी द्वारा इस वेग पर नियंत्रण रखा जाता है। घटना के समय को अंकित करने के लिये छोटी हथौड़ी रहती है जो बटन दबाने पर शीघ्रता से कागज पर चोट मारकर हट जाती है। इससे वह अंक, जो उस क्षण हथौड़ी के संमुख रहता है, कागज पर छप जाता है। इस प्रकार घटना का समय बिना किसी नाप के ज्ञात हो जाता है, परंतु लेखनी या हथौड़ी से चिह्नों को अंकित करने में कुछ समय लगता है और नाप में कुछ त्रुटि की संभावना रहती है। अतः बहुत सूक्ष्म नापों के लिये ऐसे काललिख बनाए गए हैं जिनमें विद्युत्स्फुल्लिंग द्वारा घटनाक्रम अंकित किया जाता है।

गति-काललिख—बंदूक या तोप की गोली की गति नापने के लिये दो पर्दे रखे जाते हैं। गोली के एक पर्दे से दूसरे पर्दे तक पहुँचने के समय को नापकर गोली की गति निम्नलिखित सूत्र से जानी जा सकती है :

$$\text{गति} = \frac{\text{पर्दों के बीच की दूरी}}{\text{समय}}$$

। पर्दों के बीच की दूरी नापने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती, परंतु समय की नाप बड़ी सूक्ष्मता से होनी चाहिए। यदि गति २,००० फुट प्रति सेकंड हो तो १०० फुट दूरी पार करने में गोली को कुल १/२० सेकंड लगता है। यदि हम चाहें कि गति की गणना में एक फुट प्रति सेकंड से अधिक अंतर न पड़े तो दूरी की नाप में $\frac{1}{2}$ इंच से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए और समय की नाप में १/४०,००० सेकंड से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए।

भिन्न भिन्न प्रकार के पर्दों का उपयोग होता है। एक प्रकार का पर्दा दो विद्युच्चालक पत्रों के बीच पृथक्कारी रखकर बनाया जाता है। जब गोली पर्दे को छेदती है तो दोनों चालक पर्दों में गोली द्वारा संपर्क हो जाता है और उस क्षण विद्युतसंकेत चल पड़ता है। ये पर्दे बार बार प्रयुक्त किए जा सकते हैं, पर इनमें असुविधा यह रहती है कि पर्दे में घुसने से गोली की गति में अंतर पड़ जाता है।

दूसरे प्रकार के पर्दों में विद्युच्चुंबकीय प्रेरण का प्रयोग किया जाता है। पर्दे के स्थान पर बिजली के तार के वृत्त लगे रहते हैं। गोली साधारण गोली न होकर चुंबकित गोली होती है। जब यह गोली तार के वृत्त में से होकर जाती है तो तार में विद्युत् उत्पन्न होती है जिससे संकेत मिल जाता है।

प्रकाश-वैद्युत पर्दों का भी प्रयोग किया जाता है। टेलिफ़ोटो (लेंज) द्वारा गोली (और पृष्ठ भाग में आकाश) का चित्र एक प्र वैद्युत सेल पर डालते हैं। जब लेंस के सामने से गोली जाती रहती प्रकाश के कम हो जाने से सेल में विद्युद्धारा भी ही गोली का पिछला भाग पार होता है साथ ही विद्युद्धारा भी। एकाएक बढ़ती भेजा जा सकता है।

गोली का वेग नापने के लिये कागज जा सकता है। साधारणतः दोल प्रति को जब पार करती है तब ... देता है। ... न लगाकर फो... ता है और साथ ही

जाता है। दोलनलेखी धारामापी के दर्पण से परावर्तित प्रकाशकिरण एक छिद्र में से जाकर फोटो के कागज पर रेखा खींचती जाती है। जब पर्दे से संकेत आता है तो धारामापी का दर्पण घूम जाता है और परावर्तित प्रकाशकिरण छिद्र का सीध में नहीं रहती। प्रकाश न पहुँचने से रेखा उस स्थान पर कटी सी जान पड़ती है। एक दूसरे धारामापी द्वारा प्रति १/१००० सेकंड एक चिह्न इस रेखा पर बनता जाता है; इससे नापने में सुविधा होती है।

दूसरे महायुद्ध में समय नापने के लिये रेडियो वाल्वों के परिपथों का भी प्रयोग हुआ। इन यंत्रों में तीन भाग होते हैं। पहले भाग में एक दोलक होता है जिससे प्रति १/१,००,०००वें सेकंड पर विद्युत्स्पंदन भेजा जाता है। दूसरे भाग में यंत्र को चलाने और बंद करने का प्रबंध रहता है। पहले पर्दे से संकेत आने पर यंत्र अपने आप चलने लगता है और दूसरे पर्दे से संकेत आने पर यंत्र स्वतः बंद हो जाता है। तीसरे भाग में विद्युत्स्पंदों को गिनने का प्रबंध रहता है। इनकी गिनती से पता चल जाता है कि दोनों संकेतों के बीच कितना समय बीता। (चं० प्र०)

कालविन, जान (१५०९–१५६४) धर्माचार्य और सुधारक।

कालविन का जन्म फ्रांस के उत्तरी भाग में स्थित पिकार्दी प्रांत के नोयों नगर में १० जुलाई, १५०९ को हुआ। छोटी उम्र में ही उसके संयमित आचरण और धर्ममय जीवन को देखकर उसके पिता जरार शोविन ने अपने पुत्र को पौरोहित्य की शिक्षा दिलाना निश्चित किया। नगर के एक कुलीन मित्र परिवार में कालविन ने धर्मशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया। अपनी अद्भुत योग्यता के कारण १२ वर्ष की अवस्था में ही नगर के गिरजाघर में उसने चैपलेन का पद प्राप्त कर लिया। १५२३ के अगस्त मास में वह देश की राजधानी पेरिस गया और चैपलेन के पद से मिलनेवाली आय से लगभग पाँच वर्षो तक मार्श और मोंताध के महाविद्यालयों में उसने धर्मशास्त्र का नियमित रूप से अध्ययन किया। वहाँ साथियों से विचार विनिमय में उसने अपनी प्रखर बुद्धि और तर्कशक्ति का अच्छा परिचय दिया। सितंबर, १५२७ में नोयों के एक गिरजाघर में पुरोहित के सहायक के पद पर उसकी नियुक्ति हो गई।

पेरिस में अपने ही नगर के एक पुराने साथी पीयर राबर्ट से, जो आगे चलकर ओलिवेतन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कालविन का घनिष्ठ संपर्क रहा। राबर्ट धर्म के मामले में सुधारवादी था। उसके विचारों का कालविन पर प्रभाव पड़ा। उसकी प्रेरणा से कालविन ने बाइबिल का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया जिसने प्रचलित धर्मव्यवस्था के संबंध में उसके मन में शंकाएँ उत्पन्न कर दी। शीघ्र ही कालविन ने रोम की पूजा-पद्धति के बारे में प्रतिकूल विचार व्यक्त किए। नोयों के गिरजाघर का धर्माधिकारी कालविन के धर्मविरोधी विचारों से सहमत नहीं हो सकता था। कालविन को अपने पद पर बने रहना कठिन प्रतीत हुआ। इन्हीं दिनों उसके पिता का यह विचार हुआ कि धर्मशास्त्र की अपेक्षा कानून का अध्ययन उसके लिये अधिक लाभदायक होगा। पिता के विचार का कालविन ने स्वागत किया। कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये मार्च, ...८ में वह और्लेआँ के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। कानून के ... अन्य ग्रन्थों, विशेषकर प्राचीन साहित्य, का उसने अध्ययन थोड़े ... पने पांडित्य का उसने ऐसा परिचय दिया कि ... कार्य भी लिया जाने लगा। औलेआँ से ...४ में गया जहाँ उसने यूनानी भाषा और मूल पाठ का अध्ययन किया। इस अध्ययन उसके विचारों को और पुष्ट कर दिया। ... उसको बूर्ज छोड़ना पड़ा। वह कुछ ... का अध्ययन किया। घर की ... ना पड़ा। १५३२ के अंत तक एक प्रसिद्ध लेखक सेनेका की ...या लातीनी में प्रकाशित ... औलेआँ गया। अगस्त में अक्टूबर में वह पुनः पेरिस ...व्यवस्था के खंडन और

नई धर्मव्यवस्था के प्रतिपादन और व्यवहार के संबंध में उसके विचार अब तक काफी परिपक्व हो चुके थे। उसकी यह निश्चित धारणा हो गई कि उसको अपना संपूर्ण जीवन विशुद्ध ईसाई धर्म की शिक्षा और प्रसार में लगाना चाहिए। उसने इस पवित्र कार्य को दैवी प्रेरणा और आदेश माना। उसने कैथोलिक धर्म का परित्याग किया और प्रोटेस्टेंट मत ग्रहण कर लिया। अपने मत के धार्मिक प्रवचनों के रूप में उसने एक पुस्तक भी उसी वर्ष प्रकाशित की। इस बीच कालविन के एक मित्र विश्वविद्यालय के रेक्टर निकोलस कोप ने एक पवित्र दिवस पर पेरिस के एक गिरजाघर में सुधारवादी मत के समर्थन में व्याख्यान दिया। कालविन उसके विचारों से अत्यंत प्रभावित हुआ। रोम के चर्च और उसमें आस्था के विरुद्ध उसने प्रकाश्य रूप से अपने विचार पेरिस में कई स्थानों पर व्यक्त किए। कोप और कालविन दोनों पर धर्मविरोधी प्रचार का अपराध आरोपित हुआ। दोनों ही पेरिस से अन्यत्र चले गए। कालविन कुछ समय नोयों में रहा। अभियोग उठा लिए जाने की सूचना मिलने पर वह फिर पेरिस लौट आया। उसके कार्यों पर राज्य और धर्म विभाग के अधिकारियों की सजग दृष्टि लगी रही। पेरिस में रहना उसके लिये कठिन हो गया। १५३४ के आरंभ में छद्म नाम से वह अंगुलेम गया और वहाँ के गिरजाघर के पुस्तकालय में धर्मग्रंथों का मननपूर्वक अध्ययन किया। वह प्वातू और सेंटोन भी गया और सभी स्थानों पर उसने धर्मसुधार के विचारों का प्रचार किया। इस बीच फ्रांस के राजा फ्रांसिस की बहन नेवार की रानी मारगरेत ने कालविन को आश्रय दिया। सुधारवादी मत के प्रति उसकी सहानुभूति थी और उसका निवासस्थान सुधार के समर्थकों का आश्रयस्थल बना हुआ था। कालविन मई मास में फिर पेरिस आया। वह गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय तक उसे कारागार में भी रहना पड़ा। सुधारवादियों के प्रति फ़्रांसिस के बढ़ते हुए अत्याचार को देखकर कालविन ने फ्रांस त्याग देना ही उचित समझा। उसने अपने सभी पदों को छोड़ दिया और २५ वर्ष की आयु में अपने पितृदेश फ्रांस से विदा लेकर वह १५३४ में स्विटज़रलैंड के बाल नगर चला गया। एक वर्ष पूर्व पेरिस से भागकर उसका सुधारवादी मित्र कोप भी इस नगर में ही गया था।

फ्रांस में राजतंत्र द्वारा सुधारवादियों के दमन से कालविन बहुत क्षुब्ध था। उनके संबंध में राजा की इस धारणा से कि ये केवल धर्मसुधार नहीं चाहते, राज्य के विरोधी हैं, कानून और संपत्ति के शत्रु हैं, संघर्ष करानेवाले तथा पथभ्रष्ट हैं—वह सहमत नहीं था। धर्मसुधार के समर्थक जर्मनी के कुछ मित्र राजाओं की इस शिकायत पर कि फ्रांस में सुधारवादियों पर अत्याचार होता है, फ़्रांसिस ने उनके संबंध में यह मत व्यक्त किया था। उन्हें इस लांछन से मुक्त करने और धर्मसुधार के समर्थन में कालविन ने विशुद्ध ईसाई धर्म पर एक पांडित्यपूर्ण पुस्तक 'इंस्टीट्यूट ऑव क्रिश्चियन रिलिजन' लातीनी भाषा में लिखी। पुस्तक का अधिकांश अंगुलेम के प्रवासकाल में १५३४ में लिखा गया था। १५३५ में यह पुस्तक बाल नगर से लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुई। अगले वर्ष कालविन ने अपने नाम से पुस्तक प्रकाशित कराई और उसमें एक प्रस्तावना भी जोड़ दी। १५४० में कालविन ने फ्रेंच भाषा में भी पुस्तक का संस्करण निकाला। उसने यह पुस्तक फ्रांस के राजा को समर्पित की। उसको आशा थी कि फ़्रांसिस पुस्तक में व्यक्त विचारों से प्रभावित होगा और सुधारवादियों के मत को अपना लेगा। कालविन की यह आशा तो पूरी नहीं हुई पर उसकी पुस्तक का धर्मसुधार के कार्यों पर आशातीत प्रभाव पड़ा। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक शताब्दी से ऊपर तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। २५-२६ वर्ष की आयु में लिखी गई ऐतिहासिक तथ्यों और अकाट्य तर्कों से परिपूर्ण यह पुस्तक भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट, प्रोटेस्टैंट धर्म के प्रसार और स्थायित्व में अत्यंत सहायक हुई। इसने कालविन के विचारों को यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में पहुँचा दिया।

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद कालविन इटली गया। वहाँ धर्मसुधार के कार्य में कुछ प्रगति हो चुकी थी। फ़ेरारा की डचेज रेनी ने उसका संमानपूर्ण सत्कार किया। इटली से वह पेरिस गया। वहाँ उसने अपनी पैतृक जायदाद बेच दी और स्विटज़रलैंड में बसने के विचार से वह शीघ्र ही पेरिस से चल दिया। उसको उस देश के प्रसिद्ध नगर जिनीवा होकर जाना पड़ा। फ्रांस के सुधारवादी विलियम फ़ैरेल और विरैट के प्रयत्नों से उस नगर ने प्रोटेस्टैंट धर्म अपना लिया था पर उसकी नींव पक्की नहीं हुई थी। विरैट जिनीवा से चला गया था। फ़ैरेल ने कालविन से विरैट का स्थान लेने और वहीं रहकर धर्मसुधार के पवित्र कार्य में उसकी सहायता करने का अनुरोध किया। जिनीवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की कालविन की इच्छा न थी किंतु इस सुस्पष्ट कर्तव्य की उपेक्षा के कारण उसपर दैवी प्रकोप के आघात की बात जब फ़ैरेल ने कही तब कालविन ने अन्यत्र बसने का विचार त्याग दिया। वह कुछ दिनों के लिये बाल नगर गया, पर सितंबर, १५३६ में जिनीवा वापस आ गया और उस नगर को अपने कार्यों का केंद्र बना लिया। उस समय से वह फ्रांसीसी प्रोटेस्टैंटों का प्रमुख पथप्रदर्शक और परामर्शदाता बन गया। उसका इतना अधिक प्रभाव उनपर पड़ा कि १६वीं शताब्दी के मध्य तक वे कालविनवादी कहे जाने लगे।

कालविन अब अपनी संपूर्ण शक्ति से परम उत्साहपूर्वक धर्मसुधार के अभीष्ट कार्य की पूर्ति में जुट गया। फ़ैरेल के सहयोग से उसने धार्मिक विश्वासों और सिद्धांतों का विवरण तैयार किया और उनको मानना तथा उनके अनुसार आचरण करना नगर के सभी निवासियों के लिये अनिवार्य कर दिया। जिनीवा के नागरिकों ने इस धर्मव्यवस्था तथा नगरशासन के नियमों के पक्ष में अपनी स्वीकृति दी। नियमों का बंधन सभी कार्यों, व्यक्तियों और संस्थाओं पर समान रूप से लागू था। नियमों के कड़ाई से पालन पर आरंभ से ही कालविन ने ध्यान दिया और नियमों में चूक करनेवालों के लिये उसने कठोर दंड की व्यवस्था की। उसका कड़ा अनुशासन जिनीवा वासियों को सह्य न हो सका, उन्होंने उसका संगठित विरोध किया और दो वर्ष के अंदर ही, १५३८ में, उसको और फ़ैरेल को नगर छोड़ने के लिये बाध्य किया। कालविन स्ट्रासवर्ग चला गया और वहाँ के एक धर्मसमुदाय में धर्माचार्य का कार्य करने लगा, पर जिनीवा पर उसकी दृष्टि सदा लगी रही। वह पत्रों द्वारा वहाँ के निवासियों को निरंतर प्रोत्साहित करता रहा। कालविन के विरोधी नगर की स्थिति को न सँभाल सके। वहाँ अव्यवस्था बढ़ती गई। नगरवासियों ने यह अनुभव किया कि शासनहीनता की अपेक्षा कठोर शासन अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने कालविन को जिनीवा लौट आने और नेतृत्व सँभालने का निमंत्रण दिया। १५४१ के सितंबर में वह पुनः जिनीवा आ गया और शीघ्र ही नगर के आध्यात्मिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। स्ट्रासवर्ग में कालविन ने एक विधवा से विवाह किया। १५४२ में उसको एक पुत्र हुआ पर वह कुछ दिनों ही जीवित रहा। कालविन की पत्नी आदर्श गृहिणी थी। १५४९ में उसकी भी मृत्यु हो गई। जीवन के अंतिम क्षण तक वह जिनीवा में ही रहा।

कालविन के मत से आरंभ के ३०० वर्षों का पवित्र ईसाई धर्म ही सच्चा ईसाई धर्म था। उसकी पुनः प्रतिष्ठा और उसके अनुसार सबका आचरण उसको अभीष्ट था। वह चाहता था कि व्यक्ति का जीवन पूर्णतः संयमित, पवित्र और नैतिक आदर्शों से प्रभावित हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्र की रचना, उसके अनुसार जीवन की व्यवस्था और जिनीवा को अपनी उदात्त कल्पना के अनुकूल आदर्श नगर का रूप देने में उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। अपने सादे, पवित्र और अनुशासित जीवन, लेखों और उपदेशों द्वारा कालविन ने जनजीवन को प्रभावित किया। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, फ्रांस, नेदरलैंड, पोलैंड आदि के सुधारवादियों से पत्रव्यवहार द्वारा उसका संपर्क था। धर्मोपदेशों की शिक्षा के लिये उसने जिनीवा में एक विद्यालय स्थापित किया और नगर में कई पाठशालाएँ खोलीं जहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। १५५९ में उसने जिनीवा में ही विश्वविद्यालय की स्थापना की जो शीघ्र ही धर्मसुधार आंदोलन का एक प्रमुख केंद्र बन गया। विदेशों से अनेक विद्यार्थी

फीते पर के समय के लेखे को सुरक्षित रखना और बाद में प्रयोग करना कठिन होता है। कभी कभी एक के स्थान पर दो लेखनियों का उपयोग किया जाता है, एक सेकंड अंकित करने के लिये और दूसरी घटना का समय। इसमें दोष यह होता है कि प्रत्येक लेखनी के किनारे हटने से भिन्न भिन्न समय लग सकता है और इस कारण नापे हुए समय में थोड़ी त्रुटि पड़ सकती है। यदि भिन्न भिन्न यंत्रों द्वारा प्राप्त घटनाओं का समय ज्ञात करना है तो दो से अधिक लेखनियों का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक लेखनी का विद्युच्चुंबक एक भिन्न यंत्र द्वारा चालित होता है।

आजकल ऐसे भी काललिख बने हैं जिनमें मिनट, सेकंड और सेकंड के शतांश के चिह्न एक घूमते हुए चक्र द्वारा, जिसमें छापे के टाइप लगे रहते हैं, कागज पर छाप दिए जाते हैं। छापनेवाला चक्र एक नियंत्रक द्वारा समान वेग से घूमता है और घड़ी द्वारा इस वेग पर नियंत्रण रखा जाता है। घटना के समय को अंकित करने के लिये छोटी हथौड़ी रहती है जो बटन दबाने पर शीघ्रता से कागज पर चोट मारकर हट जाती है। इससे वह अंक, जो उस क्षण हथौड़ी के संमुख रहता है, कागज पर छप जाता है। इस प्रकार घटना का समय बिना किसी नाप के ज्ञात हो जाता है, परंतु लेखनी या हथौड़ी से चिह्नों को अंकित करने में कुछ समय लगता है और नाप में कुछ त्रुटि की संभावना रहती है। अत: बहुत सूक्ष्म नापों के लिये ऐसे काललिख बनाए गए हैं जिनमें विद्युत्स्फुल्लिंग द्वारा घटनाक्रम अंकित किया जाता है।

गति-काललिख—बंदूक या तोप की गोली की गति नापने के लिये दो पर्दे रखे जाते हैं। गोली के एक पर्दे से दूसरे पर्दे तक पहुँचने के समय को नापकर गोली की गति निम्नलिखित सूत्र से जानी जा सकती है :

$$\text{गति} = \frac{\text{पर्दों के बीच की दूरी}}{\text{समय}}$$

। पर्दों के बीच की दूरी नापने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती, परंतु समय की नाप बड़ी सूक्ष्मता से होनी चाहिए। यदि गति २,००० फुट प्रति सेकंड हो तो १०० फुट दूरी पार करने में गोली को कुल १/२० सेकंड लगता है। यदि हम चाहें कि गति की गणना में एक फुट प्रति सेकंड से अधिक अंतर न पड़े तो दूरी की नाप में $\frac{1}{2}$ इंच से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए और समय की नाप में १/४०,००० सेकंड से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए।

भिन्न भिन्न प्रकार के पर्दो का उपयोग होता है। एक प्रकार का पर्दा दो विद्युच्चालक पत्रों के बीच पृथक्कारी रखकर बनाया जाता है। जब गोली पर्दे को छेदती है तो दोनों चालक पर्दो में गोली द्वारा संपर्क हो जाता है और उस क्षण विद्युतसंकेत चल पड़ता है। ये पर्दे बार बार प्रयुक्त किए जा सकते हैं, पर इनमें असुविधा यह रहती है कि पर्दे में घुसने से गोली की गति में अंतर पड़ जाता है।

दूसरे प्रकार के पर्दो में विद्युच्चुंबकीय प्रेरण का प्रयोग किया जाता है। पर्दे के स्थान पर बिजली के तार के वृत्त लगे रहते हैं। गोली साधारण गोली न होकर चंबकित गोली होती है। जब यह गोली तार के वृत्त में से होकर जाती है तो तार में विद्युत् उत्पन्न होती है जिससे संकेत मिल जाता है।

प्रकाश-वैद्युत पर्दो का भी प्रयोग किया जाता है। टेलिफ़ोटो लेंस (लेंज) द्वारा गोली (और पृष्ठ भाग में आकाश) का चित्र एक प्रकाश-वैद्युत सेल पर डालते हैं। जब लेंस के सामने से गोली जाती रहती है तो प्रकाश के कम हो जाने से सेल में विद्युद्धारा भी कम हो जाती है। ज्यों ही गोली का पिछला भाग पार होता है प्रकाश फिर बढ़ जाता है और साथ ही विद्युद्धारा भी। एकाएक बढ़ती हुई इस विद्युद्धारा से संकेत भेजा जा सकता है।

गोली का वेग नापने के लिये कागज लपेटे ढोल का प्रयोग भी किया जा सकता है। साधारणत: ढोल प्रति सेकंड ६० चक्कर लगाता है। गोली पर्दे को जब पार करती है तब उस समय के संकेत द्वारा उत्पन्न स्फुल्लिंग कागज को अंकित कर देता है। एक दूसरे प्रकार के काललिख में ढोल पर साधारण कागज न लगाकर फोटोग्राफी का कागज लगाते हैं। ढोल अँधेरे बक्स में घूमता है और साथ ही धीरे धीरे एक किनारे हटता जाता है। दोलनलेखी धारामापी के दर्पण से परावर्तित प्रकाशकिरण एक छिद्र में से जाकर फोटो के कागज पर रेखा खीचती जाती है। जब पर्दे से संकेत आता है तो धारामापी का दर्पण घूम जाता है और परावर्तित प्रकाशकिरण छिद्र की सीध में नहीं रहती। प्रकाश न पहुँचने से रेखा उस स्थान पर कटी सी जान पड़ती है। एक दूसरे धारामापी द्वारा प्रति १/१००० सेकंड एक चिह्न इस रेखा पर बनता जाता है; इससे नापने में सुविधा होती है।

दूसरे महायुद्ध में समय नापने के लिये रेडियो वाल्वों के परिपथों का भी प्रयोग हुआ। इन यंत्रों में तीन भाग होते हैं। पहले भाग में एक दोलक होता है जिससे प्रति १/१,००,०००वें सेकंड पर विद्युत्स्पंदन भेजा जाता है। दूसरे भाग में यंत्र को चलाने और बंद करने का प्रबंध रहता है। पहले पर्दे से संकेत आने पर यंत्र अपने आप चलने लगता है और दूसरे पर्दे से संकेत आने पर यंत्र स्वत: बंद हो जाता है। तीसरे भाग में विद्युत्स्पंदों को गिनने का प्रबंध रहता है। इनकी गिनती से पता चल जाता है कि दोनों संकेतों के बीच कितना समय बीता। (चं० प्र०)

कालविन, जान (१५०९-१५६४) धर्माचार्य और सुधारक। कालविन का जन्म फ्रांस के उत्तरी भाग में स्थित पिकार्दी प्रांत के नोयों नगर में १० जुलाई, १५०९ को हुआ। छोटी उम्र में ही उसके संयमित आचरण और धर्ममय जीवन को देखकर उसके पिता जरार शोविन ने अपने पुत्र को पौरोहित्य की शिक्षा दिलाना निश्चित किया। नगर के एक कुलीन मित्र परिवार में कालविन ने धर्मशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया। अपनी अद्भुत योग्यता के कारण १२ वर्ष की अवस्था में ही नगर के गिरजाघर में उसने चैपलेन का पद प्राप्त कर लिया। १५२३ के अगस्त मास में वह देश की राजधानी पेरिस गया और चैपलेन के पद से मिलनेवाली आय से लगभग पाँच वर्षो तक मार्श और मोंतांध के महाविद्यालयों में उसने धर्मशास्त्र का नियमित रूप से अध्ययन किया। वहाँ साथियों से विचार विनिमय में उसने अपनी प्रखर बुद्धि और तर्कशक्ति का अच्छा परिचय दिया। सितंबर, १५२७ में नोयों के एक गिरजाघर में पुरोहित के सहायक के पद पर उसकी नियुक्ति हो गई।

पेरिस में अपने ही नगर के एक पुराने साथी पीयर राबर्ट से, जो आगे चलकर ओलिवेतन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कालविन का घनिष्ठ संपर्क रहा। राबर्ट धर्म के मामले में सुधारवादी था। उसके विचारों का कालविन पर प्रभाव पड़ा। उसकी प्रेरणा से कालविन ने बाइबिल का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया जिसने प्रचलित धर्मव्यवस्था के संबंध में उसके मन में शंकाएँ उत्पन्न कर दीं। शीघ्र ही कालविन ने रोम की पूजा-पद्धति के बारे में प्रतिकूल विचार व्यक्त किए। नोयों के गिरजाघर का धर्माधिकारी कालविन के धर्मविरोधी विचारों से सहमत नहीं हो सकता था। कालविन को अपने पद पर बने रहना कठिन प्रतीत हुआ। इन्हीं दिनों उसके पिता का यह विचार हुआ कि धर्मशास्त्र की अपेक्षा कानून का अध्ययन उसके लिये अधिक लाभदायक होगा। पिता के विचार का कालविन ने स्वागत किया। कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये मार्च, १५२८ में वह ओर्लेआँ के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। कानून के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों, विशेषकर प्राचीन साहित्य, का उसने अध्ययन किया। थोड़े ही समय में अपने पांडित्य का उसने ऐसा परिचय दिया कि उससे कभी कभी शिक्षक का कार्य भी लिया जाने लगा। ओर्लेआँ से कालविन बुर्जे के विश्वविद्यालय में गया जहाँ उसने यूनानी भाषा और बाइबिल के नवीन टेस्टामेंट के मूल पाठ का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने रोम की धर्मव्यवस्था के विरुद्ध उसके विचारों को और पुष्ट कर दिया। १५३१ में पिता की मृत्यु के कारण उसको बुर्जे छोड़ना पड़ा। वह कुछ समय पेरिस में रहा और इब्रानी भाषा का अध्ययन किया। घर की व्यवस्था के कार्य से उसको नोयों भी जाना पड़ा। १५३२ के अंत तक वह वहीं रहा। इस वर्ष ही प्राचीन रोम के एक प्रसिद्ध लेखक सेनेका की कृति क्लेमेंशिया की उसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लातीनी में प्रकाशित हुई। १५३३ के आरंभ में कालविन दूसरी बार ओर्लेआँ गया। अगस्त में वह नोयों लौट आया और दो मास ही वहाँ रहा। अक्टूबर में वह पुन: पेरिस चला आया और वहीं रहने लगा। प्रचलित धर्मव्यवस्था के खंडन और

नई धर्मव्यवस्था के प्रतिपादन और व्यवहार के संबंध में उसके विचार अब तक काफी परिपक्व हो चुके थे। उसकी यह निश्चित धारणा हो गई कि उसको अपना संपूर्ण जीवन विशुद्ध ईसाई धर्म की शिक्षा और प्रसार में लगाना चाहिए। उसने इस पवित्र कार्य को दैवी प्रेरणा और आदेश माना। उसने कैथोलिक धर्म का परित्याग किया और प्रोटेस्टेंट मत ग्रहण कर लिया। अपने मत के धार्मिक प्रवचनों के रूप में उसने एक पुस्तक भी उसी वर्ष प्रकाशित की। इस बीच कालविन के एक मित्र विश्वविद्यालय के रेक्टर निकोलस कोप ने एक पवित्र दिवस पर पेरिस के एक गिरजाघर में सुधारवादी मत के समर्थन में व्याख्यान दिया। कालविन उसके विचारों से अत्यंत प्रभावित हुआ। रोम के चर्च और उसमें आस्था के विरुद्ध उसने प्रकाश्य रूप से अपने विचार पेरिस में कई स्थानों पर व्यक्त किए। कोप और कालविन दोनों पर धर्मविरोधी प्रचार का अपराध आरोपित हुआ। दोनों ही पेरिस से अन्यत्र चले गए। कालविन कुछ समय नोयों में रहा। अभियोग उठा लिए जाने की सूचना मिलने पर वह फिर पेरिस लौट आया। उसके कार्यो पर राज्य और धर्म विभाग के अधिकारियों की सजग दृष्टि लगी रही। पेरिस में रहना उसके लिये कठिन हो गया। १५३४ के आरंभ में छद्म नाम से वह अंगुलेम गया और वहाँ के गिरजाघर के पुस्तकालय में धर्मग्रंथों का मननपूर्वक अध्ययन किया। वह प्वातू और सेंटोन भी गया और सभी स्थानों पर उसने धर्मसुधार के विचारों का प्रचार किया। इस बीच फ्रांस के राजा फ्रांसिस की बहन नेवार की रानी मारगरेत ने कालविन को आश्रय दिया। सुधारवादी मत के प्रति उसकी सहानुभूति थी और उसका निवासस्थान सुधार के समर्थकों का आश्रयस्थल बना हुआ था। कालविन मई मास में फिर पेरिस आया। वह गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय तक उसे कारागार में भी रहना पड़ा। सुधारवादियों के प्रति फ्रांसिस के बढ़ते हुए अत्याचार को देखकर कालविन ने फ्रांस त्याग देना ही उचित समझा। उसने अपने सभी पदों को छोड़ दिया और २५ वर्ष की आयु में अपने पितृदेश फ्रांस से विदा लेकर वह १५३४ में स्विट्जरलैंड के बाल नगर चला गया। एक वर्ष पूर्व पेरिस से भागकर उसका सुधारवादी मित्र कोप भी इस नगर में ही गया था।

फ्रांस में राजतंत्र द्वारा सुधारवादियों के दमन से कालविन बहुत क्षुब्ध था। उनके संबंध में राजा की इस धारणा से कि ये केवल धर्मसुधार नहीं चाहते, राज्य के विरोधी हैं, कानून और संपत्ति के शत्रु है, संघर्ष करानेवाले तथा पथभ्रष्ट हैं—वह सहमत नहीं था। धर्मसुधार के समर्थक जर्मनी के कुछ मित्र राजाओं की इस शिकायत पर कि फ्रांस में सुधारवादियों पर अत्याचार होता है, फ्रांसिस ने उनके संबंध में यह मत व्यक्त किया था। उन्हें इस लांछन से मुक्त करने और धर्मसुधार के समर्थन में कालविन ने विशुद्ध ईसाई धर्म पर एक पांडित्यपूर्ण पुस्तक 'इंस्टीटयूट ऑव क्रिश्चियन रिलिजन' लातीनी भाषा में लिखी। पुस्तक का अधिकांश अंगुलेम के प्रवासकाल में १५३४ में लिखा गया था। १५३५ में यह पुस्तक बाल नगर से लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुई। अगले वर्ष कालविन ने अपने नाम से पुस्तक प्रकाशित कराई और उसमें एक प्रस्तावना भी जोड़ दी। १५४० में कालविन ने फ्रेंच भाषा में भी पुस्तक का संस्करण निकाला। उसने यह पुस्तक फ्रांस के राजा को समर्पित की। उसको आशा थी कि फ्रांसिस पुस्तक में व्यक्त विचारों से प्रभावित होगा और सुधारवादियों के मत को अपना लेगा। कालविन की यह आशा तो पूरी नहीं हुई पर उसकी पुस्तक का धर्मसुधार के कार्यो पर आशातीत प्रभाव पड़ा। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक शताब्दी से ऊपर तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। २५-२६ वर्ष की आयु में लिखी गई ऐतिहासिक तथ्यों और अकाट्य तर्कों से परिपूर्ण यह पुस्तक भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट, प्रोटेस्टैंट धर्म के प्रसार और स्थायित्व में अत्यंत सहायक हुई। इसने कालविन के विचारों को यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में पहुँचा दिया।

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद कालविन इटली गया। वहाँ धर्मसुधार के कार्य में कुछ प्रगति हो चुकी थी। फ़ेरारा की डचेज रेनी ने उसका संमानपूर्ण सत्कार किया। इटली से वह पेरिस गया। वहाँ उसने अपनी पैतृक जायदाद बेच दी और स्विट्जरलैंड में बसने के विचार से वह शीघ्र ही पेरिस से चल दिया। उसको उस देश के प्रसिद्ध नगर जिनीवा होकर जाना पड़ा। फ्रांस के सुधारवादी विलियम फ़ैरेल और विरैट के प्रयत्नों से उस नगर ने प्रोटेस्टैंट धर्म अपना लिया था पर उसकी नींव पक्की नहीं हुई थी। विरैट जिनीवा से चला गया था। फ़ैरेल ने कालविन से विरैट का स्थान लेने और वहीं रहकर धर्मसुधार के पवित्र कार्य में उसकी सहायता करने का अनुरोध किया। जिनीवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की कालविन की इच्छा न थी किंतु इस सुस्पष्ट कर्तव्य की उपेक्षा के कारण उसपर दैवी प्रकोप के आघात की बात जब फ़ैरेल ने कही तब कालविन ने अन्यत्र बसने का विचार त्याग दिया। वह कुछ दिनों के लिये बाल नगर गया, पर सितंबर, १५३६ में जिनीवा वापस आ गया और उस नगर को अपने कार्यों का केंद्र बना लिया। उस समय से वह फ्रांसीसी प्रोटेस्टैंटों का प्रमुख पथप्रदर्शक और परामर्शदाता बन गया। उसका इतना अधिक प्रभाव उनपर पड़ा कि १६वीं शताब्दी के मध्य तक वे कालविनवादी कहे जाने लगे।

कालविन अब अपनी संपूर्ण शक्ति से परम उत्साहपूर्वक धर्मसुधार के अभीष्ट कार्य की पूर्ति में जुट गया। फ़ैरेल के सहयोग से उसने धार्मिक विश्वासों और सिद्धांतों का विवरण तैयार किया और उनको मानना तथा उनके अनुसार आचरण करना नगर के सभी निवासियों के लिये अनिवार्य कर दिया। जिनीवा के नागरिकों ने इस धर्मव्यवस्था तथा नगरशासन के नियमों के पक्ष में अपनी स्वीकृति दी। नियमों का बंधन सभी कार्यों, व्यक्तियों और संस्थाओं पर समान रूप से लागू था। नियमों के कड़ाई से पालन पर आरंभ से ही कालविन ने ध्यान दिया और नियमों में चूक करनेवालों के लिये उसने कठोर दंड की व्यवस्था की। उसका कड़ा अनुशासन जिनीवा वासियों को सह्य न हो सका, उन्होंने उसका संगठित विरोध किया और दो वर्ष के अंदर ही, १५३८ में, उसको और फ़ैरेल को नगर छोड़ने के लिये बाध्य किया। कालविन स्ट्रासबर्ग चला गया और वहाँ के एक धर्मसमुदाय में धर्माचार्य का कार्य करने लगा, पर जिनीवा पर उसकी दृष्टि सदा लगी रही। वह पत्रों द्वारा वहाँ के निवासियों को निरंतर प्रोत्साहित करता रहा। कालविन के विरोधी नगर की स्थिति को न सँभाल सके। वहाँ अव्यवस्था बढ़ती गई। नगरवासियों ने यह अनुभव किया कि शासनहीनता की अपेक्षा कठोर शासन अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने कालविन को जिनीवा लौट आने और नेतृत्व सँभालने का निमंत्रण दिया। १५४१ के सितंबर में वह पुनः जिनीवा आ गया और शीघ्र ही नगर के आध्यात्मिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। स्ट्रासबर्ग में कालविन ने एक विधवा से विवाह किया। १५४२ में उसको एक पुत्र हुआ पर वह कुछ दिनों ही जीवित रहा। कालविन की पत्नी आदर्श गृहिणी थी। १५४९ में उसकी भी मृत्यु हो गई। जीवन के अंतिम क्षण तक वह जिनीवा में ही रहा।

कालविन के मत से आरंभ के ३०० वर्षो का पवित्र ईसाई धर्म ही सच्चा ईसाई धर्म था। उसकी पुनः प्रतिष्ठा और उसके अनुसार सबका आचरण उसको अभीष्ट था। वह चाहता था कि व्यक्ति का जीवन पूर्णतः संयमित, पवित्र और नैतिक आदर्शो से प्रभावित हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्र की रचना, उसके अनुसार जीवन की व्यवस्था और जिनीवा को अपनी उदात्त कल्पना के अनुकूल आदर्श नगर का रूप देने में उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। अपने सादे, पवित्र और अनुशासित जीवन, लेखों और उपदेशों द्वारा कालविन ने जनजीवन को प्रभावित किया। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, फ्रांस, नेदरलैंड, पोलैंड आदि के सुधारवादियों से पत्रव्यवहार द्वारा उसका संपर्क था। धर्मोपदेशों की शिक्षा के लिये उसने जिनीवा में एक विद्यालय स्थापित किया और नगर में कई पाठशालाएँ खोलीं जहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। १५५९ में उसने जिनीवा में ही विश्वविद्यालय की स्थापना की जो शीघ्र ही धर्मसुधार आंदोलन का एक प्रमुख केंद्र बन गया। विदेशों से अनेक विद्यार्थी

फीते पर के समय के लेखे को सुरक्षित रखना और बाद में प्रयोग करना कठिन होता है। कभी कभी एक के स्थान पर दो लेखनियों का उपयोग किया जाता है, एक सेकंड अंकित करने के लिये और दूसरी घटना का समय। इसमें दोष यह होता है कि प्रत्येक लेखनी के किनारे हटने में भिन्न भिन्न समय लग सकता है और इस कारण नापे हुए समय में थोड़ी त्रुटि पड़ सकती है। यदि भिन्न भिन्न यंत्रों द्वारा प्राप्त घटनाओं का समय ज्ञात करना है तो दो से अधिक लेखनियों का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक लेखनी का विद्युच्चुंबक एक भिन्न यंत्र द्वारा चालित होता है।

आजकल ऐसे भी कालालिख बने हैं जिनमें मिनट, सेकंड और सेकंड के शतांश के चिह्न एक घूमते हुए चक्र द्वारा, जिसमें छापे के टाइप लगे रहते हैं, कागज पर छाप दिए जाते हैं। छापनेवाला चक्र एक नियंत्रक द्वारा समान वेग से घूमता है और घड़ी द्वारा इस वेग पर नियंत्रण रखा जाता है। घटना के समय को अंकित करने के लिये छोटी हथौड़ी रहती है जो बटन दबाने पर शीघ्रता से कागज पर चोट मारकर हट जाती है। इससे वह अंक, जो उस क्षण हथौड़ी के संमुख रहता है, कागज पर छप जाता है। इस प्रकार घटना का समय बिना किसी नाप के ज्ञात हो जाता है, परंतु लेखनी या हथौड़ी ने चिह्नों को अंकित करने में कुछ समय लगता है और नाप में कुछ त्रुटि की संभावना रहती है। अतः बहुत सूक्ष्म नापों के लिये ऐसे कालालिख बनाए गए हैं जिनमें विद्युत्स्फुल्लिंग द्वारा घटनाक्रम अंकित किया जाता है।

गति-कालालिख---बंदूक या तोप की गोली की गति नापने के लिये दो पर्दे रखे जाते हैं। गोली के एक पर्दे से दूसरे पर्दे तक पहुँचने के समय को नापकर गोली की गति निम्नलिखित सूत्र से जानी जा सकती है:

$$\text{गति} = \frac{\text{पर्दों के बीच की दूरी}}{\text{समय}}$$

। पर्दों के बीच की दूरी नापने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती, परंतु समय की नाप बड़ी सूक्ष्मता से होनी चाहिए। यदि गति २,००० फुट प्रति सेकंड हो तो १०० फुट दूरी पार करने में गोली को कुल १/२० सेकंड लगता है। यदि हम चाहें कि गति की गणना में एक फुट प्रति सेकंड से अधिक अंतर न पड़े तो दूरी की नाप में $\frac{1}{2}$ इंच से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए और समय की नाप में १/४०,००० सेकंड से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए।

भिन्न भिन्न प्रकार के पर्दों का उपयोग होता है। एक प्रकार का पर्दा दो विद्युच्चालक पत्रों के बीच पृथक्कारी रखकर बनाया जाता है। जब गोली पर्दे को छेदती है तो दोनों चालक पत्रों में गोली द्वारा संपर्क हो जाता है और उस क्षण विद्युत्संकेत चल पड़ता है। ये पर्दे बार बार प्रयुक्त किए जा सकते हैं, पर इनमें असुविधा यह रहती है कि पर्दे में घुसने से गोली की गति में अंतर पड़ जाता है।

दूसरे प्रकार के पर्दों में विद्युच्चुंबकीय प्रेरण का प्रयोग किया जाता है। पर्दे के स्थान पर बिजली के तार के वृत्त लगे रहते हैं। गोली साधारण गोली न होकर चुंबकित गोली होती है। जब यह गोली तार के वृत्त में से होकर जाती है तो तार में विद्युत् उत्पन्न होती है जिससे संकेत मिल जाता है।

प्रकाश-वैद्युत पर्दों का भी प्रयोग किया जाता है। टेलिफ़ोटो लेंस (लेंज) द्वारा गोली (और पृष्ठ भाग में आकाश) का चित्र एक प्रकाश-वैद्युत सेल पर डालते हैं। जब लेंस के सामने से गोली जाती रहती है तो प्रकाश के कम हो जाने से सेल में विद्युद्धारा भी कम हो जाती है। ज्यों ही गोली का पिछला भाग पार होता है प्रकाश फिर बढ़ जाता है और साथ ही विद्युद्धारा भी। एकाएक बढ़ती हुई इस विद्युद्धारा से संकेत भेजा जा सकता है।

गोली का वेग नापने के लिये कागज लपेटे ढोल का प्रयोग भी किया जा सकता है। साधारणतः ढोल प्रति सेकंड ६० चक्कर लगाता है। गोली पर्दे को जब पार करती है तब उस समय के संकेत द्वारा उत्पन्न स्फुल्लिंग कागज को अंकित कर देता है। एक दूसरे प्रकार के कालालिख में ढोल पर साधारण कागज न लगाकर फोटोग्राफी का कागज लगाते हैं। ढोल अँधेरे बक्स में घूमता है और साथ ही धीरे धीरे एक किनारे हटता जाता है। दोलनलेखी धारामापी के दर्पण से परावर्तित प्रकाशकिरण एक छिद्र में से जाकर फ़ोटो के कागज पर रेखा खींचती जाती है। जब पर्दे से संकेत आता है तो धारामापी का दर्पण घूम जाता है और परावर्तित प्रकाशकिरण छिद्र का सीध में नहीं रहती। प्रकाश न पहुँचने से रेखा उस स्थान पर कटी सी जान पड़ती है। एक दूसरे धारामापी द्वारा प्रति १/१००० सेकंड एक चिह्न इस रेखा पर बनता जाता है; इससे नापने में सुविधा होती है।

दूसरे महायुद्ध में समय नापने के लिये रेडियो वाल्वों के परिपथों का भी प्रयोग हुआ। इन यंत्रों में तीन भाग होते हैं। पहले भाग में एक दोलक होता है जिससे प्रति १/१,००,०००वें सेकंड पर विद्युत्स्पंदन भेजा जाता है। दूसरे भाग में यंत्र को चलाने और बंद करने का प्रबंध रहता है। पहले पर्दे से संकेत आने पर यंत्र अपने आप चलने लगता है और दूसरे पर्दे से संकेत आने पर यंत्र स्वतः बंद हो जाता है। तीसरे भाग में विद्युत्स्पंदों को गिनने का प्रबंध रहता है। इनकी गिनती से पता चल जाता है कि दोनों संकेतों के बीच कितना समय बीता। (चं० प्र०)

कालविन, जान (१५०९-१५६४) धर्माचार्य और सुधारक। कालविन का जन्म फ्रांस के उत्तरी भाग में स्थित पिकार्डी प्रांत के नोयों नगर में १० जुलाई, १५०९ को हुआ। छोटी उम्र में ही उसके संयमित आचरण और धर्ममय जीवन को देखकर उसके पिता जरार शोविन ने अपने पुत्र को पौरोहित्य की शिक्षा दिलाना निश्चित किया। नगर के एक कुलीन मित्र परिवार में कालविन ने धर्मशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया। अपनी अद्भुत योग्यता के कारण १२ वर्ष की अवस्था में ही नगर के गिरजाघर में उसने चैपलेन का पद प्राप्त कर लिया। १५२३ के अगस्त मास में वह देश की राजधानी पेरिस गया और चैपलेन के पद से मिलनेवाली आय से लगभग पाँच वर्षों तक मार्शे और मोंतांघ के महाविद्यालयों में उसने धर्मशास्त्र का नियमित रूप से अध्ययन किया। वहाँ साथियों से विचार विनिमय में उसने अपनी प्रखर बुद्धि और तर्कशक्ति का अच्छा परिचय दिया। सितंबर, १५२७ में नोयों के एक गिरजाघर में पुरोहित के सहायक के पद पर उनकी नियुक्ति हो गई।

पेरिस में अपने ही नगर के एक पुराने साथी पीयर रावर्ट से, जो आगे चलकर ओलिवेतन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कालविन का घनिष्ठ संपर्क रहा। रावर्ट धर्म के मामले में सुधारवादी था। उसके विचारों का कालविन पर प्रभाव पड़ा। उसकी प्रेरणा से कालविन ने बाइबिल का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया जिसने प्रचलित धर्मव्यवस्था के संबंध में उसके मन में शंकाएँ उत्पन्न कर दीं। शीघ्र ही कालविन ने रोम की पूजा-पद्धति के बारे में प्रतिकूल विचार व्यक्त किए। नोयों के गिरजाघर का धर्माधिकारी कालविन के धर्मविरोधी विचारों से सहमत नहीं हो सकता था। कालविन को अपने पद पर बने रहना कठिन प्रतीत हुआ। इन्हीं दिनों उसके पिता का यह विचार हुआ कि धर्मशास्त्र की अपेक्षा कानून का अध्ययन उसके लिये अधिक लाभदायक होगा। पिता के विचार का कालविन ने स्वागत किया। कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये मार्च, १५२८ में वह ऑर्लेआँ के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। कानून के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों, विशेषकर प्राचीन साहित्य, का उसने अध्ययन किया। थोड़े ही समय में अपने पांडित्य का उसने ऐसा परिचय दिया कि उससे कभी कभी शिक्षक का कार्य भी लिया जाने लगा। ऑर्लेआँ से कालविन बूर्जे के विश्वविद्यालय में गया जहाँ उसने यूनानी भाषा और बाइबिल के नवीन टेस्टामेंट के मूल पाठ का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने रोम की धर्मव्यवस्था के विरुद्ध उसके विचारों को और पुष्ट कर दिया। १५३१ में पिता की मृत्यु के कारण उसको बूर्जे छोड़ना पड़ा। वह कुछ समय पेरिस में रहा और इब्रानी भाषा का अध्ययन किया। घर की व्यवस्था के कार्य से उसको नोयों भी जाना पड़ा। १५३२ के अंत तक वह वहीं रहा। इस वर्ष ही प्राचीन रोम के एक प्रसिद्ध लेखक सेनेका की कृति क्लेमेंशिया की उसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लातीनी में प्रकाशित हुई। १५३३ के आरंभ में कालविन दूसरी बार ऑर्लेआँ गया। अगस्त में वह नोयों लौट आया और दो मास ही वहाँ रहा। अक्टूबर में वह पुनः पेरिस चला आया और वहीं रहने लगा। प्रचलित धर्मव्यवस्था के खंडन और

नई धर्मव्यवस्था के प्रतिपादन और व्यवहार के संबंध में उसके विचार अब तक काफी परिपक्व हो चुके थे। उसकी यह निश्चित धारणा हो गई कि उसको अपना संपूर्ण जीवन विशुद्ध ईसाई धर्म की शिक्षा और प्रसार मे लगाना चाहिए। उसने इस पवित्र कार्य को दैवी प्रेरणा और आदेश माना। उसने कैथोलिक धर्म का परित्याग किया और प्रोटेस्टेट मत ग्रहण कर लिया। अपने मत के धार्मिक प्रवचनो के रूप में उसने एक पुस्तक भी उसी वर्ष प्रकाशित की। इस बीच कालविन के एक मित्र विश्वविद्यालय के रेक्टर निकोलस कोप ने एक पवित्र दिवस पर पेरिस के एक गिरजाघर मे सुधारवादी मत के समर्थन मे व्याख्यान दिया। कालविन उसके विचारो से अत्यंत प्रभावित हुआ। रोम के चर्च और उसमें आस्था के विरुद्ध उसने प्रकाश्य रूप से अपने विचार पेरिस मे कई स्थानों पर व्यक्त किए। कोप और कालविन दोनों पर धर्मविरोधी प्रचार का अपराध आरोपित हुआ। दोनो ही पेरिस से अन्यत्र चले गए। कालविन कुछ समय नोयो में रहा। अभियोग उठा लिए जाने की सूचना मिलने पर वह फिर पेरिस लौट आया। उसके कार्यो पर राज्य और धर्म विभाग के अधिकारियों की सजग दृष्टि लगी रही। पेरिस में रहना उसके लिये कठिन हो गया। १५३४ के आरंभ मे छद्म नाम से वह अंगुलेम गया और वहाँ के गिरजाघर के पुस्तकालय मे धर्मग्रंथों का मननपूर्वक अध्ययन किया। वह प्वातू और सेंटोन भी गया और सभी स्थानो पर उसने धर्म-सुधार के विचारों का प्रचार किया। इस बीच फ्रांस के राजा फ्रांसिस की बहन नेवार की रानी मारगरेत ने कालविन को आश्रय दिया। सुधारवादी मत के प्रति उसकी सहानुभूति थी और उसका निवासस्थान सुधार के समर्थकों का आश्रयस्थल बना हुआ था। कालविन मई मास मे फिर पेरिस आया। वह गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय तक उसे कारागार में भी रहना पड़ा। सुधारवादियों के प्रति फ्रांसिस के बढते हुए अत्याचार को देखकर कालविन ने फ्रांस त्याग देना ही उचित समझा। उसने अपने सभी पदों को छोड़ दिया और २५ वर्ष की आयु में अपने पितृदेश फ्रांस से विदा लेकर वह १५३४ में स्विटजरलैंड के बाल नगर चला गया। एक वर्ष पूर्व पेरिस से भागकर उसका सुधारवादी मित्र कोप भी इस नगर में ही गया था।

फ्रांस में राजतंत्र द्वारा सुधारवादियों के दमन से कालविन बहुत क्षुब्ध था। उनके संबंध में राजा की इस धारणा से कि ये केवल धर्मसुधार नहीं चाहते, राज्य के विरोधी हैं, कानून और संपत्ति के शत्रु है, संघर्ष करानेवाले तथा पथभ्रष्ट है—वह सहमत नही था। धर्मसुधार के समर्थक जर्मनी के कुछ मित्र राजाओं की इस शिकायत पर कि फ्रांस में सुधारवादियो पर अत्याचार होता है, फ्रांसिस ने उनके संबंध में यह मत व्यक्त किया था। उन्हें इस लांछन से मुक्त करने और धर्मसुधार के समर्थन में कालविन ने विशुद्ध ईसाई धर्म पर एक पांडित्यपूर्ण पुस्तक 'इंस्टीटयूट ऑव क्रिश्चियन रिलिजन' लातीनी भाषा में लिखी। पुस्तक का अधिकांश अंगुलेम के प्रवासकाल में १५३४ में लिखा गया था। १५३५ में यह पुस्तक बाल नगर से लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुई। अगले वर्ष कालविन ने अपने नाम से पुस्तक प्रकाशित कराई और उसमें एक प्रस्तावना भी जोड़ दी। १५४० में कालविन ने फ्रेंच भाषा में भी पुस्तक का संस्करण निकाला। उसने यह पुस्तक फ्रांस के राजा को समर्पित की। उसको आशा थी कि फ्रांसिस पुस्तक में व्यक्त विचारों से प्रभावित होगा और सुधारवादियों के मत को अपना लेगा। कालविन की यह आशा तो पूरी नही हुई पर उसकी पुस्तक का धर्मसुधार के कार्यो पर आशातीत प्रभाव पड़ा। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक शताब्दी से ऊपर तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। २५-२६ वर्ष की आयु में लिखी गई ऐतिहासिक तथ्यों और अकाट्य तर्को से परिपूर्ण यह पुस्तक भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट, प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रसार और स्थायित्व में अत्यंत सहायक हुई। इसने कालविन के विचारों को यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में पहुँचा दिया।

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद कालविन इटली गया। वहाँ धर्मसुधार के कार्य में कुछ प्रगति हो चुकी थी। फ़ेरारा की डचेज रेनी ने उसका संमानपूर्ण सत्कार किया। इटली से वह पेरिस गया। वहाँ उसने अपनी पैतृक जायदाद बेच दी और स्विटज़रलैंड मे बसने के विचार से वह शीघ्र ही पेरिस से चल दिया। उसको उस देश के प्रसिद्ध नगर जिनीवा होकर जाना पड़ा। फ्रांस के सुधारवादी विलियम फ़ैरेल और विरैट के प्रयत्नों से उस नगर ने प्रोटेस्टैंट धर्म अपना लिया था पर उसकी नीव पक्की नहीं हुई थी। विरैट जिनीवा से चला गया था। फ़ैरेल ने कालविन से विरैट का स्थान लेने और वही रहकर धर्मसुधार के पवित्र कार्य में उसकी सहायता करने का अनुरोध किया। जिनीवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की कालविन की इच्छा न थी किंतु इस सुस्पष्ट कर्तव्य की उपेक्षा के कारण उसपर दैवी प्रकोप के आघात की बात जब फ़ैरेल ने कही तब कालविन ने अन्यत्र बसने का विचार त्याग दिया। वह कुछ दिनो के लिये बाल नगर गया, पर सितंबर, १५३६ में जिनीवा वापस आ गया और उस नगर को अपने कार्यो का केंद्र बना लिया। उस समय से वह फ्रांसीसी प्रोटेस्टैंटों का प्रमुख पथप्रदर्शक और परामर्शदाता बन गया। उसका इतना अधिक प्रभाव उनपर पड़ा कि १६वी शताब्दी के मध्य तक वे कालविनवादी कहे जाने लगे।

कालविन अब अपनी संपूर्ण शक्ति से परम उत्साहपूर्वक धर्मसुधार के अभीष्ट कार्य की पूर्ति मे जुट गया। फ़ैरेल के सहयोग से उसने धार्मिक विश्वासो और सिद्धातो का विवरण तैयार किया और उनको मानना तथा उनके अनुसार आचरण करना नगर के सभी निवासियो के लिये अनिवार्य कर दिया। जिनीवा के नागरिको ने इस धर्मव्यवस्था तथा नगरशासन के नियमो के पक्ष मे अपनी स्वीकृति दी। नियमो का बंधन सभी कार्यो, व्यक्तियों और संस्थाओं पर समान रूप से लागू था। नियमो के कड़ाई से पालन पर आरंभ से ही कालविन ने ध्यान दिया और नियमो में चूक करनेवालों के लिये उसने कठोर दंड की व्यवस्था की। उसका कड़ा अनुशासन जिनीवा वासियों को सह्य न हो सका, उन्होने उसका संगठित विरोध किया और दो वर्ष के अंदर ही, १५३८ में, उसको और फ़ैरेल को नगर छोड़ने के लिये बाध्य किया। कालविन स्ट्रासबर्ग चला गया और वहाँ के एक धर्मसमुदाय में धर्माचार्य का कार्य करने लगा, पर जिनीवा पर उसकी दृष्टि सदा लगी रही। वह पत्रों द्वारा वहाँ के निवासियों को निरंतर प्रोत्साहित करता रहा। कालविन के विरोधी नगर की स्थिति को न सँभाल सके। वहाँ अव्यवस्था बढ़ती गई। नगरवासियों ने यह अनुभव किया कि शासनहीनता की अपेक्षा कठोर शासन अधिक श्रेयरकर है। उन्होने कालविन को जिनीवा लौट आने और नेतृत्व सँभालने का निमंत्रण दिया। १५४१ के सितंबर में वह पुनः जिनीवा आ गया और शीघ्र ही नगर के आध्यात्मिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। स्ट्रासबर्ग में कालविन ने एक विधवा से विवाह किया। १५४२ में उसको एक पुत्र हुआ पर वह कुछ दिनो ही जीवित रहा। कालविन की पत्नी आदर्श गृहिणी थी। १५४९ में उसकी भी मृत्यु हो गई। जीवन के अंतिम क्षण तक वह जिनीवा में ही रहा।

कालविन के मत से आरंभ के ३०० वर्षो का पवित्र ईसाई धर्म ही सच्चा ईसाई धर्म था। उसकी पुनः प्रतिष्ठा और उसके अनुसार सबका आचरण उसको अभीष्ट था। वह चाहता था कि व्यक्ति का जीवन पूर्णतः संयमित, पवित्र और नैतिक आदर्शो से प्रभावित हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्र की रचना, उसके अनुसार जीवन की व्यवस्था और जिनीवा को अपनी उदात्त कल्पना के अनुकूल आदर्श नगर का रूप देने मे उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। अपने सादे, पवित्र और अनुशासित जीवन, लेखों और उपदेशों द्वारा कालविन ने जनजीवन को प्रभावित किया। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, फ्रांस, नेदरलैंड, पोलैंड आदि के सुधारवादियों से पत्रव्यवहार द्वारा उसका संपर्क था। धर्मोपदेशों की शिक्षा के लिये उसने जिनीवा में एक विद्यालय स्थापित किया और नगर में कई पाठशालाएँ खोली जहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। १५५९ में उसने जिनीवा में ही विश्वविद्यालय की स्थापना की जो शीघ्र ही धर्मसुधार आंदोलन का एक प्रमुख केंद्र बन गया। विदेशों से अनेक विद्यार्थी

फीते पर के समय के लेखे को सुरक्षित रखना और बाद में प्रयोग करना कठिन होता है। कभी कभी एक के स्थान पर दो लेखनियों का उपयोग किया जाता है, एक सेकंड अंकित करने के लिये और दूसरी घटना का समय। इसमें दोष यह होता है कि प्रत्येक लेखनी के किनारे हटने से भिन्न भिन्न समय लग सकता है और इस कारण नापे हुए समय में थोड़ी त्रुटि पड़ सकती है। यदि भिन्न भिन्न यंत्रों द्वारा प्राप्त घटनाओं का समय ज्ञात करना है तो दो से अधिक लेखनियों का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक लेखनी का विद्युच्चुंबक एक भिन्न यंत्र द्वारा चालित होता है।

आजकल ऐसे भी काललिख बने हैं जिनमें मिनट, सेकंड और सेकंड के शतांश के चिह्न एक घूमते हुए चक्र द्वारा, जिसमें छापे के टाइप लगे रहते हैं, कागज पर छाप दिए जाते हैं। छापनेवाला चक्र एक नियंत्रक द्वारा समान वेग से घूमता है और घड़ी द्वारा इस वेग पर नियंत्रण रखा जाता है। घटना के समय को अंकित करने के लिये छोटी हथौड़ी रहती है जो बटन दबाने पर शीघ्रता से कागज पर चोट मारकर हट जाती है। इससे वह अंक, जो उस क्षण हथौड़ी के संमुख रहता है, कागज पर छप जाता है। इस प्रकार घटना का समय बिना किसी नाप के ज्ञात हो जाता है, परंतु लेखनी या हथौड़ी से चिह्नों को अंकित करने में कुछ समय लगता है और नाप में कुछ त्रुटि की संभावना रहती है। अतः बहुत सूक्ष्म नापों के लिये ऐसे काललिख बनाए गए हैं जिनमें विद्युत्स्फुल्लिंग द्वारा घटनाक्रम अंकित किया जाता है।

गति-काललिख—बंदूक या तोप की गोली की गति नापने के लिये दो पर्दे रखे जाते हैं। गोली के एक पर्दे से दूसरे पर्दे तक पहुँचने के समय को नापकर गोली की गति निम्नलिखित सूत्र से जानी जा सकती है:

$$\text{गति} = \frac{\text{पर्दों के बीच की दूरी}}{\text{समय}}$$

। पर्दों के बीच की दूरी नापने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती, परंतु समय की नाप बड़ी सूक्ष्मता से होनी चाहिए। यदि गति २,००० फुट प्रति सेकंड हो तो १०० फुट दूरी पार करने में गोली को कुल १/२० सेकंड लगता है। यदि हम चाहें कि गति की गणना में एक फुट प्रति सेकंड से अधिक अंतर न पड़े तो दूरी की नाप में $\frac{?}{?}$ इंच से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए और समय की नाप में १/४०,००० सेकंड से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए।

भिन्न भिन्न प्रकार के पर्दों का उपयोग होता है। एक प्रकार का पर्दा दो विद्युच्चालक पत्रों के बीच पृथक्कारी रखकर बनाया जाता है। जब गोली पर्दे को छेदती है तो दोनों चालक पर्दों में गोली द्वारा संपर्क हो जाता है और उस क्षण विद्युत्संकेत चल पड़ता है। ये पर्दे बार बार प्रयुक्त किए जा सकते हैं, पर इनमें असुविधा यह रहती है कि पर्दे में घुसने से गोली की गति में अंतर पड़ जाता है।

दूसरे प्रकार के पर्दों में विद्युच्चुंबकीय प्रेरण का प्रयोग किया जाता है। पर्दे के स्थान पर बिजली के तार के वृत्त लगे रहते हैं। गोली साधारण गोली न होकर चुंबकित गोली होती है। जब यह गोली तार के वृत्त में से होकर जाती है तो तार में विद्युत् उत्पन्न होती है जिससे संकेत मिल जाता है।

प्रकाश-वैद्युत पर्दों का भी प्रयोग किया जाता है। टेलिफ़ोटो लेंस (लेंज) द्वारा गोली (और पृष्ठ भाग में आकाश) का चित्र एक प्रकाश-वैद्युत सेल पर डालते हैं। जब लेंस के सामने से गोली जाती रहती है तो प्रकाश के कम हो जाने से सेल में विद्युद्धारा भी कम हो जाती है। ज्यों ही गोली का पिछला भाग पार होता है प्रकाश फिर बढ़ जाता है और साथ ही विद्युद्धारा भी। एकाएक बढ़ती हुई इस विद्युद्धारा से संकेत भेजा जा सकता है।

गोली का वेग नापने के लिये कागज लपेटे ढोल का प्रयोग भी किया जा सकता है। साधारणतः ढोल प्रति सेकंड ६० चक्कर लगाता है। गोली पर्दे को जब पार करती है तब उस समय के संकेत द्वारा उत्पन्न स्फुल्लिंग कागज को अंकित कर देता है। एक दूसरे प्रकार के काललिख में ढोल पर साधारण कागज न लगाकर फोटोग्राफी का कागज लगाते हैं। ढोल अँधेरे बक्स में घूमता है और साथ ही धीरे धीरे एक किनारे हटता जाता है। दोलनलेखी धारामापी के दर्पण से परावर्तित प्रकाशकिरण एक छिद्र में से जाकर फोटो के कागज पर रेखा खींचती जाती है। जब पर्दे से संकेत आता है तो धारामापी का दर्पण घूम जाता है और परावर्तित प्रकाशकिरण छिद्र की सीध में नहीं रहती। प्रकाश न पहुँचने से रेखा उस स्थान पर कटी सी जान पड़ती है। एक दूसरे धारामापी द्वारा प्रति १/१००० सेकंड एक चिह्न इस रेखा पर बनता जाता है; इससे नापने में सुविधा होती है।

दूसरे महायुद्ध में समय नापने के लिये रेडियो वाल्वों के परिपथों का भी प्रयोग हुआ। इन यंत्रों में तीन भाग होते हैं। पहले भाग में एक दोलक होता है जिससे प्रति १/१,००,०००वें सेकंड पर विद्युत्स्पंदन भेजा जाता है। दूसरे भाग में यंत्र को चलाने और बंद करने का प्रबंध रहता है। पहले पर्दे से संकेत आने पर यंत्र अपने आप चलने लगता है और दूसरे पर्दे से संकेत आने पर यंत्र स्वतः बंद हो जाता है। तीसरे भाग में विद्युत्स्पंदों को गिनने का प्रबंध रहता है। इनकी गिनती से पता चल जाता है कि दोनों संकेतों के बीच कितना समय बीता। (चं० प्र०)

कालविन, जान (१५०९–१५६४) धर्माचार्य और सुधारक। कालविन का जन्म फ्रांस के उत्तरी भाग में स्थित पिकार्दी प्रांत के नोयों नगर में १० जुलाई, १५०९ को हुआ। छोटी उम्र में ही उसके संयमित आचरण और धर्ममय जीवन को देखकर उसके पिता जरार शोविन ने अपने पुत्र को पौरोहित्य की शिक्षा दिलाना निश्चित किया। नगर के एक कुलीन मित्र परिवार में कालविन ने धर्मशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया। अपनी अद्भुत योग्यता के कारण १२ वर्ष की अवस्था में ही नगर के गिरजाघर में उसने चैपलेन का पद प्राप्त कर लिया। १५२३ के अगस्त मास में वह देश की राजधानी पेरिस गया और चैपलेन के पद से मिलनेवाली आय से लगभग पाँच वर्षों तक मार्शे और मोंताग के महाविद्यालयों में उसने धर्मशास्त्र का नियमित रूप से अध्ययन किया। वहाँ साथियों से विचार विनिमय में उसने अपनी प्रखर बुद्धि और तर्कशक्ति का अच्छा परिचय दिया। सितंबर, १५२७ में नोयों के एक गिरजाघर में पुरोहित के सहायक के पद पर उसकी नियुक्ति हो गई।

पेरिस में अपने ही नगर के एक पुराने साथी पीयर राबर्ट से, जो आगे चलकर ओलिवेतन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कालविन का घनिष्ठ संपर्क रहा। राबर्ट धर्म के मामले में सुधारवादी था। उसके विचारों का कालविन पर प्रभाव पड़ा। उसकी प्रेरणा से कालविन ने बाइबिल का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया जिसने प्रचलित धर्मव्यवस्था के संबंध में उसके मन में शंकाएँ उत्पन्न कर दीं। शीघ्र ही कालविन ने रोम की पूजा-पद्धति के बारे में प्रतिकूल विचार व्यक्त किए। नोयों के गिरजाघर का धर्माधिकारी कालविन के धर्मविरोधी विचारों से सहमत नहीं हो सकता था। कालविन को अपने पद पर बने रहना कठिन प्रतीत हुआ। इन्हीं दिनों उसके पिता का यह विचार हुआ कि धर्मशास्त्र की अपेक्षा कानून का अध्ययन उसके लिये अधिक लाभदायक होगा। पिता के विचार का कालविन ने स्वागत किया। कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये मार्च, १५२८ में वह ओर्लेआँ के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। कानून के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों, विशेषकर प्राचीन साहित्य, का उसने अध्ययन किया। थोड़े ही समय में अपने पांडित्य का उसने ऐसा परिचय दिया कि उससे कभी कभी शिक्षक का कार्य भी लिया जाने लगा। ओर्लेआँ से कालविन बूर्जे के विश्वविद्यालय में गया जहाँ उसने यूनानी भाषा और बाइबिल के नवीन टेस्टामेंट के मूल पाठ का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने रोम की धर्मव्यवस्था के विरुद्ध उसके विचारों को और पुष्ट कर दिया। १५३१ में पिता की मृत्यु के कारण उसको बूर्जे छोड़ना पड़ा। वह कुछ समय पेरिस में रहा और इब्रानी भाषा का अध्ययन किया। घर की व्यवस्था के कार्य से उसको नोयों भी जाना पड़ा। १५३२ के अंत तक वह वहीं रहा। इस वर्ष ही प्राचीन रोम के एक प्रसिद्ध लेखक सेनेका की कृति क्लेमेंशिया की उसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लातीनी में प्रकाशित हुई। १५३३ के आरंभ में कालविन दूसरी बार ओर्लेआँ गया। अगस्त में वह नोयों लौट आया और दो मास ही वहाँ रहा। अक्टूबर में वह पुनः पेरिस चला आया और वहीं रहने लगा। प्रचलित धर्मव्यवस्था के खंडन और

नई धर्मव्यवस्था के प्रतिपादन और व्यवहार के संबंध में उसके विचार अब तक काफी परिपक्व हो चुके थे। उसकी यह निश्चित धारणा हो गई कि उसको अपना संपूर्ण जीवन विशुद्ध ईसाई धर्म की शिक्षा और प्रसार में लगाना चाहिए। उसने इस पवित्र कार्य को दैवी प्रेरणा और आदेश माना। उसने कैथोलिक धर्म का परित्याग किया और प्रोटेस्टेंट मत ग्रहण कर लिया। अपने मत के धार्मिक प्रवचनों के रूप में उसने एक पुस्तक भी उसी वर्ष प्रकाशित की। इस बीच कालविन के एक मित्र विश्वविद्यालय के रेक्टर निकोलस कोप ने एक पवित्र दिवस पर पेरिस के एक गिरजाघर में सुधारवादी मत के समर्थन में व्याख्यान दिया। कालविन उसके विचारों से अत्यंत प्रभावित हुआ। रोम के चर्च और उसमें आस्था के विरुद्ध उसने प्रकाश्य रूप से अपने विचार पेरिस में कई स्थानों पर व्यक्त किए। कोप और कालविन दोनों पर धर्मविरोधी प्रचार का अपराध आरोपित हुआ। दोनों ही पेरिस से अन्यत्र चले गए। कालविन कुछ समय नोयों में रहा। अभियोग उठा लिए जाने की सूचना मिलने पर वह फिर पेरिस लौट आया। उसके कार्यों पर राज्य और धर्म विभाग के अधिकारियों की सजग दृष्टि लगी रही। पेरिस में रहना उसके लिये कठिन हो गया। १५३४ के आरंभ में छद्म नाम से वह अंगुलेम गया और वहाँ के गिरजाघर के पुस्तकालय में धर्मग्रंथों का मननपूर्वक अध्ययन किया। वह प्वातू और सेंटोन भी गया और सभी स्थानों पर उसने धर्मसुधार के विचारों का प्रचार किया। इस बीच फ्रांस के राजा फ्रांसिस की बहन नेवार की रानी मारगरेत ने कालविन को आश्रय दिया। सुधारवादी मत के प्रति उसकी सहानुभूति थी और उसका निवासस्थान सुधार के समर्थकों का आश्रयस्थल बना हुआ था। कालविन मई मास में फिर पेरिस आया। वह गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय तक उसे कारागार में भी रहना पड़ा। सुधारवादियों के प्रति फ्रांसिस के बढ़ते हुए अत्याचार को देखकर कालविन ने फ्रांस त्याग देना ही उचित समझा। उसने अपने सभी पदों को छोड़ दिया और २५ वर्ष की आयु में अपने पितृदेश फ्रांस से विदा लेकर वह १५३४ में स्विटज़रलैंड के बाल नगर चला गया। एक वर्ष पूर्व पेरिस से भागकर उसका सुधारवादी मित्र कोप भी इस नगर में ही गया था।

फ्रांस में राजतंत्र द्वारा सुधारवादियों के दमन से कालविन बहुत क्षुब्ध था। उनके संबंध में राजा की इस धारणा से कि ये केवल धर्मसुधार नहीं चाहते, राज्य के विरोधी हैं, कानून और संपत्ति के शत्रु हैं, संघर्ष करानेवाले तथा पथभ्रष्ट हैं—वह सहमत नहीं था। धर्मसुधार के समर्थक जर्मनी के कुछ मित्र राजाओं की इस शिकायत पर कि फ्रांस में सुधारवादियों पर अत्याचार होता है, फ्रांसिस ने उनके संबंध में यह मत व्यक्त किया था। उन्हें इस लांछन से मुक्त करने और धर्मसुधार के समर्थन में कालविन ने विशुद्ध ईसाई धर्म पर एक पांडित्यपूर्ण पुस्तक 'इंस्टीट्यूट ऑव क्रिश्चियन रिलिजन' लातीनी भाषा में लिखी। पुस्तक का अधिकांश अंगुलेम के प्रवासकाल में १५३४ में लिखा गया था। १५३५ में यह पुस्तक बाल नगर से लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुई। अगले वर्ष कालविन ने अपने नाम से पुस्तक प्रकाशित कराई और उसमें एक प्रस्तावना भी जोड़ दी। १५४० में कालविन ने फ्रेंच भाषा में भी पुस्तक का संस्करण निकाला। उसने यह पुस्तक फ्रांस के राजा को समर्पित की। उसको आशा थी कि फ्रांसिस पुस्तक में व्यक्त विचारों से प्रभावित होगा और सुधारवादियों के मत को अपना लेगा। कालविन की यह आशा तो पूरी नहीं हुई पर उसकी पुस्तक का धर्मसुधार के कार्यों पर आशातीत प्रभाव पड़ा। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक शताब्दी से ऊपर तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। २५-२६ वर्ष की आयु में लिखी गई ऐतिहासिक तथ्यों और अकाट्य तर्कों से परिपूर्ण यह पुस्तक भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट, प्रोटेस्टैंट धर्म के प्रसार और स्थायित्व में अत्यंत सहायक हुई। इसने कालविन के विचारों को यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में पहुँचा दिया।

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद कालविन इटली गया। वहाँ धर्मसुधार के कार्य में कुछ प्रगति हो चुकी थी। फ़ेरारा की डचेज रेनी ने उसका संमानपूर्ण सत्कार किया। इटली से वह पेरिस गया। वहाँ उसने अपनी पैतृक जायदाद बेच दी और स्विटज़रलैंड में बसने के विचार से वह शीघ्र ही पेरिस से चल दिया। उसको उस देश के प्रसिद्ध नगर जिनीवा होकर जाना पड़ा। फ्रांस के सुधारवादी विलियम फ़ैरेल और विरैट के प्रयत्नों से उस नगर ने प्रोटेस्टैंट धर्म अपना लिया था पर उसकी नींव पक्की नहीं हुई थी। विरैट जिनीवा से चला गया था। फ़ैरेल ने कालविन से विरैट का स्थान लेने और वहीं रहकर धर्मसुधार के पवित्र कार्य में उसकी सहायता करने का अनुरोध किया। जिनीवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की कालविन की इच्छा न थी किंतु इस सुस्पष्ट कर्तव्य की उपेक्षा के कारण उसपर दैवी प्रकोप के आघात की बात जब फ़ैरेल ने कही तब कालविन ने अन्यत्र बसने का विचार त्याग दिया। वह कुछ दिनों के लिये बाल नगर गया, पर सितंबर, १५३६ में जिनीवा वापस आ गया और उस नगर को अपने कार्यों का केंद्र बना लिया। उस समय से वह फ्रांसीसी प्रोटेस्टैंटों का प्रमुख पथप्रदर्शक और परामर्शदाता बन गया। उसका इतना अधिक प्रभाव उनपर पड़ा कि १६वीं शताब्दी के मध्य तक वे कालविनवादी कहे जाने लगे।

कालविन अब अपनी संपूर्ण शक्ति से परम उत्साहपूर्वक धर्मसुधार के अभीष्ट कार्य की पूर्ति में जुट गया। फ़ैरेल के सहयोग से उसने धार्मिक विश्वासों और सिद्धांतों का विवरण तैयार किया और उनको मानना तथा उनके अनुसार आचरण करना नगर के सभी निवासियों के लिये अनिवार्य कर दिया। जिनीवा के नागरिकों ने इस धर्मव्यवस्था तथा नगरशासन के नियमों के पक्ष में अपनी स्वीकृति दी। नियमों का बंधन सभी कार्यों, व्यक्तियों और संस्थाओं पर समान रूप से लागू था। नियमों के कड़ाई से पालन पर आरंभ से ही कालविन ने ध्यान दिया और नियमों में चूक करनेवालों के लिये उसने कठोर दंड की व्यवस्था की। उसका कड़ा अनुशासन जिनीवा वासियों को सह्य न हो सका, उन्होंने उसका संगठित विरोध किया और दो वर्ष के अंदर ही, १५३८ में, उसको और फ़ैरेल को नगर छोड़ने के लिये बाध्य किया। कालविन स्ट्रासबर्ग चला गया और वहाँ के एक धर्मसमुदाय में धर्माचार्य का कार्य करने लगा, पर जिनीवा पर उसकी दृष्टि सदा लगी रही। वह पत्रों द्वारा वहाँ के निवासियों को निरंतर प्रोत्साहित करता रहा। कालविन के विरोधी नगर की स्थिति को न सँभाल सके। वहाँ अव्यवस्था बढ़ती गई। नगरवासियों ने यह अनुभव किया कि शासनहीनता की अपेक्षा कठोर शासन अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने कालविन को जिनीवा लौट आने और नेतृत्व सँभालने का निमंत्रण दिया। १५४१ के सितंबर में वह पुनः जिनीवा आ गया और शीघ्र ही नगर के आध्यात्मिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। स्ट्रासबर्ग में कालविन ने एक विधवा से विवाह किया। १५४२ में उसको एक पुत्र हुआ पर वह कुछ दिनों ही जीवित रहा। कालविन की पत्नी आदर्श गृहिणी थी। १५४९ में उसकी भी मृत्यु हो गई। जीवन के अंतिम क्षण तक वह जिनीवा में ही रहा।

कालविन के मत से आरंभ के ३०० वर्षों का पवित्र ईसाई धर्म ही सच्चा ईसाई धर्म था। उसकी पुनः प्रतिष्ठा और उसके अनुसार सबका आचरण उसको अभीष्ट था। वह चाहता था कि व्यक्ति का जीवन पूर्णतः संयमित, पवित्र और नैतिक आदर्शों से प्रभावित हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्र की रचना, उसके अनुसार जीवन की व्यवस्था और जिनीवा को अपनी उदात्त कल्पना के अनुकूल आदर्श नगर का रूप देने में उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। अपने सादे, पवित्र और अनुशासित जीवन, लेखों और उपदेशों द्वारा कालविन ने जनजीवन को प्रभावित किया। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, फ्रांस, नेदरलैंड, पोलैंड आदि के सुधारवादियों से पत्रव्यवहार द्वारा उसका संपर्क था। धर्मोपदेशों की शिक्षा के लिये उसने जिनीवा में एक विद्यालय स्थापित किया और नगर में कई पाठशालाएँ खोलीं जहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। १५५९ में उसने जिनीवा में ही विश्वविद्यालय की स्थापना की जो शीघ्र ही धर्मसुधार आंदोलन का एक प्रमुख केंद्र बन गया। विदेशों से अनेक विद्यार्थी

फीते पर के समय के लेखे को सुरक्षित रखना और बाद में प्रयोग करना कठिन होता है। कभी कभी एक के स्थान पर दो लेखनियों का उपयोग किया जाता है, एक सेकंड अंकित करने के लिये और दूसरी घटना का समय। इसमें दोष यह होता है कि प्रत्येक लेखनी के किनारे हटने से भिन्न भिन्न समय लग सकता है और इस कारण नापे हुए समय मे थोड़ी त्रुटि पड सकती है। यदि भिन्न भिन्न यंत्रों द्वारा प्राप्त घटनाओं का समय ज्ञात करना है तो दो से अधिक लेखनियों का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक लेखनी का विद्युच्चुंबक एक भिन्न यंत्र द्वारा चालित होता है।

आजकल ऐसे भी काललिख बने है जिनमें मिनट, सेकंड और सेकंड के शतांश के चिह्न एक घूमते हुए चक्र द्वारा, जिसमें छापे के टाइप लगे रहते है, कागज पर छाप दिए जाते है। छापनेवाला चक्र एक नियंत्रक द्वारा समान वेग से घूमता है और घड़ी द्वारा इस वेग पर नियंत्रण रखा जाता है। घटना के समय को अंकित करने के लिये छोटी हथौड़ी रहती है जो बटन दबाने पर शीघ्रता से कागज पर चोट मारकर हट जाती है। इससे वह अंक, जो उस क्षण हथौड़ी के समक्ष रहता है, कागज पर छप जाता है। इस प्रकार घटना का समय बिना किसी नाप के ज्ञात हो जाता है, परंतु लेखनी या हथौड़ी से चिह्नों को अंकित करने में कुछ समय लगता है और नाप में कुछ त्रुटि की संभावना रहती है। अतः बहुत सूक्ष्म नापों के लिये ऐसे काललिख बनाए गए है जिनमे विद्युत्स्फुलिंग द्वारा घटनाक्रम अंकित किया जाता है।

गति-काललिख--बंदूक या तोप की गोली की गति नापने के लिये दो पर्दे रखे जाते है। गोली के एक पर्दे से दूसरे पर्दे तक पहुँचने के समय को नापकर गोली की गति निम्नलिखित सूत्र से जानी जा सकती है :

$$\text{गति} = \frac{\text{पर्दों के बीच की दूरी}}{\text{समय}}$$

। पर्दों के बीच की दूरी नापने मे कोई कठिनाई नही पड़ती, परंतु समय की नाप बड़ी सूक्ष्मता से होनी चाहिए। यदि गति २,००० फुट प्रति सेकंड हो तो १०० फुट दूरी पार करने मे गोली को कुल १/२० सेकंड लगता है। यदि हम चाहे कि गति की गणना मे एक फुट प्रति सेकंड से अधिक अंतर न पड़े तो दूरी की नाप मे $\frac{1}{2}$ इंच से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए और समय की नाप मे १/४०,००० सेकंड से अधिक अंतर न पड़ना चाहिए।

भिन्न भिन्न प्रकार के पर्दों का उपयोग होता है। एक प्रकार का पर्दा दो विद्युच्चालक पत्रों के बीच पृथक्कारी रखकर बनाया जाता है। जब गोली पर्दे को छेदती है तो दोनो चालक पर्दो में गोली द्वारा संपर्क हो जाता है और उस क्षण विद्युत्संकेत चल पड़ता है। ये पर्दे बार बार प्रयुक्त किए जा सकते है, पर इनमें असुविधा यह रहती है कि पर्दे में घुसने से गोली की गति मे अंतर पड जाता है।

दूसरे प्रकार के पर्दो में विद्युच्चुंबकीय प्रेरण का प्रयोग किया जाता है। पर्दे के स्थान पर बिजली के तार के वृत्त लगे रहते है। गोली साधारण गोली न होकर चुंबकित गोली होती है। जब यह गोली तार के वृत्त में से होकर जाती है तो तार में विद्युत् उत्पन्न होती है जिससे संकेत मिल जाता है।

प्रकाश-वैद्युत पर्दो का भी प्रयोग किया जाता है। टेलिफोटो लेस (लेंज) द्वारा गोली (और पृष्ठ भाग मे आकाश) का चित्र एक प्रकाश-वैद्युत सेल पर डालते है। जब लेंस के सामने से गोली जाती रहती है तो प्रकाश के कम हो जाने से सेल में विद्युद्धारा भी कम हो जाती है। ज्यों ही गोली का पिछला भाग पार होता है प्रकाश फिर बढ जाता है और साथ ही विद्युद्धारा भी। एकाएक बढ़ती हुई इस विद्युद्धारा से संकेत भेजा जा सकता है।

गोली का वेग नापने के लिये कागज लपेटे ढोल का प्रयोग भी किया जा सकता है। साधारणतः ढोल प्रति सेकंड ६० चक्कर लगाता है। गोली पर्दे को जब पार करती है तब उस समय के संकेत द्वारा उत्पन्न स्फुलिंग कागज को अंकित कर देता है। एक दूसरे प्रकार के काललिख मे ढोल पर साधारण कागज न लगाकर फोटोग्राफी का कागज लगाते है। ढोल अँधेरे बक्स मे घूमता है और साथ ही धीरे धीरे एक किनारे हटता जाता है। दोलनलेखी धारामापी के दर्पण से परावर्तित प्रकाशकिरण एक छिद्र मे से जाकर फोटो के कागज पर रेखा खीचती जाती है। जब पर्दे से संकेत आता है तो धारामापी का दर्पण घूम जाता है और परावर्तित प्रकाशकिरण छिद्र के मार्ग में नहीं रहती। प्रकाश न पहुँचने से रेखा उस स्थान पर कटी सी जान पड़ता है। एक दूसरे धारामापी द्वारा प्रति १/१००० सेकंड एक चिह्न इस रेखा पर बनता जाता है, इससे नापने मे सुविधा होती है।

दूसरे महायुद्ध मे समय नापने के लिये रेडियो वाल्वों के परिपथों का भी प्रयोग हुआ। इन यंत्रों मे तीन भाग होते है। पहले भाग मे एक दोलक होता है जिससे प्रति १/१,००,०००वें सेकंड पर विद्युत्स्पंदन भेजा जाता है। दूसरे भाग मे यंत्र को चलाने और बंद करने का प्रबंध रहता है। पहले पर्दे से संकेत आने पर यंत्र अपने आप चलने लगता है और दूसरे पर्दे से संकेत आने पर यंत्र स्वतः बंद हो जाता है। तीसरे भाग मे विद्युत्स्पंदों को गिनने का प्रबंध रहता है। इनकी गिनती से पता चल जाता है कि दोनो संकेतों के बीच कितना समय बीता। (च० प्र०)

कालविन, जान

कालविन, जान (१५०९-१५६४) धर्माचार्य और सुधारक। कालविन का जन्म फ्रांस के उत्तरी भाग मे स्थित पिकार्दी प्रांत के नोयों नगर मे १० जुलाई, १५०९ को हुआ। छोटी उम्र में ही उसके संयमित आचरण और धर्ममय जीवन को देखकर उसके पिता जरार शोविन ने अपने पुत्र को पौरोहित्य की शिक्षा दिलाना निश्चित किया। नगर के एक कुलीन मित्र परिवार मे कालविन ने धर्मशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया। अपनी अद्भुत योग्यता के कारण १२ वर्ष की अवस्था मे ही नगर के गिरजाघर में उसने चैपलेन का पद प्राप्त कर लिया। १५२३ के अगस्त मास में वह देश की राजधानी पेरिस गया और चैपलेन के पद से मिलनेवाली आय से लगभग पाँच वर्षो तक मार्श और मोताग के महाविद्यालयों मे उसने धर्मशास्त्र का नियमित रूप से अध्ययन किया। वहाँ साथियों से विचार विनिमय में उसने अपनी प्रखर बुद्धि और तर्कशक्ति का अच्छा परिचय दिया। सितंबर, १५२७ मे नोयों के एक गिरजाघर में पुरोहित के सहायक के पद पर उसकी नियुक्ति हो गई।

पेरिस मे अपने ही नगर के एक पुराने साथी पीयर राबर्ट से, जो आगे चलकर ओलिवेतन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कालविन का घनिष्ठ संपर्क रहा। राबर्ट धर्म के मामले में सुधारवादी था। उसके विचारों का कालविन पर प्रभाव पड़ा। उसकी प्रेरणा से कालविन ने बाइबिल का फ्रेंच भाषा मे अनुवाद किया जिसने प्रचलित धर्मव्यवस्था के संबंध मे उसके मन मे शंकाएँ उत्पन्न कर दी। शीघ्र ही कालविन ने रोम की पूजा-पद्धति के बारे में प्रतिकूल विचार व्यक्त किए। नोयों के गिरजाघर का धर्माधिकारी कालविन के धर्मविरोधी विचारों से सहमत नहीं हो सकता था। कालविन को अपने पद पर बने रहना कठिन प्रतीत हुआ। इन्हीं दिनों उसके पिता का यह विचार हुआ कि धर्मशास्त्र की अपेक्षा कानून का अध्ययन उसके लिये अधिक लाभदायक होगा। पिता के विचार का कालविन ने स्वागत किया। कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये मार्च, १५२८ मे वह ओर्लेआँ के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। कानून के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों, विशेषकर प्राचीन साहित्य, का उसने अध्ययन किया। थोड़े ही समय मे अपने पांडित्य का उसने ऐसा परिचय दिया कि उससे कभी कभी शिक्षक का कार्य भी लिया जाने लगा। ओर्लेआँ से कालविन बूर्जे के विश्वविद्यालय मे गया जहाँ उसने यूनानी भाषा और बाइबिल के नवीन टेस्टामेंट के मूल पाठ का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने रोम की धर्मव्यवस्था के विरुद्ध उसके विचारों को और पुष्ट कर दिया। १५३१ मे पिता की मृत्यु के कारण उसको बूर्जे छोड़ना पड़ा। वह कुछ समय पेरिस मे रहा और इब्रानी भाषा का अध्ययन किया। घर की व्यवस्था के कार्य से उसको नोयों भी जाना पड़ा। १५३२ के अंत तक वह वहीं रहा। इस वर्ष ही प्राचीन रोम के एक प्रसिद्ध लेखक सेनेका की कृति क्लेमेन्शिया की उसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लातीनी में प्रकाशित हुई। १५३३ के आरंभ में कालविन दूसरी बार ओर्लेआँ गया। अगस्त में वह नोयों लौट आया और दो मास ही वहाँ रहा। अक्टूबर में वह पुनः पेरिस चला आया और वहीं रहने लगा। प्रचलित धर्मव्यवस्था के खंडन और

नई धर्मव्यवस्था के प्रतिपादन और व्यवहार के संबंध में उसके विचार अब तक काफी परिपक्व हो चुके थे। उसकी यह निश्चित धारणा हो गई कि उसको अपना संपूर्ण जीवन विशुद्ध ईसाई धर्म की शिक्षा और प्रसार में लगाना चाहिए। उसने इस पवित्र कार्य को दैवी प्रेरणा और आदेश माना। उसने कैथोलिक धर्म का परित्याग किया और प्रोटेस्टेंट मत ग्रहण कर लिया। अपने मत के धार्मिक प्रवचनों के रूप में उसने एक पुस्तक भी उसी वर्ष प्रकाशित की। इस बीच कालविन के एक मित्र विश्वविद्यालय के रेक्टर निकोलस कोप ने एक पवित्र दिवस पर पेरिस के एक गिरजाघर में सुधारवादी मत के समर्थन में व्याख्यान दिया। कालविन उसके विचारों से अत्यंत प्रभावित हुआ। रोम के चर्च और उसमें आस्था के विरुद्ध उसने प्रकाश्य रूप से अपने विचार पेरिस में कई स्थानों पर व्यक्त किए। कोप और कालविन दोनों पर धर्मविरोधी प्रचार का अपराध आरोपित हुआ। दोनों ही पेरिस से अन्यत्र चले गए। कालविन कुछ समय नोयों में रहा। अभियोग उठा लिए जाने की सूचना मिलने पर वह फिर पेरिस लौट आया। उसके कार्यों पर राज्य और धर्म विभाग के अधिकारियों की सजग दृष्टि लगी रही। पेरिस में रहना उसके लिये कठिन हो गया। १५३४ के आरंभ में छद्म नाम से वह अंगुलेम गया और वहाँ के गिरजाघर के पुस्तकालय में धर्मग्रंथों का मननपूर्वक अध्ययन किया। वह प्वातू और सेंटोन भी गया और सभी स्थानों पर उसने धर्म-सुधार के विचारों का प्रचार किया। इस बीच फ्रांस के राजा फ्रांसिस की बहन नेवार की रानी मारगरेत ने कालविन को आश्रय दिया। सुधारवादी मत के प्रति उसकी सहानुभूति थी और उसका निवासस्थान सुधार के समर्थकों का आश्रयस्थल बना हुआ था। कालविन मई मास में फिर पेरिस आया। वह गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय तक उसे कारागार में भी रहना पड़ा। सुधारवादियों के प्रति फ्रांसिस के बढ़ते हुए अत्याचार को देखकर कालविन ने फ्रांस त्याग देना ही उचित समझा। उसने अपने सभी पदों को छोड़ दिया और २५ वर्ष की आयु में अपने पितृदेश फ्रांस से विदा लेकर वह १५३४ में स्विटज़रलैंड के बाल नगर चला गया। एक वर्ष पूर्व पेरिस से भागकर उसका सुधारवादी मित्र कोप भी इस नगर में ही गया था।

फ्रांस में राजतंत्र द्वारा सुधारवादियों के दमन से कालविन बहुत क्षुब्ध था। उनके संबंध में राजा की इस धारणा से कि ये केवल धर्मसुधार नहीं चाहते, राज्य के विरोधी हैं, कानून और संपत्ति के शत्रु हैं, संघर्ष करानेवाले तथा पथभ्रष्ट हैं—वह सहमत नहीं था। धर्मसुधार के समर्थक जर्मनी के कुछ मित्र राजाओं की इस शिकायत पर कि फ्रांस में सुधारवादियों पर अत्याचार होता है, फ्रांसिस ने उनके संबंध में यह मत व्यक्त किया था। उन्हें इस लांछन से मुक्त करने और धर्मसुधार के समर्थन में कालविन ने विशुद्ध ईसाई धर्म पर एक पांडित्यपूर्ण पुस्तक 'इंस्टीट्यूट ऑव क्रिश्चियन रिलिजन' लातीनी भाषा में लिखी। पुस्तक का अधिकांश अंगुलेम के प्रवासकाल में १५३४ में लिखा गया था। १५३५ में यह पुस्तक बाल नगर से लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुई। अगले वर्ष कालविन ने अपने नाम से पुस्तक प्रकाशित कराई और उसमें एक प्रस्तावना भी जोड़ दी। १५४० में कालविन ने फ्रेंच भाषा में भी पुस्तक का संस्करण निकाला। उसने यह पुस्तक फ्रांस के राजा को समर्पित की। उसको आशा थी कि फ्रांसिस पुस्तक में व्यक्त विचारों से प्रभावित होगा और सुधारवादियों के मत को अपना लेगा। कालविन की यह आशा तो पूरी नहीं हुई पर उसकी पुस्तक का धर्मसुधार के कार्यों पर आशातीत प्रभाव पड़ा। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक शताब्दी से ऊपर तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। २५-२६ वर्ष की आयु में लिखी गई ऐतिहासिक तथ्यों और अकाट्य तर्कों से परिपूर्ण यह पुस्तक भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट, प्रोटेस्टैंट धर्म के प्रसार और स्थायित्व में अत्यंत सहायक हुई। इसने कालविन के विचारों को यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में पहुँचा दिया।

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद कालविन इटली गया। वहाँ धर्मसुधार के कार्य में कुछ प्रगति हो चुकी थी। फ़ेरारा की डचेज रेनी ने उसका संमानपूर्ण सत्कार किया। इटली से वह पेरिस गया। वहाँ उसने अपनी पैतृक जायदाद बेच दी और स्विटज़रलैंड में बसने के विचार से वह शीघ्र ही पेरिस से चल दिया। उसको उस देश के प्रसिद्ध नगर जिनीवा होकर जाना पड़ा। फ्रांस के सुधारवादी विलियम फ़ैरेल और विरेंट के प्रयत्नों से उस नगर ने प्रोटेस्टैंट धर्म अपना लिया था पर उसकी नींव पक्की नहीं हुई थी। विरेंट जिनीवा से चला गया था। फ़ैरेल ने कालविन से विरेंट का स्थान लेने और वहीं रहकर धर्मसुधार के पवित्र कार्य में उसकी सहायता करने का अनुरोध किया। जिनीवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की कालविन की इच्छा न थी किंतु इस सुस्पष्ट कर्तव्य की उपेक्षा के कारण उसपर दैवी प्रकोप के आघात की बात जब फ़ैरेल ने कही तब कालविन ने अन्यत्र बसने का विचार त्याग दिया। वह कुछ दिनों के लिये बाल नगर गया, पर सितंबर, १५३६ में जिनीवा वापस आ गया और उस नगर को अपने कार्यों का केंद्र बना लिया। उस समय से वह फ्रांसीसी प्रोटेस्टैंटों का प्रमुख पथप्रदर्शक और परामर्शदाता बन गया। उसका इतना अधिक प्रभाव उनपर पड़ा कि १६वीं शताब्दी के मध्य तक वे कालविनवादी कहे जाने लगे।

कालविन अब अपनी संपूर्ण शक्ति से परम उत्साहपूर्वक धर्मसुधार के अभीष्ट कार्य की पूर्ति में जुट गया। फ़ैरेल के सहयोग से उसने धार्मिक विश्वासों और सिद्धांतों का विवरण तैयार किया और उनको मानना तथा उनके अनुसार आचरण करना नगर के सभी निवासियों के लिये अनिवार्य कर दिया। जिनीवा के नागरिकों ने इस धर्मव्यवस्था तथा नगरशासन के नियमों के पक्ष में अपनी स्वीकृति दी। नियमों का बंधन सभी कार्यों, व्यक्तियों और संस्थाओं पर समान रूप से लागू था। नियमों के कड़ाई से पालन पर आरंभ से ही कालविन ने ध्यान दिया और नियमों में चूक करनेवालों के लिये उसने कठोर दंड की व्यवस्था की। उसका कड़ा अनुशासन जिनीवा वासियों को सह्य न हो सका, उन्होंने उसका संगठित विरोध किया और दो वर्ष के अंदर ही, १५३८ में, उसको और फ़ैरेल को नगर छोड़ने के लिये बाध्य किया। कालविन स्ट्रासबर्ग चला गया और वहाँ के एक धर्मसमुदाय में धर्माचार्य का कार्य करने लगा, पर जिनीवा पर उसकी दृष्टि सदा लगी रही। वह पत्रों द्वारा वहाँ के निवासियों को निरंतर प्रोत्साहित करता रहा। कालविन के विरोधी नगर की स्थिति को न सँभाल सके। वहाँ अव्यवस्था बढ़ती गई। नगरवासियों ने यह अनुभव किया कि शासनहीनता की अपेक्षा कठोर शासन अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने कालविन को जिनीवा लौट आने और नेतृत्व सँभालने का निमंत्रण दिया। १५४१ के सितंबर में वह पुनः जिनीवा आ गया और शीघ्र ही नगर के आध्यात्मिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। स्ट्रासबर्ग में कालविन ने एक विधवा से विवाह किया। १५४२ में उसको एक पुत्र हुआ पर वह कुछ दिनों ही जीवित रहा। कालविन की पत्नी आदर्श गृहिणी थी। १५४९ में उसकी भी मृत्यु हो गई। जीवन के अंतिम क्षण तक वह जिनीवा में ही रहा।

कालविन के मत से आरंभ के ३०० वर्षों का पवित्र ईसाई धर्म ही सच्चा ईसाई धर्म था। उसकी पुनः प्रतिष्ठा और उसके अनुसार सबका आचरण उसको अभीष्ट था। वह चाहता था कि व्यक्ति का जीवन पूर्णतः संयमित, पवित्र और नैतिक आदर्शों से प्रभावित हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्र की रचना, उसके अनुसार जीवन की व्यवस्था और जिनीवा को अपनी उदात्त कल्पना के अनुकूल आदर्श नगर का रूप देने में उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। अपने सादे, पवित्र और अनुशासित जीवन, लेखों और उपदेशों द्वारा कालविन ने जनजीवन को प्रभावित किया। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, फ्रांस, नेदरलैंड, पोलैंड आदि के सुधारवादियों से पत्रव्यवहार द्वारा उसका संपर्क था। धर्मोपदेशों की शिक्षा के लिये उसने जिनीवा में एक विद्यालय स्थापित किया और नगर में कई पाठशालाएँ खोलीं जहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। १५५९ में उसने जिनीवा में ही विश्वविद्यालय की स्थापना की जो शीघ्र ही सुधार आंदोलन का एक प्रमुख केंद्र बन गया। विदेशों से अनेक

और जिज्ञासु शिक्षाप्राप्ति और शंकासमाधान के लिये विश्वविद्यालय में आते थे।

कालविन पवित्र धार्मिक जीवन का कट्टर समर्थक था। भ्रष्ट और अपवित्र आचरण को वह सदा दंडनीय मानता था। पतित व्यक्तियों के लिये उसने कठोर दंड की व्यवस्था की थी। उसने शासन की जो व्यवस्था की, वह धर्मतंत्रीय थी। वह सर्वोपरि और सर्वशक्तिमान थी। शासन की धर्मेतर व्यवस्था उसको कार्यान्वित करने का साधन मात्र थी। वह व्यवस्था न केवल उसके मत के माननेवालों पर लागू थी, वरन् समाज के अन्य सदस्यों के लिये भी वह अनिवार्य थी। मानव का व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन इस व्यवस्था से अनुशासित था। रहन सहन, खान पान, आमोद प्रमोद, भेंट उपहार, सामाजिक व्यवहार, धार्मिक कर्तव्य आदि सभी के संबंध में स्पष्ट नियम थे, जिनका अत्यंत सूक्ष्मता से पालन कराया जाता था। शासन के लिये कालविन ने १८ व्यक्तियों की एक समिति (कंसिस्ट्री) स्थापित की थी जिसमें छह धर्माधिकारी और १२ अन्य वयोवृद्ध अधिकारी थे। प्रति सप्ताह इस समिति की बैठक होती थी जिसमें नियमविरुद्ध आचरण करनेवालों का विचार होता था और उन्हें कठोर दंड दिया जाता था। समिति की जागरूक दृष्टि से ओझल रहना किसी के लिये संभव न था। अपने मत के प्रोटेस्टैंट विरोधियों के लिये भी उसकी व्यवस्था में कोई स्थान न था। रोमन धर्म के प्रोटेस्टैंट विरोधी सर्विटेस का, जो जिनीवा में आश्रय पाने के लिये आया था, जीवित ही जलाया जाना उसका प्रमाण है। यद्यपि कालविन ने उसके प्राणदंड का समर्थन नहीं किया था, तथापि उसको दंड दिलाने में उसने उत्साहपूर्वक भाग लिया था। कालविन ने जिनीवा नगर में अपनी इस व्यवस्था का सफलतापूर्वक प्रयोग किया। उसके जीवनकाल में ही जिनीवा प्रोटेस्टैंट धर्म का सुदृढ़ गढ़ बन गया। वहीं से यूरोप के अन्य देशों में कालविन के मत का प्रचार और प्रसार हुआ।

कालविन की धर्मव्यवस्था के अनुयायी कालविनवादी और उसकी धर्म-सिद्धांत-प्रणाली कालविनवाद के नाम से प्रसिद्ध है। कालविन जीवन के अंतिम क्षण तक निरंतर कार्य करता रहा। अपने स्वास्थ्य और सुख की उसने कभी चिंता न की। ज्वर, संधिवात, दमा आदि रोगों से जर्जर, क्षीणकाय कालविन ने ६ फरवरी, १५६४ को अत्यंत कठिनाई से अपना अंतिम धर्मोपदेश दिया। उसकी शारीरिक स्थिति उत्तरोत्तर खराब होती गई। २७ मई को ५५ वर्ष की आयु में अपने परमप्रिय विश्वस्त मित्र बैज़ा की गोद में उसकी मृत्यु हुई। ईसाई धर्म के सुधारकों में कालविन का विश्व के इतिहास में प्रमुख स्थान है। (त्रि० पं०)

काला आज़ार यह रोग काला ज्वर, काला रोग, सरकारी बीमारी, साहेब रोग, वर्दवान ज्वर, डमडम ज्वर, ट्रॉपिकल स्प्लीनो मेगैली या (ग्रीस में) पोनस के नाम से प्रसिद्ध है।

यह एक प्रकार का संक्रामक ज्वर है जो बालू मक्षिका (Sand Fly) के काटने से फैलता है। इस ज्वर का कारण लीशमैन डानोवन बॉडीज़ या लीशमैनिया डानोवनाई नामक जीवाणु होते हैं। लीशमैन और डानोवन, दो वैज्ञानिकों ने काला आज़ार के जीवाणु की खोज की। इससे इस जीवाणु का नाम इन्हीं वैज्ञानिकों के नाम पर रखा गया है।

काला ज्वर देश देशांतरों में फैला हुआ है। भारतवर्ष में यह विशेष रूप से हिमालय की तराई, असम, बंगाल, उड़ीसा और बिहार में होता है। उत्तर प्रदेश के पूर्वीय भाग में, इलाहाबाद और लखनऊ तथा मद्रास में भी यह पाया जाता है। बर्मा, चीन, अफ्रीका, सूडान, मिस्र, सिसली, तुर्किस्तान, बलगेरिया, हंगरी, पैलेस्टाइन, चेकोस्लोवाकिया, दक्षिणी फ्रांस, पुर्तगाल, ग्रीस, रूस और दक्षिणी अमरीका में भी काला आज़ार पाया जाता है।

इस रोग का कोई निश्चित उद्भवनकाल नहीं है। यह प्राय: एक से छह महीने तक का होता है। कभी कभी एक या दो साल तक भी बढ़ जाता है।

लक्षण—रोग का आरंभ धीमे धीमे ज्वर या ज्वर के तीव्र आक्रमण से होता है। जब एकाएक तीव्रता से ज्वर आता है तब उसके पहले सर्दी लगती है और कभी कभी वमन होता है। इस ज्वर की मुख्य पहचान यह है कि २४ घंटे में दो बार ज्वर चढ़ता उतरता है। ऐसा ज्वर दो सप्ताह से डेढ़ दो मास तक नित्य रहता है, तदनंतर कुछ काल तक ज्वर बिलकुल नहीं रहता किंतु प्लीहा और यकृत दोनों बहुत बढ़ जाते हैं। पहले ये कोमल रहते हैं पर बाद में कड़े हो जाते हैं। भूख ठीक लगती है, जिह्वा साफ रहती है परंतु पाचन शक्ति निर्बल हो जाती है। शरीर की ग्रंथियाँ बढ़ जाती हैं और शरीर का रंग भी काला पड़ने लगता है। जब ज्वर नहीं रहता तब पसीना बहुत आता है। फिर ज्वर जाड़े के साथ तीव्रता से आता है। इसी प्रकार से बार बार महीनों ज्वर आने और उतरने से रोगी अत्यंत निर्बल होकर हड्डियों का कंकाल मात्र रह जाता है। इसको लोग प्राय: मलेरिया ज्वर समझकर कुनैन का प्रयोग करते हैं परंतु उससे कुछ लाभ नहीं होता। हाथ पैर में दर्द रहने से गठिया की संभावना होती है। शरीर में शोथ आ जाता है। रक्त की न्यूनता हो जाती है। हृदय फैल जाता है। नित्य ज्वर १०२ डिग्री के लगभग रहता है। सिर के बाल रूखे हो जाते हैं, बिखरे रहते हैं और झड़ने लगते हैं। रक्तस्राव होने की संभावना रहती है। चेहरे और त्वचा का रंग अधिक काला हो जाता है। अंत में पेचिश, फोड़े फुंसी, जलोदर आदि रोग होकर शरीरांत हो जाता है।

निदान—काला आज़ार की पहचान करने में इस रोग और मलेरिया, ल्युकीमिया, आंत्रिक ज्वर (Typhoid), पुनरावर्ती ज्वर (Relapsing fever), अंडुलैंट ज्वर तथा बैंटीज रोग के भेद पर ध्यान देना चाहिए। यदि प्लीहा, लसीका ग्रंथि या यकृत के रस को सूक्ष्मदर्शी में देखें तो इस रोग के जीवाणु मिल सकते हैं। फिर फ़ार्मेलि जेल परीक्षा तथा यूरिया स्टिबमीन परीक्षा का उपयोग किया जा सकता है। यदि आरंभ ही से ठीक निदान करके ओषधि की जाय तो ९५ प्रतिशत रोगी अच्छे हो सकते हैं।

चिकित्सा—प्रतिषेधक उपाय उपयोगी हैं। दीवार और फर्श के गड्ढे भरवा दें और मकान में सर्वत्र डी० डी० टी० छिड़कें। रोगी झोपड़ी में हो तो रोगी को हटाकर झोपड़ी को जला देना चाहिए। यूरिया स्टिबमीन उपचार (ब्रह्मचारी) सबसे उपयोगी सिद्ध हुआ है। आयुर्वेद में काला आज़ार (काल ज्वर) की कोई निश्चित चिकित्सा नहीं है। (क० दे० व्या०)

काला पहाड़ के वंश, कृतित्व, तथा जीवनावधि के संबंध में मतसाम्य नहीं है; किंतु प्रतीत होता है, वस्तुत: इतिहासप्रसिद्ध काला पहाड़ उपनामधारी दो अलग व्यक्ति थे, जिनके जीवनकाल और कार्यक्षेत्र विभिन्न थे। काला पहाड़ प्रथम (वास्तविक नाम, मोहम्मद खाँ फार्मूली), सुल्तान बहलोल लोदी का भागिनेय था। संभवत: हुसैनशाह शर्की के विरुद्ध युद्ध में सहायक होने के उपलक्ष में सुल्तान द्वारा, पुरस्कार स्वरूप, उसे अवध का प्रदेश तथा कुछ अन्य परगने प्राप्त हुए थे। पहले वह बारबकशाह का सेनापति था; किंतु, उत्तराधिकार युद्ध में उसके पराजित होने पर काला पहाड़ विजयी भ्राता सिकंदर लोदी का सामंत बन गया। इब्राहीम लोदी के शासन के अंतिम काल में उसकी मृत्यु हुई। ख्यातनामा सेनानी होते हुए भी कृपण स्वभाव के कारण उसने अमित धन संचित किया था।

काला पहाड़ द्वितीय (उपनाम राजू) यद्यपि अफगान इतिहासकारों द्वारा अफगान जाति का ही बताया गया है, तथापि संभवत: वह जन्म से ब्राह्मण था। प्रेमवश धर्मपरिवर्तन कर लेने के बाद वह इतिहास में धर्मांध मूर्तिभंजक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। तात्कालिक जनश्रुति के अनुसार वह अत्यंत भयावह और निर्दय व्यक्ति था तथा उसके आगमन पर देवप्रतिमाएँ स्वत: काँप उठती थीं। वह बंगाल नरेश सुलेमान कर्रानी का सेनापति था। मात्र लूट मार और जिहाद की भावना से प्रेरित हो प्रथमत: उसने बिहार पर आक्रमण किया। जब जाजपुर से अफगान सेना प्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर पहुँची तब पहले तो सर्वसाधारण को उसके आगमन का विश्वास ही न हुआ, फिर अंधविश्वासवश देवप्रतिमा के प्रभाव से सुरक्षित समझने के कारण बचाव की विशेष सैनिक तैयारियाँ भी नहीं की गईं। मंदिर का विध्वंस कर आक्रमणकारियों ने इतना धन लूटा कि प्रत्येक सैनिक को एक या दो स्वर्णमूर्तियाँ हाथ लगीं। तत्पश्चात् सेना ने असम की ओर अभियान किया। कूचविहार नरेश

नरनारायण के सेनापति शुक्लध्वज (चीलाराय) को परास्त कर, कामाख्या तथा हाजो के सुप्रसिद्ध अनेक मंदिरों तथा अन्य मंदिरों को ध्वस्त करता हुआ काला पहाड़ बंगाल लौट गया। मुगल सम्राट् अकबर द्वारा बंगाल पर आक्रमण होने पर अन्य सामंतों के साथ काला पहाड़ ने घोड़ाघाट पर मुगल सेना को पीछे खदेड़ दिया। किंतु, तृतीय आक्रमण पर, राजमहल में खाने आजम अजीजकोका के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसकी मृत्यु हो गई।

सं०ग्रं०—नियामतउल्ला : हिस्ट्री ऑव द अफ़ग़ान्स (डार्न द्वारा संपादित); रियाजुस्सलातीन (मौलवी अब्दुस्सलाम द्वारा संपादित); ईलियट ऐंड डाउसन : द हिस्ट्री ऑव इंडिया, (खंड ४, ५, ६); रमेशचंद्र मजुमदार : हिस्ट्री ऑव बेंगाल; सुधींद्रनाथ भट्टाचार्य : ए हिस्ट्री ऑव द मुग़ल नार्थ-ईस्ट फ्रंटियर पालिसी; अवधविहारी पांडे : द फ़र्स्ट अफ़ग़ान एपायर इन इंडिया; सैयद अतहर अब्बास रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत (प्रथम भाग); दरंगराज वंशावली; पुरानी असम बुरंजी (Purani Asam Buranji)। (रा० ना०)

कालाहारी दक्षिणी अफ्रीका के मध्य में स्थित एक विशाल मरुस्थल है। इसका उत्तरी भाग उष्ण कटिबंध में है। धरातल की ऊँचाई २,००० से ३,००० फुट तक है। दक्षिण-पूर्व में उच्च कारू का पठार तथा दक्षिण-पश्चिम में अन्य पठार, जो ५,००० फुट ऊँचे है, इसे घेरे हुए हैं। वार्षिक वर्षा का औसत ५ से १० इंच तक है। न्यून वर्षा तथा तीव्र वाष्पीकरण के कारण यहाँ स्थायी नदियाँ या झीलें नहीं है। प्रदेश की मुख्य नदी, ऑरेंज, का उद्गम अन्यत्र है तथा स्थानीय शाखाएँ वर्ष में कुछ दिनों के लिये ही सजल रहती है।

भूमि पर घास का अपूर्व आवरण है तथा विस्तृत क्षेत्र बालुकामय है। दक्षिणी भाग में इंसेलवर्ग आकृति की नग्न पहाड़ियाँ हैं। धरातल पर पानी का अभाव है पर भूमि के नीचे थोड़ी ही गहराई पर जल उपलब्ध हो जाता है। यहाँ का कुरुमान सोता दक्षिणी अफ्रीका में विख्यात है। ऑरेंज नदी का ४०० फुट ऊँचा ऑगरेबीज जलप्रपात भी उल्लेखनीय है। ऑरेंज के जल को प्रास्का और उपिंगटन के बीच तथा हार्टबीस्ट और ऑरेंज नदियों के संगम से ऊपर दो बाँध बनाकर सिंचाई के लिये निकाला गया है।

कालाहारी मरुस्थल के निवासी अधिकतर भेंड़ पालते हैं तथा चारे की खोज में यायावर जीवन व्यतीत करते है। इन लोगों में 'बुशमेन' एवं हाटेनटाट जातियाँ विख्यात है तथा ग्रिका उल्लेखनीय है। (प्रे० च० अ०)

कालिंजर का प्रसिद्ध गिरिदुर्ग बाँदा नगर से दक्षिण ३५ मील की दूरी पर स्थित है। स्थान अत्यंत प्राचीन है और राजनीतिक एवं धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पद्मपुराण, वामनपुराण, शिवपुराण और महाभारत आदि में इसका उल्लेख इसकी धार्मिक महत्ता का द्योतक है। यहाँ चट्टान काटकर बनाई नीलकंठ महादेव की विशाल प्रतिमा है। हिरण्यबिंदु, कोटितीर्थ, पातालगंगा, सीताकुंड आदि तीर्थों ने इसकी पवित्रता को बढ़ाया है। श्री कालभैरव की विशालकाय मूर्ति पर जटाजूट आदि में सर्पो के हार और वलय दर्शनीय है। अनेक भव्य चतुर्मुख शिवलिंग भी यहाँ मिले हैं।

मौखरि वंश के राज्यकाल में कालिंजर संभवतः एक मंडल के रूप में था। प्रतिहारों के समय में यह कान्यकुब्ज की भुक्ति के अंतर्गत था। जब प्रतिहारों की शक्ति क्षीण होने लगी तो चंदेलों, चेदियों और राष्ट्रकूटों ने इसे अपने अधिकार में लाने का प्रयास किया। अंततः चंदेलराज यशोवर्मन् ने इसे जीत लिया। चंदेलों के समय के अवशेष यहाँ काफी संख्या में मिले है।

परंपरा से यह प्रसिद्ध है कि कालिंजर के दुर्ग का निर्माण चंदेल वंश के संस्थापक राजा चंद्रवर्मन् ने करवाया था, किंतु इस कथन में विशेष सत्यता प्रतीत नहीं होती। आरंभ में यह स्थान केवल तीर्थ रूप में था, और यहाँ के सबसे प्राचीन अभिलेख मंदिरों और मूर्तियों पर है। किंतु यह स्थान दुर्ग के लिये भी उपयुक्त है। अतः इस प्रदेश के किसी प्राचीन शासक ने इस स्थान पर दुर्ग बनवाया होगा। चंदेलों ने यशोवर्मन् के समय सर्वप्रथम इस दुर्ग को हस्तगत किया। उनके समय कालिंजर के दुर्ग और नगर दोनों का ही पर्याप्त वृद्धि हुई। जब महमूद गजनवी ने बुंदेलखंड पर आक्रमण किया तो इसी दुर्ग में रहकर चंदेलराज विद्याधर ने दो बार उसके विजयप्रयास को विफल किया था। सन् १२०३ में परमाल चंदेल को हराकर कुतुबुद्दीन ने कालिंजर को जीत लिया और यहाँ के अनेक मंदिरों को नष्टभ्रष्ट किया। किंतु चंदेलों ने कुछ समय के बाद दुर्ग वापस ले लिया और दिल्ली के सुल्तानों को सन् १२३४ और १२५१ में फिर इसपर आक्रमण करना पड़ा। सन् १५३० में हुमायूँ ने इसपर घेरा डाला। सन् १५४५ में शेरशाह कालिंजर के सामने ही बारूद के फटने से मर गया। इसके बाद यह मुगलों, बुंदेलों और मराठों के हाथों होता हुआ अंग्रेजों के हाथ लगा। अब यह उत्तर प्रदेश राज्य का अंग है। वहाँ बाँदा से कालिंजर सड़क के रास्ते जाना पड़ता है। लगभग २३ मील पक्की सड़क और उसके बाद कच्चा रास्ता है। (द० श०)

कालिंपोंग प० बंगाल के दारजीलिंग जिले में २६° ५१′ उ० अ० से २७° १२′ उ० अ० तथा ८८° २८′ पू० दे० से ८८° ५३′ पू० दे० तक फैला हुआ पहाड़ी क्षेत्र है। क्षेत्रफल ४१२ वर्ग मील। इसके पूर्व में नी-चू तथा दी-चू, पश्चिम में तिस्ता तथा उत्तर में सिक्किम राज्य हैं। १८६५ ई० में यह भाग भारत ने भूटान से जीत लिया था। कालिंपोंग का धरातल पर्वतश्रेणियों से कटा फटा है। ये श्रेणियाँ उत्तर में रिशि-ला के निकट कोई १०,००० फुट की ऊँचाई से घटकर दक्षिणी मैदान की ओर ३०० फुट से १,००० फुट ऊँची रह जाती हैं। इनके शिखर तथा घाटियों की तलहटियाँ सुरक्षित वनों से ढकी है। पहाड़ी ढालों के मध्य का भाग (२,०००–६,००० फुट) साधारण कृषि के लिये सुरक्षित है। यहाँ की मुख्य उपज मक्का है। लगभग तीन चौथाई कृषिक्षेत्र में मक्का की खेती होती है। कृषि के लिये पहाड़ी ढालों पर बहुत से खेत सीढ़ीनुमा बनाए जाते हैं। कृषकों से लगान इकट्ठा करने का कार्य मुखिया (मंडाल) करता है। वही सड़कें बनवाने का भी कार्य करता है। दुवार (तराई) के कृषक अपनी उपज तिब्बत के मार्ग में पेडांग तथा चेल घाटी के सिरे पर सोवारी नामक बाजारों में ले जाते है। तिब्बत के साथ व्यापार का मुख्य बाजार कालिंपोंग है जो इस प्रदेश का मुख्य नगर है।

कालिंपोंग तिब्बत से आयात होनेवाली वस्तुओं, विशेषकर, ऊन, का विख्यात व्यापारिक केंद्र है। यहाँ पर यूरोपियन तथा यूरेशियन निर्धन बच्चों की शिक्षा के लिये 'सेंट ऐंड्रयूज कालोनियल होम' १९०० ई० में स्थापित हुआ था। यहाँ का चर्च ऑव स्काटलैंड मिशन का गिरजाघर तथा स्कूल दर्शनीय है। (प्रे० चं० अ०)

कालिदास संस्कृत का मूर्धन्य कवि और नाटककार।

निवास और कार्यकाल—कालिदास ने भी अन्य अनेक भारतीय कृतिकारों की ही भाँति अपने निवासस्थान अथवा कार्यकाल की ओर संकेत नहीं किया, जिससे इन दोनों विषयों पर किसी प्रकार की भी जानकारी आज उपलब्ध नहीं। परंतु यह स्थिति महान् साहित्यकारों को देशकालातीत भी कर दिया करती है और महाकवि कालिदास भी देश और काल की सीमाओं को लाँघ गए है। उन्हें अनेक प्रदेशों ने अपना निवासी घोषित किया है।

कालिदास के स्थान और कार्यकाल के संबंध में अनेकानेक मत हैं जिनपर विस्तृत विचार यहाँ संभव नहीं। बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और कश्मीर सभी को उनका निवासस्थान होने का श्रेय मिला है, यद्यपि उनका मध्य प्रदेश अथवा कश्मीर का होना ही अधिक संभव जान पड़ता है। 'ऋतुसंहार' में उन्होंने जिन षड्ऋतुओं के साथ अपने घनतम ज्ञान का परिचय दिया है वे विशेषकर मध्यप्रदेश की ही है। 'मेघदूत' के निर्वासित नायक का प्रवास जिस रामगिरि पर है, उसकी पहचान विद्वानों ने नागपुर के पास रामटेक से की है। मेघ को रामगिरि से उत्तरोत्तर भेजते हुए कवि ने मार्ग का जो सविस्तर परिचय दिया है उससे उनका मध्य प्रदेश के छोटे बड़े सभी स्थानों का घनिष्ठ ज्ञान प्रकट है। महत्व की बात यह है कि कवि जहाँ उत्तरापथ के स्थानों की ओर संकेत मात्र करता है, मध्य-

प्रदेशीय स्थलों के वर्णन में वह रागविभोर हो उठता है। जो स्थान सीधी राह में नहीं पड़ता वहाँ भी वह अपने दूत मेघ को खींच ले जाता है। ऐसी ही नगरी उज्जयिनी का वर्णन कवि बड़े स्नेह और श्रद्धा से करता है जहाँ पहुँचने का मार्ग वस्तुतः 'वक्र' है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने उज्जयिनी को ही कालिदास का निवासस्थान माना है। कश्मीर को कालिदास की जन्मभूमि माननेवाले विद्वानों का अपने मत के प्रति विशेष आग्रह इस कारण है कि हिमालय के प्रति कवि का बड़ा आकर्षण है। 'कुमारसंभव' का समूचा कथानक और 'मेघदूत' का उत्तरार्ध हिमालय से संबंधित है। 'रघुवंश', 'शाकुंतल' और 'विक्रमोर्वशी' के भी अनेक स्थलों की भूमि वही पर्वत है। इस मत के माननेवालों का इसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि रामगिरि 'मेघदूत' के नायक का आखिर प्रकृत आवास नहीं, निर्वासित यक्ष का प्रवास-स्थल मात्र है, उसका जन्मजात आवास और कार्यस्थल तो हिमालय में था। कुछ आश्चर्य नहीं जो कालिदास कश्मीर अथवा किसी हिमालयवर्ती प्रदेश में जन्म लेकर मध्य प्रदेश की ओर स्वेच्छया अथवा मजबूरी से चले गए हों। परंपरया उनका विक्रमादित्य की राजसभा में उज्जयिनी में रहना स्वीकार किया जा सकता है जिसके लिये यह आवश्यक नहीं कि उन्हें उस नगरी का जन्म से नागरिक होना ही माना जाय। कालिदास रहे चाहे जहाँ के हों, मध्य प्रदेश में उनका निवास दीर्घ काल तक रहा होगा, इसमें संदेह नहीं।

कवि का कार्यकाल निश्चित करना आसान नहीं, यद्यपि साधारणतः वह काल पाँचवीं सदी ईसवी माना गया है। कवि इतना लोकप्रिय हो गया था कि अनेक पश्चात्कालीन कवियों ने उसका नाम अपना लिया और इस प्रकार संस्कृत में तीन तीन कालिदासों के होने की संभावना प्रस्तुत कर दी। पर विशिष्ट विद्वानों का मत है कि चाहे अन्य कालिदास भी पिछले काल में हुए हों, प्रसिद्ध कालिदास पहले कालिदास थे चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन, जो 'रघुवंश' आदि काव्यों और 'शाकुंतल' आदि नाटकों के प्रणेता थे। विद्वानों द्वारा अनुमित उनका कालप्रसार ईसा पूर्व दूसरी सदी से सातवीं सदी ईसवी तक है। इन दोनों सदियों को कवि के कार्यकाल का बहिरंग मान काल के इस बड़े अंतर को छोटा कर सकना कठिन न होगा। प्राचीनतम सीमा कवि का नाटक 'मालविकाग्निमित्र' द्वितीय शताब्दी ई० पू० में इसलिये खींच देता है कि उसका नायक अग्निमित्र उस सेनापति पुष्यमित्र शुंग का पुत्र था जिसने मौर्यों के अंतिम राजा बृहद्रथ को १८० ई० पू० के लगभग मारकर शुंगवंश की प्रतिष्ठा की थी। इससे यदि कालिदास अग्निमित्र के समकालीन भी हुए तो उनका समय १५० ई० पू० के पहले नहीं हो सकता। इस काल की बाहरी सीमाएँ एहोल अभिलेख प्रस्तुत करता है जो ६३४ ई० का है और जिसमें कवि का नामोल्लेख हुआ है।

परंपरा के अनुसार कालिदास ५६ ई० पू० के किसी विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे पर ऐतिहासिक विवेचन से पता चलता है कि न तो प्रथम शती ई० पू० में कोई विक्रमादित्य ही हुए और न नवरत्नों के गिनाए जानेवाले क्षपणक आदि व्यक्ति ही परस्पर समकालीन थे। इस संबंध में विशेषतः बौद्ध भिक्षु अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' के संभावित अवतरणों की ओर संकेत किया गया है। पर कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया या अश्वघोष ने कालिदास का, इसका भी स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में अभी निर्णय नहीं किया जा सकता। कालिदास की कृतियों के निम्नलिखित आंतरिक प्रमाणों से, इसके विपरीत, पाँचवीं सदी ई० में ही कवि को रखना अधिक युक्तियुक्त लगता है। गुप्तकाल में संपादित पौराणिक आख्यानों एवं परंपराओं और तभी अनंत संख्या में प्रस्तुत देवमूर्तियों का उल्लेख; भारतीय कला में प्रायः पहली बार कुषाण काल में निर्मित क्रमशः मकर तथा कच्छप पर खड़ी चमरधारिणी गंगा-यमुना की मूर्तियों का वर्णन; मात्र गुप्तकालीन मूर्तियों की उँगलियों की जालग्रथित (शाकुंतल, अंक ७—जालग्रथितांगुलिः करः, देखिए मानकुँवर बुद्धमूर्ति के अतिरिक्त अनेक और, लखनऊ संग्रहालय) स्थिति का उल्लेख; कुषाण-गुप्त-कालीन बुद्धमूर्तियों की अखंड समाधि से प्रभावित कवि द्वारा 'कुमारसंभव' में शिवसमाधि का वर्णन; गुप्त सम्राटों के अभिलेखों-सम्रा-लेखों तथा कालिदास की भाषा में घनी समता; कवि की रचनाओं में वर्णित शांति और समृद्धि; प्रायः तीसरी सदी ईसवी के वात्स्यायन के कामसूत्रों का कवि पर अमिट प्रभाव; ग्रीक ज्योतिष के जामित्र आदि पारिभाषिक शब्दों का उपयोग; पाँचवीं सदी ईसवी में वक्षुनद की घाटी में बसनेवाले हूणों की रघु द्वारा पराजय का उल्लेख—सभी कालिदास की गुप्तकालीनता प्रमाणित करते हैं।

कुमारगुप्त प्रथम के शासन के अंत में पुष्यमित्रों और हूणों ने गुप्त-कालीन शांति नष्ट कर दी। इससे कवि के कार्यकाल का अंत ४८६ ई० में (४५० ई० के पुष्यमित्रों तथा स्कंदगुप्त के युद्ध के पहले) रखा जा सकता है। परंतु यदि कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त दोनों की ओर कवि ने अप्रत्यक्ष रूप से संकेत किया है तब संभवतः वह स्कंदगुप्त के जन्म तक जीवित रहा। कालिदास ने बहुत लिखा है और स्वाभाविक ही उनका कृतित्व दीर्घकालिक रहा होगा। यदि वे ८० वर्ष तक जीवित रहे तब इस गणना के आधार पर उनकी मृत्यु ४४५ ई० के लगभग हुई होगी और तब उनका जन्म ३६५ ई० के लगभग मानना होगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासनकाल में जन्म लेकर उन्होंने चंद्रगुप्त द्वितीय के समूचे शासन और कुमारगुप्त के शासन के अधिकतर काल तक अपनी लेखनक्रिया जाग्रत रखी होगी। अतः उन्होंने स्कंदगुप्त का जन्म भी देख ही लिया होगा, क्योंकि पुष्यमित्रों की पराजय करते समय स्कंद की आयु कम से कम २० वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार यदि कालिदास ने २५ वर्ष की अवस्था में अपना कविकार्य आरंभ किया होगा तो उनका पहला काव्य 'ऋतुसंहार' ३९० ई० के लगभग लिखा गया होगा और उनका रचनाकाल प्रायः उस अवधि के अधिकतर भाग पर निर्भर रहा होगा जिसे हम साधारणतः भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहते हैं।

कवि कार्य—कालिदास की प्रायः सर्वसंमत कृतियाँ सात हैं, तीन नाटक और चार काव्य। 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'विक्रमोर्वशी' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक हैं, 'रघुवंश', 'कुमारसंभव', 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसंहार' काव्य। 'अभिज्ञान शाकुंतल' संस्कृत नाट्य साहित्य का चूडामणि है। नाट्यसाहित्य के समीक्षकों ने इसे संसार के साहित्य की सुंदरतम कृतियों में गिना है। इसके सात अंकों में कवि ने महाभारत की कथा का नाटकीय नवनिर्माण किया है। राजा दुष्यंत कण्व के आश्रम में शकुंतला से गंधर्व विवाह करता और उसे अपनी अँगूठी भेंट करता है, पर ऋषि दुर्वासा के शाप से वह यह सब भूल जाता है जिससे वह उस पत्नी को पहचान नहीं पाता। अँगूठी द्वारा अभिज्ञान के पश्चात् उसकी स्मृति लौटती है और पुत्र भरत के माध्यम से कश्यप (मारीच) के आश्रम में पति पत्नी का संयोग होता है। रचना अत्यंत मार्मिक है, अभिव्यक्त भावनाएँ नितांत कोमल हैं। 'विक्रमोर्वशी' त्रोटक है और इसका कथानक ऋग्वेद से लिया गया है। इसके घटनाचक्र का प्रसार पृथ्वी से स्वर्ग तक है और उसका विकासशिल्प असाधारण एवं सुखांत है। प्रतिष्ठान का नृपति ऐल पुरुरवा उर्वशी की दैत्य केशी से रक्षा करता है और दोनों प्रणयसूत्र में बँध जाते हैं। विरह का अत्यंत हृदयस्पर्शी और करुण वर्णन चौथे अंक में हुआ है जब राजा तरुलताओं से प्रिया का पता पूछता है। घटनाओं का अनुक्रम अनुपम सहज है। ऋग्वेद के पुरूरवा उर्वशी का करुण विरह सहज सह्य हो जाता है जब कवि दोनों को पुत्र के साथ दीर्घकाल के लिये एकत्र कर देता है। 'मालविकाग्निमित्र', कवि की नाटकों की दिशा में, संभवतः पहली रचना है। इसमें कवि से प्रायः ६०० वर्ष पहले के पुष्यमित्र शुंग के पुत्र बहुपत्नीक राजा अग्निमित्र और उसकी प्रेयसी मालविका के प्रणय का विवरण है। विदर्भराज की भगिनी मालविका दस्युता के परिणामस्वरूप विदिशा के राजा अग्निमित्र के प्रासाद में अज्ञात रूप से शरण लेती है। नाटकीय विधि से रहस्य खुलता है और दोनों का प्रणय परिणय में परिणत होता है। नाटक में संगीत और अभिनय का शास्त्रीय कथोपकथन प्रस्तुत है।

'रघुवंश' १९ सर्गों का महाकाव्य है जिसमें कालिदास ने वाल्मीकि रामायण की पद्धति से काव्यरचना की है और रामायण तथा पुराणों की सूर्यवंशीय ख्यातों को अत्यंत कुशलता एवं सूक्ष्मता से सर्गबद्ध कर दिया है। राजा दिलीप से अग्निवर्ण तक का पौराणिक इतिहास इसमें काव्यबद्ध है। इसके प्रधान पुरुष राजा रघु हैं जिनके नाम पर इस प्रबंध का नाम पड़ा। महाकाव्य शैली की कृतियों में 'रघुवंश' पहली और आदर्श

रचना है। स्थल स्थल पर इसमें प्रसाद गुण और वैदर्भी वृत्ति के चमत्कार प्रकट हैं। 'कुमारसंभव' महाकाव्य है पर संभवतः कवि उसको पूरा नहीं कर सका था और इसी कारण विद्वान् केवल इसके पहले आठ सर्गों को ही प्रामाणिक मानते हैं। इसका कथानक हिमालय की उपत्यका में खुलता है और उमा तथा शिव के विवाह से संबधित है। विवाह तारकासुर के वधार्थ कुमार कार्तिकेय के जन्म के लिये होता है पर काव्य कुमार के जन्म से पहले ही, शिव पार्वती की सहवासक्रीड़ा के बाद ही, समाप्त हो जाता है। उमा के सौंदर्योल्लास का भंजन शिव के मदनदहन से होता है और जब कठिन तप से उमा का मानस पवित्र हो जाता है तब शिव स्वयं उनके प्रति आत्मनिवेदन कर उनका पाणिग्रहण करते हैं। 'शाकुंतल' के गांधर्व पर 'कुमारसंभव' का यह प्राजापत्य आचार गार्हस्थ्य की चारुता की विजय प्रतिष्ठित करता है। काव्य प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णनों से ओतप्रोत है। 'मेघदूत' की पाश्चात्य समीक्षकों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। अनेकानेक यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। यह खंडकाव्य है, लिरिक, जो प्रायः १२० मंदाक्रांता छंदों में संपन्न हुआ है। संस्कृत में तो इस काव्य का वारंवार अनुकरण हुआ ही है, इसी की छाया में प्रसिद्ध जर्मन कवि शिलर ने अपनी 'मेरिया स्टुअर्ट' की रचना की है। 'ऋतुसंहार' कालिदास की संभवतः प्राथमिक कृति है। यह छह सर्गों में भारत की षड्ऋतुओं का क्रमिक वर्णन करता है, मधुर और जीवत। ऋतुओं के प्राणवान् चित्र एक के बाद एक काव्यपट पर उतरते जाते हैं और निसर्ग अपने सभी रूपों में खुलता चला जाता है। काव्य का प्रमुख विषय प्रकृति ही है पर ऋतुओं का इतना मांसल एकत्र रूपायन कवि ने कभी नहीं किया।

कालिदास की रचनाओं में तत्कालीन ज्ञान का अनंत भंडार खुल पड़ा है। समसामयिक साहित्य, शासन और राजनीति, समाज तथा जनविश्वास, धर्म और राजनीति, ललित कला और वास्तुशिल्प, भूगोल तथा विज्ञान, सभी कवि की कृतियों में असामान्य रूप से प्रतिबिंबित हुए हैं जिससे स्वयं उसके असाधारण ज्ञान तथा सावधि समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है। संसार के किसी कवि ने कभी अपने देश की वास्तविक तथा आदर्श स्थिति का इस मात्रा में अपनी कृतियों में उल्लेख नहीं किया।

कालिदास की अन्य संस्कृत कवियों से विशिष्टता उनकी सहज शैली तथा प्रसाद गुण में है। भाषा के ऊपर किसी संस्कृत कवि का इतना अधिकार नहीं। कवि की सारी रचनाएँ उस वैदर्भी शैली में संपन्न हुई हैं जिसकी स्तुति दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में की है। कालिदास की उपमाएँ अपनी सूक्ष्मता और औचित्य के कारण जगत्प्रसिद्ध हैं। कल्पना उनकी अनन्यसाधारण और अद्भुत गतिमान् है। मानव हृदय के ज्ञान की सूक्ष्मता में यह कवि सर्वथा अनुपम है, भावों तथा आवेगों के वर्णन में अद्वितीय। अपने नाटकों में कवि ने संस्कृत की परंपरा के अनुकूल ही संस्कृत और प्राकृतों का उपयोग किया है। गद्य के लिये वह शौरसेनी का उपयोग करता है, पद्य के लिये महाराष्ट्री का। 'अभिज्ञान शाकुंतल' में नागरिक और धीवर मागधी बोलते हैं पर श्याला शौरसेनी बोलता है।

अपनी रचनाओं में कवि ने अत्यंत कुशलता से निम्नलिखित छंदों का उपयोग किया है: आर्या, श्लोक, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, प्रहर्षिणी, शालिनी, रुचिरा, स्रग्धरा, रथोद्धता, मंजुभाषिणी, अपरवक्त्रा, औपच्छंदसिका, वैतालिकी, द्रुतविलंबित, पुष्पिताग्रिता, पृथ्वी, मंदाक्रांता, मालिनी, वंशस्थ, शिखरिणी, हारिणी, इंद्रवज्रा, मत्तमयूर, स्वाती, तोटक और महामालिका।

कृतियों की उत्तरोत्तर प्रौढ़ता के विचार से उनका क्रम संभवतः निम्नलिखित प्रकार से होगा: ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत और अभिज्ञान शाकुंतल। उनकी एक और रचना 'कुंतलेश्वरदौत्य' का उल्लेख मिलता है पर उसकी कोई प्रति अभी उपलब्ध नहीं है।

कालिदास का स्थान भारतीय समीक्षकों ने तो संस्कृत साहित्य में सर्वोच्च माना ही है, विदेशी पारखियों की राय में भी उनका स्थान संसार के विशिष्टतम कवियों और नाटककारों में है। सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' का जो अंग्रेजी अनुवाद पाश्चात्य संसार को भेंट किया तो उसका प्रभाव उस जगत् पर वैसे ही पड़ा जैसे वेधशाला के अन्वेषकों पर आकाश में नए नक्षत्र के दर्शन का पड़ता है। उस कृति का पश्चिम के महान् साहित्यकारों के कृतित्व पर भी अविलंब प्रभाव पड़ा। गेटे ने अपने 'फ़ाउस्ट' में शाकुंतल के शिल्प का और शिलर ने अपने 'मेरिया स्टुअर्ट' में मेघदूत के शिल्प का उपयोग किया। गेटे ने शाकुंतल के प्रभाव से वशीभूत हो जो रागात्मक उद्गार निकाला, वह अमर वाणी बन गया।

सं०ग्रं०—वी० वी० मीराशी: कालिदास (मराठी और हिंदी); के० सी० चट्टोपाध्याय: द डेट ऑव कालिदास; मोनियर विलियम्स: शाकुंतल; एस० पी० पंडित: विक्रमोर्वशी; वेबर: मालविकाग्निमित्र; सी० एच० टानी: मालविकाग्निमित्र; एस० पी० पंडित: रघुवंश; टी० एच० ग्रिफ़िथ: कुमारसंभव; के० बी० पाठक: मेघदूत; हुल्श: मेघदूत; एम० आर० काले: ऋतुसंहार; बी० एस० उपाध्याय: इंडिया इन कालिदास। (भ० श० उ०)

कालियनाग काद्रवेय कुल की पन्नग जाति का सर्प। इसके पाँच मुख थे और यह बड़े ऐश्वर्य से रमणक द्वीप में रहता था। गरुड़ को प्रसन्न रखने के लिये यह हर पूर्णिमा को उसका भक्ष्य उसके पास पहुँचा देता था। एक बार गरुड़ का भक्ष्य यह स्वयं खा गया। इससे क्रुद्ध हो गरुड़ ने इसपर आक्रमण किया। जान बचाने के लिये यह नंदगाँव के समीप यमुना में वहाँ जा छिपा जहाँ सौभरि के शाप के कारण गरुड़ न जा सकता था। कालिय के कारण उस स्थान का पानी विषमय हो गया और अनेक गाएँ तथा गोप उस पानी को पीकर मर गए। अतः कालिय के निवासस्थान को 'कालीदह' नाम से पुकारा जाने लगा। पश्चात् कंदुकक्रीड़ा के समय कृष्ण ने एक वृक्ष पर चढ़कर कालीदह में छलाँग लगाई और कालिय को नाथकर उसके फन पर खड़े होकर नृत्य किया। लोकप्रसिद्धि है कि कृष्ण के उस समय के अंकित पदचिह्न आज भी काले नागों के फनों पर देखे जा सकते हैं। कृष्ण ने कालिय को पुनः रमणक द्वीप पर रहने की आज्ञा दी और यह प्रबंध भी कर दिया कि गरुड़ इसे सता न सके। कालियनाग को 'कालीनाग' नाम से भी जाना जाता है। (कै० चं० श०)

काली (क) हिंदुओं की एक देवी। इनकी उत्पत्ति के विषय में अनेक कथाएँ प्राप्त हैं। मार्कंडेय पुराण के अनुसार भगवती चंडिका के ललाट से इनकी उत्पत्ति हुई थी। चंडवध के समय असुरों से युद्ध करते करते भगवती का वर्ण कृष्ण हो गया था। उसी समय उनके ललाट देश से करालवदना काली देवी का आविर्भाव असि, पाश आदि शस्त्रों से युक्त हुआ (मार्कंडेय पुराण ८७।५)। अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित देवी के आविर्भाव की कल्पना यूरोप में भी पाई जाती है। यूनानी देवी मिनर्वा का आविर्भाव भी इसी प्रकार हुआ था। बृहन्नीलतंत्र में काली की उत्पत्ति की दूसरी कथा दी गई है। असुरों द्वारा पराजित होने पर देवताओं ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शरण ली किंतु इन तीनों ने अपने को असमर्थ पाकर महाकाली से प्रार्थना की। महाकाली ने तारिणी की सहायता से द्वादश देवियों की उत्पत्ति की जिनमें काली का नाम सर्वप्रथम आया है (बृहन्नीलतंत्र, द्वादश पटल)। स्पष्टतः यहाँ काली को महाकाली का ही एक रूप माना गया है। मार्कंडेय पुराण में महाकाली को लक्ष्मी के तीनों रूपों में से एक माना गया है। कालीपूजा का इतिहास शक्तिपूजा के इतिहास में अधिक प्राचीन नहीं है। द्वितीय शताब्दी ई० पू० से पहले कालीपूजा के अस्तित्व का प्रमाण नहीं प्राप्त होता। प्रथम तो संभवतः शक्तिपूजा की समन्वयात्मक प्रवृत्ति में कालीपूजा को भी सम्मिलित कर लिया गया होगा; बाद में इनकी तांत्रिक पूजा, तथा इनके दर्शन का विकास हुआ होगा।

(ख) काली के प्रकार और मूर्तियाँ—पुराणों तथा आगम ग्रंथों में काली के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं। महाकाली, दक्षिणाकाली, भद्रकाली, श्मशानकाली, गुह्यकाली, रक्षाकाली इत्यादि। ये रूप काली के ही हैं किंतु उपासनाभाव के अनुसार इनके स्वरूप तथा नाम में भेद कर लिया गया है।

महाकाली

मेघाङ्गी विगताम्बरां शवशिवारूढां त्रिनेत्रां परां,
कर्णालम्बितबालयुग्मशुभदां मुण्डस्रजामालिनीम्।
वामेऽधोर्ध्व कराम्बुजे रशिरः खड्गं च सव्येतरे,
दानाभीति विमुक्तकेशनिचयां वन्दे महासुन्दरीम्।
(बृहन्नीलतंत्र, त्रयोदश पटल)

दक्षिणाकाली

ब्रह्मोपेन्द्र शिवास्थिमुण्ड रशनां ताम्बूल रक्ताधरा
वर्षामेघनिभा त्रिशूलमुसले पद्मासिपाशाङ्कुशान्।
शंखं साहियुगं वरं दशभुजैः संबिभ्रतीं प्रेतगां
देवीं दक्षिणकालिकां भगवती रक्ताम्बरां तांस्मरे।
(देवीरहस्य, परिशिष्ट ७)

भद्रकाली

मुण्डं विश्वस्य कर्तुः करकमलतले धारयन्ती हसन्तीं,
नाहं तृप्ता वदन्तीं सकल जनमिदं भक्षयन्तीं सदैव।
श्यामां विष्णुं गिरीशं भुजनिवह बलाच्छूल प्रोतं वहन्ती,
ध्यायेऽहं भद्रकालीं नवजलदनिभां प्रेतमध्यासनस्थाम्।
(देवीरहस्य, परिशिष्ट ७।२३)

इनको विश्वकर्ता (ब्रह्मा) का मुंड हाथ में लिए हुए प्रेतमंस्थित बताया गया है। किंतु इससे इनकी मूर्ति का स्पष्टीकरण नहीं होता। प्रतिमा-लक्षण में उनके अष्टादश भुजा होने का वर्णन है (प्र० ता०, पृ० २२४)

गुह्यकालिका—यह नेपाल में अधिक पूजी जानेवाली देवी हैं। शक्तिसंगम तंत्र के कालीखंड में गुह्यकाली शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। विश्वसार तंत्र में इनकी उपासना की कथा, दीक्षाप्रणाली, मंत्र तथा पूजा-पद्धति का वर्णन प्राप्त होता है।

श्मशानकालिका—शक्तिसंगम तंत्र में इन्हें एकादश गुणों से युक्त बताया गया है। यदा रुद्र गुणा जाता श्मशानकालिका भवेत् (कालीखंड, प्रथम पटल ६१)

वशीकरणकालिका—चतुर्दश गुणों से युक्त काली के स्वरूप को वशीकरणकालिका कहा गया है: चतुर्दश गुणा जाता वशीकरणकालिका, (वही ६२)

सिद्धिकालिका—षड्गुणों युक्त देवी का नाम सिद्धिकाली बताया गया है (यदा षड्गुणिता शक्तिः सिद्धिकाली प्रकीर्तिता, वही ५८)। इसके अतिरिक्त शक्ति के जितने भी स्वरूप प्राप्त होते हैं, ग्रंथों में उन्हें भी काली का ही भेद गिनाया गया है।

पूजा और दर्शन—काली की पूजा का वर्णन अनेक तंत्रों, पुराणों में प्राप्त होता है। कालीतंत्रम्, श्यामारहस्य बृहन्नीलतंत्र, देवीभागवतम्, कालिकापुराण, मार्कंडेय पुराण इत्यादि इनमें प्रमुख हैं। बृहन्नील-तंत्र में कालीपूजा के संबंध में प्रत्येक दिन में षड् ऋतुओं का अवसान माना गया है। इनमें तांत्रिक षट्कर्म करने का आदेश दिया गया है। सुरा को मंत्र से शुद्ध करके सेवन करने का विधान भी आदिष्ट है। काली-पूजा में सुरापान अत्यंत आवश्यक बताया गया है। इस स्थल पर काली को चतुर्भुज कहा गया है। इन चारों हाथों को विशेष आयुधमुद्राएँ होती हैं। दो हाथों से वर तथा अभय मुद्राएँ प्रदर्शित होती हैं। अन्य दो हाथों में खड्ग तथा मुंडमाला होती है, गले में मुंडमाला सुशोभित होती है (बृहन्नीलतंत्र, षष्ठ पटल)। काली की पूजा कार्तिक के कृष्णपक्ष में, विशेषकर रात्रि में, अधिक फलप्रद बताई गई है। (वही, सप्तदश पटल)। पूजा में कालीस्तोत्र, कवच, शतनाम (वही, त्रयोविंश पटल), सहस्रनाम (वही, द्वाविंश पटल) का भी विधान है।

कालीतत्व की मीमांसा करने पर इस पूजापद्धति का एक दर्शन भी परिलक्षित होता है जिसका विकास पुराणों तथा पुराणोत्तर साहित्य में किया गया है। इसके अनुसार अखिल ब्रह्मांड का प्रत्येक कण इस शक्ति के बिना शव स्वरूप है (शक्तिसंगम तंत्र, काली खंड १।२८)। उसका विव ही माया है तथा शिव उसका मन है (वही, १।३०)। सृष्टि के उत्पादनार्थ उस परम शक्ति ने शिव की भर्तृरूप से कल्पना कर ली (वही, १।३३)।
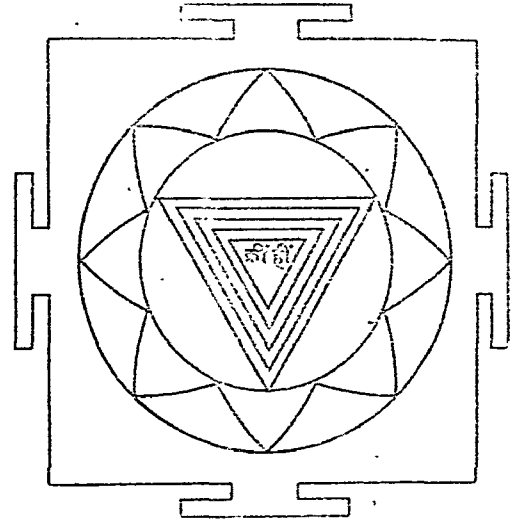
चित्र १.

कई युगों तक विपरीत रति करने के पश्चात् एक बिंदु की सृष्टि हुई, जिससे महालावण्यमयी एक सुंदरी उत्पन्न हुई। उसका नाम महाकाली हुआ। महाकाल अथवा कालतत्व जिसके द्वारा मोहित किया गया है, वही काली है। यह अनादिरूपा है: अनादिरूपा श्रीकाली मायोत्पादन तत्परा। कालो मोहवशं यातः श्रीकाली मायया शिवे (वही, १।४३)। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता उसी से उत्पन्न हैं: ब्रह्म विष्णवादयो देवि तत्रोत्पन्ना महेश्वरि। (वही, ११६६)।

कालीयंत्र—कालीयंत्र का वर्णन अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। कालीतंत्र में इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है:

आदौ यंत्रं प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमरतां व्रजेत।
आदौ त्रिकोणं विन्यस्य त्रिकोणं तवहिर्न्यसेत्।
ततो वै विलिखेन्मंत्री त्रिकोणत्रयमुत्तमम्।
वित्तं लिख्य विधिवल्लिखेत् पद्मं सुलक्षणम्।
ततो वृत्तं विलिख्यैव लिखेद् भूपूरमेककम्।
चतुरस्रं चतुर्द्वारमेवं मण्डलमालिखेत्।
(कालीतंत्रम्, १, ४०–४३)

इसके अनुसार यंत्र चित्र १ की तरह बनेगा। इस यंत्र का कालीपूजा में विशेष स्थान है।

सं०ग्रं०—कालीतंत्रम्; कालीविलासतंत्र, संपादक पार्वतीचरण तर्कतीर्थ; देवीरहस्य; बृहन्नीलतंत्रम्; शक्तिसंगमतंत्रम् (कालीखंड); द्विजेंद्रनाथ शुक्ल: हिंदू कैनन्स ऑव आइकोनोग्राफी।
(चं० भा० पां०)

कालीजीरी एक वाणीद्रव्य है जिसका उपयोग चिकित्सा में होता है। इसे अरण्यजीरक, वनजीरक, करजीरी अथवा कड़वी जीरी भी कहते हैं। यह कंपोज़िटी कुल के वर्नोनिया ऐंथेलमिंटिका (Vernonia anthelmintica) नामक क्षुप का फल (बीजतुल्य) है।

इसका क्षुप २–७ फुट ऊँचा, एक वर्षायु और रूखड़ा (खरस्पर्श) होता है। पत्तियाँ लंबाग्र, ऊपर की ओर क्रमशः छोटी और शल्याकृति (lanceolate) तथा छोटे वृंतवाली होती हैं। फीके जामुनी रंग के सूक्ष्म नलिकाकार पुष्प मुंडकाकार गुच्छों में निकलते हैं, जिनको घेरे हुए निपत्रावलियों का कई निचक्र (involucre) होता है। फल फीके, काले रंग के, लंबे, ऊपर की ओर कुछ स्थूल और शीर्ष पर अस्थायी रोम (pappus hairs) तथा सूक्ष्म स्थायी वल्कच्छदों (स्केल) से युक्त रहते हैं।

करजीरी तिक्त, शीतवीर्य तथा व्रण और कृमिनाशक होती है। दीपक, वातनाशक, ज्वरघ्न और चर्मरोगनाशक के रूप में यह उपयोगी बतलाई गई है। कुछ ग्रंथकार इसे प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित सोमराजी समझते हैं और कहीं कहीं आदिवासियों में इसका 'सेवराज' नाम भी प्रचलित है, परंतु अधिकतर 'सोमराजी' को प्रसिद्ध कुष्ठघ्न द्रव्य 'बाकुची' (Psoralia corylifolia) का ही पर्याय माना जाता है। (व० सि०)

कालीन और उसकी बुनाई कालीन (अरबी क़ालीन) अथवा गलीचा (फारसी ग़ालीचः) उस भारी बिछावन को कहते हैं जिसके ऊपरी पृष्ठ पर साधारणतः ऊन के छोटे छोटे किंतु बहुत घने तंतु खड़े रहते हैं। इन तंतुओं को लगाने के लिये उनकी बुनाई की जाती है, या बाने में ऊनी सूत का फंदा डाल दिया जाता है, या आधारवाले कपड़े पर ऊनी सूत की सिलाई कर दी जाती है, या रासायनिक लेप द्वारा तंतु चिपका दिए जाते हैं। ऊन के बदले रेशम का भी प्रयोग कभी कभी होता है परंतु ऐसे कालीन बहुत मँहगे पड़ते हैं और टिकाऊ भी कम होते हैं। कपास के सूत के भी कालीन बनते हैं, किंतु उनका उतना आदर नहीं होता। कालीन की पीठ के लिये सूत और पटसन (जूट) का उपयोग होता है। ऊन के तंतु में लचक का अमूल्य गुण होने से यह तंतु कालीनों के मुखपृष्ठ के लिये विशेष उपयोगी होता है। फलस्वरूप जूता पहनकर भी कालीन पर चलते रहने पर वह बहुत समय तक नए के समान बना रहता है।

ताने के लिये कपास की डोर का ही उपयोग किया जाता है, परंतु बाने के लिये सूत अथवा पटसन का। पटसन के उपयोग से कालीन भारी और कड़ा बनता है, जो उसका आवश्यक तथा प्रशंसनीय गुण है। अच्छे कालीनों में सूत की डोर के साथ पटसन का उपयोग किया जाता है।

कालीन बुनने के पहले ही ऊन को रँग लिया जाता है। इसके लिये ऊन की लच्छियों को बाँस के डंडों में लटकाकर ऊन को रंग के गरम घोल में डाल दिया जाता है और रंग चढ़ जाने पर उन्हें निकाल लिया जाता है। आधुनिक रँगाई मशीन द्वारा होती है। कुछ मशीनों में (चित्र २) रँगाई प्रायः हाथ की रँगाई के समान ही होती है, किंतु रंग के घोल को पानी की भाप द्वारा गरम किया जाता है और लच्छियाँ मशीन के चलने से चक्कर काटती जाती हैं। दूसरी मशीनों में ऊन का धागा बहुत बड़ी मात्रा में ठूँस दिया जाता है और गरम रंग का घोल समय समय पर विपरीत दिशाओं में पंप द्वारा चलता रहता है। ऐसी मशीनें हाल में ही चली हैं। कालीन में प्रयुक्त होनेवाले ऊन के धागे की रँगाई तभी संतोषजनक होती है जब रंग प्रत्येक तंतु के भीतर बराबर मात्रा में प्रवेश करे। इसका अनुमान तंतु के बाहरी रंग से सदैव नहीं हो पाता और अच्छी रँगाई के लिये कुछ धागों की गुच्छी काटकर देख ली जाती है। अच्छे कालीन के लिये संतोषजनक

चित्र १. रंगने के पहले सूत धोकर साफ किया जाता है।

रँगाई उतनी ही आवश्यक है जितनी पक्की और ठोस बुनाई। कीमती कालीनों के लिये पूर्णतया पक्के रंगों का उपयोग आवश्यक होता है। साधारण कालीनों के लिये रंग को प्रकाश के लिये तो अवश्य ही पक्का होना चाहिए और धुलाई के लिये जितना ही पक्का हो उतना ही अच्छा।

ऊन के ऊपर प्राकृतिक चर्बी रहती है जिससे रंग भली भाँति नहीं चढ़ता। इसलिये ऊन को साबुन और गरम पानी में पहले धो लिया जाता है। साबुन के कुछ दुर्गुणों के कारण संकलित प्रक्षालकों (synthetic detergents) का प्रयोग अब ऊन की धुलाई में अधिक होने लगा है।

हाथ से बुनाई—संसार भर में हाथ की बुनाई प्रायः एक ही रीति से होती है। ताने ऊर्ध्वाधर दिशा में तने रहते हैं। ऊपर वे एक बेलन पर लपेटे रहते हैं जो घूम सकता है। नीचे वे एक अन्य बेलन पर बँधे रहते हैं। जैसे जैसे कालीन तैयार होता जाता है, वैसे वैसे उसे नीचे के बेलन पर लपेटा जाता है, जैसा साधारण कपड़े की बुनाई में होता है। ताने के आधे तार (अर्थात् डोरे) आगे पीछे हटाए जा सकते हैं और उनके बीच बाना डाला जाता है। इस प्रकार गलीचे की बुनाई उसी सिद्धांत पर होती है जिसपर साधारणतः कपड़े की होती है, परंतु एक बार बाना डालने के बाद ताने के तारों पर ऊन का टुकड़ा बाँध दिया जाता है। टुकड़ा काटकर बाँधना और लंबे धागे का एक सिरा बाँधकर काटना, दोनों प्रथाएँ प्रचलित हैं। बँधा हुआ टुकड़ा लगभग दो इंच लंबा होता है और अगल बगल के तारों में फंदे द्वारा फँसाया जाता है। फंदा डालने की दो रीतियाँ हैं। एक तुरकी और एक फारसी जो चित्र ३ से स्पष्ट हो जायँगी। ऊन के फंदों की एक पंक्ति लग जाने के बाद बाने के दो तार (अर्थात् डोरे) बुन दिए जाते हैं। तब फिर ऊन के फंदे बाँधे जाते हैं और बाने के तार डाले
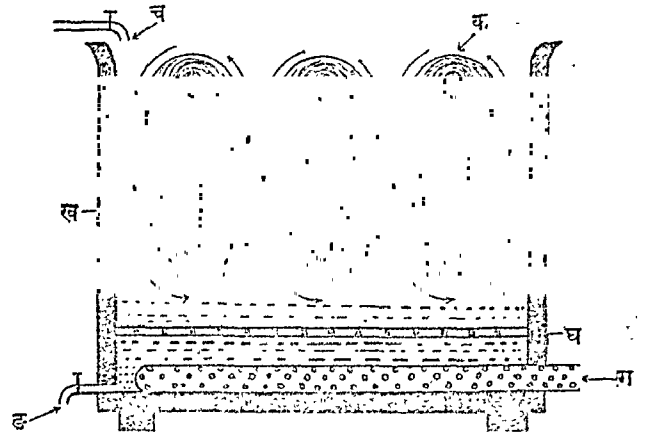
चित्र २. साधारण ऊन रँगने की मशीन

क. ऊन की लच्छी; ख. रंग का विलयन; ग. पानी की भाप; घ. भाप को सीधा लच्छियों पर टकराने से रोकनेवाला भूठा पेंदा; ङ. खाली करने का रास्ता; च. पानी का नल।

जाते हैं। प्रत्येक बार बाने के तार पड़ जाने के बाद लोहे के पंजे से ठोककर उनको बैठा दिया जाता है, जिससे कालीन की बुनाई गफ हो। बाना
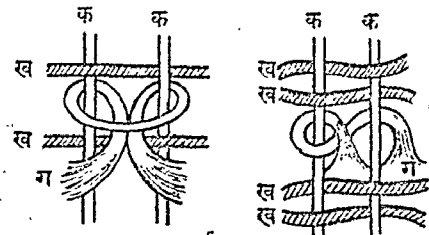
चित्र ३. तुरकी फंदा फारसी फंदा

क. ताना; ख. बाना; ग. फंदा।

डालने की रीति में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो सकता है जिससे कालीन के गुणों में कुछ परिवर्तन आ जाता है। आजकल साधारणतः कालीन बहुत

चौड़े बुने जाते है। इसलिये इनको बुनते समय तानों के सामने कई एक कारीगर बैठते है और प्रत्येक लगभग दो फुट की चौडाई मे ऊन के फदे लगाता है। कारीगर अपने सामने आलेखन (Desi n) रखे रहते हे और उसी के अनुसार रगो का चुनाव करते है। फंदे लगाने की रीति से स्पष्ट हे कि ऊन के गुच्छे कालीन के पृष्ठ से समकोण पर नही उठे रहते, कुछ ढालू रहते है। हाथ के बुने कालीनो का यह विशेष लक्षण हे।

कालीन बुने जाने के बाद ऊन के गुच्छे के छोरो को कैची से काटकर ऊन की ऊँचाई बराबर कर दी जाती हे (द्र० चित्र ५)। आवश्यकतानुसार ततुओ को न्यूनाधिक ऊँचाई तक काटकर उभरे हुए बेलबूटे आलेखन के अनुसार बनाए जा सकते हे। ऐसे कालीनो मे यद्यपि ऊन की हानि हो जाती है तथापि सुदरता बढ जाती हे और ये अधिक पसंद किए जाते है।

कुछ कालीन दरी के समान, किंतु ऊनी बाने से, बुने जाते हे। इनका प्रचलन कम हे।

हाथ से बने प्रथम श्रेणी के कालीन मशीन से बने कालीनों की अपेक्षा बहुत अच्छे होते है। हाथ से प्रत्येक कालीन, विभिन्न आलेखन के अनुसार और विभिन्न नाप, मेल अथवा आकृति का बुना जा सकता है। ये सब सुविधाएँ मशीन से बने कालीनो मे नही मिलती। कालीन मे प्रति वर्ग इंच ऊन के ६ से लेकर ४०० तक गुच्छे डाले जा सकते है। साधारणतः २०–२५ गुच्छे रहते हे। भारत, ईरान, मिस्र, तुर्की और चीन हाथ के बने कालीनों के लिये प्रसिद्ध है। भारत मे मिर्जापुर, भदोही (वाराणसी), कश्मीर, मसूलीपट्टम आदि स्थान कालीनों के लिये विख्यात है और इन सब कालीनो मे फारसी गाँठ का ही प्रयोग किया जाता हे।

मशीन से कालीन की बुनाई—मशीन की बुनाई कई प्रकार की होती हे। सबसे प्राचीन ब्रुसेल्स कालीन है। इसमें कालीन के पृष्ठ पर ऊन के धागों का कटा सिरा नहीं रहता, दोहरा हुआ धागा रहता हे। बुनावट ऐसी होती है कि यदि ऊन पर्याप्त पुष्ट हो तो एक सिरा खीचने पर एक पंक्ति का सारा ऊन एक समूचे टुकड़े मे खिंच जायगा।

चित्र ४. जुलाहा घर में करघे पर कालीन बुन रहा है

फिर कई रगो का आलेखन रहने पर कई रगो के ऊन का उपयोग किया जाता हे और जहाँ आलेखन मे किसी रग का अभाव रहता हे वहाँ उन रगो के धागे कालीन की बुनावट मे दबे रहते है। केवल उसी रंग के धागे के फदे बनते है जो कालीन के पृष्ठ पर दिखलाई पडते हे। इन कारणो से पाँच से अधिक रगो का उपयोग एक ही कालीन मे कठिन हो जाता हे। बारबार एक ही प्रकार के बेलबूटे डालने के लिये छेद की हुई दफ्तियों का प्रयोग किया जाता हे, जैसे सूती कपड़े मे बेलबूटे बनाते समय।
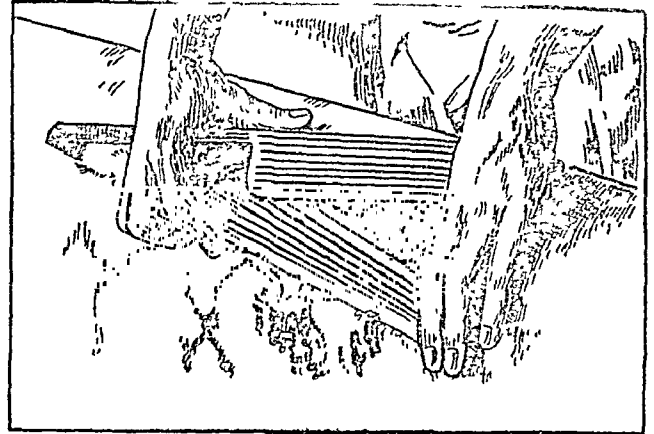
चित्र ५. तैयार कालीन के रोएँ कैंची से काटकर बराबर किए जा रहे हैं।

चित्र ६ से विदित होगा कि ब्रुसेल्स कालीन के ऊपर निकले हुए दोहरे धागे ऊनी ताने (ख) के हिस्से हे। इस कालीन मे तीन रंग के ऊनी
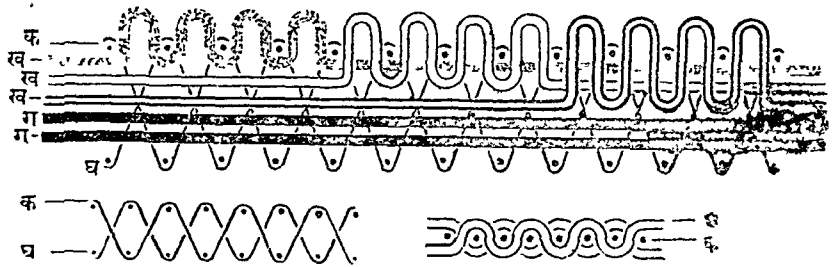
चित्र ६. तीन फ्रेमवाले ब्रुसेल्स की काट

क. सूती ताना; ख. उनी ताना, ग. भराऊ या मृत ताना; घ. बाना।

धागो का उपयोग हुआ है। सूती ताना (क) बाने (घ) की सहायता से कालीन का बुना हुआ आधार बनाता हे। भराऊ या मृत ताने (ग) का उपयोग केवल कालीन को भारी बनाने के लिये किया जाता है और आवश्यक न होने पर इनका उपयोग नही किया जाता।

ऊन का सिरा कटा न रहने के कारण ये कालीन बहुत अच्छे नही लगते। ऊनी धागो का अधिकाश बुनाई के बीच दबा रहता है। इस प्रकार भार बढाने के अतिरिक्त वह किसी काम नही आता और कालीन का मूल्य बेकार बढ जाता हे। इन कालीनो का प्रचलन अब बहुत कम हो गया है।

विल्टन कालीन—विल्टन कालीन की प्रारंभिक बुनावट वैसी ही होती है जैसी ब्रुसेल्स कालीन की, परंतु बुनते समय ऊन के फदो के बीच धातु का तार डाल दिया जाता हे जिसका सिरा चिपटा और धारदार होता है। जब इस तार को खीचा जाता है तब ऊन के फदे कट जाते है और पृष्ठ वैसा ही मखमली हो जाता है जैसा हाथ से बुने कालीन का होता है। मखमली पृष्ठ देखने मे सुदर और स्पर्श करने मे बहुत कोमल होता है। तार खीचने का काम स्वयं मशीन बराबर करती रहती हे।

विल्टन कालीन मे ऊनी मखमली पृष्ठ के गुच्छे ब्रुसेल्स कालीन के दोहरे धागे की अपेक्षा अधिक दृढता से बुनाई मे फँसे रहते है। ये कालीन बहुधा ब्रुसेल्स की अपेक्षा घने बुने जाते हे और इनमे तौल बढाने का प्रयत्न नही किया जाता। कोमलता और कारीगरी के कारण मूल्य अधिक होने पर भी ये कालीन पसंद किए जाते हे। सस्ते कालीनो की खपत अधिक होने के कारण सस्ते ऊनी विल्टन बनने लगे, जिनमे सस्ते ऊनी धागे का उपयोग होता हे। एकरगे विल्टन सबसे सस्ते पडते हे और उन लोगो को, जो एकरंगा कालीन पसंद करते है, ये कालीन बहुत अच्छे लगते हैं।

चौड़े विल्टन कालीन बनाने में तारवाली रीति से असुविधा होती है। इसलिये फंदे बनाने और उनको काटने में धातु के तार की जगह धातु के अंकुशों (Hooks) का उपयोग होने लगा है।
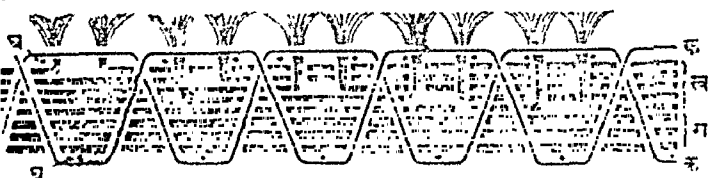
चित्र ७. पाँच फ्रेमवाले विल्टन की काट

क. सूती ताना; ख. ऊनी ताना; ग. भराऊ ताना; घ. बाना।

एक्समिन्स्टर कालीन—मशीन से बने कालीनों में यद्यपि ये कालीन (टफ्टेड को छोड़कर) सबसे नए हैं, तथापि बुनावट में ये पूर्वदेशीय (ईरान, भारत, चीन इत्यादि के) कालीनों के बहुत समीप हैं। समानता इस बात में है कि ये ऊन के धागों के गुच्छों से बने होते हैं, यद्यपि गुच्छे मशीन द्वारा डाले जाते हैं और उनमें गाँठें नहीं पड़ी रहतीं। एक्समिन्स्टर कालीन की विशेषता यह है कि गुच्छे खड़ी पंक्तियों में ताने के बीच डाले जाते हैं। ये डालने से पहले या बाद में काटे जाते हैं और बाने से बुनावट में कसे रहते हैं। प्रत्येक गुच्छा कालीन की सतह पर दिखाई पड़ता है और आलेखन का अंग रहता है। गुच्छों का कोई भी भाग ब्रुसेल्स और विल्टन कालीनों की तरह छिपा नहीं रहता और इस प्रकार व्यर्थ नहीं जाता। फंदे का कम से कम भाग बाने से दबा रहता है।

इंग्लैंड में इनके बुनने की कला १९वीं शताब्दी के अंत में अमरीका से आई और तब से दिनों दिन इसका विकास होता गया। इस कालीन की बुनावट में खर्च कम पड़ता है और सामान (ऊनी, सूती, पटसनी धागा) भी कम लगता है। बुनावट विशेष सघन सुंदर जान पड़ती है और ऐसे कालीनों के बनाने में असंख्य आलेखनों और रंगों के समावेश की संभावना रहती है। अन्य कालीनों के समान इनमें भी कई मेल होते हैं, परंतु बनावट में विशेष भेद नहीं होता। भेद केवल गुच्छों के तंतुओं की अच्छाई, सघनता और उनको फँसाने की विधि में होता है।
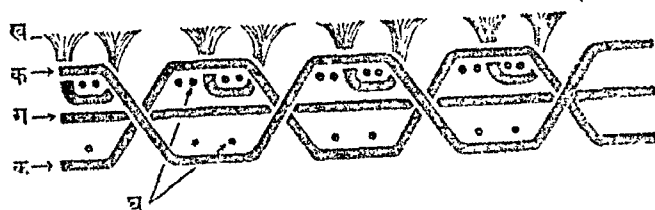
चित्र ८. इंपीरियल एक्समिन्स्टर की काट

क. ताना; ख. गुच्छे; ग. भराऊ ताना; घ. दोहरा बाना।

एक्समिन्स्टर कालीनों की बनावट चित्र ८ में प्रदर्शित की गई है। अलग अलग कंपनियों के कालीनों में थोड़ा बहुत भेद होते हुए भी साधारणतया दोहरे लिनेन का या सूती ताना, सूती भराऊ बाना और पटसन का दोहरा बाना प्रयुक्त किया जाता है।

आधुनिक मशीनें—पहले मशीन से बने कालीन बहुत चौड़े नहीं होते थे। चौड़े कालीनों के लिये दो या अधिक पट्टियों को जोड़ना पड़ता था, किंतु अब बहुत चौड़े कालीन भी मशीन पर बुने जा सकते हैं। प्रायः सब प्राचीन आलेखनों की प्रतिलिपि बनाई जा सकती है और इस प्रकार समय समय पर कभी एक, कभी दूसरा आलेखन फैशन में आता रहता है।

इसके अतिरिक्त कालीन बनाने की मशीन, कालीन की बनावट और धागों को रँगने की विधि में दिनोंदिन उन्नति हो रही है। नियत समय में अधिक से अधिक माल तैयार करना और कम से कम श्रम के साथ तैयार करना, यही ध्येय रहता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ बाद ही संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) के दक्षिणी भाग में सिलाई द्वारा कालीन बनाने की मशीन का आविष्कार हुआ। इनसे 'गुच्छित' (tufted) कालीन बनते हैं। दिन प्रति दिन गुच्छित कालीनों की मशीनों में उन्नति हो रही है। इस समय अमरीका के बाजार में ये कालीन बहुत बड़ी मात्रा में बिकते हैं। गुच्छित कालीनों की मशीनों की माल तैयार करने की क्षमता बहुत अधिक होती है और मशीन लगाने का प्रारंभिक खर्च अधिक होते हुए भी सस्ते कालीन तैयार होते हैं।

इन कालीनों के मुखपृष्ठ और पीठ को एक साथ नहीं बनाया जाता। मुखपृष्ठ के फंदे या तो सिलाई द्वारा पहले से बनी हुई पीठ पर टाँक दिए जाते हैं या गुच्छे रासायनिक लेप द्वारा पीठ के कपड़े पर चिपका दिए जाते हैं। द्वितीय विधि में तप्त करने की कुछ क्रिया के अनंतर चिपकानेवाला पदार्थ पक्का हो जाता है और गुच्छे दृढ़ता से पीठ पर चिपक जाते हैं। ऊन के फंदों के दोनों ओर एक एक पीठ चिपकाकर और फंदों को बीचोबीच काटकर एक ही समय में दो कालीन भी तैयार किए जा सकते हैं।

कालीन बनते समय ही आलेखनों का बन जाना, या कालीन बन जाने के बाद मुखपृष्ठ का रँगा जाना, या छपाई द्वारा आलेखन उत्पन्न करना, इन सब दिशाओं में भी गुच्छित कालीनों में बहुत प्रगति हुई है।

कालीन की उत्तमता—ऊपर कई वर्गों के कालीनों का वर्णन किया गया है। किसी भी वर्ग के कालीन के विषय में यदि कोई अकेला शब्द है जिससे उसके संपूर्ण गुण, दोष, श्रेणी और मूल्य का ज्ञान होता है तो वह कालीन की क्वालिटी है। क्वालिटी प्रधानतः कालीन के मुखपृष्ठ पर ऊनी गुच्छों के घनेपन पर निर्भर रहती है। इस प्रकार ऊँची क्वालिटी, मध्य क्वालिटी, नीची क्वालिटी, कालीन के व्यापार में साधारण शब्द हैं। घने बुने हुए कालीन के लिये साधारणतया बढ़िया और लंबी ऊन का पतला धागा आवश्यक होता है। कीमती ऊन के अधिक मात्रा में लगने के साथ उच्च श्रेणी का ताना बाना आवश्यक होता है। बढ़िया पतले धागे के उपयोग और गाँठों के पास पास होने से कालीन तैयार होने में समय अधिक लगता है। इस प्रकार ऊँची क्वालिटी के कालीन का मूल्य अधिक होता है।

कालीन की क्वालिटी एक वर्ग इंच में गाँठों की संख्या से प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि यह प्रथा तब तक संतोषजनक नहीं होती जब तक यह भी निश्चय न कर लिया जाय कि गाँठें इकहरे धागे से डाली गई हैं या दोहरे अथवा तिहरे धागे से। उदाहरणतः, तिहरे धागे से बना कालीन दोहरे धागे से बने कालीन की अपेक्षा, प्रति वर्ग इंच कम गाँठों का होने पर भी, घना हो सकता है।

मिर्जापुर तथा भदोही में कालीनों की क्वालिटी सूचित करने की प्रथा "क बीस × ख बुतान" सूत्र से सूचित की जाती है। इस क्वालिटी के कालीन में ४० × क गाँठें प्रति गज चौड़ाई में और ८ × ख गाँठें प्रति गज लंबाई में होंगी, अर्थात् कालीन के मुखपृष्ठ पर ३२० × क × ख गाँठें प्रति वर्ग गज होंगी। यदि क = ४ और ख = २५ हो तो गाँठें प्रति वर्ग गज ३२,००० होंगी। (वा० कृ० कि०)

काली नदी उत्तर प्रदेश में इस नाम की दो नदियाँ हैं। पूर्वी काली नदी मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा तथा फर्रुखाबाद जिलों में होकर बहती है। इसका उद्गम मुजफ्फरनगर जिले में २९°१९' उ० अ० तथा ७७°४८' पू० दे० है जहाँ यह नागन के नाम से विख्यात है। मुजफ्फरनगर तथा मेरठ जिलों में इसका मार्ग अनिश्चित रहता है। परंतु बुलंदशहर पहुँचकर यह निश्चित घाटी में बहती है तथा वर्ष भर इसमें जल रहता है। यहाँ इसे काली नदी कहते हैं जो 'कालिंदी' का पारसी लेखकों द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश रूप है। यहाँ पर इसकी दिशा दक्षिण के बजाय दक्षिण-पूर्व हो जाती है। इसी ओर चलती हुई काली नदी कन्नौज से कुछ पहले ही गंगा में मिल जाती है। बुलंदशहर से एटा तक काली नदी में वर्षा तथा नहर से इतना अधिक जल प्राप्त होता है कि पहले यह भाग बाढ़ग्रस्त हो जाता था। अब सिंचाई विभाग ने इस समस्या का उचित उपाय कर लिया है। एटा जिले में लोअर गंगा नहर इस नदी के ऊपर से नदरई ऐक्वेडक्ट द्वारा बहती है। काली नदी की कुल लंबाई ३१० मील है।

पश्चिमी काली नदी उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में शिवालक से १६ मील दक्षिण (३०° उ० अ०, ७७°४५' पू० दे०) से निकलकर दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिण की ओर सहारनपुर तथा मुजफ्फरनगर जिलों में बहती है। मेरठ जिले की उत्तरी सीमा पर यह हिंडन नदी में समा जाती है। (प्रे० चं० अ०)

कालीनिन, मिखाइल इवानोविच (१८७५–१९४६ ई०) रूस के एक छोटे से गाँव में इनका जन्म हुआ था और खेती से ही इनके कुटुंबियों का उदरनिर्वाह होता था। किंतु अपने साहस, बुद्धि और संगठन के बल से ये रूस के राजनीतिक जीवन की एक कड़ी बन गए। इन्होंने प्रारंभिक शिक्षा गाँव की एक छोटी सी पाठशाला में पाई और गरीबी के कारण छोटी उम्र में ही इन्होंने युद्धसामग्री तैयार करनेवाले एक कारखाने में नौकरी कर ली। तत्पश्चात् १६ वर्ष की उम्र में ये सेंट पीटर्सबर्ग नौकरी के निमित्त पहुँचे। १८९८ में ये सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी के सदस्य बन गए। यहीं से इनके राजनीतिक जीवन का प्रारंभ हुआ। इस राजनीतिक दल में मजदूरों की संख्या अधिक मात्रा में थी। अपने क्रांतिकारी और समाजवादी विचारों के कारण इन्हें कई बार जेल की यात्रा करनी पड़ी। विशेष रूप से जब जब ये साइबेरिया भेजे गए तब तब इन्हें बड़ी यातनाएँ भुगतनी पड़ीं। परंतु कारावास से छूटने पर ये अपना राजनीतिक कार्य पूर्ववत् करते रहे। १९१२ में जब इन्हें तीसरी बार साइबेरिया भेजा गया तब कालीनिन गुप्त रूप से वहाँ से भागकर सेंट पीटर्सबर्ग लौट आए। यहाँ पर ये अवैध रूप से रहे और अपना क्रांतिकारी कार्य पूर्ववत् करते रहे। फरवरी, १९१७ और अक्टूबर, १९१९ की रूसी क्रांति में इन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। १९१९ में कालीनिन रूसी साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के सभापति बनाए गए और १९३८ तक उक्त पद पर बने रहे। आजन्म ये पीड़ित किसानों के हितसाधन के लिये प्रयत्नशील रहे, जिनका ये प्रतिनिधित्व करते थे और जिनके लिये उनके हृदय में बहुत सहानुभूति थी। इनके द्वार सदा ही किसानों के लिये खुले रहते थे और ये बड़ी सहृदयता से उनकी समस्या समझने और सुलझाने का प्रयत्न किया करते थे। १९३८ से १९४६ तक ये सर्वोच्च सोवियत की स्थायी समिति के अध्यक्ष थे। १९४६ ई० में मास्को में इनका देहांत हो गया। (शु० ते०)

काली मिर्च वनस्पति जगत् में पिप्पली (Piperaceae) कुल के मरिचपिप्पली (Pipernigrum Linn.) नामक लता सदृश बारहमासी पौधे के अधपके और सूखे फलों का नाम काली मिर्च है। पके हुए सूखे फलों को छिलकों से बिलगाकर सफेद गोल मिर्च बनाई जाती है।

काली मिर्च के पौधे का मूल स्थान दक्षिण भारत ही माना जाता है। भारत से बाहर इंडोनेशिया, बोर्नियो, इंडोचीन, मलय, लंका और स्याम इत्यादि देशों में भी इसकी खेती की जाती है। विश्वप्रसिद्ध भारतीय गरम मसाले में, ऐतिहासिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से, काली मिर्च का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। आयुर्वेदिक ग्रंथों में इसका वर्णन और उपयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। ग्रीस, रोम, पुर्तगाल इत्यादि संसार के विभिन्न देशों के सहस्रों वर्ष पुराने इतिहास में भी इसका वर्णन मिलता है। १५वीं शती में वास्को-डि-गामा द्वारा समुद्रमार्ग से भारत के सुप्रसिद्ध मलाबार के तटवर्ती इलाकों की खोज का मुख्य कारण भी काली मिर्च के व्यापार का आर्थिक महत्व ही था।

आज काली मिर्च अंतरराष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। संसार के कुल देशों में काली मिर्च का उत्पादन गत महायुद्ध के पूर्व के ९६,५२५ मीटरी टनों से गिरकर लगभग ४५,७२५ मीटरी टनों पर पहुँच गया है। इस भारी कमी का मुख्य कारण गत महायुद्ध में इंडोनेशिया की काली मिर्च की खेती का सर्वनाश ही समझना चाहिए। अंतरराष्ट्रीय व्यापार में केवल भारत का उत्पादन ही महायुद्ध के पूर्व के १८,८०० मीटरी टनों से बढ़कर २५,४०० मीटरी टनों से ऊपर पहुँचा है।

काली मिर्च का पौधा त्रावणकोर और मलाबार के जंगलों में बहुलता से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, कुर्ग, महाराष्ट्र तथा असम के सिलहट और खासी के पहाड़ी इलाकों में बहुतांश में उपजाया भी जाता है। दक्षिण भारत के बहुत से भागों में इसकी खेती घर घर होती है। वास्तव में काली मिर्च के भारतीय क्षेत्र का विस्तार उत्तर मलाबार और कोंकण से लेकर दक्षिण में त्रावणकोर कोचीन तक समझा जाना चाहिए।

काली मिर्च का पौधा हरे भरे वृक्षों और दीमक से बचे रहनेवाले अन्य आश्रयों पर लता की तरह चढ़कर खूब पनपता है। इसकी लताएँ स्थूल एवं पुष्ट, कांडग्रंथियाँ स्थूल और कभी कभी मूलयुक्त तथा पत्तियाँ चिकनी, लंबाग्र, संवृत, अंडाकार तथा १०-१८ सें० मी० लंबी और ५-१२ सें० मी० चौड़ी होती है। यह बारहमासी पौधा साधारणतया २५-३० वर्ष तक फलता फूलता रहता है, कहीं कहीं तो ६० वर्ष से भी अधिक तक फलता देखा गया है। यह पौधा समुद्रतट से १,०७० मीटर की ऊँचाई तक होता है। इसे वर्षा द्वारा ही जल की प्राप्ति होती है। स्वभावतः यह पौधा नमी प्रधान और २,०३२ मिलीमीटर से अधिक वार्षिक वर्षा तथा १०° सें० से ४०° सें० तक के तापवाले इलाकों में ही पनप सकता है। पौधों के विस्तार के लिये इनकी कलमें काटकर बोई जाती है। ऊँचे पेड़ों के आश्रय से काली मिर्च के पौधे ३० से ४५ मीटर तक ऊँचे चढ़ जाते हैं किंतु फलों को सुगमतापूर्वक उतारने के लिये इन्हें साधारणतया ६-९ मीटर तक ही बढ़ने दिया जाता है।
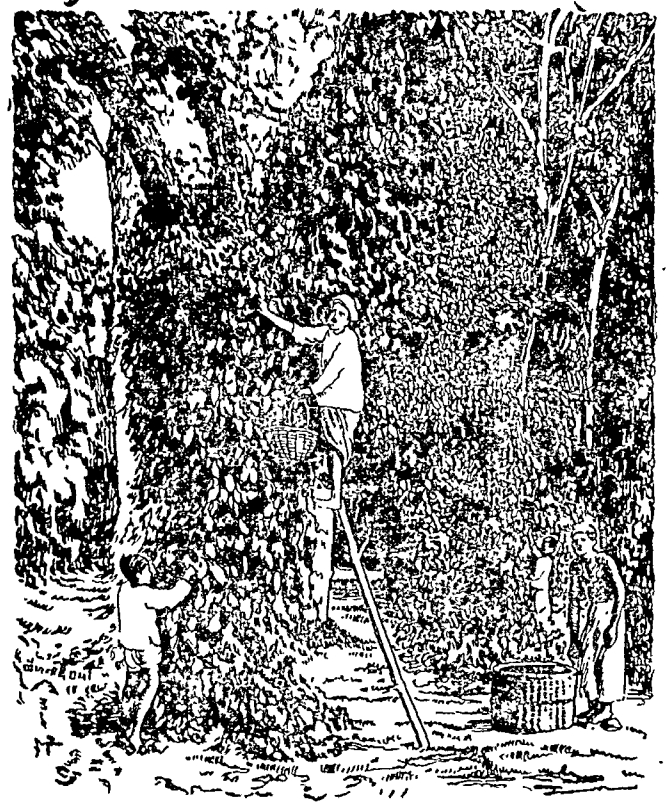
काली मिर्च की लता

काली मिर्च तोड़ी जा रही है।

काली मिर्च के गहरे हरे रंग के घने पौधों पर जुलाई के बीच छोटे छोटे सफेद और हल्के पीले रंग के फूल उग आते हैं और आगामी जनवरी से मार्च के बीच इनके नारंगी रंग के फल पककर तैयार हो जाते हैं। फल गोल और व्यास में ३-६ मि० मी० होता है। साधारणतया तीसरे वर्ष के पश्चात् पौधे फलने लगते हैं। सातवें वर्ष से पौधों पर फलों के १०० से १५० मिलीमीटर लंबे गुच्छे अधिकतम मात्रा में लगने प्रारंभ होते हैं। सूखने पर प्रत्येक पौधे से साधारणतया ४ से ६ किलोग्राम तक गोल मिर्च मिल जाती है। इसके प्रत्येक गुच्छे पर ५०-६० दाने रहते हैं।

पकने पर इन फलों के गुच्छों को उतारकर भूमि पर अथवा चटाइयों पर फैलाकर हथेलियों से रगड़कर गोल मिर्च के दानों को अलग किया जाता है। इन्हें ५-६ दिनों तक धूप में सूखने दिया जाता है। पूरी तरह सूख जाने पर गोल मिर्च के दानों के छिलकों पर सिकुड़ने से झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और इनका रंग गहरा काला हो जाता है। इंडोनेशिया, स्याम आदि देशों में पूर्णतया पके फलों को उतारकर पानी में भिगोने से, छिलकों से विलगाकर, सफेद गोल मिर्च के रूप में तैयार किया जाता है। सफेद गोल मिर्च तेजी और कड़वाहट में काली मिर्च से कम प्रभावशाली होती है। पर स्वाद अधिक रुचिकर होता है। भारत से प्रति वर्ष लगभग २० करोड़ रुपए की लागत की काली मिर्च विदेशों में भेजी जाती है। इस निर्यात में अमरीकी डालरों का भाग लगभग ६४ प्रतिशत से अधिक ही है।

इसके दानों में ५ से ९ प्रतिशत तक पिपेरीन (Piperine), पिपेरिडीन (Piperidine) और चैविसीन (Chavicine) नामक ऐल्केलायडों के अतिरिक्त एक सुगंधित तैल १ से २.६ प्रति शत तक, ६ से १४ प्रति शत हरे रंग का तेज सुगंधित गंधावशेप, ३० प्रति शत स्टार्च इत्यादि पाए जाते हैं।

काली मिर्च सुगंधित, उत्तेजक और स्फूर्तिदायक वस्तु है। आयुर्वेद और यूनानी चिकित्साशास्त्रों में इसका उपयोग कफ, वात, श्वास, अग्निमांद्य, उन्निद्र इत्यादि रोगों में बताया गया है। भूख बढ़ाने और ज्वर की शांति के लिये दक्षिण में तो इसका विशेष प्रकार का 'रसम' भोजन के साथ पिया जाता है। भारतीय भोजन में मसाले के रूप में इसका न्यूनाधिक उपयोग सर्वत्र होता है। पाश्चात्य देशों में इसका विशिष्ट उपयोग विविध प्रकार के मांसों की डिब्बाबंदी में, खाद्य पदार्थों के परिरक्षण के लिये और मसाले के रूप में भी किया जाता है।

सं०ग्रं०—के० आर० कीर्तिकर तथा बी० डी० बसु : इंडियन मेडिसिनल प्लांट्स, खंड ३; आर० एन० चोपड़ा इत्यादि : चोपड़ाज इंडिजिनस ड्रग्स ऑव इंडिया; बी० मुकर्जी : दि इंडियन फ़ारमेस्यूटिकल कोडेक्स, खंड १; आर० एन० चोपड़ा इत्यादि : ग्लासरी ऑव इंडियन मेडिसिनल प्लांट्स; अर्नेस्ट गुंथर : दि एसेंशियल ऑयल्स, खंड ५; एन० एस० व्यासकर मूस : आयुर्वेदिक फ़्लोरा मेडिका, खंड १; के० आर० दामले इत्यादि : रिपोर्ट ऑव द स्पाइसेज एंक्वायरी कमेटी; पी० एब्राहम : पेपर कल्टिवेशन इन इंडिया; डब्ल्यू० ए० पाउचर : परफ़्यूम्स, कास्मेटिक्स ऐंड सोप्स, खंड १; वाइ० आर० नेव्ज तथा जी० मज़ूयर : नैचुरल परफ़्यूम मेटीरिअल्स; अर्नेस्ट पेरी : द केमिस्ट्री ऑव एसेंशियल ऑयल्स ऐंड आर्टिफ़िशल परफ़्यूम्स, खंड १। (सद्०)

काली सिंध नदी मध्य प्रदेश एवं राजस्थान की सीमा पर बहनेवाली चंबल नदी की एक शाखा। इसका उद्गम विंध्याचल की उत्तरी ढाल पर २२° ३६' उ० अ० तथा ७६° २५' पू० दे० पर बरझिरी ग्राम में है। अपने प्रथम १८० मील में यह मुख्यत: मध्य प्रदेश के शाजापुर जिले में तथा उसकी पूर्वी सीमा पर उत्तर की ओर बहती है। उसके पश्चात् यह ४५ मील और बहकर राजस्थान के कोटा जिले में पिपरा के पास २५° ३२' उ० अ० तथा ७६° १९' पू० दे० पर चंबल नदी में मिल जाती है। काली सिंध की चार मुख्य शाखाएँ हैं, मध्य प्रदेश में लकुंदर तथा राजस्थान में पारवान, उजर तथा अहू। काली सिंध की धारा शुष्क ऋतु में बहुत पतली हो जाती है, परंतु यह सदावाहिनी है। इसके ऊपरी भाग में जल का उपयोग सिंचाई के लिये किया गया है। निचले भाग में किनारे बहुत ऊँचे होने के कारण ऐसा उपयोग अभी संभव नहीं हुआ है। भोपाल-उज्जैन तथा बीना-कोटा रेलवे लाइनें काली सिंध को क्रमश: शाजापुर तथा कोटा जिलों में पुल द्वारा पार करती हैं। अनेक सड़कें भी पुल (कॉजवे) द्वारा काली सिंध के पार जाती हैं। भारत के प्राचीन साहित्य में तथा अबुलफजल के वर्णन में काली सिंध को इस क्षेत्र की मुख्य नदियों में से एक कहा गया है। इसके तट पर सारंगपुर तथा गगरौन मुख्य स्थान हैं। (प्रे० चं० अ०)

कावासाकी जापान के हांशू (Honshu) द्वीप में टोकियो की खाड़ी के पश्चिमी तट पर स्थित टोकियो नगर से लगभग १५ मील दक्षिण में एक औद्योगिक नगर है जिसकी जनसंख्या ८,५५,००० (१९६५ ई०) है। यहाँ इस्पात का कारखाना है। यह जहाज निर्माण का बहुत बड़ा केंद्र है। इसके अतिरिक्त बिजली का सामान, रसायन, वायुयान, रेल इंजन (विद्युत्, तेल तथा वाष्पचालित), मोटर गाड़ियाँ एवं कृषियंत्रों का निर्माण भी किया जाता है। यहाँ १२वीं शताब्दी में निर्मित एक प्राचीन मंदिर दर्शनीय है। (न० कि० प्र० सिं०)

कावूर, केमिल वेंसो (१८१०–१८६१) इटली का राजनीतिज्ञ, जिसका जन्म १ अगस्त, १८१० ई० को पीदमांत सेवॉय राज्य के त्यूराँ नामक स्थान में हुआ। सामंत घराने में जन्म लेकर उसने अपना जीवन अपने राज्य की सेना में इंजीनियर के रूप में आरंभ किया। परंतु १८३१ ई० में चार्ल्स एलबर्त के पीदमांत के सिंहासन पर आरूढ़ होने पर उसने सेना से त्यागपत्र दे दिया।

अपने जीवन के प्रारंभिक काल से ही वह उदारवादी विचारधारा से प्रभावित था और निरंकुशता तथा धार्मिक कट्टरता से घृणा करता था। अध्ययन तथा विदेशभ्रमण ने उसे नए युग के नवीन आदर्शों तथा तथ्यों से परिचित कराया। तात्कालिक औद्योगिक क्रांति तथा प्रजातंत्र के उदय से यूरोप के समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा था। कावूर अपने युग की घटनाओं के महत्व को भली भाँति समझता था।

जुलाई, १८३० ई० की फ़ासीसी क्रांति के पश्चात् वह सांवैधानिक अथवा नियंत्रित राजतंत्र का समर्थक हो गया। उसके अनुसार इस राज्य-प्रणाली के आधार से प्राचीन राजतंत्र को नए युग के योग्य बनाया जा सकता था। अतएव वह रूढ़िवादियों तथा जनतंत्रवादियों का समान रूप से विरोध करता था।

यूरोप के इतिहास में उसका महत्व अपने देश इटली की स्वतंत्रता एवं एकता स्थापित करने में है। यद्यपि इस कार्य में मात्सीनी तथा गारीबाल्दी जैसे देशभक्तों ने उसे अपना सहयोग दिया, तथापि कावूर की कार्यकुशलता तथा कूटनीति ही इस जटिल समस्या को हल कर सकी। १८४८ की क्रांति के समय पीदमांत में राष्ट्रीय महासभा का संगठन हुआ। कावूर इसका सदस्य निर्वाचित हुआ। उसने १८४८ के शासनविधान के निर्माण में अपनी क्षमता का परिचय दिया। १८५० ई० में कावूर पीदमांत का व्यवसायमंत्री नियुक्त हुआ और दो वर्ष बाद वह प्रधान मंत्री बना, और बनते ही कावूर ने अनुभव किया कि इटली का उद्धार केवल पीदमांत की शक्ति के बल पर नहीं किया जा सकता। इस कार्य के लिये संपूर्ण इतालवी राज्यों का सहयोग तथा विदेशी सहायता की भी परमावश्यकता होगी।

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने कूटनीति का सहारा लिया। इंग्लैंड तथा फ्रांस के साथ क्रीमिया के युद्ध में भाग लेकर उसने इन प्रबल राज्यों को आस्ट्रिया के विरुद्ध करने का सफल प्रयत्न किया। क्रीमियाई युद्ध की समाप्ति पर पेरिस की संधिपरिषद् (१८५६ ई०) में कावूर संमिलित हुआ। इस अवसर का लाभ उठाकर इटली की समस्या को यूरोप की समस्या बना देने तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध यूरोपीय राज्यों की सहानुभूति प्राप्त करने का कार्य कावूर की कूटनीति का ही फल था।

परंतु इस समय शांतिपूर्ण ढंग से इटली की समस्या का हल असंभव था। १८१५ की वियना की संधि को भंग किए बिना आस्ट्रिया को इटली से नहीं हटाया जा सकता था। परंतु १८४८ ई० की क्रांति से भयभीत यूरोप के राज्यों में १८१५ की वियना संधि का संशोधन करने का साहस नहीं था। ऐसा करने से उन्हें क्रांतिकारी आंदोलनों के पुनरुत्थान का भय था।

अतएव अब इटली को स्वतंत्र करने के लिये कावूर के दूसरा अध्याय प्रारंभ हुआ। कावूर आस्ट्रिया के विरुद्ध समझता था। फ्रांस के सहयोग से उसने आस्ट्रिया से पराजित करने की योजना बनाई। फ्रांस के स

तथा कावूर के बीच हुए समझौते के अनुसार फ्रांस ने इटली की सैनिक सहायता करने का वचन दिया। उत्तरी इटली से आस्ट्रिया के शासन का अंत होने पर नीस और सेवॉय प्रदेशों को, जो फ्रांस तथा इटली के मध्य स्थित थे, फ्रांस को दे देने का भी निश्चय हुआ। इटली के राज्यों में कावूर ने क्रांतिकारी दलों को प्रोत्साहन देना प्रारंभ किया। 'कारबोनारी' तथा 'युवक इटली' आदि समस्त क्रांतिकारी संगठनों से उसको सहयोग मिला।

कावूर का प्रोत्साहन पाकर लोंबार्दी तथा वीनीशिया के क्रांतिकारियों ने आस्ट्रियाई शासन का विरोध करना प्रारंभ कर दिया। इसके अतिरिक्त पीदमांत में निरंतर प्रशा का अनुकरण करके सैनिक शक्ति का संगठन भी आरंभ कर दिया गया। आस्ट्रिया के शासक इन विरोधों से घबरा गए और कावूर को यह आदेश दिया कि नई भर्ती सेना को तोड़ दिया जाय। परंतु कावूर तो इसी अवसर की प्रतीक्षा में था। अतएव १८ अप्रैल, १८५९ को आस्ट्रिया की ओर से युद्धघोषणा कर दी गई। कावूर को अपना ध्येय सफल होने की पूर्ण आशा थी। परंतु नेपोलियन तृतीय ने इस समय अपनी नीति बदल दी। अपने राज्य के निकट एक शक्तिशाली राष्ट्र का उदय उसे फ्रांस के लिये वांछनीय दृष्टिगोचर नहीं होता था। इसके अतिरिक्त फ्रांस का सम्राट् पोप के विरुद्ध भी कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता था जिससे स्वदेश के कैथोलिक उसके विरुद्ध हो जायँ। कावूर अकेला ही युद्ध चलाना चाहता था। परंतु पीदमांत के राजा विक्तर एमानुएल द्वितीय से इस विषय में मतभेद हो जाने से उसने अपना त्यागपत्र दे दिया। परंतु कावूर द्वारा संचालित इस युद्ध के परिणामस्वरूप १० नवंबर, १८५९ को ज्यूरिच में हुई संधि के अनुसार लोंबार्दी, परमा, मोदेना, तथा तुस्कानी प्रदेश पीदमांत के अधिकार में आ गए।

जनवरी, १८६० ई० में कावूर पुनः प्रधान मंत्री हुआ। अब एकता एवं स्वतंत्रता स्थापित करने के लिये कावूर ने नई कूटनीति का सहारा लिया। इंग्लैंड से मैत्री कर उसने फ्रांस के प्रभाव को हटाने का प्रयत्न किया। इंग्लैंड ने इटली के आंतरिक झगड़ों में दखल न देने की नीति की घोषणा की।

फ्रांस के भय को समाप्त करके कावूर ने आस्ट्रिया के शासन को पूर्ण रूप से इटली से समाप्त करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया। विक्तर एमानुएल की ओर से लड़ने की घोषणा करते हुए गारीबाल्दी ने दक्षिण इटली के सिसिली एवं नेपुल्स नामक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। यद्यपि कावूर गारीबाल्दी के क्रांतिकारी ढंग का समर्थन नहीं करता था और उसे गारीबाल्दी की सैनिक शक्ति से एकता भंग होने का भी भय था, तथापि गारीबाल्दी के महान् सहयोग के कारण वह सफल हुआ और ये प्रदेश पीदमांत के राजा की अधीनता में आ गए। रोम को छोड़कर पोप का सारा राज्य भी पीदमांत में मिला लिया गया।

इस प्रकार कावूर की कूटनीति के बल से वीनीशिया तथा रोम को छोड़ समस्त इटली राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बँध गया। १८ फरवरी, १८६१ को इटली की राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन हुआ। अपने कार्य को पूर्ण करके १८६१ में ही कावूर की मृत्यु हो गई। यद्यपि इटली की स्वाधीनता तथा एकता स्थापित करने में अनेक महान् आत्माओं ने अपना सहयोग दिया, तथापि यह निश्चित है कि कावूर की कूटनीति से ही इटली यूरोप की सहानुभूति प्राप्त कर सका। स्वाधीनता के पश्चात् एकता स्थापित करने का महान् रचनात्मक कार्य भी उसकी कुशल नीति का ही फल था। इसी से कावूर इटली के देशभक्त राजनीतिज्ञों में अग्रणी समझा जाता है।

सं०ग्रं०—ए० जी० ह्वाइट : अर्ली लाइफ़ ऐंड लेटर्स ऑव कावूर (१८१०-१८४८), ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, हम्फ्री, मिलफ़ोर्ड, १९२५; ए० जी० ह्वाइट : द पोलिटिकल लाइफ़ ऐंड लेटर्स ऑव कावूर (१८४८-१८६१), लंडन, एच० एम० १९३०; द काउंटेस एविलिन मार्टिनन्गो सेसारेस्को : कावूर, मैकमिलन ऐंड कं० लिमिटेड, सेंट मार्टिन स्ट्रीट, लंदन, १९१४; विलियम रॉस्को टेअर : द लाइफ़ ऐंड टाइम्स ऑव कावूर, बोस्टन ऐंड न्यूयॉर्क, हाउटन मिफ़लिन कंपनी, द रिवरसाइड प्रेस, कैंब्रिज, १९११। (दे० रा० सिं०)

कॉवेंट्री इंग्लैंड के वॉरिकशिर प्रदेश में कॉवेंट्री जिले का मुख्य नगर है, जो ५२° २४' उ० अ० और १° ३२' प० दे० पर लंदन नगर से रेल द्वारा ९४ मील उत्तर-पश्चिम, एवन नदी की सहायक नदियों शेरबोर्न और रेडफ़ोर्ड ब्रुक के संगम पर स्थित है। इस नगर की गणना इंग्लैंड के प्राचीनतम नगरों में की जाती है। यह पूर्वकाल में दीवारों द्वारा घिरा था और एक समय अपने सुंदर गिरजाघरों के लिये प्रसिद्ध था। कुल जनसंख्या ३,३५,२३० है (१९७०)। नवंबर, १९४० ई० और अप्रैल, १९४१ ई० में नात्ज़ी वायुसेना के आक्रमणों ने नगर को अत्यधिक क्षति पहुँचाई थी। १२१६ ई० में भी यह नगर ऊन, कपड़े और टोपियों के व्यापार तथा रेशम की रँगाई का प्रसिद्ध केंद्र था। वर्तमान उद्योगों में बाइसिकिल, मोटर गाड़ियाँ, वायुयान, तार और टेलीफ़ोन संबंधी यंत्र, मशीनों के औजार, युद्धसामग्री और रेयन उद्योग उल्लेखनीय हैं। यहाँ सड़क, रेल और नहर मार्गों की प्रचुरता है। (सु० प्र० सिं०)

कावेरी दक्षिणी भारत की ४७५ मील लंबी एक नदी है जो पश्चिमी घाट में (अरब सागर से केवल २० मील दूर) कुर्ग की पहाड़ियों से निकलकर दक्षिण-पूर्व में कर्नाटक एवं तमिलनाडु राज्यों से प्रवाहित होकर डेल्टा बनाती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। कुर्ग एवं पश्चिमी मैसूर में यह एक पहाड़ी झरना मात्र है तथा इसका मार्ग पथरीला है। मैसूर नगर से १२ मील उत्तर-पश्चिम कावेरी तथा इसकी सहायक हेमवती और लक्ष्मणतीर्थ की त्रिवेणी पर एक बाँध बनाकर कृष्णराजसागर जलतड़ाग का निर्माण किया गया है, जिससे ९२,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। काबिनी तथा शमशा नदियाँ पठार की अन्य सहायक नदियों में प्रमुख हैं। आगे चलकर कावेरी मैसूर नगर से ३५ मील पूर्व शिवसमुद्रम् द्वीप द्वारा दो भागों में विभक्त हो जाती है। यहाँ ३२० फुट ऊँचे जलप्रपात हैं जिनके द्वारा जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। मद्रास राज्य में प्रवेश करने पर भवानी नदी, जो नीलगिरि पर्वत से निकलती है, कावेरी की सहायक बनती है। त्रिचनापल्ली के निकट यह पुनः सेरिंगम् (Seringam) द्वीप द्वारा दो प्रमुख शाखाओं में विभक्त हो जती है। इसकी दक्षिणी शाखा का नाम 'कोलरून' है। यहाँ से तंजौर का सुप्रसिद्ध उर्वर डेल्टा प्रदेश आरंभ होता है जो दक्षिण भारत का उद्यान कहा जाता है। यह उत्तम प्रकार का चावल उत्पन्न करने के लिये प्रसिद्ध है।

डेल्टा प्रदेश की सिंचाई प्रणाली अत्यंत प्राचीन है। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व निर्मित एक बाँध अभी तक अच्छी स्थिति में विद्यमान है। सन् १९३४ ई० में 'कालरून' पर १७६ फुट ऊँचे तथा २,२५० फुट लंबे मेटूर बाँध का निर्माण कर ६०,००,००० एकड़ भूमि सींचने की व्यवस्था की गई थी। दोनों राज्यों में कावेरी नदी से लगभग १३ लाख एकड़ भूमि सींची जाती है। नहरों एवं प्रशाखाओं की कुल लंबाई क्रमशः १,५०० मील तथा २,००० मील है। कावेरी का औसत वार्षिक जलसंचार १२० लाख एकड़ फुट है जिसमें से सन् १९६० ई० तक लगभग २०० लाख एकड़ फुट जल उपयोग में लाया जा चुका है। सिंचाई के अतिरिक्त जोग, कृष्णराजसागर, शिवसमुद्रम्, मेटूर आदि स्थानों पर जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। यह नदी बहुत ही पवित्र मानी जाती है अतः इसे दक्षिणी गंगा कहते हैं। (न० कि० प्र० सिं०)

काव्य (व्युत्पत्ति) "कवि की कृति या भाषामयी सृष्टि को 'काव्य' (लोकोत्तरवर्णना निपुणस्य कवेरिदं कर्म भावो वा काव्यम्) कहते हैं।"

लौकिक साहित्य की परंपरा में वाल्मीकि आदिकवि हैं, रामायण आदिकाव्य है, व्यास पुराणकवि हैं, एवं महाभारत पुराणकाव्य है। अर्थवैशिष्ट्यपूर्ण, प्रतिभा से उद्भासित, कल्पना से आकलित, भाव से उन्मिषित शब्दमयी सृष्टि का सर्जक 'कवि' है। इस वाणीमयी सृष्टि के—काव्यत्व के आविर्भावार्थ, उसका (काव्य का) प्रतिभाप्रेरित होना, कल्पना और भावना से अनुप्राणित होना, वर्णन और अभिव्यंजन की निपुणता से चारुतासंपन्न होना तथा देश, काल और समाज का अनुसरण करनेवाले लोकशास्त्र के कलाशिल्पी द्वारा निर्मित होना आवश्यक है, क्योंकि कवि

ही अपने काव्यलोक की सर्जना का स्वच्छंद प्रजापति है। वह द्रष्टा भी है और स्रष्टा भी।

'कवि'—शब्द सापेक्ष्य परंपरालब्ध उक्त अर्थ के अतिरिक्त भी, भारत और पश्चिम के आचार्यों ने काव्य के परिचेय लक्षणों का आख्यान किया है। अधिकांश भारतीय आचार्यों ने, ऐसा लगता है, विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ को काव्य का दृश्य कलेवर माना है। मुख्य और आत्मस्थानी तत्व इससे कुछ अन्य है। काव्य की आत्मा वही तत्व है जिसका निर्धारण और निरूपण करते हुए भारतीय आचार्यों के मतानुसारी शास्त्रीय संप्रदाय ही चल पड़े।

इन संप्रदायों के लक्षण सूचित करते हैं कि कुछ आचार्यों ने वाह्य उपादानों (गुण, रीति, शब्दार्थालंकारों) को काव्य में प्रमुख माना तो दूसरों ने रस, ध्वनि आदि आभ्यंतर तत्वों को। इन लक्षणों के अलावा साहित्यशास्त्रियों ने अपने आलोचनाग्रंथों में 'काव्य' का परिचायक अभिज्ञानलक्षण भी बताया है। उनके प्रतिपाद्य का विश्लेषण करने पर निष्कर्ष निकलता है कि कुछ ने विशिष्ट प्रकार के 'शब्द' को और कुछ ने विशिष्ट प्रकार के 'शब्द और अर्थ के युगल' को 'काव्य' माना है। 'विशिष्ट शब्द अर्थ के युगल' को काव्य माननेवालों में प्रथम भरत मुनि हैं। दृश्य काव्य के संदर्भ में उन्होंने शुभ (श्रव्य या पाठ्य) काव्य की विशिष्टता बताई है। वहीं अलंकार और रस के मूल तत्वों का संकेत मिलता है। भरत के अनंतर भामह, रुद्रट और उद्भट ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के सिद्धांत को मानकर शब्द और अर्थ के साहित्य मात्र को काव्य बताया एवं गुणसंपन्न शब्दार्थयुगल को ही वे 'काव्य' मानते हैं। वक्रतापूर्ण कविव्यापार से संपन्न एवं काव्यरसिकों को प्रसन्न करनेवाले शब्दार्थ के साहित्य की सर्जना को 'कुंतक' ने भी काव्य माना है। 'मम्मट' का मत मानते हुए 'हेमचंद्र' ने भी दोषरहित, गुणसहित, कहीं सालंकार और कहीं अनलंकृत शब्द-अर्थ-युगल को ही 'काव्य' स्वीकार किया है। 'प्रतापरुद्रीय' और 'अलंकारचंद्रिका' नामक ग्रंथों में भी प्रायः यही मत अंगीकृत है। इस धारा का विश्लेषण करने पर दो आचार्यों के लक्षणों की प्रधानता लक्षित है। प्रथम है भामह, जिन्होंने निर्विशेष रूप से शब्द और अर्थ के सहभाव में काव्यत्वनिर्देश किया (यद्यपि उनके ग्रंथ में, भेदक वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है), अन्य भेदक गुणधर्मों का नहीं। रुद्रट, उद्भट आदि ने उसी का अनुसरण किया। वामन ने आगे बढ़कर, शब्दार्थ में गुणालंकार के परिष्करण को काव्यत्व के लिये स्पष्टतः अपेक्षित माना। उनके मत में 'अलंकार' का व्यापक अर्थ यहाँ गृहणीय है, न कि संकुचित अर्थ। गुण भी केवल शब्द के ही नहीं, रीतिवादी वामन ने यहाँ अर्थ के भी माने गए हैं। द्वितीय प्रमुखता 'मम्मट' के लक्षण की है, जिसे थोड़े हेरफेर के साथ, हेमचंद्र आदि ने ग्रहण कर लिया। काव्यसामान्य के लक्षण में समानता दिखाई देने पर भी इनके ग्रंथों का अध्ययन सूचित करता है कि काव्यचित्त की इनकी धारणाओं (कंसेप्शंस) में प्रायः अंतर है। वामन रीति को आत्मा और शब्द-अर्थ को शरीर मानते हैं तो 'ध्वनिकार' के मत से 'ध्वनि' और उसमें भी 'रसध्वनि' काव्य की आत्मा है तथा शब्दार्थ उसके प्रत्यायक उपकरण हैं। मम्मट भी रस को अंगी या आत्मस्थानीय तत्व मानते हैं और गुणों को उसके धर्म। निष्कर्ष यह कि इन आचार्यों के अपने अपने विषयविस्तार में विविधता है। कोई वाह्य अंग का मुख्यतः परिचायक है और आंतर तत्व का संक्षेपतः, जैसे—दंडी, वामन, रुद्रट आदि; तो दूसरे—आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि—आभ्यंतर तत्व का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। विशिष्ट शब्दमात्र के काव्यत्वसमर्थकों में दंडी प्रथम हैं। इन्होंने इष्ट-अर्थ-युक्त पदावली को 'काव्य' (काव्यं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली) कहा है। 'अग्निपुराण' भी इसे ही मानता है, पर मम्मट के समान काव्य का गुणसहित, दोषरहित और स्फुटालंकारयुक्त होना वहाँ आवश्यक है। काव्य में रस की महत्ता माननेवाले शौद्धोदनि और केशव मिश्र ने 'रसादि से युक्त सुखविशेषकारक भणिति' को काव्य माना है। जयदेव के 'चंद्रालोक' में—'निर्दोष लक्षणवाली, रीतिगुणभूषिता और वृत्तियोंवाली वाणी, को ही 'काव्य' बताया गया है। यहाँ 'काव्य' के वाह्यांगों के साथ साथ वृत्तियों और रसादि की भी महनीयता स्वीकृत है। 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्य' को ही काव्य माना है। रस के अंतर्गत रस, रसाभास, भाव, भावाभास आदि भी अंतर्भुक्त हैं। काव्यलक्षण में दोषराहित्य एवं गुणसाहित्य को विशेषण न मानकर उन्होंने गुणदोषों को काव्य के उत्कर्षक-अपकर्षक रूप में ग्रहण किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द' को ही काव्य का पद दिया है। 'रमणीय' से यहाँ 'लोकोत्तर आनंद' का अर्थ अभिप्रेत है। इस रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। 'विशिष्ट शब्दवादी' धारा में शब्दप्रतिपाद्य अर्थ को कहीं 'इष्टार्थरूप' माना है तो कहीं 'अलंकाररूप' में, कहीं उसे 'रसात्मक' कहा है तो कहीं 'रमणीय'। भोजराज के लक्षण में दोषहीनता, गुणयुक्तता, सालंकृतता के साथ रसयोग तो आवश्यक है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि वे शब्दवादी हैं या शब्दार्थवादी। संभवतः वे शब्दार्थवादी ही हैं। कुंतक ने केवल 'विशिष्ट अर्थ' को काव्य माननेवाले तीसरे वाद का भी संकेत किया है। सारांश यह कि विभिन्न आचार्यों के विविध मतों में रीति, गुण, अलंकार, रस, भाव आदि प्रायः सभी तत्व—उपादान और उपकरण तो हैं पर एक ने यदि किसी तत्व को सर्वप्रथम और अन्य को सहायक माना तो दूसरे ने इतर को प्रधान और अन्य को सहायक। मम्मट ने कविभारती के (काव्य की अभिनंदना के संदर्भ में) काव्य का कुछ व्यापक स्वरूप उपस्थित करते हुए कहा है—'कवि की सर्जना, नियतिकार स्रष्टा की सृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र है, सृष्टिनियम के बंधनों से मुक्त। वह सौंदर्यानंद एवं कलात्मक सुखानुभूति से अंतर्बहिः ओतप्रोत है, नव नव रसभावों की मनोहारिता से पूर्ण।' सामान्यतः कारयित्री प्रतिभा से संपन्न कवि के रचनाविशेष को भारतीय आलोचकों ने काव्य माना है। वहाँ गद्य पद्य का भेद नहीं है। स्थूलतः उसके दो भेद हैं, (१) श्रव्य काव्य और (२) दृश्य काव्य। प्रथम के पुनः तीन भेद हैं—(क) गद्यकाव्य (कथा, आख्यायिका आदि), (ख) पद्यकाव्य (महाकाव्य, खंडकाव्य)—जो दोनों एक प्रकार से प्रबंध काव्य के ही भेद हैं—(मुक्तक आदि), (ग) चंपू (गद्य-पद्य-उभयात्मक)। द्वितीय के अंतर्गत रंगमंच पर अभिनेय संवादात्मक समस्त नाट्यविधाओं का समावेश है। यहाँ यह स्मरणीय है कि छंदोबद्ध पद्यमात्र काव्य नहीं है। आवश्यक और उपकारक उपादानों के योग से ही पद्य को काव्य की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत में केवल पद्यात्मक कविकृति को ही 'काव्य' नहीं मानते अपितु 'कादंबरी' जैसी गद्यात्मक रचना भी 'काव्य' कही गई है। आधुनिक हिंदी में 'गद्यकाव्य' नामक विधा भी गद्य में ही निर्मित होती है। मात्राओं और वर्णों पर आधारित छंदों के न रहने पर भी लयपूर्ण साहित्योक्ति को कविता कहते हैं। वर्ण-मात्रा-बंधन-रहित पर लय (यति-बंध-रहित) पर लय (रिद्म) और आरोहा-वरोहमयी भाषा में स्वच्छंद छंद या निर्बंध छंद की कविता आज प्रचलित है जो पद्यात्मक नहीं—गद्याभास होती है। अतः 'स्वच्छंद छंद' और 'निर्बंध' गद्याभास रचना भी उपर्युक्त वैशिष्ट्यसंपन्न होने से कविता मानी जाती है। कोटिस्तर की दृष्टि से मम्मट ने (तथा साहित्यदर्पण में भी) काव्य के तीन भेद कहे हैं—(१) **उत्तम** (ध्वनिकाव्य), जहाँ वाच्य और लक्ष्य अर्थों की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान और चारुतर हो, (२) **मध्यम**, जहाँ व्यंग्यार्थ का गौण स्थान हो और वाच्य अलंकारादि मुख्य और रम्यतर हों, तथा (३) **अवर** (या अधम, चित्रकाव्य), जहाँ मुख्यतः शब्द और अर्थ के अलंकार या अलंकारों का ही प्राधान्य और चमत्कार हो, व्यंग्यार्थ का नहीं। ये ही भेद विभेद प्रायः आगे भी मान्य रहे। पंडितराज ने एक और भेद जोड़कर कमबेश उसे ही स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः देखा जाय तो 'ध्वन्यालोक' का 'रसवाद', मम्मट का समर्थन पाकर, प्रमुख रूप से चलता रहा। भोज ने 'शृंगार' को रसमूल मानकर रस सिद्धांत में एक नई कड़ी जोड़ी पर वह मत चला नहीं। काव्यनिर्माण के उद्भावक हेतु का विचार करते हुए (१) 'शक्ति' (काव्यकल्पना की क्षमतायुक्त प्रज्ञा या प्रतिभा), (२) 'निपुणता' (व्युत्पत्ति, शास्त्रज्ञानजन्य योग्यता) और (३) 'अभ्यास'—इन तीनों को समुचित रूप से उद्भव कारण बताया गया है। पर किसी किसी आचार्य ने इस न्वित तत्व को ही 'प्रतिभा' सिद्ध करते हुए उसे ही उद्भवहेतु 'कारयित्री प्रतिभा' से काव्यसर्जना और 'भावयित्री प्रतिभा' क्षमता प्राप्त होती है। मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्यप्र

व्यापक तथा व्यावहारिक है। उनके अनुसार काव्य का निर्माण यश के लिये, धन के लिये, अशिव की निवृत्ति और शिव की साधना के लिये, व्यवहारज्ञान के निमित्त, कांतासंमित मधुर-मनोहर उपदेश और शिक्षा के लिये तथा ब्रह्मास्वादसहोदर काव्यानंद का आस्वादन करने के लिये होता है।

पाश्चात्य आलोचना की दृष्टि से काव्यकला पाँच ललित कलाओं में सर्वप्रमुख है। माध्यम की स्थूलता एवं इंद्रियमूलकता के कारण 'वास्तु' और 'मूर्ति' कलाओं की प्रभावव्याप्ति में गत्वरता कम है। 'चित्र' और 'संगीत' कलाओं की वर्णयोजना और स्वरयोजना में स्थूलता, पूर्वोक्त कलाओं की अपेक्षा कुछ कम है, पर गतिशीलता भी अधिक नहीं है। परंतु काव्यकला (या साहित्यकला) शब्दमाध्यम से जिन अर्थचित्रों या भावचित्रों की उद्भावना करती है उनमें सबसे अधिक गत्वरता है, अतएव प्रभावव्याप्ति भी व्यापकतर तथा अधिक सशक्त है। काव्य का संबंध भाव और अनुभूति, चेतना और संवेदना, प्रतिभा और कल्पना से होने के कारण वह मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र की निरूपण-सीमा से आश्लिष्ट है तथा कलाविद्या होने से सौंदर्यशास्त्र की विवेचन-परिधि भी उसका संस्पर्श करती है। साहित्य का एक रूप होने से साहित्य-शास्त्रीय आलोचना और मानव-समाज-संपृक्त होने से सामाजिक शास्त्र भी उसके विनियोग-उपयोग का विचार करते हैं। फलतः पश्चिम के दार्शनिकों, सौंदर्यशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, साहित्यालोचकों और सामाजिकशास्त्रज्ञों ने नाना दृष्टिविंदुओं से, बड़ी गहराई के साथ काव्य का अनुशीलन किया है। उन्होंने काव्य के बाह्य-आभ्यंतर उपकरणों और निर्माणप्रेरणाओं के साथ साथ रचनाशिल्प, अभिव्यक्तिशैली, प्रभाव की प्रक्रिया एवं सीमा आदि का विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी संदर्भ से उन विचारकों ने काव्य के लक्षण और उसकी परिभाषाएँ भी अनेक रूपों में दी हैं। (ललित). कला को, काव्य को प्लेटो ने 'वस्तु की अनुकृति की अनुकृति' कहते हुए उसे अमूर्त शाश्वत सत्ता के अवास्तविक, पर गोचर आकृति का अनुकरण बताया है तथा धार्मिकता और नैतिकता से विरुद्ध एवं असत्य का प्रचारक तथा अशिव मानकर उसे समाज के लिये निषिद्ध घोषित किया है। अरस्तू ने काव्य को वस्तुसत्ता की अनुकृति मानते हुए भी उसे 'सुंदर' तथा 'सुखद' माना। उन्होंने प्लेटो के अर्थ से भिन्न 'अनुकृति' का तात्पर्य ग्रहण करते हुए 'अनुकृति' को पुनःसर्जना (रिक्रियेशन) का रूप प्रदान किया। नृत्य, गान और चित्रकला के समान अनुकृतिमूलक होकर भी, काव्यकला अपने साधन, प्रयोजन और अनुकरणप्रक्रिया की भिन्नता के कारण, उनसे भिन्न है। 'अनुकृति' को 'काव्य' माननेवाले इन दार्शनिकों के मत से काव्य का स्वरूप सत्तात्मक न होकर असत्तात्मक (या अभावात्मक) आधार पर स्थित है। अतः असत्य या भ्रांति भी उसे कह सकते हैं। सिडनी का कथन है कि 'काव्य तो अनुकरण की ही कला है; या अलंकृत भाषा में कह सकते हैं कि वह ऐसा बोलता हुआ चित्र है जो शिक्षा और आनंद देता है।' इसी ढंग की बात कालरिज ने भी कही है—'काव्य-सत्यान्वेषी, सत्यशोधी विज्ञान का उलटा है। उसका उद्देश्य आनंद देना है, सत्य नहीं।' उन्होंने यह भी बताया कि 'सुष्ठुतम शब्दों की उत्कृष्टतम या चारुतम योजना ही काव्य है।' मेकाले ने भी काव्य में अलीकचित्र (इल्यूजन) को महत्व देते हुए कहा है —'काव्य उस कला को कहते हैं जिसमें शब्दों का विनियोजन इस ढंग से किया जाय कि वे कल्पना में अलीकचित्र की सर्जना करें।' चित्रकार रंगों से जो प्रभाव उत्पन्न करता है, वही काव्यकार शब्दों से करता है। इन मतों के अनुसार काव्य प्रायः असत्य या अलीकचित्र उत्पन्न करता है जिससे कभी शिक्षा मिलती है, कभी आनंद और कभी दोनों। दूसरी ओर वान नाफ़ काव्य को 'सत्य की संवेदना का मुखर प्रयास' मानते हैं। कैंपबेल भी उसे 'सत्य का मुखर स्वरूप' स्वीकार करते हैं। प्रो० डब्ल्यू० हेल्म के अनुसार 'काव्य का लक्ष्य सत्य की उज्वल ज्योति का प्रकाशन है, पर उसे प्रभावशाली बनाने के लिये उसमें इंद्रधनुष की सी मोहक रंगीनी भी आवश्यक है'। इस परिचय में साध्यनिर्देश के साथ साथ साधनशिल्प का भी संकेत है। जानसन का कहना है कि 'काव्य छंदोमयी निर्मिति है। उसमें कल्पनासहकृत विवेक द्वारा सत्य का, आनंद के साथ संयोजन स्थापित होता है'। इन लक्षणों से काव्य में 'सत्य' का संपर्क सूचित होता है। मिल ने बताया है—'काव्य उन विचारों और शब्दों (शब्दों अर्थों) को कहते हैं जिनमें सहज और आयासहीन ढंग से भाव (और आवेग) घुले मिले हों'। यहाँ काव्य में भावतत्व का स्पष्टतः समावेश लक्षित है। हैज़लिट भावना के साथ कल्पना को भी आवश्यक बताते हैं। उनके मत से 'कल्पना' और भावावेश की भाषा ही काव्य है।' ले हंट का कथन है—'सत्य, सौंदर्य और शक्ति के वेगमय भावों का अभिव्यंजन ही काव्य है और इस अभिव्यक्ति में विचारों को आत्मसात् करके कल्पना और भावना द्वारा उन्हें स्पष्ट किया जाता है'। यहाँ सत्य, सुंदर, शक्ति, कल्पना, भावना—इन सभी तत्वों के समन्वय से 'काव्य' का सर्जन माना गया है। कारलाइल के मत से भी, 'मनोवेगयुक्त संगीतमय भाषा में मानव के अंतस्तल की साकार एवं कलामय अभिव्यक्ति काव्य है'। मैथ्यू आर्नल्ड यद्यपि काव्य को 'जीवन की समीक्षा' मानते हैं तथापि वे कहते हैं कि 'काव्य, मानवप्राणी की उस अभिव्यक्ति का सर्वाधिक पूर्णतम रूप है जिसे प्रकट करने की क्षमता मनुष्य के शब्दों को ही हो सकती है।'

एडगर ऐलेन पो ने 'सौंदर्य की लयपूर्ण सर्जना' को ही काव्य माना है। 'भावना के अतिभार से मुक्त वाङ्मयप्रवाह' को काव्य कहते हुए कैबेल ने काव्य में भावतत्व की सर्वाधिक महत्ता प्रतिष्ठित की है। रस्किन कहते हैं कि 'कल्पना द्वारा उदात्त भावों के लिये उदात्त भूमिका को जो संकेत मिलता है, वही काव्य है।' इस लक्षण में कल्पना और भावना का सहकृत महत्व प्रतिपादित है। कोर्टहोप के मत से 'छंदोमयी भाषा में कल्पनाप्रवण विचारों और अनुभूतियों' की समुचित अभिव्यक्ति द्वारा आनंदसर्जना की कला ही काव्य है।' वाट डैंटन भी मानते हैं कि 'भावुकतामयी और लयपूर्ण भाषा में मानव अंतःकरण की मूर्त और कलात्मक अभिव्यक्ति ही काव्य है।' अनेक परिभाषाओं और लक्षणों की चर्चा करने के अनंतर हडसन ने 'साहित्य को जीवन की व्याख्या' मानते हुए इस साहित्यविधा के विषय में कहा है—'इसमें (काव्य में) जीवन के तथ्य, अनुभूतियों और समस्याओं की ऐसी विवृति होती है जिसमें भावनाओं और कल्पनाओं की सर्वाधिक प्रमुखता रहती है'। इन आचार्यों के अलावा कवियों ने भी काव्य के रूपपरिचय को लेकर अपने मत व्यक्त किए हैं। 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' में शेक्सपियर ने कहा है—'कल्पनालोक में विहार करती हुई कविदृष्टि भूतल से स्वर्ग तक का साक्षात्कार करती रहती है। कवि का कल्पना अज्ञात वस्तुओं को आकार देती है तथा उसकी लेखनी अस्तित्वहीन वायवी वस्तुओं को मूर्त बनाकर उसे नाम और ग्राम प्रदान करती है।' इस कथन में कवि की प्रतिभा-जुष्ट कल्पना को प्रमुखता दी गई है। पर उनके परवर्ती कवि मिल्टन ने कहा है कि 'काव्य को सरल, सहज, इंद्रियानुभूतिमूलक एवं भावावेगमय' होना चाहिए। उन्होंने लौकिक भावानुभूतियों का महत्व स्वीकार किया है। वर्ड्स्वर्थ ने कल्पना नहीं, भावना को ही महत्व देते हुए कहा है—'प्रवलतर अनुभूतियों का स्वच्छंद और सवेग प्रवाह ही काव्य है।' इसके स्रोत हैं, शांतिमय क्षणों में स्मृतिपथागत भावावेग।' रोमैंटिक कवि 'शेली' कल्पना को ही मुख्य तत्व मानकर कहते हैं—'कल्पना की अभिव्यक्ति को काव्य की सामान्य परिभाषा कह सकते हैं।' पर उन्होंने उक्त अभिव्यक्ति को सदा 'आनंदसंपृक्त' माना है। कला, सौंदर्य और तज्जन्य निरपेक्ष आनंद का निषेध करके, समाजदृष्टि के समर्थक तोल्स्तोइ ने, काव्य का एक निर्दिष्ट लक्ष्य मानते हुए कहा है—'काव्य (कला), मानव एकता का वह साधन है जो मानव मानव को रागात्मक सहअनुभूति द्वारा परस्पर संबद्ध करता है।' पर इस लोक-प्रेम-प्रचारक अतिवाद से पूर्णतः भिन्न और विपरीत बेनेदेत्तो क्रोचे का अतिवाद है जब वे केवल अभिव्यंजना को कला या काव्य कहते हैं। अभिव्यंजना को वे 'सहजानुभूतिरूप' मात्र मानते हैं, न उससे कम, न अधिक। उनके यहाँ प्रातिभज्ञान (इंट्यूशन) और कल्पना का अतिआग्रहपूर्ण महत्व है। इसी प्रकार मनःशास्त्र की दृष्टि से मानवशास्त्री फ्रायड 'सामाजिक प्रतिबंधों के कारण, मानव मन की दमित, स्वप्नसंकाश वासनाओं की विशिष्ट अभिव्यक्ति को काव्य' मानते हैं। काव्य में समाजवादी धारा के समर्थक 'प्रगतिवादी' समीक्षकों के अनुसार—'सतत गतिशील समाज के सामाजिक यथार्थ को पहचानकर, स्वस्थ

एवं प्रगतिशील तत्वों की, जनवर्ग के उत्थान एवं कल्याण के लिये, जनबोध्य भाषा में विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति ही काव्य है।' हिंदी के प्रमुख आधुनिक एवं पाश्चात्य पद्धति के आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने काव्य के परिचय के संदर्भ में कहा है—'जैसे आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा है, वैसे ही हृदय की मुक्तावस्था रसदशा है। हृदय की उस मुक्तिसाधना के लिये वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता (काव्य) कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।' इस प्रकार शुक्ल जी के अनुसार भावयोग की साधना के शब्द-विधान के विधाविशेष को काव्य कहना चाहिए जिसका तात्पर्य होगा 'ब्रह्मास्वादसहोदर रस का आस्वादन कराना'।

काव्य की इन विभिन्न परिभाषाओं और लक्षणों के मतसार का परिशीलन करने से कई बातें सामने आती हैं। काव्य की आरंभिक अवस्था में छंद की प्रायः अनिवार्यता थी। सभी साहित्य के आरंभिक काव्य (प्रायः भारत का ही नहीं, वरन् विश्व के आद्यतम उपलब्ध साहित्य, ऋग्वेदसंहिता की ऋचाएँ छंदों में ही हैं) छंदोबद्ध ही मिलते हैं। देवों की स्तुति, ऋक्सामगान, जादू-टोने के मंत्र तंत्र से संबद्ध साहित्य के आदिम रूप में पद्यों और पद्यात्मक काव्यों का ही आविर्भाव हुआ। चमत्कार, विस्मय, कुतूहल, भय, श्रद्धाधिक्य आदि उसके प्रेरक थे। भारतीयों के वैदिक मंत्र, मिस्रवासियों के मृत्युसंबंधी मंत्र, चीनियों के प्राण और शक्तिदाता गेय मंत्र—सभी देशों में सर्वप्रथम गिरा पद्यमय ही थी, वह अपनी आदिम अवस्था में संगीतसहजात थी। यूनान की आरंभिक कविता भी पद्यमय ही रही, यद्यपि काव्यभेद का निर्देश करते हुए नाटक को भी उसका ही एक भेद बताया गया है। अतः छंद, आरंभ में ही काव्य का अनिवार्य अंग था, यद्यपि आज उसका रूप, काव्य के 'स्वच्छंद' और 'निर्बंध छंद' की उद्भावना के कारण 'लय' या 'लयात्मक ग[illegible] भाषा' ने ले लिया है। हिंदी, बँगला, आदि आधुनिक भाषाओं में '[illegible]काव्य' नामक एक काव्यविधा का अस्तित्व देखते हुए कहा जा सकता है कि अब छंद या लय काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं रहा। आरंभ में सर्वत्र काव्य की सत्ता मौखिक (लिखित नहीं) ही थी, अतः वह निश्चित रूप से कंठस्थ करने की सुविधा के कारण गेय और छंदोबद्ध था।

काव्य के तत्व—कल्पना और संकल्प, भावना और रागात्मक अनुभूति, विवेक और बुद्धि, काव्य के अंतरतत्व हैं। प्रतिभा और भावुकता से उनका उद्भावन और परिकलन होता है। देश, काल, समाज और प्रचलित काव्य-विधान-शैली के स्वर काव्य में प्रतिध्वनित होते रहते हैं। रचनाविधान और शैलीशिल्प, अभिव्यक्तिकौशल और भाषाप्रवाह उसके बाह्य उपकरण एवं साधन हैं। कल्पनाप्रवण सामाजिक के चित्तपट पर अर्थचित्रों और भावचित्रों का प्रतिबिंबन करने के कारण काव्यकला जहाँ एक ओर चित्रकला की सीमा से संपृक्त है, वहीं दूसरी ओर ध्वन्यात्मक लययोजना के कारण संगीतकला की परिधि का भी स्पर्श करती है। पर काव्यकला उन दोनों से अत्यंत दूरगामी भी है। भावचित्रों की सतत गतिमत्ता तथा मूर्त अमूर्त उभय प्रतिमाओं के उपस्थापन में सर्वाधिक समर्थ है।

काव्य के उद्देश्य—प्रारंभिक काल में यूनान के काव्यगायकों द्वारा प्रसारित मौखिक काव्य का उद्देश्य आनंदसर्जना थी, शिक्षा नहीं। पर आगे चलकर उसका उद्देश्य होमर और हीसियद तक आते आते, शिक्षण और उपदेशन ही हो गया, विशेषतः धार्मिक उपदेश और नीतिशिक्षा। अरस्तू ने पुनः काव्य को 'सुंदर' और 'आनंदप्रद' माना। प्रेरणादायकता भी उद्देश्यों में थी। लोंगिनुस के मत से काव्य का लक्ष्य है 'अहंता से मुक्त मानवात्मा का उदात्तीकरण या उन्नयन'। रसवादियों की साधारणीकरण-अवस्था से या शुक्ल जी की भावयोग की दशा से उसका कुछ कुछ साम्य है। यह उन्नयन या उदात्तीकरण काव्य में कल्पनाभावित सौंदर्य के माध्यम से साध्य है। इसीलिये डी० क्विंसी ने, शास्त्रविज्ञान के वाङमय को 'ज्ञानात्मक' कहकर पृथक् करते हुए काव्य को 'शक्तिमय साहित्य' कहा है। इसी प्रकार स्वांतःसुख, लोकमंगल की साधना, सत्य का प्रकाशन, शिवत्व का संपादन और सौंदर्य के उद्बोधन द्वारा आनंदनिष्पादन आदि काव्य के उद्देश्य रहे—कभी पृथक् पृथक्, कभी समुदित। हृदयपरिष्कार, आत्माभिव्यक्ति, व्यष्टिगत मनोरंजन, कलात्मक सौंदर्यास्वादन में से एक या अनेक को भी समय समय पर काव्यसाध्य कहा गया है। 'कला कला मात्र के लिये' कहकर उसका लक्ष्य अन्यनिरपेक्ष कलासुखास्वादन मात्र भी घोषित किया गया। अंतःकरण में, वासनारूप से मुद्रित अथवा अचेतन मन में दमित होकर सुषुप्त और विकार-जनक वासनाओं का अभिव्यंजन या विवेचन भी उसका प्रयोजन बताया गया। शोषित, पीड़ित सर्वहारा वर्ग में क्रांतिभाव और यथार्थशक्ति के उद्बोधन को भी एक वर्ग उसका लक्ष्य मानता है। सारांश यह कि 'सत्यं, शिवं, सुंदरं (आनंद)' अथवा स्वांतःसुख, लोकहित और सत्यदर्शन—इस त्रिबिंदुचक्र की परिधिरेखा के आसपास, काव्य के प्रमुख प्रयोजन का निर्देश होता रहा। कभी उद्देश्यकथन के शब्द साधारण होते और कभी वही बात कुछ घुम फिराकर कही जाती थी।

काव्यभेद—पाश्चात्य आलोचकों ने आरंभ में (प्लेटो और अ के काल से ही) काव्य के तीन भेदों का उल्लेख किया है—(१) (प्रबंध महाकाव्य), (२) लिरिक (गीति काव्य) तथा (३) [नाट्य काव्य—(अ) ट्रैजेडी, (आ) कामेडी]। आगे नाटक के अलग हो जाने पर काव्य के दो रूपों की कल्पना की (१) वर्णनात्मक ('आब्जेक्टिव' या 'नैरेटिव' अर्थात् वस्तुप्रधा विषयप्रधान, इतिवृत्तात्मक अथवा विषयनिष्ठ) और (२) आ प्रधान ('सब्जेक्टिव' या 'लिरिक' अर्थात् आत्मानुभूतिप्रधान, या प्रधान अथवा विषयनिष्ठ)। प्रथम काव्यप्रभेद में बाह्य एवं गोचर जगत् की वर्णनदृष्टि प्रमुख रही है। काव्य के वर्णन में कवि की अनुभूति, भावना और विचारसरणि का अभिव्यंजन न होकर दृश्य जगत् के वर्णन को और उन्हीं के माध्यम से व्यक्त अन विचारों को प्रधानता दी जाती है। इसे हम 'प्रबंध' काव्य [illegible], इसका प्रथम भेद 'एपिक' या महाकाव्य है। इसके भी [illegible]राज-(क) एपिक ऑव ग्रोथ अर्थात् परंपराविकसित महाका[illegible]ला से श्रीमद्भागवत (कुछ अंशों में वाल्मीकि रामायण), अ[illegible] साकेत रासो, आदि; (ख) एपिक ऑव आर्ट्‌स : कवि की [illegible] पद्यात्मक उद्भावित—जैसे, शिशुपालवध, नैषधचरित, रा[illegible] कह सकते आदि। वर्णनात्मक काव्य का दूसरा उपभेद 'वै[illegible]ाहसिक कार्य, कहानी' नाम दिया जा सकता है। प्रबंधात्मक खं[illegible]रिक्त छंदात्मक हैं। इसमें वीरता या प्रेम की गाथा रहती है[illegible]का महत्व सामान्य शौर्य आदि का मनोहर चित्रण होता है[illegible]जैसे हिंदी में प्रगीत प्रेमगाथा (मेट्रिकल रोमांस) आदि भेद भी[illegible]र' नामक वाद्यविशेष ही रहा। काव्य का दूसरा प्रभेद 'लिरिक[illegible]विधा में कवि की अंत-काव्य या गीतिकाव्य कहते हैं। (जिसका[illegible] कवि की आत्मानुभूति, के साथ गाए जाने के कारण पड़ा) [illegible] उसकी अभिव्यक्ति में भी मुखीनता का प्राधान्य होने से, प्रेर[illegible] बाह्य दृश्य जगत् की अपेक्षा वैयक्तिक चिंतन और स्वभावना ह[illegible]वेदनात्मक अधिक होता है। उन्हीं की प्रधानता रहती है। उ[illegible]क) 'ओड'—सबोधगीत, (ख) अंतर्जगत् और बहिर्जगत् के [illegible]—करुणावेदनागीत (शोकगीत), पश्चिम में इस विधा के अनेक [illegible] 'सानेट'—चतुर्दशपदी, (ग[illegible]क्टिव'—विचारात्मक, तथा 'डाये-(घ) 'सटायर'—व्यंग्यगी[illegible]भेद विशेष महत्व के नहीं हैं। प्रगीत-डेक्टिक'—नीत्युपदेशात्म[illegible] बीच पूर्णतः स्पष्ट विभाजनरेखा संभव काव्यों तथा वर्णनात्मक[illegible] तत्व अंशतः दोनों विधाओं में मिलते नहीं है, क्योंकि दोनों[illegible]वल तत्वविशेष की मुख्यता है। इनके ही हैं। विभाजक [illegible]भी तृतीय भेद माना जाता है—जो 'अभिनेय' अतिरिक्त 'नाट्यका[illegible]टक' या 'संवादात्मक काव्य' कहा जा सकता है। न होने के कारण[illegible]

सं० ग्रं०—[illegible]रिस्टाटल्स थियरी ऑव पोएट्री ऐंड फ़ाइन आर्ट्‌स; [illegible]ऑव पोएट्री; एल्डेन : इंग्लिश वर्स, इंट्रोडक्शन टु एबरक्राँबी : [illegible] ऐंडर्सन : लॉ ऑव वर्स; एस० डानियल : पोएट्स ऐंड पोएट्री; आ[illegible]; ए० ई० टॉड्स। रोमैंटिक थियरी ऑव पोएट्री; सी० डिफ़ेंस ऑ[illegible] पुल्स ऑव इंग्लिश पोएट्री; एच० मोरे : पोएट्स ऐंड देयर ल्यूड्स [illegible]ांग : पोएट्री ऐंड इट्स फ़ॉर्म्स; डब्ल्यू० [illegible] आर्ट; [illegible] द स्टडी ऑव लिटरेचर; आर० ए० [illegible] इंट्रो[illegible]

लिटरेचर; टी० जिल्वी : पोएटिक एक्सपीरिएंस; ए० आर० ऐंट्विसल : द स्टडी ऑव पोएट्री; टी० एस० इलियट : द यूस ऑव पोएट्री; सी० काडवेल : इल्यूजन ऐंड रियलिटी; आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपुल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म; लोंगिनुस : ऑन द सब्लाइम; सेंट्सबरी : हिस्ट्री ऑव इंग्लिश क्रिटिसिज्म; काणे : इंट्रोडक्शन टु साहित्यदर्पण; एस० के० दे : इंडियन पोएटिक्स; श्यामसुंदरदास : साहित्यालोचन; बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र; मम्मट : काव्यप्रकाश; विश्वनाथ : साहित्यदर्पण। (क० प० त्रि०)

काव्यप्रकाश संस्कृत में अलंकारशास्त्र या आलोचनाशास्त्र का एक नितांत प्रौढ़ पांडित्यपूर्ण ग्रंथ। इसके लेखन राजानक मम्मट हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पूर्वजों के विषय में हम विशेष नहीं जानते, परंतु किंवदंती है कि इनके दो अनुज थे जिनमें महावैयाकरण कय्यट ने पातंजल महाभाष्य की व्याख्या के लिये 'प्रदीप' का प्रणयन किया तथा वेदभाष्यकार उव्वट ने शुक्लयजुर्वेद की माध्यंदिन संहिता का प्रसिद्ध भाष्य लिखा जो इन्हीं के नाम पर 'उव्वटभाष्य' कहलाता है। मम्मट के समय का निर्णय अंतरंग तथा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम भली भाँति कर सकते हैं। माणिक्यचंद्र का 'काव्यप्रकाशसंकेत' इस ग्रंथ का सर्वप्रथम व्याख्याग्रंथ माना जाता है और इसकी रचना व्याख्याकार के लेखानुसार १२१६ विक्रमी (११५९ ईस्वी) में हुई। मम्मट ने 'उदात्त' अलंकार के उदाहरण में महाराजा भोज (११वीं शती का पूर्वार्ध) की दानशीलता का वर्णनपरक एक पद्य दिया है जिससे निश्चित है कि ये भोजराज से अर्वाचीन तथा माणिक्यचंद्र से प्राचीन थे। फलतः उनका समय ११वीं सदी का अंत तथा १२वीं का आरंभ (लगभग १०७५–११२५ ई०) मानना उचित है।

ग्रंथ का रूप—काव्यप्रकाश के तीन अंश हैं—कारिका (१४२ कारिकाएँ), वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण। इनमें उदाहरण तो निश्चित रूप से प्राचीन नाना ग्रंथों से संगृहीत है। कारिका तथा वृत्ति के रचयिता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। बंगाल के पंडितों में यह प्रवाद है कि मम्मट ने केवल वृत्तिग्रंथ का प्रणयन किया था; 'कारिका' तो भरतमुनि की रचना है। परंतु इस प्रवाद में तथ्य नहीं, कुछ कारिकाएँ भरत के नाट्यशास्त्र से अवश्य ली गई हैं, परंतु उनकी संख्या छह या सात से अधिक नहीं है। फलतः मम्मट दोनों अंशों के प्रणेता हैं—कारिकाओं के भी तथा वृत्ति ग्रंथ के भी। दोनों के समानकर्तृत्व होने का अंतःप्रमाण ग्रंथ के दशम उल्लास में स्वतः उपलब्ध होता है। मम्मट की एक कारिका है जिसमें कहा गया है कि 'मालारूपक' मालोपमा के सदृश ही होता है (सांगमेतत् निरंगंतु शुद्धं माला तु पूर्ववत्—काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, कारिका ९४) परंतु मालोपमा का वर्णन कारिका में है ही नहीं। वह तो वृत्ति में ही किया गया है। ऐसी दशा में 'माला तु पूर्ववत्' का क्या तात्पर्य है? इससे यही प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति कारिका तथा वृत्ति के प्रणयन का कर्ता है जो साथ साथ लिखता गया है। इसलिये अवांतर कारिका में पूर्ववर्ती वृत्ति का उल्लेख किसी प्रकार भी अनुचित या असमंजस नहीं माना जा सकता।

काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में 'परिकर' अलंकार तक ही मम्मट की रचना है। शेष ग्रंथ को (अर्थात् ग्रंथ की अंतिम २४॥ कारिकाओं को) अल्लट (या अलक) नामक काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर पूरा किया; इस काश्मीरी पंडित परंपरा का उल्लेख राजानक आनंद ने काव्यप्रकाश की 'सारसमुच्चय' नामक अपनी टीका में किया है। इसका अनुसरण अवांतर टीकाकारों ने भी किया है। अर्जुनवर्मदेव ने अपनी 'अमरुकशतक टीका' में एक पते की बात लिखी है कि अलक (अल्लट) ने सप्तम उल्लास के प्रणयन में भी मम्मट का हाथ बटाया था और काव्यप्रकाश के दोनों रचयिताओं को वे दोषदृष्टिवाला बतलाते हैं (काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोष दृष्टी)। इन निर्देशों से यह निष्कर्ष निकालना असंभव नहीं है कि मम्मट को काव्यप्रकाश के सप्तम तथा दशम उल्लासों की रचना में अल्लट का सहयोग प्राप्त हुआ था।

टीकासंपत्ति—काव्यप्रकाश की टीकासंपत्ति अतुलनीय है। इतनी किसी भी अलंकार ग्रंथ के ऊपर विरचित हुई थीं, इसका पता नहीं। टीकाओं की संख्या लगभग ७० के आ सकती है। ग्रंथ तो कारिकाबद्ध है, परंतु यह सूत्रग्रंथ के समान ही विपुलार्थमंडित, गंभीर तथा रहस्यमय है। इसलिये इसके गंभीर अर्थ की व्याख्या के लिये नवीन व्याख्याग्रंथों की रचना नितांत स्वाभाविक है। सच तो यह है कि प्राचीन काल में काव्यप्रकाश पर टीकाप्रणयन विद्वत्ता का मापदंड माना जाता था। तभी तो 'अलंकारसर्वस्व' जैसे नूतन अलंकार ग्रंथ के प्रणेता राजानक रुय्यक ने और 'साहित्यदर्पण' जैसे सर्वांगपूर्ण आलोचना ग्रंथ के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने काव्यप्रकाश के ऊपर व्याख्या लिखे बिना अपने प्रखर पांडित्य को भी अधूरा समझा। प्रमुख टीकाकारों में हैं—माणिक्यचंद्र सूरि (संकेत टीका; रचनाकाल ११६० ई०), चंडीदास (१३वीं शती, दीपिका), गोविंद ठक्कुर (काव्यप्रदीप; १४वीं शती का अंतभाग), भीमसेन दीक्षित (सुधासागर या सुबोधिनी, रचनाकाल १७२३ ई०), जयंतभट्ट (दीपिका, र० का० १२९४ ई०), विश्वनाथ कविराज (काव्यप्रकाशदर्पण, १४वीं शती), कमलाकर भट्ट (१७वें शतक का पूर्वार्ध), परमानंद चक्रवर्ती (विस्तारिका, १४वीं शती)।

विषयविवेचन—काव्यप्रकाश में दस उल्लास (परिच्छेद) हैं जिनमें काव्य के स्वरूप, भेद, तथा काव्यांग (जैसे गुण, दोष, अलंकार, रस, ध्वनि) का विशेष विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रथम उल्लास में काव्य के हेतु, लक्षण तथा प्रकार का वर्णन है। द्वितीय में शब्दशक्ति का विवेचन किया गया है। तृतीय में शाब्दी व्यंजना है। चतुर्थ में रस, भाव तथा ध्वनिभेदों का वर्णन है। पंचम में 'व्यंजना' को स्वतंत्र शब्दशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का आयोजन है। षष्ठ में चित्रकाव्य का सामान्य वर्णन है। सप्तम में काव्यदोषों का बड़ा सांगोपांग विवेचन है। अष्टम में काव्यगुण के लक्षण तथा प्रकार का वर्णन है। नवम तथा दशम में क्रमशः शब्दालंकार और अर्थालंकार का निरूपण उदाहरणों के साथ बड़ी व्यापकता से किया गया है। इस सामान्य विवरण से भी ग्रंथ की गंभीरता, व्यापकता तथा युक्तिमत्ता का किंचित् परिचय मिल जाता है।

वैशिष्ट्य—काव्यप्रकाश ध्वनिवाद के उत्थान के अनंतर लिखा गया ग्रंथ है। नवीन होने के कारण 'ध्वनि' के सिद्धांतों का आलोचकों ने बड़ी अंतरंगता के साथ खंडन प्रस्तुत किया। इन विरुद्ध मतों का तर्क तथा युक्ति के बल पर प्रबल खंडन करने का श्रेय आचार्य मम्मट को दिया जाता है और इसी कारण वे 'ध्वनिप्रस्थापन परमाचार्य' की महत्वपूर्ण उपाधि से मंडित किए गए हैं। काव्यप्रकाश में काव्यालोचना की विविध पद्धतियों का जो समन्वय है, वह अलंकार के इतिहास में एक नितांत महत्वपूर्ण घटना है। प्राचीन आचार्यों की आलोचना एकांगी है। कोई अलंकार के विवेचन में प्रस्तुत है, तो कोई रीति के; कोई रस का विवेचक है, तो कोई ध्वनि का। परंतु काव्य के व्यापक रूप को दृष्टि में रखकर पूर्ववर्ती समस्त आलोचना शैलियों का सामंजस्य उपस्थित करना काव्यप्रकाश का निजी वैशिष्ट्य है।

सं०ग्रं०—पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑव अलंकार शास्त्र, परिवर्धित सं०, बंबई, १९५५; एस० के० दे : संस्कृत पोएटिक्स, दो भाग, लंडन; बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खंड, काशी, सं० २००७ तथा द्वितीय खंड, काशी, सं० २०१४; डा० सत्यव्रतसिंह : हिंदी काव्यप्रकाश, काशी, १९६०। (ब० उ०)

काव्यमीमांसा कविराज राजशेखर (८८०–९२० ई०) कृत काव्यशास्त्र संबंधी मानक ग्रंथ। 'काव्यमीमांसा' का अभी तक केवल प्रथम अधिकरण 'कविरहस्य' ही प्राप्त है और इसके भी मात्र १८ अध्याय ही मिलते हैं। १९वाँ अध्याय 'भुवनकोश' अप्राप्त है। किंतु 'कविरहस्य' अधिकरण के प्रथम तीन अध्यायों से पता चलता है कि कृतिकार ने काव्यमीमांसा में १८ अधिकरणों का समायोजन किया था और प्रत्येक अधिकरण में विषयानुरूप कई कई अध्याय थे।

उपलब्ध 'कविरहस्य' शीर्षक अधिकरण में मुख्यतः कविशास्त्र या कविशिक्षा संबंधी सामग्री है, यद्यपि लेखक ने 'गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्' (अ० ६, पंक्ति २६) सूत्र के माध्यम से काव्य की परिभाषा भी प्रस्तुत की है तथापि इसका सविस्तर विवेचन नहीं किया है। हो सकता है अगले अधिकरणों में कहीं उक्त विवेचन किया गया हो जो अब अज्ञात है। 'कविरहस्य' अधिकरण के प्रथम अध्याय में राजशेखर ने काव्यशास्त्र

मूल स्रोत पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त इसके अंतर्गत परिगणित होनेवाले विषयों की लंबी सूची भी दी है। दूसरे अध्याय में वैदिक वाङ्मय और उत्तरवैदिक साहित्य के संदर्भ में काव्यशास्त्र का स्थान निश्चित करने के उपरांत, इसको सातवाँ वेदांग (वेदांग छह हैं) तथा १५वीं विद्या (विद्याएँ १४ हैं) कहा गया है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मा एवं सरस्वती से काव्यपुरुष की उत्पत्ति, वाल्मीकि एवं व्यास से उसका संबंध, काव्यपुरुष का साहित्यविद्या से विवाह, पति पत्नी का भारत भर में भ्रमण और उनसे विभिन्न स्थानों पर वृत्तियों, प्रवृत्तियों तथा रीतियों का जन्म तथा अंत में काव्यपुरुष एवं साहित्यविद्या द्वारा कविमानस में स्थायी निवास का संकल्प वर्णित है। चौथे से नवें अध्याय तक पदवाक्यविवेक, काव्यपाककल्प, पाठप्रतिष्ठा, काव्यार्थयोनियाँ तथा अर्थव्याप्ति इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है। १०वें अध्याय में कविचर्या तथा राजचर्या का सम्यक् उल्लेख है। ११वें से १८वें अध्याय तक शब्दहरण, काव्यहरण, कविसमय, भारत तथा संसार के भूगोल, घटनाओं, स्थानों एवं व्यक्तियों के वर्णन की प्राचीन पद्धतियों, कालगणना तथा ऋतुपरिवर्तनों का परिचय है।

(कै० चं० श०)

काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय समय पर उद्भावित सिद्धांतों की ज्ञानराशि है। युगानुरूप परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है; फलतः काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में भी निरंतर परिवर्तन होता रहा है। भारत में भरत के सिद्धांतों से लेकर आज तक और पश्चिम में सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो से लेकर अद्यतन 'नवआलोचना' (नियो-क्रिटिसिज़्म) तक के सिद्धांतों के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात साफ हो जाती है। हमारे यहाँ काव्य नाटकादि कृतियों को लक्ष्य ग्रंथ तथा सैद्धांतिक ग्रंथों को लक्षण ग्रंथ कहा जाता है। ये लक्षण ग्रंथ सदा लक्ष्य ग्रंथ के पश्चाद्भावी तथा अनुगामी हैं और महान् कवि इनकी लीक को चुनौती देते देखे जाते हैं।

काव्यशास्त्र के लिये पुराने नाम साहित्यशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र हैं और साहित्य के व्यापक रचनात्मक वाङ्मय को समेटने पर इसे समीक्षाशास्त्र भी कहा जाने लगा। मूलतः काव्यशास्त्रीय चिंतन शब्दकाव्य (महाकाव्य एवं मुक्तक) तथा दृश्यकाव्य (नाटक) के ही संबंध में सिद्धांत स्थिर करता देखा जाता है। अरस्तू के 'पोयटिक्स' में कामेडी, ट्रैजेडी, तथा एपिक की समीक्षात्मक कसौटी का आकलन है और भरत का नाट्यशास्त्र केवल रूपक या दृश्यकाव्य की ही समीक्षा के सिद्धांत प्रस्तुत करता है। भारत और पश्चिम में यह चिंतन ई० पू० तीसरी चौथी शती से ही प्रौढ़ रूप में मिलने लगता है जो इस बात का परिचायक है कि काव्य के विषय में विचार विमर्श कई सदियों पहले ही शुरू हो चुका था।

काव्यकृति मूलतः तिहरे आयाम से जुड़ी है—काव्य, काव्यकर्ता (कवि), काव्यानुशीलक। जहाँ तक नाट्यरूप काव्य का संबंध है, काव्यकर्ता के साथ उसमें नाट्य प्रयोगकर्ता नटादि का भी समावेश हो जाता है। काव्यशास्त्रीय चिंतकों का ध्यान इन सभी पक्षों की ओर सदा जाता रहा है। सबसे पहला सवाल जो कवि के संबंध में उठता है, वह यह है कि कवि या कलाकार अन्य मानव, धर्मोपदेशक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक विचारक से किस बात में विशिष्ट है, और क्यों खास प्रकृति के व्यक्ति ही कवि या कलाकार बन पाते हैं? दूसरे शब्दों में, कवित्वशक्ति के हेतु क्या हैं? सुकरात और प्लेटो कवित्वशक्ति को दैवी आवेश की देन मानते हैं, अध्ययन और अभ्यास का प्रतिफल नहीं। भारत के काव्यशास्त्री काव्यरचना में प्रतिभा को प्रधान हेतु मानते हुए भी इसके साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कम महत्व नहीं देते। परंपरावादी आलोचक केवल प्रतिभा को काव्यशक्ति का हेतु नहीं मानते। उधर पश्चिम के रोमैंटिक आलोचक कलाकृति की मूल प्रेरणा एकमात्र प्रतिभा को ही मानते हैं। फिर भी इस बात में सभी चिंतक एकमत हैं कि कवि विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति है जो अपनी प्रतिभा के माध्यम से काव्य के रूप में नई सृष्टि की उद्भावना करता है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है, कविता का प्रयोजन क्या है? आखिर कवि कविता क्यों करता है? इस संबंध में चिंतकों के दो दल हैं—परंपरावादी चिंतक काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन नैतिक उपदेश की प्रतिष्ठा मानते हैं। काव्य द्वारा कवि किन्हीं मूल्यों की स्थापना करना चाहता है, ठीक उसी तरह जैसे धार्मिक उपदेशक। किंतु फर्क यह है कि उसकी कृति शैलीशिल्प की दृष्टि से रमणीय और रसमय होने के कारण धर्मग्रंथों या नीतिग्रंथों से विशिष्ट बन जाती है। स्वच्छंदतावादी चिंतक इसे नहीं स्वीकारता। वह कवि को उपदेशक नहीं मानता। उसके अनुसार क[illegible] सर्जक है, सृष्टिकर्ता है, जो ब्रह्मा से भी विशिष्ट है। वह अपनी स[illegible] अपनी कलाकृति के माध्यम से हमारे सामने रखता है। वस्तुतः वह[illegible] अनुभूतियों को काव्य के द्वारा वाणी देना चाहता है। काव्य और कृ[illegible] उसकी समस्त अनुभूतियों का सारभूत तत्व और उसके अंतस् [illegible] घुमड़ते भावों का स्वतः बहा हुआ परिवाह मात्र है। पूर्व और [illegible] प्रायः सभी मतमतांतर इन दो खेमों में मजे से समेटे जा सकते हैं।

काव्य का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष वह कृति है, जो हमारे सम[illegible] (नाटक में), श्रावण तथा बौद्धिक सन्निकर्ष का माध्यम बनत[illegible] इस माध्यम से वह हमारे मन या संवित् (चेतना) को प्रभावित [illegible] अतः काव्यशास्त्रीय चिंतन में यह वह प्रधान पक्ष है जिसके अने[illegible] को लेकर पूर्व और पश्चिम के विचारक पिछले अढ़ाई हजार वर्षों [illegible] करते आ रहे हैं। सबसे पहला सवाल जो काव्य के कथ्य के [illegible] है, वह यह है कि काव्य में वर्णित घटनाएँ आदि कहाँ तक [illegible] मेल खाती है। यह प्रायः सभी समीक्षक स्वीकार करते [illegible] तथ्य-कथन-प्रणाली का आश्रय नहीं लिया जाता। उस[illegible] समुद्घाटन होता है, वह वास्तविक सत्य न होकर संभ[illegible] इसी आधार पर काव्यविरोधी कवि की कल्पना को [illegible] बहुत दूर घोषित करते हैं। प्लेटो ने तो इसे सत्य से [illegible] का है। भारत के विचारकों ने काव्यकृति को भ्रांति[illegible] में एक स्थान पर भट्ट लोल्लट ने रससूत्र की व्याख्या [illegible] मजबूत नय में राम आदि का अनुकरण करते नटों में [illegible] वट इल्यू- संकेत किया है। पश्चिम में इधर मनोविज्ञा[illegible] नहीं महज काव्यशास्त्रीय चिंतन ने भ्रांतिवाले इस [illegible] त्व विज्ञान के किया है। कहा जाता है, कला मात्र भ्रां[illegible] जोर दिया जाने जन)। इसी से मिलता जुलता एक औ[illegible] में पुराने आदिम संमोहन है (आर्ट इज नथिंग बट हेल्[illegible] (आर्ट इज मैजिक)। अध्ययन के आधार पर भी काव्य [illegible] लगा है और यह मत प्रबल हो उठ[illegible] ति, संमोहन या जादूई समाज के ओझाओं के मंत्रों की तर[illegible] र लेना चाहें तो काव्य का

यहीं यह सवाल उठता है [illegible]? काव्य मूलतः भाषा में [illegible] असर, अगर हम पुराने विद्वा[illegible] संश्लिष्ट रूप है। अतः पहला 'चमत्कार', किन तत्वों के [illegible] है या शब्दार्थमय। हमारे यहाँ निबद्ध होता है। भाषा [illegible], मम्मट जैसे चिंतक शब्द और सवाल यह उठेगा कि [illegible] है, केवल शब्द को या केवल अर्थ ये दोनों मत प्रचलित [illegible] को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा अर्थ के संमिलित त[illegible] को चमत्कारशाली या संमोहक बनाने को नहीं, क्योंकि [illegible] रमणीयता पर कवि को समान बल देना सकता। इस मत [illegible] प्रभावान्विति में शब्द पर, अर्थात् उसके के लिये शब्द [illegible] श्रावण पक्ष पर, अधिक जोर देता है। प्रसिद्ध होगा। दूसरा [illegible] जगन्नाथ का यही मत है। यह मत उन लोगों का बौद्धिक पक्ष [illegible] की लय (रिद्म), शब्दचयन, छंद और श्रावण संस्कृत क[illegible] जोर देते हैं। पश्चिम के स्वच्छंदतावादी समीक्षक, जान प[illegible] तीकवादी कवि और आलोचक, साफ कहते हैं कि काव्य विवक्ष[illegible] से नहीं बनता बल्कि शब्दों से बनता है (पोयट्री इज नाट विशेष[illegible] आइडियाज़ बट आॅव वर्ड्स)। अगर इस मत की तुलना हम अर्थ[illegible]

ओभाओं के निरर्थक शाबरजाल मंत्रों से करें तो पता चलेगा कि यहाँ भी अर्थ का कोई महत्व नहीं, अपितु शब्दों की लय, झाड़ फूंक करनेवाले ओझा के मंत्रोच्चार का लहजा ही रोगी को प्रभावित कर मनश्चिकित्सा करता कहा जाता है। यही पद्धति मनोविश्लेषणात्मक उपचार की भी है।

काव्य के प्रभाव को पैदा करने में शब्द और अर्थ का विशेष महत्व माना गया है, इसलिये काव्यशास्त्रीय चिंतन में शब्द और अर्थ के परस्पर संबंध पर विचार करना लाजमी हो जाता है। शब्द का अपने परंपरागत अर्थ से नियत संबंध होता है। इस संबंध को हमारे यहाँ अभिधा व्यापार कहा गया है। किंतु भाषा में इस व्यापार के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी कार्य करता देखा जाता है, जहाँ शब्द अपने नियत अर्थ को छोड़कर उससे संबद्ध किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति भी करा सकता है, जिसे लक्षणा व्यापार कहते हैं। अरस्तू ने भी भाषा के इन दोनों व्यापारों का विवेचन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रिटोरिक्स' में किया है। काव्यभाषा में वस्तुतः शब्द अभिधापरक न होकर लाक्षणिक होते हैं। इस बात पर इधर पश्चिम में अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा है और इसकी शुरूआत स्वच्छंदतावादी कवि और विचारक कॉलरिज ने की थी। उसके अनुसार समस्त काव्यभाषा लाक्षणिक (मेटाफ़रिक) है। यह मत आई० ए० रिचर्ड्स, एम्पसन आदि अन्य आधुनिक काव्यचिंतकों ने भी स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार काव्य में उपात्त बिंब, रूपक, प्रतीक और मिथक सभी भाषा की लाक्षणिक प्रक्रियाएँ हैं और इतना ही नहीं, काव्य का छंदोविधान, लय और शब्दशय्या का प्रयोजन भी सर्वथा लाक्षणिक है। इस मत से मिलता जुलता मत हमारे यहाँ ध्वनिवादी काव्यशास्त्री का है जो काव्यार्थप्रतीति में लक्षणा से भी एक कदम आगे बढ़कर व्यंजना की परिकल्पना करते हैं और काव्य के समस्त अवयवों को अनुभूति या रसरूप व्यंग्य का व्यंजक मानते हैं। उधर वक्रोक्तिवादी कुंतक भी काव्य में उपात्त शब्द और अर्थ के व्यापार को साधारण अभिधा न मानकर विचित्राभिधा या वक्रोक्ति कहते हैं और इस वक्रोक्ति का विनियोग वर्ण, पद, वाक्य, अर्थप्रकरण, प्रबंध जैसे काव्यांगों में निर्दिष्ट करते हैं। कुंतक के इस विभाजन की मूल नींव वस्तुतः वामन के रीतिवादी सिद्धांत पर टिकी है। यह काव्य की संघटना या संरचना का विश्लेषण कर उसके उन अंगों के संमोहक तत्व को समुद्घाटित करती है जो काव्य सुनने या पढ़नेवाले को प्रभावित करते हैं। यह विश्लेषण एक ओर व्याकरण और भाषाशास्त्र से और दूसरी ओर कलाशास्त्रीय चिंतन से जुड़ा हुआ है। इधर अमरीका में जो संरचनावादी पद्धति की नई काव्यसमीक्षा चल पड़ी है, वह उसी दृष्टिकोण को लेकर चली जिसका सूत्रपात संस्कृत काव्यों के विवेचन के संबंध में हमारे यहाँ अपने अपने ढंग से वामन, आनंदवर्धन और कुंतक कर चुके हैं।

निबंध की सीमा देखते हुए यहाँ काव्य के विभिन्न अंगों पर समय समय पर हुए सभी विचारों का विवेचन करना संभव नहीं है। काव्य के मूलतः दो पक्ष हैं। एक है कथ्यपक्ष, जिसे हम विषयवस्तु के विशेष प्रकार के अभिधान में और उससे अभिव्यक्त कलात्मक अनुभूति या रसादि की आंतरिक संवेदना में पाते हैं। दूसरा है काव्य का शैलीपक्ष जिसमें लय, छंद, शब्दचयन, गुण और अलंकार की योजना का विवेचन होता है। इन तत्वों पर पूर्व और पश्चिम के विचारकों ने विस्तार से चिंतन किया है। किंतु यहाँ इतना समझ लेना होगा कि काव्य की प्रभावान्विति समग्र होती है। ये सभी अवयव अपने अपने ढंग से उस समग्र प्रभावान्विति में योगदान करते देखे जाते हैं। हमारे यहाँ अलंकारवादी और रीतिवादी समीक्षक इस समग्र प्रभावान्वितिवाले मत को नहीं मानते। वे काव्य का सौंदर्य या चमत्कार शब्द ...र्थ के अलंकार में या विशिष्ट पदरचना में मानते हैं। किंतु वक्रोक्तिवादी ... ध्वनिवादी प्रभाव की दृष्टि से काव्य की समग्रता को लेकर चलते हैं, ...हो विश्लेषण की दृष्टि से वे भी उसके तत्तत् अंश की मीमांसा करते हों। ...श्चम में परंपरावादी समीक्षक इसी तरह काव्य की समग्रता को प्रभाव ... दृष्टि से नहीं आँकते और काव्य में अलंकार (फ़िगर्स), उक्तिवैचित्र्य ...विट्), दूरारूढ़ कल्पना (फ़ैंसी) को महत्व देते देखे जाते हैं। वहाँ भी ...की दूसरी शती में एक ऐसा चिंतक हुआ है जिसने काव्य की इस ...ता के सिद्धांत को प्रतिष्ठापित किया था। लोंगिनुस के उदात्त संबंधी ...द्धांत का मूल भाव यही है। पश्चिम के रोमैंटिक कवि और आलोचक भी काव्य का चमत्कार समग्रता में ही मानते हैं और कुछ ऐसी ही धारणा हिंदी के छायावादी और छायावादोत्तर आलोचकों की है। हमारे यहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, औचित्य, चमत्कार जैसे विविध काव्यसिद्धांत जो चल पड़े थे, वे सब मूलतः काव्य का सौंदर्य किस अंश में है, इसी आधार पर हैं। इनका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक होगा।

कवि और काव्य के बाद तीसरा तत्व काव्य का श्रोता या पाठक और नाटक का दर्शक है जिसे ध्वनिवादी के शब्दों में सहृदय कहा जाता है। सहृदय का अर्थ है समान हृदयवाला वह व्यक्ति जो काव्यानुशीलन के समय उसमें तन्मयीभूत होकर कवि के समान हृदयवाला बन जाए। उसकी यह समानहृदयता काव्य में वर्णित विशिष्ट पात्रादि या नायकादि से भी होती है। इस समानहृदयता को स्थापित करने के लिये भट्टनायक ने साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की थी जिसे अभिनवगुप्त ने भी मान लिया है। भारत के इन रसवादियों के अनुसार काव्यानुशीलक के मानस में राग द्वेषादि रूप रज और तम गुणों का तिरोभाव हो जाता है तथा सत्व के उद्रेक से मन को विश्रांति का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त इस स्थिति को योगियों की समाधिस्थिति के समान मानते हैं। पश्चिम में काव्य की आत्मा को रस जैसे तत्व के रूप में माननेवाला कोई सिद्धांत उदित नहीं हुआ है किंतु वहाँ पिछली सदी में स्वच्छंदतावाद के उदय के कारण यह सिद्धांत विकसित हुआ है कि काव्य का श्रोता या पाठक कवि या वर्णित पात्र के साथ समानुभूति (एम्पैथी) या सहानुभूति (सिम्पैथी) का अनुभव करता है, जैसी हमें शेक्सपियर के हैमलेट या मैकबेथ के साथ तथा शेली के प्रॉमिथ्युस के साथ होती है।

अपने यहाँ, रसदशा तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका अपने ढंग से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अभिनवगुप्त के यहाँ मिलता है। पर वह ढाँचा मात्र है। अभी हाल में हुए मनोविज्ञानगत शोधों के कारण इस पक्ष पर अधिक प्रकाश पड़ा है। मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा, जिसमें शरीरक्रिया के आधार पर हमारे स्नायुकेंद्र के समुत्तेजन का अध्ययन किया जाता है और श्रावण, चाक्षुष, स्पार्शन, घ्राणज तथा रसनज बिंबों का अथवा उनकी कल्पना मात्र का हमारे मस्तिष्क पर कैसे प्रभाव पड़ता है और उससे हमारा मानस कैसे आंदोलित होता है, इसपर खोजें हुई हैं और होती जा रही हैं जो काव्य और कलाकृति का काव्यानुशीलक पर कैसा, क्यों और कैसे प्रभाव पड़ता है, इसके विवेचन में व्यस्त है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि आज काव्यशास्त्रीय चिंतन का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। वह एक ओर व्याकरण, भाषाशास्त्र, कलाशास्त्र, दर्शन और छंदशास्त्र के छोरों को छूता है, तो दूसरी ओर मनोविज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान से भी जा जुड़ा है। इतना ही नहीं, जब हम काव्य के ऐतिहासिक, सामाजिक प्रेरणास्रोतों की ओर भी ध्यान देने लगते हैं तो काव्यशास्त्र का दायरा और बढ़ जाता है और वह समाजशास्त्र, इतिहास तथा राजनीतिक चिंतन से भी जा जुड़ता है। यही कारण है कि आज के काव्यशास्त्रीय चिंतन में कई दृष्टिभंगिमाएँ मिलेंगी। कुछ ऐसी हैं जो परंपरावादी पूर्वी या पश्चिमी साँचे में ढली हैं, कुछ पश्चिम के स्वच्छंदतावादी, कलावादी, दादावादी, भविष्यवादी या अस्तित्ववादी सिद्धांतों से जुड़ी हैं और कुछ या तो फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद अथवा मार्क्स के सामाजिक यथार्थवादी दर्शन से संबद्ध हैं।

सं०ग्रं०—डा० एस० के० दे : संस्कृत पोएटिक्स, भाग १–२; पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, खंड १–२; विम्सार ऐंड ब्रुक्स : ए हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न क्रिटिसिज्म; आई० ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म; स्काट : फ़ाइव एप्रोचेज ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म; आर्थर कोयस्लर : दि ऐक्ट ऑव क्रिएशन; रेने वेलक : थियरी ऑव लिटरेचर; डेविड डेचीज : क्रिटिकल एप्रोचेज टु लिटरेचर। (भो० शं० व्या०)

काव्यादर्श अलंकारशास्त्राचार्य दंडी (६ठी–७वीं शती ई०) कृत संस्कृत काव्यशास्त्र संबंधी प्रसिद्ध ग्रंथ। डा० एस० के० बेलवलकर द्वारा संपादित एवं १९२४ ई० में पूना से प्रकाशित काव्यादर्श के संस्करण में तीन परिच्छेद और कुल ६६० छंद हैं जबकि रंगाचार्य रेड्डी शास्त्री द्वारा

संपादित और मद्रास से १६१० ई० में प्रकाशित काव्यादर्श के संस्करण में चार परिच्छेद और ६६३ छंद हैं। वस्तुतः मूल ग्रंथ में जो तीन ही परिच्छेद हैं, किंतु रंगाचार्य रेड्डी ने तृतीय परिच्छेद को दो भागों में विभक्त करके उक्त ग्रंथ को चार परिच्छेदों में प्रस्तुत कर दिया है।

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य के तीन भेद किए गए हैं--(१) गद्य, (२) पद्य तथा (३) मिश्र। गद्य पुनः 'आख्यायिका' और 'कथा' शीर्षक दो उपभेदों में विभाजित है। परंतु उक्त दोनों के लक्षणों में किसी मौलिक अंतर का निर्देश नहीं किया गया है। कृतिकार ने संस्कृत गद्य साहित्य की भी चार कोटियाँ मानी हैं--'संस्कृत', 'प्राकृत', 'अपभ्रंश' तथा 'मिश्र'। 'वैदर्भी' और 'गौड़ी' नामक दो शैलियों तथा १० गुणों का परिचय भी इसी परिच्छेद में है। रचयिता ने अनुप्रास के भेद गिनाकर उनमें से प्रत्येक के लक्षण एवं उदाहरण भी दिए हैं। 'श्रुत', 'प्रतिभा' तथा 'अभियोग' को दंडी ने कवि भाव के तीन नियामक गुण माने हैं। द्वितीय परिच्छेद में अलंकार की परिभाषा, लक्षण और उद्देश्य देने के उपरांत स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, क्रम (यथासंख्य), प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शन, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, संसृष्टि (संकीर्ण) तथा भाविक इत्यादि ३५ अलंकारों के लक्षण, भेद एवं उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। तृतीय परिच्छेद में 'यमक' का सांगोपांग विवेचन है। साथ ही, चित्रकाव्य, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरनियम, स्थाननियम, वर्णनियम तथा प्रहेलिका इत्यादि के लक्षण एवं उदाहरण भी दे दिए गए हैं। ग्रंथांत में काव्यदोषों का परिचय है। (कैं० चं० श०)

काशगर (४९° ३०' उ० अ०, ७५° ६३' पू० दे०) चीन देश के सींक्यांग (Sinkiang) प्रांत के पश्चिमी भाग का एक प्रमुख व्यावसायिक नगर एवं मरुद्यान है, जो यारकंद नगर से १०० मील उत्तर-पश्चिम किजिलदरिया पर बसा है। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व इस नगर की स्थापना हुई थी। इस नगर के उत्तर-पूर्व में थ्यॉनशान, पश्चिम में अलाई तथा दक्षिणपूर्व में सारीकोल पर्वतमालाएँ हैं। इनकी ऊँचाई समुद्रतल से लगभग ४,००० फुट है। तकलामकान की पश्चिमी सीमा पर स्थित होने के कारण यह नगर प्रायः वर्ष भर शुष्क और लगभग २०० दिनों तक धूल से आक्रांत रहता है। यहाँ से वाणिज्यपथ पूर्व में तर्फ़ान, पश्चिम में समरकंद तथा दक्षिण में गिलगिट एवं श्रीनगर जाते हैं। मरुद्यान का क्षेत्रफल लगभग १,००० वर्ग मील है, जिसमें सिंचाई द्वारा गेहूँ, मक्का, जौ, चावल, कपास, फल एवं सब्जियों की खेती होती है। यहाँ दरियों एवं कपड़ों का निर्माण और जरी का काम होता है तथा ऊन, रूई, रेशम, चाय और भेड़ों का व्यापार किया जाता है। इस नगर का नवीन चीनी नाम 'शूफ़ू' (Shufu) है। (न० कि० प्र० सि०)

काशिका पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' पर ७वीं शताब्दी ई० में रची गई प्रसिद्ध वृत्ति। इसमें बहुत से सूत्रों की वृत्तियाँ और उनके उदाहरण पूर्वकालिक आचार्यों के वृत्तिग्रंथों से भी दिए गए हैं। केवल महाभाष्य का ही अनुसरण न कर अनेक स्थलों पर महाभाष्य से भिन्न मत का भी प्रतिपादन हुआ है। काशिका में उधृत वृत्तियों से प्राचीन वृत्तिकारों के मत जानने में बड़ी सहायता मिलती है, अन्यथा वे विलुप्त ही हो जाते। इसी प्रकार इसमें दिए उदाहरणों प्रत्युदाहरणों में कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों की समुपलब्धि हुई है जो अन्यत्र दुष्प्राप्य थे। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह भी है इसमें गणपाठ दिया हुआ है जो प्राचीन वृत्तिग्रंथों में नहीं मिलता।

यह जयादित्य और वामन नाम के दो विद्वानों की संमिलित कृति है। चीनी यात्री इत्सिंग और भागवृत्ति-अर्थविवृत्ति के लेखक सृष्टिधराचार्य, दोनों ने काशिका को न केवल जयादित्य विरचित लिखा है, वरन् अनेक प्राचीन विद्वानों ने काशिका के उद्धरण देते समय जयादित्य और वामन दोनों का उल्लेख किया है। उनके अपने अपने लिखे अध्यायों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रौढ़ मनोरमा की शब्दरत्नव्याख्या में प्रथम, द्वितीय, पंचम तथा षष्ठ अध्याय जयादित्य के लिखे एवं शेष अंश वामन का लिखा बतलाया गया है। परंतु काशिका की लेखनशैली को ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि आरंभ के पाँच अध्याय जयादित्य विरचित हैं और अंत के तीन वामन के लिखे हैं। कुछ ठोस प्रमाणों के आधार पर यह मान लिया गया है कि जयादित्य और वामन ने संपूर्ण अष्टाध्यायी पर अपनी भिन्न भिन्न संपूर्ण वृत्तियों की रचना की थी। पर यह अभी रहस्य ही है कि कब और कैसे कुछ अंश जयादित्य के और कुछ वामन के लेकर यह काशिका बनी। फिर भी यह प्रमाणित है कि वृत्तियों का यह एकीकरण विक्रम संवत् ७०० से पूर्व ही हो चुका था।

काशिका पर बहुत से विद्वानों ने व्याख्याग्रंथ लिखे हैं। प्रमुख व्याख्याकार ये हैं : जिनेंद्रबुद्धि, इंदुमित्र, महान्यासकार, विद्यासागर मुनि, हरदत्त मिश्र, रामदेव मिश्र, वृत्तिरत्नकार और चिकित्साकार। (द्वि० ना० मि०)

काशिराज (१) वायु, विष्णु, मत्स्य आदि पुराणों के अनु[illegible] इनका राज्य अनावृष्टि से पीड़ित था। श्वफल्क के आने [illegible] वृष्टि हुई। इसके फलस्वरूप काशिराज ने अपनी कन्या गांदि[illegible] श्वफल्क से विवाह कर दिया। इनकी दूसरी कन्या जयंती [illegible] ब्याही गई। (२) विष्णुपुराण के अनुसार काश के पुत्र का[illegible] भगवद्गीता में काशिराज का उल्लेख पांडवसेना के महारथियों में [illegible]
(र[illegible]

काशी वाराणसी, बनारस, भारत की जगत्प्रसिद्ध प्रा[illegible] गंगा के वाम (उत्तर) तट पर उत्तर प्रदेश के द[illegible] में वरुणा और असी नदियों के गंगासंगमों के बीच इसी [illegible] पर गंगा ने प्रायः चार मील का दक्षिण से उत्तर की [illegible] और इसी घुमाव के ऊपर इस नगरी की स्थिति है। [illegible] वाराणसी नाम लोकोच्चारण से बनारस हो गया [illegible] सरकार ने शासकीय रूप से पूर्ववत् वाराणसी [illegible] है।

हरिवंशपुराण के अनुसार काशी को बसाने[illegible]ा का या। कुछ विद्वानों के मत में काशी वैदिक का[illegible] वैदिक-शिव की उपासना का प्राचीनतम केंद्र होने [illegible] सर्वप्रथम जन्म हुआ जान पड़ता है; क्योंकि सामान्य [illegible] मिलता है। कालीन माना जाता है। वैसे, काशी ज[illegible] धृतराष्ट्र का उल्लेख हमें अथर्ववेद की पैप्पलादसंहित[illegible] बृहदारण्यकोप-शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में (१[illegible] का भी उल्लेख है। उल्लेख है जिसे शतानीक सत्राजित् [illegible] से काशी और विदेह निषद् में (२, १, १; ३, ८, २) [illegible] साथ साथ वर्णन है। कौषीतकी उपनिषद् (४, १) [illegible]य पुरोहित जलजातूकर्ण्य तथा गोपथ ब्राह्मण में काशी [illegible] जनपद की प्राचीनता तथा इसी प्रकार काशी, कोसल [illegible]ष्ट हो जाती है। वाल्मीकि का नाम शांखायन श्रौतसूत्र[illegible] सुग्रीव द्वारा वानरसेना को पूर्व-इसकी स्थिति इन उपर्यु[illegible] काशी और कोसल जनपद के रामायण में (किष्किंधा[illegible] गया है--'मही कालमही चापि दिशा की ओर भेजे ज[illegible]न्विदेहांश्च मालवान्काशिकोसलान्'। निवासियों का एक [illegible] उल्लेख है और काशिराज की कन्याओं शैलकानन शोभित[illegible] तो सर्वविदित ही है (आदि पर्व, अध्याय महाभारत में काशी[illegible] काशिराज ने पांडवों का साथ दिया था। के भीष्म द्वारा [illegible] काशिराज ने पांडवों का साथ दिया था। १०२)। महा[illegible]बुद्ध के जन्म के पूर्व तथा उनके समय में काशी को भारत के बौद्ध का[illegible] की थी। अंगुत्तरनिकाय में काशी की भारत के बहुत प्रसि[illegible]ना की गई है। जातक कथाओं में काशी जनपद १६ महा[illegible] आया है, जिनसे ज्ञान होता है कि काशी उस समय का अने[illegible] दोनों का ही केंद्र थी। [illegible]जातक में बोधिसत्व के [illegible] विद्या[illegible] में वहाँ जाकर शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। [illegible] १६ [illegible] काशी के मंदिर और गंधवान [illegible] का वर्णन है। १९ [illegible] काशी के मंदिर और [illegible] द्रव्यों का भी उल्लेख है। जातक-[illegible] में वहाँ के उत्तम सुगंधित द्रव्यों का भी उल्लेख है।

कथाओं से स्पष्ट है कि बुद्धपूर्वकाल में काशी देश पर ब्रह्मदत्त नाम के राजकुल का बहुत दिनों तक राज्य रहा। इन कहानियों से यह भी प्रकट है कि काशी नगरनाम के अतिरिक्त एक देश या जनपद का नाम भी था। उसका दूसरा नगरनाम वाराणसी था। इस प्रकार काशी जनपद की राजधानी के रूप में वाराणसी का नाम धीरे धीरे प्रसिद्ध हो गया और कालांतर में काशी और वाराणसी ये दोनों अभिधान समानार्थक हो गए। काशी और वहाँ प्रचलित शिवोपासना का उल्लेख महाभारत में भी है—ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम्—वनपर्व, ८४, ७८। कहा जाता है 'वाराणसी' नाम वरुणा और असी नदियों पर इस नगरी की स्थिति होने से पड़ा है। कीथ के अनुसार (दे० वैदिक इंडेक्स—'काशी') वरुणा नदी का उल्लेख अथर्ववेद के इस मंत्र में है—'वारिद वारयातै वरुणावत्यामधि। तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्' (४, ७, १)। युवजयजातक में वाराणसी के ब्रह्मवड्ढन (=ब्रह्मवर्धन), सुरुंधन, सुदस्सन (=सुदर्शन), पुप्फवती (=पुष्पवती) और रम्म (=रम्या?) एवं संखजातक में मालिनी आदि नाम मिलते हैं। लोसकजातक में वाराणसी के चारों ओर की खाई या परिखा का वर्णन है। गौतम बुद्ध के समय में काशी राज्य कोसल जनपद के अंतर्गत था। कोसल की राजकुमारी का मगधराज बिंबिसार के साथ विवाह होने के समय काशी को दहेज में दे दिया गया था। बुद्ध ने अपना सर्वप्रथम उपदेश वाराणसी के संनिकट सारनाथ में दिया था जिससे उसके तत्कालीन धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्व का पता चलता है। बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु ने काशी को मगध राज्य का अभिन्न भाग बना लिया और तत्पश्चात् मगध के उत्कर्पकाल में इसकी यही स्थिति बनी रही। बौद्ध धर्म की अवनति तथा हिंदू धर्म के पुनर्जागरण काल में काशी का महत्व संस्कृत भाषा तथा हिंदू संस्कृति के केंद्र के रूप में निरंतर बढ़ता ही गया, जिसका प्रमाण उस काल में लिखे गए या पुनः संपादित पुराणों द्वारा प्राप्त होता है। स्कंदपुराण में तो स्वतंत्र रूप से काशी के माहात्म्य पर 'काशीखंड' नामक अध्याय लिखा गया। पुराणों में काशी को मोक्षदायिनी पुरियों में स्थान दिया गया है। चीनी यात्री फ़ाह्यान (चौथी शती ई०) और युवानच्वांग अपनी यात्रा के दौरान काशी आए थे। युवानच्वांग ने सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में यहाँ लगभग ३० बौद्ध विहार और १०० हिंदू मंदिर देखे थे। नवीं शताब्दी ई० में जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने विद्याप्रचार से काशी को भारतीय संस्कृति तथा नवोदित आर्य धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र बना दिया। काशी की यह सांस्कृतिक परंपरा आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

हमारे इतिहास के मध्य युग में मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् उस समय के अन्य सांस्कृतिक केंद्रों की भाँति काशी को भी दुर्दिन देखना पड़ा। ११९३ ई० में मुहम्मद गोरी ने कन्नौज को जीत लिया, जिससे काशी का प्रदेश भी, जो इस समय कन्नौज के राठौड़ राजाओं के अधीन था, मुसलमानों के अधिकार में आ गया। दिल्ली के सुल्तानों के आधिपत्यकाल में भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं को काशी के ही अंक में शरण मिली। कबीर और रामानंद के धार्मिक और लोकमानस के प्रेरक विचारों ने उसे जीता जागता रखने में पर्याप्त सहायता दी। मुगल सम्राट् अकबर ने हिंदू धर्म की प्राचीन परंपराओं के प्रति जो उदारता और अनुराग दिखाया, उसकी प्रेरणा पाकर भारतीय संस्कृति की धारा, जो बीच के काल में कुछ क्षीण हो चली थी, पुनः वेगवती हो गई और उसने तुलसीदास, मधुसूदन सरस्वती और पंडितराज जगन्नाथ जैसे महाकवियों और पंडितों को जन्म दिया एवं काशी पुनः अपने प्राचीन गौरव की अधिकारिणी बन गई। किंतु शीघ्र ही इतिहास के अनेक उलटफेरों को देखनेवाली इस नगरी को औरंगजेब की धर्मांधता का शिकार बनना पड़ा। उसने हिंदू धर्म के अन्य पवित्र स्थानों की भाँति काशी के भी प्राचीन तथा प्रसिद्ध मंदिरों को विध्वस्त करा दिया। मूल विश्वनाथ के मंदिर को तुड़वाकर उसके स्थान पर एक बड़ी मसजिद बनवाई जो आज भी वर्तमान है। मुगल साम्राज्य की अवनति होने पर अवध के नवाब सफ़दरजंग ने काशी पर अधिकार कर लिया; किंतु उसके पौत्र ने उसे ईस्ट इंडिया कंपनी को दे डाला। वर्तमान काशीनरेश के पूर्वज बलवंतसिंह ने अवध के नवाब से अपना संबंधविच्छेद कर लिया था। इस प्रकार काशी की वर्तमान रियासत का जन्म हुआ। चेतसिंह, जिन्होंने वारेन हेस्टिंग्ज़ से लोहा लिया था, इन्हीं के पुत्र थे। स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् काशी की रियासत भारत राज्य का अविच्छिन्न अंग बन गई है।

काशी में इस समय लगभग १,५०० मंदिर हैं, जिनमें से बहुतों की परंपरा इतिहास के विविध कालों से जुड़ी हुई है। इनमें विश्वनाथ, संकटमोचन और दुर्गा के मंदिर भारत भर में प्रसिद्ध हैं। विश्वनाथ के मूल मंदिर की परंपरा अतीत के इतिहास के अज्ञात युगों तक चली गई है। वर्तमान मंदिर अधिक प्राचीन नहीं है। इसके शिखर पर महाराजा रणजीतसिंह ने सोने के पत्तर चढ़वा दिए थे। संकटमोचन के मंदिर की स्थापना गोस्वामी तुलसीदास ने की थी। दुर्गा के मंदिर को १७वीं शती में मराठों ने बनवाया था। घाटों के तट पर भी अनेक मंदिर बने हुए हैं। इनमें सबसे प्राचीन गहड़वालों का बनवाया राजघाट का 'आदिकेशव' मंदिर है। प्रसिद्ध घाटों में दशाश्वमेध, मणिकर्णिका, हरिश्चंद्र और तुलसीघाट की गिनती की जा सकती है। दशाश्वमेध घाट पर ही जयपुर नरेश जयसिंह द्वितीय का बनवाया हुआ मानमंदिर या वेधशाला है। दशाश्वमेध घाट तीसरी सदी के भारशिव नागों के पराक्रम का स्मारक है। उन्होंने जब जब अपने शत्रुओं को पराजित किया तब तब यहीं अपने यज्ञ का अवभृथ स्नान किया। इस प्रकार के दस विजय यज्ञों से संबंधित काशी का यह घाट दशाश्वमेध नाम से विख्यात हुआ। नवीन मंदिरों में भारतमाता का मंदिर तथा तुलसीमानस मंदिर प्रसिद्ध हैं। आधुनिक शिक्षा के केंद्र काशी विश्वविद्यालय की स्थापना महामना मदनमोहन मालवीय ने १९१६ ई० में की; वैसे, प्राचीन परंपरा की संस्कृत पाठशालाएँ तो यहाँ सैकड़ों ही हैं जो वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी (संस्थापित १९५८ ई०) से संबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ काशी विद्यापीठ (संस्थापित १९२१) नामक विश्वविद्यालय भी है जिसमें व्यावहारिक समाजशास्त्र की शिक्षा की भी व्यवस्था है। भारत की सांस्कृतिक राजधानी होने का गौरव इस प्राचीन नगरी को आज भी प्राप्त है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि काशी ने भारत की सांस्कृतिक एकता के निर्माण तथा संरक्षण में भारी योग दिया है। भारतेंदु आदि साहित्यकारों तथा नागरीप्रचारिणी सभा जैसी संस्थाओं को जन्म देकर काशी ने आधुनिक हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाया है।

वाराणसी के घाटों का दृश्य बड़ा ही मनोरम है। भागीरथी के धनुपाकार तट पर इन घाटों की पंक्तियाँ दूर तक चली गई हैं। प्रातःकाल तो इनकी छटा अपूर्व ही होती है। पुरानी कहावत के अनुसार शामे अवध अर्थात् लखनऊ की शाम और सुबहे बनारस यानी वाराणसी का प्रातःकाल देखने योग्य होता है। यहाँ की छोटी छोटी और असाधारण रूप से सँकरी गलियाँ तथा उनमें स्वच्छंद विचरनेवाले साँड़ अपरिचितों के लिये कुतूहल की वस्तु हैं। वाराणसी नगर की जनसंख्या १९७१ ई० में ५,८२,९१५ थी। (वि० कु० मा०)

काशीखंड स्कंद महापुराण का एक खंड जिसमें काशी का परिचय, माहात्म्य तथा उसके आधिदैविक स्वरूप का विशद वर्णन है। काशी को **आनंदवन** एवं **वाराणसी** नाम से भी जाना जाता है। इसकी महिमा का आख्यान स्वयं भगवान् विश्वनाथ ने एक बार भगवती पार्वती जी से किया था, जिसे उनके पुत्र कार्तिकेय (स्कंद) ने अपनी माँ की गोद में बैठे बैठे सुना था। उसी महिमा का वर्णन कार्तिकेय ने कालांतर में अगस्त्य ऋषि से किया और वही कथा स्कंदपुराण के अंतर्गत काशीखंड में वर्णित है। काशीखंड में १०० अध्याय तथा ११,००० से ऊपर श्लोक हैं। इसके माध्यम से काशी के तत्कालीन भूगोल, पुरातन मंदिरों के निर्माण की कथाएँ, मंदिरों में स्थित देवी देवताओं के परिचय, नगरी के इतिहास और उसकी परंपराओं को भली भाँति समझा जा सकता है। वस्तुतः यह प्राचीन काल में लिखित एक ऐसी पुस्तक है जिसे आजकल 'डाइरेक्टरी' कहा जाता है। (कै० चं० श०)

काशीरामदास का स्थान बँगला महाभारत के अनुवादकर्ताओं में अत्यंत उच्च है। इनके पूर्व दो अन्य प्रसिद्ध महाभारत रचयित हो चुके हैं, एक संजय और दूसरे श्रीकरनंदी। काशीरामदास के महाभारत का आदर पश्चिम बंगाल में बहुत है। कृत्तिवास के समान ही इनके

ख्याति बंगाल के जनकवि के रूप में है। इसमें संदेह नहीं कि काशीरामदास को अपने पूर्ववर्तियों की महाभारत संबंधी रचनाओं से बहुत सहायता मिली है परंतु उनकी मौलिकता में इतने पर भी अंतर नहीं आता। काशीरामदास का महाभारत व्यासरचित संस्कृत महाभारत का अविकल अनुवाद नहीं है। इसमें कुछ पुराणों के उपाख्यान और कुछ पूर्ववर्ती महाभारतों के उपाख्यान हैं। इन उपाख्यानों को इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा एवं कल्पना द्वारा सुंदर काव्य रूप में उपस्थित किया है। अलंकारों का प्रयोग, भाषा एवं भावों का माधुर्य, इन सबने मिलकर काशीरामदास के महाभारत को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया है।

काशीरामदास का जन्म १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। अपने महाभारत के प्रारंभ में कवि ने अपना कुछ परिचय दिया है। इसके अनुसार इंद्राणी नामक देश के सिंगि ग्राम में इनका पैतृक निवास था। इंद्राणी बर्दवान जिले के उत्तरांश में स्थित परगना है। काशीराम के प्रपितामह का नाम कमलाकांत, पितामह का सुधाकर एवं पिता का प्रियंकर था। इनके बड़े भाई का नाम श्रीकृष्णदास अथवा श्रीकृष्णकिंकर था। इनके एक छोटे भाई भी थे जिनका नाम गदाधर था। काशीराम के दोनों भाई भी कवि थे। श्रीकृष्णदास अथवा श्रीकृष्णकिंकर की एक रचना 'श्रीकृष्णविलास' नाम से प्राप्त है। इनके छोटे भाई गदाधर के नाम से 'जगन्नाथमंगल' या 'जगतमंगल' नामक एक रचना मिलती है। इसमें कवि ने कई पीढ़ियों तक अपने पूर्वपुरुषों की नामावली दी है। प्रपितामह, पितामह, पिता के नाम काशीरामदास ने भी दिए हैं। इस परिचय में इस बात का उल्लेख मिलता है कि इन लोगों के प्रपितामह उड़ीसा में रहने लगे थे। काशीरामदास ने 'भारतपुराण' पांचाली छंद में रचा, इस बात का भी उल्लेख इसमें है।

काशीराम संपूर्ण पर्वों का अनुवाद नहीं कर पाए थे, ऐसा कहा जाता है; वे केवल आदि पर्व, सभा पर्व एवं विराट् पर्व का अधिकांश लिख पाए थे कि उनकी मृत्यु हो गई। इसका समर्थन उनके भाई के पुत्र नंदरामदास की उक्ति से होता है, जो इनके नाम से प्राप्त महाभारत के उद्योग पर्व के प्रारंभ में है। इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि मेरे 'खुल्ल तात' काव्य संपूर्ण न कर पाए। मृत्यु के समय उन्हें इसका अत्यंत दुःख था और मेरे यह आश्वासन देने पर कि मैं उसे समाप्त करूँगा, वे मुझे आशीर्वाद देकर स्वर्ग चले गए। उन्हीं के प्रसाद से मैंने यह पुराण रचा है। (र० कु०)

काशी हिंदू विश्वविद्यालय पं० मदनमोहन मालवीय ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रीगणेश १९०४ ई० में किया, जब काशीनरेश महाराज प्रभुनारायण सिंह की अध्यक्षता में संस्थापकों की प्रथम बैठक हुई। १९०५ ई० में विश्वविद्यालय का प्रथम पाठ्यक्रम प्रकाशित हुआ। जनवरी, १९०६ ई० में कुंभ मेले में मालवीय जी ने त्रिवेणी संगम पर भारत भर से आई जनता के बीच अपने संकल्प को दोहराया। कहा जाता है, वहीं एक वृद्धा ने मालवीय जी को इस कार्य के लिये सर्वप्रथम एक पैसा चंदे के रूप में दिया। डा० ऐनी बेसेंट काशी में विश्वविद्यालय की स्थापना में आगे बढ़ रही थीं। इन्हीं दिनों दरभंगा के राजा महाराज रामेश्वर सिंह भी काशी में 'शारदा विद्यापीठ' की स्थापना करना चाहते थे। इन तीन विश्वविद्यालयों की योजना परस्पर विरोधी थी, अतः मालवीय जी ने डा० बेसेंट और महाराज रामेश्वर सिंह से परामर्श कर अपनी योजना में सहयोग देने के लिये उन दोनों को राजी कर लिया। फलस्वरूप बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी सोसाइटी की १५ दिसंबर, १९११ को स्थापना हुई, जिसके महाराज दरभंगा अध्यक्ष, इलाहाबाद हाईकोर्ट के प्रमुख बैरिस्टर सुंदरलाल सचिव, महाराज प्रभुनारायण सिंह, पं० मदनमोहन मालवीय एवं डा० ऐनी बेसेंट संमानित सदस्य थीं। तत्कालीन शिक्षामंत्री सर हारकोर्ट बटलर के प्रयास से १९१५ ई० में केंद्रीय धारासभा में हिंदू यूनिवर्सिटी ऐक्ट पारित हुआ, जिसे तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंज ने तुरंत स्वीकृति प्रदान कर दी एवं ४ जनवरी, १९१६ ई० (वसंतपंचमी) के दिन ससमारोह वाराणसी में गंगातट के पश्चिम, रामनगर के समानांतर महाराज प्रभुनारायण सिंह द्वारा प्रदत्त भूमि में काशी हिंदू विश्वविद्यालय का शिलान्यास हुआ। उक्त समारोह में देश के अनेक गवर्नरों, राजे रजवाड़ों तथा सामंतों ने गवर्नर जनरल एवं वाइसराय का स्वागत और मालवीय जी से सहयोग करने के लिये हिस्सा लिया। अनेक शिक्षाविद्, वैज्ञानिक एवं समाजसेवी भी इस अवसर पर उपस्थित थे। गांधी जी भी विशेष निमंत्रण पर पधारे थे। अपने वाराणसी आगमन पर गांधी जी ने डा० बेसेंट की अध्यक्षता में आयोजित सभा में राजा रजवाड़ों, सामंतों एवं देश के अनेक गण्यमान्य लोगों के बीच अपना यह ऐतिहासिक भाषण दिया, जिसमें एक ओर ब्रिटिश सरकार की और दूसरी ओर हीरे जवाहरातों तथा सरकारी उपाधियों से लदे, देशी रियासतों के शासकों की घोर भर्त्सना की गई थी।

डा० बेसेंट द्वारा समर्पित सेंट्रल हिंदू कालेज में काशी हिंदू विश्वविद्यालय का विधिवत् शिक्षणकार्य, १ अक्टूबर, १९१७ से आरंभ हुआ। १९१६ ई० में आई बाढ़ के कारण स्थापनास्थल से हटकर कुछ पश्चिम में १,३०० एकड़ भूमि में निर्मित वर्तमान विश्वविद्यालय में सबसे पहले इंजीनियरिंग कालेज का निर्माण हुआ और तब आर्ट्स कालेज, साइंस कालेज आदि का। १९२१ ई० से विश्वविद्यालय की पूरी पढ़ाई कमच्छा कालेज से स्थानांतरित होकर नए भवनों में होने लगी। इसका उद्घाटन १३ दिसंबर, १९२१ को प्रिंस ऑव वेल्स ने किया। निरंतर विकास कर आज विश्वविद्यालय कुल दो संस्थानों (इंस्टीच्यूट), ११ संकायों, एक महिला कालेज, ८७ शैक्षणिक विभाग, तीन हाई स्कूलों, एक राजकीय केंद्रीय विद्यालय, तीन संबद्ध डिग्री कालेजों, ३५ छात्रावासों, एक केंद्रीय ग्रंथालय, प्रायः १,५०० अध्यापकों, १५ हजार छात्रों एवं दो हजार कर्मचारियों का एक विशाल गुरुकुल बन चुका है। इसके प्रांगण में विश्वनाथ का एक विशाल मंदिर भी है, जिसकी ऊँचाई संप्रति मंदिरों से अधिक बताई जाती है। विशाल सर सुंदरलाल चिकित्सालय, गोशाला, प्रेस, बुकडिपो एवं प्रकाशन, टाउन कमेटी (स्वास्थ्य), पी० डब्ल्यू० डी०, स्टेट बैंक की शाखा, पर्वतारोहण केंद्र, एन० सी० सी० प्रशिक्षण केंद्र, 'हिंदू यूनिवर्सिटी' नामक डाकखाना एवं सेवायोजन कार्यालय भी विश्वविद्यालय तथा जनसामान्य की सुविधा के लिये इसमें संचालित हैं। सन् १९७३–७४ ई० में विश्वविद्यालय का कुल आयव्ययक लगभग सात करोड़ रुपए का था, जिसकी अधिकांश राशि केंद्रीय सरकार से प्राप्त हुई। श्री सुंदरलाल, पं० मदनमोहन मालवीय, डा० एस० राधाकृष्णन् (भूतपूर्व राष्ट्रपति), डा० अमरनाथ झा, आचार्य नरेंद्रदेव, डा० रामस्वामी अय्यर, डा० त्रिगुण सेन (भूतपूर्व केंद्रीय शिक्षामंत्री) जैसे मूर्धन्य व्यक्ति यहाँ के कुलपति रह चुके हैं। (मो० ला० ति०)

कासगंज पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एटा जिले के कासगंज तहसील का प्रधान नगर है (स्थिति २७° ४८' उ० अ० तथा ७८° ३९' पू० दे०)। यह ऊँची भूमि पर स्थित है और इसके जल का निकास लगभग एक मील दूर दक्षिण-पश्चिम में प्रवाहित होनेवाली काली नदी में होता है। यहाँ दो सुंदर बाजार हैं जो चौक में समकोण पर मिलते हैं। १८६८ ई० में यहाँ नगरपालिका स्थापित हुई। यह नगर क्षेत्रीय उपजों, विशेषतया अन्न, चीनी, कपास, आदि का निर्यातक तथा विभिन्न आयात वस्तुओं का प्रमुख वितरक केंद्र है। यहाँ चीनी साफ करने का उद्योग विकसित हुआ है और कपास के बिनौले निकालने तथा उसकी गाँठें बाँधने का उद्योग भी है। कासगंज एटा जिले का प्रधान व्यापारिक नगर है। (शां० ला० का०)

कासेल (५१° ३०' उ० अ०—९° ३०' पू० दे०) फ्रैंकफर्ट-ऑन-मेन से ९० मील तथा गॉटिंजन से ३५ मील दक्षिण-पश्चिम में फुल्डा नामक नदी पर स्थित जर्मनी का एक नगर है जिसकी स्थापना सन् ९१३ ई० में हुई थी। यहाँ पर सुंदर चित्रशाला, अजायबघर तथा पुस्तकालय हैं। आधुनिक काल में यहाँ विभिन्न प्रकार के उद्योग विकसित हो गए हैं जिनमें विज्ञान संबंधी औजार, धातु की वस्तुएँ, रेल के डब्बे एवं इंजिन, कागज, दस्ताने तथा सिगार बनाने के धंधे प्रमुख हैं। १९६१ ई० में यहाँ की जनसंख्या २,१३,४६४ थी। (शां० ला० का०)

काहिरा (अंग्रेजी : काइरो; अरबी : अल काहिरा) अफ्रीका महाद्वीप का सबसे बड़ा नगर नील नदी के दाहिने किनारे पर नदी तथा उत्तर-पश्चिमी पहाड़ के अंतिम छोर के मध्य में स्थित है। यद्यपि इस समय इसके प्राचीन रूप में यथेष्ट परिवर्तन हो गया है, फिर भी पतली पतली गलियों के दोनों तरफ विभिन्न प्रकार के रंगबिरंगे मकानों का पाया जाना साधारण बात है। मकान अधिकतर पीले रंग के चूने के पत्थरों से बने हैं। सभी बाजारों में लोहार, सोनार, मोची तथा बेलबूटों का कार्य करनेवालों की दूकानें दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ के सर्वप्रसिद्ध बाजार खान-अल-खलीली तथा कसेरा (ब्रास वर्कर्स) बाजार हैं। आधुनिक काहिरा के पश्चिमी भाग में यूरोपीय सुंदर बस्ती इस्माइलिया नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ की सबसे प्रसिद्ध औद्योगिक गली मुस्की है। संपूर्ण नगर में २५० से भी अधिक मसजिदें हैं। सबसे अच्छी मसजिद का निर्माण सन् १३५७ ई० में सुल्तान हसन नाम से हुआ। यहाँ की सबसे पुरानी मसजिद का निर्माण ९वीं शताब्दी में अहमद इब्न तुलुन ने कराया था।

यह इस्लामी जगत् का सुप्रसिद्ध नगर तथा शिक्षाकेंद्र है। यहाँ के विख्यात विश्वविद्यालय अल अजहर में सभी मुसलमानी देशों के विद्यार्थी शिक्षार्थ आते हैं। शहर की उत्तरी दीवार में बाब अलनस (विजय द्वार) नामक फाटक से प्रति वर्ष बहुत से लोग मक्का को जाते हैं। यहाँ पर मुसलमानों की मसजिद के अतिरिक्त ग्रीस तथा जेविस के गिरजाघर भी दर्शनीय हैं।

वर्तमान नगर के इस्माइलिया महल में मिस्र का राजनिवास तथा आब्दीन महल में संसदीय, शासकीय तथा आतिथ्य कार्य संपन्न किया जाता है। यहाँ पर एक अरब अजायबघर तथा राजकीय पुस्तकालय भी है। यहाँ से शैलाल, अलेक्जैंड्रिया,, इस्माइलिया, पैलेस्टाइन, बेरुत तथा सीरिआ तक रेलवे लाइनों का निर्माण कर दिया गया है। यातायात भी प्रधानतः इसी नगर से होता है।

इस नगर का निर्माण जोहार नामक एक फौजी अफसर ने सन् ११६९ ई० में मिस्र को जीतकर किया था। सन् ११७६ ई० में सलादीन नामक सुलतान ने इसके चारों तरफ पत्थर की पक्की दीवार का निर्माण कराया। सन् १५७१ से १७९८ तक इस नगर पर तुर्कों का आधिपत्य रहा। अंतिम वर्ष में नेपोलियन ने इसको अपने अधिकार में कर लिया। सन् १८०१ में फिर इसपर तुर्कों तथा अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया। द्वितीय महायुद्ध के समय यह ब्रिटिश फौजी दफ्तर का प्रधान केंद्र था। तब से यह नगर कई विश्वप्रसिद्ध अधिवेशनों और संमेलनों का केंद्र बनता रहा। नगर का क्षेत्रफल २१४.२ वर्ग कि० मी० है तथा १९६० ई० में जनसंख्या ३३,४९,००० थी। (ब० सिं०)